हिन्दी साहित्य कोश

भाग १

[पारिभाषिक शब्दावली]

हिन्दी साहित्य कोश

भाग १

[पारिभाषिक शब्दावली]

सम्पादक

धीरेन्द्र वर्मा (प्रधान)

व्रजेश्वर वर्मा

धर्मवीर भारती

रामस्वरूप चतुर्वेदी

रघुवंश (संयोजक)

वाराणसी

ज्ञानमण्डल लिमिटेड

भूमिका

गत पचास वर्षोंमें हिन्दी-साहित्यके अध्ययन, अध्यापन तथा अनुशीलनकी परिधियाँ बहुत व्यापक होती गयी हैं। आलोचना, अनुसन्धान और इतिहास—साहित्यानुशीलनके सभी क्षेत्रोंमें अनेक विद्वानोंके अथक परिश्रमसे जो उपलब्धियाँ हुई हैं, उनसे हमारे अध्ययनमें यथेष्ट सम्पन्नता, गहराई और विस्तार आया है। परन्तु साहित्यके इस अध्ययनसे सम्बन्धित अबतक कोई ऐसा सन्दर्भ-ग्रन्थ नहीं था, जो अध्येताओंके लिए उन उपलब्धियोंका तात्कालिक उपयोग करनेमें सहायक हो सकता। समृद्ध भाषाओंके साहित्योंमें ऐसे दर्जनों छोटे-बड़े कोश हैं, जिनमें साहित्यका सम्पूर्ण उपयोगी ज्ञान तात्कालिक रूपमें उपलब्ध रहता है। हिन्दी साहित्यके इसी अभावकी पूर्तिके लिए लगभग तीन वर्ष पहले बनायी गयी योजना आज 'हिन्दी साहित्य कोश'के रूपमें साकार हो रही है।

साहित्य कोशमें जिन विषयोंको सम्मिलित करना आवश्यक है, उनकी सूची बहुत विस्तृत हो सकती है, परन्तु व्यावहारिकताका दृष्टिकोण ध्यानमें रखते हुए प्रस्तुत 'हिन्दी साहित्य कोश'के विषय-विस्तारको सीमित रखा गया है। हमारे विचारमें सबसे पहले एक ऐसे साहित्य कोशकी आवश्यकता थी, जिसमें हिन्दी साहित्यकी प्राचीन और नवीन पारिभाषिक शब्दावलीका प्रामाणिक अर्थ, साहित्यिक गति-विधिको संचालित और प्रभावित करनेवाले विविध वादों और प्रवृत्तियोंका ऐतिहासिक और शास्त्रीय परिचय, शिष्ट तथा लोक-साहित्यके विविध रूपोंका विवेचन, साहित्यिक भाषा तथा बोलियोंका भाषावैज्ञानिक परिचय तथा हिन्दी भाषा और साहित्यसे सम्बन्धित अन्यान्य भाषाओं और उनके साहित्योंका सामान्य ज्ञान प्राप्त हो सके। अतः इस कोशमें हमने केवल निम्नलिखित विषयोंकी पारिभाषिक और विशिष्ट शब्दावलीको सम्मिलित किया है—

(१) प्राचीन साहित्यशास्त्र—रस, ध्वनि, अलंकार, रीति, छन्द आदि।

(२) पाश्चात्य साहित्यशास्त्र—प्राचीन तथा नवीन।

(३) साहित्यके विविध वाद तथा प्रवृत्तियाँ—प्राचीन तथा आधुनिक।

(४) साहित्यके विविध रूप—प्राचीन तथा नवीन, प्राच्य तथा पाश्चात्य।

(५) हिन्दी साहित्यके इतिहासके विभिन्न काल, युग तथा धाराएँ।

(६) साहित्यिक सन्दर्भमें प्रयुक्त दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक तथा समाजशास्त्रीय सिद्धान्त।

(७) लोकसाहित्य—शास्त्रीय विषय तथा प्रचलित रूप।

(८) आधुनिक भारतीय भाषाओं तथा संस्कृत, फारसी और अंग्रेजीके साहित्योंका इतिहास।

(९) हिन्दी भाषा, उसकी जनपदीय बोलियों, प्राचीन तथा आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं और सम्बद्ध आर्य-भाषाओंका परिचयात्मक विवरण।

कोशके इतने विषय-विस्तारसे ही हिन्दी साहित्यके अध्ययनका इतना व्यापक सन्दर्भ आ जाता है कि प्रस्तुत प्रयासमें हम कुछ अन्य अत्यन्त उपयोगी विषयोंको सम्मिलित नहीं कर सके। हिन्दी साहित्यके लेखकों, रचनाओं, प्रधान पात्रों तथा पौराणिक कथा-सन्दर्भोंको सम्मिलित कर लेनेपर यह कोश बहुत-कुछ सर्वांगपूर्ण हो सकता था, परन्तु उस दशामें कोशका आकार अत्यधिक बढ़ जाता और साथ ही विषयोंके विस्तारका कोशकी सामग्रीके स्तरपर भी प्रभाव पड़े बिना न रहता। अतः प्रस्तुत कोशकी परिधिको सीमित रखनेका ही निश्चय किया गया। शेष विषयोंके लिए एक पृथक् 'हिन्दी साहित्य कोश'की योजना बनानेका विचार है।

हम नहीं कह सकते कि जिन विषयोंको प्रस्तुत कोशमें लिया गया है, उनकी सम्पूर्ण पारिभाषिक और विशिष्ट शब्दावलीको इसमें निःशेष किया जा सका है; किसी भी कार्यके लिए परिपूर्णताका दावा करना कठिन है। साहित्यके क्षेत्रमें नित्य नयी खोजें, नयी व्याख्याएँ और नये प्रयोग होते रहते हैं; नित्य नये प्रश्न और नयी समस्याएँ उठती रहती हैं; अनेक ऐसे वाद, सिद्धान्त और प्रवृत्तियाँ हैं, जिनके विषयमें अद्यावधि पूर्णतः प्रामाणिक और सर्वसम्मत निर्णय नहीं हो सके हैं, कहीं प्रामाणिक सामग्रीका अभाव है, तो कहीं विचार अभी अनिश्चय और अस्पष्टताकी अवस्थामें हैं। फिर प्रस्तुत कार्य इस दिशाका प्रथम प्रयास है। इसकी योजना बनाते समय हमारे सामने हिन्दीके किसी सन्दर्भ-ग्रन्थका आदर्श नहीं था। विदेशी भाषाओंके सन्दर्भ-ग्रन्थोंका अनुकरण भी हमारे लिए अधिक उपयोगी नहीं हो सकता था, क्योंकि हमारे साहित्यकी प्रकृति, परम्परा और आवश्यकताएँ भिन्न हैं। ऐसी स्थितिमें हमें अपना मार्ग बहुत-कुछ स्वतः बनाना पड़ा है।

हमारा आदर्श था कि कोशकी प्रत्येक टिप्पणी सम्बन्धित विषयके विशेषज्ञ और अधिकारी विद्वान्के द्वारा प्रस्तुत करायी जाय। इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिए हमने हिन्दी भाषा और साहित्यके विविध क्षेत्रोंके यथासम्भव सभी विद्वानोंको इस योजनामें सहयोग देनेके लिए आमन्त्रित किया था। हमें सन्तोष है कि उन सबने एक स्वरसे इसका स्वागत किया और अधिकांशने अपनी व्यक्तिगत व्यस्तताओं और कठिनाइयोंके होते हुए भी समय निकालकर इसमें सहयोग दिया। हिन्दी भाषा और साहित्यके अतिरिक्त अन्य भाषाओं और विविध विषयोंके अनेक हिन्दी-प्रेमी विद्वानोंने भी हमारी बहुमूल्य सहायता करके कोशको प्रामाणिक बनानेमें योग दिया। जिन ८३ विद्वानों, समीक्षकों तथा विचारकोंकी टिप्पणियाँ अथवा लघुलेख प्रस्तुत कोशमें दिये जा रहे हैं, उनकी सूचीसे ही यह प्रत्यक्ष है कि इसमें विविध क्षेत्रोंके विद्वानोंका समुचित प्रतिनिधित्व हुआ है। इतने विस्तृत सहयोगसे ही यह सम्भव हो सका है कि हम कोशकी सामग्रीके सम्बन्धमें कह सकें कि वह यथासम्भव प्रामाणिक और उपयोगी है।

किन्तु इस प्रकारके कार्यकी परम्परा और पूर्वनिर्धारित मार्गके अभावकी कठिनाई सम्पादकोंकी तरह सहयोगी लेखकोंके सामने भी थी। कोशकी प्रकृतिगत एकरूपताकी रक्षाके उद्देश्यसे सम्पादक-मण्डलकी ओरसे प्रत्येक शब्द अथवा शब्द-समूहके लिए सामान्य और विशिष्ट रूपरेखाएँ अवश्य प्रस्तुत की गयी थीं, परन्तु प्रत्येक लेखकका विषयगत अपना अध्ययन होता है तथा अपनी रुचि और अपनी दृष्टि, उसीके अनुसार वह निर्धारित रूपरेखाका उपयोग कर सकता है। अतः विभिन्न टिप्पणियोंके आकार-विस्तार तथा प्रस्तुतीकरणकी पद्धति और शैलीमें विविधता होना स्वाभाविक है। वस्तुतः यह विविधता ऐसे बड़े कार्यकी विशेषता भी मानी जा सकती है। फिर भी व्यापक एकरूपताके प्रति सम्पादक निरन्तर सजग और सचेष्ट रहे हैं। इसीलिए टिप्पणियोंमें कहीं-कहीं पर्याप्त संशोधन-परिवर्धन भी करने पड़े हैं। किन्तु इस कार्यकी भी अपनी सीमाएँ हैं। ऐसे सन्दर्भ-ग्रन्थके सम्पादक, जिसमें प्रामाणिकता और विशेषज्ञताकी अपेक्षा हो, कभी भी अपने ज्ञानके प्रति आत्मसन्तोषी नहीं हो सकते। साथ ही, किसी सन्दर्भ-ग्रन्थमें ऐसी मौलिक खोजों और नूतन व्याख्याओंको भी सहसा सम्मिलित नहीं किया जा सकता, जिनकी प्रामाणिकताकी विद्वन्मण्डलीमें परीक्षा ही न हुई हो। व्यापक-उपयोगके उद्देश्यसे प्रस्तुत किये गये कोशमें मान्य और उपलब्ध सामग्रीके ही यथासाध्य पूर्ण रूपमें उपयोग करनेका प्रयत्न किया जा सकता है। समय और साधनोंकी सीमाओंके अन्तर्गत सम्पादकोंने यही किया है।

हिन्दीमें पारिभाषिक शब्दावली भी अभी स्थिर नहीं हो सकी है। हमने प्रयत्न किया है कि साहित्यमें प्रचलित, सम्बद्ध विषयोंका कोई भी पारिभाषिक शब्द छूटने न पाये। परन्तु मुख्य टिप्पणियाँ केवल उन्हीं शब्दोंके आगे दी गयी हैं जिन्हें, हमारे विचारसे, परिनिष्ठित मानना अधिक उपयुक्त है। अन्य पर्यायार्थी शब्दोंके आगे परिनिष्ठित शब्दोंका प्रायः निर्देशमात्र कर दिया गया है। यह स्वाभाविक है कि हमारे द्वारा निर्धारित परिनिष्ठित शब्दावलीके सम्बन्धमें मतभेद हो, किन्तु पारिभाषिक शब्दोंके स्थिरीकरणकी दिशामें हमने इस समस्यापर यथासम्भव व्यापक और व्यावहारिक दृष्टिकोणसे विचार किया है।

'हिन्दी साहित्य कोश'की योजना तो लगभग तीन वर्ष पहले बन गयी थी, परन्तु वास्तविक कार्य केवल डेढ़ वर्षकी अवधिमें समाप्त किया गया है। इस अवधिको हमने जान-बूझकर बढ़ने नहीं दिया, क्योंकि यह सामान्य अनुभवकी बात है कि दीर्घ कालतक चलनेवाली योजनाओंमें प्रायः शिथिलता आ जाती है, सम्मिलित और सहकारी उद्योगोंमें तो इसकी और भी अधिक सम्भावना होती है। हमारे लिए यह सन्तोषका विषय है कि इतनी अल्प अवधिमें हम इस गुरु गम्भीर कार्यमें इतने अधिक विद्वानोंका सक्रिय सहयोग प्राप्त कर सके।

कार्यकी गुरुता, समयकी सीमा तथा आदर्श सुविधाओं और परिस्थितियोंके अभावको देखते हुए 'हिन्दी साहित्य कोश'में त्रुटियोंका रह जाना स्वाभाविक है। किन्तु वास्तवमें इसके गुण-दोषोंके सम्बन्धमें तभी कुछ कहा जा सकेगा, जब इसका व्यावहारिक उपयोग होगा। प्रथम प्रयास होनेके नाते यह कोश न केवल स्वयं अपने विकासकी आधार-भूमि है, वरन् इस प्रकारके भावी कार्योंका दिशा-निर्देशक भी है। अत्यन्त सावधानी रखनेपर भी 'कोश'में कहीं-कहीं छपाईकी भूलें हो गयी हैं, जिनका इस प्रकारके कार्यमें रह जाना चिन्त्य है। परन्तु हम कोई शुद्धिपत्र नहीं दे रहे हैं, क्योंकि हम जानते हैं कि उसका साधारणतया उपयोग नहीं किया जाता।

इस उद्योगकी निर्विघ्न समाप्तिके अवसरपर सबसे पहले हम उन सहयोगी लेखकोंके प्रति अपना हार्दिक आभार प्रकट करते हैं, जिनकी अमूल्य सहायतासे ही यह अनुष्ठान पूरा हो सका है। हमें विश्वास है कि साहित्यिक कार्योंमें सहकारिताकी यह पद्धति भविष्यमें अधिकाधिक पूर्ण और प्रशस्त होगी, जिससे अपेक्षाकृत अल्प समयमें ही अपने साहित्यके अनेक अभावोंकी पूर्ति हो सकेगी। ज्ञानमण्डल लिमिटेड, विशेषतया उसके सुयोग्य संचालक श्री सत्येन्द्रकुमार गुप्त तथा प्रकाशन-विभागके अध्यक्ष पण्डित देवनारायण द्विवेदीको भी धन्यवाद देना हम अपना कर्तव्य समझते हैं। उनके पूर्ण सहयोगके बिना यह कार्य इतनी शीघ्रतासे सम्पन्न नहीं हो सकता था। योजनाको कार्यान्वित करनेके लिए उन्होंने हमें यथासम्भव सभी आवश्यक सुविधाएँ प्रदान करनेमें कभी संकोच नहीं किया। इस सम्बन्धमें श्री वाचस्पति पाठकका नामस्मरण करना हम नहीं भूल सकते। वे प्रारम्भसे ही हमारे और ज्ञानमण्डलके बीच एक अनिवार्य कड़ीके रूपमें रहे हैं।

'हिन्दी साहित्य कोश'को आज विद्वन्मण्डली तथा विज्ञ पाठकोंके समक्ष उपस्थित करते हुए हमें सचमुच हर्षका अनुभव हो रहा है। आशा है, साहित्यके अध्येताओं और जिज्ञासुओंकी कठिनाइयोंका इससे कुछ-न-कुछ निवारण अवश्य होगा। वस्तुतः इसीमें हमारे परिश्रमकी सार्थकता है।

प्रयाग
श्रीकृष्णजन्माष्टमी, सं० २०१५ वि०

सम्पादक

द्वितीय संस्करण

'हिन्दी साहित्य कोश'का दूसरा संस्करण प्रस्तुत करते हुए हम प्रसन्नता और सन्तोषका अनुभव कर रहे हैं। यह संस्करण अब 'हिन्दी साहित्य कोश'के प्रथम भागके रूपमें प्रकाशित हो रहा है, क्योंकि नामवाची शब्दावलीपर कार्य करनेकी योजना, जो हमने प्रथम संस्करणमें प्रस्तावित की थी, अब दूसरे भागके रूपमें कार्यान्वित हो चुकी है। इस प्रकार अब 'कोश'के क्रमशः पारिभाषिक तथा नामवाची शब्दावलीसे सम्बद्ध दोनों भागोंमें हिन्दी साहित्यके व्यापक अध्ययनकी दृष्टिसे उपयोगी सभी विधाओं और समस्त सामग्रीको सम्मिलित किया जा सका है। हिन्दी साहित्यके अध्ययनकी अपनी प्रकृति और आवश्यकताओंको ध्यानमें रखकर ही प्रस्तुत योजना विकसित और कार्यान्वित हुई है। इस दृष्टिसे 'हिन्दी साहित्य कोश' यूरोपीय साहित्य कोशोंकी भाँति सीमित और विशेषीकृत न होकर हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं-की आवश्यकताके अनुरूप ही व्यापक और साहित्यिक अध्ययनके विविध अंगों-उपांगोंसे परिपूर्ण है।

देशके विविध विद्वानों, सहयोगी लेखकों और पाठकोंके समय-समयपर मिलनेवाले सुझावोंके आधारपर (अब) प्रथम भागके इस द्वितीय संस्करणमें यथावश्यक संशोधन तथा परिवर्द्धन किये गये हैं। अनेक छूटे हुए विषयों और विशिष्ट शब्दोंको सम्मिलित करनेके अतिरिक्त पिछली टिप्पणियोंको भी अधिक उपयोगी बनानेकी दृष्टिसे परिवर्द्धित किया गया है। सिद्ध, नाथ तथा सन्त परम्परामें प्रयुक्त होनेवाली विशिष्ट शब्दावलीपर कुछ टिप्पणियाँ और बढ़ायी गयी हैं। प्रूफकी भूलें ठीक करनेकी यथासाध्य चेष्टा की गयी है, पर सम्भवतः कुछ नयी भूलें फिर हो गयी हों। इस प्रकारकी व्यापक योजनाएँ वस्तुतः सामूहिक संकल्प और कार्य-प्रणाली द्वारा ही विकसित तथा परिमार्जित की जा सकती हैं। हमारा विश्वास है कि साहित्यमें अभिरुचि रखनेवाले सभी व्यक्तियोंके सहयोगसे प्रस्तुत 'कोश' भविष्यमें अधिकाधिक निर्दोष और उपयोगी बनता जायगा, क्योंकि भाषा, साहित्य और संस्कृतिके अनुरूप ही कोश भी एक विकसनशील रचना है।

मकरसंक्रान्ति, सं० २०२० वि०

सम्पादक

हिन्दी साहित्य कोश (भाग १) के लेखक

अ० कु०	**श्री अजितकुमार**, हिन्दी विभाग, किरोड़ीमल डिग्री कॉलेज, दिल्ली
आ० रा० शा०	**श्री आत्माराम शाह**, दर्शन विभाग, सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद
आ० प्र० दी०	**डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित**, हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
आ० प्र० मि०	**डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र**, संस्कृत विभाग, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
उ० ना० ति०	**डॉ० उदयनारायण तिवारी**, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, जबलपुर
उ० शं० शा०	**श्री उदयशंकर शास्त्री**, हिन्दी विद्यापीठ, विश्वविद्यालय, आगरा
उ० शं० शु०	**श्री उमाशंकर शुक्ल**, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
ए० चं०	**श्री ए० चन्द्रहासन**, महाराजा कॉलेज, एर्नाकुलम
ओ० प्र०	**डॉ० ओम्प्रकाश**, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, दिल्ली
क० शु०	**डॉ० करुणेश शुक्ल**, संस्कृत विभाग, विश्वविद्यालय, गोरखपुर
क० सिं० दु०	**श्री कर्तारसिंह दुग्गल**, आकाशवाणी
का० बु०	**डॉ० कामिल बुल्के**, अध्यक्ष, संस्कृत-हिन्दी विभाग, सेण्ट जेवियर्स कॉलेज, राँची
कुँ० ना०	**श्री कुँवरनारायण**, ३ शाहनजफ रोड, लखनऊ
कृ० दे० उ०	**डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय**, गवर्नमेण्ट डिग्री कॉलेज, ज्ञानपुर (वाराणसी)
गो० चं० सि०	**श्री गोपालचन्द्र सिनहा**, फैजाबाद रोड, लखनऊ
चं० का०	**श्री चन्द्रकान्त**, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, प्रेसीडेंसी कॉलेज, मद्रास
ज० कि० ब०	**डॉ० ज० कि० बलबीर**, संस्कृत विभाग, गवर्नमेण्ट डिग्री कॉलेज, नैनीताल
ज० गु०	**डॉ० जगदीश गुप्त**, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
ज० त्रि०	**श्री जयेन्द्र त्रिवेदी**, निसर्ग, १०६६ अम्बाबाड़ी, भावनगर (सौराष्ट्र)
टी० सिं० तो०	**डॉ० टीकम सिंह तोमर**, हिन्दी विभाग, बलवन्त राजपूत कॉलेज, आगरा
तो० रा० पा०	**श्री तोत्रराज पाण्डेय (स्व०)**
त्रि० ना० दी०	**डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित**, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, लखनऊ
द० शु०	**डॉ० दयाशंकर शुक्ल**, राजा श्रीकृष्णदत्त महाविद्यालय, जौनपुर
द० ओ०	**डॉ० दशरथ ओझा**, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, दिल्ली
दे०	**डॉ० देवराज**, अध्यक्ष, भारतीय दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
दे० उ०	**डॉ० देवराज उपाध्याय**, गौरीभवन, बापूनगर, अजमेर
दे० शं० अ०	**डॉ० देवीशंकर अवस्थी**, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, दिल्ली
ध० ब्र०, ध० ब्र० शा०	**डॉ० धर्मेन्द्रब्रह्मचारी शास्त्री**, प्रिंसिपल, जगजीवन कॉलेज, आरा
ध० वी० भा०	**डॉ० धर्मवीर भारती**, सम्पादक 'धर्मयुग', बम्बई
धी० व०	**डॉ० धीरेन्द्र वर्मा**, अध्यक्ष, भाषा विज्ञान विभाग, विश्वविद्यालय, सागर
प० च०	**श्री परशुराम चतुर्वेदी**, वकील, बलिया
पा० ना० ति०	**डॉ० पारसनाथ तिवारी**, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
पु० शु०	**डॉ० पुत्तूलाल शुक्ल**, गवर्नमेण्ट डिग्री कॉलेज, नैनीताल
प्र० ना० ट०	**डॉ० प्रतापनारायण टण्डन**, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, लखनऊ
पृ० पु०	**श्री पृथ्वीनाथ 'पुष्प'**, अमरसिंह कॉलेज, श्रीनगर
प्र० प्र०	**श्री प्रह्लाद प्रधान**, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, विश्वविद्यालय, उड़ीसा
प्र० मा०	**डॉ० प्रभाकर माचवे**, सहायक मन्त्री, साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली
प्री० अ०	**कु० प्रीति अदावाल**, दर्शन विभाग, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
प्रे० शं०	**डॉ० प्रेमशंकर**, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, सागर
ब० ना० श्री०	**डॉ० बदरीनारायण श्रीवास्तव**, हिन्दी विभाग, गवर्नमेण्ट डिग्री कॉलेज, ज्ञानपुर
ब० सिं०	**डॉ० बच्चन सिंह**, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
बा० रा० स०	**डॉ० बाबूराम सक्सेना**, १३ ए दरियागंज, दिल्ली
भ० मि०	**डॉ० भगीरथ मिश्र**, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, पूना
भ० श० उ०	**डॉ० भगवतशरण उपाध्याय**, सहसम्पादक 'हिन्दी विश्वकोश', ना०प्र० सभा, वाराणसी
भो० ना० ति०	**डॉ० भोलानाथ तिवारी**, हिन्दी विभाग, किरोड़ीमल डिग्री कालेज, दिल्ली
म०, मसी०	**श्री मसीहुज्जमाँ**, उर्दू विभाग, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
म० प्र० ल०	**श्री महावीरप्रसाद लखेरा**, संस्कृत विभाग, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

म० भ०	**डॉ० महेन्द्र भटनागर**, जीवाजीगंज, लश्कर
मा० प्र० गु०	**डॉ० माताप्रसाद गुप्त**, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
मा० ब० जा०	**श्री माताबदल जायसवाल**, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
यो० प्र० सिं०	**श्री योगेन्द्रप्रताप सिंह**, रिसर्च स्कालर, प्रयाग विश्वविद्यालय
र०	**डॉ० रघुवंश**, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
र० अ०	**डॉ० रवीन्द्र भ्रमर**, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, अलीगढ़
र० ति०	**श्री रमाशंकर तिवारी**, गौरेलाल मेहता डिग्री कालेज, बनमनखी, पूर्णिया (बिहार)
रा० गु०	**डॉ० राकेश गुप्त**, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, गवर्नमेण्ट डिग्री कालेज, ज्ञानपुर (वाराणसी)
रा० दे० सिं०	**श्री राजदेव सिंह**, रिसर्च स्कॉलर, पंजाब विश्वविद्यालय
रा० कृ० स०	**श्री राधाकृष्ण सहाय**, खंजरपुर, भागलपुर
रा० अ० द्वि०	**डॉ० रामअवध द्विवेदी**, सन्त विनोबा डिग्री कालेज, देवरिया
रा० कृ० त्रि०	**श्री रामकृष्णमणि त्रिपाठी**, राजनीति विभाग, विश्वविद्यालय, गोरखपुर
रा० खे० पा०	**डॉ० रामखेलावन पाण्डेय**, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, राँची
रा० पू० ति०	**श्री रामपूजन तिवारी**, हिन्दी भवन, शान्तिनिकेतन, पश्चिम बंगाल
रा० त्रि०	**श्री रामफेर त्रिपाठी**, रिसर्च स्कॉलर, लखनऊ विश्वविद्यालय
रा० मू० रे०	**श्री राममूर्त्ति रेणु**, आकाशवाणी, हैदराबाद
रा० र० भ०, रा० भ०	**डॉ० रामरतन भटनागर**, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, सागर
रा० वा० चि०	**श्री रा० वा० चिटणीस**, महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा समिति, पूना
रा० सिं० तो०	**डॉ० रामसिंह तोमर**, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, शान्तिनिकेतन, प० बंगाल
रा० स्व० च०	**डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी**, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
ल० कां० व०	**श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा**, सरयू कुटीर, मधवापुर, इलाहाबाद
ल० ना० ला०	**डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल**, हिन्दी विभाग, सी० एम० पी० डिग्री कालेज, इलाहाबाद
ल० सा० वा०	**डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय**, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
लो० ना० भ०	**श्री लोकनाथ भराली**, रिसर्च स्कॉलर, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, वाराणसी
व्र० व०	**डॉ० व्रजेश्वर वर्मा**, केन्द्रीय हिन्दी शिक्षण मण्डल, आगरा
वा० उ०	**डॉ० वासुदेव उपाध्याय**, प्राचीन इतिहास विभाग, विश्वविद्यालय, पटना
वि० नि० मि०	**श्री विद्यानिवास मिश्र**, संस्कृत विभाग, विश्वविद्यालय, गोरखपुर
वि० सिं०	**श्री विजयबहादुर सिंह (स्व०)**
वि० स्ना०	**डॉ० विजयेन्द्र स्नातक**, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, दिल्ली
वि० मो० श०	**डॉ० विनयमोहन शर्मा**, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र
वि० कु० अ०	**डॉ० विपिनकुमार अग्रवाल**, फिजिक्स विभाग, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
शं० ना० सिं०	**डॉ० शम्भुनाथ सिंह**, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी
शि० प्र० सिं०	**डॉ० शिवप्रसाद सिंह**, हिन्दी-विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
श्या० प०	**डॉ० श्याम परमार**, आकाशवाणी, इन्दौर
श्या० मो० श्री०	**श्री श्याममोहन श्रीवास्तव**, II A/9 लाजपत नगर, नयी दिल्ली
सं० ला० पा०	**श्री संगमलाल पाण्डेय**, दर्शन विभाग, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
स०	**डॉ० सत्येन्द्र**, हिन्दी विद्यापीठ, विश्वविद्यालय, आगरा
स० व्र० सिं०	**डॉ० सत्यव्रत सिंह**, संस्कृत विभाग, विश्वविद्यालय, लखनऊ
स० प्र० अ०	**डॉ० सरयूप्रसाद अग्रवाल**, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, लखनऊ
सि० कु०	**श्री सिद्धनाथ कुमार**, वीता कुंज, रातू रोड, राँची
सि० ति०	**डॉ० सियाराम तिवारी**, हिन्दी विभाग, कालेज आफ कामर्स, पटना
हं० कु० ति०	**श्री हंसकुमार तिवारी**, मानसरोवर प्रकाशन, गया
ह० प्र० द्वि०	**डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी**, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, चण्डीगढ
ह० ना०	**श्री हर्षनारायण**, सी ४२/५९ रामरत्न वाजपेयी मार्ग, लखनऊ
ह० दे० बा०	**डॉ० हरदेव बाहरी**, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
ह० ल० श०	**डॉ० हरद्वारीलाल शर्मा**, जिला विद्यालय निरीक्षक, फतेहपुर
ह० मो०	**श्री हरिमोहन**, डिफेन्स एकाडमी, खड़गवासला
हि०	**डॉ० हिरण्मय**, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, मैसूर

जिन टिप्पणियोंके साथ कोई संकेत नहीं है अथवा केवल सं० दिया गया है, वे सम्पादकीय हैं।

संकेत-सूची

संक्षिप्त रूप	ग्रंथ	लेखक तथा संस्थाएँ
अ० पु०	अग्निपुराण	
अ० मं०	अलंकारमंजरी	कन्हैयालाल पोद्दार
अ० भा०	अभिनवभारती	अभिनव गुप्त
अ० वी० त०	अकुलवीरतन्त्र	मत्स्येन्द्रनाथ
अलं० शे०	अलंकारशेखर	केशव मिश्र
अलं० स० अ० स०	अलंकारसर्वस्व	रुय्यक
आ० के०	आलमकेलि	आलम
आ० सा०	आधुनिक साहित्य	नन्ददुलारे वाजपेयी
उ० श०	उद्धवशतक	सं० जगन्नाथदास 'रत्नाकर'
क० क०	कविकण्ठाभरण	क्षेमेन्द्र
क० कु० क०	कविकुलकण्ठाभरण	दूलह
क० क० त० क० कु० क० त०	कविकुलकल्पतरु	चिन्तामणि
क० ग्र०	कबीर-ग्रन्थावली	सं० श्यामसुन्दरदास
क० प्रि०	कविप्रिया	केशवदास
कविता०	कवितावली	तुलसीदास
क० सा० सं०	कबीर साखी-संग्रह	कबीर
क० र०	कवित्त रत्नाकर	सेनापति
का० क० द्रु० का० कल्प०	काव्यकल्पद्रुम	कन्हैयालाल पोद्दार
का० द०	काव्यदर्पण	रामदहिन मिश्र
का० नि०	काव्यनिर्णय	भिखारीदास
का० प्र०	काव्यप्रकाश	मम्मट
का० मी०	काव्यमीमांसा	राजशेखर
का० द० काव्य०	काव्यादर्श	दण्डी
का० र०	काव्यमें रस	आनन्दप्रकाश दीक्षित
का० वि०	काव्यविलास	प्रतापसाहि
काव्यानु०	काव्यानुशासन	हेमचन्द्र
काव्या० काव्यालं० का० अ०	काव्यालंकार	भामह तथा रुद्रट
का० सा० सं०	काव्यालंकारसार-संग्रह	उद्भट
का० सू० वृ०	काव्यालंकारसूत्रवृत्ति	वामन
कुवल०	कुवलयानन्द	अप्पय दीक्षित
के० ग्र०	केशव-ग्रन्थावली	
को० स्मा० सं०	कोशोत्सव स्मारक संग्रह	
गीता०	गीतावली	तुलसीदास

गो० बा०	गोरखबाणी	सं० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
ज्ञा० मं०	ज्ञानमंजरी	नन्ददास
ज्ञा० गू०	ज्ञानगूदड़ी	कबीर
चन्द्रा०	चन्द्रावली	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
चिं० म०	चिंतामणि	रामचन्द्र शुक्ल
चि० मी०	चित्रमीमांसा	अप्पय दीक्षित
छन्दोऽनु० छं०	छन्दोऽनुशासन	हेमचन्द्र
छन्दो०	छन्दोर्णव	भिखारीदास
छं० प्र०	छन्दप्रभाकर	जगन्नाथप्रसाद भानु
छां०	छान्दोग्योपनिषद्	
जं० ना०	जंगनामा	श्रीधर
जगत० जगद्वि०	जगद्विनोद	पद्माकर
ज० व०	जयद्रथवध	मैथिलीशरण गुप्त
जा० ग्र०	जायसी-ग्रन्थावली	सं० रामचन्द्र शुक्ल
त० दी० नि०	तत्त्वदीपनिबन्ध	वल्लभाचार्य
द० रू० दश०	दशरूपक	धनंजय
न० र० त०	नवरस तरंग	बेनी प्रवीन
ना० द०	नाट्यदर्पण	रामचन्द्र गुणचन्द्र
ना० ल० र० को०	नाट्यालंकार रत्नकोश	सागरनन्दी
ना० शा० नाट्य०	नाट्यशास्त्र	भरत
ना० भ० सू०	नारदीय भक्तिसूत्र	
पत्रा०	पत्रावली	मैथिलीशरण गुप्त
पद्मा०	पद्माभरण	पद्माकर
पिं० सू०	पिंगलसूत्र	पिंगलाचार्य
पृ० रा०	पृथ्वीराज रासो	चन्दबरदाई
प्र० वि०	प्रतापसिंह विरुदावली	पद्माकर
प्रा० सं०	प्राण संगली	नानक
प्रि० प्र०	प्रियप्रवास	अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध
बरवै० ब० नायिका	बरवैनायिका भेद	रहीम
बि० र०	बिहारी रत्नाकर	सं० जगन्नाथदास 'रत्नाकर'
बि० स०	बिहारी सतसई	बिहारी
बृहदा०	बृहदारण्यक	
ब्रजभाषा० ब्र० भा० ना० ब्र० भा० नायिका० ब्र० सा० ना०	ब्रजभाषा साहित्यमें नायिकाभेद	प्रभुदयाल मीतल
ब्र० सू०	ब्रह्मसूत्र	
भ० र० सि०	भक्तिरसामृतसिन्धु	रूपगोस्वामी
भ० सू०	भक्तिसूत्र	
भा० ग्र०	भारतेन्दु-ग्रन्थावली	
भा० ना०	भारतेन्दु नाटकावली	

भा० प्र०	भावप्रकाश	शारदातनय
भा० भू०	भारतीभूषण	अर्जुनप्रसाद केडिया
भा० भू०	भाषाभूषण	जसवन्तसिंह
भा० वि० भाव०	भावविलास	देव
भ्र० गी० सा०	भ्रमरगीतसार	सं० रामचन्द्र शुक्ल
मानस	रामचरितमानस	तुलसीदास
मी० प०	मीरा पदावली	परशुराम चतुर्वेदी
र० क०	रसकलश	अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'
र० ग०	रसगंगाधर	पण्डितराज जगन्नाथ
र० त०	रसतरंगिणी	भानुदत्त
र० पी० नि०	रसपीयूषनिधि	सोमनाथ
र० प्र०	रसप्रदीप	प्रभाकर
र० प्रि० रसिक०	रसिकप्रिया	केशवदास
र० मं०	रसमंजरी	भानुदत्त
र० मी०	रसमीमांसा	रामचन्द्र शुक्ल
र० र०	रसज्ञरंजन	महावीरप्रसाद द्विवेदी
र० र०	रसरहस्य	कुलपति
र० रा०	रसराज	मतिराम
र०, र० व०	रघुवंश	कालिदास
र० वि०	रसविलास	देव
र० वि०	रसविमर्श (मराठी)	वाटवे
रस० र०	रसरत्नाकर	जगन्नाथप्रसाद भानु
र० सा०	रससारांश	भिखारीदास
रा० रा० क०	रागकल्पद्रुम	
रा० चं०	रामचन्द्रिका	केशवदास
रा० च० मा० रा० च० राम०	रामचरितमानस	तुलसीदास
रा० पं०	रासपंचाध्यायी	नन्ददास
रा० भ० सिं०	रायसा भगवन्तसिंह	सदानन्द
रा० वि०	राजविलास	मानकवि
रा० स्व०	रामस्वयंवर	रामचरित उपाध्याय
री० का० भू०	रीतिकाव्य की भूमिका	नगेन्द्र
ल० ल० ललि०	ललितललाम	मतिराम
व० जी०	वक्रोक्तिजीवित	कुन्तक
वा० भू०	वाणीभूषण	दामोदर मिश्र
वि० प०	विनय-पत्रिका	तुलसीदास
वि० म०	विरहमंजरी	नन्ददास
वी० च०	वीरसिंहदेवचरित	केशवदास
वृत्त०	वृत्तरत्नाकर	केदार भट्ट
वृ० त०	वृत्ततरंगिनी	रामसहाय
व्य० वि०	व्यक्तिविवेक	महिम भट्ट

श० र०	शब्दरसायन	देव
शि० बा०	शिवा बावनी	भूषण
शि० भू०	शिवराजभूषण	भूषण
शृं० द०	शृंगारदर्पण	अकबरसाहि
शृं० नि०	शृंगारनिर्णय	दास
शृं० प्र०	शृंगारप्रकाश	भोज
सं० सा० इ०	संस्कृत साहित्यका इतिहास	कन्हैयालाल पोद्दार
स० क०	सरस्वतीकण्ठाभरण	भोज
सा०	साकेत	मैथिलीशरण गुप्त
सा० द०	साहित्यदर्पण	विश्वनाथ
साहित्या० सा० लो०	साहित्यालोचन	श्यामसुन्दरदास
सा० पा०	साहित्य पारिजात	मिश्रबन्धु
सु० च०	सुजानचरित	सूदन
सु० नि०	सुधानिधि	तोष
सु० सा०	सुजानसागर	घनानन्द
सू० सा०	सूरसागर	सूरदास
सू० सा० सा०	सूरसागरसार	सं० धीरेन्द्र वर्मा
सौ० शा०	सौन्दर्यशास्त्र	हरद्वारीलाल शर्मा
स्ट० इ० नाय० भेद	स्टडी इन नायक-नायिका भेद	राकेश गुप्त
ह० भ० र० सिं०	हरिभक्तिरसामृतसिन्धु	रूपगोस्वामी
ह० रा०	हम्मीर रासो	जोधराज
हि० ध्व०	हिन्दी ध्वन्यालोक	विश्वेश्वर
हि० वि०	हिम्मतबहादुर विरुदावली	पद्माकर
हि० अ० सा०	हिन्दी अलंकार-साहित्य	ओमप्रकाश
हि० र० गं०	हिन्दी रसगंगाधर	
हि० ना० वि०	हिन्दी नाट्यविमर्श	गुलाबराय
हि० भा० का० इ०	हिन्दी भाषाका इतिहास	धीरेन्द्र वर्मा
हि० सा० इ०	हिन्दी साहित्यका इतिहास	रामचन्द्र शुक्ल
हि० सा० सा०	हिन्दी साहित्य साधना	विश्वनाथप्रसाद मिश्र

अन्य संकेत

अ०	अंक
अधि०	अधिकरण
अध्य०	अध्याय
अनु०	अनुवाद
अनु०	अनुच्छेद
अप्र०	अप्रकाशित
ई०	ईसवी सन
ई० पू०	ईसवी पूर्व सन्
उत्त०	उत्तरार्ध
उदा०	उदाहरण
ख०	खण्ड
ग्र०	ग्रन्थावली
द० स्कं०	दशम स्कन्ध (श्रीमद्भागवत)
दे०	देखिये
ना० प्र० स०	नागरीप्रचारिणी सभा
पं०	पंक्ति
परि०	परिच्छेद
पूर्व० / पूर्वा०	पूर्वार्ध
पृ०	पृष्ठ
प्र०	प्रकाश
प्र० सं०	प्रथम संस्करण
वि० / वि० सं०	विक्रमी संवत्
वें० प्रे०	वेंकटेश्वर प्रेस
वृ०	वृत्ति
श०	शताब्दी
स०	सम्पादक
संचारी०	संचारी भाव
स० सं०	सभा संस्करण
हि० सा० स०	हिन्दी साहित्य सम्मेलन

हिन्दी साहित्य कोश

भाग १

अंक—दे० 'नाटक'।

अंक (उत्सृष्टिकांक)—नाटकोंमें भी अंक होते हैं, अतः उनसे इस रूपक प्रकारकी भिन्नता दिखानेके लिए इसका नाम उत्सृष्टिकांक रखा गया। आचार्य विश्वनाथका मत है कि इसमें सृष्टि उत्क्रान्त अर्थात् विपरीत रहती है, इसलिए इसे उत्सृष्टिकांक कहा जाता है। भरतमुनिका मत है कि अंकका इतिवृत्त **प्रख्यात** अथवा कभी-कभी **अप्रख्यात** होता है। पात्र दिव्यपुरुष नहीं होते। इसमें करुणरसकी प्रधानता होती है और स्त्रियोंका विलाप युद्धोपरान्त पाया जाता है। विलापकर्ताओंकी व्याकुलताभरी चेष्टाओंका नाना प्रकारसे प्रदर्शन होता है, जिसमें सात्वती, आरभटी और कैशिकी वृत्तियाँ नहीं होतीं। दिव्यनायकयुक्त दृश्य-काव्य, जिसमें युद्ध, बन्ध और वध पाया जाय, भारतवर्षमें ही रचने योग्य है। आचार्य भरतमुनिने इसके कारणोंपर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला है ('नाट्यशास्त्र', निर्णय० प्रेस, बम्बई, १८ अध्याय, श्लोक १५०, १५२)।

धनंजयने **प्रख्यात** वृत्तको कल्पना-बलसे विस्तृत कर देना आवश्यक माना है। इसमें नायक एवं अन्य पात्रोंका साधारण व्यक्ति होना अनिवार्य है ('दशरूपक', तृतीय प्रकाश, ७०, ७१)। धनंजयके समान विश्वनाथका भी मत है कि इसके नायक साधारण पुरुष होते हैं और इसमें जय-पराजयका वर्णन एवं वाक्कलह तथा निर्वेदके वचन पाये जाते हैं।

उत्सृष्टिकांकका शारदातनयने विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। उनका कथन है कि भरतमुनि इस रूपकमें एक ही अंक, कोहल दो अंक तथा व्यासांजन आदि तीन अंक मानते हैं। उन्होंने इसका नायक दिव्यपुरुष माना है। सागरनन्दी इसमें दिव्यपुरुष पात्रोंका प्रवेश स्वीकार नहीं करते। शारदातनयने भरतमुनिके मतका आश्रय लेते हुए इस रूपकको केवल भारतवर्षमें उपयुक्त माना है। उन्होंने आचार्य शंकुकका नामोल्लेख करके अपने मतकी पुष्टि की है (भावप्रकाश, पृ० २५१-५३)।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने इसमें एक अंक माना है और इसके नायकको गुणी एवं आख्यानको प्रख्यात माना है। बाबू गुलाबराय इसमें करुणरस प्रधान और **मुख** एवं **निर्वहण** सन्धियाँ स्वीकार करते हैं। कीथका मत है कि जब नाटकके अन्तर्गत नाटक आ जाता है तो वह अंक कहलाता है, पर यह मत सर्वमान्य नहीं। संस्कृतमें उत्सृष्टिकांकका उत्तम उदाहरण भासका 'उरुभंग' है। —द० ओ०

अंकावतार—यह **अर्थोपक्षेपक**का एक भेद है। धनंजयके मतानुसार जहाँ प्रथम अंककी वस्तुका विच्छेद किये बिना दूसरे अंककी वस्तुकी योजना हो, वहाँ अंकावतार होता ह (दशरूपक, १।६२)। धनिकने इसे स्पष्ट करते हुए लिख है कि जब एक अंकके पात्र उसी अंकके अन्तमें किसी बात सूचना दें और वे ही पात्र उसी कथावस्तुको लेकर, उ बिना विच्छिन्न किये ही, दूसरे अंकमें प्रविष्ट दिखायी दें अंकावतार **अर्थोपक्षेपक** होता है।

धनंजय और धनिककी अपेक्षा विश्वनाथने 'साहि दर्पण'में 'अंकावतार'की परिभाषा अधिक स्पष्ट दी है "अंकान्ते सूचितः पात्रैस्तदंकस्याविभागतः। यत्रां वतरत्येषोऽकावतार इति स्मृतः॥" अर्थात् पूर्व अंकके अ उसी अंकके पात्रों द्वारा सूचित किया गया जो अगला अवतीर्ण होता है, उसे अंकावतार कहते हैं, जैसे 'शाकुन्त में पंचम अंकके अन्तमें उसके पात्रों द्वारा सूचित कि हुआ षष्ठ अंक पूर्वसे (उसका अंग जैसा) ही अव हुआ है। —व०

अंकास्य—यह **अर्थोपक्षेपक**का एक भेद है। एक अं पश्चात् उसी अंकमें प्रयुक्त पात्रों द्वारा जब किसी छूटे अर्थकी सूचना दी जाती है तब अंकास्य अर्थोपक्षेपक है। कुछ आचार्योंने अंकास्यका अलग भेद न मानकर **अंकावतार**के अन्तर्गत ही रखा है। विश्वनाथने ध मतानुसार अंकास्यकी परिभाषा देते हुए कहा है, " धनिकमतानुसारेणोक्तम्। अन्ये तु अंकावतारेणवेदं गत इत्याहुः।" 'अन्ये'के नामपर इसे विश्वनाथका ही समझना चाहिए। —व०

अंगज अलंकार—सात्त्विक अलंकारोंका एक भेद, भरत द 'नाट्यशास्त्र' (३ ई० पू०) में सर्वप्रथम उल्लिखित नायिकाओंके आंगिक विकार या क्रियाव्यापार, जिनसे उनके मनमें तारुण्य प्राप्त करनेपर उद्भव और विका पानेवाले कामका संकेत मिलता है। भरतके अनुसार 'भाव, हाव तथा हेला एक-दूसरेसे उद्भूत होते हुए 'सत्त्व' विभिन्न रूप होनेके कारण शरीरसे सम्बद्ध माने जाते हैं' (ना०, २४।६)। आगे उनका कहना है, "'सत्त्व' शरीरसे सम्बद्ध है, 'भाव' सत्त्वसे उत्पन्न होता है, 'हाव' भावसे उत्पन्न होता है और 'हेला' हावसे" (ना०, २४।७)। विशेष दे० 'सात्त्विक अलंकार'।

भाव अलंकार—संस्कृतमें प्रायः अंगज अलंकारका भेद माना जाता है और हिन्दीमें सुन्दरने (१६३१ ई०) भावपर हावोंसे अलग विचार किया है। नन्ददासने सर्वप्रथम इसका विवेचन किया है। कुमारमणिने 'रसिक-रसाल'

:८(१७१९ ई०)में 'हाव'के स्थानपर 'भाव' शब्दका प्रयोग किया है और सर्वप्रथम 'भाव'को भेदके रूपमें इसके अन्तर्गत स्वीकृति भी दी है। आधुनिक विवेचकोंमे कन्हैयालाल पोद्दार तथा श्यामसुन्दर दासने पुनः संस्कृत-विभाजनको मानकर भावको अंगज अलंकार माना है।

भरतके आधारपर धनंजयका कथन है, 'निर्विकारात्मकात्सत्त्वाद् भावस्तत्राद्यविक्रिया' (दशरूपक, २।३३), निर्विकार चित्तमे यौवनोद्गमके समय आरम्भ होनेवाला विकाररूप आदि स्पन्द ही भाव है। जिस प्रकार बीजका आदि विकार अंकुरके रूपमें प्रकट होनेसे पूर्व स्थूलता आदि के रूपमें प्रकट होता है, उसी प्रकार यौवनोद्गमके साथ मनमें जिस कामविकारका वपन होता है, वही 'भाव' कहलाता है। उदाहरण—'गहि हाथसों हाथ सहेलीके साथमें आवति ही वृषभान लली। मतिराम सु बात ते आवत नीरे निवारत भौंरनकी अवली। लखिके मनमोहन कौ सकुची, करयो चाहति आपनि ओट अली। चित चोरि लियो दृग जोरि तिया मुख मोरि कछू मुसकाय चली' ('रसराज', ३११)।

हाव अलंकार—संस्कृतमें प्रायः अंगज अलंकारका भेद, पर हिन्दीमें 'हाव' शब्दका प्रयोग सम्पूर्ण सात्त्विक अलंकारों- (दे०) के लिए भी होता है। संस्कृत लेखकोंमें भानुदत्तने लीला विलासादि दश अलंकारोंको 'हाव'की ही संज्ञा दी है। वह हावको नारीकी स्वाभाविक चेष्टा मानते हैं। पुरुषोंमे भी लक्षित होनेवाले बिब्बोक, विलास, विच्छित्ति तथा विभ्रम केवल उपाधि स्वरूप ही उनमें होते हैं। भरतके अनुसार "सत्त्व भावके उद्रेकके साथ अन्य व्यक्तिके प्रति व्यंजित होता है और इसीकी विभिन्न स्थितियोंसे सम्बद्ध 'हाव' देखे जा सकते है" ('नाट्यशास्त्र', २४।९)। धनंजयके अनुसार—"हेलादय श्रृंगारो हावोऽक्षिभ्रूविकारकृत्" ('दशरूपक', २।३४)। भावकी वह विकसित अवस्था, जिसमें भोगेच्छा-प्रकाशक कटाक्षपात आदि विकार प्रकट होने लगते हैं, 'हाव' कहलाती है। मनमें अवस्थित भाव ही हावके रूपमें विशेष व्यक्त हो जाता है। हिन्दीमें नन्ददासने इसका सर्वप्रथम उल्लेख किया है। और देवका कथन है कि यद्यपि यह सभी प्रकारकी नायिकाओंमें होते हैं, किन्तु प्रौढ़ाओंमें यह विशेष रूपसे लक्षित किये जाते है। उदाहरण—"सरसावति काको नही, रस निचुरत मुसुकान। तिरछी चितवन कहति है, तिय चितकी बतियान" (हरिऔध : 'रसकलश')।

हेला अलंकार—संस्कृतकी परम्परामें अंगज अलंकारका भेद, हिन्दीमें नन्ददास (१६ श० ई० उ०) द्वारा उल्लिखित और बादमें 'हाव'के अन्तर्गत स्वीकृत। ललित अभिनययुक्त नाना विकारोंके द्वारा हावका श्रृंगाराकृतिको सुव्यक्त एवं सुस्पष्ट करता हुआ भावको अधिकाधिक व्यक्त करना। भरत (३ श० ई०) ने 'ललित अभिनय' द्वारा अभिव्यक्त श्रृंगाररसपर आधारित प्रत्येक व्यक्तिके 'भाव'को 'हेला' कहा है ('नाट्यशास्त्र', २४।११)। धनंजय (१० श० ई०)ने इसका लक्षण दिया है—"स एव हेला सुव्यक्तश्रृंगाररससूचिका" (दशरूपक, २।३४), अर्थात् श्रृंगारकी सहज संकेत देनेवाली अभिव्यक्ति। नन्ददास इसका वर्णन करते है—"छिनछिन बान बनायौ करै, बार बार कर दरपन धरै। अति सिगार मगन मन रहै, ताकौ कवि हेला [illegible] ('रसमंजरी')। केशवके अनुसार—"पूरन प्रे[illegible] भूलत लाज समाज" ('रसिकप्रिया', ६।१८) पद्माकरने दस 'हावों'के बाद 'हेला'का लक्षण भी "दें जु ढिठाई नाह सँग प्रगटै बिबिध विल[illegible] ग्यारहो हाव सों हेला नाम प्रकास" ('जगद्विनोद[illegible]

बिहारीके इस दोहेमें नारी-सौन्दर्यका यह 'छिनकु चलति ठिठकति छिनकु, भुज प्रीतम [illegible] चढ़ी अटा देखति घटा, बिज्जु छटा सी नारि[illegible] ३८४)। इसी प्रकार पद्माकरका उदाहरण है—" वही मुसकाइ लला फिरि आइयो खेलन ('जगद्विनोद', ४६०)। —आ[illegible]

अंगुष्ठ मात्र पुरुष—श्रुतियोंमें जहाँ ब्रह्मको सब वाला, सम्पूर्ण रूप, रस, गन्ध, स्पर्शका आश्रय[illegible] और सर्वव्यापी कहा गया है, वही उसे छोटा-[illegible] बताया गया है। सन्तोंके साहित्यमें राम, रहीम, केशव आदि नामोंसे अभिहित ब्रह्म भी इन दो[illegible] बहुधा वर्णित हुआ है। अपने इस छोटे-से-छोटे 'वामन' है, हृदय-कमल-वासी है, अंगुष्ठ म[illegible] (=अंगूठेके आकार वाला) है। ऐसे स्थलो पर ही भाँति सन्तोंका अभिप्राय भी बहुधा जीवात्म[illegible] है। अंगुष्ठमात्र पुरुष अर्थात् जीवात्मा। —

अंग्रेजी (साहित्य)—अंग्रेजी अर्थात् इंगलिश इ[illegible] इंग्लैण्ड देशके निवासियोंकी भाषा है। अब इसी अर्थमें इस नामका प्रयोग होता है, किन्तु यह केवल इंग्लैण्डमें वरन् अपने न्यूनाधिक परिवर्ति[illegible] अमेरिका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड तथा दक्षिणी [illegible] कतिपय भागोंमें काममें लायी जाती है। इसके [illegible] संसारके अनेक देशोंमें सांस्कृतिक तथा व्यापारिक प्रदानके लिए अंग्रेजी भाषाका प्रयोग बहुसंख्यक ल[illegible] है। निश्चित रूपसे यह कहना कि अंग्रेजी बोल[illegible] संख्या संसारमें कितनी है, कठिन है। प्रोफेसर अ[illegible] रिचर्ड्सका अनुमान है कि कुल प्रायः २०[illegible] लोग अंग्रेजी भाषा बोलते है। नवीं शतीमें (english) शब्दसे उन सभी बोलचालकी भाषाओ[illegible] होता था, जो ब्रिटेनके ऐंग्ल, सैक्सन और जूट निवासियोंमे प्रचलित थी। इस तरह इंगलिश नामकरण इंग्लैण्ड देशके नामकरणके पूर्व ही हो चु[illegible]

ईसा पूर्व नवी शतीके लगभग केल्ट जातिके आधुनिक इंग्लैण्ड और आयरलैण्डके द्वीपोंपर अधिक[illegible] किया। तदुपरान्त उन्हींकी सभ्यता और भाषाका हुआ। रोमन लोगोंने इस द्वीपसमूहको ४३ ई० [illegible] अधीन किया और पाँचवी शतीके आरम्भतक वहाँ करते रहे। उनकी सभ्यताका देशपर व्यापक प्रभाव पाँचवी शतीमें जब बर्बर जातियोंने रोमन सा[illegible] आक्रान्त किया, उस समय रोमन ब्रिटेनको छोड़[illegible] गये। उसी शताब्दीमें जर्मनीमें एल्ब नदीके तटपर वाली ट्यूटन जातियोंने ब्रिटेनपर हमला किया जातियोंमे प्रमुख थीं ऐंग्ल, सैक्सन और जूट। लगभ[illegible] सौ वर्षके अन्तर्गत इन सशक्त जातियोने प्रायः सम्पूर्ण

को अपने अधिकारमे कर लिया और केल्ट जातिके लोगोंने भागकर वेल्स, कार्नवाल, केन्ट आदि दूरस्थ भागोंमें आश्रय लिया। अंग्रेजी भाषाका प्रादुर्भाव इन्हीं नवागत जातियोंकी बोलचालकी भाषाके रूपमें हुआ। विभिन्न जातियोंके लोग अपनी अलग-अलग भाषा बोलते थे, किन्तु उनमे एक सामान्य एकता थी। इन बोलचालकी भाषाओंपर केल्टिक भाषाका भी प्रभाव पड़ा। इंगलिश नामकी व्युत्पत्ति ऐंग्लसे है। इस प्रारम्भिक कालसे लेकर ११ वीं शतीतक अंग्रेजी भाषाका जो रूप था, उसे 'ओल्ड इंगलिश' अर्थात् 'प्राचीन अंग्रेजी' भाषाकी संज्ञा दी जाती है। १०६६ ई०में नार्मन राजा विलियम-दी-कांकररने हेस्टिंग्सके युद्धक्षेत्रमें अंग्रेजोंको परास्त किया और तबसे अंग्रेजी भाषाके इतिहासमे एक नवीन युगका आरम्भ हुआ। नार्मन मूलतः डेन जातिके लोग थे, जो अनेक शताब्दियोंसे फ्रांसमें बस गये थे। वे फ्रांसके मूल निवासियोंसे घुलमिल गये थे और फ्रेंच भाषा बोलते थे। इस भाँति उनके अगमनसे अँग्रेजी भाषापर नार्मन अथवा फ्रांसीसी भाषाका गहरा प्रभाव पड़ा। कुछ समयतक सैक्सन और नार्मन भाषाएँ अलग रहीं, किन्तु बादमे उनका मिश्रण होने लगा और दोनोंने मिलकर भाषाका एक नवीन रूप धारण किया। ११वीं शतीसे १५वीं शतीके बीच विकसित होनेवाली अंग्रेजी भाषाको 'मिडिल इंगलिश' अर्थात् 'मध्य अंग्रेजी' भाषा कहते हैं। १५वीं शतीमें सर्वप्रथम अँग्रेजीका आधुनिक परिनिष्ठित स्वरूप प्रकट हुआ। इस नवीन विकासके अनेक कारण थे। चॉसरकी कविता, जिसमें भाषाकी नवीन विशेषता थी, लोकप्रिय हुई और उसके साथ-ही-साथ लन्दनकी दरबारी और कचहरीकी भाषा तथा ऑक्सफोर्डके विद्वानोंकी परिमार्जित भाषाका भी प्रचलन बढा। इन सबके मेल-जोलसे एक ऐसी सामान्य परिष्कृत भाषाका आविर्भाव हुआ, जिसमे टिण्डलने बाइबिलका अनुवाद किया (१५२५ ई०) और जिसमे लिखी हुई पुस्तकोंको कैक्स्टनने अपने छापाखानेमें छापकर देशभरमें प्रसारित किया। तबसे अबतक उसी परिनिष्ठित अंग्रेजी भाषाका क्रमिक विकास होता आया है। इंग्लैण्डके विभिन्न प्रान्तोंकी बोलचालकी अपनी निजी भाषाएँ हैं। इन बोलचालकी भाषाओंका महत्त्व दिन-प्रति-दिन घटता जा रहा है और परिनिष्ठित अंग्रेजी भाषाका आधिपत्य बढ़ता जा रहा है। यही भाषा आज इंग्लैण्डकी साहित्यिक भाषा है। आधुनिक परिनिष्ठित अंग्रेजी भाषाका सबसे सीधा सम्बन्ध मध्यवर्ती इंग्लैण्डकी बोलचालकी भाषासे है।

अंग्रेजी भाषाका निर्माण दो विभिन्न उपकरणोंसे हुआ है। उसका मूल ढाँचा उन प्राचीन जर्मन बोलियोंसे लिया गया है, जिनका उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं। अतः जर्मन भाषा और अंग्रेजी भाषामें एक प्रकारका साम्य निहित है। किन्तु मध्य अंग्रेजी और पुनर्जागरणके कालसे लेकर आजतक आधुनिक अंग्रेजी भाषाने बहुसंख्यक लैटिन मूलके शब्दोंको ग्रहण किया है। अंग्रेजी शब्दावलीमें लैटिन, फ्रेंच, इटैलियन प्रभृति भाषाओंसे लिये गये शब्दोंकी संख्या काफी बढ़ी है। अंग्रेजीकी ग्राहिकाशक्ति विशेष उल्लेखनीय है। इस जीवित भाषामें शब्दोंको ग्रहण तथा आत्मसात् करनेकी अद्भुत क्षमता है। इसका सबसे अच्छा प्रमाण वर्तमान युगमें अमेरिकामें मिल है। यूनाइटेड स्टेट्सकी भाषा प्रधानतः अंग्रेजी है, कि उसमें विविध स्रोतोंसे अनगिनत शब्द आकर घुल गये हैं। अंग्रेजीमें फारसी, अरबी, संस्कृत, हिन्दी आ भी बहुसंख्यक शब्द ले लिये गये हैं। आधुनिक अंग्रे भाषाकी एक और विशेष प्रवृत्ति यह है कि विभक्तियोंका परित्याग करके अर्थकी अभिव्यक्तिके उपसर्गों और मुहावरोंसे अधिकाधिक काम लिया जा है। इस भाँति पुरानी अंग्रेजीकी अपेक्षा आधुनिक अंग्रे अर्थविस्तार तथा सूक्ष्म भावोंके प्रकाशनकी शक्ति गयी है। अंग्रेजी शब्दोंकी वर्णरचना और उनके उच्चा कभी-कभी भेद देखा जाता है, और कुछ लोग इसे भा का दोष मानते हैं; किन्तु इस असंगतिका कारण केवल य है कि अँग्रेजी भाषाके विकासमे शब्दोंकी ध्वनिको विशेष महत्त्व दिया गया, उनके अक्षरो द्वारा चित्रमय प्रदर्शनको नहीं। ध्वनिकी दृष्टिसे भाषामें सर्वत्र कुछ-न-कुछ तारतम्य अवश्य मिलता है।

पुरानी अंग्रेजीका जो साहित्य उपलब्ध है, उसके आधारपर पता लगता है कि प्राचीन युगके लेखकों और कवियोंकी विशेष रुचि यात्रावर्णन तथा रोचक कहानी कहनेमें थी। उस युगकी प्रमुख रचनाएँ हैं 'विडसिथ', 'दी वाण्डरर' तथा 'बिओल्फ'। मध्य अंग्रेजीकी दो शाखाएँ थीं। पश्चिमी शाखामें पूर्ववर्ती एंग्लो-सैक्सन साहित्यकी परम्परा अक्षुण्ण बनी रही। इस शाखाकी प्रतिनिधि रचनाएँ हैं विलियम लैंगलैण्डकी 'दी वीजन आफ़ पीयर्स प्लाउमैन' और किसी अज्ञात कवि द्वारा विरचित 'गेवेन ऐण्ड दी ग्रीन नाइट' तथा 'दी पर्ल'। दूसरी अर्थात् दक्षिण-पूर्वी शाखाके प्रतिनिधि लेखक थे जॉन गोवर (१३२५-१४०८ ई०) तथा चॉसर (१३४०-१४०० ई०)।

चॉसर आधुनिक अंग्रेजीका प्रथम कवि माना जाता है और उसकी रचनाओंका अंग्रेजी साहित्यमें विशेष महत्त्व है। इसके उपरान्त प्रायः डेढ सौ वर्षतक उसका अनुकरण होता रहा और कोई महान् कवि नहीं पैदा हुआ। इसी कालमें पहले-पहल कैक्स्टनने इंग्लैण्डमें छापाखाना स्थापित किया। मुद्रणकी सुविधासे गद्य-साहित्यकी विशेष उन्नति हुई। लगभग १६वीं शतीके मध्यसे इंग्लैण्डमें यूरोपीय नवजागरण (रिनेसाँ)का प्रभाव प्रकट होने लगा। प्राचीन साहित्यके अध्ययनके साथ-ही-साथ फ्रेंच तथा इटैलियन साहित्यका भी अध्ययन होने लगा और इन तीनोंके सम्मिलित प्रभावसे अंग्रेजी साहित्यका नवोत्थान हुआ। कविताके क्षेत्रमें वायट, सरे, 'फेयरी क्वीन'के प्रणेता एडमंड स्पेंसर (१५५२-९९ ई०), सर फिलिप सिडनी प्रभृतिने विशेष यश प्राप्त किया। नाटकका महत्त्वपूर्ण अभ्युदय हुआ तथा ग्रीन (१५६२-९२ ई०), लिली (१५५४-१६०६ ई०), टामस किड (१५५७-९५ ई०), मार्लो (१५६४-९३ ई०) आदि नाटककारोंने अपनी सुन्दर कृतियाँ प्रस्तुत कीं। अंग्रेजी नाट्य-साहित्यका चरम उत्थान शेक्सपीयर (१५६४-१६१६ ई०) की रचनाओंमें हुआ। शेक्सपीयरके

नाटक तथा काव्य विश्व-साहित्यकी गौरवपूर्ण विभूति हैं।

सत्रहवीं शतीमे बहुत बड़ी संख्या मे अंग्रेजी नाटक लिखे गये। बेन जॉन्सन (१५७३-१६७३ ई०) ने शेक्सपीयरके रूमानी नाटकोंके विपरीत क्लासिकी आदर्शपर सुखान्त और दुःखान्त नाटकोंकी रचना की। बेमेंट और फ्लेचरने अनेक सुखान्त और दुःखान्त-सुखान्त नाटकोका सफल निर्माण किया। चेपमैन (१५५९-१६३४ ई०), वेब्स्टर (१५८०-१६२५ई०), शर्ले (१५९६-१६६६ ई०), टूर्नो (१५७५-१६२६ ई०) आदिने प्रतिहिंसाविषयक रोमांचकारी दुःखान्त नाटकोंका प्रणयन किया। टामस मिडल्टन (१५७०-१६२७ ई०) और फिलिप मेसिंजर (१५८३-१६४८ ई०)ने अपने कतिपय सुखान्त नाटकोंकी सफलता द्वारा विशेष ख्याति अर्जित की। १६४२ ई० से १६६० ई० तक लन्दनके नाट्यगृह प्यूरिटनों द्वारा बन्द कर दिये गये। १६६० ई० के उपरान्त नाटकोंकी रचना और उनका प्रदर्शन फिर आरम्भ हुआ। दुःखान्त नाटकोंका एक नया रूप सामने आया। इसके प्रमुख लेखक थे ड्राइडेन (१६३१-१७०० ई०), आट्वे (१६५२-८५ ई०) और ली (१६५३-९२ ई०)। सुखान्त नाटकोंकी १६६० ई०के बाद विशेष प्रगति हुई। परिष्कृत भाषामें उच्च वर्गके जीवनका इसमें चित्रण किया गया। इस वर्गके प्रमुख लेखक थे इथरिज (१६३४-९१ ई०), बाइकरले (१६४०-१७१६ ई०) और कांग्रीव (१६७०-१७२९ ई०)। शताब्दीके प्रथम अर्द्धांशमें स्पेन्सर, शेक्सपीयर और बेन जॉन्सनसे प्रभावित होकर कविता लिखी गयी। आध्यात्मिक काव्यके प्रधान रचयिता थे जॉन डॉन (१५७२-१६३१ ई०), जिनकी रचनाओंमें धार्मिक विचारों और शृंगारिक भावनाओकी अभिव्यक्ति दुरूह कल्पनाके आधारपर हुई है। बेन जॉन्सन और उनके अनुयायियोकी रचनाएँ अपेक्षाकृत सरल हैं। इस शताब्दीके प्रधान कवि जॉन मिल्टन (१६०८-७४ ई०)-की गणना संसारके महाकवियोंमें होती है। स्फुट काव्यके अतिरिक्त उन्होंने अपने सुविख्यात महाकाव्य 'दी पैराडाइज़ लॉस्ट'की रचना करके अपना नाम अमर बना दिया है। शताब्दीके उत्तरार्द्धके प्रधान कवि थे जॉन ड्राइडेन, जिन्होंने वर्णनात्मक और व्यंग्यात्मक काव्य-रचनामें विशेष सफलता प्राप्त की। ड्राइडेनके पूर्व अंग्रेजी गद्य प्राचीन लैटिन गद्यके अनुकरणमें लिखा जाता था। इस प्राचीन विशद शैलीके प्रमुख लेखक थे टामस ब्राउन (१६०५-८२ ई०), जेरेमी टेलर (१६१३-६७ ई०) और मिल्टन। ड्राइडेनकी रचनाओंमें नवीन अंग्रेजी गद्यकी सृष्टि हुई। नवीन गद्यका निर्माण सुसंस्कृत जनोंकी बोल-चालकी भाषाको आधार मानकर हुआ था।

१८वीं शतीका अंग्रेजी साहित्य गहराईतक उस नव्यक्लासिकी सिद्धान्तसे प्रभावित था, जिसका उद्भव और विकास मुख्य रूपसे फ्रांसमें हुआ था। नियमोंके आग्रह और कठोर नियन्त्रणको मानकर काव्यरचना होती थी। पोप (१६८८-१७४४ ई०)की रचनाओंसे इस बातका स्पष्ट पता लगता है। अनेक अन्य कवियोंके बारेमें भी यही बात सत्य है, किन्तु कुछ ऐसे कवि भी थे, जिनकी रचनाएँ प्रकृति-प्रेम और तीव्र भावनाओंसे उद्भूत थीं। १८वीं शतीमें गद्यकी ही प्रमुखता थी। पत्र-पत्रिकाओंमे प्रकाशित निबन्धोंकी परम्परा सुदृढ़ हो गयी। प्रमुख निबन्धकार थे एडिसन (१६७२-१७१९ ई०), स्टील (१६७२-१७२९ई०), गोल्डस्मिथ (१७३०-७४ ई०) और डॉक्टर जॉन्सन (१७०९-८४ ई०)। इसी शताब्दीमें पाँच यशस्वी लेखकोंने अंग्रेजी उपन्यास-लेखनकी नींव डाली। वे थे फील्डिंग (१७०७-५४ ई०), रिचर्ड्सन (१६८९-१७६१ ई०), स्मॉलेट (१७२१-७० ई० ई०), स्टर्न (१७१३-६८ ई०) और गोल्डस्मिथ। इस कालमें नाटकोंकी कोई विशेष उन्नति नहीं हुई। अधिकांश नाटक भावनाओंके अतिशय प्रदर्शनसे विकृत हो गये थे। शेरिडेन (१७५१-१८१६ ई०) ने कांग्रीवकी पूर्ववर्ती शैलीमें नाटक लिखनेका प्रयास किया। गोल्डस्मिथने भी प्रशंसनीय नाटक लिखे। शताब्दीके पिछले तीस वर्षोंमे परिवर्तनके चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे थे। टॉमस ग्रे (१७१६-७१ ई०), कॉलिन्स (१७२१-५९ ई०), बर्न्स (१७५९-९६ ई०), ब्लेक (१७५७-१८२७ ई०), कूपर आदिकी काव्यरचनाओंके प्रति अनास्था साफ-साफ दिखायी देती है।

अनेक प्रवृत्तियो और प्रभावोने मिलकर उन्नीसवीं शतीके प्रारम्भसे ही अंग्रेजी साहित्यको एक नवीन रूमानी स्वरूप दे दिया। अब नियमोंकी अवहेलना तथा स्वाभाविक प्रेरणाके वशीभूत होकर काव्यरचना होने लगी। कल्पना और भावना, उन्मुक्त तथा शैली निर्बन्ध हो गयी। इस नवीन प्रवृत्तिका सर्वोत्तम प्रतिफलन वर्ड्सवर्थ (१७७०-१८५० ई०), कोलरिज (१७७२-१८३४ ई०), स्कॉट (१७७१-१८३२ ई०), शेली (१७९२-१८२२ ई०), कीट्स (१७९५-१८२१ ई०), बायरन (१७८८-१८२४ ई०) आदिके काव्योंमें हुआ। इस श्रेणीका अधिकांश काव्य मुक्तकोंमें लिखा गया है तथा तीव्र अनुभूतिसे ओतप्रोत है। स्कॉटके उपन्यासों तथा लैब प्रभृति निबन्धकारोंके लेखोंमें भी रूमानी प्रभाव लक्षित हुआ है। सब मिलाकर उन्नीसवीं शतीके ४० वर्षोंका रूमानी साहित्य अत्यन्त रोचक और महत्त्वपूर्ण है।

लगभग १८४० ई० के बाद विक्टोरियन युगका आरम्भ हुआ। इस युगकी अवधि लम्बी थी और इसमें रूमानी और क्लासिकी प्रभावने मिलकर एक सन्तुलित अवस्था उत्पन्न की। विज्ञान तथा औद्योगिक उन्नति एवं पदार्थवादी दर्शनके विकास द्वारा इस नवीन युगकी विशेषताएँ निर्धारित हुईं। किन्तु साथ-ही-साथ पूर्ववर्ती कल्पनाजन्य और भावनाजन्य प्रवृत्तियाँ भी निर्मूल नहीं हुईं। यदि ब्राउनिंग (१८१२-८९ ई०) के काव्यमें रूमानी प्रवृत्तियाँ अधिक स्पष्ट है तो टेनिसन (१८०९-९२ ई०) के काव्यमे क्लासिकी विशेषताओंकी ही प्रमुखता है। आगे चलकर यही मिश्रण मैथ्यू आर्नाल्ड (१८२२-८८ ई०), मेरेडिथ (१८२८-१९०९ ई०), हार्डी (१८४०-१९२८ ई०) प्रभृतिकी रचनाओंमें भी दृष्टिगोचर होता है। गद्य-साहित्यका उत्थान द्रुत गतिसे हो रहा था। उपन्यासोंमें यथार्थ चित्रण डिकेन्स (१८१२-७० ई०), ट्रालोप (१८१५-८० ई०), गिसिंग, थैकरे आदिकी कृतियोंमें काममें लाया गया है। जॉर्ज इलियट (१८१९-८० ई०) आदिने मनोविज्ञानका आधार लिया था। मेरेडिथ और हार्डीने अपना नया जीवन-दर्शन अपनी

रचनाओंमें प्रस्तुत किया। इस शतीमें निबन्ध और आलोचनाकी भी सन्तोषप्रद उन्नति हुई।

बीसवीं शतीका अंग्रेजी साहित्य वैविध्य तथा नवीनता-से समन्वित है। स्वीकृत मूल्योंकी फिरसे जाँच हो रही है और नये-नये प्रयोग किये जा रहे हैं। साहित्य इतने प्रचुर परिमाणमें प्रकाशित हो रहा है कि सामान्य निष्कर्षोंमें उसे समेटना कठिन हो गया है। नाटकोंमें पहले तो यथार्थवादकी ही प्रमुखता थी। बर्नर्ड शॉ (१८५६-१९५० ई०), गाल्सवर्दी (१८६७-१९३३ ई०) आदिने यथार्थ निरूपणकी शैलीमें कतिपय समस्याओंका हल अपने नाटकोंमें प्रस्तुत किया है। इधर पिछले तीस वर्षोंमें काव्य-नाट्य (verse drama) ने महत्त्वपूर्ण प्रगति की है। टी० एस० इलियट, ऑडेन, स्टीफेन स्पेंडर, क्रिस्टोफ़र फ्राई आदिने प्रभावोत्पादक काव्य-नाट्य लिखे हैं। उपन्यास पहले तो सामाजिक विषयोंपर लिखे गये, फिर बादमें मनोवैज्ञानिक तथ्योंपर उनकी रचना हुई। पहली श्रेणीके प्रमुख लेखक हैं—एच० जी० वेल्स (१८६६-१९४६ ई०), गाल्सवर्दी, आर्नाल्ड बेनेट (१८६७-१९३१ ई०) और दूसरी श्रेणीके वर्जीनिया वोल्फ (१८८२-१९४१ ई०), जेम्स ज्वाइस (१८८२-१९४१ ई०), आल्डस हक्सले (१८९४ ई०) आदि। इधर पिछले कुछ वर्षोंसे एलिज़ाबेथ बोवेन, काम्प्टन बर्नेट, ग्राहम ग्रीन आदिने ऐसे उपन्यास लिखे हैं, जिनमें कथाकी रोचकताकी ओर विशेष ध्यान दिया गया है। बीसवीं शतीकी अंग्रेजी कविता १९२० ई० के पूर्व परम्परागत थी। यह बात टामस हार्डी, राबर्ट ब्रिजेज़ (१८४४-१९३० ई०) आदिकी रचनाओंसे विदित है। जार्जियन कवियोंकी रचनाओंमें नवीनता अवश्य थी, किन्तु उन्होंने काव्यके क्षेत्रमें क्रान्ति नहीं उपस्थित की। नवीन कविताका आरम्भ टी० एस० इलियटने किया और उनके बाद ऑडेन, स्पेंडर, लीविस, मैकनीस, डाइलैन टॉमस आदिने उसे निरन्तर अधिकाधिक आधुनिक और चमत्कारपूर्ण बनाया। टी० एस० इलियट और आई० ए० रिचर्ड्सने वर्तमान शतीमें अंग्रेजी आलोचना-शास्त्रको अभूतपूर्व रीतिसे समृद्ध बनाया है। कोलरिज, आर्नाल्ड, वाल्टर पेटर (१८३९-९४ ई०) के साथ-ही-साथ इन दोनों-की भी गणना अंग्रेजीके प्रमुख साहित्यशास्त्रियोंमें की जायगी।

लगभग १९वीं शताब्दीके मध्यसे अंग्रेजी (जो उस समय शासनकी भाषा थी)का प्रचार द्रुतगतिसे भारत-वर्षमें बढ़ने लगा और फलतः हिन्दी साहित्य अंग्रेजी साहित्यसे प्रभावित हुआ। तबसे यह प्रभाव (यहाँ प्रभाव शब्द अपने सीमित, शास्त्रीय अर्थमें प्रयुक्त हो रहा है) निरन्तर बढ़ता गया है। हिन्दी गद्य बहुत हद तक अंग्रेजी गद्यके आदर्शपर विकसित हुआ। कतिपय लेखकोंने प्राचीन संस्कृत गद्यका आदर्श भी सामने रखा, किन्तु उसकी अपेक्षा आधुनिक अंग्रेजी गद्यको ही अधिक अपनाया गया। हिन्दी गद्यसाहित्यके विविध अंगोंपर अंग्रेजी साहित्यकी छाप है। हिन्दी निबन्धोंने अंग्रेजी निबन्धका बराबर अनुकरण किया है। हिन्दी कथासाहित्यने प्राचीन कथा-आख्यायिकाका मार्ग छोड़कर अंग्रेजी उपन्यासोंकी परम्परा अपनायी है। शैली, निर्माणपद्धति तथा उद्देश्य—सभी दृष्टियोंसे आजका हिन्दी उपन्यास यूरोपीय उपन्यासों-का ऋणी है। यही बात लघु कहानियोंके सम्बन्धमें भी ठीक है। हिन्दी नाटकपर १९वीं शताब्दीमें शेक्सपीयरके नाटकोंका प्रभाव पड़ा। उनका अनुवाद हुआ और उन्हींके ढंगपर नाटक लिखे गये। तदनन्तर बराबर अंग्रेजी नाटकोंके प्रभावमें हिन्दी नाटक लिखे गये हैं। उदाहरणार्थ, हिन्दीके समस्यामूलक नाटक इब्सन, शॉ और गाल्स-वर्दीकी रचनाओंसे स्पष्टतया प्रभावित हैं। जयशंकर 'प्रसाद'के नाटकोंमें भारतीय तथा पाश्चात्य प्रणालीका एकीकरण हुआ है। हिन्दी काव्य-नाट्य भी पाश्चात्य काव्य-नाट्यसे प्रभावित है। हिन्दी कविताने १९वीं शताब्दीके उपरान्त निरन्तर अंग्रेजी कवितासे प्रभाव ग्रहण किया है। सबसे अधिक प्रभाव १९वीं शताब्दीके अंग्रेज रूमानी कवियोंका पड़ा है। छायावादी कवितामें यह प्रभाव पग-पगपर दिखलाई पड़ता है। पिछले पचीस वर्षोंमें हिन्दी कवितापर टी० एस० इलियट और उनके परवर्ती अंग्रेजी कवियोंकी कृतियोंका विशेष प्रभाव पड़ा है। —रा० अ० द्वि०

अंतर्बोध–दे० 'अंतश्चेतना'।

अंतर्भावना–यह मानव-चित्तकी एक विशेष 'प्रवृत्तिका' नाम है, जिसे पाश्चात्य मनोविज्ञान 'इन्फीलिंग' कहता है। किसी वस्तुको देख या सुनकर उसके गति, गुण, विस्तार, वैभव आदि प्रविष्ट रूपोंमें प्रेक्षकका 'स्व'को लय करना, जिसके फल-स्वरूप वह 'स्व'में उन गुणोंका अनुभव पा सके। जैसे, प्रवाहकी तरलता, समुद्रका विस्तार, पर्वतकी विशालता, पुष्पोंका मार्दव, संगीतकी संगति, नृत्यकी सन्तु-लित गति आदिके प्रत्यक्ष अनुभवके कालमें, इन गुणोंकी 'स्व'में अनुभूति। 'स्व'का वस्तुके गुणोंमें विलय अतएव वस्तुके गुणोंका 'स्व'में अनुभव—यह अन्तर्भावना है, सौन्दर्यकी अनुभूतिका आधार अन्तर्भावना है, यद्यपि यह प्रवृत्ति साधारण भी है। जैसे उड़ती हुई पतंगकी चंचल क्रीडाका अपनेमें अनुभव करके बालक प्रसन्न होता है। कलात्मक चित्र, मूर्ति आदिमें रेखाओंका विन्यास आदि प्रेक्षकमें अन्तर्भावनात्मक प्रवृत्तियोंको जाग्रत् करते हैं। जैसे, तूफानी समुद्रके एक जापानी चित्रमें रेखाओंके विन्याससे प्रचण्ड लहरोंकी निगलनेवाली शक्तिका प्रेक्षक अनुभव करता है। —ह० ला० श०

अंतःकरण–सत्व, रज, तम—इन तीनों गुणोंकी साम्या-वस्थाका नाम प्रकृति है। प्रकृतिको ही चित्त कहते हैं। योगमें चित्त शब्दका व्यवहार अन्तःकरणके अर्थमें होता है। वैसे अन्तःकरण है एक ही, किन्तु इसके कार्योंकी विभिन्नताको स्पष्ट करनेके लिए इसे कई नाम दिये जाते हैं। सांख्यके अनुसार अन्तःकरण तीन है—मन, बुद्धि और अहंकार। वेदान्तके अनुसार ये चार हैं—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। ये अन्तःकरणके विभिन्न धर्म हैं, जिनके द्वारा जीव जानता, अनुभव करता और इच्छा करता है। जीवकी सीमित अनुभूतिके विकास-क्रमकी दृष्टिसे पहले बुद्धि, फिर अहंकार, फिर मन और अन्तमें चित्तका उद्भव होता है। बुद्धि अन्तःकरणकी वह अवस्था है, जहाँ रजोगुण और

अंश है।

हिन्दीमे सगुण भक्ति-साहित्यमें जीवकी ईश्वरके अंशके रूपमे कल्पना हुई, जो विशिष्टाद्वैतका ही साक्षात् प्रभाव है। तुलसी कहते है : जीव ईश्वरका ही अविनाशी अंश है (ईश्वर अंश जीव अविनासी); जब जीवको, भक्ति द्वारा, भाव्य (अंशी) ईश्वरके स्वरूपका साक्षात्कार हो जाता है, तभी मुक्ति सम्भव होती है।

[सहायक ग्रन्थ—श्रीभाष्य : रामानुजाचार्य; वेदान्त एकार्डिंग टु शंकर एण्ड् रामानुज : राधाकृष्णन्; द फिलासफी ऑव विशिष्टाद्वैत : श्रीनिवासाचारी।] —क० शु०

अंशावतार—जगत्को संचालित करनेवाली भगवत्शक्तिमें सोलह कलाओंकी समष्टि मानी गयी है। जब जितनी कलाको लेकर वह शक्ति अवतरित होती है तव उसे उतने कलाविशेषका अवतार कहा जाता है। श्रीकृष्णके अवतारमें उसकी सोलह कलाएँ समाविष्ट कही गयी हैं।—वि० मो० श०

अकांड छेदन—दे० 'रस-दोष,' छठा।

अकांड प्रथन—दे० 'रस-दोष', पाँचवाँ।

अकुल—दे० 'कुल, अकुल'।

अक्रम—दे० 'शब्द-दोष', सत्रहवाँ, वाक्य-दोष।

अक्रमातिशयोक्ति—दे० 'अतिशयोक्ति,' पाँचवाँ भेद।

अक्ल—परमात्माने अपने ही अनुरूप आदिभूतकी सृष्टि की। परमात्मा 'आदिकारण' है। आदिभूतकी सृष्टि ही 'आदिकारण'की प्रथम अभिव्यक्ति है। यह प्रथम अभिव्यक्ति विशुद्ध ज्ञान है। इसे 'अक्ले अव्वल' अथवा 'अक्ले कुल' (विश्व-ज्ञान) कहते है। अक्लसे अगर बुद्धिका अर्थ लें, जिसके द्वारा मनुष्य अपने जागतिक व्यापारोंकी परिचालना करता है तो उसका स्थान सूफी-साधनामें नही है। बुद्धिके द्वारा परमसत्यकी प्राप्ति नही होती। बुद्धि तर्क करती है और भटकानेवाली है। वह सत्य तर्कसे परे है। वैसे बुद्धि भी शक्तिसम्पन्न हो सकती है, अगर उसपर परमात्माका अनुग्रह हो। कहते है कि जब परमात्माने अक्ल(बुद्धि)का निर्माण किया तब उससे पूछा कि "मै कौन हूँ?" बुद्धि मौन रह गयी। तब परमात्माने अपने 'एकत्व'का प्रकाश उसपर डाला और उसने बतलाया कि "तुम परमात्मा हो।" —रा० पू० ति०

अक्षर धाम—वल्लभाचार्यके शुद्धाद्वैतके अनुसार सच्चिदानन्द ब्रह्मके तीन मुख्य रूप होते है—(१) पूर्ण पुरुषोत्तम रस अथवा अभेद रूप परब्रह्म श्रीकृष्ण, (२) अक्षर ब्रह्म, जो गणितानन्द है और जो दो स्वरूपोंवाला है तथा (३) अन्तर्यामी। अक्षर ब्रह्मके ही दो स्वरूपोंमें एक स्वरूप पूर्ण पुरुषोत्तमका **अक्षर धाम** है और दूसरा काल, कर्म, स्वभाव रूपमें प्रकट होनेवाले, प्रकृति, जीव तथा अनेक देवी-देवताओंके रूपमें परिणत होनेवाला रूप है। पूर्ण पुरुषोत्तमका अक्षर धाम ही **गोलोक** कहलाता है, जहाँ वे अनवतार दशामे नित्य लीलाके आनन्दमें मग्न रहते हैं। विशेषके लिए दे०—'लीला'। —ब्र० व०

अगूढव्यंग्य—गुणीभूत व्यंग्यका वह भेद, जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थके समान स्पष्ट रीतिसे जान पड़ता हो, अर्थात् जिसे सामान्य जन भी सरलतासे समझ लेते हों। संलक्ष्यक्रमध्वनिका शब्दशक्त्युद्भव भेद तथा असंलक्ष्यक्रमध्वनिमें व्यंग्यार्थ अगूढ नही होता है। अतः ये ध्वनियाँ गुणीभूत व्यंग्यके रूपमें नही हो सकती है। 'पानी बाढ़ै नावमें, घरमे बाढ़ै दाम। दोऊ हाथ उलीचियै, यही सयानो काम।' इम उदाहरणमें सम्पत्तिको दोनों हाथोंमें भरकर फेंकनेमें अर्थबाधा होनेके कारण लक्षणामूला अत्यन्त तिरस्कृतवाच्यध्वनि है। इस दोहेका व्यंग्यार्थ (सम्पत्तिको मुक्तहस्त खर्च करना, भले कामोंमें लगाना) सामान्य जनो द्वारा शीघ्रतापूर्वक मनोगत कर लिये जानेके कारण अगूढ हैं। —उ० शं० शु०

अगूढव्यंग्या लक्षणा—मम्मट तथा विश्वनाथ आदि आचार्योंने लक्षणाके गौणा तथा शुद्धा आदिके भेदोंको गूढ तथा अगूढ व्यंग्यके रूपमें स्वीकार किया है। इसके व्यंग्य रूप अर्थको काव्य-मर्मज्ञ तथा सामान्य काव्य-प्रेमी दोनों सहज ही ग्रहण करते है। 'वहाँ न लड़ती डाढी चोटी, वहाँ नहीं साहूकारी' (का० द०)। इस उदाहरणमें शुद्धा साध्यवसाना उपादान अगूढ व्यंग्या प्रयोजनवती लक्षणा है—'दाढ़ी (वाच्यार्थ) दाढ़ी रखनेवाले मुसलमान (लक्ष्यार्थ)में 'नित्य सम्बन्ध' होनेके कारण शुद्धा; दाढ़ी शब्दमें दाढ़ी रखनेवाले मुसलमानोंका अध्यवसान होनेके कारण साध्यवसाना तथा दाढ़ी शब्दके 'दाढ़ी धारण करनेवाले मुसलमानों'के आक्षेपके कारण उपादान लक्षणा है। 'रूपमें साम्प्रदायिक भावनाका अभाव है', यही व्यंग्य प्रयोजन है और इसके सरलतापूर्वक बोधगम्य होनेके कारण यहाँ व्यंग्य अगूढ है। —उ० शं० शु०

अगोचरी—योगशास्त्रके अनुसार एक मुद्रा, जिसका स्थान कानमें माना जाता है। इसके द्वारा बाह्य शब्द श्रवणका प्रतिरोध करके अन्तस्थ शब्दोंके सुनने और उन्मनीकी ओर मनको प्रेरित करनेका आभास किया जाता है। 'करण मध्ये अगोचरी मुद्रा सबद कुसबद ले उतपनी। सबद कुसबद समो कृतवा मुद्रा तौ भई अगोचरी।' (अष्टमुद्रा० गोरखवानी)। —उ० शं० शा०

अग्नि—तेजका गोचर रूप। उष्णता। पृथ्वी, जल, वायु, आकाश आदि पंच भूतों या तत्त्वोंमेंसे एक। योगाग्नि। 'अगनि ही जोग अगनि ही भोग, अगनि ही हरै चौसठि रोग'। गीतामे भी ज्ञानाग्निकी चर्चा आयी है। 'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः'। भक्तकी विरहपीड़ा। विरह या ज्ञान विरहकी अग्नि। 'अग्नि मथन करि नीसरी लकरी सहज सुभाइ' (कबीर साखी संग्रह)।

अग्निचक्र—मेरुदण्ड जहाँ पायु और उपस्थके बीचमें जुड़ता है, वहाँ एक त्रिकोणचक्र है। इसीको अग्निचक्र कहते हैं। इसी अग्निचक्रमें स्वयंभूलिंग है, जिसे साढ़े तीन वलयोंमें आवृत करके कुण्डलिनी सोती रहती है। 'षट्चक्र निरूपण' (५१)की टीकामें इस त्रिकोणचक्रको मूलाधार कमलकी कर्णिकामें स्थित बताया गया है। —रा० सि०

अघोरपंथ—जनसाधारणमें प्रचलित नाम 'औघड़ पन्थ'। कहीं-कहीं 'सरभंग', अथवा 'अवधूत' मतके नामसे भी प्रचलित। इस मतके मन्तव्योंका अति प्रारम्भिक रूप अथर्ववेदमें माना जा सकता है। श्वेताश्वतर-उपनिषद्में 'याते रुद्र शिवातनूरघोरा पापकाशिनी' जैसे मन्त्रोंमें शिवके सम्बन्धमें 'अघोर' शब्दका प्रयोग हुआ है। मार्कोपोलो,

प्लीनी, अरिस्टोटल आदि पाश्चात्य विद्वानोंने भी इस 'अघोर' पन्थके विषयमें संकेत किया है। ईरान देशमें भी पुराने समयमें इस प्रकारके एक सम्प्रदायके साधक रहते थे। वर्तमान रूपमें इस पन्थके सिद्धान्तोंका सीधा सम्बन्ध गोरख पन्थ (दे०) तथा तन्त्रप्रधान शैवमत (दे०)से है। क्रुकने 'इन्साइक्लोपीडिया ऑव एथिक्स एण्ड रिलीजन'में इस पन्थके सम्बन्धमें एक विस्तृत तथा गवेषणापूर्ण टिप्पणी दी है। इस पन्थकी आदि आविर्भाव-भूमि राजपूतानेके अन्तर्गत आबू पहाड़ मानी जाती है। आजकल इसके अनुयायी समग्र भारतमें अपेक्षाकृत अल्प संख्यामें फैले हुए हैं, बड़ौदामें अघोरेश्वर नामक इनका एक मठ था, जिसमें अघोर स्वामी वास करते थे।

इस पन्थसे सम्बन्धित प्रचुर साहित्य इधर-उधर बिखरा पड़ा है। किन्तु उसका अध्ययन तथा अनुशीलन नहीं हो पाया है। इसका सिद्धान्तपक्ष निर्गुण अद्वैतवादसे मिलता-जुलता है। साधना-पक्षमें हठयोग तथा ध्यानयोग-(लययोग)की प्रधानता है। इनकी प्रक्रियाएँ तन्त्र-साहित्य-पर आधारित हैं। गुरुको परम महान् मानकर उनकी पूजा होती है। सन्तोंकी समाधिकी भी पूजा होती है। इस पन्थ-के अनुयायी मद्य-मांस आदिका सेवन करते हैं। वे मृत महामांससे भी परहेज नहीं करते। मल-मूत्र आदि भी साधनाका अंग समझकर ग्रहण करते हैं। इस प्रकारके लोक-बाह्य आचरणको वे समबुद्धि तथा घोर साधनाका प्रतीक मानते हैं। वे श्मशानक्रियाके द्वारा असाधारण शक्ति प्राप्त करनेमें विश्वास करते हैं।

काशीके किनाराम औघड़ पन्थके सर्वप्रसिद्ध आचार्य थे। चम्पारनमें भिनकराम, भीखनराम, टेकमनराम, सदानन्द बाबा, बालखण्डी बाबा आदि प्रसिद्ध औघड़ सन्त हुए हैं। किनारामके ग्रन्थोंमें 'विवेकसार' मुख्य है। 'भिनक दर्शनमाला'में लगभग दो सौ पदोंका संग्रह है। टेकम-नरामकी 'भजन रत्नमाला'में भी बहुसंख्यक पद संगृहीत हैं।

सभी औघड़ोंकी वेशभूषा समान नहीं होती। कुछ उजले बहिर्वास पहनते हैं और कुछ रंगीन। ये निर्वाणी तथा गृहस्थ दोनों प्रकारके होते हैं। कहीं-कहीं अघोरिनें दलबद्ध होकर घूमती हैं। इनके सिरपर जटा रहती, गलेमें नाना-विध प्रस्तर और स्फटिककी माला झूमती, कमरपर घाँवरा लटकता और किसीके हाथमें त्रिशूल दिखाई देता है। इनसे सामान्य जनता भय खाती है। —ध० व्र०

अचिंत्यभेदाभेदवाद—निम्बार्कके द्वैताद्वैतवादकी भाँति चैतन्यके मतमें भी ईश्वर और जीवका, ईश्वर और जगत्का, भेदाभेद सम्बन्ध माना जाता है। ईश्वर शक्तिमान् है, तो जीव-जगत् उसकी शक्ति। पर निम्बार्कका द्वैताद्वैतवाद यहीं-तक रुक जाता है। चैतन्य इससे आगे बढ़ते हैं। उनका कहना है कि यह भेदाभेद सम्बन्ध तर्कतः असंगत या व्याघातक है। पर क्योंकि ईश्वरभूत शक्तिमान् और जीव-जगत्-भूत शक्ति दोनों अचिन्त्य हैं, अतः उनमें व्याघात नहीं है। इस मतको गौडीय वैष्णव मत भी कहते हैं, क्योंकि इसमें हरि ही परमतत्त्व है और यह गौड़ या बंग देशमें उत्पन्न तथा प्रचलित हुआ।

अचिन्त्यभेदाभेदवादके प्रवर्तक महाप्रभु चैतन्य हैं। उनका जन्म नवद्वीपमें १४८५ ई०में हुआ। उनके दीक्षा-गुरु और संन्यासगुरु मध्वमतावलम्बी थे। चैतन्य स्वयं समझते थे कि वे मध्वमतको मानते हैं।' वे कीर्तन तथा रास अधिक करते थे। उनकी कृतियाँ प्रायः उपलब्ध नहीं हैं। केवल 'दशमूल श्लोक' उनकी रचना बतलायी जाती है। उनके शिष्योंने आगे चलकर उनके मतकी पुष्टिके लिए अच्छे ग्रन्थोंकी रचना की। अचिन्त्यभेदाभेद दृष्टि होनेके कारण चैतन्यमत मध्वमतसे भिन्न है। वल्लभ और निम्बार्क-की भाँति चैतन्यने भी परमात्मा तथा उनकी शक्तिको कृष्ण और राधाके रूपमें निश्चित किया, रामानुज और मध्वकी तरह नारायण (विष्णु) और लक्ष्मीके रूपमें नहीं। वे कृष्ण-को भगवान् मानते थे, भगवान्का अवतार नहीं। वृन्दावन-को वे अमरपुरी समझते थे। वहाँके निवासीको वे मुक्त मानते थे। चैतन्यके अनुयायियोंने उनको साक्षात् कृष्ण माना। इस प्रकार स्वयं चैतन्य इस मतमें उपास्यदेव बन गये। ऐसा कम होता है कि उस मतका प्रवर्तक उसके अनुयायियोंका एकमात्र उपास्य बन जाय। कहा जाता है कि चैतन्य श्रीमद्भागवत पुराणको ही ब्रह्मसूत्रका भाष्य समझते थे। मध्व भाष्यके प्रति भी वे आदर-भाव रखते थे। जहाँ उनको उससे असन्तोष था, उन स्थलोंके लिए उन्होंने अपने मत स्थिर कर लिये थे। पर प्रधानता उन्होंने भागवतको ही दी। उनकी शिष्य-परम्परामें जीव गोस्वामी हुए, जिन्होंने भागवतकी क्रमसन्दर्भ टीका लिखी और उसके मतको व्यक्त करनेके लिए षट्-सन्दर्भ लिखा। सर्वसंवादिनी टीकासे मण्डित यह षट्-सन्दर्भ अचिन्त्यभेदाभेदवादका सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है। १८ वीं शतीमें सभी वैष्णव मतोंके अनुयायियोंके बीच वृन्दावनमें शास्त्रार्थ हुआ। वहाँ चैतन्य-मतके बलदेव विद्याभूषणने शास्त्रार्थमें भाग लिया। ब्रह्मसूत्र-पर इस मतका कोई भाष्य न होनेके कारण विद्वानोंने उनके मतको हेय समझा। बलदेव विद्याभूषणने इस कमी-को दूर करनेके लिए एक मासके अन्दर ही ब्रह्मसूत्रका भाष्य—गोविन्द भाष्य—लिख डाला।

संस्कृत कवि जयदेवके गीतगोविन्दका तथा आधुनिक उत्तरभारतीय भाषाओंके कृष्णपरक काव्यका चैतन्यके मत-पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। चैतन्यके मतका भी प्रभाव आधुनिक बँगला, मैथिली और हिन्दी-साहित्यपर दिखाई देता है।

दर्शनकी इस पद्धतिमें हरि चरम सत् या परमतत्त्व है। वह भगवान् या ईश्वर है। उसकी अंगकान्ति निर्विशेष ब्रह्म है। उसका एक अंशमात्र ही परमात्मा है, जो संसारमें अन्तर्यामी है। हरि अंशी है, परमात्मा उसीका अंश है। पूर्ण श्री, पूर्ण ऐश्वर्य, पूर्ण वीर्य, पूर्ण यश, पूर्ण ज्ञान तथा पूर्ण वैराग्य—इन षड् ऐश्वर्योंकी एकता हरि ही है। इनमें श्रीगुण केन्द्रस्थानीय है और अन्य उसके अंगभूत हैं। अपनी पूर्णताके अर्थमें हरि कृष्ण-राधाके ऐक्यमें युगल मूर्ति है। कृष्ण-राधा परस्पर भक्ति और प्रेमके अपरिहार्य बन्धनमें बँधे हैं।

प्रश्न हो सकता है कि सच्चिदानन्द अनन्त हरि कैसे कृष्ण हो सकते हैं, जो कि देशकालसे सीमित हैं? चैतन्यका कहना है कि यह आपत्ति निर्मूल है। भौतिक गुण

आध्यात्मिक वस्तुओंमें नहीं कहे जा सकते। भौतिक वस्तुएँ सत्त्व, रज और तमके विभिन्न संघात है। हरि आध्यात्मिक है। वह विशुद्ध सत्त्व है, तम और रजसे मिश्रित नहीं है। वह अनन्त और सान्त, सर्वत्र और एकत्र, सब हो सकता है; क्योंकि यही तो उसकी अचिन्त्य शक्तिका लक्षण है। इस शक्तिके कारण हरि मूर्त होकर भी विभु है।

भगवान्‌की अचिन्त्याकार शक्तियोंमें तीन मुख्य हैं—स्वरूपशक्ति, तटस्थशक्ति और मायाशक्ति। स्वरूपशक्तिको चित् शक्ति या अन्तरंगा शक्ति भी कहते है। सत्, चित् और आनन्दके कारण भगवान्‌की यह स्वरूपशक्ति एकात्मिका होनेपर भी त्रिविध रूपोंमें व्यक्त होती है—संधिनी, संवित् और ह्लादिनी। संधिनी शक्तिके बलपर भगवान् स्वयं सत्ता धारण करते है, दूसरोंको सत्ता प्रदान करते है और समस्त देशकाल तथा द्रव्योंमे व्याप्त रहते है। संवित् शक्तिसे भगवान् स्वयं अपनेको जानते है तथा दूसरोंको ज्ञान प्रदान करते है। ह्लादिनी शक्तिसे भगवान् स्वयं आनन्दित होते हैं और दूसरोंको आनन्द प्रदान करते है।

जो शक्ति परिच्छिन्न स्वभाववाले अणुस्वरूप जीवोंके आविर्भावका कारण बनती है, वह तटस्थ शक्ति या जीवशक्ति कहलाती है। मायाशक्तिसे प्रकृति तथा जगत्‌का आविर्भाव होता है। स्वरूपशक्ति वास्तविक सत है। मायाशक्ति उसीका विलोम है। दोनोंकी मध्यवर्ती जीवशक्ति है, जिसमें कुछ स्वरूपशक्ति और कुछ मायाशक्ति है। स्वरूपशक्ति होनेके कारण जीव साक्षात् सच्चिदानन्द है और मायाशक्ति होनेके कारण जीव उस सच्चिदानन्दसे भिन्न है।

इन तीनो शक्तियोंको मिलाकर पराशक्ति कहते है। भगवान् स्वरूपशक्तिसे जगत्‌के निमित्त कारण है और माया तथा जीवशक्तियोंसे उसके उपादान कारण है। इस मतमे विवर्त्तवाद (दे०) मान्य नही है, क्योकि यह वाद जगत्‌को मिथ्या सिद्ध करता है। चैतन्यके मतसे जगत् सत् है, वह भगवान्‌की मायाशक्तिका परिणाम है। पुनश्च परिणामवाद या ब्रह्मपरिणामवादको माननेसे ब्रह्म या हरिको विकारवान् मानना पड़ता है। अतः इसको भी न मानते हुए चैतन्यने शक्ति-परिणामवादका समर्थन किया। जगत् भगवान्‌की शक्तिका परिणाम है। इस वादसे ब्रह्म या हरि अविकारी भी रहते है और जगत् भी सत्य रहता है।

मायाशक्तिके कारण जीवमें अविद्या रहती है। इसीके कारण जीव हरिसे अपने वास्तविक सम्बन्धको भूल जाता है। वस्तुतः जीव हरिके अधीन है, हरिका अंश है। जैसे अग्नि और स्फुलिंग परस्पर सम्बद्ध है, वैसे हरि और जीव भी। इस सम्बन्धको उपलब्ध करना ही जीवकी मुक्ति है।

यह भक्ति द्वारा ही सम्भव हो सकता है। भक्ति संवित् तथा ह्लादिनी शक्तियोंका सम्मिश्रण है। ये दोनों शक्तियाँ भगवान्‌की ही स्वरूप हैं, अतः भक्ति भगवद्रूपिणी है। स्वरूपात्मक होनेसे यह भगवान्‌का अपृथग्विशेषण है। पर भक्तोंका यह पृथग्विशेषण है। भगवान्‌के दो रूप हैं—ऐश्वर्य रूप और माधुर्य रूप। ऐश्वर्य रूपमें भगवान् परात्पर है। इस रूपकी सिद्धि ज्ञानसे होती है। माधुर्य रूपसे भगवान् नरतनु धरकर मनुष्यके समान ही चेष्टा करता है। इस रूपमे सख्य, वात्सल्य, दास्य, दाम्पत्य आदि से भगवान्‌की भक्ति की जा सकती है, उनका ध्यान-स्मरण हो सकता है। चैतन्यमतमें इसी माधुर्य रूपसे भगवान्‌को प्राप्त किया जाता है। इसीके साधनको भक्ति कहते है। भक्ति दो प्रकारकी होती है—वैधी और रागात्मिका। वैधी भक्ति भक्तिशास्त्रसे निर्दिष्ट उपायोंका अवलम्बन करनेसे होती है। इससे भक्तोंको देवयान मिलता है। रागात्मिका भक्ति उन आर्तोंकी भक्ति है, जो वैधी भक्ति नही करते या जानते, जो अपने प्रयत्नपर विश्वास न करके भगवान्‌की अहेतुकी कृपापर आस्था रखते है और भगवान्‌को अपने प्रियतमके रूपमे ग्रहण करके अलौकिक आनन्दका आस्वादन करते है। ब्रजकी गोपियोकी भक्ति ऐसी ही रागात्मिका भक्ति है। चैतन्यके मतसे यह भक्ति वैधी भक्तिसे श्रेयस्कर है। यह भक्ति उपाय न होकर स्वयं उपेय है। भगवान् श्रीकृष्णके चरणारविन्दकी सेवा करते हुए आनन्दलाभ करना मोक्षसे बढकर है। चैतन्यमतमें इस आनन्दलाभको पंचम पुरुषार्थ कहते है। अर्थात् यह काम, अर्थ, धर्म तथा मोक्षसे भिन्न पाँचवाँ पुरुषार्थ है, जो अन्य चारों पुरुषार्थोंसे नितान्त श्रेयस्कर है। इस भक्ति रसकी सांगोपांग कल्पना चैतन्यमतकी विशिष्टता है, जिसकी पाण्डित्यपूर्ण विवेचना रूप गोस्वामीने 'भक्तिरसामृतसिन्धु'में की है।

चैतन्यमतमे भावोका अतिशय उद्रेक है। स्वयं चैतन्य अपनेको कृष्ण समझकर कृष्ण-चरितकी सभी लीलाएँ करते थे। वे कभी बहुत रोते थे, कभी बहुत हँसते थे, कभी भावुकतापूर्ण कीर्तन करते थे, और सबसे अधिक, कभी-कभी प्रेमोन्मत्त होकर रासलीला करते थे। उनका जीवन मानो किसी प्रेमोन्मत्तका जीवन था। किसी भी भक्त या रहस्यवादीके जीवनमें इतना प्रेमोन्माद शायद नहीं पाया जाता।

इस प्रेमोन्मादको अलौकिक रस, दिव्य आनन्द या भक्तिरस कहा जाता है। इसका संस्कृत तथा विविध वर्तमान भाषाओंपर बड़ा प्रभाव पड़ा। रूप गोस्वामीके 'हंसदूत'में इस रसकी सुन्दर अभिव्यक्ति है। इसे जघन्य श्रृंगार रस न समझना चाहिये। इस रसमें विह्वल होकर पुरुष-भक्त स्त्री-भक्तोंके साथ वही लीलाएँ करता है, जो कृष्णने गोपियोंके साथ की थीं, पर इसमें श्रृंगारकी हेयता नही है। यह शुद्ध माधुर्य भावकी अभिव्यक्ति है। इसमें भक्तका जीवन ही मधुरिमा-मय रहता है।

इस मतका प्रभाव हिन्दी तथा बँगलापर विशेष पड़ा है। बँगलाके कई काव्योंके विषय है चैतन्य महाप्रभु। चैतन्यके मतानुयायी आज भी बंगाल, वृन्दावन तथा उत्तरप्रदेशके अन्य स्थानोंमें काफी संख्यामें है। हिन्दीके रीतिकालीन कवियोंपर चैतन्यके माधुर्य भावका विशेष प्रभाव पड़ा है। कृष्णलीलाका वे वैसे ही वर्णन करते है, जैसे कि चैतन्यमतमें भक्तिकी कल्पना है। यदि चैतन्यके रस-सिद्धान्तको कसौटी मान लें तो रीतिकालीन कवियोंकी कवितामें उच्च कोटिका साहित्य मिलेगा। उनमें भौतिक श्रृंगारके स्थानपर दिव्य प्रेमकी मधुरिमा मिलेगी। चैतन्य मत राधाकृष्णोपासक सम्प्रदाय है। आरम्भसे ही इसका प्रमुख केन्द्र श्रीकृष्णका लीलाधाम

वृन्दावन रहा है, वहाँ की भाषा ब्रज है। अतः ब्रजभाषा साहित्यपर चैतन्य मतका प्रभाव स्वाभाविक है। चैतन्य तथा उनके अनुयायी षट्गोस्वामियोंसे ब्रजके भक्त प्रभावित रहे हैं। षट्गोस्वामियोंमे रूप, सनातन, रघुनाथदास, रघुनाथ भट्ट, गोपाल भट्ट और जीवगोस्वामी हैं। ये सब वृन्दावनमें रहते और भगवद्भजनके अनन्तर ग्रंथ-रचना करते थे। इनकी रचनाएँ संस्कृत और बँगलामे हैं। इनके प्रभावमें आकर अनेक भक्तोंने ब्रजभाषामें ग्रंथ रचना की।

भक्तवर नाभादासने चैतन्य मतावलम्बियोंमेंसे चैतन्य, रूपगोस्वामी, सनातन, जीवगोस्वामी, रामराय, माधवदास जगन्नाथी, सूरदास मदनमोहन, गदाधर भट्ट, नाथभट्ट प्रभृतिका उल्लेख अपने भक्तमालमें किया है। उनके टीकाकार प्रियादास स्वयं चैतन्यमतके अनुयायी थे। उन्होने अपने सम्प्रदायके अनेक भक्त कवियोंका उल्लेख अपनी टीकामे किया है। नाभादासके एक छप्पयके अनुसार चैतन्यमतके भक्तकवियोंने आपसमें मिलकर वृन्दावनकी माधुरीका आस्वादन किया है और इसके फलस्वरूप उनके ब्रजभाषा साहित्यमें इनकी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। श्री प्रभुदयाल मीतलने इन भक्तोंके ब्रजसाहित्यपर सराहनीय कार्य किया है। उन्होने चैतन्य मतसे प्रभावित ब्रजभाषाके १२२ साहित्यकारोंके ग्रन्थोंका परिचय कराया है।

[सहायक ग्रन्थ—चैतन्य मत और ब्रजभाषा साहित्यः प्रभुदयाल मीतल] —सं० ला० पां०

अचेतन (unconscious)—मानसके अचेतन पक्षकी धारणा मनोविश्लेषणकी बड़ी महत्त्वपूर्ण खोज है। मानस केवल चेतन ही नहीं, वरन् अचेतन भी होता है, इसका प्रमाण मानसिक रोगोंके विश्लेषणसे मिलता है। रोगके लक्षणके मूलमे फ्रायड और अन्य मनोविश्लेषकोने कुछ अचेतन इच्छाएँ, भावनाएँ या प्रवृत्तियाँ पायीं। सामान्य जीवनमें भी भूलो, भ्रान्तियों और खटकोंका विश्लेषण करनेपर उनका मूल कारण ऐसी इच्छाएँ या प्रवृत्तियाँ ज्ञात होती है, जिनके बारेमे व्यक्तिको स्वयं कोई ज्ञान नहीं होता है। अचेतनके विषयमे बहुतसे सिद्धान्त प्रचलित है, इनमें फ्रायडका सिद्धान्त प्रमुख है और साहित्यपर इसका प्रभाव अत्यधिक पडा है। इनके अनुसार मानसका अचेतन भाग चेतनसे कहीं अधिक विस्तृत और शक्तिशाली है। काम शक्तिका कोष इस अचेतन मनमें ही है, इसके अतिरिक्त **अहम्** और **सुपर ईगो**की बहुत-सी माँगें भी हमारे अचेतन मनका अंश है, अर्थात् हमें उनके बारेमें कोई ज्ञान नही है और विशेष मनोवैज्ञानिक प्रयत्नोंसे ही वे चेतन मनमें लायी जा सकती हैं। फ्रायडका मनोविज्ञान शैशवकी दमित कामप्रवृत्तिपर केन्द्रित है। इनके अनुसार अचेतनका निर्माण इस प्रवृत्तिजन्य वासनाओके दमनमें होता है। यह दमन भी अहम् अनजाने ही करता है और दमित वासनाएँ सदा प्रकाशनके लिए प्रयत्नशील रहती है। अचेतनकी कामप्रवृत्ति वयस्क दृष्टिसे विकृत कामप्रवृत्ति है, जिसकी तृप्ति सामाजिक जीवनमें असम्भव और अनैतिक है। वे दमित वासनाएँ, जिनका हमें कोई ज्ञान नहीं होता, स्वप्नोंमें दैनिक जीवनकी भूलोंमें और अधिक प्रबल होनेपर मानसिक रोगोंमें व्यक्त हुआ करती है। इसके कारण व्यक्ति विचित्र, असाधारण व्यवहार करता है, पर कारण वह स्वयं ही समझ नहीं पाता। यदि विश्लेषणके द्वारा यह दमित वासना चेतन मानसमे आ जाये तो व्यवहारकी विचित्रताएँ दूर हो जाती है। श्री इलाचन्द्र जोशीके 'प्रेत और छाया' तथा 'निर्वासित' उपन्यासोके नायक ऐसी ही अचेतन वासनाओं और ग्रन्थियोंसे आक्रान्त हैं। अन्य बहुतसे कलाकार भी मानसिक द्वन्द्वके इस पक्षका उपयोग अपने पात्रोंके चरित्र-चित्रणमे करते हैं (दे० 'मनोविश्लेषण')।

फ्रायडके शिष्य जुग भी अचेतन मानसमे विश्वास करते है, परन्तु फ्रायडके अचेतनकी धारणाको उन्होने कुछ परिवर्तित और विस्तृत कर दिया है। उनके अनुसार अचेतनमे केवल कामप्रवृत्ति ही नहीं वरन् जीवन-शक्ति रहती है। लिबिडो शब्दका अर्थ वह यही जीवन-शक्ति या जीवनेच्छा करते है (दे० 'लिबिडो')। वह यह भी मानते है कि अचेतन कुछ अंशोंमें जातिगत और वंशगत होता है। अचेतन मानसमें सोचने और अनुभव करनेके कुछ ऐसे ढग मिलते है, जिन्हें प्रागैतिहासिक पूर्वजोमे आया हुआ मानते है। —प्री० अ०

अजपाजाप—वह जप, जिसमें किसी प्रकारके स्थूल साधनोका उपयोग न हो, जैसे, नामोच्चारण, माला फेरना, किसी अन्य प्रकारसे नामोंको गिनना आदि। सिद्धसाहित्यमें भी इस प्रकारके जपकी चर्चा है। नाथ पंथियोने इसी प्रकार रात-दिनमें आने-जानेवाली २१,६०० साँसोंके आवागमनको अजपाजप कहा है। 'इकबीस सहंस षटसा आदू पवन पुरिष जप माली। इला प्यंगुला सुषमन नारी अहनिसि बहै प्रनाली'... (गोरखबानी)।

कबीरने नाथ पंथियोंकी पद्धतिके अनुसार ही एक श्वासको ओहं और दूसरेको सोहं बताया तथा इन्हीं आने-जानेवाली साँसोंके द्वारा होनेवाले जपको अजपाजाप कहा (दे० 'सोहं')। उन्होंने इसे निःअक्षरका ध्यान बताया है। 'निह अक्षर जाप तहं जापै। उठत धुन सुन्नसे आपै (कबीर श० ३, ७)। —उ० शं० शा०

अज्ञात चेतन—मानसका वह भाग, जिसके बारेमें हमें कोई भी ज्ञान या चेतना नहीं है, अर्थात् अचेतन। अंग्रेजीके unconscious शब्दके लिए हिन्दीमें **अचेतन** और **अज्ञात चेतन** दोनों शब्द प्रयुक्त होते हैं (दे० 'मानस', 'अचेतन', 'मनोविश्लेषण')। —प्री० अ०

अज्ञातयौवना—(नायिका)—जिस नायिकाको अपने यौवनका आगमन ज्ञात न हो। यह मुग्धा नायिकाका एक भेद है और सर्वप्रथम इसका उल्लेख भानुदत्तने किया है। संस्कृतमे इस भेदको प्रायः किसी आचार्यने स्वीकार नहीं किया। हिन्दीमे अधिकांश कवियोंने इसे स्वीकार किया है; विशेष दे० 'नायिका-भेद'। मतिरामने इसे "निज तनु जौवन आगमन जो नहि जानति" कहा है और पद्माकरने इसी बातको दूसरे प्रकारसे कह दिया है—"जब जोवनको आगमन जानि परत नहिं ताहि" (जगद्विनोद, भा० ११ : २७)। वस्तुतः केशव और देवकी नववधू और केशवकी नवयौवना अज्ञातयौवना ही है। **नववधू**-

केशवके अनुसार इस नायिकाकी 'दिन-दिन. दुति दूनी' बढ़ती है और उनके उदाहरणसे भी स्पष्ट है कि यह अज्ञात-यौवना ही है—"नैननिकी गति गूढ़ चलाचल केसवदास अकास चढ़ैगी। माई कहाँ यह माइंगी दीपति जौ दिन द्वै इहि भाँति बढ़ैगी" (रसिकप्रिया, ३ : १९)। इसमें यौवन-की स्थिति वर्णित है। देवके उदाहरणमें भी नायिकाका सहज प्रश्न इसी बातका संकेत देता है—"काहे तें माई कछू दिनते मनमोहनकौ मन मोही सौं मानै" (भावविलास : नायक०)।

नवयौवना—केशवके अनुसार ही—"बालदसा निकसै जहाँ जीवनको प्रवेश" (वही : ३:२०)। वस्तुतः यह मुग्धाका सामान्य लक्षण है और उदाहरणमें भी यही भाव झलकता है—'केसव फूलि नची भृकुटी कटि लूटि नितंब लई बहु काली' (वही : ३:२१)। इन दोनों भेदोंका दृष्टिकोण स्पष्ट नहीं है और क्योंकि इनमें नायिकाके यौवनका विकास अज्ञात रूपसे हो रहा है, इस कारण इनको यहाँ रखा गया है। देवकी नवयौवना ज्ञातयौवना है, यह उनके उदाहरणसे स्पष्ट है। परन्तु प्रस्तुत नायिकाके वर्णनमें कवियोंने उसके अंगोंके विकास तथा हृदयके बदले हुए मनोभावका सुन्दर चित्रण किया है। किशोरावस्थामें नारीके शरीरमें परिवर्तन उपस्थित होते हैं और उनके साथ हृदयमें नये मनोभावोंका जागरण भी होता है, पर उनसे वह भली भाँति परिचित नहीं होती। यही अवस्था है, जिसमें मुग्धा अज्ञातयौवना कही जाती है। रहीमकी नायिका इस शरीरविकासको सरल आश्चर्यसे ग्रहण करती है—"कवन रोग दुहुँ छतिया उपजेउ आय। दुखि दुखि उठै करेजवा लगि जनु जाय" (बरवै०, ३)। इस अंकन-में भाव भी व्यञ्जित है। मतिराम अननुभूत सात्त्विक भावोंसे नायिकाका अज्ञान चित्रित करते हैं—"कंप छुट्यौ घनस्वेद बढ्यो तनु रोम उठ्यो अँखियाँ भरि आयी।" (रस-राज, १९)। और कभी नायिका अपने तन-मनके परिवर्तनके प्रति चकित है—"है धौ कहा को कहा गयो यो दिन द्वै कहि तैं कछु ख्याल हमारो" (पद्माकर : जगद्विनोद, भाग १ : २९।)। विद्यापतिकी राधाका चित्रण अज्ञातयौवनाके रूपमें बहुत संवेगात्मक हुआ है। सूरने भी राधाकी इस अवस्थाके चित्रणमें सूक्ष्म मनोभावोंका आधार ग्रहण किया है। विशेषके लिए दे० 'वयःसन्धि'। —र०

अज्ञेयवाद–यह शब्द टामस हैनरी हक्सले द्वारा गढ़े अंग्रेजी शब्द ऐग्नास्टिसिज्मका हिन्दी रूप है। इस वादके अनुसार भौतिक पदार्थ, आत्मा, परमात्मा आदि जैसे दार्शनिक और धार्मिक परमतत्त्व अज्ञेय है, उनके विषयमें निश्चित ज्ञान प्राप्त कर सकना मनुष्यके लिए असम्भव है। विश्वके प्रपंचके पीछे कोई परमतत्त्व, अगोचर सत्ता हो सकती है, किन्तु उसका ज्ञान भूत, भविष्य, वर्तमानमें किसी भी प्रकार प्राप्त नहीं किया जा सकता। पश्चिममें इस मतके प्रतिपादक कांट, हर्बर्ट स्पेंसर, हक्सले और आगस्त कॉम्ते हैं। कांट यह मानता था कि जगत्के पीछे कोई स्वाधिष्ठान वस्तु है, किन्तु मनुष्यके लिए वह अज्ञात और अज्ञेय है। उन्नीसवीं शताब्दीमें टा० हे० हक्सलेने अपनी आस्थाका विश्लेषण करते हुए अज्ञेयवादको ही बुद्धिसंगत मार्ग स्वीकार किया।

अज्ञेयवादी जगत् और अनुभूतिके परे सत्ताकी अज्ञेयता स्वीकार करता है, किन्तु वह यह मानता है कि किसी ऐसी सत्ताका अस्तित्व अवश्य है। अतएव वह नितान्त प्रकृति-वादी नहीं होता। इस मतका आधार यह अनुभूति है कि दर्शनके क्षेत्रमें वैज्ञानिक पद्धति पर्याप्त नहीं है। बुद्धिकी गति अनुभूतिके क्षेत्रतक सीमित है। दर्शन विज्ञानके साम्राज्यके अन्तर्गत नहीं हो सकता। अज्ञेयवाद सीमित सन्देहवाद है (दे० 'सन्देहवाद')। —आ०

अडिल्ल–मात्रिक सम छन्दका एक भेद, 'प्राकृतपैंगलम्'में अडिल्ला अथवा अलिल्ह इसका नाम दिया गया है और लक्षणके अनुसार इसके १६ मात्राके प्रत्येक चरणके अन्तमें २ ल (।।) रहने चाहिये, जगण (।ऽ।) वर्जित है (१, १२७) हिन्दीका डिल्ला और अरिल्ल छन्द इसीके रूपान्तर माने जायँगे। यह छन्द पद्धरी तथा पादाकुलकके समान चौकलके आधारपर गठित था, पर अपभ्रंशकालसे ही (भविष्यत् कहा) यह नियम शिथिल हो चला था। हिन्दीके कवियोंने इस विषयमें स्वतन्त्रता ली है। उन्होंने मात्रा और अन्तके प्रयोगका ही पालन किया है। सुन्दरदासने अपने 'अडिल्ल छन्द ग्रन्थ'में अन्तमें भी परिवर्तन कर दिया है, ल ग (।ऽ) तथा ग ग (ऽऽ) में। भानु सम्भवतः इसी कारण अरिल्ल (अन्तमें ।। वा ।ऽऽ) और डिल्ला (अन्तमें भगण ऽ।।) दो भिन्न छन्द ही मानते हैं। इसका प्रयोग चन्द (पृ० रा०), सूर (सू०सा०), तुलसी (रा०च०मा०), केशव (रा० चं०), सदन (सु० च०) तथा पद्माकर (हि०वि०) आदिने भी किया है। इस छन्दमें प्रायः वीररसके युद्धादिका वर्णन किया गया है, परन्तु वर्णनात्मक स्थलोंपर भी प्रयुक्त हुआ है। उदा०—'उलहत मदनि समुद-मद गारत। गिरिवर गरद मरद करि डारत'—(पद्माकर : हि० वि०)। —र०

अतद्गुण–लोकन्यायमूल अर्थालंकार, निकटवर्ती वस्तुके गुण ग्रहण करनेकी सम्भावना होनेपर भी, ग्रहण न किये जानेको 'अतद्गुण' अलंकार कहते हैं। इसका प्रथम प्रयोग मम्मटने किया है—'तद्रूपाननुहारश्चेदस्य तत्स्यादतद्गुणः' अर्थात् प्रस्तुतके संसर्गमें आकर भी प्रकृतका उसके गुणका अनुकरण न करना अतद्गुण है (काव्यप्रकाश, १० : १३८)। जयदेवने अतद्गुण अलंकारका निम्नोक्त लक्षण दिया है—"संगताऽन्यगुणानंगीकारमाहुरतद्गुणम्" अर्थात् सामीप्यसे किसीके गुणको अंगीकार न करना अतद्गुण है (चन्द्रालोक : १०५)। हिन्दीमें सर्वप्रथम जसवन्त सिंहके 'भाषा-भूषण'में उदाहरण दिया गया है। मतिराम और भूषणकी परिभाषा समान है केवल मतिरामने रंगका और भूषणने गुणका उल्लेख किया है—"जहाँ संगमैं औरको रंग कछू नहिं लेत" (ल० ल० : ३३७) और—"जहँ संगतितें औरको गुन कछुक नहिं लेत" (शि० भू० : २९५)। कुलपतिने 'रसरहस्य'में "सम्भव हू में नहिं गहै" कहकर अधिक स्पष्ट किया है। दासने 'संगत'से गुण ग्रहण न करनेके साथ ही "पूर्व रूप गुन नहिं मिटै भएँ मिटनके हेत" (काव्यनिर्णय, १४) भी माना है।

संस्कृतमें किसी-किसी आचार्यने इसके दो भेद माने हैं। मम्मटकी कारिकामें 'तत्'का अर्थ अप्रकृत तथा 'अस्य'का प्रकृत लेनेसे जहाँ किसी कारणवश प्रकृतके द्वारा अप्रकृत

(अप्रस्तुत)के गुणका अनुहरण न हो, वहाँ भी अतद्‌गुण माना जायगा। रुय्यकके आधारपर विश्वनाथकी परिभाषा है—"तद्रूपाननुहारस्तु हेतौ सत्यप्यतद्गुणः" (साहित्य-दर्पण, १० : ९१)। कारण होनेपर भी वस्तुके दूसरेके गुणोंको ग्रहण न करनेकी दो स्थितियाँ मानी गयी हैं—(क) जब न्यून गुण अप्रकृत, उत्कृष्ट गुण प्रकृतके समीप रहकर भी उसके गुण ग्रहण न करे, (ख) अथवा जब प्रकृत अप्रकृतके समीप रहनेपर भी उसके गुणका ग्रहण नहीं करता।

चिन्तामणिने 'कविकुलकल्पतरु'में इसका उदाहरण सुन्दर दिया है—"गंगाजल उज्जल जमुन जल छवि अन्त समेत। दुहूँ मध्य मज्जन करत हंस सेतको सेत"। मतिरामके उदाहरणमें भावसौन्दर्य है—"लाल बाल अनुरागसौं रँगत गेज सब अङ्ग। तऊ न छोड़त रावरो रूप साँवरो रंग" (ल०ल०, ३३८)। इन उदाहरणोंके विषयमें कुछका मत है कि ये विशेषोक्तिके भी हो सकते हैं, परन्तु यहाँ मात्र कारण रहते कार्यका अभाव नहीं, वरन् गुण-ग्रहणका प्रश्न है।

रीतिकालीन प्रतिनिधि कवि बिहारीने भी इसका वैचित्र्य-पूर्ण प्रयोग 'सतसई'में किया है। कतिपय आधुनिक कवियो-ने भी, विशेष रूपसे मैथिलीशरण गुप्तने इसका भावपूर्ण प्रयोग किया है, "राधा हरि बन गई हाय यदि हरि राधा बन पाते, तो उद्धव मधुवनसे उलटे तुम मधुपुर ही जाते" (द्वापर)। अन्य रीतिकालीन आचार्योंमें सोमनाथ, भिखारी-दास तथा पद्माकर प्रमुख हैं, जिन्होंने इस अलंकारपर विचार किया है। —वि० स्ना०

अतिकरुण–दे० 'करुण रस'।

अतिकल्पना–दे० 'रेडियो फैन्टेसी'।

अतियथार्थवाद (surrealism)–अतियथार्थवादका जन्म, अन्य बहुतसे कला आन्दोलनोंके समान सर्वप्रथम फ्रांसमें हुआ। आगे चलकर सबसे अधिक आश्रय भी उसे वहींके कलाकारोंने दिया। प्रथम महायुद्धकी समाप्तिके अवसरपर, सामाजिक तथा राजनीतिक उथल-पुथलके बाद ही अतियथार्थवाद फ्रांसीसी साहित्यके लगभग ७० वर्षोंसे चले आनेवाले उस विद्रोहको अपनी चरम सीमातक पहुँचा देता है, जो रोमांटिक लेखकोंके पलायनवाद तथा प्राकृतवादके बाह्य यथार्थसे सम्बद्ध होनेके प्रति परिचालित किया गया था। प्रथम महायुद्धके समय (१९१६ ई०) दादावाद (दे०) का जन्म हुआ, और इसके बाद (१९२० ई०) अतियथार्थवादके आन्दोलनने गति पकड़ी।

अतियथार्थवादियोंके इस अभियानका नेतृत्व चार्ल्स बौदेलेयर (१८२१-१८६७ ई०)ने किया। उसकी 'वॉयेज'-की अन्तिम दो पंक्तियोंमें इसका स्पष्ट निर्देश है। वास्तविकता तथा यथार्थका अर्थ सर्वमान्य भौतिक एवं मानव-प्रकृतिसम्बन्धी सिद्धान्तोंके प्रतिकूल, जानबूझकर जीवनकी विकृतियोंमें खोजा जाने लगा। इस प्रवृत्तिके सर्वप्रथम उल्लेखनीय उदाहरण १८७० ई० के लगभग लॉत्रीमान, रिम्बौ तथा मैलमैंके ग्रन्थोंमें मिलते हैं। यहींसे उस रहस्यात्मक अनीश्वरवादका प्रारम्भ होता है, जिसने आगे चलकर अतियथार्थवादको जन्म दिया।

प्रकृतिके सम्बन्धमें मान्य धारणाओंके प्रति यह विद्रोह प्रथम महायुद्धके समय अपनी चरम सीमापर पहुँच गया। कुख्यात 'दादा' मतके अनुयायी उस विद्रोहको आगे बढ़ा रहे थे। परन्तु शीघ्र ही कुछ व्यक्तियोंने 'दादा'की सीमाका अतिक्रमण करके सन् १९२० ई० के लगभग अपने मतकी अलग स्थापना की, जिसे उन्होंने अतियथार्थवाद कहा। उन्होंने अतियथार्थवादका यह प्रयोग अपौलेनियरके अनुकरणपर किया, जो अतियथार्थवादका प्रयोग किसी ऐसी सत्ताके अर्थमें कर चुका था, जो दृश्यमान वास्तविकताके परे हो। आन्द्रे ब्रेतन (सन् १८९६ ई०) इस आन्दोलनका जन्मदाता था और विभिन्न समयोंपर उसे फिलिप सुपोल, लुई आरागों, जार्जी ह्यूने, रेने कैकल, ई० मेसेन्स तथा पाल एलुआरका सहयोग मिलता रहा। इन लेखकोंके प्रमुख पत्र थे 'लितरेत्यारे', अतियथार्थवादकी स्थापनाके एक वर्ष पूर्व सन् १९१९ ई० में संघटित तथा 'रिवोल्यूशन सुररियलिस्ते' (१९२४-१९३० ई०), जो १९३० ई० में 'सुररियलिज्म और सर्विस देला रिवौल्यूशन'में परिणत हो गया था। अतियथार्थवादियोंके उद्देश्य तथा सिद्धान्त सन् १९२४ ई० के दो घोषणापत्रोंमें आन्द्रे ब्रेतन द्वारा प्रकाशित किये गये थे। अतियथार्थवादी अनुभव अपनी प्रकृतिमें मुख्यतः मानसिक विकृतियोंमें सम्बद्ध थे। १९२८ ई० में अतियथार्थवादी लेखकोंने ला मातिन चार्कोतके उन्मादसम्बन्धी अध्ययनके प्रकाशनकी ५० वीं जयन्ती मनायी और उसे अपने गण्य-मान्य नेताओंमें स्थान दिया। जो भी हो, यह निश्चित है कि आधुनिक फ्रांसीसी कविताको उसके वर्तमान रूप देनेमें अतियथार्थवादी प्रवृत्तियोंका बड़ा हाथ है। आजके सभी प्रसिद्ध फ्रांसीसी कवि किसी-न-किसी रूपमें इस आन्दोलनसे सम्बद्ध रहे हैं।

अतियथार्थवादी प्रवृत्तियाँ यदि एक ओर फ्रांसीसी कवितामें अभिव्यक्त हुई तो दूसरी ओर उन्होंने समकालीन फ्रांसीसी कलाको भी अछूता नहीं छोडा। मुख्यतः चित्रकला और कहीं-कहीं शिल्पकलामें भी इन प्रवृत्तियोंने स्थान पाया। कवियोंके साथ-साथ चित्रकारों द्वारा अतियथार्थवादी प्रवृत्तियोंका ग्रहण नितान्त स्वाभाविक था। उन मानसिक भाव-चित्रोंको चित्रकार बहुत ही सरलताके साथ अंकित कर सकता है, जो उसके मनमें असंगत कल्पनाओं, स्वप्नों, दिवा-स्वप्नों तथा फैन्टेसी आदिके रूपमें प्रायः आया करते हैं।

वैसे तो फ्रांसको केन्द्रस्थल बनाकर अतियथार्थवादी आन्दोलन विश्वव्यापी हो उठा है, अंग्रेज, अमरीकन, जर्मन तथा स्पेनिश कवियों और चित्रकारोंने कलाकी इस प्रवृत्तिसे प्रभावित होकर बहुत-कुछ सर्जन किया है। फिर भी विदेशोंमें इस आन्दोलनको सबसे अधिक सहयोग इंग्लैण्डमें मिला। परन्तु यह भी सच है कि सहयोगके अनुपातसे विरोध भी उसे सबसे अधिक यहीं सहना पड़ा। सन् १९३६ ई० के जूनमें लन्दनमें अतियथार्थवादी कलाकी प्रदर्शनी उद्घाटित हुई। स्वयं हर्बर्ट रीडने, जो इस आन्दोलनके इंग्लैण्डमें प्रमुख समर्थक रहे हैं, इस प्रदर्शनीका परिचयपत्र प्रस्तुत किया था। उन्हींके शब्दोंमें, इतनी अधिक अपरिचित विशेषताओंसे युक्त आन्दोलनका महत्त्व समझनेमें असमर्थ

समाचारपत्रोंने मजाक, घृणा तथा अपमानकी सेना लेकर इसका सामना किया। परन्तु जैसे-जैसे लोगोंने अतियथार्थवादी आन्दोलनका उद्देश्य समझना प्रारम्भ किया, वैसे-वैसे यह विरोध कुछ कम होता गया।

अंग्रेजीके कुछ आलोचक अपने साहित्यके अतियथार्थवादको फ्रांसीसी प्रभावके रूपमे नहीं ग्रहण करते। उनके मतानुसार अतियथार्थवादकी उत्पत्ति ऐतिहासिक परिस्थितियोंके फलस्वरूप इंग्लैण्डमें हुई। १९ वी शतीका स्वच्छंदतावाद ही आगे चलकर, २० वी शतीमें युगकी आवश्यकताओंके अनुकूल ढलकर अतियथार्थवादके रूपमे परिणत हो गया, ऐसा उनका विश्वास है। इस मतके माननेवालोंमे ह्यू साइक्स डेवीज प्रमुख है।

सैद्धान्तिक दृष्टिसे अतियथार्थवादी कृतित्वका सम्बन्ध मुख्य रूपसे स्वप्नों तथा व्यक्तिकी अर्द्धजाग्रत् अवस्थाओमे है। कविताके उद्‌गमके सम्बन्धमें **स्वतःचालित लेखन**का सिद्धान्त आधुनिक आलोचनामें पर्याप्त रूपसे प्रचलित है। अतियथार्थवादके समर्थकोंने तो कविताका स्वप्नसे अपरिहार्य सम्बन्ध माना है। इसके अतिरिक्त अतियथार्थवादमें स्वतःचालित लेखन (automatic writing)का विशेष महत्त्व है। इस स्वतःचालित लेखनके आधारपर ही लॉत्रीमानने कहा था कि काव्य-रचना सिद्धान्तके रूपमें होनी चाहिये, अपवादके रूपमें नहीं।

स्वतःचालित लेखनको लेकर लोगोंके मनमे बहुत-सी भ्रान्तियाँ हैं। इन भ्रान्तियोंका निराकरण करते हुए अपने निबन्ध 'मिथ, ड्रीम एण्ड पोइम'मे हर्बर्ट रीड कहते हैं—"स्वतःचालित लेखनके सम्बन्धमें अभी अन्वेषण होना चाहिये, परन्तु इस शब्दकी उचित परिभाषा दे देना मेरे लिए अच्छा होगा। कुछ व्यक्तियोंको इससे दैवी प्रक्रियाओंका भान होता है, जो प्लेंचेट आदि यन्त्रोंका प्रयोग करती हैं, अथवा किसी ऐसे सन्देशका आभास मिलता है, जो सम्मोहनकी अवस्थामें प्राप्त किया गया हो। परन्तु प्रस्तुत प्रसंगमें स्वतःचालित लेखनसे हमारा तात्पर्य मनकी उस अवस्थासे है, जिसमें अभिव्यक्ति तत्काल एवं नैसर्गिक रूपमें होती है, जहाँ कि भावचित्र और उसकी शाब्दिक प्रतिकृतिमे समयका कोई अन्तर नहीं पड़ता।" अतियथार्थवादी आन्दोलनका घोषणापत्र प्रस्तुत करनेवाले प्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखक आन्द्रे ब्रेतनने भी अतियथार्थवादी कृतित्वमें स्वतःचालित लेखनको सर्वाधिक प्रधानता दी है।

कुछ तो स्वतःचालित लेखनका सहारा लेनेके फलस्वरूप और कुछ लोककथाओं तथा अवदानोंके समावेशके कारण, अतियथार्थवादी कलाका अपने स्वरूपमें अव्यवस्थित होना स्वाभाविक ही था। और जब स्वयं अतियथार्थवादी कलाकार तथा समीक्षकने व्यवस्थासे ऊबकर शास्त्रीय स्तरपर अव्यवस्थाको प्रश्रय दिया तो समस्त अतियथार्थवादी कृतित्वमें एक प्रकारसे अराजकताका प्रवेश हो गया। ब्रेतन, आरागों, क्रेवल तथा एलुआर जैसे लेखकोंकी रचनाओंमें व्यवस्थाके भावका अत्यन्त सशक्त ढंगसे तिरस्कार किया गया है। उनके अनुसार व्यवस्थाका भाव मनुष्यकी उस अन्वेषणवृत्ति में बाधा पहुँचाता है, जिसके सहारे वह इस अनन्त पृथ्वीके अनन्त रहस्योंका उद्घाटन करना चाहता है। इसीलिए अनीश्वरवादकी शिलापर अवस्थित अतियथार्थवाद अपने जीवनदर्शन तथा कलात्मक सर्जनमें अव्यवस्थाकी भावनाको ही शत-प्रतिशत प्रश्रय देता आ रहा है। यही कारण है कि अतियथार्थवादी कृतित्वके साथ पाठक या दर्शकका आसानीसे साधारणीकरण नहीं हो पाता और इस परम्पराका अनुसरण करनेवाले चित्रों अथवा कविताओंका स्वरूप एक साधारण रसिकके लिए बहुत दुरूह सिद्ध होता है। सच तो यह है कि अतियथार्थवाद एक प्रकारसे मानव विचारधाराके क्षेत्रमें व्यवस्थाके प्रति, क्रमबद्धताके प्रति विद्रोह करता है तथा उसके स्थानपर अव्यवस्थाको प्रतिष्ठित करनेके लिए आन्दोलन करता है। जो कुछ प्राचीन है, जो कुछ परम्परागत है तथा जो कुछ रूढ़ियों एवं व्यवस्थाओंमें बँधा हुआ है, उन सबको आमूल नष्ट कर देना ही अतियथार्थवादी आन्दोलनका मुख्य ध्येय रहा है।

अतियथार्थवाद कलाको अत्यधिक बौद्धिक बना देनेका विरोध करता है। उसे जीवनका एकान्त काल्पनिक पक्ष ही अधिक प्रिय है। व्यक्तित्वके अन्तर्विरोधोंका चित्रण करना उसका प्रमुख ध्येय है।

अतियथार्थवादके मूल सिद्धान्त प्रचलित नैतिक मान्यताओंके एकदम विरुद्ध हैं। इस मतके अनुयायियोंका दृढ विश्वास है कि आधुनिक नैतिकता अपनी प्रकृतिमे एकदम खोखली है। अतियथार्थवादके अपने नैतिक मूल्य स्वतन्त्रता एवं प्रेमपर अवस्थित है।

जहाँतक कलात्मक विधानका प्रश्न है, अतियथार्थवादियोंने इस क्षेत्रमें भी प्रचलित सिद्धान्तोंके प्रति विद्रोह किया। वे कलाकारको अपनी अभिव्यक्तिमे पूर्ण स्वच्छन्दता देनेके पक्षमें हैं। उनका विशिष्ट तर्क यह है कि क्योंकि अतियथार्थवाद स्वप्न तथा अवचेतनसे प्रमुखतः सम्बद्ध है, और क्योंकि स्वप्न तथा अवचेतन व्यापारोंके कितने ही रूप हो सकते है, अतः अतियथार्थवादी कलामें अभिव्यक्तिके ढंग भी उतने ही प्रकारके हो सकते हैं।

अतियथार्थवादी आन्दोलनका हिन्दी साहित्यपर कोई प्रत्यक्ष उल्लेखनीय प्रभाव नहीं मिलता। प्रयोगवादकालीन कवितामें भावचित्रोंका संयोजन, भावोंके मुक्त साहचर्यका प्रयोग, अवचेतनके प्रतीकों तथा बिम्बोंका चित्रण अपने ढंगसे विकसित हुआ है। इसे अतियथार्थवादी प्रभाव नहीं माना जा सकता। हिन्दीके कुछ समीक्षकोंने कविता और स्वप्न तथा अवचेतनके सम्बन्धोंकी भी चर्चा की है। परन्तु उनका यह ज्ञान भी सीधे फ्रायडवाद (दे०)से प्रसूत है। अतियथार्थवादका प्रत्यक्ष प्रभाव **प्रपद्यवाद**पर अवश्य देखा जा सकता है। बिहारके तीन कवियों नलिन विलोचन, केसरीकुमार तथा नरेश (नकेन) द्वारा प्रवर्तित इस काव्य आन्दोलनके बाह्य तथा अन्तर दोनोंपर ही अतियथार्थवादकी छाया स्पष्ट है। प्रपद्यवादके कवियोंने अपना घोषणापत्र भी प्रकाशित किया। उनकी रचना-पद्धति उस अव्यवस्थाको ही प्रधान मानकर चलती है, जो अतियथार्थवादका प्रधान उपजीव्य थी। प्रारम्भमें कुछ नवयुवक कवियोंने प्रपद्यवादकी धारामें बहनेका प्रयास किया, परन्तु अन्ततः यह काव्यआन्दोलन अपनी कोई स्थायी परम्परा न स्थापित कर सका।

[सहायक ग्रन्थ—फ्रॉम क्यूबिज्म टु सुररियलिज्म : ऑ० ई० लेमात्रे: सुररियलिज्म : सं० हर्बर्ट रीड।] —रा० स्व० च०

अतिराष्ट्रीयतावाद–फासिज्ममें (दे०) राष्ट्रवाद अपनी पराकाष्ठाको प्राप्त हुआ है। राष्ट्रसे बढ़कर दूसरा उपाय नहीं और राष्ट्र-सेवकसे बढ़कर दूसरा धर्म नहीं। फासिज्मके लिए राष्ट्र व्यक्तियोंका समूह अथवा व्यापारात्मक समष्टिमात्र नहीं, बल्कि एक स्वतन्त्र रहस्यमयी सत्ता है, जिसका अपना एक निश्चित लक्ष्य है और जिसकी अपने लक्ष्यकी ओर प्रगतिका नाम ही इतिहास है। स्मरण रहे कि फासिज्मका राष्ट्र वह राष्ट्र नहीं, जो ईश्वर या विवेक द्वारा निर्धारित नीति-नियमोंसे अनुशासित हो, बल्कि वह, जो अपना साध्य स्वयं है और जो सारे नीति-नियमोंसे परे है। राष्ट्रका आचरण कभी अशुभ अथवा असत् हो ही नहीं सकता, राष्ट्र सदा शुभ अथवा सत्कर्म ही किया करता है। बल्कि यूँ कहना चाहिये कि राष्ट्र जो कुछ करता है वही शुभ है और जिसे अशुभ समझता है वही अशुभ है। शुभाशुभकी बस यही पहचान है। व्यक्तिका कर्तव्य है कि राष्ट्र अथवा राज्यमें अपनी सत्ता पूर्णतया खो दे–उसके साथ अपना तादात्म्य कर ले, किन्तु राष्ट्रका व्यक्तिके प्रति कोई कर्तव्य नहीं, क्योंकि राष्ट्र स्वयं ही व्यक्तिकी नैतिकताका स्रोत है। एक नाजी (दे० नाजीवाद) प्रवक्ताने कहा था, "जर्मन राष्ट्रके लिए जो कुछ भी हितकर है वही शुभ अथवा उचित है, जो कुछ भी हानिकर है वही अशुभ अथवा अनुचित है।" इससे यह भी संकेत मिलता है कि राष्ट्र अपने अंगभूत व्यक्तियोंके साथ तो नीति-नियमोंसे आबद्ध है ही नहीं, अन्य राष्ट्रोंके प्रति भी इसके कोई नैतिक कर्तव्याकर्तव्य नहीं। चूँकि राष्ट्र सर्वशक्तिसम्पन्न है अतः वह किसी अन्य राष्ट्रको भी अपनेसे बड़ा या अपनेके बराबर नहीं मान सकता। सीमा-विस्तारके रूपमें आत्माभिव्यक्ति ही इसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। —ह० ना०

अतिविश्रब्ध–दे० 'मध्या नायिका'।

अतिशयोक्ति–सादृश्यगर्भ अभेदप्रधान अध्यवसायमूल अर्थालंकारका एक भेद। शब्दार्थ है अतिक्रांत (उल्लंघन) करनेवाली उक्ति। अलंकारिकोंने अतिशयोक्तिको अलंकारके मूलमें मानकर विशेष महत्त्व दिया है। प्रायः प्रत्येक अलंकारके मूलमें अतिशयोक्ति (चमत्कार तथा उत्कर्ष) रहती है (दे० 'अलंकार')। वक्रोक्तिके समान इसका कथनशैलीके सौन्दर्यके रूपमें भी प्रयोग हुआ है। प्रथम आचार्य भामहने निमित्तसे लोकसीमाका अतिक्रमण करनेवाली उक्तिके रूपमें इसे माना है (काव्यालंकार, २:८१) और दण्डीने 'विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी' (काव्यादर्श, ३:२१४) कहा है। इसी प्रकार प्रारम्भमें अतिशयोक्तिकी व्याख्या लोकसीमाको पार करनेवाली प्रशंसात्मक उक्तिके रूपमें की गयी है। वामनका लक्षण इनसे भिन्न है—"सम्भाव्य धर्म और उसके उत्कर्षकी कल्पना अतिशयोक्ति है" (का० सू० वृ० ४:३:१७)। आगे चलकर मम्मटने उद्भटके आधारपर अतिशयोक्तिके विवेचनको विस्तृत आधार प्रदान किया। उनके अनुसार, "जिसमें १. उपमेयका ऐसा काल्पनिक अभेद (अध्यवसाय) निश्चित किया जाय कि वह उपमानमें अन्तर्मग्न (निगरण) हो जाय, २. वर्ण्यविषयका उससे भिन्न प्रकारसे वर्णन किया जाय, ३. 'यदि' शब्दके अभिप्रायमें किसी असम्भाव्य अर्थकी कल्पना की जाय और ४. कार्य-कारणके पौर्वापर्यका वैपरीत्य प्रकट किया जाय"। मम्मटके प्रथम भेदकी अतिशयोक्तिसम्बन्धी धारणा अवश्य मौलिक है—"निगीर्याध्यवसानं तु प्रकृतस्य परेण यत्।" और उनका अनुसरण करते हुए बादके आचार्योंने इसे अतिशयोक्तिका लक्षण ही स्वीकार कर लिया है। विश्वनाथने इसकी व्याख्यामें 'निगरण' और 'अध्यवसाय'का आश्रय 'अलंकार सर्वस्व'के आधारपर लिया है (सा० द०, १०:४६ वृ। अलं० स०, पृ० ५६)। और जगन्नाथके अनुसार "विषयिणा विषयस्य निगरणमतिशयः तस्योक्तिः" (र० गं०, पृ० ३०७)।

अतिशयोक्तिके भेदोंका विकास क्रमिक रूपसे हुआ है। मम्मटके बाद रुय्यकने 'अलंकारसर्वस्व'में इसके ५ भेद बताये हैं, जिनको विश्वनाथने भी स्वीकार किया है, १. भेदमें अभेद–जहाँ भेद होनेपर भी भेदका निषेध हो, २. अभेदमें भेद–भेद न होनेपर भी भेदका कथन, ३. सम्बन्ध होनेपर भी उसका निषेध, ४. सम्बन्ध न होनेपर भी उसका कथन तथा ५. कार्यकारणका विपर्यय (सा० द०, १०:४७)। मम्मटने इनमेंसे ३ और ५ नहीं स्वीकार किये थे और उनका तीसरा भेद भिन्न है। आगे चलकर जयदेवने बिना अतिशयोक्तिकी परिभाषा दिये उसके छः भेदोंके लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत किये है—१. अक्रमातिशयोक्ति, २. अत्यन्तातिशयोक्ति, ३. चपलातिशयोक्ति, ४. सम्बन्धातिशयोक्ति, ५. भेदकातिशयोक्ति, ६. रूपकातिशयोक्ति (चन्द्रालोक, ५:४१, ४६)। अप्पय दीक्षितने 'कुवलयानन्द'में इनके क्रमको बदलकर दो नये भेद असम्बन्धा तथा सापह्नवा और जोड़ दिये हैं।

हिन्दीके आचार्योंने अतिशयोक्तिका स्वतन्त्र लक्षण न देकर उसके विभिन्न भेदोंके लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। इस दृष्टिसे उन्होंने दो परम्पराओंका अनुसरण किया है। चिन्तामणि तथा कुलपति मिश्रने मम्मटके चार भेद दिये है—"अतिशयोक्ति है चारि विधि, मम्मट कथन प्रकार' (कविकुलकल्पतरु), और—"अति अभेद जिय राखि जहँ, नहि कहिये उपमेय। उपमानै कहिये जहाँ अतिशय उक्ति सो भेद। कहिये औरै भाँति पुनि, जो यों तो यो होय। आगे-पीछे वरनिये, कारन कारज सोय' (रस-रहस्य)। इनमें क्रमशः भेदोऽप्यभेदः, अभेदभेदः, सम्बन्धोऽसम्बन्धः तथा पौर्वापर्यविपर्ययः देखा जा सकता है। अन्य जसवन्तसिंह, मतिराम, भूषण, दास तथा पद्माकर आदिने जयदेव तथा अप्पय दीक्षितके आधारपर ६ से ८ भेद तक किंचित् अन्तरके साथ स्वीकार किये हैं। इनमें अधिकतरने सम्बन्धातिशयोक्तिके दो उपभेद मान लिये हैं। दासने अवश्य इसकी स्वतन्त्र परिभाषा दी है—"जहँ अत्यन्त सराहिये" (का० नि०, ११)। आधुनिक विवेचकोंने अधिक संगतरूप देनेका प्रयत्न किया है। कन्हैयालाल पोद्दारने प्रथम ५ भेदोंका उल्लेख किया है रूपक, भेदक, सम्बन्ध, असम्बन्ध तथा कारण, और फिर रूपकके दो उपभेद शुद्धा, सापह्नवा, सम्बन्धके दो उपभेद सम्भाव्यमान, निर्णीयमान और कारणके तीन भेद अक्रम, चपल तथा

वहाँ 'खग' शब्दका मुख्यार्थ प्रसंगमें असिद्ध होनेके कारण सर्वथा परित्यक्त है और मनका अर्थ देता है; मनकी चंचलता और अबोधता आदि व्यञ्जित करना प्रयोजन है। २. 'सकल रोओंके हाथ पसार, लूटता इधर लोभ गृहद्वार' (का० द०, पृ० ३०५)। इस उदाहरणमे समूचे वाक्यका अर्थ बाधित होनेके कारण परित्यक्त हो जाता है और 'लोभी व्यक्ति प्रत्येक प्रकारसे दूसरेकी सम्पत्तिका अपहरण करता है,' यह लक्ष्यार्थ ज्ञात होता है। 'लोभ'के स्वरूपको बोध कराना प्रयोजन है। —उ० शं० शु०

अत्यंतातिशयोक्ति—दे० 'अतिशयोक्ति,' सातवाँ भेद।

अत्युक्ति—अतिशयोक्ति वर्गका अर्थालंकार, शौर्य और औदार्य आदिके अत्यन्त मिथ्या वर्णनको अत्युक्ति अलंकार कहते हैं (अ० म०, पृ० ४१४)। 'कुवलयानन्द'के अनुसार जहाँ समृद्धिका अतिशय वर्णन होता है, वहाँ 'उदात्त' और जहाँ शौर्यादिका वर्णन होता है, वहाँ 'अत्युक्ति' अलंकार होता है। वस्तुतः इस अलंकारको 'उदात्त' अथवा 'अतिशयोक्ति'में अन्तर्भूत समझना चाहिए। 'काव्यप्रकाश'के टीकाकार भट्ट वामनने ऐसा ही माना है। न तो मम्मटने 'काव्यप्रकाश'मे, न विश्वनाथने 'साहित्यदर्पण'में इस अलंकारका उल्लेख किया है। किन्तु हिन्दीके अनेक, जसवन्तसिंह, मतिराम, भूषण, दास तथा पद्माकर आदि आचार्योंने अपने ग्रन्थोंमें अप्पय दीक्षितके आधारपर इसको स्थान दिया है। मतिरामकी परिभाषा है—'जो सुन्दरतादिकनकी, अधिक झुठाई होय' (ल० ल०, ३८१)। बिहारीमें अत्युक्तिके सुन्दर उदाहरण है—'भूषन भार सँभारिहै, क्यो यह तन सुकुमार। सूधै पाय न परत धर, शोभा ही के भार।' (वि० र०)। नायिकाके अंगोंकी शोभाका ही भार इतना अधिक है कि वह सीधी चल नहीं सकती, फिर भला आभूषणोंका भार वह कैसे सँभालेगी। यह सौन्दर्यकी अत्युक्ति है। इसी प्रकार प्रेम, औदार्य, विरह आदिकी अत्युक्ति होती है—'बाल बिलोचन बारिके बारिध बढ़ै अपार। जारै जो न वियोगकी बड़वानलकी झार' (ल० ल०, ३८३)।

'काव्यप्रकाश'के व्याख्याकारका कहना है कि यह अलंकार उदात्तके अन्तर्गत है। सम्भवतः ऐसी आलोचनासे अवगत अप्पय दीक्षितने बताया है कि जहाँपर समृद्धिका अत्यधिक वर्णन होता है, वहाँ उदात्त और जहाँ शूरता या उदारताका, वहाँ अत्युक्ति होती है। उन्होंने अत्युक्तिको सम्बन्धातिशयोक्तिसे भिन्न बताया है। कारण, अतिशयोक्तिका कथन कुछ सीमातक सम्भव हो सकता है, पर अत्युक्तिका विषय सर्वथा असम्भव है (कुवलयानन्द, पृ० १७८)। —ज० कि० ब० तथा ध० ब्र० शा०

अदब—नियम। प्रत्येक वस्तुको निर्दिष्ट सीमामें रखना (प्रज्ञा)। लिट्रेचर अथवा वाङ्मय। अदबी-इल्मी, इखलाकी अर्थात् नैतिक। अल-अदब—वह नैतिक प्रवृत्ति, जो मनुष्यको असभ्य व्यवहारसे रोकती है। मुदिता अथवा मनकी प्रसन्नता। इल्मेअदब वह विद्या है, जिसके द्वारा मनुष्य बोलचाल और लेखनकी त्रुटियोंसे बच सके। क्रि० अदब—सभ्य बनाना, अदब सिखलाना। यह स्पष्ट है कि अपने मूलार्थमें अदब वाङ्मय अथवा साहित्यसे कहीं व्यापक वस्तु है, क्योंकि उसमें मनुष्यकी लिपिबद्ध ज्ञानचेतना ही नहीं, उसका लोकव्यवहार भी सम्मिलित है। परन्तु साहित्य संस्कारी जीवनका प्रमुख अंग होनेके नाते अदबका मुख्य प्रकरण बन गया और पश्चात् उसका साम्यवाची माना जाने लगा। इस सन्दर्भमें सभी प्रकारकी संस्कारी और भावप्रधान रचनाओंके लिए इस शब्दका उपयोग होता है। फारसी और अरबीके साहित्यमें अन्तरंगका उतना महत्त्व नहीं है, जितना बहिरंगका, क्योंकि ईरान और अरबमे साहित्यकार 'गढ़िया' नहीं, 'जड़िया' है। 'अदब' शब्दके भीतर जो सांस्कारिकता और नियमबद्धता है, वह इन देशोंके साहित्योंमें स्पष्ट रूपसे उभरी है। (दे० साहित्य, उपयोगी साहित्य, काव्यकला, ललित साहित्य, सरस साहित्य)। —रा० भ०

अद्भुत रस—'विस्मयस्य सम्यक्समृद्धिरद्भुतः सर्वेन्द्रियाणां ताटस्थ्यं वा।' (भानुदत्त : रसतरंगिणी) अर्थात् विस्मयकी सम्यक् समृद्धि अथवा सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी तटस्थता अद्भुत रस है। कहनेका अभिप्राय यह है कि जब किसी रचनामें विस्मय स्थायी भाव इस प्रकार पूर्णतया प्रस्फुट हो कि सम्पूर्ण इन्द्रियाँ उससे अभिभावित होकर निश्चेष्ट बन जायँ, तब वहाँ अद्भुत रसकी निष्पत्ति होती है। हिन्दीके आचार्य देवने अद्भुत रसका यह लक्षण किया है—'आहचरज देखे सुने बिस्मै बाढ़त। चित्त अद्भुतरस बिसय बढ़ै अचल सचकित निमित्त' (भवानी विलास)। भरतमुनिने वीररससे अद्भुतकी उत्पत्ति बतायी है तथा इसका वर्ण पीला एवं देवता ब्रह्मा कहा है। विश्वनाथके अनुसार इसके देवता गन्धर्व है।

'विस्मय'की परिभाषा 'सरस्वतीकण्ठाभरण'में दी गयी है—'विस्मयश्चित्तविस्तारः पदार्थातिशयादिभिः' किसी अलौकिक पदार्थके गोचरीकरणसे उत्पन्न चित्तका विस्तार विस्मय है। विश्वनाथने 'साहित्यदर्पण'में इस परिभाषाको दुहराते हुए विस्मयको 'चमत्कार'का पर्याय बताया है—'चमत्कारश्चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्यायः' (३:३ वृ०)। अतएव, चित्तकी वह चमत्कृत अवस्था, जिसमें वह सामान्यकी परिधिसे बाहर उठकर विस्तारलाभ करता है, 'विस्मय' कहलायेगी। वास्तवमें, यह विस्मय या चमत्कार प्रत्येक गहरी अनुभूतिका आवश्यक अंग है और इसीलिए यह प्रत्येक रसकी प्रतीतिमें वर्तमान रहता है। भानुदत्तने कहा है कि विस्मय सभी रसोंमे संचार करता है। विश्वनाथ रसास्वादके प्रकारको समझाते हुए कहते है कि रसका प्राण 'लोकोत्तर चमत्कार' है (जो चित्तका विस्ताररूप विस्मय ही है) और इस प्रकार सर्वत्र, सम्पूर्ण रसगर्भित स्थानोंमें अद्भुत रस माना जाना चाहिये। इस सम्बन्धमे उन्होंने निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धृत की है—'रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते। तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः। तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्।' (सा० द०, ३:३ वृ०) अर्थात् सब रसोंमें चमत्कार साररूपसे वर्तमान होता है तथा चमत्कार (विस्मय) के साररूप (स्थायी) होनेसे सर्वत्र अद्भुत रस ही प्रतीत होता है। अतएव, नारायण पण्डित केवल एक अद्भुत रस ही मानते हैं।

मनोविज्ञानियोंने भी विस्मयको प्रधान भावोंमें गृहीत

किया है तथा उसकी प्रवृत्ति 'जिज्ञासा'से बतायी है। वास्तवमें आदिम मानवको प्रकृतिकी क्रीड़ास्थलीके संसर्गमें भय एवं आश्चर्य अथवा विस्मय, इन दो भावोंकी ही मुख्य-तया प्रतीति हुई होगी। कला एवं काव्यके आकर्षणमे विस्मयकी भावना सर्वाधिक महत्त्व रखती है। कवि एवं कलाकार जिस वस्तुका सौन्दर्य चित्रित करना चाहते हैं, उसमें कोई लोकको अतिक्रान्त करनेवाला तत्त्व वर्तमान रहता है, जो अपनी असाधारणतासे भावकको अभिभूत कर लेता है। अंग्रेजी साहित्यके रोमांटिक कवियोंने काव्यकी आत्मा विस्मयको ही स्वीकार किया था। अतएव, अद्‌भुत रसका महत्त्व स्वयं सिद्ध है। साहित्यशास्त्रियोंने रसोंके विरोध एवं अविरोधका व्याख्यान किया है। पण्डितराजने अद्‌भुतरसको श्रृंगार एवं वीरका अविरोधी बताया है, अर्थात् उनके मतानुसार श्रृंगार तथा वीरके साथ अद्‌भुतकी अव-स्थिति हो सकती है। विश्वनाथने सम्बद्ध प्रसंगमे अद्‌भुतके विरोध या अविरोधके विषयमे कोई उल्लेख नही किया है। वास्तवमें उन्होंने रसास्वादके निरूपणके प्रकरणमे, जैसा पहले ही कहा गया है, अपने प्रपितामहकी सम्मति उद्‌धृत करते हुए अपना मत भी व्यक्त कर दिया है कि अद्‌भुत-रसकी पहुँच सर्वत्र सम्पूर्ण रसोंमें हो सकती है। भानुदत्तने अत्युक्ति, भ्रमोक्ति, चित्रोक्ति, विरोधाभास इत्यादिको अद्‌-भुत रसमें ही अन्तर्भूत कर दिया है। सामान्यतया अद्‌भुत एवं हास्य रसमें आपाततः साम्य लक्षित होता है, क्योकि दोनोंमें लोकसे वैपरीत्यका भाव वर्तमान रहता है। लेकिन, अन्तर यह है कि हास्यमें यह वैपरीत्य साधारण होता है और उसका कारण भी यत्किंचित् ज्ञात रहता है, जब कि अद्‌भुतमे वैपरीत्यका परिमाण अपेक्षाकृत अधिक होता है और उसका कारण भी अज्ञात रहता है। वस्तुतः दो विपरीत वस्तुओंके संयोगपर विचार करना ही विस्मयका मूल है। सूरदासका 'अद्‌भुत एक अनूपम बाग'वाला प्रसिद्ध पद अद्‌भुत रसका सुन्दर उदाहरण है।

अलौकिकतासे युक्त वाक्य, शील, कर्म एवं रूप अद्‌भुत रसके आलम्बन विभाव है, अलौकिकताके गुणोंका वर्णन उद्दीपन विभाव है, आँखें फाडना, टकटकी लगाकर देखना, रोमांच, आँसू, स्वेद, हर्ष, साधुवाद देना, उपहार-दान, हा-हा करना, अंगोंका घुमाना, कम्पित होना, गद्गद वचन बोलना, उत्कण्ठित होना, इत्यादि इसके अनुभाव है। और वितर्क, आवेग, हर्ष, भ्रान्ति, चिन्ता, चपलता, जड़ता, औत्सुक्य प्रभृति व्यभिचारी भाव है।

हिन्दीके आचार्य कुलपतिने 'रस-रहस्य' नामक ग्रन्थमें अद्‌भुत रसका वर्णन किया है—'जहँ अनहोने देखिये, वचन रचन अनुरूप। अद्‌भुत रसके जानिये, ये विभाव सु अनूप॥ वचन कम्प अरु रोम तनु, यह कहिये अनुभाव। हर्ष शंक चित मोह पुनि, यह संचारी भाव॥ जेहि ठाँ नृत्य कवित्तमे, व्यंग आचरज होय। तौऊ रसमे जानियो, अद्‌भुत रस है सोय।'

अलौकिक पदार्थके गोचरीकरण अर्थात् ज्ञानगम्य होनेसे विस्मय उत्पन्न होता है। शास्त्रोंमें बताया गया है, ज्ञान तीन प्रकारका होता है, यथादृष्ट (देखा हुआ), श्रुत (सुना हुआ) और अनुमानज (अनुमित)। अद्‌भुत रसके विभाव इन त्रिविध रीतियोंसे गोचर होते हैं। लेकिन वैष्णव आचार्योंने एक चौथी रीति भी बतायी है। वह है संकीर्तन अर्थात् किसी वस्तुका प्रभावक वर्णन-विवरण, जिससे बोधव्य-को उसका सम्यक् ज्ञान हो जाय। इस प्रकार, अद्‌भुत रस चार प्रकारका होता है—दृष्ट, श्रुत, अनुमित एवं संकीर्तित। (१) उदा०—'ब्रज बछरा निज धाम करि फिरि ब्रज लखि फिरि धाम। फिरि इत लखि फिरि उत लखे ठगि बिरंचि तिहि ठाम' (पोद्दार : "रसमंजरी')। वत्सहरणके समय ब्रह्मा द्वारा गोपबालकों तथा बछड़ोंको ब्रह्मधाममें छोड़ आनेपर भी वे ही गोप और बछड़े देखकर ब्रह्माको विस्मय हुआ। अतएव यहाँ दृष्ट अद्‌भुत रसकी प्रतीति हो रही है। (२) उदा०—'चित अलि कत भरमत रहत कहाँ नहीं है बास। विकसित कुसुमन मैं अहै काको सरस विकास' (हरिऔध : 'रसकलस)'। यहाँ अनुमिनि अद्‌भुतकी प्रतीति हो रही है। विकच कुसुमोंमें ईश्वरकी प्रभाके अनुमानज ज्ञानसे उत्पन्न 'विस्मय' पुष्ट होकर अद्‌भुत रसमें व्यक्त हो गया है।

यह स्मरण रखना चाहिये कि चमत्कारपूर्ण वस्तुके दर्शनसे यदि श्रृंगारादि रसोंमें 'अंगतया' विस्मय भाव प्रतीत हो, तो वहाँ श्रृंगारादि रस ही होते है तथा जहाँ वह विस्मय प्रधानतासे भासित हो, अद्‌भुत रस माना जायगा। इमी प्रकार, रसखानिकी प्रसिद्ध पंक्ति 'ताहि अहीरकी छोहरियाँ छछिया भरि छाछपै नाच नचावैं'में विस्मयकी अभिव्यक्ति होनेपर भी अद्‌भुत रस निष्पन्न नहीं हो सका है, क्योकि यहाँ भगवान्‌की भक्तवत्सलताकी अभिव्यक्ति होनेके कारण देवविषयक रतिभाव ही प्रधान बन गया है तथा विस्मयका भाव उसीका पोषक बनकर अंगभूत हो गया है।

हिन्दी साहित्यमें अद्‌भुत रसके उत्कृष्ट प्रयोग हुए है। नारीके रूपसौन्दर्य तथा वयःसन्धिके चित्रण प्रायः अद्‌भुत रसके माधुर्यमें अभिषिक्त हो गये है। विद्यापति तथा सूरदासकी रचनाओमे ऐसे स्थान प्रचुरतासे उपलब्ध होते है। दृष्टिकूटके पदोंमें अद्‌भुत रसकी प्रत्यक्ष प्रतीति होती है। कृष्णलीलाके अनेक प्रसंगों, यथा उनका उलूखलमें बाँधा जाना तथा रस्सियोंका छोटा पडना, माटी खाना, गोवर्धन धारण करना इत्यादिमे अद्‌भुतके सुन्दर चित्र अंकित हुए है। 'सूरदास'के वे प्रकरण द्रष्टव्य है। 'रामचरितमानस'में जहाँ शिशु रामचन्द्रने माता कौसल्याको अपना विराट् रूप दिखलाया है, वहाँ जननीकी मानसिक क्रियाओंके वर्णनमे अद्‌भुतका मनोरम प्रवाह है। 'विनयपत्रिका'का प्रसिद्ध पद 'केशव कहि न जायका कहिये···' अद्‌भुत रसका उत्कृष्ट उदाहरण है। कबीरकी उलटबाँसियाँ तथा जायसीकृत 'पद्मावत'में पद्मावतीका नख-शिख वर्णन भी अद्‌-भुत रसकी अभिव्यक्तिके लिए पठनीय है। रीतिकालके मुक्तकों, विशेषतः बिहारी, मतिराम घनानन्द इत्यादिकी रचनाओंमें जहाँ अत्युक्ति, चित्रोक्ति, विरोधाभास, असंगति प्रभृति अलंकार प्रयुक्त हुए हैं, अद्‌भुत रसका निर्वाह सुन्दर हुआ है। छायावादी कवियोंने तो सौन्दर्यकी अपरिचित भूमियोंको उद्घाटित कर तथा वक्रिमापूर्ण लाक्षणिक शैलीको अपनाकर, 'विस्मय' अथवा 'चमत्कारको काव्यके प्राणरूप-में प्रतिष्ठित कर दिया है। वर्तमान युगकी 'नयी कवितामें

इसका तत्त्व प्रधान है। —र० ति०

अद्वय—द्वैत या द्वैधीभावका अभाव। बौद्ध साहित्यमें बुद्ध द्वारा उपदिष्ट मध्यम मार्गके अर्थमें शब्दका प्रयोग मिलता है। शाश्वत और उच्छेद इन दो अन्तोंके परिहारकी संज्ञा अद्वय है (दे० विधुशेखर भट्टाचार्य : आगमशास्त्र, पृ० १०२, अचिन्त्यस्तव, पृ० २१)। वस्तुतः ग्राह्यग्राहकभावकी अनिष्पत्ति, प्रपञ्चशून्य परमार्थ ही अद्वय है, जहाँ सभी प्रकारके अस्ति-नास्ति प्रभृति दृष्टियोंके विकल्प निरस्त हो जाते हैं। माध्यमिक परमार्थ को अद्वयरूप मानते हैं। शून्यतामें बोध्य-बोधकरूपी द्वैतका मान नहीं होता। वह शब्दोंसे अतीत, प्रपंचविगत और वर्णनका अविषय है। इसीलिए नागार्जुनने शून्यताको अद्वयलक्षण बताया है। इसीलिए प्रज्ञाको भी जो सभी अन्तों और दृष्टियोंसे असंसृष्ट है, अद्वय कहा जाता है। सभी अध्वाकी समताका ज्ञान हो जानेपर ही प्रज्ञाका उदय होता है। वह तत्त्वोंके विषयमें अनानात्व दृष्टिकी बोधिका होनेके हेतु ही अद्वय है। अद्वय तत्त्वका उपदेश देनेके कारण ही कभी-कभी बुद्धको अद्वय (नागार्जुन ; परमार्थस्तव, पृ० ४), अद्वयवादी तथा संसार और निर्वाणकी एकतासे अभिन्न बताया जाता है। शून्यता या संसार-निर्वाणकी एकता ही माध्यमिकके अनुसार अद्वय है। इसीलिए वह बार-बार तत्त्वको 'अनानार्थ' कहते हैं। विज्ञानवादी विज्ञान (विज्ञप्तिमात्रता) या तथताको ही, जो ग्राह्यग्राहक विकल्पका भाजन नहीं बनती, अद्वय शब्दसे संज्ञित करते हैं।

आगे बौद्ध महायान साधनाके विकसित होनेपर वज्रयानमें करुणा और शून्यता, उपाय और प्रज्ञा, पद्म और वज्रके सम्मेलनको ही अद्वयाकार बताया है और इसे 'प्रज्ञोपाय' कहा गया है। वज्रयानी वज्र, शून्यता, प्रज्ञापारमिता और समताको अद्वयका एकार्थक मानते हैं और इसे गगनके समान निर्लेप तथा असङ्ग, विशुद्ध और प्रभास्वर बताते हैं। वे इसे शून्यता और करुणा या वज्र और पद्मके अभेद या युगनद्धकी संज्ञासे भी व्यवहृत करते हैं। यह अद्वय ही परमार्थ तत्त्व है, जो महासुख या निर्वाणसे भिन्न नहीं है।

कभी-कभी वेदान्तियोंके अद्वैत और बौद्धोंके अद्वयमें अन्तर बताया जाता है। प्रायः वेदान्त साहित्यमें परम तत्त्वको अद्वैत और बौद्ध-साहित्यमें अद्वय शब्दसे व्यवहृत किया गया है। परन्तु यह कोई नियम नहीं है। अद्वैतके प्रधान आचार्य गौडपाद और शंकरके शिष्य सुरेश्वरने अद्वय शब्दका बहुधा प्रयोग किया है। और नागार्जुनके शिष्य आर्यदेवने अद्वैत शब्दको नैरात्म्यके पर्यायके रूपमें व्यवहृत किया है। श्रीमद्भागवत पुराणमें ब्रह्म या परमात्मा को अद्वय कहा है। वस्तुतः अद्वय और अद्वैत परस्पर भिन्न नहीं है। जिसे उपनिषद् अद्वैत और ब्रह्म कहते हैं, बौद्ध उसे ही प्रकरण, परम्परा और शैलीके भेदसे अद्वय, परमार्थ, शून्यता, प्रज्ञोपाय और युगनद्ध कहते हैं। वास्तवमें अद्वय निष्पन्न और परमार्थ तत्त्वका ही दूसरा नाम है, जो शाश्वत और उच्छेद इन दो अन्तोंसे विनिर्मुक्त है (शाश्वतोच्छेदनिर्मुक्तं तत्त्वं [illegible] —अद्वयवज्रसंग्रह)।

हिन्दीमें सिद्धोंके साहित्यमें सहजपुरुषके ज्ञान या अनुभवको अद्वयाकार बताया गया है। धर्मता और शून्यता या धर्मधातु (तथता) आकाशके समान निर्लेप और निःसंग है तथा अद्वयस्वरूप है। महासुख (निर्वाण) को भी सिद्धों ने अद्वयरूप कहा है। कहीं-कहीं अद्वय प्रतिभासका भी उल्लेख मिलता है। वस्तुतः सिद्धोंने वज्रयानसे प्रभावित होकर प्रज्ञोपायके रूपमें ही अद्वयका प्रयोग किया है। कहीं-कहीं इन्होंने प्रज्ञाके अर्थमें, विवेक-ज्ञानके अर्थमें भी अद्वयका प्रयोग किया है।

[सहायक ग्रन्थ—शङ्कर और नागार्जुनका तुलनात्मक अध्ययन (अप्रकाशित शोधप्रबन्ध) : करुणेश शुक्ल; ऐन इण्ट्रोडक्शन टू तान्त्रिक बुद्धिज्म : शशिभूषण दासगुप्त; तान्त्रिक बौद्ध साधना और साहित्य : नागेन्द्रनाथ उपाध्याय; सिद्ध साहित्य : धर्मवीर भारती।] —क० शु०

अद्वैतवाद—दर्शनमें सत् (सत्ता) की खोज की जाती है। सत्को ही तत्त्व या पदार्थ कहते हैं। कभी-कभी इसीको अन्तिम सत्ता या सत्य और परमतत्त्व कहते हैं। यह सत् है कि नहीं? यह भाव है या अभाव? यह एक है या अनेक? आदि प्रश्नोंपर पर्याप्त विचार किया गया है, जिसके फलस्वरूप अनेक 'वाद' उत्पन्न हो गये हैं। जो लोग सत्को एक मानते हैं, वे एकत्ववादी और जो अनेक मानते हैं वे अनेकत्ववादी, वैपुल्यवादी या बहुत्ववादी कहे जाते हैं। बहुत्ववादियोंको ही द्वैतवादी कहा जाता है। अद्वैतवादी इन सबसे भिन्न हैं। वे सत्को न एक मानते हैं, न अनेक। वे उसे अगम, अगोचर, अचिन्त्य, अलक्षण तथा अनिर्वचनीय मानते हैं। उनको हम अद्वैतवादी इसलिए कहते हैं कि वे द्वैतवादका निरास करते हैं। कुछ लोग इस खण्डन-प्रवृत्तिका यह अर्थ लगाते हैं कि वे एकत्ववादी हैं। पर दार्शनिक दृष्टिसे अद्वैतवाद जैसे द्वैतवाद या वैपुल्यवादसे भिन्न है, वैसे वह एकत्ववादसे भी भिन्न है, यद्यपि एकत्ववाद ऐतिहासिक दृष्टिसे उसका जनक और उसका समीपवर्ती है। अद्वैत सत्का वर्णन एक, दो, आदि किसी संख्यासे नहीं हो सकता है। अगम तत्त्वको संख्याके ढाँचेमें नहीं रखा जा सकता। 'नेति-नेति', 'है मात्र', 'है अस जस कछु-कछु तैसा', 'न यह न वह', 'अबोल' आदिसे ही उसका वास्तविक वर्णन होता है।

अद्वैत सत् क्या है? इस प्रश्नके भी विविध उत्तर हैं, जिनके कारण विविध तत्त्ववादोंका जन्म हुआ। इसे शून्यवादी (बौद्ध) शून्य, विज्ञानवादी (बौद्ध) विज्ञान, शब्दवादी (वैयाकरण स्फोटवादी) शब्द, शक्तिवादी शक्ति, शिववादी शिव और अद्वैत वेदान्ती आत्मा मानते हैं। हिन्दीके सन्तोंमें कुछ इसे सत् या सत्य कहते हैं, कुछ नाम कहते हैं, तो कुछ सत्तनाम और कुछ हरि। यूरोपके दार्शनिकोंमेंसे फिश्टेने इसे आत्मा, शेलिंगने अनात्मा (प्रकृति), हेगलने निरपेक्ष प्रत्यय, ग्रीनने अपरिच्छिन्न चैतन्य तथा ब्रैडलेने अपरोक्षानुभव कहा। इन सब वादोंमें प्रधानता आत्माद्वैतवाद की है, जिसे शंकर और उनके अनुयायी, फिश्टे, ग्रीन तथा हिन्दीके कुछ सन्त मानते हैं। यह सत्ताद्वैत, शून्याद्वय, विज्ञानाद्वय, शब्दाद्वय आदिसे इस बातमें भिन्न है कि इसके अनुसार साक्षात् अनुभूत होनेवाली चैतन्य-

स्वरूप आत्मा ही तत्त्व है, न कि कोई अन्य भाव या अभाव परमतत्त्व है। सभी अद्वैतवादोंमें यह सिद्ध किया जाता है कि उनके अद्वैत सत्में ही समस्त भूतोंकी सत्ता मायया विद्यमान है, उसीसे वे मायया निकलते हैं और उसीमें उनका मायया लय होता है। इस प्रकार अद्वैतवाद तर्कतः मायावाद या विवर्तवादसे सम्बद्ध है। शंकराचार्य (७८८-८२० ई०) से लेकर आजतक सामान्यतः उनके आत्माद्वैत-वादको ही अद्वैतवादके नामसे पुकारा जाता है, क्योंकि युक्ति और स्वानुभूतिसे यही प्रबलतम अद्वैतवाद सिद्ध होता है। इसीने अन्य अद्वैतवादों तथा द्वैतवादोंका तर्कसंगत खण्डन किया और फलतः इसीका सबसे अधिक प्रचार हुआ। भारतमें इसे अन्य वेदान्तमतोंसे भिन्न करनेके लिए केवलाद्वैतवाद भी कहा जाता है।

अद्वैतवाद ऋग्वेदमें मिलता है। नासदीय सूक्त इसका सुन्दर वर्णन करता है। उपनिषदोंमें तो अद्वैतवादका घर ही है। छान्दोग्य उपनिषद्में एक तथा अद्वितीय सत्का ही वाचारम्भण समस्त प्रपंच कहा गया और उसको आत्मासे अभिन्न माना गया। तत्त्वमसि (वह तू है) उसका सिद्धान्त बना। बृहदारण्यक उपनिषद्में आत्माको 'नेति-नेति' कहा गया, नानात्वका खण्डन किया गया और आत्म-लाभको ही मोक्ष समझा गया। माण्डूक्य उपनिषद्में आत्मा ब्रह्म है, यह स्पष्ट घोषित किया गया। सूत्रकाल (४०० ई० पू० से २०० ई० तक) में अनेकानेक आचार्योंने उपनिषदोंके सारको ब्रह्मसूत्रोंके रूपमें लिखा। इनमेंसे कुछ अद्वैतवादी थे। संयोगवश इस समय केवल बादरायणका ही ब्रह्मसूत्र उपलब्ध है। इसी कालमें या इसके पूर्वसे ही स्मृतियोंकी रचना आरम्भ हुई। इनमें भी उपनिषदोंके सिद्धान्तोंकी विवेचना की गयी। महाभारतके अन्तर्गत भगवद्गीता उपनिषदोंका सारभूत अंश है। वेदान्तमें इसीको 'स्मृति' कहते हैं।

उपनिषदों, ब्रह्मसूत्रों तथा गीतापर भाष्य या टीका-टिप्पणी लिखनेसे परवर्ती कालमें उपनिषदोंके सिद्धान्तोंका बड़ा प्रचार हुआ। इन सबको वेदान्त कहा जाता है। उपलब्ध ग्रन्थोंके आधारपर यह कहा जा सकता है कि ऐसे लोगोंमें शंकराचार्य ही सबसे प्राचीन हैं, जिनके उपनिषद्भाष्य, ब्रह्मसूत्र-भाष्य तथा गीता-भाष्य आज उपलब्ध हैं। शंकराचार्य अपने पूर्वके कुछ लोगोंको अद्वैतवादी बतलाते हैं, पर उनकी कृतियाँ अनुपलब्ध हैं, हाँ, शंकरके परमगुरु गौडपादकी माण्डूक्यकारिका आज भी उपलब्ध है। इसमें अद्वैतवादका सर्वप्रथम न्यायसंगत वर्णन मिलता है। गौडपाद बौद्ध अद्वैतविचारधारासे प्रभावित थे। उनके पूर्व बौद्धग्रन्थोंमें मायावाद या विवर्तवादकी सुन्दर व्याख्या हो गयी थी। उससे लाभ उठाकर उन्होंने अद्वैत वेदान्तको अकाट्य तर्कोंपर आधारित किया। शंकराचार्यने तो अद्वैतवादका मुख्य प्रवर्त्तन ही किया। उन्होंने केवल भाष्योंकी ही रचना नहीं की, वरन् अद्वैत-विरोधियोंको शास्त्रार्थमें पराजित किया। बदरिकाश्रम, द्वारकापुरी और श्रृंगेरीमें अपने मतके प्रचारके लिए मठ स्थापित किये, संन्यासपरम्पराका जीवनोद्धार किया और दशनामी सम्प्रदायकी स्थापना की, जिसके अनुयायी तबसे लेकर आजतक इस देशमें अद्वैतवादका प्रचार कर रहे हैं। शंकराचार्यके साक्षात् शिष्य सुरेश्वराचार्य तथा पद्मपादने शंकरके ग्रन्थोंपर क्रमशः वार्तिक और व्याख्या लिखा। पद्मपादकी 'पंचपादिका' और सुरेश्वरके 'बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य-वार्तिक' तथा 'नैष्कर्म्यसिद्धि' अद्वैतवादके प्रमाणित ग्रन्थ हैं। पद्मपादकी विचारधाराका विद्यारण्यने अपने 'विवरण-प्रमेयसंग्रह'में अच्छे ढङ्गसे प्रतिपादन किया। यह 'विवरण'-की व्याख्या है। 'विवरण' प्रकाशात्म यति द्वारा लिखित 'पंचपादिका'की टीका है। इस ग्रन्थके नामपर अद्वैतमें विवरणप्रस्थान (सम्प्रदाय) चल पड़ा है। शंकराचार्यके ही समकालीन मण्डन मिश्र थे। कुछ लोग सुरेश्वरका ही गृहस्थाश्रमका नाम मण्डन मिश्र बतलाते हैं। पर मण्डन मिश्रके ग्रन्थोंमें, 'ब्रह्मसिद्धि' तथा 'विभ्रमविवेक'में, सुरेश्वरके मतोंसे भिन्न मत मिलते हैं। अतः यह सिद्ध हो गया है कि ये दोनों एक व्यक्ति नहीं थे। मण्डन मिश्रकी विचार-परम्परामें वाचस्पति मिश्र हुए। इन्होंने भामती (जो इनकी स्त्रीका नाम था) नामसे शंकरके 'ब्रह्मसूत्रभाष्य' (जिसका नाम शारीरक भाष्य है)की विस्तृत और विद्वत्तापूर्ण व्याख्या लिखी। इस ग्रन्थसे अद्वैतवेदान्तमें 'भामतीप्रस्थान' (सम्प्रदाय) चल पड़ा है। आगे चलकर जयचन्दके दरबारी पण्डित नैषधीयचरितके प्रणेता श्रीहर्षने 'खण्डनखण्डखाद्य' लिखकर अद्वैतवेदान्तकी तर्कप्रणालीको पूर्ण विकसित किया। उन्होंने बौद्ध तर्कप्रणालीके आधारपर अद्वैतकी सिद्धि की। मधुसूदन सरस्वतीने 'अद्वैतसिद्धि' लिखकर अपने समयके अन्य दार्शनिकोंके मतोंकी कटु आलोचना की और अद्वैतवादके सम्बन्धमें समस्त आपत्तियोंका उत्तर दिया। उन्होंने भक्तिको ज्ञानमार्गसे समुच्चित किया। काशीमें विरोध होनेपर उन्होंने तुलसीदासका पक्ष लिया। चित्सुखने 'तत्त्वदीपिका' या 'चित्सुखी' लिखकर पर-मतके खण्डनकी प्रणालीका समर्थन किया और नाना सिद्धान्तोंकी पारिभाषिक ढंगसे विवेचना की। 'खण्डनखण्डखाद्य', 'अद्वैतसिद्धि' तथा 'चित्सुखी' वेदान्तके क्लिष्ट तथा श्रेष्ठ ग्रन्थ माने जाते हैं।

अप्पय दीक्षित (१५५० ई०) भारतके सर्वतोमुखी प्रतिभा-सम्पन्न एक अद्वितीय विद्वान् हो गये हैं। इन्होंने प्रत्येक शास्त्र और दर्शनपर कलम चलायी है। इनके समयतक अद्वैतवेदान्तके अगणित ग्रन्थ और मत-मतान्तर हो गये थे। 'सिद्धान्तलेशसंग्रह' नामसे इन्होंने उन समस्त मत-मतान्तरोंका संग्रह किया। इस ग्रन्थको हम उस समयके अद्वैतवेदान्तका विश्व-कोश कह सकते हैं। यह पढ़ने योग्य ग्रन्थ है।

अद्वैतवेदान्तके इस विकासमें अद्वैत और बौद्धोंका विचार-युद्ध स्मरणीय है। एकने दूसरेका खण्डन किया। एकने दूसरेको प्रभावित किया। दोनोंने तर्कपर ही अपनेको आधारित किया। तर्कशास्त्रके सिद्धान्तोंकी दोनोंने ही सूक्ष्म विवेचना की। ज्ञानमार्गका दोनोंने अवलम्बन किया। १२वीं शताब्दीमें बौद्धधर्म तथा दर्शनके भारत छोड़ देनेसे यह युद्ध शान्त हो गया। उसके निष्कासनका कुछ श्रेय अद्वैतवेदान्तको भी दिया जाता है। पर उसके तिब्बत और चीन चले जानेसे अद्वैतवेदान्तमें ज्ञानमार्गकी अपेक्षा

भक्तिमार्गने अधिक महत्त्व ले लिया। परवर्ती अद्वैतवादी पूर्ववर्ती अद्वैतवेदान्तियोंके शुष्क ज्ञानकी अपेक्षा भक्तिमें आनन्द लेते रहे।

सभी विद्वानोंमे इस बातपर मतैक्य है कि हिन्दीके सन्त साहित्यमें अधिकांश सन्त अद्वैतवादी हैं। कबीर इनमें सबसे प्राचीन तथा प्रधान हैं। कबीरके पास अद्वैतवाद कैसे पहुँचा? इसके दो उत्तर अभीतक दिये गये हैं— पहला, कबीरके गुरु रामानन्दको अद्वैतवादका अच्छा ज्ञान था। उन्हींसे कबीरको यह ज्ञान-रहस्य मिला। दूसरा, कबीरको अपनी साधनासे अद्वैत-तत्त्वका अनुभव हुआ। अधिकांश लोगोंके मतसे कबीर ही सबसे पहले हिन्दीके अद्वैतवादी कवि या लेखक हैं। पर यह कथन ऐतिहासिक विवेचनासे निराधार सिद्ध हो जाता है। कबीरके पूर्व भी हिन्दीमें जीवन्त अद्वैतवाद था। सरहपाद (८वीं शताब्दी), तिल्लोपाद (१०वीं शताब्दी) आदि सिद्ध, जिनकी रचनाएँ पुरानी हिन्दीमे हैं, वस्तुतः अद्वैतवादी ही हैं। गोरखनाथ (११ वीं शताब्दी), जिनकी बानियाँ हिन्दीमें आज प्रकाशित हो गयी हैं, अद्वैतवादी ही थे। सिद्धों और नाथोंने जनताकी बोलीमे कबीरसे पहले अद्वैतवादका प्रचार किया था। कुछ लोग योगमार्गकी इस परम्पराको उतनी ही पुरानी बतलाते हैं, जितने कि वेद हैं। कुछ भी हो, इस अद्वैतवादपर योग और बौद्ध विचारधाराका बहुत प्रभाव पड़ा था। बहुत सम्भव है कि अद्वैतवेदान्तियोंने भी लोकभाषामें अपना प्रचार किया हो। फलतः योग, बौद्ध और वेदान्त, तीनोंके मिलनेसे शंकरके समयमें ही उत्तरी भारतमें अद्वैतवादका प्रचार था। बौद्धों और औपनिषदोंके बाहर जानेसे अद्वैत ईरान, अरब और मिस्रमें गया था, वह मुसलमानोंके आनेपर सूफ़ीमतका रूप धरकर भारतमें वापस आया। इसका भी हिन्दी अद्वैतवादमें योगदान है। सब धाराओंके मिल जानेसे कबीरका अद्वैतवाद १५ वीं शतीमें सम्भव हुआ। पर अभी कबीर-पूर्व हिन्दीके अद्वैतवादकी ऐतिहासिक खोज करनी है।

कबीरके बाद तो अद्वैतवादी सन्तोका ताँता बँध गया। रैदास और उनके अनुयायी अद्वैती हैं। कबीरपन्थी सभी अद्वैतवादी हैं। दादू (१५४४-१६०३ ई०) और दादू पंथके गरीबदास, बखना, रज्जब और सुन्दरदास अद्वैतवादी हैं। मलूकदास, भीखा, जगजीवनदास, बूला, यारी, गुलाल, पल्टू आदिकी बानियाँ भी अद्वैतवादकी प्रकाशिका हैं। आधुनिक युगमें स्वामी रामतीर्थने अद्वैतवादका साहित्य तथा जनतामें प्रचार किया। इसी समय बंगालमें स्वामी रामकृष्ण परमहंससे अद्वैतकी प्रबल धारा बही। उसके प्रचण्ड समर्थक और प्रतिपादक स्वामी विवेकानन्द हुए। सामान्यतः लोग विवेकानन्द और रामतीर्थके ग्रन्थोंसे ही अद्वैतवादका परिचय प्राप्त करते हैं। इनमें शंकराचार्यके अद्वैतवेदान्तकी ही आधुनिक प्रणालीसे पुनरुक्ति है। इनके 'वादों'का प्रचार अमेरिका और यूरोपमें भी है। वहाँ वे विशेष आदरकी दृष्टिसे देखे जाते हैं।

संस्कृत अद्वैतवादको प्रायः अद्वैतवेदान्त कहा जाता है। श्रुति (वेद-उपनिषद), गीता और ब्रह्मसूत्र उसके तीन प्रस्थान हैं। इन्हींपर टीका-टिप्पणी या विचार-अनुशीलन करनेपर जो अद्वैतपरक दर्शन उत्पन्न होता है, उसे अद्वैतवेदान्त कहते हैं। हिन्दी अद्वैतवादको हम अद्वैतवेदान्त नहीं कह सकते। उसमे श्रुतिप्रमाणका महत्त्व कम या बिलकुल नही है, स्वानुभूति ही हिन्दी अद्वैतवादका मुख्य प्रमाण है।

इसके अतिरिक्त संस्कृतके अद्वैतवेदान्ती ज्ञानमार्ग (शंकर) या ज्ञानकर्म-समुच्चयमार्ग या ज्ञान-कर्म-भक्ति-समुच्चयमार्ग (मधुसूदन सरस्वती)को मानते हैं। हिन्दीके अद्वैतवादी इनको नही मानते। वे भक्तिमार्ग या ज्ञान-भक्ति-समुच्चयमार्ग या योगमार्ग या योग-भक्ति-समुच्चय-मार्ग मानते हैं। ज्ञान-प्राप्तिके अनन्तर भी वे भक्तिको आवश्यक मानते हैं।

फिर संस्कृत अद्वैतवेदान्तमें परमार्थ और व्यवहार सत्का भेद किया जाता है, हिन्दी अद्वैतवादमें नहीं। इसी कारण संस्कृत अद्वैतवेदान्त जाति-पाँति-व्यवस्थाका समर्थन करता है और हिन्दी अद्वैतवाद खण्डन। संस्कृत अद्वैतवेदान्त मूर्तिपूजा तथा सगुणोपासनाका अपनी साधनासे सामंजस्य बैठाता है तो हिन्दी अद्वैतवाद इन्हें अद्वैत-साधनाके लिए अनावश्यक मानता है।

संस्कृत अद्वैतवाद अवतारवादका समर्थन करता है और हिन्दी अद्वैतवाद खण्डन। हिन्दी अद्वैतवाद बौद्ध, वैदिक, यौगिक, सूफ़ी सभी साधनाओं और विचारधाराओंका फल है। संस्कृत अद्वैतवेदान्त केवल उपनिषद्का अनुशीलन है। संस्कृत अद्वैतवादमें तर्क या बुद्धिका प्रमाण मान्य है। वह तार्किक है। हिन्दीके अद्वैतवादमे बुद्धिवाद, स्वाध्याय आदिका खण्डन है और प्रेम तथा भक्तिका अधिक महत्त्व है। वह तार्किक न होकर धार्मिक है। संस्कृतका अद्वैतवेदान्त रहस्यवादके अतिरिक्त विशुद्ध ज्ञान-मीमांसा, नीतिशास्त्र, तत्त्ववाद और तर्कशास्त्र देता है तो हिन्दीका अद्वैत केवल रहस्यवाद और उससे सामंजस्य रखनेवाला नीतिशास्त्र तथा तत्त्ववाद। संस्कृतके अद्वैतवेदान्तमें कथनीपर जोर है तो हिन्दीके अद्वैतवेदान्तमें करनीपर। संस्कृत अद्वैतवेदान्तमें एकमात्र और अद्वितीय सत्को आत्मा या ब्रह्म या परमात्मा कहा जाता है। हिन्दीके अद्वैतवादमें इसे सत्, नाम, सहजसुन्न, सुन्न, हरि, राम, सत्य, सत्तनाम आदि भी कहा जाता है। तात्त्विक दृष्टिसे हिन्दी सन्तोंमे नाम, अनाम और अबोलको सत्से अधिक महत्त्व दिया जाता है। अबोल तो अद्वैतवेदान्तमे भी मिलता है, क्योंकि उसमें भी 'उपशान्तो ह्ययमात्मा' (उपशान्त यह आत्मा है) कहा गया है। सत्के अनिर्वचनीय होनेके कारण अनाम भी अद्वैतवेदान्तमें है, पर नामका जो सिद्धान्त हिन्दी अद्वैतवादियोंमें है, वह संस्कृत अद्वैतवेदान्तमें नहीं है। नामको सगुण तथा निर्गुणसे ऊपर तुलसीदास जैसे सगुणभक्तोंने भी माना। तत्त्ववाद और तर्कशास्त्र जितना संस्कृतमे है, उतना हिन्दीमें नही है। पर जितना रहस्यवाद हिन्दीमें है, उतना संस्कृतमें नही है। —सं० ला० पा०

अधमा (नायिका)—गुण अथवा प्रकृतिके अनुसार नायिकाओंके विभाजनका एक भेद (विशेषके लिए दे० 'नायिका-भेद')। भरतसे यह विभाजन स्वीकृत होता

आया। भानुदत्तके अनुसार 'हितकारिण्यपि प्रियतमेऽहितकारिण्यधमा' अर्थात् प्रियके हित करनेपर भी अहित करनेवाली नायिका अधमा कही गयी है। हिन्दीके कवियोंने प्रायः अहितके लिए (मान) करना कहा—'प्रिय सौ हितहूके किये करे मान जो बाल' (मतिराम : रसराज, २३४)। कुछने रोष करनेका उल्लेख भी किया है—'ज्यों ही ज्यों पिय हित करत त्यों-त्यो परति सरोस' (पद्माकर : जगद्विनोद, १:२७७)। रोषका अंकन इस नायिकाके उदाहरणोंकी विशेषता है—'हा हाके निहोरे हू न हेरत हिरननैनी, काहेकों करत हठ हारिलकी लाकरी' (मतिराम : रसराज, २३५)।' मनानेपर भी वह मानती नहीं—'प्यौ परि पाइ मनायी जऊ तऊ पापिनकों कछु पीर न आयी' (पद्माकर : जगद्विनोद, १:२७८)।

अधिक—अतिशयोक्ति वर्गका अर्थालंकार; यदि आधार अथवा आधेय वस्तुतः छोटा हो, पर उसे अपेक्षाकृत बड़ा वर्णित किया जाय तो 'अधिक' अलंकार होता है। सम्भवतः रुद्रटने इसे सर्वप्रथम स्वतन्त्र अलंकार माना है और मम्मट तथा विश्वनाथ आदिने उनके दूसरे प्रकारके आधारपर इसका लक्षण दिया है। 'साहित्यदर्पण'में विश्वनाथने इसकी परिभाषा दी है—'आश्रयाश्रयिणोरेकस्याधिक्येऽधिकमुच्यते।' (सा० द०, १० : ७२) अर्थात् आश्रय (आधार) तथा आश्रयी (आधेय) इनमेंसे एकका अपेक्षाकृत आधिक्य (विशालता या उत्कृष्टता) होनेसे 'अधिक' अलंकार होता है। यह दो प्रकारका होता है—१. जहाँ आधारकी अपेक्षा आधेयकी कल्पित उत्कृष्टता हो, और २. जहाँ आधेयकी अपेक्षा आधारकी कल्पित उत्कृष्टता हो। हिन्दीके आचार्योंने प्रायः 'चन्द्रालोक'के लक्षणको दो भिन्न भेदोंके रूपमें ('कुवलयानन्द'के समान) स्वीकार किया है। मतिरामने प्रथम तथा द्वितीय आधारकी पृथक्-पृथक् परिभाषाएँ दी है, प्रथम—'जहाँ बढ़ै आधारतै बरनत बढि आधेय।' (ल०ल०, २३६), द्वितीय—'जहाँ बढ़ै आधेय तै बरनत बढ़ि आधार' (ल० ल०, २३८)। 'भूषण'ने इस अलंकारका एक ही प्रकार माना है—'जहाँ बड़े आधारतै बरनत बढ़ि आधेय' (शि० भू०, २२०)। उदा०—प्रथम अधिक—'शिव सरजा तव हाथकी, नहिं बखान करिजात। जाको बासी सुजस सब, त्रिभुवनमै न समात।' (शि० भू०, २२१)। यहाँ त्रिभुवन आधार है और उसको अतिव्याप्त करनेवाला उससे बड़ा शिवाजीके हाथका यश है। द्वितीय अधिक—'जाके कोस भीतर भुवन करतार ऐसो, जाके नाभिकुण्डमै कमल विकसत है। राव भावसिंह तेरी कहाँ लौ बड़ाई करौं, ऐसौ बड़ो प्रभु तेरे मनमैं बसत है' (ल० ल०, २३९)। यहाँ मनरूपी आधारकी उत्कृष्टता कल्पित की गयी है।

माघ कविके 'शिशुपालवध'से 'अधिक'का एक सुन्दर उदाहरण—'जिस विष्णुके शरीरमें चौदहों भुवन समाविष्ट हैं, उसमें नारदागमनजन्य प्रसन्नता अवकाश नहीं पा सकी।' 'काव्यादर्श'में दण्डीने इस अलंकारको 'अतिशयोक्ति'के अन्तर्गत माना है। मल्लिनाथने भी प्रस्तुत उदाहरणमें 'सम्बन्धासम्बन्धरूपातिशयोक्ति'की ही अवस्थिति मानी है, क्योंकि वस्तुतः प्रसन्नता और शरीरमें सम्बन्ध है, किन्तु दोनोंमें असम्बन्धकी कल्पना की गयी है। यह कहा जा सकता है कि अधिक विषमके समान है, क्योंकि उसमें भी दो विरूप वस्तुओंकी संघटना होती है। परन्तु विषममें दो स्वतन्त्र वस्तुएँ विरूप होते हुए भी साथ कही जाती हैं, जब कि अधिकमें आधाराधेयके रूपमें सम्बन्धित होती हैं और सौन्दर्य दोनोंकी विरूपतामें न होकर आश्रय या आश्रयीके एक-दूसरेसे बड़े होनेमे होती है।—ध० ब्र० शा०

अधिक पद—दे० 'शब्द-दोष', चौथा 'वाक्य-दोष'।

अधिनायकवाद (totalitarianism)—फासिज्म (दे०)-के अनुसार राष्ट्रकी आत्माका अवतार दल तथा, अन्ततोगत्वा, अधिनायकके रूपमे होता है। फासिज्मका सम्बन्ध जार्ज सोरेलके इतिहासदर्शनसे है, जिसके अनुसार राष्ट्र, संस्था तथा वर्गकी आत्मा शिष्ट समुदाय (एलीट) के रूपमे साकार होती है। अधिनायकका अवतरण रहस्यमय शब्दोंमें निरूपित किया गया है। कहा जाता है कि अधिनायक स्वयमेव प्रकट हो जाता है। तिब्बतके लामाओंके समान वह अपने चिह्नोंसे पहचानमें आ जाता है, अन्तर इतना है कि लामाओमे शारीरिक चिह्न होते है, जब कि अधिनायकमें मानसिक और आध्यात्मिक। अधिनायक अवतरित होकर अपने सहायक चुनता है। इस प्रकार शक्तिका प्रवाह ऊपरसे नीचेकी ओर है। फासिज्मकी एक शाखा नाजीवाद (दे०)के अनुसार अधिनायक भी राष्ट्र अथवा राज्यके समान शुभाशुभ, नैतिकता-अनैतिकताके परे होता है। 'हिटलर जो निर्णय करता है, वही ठीक है और अनन्त-कालतक ठीक रहेगा'। इस प्रकार, व्यवहारमें, व्यक्तिको राष्ट्रके नामपर अधिनायकके प्रति आत्मसमर्पण करना पड़ता है।

अधिनायकको प्रभुत्वकी अपरिमेय वासना होती है और वह अपनी बलवती इच्छाशक्ति (विल टु पावर)से पहचाना जाता है। फासिज्म बलवान्की विजय और 'समरथको नहि दोस गुसाई'की नीतिमें पूरा विश्वास करता है। इच्छाशक्तिको वह सर्वश्रेष्ठ मानवगुण माननेके पक्षमें है। उसके अनुसार इच्छाशक्ति ही इतिहासकी दिशाका निर्धारण करती है। इस प्रकार फासिज्मकी नैतिकता बलवान्की नैतिकता है।

फासिज्म बहुमतवादसे घृणा करता है। जनतन्त्रको वह सामूहिक अनुत्तरदायित्वकी अवस्था बतलाता है। वह जाति-जाति, व्यक्ति-व्यक्तिमें दुर्लंघ्य असमानताका दर्शन करता है। वह साम्यभावका सबसे बड़ा शत्रु है। वह यह कदापि नहीं मान सकता कि प्रत्येक व्यक्ति एक गिना जाना चाहिये और कोई व्यक्ति एकसे अधिक नहीं। 'कानूनकी दृष्टिमें सभी बराबर हैं', इस सिद्धान्तकी वह कड़ी आलोचना करता है। यहूदियोंकी जो दुर्गति हिटलरके हाथों हुई, उससे सभी परिचित हैं। पिछले ३०० वर्षोंमें मानवताने जो उदारवादी (लिबरल) और लोकतन्त्रीय परम्पराएँ विकसित की हैं, फासिज्म उन सबका सत्यानाश करनेके लिए प्रादुर्भूत हुआ है। फासिज्मके अधिनायक असाधारण योग्यता-सम्पन्न होते हैं और वे ही सबके वास्तविक हितमे शासन कर सकते हैं, क्योंकि इच्छा-सामान्य (जेनरल विल)का ज्ञान केवल उन्हींको हो सकता है, बहुसंख्या अपनी वास्तविक इच्छा, इच्छा-

सामान्यको स्वयं नहीं समझ सकती । —ह० ना०

अधीरा–दे० 'प्रौढ़ा नायिका' ।

अध्यांतरिक (काव्य)–दे० 'स्वात्मनिष्ठ' (काव्य) ।

अध्यात्मवाद–अध्यात्मवाद दर्शनका प्रारम्भिक रूप है। सभ्यताके विकासके आदिमतम कालमें भी मनुष्यके पास किसी-न-किसी प्रकारका दर्शन अवश्य रहा है। जीवन और जगत्के प्रति कतिपय विश्वास और मान्यताएँ वह रखता आया है। साधनोंके अभाव, ज्ञानकी अल्पता और विकासके प्रथम सोपानके आस-पास ही होनेके कारण वह इन समस्याओंपर सम्यक् रूपसे विचार नहीं कर सका। उनपर सम्यक् विचार तो अभी पिछले दो-ढाई हजार वर्षोंमें हुआ है। मनुष्यके आदिम विश्वासोंकी आलोचनात्मक परीक्षा वर्तमान युगमें ही हो सकी है।

दर्शनका प्रारम्भिक रूप धर्ममें सन्निविष्ट था। सभ्यताके आदिम कालमें धर्म सामाजिक जीवनका एक अविभाज्य अंग था, जिसमें सभी व्यक्ति भाग लेते थे। धर्म लोकोत्तर दिव्य शक्तियोंमें विश्वास करता है। ये शक्तियाँ अदृश्य हैं। किन्तु उनका अस्तित्व अवश्य है। वे अनेक लौकिक घटनाओंकी कर्ता, नियामक और संचालक हैं। वे प्रसन्न होकर मनुष्यको सुख और कुपित होनेपर कष्ट देती हैं। अतएव उनको प्रसन्न रखनेके उपाय करते रहनेमें ही बुद्धिमानी है। इन शक्तियोंको तुष्ट और प्रसन्न रखना व्यावहारिक धर्मका एक प्रमुख अंग है। इसी निमित्त उसने विविध कर्मकाण्डों, संस्कारों, उत्सवों, अनुष्ठानों और यज्ञोंका विधान किया है। सौभाग्य और इष्टफलको प्राप्त करनेके लिए जादू और विज्ञान दोनोंका ही प्रयोग वह करता है। अभीष्ट फल पानेके लिए प्रार्थना, बलिदान, यज्ञ आदि करना, अपनी रक्षाके लिए मन्त्र, तन्त्र, कवच, टोटकों आदिका करना उसके कर्मकाण्डके अंग हैं। गर्भाधान, जन्म, मृत्यु, विवाह, राजतिलक, युद्धमें विजय, कैशोरप्राप्ति आदिके अवसरोंके लिए विशेष अनुष्ठानोंकी व्यवस्था है। किन्तु इस बाह्याचारके पीछे कुछ विश्वास भी निहित हैं। सामाजिक विधानों, संस्कारों तथा अन्य कर्मकाण्डोंकी रचना इन्हीं विश्वासोंके आधारपर होती है। ये विश्वास भावी दर्शनोंकी आलोचनाका विषय बनते हैं। इन विश्वासोंकी संक्षिप्त रूपरेखा इस प्रकार प्रस्तुतकी जा सकती है—

इस गोचर जगत्के अतिरिक्त एक संसार और भी है, लेकिन ज्ञानेन्द्रियोंके माध्यमसे उसका पता हमें नहीं चलता। यह दूसरा संसार एक पर्देके पीछे है, किन्तु हमारे प्रत्यक्षके जगत्से नितान्त अलग नहीं है, वरन् उससे जुड़ा हुआ है। उसमें प्रवेश पाना कठिन नहीं है। यदि उपयुक्त साधनोंका प्रयोग करके सही रास्तेपर चला जाय तो उस इन्द्रियातीत जगत्में पहुँचा जा सकता है।

यह अदृश्य जगत् दैवी शक्तियोंका निवासस्थल है। वे हमारे पास सहज ही आ सकती हैं, हमारे जीवनमें इष्ट या अनिष्ट घटित कर सकती हैं। किन्तु उनतक पहुँचनेका साधन हम नहीं जानते।

यह दैवी शक्तियोंका जगत् चिरन्तन है। मनुष्यका जगत् उसीपर अवलम्बित है। दैवी शक्तियाँ असीम सामर्थ्ययुक्त हैं, उनकी पूजा करना और आज्ञा पालन करना मनुष्यका कर्तव्य है। जीवन-यापनकी कुछ विधियाँ इन शक्तियोंके अनुकूल और कुछ प्रतिकूल हैं। इन विधियोंका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

मृत्युके उपरान्त मनुष्यकी आत्मा शेष रहती है और वह इस दिव्यलोकको जाती है।

इन और ऐसे ही अन्य विश्वासोंके समूहको अध्यात्मवादकी संज्ञा दी जा सकती है। इन विचारोंकी उत्पत्ति कब और कैसे हुई, इस विषयपर निश्चित रूपसे कुछ नहीं कहा जा सकता। इनमें सत्य कितना है और कल्पना कितनी, यह भी अनिश्चित है।

इन विचारोंकी उत्पत्तिका कोई अकेला स्रोत नहीं है। सम्भवतः इनकी उत्पत्ति कल्पना, संवेगों और नैतिकतासे हुई है।

आदिम मनुष्यके सम्मुख प्रकृति अपने अनन्त रूपोंमें बिखरी पड़ी थी। सूर्य और चन्द्र, उनका उदित और अस्तमित होना, अनन्त ग्रह-नक्षत्रोंयुक्त आकाश, मेघ, पर्वत, नदी, जंगल, वनस्पतियोंका सूखना और फिर उत्पन्न हो जाना, ऋतु-चक्र, बिजली, आँधी-तूफान आदि सभी उसके लिए रहस्यमय थे। जन्म और मृत्युकी घटनाएँ, परिवेशमें जीवनकी असहायता, आकस्मिक विपत्ति आदि पग-पगपर उसका पीछा करती थीं। अतएव प्रकृतिके विविध व्यापारोंके पीछे दैवी शक्तियों और देवताओंकी कल्पना कर लेना उसके लिए स्वाभाविक था।

संवेगात्मक अनुभूतिने भी इन विचारोंको उत्पन्न करनेमें सहायता की। देवता शक्तिमान् ही नहीं हैं, पवित्र और पावन भी हैं। देवताओंको प्रसन्न करनेमें प्रमुख प्रेरणा भय और आशाकी ही हो सकती है। किन्तु इसके साथ ही देवताओंके प्रति एक विस्मय और आदरकी भावना भी आदिम मनुष्यमें थी। अपनी किसी रागात्मक अनुभूतिके कारण मनुष्य दैवी शक्तियोंको भीषण और मैत्रीपूर्ण दोनों ही समझता था।

नैतिकताका आदान भी तत्त्वतः देवताओंसे सम्बद्ध है। दैवी शक्तियाँ शुभ और मैत्रीपूर्ण अवश्य हैं, किन्तु उसके साथ ही नैतिक आचरणके विषयमें कठोर भी हैं। आदिम मनुष्यको अपनी इस धारणाके अनुसार अपने जीवनको विविध निग्रहों, संयमों, हराम और हलालके विचारोंके अनुरूप संघटित करना पड़ता था, अन्यथा देवताओंको प्रसन्न कर सकना असम्भव था। अतएव मनुष्य स्वेच्छाचारी और मुक्तभोगी नहीं रह सका। देवताओंकी तथाकथित आज्ञाओं, विधि-निषेधोंके कारण मनुष्यको आत्मसंयमका अभ्यास करना पड़ा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि धार्मिक विचारोंके अनेक स्रोत हैं। आदिम धर्मने जीवनकी सभी उदात्त और प्रहर्षक अनुभूतियोंको एकत्र कर लिया था। उसने अपने कर्मकाण्डीय उत्साहको अनेक धाराओंमें प्रवाहित करके उसे नैतिक और कलात्मक सर्जन, मूर्ति, चित्र और स्थापत्य, नृत्य और संगीतके उन्नयनमें लगाया, अथवा उन्मादकी दिशामें मोड़कर उसे युद्धलिप्सा, कट्टरता, धर्मान्धता और मानवीय शक्तिके ह्रास एवं अपव्ययमें लगाया।

अध्यात्मवाद इस प्रकार मानवताके बीते हुए कलतकका

इतिहास है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि अध्यात्मवादमें अनेक भ्रम, मिथ्या धारणाएँ और अन्धविश्वास थे। विज्ञानने अपना प्रकाश डालकर अध्यात्मवादकी अनेक मान्यताओंकी वास्तविकता प्रकट कर दी है। अतएव समकालीन युगमें समग्र अध्यात्मवाद सन्देह, अविश्वास और लगभग तिरस्कारका पात्र बन गया है। उसे अपदस्थ करके मानवता अपनेको जड़से उखड़ी और नैतिक एवं आत्मिक शून्यमें पा रही है। मनुष्यके सम्मुख ऐसा संकट कभी प्रस्तुत नहीं हुआ था।

अध्यात्मवादने मनुष्यके जीवनको व्यापक और घनिष्ठ रूपसे प्रभावित किया है। साहित्य, संगीत, मूर्तिकला, स्थापत्य, चित्रशिल्प—सभी कुछ उससे प्रभावित और प्रेरित हुआ है। सभ्यता और संस्कृतिके विकासके साथ-साथ जैसे-जैसे धर्मका विकास और परिष्कार हुआ, उसके प्रभाव और अभिव्यक्तिके विशिष्ट रूप भी प्रकट होते रहे है। भारत अब भी किसी सीमातक अध्यात्मप्रवण देश कहा जा सकता है। उसके अतीतका साहित्य, संगीत, नृत्य तथा अन्य ललित-कलाएँ आध्यात्मिक विश्वासोंसे प्रेरित और आध्यात्मिक श्रेयस्‌की सिद्धिके लिए प्रणीत हैं। नितान्त भोगवादी लेखकोंने भी मानव-जीवनका ध्येय मोक्ष स्वीकार किया है। इस ध्येयको स्वीकार करनेके उपरान्त जीवनके तृतीय पादकी शिक्षाके निमित्त वात्स्यायनने अपने कामसूत्रकी रचना की है। अर्थशास्त्रका रचयिता कूटनीतिज्ञ चाणक्य भी स्वयं निस्व था और अध्यात्मके आदर्शको माननेवाला था। इस देशमे अब राजनीतिक और आर्थिक जीवन विज्ञानप्रधान होता जा रहा है, फिर भी यहाँकी जनता अब भी अध्यात्मप्रवण है। एक ओर मूढ़ विश्वासोंसे प्रेरित चन्द्र-सूर्यग्रहणके अवसरपर आदिम त्रस्तभाव, पुण्य-अर्जनके निमित्त विशेष जलाशयों और नदियोंमे स्नान, विश्वशान्तिके लिए यज्ञोंका आयोजन है, दूसरी ओर कर्म और पुनर्जन्मके सिद्धान्त, अहिंसा और धार्मिक सहिष्णुता आदि भी जन-मानसके अंग बन गये है।

दार्शनिक क्षेत्रमें अध्यात्मवाद आदर्शवाद (दे०) का रूप लेता है। —आ० रा० शा०

अध्यांतरण–किसी वस्तुके स्थूल और सीमित स्वरूपको कल्पनाके बलपर त्यागकर उसके सूक्ष्म और असीम रूपका चिन्तन करनेकी प्रवृत्तिको अध्यान्तरण (internalization) कहा जाता है। उदा०—पुष्पके स्थूल गुणोंके अनुभवसे ऊँचे उठकर उसकी पवित्रता, सरलता और सौन्दर्य तथा सत्ताके सम्पूर्ण विधानमें उसके स्थान आदि गुणोंका चिन्तन करना। इसके फलस्वरूप, पुष्पकी बाह्य सत्ताके अतिरिक्त उसकी आन्तरिक, आध्यात्मिक या मानसिक सत्ताका भी अनुभव होने लगता है। यह पुष्पका अध्यान्तरण है।

चिन्तक, दार्शनिक, विज्ञानविद्, अध्यान्तरणकी प्रवृत्ति द्वारा उसके अध्यात्म अथवा आन्तरिक तत्त्वतक पहुँचते है। सर्जन और आस्वादनके क्षणमें, जैसे संगीतमे, इसकी गति, लय आदिका मानसिक प्रत्यक्ष ही होता है। 'स्थूल'से 'सूक्ष्म' और आध्यात्मिक रूपकी ओर प्रवृत्त होनेकी क्रियाको 'अध्यान्तरण' कहा जाता है जैसे, वर्ण और विन्याससे बने हुए चित्रमें शान्ति, ओज, माधुर्य आदि गुणोंके अनुभव करनेकी प्रवृत्ति होती है। —ह० ला० शं०

अनंग-वर्णन–दे० 'रस-दोष', दसवाँ।

अनंगशेखर–समान वर्णवाले दण्डक छन्दका एक भेद। प्रायः ३२ अक्षरोंके दण्डक अधिक प्रचलित होनेके कारण ही सम्भवतः केशवदासने इसका लक्षण लघु-गुरुके क्रमसे ३२ अक्षरों मात्रका दिया है। वैसे इसमें अक्षरोंकी कोई सीमा नहीं, लघु-गुरुके क्रमसे जितने भी चाहें अक्षर रखे जा सकते हैं। सर्वप्रथम हेमचन्द्र (१४ श० ई०) के 'छन्दोऽनुशासन' (अ० २ : ३९७) मे इसका लक्षण 'ल्गावनंगशेखरः' दिया है, जिससे प्रतीत होता हैं कि प्रस्तुत छन्दका प्रचलन बारहवीं शताब्दीसे हुआ हैं। संस्कृतकालमे इसका प्रयोग नहीं हुआ था। अपभ्रंशकालसे लेकर आधुनिक कालतकके छन्दमें यह प्रयुक्त हुआ है। इस छन्दके दूसरे नाम 'द्विनराचिका' और 'महानराच' भी है। रासोमें इसके अनेक रूपों यथा, 'वृद्धनाराच' आदिके प्रयोग मिलते हैं। उत्साह, वीरता और स्तुति आदिके लिए 'अनंगशेखर' छन्द अत्यन्त उपयुक्त है। 'नाराच और 'पंचचामर' छन्दकी जातिका होनेके कारण ऐसा प्रतीत होता है कि यह उसीका विकसित दण्डक रूप है। केशवका उदाहरण—"जहाँ-जहाँ विराम लेत राम जू तहाँ-तहाँ अनेक भाँतिके अनेक भोग भागसों बढ़ौ" (रा० चं०, छं० ३६)। जयशंकरप्रसादके 'हिमाद्रि तुंग शृंगसे प्रबुद्ध शुद्ध भारती'में इसी छन्दकी गति है। 'अनंगशेखर' नाममें ही इस छन्दकी गतिका संकेत लक्षित है, अर्थात्— ।ऽ।ऽ।ऽ– । भानुने 'छन्दप्रभाकर'मे इस छन्दका उपभेद 'महीधर' (पृ० २१४) नामक छन्द दिया है। —ह० मो०

अननुसंधान–दे० 'रस-दोष', आठवाँ।

अनन्यपूर्वा–दे० 'गोपी'।

अनन्वय–सादृश्यगर्भ भेदाभेदप्रधान शब्दालंकार। शब्दार्थ है, जिसका किसी अन्यसे सम्बन्ध न हो। कुछ आचार्योंने इस अलंकारको स्वतन्त्र स्वीकार किया है, भामह, उद्भट, वामन, मम्मट, रुय्यक तथा विश्वनाथ आदि, और कुछने उपमाके अन्तर्गत–दण्डी, रुद्रट तथा भोज आदि। वामनके अनुसार 'एकस्योपमेयोपमानत्वेऽनन्वयः।' (का० सू० वृ०, ४ : ३ : १४) अर्थात् एक ही वस्तुका उपमेय और उपमानरूपमें वर्णन किया जाना। मम्मट, विश्वनाथने इसी रूपमें लक्षण दिया है—'एक ही वस्तुका एक ही वाक्यमे उपमान और उपमेय दोनों रूपोंमें प्रतीत होना, यह अलंकार है। इसमे उपमेय अपनेसे भिन्न किसी उपमानके साथ साधर्म्यसम्बन्ध नहीं रखता' (का० प्र०, १० : १९; सा० द०, १० : २६)। हिन्दीके मतिराम, भूषण, पद्माकर आदिने इसीका अनुसरण किया है। जसवन्त सिंहने अनन्वयमें उपमेयका उपमेय बन जाना माना है, जो वास्तवमें उपमानोपमेय नामक अलंकार है। मतिरामके लक्षणमें भाव स्पष्ट नहीं हो सका है—'जहाँ एक ही बातकौ उपमेयौ उपमान' (ल० ल०, ५३)। भूषणके अनुसार—'जहाँ करत उपमेय-

को, उपमेयै उपमान' (शि० भू०, ३६)। पद्माकरके लक्षणपर संस्कृत आचार्योंकी और भी स्पष्ट छाप है—'इक वस्तु हीं, उपमेय हु उपमान' (पद्मा०, २६)। दासके लक्षणमें इस अलंकारका भाव अधिक स्पष्ट हुआ है—'जाकी समता जाहिको' (का० नि०, ८)। उदा०—'आज गरीब नेवाज महीपर तो सों तुही सिवराज विराजै।' (शि० भू०, ४०)। अथवा—'मिली न और प्रभा रती, करी भारती और। सुन्दर नन्दकिसोरसौं, सुन्दर नन्दकिसोर' (का० नि०, ८)।

इस अलंकारमें भी एक वैचित्र्य है, जो अन्य उपमानों-से साधर्म्यसम्बन्धके विच्छेदपर आधारित है। इस अलं-कार तथा लाटानुप्रासमें स्पष्ट अन्तर है। लाटानुप्रासमे समान अर्थवाली एक ही शब्दावलीका प्रयोग किया जाता है, पर उनका अन्वय भिन्न रूपोंमें होता है, पर अनन्वयमे एक वस्तुका दो बार उल्लेख होता है, पर वह अपने-आपके समान इस भावनासे कही जाती है कि अन्य समान वस्तुकी सम्भावना नही है। अनन्वयमें एक ही शब्दका प्रयोग अनिवार्य नही है, पर्याय भी प्रयुक्त हो सकते है। —र०

अनभिहित संबंध—दे० 'शब्द-दोष', ग्यारहवॉ वाक्य-दोष।

अनभौ—१. वह ज्ञान, जो साक्षात् करनेसे प्राप्त हो। 'आतम अनुभौ जब भयो तब नहि हर्ष विवाद। चित्त दीप समहै रह्यो तजि करि बाद बिवाद' (कबीर सा०, ८१)। २. अनभौ-अचरज। अनहोनी बात—'तुम घट ही मो श्याम बनाये। हम मतिहीन अजान अल्पमति तुम अनभौ पद ल्याये' (सूर-'सूरसागर')। —उ० शं० शा०

अनलहक़—'अनलहक़'का अर्थ 'मैं ही ब्रह्म हूँ' है। मंसूर बिन अल-हल्लाजको 'अनलहक़' कहनेके लिए ही सूलीपर चढा दिया गया था। मंसूर ईसाकी नवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धमें वर्तमान था तथा दसवीं शताब्दीके पूर्वार्द्धतक रहा। यह ईरानका सुप्रसिद्ध सूफी था। यह कथन सनातन-पन्थी इस्लामकी मान्यताओंके विरुद्ध है। पर-मात्मा और मनुष्यके एकत्वकी बात इस्लाम स्वीकार नही करता। मनुष्य मनुष्य है और परमात्मा परमात्मा और वे दोनों वही थे और वही रहेंगे। वे एक नहीं हो सकते। ऐसा ही इस्लाम-धर्म मानता है।

मंसूरकी मृत्युके बहुत दिनों बाद इस बातको सिद्ध करनेकी चेष्टा की गयी कि वास्तवमें उसके कथनके साथ सनातन-पन्थी इस्लामका सामञ्जस्य है। कहा जाता है कि मंसूरका मतलब यह था कि परमात्माके 'एकत्व'में सभी प्राणी समाहित है। अपनी साधना द्वारा जो इस दृश्यमान जगत्से परे हो जाता है, वही उसकी वास्तविक अवस्था है और यही अवस्था परमात्मा है। इसमें 'मैं', 'तुम,' 'हम लोग' आदिका स्थान नही रह जाता, ये सभी एक ही वस्तु हैं। अतएव हल्लाजने जब अनलहक कहा तब वह 'अहं'से परे था। अतएव उसके मुँहसे जो कुछ निकला, वह परमात्माकी ही आवाज थी। —रा० पू० ति०

अनवीकृत—दे० 'अर्थ-दोष,' ग्यारहवॉं।

अनात्मवाद—अनात्मवाद आत्मवाद (दे०)का विरोधी सिद्धान्त है। आत्मवाद ब्राह्मणपरम्परा या श्रौतदर्शन है तो अनात्मवाद श्रमणपरम्परा या बौद्धदर्शन है। अनात्मवादको पालीमें अनत्तावाद कहते है। नैरात्म्यवाद और पुद्गल प्रतिषेधवाद या पुद्गल नैरात्म्यवाद भी इसीके अन्य पर्याय है।

अनात्मवादका शाब्दिक अर्थ है वह वाद जिसमें आत्माका निषेध हो। इससे कुछ लोग यह समझते है कि अनात्मवादमें आत्माका बिलकुल निराकरण किया गया है और यह आत्माका अनस्तित्ववाद या भौतिकवाद है। पर यह सर्वथा दूषित विचार है। बौद्ध-दर्शनमे अनात्मवादको इस अर्थमें नही लिया गया है। स्वयं बुद्धने इसे शाश्वतवाद और उच्छेदवाद, इन दो अन्तोंसे पृथक् मध्यमा प्रतिपद् या बीचका रास्ता कहा है। शाश्वत-वादका अर्थ है कि आत्मा नित्य, कूटस्थ, चिरन्तन, एक-रूप है। उच्छेदवादका अर्थ है कि आत्मा है ही नही। उच्छेदवाद आत्मविनाशका सिद्धान्त है। यह भौतिकवाद है। बुद्धने अपने अनात्मवादको उच्छेदवाद या भौतिकवाद तथा शाश्वतवाद या नित्यात्मवादसे पृथक् करके सिद्ध किया कि उनका सिद्धान्त अभौतिक नैरात्म्यवाद है। बुद्धने निषेधात्मक ढंगसे आत्माका वर्णन यों किया है—रूप आत्मा नही है, वेदना आत्मा नहीं है, संज्ञा आत्मा नही है, संस्कार आत्मा नही है, विज्ञान आत्मा नही है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान पॉच स्कन्ध हैं। ये आत्मा नही है। इससे सिद्ध है कि आत्मा स्कन्धसे भिन्न है, पर फिर भी उसके घटक ये ही स्कन्ध समझे जाते है।

अनात्मवादकी व्याख्याऍ कई ढंगसे की गयी है। (क) बुद्धसे प्रश्न पूछे गये कि क्या जीव शरीरसे भिन्न है या अभिन्न? क्या तथागत मृत्युके बाद रहते है या नहीं रहते है, या रहते भी है और नहीं भी रहते है, या न रहते हैं और न नही रहते है? बुद्धने इन छओं प्रश्नोंका मौनसे उत्तर दिया। ये 'अव्याकृत' सत् हैं। इनका निर्वचन असम्भव है।

बुद्धकी शान्ति या मौनका क्या अर्थ है? आजतक बौद्ध तथा अबौद्ध इसके अनेक अर्थ लगा रहे हैं। इस मौनके अर्थपर ही अनात्मवादकी सही व्याख्या निर्भर है।

(ख) थेरवादी नागसेन (१५० ई० पू०)ने आत्माके विषयमें संघातवाद और सन्तानवादको बुद्धका मन्तव्य निश्चित किया। संघातवादके अनुसार आत्मा रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पॉच स्कन्धोंका संघातमात्र है। उसका व्यवहार प्रज्ञप्तिके लिए किया जाता है, वैसे वह अवस्तु है। सन्तानवादके अनुसार आत्माके घटक क्षणिक और विपरिणामधर्मा है। जलप्रवाह या दीपक-शिखाकी तरह आत्मा केवल स्कन्धकी सन्तान है। आत्मा कोई इकाई नही, कूटस्थ और नित्य नहीं, वह नित्य परि-वर्तनशील स्कन्ध है।

पर बुद्धके कथनके अनुसार आत्मा न तो स्कन्धोंसे भिन्न है और न अभिन्न। अतः संघातवादको बुद्धकी शिक्षा निश्चित रूपसे नही कहा जा सकता।

(ग) वात्सीपुत्रीय बौद्ध पुद्गलवादी हैं। पुद्गल आत्मा-

या द्रव्यका ही पर्याय है।

वसुबन्धुने वात्सीपुत्रीयोंकी 'अभिधर्मकोश'में कटु आलोचना की और सिद्ध किया कि पुद्गलवादसे आत्मग्रह होता है और शाश्वतत्वका दोष आ जाता है, निःसन्देह बुद्ध इसको बचाते हैं। कोई सत्त्व, कोई आत्मा नहीं है। केवल हेतुप्रत्ययसे जनित धर्म हैं, स्कन्ध, आयतन और धातु हैं।

(घ) सर्वास्तिवादी बौद्धोंने अनात्मवादको सन्तान-वादके रूपमें लिया। आत्मा अवस्तु नहीं है, किन्तु वस्तु है। पर यह वस्तु स्थिर नहीं, कूटस्थ नहीं। यह नित्य परिवर्तनशील है। किसी जीवसे एक सन्तानविशेष ज्ञापित होता है। जैसे अग्नि संचरण करती है, यद्यपि वह अग्निके क्षणोंका सन्तान है, वैसे स्कन्धसमुदाय निरन्तर नवीन होकर उपचारसे सत्त्वकी आख्या प्राप्त करता है।

(ङ) विज्ञानवादी बौद्धोंने आत्माको आलयविज्ञानके रूपमें लिया। उन्होंने आलयविज्ञानको सन्ततिविज्ञानसे भिन्न किया। उनके अनुसार सुगतका मध्यम मार्ग प्रवाह या सन्तानको सत् मानना है, न कि स्थिरता अथवा उच्छेद या अभावको। सर्वास्तिवादी मतसे यह प्रवाह क्षणिक वस्तु सतोंका है। विज्ञानवादी योगाचारके मतसे यह प्रवाह सिर्फ विज्ञानका है। वस्तुएँ प्रज्ञप्तिमात्र हैं, सत् नहीं। सत् है केवल चित्त और चैत्त, आलयविज्ञान और सन्ततिविज्ञान। आलयविज्ञान स्रोतके रूपमें अव्युप-च्छिन्न प्रवर्तित होता रहता है। स्रोतका अर्थ हेतुफलकी निरन्तर प्रवृत्ति है। इसमें सन्ततिविज्ञानोंकी उत्पत्ति और विनाश होता रहता है।

यहाँ आलयविज्ञान शांकर वेदान्तकी आत्माके पास चला गया। इसमें और वेदान्तकी आत्मामें सिर्फ इतना ही अन्तर रह गया कि यह अपेक्षाकृत चल है, जब कि वेदान्तकी आत्मा अचल।

पर स्वतन्त्र योगाचार विज्ञानवादियोंने, दिङ्नाग और धर्मकीर्तिने इस भेदको भी मिटा दिया। उन्होंने आलय-विज्ञानको ही केवल सत् माना और उसे ध्रुव कहा, नित्य नहीं। वेदान्तकी आत्मा नित्य है। अब ध्रुव और नित्य शब्दका साधारण अर्थ एक ही है। यदि शब्दोंपर झगड़ा न करें तो ध्रुव आलयविज्ञान, जिसे वसुबन्धु विज्ञप्तिमात्रता भी कहते हैं, वेदान्तकी नित्य आत्मासे तनिक भी भिन्न नहीं है।

(च) शून्यवादी बौद्धोंने बुद्धके मौनका अर्थ लगाया कि परम सत्का वर्णन शब्दों द्वारा नहीं हो सकता है। वह सत् शून्य है अर्थात् सत्, असत्, सत् और असत् उभय तथा न सत् और न असत् अर्थात् अनुभयसे भिन्न है। उसके बारेमें कोई 'वाद' या दृष्टि सम्भव नहीं है; प्रत्येक दृष्टि सत्, असत्, उभय या अनुभयके रूपमें ही रहती है। अतः वह सदोष है। वह केवल संवृत्ति सत्य ही देती है, परमार्थ सत् नहीं। परमार्थ सत् अभाव नहीं है, वह अनुभवैकगम्य है।

शून्यवादका कुछ लोगोंने अर्थ अभाववाद या प्रतिषेध-वाद लगाया। पर आज बौद्ध-दर्शनके मर्मज्ञोंने सिद्ध कर दिया कि यह भ्रान्त धारणा है।

इस शून्य या परमार्थ सत् और वेदान्तके परमब्रह्म या आत्मामें भी वास्तवमें नाममात्रका भेद रह जाता है।

आत्मवाद द्रव्यमूलक दृष्टि है तो अनात्मवाद पर्याय-मूलक। आत्मवाद स्थिरतावाद है तो अनात्मवाद गति-वाद। वस्तुतः दोनों दृष्टियाँ आमूल भिन्न हैं, यद्यपि दोनों सत्का ही निरूपण करती हैं। एक दृष्टिकी आलोचना दूसरी दृष्टिसे की जा सकती है और की गयी है। पर प्रत्येक दृष्टि अपनेमें सुसंगत, सुशृंखलित है। इन दोनों दृष्टियोंका भारतीय जीवन तथा साहित्यपर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। वर्तमान भारतमें यद्यपि ब्राह्मणपरम्पराकी अधिक बातें हैं तो भी इसमें श्रमणपरम्परा इतनी घुल-मिल गयी है कि इसे हम बौद्धपूर्व ब्राह्मणपरम्पराका देश नहीं कह सकते।

अनात्मवाद निर्वाणकी अनिवार्य शर्त है। (क) रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञानको आत्मा समझना उचित नहीं है, क्योंकि ये बाधाओंसे ग्रस्त हैं, रोगके अधीन हैं। (ख) रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान अनित्य हैं, अतः दुःख हैं, अतः आत्मा नहीं हो सकते। (ग) जब ये आत्मा नहीं तब इनसे निर्वेद प्राप्त करना चाहिये। इस प्रकार विरक्ति या अनासक्ति द्वारा ही मोक्ष या निर्वाणका लाभ हो सकता है। बौद्धोंने देखा कि जब तक आत्मग्रह है तबतक आत्मीयका बोध है, बन्धन है, आसक्ति है। अतः आत्माको नित्य सत् मान लेनेसे सच्ची अनासक्ति या विरक्ति नहीं आ सकती। बिना सच्ची अना-सक्तिके मोक्ष या निर्वाण दुर्लभ है। कुछ इन्हीं कारणोंसे बुद्धने अनात्मवादकी देशना की।

जिस समय बुद्धका आविर्भाव हुआ था, उस समय वैदिक आत्मवादमें कतिपय दोष घुस गये थे। आत्माको नित्य और कूटस्थ मानकर उसके लिए यज्ञ किये जाते थे, जिनमें कभी-कभी पशुओंकी हिंसा भी की जाती थी। आत्माको सदा एकरूप माननेवाले व्यवहारमें एकरूपता नहीं बरतते थे। व्यवहारमें वे जीवोंको अनेक मानते थे और सबको स्वतन्त्र, नित्य सत् मानते थे। बुद्धने वैदिक हिंसा तथा व्यवहारके द्वैतवाद अर्थात् जाति-पाँतिके विचार, ऊँच-नीचके भावके प्रति आन्दोलन करते हुए अनात्मवाद-के सिद्धान्तकी अवतारणा की, जिसके कारण यज्ञ तथा व्यव-हारके द्वैतवादकी व्यर्थता सिद्ध हो जाती है और अना-सक्ति तथा समचर्याके सिद्धान्तोंको आधारशिला मिलती है।

पुरानी हिन्दीमें अनात्मवादकी देशना देनेवाले चौरासी सिद्ध बौद्ध थे, यद्यपि उनमें तन्त्रका भी प्रचुर प्रभाव था। उनके अनुवर्ती नाथ लोग भी अर्धबौद्ध और अर्धयोगी थे। इनकी रचनाओंमें अनात्मवाद आध्यात्मिक जीवनके प्रेरक तथा आध्यात्मिक चरम अनुभूतिके रूपमें आता है। प्रेरकके रूपमें अनात्मवाद जीवनकी, संसारकी असारताका सिद्धान्त हो गया और अनुभूतिके रूपमें वह शून्यवाद या सुन्नकी अनुभूति हो गया। नाथ सम्प्रदायके अनन्तर आनेवाले निर्गुणोपासक सन्तों तथा सूफियोंपर भी अनात्मवादका स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। सगुणोपासक सन्त यद्यपि बौद्धोंकी करुणाके सिद्धान्तसे अधिक प्रभावित थे तथापि वे उनके अनात्मवाद या शून्यवादसे प्रभावित न थे।

हिन्दीके सन्त-साहित्यमें बौद्ध अनात्मवाद और वैदिक आत्मवादका समन्वय मिलता है। बुद्धकी देशनासे सिद्ध है कि अनात्मवाद वस्तुतः मौनवाद या रहस्यवाद है, उसको बुद्धि द्वारा समझा नहीं जा सकता है। यह रहस्यवाद हिन्दी साहित्यमें उसी रूपमें मिलता है, जिस रूपमें कि बुद्धको अभीष्ट था। कुछ लोगोंका तो यहाँ तक मत है कि हिन्दीके निर्गुण सन्तोंकी परम्परा ही वास्तवमें श्रमण परम्परा है, जो समचर्या, जाति-पाँतिके उच्छेद, शून्यता आदिपर जोर देती है। पर यह कथन एकांगी है। उसपर आत्मवादी परम्पराका भी प्रभाव कम नहीं पड़ा है। आत्मा या ब्रह्म तथा शून्यको इस परम्परामें अभिन्न समझा गया है और मौनमात्र ही या अबोल उसका लक्षण कहा गया है। कबीर, रैदास, दादू आदिने इस अबोलके सिद्धान्तपर विशेष बल दिया है।

[सहायक ग्रन्थ—बौद्धधर्म-दर्शन : नरेन्द्रदेव; बौद्ध-दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन (दो भाग) : भरतसिंह उपाध्याय; दर्शन-दिग्दर्शन : राहुल सांकृत्यायन।] —मं० ला० पा०

अनात्मा—उपनिषदोंके उपरान्त बौद्धमतमें प्रमुखतया 'अहं' (अत्ता)के रूपमें आत्माकी विचारधारा विकसित और पल्लवित हुई। बुद्धने आत्मग्रह या सत्काय दृष्टिके निवर्तनका उपदेश दिया। शरीर, इन्द्रियाँ, धर्मों, स्कन्ध, धातु, आयतन आदिमें आत्म-भावका ग्रहण ही सत्काय दृष्टि या बन्ध है। यही दुःख है। इसीलिए उन्होंने स्कन्धादिके विषयमें स्पष्ट रूपसे बार-बार निर्देश किया है कि 'वह मेरा आत्मा नहीं है' (न सो मे अत्ता)। इसीलिए बुद्ध बार-बार आत्म-नाश (अहंभाव-निरास अत्तजहो) पर भी बल देते हैं। इसीको बादमें अनात्माकी देशना या नैरात्म्यवाद कहा गया। कभी कभी बौद्धोंके अनात्मवाद और ब्राह्मण दर्शनोंके आत्म-सिद्धान्तको विरोधी बताया जाता है (ति० रा० वे० मूर्ति : दि सेण्ट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म; अध्याय, १,२)। परन्तु वे परस्पर एक दूसरेके विरोधी नहीं हैं, अपितु एक ही तत्त्वकी प्रकारान्तरसे व्याख्याएँ मात्र हैं।

बुद्धने जिस 'अनत्त' (अनात्म-अहं-निरास)का उपदेश दिया उसीको बादमें आत्म-विरोधी मान लिया गया और बुद्धके अनत्तको संस्कृत अनात्मसे अभिन्न मानकर आत्म और अनात्मको परस्पर विरोधी विचारोंका द्योतक माना गया। बौद्ध अनात्म सिद्धान्तका मूल बुद्धके अव्याकृत प्रश्नोंमें ढूँढ़ा जा सकता है, जहाँ आत्मा (जीव) और शरीरकी भिन्नता या अभिन्नताके प्रश्नके पूछे जानेपर बुद्धने मौन धारण कर लिया और परवर्ती बौद्ध साहित्यमें उनके इस मौनधारणसे आत्म-निषेधका अर्थ लिया गया। परन्तु बुद्धके अव्याकृतोंका एक सूक्ष्म अध्ययन यह बताता है कि जहाँ बुद्धने आत्माके प्रश्नपर मौन धारण कर लिया, वहाँ उनका मौनधारण अज्ञता (agnosticism) या आत्माके निषेधको द्योतित नहीं करता, अपितु इससे आत्माके अनिर्वचनीय स्वरूपकी ही निष्पत्ति होती है। बुद्धका मन्तव्य था—आत्मा स्कन्ध, देह, इन्द्रिय प्रभृतिसे अभिन्न नहीं है, उसकी व्याख्या देहादिसे नहीं की जा सकती, क्योंकि वे अनित्य और दुःखरूप तथा अनात्म (आत्मस्वरूप विनिर्मुक्त) हैं और आत्मा नित्य है।

बुद्धके इसी मन्तव्यका प्रकाशन बौद्ध-दर्शनके विभिन्न विभिन्न आचार्योंने विभिन्न प्रकारसे किया। नागसेन और वसुबन्धुने व्यवहारकी सिद्धिके लिए पाँच स्कन्धोंका ग्रहण किया। वात्सीपुत्रीय निकायवालोंने स्कन्धोंसे व्यतिरिक्त एक पुद्गलका अस्तित्व माना। कुमारलात और अन्य आचार्योंने नैरात्म्यकी बुद्धके मध्यम मार्गके अनुसार व्याख्या की। महायानवादमें पुद्गल-नैरात्म्यकी विचारधारा विशेष रूपसे पल्लवित हुई। महायानवादियों और विशेषकर नागार्जुन, आर्यदेव और चन्द्रकीर्तिने इसे भाव, अभावकी कल्पनाओंसे व्यतिरिक्त बताया (तु० उपनिषद्-निर्विकल्प)। उनके अनुसार इस अद्वितीय तत्त्वका बुद्धने अधिकारियोंके भेदसे उपदेश दिया। उन्होंने आत्माका निर्विकल्प चेतन तत्त्वके रूपमें अप्रत्यक्ष रूपसे अस्तित्व स्वीकार किया है। योगाचारियोंने क्षणिक, प्रवाहशील विज्ञप्तिको ही आत्मा (आलय)की संज्ञा दी।

बादमें बुद्धके नैरात्म्य-सिद्धान्तका महायानमें पुद्गल-नैरात्म्यके साथ-साथ धर्मनैरात्म्य (सभी धर्मोंकी निःस्वभावता) के रूपमें विकास (दे० 'अनात्मवाद') हुआ।

हिन्दीमें सिद्धोंके साहित्यमें बौद्ध नैरात्म्य सिद्धान्त (अनात्म), पुद्गल-नैरात्म्य और धर्मनैरात्म्यका पर्याप्त उल्लेख पाया जाता है। जगत्की शून्यता और निःस्वभावताके वर्णनमें सरह प्रभृतिने धर्मनैरात्म्यका बार-बार उल्लेख किया है।

[सहायक ग्रन्थ—बौद्धधर्म दर्शन : नरेन्द्रदेव; गास्पेल ऑव बुद्धिज्म : आनन्द कुमारस्वामी; शंकर और नागार्जुनका तुलनात्मक अध्ययन (अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध) : करुणेश शुक्ल; बौद्धदर्शन और अन्य भारतीय दर्शन : भरत सिंह उपाध्याय।] —क० शु०

अनाहत—दे० 'हठयोग'।

अनाहत नाद—दे० 'नाद'।

अनियम-परिवृत्त—दे० 'अर्थ-दोष,' उन्नीसवाँ।

अनिश्चयात्मक आलोचना-प्रणाली—यह अंग्रेजीके 'नॉन-जुडीशियल'का समानार्थी है। आलोचनाके तीन प्रमुख प्रयोजन बतलाये गये हैं—रसग्रहण; व्याख्या तथा निर्णय। निर्णय आलोचनाकी अन्तिम परिणति माना जाता है। विश्वके समस्त आलोचकों तथा विद्वानोंने एक स्वरसे इसे स्वीकार किया है। परन्तु इतिहास साक्षी है कि निर्णयकी कसौटी रूढ़ हो जाती है। प्लेटो, अरस्तू, होरेस आदि ग्रीक आलोचकों द्वारा दी गयी निर्णयकी कसौटियाँ आगे चलकर रूढ़ और परम्परागत हो गयी। यहाँ तक कि उनकी मान्यताओंके बाह्य स्वरूपको प्रधानता देकर आगेके आलोचकोंने साहित्यकी मूल आत्माको उपेक्षित रखा। उनके निश्चय आवश्यकतासे अधिक साहित्यिक कृतियोंपर लागू किये गये। फलतः प्रतिक्रिया हुई। विद्वानोंने यह सिद्ध किया कि निर्णय कभी भी हमें सत्यतक नहीं ले जा सकता। वह अपने देश-कालतक सीमित रहता है। इन लोगोंने मुख्यतः तीन प्रश्न उठाये—(१) निर्णयका मानदण्ड कौन स्थिर करेगा, (२) निर्णयके मानोंमें विभिन्नता एक नैसर्गिक सत्य है, क्योंकि एक व्यक्तिके लिए नीति

अधिक महत्त्वपूर्ण है तो दूसरेके लिए अनुभूति और तीसरे-के लिए अभिव्यंजना। इस प्रकार विश्वकी समस्त वस्तुएँ सापेक्षिक हैं। इसीलिए निर्णयके मानको स्थिर करना कठिन है, (३) निर्णय देनेवाला निर्वैयक्तिक होकर एक साहित्यिक कृतिका मूल्यांकन नहीं कर सकता, क्योंकि उसकी वैयक्तिक रुचि ही निर्णयका आधार होती है। इस प्रकार साहित्यका वैज्ञानिक अध्ययन निर्णयको उसके ऊपर लागू करके, नहीं किया जा सकता, क्योंकि साहित्य अंकगणित नहीं है कि एक ही कायदा-कानून सबपर घटित किया जा सके।

साहित्य वस्तुगत होकर भी आत्मगत है। इसीलिए साहित्यका अध्ययन सहानुभूतिकी अपेक्षा रखता है। किसी भी कृतिकी गहराईमें डूबकर उसका आनन्द प्राप्त किया जा सकता है। इसीलिए पहलेसे ही पूर्वनिश्चयों या निर्णयोंके आधारपर साहित्यका रस-ग्रहण सम्भव नहीं है। जर्मन तत्त्ववेत्ताओंने इन्हीं तथ्योंके आधारपर निर्णयात्मक आलोचनापद्धतिका विरोध किया। धीरे-धीरे आलोचनापद्धतिको लोगोंने व्यापक बनाया और सबको तथा सब तरहकी कृतियोंको अपनी सहानुभूतिका पात्र बनाया।

प्रस्तुत आलोचनापद्धतिका प्रमुख लक्ष्य होता है—साहित्यका रस-ग्रहण। यह आलोचनापद्धति बहुत बादमें आकर विकसित हुई है। वर्जीनिआ वुल्फ, हर्बर्ट रीड आदि अंग्रेजी आलोचक इस कोटिके सिद्ध आलोचक हैं।

संस्कृत-साहित्य-शास्त्रमें इस दृष्टिकोणसे विवेचन नहीं हुआ है फिर भी संस्कृत आचार्योंका दृष्टिकोण निर्णयकी ओर झुकावका रहा है। वैसे रसवादियोंका दृष्टिकोण अपेक्षाकृत अधिक उदार और व्यापक रहा है। रस-निष्पत्तिके सिद्धान्तसे निश्चय ही साहित्यमें रस-ग्रहणकी परम्परा स्थापित हुई थी।

हिन्दीमें इस प्रणालीकी आलोचना छायावादके उदय-के बाद ही पायी जाती है। छायावादी आलोचकोंका दृष्टिकोण इसी सिद्धान्तका पोषक है। प्रगतिवादी तो निर्णय लेकर ही साहित्यक्षेत्रमें उतरते हैं। नन्ददुलारे वाजपेयी, 'अज्ञेय', धर्मवीर भारती, रघुवंश, विजयदेवनारायण साही इस पद्धतिके आलोचक माने जायेंगे। —रा० कृ० स०

अनीश्वरवाद–संकीर्ण अर्थमें यह शब्द उस विचारधाराके लिए प्रयुक्त होता है, जो ईश्वर या अन्य देवताओंके अस्तित्वको अस्वीकार करती है। व्यापक अर्थमें इसका प्रयोग संदेहवादियों, भौतिकवादियों, प्रत्यक्षवादियों तथा ऐसे सभी लोगोंके लिए किया जाता है, जो ईश्वरवादी धर्म-को अस्वीकार करते हैं और यह नहीं मानते कि इस जगत्का स्रष्टा, पालक और संहारक कोई एक देवता या अनेक देवता हैं, जिनमें बुद्धि और संकल्पके मानवीय लक्षण असीम या ससीम रूपसे होते हैं।

भारतीय परम्परामें नास्तिक शब्द भी कुछ इसके समान भावको व्यक्त करता है। किन्तु उसका प्रयोग हिन्दू दार्शनिकोंने एक विशिष्ट अर्थमें किया है—वेद-निन्दक ही असली नास्तिक है। इस प्रकार अनीश्वरवादी सांख्य तो नास्तिक नहीं है, किन्तु हिन्दू दार्शनिकोंकी दृष्टिमें जैन और बौद्ध नास्तिक हैं, क्योंकि वे वेदोंकी आप्तताको स्वीकार नहीं करते। इसी कारण ईश्वरमें विश्वास करनेवाले इतर धर्म भी, जैसे ईसाई मत और इस्लाम तथा ईश्वर जैसे अमिताभ बुद्धमें आस्था रखनेवाले महायानी बौद्ध भी नास्तिक हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि नास्तिकता और अनीश्वरवाद पर्याय नहीं हैं। केवल वेद-निन्दासे बचा रहकर निरीश्वरवादी भी आस्तिक बना रह सकता है।

मनुष्य स्वभावसे ईश्वरवादी या देवतावादी है। आदिम स्तरके मानव-समाजोंसे लेकर उन्नततम समाजोंतकमें किसी-न-किसी प्रकारके देवताओं या ईश्वरमें विश्वास और उनकी पूजा-उपासना मिलती है। नितान्त अनीश्वरवादी समाज मिलना कठिन है। किन्तु इसके साथ यह भी सत्य है कि प्रायः सभी देशों और सभ्यताओंमें ऐसे विचारक उत्पन्न हुए हैं, जिन्होंने ईश्वरवाद और देवतावादमें अविश्वास प्रकट किया है और उसे त्याज्य ठहराया है। स्वयं भारत जैसे ईश्वरवादी और अवतारवादी देशमें अनीश्वरवादी विचारकोंकी कमी नहीं रही है। ऋग्वेदमें भी देवताओंके अस्तित्वको अस्वीकार करनेवालोंका वर्णन है। सर्वेश्वरवादी उपनिषदोंमें ईश्वर और देवताओंको एक भ्रम और कल्पनाके समकक्ष बना दिया गया। शंकराचार्यके अद्वैतवेदान्तमें भी ईश्वरकी सत्ता वास्तविक नहीं, मायिक, अयथार्थ मानी गयी है। ब्रह्म अथवा आत्मा विशुद्ध सत् है, निर्गुण है, उसमें कोई भी शुभ या अशुभ गुण किसी भी परिमाणमें व्याप्त नहीं हैं। ऐसा ब्रह्म निश्चय ही भक्त या ईश्वरवादीका उपास्य ईश्वर नहीं है।

इसके अतिरिक्त दो अन्य आस्तिक दर्शन लगभग निरीश्वरवादी हैं। सांख्य दर्शनका प्राचीन रूप निश्चित रूपसे निरीश्वरवादी है। वह अनेक प्रमाण देकर ईश्वरका खण्डन करता है। जगत्की सृष्टिके लिए वह ईश्वरको आवश्यक नहीं मानता। मोक्षके लिए भी उसकी अपनी साधना-पद्धति है, जिसके अनुसार किसी ईश्वरमें विश्वास करना, उसकी शरणमें जाना, उसकी उपासना आदि करना बिलकुल अनावश्यक और व्यर्थ है। पुरुष अपनेको ज्ञानके द्वारा मूल प्रकृतिके पाशोंसे मुक्त करके मोक्ष स्वयं ही प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार वैदिक कर्मकाण्डमें परिपूर्ण आस्था रखते हुए पूर्वमीमांसा दर्शन भी अनीश्वरवादी है। कुमारिल भट्टने विविध तर्क देकर यह सिद्ध किया है कि सर्वशक्तिमत्ता तथा ऐसे अन्य असीम शुभ गुणोंसे युक्त कोई ईश्वर नहीं हो सकता। वह जगत्को स्वाधिष्ठान और अपनेमें पूर्ण मानता है, जिसके लिए किसी ईश्वरकी आवश्यकता नहीं।

वेदोंमें विश्वास न करनेवाले अन्य भारतीय दर्शनोंने ईश्वरवादका बौद्धिक तर्कोंके आधारपर खण्डन किया है। इनमें चार्वाक, जैन और बौद्ध-दर्शन प्रमुख हैं। चार्वाक दर्शन तो शत-प्रतिशत प्रकृतिवादी, लोकपरक और ऐहिक सुखवादी है। उसने ईश्वरका खण्डन मुक्त कण्ठसे किया है। वह केवल प्रत्यक्षको प्रमाण मानता है। आत्मा और पुनर्जन्मके अस्तित्वको अस्वीकार करता है। ईश्वरका प्रत्यक्ष नहीं होता, अतः उसका अस्तित्व नहीं है। जगत् पंचतत्त्वों-के संयोगसे उत्पन्न होता है। उसकी सृष्टिके लिए किसी ईश्वरकी आवश्यकता नहीं है। जगत्में कोई भी चेतन सोद्देश्यता नहीं है। अतः चार्वाक दर्शनको स्वभाववाद और यदृच्छावाद भी कहते हैं।

जैनधर्म बौद्धधर्मकी भाँति अनीश्वरवादी धर्म है। वह ईश्वरके अस्तित्वके विरुद्ध कई तर्क देता है—ईश्वरका प्रत्यक्ष नहीं होता और अनुमानसे भी उसकी सिद्धि नहीं होती। सृष्टिकर्ताकी आवश्यकता तभी हो सकती है, जब जगत्को सृष्ट माना जाय। जगत्को सृष्ट माननेका कोई कारण नहीं है। फिर यदि ईश्वर निराकार है, अंगहीन है तो उसने इस जगत्की सृष्टि कैसे कर डाली? ईश्वरके अन्य सब शुभ गुण भी सन्देहास्पद हैं। यदि वह सर्वशक्तिमान् है तो उसे संसारके सभी पदार्थोंका कारण होना चाहिये, लेकिन हम नित्य ही देखते हैं कि घट, पट, गृह आदि अनेक वस्तुएँ दूसरे निमित्तोंसे उत्पन्न होती रहती हैं। ईश्वरके एक होनेकी बात भी सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि संसारमें देखनेमें आता है कि गृह इत्यादिका निर्माण एक स्थपतिमात्र नहीं करता, वरन् अनेक व्यक्तियोंके सहयोगसे यह कार्य सम्पन्न होता है। इसी प्रकार ईश्वर भी अनेक हो सकते हैं।

भगवान् बुद्धने भी ईश्वरविषयक समस्त जिज्ञासाओंको निरर्थक बतलाया है। उनका अष्टांगिक मार्ग स्वावलम्बनका साधनापथ है। उसमें किसी भी ईश्वरमें विश्वास करनेकी आवश्यकता नहीं है। ईश्वर आदि समस्याओंके विषयमे बुद्धने मौन ही रखा है। उनके अनुचरोंमें हीनयान तो स्पष्ट ही अनीश्वरवादी हैं।

चीनके ताओवादमे भी व्यक्तितायुक्त ईश्वरके लिए कोई स्थान नहीं है। कनफ्यूशसीय धर्ममें भी ईश्वरमें विश्वास करना आवश्यक नहीं है।

पश्चिममें अनीश्वरवादकी परम्परा काफी पुरानी है। प्राचीन यूनानके आरम्भिक दार्शनिक प्रकृतिवादी थे। उन्होंने लोकप्रिय देवताओंकी सहायता लिये बिना ही जगत्की व्याख्या करनेका प्रयास किया। एम्पीडॉक्लीज और अनेग्जैगौरसके सिद्धान्तोंने प्रकृतिवादी दृष्टिकोणके लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया। डेमोक्रिटस तथा उसके सहयोगी अणुवादियोंने अणुकी सहायतासे प्रकृतिको समझनेका यत्न किया। प्लेटो नितान्त प्रकृतिवादी सिद्धान्तके पक्षमें नहीं था। किन्तु अरस्तू और नव्य प्लेटोवादियोंने विश्व और मानवताके जीवनमें देवताओंके हस्तक्षेपको मूर्खतापूर्ण विचार ठहराया। एपीक्यूरसने प्रकृतिवादी दर्शन और सुखवादी नैतिकताका समर्थन किया। प्राचीन ग्रीसमें सन्देहवादी दार्शनिकोंकी भी कमी नहीं थी। रोमका प्रसिद्ध कवि ल्यू क्रीशस प्रकृतिवादमें विश्वास करता था और उसने अपने जीवन-दर्शनको काव्यबद्ध भी किया।

उत्तर-मध्ययुगमें भी विशुद्ध अनीश्वरवादी विचारधारा मिलती है। सर्वेश्वरवादी रहस्यवाद धर्मके ईश्वरको निराकृत कर देता है। इसलिए कट्टर ईसाई तथा यहूदी धर्मानुयायी सर्वेश्वरवादियोंको अनीश्वरवादी और नास्तिक मानते रहे।

अनीश्वरवादका पूर्ण विकास आधुनिक युगमें हुआ है। गणित, ज्योतिष, भौतिकी, रसायन, भूगर्भशास्त्र, प्राणि-विज्ञान, नृशास्त्रोंकी प्रगतिके साथ-साथ धर्मग्रन्थोंमें वर्णित अनेक सिद्धान्तों, तथ्यों और प्रचलित धार्मिक विश्वासोंकी जड़में कुठाराघात किया गया। पश्चिमी मनुष्यने पुनरुत्थान-के युगमें बौद्धिक परतन्त्रताकी शृंखलाएँ तोड़कर बौद्धिक स्वतन्त्रताके राजमार्गपर कदम रखे। प्रकृतिवाद शनैः-शनैः पश्चिमी मनीषाका मूलाधार हो गया। जगत् और जीवनकी व्याख्या विशुद्ध प्रकृतिवादी ढंगसे, यान्त्रिक नियमों द्वारा होने लगी। फ्रॉयडके मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्तने धर्मको एक भ्रम और ईश्वरको पिताका स्थानापन्न विचारमात्र सिद्ध कर दिया। नृशास्त्रियोंने आदिम मानव-समाजोंका अध्ययन करके धर्मको लौकिक आवश्यकताका पूरक बतलाया। विकासवादी सिद्धान्तोंके अनुसार भी विकासकी प्रक्रियामें ईश्वर जैसी किसी शक्तिका अस्तित्व प्रमाणित नहीं होता था। हक्सले और स्पेन्सर जैसे वैज्ञानिक दार्शनिकोंने अज्ञेयवादको एकमात्र बुद्धि-संगत दर्शन ठहराया। इस प्रकार ईश्वरके अस्तित्वमें पारम्परीण विश्वास जर्जर हो गया, अनीश्वरवाद वायुमण्डलमें परिव्याप्त-सा हो गया।

उन्नीसवीं शताब्दीके मध्यमें अनीश्वरवाद जर्मनीमें विशेषकर लोकप्रिय हुआ। फाएरबाख तथा अन्य दार्शनिकों-के भौतिकवादने आक्रमिक रूपसे अनीश्वरवादका प्रतिपादन किया। इंग्लैण्डमें चार्ल्स ब्रैडले तथा अन्य स्वच्छन्द विचारकोंके बुद्धिवादसे अनीश्वरवादका प्रचार हुआ।

समकालीन युगमें भौतिकवादी वैज्ञानिक विचारणा और मार्क्सके द्वन्द्वात्मक भौतिकवादके व्यापक प्रचारके कारण अनीश्वरवादका प्रसार सर्वत्र हो गया है। कला और साहित्य-में उसकी अभिव्यक्ति प्रचुर रूपसे होती रहती है। —आ०

अनुकरण (imitation)—मनुष्यकी पहली कलाकृतियाँ नकलपर आधारित हैं। गुहामानवोंके भित्तिचित्र शिकार किये हुए पशुओंके चित्र हैं। परन्तु यथार्थका निरा फोटोग्राफिक अनुकरण ऊँची कलाकृति नहीं होता—क्योंकि वह यान्त्रिक भी हो सकता है। अनुकरणमे सत्यका आभास भी मिलता रहता है। नाट्यके सन्दर्भमे भरतने 'अनुकृति'को ही अभिनयका आधार माना। अरस्तूने अपने 'काव्य-शास्त्र'में 'अनुकरण' को ही कलाकी मूल आत्मा माना था। परन्तु यह विचार बादमें बदलता गया। कई कलाकृतियाँ ऐसी है, जो केवल कल्पनापर आश्रित है और उनमें सौन्दर्य अनुकरणपर आधारित नहीं होता। उदाहरणार्थ, परियोंकी कहानियाँ या अत्याधुनिक चित्रकला। कला वस्तुतः कला तभी बनती है या सार्थकता ग्रहण करती है, जब वह निरा जीवनका प्रतिबिम्ब न हो, बल्कि जीवनका 'अभिसम्भव' हो। कृति केवल आकृतिकी अनुकृति नहीं, वरन् कृतिकारकी प्रकृति-संस्कृतिसे मिली हुई, उसमेंसे उपजी हुई संस्कृति होती है। उसमेंका स्वर तोता-रटंत या 'हिज मास्टर्स वायस'का स्वर नहीं होता। इसी कारणसे अधिनायकवादी शास्त्र-तन्त्रोंमें निर्मित कलाकृतियाँ इतनी निर्जीव, रबरस्टैंप जैसी अनु-कृतियाँ जान पड़ती है।

कला अनुकरण नहीं, नवीकरण है। रोमांटिक कवियोंने और तत्त्वचिन्तकोंने इस मतको पुनः प्रतिष्ठित किया—कलाकारको ईश्वरके समकक्ष ला बिठाया। वह 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।' का चमत्कार कैसे निर्माण करता है! 'न कुछ'से सब-कुछ निर्माण करनेकी यह कीमिया रूढ़िवादी या परम्परावादियोंके लिए अनुकरण-मात्र हो, पर जो नित्य प्रयोगशील है, उसके लिए कला गतानुगतिलका

अनुकरण हो ही नहीं सकती। —प्र० मा०

अनुकरण, क्रीडात्मक–किसी प्रत्यक्ष-गम्य वस्तुको अन्य माध्यम द्वारा प्रकट करनेकी क्रिया या प्रवृत्तिको अनुकरण कहा जाता है। जैसे, नदी, पर्वत, पुष्प आदिका रंग और रेखा द्वारा यथावत् पटपर चित्रण करना। अथवा, मूलके अनुकूल कृति अनुकरणका परिणाम है। इसी प्रकार अन्य क्षेत्रोंमें भी। आचार्य भरतके अनुसार कलाका केन्द्र नाट्य है और नाट्यका सार अनुकरण है। संस्कृतपरम्पराके अनुसार 'अनुरणनं ध्वनि, अनुकरणं नाट्यम्।' प्लेटोके अनुसार भी कलाका सार अनुकरण है। सर्वमान्य न होते हुए भी इस मतमे इतनी सत्यता है ही कि प्रत्येक कलाकार प्रकृतिके प्रभावशाली रूपोंका स्वक्षेत्रमे अनुकरण करता है, यद्यपि कला प्रकृतिकी पूर्ण अनुकृति नहीं हो सकती। कलाकार प्रकृतिका क्रीडात्मक अनुकरण करता है। जैसे क्रीड़ा या रस-वृद्धिके प्रयोजनसे कवि द्वारा प्रपात, प्रवाह, आँधी आदिकी गतिका छन्दोंमे अनुकरण। —ह० ला० श०

अनुकरणात्मक लीला–दे० 'लीला'।

अनुकूल–'हेतु' अलंकारकी जातिका अर्थालंकार। जहाँ प्रतिकूल वस्तु अनुकूल कार्यकी जनक बन जाय। प्रतिष्ठापक विश्वनाथके अनुसार लक्षण है—'अनुकूलं प्रातिकूल्यमनुकूलावन्धि चेत्' (सा० द० : १० : ६४)। उदा०—'हे तन्वि', यदि तुम नायकसे कुपित हो तो नखक्षत करके इसके कण्ठको अपने भुजपाशमें बाँध लो' (अनु०)। हिन्दीमें इसका विवेचन प्रायः नहीं हुआ है। —ओ० प्र०

अनुकूल पति–दे०—'नायक' (श्रृंगार)।

अनुकूला–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। भानुने 'छन्दप्रभाकर' (पृ० १४६) में लक्षण दिया है—भगण, तगण, नगण और दो गुरुओंके योगसे यह वृत्त बनता है। केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा०—'पावक पूज्यौ समिध सुधारी। आहुत दीनी सब सुखकारी। दै तब कन्या बहु धन दीन्हों, भाँवरि पारि जगत जस लीन्हो' (रा० चं०, ६ : ९)। —पु० शु०

अनुगुण–लोकन्यायमूलवर्ग तथा तद्गुणकी जातिका अर्थालंकार। दूसरेके सम्बन्धसे अपने पूर्वसिद्ध गुणका उत्कर्ष अनुगुण है। 'अनु'का अर्थ है 'समान', 'वैसा ही' आदि। तद्गुणमें स्वगुणका त्याग करके परगुणका ग्रहण होता है, पूर्वरूपमें परगुणको दूर करके पुनः स्वगुणको प्रकट किया जाता है, मीलितमें स्वगुण और परगुण अति सादृश्यके कारण मिल जाते हैं, अनुगुणमें परसम्बन्धसे स्वगुणका ही उत्कर्ष होता है। प्रतिष्ठापक जयदेवके अनुसार लक्षण है—'प्राक्सिद्धिः स्वगुणोत्कर्षोऽनुगुणः परसन्निधेः' (चन्द्रालोक, ५ : १०६), अर्थात् दूसरेके सम्बन्धसे अपने पूर्वगुणका उत्कर्ष अनुगुण है। स्पष्टतः यह अलंकार संस्कृतमें बादमे विकसित हुआ है। 'साहित्यदर्पण'मे भी नहीं है। हिन्दीमे 'चन्द्रालोक'के आधारपर लिखे गये जसवन्त सिंहके 'भाषा-भूषण'से यह अलंकार मिलता है। भूषणकी परिभाषा—'जहाँ औरके संगतै बढ़ै आपनो रंग' (शि० भू०, २९९)में जयदेवका भावानुवाद है। मतिराममें 'समरुचि संगति' कहकर स्पष्ट किया गया है, दास तथा पद्माकरने रंगके स्थानपर 'गुन' शब्दका प्रयोग किया है और दासने 'पूरन गुन सरसाइ' कहकर स्वगुणके उत्कर्षका उल्लेख किया है और उदाहरण 'चन्द्रालोक'से लिया है—'नील सरोज कटाच्छ लहि अधिक नील है जाइ' (काव्यनिर्णय, १४)। भूषणका उदाहरण वैचित्र्यपूर्ण है—'कज्जल कलित अँसुवानके उमग संग, दूनो होत रोज रंग जमुनाके जलमे (शि० भू०, ३००)। उक्तिवैचित्र्यके अनुकूल होनेसे बिहारीने सुन्दर प्रयोग किया है। —ओ० प्र०

अनुग्रह–भक्तिधर्मका प्रधान आधार करुणामय भगवान्की असीम अहेतुकी कृपा है। सभी सम्प्रदायो और मतोंकी भक्ति-भावनामे भगवान्की कृपा या उनके अनुग्रहको विशेष मान्यता दी गयी है। परन्तु पुष्टिमार्गमें 'पोषणं तदनुग्रहः' (भागवत, २ : १०)के आधारपर पोषण या पुष्टिको ही भगवान्की कृपा कहा गया है और उसे भक्तिके लिए इतना आवश्यक माना गया है कि उसी नामसे भक्ति सम्प्रदायका नाम रखा गया है (दे० 'पुष्टिमार्ग')।

अनुचितार्थ–दे० 'शब्द-दोष', छठा पद-दोष।

अनुत्तर–अनुत्तर बुद्धज्ञान या तत्त्वज्ञान है, जो शून्यता या करुणा, प्रज्ञा तथा उपायके एकात्मज्ञानका ही दूसरा नाम है। अनुत्तर उपलब्धिकी परम्परा सिद्धोंने योगाचारसे ग्रहण की। अनुत्तरका अर्थ है सर्वश्रेष्ठ, जिसके उपरान्त कुछ न हो, जो अशेष हो। योग तथा अनुत्तर उच्च स्तरकी अधिक सूक्ष्म साधनाएं थीं, जिसका अधिकार केवल ऐसे साधकोंको था, जो स्वभावतः निःस्वभाव हो गये हो या जिन्होने सहजस्वभाव या वज्रात्मक स्वभावको पूर्णतया आत्मसात् कर लिया हो। अनुत्तरमें आस्था रखनेवाले सिद्ध अन्य पद्धतियोंका तिरस्कार नहीं करते थे, केवल वे सहजस्वभावकी साधना लेनेवालेके लिए मन्त्र-तन्त्र आदिका कोई महत्त्व नहीं मानते थे। —ध० वी० भा०

अनुत्पाद–महायानवादियों और माध्यमिकोंने सभी पदार्थोंको सापेक्ष, निःस्वभाव और शून्य बताया है। उनके अनुसार सभी भाव सापेक्ष और निःस्वभाव हैं। अतः उनका स्वाभाविक उत्पाद सम्भव नहीं हो सकता। जो स्वभावतः उत्पन्न नहीं है, वह अनुत्पन्न कहा जाता है। इस प्रकार भावोंका प्रत्ययसापेक्ष उत्पाद ही अनुत्पाद है। यह अनुत्पाद भाव और अभावकी कल्पनाका परिहार कर, महायानवादियोंके जगत् स्वरूप विश्लेषण तथा उनके मध्यम मार्गकी व्याख्या प्रस्तुत करता है। यही शून्यताकी विचारधाराका भी मूल प्रतीत होता है, जो प्रतीत्यसमुत्पादका महायानवादी दृष्टिकोणसे व्याख्यान भी है। योगाचारवादियोंने अनुत्पादसे चित्तकी अनुत्पत्तिका तात्पर्य ग्रहण किया।

हिन्दीमें सिद्धोंके साहित्यमें स्थान-स्थान पर अनुत्पाद-सिद्धान्तका वर्णन मिलता है (अनुत्पन्न सब परमार्थ प्रकाशन-से— 'दोहाकोश'-'हिन्दी छाया', पृ० १६९; भावरहिअ पुनिका उप्पादइ—'हिन्दी काव्यधारा', पृ० ९), जो निश्चित रूपसे महायान और माध्यमिकोंके इस अनुत्पादवादका ही प्रभाव है। इन सिद्धोके अनुसार भी सभी भाव निःस्वभाव हैं। उत्पाद्य और उत्पादकके स्वभावके न रहने पर कुछ भी उत्पन्न नहीं होता। भावना-शक्तिसे उत्पाद्य-उत्पादक सभीका नाश हो जाता है। हेतु-फलकी परीक्षा उस (हेतु-फल)के भाव

(अस्तित्व)से भिन्न नहीं है। सभी कुछ भाव रहित है तो भला (स्वभावतः) क्या उत्पन्न होगा? (दे० राहुल सांकृत्यायन : 'दोहाकोश', पृ० १२१, १६९; 'हिन्दी काव्य-धारा', पृ० ९)।

[सहायक ग्रन्थ—चन्द्रकीर्ति : माध्यमिक वृत्ति; चन्द्रधर शर्मा : बौद्ध दर्शन और वेदान्त; करुणेश शुक्ल : शंकर और नागार्जुनका तुलनात्मक अध्ययन (अप्रका० शो० प्र०)।] —क० शु०

अनुप्रास—एक शब्दालंकार, जिसमें वर्णों अथात् व्यंजनोंका साम्य हो। शब्दार्थ है, अनु—वर्णनीय रसके अनुकूल, प्र—प्रकर्ष या निकटता, आस—बार-बार रखा जाना; अर्थात् वर्णनीय रसकी अनुकूलताके अनुसार वर्णोंका बार-बार और पास-पास प्रयोग। इस अलंकारका सर्वप्रथम निश्चित उल्लेख भामहके 'काव्यालंकार'में मिलता है। रुद्रटने 'अविवक्षित स्वरव्यंजनोंके अनेक बारके निरन्तर आवर्तन'-को अनुप्रास कहा है (काव्यालंकार, : २ : १८)। मम्मटका लक्षण बहुत सीधा है—'वर्णसाम्यमनुप्रासः' (काव्यप्रकाश, ९ : ७९), अर्थात् वर्ण-साम्य अनुप्रास है। हिन्दीमें जसवन्त सिंहने 'भाषा-भूषण'में शब्दालंकारोंमे ६ अनुप्रास माने हैं, पर अनुप्रासका सामान्य लक्षण नही दिया है—'सबदालंकृत बहुत है, अच्छरके संजोग। अनुप्रास षट विध कहे, जे है भाषा जोग' (२०९)। संस्कृतमें विभिन्न अनुप्रासोंको स्वतन्त्र रूपसे विवेचित करनेकी परम्परा अधिक चली है, हिन्दीमें उसका अनुसरण हुआ। भूषणने अनुप्रासके भेदोंको अलग-अलग लिया है। भिखारीदासने 'गुणों'की चर्चा करनेके बाद अनुप्रासका लक्षण दिया है—'गुन भूषन अनुमानिकै अनुप्रास उर आनि' (काव्य निर्णय, १९)। अनुप्रास रसोंको विभूषित करनेवाले गुणोंके भूषण हैं और उनके अनुसार शब्दोंमें आदि अन्तके अक्षरोंकी आवृत्तिसे बनते है। आधुनिक विवेचकोंने अनुप्रासकी व्याख्या करके उसके भेदोंपर विचार किया है। प्रमुख स्वीकृत भेद छेकानुप्रास, वृत्यानुप्रास, श्रुत्यनुप्रास, लाटानुप्रास, अन्त्यानुप्रास तथा पुनरुक्तवदाभास है। (दे० इन्ही शब्दोंके अन्तर्गत)।

विभिन्न प्रकारके अनुप्रासोंका प्रयोग हिन्दी साहित्यमें प्रायः सर्वमान्य रहा है। आदिकालमें रसकी अनुरूपताके लिए, भक्ति साहित्यमें सहज भावात्मक प्रवाहके साथ और रीतिकालीन परम्परामें चमत्कार और शाब्दिक वैचित्र्यके लिए इस अलंकारका प्रयोग किया गया है। विशेषता प्राप्त करनेवाले कवियोंमें केशव, भूषण, देव, दास, पद्माकर तथा 'रत्नाकर' है। देवने अनुप्रासको 'रसपूर' माना है और उनके काव्यमें रसके अनुकूल ही इसका सुन्दर निर्वाह हुआ है। —र०

अनुप्रास जातियाँ—भोज (११ श० ई० पूर्व) द्वारा निरूपित अनुप्रास जातियाँ या वृत्तियाँ नाट्यवृत्तियोंसे भिन्न हैं। वास्तवमें भोजकी अनुप्रास जातियाँ वर्णानुप्रासके भेद हैं। अनुप्रासका महत्त्व प्रकट करते हुए 'सरस्वतीकण्ठाभरण'में भोजने लिखा है—'यथा ज्योत्स्ना चन्द्रमसं यथा लावण्यमंगनाम्। अनुप्रासस्तथा काव्यमलंकर्तुमयं क्षमः।' (अ०, २, १२ : २); अर्थात् जिस प्रकार चन्द्रमाको ज्योत्स्ना, कामिनीको लावण्य शोभित करता है, उसी प्रकार अनुप्रास काव्यको। अनुप्रासवृत्तिके सम्बन्धमे उनका विचार है कि अपने वर्गके आवृत्ति होने और काव्यमें प्राप्त होनेसे वह सन्दर्भवृत्ति कहलाता है (२ : १२ : ३)। भोजने १२ अनुप्रासवृत्तियोंको माना है, जो है—कार्णाटी, कौन्तली, कौकी, कौंकणी, बाणवासिका, द्राविणी, माथुरी, मात्सी, मागधी, ताम्रलिप्तिका, औड्री, पौड्री। इनके लक्षण इस प्रकार है—कार्णाटी वर्णानुप्रासयुक्त होती है, इसमें कवर्गकी आवृत्ति रहती है। चवर्गके अनुप्रासयुक्त कौन्तली होती है। टवर्गके अनुप्राससे युक्त कौकी, तवर्गके अनुप्रास युक्त कौकणी, पवर्गके अनुप्राससे युक्त बाणवासिका, अन्तस्थ वर्णों अर्थात् य र ल व के अनुप्राससे युक्त द्राविड़ी, ऊष्म वर्णों अर्थात् श ष स के अनुप्राससे युक्त माथुरी, दो-तीन वर्गोंके अनुप्राससे युक्त मात्सी, दो वर्गोंमेंसे एक वर्गको विदर्भित अर्थात् विदर्भीकी शोभासे युक्त करनेवाली वृत्ति मागधी, अपने वर्गके अन्त्यवर्णसे संयुक्त ताम्रलिप्ति, अपने रूपसौन्दर्यसे चित्तको सर्वस्वरूपसे हरण करनेवाली औड्री तथा असरूप संयोगसे चित्तको ग्रथित करनेवाली पौड्री नामक वृत्ति होती है। —भ० मि०

अनुबोध—कभी-कभी 'अपरसेप्शन' और कभी-कभी 'कन्सेप्शन'के अर्थमे हिन्दीमें प्रयुक्त। ज्ञान-प्रक्रियामें सर्वप्रथम इन्द्रिय-संवेदना (सेन्सेशन) आती है। जैसे मैंने लोहेके कवचको छूकर पाया कि यह शीत, कठोर, घन इत्यादि है। परन्तु काँचमें रखे लोहेके कवचसे भी वही इन्द्रियसंवेदना मुझे क्योंकर हुई? यह अनुबोध है। हार्नकी आवाज सुनकर मोटरकी उपस्थितिका अनुमान चाक्षुष प्रत्यक्ष नही है, वरन् एक प्रकारकी अनुमिति है लेकिन कोरी कल्पना नहीं है। वास्तवका बोध भी उसमे है। इसे अनुबोध कहा जाता है। लेकिन संकेतों द्वारा पाठकोंको यह अनुबोध देता है। नयी कवितामें 'इमेज' (बिम्ब)-के सहारे यही 'कन्सेप्ट-पैटर्न्स' निर्मित किये जाते है। कई बार केवल ध्वनियोंसे यह क्रिया की जाती है। शेलीकी विख्यात 'स्काईलार्क', कवितामे उसके अज्ञात, अगम्य, अश्रुत गीतकी तुलना कई रूपायत्त उपमानोंके सहारे की गयी है। इस प्रकारकी ध्वनियों, संकेतपूर्वकी भावदशाको आधुनिक मनोविज्ञान केवल भावनात्मक नहीं मानता, वह निरी 'रागात्मक संवेदना' नही है। वह अनुबोध है अर्थात् इन्द्रिय-बोधके साथ-साथ जागनेवाला ज्ञानका प्रथम सोपान। कल्पना, विचार काजिटेशन, तर्क-प्रमेय लाजिकल थिंकिंग आदिके पूर्वकी अवस्था। —प्र० मा०

अनुभाव—भरतके द्वारा रसके तत्त्वोंमें स्वीकृत एक तत्त्व, निष्पत्तिके लिए विभावादिके साथ इसका उल्लेख सर्वमान्य रूपसे किया गया है, ('नाट्यशास्त्र', ६३१)। भरत वाणी तथा अंग संचालनादि द्वारा व्यक्त अभिनय रूप भावनाभिव्यंजनको अनुभाव कहते है (ना० शा० ७५)। धनंजय अनुभावोंको विकार रूप तथा भावोंका सूचक मानते है (द० रू० ४।३)। विश्वनाथने अनुभावोंको 'उद्‌बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन्', अर्थात् आलम्बन, उद्दीपन आदि कारणोंसे उत्पन्न भावोंको बाहर प्रकाशित करनेवाले

कार्यको अनुभाव बतलाया है (सा० द०, ३ : १३२)। देव उसीको इस प्रकार कहते हैं—'जिनको निरखत परस्पर रसको अनुभव होइ। इनहीको अनुभाव पद कहत सयाने लोइ' (भाव० अनुभाव)। वाणी तथा अंग-संचालन आदिकी जिन क्रियाओंसे आलम्बन तथा उद्दीपन आदिके कारण आश्रयके हृदयमें जाग्रत् भावोंका साक्षात्कार होता है, वह व्यापार 'अनुभाव' कहलाता है। इस रूपमें ये विकाररूप तथा भावोंके सूचक हैं। भावोंकी सूचना देनेके कारण ये भावोंके अनु अर्थात् पश्चाद्वर्ती एवं कार्यरूप माने जाते हैं। वास्तविक पात्रके लिए कार्यरूप होनेपर भी सहृदयके विचारसे ये कारणरूप भी हैं, क्योंकि इन्हीं अनुभावोंके सहारे ही वह पात्रोंके भावोंको जान पाता है। साहित्यदर्पणकारने कार्यरूप मानकर ही आलम्बन तथा उद्दीपन आदि कारणोंसे हृदयमें जाग्रत् रतिभावनाको बाहर प्रकाशित करनेवाले कार्य कहा है। उदाहरणतः, एकान्त स्थलपर प्रियतमको पाकर मनमें रतिका अनुभव करते हुए नायिकाका उसकी ओर कटाक्षपात करना, संकेतसे उसे बुलाना, रोमांचित हो जाना, सावधानीके लिए इधर-उधर देखना आदि उसके व्यापार अनुभाव कहलायेंगे। हेमचन्द्र, भानुदत्त तथा शारदातनयने अनुभावको हेतु रूप और कविराज विश्वनाथ, धनंजय, शिंगभूपाल तथा पण्डितराजने इन्हें कार्यरूप माना है। प्रत्येक रसके विचार-से यह अनुभाव भी पृथक्-पृथक् होते हैं।

इनकी संख्या निश्चित नहीं की जा सकती। तथापि इनके कायिक, मानसिक, आहार्य, वाचिक एवं सात्त्विक नामक भेद किये गये हैं। इन्हें शिंगभूपाल तथा शारदातनयने क्रमशः गात्रारम्भानुभाव, मन या चित्तारम्भानुभाव, बुद्ध्यारम्भानुभाव तथा वागारम्भानुभाव नाम दिया है और सात्त्विकोंका भावके अन्तर्गत पृथक् रूपसे वर्णन किया है। इनमें भी कायिक तथा मानसिक अनुभावों (दे० 'सात्त्विक अलंकार')के अंगज, अयत्नज तथा स्वभावज नामक भेद किये गये हैं। इनका केवल नायिका-से सम्बन्ध बताया गया है। इसी कारण रूपगोस्वामी आदिने इन्हें अलंकारकी संज्ञा दी है। इन अलंकारोंके अतिरिक्त रूपगोस्वामीने उद्भास्वर तथा वाचिक दो अन्य भेदोंका उल्लेख किया है, जिनमें उद्भास्वरके अन्तर्गत नीवी-स्रंसन, उत्तरीय-स्रंसन, धम्मिल-वेणी-स्रंसन, शरीरका ऐंठना या अंगभंगीपूर्वक काम प्रदर्शित करना, जृम्भा तथा नाक फुलाना गिनाये गये। जृम्भाको भानुदत्त तथा हिन्दीके कुछ आचार्योंने सात्त्विक माना है। वाचिकको वागारम्भानुभाव ही कहना चाहिये। इनके अन्तर्गत आलाप, प्रलाप, विलाप, अनुलाप, संलाप, अपलाप, सन्देश, अतिदेश, निर्देश, उपदेश, अपदेश तथा व्यपदेश नामक बारह अनुभाव माने गये हैं, जिन्हें भानुदत्त, शिंगभूपाल तथा शारदातनयने स्वीकार किया है। चाटूक्ति आलाप, दुःखमय वचन विलाप, निरर्थक बकना प्रलाप, बार-बार कहना अनुलाप, पहले कहे हुएका अन्य अर्थमें प्रयोग अपलाप, समाचार भेजना सन्देश, प्रस्तुत वस्तुकी अन्य अभिधेयसे सूचना देना अतिदेश, अपने सम्बन्धमें 'वह यह मैं हूँ' कहकर समझाना निर्देश, शिक्षा देना उपदेश, 'मैंने या उसने इस प्रकार कहा', ऐसा कहना अपदेश तथा व्याजपूर्वक आत्माभिलाष प्रकट करना व्यपदेश कहलाता है।

हिन्दी साहित्यमें मुख्यतः रीतिकालमें, शृंगारिक काव्य तथा लक्षणग्रन्थोंमें सभी प्रकारके अनुभावोंका वर्णन करनेकी परिपाटी रही है। पूर्वमध्यकालमें भी विद्यापति, जायसी तथा सूरमें इनका निवाह हुआ था, किन्तु आधुनिक कालमें इनका प्रयोग प्राचीन ढंगके भारतेन्दु अथवा 'रत्नाकर' जैसे कवियोंके काव्योंमें ही थोड़ा-बहुत होता रहा और 'हरिऔध', मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, पन्त, गुरुभक्त सिंह 'भक्त' आदिके प्रबन्ध-काव्योंमें इनमेंसे कतिपय अनुभाव दीख पड़े, किन्तु मुक्तकोंमें यह परम्परा बन्द हो गयी। आधुनिक कालके उक्त सभी कवियोंमें इनका स्वतन्त्र निर्वाह ही विशेष रूपसे हुआ है, परम्परा-मात्रके पालनकी चेष्टा अथवा लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत करनेके लिए नहीं। नायिकाके अलंकारोंमें भी कुट्टमित, बिब्बोक तथा इस प्रकारके अन्य अलंकारोंका प्रयोग आधुनिक काव्यकी पटभूमिमें नहीं आ सका। प्राचीन आचार्योंने अनुभावोंके अन्तर्गत ही अलंकारोंकी गणना की है और हाव भी अनुभावमें अन्तर्भुक्त हो गये हैं। रामचन्द्र शुक्ल (२० वीं शती ई०) ने आश्रय मात्रकी चेष्टाओंको अनुभाव माना है और हावोंको आलम्बनका मोहक प्रभाव तथा उसकी रमणीयता बढ़ानेवाला मानकर उन्हें उद्दीपन-विभाव मात्र माना है। रामदहिन मिश्र (२०वीं शती ई०)ने 'काव्य-दर्पण'में इसका विरोध तो किया है किन्तु वह रा० च० शुक्लके समान 'हाव' सामान्यका विचार न करके 'हाव' विशेषके चक्करमें फँस गये। हमारा विचार (दे० काव्यमें रस : अनुभाव वर्णन) है कि आश्रय तथा आलम्बन दोनोंकी चेष्टाएँ अनुभाव ही हैं। केवल उसी स्थितिमें ये अनुभाव 'हाव' कहलाते हैं, जब यह 'संभोगेच्छा-प्रकाशक' होते हैं। स्थिति-भेदकी ज्ञप्तिके लिए पृथक् नाम दिये जाते हैं। अतः इन्हें क्रमशः उद्दीप्त एवं उद्दीपक अनुभावकी संज्ञा दी जा सकती है।

कायिक अनुभाव—प्रायः 'तनकी कृत्रिम चेष्टा' (भानु : रसरत्नाकर, पृ० ७८)को 'कायिक' माना गया है। भिन्न-भिन्न मनोभावोंके अनुसार कटाक्षपात, मुट्ठी बाँधना, भृकुटि-भंग आदि आंगिक क्रियाओंको इसके अन्तर्गत माना गया है। तुलसी तथा सुमित्रानन्दन पन्त द्वारा अंकित निम्न पंक्तियोंमें कायिक अनुभावोंका सुन्दर निर्वाह हुआ है—'बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी, प्रियतन चितै भौंह करि बाँकी। खंजन मंजु तिरीछै नयननि, निज पति कहेउ तिनहि सिय सैननि' (रा० च० मा०, २ : ११७)। 'एक पल मेरे प्रियाके दृग पलक, थे उठे ऊपर, सहज नीचे गिरे। चपलताने इस विकम्पित पुलकसे, दृढ़ किया मानो प्रणय सम्बन्ध था' (ज्योत्स्ना)।

मानसिक अनुभाव—प्रायः 'मन सम्भव मोदादि कहैं' (भानु० : रस०, पृ० ७८) इसके अन्तर्गत माना गया है। अन्तःकरणकी भावनाके अनुकूल मनमें हर्ष-विषाद आदिके उद्वेलनको मानसिक अनुभाव कहते हैं। पन्तकी इन पंक्तियोंमें इसका निर्वाह है—'नाथ, कह अतिशय

मधुरतासे दबे, सरस स्वरमें, सुमुखि थी सकुचा गयी। उस अनूठे सूत्रमें ही हृदयके भाव सारे भर दिये, तावीज-से' (ज्योत्स्ना)।

आहार्य अनुभाव—मनमें जब जैसा भाव उत्पन्न हो, उसके अनुकूल भिन्न-भिन्न प्रकारकी कृत्रिम वेश-रचना करनेको आहार्य अनुभाव कहते हैं। श्रीधरकी नायिकाकी वेश-रचनाका वर्णन इस प्रकार है—'स्याम रंग धारि पुनि बाँसुरी सुधारि कर, पीत पट पारि बानी मधुर सुनावेगी। जरकसी पाग अनुराग भरि सीस बाँधि, कुण्डल-किरीट हूकी छबि दरसावेगी।' —आ० प्र० दी०

अनुभूति—अंग्रेजीमें अनुभूतिका व्यापक प्रयोग हुआ है। कभी इसे चेतना (consciousness)के अर्थमें ग्रहण किया है, कभी अनुभव (experience)के। मनोविज्ञानमें (feeling) या (mental experience) के रूपमें इसे मानस-अनुभव स्वीकार किया गया है। मनोविज्ञानके अनुसार यह एक आन्तरिक क्रिया है, जो बाह्य परिणाम उत्पन्न नहीं करती। मैग्डूगल तथा भगवान्‌दास इसके केवल सुख-दुःखात्मक नामक दो प्रकार मानते हैं। मैग्डूगलने क्रमशः हर्ष, विषाद, क्लेश, निराशा, विस्मय, खेद, पश्चात्ताप, विश्वास, आशा, औत्सुक्य, चिन्ता तथा औदासीन्यको अनुभूतियोंमें रखकर भी इन्हें (derived emotion) या व्युत्पन्न मनोविकार भी कहा है। वुडवर्थ सुख-दुःखात्मक श्रेणीभेदको अव्यापक और अपूर्ण मानते हैं, क्योंकि उल्लास और विनोद सुखात्मक होकर भी एक ही मात्राके नहीं है, न पर्यायवाची हो सकते हैं। इसी प्रकार भय और अरुचिकी स्थिति है। आवेश सुखात्मक भी हो सकता है और दुःखात्मक भी। अनुभूतियोंकी अत्यन्त सुख या दुःखकर स्थितिसे न्यूनतम सुख या दुःखकर स्थितियोंका विचार करके वुंट महोदयने उनकी तीन सीमाएँ या आयाम (dimensions) स्वीकार किये हैं—(१) सुखात्मक-दुःखात्मक, (२) अशान्ति-जडता, (३) आतति (tenseness) और मुक्ति (release)। वुडवर्थने अजनबीपन और उत्सुकताको भी अनुभूतिकी एक विमा माना है। मनोविज्ञानीका कथन है कि बाह्यपरिणामहीन होनेपर भी यह बहुधा चेष्टित प्रवृत्ति (motor tendency)से सम्बद्ध रहती है, जैसे—दुःखकर वस्तुसे छुटकारा पानेका कार्य उसे देखते ही आरम्भ हो जाता है या सुखकर अनुभूतिको यथावत् बनाये रखनेका प्रयत्न होता है। बाहरसे शान्त रहकर भी हम आन्तरिक रूपसे अवश्य विचलित हो जाते हैं।

साहित्य-क्षेत्रमें कई प्रकारकी अनुभूतियोंका वर्णन हुआ है। यथा—(१) काव्यानुभूति, (२) रसानुभूति, (३) भावानुभूति, (४) प्रातिभ अनुभूति, (५) विलक्षण अनुभूति, (६) रहस्यानुभूति, (७) दिव्यानुभूति, (८) लौकिक अनुभूति, (९) प्रत्यक्षानुभूति, (१०) समानुभूति, (११) सहानुभूति एवं सौन्दर्यानुभूति। काव्यानुभूति प्रत्यक्ष अथवा लौकिक अनुभूतिसे भिन्न प्रभाववाली यह अनुभूति है, जिसमें लोकमें प्रत्यक्ष रूपसे अनुभूत सुख-दुःख भी काव्यपाठ या श्रवण-दर्शनके समय केवल सुखमय अनुभूति उत्पन्न करते हैं। लोकमें प्रत्यक्ष रूपसे अनुभूत सुख-दुःखात्मक प्रेम, करुणा, क्रोध, घृणा आदिका काव्यमें सुखात्मक या लोक-भिन्न व्यक्ति-सम्बन्ध-शून्य प्रभाव ही काव्यानुभूतिकी पृथकताका कारण है। इसे रसानुभूतिसे पृथक् करनेकी ओर कुछ लोग प्रवृत्त हुए हैं और काव्यानुभूतिको केवल कविसे तथा रसानुभूतिको दर्शक, पाठक या श्रोतासे सम्बद्ध मानते हैं। रसानुभूतिको विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव तथा स्थायी भावके संयोगसे निष्पन्न रसकी एक प्रकारकी विलक्षण अनुभूति या प्रतीति माना गया है, जिसमें साधारणीकरण व्यापारके द्वारा ममत्व परत्वका नाश होकर विघ्न-विनिर्मुक्त दशामें ऐसी आत्म-विश्रान्तिका लाभ होता है, जिसे ब्रह्मानन्द-सहोदर कहा जा सकता है। यह दशा सत्त्व-सम्पन्न अवस्था है और शुद्ध आनन्दात्मक है। इसमें करुण आदि दुःखात्मक स्थिति भी रसरूप या आनन्दात्मक प्रतीत होती है। श्री रामचन्द्र गुणचन्द्रने 'नाट्यदर्पण'में केवल सुखात्मक रसानुभूतिका विरोध किया है और उसे सुख-दुःखात्मक दोनों प्रकारका माना है। रामचन्द्र शुक्ल भी इसी मतको मानते हैं, तथापि विश्वनाथ कविराज, भोजराज प्रभृति अनेकानेक विद्वानोंने रसज्ञको ही प्रमाण मानकर रसानुभूतिको सुखात्मकमात्र माना है और इसी कारण उसे विलक्षण कहा है। रसानुभूतिमें जिस आत्मविश्रान्ति और तल्लीनताका अनुभव होता है, उसके स्थानपर काव्य-पाठादिके समय जब हमें केवल किसी भाव-विशेषका ज्ञान या अनुभव होता है और विभावादिके द्वारा उसकी रसात्मक दशामें पुष्टि नहीं होती तब उस दशाको भावानुभूतिकी दशा कहते हैं। काव्यके सम्बन्धमें समानुभूतिका भी प्रयोग होता है, जिसे भाव-तादात्म्य कहते हैं। अंग्रेजीमें इसे (empathy) या टिनचरके शब्दोंमें infeeling कहेंगे। इसीके साथ एक शब्द सहानुभूति या (sympathy) प्रचलित है। वस्तुतः सहानुभूतिमें दूसरे व्यक्तिके साथ उसके दुःख-सुखमें अपनेको सुखी या दुःखी अनुभव करते हुए भी सहायतार्थ व्यवहारका अनुभव भी बना रहता है, अर्थात् सहानुभूतिकर्ता सुखी या दुःखी व्यक्तिको आवश्यकतानुसार सहायता करनेकी इच्छा रखता एवं चेष्टा करता है। इसके विपरीत भाव-तादात्म्य या सहानुभूतिकी दशामें किसी व्यक्ति या वस्तुके भावोंसे हमारी अभिन्नता स्थापित हो जाती है, हम उसके अन्तरमें पैठकर वही अनुभव करने लगते हैं, जो वह कर रहा है। मनोवैज्ञानिकोंने भी काव्यमें इस भाव-तादात्म्यको स्वीकार किया है। अंग्रेजी लेखकोंमें वुडवर्थ, ए० ई० मेण्डर, फ्रीन्फेल्स, टालस्टाय, डाउने, ऐशले ड्यूक्स आदिने भाव-तादात्म्यको काव्यानुभूतिके लिए आवश्यक माना है। संस्कृतमें सबसे पहले विश्वनाथ कविराजने रसानुभूतिके सम्बन्धमें तादात्म्यका उल्लेख किया है, जिसके आधारपर हिन्दीमें रामचन्द्र शुक्लने आलम्बनका साधारणीकरण तथा आश्रयके साथ सहृदयका तादात्म्यका सिद्धान्त प्रस्तुत किया। उनका विचार था कि सहृदयको आश्रयके साथ भाव-तादात्म्य हो जानेपर ही वास्तविक रस-दशा उपस्थित होती है एवं जहाँ आश्रयके साथ तादात्म्य नहीं हो पाता, वहाँ कविके भावोंके साथ तादात्म्य होता है। कभी-कभी कवि ही वास्तविक आश्रय होता है। जैसे, प्रकृति-वर्णनके समय। किन्तु आश्रय तो क्रूर और दुश्चरित्र पात्र

भी हो सकता है या वह स्त्री-पुरुष आदिमेंसे कोई हो सकता है, ऐसी स्थितिमे सच्चरित्र, विरोधी वय अथवा भिन्न स्तरका सहृदय उनसे कैसे तादात्म्य कर सकेगा, इस प्रश्नको लेकर आश्रयके साथ तादात्म्यका विरोध किया गया है। —आ० प्र० दी०

अनुमान–तर्कन्यायमूलक अर्थालंकार, जिसमे कवि-कल्पित साधन द्वारा साध्यका चमत्कारपूर्वक बोध कराया जाता है। इस अलंकारका उल्लेख रुद्रटसे प्राप्त होता है। मम्मटके अनुसार—'अनुमानं तदुक्तं यत्साध्यसाधनयोर्वचः' (का० प्र०, १० : ११७), अर्थात् जिसमे साध्य-साधनके भावरूपमें किसी अर्थका प्रतिपादन किया जाय। विश्वनाथ इसीको अधिक स्पष्ट करते हैं कि यह सौन्दर्यके साथ कहा जाना चाहिये, 'अनुमानं तु विच्छित्त्या ज्ञानं साध्यस्य साधनात्' (सा० द०, १०: ६३)।

'अनुमान' शब्द 'अनुमिति'का विकसित रूप है। 'अनु'का अर्थ है 'लक्षण', 'मिति'का अर्थ है 'ज्ञान'। अनुमान शब्द न्यायशास्त्रका है, पर काव्यमे इसका भिन्न अर्थमे प्रयोग हुआ है। अतः अनुमानसे अभिप्राय है 'चिह्न द्वारा किसी वस्तुका ज्ञान किया जाना'। अनुमान अलंकार-मे साधन द्वारा साध्यकी प्रतीति होती है। जो वस्तु सिद्ध-की जाय, उसे साध्य और जिसके द्वारा वह सिद्ध की जाती है, उसे 'साधन' कहते है। जैसे धुएँसे अग्निके अस्तित्वका ज्ञान होता है। जहाँ धुआँ हो, वहाँ अग्नि भी अवश्य होगी। 'धुआँ' यहाँ साधन अथवा 'चिह्न' है और 'अग्नि' साध्य है। अनुमान अलंकारमें साधन 'ज्ञापक कारण' होता है।

हिन्दीमें बहुतसे प्रमुख आचार्योंने इसपर विचार नहीं किया है। विवेचन करनेवालोमें चिन्तामणि, सोमदेव तथा कुलपति प्रधान है। भूषणका 'अनुमान'का लक्षण 'जहाँ काजतें हेतकै जहाँ हेतते काज' (शि० भू०, ३५१) स्पष्ट नहीं है। चिन्तामणिने 'कविकुलकल्पतरु'में अनुमान अलंकारका लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया है—'जुहै साध्य साधन कठिन, सो बरनत अनुमान। तर्क न्यायमूलक सुनो, अलंकार अज्ञान।'

चिन्तामणिका उदाहरण मम्मट और विश्वनाथका भावानुवाद है—'भौह भाव जहँ तिय करै, तहाँ परति है बान। इनके आगे सर मदन, लीन्हे बान कमान' (कवि-कुलकल्पतरु)। इसमें 'कामदेवका स्त्रियोंके आज्ञाकारी होना' साध्य है, जिसकी सिद्धि 'स्त्रियोंका कटाक्षपात जहाँ-जहाँ होता है, वहीं कामदेव अपने बाण छोड़ता है', इस बातसे (जो कवि-कल्पित साधनरूपमें प्रस्तुत है) होती है। कन्हैया लाल पोद्दारने ग्वालका उदाहरण प्रस्तुत किया है—'यातें मेरे नैन खरे लोहसे है काहेते कि, खैचि लेत प्यारी चख चुम्बक तिहारे यो' (अ० मं० से)।

यद्यपि उत्प्रेक्षामें भी अनुमानके समान 'मानो', 'जानो' आदि वाचक शब्दों द्वारा सादृश्यकी सूचना दी जाती है, पर उत्प्रेक्षामें उपमेयमें उपमानके सादृश्यकी सम्भावना अनिश्चित होती है, अनुमानमें इस सादृश्य भावके बिना साध्यको साधन द्वारा निश्चित रूपसे सिद्ध किया जाता है। इसी प्रकार काव्यलिंगमें कारण वास्तविक होता है (कारक) और अनुमानमें सूचक मात्र। —वि० स्ना०

अनुमानवाद–दे० 'रसनिष्पत्ति', दूसरा सिद्धान्त।

अनुमानात्मक आलोचना-प्रणाली–अभिधात्मक अर्थमें इस शब्दका अंग्रेजी समानार्थी शब्द होगा 'हायपाथे-टिकल'। परन्तु, प्रस्तुत प्रणाली हिन्दीमें अंग्रेजीके 'इण्डक्टिव क्रिटिसिज्म'की समानार्थीके रूपमे स्वीकृत है।

अंग्रेजीका 'इण्डक्टिव' शब्द 'इण्ड्यूस'से बना है, जिसका अर्थ होता है—आगमन करनो, व्याप्ति साधना, उत्पन्न करना आदि।

इस दृष्टिसे प्रस्तुत शब्द वस्तुतः इण्ड्यूसका समानार्थी नही दीखता। उपर्युक्त शब्द हो सकता है आगमनात्मक, जो कि आगमनसे बना है और जिसका अर्थ होता है, प्राप्ति, उत्पत्ति आदि। अनुमान शब्द निश्चय ही अंग्रेजीके इण्ड्यूस शब्दसे दूर है, किन्तु यह शब्द अपने रूढ़ अर्थको छोडकर अंग्रेजीके इण्ड्यूसका समानार्थी बन बैठा है। अनेक विद्वानोंने इसके लिए भिन्न-भिन्न शब्दोंका प्रयोग किया है, जैसे व्याख्यात्मक, आगमनात्मक अथवा विग्रहात्मक आदि।

पाश्चात्य आलोचना-शास्त्रियोंने आलोचनाकी रीतिको मुख्यतः दो भागोमे विभाजित किया है—'इण्डक्टिव क्रिटिसिज्म' तथा 'जुडीशियल क्रिटिसिज्म', जिसको हम अनुमानात्मक आलोचना और निर्णयात्मक आलोचनाके नामसे अभिहित करते है। निर्णयात्मक आलोचनापद्धतिमें आलोचक कुछ सूत्रोंका सहारा लेकर अपना निर्णय क़ायम करता है। वह नियमों तथा तर्कोंके सहारे कुछको श्रेष्ठ तथा कुछको अश्रेष्ठ मानता है, परन्तु अनुमानात्मक पद्धतिका आलोचक कृतिका केवल वैज्ञानिक परीक्षण करता है और अन्ततः उन्हें एक व्यवस्था देता है। इस पद्धतिका आलोचक आलोच्य वस्तुसे ही आलोचनाका मापदण्ड निकालता है। कविकी सफलता किन्हीं बाहरसे आरोपित सिद्धान्तों तथा मानों द्वारा नही आँकता, अपितु वह उसके उद्देश्यको समझनेकी चेष्टा करता है।

इस आलोचना-प्रणालीका जन्म रूढ़िवादी आलोचनाके विरुद्ध हुआ। अरस्तू, होरेस आदि ग्रीक आलोचकोंके कथित वाक्योंको ही एक लम्बे अरसेतक आलोचकोंने एक-मात्र सत्यके रूपमें ग्रहण किया। इस बातपर ध्यान नही दिया गया कि साहित्य जीवनकी ही तरह गतिशील है। फलतः शेक्सपियर जैसे महान् साहित्यकारतकको पागल करार दिया गया, शेक्सपियरके पात्रोंको अस्वाभाविक उपहास्य सिद्ध किया गया, उसकी भाषा एवं शब्दयोजना-को तुच्छ एवं हेय माना गया।

जर्मनके तत्त्ववेत्ताओंने कलाकी परिभाषा बड़ी सूक्ष्मता और व्यंजनासे की। इंग्लैण्डमें इसका प्रचार कार्लाइलने किया। वाल्टर पेटरने इस पद्धतिका समर्थन करते हुए तीन बातोंपर बल दिया, कवि या चित्रकारकी विशेषतासे परि-वर्तन होना, तटस्थ होकर परीक्षण, तब व्यवस्थापन।

कुछ विद्वानोकी धारणा है कि संस्कृत साहित्यमें प्रस्तुत आलोचनापद्धतिकी छाया भी नहीं देखी जा सकती। तर्क यह है कि वह युग आदर्शका युग था, प्रयोजनकी सीमाओं-में प्रत्येक कार्यको घेर लिया गया, इसीलिए उस युगमें

यथातथ्य रूप गृहीत नही होता था। पर लक्ष्य करनेकी बात है कि साहित्य-शास्त्रका निर्माण साहित्यको व्यवस्था देनेके लिए ही होता है। 'काव्य-मीमांसा'के लेखक राजशेखरका कहना है कि कविके सर्जनका भावयित्री प्रतिभा द्वारा रसास्वादन करनेवाला भावक होता है और वही वास्तवमें आलोचक होता है। भरतमुनिसे लेकर राजशेखरतककी समस्त संस्कृत आलोचनाएँ उपर्युक्त कथनको चरितार्थ करती हैं। संस्कृतके आचार्योंने इस दृष्टिसे साहित्य-शास्त्रका निर्माण कभी नही किया होगा कि साहित्यकी वेगवती धारा उन्ही नियमों और व्यवस्थाओंके कगारोंसे होकर बहे। उनका उद्देश्य तो महज साहित्यका वैज्ञानिक अध्ययन, विश्लेषण और वर्गीकरण तथा व्यवस्थापन था।

हिन्दीमें पूर्वभारतेन्दु-युगसे इस आलोचनापद्धतिकी झलक पायी जा सकेगी, क्योंकि उस युगकी आलोचनाको पुस्तक-परिचयवाली शैली कहा जाता है। भारतेन्दु-युगमे भी व्याख्या ही आलोचनाका मुख्य लक्ष्य था।

द्विवेदी-युग शास्त्रीय युग था। अतः उस युगकी आलोचनाका मुख्य आधार था संस्कृतका रीतिसम्प्रदाय।

अनुमानात्मक आलोचनापद्धतिका स्पष्ट रूप वस्तुतः छायावाद-कालमे देखा जा सकेगा। द्विवेदीजी तथा शुक्लजी जैसे आलोचकोंके समक्ष छायावादको सर्वथा प्रतिकूल परिस्थितियोंमें खड़ा होना पड़ा। फलतः छायावादके समर्थनमें जो कुछ भी लिखा गया, वह छायावादके वैज्ञानिक परीक्षण, विश्लेषण, वर्गीकरण तथा व्यवस्थापनकी दृष्टिसे लिखा गया। इनमे नन्ददुलारे वाजपेयी, विश्वम्भरनाथ 'मानव' तथा गंगाप्रसाद पाण्डेय, महादेवी वर्मा, 'प्रसाद', पन्त, 'निराला' आदिका नाम लिया जा सकेगा।

इन लोगोंका मुख्य उद्देश्य था—छायावादका तात्त्विक तथा साहित्यिक विश्लेषण। इसलिए इन लोगोंने रूढ़ और परम्परायुक्त शैलीमें रस, अलंकार आदिके उदाहरण न ढूँढकर सूक्ष्म सौन्दर्य और काव्यगत सौष्ठवको देखनेका प्रयत्न किया। नन्ददुलारे वाजपेयी अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य : बीसवी शताब्दी'में लिखते हैं—"काव्यका महत्त्व तो काव्यके अन्तर्गत ही है, किसी बाहरी वस्तुमें नही।"

अति आधुनिक युगमें प्रगतिवादी मान्यताओंके प्रतिष्ठानके लिए लिखी गयी समस्त आलोचनाएँ इसी रीतिके अन्तर्गत आती हैं। शिवदान सिंह चौहान, रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त और अमृतराय आदि इसी धाराके अन्तर्गत आयेंगे। —रा० कु० स०

अनुमित अद्भुत—दे० 'अद्भुत रस'।

अनुमितिवाद—दे० 'रसनिष्पत्ति', पर्याय अनुमानवाद।

अनुवाद अयुक्त—दे० 'अर्थ-दोष', तेईसवाँ।

अनुशयाना (नायिका)—परकीयाकी स्थितिके अनुसार एक भेद। विशेषके लिए दे० 'नायिका-भेद'। सर्वप्रथम भानुदत्तने इसे लिया है। अनुशयका अर्थ है खेद, दुःख तथा पश्चात्ताप। अनुशयानाका अर्थ हुआ खेद अथवा दुःख करनेवाली अर्थात् जो परकीया अपने प्रियसे मिलनस्थानके अथवा अवसरके नष्ट होनेसे दुःखित होती है। **प्रथम अनुशयाना**—भानुदत्तने 'वर्तमानस्थानविघटन'के कारण इस नायिकाको माना है, अर्थात् मिलनस्थानको नष्ट होते देखकर दुःखित होनेवाली नायिका। मतिरामने 'केलि करे जेंह कंतसौं सो थल मिट्यो निहारि' जो 'सोच करै बर नारि', उसे माना है (रसराज, ८५)। राधाके मनका अनुताप यमुनाको देखकर बढ रहा है—'नागरिके नैननितै नीरको प्रवाहबढ़यौ, देखत प्रवाह बाढ़्यौ जमुनाके नीरकौ (रसराज, ८७)। ऋतुका प्रभाव ऐसा ही मनको क्लेश पहुँचानेवाला है—'ग्रीषम दवत दवरिया कुंज कुटीर। तिमि-तिमि तकत तरुनिअहिं बाढ़ी पीर' (बरवै०, २१)। **द्वितीय अनुशयाना**—भानुदत्तने इसे भावी 'स्थानभावशंकया' दुःखिता नायिका माना है। मिलनके भावी संकेत-स्थलके लिए चिन्ताकुल परकीयाको द्वितीय अनुशयाना कहा गया है। मतिराम उसे ('होनहार संकेतको जेंह अभाव उर आनि') हृदयमें अत्यन्त दुःखित होनेवाली कहते है। पद्माकरने भी लगभग इन्ही शब्दोंका प्रयोग किया है। रहीमने परकीयाको सान्त्वना देनेके बहाने उसकी भविष्योन्मुखी चिन्ताकी व्यंजना भी की है—'जनि मरु होय दुलहिया करि मन ऊन। सघन कुंज ससुररिया वो घर सून' (बरवै०, १९)। मतिरामकी नायिकाको भी इसी प्रकारकी सान्त्वना दी जा रही है—'केलि करैं मधुमत्त जेंह घन मधुपनके पुंज। सोच न कर तुव आसरे सखी सघन घन कुंज' (रसराज, ९०)। **तृतीय अनुशयाना**—भानुदत्तके अनुसार 'स्वानधिष्ठित संकेत' स्थानपर न पहुँच पानेपर दुःखी होनेवाली नायिका। मतिराम तथा पद्माकर आदिने किंचित् विस्तारसे कहा है 'जो तिय सुरत संकेतको रमन गमन अनुमान' कर (व्याकुल) होती है अथवा पछताती है, वह ऐसी नायिका होती है। रहीमने सहज अंकन किया है 'मितवा करत बसुरिया सुमन सुपात। फिरि-फिरि करति तरुनियाँ सन पछतात' (बरवै०, २२)। अनुकूल परिस्थितिमें उसकी विवशताका सुन्दर चित्रण रीतिकाव्यमें किया गया है—'साँझ समै मतिराम कामबस बंसीधर, बंसीबट तट पै बजायी जाय बाँसुरी। ताप चढि आयो तन पीरी परिआयी मुख, आँखिनके ऊपर उमँगि आये आँसु री' (रसराज, ९२)।

अनुष्टुप्—पिंगलाचार्यने अष्टाक्षर चतुष्पादको अनुष्टुप् छन्द माना है (पि० सू०, ३:२३)। इस वर्णिक मुक्त छन्दमें आठ-आठ अक्षरोंके चार खण्ड होते हैं। समस्त अष्टकोंका पंचम अक्षर, दूसरे-चौथे अष्टकका सातवाँ अक्षर लघु होता है और छठा अक्षर समस्त अष्टकोंका लघु होता है, एवं पहले, तीसरे अष्टकका सातवाँ अक्षर दीर्घ होता है। नारायणभट्टने प्रथम और तृतीय अष्टकके आदिमें नगण और सगणका निषेध किया है और प्रथम एवं तृतीय अष्टकमें ४ वर्णोंके बाद यगणका विधान किया है और दूसरे-चौथे अष्टकमें पहले अक्षरके बाद, रगणका निषेध किया है। इस छन्दका प्रयोग गुप्तजीने (पत्रावली, पृ० ३); (साकेत, पृ० २३१ : नवम सर्ग, पृ० २६७ : दशम सर्ग) एवं सियारामशरण गुप्तने (गीता-रहस्यमें आद्योपान्त) किया है। उदा०—'भिन्न भी भावभंगीमें, भाती है रूप सम्पदा। फूल धूल उड़ाके भी, आमोदप्रद है सदा' (साकेत, पृ० २३१, नवम सर्गः)। —पु० शु०

अनुज्ञा–विरोधमूलक विशेषालंकार। भट्टि, भामह, दण्डी, उद्भट और वामनका परवर्ती है। इनके पश्चात् रुद्रट (काव्यालंकार, ९।५), मम्मट (का० प्र०, १०।१३५-३६) और रुय्यक (अलंकारसर्वस्व, पृ० १७१)में इसका उल्लेख है। मम्मटकी 'बालबोधिनी' औ 'नागेश्वरी' व्याख्याओंमें बताया गया है कि दोषपूर्ण वस्तुमें भी गुणको देखकर उस दूषित वस्तुकी इच्छा करने पर भी विशेष अलंकार होता है (नागेश्वरी, पृ० २९४) यथा—'विपदः सन्तु नः शश्वद् यासु संकीर्त्यते हरिः', अर्थात् हमारे ऊपर विपत्तियाँ ही आयें, जिससे हम भगवद्भजन तो करें। पर 'कुवलयानन्द'में इसको विशेषान्तर्गत न मानकर इसको एक नया नाम अनुज्ञा देकर परिभाषाकी गयी है। नागेश्वरी टीकाकी परिभाषा एवं उदाहरण कारिकामे दिया है (कुवलयानन्द, ७१)। अप्पय दीक्षितने अपनी ओरसे भी दो उदाहरण दिये हैं। यथा—'मय्येव जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं हरे! नरः प्रत्युपकारार्थी विपत्तिमभिकांक्षति', अर्थात् 'है तेरो उपकार कपि, जीरन मो तन माँहि। इच्छुक प्रत्युपकारके विपदा चाहत ताहि।' (अ० मं०)। यहाँ प्रत्युपकार न करने रूप दोषकी इच्छाका वर्णन है।

अनुज्ञा अलंकारका उल्लेख 'चन्द्रालोक'मे भी नहीं है। हिन्दीके आचार्योंने 'कुवलयानन्द'से इसे ग्रहण किया है—'जहाँ सरस गुन देखि कै, करै दोसकी हौस' (शि० भू०, २८३) अथवा—'दोषौमैं गुन देखिये' (भा० मि०, १४)। उदा०—'मै तो भई मनमोहनकी मुखचन्द लखै बिन मोलकी दासी।' (ल० ल०, ३२२) अथवा—'बैपारी जहाजके न राजा भारी राजके, भिखारी हमै कीजै महाराज सिवराजके' (शि० भू०, २८४)। —ज० कि० व०

अनुसंधानात्मक आलोचना–अनुसन्धानात्मक आलोचना-प्रणालीकी दृष्टि साहित्यिककी अपेक्षा ऐतिहासिक और प्रामाणिक होनेमें विश्वास करती है। कृति और रचनाकार-के मन्तव्योंके अतिरिक्त आधारोंपर विशेष आग्रह होनेके कारण भी साहित्यिक और भावात्मक विश्लेषणकी ओर इनका ध्यान न जाकर रचना और रचनाकारके विभिन्न सन्दर्भोंकी ओर अधिक जाता है। इसी सन्दर्भकी खोजमें वे उसके ऐतिहासिक तथ्य और प्रतिपादित सत्य दोनोकी तुलना करते हुए प्रामाणिकता एवं ऐतिहासिकतापर विशेष बल देने लगते हैं। रचनाकारके समकालीन प्रकाशित-अप्रकाशित लेखों तथा रचनाके अतिरिक्त उसके जीवनवृत्त एवं जीवनघटनाओंके माध्यमसे मूलकी खोज और उसकी विवेचना करना इनका मुख्य उद्देश्य होता है। कभी-कभी ऐतिहासिकताके आधारपर इस पद्धतिके आलोचक साहित्यिक रचनाकी विशेष गति-विधिके जाननेमें पत्रों, वक्तव्यों और अन्य सामग्रीका भी सहारा लेते हैं। जिन आधारोंका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष बिम्ब, अथवा जिन विचारोंका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव, अथवा जिन सम्पर्कोंमें रचनाकारकी अनुभूतियाँ पकी और सिझीं, उन सबका महत्त्व अनुसन्धानात्मक आलोचना-प्रणालीके माननेवालोंके लिए होता है। बहुधा रचनाकार-के समकालीन साहित्यकारोंकी रचनाओं एवं उद्धरणोंसे भी रचना-विशेषका मूल्यांकन करना इस प्रणालीके आलोचकके लिए अवश्यंभावी हो जाता है।

अनुसन्धानात्मक प्रणालीकी विशेषताओंको निम्नलिखित वर्गोंमें अंकित किया जा सकता है—(१) यह कि पर्याप्त तथ्योंके आधारपर ही किसी भी रचनाके सम्बन्धमे निष्पक्ष होकर विवेचन करनेकी सम्भावनाको प्रोत्साहन मिलता है और अन्यथा रूपमें अतिवादी प्रशंसात्मक अथवा अतिवादी विरोधात्मक धारणाएँ बनानेकी सम्भावनाएँ कम हो जाती हैं। दूसरे शब्दोमें एक वस्तुपरक दृष्टिसे रचनाका विवेचन किया जाना अधिक सम्भव हो जाता है और अनावश्यक पूर्वग्रहोंकी सम्भावना नष्ट होने लगती है। (२) यह कि सन्दर्भके अध्ययनसे रचनाके विभिन्न संकेतस्थल, बिम्ब, प्रतीक, इत्यादि भी अपना उचित अर्थ ग्रहण कर लेते हैं। सन्दर्भके अज्ञानमें अनेक व्यंजनाएँ केवल अर्थहीन-सी लगने लगती हैं और वह प्रेषणीयता जो एक संगतिविशेषमे महत्त्वपूर्ण अर्थ रखती है, सन्दर्भके अज्ञानके कारण अधिक स्पष्ट नही हो पाती; जैसे तुलसीदासकी इस पंक्तिका अर्थ 'माँगकै खाइबो सोइबो मसीतको'—बिना उनके जीवन-सन्दर्भ और ऐतिहासिक सन्दर्भको जाने ठीक-ठीक समझमें नही आ सकता। ठीक उसी प्रकार अन्य रचनाओंमें भी कई स्थल ऐसे होते हैं, जिनका मूल्य बिना सन्दर्भ-रूपमें समझे स्पष्ट नही हो पाता। (३) यह कि प्रामाणिकतापर आग्रह करनेसे एक प्रकारकी अन्वेषणप्रवृत्ति स्वतः जागरित होती है, जो अर्थके विभिन्न आयामोके प्रति हमे जागरूक करती है। प्रत्येक रचना और रचनाकारकी भाव-स्थिति और विचार-पद्धतिके लिए बिना प्रमाणके कुछ भी कहना गलत ही नहीं, अन्यायपूर्ण भी हो सकता है, इसलिए अनुसन्धानात्मक आलोचनाप्रणाली प्रामाणिकतापर आग्रह करके बहुतसे अनावश्यक विवादोंको समाप्त करनेमें सहायक होती है। (४) यह कि ऐतिहासिकताके साथ-साथ भावबोध-के विभिन्न स्तरोंका भी ज्ञान इस प्रणालीके माध्यमसे अधिक सुगम और सुलभ हो सकता है। प्रत्येक देशकालमें ऐतिहासिक सीमाओं और विशेषताओंके नाते भावबोधके विभिन्न रूप विकसित होते रहते हैं। इस विकसित भावबोधके स्तरोंको ऐतिहासिक सन्दर्भके बिना समझनेमें कठिनाई पड़ती है। अस्तु, अनुसन्धानात्मक आलोचना-प्रणाली द्वारा यह कठिनाई काफी सीमातक नष्ट हो जाती है। भूषणके कई कवित्त बिना ऐतिहासिक सन्दर्भके वह भावबोध नही स्पष्ट करते जो कि उन कवित्तोंके जाननेके लिए नितान्त आवश्यक है। यही कारण है कि अनुसन्धानात्मक प्रणाली 'भारत भारती' जैसी रचनाको साहित्यिक स्तरसे महत्त्वपूर्ण न मानते हुए भी ऐतिहासिक भावबोधकी दृष्टिसे बहुत महत्त्वपूर्ण मानेगी, क्योकि उस ग्रन्थको समझनेके लिए उन सन्दर्भोंको जानना आवश्यक है, जिनमें उसको लिखने-की प्रेरणा कविको अनिवार्य रूपमें प्राप्त हुई है।

किन्तु प्रस्तुत विशेषताओंके होते हुए भी इस प्रणालीकी कुछ सीमाएँ भी है। जहाँतक सीमाओंका सम्बन्ध है, हम उन्हें निम्नलिखित वर्गोंमें विभाजित करके प्रस्तुत कर सकते हैं। सर्वप्रथम तो यह कि साहित्य वस्तुपरक होते हुए भी रागात्मक अनुभूति है। अनुभूतियोंका विश्लेषण भाव-जगत्-से सम्बन्ध रखता है। इसीलिए वस्तुपरक स्थितिके समस्त

उपकरण प्रस्तुत होनेपर भी भाव-जगत्से यह दृष्टि अनभिज्ञ रह सकती है। दूसरे यह कि समकालीन सीमाओंमें बँधकर साहित्यकारके व्यक्तित्व, अनुभूति और दृष्टिको आँकनेमें हो सकता है कि पूर्ण न्यायका सन्तुलित निर्णय न दिया जा सके। अस्तु, इन सीमाओंके आधारपर अनुसन्धानात्मक शैलीकी विकृतियोंको हम निम्नलिखित रूपमें इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—(१) यह कि अनुसन्धानात्मक आलोचनाके माध्यम इतने सीमित हैं कि वे भाव एवं साहित्यिक सौन्दर्यके प्रति जागरूक करनेके बजाय पाठक या भावकको अन्य दिशाओंमें बहका देते हैं। साहित्यिक सौन्दर्य इससे गौण हो जाता है और रचनाकी साहित्येतर वस्तुएँ अधिक मूल्यवान् लगने लगती हैं। (२) यह कि रचनाके स्पष्ट रागात्मक सम्बन्धोंकी अपेक्षा कुछ ऐसी दिशाओंकी ओर समस्त जागरूकताको प्रेषित कर देती है कि मूल्योंमें अन्तर पड़ जाता है और साहित्यिक सन्दर्भोंके अतिरिक्त अनावश्यक मूल्योंको अधिक महत्त्व मिल जाता है। (३) यह कि लेखककी नैसर्गिक प्रतिभाके प्रति अनुदार रूपसे व्यवहार करना अनुसन्धानात्मक-प्रणालीकी सम्भावित परिणति है। लेखक अपनी परिस्थितियोंसे उबरनेकी क्षमता रखता है। उसमें यह भी क्षमता होती है कि वह अपनी नैसर्गिक प्रतिभाके बलपर सर्वथा नयी दिशा निर्माण कर, मानव संवेदनाओंको नया अर्थ दे और तब अनुसन्धानात्मक शैली द्वारा हमें जिस वस्तुस्थितिका परिचय मिलेगा, हो सकता है कि वह केवल बाह्य उपकरणोंके कारण वहाँतक न पहुँच सके। —ल० का० व०

अनूढा (नायिका)–परकीयाका एक भेद; विभाजनके लिए दे०—'नायिका-भेद'। भोजने सर्वप्रथम अनूढा शब्दका प्रयोग किया है। इसके पहले रुद्रट आदिने कन्यकाका प्रयोग किया है। अविवाहित अवस्थामें किसी पुरुषसे प्रेम करनेवाली स्त्री—'अनब्याही केहु पुरुषसों अनुरागिनी जो होय' (मतिराम : रसराज, ६२)। भानुदत्तने इस अविवाहित नायिकामें परकीया भावके लिए तर्क दिया है—'कन्यायाः पित्राद्यधीनतया परकीयता' (रसमंजरी, पृ० ४९)। अर्थात् पिता आदिके अधीन होनेके कारण कन्याको परकीया कहते हैं। उदा०—'जबते दरसे मनमोहन जू तबतें अँखियाँ ए लगी सो लगी। कुल कानि गयी सखि वाही घरी जब प्रेमके फन्द पगी सो पगी'—(ठाकुर मीतल, ब्रजभाषा० २, २४०)। रीतिकाव्यमें इस नायिकाके चित्रणके माध्यमसे प्रेमकी अनेक भावपूर्ण स्थितियोंका अंकन हो सका है। कृष्णकाव्यमें राधाका चित्रण इस रूपमें सुन्दर तथा उद्वेगपूर्ण हुआ है, विशेषकर विद्यापति तथा सूरका।

अन्यपूर्वा–दे० 'गोपी'।

अन्यसंभोगदुःखिता (नायिका)–अवस्थानुसार स्वतंत्र विभाजनका एक भेद। विशेषके लिए दे०—'नायिका-भेद'। यह विभाजन सर्वप्रथम भानुदत्त द्वारा प्रस्तुत किया गया है। अपने प्रियके प्रीति-चिह्न किसी अन्य स्त्रीके शरीरपर देख-देखकर दुःखित होनेवाली नायिका। पद्माकरकी परिभाषामें—'प्रीतम प्रीति प्रतीति जो और तिया तन पाइ' कहा गया है, पर मतिरामने इसके सम्बन्धमें यह और कहा है—'करै पेच रिस तेह', अर्थात् वह अपने दुःखको व्यंग्य और कटूक्तियोंमें व्यक्त भी करती है। मतिरामके उदाहरणसे यह स्पष्ट भी है—'तूतो है रसीली रस बातन बनाय जानै, मेरे जान आयी रस राखि कै रसीले सौं' (रसराज, ९९)। रहीमकी नायिका उस अन्य स्त्रीके प्रति गहरा व्यंग्य करती है—'मै पठयउँ जिहि कमवाँ आयसि साधि। छुटिगो सीसको जुरवा कसिके बाँधि' (बरवै०, २८)। भक्तिकाव्यमें सीमित और रीतिकाव्यमें व्यापक रूपसे इस नायिकाका चित्रण किया गया है और वस्तुतः उसके माध्यमसे उस रतिचिह्नोंसे युक्त नायिकाका भी। इस काव्यमें व्यंग्य, उपालम्भ, उक्तिचातुर्य, खीझ तथा आक्रोश आदिका सुन्दर चित्रण हुआ है।

अन्योक्ति–'वह कथन, जिसका अर्थ साधर्म्यके विचारसे कथित वस्तुके अतिरिक्त अन्य वस्तुओं पर घटाया जाय, उसकी संज्ञा अन्योक्ति है।' दूसरे शब्दोंमें इसमें अप्रस्तुत या प्रतीकके माध्यमसे प्रस्तुतका व्यंग्यात्मक कथन किया जाता है। अन्योक्ति हमेशा व्यंग्यप्रधान ही होती है।

नाट्यशास्त्र अ० १७ के ३६वें श्लोक—'हृदयस्थस्य भावस्य गूढार्थस्य विभावकम्। अन्यापदेशैः कथनं मनोरथ इति स्मृतः॥' में 'अन्यापदेश'का प्रयोग निस्सन्देह काव्यके आन्तरिक धर्मके लिए हुआ है पर भट्ट भल्लटका 'अन्यापदेशशतक' और नीलकण्ठ दीक्षितका 'अन्यापदेश' आदि काव्य-प्रकार या अलंकारके लिए इस शब्दके प्रयोगकी सूचना देते हैं। ये उदाहरण भामह और मम्मटके अप्रस्तुतप्रशंसा और दण्डीके 'समासोक्ति' अलंकारकी परिभाषा—अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुतके व्यंग्य रूपमें कथन—के अन्तर्गत आ जाते हैं। बादमें रुद्रट (नवीं शती)ने इसे 'अन्योक्ति' नाम देकर स्वतन्त्र अलंकारोंमें स्थान दिया। बादमें शम्भु कविने 'अन्योक्तिमुक्तलता' लिखकर इस नामका विकास किया। रामदहिन मिश्रने 'समासोक्ति'को ही हिन्दी-संसारमें 'अन्योक्ति'के नामसे प्रसिद्ध माना है।

अन्योक्तिका अध्ययन अलंकार, पद्धति और ध्वनिके रूपमें किया जा सकता है। अलंकारके रूपमें इसका अभिप्राय कुछ सीमित हो जाता है। अप्रस्तुत प्रशंसा, समासोक्ति, रूपकातिशयोक्ति और प्रस्तुतांकुरके अतरिक्त श्लेष आदि अलंकार भी अन्योक्तिके आधार हो सकते हैं। हिन्दी आचार्योंमें सर्वप्रथम केशवदासने अन्योक्तिको एक स्वतन्त्र अलंकार माना है। भिखारीदासने व्याजस्तुति, आक्षेप और पर्यायोक्तिको भी अन्योक्ति-वर्गमें रखा है, यद्यपि उनकी तद्वत् स्थितिके सम्बन्धमें मतभेद हो सकता है। दीनदयाल गिरिने अध्यवसित रूपकको भी अन्योक्तिके अन्तर्गत रखा है। भोजराजने अप्रस्तुतसे प्रस्तुतकी प्रतीतिमें समासोक्ति मानकर उसीको अन्योक्ति, अनन्योक्ति और उभयोक्ति माना तथा इसके चार भेद—श्लाघा, गर्हा, श्लाघा-गर्हा दोनों युक्त, श्लाघा-गर्हा दोनोंसे वियुक्त—तथा प्रकारान्तरसे दो और भेद भी—सजातीय और विजातीय—किये। डॉ० रसालने अपने 'अलंकारपीयूष'में इस अलंकारके प्रकार-भेद करनेमें स्वतन्त्र मार्ग अपनाकर इसके वक्रान्योक्ति और काकु-अन्योक्ति ये दो मुख्य भेद तथा श्लिष्टा, स्वगत और परगता ये अवान्तर-भेद किये हैं। इनमें परगताके वैयक्तिक, व्यापक, नीत्यात्मक और सांकेतिक ये चार और भेद किये

गये हैं। व्यापक अर्थमें 'पद्मावत' भी अन्योक्ति ही है, जिसके लिए रामदहिन मिश्रने 'रूपकातिशयोक्ति', डॉ० भगीरथ मिश्र और रामबहोरी शुक्लने 'प्रतीकात्मक अध्यवसान' तथा आचार्य चन्द्रवली पाण्डेयने 'रूपकातिशयोक्ति', 'परोक्ति', 'संध्योक्ति' और 'गर्भोक्ति' आदि भी कहा है। कुवलयानन्दकार और पद्मसिंह शर्मा 'अन्योक्ति'को 'गूढ़ोक्ति कहना अधिक पसन्द करते हैं।

आचार्य शुक्लने अन्योक्तिका उल्लेख अन्योक्ति-पद्धति (शैली) नामसे किया है, जिसे हम अंग्रेजीमें 'एलीगरी'-की संज्ञा दे सकते हैं। अन्योक्ति, शैली-रूपमें हमारे जीवन-रहस्योंको उद्घाटित करनेका प्रबलतम साधन भी है—"हमारे यहाँ तत्वचिन्तनका बहुत विकास हो जानेके कारण जीवन-रहस्योंको स्पष्ट करनेके लिए—एक संकेतात्मक शैली बहुत पहले बन चुकी थी। अरूप दर्शनसे लेकर रूपात्मक काव्य-कला तक सबने ऐसी शैलीका प्रयोग किया है, जो परिचितके माध्यमसे अपरिचित और स्थूलके माध्यमसे सूक्ष्म तक पहुँचा सके (महादेवीजी : विवेचनात्मक गद्य)। अन्योक्ति-पद्धतिके उदाहरणके रूपमे जिन रचनाओंको रखा जा सकता है, उनके नाम है—भागवतका पुरंजनोपाख्यान, जिसमें कृष्णको मधुपके प्रतीक रूपमे चित्रित किया गया है, जो बादमें सूर-भ्रमरगीतके रूपमे सामने आया और 'भवाटवी' आदि। हिन्दीमें जायसीकी 'पदमावत' 'प्रसाद'की 'कामायनी' भी इसी पद्धतिके रूपमे लिखी गयी। काव्य ही नही, अनेक नाटकोंकी रचनाएँ भी इस पद्धतिको आधार मानकर की गयी हैं—यथा, कृष्ण मिश्रका 'प्रबोध-चन्द्रोदय, (संस्कृत), 'प्रसाद'का 'कामना' और पन्तका 'ज्योत्स्ना' आदि। गद्यमें भी पंचतन्त्र, हितोपदेश नामक रचनाएँ अन्योक्ति पद्धति पर की गयी है, जिनमें पशु-पक्षियोके बहाने मनुष्यकी नैतिक समस्याओंका विश्लेषण किया गया है। इसके अतिरिक्त सिद्धोंकी 'पंच-बिडाल', 'गंगा-जमुना', 'डोम्बी', बौद्ध बज्रयानियोंकी उलटवासियाँ, 'शृंगाल-सिह-युद्ध', योग-मार्गी गोरखपंन्थियोंकी इड़ा, पिंगला, षटचक्र, सहस्रदल आदि। उदाहरण भी हिन्दीकी पुरानी रचनाओंमें खोजे जा सकते है। ध्वनि रूपमें अन्योक्तिका अधिकाधिक लगाव काव्यके भावपक्षसे ही होता है। अन्योक्ति ध्वनि अभि-व्यंज्यमान् अर्थको बताकर तुरन्त लुप्त नही हो जाती, वरन् ध्वनि—अनुरणनकी भाँति उसकी अनुगूंज देर तक होती रहती है, 'जो व्यंग्य-परम्पराके साथ-साथ भाव-जगत्को आन्दोलित करती हुई चली जाती है'। अन्योक्तिके दो पूर्वोक्त प्रकारोमे भी अन्योक्ति ध्वनिको देखा जा सकता है। किन्तु कोरी उपदेशप्रधान अन्योक्तिमे ध्वनितत्वका आभाव होता है यथा, सन्तोंकी उलटवासियाँ, जिनसे काव्याभास मात्र होता है। छायावादी-रहस्यवादी गीत और सूफी कवियोंकी आध्यात्मिक प्रेम-कथाओंको अन्योक्ति-ध्वनिके उदाहरणके रूपमें ले सकते है।

अन्योक्ति अप्रस्तुत विधानकी लगभग चरम अवस्था है। इसका अर्थ अलंकार रूपमें हीन होकर दीर्घकाल तक व्यंजित होता रहता है। इसकी परिभाषा 'प्रकृतिके किसी उपकरण पर दृश्यमान जगत्के किसी घटना व्यापारको प्रतीक बनाकर उसके माध्यमसे हृदयस्थ—किसी प्रस्तुत लौकिक या अलौकिक वस्तु, सिद्धान्त अथवा व्य पार-समष्टि-का बोध कराना—की गयी है (हिन्दी काव्यमें अन्योक्ति, डॉ० संसार चन्द्र, पृ० १५)। अन्योक्तिमें भावोंकी समाहार-शक्ति और भाषाकी समास-शक्ति भी जुड़ी रहती है। रामदहिन मिश्रने 'काव्यमें अप्रस्तुत योजना'मे इसे 'काव्यका प्राण', कलाका मूल और कविकी कसौटी' माना है। डॉ० सुधीन्द्र कहते है—'अन्योक्ति-विधानमे वस्तुतः एक बडी शक्ति है और वह है व्यंजना, उसे हम ध्वनि भी कह सकते है। इसी ध्वनिका उपयोग कवि जब करता है तो कवितामें एक आभा छलछला उठती है। अर्थगौरव भी बढ़ जाता है (हिन्दी कवितामें युगान्तर)। डॉ० वी० राघवनने अपने 'सम कान्सेप्ट्स ऑव अलंकार शास्त्र'में इसे काव्यके अन्य सभी प्रकारोंसे उत्कृष्ट माना है। वैसे पहेलियाँ और मुकरियाँ भी एक प्रकारसे अन्योक्ति या अर्ध-अन्योक्ति कही जा सकती हैं।

अन्योक्तिके उदाहरण वेदोंकी 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (ऋ० १।१६४।२०) जैसी ऋचाओंमें ढूंढ़े जा सकते है। और ऐसे ही उदाहरण उपनिषदों, रामायण, महाभारत और पुराणोंमें भी मिल जायँगे। काव्यरूपके रूपमें या लक्ष्य ग्रन्थके रूपमे ऊपर चर्चित ग्रन्थोंके अतिरिक्त अन्य संस्कृत अन्योक्ति ग्रन्थ है—हंसविजयगणीकी 'अन्योक्तिमुक्तावली', पण्डितराज जगन्नाथकृत 'भामिनी विलास' और कु० प्रतिभा दलपतिराय त्रिवेदी द्वारा सम्पादित 'अन्योक्त्यष्टक-संग्रह'में संगृहीत रचनाएँ। प्राकृतमें 'गाथासप्तशती' और अपभ्रंशमें 'हेम व्याकरण', देवसेनके 'सानय-धम्म दोहा', सोमप्रभ सूरि रचित 'कुमारपाल प्रतिबोध', 'स्फुट पद्य' आदिमें मार्मिक अन्योक्तियाँ मिल जाएँगी। 'अपभ्रंश-साहित्यका एक बहुत बड़ा भाग नीति, सूक्ति, अन्योक्ति, स्तुति आदि ढंगके काव्योंसे भरा हुआ है। हेम व्याकरण-में भ्रमर, कुंजर, पपीहा, केहरि, धवल, महाद्रुम आदिको लेकर बड़ी ही हृदयहारी अन्योक्तियाँ कही गयी है (डॉ० नामवर सिंह : हिन्दीके विकासमे अपभ्रंशका योग)। हिन्दी-के आदि कवियों—खुसरोकी मुकरियों और पहेलियों तथा चंदबरदाईके काव्योंसे लेकर कबीर, दादू, सुन्दरदासकी उलटवासियों और वाणियों, जायसीके अलंकार-प्रयोगों, सूर और ब्रजभाषाके कवियोंके भ्रमर-गीत और दृष्टिकूटों, तुलसीः की दोहावली और रामचरितमानसमें अन्योक्तियाँ भरी पड़ी हैं।

इसके अतिरिक्त अन्योक्तिकारके रूपमें रहीम, बिहारी, बृन्द, विक्रम, रसनिधि, रामसहायदास, बाबा दीनदयाल गिरि, गिरिधर आदि कवियोके नाम विशेष उल्लेख्य है। रहीमकी अन्योक्तियोंमें जीवनकी पैनी दृष्टि झाँकती है। बृन्द सूक्तिका ही अधिक लगते है। बाबा दीनदयाल गिरिके 'अन्योक्ति कल्पद्रुम'का रीतिकालीन अन्योक्ति—साहित्यमें विशिष्ट महत्त्व है। इसीलिए आचार्य शुक्लका कहना है—इनका 'अन्योक्ति कल्द्रुम' हिन्दी-साहित्यमे एक अनमोलप वस्तु है। अन्योक्तिके क्षेत्रमें कविको मार्मिकता और सौन्दर्य-भावनाके स्फुरणका बहुत अच्छा अवकाश रहता है। पर इसमें (बाबाजी जैसे) अच्छे भावुक कवि ही सफल हो सकते हैं। लौकिक विषयों पर तो उन्होंने सरस अन्योक्तियाँ कही

चालके शब्दोंका अधिक व्यवहार उत्तरकालीन साहित्यमें भी जारी रहा। —ह० दे० बा०

अपभ्रंश, उपनागर—अपभ्रंशका वह रूप, जिसे मार्कण्डेय और नेमिसाधु आदि वैयाकरणोंने नगर और ग्राम्य अपभ्रंशका सम्मिश्रित रूप कहा है और जिससे राजस्थानीका विकास हुआ है। नेमिसाधु (रुद्रटके टीकाकार—ग्यारहवी शती) लिखते हैं कि प्राकृत और आभीरीके मेलसे ग्राम्य अपभ्रंशका विकास हुआ और तदुपरान्त आसपासकी भाषाओंके प्रभावोंको ग्रहण करती हुई उपनागर अपभ्रंश विकसित हुई। आधुनिक समयके विद्वानोंका मत है कि यह नागर और व्राचडसे स्वतन्त्र पूर्वी सौराष्ट्रकी भाषाका रूप रहा है। उपनागरका क्षेत्र गुजरात और सिन्धसे पूर्वका प्रदेश माना जाता है इसका साहित्य प्राप्त नही है, पर प्राचीन हिन्दीके चारण-साहित्यके ऐतिहासिक और वैज्ञानिक विश्लेषणसे उसकी विशेषताओंको जाना जा सकता है। —ह० दे० बा०

अपभ्रंश, केकय—अपभ्रंशका वह रूप, जो दक्षिणी कश्मीर और पश्चिमी पंजाव, केकय अथवा कक्का प्रदेशमें प्रचलित रहा। कुछ विद्वानोंने व्यास और सतलजके बीचके प्रदेशको केकय माना है और कुछने चित्राल, स्वात और उसके आसपासके उत्तरी सीमाप्रान्तको। बहुमतने स्वीकार किया है कि लॅहदी भाषाका विकास केकय अपभ्रंशसे हुआ है। इसका काल छठीसे दसवीं शतीतक बताया गया है। पश्चिमोत्तर भारतमें राजनीतिक विप्लवोंके कारण केकय अपभ्रंशका सब साहित्य नष्ट हो गया है। अतः इसकी भाषागत विशेषताओंके विषयमें कुछ जानकारी उपलब्ध नही है। मार्कण्डेयने केकयका उल्लेख अपनी सूचीमें किया है। —ह० दे० बा०

अपभ्रंशधारा—हेमचन्द्र (११४५-१२२९वि०सं०), सोमप्रभाचार्य (१३वी शती), अब्दुल रहमान (१३वी शती वि०) जैसे कृतिकारोंकी अपभ्रंशमे निश्चित रूपसे, स्वयंभू, पुष्पदन्त आदिकी अपभ्रंशकी अपेक्षा ऐसे शब्द अधिक मिलते है, जिनको आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओंका लगभग पुराना रूप कहा जा सकता है। यह परिवर्तनकालीन अपभ्रंश है। विक्रमकी बारहवी-तेरहवी शतीमें अपभ्रंशका स्थान उसके क्रमशः विकसित रूप ले चुके थे, किन्तु फिर भी अनेक कवि केवल परम्परापालनके लिए अपभ्रंशमें रचना करते रहे। विद्यापतिकी कीर्तिलता भी इसी प्रकारकी कृति है, जिसमें अपभ्रंशका परिवर्तित रूप मिलता है। इसके अतिरिक्त जैन कृतिकार तो सोलहवीं-सत्रहवीं शतीतक अपभ्रंशमें ग्रन्थ लिखते रहे। इन कृतिकारोंने धार्मिक परम्परा तथा साहित्यिक परम्पराका पालन करनेके लिए ही ये रचनाएँ की है। जैन शास्त्रचर्चा और अध्ययनके कुछ ऐसे केन्द्र थे, जहाँ संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्यका पठन-पाठन और प्रतिलिपिका कार्य होता रहता था। उदाहरणके लिए, गोवालगिरि (गोपाचलगिरि) भट्टारकोंकी गद्दी थी, जहाँ अपभ्रंशके अनेक ग्रन्थोंकी प्रतिलिपि की गयी थी और उसका अध्ययन भी वहाँ होता था। अपभ्रंश कृतियोंकी प्रतिलिपियोंकी पुस्तिकाओंमें प्रतिलिपि-स्थान गोवालगिरि लिखा मिला है। इसी प्रकारके अन्य कई केन्द्र थे। और इस प्रकार परम्पराका परिचय प्राप्त कर उससे प्रेरणा पाकर अनेक अपभ्रंश कृतियोंकी रचना हुई होगी। नरसेन (१४वीं-१५वी शती)की वर्द्धमानकथा और श्रीपातचरित, सिह या सिद्धका प्रद्युम्नचरित, धनवाल (१५वीं शती)के बाहुबलिचरित और भविष्यदत्तचरित, रइधूकी पद्मपुराणादि लगभग २५ अपभ्रंश कृतियाँ, यशकीर्ति (१५वी-१६वीं शती वि०)की हरिवंशपुराण, चन्द्रप्रभाचरित आदि, श्रुतकीर्ति (१६वी शती वि०)की परमेष्ठिप्रकाशसार और हरिवंशपुराण, श्रुतकीर्ति (१६वी शती वि०)कृत नागकुमारचरितादि, भगवतीदासकृत मृगांकलेखाचरित (१७०० वि० सं०) आदि इसी प्रकारकी कृतियाँ है, जो केवल अपभ्रंशके प्रति आग्रहके कारण लिखी गयी है। इनमे बहुत-सी कृतियोंकी भाषामें अपने आप समकालीन साहित्यिक भाषाओंके प्रयोग आ गये है। अठारहवीं शतीमें यह परम्परा आकर बिल्कुल समाप्त हो गयी। इस परम्पराकी मिश्रित अपभ्रंशका अध्ययन बहुत ही मनोरंजक विषय है। साहित्यिक रूपमें तो कोई नवीनता नही है। कडवक (चौपाई-दोहा) शैली चरितकाव्योंमें मिलती है, जहाँ कहीं-कही घत्ताका स्थान दोहेने ले लिया है तथा कथा कहनेका ढंग प्रायः परम्पराके अनुकूल ही रखा गया है। —रा० सि० तो०

अपभ्रंश, नागर—अपभ्रंशका वह भेद, जो गुजरात और पश्चिमी राजस्थानमें प्रचलित था और जिसमे अधिकांश साहित्य उपलब्ध है। भरतमुनि (तीसरी शती)ने जिसको आभीरादि (गुर्जरकी भी) भाषा बताया है, वह यही है। ११वी शताब्दीमें नेमिसाधुने भी नागरको आभीर अपभ्रंशका पर्याय माना है। आभीरों और गुर्जर-प्रतिहारोंकी राजसत्ताके कारण इसका व्यापक प्रयोग होने लगा। अपभ्रंशका यही रूप शिष्टवर्ग (नागरिक लोगों) तथा नागर ब्राह्मणोंके प्रोत्साहनसे प्रामाणिक माना गया। मार्कण्डेय (११वीं शती)ने प्रथम बार 'प्राकृतसर्वस्व'में अपभ्रंशके भेदोंमें नागर नामका व्यवहार किया है। साहित्यिक माध्यमके रूपमें यह शौरसेनी प्राकृतकी अनुसारिणी कृत्रिम भाषा है। हेमचन्द्र (१२वी शती)ने अपने व्याकरणमें इसको आदर्श मानकर इसका विश्लेषण किया है और 'देसी सद्द संगहो' नामसे नागरमें प्रयुक्त देशी शब्दोंका कोश रचा है। गुजराती भाषाका विकास नागर अपभ्रंशसे माना जाता है। —ह० दे० बा०

अपभ्रंश व्राचड—अपभ्रंशका एक भेद, जिसका नाम तो ११वीं शतीसे मिलता है, पर जिसका न तो साहित्य प्राप्त है और न कोई अन्य प्रमाण। सिन्धी भाषाकी व्राचडसे उत्पत्ति मानी जाती है। ८वीं शताब्दीसे सिन्धुपर अरबोंका आधिपत्य रहा और इतिहास साक्षी है कि उनका शासनकार्य तत्कालीन सिन्धुकी प्रचलित भाषामें होता था। अतः यदि अरब-शासनकालके सरकारी कागजात उपलब्ध हो सकें और उनसे व्राचडकी भाषागत खोज की जाय तो कुछ तथ्य प्रकाशमें आ सकते हैं। —ह० दे० बा०

अपभ्रंश (साहित्य)—मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाको

मुक्तक पद्य दोहा अपभ्रंशका अपना छन्द है। विक्रमोर्वशीयके चतुर्थ अंकमें विक्षिप्त राजा पुरुरवाके उद्गार मानों अपभ्रंशमें अपने आप फूट पड़ते हैं। ये उद्गार दोहा, अडिल्ल, रासावलय, पज्झटिका आदि छन्दोंमें है। मुक्त वातावरणकी सृष्टि करने, तीव्र भावावेगको व्यक्त करनेमें अपभ्रंश बहुत ही शक्तिशाली माध्यम सिद्ध हुई है। चण्ड, आनन्दवर्धन, भोज, हेमचन्द्र, 'प्राकृत पैंगल', 'प्रबन्ध चिन्तामणि' (१३०४ ई०), 'प्रबन्धकोश' (१३४८ ई०), 'पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह'मे अनेक अपभ्रंश मुक्तक पद्य बिखरे मिलते हैं। इनमेंसे बहुतसे बदले हुए रूपमें परवर्ती साहित्यमें भी मिलते हैं, क्योंकि अनेक दोहे सुभाषितोंके समान बहुत ही लोकप्रिय हो गये होंगे। भोज और हेमचन्द्रने जिस प्रकार नाना विषयोंसे सम्बन्धित पद्य वचन-विदग्धता, व्यंग्य, व्याकरणके उदाहरणोंके रूपमें उद्धृत किये हैं, वे निश्चित रूपसे किन्हीं संग्रह-ग्रन्थोंसे लिये गये होंगे। इन पद्योंके विषय प्रकृति और जीवनके नाना शाश्वत पक्षोंसे सम्बन्ध रखते है, संयोगशृंगार, विरहका अत्यन्त संवेदनात्मक चित्रण और ऊहात्मक वर्णन, भ्रमर, नेत्र, सत्पुरुष, पपीहा, मेघ, स्नेह, बलि, व्यास, कापालिक, दारिद्र्य, सेना, स्त्री-जातिकी निन्दा, मुंजकी असह्य वेदना आदि नाना प्रसंगोंके पद्योंमेंसे जीवन झाँकता प्रतीत होता है। दोहा और अपभ्रंश मानो जीवनमें गहरे पैठ गये है।

दूसरी ओर वे पद्य हैं, जिनमें क्रमबद्ध किसी निश्चित भावधाराका विवेचन किया गया है। इस प्रकारके पद्योमे भारतीय जीवनका एक दूसरा पक्ष अपनी पूरी गम्भीरता और जटिलताके साथ सामने आया है। वज्रयान (दे०)के साधक-सिद्धों, सरह, भुसुक, काह्न, कुक्कुरी, लूइ, शवर, शान्ति, विरूपा, गुडरी, चाटिल, कामिलि, डोम्बी, वीणा, आर्यदेव, ढेंढण, दाडि, भादे, ताड्क, कंकण, धाम, लिलोपादादिने अपभ्रंशके माध्यमसे वज्रयानके सिद्धान्तोंका विवेचन ८वीं, ९वीं, १०वीं शतीमें किया। लगभग आधी शती हो गयी, स्वर्गीय हरप्रसाद शास्त्रीसे प्रारम्भ करके दर्जनों विद्वानोंने उन महायान पंथके अनुयायी पथिकोंके पदों और दोहादि पद्योंकी भाषा और भाव-धाराको स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है, तो भी अभी उनका काल अनुमानका विषय ही बना हुआ है। भाषाके आधारपर कृतिकारोंका काल निश्चित करना बहुत ही कमजोर आधार है। वज्रयानसे सम्बन्धित पद्य 'साधनमाला', 'सेकोद्देशटीका', 'डाकार्णव'में भी मिलते हैं।

अत्यन्त सरल शैलीमें रहस्य-वक्तव्य विषयको स्पष्ट करनेका सफल प्रयास मिलता है—योगीन्दु (१०वीं शती ई०)के 'परमात्मप्रकाश' और 'योगसार', मुनि रामसिंह (१०वीं शती ई० अनुमानतः)के 'पाहुड़ दोहा', सुप्राचार्य (अनुमानतः १००० ई०के आसपास)के 'वैराग्यसार', 'महानंदि'(समय अनिश्चित)के हिंदोला आदि ग्रन्थोंमें। इनमें बाह्याचार, कर्मकाण्ड, तीर्थ, व्रत, मूर्तिपूजाका बहिष्कार करते हुए देह-देवालयमें ही ईश्वरकी स्थिति बतायी है। अपने देह-देवालयमें स्थित परमात्माकी अनुभूति पाकर परम समाधि द्वारा सहज सुख प्राप्त करना इन गूढ़वादियोंकी साधनाका प्रधान स्वर है। बाह्याडम्बरसे रहित, सहज शैलीमें प्रधान रूपसे दोहेके माध्यमसे मर्मियोंने अपने गूढ़ सिद्धान्त व्यक्त किये है। इनके अनुसार आत्मा सर्वगत और जड है, रागरंजित हृदयमें उस परमसुखरूप शुद्धात्माका दर्शन नहीं होता। समचित्त स्थितिको प्राप्त हुए योगी ही उस अक्षय अनन्त देवको जान सकते हैं। इनकी भावना अत्यन्त उदार है। किसीके प्रति कटुता ये व्यक्त नहीं करते। साधनाके लिए चारित्रिक शुद्धतापर ये बल देते है। साधनाका बाधक यदि गृहस्थाश्रम है तो ये उसकी निन्दा करते है। आत्मानुभव ही चरम प्राप्तव्य है, उसीको इन्होंने सहजानन्द, परमसमाधि, समरसीभाव कहा है।

दोहादिको उपदेशका भी माध्यम अनेक कवियोंने बनाया है। इस परम्परामें देवसेन (१०वी शती वि०)-का 'सावयधम्म दोहा' (श्रावकधर्म दोहा), जिनदत्त सूरि (१०७५ ई० से ११५३ ई०)कृत 'चर्चरी', 'उपदेशरसायनरास' और 'कालस्वरूप', महेश्वर सूरि (१६वीं शती वि०)-कृत 'संजम मंजरी' जैसी कृतियोंका उल्लेख किया जा सकता है। इन कृतियोंके पद्योंमें गुरुकी श्रेष्ठता, मनुष्य-जन्मकी दुर्लभता और अद्वैत द्वारा प्रतिपादित धर्मकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन किया गया है। सम्यक्त्वप्राप्तिके लिए गृहस्थोंको नाना प्रकारके शुभकर्म—व्रतादिका पालन आवश्यक बताया गया है। ये उपदेश गृहस्थोके लिए है। धर्मकी परिभाषा करते हुए कहा है कि जो कार्य अपने लिए अहितकर है, वह कार्य दूसरोंके लिए न करना ही धर्मका मूल है। विपरीत-बुद्धि शास्त्रोंके अध्ययनसे भी धार्मिक नहीं बन सकता। आदर्श गृहस्थजगत्मे ये कवि उपदेशक ऊँच-नीचका भेद स्वीकार नही करते। इन कृतियोंमें विषयको स्पष्ट करनेके लिए लोकसामान्य-परिचित वस्तुओं, हल, बैल, जुआ, खारी जल, धतूराको अप्रस्तुत विधानके रूपमें स्वीकार किया गया है। सद्-गृहस्थों (श्रावक)को ध्यानमें रखकर दिये गये इन उपदेशोंमें मन्दिर, पूजा, देवताओंका खण्डन नही किया गया है। किन्तु रहस्यचर्चा करनेवाले सिद्ध मुनियोंके प्रतिकूल उनको सुचारु रूपसे स्थापित करनेका अनुरोध किया गया है।

प्रबन्धात्मक साहित्य—मानव-जीवनका पूरा चित्र इस प्रकारकी रचनाओंमें मिलता है, अपभ्रंशका निखरा भाषा-स्वरूप, छन्दोंका कलात्मक प्रयोग, अलंकार-सौन्दर्य और युद्ध, प्रेम, वैराग्य, धर्म आदि मानव-जीवनके गम्भीर व्यापारोंका विस्तृत चित्रण अपभ्रंशके पुराण, चरित-काव्य और कथा-काव्योंमें मिलता है। इस काव्य-रूपके प्रमुख प्रतिनिधि कवि है—स्वयंभू (९वीं शती ई० के लगभग), जिन्होंने रामकी कथापर आधारित 'पउमचरिउ' और महाभारतकी कथा-परम्पराको लेकर 'रिट्ठणेमिचरिउ'जैसी विशाल कृतियोंकी रचना की। पुष्पदन्त (१०वीं शती ई०)-ने जैन-परम्पराके महापुरुषोंकी कथाको लेकर 'महापुराण', 'णयकुमारचरिउ' और 'जसहरचरिउ'की रचना की। स्वयंभूके पहले और भी अनेक अपभ्रंश कवि हुए, जिनका उल्लेख उन्होंने अपनी कृतियोंमें किया है; जैसे द्रोण, चतुर्भुज, जटिल आदि। स्वयंभू और पुष्पदन्तकी कृतियोंमें

अपभ्रंशका अत्यन्त परिष्कृत साहित्यिक रूप मिलता है। इसके आगे तीर्थकर या महापुरुषोंके जीवनको लेकर या किसी व्रत-कथाके माहात्म्यको प्रकट करनेके लिए पज्झटिका, घात्ता, कडवक शैलीमें अनेक कृतियाँ लिखी जाती रहीं और यह क्रम विक्रमकी १६वीं शतीतक चालू रहा। इस प्रकारकी शैलीकी कृतियाँ हैं—पद्मकीर्ति (१०वीं शती ई०)-का 'पासचरिउ', धवल (१०वीं-११वीं शती ई०)का 'रिट्ठणेमिचरिउ', धनवाल (१०वीं शती ई०)का 'भविसयत्तकहा', हरिषेण (१०वीं शती ई०) की 'धम्म परिक्खा', वीर कवि (११वीं शती ई०)का 'जम्बु स्वामीचरिउ', नयनन्दि (११वीं शती ई०) का 'सुदेसणचरिउ' और 'सकल विधि-विधान-काव्य', कनकामर (११वीं शती ई०)कृत 'करकंडुचरिउ', धाहिल (११वीं शती ई०)का 'पउमसिरीचरिउ', श्रीचन्द (११वीं-१२वीं शती ई०)का 'कथाकोस', श्रीधर (१३वीं शती ई०)के 'सुकुमालचरिउ', 'पासपाहुचरिउ' और 'भविसयत्तचरिउ', देवसेन गणिका 'सुलोयणाचरिउ', सिद्धका 'पज्जुण्णकहा', हरिभद्र (१२वीं श० ई०)के 'णेमिणाहचरिउ' और 'चन्दप्पहचरिउ', अमरकीर्ति (१२वीं शती वि०)का 'छक्कमोवएस' तथा सोमप्रभाचार्य (१३वीं शती ई०)का 'कुमारपालप्रतिबोध' आदि। रयधू (१५वीं शती ई०) और यशःकीर्तितक यह परम्परा चलती रही। अपभ्रंश साहित्यकी प्रायः सभी विशेषताएँ इन प्रबन्धात्मक कृतियोंमें मिलती हैं। इन कृतियोंके रचयिताओंको बाध्य होकर अपनी कृतियोंको जहाँ-तहाँ धार्मिक रंग देना पड़ा है, किन्तु धार्मिक दैवत्वमें 'अद्‌भुत' तत्त्व नहीं मिलता, मानव-भूमिसे ही महापुरुष सम्बन्ध रखते दीखते हैं। अपभ्रंश साहित्यका विस्तार तथा उत्कर्ष देखनेके लिए यह धारा बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

खण्डकाव्य—विशुद्ध साहित्यिक खण्डकाव्य है अद्दहमाण (१३वीं शती ई०)का 'संदेशरासक'। इस सन्देश-काव्यमें ऋतुवर्णन तथा विरहवर्णनका अच्छा विस्तार किया गया है। गद्य-पद्य-मिश्रित कथा-काव्य विद्यापतिकी 'कीर्तिलता' भी है। काव्य-रूपोंकी दृष्टिसे तथा छन्द और विकसित भाषा-रूपोंकी दृष्टिसे इन कृतियोंका विशेष महत्त्व है।

हिन्दी साहित्यमें अपभ्रंशकी विभिन्न काव्य-धाराएँ प्रवाहित होती रहीं और केवल आधुनिक युगमें खडी बोलीके साहित्यिक भाषा पदपर आसीन होनेसे लगभग १५०० वर्ष पुरानी काव्यधाराएँ बिलकुल एक अनजान दिशाकी ओर मुड़ गयीं। नहीं तो अपभ्रंशके छन्द तथा काव्यके ढाँचे ज्योंके त्यों समयानुसार परिवर्तनोंके साथ आगे बढ़ते चले गये थे। भाषाके विकासकी परम्परा उन्हे रोकनेमें बाधक न हो सकी थी। इस दृष्टिसे हिन्दी भाषाका इतिहास भले ही १३-१४वीं शतीसे प्रारम्भ हुआ हो, किन्तु उसके साहित्यका प्रारम्भ तो लगभग छठी ई० से पहले ही हो चुका था। दोहा, पद्धड़िया आदि जबसे मिलने लगते है, तभीसे यह प्रारम्भ माना जाना चाहिये।

[सहायक ग्रन्थ— अपभ्रंश साहित्य : हरिवंश कोछड़।] —रा० सि० तो०

अपर ब्रह्म–श्रुतियोंमें ब्रह्मके दो रूपोंका व्याख्यान मिलता है—एक उसका निर्गुण, निराकार और निरुपाधि रूप है और दूसरा सगुण, साकार और सोपाधि रूप। वेदान्त दर्शनमें इस विरोधाभासको अविद्याके सहारे समझानेका प्रयास किया गया है। उपनिषदोंका मत है कि परमार्थतः ब्रह्म न मोटा है न पतला, न ह्रस्व है न दीर्घ, न लाल है न छाया युक्त या अन्धकार युक्त ही, न वायु है न आकाश। वह अरस-अगन्ध है, दृष्टि, वाणी और मनसे अतीत है (बृहदारण्यक ३, ८, ८), उसे 'नेति-नेति'से ही समझा जा सकता है। नेति-नेति—अर्थात् ऐसा भी नहीं, वैसा भी नहीं (वही २, ३, ६)। सांसारिक वस्तुओं, गुणों और विशेषणोंके सहारे उसे नहीं जाना जा सकता। लेकिन अविद्यावश या उपासना-सौकर्यके लिए उसपर उपाधियोंका आरोप कर लिया जाता है। यही सगुण, सोपाधि और साकार ब्रह्म अपर ब्रह्म है। परा-विद्या परब्रह्मका ज्ञान कराती है और अपरा विद्या अपरब्रह्मका। कबीर आदि सन्त अपरब्रह्मको भ्रम बताते हैं। उनके मतसे रामका कोई विग्रह नहीं है, वे भेदातीत हैं, ज्ञान-ध्यानसे परे हैं—"रामका नांइ नीसान बाबा..." (कबीर ग्रंथावली : श्यामसुन्दरदास, पद २१०) कहते हुए कबीर इसी अपरब्रह्मका प्रत्याख्यान करते हैं। —रा० सि०

अपरवक्त्र—वर्णिक छन्दोंमें अर्द्ध समवृत्तका एक भेद। 'पिंगलछन्दसूत्र'मे (५:४०) इसका लक्षण है। इस वृत्तके प्रथम-तृतीय चरणमे न, न, र, ल, ग, (।।।, ।।।, ऽ।ऽ, ऽ) और द्वितीय-चतुर्थ चरणमें न, ज, ज, र, (।।।, ।ऽ।, ।ऽ।, ऽ।ऽ) होते हैं। मैथिलीशरण गुप्तने 'साकेत'में इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा०—'रह चिर दिन तू हरी-भरी, बढ सुखसे बढ़ सृष्टि सुन्दरी। सुध प्रियतमकी मिले मुझे, फल जन जीवन दानका तुझे' (साकेत : सर्ग ९)। —पु० शु०

अपरांगव्यंग्य–गुणीभूत व्यंग्यका एक भेद। जो व्यंग्यार्थ किसी दूसरेका अंग हो जाता है उसे अपरांगव्यंग्य कहते हैं—दूसरेका अंग हो जाने अथवा दूसरेकी पुष्टि करनेके कारण वह स्वभावतः अप्रधान हो ही जाता है। रस, भाव, रसाभास, भावाभास आदि असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य जहाँ किसी दूसरे असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य या संलक्ष्यक्रमव्यंग्यके अंग हो जाते है अथवा संलक्ष्यक्रमव्यंग्य जहाँ किसी दूसरे संलक्ष्यक्रमव्यंग्य या असंलक्ष्यव्यंग्यका अंग हो जाता है तो उसे अपरांगव्यंग्य कहते हैं। रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि तथा भाव-शबलता नामक आठ अपरांगव्यंग्य होते हैं। जहाँ रस किसी दूसरे रस, भाव, रसाभास आदिका अंग बन जाता है तो उसे रसवत् (दे०) और जहाँ भाव गुणीभूतव्यंग्य बन जाता है अर्थात् किसी भाव, रस, रसाभास आदिका अंग बन जाता है तो उसे प्रेयस् अलंकार (दे०) कहा गया है। गुणीभूत भावाभास अथवा रसाभासको ऊर्जस्वी (दे०) तथा गुणीभूत भावशान्तिको समाहित अलंकार (दे०) की संज्ञा दी गयी है। भावोदय, भावसन्धि तथा भाव-शबलता भी दूसरेके अंग होकर आते है। ऐसे स्थलोंपर वे भी अलंकार माने जाते हैं, किन्तु उनका पृथक् नाम-करण नहीं किया गया है। इन्हे अलंकारकी संज्ञा प्राचीन अलंकारशास्त्रियों द्वारा दी गयी थी। ध्वनिके आचार्योंने इन अलंकारोंको 'मध्यम काव्य'के अन्तर्गत स्थान दिया है। इन्हें 'अलंकार' माननेका सबसे बड़ा तर्क यह है कि

ये दूसरे (अपर) को सुशोभित किया करते हैं। इनके उदा० के लिए दे० रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्वी, समाहित, भावोदय, भावसन्धि तथा भावशबलता। —उ० शं० शु०

अपरिवृत्ति-परिवृत्तिका विपरीत अर्थालंकार। अलंकार-शास्त्रके लोकप्रिय एवं प्रमुख संस्कृत ग्रन्थोंमें परिवृत्ति अलंकारका उल्लेख हुआ है, पर अपरिवृत्ति अलंकारका नहीं। परिवृत्ति अलंकारका इतिहास जगन्नाथ पण्डितके 'रसगंगाधर'से भलीभाँति ज्ञात होगा। उन्होंने परिवृत्ति अर्थात् विनिमयके दो भेद—समपरिवृत्ति एवं विषमपरिवृत्ति और फिर इनके भी दो-दो भेद बताये हैं। इनके अनुसार दाता ग्रहण भी करता है, पर अपरिवृत्ति अलंकारमें किसी चमत्कारपूर्ण उक्तिसे यह बताया जाता है कि दाताने दिया तो सही, पर ग्रहण कुछ नहीं किया। उदा०—'घन आनँद प्यारे सुजान सुनौ, इत एक ही दूसरा आँक नहीं, तुम कौन धौं पाटी पढ़े हो लला, मन लेत हो देत छटाँक नहीं' (अ० मं०)। यहाँ मन (चित्त अथवा श्लिष्टार्थ—तोलमें एक मन) देनेके बदले दाताको कुछ भी न प्राप्त हुआ। —ज० कि० व०

अपवारित-नियतश्राव्यके दो भेदोंमेंसे एक। रंगमंचपर कोई पात्र दूसरी ओर मुँह करके दूसरेकी गुप्त बात कहता है तो उसे अपवारित कहते हैं। —व० सि०

अपस्मार-प्रचलित तेंतीसमे एक संचारी भाव। 'नाट्य-शास्त्र'में बताया गया है कि भूत-प्रेत इत्यादिसे आविष्ट होनेके स्मरणसे, छोड़े हुए शून्य स्थानोंमे जानेसे, आघात एवं व्याधि इत्यादिसे अपस्मार (मृगी रोग) होता है। इसके प्रभावमें व्यक्ति पृथ्वीपर लोटने लगता है, उसका शरीर काँपने लगता है, मुखसे फेन निकलने लगता है इत्यादि (नाट्यशास्त्र, ७:७३ ग)। इन सब घृणित चेष्टाओंका वर्णन न करके, रामचन्द्र गुणचन्द्रने केवल 'निन्द्यचेष्टित' शब्दका प्रयोग किया है। 'दशरूप'में धनिकने इसका उदाहरण माघके 'शिशुपालवध'के तृतीय सर्गमें प्रस्तुत समुद्रवर्णनसे लिया है और उसीका अनुकरण 'साहित्यदर्पण'में विश्वनाथने किया है। वास्तवमें वह अपस्मार नामकी व्याधिका उदाहरण हो सकता है, संचारी भावका नहीं। हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंने लक्षण देनेमे विश्वनाथ आदिका अनुसरण किया है। देवके अनुसार—'अधिक दुःख अति भय असुचि, सूने ठौर निवास। अपस्मार जँह भूतगन, कम्प फैन मुख स्वाँस।' (भाव०—संचारी०)।

इस संचारी भावका देव द्वारा प्रस्तुत उदाहरण—'भूलि गयी गुरु लोगकी लाज गये ग्रह काज गली ग्रह गाढ़े। भीतनिसौं अभिरैं भहराइ गिरैं फिर धाइ फिरैं मुख काढ़े' (भाव०—संचारी०)। परन्तु इस वर्णनमें—'सुनिके आये मधुपुरी हरि जदुकुल अवतंस। बढ्यो स्वास भूतल पर्‌यो अति कम्पित है कंस' (रस० मं०, पृ० १४१) 'अपस्मार'-की स्पष्ट व्यंजना है।

यद्यपि प्रधानतः अपस्मार व्याधि है, तथापि जैसा 'मन्दारमरन्द चम्पू'में भी कहा है यह भयादिसे उत्पन्न होता है। अतः वीभत्स और भयानक रसमें संचारी माना जा सकता है। वैसे भावातिरेकके कारण यह शारीरिक अवस्था ही है और अलंकार-शास्त्रकी अपेक्षा आयुर्वेदका विषय अधिक है। —ज० कि० व०

अपहसित-दे० 'हास्य रस'।

अपह्नुति-सादृश्यगर्भ भेदाभेद आरोपमूल अर्थालंकारका एक भेद। यह सर्वमान्य अलंकार है। शब्दार्थ है गोपन या निषेध। प्रारम्भिक आचार्योंमें दण्डी किसी वस्तुका निषेध करके अन्यके प्रस्तुत करनेको अपह्नुति मानते हैं, इसमें औपम्य आवश्यक नहीं है। पर वामनने उपमानसे उपमेयके निषेधके रूपमें अपह्नुतिको माना है—'समेन वस्तुनाऽन्यापलापोऽपह्नुतिः।' (का० सू० वृ०, ४:३:५)। तुल्यसे अन्यका अपलाप करना। रुद्रटने इसको अधिक स्पष्टता प्रदान की है—'जिसमें अति सादृश्यके कारण सत्य होनेपर भी उपमेयको असत्य कहकर उपमानको सत्य सिद्ध किया जाता है', (काव्यालंकार ८:५७)। मम्मटने बहुत कुछ इसीको संक्षेपमें रखा है—'प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सा त्वपह्नुतिः' (का० प्र०, १०:९६)। जहाँ प्रकृतका निषेध करके अप्रकृतकी सिद्धि की जाती है। मम्मटतक इसके भेदोंका स्पष्ट विकास नहीं हुआ है, यद्यपि दण्डीसे ही भेद-विस्तारका निर्देश मिलता है—'इत्यपह्नुतिभेदानां लक्ष्यो लक्ष्येषु विस्तरः' (काव्यादर्श, २:३०९)। विश्वनाथका लक्षण मम्मटसे लिया गया है, पर उन्होंने इसके तीन स्पष्ट भेद स्वीकार किये हैं—प्रथममे आरोपकी सिद्धि बादमें होती है और सत्यका निषेध पहले, द्वितीयमें सत्यका निषेध बादमें होता है और आरोप पहले। एक तीसरे प्रकारमें गोपनके लिए श्लेष आदिके प्रयोगसे निषेध किया जाता है। रुय्यकने 'अलंकारसर्वस्व'में तीन भेद स्वीकार किये थे—'निषेधपूर्वक आरोप, आरोपपूर्वक निषेध तथा छल आदि शब्दसे असत्यके प्रतिपादन द्वारा निषेध' (पृ० ५०)। स्पष्ट ही विश्वनाथके भेद इनपर आधारित हैं। इसके अन्य भेदोंका विस्तार बादमें नव्य आलंकारिकोंने किया है। जयदेवने 'चन्द्रालोक'में अपह्नुतिका लक्षण देकर चार भेदों-पर्यस्त, भ्रान्त, छेक, कैतवकी विवेचना की है। अप्पय दीक्षितने 'कुवलयानन्द'में प्रथम भेदको 'शुद्ध' नाम दे दिया है और एक नया भेद 'हेतु' जोड़ दिया है।

हिन्दीमें केशवने इस अलंकारको दण्डीसे ग्रहण किया और भेद नहीं दिये हैं। जो उदाहरण है, वह छेकापह्नुतिका है, यद्यपि दण्डीमें दूसरे भेद भी हैं। अन्य आचार्योंने प्रायः जयदेव और अप्पय दीक्षितके अनुसरणपर इसके छः भेदोंको यथावत् स्वीकार किया है। आधुनिक विवेचकोंमें कन्हैयालाल पोद्दारने इन भेदोंको शाब्दी, आर्थी तथा निरवयवा, सावयवाके अन्तर्गत स्वीकार किया है (अ० म०, पृ० १७५) तथा रामदहिन मिश्रने विशेषापह्नुतिका एक भेद और माना है (का० द०, पृ० ३६९)।

१. शुद्धापह्नुति—एक प्रकारसे जयदेवने अपह्नुतिकी जो सामान्य परिभाषा दी है—'अतथ्यमारोपयितुं तथ्याऽपास्तिः' (चन्द्रालोक, ५:२४), उसको अप्पय दीक्षितने शुद्धापह्नुति माना है और इसीको हिन्दीके आचार्योंने लक्षणरूपमें स्वीकार कर लिया है—'औरैको आरोपिये, साँच छिपावत धर्म' (ल० ल०, ८७)। भूषणने धर्मके स्थानपर 'बात'का ही प्रयोग किया है। दासने 'और धरम जहँ थापिये, साँचौ धरम दुराइ' (का० नि० ९) कहकर 'धर्म' पर बल दिया

है। इसमें वास्तविक उपमेयका निषेध करके उपमानका आरोप किया जाता है—'धाये धुरवान छाये धूरिके पटल व्योम, गाजिबो न वाजिबो है दुन्दुभि दराजको।' (शि० भू० ८१) अथवा 'वे दो ओठ न थे राधे, था एक फटा उर तेरा' (द्वापर)। इनमें बादलो तथा ओठका निषेध करके दुन्दुभि तथा उरका आरोप किया गया है। इसे शाब्दी भी कहते हैं।

२. हेत्वपह्नुति—यह भेद अप्पय दीक्षितके द्वारा उल्लिखित हिन्दीमे अपनाया गया है 'जहाँ जुगुतिसों आनको, कहिये आन छिपाय।' (शि० भू० ८२) अथवा 'जुक्तिसों, इकको धरम छिपाय। और विषे आरोपिये' (पद्मा० ४७), अर्थात् जहाँ उपमेयके निषेधके कारण दिखलाते हुए उपमान (और)की स्थापना हो। उदा०—'सिव सरजा-के कर लसै, सोन होय किरवान। भुज भुजगेस भुजंगिनी भखति पौन अरि पान।' (शि० भू० ८३) अथवा—'पहले आँखोंमें थे मानसमें कूद मग्न प्रिय अब थे। छींटे वही उडे थे वड़े-वड़े अश्रु वे कब थे' (साकेत)। इनमें निषेधके साथ 'भखति' तथा 'कूदना' आदि कारणोंका उल्लेख भी है।

३. पर्यस्तापह्नुति—पर्यस्तका अर्थ है फेका हुआ। जयदेवके अनुसार इसका लक्षण है 'यत्र धर्ममात्रं निषिध्यते' (चन्द्रालोक, २५)। हिन्दीमें इसी आधारपर लक्षण दिया गया है—'धर्म और मै राखिये, धर्मी सॉचु छपाय।' (ल० ल०, ९१) अथवा 'धर्मी धरम ले थापि और ठाम,' (पद्मा० ४९)। दासने 'मेटि औरको गुन जहॉ करै और को थाप' (का० नि०, ९) माना है। वस्तुतः इसमें किसी वस्तुके धर्मका निषेध दूसरी वस्तुमें उसके आरोपके लिए किया जाता है। उदा०—'कालकूट विष नहिं, विष है केवल इन्द्रा। हर जागत छकि याहि वा संग हरि नीदौ न तजत।' (का० नि०, ९) अथवा 'तेरे ही भुजनिपर भूतलको भार, कहिवेको सेसनाग दिगनाग हिमाचल है' (शि० भू० ८७)। जगन्नाथ तथा 'अलंकारसर्वस्व'की टीका विमर्शनी-कारने इसे 'दृढारोपरूपकः' माना है। उनके अनुसार इसमें उपमेयका निषेध नहीं, उपमानका निषेध किया जाता है और इस प्रकार उपमेयमें उसका दृढ़ आरोप होता है।

४. भ्रान्तापह्नुति—जयदेवके अनुसार 'अन्यस्य शंकया तथ्यनिर्णये' (चन्द्रालोक, ५:२६)। हिन्दीमें इसीके आधारपर—'संक आनको होत ही, जहॅ भ्रम कीजै दूरि।' (शि० भू०, ८८) अथवा—'भ्रम काहूको है गयौ, ताको मिटवत आप।' (का० नि०, ९) लक्षण दिये गये हैं। इसमें सत्य बात प्रकट करके किसीके भ्रमको दूर किया जाता है—'आनन है अरबिंदन फूले अलीगन भूलै कहा मॅडरात हौ। बोलती बाल न बाजती बीन कहा सिगरे मृग घेरति जात हौ' (का० नि०, ९)। यहाँ भ्रान्ति कविकल्पित है, पर अन्यत्र सम्भव भी हो सकती है—'मान सरोबर जातु अब, लखि नभ मेघ वितान। तिन हंसनको मधुर रव, नूपुर धुनि जिन जान।' (पोद्दार : अ० मं०)।

इस अपह्नुतिमें उपमेयके स्थानपर उपमानका निषेध है। इसी कारण विश्वनाथने इसको 'निश्चय' नामक स्वतन्त्र अलंकार माना है। दण्डीने 'तत्त्वाख्यानोपमा' नामक उपमाका ही भेद माना है।

५. छेकापह्नुति—जयदेवके अनुसार 'अन्यस्य शंकया तथ्यनिह्नवे' (चन्द्रालोक, ५:२७)। हिन्दीमें इसीके आधारपर—'जहाँ औरकी संकते, सॉच छपावत बात' (ल० ल०, ९५) लक्षण दिये गये हैं। दासका लक्षण किंचित् भिन्न है—'काहू वूझ्यो मुकरिके औरे कही बनाइ' (का० नि०, ९)। और इसीको पद्माकर 'सॉच दुरावे जुक्त सों' (पद्मा० ५१) कहते है। इसमे किसी बातके प्रकट होनेपर मिथ्या समाधान द्वारा छिपाया जाता है—'तिमिर बंस हर अरुन कर, आयो सजनी भोर। सिव सरजा, चुप रहि सखी, सूरज कुल सिर मौर' (शि० भू०, ९२)। खुसरोकी मुकरियॉ (दे०) इसीके अन्तर्गत आती हैं।

६. कैतवापह्नुति—जयदेवके अनुसार 'व्यज्यमानत्वे व्याजाद्यैर्निह्नुतेः पदे' (चन्द्रालोक, ५:२८)। हिन्दीमें इसी-के आधारपर—'जहँ कैतव छल व्याज मिस, इनसौ होन दुराव'। (शि० भू०, ९५) अथवा—'जहाँ औरके व्याजते, करै जु कारज और' (पद्मा० ५२) लक्षण दिये गये हैं। जिसमे उपमेय (प्रस्तुत)का प्रत्यक्ष निषेध न करके कैतव अर्थात् मिस, व्याज आदि शब्दोंसे निषेध किया जाय—'यो लछिराम छटा नख नौल तरंगनि गंग प्रभा फल पेनी। मैथिलीके चरनांवुज ब्याज लसै मिथिला जग मंजु त्रिवेनी' (पोद्दार : अ० मं०)। यहाँ चरणोदकका निषेध 'व्याज'से किया गया है। अथवा—'मुख बाल रवि सम लाल होकर ज्वाल-सा बोधित हुआ। प्रलयार्थ उनके मिस वहाँ क्या काल ही क्रोधित हुआ, (जयद्रथवध) इसको आर्थी अपह्नुति भी कहा गया है। —र०

अपुष्ट—दे० 'अर्थ-दोष', पहला।

अप्रतीति—दे० 'शब्द-दोष', चौदहवाँ पद-दोष।

अप्रयुक्त—दे० 'शब्द-दोष', तीसरा पद-दोष।

अप्रस्तुत—'उपमान'का एक पर्याय, उपमाके चार प्रमुख अंगोंमेसे एक अंग। उपमानको 'अप्रस्तुत' कहनेका कारण है कि प्रस्तुत वर्ण्य नही है, वरन् कवि द्वारा इसको लाया गया है, जैसे 'हरि पद कोमल कमलसे' इसमें 'कमल' अप्रस्तुत है, क्योंकि प्रस्तुत 'पद'की समताके लिए 'कमल' अप्रस्तुतसे कविने इसका वर्णन किया है।

रामचन्द्र शुक्लने उपमानके लिए 'अप्रस्तुत' शब्दका प्रयोग किया है। इनके अनुसार 'प्रस्तुत वस्तु और आलं-कारिक वस्तुमें बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव हो, अर्थात् अप्रस्तुत (कवि द्वारा लायी हुई) वस्तु प्रस्तुत वस्तुसे रूप-रंग आदिमे मिलती-जुलती हो…।' इस कथनसे दो बातें स्पष्ट होती हैं, एक तो अप्रस्तुत आलंकारिक वस्तु है और दूसरे वह कवि द्वारा लायी जाती है। इन्होंने 'उपमान' शब्दके स्थानपर अप्रस्तुतविधान और अप्रस्तुतयोजना इन दो शब्दोका प्रयोग किया है। इनमें दूसरा अधिक युक्तिसंगत है। कारण, 'अप्रस्तुत' शब्द विशेषण है। विश्वनाथने इसी रूपमें इसका प्रयोग किया है—'अप्रस्तुत-प्रस्तुतयोदीपके' (सा० द०, १०।४९)। किन्तु 'अप्रस्तुतविधान' शब्दमें 'अप्रस्तुत'का प्रयोग विशेष्य रूपसे हुआ है। जहाँ विशेष्य रूपसे इसका प्रयोग होता है, वहाँ अर्थपरिवर्तन हो जाता है। ऐसे प्रसंगोमे इसका अर्थ होता है विषयविरुद्ध बोलना,

अनर्गल प्रलाप करना आदि। अतः 'अप्रस्तुतविधान' शब्द 'उपमान'के लिए उतना उपयुक्त अर्थबोधक नहीं, जितना कि 'अप्रस्तुतयोजना' है।

आधुनिक कालमें 'उपमेय' और 'उपमान'के स्थानपर 'प्रस्तुत' और 'अप्रस्तुत'का अधिक प्रचलन हो गया है। अप्रस्तुत या उपमानको अप्रासंगिक, अप्राकरणिक, अप्रकृत तथा अप्रधान भी कहते हैं। किन्तु 'उपमान' शब्द अत्यन्त प्राचीन है और इसीके प्रयोगकी परिपाटी चली आ रही है। 'अप्रस्तुत'के प्रयोगके औचित्यके सम्बन्धमें कतिपय विचारकोंका कथन है कि 'उपमान' शब्द अपने-आपमें जितने व्यापक अर्थका बोधक है, उससे कहीं अधिक व्यापक अर्थकी प्रतीति 'अप्रस्तुतयोजना' शब्दसे होती है। 'उपमान' शब्दसे यह ध्वनित होता है कि इसका प्रयोग केवल औपम्यगर्भ अलंकारोंमें ही हो सकता है, और जहाँ तुलना हो, वहाँ ही इसके प्रयोगका औचित्य निहित है। परन्तु वस्तुस्थिति इससे भिन्न है। सादृश्य-गर्भ अलंकारका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। रामदहिन मिश्रके शब्दोंमें 'अप्रस्तुतयोजना' बाहरसे लायी जानेवाली सारी वस्तुओंको ग्रहण करती है, चाहे अप्रस्तुतका कैसा ही रूप क्यों न हो। अप्रस्तुत विशेष्य हो, विशेषण हो, क्रिया हो, मुहावरा हो, चाहे कुछ हो—इसके भीतर सब समा जाते हैं (दे० काव्यमें अप्रस्तुतयोजना)।

आलंकारिक योजनाके 'उपमेय' और 'उपमान' (अथवा अप्रस्तुतयोजना) इन दो उपादानोंमेंसे अप्रस्तुतयोजनाका विशेष महत्त्व है। यह काव्यका प्राणतत्त्व है। इससे काव्यमें रसार्द्रता, प्रभविष्णुता, प्रेषणीयता और मर्मस्पर्शिताका संचार होता है। इसी 'अप्रस्तुतयोजना'के द्वारा काव्यगत भाव प्रमाताके लिए संवेदनीय बनता है। 'अप्रस्तुतयोजना'-से प्रकृष्ट रूपमें संयोजित कविता पाठक एवं श्रोताको काव्यानन्द प्रदान करनेमें समर्थ होती है। कवि जितना ही भावप्रवण और सहृदय होगा, उतनी ही उसकी अप्रस्तुत योजना मार्मिक एवं अखण्ड आनन्दका स्रोत होगी। —वि० स्ना०

अप्रस्तुत प्रशंसा—सादृश्यगर्भके गम्यौपम्याश्रय वर्गका प्राचीनोंसे स्वीकृत अर्थालंकार। इस अलंकारका क्रम-विकास देखा जा सकता है। भामह तथा उद्भट आदिने अप्रस्तुतकी प्रशंसा द्वारा प्रस्तुतके अभिधानमें कारणकी खोज नहीं की है। उद्भटके व्याख्याकार प्रतीहारेन्दुने सम्बन्धका संकेत अवश्य दिया है। रुय्यकने 'अलंकार-सर्वस्व'में इनका विस्तृत विवेचन किया है और त्रिविध सम्बन्ध स्वीकार किया है—१. सामान्य विशेषरूप सम्बन्ध—(क) सामान्यसे विशेषकी प्रतीति; (ख) विशेषसे सामान्यकी प्रतीति। २. कार्यकारण-भाव-रूप, (क) कार्यसे कारणकी और (ख) कारणसे कार्यकी प्रतीति। ३. सारूप्य, (क) साधर्म्य, (ख) वैधर्म्यपूर्वक तुल्यसे तुल्यकी प्रतीति। मम्मटने इन भेदोंको स्वीकार करके भी त्रिविध सम्बन्धका उल्लेख नहीं किया है। मम्मटका लक्षण उद्भटके लक्षणका परिष्कृत रूप है—'अप्रस्तुत अथवा अप्रकृतकी ऐसी वर्णना जो प्रस्तुत अर्थकी प्रतीतिका आश्रय हुआ करती है' (का० प्र०, १०:९८)। विश्वनाथने इन्हीं पाँचका उल्लेख करके 'अप्रस्तुतात्प्रस्तुतं चेद्गम्यते'को अप्रस्तुतप्रशंसा माना है (सा० द०, १०:५९)। जयदेवने इन भेदोंको माना है, पर अप्पय दीक्षितने भेद नहीं दिये हैं। हिन्दीके जसवन्त सिंह, मतिराम, भूषण आदि आचार्यों-ने अप्पय दीक्षितके आधारपर भेद नहीं माने हैं—'प्रस्तुत लीन्हें होत जहँ अप्रस्तुत परसंस' (शि० भू०, १६८)। चिन्तामणि, कुलपति, दूलह और पद्माकर आदिने पाँच भेदोंका वर्णन किया है।

१. कारण निबन्धना—प्रस्तुत कार्यका बोध करानेके लिए अप्रस्तुतके कारणका कथन—'सरद सुधाकर बिबसौं लैकै सारि सुधारि। श्री राधा मुखकौ रच्यौ चतुर बिरंचि बिचारि।' (अ० मं०, ३३५)में राधाके मुख-सौन्दर्यके वर्णनके लिए चन्द्रमाका सारभाग विधाता द्वारा निकाला जाना रूप कारण कहा गया है। दासका उदाहरण—'एक ही भागते तीनहूँ लोककी रूपवती जुवतीन सँवारी' (का० नि०, १२)।

२. कार्य निबन्धना—प्रस्तुत कारणका बोध करानेके लिए अप्रस्तुत कार्यका कथन—'मैं लै दयौ लयौ सुकर छुवत छिनकि गौ नीरु। लाल तिहारौ अरगजा उर ह्वै लग्यौ अबीरु' (बि० रत्ना०, ५३५)। यहाँ नायकका अनुराग प्रस्तुत (अभीष्ट) है, पर उसको न कहकर नायिकाके विरह-जनित अप्रस्तुत तापका आधिक्य कथन है, जो वस्तुतः अनुरागका कारण है। अथवा—'ब्रजकी अहीरिनिके अँसुवा बलित आइ। जमुना जराति मोहि महानल झार मैं।' (का० नि०, १२)।

३. विशेष निबन्धना—सामान्य प्रस्तुतके लिए अप्रस्तुत-विशेषका कथन—'मृगकौ लै निज अंक ससि, मृग लांछन कहि जाय। नित मारत मृग अमित वह, मृगपति सिंह कहाय' (अ० मं०, ३३७)। यहाँ प्रस्तुत (अभीष्ट) है 'नम्रता दोष है, क्रूरता गौरवकी वस्तु,' परन्तु इस सामान्यका कथन न करके चन्द्र-सिंह (अप्रस्तुत) का उल्लेख किया गया है। अथवा—'नीरकी पीर निबारिबेको छीर घरी ही घरी उफनात है' (का० नि०, १२)। वस्तुतः अर्थान्तर-न्यासमें भी सामान्यविशेष सम्बन्धका कथन होता है, पर वहाँ दोनों ही प्रस्तुत होते हैं, जब कि अप्रस्तुतप्रशंसामें सामान्य-विशेषमें एक प्रस्तुत और दूसरा अप्रस्तुत रहता है।

४. सामान्य निबन्धना—विशेष प्रस्तुतके लिए अप्रस्तुत सामान्यका कथन—'बड़े प्रबलसों बैर करि, करत न सोच बिचार। ते सोवत बारूदपर, पटमें बाँधि अंगार' (पद्मा०, ११५)। यहाँ आगत विपत्तिमें निश्चिन्त व्यक्तिका कथन न करके (अप्रस्तुत) सामान्यका वर्णन किया गया है। अथवा—'काज हितूके लगें तन प्रान जो दान ते नेक नहीं मुख मोरें' (का० नि०, १२)। यहाँ विरह-संतप्त नायकसे मिलन रूप विशेषकी प्रतीति सामान्य कथन द्वाराकी गयी है।

५. सारूप्य निबन्धना—प्रस्तुतको न कहकर उसके समान अप्रस्तुतका कथन—(क) श्लेषहेतुक, जिसमें विशेषण-विशेष्य दोनों श्लिष्ट होते हैं—'यूथप तेरे मान सम, थान न इते लखाँहि। क्यों हू काट निदाघ दिन, दीरघ कित इत छाँह' (अ० मं०, ३४१)। यहाँ यूथप (हाथी और सामन्त) और मान दोनों ही श्लिष्ट हैं। (ख) श्लिष्ट विशेषण, जिसमें

उद्वेग, उत्तेजना, आकुलता आदिका वर्णन विशेष रूपसे किया है, पर रीति-कवियोंने भावोंसे अधिक चमत्कारपूर्ण वर्णनको महत्त्व दिया है। सामान्याके अभिसारका विशेष अर्थ क्या हो सकता है, पर कवियोंने उसे प्रेमका आलम्बन माना है, अतः इस रूपमें स्वीकार करना पड़ा है—'नागरि सकल सिंगार करि चली प्रानपति पास। बाढ़ि चली बिहसनि मनो सोभा सहज विलास' (मतिराम : रसराज, २०४)।

अभिषेक—दे० 'धर्मभेद'।

अभिहितान्वयवाद—कुमारिलभट्ट द्वारा प्रवर्तित एक विशेष सिद्धान्त, अभिधा द्वारा उपस्थित अर्थोंके अन्वय सम्बन्धको महत्त्वशाली बतलाता है (दे०'तात्पर्यावृत्ति')।—उ०शं०शु०

अभेदरूपक—दे०—'रूपक', पहला प्रकार।

अभ्यास—दे०—'काव्यहेतु', तीसरा हेतु।

अमतपरार्थता—दे० 'शब्द-दोष', अठारहवाँ 'वाक्य-दोष।'

अमनसिकार—दे० 'बोधिचित्त।'

अमर वारुणी—हठयोग प्रदीपिका (३ : ४८)मे बताया गया है कि "जिह्वाप्रवेश संभूतः वह्निनोत्पादितः खलु। चन्द्रात्स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी॥" खेचरीमुद्रा (हठ० ३ : ३२)में योगी जीभको उलटकर कपालकुहरमे प्रविष्ट कराता है और इस प्रकार सहस्रार पद्मके मूलमें स्थित योनि नामक त्रिकोणाकार शक्तिकेन्द्र या चन्द्रस्थानसे निरन्तर झरनेवाले अमृतको पीता है (शिव संहिता, ५ : १०३)। हठयोगियोंका विश्वास है कि चन्द्रमासे झरनेवाले इस अमृत रस या अमर वारुणीको पी लेनेपर योगी अमर हो जाता है। इसीलिए मुद्राओंमे वे खेचरी मुद्राको सर्वाधिक महत्त्व देते है ('न खेचरी समा मुद्रा', हठ० १ : ४५)। हठयोग प्रदीपिकामे इस अमरवारुणीका पान करनेवालेको ही सच्चा कुलीन (=कौल) माना गया है। संत बार-बार जिस मद, सुरा आदिको पीने और पीकर मस्त रहनेकी बात करते है, वह सोमरस यही अमर वारुणी है। कबीर इसी बातको यो कहते है 'आठहू पहर मस्तान पाता रहै'। यही उनका 'राम रसायन' है (क० ग्र०, पद ४२)। —रा० सि०

अमरोली मुद्रा—'गोरक्ष पद्धति'में इसे 'कापालिकी क्रिया' कहा गया है और कापालिकोंमें भी 'खण्डमत' (?) वालोंको यहविशेष इष्ट बतायी गयी है। अमरीय अर्थात् अमरवारुणीका नित्यपान करना, उसीका नास लेना (नाकसे सूँघना) और अमरोलीका नित्य अभ्यास करना—ये तीन कापालिकी अमरोलीके लक्षण बताये गये हैं। पित्तकी उल्बण (बलवान, सशक्त) प्रथम धारा तथा अन्तिम और सारहीन अम्बुधाराको छोड़कर शीतल-मन्दधाराका सेवन ही खण्डमतकी अमरोली कही गयी है। इस मुद्राके अभ्याससे निःसृत होनेवाली चान्द्री (अमरवारुणी या अमृत)को विभूति (गोबरकी राख)-मे मिलाकर उत्तमांगो (=गलेके ऊपरके भाग)पर धारण करने (लगाने)से दिव्यदृष्टि मिलती है। —रा० सि०

अमल (अमलि)—सन्तोंने अमल शब्दको निर्मल, शुद्ध, मलहीनके अर्थमें भी व्यवहृत किया है। पर अपने पारिभाषिक रूपमें यह नशा, शराब या मद्यके अर्थमें ही प्रयुक्त हुआ है। रामकी अमल या अमलिमें मत्त रहनेकी बात कबीर बार-बार करते हैं। इसमें कबीरको इतनी मस्ती मिलती है कि 'मैं मंता अविगत रता अकलप आसा जीत। राम अमलि माता रहै जीवत मुकत अतीत' होकर वे अपनेको औरोंसे विशिष्ट अनुभव करते है। इसीमें मत्त रहकर संत निश्शंक रहता है और इन्द्रको भी अपने सामने रंक मानता है—'सतगंठी कोपीन दै साधु न माने संक। राम अमलि माता रहै, गिनै इन्द्रको रंक॥' लक्ष्य करनेकी बात है कि सन्तोंने जहाँ भी नशा अर्थमे अमलि, राम अमलि या प्रेमके प्यालेकी बात कही है, वहाँ वे किसी ऐसी अमलि (=नशे)की ओर कोई न कोई ऐसा संकेत करते जान पड़ते है, जो इस अमलिसे घटिया कोटि की है और संत उसे इसके सामने व्यर्थ समझते है। निश्चय ही इस तरहका संकेत तान्त्रिकों और सिद्धोंके पंचमकार या पंचतत्त्वके मद्यसे होता है।

अमल शब्द मूलतः संस्कृत अम्लका रूप है। अम्ल अर्थात् खट्टा। हजारीप्रसाद द्विवेदीने लक्ष किया है कि अमृत इसी अम्ल या अम्रका रूपान्तर होगा। 'पहले शायद सोमरसके खटाये हुए रूपको ही 'अम्रित' (खट्टा बना हुआ) कहते होंगे। बादमे 'अम्रित' अमृत बन गया।' (आम फिर बौरा गये)। तान्त्रिकों और सिद्धोंने पंचमकारोंको पंचामृत कहा भी है। नाथों और सन्तोंका अमल उसी अमृत (मद्य)की नयी व्याख्या है। अम्लका मध्यस्वरागमके नियमसे अमल बन ही जाता है। इस प्रकार जब कबीर कहते है—"कबिरा प्याला प्रेमका अंतर दिया लगाय। रोम रोममे रमि रह्या, और अमल क्या खाय॥" तो 'और अमल'से उनका मतलब सिद्धों-तान्त्रिकोंके मद्यसे होता है। स्पष्ट है कि सन्त, नाथोंसे बहुत अधिक प्रभावित थे और नाथ अर्थात् गोरखपंथी और हठयोगी पूर्ण संयम और ब्रह्मचर्यको अपनी साधनाका मूल मानते थे। हठयोगी और सन्त इसीलिए कड़े मर्यादावादी एवं शारीरिक तथा मानसिक अनुशासनके कट्टर समर्थक थे। वे पंचमकारोंको कभी प्रश्रय नहीं दे सकते थे।

अतः सन्तोंने पुराने शब्दोंमे नया अर्थ भरा। 'बाल रण्डा' बाल विधवाका अर्थ न देकर 'कुण्डलिनी' बन गयी, 'गोमांस' चन्द्रमासे क्षरित होनेवाला 'अमृत' बन गया। शराबका अर्थ देनेवाला अमल और शराब पीकर साधना करनेवाला 'अमली' इस नयी साधना-पद्धतिमें नीचा ठहराया गया। गोरखनाथने कहा कि 'मद्यप ध्यान लगा ही नहीं सकता'—"गिरहीको ग्यांन, 'अमलीको ध्यान' बूचाको कान, बेस्याको मान। बैरागी अर माया सूँ हाथ या पांचोको एको साथा" (गोरखबानी, सबदी २४५)। अतः सन्तोंने अमल (मद्य) की जगह राम अमलि शब्दोंको, अमली भक्ति, समाधिगत एकान्तता एवं एकनिष्ठताके अर्थमें प्रयुक्त किया। उनका कहना है कि—नाम अमल उतरै ना भाई। और अमल छिन छिन चढ़ि उतरै, नाम अमल दिन बढ़ै सवाई। देखत चढ़ै सुनत हिय लागै, सुरत किए तन देत घुमाई।"—कबीर। कबीर ग्रन्थावली (दास)के पद ७४ में इस प्रेम पियालेमें पिये जानेवाले इस रामरसको तैयार करनेकी पूरी विधि बतायी गयी है। विधि वही है, जो शराब तैयार करनेकी होती है। बस उपकरण भिन्न है और चुआया हुआ रामरस ऐसा है, जिसे शिव-सनकादि अघाकर पीते और मत्त बने रहते हैं। इड़ा और पिंगलाकी भट्टीमे ब्रह्म

अग्नि जलाकर, सूर्यचन्द्रके दसों दरवाजोंको बन्दकर और पाँचों प्राणोंको साथ लेकर यह योगकी तारी लगायी जाय तो यह रस चूता है। इसी रसके पीनेसे सुषुप्त नागिन (कुण्डलिनी) जगती है और यह वही रस है, जिसकी एक बूँद देनेवालेको कबीर अपना सारा जप तप दलालीमे दे देनेकी मुनादी करते-फिरते है—"है कोउ संत सुख उपजै जाकों जप-तप देउँ दलाली। एक बूँद भरि देइ रामरस ज्यूँ भरि देइ कलाली ॥" —रा० सि०

अमर्ष–प्रचलित तैंतीसमें एक संचारी भाव। 'नाट्यशास्त्र'-के अनुसार जब विद्या, ऐश्वर्य या बलमे अधिक व्यक्ति किसीका आक्षेप द्वारा अपमान करते हैं तो इस आक्षिप्त तथा अपमानित व्यक्तिमें यह भाव उद्बुद्ध होता है, और वह इसको शिरःकम्पन, स्वेद, अधोमुखचिन्तन आदि सहायकों-द्वारा अभिव्यक्त करता है (७।७८ ग)। सागरनन्दीने सम्भवतः किसी अन्य परम्पराका अवलम्बन कर यह स्पष्ट किया कि विद्वान् एवं ऐश्वर्ययुक्त (और बलवान्) व्यक्तियोंका आक्षेप होनेपर उपरिलिखित अनुभावों द्वारा इसकी अभिव्यक्ति होती है (नाटकलक्षणरत्नकोश, २०७२, २०७३)। अतः धनंजय और विश्वनाथने तिरस्कार एवं अपमान न सहनेको अमर्ष कहा (द० रू०, ४:१२)। पर रामचन्द्र गुणचन्द्रने सम्भवतः अमर्षके उदाहरणके आधारपर आक्षेपके प्रतीकारकी इच्छाको अमर्ष कहा (नाट्यदर्पण, ३ : १३७)। और व्याख्यामें अमर्ष एवं क्रोधमें भेद बतानेका भी प्रयास किया। वाग्भटने (काव्यानुशासन, पृ० ५८) इसको 'प्रतीकारकी इच्छा' बताया और ऐसे ही शारदातनयने (भा० प्र०, पृ० २२)। निस्सन्देह अमर्षके दो पक्ष है, एक तो क्रोधकी पूर्वावस्था और दूसरा उस क्रोधसे अभिभूत प्रतीकारकी इच्छा। वास्तवमें प्रतीकारकी इच्छा इस मनोवेगका परिणाम है और उसको अनुभाव मानना अधिक उचित होगा। संस्कृत नाटक 'वेणीसंहार'में इसके कई उचित उदाहरण है। निन्दा या आक्षेप करनेवालोंके वाक्योंको सहन न करना अमर्ष है, पर उनसे प्रतीकार करनेकी उत्कट अभिलाषा क्रोध है, ऐसा कुछ व्याख्याकारोंका मत है।

हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंने सामान्यतः दूसरेके अभिमान तथा अपने अपमानके कारण 'अमर्ष'को माना है। देवके अनुसार—'अधिक्षेप अपमानते, स्वेद कम्प दृगराग। अहंकार जियमें बढ़ै, क्रोध सुनहु बड भाग' (भाव०, संचारी०)। इसमें यह नही कहा गया कि यह अपमान किसका हो अथवा किसके द्वारा, जैसा संस्कृतके आचार्यों द्वारा कहा गया था। पर अन्य आचार्यों ने केवल 'लखि दूजेको अभिमान' (जगत० ५१७) मात्रसे 'अमर्ष' मान लिया है। देवने शृंगारके संचारीके रूपमें इसका उदाहरण दिया है—'मानत नाहिं तिरीछेहि तानति बान-सी आँखें कमान-सी भौहें' (भाव०, संचारी)। पद्माकरने दोहा उदाहरणमें प्रस्तुत किया है—'गरब सु अंजन ही बिना, कंजनको हरि लेति। खंजन मद भंजन अरथ, अंजन अँखियन देति' (जगत० ५१९)। इसमें कंजन और खंजनपर अमर्ष व्यंजित है। —ज० कि० ब०

अमियरस–योगियोंका विश्वास है कि सहस्रदल कमलके मध्य स्थित चन्द्रविन्दुकी प्रेरणासे एक प्रकारका स्राव होता रहता है, जिसे अमृत, अमियरस, सोमरस या रसायन कहा जाता है। यह सहस्रारसे नीचेकी ओर मूलाधारचक्रके पासतक आकर शरीरके अन्य रसोंमे विलीन होता है। इसी रसके अजर गुफासे झरनेकी बात कबीरने कही है—'रसगगन गुफासे अजर झरै' (कबीर)। नाथपंथियोंकी साधनामें हठयोगकी प्रधानता होनेके कारण कायाशोधन और उसके रक्षणकी बात अधिक कही गयी है—'उनमनि रहिबा भेद न कहिबा पीयबा नींझर पाँणी। लंका छाँडि पलंका जाइबा तब गुरमुख लेवाँ बाणी' (गोरखबानी) अर्थात् उन्मनावस्थामे लीन रहना चाहिये, किसीसे अपना भेद नहीं कहना चाहिये, अमृतके झरनेसे अमृत पीना चाहिये। परन्तु कबीरने हठयोगकी क्रियाओंसे ऊपर उठकर रसायन बनाने और पीनेकी अनेक युक्तियाँ बतायी—'गगन गरजि बरसै अमी बादल गहरि गम्भीर। चहुँ दिशि चमकै दामिनी भीजै दास कबीर' (कबीर सा० सं ११७)। —उ० शं० शा०

अमृत–मध्यकालीन तान्त्रिक परम्पराओंमें बराबर किसी-न-किसी ऐसे रसकी खोज हुई है, जो मनुष्यको अमर बना दे या धातुको स्वर्ण बना दे। बादमें उस रसके मैथुन या हठयोगपरक अर्थ ढूँढ़ लिये गये। सिद्धोंने उसे महासुख या सहजरस-रूपी अमृत माना। तान्त्रिक अनुष्ठानमें जो वारुणी है, वह भी इसी अमृतका प्रतीक है। हठयोग-साधनामें चन्द्रसे जो अमृत झरता है, वही वास्तविक अमृत बताया गया है। सन्तोंने तान्त्रिकोंकी वारुणी-का तो निषेध किया, किन्तु हठयोगपद्धतिके अमियरस या सोमरसको स्वीकार किया। किन्तु वास्तविक अमृत उन्होंने माना रामभक्तिको, जिसे वे रामरसायन कहते थे। शाक्त उससे अपरिचित हैं, अतः वे मरणशील है, सन्त अमर हैं। 'साकत मरैं सन्त सभु जीवहिं, राम-रसायन रसना पीवहि' (सन्त कबीर : रामकुमार वर्मा)। —ध० वी० भा०

अमृतगति–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद; यह वृत्त नगण, जगण, नगण और गुरुके योगसे बनता है (।।।, ।ऽ।, ।।।, ऽ)। 'प्राकृतपैंगलम्'में यही नाम है, पर 'मन्दारमरन्द चम्पू'में कुलटा (१६:११) और हेमचन्द्रकृत 'छन्दोऽनुशासन', जयकीर्तिकृत 'छन्दोऽनुशासन' (२:९४) तथा विरहांककृत 'वृत्तजातिसमुच्चय'में (५:१७) त्वरितगति नाम दिया गया है। केशवदासने इसका प्रयोग किया है। उदा०—'निज पति पंथहि चलिये। दुख-सुखका दलु दलिये। तन-मन सेवहु पतिको। तब लहिये सुभ गति-को' (रा० चं०, ९:१३)। —पु० शु०

अमृतध्वनि–मात्रिक विषम छन्द। इसमें छः दल होते है। प्रथम दो दल दोहेके होते हैं, जिसमेंसे प्रत्येक दलमे २४ मात्राएँ होती है। शेष चार दलोंमेंसे प्रत्येक दलमे ८, ८ मात्राके क्रमसे तीन बार यति, यमक आते है, जो रोलाके होते हैं। भिखारीदासके 'छन्दार्णव'में कुण्डलिया और अमृतध्वनिके लक्षण एक साथ दिये है (७:३७)। वीररसके लिए यह छन्द अधिक उपयुक्त है। 'सुजान-चरित' तथा भूषणकी रचनाओंमें इस छन्दका अच्छा

प्रयोग मिलता है। उदा०—प्रथम दोहाका चरण—'गत वलखान हलेल हुव, खान बहादुर मुद्ध' और तीसरा रोलाका चरण—'क्रद्धद्धरि किय जुद्धद्धुव अरि अद्धद्धरि करि'' (शि० भू०, ३५७)। —रा० सि० तो०

अयत्नज अलंकार–भरतद्वारा 'सात्त्विक अलंकारों' (दे०)का एक विभाजन, जिसे संस्कृतमें एक सीमातक स्वीकार किया गया है, पर हिन्दी रीतिकालमें केवल कुमारमणिने 'भाव'के अन्तर्गत और रसलीनने 'अयत्नज'के रूपमें ही स्वीकार किया है। आधुनिक विवेचकोंमें 'हरिऔध', श्यामसुन्दर दास तथा कन्हैयालाल पोद्दारने संस्कृतकी परम्पराका अनुसरण किया है। नायिकाके शरीर तथा स्वभावकी मोहकताको बढ़ानेवाले अलंकार जो यत्न-साध्य न होकर स्वाभाविक रूपसे दिखाई देते हैं। ये क्रमशः शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य, धैर्य नामसे सात प्रकारके माने गये हैं।

१. शोभा अलंकार—धनंजयका लक्षण भरतके आधार पर (नाट्यशास्त्र, २४:२५)—'रूपोपभोगतारुण्यैः शोभाङ्गानां विभूषणम्' (दशरूपक, २:३५), रूप-सौन्दर्य, वासना और यौवनसे अंगोंकी शोभाका बढ़ना। इस प्रकार रूप, यौवन, लालित्य, सुख तथा भोग आदिसे युक्त शरीरकी सुन्दरताको 'शोभा' कहते हैं। शोभा ही शरीरका आभूषण है, रूपादि उसके अंगमात्र (सा० द०, ३:९५)। बिहारीका यह सौन्दर्यवर्णन इसका उदाहरण है—'भूषन भारु सँभारि है, क्यों इहि तन सुकुमार। सूधे पाइ न धर परैं, शोभा ही कै भार' (बि० र०, ३२२)। आधुनिक कवि 'प्रसाद'का वर्णन—'चंचला स्नान कर आवे चन्द्रिका पर्वमें जैसी। उस पावन तनकी शोभा आलोक मधुर है ऐसी' (आँसू)।

२. कान्ति अलंकार—भरतके आधारपर (नाट्यशास्त्र, २४:२६) धनंजयका लक्षण—'मन्मथामापितच्छाया सैव कान्तिरिति स्मृता' (दश०, २:३५), कामसे बढ़ा हुआ सौन्दर्य। शोभाकी उस सुविकसित अवस्थाको कान्ति कहते हैं, जिसके द्वारा या तो अत्यधिक कामोद्दीपन हो अथवा जो स्वयं काम-विलासके द्वारा अत्यधिक बढ़ी हुई जान पड़ती हो (सा० द०, ३:९६)। यथा—'बिलसै नवला अंगमें काम कलाकी जोति। चामीकरसे गातकी चमक चौगुनी होति' (हरिऔध, र० क०)।

३. दीप्ति अलंकार—भरत, धनंजय तथा विश्वनाथ, सबका मन लगभग समान है—'कान्तिरेवातिविस्तीर्णा दीप्तिरित्यभिधीयते' (सा० द०, ३:९६), अर्थात् कान्तिका विवर्द्धित रूप ही जब दर्शकको मोहमग्न करनेमें समर्थ हो जाता है, उस स्थितिको दीप्ति अलंकार कहते हैं। प्रसाद द्वारा अंकित 'श्रद्धा'का रूप-वर्णन—'नित्य यौवन छविसे ही दीप्त, विश्वकी करुण कामना मूर्ति; स्पर्शके आकर्षणसे पूर्ण, प्रकट करती ज्यों जड़में स्फूर्ति' (कामायनी)।

४. माधुर्य अलंकार—भरतके अनुसार 'प्रत्येक अवस्थामें, विशेषकर 'दीप्ति' और 'ललित'में नायिकाकी चेष्टाएं' (नाट्यशास्त्र, २४:२७), पर धनंजय इसे केवल 'अनुल्बणत्वम्' (दश०, २:३६), अर्थात् कोमलता कहा है। सभी स्थितियोंमें नायिका द्वारा अपनी चेष्टाओंमें मृदुता अथवा रमणीयताकी स्थिति बनाये रखना, माधुर्य अलंकार कहलाता है (सा० द०, ३:९७)। निम्नलिखित दोहेमें मिस्सी लगे दाँत भी नव नीलमके समान प्रतीत होते हुए माधुर्यका विकास कर रहे हैं—'अधर पानकी पीक तें, अधिक ललाम लखात। मिसी मिले नवला दसन, नव नीलम बनि जात।' (हरिऔध, र० क०)।

५. प्रगल्भता अलंकार—भरतकी परिभाषामें नाट्यकलाका दृष्टिकोण प्रधान है 'किसी अवस्थाके अभिनय अथवा कथनमें विक्षुब्ध न होना' (नाट्यशास्त्र, २४:२९), और धनंजयने इसे 'निःसाध्वसत्त्वम्' अर्थात् मानसिक विक्षोभका अभाव कहा है (दश०, २:३६)। वस्तुतः नायिकाके व्यवहारमें निःशंकताको प्रगल्भता कहते हैं। यह प्रौढ़ा अथवा सामान्या नायिकाओंमें ही सम्भव है। रति-प्रीता प्रौढ़ा स्वकीयाकी प्रगल्भताका पद्माकरकृत वर्णन—'फूलत फूल गुलाबनके, चटकाहट चौंकि चली चपला सी। कान्हके काननि आँगुरी नाइ, रही लपटाइ लवंग लता सी' (जगद्विनोद, ४९)।

६. औदार्य अलंकार—भरतका अनुसरण करते हुए (नाट्यशास्त्र, २४:२९) धनंजयने इसे 'प्रश्रयः सदा' अर्थात् सभी स्थितियोंमें शालीनताकी अभिव्यक्ति माना है। सभी अवस्थाओंमें विनीतता या प्रेमानुकूलताका नाम ही औदार्य है। यथा 'प्रसाद'की श्रद्धाकी निम्नलिखित उक्तिसे प्रकट है—'समर्पण लो सेवाका सार, सजल संसृतिका यह पतवार। आजसे यह जीवन उत्सर्ग, इसी पदतलमें विगत-विकार। दया, माया, ममता लो आज, मधुरिमा लो अगाध विश्वास। हमारा हृदय रत्न निधि स्वच्छ, तुम्हारे लिए खुला है पास' (कामायनी)।

७. धैर्य अलंकार—भरत इसे 'चंचलतासे हीन, अहंकार-शून्य सहज मानसिक स्थिति मानते हैं (नाट्यशास्त्र, २४:२८) और धनंजयका मत इनसे भिन्न नहीं—'चापलाविहिता धैर्य चिद्वृत्तिरविकत्थना' (द० रू०, २:३७)। वस्तुतः आत्म-श्लाघाहीन स्थिर मनोवृत्तिको धैर्य अलंकार कहते हैं (सा० द०, ३:९८)। 'रत्नाकर'की गोपिकाओंमें यही धैर्य दर्शनीय है—'कहहिं प्रतीति नीनि हूँ त्रिबाचा बाँधि, ऊधो साँच मनकी हियेकी अरु जीकी है। वे तो हैं हमारे ही हमारे ही हमारे ही, औ हम उनहींकी उनहींकी उनहींकी है' (उ० श०)। —आ० प्र० दी०

अयौथिकी (गोपी)–दे० 'गोपी'।

अरध-उरध–वास्तवमें अधः और ऊर्ध्वको सन्तोंने अरध-उरधके रूपमें व्यवहृत किया है। हठयोग-साधनामें मेरुदण्डके निम्न भागमें स्थित मूलाधारको अधः और सहस्रारको ऊर्ध्वरूपमें परिकल्पित किया गया। दोनोंकी पृथक्ताको विनष्ट कर मूलाधारस्थित कुण्डलिनीको ले जाकर सहस्रारमें स्थित करना—यही प्रमुख साधना थी (दे० 'इंगला पिंगला')।

सिद्धोंने अध-ऊर्ध्वका उल्लेख किया है—'अध उध मज्झे सअल भूअ णासी' (दोहाकोष : प्रबोधचन्द्र बागची)। 'गोरखबानी'में अध ऊर्ध्वके बीच त्रिकुटी शून्यका उल्लेख है—'अरध उरध बिच धरी उठाई। मंधि सुनमें बैठा जाई॥' सन्तोंने भी अरध उरधके बीच साधककी स्थिति मानी है—'अरध-उरध मुख लागो कासु, सुन मण्डल मह किओ परगासु' (सन्त कबीर : रामकुमार वर्मा)। —ध० वी० भा०

अरविंद-दर्शन—अरविन्द इस युगकी महानतम विभूतियोंमेंसे एक हैं। वेदों और उपनिषदोंके द्रष्टा ऋषियोंकी परम्परामें हैं और उनका स्थान विश्वके अग्रगण्य दार्शनिकोंकी प्रथम पंक्तिमें है। उनका दर्शन कोरा बुद्धिविलास, किन्हीं अन्य ग्रन्थोंका भाष्य या किसी मतविशेषका प्रतिपादनमात्र नहीं है, वरन् वह उनकी अपनी एकान्त साधनाजन्य आध्यात्मिक अनुभूतिकी साक्षीपर आधारित है।

अरविन्दके दर्शनमें दो बातें प्रमुख हैं। एक तो यह कि ब्रह्म और जगत्, दोनों ही सत्य हैं और दूसरी यह कि मनुष्य और जगत्‌में एक विकासकी प्रक्रिया हो रही है, यह जगत् निवर्तन-विवर्तन अथवा अवरोहण-आरोहणात्मक जगत् है।

अरविन्दका मत है कि जिसे जड़ द्रव्य—मैटर—कहा जाता है, वह तथा चेतन या आत्मा (स्पिरिट), दोनों ही सत्य हैं। 'ब्रह्मसत्यं, जगत् मिथ्या'का सिद्धान्त असत्य है। जड द्रव्य और आत्मा, दोनोंमेंसे कोई भी उपेक्षणीय नहीं है। जडतत्त्वका निषेध करनेवाला आत्मवादी और आत्माकी अवज्ञा करनेवाला जड़वादी दर्शन, दोनों ही एकांगी है। हमे अपने उपनिषद्‌कालीन पूर्वपुरुषोंके स्वरमे कहना चाहिये—'अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्'—जड़ और चेतन आत्माका विभेदीकरण करनेसे, उनमेसे किसी एकको प्रधानता देना अनिवार्य हो जाता है, जिसका अवश्यम्भावी परिणाम होता है एकांगी जीवन-दर्शन। केवल ज्ञानेन्द्रियों और एक सीमातक बुद्धिको ही ज्ञानका एकमात्र साधन स्वीकार करनेके कारण जडवादी आत्माका निषेध कर देता है। किन्तु उसका दृष्टिकोण अत्यन्त संकीर्ण होनेके कारण त्याज्य है। मन और आत्मामें उच्चतर शक्तियाँ तो हैं ही, ज्ञानके अनन्त क्षेत्र ऐसे हैं, जो ज्ञानेन्द्रियों और बुद्धिकी सीमासे परे हैं। इसी प्रकार आत्मवादी द्वारा भौतिक जगत्‌का निषेध भी त्याज्य है। अरविन्दके अनुसार तपस्वीकी यह अस्वीकृति जडवादीके निषेधकी अपेक्षा कहीं अधिक पूर्ण, व्यापक, अतिवादी तथा व्यक्ति एवं समुदायके लिए कहीं अधिक खतरनाक है। जगत्‌का ऐसा निषेध और केवल आत्माका अंगीकार वेदान्तमें मिलता है। भारतीय विचारधारामें वेदान्तकी प्रमुखता होनेके कारण भारतीय मनीषा अभीतक इस विराट् तापस अस्वीकृतिसे आक्रान्त है। यद्यपि इस विचारधारासे हमारे सांस्कृतिक विकासमें बडी सहायता मिली है, पर वह हमारे नैतिक अधःपतनका भी कारण रही है।

अरविन्दके अनुसार परमतत्त्व सत् चित आनन्द ब्रह्म है। उनका यह मत उपनिषदोंके सदृश है। विशुद्ध सत् ही मूलतत्त्व है, किन्तु गति, शक्तिप्रक्रिया भी उतनी ही मौलिक और उतनी ही सत्य है। सत् और प्रक्रिया, दोनोंको स्वीकार करना आवश्यक है। वस्तुतः ब्रह्म न सत् है और न प्रक्रिया है, न एक है, न बहु है; वह इन सबके परे है। स्थिरता, गतिशीलता, एकता, बहुलता आदि ब्रह्मके मनुष्यकृत लक्षण हैं। ब्रह्म निर्गुण और सगुण, एक और अनेक, स्थाणु और गतिशील, सभी कुछ है। अरविन्द कहते हैं, जगत्‌की सत्ता शिवका आनन्दनृत्य है, वह उस अवदात सत्को जैसाका तैसा, जहाँका तहाँ, जैसा वह है और जैसा वह सदैव रहेगा, रहने देता है; उसका एकमात्र और निरपेक्ष लक्ष्य केवल नृत्यका आनन्द है। किन्तु चूँकि हमारे लिए गति और स्थिति, एकता और बहुलताके परे ब्रह्मके विषयमे सोच पाना कठिन है, अतः हमें द्विपक्षीय सत्य, काली और शिव दोनोंको ही स्वीकार करना चाहिये और यह जाननेका प्रयास करना चाहिये कि उस देशकालातीत विशुद्ध सत्‌की भूमिकामे देश और कालके मध्य यह असीम गति, असीम शक्ति क्या है, जो सान्त और अनन्त दोनो ही है।

श्री अरविन्दके अनुसार माता चिच्छक्ति है। यह चित्‌शक्ति विशुद्ध सत् ब्रह्ममें निहित है। वह स्थिर और गतिशील दोनों ही हो सकती है। स्थिर होनेपर भी उसका अस्तित्व रहता है। विशुद्ध सत्‌मे स्थित समस्त जगत्‌की कर्त्री इस चिच्छक्तिको अरविन्दने माताका नाम दिया है। वही जगत्‌का क्रियाशील तत्त्व है। जीवकी अहन्ताके माध्यमसे अपरा प्रकृतिमें कार्य करते समय वह अपनी ही योगमायासे छिपी रहती है। वह तीन रूपोंमें प्रकट होती है—परात्पर, सृष्टि और जीव। इस चराचर जगत्‌में जो कुछ भी है, वह सब माता ही है।

ब्रह्म जगत्‌की सृष्टि क्यों करता है? इसका उत्तर अरविन्द देते हैं कि आनन्दके कारण। केवल सृष्टि करनेका आनन्द लेनेके कारण ही ब्रह्म जगत्‌की सृष्टि और उसका परिपालन करता है। परमतत्त्व सत् और चित् ही नहीं, आनन्द भी है। इस प्रसंगमें यह शंका उठती है कि तब फिर संसारमे इतनी व्यथा, पीड़ा और दुःख क्यों है? इसका उत्तर अरविन्द यह देते है कि हम एक नैतिक जगत्‌में नहीं रहते है। जगत्‌मे अपनी नैतिकताका आरोपण और उसकी उपेक्षा मनुष्यकी भूल है। परमतत्त्वका वास्तविक स्वरूप नैतिकताके परे है। नैतिकता विकासका एक सोपानमात्र है। वास्तविक प्रेरणा सच्चिदानन्दकी आत्माभिव्यक्तिकी है। यह प्रेरणा विकासक्रममें पहले नैतिकतारहित, फिर अधोनैतिक और अन्ततः परानैतिक हो जाती है, उसे नैतिकताकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इसके अतिरिक्त दुःख हमारी सतही जाग्रत चेतना मनोमय अंशका स्पन्दनमात्र होता है, वह हमारे वास्तविक अंश आनन्दमयको स्पर्श भी नहीं करता।

अरविन्द-दर्शनका दूसरा आधारिक पक्ष उनका विकासका सिद्धान्त है। इस जगत्‌मे जड़-तत्त्वसे लेकर मनुष्यके प्रस्तुत चेतनास्तरतक एक विकासक्रमको तो आधुनिक विज्ञान भी स्वीकार करता है, किन्तु उसके आदि, अन्त और लक्ष्यकी सम्यक् व्याख्या नहीं कर पाता। अरविन्दका दर्शन इन सब समस्याओंका समाधान कर देता है। जगत् और उसमें विकासकी प्रक्रिया विराट् ब्रह्माण्डमें एक निरा संयोग, किसी मूर्ख द्वारा कही चीत्कार-फूत्कारयुक्त अनर्गल कहानी नहीं है, वरन् वह सार्थक और सोद्देश्य है। विकासके दो पक्ष हैं—निवर्तन-विवर्तन या अवरोहण-आरोहण। जो निवर्तित और अवरोहित है, अपरस्तरोंमें निहित है, विकासकी प्रक्रियामें उसीका विवर्तन-आरोहण, प्रस्फुटन होता है। उस अद्वितीय परब्रह्मने संकल्प किया, 'एकोऽहं बहु स्याम्'—मै एक हूँ,

अनेक होऊँ और वह त्रिक् सच्चिदानन्दके रूपमे सत् चित् आनन्द होकर प्रकट हुआ। यह गोचर जगत् उसी परमतत्त्वका पार्थिव निवर्तन है। अरविन्दने इस निवर्तन अथवा अवरोहणका सोपानक्रम यह बतलाया है—सत् चित् आनन्द >अतिमानस>मानस>जीव>प्राण>जड़-तत्त्व (मैटर)। विवर्तन अथवा विकासका सोपानक्रम ठीक इसका उलटा है—जड़-तत्त्वसे प्राण, प्राणसे जीव, जीवसे मानस, मानससे अतिमानस, अतिमानससे आनन्द, उससे चित्, उससे परब्रह्म निरपेक्ष सत्। इस प्रकार जड भी भौतिकवादीकी जडतासे युक्त जड नहीं है, सच्चिदानन्द ब्रह्मका ही निवर्तन है।

इस पृथ्वीतलपर इस समय जो विकास हो रहा है, वह सोद्देश्य है, और उसके शिखर मानवप्राणीके विकासका एक लक्ष्य है। और वह विकास चेतनाके अधिकाधिक ऊर्ध्वगामी प्रस्फुटनके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। पार्थिव स्तरपर, प्रारम्भमें केवल जड़ पदार्थ था। आगे चलकर उससे प्राण उत्पन्न हुआ, वनस्पतिवर्गका जन्म हुआ, जिसमें चेतनाका प्रारम्भिक रूप मिलता है। तदुपरान्त स्वचेतन चेतना, अर्थात् पशुका जन्म हुआ, उससे वास्तविक मानस अर्थात् विचारका और मनुष्यका आविर्भाव हुआ। अरविन्दके अनुसार यह विकासक्रम यहीं समाप्त नहीं होता, इसे अवचेतनाके अगले सोपानपर पहुँचना है और वह स्तर है अतिमानसका। अतिमानसके प्रस्फुटित होनेपर पृथ्वीपर अतिमानवोंकी दिव्य मानवताका उदय होगा, जो आजकलकी मानवतासे उतनी ही उच्चतर होगी, जितना कि प्रस्तुत मानव पशुसे है। इस चेतनाकी क्षीण झलक मनुष्यकी वर्तमान चेतनाके स्तरपर भी मिल जाती है, जैसे सम्बोधि (इनट्वीशन), कवियों और कलाकारोंकी उत्प्रेरणा (इन्स्पिरेशन); सन्तों और महात्माओंकी रहस्यानुभूति। किन्तु अभी यह झलक ही है, बुद्धिकी भाँति मनुष्यका अंग नहीं है। अतिमानस उस चेतनाका स्वरूप है, जिसकी यह झलक है। अतिमानव या दिव्य मानवका जन्म तभी होगा, जब मनुष्य अपने मन-बुद्धिका अतिक्रमण करके अतिमानसिक चेतनामें प्रवेश करेगा; तब वह शारीरिक मृत्युपर भी विजय प्राप्त कर लेगा।

अतिमानस सच्चिदानन्द और जगत्के मध्य आवश्यक कड़ी है। वह परमतत्त्वके परिपूर्ण सत्यसे युक्त सर्जनात्मक प्रत्यक्ष है। वस्तुतः वह स्रष्टा प्रभु और ईश्वर ही है। उसका स्वरूप अद्वैतवेदान्तके मायाच्छन्न ईश्वरसे भिन्न है। अरविन्द ईश्वरके सम्बन्धमें वेद और उपनिषद्के मतको स्वीकार करते है—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि। अतिमानस मानसकी चरम परिणति है। किन्तु मानस और अतिमानसके मध्य विशाल खाई है। सम्बोधि ही उनके मध्य सेतुका कार्यकर सकती है, यद्यपि मनुष्यके प्रस्तुत स्तरकी सम्बोधि यह कार्य पूर्ण रूपसे सम्पन्न नहीं कर पाती।

मानस और अतिमानसके मध्यकी कड़ी है अधिमानस (ओवर माइण्ड)। यद्यपि अतिमानस अधिमानसको अपनी समस्त सत्य सम्पदा दे देता है, अधिमानस ही अविद्याका प्रथम जनक है। अधिमानसमें ही प्रकृति-पुरुष जैसे सांख्य विभेदोंका उदय होता है। अधिमानसिक चेतना विश्वव्यापी है और अपने मध्य अनन्त प्रतीत्यात्मक विभेदोंको अभेदयुक्त एकत्वमें लिये रहती है। किन्तु बहुत बड़ा साधक हुए बिना अधिमानसमें प्रवेश और निवास सम्भव नहीं होता। अतः स्फुरणात्मिक (इन्ट्यूटिव) मानस वह स्तर है, जहाँ जीवको अपने सत्य स्वरूपकी आन्तरिक झलक मिलती है। फिर सम्बुद्ध मानस (इल्यूमिण्ड माइण्ड) है। इस स्तरमें जीव परमात्मासे पृथक् होते हुए भी सत्यका प्रकाश पाता रहता है।

मनुष्यके भीतर जड तत्त्व, प्राण और मानसके परे एक अन्य आभ्यन्तर तत्त्व है। यह है एक दिव्य मानस, प्राण और पदार्थ, जो सतही मानसकी अपेक्षा बहुत ही नमनशील, शक्तियुक्त और क्षमतायुक्त होता है। प्रकाश प्रेम, आनन्द और सत्ताका यह सूक्ष्म तत्त्व चैत्यपुरुष है। हमारी मनोमय आत्माके परे हमारी सत्ताका यह केन्द्र स्थित है। यही हमारी आत्मा है। अपनी आत्माको पाना ही सच्चे आत्मिक जीवनको पाना है। आध्यात्मिक साधनामें इस चैत्यपुरुषको जाग्रत कर लेना अनिवार्य है।

अरविन्दके योग और उनकी साधनाका उद्देश्य अतिमानसके अवतरणके लिए उपयुक्त और वांछित भूमि तैयार करना है, समग्र मानवताको उसके सभी अंशोंमें दिव्य स्तरपर रूपान्तरित कर डालना है। इसीलिए वे कहते है कि उनका योग समग्र मानवता या भगवान्के लिए है, व्यक्तिगत सिद्धि या मुक्तिके लिए नहीं। परिपूर्ण आत्मसमर्पण, सर्वत्र भगवद्दर्शन, द्रष्टा-भाव और अपनेमें भागवत प्रक्रियाको अनुमति देना अरविन्दके पूर्ण योगके अंग हैं। उनकी साधनापद्धतिमें भक्ति, ज्ञान, कर्म आदि सभी मार्गोंका श्रेष्ठ समन्वय है। —आ० रा० शा०

अरविंद सवैया–दे० 'सवैया', ग्यारहवाँ प्रकार।

अरसात सवैया–दे० 'सवैया', नवाँ प्रकार।

अराजकतावाद–अराजकतावाद अंग्रेजीके 'एनारकिज़म'के अर्थमें गढ़ा हुआ शब्द है। इसका अर्थ सामान्यतः सामाजिक या राजनीतिक अव्यवस्था किया जाता है। पर ऐसा अर्थ वे ही करते है, जो अराजकतावादी नहीं है। अराजकतावादका प्रधान अर्थ राज्य, समाज और परिवारका उन्मूलन करना है, सभी प्रकारके नियमोंका उल्लंघन करना है। नियम मनुष्यकी स्वतन्त्रताका अपहरण करते है। अराजकतावाद मनुष्यको ही सत् मानता है, समाज, परिवार, राज्य, धर्म और नीतिको वह काल्पनिक शब्दमात्र मानता है। इनके द्वारा निर्धारित नियमोंके पालनसे, उसके अनुसार, मनुष्यको 'मनुष्यता'की प्राप्ति नहीं होती है। इन सब नियमोंमें राजनीतिक नियम सबसे दुःखदायी है, राज्य मनुष्यका सबसे भयंकर शत्रु है। अतः राज्यका उच्छेद करना ही मनुष्यके लिए हितकर है। मनुष्यका सुखमय जीवन तभी हो सकता है, जब कि राज्य, समाज और परिवारके प्रतिभास या भ्रम दूर हो जायें और वह अपनी स्वेच्छासे जीवनयापन करे। मनुष्य निसर्गतः भला है। वह अपने इन भ्रमोंके जालमें पड़कर बुरा हो जाता है।

अराजकतावाद इस तरह पूर्ण व्यक्तिवाद है। यह असमाजवाद है। यह दण्डरहित, राज्यविहीन, वर्गविहीन,

धर्मविहीन, नीतिविहीन तथा समाजविहीन नाना मनुष्योंके स्वच्छन्दतापूर्वक जीवन बितानेके आदर्शको प्रस्तुत करता है।

अराजकतावादी विचारकोंमें यूनानके सोफिस्ट तथा वर्तमान समयमें विलियम गॉडविन (१७५६-१८३६ ई०) मैक्स स्टर्नर (१८०६-१८५६ ई०) और क्रोपाटकिन (१८४२-१९२० ई०) के नाम प्रमुख हैं। हॉब्स और रूसोने प्राकृतिक जीवन बितानेकी शिक्षा दी। उनके कारण वर्तमान समयमें अराजकतावादके विकासमें काफी प्रगति आयी। भारतमें एन० एन० राय प्रायः अराजकतावादी माने जाते हैं। यहाँ प्राचीनकालमें आदर्शवादी राजनीतिक चिन्तन अराजकतावादी ही रहा है। महाभारत और रामायणमें रामराज्य की कल्पनाकी गयी है। रामराज्य 'यूटोपिया' है। यह अराजकतावादी समाज, राष्ट्र तथा अन्तर्राष्ट्रीयताकी व्यवस्था करता है। इसके अनुसार आदर्श समाज, राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्रीयता वह है, जहाँ प्रत्येक नागरिक स्वानुशासनसे अपनेको मर्यादित रखता है और उसके ऊपर किसी अन्य व्यक्ति, संस्था या सत्ताका लेशमात्र भी नियन्त्रण नहीं होता। सत्ययुगकी कल्पना भी अराजकतावादी ही है।

हिन्दी साहित्यमें अगर किसी राजनीतिक मतवादका विशेष प्राबल्य रहा है तो वह अराजकतावाद ही है। गोस्वामी तुलसीदासने रामराज्यकी कल्पनाको काफी विकसित किया है। साम, दान, दण्ड, भेद और युद्ध, इन पाँच अंगोंसे युक्त कौटिल्य-प्रतिपादित राजनीतिको उन्होंने साम और दान इन दो अंगोंसे युक्त राजनीतिमें बदल दिया। 'दण्ड जतन्हि कर भेद जहँ, नर्तक नृत्य समाज। जीतहु मनहि सुनिअ अस रामचन्द्रके राज'। उनके द्वारा कल्पित आदर्श राज्यके राजाका उद्घोष है—'नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई। सुनहु करहु जो तुम्हहि सोहाई'। यहाँ विशुद्ध अराजकतावाद है। गान्धी और विनोबाने इस कल्पनाको एक कदम और आगे बढ़ाया और आधुनिक प्रणालीसे चिन्तन करके निष्कर्ष निकाला कि राज्यको दण्ड-निरपेक्ष होना चाहिए। राहुल सांकृत्यायन तथा अन्य प्रयोगवादी लेखक भी अराजकतावादी मानवको ही आदर्श मानव मानते हैं। समाजवाद और साम्यवादसे प्रभावित लेखक भी अराजकतावादी हैं। हिन्दीके अधिकांश आधुनिक लेखक प्रगतिवादी हैं। वे नियमों, अनुशासन, दण्ड तथा रूढ़ियोंसे जर्जरित समाजको बदलना चाहते हैं और मानवको स्वच्छन्द रखना चाहते हैं। किन्तु वे स्वच्छन्दतावादके इतने अधिक हिमायती हैं कि उनका स्वच्छन्दतावाद विशुद्ध अराजकतावाद न होकर विकृत अराजकतावाद हो जाता है। उसमें कुछ सदाचार रह ही नहीं जाता है और वस्तुतः अनाचार, दुराचार तथा अत्याचार ही व्यक्तिका आचार रह जाता है।

गोस्वामी तुलसीदाससे लेकर गान्धी और विनोबा तकको हम विशुद्ध अराजकतावादी कह सकते हैं। ये लोग मानव मात्रकी स्वाभाविक सत्त्व-शक्ति या शुभ भावनाको प्रशिक्षित विकसित तथा संगठित करके अराजकतावादको लाना चाहते हैं। फिर आधुनिक प्रगतिवादियों और प्रयोगवादियोंको हम विकृत अराजकतावादी कह सकते हैं। ये लोग मानवकी राजसिक और तामसिक प्रवृत्तियोंको उभारकर नियमबद्ध समाजको बदलना चाहते हैं। पहले प्रकारके लोग रचनात्मक कार्यकर्त्ता और राजनीतिक विचारक हैं और दूसरे प्रकारके ध्वंसात्मक लेखक तथा भावुक प्रेरक हैं।

अराजकतावादियोंका यह सिद्धान्त आज सर्वथा सही समझा जाता है कि मनुष्यका आदर्श जीवन वह है, जिसपर राज्यका शासन बिलकुल कम हो। साम्यवादी तथा गान्धीवादी दोनों ही ऐसे आदर्शकी सम्भावनापर विश्वास करते हैं। राजनीतिमें इस सिद्धान्तका उपयोग यह है कि राज्यका कर्तव्य नागरिकोंपर तनिक भी बन्धन न डालना है। यदि राज्य इस आदर्शको सदैव ध्यानमें रखे तो उससे सदैव लाभ हो सकता है।

'पूर्ण समाजमें नियम अनावश्यक हैं', इस सही सिद्धान्तसे अराजकतावादी यह गलत निष्कर्ष निकालता है कि 'पूर्ण-समाजको प्राप्त करनेके लिए नियमोंका उन्मूलन आवश्यक है'। समाजको कायम रखनेके लिए कुछ-न-कुछ नियमोंका रहना आवश्यक है, भले ही उनका पालन सामाजिकोंके सच्चरित्रके कारण अनावश्यककर दिया गया हो। अराजकतावादी मनुष्यके स्वभावको समझनेमें दो भूलें करता है। पहली यह कि वह मनुष्यको भला ही मानता है, बुरा नहीं। मनुष्यकी प्रकृति भली और बुरी दोनों ही है। दूसरी बात यह कि वह मनुष्यको सामाजिक नहीं मानता। यदि परिवार या समाज न होता तो मनुष्यकी चेतनाकी उत्पत्ति न होती। इस कारण मनुष्यको सामाजिक मानना उसके स्वभावको समझना है। मनुष्यके स्वभावको न समझनेके कारण अराजकतावाद घोर स्वार्थवाद और यदृच्छावादमें परिणत हो जाता है। —सं० ला० पा०

अर्चना गीत—दे० 'स्तुतिगीत', स्तोत्र।

अर्थ-दोष—अर्थ-दोषके वास्तविक अभिप्रायको हृदयंगम करनेके लिए यह आवश्यक है कि दोषोंकी परिभाषा और उनके भेदोंको भली भाँति समझ लिया जाय। इन विषयोंका विस्तृत विवेचन अन्यत्र 'काव्य-दोष', 'अपकर्ष' और 'शब्द-दोष'के अन्तर्गत देखा जा सकता है। भरतने दोषोंको गुणोंका विपर्यय मानकर उनकी स्थिति भावात्मक मानी है। अग्निपुराणमें इन्हें उद्वेगजनक माना है। भामहने दोषोंको सामान्य, वाणी-दोष आदिमें विभाजित करके उनके गुणत्व-साधनका विवेचन किया है। दण्डीने भी भामहकी परिपाटीको अपनाया है। वामनने सर्वप्रथम दोषोंके शब्दगत और अर्थगत भेद किये हैं। दोषोंकी आचार्यत्व-परम्पराको सर्वप्रथम इन्होंने अधिक वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया है। और काव्य-सौन्दर्यकी हानि करनेवाले तत्त्वोंको दोष मानकर शब्द और अर्थसम्बन्धी दोष माना है। काव्यमें प्रयुक्त पदोंमें जो दोष दिखलाई पड़ते हैं, वे शब्द-दोष हैं। जिन दोषोंका सम्बन्ध अर्थसे होता है, वे अर्थ-दोष होते हैं।

शब्द और अर्थके ये दोष अप्रत्यक्ष रूपसे रस अथवा काव्यके मुख्य प्रतिपादित विषयको हानि पहुँचाते हैं। इसके अनन्तर उत्तर-ध्वनिकालमें दोषोंका और विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। मम्मटने सभी दोषों, विशेषकर अर्थ दोषोंका सूक्ष्म विश्लेषण किया है। साहित्यदर्पणकारने 'काव्यप्रकाश'में वर्णित अर्थ-दोषकी विस्तृत व्याख्या की है। इन आचार्योंका मत है कि जिससे मुख्य

अर्थका अपकर्ष हो, वह दोष है। मूल रूपमें रस और गौण रूपमें शब्द और अर्थके अपकर्ष द्वारा काव्यका अपकार करनेवाले तत्त्व दोष कहलाते हैं। इसके अनन्तर अर्थ-दोषोंका विवेचन किया गया है। मम्मटने अर्थ-दोषकी संख्या २३ मानी है। विश्वनाथने भी इसे स्वीकार किया है।

हिन्दीके आचार्योंमें चिन्तामणिके 'कविकुलकल्पतरु'में 'काव्य प्रकाश'के आधारपर अर्थ-दोषका विवेचन है। कुलपति मिश्रकृत 'रसरहस्य', सूरति मिश्रकृत 'काव्यसिद्धान्त', कुमारमणि भट्टकृत 'रसिकरसाल'मे 'काव्यप्रकाश'-के आधारपर अर्थ-दोषका वर्णन मिलता है। श्रीपतिके 'काव्य-सरोज' तथा 'कविकल्पद्रुम'में विस्तृत तथा स्वतन्त्र रीतिसे अर्थ-दोषका वर्णन किया गया है। सोमनाथकृत 'रसपीयूष', भिखारीदासकृत 'काव्यनिर्णय', जनराजकृत 'कवितारसविनोद', जगतसिंहकृत 'साहित्यसुधानिधि', लछिरामकृत 'रावणेश्वरकल्पतरु' आदि ग्रन्थोंमे प्रधानतः 'काव्यप्रकाश'के आधारपर अर्थ-दोषका वर्णन मिलता है। इन आचार्योंने मम्मट द्वारा वर्णित विषयका ही उल्लेख किया है और नवीनता तथा मौलिकताका बहुत कम परिचय दिया है (दे० 'काव्य-दोष')।

इस प्रकार मम्मट द्वारा निरूपित अर्थ-दोषकी ही हिन्दीमे प्रधानता रही है। इनके अनुसार शब्द-दोषके निराकरणके उपरान्त भी जहाँ दोष बना रहता है, वहाँपर अर्थ-दोष होता है। प्रमुख अर्थ-दोष ये हैं—१. अपुष्ट, २. कष्टार्थ, ३. व्याहत, ४. पुनरुक्त, ५. दुष्क्रम, ६. ग्राम्य, ७. संदिग्ध, ८. निर्हेतु, ९. प्रसिद्धि-विरुद्ध, १०. विद्या-विरुद्ध, ११. अनवीकृत, १२. साकांक्ष, १३. अपदयुक्त, १४. सहचरभिन्न, १५. प्रकाशित-विरुद्ध, १६. निर्मुक्त पुनरुक्त, १७. अश्लील, १८. नियमपरिवृत्त, १९. अनियमपरिवृत्त, २०. विशेष-परिवृत्त, २१. सामान्यपरिवृत्त, २२. विधि अयुक्त तथा २३. अनुवाद अयुक्त।

१. अपुष्ट—कुछ आचार्य इसे अपुष्टार्थ नामसे पुकारते हैं। मम्मटकी दृष्टिमें अपुष्टरूप अर्थ-दोषमें रुद्रट द्वारा कथित 'असम्बद्ध' तथा 'तद्वान' दोनों अर्थ-दोष अन्तर्भूत हो जाते है। वस्तुतः रुद्रट निर्दिष्ट इन दोनों दोषोंके विवेकसे ही मम्मटने 'अपुष्टत्व' रूप एक अर्थ-दोषका नामकरण तथा लक्षण-निरूपण किया है, जो कि सर्वथा युक्तियुक्त है (का० प्र०, ७ : ५७ वृ०)। भिखारीदासका मत है कि जहाँ अर्थका बोध करानेके लिए प्रौढ उक्तिसे काम न लिया गया हो, वहाँ अपुष्टार्थ दोष होता है (का० नि०, २३)। साहित्य-दर्पणकारका कथन है कि यह दोष वहाँ होता है, जहाँ कोई उक्ति मुख्य अर्थकी उपकारी न हो (सा० द०, ७ : ११ वृ०), यथा—'ज्यों अति बड़े गगनमें, उज्ज्वल चारु मयंक' (भिखारीदास : का०नि०, २३)। यहाँ आकाश 'अति बड़ा' और 'मयंक उज्ज्वल' है, यह कहना व्यर्थ है। गगनमें मयंक उदय हुआ है, इतना ही पुष्टार्थ है, शेष अपुष्ट। अन्वय करते समय अधिक पद-दोषकी और अर्थ करते समय अपुष्ट दोषकी व्यर्थता ज्ञात हो जाती है।

२. कष्टार्थ : कष्टत्व—श्रीपतिने इस दोषको दुष्टवाक्य कहा है। मम्मटके अनुसार यह दोष वहाँ होता है, जहाँ प्रतीत होनेवाला अर्थ उस अर्थसे भिन्न होता है, जो प्रयुक्त अक्षरोंसे निकलता हो। जयदेवका कथन है कि जहाँ अर्थ शब्दोंमें रहता हुआ भी न रहते हुएके समान हो और इसी कारण स्पष्ट अर्थकी प्रतीति करानेमें असमर्थ हो, वहाँ कष्टार्थ दोष होता है; यथा—'तोपर वारौं चार मृग, चार विहँग फल चार' (का० नि०, २३)। यहाँपर वास्तविक अर्थ यह है कि 'नयनपर मृग, घूँघटपर हय, गतिपर गज, कटिपर सिंह ये चार मृग, बैनपर कोकिल, ग्रीवापर कपोत, केशपर मोर, नासिकापर शुक ये चार विहँग, दन्तपर दाडिम, कुचपर श्रीफल, अधरपर बिम्बा फल, कपोलपर मधूक ये चार फल हैं। इस प्रकार कष्टसे अर्थ प्रकट होना कष्टार्थ दोष है। क्लिष्टत्व दोषमें शब्दका परिवर्तन कर देनेसे अर्थकी प्रतीतिमें क्लिष्टता नहीं रहती, पर 'कष्टार्थ'में पर्यायवाची शब्द रखनेपर भी यह दोष दूर नहीं होता।

३. व्याहत—मम्मट, विश्वनाथ, जयदेव तथा श्रीपतिने व्याहत' (व्याहतत्व)का वर्णन किया है। भिखारीदासके अनुसार सावधानी न रखनेके कारण जहाँ एक ही उक्तिसे सत्य तथा असत्य दोनों ही बातें एक साथ कही जायँ, वहाँ व्याहत दोष होता है (का० नि०, २३)। चन्द्रालोककार-का मत है कि जहाँ पूर्व तथा उत्तरकथनमें विरोध हो, वहाँ व्याहत दोष होता है। भाव यह है कि किसी वस्तुकी महत्ता दिखाकर फिर उसकी हीनता सूचित करना अथवा पहले हीनता दिखलाकर फिर महत्त्वका सूचित किया जाना व्याहत दोष होता है; यथा—'चन्द्रमुखीके बदन सम, हिमकर कह्यो न जाइ' (भिखारीदास : का० नि०, २३)। यहाँपर 'चन्द्रमुखी' कहा है, पर चन्द्रसम वदन न कहना दो विरोधी बातें हैं। अतः यहाँपर व्याहत दोष है।

४. पुनरुक्त—विभिन्न आचार्योंने इसके नाम पुनरुक्ति, पुनरुक्तत्व आदि दिये हैं। भरत, भामह, वामन, केशव, श्रीपति आदिने इस दोषको अन्य नामोंसे भी पुकारा है। यह दोष शब्द-दोषके अन्तर्गत भी कथित पदके नामसे उल्लिखित है। उक्त आचार्यों द्वारा दी हुई परिभाषाएँ शब्दगत और अर्थगत दोनो प्रकारसे पुनरुक्तिकी ओर संकेत करती हुई प्रतीत होती है, अतएव (दे० 'कथित पद-शब्द-दोष') एक शब्दका वाक्य द्वारा अर्थ-विशेषका बोध हो जानेपर भी उसी अर्थवाले दूसरे शब्द या वाक्य द्वारा उसी अर्थका प्रतिपादन करना पुनरुक्त दोष कहलाता है; यथा—'मृदुबानी मीठी लगे, बात कविनकी उक्ति' (का० नि०, २३)। यहाँपर 'बानी', 'बात' और 'उक्ति' एक ही अर्थके द्योतक हैं। अतः पुनरुक्ति दोष है। 'अपुष्ट' दोषमे अर्थकी पुनरावृत्ति नहीं होती है और इस दोषमे होती है, यही दोनोंमें अन्तर है। जहाँ उत्कर्ष सूचित होता है, वहाँपर यह दोष नहीं माना जाता।

५. दुष्क्रम : दुष्क्रमत्व—भामह, दण्डी तथा वामनके अपक्रम दोषका एक अंश मम्मटके दुष्क्रम दोषके अन्तर्गत आ जाता है। श्रीपतिने भी 'दुष्क्रम' दोषका उल्लेख किया है। मम्मटके अनुसार दुष्क्रमत्वका अर्थ है अनुचित अर्थक्रम (का० प्र०, ७ : ५७ वृ०)। अभिप्राय यह है कि जहाँ क्रमके विचारसे क्रम न रखा जाय अथवा लोक या शास्त्रके विरुद्ध क्रम हो, वहाँपर दुष्क्रमत्व दोष होता है। यथा—'वर बाजीके वारनै, दैहैं रीझि दयाल' (का० नि०, २३)।

यहाँपर 'बाजी' (घोड़ा)के पश्चात् 'वारने' (हाथी)का उल्लेख होना अनुचित है। अतः दुष्क्रम दोष है। यह इस प्रकार होना चाहिये—'वारन ही कै बाजि ही दैहै।' अथवा—'मारुत नन्दन मारुतको, मनको खगराजको बेग लजायो' (तुलसी)। इसमें सबसे अधिक वेगवान 'मन'को कहनेके उपरान्त खगराजके वेगका उल्लेख करना दुष्क्रम दोष है।

६. ग्राम्य : ग्राम्यत्व—ग्राम्यत्व दोष शब्दगत और अर्थगत, दोनों प्रकारका होता है। अतः आचार्योंने दोनों प्रकारके ग्राम्य-दोषका वर्णन किया है। कुछ लेखक शब्द और अर्थके ग्राम्य-दोषका विभाजन उचित रूपसे नहीं कर पाये है। उनके सम्बन्धमें यह बतलाना कठिन है कि उन्होंने शब्द-ग्राम्य-दोषका विवेचन किया है अथवा अर्थ-ग्राम्य-दोषका। इसलिए इसका विवेचन करते समय विभिन्न आचार्योंका उल्लेख ग्राम्य-दोषके शब्द और अर्थगत भेदोंके साथ कर दिया गया है। वामन, मम्मट, विश्वनाथ, सूरति मिश्र और श्रीपति आदिने शब्द-ग्राम्य-दोष और अर्थ-ग्राम्य-दोषका अलग-अलग भेद स्पष्ट कर दिया है। भरतके भिन्नार्थ-दोषका एक अंश इसके अन्तर्गत आ जाता है (नाट्यशास्त्र, १७:९०)। केशवका बधिर दोष इसी दोषमें सम्मिलित है (कविप्रिया, ३:९)। ग्राम्य-दोषका अर्थ है अविदग्धोक्तिरूप अर्थका दोष (का० प्र०, ७ : ५७ वृ०)। अर्थात् यह दोष वहाँपर होता है जहाँपर चतुर व्यक्तियों-की तरह बात न कही जाय, वरन् गँवारू भाषाका प्रयोग किया जाय। ऐसे वर्णन सहृदय व्यक्तिके लिए उद्वेगजनक होते है। यथा—'अली पास पौढी भले, मोहि किन पौढन देति' (का० नि०, २३)। यहाँ नायिकासे यह कहना कि तेरे पास तेरी सखी सो रही है, तू मुझे क्यों नहीं लेटने देती, गँवारपनका द्योतक है। अतः ग्राम्य-दोष है।

७. संदिग्ध : संदिग्धत्व—भामह और दण्डीने इस दोषको 'ससंशय' नाम दिया है। यह दोष शब्द-दोषके अन्तर्गत ही आया है। सूरति मिश्र, श्रीपति तथा भिखारी-दासने इसका विवेचन किया है। संदिग्धका अर्थ है प्रकरण आदिके अभावमें दो अर्थोंमें सन्देह उत्पन्न होना (का० प्र०, ७ : ५७ वृ०)। अर्थात् जहाँपर अनेक अर्थोंमेंसे एक भी निश्चयपूर्वक न कहा जा सके, वहाँपर यह दोष होता है; यथा—'केहि कारन कामिनि लिख्यो, शिवमूरति निज गेह' (का० नि०, २३)। यहाँपर यह कहना कठिन है कि कामिनीने कामके डरसे शिवमूर्ति लिखी अथवा अन्य किसी कारणसे। अतः इसमें संदिग्ध दोष है।

८. निर्हेतु : निर्हेतुत्व—भामहने इस दोषका नाम 'प्रतिज्ञा-हेतु-दृष्टान्त-हीन' रखा है। मम्मटका कथन है कि बिना हेतुके किसी विवक्षित अर्थके उपादानको निर्हेतु दोष कहते हैं। (का० प्र०, ७ : ५७ वृ०), अर्थात् जहाँ बिना हेतुके कोई बात कही जाय, वहाँपर निर्हेतु-दोष होता है; यथा—'सुमन झन्यो मानों अली, मदन दियो सर डारि' (का० नि०, २३)। यहाँपर यह तो स्पष्ट है कि कामदेवने बाण डाल दिये, पर उसके ऐसा करनेका क्या कारण है, इसका पता नहीं चलता। अतएव यहाँपर निर्हेतु-दोष है। लोकप्रसिद्ध अर्थमें निर्हेतु-दोष नहीं होता है।

९. प्रसिद्धिविरुद्ध : प्रसिद्धिविरुद्धत्व—भरतने इसे न्यायादपेत कहा है (नाट्यशास्त्र, १७ : ९३)। वामनने प्रसिद्धि-विरुद्धको 'अलोक' नाम दिया है। भामह और दण्डीके देश-काल-कला-लोक-न्याय-विरोधीका एक अंश इस दोषमें समन्वित होता है और शेष विद्या-विरुद्धके अन्तर्गत। केशवके 'देशविरोध', 'कालविरोध' दोष इस दोषके अन्तर्गत आते हैं, (कविप्रिया, ३ : ५३-५५) भिखारीदासने इसे 'प्रसिद्धिहतत्व'की संज्ञा दी है (का० नि०, २३)। मम्मटका कहना है कि लोकप्रसिद्धि अथवा कविप्रसिद्धि अर्थसे विरुद्ध अर्थके उपनिबन्धन दोषको कहते हैं (का० प्र०, ७: ५७ वृ०)। अर्थात् जहाँपर लोकमें अथवा कवियोंमें जो बात प्रसिद्ध हो, उसके विपरीत कथन किया जाय, वहाँपर यह दोष होता है; यथा—'कंकन जो याकों कहै, है उनकी अति भूल। मदन दियो निज चक्र यह, मृग लोचनि कर मूल। यहाँपर हाथके भूषण कंकणको कामदेवका शस्त्र कहा गया है। कामदेवका शस्त्र धनुष ही लोकमें प्रसिद्ध है, न कि चक्र। चक्रका सम्बन्ध तो भगवान् विष्णुके साथ प्रसिद्ध है। अतः यहाँपर प्रसिद्धि विरुद्धदोष है। 'प्रसिद्धिहतत्व'की आशंका वहाँ नहीं की जा सकती, जहाँ ऐसे अर्थका निबन्ध किया गया हो, जो लोकविरुद्ध होनेपर भी कविप्रसिद्ध हो। मम्मटने यहाँपर 'कविसमय'की ओर संकेत किया है, जिसका वर्णन अन्य आलंकारिक विशद रूपसे कर चुके है।

१०. विद्याविरुद्ध : विद्याविरुद्धत्व—वामनने विद्या-विरुद्धका उल्लेख किया है। भामह और दण्डीने इसे देश काल-कला-लोक-न्यायविरोधी माना है। इसका एक अंश वामनके अलीक दोषमें आ जाता है। भरतने इसे 'न्यायाद-पेत' कहा है (नाट्यशास्त्र, १७; ९३)। केशवके 'निगम-विरोध' तथा 'न्याय-आगम-विरोध'का समाहार विद्याविरुद्धमें हो जाता है (कविप्रिया, ३:५६, ५७)। मम्मटसम्मत विद्याविरुद्ध दोषमें 'प्रत्यक्ष आदि विरुद्धत्व' रूप अन्य अनेक अर्थदोष (देश-विरुद्ध, काल-विरुद्ध, लोक-विरुद्ध, प्रतिज्ञा-विरुद्ध) समन्वित है, जिनका निर्देश भोजराजने अपने 'सरस्वती-कण्ठाभरण' (प्रथम परिच्छेद)में किया है। इस दोषसे अभिप्राय है कि जहाँ शास्त्रविरुद्ध बातोंका वर्णन किया जाता है, वहाँपर 'विद्याविरुद्ध' दोष होता है (का० प्र०, ७:५७ वृ०), यथा—'रद-छद सद नख-पद लगे, कहे देत सब बात'। यहाँपर रद छदोंपर, अधरोंपर नख-क्षतोंका होना काम-शास्त्रके विरुद्ध है। इसी प्रकार जहाँपर धर्म, नीति आदि शास्त्रविरुद्ध वर्णन होता है, वहाँ भी यह दोष होता है। भिखारीदासने एक ही पद्यमें प्रसिद्धि-विरुद्ध और विद्याविरुद्धका उदाहरण दिया है (का० नि०, २३)।

११. अनवीकृत : अनवीकृतत्व—मम्मट, विश्वनाथ तथा हिन्दीके भिखारीदास आदिने स्वीकार किया है—जहाँपर पिष्टपेषण अर्थात् अनेक अर्थोंका एक ही प्रकारसे वर्णन किया जाता है और उनमें कोई विलक्षणता नहीं होती, वहाँपर अनवीकृत दोष होता है; यथा—'कौन अचम्भो जो पावक जारै तो कौन अचम्भो गरू गिर भाई' (का० नि०, २३)। इसमें 'कौन अचम्भो'के बादके वाक्य वास्तविक अर्थोंके द्योतक हैं, परन्तु इन सबके कहनेके पश्चात् भी कोई नयी बात नहीं ज्ञात होती। अतः यहाँ 'अनवीकृत' दोष है। विलक्षणता

रहनेपर अनवीकृत दोष दोष नहीं रह जाता है।

१२. साकांक्ष—मम्मट, विश्वनाथ तथा हिन्दीमें भिखारीदास आदिने इसका विवेचन किया है। आचार्योंने इसको भिन्न-भिन्न नामोंसे पुकारा है—साकांक्ष्य और साकांक्षत्व। इसका अर्थ है ऐसे अर्थके अभिधानका होना, जिसमें किसी अनुपात अर्थकी आकांक्षा बनी रहे (का० प्र०, ७:५७ वृ०); यथा—'परम विरागी चित्त निज, पुनि देवनको काम। जननी रुचि पुनि पितु वचन, क्यों तजि है बन राम' (का० नि०, २३)। यहाँपर ऐसे शब्दोंकी आकांक्षा है, जिनसे वनगमनका अर्थ प्रकट हो। अतएव 'क्यों तजिहै बन राम'के स्थानपर 'क्यों न जायँ बन राम' होना चाहिये। भिखारीदासने इस दोषको साकांक्ष नामसे पुकारा है।

१३. अपदयुक्त—मम्मटके अनुसार अपदयुक्तत्वका अभिप्राय है प्रकृत अर्थके विरुद्ध अर्थ रखनेवाले पदसे युक्त अर्थका वर्णन करना (का० प्र०, ७:५७ वृ०), अर्थात् जहाँपर अनुचित या अनावश्यक ऐसे पद या वाक्यका प्रयोग हो, जिससे कही हुई बातके मण्डनके बदले खण्डन हो जाय, वहाँपर अपदयुक्त दोष होता है; यथा—'आज्ञानुकारि सुरनाथ, पुरारि भक्त, लंकापुरी, विमल वंश, अपार शक्ति। है धन्य, ये यदि न रावणता कहीं हो, एकत्र सर्वगुण किन्तु कहीं नहीं हो' (मम्मट द्वारा प्रस्तुत उदा०: छायाकार कन्हैयालाल पोद्दार)। यहाँ रावणमें रावणत्वरूप दोष दिखलाना ही प्राकरणिक अर्थ है। चौथे पादके अर्थान्तरन्यासके कारण उस दोषमें लघुता आ गयी है। अर्थात् रावणकी अत्यन्त क्रूरता, यह कह देनेसे कि सब गुण एक स्थानपर नहीं हो सकते, एक साधारण बात हो गयी है। अतएव चौथे पादमें जो बात कही गयी है, उसे नहीं कहना चाहिये था।

१४. सहचर-भिन्न—इस दोषका उल्लेख मम्मट, विश्वनाथ तथा भिखारीदासने किया है। सहचर-भिन्नत्वसे अभिप्राय ऐसे अर्थके अभिधानसे है, जो अन्य समभिव्याहृत सजातीयभूत अर्थोंमें विजातीय रूपसे प्रतीत हो (का० प्र०, ७:७५ वृ०) अर्थात् जहाँ विवेकसे संगतिकी उपयुक्तताका ध्यान रखा गया हो; यथा—'निसि ससि सो जल कमल सों, मूढ़ व्यसन सों मित्त। गज मद सों नृप तेज सों, शोभा पावत नित्त' (का० नि०, २३)। यहाँपर निशिकी शशिसे तथा जलकी कमलसे मैत्री जिस उच्च भावका प्रकाशन करती है, वह मूढ़ तथा व्यसनमें उपलब्ध नहीं। अतः इसमें सहचरभिन्न दोष है।

१५. प्रकाशित-विरुद्ध—इस दोषका वर्णन 'काव्यप्रकाश', 'साहित्यदर्पण', 'चन्द्रालोक' तथा 'काव्यनिर्णय'में विस्तारपूर्वक मिलता है। प्रकाशित विरुद्धत्वमें ऐसे अर्थका अभिधान किया जाता है, जो एक व्यंग्यार्थका प्रत्यायक हो रहा हो, उस स्थलपर यह दोष होता है (का० प्र०, ७:५७ वृ०)। अर्थात् जहाँ जो लक्षण कहना अपेक्षित हो, पर उससे विरुद्ध अर्थकी प्रतीति हो, वहाँपर प्रकाशित-विरुद्ध दोष होता है; यथा—'हँसनि तकनि बोलनि चलनि सकल सकुचमय जासु। रोष न केहूँ कै सकै, सुकवि कहै सुकिया सु' (का० नि०, २३)। यहाँपर कवि स्वकीया नायिकाका वर्णन करना चाहता है पर इस अवतरणमें परकीयाका भी अर्थ लगता है। अतः प्रकाशित-विरुद्ध दोष है। 'विरुद्ध मतिकृतत्व'में अर्थकी प्रतीति शब्दशक्तिमूलक रहा करती है और 'प्रकाशित-विरुद्ध'में विरुद्ध अर्थकी प्रतीति अर्थ सामर्थ्यमूलक हुआ करती है। अर्थात् 'विरुद्ध मतिकृत' दोष शब्दके आश्रित है—वहाँ शब्दपरिवर्तनसे दोष नहीं रहता है। 'प्रकाशित-विरुद्ध'में शब्दपरिवर्तन कर देनेपर भी दोष रहता है। इन दोनोंमें यही भेद है।

१६. निर्मुक्त-पुनरुक्त—मम्मटने इस दोषको 'त्यक्तपुनःस्वीकृतत्व' नाम दिया है, पर विश्वनाथने यही नाम माना है। जहाँ निराकांक्ष रूपसे समाप्त भी वाक्यांशका पुनः किसी अन्य कारकादि प्रयोगसे उपादान किया जाता है। वहाँ यह दोष होता है (का० प्र०, ७:५७ वृ०)। अर्थात् यह दोष वहाँपर होता है, जहाँ छोड़ी हुई बात फिरसे उठायी जाती है; यथा—'मो सुधि-बुधि हरि हरि लई, काम करौ डर हेत' (का० नि०, २३)। जब सुधि-बुधि हर जाती है तब काम किस प्रकार कर सकती है? अतः यहाँपर त्यक्तपुनःस्वीकृत दोष है।

१७. अश्लील—मम्मट, विश्वनाथ तथा हिन्दीमें भिखारीदास आदिने इसे अर्थ-दोष माना है। अश्लीलत्वका अर्थ है अभिहित अर्थमें व्रीडादि समर्पण होना। अर्थात् जहाँ किसी लज्जाजनक अर्थका बोध होता है, वहाँपर यह दोष होता है (का० प्र०, ७:५७ वृ०); यथा—'उन्नत है पर छिद्रको, क्यों न जाइ मुरझाइ' (का० नि०, २३)। इसका अर्थ है कि जो दूसरेका छिद्र (दोष) देखनेपर ही उतारू है, ऐसा खल क्यों न मुरझा जायगा। पर इसके अतिरिक्त ऐसा भी अर्थ निकलता है, जो अश्लील और लज्जाजनक है, अतः यहाँपर अश्लील अर्थ-दोष है। —टी० सिं० तो०

१८. नियम-परिवृत्त—मम्मटने सनियम तथा विश्वनाथने नियम कहा है। 'मम्मटके अनुसार नियमित रूपसे वर्णन योग्य अर्थका अनियमित रूपसे उपनिबन्ध अर्थात् वर्णन किया जाना, यह दोष है (का० प्र०, ७:५६ वृ०); यथा—'जाकी सुभदाइक रुचिर, करतै मनि गिरि जाइ। क्यो पायें आभास मनि, होइ तासु चित चाइ' (का० नि०, २३)। यहाँ मणिका आभास छाया होती है, उसके लिए 'क्या लहि छाया मात्र मनि' कहना नियमानुसार होता। अतः यह दोष है। भिखारीदासने 'नियम अनियम परिवृत्त'को एक ही दोष मान लिया है।

१९. अनियम-परिवृत्त—मम्मट तथा विश्वनाथके अनुसार अनियमित रूपसे वर्णनीय अर्थका वर्णन करना, यह दोष है (का० प्र०, ७:५६ वृ०)। भिखारीदासने इसे नियम-परिवृत्तके साथ मिला दिया है। मम्मटका उदाहरण—'जब सरस्वती (नदी) आपके मुख-कमलमें निवास कर रही है, जब आपका अधर शोण (लाल तथा नदी) ही है··· आपको जल पीनेकी अभिलाषा क्यों हो'। इसमें 'आपका अधर शोण है' ऐसा कहनेमें जलपानकी अभिलाषाके अनौचित्यकी कोई सुन्दर प्रतीति नहीं होती, वरन् अनौचित्य वास्तविक हो उठता है, अतः यह दोष है।

२०. विशेष-परिवृत्त—मम्मट तथा विश्वनाथके अनुसार

विशेष रूपसे किसी अर्थके अभिधानके बदले सामान्य रूपसे उसका अभिधान होना, यह दोष है (का० प्र०, ५६ वृ०)। अर्थात् जहाँ विशेषके स्थानपर सामान्य धर्मका वर्णन किया जाता है। भिखारीदासने विशेष तथा सामान्य परिवृत्तको विपरीत अर्थमें ग्रहण किया है। उनके अनुसार यह परिभाषा 'सामान्य परिवृत्त' की है—'जहाँ कहत सामान्य ही, थल बिसेसको देख' (का० नि०, २३)। इसी क्रमसे उनके उदाहरण भी हैं, जो मम्मटके उद्धरणोंके आधारपर दिये गये हैं—'रैन स्याम रँग पूरि ससि, चूरि कमल करि दूरि। जहाँ तहाँ हौं पिय लखौं, ए भ्रम दाहक भूरि'। रात श्याम है और चन्द्रमा श्वेत है, फिर इन्हें भ्रम उत्पन्न करनेवाला कहना दोष है। मम्मटका उदाहरण अधिक स्पष्ट है—'श्यामां श्यामलिमानम्' कथनमें 'श्याम' शब्दका प्रयोग सामान्य रात्रिके लिए हुआ है, जब कि यहाँ चाँदनी रातका विशेष अर्थ ग्रहण कराना अभिप्रेत है, अतः दोष स्पष्ट है।

२१. सामान्य-परिवृत्त—मम्मट तथा विश्वनाथने इसको 'अविशेष' कहा है, उनके अनुसार किसी अर्थकी सामान्यता रूपसे अभिधान (वर्णन)के बदले विशेषता रूपमें उसका वर्णन करना, यह दोष है (का० प्र०, ७:५६ वृ०)। भिखारीदासने यह परिभाषा 'विशेष-परिवृत्त'की दी है—'जहाँ ठौर सामान्य कौं, कहै विशेष अयॉन' (का० नि०, २३)। और उदाहरण भी इसीके अन्तर्गत दिया गया है, जो मम्मटके आधारपर है—'कहा सिन्धु लोपत मनिन, बीचिन कीच बहाइ। सक्यौ कौस्तुभ जोरि तू, हरि सों हाथ बुड़ाइ'। यहाँ सामान्य रत्नोंके अपमानके अनौचित्यके अर्थ को प्रकट करनेके लिए कौस्तुभ (रत्नविशेष)का कथन अनुचित है। उसका सामान्य रूपमें कहनेसे ही अभिप्रेत अर्थ व्यंजित हो सकता है। इन्हीं रत्नोंमें एकने इतना उपकार किया तो सभी रत्न आदरके पात्र हैं।

२२. विधि-अयुक्त—मम्मट तथा विश्वनाथके अयुक्तके दो रूप हैं—विधि तथा अनुवाद। भिखारीदासने इन्हे अजुक्तपद'के अन्तर्गत स्वीकार किया है, पर उनका भाव बहुत स्पष्ट नहीं है। मम्मटके अनुसार अविधेय अर्थका ही विधेय अर्थके रूपमें क्रमहीन ढंगसे अभिधान (कथन) करना यह दोष है। मम्मटका उदाहरण—'आज बाहुबलके अभिमानियोंकी रणचर्चाका कैसे अन्त करता हूँ, देख लो। आजसे तुम ऐसी नींद ले सकोगे कि बन्दीजनोंके स्तुत-पाठसे ही उठ पाओगे' यहाँ विधेय अर्थ है 'निःशंक नींदसे चारणों द्वारा जगाये जाओगे' पर उसे अविधेय रूपसे प्रतिपादित किया गया है—'चारणों द्वारा जगाये गये सोते रहोगे'। इससे अभिप्रेत अर्थकी व्यंजना सम्भव नहीं, अतः विधि-अयुक्त-दोष है। भिखारीदासका उदाहरण स्पष्ट नहीं है—'पौन अहारी ब्याल है, ब्यालै खात मयूर। ब्याध जू खात मयूर कौं, कौन शत्रु बिन क्रूर'। भिखारीदासका इस उदाहरणमें सर्पको निरा पवन-अहार कहना यह दोष माना है।

२३. अनुवाद-अयुक्त—मम्मट तथा विश्वनाथके अनुसार विधेयके प्रतिकूल अनुवाद्य (उद्देश्य) का कथन, यह दोष है (का० प्र०, ७:५७ वृ०)। भिखारीदासने मम्मटके आधारपर जो उदाहरण दिया है, वह स्पष्ट नहीं है और न उनकी व्याख्या ही। उसको इस प्रकार रखा जा सकता है—'रे केशवकर आभरन, मोद करन श्रीधाम। कमल बियोगी जिउ हरन, कहा प्रिया अभिराम' (का० नि०, २३)। इसमे कमलसे अपनी प्रियाके सम्बन्धमें प्रार्थना करनेवालेका उसे 'जिउहरन' कहना विधेय रूप अभिप्रेत अर्थके लिए उद्देश्य अर्थ अनुकूल नहीं है, अतः यह दोष है। —सं०

अर्थ-प्रकृति—रूपकके समग्र इतिवृत्तको पाँच स्थितियोंमें विभाजित किया गया है—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य। ये ही अर्थ-प्रकृतियाँ हैं। धनिकने अर्थ-प्रकृतियोंको स्पष्ट करते हुए 'प्रयोजनसिद्धि हेतवः' लिखा है। धनिकका अनुकरण करते हुए विश्वनाथने भी अर्थप्रकृतियोंका स्पष्टीकरण 'प्रयोजनसिद्धि हेतवः' लिखकर किया है। कुछ लोगोने इस परिभाषाको युक्तियुक्त नहीं माना है। उनका कहना है कि कार्य तो अपने-आपमें प्रयोजन है, फिर इसको 'प्रयोजन-सिद्धिका हेतु' कैसे स्वीकार किया जा सकता है? किसी अवान्तर कार्यको प्रयोजन मानना, जो मुख्य कार्यका सिद्धि हेतु है, तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता। फिर तो अनेक अवान्तर कार्योंको प्रयोजन मानना पड़ेगा। वास्तवमे कार्य ही प्रयोजन है। लेकिन यह स्थूल कार्य स्वयं किसी सूक्ष्म कार्यको इंगित करता है। इसीलिए रंगमंचपर घटित होनेवाले कार्यमे किसी और प्रयोजनकी सिद्धिका हेतु निहित रहता है। आजकल नाटकोंका वास्तविक प्रयोजन रंगमंचपर घटित होनेवाला कार्य नहीं है, बल्कि उससे जो लक्ष्यार्थ अथवा व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है, वह उसका मुख्य उद्देश्य या प्रयोजन होता है। प्राचीनकालके नाटकोंका मुख्य प्रयोजन यदि रस-प्रतीति मान लिया जाय तो धनिककी परिभाषापर उठायी गयी आपत्तिका शमन हो जाता है। —ब० सि०

अर्थलय—अर्थलयका निरूपण प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्रमें नहीं मिलता। हिन्दीमें नयी कविताके नामसे अभिहित होनेवाली आधुनिक काव्यधाराके अन्तर्गत अनेक बाह्यतः गद्याभास कविताओंका आन्तरिक आधार खोजनेपर अर्थलयका स्पष्ट प्रमाण मिलता है, जिससे इस तत्त्वकी ओर विशेष ध्यान गया है। शब्दार्थमयी कविताका लयतत्त्व (दे०)से जन्मजात सम्बन्ध है, जो मूलतः इतना घनीभूत एवं व्यापक है कि लयको कविताका एक अनिवार्य अंग स्वीकार किये बिना उसके सम्पूर्ण स्वरूपकी व्याख्या करना कठिन होता है। आवर्तन-विवर्तन और गहराईसे युक्त गतिशीलता, जो एक सम्बद्ध प्रवाह रूपमें प्रतिभासित होती है, शब्द और अर्थ दोनोंमें लय-रूपमें व्याप्त हो जाती है। अर्थलयका यही तात्त्विक आधार है। शब्दमें लयकी स्थिति तो परम्परासे मान्य रही है, क्योंकि छन्द उसका नियोजित रूप है, परन्तु अर्थलयपर बहुत कम विचार किया गया है।

अंग्रेजीके प्रख्यात आलोचक आई० ए० रिचर्ड्सने इस विषयमें महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त किये हैं। उनकी धारणा है कि 'काव्यमें लय केवल शब्दतक सीमित नहीं है। पढ़नेवालेपर उसका प्रभाव अर्थके साथ संयुक्त होकर पड़ता है, अतएव बिना अर्थका विचार किये अच्छी-बुरी लयका अन्तर कवितामें नहीं किया जा सकता और शब्दको लय विचार करनेपर अन्ततः भाव और अर्थकी समष्टिमें ही

पहचानी जाती है, जिसमें हमारी मानसिक चेतनाकी लय समाहित रहती है'। उनकी यह तथा ऐसी अन्य धारणाएं 'अर्थलय'की स्थापनाके लिए सम्यक आधार प्रस्तुत करती है (प्रैक्टिकल क्रिटिसिज़्म, पृष्ठ २२७,२९)। टी० एस० इलियटने 'संगीतात्मक कविता'की परिभाषा बनाते हुए उसमें ध्वनि लयके अतिरिक्त अर्थके भी लयात्मक रूपकी सत्ता मानी है, साथ ही दोनोंकी अभिन्नताका भी प्रतिपादन किया है (सिलेक्टेड प्रोज, पृष्ठ ६०)। और भी अनेक विचारकोंने अर्थमें लयात्मकताकी सूक्ष्म स्थिति प्रकारान्तरसे निर्दिष्ट की है। अर्थलय केवल गद्याभास कविताओंतक ही सीमित नहीं है। वह कविताका एक मूलभूत व्यापक तत्त्व है, जो छन्द, गेय छन्द, मुक्त छन्द आदि सभी रूपोंमें उपलब्ध होता है और कहीं-कहीं भावात्मक गद्यमें भी वह परिलक्षित होता है। लोकगीतोंमें अर्थलय, शब्दलयके साथ मिश्रित होनेपर भी स्पष्टतया उभरकर सामने आती है। भावात्मकतासे अर्थ-लयका घनिष्ठ सम्बन्ध होनेके कारण श्रेष्ठ काव्यमें वह प्रायः अनिवार्य रूपमें प्राप्त होती है। —ज० गु०

अर्थवक्रोक्ति–अर्थालंकार, जहाँ अर्थश्लेष केवल अन्य अभि-प्रायसे कहे हुए वाक्यके अर्थकी कल्पना हो, वहाँ 'अर्थ-वक्रोक्ति' अलंकार होता है। भामहने वक्रोक्तिको व्यापक अर्थमें लिया है और उस सबको वक्रोक्ति माना है, जिससे अर्थ शोभित होता है और जिसके बिना किसी अलंकारकी कल्पना नहीं की जा सकती (काव्यालंकार, २।८५)। इसी प्रकार कुन्तकने इसे काव्यसर्वस्वके रूपमें माना है (वक्रोक्ति-सिद्धान्त)। परन्तु शब्दालंकारके रूपमें वक्रोक्तिका जितना महत्त्व है, उतना अर्थालंकारके रूपमें नहीं। अतः मम्मट अथवा विश्वनाथने 'वक्रोक्ति' (दे०)को शब्दालंकारमें ही परिगणित किया है और 'श्लेषवक्रोक्ति' तथा 'काकुवक्रोक्ति' नामक दो भेद बताये है। अर्थवक्रोक्तिके नामसे स्वतन्त्र अलंकारका प्रतिपादन उन्होंने नहीं किया है। मतिराम आदि आचार्योंने भी वक्रोक्तिको शब्दालंकारमें ही गिना है। यह माना जा सकता है कि जहाँ चमत्कार शब्दशक्ति-मूलक हो, वहाँ 'वक्रोक्ति' और जहाँ अर्थशक्तिमूलक हो, वहाँ 'अर्थवक्रोक्ति' अलंकार होगा। उदा०—मैथिलीशरण गुप्तके 'साकेत'से—'हे भरतभद्र, अब कहो अभीप्सित अपना। सब सजग हो गये, भंग हुआ ज्यों सपना। हे आर्य ! रहा क्या भरत अभीप्सित अब भी। मिला अकंटक राज्य उसे जब तब भी'। यहाँ प्रथम पंक्तिमें जिस अर्थमें रामने 'अभीप्सित' शब्दका प्रयोग किया है, उससे भिन्न अर्थमें उसी 'अभीप्सित' शब्दका प्रयोग भरतने तृतीय चतुर्थ पंक्तियोंमें किया है। —भ० ब्र० शा०

अर्थ-विरोध–दे० 'वर्णन-दोष', दूसरा।

अर्थ-व्यक्ति गुण–दे० 'गुण', सातवाँ प्रकार।

अर्थ-व्याप्ति–कवि-शिक्षा (दे०)के अन्तर्गत काव्य-विषयके विस्तारक्षेत्रको 'अर्थ-व्याप्ति' कहा गया है। राजशेखरने किसी पूर्वाचार्य द्रौहिणके इस मतका उल्लेख किया है कि अर्थ-व्याप्तिके तीन विभाग हैं—१. दिव्य (स्वर्गीय जनोंके क्रियाकलाप), २. दिव्य मानुष (स्वर्गीय जनोंके मनुष्य-रूपमें अवतरित होकर किये गये कार्यलाप अथवा मनुष्योंकी स्वर्गमें पहुँचकर अथवा दिव्यभाव प्राप्त करती हुई चेष्टाएँ), और ३. मानुष (मनुष्योंके कार्यव्यवहार)। राजशेखरने इन तीन विभागोंमें चार और जोड़कर अर्थ-व्याप्तिके कुल सात विभाग किये हैं। ये चार विभाग हैं—४. पातालीय (पातालवासियोंसे सम्बन्धित), ५. मर्त्यपातालीय (मनुष्य तथा पातालवासियोंके पारस्परिक व्यवहारसे सम्बन्धित), ६. दिव्यपातालीय (स्वर्ग एवं पातालवासियोंके परस्पर व्यवहार-से सम्बन्धित) और ७. दिव्यमर्त्यपातालीय (स्वर्ग, मर्त्यलोक तथा पातालके वासियोंके परस्पर व्यवहारसे सम्बन्धित) (का० मी०, अ० ९)। हेमचन्द्र तथा वाग्भटने अपने-अपने 'काव्यानुशासन'में अर्थ-व्याप्तिके इन सात विभागोंका उल्लेख काव्यके पात्रोंकी प्रकृतिके रूपमें किया है। —न० प्र० ल०

अर्थ-श्लेष–सादृश्यगर्भके गम्यौपम्याश्रय वर्गके विशेषण-वैचित्र्यका अर्थालंकार। श्लेषके सम्बन्धमें पर्याप्त मतभेद है (दे० 'श्लेष')। संस्कृतके आचार्योंमें मम्मट तथा विश्वनाथ आदिने शब्द-श्लेष और अर्थ-श्लेषको अलग-अलग माना है। जयदेवने शब्द-श्लेषका विवेचन अर्थालंकारोंके अन्तर्गत किया है, सम्भवतः इसलिए कि यहाँ उन्हें अर्थ-श्लेषपर विचार करना था। वस्तुतः हिन्दीके रीतिकालके आचार्योंने जयदेव तथा अप्पय दीक्षितकी इसी प्रवृत्तिके कारण प्रायः शब्द-श्लेषका परिचय और उदाहरण ही अर्थालंकारोंके अन्तर्गत दिया है—'श्लेष कहावत है जहाँ उपजत अर्थ अनेक' (ल० ल०, १६८)। आधुनिक विवेचकोंने स्पष्टतः मम्मट आदिके समान शब्द तथा अर्थ-श्लेषको भिन्न माना है। मम्मटने दोनोंके भेदको स्पष्ट किया है कि 'यदि एक अर्थके बोधक शब्दोंका वैचित्र्यपूर्ण अनेक अर्थ हो तो वहाँ श्लेष अर्थालंकार होगा' (का० प्र०, १०:९६ वृ०)। विश्वनाथने इसी भावको अपनी परिभाषामें व्यक्त किया है—'शब्दैः स्वभावादेकार्थैः अनेकार्थवाचनम्' (सा० द०, १०: ५८) जहाँ स्वाभाविक एकार्थ शब्दोंमें अनेक अर्थ व्यक्त हों। उदा०—'साधु चरित शुभ सरिस कपासू। निरस विसद गुनमय फल जासू' (रा० च० मा० : का० द० से) यहाँ नीरस, विशद और गुणमय एकार्थक शब्द हैं, जिनके अनेक अर्थ साधु तथा कपासके विशेषणके रूपमें लगते हैं। अथवा—'कोमल विमलरु सरस अति, विमल प्रभाव अमन्द। है सुवास मय मन हरन, तिय मुख अरु अरविंद' (अ० सं०, ३३३)। यहाँ 'कोमल' और 'विमल' एकार्थक शब्दोंके भिन्न-भिन्न अर्थ मुख तथा कमलके साथ लगते हैं। —शि० प्र० सिं०

अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि–संलक्ष्य ध्वनिका दूसरा भेद। यह ध्वनि वहाँ होती है, जहाँ किसी अथवा किन्हीं शब्दोंके पर्यायवाची शब्द रख देनेपर भी व्यंग्यार्थ उद्भूत होता है। इस ध्वनिके सर्वप्रथम तीन भेद किये गये हैं—स्वतः-सम्भवी, प्रौढोक्तिमात्रसिद्ध, कविनिबद्धपात्रप्रौढोक्तिमात्र-सिद्ध (दे०)। वस्तुसे वस्तु, वस्तुसे अलंकार, अलंकारसे वस्तु और अलंकारसे अलंकारकी ध्वनियोंकी दृष्टिसे इन तीनोंके पुनः चार-चार भेद और होते हैं। पद, वाक्य और प्रबन्धमें व्यंग्यार्थकी स्थितिको देखते हुए इन चारोंके तीन-तीन भेद और किये गये हैं। इस प्रकार स्वतःसम्भवी, कवि-प्रौढोक्ति-मात्रसिद्ध तथा कविनिबद्धपात्रप्रौढोक्तिमात्रसिद्धमें-

से प्रत्येकके बारह भेद और फलतः अर्थशक्त्युद्भव ध्वनिके सब मिलाकर ३६ अवान्तर भेद हैं। —उ० शं० शु०

अर्थ-हरण—दे० 'काव्य-हरण'।

अर्थान्तरन्यास—सादृश्यगर्भके गम्यौपम्याश्रय वर्गका प्राचीनोंसे स्वीकृत चला आनेवाला अर्थालंकार। सामान्यतः इसकी यह परिभाषा सर्वमान्य रही है—'इस अलंकारमें साधर्म्य और वैधर्म्यकी दृष्टिसे सामान्यका विशेष द्वारा और विशेषका सामान्य द्वारा समर्थन किया जाता है' (का० प्र०, १०:१०९)। रुय्यक तथा विश्वनाथने अवश्य ही 'कार्यं च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते' (सा० द०, १०:६२) अर्थात् कारणसे कार्यका तथा कार्यसे कारणका जहाँ समर्थन हो, वहाँ भी इस अलंकारको माना है। परन्तु अन्योंने इसमें काव्यलिंग ही स्वीकार किया है। विश्वनाथने जहाँ समर्थक हेतु हो, वहाँ अर्थान्तरन्यास तथा जहाँ निष्पादक हेतु हो, वहाँ काव्यलिंग माना है। परन्तु इनका मत स्वीकृत नहीं हो सका। हिन्दीके आचार्योंने प्रायः सामान्य तथा विशेषके समर्थनके दो भेद दिये हैं—'कहि विसेस सामान्य पुनि कै सामान्य बिसेस' (ल० ल०, २८९); कतिपयने मम्मटके आधारपर साधर्म्य-वैधर्म्यके आधारपर चार भेदोंका उल्लेख भी किया है—'साधरमी बैधरमी हू' (का० नि०, ८)। आधुनिक विवेचकोंने चार भेद स्वीकार किये हैं—

१. सामान्यका विशेषसे साधर्म्यसे—'रहिमन नीच कुसंग सों, लगत कलंक न काहि। दूध कलारी कर लखै, को मद जानै नाहिं' (अ० मं० से)। यहाँ सामान्यका दूध कलारीके विशेष प्रसंगसे समर्थन है और 'लगत' तथा 'जानै' दोनों क्रियाएँ साधर्म्यसे कही गयी हैं। अथवा—'गुन औगुन कौं तनकऊ, प्रभु नहिं करत बिचार। केतकि कुसुमन आदरत, हर सिर धरत कपार' (ल० ल०, २९१)। २. विशेषका सामान्यसे साधर्म्यसे—'हरि ल्यायो हरि कल्पतरु, जीति इन्द्रके ताहिं। यह न आचरज बड़ेनको, है दुर्लभ कछु नाहिं' (पद्मा०, २०५)। यहाँ 'कल्पतरुका हरण' विशेषका 'बड़ोंका आचरण' सामान्यसे समर्थन है। ३. सामान्यका विशेषसे वैधर्म्यसे—'जीवनमें दुःख-सुख निरन्तर आते-जाते हैं। सुख तो सभी भोग लेते हैं, दुःख धीर ही सह पाते हैं। मनुज दुग्धसे दनुज रुधिरसे अमर सुधासे जीते हैं। किन्तु हलाहल भवसागरका शिवशंकर ही पीते हैं' (मै० श० गु०: का० द०)। यहाँ हलाहल पीनेकी विशेष बातसे धीरोंके दुःख सहनेकी सामान्य बातका समर्थन है और 'सहना' तथा 'पीने'के वैधर्म्य द्वारा समर्थन है। ४. सामान्यसे विशेषका वैधर्म्यसे—'सुकुमार तुमको जानकर भी युद्धमें जाने दिया। फल योग्य ही हे पुत्र! उसका शीघ्र हमने पा लिया। परिणामको सोचे बिना जो लोग करते काम हैं। वे दुःखमें पड़कर कभी पाते नहीं विश्राम हैं' (वही)। यहाँ 'फल पाना' और 'विश्राम न पाना' इस वैधर्म्य द्वारा विशेषका सामान्यसे समर्थन है।

दृष्टान्त और अर्थान्तरन्यासका अन्तर स्पष्ट है। प्रथममें जिससे समर्थन किया जाता है और जिसका किया जाता है, वे दोनों सामान्य अथवा विशेष होते हैं, अर्थात् बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव प्रधान रहता है। परन्तु दूसरेमें समर्थ्य और समर्थकमें एक सामान्य तथा दूसरा विशेष होता है। उदाहरण अलंकारमें 'इव' आदि वाचक शब्दोंका प्रयोग होता है, अर्थात् समर्थनका भाव प्रधान नहीं रहता। —र०

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि—लक्षणामूला अविवक्षितवाच्य ध्वनिका पहला भेद। इस ध्वनिमें वाच्यार्थ बाधित अथवा अनुपपन्न होनेके कारण दूसरे अर्थमें संक्रमण कर जाता है। जहाँ मुख्यार्थ असिद्ध रहता है अर्थात् उसकी संगति नहीं बैठती, वहाँ वह दूसरे अर्थमें संक्रमण कर जाता है—दूसरा अर्थ देने लगता है। मुख्यार्थकी अनुपपत्ति प्रायः दो कारणोंसे हुआ करती है—१. किसी शब्दकी पुनरुक्तिके कारण- - जैसे 'कौआ कौआ ही है', इस उदाहरणमें दूसरे कौआका वाच्य अर्थ असिद्ध होनेके कारण कर्कश स्वरमें बोलनेवाला पक्षीके अर्थान्तरमें संक्रमण कर जाता है; २. वक्ताका मन्तव्य अस्पष्ट होनेके कारण। जैसे 'गंगायां घोषः' (गंगापर गाँव है) द्वारा गंगाके तटपर—समीप ही इस अर्थान्तरको ग्रहण करना पड़ता है।

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यकी अभिव्यंजना कभी तो किसी पद द्वारा होती है अथवा कभी किसी वाक्य द्वारा। अतः अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यके दो भेद होते हैं—१. पदगत—गान्धीजीको सम्बोधित करते हुए पन्त कहते हैं—'तुम शुद्ध बुद्ध आत्मा केवल···' यहाँ आत्मा शब्दमें मुख्यार्थका बाध है; आत्माका अर्थ उपादानलक्षणासे आत्माके समान निर्विकार (अर्थात् अत्यन्त पवित्र) लेना पड़ता है। इस प्रयोग द्वारा कवि गान्धीजीके प्रति अपनी श्रद्धा-भक्तिको अभिव्यंजित करता है—यही प्रयोजन है। अतः आत्मा शब्दमें पदगत अर्थान्तरसंक्रमित-अविवक्षितवाच्य ध्वनि है। २. वाक्यगत—'कैसे पूजूँ गुमराहीको मैं हूँ एक सिपाही' (का० द०, पृ० ३०४)। यहाँ वक्ता सिपाही नहीं है, फिर भी वह कहता है 'मैं हूँ एक सिपाही,' इसीसे पूरे वाक्यका मुख्यार्थ 'मैं सिपाहीके सदृश कर्तव्य-परायण व्यक्ति हूँ', इस अर्थान्तरमें संक्रमण कर जाता है। वक्ताके इस प्रकारके कथनका प्रयोजन यह है कि मैं उच्चादर्शका व्यक्ति हूँ, अप्रतिष्ठित कार्य नहीं कर सकता। अतः इस उदाहरणमें वाक्यगत अर्थान्तरसंक्रमित-अविवक्षितवाच्य ध्वनि है। —उ० शं० शु०

अर्थापत्ति—वाक्य-न्यायमूल अर्थालंकार; काव्यार्थापत्तिका पर्याय है, जिसमें दण्डापूपिका न्यायसे एक अर्थकी सिद्धिके सामर्थ्यसे अन्य सहजसाध्य अर्थकी स्वतःसिद्धिका वर्णन होता है। 'इस अलंकारमें जिसके द्वारा कठिन कार्यकी सिद्धि सम्भव हो, उसके द्वारा सुगम कार्यकी सिद्धि क्या कठिन है?' ऐसा वर्णन होता है। जैसे 'मूसा दण्डको खा गया' यदि यह कहा जाय तो इस कथनके साथ ही मूसे द्वारा दण्डपर स्थित मालपुओंका खाया जाना भी स्वतःसिद्ध हो जाता है। इसीको दण्डापूपिका न्याय कहते हैं। यह विश्वनाथके लक्षणके अनुसार व्याख्या है—'दण्डापूपिकयान्यार्थागमोऽर्थापत्तिरिष्यते' (सा० द०, १०:८३)। यह अलंकार प्रथम भोज तथा रुय्यक द्वारा (काव्यार्थापत्ति) स्वीकृत हुआ है। परन्तु हिन्दीमें जयदेवके 'चन्द्रालोक'के लक्षणका अधिक प्रचार हुआ—'अर्थापत्तिः स्वयंसिद्धे पदार्थान्तरवर्णनम्' (५:३७), अर्थात् स्वयंसिद्ध पदार्थके अन्तरका वर्णन। एक पदमें वर्णित क्रिया द्वारा दूसरे पदका अर्थ बिना कहे जहाँ

स्पष्ट हो जाय।

जसवन्तसिंहने 'भाषाभूषण'में इस अलंकारका लक्षण 'कुवलयानन्द'के आधारपर दिया है और उसके लिए 'कैमुत्य' शब्दका प्रयोग किया है, जिसका अर्थ है 'उसका क्या' और आगेके अधिकांश आचार्योंने इसीके अनुसरणपर 'जौ पै जीतो यह कहा' (मतिराम), 'वह कीन्हो तो यह कहा' (भूषण) 'वह जू कियो तो यह कहा' (पद्माकर) लक्षण दिये है। सोमनाथने 'रस-पीयूष-निधि'के अलंकार प्रकरणमें इसकी परिभाषा अधिक स्पष्ट दी है—'अमुकौ जीति लियौ जबै, बात औरकी कौन'। दासकी परिभाषा अन्योंके समान ही है।

मतिरामके नायिकाके सौन्दर्यवर्णनमें यह अलंकार है—'कहा दरपन कैसे पावत बदन जोति, चन्द जाको चेरो अरविन्द जाको दास है'; निरालाके इस सौन्दर्य चित्रमें—'देखो यह कपोत कंठ, बाहु वल्ली कर सरोज, उन्नत उरोज पीन क्षीण कटि नितम्ब भार चरण सुकुमार गति मन्द मन्द, छूट जाता धैर्य ऋषि मुनियोंका, देवो भोगियोंकी तो बात ही निराली है' (काव्यदर्पण)। ऋषि मुनियोंके धैर्य छूट जानेके सामर्थ्यसे भोगियोंका धैर्य छूट जाना अर्थ स्वतः सिद्ध है। मैथिलीशरण गुप्तका प्रयोग सहज है—'उसके आशयकी थाह मिलेगी किसको। जनकर जननी भी जान न पायी जिसको' (साकेत)। काव्यमें इस अलंकारका उक्ति-वैचित्र्यके रूपमें सुन्दर प्रयोग हुआ है। आधुनिक कालमें मैथिलीशरण गुप्त, 'प्रसाद', पन्त, 'निराला' आदि कतिपय कवियोंने इस अलंकारका आकर्षक प्रयोग किया है। —वि० स्ना०

अर्थार्थी भक्ति–दे० 'गौणी भक्ति'।

अर्थालंकार–अर्थको चमत्कृत या अलंकृत करनेवाले अर्थाश्रित अलंकार। जिस शब्दसे जो अलंकार सिद्ध होता है, यदि उस शब्दके स्थानमें उसका समानार्थी शब्द रख देनेसे भी वह अलंकार यथापूर्व बना रहे, तो अर्थालंकार कहलाता है। अर्थनिर्भर, शब्दनिरपेक्ष अलंकार अर्थालंकार कहलाते हैं। अर्थालंकारोंके विषयमें व्यासका कथन है कि जो अर्थोंको अलंकृत करें, वे अर्थालंकार हैं। अर्थालंकारोंके अभावमें शब्दसौन्दर्य भी मनोहर और प्रभावपूर्ण नहीं होता—'अलंकरणमर्थानामर्थालंकार इष्यते। तं विना शब्दसौन्दर्यमपि नास्ति मनोहरम्' (अ० पु० : ३४३)। मम्मटने शब्दालंकारसे अर्थालंकारोंके विभेदका मुख्य आधार 'अन्वय' तथा 'व्यतिरेक'का सिद्धान्त माना है (का० प्र०, ९:८५ वृ०); जिसके अनुसार अर्थालंकारमें शब्द बदलनेसे चमत्कारमें अन्तर नहीं आता। उदा०—'तनु लता सफलता स्वाद आज ही आया। मेरी कुटियामें राजभवन मनभाया।' (मै० श० गु० : साकेत)। इसमें तनुमें लताका आरोप होनेके कारण 'रूपक' अलंकार है। इसके दोनों शब्दोंमें परिवर्तन करके यदि तनु लताके स्थानमें 'देह वल्ली'कर दिया जाय, तब भी रूपक अलंकारका चमत्कार यथावत् बना रहता है। इस प्रकार अन्य समानार्थी शब्दोंको रख देनेमें भी किसी अलंकारकी अलंकारिताका यथापूर्व बना रहना अर्थालंकारोंकी प्रवृत्तिकी ओर निर्देश करता है।

अर्थालंकारोंकी निश्चित संख्या निर्धारित करना कुछ कठिन है, क्योंकि उनकी संख्या सदासे वर्द्धमान रही है। उसके प्रकार अनन्त हैं 'अनन्ता हि...अलंकाराः' (ध्वन्यालोक, ३:४३ वृ०)। ध्वनिकारने इसी मतका उल्लेख दूसरे शब्दोंमें किया है 'वाग्विकल्प' अर्थात् कथनके प्रकार अनन्त हैं और वे ही अलंकार हैं। दण्डीने शब्दभेदसे इसी मतका प्रतिपादन किया था। उनका कथन है कि अलंकारोंकी आज भी सृष्टि हो रही है। अतः सम्पूर्णतः उनकी गणना कोई भी नहीं कर सकता—'ते चाद्यापि विकल्पयन्ते' (काव्यादर्श, २:१)। आचार्यों द्वारा जितने अलंकार लक्षणग्रन्थोंमें वर्णित किये गये हैं, उनको किसी एक वर्गमें रखना भी एक दुष्कर कार्य है (दे०—'अलंकारोंका वर्गीकरण')।

अर्थालंकारोंका शास्त्रीय निरूपण एवं काव्यपूर्ण प्रयोग आचार्य भामहसे माना जा सकता है। आचार्य भामह अलंकार-सम्प्रदायके आद्याचार्य माने जाते हैं। हिन्दी साहित्यके आदिकालसे लेकर भक्तियुगतक अर्थालंकारोंका नैसर्गिक रूपमें प्रयोग होता रहा। रीतिकालमें आकर इसका शास्त्रीय एवं कलात्मक विकास विशेष रूपसे हुआ। आधुनिक काव्यमें भी अर्थालंकारोंका समुचित प्रयोग तो है किन्तु इनके प्रयोगमें कवियोंके मत बदल गये हैं। वर्तमानयुगमें प्रयत्नपूर्वक अलंकारोंको कवितामें स्थान देनेकी प्रवृत्ति प्रायः समाप्त हो गयी है। अलंकारविहीन काव्यको भी उत्तम कोटिका काव्य माना जाता है। —वि० स्ना०

विकासकी दृष्टि—अत्यन्त प्राचीनकालसे अर्थालंकारोंका प्रयोग होता आया है। 'उपमा'का उल्लेख ऋग्वेदसे हुआ है, पर अलंकारकी कल्पनाके साथ नहीं (१।७।३१।१५ तथा ५।३।३४।९)। निरुक्तके तीसरे अध्यायमें उपमाकी व्याख्या है तथा इसमें निदर्शन, आशी आदि कुछ और शब्द हैं। भरत (३ श० ई०)ने उपमा, दीपक तथा रूपकको स्वीकार किया है। भामहके 'काव्यालंकार' (६-७ श० ई०)में सर्वप्रचलित तथा स्वस्वीकृत कुल अर्थालंकार ३५ नये हैं; आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, हेतु, सूक्ष्म, लेश, यथासंख्य, उत्प्रेक्षा तथा स्वभावोक्ति (द्वितीय परिच्छेद), प्रेयस्, रसवत्, ओजस्वी, पर्यायोक्ति, समाहित, उदात्त, श्लिष्ट, अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, उपमारूपक, सहोक्ति, परिवृत्ति, ससन्देह, अनन्वय, उत्प्रेक्षावयव, संसृष्टि, भाविकत्व तथा आशी (तृतीय परिच्छेद)। दण्डीने 'काव्यालंकार'ने (७०० ई०) कुछ अलंकारोंके नाम बदले हैं—लेशका लव, यथासंख्यका क्रम, उपमेयोपमाका अन्योन्योपमा ससन्देहका संशयोपमा, अनन्वयका नियमोपमा तथा उत्प्रेक्षावयवका अचेतोत्प्रेक्षा किया गया है। उद्भटके 'काव्यालंकारसार' (८ श० ई०)में काव्यलिंग तथा दृष्टान्त नये हैं। वामनने काव्यालंकारसूत्र' (९ श० ई०)में कई अलंकारोंको अस्वीकार किया है, पर वक्रोक्ति तथा व्याजोक्ति दो नये अलंकार जोड़े हैं, साथ ही वामनका पहला आक्षेप पहले आचार्योंका प्रतीप है तथा दूसरा समासोक्ति है। रुद्रटने काव्यलंकार (९ श० ई०)में वास्तव वर्ग में १४ नवीन अलंकार स्वीकार किये हैं—भाव, समुच्चय, पर्याय, विषम, अनुमान,

परिकर, परिसंख्या, कारणमाला, अन्योन्य, उत्तर, सार, अवसर, मीलित तथा एकावली। औपम्य वर्गमें ८ नवीन हैं—मत, प्रतीप, उभन्यास, भ्रान्तिमत्, प्रत्यनीक, पूर्व, साम्य तथा स्मरण। अतिशय वर्गमें ६ नवीन हैं—विशेष, तद्गुण, अधिक, असंगति, पीहित तथा व्याघात। श्लेषमें विरोधाभास स्वतन्त्र अलंकार हो गया है। भोजने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' (११ श० ई०)में अहेतु, अभाव, अर्थापत्ति, आप्तवचन, उपमान, प्रत्यक्ष, विनर्क, सम्भव, समाधि तथा जाति, नये अलंकारोंका उल्लेख किया है। मम्मटके 'काव्यप्रकाश' (१२ श० ई०)मे अनद्गुण, मालादीपक, विनोक्ति सामान्य तथा सम शायद नवीन अलंकार हैं। रुय्यकके 'अलंकारसर्वस्व' (१२ श० ई०)मे उल्लेख, काव्यार्थापत्ति, परिणाम, विचित्र, विकल्प, भावोदय, भावसन्धि तथा भावशवलता नवीन प्रयुक्त अलंकार जान पड़ते है। जयदेवके 'चन्द्रालोक' (१३ श० ई०)मे अलंकारोंकी वृद्धि हुई—अत्युक्ति, अनुगुण, अवज्ञा, असम्भव, उन्मीलित, उल्लास, परिकरांकुर, पूर्वरूप, प्रहर्षण, प्रौढोक्ति, विकस्वर, विषादन, सम्भावना। इसके बाद अर्थालंकारोंमें अभिवृद्धि करनेवाले अप्पय दीक्षित है। इनके 'कुवलयानन्द' (१७ श० ई०)में अनुज्ञा, अल्प, कारकदीपक, गूढोक्ति, छेकोक्ति, निरुक्ति, प्रस्तुतांकुर, प्रतिषेध, मिथ्याध्यवसित, मुद्रा, युक्ति, रत्नावली, ललित, लोकोक्ति, विधि, विवृतोक्ति तथा विशेषक है। अप्पय दीक्षिततक अलंकारोंका पूर्ण विकास माना जा सकता है।

हिन्दीमे संस्कृत अलंकारशास्त्र-ग्रन्थोंका अनुकरण हुआ है, अतएव अधिक विकासकी सम्भावना नहीं रही है। इन कवि आचार्योंमें केशवने अपनी 'कविप्रिया' (१६०० ई०)में प्राचीनोंका, विशेषकर दण्डीका आदर्श सामने रखा है और ३५ अर्थालंकारोंका विवेचन ६ प्रभावोंमें किया है। एक प्रभावमें उपमाके २२ भेद है, जिनमें १५ दण्डीके है, ६ नाम बदलकर लिये गये हैं। विपरीतोपमामे उपमाका कोई लक्षण नहीं है। जसवतसिंहने अपने 'भाषाभूषण' (१६४३ ई०)में 'चन्द्रालोक' तथा 'कुवलयानन्द'का अनुसरण किया है। जयदेवके आधारपर हिन्दीके आचार्योंने प्रायः रसवत् आदिक तथा आठ प्रमाण अलंकारोंको स्वीकार नहीं किया है। 'भाषाभूषण'में १०१ अर्थालंकार है। मनिरामके 'ललितललाम' (१६६१ ई०)में काव्यलिंगके अतिरिक्त संख्या तथा क्रम 'कुवलयानन्द'का है। केवल पिछले १५ अलंकारोंको (रसवत् आदि) इसमें भी नहीं लिया गया। चिन्तामणिके 'कविकुलकल्पतरु' (१६५० ई०)के अर्थालंकारोंका आधार 'काव्यप्रकाश' तथा 'साहित्यदर्पण' है। भूषणके 'शिवराजभूषण'(१६७७ ई०)पर 'चन्द्रालोक'की छाप है। अर्थालंकारोंकी संख्या कविने स्वयं ९९ गिनायी है, पर भेदोंको छोड़ वास्तविक संख्या ९२ है। कुलपति मिश्रके 'रसरहस्य' (१६८९ ई०)के अर्थालंकारोंका आधार 'काव्यप्रकाश' है। देवके 'भावविलास' (१६८९ ई०)में केवल ३९ अर्थालंकार है जिनमें रसवत्, ऊर्जस्वल, प्रेय तथा आशिष जैसे अलंकार भी सम्मिलित हैं। 'काव्यरसायन' (१७०३ ई०)में ७० अर्थालंकार हैं। उपमाके २० भेद हैं, कुछ नवीन जान पड़ते हैं पर अधिकतरका अन्तर्भाव अन्यत्र हो सकता है। इनपर केशव तथा दण्डीका प्रभाव है। थोड़े परिवर्तनोंसे जो मौलिकता उत्पन्न की गयी है वह भ्रामक ही है (ओम्प्रकाश : हि० अ० सा०)। दूलहके 'कविकुलकण्ठाभरण' (१७४३ ई०)में 'चन्द्रालोक' तथा 'कुवलयानन्द'के आधारपर ११५ अर्थालंकारोंका विवेचन है। भिखारीदासके 'काव्यनिर्णय'में ८६ अर्थालंकारोंको स्वीकार किया गया है, कुछ प्रमुख भेदरूपमें उल्लिखित अलंकारोंको गिन लेनेपर यह संख्या ९२ तक हो जाती है। पद्माकरके 'पद्माभरण' (१७१० ई०)में १०० सामान्य अर्थालंकार तथा १५ रसवत् आदिका वर्णन है। दासपर 'चन्द्रालोक' तथा 'कव्यप्रकाश'-का सम्मिलित प्रभाव है और पद्माकरका स्पष्ट आधार 'कुवलयानन्द' है। उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि रीतिकालमें नवीन अलंकारोंका विकास नहीं हुआ, वस्तुतः संस्कृतमे उसकी सीमा पूरी हो चुकी थी।

आधुनिक विवेचकोंमे मुरारिदानके 'जसवन्त जसोभूषन' (१८९३ ई०)मे लगभग १३ अलंकार नये है—अतुल्ययोगिता, अनवसर, अपूर्वरूप, अप्रत्यनीक, अभेद, अवसर, आभास, नियम, प्रतिभा, मिष, विकास, संकोच तथा संस्कार। इन अलंकारोंमें चमत्कार न होनेके कारण अलंकारत्व नहीं माना जा सकता। भानु कविने विवेचनके लिए तो अनेक संस्कृत तथा हिन्दी आचार्योंका उल्लेख किया है, पर 'काव्यप्रभाकर' (१९०९ ई०)की अलंकारसंख्या 'कुवलयानन्द'के अनुसार १०० ही है। भगवानदीनकी 'अलंकारमंजूषा' (१९१६ ई०)में १०८ अर्थालंकार है। इनमें तिरस्कार नया अलंकार जान पडता है, पर अर्जुनदास केडिया इसको 'रसगंगाधर'से लिया गया बतलाते है। इन्होने 'भारतीभूषण' (१९३० ई०)मे १०० अर्थालंकारोंका विवेचन किया है, जो आचार्योंसे लिये गये है। कन्हैयालाल पोद्दारकी 'अलंकारमंजरी' (१९४५ ई०)में १०० अर्थालंकारोंका विवेचन है, रसवत् आदि तथा ८ प्रमाण अलंकारोंको छोड़ दिया गया है। इन्होंने मुरारिदानके समान परिवृत्तका विपरीत अपरिवृत्त नामक नवीन अलंकार माना है। रामदहिन मिश्रने अपने 'काव्यदर्पण' (१९४७ ई०)में पाश्चात्य अलंकारोंमे मानवीकरण, ध्वन्यर्थव्यंजना तथा विशेषण-विपर्ययको स्वीकार किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'चन्द्रालोक' तथा 'कुवलयानन्द'के समयतक अर्थालंकारोंका जो विकास हो चुका था, हिन्दीमें उसके आगे विकासकी सम्भावनाएँ नहींके बराबर रही है। —स०

अर्थोपक्षेपक–अर्थोपक्षेपकका अभिप्राय है अर्थका उपक्षेपण (सूचना) देनेवाला। नाटकमें रसहीन वस्तुओंकी केवल सूचना दी जाती है। सूच्य वस्तुओंकी सूचना देना ही अर्थोपक्षेपक है। इस अर्थोपक्षेपकके पाँच प्रकार है–विष्कम्भ (विष्कम्भक), चूलिका, अंकास्य, अंकावतार और प्रवेशक (दे०)।
—ब० सिं०

अर्द्धचेतन (subconscious)–अर्धचेतन शब्दका अर्थ अभी हिन्दीमें रूढ़ नहीं हो पाया है। कभी-कभी इसका प्रयोग अचेतन या अवचेतनके लिए ही होता है। परन्तु कभी इसका अर्थ स्पष्ट या धूमिल चेतना होता है, जब हम अनुभवों, व्यवहारोंके विषयमेंपर्ण रूपसे चेतन नहीं रहते, पर अस्पष्ट रूपसे हमें उनका अनुभव होता रहता है। जैसे

न्योपमा, सन्देहको संशयोपमा, मीलित और तद्गुणको एक ही मीलनोपमा, समासोक्तिको छायोपमा, व्यतिरेक और प्रतीपको उत्कर्षोपमा कहते हैं। कतिपय आचार्य अतिशयोक्ति और अत्युक्तिको एक ही नामसे अभिहित करते हैं। भामहने रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी अलंकारोमे ही रसका अन्तर्भाव कर लिया है—'रसवत् रसपेशलम्'। दण्डीने भी रसवत् अलंकारमें ही आठों रसोंको समाविष्ट कर दिया है। वामनने रसको कान्ति नामक एक गुण माना है—'दीप्तरसत्वं कान्तिः'। —वि० स्ना०

अलंकार (वर्गीकरण)—सामान्यतः वक्तव्यकी विभिन्न चमत्कारपूर्ण विधाओंको अलंकार संज्ञा दी गयी है। कथनके प्रकार अनन्त हैं, अतः अलकारोकी निश्चित संख्याका निर्धारण अथवा उनका संकलित वर्गविभाजन नही किया जा सकता। अभिनवगुप्तके अनुसार किसी वक्तव्यको सामान्य जनताकी साधारण बोलचालसे भिन्न, विचित्र और चमत्कारपूर्ण शैलीमे कहना ही अलंकार है। यह उक्तिवैचित्र्य अनेक प्रकारका होना है, अतएव उक्तिवैचित्र्यकी अनेकताके आधारपर भिन्न-भिन्न प्रकारके अलकारोंकी स्थिति सम्भव है। इस उक्तिवैचित्र्यकी विभिन्नताके आधारपर ही आचार्योंने अलंकारोंका नामकरण किया है—'यश्चायमुपमाश्लेपादिरलंकारमार्गः प्रसिद्धः स भणितिवैचित्र्यादुपनिबध्यमानः स्वयमेवानवधिर्धत्ते पुनः शतशाखताम्' (ध्वन्यालोक)। अर्थात् यह जो उपमा तथा श्लेष आदिका अलंकार-मार्ग प्रसिद्ध है, वह कथनकी विचित्र योजनासे स्वयं सैकड़ों असीम शाखाओंमे विस्तृत होता है।

प्रत्येक अलंकारमे उक्तिवैचित्र्यकी विभिन्नता होनेपर भी कुछ अलंकारोंकी कुछ मूलभूत प्रवृत्तियाँ ऐसी है, जिनके आधारपर अलंकारोको भिन्न-भिन्न वर्गोंमें विभक्त किया जा सकता है। जैसे उपमा, अनन्वय, प्रतीप आदि अलंकार सादृश्यमूलक तत्त्वोंपर आधारित है। इन अलंकारोंमें सादृश्य कहींपर वाच्य रहता है और कहींपर प्रतीयमान (व्यंग्यार्थरूपमे), अतः अलंकारोके पृथक्-पृथक् वर्ग अपने पृथक्-पृथक् मूल तत्त्वोंपर आश्रित है।

अलंकारोंके वर्गीकरणका मूल बीज भामहमे था, किन्तु वर्गोंका प्रत्यक्ष निर्देश सर्वप्रथम उद्भटमे प्राप्त होता है। उनके द्वारा निरूपित अलंकारोका विषयानुसार वर्गीकरण इस प्रकार है—प्रथम वर्ग : ८ अलंकार—पुनरुक्तवदाभास, छेक, वृत्ति, लाट, अनुप्रास, दीपक, उपमा, प्रतिवस्तूपमा (४ शब्दालंकार और ४ अर्थालंकार)। द्वितीय वर्ग : ९ अलंकार—आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, यथासंख्य, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति। तृतीय वर्ग : ३ अलंकार—यथासंख्य, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति। चतुर्थ वर्ग : ७ अलंकार—प्रेयस्वत्, रसवत्, ऊर्जस्वी, पर्यायोक्ति, समाहित, उदात्त, श्लिष्ट। पंचम वर्ग : ११ अलंकार—अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, संकर, उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृत्ति। षष्ठ वर्ग : ६ अलंकार—सन्देह, अनन्वय, संसृष्टि, भाविक, काव्यलिंग, दृष्टान्त।

यद्यपि ये अलंकारवर्ग अलंकारोंके विकासकी विभिन्न अवस्थाओंका द्योतन नही करते, किन्तु ये भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियोका प्रतिनिधित्व करते है। भामह (६ श० ई०)के समयमें अलंकारविषयक चार विभिन्न विचारधाराओंका प्रचलन था। भामह और उद्भट (८ श० ई०)के बीचमें दो अन्य वर्ग-मान्यताओंका उद्भव हुआ। इस प्रकार उद्भटका वर्गीकरण वैज्ञानिक दृष्टिसे भले ही उपयोगी न हो, इसको तत्कालीन अलंकार-सम्प्रदायोका व्यापक चित्र अवश्य माना जा सकता है।

वस्तुतः रुद्रट अपने 'काव्यालंकार' (९ श० ई०)मे सर्वप्रथम अलंकारोंका वैज्ञानिक वर्गीकरण करनेवाले है। उनकी अलंकार-संख्या उस समयतकके सभी आचार्योंसे अधिक है। उन्होंने सर्वप्रथम अलंकारोंके मूल तत्त्वोंपर विचार करते हुए अपने द्वारा निरूपित अर्थालंकारोंको चार वर्गोंमें विभक्त किया है। वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष। रुद्रटने निःशेष अलंकारोंको इन्हींका विशेष (रूपान्तर) स्वीकार किया है। वस्तुके स्वरूपका कथन **वास्तव** है—'वास्तवमिति तज्ज्ञेयं क्रियते वस्तुस्वरूपकथनम् यत्' (काव्यालंकार, ७:१०)। 'वास्तव'के २३ विशेष है—सहोक्ति, समुच्चय, जाति, यथासंख्य, भाव, पर्याय, विषय, अनुमान, दीपक, परिकर, परिवृत्ति, परिसंख्या, हेतु, कारणमाला, व्यतिरेक, अन्योन्य, उत्तर, सार, सूक्ष्म, लेश, अवसर, मीलित, एकावली। इस वर्गको प्रथम स्थान देनेका कारण कदाचित् यही हो सकता है कि इसके भेदोकी संख्या सर्वाधिक है। **औपम्य**—जहाँ किसी वस्तुके स्वरूपका अधिक स्पष्टताके साथ वर्णन करनेके लिए अप्रस्तुत योजना की जाती है, अर्थात् उसके समान दूसरी वस्तुका वर्णन किया जाय, वहाँ 'औपम्य' अलंकार होता है। इसमे स्वरूपसाम्य होता है—'सम्यक्प्रतिपादयितुं स्वरूपतो वस्तु तत्समानमिति' (वही ८:१)। इसके २१ भेद है—उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, संशय, समासोक्ति, मत, उत्तर, अन्योक्ति, प्रतीप, अर्थान्तरन्यास, उभयन्यास, भ्रान्तिमान, आक्षेप, प्रत्यनीक, दृष्टान्त, पूर्वसहोक्ति, समुच्चय, साम्य और स्मरण। **अतिशय**—जहाँ अर्थ और धर्मके नियमोंका विपर्यय हो, वहाँ 'अतिशय' अलंकार होता है। 'यत्रार्थधर्मनियमः प्रसिद्धिबाधाद्विपर्ययं याति' (वही : ९, १)। पूर्व, असंगति, पिहित, विशेष, उत्प्रेक्षा, विभावना, तद्गुण, अधिक, विरोध, विषम, व्याघात, अहेतु अतिशयके ये १२ भेद होते है। **श्लेष**—जहाँ अनेकार्थ पदोंसे एक ही वाक्य अनेक अर्थोंका बोध कराता है,—'यत्रैकमनेकार्थैर्वाक्यं रचितं पदैरनेकस्मिन्। अर्थे कुरुते निश्चयमर्थश्लेषः स विज्ञेयः (वही, १०:१)। अर्थश्लेषके दस भेद हैं:-अविशेष, विरोध, अधिक, वक्र, व्याज, उक्ति, असम्भव, अवयव, तत्त्व, विरोधाभास। रुद्रटका यह वर्गीकरण यथार्थ एवं स्पष्ट नहीं है, क्योंकि इसमें अलंकारोके मूल तत्त्वोंका सम्यक् निरूपण नहीं हुआ है।

रुद्रटके उपरान्त रुय्यक (१२ श० ई०) और उनके शिष्य मंखकने 'अलंकारसर्वस्व'में अलंकारोंका जो वर्गीकरण प्रस्तुत किया है, वह उनके मूल तत्त्वोंपर आधारित है। उससे अलंकारोंके मूल तत्त्वोंका यथार्थ ज्ञान स्पष्टरूपेण हो जाता है। अतः यह वर्गीकरण अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट एवं युक्तियुक्त है। रुय्यकने अपने द्वारा निरूपित अर्थालंकारोंको पाँच

वर्गोंमे विभक्त किया है—१. सादृश्यगर्भ, २. विरोधगर्भ, ३. श्रृंखलाबद्ध, ४. न्यायमूल (तर्कन्यायमूल, काव्यन्यायमूल अथवा वाक्यन्यायमूल और लोकन्यायमूल), ५. गूढार्थ प्रतीतिमूल। रुय्यकने इनके भी अवान्तर भेद किये हैं, जिनके भीतर अन्य अलंकारोंका समाहार होता है।

१. सादृश्यगर्भ—इसमे २८ अलंकार आते हैं। इनका मूलाधार साधर्म्य है। साधर्म्यका वर्णन तीन प्रकारसे किया जाता है। (क) भेदाभेदतुल्यप्रधान, (ख) अभेद प्रधान, (ग) भेद प्रधान। इसके अतिरिक्त यह साधर्म्य कहीं वाच्य रहता है और कहीं प्रतीयमान। अतएव इन २८ अलंकारोंमें, जहाँ जिस प्रकारका साधर्म्य रहता है, तदनुसार इनका अवान्तर वर्गीकरण भी रुय्यकने किया है। इनका विस्तृत विवेचन और विश्लेषण इस प्रकार है। (क) भेदाभेदतुल्यप्रधानमें चार अलंकार आते हैं:-उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय और स्मरण। इन अलंकारोमे उपमेय और उपमानके साधर्म्यमे भेद नहीं होता, तुल्य साधर्म्यकी स्थिति रहती है। अतः इनका मूलाधार भेदाभेदतुल्यप्रधान साधर्म्य है। (ख) अभेदप्रधानमें आठ अलंकार आते हैं:-जिनमेंसे ६ आरोपमूल हैं और दो अध्यवसायमूल। आरोपमूल अलंकार—रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्ति, उल्लेख और अपह्नुति है। अध्यवसायमूलके अन्तर्गत उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति अलंकार आते हैं। रूपकादि इन आठ अलंकारोमे उपमेय-उपमानके साधर्म्यमें अभेद कथन कया जाता है। अतएव इनका मूलधार अभेदप्रधान साधर्म्य है। इनमें भी रूपकादि ६ अलंकारोंमें उपमेयमे उपमानका आक्षेप किया जाता है, अतः आरोपका प्राधान्य रहता है और उत्प्रेक्षामें अनिश्चित रूपसे तथा अतिशयोक्तिमे निश्चित रूपसे उपमेयमें उपमानका अध्यवसाय किया जाता है। अतः ये दोनो अध्यवसायमूलक है। (ग) गम्यमान औपम्य—इसके अन्तर्गत १६ अलंकार आते हैं:-तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त और निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति और विनोक्ति, समासोक्ति और परिकर, श्लेष, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्ति, अर्थान्तरन्यास, व्याजस्तुति और आक्षेप। इन तुल्ययोगिता आदि १६ अलंकारोंमे उपमेय-उपमानभाव अथवा औपम्य प्रतीयमान अथवा व्यंग्य रहता है, वाच्य नहीं। अतः इनका मूलाधार गम्यमान औपम्य है। फिर यह तत्त्व (गम्यमान औपम्य) इन अलंकारोंमे भिन्न-भिन्न रूपोमें निहित रहता है। दीपक और तुल्ययोगितामें उपमेय या उपमानोंका अथवा दोनोंके एक धर्मका कथन एक ही पदमें किया जाता है। अतः इनमें पदार्थगत गम्यमान औपम्य रहता है। इसी प्रकार प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त और निदर्शनामें वाक्यार्थगत गम्यमान औपम्य होता है। व्यतिरेक और सहोक्तिमें उपमेय और उपमानके पारस्परिक भेदमें गम्यमान औपम्यकी स्थिति मान्य है। विनोक्तिको सहोक्तिके विरोधी होनेके कारण इस वर्गमें समाविष्ट किया गया है। समासोक्ति और परिकरमें विशेषण वैचित्र्यगत गम्यमान औपम्य और श्लेषमें विशेषण विशेष्य वैचित्र्यगत गम्यमान औपम्य रहता है। अप्रस्तुतप्रशंसाको, समासोक्तिके विरोधी होनेके कारण अर्थान्तरन्यासको अप्रस्तुतप्रशंसाके सजातीय होनेके कारण और पर्यायोक्ति, व्याजस्तुति एवं आक्षेपको गम्यमानके प्रस्ताव प्रसंगके कारण इसी वर्गमे निहित किया गया है।

२. विरोधमूलक अलंकार—इसमें १२ अलंकार आते हैं। विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, सम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष, व्याघात, अतिशयोक्ति (कार्यकारणपौर्वापर्य), असंगति और विषम। इन अलंकारोंका मूलाधार विरोधात्मक वर्णन है। 'सम' अलंकार यद्यपि विरोधमूलक नहीं है, किन्तु 'विषम'का विरोधी होनेके कारण इसी वर्गमे रखा गया है।

३. श्रृंखलाबंध अलंकार—इस वर्गमें चार अलंकार है, जिनमें एक पद या वाक्य, श्रृंखलावत् दूसरे पद या वाक्यसे सम्बद्ध रहता है। स्पष्टतः इनकी मूल प्रवृत्ति श्रृंखलामूलक हैः कारणमाला, एकावली, मालादीपक और सार।

४. न्यायमूल अलंकार—इसमे १७ अलंकार आते है। ये सभी तर्क आदि विभिन्न न्यायोपर अवलम्बित है। (क) तर्कन्यायमूलक—इस वर्गमें दो अलंकार हैः काव्यलिंग और अनुमान। (ख) काव्यन्यायमूलक—इन्हे वाक्यन्यायमूल भी कहते है। ये आठ अलंकार हैः यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, अर्थापत्ति, विकल्प, परिसंख्या, समुच्चय और समाधि। (ग) लोकन्यायमूल—इसमें ७ अलंकार आते हैः प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तद्गुण, अतद्गुण और उत्तर।

५. गूढार्थप्रतीतिमूल अलंकार—इनमे गूढ़ अर्थकी प्रतीति होती है। गूढार्थके प्रतिपादक तीन अलंकार है—सूक्ष्म, व्याजोक्ति और वक्रोक्ति। इनके अतिरिक्त स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त, संसृष्टि और संकर—ये पाँच अलंकार एवं रस और भावसे सम्बन्धित रसवत्, प्रेयस्, उर्जस्वि, समाहित, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता—इन सात अलंकारोंको रुय्यकने किसी वर्गमे नहीं रखा है।

विद्याधर (१४ श० ई०)ने 'एकावलीसार'में अलंकारोंका स्थूल और सूक्ष्म—दो दृष्टियोंसे वर्गीकरण किया है। स्थूल रूपसे अलंकारोको चार वर्गोंमें विभक्त किया हैः-**१. वस्तुप्रतीति**—समासोक्ति, आक्षेप आदि, **२. औपम्यप्रतीति**—रूपक, उत्प्रेक्षा आदि, **३. रसभावप्रतीति**—रसवत्, प्रेय आदि, **४. अस्फुटप्रतीति**—उपमा, अर्थान्तरन्यास आदि अलंकार आते है। सूक्ष्म रूपसे विद्याधरने अलंकारोको नौ वर्गोंमें विभक्त किया है—१. साधर्म्यमूल, २. अध्यवसायमूल, ३. विरोधमूल, ४. वाक्यन्यायमूल, ५. लोक व्यवहारमूल, ६. तर्कन्यायमूल, ७. श्रृंखलावैचित्र्यमूल, ८. अपह्नवमूल और ९. विशेषणवैचित्र्यमूल।

हिन्दी साहित्यशास्त्रके उपलब्ध ग्रन्थोंमे अलंकारोंका जो वर्गीकरण सम्बन्धी विवेचन किया गया है, वह अधिकांशमे संस्कृत साहित्य-शास्त्रीय ग्रन्थोंके आधारपर है। हिन्दीमे केशवदासने 'कविप्रिया' (१६०० ई०)मे नवम प्रभावसे लेकर १६वें प्रभावतक अलंकारोका विवेचन किया है। इनकी संख्या ३७ है, भेदोंका अलगसे परिगणन नहीं किया। इनके आठ वर्ग बनाकर आठ प्रभावोमें रखा गया है। इस विषयमें कहीं कोई संकेत नहीं मिलता कि इन अलंकारोंका क्रम किसी नियमपर आधारित है अथवा नहीं और इस वर्गीकरणका आधार क्या कोई विशेष सिद्धान्त है? केशवदास 'अलंकार प्रकरण'में अधिकांश रूपमें दण्डीसे प्रभावित हुए

हैं। इनके द्वारा निरूपित अलंकारोंका वर्गीकरण और क्रम इस प्रकार है :–नवम प्रभाव—स्वभावोक्ति, विभावना, हेतु, विरोध, विशेष, उत्प्रेक्षा–६ अलंकार। दशम प्रभाव–आक्षेप-१। एकादश प्रभाव; क्रम, गणना, आशिष, प्रेय, श्लेष, सूक्ष्म, लेश, निदर्शना, उर्जस्वित, रसवत्, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, अपह्नुति–१३। द्वादश प्रभावः–उक्ति-वक्रोक्ति, अन्योक्ति, व्यधिकरणोक्ति (विशेषोक्ति, सहोक्ति), व्याजस्तुति, व्याजनिन्दा, अमित, पर्यायोक्ति, युक्तः–८। त्रयोदश प्रभाव-समाहित, सुसिद्ध, प्रसिद्ध, विपरीत, रूपक, दीपक, प्रहेलिका, परिवृत्तः–८। चतुर्दश प्रभाव-उपमाः–१। पंचदश प्रभाव-यमक–१। षोडश प्रभाव;–चित्र–१। स्पष्टतः केशवदासका वर्गीकरण उतना ही अवैज्ञानिक है, जितना कि उद्भटका।

हिन्दीमें अलंकारोंके वर्गीकरणका दूसरा प्रयत्न देवने 'काव्य-रसायन' (१७०३ ई०)में किया है। उन्होने मुख्य (४०) तथा गौण (३०) दो वर्गोंमे विभाजन किया है, पर ये भेद किसी विशेष आधारपर आश्रित नहीं जान पडते। किन्तु तीन प्रधान आधार माने जा सकते हैं:—१. एक ही आधारके दो अलंकारोमेसे एक मुख्य और दूसरा गौण कहा गया है, जैसे तद्गुण मुख्य तथा अतद्गुण गौण। २. अनुकरणीयको मुख्य तथा अनुकरणको गौण, रसवत् मुख्य तथा उसका अनुकरण गुणवत् गौण। ३. प्राचीन परम्परा, विशेषतः दण्डी-केशवकेअलंकार मुख्य, 'चन्द्रालोक' और विशेषतः 'कुवलयानन्द'के नये अलंकार गौण। इस प्रकार देवने जहाँ सरसता अधिक देखी है, वहाँ मुख्यता मान ली है, अन्यत्र गौणता (ओम्प्रकाश : 'हिन्दी अलंकार साहित्य', पृ० १३३)।

दासने 'काव्यनिर्णय' (१७४६ ई०)के तीसरे उल्लासमें ४४ अलंकारोंके ११ वर्ग बनाये है, परन्तु जब इनपर ८ वेसे लेकर १८ वे उल्लासतक विचार किया है तब कविकथित ८६ अलंकारोंको लिया गया है। दासके वर्गीकरणका कोई मनोवैज्ञानिक आधार नहीं हैं, अन्यथा उनके वर्गोंमें सादृश्यमूलक उपमा, उत्प्रेक्षा तथा व्यतिरेक अलंकार अलग वर्गका प्रतिनिधित्व नहीं करते। पर ओम्प्रकाशके अनुसार 'यह मानना उचित है कि दासका उल्लासीकरण निर्मूल नहीं है, उसमें आकारसाम्य तो मनोगत रहता ही है'। आधुनिक युगमे रामदहिन मिश्रने प्रायः रुय्यक तथा विद्याधरके वर्गीकरणको अपनाया है तथा अपेक्षाकृत यह प्रणाली वैज्ञानिक है।

इस प्रकार उपर्युक्त अलंकारोकी विभिन्न वर्गीकरण-प्रणालियोंके विवेचनसे स्पष्ट होता है कि अलंकारशास्त्रमे समय-समयपर अलंकारोके वर्गीकरणके प्रयत्न होते रहे, कभी मूलको दृष्टि में रखकर, कभी फलको और कभी खाद्यको; भौगोलिक विश्लेषणात्मक वर्गीकरण तो हुए, परन्तु ऐतिहासिक नहीं। भामहसे लेकर रुद्रटपर्यन्त, बल्कि विद्याधरतक आचार्योंके वर्गीकरणसम्बन्धी विभिन्न दृष्टिकोण है। किसीने स्कूलोंको ध्यानमें रखकर अलंकारोका विभाजन किया तो किसीने उनको वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेषके ही विशेष भेद कहा, किसीने उनको उपमाका प्रपंच कहा, तो किसी आचार्यने भेदप्रधान, भेदाभेदप्रधान, अभेदप्रधान आदि एक दर्जनसे भी अधिक वर्गोंका निरूपण किया। वर्गीकरणोकी इस अनेकतामे आचार्य रुय्यकका वर्गीकरण अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक है क्योकि उनका वर्गीकरण अलंकारोके मूल तत्त्वोंके आधारपर अवलम्बित होनेके कारण अधिक स्पष्ट और उपयुक्त है। उसमे एक-सूत्रताका भी प्राधान्य है। इसीसे यही वर्गीकरण प्रायः सर्वसम्मत दृष्टिसे मान्य है। —वि० स्ना०

अलंकारवाद–अलंकारको ही काव्यका सर्वस्व माननेकी प्रवृत्ति। दे० 'अलंकार-सम्प्रदाय'।

अलंकार-शास्त्र–वाङ्मयके दो अंगों—काव्य और शास्त्र—मेंसे काव्यके शास्त्रीय अध्ययनको काव्य-शास्त्रकी संज्ञा दी गयी है। इसीका प्राचीनतम नाम अलंकार-शास्त्र है। राजशेखरने अपनी 'काव्यमीमांसा'में इस शास्त्रको 'साहित्य-विद्या'के नामसे अभिहित किया है। उनके अनुसार प्रसिद्ध चार विद्याओं—अन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीतिके अतिरिक्त कोई पाँचवी विद्या नहीं है। 'साहित्य-विद्या' इन सब विद्याओंका निष्यन्द (सारभूत) है। यद्यपि 'साहित्य-विद्या' नाम सर्वथा उपादेय प्रतीत होता है, किन्तु साहित्य-शास्त्रमे इसका विशेष प्रचलन न हो सका। वात्स्यायनने 'क्रिया'-का अर्थ 'काव्यग्रन्थ' और 'कल्प'का अर्थ 'विधान' मानकर इसे 'क्रियाकल्प'के नामसे अभिहित किया है। किन्तु 'अलंकार-शास्त्र' शब्द ही साहित्य-शास्त्रमें सर्वाधिक प्रचलन और महत्त्व पा सका। इनके अतिरिक्त 'सौन्दर्य-शास्त्र', 'साहित्य-शास्त्र', 'काव्य-शास्त्र' आदि शब्द इसीके (अलंकार-शास्त्रके) समानार्थक है।

काव्यका वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे अध्ययन करनेवाले आचार्योंने काव्यके उत्कर्षक अथवा प्रभावक धर्मको 'अलंकार' संज्ञा दी, क्योकि उस धर्मकी चरम परिणति अलंकरण या सजावटमें थी। कालान्तरमे विकासानुरूप काव्यके उत्कर्षक धर्मके अन्य रूप भी आचार्योंको प्राप्त हुए, किन्तु दीर्घ काल-तक उन धर्मोंका पृथक् उल्लेख न करके, आचार्यवर्ग उनका वर्णन 'अलंकार' नामसे ही करता रहा। तदुपरान्त अलंकारका क्षेत्र संकीर्ण बन गया। इस प्रकार 'अलंकार'के विकासकी तीन प्रमुख स्थितियाँ है। प्रारम्भिक स्थितिमें अध्येताओंको काव्यके उत्कर्षक धर्मके केवल एक ही रूपका ज्ञान था, जिसको वे 'अलंकार' कहते थे। विकसित अवस्थामें 'अलंकार' शब्दका अर्थ विस्तृत हुआ और काव्यगत सम्पूर्ण सौन्दर्यमात्रका नाम 'अलंकार' पड़ गया। तीसरी अवस्थामें उत्कर्षक धर्मकी अन्य विधाएँ प्रतिष्ठित होकर स्वतन्त्र हुई और उन्हें भी 'अलंकार'के साथ शास्त्रीय अध्ययनकी प्रमुखता प्राप्त हुई। स्पष्ट है कि पहले अलंकार-शास्त्र सम्पूर्ण साहित्य-शास्त्र या काव्य-शास्त्रका समानार्थी रहा है, कालान्तरमें प्रचलित पूरे-'अलंकार-सम्प्रदाय'का पर्याय नहीं रहा, जैसा कि अब माना जाता है।

भारतीय अलंकार-शास्त्रके ऐतिहासिक क्रम-विकासके अध्ययन एवं अनुशीलनसे स्पष्ट होता है कि इस शास्त्रका गम्भीर अध्ययन एवं आलोचन ईसासे बहुत काल पूर्वसे प्रारम्भ हो गया था। निरुक्तकार यास्कने अपने भी पूर्ववर्ती आचार्य गार्ग्यका 'उपमा'का वैज्ञानिक लक्षण देकर ऋग्वेदके अनेक मन्त्रोंको उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट होता है कि यास्कसे पूर्व उपमाका विश्लेषण गार्ग्य

आदि आचार्यों द्वारा हो चुका था और वेदमन्त्रोंके अर्थमें उपमाकी व्याख्या की जाती थी। तदुपरान्त यास्क और भरतके मध्यवर्ती समयमें 'अलंकार'के कतिपय शास्त्रीय शब्दोंके उल्लेख पाणिनिके सूत्रों,' कात्यायनके वार्तिक तथा पतञ्जलिके भाष्यमें मिलता है। पाणिनिके समयतक उपमाके चारों अंग विकसित हो चुके थे। पाणिनि द्वारा 'नटसूत्र'के रचयिता शिलालि और कृशाश्वका उल्लेख भी इस शास्त्रकी प्राचीनताको सूचित करता है। द्वितीय शतकके रुद्रदामन् आदिके शिलालेखोंमें केवल अलंकृत भाषाकी ही प्रतिष्ठा नहीं है, उनमें 'अलंकार-शास्त्र'के कतिपय सिद्धान्तोंकी ओर भी निर्देश किया गया है। इसके अतिरिक्त भरतके नाट्यशास्त्रका मूल अंश भी बहुत प्राचीन है। नाट्यशास्त्रका षोडश अध्याय 'अलंकार-लक्षण' है। यहाँ 'अलंकार' शब्द सामान्य अर्थमे प्रयुक्त हुआ है, शास्त्रीय अर्थमे नहीं। अतः इस अध्यायमें उन विशेषताओंका उल्लेख है, जिनसे विभूषित होकर काव्यबन्ध विशेष आकर्षक बन सकते है। इस अध्यायमें सर्वप्रथम ३६ काव्य-विभूषण है, फिर ४ अलंकार, १० काव्य-दोष और १० काव्यार्थ-गुण।

आचार्य भरत (३ श० ई०) और भामहके बीचमें काव्यशास्त्रके अन्य आचार्य भी हुए होंगे, जिनका संकेत 'काव्यालंकार'में प्रयुक्त 'अन्यैः', 'कैश्चिद्', 'केचित्' आदि पदों तथा 'रामशर्माच्युत', 'मेधाविन्' 'राजमित्र' आदि नामोंसे प्राप्त होता है। किन्तु 'काव्यालंकार'से पूर्व इस विषयका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। अस्तु, भामह अलंकारशास्त्रके आदि आचार्य है (७ श० ई०) और उनके बाद अलंकार-शास्त्रके प्रमुख ग्रन्थोंकी रचना क्रमिक रूपसे होती रही। कालक्रमानुसार आचार्य तथा उनके ग्रन्थ इस प्रकार हैं—दण्डीका 'काव्यादर्श' (७ वीं शती), उद्भटका 'काव्यालंकारसारसंग्रह' (८ वीं शती), वामनका 'काव्यालंकारसूत्र' (९ वीं शतीका पूर्वार्द्ध), रुद्रटका 'काव्यालंकार' (९ वी शतीका पूर्वार्द्ध), आनन्दवर्धनका 'ध्वन्यालोक' (९ वी शतीका उत्तरार्द्ध), कुन्तकका 'वक्रोक्तिजीवित' (१० वी शतीका पूर्वार्द्ध,) भोजराजका 'सरस्वतीकण्ठाभरण' (११ वी शतीका पूर्वार्द्ध), मम्मटका 'काव्यप्रकाश' (११ वी शती), रुय्यकका 'अलंकारसर्वस्व' (१२ वी शतीका पूर्वार्द्ध), जयदेवका 'चन्द्रालोक' (१३ वी शती), विद्याधरकी 'एकावली' (१४ वी शतीका पूर्वार्द्ध), विश्वनाथका 'साहित्यदर्पण' (१४ वी शती), केशव मिश्रका 'अलंकारशेखर' (१६ वीं शतीका उत्तरार्द्ध), अप्पय दीक्षितका 'कुवलयानन्द' (१७ वी शतीका पूर्वार्द्ध) तथा जगन्नाथका 'रसगंगाधर' (१७ वीं शती)।

इसी प्रकार हिन्दी साहित्यके मध्ययुगके अलंकारग्रन्थोंका कालक्रम निम्नलिखित है—केशवदासकी 'कविप्रिया' (सन् १६०१), जसवन्तसिंहका 'भाषाभूषण' (सन् १६४३), चिन्तामणिका 'कविकुलकल्पतरु' (सन् १६५०), मतिरामका 'ललितललाम' (सन् १६६१-६२), भूषणका 'शिवराजभूषण' (सन् १६७३), कुलपति मिश्रका 'रसरहस्य' (सन् १६७०), देवका 'भाव-विलास' तथा 'काव्यरसायन' (सन् १६८९ तथा १७०३), श्रीधरका 'भाषाभूषण' (सन् १७१०), रसिक सुमतिका 'अलंकारचन्द्रोदय' (सन् १७२८), रघुनाथका 'रसिकमोहन' (सन् १७३९), गोविन्दका 'कर्णाभरण' (सन् १७४०), दूलहका 'कविकुलकण्ठाभरण' (सन् १७४३), भिखारीदासका 'काव्यनिर्णय' (सन् १७४६), ऋषिनाथकी 'अलंकारमणिमंजरी' (सन् १७७४), रामसिंहका 'अलंकारदर्पण' (सन् १७७८), सेवादासका 'रघुनाथअलंकार' (सन् १७८३), पद्माकरका 'पद्माभरण' (सन् १८१०), काशिराजकी 'चित्रचन्द्रिका' (सन् १८३२), गिरधरदासका 'भारतीभूषण' (सन् १८३३), लेखराजका 'गंगाभरण' (सन् १८७८), लछिरामका 'रामचन्द्रभूषण' (सन् १८९०), गुलाब सिंहका 'बनिताभूषण' (सन् १८९२), तथा गंगाधरका 'महेश्वरभूषण' (सन् १८९५)।

आधुनिक गद्ययुगमें मुरारिदानका 'जसवन्त जसोभूषन' (सन् १८९३), जगन्नाथप्रसाद 'भानु'का 'काव्यप्रभाकर' (सन् १९०९), भगवानदीनकी 'अलंकारमंजूषा' (सन् १९१६), अर्जुनदास केडियाका 'भारतीभूषण' (सन् १९३०), बिहारीलाल भट्टका 'साहित्यसागर' (सन् १९३७) कन्हैयालाल पोद्दारकी 'अलंकारमंजरी' (सन् १९४५) तथा रामदहिन मिश्रका 'काव्यदर्पण (सन् १९४७)।

'अलंकारशास्त्र'के इस दीर्घकालीन इतिहासको हम तीन कालोंमें विभक्त कर सकते हैं—ध्वनिपूर्वकाल, ध्वनिकाल तथा ध्वन्युत्तरकाल। ध्वनिपूर्वकालके आचार्य भामह, दण्डी, उद्भट, वामन तथा रुद्रट है। इस कालमें अलंकारका ही सार्वभौम शासन रहा, काव्यके शेष धर्म अलंकारके ही रूपान्तर माने गये। भामह इसके आदि आचार्य है और रुद्रट इस कालके समापवर्त्तक एवं उपसंहारक है। हिन्दीके आचार्य केशव इसी युगसे प्रभावित दिखाई देते हैं।

ध्वनिकाल खण्डन और स्थापनाका काल है। आनन्दवर्धन, कुन्तक तथा महिम भट्ट प्रत्यक्षतः ध्वनिसे सम्बन्धित हैं। इस युगमें अलंकारका विवेचन न होकर अलंकारका स्थान निर्धारित करनेका प्रयास हुआ। स्वरचित उदाहरणोंकी अपेक्षा वृत्तिका प्रचलन हुआ। प्रत्येक ग्रन्थके तीन अंग हो गये—मूल, वृत्ति तथा उदाहरण। मूल स्वरचित होता था, उदाहरण प्रायः परकीय और वृत्ति कुछ स्वकीय और कुछ परकीय। इस शैलीका नाम आचार्यत्व पड़ा, जिसकी धारा जगन्नाथतक मिलती है।

ध्वन्युत्तरकाल अपने पूर्ववर्ती कालोंका ऋणी है। मम्मट, रुय्यक, विद्याधर, विश्वनाथ तथा जगन्नाथ शैलीकी दृष्टिसे ध्वनिकालसे प्रभावित है। जयदेव, केशव मिश्र तथा अप्पय दीक्षित आदि ध्वनिपूर्वकालके सहवर्गी है। यह काल पूर्वप्रवृत्तियोंका प्रतिफलनमात्र है। हिन्दी आचार्योंने ध्वनिपूर्वकालसे शैली तथा ध्वन्युत्तरकालसे सिद्धान्त लेकर अपने आचार्यत्व और कवित्वकी उद्भावना की।

हिन्दी साहित्यके रीतिकालीन आचार्य केशव, चिन्तामणि आदि यद्यपि मूलतः अलंकार-सम्प्रदायके प्रतिष्ठापक हैं, तथापि अधिकांश आचार्योंने काव्यमें रसके महत्त्वको स्वीकार किया है।

आचार्योंकी गवेषणात्मक प्रवृत्ति और अतिशय अध्यवसायके कारण भारतीय अलंकारशास्त्रको आज विवेचनात्मक साहित्यमें प्रमुख स्थान प्राप्त है। हिन्दीमें केशवदासको अलंकारवादी कवि माना जाता है, किन्तु उनकी काव्य

परम्पराका परवर्ती कवियों द्वारा अनुगमन नहीं हुआ, अतः हिन्दीकी अलंकार-परम्पराके परवर्ती आचार्योंमें कुलपति आदिका नाम प्रमुख है। विशेषके लिए दे०—'अलंकार'। —वि० स्ना०

अलंकार सम्प्रदाय—'अलंकार-सम्प्रदाय'से तात्पर्य उन लेखकोंकी परम्परासे है, जिन्होंने रस और ध्वनि-सिद्धान्तोंके प्रतिष्ठित हो जानेके पूर्व अथवा पश्चात् 'अलंकार'को ही काव्यकी उत्कृष्टताका प्रमुख साधन माना है। अलंकारका काव्यमें महत्त्वपूर्ण स्थान है, यह तो सर्वसम्मत सिद्धान्त है, किन्तु अलंकार ही काव्यका प्रमुख आकर्षण है, इसको कतिपय आचार्योंने माना है। इस मतका पोषक आचार्य-वर्ग अलंकार-सम्प्रदायके नामसे पुकारा जाता है।

उपर्युक्त अलंकार-मतके संस्थापक आचार्य भामह (७ श० ई०) है तथा इस मतके पोषक है। भामहके टीकाकार आचार्य उद्भट (८ श० ई०), दण्डी (७ श० ई०), रुद्रट (९ श० ई०), जयदेव (१३ श० ई०) अप्पय दीक्षित (१७ श० ई०) और प्रतिहारेन्दुराज (१० श० ई०) भी इसी मतके अनुयायी हैं। हिन्दीमें इस रूपमें सम्प्रदायके अन्तर्गत आनेवाले कवि-आचार्य कम है। केशव (१६–१७ श० ई०), जसवन्त सिंह (१७ श० ई०), भूषण (१७ श० ई०), दूलह (१७–१८ श० ई०) जैसे कुछ आचार्योंने अलंकारको विशेष महत्त्व दिया है, यद्यपि अन्य अनेक रीतिकालके आचार्य-कवियोंने अलंकारोंका विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। पर इनमें चिन्तामणि (१७ श० ई०), मतिराम (१७ श० ई०), कुलपति (१७ श० ई०), देव (१७–१८ श० ई०), दास (१८ श० ई०) आदि आचार्योंने अलंकारोंको रसादिकके साथ स्वीकार किया है, यद्यपि रीतिकालीन काव्यकी सामान्य शैली अलंकृत तथा वैचित्र्यपूर्ण है।

भामहके अनुसार अलंकार ही काव्यका अनिवार्य प्राणतत्त्व है। उनका अभिमत है कि प्रकृत कान्त होनेपर भी वनिताके मुखपर भूषणके बिना जिस प्रकार आभा नहीं आती, उसी प्रकार नितान्त प्रकृत रूपसे वाणीमें चारुता नहीं आती। वाणीकी अलंकृतिके लिए वक्राभिधेय शब्दोक्ति इष्ट है। दण्डीके मतमें काव्यके पोषक अंगोंको 'अलंकार' शब्दके द्वारा पुकारा जाता है। रुद्रट तथा प्रतिहारेन्दुराजने भी अपने ग्रन्थोंमें अलंकारको प्रधानता दी है। पीयूषवर्ष जयदेवके 'चन्द्रालोक'में अलंकारकी अनिवार्यता बड़े जोरदार शब्दोंमें घोषित की गयी है। इनके अनुसार अलंकार काव्यका प्राणतत्त्व है। प्राचीन आलंकारिकों द्वारा अलंकारको अत्यधिक प्रतिष्ठा देनेकी बात रुद्रटने भी अपने 'अलंकार-सर्वस्व'में 'तदेवमलंकार एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्' (६) इस कथनके द्वारा प्रमाणितकी है।

कालक्रमसे अलंकारोंकी संख्याके समान अलंकारोंके स्वरूपमें भी पर्याप्त अन्तर पड़ता गया है। उनमें 'वक्रोक्ति' अलंकारका क्रमशः विकसित स्वरूप द्रष्टव्य है। आचाचार्य भामह वक्रोक्तिको समस्त अलंकारोंका प्राणतत्त्व मानते है। उन्होंने ऐसे अलंकारकी कल्पना भी नहीं की, जो वक्रोक्तिसे वियुक्त हो। वक्रार्थकी विधायक शब्दोक्तिको ही उन्होने अलंकार कहा है और वे इसके बिना अलंकारकी स्थिति स्वीकार नही करते–'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते। यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ॥' (काव्यालंकार, २:८५)। वामनने इसीको अर्थालंकार कहा है और रुद्रटने इसे शब्दालंकारोंके वर्गमें रखा है। अलंकार-सम्प्रदायके आचार्योंके आलंकारिक विवेचनके अनुशीलनसे स्पष्ट होता है कि यद्यपि इस विवेचनामें मौलिकता है, किन्तु उनमें विकास अधिकांश अलंकारोंकी संख्याका अथवा परिभाषाका ही देखनेमें आता है, अलंकारका काव्यपर किस प्रकार प्रभाव पड़ता है, इस विषयपर गम्भीर एवं गवेषणात्मक अध्ययन प्रायः किसीने नहीं किया। इस सम्प्रदायके आचार्योंने अलंकारको काव्यका अनिवार्य अंग सिद्ध करनेके निमित्त स्वभावोक्तिको भी अलंकारमें समाविष्ट कर लिया है।

इस सम्प्रदायके अनुवर्ती आचार्योंने अलंकारोंका वर्गीकरण करते समय उनके मूल तत्त्वोंपर भी विचार किया है। अलंकारोंके विभागके लिए कतिपय सिद्धान्त भी निश्चित किये हैं। अलंकारोंके वर्गीकरणके वैज्ञानिक स्वरूपका सर्वप्रथम निर्देश हमें रुद्रटके 'काव्यालंकार'में मिलता है। इस विषयमें आचार्य रुय्यक और विद्याधरका निरूपण बड़ा ही युक्ति-संगत, मौलिक और वैज्ञानिक है। इस सम्प्रदायकी प्राचीनताका आभास इसी तथ्यसे मिलता है कि हमारे समस्त आलोचना-शास्त्रका प्राचीनतम नाम इसीके नामानुरूप अलंकार-शास्त्र है।

अलंकारको ही काव्यका सर्वस्व मानकर चलनेवाले आचार्योंने अपने अलंकार-ग्रन्थोंमें रसका स्वतन्त्र रूपमें उल्लेख न कर उसे काव्यके प्राणभूत अलंकारका ही एक प्रकार माना है। उन्होंने रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी तथा समाहित अलंकारोंके भीतर रस और भावके समग्र विषयको समाविष्ट कर दिया है। इस तथ्यके प्रमाण भामह, दण्डी, उद्भट और रुद्रटके अलंकार-ग्रन्थ हैं, जिनमें उन्होंने प्रेय, रसवत् आदि अलंकारोंके द्वारा रसके समग्र विषयका उल्लेख किया है। भामह स्पष्ट रूपसे लिखते है कि जहाँ शृंगारादि रसोंकी प्रतीति स्पष्ट रूपसे होती है, वहाँ रसवत् अलंकारकी सत्ता नहीं मानी जा सकती। इसी प्रकार दण्डी, उद्भट तथा रुद्रटने भी काव्यमें रसका निवेश विशेष यत्नसे करनेका आदेश दिया है। सारांश यह कि उपर्युक्त आलंकारिक रस-तत्त्वको अलंकारका ही एक रूप मानते हैं।

इन आचार्योंने काव्यमें प्रतीयमान अर्थकी महत्ताको भी स्वीकार किया है। रुय्यकने स्पष्ट रूपसे लिखा है कि भामह तथा उद्भट आदि अलंकारवादी आचार्योंने प्रतीयमान (व्यंग्य) अर्थको वाच्यका पोषक मानकर उसे अलंकारके भीतर ही अन्तर्भुक्त किया है। इन आचार्योंने ध्वनि और प्रतीयमान अर्थको काव्यका मूल तत्त्व नहीं माना है और न ही ध्वनि अथवा गुणीभूत व्यंग्य जैसे पदोंका अपने अलंकार-ग्रन्थोंमें प्रयोग किया है। इन्होंने समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, आक्षेपके भीतर प्रतीयमान अर्थके अनेक प्रकारोंका समाहार कर दिया है। भामहने समासोक्ति अलंकारके लक्षणमें स्पष्ट रूपसे निर्देश किया है कि यह अलंकार वहाँ होता है, जहाँ किसी वस्तुका वर्णन होनेपर तत्समान विशेषणवाले अन्य अर्थकी प्रतीति होती है।

इसी प्रकार पर्यायोक्ति अलंकारमें वाच्यार्थसे भिन्न अन्य

प्रकारके समग्र अर्थोंका ग्रहण भामहको अभीष्ट है। स्पष्टतः इन अलंकारवादी आचार्योंने प्रतीयमान अर्थकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार न कर अलंकारविशेषमे ही उसका समाहार कर दिया था।

दण्डी और भामहने अलंकारका जो महत्त्व काव्यमें प्रतिपादित किया, वह किसी न किसी रूपमें परवर्ती युगोंतक मान्य रहा है। हिन्दी साहित्यके रीतिग्रन्थोंमे अलंकारवादका समर्थ प्रतिपादन तो नहीं है, पर जैसा कहा गया है, यह उसकी शैलीगत विशेषता अवश्य रही है। अधिक विस्तारके लिए दे० 'अलंकार' तथा 'अलंकार-शास्त्र'। —वि० स्ना०।

अलंकार्य–किसी पदार्थ या वस्तुके स्वाभाविक वर्णनको अलंकार्य कह सकते है, अर्थात् स्वभाववर्णन ही अलंकार्य है। अलंकार और अलंकार्यके प्रभेदका विवादास्पद प्रश्न यद्यपि भारतीय काव्य-शास्त्रका नितान्त नवीन विषय नहीं है, किन्तु यूरोपमें अभिव्यंजनावादके प्रवर्तनके उपरान्त यह प्रश्न आधुनिक काव्य-शास्त्रमें विशेष चर्चाका विषय बन गया है। प्राचीन आलंकारिक भामह, दण्डी, वामन आदिने अलंकार और अलंकार्यमें अभेद स्थापित कर सम्पूर्ण काव्य-सौन्दर्यको 'अलंकार'में समाहित किया है—'काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते' (काव्यादर्श, २:१) तथा 'सौन्दर्यमलंकारः' (काव्यालंकारसूत्र, १:१:२)।

स्पष्ट है कि इन आचार्योंके अनुसार काव्य-शोभाके कारण अथवा पर्याय अलंकार हैं। इसीसे इन्होने सम्पूर्ण रस-प्रपञ्चको रसवत् आदि अलंकारोंमें अन्तर्भूत कर दिया है। भामहके अनुसार काव्यका प्रस्तुत पक्ष चमत्काररहित होनेके कारण, काव्य न होकर वार्तामात्र है। '...सूर्यास्त हो गया,...चन्द्रोदय हुआ, पक्षिगण अपने-अपने नीड़ोंको लौट रहे है...इत्यादि, यह क्या कोई काव्य है? इनको वार्ता कहते हैं' (काव्यालंकार, २:८७)। काव्यका यह प्रस्तुत पक्ष जब चमत्कृत हो जाता है, तो अलंकार बन जाता है। सारांश यह कि ये आलंकारिक काव्यके प्रस्तुत पक्षका सर्वथा निषेध तो नहीं करते, किन्तु उसमें काव्यत्वका समाहार नहीं करते। इस प्रस्तुत पक्षमें जब किसी भी प्रकारके सौन्दर्यका उन्मेष होता है, तो यह अपनी समग्रतामें अलंकारका पर्याय हो जाता है।

किन्तु रस और ध्वनि-सम्प्रदायके अनुयायियोंने शब्द-अर्थको प्रत्यक्षतः और रसको मूलतः अलंकार्य कहा है और उपमा-रूपकादिको अलंकारके नामसे अभिहित किया है। उन्होंने उपमा-रूपक आदि अलंकारोंको रस-रूप अंगीका उत्कर्ष-विधायक कहा है। दूसरे शब्दोंमें, उपमादि अलंकार रस-रूप अलंकार्यको अलंकृत करते हैं। मम्मट और विश्वनाथने प्रकारान्तरसे इसी मतका समर्थन किया है—'उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्। हारादिवदलंकारास्ते...' (काव्यप्रकाश, ८:६७)। अर्थात् हारादि आभूषण जिस प्रकार स्थूल रूपसे शरीरको शोभित करते हुए मूलतः आत्माका उत्कर्ष करते हैं, उसी प्रकार अलंकार प्रत्यक्ष रूपसे शब्द-अर्थको अलंकृत करते हुए मूलतः रसका संवर्द्धन करते हैं। अतएव इस सिद्धान्तके अनुसार उपमादि अलंकार हैं और शब्द प्रत्यक्षतः तथा रस मूलतः अलंकार्य है।

कुन्तकने अलंकार और अलंकार्यकी पृथक्ताका निर्देश अत्यन्त स्पष्ट शब्दोंमें किया है। उनके अनुसार स्वभाववर्णन ही अलंकार्य है। यदि इसीको अलंकार कहे, तो फिर स्वभाववर्णनसे भिन्न कौन-सी वस्तु है, जो अलंकार्य है? काव्यमे अलंकार्य शरीरस्थानीय है। यह शरीर ही यदि अलंकार बन जाय, तो वह उस अलंकारसे पृथक् दूसरे किस अलंकार्यको अलंकृत करेगा? स्वभाववर्णन अलंकार्य भी हो और अलंकार भी, यह सर्वथा असम्भव कल्पना है। कुन्तकके अनुसार शब्द और अर्थ अलंकार्य होते है और चतुरतापूर्ण शैलीसे कथनरूप वक्रोक्ति ही उन दोनों (शब्द और अर्थ)-का अलंकार होती है—'उभावेतावलंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः। वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभणितिरुच्यते' (वक्रोक्तिजीवित, १:१०)। हिन्दीमें रामचन्द्र शुक्लने भी काव्यके प्रस्तुत अर्थको अलंकार्य कहा है। उनके अनुसार अलंकार्य और अलंकारमें अनिवार्य भेद है, जो सर्वथा अमिट है। प्राचीन-पाश्चात्य काव्य-शास्त्रमें भी इस तथ्यको इसी रूपमे स्वीकृत किया गया है। अरस्तूसे लेकर आर्नल्डतक यह मान्यता प्रायः अक्षुण्ण रही है। उदाहरणके लिए—'नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अंग; खिला हो ज्यों बिजलीका फूल, मेघ-वन बीच गुलाबी रंग।' (कामायनी—'श्रद्धा' सर्ग)। इसमें श्रद्धाका रक्तिम गौर अंग प्रस्तुत है और यही अलंकार्य है। बिजलीका फूल अप्रस्तुत है। दूसरी ओर नीला उनका परिधान प्रस्तुत है और मेघ-वन अप्रस्तुत। सम्पूर्ण रूपसे, नील परिधानमें झलकता हुआ रक्तिम गौर अंग प्रस्तुत है और मेघ-वनमें खिला हुआ विद्युत्पुष्प अप्रस्तुत। यह अप्रस्तुत विधानरूप अलंकार श्रद्धाके रूप अलंकार्यका उपकारक है। —वि० स्ना०

अलक्षणीयतावाद–'ध्वन्यालोक'में उल्लिखित तीन ध्वनि-विरोधी मतोंमें तीसरा। आनन्दवर्धनका कहना है—'केचित् पुनर्लक्षणकरणशालीनबुद्धयो ध्वनेस्तत्त्वं गिरामगोचरं सहृदयहृदयसंवेद्यमेव समाख्यातवन्तः'। लक्षण निर्माणमें अप्रगल्भबुद्धि किन्हीं(तीसरे वादी)ने ध्वनिके तत्त्वको ('न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते'के समान) केवल सहृदय-हृदयसंवेद्य और वाणीके परे (अलक्षणीय, अनिर्वचनीय) कहा है (हिं० ध्व०, पृ० १४)। इस सम्बन्धमें मुख्य विचारणीय बात यह है कि जो तत्त्व वाणी द्वारा नहीं बाँधा जा सकता, जिसकी सम्यक् परिभाषा नहीं दी जा सकती, वह तो अपने इस लक्षणके कारण स्वतः ही महान् सिद्ध हो जाता है। इसीलिए इस तीसरे पक्षको अज्ञानमूलक कहा गया है। —उ० शं० शु०

अलख–नाथपन्थी जोगियोंके वे गीत, जो भिक्षाके समय चिकारोंपर गाये जाते हैं। उत्तरभारतके सभी क्षेत्रोंमें 'अलख' उपलब्ध हैं। गोपीचन्द, भरथरी, गोरख और मैनावतीकी कथाएँ अथवा निर्गुणी भावनाओंके द्योतक अलख गीत हैं। राजस्थान और मालवामें प्रायः अलख सुननेको मिल जाते हैं। —श्या० प०

अलख निरंजन–दे० 'निरंजन'।

अलौकिक शृंगार–दे० 'शृंगार'।

अल्प–अधिकमें अन्तर्भूत होनेवाला अर्थालंकार। यदि आधेय छोटा और आधार बड़ा हो, किन्तु फिर भी आधारको

अपेक्षाकृत छोटा (अल्प) वर्णित किया जाय तो 'अल्प' अलंकार होता है। इसको सर्वप्रथम अप्पय दीक्षितने 'कुवलयानन्द'में स्वीकार किया है और उन्हींके आधारपर हिन्दीके मतिराम, दास, पद्माकर आदि आचार्योंने इसका विवेचन किया है। मतिरामके अनुसार इसकी परिभाषा है—'जहाँ सूछम आधेय तें, अति सूछम आधार।' (ल० ल०, २४०, अथवा—'अलप अलप आधेय तें, सूच्छम होइ आधार' (का० नि०, ११)। उदा०—'मन जद्यपि अनुरूप है, तऊ नें छूटति संक। टूट परै जनि भार तें, निपट पातरी लंक' (ल० ल०, २४२)। यहाँ आधेय 'मन' अति अल्प है, उससे भी अल्पतर है आधार 'कटि', अतः यहाँ अल्प अलंकार है। 'काव्यप्रकाश' अथवा 'साहित्यदर्पण'में अल्प अलंकारको स्वतन्त्र स्थान नहीं मिला है। 'काव्यप्रकाश'में 'अधिक'की परिभाषा यों है–'महतोर्यन्महीयांसावाश्रिताश्रययोः क्रमात्। आश्रयाश्रयिणौ स्यातां तनुत्वेऽप्यधिकं तु तत्' (का० प्र०, १०:१२८), अर्थात् यदि महान् आधेय एवं आधारके आधार एवं आधेय क्रमशः महत्तर वर्णित हों, यद्यपि वस्तुतः ये दोनों छोटे हों, तो वहाँ 'अधिक' अलंकार होता है। ऊपर दिये हुए उदाहरणमें 'लंक'में 'मन' वस्तुतः छोटा है, पर 'लंक'को बडा मानकर 'मन'को उससे भी बडा कल्पित किया गया है, अतः इस दृष्टिसे यह 'अधिक' अलंकारका उदाहरण हुआ, और 'अल्प' अलंकार 'अधिक' अलंकारमें अन्तर्भूत हुआ। पद्माकरने इसका दूसरा भेद—'अलप अलप आधार तें, जहँ आधेय बखान।' माना है और उसका उदाहरण दिया है—'अति सूछम जो मन तहाँ, ता हूँ तें लघुमान' (पद्मा०, १५९)। भूषणने 'शिवराजभूषण'में इसका उल्लेख नहीं किया है। —ध० ब्र० शा०

अवगलित–यह रूपकगत प्रस्तावनाका एक भेद है। यह दो प्रकारका होता है। प्रथम प्रकारका अवगलित वहाँ होता है, जहाँ एक ही क्रिया द्वारा एक ही कार्यके समावेशमे दूसरे कार्यकी भी सिद्धि हो जाय। दूसरा अवगलित वहाँ होता है, जहाँ एक कार्यके प्रस्तुत होनेपर दूसरा ही कार्य सम्पन्न हो।

प्रथम प्रकारके अवगलितका उदाहरण 'उत्तररामचरित'से दिया जाता है। वनविहारकी दोहद इच्छावाली गर्भवती सीताको वनमें छोड दिया जाता है। यहाँ एक कार्यके समावेश(दोहदपूर्ति)से जनापवादके कारण वनत्यागकी भी पूर्ति हो जाती है।

दशरूपककारने दूसरे 'अवगलित'का उदाहरण 'छलितराम' नाटकसे दिया है, जो आज अप्राप्य है। राम पिताके वियोगमें विह्वल अयोध्यामें विमानसे न जाकर पैदल चलते है। ठीक सामने ही उन्हे जटाजूटधारी भरत दिखाई पड जाते है। यहाँ प्रस्तुतकी सिद्धि न होकर भरत-दर्शनकी सिद्धि होती है। —ब० सि०

अवचेतन–अवचेतन 'उपचेतन'का समानार्थक है (दे० 'मानस अवचेतन')।

अवज्ञा–विशेषोक्तिमें अन्तर्भूत होनेवाला अर्थालंकार, जहाँ एकके गुण-दोषसे दूसरेको गुण-दोष न होनेका वर्णन हो, वहाँ 'अवज्ञा' अलंकार होता है। यह अलंकार 'उल्लास' अलंकारके विपरीत है। 'उल्लास'में अन्यके गुण-दोषोंका अन्यके द्वारा अंगीकरण है, 'अवज्ञा'में उनका अनंगीकरण अथवा व्यर्थता। संस्कृतके प्रमुख आचार्योंने इस अलंकारका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं माना है। न तो 'काव्यप्रकाश'में, न 'साहित्यदर्पण'में इसका उल्लेख है। 'चन्द्रालोक' तथा 'कुवलयानन्द'में इसे स्वतन्त्र अलंकार माना गया है। मतिराम, भूषण, दास तथा पद्माकर आदि हिन्दीके आचार्योंने भी इसे स्वतन्त्र अस्तित्व दिया है। मतिरामके अनुसार इस अलंकारकी परिभाषा है—'औरँके गुन दोषतें औरँके गुन दोष' (ल० ल०, ३१७)। दासने इसके दोनों भेदोंके अलग लक्षण दिये हैं—'औरँके गुन औरको गुनन' तथा 'औरे दोष न औरको दोष' (का० नि०, १४)। उदा०—'मेरे दृग वारिद वृथा, वरषत वारि प्रवाह। उठत न अंकुर नेहको, तो उर ऊसर माह' (ल० ल०, ३१९)। यहाँ एकके प्रेमका प्रभाव दूसरेपर न होना अर्थात् गुणसे गुणका न होना वर्णित है; यथा—"कहा भयो जो तजत हैं, मलिन मधुप दुख मानि। सुवरन वरन सुवास जुत, चम्पक लहै न हानि। (वही, ३२०)। यहाँ मधुपके त्यागसे चम्पकको कोई हानि नहीं होती, अर्थात् दोषसे दोषका न होना वर्णित है। भूषणने गुण तथा दोष दोनोंकी अवज्ञा एक ही उदाहरणमें प्रदर्शित की है, यथा—"औरनके अनबाढ़े कहा अरु बाढे कहा नहि होत चहा है। औरनके अनरीझे कहा अरु रीझे कहा न मिटावत हा है" (शि० भू०, २८२)।

संस्कृतके प्रमुख आचार्योंने इसका स्वतन्त्र उल्लेख इस कारण नहीं किया है कि वे इसका अन्तर्भाव 'विशेषोक्ति'में मानते हैं। कारणके रहते कार्यका न होना विशेषोक्ति और गुण-दोष (कारण)के रहते गुण-दोष (कार्य) न होना अवज्ञा है। दोनोंमें तात्त्विक अन्तर न होनेसे उद्द्योतकारने 'अवज्ञा'को 'विशेषोक्ति'के अन्तर्गत माना है। —ध० ब्र० शा०

अवतरित लीला–दे० 'लीला'।

अवतार–अवतरणमवतारः (उच्च स्थानसे निम्न स्थानपर उतरना ही अवतरण या अवतार है)। भगवान्‌का वैकुण्ठधामसे भू-लोकपर लीलादिके निमित्त अवतार होता है। 'महाभारत'के हरिवंशपर्वमें अवतारके स्थानपर आविर्भाव शब्द प्रयुक्त किया गया है (४१:१७–२०)। उनके अवतारका उद्देश्य 'श्रीमद्भगवद्गीता'के शब्दोंमें है—"परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥" (अ० ४, श्लो० ८)। उत्पत्ति, स्थिति और लय (संहार) सृष्टिके शाश्वत धर्म हैं। ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन तीन धर्मोंके प्रतिनिधि देवता हैं। विष्णु सृष्टिपालनके प्रतीक होनेसे अधिक लोकप्रिय हैं अतः इन्हींके अवतारोंकी अधिक कल्पना की गयी है। कहा जाता है कि बुद्धकी देवताओंके समान गणना होनेके पश्चात्से ही अवतारवादका प्रचलन हुआ और पुराणोंने इसे पुरस्सर तथा प्रचारित किया। परन्तु अवतारोंके बीज वैदिक सहित्यमें भी खोजे गये हैं। 'शतपथ ब्राह्मण'में मत्स्यावतार (२।९।११) तथा कूर्मावतार (७।३।३।५), 'तैत्तिरीय संहिता' (७।१।५।१) और 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' (१।१।३।५) एवं 'शतपथ ब्राह्मण' (१।२।५।१०)में वामनावतारका उल्लेख है। 'ऋग्वेद'में विष्णुकी तीन डगोंसे सृष्टि नापनेकी कल्पना है

(१।१५४।२)। 'ऐतरेय ब्राह्मण' तथा 'छान्दोग्योपनिषद्' (३।१०)में देवकीपुत्र कृष्ण तथा 'तैत्तिरीय आरण्यक' (१९।१।६)में वासुदेव श्रीकृष्णका उल्लेख है। वैदिक ग्रन्थोंमें इन्हें ब्रह्माका अवतार कहा है, परन्तु पुराणोंमें ये विष्णुके अवतार माने गये हैं।

पुराणोंमें विष्णुके अनेक अवतारोंकी कल्पना की गयी है। प्रत्येक पुराणमें उनकी संख्या एक-सी नहीं है। किसीमें ६ है, किसीमें १२ और किसीमें १०। विष्णुके दस अवतार प्रसिद्ध हैं—जो क्रमानुसार इस प्रकार है—(१) मत्स्य, (२) कूर्म, (३) वराह, (४) वामन, (५) नृसिंह, (६) परशुराम, (७) राम, (८) कृष्ण, (९), बुद्ध, (१०) कल्कि। इन दसमें राम और कृष्णके अवतार अति प्रसिद्ध हैं (दशावतार वर्णनके लिए दे० जयदेवकृत 'गीतगोविन्द' प्रथम सर्ग, प्रबन्ध १)।

पुराणोंमें भगवान्‌के कुल २४ अवतार वर्णित हैं। वे हैं (१) नारायण (विराट् पुरुष), (२) ब्रह्मा, (३) सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार, (४) नरनारायण, (५) कपिल, (६) दत्तात्रेय, (७) सुयज्ञ, (८) हयग्रीव, (९) ऋषभ, (१०) पृथु, (११) मत्स्य, (१२) कूर्म, (१३) हंस, (१४) धन्वन्तरि, (१५) वामन, (१६) परशुराम, (१७) मोहिनी, (१८) नृसिंह, (१९) वेदव्यास, (२०) राम, (२१) बलराम, (२२) कृष्ण, (२३) बुद्ध, (२४) कल्कि। ये लीलावतारके नामसे प्रसिद्ध हैं। सत्त्वावतारके रूपमें काल, स्वभाव, कार्यकारण, मन, पंचभूत, अहंकार, रज, तम, सत्—त्रिगुण, इन्द्रियाँ, ब्रह्मायुशरीर, स्थावर और जंगम जीवकी गणना की जाती है ('श्रीमद्भागवत', ६।२।७)।

निर्गुण सन्त कवियोंने अवतारोंका निषेध किया, उन्हें उसी रूपमें नहीं ग्रहण किया, जिस रूपमें सगुण उपासक कवियोंने ग्रहण किया। सगुणोपासकोंके लिए ईश्वरावतार स्थूल प्रतीक है, जिसकी उन्होने मानसिक और सेवामूलक उपासना तथा अर्चना की है। निर्गुणियोंने अपनी आध्यात्मिक अनुभूतिको जिसे 'गूँगेका गुड़' कहते हैं, लोकसामान्य बनानेकी दृष्टिसे राम, कृष्ण आदि अवतारोंके प्रतीकोंके माध्यमसे व्यक्त किया है। अवतार उनके अव्यक्त ब्रह्मके नाममात्र हैं। उन्होंने अवतार नामोंकी पुराणवर्णित लीलाओंपर आस्था नहीं प्रकट की।

कृष्णावतारकी लीलाओंका चित्रण सूरकृत 'सूरसागर' तथा अन्य कृष्ण-सम्प्रदायके कवियोंकी कृतियोंमे तथा रामावतारकी लीलाओंका वर्णन मुख्यतया गोस्वामी तुलसीदासके 'रामचरितमानस' तथा अन्य ग्रन्थोंमें मिलता है।

भगवान्‌के उपर्युक्त अवतारोंकी प्रकट लीलाका चित्रण ही भक्त कवियोंका ध्येय रहा है। लीलाचित्रणमें उन्होने अवतारविशेषके सौन्दर्य, शील और शक्तिके विविध रूपोंपर ध्यान दिया है। यद्यपि निर्गुणी सन्तोंने अवतारोंका विरोध किया है; यथा—"लोका तुम्ह ज कहत हौ नन्दको नन्दन, नन्द कहौं धू का कौ रे ? धरनि अकास दोऊ नहिं होते तब यहु नन्द कहाँ थौ रे ॥" ('कबीर ग्रन्थावली', का० ना० प्र० स०, पदसंख्या ४८)।

तो भी जब ब्रह्मके प्रति प्रेमासक्तिवश उसका बड़प्पन सिद्ध करनेकी इच्छा जागरित होती है तब वे उसके अवतारी 'गुणों' या कार्योंका भी स्मरण कर लेते हैं; यथा—
"मेरो बापु माधव तू धनु केसव साँवलीउ बिठुलाई। कर धरे चक्र बैकुण्ठ ते आये गज हस्तीके प्रान उधारीअले। दुहसासनकी सभा द्रोपती अम्बर लेत उबारीअले। गौतम नारि अहिलिया तारी पातिकि केतक तारीअले। ऐसा अधमु अजाति नाम देउ तउ सरनागत आइअले ॥"
(नामदेव, पदसंख्या ३५)

"बाँधि मारि आवै देहि जारि, जेहँ राम छाड़ौं तौ मेरे गुरुहि गारि। तब काढ़ि खडग कोप्यो रिसाइ, तोहि राखनहारन तोहि बताइ ॥ खम्भामें प्रगट्यो गिलारि, हरनाकस मारयो नख बिदारि। महापुरुख देवाधिदेव, नरसिंह प्रगट किये भगति भेष ॥ कहै कबीर कोई लहै न पार, प्रहिलादि उबार्‍यो अनेक बार।"
('कबीर ग्रन्थावली', का० ना० प्र० स०)।

भगवान्‌के अवतारोंके गुण-माहात्म्यका उल्लेख करनेमें निर्गुणियोंको आपत्ति नहीं दिखाई देती पर वे अवतारोंके प्रतिमापूजनका घोर विरोध करते हैं। कबीर कहते हैं—
"कौन बिचारि करत हौ पूजा, आतम राम अवर नहीं दूजा। बिन प्रतीतै पाती तोड़ै, ग्यान बिना देवलि सिर फोड़ै। लुचरी लपसी आप सँवारै, द्वारे ठाढा राम पुकारै। पर-आतम जौ तत बिचारै, कहि कबीर ताकै बलिहारे ॥"
('कबीर ग्रन्थावली', पदसंख्या १३५)। —वि० मो० श०

अवतारवाद—अवतारवादकी धारणा कितनी प्राचीन है, इसके विषयमें विद्वानोंको सन्देह है। सम्भवतः भक्ति एवं अवतारवादकी धारणा साथ-ही-साथ विकसित हुई। इसीलिए भक्तिके प्रचलनके पूर्व अवतारवादके उल्लेखका अभाव है। अवतारोंका आरम्भिक संकेत 'शतपथ ब्राह्मण'में प्राप्त होता है। यहाँ क्रमशः वाराह (१४ : १ : २-११), वामन (१ : २: ५), मत्स्य (१ : ८ : १) और कूर्म (७ : ५ : १) अवतारोंका उल्लेख मिलता है। यहाँ वाराहको पृथ्वी (प्रजा)-का पति अर्थात् प्रजापति कहा गया है। पृथ्वी चोरके सदृश अदृश्य थी—वाराहने ही उसका उद्धार किया। वामन अवतारका सम्बन्ध विष्णुसे है। असुरोंसे देवोंके लिए पृथ्वी प्राप्त करनेके लिए यज्ञ रूप वामनने अपने शरीरका विस्तार किया था। यहाँ विष्णु-यज्ञके प्रतीक माने गये हैं। मत्स्य एवं कूर्मका सम्बन्ध प्रजापतिसे ही है। वामन, वाराह एवं कूर्म-सम्बन्धी यही कथाएँ 'तैत्तिरीय संहिता' तथा 'जैमिनीय ब्राह्मण'में मिलती हैं। इन उल्लेखोंसे दो तथ्य स्पष्ट रूपसे निकलते हैं। प्रथम यह कि अवतारवादकी धारणाका व्यापक प्रचार नहीं था और दूसरे, आरम्भमें सामान्य रूपसे इसका प्रजापतिसे अधिक सम्बन्ध था। बादमें वैष्णव भक्तिके साथ अवतारविषयक धारणाकी पुष्टि होनेपर प्रजापतिके अवतारोंको विष्णुका अवतार मान लिया गया। विष्णुके अवतारोंको तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—

१. पशुयोनि—'शतपथ ब्राह्मण'मे विष्णुके वाराह, कूर्म और मत्स्य-अवतारोंका उल्लेख हुआ है। 'तैत्तिरीय आरण्यक' मे कहा गया है, कि यह पृथ्वी शतभुजाओं वाले श्याम वाराहके द्वारा उठायी गयी। वामनकी 'शतपथ ब्राह्मण'-की कथामें 'वामनो हि विष्णुरास'का उल्लेख है। वस्तुतः विष्णुकी परवर्ती महत्ताके कारण इनका सम्बन्ध विष्णुसे

जोड़ दिया गया। 'गीता'के दशवें अध्यायमें शक्तिकी विशिष्टताको केन्द्र मानकर कृष्ण स्वयंको नागोंमें शेष, पशुओंमें मृगराज, पक्षियोंमें गरुड़ एवं मत्स्योंमें 'मगरमच्छ' तो कहते हैं, किन्तु इन अवतारोंका संकेत नहीं करते। फिर भी 'यदा यदा हि धर्मस्य' श्लोकमें अवतारविषयक धारणाका स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है। पशु योनिके अवतारका उल्लेख सर्वप्रथम 'महाभारत'के अन्तर्गत 'नारायणीयोपाख्यान'में हुआ है। यहाँ क्रमशः ६ तथा १० अवतारोंमें वाराह, कूर्म एवं मत्स्य हैं। परन्तु आर० जी० भंडारकर इसे प्रक्षिप्त मानते हैं। इन अवतारोंका उल्लेख वाल्मीकि रामायणके लंकाकाण्डमें है, किन्तु कामिलबुल्केके अनुसार वह प्रक्षिप्त है। 'हरिवंश'में 'हंस' अवतारका भी उल्लेख मिलता है। इस प्रकार पशु अवतारोंकी संख्या ४ हो जाती है। पशु अवतारके सम्बन्धमें कई मत हैं। किसीके अनुसार ये अनार्य जातिके अन्तर्गत पूजे जानेवाले पशु विशेष थे, जो बादमें आर्य संस्कृतिमें भी महत्त्व पा गये। एक दूसरी धारणा यह है कि ये सृष्टि-विकासके विभिन्न सोपानोंके प्रतीक हैं। यही प्रतीकोपासना अवतारवादके रूपमें परिणत हो गयी। ये अवतार 'भागवत पुराण' तक बिना किसी परिवर्तनके उल्लिखित होते चले आये हैं।

मिश्रित एवं अविकसित योनि—इसमें नृसिंह एवं वामन अवतारका उल्लेख किया जा सकता है। द्रविडोंमें मिश्रित योनियोंकी पूजा प्रचलित थी। इन मिश्रित योनियोंमें नरगज, नृसिंहकी उत्कीर्ण प्रतिमाएँ सिन्धु घाटी सभ्यताके अवशेषोंमें प्राप्त हैं। वामन अवतारका सम्बन्ध स्पष्टतः विष्णुसे है। 'गीता'के १०वें अध्यायमें आदित्यके द्वादश रूप वामन विष्णुका उल्लेख मिलता है। 'ऋग्वेद'के 'विष्णु सूक्त'में उल्लेख है कि विष्णु (सूर्य)ने तीन पगमें पृथ्वीको नाप लिया है। यही सम्भवतः वामनावतारकी कथाका मूलाधार है। 'परन्तु शतपथ ब्राह्मण'की कथा इससे कुछ भिन्न है।

मानवयोनि—'भागवत' [२: ६ : ४१]में परमेश्वरका प्रथम अवतार पुरुषरूप ही माना गया है। सम्भवतः इसका आधार यजुर्वेदका पुरुषसूक्त है। 'गीता'के १०वें अध्यायमें भृगु, राम तथा वासुदेवका उल्लेख विष्णुरूपमें ही मिलता है। इनके साथ अन्य प्रभावशाली मुनि तथा शंकर एवं रुद्रोंकी गणना की गयी है। 'महाभारत'के अनुसार पुरुष योनिके अवतारोंमें राम, राम भार्गवेय, वासुदेव कृष्ण, एवं कल्कि हैं। 'महाभारत'में प्रयुक्त चार स्थलोंपर रामोपाख्यानोंमें रामको विष्णु कहा गया है। 'हरिवंश पुराण'के अनुसार (४१ : १२२) राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न चारोंको विष्णुका ही रूप माना गया है। 'वाल्मीकि रामायण'में नारद रामको विष्णु न कहकर 'विष्णु इव' कहते हैं। कालिदासने रामके विष्णु रूपका प्रत्यक्ष उल्लेख 'रघुवंश'के कई श्लोकोंमें किया है। चन्द्रगुप्तकी पुत्रीके भागवत एवं रामोपासक होनेका उल्लेख अनेक इतिहासकारोंने किया है। कृष्णका आरम्भिक रूप एवं विकास किन परिस्थितियोंसे होकर अवतारके रूपमें प्रतिष्ठित हुआ, इसका उल्लेख अन्यत्र किया गया है (दे० 'कृष्णकाव्य')। परशुरामका भी आरम्भिक संकेत 'महाभारत'के 'शान्तिपर्व'में ही मिलता है। 'महाभारत'से पृथक् नासिक शिलालेख (दूसरी शती)में रामदत्तकी पूजाका उल्लेख है, जो 'महाभारत'में जमदग्निके पुत्रके रूपमें आते हैं। इन अनेक प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि अवतारवादकी धारणाका प्रचार ईसाकी प्रथम शताब्दीके आसपास काफी हो चुका था।

अवतारविषयक परवर्ती धारणाओंमें धार्मिक-साम्प्रदायिक मतवाद तथा व्यक्तिगत महत्ताका दृष्टिकोण अधिक सक्रिय दिखायी देता है। 'मत्स्यपुराण'में सात पुरुष अवतारोंका उल्लेख मिलता है—दत्तात्रेय, मान्धाता, परशुराम, राम, वेदव्यास, बुद्ध एवं कल्कि। 'हरिवंश'में कथित दश अवतारोंमें राम, कमल, दत्तात्रेय, केशव एवं व्यास पुरुष अवतार ही हैं। 'भागवत'में अवतार विषयक धारणाका विस्तार किया गया। इसके अनुसार अवतार तीन हैं—पुरुषावतार, गुणावतार एवं लीलावतार। परम्परासे चले आते हुए अवतारको लीलावतार कहा है। 'भागवत'में तीन स्थलोंपर अवतारोंकी सूची मिलती है। अन्तिम सूची २४ लीलावतारोंकी है, जिसमें पुरुषावतार १७ हैं—चतुःसन, नारद, नर-नारायण, कपिल, दत्तात्रेय, हयग्रीव, ध्रुवप्रिय, ऋषभ, पृथु, बलराम, धन्वन्तरि, मोहिनी, परशुराम, रामचन्द्र, व्यास, बुद्ध और कल्कि। चैतन्य सम्प्रदायके अन्तर्गत इस धारणामें और भी विस्तार किया गया। सामान्य रूपसे ये दो भागोंमें विभक्त हैं—कल्पावतार एवं मन्वन्तर अवतार। कल्पावतार प्रत्येक कल्पकी समाप्तिके बाद एवं मन्वन्तर अवतार प्रत्येक मन्वन्तरमें होता है। मन्वन्तर अवतारमें पुरुषावतारोंकी संख्या इस प्रकार है—यज्ञ, विभू, सत्यसेन, हरि, अजित, सार्वभौम, ऋषभदेव विश्वसेन, धर्मसेतु, सुधामन, योगेश्वर, बृहद्भानु। स्थानविषयक अवतारोंमें 'वैकुंठ'की गणना की जा सकती है। इसी प्रकार मध्यकालीन मान्यताके अन्तर्गत वल्लभ, निम्बार्क, मध्व, चैतन्य, रामानुज, हरिवंश आदिको भी दैवत् अवतारोंमें गिना जाने लगा है। निष्कर्षतः मध्यकालीन वैष्णव धर्मके वातावरणमें अवतारविषयक धारणामें अधिकाधिक स्वच्छन्दताके दर्शन होते हैं।

[सहायक ग्रन्थ—भागवत सम्प्रदाय : बलदेव उपाध्याय; मध्यकालीन धर्मसाधना : डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी; द क्लैसिकल एज : के० एम० मुंशी तथा आ० जी० मजूमदार। —यो० प्र० सि०

अवदान—यह शब्द बौद्ध साहित्यमें विशेष प्रयुक्त हुआ है—जैसे दिव्यावदान। हिन्दीमें अवदान अंग्रेजी 'लीजैंड' शब्दके लिए प्रयोगमें आने लगा है। यह बौद्ध प्रयोगके अर्थको भी सुरक्षित किये हुए है। अवदान वह लोक-कहानी है, जो किसी यथार्थ व्यक्ति, स्थान अथवा घटनासे सम्बन्ध रखती है और परम्परासे प्राप्त होती है। परम्परा द्वारा यथार्थ तथ्यके चारों ओर अन्य आकर्षक बातें लपेट दी जाती हैं। व्यक्तिसम्बन्धी अवदानोंमें विक्रमादित्य, राजा रसालू, गोपीचन्द जैसे व्यक्तियोंकी प्रचलित कहानियाँ आती हैं। इन अवदानोंमें कभी-कभी तो बहुत थोड़ा तथ्य ही रीढ़की भाँति होता है। कभी-कभी तो केवल नाम ही ऐतिहासिक रह जाता है, शेष समस्त कहानी लोक-वार्तासे बनी होती है। जगदेव पँवारके अवदानमें बहुत-सी

सामग्री लोकवार्तासे ली गयी है और विक्रमादित्यसम्बन्धी शतशः कहानियोंमें विक्रमको छोड़कर और तथ्य मिलना असम्भव है।

अवदान और धर्मगाथाएँ यद्यपि भिन्न-भिन्न रूपकी लोकवार्ताएँ हैं, फिर भी कभी-कभी उनमें अन्तर करना कठिन हो जाता है। भीम, अर्जुनकी कहानियोंमें अवदान तत्त्व रहते हुए भी वे धर्मगाथाओंमे गिनी जाती हैं। जाहर पीरका ऐतिहासिक अस्तित्व सिद्ध है, पर देवी-देवताओंके संयोगसे वह अवदान कुछ-कुछ धर्मगाथाका रूप ग्रहण करने लगता है और उस सम्प्रदायके लिए तो वह है ही धर्मगाथा, क्योंकि उनके लिए जाहर पीर स्वयं देवता है।

स्थानीय अवदान किसी स्थानविशेषकी किसी भौगोलिक विलक्षणता या नामकी विलक्षणता या किसी रिवाजकी विलक्षणताका निरूपण करता है। भारतमें अनेक स्थानोंपर चरण-पहाडियाँ हैं। किसी पहाड़ीपर चरणके जैसा चिह्न देखकर, उसके सम्बन्धमें स्थानीय अवदान बन जाता है। भरतपुर राज्यमें चरण-पहाड़ीपर कृष्णके चरण माने जाते हैं, सीलोनमे आदमकी चोटीपर आदमके पैरकी छाप है। स्थानीय अवदानोंमे वे सभी किस्से आते हैं, जिनमें दबे खजाने, सर्प-रक्षित धनराशि, उजड़े नगरो और गाँवों, किसी योगीके कहनेसे चलनेवाली दीवार, अतल तालाब, देवताओं या विश्वकर्मा द्वारा बने हुए महल, दीवार आदि, वंशके मूल पुरुषकी कहानी आदि होती है। ये बातें भारतमें तो अनेक स्थानोंपर मिलेंगी ही, भारतके बाहर भी मिलेंगी। स्थानीय होते हुए भी जैसे ये व्यापक हों। —सं०

अवधी–इस शब्दका अर्थ है अवधकी भाषा। अवध नामका सूबा भारतवर्षके मध्यकालीन शासनमे प्रसिद्ध था। इसके पूर्वके इतिहासमे यही प्रदेश कोशलके नामसे विख्यात था। इस प्रदेशमें प्राचीन कालसे जनसाधारण द्वारा कोसली प्राकृत बोली जाती होगी और सम्भवतः शौरसेनी और मागधी प्राकृतके बीचकी प्राकृत अर्द्धमागधी भी इसी क्षेत्रकी भाषा रही होगी। भाषाविज्ञानकी दृष्टिसे हिन्दीकी दो शाखाएँ हैं—(१) पश्चिमी हिन्दी और (२) पूर्वी हिन्दी। पूर्वी हिन्दीके अन्तर्गत अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी आती हैं। इनमें अवधी प्रमुख है। वर्तमान समयमे अवधी उत्तरप्रदेशकी दो कमिश्नरियों (लखनऊ और फैजाबाद)के जिलोंमें तथा फतेहपुर, इलाहाबाद, मीरजापुर और जौनपुरके कुछ भागोमें बोली जाती है। बाबूराम सक्सेनाने 'अवधी भाषाका विकास' नामक अपने ग्रन्थमे अवधीकी बोलियोंके तीन समूह माने है—पश्चिमी अवधी, मध्यवर्ती अवधी और पूर्वी अवधी। हिन्दीके प्रसिद्ध ग्रन्थ गोस्वामी तुलसीदासकृत 'रामचरितमानस' और मलिक मुहम्मद जायसीकृत 'पद्मावत' अवधीकी सर्वश्रेष्ठ कृतियाँ हैं। वर्तमान समयमें अवधीमें विशेष साहित्य रचना नही होती। स्फुट कविताएँ, कहानियाँ और प्रहसन आदि मिलते हैं। ऑल इण्डिया रेडियोके लखनऊ, इलाहाबाद केन्द्रसे देहाती कार्यक्रम अवधी भाषामें प्रसारित किया जाता है। —बा० रा० स०

अवधूत्रिका–दे० 'हठयोग'।

अवमर्शसंधि–रूपककी पाँच सन्धियोंमें चौथी सन्धि। दशरूपककारने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—'क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात्। गर्भनिर्भिन्नबीजार्थः सोऽवमर्श इति स्मृतः ॥' (१:४३)। जहाँ क्रोध, व्यसन या लोभसे फल-प्राप्तिके सम्बन्धमें पर्यालोचन किया जाय और जहाँ गर्भसन्धिके द्वारा बीजको प्रकट कर दिया गया हो, वहाँ अवमर्शसन्धि होती है।

'मृश्' धातुमे 'अव' उपसर्ग तथा 'घञ्' प्रत्यय लगनेसे 'अवमर्श' शब्द बना। 'ल्युट्' प्रत्ययवाले अवमर्शनका जो अर्थ होता है, वही अर्थ अवमर्शका भी है। दोनोंका शब्दार्थ है 'पर्यालोचन, विचार या विवेचन।' यहाँ फलप्राप्तिके सम्बन्धमें जो पर्यालोचन और विवेचन होता है, उनके मूलमें लोभ, व्यसन या क्रोध होता है। जहाँ फलप्राप्तिके निश्चयका निर्धारण तथा गर्भसन्धि द्वारा प्रस्फुटित बीजसे सम्बन्ध-स्थापन किया जाय, वहाँ जो पर्यालोचन होता है, वह अवमर्शके नामसे अभिहित होता है। अवमर्शसन्धिको विमर्शसन्धि भी कहा जाता है। इसमे नियताप्ति और प्रकरीका सम्मिश्रण होता है, पर प्रकरीकी योजना वैकल्पिक होती है।

'चन्द्रगुप्त'में अवमर्शसन्धि वहाँसे दिखाई पड़ने लगती है, जहाँ चन्द्रगुप्तके माता-पिता चाणक्यकी नीतिसे असन्तुष्ट होकर राज्य छोड़ देते है। चन्द्रगुप्तके उत्तर-प्रत्युत्तरसे चाणक्य भी कुपित होकर चला जाता है और पीछे चन्द्रगुप्तका परम मित्र सिंहरण भी गुरुकी खोजमे निकल पडता है। चन्द्रगुप्त एकाकी रह जाता है और कहता है—"पिता गये, माता गयी, गुरुदेव गये, कन्धेसे कन्धा भिड़ाकर प्राण देनेवाला सहचर सिंहरण गया तो भी चन्द्रगुप्तको रहना पड़ेगा"। इस प्रकार क्रोध, असन्तोषके कारण यह विपत्ति उत्पन्न हो गयी है। विमर्शसन्धिका यह उत्तम उदाहरण है (दे० जगन्नाथ शर्मा : 'प्रसादके नाटकोका शास्त्रीय अध्ययन)'।

अवमर्शसन्धिके सन्ध्यंग निम्नलिखित हैं—अपवाद, संफेट, विद्रव, द्रव, शक्ति, द्युति, प्रसंग, छलन, व्यवसाय, विरोधन, प्ररोचना, विचलन और आदान।

इन सन्ध्यंगोंका प्रयोग प्राय: नहीं हुआ है (दे० 'सन्धि')। —ब० सिं०

अवरोधहीन प्रदर्शनवाद–शैशवके इतिहासमें—बच्चोंके सामने विषमलिंगी वयस्क व्यक्तियोंका नग्न दर्शन प्रमुख महत्त्वका है। बच्चेके काम-विकासपर ऐसे दृश्योंका स्थायी प्रभाव-सा पड़ जाता है, कुछ मानसिक रोगोके मूल कारण ऐसे अनुभव होते है। उदाहरणार्थ, paranoia रोगका रोगी सदा इस भ्रमसे ग्रसित रहता है कि कपड़े बदलते समय लोग उसके नग्न शरीरको देख लेते है। इसके विपरीत कुछ व्यक्तियोंमें दूसरे प्रकारकी विकृति हो जाती है और वे इस प्रकारके नग्न प्रदर्शनमें रस लेते है, ऐसे व्यक्तियोंको प्रदर्शनवादी कहते है। सामान्य व्यक्तियोंमें भी बहुतसे व्यक्ति ऐसे होते है, जो अपनी विशेषताओंका, अपने गुणोंका अत्यधिक प्रदर्शन करते हैं। साहित्यमें भी बिना किसी अवरोधके प्रवृत्तियोंका प्रदर्शन प्रचलित हो गया है। प्रदर्शनवाद काफी सीमातक मनोविश्लेषणके प्रभावसे उत्पन्न माना जा सकता है। क्योंकि प्रवृत्तियोंके

दमनसे स्नायविक, मानसिक समस्याएँ उत्पन्न होती है, अतः उनका अवरोधहीन प्रदर्शन ही व्यक्तिके विकासके लिए उचित है, यह धारणा प्रदर्शनवादके मूलमे है। —प्री० अ०

अवस्था–रूपककी समस्त रचनामे कार्य (दे०) कई अवस्थाओंमें दिखाई देता है। ये अवस्थाएँ पाँच होती हैं—आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति तथा फलागम। दशरूपककारने अवस्थाओंका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—"अवस्था पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः। आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्तिफलागमाः॥' (१:१९), अर्थात् फलकी इच्छावाले नायकादिके द्वारा प्रारब्ध-कार्यकी पाँच अवस्थाएँ होती है। पर अर्थप्रकृति और अवस्थाका भेद क्या है? अर्थप्रकृतिमें वस्तुको ध्यानमे रखते हुए स्थितियोंको विभाजित किया गया है और अवस्थामें नायकके कार्यको दृष्टिमे रखा गया है। —ब० सि०

अवहट्ट–यह एक भाषा-विशेषका नाम है। इस नामका संस्कृत अनुवाद अपभ्रष्ट है। अवहट्ट नाम स्पष्ट रूपसे विद्यापतिकी 'कीर्तिलता'की नीचे लिखी पंक्तिमे आता है—"देशिल बयना सब जन मिट्ठा। तं तयसन जम्पओ अवहट्ठा॥" विद्यापतिने स्पष्ट ही यहाँ 'देशिल बयना' (देशी वचन) और अवहट्टको एक ही माना है और अनुमान है कि यह अवहट्ट विद्यापतिके समयमे प्रचलित साहित्यिक भाषा थी, जिसे जनसाधारण आसानीसे समझ सकते थे। यह अपभ्रंशसे भिन्न थी या यह अपभ्रंशका ही दूसरा नाम है, इस विषयमे विद्वानोंमें मतभेद है। कुछ लोग इसे वर्तमान भारतीय आर्य-भाषाओंका पूर्वरूप तथा अन्य इसे अपभ्रंश ही मानते है। —बा० रा० स०

अवहसित–दे० 'हास्यरस'।

अवहित्था–प्रचलित तैंतीसमें एक संचारी भाव। स्वतः विशद न होनेके कारण ही कदाचित् भरतने इस शब्दकी व्याख्या की है! "अपने मुखकी भावव्यक्तिको छिपानेका नाम अवहित्था है"। अभिनवगुप्तने इसकी व्युत्पत्ति भी बतायी है, जिसका अनुकरण रामचन्द्र गुणचन्द्र एवं हेमचन्द्रने भी किया। इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'न बहिस्थं चित्तं येनैति' अथवा चित्तका अन्तर्गत भाव बाहर व्यक्त न होनेसे अवहित्था होती है। भरतने इसके विभाव और अनुभाव निम्नलिखित प्रकारसे बताये है—"लज्जा, भय, पराजयकी महत्ता एवं वक्रता इत्यादि विभावोंसे यह भाव उद्बुद्ध होता है। किसी दूसरी बातकी चर्चा करना, अन्य दिशामें देखना, बीचमें बात काटना, कृत्रिम धैर्यका प्रदर्शन करना इत्यादि अनुभावोंसे इसकी अभिव्यक्ति होती है' (ना० शा०, ७ : ८० ग)।

स्वभावकी वक्रताकी व्याख्या 'नाट्यदर्पण'में सुन्दर रूपसे हुई है। वहाँ कहा गया है कि प्रगल्भता होनी आवश्यक है, उसके बिना अपने भावोंको छिपाया नहीं जा सकता (ना० द०, ३:१४४)। विश्वनाथने यह भी स्पष्ट कर दिया कि भाव चाहे हर्षका हो, चाहे अन्यथा, किसी भी प्रकारके भावका गोपन अवहित्थामें होता है—'भयगौरवलज्जादेर्हर्षाद्याकारगुप्तिः (सा० द०, ३:१५८)। हिन्दीके आचार्य देवके लक्षणमें इसकी छाया है—"लज्जा गौरव धृष्टता, गोपै आकृति कर्म्म। और कहै औरै करै…" (भाव० : संचारी)। अन्योने प्रायः—"जो जहं कारि कछु चातुरी, दशा दुरावै आय" (जगत०, ५२६)के अनुसार चतुराईसे स्थितिके छिपानेको महत्त्व दिया है।'

'दशरूपक'मे धनिकने 'कुमारसम्भव'मे निम्नलिखित उदाहरण दिया है—'एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी। लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती'। इसी उदाहरणको अवहित्थाके प्रसंगमे हेमचन्द्रने 'काव्यानुशासन'मे (२: पृ० १०८) एवं विश्वनाथने 'साहित्यदर्पण'मे दिया हैं (सा० द०, ३:१५८)। इसीका हिन्दी रूपान्तर है—"सुनि नारदकी बात, तात निकट है नमितमुख। उमा कमलके पात, कर उठाय गिनवे लगी" (र० मं०, पृ० १४४)। जब पार्वतीने नारद द्वारा शिवके गुणोंका श्रवण किया तो उन्हे हर्ष हुआ, पर उस हर्षको उन्होने व्यक्त न होने देनेके लिए अपना मुख नीचा कर लिया और कमलदल गिनने लगी। यहाँपर अवहित्थाका भाव व्यक्त है। यहाँ लज्जाके कारण यह मनोवेग उद्बुद्ध हुआ है। देवका नायक लज्जावश बात छिपाता है—"पीछे निहारि निहारत नारिन हार हियेके सुधारन लागे' (भाव० : संचारी)। —ज० कि० ब०

अवांतरवस्तुवक्रता–दे० 'प्रकरणवक्रता', सातवाँ नियामक।

अवाचक–दे० 'शब्द-दोष', आठवाँ 'पद-दोष'।

अविकृतपरिणामवाद–अविकृतपरिणामवाद एक प्रकारका ब्रह्मपरिणामवाद है। सांख्यमे प्रकृतिपरिणामवाद है और वैष्णववेदान्तोंमे ब्रह्मपरिणामवाद। परिणामवादका अर्थ यह है कि जगत् और जीव किसी मूलभूत तत्त्वके परिणाम या विकार है, अर्थात् उससे ही उत्पन्न या निःसृत है। यह मूलभूत तत्त्व क्या है? सांख्य इस प्रश्नका उत्तर देता है कि यह जड प्रकृति है। वेदान्त उत्तर देता है कि यह ब्रह्म हैं। इस कारण सांख्यका सिद्धान्त प्रकृतिपरिणामवाद कहा जाता है और वेदान्तका ब्रह्मपरिणामवाद। ब्रह्मपरिणामवादके भी कई प्रकार है। शंकरका मत है कि ब्रह्मका वस्तुतः परिणाम नही होता है। परिणाम होनेपर ब्रह्म परिणामी या परिवर्तनशील हो जायगा और तब वह कहाँ नित्य-पूर्ण-सत् रह सकता है? इसलिए उन्होंने ब्रह्मविवर्तवादको माना अर्थात् जीव और जगत् ब्रह्मके विवर्त है अर्थात् मायामय परिणाम है। पर इस मतमे ब्रह्मकी निर्विकारता तो बनी रह गयी लेकिन जीवजगत्का मिथ्यातत्व सिद्ध हो गया। यह रामानुजको मान्य न हुआ। उन्होंने ब्रह्मकी निर्विकारता और जीवजगत्की सत्यता, दोनोको मानते हुए ब्रह्ममे ही अचेतन प्रकृति और चेतन जीवोंको गुणभूत माना। बारीकीसे देखनेपर इस मतमें ब्रह्ममें विकार आ गया क्योकि उसके अन्दर जीवों और जड़वस्तुओंकी सत्ता स्वीकार कर ली गयी। इसका परिहार करनेके लिए मध्वाचार्यने ब्रह्मको केवल निमित्त कारण माना और प्रकृतिको जगत्का उपादान कारण माना। इस मतमें यद्यपि ब्रह्मकी निर्विकारता और जीवजगत्की सत्यता, दोनो सुरक्षित है, पर ब्रह्ममें एक भारी दोष आ गया है। वह दोष यह है कि ब्रह्म ब्रह्म अर्थात् निरपेक्ष नहीं रह गया, वह प्रकृतिसापेक्ष बन गया, अद्वितीयसे सद्वितीय बन

गया। इस दोषको दूर करते हुए निम्बार्कने प्रकृतिको ब्रह्मकी शक्ति ही माना। शक्ति ब्रह्मसे भिन्न-भिन्न है। जगत्की उत्पत्तिसे ब्रह्मकी निर्विकारतामें व्याघात नहीं हो सकता, क्योंकि जगत् शक्तिका परिणाम (शक्तिविक्षेपलक्षण-परिणाम) है, ब्रह्मका स्वरूपपरिणाम नहीं। इस मतमें भी जगत्की सत्ता वस्तुतः ब्रह्मकी सत्ताका विक्षेपमात्र ही रहती है। इस कारण जगत्को वास्तवमें अनित्य और अपदार्थ ही कह दिया गया।

इस प्रकार जीवजगत्की चरम सत्यता और ब्रह्मकी निर्विकारता तथा निरपेक्षता दोनोंको सिद्ध करनेके लिए उक्त सभी मत अपर्याप्त हैं। वल्लभाचार्यने इन दोनो बातोंकी पर्याप्त प्रामाणिकताको स्वीकार किया। ब्रह्म एक और निरपेक्ष, अद्वितीय, निर्विकार, अविपरिणामी या कूटस्थ है तो दूसरी ओर जीव भी नित्य सत् है और उसी ब्रह्मका परिणाम है। यह विचित्र परिणाम है क्योंकि इसमे ब्रह्म विकृत नहीं होता, वह अविकृत अर्थात् सदा निर्विकार रहता है। श्रुतियोंने इसी अविकृतपरिणामवादका समर्थन किया है क्योंकि उन्होंने बताया है कि जगत् और जीव ब्रह्मके वैसे ही अविकृत परिणाम है, जैसे कि स्वर्णके अलंकार सोनेके, या मिट्टीके वर्तन मिट्टीके, न कि जैसे दही, दूधका विकृत परिणाम है। वल्लभने श्रुतियोंके प्रमाणपर ब्रह्मको सत्, चित्, आनन्द माना और कहा कि जगत् सत्का आविर्भाव है, जीव सत् और चित्का आविर्भाव है और ईश्वर सच्चिदानन्दका आविर्भाव है। इस प्रकार ब्रह्मके ही अविकृत परिणाम ईश्वर, जीव और जगत् है। चैतन्य महाप्रभुने भी इसी अविकृतपरिणामवादका समर्थन किया और कहा कि अपनी अचिन्त्य शक्तिके वलसे ब्रह्म परिणत होता हुआ भी अपरिणामी ही रहता है। अविकृतपरिणामवादके कारण वल्लभने माना कि 'तत्त्वमसि' आदि वाक्योंमें त्वंपदार्थ और तत्पदार्थकी, जीव और ब्रह्मकी, अभिन्नता अभिधा द्वारा ही सिद्ध है, लक्षणा द्वारा नहीं, जैसा कि शंकराचार्यका मत है। इस प्रकार इस सिद्धान्तसे वल्लभने मायावाद या विवर्तवादको बिलकुल उखाड़ फेंका और शुद्धाद्वैतवादकी स्थापना की।

यदि केवल श्रुतियोंको ही प्रमाण माना जाय तो वल्लभाचार्यका मत शत-प्रतिशत ठीक है। श्रुतियाँ अविकृतपरिणामवादको ही सिद्ध करती हैं। पर तर्ककी कसौटीपर अविकृतपरिणामवाद ठहर नहीं सकता है। सत्, चित् और आनन्द तीनोंके पृथक्-पृथक् आविर्भाव क्यों होते है? यदि ये इस प्रकार पृथक् है तो ब्रह्मकी शुद्ध अद्वैतता कहाँ रह गयी? फिर परिणामसे परिणामीमें कुछ विकार आ ही जाता है, चाहे वह अच्छा हो या बुरा हो। यदि विकार नहीं आता, परिवर्तन नहीं होता, तो फिर परिणामका महत्त्व ही क्या रह जाता है? तब तो परिणाम अपरिणाम हो गया। अतः अविकृतपरिणामवाद वस्तुतः अपरिणामवाद ही है और इस अर्थमें ही शंकराचार्यके मतसे तनिक भी भिन्न नहीं प्रतीत होता। पर जहाँ शंकराचार्य इसे तर्कतः अपरिणाम या विवर्त कहते हैं, वहाँ वल्लभ इसे परिणामवाद ही कहते हैं। इस तरह अविकृत परिणामवादमें वदतोव्याघात है।

पर वल्लभ और उनके अनुयायी तर्क या बुद्धिकी परवाह नहीं करते। वे श्रुतिप्रमाणको सर्वोपरि प्रमाण मानते हैं, चाहे वह वदतोव्याघात हो क्यों न हो और इस प्रकार उनका मत दार्शनिक न होकर वास्तवमें धर्मशास्त्रीय ही रह जाता है।

जीव और ब्रह्म तथा जगत् और ब्रह्मके सम्बन्धोंको समझाते हुए हिन्दीके सन्त कवियोंने ऐसे उदाहरण दिये है, जो अविकृतपरिणामवादका समर्थन करते प्रतीत होते है, पर उन्होंने प्रायः अविकृतपरिणामवाद और विवर्तवादको एकमेव कर दिया है। वल्लभाचार्यकी परम्पराके सूर आदि सन्तोंने अविकृतपरिणामवादको मानते हुए भी जीव या जगत्को ब्रह्मसे भिन्न रखा है। उन्होंने इसको रामानुजीय ब्रह्मपरिणामवादसे जोड़ दिया है। बुद्धिसे अविकृतपरिणामवादका समर्थन नहीं हो सकता और हृदयसे भी ब्रह्म और साधनमें भेद माननेके लिए अविकृतपरिणामवादके स्थानपर द्वैतवाद मानना पड़ता है, क्योंकि अविकृतपरिणामवादके अनुसार शुद्ध अद्वैतवादका ही मेल बैठ सकता है। इस प्रकार मानते हुए भी ब्रह्मको कूटस्थ, नित्यनिरंजन या निर्विकार माना गया है। इससे लगता है कि चैतन्यके अचिन्त्य अविकृतपरिणामवादका ही समर्थन प्रायः हिन्दीके सन्तोंने अधिक किया है। —स० ला० पा०

अविचल आलोचनाप्रणाली–अंग्रेजीमें इसका समानार्थी शब्द 'स्टैटिक' है, जिसका अर्थ होता है स्थिर, अचल। इसी शब्दसे 'स्टैटिक्स' बना है, जिसका अर्थ उस विज्ञानसे होता है, जो गतिमें किसी भी प्रकारके परिवर्तनको रोकता है। इस प्रकार इन दोनों ही समानार्थी शब्दोंकी मूल आत्मा 'स्थिरता' है।

चिन्तनके क्षेत्रमें दो प्रकारकी धाराएँ स्पष्टतः दिखाई पड़ती है। एकका मन्तव्य है कि सृष्टिमें जो कुछ भी घटित होता रहता है, परिवर्तन होता रहता है, जिसे हम नूतनता, नवीनताकी संज्ञा देते है, वह सब मूलतः सृष्टिके मूल तत्त्वोका ही प्रतिफल है। इसलिए जो कुछ भी प्राचीन और पुरातन है, वही वस्तुतः सत्य, शाश्वत् और चिरन्तन है। और हमें उन्ही मूल तत्त्वोंको पकड़े रहना चाहिये। दूसरी कोटिका चिन्तन यह घोषित करता है कि सृष्टि निरन्तर विकसित होनेवाली एक संस्था है। परिवर्तन ही विकासका नियम है, इसलिए जो कुछ भी घटित होता रहता है, वह सब पुराना है, पिछला है। इसलिए मूलरूपमें कहीं कुछ नहीं है।

साहित्यके क्षेत्रमें चिन्तनकी ये दोनों धाराएँ काम करती है। साहित्यके सम्बन्धमें कुछ आलोचकोका ऐसा मत है कि साहित्यके मूल तत्त्व जीवनके मूल तत्त्वकी भाँति एक है तथा चिरन्तन और शाश्वत है। इसलिए साहित्यका रूप-परिवर्तन जितना भी हो, किन्तु आत्माकी भाँति साहित्यके मूल तत्त्व अपरिवर्तनशील है। इनका आग्रह है कि साहित्यका मापदण्ड इन्ही मूलगत तत्त्वोंको मानना चाहिये। साहित्यका मूल रूप अविचल है और इसलिए साहित्यकी आलोचनाके मानदण्ड भी स्थिर है, अविचल हैं।

यूरोपमें ग्रीक आलोचकोंका चिन्तन युगोंतक 'सत्य'के रूपमें ग्रहण किया गया। प्लेटो, अरस्तू, होरेस आदि

चिन्तकोंको अपना आदर्श मानकर लोगोंने साहित्यके मानदण्ड स्थिर किये। नीति, धर्म आदिको सर्वोपरि मानते हुए उस युगमें आलोचकोंने काव्यको मधुर विषके रूपमें तथा बुद्धिको विनाश करनेवाली वस्तुओंमे माना। वीथियसने यह माना कि काव्य-देवियाँ मनुष्यको मधुर विष पिलाती है। सेण्ट ऑगस्टाइनने साहित्यके सुखको राक्षसी सुख बतलाया। स्पष्टतः ये चिन्तन, नीति, मर्यादा, आदर्श, धर्मका अवलम्ब लेते है। ऐसे ही आलोचकोंने शेक्सपीयरको पागल करार दिया था। उसके पात्रोंको विकृत, मनुष्यका विघटित-रूप मानते हुए उनकी सर्वथा उपेक्षा की थी, परन्तु ध्यान देनेकी बात है कि पाश्चात्य जगत्मे पुनरुत्थान-कालमे पहले-पहल ही इस चिन्तनपद्धतिको आश्रय मिला।

संस्कृत-साहित्यकी आलोचनामें यह सिद्धान्त बहुत आसानीसे देखा जा सकता है और इनके मतानुयायी भी प्रचुर मात्रामे पाये जाते है। संस्कृतके समस्त चिन्तन का धरातल, आधार है—शरीर, आत्मा, रस, ध्वनि, अलंकार, रीति तथा वक्रोक्ति। रसको आत्मा मानते हुए आचार्योंने उसीको प्रधान माना। इन लोगोने यह स्वीकार किया कि साहित्यका मूल तत्त्व रस, आत्माकी तरह अखण्डित, अविभाजित है तथा ब्रह्मकी भाँति इसका स्वरूप अविचल है।

हिन्दीमें स्वतन्त्र चिन्तनका सर्वथा अभाव रहा है। फलतः संस्कृत अथवा पाश्चात्य साहित्य-शास्त्रका अवलम्बन लिया गया। इसलिए हिन्दी आलोचना-क्षेत्रमें रससिद्धान्तके पोषक तो मिलेंगे, किन्तु उनका अपना स्वतन्त्र चिन्तन नही मिलेगा, बल्कि अनुकरण ही उपलब्ध होगा। हिन्दीका पूरा रीति-साहित्य इसका ज्वलन्त उदाहरण है। केशवदास, चिन्तामणि, दास, देव, विहारी आदि इसके अच्छे दृष्टान्त हैं। —रा० कृ० स०

अविमृष्ट—दे० 'शब्ददोष', पन्द्रहवाँ 'पद-दोष'।

अविवक्षित वाच्यध्वनि—ध्वनिके दो प्रधान भेदोंमेसे एक। इस ध्वनिमे वाच्यार्थ अनुयोगी होनेके कारण अविवक्षित—अवांछनीय—रहता है, क्योकि यह लक्षणापर आधारित रहता है। इसलिए इसे लक्षणामूला ध्वनि भी कहते है। इस ध्वनिमे केवल प्रयोजनवती लक्षणा रहती है, रूढ़ा नही रहती; क्योंकि रूढ़ा लक्षणामें व्यंग्यार्थ अत्यन्त स्पष्ट होनेके कारण महत्त्वहीन हो जाता है और वह होते हुए भी न होनेके बराबर होता है। अविवक्षित वाच्यध्वनिके दो भेद होते हैं—१. अर्थान्तरसंक्रमित, २. अत्यन्त तिरस्कृत। पहले भेदका मूलाधार उपादान तथा दूसरेका लक्षितलक्षणा होती है। इन दोनोंके पदगत तथा वाक्यगत भेदोकी दृष्टिसे अविवक्षित वाच्यध्वनिके कुल चार भेद होते है। —उ० शं० शु०

अव्यपेत यमक—दे० 'यमक'।

अशोकी प्राकृत—महाराज प्रियदर्शी अशोक (जन्म सं० २९७ ई० पू०)ने अपने राज्यकालमें कुछ अभिलेख शिलाओं, स्तम्भों और गुफाओंमे प्रचारार्थ लिखवाये थे। इनकी भाषा प्राकृत है और इस प्राकृतका नाम विद्वानोंने अशोकी प्राकृत रखा है। ये अभिलेख भारतवर्षके सभी कोनोंमें पाये जाते हैं। पूरबमें धौली और जौगढ़, उत्तर-पश्चिममें शहबाजगढी और मानसेहरा, उत्तरमें देहरादूनके पास कालसी, पश्चिममें सौराष्ट्रमे गिरनार तथा दक्खिनमें मैसूर प्रदेशमे ये अभिलेख मिलते हैं। विद्वानोंका मत है कि इन लेखोंका मूल पाठ पाटलिपुत्रमें उस समय प्रचलित मागधी भाषाके किसी रूपमें रहा होगा और अभिलेखोंके क्षेत्रकी दृष्टिसे उस भाषामें क्षेत्रीय अथवा प्रादेशिक संशोधन कर लिये गये होंगे। उदाहरणके लिए गिरनार और धौलीके शिलालेखोंका विषय एक ही है, पर भाषा यथेष्ट भिन्न है। एकाध बातमें अशोकी प्राकृत उपलब्ध पाली भाषासे भी प्राचीन है। उदाहरणके लिए शहबाजगढी और मानसेहराके अभिलेखोमें मूर्धन्य ष प्राप्त है, जिसका पालीमे नितान्त अभाव है। इन अभिलेखोंमें तिथियाँ पडी हुई है (यथा—महाराज अशोकके अभिषेकसे बारहवें वर्षमें लिखाया गया)। भारतीय आर्य-भाषाओंकी सामग्रीमें अशोकी प्राकृतका इसीलिए बड़ा महत्त्व है, क्योंकि यही निश्चित तिथिवाली सामग्री है। महाराष्ट्री, शौरसेनी आदि प्राकृतोंसे अशोकी प्राकृत काफी पुरानी है। —बा० रा० स०

अश्राव्य—संवादके विचारसे कथावस्तुके तीन भेदोंमेंसे यह एक है। यदि कहनेवाले पात्रके अतिरिक्त अन्य कोई पात्र उसकी उक्ति न सुन सके तो वह अश्राव्य (किसी भी अन्य पात्रके सुनने लायक नही) है। इसे 'स्वगत' भी कहते है। प्रसादके नाटकोंमें बहुत-सी स्वगतोक्तियाँ पायी जाती हैं।

आधुनिक नाटकोके लिए 'स्वगत' दोष माना जाता है। 'स्वगत' कथनकी कृत्रिमता इसीसे प्रकट है कि रंगमंचपर उपस्थित पात्र सुनी हुई बातको अनसुनी करते हुए मान लिये जाते है। लेकिन तारीफ यह है, जब कि रंगमंचपर उपस्थित पात्र अन्य पात्रके स्वगतको नहीं सुन पाते, रंगशालामें बैठे हुए सामाजिक उसे सुन लेते है। इसकी अमनोवैज्ञानिकताको देखते हुए आधुनिक नाटककारोंने इसे रंगमंचोपयुक्त नहीं समझा है। स्वयं 'प्रसाद'ने अपने 'विशाख' नाटकमें स्वगतपर व्यंग्य करते हुए महापिंगलसे कहलाया है, 'जैसे नाटकोंके पात्र स्वगत जो कहते है, वह दर्शक समाज या रंगमंच सुन लेता है, पर पासका खडा पात्र नहीं सुन सकता। उनको भरत बाबाकी शपथ है।' फिर भी प्रसादके नाटकोंमें स्वगतोक्तियोंकी भरमार है (दे० 'चन्द्रगुप्त', प्रथम संस्करण, पृ० १७, ३५, ११३)। —ब० सिं०

अश्रु—दे० 'सात्त्विक अनुभाव', सातवाँ।

अश्लील—दे० 'अर्थ-दोष', सत्रहवाँ तथा 'शब्द-दोष', नवाँ 'पद-दोष'।

अष्टक—दे० 'मुक्तक काव्य'।

अष्टछाप—पुष्टिमार्गके संस्थापक महाप्रभु वल्लभाचार्यके चार और उनके पुत्र विट्ठलनाथके चार प्रधान शिष्य क्रमशः कुम्भनदास (सन् १४६८-१५८२), सूरदास (१४७८-१५८०-८५), कृष्णदास (१४९५-१५७५-८१), परमानन्ददास (१४९१-१५८३) तथा गोविन्ददास (१५०५-१५८५), छीतस्वामी (१५१९-१५८५), नन्ददास (१५३३-१५८६) और चतुर्भुजदास (१५४०-१५८५) 'अष्टछापकवि'के नामसे प्रसिद्ध है। सम्प्रदायके इष्टदेव श्रीनाथजीके अन्यन्त निकटवर्ती ये कवि-कीर्तनकार सखाभावसे उनकी प्रेमभक्तिमे अनुरक्त थे। ये आठों भक्त कवि इतने सिद्ध, परम 'भगव-

दीय' माने जाते थे कि श्रीनाथजीके अष्टसखा भी कहे गये हैं। इन कवियोंका रचनाकाल सन् १५०० से १५८६ तक अनुमान किया गया है।

सन् १४९२ में गोवर्धनपर श्रीनाथजीका प्राकट्य हुआ। तभी महाप्रभु वल्लभाचार्यने ब्रजमे पहली बार आकर उन्हे गोवर्धनके एक छोटे मन्दिरमें प्रतिष्ठित किया। उसी समय गोवर्धनके निकट जमुनावतो गाँवके निवासी गोरवा क्षत्रिय कुम्भनदास उनकी शरणमें आये। महाप्रभुने उन्हे दीक्षा देकर श्रीनाथजीकी कीर्तनसेवामे नियुक्त किया। जब वे दूसरी बार ब्रज आये तब अम्बालाके सेठ पूरनमलके दानके फलस्वरूप सन् १४९९ ई० में श्रीनाथजीके बड़े मन्दिरकी नीव पड़ी। अपनी तीसरी ब्रज-यात्रामे आगरा और मथुराके बीच गऊघाटपर संन्यासी वेशमे रहनेवाले सूरदास नामक भक्तको उन्होंने शरणमे लिया और अपने साथ उन्हे श्रीनाथजीके मन्दिरमे ले जाकर कीर्तनकी सेवामे लगाया। इसी अवसरपर सन् १५०९ मे श्रीनाथजीकी मूर्ति नवीन मन्दिरमे स्थापित की गयी और गुजरातके एक ग्रामीण शूद्र कुनबी परिवारके कृष्णदास भी इसी वर्ष शरणमे आये। नवीन मन्दिरमे स्थापित होनेके बाद भी कीर्तनकी सेवा सबसे पहले कुम्भनदासको हा सौपी गयी थी। जगन्नाथ-पुरीकी यात्रामे चैतन्य महाप्रभुसे भेट करनेके बाद जब वल्लभाचार्य अनुमानतः सन् १५१९ ई० में अपने स्थायी निवास-स्थान अडैल पहुँचे तो उन्होने कान्यकुब्ज परमानन्द स्वामी नामक एक प्रसिद्ध कवि-कीर्तनकारको स्वप्न देकर अपनी ओर आकृष्ट किया और अपने सम्प्रदायमे दीक्षित किया।

महाप्रभु वल्लभाचार्य सन् १५३० ई०में गोलोकवासी हुए। अब उनके बड़े पुत्र गोपीनाथ पुष्टिमार्गके आचार्य-पदपर प्रतिष्ठित हुए। परन्तु आठ वर्ष बाद सन् १५३८ ई०में उनका भी गोलोकवास हो गया। उनके पुत्र पुरुषोत्तमका देहावसान पहले ही हो चुका था। अतः उनके छोटे भाई विट्ठलनाथ आचार्य-पदके अधिकारी हुए। उन्होंने बड़ी योग्यतापूर्वक सम्प्रदायका संघटन किया। सन् १५६६ ई० में वे अडैल छोड़कर ब्रजमे स्थायी रूपसे रहने लगे। इसी वर्ष उन्हे सम्राट् अकबरसे एक फरमान (आज्ञापत्र) प्राप्त हुआ, जिसके अनुसार गोकुलकी भूमि उन्हे माफीमे प्रदान की गयी। इसके बाद भी उन्हे सम्राट्की ओरसे निर्भयपूर्वक बसने, गउएँ चराने तथा उनके इलाकेमें पूज्य पशु-पक्षियोंकी हत्याके निषेध-सूचक कई फरमान मिले। श्रीनाथ जीके मन्दिरमे उन्होंने सेवा-व्यवस्थाकी निश्चित और दृढ़ परम्परा डाली। दैनिक आठ सेवाओ तथा वार्षिक व्रतोत्सवों-की व्यवस्था करके उन्होंने सम्प्रदायके प्रचार तथा साहित्य, संगीत और प्रसाधन-कलाओंकी उन्नतिमें अपूर्व योग दिया। उन्होंने ही अपने पिता और स्वयं अपने सैकड़ो शिष्योंमेसे उपर्युक्त आठ 'परम भगवदीय' और काव्यप्रतिभासम्पन्न भक्तोंको छाँटकर उन्हें 'अष्टछाप' नामसे प्रतिष्ठित किया। सम्प्रदायके हितमें विट्ठलनाथकी यह सबसे महत्त्वपूर्ण सेवा कही जा सकती है, क्योंकि इन, विशेष रूपसे सम्मानित, आठ भक्त कवियोंके द्वारा पुष्टिमार्गीय भक्तिका जितना प्रचार हुआ, उतना किसी अन्य साधनसे सम्भव नहीं था।

अष्टछापके भक्त कवि विभिन्न जातियों और वर्गोंके थे। परमानन्ददास कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे तो कृष्णदास शूद्र, कुम्भनदास किसान थे और प्रधान कीर्तनकारके पदपर होते हुए भी वे बराबर खेती करके ही अपने परिवारका भरण-पोषण करते रहे। सूरदासकी जाति क्या थी, यह निश्चय-पूर्वक नही कहा जा सकता। कुछ लोग उन्हें सारस्वत ब्राह्मण और कुछ अन्य ब्रह्मभट्ट सिद्ध करनेका प्रयत्न करते है। स्वयं वे अपनी जातिके विषयमे पूर्ण रूपसे उदासीन थे। विट्ठलनाथके शिष्योमे चतुर्भुजदास कुम्भनदासके पुत्र थे, जो अपने पिताकी तरह निरन्तर कृषक जीवन बिताते रहे। गोविन्ददास सनाढ्य ब्राह्मण थे, परन्तु पारिवारिक बन्धन छोडकर संन्यासी बन गये थे और इसी रूपमे गोसाईंजीकी शरणमें आये थे। छीतस्वामी पुरोहित-वृत्तिवाले मथुरा-के चौबे थे और जीवनपर्यन्त गृहस्थ बने रहे। नन्ददास सनाढ्य ब्राह्मण जातिके थे, परन्तु उनके जीवनके सम्बन्धमें बहुत कम उल्लेख मिलता है। भक्तिके मार्गमें ऊँच-नीचका भेदभाव नही होता यह बात अष्टछापकवियोंसे पूर्णतया प्रमाणित होती है।

'चौरासी वैष्णवनकी वार्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णवन-की वार्ता'में वर्णित इन भक्त कवियोकी जीवन-घटनाओंसे सम्प्रदायकी भक्तिके सम्बन्धमें बडी रोचक और महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है। सम्प्रदायमे दीक्षित होनेके पूर्व इनमें कई भक्तोंका जीवन अत्यन्त हीन कोटिका था। सूरदासके विषयमें जो किवदन्ती है कि वे किसी स्त्रीपर मुग्ध थे और उसीसे उन्होंने अपनी आँखें फोडवा ली थी, 'वार्ता'से सम-र्थित नही है, अतः उसे अष्टछापी सूरदासके विषयमे प्रामा-णिक नही माना जाता। परन्तु प्रारम्भिक तरुणावस्थामें इस प्रकारका रसिकहृदय होना सूरदासके विषयमें अकल्प-नीय नही है। कृष्णदासके चरित्रमें गुणों और अवगुणोंका अद्भुत मिश्रण था। १२, १३ वर्षकी अवस्थामें अपने पिता-की चोरीके अपराधको गाँवके मुखियाके सामने प्रकट कर देनेके कारण ये घरसे निकाल दिये गये थे। इधर-उधर भ्रमण करते हुए वे ब्रज पहुँचे और वल्लभाचार्य द्वारा सम्प्रदायमें दीक्षित हुए। अपनी योग्यता और प्रबन्धकुशलताके बलपर उन्नति करते-करते वे श्रीनाथजीके मन्दिरके अधिकारी बन गये। उन्होंने ही अपने कौशल और बलके प्रयोगसे श्रीनाथ-जीके मन्दिरपरसे बंगालियोंका प्रभाव दूर किया। एक बार उन्होंने स्वयं विट्ठलनाथसे मन्दिरकी सेवाका अधिकार छीन लिया था। कृष्णदासकी चरित्रसम्बन्धी दुर्बलताओंके भी 'वार्ता'में कुछ उदाहरण दिये गये है। उनका अभिप्राय यही है कि भगवान्की शरणमे जाकर उनकी कृपासे पतित और हीन-चरित्र व्यक्तिका भी उद्धार हो जाता है। नन्ददास भी दीक्षित होनेके पूर्व किसी स्त्रीके अनुचित प्रेममे फँसे थे। तात्पर्य यह कि ये 'परम भगवदीय' पद पानेवाले भक्त अत्यन्त साधारण, सहज मानवीय दुर्बलताओंसे युक्त व्यक्ति थे। कृष्णकी भक्ति ऐसे सर्वसाधारण जनके लिए पारस मणिके समान आविष्कृत हुई थी।

इन भक्तोंके सम्प्रदाय-प्रवेशकी घटनाओंसे विदित होता है कि कमसे कम सूरदास, परमानन्ददास, गोविन्दस्वामी और नन्ददासको सम्प्रदायमें सम्मिलित करनेके लिए उनके

दीक्षा-गुरु भी उतने ही उत्सुक थे, जितने कदाचित् वे स्वयं। गऊघाटपर सूरदाससे भेंट होनेपर वल्लभाचार्य उनकी आशु कविप्रतिभा और मधुर पद-गायनपर मुग्ध हो गये थे। उन्होंने सूरदासको भागवतकी सम्पूर्ण अनुक्रमणिका सुनायी। सूरदासने उसे और वल्लभाचार्यकी 'सुबोधिनी'में प्रदर्शित भागवतके अभिप्रायको तुरन्त समझ लिया। ज्यों-ज्यों वल्लभाचार्य माहात्म्य-ज्ञान-युक्त प्रेमभक्तिका रहस्य बताते गये, त्यों-त्यो सूरदास उसे हृदयंगम कर पदोंमें गाकर उन्हें सुनाते गये। उसके बाद सूरने श्रीकृष्णकी लीलाका जो हजारों पदोंमें गायन किया, उसे पुष्टिमार्गने शास्त्रके रूपमें प्रमाणकोटिकी मान्यता प्रदान की। कहा जाता है कि 'सूरसागर'के द्वारा पुष्टिमार्गका जितना विशद परिचय प्राप्त होता है, उतना अन्य किसी एक स्रोतसे सम्भव नही है। आश्चर्य यह है कि सूरदासने प्रत्यक्षतः पुष्टिमार्गीय भक्ति-पद्धतिपर कुछ भी नहीं लिखा, यहाँतक कि उन्होने अपने गुरुकी प्रशंसामे भी पदरचना नही की, जब कि उनके सहयोगी कुम्भनदास आदिने इस विषयके अनेक पद रचे हैं। वास्तविकता यह जान पडती है कि सूरदासके काव्यकी उत्कृष्टता और प्रचुरतासे ही आकर्षित होकर सम्प्रदायने उन्हे इतने आदरसे अपनाया है। परमानन्ददास भी सूरदासकी तरह बाल्यावस्थासे ही विरक्त होकर भगवद्-भजनमें जीवन बिताने लगे थे। इनके अनेक शिष्य हो गये थे और ये भी सूरकी तरह स्वामी कहलाते थे। एक बार जब ये मकरस्नानके लिए प्रयाग गये तो वहाँ इनकी पद-रचना और कीर्तनोंकी धूम मच गयी। वल्लभाचार्यने इनकी ख्याति सुनकर उन्हे स्वप्नमे अडैल जानेको प्रेरित किया और दीक्षा देकर सम्प्रदायकी सेवामे लगाया। परमानन्ददासको भी वल्लभाचार्यने उसी प्रकार बाललीला-का माहात्म्य समझाया था, जिस प्रकार सूरदासको। परमानन्ददासकी काव्य-रचना परिमाण और गुण, दोनोंमें सूरदासके बाद ही आती है। गोविन्ददास भी गृहस्थीसे विरक्त होकर भक्तिमें रम गये थे। सम्प्रदायमे सम्मिलित होनेके पूर्वसे वे ब्रजमे ही आकर रहने लगे थे। उनकी गान-विद्या तथा पद-रचनाकी ख्याति चारों ओर फैल गयी, उनके अनेक सेवक हो गये और वे गोविन्दस्वामी कहलाने लगे। गोसाई विट्ठलनाथ भी उनके पद सुना करते थे और उनकी इच्छा थी कि वे सम्प्रदायमें सम्मिलित हो जायँ। गोविन्दस्वामीका मन भी धीरे-धीरे गोसाईंजीकी ओर आकृष्ट हुआ। एक दिन यमुना-घाटपर उन्होंने गोसाईंजी-को सन्ध्या-वन्दन करते हुए देखकर आश्चर्य प्रकट किया कि भक्तिमार्गमे यह कर्मकाण्ड कैसा! गोसाईजीने कर्म और भक्तिका सम्बन्ध बताकर उनकी शंका दूर की तथा उनकी प्रार्थनापर उन्हें सम्प्रदायकी दीक्षा दी। कदाचित् गोविन्द-स्वामी पहले मर्यादावादी भक्त थे, गोसाईजीको कर्मकाण्ड-का समर्थन करते देख वे उनसे प्रभावित हुए और पक्के वैष्णव बन गये। गोविन्दस्वामीसे वे गोविन्ददास हो गये। नन्ददासको तो गोसाईंजीने स्वयं उस क्षत्रीके द्वारा बुलवा-कर दीक्षा दी थी, जिसकी स्त्रीके रूपपर आसक्त होकर वे कुरुक्षेत्रसे मथुरातक उसके पीछे-पीछे लगे आये थे और नाविक द्वारा यमुना पार न करनेके कारण यमुनाके उसी ओर रुककर यमुना-स्तुति रचने लगे थे। सम्प्रदायमें सम्मिलित होकर नन्ददासका लौकिक प्रेम तो श्रीकृष्णके प्रेममें परिणत हो ही गया, पुष्टिमार्गका भी बहुत उपकार हुआ।

वार्ताओंसे सूचित होता है कि ये भक्त कवि सांसारिक जीवनमें पूर्ण निर्द्वन्द्व और निस्पृह थे। सूरदासके विषयमें तो प्रसिद्ध है कि उन्होने छः वर्षकी अवस्थामे ही घर-बार छोड़ दिया था। पहले एक तालाबके किनारे कुटी बनाकर रहने लगे थे; परन्तु जब वहाँ भी माया जुड़ने लगी तो उसे छोडकर मथुरा आये; मथुरामें भी इसलिए नही रहे कि कहीं चौबोंकी वृत्तिहानि न होने लगे। श्रीनाथजीके मन्दिरमें रहते हुए उन्हे यथेष्ट सम्मान मिला होगा, परन्तु उन्हें उसकी कोई चेतना नही थी। सम्राट् अकबरसे मिले तो कृष्ण-कीर्तन ही किया और उसीके द्वारा सम्राट्को सूचित कर दिया कि वे किसी अन्यका यश गान नहीं कर सकते। कुम्भनदासके जीवनकी निस्पृहता और निरीहता और भी मार्मिक है। वे एक बड़े परिवारका भरण-पोषण खेती, करीलके फूल और टेटी तथा झाडके बेरोंके सहारे करते थे। एक बार राजा मानसिहकी भेंट की हुई सोनेकी आरसी तथा हजार मोहरोंकी थैलीको उन्होंने अस्वीकार कर दिया था। जमुनावतो गाँवकी माफी भी उन्होंने स्वीकार नहीं की थी। वे श्रीनाथजीकी कृपाके अतिरिक्त किसीका दान नही चाहते थे। सम्राट्के बुलानेपर वे सीकरी पैदल ही गये। सम्राट्की भेजी हुई सवारी उन्होंने अस्वीकार कर दी। सम्राट्से मिल कर उन्हे प्रसन्नता नहीं हुई और अपने मनका क्षोभ उन्होंने उन्हींके सामने एक पद गाकर सुना दिया, जिसका भाव यह था कि भक्तोको सीकरीसे क्या सरोकार, यहाँ आकर श्रम ही हुआ और परिणाम यह मिला कि थोड़ी देरके लिए हरिनामका विस्मरण हो गया; जिसका मुख देखनेसे दुःख होता है, उसीको प्रणाम करना पड़ा। कुम्भनदासके लिए श्रीनाथजीका एक क्षणका वियोग भी असह्य था। ऐसी ही निष्ठा इनके पुत्र चतुर्भुजदास की थी। वियोगका सहन न कर सकनेके कारण कुम्भनदासने गोसाईंजीके साथ द्वारका जानेसे इनकार कर दिया था।

कवि होनेके साथ-साथ ये भक्त अच्छे गायक भी थे। सूरदास और परमानन्ददासकी गान-विद्यापर तो स्वयं महाप्रभु मुग्ध हुए थे। गोविन्दस्वामी भी ऐसे ही निपुण गायक थे। कहते हैं, प्रसिद्ध गायक तानसेन इनसे संगीत सीखने आता था। छीतस्वामीका संगीत सुननेके लिए कहते है कि स्वयं अकबर वेश बदलकर आया करता था। अष्ट-छाप-कवियोंके काव्य और संगीतके योगने निश्चय ही पुष्टि-मार्ग और उनके माध्यमसे समस्त कृष्ण-भक्ति-आन्दोलनको उत्साह, उमंग और आनन्दसे आप्लावित कर दिया।

एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अष्टछाप-कवि भक्त और कवि ही अधिक थे, सिद्धान्तवादी नहीं। शुद्धाद्वैतदर्शन तथा पुष्टि-भक्तिके सिद्धान्तोंका सम्यक् विवेचन इन कवियोने नही किया। नन्ददासको छोडकर किसी अन्य कविको इस बातकी आकांक्षा भी न थी कि पंडितोंको कविताके माध्यमसे कृष्ण-भक्तिकी ओर आकर्षित किया जाये। फिर भी हम प्रयत्न करके अष्टछाप-कवियोंकी रचनाओंसे ऐसे प्रचुर

उदाहरण छाँट सकते है। जिनमें हम बता सकें कि उन्होंने शुद्धाद्वैत-दर्शन और पुष्टि-भक्तिके मूल सिद्धान्तोंको गहराईके साथ समझा और हृदयंगम किया था तथा अपनी रचनाओं-में उसीको व्यावहारिक रूप दिया था। केवल नन्ददासमें पण्डितोंको तर्कके द्वारा विश्वास दिलाने तथा अपने सिद्धान्तज्ञानको प्रदर्शित करनेकी प्रवृत्ति पायी जाती है। फलतः उनकी 'रासपंचाध्यायी' और 'भवँरगीत' जैसी कृष्णलीलासे सम्बन्धित रचनाओंमे भी हमे उनके दार्शनिक एवं तार्किक दृष्टिकोण तथा पुष्टि-भक्तिके सिद्धान्तोके ज्ञानका परिचय मिल जाता है। किन्तु फिर भी उनका पाण्डित्य उनके कवित्वको आच्छादित नहीं कर पाता। यह द्रष्टव्य है कि पाण्डित्यसे प्रभावित होकर कवित्वकी रसात्मकतामे व्याघात अवश्य पड जाता है। दार्शनिक विवेचन न तो कविताका विषय है और न कवियोंका साध्य। अतः नन्ददासने अपनी 'सिद्धान्तपंचाध्यायी' जैसी रचनातकमे दार्शनिक विवेचन नहीं किया, केवल भक्तिका स्वरूप स्पष्ट किया है। गुरु-महिमा, नाम-महिमा और विनय आदिके स्फुट पदोंमे भी वे भक्ति-भावना ही विशेष प्रदर्शित करते हैं। शेष अष्टछाप-कवियोंकी रचनाओंको भी पुष्टिमार्गीय भक्तिके विविध अंगोंकी दृष्टिसे वर्गीकृत किया जा सकता है। कृष्णलीलाके कुछ विशिष्ट अंगोंके अतिरिक्त लगभग सभी कवियोंने विनय अथवा मंगलाचरण, गुरु-महिमा, नाम-माहात्म्य, यमुना-वर्णन, भक्ति-महिमा आदिसे सम्बन्धित पद रचे है। ऐसा जान पड़ता है कि इन विषयोंपर रचना करना प्रत्येक सम्प्रदायी कविके लिए आवश्यक समझा जाता था, जिससे उसके द्वारा सम्प्रदायकी कीर्ति बढ़े। सम्भवतः यही कारण है कि सूरदासके अन्तिम समयमें चतुर्भुजदासने शंका की थी कि उन्होंने सहस्राधिक पद तो रचे परन्तु आचार्यजीका यश-वर्णन क्यों नहीं किया। सूरदासके अतिरिक्त सभी कवियोने महाप्रभु और गोसाईंजी, दोनोंकी प्रशस्तिमें पद रचे है। यही नहीं, गोस्वामीजीकी सन्तानके प्रति भी उसी प्रकारके पूज्य भावको प्रदर्शित करनेवाले पद भी पर्याप्त संख्यामें रचे गये हैं। अष्टछाप-कवियोंकी रचनाओंमें प्रधानतया यही सैद्धान्तिक या साम्प्रदायिक पक्ष उन्हें अन्य सम्प्रदायोंकी रचनाओंसे स्पष्टतया अलग कर देता है।

सूरदासकी रचनामें यह पक्ष न्यूनतम पाया जाता है। अष्टछाप-कवियोंमें सूरदास और परमानन्ददासके सम्बन्धमें बताया जाता है कि उन्हें बाललीलाका निरोध हुआ था। निःसन्देह कृष्णकी बाललीलाके सम्बन्धमें सूरदासकी रचना समस्त कृष्ण-काव्यमें अतुलनीय है। सूरदासके बाद परमानन्ददासने ही वात्सल्य भावके चित्रणमे रुचि दिखायी है। परन्तु इन दोनों कवियोंकी रचनामें भी अधिक परिमाण गोपी और राधा भावकी कान्तारति सम्बन्धी रचनाका है। अपने अन्तिम समयमें भी इन दोनो कवियोंने युगल रूपका ही ध्यान करके प्राण विसर्जित किये। कुम्भनदास और कृष्णदासके भी अधिक संख्याके पद कान्तारति और युगल-भक्ति सम्बन्धी ही हैं। कुम्भनदासके सम्बन्धमें तो कहा भी जाता है कि उन्हें निकुञ्जलीलाका निरोध हुआ था। नन्ददासकी प्रचुर रचनाओंमें अधिकांश शृंगार और मधुर रति सम्बन्धी ही है। शेष कवियोंकी रचनाओंमें भी मधुर भाव और राधाकी भक्ति सम्बन्धी पदोंकी संख्या प्रचुर है। निश्चय ही इन समस्त कवियोंका रचनाकाल वही था, जब गोस्वामी विट्ठलनाथके नेतृत्वमें पुष्टि-मार्गीय सेवा-पद्धतिमें शृंगारकी महत्ता अधिक हो गयी थी। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि अष्टछाप-काव्य कृष्णकी बाललीलाके वर्णनमे शेष कृष्ण-काव्यसे अपनी किञ्चित् भिन्नता रखते हुए भी अधिकांशमें उससे बहुत भिन्न नही है। कुल मिलाकर कृष्ण-भक्ति-काव्य विशेषतया गोपीवल्लभ और राधावल्लभ, कृष्णकी प्रेमलीलाका ही काव्य है। अष्टछाप-कवियोंने इस काव्यमें न केवल महत्त्वपूर्ण योग दिया है, वरन् समस्त कृष्ण-काव्यका नेतृत्व किया है, क्योंकि सूर, परमानन्द और नन्ददास जैसे मधुर रति और शृंगार रसके पद लिखनेवाले कवि अन्य सम्प्रदायोंमे नहीं मिल सकते।

अष्टछाप-कवियोमें सूरको छोड़कर अन्य किसीने कृष्णकी पूर्ण लीलाके वर्णन करनेका प्रयत्न नही किया। केवल परमानन्ददासके 'परमानन्दसागर'मे कृष्णलीलाकी उसी प्रकारकी रूप-रेखा दिखाई देती है, जैसी 'सूरसागर'में है। परन्तु 'परमानन्दसागर'की प्रामाणिकता और प्रकाशनकी स्थिति 'सूरसागर'से भी अधिक चिन्त्य है। 'परमानन्दसागर'-के अतिरिक्त परमानन्ददासकृत 'दानलीला' और 'ध्रुव-चरित्र' नामक रचनाएँ और बतलायी गयी है। परन्तु यह दोनों अनुपलब्ध और संदिग्ध हैं। सम्भवतः 'परमानन्द-सागर'के ही पद सम्प्रदायके कीर्तन-संग्रहों तथा 'राग-कल्पद्रुम' और 'रागरत्नाकर'में मिलते है। 'परमानन्द-सागर'में कृष्णकी बाललीलाके अतिरिक्त जन्म, पालना, छठी, स्वामिनीजीका जन्म, गोपी-उपालम्भ, कृष्ण-यशोदा-के उत्तर-प्रत्युत्तर, सखाओंके साथ केलि, हास्य-विनोद, असुरमर्दन, यमुना-विहार, गोदोहन, वनक्रीड़ा, गोचारण, दानलीला, ब्रजसे प्रत्यागमन आदिसे सम्बन्धित सूरवर्णित चिर-परिचित विषयोंके पद हैं। किशोरलीलाके अतिरिक्त गोपियोंकी आसक्ति, राधाकी आसक्ति, कृष्णरूपवर्णन, राधा-रूपवर्णन, युगल-रस-वर्णन, रासक्रीड़ा, अन्तर्धान, जल-क्रीडा, खण्डिता-समय, मानलीला, मनुहार, फूलोत्सव, दीपमालिका, वसन्तोत्सव, धमार, स्वामिनीजीकी उत्कर्षता, हिण्डोल, यमुना-वर्णन आदि विषयोंके पद हैं। विरहवर्णनमें मथुरा-गमन, गोपी-विरह और उद्धव-प्रसंगके पद हैं। इनके अतिरिक्त मन्दिरशोभा, अक्षय तृतीया, वर्षाऋतु, पवित्रा, दशहरा, रक्षाबन्धन, रथयात्रा आदि विषयोंके भी पद मिलते है तथा रासोत्सव, नरसिंह, वामन आदिके सम्बन्धमे भी कुछ ऐसे पद है, जो 'परमानन्द सागर'को भी 'सूरसागर'की भाँति भागवतसे किंचित् प्रभा-वित सिद्ध करते हैं। काँकरोलीकी 'परमानन्दसागर'की हस्तलिखित प्रतिमें केवल ११०१ पद है। कुम्भनदासके पदोंकी कुल संख्या जो 'रागकल्पद्रुम', 'रागरत्नाकर' तथा सम्प्रदायके कीर्तन-संग्रहमें मिलते हैं, ५०० के लगभग हैं। इन पदोंमें प्रायः आठ पहरकी सेवा तथा वर्षोत्सवोंके सम्बन्धमें रचे गये पद ही अधिक हैं। जन्माष्टमी, राजाकी बधाई, पालना, धनतेरस, गोवर्धन-पूजा, इन्द्र-मानभंग, संक्रान्ति, मल्हार, रथयात्रा, हिण्डोला, पवित्रा, राखी,

वसन्त, धमार, होली आदिके पद ऐसे ही हैं। कृष्णलीलाके अन्य प्रसंगोंमे कुम्भनदासके गोचारण, छाक, भोज, बीरी, राजभोग, धैया, शयन, आदिके पद भी नित्य-सेवासे ही सम्बन्धित हैं। इनके अतिरिक्त प्रभुरूपवर्णन, स्वामिनीरूपवर्णन, दान, मान, आसक्ति, सुरति, सुरतान्त, खण्डिता-विरह, मुरली, रुक्मिणीहरण आदि विषयोंसे सम्बन्धित शृंगारके पद कुम्भनदासने रचे हैं। इनके शेष पद आचार्यजीकी बधाई, गोसाईंजीकी बधाई, गोसाईंजीके पालना आदिसे सम्बन्धित हैं। कृष्णदासके 'रागकल्पद्रुम', 'रागरत्नाकर' और सम्प्रदायके कीर्तन-संग्रहोंमें मिलनेवाले पदोंके विषय भी लगभग इसी प्रकारके हैं। अतिरिक्त विषयोंमें ढाढी, चन्द्रावलीजीकी बधाई, गोकुलनाथजीकी बधाई और गोसाईंजीके हिण्डोलाके पद विशेष उल्लेख योग्य हैं। कृष्णदासके कुल पदोंकी संख्या २५० से अधिक नहीं है। स्वतन्त्र ग्रन्थोंकी रचना करनेकी दृष्टिसे अष्टछाप-कवियोंमें नन्ददासका स्थान सर्वोपरि है। इनके १४ ग्रन्थ प्रामाणिक माने गये हैं। इनमें 'रासपंचाध्यायी', 'भवरगीत', 'श्यामसगाई', 'गोवर्धनलीला', 'दशमस्कन्ध भाषा' तथा 'रुक्मिणीमंगल' कृष्णलीलासे सम्बन्धित हैं। 'रूपमंजरी', 'विरहमंजरी' और 'सुदामाचरित्र' कृष्ण-भक्ति और कृष्ण-लीलासम्बन्धी अन्य व्यक्तियोंसे सम्बन्धित हैं। 'मानमंजरी', 'अनेकार्थ मंजरी' और 'रसमंजरी' कृष्णभक्तिसमन्वित ऐसे विषयोंसे सम्बन्धित रचनाएँ हैं, जिनमे नन्ददासने अपने भाषाज्ञान तथा काव्यरीतिका परिचय दिया है। उनके 'सिद्धान्तपंचाध्यायी'मे पुष्टि-भक्तिका रूप उपस्थित किया गया है। पदावलीमे उपर्युक्त सभी विषयोंसे सम्बन्धित पद हैं तथा कुछ ऐसे भी पद हैं, जिनका विषय गुरु-महिमा, नाममहिमा, विनय और साधारण भक्ति-भावना है। चतुर्भुज दासके कुल पद संख्यामे १५० के लगभग मिलते हैं, जिनमे लगभग वे ही विषय हैं, जो कुम्भनदासके पदोंके हैं। इसी प्रकार गोविन्दस्वामीके लगभग २५० पदों और छीतस्वामीके ६४ पदोंके विषय भी लगभग वे ही हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि अष्टछाप-कवियोंमें केवल नन्ददासने प्रबन्ध रचना की तथा विविध विषयोंको अपने काव्यमें सम्मिलित किया। उन्होंने कृष्णकी माधुर्यरूप लीलाके अतिरिक्त ऐश्वर्यरूपको भी काव्यका विषय बनाया तथा ऐसी रचनाएँ भी कीं, जिनका सीधा सम्बन्ध कृष्ण-लीलासे नहीं और जो कृष्ण-काव्यके ऐहिक विषयोंकी ओर मुडनेकी सम्भावना उपस्थित करती हैं। परमानन्ददास अष्टछापके भक्त कवियोंमें सूरदासकी कोटिके भक्त कवि जान पडते हैं, यद्यपि उन्होंने साम्प्रदायिक विषयोंको अपने काव्यसे उस प्रकार दूर नहीं रखा, जैसा सूरदासने। यद्यपि सूरदासके 'सूरसागर'की भाँति 'परमानन्दसागर'में सम्भवतः इस प्रकारके सम्यक् प्रबन्धात्मक प्रसंग नहीं हैं, जिन्हें खण्डकथानक कहा जा सके, फिर भी ब्रजवल्लभ कृष्णकी सम्पूर्ण लीलाको सामने रखकर उन्होंने पद-रचना की है। सम्भव है, उनके 'सागर'के वैज्ञानिक सम्पादनके बाद इस सम्बन्धमें कुछ अधिक निश्चित रूपसे कहा जा सके। परमानन्ददासने, जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, सम्भवतः 'श्रीमद्भागवत'की कथाको अपने लक्ष्यमें रखकर पद-रचना की थी। उनकी कृष्ण-लीलामें जरासंध-वधका प्रसंग भी आया है। शेष सभी अष्टछाप-कवि स्फुट पद-रचना करनेवाले कीर्तनकार कवि थे, जो श्रीनाथजीकी आठ सेवाओंके लिए तथा वर्षभरके त्योहारों, पर्वों तथा कृष्ण और राधा-कृष्णके सम्बन्धमें मनाये जानेवाले विशेष उत्सवोंके लिए पद-रचना करते थे तथा अपने गुरु और गुरु-सन्तानोंके प्रति अपनी श्रद्धाभक्ति प्रकाशित करते थे। किन्तु अष्टछाप-काव्यका प्रधान विषय कृष्ण-लीला और कृष्ण-भक्ति ही है। कृष्ण-लीलामें कवियोंका विशेष ध्यान कृष्णके उस चरित्रपर ही है, जो रस और आनन्दका प्रतीक है। उनका मर्यादा-पुरुषोत्तमरूप पुष्टिमार्गी भक्तिका विषय नहीं हो सकता। अतः उनके रसेश्वर रूपके वर्णनमें यह स्वाभाविक था कि भावुक और रसिक भक्त कवि उनकी लीलाकी उस स्वाभाविक परिणतिको अपने काव्यका प्रधान विषय बनाते, जो उनके गोपियों और राधाके सम्बन्धोंमे व्यक्त होती है। अतः सम्प्रदायमे प्रारम्भसे बाललीलापर विशेष अवधान होते हुए भी कवियोंने विशेष रूपसे किशोरलीला ही अपनायी और स्वामिनीजीका नित्य-सेवामे कोई स्थान न होते हुए भी काव्यमे उन्हें केन्द्रीय स्थान दिया।

यद्यपि शेष कृष्णकाव्यकी भाँति अष्टछाप-काव्य भी प्रधानतया स्फुट और गीतिकाव्य है, फिर भी नन्ददासके आधारपर हम कह सकते हैं कि कृष्णकाव्यके बृहत् कलेवरमे केवल अष्टछाप-काव्य ही ऐसा है, जिसमे हमें सम्यक् प्रबन्ध-रचना मिलती है तथा सूरदास और परमानन्ददास ही ऐसे दो कृष्ण-भक्त कवि हैं, जिन्होंने ब्रजवल्लभ कृष्णकी सम्पूर्ण लीलापर रचना की है। अतः अष्टछाप-कवि निःसंदेह कृष्णकाव्य (दे०)मे सर्वोपरि स्थानके अधिकारी हैं, उन्होंने ही प्रधानतया परवर्ती कृष्णकाव्यके विषय, भावना और रूपके सम्बन्धमें नेतृत्व किया। अष्टछापका गीतिकाव्य उन समस्त लक्षणोंसे समन्वित है, जो उत्कृष्टतम कृष्णलीला सम्बन्धी गीतिकाव्यमे पाये जाते हैं।

अष्टछाप-कवियोंने भक्तिके क्षेत्रमे जिन परम्पराओंको दृढ़ किया, वे आज भी पुष्टिमार्गके घरानों और ठिकानोंमें श्रद्धा और भक्तिके साथ स्मरण की जाती हैं। कृष्णदासने प्रबन्ध और संघटनके क्षेत्रमें जिस कुशलताका परिचय दिया, उसके लिए सम्प्रदाय आज भी उनका ऋणी है। अन्य कवियोंने श्रीनाथजीके स्वरूपकी सेवापद्धतिके निर्माणमें जो अतुलनीय सहायता दी तथा अपने असंख्य कीर्तनोंके रूपमें जो प्रभूत सामग्री छोड़ी, पुष्टि-सम्प्रदाय आज भी उसपर गर्व करता है। परन्तु वास्तवमें अष्टछाप-कवियोंका योगदान सम्प्रदायमें सीमित नहीं माना जा सकता, सम्प्रदायके लिए यह सौभाग्यकी बात अवश्य थी कि उसे ऐसे महान् भक्तों और कवियोंका सहयोग मिल गया। इन भक्त कवियोंका योगदान तो सम्पूर्ण कृष्णभक्तिआन्दोलनमे था, जिसने तत्कालीन समाजको एक नवीन चेतना और नवीन स्फूर्ति दी थी, जिसने समाजके सभी वर्गोंको—उपेक्षित शूद्र और स्त्रीवर्गको भी नवीन आशा और नवीन शक्ति प्रदान की थी। स्वयं अष्टछाप-कवियोंमें ऊँच-नीच, कई जातियों और वर्गोंके लोग थे। उनके साथ स्त्रियोंका भी संयोग था, जिनमें गृहस्थके साथ वेश्या और पतित

स्त्रियाँ भी थीं। इस प्रकार ये कवि न तो संसारसे वैराग्य लेकर समाजसे उदासीन हो गये थे और न केवल नामके कलासेवी, कवि और संगीतकार थे। वरन् उस नवीन सामाजिक शक्तिके महत्त्वपूर्ण अंग थे, जिसने रूढ़ि-जर्जर समाजको एक नया रूप दिया था। यही कारण है कि उनकी रचना लोक-मनको इतना अधिक प्रभावित कर सकी और जीवनका अंग बन सकी। सामान्य जीवनके निर्माण और विकासमें अष्टछाप-कवियोंने जो योगदान किया, वही उनके साहित्यिक महत्त्वको बढ़ा देता है। सम्भवतः इन कवियोंको इस बातकी न तो बहुत अधिक चेतना थी और न आकांक्षा कि भावी पीढ़ियाँ उनकी गणना चिरन्तन साहित्यकारोंमें करेंगी। कुछ कवि अपने कविकर्मके दायित्वको समझते अवश्य थे, पर एक बार अपने तन, मन और धनको कृष्णार्पित करनेके बाद उन्होंने अपनी कवित्व और संगीतकी प्रतिभाको एक महान् उद्देश्यमें लगा दिया था। उनकी इसी निष्पक्षता और तटस्थताने उनकी वाणीको अमरता प्रदान कर दी। हम अष्टछाप-कवियोंके साहित्यिक योगदानके सम्बन्धमें, ब्रजभाषाको सम्पन्न बनाकर काव्यके उपयुक्त ढालने, काव्यको अलंकृत करनेवाले विविध प्रसाधनोंको जुटाने, काव्यका भाव-विस्तार करके उसकी रसमयताको शक्ति प्रदान करने, परवर्ती काव्यके लिए भाषा, विषय, भाव तथा कुछ अच्छी-बुरी परम्पराओंको स्थापित करनेकी चर्चा कर सकते हैं। हम कह सकते हैं कि हिन्दी साहित्यके रीतिकाल (दे०)की अधिकांश परम्पराएँ तथा भक्तिकाल (दे०)से लेकर आधुनिक काल (दे०)तक अनाविल रूपसे चली आनेवाली कृष्णकाव्यकी धारा अष्टछाप-कवियों द्वारा ही निर्मित है। किन्तु इन कवियोंका इससे भी कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण योगदान यह है कि उन्होंने जीवन और साहित्य, दोनों क्षेत्रोंमें मानवताके नवीन मूल्योंकी स्थापना की तथा मनुष्यका ध्यान पार्थिवता और लौकिकतासे हटाकर नहीं, अपितु उसका उचित उपभोग करके, उसके प्रति एक तटस्थता और निरपेक्षताका दृष्टिकोण बनाकर, उसके परे जो सत्य और सुन्दर है, उस ओर लगा दिया। मनुष्यकी सौन्दर्यवृत्ति न तो दमनके योग्य है और न उपेक्षणीय, इस सत्यका प्रमाण स्वयं अष्टछाप-कवियोंके जीवनकी कथाएँ हैं।

[सहायक ग्रन्थ—चौरासी वैष्णवनकी वार्ता; दो सौ बावन वैष्णवनकी वार्ता; प्राचीन वार्ता रहस्य; अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय : दीनदयालु गुप्त।] —ब्र० व०

अष्टयाम–यह हिन्दीका निजी काव्यरूप है, जिसका विकास रीतिकालमें विशेष रूपसे हुआ। इसमें कथा-प्रबन्ध नहीं होता, पर किसी व्यक्तिकी, चाहे वह भगवान्‌का अवतार हो या कोई भक्त या नायक-नायिका, दिन-रातकी चर्या-विधि दी जाती है। अतः इसे मुक्तक निबन्ध कह सकते हैं। रामचन्द्र शुक्लने ऐसे मुक्तकोंको वर्णनात्मक प्रबन्ध कहा है, जैसे—दानलीला, मानलीला, जलविहार, वनविहार, मृगया, झूला, होलीवर्णन, जन्मोत्सववर्णन, मंगलवर्णन आदि ('हिन्दी साहित्यका इतिहास' : पृष्ठ ३२३, आठवाँ संस्करण)। अष्टयाम भी इसी प्रकारका काव्यरूप है, जिसका बीज कालिदासके 'ऋतुसंहार'में दिखाई पड़ता है। 'ऋतुसंहार'में जैसे विभिन्न ऋतुओंके अनुरूप विलासी व्यक्तियोंकी जीवन-चर्याकी ओर संकेत किया गया है, उसी तरह दिन-रातकी जीवन-चर्या बताना ही अष्टयामका उद्देश्य होता है। भक्त कवियोंने इसको भगवान् कृष्ण या रामकी दिनचर्यावर्णनका माध्यम बनाया। निम्नलिखित अष्टयाम विशेष उल्लेखनीय हैं—देव कविका 'अष्टयाम', महाराज विश्वनाथ सिंहका 'अष्टयाम आह्निक', चाचा हित वृन्दावनदासका 'अष्टयाम', खुमानका 'अष्टयाम', तथा रघुराज सिंहका 'अष्ट याम।' —शं० ना० सिं०

अष्टसखा–गोपाल कृष्णकी बाल्य और कैशोर लीलाके संगी सखाओंमें उनके समानवय, समानशील और समान-व्यसन सखाओं (दे० 'गोपसखा')में से सर्वाधिक घनिष्ठ और आत्मीय सखा पुष्टिमार्गमें **अष्टसखा** नामसे प्रसिद्ध हैं (दे० 'अष्टछाप', 'पुष्टिमार्ग')। इनके नाम हैं कृष्ण, तोक, अर्जुन, ऋषभ, सुबल, श्रीदामा, विशाल और भोज। अष्टछापकवि, जो सख्य भावसे श्रीनाथजी (श्रीकृष्णका पुष्टिमार्गीय विग्रह)की भक्ति करते थे, भक्ति-भावकी उच्चताके कारण श्रीकृष्णके **अष्टसखा** मान लिये गये हैं। इस प्रकार सूरदासको कृष्ण, परमानन्ददासको तोक, कुम्भनदासको अर्जुन, कृष्णदासको ऋषभ, छीतस्वामीको सुबल, गोविन्दस्वामीको श्रीदामा, चतुर्भुजदासको विशाल और नन्ददासको भोजका स्वरूप माना गया है। —ब्र० व०

अष्टसखी–दे० 'गोपी'।

अष्टांग योग–दे० 'हठयोग'।

असंगति–विरोधमूलक अर्थालंकार। इस अलंकारकी गणना मुख्य अलंकारोंमें है और इसके तीन भेद हैं। इस अलंकारका विवेचन सम्भवतः सर्वप्रथम रुद्रटने किया—'विस्पष्टे सकालं कारणमन्यत्र कार्यमन्यत्र। यस्यामुपलभ्यते विज्ञेयासंगतिः सेयम्" ('काव्यालंकार', ९ : ४८) और इसीके आधारपर मम्मटने इसका विवेचन किया है—"उसे कहते हैं, जिसमें कार्यकारणरूपसे अवस्थित धर्मोंका ऐसा प्रतिपादन किया जाय कि भिन्न देशमें भी, अपने किसी उत्कर्ष-विशेषके द्वारा, साथ-साथ अवस्थित प्रतीत हों" ('का० प्र०', १० : १२५)। आगे 'चन्द्रालोक' तथा 'साहित्यदर्पण'में लक्षण–'कार्यकारणकी विभिन्नदेशमें स्थिति' मात्र रह गया। 'कुवलयानन्द'में इसके तीन भेद स्वीकार किये गये हैं। हिन्दीके प्रायः सभी आचार्योंने 'कुवलयानन्द'के आधारपर इनके तीन भेद दिये हैं।

प्रथम असंगति—यदि कारण कहीं अन्यत्र और उसका कार्य कहीं अन्यत्र वर्णित हो तथा उस वर्णनसे विरोधका आभास हो, तो वहाँ प्रथम 'असंगति' अलंकार होता है। मतिरामके अनुसार—'होत हेतु जहँ और थल, काज और थल होय' (ल० ल०, २१४)। प्रायः इसी शब्दावलीमें अन्योंके लक्षण हैं। किन्तु इस अलंकारमें विरोधका आभास आवश्यक है। यदि कारण तथा कार्यकी तथ्यगत भिन्नदेशीयता हो तो वहाँ यह अलंकार नहीं होता है। उदा०—"महाराज सिवराज चढ़त तुरङ्गपर ग्रीवा जात नैकरि गनीम अतिबलकी" (शि० भू०, २०१)। जन्य-जनक भाव न होनेपर भी इस अलंकारकी अवस्थिति होती है; यथा—'दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति। परत गाँठि दुरजन हियैं, दई नई यह रीति" (बि० र०

३६३)। 'असंगति' और 'विरोधाभास'मे अन्तर यह है कि प्रथममें एकाधिकरणवालों (जिनका एक स्थानपर रहना प्रसिद्ध हो)का वैयधिकरण्य (भिन्न-भिन्न स्थानोंपर होना) होता है और द्वितीयमें पृथक् अधिकरणवालोंका समानाधिकरण होता है।

द्वितीय असंगति–जहाँ अन्यत्र किये जाने योग्य कार्यका अन्यत्र किया जाना वर्णित हो, वहाँ द्वितीय 'असंगति' होती है। मतिराम, भूषण, दास आदिके प्रायः लक्षण समान हैं—"आन ठौर करनीय सो करै और ही ठौर" (शि० भू०, २०२)। उदा०—'पिय नैननिके राग कौं, भूषण सजे बनाय। लखे तिहारी छवि सुतौं, सौतु दगन अधिकाय" (ल० ल०, २१८) अथवा 'विहँसि बुलाय विलोकि उत, प्रौढ़ तिया रस घूमि। पुलकि पसीजत पूतको, पिय चूम्यौ मुहुँ चूमि" (वि० र०, ६१७)। प्रौढाको चूमना चाहिए था पतिका मुख, किन्तु उस मुखसे स्पर्शित मुख चूमकर उसने उतना ही आनन्द माना। जगन्नाथके अनुसार 'असंगति' वहाँ होनी चाहिये, जहाँ एक ही स्थानपर जिनका होना प्रसिद्ध हो, उनका पृथक्-पृथक् स्थानोंपर होना कहा जाय, जहाँ ऐसी स्थिति न हो, वहाँ विरोधाभास ही मानना चाहिए।

तृतीय असंगति–यदि किसी कार्यको करनेकी प्रवृत्ति हो, किन्तु उसके विरुद्ध कार्य किया जाना वर्णित हो तो वहाँ तृतीय 'असंगति' होती है। जसवन्तसिंह, मतिराम, भूषण आदिके लक्षण प्रायः समान हैं—"करन लगे औरैं कछू, करै औरई काज।" (शि० भू० : २०४)। दासने इस प्रकार रखा है—"और काज करिबे लगत, करै जु औरैं काज" (का० नि०, १३)। उदा०—"उदित भयो है जलद तू, जगको जीवन दानि। मेरो जीवन लेत है, कौन बैर मन आनि" (ल० ल०, २२०), अथवा—"राज देन कहँ सुभ दिन साधा। कहेउ जान बन केहि अपराधा" (रा० च० मा०, २ : ५४)। पण्डितराजके अनुसार यहाँ 'विभावना' है, क्योंकि कारणसे विरुद्ध कार्यकी उत्पत्ति कही गयी है। 'रसगंगाधर'के अनुसार 'चन्द्रालोक' आदिमें वर्णित दूसरी तथा तीसरी 'असंगति'मे 'विरोधालंकार' है। नागेश भट्टका मत भिन्न है, वे ऐसे स्थलोंमें 'असंगति' ही मानते है क्योंकि विरोध-कल्पना द्वारा चमत्कार सृष्टि है, न कि विरोधकी निवृत्ति द्वारा। —ध० ब्र० शा०

असंबंधातिशयोक्ति–दे० 'अतिशयोक्ति', चौथा भेद।

असंभव–विरोध-मूलक अर्थालंकार। अलंकार-शास्त्रके प्राचीन लेखकोंने इस अलंकारको पृथक् न मानकर विरोधके अन्तर्गत माना है और विरोधका निरूपण भट्टि, भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, मम्मट एवं रुय्यक इत्यादि कई लेखकोंने किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'चन्द्रालोक'के लेखक पीयूषवर्ष जयदेवने इसका उल्लेख सर्वप्रथम किया था। उनके अनुसार लक्षण है—"असम्भवोऽर्थनिष्पत्तावसम्भाव्यत्ववर्णनन्" (चन्द्रालोक, ५ : ७६)। कार्यसिद्धिको (चमत्काररूपसे) असम्भव बताना। और हिन्दीके आचार्योंने प्रायः जयदेव और अप्पय दीक्षितके आधारपर इसकी व्याख्या की है—"जहाँ अर्थकी सिद्धिको सम्भव वचन न होइ" (ल० ल०, २१२), अथवा—"अनहूवे ही बात कछु, प्रगट भई सी जानि" (शि० भू०, १९७)। उदा०—"हरि इच्छा सब ते प्रबल, विक्रम सकल अकाथ। को जानत लुटि जाइँगी, अबला अर्जुन साथ" (का० नि०, १५)। यहाँ अर्जुनके साथ अबलाका लुटना असम्भव कल्पना लगती है। कन्हैयालाल पोद्दारने जयदेवके उदाहरणका भाव लिया है—"यों ऐसा गिरिराज आज करसे ऊँचा उठाके अहो। जाना था किसने कि गोपशिशु यह रक्षा करेगा कहो?' (अ० मं०, ३०१)। —ज० कि० ब०

असंलक्ष्यक्रम ध्वनि–अभिधामूला विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनिका पहला भेद। अभिधामूला ध्वनिमें वाच्यार्थ अपना बोध कराकर व्यंग्यार्थकी पुष्टि करने लगता है। जहाँ व्यंग्यार्थकी प्रतीतिका क्रम असंलक्ष्य (अलक्षित) रहता है, अर्थात् वाच्यार्थसे व्यंग्यार्थ-प्रतीतिके पूर्वापरका क्रम नहीं जाना जाता, वहाँ असंलक्ष्य ध्वनि होती है। इस ध्वनिमें पहले वाच्यार्थके रूपमें विभाव, अनुभाव आदि ज्ञात होते हैं, फिर व्यंग्यार्थके रूपमें रस, भाव आदिकी व्यंजनाएँ होती हैं। विभावानुभावसे रसादिकी प्रतीतिका बोध क्रमपूर्वक तो अवश्य होता है—यदि यह बोध क्रमपूर्वक न होता तो इस ध्वनिका नाम असंलक्ष्य अथवा अलक्ष्य न होकर अक्रम होता, किन्तु यह प्रतीति शतपत्र-भेदन-न्यायके सदृश इतनी शीघ्रतासे होती है कि इस क्रमको जान सकना सम्भव नहीं होता।

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यकी व्यंजनाएँ आठ रूपोंमें होती हैं—रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता। इनमें भाव और रसकी व्यंजना अत्यन्त चमत्कारकारी और रमणीय होनेके कारण सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है (रस तथा भावके विशेष विवरणके लिए दे० 'रससिद्धान्त')। रसकी व्यंजनामें अनौचित्य होना रसाभास और भावका अनुचित रूपमें वर्णित होना (रसाभासका अंग होना) भावाभास है। अनौचित्यके होते हुए भी रसाभास आदिको ध्वनिके अन्तर्गत कैसे समाविष्ट किया गया है, इसका समाधान इस प्रकार किया गया है–'यद्यपि रसका अनौचित्य रूपमें होना रस-दोष है, किन्तु आपातरमणीय होनेके कारण इसके द्वारा भी क्षणभरके लिए रसके आस्वादका आभास हो जाता है। रसाभासमें, सीपमें चाँदीकी झलककी तरह (शुक्तौ रजताभासवत्), रसकी झलकमात्र रहती है, इसीलिए रसाभासको ध्वनिका एक भेद माना है" (का० कल्प०–भाग १, पृ० २४९)। किसी विरोधी भावके आ जानेके कारण किसी पूर्ववर्ती भावकी चमत्कारपूर्ण शान्तिको भावशान्ति, किसी शान्त होते हुए भावके बाद ही चमत्कारपूर्ण रीतिसे किसी अन्य भावके उदयको भावोदय, किन्हीं दो समान उत्कर्षवाले भावोंकी एकत्र स्थितिको भावसन्धि तथा समान उत्कर्षवाले अनेक भावोंके एक-दूसरेके बाद आनेको भावशबलताकी संज्ञा दी गयी है। ध्वन्याचार्योंने इन आठोंको ध्वनिके असंलक्ष्यक्रम भेदके साथ ही गुणीभूत व्यंग्यके अपरांग भेदके अन्तर्गत रखा है। इस विषमताका स्पष्टीकरण करते हुए मम्मटने लिखा है कि ऐसा कोई विषय (दृष्टान्त) न मिलेगा, जहाँ ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्यके भेदोंका संकर अथवा संसृष्टि न हो, फिर भी जहाँ जिसकी प्रधानता होती

है, वहाँ उसका वैसा नामकरण कर दिया जाता है—"यद्यपि स नास्ति, कश्चिद्विषयः यत्र ध्वनिगुणीभूतव्यंग्ययोः स्वप्रभेदादिभिः सह संकरः संसृष्टिर्वा नास्ति तथाऽपि प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्तीति क्वचित्केनचिद्व्यवहारः" (का० प्र०, पृ० १३२)। जहाँ रस, भाव आदि अंगी (प्रधान) बनकर चमत्कार उत्पन्न करते हैं, वहाँ ध्वनि तथा जहाँ वे वाच्यार्थकी समकक्षतामें गौण हो जाते हैं और अप्रधान बनकर दूसरेको सुशोभित करते हैं, वहाँ गुणीभूत व्यंग्य बन जाते हैं। प्राचीन अलंकारशास्त्रियोंने इन आठोंको रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्वी (भावाभास तथा रसाभास दोनोंके लिए), समाहित, भावोदय, भावसन्धि तथा भावशबलता नामक अलंकार माना है।

असंलक्ष्यक्रमध्वनिकी व्यंजना पद, पदांश, वाक्य, रचना, वर्ण तथा प्रबन्ध द्वारा होती है। इसीसे इसके छः भेद किये गये हैं—१. पदगत—"सखी सिखावति मान विधि, सैननि बरजति बाल। हरुए कहु मो हिय सदा बसत बिहारीलाल"। इस दोहेके 'हरुए' शब्द द्वारा पदगत असंलक्ष्यध्वनि व्यंजित होती है। मान करनेकी विधिकी शिक्षा देनेवाली सखीके प्रति गोपी अपने हृदयके गूढ़ कृष्ण-प्रेमकी व्यंजना कराना चाहती है। वाच्यार्थसे यह व्यंग्यार्थ ज्ञात होता है कि कृष्ण सदैव हृदयमें स्थित रहते हैं, उनसे मिलना ही श्रेयस्कर है, रूठनेका प्रश्न नहीं उठता। २. पदांशगत—"सिखा दो ना, हे मधुपकुमारि, मुझे भी अपने मीठे गान" (पन्त)। यहाँ 'ना' पदांश द्वारा कविके हृदयमें स्थित दैन्य भाव व्यंजित होता है। ३. वाक्यगत—"सूरदास जो सरवस दीजे कारो कृतहि न मानै"। यह पूरा वाक्य वक्ता गोपीके हृदयकी खीझ व्यंजित करता हुआ विप्रलम्भ शृंगारका पुष्टीकरण करता है। ४. रचनागत—इस भेदमें विशिष्ट पद-योजनाके कारण असंलक्ष्यध्वनि व्यंजित होती है। इसमें रीतियों (वैदर्भी, गौडी, पांचाली)-के चमत्कारका बाहुल्य देखा जाता है। ५. वर्णगत—इसके अन्तर्गत गुणों (माधुर्य, ओज, प्रसाद)का समाहार किया गया है। रीतियाँ गुणोंपर अवलम्बित हैं और गुणोंका रसके साथ नित्यसम्बन्ध है, अतः रचनागत तथा वर्णगत ध्वनियोंके पृथक्-पृथक् भेद मानना बहुत तर्कसंगत नहीं जान पड़ता। ध्वन्याचार्य सभी पूर्ववर्ती सिद्धान्तोंको यथास्थान समादृत करना चाहते थे। कदाचित् इसीलिए उन्होंने इनके पृथक्-पृथक् भेद किये थे। ६. प्रबन्धगत—परस्पर एक-दूसरेसे अन्वित विविध वाक्योंके समूहको महावाक्य संज्ञा दी गयी है और जहाँ महावाक्योंसे ध्वनि निकलती हो, वहाँ प्रबन्धध्वनि होती है। इसका सम्बन्ध छोटे-छोटे प्रसंगों अथवा समूचे ग्रन्थसे भी माना जा सकता है—'रामायण' करुणरस प्रधान तथा 'महाभारत' शान्तरस प्रधान है। —उ० शं० शु०

असमर्थ–दे० 'शब्ददोष', चौथा पददोष।

असमिया (भाषा तथा साहित्य)–चीनी परिव्राजक ह्वेनत्सांग ईसाकी सातवीं शताब्दीमें अपने भारत-भ्रमणके सिलसिलेमें कामरूपके तत्कालीन शासक कुमार भास्करवर्मनके आमन्त्रणपर आसाममें आया था। उसने अपने भ्रमण-वृत्तान्तमें यह उल्लेख किया है कि उस समय कामरूपमें बोली जानेवाली भाषा मध्य भारतकी भाषासे कुछ भिन्न थी। इस उक्तिका यही आशय होता है कि ईसवी सातवीं शताब्दीमें असमिया अर्धमागधी अपभ्रंशसे भिन्न भाषाके रूपमें बनने लगी थी। कुमार भास्करवर्मनके कालतक कामरूपमें आर्य संस्कृति और उसके प्रभावका सिक्का भली-भाँति जम चुका था और आर्येतर जातियोंका आर्यीकरण भी होने लगा था। ईसवी शताब्दी छः सौसे एक हजारके बीच बौद्धोंके महायान-सहजयान सम्प्रदायके सिद्धों द्वारा रचित 'चर्यापद' (दे०)के दोहोंकी भाषामें आदि असमियाके बहुतसे निश्चित तत्त्व मिल जाते हैं। इन सिद्धोंमेंसे कई कामरूपके ही थे। दूसरी तरफ 'चर्यापद'की भाषा मध्ययुगकी अर्धमागधी अपभ्रंशसे निकली हुई असमिया, बंगाली, उड़िया और मैथिलीकी सामान्य स्रोत थी। तिब्बतसे प्राप्त 'बाह्यान्तर बोधि चित्तबन्धो प्रदेश' नामके ग्रन्थकी भाषासे प्राचीन असमिया भाषाके साम्यकी बात राहुल सांकृत्यायनने कही है। 'चर्यापद'की भाषा ही ऊपर उल्लिखित भाषाओंका सामान्य स्रोत समझी जाती है।

असमका प्राचीनतम नाम प्राग्ज्योतिष था। इसके बाद इसका नाम कामरूप पड़ा। असम आधुनिकतम नाम है, जो ईसाकी त्रयोदश शताब्दीके बाद पड़ा। कामरूप नामसे जब यह प्रख्यात था तब असम चार टुकड़ोंमें बँटा हुआ था। उसी समय ईसाकी त्रयोदश शताब्दीमें निषाद जातिकी एक शाखा टाइ (शान) कबीलेने बर्मासे आकर कामरूपके नितान्त पूर्वांशमें अपना राज्य स्थापित किया। इस कबीलेके शासनके साथ-साथ कामरूपका न केवल नाम ही बदला बल्कि उसके सम्पूर्ण अवयवपर भी स्थायी परिवर्तन हुआ। कामरूपके पश्चिमांशपर उस समय कोच परिवारका शासन था। टाइ कबीलेके शासनकालसे इस राज्यका नाम असम पडा और यहाँके लोगोंकी भाषाका असमिया।

भारतके इस पूर्वी राज्यका और इसकी भाषाका नाम असम और असमिया कैसे पडा, इसका निर्णय आज भी निर्विवाद रूपसे नहीं हुआ। विद्वान् इसका सम्बन्ध इस टाइ कबीलेसे लगाते हैं। उसके शासनके प्रारम्भिक कालमें कामरूपी इसे 'आहोम' कहा करता था। सुनीतिकुमार चट्टोपाध्यायने वाणीकान्त काकतीके स्मारक भाषणमें उल्लेख किया है कि बर्मा जब ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दीमें शान (आहोम भी इसी कबीलेकी शाखा) कबीलेके सम्पर्कमें आया तो उसने इस कबीलेका नाम अपनी मोन लिपिमें अपने उच्चारणकी विशेषताके कारण 'रहवम' लिखा और इसी नामसे जब उस कबीलेके लोग कामरूपमें गये तो वहाँके निवासी जो किराती (बोड़ो) और आर्यभाषा बोलते थे, इस शब्दका शुद्ध उच्चारण न कर सके और उसे अशुद्ध समझकर अपने उच्चारणमें ढालकर उन्होंने 'आहोम'को 'अहम, असम' कर लिया। अब 'रहवम' तो 'आहोम' रूपमें रह गया और 'असम' (आहोम, अहम) लोगों द्वारा विजित राज्यका नाम भी 'असम' पड़ा और वहाँके लोगोंको असमिया और भाषाको भी असमिया कहा जाने लगा। असमियामें 'इया' प्रत्यय किसी संज्ञासे जोड़कर सम्बन्धवाचक विशेष्य या विशेषण निर्माण किया जाता है। इसी प्रकार 'असम' संज्ञामें 'इया' प्रत्यय लगकर भाषा और

भाषीका नाम पड़ा। अंग्रेजी कालमें 'ए' (अ)की उच्चारण-भिन्नताके कारण अंग्रेज और उस समयके अंग्रेजी शिक्षित बंगाली कर्मचारियोंके अज्ञानके कारण असमका नाम 'आसाम' पडने लगा था।

क्षेत्रफलकी दृष्टिसे आधुनिक असमका इलाका बहुत विस्तृत है, जो प्रायः पचासी हजार वर्गमीलका है। इसके अन्तर्गत विस्तृत पहाडी क्षेत्र भी है, जो राज्यके चारों ओर फैला हुआ है। असमिया ब्रह्मपुत्रकी घाटीके छः जिलोंमें ही प्रधानतः बोली जाती है, सुरमाकी घाटी और पहाडी क्षेत्रमें इसे मातृभाषाके रूपमें बोलनेवालोंकी संख्या बहुत ही कम है। सन् १९५१ ई०की जनगणनाके अनुसार असमके नब्बे लाखकी आबादीमेंसे साढ़े उनचास लाख आदमी असमिया बोलनेवाले हैं और दस लाखके करीब केवल घरेलू व्यवहारके अतिरिक्त सभी दैनन्दिन कार्योंमें इसका व्यवहार करते हैं। जन-जातिकी भाषा बोलनेवाले साढ़े तेरह लाख आदमी भी राज्यके अन्य भाषियोंसे असमियामें ही अपने विचार व्यक्त करते हैं।

साम्प्रतिक असमिया लिपि देवनागरी लिपिका ही अन्यतम रूप है। लिपिका अबतक उपलब्ध प्राचीनतम निदर्शन भास्करवर्मनका सन् ६१० ई० का ताम्र-फलक ही है। तभीसे इस लिपिका विकास होता आया है। प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थोंकी लिपि और आधुनिक लिपिके भीतर कुछ अन्तर अवश्य पाया जाता है। वस्तुतः मैथिली, बँगला और असमिया लिपिका स्रोत एक है। आधुनिक असमिया लिपिका साम्य मैथिली लिपिसे अधिक है। आधुनिक बँगला लिपिसे इसका भेद 'र' और 'व'में है। अन्तिम वर्ण बँगलामें नहीं है। असमिया लिपि बँगला लिपि ही है, यह धारणा गलत है। दोनों लिपियोंका आधुनिक साम्य औद्योगिक सभ्यताकी देन है।

यद्यपि असमिया भाषाकी उत्पत्ति और इसकी वर्णमाला और लिपिके विकासमें आर्यभाषाका ही पूर्णतः सहयोग रहा, तथापि वह अपनी उद्गम-भूमिकी दूसरी भाषाओंके शब्दों और ध्वनि-रूपोंके प्रभावसे अपनेको मुक्त नहीं रख सकी। इसलिए असमिया वर्णमालाका उच्चारण दूसरी भारतीय भाषाओंकी वर्णमालाके उच्चारणसे भिन्न पड जाता है। असमियाकी सभी ध्वनियाँ कोमल हैं। द्वित्ववर्णका भी उतना कठोर उच्चारण नहीं होता। मूर्धन्य और दन्त्य वर्णोंका लिखित रूपमें भेद होनेपर भी उच्चारणमें भेद नहीं होता है। उनका उच्चारण एक-सा होता है और वे वर्त्स्य होते हैं।

रूपतत्त्वमें भी दूसरी भारतीय भाषाओंसे असमिया भेद रखती है। किसी वस्तुके गुणको विशेष रूपसे दर्शानेके लिए शब्द द्वित्व करनेकी प्रवृत्ति इसमें है। यह विशेषता द्राविड़, कोल और खासी भाषाओंमें पायी जाती है। अनार्य भाषाओंकी तरह शब्दके दूसरे अक्षरपर जोर देना भी असमियाकी एक विशेषता है। सम्बन्धवाचक शब्दोंमें व्यक्तिवाचक प्रत्यय लगाकर कौटुम्बिक सम्बन्ध दिखाया जाता है। पुरुष-भेदसे प्रत्ययका भी भेद हो जाता है। दूसरी तरफ आयुके अनुसार अलग-अलग कौटुम्बिक सम्बन्धवाचक शब्द भी होता है, जो हिन्दी आदि भाषाओंमें नहीं होता। समूहका ज्ञान करानेके लिए शब्दके आगे जो प्रत्यय लगाये जाते हैं, वे भी अनार्य-स्रोतके समझे जाते हैं। अर्धमागधीसे निकली हुई भाषाओंमें असमिया, क्रियासे सम्बन्ध रखनेवाले नकारात्मक 'न' प्रत्ययके प्रयोगमें विशेष स्थान रखती है। यह प्रत्यय क्रियाके पहले लगता है और उससे अभिन्न रहता है।

वाक्य-विचार-पद्धति आधुनिक आर्यभाषाओंकी तरह ही है। पहले कर्ता, उसके बाद कर्म और अन्तमें क्रिया। असमिया भाषा संस्कृत व्याकरणका अनुसरण करती है। सन्धि, समास आदिका प्रयोग थोड़ा-बहुत स्थानीय हेर-फेरके साथ होता है। संस्कृतसे उद्भूत प्रत्ययोंके अतिरिक्त अनार्य-भाषाओंके भी प्रत्यय इसमें पाये जाते हैं, जो संज्ञा और क्रियामें समान रूपसे व्यवहारमें आते हैं। ये प्रत्यय असमियापर अनार्य-भाषाओंके प्रभावकी मुक्त घोषणा करते हैं।

ईसाकी त्रयोदश शताब्दीके प्रारम्भसे ही असमिया भाषामें लिखित साहित्यिक कृतियाँ क्रमानुसार मिलने लगती हैं। इससे पहले 'चर्यापद'के दोहोंमें असमिया भाषा और साहित्यके प्रारम्भिक रूपका आभास मिल जाता है। 'चर्यापद'के समयसे ईसाकी द्वादश शताब्दीके अन्ततक कामरूपमें विभिन्न प्रकारके मौखिक साहित्यका निर्माण हुआ था। उनमें मणिकोंवर-फुलकोंवर-गीत नामक समाजमें प्रचलित जनप्रिय कहानीका गीतात्मक रूप, डाक-वचन, तन्त्र और मन्त्रके मौखिक साहित्य प्रधानरूपसे थे। यद्यपि इन साहित्यिक गीत और वचनोंके निर्माण-कालकी कल्पना ईसाकी त्रयोदश शताब्दीके भी पहले की जाती है, तथापि लिखित रूपमें वे बादकी सामग्री हैं। इनमें प्राचीन भाषाके तत्त्व अवश्य मिल जाते हैं।

असमियाके लिखित साहित्यके कालको पाँच भागोंमें बाँट सकते हैं—(१) प्राक्-वैष्णवकाल : १२००–१४४९ ई०, (२) वैष्णवकाल : १४४९–१६५० ई०, (३) गद्य, बुरंजी-काल : १६५०–१९२६ ई०, (४) आधुनिक काल : १९२६–१९४७ ई०, (५) स्वाधीनता-उत्तरकाल : १९४७ ई०…।

(१) प्राक्-वैष्णवकाल :—प्राक्-वैष्णवकालके साहित्य निर्माताओंको हम दो श्रेणियोंमें विभक्त कर सकते हैं। पहली श्रेणीमें हम उनको रखेंगे, जिन्होंने संस्कृत ग्रन्थोंका अनुवाद किया है या उनके आधारपर अपनी नयी कृतियोंका निर्माण किया है। इस श्रेणीके कवियोंकी विचारधारा धर्मप्रधान और भक्तिमूलक थी। दूसरी श्रेणीमें वे कवि आयेंगे, जो बीते हुए युगकी गीत-परम्परामें महाकाव्यके वीरोंकी गाथा लिख गये। साहित्यिक प्रवृत्तिकी दृष्टिसे यह काल प्रभाव-निरपेक्षताका काल था। प्रत्येक कवि स्वतन्त्र रूपसे अपनी रचना किया करता था।

अबतक प्राप्त पहला असमिया लिखित ग्रन्थ 'प्रह्लाद-चरित्र' है, जिसका निर्माता कवि हेमसरस्वती था। ईसाकी त्रयोदश शताब्दीमें कमतापुर (पश्चिम कामरूप)का राजा दुर्लभनारायण था। हेमसरस्वती इसी समयका कवि था। इस रचनामें भक्ति-भावका प्रतिपादन किया गया है, जिसमें भक्त प्रह्लादकी अन्तिम सफलताका उल्लेख है।

प्राक्-वैष्णवकालका सबसे बड़ा कवि माधव कन्दली

हुआ। उसने 'रामायण'का सरल अनुवाद असमिया छन्दमें किया। यह कार्य उसने कछारी राजा महामाणिक्यके प्रोत्साहनसे किया। कन्दलीको इस कार्यमें दूसरे पण्डितोंने भी सहायता दी। माधव कन्दलीकी 'रामायण'मे असमिया भाषा अनेक प्रकृत रूपमें प्रकट हुई और संस्कृतका बोझ उसपरसे उतर गया।

कवियोंके दूसरे समूहमें गीति-कवि आते हैं। दुर्गावर, पीताम्बर और मनकर आदि कवियोंके कई एक गीति-काव्य मिले है। दुर्गावरने 'रामायण'को लौकिक वातावरणमे गेय छन्दमें लिखा। पीताम्बरने 'ऊषा-परिणय' नामका एक प्रणय-काव्य और मनकरने 'वेउला लखिन्दर' नामक लौकिक कहानीके आधारपर गेय छन्दमें एक प्रणय-काव्य लिखा। अन्तिम काव्यमें मनसा पूजाकी गरिमा दिखायी गयी है।

पूर्वोल्लिखित मन्त्र-पोथियोका लिखित रूप इसी समय मिलता है। यद्यपि ये रचनाएँ गद्य जैसी भाषामें मिलती है, तथापि उसके स्वरूपको पद्यसे अलग नही किया जा सकता। इन रचनाओंका विषयवस्तु जादू-टोना, रोग-निवारणका मन्त्र, भूत-पिशाचोंका निवारण, सर्पदंशनसे आरोग्यका निदान आदि है।

(२) वैष्णवकाल :—हेमसरस्वती और माधव कन्दली आदिने पहले ही भक्तिका महत्त्व प्रचार कर परवर्ती कालके लिए भक्ति-आन्दोलनकी भूमिका प्रस्तुत कर रखी थी। इस युगके प्रमुख कवि और धर्म-प्रचारक शंकरदेवने माधव कन्दलीको 'अप्रमादी' कवि कहकर उसकी प्रशंसा की है। इस कालका साहित्य भक्ति-भावसे सराबोर था और यह भक्ति निस्सन्देह रूपसे वैष्णव-भक्ति ही थी। इस भक्तिआन्दोलनके ऊपर समय-समयपर शाक्त ब्राह्मण और आहोम और कोच राजाओंकी ओरसे बाधा पड़ती रही। किन्तु धीरे-धीरे यह बाधा कम होती गयी। कोच राजपरिवार वैष्णव होता गया और आहोम राजपरिवार और राज पुरुषोमें सहिष्णुताका भाव बढ़ता गया।

इस कालमें पहले और प्रमुख कवि और साहित्यिक शंकरदेव हुए। वे केवल असमिया साहित्यके नवनिर्माता ही नहीं हुए, बल्कि सम्पूर्ण असमिया जीवनका नये प्रकारसे उन्होंने निर्माण भी किया। असमके साहित्य, समाज, संस्कार, धर्म, कला, संगीत और सामाजिक संघटनको उन्होंने अपने सबल हाथोंसे पुनर्निर्मित किया। उन्होने 'श्रीमद्भागवत-पुराण'को अपने वैष्णवमतका प्रधान आधार-ग्रन्थ बनाया। इसलिए उनके चलाये हुए धर्ममतको 'भागवती धर्म' कहा गया। इसे 'एकशरणधर्म' भी कहा जाता है।

शंकरदेवकी प्रधान रचना 'कीर्तनघोषा' है। इसमें भागवत और विभिन्न पुराणोंसे भक्तिपरक आख्यानोंको अनुवाद करके संगृहीत किया गया है। 'भक्ति प्रदीप' अपने धर्म सिद्धान्तोंका सिद्धान्तमूलक ग्रन्थ है। इनके अतिरिक्त 'निमिनव सिद्ध', 'रुक्मिणीहरण काव्य', 'गुणमाला', 'लीलामाला' आदि ग्रन्थ भी उन्होंने लिखे। उन्होंने संस्कृतमें 'भक्तिरत्नाकर' नामक एक ग्रन्थ लिखा। माधव कन्दली द्वारा अनूदित 'रामायण'का कुछ अंश खो जानेके कारण शंकरदेवने उसके उत्तरकाण्डको भी अनूदित किया। इनके अलावा और कई ग्रन्थ उनके नामसे मिलते हैं।

शंकरदेव आधुनिक भारतीय भाषाओंके सर्वप्रथम नाटककार भी है। असमियामें इनके द्वारा लिखे गये नाटकोंको 'अंकीया नाट' कहते है। ये नाटक एक अंकके होते हैं। नाटकोंमे भी विष्णुकी श्रेष्ठता दिखायी गयी है। इन नाटकोंमें ब्रजबुलि भाषाका प्रयोग किया गया है। अंकीय नाटकोंके कथोपकथनमें पहले-पहल गद्य भाषाका प्रयोग हुआ। शंकरदेवके नाटकोमे 'रामविजय', 'कालीदमन', 'पारिजात-हरण', 'रुक्मिणीहरण', 'पत्नीप्रसाद' प्रधान हैं। अंकीया नाटोंका एक पद्यांश भी होता है, इसे बरगीत कहते है। ब्रजबुलिमें लिखित इन गीतोमें गम्भीर भक्ति-भावनाके दर्शन होते है।

शंकरदेवके बाद दूसरे महान् कवि माधवदेव हुए। माधवदेव एक साथ संस्कृतके विद्वान्, संगीतकार, नाटककार और धर्मप्रचारक थे। भागवती धर्मके प्रचारमें शंकरदेवके बाद ही उनका स्थान है। उनकी महत्त्वपूर्ण रचना 'नाम-घोषा' है, जिसमें आध्यात्मिक तत्त्वका विवेचन है। इसी कालके दूसरे कवि अनन्त कन्दली थे, जिन्होने 'कुमरहरण काव्य' और 'सीतार पताल प्रवेश' नाटक लिखे। श्रीधर कन्दली नामक एक अन्य कविने श्रीकृष्णके बाल्य जीवनकी घटनासे सम्बन्धित 'कानखोवा' नामसे एक मनोरंजक पुस्तक लिखी। 'असमिया महाभारत'का निर्माता रामसरस्वती इसी कालमें हुआ। उसने कोच राजा नरनारायणकी आज्ञासे अपनी स्वतन्त्र वृत्तिसे इसका अनुवाद किया।

यद्यपि शंकरदेवने ही असमिया गद्य-साहित्यका प्रारम्भ किया था, तथापि उसका स्पष्ट और स्थायी रूप भट्टदेवके हाथों ही निर्मित हुआ। भट्टदेव सोलहवी शताब्दीके थे। उन्होने 'भागवत पुराण' और 'गीता'को असमिया गद्यमे अनूदित किया।

(३) गद्य, बुरंजी और अन्य साहित्य :—इस समयतक असममे वैष्णवधर्मकी जड़ जम चुकी थी। दूसरे धर्मका प्रभाव कम हो चुका था। राजपरिवारों और उनके कर्मचारियोंमें वैष्णवधर्मके प्रति आदर बढ़ गया था। अतः इस आन्दोलनकी आरम्भिक गतिशीलतामें शिथिलता आ गयी थी और धार्मिक साहित्यके साथ धर्म-निरपेक्ष साहित्यकी भी रचना होने लगी थी।

इस कालकी प्रमुख साहित्यिक देन बुरंजी साहित्य है। बुरंजी टाइ शब्द है, जिसका अर्थ 'अज्ञात कथाओंका भण्डार' यानी इतिहास है। आहोमोंमे पहलेसे ही इतिहास लिखनेकी परम्परा थी। यह काम साम्प्रदायिक पुरोहित किया करता था। किन्तु शासनके प्रारम्भिक दिनोंमें यह इतिहास वे अपनी टाइ भाषामें ही लिखा करते थे। आहोम जब धीरे-धीरे कामरूपके निवासियोंसे एक हो गया और आर्य-असमिया भाषाको उसने अपना लिया तो असमिया भाषामें भी इतिहास लिखना आरम्भ कर दिया। अब यह काम पुरोहितोंके हाथसे छूटकर राजकर्मचारियोंके हाथमें आया। सरकारी देखरेखमें यह कार्य चालू हो गया। इसलिए असमिया-बुरंजी साहित्यमें तथ्योंका हेर-फेर बहुत कम हुआ। सभी बुरंजियोंके लेखकका नाम नहीं मिलता, क्योंकि विभिन्न समयमें सरकारी अधिकारी उनका संकलन

करता था। बुरंजीकी भाषामें बोलचालकी भाषाने अधिक स्थान पाया।

बुरंजी साहित्यके अतिरिक्त इस कालमें राजवंशोंकी वंशावलियाँ भी लिखी गयी, जिनमे सूर्यखरी दलदेवकी 'दरंराजवंशावली' और रतिकान्त द्विजकी 'राजवंशावली' मुख्य है। इस कालमें चरित-ग्रन्थोंकी रचना अधिक संख्यामें हुई। यह साहित्य वैष्णवमठोंमें अधिकतर रचा गया।

कविराज चक्रवर्तीने जयदेवके 'गीतगोविन्द'का असमियामें दूसरा अनुवाद किया और धर्मदेवभट्टने तीसरा अनुवाद। कविराज चक्रवर्तीने 'शंखचुर वध' और 'शकुन्तला' नामसे दो काव्य भी लिखे।

इन ग्रन्थोंके अतिरिक्त इस कालमें कला, दर्शन, ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद, नृत्य आदिपर भी ग्रन्थ लिखे गये। सुकुमार बरकाठका 'हस्तीविद्यार्णव,' सागर खरीका 'घोड़ा निदान', काशीनाथका 'अंकर आर्या', कवि चूडामणिका 'ज्योतिष चूड़ामणि', बकुल कायस्थका 'कितावत', कविरत्न द्विजका 'लीलावती', रत्नखरीका 'कर्मफल', कविराज सरस्वतीका 'भास्वती' और 'श्रीहस्तमुक्तावली' नामक संस्कृत ग्रन्थका सचित्र अनुवाद सहित विविध ग्रन्थ इस कालमें मिलते है।

इस कालमें हिन्दी कवि कुतुबनके 'मृगावती' और मंझनके 'मधुमालती' नामक सूफी काव्यके कथानकके आधारपर दो काव्य भी लिखे गये।

(४) आधुनिक काल :—उन्नीसवीं शताब्दीके प्रारम्भसे ही आहोम राजशक्ति क्षीण हो गयी थी। ई० १८१७-१८के भीतर असम बर्मी शासनके अधीन आ गया था। बर्माके हाथसे १८२६ ई० में असम अंग्रेजोंके हाथमें चला गया। अंग्रेजी शासनके आरम्भके साथ-साथ असमके सम्पूर्ण जीवनपर परिवर्तन दिखाई पड़ा और पाश्चात्य विचारसे विभिन्न विषयोंको सोचा भी गया।

असममे कोई स्वतन्त्र राजा न रह जानेके कारण असमिया साहित्य राज्याश्रयसे वंचित हुआ और मठ आदिमें भी धार्मिक प्रभाव कम पड़ गया था। अतः साहित्य निर्माणके क्षेत्रमें एक प्रकारसे गतिरोधकी अवस्था आ गयी थी। दूसरी तरफ अंग्रेजी शासनके साथ-साथ बंगालसे अंग्रेजी-शिक्षित बंगाली राजकर्मचारी भी आये। उन्होने अंग्रेजोंको समझा दिया कि असमिया बँगलाकी एक बोली मात्र है, अतः इसे सरकारी कार्य, कचहरी और विद्यालयोंमे स्थान नहीं मिलना चाहिये और उसकी जगह बँगला ही चलानी चाहिये। अतः तत्कालीन अंग्रेज शासकोंने १८३६ ई०में असमियाको हर स्थानसे बहिष्कृत कर दिया। इस परिस्थितिमें असमिया साहित्यकी गतिको चालू रखनेके लिए दूसरे प्रकारके व्यक्तित्वकी आवश्यकता थी। यह व्यक्तित्व अंग्रेजी-शिक्षित असमिया लोगोंमें ही पाया जा सकता था। अतः असमियाको पुनः प्रतिष्ठित करनेके लिए वे अग्रसर हुए।

असमिया साहित्यका पुनर्जागरणका काल अपने अस्तित्वकी पुनःप्रतिष्ठाके साथ प्रारम्भ हुआ। असमिया भाषा और साहित्यका स्वतन्त्र स्वरूप प्रमाणित करनेके लिए असमके सपूतोंने एक होड़-सी लगा दी। इस कार्यमे अमेरिकी पादरियोंने देशी लोगोंसे भी बढ़कर काम किया। उन्हे देशी भाषाके माध्यमसे अपना धर्मप्रचार करना था। इन पादरियोंने शिवसागर नामक स्थानमे मुद्रण-यन्त्रकी स्थापना करके असमिया ग्रन्थ छापना आरम्भ किया। इन्होने इसी मुद्रणयन्त्रसे १८४६ ई०मे असमियाका पहला मासिक पत्र 'अरुणोदइ' (अरुणोदय)का प्रकाशन प्रारम्भ किया। देशी-विदेशी विद्वानोंके प्रचार और साहित्यिक उन्नतिको देखकर अंग्रेजी शासकोंने १८७३ ई०में असममे पुनः असमियाको अपने स्थानपर प्रतिष्ठित किया। किन्तु इस अप्रत्याशित बहिष्कारने असमिया भाषा-साहित्यको शोचनीय रूपसे धक्का पहुँचाया। माइल्स ब्रनसन, ब्राउन, केरे, श्रीकाटर आदि पादरियोंने असमिया भाषासम्बन्धी ग्रन्थ और निबन्ध लिखे। १८१३ ई०मे बाइबिलका असमिया अनुवाद छपकर प्रकाशित हुआ। यह असमियाका पहला मुद्रित ग्रन्थ था।

अंग्रेजी शासनके माध्यमसे असममें अंग्रेजी साहित्य और उसके जरिये पाश्चात्य साहित्य आये और उससे असमियाके नवीन लेखक प्रभावित हुए। बंगला भाषाके जरिये भी पाश्चात्य आदर्श अपनाये गये। अतः पाश्चात्य साहित्यके अनुसार असमियाका नवीन साहित्य निर्मित होने लगा। इस नवीन कालके लेखकोंमें आनन्दराम ढेकियाल फुकनका नाम सबसे पहले आता है। असमिया साहित्य और भाषापर उसने कई पुस्तकें लिखीं। हेमचन्द्र बरुवाने असमिया भाषा-साहित्यको प्रतिष्ठित करनेके लिए अपनी रचनाओंसे इसे पुष्ट किया। यह बहुमुखी लेखक था। उसने नाटक, उपन्यास, पाठ्य पुस्तक, शब्दकोश आदि ग्रन्थ लिखे। 'कानियार कीर्तन', 'बाहिरे रच भितरे कोवाभातुरी', 'पढाशलीया अभिधान', 'हेमकोष' आदि उसकी मुख्य रचनाएँ हैं। गुणाभिराम बरुवा गद्य-लेखक और इतिहासकारके रूपमें आया। उसने 'असम बुरंजी' नामक इतिहास और आनन्दराम ढेकियाल फुकनकी जीवनी लिखी।

उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तमें कलकत्ताके कॉलेजोंमें पढ़नेवाले विद्यार्थियोने 'जोनाकी' नामक एक मासिक पत्रिका निकाली। इस पत्रिकाके जरिये उन लोगोने असमिया साहित्यकी सेवा करना प्रारम्भ किया। इस पत्रिकासे सम्बन्धित उस समय जो असमिया साहित्यिक थे, उन्हें एक साथ 'जोनाकी समूह' कहते है। उनमें लक्ष्मीनाथ बेजबरुवा, हेमचन्द्र गोस्वामी, चन्द्रकुमार आगरवाला, रजनीकान्त बरदलै आदि थे। इन लोगोने असमियामें रोमांटिक साहित्यकी सृष्टि की और पाश्चात्य साहित्यके अनुकरणमें कविता, निबन्ध, नाटक, कहानी, उपन्यास, जीवनी आदि लिखी। लक्ष्मीनाथ बेजबरुवा बहुमुखी लेखक था। उसने 'असमिया साहित्येर चानेकी' नामसे सात खण्डोंमें असमिया साहित्यका संकलन किया।

कमलाकान्त भट्टाचार्य दार्शनिक कवि था। उसकी 'चिन्तानल' नामक कविता-पुस्तक विचारप्रधान पुस्तक है। हितेश्वर बरुवाने असमियामे पहले-पहल सॉनेट और मुक्तक छन्दमें कविता लिखी। उसने 'कमतापुर ध्वंस', 'विरहिणी विलाप' आदि कई काव्य लिखे। विहगी कवि रघुनाथ चौधारी प्रकृति-कवि है। उसकी कविताकी पुस्तक 'दहिकतरा'

'केते की', 'बहागी' आदि है। दुर्गेश्वर शर्मा दार्शनिक रहस्यवादी कवि है। उसकी 'अंजली', 'निवेदन' आदि कविताकी पुस्तके है। अम्बिका गिरिराय चौधुरी और प्रसन्नलाल चौधुरी विद्रोही कवि हैं। राय चौधुरीका 'तुमि' एक काव्य-ग्रन्थ है। मफिजुद्दीन अहमदने सूफी धर्मसाधनासे प्रभावित होकर कविताएँ की। महिला कवियोंमें धर्मेश्वरी देवी और नलिनीबाला देवी मुख्य हैं। नलिनी देवीकी 'सन्धियार सुर', 'अमुर्तीर्थ' पुस्तके मुख्य हैं। पद्मावती देवीका 'सुधर्मार उपाख्यान' असमियाका पहला उपन्यास है।

शरच्चन्द्र गोस्वामी भी बहुमुखी लेखक थे। उनकी कहानी विशेष रूपसे प्रसिद्ध है। लक्ष्मीधर शर्मा आधुनिक प्रकारका कहानीकार है। लक्ष्मीकान्त फुकनकी 'ओफाइदाङ्', सैयद अब्दुल मलिककी 'रजनी नतुन छोवाली', 'परशमणि' 'मरहापापरि' आदि कहानीकी अच्छी पुस्तकें है। आलोचनाके क्षेत्रमें अम्बिकानाथ बरा, वाणीकान्त काकती, कालीराम मेधी, विरंचि बरुवा, डिम्बेश्वर नेओग प्रमुख हैं। काकतीके 'पुरणि असमिया साहित्य', 'साहित्य प्रेम', 'प्राचीन कामरूपेर वैष्णव साधना', मेधीके 'असमिया व्याकरण', 'अंकीया नाट', बराके 'रुक्मिणीहरणनाट', बरुवाके 'काव्य आरु अभिव्यंजना', 'असमिया भाषा', नेओगके 'असमिया भाषा और साहित्य' खोज और आलोचनापूर्ण ग्रन्थ प्रधान हैं।

असमिया साहित्यके विकासमें पत्र-पत्रिकाओंका बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। इनमें 'अरुणोदइ', 'जोनाकी', 'वाँही', 'आवाहन', 'जयन्ती', 'पछोवा' और 'रामधेनु' प्रधान है। इन पत्रिकाओका काल साहित्यका भी एक काल हो गया है। बीसवीं शताब्दीके तृतीय-चतुर्थ दशकमे 'आवाहन' और 'वाँही'ने और पंचम दशकमें 'जयन्ती' और 'रामधेनु'ने यथेष्ट कार्य किया है। 'रामधेनु'-का प्रभाव आज भी अक्षुण्ण है। 'आवाहन' कालके कहानीलेखकोंमें सैयद अब्दुल मलिक आज भी उत्तरोत्तर विकसित कलमें कहानी लिख रहा है। 'जयन्ती'ने प्रगतिशील कविताको प्रश्रय दिया। प्रगतिशील कविताका प्रारम्भ दूसरे महायुद्ध और बंगालके अकालके समय अमूल्य बरुवाने किया।

(५) स्वाधीनता उत्तरकाल :—नये प्रकारके साहित्य-सर्जनमें 'रामधेनु' काफी सहयोग दे रही है। उसमें ही पहले पहल अंग्रेजी इलियटी कविताके अनुकरणपर असमिया कविता निकलने लगी। आजकी कविताकी इस धाराने असमिया साहित्यमें अपना स्थान बना लिया है। इस प्रकारकी कविताका प्रवर्तक अध्यक्ष हेम बरुवा है। नये कवियोंमें नवकान्त बरुआ, हरिबर काकती, वीरेन्द्र भट्टाचार्य, महेन्द्र बरा, होमेन बरगोहाँइ, वीरेन्द्र बरगोसाँइ मुख्य है। नवकान्त बरुआ इनमें श्रेष्ठ हैं। कहानीके क्षेत्रमें अब्दुल मलिक, वीरेन्द्र भट्टाचार्य, होमेन बरगोहाँइ, योगेशदास, चन्द्रप्रसाद शइकीया आदि आधुनिकतम लेखक हैं। उपन्यास-लेखकोंमें हितेश डेका, तिलकदास, वीरेन्द्र भट्टाचार्य, राधिकामोहन गोस्वामी, प्रफुल्लदत्त गोस्वामी, मुहम्मद पियार मुख्य है। नाटककारोंमें लक्ष्यधर चौधुरी, अतुल हाजरिका, दैव तालुकदार, ज्योतिप्रसाद आगरवाला, नकुलचन्द्र भूञा आदि विशेष रूपसे उल्लेख योग्य है। आलोचनाके क्षेत्रमे सत्येन्द्रनाथ शर्मा, महेश्वर नेओग, श्रीतीर्थनाथ शर्मा, अध्यक्ष हेम बरुआ, प्रफुल्लदत्त गोस्वामी, विरिंचिकुमार बरुआ आदि गिने-चुने है।

प्राचीन कालसे हिन्दी तथा असमी दोनो भाषाओंमें परस्पर आदान-प्रदानका कोई विशेष उल्लेख नही मिलता। केवल कुतुबन और मंझनके काव्योंके कथानकके आधारपर ईसाकी अठारहवी शताब्दीमें उसी नामसे दो काव्योंकी रचना हुई। ब्रजबुलि नामसे एक कृत्रिम भाषामे अवश्य ही वैष्णव साहित्य लिखा गया था। असमके सर्वश्रेष्ठ वैष्णव कवि शंकरदेवकी रचनापर कबीरदासकी अध्यात्म-भावनाका प्रभाव देखा जाता है।

[सहायक ग्रन्थ—असमिया भाषा (असमिया): विरिंचिकुमार बरुवा; असमिया साहित्यकी रूपरेखा (हिन्दी): डॉ० विरिंचिकुमार बरुआ; आसामीज-इट्स फॉरमेशन एण्ड डेवलपमेण्ट (अंग्रेजी): वाणीकान्त काकती।]

—लो० ना० भ०

असुंदर व्यंग्य–गुणीभूत व्यंग्यका एक भेद, जिसमे व्यंग्यार्थ वाच्यार्थकी तुलनामें चमत्कारहीन होता है। 'उस सरसी-सी आभरणरहित सितवसना, सिहरे प्रभु माँको देख हुई जड़ रसना' (साकेत)। इस उदाहरणमें 'आभरणरहित' तथा 'सितवसना' पदों द्वारा कवि कौशल्याके वैधव्यकी व्यंजना करा रहा है, किन्तु रामके सिहरने तथा उनकी रसनाके जड़ होनेके वाच्यार्थ द्वारा व्यक्त वैधव्यका भाव अधिक आकर्षक है।

—उ० शं० शु०

असूया–प्रचलित तैंतीसमें एक संचारी है। भरतके आधारपर (नाट्य०, ७: ३६) विश्वनाथने लिखा है—"असूयान्यगुणर्धीनामौद्धत्यादसहिष्णुता। दोषोद्घोषभ्रूविभेदावज्ञाक्रोधेङ्गितादिकृत्" (सा० द०, ३: १६६)। अर्थात् औद्धत्यके कारण दूसरेकी गुण-समृद्धिको सहन न करनेको असूया कहते हैं। दोषकथन, भ्रुकुटिभंग, तिरस्कार तथा क्रोध आदि चिह्न पाये जाते हैं। हिन्दीके रीतिकालके आचार्योंने इसीके अनुसरणपर लक्षण दिया है—'सहि न सकै सुख औरको यहै असूया जान। क्रोध गर्व दुख दुष्टता ये सुभाव अनुमान" (जगत०, ४८१)।

रामचन्द्र शुक्लने गर्व, लज्जा और असूयाको स्वतन्त्र विषयवाले भाव कहा है। उनके मतानुसार इनके विषय या आलम्बन भावके कारण नहीं है। जिसे हम ईर्ष्या करते है वह हुआ विषय या आलम्बन, उसके गुण, वैभव, श्रीसम्पन्नता आदि गुण हुए कारण। इनमें आलम्बनकी ओर ध्यान न जाकर कारणोकी ओर जाता है। अन्य संचारियोंकी भाँति असूयाको भी संचारी पद तभी प्राप्त होगा जब वह किसी स्थायी भावका पोषक होकर आयेगा। पद्माकरके उदाहरणमें गोपियोंका असूयाभाव व्यंजित है—"आवत उदासी दुख लगै और हाँसी सुनि, दासी उर लाई कहो, को नहिं हहा कियो। कहै पद्माकर हमारे जान ऊधो उन, तातको मातको न भ्रातको कहा कियो। कंकालिनि कूबरी कलंकिनि कुरूप तैसी, चेटकिनि चेरी ताके चित्तको

चढ़ा कियो । राधिकाकी कहवन कहि दीजौ जाइ मोह-नसौं, रसिक सिरोमनि कहाइ धौं कहा कियो" (जगत०, ४८२)। —ब० सिं०

अस्तित्ववाद (existentialism)—यूरोपकी एक अपेक्षाकृत आधुनिक दार्शनिक तथा साहित्यिक चिन्तनपद्धति। अस्तित्ववादी विचारधाराका आरम्भ वस्तुतः दर्शनके ही क्षेत्रमें हुआ। इस सम्प्रदायका उद्गम-स्रोत जर्मन दार्शनिक हसरेल तथा हेडेगर और डेनिश चिन्तक कीर्कगार्ड (१८१३-५५ ई०)की विचार-पद्धतियोंमे देखा जा सकता है। इन विभिन्न चिन्तकोंके मतवादोंका संघटन वर्तमान युगमें फ्रांसमे हुआ, जहाँ अस्तित्ववादको साहित्यिक ख्याति जॉ पॉल सार्त्र (१९०५ ई०)के माध्यमसे १९४३ ई०के आस-पास मिली।

अस्तित्ववादी विचारधारा मानव-जीवनको मूलतः निरर्थक मानती है, तर्कको अक्षम समझकर त्याग देती है तथा परम्परागत ईश्वरमें आस्थाको अस्वीकार करती है। अस्तित्ववाद वस्तुतः धर्मनिरपेक्ष स्तरपर मानव-जीवनके लिए चिन्तित है। वह जीवनको निरुपाय, अवश तथा निरर्थक समझकर उसे एक मानवीय अर्थ तथा मूल्य देनेकी चेष्टा करता है। इसीलिए अस्तित्ववादी दृष्टिमें प्रत्येक क्षणका अतुलनीय महत्त्व है। किसी भी अतियथार्थका अस्तित्व इस व्यवस्थामे स्वीकार्य नहीं। अपनी समग्र अवशतामें मनुष्य ही अस्तित्ववादी चिन्ताका केन्द्रविन्दु है। और इस अवशताको नष्ट करनेके लिए अस्तित्ववाद मानवीय स्वातन्त्र्यका प्रवल समर्थक है।

अस्तित्ववादी चिन्तनका सूत्र-वाक्य है—Existence precedes essence. अर्थात् अस्तित्वकी स्थिति तत्त्वसे पूर्व है। यहाँ तत्त्वसे भाव मनुष्यकी मौलिक प्रकृतिसे है और अस्तित्वका अर्थ उसका कर्मसमूह है, जिससे उसकी जागतिक स्थिति सिद्ध होती है। इस प्रकार अस्तित्ववादी चिन्तनके धरातलपर मनुष्य जीवनके जीवित सन्दर्भमें सोचता है।

विभिन्न विद्वानोंने अस्तित्ववादकी अलग-अलग परिभाषाएँ दी हैं। जूलियन वेन्द्राके अनुसार "अस्तित्ववाद भाव तथा विचारके प्रति जीवनका विद्रोह है"। एमानुएल मौनियरके शब्दोंमें 'भावों तथा वस्तुओंके अतिवादी दर्शनके विरोधमें मानवीय दर्शन' ही अस्तित्ववाद है। सबसे स्पष्ट तथा उपयुक्त परिभाषा ऐलेनकी है। उनके अनुसार अस्तित्ववाद परम्परागत दर्शककी दृष्टि न होकर अभिनेताकी दृष्टि है। इस विचार-पद्धतिमे जीवनकी समस्याओंपर विचार भुक्तभोगियोंकी ओरसे होता है।

अस्तित्ववादी विचारधाराका प्रारम्भ होता है मनुष्यकी अवश तथा निरुपाय स्थितिसे। मानव-जीवनका सबसे बड़ा अभिशाप, सवसे बड़ी चुनौती मृत्यु है। जन्मके साथ मृत्यु अनिवार्य रूपसे सम्बद्ध है। मनुष्य इसके लिए कुछ कर नहीं सकता। और यहीं वह देखता है कि उसे वरण (choose) करनेकी स्वच्छन्दता नहीं है। अतः उसे अत्यन्त कम समयमें अपने व्यक्तिगत जीवनको एक अर्थ देना है।

इस सन्दर्भमें अस्तित्ववादी चिन्तकोंके दो वर्ग हो जाते हैं। एक वर्ग मानव-जीवनको ईश्वरसे संयुक्त करके उसे उसका वास्तविक मूल्य देना चाहता है, जब कि दूसरा वर्ग पूर्णतः निरीश्वरवादी है। कीर्कगार्ड तथा यास्पर्स प्रथम वर्गसे सम्बद्ध हैं। इन्हे प्रायः क्रिश्चियन एक्जिस्टेन्शियलिस्ट कहा जाता है। अस्तित्ववादकी क्रिश्चियन व्याख्या ऐलेनने अपनी पुस्तक 'एक्जिस्टेन्शियलिज्म फ्रॉम विदिन'में बड़े स्पष्ट ढंगसे की है। अस्तित्ववादके निरीश्वरवादी पक्षका प्रतिनिधित्व सार्त्र करते है।

जीवनसे प्रत्यक्षतः सम्बद्ध होनेके कारण अस्तित्ववादका एक राजनीतिक पक्ष भी स्पष्ट रूपसे उभरकर आया है, यद्यपि उसके मुख्य प्रवर्तक सार्त्रका राजनीतिक मत स्वतः बहुत निश्चित नहीं रहा है। अस्तित्ववादकी सैद्धान्तिक राजनीतिका प्रामाणिक विवेचन अल्वर्टकेमुअकी प्रसिद्ध कृति 'ल होमे रिवोल्ते'में हुआ है।

अस्तित्ववादी चिन्तनाकी पृष्ठभूमिमें यूरोपकी युद्धकालीन विभीषिकाएँ है। मानव जीवनकी क्षुद्रताओंको देखकर इन विचारकोंने अपनी लेखनी तथा अपने कर्मोंसे एक आमूल क्रान्ति लानेका प्रण किया। इन लेखकोंमेंसे अधिकांश युवा थे तथा परम्परागत मूल्योंको निष्प्राण समझकर उनके स्थानपर अधिक सशक्त तथा मानवीय मूल्योंकी स्थापना करना चाहते थे। जीवनकी विवशताओंने उत्पन्न हुई निराशा तथा वेदनाने इन्हे आगे बढनेके लिए प्रेरित किया। यह सचमुच एक विचित्र तथ्य है कि इतने कर्मण्य बौद्धिक आन्दोलनको प्रेरित किया अवसाद तथा निराशाने। इतिहासमें इसकी तुलना किसी हदतक बुद्ध दर्शनकी करुणासे की जा सकती है।

अस्तित्ववादी लेखक काल्पनिक साहित्य-सर्जनमें विश्वास नहीं करते। उनकी दृष्टिमें साहित्य जीवनके दैनन्दिन संघर्षोंसे घनिष्ठ रूपसे सम्बद्ध है। मानवमुक्तिमें उसकी अटूट आस्था है। इस साहित्य-चिन्तनका प्रारम्भ सार्त्रसे होता है, जिसका अनुसरण बादमें बहुतसे लेखकोंने किया। इन लेखकोमेंसे वहुतोंने एक ओर तो कृति साहित्यकी रचना की और दूसरी ओर शुद्ध दार्शनिक स्तरपर अस्तित्वादी विचारधाराको स्थापित करनेका प्रयत्न किया।

सार्त्र अपनी उपन्यास-त्रयी, कुछ अत्यन्त उत्कृष्ट नाटकों तथा कहानियोंके लिए कृति साहित्यके क्षेत्रमें प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके है। उनकी ये सभी रचनाएँ मूल फ्रेंचसे अंग्रेजीमें अनुवादित हो चुकी हैं। कलाकी दृष्टिसे सार्त्रके नाटक (इन कैमरा, द फ्लाइज, रेसपेक्टेबल प्रौस्टीट्यूट, लूसीफर एण्ड द लॉर्ड, कीन, इन द मैश) अत्यन्त उत्कृष्ट कोटिके है। अस्तित्ववादी चिन्तनके क्षेत्रमें भी सार्त्रकी कृतियाँ प्रथम पंक्तिमे है। इस सन्दर्भमें उसकी समीक्षात्मक कृतियाँ (ह्वाट इज लिट्रेचर) भी विशेष रूपसे उल्लेखनीय है।

सार्त्रका अनुयायी, परन्तु बादमें उसका बहुत कुछ विरोधी, नोवुल पुरस्कार विजेता फ्रेंच लेखक एल्बर्ट केमुअ (१९१३ ई०) अस्तित्ववादी चिन्तनके क्षेत्रमें सार्त्रके बराबर ही महत्त्व रखता है। उपन्यास तथा नाटकोंका माध्यम उसने कृति साहित्यके क्षेत्रमें अपनाया। इसके अतिरिक्त केमुअने अपनी दार्शनिक विचारधारा अलगसे कई ग्रन्थोंमे

प्रतिपादित की है। उसकी प्रसिद्ध कृति 'ल होमे रिवोल्ते'का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। सार्त्र तथा कैमुअके वाद-विवाद पत्रोंमें बडी रुचिके साथ पढ़े गये थे। 'कम्बैट' नामक पत्रमें समय-समयपर प्रकाशित होनेवाले उसके निबन्ध बुद्धजीवियोंमें अत्यन्त लोकप्रिय हुए हैं।

अस्तित्ववादी वर्गकी एक अन्य प्रसिद्ध लेखिका है सिमोन दे ब्युवोइ। अपने उपन्यास 'ल सां दे ओत्रे' (१९४५ ई०)में उसने समाजके प्रति व्यक्तिके दायित्वका चित्रण किया है। अपनी नाट्यकृतिसे उसने अस्तित्ववादी विचारधाराको सामान्य जनतातक पहुँचाया है।

यहाँ स्मरणीय है कि अस्तित्ववादी चिन्तन कृति साहित्यमें सदैव बहुत सफल अभिव्यक्ति नहीं पा सका है। इस वर्गके कुछ लेखकोंकी रचनाएँ बहुत कुछ वादनिरपेक्ष भी हैं। मूल अस्तित्ववादी चिन्तन तो इन लेखकोंकी समीक्षात्मक कृतियोंमें ही द्रष्टव्य है। प्रायः सभी अस्तित्ववादी लेखक कृति साहित्यकार होनेके साथ-साथ गम्भीर दार्शनिक भी हैं।

हिन्दी साहित्यमें अबतक अस्तित्ववादकी प्रायः चर्चा ही हुई है। इस विचारधाराका कोई उल्लेखनीय प्रभाव हिन्दीमें नहीं दिखाई देता। इसका कारण बहुत स्पष्ट है। हिन्दीमें लगभग सभी यूरोपीय प्रभाव अंग्रेजीके माध्यमसे आये हैं और अस्तित्ववाद अपने सारे महत्त्वके साथ भी अंग्रेजी साहित्यमे गहरे नहीं उतर सका।

हिन्दी साहित्यमें कहीं-कहीं सार्त्रके क्षणकी असीमताकी चर्चा मिल जाती है, वेदनाकी अस्तित्ववादी दृष्टि भी कहीं-कहीं द्रष्टव्य है। इस प्रकारकी चर्चाएँ 'अज्ञेय'के 'नदीके द्वीप'में सुलभ हैं। नयी कविताकी समीक्षाके अन्तर्गत भी क्षणके महत्त्वकी विवेचना कभी-कभी उपलब्ध होती है।

[सहायक ग्रन्थ—सिक्स एक्जिस्टेन्शियलिस्ट थिंकर्स : ब्लैखम; एक्जिस्टेन्शियलिज्म एण्ड ह्यूमैनिज्म : सार्त्र; एक्जिस्टेन्शियलिज्म फ्रॉम विदिन : ऐलेन।] —रा० स्व० च०

अस्थानपदता–दे० 'शब्द-दोष', बारहवाँ वाक्य-दोष।

अस्फुट व्यंग्य–गुणीभूत व्यंग्यका एक भेद, जिसमें व्यंग्यार्थ सहृदय जनों द्वारा भी सरलतासे नहीं समझा जा सकता। "अनदेखे देखन चहैं, देखें बिछुरन भीत। देखें बिन, देखेहु पै, तुमसौ सुख नहिं मीत' (का० कल्प०। पृ० ३१९)। इस दोहेसे यह व्यंग्यार्थ निकलता है कि हे मित्र! आप सदैव समीप ही रहें, किन्तु इस व्यंग्यार्थकी प्रतीति दिमाग खरोचनेपर ही होती है। —उ० शं० शु०

अहंकार–अपनेको देवता समझ लेना वज्रयानी साधनामें अहंकार नामसे अभिहित होता है। अहंकार-पद्धतिमें मन्त्र-जपके उपरान्त साधकमें आवेश जाग्रत होता है। उस आवेशमें देवता साधकके माध्यमसे स्वयंको अभिव्यक्त करता है। काम, क्रोध आदि अनेक आवेश अलंकार-पद्धतिमें आते हैं, जिसे उपशमन करनेके बाद साधक मण्डलमें प्रवेश करता है। —ध० वी० भा०

अहंता १–'अहं'की अनुभूति। 'अहं'के भावके अर्थमें इस शब्दका प्रयोग आधुनिक साहित्यमें होता है। सामान्य भाषामें प्रयुक्त 'अहंकार'से 'अहन्ता'का अर्थ भिन्न है—'अहंकार'मे गर्वका बोध होता है, 'अहन्ता'से केवल 'अहं'के मनोवैज्ञानिक महत्त्वका। —प्री० अ०

अहंता २–संस्कृत शब्द 'अहं' और 'इदं', 'मैं' और 'यह'के वाचक हैं, इस प्रकार अहन्ताका अर्थ है 'मैं-पन' और इदन्ताका अर्थ है 'यह-पन'। पुरुषमें अहन्ता प्रमुख होती है और प्रकृतिमें इदन्ता, अर्थात् पुरुष स्वयंको चेतन और प्रकृतिको चेतनसे भिन्न इदं (=यह) रूपमें सोचता है। सन्तोंने 'मैं'का प्रयोग पुरुषकी इसी इदन्ताके लिए किया है, जो उसके अहंकारकी सूचिका है। मायाके कंचुकों (दे० 'कंचुक')से आच्छादित अहंताप्रधान पुरुषके अहं या मैं-पनके नाशके बाद ही उसे ब्रह्म साक्षात्कार होता है। जब 'मैं' था तब प्रभु नहीं अब प्रभु है 'मैं' नाहि' कहते समय कबीर इसी अहन्ताका व्याख्यान करते हैं। —रा० सिं०

अहम् (ego)–दार्शनिक दृष्टिकोणसे 'अहम्' शब्दका अर्थ व्यावहारिक, अविद्यामें सीमित, अनात्मसे एकीकृत आत्मा है, जो मैं और मेरेकी भावना उत्पन्न करती है। यह अर्थ साहित्यमे वेदान्तदर्शनसे लिया गया है। प्राचीन साहित्यमें, विशेषकर सन्त साहित्यमें, इस शब्दका यही अर्थ मिलता है। **अहंकार** और **ममता** इसी शब्दसे विकसित हुए हैं। किन्तु आधुनिक साहित्यमे इस शब्दका, एक विशिष्ट मनोवैज्ञानिक अर्थमें प्रयोग होता है, जो कि फ्रायडके मनोविश्लेषणपर आधारित है। फ्रायडके मनोविज्ञानमें कामवृत्ति, संघर्ष, दमन और अवरोध महत्त्वपूर्ण हैं। उनके अनुसार संघर्ष आरम्भमें मानसकी दो सतहोंमें होता है, ऊपरी अथवा बाह्य सतह, जो वातावरणके सम्पर्कमें आती है और भीतरी सतह जो इस सम्पर्कमें नहीं आती। पहली सतहको फ्रायड और उनके अनुयायी 'अहम्' संज्ञा देते हैं। **इदम्** या **इडके** विपरीत यह मानसका यथार्थसे समन्वित अंश है, परन्तु इसका विकास 'इड'से ही होता है और इसे हम 'इड'का संघटित भाग मान सकते हैं। अहम् संसार और इडके बीच मध्यस्थका काम करता है, यह 'इड'की मौलिक प्रवृत्तियोंको संसारके यथार्थके अनुरूप और संसारको 'इड'की वासनाओंके अनुकूल बनानेका प्रयास करता है। इस प्रयासमें यह प्रायः 'इड'की वासनाओंका दमन करता है, दमित वासनाएँ 'इड'का ही अंश बन जाती हैं। अहम् अधिकांश रूपमें चेतन माना गया है, लेकिन वासनाओंका दमन और अवरोध अचेतन रूपसे भी होता है, इसलिए अहम् इस प्रक्रियामें अचेतन रूपसे काम करता है। इस प्रकार अहम्के चेतन और अचेतन दोनों पक्ष हैं। अचेतन पक्षमें यह 'इड'में ही विलुप्त-सा रहता है परन्तु इसका काम पूर्णतः भिन्न है। अपनी सुरक्षाकी, वासनाओंकी न्यूनतम संकट झेलकर अधिकतम सुविधाके साथ तृप्त करनेकी चिन्ताएँ अहम्के ही लिए हैं। अर्थात् अहम् मनुष्यके बौद्धिक और व्यावहारिक पक्षका ही नाम है। स्वस्थ मानसिक स्थितिमें 'इड' और 'अहम्' एक-दूसरेके विरोधी नहीं हैं। इनका अत्यधिक विरोध ही मानसिक संघर्षों और व्यक्तित्वकी समस्याओंका कारण होता है। —प्री० अ०

अहंस्थापन–दे० 'मनोविश्लेषण'।

अहिंसा–साम्यवाद (दे०)को अपने आदर्शकी प्राप्तिमे हिंसाके प्रयोगसे परहेज नहीं, वह साध्यकी सिद्धिके लिए हिंसा और अहिंसामेंसे सुविधानुसार किसीका भी वरण कर सकता है। उसके लिए साध्य ही साधनकी कसौटी है। लेकिन गान्धीवाद (दे०) किसी भी अवस्थामे हिंसात्मक क्रान्तिकी अनुमति नहीं दे सकता। हिंसा द्वारा जिस समाज-रचनाका उदय होगा, उसे वह अपना आदर्श माननेसे इनकार करेगा। वह साधनकी पवित्रता किसी भी अवस्थामें नष्ट होते नहीं देख सकता। वह साधनको साध्यकी कसौटी मानता है।

गान्धीवादने संसारमें शायद पहली बार राजनीतिको विश्वजनीन नीति-नियमोंकी आधार-शिलापर प्रतिष्ठित किया है। सत्य और अहिंसाको वह जटिलसे जटिल परिस्थितिमे भी त्यागनेकी अनुज्ञा नहीं देता। वह सत्य और अहिंसाकी रक्षामें बड़ी-से-बड़ी राजनीतिक लब्धिको ठुकरा सकता है। उसके लिए अहिंसा सामयिक नीतिमात्र नहीं, वल्कि देश, काल, परिस्थितिसे अनवच्छिन्न, अटल सिद्धान्त है। —ह० ना०

अहीर–मात्रिक सम छन्दका एक भेद। 'प्राकृतपैंगलम्'–(१:१७७)के अनुसार इसका लक्षण है—११ मात्राका सम छन्द, जिसके अन्तमे जगण (ISI)का प्रयोग होता है। सम्भवतः यह छन्द प्राकृत अपभ्रंशकालसे प्रचलित रहा है। इसका उल्लेख भिखारीदासने 'छन्दार्णवपिंगल' (पृ० १८)मे किया है। इसका प्रयोग केशव (रा० चं०) तथा सूदन-(सु० च०)ने किया है। उदा०—"सुरभित मन्द बयार, सरसे सुमन सुडार। गूँज रहे मधुकार, धन्य वसन्त बहार" (रा० चं०)।

अहेरी–विषयासक्त मनके लिए मृगकी उपमा भारतीय धर्म-साधनाओंमें बहुत पहलेसे ग्रहण की जाती रही है। सिद्धोंने भी 'अपणा माँसे हरिणा वैरी ('चर्यापद' ६) लिखा है। कबीर भी खेत खानेवाले मृगका उल्लेख करते हैं। इसी मृगको मारनेके लिए अहेरीकी या पारधीकी आवश्यकता पड़ती है—'सन्तनि एक अहेरी लावा, मिरगनि खेत सवन्हिका खावा' (क० ग्र०)। इसी अहेरीका संकेत भुसुकु पाने किया है—"जाइ तुम्हे भुसुकु अहेरी जाइबो"—('चर्यापद' २३)। साधक ही वास्तवमे अहेरी है। वह अहेरी गुरु-वचनरूपी बाणका प्रयोग करता है। "गुरु वाक् पुंछिया बिन्ध निअमण बाणे" ('चर्यापद' २८) या "गुरुके बाण बजर कल छेदी प्रगटिया पदु परगासा" ('सन्त कबीर' : रामकुमार वर्मा)। इसी मृगका मांस वास्तवमें ज्ञान है, जिसका भक्षण अत्यन्त आवश्यक है—"हण विणु मास भुसुकु नलिनिवन पइसहिलि"—('चर्यापद' ३३) या "सावज न होय भाई सावज न होय। वाकौ मांस भखै सब-कोय" ('बीजक' : कबीर)। —ध० वी० भा०

आँगन–आँगनका अर्थ चर्यापदोंमें उष्णीष कमल है—'आँगन घरपण सुन भो बिआती'—('चर्यापद' २)। कबीरने आँगनका प्रयोग अन्तःकरणके अर्थमे किया है—"उठि अलबेली नार झाडू दियो अँगना"—(क० ग्र०)। —उ० शं० शा०

आंचलिकता–आंचलिक शब्द प्रायः उपन्यास-लेखनके प्रसंगमे प्रयुक्त होता है; यद्यपि कहानी, काव्यादि अन्य विधाएँ भी इससे अछूती नहीं है। आंचलिक रचनाओंमे कोई विशिष्ट अंचल व क्षेत्र या उसका कोई एक भाग व गाँव ही प्रतिपाद्य व विवेच्य होता है। इस प्रकार उपन्यासका कथा-क्षेत्र अत्यधिक सीमित हो जाता है। आंचलिकताकी सिद्धिके लिए स्थानीय दृश्यो, प्रकृति, जलवायु, त्यौहार, लोकगीत, बातचीतका विशिष्ट ढंग, मुहावरे-लोकोक्तियाँ, भाषा व उच्चारणकी विकृतियाँ, लोगोंकी स्वभावगत व व्यवहारगत विशेषताएँ, उनका अपना रोमांस, नैतिक मान्यताएँ आदिका समावेश बड़ी सतर्कता और सावधानीसे किया जाना अपेक्षित है। आंचलिक रचना भले ही सीमित क्षेत्रसे सम्बद्ध हो, पर प्रभावकी दृष्टिसे वह सार्वजनीन हो सकती है, बशर्ते उसका स्रष्टा वैसी प्राणवत्ता व अतल-स्पर्शी सूक्ष्म-दृष्टि रखता हो तथा उसके विचारोंमे गरिमा और कलामें सौष्ठव हो।

आंचलिक उपन्यास-लेखनके लिए भारतमें पर्याप्त सामग्री, सुविधा व अवकाश है क्योंकि इस देशमे अनेक जातियाँ, धर्म तथा विभिन्न जीवन-शैलियाँ एव भाषाएँ तथा विभाषाएँ है। भारतके सामाजिक जीवनमें पर्याप्त वैविध्य है, भले ही संस्कृतिका मूलाधार सर्वत्र लगभग समान हो। यह सामाजिक वैविध्य उसकी विशालता, भौगोलिक स्थिति और प्राकृतिक परिवेशके फलस्वरूप है। वैसे तो सभी देशोंमें यह वैविध्य मिलता है: यथा ग्रेट ब्रिटेन जैसे छोटे-से देश तकमे यह विविधता देखी जा सकती है—इंग्लैण्ड, स्कॉटलैण्ड और वेल्सकी जीवन-पद्धतियोंमे। पर भारतीय प्रदेश एवं समाज इस दृष्टिसे अद्वितीय है।

अंग्रेजीमें टामस हार्डी, शार्लट ब्रौन्टि, जॉर्ज इलियट और आर्नेल्ड बेनेट प्रसिद्ध आंचलिक उपन्यासकार हैं। हिन्दीमे भी इधर आंचलिकताकी प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ रही है। वृन्दावनलाल वर्माकी कृतियोंमें जो स्थानीय वातावरण (local colour) मिलता है, वह आंचलिक प्रवृत्तिका ही द्योतक है। दरभंगा जनपदको लक्ष्य करके लिखे गये नागार्जुनके 'रतिनाथकी चाची,' 'बलचनमा', 'नई पौध', 'बाबा बटेसरनाथ' तथा पूर्णियाके एक हिस्सेके एक गाँवको पिछड़े गाँवोका प्रतीक मानकर लिखा गया फणीश्वरनाथ 'रेणु'का 'मैला आँचल' हिन्दीके विशिष्ट आंचलिक उपन्यास हैं। —म० भ०

आकाश–आकाशको उपलक्षित करके "देहस्थ छः चक्रों (दे० चक्र), सोलह आधारों (दे० आधार)' दो लक्ष्यो (दे० लक्ष्य)के साथ ही पाँच आकाशोंकी जानकारीके बिना योगी सिद्धि पा ही नहीं सकता", ऐसा गोरखनाथका मत है (दे० 'गोरक्ष पद्धति', पृ० १२)। इन पाँच आकाशोंके नाम है—आकाश, प्रकाश, महाकाश, तत्त्वाकाश और सूर्याकाश। 'आकाश' श्वेतवर्ण ज्योतिरूप है, उसके भीतर 'प्रकाश' है, जो रक्तवर्ण ज्योतिरूप है, इसके भी भीतर धूम्रवर्ण ज्योतिरूप महाकाश है, महाकाशके भीतर नीलवर्ण ज्योतिरूप 'तत्त्वाकाश' है और इसके भी भीतर विद्युत्के वर्णवाला ज्योतिस्वरूप 'सूर्याकाश' है। ये ही पाँच आकाश है, जिनकी जानकारी हठयोगीके लिए अनिवार्य बताई गयी है। —रा० सिं०

आकाशभाषित–जहाँ रंगमंचपर कोई पात्र 'क्या कहते हो' इस तरह कहता हुआ दूसरे पात्रके बिना ही, बातचीत करे, वह 'आकाशभाषित' होता है। —व० सिं०

आकाशमंडल–दे० 'हठयोग'।

आक्रामित–दे० 'प्रौढ़ा' नायिका।

आक्षेप–सादृश्यगर्भके गम्यौपम्यांश्रय वर्गका प्राचीनोंसे स्वीकृत चला आनेवाला अर्थालंकार। इस प्रसंगमें इसका अर्थ निषेध है। भामह तथा उद्भट द्वारा प्रस्तुत लक्षणमें निषेधका भाव स्पष्ट रूपसे विद्यमान है—"प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया। आक्षेप इति तं सन्तः शंसन्ति कवयः सदा" (का० सा० सं०, :२:२)। अर्थात् कवियोंकी एक ऐसी भी वैचित्र्यपूर्ण उक्ति है, जिसमें इष्टार्थ एक ऐसे निषेधके व्याजसे वर्णित किया जाता है कि निषेध होनेपर भी अन्तमे विधिरूपमे परिणत हो जाया करता है। इसीके आधारपर मम्मटने व्याख्या की है—'जिसमे किसी बातकी विवक्षाकी दृष्टिसे उस विषयका वर्णन निषिद्ध किया जाय तो प्राकरणिक होनेके कारण वर्णनके योग्य हो (का० प्र०, १० : १०६, १०७)। 'काव्यप्रकाश'मे इसके दो भेद—वक्ष्यमाण तथा उक्तिविषयक आक्षेप माने गये है। वृत्तिमे मम्मटने निषेधको वास्तवमें निषेधाभास कहा है। विश्वनाथने इसी शब्दका प्रयोग अपने लक्षणमे किया है। 'कुवलयानन्द'में इसके तीन भेद माने गये है। इसमे चार तत्त्व स्वीकृत हैं—(१) कुछ विशेष कथन, (२) व्यक्त निषेध, (३) प्रतिषेध परिस्थितियोंके कारण वस्तुतः अव्यावहारिक पर स्पष्ट तथा (४) विशेष अर्थके प्रतिपादनका प्रयत्न (अलं० स०, पृ० ११७)। अप्पय दीक्षित आदिका तीसरा आक्षेप निषेधाभास है। हिन्दीके आचार्योंने प्रायः इन्हींका आधार लिया है। वस्तुतः इस अलंकारका निषेध आभासके रूपमें ही होता है, क्योंकि वास्तविक होनेपर आलंकारिक चमत्कार नही रह जायगा।

प्रथम—"जहाँ कहीं निज बातकौं समुझि करत प्रतिषेध" (ल० ल०, १८७), अथवा "करब निषेध सुउक्तिको, यहै प्रथम आक्षेप" (पद्मा०, १३२)। दासने इसीको तीसरा भेद माना है 'निज कथनकौ दूषन भूषन' (का० नि०, १२)। इसमे अपने कथित अर्थका उत्कर्षसूचक निषेध किया जाता है—"तुव मुख बिमल प्रसन्न अति, रह्यौ कमल सौ फूलि। नहिं नहि पूरन चन्द सौ, कमल कह्यौ मैं भूलि" (वही), अथवा—"सोनेके भूषण अंग रचौ मतिराम सबै बस कीबेकी घातें। यौ ही चलै न सिंगार सुभावहि मैं सखि भूलि कही सब बातैं" (ल० ल०, १८८)। यहाँ निषेध करके 'पूरन चन्द' तथा 'सिंगार सुभावहि' कहा गया है।

द्वितीय—"जहाँ न साँच निषेध है। है निषेध आभास" (ल० ल०, १८९), अथवा—"झूठ निषेध आक्षेप भन, वहै निषेधाभास" (पद्मा०, १३३)। दासका यह दूसरा ही आक्षेप है। इसमें विवक्षितार्थका वास्तविक निषेध न होकर निषेधका आभासमात्र होता है—"आज ते नेहकौ नातौ गयौ तुम नेम गह्यौ हौं हू नेम गहौंगी" (का० नि०, १२), अथवा—"हौं न कहत तुम जानिहौ, लाल बालकी बात। अँसुवा उड़गन परत हैं, होन चहत उतपात" (ल० ल०, १९०)। यहाँ मुख्य बातका निषेध न होकर मा[त्र] आभास है।

तृतीय—'जहँ विधि प्रगट बखानिये, छप्यौ निषे[ध] प्रकास" (ल० ल०, १९१), अथवा—'सु आछेप जहँ बिधि प्रगट, दुरचो निषेध बखान" (पद्मा०, १३४)। दासने इसे प्रथम भेद माना है। इस व्यक्ताक्षेपमें अनिष्ट अर्थकी ऐसी विधि होती है, जो निषेधके तात्पर्यसे गर्भित होती है—"कान्ह पयान करौ तुम्ह ता दिना मोहि लै देब नदी अन्हवावै" (का० नि०, १२), अथवा—'कोपनितै किसलय जबै, होंहि कलिनतै कौल। तब चलाइये चलनकी, चरचा नायक नौल" (ल० ल०, १९३)। यहाँ अनिष्ट-कथनकी स्वीकृतिमें निषेध गर्भित है। —र०

आख्यान–[आ+ख्या+ल्युट् (अन) भावे] (क) सामान्य अर्थ—(१) कथन, निवेदन, उक्ति, (२) कथा, कहानी, (३) प्रतिवचन, उत्तर (यथा 'अनन्त्यस्यापि प्रश्नाख्यानयोः', 'अष्टाध्यायी' ८।२।१०५ में); (ख) विशेष अर्थ—(१) भेदक धर्म [इस अर्थमे उपर्युक्त 'ल्युट्' प्रत्यय 'भाव' (क्रियापदसे प्रकट होनेवाला कर्म) अर्थ न होकर 'करण' अर्थमे गृहीत होगा, एवं 'आख्यायते अनेनेति आख्यानम्' यह व्युत्पत्ति होगी]। इस शब्दका इस अर्थमें प्रयोग 'लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः' ('अष्टाध्यायी' १।४।९०) हुआ है (द्रि० तारानाथकृत 'वाचस्पत्यम्' नामक कोश)। (२) पुरावृत्तकथन ('आख्यानं पूर्ववृत्तोक्तिः' सा० द०)—ऐतिहासिक कहानी, पौराणिक कथा। वेदोंमें आये हुए ऐसे ही आख्यानोंका संग्रह 'पुराणसंहिता' नामसे अथर्ववेद आदिमे उल्लिखित है जैसे, सुपर्ण और पुरूरवा इत्यादिके आख्यान ऋग्वेदमे मिलते हैं। मनुस्मृति, तृतीय अध्यायमें पितृश्राद्धके अवसरपर किये जानेवाले कर्मोंके विवरणमें 'स्वाध्यायः श्रावयेत् पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि। आख्यानानीतिहासांश्च पुराणानि खिलानि च (मनु०, ३ : २३२) लिखा है, जिसपर व्याख्यान लिखते हुए कुल्लूक भट्टने 'मन्वर्थमुक्तावली'में 'आख्यानानि सौपर्णमैत्रावरुणादीनि' लिखा है। (३) 'महाभारत' इत्यादि इतिहास ग्रन्थ। अनेक आख्यानों एवं उपाख्यानोंका 'जय' नामक इतिहास ग्रन्थ (वर्तमान 'महाभारत'के मूल रूप)मे संग्रह होनेके कारण ही परिवर्धित महाभारतको आख्यान-काव्यका नाम प्राप्त हुआ होगा। (४) इन 'महाभारत' आदि आर्ष काव्योंके सर्ग। इस अर्थके प्रामाण्यमें तारानाथने स्वकृत 'वाचस्पत्यम्'मे निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—"नामास्य सर्गोपादेय कथया सर्गनाम तु। अस्मिन्नार्षे पुनः सर्गा भवन्त्याख्यानसंज्ञकाः॥" और इनका उदाहरण देते हुए "यथा भारते रामोपाख्यानं, नलोपाख्यानमित्यादि" लिखा है। (ग) हिन्दीमें यह शब्द प्रायः प्राचीन कथानक या वृत्तान्तके ही अर्थमें प्रयुक्त होता है। (घ) पर्याय—कथा, कथानक, आख्यायिका, वृत्तान्त इत्यादि। (ङ) व्यापक अर्थ—कहानी, कथा और इसी अर्थमें उपर्युक्त पर्याय दिये गये हैं। इसका सीमित अर्थ है ऐतिहासिक कथानक, पूर्ववृत्त-कथन। —आ० प्र० मि०

आख्यानक गीत–दे० 'लोकगाथा'और 'साहित्यिक-गाथा'।

आख्यायिका–[आ+ख्या+ण्वुल्]। (क) साधारण अर्थ (१) कहानी, वृत्तान्त, किस्सा। (ख) विशेष अर्थ—संस्कृत

गद्य-काव्योंके दो प्रकारोंमेंसे एक। इसका लक्षण 'अमरकोश'-में 'आख्यायिकोपलब्धार्था' (१।६।५), अर्थात् जिसका विषय ज्ञात या सत्य हो, ऐसा किया गया है। दूसरा प्रकार 'कथा' कहलाता है, जिसका लक्षण 'अमरकोश'में 'प्रबन्ध-कथा' (१।६।६), अर्थात् जिसका विषय काल्पनिक हो, सत्य जिसमें अल्प ही हो, ऐसा किया गया है। गद्य-काव्यके इन दोनों प्रकारोंके उदाहरण क्रमशः 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' माने जाते हैं। 'साहित्यदर्पण' आदि परवर्ती साहित्य-शास्त्रोंमें प्राप्त होनेवाले लक्षण इन्हीं दोनों काव्यों-की रचना-शैलीको दृष्टिमें रखकर दिये गये हैं। 'साहित्य-दर्पण'में आख्यायिकाका लक्षण इस प्रकार किया गया है "आख्यायिका कथावत् स्यात् कवेर्वंशादिकीर्तनम्। अस्या-मन्यकवीनाञ्च वृत्तं पद्यं कचित् कचित्॥ कथांशानां व्यवच्छेद आश्वास इति बध्यते। आर्यावक्त्रापवक्त्राणां छन्दसा येन केनचित्॥ अन्यापदेशेनाश्वासमुखे भाव्यर्थसूचनम्॥" कथा-का लक्षण इस प्रकार किया गया है "कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम्। क्वचिदत्र भवेदार्या क्वचिद् वक्त्राप-वक्त्रके। आदौ पद्यैर्नमस्कारः खलादेर्वृत्तकीर्तनम्॥" परन्तु पूर्ववर्ती आचार्य दण्डी (छठी या सातवीं शताब्दी)ने इन दोनोंको एक ही माना है, केवल नामतः भिन्न बताया है 'तत्कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयांकिता' (काव्यादर्श, १ : २८)। इतना ही नहीं, 'हर्षचरित' तथा 'कादम्बरी' जैसे गद्य-काव्य तथा 'पञ्चतन्त्र', 'हितोपदेश' इत्यादि गद्य-पद्यात्मक कहानियोंके संग्रहोंमें भी काव्यादर्शकार कोई भेद करते नहीं जान पड़ते। उन्होंने शैलीकी दृष्टिसे गद्य वाङ्मय-के वृत्तगन्ध, उत्कलिकाप्राय, चूर्णक आदि चार भेद करके इन्हींके अन्तर्गत अन्य समस्त गद्यात्मक ग्रन्थोंको मान लिया है। 'अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषा आख्यानजातयः'। (ग) हिन्दीमे यह शब्द 'कहानी' या कथाके ही अर्थमें प्रयुक्त होता है। (घ) व्यापक अर्थ—कहानी या वृत्तान्त, सीमित अर्थ संस्कृत गद्य-काव्यका एक भेद (दे० 'आख्यान')। —आ० प्र० मि०

आगतपतिका (नायिका)–अवस्थानुसार नायिकाओंके विभाजनका एक भेद; विशेषके लिए दे०—'नायिका-भेद'। यह वस्तुतः हिन्दीके आचार्योंका अपना भेद है; कृपारामने इसे स्वागतपतिका कहा है। सूर तथा रहीमने आगतपतिका-को स्वीकार किया है। मतिरामके अनुसार 'जा तियको परदेस तें आयो' प्रिय हो, उसे आगतपतिका कहते हैं। पर पद्माकरने इसमें हर्षित होना और जोड़ दिया है—इस प्रकार अपने प्रियके आगमनपर प्रसन्न होनेवाली नायिका। नायिकाकी इस अवस्थाके अन्तर्गत स्वकीयाके मुग्धादिक भेद, परकीया तथा सामान्या सभीको स्वीकार किया गया है। मुग्धा आगतपतिका अपने मनके उल्लासको अभिव्यक्त करनेमें संकुचित है—"बहुत दिवसपर पियवा आयउ आज। पुलकित नवल दुलहिया कर गृह काज" (रहीम : बरवै, ३६)। साथ ही मनके आवेगके कारण वह अस्थिर है—"भीतर भौनके द्वार खरी सुकुमारि तिया तन कंप बिसेखै। घूँघटको पट ओट दिये पट ओट किये पियको मुख देखै" (मतिराम : रसराज, २१७)। मध्याकी लज्जा और प्रेमका आवेग इस आगतपतिकामें समान रूपसे देखा जा सकता है—"आय गये मतिराम जबै तबै देखन नैन अनन्द गये रत। भौनके भीतर भाजि गयी हँसिकै हरुवै हरिको फिरि हेरत" (वही : वही, २१९)। प्रौढा आगतपतिकामें निस्सं-कोच भावका उल्लास है—"आवत सुनत तिरियवा उठि हर-खाय। तलफत मनहुँ मछरिया जनु जल पाय" (रहीम : बरवै, ६८)। परकीया आगतपतिकाके रूपमें मिलनके लिए उत्सुक दिखाई पड़ती है—"पूछति चली खबरिया मितवा तीर। हरखित अतिहि तिरियवा पहिरत चीर" (वही : वही, ६९)। सामान्या मिलनके लिए उत्सुकतामें भी यह नहीं भूलती कि प्रिय क्या लाये हैं—"वे आये ल्याये कहा यह देखनके काज। सखिन पठावति ससिमुखी सजत आपनो साज" (पद्माकर : जगद्विनोद, १ : २६८)। रीतिकालके काव्यमें नायिकाके आवेग, उल्लास तथा मिलनोत्कण्ठाका चित्रण इस नायिकाके रूपमें हुआ है तथा इसके अन्तर्गत आलंकारिक चमत्कृत वर्णनोंको भी अवसर मिला है। —र०

आचार–आचारोंकी संख्या भिन्न-भिन्न बतायी जाती है। चार, छः, सात, आठ एवं नौ आचारोंका उल्लेख मिलता है। मूलतः यह संख्याभेद एक ही आचारके विभिन्न भेद-प्रभेदोंके कारण है। 'कुलार्णव' एव 'ज्ञानदीप' तन्त्रोंके अनु-सार आचार सात हैं—वैदिकाचार, वैष्णवाचार, शैवा-चार, दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धान्ताचार और कौलाचार। सच्चिदानन्द स्वामीने 'तन्त्र-रहस्य'में इन सातके साथ दो और आचारोंका उल्लेख किया है—अघोराचार एवं योगाचार। प्रथम सात आचारोंमें भी उत्तरत एक आचार और बताया गया है—स्वेच्छाचार। स्पष्ट है कि प्रथम सात आचार मूल हैं। इनमेंसे प्रथम चार अर्थात् वैदिकाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार एवं दक्षिणाचार-को पश्वाचार और शेष तीनको वामाचार कहा गया है। तन्त्रोंमें वैदिक या वेदाचारको सबसे नीचा और कौलाचार-को सबसे ऊँचा बताया गया है (कुलार्णव तन्त्र : २)। 'विश्व-सार तन्त्र'के २४वें पटलमें इस बातको पूरे विस्तारसे बताया गया है। संक्षेपमें इतना समझ लिया जा सकता है कि वेदाचारमें वेदविहित कर्मों—यज्ञ-यागका आचरण, ऋतुकालके अतिरिक्त पत्नीके साथ सहगमन न करना, पर्वके समय मत्स्य-मांस न खाना और रात्रिमें देवताकी उपासना आवश्यक है। वैष्णवाचारमें निरामिष भोजन, व्रत-उपवास, स्त्री-सम्भोगका पूर्ण त्याग एवं विष्णुकी पूजा विहित है। शैवाचारमें जीवहिंसाका पूर्ण त्याग एवं शिव-की उपासनाका विधान है। दक्षिणाचारमें भाँग खाकर परमेश्वरका ध्यान करनेका विधान है। रात्रिमें मन्त्र जप, महाशंख या नरास्थिकी माला और कभी-कभी शक्ति-पीठ इसके लिए आवश्यक है। इन चारोंको पशुभावके साधकके लिए विहित माना गया है, अतः पश्वाचार कहलाते हैं। पाँचवा वामाचार है। इसमें दिनमें ब्रह्मचारीकी तरह रह-कर रातमें पंचमकारोंसे पूजा करनी चाहिए। चूँकि इसको गुप्त न रखने से मिली हुई सिद्धि भी समाप्त हो जाती है, अतः इसे गोप्य माना जाता है। इसके बाद सिद्धान्ताचार आता है। वेदों, शास्त्रों एवं पुराणोंमें जो बुद्धि (ज्ञानराशि, बोधि) काष्ठमें अग्निकी तरह छिपी हुई होती है, सिद्धान्ता-चारी उसे जान लेता है, पशुसुलभ भयकी भावनासे मुक्त

होता है, सत्यके प्रति निष्ठावान् रहकर वह खुले आम पंचतत्त्व (दे० 'पंचमकार')का सेवन कर सकता है। 'नित्यतन्त्र'में बताया गया है कि नरकपालका पात्र एवं रुद्राक्षकी माला धारण करनेवाला सिद्धान्ताचारी साक्षात् भैरवकी तरह धरती पर घूमता फिरता है। अन्तिम कौलाचार है। इसका ध्यान साधकको स्वयं शिव बना देता है। जैसे, हाथीके पैरमें सभी जानवरोंके पैर समा जाते हैं, उसी तरह इसमें सभी आचार आ जाते है। यहाँ आकर सारे बन्धन, सारे विधि-निषेध समाप्त हो जाते है। कौल स्वयं अपना गुरु और स्वयं सदाशिव होता है। उससे बडा कोई होता ही नहीं। कौल भी तीन प्रकारके होते है—प्राकृत कौल, कौल और उत्तम कौल। यही प्रमुख सात आचार हैं। यहाँ तक पहुँचकर साधकको पूर्ण ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जाता है। तन्त्रोंका मत है कि इसके बाद साधक आचारोंसे ऊपर उठ जाता है। यहाँ उसकी अपनी इच्छा ही सबसे बडा आचार है। तन्त्र इसीको स्वेच्छाचार कहते है। ऐसा साधक, जो कुछ भी करे-धरे सभी पवित्र है। खान, पान एवं मैथुन किसीके लिए कोई विधि-विधान नहीं। सच्चिदानन्द स्वामीके 'तन्त्र रहस्य'का हवाला देकर हमने ऊपर संकेत किया है कि वे अघोराचार एवं योगाचार नामक दो और आचार मानते है और इन्हें वामाचारके बाद तथा सिद्धान्ताचार एवं कौलाचारके पहलेकी अवस्था बताते है।

आचारोंको दो प्रमुख वर्गोंमे भी बाँटा जाता है—दक्षिणाचार एवं वामाचार। दक्षिणाचारके अन्तर्गत वैदिक, वैष्णव, शैव एवं स्वयं दक्षिणाचार भी रखे जाते हैं तथा वामाचारमें वामाचार, सिद्धान्ताचार और कौलाचार। वैदिक, वैष्णव एवं शैवाचारोंको दक्षिणाचारके अन्तर्गत रखनेका अर्थ यही है कि ये दक्षिणाचारकी उपलब्धिमें सोपानोंका काम देते है। ये चारों प्रवृत्तिमार्गी आचार है। शेष उत्तरवर्ती तीन आचारोंका वामाचार नाम थोड़ा भ्रामक है। चूँकि इस आचारमें लतासाधना (दे० 'लतासाधना') स्त्रीके जैसी साथ चलनेवाली साधनाएँ गृहीत है, अतः इसे वामा (स्त्री) आचार कहते है। कुछ लोग 'वाम'का अर्थ उलटा या विपरीत करके इसे उलटा आचार रूपमें समझना-समझाना चाहते है। तन्त्रोंमे वामाचारको निवृत्तिमार्गी बताया गया है, जब कि दक्षिणाचार प्रवृत्तिमार्गी है, अतः उससे उलटा पड़ता भी है। कुछ लोग कहते हैं कि चूँकि इस आचारकी आराध्या देवी शिवके वामांकमें विराजती हैं, अतः यह वामाचार कहा जाता है। सर जान वुडरफका तर्क है कि वामाचार नाम स्वयं साधकों द्वारा दिया गया है, अतः विपरीत, उलटा, स्त्रीके जैसा साथ चलनेवाला आदि कहकर वे अपनेको नीचा प्रमाणित करना कदापि न चाहेंगे। सम्भवतः वे इसे वामाचार इसलिए कहते हों कि यह दक्षिणाचारका परिपंथी है।

कुछ विदेशी विद्वानोंने वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार जैसे नामोंके आधारपर इन आचारोंको विभिन्न सम्प्रदायोंका सूचक मान लिया है, जो ठीक नहीं है। उक्त सभी आचार कौलाचारके विभिन्न स्तर या सोपान हैं और हर साधक विभिन्न स्थितियोंमें इन सभीसे होकर निकलता है। —रा० सिं०

आज्ञाचक्र–दे० 'हठयोग'।

आत्मकथा–आत्मकथा लेखकके अपने जीवनसे सम्बद्ध वर्णन है। आत्मकथाके द्वारा अपने बीते हुए जीवनका सिंहावलोकन और एक व्यापक पृष्ठभूमिमें अपने जीवनका महत्त्व दिखलाया जाना सम्भव है।

डायरी, जर्नल, संस्मरण, पत्र (दे०) आदि रचना-प्रकार भी आत्मकथाके ही स्फुट रूप है। इन्हें व्यक्तिगत प्रकाशन—पर्सनल रिवेलेशन—वाले साहित्यके अन्तर्गत रखा जा सकता है, क्योंकि जाने-अनजाने आत्मांकन करना ही इन विविध रचना-प्रकारोंका उद्देश्य होता है। जीवन-चरित्र, आत्मकथासे, इस अर्थमें भिन्न है कि किसी व्यक्ति द्वारा लिखी गयी किसी अन्य व्यक्तिकी जीवनी जीवन-चरित्र है और किसी व्यक्ति द्वारा लिखी गयी स्वयं अपनी जीवनी आत्मकथा। आत्मचरित और आत्मचरित्र हिन्दीमें आत्मकथाके अर्थमें प्रयुक्त प्रारम्भिक शब्द है और तत्त्वतः आत्मकथासे भिन्न नहीं है। एक सूक्ष्म अन्तर कदाचित् यह है कि आत्मचरित कहलानेवाली रचना किंचित् विश्लेषणात्मक और विवेकप्रधान होती थी और अब आत्मकथा कही जानेवाली कृति अपेक्षया अधिक रोचक और सुपाठ्य होती है। आपबीती, अपने साथ बीती हुई, सामान्यतः, किसी अ-सुखद घटनाका वर्णन है। '…की रामकहानी' और '…की कहानी, उसीकी जवानी' शीर्षकसे लिखी गयी रचनाओंकी शैली तो आत्मकथाकी होती है, पर वे किसी अन्यके जीवनपर प्रकाश डालती है। वास्तवमें, ऐसी रचनाएँ प्रथमपुरुष सर्वनाममें लिखित जीवनियाँ है और उचित यह है कि इन्हे आत्मकथा या जीवनी शैलीमें लिखी गयी स्फुट गद्य-रचनाओंकी संज्ञा दी जाय। आत्मकथा, जीवनी या पत्र-शैलीमें निबन्ध भी लिखे जा सकते है और कहानी-उपन्यास भी, पर स्वतन्त्र विधाकी दृष्टिसे आत्मकथा आदि रूपोका साहित्यमें अपना अलग स्थान है।

आत्मकथात्मक साहित्य क्यों लिखा जाता है, यह बड़ा संगत प्रश्न है। सोचनेपर दो भिन्न दृष्टिकोण लक्षित होते है। एक प्रकारके आत्मकथात्मक साहित्यका उद्देश्य होता है—आत्म-निर्माण, आत्म-परीक्षण या आत्म-समर्थन, अतीतकी स्मृतियोको पुनर्जीवित करनेका मोह या जटिल विश्वके उलझावोंमें अपने आपको अन्वेषित करनेका सात्त्विक प्रयास। इस प्रकारके आत्मकथात्मक साहित्यके पाठकोंमें सर्वप्रमुख स्वतः लेखक होता है, जो आत्मांकन द्वारा आत्मपरिष्कार एवं आत्मोन्नति करना चाहता है। आत्म-सम्बन्धी साहित्य लिखनेका एक दूसरा उद्देश्य यह भी है कि लेखकके अनुभवोंका लाभ अन्य लोग उठा सकें। महान् ऐतिहासिक आन्दोलनों और घटनाओंके सम्पर्कमें रहनेसे डायरी, संस्मरण या आत्मकथा-लेखकको यह आशा होना स्वाभाविक है कि आगामी युगोंमें उसकी रचना उसके युग तथा समयके प्रमाणरूपमें पढ़ी जायगी। यदि धर्म, राजनीति अथवा साहित्यके इतिहास-निर्माणमें किसी व्यक्तिका महत्त्वपूर्ण हाथ रहा हो तो अवश्य ही पाठक उस व्यक्तिके बारेमें स्वयं उसकी लिखी बातोंको पढ़ना पसन्द करेंगे। इन दोनों स्वतःसिद्ध उपयोगोंके अतिरिक्त आत्मकथा-लेखनके मूलमे कलात्मक अभिव्यक्तिकी प्रेरणा भी हो सकती है और अपनी

पद-मर्यादा अथवा ख्यातिसे लाभ उठानेकी शुद्ध व्यावसायिक इच्छा भी।

जैन कवि बनारसीदासकी 'अर्धकथा' हिन्दीकी प्रथम आत्मकथाओंमे गिनी जाती है। हिन्दीके प्राचीन साहित्यमें आत्मकथात्मक सामग्री भी यत्र-तत्र ही मिलती है, सुनिश्चित और व्यवस्थित आत्मकथाओंके लिखे जानेका तो, खैर, प्रचलन ही न था। आधुनिक युगमे, साहित्यके अन्य गद्यरूपोंके साथ, आत्मकथाकी ओर भी लेखकोंका ध्यान गया। स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने 'कुछ आपबीती, कुछ जगबीती' नामसे आत्मकथा लिखना प्रारम्भ किया था। जितना अंश वे लिख सके, उसमे उन्होंने जवानीके वातावरण और मुफ्तखोरे सिफारिशी मुसाहिबोंका बहुत सजीव चित्र खींचा है। स्वामी दयानन्दने पूनाके व्याख्यानोंके अन्तर्गत अपने जीवनसे सम्बद्ध विवरण दिये थे। सन् १९०१ ई०में अम्बिकादत्त व्यासने 'निजवृत्तान्त' नामक आत्मकथा लिखी। स्वामी श्रद्धानन्दकी आत्मकथा 'कल्याण पथका पथिक' हिन्दीकी प्रारम्भिक आत्मकथाओंमे है।

कालान्तरमें अनेक सम्बद्ध और स्फुट आत्मकथाएँ हिन्दीमे लिखी जाती रहीं। सम्बद्ध रूपसे लिखी गयी आत्मकथाओंमे श्यामसुन्दर दासकी 'मेरी आत्मकहानी' और राजेन्द्रप्रसादकी 'आत्मकथा' प्रमुख हैं। राजेन्द्र बाबूकी आत्मकथा उनके जीवनकी कथामात्र न होकर समस्त समकालीन घटनाओं, व्यक्तियों और आन्दोलनोंका भी इतिहास है। स्फुट निबन्धोंके रूपमे लिखी गयी महावीरप्रसाद द्विवेदीकी आत्मकथा, गुलाबरायकी 'मेरी असफलताएँ' या सियारामशरण गुप्तकी 'झूठ-सच', 'बाल्यस्मृति' आदि रचनाओंमें स्वाभाविकता, सहृदयता और निष्कपट आत्मप्रकाशनके गुण विद्यमान हैं। राष्ट्रभाषाके माध्यमसे इस साहित्यिक रूपके विकासकी अपरिमित सम्भावनाएँ हैं।

आत्मकथात्मक साहित्यके अन्तर्गत कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थ इस प्रकार हैं—'मेरी आत्मकहानी' : श्यामसुन्दर दास; 'आत्मकथा' : राजेन्द्रप्रसाद; 'मेरी जीवनयात्रा' : राहुल सांकृत्यायन; 'सिंहावलोकन' : यशपाल; 'प्रवासीकी आत्मकथा' : भवानीदयाल संन्यासी; 'मेरा जीवन-प्रवाह' : वियोगीहरि; 'हंस' : आत्मकथा अंक, सम्पादक प्रेमचन्द; 'सत्यके प्रयोग' : महात्मा गान्धी; 'मेरी कहानी' : जवाहरलाल नेहरू। —अ० कु०

आत्मकहानी– दे० 'आत्मकथा'।

आत्मचेतना–चेतनाका विशेष रूप है आत्मचेतना और यह चिन्तनशील प्राणी मानवकी विशेषता है। चेतना वस्तु या विषयकी हो सकती है और स्वयं व्यक्ति, विषयी या चेतनाकी भी। दूसरेको ही आत्मचेतना कहते है, अर्थात् जब हमें यह चेतना हो कि हमें अमुक अनुभव हो रहा है तो वह आत्मचेतना है। मानवमानसकी यह विशेषता है कि पदार्थकी चेतना होते समय परोक्ष रूपसे वह उस चेतनाको अपनेसे सम्बन्धित करके भी जानता है। हम यदि सुन्दर पुष्पको देखते हैं तो पुष्पकी चेतनाके साथ अस्पष्ट रूपसे यह ज्ञान भी रहता है कि हमें फूलकी चेतना हो रही है। यही सरल अर्थोंमें आत्मचेतना है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे वस्तु चेतना आत्मचेतनासे पहले विकसित होती है। शिशुके अनुभवोंमें आत्मचेतना नहीं होती।

आत्मचेतनाका दार्शनिक महत्त्व बहुत अधिक है। इसीके आधारपर विज्ञानवादी और प्रत्यक्षवादी (idealists) दार्शनिक आत्माके अस्तित्वको सिद्ध करते हैं। इस अर्थमे यह शुद्ध अहम् अथवा आत्माका प्रत्यक्ष अनुभव है—'मैं हूँ' यह चेतना।

साहित्यमें इस शब्दके मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक दोनो अर्थ रूढ़ हैं। —प्री० अ०

आत्मनिष्ठ (काव्य)–दे० 'स्वात्मनिष्ठ' (काव्य)।

आत्मपीड़न–स्वयंको मानसिक या शारीरिक कष्ट देकर तृप्ति पाना ही आत्मपीड़न (masochism) है। अत्यन्त सूक्ष्म रूपमे आत्मपीड़नकी इच्छा सामान्य व्यवहारमे भी व्यक्त हो सकती है, पर इसकी प्रबलता स्वभावकी विकृति ही है। आत्मपीडन और परपीडनका कुछ मिश्रण सामान्य यौन व्यापारमें रहता है, पर जब कामवृत्तिके अन्य उद्देश्य तो पृष्ठभूमिमें चले जाते हैं और आत्मपीड़न स्वयं ही लक्ष्य बन जाता है तो उसे एक प्रकारकी यौन विकृति मानते हैं। फ्रायडके अनुसार आत्मपीड़न तीन रूपोंमे व्यक्त होता है—कामवृत्तिविषयक आत्मपीडन, स्त्रैण (feminine) आत्मपीड़न और नैतिक आत्मपीडन। प्रथम कुछ स्नायविक विकृतियोंवाले व्यक्तियोंमे कामवृत्तिका लक्ष्य है। ऐसे व्यक्तियोंको अपने-आप अधिकसे अधिक पीड़ा पहुँचाकर अपने प्रति कठोर व्यवहार करके, अपना ही अपमान करके यौन तृप्ति मिलती है। इस प्रकारका आत्मपीडन केवल यौन व्यापारमें ही व्यक्त हो यह आवश्यक नहीं, आत्मपीड़नके अन्य रूपोंके मूलमें भी काम सम्बन्धित आत्मपीड़न अव्यक्त रूपसे रहता है। इस कामविषयक आत्मपीड़नका कारण पूर्णतः समझ सकना कठिन है। यही कहा जा सकता है कि जीवशास्त्रीय दृष्टिसे यौन व्यापारमें विषयके प्रतिरोधपर विजय पाना आवश्यक होता है, यह आवश्यकता परपीड़नका आधार है और परपीड़नकी विकृति आत्मपीड़न है। यह विकृति अचेतन दमन, वर्जना और स्वाभाविक प्रकृतियोंमे वियोजन (dissociation) आदिसे बन सकती है (दे० 'मनोविश्लेषण')।

आत्मपीड़नका दूसरा रूप स्त्रीस्वभावकी विशेषता है। स्त्रीकी स्वाभाविक आक्रमकवृत्ति (aggressiveness) पर नैतिक और सामाजिक नियमोंका इतना दबाव पड़ता है कि उसकी पीड़ा पहुँचानेकी प्रवृत्ति आत्ममुखी हो जाती है और स्वयं पीड़ा पाकर ही उसे सन्तोष मिलता है। उसकी यौन वृत्ति भी पीड़ा पाकर तृप्त होती है, स्नायविक रोगियोंमे यह अत्यन्त प्रबल रूप ले लेती है। यदि वास्तविक पीडा न मिल सके तो पीडाकी कल्पनासे ही ऐसी स्त्रियाँ सन्तुष्ट रहती हैं। आत्मपीड़न अधिकतर स्त्रियोंके ही स्वभावमे मिलता है।

नैतिक आत्मपीड़न अपराधभावनासे व्यक्त होता है, अकारण ही अपनेको अपराधी मानकर व्यक्ति आत्मग्लानिसे पीड़ा पाता रहता है। इस प्रकारकी पीड़ासे अप्रत्यक्ष रूपसे उसकी अचेतन वासनाएँ तृप्त होती हैं। मनोविश्लेषकोंने अपने रोगियोंमें तीनो ही प्रकारके आत्मपीड़न देखे हैं और उसके अध्ययनसे कथासाहित्यमें पात्रोंका चरित्र-चित्रण काफी प्रभावित हुआ है। —प्री० अ०

आत्मप्रक्षेपण—मानस कई प्रकारसे कार्य करता है, आत्मप्रक्षेपण उनमेसे एक है। इसमें व्यक्ति अनजाने ही अपनी इच्छाओं, भावनाओं, वासनाओंका आरोपण दूसरे व्यक्तियों या वस्तुओंमे कर देता है। प्रायः यह अचेतन मानसकी आत्मरक्षार्थक क्रिया ही होती है। जिन भावनाओं, वासनाओंको व्यक्ति स्वयं चेतन मानसमें स्वीकार नहीं कर पाता, उन्हें वह दूसरेपर आरोपित करके उनसे सम्बन्धित दोष अथवा अपराधसे सहज ही मुक्ति पा लेता है। प्रायः ऐसे व्यक्ति अपने मित्रो, सम्बन्धियोंपर विश्वासघात आदिका दोषारोपण किया करते है, जो स्वयं उनके अचेतन मानसका सत्य होता है। 'पारानोइया' (paranoia)के रोगीकी यह विशेषता है।

प्रक्षेपण केवल अनैतिक अथवा अहं द्वारा दमित इच्छाओं, वासनाओंका ही नहीं, वरन् आदर्शों, विचारों और सिद्धान्तोंका भी होता है। व्यक्ति बहुत-सी घटनाएँ अपने जीवनमे घटित होनेकी इच्छा करता है, पर यह असम्भव होता है, अतः वह दूसरे व्यक्तियोंमे, जिनके जीवनमे वैसी घटनाएँ घटित होती हैं, आत्मप्रक्षेपण करके सन्तोष पा लेता है। कथा-साहित्यके आनन्दोपभोगके मूलमें पाठकका यही आत्मप्रक्षेपण रहता है, नायक अथवा नायिकामें आत्मप्रक्षेपण करके हम रस ले पाते हैं। इसी प्रकार आदर्शकी कल्पनाका भी प्रक्षेपण होता है। व्यक्ति जो स्वयं होना चाहता है पर हो नहीं पाता, उसे पाकर आत्मप्रक्षेपण द्वारा अपने आदर्श व्यक्तिकी भक्ति करके सन्तोष पा लेता है। जनताकी नेताके प्रति भक्तिके मूलमे ऐसा ही आत्मप्रक्षेपण रहता है। कथाकार अपने पात्रोंका सर्जन भी अपनी इच्छाओं, भावनाओं तथा आदर्शोंका अन्य व्यक्तियोंमें आरोपण करके करता है। समस्त कलाओंमें कलाकार आत्मप्रक्षेपण करता है, कहीं यह पूर्ण रूपसे स्पष्ट होता है, कहीं अस्पष्ट। —प्री० अ०

आत्मप्रत्यक्ष—दर्शनकी भाषामें, जिस भाँति हम इन्द्रियों द्वारा परिमित घट, पट आदि वस्तुओंका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं, उसी भाँति साधना द्वारा हम अपरिमित आत्मतत्त्वका भी प्रत्यक्ष कर सकते है। आत्माका स्वरूप सच्चिदानन्द है; सत्ता, चैतन्य और आनन्द उसके गुण हैं। वह अनादि और अनन्त है; काल और दिशासे वह बँधी हुई नही है। वह 'स्व'का नित्य और बृहत् रूप है। साधना द्वारा हम जितना 'स्व-रूप'के निकट पहुँचते है, उतना ही हम चैतन्य और आनन्दका अनुभव करते है। यह अनुभव इन्द्रिय-जन्य सुखसे विचित्र होता है; इसीका नाम 'ब्रह्मानन्द' है।

साहित्य और कलाके सन्दर्भमें एक सिद्धान्त है, जिसके अनुसार कलाका सुख, जिसे 'रस' या 'आनन्द' कहा जाता है, 'आत्म-प्रत्यक्ष'का ही फल होता है। विश्वनाथके अनुसार 'रस' ब्रह्मास्वाद-सहोदर होता है, ब्रह्म अथवा आत्माके बृहत् स्वरूपकी प्रत्यक्ष अनुभूतिके समान होता है। कलाकृतिका प्रभाव जीवनकी प्रवृत्तियोंको अन्तर्मुखी बनाकर 'स्व'के आदि-स्रोत अथवा आत्माकी ओर ले जाता है। यह कलाका आध्यात्मिक सिद्धान्त है। कलाका सर्जन और आस्वादन उसी साधनासे होता है, जिससे आत्म-आराधना होती है। इसीलिए कविका अर्थ कवन करनेवाला तथा क्रान्तदर्शी किया गया है। पण्डितराज जगन्नाथके अनुसार साहित्यमें रसास्वादनकी प्रक्रिया 'चिदावरणभंग' या आत्म-प्रत्यक्षकी प्रक्रिया है। —ह० ला० श०

आत्मप्रलम्बन—आत्मप्रक्षेपणके ही अधिक उन्नत, उदात्त रूपको हम आत्मप्रलम्बन कह सकते है। अपने आदर्शकी कल्पना, उसे प्राप्त करनेकी इच्छा हमें अपने अहम्‌को अधिक व्यापक और विस्तृत करनेको विवश करती है। ऊँचे आदर्शोंकी महत्त्वाकांक्षा हमारी आत्माको अहम्‌की सीमाओंसे ऊपर उठाती है। —प्री० अ०

आत्मवाद—भारतीय दर्शनमें समान्यतः दो धाराएँ हैं—आत्मवाद और अनात्मवाद या नैरात्म्यवाद। आत्मवादके अन्तर्गत समस्त हिन्दू दर्शन हैं और अनात्मवादमें बौद्ध तथा चार्वाक दर्शन है। जैन दर्शन दोनोंका समुच्चय करता है। आत्मवादके अनुसार आत्मा नित्य, अजर-अमर, सभी वस्तुओंकी साक्षी, चेतन और अपरिवर्तनशील है। अनात्मवादके अनुसार या तो आत्मा है ही नहीं और या तो वह नश्वर तथा परिवर्तनशील है। जैन मतमें वह परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील दोनों है, जो स्वतः विप्रतिषेधक होनेके कारण ठीक नहीं है। अतः आत्मवाद और अनात्मवाद, ये ही दो प्रमुख सिद्धान्त आत्माके बारेमें है।

यास्कने आत्मा शब्दकी निरुक्ति यों की है—"आत्मा तते वप्ति वापि वाप्त इत स्याद् यावद् व्याप्तिभूत इति', (निरुक्त, ३:१३:२), अर्थात् आत्मा—शब्द अत् धातु (सतत चलना) या अप् धातु (व्याप्त होना)से बना है। आत्माको आत्मा इसलिए कहा जाता है कि यह सदा चलती रहती है या सदा समस्त वस्तुओंमें व्याप्त रहती है। शंकराचार्य व्युत्पत्ति करते समय एक प्राचीन श्लोक ('लिंग पुराण', १।७०।९६) का उल्लेख करते है, जो यों है—"यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चाति विषयानिह। यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते॥" अर्थात् क्योंकि यह सबको व्याप्त करती है (आप्नोति), ग्रहण करती है (आदत्ते), इस लोकमें विषयोंको भोगती है (अत्ति) और इसका सदैव सद्भाव रहता है (अतति), इसलिए इसे आत्मा कहा जाता है। इस व्युत्पत्तिके पूर्व वे कहते हैं कि आत्मा शब्द इस लोकमें प्रत्यक् (सम्पूर्ण विषयोंको जाननेवाला)के अर्थमे ही रूढ़ है और किसी अन्य अर्थमें नहीं (कठोपनिषद्भाष्य, २:१), इसलिए वे इसे प्रायः प्रत्यगात्मा कहते है। कभी-कभी प्रत्यगात्माकी वे व्याख्या करते हैं कि यह प्रत्यक् अर्थात् सम्पूर्ण विषयोंको जाननेवाला और आत्मा दोनों है। यहाँ आत्माका अर्थ उस वस्तुसे है, जिसका सातत्यभाव हो और जो सदैव एकतायुक्त हो।

उपनिषदोंमें आत्माके स्वरूपको खोज बड़ी छान-बीनके साथ की गयी है। उनके अध्ययनसे पता चलता है कि सबसे पहले आत्मा शब्दका प्रयोग 'स्वभाव' या किसी वस्तुकी सत्ता (वस्तुत्व) या किसी वस्तुकी एकता (वस्तुका एक होना)के अर्थमें हुआ। फिर उसमे सातत्यभाव जोड़ दिया गया और जिसकी 'सतत सत्ता' बनी रहे, अर्थात् जो सततगामी हो, उसीको आत्मा कहा जाने लगा। एकता और सततगामितासे इस प्रकार 'तत्त्व'का विचार सम्पन्न

हुआ। 'तत्त्व'के अर्थमें आत्मा शब्दका प्रयोग होने लगा। 'छान्दोग्योपनिषद्'में आधिदैवतरूपसे आदित्य, चन्द्रमा, विद्युत्, स्तनयित्नु, वायु, आकाश, अग्नि तथा जलको क्रमशः आत्मा तत्त्व माना गया। फिर वहीं अध्यात्मरूपसे आदर्श (दर्पण), छाया, प्रतिध्वनि, शब्द, शरीर, दक्षिण नेत्र और सव्य नेत्रको क्रमशः आत्मा तत्त्व समझा गया। अध्यात्मपक्षपर चिन्तन बढ़ जानेसे वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत, मन तथा हृदयको विभिन्न औपनिषद दार्शनिकोंने आत्मा या तत्त्व माना। 'ऐतरेयोपनिषद्'में आत्माको मूल तत्त्व या जगत्का आदिकारण ही कह दिया गया और आत्मासे ही सृष्टिकी उत्पन्न सिद्ध किया गया। क्योंकि जगत्के आदिकारणका अपर पर्याय ब्रह्म है, अतः आत्माको ही ब्रह्म समझा गया। 'माण्डूक्योपनिषद्'में आत्मा ब्रह्म है, इसका स्पष्ट उल्लेख है। तत्त्वमसि (वह तू है) 'छान्दोग्योपनिषद्'में माना गया। अबतक जैसा शंकराचार्य कहते हैं, आत्मा प्रत्यगात्माके अर्थमें और ब्रह्म जगत्के मूल कारणके अर्थमें रूढ़ हो चले। 'सोऽहमस्मि' अनुभवमें आत्मा तथा अभेदका प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ। कुछ लोगोंने इस अभेदमें अरुचि दिखलायी और प्रत्यगात्माको जीवात्मा तथा ब्रह्मको परमात्मा कहकर दोनोंको सदा भिन्न दिखलाया। इसके फलस्वरूप आत्मा जीवात्माके अर्थमें रूढ हो चला। फिर उसे कुछने कर्त्ता और कुछने भोक्ता और कुछने ज्ञाता। अभेदवादियोंने इसे कर्ता, भोक्ता और ज्ञाता न मानकर सत्, चित् या ज्ञान तथा आनन्द माना। आत्मा शब्दके इस वेदोपनिषत्कालीन इतिहासमें आत्मवादी और अनात्मवादीका संघर्ष उल्लेखनीय है। सततगामिता दोनोंको मान्य है, पर आत्मवादी आत्माको सततगामी और एकरूप, दोनों मानता है। अनात्मवादी उसको सततगामी या बहुरूप या अनेकरूप मानता है। उसके मतसे आत्मा प्रतिक्षण परिवर्तित होती रहती है और वह नित्यनूतन है। यही बौद्ध मत है। एकरूपता और सततगामिताका समन्वय इस मतका व्याघातक है। पर हिन्दू दर्शनके अनुसार आत्मा सदैव एकरूप रहकर ही सततगामी या अमर है, इस कारण दोनोंका समन्वय सम्भव है। आत्मवाद और अनात्मवादमें इस विवादसे स्पष्ट है कि यद्यपि एकता या एकरूपता आत्माका प्रधान अंश है, तथापि बौद्ध नितान्त अनात्मवादी नहीं है, क्योंकि वे सातत्यके अर्थमें आत्माको मानते हैं।

आत्माको हमने चैतन्यके अर्थमें रूढ सिद्ध किया है। चैतन्यका अर्थ 'जानना' है। हम बहुत-सी वस्तुओंको देखते, सुनते या जानते है, इसलिए चैतन्य अवश्य है। अगर चैतन्य या जाननेवाला न होता तो फिर उन वस्तुओंका ज्ञान कैसे होता? ज्ञानके न होनेपर ज्ञेय भी नहीं हो सकता। ज्ञेयके होनेपर ज्ञान और ज्ञाता भी अवश्य है। अतः चैतन्यरूप आत्मा है। इस प्रमाणसे सिद्ध है कि आत्मा सभी ज्ञेय वस्तुओंका आधार है, अतः वह कभी ज्ञेय या विषय नहीं हो सकती।

जो लोग आत्माके नास्तित्वको मानते हैं, वे उसे 'अभाव', 'शून्य' या 'नहीं है' कहते या मानते हैं। पर 'अभाव', 'शून्य', 'नहीं है' आदि ज्ञेय विषय हैं। यदि हम इनको इनके रूपमें मानते हैं तो फिर हमें इनके ज्ञाता और ज्ञानको भी मानना पड़ेगा, अतः नास्तिक भी वस्तुतः आत्माके अस्तित्वको मानता है। आत्माके अस्तित्वका प्रत्याख्यान करना वदतोव्याघात है। इस प्रमाणसे सिद्ध है कि आत्मा अप्रत्याख्येय या अखण्डनीय है।

यदि कोई आत्माके अस्तित्वपर संशय करता है कि वह है या नहीं, तो वह भी कमसे कम संशयको तो मानता ही है। संशय ज्ञानका विषय है। ज्ञान और ज्ञाताके न होनेपर संशय भी अनुपपन्न है। अतः संशय भी सिद्ध करता है कि आत्मा, जो संशय कर रही है, अवश्य है। इसमें सिद्ध है कि आत्मा सन्देहका विषय नहीं है।

अपनी आत्माकी प्रतीति सबको होती है। प्रत्येक व्यक्ति जानता है, कहता है और अनुभव करता है कि 'मैं हूँ'। कोई यह अनुभव नहीं करता कि 'मैं नहीं हूँ'। 'मैं हूँ'का यह अनुभव ही तो आत्मा है। अतः आत्मा है। इससे सिद्ध है कि आत्मा बिलकुल अज्ञेय भी नहीं है।

यदि कोई कहे कि आत्मा अविषय है, अगोचर है, उसके विषयमें हाँ और नहीं, है और नहीं, कुछ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ये सभी प्रमेय या विषय हैं तो कुछ हदतक ठीक है। पर इसका यह आशय नहीं है कि आत्मा नहीं है। वस्तुतः शान्ति द्वारा ही आत्माके अस्तित्वका निरूपण होता है। यही कारण है कि जब गौतम बुद्धसे प्रश्न किये गये कि आत्मा है या नहीं तो वे शान्त या मौन रहे। उपनिषदोंमे भी यही सिद्धान्त बतलाया गया है। 'उपशान्तोहि अयमात्मा' यह मौन या शान्ति ही आत्मा है। ज्ञान-साधनासे आत्माके अस्तित्वका यही प्रमाण मिलता है। आत्माके अस्तित्वके इन प्रमाणोंसे यह बात भी सिद्ध होती है कि आत्मा न तो विषय या प्रमेय पदार्थ है और न अविषय पदार्थ। उसका स्वभाव सर्वविषयवाद या सर्वज्ञेयवाद तथा अज्ञेयवाद इन दोनों दोषोंसे मुक्त है।

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और पूर्ण ज्ञान, ये आत्माकी चार अवस्थाएँ हैं। कुछ लोग इनके सम्मिश्रणसे कुछ अन्य अवस्थाओंको भी मानते है, जैसे जाग्रत्-स्वप्न, स्वप्न-सुषुप्ति, जाग्रत्-सुषुप्ति आदि। चौथी अवस्थाको हम पूर्ण ज्ञान कह रहे हैं, इसे पारिभाषिक शब्दावलीमे तुरीय (चौथी) अवस्था ही कहा जाता है, क्योंकि यह जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्तिसे भिन्न है। वस्तुतः यह इसका निषेधात्मक वर्णन है। तुरीय अवस्था अन्य सभी अवस्थाओंकी आधार-शिला है। इसी अवस्थामें आत्माको अपने वास्तविक स्वरूपका ज्ञान होता है। अन्य अवस्थाओंमें आत्माका ज्ञान अपूर्ण या सदोष ही रहता है।

जाग्रत् अवस्थामें चैतन्यको विश्व, स्वप्न अवस्थामें तेजस् और सुषुप्तिमें प्राज्ञ कहते है। विश्व, तेजस् और प्राज्ञ तीनों एक दूसरेके बाधक और निराकर्त्ता हैं। वे सततगामी नहीं है। इन तीनोंकी प्रतिष्ठा आत्मामे है। आत्मा ही इन तीनोंकी गहनतम सत्ता है, ये आत्माके ही आभास हैं।

'बृहदारण्यक उपनिषद्'में याज्ञवल्क्यने अपनी पत्नी मैत्रेयीको बतलाया है कि श्रवण, मनन तथा निदिध्यासनसे

आत्माको जाना जा सकता है और आत्माको जान लेनेपर सभी वस्तुओंका ज्ञान हो जाता है और कुछ शेष नहीं रह जाता। श्रवणका मतलब है उपनिषद्के वाक्योंका स्वाध्याय करना। मननका आशय है उनपर युक्तिपूर्वक विचार करना। निदिध्यासन आत्माका अबाध या सतत चिन्तन है। यह ज्ञान-मार्ग है। कर्म-मार्ग तथा भक्ति-मार्गसे भी लोग आत्माका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

अद्वैत-सम्मत आत्मवादका प्रभाव हिन्दी साहित्यपर विशेष पड़ा है। मध्यकालीन सन्तोमेसे प्रायः सभी आत्मज्ञानको विशेष महत्त्व देते है। आत्मज्ञानको ही वे मानव-जीवनका निःश्रेयस समझते है। जैसे कस्तूरी-मृग अपनी नाभिमें कस्तूरीको रखे रहनेपर भी उसकी खोजके लिए सर्वत्र घूमता रहता है, वैसे अविवेकी पुरुष आत्माको जाननेके लिए अपनेको छोडकर अन्यत्र उसकी खोज करता है। आत्मज्ञान होनेपर ही परमतत्त्वका ज्ञान सम्भव है। 'नेति-नेति', 'तत्त्वमसि', 'सोऽहमस्मि', 'आत्मा ब्रह्म' इत्यादि पदावलियाँ हिन्दी-संस्कृत-साहित्यमे बहुत प्रयुक्त हुई है। आत्मा ब्रह्म है। वह अन्नमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष और आनन्दमय कोषसे परे है। वह स्थूल शरीर (पंचभूतोसे रचित शरीर), सूक्ष्म या लिंगशरीर (इन्द्रियो या अन्तःकरणका संघात) तथा अविद्या शरीर (अज्ञानमात्र)से भिन्न है। वह जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओसे मुक्त है। उसका अनुभव तुरीयावस्था या समाधिमें ही हो सकता है। यह समाधि सहजसमाधि तथा हठसमाधि दो प्रकारकी होती है। जब उसका ज्ञान सहज ढंगसे होता है तब हम उस अवस्थाको सहजसमाधि कहते है और जब हम बलपूर्वक हठयोग आदि करके उस अवस्थाको प्राप्त करते है तो वह हठसमाधि है। वेदान्तके आत्मवादसम्बन्धी इन सिद्धान्तोंकी हिन्दी साहित्यमें पर्याप्त विवेचना मिलती है। अधिकांश सन्तोंको इस विषयपर कुछ अपने अनुभव हुए है। वे ज्ञान-मार्गकी साधना-पद्धतिपर काफी प्रकाश डालते है। कुछ सन्त वेद-सम्मत कर्म-मार्ग या ज्ञान-कर्म-समुच्चय-मार्गका खण्डन करते हैं। पर विशुद्ध ज्ञान-मार्ग और भक्ति-समुचित ज्ञान-मार्गका वे सदैव अनुमोदन करते है। अद्वैत-वेदान्तके अतिरिक्त अन्य वेदान्तोंका प्रभाव भी इस प्रसंगमे उल्लेखनीय है। —सं० ला० पा०

आत्मविघटन—मनोविश्लेषणके अन्तर्गत आत्मविघटन शब्दका प्रयोग एक विशेष मानसिक दशाके लिए होता है। व्यक्तिकी अहन्ता अपनेको अन्य किसी भी पदार्थकी भाँति एक विषय मानकर अपना निरीक्षण, अपनी आलोचना तथा अपने साथ और न जाने क्या-क्या कर सकती है। ऐसी दशामें अहन्ताका एक अंश दूसरे अंशका विरोध करने लगता है। उनमें परस्पर द्वन्द्व और संघर्ष चलता रहता है। व्यक्तिके अन्तरालमें एक गृहयुद्ध-सा छिड़ जाता है। साधारणतया यह प्रक्रिया व्यक्तिके स्वस्थ विकासमें सहायक होती है। संघर्ष और उसके विरोधकी चेतना रहनेपर वह उनका सम्यक् समायोजन अथवा उदात्तीकरण कर लेता है। संघर्षके प्रतिद्वन्द्वी पक्ष दमित होकर अचेतनमें नहीं जाने पाते, वरन् उन्हें अभिव्यक्ति पाने और कृतकार्य होनेका अवसर मिलता रहता है। अथवा व्यक्ति किसी जीवन-मूल्य, आदर्श अथवा साध्यको स्वीकार करके अन्य प्रतियोगी इच्छाओं, मूल्यों और आदर्शोंकी माँगको अपने जीवन-विधानमें उचित स्थान दे देता है। सन्तोंके आरम्भिक जीवनमें प्रायः ऐसा देखनेमे आता है। 'मो सम कौन कुटिल खल कामी', 'मैं पतितनकौ टीकौ', 'ममता तू न गयी मेरे मनते', 'कबहुँक ऐसी रहनि रहौगो' आदि पदोंसे यही वृत्ति लक्षित होती है। श्रीकृष्णके उपदेशसे प्रभावित होकर 'गीता'के अन्तमें अर्जुन कहता है कि अब मेरा मोह नष्ट हो गया, मेरे सन्देह दूर हो गये, अब मैं तुम्हारे वचनोंके अनुसार चलूँगा। अपनी आत्मकथा 'कल्याण-मार्गका पथिक'में स्वामी श्रद्धानन्दने अपने पूर्वकालीन आत्मिक संघर्षपर प्रकाश डाला है। टालस्टायके जीवनका अधिकांश ऐसे ही आत्मिक द्वन्द्वमें बीता और अन्ततः उन्हे शान्ति तभी मिली, जब उन्होंने ख्रिस्तीय श्रेयस् पूर्ण रूपसे अंगीकार कर लिया। यह उदाहरण आत्मविघटन और उसकी उदात्त निष्पत्तिके है। किन्तु आत्मविघटनजन्य मानसिक संघर्षके अवांछनीय असामाजिक परिणाम भी हो सकते है। यदि संघर्ष जारी रहता है तो उसके एक पक्षका दमन और पृथक्करण हो जाता है और व्यक्तिके चरित्र और व्यवहारमें असाधारणता तथा अनेक मानसिक रोगोंकी सृष्टि कर सकता है (दे० 'खण्डितव्यक्तित्व', 'मनोग्रन्थियाँ', 'मनोविश्लेषण')। —आ० रा० शा०

आत्मा—शाब्दिक अर्थ:—जो सतत, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति—इन सभी अवस्थाओंमें अनुवृत रहे (अत् सदा गमन करना, साँस लेना)। जीव, शरीर, स्वभाव, परमात्मा, परम शक्ति, मन, धृति, अर्क, अग्नि, वायु, अहंकार प्रभृति अर्थोंमें प्रयुक्त। मानवमे अन्तर्निहित शाश्वत शक्ति या सार्वभौम चेतन तत्त्व ही आत्मा कहा जाता है।

आत्मा शब्दका प्रयोग सर्वप्रथम वैदिक साहित्यमे मिलता है (ऋग्वेद संहिता, अथर्ववेद संहिता)। आरम्भमें यज्ञके व्यष्टि रूप अर्थमें इसका प्रयोग मिलता है। पुनः हिरण्मय चिति और परम पुरुषके साथ इसकी एकता बतायी गयी और पारमार्थिक शक्ति, परमतत्वके रूपमें इसकी कल्पना की गयी। अथर्ववेद और उपनिषदोंमे आत्माका परम तत्त्वके रूपमें ही वर्णन है, जो सभी प्रकारके सांसारिक प्रपंचों, मलों, विशेष उपाधियों और अज्ञानादि सकल अविद्यात्मक प्रवृत्तियोंका अविषय तथा सांसारिकतासे उत्तीर्ण कहा गया है। आत्मा व्यक्तिमें प्राप्त चेतनाका प्रतीक है, जो वेदान्तोंमें दृक्स्वरूप, स्वयंज्योति, सर्वज्ञ, चिद्रूप, अकर्त्ता और अभोक्ताके रूपमें वर्णित है। अथर्ववेदमें इसे अकाम, धीर, अमृत, स्वयंभू, रसतृप्त, अनून कहा गया है। 'ईशावास्योपनिषद्'में यह 'कवि' शब्दसे संज्ञित हुआ है। 'कठ' इसे सभी प्रकारके सांसारिक विकल्पोंसे उत्तीर्ण बताता है। 'बृहदारण्यकोपनिषद्'मे आत्माके दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासनसे ही परम पुरुषार्थकी लब्धिका बार-बार निर्देश मिलता है। शङ्कराचार्यके अद्वैत दर्शनमें उपनिषदोंके इस सिद्धान्तकी विशेष रूपसे प्रतिष्ठा हुई और निर्गुण ब्रह्म तथा आत्माकी एकता और अभेदका प्रतिपादन, 'तत्त्वमसि' (छान्दोग्य उप०) प्रभृति महावाक्योंके विश्ले-

षण द्वारा हुआ। अविद्यासे संयुक्त होकर आत्मा उपाधियों-से ग्रस्त और सांसारिकतासे बद्ध हो जाता है तथा जीव भावको प्राप्त होता है। मूलतः आत्मा निर्गुण, निःसंग और निर्विकल्प है और शरीरी होकर सगुण और उपहित रूपमें ही उसकी जीव आख्या सम्भव होती है। वेदान्त-के अन्य मतोंमे भी इसी प्रकार अपने तत्त्व विवेचनके अनु-सार आत्म-तत्त्वका निरूपण किया गया।

हिन्दीमें आत्माका निर्गुण साहित्यमें वेदान्तके अर्थोंमे ही प्रयोग मिलता है। कबीर तथा अन्य निर्गुणवादियोंके साहित्यमे आत्माका निर्गुण तत्त्वके रूपमे वर्णन मिलता है, जो माया द्वारा आवृत है तथा जिसका स्वरूपबोध सम्यक् ज्ञान और विवेक द्वारा ही सम्भव है। तुलसीने विशिष्टाद्वैतवादियोंसे प्रभावित हो, आत्माके अद्वैतपरक निर्गुण अर्थका ग्रहण किया है। उपाधियोंसे संयुक्त हो आत्मा जीवभावको प्राप्त होता है। उपाधियाँ मायाके मलसे सम्भूत हैं। जीव ईश्वरका ही अंश है (दे० 'अंश')। रामकी भक्तिसे ही परम पद प्राप्त होता है। यही आत्म-साक्षात्कार और भाव्यमें मिलनकी अवस्था है। विशेषके लिये द्रष्टव्य-आत्मवाद।

[सहायक ग्रन्थ—करुणेश शुक्ल : शंकर और नागार्जुन-का तुलनात्मक अध्ययन (अप्रका० शो० प्र०); लक्ष्मण-शास्त्री जोशी : वैदिक संस्कृतिका विकास; बलदेव प्रसाद मिश्र : तुलसीका दर्शन।] —क० शु०

आदर्शवाद—आदर्शवाद हिन्दीमे 'आइडिअलिज्म' (idea-lism)के पर्यायरूपमें प्रयुक्त किया जाता है। किन्तु वास्तव-मे 'आइडिअलिज्म'का अर्थ आदर्शवादमात्र नहीं है। यह शब्द 'आइडिया' (idea)से सम्बन्धित है, जिसका मूल अर्थ है विचार। इस कारण आदर्शवाद किसी सीमातक विचारवाद भी है।

आदर्शवादका प्रयोग अनेक रूपोंमें किया जाता है। दर्शन, राजनीति, साहित्य और कलाके क्षेत्रमें आदर्शवाद-की विस्तृत विवेचना प्राप्त होती है। आदर्शवाद एक प्रकार-का दृष्टिकोण है, जिसकी सहायतासे संसारका मूल्यांकन किया जाता है। वह एक विवेचन-प्रणाली है। यथार्थके जो मूल तत्त्व होते हैं, उनके अतिरिक्त भी कोई चेतन सत्ता है, विचारणा है, इसी आधारपर आदर्शवाद अपने चिन्तनमें अग्रसर होता है। इस विचारधारामें विषयवस्तु तथा भौतिक पदार्थोंकी अपेक्षा मूल सत्यको अधिक महत्ता प्राप्त होती है। आदर्शवादकी दृष्टि बौद्धिक है, किन्तु वह जीवनके सूक्ष्मतर मूल्योंको अधिकतर महत्त्व देता है और इस दृष्टिसे वह आध्यात्मिक है। इसकी धारणा है कि आस-पासका जो दृश्यमान जगत् है, वह किसी चेतन सत्ताकी सृष्टि है। मस्तिष्कके विचार और आदर्श आदर्शवादमें भौतिक पदार्थों और इन्द्रियोंसे अधिक उच्च स्थानके अधिकारी होते हैं। इस दृष्टिसे आदर्शवादका भौतिकवाद (दे०) अथवा यथार्थ-वाद (दे०)से मतभेद है। कभी-कभी आदर्शवाद और भौतिकवाद विरोधी विचारधाराओंके रूपमें भी प्रयुक्त किये जाते हैं।

आदर्शवाद शब्द दर्शनशास्त्रमें प्रमुखता प्राप्त करता है। यह एक दार्शनिक विचारधाराके रूपमें पल्लवित-पुष्पित हुआ है। अफलातूँ (plato)ने एक ऐसे संसारकी कल्पना की, जिसमें शाश्वत और चिरन्तन विचारोंको ही सत्यके रूपमे ग्रहण किया गया। परिवर्तनशील जगत्‌से इन्हें अलग रखा गया। आदर्शवादका सबसे महान् विचारक काण्ट (१७२४-१८०४ ई०) है। उसकी धारणा है कि विचार केवल बुद्धिके क्रियाव्यापार हैं, किन्तु पदार्थका सम्बन्ध मानवके इन्द्रिय अनुभवसे है। बुद्धिके भी दो पक्ष हैं, शुद्ध बुद्धि (pure reason) तथा व्यावहारिक बुद्धि (practical reason)। शुद्ध बुद्धि दृश्य जगत्‌का उचित ज्ञान प्राप्त करती है, किन्तु इससे आगे जाना उसके लिए सहज नहीं। इसी कारण काण्ट दृश्य जगत्‌के मूल (thing in itself)को भी स्वीकार करता है। उसका कथन है कि यह अगम्य (unknowable) है। इसका बोध केवल व्यावहारिक बुद्धिसे ही सम्भव है, जिसका दूसरा रूप इच्छाशक्ति है। काण्टका आदर्शवाद critical अथवा transcendental कहलाता है। हेगेल (१७७०-१८३१ ई०) इस जड-चेतन सृष्टिके मूलको विश्वात्मा (universal spirit or reason) के रूपमें ग्रहण करता है। बुद्धिको सर्वज्ञ मानता है। उसका कथन है कि विश्वात्माके विकासकी प्रतिक्रिया द्वन्द्वात्मक (dialectical) है। वाद (thesis), प्रतिवाद (antithesis) तथा संवाद (synthesis)की वक्र रेखाओंमें विकास होता है। हेगेल यद्यपि एक आदर्शवादी चिन्तक है, किन्तु उसकी द्वन्द्वात्मक विचार-धाराके सहारे चलकर मार्क्सने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद दर्शन (dialectical materialism)का निर्माण किया। हेगेल-का दर्शन पूर्ण आदर्शवाद (absolute idealism) है। इंग्लैण्डके जार्ज वर्कलेका आदर्शवाद (subjective idealism) कहलाता है। आदर्शवादके प्रमुख चिन्तकोंमे ग्रीन (१८३६-१८८२ ई०), बर्नार्ड बोसाँके (१८४८-१९३२ ई०), ब्रेडले (१८४६-१९२४ ई०) आदिके नाम गिनाये जा सकते है। इनके अतिरिक्त शेलिंग, फिख्टे, कज़िन, जे० रायस आदिके नाम भी लिये जा सकते हैं।

साहित्यमें आदर्श शब्दका प्रयोग दर्शन अथवा राज-नीतिकी भाँति किसी रूढ़िगत अर्थमे नहीं किया जाता। साहित्यका आदर्शवाद मानव-जीवनके आन्तरिक पक्षपर जोर देता है। जीवनके दो पक्ष हैं—आन्तरिक और बाह्य। आन्तरिक पक्षमें मानसिक सुख, प्रसन्नता, परितोष, आनन्द आ जाते हैं। बाह्य पक्षमे ऐश्वर्य, वैभव तथा भौतिक उन्नति-का स्थान है। आदर्शवादी साहित्यकारका विश्वास है कि मनुष्य जबतक आन्तरिक सुख प्राप्त नहीं करता, उसे वास्त-विक आनन्दकी उपलब्धि नहीं हो सकती। मानवकी चेतना तबतक भटकती रहेगी, जबतक वह शाश्वत, चिरन्तन सत्य अथवा आनन्द नहीं प्राप्त कर लेता। इस प्रकार आदर्शवाद मानव-जीवनकी आन्तरिक व्याख्या करता है। उसकी उच्च सम्भावनाओंके प्रकाशनमे तत्पर होता है। वह उन मानव-मूल्योंको ग्रहण करता है, जो कल्याणकारी हैं, शुभ हैं, सर्जनात्मक है। भारतीय साहित्यशास्त्रमें रसकी जो महत्ता है, वह जीवनके आन्तरिक परितोष अथवा आनन्दका ही दूसरा रूप है। इसी दृष्टिसे संस्कृतमें सुखान्त नाटकोंकी अधिक सृष्टि की गयी और महाकाव्यके नायकका 'धीरोदात्त'

होना आवश्यक माना गया। आदर्श जीवनदृष्टिके कारण 'रामायण' और 'महाभारत' दोनोंमें देवत्वकी दानवत्वपर विजय घोषित की गयी है। मिल्टनका 'पैराडाइज लॉस्ट' यद्यपि साहित्यिक आदर्शवादकी अपेक्षा धार्मिक आदर्शवाद-का अधिक आश्रय लेता है, फिर भी उसमे मानवके उच्चतर मूल्योंकी स्थापना है। अरस्तूने अपने काव्यशास्त्रमें श्रेष्ठ नाटकके लिए श्रेष्ठ गुणोंसे समन्वित चरित्रोंके चित्रणकी आवश्यकता स्वीकार की है। अपने अनुकृति-सिद्धान्तमें उसने यह स्पष्ट कर दिया है कि तीन प्रकारकी अनुकृतियोंमें, साधारणसे उच्च वस्तुकी अनुकृति श्रेष्ठ कलाको जन्म देती है और इसके लिए उसने होमरका दृष्टान्त प्रस्तुत किया है।

आदर्शवादी साहित्यकार भाव और कलाकी महत्तर ऊँचाइयोंपर जानेका प्रयास करता है। अन्तर्मुखी होनेके कारण कभी-कभी उसकी चेतना आध्यात्मिक, यहाँतक कि रहस्यवादी हो जाती है। यूरोपका मध्यकालीन रहस्यवादी साहित्य इसका प्रमाण है। चिरन्तन मानव-मूल्योंको महत्त्व देनेके कारण लगभग प्रत्येक महान् साहित्यकार किसी सीमातक आदर्शवादी होता है, क्योंकि महान् साहित्य-सर्जनके लिए शाश्वत मानवमूल्योंके ग्रहणके साथ मानवकी उच्चतम सम्भावनाओंका प्रकाशन आवश्यक है। डब्ल्यू वेवने अपनी पुस्तक 'ए डिसकोर्स ऑव इंगलिश पोयट्री'में लिखा है—"आदर्श काव्यमें आनन्द और उपदेशका एक सुन्दर समन्वय होता है"। भावना और शिल्पके आधारपर साहित्यमें आदर्शवादके दो पक्ष हो सकते हैं। भावक्षेत्रका आदर्शवाद साहित्यकारको जीवनकी महत्, चिरन्तन सम्भावनाओंकी ओर ले जाता है। इस दृष्टिसे वाल्मीकि, शेक्सपियर, दाँते, गेटे, टालस्टाय आदि आदर्शवादी लेखक हैं। भावक्षेत्रमें आदर्शवादके विभिन्न रूप दिखाई देते हैं। दाँते आदर्शवादी होते हुए भी ईसाई धर्मके उस आदर्शवाद-का समर्थक नहीं है, जो मध्यकालीन युगमें प्रचलित था और जिसे मिल्टनके 'पैराडाइज लॉस्ट'में देखा जा सकता है। यूरोपके अधिकांश स्वच्छन्दतावादी (romantic) लेखक आदर्शवादी ही कहे जायँगे, क्योंकि वे अपनी कल्पनाके सहारे किसी आदर्श जगत् अथवा स्वप्नलोककी खोज करते दिखाई देते हैं। जे० ब्रानोविस्कीने अपनी पुस्तक 'द पोएट्स डिफेन्स'में रोमाण्टिक कवियोंके आदर्श-वादी दृष्टिकोणपर विचार किया है। शैलीसम्बन्धी आदर्श-वादको अभिव्यंजनाका आदर्श कहा जा सकता है। इसे क्लासिक्सकी परम्पराके नामसे सम्बोधित किया जाता है।

साहित्यमें आदर्शवादके विरोधमें यथार्थवादी (दे० 'यथार्थ-वाद') जीवनदृष्टि है, जो जीवनके भौतिक मूल्योंको प्रमुखता देती है। वैज्ञानिक सभ्यताके विकासके साथ-साथ यथार्थ-वादी प्रवृत्तियोंका विकास होता गया। किसी सीमातक यह आदर्शवादकी उस दृष्टिके प्रतिक्रियास्वरूप है, जिसमें अतिशय कल्पनाको प्राधान्य प्राप्त होता है। इस प्रकारका साहित्य वायवी हो जाता है। यूरोपमें पर्याप्त कालतक 'कला कलाके लिए' और 'कला जीवनके लिए'का संघर्ष चलता रहा है। यथार्थवादी साहित्य वस्तुजगत्को नग्न रूपमें प्रस्तुत करनेका पक्षपाती है। उसका वर्ण्य विषय है धरती, जो कुछ भी वह है। आदर्शवादीका वर्ण्य विषय है धरती, जो कुछ उसे होना चाहिये। साहित्यके इतिहाससे ज्ञात होता है कि वैज्ञानिक युगमें गद्यका अधिक प्रचार हुआ। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो यथार्थवादी प्रवृत्तियों-की पूर्ण अभिव्यक्ति गद्यके माध्यमसे की गयी है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवादको लेकर चलनेवाला मार्क्सवादी साहित्य आदर्श-वादी विचारधाराका विरोधी है, वह वर्ग-संघर्षके इतिहास-सम्बद्ध विकासक्रमके विवेचनका पक्षपाती है। मनोविज्ञान भी यथार्थवादको स्वीकार करता है। मानव-मनका विश्लेषण यथावत् कर देना वह उचित समझता है। अन्तश्चेतनावाद व्यक्ति-मानसकी अन्तर्मुखी यथार्थ प्रवृत्तियोंको प्रकाशमे लाता है। नन्ददुलारे वाजपेयीने अपने लेख 'आदर्श और यथार्थ' ('आधुनिक साहित्य', : पृष्ठ ३९३)मे आदर्शवादी लेखकोंकी शैली कल्पना-प्रधान और भावुकतापूर्ण स्वीकार की है। यथार्थवादी शैली मनोरंजक, विनोदात्मक एवं तार्किक होती है।

हिन्दी साहित्यका अधिकांश आरम्भिक स्वरूप आदर्श-वादी है, क्योंकि वह परम्पराविमुक्त नहीं है। वीरगाथा-कालमें जो साहित्य-सृष्टि हुई, उसमे यथार्थका अंश है, क्योंकि वह स्तुति और अभ्यर्थनाकी भावनासे प्रेरित है। भक्तिकालका अधिकांश काव्य आदर्शवादी ही कहा जायगा, क्योंकि उसमें आध्यात्मिकताका पुट है। तुलसीका आदर्श-वाद मर्यादासमन्वित आदर्शवाद है। उसमें एक सहज समर्पणका भाव है। सूरदासका आदर्शवाद अपेक्षाकृत अधिक स्वच्छन्द प्रकृतिका है। कबीरका साहित्य यद्यपि यथार्थसे अनुप्राणित है, फिर भी उसकी दृष्टि आदर्शवादी ही है। रीतिकालमें आकर आदर्शवादका स्वरूप छिन्न-भिन्न हो जाता है। सामन्तवादी प्रवृत्तियोंसे प्रभावित होनेके कारण उसमें आदर्शवादका पोषण न हो सका। वे ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियाँ हैं, जिन्हें यथार्थवादी श्रेणीमे भी रखना उचित नहीं। वास्तवमें साहित्यमें यथार्थवादका आरम्भिक स्वरूप भारतेन्दु-युगके गद्यमें देखा जा सकता है, जिसका स्पष्ट स्वरूप उत्तर-छायावादकालमें प्रगतिवादी रचनाकारोंमें मिलता है। नगेन्द्रने अपनी पुस्तक 'आधुनिक हिन्दी कविताकी मुख्य प्रवृत्तियाँ'में आदर्शवादी विचारधाराके अन्तर्गत छायावाद तथा राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविताको रखा है। गान्धीवादके दार्शनिक-नैतिक पक्षको अभिव्यक्ति देने-वाला सियारामशरण गुप्तका साहित्य भी इसीके अन्तर्गत है। यथार्थवादी अथवा भौतिकवादी चिन्ताधाराके अन्तर्गत हैं—प्रगतिवाद और प्रयोगवाद।

छायावादकी जीवनदृष्टि आदर्शवादिनी है। उसमें अध्यात्मकी अपेक्षा सौन्दर्य, दर्शन, राष्ट्रीयता आदिके तत्त्व अधिक मुखर हैं। जयशंकर 'प्रसाद'में छायावादकी आदर्श भावनाका चरमोत्कर्ष है। उनका काव्य इसी कारण कल्पना-को अधिक अंगीकार करता है। सुमित्रानन्दन पन्तमें आगे चलकर यथार्थवादी प्रवृत्तियोंका प्रवेश हुआ ('युगवाणी' और 'ग्राम्या')। सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'में यथार्थ-वादके स्वर है ('वह तोड़ती पत्थर......', 'वह आता, दो टूक कलेजेके करता, पछताता पथपर आता')। प्रेमचन्दके उपन्यासोंमें यथार्थका चित्रण है, किन्तु उनकी जीवनदृष्टिके कारण उन्हें आदर्शवादी कहना अधिक संगत होगा।

समीक्षाके क्षेत्रमें रामचन्द्र शुक्ल, नन्ददुलारे वाजपेयी तथा हजारीप्रसाद द्विवेदी साहित्यकी आदर्शवादी प्रवृत्तिपर जोर देते हैं। —प्रे० शं०

आदर्शवाद (प्रत्ययवाद)–हिन्दीमें आदर्शवाद अंग्रेजी भाषाके शब्द 'आइडिअलिज्म'के लिए प्रयुक्त होता है। मूल शब्दका प्रयोग दो अर्थोंमे किया जाता है—एक तो नैतिक आदर्शवादके लिए और दूसरे एक दार्शनिक दृष्टिकोण-विशेषके निमित्त। आदर्शवाद शब्द इनमेंसे केवल पहले अर्थको व्यक्त करनेके लिए उपयुक्त है। दूसरे अर्थके लिए अब प्रत्ययवाद तथा बौद्धदर्शनके प्राचीन शब्द विज्ञानवाद (जिसका प्रचलित विज्ञान—साइंस—से कोई सम्बन्ध नहीं है)का प्रयोग हिन्दीमे होने लगा है।

सामान्यतया आदर्शवाद और आदर्शवादी शब्दोंका उपयोग उनकी दार्शनिक (प्रत्ययवादी—विज्ञानवादी) अभिव्यंजनासे नितान्त भिन्न अर्थमें होता है। सामान्य शब्द-प्रयोगके अनुसार आदर्शवादी वह है, जो उच्च नैतिक, आध्यात्मिक और सौन्दर्यपरक प्रतिमानो-आदर्शोंको स्वीकार करके अपने तथा समाजके जीवनको उनके अनुसार ढालनेका प्रयास करे। वह व्यक्ति भी आदर्शवादी माना जाता है जो किसी समाज, सम्प्रदाय या वर्गविशेषकी प्रस्तुत दशासे असन्तुष्ट होकर उसके लिए किसी नये आदर्शकी कल्पना करता है। पृथ्वीपर स्वर्ग, ईश्वरका राज्य, सतयुग, रामराज्य, मनुष्यकी तथाकथित आदिम पूर्णावस्था, शोषण-रहित समाज आदिको स्थापित करना चाहता है। कोरा आदर्शवाद या आदर्शवादीके रूपमें निन्दात्मक अर्थमें इन शब्दोंका प्रयोग उस समय किया जाता है, जब आदर्श एकदम असम्भव होता है या स्वयं प्रस्तावकके जीवनमे उसका स्पर्श भी नहीं मिलता।

नैतिक आदर्शवादने मनुष्यके जीवनपर व्यापक प्रभाव डाला है। वस्तुतः वह किसी भी संस्कृतिकी आत्मा है। मनुष्य अपने प्राणमय कोषकी एषणाओ और प्रेरणाओं-मात्रसे सन्तुष्ट नहीं रह पाता। व्यक्ति और समाजको किसी बृहत्तर आदर्शकी ओर ले जानेकी प्रवृत्ति भी मनुष्यमे नैसर्गिक-सी है। 'वाल्मीकि-रामायण', 'महाभारत', 'रामचरितमानस', प्लेटोकी 'रिपब्लिक', 'बाइबिल' जैसी महान् कृतियाँ एक उदात्त नैतिक आदर्शवादकी स्थापना करती हैं। आधुनिक युगमें टॉल्सटॉय, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, रोम्याँ रोलाँ और गान्धीने मानवीय आत्मामें एक व्यापक नैतिक आदर्शवादका संस्कार दृढ़ करनेमे बड़ा योग दिया है। प्रेमचन्दकी गणना श्रेष्ठ आदर्शवादी लेखकोंमें होती है। 'प्रसाद'की 'कामायनी' भी इच्छा-ज्ञान-क्रियाके सम्यक् सामंजस्यके आदर्शका प्रतिपादन करती है।

दार्शनिक आदर्शवाद (प्रत्ययवाद, विज्ञानवाद) संसारकी प्रमुख दार्शनिक विचारधाराओंमेसे एक है। इस दर्शनके अनुसार जगत्का वास्तविक स्वरूप भौतिक नहीं, वरन् चिन्मय, विज्ञानमय, मनोमय है। भौतिक द्रव्य--मैटर—को प्रधानता न देकर यह सिद्धान्त चेतना अथवा मानसिकताको प्रधानता और प्राथमिकता देता है। भौतिकवादी भौतिक द्रव्यको सत्य मानता है और मन अथवा चेतनाको उसका उपजात एवं अनुगामी। चेतनाकी व्याख्या वह भौतिक उपादानोंसे करता है। इसके ठीक विपरीत दार्शनिक आदर्शवादी (प्रत्ययवादी, विज्ञानवादी) मन अथवा चेतनाको परमसत्य एवं परमतत्त्व और भौतिक द्रव्योंको उससे उद्भूत मानता है। वह यह स्वीकार नहीं करता कि जगत् एक विराट् जड यन्त्रमात्र है और उसकी परिपूर्ण व्याख्या भौतिक, यान्त्रिक और वैज्ञानिक पद्धतिसे की जा सकती है। वरन् उसकी मान्यता यह है कि परमतत्त्व मन जैसा चेतन है। जगत्के विधानमे चेतना और बुद्धि अन्तर्भूत है। प्रकृतिकी स्वयं-पूर्णता एक भ्रम है। प्रकृति चैतन्यपर अवलम्बित है। जो जगत् संवेदनोंके माध्यमसे इन्द्रियोंके प्रत्यक्ष होता है, वह उसका सत्य स्वरूप नहीं है। उसका सच्चा स्वरूप और अर्थ इस गोचर प्रपचके पीछे छिपा है। जगत् अर्थपूर्ण और सोद्देश्य है। ऐसा होनेके कारण प्रकृति तथा मनुष्यमें एक सामञ्जस्य है। जो ब्रह्माण्डमें है, वही पिण्डमे है, मानव व्यष्टिमे है। जगत् या प्रकृति मनुष्यके लिए शत्रुका देश नहीं है, जिसपर अधिकार और विजय प्राप्त करना उसका एकमात्र पुरुषार्थ है। मनुष्यका मन मस्तिष्ककी प्रक्रिया-मात्र नहीं है। मनका अस्तित्व प्रथम है, मस्तिष्कीय प्रक्रिया उसकी अनुगामिनी है। अतः मनुष्य नैतिक और आत्मिक दृष्टिसे स्वतन्त्र है। जगत्के चिन्मय होनेके कारण उसमे कुछ भी अर्थहीन नहीं है। मानव प्राणी उसके अंग हैं, अतः वे भी अर्थहीन नहीं है। मानवीय मूल्य मनुष्यकी सीमाओंसे सापेक्ष्य और सीमित भले ही हो, वे निरपेक्ष परम मूल्योंके विरोधी और उनसे असम्बद्ध नहीं है। ईश्वर जगत्से भिन्न कहीं भी अन्यत्र नहीं रहता। वह जगत्का अन्तर्भूत जीवनीय तत्त्व है। वह परात्पर भी है, अन्तर्भूत भी है। प्रकृतिका, इतिहास और सामाजिक विधानकी प्रक्रियाओमे तथा सर्वोपरि मानव-हृदयमें, दर्शन मिलता है। मनुष्यकी महत्त्वाकांक्षाओंसे ईश्वरपर प्रकाश पड़ता है। समस्त प्रकृति ईश्वरसे अनुप्राणित है। प्राकृतिक और परा-प्राकृतिकका भेद असत्य है। अद्वैती आदर्शवादके अनुसार ईश्वर अनन्त और समस्त सत्ताका अधिष्ठान है। मनुष्य एक जीवन्त और सर्जनशील विश्वका निवासी है।

दार्शनिक आदर्शवादके कई रूप हैं, जैसे विषयिपरक, विषयपरक, व्यष्टिपरक और निरपेक्ष आदर्शवाद। इनके विस्तारमें जानेकी आवश्यकता नहीं है। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि यह दर्शन देश और काल, दोनों दृष्टियोंसे सर्वव्यापी रहा है और मानव-संस्कृति तथा मनीषाके निर्माणमें उसने महान् योग दिया है। इसको भारतकी राष्ट्रीय विचारधारा कह सकते है। वैदिक साहित्य, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, भगवद्गीता, योगवासिष्ठ इसी सिद्धान्तसे ओतप्रोत है। इनपर आधारित वेदान्त और वेदान्तकी अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि सभी शाखाएँ तथा शंकर, रामानुज, वल्लभ, निम्बार्क आदि उनके आचार्य, सभी दार्शनिक आदर्शवादी (प्रत्ययवादी, विज्ञानवादी) है। बौद्धधर्मकी विज्ञानवादी शाखा और उसके आचार्य असंग तथा वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, शांतरक्षित, कमलशील जैसे भारतवर्षके महान् दार्शनिक आदर्शवादी ही हैं। चीनमें ताओपर

आधारित लाओत्जेका दर्शन भी आदर्शवादी है। पश्चिममें सुक्रात, प्लेटो, अरस्तू, सन्त अगस्तीन, सन्त टामस ऐक्विन्स, डेकार्ट्स, वर्कले, काण्ट, हीगेल, शॉपेनहार, ग्रीन, ब्रैडले, और रायस आदि प्रमुख आदर्शवादी दार्शनिक हैं। इटलीके क्रोशे और जेंताइलने नव्य-आदर्शवादके रूपमें इस विचारधाराका नूतन विकास किया है। ऐसी व्यापक विचारधाराका प्रभाव साहित्य और कलाके क्षेत्रोंमें भी पड़ना अनिवार्य था। ललित साहित्यमे अश्वघोषका 'बुद्ध-चरित' और 'सौन्दरानन्द', 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक, शंकराचार्य तथा अन्य आचार्यों एवं कवियों द्वारा रचित स्तोत्र तथा पद ऐसे ही उदाहरण हैं। भारतीय कलाओका मूल स्रोत आदर्शवाद ही है। पश्चिममें अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दीके साहित्यमे हमें इसकी विशेष अभिव्यक्ति मिलती है। रोमांटिक आन्दोलनके प्रेरक तत्त्वोमे आदर्शवादी दर्शन भी एक था। वर्ड्सवर्थ और शेलीकी कविताओमे उसके सुन्दरतम उदाहरण मिलते हैं। अमेरिकामे एमर्सनने साहित्यके क्षेत्रमे अपने विविध निबन्धोंके द्वारा आदर्शवादका प्रतिपादन किया। हिन्दीमे पिछली पीढ़ीका छायावाद भी मूलतः आदर्शवादी है। —आ० रा० शा०

आदर्शीकरण—यदि हम 'जो है' उसे वास्तविक कहें तो 'जो होना चाहिये' उसे आदर्श कह सकते हैं। मनुष्य वास्तविकसे सन्तुष्ट न होकर आदर्शकी ओर प्रवृत्त होता है और वास्तविकमें जिन दोषों और त्रुटियोंको पाता है, उन्हें कल्पना द्वारा आदर्शमे दूर और पूरा कर देता है। मनुष्यका स्वभाव ही कल्पना-प्रसूत आदर्शमें रुचि लेनेका है। इसी स्वाभाविक प्रवृत्तिका नाम आदर्शीकरण है। एक पाश्चात्य सिद्धान्तके अनुसार कला और साहित्यके सर्जनका मुख्य ध्येय वास्तविकसे ऊपर उठकर कल्पनाके आलोकमे 'आदर्श' संसारका आनन्द लेना है।

अंग्रेजीमें आदर्शीकरणका दूसरा अर्थ भी है, जिसे मानसीकरण कहा जा सकता है। कलाका उद्देश्य किसी वस्तुको उसके पार्थिव और स्थूल स्तरसे उठाकर मानसिक स्तरपर ले जाना है, क्योंकि वस्तुके मानसिक रूपकी चर्वणासे ही कलात्मक अनुभूति उत्पन्न होती है। —ह० ला० श०

आदर्शोन्मुख यथार्थवाद—आदर्शवाद तथा यथार्थवादका समन्वय करनेवाली विचारधारा। इस प्रवृत्तिकी ओर प्रथम महत्त्वपूर्ण संकेत प्रेमचन्दका है। उन्होंने कथा-साहित्यको यथार्थवादी रखते हुए भी आदर्शोन्मुख बनानेकी प्रेरणा दी और स्वतः अपने उपन्यासों तथा कहानियोमे इस प्रवृत्तिको जीवन्त रूपमें अंकित किया। उनका उपन्यास 'प्रेमाश्रम' इसी प्रकारकी प्रसिद्ध कृति है। पर प्रेमचन्दके बाद इस साहित्यिक विचार-धाराका आगे विकास प्रायः नहीं हुआ। इस चिन्तन-पद्धतिको कदाचित् कलात्मक स्तरपर कृत्रिम समझकर छोड़ दिया गया। —शा० स्व० च०

आदिकाल—हिन्दी साहित्यके प्रारम्भिक कालको हिन्दी साहित्यका इतिहास लिखनेवाले विद्वानोंने 'वीरगाथाकाल' या 'चारणकाल' या 'सिद्ध-सामन्तकाल' कहा है। 'वीरगाथाकाल' नाम रामचन्द्र शुक्लने दिया था। उन्होंने संवत् १०५० (सन् ९९३)से संवत् १३७५ (सन् १३१८ ई०)तक आदिकालकी सीमाएँ मानी थीं। उन्होंने उस कालकी अपभ्रंश और 'देशभाषा-काव्य'की बारह पुस्तकें साहित्यिक इतिहासमें विवेचनके योग्य समझी थीं—'विजयपाल रासो', 'हम्मीर रासो', 'कीर्तिलता', 'कीर्तिपताका', 'खुमान रासो', 'बीसलदेव रासो', 'पृथ्वीराज रासो', 'जयचन्द्र प्रकाश', 'जयमयंक जसचन्द्रिका', 'परमाल रासो' (आल्हाका मूल रूप), खुसरोकी पहेलियाँ और विद्यापतिकी पदावली। उन्होने कहा कि इन्ही बारह पुस्तकोंकी दृष्टिसे आदिकालका लक्ष्य-निरूपण और नामकरण हो सकता है। इनमेंसे अन्तिम दो तथा 'बीसलदेव रासो'को छोड़कर शेष सब ग्रन्थ वीरगाथात्मक है। अतः 'आदिकाल'का नाम 'वीरगाथाकाल' रखा जा सकता है। अपभ्रंशकी अन्य सामग्रीका भी उनके समयमें पता चल चुका था, किन्तु उन्होंने उसका उपयोग नही किया, क्योंकि उनकी दृष्टिमे वे कृतियाँ विवेचन योग्य नही थीं। उनके अनुसार या तो उनमेंसे कुछ पीछेकी रचनाएँ थी या कुछ 'नोटिसमात्र' थीं और कुछ जैन धर्मकी उपदेश-पुस्तकें थीं। किन्तु इधर जो तथ्य प्रकाशमें आये है, उनके आधारपर ऊपर लिखित बारह रचनाओंमेंसे कुछ तो पीछेकी सिद्ध हो चुकी है, कुछ केवल नोटिसमात्र है और कुछके मूल रूपके विषयमें निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। 'रासो' नामक ग्रन्थोंके आधारपर वीरगाथाकालकी कल्पना की गयी है, किन्तु 'रासो' ग्रन्थोंकी परम्परा, अपभ्रंश गुजराती साहित्यमे मिलती है। इन रासो ग्रन्थोंमे वीर रसके स्थल बहुत ही कम है, शृंगार, भक्तिके स्थल बहुत हैं। इन रासो ग्रन्थोंकी दो परम्पराएँ रही हैं—एक साहित्यिक पठित रूपकी और दूसरी गेय रासोकी। परवर्ती अपभ्रंशमें लिखा 'सन्देश रासक' साहित्यिक परम्पराकी कृति है और गुजरातीका 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' और 'बीसलदेव रास' सरल गेयपरम्पराकी रास कृतियाँ हैं। जो हो, रास ग्रन्थोंके आधारपर इस कालका नाम वीरगाथाकाल रखना युक्तिसंगत नही है। यही बात 'चारणकाल' नामके सम्बन्धमें कही जा सकती है। राजस्थानमें चारण, भाटोंने कुछ काव्य-ग्रन्थ लिखे है, किन्तु वे इस कालकी सीमाओंसे बहुत पीछेके है और उस प्रकारकी रचनाएँ बहुत बादतक होती रहीं, अतः चारणकाल नामसे इस कालकी प्रवृत्तियोंका बोध नही होता।

राहुल सांकृत्यायनने विषयवस्तुको दृष्टिमें रखकर इस कालके लिए 'सिद्ध-सामन्त-काल' नाम सुझाया है। इस कालमें जो साहित्य लिखा गया, उसमें बौद्ध नाथ-सिद्धों द्वारा लिखा हुआ सहित्य भी मिलता है और इसी प्रकार सामन्तोंकी प्रशंसामे या उनके आश्रयमें लिखे हुये ग्रन्थ भी इस कालके मिलते है, किन्तु फिर भी सिद्ध-सामन्त-काल नाम भी पूरी तरहसे इस युगकी साहित्यिक प्रवृत्तियोंको स्पष्ट नहीं करता।

साधारणतः सन् ईसवीकी दसवींसे लेकर चौदहवी शताब्दीतकके कालको हिन्दी साहित्यका 'आदिकाल' कहा जा सकता है। इधर कई विद्वानोंने इस युगकी साहित्यिक प्रवृत्तियोंको स्पष्ट करनेके बहुत ही सफल प्रयास किये हैं, अनेक नयी कृतियाँ सही रूपमें सम्पादित होकर सामने

आयी है, जिनके आधारपर इस कालकी प्रवृत्तियोंपर अच्छा प्रकाश पड़ा है। हजारीप्रसाद द्विवेदीने 'हिन्दी साहित्यका आदिकाल' नामक कृतिमें बहुत ही विद्वत्तापूर्ण ढंगसे इस युगकी अनेक गुत्थियोंको सुलझाया है।

इस कालमें जो प्रवृत्तियाँ प्रचलित रहीं, उनका अच्छा परिचय अपभ्रंशकी रचनाओंमें मिलता है। भावधाराकी दृष्टिसे एक महत्त्वपूर्ण धाराका सिद्धोंकी रचनाओंमें दर्शन होता है। सरह पा, काण्ह पा आदि बौद्ध वज्रयानी सिद्धोंकी रचनाओंका भी ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जा चुका है। सिद्धोंकी रचनाओंमें, दोहोंमें पश्चिमी अपभ्रंश और पदोंमें पूर्वी अपभ्रंशका रूप मिलता है। दोहोंमें वज्रयान या सिद्धोंके अपने सम्प्रदायके सिद्धान्तोंके गूढ़ तत्त्वोंके प्रतिपादनके अतिरिक्त सरल-साधारण उपदेश भी मिलते हैं। ये उपदेश सम्प्रदायसे बाहर सामान्य जनके लिए हैं। इसी प्रकारकी धारा जैन मुनियों—योगीन्दु, मुनि रामसिंहके 'पाहुडदोहा' आदि कृतियोंमें भी मिलती है और इस धाराका परिचय देनेवाले दोहे, छन्द-ग्रन्थों, अलंकार-ग्रन्थोंमें बिखरे मिल जाते हैं।

दोहा अपभ्रंश और आदिकालीन हिन्दीका बहुत ही प्रसिद्ध छन्द है। धर्म, उपदेश आदिके अतिरिक्त सुभाषित, शृंगार, चेतावनी आदि अन्य कई प्रकारके विषयोंके लिए दोहोंका प्रयोग अपभ्रंशमें हुआ है। हेमचन्द्रके व्याकरणमें, पुरातन प्रबन्धसंग्रहके प्रबन्धोंमें तथा 'सरस्वतीकण्ठाभरण' जैसी कृतियोंमें उद्धृत दोहोंमें अनेक प्रकारके भाव व्यक्त किये गये हैं। एक ओर विप्रलम्भ शृङ्गारके ऊहात्मक और संवेदनात्मक चित्र इन दोहोंमें मिलते हैं तो दूसरी ओर निर्वेद और वैराग्यकी भावनासे पूर्ण चित्र, जैसे 'प्रबन्ध-चिन्तामणि'के इस दोहेमें—"एउ जम्मु नग्गुहं गिउ भडसिरि खग्गु न भग्गु। तिक्खाँ तुरियं न माणियाँ, गौरी गली न लग्गु॥"—भी मिलते हैं।

मुक्तक पद्यकी धारासे भिन्न अपभ्रंशकी कृतियोंमें कथा-साहित्य मिलता है। ग्यारहवीं, बारहवीं और तेरहवीं शतियोंके कई चरित-काव्य अपभ्रंशमें मिलते हैं। इन कृतियोंमें किसी पौराणिक या ऐतिहासिक व्यक्तिका चरित्रवर्णन मिलता है और चरित्रकथनके लिए 'कडवक' शैलीका प्रयोग हुआ है। विद्यापतिकी 'कीर्तिलता' और चन्दका 'पृथ्वीराज रासो' इससे कुछ भिन्न, किन्तु बहुत कुछ चरितकाव्योंके समान शैलीमें लिखी गयी कृतियाँ हैं। 'सुदंसण चरिउ' जैसी अपभ्रंश-कृतियोंके समान इन रचनाओंमें भी विविध छन्दोंके सहारे ऐतिहासिक चरितनायकोंकी कथा कही गयी है। प्राचीन कथा-ग्रन्थोंके समान भृंग-भृंगी, शुक-शुकीके संवादोंकी परम्परा इन ग्रन्थोंमें भी मिलती है।

इस कालकी एक अन्य साहित्यिक धारा रासक ग्रन्थोंकी मिलती है। रासक या रासो ग्रन्थोंके दो रूप इस कालमें प्राप्त होते हैं। एक 'संदेशरासक' जैसी रचनाओंका विविध छन्दोंवाला साहित्यिक रूप—इस प्रकारकी कृतियाँ पाठ करनेके लिए थीं। दूसरा रूप लघु-रासो कृतियोंका मिलता है। इस प्रकारकी कृतियोंमें किसी व्यक्ति, तीर्थ या व्रतकी कथा मिलती है। ये कृतियाँ गाकर सुनायी जानेके लिए रची जाती रही होंगी। इस प्रकारकी कृतियोंमें प्रायः एक ही छन्दका प्रयोग आदिसे अन्ततक मिलता है और कुछ कृतियोंमें इस प्रकारके स्पष्ट उल्लेख भी मिलते हैं कि कृतियाँ गाकर पाठ करनेके लिए रची गयी हैं। कहीं-कहीं शीर्षक रागोंमें दिये हुए मिलते हैं। अपभ्रंशका 'उपदेश रसायन रास' तथा हिन्दीमें नरपति-नाल्हका 'बीसलदेव रास' इसी प्रकारके ग्रन्थ हैं। 'पृथ्वीराज रासो' दूसरे प्रकारकी कृति है, जो 'संदेशरासक' जैसी कृतियोंकी परम्परामें आती है।

हिन्दी साहित्यके आदिकालके सम्बन्धमें विद्वानोंका मत है कि इस कालका परिचय देनेवाली कृतियोंमेंसे सभी प्रायः हिन्दी प्रदेशके बाहर ही लिखी गयी मिलती हैं, और अपभ्रंशकी कृतियाँ भी हिन्दी प्रदेशके बाहर ही प्राप्त हुई हैं। हिन्दी प्रदेशकी राजनीतिक स्थिति ऐसी रही कि यहाँ ग्रन्थ सुरक्षित नहीं रह सके। जो ग्रन्थ इधर-उधर पहुँच गये, वे ही बच सके। इस कालका परिचय देनेवाले प्रमुख ग्रन्थ इस प्रकार हैं—अपभ्रंश कृतियोंमें बौद्ध गान और दोहा, जैन विचारकोंके दोहे, 'कुमारपाल प्रतिबोध', 'प्रबन्ध चिन्तामणि', 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह'में प्राप्त अपभ्रंश पद्य, 'संदेशरासक', विद्यापतिकी 'कीर्तिलता', 'कीर्तिपताका', अलंकार-ग्रन्थों तथा हेमचन्द्रके व्याकरणमें प्राप्त होनेवाले अपभ्रंश पद्य आदि अपभ्रंश रचनाएँ तथा 'प्राकृतपैंगल'के अपभ्रंश पद्य।

'उक्तिव्यक्तिप्रकरण', 'वर्णरत्नाकर', गुजराती रासग्रन्थ, 'बीसलदेव रासो', 'पृथ्वीराज रासो' आदि कृतियोंसे भी इस कालके स्वरूपका परिचय प्राप्त होता है। नाथ-सिद्धोंकी रचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं।

ऊपर जिन कृतियोंका उल्लेख किया गया है, उनमेंसे 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' और मैथिल कृति 'वर्णरत्नाकर'को छोड़कर शेष सभी पद्यबद्ध हैं। गद्य संस्कृत और प्राकृतमें तो मिलता है, अपभ्रंश या प्राचीन हिन्दीमें गद्य नहीं मिलता। सबसे प्रचलित और प्रसिद्ध अपभ्रंशका छन्द दोहा है, जिसका मुक्तक काव्यके रूपमें बहुत ही सफल प्रयोग इस कालमें हुआ है। चौपाई और दोहाका सम्मिलित रूप कथा कहनेके लिए हिन्दी चरितकाव्योंका आदर्श रूप बन गया। इस परम्पराका सूत्रपात अपभ्रंश-कवियोंने किया, बौद्ध सिद्धोंकी रचनाओंमें भी चौपाई-दोहाका प्रयोग मिलता है। जैन चरितकाव्योंमें पद्धड़िया और घत्ताका प्रयोग मिलता है। हिन्दी कृतियोंमें घत्ताका स्थान दोहाने ले लिया, किन्तु शेष ढाँचेमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

'संदेश रासक'में अनेक छन्दोंका प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार 'प्राकृतपैंगल'में छप्पय, रड्डा आदि अपभ्रंशके छन्दोंके लक्षणके साथ प्रसिद्ध अपभ्रंश-कृतियोंसे उदाहरण भी दिये हैं। इन सब मात्रिक छन्दोंके प्रयोग इस कालकी हिन्दी कृतियोंमें मिल जाते हैं।

भक्तिकाल तथा परवर्ती हिन्दी की रचनाओंमें जो रूप मिलता है, उस रूपका पूर्वरूप आदिकालमें मिलता है। और कृतियाँ मिलनेसे तथा उनके अध्ययनसे इस कालकी साहित्यिक प्रवृत्तियोंका स्वरूप धीरे-धीरे अब स्पष्ट हो रहा है। दे० 'सिद्ध-साहित्य', 'नाथ-साहित्य', 'वीर-काव्य'।

[सहायक ग्रन्थ—हिन्दी साहित्यका आदि काल : हजारीप्रसाद द्विवेदी; नाथ सम्प्रदाय : हजारीप्रसाद द्विवेदी; सिद्धसाहित्य : धर्मवीर भारती ।] —रा० सि० तो०

आदिम वृत्तियाँ—दे० 'मूल प्रवृत्तियाँ' ।

आद्यतत्त्व—'कौलिकार्चन दीपिका'में पाँच आद्यतत्त्वोंका उल्लेख हुआ है, जिसमे विजया (भाँग)को आद्यमद्य, अदरकको आद्यशुद्धि या माँस, जर्म्बीरको आद्यमीन, धान्यज (धानको भूनकर तैयारकी गयी खील)को आद्यमुद्रा और साधककी विवाहिता पत्नीको आद्याशक्ति बताया गया है । —रा० सि०

आधार--आधार सोलह है । गोरखनाथने इनकी जानकारीको योगियोंके लिए अनिवार्य बताया है, हठयोगी मानता है कि जो कुछ ब्रह्माण्ड है वह सब थोडे छोटे रूपमें पिण्डमेभी है । इसी कारण वह पिण्डमे आकाश, पीठ, तीर्थ, जल, नदी, समुद्र आदिकी कल्पना करता है । आधार भी पिण्डके अन्तर्गत ही कल्पित किये गये है और पैरके अँगूठोंसे लेकर आँखोंतक शरीरके विभिन्न स्थानोंपर इनकी स्थिति बतायी गयी है । पहला आधार पादांगुष्ठ कहा जाता है । हठयोगियोंका विश्वास है कि इसपर एकाग्रदृष्टि करके ज्योति चैतन्य करनेसे दृष्टि स्थिर होती है । दूसरा आधार मूलाधार कहलाता है, जो अग्निको दीप्त करता है । तीसरे और चौथे आधार हैं, गुह्याधार तथा विन्दुचक्र; जिनके संकोच-विस्तारके अभ्यास द्वारा अपान वायुको वज्रगर्भ नाड़ीमें प्रविष्ट कराकर विन्दुचक्रमें पहुँचाया जा सकता है । इस प्रकार करनेसे वीर्य स्तम्भनकी शक्ति बढती है और बज्रोली (दे०)की साधनाके समय वीर्यको योनिमें स्खलितकर पुनः खींचकर वज्रनाडी द्वारा विन्दु स्थानमें पहुँचाया जा सकता है । पाँचवाँ नाड्याधार या उड्डीयानबन्धाधार है । पश्चिमतान आसन बाँधकर गुदाको संकुचित करनेसे मल-मूत्र और कृमिका विनाश होता है । छठाँ नाभिमण्डलाधार है, जिसमें चैतन्य ज्योतिःस्वरूपका ध्यान करनेसे तथा ओंकारके जापसे नादकी उत्पत्ति होती है । हृदयाधार सातवाँ आधार है । इसमें प्राणवायुका रोध करनेसे हृत्कमल विकसित होता है । आठवाँ कंठाधार है । ठुड्डीको हृदयदेशपर दृढतापूर्वक अवस्थित करके ध्यान करनेसे इड़ा और पिंगलामें प्रवाहित होनेवाला वायु स्थिर होता है । नवाँ आधार है कंठमूलमें स्थित क्षुद्रघण्टिकाधार । गलेमें स्थित काकल या कौवेके नामसे जानी जानेवाली लिंगाकार दो लोरें ही क्षुद्रघण्टिकाधार हैं, जहाँ जीभको उलटकर पहुँचानेसे ब्रह्मरन्ध्रमें स्थित चन्द्रमण्डलसे निरन्तर झरता रहनेवाला अमृतरस पीना सहज हो जाता है । दसवाँ तालव्न्ताधार है, जिसमें जिह्वाको चालन एवं दोहन द्वारा लम्बी करके अगर प्रवेश कराया जाय तो खेचरी मुद्रा (दे० खेचरी)-की सिद्धि होती है । ग्यारहवाँ आधार रसाधार कहलाता है । यह जिह्वाके अधोभागमें स्थित होता है । गोरक्षपद्धति' (पृ० १३)में दसवें एवं ग्यारहवें आधारोंका नाम क्रमशः 'जिह्वामूलाधार' और 'जिह्वाका अधोभागाधार' बताया गया है । बारहवाँ ऊर्ध्वदन्तमूलाधार है, जिसपर जिह्वाग्रको बलपूर्वक दबानेसे क्षणमात्रमें व्याधियाँ क्षीण हो जाती है । तेरहवाँ नासिकाग्राधार है । इसपर दृष्टि बाँधकर देखनेसे मनमे स्थिरता आती है । चौदहवाँ नासामूलाधार है, जिसपर लगातार छः महीने तक दृष्टि स्थिर करनेसे ज्योति प्रत्यक्ष होती है । पन्द्रहवाँ भ्रूमध्याधार कहलाता है । अगर आँखोको ऊर्ध्व रखकर इसपर देखनेका अभ्यास किया जाय तो सामने उज्ज्वल किरणोके दर्शन होते है । कहते है यही आधार मनको सूर्याकाश (दे० आकाश)में लीन करनेवाला है । सोलहवाँ और अन्तिम आधार है नेत्राधार । अँगुलीसे आँखके अपांगों (कोणो)को ऊपरकी ओर चलानेसे ज्योतिपुंजका दर्शन होता है । —रा० सि०

आधिकारिक वस्तु—दृश्य काव्यमें वस्तुके दो भेद किये गये है—आधिकारिक और प्रासंगिक । आधिकारिक वस्तुको मुख्य कथावस्तु या मूल कथावस्तु भी कहते है । 'आधिकारिक' शब्दकी व्युत्पत्ति करते हुए दशरूपककारने कहा है "अधिकारः फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः । तन्निर्वृत्तमभिव्यापि वृत्तस्यादाधिकारिकम् ॥" ('दशरूपक', १:१२)—अर्थात्, फलपर स्वामित्व प्राप्त करना अधिकार कहलाता है और उस फलका भोक्ता अधिकारी कहलाता है । फलभोक्तासे सम्बद्ध कथा 'आधिकारिक' कहलाती है । फलका भोक्ता, जो अधिकारी कहा गया है, वही नायक होता है । जयशंकर 'प्रसाद'के 'स्कन्दगुप्त'का नायक स्कन्दगुप्त फलभोक्ता है । इससे सम्बद्ध कथा **मूल कथावस्तु** या **आधिकारिक कथावस्तु** है । यह कहा जा सकता है कि 'स्कन्दगुप्त'की सभी कथाएँ नायकसे किसी-न-किसी प्रकार सम्बद्ध हैं, फिर आधिकारिक कथावस्तुकी संज्ञा किस कथाको दी जायगी ? कुसुमपुरकी घटनाएँ जो स्कन्दगुप्तके जीवनको सीधे प्रभावित करती है, मुख्य कथावस्तुके अन्तर्गत आयेंगी । मालवकी कथा, जो आधिकारिक कथाको आगे बढ़ाती है, **प्रासंगिक कथावस्तु** है । इसी तरह 'जनमेजयका नागयज्ञ'में जनमेजयसे सम्बद्ध कथा आधिकारिक तथा नागोंसे सम्बद्ध कथा प्रासंगिक कथावस्तु है । —ब० सि०

आधुनिककाल—हिन्दी साहित्यके इतिहासमें आधुनिककाल प्रायः अंग्रेजी राज्यसे सम्बद्ध किया जाता है । १७०७ ई०में अन्तिम मुगल सम्राट् औरंगजेबकी मृत्युके पश्चात् भारतीय राजनीतिक परिस्थितिके पतनोन्मुख हो जानेके कारण अंग्रेजी राज्यकी स्थापना हुई और १७५७ ई०के बाद निश्चित रूपसे उसका प्रसार होता गया । जिस समय भारतवर्षमें अंग्रेजी राज्यकी स्थापना हुई, उस समय परम्परागत मुख्य साहित्यिक सम्पत्ति ब्रजभाषा-कविता—विशेषतः रीति और शृंगारी कविता ही थी । कविगण परिपाटीविहित और रूढ़िग्रस्त राधा-कृष्णकी लीलाओं और नायक-नायिकाओके कल्पित ऐश्वर्य और विलासमें डूबे हुए थे । इन भावोंकी अभिव्यक्तिके लिए कवियोंके पास उपयुक्त साधन थे । कविताके आदर्शोंमें भी अभी परिवर्तन नहीं हुआ था । किन्तु अंग्रेज अपने साथ उपयोगी ज्ञान-विज्ञान और एक नवीन शासन-पद्धति लाये, जिसके लिए कविता उपयुक्त माध्यम नही थी । अस्तु, एक ओर प्राचीन ब्रजभाषा-कविताका प्रचार बने रहनेके साथ-साथ दूसरी ओर जीवनकी नवीन परिस्थितियों और आवश्यकताओंके अनुसार

गद्यकी आवश्यकताका भी अनुभव हुआ। हिन्दीमें ब्रजभाषा गद्य, राजस्थानी गद्य और खड़ीबोली गद्यकी स्फुट और क्षीण धाराएँ प्रचलित अवश्य थीं, किन्तु वे साहित्यका प्रधान अंग न बन पायीं। अंग्रेजी राज्यकी स्थापनाके अन्तर्गत ऐतिहासिक कारणोंके फलस्वरूप और प्रेस जैसे वैज्ञानिक साधनकी सहायतासे खड़ीबोली गद्यकी परम्पराको पुष्टता प्राप्त होती गयी और थोड़े ही दिनोंमें वह हिन्दी साहित्यका प्रधान अंग बन गयी। वास्तवमें अंग्रेज जिस आधुनिकताको अपने साथ लाये, वह खड़ीबोली गद्यके माध्यम द्वारा ही अवतरित हुई। यह आधुनिकता कलकत्ता सिविलाइजेशन और फोर्ट विलियम कॉलेजमें साकार हो उठी। इसीलिए हिन्दी साहित्यमें आधुनिकता प्रवर्तक निश्चय ही गद्य-लेखक था। अतः आधुनिककालको गद्यकाल कहा जाय तो कोई हानि न होगी। अंग्रेजी राज्यके फलस्वरूप उत्पन्न नवीन शक्तियों और यूरोपसे आये विचारोंके प्रभावान्तर्गत कविताके क्षेत्रमें भी अभूतपूर्व परिवर्तन हुए—पहले बाह्य और फिर उसके आभ्यन्तर रूपमें।

आधुनिककालीन हिन्दी साहित्यको भलीभाँति हृदयंगम करनेके लिए उन नवीन परिस्थितियों, शक्तियों और भावों एवं विचारोंको समझना अत्यन्त आवश्यक है, जो उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियोंमें उत्पन्न हुए हैं। अंग्रेजी राज्यमें नवीन शिक्षा और वैज्ञानिक आविष्कारोंके प्रचारके फलस्वरूप देशमें क्रान्तिकारी, सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक परिवर्तन हुए, जिनके फलस्वरूप विविध प्रकारके आन्दोलनोंसे जीवन स्पन्दित हो उठा। भारतवासी अपना अलसाया हुआ जीवन छोड़कर आगे बढ़े। मध्ययुगीन पतनके बाद इस नवजागरणने देशकी आत्म-गरिमाको फिरसे सजीव बना दिया। पश्चिमका आघात पाकर एक बार तो भारतवासी अपनेको सम्हाल सकनेमें असमर्थ हुए, किन्तु शीघ्र ही उन्होंने अपने पैर जमाये। परिणाम यह हुआ कि पूर्व और पश्चिमका संघर्ष छिड़ गया, जो आधुनिक कालमें उन्नीसवीं शताब्दीसे ही परिलक्षित होता है। सौभाग्यसे इस संघर्षकालमें भी भारतवासियोंने अपना समन्वयात्मक दृष्टिकोण न छोड़ा। उन्होंने पश्चिमके ज्ञान-विज्ञानके साथ-साथ अपनी आध्यात्मिकताकी रक्षा करनेकी सतत एवं सफल चेष्टा की। आधुनिककालके गद्य और काव्य-साहित्य इसके साक्षी हैं। इसके अतिरिक्त व्यापक राष्ट्रीयता भी आधुनिक हिन्दी साहित्यकी एक प्रमुख विशेषता है।

अस्तु, उन्नीसवीं शताब्दीमें नवयुगकी आवश्यकताके साथ हिन्दीके साहित्यिकोंमें विचार-स्वतन्त्रताका जन्म हुआ और भाषाके शब्दकोशमें वृद्धि हुई। गद्यका विविधतासम्पन्न विकास हुआ और कविने अपनी परिपाटीविहित और रूढ़िग्रस्त कविता छोड़कर दुनियाको नयी आँखोंसे देखा।

साहित्यिक दृष्टिसे आधुनिककालकी रूपरेखा इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है :—सर्वप्रथम हम उसके अन्तर्गत उन्नीसवीं और बीसवीं दोनों शताब्दियोंकी गणना करते हैं। उन्नीसवीं शताब्दीको दो भागोंमें विभाजित किया जा सकता है—(१) पूर्वार्द्ध और (२) उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्धमें ब्रजभाषा-काव्यकी प्रधानता रही। गद्यके क्षेत्रमें खड़ीबोली-गद्यकी क्रमिक परम्पराकी स्थापना इसी समय होती है। लल्लूलाल, सदल मिश्र और इंशाकी रचनाओंका आविर्भाव, ईसाई मिशनरियोंकी धार्मिक ग्रन्थोंकी रचना, समाचारपत्रोंका प्रकाशन और शिक्षासम्बन्धी इतिहास, भूगोल, ज्योतिष, अर्थशास्त्र, यात्रा-वर्णन, राजनीति, भौतिक विज्ञान, रसायनशास्त्र, प्रकृतिविज्ञान आदि विविध विषयोंकी पुस्तकोंका निर्माण इस समयकी प्रमुख विशेषताएँ हैं। उन्नीसवीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें ही खड़ीबोली-गद्यने अनेक अंग्रेजी शब्दोंको आत्मसात् करना प्रारम्भ कर दिया था। किन्तु खड़ीबोली-गद्यमें अभी ललित साहित्यकी रचना न हुई थी। यह कार्य उन्नीसवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धमें सम्पन्न हुआ। हिन्दी साहित्यके अन्तर्गत यह भारतेन्दुकालके (दे०) नामसे प्रसिद्ध है, जिसका समय स्थूलतः १८५० से १९०० ई०-तक माना जाता है। ललित साहित्यके प्रणयनकी दृष्टिसे आधुनिकता सर्वप्रथम इसी कालमें दृष्टिगोचर होती है। इस कालमें गद्यके अन्तर्गत नाटक, उपन्यास, निबन्ध, समालोचना, जीवनी आदि साहित्य-रूपोंका प्रणयन हुआ और समाचारपत्र-कलाकी तीव्र गतिसे उन्नति हुई। काव्य-क्षेत्रमें यद्यपि ब्रजभाषा-काव्यकी प्रधानता बनी हुई थी, किन्तु अब उसका एकाधिपत्य मिटता जा रहा था और खड़ीबोली उसका स्थान ग्रहण करने लगी थी, फिर भी १८८५ ई०मे भारतेन्दुकी मृत्युतक खड़ीबोली-आन्दोलन अधिक जोर न पकड़ सका था। भारतेन्दुकालमें जीवनकी नवोत्पन्न परिस्थितियोंके फलस्वरूप उत्पन्न आन्दोलनोंमें सुधार एवं प्रगतिकी प्रबल भावना थी और राजनीतिक एवं आर्थिक क्षेत्रमें इण्डियन नेशनल कांग्रेस (१८८५ ई०)का जन्म एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। इन आन्दोलनोंका प्रभाव गद्य और ब्रजभाषा एवं खड़ीबोली-काव्यपर दृष्टिगोचर होता है और साहित्यका जीवनके साथ सम्पर्क स्थापित होता है। १९०३ ई०मे महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा 'सरस्वती'का सम्पादन-भार ग्रहण किये जानेके समयसे प्रथम महायुद्ध (१९१४–१९१८ ई०)के अन्ततक आधुनिककालको द्विवेदीयुग (दे०) माना जाता है। हिन्दी कहानी इसी युगकी देन है और विविध प्रकारकी गद्यशैलियोंके जन्मके साथ-साथ द्विवेदी-युग खड़ीबोलीके परिष्करण और परिमार्जनका युग है। इस समय गद्य और काव्य दोनोंकी भाषा खड़ीबोली बनी—केवल 'रत्नाकर' ही एक उच्च कोटिके ब्रजभाषा-कवि मिलते हैं।

प्रथम महायुद्धके बादसे लेकर १९३६ ई०के लगभग-तक, जब कि सुमित्रानन्दन पन्तकृत 'युगान्त'का प्रकाशन हुआ, आधुनिककालका छायावादी तथा रहस्यवादी युग (दे०) है। इस युगकी विशेषता प्रधानतः काव्यमें दृष्टिगोचर होती है। कवियोंने एक नवीन मानव-दर्शन ग्रहण किया और एक पुष्ट कलात्मक आन्दोलनको जन्म दिया। द्विवेदी-युग और छायावादी युगके गद्य और काव्य दोनों प्रकारके साहित्योंपर नवीन वैज्ञानिक युगकी छाप स्पष्ट है। प्रकृति-चित्रण भी अब कोरा उद्दीपनमात्र न रह गया था। द्विवेदी-युगमें ही कवियोंने उसके चेतन रूपका चित्रण अपनी अनुभूतियोंके रंगमें रँगकर प्रारम्भ कर दिया था। छायावादी एवं रहस्यवादी रचनाओंमें यह प्रवृत्ति और भी अधिक प्रमुख हो गयी। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय संघर्षका अनुसरण

करनेवाली भाव-धारा भी निरन्तर प्रवाहित होती रहीं। प्राचीन मूल्योंका पुनर्मूल्यांकन होने लगा और महाकाव्य, खण्ड-काव्य, गीति-काव्य आदि काव्य-रूपोंका प्रचार हुआ। गद्य-साहित्यमें भी, विशेषतः उपन्यास और कहानीमें जीवनकी अनेक जटिल एवं दुरूह समस्याओंके समाधानका प्रयत्न किया गया और किया जा रहा है। एकांकी नाटक छायावादी युगकी अपनी विशेषता है। १९३६ ई०के लगभगसे हिन्दी साहित्यमें मार्क्सवादी विचारधारासे प्रभावित प्रवृत्तियोंका जन्म हुआ, जिसे प्रगतिवाद (दे०)के नामसे अभिहित किया जाता है। द्वितीय महायुद्धकाल (१९३९–१९४५ ई०)की परिस्थितियोंने आधुनिक हिन्दी साहित्यमें प्रयोगवाद (दे०)को जन्म दिया। इन प्रधान विशेषताओंके अतिरिक्त आदर्श और यथार्थ भी कवियों और लेखकोंकी विचारधाराको प्रेरित करते रहे हैं।

आधुनिक कालमें हिन्दी साहित्य पाश्चात्य विचारधारासे अत्यधिक प्रभावित हुआ है और अनेक परम्परागत मान्यताओं और जीवनके प्रति दृष्टिकोणमें महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो चुके हैं और हो रहे हैं। इस कालकी कहानी इंशाकृत 'रानी केतकीकी कहानी'से लेकर प्रेमचन्दकृत 'गोदान'तक नित्य नवीन रूप धारण करती रही है। इस कहानीकी मूल संवेदना अधिकाधिक मानवसापेक्ष होती गयी है। पिछले पचास वर्षोंमें यह कहानी संसारके विविध साहित्यिक एवं कलात्मक आन्दोलनोंको लेकर चली है।

[सहायक ग्रन्थ—आधुनिक हिन्दी साहित्य : लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय; आधुनिक हिन्दी साहित्यका विकास : श्रीकृष्णलाल; हिन्दी साहित्य : भोलानाथ।] —ल०सा०वा०

आधुनिकता—सामान्य प्रयोगमें 'आधुनिक' शब्दको बहुत दूर तक समय-सापेक्ष मान लिया जाता है। जैसे इतिहासका विभाजन प्राचीन, मध्यकालीन तथा आधुनिक कालोंमें करते समय। परन्तु यह 'आधुनिक' शब्दका सुविधा-निष्पन्न और लचीला अर्थ है, जिसके अनुसार हर अगला काल अपने पूर्ववर्त्तीकी अपेक्षा आधुनिक या अधिक आधुनिक होता है। पर अपने विशिष्ट रूपमें आधुनिकका अर्थ इससे भिन्न है। आधुनिकताकी पहली और अनिवार्य शर्त स्वचेतनता है। इसके लिए साक्ष्य कई क्षेत्रोंसे प्रस्तुत किये जा सकते हैं। स्वयं इतिहासको यदि लिया जाय तो काल-विभाजनकी तुलनात्मक विवेचनासे स्पष्ट हो सकेगा कि इतिहासके काल, समयकी अवधिकी दृष्टिसे, धीरे-धीरे छोटे होते जा रहे हैं। युग प्रवृत्तियोंका इतना शीघ्र परिवर्तन और उसका इतना शीघ्र अनुभावन गहरी स्वचेतनता द्वारा ही सम्भव है। हिन्दी साहित्यके इतिहासमें प्रायः चार सौ वर्षोंका मध्यकाल केवल दो स्पष्ट युगोंमें विभक्त है—भक्तिकाल और रीतिकाल। दूरवर्ती स्थितियोंको बहुत बारीकी से नहीं देखा जा सकता, इस बातको मानते हुए भी यह स्वीकार करना होगा कि मध्यकालके साहित्यिक युगोंकी प्रवृत्तियाँ निश्चय ही कई शताब्दियों तक प्रायः यथावत् चलती थीं, क्योंकि साहित्यका इतिहास अन्ततः रचनाकारोंकी प्रवृत्तियोंके ही आधार पर लिया गया है। पर आधुनिक कालके प्रारम्भ होनेसे लेकर अब तक प्रायः २५-२५ वर्षोंके कई युग समाप्त हो चुके हैं—भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग, छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और अब वर्तमान समयमें नयी कविता। यह भी निकटवर्ती कालका अनेक खण्डोंमें विभाजन नहीं है; अन्य क्षेत्रोंमें—सबसे अधिक तो शायद विज्ञानमें—विकासकी गति पिछली तुलनामें कहीं अधिक क्षिप्र रही है। जैसा संकेत किया गया, यह क्षिप्रता अनायास नहीं है, वरन् इसके पीछे मानवीय व्यक्तित्वकी स्वचेतनता है।

आर्थिक क्षेत्रोंमें भी इस स्वचेतन वृत्तिके उदाहरण मिलते हैं। अपने 'ह्वाट इज हिस्टरी' शीर्षक व्याख्यान-क्रममें प्रसिद्ध इतिहासकार 'कार'ने इस ओर ध्यान दिलाया है कि पिछले युगोंके आर्थिक विकासमें उन्मुक्त व्यापारका सिद्धान्त प्रचलित था, पर आधुनिक युगमें नियोजित अर्थ-व्यवस्थाको महत्त्व दिया जा रहा है। उन्मुक्त व्यापार-प्रणाली और नियोजित अर्थ-व्यवस्थाके बीच आधारभूत अन्तर स्वचेतन वृत्तिका ही है।

सामाजिक शास्त्रोंके बाहर विज्ञानने स्वचेतनताकी स्थितिको तो उतना प्रतिफलित नहीं किया, पर इतिहासके महत्त्वको अवश्य उसने स्वीकार किया है, विशेषतः नवविकसित चिन्तनमें। सापेक्षतावादका सिद्धान्त जब दिक्‌के अतिरिक्त कालको एक आयामके रूपमें स्वीकार करता है तो विज्ञानमें हमें मानवशास्त्रीय दृष्टि विकसित होती हुई दिखाई देती है। वैज्ञानिक द्वारा कालको अनिवार्य मान्यता प्रदान किया जाना इतिहासकी महत्ताको प्रकट करता है, क्योंकि मानवीय सन्दर्भोंमें कालकी गति और व्यवस्थाको आंकना ही इतिहास है। विज्ञानकी दुनियामें कालको निरपेक्षके स्थान पर सापेक्ष मानने लगना विश्वसम्बन्धी हमारे सम्पूर्ण चिन्तनमें आधार-भूत परिवर्त्तन उपस्थित कर देता है। इसके अनुरूप अब इतिहासमें एक सुनिश्चित घटनाओंका क्रम न होकर मानवीय संचरणकी अनेक पूरक दृष्टियोंसे व्याख्या है। यह नयी दृष्टि इतिहासको नियमनवाद (determinism)से अलग करके उसे अनिवार्य रूपमें मानवीय संकल्पोंके साथ जोड़ती है, जहाँ व्यक्ति इतिहाससे प्रभावित होकर भी उससे ऊपर उठता है, उसे मोड़ता है।

अपनी इस स्वचेतन वृत्तिके कारण आधुनिकताकी प्रमुख चिन्तना वर्तमानके लिए है, क्योंकि 'स्व'का सबसे गहरा बोध और संपर्क वर्तमानमें होता है। वर्तमानकी चिन्तनाके माध्यमसे ही आधुनिक व्यक्ति भविष्यको रूपायित करना चाहता है। स्थितिका दूसरा छोर रोमांटिसिज्ममें मिलता है, जहाँ वर्तमानसे ऊबकर और शायद कभी उससे विद्रोह करके भी, अतीतमें डूबना श्रेयस्कर माना जाता है। अतीतके प्रति सम्मोहनका भाव रोमांटिसिज्मका सर्वाधिक प्रबल तत्व है। वर्तमान परिस्थितियोंसे असन्तोष दुर्बलमना, परन्तु संवेदनशील व्यक्तियोंको बड़ी आसानीसे अतीतमें प्रक्षिप्त कर देता है, क्योंकि गत स्मृतियोंमें डूबना मानसिक सुखोपभोगका सबसे सरल और निश्चिन्त उपाय है, जहाँ कुछ अवांछित घटनेकी संभावना नहीं रहती। शृंगारके एक विशिष्ट पक्षके रूपमें यह मानसिक सुखोपभोग कविताके मुख्य वर्ण्य विषयोंमें रहा है। गद्य, जो अपनी अपेक्षया प्रखरताके कारण रोमांटिक वृत्तिको आसानीसे प्रश्रय नहीं दे पाता, 'रोमांस' और ऐतिहासिक उपन्यासोंके अलग

काव्य-रूप रखता है, जहाँ अतीतके प्रति इस सम्मोहन भावको विशेष रूपसे तुष्टि मिलती है। रोमांटिक तो भविष्यका नियमन और नियोजन भी अतीतके आधार पर ही करना चाहता है, क्योंकि उसका सीधा तर्क है 'वाणको धनुप पर चढ़ाकर जितना ही पीछे खींचा जा सकेगा, उतना ही वह आगे जायगा'। दूसरी ओर वह वर्तमानके अप्रियसे वचनेके लिए भविष्यमें चला जाता है और वहाँसे इस वर्तमानको रंगीन अतीतके रूपमें देखना चाहता है। इस प्रकार रोमांटिसिज्ममें वर्तमानकी चिन्तना सबसे कम है, जब कि आधुनिकता सबसे अधिक महत्त्व वर्तमानको देती है।

अपनी पुस्तक 'कल्चर एण्ड सोसायटी'में रोमांटिसिज़्मसे सम्बद्ध अध्यायका प्रारम्भ करते हुए रेमण्ड विलियम्सने एक बड़ी महत्त्वपूर्ण और रोचक समस्या हमारे सम्मुख रखी है। उनका कहना है कि अंग्रेजी रोमांटिक कवियोंकी दुहरी वृत्तिका समाधान करना हमारे लिए एक जटिल साहित्यिक प्रश्न है। एक ओर इंग्लैण्डके प्रायः सभी रोमांटिक कवि समसामयिक राजनीति और समाजके अनेक पहलुओंमें सक्रिय रुचि रखते थे और दूसरी ओर उनकी कविता है, जिसमे पाठक कोमलता, प्रांजलता और दूसरा दुनियाई तत्व अधिक पाता है। विलियम्स द्वारा संकेतित इस विरोधाभासका प्रमुख कारण रोमांटिक व्यक्तिकी वर्तमानके प्रति अपनी दृष्टि है। वर्तमानसे क्षुब्ध और असंतुष्ट वह अनिवार्य रूपसे रहता है, पर अतीतके सम्मोहनसे उबर न पानेके कारण वह उस वर्तमानसे सर्जनात्मक स्तरपर संघर्ष नही कर पाता, अपने व्यावहारिक जीवनमें यह संघर्ष भले ही कर ले। वह विद्रोही है, पर अतीतके भारसे आक्रांत है, विवश होकर नहीं, स्वयं अपने वरणसे। 'प्रसाद'ने 'कामायनी'में इस स्थितिको कामके एक शापके रूपमें स्वीकार किया है—"रोकर बीते सब वर्तमान क्षण, सुन्दर सपना हो अतीत"। यह रोमांटिक भाव-धाराका मानो मुख्य सूत्र है।

रोमांटिक और आधुनिक दृष्टिकोणोंका एक और अन्तर उनके अपने सामाजिक परिवेशोंके कारण है। रोमांटिसिज्मका विकास विशेष रूपसे उदारतावादी युगमे हुआ, जब कि आधुनिकताका उदय प्रजातांत्रिक पद्धतियोंके अन्तर्गत होता है। उदारतावाद और रोमांटिसिज्ममें व्यक्तिकी स्वाधीनताका सर्वोपरि महत्त्व है; प्रजातंत्र इस व्यक्तिगत स्वातन्त्र्यको मानते हुए भी सामाजिक दायित्वको एक स्वीकारात्मक दृष्टिके रूपमें लेता है; स्वातन्त्र्य और दायित्व इस पद्धतिमें अविच्छिन्न मूल्य है। फलतः रोमांटिक विद्रोही मूल्यहीनताकी स्थितिको अधिक वांछनीय मानता है; पर आधुनिकताका हामी सृजनात्मक मूल्योंके संचरणमें विश्वास रखता है। वर्तमान युगमें राष्ट्रीय संविधानोंका निर्माण इन सृजनात्मक मूल्योंके आधारपर ही किया जाता है।

आधुनिक दृष्टि अनिवार्यतः बौद्धिक है, उसी प्रकार रोमांटिसिज्म मूल रूपसे बौद्धिकता विरोधी है। आधुनिकता सहज ज्ञानको भी बौद्धिक स्तरपर स्वीकार करती है, रोमांटिक व्यक्ति ज्ञानको भी भावावेगसे युक्त कर लेता है। अतीतमें वापस जानेका मार्ग सुविज्ञात है, फलतः रोमांटिक पद्धति बौद्धिक दृष्टिकोणकी अपेक्षा नहीं रखती। दूसरी ओर अनागत भविष्यको रूपायित करनेका संकल्प सूक्ष्मतम बौद्धिक प्रक्रियाओंसे ही पूरा हो सकता है। यह एक संकेत है कि बाल साहित्यमें पिछले युद्धका रंग-बिरंगी परी-लोककी कहानियोंका स्थान वैज्ञानिक कथाएँ और कॉमिक्स (विशेषतः भविष्योन्मुख) क्रमशः लेते जा रहे हैं। संभवतः आधुनिक युगके शंकालु और बुद्धिवादी बच्चे ठेठ रोमांटिककालीन ग्रिम और एण्डरसनमें अपने आपको डुबा नहीं पाते। परियोंके इन अन्यतम कथाकारोंको वर्तमान युग प्रश्रय नहीं देता, क्योंकि परी-लोककी स्थिति नैतिक अथवा अनैतिक न होकर पूर्व-नैतिक मानी गयी है। इस मूल्यहीनताको काव्य मानना रोमांटिक, अबौद्धिक दृष्टि है, पर मूल्योंका सृजन और अन्वेषण प्रमुखतः बौद्धिक व्यापार है।

किसी भी प्रकारका सृजनात्मक संचरण अद्यतन प्रणालियोंसे ही संभव हो सकता है। आधुनिक दृष्टि आधुनिकताके विना अकल्प्य है। और यह आधुनिकता रोमांटिक भावधाराको ठीक-ठीक पर्यवसित किये विना विकसित नहीं हो सकती। अपने वर्तमानके प्रति तीव्रतम सजगता आधुनिकताका केन्द्रीय तत्त्व है। मूल्यके रूपमें विभावित आधुनिकता इतिहासकी प्रक्रियाका अद्यतन चरण है। सृष्टिके विकासकी आधारभूत स्थितियोंका यदि परीक्षण किया जाय तो इस संचरणका क्रम—परिवर्तक > विकास > आधुनिकताके रूपमे दिखायी देगा। आरम्भिक स्थितिमें पदार्थ एक रूपसे दूसरे रूपमे परिवर्तित भर होते हैं। अगले चरणमें यह निरपेक्ष परिवर्तन मूल्यपरक विकासके रूपमें परिणत हो जाता है। और अन्तमे आधुनिकताकी स्थितिमें यह परिवर्तन अधिकाधिक सजग और इसीलिए संकल्प-साध्य बन जाता है, ऐसा परिवर्तन जो घटित होता नही, सजग रूपसे घटित किया जाता है। वर्तमान युगमें स्वचेतनता, इस दृष्टिसे, मानवीय व्यक्तित्वकी चरम परिणति कही जा सकती है।

रोमांटिसिज्मका मानवीय सभ्यताके अनेक दौरोंमे रक्त-बीजकी भाँति फिर-फिरसे उभडनेका एक कारण यह हो सकता है कि अनेक संकल्पोंके होनेपर भी मानवीय प्रगति सही दिशामे हुई है, यह हम अभी तक नहीं मान पा रहे। बहुमुखी भौतिक विकासके बावजूद मानवीय मूल्योंके उत्तरोत्तर गिरते हुए स्तरोका बोध मानों फिरसे हमें उस अतीतमें प्रक्षिप्त कर देता है, जो अब हमें गौरवमय और वर्तमानकी तुलनामें श्रेष्ठतर लगने लगा है। इस दृष्टिसे अतीतका सही-सही उपयोग करनेका प्रश्न एक बड़ी चुनौतीके रूपमें आता है। भारत जैसे पाँच सहस्र वर्ष पुराने अतीतवाले देशके लिए यह समस्या और उलझी हुई है। पर यह निश्चित है कि जब तक अतीतके उपयोगकी समस्या नहीं सुलझती, तब तक राष्ट्रकी सर्जनात्मक प्रतिभाका ठीक-ठीक विकास नही हो सकेगा। अतीतके बोझेको कैसे और किस सीमा तक आगे चलनेके संबल रूपमें परिणत किया जाय, अतीतके उपयोगका यही अभिप्राय है।

आधुनिक दृष्टिकोण रखनेवाले रचनाकारके लिए कई

समस्याएँ सामने आती हैं, जिनका निदान बहुत कुछ उसे स्वयं करना है। एक तनाव है रचनाके उद्देश्य और प्रक्रियाके बीच। आधुनिक कला अपने उद्देश्यको, या कहें गन्तव्यको, पहलेसे निश्चित नहीं करना चाहती। उद्देश्य पहले ही जान लेनेपर प्रक्रियाका कोई महत्त्व नहीं रह जाता। एक अमेरिकन समीक्षकने लिखा है कि न्यूयार्कके एक प्रख्यात और अग्रणी चित्रकारने एक बार उससे कहा— "क (कोई विशिष्ट चित्रकार) आधुनिक नहीं है। वह रेखा-चित्रोंके आधारपर अपने चित्र बनाता है। वह रिनेसाँ युगका है"। रेखाचित्र (drawing)से चित्र बनानेको अनाधुनिक इसीलिए कहा गया क्योंकि रेखाचित्र पूर्ण कर लेनेपर उसका गन्तव्य एक बार निश्चित हो जाता है। फिर दुबारा फलकपर उसकी अनुकृति या उसके आधारपर बना हुआ चित्र प्रामाणिक नहीं होगा। क्योंकि कलात्मक प्रक्रिया एक बार जब सम्पूर्ण हो जाती है तो उसे दुहराया नहीं जा सकता। हाँ, रेखाचित्रोंको अपने आपमें पूर्ण कलाकृतिके रूपमें अवश्य बनाया जा सकता है।

जो भी हो, आधुनिक कलाकारको इस समस्यासे गहरे स्तरोंपर जूझना है। गन्तव्यके पूर्व बोधको स्वीकार करके उसे प्रक्रियाके प्रति सजग रहना है। कलात्मक सृजनके लिए सहजता और स्वचेतनताका यह एक सम्भाव्य सन्धि-स्थल है। जिसके लिए रचनाकारोंमें अभी खोज जारी है। —रा० स्व० च०

आनन्दवाद—आनन्द परब्रह्मका ही वाचक है—"रसो वै सः। रस ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। एष ह्येवानन्दयति" (तै० उ०, २ : ७:१)। वह रस ही है, इस रसको पाकर पुरुष आनन्दी हो जाता है, यह रस सबको आनन्दित करता है। 'बृहदारण्यक उपनिषद्'मे कहा गया है कि "इस आनन्दके अंशमात्रके आश्रयसे ही सब प्राणी जीवित रहते हैं"। स्वयं 'तैत्तिरीय उपनिषद्'में ही जगत्के समस्त पदार्थोंका कारण, आधार और लय आनन्द दिखलाया गया है।

आनन्द अभयत्व है। जबतक द्वैत रहना है, तबतक भय बना रहता है। अद्वैतकी अनुभूतिमे अभयकी प्राप्ति होती है।

आनन्द आत्माका ही लक्षण है। जब हम शोकाकुल या दुःखी रहते हैं तो हम स्वस्थ नहीं रहते। लोग हमारी इस अवस्थाको अस्वाभाविक समझकर इसका कारण पूछते हैं। इसके विपरीत जब हम आनन्दमें रहते हैं तो हम स्वस्थ रहते हैं। इस समय कोई हमारी अवस्थाके बारेमें प्रश्न नहीं पूछता, क्योंकि वह समझता है कि आनन्द हमारी स्वाभाविक और वास्तविक अवस्था है। इससे सिद्ध है कि दुःख आत्माका उपलक्षण (आगन्तुक या परिवर्तनशील गुण) है और आनन्द उसका स्वाभाविक लक्षण है।

आनन्द नित्य है। इसका अभाव कभी नहीं होता। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति, प्रत्येक अवस्थामें आनन्दका कुछ-न-कुछ अनुभव होता है। सुषुप्तिमें विषयोंका अभाव रहता है, फिर भी आनन्दका अनुभव होता है, क्योंकि सोकर जागनेके बाद सबके अनुभवमें ऐसा ही आता है। जाग्रत् और स्वप्नमें सुख तथा दुःख रहते हैं, यद्यपि उनके मूलमे आनन्द ही रहता है। सुषुप्तिमे सुख-दुःखका द्वन्द्व दब जाता है और आनन्दमात्रका अनुभव होता है। अतः आनन्द सदा वर्तमान है और वह अपरोक्ष अनुभव है, वैषयिक ज्ञान नहीं।

प्रायः लोग सुख और आनन्द दोनोंको अभिन्न समझते हैं। पर तात्त्विक तथा नैतिक दृष्टिसे दोनोंमे अन्तर है। वेदान्ती सुखको सातिशय सुख और आनन्दको निरतिशय सुख कहते हैं। सुख परिवर्तनशील, अस्थिर और भंगुर है, आनन्द नित्य तथा स्थिर है। सुख दुःखकी अपेक्षा करता है। सुख-दुःखका एक द्वन्द्व है। आनन्द इस द्वन्द्वसे मुक्त है। वह द्वन्द्वानुभूति न होकर अद्वैतानुभूति है। सुखको आनन्दलेश या आनन्दकी अल्प मात्रा कहा जाता है। इसकी तुलनामें आनन्दको आनन्दघनकी संज्ञा दी जाती है। सुखका सम्बन्ध शरीर और इन्द्रियोंसे है, आनन्दका आत्मासे। सुख विषय या ज्ञेय है, आनन्द अविषय, विषयी या ज्ञाता। सुख लौकिक है, आनन्द अलौकिक या लोकोत्तर। सुख आनन्दपर निर्भर है, आनन्द स्वयं आत्मनिर्भर है। सुख प्रेयकी प्राप्ति है और आनन्द श्रेयकी। अभ्युदय सुखका क्षेत्र है और निःश्रेयस आनन्दका। सुखका सत् गुणसे विरोध हो सकता है, पर आनन्दका नहीं।

जिसे आनन्दका सच्चा आस्वादन होता है, उसको अन्य सब कुछ फीका लगता है। आनन्दका स्वाद गूँगेका गुड़ चखना है। आनन्द अनुभवैकगम्य है।

आनन्द आत्माका स्वभाव है। आत्मज्ञान न रहनेसे आनन्दका भी ज्ञान नहीं होता। आनन्द-लाभका वही साधन है, जो आत्मलाभका है। ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग, भक्ति-मार्ग, प्रपत्तिमार्ग, पुष्टिमार्ग और योगमार्ग इसको प्राप्त करनेके साधन हैं। आनन्दकी उपलब्धि ही मोक्ष है।

काश्मीर शैवमत (दे०)मे आनन्द-तत्त्वकी विशेष व्याख्या की गयी है। इसमें सत् और चित्को गौण तथा आनन्दको मूल पदार्थ माना गया है।

हिन्दीके सन्त-साहित्य, भक्ति-साहित्य और वर्तमान रहस्यवाद-साहित्यमें आनन्दवादके सिद्धान्तोंकी स्थापना हुई है। आनन्दको प्राप्त करनेकी उत्कट इच्छा ही यहाँ साहित्य-में पथ-प्रदर्शिका बनी है। भक्ति चाहे वह सगुण ब्रह्मकी हो या निर्गुण ब्रह्मकी, आनन्ददायिनी है। नैतिक दृष्टिसे सभी सन्तों, भक्तों और रहस्यवादियोंका सिद्धान्त आनन्दवाद ही है; सुखवाद या दुःखवाद नहीं। आनन्द-लाभ ही उन सबका लक्ष्य है। इसी कसौटीसे वे अच्छे-बुरेकी, सज्जन-दुर्जनकी पहिचान करते है। तुलसीदासने 'स्वान्तः सुखाय' के रूपमें आनन्दको ही सर्वोच्च परमार्थ माना है। आधुनिक हिन्दी कवितामें 'कामायनी'के माध्यमसे 'प्रसाद'-ने भी आनन्दवादका अत्यन्त सशक्त समर्थन किया है। उनके मतसे आनन्द ही एकमात्र और परम मूल्य है। उसीको प्राप्त करनेके लिए मानव चिरकालसे प्रयास कर रहा है। आज भी उसका प्रयास जारी है। मानवकी समस्त क्रियाएँ इसी प्रयासके रूप हैं। साहित्य-सृजन भी इसी प्रयासका एक अंग है। नव सृजनकी प्रेरणा, क्रिया तथा लक्ष्य सभी कुछ आनन्द है। आनन्द ही सृष्टिका

परम गुह्य तत्त्व है या मानव आत्माका सार है। इसकी उपलब्धि सहज नहीं है। इसके लिए मनीषा, बुद्धि, श्रद्धा प्रेम, कर्म तथा सहकारिताकी आवश्यकता है। इन शक्तियोंका समुचित प्रयोग करके मानव आनन्दको प्राप्त कर सकता है और उस समाजकी रचना भी कर सकता है, जहाँ सभीको उसकी तरह आनन्द सुलभ हो।

आनन्दवादका प्रचार आधुनिक भारतीय मनीषी श्री अरविन्दकी रचनाओं द्वारा विशेष हुआ है। उनके प्रभावमें आनेके कारण हिन्दीमें कुछ कवियों पर भी आनन्दवादका प्रभाव पड़ा है। हिन्दी प्रदेशके कुछ आधुनिक सन्तोंने आनन्दमार्गकी स्थापनाकी है। इन सबकी रचनाओं और क्रियाओंमें योगका विशेष प्रभाव है। मध्ययुगीन आनन्दवादी साहित्यपर जितना अधिक प्रभाव भक्तिका है, उतना ही आधुनिक हिन्दी साहित्य पर योग या ध्यानयोगका प्रभाव है। इन दोनों प्रकारसे भिन्न 'प्रसाद'का आनन्दवाद है। वह न तो भक्तिवादी है और न योगवादी। वह बुद्धिवादी है।

भारतीय साहित्यशास्त्रपर भी आनन्दवादका पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। काव्यानन्द ब्रह्मानन्द-सहोदर माना गया। रसात्मक वाक्यको ही काव्य कहा गया और रसकी कल्पना विशुद्ध ब्रह्मानन्दके रूपमें ही की गयी। सन्तों और भक्तोंने तो भक्तिको ही मुख्य रस माना और अन्य सभी रसोंको भक्तिका ही अवान्तर रूप कहा। रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे इस समय इस मतके सबसे प्रबल समर्थक हैं।–सं०ला०पा०

आनंदसम्मोहिता–दे० 'प्रौढ़ा', नायिका।

आनुषंगिक वक्रता–दे० 'प्रबन्धवक्रता', चौथा नियामक।

आंतरिक आलोचना-प्रणाली–साहित्य-शास्त्रको दो भागोंमें बाँटा गया है—फार्म और मैटर अथवा काव्य-दर्शन और काव्य-रीति। कुछ विद्वान् फार्मको महत्त्व देते हैं, कुछ मैटरको। फार्मको प्रधानता देनेवाले आलोचक इन्ट्यूटिव या रसवादी कहलायेंगे।

प्रस्तुत आलोचना-पद्धतिका मुख्य लक्ष्य है कृतिकी आत्माको पहचानना। इस पद्धतिका आलोचक शरीरको आत्माका बाह्य स्वरूप कहकर उपेक्षा करता है और कृतिकी गहराईमें पैठकर भाव-सत्योंके मोतीको चुनना चाहता है। छन्द, लय, सर्ग, परिच्छेद, अलंकार, शब्द-शक्ति, शैली, रीति आदि तो बाहरकी वस्तुएँ हैं, मूल वस्तु आत्मा, स्पिरिट अथवा भाव है। अतएव भावका सौन्दर्य ही सत्य है। शैली या रूप तो असत्य और क्षणिक है। साहित्यका सत्य तो आत्मानुभूति है। साहित्यकारकी वास्तविक उत्स-भूमि वह मानसिक प्रक्रिया है, जिसमें कल्पनाके अविरल प्रवाहसे गहन-संश्लिष्ट निविड़ भावोंकी प्रधानता होती है। इसी सिद्धान्तका समर्थन करनेवाली अलोचना-पद्धति आन्तरिक आलोचना कहलाती है।

सचमुच यह एक जटिल प्रश्न है कि कार्य और कारणमें, बीज और फलमें, शरीर और आत्मामें किसको प्रधान माना जाय? फिर भी आन्तरिक सत्यको ही अबतक महत्त्व मिलता आया है। प्लेटो, अरस्तू अथवा यूनानी साहित्यिक तो एक स्वरसे भावको महत्त्व देते आये हैं। वैसे इनके सिद्धान्तोंकी मूल स्पिरिटकी उपेक्षा हुई और वादके आलोचकोंने इनके बताये हुए आदर्शोंके स्थूल रूपको ही प्रधानता दी। परन्तु किसी भी सिद्धान्तमें अन्तरकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, चाहे वह अभिव्यंजनावाद हो, सौन्दर्यवाद हो अथवा अस्तित्ववाद या ऑनिवस्तुवाद हो। इस प्रकार प्लेटोसे लेकर टी. एस. इलियटतक, सबने एक स्वरमें अन्तरके महत्त्वको कबूल किया है। यह बात दूसरी है कि कुछने बाह्यको ही अन्तरका प्रतिरूप माना है—जैसे, अभिव्यंजनावादी। इसी तरह कुछने अन्तरके महत्त्वको प्रतिष्ठित करते हुए नीतिको अधिक महत्त्व दिया तो किसीने वासनाको और किसीने क्षुधाको। इस सन्दर्भमें टाल्स्टाय, फ्रायड, मार्क्सके नाम लिये जा सकते हैं। इनकी तुलनामें रिचर्ड्स, टी. एस. इलियट विशुद्ध रसवादी आलोचक कहे जायँगे।

संस्कृतमें तो रस अर्थात् भावको इतना अधिक महत्त्व मिला कि 'रस'को ब्रह्मके रूपमें देखा गया। भरतमुनि, लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक आदिने रसको ही काव्यकी आत्माके रूपमें स्वीकार किया है। रस और कुछ नहीं, भावका आस्वादन है और यह आस्वादन अनिवार्यतः आनन्दमय है तथा यह आनन्द अखण्ड, चिन्मय, वेदान्तर-स्पर्शशून्य है। इसी तरह ध्वनिवादियोंने भी अन्तरको महत्त्व दिया। ये दोनों आत्मवादी हैं। किन्तु हमें यहाँ ध्यान रखना होगा कि तत्त्वरूपमें रस और रीति, आत्मा और शरीर एक-दूसरेके विरोधी नहीं हो सकते, बल्कि ये एक-दूसरेके पूरक एवं अन्योन्याश्रित हैं।

हिन्दीकी प्रारम्भिक आलोचना निश्चय ही साहित्यके अन्तरसे दूर रही, परन्तु रामचन्द्र शुक्लसे जो इसकी परम्परा बनी, वह अबतक अक्षुण्ण है। गो कि आपसके विरोध विद्यमान हैं किन्तु चाहे किसी वर्ग, सिद्धान्तके प्रतिपादन करनेवाले आलोचक हों, सबने अन्तरको पहचाननेका प्रयत्न किया है। —रा० कु० स०

आमुख–दे० 'प्रस्तावना'।

आम्नाय–तन्त्रोंमें आम्नाय छः बताये गये हैं। कहते हैं भगवान् सदाशिवने अपने एक-एक मुखसे एक-एक आम्नायका उपदेश दिया था। शिवके पाँच मुख माने जाते हैं। छठाँ आम्नाय उनके गुप्त और नीचेकी ओर अभिमुख मुँहसे निकला बताया जाता है। अपने सद्योजात नामक पूर्वमुखसे उन्होंने 'पूर्वाम्नाय'का उपदेश दिया था, जिसमें भुवनेश्वरी, त्रिपुरा, ललिता, पद्मा, शूलिनी आदि देवियोंकी अर्चाविधि एवं मन्त्रोंका व्याख्यान किया गया है। शिवके पूर्वमुखको मुक्ताभ, त्रिनयन और द्वितीयाके चन्द्रसे शोभित बताया गया। दूसरा अघोर नामक, त्रिनयन एवं पीताभ मुखसे उपदिष्ट 'दक्षिणाम्नाय' है जिसमें प्रसाद सदाशिव, महाप्रसादमन्त्र, दक्षिणामूर्ति, वटुक, मंजुघोष भैरव, मृत संजीवनी विद्या तथा मृत्युंजयका व्याख्यान और उनकी अर्चाविधि एवं मन्त्रोंका विधान है। तत्पुरुषनामक नवजात मेघकी कान्तिवाले (श्याम) पश्चिम मुखसे गोपाल, कृष्ण, नारायण, वासुदेव, नृसिंह, वामन, वाराह आदि विष्णुके अवतारों, चन्द्र सूर्य आदि ग्रहों, गरुड़, हनुमान्, दिक्पाल आदि सुरों तथा उनके मन्त्रों और अर्चाविधियोंका व्याख्यान करनेवाला तीसरा पश्चिमाम्नाय है। वामदेव नामक उत्तर मुखसे 'उत्तराम्नाय' उपदिष्ट हुआ है।

इस मुखमें तीन नेत्र हैं और इसका रंग नीला है। इसमें दक्षिण कालिका, महाकाली, श्मशानकाली, भद्रकाली, उग्रतारा, छिन्नमस्ता, दुर्गा आदि देवियों, उनकी अर्चाविधि एवं मन्त्रोंका व्याख्यान है। पाँचवाँ ऊर्ध्वाम्नाय है, जो शुक्लवर्ण वाले ऊर्ध्वमुखसे निकला है। इसमे त्रिपुरसुन्दरी, श्मशानभैरवी, भुवनेशीभैरवी, अन्नपूर्णा भैरवी, पंचमी, षोडशी, मालिनी आदिका तथा उनके मन्त्रो एवं अर्चा-प्रकारोका उपदेश है। छठाँ मुख विभिन्न वर्णोंसे दीप्त है और गुप्त भी है। इस छठेंमे—आद्याम्नाय या ईशानाम्नाय निकला है। इनमें प्रथम चार आम्नाय धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सभीके लिए हैं और ऊर्ध्व तथा आद्याम्नाय मात्र मोक्षके लिए हैं ('समयाचार तन्त्र, अध्याय २)। सामान्यतया छठे आद्याम्नायकी पूजा नहीं की जाती। सम्मोहनतन्त्रमें इसे छोडकर शेष पाँच आम्नायोंकी ही व्याख्या करता है और इन्हे देशपर्यायकी संज्ञा देता है। छठें आम्नायको पाताल आम्नाय और सम्भोग योग भी कहा गया है। 'निरुत्तर तन्त्र'में बताया गया है कि प्रथम दो आम्नायोमे पशु (दे० 'पशु') साधकोंके लिए, तीसरा अर्थात् पश्चिमाम्नाय पशु और बीर (दे० 'वीर') दोनोंके लिए, चौथा उत्तराम्नाय वीर और दिव्य (दे० 'दिव्य') दोनोंके लिए तथा पाँचवाँ ऊर्ध्वाम्नाय मात्र दिव्य साधकके लिए विहित है (विशेष विवरण-के लिए दे० 'शक्ति एण्ड शाक्त' : सर जॉन वुडरफ, चौथा संस्करण, पृ० १४८–१५१)। —रा० सिं०

आयतन–'दे० 'जगतानुबोध'।

आयाम–'डाइमेन्शन' या 'स्मित'के अर्थमें प्रयुक्त। यह एक दिग्गुण (space-quality) है। मूलतः चित्रकलामें एक सपाट कागज या कपड़ेपर जो गोलाई, गहराई, दूरीका आभास उत्पन्न किया जाता है, केवल रंगोंके या रेखाओंके और छाया-प्रकाशके संयोजनसे, उसीको दो आयामवाला चित्र कहा जाता है। जब शिल्पमें अर्द्ध-उत्कीर्ण या सम्पूर्ण लम्बाई-चौड़ाई और गहराईवाली प्रकृतिकी अनुकृतियाँ होने लगी, तो तीसरा आयाम भी प्रत्यक्ष हुआ। इस प्रकारसे धीरे-धीरे फिल्मोंमें तीन-आयामवाले चित्रपट बने, जिनमें आपको दूरकी चीजें दूर और पासकी चीजें और भी पास दिखाई देती हैं।

साहित्यकी अपेक्षामें जब प्राचीनकालमें महाकाव्योंके चरित्र या अन्य वर्णन केवल काले और सफेद रंगोंमें रँगे जाते थे—यानी नायक धीरोदात्त सर्वगुण-सम्पन्न होता, खलनायक सब दुर्गुणोंका पुतला—तब उसमे स्वाभाविकता-की बड़ी कमी थी। वह वर्णन कल्पनाश्रित अधिक था, वास्तव-से मिलता हुआ या यथार्थवादी कम। आधुनिक कहानियोंमें भी जब निष्कर्षवाद, नैतिक उपदेश आदि प्रधान हो उठता है तो यही दोष उत्पन्न होता है, चित्रणमें स्वाभाविकताकी कमी हो जाती है। 'आस्पेक्ट्स ऑव नावेल' (ई० एम० फार्स्टर)में चरित्रोंके दो प्रकार बताये गये हैं—ईंटकी तरह साँचाबन्द और गोलाई लिये हुए। साँचेमें बँधे हुए पद्य-बन्ध या कथानक टाइप-नुमा चरित्र इसलिए हृदयस्पर्शी नहीं होते। वे मनको छूते ही नही। नये साहित्यमें इसी कारणसे तृतीय आयाम या गहराईकी ओर अधिक ध्यान दिया जाता है।

उदाहरणार्थ, काव्यका पहलेके जमानेमें सीधे अभिधा या गुणपर जोर था। बादमें लाक्षणिकता बढ़ी तो रीतिबद्ध होकर उक्तिचमत्कारतक पहुँची, परन्तु अब कविताकी समग्र प्रभावशीलता, एक प्रकारका 'whole' या सांगो-पांग एकात्म (कीह्लर द्वारा मनोविज्ञानमें प्रयुक्त शब्द) अनुभव है। कविताकी सृष्टि भी इसी प्रकारके अविभाज्य अभेदात्मक प्रत्ययका ही परिपाक है। अतः नयी कविताने तीसरा आयाम उत्पन्न किया, यह कहा जाता है तब इसका अर्थ इतना ही है कि छायावादके भाव-प्रवण एक आयाम और प्रगतिवादके निरे विचार-मय दूसरे आयामकी अपूर्ण-तामेंसे उत्पन्न तीसरे आयामकी आवश्यकता प्रयोगवादने पूरी की।

मनुष्य-सृष्टि न निरी अच्छी ही अच्छी है, न निरी बुरी ही बुरी—फासिज्म-विरोधी या कम्युनिज्म-विरोधी प्रचारा-त्मक उपन्यासों और कथाओंमें इसी प्रकारका प्राचीन राम-रावण-द्वन्द्व चित्रित रहता है। मनुष्य कमजोरियों और सम्भावनाओं, दुर्बल संकल्प और सबल क्रियाशीलताका एक मिश्रण ही नहीं, अपितु पुंजीभूत चिन्मय इकाई है। इस कारणसे जो भी साहित्य-समीक्षा साँचोंके आधारपर चलती है, वह दो आयामोंतक ही सीमित रहती है।

मनोवगाहन-शास्त्रने मनुष्यके चेतन-जीवनके विषयमें एक तीसरा आयाम निर्मित किया। उसका प्रभाव हिन्दीमे प्रेमचन्दोत्तर आख्यायिका-साहित्यपर पड़ा। और जैनेन्द्र, 'अज्ञेय' इत्यादिकी हिन्दी कथासाहित्यको देन इसी नये आयामकी निर्मिति है।

आलोचनामें मनोविश्लेषण और समाज विज्ञानके नवीन-तम शोधोंपर आश्रित दृष्टिने नया आयाम यह उत्पन्न किया है कि रसोंकी पुरानी चौखट या ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक भौतिकवादके साँचेके भीतर पैठकर, मानवी-मन द्वारा निर्मित सौन्दर्य-सृष्टि और सौन्दर्य-प्रतीतिके क्षेत्रमें, नवीन सम्भावनाएँ पैदा की। पहले हास्य करुणका विरोधी रस माना जाता था, अब हास्यास्पद किन्तु फिर भी करुणा-जनक व्यक्ति, प्रसंग या दृश्य-कहानियोमे चित्रित हो जाते है। अतः अब इलियट आदि आलोचक यह मानने लगे है कि साहित्यकी श्रेष्ठताका आयाम केवल काल या दिक् ही नहीं, परन्तु उसमें 'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति'वाली अपूर्व वस्तु निर्माणक्षमता है। श्रेष्ठ (क्लासिक) साहित्य न केवल इस मानेमें अमर रहता है कि उसका महत्त्व कैलेंडरकी तिथियों या मौसमके अनुसार बढ़ता-घटता नहीं, परन्तु वह सार्वत्रिक, सार्वजनीन, सर्वस्पर्शी भी होता है। और यह सर्व केवल सतही अनेक देशोंमें फैलनेवाला नहीं, वह अतल-स्पर्शी भी होता है। यानी एक रचना किसी भी समयमे, किसी भी देशमें, किसी भी व्यक्तिको बार-बार पढ़ने लायक या देखने लायक या सुनने लायक जान पड़े—इसमें उसकी महत्ता या श्रेष्ठत्व निहित है। यह पौनःपुन्यसे क्षीण न होनेवाला सौन्दर्यानन्द नयी आलोचनाका नया मूल्य, मान-दण्ड या आयाम है। यहाँ आयाम इसी नये 'नाम'के अर्थमें प्रयुक्त है। —प्र० मा०

आरंभ–रूपककी पाँच अवस्थाओमेसे पहली अवस्था। अत्यधिक फललाभकी उत्सुकता ही आरम्भ कहलाती है।

'औत्सुक्यमात्रमारम्भः फललाभाय भूयसे' ('दशरूपक', १ : १९ और २० के मध्यका श्लोक)। नायकादिके मनमें फलप्राप्तिकी जो इच्छा होती है, वही आरम्भ कहलाती है। उत्सुकतामात्रका पाया जाना आरम्भ है। 'प्रसाद'के 'ध्रुवस्वामिनी'में आरम्भ नामकी कार्यावस्था वस्तुतः वहाँसे चलती है, जहाँ ध्रुवस्वामिनीने अपना निश्चय प्रकट किया है, "पुरुषोंने स्त्रियोंको अपनी पशु-सम्पत्ति समझकर उनपर अत्याचार करनेका अभ्यास बना लिया है, वह मेरे साथ नहीं चल सकता। यदि तुम (रामगुप्त) मेरी रक्षा नहीं कर सकते तो मुझे बेच भी नहीं सकते"। यहाँसे यह स्पष्ट बोध होने लगता है कि वह राष्ट्र और अपने पद-गौरवकी रक्षाके लिए पूर्णतया तत्पर तथा कृतनिश्चय हो गयी है। यही फलप्राप्तिका आरम्भ है। —ब० सि०

आरंभ (आधुनिक नाटक)—नाटकलेखककी समस्याओंमें एक महत्त्वपूर्ण समस्या यह होती है कि जनताका रस-भंग किये बिना किस प्रकार नाटकके घटना-कालसे पूर्वकी सूचनाएँ दर्शकोंको दी जायँ, जिससे यह मालूम हो सके कि पर्दा उठनेसे पूर्व क्या वस्तुस्थिति थी। आरम्भमें नाटककारका उद्देश्य होता है प्रेक्षकोंको वे सारी आवश्यक सूचनाएँ दे देना जो नाटकको समझनेके लिए आवश्यक हो। वास्तवमें इसके पहले कि दर्शक नाटकके विविध चरित्रोंके भाग्यनिर्णयके विषयमें उत्सुक हो, उनका चरित्रोंके विषयमें यह जान लेना आवश्यक है कि वे कौन हैं, क्या हैं, नाटकीय कार्यके प्रारम्भसे पूर्व उनका परस्पर क्या सम्बन्ध है, इत्यादि, इत्यादि। यूनानी नाट्यकार सुपरिचित कथाओंको प्रारम्भमें रख देते थे अथवा 'प्रोलोग'में सारी कथाका सारांश दे देते थे, वैसे ही जैसे एलिजाबेथकालीन मूकनाट्य (डंब शो)में सारांश पृथक् दे दिया जाता था। अधिकतर नाटकोंमें प्रायः आवश्यक पूर्वसूचनाएँ अनायास दे दी जाती थीं, जैसे 'ऐज यू लाइक इट'में 'नये दरबारमें क्या नया समाचार है ?' 'कुछ नहीं, बस वही पुराना समाचार है' के पश्चात् वह पुराना समाचार दर्शकोंके लिए दुहराया गया है। 'दि टेम्पेस्ट'में भी कैलिबन द्वारा किये हुए प्रश्नों एवं उनके उत्तरों द्वारा इस प्रकारकी सूचनाएँ दी गयी हैं। १९वीं शताब्दीमें विशेषतः नाटकोंमें इस प्रकारके संवादोंमें प्रश्नकर्ता सदैव वही सूचनाएँ लेनेके लिए उत्सुक रहा करता था, जिनका जानना प्रेक्षकोंके लिए आवश्यक होता था। १९वीं शताब्दीके सुखान्त नाटकोंके आरम्भमें एक बटलर (प्रधान भृत्य) तथा मेड (भृत्या) अपने स्वामीके विषयमें बातचीत करते हुए दिखाये जाते थे और उनके द्वारा दर्शकोंको आवश्यक सूचनाएँ दी जाती थीं। किन्तु वास्तवमें नाटकके कार्य-व्यापारके बीच-बीचमें ही सूचनाएँ देते चलना अधिक कलापूर्ण होता है, जैसा कि हमें 'हैमलेट'में मिलता है। किन्तु उसी नाटकका वह अंश, जहाँ होरेशियो डेनमार्क और नार्वेके राजनीतिक सम्बन्धोंका लम्बा विवरण देने लगता है, कलाहीन है और नाटकीय आरम्भकी उत्कृष्टताको नष्ट करनेवाला है। उत्कृष्ट आरम्भकी यही विशेषता होती है कि वह स्वाभाविक बातचीतके रूपमें होता है और प्रारम्भिक घटनासे इतना ही सम्बन्ध होता है कि दर्शकको यह अनुभव नहीं हो पाता कि ये सूचनाएँ जान-बूझकर दी जा रही हैं। इसके सुन्दर उदाहरण हमें 'ओथेलो' तथा 'एलकेमिस्ट'के आरम्भमें मिलते हैं।

इब्सनने इस कलाका और भी विकास किया। उसके 'ए डाल्स हाउस' तथा "गोस्ट्स' प्रभृति नाटकोंमें कार्य-व्यापारके साथ ही दर्शकोंको अपेक्षित सूचनाएँ भी ठीक समयपर मिलती चलती हैं।

'प्रसाद'के 'स्कन्दगुप्त'के प्रथम अंकमें भी आरम्भका बड़ा सुन्दर प्रयोग मिलता है। विभिन्न पात्रोंके कुल-शीलके साथ-साथ प्रधान मनोवृत्तियोंका परिचय तो मिलता ही है, इसके अतिरिक्त कार्य-व्यापारकी अधिकताके कारण आद्यन्त आकर्षण भी बना रहता है। यहीं नाटकके लक्ष्य फल और साध्य विषयका परिचय भी स्पष्ट प्राप्त हो जाता है। —श्या० मो० श्री०

आरती—यह गीत-पद्धति कीर्तनके अन्तर्गत आती है। साकारोपासनाके कारण आरती अधिक लोकप्रिय हुई। तुलसीदास-लिखित आरती अधिक प्रसिद्ध है। सिख सम्प्रदायमें भी आरतीको अधिक महत्त्व मिला है, जिसमें सूर्य और चन्द्रमाको दीपक बनाकर निरंकारकी आरती सजायी गयी है। —रा० कु० पा०

आरबंद—योगी जिस मेखला या डोरीमें कौपीनको फँसाकर बाँधते हैं, उसे आरबन्द कहा जाता है। यह मूँजकी रस्सीसे बनाया जाता है।

आरभटी वृत्ति—दे० 'नाट्य वृत्ति', तीसरी।

आराधनागीत—दे० 'स्तुति-गीत', 'स्तोत्र'।

आरोचकी—दे० 'भावक'।

आरोपवाद—दे० 'रसनिष्पत्ति', पहला सिद्धान्त।

आर्टिकल—अंग्रेजीके इस शब्दका प्रयोग व्याकरणमें, सीमा-सूचक (लिमिटिंग) विशेषणों—ए, ऐन और दि—के लिए किया जाता है। धर्मशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र और प्राणिशास्त्रमें भी आर्टिकल शब्दका प्रयोग होता है। सन्धियों, अनुबन्ध-पत्रों, कानून, संविधान आदिके प्रलेखोंके विभिन्न वर्गों, खण्डोंको भी आर्टिकल कहा जाता है। किन्तु साहित्यिक अर्थमें, आर्टिकल निबन्धके आकार-प्रकारकी लघु गद्य-रचना है। इसी साहित्यिक अर्थके अनुसार, हिन्दीमें, किसी पत्र-पत्रिकामें प्रकाशित निबन्ध-रचनाको अंग्रेजी पढ़े लोग, सामान्यतः आर्टिकल कह देते हैं। पत्र-पत्रिकाओंमें स्फुट अथवा धारावाहिक रूपमें प्रकाशित होनेवाली, कथासे इतर गद्य-रचनाओंको मोटे तौरपर, आर्टिकलकी संज्ञा दी जाती है। अन्यथा, इसका कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं है। दे० 'लेख'। —अ० कु०

आर्त भक्ति—दे० 'गौणी भक्ति'।

आर्थी—दे० 'उपमा' तीसरा प्रकार।

आर्थी व्यंजना—जहाँपर व्यंग्यार्थ किसी शब्दपर आधारित न हो, वरन् उस शब्दके अर्थ द्वारा ध्वनित होता हो, वहाँ आर्थी व्यंजना होती है। इसलिए इस व्यंजनामें शब्द बदल देनेपर भी व्यंजना सुरक्षित रहती है। अभिधामूला शाब्दी व्यंजना वाचक शब्दपर तथा लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना लाक्षणिक शब्दपर अवलम्बित रहती है, किन्तु आर्थी व्यंजना केवल अर्थकी विशिष्टताके कारण सम्भव हुआ करती है। मम्मटने अर्थवैशिष्ट्यके दस प्रकार निर्देशित किये हैं—

वक्तृ, बोधव्य, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्यसन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल तथा चेष्टा। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि काव्यके अर्थ तीन होते हैं—वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ। अतः प्रत्येक आर्थी व्यंजना या तो वाच्यार्थपर अवलम्बित हो सकती है अथवा व्यंग्यार्थपर। वाच्यार्थपर आधारित आर्थी व्यंजनाको 'वाच्यसम्भवा', लक्ष्यार्थपर आधारित व्यंजनाको 'लक्ष्यसम्भवा' तथा व्यंग्यार्थपर आधारित व्यंजनाको 'व्यंग्यसम्भवा' कहते है। इन तीन प्रकारकी आर्थी व्यंजनाके साथ उपर्युक्त (वक्तृ, बोधव्य आदि) दस भेदोंको मिला देनेसे आर्थी व्यंजनाके सब मिलाकर ३० अवान्तर भेद सम्भव है।

वक्तृवैशिष्ट्य—जहाँ वक्ताकी विशिष्टताके कारण व्यंग्यार्थकी प्रतीति होती है—वक्तासे अभिप्राय कविसे अथवा कवि-कल्पित पात्रसे है। रामको पति-रूपमें वरण किये हुए सीताजी पार्वतीजीसे प्रार्थना करती हैं—"पति देवता सुतीय महँ, मातु प्रथम तव रेख। महिमा अमित न कहि सकहिं, सहस सारदा सेस॥" (मानस)। यहाँ वाच्यार्थ द्वारा यह व्यंजना होती है कि जब पार्वतीजी इतनी महान् है तो सीताजीकी मनस्कामनाको अवश्य ही पूरा कर देंगी। वाच्यार्थ द्वारा ही यह व्यंजना हो रही है, इसीसे इस व्यंजनाको वाच्यसम्भवा कह सकते है। वक्तृवैशिष्ट्यके इस दूसरे उदाहरणमें—"इहि उर माखनचोर गड़े। अब कैसे निकसत सुनि ऊधो, तिरछे ह्वै जु अड़े" (सूरदास)—वक्ता गोपी है और वाच्यार्थ बाधित है, क्योंकि एक व्यक्तिका दूसरेके हृदयमें तिरछे होकर गड़ जाना सम्भव नहीं। लक्ष्यार्थ-रूपमें गोपी यह सूचित करती है कि उसके हृदयमें त्रिभंगी कृष्णकी रति इस प्रकार दृढ़तासे प्रतिष्ठित है कि कृष्णको भूल जाना सम्भव नहीं। इस लक्ष्यार्थ द्वारा गोपी यह ध्वनित करना चाहती है कि उद्धवका प्रयत्न मूर्खतापूर्ण और व्यर्थ है, क्योंकि प्रेम पूर्णतया परिपक्व हो चुका है। यह व्यंजना लक्ष्यार्थ द्वारा उद्भूत है। अतः इसे लक्ष्यसम्भवा कह सकते है। इसी प्रकार एक व्यंग्यार्थ भी दूसरे व्यंग्यार्थकी व्यंजना करा सकता है। वक्तृबोधव्यके इस तीसरे उदाहरणमें व्यंग्यसम्भवा आर्थी व्यंजना है—"कंस बध्यो कुब्जाके काज। और नारि हरिको न मिली कहुँ, कहाँ गँवाई लाज" (सूरदास)। यहाँ वक्ता गोपी है। उसके सीधे-सादे वचनोंके मुख्यार्थ द्वारा सपत्नीक ईर्ष्या व्यंग्य है। किन्तु यह व्यंग्य पुनः दूसरी व्यंजनाएँ भी कर रहा है—"हे कृष्ण, तुम्हें शीघ्र ही गोकुल लौट आना चाहिये; हमसे प्रेम करनेमें इस प्रकारकी बदनामी सम्भव न थी···" आदि और इन व्यंजनाओंकी भी मूलभूत व्यंजना वक्ताके हृदयमें तीव्र रतिभावकी अभिव्यक्ति तो कर ही रही है। वक्तृवैशिष्ट्यके उपर्युक्त तीन उदाहरणोंके समान ही बोधव्य, काकु आदिके वैशिष्ट्यमें वाच्य तथा व्यंग्य-सम्भवा व्यंजनाएँ हो सकती हैं।

बोधव्यवैशिष्ट्य—जहाँ सुननेवाले (बोधव्य)की विशेषताके कारण व्यंग्यार्थकी प्रतीति होती है। "सराहौं तेरो नन्द हियो। मोहन सो सुत छाँड़ि मधुपुरी, गोकुल आनि जियौ" (सूरदास)। इस उदाहरणमें श्रोता नन्दकी विशेषताके कारण 'सराहौं' शब्दमें प्रयोजनवती लक्षितलक्षणा है और वह नन्दकी भर्त्सना करता है। इस लक्ष्यार्थ द्वारा यशोदा व्यंजित करना चाहती है कि नन्दको कृष्णसे बिछुड़नेकी अपेक्षा मथुरामें ही मर जाना चाहिये था, उनका कृष्ण-प्रेमका दावा तभी सच्चा और खरा उतर सकता था··"। बोधव्यवैशिष्ट्यके अतिरिक्त इस उदाहरणमें वक्तृवैशिष्ट्य भी है।

काकुवैशिष्ट्य—"आये जोग सिखावन पाँड़े। परमारथी, पुराननि लादे, ज्यों बनजारे टाडे।" (सूरदास)। इस उदाहरणमें काकु अथवा कण्ठध्वनिकी विशेषताके कारण वाच्यार्थसे यह व्यंग्यार्थ निकलता है कि उद्धव वस्तुतः निर्बुद्धि ही है, शास्त्रोंके बोझको ढोते रहे—ज्ञानार्जन अवश्य किया—किन्तु बेचारे संसारके वास्तविक रहस्यको न समझ सके···।

वाक्यवैशिष्ट्य—"गरब करउ रघुनन्दन, जिनि मन माँह। देखउ आपनि सूरति सियके छाँह।" (जानकीमंगल)। यहाँ सीताजीकी सखी सीताजीके रूपकी अतिशयताकी व्यंजना कर रही है—"अपने रूपको आप (राम) सीताजीकी छायामें देख सकते है। सीताजीके रूपकी तो चर्चा ही न कीजिये"। यहाँ ध्वनि वाक्यगत है।

वाच्यवैशिष्ट्य—इस भेदमें वाच्यसे अभिप्राय वक्तव्यसे है—जो कुछ कहा जाय। अतः 'वाच्य' शब्दमें 'लक्ष्यार्थ' तथा 'व्यंग्यार्थ' भी समाविष्ट कर लिया जाता है। इस प्रकार वाच्यवैशिष्ट्य वहाँ होता है, जहाँ वक्तव्यकी विशेषताके कारण व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है। "साँच कहौ, तुमको अपनी सौं, बूझत बात निदाने। सूर स्याम जब तुम्हैं पठाये, तब नेकहु मुसकाने?" (सूरदास)। यहाँ गोपियोंके कथनसे यह ध्वनि निकलती है कि "तुम जैसे ज्ञानी मूर्खको यहाँ भेजकर कृष्णने वस्तुतः एक बड़ा मजाक किया है"। कुछ लोगोंके मतानुसार वाच्यसम्भवा आर्थी व्यंजना वहाँ होती है, जहाँ उत्कृष्ट विशेषणोंवाले वाक्यकी विशेषताके कारण ध्वनिकी प्रतीति होती हो।

अन्यसन्निधिवैशिष्ट्य—जहाँ वक्ता तथा श्रोताके अतिरिक्त अन्य व्यक्तिके सान्निध्यके कारण व्यंग्यार्थ ज्ञात होता है। सूरदासके उद्धव-गोपी-संवादमें भ्रमरकी अवतारणा अन्य-सन्निधिकी विशिष्टता उत्पन्न करनेके लिए ही की गयी है—भ्रमरसे कही हुई बातें भ्रमरपर भी लागू होती है और पास ही बैठे हुए उद्धवपर भी प्रहार करती है और कृष्णपर भी चोट करती है—"मधुकर समुझि कहौ किन बात। पर मद पिये मत्त न हूजियत, काहे कौं इतरात। बीच जो परै सत्य सो भाखे, बोले सत्य सरूप। मुख देखेको न्याउ न कीजे, कहाँ रंक कहँ भूप।"

प्रस्ताववैशिष्ट्य—जहाँ प्रस्ताव (प्रसंग) अथवा प्रकरणकी विशेषताके कारण व्यंग्यार्थ ज्ञात होता हो। लक्ष्मणके प्रति कही गयी रामकी इस उक्तिमें—"तात प्रताप प्रभाउ तुम्हारा, को कहि सकइ को जाननिहारा। अनुचित उचित काजु कछु होऊ, समुझि करिय भल कह सब कोऊ। सहसा करि पीछे पछिताहीं, कहहिं बेद बुध ते बुध नाहीं"।··· प्रसंगसे यह ध्वनि निकलती है कि भरतके प्रति की गयी लक्ष्मणकी शंका निर्मूल है।

देशवैशिष्ट्य—देश अथवा स्थानकी विशेषताके कारण जहाँ व्यंग्यार्थ ज्ञात होता हो—"चित्रकूट गिरि है वही,

जहँ सिय लछिमन साथ । मन्दाकिनि सरिता निकट, वास कियो रघुनाथ ।" (का० कल्प०, पृ० ९८) । यहाँ स्थानकी विशेषताके कारण यह व्यंग्यार्थ निकलता है कि चित्रकूट शान्तिदायक एव पवित्र है ।

कालवैशिष्ट्य—"बहुरि हरि आवहिगे किहि काम । रितु वसन्त अरु ग्रीषम बीते, बादर आये स्याम" (सूरदास) । यहाँ वर्षाकाल प्राणान्तक सिद्ध होगा, यही व्यंग्यार्थ है और इसके द्वारा कृष्णके जल्द लौट आनेकी बात व्यंजित की जा रही है ।

चेष्टावैशिष्ट्य—"डिगत पानि, डिगुलात गिरि, लखि सब ब्रज बेहाल । कंप किसोरी दरसके खरे लजाने लाल" (बिहारी) । यहाँ लज्जित होनेकी चेष्टा द्वारा कृष्णके हृदयमें स्थित राधाके प्रेमका रहस्य प्रकट हो गया है । —उ० शं० शु०

आर्यकुल—दे० 'भारत यूरोपीय' ।

आर्यसमाज—उन्नीसवीं शताब्दीका भारतीय इतिहास और साहित्यमें महत्त्वपूर्ण स्थान है । इतना व्यापक और सूक्ष्म परिवर्तन मध्य-युगमें इस्लाम धर्मके सम्पर्कके फलस्वरूप भी न हुआ था । एक ओर तो भारतवर्ष उन्नीसवीं शताब्दीमें एक सुदूरस्थित पाश्चात्य जातिका दास बना और दूसरी ओर पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान तथा वैज्ञानिक आविष्कारोंसे लाभ उठाकर उसने नवीन चेतना प्राप्त की और मध्ययुगीन एवं अनेक पौराणिक कुरीतियों, कुप्रथाओं तथा परम्पराओंसे बद्ध जीवनकी अलसता छोडकर स्फूर्ति प्राप्त की । इतिहास इस बातका साक्षी है कि यह स्फूर्ति और चेतना, राजनीतिक एवं आर्थिक दासत्वकी परिस्थितिमें, पूर्व और पश्चिमके बीच संघर्षके रूपमें, अर्थात् भारतीय आध्यात्मिकता और पाश्चात्य भौतिकताके संघर्षके रूपमें, अभिव्यक्त हुई । राजनीतिक और आर्थिक चेतना उसी चेतनाका अंगमात्र थी । यही पूर्व और पश्चिमका संघर्ष था, जिसने राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, लोकमान्य तिलक, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, योगी अरविन्द और महात्मा गान्धीको जन्म दिया । एक ओर तो पश्चिमके बढते हुए प्रभावके विरुद्ध प्रतिक्रिया थी, दूसरी ओर प्राचीन भारतीय साहित्य और कलाका पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों द्वारा अनुदिन बढ़ता हुआ अध्ययन था । हॉजसन, बोत्लिक, मैक्समूलर, प्रिंसेप, कनिंघम, एड्विन आर्नाल्ड आदिकी खोजों और रचनाओंका भारतवासियोंपर बहुत प्रभाव पडा । उन्हें अपने पूर्वजोंकी महत्ताका परिचय प्राप्त हुआ । 'थियोसोफीकल सोसाइटी' (१८७५ ई०)ने भी देशवासियोंका देशके प्राचीन गौरवकी ओर ध्यान आकृष्ट किया । इन सब कारणोंसे बढते हुए पश्चिमी प्रभावके विरुद्ध प्रतिक्रिया होना और भारतकी प्राचीन गरिमाकी ओर ध्यान जाना स्वाभाविक था । इस प्रतिक्रियाने विशुद्ध भारतीय दृष्टिकोण अवश्य अपनाया, किन्तु उद्देश्य विशुद्धवादियोंका भी भारतीय जीवनका परिष्कार करना था । इस दृष्टिकोणका ज्वलन्त उदाहरण आर्यसमाज-आन्दोलन है । इस आन्दोलनने हिन्दू धर्मका पुनरुद्धार करनेका महान् प्रयास किया । स्वामी दयानन्द सरस्वती (१८२४-१८८३ ई०)ने १८७५ ई०में आर्यसमाजकी स्थापना की । आधुनिक भारतके निर्माताओंमें उनका उच्च स्थान है । उनके प्रभावशाली व्यक्तित्वके कारण थोड़े ही समयमें आर्यसमाज-आन्दोलनका प्रचार समस्त उत्तर भारतमें हो गया । आधुनिक हिन्दी साहित्यके जनक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५०–१८८५ ई०)के जीवनकालमें ही आर्यसमाजका प्रचार हो गया था और भारतवासियोंकी एक बडी संख्याने उसे अपनाया । ब्राह्म समाजसे कहीं अधिक प्रचार आर्यसमाजका हुआ । उसने शिक्षितोंको ही नहीं, वरन् अशिक्षित और अर्धशिक्षित जनताको भी प्रभावित किया । रूढिग्रस्त, परम्परागत धर्मसे असन्तुष्ट शिक्षित लोगोंको पश्चिमी प्रभावोंसे मुक्त सुधारोंसे सन्तोष प्राप्त हुआ । देशके धार्मिक, सामाजिक, शिक्षा सम्बन्धी और साहित्यिक क्षेत्रमें आर्यसमाजकी सेवाएँ चिरस्मरणीय रहेंगी । सुधारवादी सनातनधर्मियोंके हाथमें बागडोर होते हुए भी हिन्दी साहित्य उससे प्रभावित हुए बिना न रह सका ।

यह प्रभाव सर्वप्रथम खड़ीबोली गद्यके क्षेत्रमें दृष्टिगोचर होता है । उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्धमें लोग, उर्दूको राज्याश्रय प्राप्त हो जानेके कारण, हिन्दी भाषा और नागरी लिपिको भूलते जा रहे थे । हिन्दीकी शोचनीय अवस्था हो गयी थी और ज्यों-ज्यों लोगोंका लगाव उर्दूके साथ बढता गया, त्यों-त्यों हिन्दीके प्रति उनकी उदासीनता बढती गयी । यहाँतक कि सिर्फ हिन्दी जाननेवाले गँवार समझे जाने लगे । उर्दू ज्ञानके बिना शिष्ट समाजमें स्थान पाना भी कठिन हो गया, पढे-लिखे लोग तो अपनी चिट्ठियाँ तक उर्दूमें लिखने लगे थे । ऐसे समयमें राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द'की नीति बहुत सहायक सिद्ध न हुई । राजा लक्ष्मण सिंहने उनकी भाषा-नीतिका विरोध किया । अन्य साहित्यकोंको भी 'सितारे हिन्द'की भाषाका रूप खटका और उसकी कडी आलोचना की गयी । अनेक लोगोंने अरबी-फारसी मिश्रित गद्य भाषा और शैलीकी घोर निन्दा की और संस्कृत परिवारकी भाषाओंके लिए यह प्रवृत्ति घातक बतायी । किन्तु भाषाके क्षेत्रमें भाषाके अंग बन गये शब्दोंके बहिष्कारकी नीति व्यावहारिक सिद्ध न हो सकी । ऐसी परिस्थितिमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने मध्यम मार्गका अवलम्बन कर हिन्दीके जातीय रूप और शैलीकी स्थापना की, जिसमें सरल संस्कृतके शब्दोंके साथ-साथ लोकप्रचलित विदेशी शब्दोंको भी स्थान दिया गया । किन्तु भारतीय नवोत्थानके उस प्रथम चरणमें आर्यसमाज-आन्दोलन द्वारा प्रेरित संस्कृत भाषा और साहित्यके अध्ययनके फलस्वरूप हिन्दी संस्कृत शब्दावलीके प्रयोगकी ओर अधिकाधिक झुकती गयी । स्वामी दयानन्दने हिन्दीको राष्ट्रभाषाके रूपमें स्वीकार किया था और देशके एक कोनेसे लेकर दूसरे कोनेतक उन्होंने इसी भाषाका प्रयोग किया, जहाँ पहले उर्दूका बोल-बाला था । उन्होंने स्वयं 'सत्यार्थ-प्रकाश' (१८७४ ई०), 'व्यवहार-भानु', 'गोकरुणानिधि' आदि ग्रन्थोंकी रचना हिन्दीमें की । उनकी भाषा संस्कृतगर्भित है । अन्य आर्यसमाजी लेखकोंने भी संस्कृत शब्दावलीके प्रयोगकी ओर अधिक ध्यान दिया, फलतः भाषाका जो आदर्श भारतेन्दुने स्थापित किया, वह अन्य अनेक कारणोंके अतिरिक्त आर्यसमाजके प्रबल प्रभावके कारण बहुत दिनोंके लिए लुप्त हो गया । हिन्दीके

'संस्कृतीकरण' या 'तत्समीकरण'का आर्यसमाज एक प्रधान कारण था। हिन्दीके 'संस्कृतीकरण' और राष्ट्रभाषा-पदपर स्वीकार करनेके अतिरिक्त आर्यसमाजने हिन्दी गद्यको एक नयी शैली प्रदान की, जो शास्त्रार्थ और खण्डन-मण्डनके उपयुक्त थी। भाषामें आलोचना और वाद-विवाद करनेकी शक्ति आयी। भाव-व्यंजनामें भी इससे सहायता मिली और तर्कशैलीके साथ-साथ भाषामें व्यंग्य तथा कटाक्ष करनेकी शक्तिका आविर्भाव हुआ। हिन्दी भाषा तथा गद्य शैलीका यह विकास अभूतपूर्व था और क्योंकि आर्यसमाजका कार्यक्षेत्र बहुत व्यापक था, इसलिए उसने साहित्यिकोंको तरह-तरहके विषय सुझाये। यद्यपि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, राधाकृष्णदास, श्रीनिवासदास, प्रतापनारायण मिश्र जैसे कवि, उपन्यासकार और नाटककार आर्यसमाजी नहीं थे, तो भी उनके द्वारा गृहीत अनेक विषय वे ही हैं, जो आर्यसमाज-आन्दोलन अपनाये हुए था। ऐसे अनेक तत्कालीन नाटक, प्रहसन और उपन्यास उपलब्ध होते हैं, जिनपर तर्कप्रणाली, विषय, शैली आदिकी दृष्टिसे आर्यसमाजका प्रभाव स्पष्ट रूपसे दृष्टिगोचर होता है। किन्तु कुछ हदतक आर्यसमाज नाट्यकलाके लिए घातक भी सिद्ध हुआ। उसने अनेक विषय सुझाकर सामग्री प्रस्तुत करनेमें कोई कसर बाकी न रखी, यह ठीक है, लेकिन शास्त्रार्थवाली शैलीने कृतियोंकी कलात्मकताको आघात पहुँचाया। ऐसा प्रतीत होता है मानो स्वयं लेखक विविध पात्रोंके रूपमें आर्यसमाजके प्लेटफॉर्मसे बोल रहा है। आर्यसमाजका जितना प्रभाव नाटक और काव्यपर पड़ा उतना साहित्यके किसी और अंगपर नहीं पड़ा। तो भी उन्नीसवीं शताब्दीके उत्तरार्धमें और बीसवीं शताब्दीमें आर्यसमाजी उच्च कोटिके प्रसिद्ध नाटककार, कवि या अन्य लेखक और कलाकार बहुत कम हुए। उन्नीसवीं शताब्दीमें तो स्वयं स्वामी दयानन्दको छोड़कर कोई प्रसिद्ध आर्यसमाजी लेखक या कवि नहीं हुआ। बीसवीं शताब्दीमें भी पद्मसिंह शर्मा, नाथूराम शंकर शर्मा आदि जैसे कुछ ही प्रसिद्ध लेखक और कवि हुए हैं। यह इसलिए नहीं कि आर्यसमाज कोई साधारण आन्दोलन था, वरन् इसलिए कि वह प्रचारात्मक आन्दोलन होनेकी वजहसे उच्च कोटिका साहित्य प्रचुर मात्रामें न दे सका। कलाका अभाव आर्यसमाजमें ही नहीं, संसारके सभी सुधारवादी (puritonical) आन्दोलनोंमें पाया जाता है। सुधारवादी कुछ तो सौन्दर्य-भावनाको सुख और दुःखकी भावनाके आश्रित समझकर कलासे दूर भागते हैं, अथवा सत् और असत्से परे भी कोई अनुभव है, इस विचारको नैतिक उद्देश्यसे हीन समझकर उसमें विश्वास नहीं करते। तो भी भाषा, विषय, चयन, लेखकों और कवियोंके दृष्टिकोण तथा उनकी विचार-पद्धतिपर आर्यसमाजका काफी प्रभाव पड़ा, यह निस्सन्देह कहा जा सकता है।

लगभग पिछले बीस-पचीस वर्षोंसे आर्यसमाजका साहित्यपर प्रभाव एक प्रकारसे नगण्य है। वास्तवमें आर्यसमाज एक ऐसा आन्दोलन था, जिसने देशकी एक ऐतिहासिक आवश्यकता पूरी की। शिक्षा, समाजसुधार, धर्मसुधार आदि क्षेत्रोंमें उसके द्वारा प्रचलित लगभग सभी बातें देश द्वारा स्वीकृत हो जानेके फलस्वरूप उसकी गतिशीलता समाप्त हो गयी। आर्यसमाज आन्दोलन अब केवल नाममात्रका रह गया है। साथ ही राष्ट्रीयताका पोषक होनेके कारण यह आन्दोलन बहुत कुछ कांग्रेस द्वारा प्रचलित राष्ट्रीय आन्दोलनमें घुल-मिलकर अपनी स्वतन्त्र सत्ता खो बैठा।

[सहायक ग्रन्थ—आर्यसमाज : लाला लाजपतराय;आधुनिक हिन्दी साहित्य : लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय।]—ल०सा०वा०

आर्या–आर्या छन्द संस्कृतका मात्रिक छन्द है। संस्कृतके मात्रावृत्तोंको तीन वर्गोंमें रखा जा सकता है—आर्या, वैतालीय और मात्रासमक वर्ग। इनमेंसे आर्या-समूहके छन्द और मात्रासमक वर्गके छन्द तो वास्तवमें शुद्ध मात्रावृत्त है, जिनमें मात्रागणोंकी एक निश्चित संख्याके प्रयोगके नियमका पालन होता है, जहाँ गण समाप्त होता है वहाँ दीर्घ अक्षरका प्रयोग नहीं होता। दूसरी श्रेणीके छन्द मात्रावृत्त केवल इसलिए कहे जाते हैं, कि उनमें मात्राओंकी संख्या तो निश्चित रहती है, किन्तु वर्णोंकी संख्या निश्चित नहीं रहती—प्रत्येक पंक्तिमें वर्णोंकी संख्या भिन्न हो सकती है। मात्राओंका विभाजन आर्या और मात्रासमक छन्दोंके समान मात्रिक गणोंमें नहीं रहता।

इन छन्दोंमेंसे आर्या छन्द दो पंक्तियोंके छन्द होते हैं। वैतालीय वर्गके छन्दोंमें चार पंक्तियाँ रहती हैं, जिनमेंसे १ और ३ तथा २ और ४ समान होती हैं अर्थात् वैतालीय वर्गके छन्द अर्द्धसम प्रकारके छन्द हैं।

आर्या छन्दके प्रत्येक आधेमें चार मात्राओंके सात गण तथा एक गुरु रहता है। इन सात गणोंमेंसे समगण लघु, गुरु, लघु प्रकारके होते हैं और विषम गण इस प्रकारके नहीं हो सकते। आर्याके पथ्या, चपला भेदोंका भी पिंगलादि छन्द-ग्रन्थोंमें उल्लेख मिलता है। हिन्दीके बहुत कम कवियोंने आर्याका प्रयोग किया है, वैसे इसका प्रयोग मध्ययुगीन और आधुनिक कवितामें जहाँ-तहाँ मिलता है।

भिखारीदासके 'छन्दार्णव'में आर्याका गाहा नाम देकर लक्षणका उल्लेख किया गया है। आर्याके मुख्य भेद हैं—आर्या, गीति, उपगीति, उद्गीति और आर्यागीति और इनके नाम 'छन्दार्णव'में क्रमशः गाहा, उग्गाहा, गाहू, विग्गाहा और स्कन्ध है। क्रमशः ये छन्द विषम, अर्द्धसम, अर्द्धसम, विषम और अर्द्धसम हैं। इनके चारों चरणोंमें मात्राओंका क्रम इस प्रकार रहता है—आर्या १२, १८, १२, १५; गीति—१२, १८, १२, १८; उपगीति—१२, १५, १२, १५; उद्गीति—१२, १५, १२, १८ और आर्यागीति—१२, २०, १२, २०।

संस्कृतमें आर्याका प्रयोग बहुत हुआ है और इस छन्दकी लोकप्रियता 'आर्यासप्तशती' जैसी कृतियोंके नामसे प्रकट होती है। छन्द-ग्रन्थोंमें आर्याके अनेक भेदोंका उल्लेख मिलता है। —रा० सि० तो०

आलंबन विभाव–विभावका एक भेद; संस्कृत तथा हिन्दी दोनोंमें इसके अन्तर्गत 'नायक-नायिका-भेद' शास्त्र तथा साहित्य (दे०)का व्यापक विस्तार हुआ है। विश्वनाथका कथन है—"आलम्बनो नायकादिस्तमालम्ब्य रसोद्गमात्" (सा० द०, ३:२९)। इसीका भावानुवाद देव इस प्रकार

प्रस्तुत करते हैं--"रस उपजे आलम्बि जिहि सो आलम्बन होइ" (भा० वि०, विभाव)। जिस व्यक्ति अथवा वस्तुके कारण किसी व्यक्तिमें कोई भाव जाग्रत् होता है, उस व्यक्ति अथवा वस्तुको उस भावका आलम्बन विभाव कहते हैं। आलम्बन विभाव ही वास्तविक रसभूमि है। इसके बिना काव्य-रचना और काव्यास्वाद दोनो ही असम्भव हैं। जहाँ आलम्बन स्पष्ट नहीं होता, वहाँ प्रसंगानुकूल इसका आरोप कर लिया जाता है। यह आलम्बन दो रूपोंमें उपस्थित होता है। कभी तो यह पात्र-विशेषके भावोंके आलम्बन होते हैं और कभी स्वयं कविके भावोंके। उदाहरणके लिए 'प्रसाद'की निम्नोक्त पंक्तियोंमें स्वयं कवि ही आलम्बन है—"कुसुमाकर रजनीके जो, पिछले पहरोंमें खिलता। उस मृदुल शिरीष सुमन-सा, मैं प्रात धूलमें मिलता"। भिन्न-भिन्न आलम्बनोंके प्रति एक ही भावमें अन्तर आ सकता है। जैसे, अपनेमे आदरणीयके प्रति प्रेम श्रद्धाका, बराबरके प्रति प्रीतिका, दीनके प्रति करुणाका रूप धारण कर लेता है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न भावोंका भी एक ही आलम्बन हो सकता है। अर्थात् अत्याचारीके प्रति कोई क्रोध प्रकट कर सकता है, कोई उससे घृणा कर सकता है और कोई सन्त उसे उपदेश देने और क्षमा करनेके लिए तत्पर हो सकता है। उदाहरणतः, निम्नोक्त वर्णनमें एक रामको ही अनेक लोगोंने अनेक प्रकारसे देखा है—"देखहि रूप महा रन-धीरा, मनहुँ बीर रस धरे सरीरा। डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी, मनहुँ भयानक मूरति भारी। रहे असुर छल छोनिप वेषा, तिन्ह प्रभु प्रकट काल सम देखा' (रा० च०, १ : २४१)।

पृथक् रसके विचारसे आलम्बन भी पृथक् हो जाते हैं। काव्यशास्त्रोंमें इनके रूप, आकार-प्रकार तथा भेद आदिका विस्तृत वर्णन किया गया है। उदाहरणतः शृंगार रसके आलम्बन मधुर, सुकुमार, रूप-यौवनसम्पन्न तन्वंगी तथा तरुण होते है, जिन्हे नायिका तथा नायक कहते हैं। इनके भी स्वभाव, आयु, कार्य आदिके अनुसार अनेकानेक भेद हैं। इसी प्रकार विकृत आकारवाले, दूसरेकी चेष्टाओंका अनुकरण करनेवाले हास्य रसके आलम्बन होते हैं। त्यागी, सत्य-सम्पन्न, शूर-वीर, विक्रमशील व्यक्ति वीर रसके; विचित्र आकृति और आचारवाले अद्भुत रसके; बहुबाहु, बहुमुख, भीमदंष्ट तथा क्रूर, उद्धत एवं शठ आदि रौद्रके; कृश, विषण्ण, मलिन, रोगी, दुःखी तथा दारिद्र्योपहत करुण रसके; निन्दित आकृति, वेश, कर्मवाले अथवा रोगी, पिशाचादि वीभत्स रसके आलम्बन होते हैं। इसी प्रकार इनके अन्य भेद उपस्थित किये जा सकते हैं।

प्राचीन साहित्य-शास्त्रमे जड तथा अमूर्त आलम्बनोंको स्वीकृति नहीं मिली। जड पदार्थों अथवा तिर्यग्योनिगत रतिको अनुचित मानकर उसे रसाभासमात्र माना गया है। नायकोंमें भी कुलीनता और आदर्शका ध्यान रखा गया है। हिन्दी काव्यमें भी इन नियमोंका यथेष्ट पालन किया गया है, किन्तु सेनापति, श्रीधर पाठक,'प्रसाद', पन्त, रामचन्द्र शुक्ल आदिके काव्योंमें प्रकृतिको आलम्बनके रूपमे प्रस्तुत किया गया है। केशवने अवश्य ही इसे उद्दीपनमात्र मान लिया था और उसका नाम गिना देना ही काव्यमें पर्याप्त समझ लिया था अथवा आधुनिक कालमें 'हरिऔध'ने 'प्रियप्रवास'के नवम सर्गमें इसी नाम गिनाने-मे काम लिया है। आधुनिक कालसे पूर्व अधिकांश हिन्दी कवियोंमे प्रकृतिका प्रयोग अलंकार अथवा उपदेशके लिए ही हुआ है। छायावादकालमें प्रकृतिमें ही अलौकिक सत्ता देखी जाने लगी, अतः आलम्बन लौकिक तथा अलौकिक दो रूपोंमें सामने आया।

अन्य रसोंमें भी आधुनिक हिन्दी कवितामें आलम्बनोंमें परिवर्तन हुआ है। वीर रसके लिए देश-सेवक, आत्म-बलिदानी, राष्ट्रनायक, देश-सुधारक तथा सत्याग्रही वीरोंको; बीभत्सके लिए देशद्रोही, शत्रुकी सहायता करनेवाले; हास्यके लिए विदेशी वेश-विन्यास या आचरणवाले, मतदान माँगनेवाले, प्राचीनतावादी आदि; करुणके लिए शोषित जनता, कृषक तथा निम्नवर्ग, अछूत, दलित एवं पतित, निष्कासित शरणार्थी, विधवा अथवा त्रस्त नारी आदि नये आलम्बन बने। मैथिलीशरण गुप्तको करुण रसके लिए उपेक्षिताएँ मिलीं और उनके साहचर्यने अमूर्त भाव-वेदना भी आलम्बन बन गयी। 'साकेत'के 'वेदने, तू भी भली बनी' गीतमें वेदना ही आलम्बन है। बाह्य-सौन्दर्यसे हटकर ध्यान अन्तःसौन्दर्यपर अधिक जाने लगा। क्रोधका रूप व्यंग्यमें खिल रहा है और उसके लिए सामाजिक व्यवस्थाको विशेषतः आलम्बन स्वीकार किया गया है। प्रगति-वादी काव्यमें ये नवीन आलम्बन विशेष रूपसे अपनाये गये हैं। आज देशकी व्यवस्था अथवा प्रकृति या नागरिक सौन्दर्य प्रयोगवादी कविताके नये आलम्बन बन रहे हैं। —आ० प्र० दी०

आलय (आलय विज्ञान)—विज्ञानके त्रिविध परिणामों (दे०'विज्ञान')में आलय विज्ञान या विपाक विज्ञान ही प्रमुख है। आलय विज्ञान जगत्की समग्र वस्तुओंके बीजको धारण करनेवाला, विज्ञानका अपरिच्छिन्न, नित्य प्रवहमान रूप है, जिसमें सभी पदार्थ उत्पन्न होते है और पुनः उसीमें विलीन भी होते हैं। यह सभी प्रकारके कर्मों और साङ्क्लेशिक धर्मोंके बीजका आलय है। सभी धर्मों (की उत्पत्ति)के बीज इसी आलय विज्ञानमे अवस्थित रहते हैं। साथ ही, उपादाताओंके विपाक भी वहीं सङ्गृहीत रहते हैं। च्वान्-च्वाङ्की विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिके अनुसार आलय विज्ञान न तो उच्छेद्य है और न ही शाश्वत, क्योंकि यह सदा अविच्छिन्न रूपसे, सन्तत्या, नदी-जलके समान (स्रोतसौघवत्) प्रवाहरूपेण प्रवर्तमान रहता है। यह सूक्ष्म स्वभाव है और प्रतिक्षण हेतुफलभावेन परिवर्तित होता रहता है। जन्म और मृत्युके आवर्तक कुशल तथा अकुशल कर्मोंके विपाक-फलको धारण करनेके हेतु इसकी विपाक-विज्ञान संज्ञा होती है। इसकी दो भूमियाँ सास्रव और अनास्रव होती है। सास्रव भूमिमे यह स्पर्शादि पाँच अकुशल स्वभाव चैत धर्मोंसे तथा अनास्रव होती है। सास्रव भूमिमें यह स्पर्शादि पाँच अकुशल स्वभाव चैत्त धर्मोंसे तथा अनास्रव भूमिमें पाँच सवर्ग, पाँच प्रतिनियतविषय और ग्यारह कुशल-सवर्ग—इन इक्कीस चित्तों द्वारा नित्यही समन्वागत होता है। परम विशुद्ध अनास्रव धर्मोंका आश्रय होनेके हेतु इसे विमल-विज्ञान भी कहा जाता है। च्वान्-च्वाङ्के

अनुसार "बोधि सत्व उपलम्भ कालमे और श्रावक तथा प्रत्येक बुद्ध अनुपाधि निर्वाणधातुमे प्रवेश करते समय विपाक-विज्ञानके स्वभावका परित्याग कर देते है। 'महायानाभिधर्मसूत्र'मे इसे अनादिकालिक, सभी धर्मोंका आश्रय तथा निर्वाणका प्रापक बताया गया है। ल० सू०में इसकी तुलना एक ऐसे समुद्रसे की गयी है कि जिसकी तरंगें निरन्तर अविच्छिन्न रूपसे उठा करती है और उनका उच्छेद नही होता। वहाँ एक स्थानपर इसे उत्पाद-स्थिति-भङ्ग-वर्ज भी कहा गया है, किन्तु यह बौद्ध विचारधाराके बिल्कुल प्रतिकूल है। इस प्रकार आलय विज्ञान विज्ञानका संचित कोश (स्टोर हाउस ऑव कान्शस्नेस) है और इसकी तुलना आधुनिक मनोविज्ञानके अर्द्ध-चेतन-मनस्‌से की जा सकती है। छः प्रवृत्ति विज्ञानों और एक क्लिष्ट मनोविज्ञान—इन सप्तविध विज्ञानोंकी अपेक्षाकर कभी-कभी इसे अष्टम (अन्तिम) विज्ञान भी कहा जाता है। कहीं-कहीं इसके निरोध और त्यागका भी उल्लेख मिलता है। कदाचित् इसमे निहित क्लेशादिको ध्यानमे रखकर ही यह विचार विकसित हुआ।

यहाँपर विचारणीय है कि आलय-विज्ञान विज्ञान-परिणाम होनेके हेतु अनित्य, क्षणिक और सन्ततिरूपमें ही नित्य है। यह व्यक्तिगत होता है तथापि सभी कुशल-अकुशल कर्मोंके विपाक-फलो तथा साङ्क्लेशिक धर्मोंके बीज इसमें निहित होते है। इसे क्लेश और बोधिका बीजात्मना समुच्चयावस्थान मान सकते है। यह तथताका एक विशेष रूप है। जबकि तथागतगर्भ सार्वभौम रूपमें अविद्या और तथताका समुच्चय होता है, अर्थात् जिस तथताका साक्षात्कार होना है तथता वही तथागतगर्भ कही जाती है, आलय विज्ञान तथागतगर्भका अहम्भावसंयुक्त रूप विशेष (इण्डिविडुआइजेशन) कहा जा सकता है, जिसमें सर्वविध मानस-बीज (साइकिक् जर्म्स) अवस्थित रहते है और जिसमें सभी मानस धर्म बीज भावसे अवस्थित रहते है।

आलयके सिद्धान्तके हिन्दी साहित्यके ऊपर प्रभावके विषयमें द्रष्टव्य **विज्ञानवाद**। —क० शु०

आलवार–दे० 'भक्ति'।

आलस्य–प्रचलित तैंतीसमेंसे एक संचारी; भरतके अनुसार प्रकृति, काहिली, बीमारी, तृप्ति तथा गर्भ आदिके कारण उत्पन्न भाव है, जो अकर्मण्यता, बैठे या लेटे रहने, जँभाई लेने तथा सोने आदिके अनुभावोंमें व्यक्त होता है (नाट्य०, ७ : ४८ ग)। विश्वनाथने इसी व्याख्याको सूत्ररूपमें ग्रहण किया है—"आलस्यं श्रमगर्भाद्यैर्जाड्यंजृम्भासितादिकृत्।" (सा० द०, ३ : १५५); श्रम, गर्भ आदिजन्य जाड्यको 'आलस्य' कहते हैं। जँभाई लेना, एक जगह बैठे रहना आदि इसके अनुभाव है। हिन्दीके रीतिकालमें "बहु भूषादिक भावतें, कारजु कहा न जाय" (भाव० संचारी०) कहकर भूषणादिके आलस्यको भी स्वीकार किया गया है। और अन्योंने 'जागरनादिकतें जहाँ' (जगत०, ४९४) स्वीकार किया है।

रामचन्द्र शुक्लने इसे संचारी न मानकर स्वतन्त्र मानसिक स्थिति माना है। इसकी परिभाषा लिखते हुए उन्होंने बतलाया है—'शारीरिक या मानसिक क्रियामें तत्पर न होनेकी प्रवृत्ति जिस अवस्थामें हो, वह अलसता है।" आगे चलकर संस्कृतग्रन्थोंमें वर्णित परिभाषाओंपर आपत्ति करते हुए उन्होंने कहा है कि "यद्यपि साहित्यके ग्रन्थोंमें शारीरिक श्रम और गर्भ आदिके कारण उत्पन्न आलस्यको संचारी कहा है, पर संचारीका लक्षण उसपर ठीक-ठीक नही घटता है। जबतक उसका किसी भावके साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध न हो, सीधा लगाव न हो, तबतक वह संचारी कैसा? रातभर जगी हुई स्त्री बैठे-बैठे जँभाई लेती है तो इससे श्रोता या दर्शकको 'रतिभाव'के अनुभवमे कुछ सहायता पहुँचती हुई मुझे तो नही मालूम पडती। प्रेमके साथ इस शारीरिक श्रमसे उत्पन्न आलस्यका केवल बादरायण सम्बन्ध दिखाई पडता है⋯अतः आलस्यके वर्णनको किसी भावका संचारी मानना मेरी समझमे ठीक नही। उसे स्वतन्त्र ही मानना चाहिये।" (र० मी० : पृ० २२४)।

पर रामचन्द्र शुक्लके विचारोंसे सहमत होना किंचित् कठिन मालूम पडता है। एक उदाहरणको आधार मानकर उक्त मतके विवेचनमें अधिक सुविधा होगी—"गोकुलमे गोपिन गोबिन्द सँग खेली फाग, रातिभर प्रात-समै ऐसी छवि छलकैं। देहैं भरी आलस कपोल रस रोरी भरे, नींद भरे नैनन कछूक झपैं झलकै।" (जगत०, ४९५)।

प्रश्न है कि क्या इस छन्दमें वर्णित आलस्यका किसी भावसे सीधा सम्बन्ध है अथवा नही? क्या यह स्वयंमे स्वतन्त्र है अथवा रतिभावका पोषक है? रातभर होली खेलनेके कारण श्लथगात श्रीकृष्णको देखकर नायिकाके मनमें जो ललक पैदा होती है, वह रतिभावकी पोषक ही तो है। बिहारीके दोहेमें 'आलस्य'की सुन्दर व्यंजना है—"नीठि नीठि उठि बैठि हूँ, प्यों प्यारी परभात। दोऊ नींद भरैं खरैं, गरैं लागि गिरि जात" (रत्ना०, ६४३)। —ब० सिं०

आली काली–दे० 'हठयोग'।

आलेख रूपक–दे० 'रेडियो रूपक'।

आलेख्य-प्रख्य–'काव्य-हरण' अर्थ-हरणका भेद।

आलोचना–आलोचना शब्द 'लोच्' (जिसे पाणिनीने अपनी पारिभाषिक शब्दावलीमें √लोचृ लिखा है)से बना है—आ+ √लोच्+अन+आ=आलोचना, अथवा आ+ √लोचृ+ल्युट (अन)=आलोचन। 'लोच्' या 'लोचृ' का अर्थ है 'देखना'। इसलिए किसी वस्तु या कृतिकी सम्यक् व्याख्या, उसका मूल्यांकन आदि करना ही आलोचना है—"आ समन्तात् लोचनम् अवलोकनम् इति आलोचनम्, स्त्रियां आलोचना"। आलोचक किसी कवि या लेखककी कृतिको देखता या परखता है। 'परीक्षा'का अर्थ भी चारो ओरसे देखना है (परितः ईक्षा—परीक्षा)। आलोचना कवि या लेखक और पाठकके बीचकी शृंखला है। राजशेखरने कविकर्मको प्रकाशमें लाना ही भावयित्री प्रतिभा अथवा आलोचककी प्रतिभा कहा है। अंग्रेजी शब्द 'क्रिटिक'का अर्थ भी है 'अलग करना' (टु सेपरेट), जिससे निर्णयकी बातका पता चलता है। पाश्चात्य देशोंमें भी साहित्यगत उत्तमोत्तम बातोको जानना और समाजको उसका ज्ञान कराना, आलोचनाका उद्देश्य माना गया है। आलोचनाएँ भिन्न-भिन्न व्यक्तित्वोंके अनुरूप भिन्न-भिन्न प्रकारकी हो सकती हैं, किन्तु मूलतः उसका उद्देश्य एक ही

रहता है, अर्थात् कविकर्मका प्रत्येक दृष्टिकोणसे मूल्यांकन कर उसे पाठकोंके सम्मुख प्रस्तुत करना और उनकी रुचि परिष्कृत कर साहित्यकी गति-विधि निर्धारित करना।

संसारमें कर्मप्रकाशनके साथ-साथ भावप्रकाशन भी चलता रहता है और बाह्यजगत् हमारे हृदयरसमें पगकर अन्तर्जगत्की वस्तु बनता आया है। इस प्रवाहको पकड़ रखनेके लिए ही चिरकालसे मनुष्यके अन्दर साहित्यका आवेग है। साहित्यमें हम उस मनुष्यका परिचय पाते हैं, जो अपनी सीमा लाँघ जाता है। आलोचनाका उद्देश्य यही खोज निकालना है कि कवि या लेखककी कल्पनामें मनुष्यके हृदयके किस विशेष रूपने घनीभूत होकर अपने अनन्त वैचित्र्यके प्रकाशको सौन्दर्य द्वारा प्रस्फुटित किया है। भाषा, रस, अलंकार आदि परखना ही पर्याप्त आलोचना नहीं है। आलोचनाका उद्देश्य है कि कवि या लेखककी कृतिमें मानवहृदय कितना और किस सुन्दरताके साथ चित्रित हुआ है, इस तथ्यका उद्घाटन करना। वास्तवमें साहित्यमें बिखरी हुई अनन्त विभूतियोंकी सुन्दरता बिना आलोचनाके नजर नहीं आती। डॉक्टर श्यामसुन्दरदासके शब्दोंमें "यदि हम साहित्यको जीवनकी व्याख्या मानें, तो आलोचनाको उस व्याख्याकी व्याख्या मानना पड़ेगा।" भारतवर्षमें राजशेखरने अपनी 'काव्यमीमांसा'में समीक्षा या आलोचनाका वास्तविक सूत्रपात किया और औचित्य-वादियोंने उसे व्यावहारिक रूप प्रदान किया। यूरोपमें यूनानमें ५वीं श० ई०में उसका सूत्रपात हुआ।

आधुनिक समयमें कलाके विविध रूपोंकी प्रचुर मात्रामें रचना हो रही है। उसकी प्रतिक्रिया आलोचनाके रूपमें होती है। वह कलाको सहजज्ञानकी अभिव्यक्ति भले ही माने, किन्तु उसका प्रधान कर्तव्य सहजज्ञानके विभिन्न रूपोंके पारस्परिक भेद समझना है। कलाका जो सिद्धान्त आलोचनाके इस कार्यमें सहायता नहीं पहुँचाता, वह उसके लिए कोई मूल्य नहीं रखता। प्लेटो जैसे ग्रीक विचारकोंने भी सुन्दर जीवनपर अधिक जोर दिया है। इसलिए आधुनिक आलोचनाके सिद्धान्तोंके लिए अनेकरूपताके बीच एकरूपता स्थापित करना और वह भी सौन्दर्यके माध्यम द्वारा, एकमात्र उद्देश्य होना चाहिये। जिस व्यक्तिने जीवनको जितनी अधिक गहराई तक देखा हैं, वह उतनी ही अधिक आलोचक बननेकी क्षमता रखता है। उसके लिए जीवन और कलामें कोई अन्तर नहीं रह जाता। आलोचना कलाको जीवनमें सर्वोच्च स्थान प्रदान करती है। वस्तुतः सच्ची आलोचना कलाका ही एक प्रधान अंग है। उसका चरम लक्ष्य वही है, जो जीवनका अन्तिम लक्ष्य है। मिडिल्टन मरेके शब्दोंमें "कला जीवनकी सजगता है, आलोचना कलाकी सजगता है।" अस्तु, आलोचना कला और साहित्यसे बाहरकी वस्तु नहीं है।

कुछ लोगोंका यह भी कहना है कि काव्य या कलाकी सर्वोत्तम आलोचना स्वयं कवि या कलाकार ही कर सकता है। किन्तु यह मत बहुत वैज्ञानिक नहीं है। वास्तवमें सौन्दर्यविज्ञान ही आलोचकको कविसे अलग करता है। जहाँ कवि या कलाकार स्वयं आलोचक भी होगा, वहाँ उसका सौन्दर्यबोध उसके अपने कवि या कलाकारसे पृथक् होगा। आलोचक अपने आलोच्य विषयसे पहले घनिष्ठता प्राप्त करता है, उसके अन्दर पैठकर उसे देखता है। उसके उपरान्त वह उसका मूल्य निर्धारित करता है। जहाँ भावनाओंका उद्गम होता है वहीं आलोचनाका उद्गम भी होता है। सृष्टिकी प्रतिक्रियाका नाम ही साहित्य है और उसकी प्रतिक्रियाके मूलमें जो भावना निहित है, वही आलोचना है।

प्रत्येक युगमें कोई-न-कोई प्रतिभाशाली लेखक ऐसा अवश्य होता है, जो आलोचनाके मथन कुहरेसे पाठकको पथभ्रष्ट होनेसे बचाता है। ऐसी परिस्थितिमें आलोचनाकी निश्चित परिभाषा देना कठिन है। वास्तवमें प्रत्येक युगने युग-मनके अनुरूप उसकी परिभाषा बदलती रहती है। 'आलोचना'का प्रयोग गुण-दोष-विवेचनसे लेकर सौन्दर्य-विज्ञानतकके अर्थमें हुआ है और आलोचकको मूल्योंका निर्धारक माना गया है। यूरोपमें क्रोचेकी भाँति जे० ई० स्पिन्गार्नने आलोचनाका कर्तव्य इस बातका पता लगानेमें माना कि (१) लेखकने क्या अभिव्यक्त करनेका प्रयत्न किया है और (२) वह उसे अभिव्यक्त करनेमें कहाँतक सफल हुआ है। इससे एक प्रश्न यह भी उत्पन्न हो जाता है कि कवि या लेखकने जो कुछ अभिव्यक्त किया है, क्या वह अभिव्यक्त करने योग्य था? कार्लाइलने भी इसी प्रश्नके अनुरूप अपना मत प्रकट किया है। वास्तवमें कवि या लेखकका ध्येय उसकी रचनामें ही खोजना चाहिये।

उन्नीसवीं शताब्दीमें यूरोपमें विक्टर ह्यूगोने कहा था कि रचना अच्छी है या बुरी, इस बातका पता लगाना आलोचनाका कर्तव्य है। किन्तु यह परिभाषा अधूरी है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया कि आलोचनाका इतिहास संसारकी परिवर्तनशील रुचिका इतिहास है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आलोचना समय-समयपर भिन्न-भिन्न रूप धारण करती रही है। भारतवर्षकी प्राचीन या मध्ययुगीन आलोचनाका जो स्वरूप था उससे भिन्न आधुनिक स्वरूप है।

प्रत्येक रचनामें उसके रचयिताका कोई ध्येय निहित रहता है। इस सम्बन्धमें पाठक, लेखक और आलोचकके दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न हो सकते है। आलोचक अपनी आलोचना द्वारा लेखकका एक प्रकारसे पुनःसंस्कार करता है। कवि या लेखक तो युगकी प्रचलित धारणाओंके सामने नतमस्तक हो सकता है, अथवा उसकी रचनामें ऐसी विभ्रमता हो सकती है, जिसे कवि या लेखक स्वयं नहीं जानता; आलोचना ही वह साधन है, जिसके द्वारा इन बातोंपर प्रकाश डाला जा सकता है। ऐसी आलोचना रचनात्मक होगी और कवि या लेखक संहारात्मक या रचनात्मक दोनों प्रकारकी आलोचनाओंसे लाभ उठा सकता है। जनसाधारणको आलोचनासे साहित्यचर्चाका लाभ होता है। आलोचना द्वारा किसी कृतिके स्वागतकी तैयारी की जा सकती है और उससे सुसंस्कृत और शिक्षित व्यक्तियोंके एक समुदायका जन्म भी हो सकता है। इसके अतिरिक्त आलोचना स्वयं एक सुन्दर साहित्यका रूप धारण कर लेती है। वह भी साहित्य या कलाका रूप धारण कर आनन्द प्रदान करती है। मैथ्यू आर्नाल्ड और

ल्यूइस मम्फोर्ड जैसे आलोचकोंका तो यह भी कहना है कि आलोचक युगसे भी बड़े है और उन्हे कलाकारके सामने अत्यन्त सुसंगत रूपमें अपना अनुभव रखना चाहिये। वे आत्माभिव्यंजनकी दृष्टिसे साहित्य या कलाके किसी एक पक्षको ऊपर उठा सकते है और किसी दूसरे पक्षको नीचे गिरा सकते है। स्वयं कवियो और कलाकारोंने आलोचकोंको शत्रु या मित्रके रूपमे देखा है। किन्तु निन्दा या प्रशंसाकी इसमे कोई बात नही है। आलोचना स्वस्थ मनसे साहित्य या कलाका अध्ययन करना और उसके सौन्दर्यको परखना सिखाती है। यही उसका परम कर्तव्य है।

आलोचनाके सम्बन्धमें एक यह बात भी हमारे सामने आती है कि उसका मापदण्ड क्या है? उसका कोई-न-कोई मापदण्ड या आधार अवश्य होना चाहिये। लौजाइनसने आलोचनाको अधिक परिश्रमका परिणाम माना है, किन्तु पोपके कथनानुसार कवियोकी भॉति आलोचक भी बनाये नहीं जाते। वे तो जन्मसे ही आलोचक होते है। तब भी अनुभव द्वारा कुछ सीखा जा सकता है। किन्तु संसारमें किसी साहित्यिक या कलात्मक कृतिकी विभिन्न व्यक्तियोंमें विभिन्न प्रकारकी प्रतिक्रियाएँ होती है। इसलिए आलोचनाके मापदण्डके सम्बन्धमे भी कम ही साम्य मिलेगा। तो भी किसी साहित्यिक या कलात्मक कृतिकी परीक्षा अस्थिर आधारोंपर नहीं की जा सकती। फलतः आलोचनाका कोई एक मापदण्ड होता है, रुचिवैभिन्यको स्थान देते हुए भी। यह मापदण्ड प्रत्येक युगके अनुकूल अलग-अलग होता है। इस सम्बन्धमें यह प्रश्न भी उठता है कि सामान्य पाठक, सुशिक्षित व्यक्ति और लेखक या कवि, इन तीनोंमेंसे सर्वोत्तम आलोचना करनेवाला कौन है और कौन उसका मापदण्ड निर्धारित करता है? आधुनिक समयमे जब किसी विशेष वर्गको ध्यानमें रखकर कोई कृति प्रस्तुत की जाती है तो उस वर्गके सामान्य पाठकसे हम न्यायकी आशा नहीं रख सकते। सामान्य पाठक अधिक समयतक दार्शनिक या निष्पक्ष निर्णायक नही रह सकता। वह भावुक अधिक होता है। यद्यपि प्रत्येक सुशिक्षित व्यक्ति अपने निर्णयको ही साहित्यके क्षेत्रमे अन्तिम निर्णय मानता है, तो भी औसत दर्जेके सुशिक्षित व्यक्तिको गम्भीर साहित्य बहुत कम पसन्द आता है। कलाके जिस रूपसे कलाकारका सम्बन्ध होता है, उसके सम्बन्धमें वह कभी निष्पक्ष नहीं हो सकता। इतनेपर भी आलोचकको इन्ही तीन समुदायोंमेंसे आना है, किन्तु साथ ही उसे प्रत्येक समुदायकी त्रुटियो और दोषोंको बचाना है।

आलोचनाका निर्माण करते समय आलोचकको जीवन सम्बन्धी बाह्य राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, वैज्ञानिक आदि परिस्थितियोंपर विचार करना पड़ता है। इसके साथ हमें यह भी देखना पड़ता है कि स्वयं आलोचक कहांतक युगधर्मसे प्रभावित हुआ है। आत्माभिव्यंजना या आत्मप्रकाशनका स्वरूप होनेके कारण आलोचना बहुत-कुछ कलाके समीप आ जाती है। साथ ही दूसरेकी अभिव्यंजना-की परीक्षा होनेके कारण तथा परीक्षाके साधन और कलाका एक विशेष रूपमें आनेके कारण आलोचना विज्ञानके समीप आ जाती है। इससे आलोचनाके क्षेत्रमें कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। आलोचनाके मार्गमें अन्य कठिनाइयाँ भी आती है। किसी रचनाका मूल्यांकन करते समय आलोचक-को अपनी व्यक्तिगत धारणाओपर नियन्त्रण रखना परमा-वश्यक है, अन्यथा जातिगत, धर्मगत, वर्गगत, समाजगत, राजनीतिक आदि पूर्वाग्रहोंके कारण कठिनाई पड़ती है और आलोचक किसी रचनाको उस रूपमें देखने लगता है, जिस रूपकी स्वयं कवि या लेखकने कभी कल्पना भी न की थी। साथ ही केवल वस्तु और उसके प्रभाववर्णनमें ही आलोचनाकी सार्थकता नही है। उसकी सार्थकता कलात्मक कृतिके देखने-सुननेके अनुभवका मूल्यांकन करना है। रचनाविधि भी किसी रचनाका महत्त्वपूर्ण पक्ष मानी जा सकती है, किन्तु वही सब कुछ है, ऐसा मानना ठीक नहीं। अनुभव भी ध्यान देने योग्य है। आलोचनामें साहित्यिक या कलात्मक शब्दोंके रूप और शक्तिको समझना भी अत्यन्त आवश्यक है। आलोचकको शाब्दिक और तार्किक गोरखधन्धेसे सावधान रहना चाहिये। अपने पाण्डित्यकी झोंकमें यदि वह आवश्यकतासे अधिक अनेक विषयोंका आश्रय ग्रहण करेगा तो अपने ही लिए उलझनें पैदा करेगा। और फिर, कला, कलाके उद्देश्य, कलाकारके कर्तव्य आदिके सम्बन्धमे अनेक मत है। इन मतोंके सम्बन्ध-में एक ही युगमे विभिन्नता नही होती, वरन् एक युगके मत पिछले युगके मतसे भिन्न रहते है। आलोचकको इन विभिन्न मतोंका अध्ययन करते हुए भी निष्पक्ष रहना चाहिये, जो कोई सरल कार्य नहीं है और तभी आलोचना रचनात्मक साहित्यके समीप आ जाती है।

आलोचनाकी इन सीमाओंका सिंहावलोकन करते समय यह प्रश्न भी उठता है कि आलोचना रचनात्मक साहित्यसे पहले आती है या साथ-साथ उत्पन्न होती है या बादमें आती है? आलोचनाका इतिहास यही बताता है कि रचनात्मक साहित्यसे पूर्व आलोचना नहीं हुआ करती। युगके रचनात्मक साहित्यके साथ-साथ भी आलोचना हो सकती है और होती है, किन्तु ऐसी परिस्थितिमें युगका महान्‌से महान् आलोचक भी अपने युगकी महान् कृतियों-का ठीक-ठीक मूल्यांकन नही कर पाता और प्रायः उच्च कोटिकी रचनाओंकी उपेक्षा भी हो जाया करती है। प्रत्येक युगमें इस प्रकारकी भूलें होती है। साथ ही एक निकृष्ट रचना उतनी हानिकारक नहीं होती, जितनी एक निकृष्ट आलोचना। एक निकृष्ट रचना हम न भी पढ़े तो कोई बात नही, किन्तु एक निकृष्ट आलोचनासे किसी सुन्दर कलात्मक कृतिको आघात भी पहुँच सकता है। अतएव आलोचकको अत्यन्त सतर्क रहनेकी आवश्यकता है।

आलोचनाकी सामान्य प्रकृति और उसकी विविध प्रमुख-प्रमुख सीमाओपर विचार करनेके साथ-साथ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि आलोचनाका रूप और उसका ध्येय प्रत्येक आलोचकमें अलग-अलग होता है। किसी एक आलोचना-सम्प्रदायके सिद्धान्त अकाट्य भी नहीं होते। आलोचनामें या तो सामान्य सिद्धान्तोंका निर्धारण किया जाता है या साहित्य और मनुष्यकी चेतना या अनुभूति, साहित्य और जीवन, रूप तथा विषयके पारस्परिक सम्बन्धोंपर विचार किया जाता है, जो ठीक उसी प्रकार है, जिस प्रकार

हम खिड़कीकी बनावट, उसमे लगे शीशे, पेच आदिपर ध्यान न देकर उसमें दिखाई पड़नेवाले सुन्दर दृश्योंपर अधिक ध्यान दें। अथवा अन्तमे, आलोचना साहित्यकी वास्तविक स्थितिपर विचार कर सकती है, जिसके फलस्वरूप मूल पाठ-सम्बन्धी आलोचना, वैज्ञानिक आलोचना, जीवन-वृत्तान्त-सम्बन्धी आलोचना, ऐतिहासिक आलोचना, मनोवैज्ञानिक आलोचना, समाजशास्त्रीय आलोचना, व्याख्यात्मक आलोचना, निर्णयात्मक आलोचना आदिका आविर्भाव होता है। चूँकि प्रत्येक आलोचक अपनेमें एक भिन्न व्यक्ति होता है, अतएव व्यक्तिगत विशेषताओंके कारण आलोचनाके और भी अनेक भेद हो सकते हैं।

आलोचनाके ध्येयके सम्बन्धमे समय-समयपर भिन्न-भिन्न विचारधाराएँ रही हैं। प्राचीन भारतवर्षमे रस, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति आदिपर आधारित विचारधाराएँ थीं। पश्चिममें नैतिकता, सौन्दर्यविज्ञान, यथार्थ अथवा अरस्तूके सुषमावाद या रीतिवादसे सम्बन्धित विचारधाराएँ थीं। अरस्तूके बाद यूरोपमे आलोचनावादके भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण रहे हैं। औचित्य सम्बन्धी अनुभूतिप्रधान, सैद्धान्तिक, मनोवैज्ञानिक, भौतिकवादी आदि अनेक प्रकारके ध्येय यूरोपमे प्रचलित रहे हैं, किन्तु मेटथ्यूव, आर्नाल्ड, आडेन आदि प्रसिद्ध विचारकोंकी दृष्टिमे आलोचनाका सर्वोत्तम ध्येय सर्वोत्तम साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओका पालन करना है। मानवजीवनकी आधारभूत एकता, कलाकारके अनुभव और उसकी कृतियोंका पारस्परिक सम्बन्ध और कलात्मक मूल्यों और जीवनके अन्य मूल्योंमें सम्बन्ध स्थापित करना आलोचनाका पुनीत ध्येय है। आलोचना प्रधान रूपसे व्याख्यात्मक और निर्णयात्मक ही हो सकती है, यद्यपि व्यावहारिक दृष्टिकोणसे दोनोंमें अधिक भेद नहीं है। हेगेल, कार्लाइल, स्पिन्गार्न, कोलरिज, जे० एम० मरी, कैजामियाँ, एड्मण्ड विल्सन, पी० ई० मोर, आई० ए० रिचर्ड्स, टी० एस० इलियट आदि यूरोपीय विचारकोंने आलोचनाके ध्येयपर अपने-अपने दृष्टिकोणसे विचार किया है। किसीका दृष्टिकोण व्याख्यात्मक आलो-चनाकी ओर अधिक हुआ है, तो किसीका निर्णयात्मक आलोचनाकी ओर।

आजके वैज्ञानिक युगमें आलोचकों, समीक्षकों और आचार्योंकी संख्या अनुदिन बढ़ती जा रही है और कवियों या कलाकारों और पाठकोंके बीच बढ़ते हुए व्यवधानको कम करनेके लिए आलोचकोंको सतत प्रयत्नशील रहना पड़ता है। यह कार्य स्वस्थ रूपमें सम्पन्न करनेके लिए आलोचकमें सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण, साहस, अन्तर्दृष्टि, अतीत समस्याओंका ज्ञान, विदेशी साहित्यो और अपने चारों ओरकी दुनियासे परिचय, सौंदर्यानुभूतिकी शक्ति या संवेदनशीलता, अध्ययन एवं मननशीलता, कवि या कलाकारकी कृतिके साथ तादात्म्य स्थापित करना आदि गुणोंका रहना अत्यन्त आवश्यक है। कोरी 'वाह-वाह' और व्यक्तिगत आक्षेप अवांछनीय हैं। उसे तो निष्पक्ष होना चाहिये। कलाकारकी भाँति आलोचकका भी अपना व्यक्तित्व होता है। कलात्मक या साहित्यिक कृति द्वारा उत्पन्न हुई प्रतिक्रियाका अपने व्यक्तित्वमे भली भाँति मन्थन कर व्याख्या और भाषाधिकार सहित आलोचकको उसे प्रकट करना चाहिये। इसीलिए आस्कर वाइल्डका कथन है कि आलोचक दूसरोंकी कृति और व्यक्तित्वकी तभी व्याख्या कर सकता है, जब वह स्वयं अपने व्यक्तित्वमे प्रगाढ़ता (इंटेंसिटी) पैदा कर ले और तभी वह हैजलिटके शब्दोंमे 'सर्वसाधारणके लिए रसज्ञ' (टेस्टर फॉर दि पब्लिक)का कार्य सफलतापूर्वक निभा सकता है।

एक साहित्यिक या कलात्मक कृति किस रूपमे किसी व्यक्तिमे प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है, उसपर उसका क्या प्रभाव पड़ता है, इसी तथ्यपर आलोचनाके प्रकार आधारित रहते हैं। आलोचनाके वर्गीकरणकी समस्या 'दृष्टिकोण'पर निर्भर है। 'दृष्टिकोण'का आधार मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक, ऐतिहासिक, काल्पनिक, वैज्ञानिक, निर्णयात्मक, सामाजिक, वैयक्तिक आदि कोई भी हो सकता है, अथवा कभी रीति, कभी विषयको भी आधार माना जा सकता है। इन सब बातोंसे आलोचनाके वर्गीकरणकी समस्या कुछ उलझ जाती है और इस सम्बन्धमे मतभेद भी उत्पन्न हो जाते हैं। स्थूल रूपसे केवल इतना कहा जा सकता है कि साहित्यकी आलोचना ही साहित्यिक आलोचना कही जा सकती है और जितने प्रकारके विषय होंगे, उतने ही प्रकारकी आलोचना भी जन्म लेगी। आधुनिक साहित्यमे अनेक प्रकारकी आलोचना-प्रणालियोंका प्रयोग हुआ है और हो रहा है। आलोचकोंके वर्गों और उनके विभिन्न दृष्टिकोणके कारण आलोचनाके अनेक वर्ग दृष्टिगोचर होते हैं। विषय या देशके आधारपर आलोचनाके प्रकारोंका नामकरण अधिक वैज्ञानिक नहीं समझा जाता। प्रणालियों-के आधारपर वर्गीकरण ही उपयुक्त सिद्ध होता है। प्राचीन भारतमे अनेक प्रणालियाँ थीं। यूरोपमे भी समय-समयपर अनेक प्रणालियाँ प्रचलित रही हैं और अब भी हैं। आधुनिक हिन्दी आलोचनामे या तो पूर्णतः प्राचीन रूप या पूर्णतः पाश्चात्य रूप या कभी-कभी दोनोंका समन्वय दृष्टिगोचर होता है। ऐसी आलोचना-प्रणालियोंमें **प्रभावात्मक, अनुभवात्मक, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, निर्णयात्मक, वैज्ञानिक, अभिव्यंजनावादी, नैसर्गिक, जीवनवृत्तान्तीय, कार्यात्मक, क्रियात्मक, तात्त्विक, मार्क्सवादी, भौतिकवादी, शास्त्रीय, आत्मगत, व्याख्यात्मक** आदि अनेक प्रकारकी प्रणालियाँ प्रमुख हैं (दे०)। हिन्दीमे ये सब प्रणालियाँ नहीं मिलतीं। —ल० सा० वा०

हिन्दीमे आलोचनाका वास्तविक प्रारम्भ बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'ने किया। उन्होंने 'आनन्दकादम्बिनी' पत्रिका(१८८२)में लाला श्रीनिवासदास रचित 'संयोगिता-स्वयम्बर'का नाट्य-दोष दिखलाकर और गदाधर सिंह द्वारा अनुवादित 'बंग-विजेता'के भाषा सम्बन्धी दोषोंका निर्देश कर आलोचना की। इसके अतिरिक्त अन्य तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओमें भी पुस्तकपरिचयके समाचार रहा करते थे, उनमें भी कभी-कभी आलोचनाका आभास मिलता था। इस समय दोष-निदर्शन ही आलोचना कहलाता था। किन्तु दोषोंके साथ गुणोके विवेचनका पहला रूप महावीरप्रसाद द्विवेदीके 'हिन्दी

कालिदासकी समालोचना'में मिलता है, जिसमें उन्होंने लाला सीताराम द्वारा अनुवादित कालिदासके ग्रन्थोंमें भाषा सम्बन्धी त्रुटियोंका उल्लेख किया। इसके पश्चात् लेखककी कृतियोंमें दोषनिदर्शनकी प्रवृत्ति प्रबल हो उठी। आलोचक लेखक और कविसे अपनेको विद्वान् समझता और उनकी कृतिके दोष पाण्डित्यपूर्ण शैलीमें दिखलाता।

किन्तु 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका'(१८९७)के प्रकाशनसे समालोचनाको नया बल मिला। उसमे कवियों और लेखकोंमें साहित्यके प्रति अनुराग और लेखन-सुरुचि उत्पन्न करनेके लिए लेख रहते थे। सन् १८९६ ई०में गंगाप्रसाद अग्निहोत्रीकी 'समालोचना' पुस्तिका निकली। पत्रिकामें जगन्नाथदास 'रत्नाकर'के पद्यात्मक'समालोचनादर्श' तथा अम्बिकादत्त व्यासकृत 'गद्यकाव्य मीमांसा' जैसी रचनाएँ भी इसी प्रवृत्तिवश लिखी गयी थीं। इनमें साहित्यके गुण-दोष-निदर्शन और गवेषणापूर्ण अध्ययन, दोनों थे। इन आलोचनात्मक रचनाओंके अनुकरणमें समालोचनाएँ लिखी जाने लगी। नागरीप्रचारिणी सभाने अंग्रेजीके समालोचकोंकी विद्वत्तापूर्ण, द्वेषहीन और सहानुभूतिपरक आलोचनाका आदर्श उपस्थित किया। इस प्रकार प्रारम्भिक आलोचनाके विकासमें महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा 'सरस्वती' पत्रिकाका विशेष प्रोत्साहन रहा। सन् १९०० ई०मे महावीरप्रसाद द्विवेदीने 'विक्रमांकचरित-चर्चा', 'नैषधचरित-चर्चा' जैसे समालोचनात्मक लेख लिखे।

बीसवीं शतीके प्रथम चतुर्थांशमे महावीरप्रसाद द्विवेदी, मिश्रबन्धु, किशोरीलाल गोस्वामी, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, श्यामसुन्दर दास तथा रामचन्द्र शुक्ल प्रभृति लेखकोंके योगसे आलोचनाकी विशेष समृद्धि हुई और वह साहित्यका एक महत्त्वशाली रूप बनकर सामने आयी।

इस कालमें **परिचय-प्रधान, गवेषणा-प्रधान, सिद्धान्त-प्रधान, शास्त्र-प्रधान, प्रभाव-प्रधान, तुलना-प्रधान** और **चिन्तन-प्रधान** आलोचनाकी प्रवृत्तियाँ सम्मुख आयीं।

परिचय-प्रधान आलोचनाका जन्म पुस्तकोंके उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट होनेका निर्णय देने और कवियों तथा लेखकोंकी कृतियोंका विज्ञापन करनेकी प्रवृत्तिसे हुआ, जिसके लिए मासिक पत्र-पत्रिकाओंके अलग स्तम्भ खुले। 'समालोचक' (जयपुर) और माधव मिश्रका 'सुदर्शन' (बनारस) जैसे पत्रोंमें परिचय-प्रधान समालोचनाकी अधिकता रहती थी। 'सरस्वती'का पुस्तकपरीक्षा स्तम्भ (१९०४) भी इसी प्रकारका था, किन्तु कालान्तरमे इस प्रकारकी आलोचनामें विज्ञापन, दलबन्दी, मिथ्या प्रशंसा और दोषान्वेषणकी प्रवृत्ति ही विशेष रह गयी।

गवेषणा-प्रधान समालोचनाका उन्मेष पाश्चात्य प्रभाव और प्राचीन साहित्यके प्रति जाग्रत् अनुरागके कारण हुआ। प्राचीन कवियोंके जन्म, स्थान, समय, जीवनी, उनकी कृतियोंमें तत्कालीन समय और समाजके प्रभाव आदिपर खोज करनेके लिए अध्ययन होने लगा। प्रारम्भमें उत्साह अनुवादोंका रहा। सरयूप्रसाद मिश्रने बंगलासे 'भारतवर्षीय संस्कृत कवियोंका समय-निरूपण' और गंगाप्रसाद अग्निहोत्रीने मराठीसे 'संस्कृत-कविपंचक'के हिन्दीमें अनुवाद किये। महावीरप्रसाद द्विवेदीके 'नैषधचरित-चर्चा', 'कालिदास', किशोरीलाल गोस्वामीके 'अभिज्ञान शाकुन्तल' और 'पद्म पुराण' और चन्द्रधर शर्मा गुलेरीके 'विक्रमोर्वशीकी मूल कथा' लेख भी कवियोंके समय, जीवन-चरित्र तथा कृतिकी प्रेरणा और गुण-दोष सम्बन्धी गवेषणाओंसे पूर्ण थे। साथ-साथ हिन्दी कवियोंका भी अध्ययन चलता रहा। खोजपूर्ण कार्य करनेमें 'नागरीप्रचारिणी सभा'को सबसे अधिक श्रेय है। हिन्दी कवियों और लेखकोंपर श्यामसुन्दर दास, श्यामबिहारी मिश्र और शुकदेव बिहारी मिश्रने सर्च रिपोर्ट प्रकाशित करायी। 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका'में राधाकृष्ण दासके 'नागरीदासका जीवनचरित', 'मुसलमानी दफ्तरोंमें हिन्दी', 'एडविन ग्रीव्सका गोसाई तुलसीदासजीका चरित्र', राधाकृष्ण दासके सूरदासपर लेख भी खोजसे भरे थे। श्यामसुन्दर दासका 'बीसलदेव रासो'पर विस्तृत विवरण, 'हिन्दीका आदि कवि', मुंशी देवीप्रसादका 'पृथ्वीराज रासो'पर अध्ययन तथा तासी, शिवसिंह सेंगर, सर जार्ज ग्रियर्सनकी इतिहास-परम्परामें मिश्रबन्धुके 'मिश्रबन्धु-विनोद' (१९१३-१९१५) जैसे लेख और ग्रन्थ भी गवेषणात्मक समालोचनाकी कोटिमें आते है।

सिद्धान्त-प्रधान आलोचनामें संस्कृत साहित्य-शास्त्र, पाश्चात्य साहित्य-सिद्धान्त तथा दोनोंके समन्वयपर लिखनेकी प्रवृत्ति मिलती है। भरतका रसवाद, भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रटके अलंकारवाद, वामनका रीतिवाद, कुन्तकका वक्रोक्तिवाद, आनन्दवर्द्धनके ध्वनिवादके सिद्धान्तोके अनुसार लिखे गये। बाबूराम वित्थरियाके 'नवरस', कन्हैयालाल पोद्दारके 'अलंकार-प्रकाश', 'काव्यकल्पद्रुम', अर्जुनदास केडियाके 'भारती-भूषण', लाला भगवानदीनके 'अलंकार-मंजूषा', जगन्नाथ प्रसाद भानुके 'छन्दप्रभाकर' जैसे ग्रन्थ, शालिग्राम शास्त्रीके 'साहित्यदर्पण'के अनुवाद, 'कविप्रिया', 'रसिक-प्रिया'की टीकाएँ, श्यामसुन्दर दासका 'भारतीय नाट्यशास्त्र' नामक लेख आदि है।

पश्चिमी सिद्धान्तोंके परिपार्श्वमें समालोचना करनेकी प्रवृत्ति जगन्नाथदास 'रत्नाकर'के पोप-रचित 'एसे ऑन क्रिटिसिज्म'के पद्यात्मक अनुवाद 'समालोचनादर्श'में लक्षित होती है। आगे छोटे-छोटे निबन्धोंमें पश्चिमी आदर्श दिखलाई पड़ते रहे। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शीके 'विश्व-साहित्य'मे पश्चिमी सिद्धान्तोंका प्रतिपादन भी है। पूर्वी और पश्चिमी साहित्य-सिद्धान्तोंके समन्वयात्मक दृष्टिकोणसे लिखे गये रामचन्द्र शुक्लके लेख है तथा श्यामसुन्दर दासकृत 'साहित्यालोचन' (१९२२) है। बँगलासे द्विजेन्द्रलालकृत 'कालिदास और भवभूति'का हिन्दी अनुवाद भी इसी श्रेणीका ग्रन्थ है।

शास्त्रीय या शास्त्र-प्रधान आलोचनाका प्रारम्भ महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा मिश्रबन्धुने किया। इस कोटिकी आलोचनाका आदर्श संस्कृत अलंकार-शास्त्रके अनुसार कृतीकी कृतिकी आलोचना करना था। महावीरप्रसाद द्विवेदीके 'विक्रमांकदेवचरित-चर्चा,' 'नैषधचरित' तथा मिश्रबन्धुकी 'हम्मीर हठ' काव्यपर और श्रीधरकी भूषणपर आलोचनाएँ इसी प्रकारकी हैं। मिश्रबन्धुका 'हिन्दी नव-

रत्न' (१९१०-११) इस प्रकारकी आलोचनाका उत्तम ग्रन्थ है।

प्रभाव-प्रधान आलोचना सिद्धान्त-विरोधी है। इसने शास्त्रीय मान्यताओंसे अधिक महत्त्व व्यक्तिगत रुचि, भावना, जीवनादर्शको दिया। इसमें समालोचक समालोच्य कृतिकी आलोचना करते समय अपनी ही भावनाओंके अनुसार निर्णय देता है। पद्मसिंह शर्माकी 'बिहारीकी सतसई', 'सतसई-संहार' ऐसी ही रचनाएँ है।

तुलना-प्रधान आलोचनामें कवियों और लेखकोंकी कृतियोंकी अन्य भाषा-साहित्योंकी रचनाओंसे तुलना की जाती है। इस कोटिमें पद्मसिंह शर्माकृत 'बिहारी और फारसी कवि सादीकी समालोचना,' 'भिन्न भाषाओंके समानार्थी पद्य,' 'संस्कृत और हिन्दी कविताका बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव,' 'भिन्न भाषाओंका बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव' जैसे लेख, 'बिहारीकी सतसईकी गाथा सप्तशती और अमरुक शतकवाले अंश,' कृष्णबिहारी मिश्रके 'देव और बिहारी,' भगवानदीनके 'बिहारी और देव' जैसे ग्रन्थ आते है। कृष्णबिहारी मिश्रका 'बिहारी और दास' लेख भी इसी प्रकारका है।

चिन्तन-प्रधान आलोचनाका सूत्रपात रामचन्द्र शुक्लने किया। इसने वैज्ञानिक पद्धतिपर कवि या लेखकके काल, जीवन-चरित्र, वातावरण, परिस्थिति, इनका उनकी कृतियोंपर प्रभाव, साहित्यिक परम्परामे उनका स्थान, लोक-संग्रह आदिपर दृष्टि केन्द्रित रहती है। रामचन्द्र शुक्लकी 'जायसी ग्रन्थावली' (१९२२), 'तुलसी ग्रन्थावली' (तृतीय भाग), 'भ्रमर गीतसार'की भूमिकाएँ इसी भाँतिकी हैं।

बीसवी शतीके द्वितीय चतुर्थांशमे नवीन सांस्कृतिक उत्थान, पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति, उच्च कक्षाओंमें हिन्दीके अध्ययन, भाषाकी बढी हुई अभिव्यंजना-शक्ति और रामचन्द्र शुक्ल तथा श्यामसुन्दर दासके कर्मठ व्यक्तित्व इत्यादि अनेक कारणोंसे आलोचनाका नवीन ढंगसे विकास हुआ। इस कालमें काव्य-कृतियाँ भारतीय आदर्शवादी रसवादकी कसौटीपर देखी जाने लगी और नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि गद्य-रूपोंकी आलोचना पाश्चात्य सिद्धान्तोंके अनुसार होने लगी। पाश्चात्य प्रभावके कारण कृतियों और कृतिकारोंको जीवनकी यथार्थ और वास्तविक परिस्थितियोंसे सम्बद्ध करके देखा जाने लगा। साथ-ही-साथ व्यक्ति और समाजके मनोविज्ञानको ध्यानमें रखकर न्याय और निर्णय करनेकी प्रवृत्ति बढी। विषय-प्रतिपादनमे निर्णयात्मक, विवेचनात्मक और निगमन भाषा-शैलियोंका प्रयोग हुआ। वस्तुको वैज्ञानिक पद्धतिसे देखनेके आग्रहके कारण प्रभाववादी समालोचना समाप्तप्राय हो गयी, किन्तु रचनाके साथ रचयिताका अभिन्न सम्बन्ध माना गया और रचनाको समझनेके लिए रचयिताको पहले समझ लेना अनिवार्य बताया गया। फलतः रचयिताके पूर्वाग्रह, व्यक्तित्व, प्रभाव, कुण्ठा, अतृप्ति, रुचि, प्रवृत्ति, संस्कार आदिका भी अध्ययन आलोचना बनकर आया।

इस कालमें आलोचनाके कई रूप मिलते हैं। पहला रूप, इसमें आलोचनाका आदर्श रामचन्द्र शुक्लकी पद्धति है, जिसमें समालोच्यके जीवन, उसके वातावरण, परिस्थिति, व्यक्तित्व, काल, समाज, जीवनादर्शकी व्याख्या की जाती है और शील, लोक-संग्रह तथा रसकी कसौटीपर कसकर निर्णय किया जाता है। कृष्णशंकर शुक्लके 'कविवर रत्नाकर', 'केशवकी काव्यकला', विश्वनाथप्रसाद मिश्रके 'बिहारीकी वाग्विभूति', गंगाप्रसाद सिंह अखौरीके 'पद्माकरकी काव्य साधना', रामकुमार वर्माके 'कबीरका रहस्यवाद' हजारीप्रसाद द्विवेदीके 'सूरसाहित्य', 'कबीर', राजबहादुर लमगोडाके 'विश्व साहित्यमे रामचरितमानस', धर्मेन्द्र ब्रह्मचारीके 'गुप्तजीकी काव्यधारा', गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'के 'महाकवि हरिऔध' जैसे ग्रन्थ इसी प्रकारके है।

दूसरा रूप, विश्वविद्यालयोंकी डी० फिल्, पी-एच-डी० और डी० लिट्० की थीसिसोंमे मिलता है। इनमे गम्भीर अध्ययन, तटस्थ दृष्टिकोण, तथ्यकी मौलिक व्याख्या अथवा गवेषणा, बौद्धिक विवेचनका आग्रह रहता है। यह कार्य भाषा और भाषाविज्ञान सम्बन्धी, हिन्दी साहित्यके इतिहास सम्बन्धी, काव्यकी विशेषधारा या प्रवृत्ति सम्बन्धी, विशेष कवि या लेखक या कृति सम्बन्धी, वर्गविशेषके कविसमूह सम्बन्धी, हिन्दी साहित्यकी पृष्ठभूमि, परम्परा, प्रभाव और तुलना सम्बन्धी, साहित्यरूप सम्बन्धी, काव्यशास्त्र सम्बन्धी, लोकसाहित्य सम्बन्धी, अनेक रूपमे प्राप्त है।

तीसरा रूप, जिसमे कविकी विशेष रचनाका सूक्ष्मतम अध्ययन किया जाता है। ध्वनि, शब्द, पंक्ति, पद्य, प्रभाव, सभीपर गहरी दृष्टि डाली जाती है। भगवतशरण उपाध्यायकी 'नूरजहाँ' इसी प्रकार की है।

चौथा रूप, जिसमे समालोच्यके पात्रों द्वारा ही उसके दोषोंपर प्रकाश डाला जाता है। नगेन्द्रका 'हिन्दी उपन्यास' निबन्ध और नरोत्तमप्रसाद नागरका 'शुतुर्मुग पुराण' भी इसी प्रकारकी रचनाएँ हैं।

पाँचवाँ रूप, प्रगतिशील समालोचनाका है, जिसमे मार्क्सवादी सिद्धान्तोंपर समालोचना की जाती है। कृति और कृतीके महत्त्वको यथार्थ सामाजिक जीवन और उसके कल्याणकी दृष्टिसे निर्धारित किया जाता है। मन्मथनाथ गुप्त और रमेन्द्र वर्माका 'कथाकार प्रेमचन्द' ऐसा ही ग्रन्थ है।

छठा रूप, उन समालोचनाओंका है, जिनमें पूर्वी और पश्चिमी साहित्य-शास्त्रके सिद्धान्तोके समन्वयपर आलोचनाएँ की गयी है। शिवनाथके 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' तथा नगेन्द्रके 'सुमित्रानन्दन पन्त', 'विचार और अनुभूति', 'विचार और विवेचन' ऐसे ही ग्रन्थ है।

सातवाँ रूप, पुस्तक-परिचय है, जो पाक्षिक और त्रैमासिक, मासिक पत्र-पत्रिकाओंमें मिलता है, जिनमें पुस्तकके कलेवरसे लेखक और प्रतिपादित विषयतकका संक्षिप्त परिचय रहता है। —वि० रा०

आलोचना, अनुभवात्मक—यह आलोचना-पद्धति काफी पुरानी है और अंग्रेजी साहित्यमें इसकी मान्यता सिद्ध हो चुकी है। इस पद्धतिके मूलाधार है निरीक्षण, विश्लेषण और वर्गीकरण। साहित्यिक क्षेत्रमे रुचिवैचित्र्यको महत्त्व प्रदान करते हुए भी यह पद्धति व्यक्तिगत अनुभवोंको व्यवस्थित और वैज्ञानिक रूप प्रदान कर साहित्यिक कृतियोंके निरीक्षण, विश्लेषण और वर्गीकरणमें सहायक सिद्ध होती है और लेखकोंकी मूल भावना और उनकी कृतियोंन

वास्तविक रूप स्पष्ट करती है। अनुभवात्मक आलोचक किसी कृतिकी उत्कृष्टता, विशेषता आदिके आधारपर विभिन्न वर्ग बनायेगा और उनमें उन कृतियोंको यथावत् स्थान देगा। वह कलाको प्रकृतिका ही एक अंग मानता है और उसपर वैसे ही और उसी प्रकारके नियम लागू करता है, जैसे प्रकृतिपर, ताकि उसकी आत्माका स्पष्ट रूप दृष्टिगोचर होने लगे। इस आलोचना-पद्धतिके अनुसार कलाकी उन्नतिका कभी अन्त नहीं होता (**निर्णयात्मक आलोचनामें** प्राचीन युगकी कला पराकाष्ठापर पहुँची हुई मानी जाती है), उसका प्रत्येक युगमें, निरन्तर विकास होता है। —ल० सा० वा०

आलोचना, अभिव्यंजनावादी—अंग्रेजीमे अभिव्यंजनावादको **एक्सप्रेशनिज्म** कहते हैं। इसका आदर्श बेनेदेत्तो क्रोचे (१८६६ ई०)के सिद्धान्तपर आधारित है। आधुनिक युगमें रूढ़ि और परम्पराके प्रति विद्रोह एक सामान्य तथ्य है। यूरोपीय साहित्यमें, लैसिंगके बाद कलाका उद्देश्य 'किसी वस्तुकी रचना' मात्र न समझकर, भावकी अभिव्यक्ति माना गया। कलाके सम्बन्धमे यह भावना उन्नीसवीं शताब्दीमें समस्त यूरोपमें प्रचलित थी। बीसवी शताब्दीमे भी कला और सौन्दर्यकी मूल अचेतन वृत्ति यही भावना रही है। क्रोचेने कहा था कि "अभिव्यंजना और ललित-कला एक ही है" अथवा "सभी ललित कलाएँ अभिव्यंजनाएँ हैं और फलतः सम्पूर्ण अभिव्यंजना ललित कला है।" हमारे मनमे पहले किसी वस्तु या दृश्यके सम्बन्धमे ज्ञान उत्पन्न होता है, तत्पश्चात् उसकी प्रक्रिया उत्पन्न होती है। यह ज्ञान भी या तो सहजज्ञान या प्रेरणा (इन्टयूशन)के रूपमें आता है, अथवा हमारी निश्चयात्मिका बुद्धि द्वारा उपलब्ध प्रत्यय (कन्सेप्ट)के रूपमे। सहजज्ञान या प्रेरणापर सौन्दर्य निर्भर रहता है और निश्चयात्मिका बुद्धिपर तर्कशास्त्र। क्रोचेने अपनी इस विचारधाराका सम्यक् विकास किया। वास्तवमें उसके मतानुसार मनका सहजज्ञान या प्रेरणा ही आत्माकी व्यक्तिगत क्रिया है और यही मनुष्यके मनकी सौन्दर्यात्मक वृत्ति है, और कल्पना द्वारा बिम्बोंकी खोज होती है, इसलिए कला उसके द्वारा अनुशासित है। सहजज्ञान या प्रेरणा जिस रूपमें प्रकट होती है, वही अभिव्यंजना है। सहजज्ञान या प्रेरणा और अभिव्यंजना एक-दूसरेकी पर्याय है, अर्थात् दोनों साथ-साथ चलती है। मनुष्यकी आत्मा केवल द्रव्य (मैटर)की प्रतीति करती है। इसीके सहारे वह अपनेको प्रकट करती है। अभिव्यंजनाका आधार भौतिक न होकर मानसिक है, अर्थात् रूपकी कल्पना करते ही उसकी पूर्ण अभिव्यंजना हो जाती है। चित्र या कवितामें उसकी बाह्य अभिव्यक्तिमात्र होती है, वैसे मनोभावोंको बाह्याकार प्रदान करते ही अभिव्यंजनावादीकी स्वतन्त्रताका अपहरण हो जाता है। इस सिद्धान्तका प्रयोग अतियथार्थवादियों (सुररीयलिस्ट्स)ने भी अपने ढंगसे किया है। क्रोचेके इन सिद्धान्तोंको अक्षरशः मान्यता प्रदान करनेमें कठिनाई रही है, क्योंकि जब कलाके विषयोंका घनिष्ठ सम्बन्ध कलाकारके व्यक्तिगत मानसिक जीवनसे ही होगा, तो आलोचक किस बाह्य आधारपर आलोचना करेगा? साथ ही कलाकारकी मानसिक स्वतन्त्रता अद्भुत और विचित्र रूप धारण कर सकती है, जो साधारण व्यक्तिके लिए बिलकुल बोधगम्य न रह जायगी। बाह्य जगत्में आलोचकोंका नियन्त्रण अभिव्यंजनावादियोंको स्वीकार नही। फिर इस सम्बन्धमें कलाके प्रभाव, समाजकल्याण, सौन्दर्य और जीवन आदिसे सम्बन्धित अन्य अनेक समस्याएँ उठती है। तो भी क्रोचेके सिद्धान्तोंको आलोचना-प्रणालीका आधार माना जाता रहा है। अभिव्यंजनावादी आलोचना-प्रणालीमे विषय और उसके गुणोंको अधिक महत्त्व नही दिया जाता, केवल प्रभावकी अभिव्यक्ति देखी जाती है। उसके मूल या उपयोगिता आदिसे उसका कोई प्रयोजन नही रहता। —ल० सा० वा०

आलोचना, आत्मगत—यह व्यक्तिपर आधारित एक नवीन प्रकारकी आलोचना-पद्धति है, जो स्वच्छन्द व्यक्तिवाद (रोमांटिक इण्डिविजुअलिज्म) और आत्मचेतनाका परिणाम है। आत्मगत आलोचनाको ही **आत्मप्रधान** या **प्रभावाभिव्यंजक** या **प्रभावात्मक** या **प्रभाववादी** आलोचना कहते है। दे० 'प्रभावात्मक' आलोचना।—ल० सा० वा०

आलोचना, ऐतिहासिक—किसी कृतिकी व्याख्या करते समय रचयिताके पूर्ववर्ती तथा समकालीन इतिहासका आश्रय ग्रहण करनेसे ऐतिहासिक आलोचना (**हिस्टोरिकल क्रिटिसिज्म**)का जन्म होता है। आधुनिक कालमें इस आलोचना-पद्धतिको काफी लोकप्रियता प्राप्त हुई है। इस पद्धतिका व्यवहार करते समग्र आलोचक साहित्यको समाजका प्रतिबिम्ब मानता है। वह लेखकके कालमें उन शक्तियोंको खोजनेकी चेष्टा करता है, जहाँसे साहित्यविशेषका उद्गम होता है। होमर, टैसीटस, लौंजाइनस, बेकन, मिल्टन, ड्राइडन, हाब्स, कारलाइल, मैथ्यू आर्नाल्ड, फ्रेडरिक श्लेगेल, टी० एस० इलियट आदि पाश्चात्य विचारकों और साहित्यिकोंने साहित्यको सामाजिक एवं ऐतिहासिक शक्तियोंसे सम्बद्ध करनेका बराबर थोड़ा-बहुत प्रयास किया है और उनके विचारका यह निष्कर्ष सामने आता है कि प्रत्येक कालकी जीवन-सम्बन्धी व्यापक परिस्थितियाँ अपने पूर्ववर्ती कालसे सम्बद्ध होते हुए भी भिन्न होती हैं और वे कवि, कलाकार या लेखककी विचारधारा और पद्धतिको प्रभावित किये बिना नहीं रहती। फलतः, नये कालके साथ, आलोचना भी नवीन रूप धारण करती है। ऐतिहासिक आलोचना-पद्धतिकी दृष्टिसे अंग्रेजी साहित्यके प्रसिद्ध इतिहासकार टेनका विशेष महत्त्व है। उनके हाथों इस पद्धतिका विशेष स्पष्टीकरण और विकास हुआ। जाति (संस्कार) और परिस्थिति (बाह्य प्रभाव)के अतिरिक्त युगकी व्यापक शक्तियोंका प्रभाव उन्हें मान्य है। टेनके सिद्धान्तोंके सम्बन्धमें मतभेद है, विशेषतः मनुष्यके अपने विशिष्ट गुणपर, जिससे मनुष्यके व्यक्तित्वमें अद्भुत विशेषता आ जाती है, टेनने विचार नहीं किया। वास्तवमें कुछ आलोचकोंका तो यहाँतक कहना है कि इस आलोचना-पद्धतिसे युगजीवन समझनेमें अवश्य सहायता प्राप्त हुई, किन्तु कलाकारकी रचनाओंसे हमारा ध्यान हट गया। अधिकसे अधिक इस पद्धतिका कलाकृतिमें, काव्यरचना या नाट्यरचना आदिमें साहित्यिक धाराओं या विचारधाराओंके संकेत प्राप्त करनेमें उपयोग हो सकता है।

ऐतिहासिक आलोचनात्मक पद्धतिके अन्तर्गत राजनीति, समाजविज्ञान, दर्शनविज्ञान, आर्थिक जीवन, रूढि, शिक्षा आदिसे सम्बन्धित पीठिकामें कालविशेषके साहित्यको समझनेकी चेष्टा तो की जाती है, किन्तु व्याख्यात्मक आलोचक इस पद्धतिका वैज्ञानिककी भाँति प्रयोग नहीं करता। उसका मुख्य ध्येय तो युगकी आत्माको समझना होता है। हिन्दी साहित्यके इतिहासमे मध्ययुगकी समाप्तिके पश्चात् आधुनिक युगका सूत्रपात हुआ, जिसका नेतृत्व भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने किया। ऐतिहासिक आलोचना-प्रणालीके अनुसार अंग्रेजी राज्यकी स्थापना होनेपर देशमे कौन-कौनसे राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, वैज्ञानिक, शिक्षा सम्बन्धी आदि परिवर्तन हुए और उनका सम्यक् प्रभाव युगमनपर किस रूपमें पडा, इन सब बातोंकी खोज आवश्यक हो जाती है। हमें यह देखना पडना है कि कविने समाजसे क्या लिया और क्या दिया? —ल० सा० वा०

आलोचना, कार्यात्मक–यह आलोचना-प्रणाली कवि या कलाकारका कार्य सीमित कर देनेके कारण कार्यात्मक कही जाती है। इस प्रणालीके अनुसार कलाकारने जिस साहित्यिक रूपकी रचनाका कार्य अपने ऊपर लिया है, उसी रूपके तत्त्वों और गुणों एवं विशिष्टताओंके आधारपर उसका मूल्यांकन किया जाना चाहिये। आलोचक स्वयं कलाकारको मनोनीत विशेष साहित्यिक रूपके रचना-वैशिष्ट्यकी सीमासे बाहर जानेकी अनुमति नहीं देता। यदि कलाकार उपन्यास-की रचना करता है तो उसे उसमे नाटकीय समावेश करने-की आवश्यकता नहीं है। आलोचकको भी उसमे केवल उपन्यास-कलाके तत्त्व ही देखने चाहिये, उन्हीं तत्त्वोंके आधारपर उसका मूल्यांकन करना चाहिये। उपन्यास-कलामें नाट्य-कलाकी विशेषताएँ देखना निरर्थक है। प्रत्येक साहित्यिक रूपके अपने अलग-अलग गुण हैं, उनकी अपनी अपनी शैली है। इसलिए एकके गुणों और शैलीका आभास दूसरेमे देखना अनुचित है। किन्तु किसी साहित्यिक रूपके विशेष गुणों और शैलीका मूल्यांकन केवल नियमों और सिद्धान्तोंके आधारपर करना ही इस प्रणालीका उद्देश्य नहीं है। कवि या कलाकारकी शैलीका मूल्यांकन उसके व्यक्तित्वके साथ-साथ सम्बद्ध करनेमे कार्यात्मक प्रणाली सहायक सिद्ध होती है। कोरा 'सिद्धान्तवाद' इसमे नहीं है। साथ ही कवि या कलाकारको अपना निर्धारित मार्ग छोड़कर हृदयकी स्वच्छन्दता व्यक्त करनेका भी अधिकार नहीं है। कविकर्मका संयमन इस प्रणालीकी प्रधान विशेषता मानी जानी चाहिये। —ल० सा० वा०

आलोचना, गुणदोषात्मक–यह आलोचना-प्रणाली प्रधानतः रूढिपर आधारित रहती है। आलोचना-क्षेत्रमें प्रायः सब देशोंमें सर्वप्रथम गुण-दोष-दर्शन ही आलोचकोंका लक्ष्य रहा है। आलोचक रूढि-विपर्यय सहन नहीं करता। वह कवियों और लेखकोंकी नवीन विशेषताओं और अन्तःप्रकृतिके विश्लेषणकी ओर ध्यान नहीं देता। उसे रूढ़िका अनुगमन ही प्रिय और वांछनीय लगता है। इस प्रकारकी आलोचनामें एक बड़ा खतरा यह है कि प्रायः आलोचक केवल छिद्रा-न्वेषणतक अपनेको सीमित रखते हैं। विरले आलोचक ही गुण-दोष-निर्देशनमें सन्तुलन रख सके हैं। हिन्दीमें उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्धमें आलोचना गुण-दोष-विवेचनके रूपमे प्रकट हुई। 'प्रेमघन'ने 'संयोगिता स्वयंवर'की त्रुटियों और दोषोंका बड़ी सूक्ष्मताके साथ उद्घाटन किया। इसी प्रकार महावीरप्रसाद द्विवेदीकृत 'हिन्दी कालिदासकी आलोचना' केवल भाषा-सम्बन्धी दोषों और मूल भावोंको पहुँचे आघातोंकी ओर संकेत करनेतक ही सीमित है। द्विवेदीजीकी अन्य आलोचनाओंमे गुण-दोषोंका ही अधिक उल्लेख है। वास्तवमें आलोचक इस प्रणालीका अनुसरण कर लेखक या कविके व्यक्तित्वकी, उसके युग और युगानुकूल पडे प्रभावोंकी उपेक्षा करता है। केवल गुण-दोष-प्रदर्शन आलोचना-प्रणालीका प्रारम्भिक रूप माना जा सकता है। —ल० सा० वा०

आलोचना, जीवनवृत्तांतीय–साहित्यका अध्ययन करते समय जाति, परिस्थिति और युगके सम्यक प्रभावान्तर्गत निर्मित साहित्यके व्यक्तित्वके अध्ययनमे भी यथेष्ट सहायता प्राप्त होती है। इस कार्यके लिए उसके जीवनका ज्ञान आवश्यक हो जाता है। यूरोपमें यह प्रवृत्ति ईसाकी सोलहवीं शताब्दीसे दृष्टिगोचर होती है। अठारहवीं शताब्दीमे जान ड्राइडन द्वारा उसे प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। ड्राइडन और जान्सन-ने जीवनचरित और आलोचनाका अद्भुत सम्मिश्रण प्रस्तुत किया है। अर्थहीन बातोंका उल्लेख करनेसे इस प्रणालीमे कोई सहायता नहीं मिलती। वास्तवमे जीवनका अध्ययन करना उन प्रभावोंका अध्ययन करना है, जिनसे साहित्यिक व्यक्तित्वका निर्माण होता है। कृतियो और जीवनका पारस्परिक निकटतम सम्बन्ध आलोचकके लिए उपयोगी सिद्ध होता है। चरित्रका जितना अधिक पूर्ण विश्लेषण होगा, उतना ही अधिक विश्लेषणमे स्पष्टता आयेगी। जीवनवृत्तान्तीय आलोचना-पद्धति प्रतिपादित करनेमे सेण्ट ब्यूवका प्रधान हाथ रहा है और ऐतिहासिक पद्धतिकी भाँति व्याख्यात्मक पद्धतिसे ही उसका विशेष सम्बन्ध है। सेण्ट ब्यूवके मतानुसार किसी कृतिकी जानकारी कलाकारके जीवनसे सम्बद्ध है। कृति उसके जीवनका ही सार अंश है। परिवार, मित्रमण्डली, गोष्ठी, काव्यात्मक या आलो-चनात्मक केन्द्र—वह केन्द्र, जिसमें लेखक अपना रूप धारण करता है—जीवनचरितकी प्रगति, धार्मिक निष्ठा, प्रकृतिप्रेम आदिकी निरीक्षणशक्ति, अन्तर्दृष्टि और निष्ठा द्वारा अध्ययन कर कवि या कलाकारके व्यक्तित्वका स्पष्टीकरण करना 'जीवनवृत्तान्तीय' आलोचना-पद्धतिका लक्ष्य है। व्यक्तिका विश्लेषण होते ही कृतिका विश्लेषण हो जाता है। प्राचीन भारतवर्षकी आलोचना-प्रणालीके अन्तर्गत कविके सत्संग, देशज्ञान, व्यवहारज्ञान, वाग्विदग्धता, विद्वानोंका सत्संग आदिका उल्लेख भी एक प्रकारसे जीवनवृत्तान्तीय आलोचना-प्रणालीका ही रूप है। हिन्दीमें सूर, तुलसी, कबीर आदिका साहित्य भी इसी प्रणालीके अनुसार परखा गया है। यद्यपि इस प्रणालीके सम्बन्धमे जीवनचरितपर प्रकाश डालनेवाली सामग्रीका अभाव, वंशके अनुसार प्रतिभाका आँकना अथवा प्रतिभाको वंशानुगत मानना आदि कठिनाइयाँ है, तो भी उसका प्रचार रहा है। अनेक कलाकार तो अपने जीवनसे अपनी कृतियोको अलग रखनेमें सफल हुए है और अनेक कलाकार निम्न और साधारण वंशोंमें उत्पन्न होते हुए भी प्रतिभाशाली सिद्ध हुए हैं। अनेक कलाकारोंके जीवनका

थोड़ा-सा भी विवरण प्राप्त नहीं होता। ऐसी परिस्थितिमें प्रस्तुत आलोचना-प्रणाली सहायक सिद्ध नहीं होती। वास्तवमें ऐतिहासिक प्रणालीका कलाकारके व्यक्तित्वका दिग्दर्शन करानेमें सहायक न होनेका अभाव जीवनवृत्तान्तीय आलोचना द्वारा पूर्ण हो जाता है, क्योंकि इस कलाका उद्गम और विकास ज्ञात करनेका साधन प्राप्त हुआ, उससे कलासम्बन्धी अनेक गुत्थियाँ सुलझानेमे सहायता मिलती है। हमे कलाकारको निकटसे देखनेका अवसर मिलता है और वह तथा उसकी रचना, दो भिन्न वस्तुएँ नहीं रह जातीं। कलाकारके जीवनसे सम्बन्धित अनेक बातें तो उसकी रचनाओमे जाने या अनजानेमे आ जाती हैं। हम अपने सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन द्वारा उनमे उसके विचारों, अनुभवों, भावनाओं आदिका स्रोत प्राप्त कर सकते हैं। यह आलोचना-प्रणाली अब भी काफी लोकप्रिय है। —ल० सा० वा०

आलोचना, तुलनात्मक—अंग्रेजीमे इसे **कम्परेटिव क्रिटिसिज्म** कहते है। **ऐतिहासिक** और **वैज्ञानिक** आलोचना-प्रणालियोंकी बहुत-कुछ पूर्ति तुलनात्मक प्रणालीसे हो जाती है। उसका सूत्रपात उन्नीसवीं शताब्दीसे माना जा सकता है। साहित्यिक प्रभावोंकी खोज करना, अर्थात् किसी रूप या शैलीपर किसी विशेष साहित्यिकका प्रभाव खोजना इस प्रणालीका मूल उद्देश्य है। तुलनात्मक आलोचनामें बहुत-सी बातें आकर्षक रहती है और ऐतिहासिक दृष्टिसे ही उसमें तुलना नहीं रहती, वरन् विचारों और प्रकारोंकी दृष्टिसे भी तुलना रहती है। वास्तवमें तुलनात्मक प्रणाली ग्रहण करनेवाला आलोचक व्युत्पत्तिपर विशेष ध्यान देता है। इस कार्यकी पूर्तिके लिए वह विभिन्न देशों और विभिन्न कालोंकी मानसिक एवं आध्यात्मिक प्रगतिका भी अवलोकन करता है। एक ही देशकी विभिन्न साहित्यिक धाराओंका अध्ययन करना उसके लिए अभीष्ट होता है। इन सबमे वह कोई नैसर्गिक सम्बन्ध खोजनेकी चेष्टा करता है। तुलनात्मक प्रणालीमें सफल होनेके लिए आलोचकका बहुज्ञ होना भी आवश्यक है। वह साहित्य और कलाका मूल किसी भी रूपमें स्वीकार करे, किन्तु उसे यह न भूल जाना चाहिये कि उसका प्रधान कर्तव्य केवल वर्णन, विवेचन और विश्लेषण है, निर्णय देना उसका कार्य नहीं। साथ ही इस बातपर ध्यान रखना भी आवश्यक है कि तुलना समान वस्तुओंकी ही हो सकती है। यह बात विषयके अतिरिक्त ध्वनि, ध्येय और अभिव्यंजना-प्रणालीके सम्बन्धमें भी लागू होती है। तुलनात्मक आलोचना जब आन्तरिक बातोंकी तुलनाका प्रयास करती है तो और भी दुरूह हो जाती है। परम्परागत राजनीतिक या सामाजिक इतिहासके बदले इसमें फिर विचारोंके इतिहासपर जोर दिया जाता है। तुलनात्मक आलोचनामें साहित्य अभिव्यंजनाका साधनमात्र ही नहीं, मनुष्यके भावों और विचारोंका प्रतिबिम्ब या प्रतीक है, वह सामाजिक चेतनाका दर्पण है। एक ही कविके कई ग्रन्थोंके आधारपर विषयकी पारस्परिक रूपमें तुलना हो सकती है अथवा एक ही कविकी विभिन्न रचनाओंकी तुलना हो सकती है और अन्तमें एक ही भाषाके या अन्य भाषाओंके तद्विषयक कवियों और ग्रन्थोंसे तुलना हो सकती है—विषय, भाव, भाषा, शैली आदि सभी दृष्टियोंसे। हिन्दीमें देव और बिहारीकी तुलना कुछ दिनोंतक बड़ी धूमधामसे होती रही। —ल० सा० वा०

आलोचना, निर्णयात्मक—अंग्रेजीमें इसे **जुडीशल क्रिटिसिज्म** कहते है। यूरोपमें यह प्रणाली काफी पुरानी है और यह एक प्रकारकी नैतिक आलोचना होती है। विद्वानोंको यह बात बुद्धिसंगत भी जान पड़ती है, क्योंकि आलोचनाका मुख्य उद्देश्य निर्णय हो रहा है। आलोचना-प्रणालीके अनुसार उन मूल्योंकी खोज की जाती है, जिनके प्रभावान्तर्गत कवि या कलाकारकी सर्जनात्मक शक्तिका उद्घाटन हुआ है। साथ ही उसके द्वारा रूप और रचना-प्रक्रियाका मूल्यांकन भी होता है। ग्रीसमें आलोचना-प्रणालीका सूत्रपात होमरसे माना जाता है। होमरके बाद यूनानी आलोचना-क्षेत्रमें सोफिस्ट्स (तार्किकों)का स्थान है। वे भाषणकला और व्याकरणमे निपुण होते थे और वे अपने वक्तव्योंको अधिकसे अधिक गूढ और चमत्कारपूर्ण बनानेकी चेष्टा करते थे। प्लेटोने कलाका आधार नैतिक और दार्शनिक सत्य माना था और उसे उपदेशसे सम्बद्ध करनेकी चेष्टा की थी। अरस्तूने कल्पनात्मक अनुकरण द्वारा सौन्दर्यको अधिक महत्त्व दिया था। लोंजायनसने कला और साहित्यमे महान् और ऊँचे विचारों, तीव्र मनोवेग, अलंकारोंके उचित प्रयोग, पदरचना और वाक्य शैली और चमत्कार द्वारा उत्पन्न आनन्दमय प्रभावोत्पादकताको विशेष मानदण्ड माना। रोममें सिसरो और क्रिंटीलियनने भी साहित्यके बाह्य गुणोंपर अधिक जोर दिया। होरेसने औचित्यकी ओर ध्यान आकृष्ट किया। यूरोपीय मध्ययुगमें भी आलोचकोंका ध्यान अर्थकी अपेक्षा शब्द-योजना, रूप-सौन्दर्यकी ओर अधिक गया। पुनरुत्थान-कालमें इटली, इंग्लैण्ड आदि देशोंमें आलंकारिकता, रूप, शैली, सौन्दर्ययुक्त प्रस्तुतीकरणके अन्तर्गत आलोचनात्मक सिद्धान्त उपलब्ध किये गये। आलोचकोंका ध्यान बराबर शास्त्रीय मतकी ओर गया। फ्रांसमें भी अरस्तू, होरेस, वर्जिल आदिके नियमोंकी मर्यादाकी सुरक्षा बनी रही। नवशास्त्रीय कालमें शास्त्रीयताका पूरा पक्षपात दृष्टिगोचर होता है। इस कालमें कुछ नियम प्रचलित थे और उनमें एकरूपता थी। रोमांटिक कालकी आलोचना-प्रणालीमे कोई एकरूपता नही। उन्नीसवीं शताब्दीमें भी आलोचकोंका ध्यान शास्त्रीयताकी ओर रहा है। भारतवर्षमें भी काव्यशास्त्र और साहित्यालोचनका आविर्भाव अति प्राचीन कालमें ही हो गया था। भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट, कुन्तक, राजशेखर, धनञ्जय, मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि आचार्योंके नाम और ग्रन्थ लोकप्रसिद्ध है, जिनमें काव्य-प्रयोजन, काव्य-लक्षण, काव्य-गुण, काव्य-दोष, रस, रीति, अलंकार, छन्द, नाटक आदि विविध विषयोंपर विचार किया गया है और साहित्यके मानदण्ड स्थापित किये गये है। भारत और यूरोपमें कुछ सिद्धान्तोंके अनुसार काव्य-समीक्षाका प्रचार रहा है। साहित्यिक रचनाओंमें रीति, गुण, अलंकार आदि देखना ही आलोचनाका मानदण्ड था। कलापक्ष प्रधान था और भावपक्ष एक प्रकारसे छूटा हुआ मिलता है।

निर्णयात्मक आलोचनाके उपर्युक्त संक्षिप्त ऐतिहासिक विवरणसे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रणालीका मुख्य ध्येय कवियोंका मूल्यांकन कर पाठकोंकी सहायता करना रहा है। वह लेखकों और कृतियोंकी श्रेष्ठता या अश्रेष्ठताके सम्बन्धमे निर्णय देती है। इस निर्णयमे वह साहित्य और कला सम्बन्धी नियमोंमे सहायता लेती है। किन्तु ये नियम साहित्य और कलाके सहजरूपसे सम्बन्ध न रख, बाह्य रूपसे आरोपित होते हैं और इस प्रकार आलोचनाका अपरिवर्तनशील मानदण्ड स्थापित हो जाता है, जो सदैव प्राचीन साहित्यके श्रेष्ठ गुणोंकी अपेक्षा रखता है। निर्णयात्मक आलोचना-पद्धति या तो बिलकुल ही रूढ़िसे अलग हटना नहीं चाहती या वह प्राचीन सिद्धान्तोंको पूरे तौरसे मान्यता प्रदान नहीं करती और सुन्दरतामूलक सिद्धान्तोंको भी उपयोगी मानती है। इन दोनो दृष्टिकोणोंका सामंजस्य भी किया जा सकता है, किन्तु इसमे आलोचक भटक भी सकता है। वह रचनापर अधिक ध्यान केन्द्रित न कर मनोविज्ञान, वातावरण अथवा इतिहासकी ओर अधिक आकृष्ट हो सकता है। इस प्रकारकी पद्धतिके अन्तर्गत आलोचकके ऊपर पड़े हुए प्रभावकी अभिव्यक्ति भी कुण्ठित हो सकती है। निर्णयात्मक आलोचनाने साहित्य-समीक्षामे जीवन, युग और वातावरण आदिके परीक्षणका महत्त्व कम कर दिया, क्योंकि युग, वातावरण आदि ऐतिहासिक प्रक्रियाएँ तो सदैव परिवर्तनशील हैं, इसलिए उन्हे साहित्यका निश्चित मानदण्ड नहीं माना जा सकता। कलाका विकास तो देश-कालसे परे है। वास्तविक कला किसी भी देश या कालमे आनन्दप्रदायिनी हो सकती है।

मुद्रण-कलाके प्रचारके फलस्वरूप प्रकाशित समाचार-पत्रोंमे पुस्तक-समीक्षाओं द्वारा पाठकोंके पथप्रदर्शन और पुनर्जीवनकालमें यूनानी साहित्यके अध्ययन द्वारा यूरोपमें निर्णयात्मक आलोचना-प्रणालीको विशेष प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। क्रियात्मक आलोचना-प्रणालीमे उसका कुछ अंश विद्यमान रहता है। वह शास्त्रीय आलोचनाका व्यावहारिक रूप है। हिन्दीमे महावीरप्रसाद द्विवेदीकृत और मिश्रबन्धु-कृत आलोचनाएँ निर्णयात्मक ढंगकी आलोचनाके उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। एक आदर्श आलोचक केवल उन्हीं नैतिक मानदण्डोंके आधारपर परीक्षा करेगा, जो स्वयं उस रचनामे विद्यमान होंगे अथवा जो रचनामें निहित मानदण्डके समीप होंगे। वह मैथिलीशरण गुप्तकी आलोचना 'निराला'के आधारपर नहीं करेगा अथवा उन्नीसवीं शताब्दीके उपन्यास-लेखक श्रीनिवास दासकी आलोचना प्रेमचन्दके आधारपर नहीं करेगा। यदि वह किसी कवि या लेखककी आलोचना उसकी रचनामे निहित नैतिक मानदण्डोंके स्थानपर कुछ भिन्न मानदण्डोंके आधारपर करना चाहता है तो ऐसा करनेसे पूर्व उसे यह स्पष्टतः प्रकट कर देना चाहिये, ताकि पाठक यह समझ सके कि वह निर्णायकके रूपमे है या दण्डनायकके रूपमें। दूसरी ओर, प्रशंसकोंको अपने पक्षके समर्थनके लिए भी पूरे तौरसे तैयार रहना चाहिये। निन्दा या प्रशंसा भी एक कलाका रूप ग्रहण कर सकती है, किन्तु केवल निन्दा या प्रशंसा ही साहित्यकी आलोचनाके नामसे अभिहित नहीं की जा सकती। निर्णयात्मक आलोचनामे आलोचक न्यायाधीशके समान होता है। **व्याख्यात्मक** आलोचनामें आलोचक अन्वेषकके रूपमे रहता है। —ल० सा० वा०

आलोचना, नैसर्गिक–इस प्रणालीमे कलाके प्रति आलोचककी सहज, स्वाभाविक, निरपेक्ष प्रतिक्रियाका द्योतन होता है और उसमे व्यक्तिगत रुचि-अरुचि ही मुख्य निर्णायक तत्त्व है। कोई कृति हमे अच्छी लगती है, बस इतना ही यथेष्ट है। क्यों अच्छी लगती है, यह प्रश्न उठता ही नहीं। इसमें आलोचनाकी अन्य जितनी प्रणालियाँ हैं, सब निरर्थक समझी जाती हैं। हमे न तो कलाकारके जीवनका अध्ययन करना है और न देश, काल और परिस्थितिका। कलाकारकी कृति स्वयं अपनेमे कैसी है, यही देखना उसका मूल्य आँकना है। कलाकारकी अभिव्यंजना-शैलीसे भी उसका कोई सम्बन्ध नहीं। कलाकारकी कृतिकी जो उत्कृष्टता है, केवल उसे ही देखना आलोचकका उद्देश्य होना चाहिये। अन्य बातें अनावश्यक और कृत्रिम हैं। अन्य किसी उचित नामके अभावमे उसे केवल **नैसर्गिक, सहज, स्वाभाविक** आलोचना-प्रणाली कहा जाता है। —ल० सा० वा०

आलोचना, प्रभावात्मक–इसे अंग्रेजीमे **इम्प्रेशनिस्टिक** कहते हैं। यद्यपि सामान्यतः आलोचनाका मूल सिद्धान्त है कि किसी कलाकृतिकी किसी व्यक्तिके मनपर क्या प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, इसी बातपर आलोचना निर्भर रहती है, किन्तु प्रभावात्मक आलोचना-पद्धति स्वच्छन्द व्यक्तिवाद और आत्मचेतनापर आधारित है। यह पद्धति हालमें ही विकसित हुई है। तार्किक दृष्टिसे या मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे किसी कृतिके प्रति व्यक्तिगत प्रतिक्रिया ही इस आलोचनाका प्रथम सोपान है। कालक्रमके अनुसार व्यक्तित्व प्रधान आलोचना बादकी चीज है। प्रभावात्मक आलोचनाको ही **आत्मगत** या **प्रभावाभिव्यंजक** आलोचना भी कहते हैं। कोई बात सुनकर, कोई तथ्य देखकर या कोई सुन्दर वर्णन पढ़कर हममें स्वाभाविक हर्षोल्लास उत्पन्न होता है, जिसे अंग्रेजीमें 'इण्ट्यूटिव रेस्पौन्स' कहते हैं। यदि एक आलोचकमें सत्-असत्का विवेक है और साथ ही उसमें हर्षोल्लासकी भावना है, तो वह शीघ्र ही एक कलात्मक कृतिको भली भाँति हृदयंगम करनेकी चेष्टा करता है और अन्तमें अपना निर्णय दे डालता है। इस आलोचना-पद्धतिका आदर्शक्रम रहता है: सहज, आन्तरिक प्रतिक्रिया, कृतिका स्वेच्छापूर्वक ज्ञान और अन्तमें मूल्यांकन। किन्तु साहित्यके इतिहासमे यह क्रम बदला हुआ मिलता है। प्राचीन कालमे हमें नैतिक मूल्यांकन सबसे पहले मिलता है। विवेकपूर्ण साधनोंका विकास बादको हुआ। इस पद्धतिके अन्तर्गत आलोचक कृतिकी कुछ बातोंसे प्रभावित होकर कहता है—"मेरा आनन्द स्वयं ही एक प्रकारका फैसला है, दूसरे लोग दूसरे प्रकारका आनन्द प्राप्त करते और व्यक्त करते हैं। उन्हें अपने ऊपर पड़ा प्रभाव व्यक्त करनेका पूर्ण अधिकार है। इस प्रकार हम दोनो कलापूर्ण रचना या आलोचना-कलाकी सृष्टि करेंगे। सारी आलोचनाका उद्देश्य कलासे हटकर उसकी जगहपर कुछ और वस्तु रखना है। यहाँ मैं अपनेको रखता हूँ।" किन्तु जबतक प्रभाव एक ही व्यक्तितक सीमित रहा, तबतक

उसका विशेष मान नहीं होता—वह व्यक्ति विशेषज्ञ हुआ तो दूसरी बात है। जब उल्लास या प्रभावका साधारणीकरण हो जाता है तो उसका मूल्य बढ जाता है। इस पद्धतिका सामूहिक रूप भरत मुनिके नाट्यशास्त्रमे बतायी गयी सिद्धियोमे मिलता है, जिनका प्रमाण दर्शकोंके हर्षोल्लास-सूचक चिह्नों या शारीरिक व्यापारोसे होता है। हिन्दीमे इस प्रकारकी आलोचनाके दर्शन पण्डित पद्मसिह शर्माकी कृतियोमे होते हैं। किन्तु इस पद्धतिमे एक दोष खटकता है कि हो सकता है, जो प्रभाव व्यक्त किया गया है, वह आंशिक हो या सम्यक् रूपसे पडा प्रभाव न हो और कलाकी सम्पूर्ण आत्मा न परखी गयी हो। साथ ही प्रभावात्मक आलोचक होनेकी क्षमता प्रत्येक व्यक्तिमें नहीं पायी जा सकती। इसके लिए तीव्र संवेदनशीलता, चित्तकी गतिशीलता, भावानुभूति, कल्पना-शक्ति आदि विशेष गुण अपेक्षित है। वास्तवमे प्रभावात्मक आलोचना-पद्धति द्वारा हम साहित्यकी शक्ति पहिचाननेमे समर्थ हो सकते हैं, वह हममें नवीन कलात्मक चेतनाका जन्म दे सकती है। —ल० सा० वा०

आलोचना, प्रभावाभिव्यंजक—कलाकृतियोके निरन्तर अध्ययन द्वारा पाठकके हृदयपर एक प्रभाव या छाप (इम्प्रेशन) पडती जाती है, जिससे वह स्वयं यह जान जाता है कि क्या उदात्त और श्रेष्ठ है। यह आलोचना-पद्धति व्यक्तिपर आधारित है। दे०—'प्रभावात्मक आलोचना'। —ल० सा० वा०

आलोचना, भौतिकवादी—कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित **द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद**से सम्बद्ध होनेके कारण यह आलोचना-प्रणाली भौतिकवादी आलोचनाके नामसे अभिहित की जाती है। इसे **मार्क्सवादी आलोचना** या **प्रगतिवादी आलोचना** भी कहते है। कभी-कभी इसके लिए **सामाजिक यथार्थवादी** आलोचना अथवा **सोवियत समीक्षापद्धति** नाम भी प्रयुक्त मिल जाता है, किन्तु **मार्क्सवादी** या **प्रगतिवादी** आलोचना शब्द ही अधिक प्रचलित है।

भौतिकवादी आलोचना जीवनके बहुमुखी पक्षोके साथ सम्बन्ध स्थापित कर साहित्यका मूल्यांकन करती है। जीवन स्थिर या अपरिवर्तनशील नहीं है, वह निरन्तर गतिशील है, किन्तु प्राचीनके प्रति मोह और नवीनके प्रति आकर्षणके फलस्वरूप जीवनमें, फलतः साहित्यमें, द्वन्द्व उपस्थित हो जाता है। ऐतिहासिक दृष्टिसे यही द्वन्द्व वर्ग-संघर्षके रूपमें प्रकट हुआ है। कार्ल मार्क्सके मतानुसार मानव जातिके इतिहासका विकास उत्पादन और वितरणके साधनो और वर्ग-संघर्षके दो कूलोंके बीच प्रवाहित होता हैं और उसी संघर्षके अनुकूल समय-समयपर सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक आदर्श, फलतः साहित्यिक आदर्श, निर्मित होते रहे है। सन् १९१८ ई०की रूसी राज्यक्रान्तिके पश्चात् कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और वर्ग-संघर्ष साहित्यके मूल्यांकनके आधार निश्चित हुए और अर्थ उसका मूलाधार बना। हमारे आधुनिक जीवनमें अनेकानेक सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक विषमताएँ हैं, जिनसे आजके मानवका जीवन पीड़ित है। ऐसी स्थितिमें साहित्यकार प्राचीनताके मोहमें पडे रहें, यह भौतिकवादी आलोचकको मान्य नहीं। वह **द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद** और वर्ग संघर्षके आधारपर कलाकारके जीवन और साहित्यकी क्रियात्मकता और गतिशीलताको उभारना चाहता है। कला और आनन्दका परम्परागत अर्थ भी उसे मान्य नहीं। प्रस्तुत आलोचना-प्रणालीका राजनीतिसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। यही कारण है कि मार्क्सवादी साहित्य और आलोचनामे प्रचारका अंश भी विद्यमान है। जिस साहित्यका सम्बन्ध कोरी भावुकतासे हो, वह भी उसे स्वीकार नहीं। स्वयं मार्क्सके विचार यूरोपमें रोमांसवाद (रोमांटिसिज्म)के विरोध और बुद्धिवादी दार्शनिक अतिवादियोंके फलस्वरूप उत्पन्न हुए थे। इस आलोचना-प्रणालीके समर्थकोका विश्वास है कि वर्ग-संघर्षमें प्रत्येक व्यक्तिका झुकाव किसी-न-किसी एक वर्गकी ओर अवश्य रहता है। पूँजीवादी व्यवस्था अपने आन्तरिक विरोधोंके कारण समाप्त होगी और उसके बाद सर्वहारा-वर्गके हाथमें सत्ता आयेगी, जिसे सर्वहारावर्गका अधिनायकत्व कहा जाता है। किसी भी साहित्यिक या कलात्मक कृतिमे इसी सर्वहारावर्ग या श्रमिकवर्ग या, कहना चाहिये, व्यापक सामाजिक जीवनमें किसी भी उपेक्षित, पीडित और पददलितके जीवन, उसके हर्ष-शोक, सुख-दुःख, पीडा-व्यथा, वेदना आदिका मार्क्सवादी चित्रण होना चाहिये। वास्तवमें साहित्यिक वर्गीकरणके मूलाधारों—सौन्दर्य और उपयोगिता—मेंसे भौतिकवादी आलोचना उपयोगिताको ही अपनी प्रधान कसौटी बनाती है। वह 'कला कलाके लिए है'के सिद्धान्तमे विश्वास नही रखती। भौतिकवादी या मार्क्सवादी आलोचक कला और साहित्य द्वारा क्रान्तिकी अवतारणा होते देखना चाहता है ताकि उसका स्वर्णस्वप्न पूरा हो। सामन्तवादी और पूँजीवादी समाजकी छत्र-छायामें उत्पन्न कलात्मक मापदण्ड उसे स्वीकार नहीं। श्रमिकवर्गके अधिनायकत्वमे निर्मित वर्गविहीन समाजकी कलाका मापदण्ड मानवकी सेवा होगा। उसमें तथा पिछले मापदण्डोंमें समझौता उपस्थित करना उसे मान्य नही, यद्यपि इस मतका पूर्णरूपेण निर्वाह हो नही सका। आधुनिक औद्योगिक युगके लिए वह कलाके प्राचीन आदर्शोंका निर्वाह करना उचित नही समझता। इस आलोचना-प्रणालीके सिद्धान्तानुसार व्यष्टिके स्थानपर समष्टिका अधिक महत्त्व है। कार्ल मार्क्सको पारलौकिक या आध्यात्मिक शक्तियोंमे विश्वास नही था। उसका विश्वास था कि पार्थिव शक्ति ही सब कुछ है, जिसका मूल अर्थशास्त्र है। राजनीति अर्थशास्त्रकी चेरी है। संसारके निर्माणका कारण भी भौतिक है, न कि दैवी, और ज्ञान-विज्ञानके प्रकाशमे उसकी प्रत्येक स्थितिकी व्याख्या की जा सकती है। उत्पादन और वितरणके साधनोंमें परिवर्तन होनेके साथ-साथ सामाजिक व्यवस्थामें भी परिवर्तन होता है। अतः कलात्मक और साहित्यिक आदर्श वर्गविशेषके ही हो सकते है। रागात्मकता अर्थात् हृदय-पक्षके स्थानपर, समाज-विमुखता और पलायनवादके स्थानपर उसे बुद्धिवाद और समाज-सापेक्षतामें विश्वास है। ईश्वर और धर्मका वह मजाक बनाता है और संसारके बाहर या परे उसके लिए कुछ भी

शेष नहीं। इन सब सिद्धान्तोंके आधारपर भौतिकवादी आलोचक साहित्यका मूल्य समझनेकी चेष्टा करता है। वह मार्क्सवादी जीवनादर्शका पालन होते हुए देखना चाहता है। इस दृष्टिसे इस आलोचना-प्रणालीकी सीमाएँ संकुचित हैं। भौतिकवादी या मार्क्सवादीका आर्थिक दृष्टिकोण अतिपूर्ण है। उसे मानव जातिके सांस्कृतिक भाण्डारमें अभी बहुत-कुछ सीखना और लेना है।—ल० सा० वा०

आलोचना, मनोवैज्ञानिक–यह आलोचना-पद्धति बीसवीं शताब्दीकी देन है। कुछ रचनाओंका तो आधार ही मनोवैज्ञानिक होता है, अर्थात् उनमें कवि या कलाकार अपने पात्रोंके मनको व्यक्त करनेकी चेष्टा करता है। ऐसी कृतियोंकी आलोचना भी स्वभावतः मनोवैज्ञानिक ही होगी। किन्तु यह आलोचना वस्तुकी आलोचना होगी, उससे पद्धतिकी सूचना नहीं मिलती। जब पद्धति मनोवैज्ञानिक कही जायगी तो कविके आन्तरिक जीवन, वैयक्तिक स्वभाव, परिस्थितियों और प्रभावोंमें कृतिका आधार देखा जायगा। जबतक कलाकारका अध्ययन पूर्ण न हो जायगा, तबतक कलाका अध्ययन पूर्ण न हो सकेगा। जब कला कलाकारकी मानसिक प्रवृत्तियोंका ही प्रतिबिम्ब है तो आलोचक पहले कलाका मूल स्रोत ही खोजता है। मूलका ज्ञान हो जानेपर शाखाओंका ज्ञान स्वयं हो जायगा। ऐतिहासिक आलोचनामें देश और जीवनकी बाह्य परिस्थितियोंका प्रभाव परखा जाता है, तो मनोवैज्ञानिक पद्धतिमें कलाकारकी आन्तरिक परिस्थितियोंका और जीवन-चरितात्मक आलोचनामें कलाकारके निजी जीवनसे सम्बन्धित बाह्य परिस्थितियोंका मूल्य आँका जाता है। इस कार्यमें अब मनोविश्लेषण-शास्त्रसे विशेष सहायता ली जाने लगी है। वास्तवमें ऐतिहासिक पद्धतिकी विस्तृत परिधिमें जीवन-चरितात्मक पद्धति दूसरी परिधि है और मनोवैज्ञानिक पद्धति भीतरी और तीसरी, फलतः सबसे छोटी परिधि है। किन्तु मनोवैज्ञानिक पद्धतिकी दृष्टिसे समकालीन कलाकारका मन समझनेमें आसानी होती है। पुराने कलाकारोंके सम्बन्धमें यह सुविधा प्राप्त नहीं होती। तो भी आलोचक पुराने कलाकारकी कृतिमें गहनतम मानव-स्वभाववाले अंशोंकी सहायतासे, जहाँ कलाकारकी आत्मानुभूति विशेष रूपसे व्यक्त होती है, उसका मन समझनेकी चेष्टा करता है।

यूरोपमें उन्नीसवीं शताब्दीसे पहले बहुत कम मनोवैज्ञानिक आलोचना मिलती है। सर्वप्रथम १८वीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें एडीसनने इस पद्धतिको जन्म दिया। उन्नीसवीं शताब्दीमें कवियों और नाटककारोंकी व्यवस्थाओंमें कभी-कभी मनोविज्ञानका उल्लेख होने लगा था। बीसवीं शताब्दीमें तो इस पद्धतिका परिपोषण विशेष रूपसे हुआ है। हिन्दीमें मनोवैज्ञानिक पद्धतिके प्रचारके लिए काफी गुंजाइश है। भारतवर्षमें रचना-शक्ति और काव्य-सिद्धान्तोंमें मनोविज्ञानका तत्त्व निहित है। रसका तो सीधा सम्बन्ध मनोविज्ञानसे है।

मनोवैज्ञानिक प्रणालीसे साहित्य-निर्माणकी समस्याके विश्लेषणमें काफी सहायता प्राप्त हुई है। मानव जातिके आदिम जीवनमें कलाके जन्मपर यह पद्धति प्रकाश डालती है। यद्यपि आधुनिक कालमें यह पद्धति विशेष रूपसे लोकप्रिय हुई है, तो भी एक यह प्रश्न सामने आता है कि इस मनोवैज्ञानिक छान-बीनसे स्वयं साहित्यिक रस, आनन्द प्राप्त करनेमें कहाँतक सहायता प्राप्त होती है। उत्तर सम्भवतः बहुत उत्साहजनक नहीं होगा। वास्तवमें मनोवैज्ञानिक पद्धतिका प्रचार साहित्यपर आधुनिक वैज्ञानिक युगकी छापका प्रमाण है। मनोविज्ञान साहित्यिक आलोचनाका एक अंगमात्र हो तो अधिक स्वाभाविक होगा। —ल० सा० वा०

आलोचना, मार्क्सवादी–वह आलोचना-प्रणाली, जिसने कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित **द्वन्द्वात्मक भौतिक** और वर्ग-संघर्ष तथा अन्य सभी सिद्धान्तोंको साहित्यके मूल्य निर्धारित करनेकी कसौटी बनाया जाता है, **मार्क्सवादी आलोचना**के नामसे अभिहित की जाती है। दे०—'भौतिकवादी आलोचना'। —ल० सा० वा०

आलोचना, रचनात्मक–रचनात्मक (क्रिएटिव) आलोचनाको हिन्दीमें **क्रियात्मक** नाम भी दिया गया है। इस प्रणालीके अन्तर्गत आलोचकके हृदयमें कलाकारकी कृतिका पुनरुत्पादन ही मुख्य है। कुछ लोगोंने इसे **साहित्यिक समीक्षा**के समान ही माना है। यूरोपमें साहित्यका मूल्यांकन करनेकी विविध प्रणालियाँ रही हैं। किन्तु स्थूलतः, उन प्रणालियोंके अन्तर्गत या तो साहित्यिक कृतियोंका बाह्य रूप परखा गया है, अर्थात् आलोचना करते समय केवल कुछ नियमों और सिद्धान्तोंकी कसौटीपर साहित्यको कसा गया है अथवा साहित्यको कवि या कलाकारके मानसिक जगत्से सम्बद्ध कर, देखनेकी चेष्टा की गयी है। आलोचनाका इतिहास यह बताता है कि समय-समयपर इन दोनों मूल रीतियोंको आधार मानते हुए ही आलोचनाने विभिन्न दिशाओंकी ओर विकास प्राप्त किया है। उन्नीसवीं शताब्दीके लगभग अन्तमें बेनेदेत्तो क्रोचे तथा अन्य विचारकोंने आलोचना-प्रणालीको बाह्य नियमों और सिद्धान्तोंके स्थानपर—रूढ़ि, व्याकरण सम्बन्धी अथवा छन्द-शास्त्र सम्बन्धी नियमोंके स्थानपर—कविके मनके श्रेष्ठ आधारपर आधारित किया। **प्रभाववादी** प्रणालीको भी उन्होंने अपूर्ण समझा। कलाकारके जीवन और उससे सम्बन्धित बाह्य परिस्थितियोंके आधारपर की गयी आलोचनाको भी उन्होंने दूषित ठहराया। वास्तवमें उनका उद्देश्य कलाकारके मनमें पैठकर उसकी कृतिका मूल्यांकन करनेका था। ऐतिहासिक और सौन्दर्यात्मक दृष्टिकोणोंका आश्रय ग्रहण करते हुए आलोचकको कविकी भावानुभूतिको अपनी भावानुभूति बना लेना होगा, अपनेको कलाकारके स्थानमें रखकर अपनी तथा कलाकारकी अनुभूतिमें सामंजस्य उपस्थित कर आलोचना करनी होगी, तभी वह वास्तविक और श्रेष्ठ रूप धारण कर सकती है, ऐसा उन विचारकोंका मत था। इसी आलोचना-प्रणालीको रचनात्मक आलोचना नाम दिया गया है। कवि या कलाकारके मानसिक बिम्ब और उसके कार्यमें परस्पर सम्बन्ध स्थापित करना, जिस मूल चेतनाने कवि या कलाकारके भावजगत्को आलोकित किया था, वह कहाँतक उसकी कृतिमें दृष्टिगोचर होती है, ये बातें जानना ही रचनात्मक आलोचना-

का प्रधान उद्देश्य है। उसके कोई नियम नहीं होते। साहित्य या कलाके सम्बन्धमे भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंकी भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाएँ भी हो सकती हैं। किन्तु कवि या कलाकारकी मूल चेतना और कृतिमें जितना अधिकसे अधिक सम्बन्ध स्थापित किया जा सकेगा, उतनी ही रचनात्मक आलोचना-प्रणाली सफल होगी। दुरूह मनोवैज्ञानिकता लिये हुए आधुनिक रचनाओंके परखनेमे यह प्रणाली सम्भवतः अधिक सफल न हो, किन्तु प्राचीन सरलहृदय कवियोंके आदर्शोंका मूल्यांकन करनेमे उससे सहायता प्राप्त हो सकती है। अपनी सूक्ष्म निरीक्षणशक्ति, चिन्तन-शक्ति, प्रेरणा, अनुभूति और अभिव्यक्तिके आधारपर कवि या कलाकारके भाव-जगत्का फिरसे उद्घाटन करना ही रचनात्मक आलोचनाकी सफलता मानी जा सकती है। इससे स्वयं आलोचकका व्यक्तित्व भी उभर आयेगा और तभी कलाकार तथा आलोचकके भावजगत्में तादात्म्य स्थापित हो सकेगा। वास्तवमें मूल कृतिका पुनरुत्पादित अनुभव ही आलोचकके चेतनाप्राप्त व्यक्तित्वके सम्पर्कमें आकर स्वयं एक स्वतन्त्र कलाका रूप धारण कर लेता है और रचनात्मक आलोचनामे आलोचकका अपना व्यक्तित्व प्रमुख हो जाता है। मिडिल्टन मरेने अपनी पुस्तक 'कीट्स एण्ड शेक्सपीयर'में ऐसा ही सफल और सुन्दर प्रयास किया है। कवि या कलाकार जीवनगत रूपों और दृश्योंका कल्पनात्मक चिन्तन करता है, तो आलोचक कवि या कलाकारकी कृतिका कल्पनात्मक चिन्तन करता है और रचनात्मक आलोचककी कृति ही कलाका रूप धारण कर लेती है। यह आलोचना-प्रणाली निर्णयात्मक आलोचना-प्रणाली, रूढि, अलंकार, नैतिकता, विषयोंकी सीमितता आदिको प्रश्रय नहीं देती। आलोचकका ध्यान कृतिपर केन्द्रित न होकर उसके पुनरुत्पादनपर केन्द्रित हो जाता है, वह स्वयं कलाकार हो जाता है। —ल० सा० वा०

आलोचना, रीति–प्राचीन भारतमें **रीति**को काव्यकी आत्मा बतानेका श्रेय आचार्य वामनको है। पदोंकी विशिष्ट रचनाको ही उन्होने रीतिके नामसे पुकारा है, किन्तु पदोंकी विशिष्टताका आधार उन्होने गुणोंको माना है। इसीलिए **रीति-सम्प्रदाय** और **गुण-सम्प्रदाय** लगभग एक ही है। भारतीय आचार्योंने काव्यके अनेक गुणों और तीन रीतियों-का उल्लेख किया है। आगे चलकर इस सम्बन्धमें बहुत अधिक विस्तार हुआ। वास्तवमें रीतिका अर्थ शैली या कहनेका ढंग है। यद्यपि काव्य और रीतिके परस्पर सम्बन्ध की दृष्टिसे आचार्योंमें मतभेद रहा है, तो भी इतना तो लगभग सभीने स्वीकार किया है कि रीतिके द्वारा काव्यके परीक्षणमें सहायता मिलती है। काव्यके अंगमे शब्द और अर्थका यथास्थान उचित संयोजन ही रीति है। आधुनिक समयमें भी साहित्यके बाह्य रूप और आन्तरिक रूप दोनों-का परीक्षण हुआ है और इस सम्बन्धमें अनेक सिद्धान्त भी स्थापित हुए हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि किसीने बाह्य रूपको प्रधानता दी है और किसीने आन्तरिक रूपको। आलोचनाके विकाससे यह अवश्य ज्ञात होता है कि आलोचकोंका ध्यान अनुदिन उसके आन्तरिक रूपकी ओर ही अधिक होता गया है और होता जा रहा है। वे साहित्य और कलाकी अन्तरात्माको पहिचाननेकी चेष्टा कर रहे है। बाह्य रूपकी परीक्षा करनेके स्थानपर वे कविकी आन्तरिक प्रेरणा, उसके भावजगत्को जानना चाहते है। बाह्य रूपका भी महत्त्व है, क्योंकि बिना बाह्य रूपके आन्तरिक रूपका अस्तित्व सम्भव हो ही कैसे सकता है? किन्तु रीति बाह्य रूपको ही प्रधान मानती है। यही उसकी असंगति है। —ल० सा० वा०

आलोचना, वैज्ञानिक–साहित्य और कलाके क्षेत्रमे वैज्ञानिक प्रणालीका उपयोग हो सकता है या नहीं, यह प्रश्न प्लेटोके समयसे चला आ रहा है। वैसे तो विज्ञान और साहित्य एवं कलामें भेद है। अंग्रेजीके प्रसिद्ध आलोचक आई० ए० रिचर्ड्सने इस सम्बन्धमे काफी विचार किया है, तो भी विज्ञानके विकासके साथ-साथ आलोचनाके सम्बन्धमे वैज्ञानिक आदर्श स्थापित करनेका प्रश्न उठता रहा है और यह प्रश्न अति प्राचीन कालमें ही उठा था तथा वैज्ञानिक रूपसे साहित्यालोचनकी प्रणालीका प्रचार भी हुआ था, भले ही उसका बहुत अधिक प्रचार न हुआ हो। इतिहासके प्रति अज्ञानके कारण मध्ययुग और पुन-र्जागरण-कालमे वैज्ञानिक प्रणालीका अधिक प्रचार न हो सका। अठारहवीं शताब्दीमें जान्सन साहित्यालोचनमें विज्ञानकी स्थिरता देखनेका इच्छुक था। उन्नीसवी शताब्दी-में फ्रांसमें निश्चित रूपसे विज्ञानके सिद्धान्तोंका साहित्यपर आरोपण करनेका प्रयास किया गया, जिससे साहित्यमें वैज्ञानिक प्रणालीकी आलोचनाका जन्म सम्भव हो सका। आधुनिक समयमें इस सम्बन्धमें वाद-विवाद समाप्त नहीं हुआ, क्योंकि विज्ञानको तो वह व्यवस्थित तथ्य माना जाता है, जिसके आधारपर सत्य सिद्ध होता है और आलोचना साहित्यिक या कलात्मक कृतियोकी अन्तरात्मामें परिभ्रमण द्वारा उत्पन्न प्रतिक्रिया है। इसमें भी विज्ञान किसी व्यापक वस्तु या सिद्धान्तपर विचार करता है और आलोचनामें वैज्ञानिकता होते हुए भी वह विशिष्ट निर्णय है। प्रयोगके फलस्वरूप निकाले गये सिद्धान्तपर भी वह आधारित नहीं रहती। अतः कोई भी वैज्ञानिक प्रणाली ज्योंकी त्यों साहित्यपर आरोपित नहीं हो सकती। आलोचनाकी वैज्ञानिक प्रणालीका तो केवल यही तात्पर्य है कि आलोचक-का विशिष्ट निर्णय भी व्यवस्थित ज्ञान द्वारा समर्थित हो। अनर्गल और आवेगपूर्ण बातोके कहनेसे आलोचना वैज्ञानिक नहीं होती। आवश्यकतानुसार अन्य वैज्ञानिक निष्कर्षोंका प्रयोग आलोचनामें किया तो जा सकता है, किन्तु विज्ञान या वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपने शुद्ध रूपमे ग्रहण नहीं किया जा सकता। लेकिन इसका यह भी तात्पर्य नहीं है कि आलोचक समान परिस्थितियोमे भिन्न-भिन्न निर्णय दे और भिन्न-भिन्न सिद्धान्त प्रतिपादित करे। साथ ही वैज्ञानिक जितना निष्पक्ष होना है, उतना आलोचक नहीं हो सकता।

फ्रांसीसी आलोचक ब्रनेतियरने साहित्यके क्षेत्रमें विज्ञान-की कार्यकारण और वर्गीकरण आदिकी प्रणाली ग्रहण करना प्रारम्भ किया था। उसने तथा उसके अनुगामियोंने विविध विज्ञानोंका आश्रय भी ग्रहण किया। बहुत शीघ्र आलोचना-क्षेत्रमें तत्सम्बन्धी वाद-विवाद चल पड़ा। इसका मूल कारण यही था कि साहित्यमें विज्ञानके नपे-तुले सिद्धान्त

मान्य नहीं है। साहित्य और कलाके सत्य एवं सुन्दरका अनुसन्धान आलोचक भिन्न प्रकारसे करता है। विज्ञानमें वह स्वच्छन्द विचरण कहाँ जो आलोचनामें दृष्टिगोचर होता है। अतः इन सब कारणोंसे वैज्ञानिक आलोचना-प्रणाली सर्वग्राह्य सिद्ध नहीं हुई। साहित्यके क्षेत्रमें कवियों या कलाकारोंकी कृतियोंका अथवा स्वयं उन्हींके व्यक्तित्वका मूल्यांकन करते समय 'गणितके नियम' लागू नहीं किये जा सकते। एक कृति या कविके सम्बन्धमें जो कार्यकारण सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है, वही सब कृतियों और कवियोंके सम्बन्धमें व्यवहृत होगा, ऐसा नहीं हो सकता। अंग्रेजी साहित्यमें प्रसिद्ध इतिहास लेखक टेनने साहित्यके इतिहासके पीछे कार्यकारण सम्बन्ध खोजनेकी चेष्टा की थी। उसका प्रयास सफल नहीं हो सका, किन्तु उसके माध्यमके द्वारा अंग्रेजीमें आलोचनाकी वैज्ञानिक प्रणालीका जन्म हुआ और लोगोंने विकासवादके वैज्ञानिक सिद्धान्तोंका साहित्यिक इतिहासपर आरोपण प्रारम्भ कर दिया। इसमें सबसे बड़ा खतरा साहित्यको गौण और विज्ञानको प्रधान मान लेनेका पैदा हो जाता है। जिस प्रकार आलोचनाकी ऐतिहासिक प्रणालीमें दोष है, उसी प्रकार वैज्ञानिक प्रणालीसे भी स्वयं आलोचनाको आघात पहुँचता है। हाँ, साहित्यके किसी वर्गविशेषकी अध्ययन-प्रणालीमें वैज्ञानिकता आ सकती है, यद्यपि वह भी पूर्णतः निर्दोष नहीं हो सकती। आलोचना-की वैज्ञानिक प्रणालीके सम्बन्धमें विचार-विनिमय बराबर होता रहता है और उसके सम्बन्धमें अनेक रोचक निष्कर्ष सामने आते रहते हैं। स्वयं कवि या कलाकार आलो-चकके लक्ष्यसे दूर न हो, इस बातको ध्यानमें रखते हुए ही वैज्ञानिक प्रणालीपर विचार किया जाना चाहिये। —ल० सा० वा०

आलोचना, व्याख्यात्मक—व्याख्यात्मक आलोचनाको अंग्रेजीमें 'इण्टरप्रिटेटिव क्रिटिसिज्म' कहते हैं। आलोचना-के क्षेत्रमें बहुत दिनोंतक कट्टर रूढ़िवादी आलोचकोंके बनाये हुए नियमोंका कठोरताके साथ पालन होता रहा, किन्तु ज्यों-ज्यों साहित्यका विकास होता गया और पाठकोंकी रूचिमें परिवर्तन होने लगा, त्यों-त्यों शास्त्रीय नियमोंकी सर्वमान्यताको आघात पहुँचता गया। स्वाभाविकताकी ओर लोगोंका ध्यान इतना आकृष्ट होता गया कि शास्त्रीय नियमोंके प्रति अधिक श्रद्धा न रह गयी। व्याख्यात्मक आलोचना नियमोंके बन्धनोंसे मुक्त और साहित्यिक कृतियोंकी बन्धनरहित व्याख्याका प्रयास है।

व्याख्यात्मक आलोचनाकी ओर झुकाव जर्मनीके विचारकोंके कारण हुआ। उन्होंने कलाकी बड़ी विशद और सूक्ष्म व्याख्या की। इंग्लैण्डमें यह मत कार्लाइलके माध्यम द्वारा हुआ। उसने साहित्यिक और पाठकोंके बीच व्याख्या करनेका भार आलोचनाको सौंपा। केवल गुण-दोष-विवेचनवाली आलोचनात्मक पद्धति उसे प्रिय न थी। कार्लाइलके बाद आर्नाल्डने व्याख्यात्मक आलोचनाको लोकप्रिय बनाया और पेटरने उसका समर्थन किया।

किसी भी कलात्मक कृतिमें प्रतिपाद्य विषय, प्रतिपादन और अनुभवजन्य अभिव्यक्ति, ये तीन बातें प्रमुख स्थान धारण करती हैं। इस दृष्टिसे व्याख्याताका प्रधान उद्देश्य कृतिको उसके वास्तविक रूपमें देखकर निरपेक्ष रुचि स्थापित करना है, जो काफी कठिन कार्य है। आलोचकको कलाकार या साहित्यिककी कृतिमें पूर्णतः लीन होकर उसके उस अनुभवका उद्‌घाटन करना पड़ता है जिससे उस कृतिकी रचना हुई। रुचि, आलोचकके पूर्वाग्रह, विरोध, भावुकता, सैद्धान्तिक आसक्ति, रचना-कौशल सम्बन्धी पूर्व-कल्पनाओं आदि बातोंसे व्याख्यात्मक आलोचनामें बाधा पड़ती है। व्याख्यात्मक आलोचनाका आश्रय ग्रहण करनेवाले आलो-चकको अपना निजी व्यक्तित्व पूर्ण बनाना चाहिए और निष्कपटतापूर्वक व्याख्या करनेकी क्षमता रखनी चाहिए। व्याख्या वास्तवमें कलाकारके भावलोकका फिरसे सर्जन करती है और आलोचना ऐसे भावलोकपर अपना निर्णय देती है। व्याख्या नवीन अनुभव स्वीकार करती है, साथ ही कृतिके साथ ऐक्य प्राप्त कर आनन्दका अनुभव प्रदान करती है। भारतवर्षमें जैमिनिकृत दर्शन (पूर्वमीमांसा)में व्याख्या-पद्धतिके दर्शन होते हैं। अरस्तूकी 'रेट्रिक' नामक रचनामें भी व्याख्याके सम्बन्धमें विस्तारसे विचार किया गया मिलता है।

वास्तवमें व्याख्यात्मक आलोचनाका मूल सिद्धान्त यह है कि हमें आलोचनाके व्यक्तिगत मानदण्ड स्थापित न करके निरपेक्ष मानदण्ड स्थापित करने चाहिए। काव्य या नाटक किसी भी युगके लिए वास्तविकताका चित्रण करते हैं और व्यक्तिगत रुचिके कारण जो क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न होती हैं, उनसे उनमें कोई अन्तर नहीं पड़ सकता। ऐसी अनेक बातोंकी दृष्टिसे, जो साहित्यिक या कलात्मक रचना-पर प्रकाश डालती हैं, इतिहासका विद्यार्थी भी सहायक सिद्ध हो सकता है। पाठ सम्बन्धी अध्ययन, कलाकारके जीवनका अध्ययन आदि सभी बातें आलोचनात्मक निर्णय-में सहायक सिद्ध हो सकती हैं। ऐतिहासिक आलोचना भी कृतिके तात्त्विक रूपको समझनेमें सहायता देती है। अन्तमें ये सभी बातें किसी कृतिके वास्तविक मूल रूपका विवेचन करनेमें सफल हो जाती हैं। उधर निर्णयात्मक आलोचना आत्मप्रधान आलोचनाकी वैयक्तिक रुचिके कारण आयी हुई अनिश्चितताको यद्यपि बहुत हदतक दूर कर सकती है, तो भी प्राचीन नियमोंकी स्थिरताके कारण निर्णयात्मक आलोचना साहित्यकी प्रगतिमें बाधक सिद्ध होती है। एक युगके बने हुए नियम दूसरे युगमें खरे नहीं उतर सकते। इसलिए इन प्रश्नोंपर विचार कर कि कवि या कलाकारका क्या उद्देश्य था, वह क्या कहना चाहता था, उसने अपने उद्देश्यका किस प्रकार निर्वाह किया है, उसने जो कुछ कहा है वह कहाँतक कहने योग्य था, आदि आलोचनाके मानदण्डको लचीला बनाना ही व्याख्यात्मक आलोचनाकी विशेषता है।

व्याख्यात्मक और निर्णयात्मक आलोचनामें प्रायः तीन भेद माने जाते हैं—(१) निर्णयात्मक आलोचना उत्तम, मध्यम तथा निकृष्ट श्रेणियोंका भेद स्वीकार करती है। व्याख्यात्मक आलोचना केवल प्रकारभेद स्वीकार करती है। वह विज्ञानकी भाँति वर्गभेद तो मानती है, किन्तु ऊँच-नीचके भेदमें उसे विश्वास नहीं। व्याख्यात्मक आलोचना भिन्न-भिन्न प्रकारकी रचनाओंकी विशेषता बता देगी, ऊँच-नीचका

भेद नहीं करेगी। (२) निर्णयात्मक आलोचना नियमोंको राजकीय नियमोंकी भाँति किसी अधिकारसे प्राप्त हुआ मानती है और उनका पालनकारका अनिवार्य समझती है, किन्तु व्याख्यात्मक आलोचना उन नियमोंको किसी बाह्य अधिकारी द्वारा नहीं, वरन् अपनी ही प्रकृतिके नियम मानती है। पृथ्वी अपने ही नियमसे घूमती है, किसी बाह्य अधिकारीके बनाये हुए नियमोंके अनुसार नहीं। इसी प्रकार प्रत्येक कवि या कलाकारकी रचनाके नियम उसकी प्रकृति और परिस्थितियोंके अनुकूल होंगे। व्याख्यात्मक आलोचना कवि या कलाकारकी अपनी सृष्टिकी विशेषताएँ स्वीकार करती है और निर्णयात्मक आलोचना उसे निर्जीव पत्थरकी कसौटीपर कसना चाहती है। (३) यह भेद दूसरे भेदके फलस्वरूप है। निर्णयात्मक आलोचना नियमोंको स्थिर और अपरिवर्तनशील मानती है। व्याख्यात्मक आलोचना नियमोंको प्रगतिशील और परिवर्तनशील मानती है।

हिन्दीमें व्याख्यात्मक आलोचनाका सूत्रपात पण्डित रामचन्द्र शुक्ल द्वारा हुआ, जिन्होंने तुलसी, सूर और जायसीपर इतिहास, समाज, धर्म, सामान्य जीवन आदिको दृष्टिगत रखते हुए आलोचनाएँ लिखी।

वास्तवमें निर्णयात्मक और व्याख्यात्मक आलोचनाएँ बहुत कुछ एक-दूसरेपर निर्भर रहती है। बिना व्याख्याके निर्णयमें यथार्थता नहीं आती और साथ ही व्याख्यामें थोड़ा-बहुत नियमोंका आश्रय लेना ही पडता है। स्पिन्गार्नके मतानुसार प्रभावाभिव्यंजक **आत्मप्रधान** आलोचना और **निर्णयात्मक** आलोचना भी एक-दूसरेकी पूरक हैं। —ल० सा० वा०

आलोचना, शास्त्रीय–यूरोपमें पुनरुत्थान-कालमें शास्त्रीय आलोचनाकी स्थापना हुई। उस समय प्राचीन ग्रीस और रोममें ही काव्यात्मक प्रतिभा अपनी उच्च कोटितक पहुँची हुई मानी जाती थी और कविगण उसीका अनुकरण करनेमें अपनी सफलता समझते थे। अस्तु, पुनरुत्थान-कालमें अनेक शास्त्रीय नियम बनाये गये, जिनका अनुसरण कई शताब्दियोंतक हुआ। पुनरुत्थान-कालमे मध्ययुगीन काव्य, नाटक, कथासाहित्य आदिकी उपेक्षा की गयी और अरस्तू, होरेस क्विन्टीलियन आदिका आश्रय ग्रहण किया गया। यूरोपमें शास्त्रीय पद्धतिका प्रचार या तो मानववाद अथवा प्राचीन श्रेष्ठ साहित्यके अनुसरणकी वृत्तिके रूपमें हुआ या अरस्तूके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पोइटिक्स'के प्रभावके रूपमें, या तर्क-प्राधान्यके कारण हुआ। मानववाद प्राचीन ग्रीस और रोमकी मानवताकी खोज, प्राचीन साहित्यकी खोज, प्राचीन साहित्यके अनुवाद और उसके अध्ययनके रूपमें अभिव्यक्त हुआ। फलतः प्राचीन रचनाओंमे प्रेरणा ग्रहण कर साहित्यिकोंने काव्यमीमांसा सम्बन्धी ग्रन्थोंकी रचना की और इस प्रकार शास्त्रीय अनुकरणकी परम्पराका जन्म हुआ। आलोचकोंका ध्यान काव्यमें शब्दचमत्कार, पद-विन्यास, शब्दयोजना, छन्द, औचित्य आदि बाह्य बातोंकी ओर गया। यह प्रवृत्ति यहाँतक बढ़ी कि पुनरुत्थानकालमें कला और प्रकृति सम्बन्धी मानदण्ड बदलने लगे। ईसाकी १७वीं शताब्दीके लगभग मध्यसे अरस्तूकी शास्त्रीय वृत्तिका प्रचार हुआ। तर्ककी प्रधानतासे उसे और भी बल मिला। शास्त्रीय पद्धतिका अनुसरण करनेवाला काव्यात्मक मूल्य बाहरसे ग्रहण करता है और अरस्तू तथा होरेसको अपना आदर्श मानता है। एलिजाबेथ-कालमें भाषा, छन्द, कविता, तुक आदिके सम्बन्धमे शास्त्रीय आलोचनाका ही आश्रय ग्रहण किया गया। उन्नीसवी और बीसवी शताब्दी-तकमें शास्त्रीय पद्धतिका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। आर्नोल्ड, गिलबर्ट मरे और टी० एस० इलियट जैसे आलोचकोंने अरस्तू, होमर आदिकी महत्ता किसी-न-किसी रूपमें स्वीकार की है।

भारतवर्षमें तो शास्त्रीय पद्धतिका प्रचार अति प्राचीन कालसे रहा है। उस समय जो साहित्यशास्त्र सम्बन्धी नियम स्थापित हो गये थे, उनके अनुसार आगामी कवियों एवं साहित्यकारोंने काव्यरचना की। श्रव्य काव्य, दृश्य काव्य, महाकाव्य, खण्डकाव्य, रसनिरूपण, गद्य, पद्य, चम्पू, नायक, नायिका, नाट्यरचना आदिके सम्बन्धमें जो नियम निर्धारित हो गये थे, उन्हींके अनुसार साहित्य-समीक्षा की जाती थी। शास्त्रीय शैलीके नियम साहित्यके आधारपर ही निर्मित होते हैं। वास्तवमें साहित्यके सम्बन्धमें जब लोकरुचि स्थायी हो जाती है, तो रचनाओंका विश्लेषण करके सिद्धान्त और नियम स्थापित किये जाते है शास्त्रीय पद्धतिको ही अंग्रेजीमे 'क्लैसिकल' कहते है और बाह्य सौन्दर्यकी खोज उसकी विशेषता है। नियमबद्धता उसे या शास्त्रीय शैलीको निर्धारित करती है। शास्त्रीय या 'क्लैसिकल' वृत्तिके विपरीत **रोमांसिकता** है, जिसमें कल्पनात्मकता और स्वच्छन्दताका प्राधान्य रहता है। किन्तु आधुनिक आलोचना शास्त्रीयता **रोमांसिकता**में कोई परस्पर विरोध नहीं पाती। वह उसका विरोध यथार्थतासे मानती है। निर्णयात्मक आलोचना शास्त्रीय आलोचनाका ही व्यावहारिक रूप है और उसे **सैद्धान्तिक आलोचना** भी कहते है। —ल० सा० वा०

आवंती प्रवृत्ति–दे० 'प्रवृत्ति', तीसरी।

आवेग–प्रचलित तैंतीसमेसे एक संचारी; भरतके आधारपर धनञ्जय तथा विश्वनाथ आदिने इसकी व्याख्या की है। विश्वनाथके अनुसार इसका लक्षण है—"आवेगः सम्भ्रमस्तत्र हर्षजे पिण्डितां गता। उत्पातजे स्रस्ततांगे धूमाद्याकुलताग्निजे। राजविद्रवजादेस्तु शस्त्रनागादियोजनम्। गजादेः स्तम्भकम्पादिपांस्वाद्याकुलतानिलात्। इष्टाद्धर्षाः शुचोऽनिष्टाज्ज्ञेयाश्चान्ये यथायथम्" (सा० द०, ३ : १४३-१४५)। सम्भ्रम (घबराहट)को आवेग कहते है। यदि वह हर्षसे उत्पन्न होता है तो उसमे अंग संकुचित हो जाता है और यदि वह उत्पातजन्य होता है तो शरीर ढीला पड जाता है। युद्धादिके डरसे राजाओंके पलायन, झंझावात, जोरकी वर्षा, अग्नि, हाथी आदिके द्वारा उत्पन्न ध्वंससे लोगोंमें जो घबराहट पायी जाती है, उस आवेगको भी संचारी कहते हैं। राजाओंके पलायनसे, हाथी आदिकी तैयारीसे सम्भ्रम उत्पन्न होता है। झंझावातजन्य आवेगसे लोग धूलि-धूसरित होते है, अग्नि-जन्य आवेगसे, धूम आदिसे भगदड़ आदि अनुभाव होते हैं। इष्ट-जन्य आवेगमें हर्ष और अनिष्ट-जन्य आवेगमें शोक होता है। इसी प्रकार

और भी समझ लेना चाहिये। हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंने इसके लक्षणको प्रायः संक्षेपमें दिया है—"प्रिय अप्रिय देखे सुने, गात पातसे वेग। होय अचानक भूरि भ्रम, सी वरने आवेग" (दे० भाव० संचारी)। पद्माकर—'अति डरतें अति नेहते' (जगत०, ५५३) इसे मानते हैं।

उपर्युक्त लक्षणसे स्पष्ट है कि मुख्यतः आवेग या तो हर्ष-जन्य होता है या भय-जन्य। यों तो यह मनका वह वेग है, जो क्रोध, शोक, उत्साह आदिसे भी उत्पन्न होता है। क्रोधमें मारने दौड़ना, शरीरकी नसोंमें तनावका आ जाना दिखाई पड़ता है। शोकमें शरीर शिथिल पड़ जाता है और भावावेगमें लोग आत्महत्यातक कर लेते हैं। किसी भावकी अतिशयता ही आवेगको जन्म देती है। पद्माकरने हर्ष-जन्य आवेगका एक उदाहरण प्रस्तुत किया है—"ताही समै मोहन सु बाँसुरी बजायी, तामे मधुर मलार गायी और बंसी बटकी। तान लगे लटकी रही न सुधि घूँघटकी, घाटकी न औघटकी बाटकी न घटकी" (जगत०, ५५४)। तुलसीदासने भय-जन्य आवेगका चित्र अंकित किया है—"लागि लागि आगि, भागि-भागि, चले जहाँ तहाँ, धीयको न माय, बाप पूत न सँभारहीं। छूटे वार, बसन उघारे, धूम धुंध अंध, कहे बारे बूढ़े, बारि बारि, बार बार हीं" (कवितावली)। —व० सि०

आवृत्ति दीपक–दे० 'दीपक', पहला प्रकार।

आवृत्तिवक्रता–दे० 'प्रकरणवक्रता', चौथा नियामक।

आवृत्तिवाद–प्रायः सभी चक्रवादी (दे० 'सांस्कृतिक चक्रवाद') चक्रोंकी आवृत्ति—आवृत्तिवाद—मे आस्था रखते हैं। अनावृत्तिमूलक चक्रवादका उनके बीच कोई मान नहीं। आधुनिक अचक्रवादी समाजशास्त्र भी आवृत्तिवादको प्रश्रय देता हुआ पाया जाता है। सोरोकिनको सामान्य अर्थमें चक्रवादी नहीं कहा जा सकता। वह न तो समाज अथवा संस्कृतिको शरीरी मानकर चलता है और न उसके जन्म और मरणकी उस प्रकार कल्पना करता है, जिस प्रकार अन्य चक्रवादी। वह महासंस्थानो (दे०)की आवृत्ति-मात्रमें विश्वास करता है, अतः उसे चक्रवादीकी अपेक्षा आवृत्तिवादी कहना ही अधिक ठीक होगा। उसके अनुसार यूरोपमें उसके महासंस्थान-त्रयकी दो बार आवृत्ति हो चुकी है। अब प्रत्यक्षोन्मुख महासंस्थान अपनी अन्तिम घड़ियाँ गिन रहा है और परोक्षोन्मुख महासंस्थानकी पुनरावृत्ति होनेवाली है।

अमेरिकाके प्रसिद्ध संस्कृतिशास्त्री क्रोवरकी मान्यता है कि कला, साहित्य, दर्शन, धर्म आदिके क्षेत्रोंमें प्रतिभाओं-का उद्भव प्रायः इक्का-दुक्का नहीं, बल्कि समुदायोंके रूपमें होता है और समाजके लम्बे जीवनमे प्रतिभा-समुदायोंके उद्भवके मौसमकी दो-चार बार आवृत्ति हो जाती है। उसके अनुसार भारतमें प्रतिभा-समुदायोंकी उत्पत्तिके मौसमकी अबतक दो बार आवृत्ति हो चुकी है—एकका काल है ८००-५०० ई० पू०, जिसमें उपनिषदोंका प्रणयन हुआ और बुद्ध, महावीर आदि द्वारा श्रमण-क्रान्ति सम्पन्न हुई और दूसरा वह युग है, जो भारतीय इतिहासका स्वर्ण-युग कहा जाता है और जिसमें विक्रमादित्य, भास्कराचार्य, आर्यभट्ट जैसी अनेक प्रतिभाओंका उदय हुआ था।

वस्तुतः आजके समाजशास्त्री सांस्कृतिक रूपोंकी आवृत्तियोंमें दृढ़ विश्वास करते हैं, उत्तरोत्तर प्रगति अथवा ह्रासकी कल्पनाको वे अवैज्ञानिक समझने लगे हैं। —ह० ना०

आसक्ति–जब स्नेह क्रमशः अत्यधिक रागरंजित हो जाता है, तब वह आसक्तिका रूप धारण कर लेता है। नारद भक्ति सूत्रके अनुसार गुण-माहात्म्य, स्मरण, दास्य, सख्य, कान्तादि ग्यारह आसक्ति-प्रकार माने गये हैं (दे०—'आसक्तियाँ')। —वि० मो० श०

आसक्तियाँ–आसक्तिका अर्थ है मनका लगाव। भागवत सम्प्रदायके अनुसार परमात्माके प्रति ग्यारह प्रकारसे प्रेम-भक्ति (मनका लगाव) हो सकती है। ये ११ प्रकारकी आसक्तियाँ कहलाती हैं—(१) गुणमाहात्म्यासक्ति—जिसमे भगवान् या उसके अवतारविशेषके गुणोंके माहात्म्यके प्रति भक्तका आकर्षण होता है, वह गुणमाहात्म्यासक्ति कहलाती है। यथा—"तुम अनादि, अविगत, अनन्त गुन पूरन परमानन्द" (सू० सा०, ना० प्र० स० संस्करण, १६३)। (२) रूपासक्ति—जिसमे भगवान्के अवतारविशेषके रूपके प्रति भक्त या साधकका मन मुग्ध हो उठता है, उसे रूपासक्ति कहते है। यथा—"या मोहनके रूप लुभानी। सुन्दर बदन कमल दल लोचन बाँकी चितवन मद मुसुकानी" (मीं० प०, हिं० सा० स० संस्करण, पृ० ३)। (३) पूजासक्ति—जिसमें भगवान्के अवतारविशेषकी पूजा या अर्चना की जाती है, वह पूजासक्ति कहलाती है। यथा—"आगे देखि राम तन स्यामा। सीता अनुज सहित सुखधामा॥ परेउ लकुट इव चरनहि लागी। प्रेम मगन मुनिवर बड़भागी॥ तब मुनि हृदय धीर धरि, गहि पद बारहि बार। निज आश्रम प्रभु आनि करि, पूजा विविध प्रकार॥' (रा० च० मा०, अ०का०, दोहा १०)। (४) स्मरणासक्ति—जिसमे भक्त भगवान्के गुण, कृत्य, नाम आदिका स्मरण कर सुखी होता है, वह स्मरणासक्ति कही जाती है। यथा—"जो सुख होत गोपालहिं गाये। सो सुख होत न जप-तप कीन्हे, कोटिक तीरथ न्हाये॥" (सू०सा०, साहित्य भवन लिमिटेड संस्करण)॥ (५) दास्यासक्ति–जिसमें भक्त दास-भावसे अपने भगवान्की भक्ति करता है, उसे दास्यासक्ति कहते हैं। यथा—"अब लौं नसानी, अब न नसैहौं। मन मधुकर पन करि तुलसी रघुपतिपद-कमल बसैहौं॥' (वि०प०,प०सं० १०५, गीताप्रेस, गोरखपुर)। (६) सख्यासक्ति—भगवान्के प्रति सखा-भावसे की गयी भक्तिको सख्यासक्ति कहते हैं। यथा—"खेलत में को काको गुसइयाँ" (सू०सा०सा०, पृ० ३१)। (७) कान्तासक्ति—इस प्रकारकी भक्तिमे सगुण या निर्गुण भक्त अपने भगवान्की प्रेयसी भावसे उपासना करता है। यथा–'मैं तो साँवरे रंग राची। साजि सिंगार बाँधि पग घूँघुर, लोक लाज तजि नाची। मीरॉ श्रीगिरधर लाल सूं, भगति रसीली जाँची॥ (मी० प०, हि० सा० स० संस्करण, पृ० ६)। "हरि मेरा पीव माई हरि मेरा पीव। हरि बिन रहि न सके मेरा जीव॥ किया सिंगार मिलनके ताईं। काहे न मिलौ राजाराम गुसाँई॥" (क० ग्र०, ना० प्र० स०, पृ० १२५)। (८) वात्सल्यासक्ति–इसमे भगवान्के प्रति वात्सल्य भाव व्यक्त किया जाता है। यथा—"सिखवत

चलन जसोदा मैया। अरवराइ कर पानि गहावत, डगमगाइ धरनी धरै पैया। कबहुँक सुन्दर बदन बिलोकति उर आनँद भरि लेत बलैया॥"–(सू०सा०सा०, पृ० २७)। (९) आत्मनिवेदनासक्ति–इसमें भक्त शीलवश अपने अवगुणोंका वर्णन करता है। यथा "अब मैं नाच्यो बहुत गुपाल। काम क्रोधको पहिरि चोलना कंठ विषयकी माल। महामोह-के नूपुर बाजत, निन्दा सब्द रसाल। सूरदासकी सबै अविद्या दूरि करौ नँदलाल॥"–(सू०सा०सा०, पृ० १४)। (१०) तन्मयासक्ति–भगवान्‌के प्रति आत्मविभोरके भावमें लीन हो जानेको तन्मयासक्ति कहते है। यथा—"कहा कहति मोहि रे माई। नँदनन्दन नहि जानत मैं को ही कब तै तू मेरे ढिग आई। कहाँ गेह, कँह मातु पिता है, कहाँ सजन गुरुजन कँह भाई।" (सू०सा०सा०, पृ० ७१)। (११) परमविरहासक्ति—इसमें भक्त भगवान्‌के विरहमें व्याकुल रहता है। यथा—"सखी मोरी नींद नसानी हो। पियको पंथ निहारत सिगरी रैण बिहानी हो। ज्यूँ चातक घन कूँ करै मछरी जिमि पानी हो। ज्यों व्याकुल विरहणी सुध बुध बिसरानी हो॥"—(मी० प०, पृ० ३३)। —वि० मो० श०

आसन–दे० 'हठयोग'।

आहार्य अनुभाव–दे० 'अनुभाव'।

इंगला-पिंगला–सन्त साहित्यमें पद-पदपर इंगला-पिंगला-का उल्लेख वस्तुतः इड़ा-पिंगला नामकी उन दो नाड़ियोंसे है, जो सुषुम्नाकी दोनो बगलोंमें स्थित मानी जाती है। बॉयी ओरकी नाडी इड़ा है, दाहिनेकी पिंगला। इड़ाको सूर्यनाड़ी—वरुणा, गंगा भी कहा जाता है, इसी प्रकार पिंगला चन्द्रनाड़ी—जमुना और असी (काशीका एक नाला) कहलाती है। सन्तोंने अनुप्रास बैठानेके लिए इड़ाको पिंगलाके समानान्तर इंगला बना दिया है। सन्तोमें यह प्रवृत्ति बड़ी स्पष्ट है। अधः ऊर्ध्वको भी इन्होंने ऊर्ध्वके तद्भवरूप उरधकी तौलपर 'अरध' बना दिया है और प्रायः 'अरध उरध' शब्दका प्रयोग 'नीचे-ऊपर', आकाश-पाताल, मूलाधार-सहस्रार आदि अर्थोंमे किया है। (दे० 'हठयोग')। —रा० सिं०

इंडो-यूरोपियन–दे० 'भारत यूरोपीय'।

इंदिरा–वर्णिक छन्दोंमे समवृत्तका एक भेद। भानुके 'छन्द-प्रभाकर' (पृ० १६६)के अनुसार नगण, दो रगण और लघु-गुरुके योगसे यह वृत्त बनता है। (।।।, ऽ।ऽ, ऽ।ऽ, ।ऽ)। श्रीधर पाठक तथा मैथिलीशरण गुप्तने इसका प्रयोग किया है—"प्रियतमे, तपोभ्रष्ट मैं भला। मत छुओ मुझे, लौट मैं चला। तुम सुखी रहो हे विरागिनी। बस बिदा मुझे पुण्य भागिनी" ('साकेत', सर्ग ९)। —पु० शु०

इंद्रध्वज–इन्द्रध्वज एक प्रकारका उत्सव होता था। इस उत्सवके सम्बन्धमें 'बृहत्संहिता'में लिखा है कि एक समय असुरोंसे पीड़ित होकर देवताओंने ब्रह्मासे पीड़ासे मुक्त होनेका उपाय पूछा। ब्रह्माने उन्हें क्षीरसागरके पास नारायणकी स्तुति करनेके लिए भेज दिया। नारायणने प्रसन्न होकर उन्हें एक ध्वज प्रदान किया, जिसके प्रभावसे इन्द्रने असुरोंको मार भगाया। इसी ध्वजाका नाम इन्द्रध्वज पड़ा। चेदिराज शिशुपालने भी बॉसका खम्भा गाड़कर इन्द्रध्वज स्थापित किया था। इसके फलस्वरूप इन्द्रने उसे वरदान दिया था कि ऐसा करनेवालेकी प्रजाको कोई रोग न होगा। कुछ विद्वानोंने नाटककी उत्पत्तिके मूलमें इसी इन्द्रध्वजको मान लिया है। उनकी दृष्टिमें इन्द्रध्वज-उत्सवके अवसरपर उसी तरहका नृत्य-गान होता है, जैसे यूरोपमें मई-दिवसके उत्सवपर। यूरोपीय नाटकोंकी उत्पत्तिका सम्बन्ध मई-दिवसके उत्सवसे स्थापित किया जाता है। पर भारतीय नाटककी उत्पत्तिसे इन्द्रध्वजका कोई सम्बन्ध नहीं है। 'भरत-नाट्यशास्त्र'मे इस बातका उल्लेख अवश्य है कि सबसे पहला नाटक महेन्द्र-ध्वजोत्सव-के अवसरपर ही खेला गया। ब्रह्माने भरतसे कहा था—"महानयं प्रयोगस्य समयः समुपस्थितः॥५४॥ अयं ध्वजमहः श्रीमन् महेन्द्रस्य प्रवर्त्तते। अथेदानीमयं वेदः नाट्यसंज्ञः प्रयुज्यताम्॥५५॥", अर्थात् नाट्यवेदके प्रयोगका यह बहुत अच्छा अवसर आ गया है। श्रीमान् महेन्द्रके ध्वजका दिन है। इसीके उपलक्ष्यमे आप नाट्यवेदका प्रयोग करके दिखलाइये।

अभिनयदर्पणकार नन्दिकेश्वरने कहा है कि नाट्य और नृत्य विशेष रूपसे उत्सव या पर्वके अवसरपर ही दिखलाने चाहिये—"द्रष्टव्ये नाट्यनृत्ये च पर्वकाले विशेषतः", पर इन्द्रध्वज महोत्सवके अवसरपर नाटकके अभिनीत होने और इन्द्रध्वजको ही नाटकोत्पत्तिका कारण मान लेनेमें स्पष्ट अन्तर है। दोनों दो चीजें है। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि इन्द्रध्वज-उत्सव ही नाटकोत्पत्तिका मूल कारण है। —ब० सिं०

इंद्रवंशा–वर्णिक छन्दोमें समवृत्तका एक भेद। 'पिंगलसूत्र' (६ : ३०)के अनुसार दो तगण, जगण और रगणके योगसे यह वृत्त बनता है (ऽऽ।, ऽऽ।, ।ऽ।, ऽ।ऽ)। मैथिलीशरण गुप्तने 'साकेत'में इसका प्रयोग किया है। उदा०—"आते यहाँ नाथ निहारने हमें। उद्धारने या सखि तारने हमें। या जाननेको किस भाँति जी रहे। तो जान लें वे हम अश्रु पी रहे" ('साकेत', सर्ग ९)। —पु० शु०

इंद्रवज्रा–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका भेद; 'पिंगलसूत्र' (६ : १६) और 'नाट्यशास्त्र' (१६ : ३१)के लक्षणके अनुसार दो तगण, एक जगण और दो गुरुओंके योगसे वृत्त बनता है (ऽऽ।, ऽऽ। ।ऽ।, ऽऽ), प्रायः ५, ६ वर्णोंपर यति होती है पर ६, ५, वर्णोंपर यतिवाले छन्द भी प्राप्त है। यह संस्कृतका विशेष प्रचलित वृत्त है। वाल्मीकि, व्यास, अश्वघोष, कालिदास, माघ, श्रीहर्ष, केशव (रा० चं०), मैथिलीशरण गुप्त (पत्रावली) और अनूप शर्मा-(सिद्धार्थ)ने इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा०—"धन्या महीमें शक राजधानी। माया सशुद्धोदन धन्यधन्या। धन्या कथा श्रीघन जन्मकी जो। धन्या बनाती कविकीर्तिको भी" (सिद्धार्थ, पृ० ३२)।

इंद्रिय–दे० 'जगतानुबोध'।

इंद्रियवाद–यह शब्द हिन्दी समीक्षामें पश्चिमसे आया है। कभी-कभी यह 'हेडानिज्म' या 'इन्द्रियसुखवाद' या केवल 'भोगवाद'के अर्थमे प्रयुक्त होता है और कभी-कभी उसके

दार्शनिक अर्थमें यानी 'सेन्स-परसेप्शन' या इन्द्रियानुबोधता के अर्थमें प्रयुक्त होता है। साहित्यमें जब-जब निरा भोगवाद बढ़ा—उदाहरणार्थ, रीतिकालीन हिन्दी कवितामें, तब-तब वहाँ 'सेन्सुअल' (इन्द्रिय-परक)की अपेक्षा 'सेन्सुअस' कल्पना-चित्रोंका और प्रतिमाओंका काव्यमे अधिक प्रयोग हुआ। कभी-कभी जैसे स्थूलके प्रति सूक्ष्म छायावादी विद्रोह था, वैसे ही सूक्ष्मकी अतिशयनाकी प्रक्रिया स्थूलवादमे दिखाई दी। 'अपराजिता'की भूमिकामे नन्ददुलारे वाजपेयीने 'अंचल'की कविताके समर्थनमें इसी प्रकारका तर्क उपस्थित किया है। कथा-साहित्यमे इन्द्रियवादकी प्रधानता 'नेचुरलिज्म' या प्रकृतिवादकी ओर साहित्यको ले जाती है। इधर फ्रांसीसी प्रतीकवादियोंने, चित्रकलाके बिम्ववादकी भाँति, इन्द्रिय-गोचर संकेतोंका प्रयोग शुरू किया और हिन्दीकी अत्याधुनिक कवितामे भी उस प्रकारकी रचनाएँ लिखी जाने लगी है। भौतिकवादी दर्शनके महत्त्वकी प्रस्थापनाके बाद इन्द्रिय-सुख कोई त्याज्य वस्तु नहीं माना जाता। कुछ आधुनिक भारतीय चिन्तकोंका विचार है कि 'रूप-रस-गन्ध-स्पर्शमय' महानन्दमय सृष्टिका आस्वाद ही मुक्ति है, वैराग्य-साधन नहीं। इन्द्रियोकी ईहा की तृप्ति सारे सौन्दर्यशोध और सर्जनात्मक प्रक्रियाके मूलमे है, यह अस्वीकार नही किया जा सकता। परन्तु इन्द्रिय-भोग ही परम साध्य हो, यह दर्शन मनुष्यको पशु-कोटिमें ले आता है। इन्द्रियवाद हो, परन्तु वह प्रज्ञासे नियन्त्रित और समन्वित होना चाहिये।—प्र० मा०

इंद्रिय संवेदना–दे० 'संवेदना'।

इड–यह शब्द साहित्यको फ्रायडके मनोविज्ञानकी देन है। 'इड' शब्द जर्मन भाषाका है और इसका प्रयोग नपुंसकलिंग सर्वनामके रूपमे होता है, शाब्दिक अर्थमें संस्कृतका 'इदम्' शब्द 'इड'को व्यक्त करता है। परन्तु 'इड'का विशिष्ट मनोवैज्ञानिक अर्थ है और इस अर्थमे अभी 'इदम्' हिन्दीमे रूढ़ नहीं हो पाया है, परन्तु कुछ साहित्यिक 'इड'के लिए 'इदम्'का उपयोग करने लगे है।

मानसके जन्मजात, नैसर्गिक पक्षको फ्रायड 'इड' कहते है, यह 'लिबिडो' (कामशक्ति)का कोष है। इसमे वह सब निहित है, जो हम वंशानुक्रमसे पाते है, अर्थात् 'इड' व्यक्तिके अस्तित्वकी प्रेरक शक्तियो या मूल प्रवृत्तियोंका भण्डार है। फ्रायडके अनुसार ये प्रवृत्तियाँ दो है—जीवन-प्रवृत्ति और मृत्यु-प्रवृत्ति। ये प्रवृत्तियाँ ही विशिष्ट इच्छाओंका रूप लेकर परिवेशकी ओर उन्मुख होती है और इस प्रकार चेतन जीवनको प्रभावित करती है। 'इड'मे किसी प्रकारका संघटन या व्यवस्था नहीं है, यह यथार्थसे पूर्ण उदासीन है और केवल सुखेच्छासे परिचालित होता है इसे शब्दोंमे व्यक्त कर सकना कठिन है—यह हमारे व्यक्तित्वका गूढ़ अगम्य भाग है। 'इड'में जो कुछ भी होता है, अचेतन रूपसे ही होता है, इसमें और अचेतन मानसमें अविच्छिन्न सम्बन्ध है। इसका यह अर्थ नहीं कि 'इड' और अज्ञात मन एक ही हैं, क्योंकि इन दोनो धारणाओंमें थोड़ा अन्तर है। अज्ञात मनका कुछ भाग अहम्के अधिकारमें भी रहता है। 'इड'को हम प्रबल उत्तेजनाका अव्यवस्थित रूप मान सकते हैं, अहम्के विपरीत इनमें कोई निषेध, कोई नियन्त्रण, कोई वर्जना नहीं है। स्वभावतः 'इड'के लिए शुभ-अशुभ, नैतिक-अनैतिक आदि मूल्योंका कोई अस्तित्व नहीं है, व्यक्तिकी जन्मजात सुखेच्छाकी तृप्ति ही इसका एकमात्र काम है। मानसका प्रारम्भिक और प्रमुख रूप 'इड' है और अहम्का इसीसे विकास होता है। यथार्थमे प्रभावित अहम् (दे०) जब 'इड'की वासनाओंका दमन करता है तो वे पुनः 'इड'मे लौट जाती है। यह दमित अंश 'इड'के ही नियमोंका पालन करता है। परन्तु यह उत्पत्तिमे भिन्न है, क्योंकि यह अहम् द्वारा दमनका परिणाम है। 'इड'मेंसे अहम्के विकासकालमें ही यह विभाजन होता है। अहम् 'इड'के कुछ भागपर अधिकार करके उसे पूर्वचेतनस्तरपर ले आता है और शेष 'इड'में ही रहता है। अचेतन और पूर्वचेतन मानस-क्षेत्रोंमे परिवर्तनकी सम्भावना रहती है। 'इड'की अचेतन प्रक्रियाएँ पूर्वचेतन बन सकती है और अहम्की पूर्वचेतन प्रक्रियाएँ पुनः चेतनमे लौट सकती है।

'इड' और अहम्मे कोई मौलिक विरोध नहीं है, वस्तुतः अहम् 'इड'की अन्धवासनाओंकी पूर्तिका बौद्धिक और व्यावहारिक उपाय ही खोजता है। यदि वह सफल रहता है तो कोई समस्या नहीं उठती। जब वह यथार्थ और अन्धवासनाओंमें सामंजस्य नहीं कर पाता और 'सुपरईगो'के नियन्त्रणके कारण दमन अधिक हो जाता है, तो व्यक्तित्वमे अनेक समस्याएँ उठती है, जो जटिल होनेपर मानसिक रोगोंका रूप ले लेती है।

आधुनिक कथासाहित्यमें 'इड'की मनोवैज्ञानिक धारणाका विशेष महत्त्व है। मनोविश्लेषणके प्रभावसे पात्रोंके व्यक्तित्वके इस गूढ़ और दमित अंशकी खोज करके उनके अन्तर्द्वन्द्वको प्रस्तुत करना अधिकांश कथाकारोंकी शैली बन गयी है (दे० 'अहम्' और 'सुपरईगो')। —प्री० अ०

इडा–दे० 'हठयोग'।

इडिपस मनोग्रन्थि–दे० 'मनोग्रन्थि'।

इतिवृत्तात्मक काव्य–दे० 'कथाकाव्य', 'चरितकाव्य'।

इमेजिज़्म–'इमेजिज्म' या बिम्बवाद या प्रतिमावाद शब्दका सबसे पहले प्रयोग अमेरिकाके प्रसिद्ध अंग्रेजी कवि एजरा पाउण्डने किया। शब्द सांकेतिक है और इंग्लैण्ड तथा अमेरिकाके काव्य सम्बन्धी एक आन्दोलनका निर्देश करता है। उस आन्दोलनका प्रसार १९१० ई० और १९१८ ई०के बीच रहा। आन्दोलनके सिद्धान्तोंका आधार टी० ई० ह्यूमका दर्शन है। ह्यूमने काव्यके रोमांटिक दृष्टिकोणपर गहरी चोट की थी और एजरा पाउण्ड उसके प्रधान समर्थकोंमेंसे था। पाउण्डने नये आन्दोलनके समर्थनमें तत्कालीन विशिष्ट प्रतिमावादी कवियोंकी कविताओंका एक संग्रह **देजिमाजिस्तै** भी निकाला, जो इंग्लैण्डमें १९१४ ई०में प्रकाशित हुआ। इस संग्रहमें रिचर्ड आल्डिंग्टन, हिल्डा डूलिटिल, आमी लोवेल, एजरा पाउण्ड आदिकी कृतियाँ समाविष्ट थीं। इसी प्रतिमावादी आन्दोलनके दृष्टान्तस्वरूप आल्डिंग्टन और मिस लोवेलने अमेरिकामे १९१५-१६ और १७ ई०में तीन-तीन कविता संग्रह निकाले। इन संग्रहोंके नाम थे—'सम इमेजिस्ट पोएट्स' (कुछ प्रतिमावादी कवि)। इनमें अधिकतर एफ० एस०

फ्लिंट, डी० एच० लॉरेन्स, जान गूल्ड फ्लेचर आदिकी कविताएँ प्रकाशित हुई।

१९१५ ई०के संग्रहकी भूमिकामें आन्दोलनकी जो घोषणा छपी, उसमे मूलतः ६ प्रतिमावादी सिद्धान्त परिगणित हुए—(१) अत्यलंकरण और अतिरंजनसे भिन्न साधारण भाषाका सही और शुद्ध प्रयोग, (२) नियन्त्रित छन्दों और विविध लयों (रिद्म)का उपयोग नये चमत्कारोंके साथ, (३) विषयोंकी विविधता और उनके चुनावोंमें आजादी, (४) प्रतिमाओंका निर्बन्ध उपयोग। एजरा पाउण्डने प्रतिमाकी व्याख्या इस प्रकार की 'जो पलककी एक झपकमे बौद्धिक और भावात्मक (आवेगमय) प्रतिमाका रूप सिरज दे', (५) कविताके प्रभावमें प्रभूत स्पष्टता और शक्ति और (६) भावोंकी सघनता द्वारा प्रवाहकी व्यापकता सीमित कर दी जाय, जिससे प्रभाव केन्द्रित हो जाय।

आन्दोलनके समर्थन और प्रसारके लिए शिकागोसे 'पोएट्री' नामकी एक पत्रिका भी निकाली गयी, जिसके प्रधान व्यक्तियोमे डूलिटिल, फ्लेचर, फ्लिंट, लोवेल और आल्डिंग्टन थे। प्रतिमावादके आरम्भिक पिताओंमें हुल्म और पाउण्डके अतिरिक्त आर्नो होल्सके 'फ्रान्तासस्'का नाम भी लिया जाता है। अमेरिकी कवि कार्ल सैण्डबर्गने अपनी प्रसिद्ध कविता 'लेटर्स टु डेड इमेजिस्ट्स' (मृत प्रतिमावादियोंको पत्र)में आन्दोलनके पुरोगामियोमे एमिली डिकिन्सन और स्टिफेन क्रेनको भी गिना है। स्वयं सैण्डबर्ग भी प्रतिमावादी कवि है। प्रतिमावादी आन्दोलकोंमे पहले टी० एस० इलियट भी था, पर पाउण्डके साथ ही वह भी इससे कुछ काल बाद अलग हो गया। फिर भी कंराड आरकेन, मेरियन मूर, वालेस स्टीवेन्स और डी० एच० लॉरेन्स इसके सिद्धान्त अपनी कविताओंमें निरूपित करते रहे। प्रतिमावाद रोमाण्टिक विरोधी काव्यधाराका पहला आन्दोलन था, जो वर्तमान बीसवी शतीके मध्यतक चलता रहा है। —भ० श० उ०

ईषत्प्रगल्भवचना–दे० 'मध्या', नायिका।

ईसाई धर्म–भारतवर्षमें ईसाई धर्मने कब प्रवेश किया, यह तो निश्चय रूपसे नहीं कहा जा सकता, किन्तु ईसा मसीहके अन्यतम शिष्य सेण्ट टामसका ६५ ई०मे भारतवर्ष आना कहा जाता है। उन्होने सिरीयक सम्प्रदायकी स्थापना की। अन्य दो टामसोंका भी इस सम्बन्धमे उल्लेख किया जाता है, परन्तु इसमें सन्देह नही कि इन टामसोके आनेसे पूर्व भी ईसाई धर्म भारतवर्षमें प्रवेश कर चुका था और दक्षिणमें मलाबार-तटसे उसका सम्पर्क स्थापित हुआ था। सिरीयक ईसाई धर्म-प्रचारकोंके बाद रोमन कैथोलिक भारतवर्ष आये। ईसाकी बारहवी और चौदहवी शताब्दियोंके बीच पोपके प्रबल प्रतापसे समस्त यूरोपमें कैथोलिक धर्म फैल गया था। इसी धर्मसे जेसुइट सम्प्रदायका जन्म हुआ। १३वीं, १४वीं और १५वी शताब्दियोमें जो कैथोलिक भारतवर्ष आये, उनमें अधिकतर पोर्चुगीज थे। उन्होंने तलवारके जोरपर धर्मका प्रचार करना चाहा। पुर्तगाली नरेशोंने धर्मप्रचारार्थ लोगोंको प्रोत्साहन प्रदान किया। १५४२ ई०में सेण्ट जेवियर नामक प्रसिद्ध जेसुइटने मलाबार मदुरा, मद्रास आदि स्थानोंकी निम्न जातियोंको ईसाई धर्मकी दीक्षा दी। उनके बाद आनेवाले जेसुइटोके मार्गमें अनेक बाधाएँ उपस्थित हुईं, किन्तु उन्होंने अपना उत्साह न छोडा। उन्होंने दक्षिणकी भाषाओंका अध्ययन कर कुछ ग्रन्थोंकी रचना भी की। मदुरा, त्रिचनापल्ली, तंजोर, सलेम, मद्रास आदि स्थानोमें उनका प्रचार-कार्य बराबर जारी रहा। धीरे-धीरे उत्तरभारतमे भी उनका अस्तित्व मिलने लगता है। अंग्रेजी राज्यकी स्थापनासे बहुत पहले अंग्रेज, पोर्चुगीज आदि अनेक ईसाई आगरामें विद्यमान थे। फादर एन्तोनियो द आन्द्रे दे १६०० ई०में भारतवर्ष आये और उन्होंने आगरा अपना केन्द्र बनाया। १६२४ ई०मे वे जहाँगीरके साथ आगरासे दिल्ली तक गये थे। तत्पश्चात् उत्तरभारतमें कई और मिशनों और धर्मप्रचारकोंका उल्लेख किया जा सकता है, किन्तु इस समय अपने प्रचार-कार्यमें उन्हे कोई विशेष सफलता प्राप्त न हो सकी थी। वास्तवमे जेसुइटोंका प्रधान केन्द्र दक्षिणभारत ही अधिक रहा। उन्होंने दक्षिणकी भाषाओंका अध्ययन किया, अपने धर्मप्रचारके लिए ईसाई साहित्यका निर्माण स्थानीय भाषाओंमें किया, किन्तु बाइबिलका अनुवाद वे न कर सके, सम्भवतः भाषा सम्बन्धी कट्टरताके कारण।

सत्रहवीं और अठारहवी शताब्दियोंमे ज्यों-ज्यों भारतवर्षका यूरोपकी विभिन्न जातियोके साथ सम्पर्क बढता गया—व्यापारके माध्यम द्वारा—त्यों-त्यों वह ईसाई धर्मप्रचारकोंका कार्यक्षेत्र बनता गया। तत्कालीन अराजकतापूर्ण राजनीतिक परिस्थितियोंके कारण विघ्न-बाधाएँ तो अवश्य उपस्थित हुईं, किन्तु कार्य बराबर जारी रहा। १७९३ ई०मे विलियम कैरे भारतवर्ष आये। १७९९ ई०में टीपू सुलतानके पतनके पश्चात् विभिन्न मिशनरी सोसाइटियाँ स्थापित हुई। यहीसे प्रोटेस्टेण्ट ईसाई धर्मप्रचारकोंका इतिहास प्रारम्भ होता है। इस सम्प्रदायका जन्म यूरोपमे १६ वी शताब्दीमें हुआ था। १७०६ ई०मे डेनमार्कके चतुर्थ फ्रेडेरिककी प्रेरणासे बार्थल जीगनवाला और हेनरी प्लुचु नामक दो लूथर-मतावलम्बी भारतमें धर्मप्रचारके लिए मद्रासके तंजोर जिलेमे उतरे। भारतवर्षमें ईसाई धर्मके प्रचारमें ये दोनों नाम अमर हैं। उनके बाद अन्य अनेक लूथर-मतावलम्बी भारतवर्ष आये, किन्तु भारतमें डेनमार्कके राजकर्मचारियोंकी उदासीनता और आर्थिक कारणोंसे उन्हे अधिक सफलता प्राप्त न हो सकी। अंग्रेजोकी ईस्ट इण्डिया कम्पनीके प्रारम्भिक दिनोंमें क्लाइव जैसे लोगोका तो ईसाई धर्मप्रचारकोसे कोई विरोध नही था, किन्तु शीघ्र ही कार्नवालिस जैसे व्यक्तियोको ईसाई मिशनरियोंकी आयोजनाओंमें कोई विश्वास न रह गया। उस समय तो ईस्ट इण्डिया कम्पनीके अधिकारियोंने कुछ ईसाई मिशनरियोंको देशसे निर्वासिततक कर दिया। ऐसे समयमें कैरे और उनके दो साथियों—मार्शमैन और वार्ड—के भारतागमनसे ईसाई धर्मप्रचारके इतिहासका नवीन अध्याय प्रारम्भ होता है। कम्पनीके विरोधके कारण उन्हे कलकत्तासे १५ मील दूर श्रीरामपुरको अपना केन्द्र बनाना पड़ा। तत्पश्चात् प्रोटेस्टेण्ट मतान्तर्गत अन्य अनेक मिशनरी सोसाइटियाँ प्रचारक्षेत्रमें आयी। प्रारम्भमें इन सोसाइटियो-

का कार्य बंगालतक सीमित था, किन्तु ज्यों-ज्यों अंग्रेजी राज्य गंगाकी घाटीमें उत्तर-पश्चिमकी ओर बढ़ता गया, त्यों-त्यों इन मिशनरी सोसाइटियोंका प्रचार-क्षेत्र भी विस्तृत होता गया। उन्होंने अनाथालय, शिक्षा-संस्थाएँ और प्रेस स्थापित किये तथा समाचारपत्रोंको जन्म दिया। ईसाई धर्मप्रचारका कार्य बुक सोसाइटियों द्वारा भी किया जाने लगा। इन सब बातोंने केवल प्रचारकार्यमें ही नहीं, वरन् ईसाई साहित्यके निर्माणमें भी सहायता पहुँचायी। ईसाई मिशनरियोंको अपने प्रचारकार्यमें अनेक कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा। ईस्ट इण्डिया कम्पनी और कोर्टके डाइरेक्टर भी उन्हें राजनीतिक दृष्टिसे भयावह समझते रहे, किन्तु वे अदम्य उत्साहके साथ अपने कार्यमें लगे रहे। १८३३ ई०में पार्लमेंटमें विल्बर्फोर्स ऐक्टके पास हो जानेके बाद उनपर लगे प्रतिबन्ध हट गये और अनेकानेक मिशनरी धड़ाधड़ भारतवर्ष आकर अपना प्रचारकार्य करने लगे। उन्नीसवीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें लगभग समस्त हिन्दी प्रदेशमें ईसाइयोंके प्रचार-केन्द्र स्थापित हो गये। ईसाई धर्मप्रचारकोंका प्रधान उद्देश्य तो अपने धर्मका प्रचार करना ही था, किन्तु घुणाक्षरन्याय द्वारा शिक्षा, प्रेस, सामाजिक सुधार आदिके क्षेत्रमें उन्होंने प्रशंसनीय कार्य किया और देशको मध्ययुगीन पौराणिक वातावरणसे बाहर निकलनेका अवसर प्राप्त हुआ।

भारतवर्षकी विभिन्न प्रधान भाषाओं और बोलियोंमें बाइबिलका अनुवाद करनेकी एक बृहत् आयोजना कैरे और उनके साथियोंने बनायी थी। हिन्दीसे उनका तात्पर्य खड़ीबोली हिन्दीसे था। इन श्रीरामपुर मिशनरियों द्वारा प्रारम्भ किया गया कार्य आगरा, इलाहाबाद तथा अन्य स्थानोंके मिशनरियोंने आगे बढ़ाया। वैसे तो बाइबिलका हिन्दुस्तानी अनुवाद १८०५ ई०में फितरतकी सहायतासे विलियम हण्टरने किया था, किन्तु हिन्दीका सर्वप्रथम अनुवाद टामस कोलब्रुकने किया, जिसका प्रकाशन १८०६ ई०में सरकारी व्ययसे हुआ। यह ग्रन्थ अभीतक उपलब्ध नहीं हो सका। श्रीरामपुर मिशनरियोंने भारतकी चालीस विभिन्न भाषाओंमें धर्मपुस्तकें प्रकाशित करनेकी बृहत् आयोजना निर्मित की, जिसका परिचय उनके दस संस्करणोंसे मिलता है। १८१२ ई० और १८१८ ई०के बीच विलियम कैरेने पाँच जिल्दोंमें बाइबिलका हिन्दी रूपान्तर प्रकाशित किया। श्रीरामपुरकी आयोजनाके अन्तर्गत बापटिस्ट मिशनरियोंने और उसके 'ब्रिटिश एण्ड फारेन बाइबिल सोसाइटी'ने १८०१ ई० और १८३२ तक हिन्दी (पश्चिमी हिन्दीका एक रूप), अवधी या कोसली, बघेली, बुन्देली, बीकानेरी, ब्रजभाषा, हड़ौती, जयपुरी, कन्नौजी, कुमाउँनी, मालवी, मेवाड़ी, मारवाड़ी आदि हिन्दी प्रदेश तथा भारतवर्षकी अन्य साहित्यिक भाषाओं और बोलियोंमें धर्मपुस्तकोंके पूर्ण या आंशिक अनुवाद प्रकाशित किये।

ईसाई धर्मपुस्तकोंके अनुवादकार्यकी दूसरी शाखा हेनरी मार्टिन (१७८१–१८१२ ई०)से चली। ईसाई धर्मप्रचारकोंमें कैरेके बाद मार्टिनका नाम आदरके साथ लिया जाता है। १८०६ ई०से १८०८ ई०तक उन्होंने 'न्यू टेस्टामेण्ट'की पाण्डुलिपि तैयार कर ली थी, जो कुछ संशोधनोंके बाद १८१४–१५ ई०में श्रीरामपुर प्रेससे अरबी लिपिमें प्रकाशित हुई। १८१७ ई०में वह नागराक्षरोंमें मुद्रित हुई। किन्तु मार्टिनकी भाषा जनसाधारणमें बोधगम्य नहीं थी। इसलिए 'कलकत्ता बाइबिल सोसाइटी'की अध्यक्षतामें 'चर्च मिशनरी सोसायटी'की चुनार शाखाके ऐंग्लो इंडियन मिशनरी, रेवरेंड बाउलेने अरबी-फारसी शब्दोंके स्थानपर संस्कृत शब्दोंका प्रयोग कर १८१९ ई०से उसका प्रकाशन प्रारम्भ किया। १८२६में पूरा 'न्यू टेस्टामेण्ट' छपकर तैयार हो गया। १८३८ ई०में उसका संशोधित संस्करण श्रीरामपुर प्रेससे निकला। वास्तवमें बादमें जितने भी बाइबिलके अनुवाद हिन्दीमें प्रकाशित हुए, उन सबका मूलाधार बाउलेका यही ग्रन्थ रह। १८३४–१८३५ ई०में बाउलेने ओल्ड टेस्टामेण्टका अनुवाद भी प्रकाशित किया। बादमें विलियम मेट्स, लेसली, श्नाइडर आदिने भी बाइबिलके अनुवाद किये अथवा पुराने संस्करणोंका फिरसे सम्पादन किया। १८५० ई०के बाद कुछ पुराने और कुछ नये अनुवाद प्रकाशित हुए। १८५८ ई०में 'नार्थ इंडिया बाइबिल सोसाइटी'ने, १८८३ ई०में 'नार्थ इण्डिया आग्जिलियरी बाइबिल सोसाइटी'ने और १८९५ ई० में 'कलकत्ता बाइबिल सोसाइटी'ने ओल्ड तथा न्यू टेस्टामेण्टोंका प्रकाशन किया। बीसवीं शताब्दीमें बाइबिलका कोई नवीन महत्त्वपूर्ण अनुवाद हिन्दीमें नहीं हुआ। आवश्यकता पड़नेपर पुराने संस्करणोंकी भाषा सुधारकर उन्हींसे काम चला लिया जाता है। अंग्रेजीसे अनभिज्ञ अर्द्ध-शिक्षित या अशिक्षित भारतीय ईसाइयोंने इन अनुवादोंसे लाभ उठाया गया।

बाइबिलके अनुवादोंके अतिरिक्त ईसाई धर्म-प्रचारकोंने खण्डन-मण्डन, उपदेश और भजन सम्बन्धी अनेक अन्य छोटी-बड़ी पुस्तकें प्रकाशित कीं। इन पुस्तकोंने उनके मत-प्रचारकी आयोजनामें महत्त्वपूर्ण योग दिया। यह साहित्य सोसाइटियों द्वारा और साथ ही व्यक्तिगत प्रयासोंके फलस्वरूप प्रकाशित हुआ। दाऊदके गीत (१८३६), इंजीलकी तफसीर (१८५०), मतपरीक्षा (१८६१), धर्मतुला (१८८०), हिन्दू धर्मका वर्णन (१८९४), गंगाका वृत्तान्त (१८९६) आदि पुस्तकें ऐसी हैं, जो जे० टी० थाम्पसन, जान पारसंस, जान म्योर, ई० ग्रीव्स आदि ईसाई लेखकों द्वारा अथवा 'आगरा एण्ड बुक सोसाइटी', 'क्रिश्चियन लिट्रेरी सोसाइटी', 'क्रिश्चियन वर्नाक्यूलर एज्युकेशन सोसाइटी', 'अमेरिकन मिशन', 'अमेरिकन ट्रैक्ट सोसाइटी' आदिके तत्त्वावधानमें प्रकाशित हुई। ईसाई लेखकोंकी इन रचनाओं द्वारा खड़ी बोली गद्यकी परम्पराके विकासमें कुछ योग प्राप्त हुआ, किन्तु गद्यका यह रूप शिथिल है—यद्यपि सरल सुव्यस्थित गद्यका नितान्त अभाव नहीं है। ईसाई लेखकोंकी शैली साहित्यिक गद्य-शैलीको प्रभावित न कर सकी।

[सहायक ग्रन्थ—ए हिस्ट्री ऑव मिशन्स इन इण्डिया : जे० रिक्टर; आधुनिक हिन्दी साहित्यकी भूमिका : लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय।] —ल० सा० वा०

ईहामृग—आचार्य अभिनव गुप्त और रामचन्द्रने ईहामृगके नामकरणके सम्बन्धमें बताते हुए लिखा है "ईहा चेष्टा मृगस्यैव स्त्रीमात्रार्थात्रेतीहामृगः" अर्थात् इसमें मृगके तुल्य अलभ्य कामिनीकी इच्छा नायक अथवा प्रतिनायक करता

है। धनंजय और विश्वनाथने इसका निर्देश करते हुए लिखा है 'दिव्यस्त्रियमनिच्छन्तीमपहारादिनेच्छतः" अर्थात् इसमें (अनासक्त) किसी दिव्य नारीको अपहार (हरण) आदिके द्वारा प्राप्त करनेकी घटना दिखायी जाती है।

भरत मुनिने केवल इतना ही उल्लेख किया है कि इसमे किसी देवी नारीके लिए युद्ध दिखाया जाता है। इस रूपककी दूसरी विशेषता यह है कि इसमें अत्यन्त आवेशके कारण युद्धका प्रसंग पूर्णतया समुपस्थित होनेपर भी किसी-न-किसी बहाने संग्राम टल जाता है।

धनंजयने ईहामृगकी कतिपय विशेषताएँ संक्षेपमे इस प्रकार लिखी है—"ईहामृगका इतिवृत्त मिश्रित (कुछ ऐतिहासिक और कुछ कल्पित) होता है। इसमें चार अंक और **मुख, प्रतिमुख** एवं **निर्वहण** नामक तीन सन्धियाँ होती हैं। मनुष्य और दिव्यपुरुषमें कोई नायक अथवा प्रतिनायक हो सकता है। किन्तु दोनों ही इतिहासप्रसिद्ध व्यक्ति होते है। प्रतिनायक **धीरोद्धत** होता है और विपरीत ज्ञानके कारण अनुचित कार्य किया करता है। इस रूपकमे दिव्यस्त्रीके बलात् अपहरणकी इच्छा रखनेवाले नायक या प्रतिनायककी शृंगारमयी चेष्टाएँ भी कहीं-कही दिखायी जाती है। प्रबल उत्तेजनाके कारण युद्धकी स्थिति उत्पन्न हो जानेपर भी संघर्षका टल जाना और किसी महात्माके वधकी पूर्ण तैयारी हो जानेपर भी उसे बचा लेना इस रूपकमें प्रायः दिखाया जाता है" (दशरूपक, तृतीय प्रकाश : ७२ : ७५)।

शारदातनयने इस रूपकके रस, वृत्ति एवं पात्र-संख्यापर भी विचार किया है। उनका मत है कि इसमे कहीं-कहीं **कैशिकी**के अतिरिक्त शेष तीन वृत्तियाँ होती है और कही-कही **कैशिकी** वृत्ति भी प्राप्त होती है। इसमें भयानक और वीभत्सके अतिरिक्त शेष सभी रस पाये जाते है। नायकोंकी संख्या चार, पॉच या छः होती है। अंक चार होते है। इसमें स्त्रीके कारण संग्राम आवश्यक है। उन्होंने 'कुसुमशेखर' नामक ईहामृगका उदाहरण दिया है।

नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र शारदातनयसे अंक एवं नायक-संख्याके सम्बन्धमें सहमत नहीं हैं। उनका मत है कि ईहामृगमें चार अंक आवश्यक नहीं, एक अंक भी हो सकता है। उन्होंने नायकोकी संख्या बारह निश्चित की है (नाट्य-दर्पण, पृ० १३१)।

विश्वनाथका मत शारदातनय और रामचन्द्र दोनोंसे भिन्न है। उनका मत है कि इसमें एक ही अंक होता है। नायकके सम्बन्धमें उन्होंने अन्य आचार्योंके आधारपर दो मत दिये हैं—(१) एक देवता ही नायक होता है और (२) छः नायक होते है।

अभिनव गुप्तने भी अंक एक और नायक-संख्या बारह स्वीकार की है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने चार अंक और नायक ईश्वरका अवतार तथा नायिका देवी मानी है। उनके मतसे इसमें प्रेम इत्यादि वर्णित होता है तथा नायिका द्वारा युद्धादि कार्य-सम्पादन होता है। उन्होंने उदाहरण नहीं दिया है। **बाबू गुलाबरायने** इसमें एक धीरोदात्त नायक और एक **प्रतिनायक माना है**। उनका मत है कि नायक किसी कुमारीकी स्पृहा करता है। वह मृगकी भाँति दुष्प्राप्य हो जाती है। प्रतिनायक उसे नायकसे छुड़ाना चाहता है। मिलन तो नहीं होता, किन्तु किसीका मरण भी नहीं होता। इसमें अंक चार होते है। हिन्दीमें इसका उदाहरण नहीं मिलता। —द० ओ०

उग्रता (औग्र्य)—प्रचलित तैंतीसमें एक संचारी भाव। किन्हीं कारणोंसे उद्बुद्ध निर्दयताको उग्रता कहते है(वाग्भट; काव्यानुशासन, पृ० ५८)। 'नाट्यशास्त्र'के लक्षणसे ऐसा प्रतीत होता है कि भरतके सामने कई उदाहरण अवश्य उपस्थित थे। भरतने उग्रताके विभाव एवं अनुभावोंका वर्णन करते हुए कहा है कि चोरीमे पकड़ जाने, राज्यके प्रति अपराध करने, झूठ बोलने इत्यादिसे यह उद्बुद्ध होता है और वध, बन्धन, मारना-पीटना, तर्जना करना इत्यादि अनुभावोंसे इसकी अभिव्यक्ति होती है। (नाट्य०, ७:८१ ग)। इसकी संक्षिप्त व्याख्या 'दशरूपक' एवं 'नाट्यदर्पण'में मिलती है। किसी अपराधी, दुष्ट एवं क्रूर व्यक्तिके प्रति जो मनोवेग आ उपस्थित होता है और निर्दयतासे व्यक्त होता है, उसे 'औग्र्य' कहते हैं। 'दश-रूपक'के अनुसार इसमें स्वेद एवं शिरःकम्पन अनुभाव हो सकते है (४-१५)। इसका अनुकरण विद्यानाथने किया है (प्र० रु० य०, ४ : ४६)। शारदातनयने 'पुत्र, मित्र, कलत्र इत्यादिके द्रोहसे' यह मनोभाव उत्पन्न होना बताया है (भा०, पृ० २३), पर यह अस्पष्ट एवं असंगत प्रतीत होता है। 'रसगंगाधर'मे क्रोध एवं उग्रतामे यह भेद बताया है कि क्रोध स्थायी है तथा उग्रता संचारी। पर इस भेदके अति-रिक्त अमर्ष और उग्रता दोनों ही संचारियोंमे यह अन्तर प्रतीत होता है कि अमर्ष तो अपमान होनेपर किसी भी व्यक्तिमे उद्भूत हो सकता है, पर उग्रता किसी अपराधी दुष्टको देखकर ही होती है और यह निर्दयता-रूप है।

हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंने उपर्युक्त लक्षणको स्वीकार किया है—"दोष कीरतन चौरता, दुर्जनता अपराध। निर्जनता सो उग्रता, जहँ तरजन बध बाध" (भाव० : संचारी)। कुछने चलता हुआ लक्षण दिया है—'निरदैपन सो उग्रता' (जगत०, ५३८)। तुलसी द्वारा वर्णित परशु-रामके इन वाक्योमे उग्रता है—"मातु पितहिं जिन सोच बस, करसि महीप किसोर। गर्भनके अर्भक दलन, परसु मोर अति घोर" (रा० च० मा०, १ : २७२)। 'दशरूपक'-में भी परशुरामकी उग्रताका उदाहरण 'वीरचरित'से दिया गया है। इसी उदाहरणको हेमचन्द्रने 'काव्यानुशासन'में उद्धृत किया है। रीतिकालके आचार्योंने प्रायः शृङ्गारके संचारीके रूपमें इसका उदाहरण दिया है—"कहा कहौं सखि कामको, हिय निरदैपन आज। तन जारत पारत बिपति, अपति उजारत लाज" (जगत०, ५४०)। —ज० कि० ब०

उच्च मध्यवर्ग—इस वर्गमें प्रधानतः वही लोग आते हैं जिनका सम्पर्क समाजके उच्च वर्गसे बहुत निकटका होता है। इस वर्गमें प्रधानतया आवश्यकतासे अधिक धनसम्पन्न और बुद्धिवादीवर्गके लोग आते है। —रा० कु० त्रि०

उज्ज्वल रस—"उज्ज्वल रस'में प्रयुक्त उज्ज्वल शब्द 'शृङ्गार' या 'माधुर्य'का वाचक है। भरत (३ श० ई०)के

'नाट्यशास्त्र'में शृङ्गार रसका वर्ण तो 'श्याम' माना गया है, पर उसका वेष उज्ज्वल बताया गया है—"तत्र शृङ्गारो नाम रतिस्थायिभावप्रभव उज्ज्वलवेषात्मकः" (नाट्यशास्त्र, ६:४५-४६), इनमे रति स्थायी भावसे शृङ्गार बनता है, उसका वेष उज्ज्वल होता है। ये दोनो परस्पर-विरोधी होते हैं, पर शृङ्गारके देवता विष्णुको दृष्टिमे रखकर विचार करनेपर स्थिति कुछ स्पष्ट होने लगती है। विष्णु श्यामवर्ण हैं, पर उनका वेष पीताभ कान्तिमान् तथा उज्ज्वल ही है। इस दृष्टिसे उज्ज्वल शब्द निष्कलुषताका भी द्योतक हो सकता है। रूपगोस्वामी (१५-१६ श० ई०) द्वारा रचित शृङ्गार अथवा माधुर्य भक्तिविषयक ग्रन्थ 'उज्ज्वल नीलमणि' (१५४१ ई०)में यह शब्द अलौकिक रागानुगा मधुर भक्तिके लिए प्रयुक्त हुआ है, जिसमे शृङ्गारका पूर्ण अन्तर्भाव माना गया है। नायक-नायिका-भेदकी तरह कृष्णको नायक, राधिकाको नायिका मानकर इस ग्रन्थमे कृष्ण-प्रेमका विशद निरूपण किया गया है। राधा-कृष्ण इस उज्ज्वल रसके आलम्बन और भक्त-रूप उनकी सखियो ही उसका आश्रय मानी गयी है। ग्रन्थ-नामसे 'उज्ज्वल'के साथ 'नीलमणि' शब्दका योग श्यामवर्ण विष्णु दैवतवाले उज्ज्वल वेषात्मक शृङ्गार रसके समानान्तर है, अतएव पवित्र भावनावाली रति ही उज्ज्वल रसके मूलमे है। भरतने अपने उक्त कथनको स्पष्ट करते हुए स्वयं ही उज्ज्वलताका आधार पवित्रता या 'शुचि' इसेको माना है—"संसारमे जो पवित्र, स्वच्छ और दर्शनीय हो वह शृंगारसे उपमित होता है। उज्ज्वल वेषवाला शृंगारवान् कहा जाता है" (नाट्य०, ६। ४६)। 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु'मे भक्तिके जो पाँच भाव बताये गये है, उन्हींमेसे पाँचवे भाव माधुर्यका परिविस्तार 'उज्ज्वल रस'के रूपमें 'उज्ज्वल नीलमणि'मे हुआ है। अतः दोनों ग्रन्थ मिलकर भक्ति रसका पूरा स्वरूप प्रस्तुत करते है। (दे० 'भक्ति रस')। —ज० गु०

उड़िया (भाषा तथा साहित्य)—उडिया शब्द उडीसासे आया है। उड़ीसाकी भाषाका नाम उड़िया है। उड़िया एक जातिविशेषका नाम भी है। किन्तु उडियामें इसको 'ओड़िया' कहते है और देशको 'ओडिशा'।

कुछ विद्वानोंका कहना है कि ओड्रविषयसे ओडिशा शब्द आया है और इसका विकास-क्रम है—ओड्रविषय > ओड्रविष > ओडिष > ओडिषा या ओडिशा। तालव्य मागधीका लक्षण है। दूसरोका अनुमान है कि द्राविड शब्द 'ओडिसु'से 'ओडिशा' आया है और उसीका संस्कृतीकरण 'ओड्र' है। द्राविड भाषामे 'ओडिसु'का अर्थ है खेती करनेवाला एक किसान।

भाषाके अर्थमे या अन्य किसी अर्थमे 'उड़िया' शब्द प्रथम कब व्यवहृत हुआ, यह ठीक-ठीक कहना तो मुश्किल है, किन्तु उड़िया भाषाकी उत्पत्ति बहुत प्राचीन है। उड्र विभाषाका भरतके नाट्यशास्त्रमे उल्लेख आता है—'शवराभीरचाण्डालसचलद्राविडोड्रजाः। हीना वनेचराणां च विभाषा नाटके स्मृता।" विभाषाको बोली अर्थमे ले, तो भी यह कहा जा सकता है कि भरत मुनिके कालमे निश्चित रूपसे उड़िया भाषा एक विशेष रूप ले रही थी।

पूर्वोक्त उद्धरणसे यह भी सूचित होता है कि ओड्री विभाषाका शबर-आभीर-द्राविड आदि विभाषाओंके साथ सम्बन्ध था। भाषा-तात्त्विक दृष्टिसे विचार करनेसे भी यह पता चलता है कि आर्य, द्राविड और मुण्डारी भाषाओंके सम्मिश्रणसे उडिया भाषाकी उत्पत्ति हुई है। आधुनिक उडिया भाषाका मुख्य आधार भारतीय आर्य-भाषा है। साथ-साथ उसमे सन्थाली, मुण्डारी, शबरी आदि मुण्डारी-वर्गकी भाषओंके और ओरांव, कुई (कन्धी), तेलगु आदि द्राविड-वर्गकी भाषाओंके लक्षण भी पाये जाते है। उडिया शब्द-भण्डारमे इन भाषाओंकी देन तो है ही।

पहले कहा गया है कि आधुनिक उडिया भाषाका आधार भारतीय आर्य-भाषा है। यहाँ भारतीय आर्यभाषासे मतलब है प्राकृत भाषासे। प्राकृतके मुख्यतः चार रूप है—महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और पैशाची। उडिया भाषाका मागधी या अर्धमागधीसे सम्बन्ध है। उड़ियामें तालव्य 'श'का उच्चारण उपलब्ध है। र-ल और न-ण दोनो पाये जाते है। उडियाकी भौगोलिक परिस्थिति ऐसी है कि वह मागधी (मैथिली, बगला), महाराष्ट्री (मराठी) और शौरसेनी (हिन्दी) भाषाओंकी सीमाओंको छूती है। दक्षिणमे द्राविड़ भाषाका भी प्रत्यक्ष पूर्वपुरुषकी दृष्टिसे विचार करें तो उडियाका पूर्वी अपभ्रंशसे सम्बन्ध है। उड़िया भाषा वर्तमान उडीसा प्रान्तकी भाषा है। उडीसाका क्षेत्र-विस्तार ६०,१३६ वर्गमील है। उसकी जनसंख्या १,४६,४५,९४६ (१९५१ ई०) है। इसके अतिरिक्त बंगालके मेदिनीपुर (दक्षिण-पश्चिम), बिहारके सिंहभूमि, सराईकेला, खरसुआ आदि, मध्यप्रदेशमे पुल्झर, बिन्द्रानुआगड़, रायगढ़, सारगड, बस्तर, कांकेर आदि और आन्ध्रके इच्छापुर, उद्यानखण्ड, तरला, टेक्कालि, चिकि विशाखापाटण आदि अंचलोमे भी उड़िया बोली समझी जाती है।

उडिया लिपि नागरी लिपिके समान ब्राह्मी लिपिकी सन्तान है। उडिया लिपिको देखनेसे मालूम होता है कि यह नागरी लिपिसे बिलकुल भिन्न है, लेकिन जरा-सा ध्यानसे देखनेपर मालूम हो जायगा कि दोनोमे वैषम्यकी अपेक्षा साम्य ही ज्यादा है। भिन्न प्रतीत होनेका कारण यह है कि नागरी लिपिकी ऊपरकी सीधी रेखा उडिया लिपिमे वर्तुल हो जाती है और लिपिके मुख्य अंशकी अपेक्षा अधिक जगह अधिकार कर लेती है। नहीं तो लिपियोंके नीचेके अंशमे बहुत सादृश्य है। उड़िया लिपिके ऊपरका अंश वर्तुल होनेके बारेमे विद्वानोका कहना है कि उड़िसामे पहले तालपत्रपर लोहसे लिखनेकी रीति प्रचलित थी और सीधी रेखा खींचनेमें तालपत्र कट जानेका डर था। इसलिए सीधी रेखाके बदले वर्तुल रेखा दी जाने लगी और उडिया लिपिका क्रमशः आधुनिक रूप आने लगा।

'ललितविस्तर'मे अंक उग्रलिपिका नाम आता है, लेकिन वह आता है द्राविड लिपि, किनारि लिपि, दक्षिण लिपिके साथ। इसलिए वह 'उड्र लिपि' हो सकता है। 'ललितविस्तर'का काल है कमसे कम नवीं शताब्दी। नन्दी सूत्रमें भी उड्र लिपिका उल्लेख है और उसका काल दशम शताब्दीसे पूर्व नहीं है।

हिन्दी व्याकरणसे तुलना—उड़िया व्याकरणकी मुख्य विशेषताएँ है—अतीत कालमें 'ने' प्रयोगका अभाव और

लिंगके अनुसार क्रियाओंमें परिवर्तनका अभाव, उडियामें स्त्रीलिंग-हेतुक विकार क्रियामें तो होता ही नहीं, विशेषणोंमें भी नियमतः नहीं होता परन्तु विशेष्योंमें होता है। उडियामे 'ने'का प्रयोग बिलकुल नहीं है। इसलिए अतीत कालके लिए 'क्त' प्रत्ययान्त विकृत शब्दोंका भी प्रयोग नहीं आता है। उडियामे क्रियाके अतीत कालमें धातुके बाद ल, ला, लि, लु, या इल, इला, इलु, इलुँ आदि ल-युक्त प्रत्यय आते है। वर्तमान कालमे शतृ प्रत्ययका अवशिष्ट हिन्दीका 'ता' भी नहीं आता है।

वाक्य-योजनामे हिन्दीसे उडियाकी एक और विशेषता यह है कि हिन्दीमें निषेधात्मक अव्यय क्रियाके पहले आता है, लेकिन उडियामें क्रियाके पीछे, वाक्यके अन्तमे।

काल और साहित्यिक प्रवृत्तिके अनुसार उडिया साहित्यका काल-विभाजन इस प्रकार किया जाता है—(१) आदियुग, इतिवृत्तयुग या सारलादासयुग—११ वीं शताब्दीके प्रथमार्धसे १६ वीं शताब्दीके प्रथमार्धपर्यन्त। (२) मध्ययुग—१६वीं शताब्दीके प्रथमार्धसे १९वीं शताब्दीके प्रथमार्धपर्यन्त। (क) पूर्व मध्ययुग, भक्तियुग या धार्मिकयुग या पंचसखायुग—१६वीं शतीके प्रथमार्धसे १८ वीं शतीतक। (ख) उत्तर मध्ययुग, रीतिकाल या उपेन्द्र-भंजयुग—१८वीं शतीसे १९वीं शतीके द्वितीयार्धके आरम्भ-पर्यन्त। (३) आधुनिकयुग या स्वातन्त्र्यकाल—१९वीं शती द्वितीयार्धसे।

(१) आदियुग—आदि युगमे सारलापूर्व साहित्य भी अन्तर्भुक्त है, जिसमें 'बौद्ध गान ओ दोहा' एक है। अन्य प्रान्तोंके समान उडीसामें 'बौद्धगान ओ दोहा'को उड़िया-का पूर्वरूप और प्रथम उडिया साहित्य माना जाता है। भाषादृष्टिसे साम्य तो है ही, काह्नुपा, शबरीपा, लुईपा आदि उडिया थे भी। साहित्यिक धाराकी दृष्टिसे पंचसखा साहित्यसे उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। 'बौद्धगान ओ दोहा'-के 'ओडियाण'का 'ओड्डियान'से सम्बन्ध है, जो 'कालिका-तन्त्र'के चार क्षेत्रोंमेंसे एक है।

इस युगके साहित्यमें गोरखनाथका 'सप्तांगयोगधारणम्' भी शामिल है। 'सप्तांगयोगधारणम्'मे सात वारोंकी स्वर-साधना वर्णित है और नाथपन्थकी एक पुस्तक-सी प्रतीत होती है। लेकिन सचमुच गोरखनाथकी लिखी हुई है या नहीं, इसमें सन्देह है, जैसा कि 'गोरखबानी' आदिके बारेमें।

दूसरा है 'मादलापांजि' जो जगन्नाथ-मन्दिरमे सुरक्षित है। आसाम बुरंजिके समान इसमें उडीसाके राजवंशका और जगन्नाथ-मन्दिरके नियोगोंका इतिहास लिपिबद्ध है। किंवदन्तीके अनुसार गंगवंशके प्रथम राजा चोडगंगदेवने १०४२ ई० (कन्या २४ दिन, शुक्ल दशमी दशहराके दिन)-मे 'मादलापांजि'को लिखना शुरू किया था। लेकिन दूसरा मत है कि यह मुगलकालमें १६वीं शताब्दीमें रामचन्द्रदेव-के राजत्वकालमें लिखवायी गयी थी।

'रुद्रसुधानिधि' भी सारलापूर्वकाल (१३वीं या १४वीं शती)की कही जाती है। यह पुस्तक सम्पूर्ण प्राप्त नहीं है और प्राप्त अंश सम्पूर्ण छपा भी नहीं है। इस शैव ग्रन्थके लेखक नारायणानन्द अवधूत स्वामी हैं और इसमें एक योगभ्रष्ट योगीका वृत्तान्त वर्णित है। कुछ लोग कहते है कि यह वृत्तगन्धि गद्यमे लिखा गया है और कुछ कहते हैं दण्डिवृत्तमें।

'कलशा चौतिशा' भी सारलापूर्वकालका कहलाता है और इसके लेखक है वत्सादास। इसमें शिवजीकी वरयात्रा और विवाह हास्यरसमे वर्णित है।

सारलादास—सच कहा जाय तो सारलादास ही उड़ीसाके प्रथम जातीय कवि है और उडीसा साहित्यके आदिकालके प्रतिनिधि है। उन्होंने अपनेको 'शूद्रमुनि' और जन्मसे अज्ञान कहा है। उनका प्रथम नाम सिद्धेश्वर परिडा (खण्डायन) था। वे कटक जिलेके झंकडवासिनी देवी चण्डी सारलाके वरप्रसादसे कवि हुए। इसलिए उन्होने अपनेको सारलादास कहा और आज वे उसी नामसे परिचित और प्रसिद्ध है।

वे कपिलेन्द्रदेवके समसामयिक थे और उनका काल है १४३५-१४३७ ई०। कुछ लोग उनको गंगवंशके कपिल नरसिंहदेवके समकालीन बताकर उनका काल १३२८-१३५२ ई० बताते है। उनकी तीन कृतियाँ उपलब्ध है—'विलंका रामायण', 'महाभारत' और 'चण्डीपुराण'। इस युगका अर्जुनदास लिखित 'रामविभा' नामक एक काव्य-ग्रन्थ भी मिलता है। चैतन्यदासके 'विष्णुगर्भपुराण' और 'निर्गुणमाहात्म्य' अलखपन्थी निर्गुणिया सम्प्रदायके दो ग्रन्थ भी पाये जाते है।

(२) मध्ययुगके दो विभाग हैं—(क) पूर्व मध्ययुग, (ख) उत्तर मध्ययुग। (क) पूर्व मध्ययुगको भक्तियुग कह सकते हैं, लेकिन यह भक्ति रागानुगा नहीं है, ज्ञानमिश्रा है, प्रेमप्रधान नहीं है, योगप्रधान है। इसमें कायसाधना प्रधान थी। 'बौद्धगान ओ दोहा'के शून्यकी पर्याप्त पर्यालोचना हुई है और पुरी जगन्नाथ ही उपास्य देवता थे, जगन्नाथ ही शून्य और कृष्ण थे।

पंचवैष्णव या पंचसखा इस युगके प्रधान थे, इसी समय चैतन्यदेव उडीसा आये थे और उन्होंने उनके साथ सख्य स्थापित किया था, जिससे वे पंचसखा कहलाये और वर्गीय वैष्णव ईर्ष्यान्वित होकर चैतन्यदेवको छोड़कर भाग गये थे।

वे पंचसखा ये है—बलरामदास, जगन्नाथदास, यशोवन्तदास, अनन्तदास और अच्युतानन्ददास। बलरामदास, रामतारक मन्त्रके, जगन्नाथदास षोडश नाम या बत्तीस अक्षर मन्त्रके, यशोवन्तदास पंचाक्षर मन्त्रके, अनन्तदास एकाक्षर मन्त्रके और अच्युतानन्ददास अष्टाक्षर मन्त्रके उपासक थे। पंचसखाओंमेंसे प्रत्येकने अनेक ग्रन्थ लिखे थे, जिनमेंसे कुछ मुद्रित है, कुछ अमुद्रित और कुछ अप्राप्य भी।

उसी कालमें कुछ जीवनियाँ भी पद्यमें लिखी गयी थीं। दिवाकरदासने 'जगन्नाथचरितामृत' लिखा था, जिसमें पंचसखाओंके जगन्नाथदासकी जीवनी दी गयी है और जिससे समकालीन गौड़ीय सम्प्रदायकी भी एक झलक मिलती है। दिवाकरदास षोडश शताब्दीके प्रथमार्धके है। सप्तदश शताब्दीके प्रारम्भमे, ईश्वरदासने 'चैतन्य भागवत' लिखा था।

सालबेग नामके एक मुसलमान भक्त कविने भी भक्ति-

रसात्मक अनेक गान लिखे थे।

यह तो हुई धर्मधाराकी प्रवृत्ति। आदि युगके अर्जुन-दासकी 'रामविभा' काव्यधारा भी मरी नहीं थी। शिशुशंकरदासका 'उषाभिलाष', कपिलेश्वरदासकी 'वापट्केलि', हरिहरदासका 'चन्द्रावलिविलास', देवदुर्लभदासकी 'रहस्य-मंजरी' आदि पौराणिक काव्योंके साथ-साथ लौकिक या काल्पनिक काव्यकी भी उत्पत्ति उसी कालमें हुई थी, जिसका उदाहरण प्रतापरायकी 'शशिसेणा' है।

(ख) रीतिकाल—भक्तिकालके बाद रीतिकाल आता है, जिसका हिन्दीके रीतिकालसे साम्य है। इस कालमें पौराणिक और काल्पनिक, दोनों प्रकारके काव्य पाये जाते हैं। नायिकाओंमें सीता, राधातकका नखशिख वर्णन किया जाता है। इस युगका काव्य शब्दालंकार, क्लिष्ट शब्दों और शृंगाररससे भरपूर हैं। काव्यलक्षण, नायक-नायिका-लक्षण आदिके प्रति यथेष्ट दृष्टि दी गयी है। उपेन्द्रभंजने इसको पराकाष्ठातक पहुँचा दिया। अतः इस युगका नाम भंजयुग पड़ गया, किन्तु यह काल इसके पहलेसे शुरू हो गया था। धनंजयभंज (१६३७-१७०१ ई०) उपेन्द्रभंजके पितामह थे और घुमसरके राजा थे। उन्होंने रामायणपर आधारित 'रघुनाथविलास-काव्य' और 'त्रिपुरसुन्दरी', 'मदनमंजरी', 'रत्नमंजरी', 'अनंगरेखा', 'इच्छावती', आदि अनेक काल्पनिक काव्य लिखे थे। उनके 'रत्नपरीक्षा', 'अश्व और गज परीक्षा' आदि कुछ लक्षणग्रन्थ और चौपदी, भूषण आदि संगीतग्रन्थ भी पाये जाते हैं। उनका प्रभाव उपेन्द्रभंजपर स्पष्ट है।

दीनकृष्णदास द्वितीय मुकुन्ददेव (१६५१—१६८६ ई०) और दिव्यसिंहदेव (१६८६—१७०३ ई०)के समसामयिक थे। उन्होंने राधाकृष्णपरक 'रसकल्लोल' काव्य लिखा था, जिसकी प्रत्येक पंक्तिका प्रथम अक्षर 'क' है। व्यक्तित्वके साथ इनका काव्य भी उच्च कोटिका है। इसके अतिरिक्त उनकी 'रामरत्नगीता', 'रसविनोद,' 'नावकेलि,' 'अलकार-केलि', 'आर्त्तप्राण,' 'चौतिशा' आदि अनेक कृतियाँ पायी जाती हैं।

वृन्दावनी दासीने 'पूर्णतम चन्द्रोदय' लिखा था, जिसमें गौडीय सम्प्रदायके अनुसार रागानुगा भक्ति प्रतिपादित हुई है। श्रीकृष्ण ही पूर्णतम चन्द्र हैं।

भूपति पण्डित पश्चिमी सारस्वत ब्राह्मण थे और तिरहुत होकर दिव्यसिंहदेवके समयमें उड़ीसा आये। उड़िया सीखकर उन्होंने भागवतके समान नवाक्षरी वृत्तमें 'प्रेम-पंचामृत' लिखा था, जिसमें उडिसी सम्प्रदायके अनुसार कृष्णकी लीला प्रतिपादित हुई है। उनका एक चौतिशा भी उपलब्ध है।

लोकनाथ विद्यालंकारने 'सर्वांगसुन्दरी,' 'पद्मावती-परिणय,' 'चित्रकला,' 'रसकला' और 'वृन्दावनविहार-काव्य' लिखा था। 'वृन्दावनविहार' एक पौराणिक-धार्मिक ग्रन्थ है और बाकी सब काल्पनिक हैं। इन काव्योंमें रीति-कालके सब लक्षण विद्यमान हैं।

इस पृष्ठभूमिको लेकर उपेन्द्रभंज पैदा हुए थे १६८५ ई० में और उनकी मृत्यु हुई थी १७२५ ई०में। उनका भी जन्मस्थान घुमसर था और वे धनंजयभंजके पौत्र थे। पहले कहा गया है कि पौत्रपर पितामहका यथेष्ट प्रभाव पड़ा था। 'रघुनाथविलास'की टक्करपर उन्होंने 'वैदेहीश-विलास' लिखा था। नामसे स्पष्ट है कि विषय-वस्तु एक ही है, परन्तु 'वैदेहीशविलास'में नामके सदृश हर एक पंक्ति 'व'से शुरू होती है। छन्द(सर्ग)में बाईस, बत्तीस आदि वकारादि संख्यक पद भी होते हैं। दीनकृष्णके ककारादि 'रसकल्लोल'की टक्करमें 'कलाकउतुक' लिखा था, जिसका आदि और अन्त दोनों नामके समान 'क' है। उनके अन्य पौराणिक काव्य हैं—'सुभद्रा-परिणय', 'ब्रजलीला', 'कुंजविहार', 'रामलीलामृत', 'अवनारसतरंग' आदि। 'अवनारसतरंग'में इकारादि कोई मात्रा नहीं है, 'सुभद्रा-परिणय' सकारादि है। उनके काल्पनिक काव्योंमें प्रधान हैं 'लावण्यवती', 'कोटिब्रह्माण्डसुन्दरी,' 'रसिक-हारावली,' 'प्रेमसुधानिधि,' 'मावबती,' 'शोभावती', 'इच्छा-वती', 'कलावती' इत्यादि। इन काव्योंमें रीतिकालके सब लक्षणोंका सम्पूर्ण विकास हुआ है। कहीं-कहीं सीमा अति-क्रम कर अश्लीलता भी आ गयी है। कथावस्तुमें हिन्दीके रीतिकालीन काव्योंके साथ अनेक साम्य है।

उन्होंने एक आलंकारिक ग्रन्थ लिखा था 'रसपंचक', जिसके पाँच परिच्छेदोंमें र, स, प, च, क पाँच अक्षरादि-का नियम पालित हुआ है। 'चित्रकाव्यबन्धोदय' चित्र-काव्यका एक अच्छा नमूना है। उन्होंने एक कोषग्रन्थ भी लिखा था, 'गीताभिधान', जिसमें कान्त, खान्त आदि अन्त्य अक्षरका नियम पालित है। इनके अलावा 'छन्द-भूषण', 'षड्ऋतु' आदि अनेक कृतियाँ और पायी जाती हैं।

पूर्वोक्त चर्चासे पता चलता है कि मध्यकालके उड़िया साहित्यमें दो प्रवृत्तियाँ स्पष्ट थीं, एक उडीसी वैष्णव धर्म-की, दूसरी रीति-लक्षणोंकी। साथ-साथ यह भी लक्ष्य करने-की बात है कि पंचसखाओंके समय चैतन्यदेव उड़ीसा आये थे। धीरे-धीरे उनका भी सम्प्रदाय जड़ जमाने लगा। इसलिए भंजकालीन साहित्यके बाद उडिया साहित्यने गौडीय वैष्णव धर्म और रीतिकालीन लक्षण, दोनोंका समन्वय देखनेमें आता है। इस कालके काव्य प्रायशः राधाकृष्ण-प्रेम-परक हैं और इनमें कभी-कभी अश्लीलता भी आ गयी है। इनमें प्रधान हैं—सच्चिदानन्द कविसूर्य (साधुचरणदास)की 'प्रेमतरंगिणी,' 'प्रेमलहरी,' 'प्रेमचिन्ता-मणि,' 'युगलरसामृतलहरी' आदि। भक्तचरणदासका 'मथुरामंगल,' 'मनबोध चौतिशा,' 'कलाकलेवर चौतिशा', 'मनशिक्षा' आदि। अभिमन्युसामन्तसिंदारका 'विदग्ध-चिन्तामणि,' 'प्रीतिचिन्तामणि,' 'सुलक्षणी,' 'रसवती,' 'प्रेमकला,' 'रसकला' आदि। गोपालकृष्ण पट्टनायककी 'पद्यावली'। यदुमणि महापात्रका 'प्रबन्धपूर्णचन्द्र'। बलदेव कविसूर्यका 'किशोरचन्द्रानन चम्पू,' 'रत्नाकर चम्पू,' 'चन्द्रकला' आदि।

इस क्रममें प्रधानतया दो व्यक्ति पाये जाते हैं—(१) ब्रजनाथ बडजेना और (२) भीम भोई। ब्रजनाथ बडजेना-ने 'गुण्डिचाविजे' नामक एक खोरता (हिन्दी) काव्य भी लिखा था। उनके दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं—'समरतरंग' और 'चतुरविनोद'। 'समरतरंग'में तत्कालीन ऐतिहासिक घटना नागपुरके चिमनाजी बाबूके साथ ढेंकानालके राजा

त्रिलोचन महेन्द्र बहादुरका युद्ध अनोखे ढंगसे वर्णित है। यह एक ऐतिहासिक काव्य है। 'चतुरविनोद' एक हास्य रसात्मक गद्यकाव्य है और इसमे चार विनोद है—हास-विनोद, रसविनोद, नीतिविनोद और प्रीतिविनोद। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'अम्बिकाविलास', 'श्यामरासोत्सव', 'केलिकलानिधि', 'विचक्षणा' आदि काव्य भी लिखे है।

भीम भोई जन्मसे अन्धे थे और जातिके वन्य (आदिवासी)। वे कुम्भिपाटिआ या महिमा धर्मके अनुयायी थे और महिमा गोसाईके उपासक। वे निरक्षर थे, लेकिन उनके रचित 'स्तुतिचिन्तामणि'मे ब्रह्मनिरूपण और अनेक भजन पाये जाते है। उडीसामे वे अत्यन्त प्रख्यात है।

(३) आधुनिक युग—मध्य युगमे मुगल-काल और मरहट्टा काल समाप्त हो जाता है। उसके बाद ब्रिटिश-कालका आरम्भ होता है। अंग्रेजोके आनेके बाद अन्य प्रान्तोंके समान उड़ीसाके साहित्यमें भी परिवर्तन आता है। यहाँसे आधुनिक युगका आरम्भ होता है। आधुनिक युगकी प्रवृत्ति प्रायः सब प्रान्तोमें एक-सी ही है।

प्रारम्भमें अंग्रेजी शासनके समान अंग्रेजी साहित्यके प्रति भी कुछ लोगोंको मोह उत्पन्न हो गया था, लेकिन साथ-साथ वे प्राचीन प्रान्तीय साहित्य और संस्कृत, फारसी साहित्यसे सम्पूर्ण रूपसे विच्छिन्न नहीं हुए थे। फारसी और हिन्दी साहित्यका प्रभाव भी थोड़ा-बहुत था। इसी कालके प्रधान कवि है राधानाथ राय। वे स्कूल-इंस्पेक्टर थे। उनपर अंग्रेजी साहित्यका प्रभाव स्पष्ट है। उन्होने कुछ ऐतिहासिक काव्य लिखे थे, जैसे—'पार्वती', 'नन्दिकेश्वरी', 'ययातिकेशरी' आदि। 'महापात्र' प्रथम अमित्राक्षर छन्दमें लिखित एक महाकाव्य है, जिसमें अंग्रेजी कवि मिल्टनका प्रभाव स्पष्ट है।

उन्होंने 'मेघदूत', 'वेणीसंहार' और 'तुलसी-पद्यावली'-का ('तुलसी-स्तवक'के नामसे) अनुवाद भी किया था। इसके अतिरिक्त 'दुर्योधनका रक्तनदीसन्तरण', 'शिवाजीकी उत्साहवाणी' आदि कुछ उनकी फुटकर कविताएँ भी पायी जाती है। उनके कुछ गद्य 'इतालीय युवा', 'विवेकी' आदि पाये जाते है। लेकिन यह गद्य पदवाक्य नहीं है। किन्तु पद्यकी भाषा और शैलीमें उन्होंने एक विप्लव ला दिया। उनकी सब रचनाएँ 'राधानाथ-ग्रन्थावली' नामसे छपी है। आधुनिक युगको कुछ लोग राधानाथ-युग भी कहते हैं।

इसी युगमे बंगालसे राजेन्द्रलाल मित्र आदि एक आन्दोलन चला रहे थे कि उड़िया एक स्वतन्त्र भाषा नहीं है। उसीका जवाब देनेके लिए उड़ीसाके कुछ लोगोंने कमर कसी। फकीरमोहन सेनापति उनमे मुख्य थे। गद्य-उपन्यासमें वे बेजोड़ हैं। गद्यकी भाषा और शैली उन्होंने प्रतिष्ठित की। उन्होंने 'लछमा', 'मामुँ', 'छमाण', 'आठगुंठ', 'प्रायश्चित्त' उपन्यास लिखे। उनके गल्प भी 'गल्पस्वल्प' नामसे दो भागोंमें संगृहीत हैं। उन्होंने अपना 'आत्मजीवन-चरित' भी लिखा था। 'प्रायश्चित्त'का हिन्दीमें अनुवाद भी हुआ था, 'समाजकण'के नामसे। 'मामुँ'का भी अनुवाद हुआ है।

पद्यमें भी उन्होंने 'उत्कलभ्रमण', 'पुष्पमाला', 'उपहार', 'बौद्धावतार काव्य', 'अवसर-वासर' (छोटी कविताओंका संग्रह) आदि लिखे थे। उन्होंने 'छान्दोग्योपनिषद्', 'रामायण', 'महाभारत' आदिका पद्यानुवाद भी किया था।

इस कालके प्रधान कवि हैं मधुसूदन राय। वे भी स्कूल-इंस्पेक्टर थे। उन्होंने अनेक पाठ्य पुस्तकें लिखीं और उसी प्रसंगमे अनेक कविताएँ भी। वे ब्राह्मसमाजी थे। उनकी कविताएँ भक्तिपरक है। इसलिए वे भक्त कवि कहलाते है। मालूम होता है कि रवीन्द्रनाथ और उनके परिवारका यथेष्ट प्रभाव उनपर पड़ा था। उनकी एक प्रसिद्ध कविता है 'ऋषि प्राणे देवतावतरण'। उसको देखनेसे मालूम होता है कि हिमालयपर देवेन्द्रनाथ ठाकुरको ही सामने रखकर यह कविता लिखी गयी है। 'पद्म', 'ध्वनि' आदि कविताओमें छायावाद स्पष्ट है। उन्होंने 'उत्तररामचरित'का भी अनुवाद किया था।

काव्य, उपन्यास और गल्पके समान नाटकपर भी लोगोंकी दृष्टि पड़ी थी। उनमें प्रधान है रामशंकर राय। उन्होंने नाटक (पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक), गीतिनाट्य, प्रहसन और यात्रा सबपर हाथ दिया था। उनके नाटक है—'कांचिकावेरी', 'वनमाला', 'रामवनवास', 'कंसवध', 'विषमोदक', 'युगधर्म', 'कांचनमाली', 'चैतन्य-लीला', 'लीलावती', 'रामाभिषेक'। गीतिनाट्य है—'विश्वयज्ञ'। प्रहसन है—'कलिकोल', 'बुढ़ोवर'। यात्रा है—'बडलोक'। उनकी 'प्रमतरी' एक गाथा और 'विकासिनी' एक उपन्यास भी उपलब्ध है। ये सब भी एक ग्रन्थावलीमें सन्निवेशित है।

उस कालके एक और प्रधान कवि है गंगाधर मेहेर। वे प्रकृतिके उपासक थे और इसलिए प्रकृति-कवि कहलाते है। वे उड़ीसाके वर्ड्सवर्थ कहे जा सकते है। कालिदास ही उनके आदर्श थे। उनकी 'प्रणयवल्लरी' 'अभिज्ञान शाकुन्तल' पर आधारित है। 'तपस्विनी'का विषय सीतावनवास है। 'इन्दुमती' 'रघुवंश'के अजविलापपर आधारित है। उन्होंने 'कीचकवध' काव्य भी लिखा था। इनके अतिरिक्त उनकी 'उत्कललक्ष्मी', 'भारती-भावना', 'अहल्यास्तव' आदि कविताएँ। इस युगमें पल्लीकवि नन्दकिशोरबल, प्राबन्धिक और सम्पादक विश्वनाथकर, व्यंगकारक गोपालचन्द प्रहराज आदिका नाम भी लिया जा सकता है।

आधुनिक युगके राधानाथ-युगके बाद सत्यवादी युग आरम्भ होता है। सारे हिन्दुस्तानमें कांग्रेस और महात्मा गान्धीका प्रभाव पड़ा था। शान्तिनिकेतनके समान सत्यवादी (साक्षीगोपाल) में गोपबन्धु दासने एक वनविद्यालय-की प्रतिष्ठा की। जातीय भाव बढ़ रहा था। इसलिए इस युगकी कविताओंमें जातीय भाव स्पष्ट है। और एक बात लक्ष्य करनेकी है कि राधानाथके 'पार्वती', 'नन्दिकेश्वरी' आदि काव्योंने इतिहासको विकृत और जातीय चरित्रको कलंकित किया था। सत्यवादी युगमें उसका भी प्रतिवाद होता है।

सत्यवादीके प्रवर्तक हैं गोपबन्धु दास। उनके लिखित 'धर्मपद', 'बन्दीर आत्मकथा', 'कारा कविता', 'अवकाश-चिन्ता' आदि प्रधान है। 'धर्मपद' कोणार्कके प्रधान बढ़ई विशुमहारणका लड़का था। उन्होंने बारह सौ बढ़इयों-(शिल्पियों)की प्राणरक्षाके लिए अपने प्राण त्याग किये थे।

नीलकण्ठ दाम भी इसी युगके है। उन्होंने टेनीसनकी 'प्रिंसेस' के आधारपर 'प्रणयिनी' और 'इनौक आर्डेन'के आधारपर 'दासनायक' भी लिखा था। इस युगके और एक प्रधान लेखक थे गोदावरीश मिश्र। उनके 'पुरुषोत्तम-देव' और 'मुकुन्ददेव' नाटक प्रख्यात है। उन्होने अनेक 'लिरिक' और 'सॉनेट' कविताएँ भी लिखी थी। उनका संचयन 'गीतायन'मे हुआ है।

उसी कालमे छायावादी पद्मचरण पट्टनायक, हास्यरसिक लक्ष्मीकान्त महापात्र और नारी कवि कुन्तला कुमारी सावत आती है।

सत्यवादी युगके बाद रोमांटिक युग आता है। उसके प्रधान कवि है मायाधर मान सिंह। उनके 'धूप', 'हेम-शस्य', 'हेमपुष्प' आदि प्रधान ग्रन्थ है। उनकी लेखनी अभी भी बन्द नही हुई है।

रोमांटिक युगके बाद सबुज युग आया। यह एक मिलित उद्यम था। उसमे पॉच आदमियोका सहयोग था। ये पॉच है—कालिन्दीचरण पाणिग्राही, वैकुण्ठनाथ पट्ट-नायक, हरिहर महापात्र, शरच्चन्द्र मुखर्जी और अन्नदाशंकर राय। उनकी कविताएँ 'सबुजकवित्व' नामसे प्रसिद्ध है और प्रकाशित है। 'वासन्ती' उपन्यास उन लोगोंके सम्मिलित लेखनका फल है।

पीछे वे लोग अलग-अलग हो गये। अन्नदाशंकर राय बॅगलामें चले गये। हरिहर महापात्र और शरच्चन्द्र मुखर्जीने लिखना स्थगित कर रखा है। बाकी दो अभी-तक लेखनी चला रहे हैं। कालिन्दीचरण पाणिग्राहीका 'माटिर मणिष' प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त उनकी 'लुहारमणिष', 'मुक्तागढरक्षुधा', 'द्वादशी', 'सागरिका' आदि अनेक कृतियाँ उपलब्ध है। वैकुण्ठनाथ पट्टनायककी कविताओंका संग्रह काव्यसंचयनमें हुआ है।

इसके बाद प्रगतियुग या अत्याधुनिक युग आता है। इस युगके प्रसिद्ध लेखक है सच्चिदानन्द राउत राय। उनकी रचनाओमें 'पल्लीचित्र', 'पाण्डुलिपि' आदि प्रधान हैं। आधुनिक समयमें औपन्यासिक गोपीनाथ महान्ति, कान्दुचरण महान्ति, नित्यानन्द महापात्र, राधामोहन गडनायक, क्षुद्र गालिक, गोदावरीश महापात्र आदि प्रसिद्ध लेखक हैं। —प्र० प्र०

उत्कंठिता (नायिका)–इसके लिए 'उत्का' शब्दका भी प्रयोग हुआ है। अवस्थानुसार नायिकाओंके विभाजनका एक भेद; विशेषके लिए दे०—'नायिका-भेद'। सर्वप्रथम भरतने इसका उल्लेख किया है। भानुदत्तके अनुसार "संकेतस्थलं प्रति भर्तुरनागमनकारणं या चिन्तयति", अर्थात् जो आहेट-स्थलपर पहुँचकर नायकके आनेकी प्रतीक्षा करती है। (र० मं०, ११७)। उत्कण्ठाका अर्थ होता है उत्सुकता और इस नायिकामें प्रतीक्षाके साथ उत्सुकताका भाव विशेष देखा जाता है—"आप जाय संकेतमें पीव न आयो होय। ताकी मन चिन्ता करै···।" (मतिराम : रस-राज, १५६)। कुछ आचार्योंने मुग्धामें इसका भेद नही माना हैं। इनके अतिरिक्त सभी, स्वकीयाके भेदों, परकीया तथा सामान्यामें इस रूपको मानते हैं। मुग्धा उत्कण्ठिता लज्जाके कारण अपनी उत्कण्ठा प्रकट नहीं कर पाती—"अरे सु नो मन बावरे इतहि कहा अकुलात। अटकि अटा किन पनि रह्यो तितहि क्यों न चलि जात" (पद्माकर : जगद्वि-नोद, १ : १९४)। मध्या उत्कण्ठिता अधिक व्यग्र और विह्वल होती है—"द्वारहिं ओर विलोकत द्वारहि चौंकि परै तिनके खरके हूँ। सेज परी मतिराम बिसूरति आयौ अहो अबहीं लखि मैं हूँ" (रसराज, १५०)। प्रौढा उत्कण्ठिता अधिक मुखर है—"पिय पथ हेरति गोरिया भो भिनुसार। चलहु न करिहि तिरियवा तुव इतबार" (रहीम : बरवै० ५९)। परकीयाकी उत्कण्ठामें व्यग्रताके साथ गोपनका भी भाव रहता है—"तिनकौ तिनके खिरकै खिरकौ तिनके मन को ठहरैबौ करै। लखि बोलत बोल तमालके डोलत चाउसों चौकि चितैबो करै" (दास : शृं० नि०, १७३)। सामान्याकी उत्कण्ठा वास्तविक कहॉ तक हो सकती है; पर शृंगारके आलम्बन रूपमे उसे भी प्रेमयुक्त ही माना गया है—"कठिन नींद भिनुसरवॉ आलस पाय।···धन दै मिनवा रहल लुभाय" (रहीम : बरवै०, ६१)। उत्कण्ठिता-के रूपमे भक्ति तथा रीतिकाव्यमें नायिकाकी भाव-विह्वलता, चिन्ता, उत्सुकता, आकांक्षा तथा आतुरता आदिका सुन्दर चित्रण किया गया है।

उत्तमा (नायिका)–गुण अथवा प्रकृतिके अनुसार नायिकाओके विभाजनका एक भेद; विशेषके लिए दे०—'नायिका-भेद'। भरतसे यह विभाजन स्वीकृत होता आया है। भानुदत्तके अनुसार यह नायिका "अहितकारिण्यपि प्रियतमे हितकारिण्युत्तमा" अर्थात् अहित किये जानेपर भी हित करनेवाली नायिका उत्तमा है (र० मं०, पृ० १५२)। मतिराम भी ऐसा ही कहते हैं—"प्रिय हितकैं अनहित करै आप करै हित बारि" पर अन्य 'दोष लखि सुनि' कर भी अपने प्रियपर रोष न करनेवाली इसे मानते हैं। इस नायिकाके वर्णनमें कवियोंने आत्मसन्तोष, निर्भरता तथा याचनाका भावमय तथा वैचित्र्यपूर्ण अंकन किया है—"विनती इती है कै हमेसहू मुहै तौ निज राइनकी पूरी परिचारिका गने रहौ। याहीमें मगन मनमोहन हमारो मन लगनि लगाइ लाल मगन बने रहौ" (पद्माकर : जगद्विनोद, १ : २७१)।

उत्तर–लोकन्यायमूल अर्थालंकार; इसको हिन्दीमें प्रश्नोत्तर तथा गूढोत्तर भी कहा गया है। इसकी व्याख्यामें पर्याप्त अन्तर रहा है। इसको सर्वप्रथम रुद्रटने अपने वास्तववर्गमे स्वीकार किया है। मम्मटके अनुसार "उत्तर अलंकारमें या तो उत्तरके सुननेभरसे प्रश्नकी कल्पना कर ली जाती है या प्रश्नके रहते हुए भी ऐसे उत्तरकी कल्पना की जाती है, जिसकी सामान्यतः कोई सम्भावना नहीं होती" (का० प्र०, १० : १२१)। वस्तुतः उत्तर सम्बन्धी चमत्कार ही इसमें प्रधान रहता है। 'साहित्यदर्पण'की परिभाषा है—"उत्तरं प्रश्नस्योत्तरादुन्नयो यदि। यच्चासकृदसम्भाव्यं सत्यपि प्रश्न उत्तरम्" (१० : ८२), अर्थात् जब उत्तरसे प्रश्नका अनु-मान किया जाय अथवा किये गये अनेक प्रश्नोंसे अनेक असम्भावित उत्तर कहे जायँ। हिन्दीमे 'कुवलयानन्द'के आधारपर जसवन्तसिंहने इसे लिया है, पर इनका दिया हुआ नाम गूढोत्तर है। मतिराम तथा पद्माकर आदिने गूढोत्तर नाम दिया है। भूषण तथा दास आदिने प्रश्नोत्तर

कहा है। इनकी परिभाषाएँ भी बहुत स्पष्ट नहीं है। —"कोई बूझे बात कछु कोऊ उत्तर देय" भूषणका यह लक्षण भ्रामक है" (शिवराजभूषण, ३१२)। दास भी अस्पष्ट है—'विविध प्रश्नकै विविध उत्तर'। पद्माकरने केवल 'साभिप्राय उचार' कहकर छुट्टी पा ली है (पद्मा०, ३४६); मतिरामने 'अभिप्राय सौं सहित जो उत्तर' (ल० ल०, ३४८) कहकर उत्तर सम्बन्धी चमत्कारकी ओर संकेत किया है। आधुनिक काव्यशास्त्रियोंने संस्कृत आचार्योंके आधारपर पुनः उत्तरकी प्रतिष्ठा की है। कन्हैयालाल पोद्दारने इसका विस्तार मम्मटके आधारपर दिया है।

प्रथम उत्तर वहाँ माना जाता है, जहाँ प्रतिवचनके ज्ञानसे प्रश्न- (पूर्ववाक्य)का अनुमान कर लिया जाता है। इसके भी दो विभाजन हैं—(क) उन्नति प्रश्नमें व्यंग्ययुक्त उत्तर सुनकर प्रश्नकी कल्पना की जाती है—"बसौ पथिक इत आजु ही आगे नगर उजार" (पद्मा०, २४६)में उत्तरमे चमत्कार है और साथ ही प्रश्नकी व्यंजना भी। (ख) निबद्ध प्रश्नमे कई बार प्रश्न किये जानेपर कई बार अप्रसिद्ध उत्तर दिया जाता है। दासके उदाहरण—"को इत आवत—कान्ह हौं, कहा काम—हित मान। किन बोलै—तेरे दृगन, साखी—मृदु मुसिकान" (का०नि०, १७) में इसी प्रकारके प्रश्नोत्तर है। **द्वितीय उत्तर**में प्रश्नमें ही उत्तर अथवा बहुत-से प्रश्नोंका एक ही उत्तर होता है। इसका आधार श्लेष रहता है। कन्हैयालाल पोद्दारने काशिराजसे उदाहरण लिया है—"को कहिये जलसों सुखी, का कहिये पर स्याम। काकहिये जे रस विना, कोकहिये सुख वाम" जलसे कौन सुखी है प्रश्नका उत्तर इसीमें समाहित है, कोकका हृदय जलमें सुखी है आदि। इसी प्रकार भूषणके उदाहरणमें कई प्रश्नोंका एक उत्तर है—"को दाता,को रन चढ़ो, को जगपालनहार। कवि भूषन उत्तर दियो सिव नृप हरि अवतार" (शि० भू०, ३१४)। रीतिकालके कवियोंने इस अलंकारका प्रयोग किया है, पर इसकी कल्पना उनके मनमें स्पष्ट नहीं रही है। यह अलंकार आधुनिक कवियोंमें भी प्रचलित है, विशेषकर छायावादी कवि 'प्रसाद', पन्त तथा महादेवीके इस प्रकारके चमत्कारिक प्रश्नोत्तरोंमें गहरी व्यंजना है।

यह अलंकार कई अन्य अलंकारोंके निकट है। मम्मटके अनुसार यद्यपि काव्यलिंगमे हेतु-कथन होता है, परन्तु काव्यलिंगमें कारकरूप हेतु अपेक्षित है, जबकि उत्तरको प्रश्नका ज्ञापक कारणभर कहा जा सकता है। ज्ञापक हेतुके कारण इसे 'अनुमान' अलंकार भी नहीं कह सकते, क्योंकि 'अनुमान'में साध्य-साधन, दोनों शब्द द्वारा स्पष्ट कहे जाते हैं जबकि 'उन्नति प्रश्न'में साधनरूप उत्तरवाक्यका कथन किया जाता है। 'निबद्ध प्रश्न'का 'परिसंख्या'से भेद भी स्पष्ट है। 'परिसंख्या'के समान 'उत्तर'में किसी दूसरी वस्तुका निषेध नहीं होता है, वरन् अप्रसिद्ध उत्तर होते हैं। —र०

उत्तरमध्यकाल–हिन्दी साहित्यके इतिहासको तीन भागों—आदिकाल, मध्यकाल और आधुनिक कालमें बाँटा जाता है। उत्तरमध्यकाल मध्यकालका उत्तरार्ध भाग है। मध्यकाल दो युगों, भक्तिकाल और रीतिकाल या शृंगारयुगमें विभक्त किया जाता है। उत्तरमध्यकाल द्वितीयार्ध रीतियुग है। उत्तरमध्यकाल सं० १७०० वि०से १९००वि० या मोटे तौरपर सन् १६५८ से १८५७ ई०—शाहजहाँके शासनकालकी समाप्तिसे प्रथम भारतीय स्वतन्त्र-संग्राम (सन् १८५७)—तक माना जाता है। कवियोंकी दृष्टिसे चिन्तामणि त्रिपाठीसे लेकर प्रताप साहितक या भारतेन्दुके उदयके पूर्वतकका काल उत्तरमध्यकाल है। राजनीतिक दृष्टिसे यह मुगल शासनका क्रमशः अवसानकाल है। औरंगजेबकी नीति और उसके उत्तराधिकारी शासकोंकी अयोग्यता और विलासिताके परिणामस्वरूप मुगल शासनका ह्रास, अनेक छोटे-बड़े राज्योंका उदय तथा अंग्रेजोंके पदार्पण और क्रमशः अंग्रेजी प्रभावकी वृद्धिका काल है। इसी कालके ठीक मध्यमें, सन् १७५७ ई०के प्लासी युद्धसे अंग्रेजोंका प्रभुत्व और शासन बंगालमें कायम हुआ था।

धार्मिक दृष्टिसे इस युगमें विभिन्न (सगुणोपासना, निर्गुणोपासना, सूफी आदि) सम्प्रदायोंकी परम्पराका विकास हुआ। इस युगमें कृष्णोपासक सम्प्रदायोका सबसे अधिक प्रभाव बढ़ा और रामोपासनामें भी शृंगारिक प्रवृत्तियोंका समावेश हुआ। प्रधानतया यह युग परम्परापालन या रूढिनिर्वाहका काल है, जिसमें शास्त्रबुद्धिका विकास हुआ। पूर्वमध्यकालके व्यापक समन्वयकी प्रतिभा इस युगमें कम देखनेको मिलती है। धर्म परम्परापालनके रूपमें अधिक था। इस कालका प्रधान दृष्टिकोण ऐहिक है।

साहित्यिक दृष्टिसे भी यह काल रूढ़िवादी है। वीरकाव्य, रामभक्तिकाव्य, कृष्णभक्तिकाव्य, प्रेमाख्यानकाव्य, सन्तकाव्य आदिकी पूर्ववर्ती परम्पराओंका विकास इस कालमें होता रहा। प्रधान प्रवृत्ति रीतिकाव्यकी है, जिसमें संस्कृतके काव्यशास्त्रीय रस, अलंकार, ध्वनिग्रन्थोंके लक्षणोंके आधारपर कविता लिखनेका प्रचार हुआ। इसी कारणसे उत्तरमध्यकालको रीतिकाल (दे०) भी कहते हैं। इस युगके साहित्यकी प्रमुख प्रवृत्ति शृंगारिक है। हिन्दी साहित्यका उत्तरमध्यकाल भाषा-संस्कार एवं कलात्मक उत्कर्षका युग है। ब्रजभाषा (हिन्दी)का ललित रूप इस कालमें देखनेको मिलता है। यह कहा जा सकता है कि इस कालमें ब्रजभाषा साहित्यिक या सांस्कृतिक राष्ट्रभाषाका काम कर रही थी। दक्षिणमें हैदराबाद, पूना आदि स्थानोंसे लेकर उत्तरमें कुमाऊँतक इस भाषाके काव्यका सम्मान था। इस कालमें व्यापक रीतिसे साहित्यिक अभिरुचिके दर्शन होते हैं। उत्तरमध्यकाल कलाकाल या शृंगारकाल भी कहलाता है। —भ० मि०

उत्पत्तिवाद–दे० 'रसनिष्पत्ति', पर्याय—आरोपवाद।

उत्पाद्य कथावक्रता–दे० 'प्रकरणवक्रता', दूसरा नियामक।

उत्पाद्य वस्तु–इतिवृत्तकी दृष्टिसे यह नाटककी वस्तुके तीन भेदों—**प्रख्यात, उत्पाद्य** और **मिश्र**मेंसे एक भेद है। 'उत्पाद्यं कविकल्पितम्' उत्पाद्य इतिवृत्त स्वयं कविकल्पित होता है। लक्ष्मीनारायण मिश्रके समस्या-नाटकों तथा सेठ गोविन्ददासके सामाजिक नाटकोंका इतिवृत्त कविकल्पित है। शूद्रकके 'मृच्छकटिक' और भवभूतिके 'मालतीमाधव'की कथा भी उत्पाद्य ही है। —ब० सिं०

उत्पाद्योत्पादकभाव–दे० 'रसनिष्पत्ति', आरोपवादके अन्तर्गत।

उत्प्रेक्षा–सादृश्यगर्भ अभेदप्रधान अध्यवसाय अर्थालंकार, जहाँ प्रस्तुतमें अप्रस्तुतकी सम्भावना होती है। इसका शब्दार्थ है अन्य (उपमान)का उत्कटतासे ज्ञान अथवा बलपूर्वक प्रधानतासे देखना। भरतने उत्प्रेक्षा अलंकार नहीं लिया, परन्तु भामहने 'यथासंख्य'के साथ 'उत्प्रेक्षा'का वर्णन किया है। उनके मतमे प्रस्तुतका भिन्न अप्रस्तुतसे गुणलेशतः साम्य 'उपमा' है और गुणोंकी समतापर साम्य 'रूपक' है, परन्तु उत्प्रेक्षा अलंकारमे विशेष गुणसाम्य न हो, क्रिया-योग आवश्यक है—"अतद्‌गुणक्रियायोगाद् उत्प्रेक्षातिशयान्विता" (काव्यालंकार, २:९१)। भामहने 'उत्प्रेक्षावयव' अलंकारका भी वर्णन किया है, जिसका उदाहरण है—"उदय और अस्तमे समान रहनेवाले सूर्यके अस्त हो जानेपर क्लान्त दिवस अन्धकाररूपी घरमें मानो ठिकाना पानेके लिए जा रहा है" (वही, ३:४८)। दण्डीने 'काव्यादर्श'में चेतन और अचेतनकी अन्यथा स्थित वृत्तिकी 'मन्ये', 'शंके', 'ध्रुवं', 'प्रायः' 'नूनम्' आदि शब्दो द्वारा अन्यथासम्भावनामे उत्प्रेक्षा अलकार बतलाया है (वही, २:२२१, २३४)। नव्य आचार्योंमें केशव मिश्रने उत्प्रेक्षाकी सबसे अधिक प्रशंसा की है, उनके मतमें उत्प्रेक्षा 'सर्वालंकारसर्वस्व' भी है तथा 'कवि-कीर्ति-विवर्धिनी' भी; नवोढाके स्मितके समान अपने सौन्दर्यसे वह पाठकके मनको आकृष्ट करती है। मम्मट उत्प्रेक्षाके प्रति उदासीन है। उन्होंने उत्प्रेक्षाका सामान्य वर्णन कर दिया है (का० प्र०, १०:९२)। जयदेवने उत्प्रेक्षाके लक्षणमें 'निषेधके बिना' उन्नीयन(उत्कट कोटि सन्देह)को आवश्यक माना है (चन्द्रालोक, ५:२९)। विश्वनाथ और अप्पय दीक्षितके लक्षणोमे कोई विशेषता नहीं।

केशवदासने 'औरे वस्तुमें और कीजिये तर्क' लिखकर उत्प्रेक्षाका स्वरूप बतलाया है। उन्होने 'उत्प्रेक्षोपमा'का भी वर्णन किया है। मतिराम, भूषण, पद्माकर आदिके लक्षण मम्मट तथा विश्वनाथपर आधारित हैं—"आन बातकी आनमें जहँ सम्भावना होय" (शि० भू०, ९७)। दासके अनुसार "वस्तु निरखि कै हेतु लखि, कै आगम फल काज। कवि कै बकता कहति ये, लगै अवरसे काज।' (का० नि०, ९), और इसके अतिरिक्त वाचक शब्दोंका कथन किया है। आधुनिक विवेचकोंने भी मम्मट और विश्वनाथका अनुसरण किया है।

उत्प्रेक्षाको स्वतन्त्र अलंकार-पद पीछे मिला, इस कारण इसके भेदोका विस्तार भी पीछे ही हुआ है। भामहने तो उत्प्रेक्षाके भेद बताये ही नही, दण्डीमें 'चेतन' और 'अचेतन'के आधारपर भेद नहीं माने जा सकते। परन्तु 'काव्यादर्श'में "लिम्पतीव तमोङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः" लिखकर जो मत व्यक्त किया गया, वह लगभग ८०० वर्षोंतक काव्यशास्त्रियोंके ध्यानको आकृष्ट किये रहा।

उत्प्रेक्षाका पूर्ण विस्तार विश्वनाथके 'साहित्यदर्पण'में होता है। उत्प्रेक्षाके २ भेद हैं—'वाच्या' तथा 'प्रतीयमाना'। 'वाच्या' जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यगत होनेसे ४ प्रकारकी है, पुनः भाव अथवा अभावरूपसे ८ प्रकारकी हुई। इन आठों भेदोंके निमित्त, गुण और क्रिया होनेसे भेद १६ हो गये। इनमेंसे जाति, गुण और क्रियाओंके १२ भेदस्वरूप, फल तथा हेतुके रहनेसे ३६ हुए। द्रव्यमें केवल स्वरूप ही होना है, इन चार भेदोंको मिलाकर वाच्योत्प्रेक्षाके ४० भेद हुए। स्वरूपोत्प्रेक्षाके १६ भेद निमित्तके उपादान या अनुपादानके कारण ३२ बन जाते हैं। अस्तु, स्वरूपोत्प्रेक्षाके ३२, फलोत्प्रेक्षाके १२ और हेतूत्प्रेक्षाके १२ भेद मिलकर वाच्योत्प्रेक्षा ५६ प्रकारकी हुई। प्रतीयमानाके केवल ३२ भेद हैं। इस प्रकार उत्प्रेक्षाके ५६+३२=८८ भेद हो जाते हैं (सा० द०, १०:५८–६२)। उत्प्रेक्षाके भेद 'सापह्नवा', 'श्लेषहेतुगा' तथा 'उपक्रमा' भी हैं, विश्वनाथने इनका वर्णन किया है। जिस उत्प्रेक्षामें अपह्नुति अंग बनकर आवे, वह सापह्नवा है। प्रायः 'छल' आदि शब्दोंके प्रयोगसे अपह्नुतिका संकेत रहता है। यदि श्लेष उत्प्रेक्षाका हेतु है, तो उत्प्रेक्षा 'श्लेषहेतुगा' होगी। उपमावाचक शब्दके प्रयोगसे प्रारम्भ होकर जब अवसान सम्भावनामें होता है तो ऐसी उत्प्रेक्षा 'उपमोपक्रमा' कहलाती है।

जयदेवने 'हेत्वादि' लिखकर उत्प्रेक्षाके ३ भेदों—कारण, फल और वस्तुको स्वीकार किया है (चन्द्रालोक, ५, २९) और गूढ़ा (प्रतीयमाना) भेदको स्पष्ट लिखा है। यदि व्याख्या की जाय तो उनके अनुसार उत्प्रेक्षाके ६ भेद हो गये। हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंने प्रायः इसी भेदक्रमको स्वीकार कर लिया है। किसी-किसीने लुप्तोत्प्रेक्षा तथा उत्प्रेक्षा-मालाका उल्लेख भी किया है। इसी क्रमको आधुनिक विवेचकोंने भी अपनाया है। कन्हैयालाल पोद्दार तथा रामदहिन मिश्रने इसके दो प्रधान भेद—वाच्या और प्रतीयमाना माने हैं और फिर वाच्याके वस्तु, हेतु तथा फल सम्बन्धी एवं प्रतीयमानाके हेतु और फल सम्बन्धी भेद माने है। पुनः इनके भी उक्त-विषया, अनुक्त-विषया अथवा सिद्ध, असिद्ध-विषया नामक दो-दो भेद किये गये हैं। —ओ० प्र०

१. वस्तूत्प्रेक्षा–उत्प्रेक्षाका एक भेद। जयदेवने 'हेत्वादि' लिखकर उत्प्रेक्षाके जो तीन भेद स्वीकार किये है, उनमेंसे एक। जगन्नाथने इसको स्वरूपोत्प्रेक्षा कहा है। इसमे एक वस्तुकी दूसरी वस्तुके रूपमें सम्भावना की जाती है, अर्थात् उपमेयमे उपमानकी सम्भावना। यहाँ उत्प्रेक्षाका विषय (आश्रय) उपमेय होना है। इसके दो भेद स्वीकृत रहे है—उक्तविषया तथा अनुक्तविषया। इनको उक्तास्पदा और अनुक्तास्पदा भी कहते हैं। उक्तविषयामें उत्प्रेक्षाका विषय (उपमेय) कहकर उपमानकी सम्भावना की जाती है—"रैन तिमहले धन चढो, मुख छवि लखि नँदनन्द। घरी तीनि उदयादि ते, जनु चढि आयौ चन्द" (का० नि०, ९) अथवा—"सोहत ओढ़े पीतु पटु, स्याम सलौनैं गात। मनौ नीलमनि सैल पर, आतपु पर्‌यौ प्रभात" (वि० र०, ५८९)। यहाँ उत्प्रेक्षाके विषय 'मुख' और 'स्याम गात'का कथन किया गया है। अनुक्तविषयामे उत्प्रेक्षाके विषयका कथन न करके उपमानकी सम्भावना की जाती है—"आकाश अंजन बरसाकर मानो अन्तरिक्षको तमसे लीप रहा है"। यहाँ अन्तरिक्षको 'तमसे लीपना'

सम्भावना है, परन्तु किस विषयकी, वह कहा नहीं गया। अथवा—"फिरत विपिन नृप देखि वराहू। जनु बन दुरेहु ससिहि ग्रसि राहू" (रा० च० मा०, १ : १५६)। यहाँ वराहके दाँतोंके बिना उल्लेख किये राहुके मुखमें चन्द्रमासे उत्प्रेक्षा दी गयी है।

२. हेतूत्प्रेक्षा—उत्प्रेक्षाका एक भेद, जिसमें अहेतुमे हेतुको, अर्थात् अकारणको कारण मानकर सम्भावना की जाती है। इसके दो उपभेद हैं—सिद्धविषया, असिद्ध-विषया। सिद्धविषयामे उत्प्रेक्षाका विषय सिद्ध अथवा सम्भव होता है—"तुम्हारे पदतल पृथ्वीके स्पर्शसे मानो रक्त वर्ण है" अथवा—"मानो खोटी विरह-घटिका सामने देखके ही। कोई भी थी अवनतमुखी कान्तिहीना मलीना" (प्रियप्रवास)। यहाँ 'रक्तता' तथा 'घटिका' सम्भव कारण है। असिद्ध-विषया—जिसमे उत्प्रेक्षाका विषय असिद्ध या असम्भव हो—"बिरहिनके अँसुवानते, भरन लग्यौ संसार। मै जान्यो मरजाद तजि, उमग्यौ सागर खार" (का० नि०, ९) अथवा—"मोर मुकुटकी चन्द्रिकनु, यौं राजत नँदनन्द। मनु ससिसेखरकी अकस, किय सेखर सत चन्द" (वि० र० : ४१९)। यहाँ सागरका उमँगना तथा शशिशेखरकी प्रतिद्वन्द्विता असिद्ध है।

३. फलोत्प्रेक्षा—उत्प्रेक्षाका एक भेद, जिसमें अफलमें फलकी सम्भावना की जाती है। इसके दो भेद हैं—सिद्ध-विषया तथा असिद्ध-विषया। सिद्ध-विषया—जहाँ उत्प्रेक्षा-का फल सिद्ध अथवा सम्भव हो—"आनन चन्द समान उग्यौ मृदु मंजु हँसी जनु जौन्ह छटा है" (ल० ल०, १०७) अथवा—"पायतर आय नित निडर बसायबेकों, कोट बाँधियतु मानो पाग बाँधियतु है" (शि० भू०, १०३)। यहाँ चन्द्रके उगनेसे ज्योत्स्नाका फैलना और 'पाग बाँधना' (सम्मान देना) फलके रूपकी सिद्ध कल्पनाएँ है। असिद्ध-विषया—जहाँ उत्प्रेक्षामें असिद्ध या असम्भव फलकी कल्पना हो—"खंजरीट नहिं लखि परत, कछु दिन साँची बात। बाल दृगन सम होनको, मनों करन तप जात।" (का० नि०, ९) अथवा—"नाना सरोवर खिले नव पंकजों-को, ले अंकमें विहँसते मन मोहते थे। मानो प्रसार अपने शतशः करोंको, वे माँगते सरस्ते सुविभूतियाँ थे।" (प्रिय-प्रवास)। यहाँ 'तप करने जाना' तथा 'करोंको फैलाना' फलोत्प्रेक्षाके विषय असिद्ध है।

४. वाच्या और प्रतीयमाना—विश्वनाथ आदिने उत्प्रेक्षाके दो सामान्य भेद किये हैं—वाच्या और प्रतीय-माना। इव, मनु, जनु, मान्नो, मानहु, जानहु, सा, सी, से, प्रायः, मेरे जान आदि उत्प्रेक्षावाचक शब्दोंका जहाँ प्रयोग होता है, उसे वाच्या कहते हैं और जहाँ इन वाचक शब्दोंका प्रयोग नही होता, उसे प्रतीयमाना कहते हैं—"वाच्येवादिप्रयोगे स्यादप्रयोगे परा पुनः" (सा० द०, १० : ४१)। 'रसगंगाधर'में फिर प्रत्येकके तीन उपभेद दिये गये हैं—स्वरूपोत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा तथा फलोत्प्रेक्षा। चन्द्रालोककारने 'प्रतीयमाना'को ही 'गूढोत्प्रेक्षा' कहा है। कुछ आचार्योंने 'गुप्तोत्प्रेक्षा' भी कहा है। विश्वनाथके मतसे प्रतीयमाना फलोत्प्रेक्षा तथा हेतूत्प्रेक्षा ही हो सकती है, वस्तूत्प्रेक्षा नहीं, क्योंकि इसमें यदि वाचक शब्दका प्रयोग न किया जाय तो अतिशयोक्तिकी प्रतीति होने लगती है। यथा—"ससि मण्डलको छुवत है मनु या पुरके भौन" (अ० मं०, २२४)। इसमें यदि 'मनु' हटा दिया जाय तो असम्बन्धमें सम्बन्धकी कल्पना असम्बन्धातिशयोक्ति होगी। पर जगन्नाथ इसे गम्योत्प्रेक्षा ही मानते हैं, क्योंकि उत्प्रेक्षाकी सामग्री विद्यमान है। प्रतीयमाना फलोत्प्रेक्षा—"नित्य ही नहाता क्षीरसिन्धुमें कलाधर है। सुन्दरि तवा-ननकी समताकी इच्छासे" (काव्यदर्पण)। यहाँ समताके इच्छारूप फलकी कामना की गयी है, पर वाचक शब्द नही है। हेतूत्प्रेक्षा—"जानि पन चौथो अब भेष कै भगौंहीं भानु, अस्ताचल थानमे पयान कियो चाहै है" (अ० मं०, २२७)। यहाँ कारण 'चौथापन' कहा गया है, जो कारण नही है पर वाचक शब्दका प्रयोग भी नही है।

जहाँ उत्प्रेक्षा श्लेषपर आधारित होती है, विश्वनाथने उसे श्लेषमूला माना है, जहाँ निषेध करके उत्प्रेक्षा की जाती है, सापह्नवा कहा है। उत्प्रेक्षा भ्रान्तिमान, सन्देह तथा अतिशयोक्तिसे स्पष्टतः भिन्न है। उत्प्रेक्षामे वस्तुका वास्तविक ज्ञान रहता है, जब कि भ्रान्तिमानमें अन्य वस्तुकी कल्पना वास्तविक नही होती। उत्प्रेक्षामें प्रस्तुत-अप्रस्तुतमें एक प्रबल रहता है, जब कि सन्देहमें दोनों समकक्ष प्रतीत होते है। उत्प्रेक्षामें अध्यवसाय साध्य (उप-मानका अनिश्चित रूपसे कथन) रहता है और अति-शयोक्तिमें अध्यवसाय सिद्ध, क्योंकि उपमेयका निगरण होकर उपमानमात्रका कथन होता है।

उत्प्रेक्षामें सौन्दर्य-बोधका विस्तृत क्षेत्र है। इसमें 'प्रस्तुतकी अप्रस्तुतरूपमें सम्भावना' कल्पनाका मुक्त प्रयोग किया जा सकता है और सादृश्य तथा साधर्म्यकी नानाविध स्थिति, परिस्थिति अथवा भाव-स्थितियोंकी सम्भावनाके लिए प्रकृतिका व्यापक सौन्दर्य प्रयुक्त होता है। यही कारण है कि उत्कृष्ट काव्यमें उत्प्रेक्षाका व्यापक प्रयोग मिलता है। उपमा और रूपकके समान ही इसका प्रयोग हुआ है। विद्यापति, जायसी और सूरने सम्भवतः उत्प्रेक्षाको सबसे अधिक महत्त्व दिया है। इसका मुख्य कारण है कि इन तीनोंने सौन्दर्यका व्यापक तथा सूक्ष्म चित्रण किया है। इस सौन्दर्यके अन्तर्गत रूप, परिस्थिति तथा भावस्थिति सम्बन्धी सौन्दर्य आ जाता है। विद्यापतिने रूपसौन्दर्य और मनकी पीडा-व्यथाको अभिव्यक्त करनेमें अनेक अप्रस्तुत कल्पनाओंका सहारा लिया है। जायसीने रूप-सौन्दर्यमें वस्तूत्प्रेक्षा औ प्रेम-विरहके वर्णनमें हेतूत्प्रेक्षाका विशेष प्रयोग किया है। यह अलंकार उत्कर्षकी व्यंजनाके लिए बहुत उपयुक्त है। सूरने उत्प्रेक्षाका प्रयोग सर्वाधिक और सबसे सुन्दर किया है। उनके सांग-रूपक भी प्रायः उत्प्रेक्षाओंके द्वारा ही संघटित हुए है। सूरको रूप-सौन्दर्य तथा भाव-सौन्दर्यके चित्रणमें समान रूपसे सफलता मिली है और उनमें उत्प्रेक्षाके माध्यमसे उन्होने कल्पनाका प्रयोग किया है। रूपके अनेक पक्षों—स्थिति-जन्य, चंचल, स्फुरित, क्रीडाशील, अलौकिक आदि—के चित्रणमें उत्प्रेक्षाका आश्रय है। इसी प्रकार भावोंकी विविध स्थितियोंकी व्यंजना सूरने स्वतःसम्भावनी तथा प्रौढोक्ति-सम्भव कल्पनाओं द्वारा की है। इसके अतिरिक्त जीवनकी अनेक अन्य स्थिति अथवा

परिस्थितियोंको चित्रमय करनेमें भी इसका प्रयोग हुआ है। तुलसीने रूपात्मक अथवा भावात्मक सौन्दर्यके लिए उत्प्रेक्षा के अनेक रूपोंका प्रयोग किया है और उनके ये सारे प्रयोग सहज-सौन्दर्य-विधान है। अनेक बार वे वाचक शब्दोंका प्रयोग नहीं करते। वीर-काव्यमें युद्ध, नगर, घोड़ा, हाथी, सामग्री आदिके वर्णनमें प्रतीयमाना तथा उक्त-विषया वस्तूत्प्रेक्षाका विशेष प्रयोग किया है। रीतिकालीन कवियोंमें सहज सौन्दर्यके स्थानपर कल्पनाकी उडान अधिक बढती गयी। उनकी रुचि सादृश्यमूलक अलंकारोंमें भी चमत्कार उत्पन्न करनेकी अधिक है। यही कारण है कि इसका प्रयोग अपेक्षाकृत कम हुआ है। आधुनिक युगके काव्यमें उत्प्रेक्षाका व्यापक प्रयोग हुआ है। इसका प्रयोग द्विवेदी-युगके कथा-काव्यमें हुआ, पर बादमें छायावादी काव्यमें कल्पनाकी सम्भावनाओंका क्षेत्र सूक्ष्म हो गया है। —सं०

उत्सवगीत—लोकगीतोंकी परम्परामें प्रत्येक उत्सवके लिए गीत निश्चित और निर्धारित हैं। विभिन्न संस्कारोंके लिए विभिन्न प्रकारके गीतका विधान है। पुत्र-जन्मके अवसरपर गाये जानेवाले गीतोंका नाम **सोहर** है—"पनवाँ अइसन धनि पातरि, कुसुम अइसन सुन्दर हो। मोरे रामा उनहूँके भइलें नन्दलाल होरिलवा बड़ सुन्दर हो।" अष्टछापके कवियोंने ऐसे गीत लिखे हैं। विवाहोत्सवके समयके लिए भी विशेष प्रकारके गीत हैं। इनका एक प्रकार जोग है—"जाहि जोगे धिया हमार बससुना जोगिया हम लाइवना" तुलसीदासने विवाहोत्सव सम्बन्धी गीत लिखे हैं। राष्ट्रीय नवजागरणके कारण कुछ नये उत्सवोंका विधान हुआ और स्वतन्त्रताप्राप्तिके कारण नये उत्सवोंको मान्यता मिली है। स्वतन्त्रता-दिवसके उपलक्ष्यमें गाये जानेवाले उत्सवगीत अधिक लिखे गये हैं। प्रगतिवादियोंने 'मे डे'के सम्बन्धमें गीत लिखे हैं, जिनमें जनान्दोलनकी सफलताकी महत्ता प्रतिपादित की गयी है। नये उत्सवोंके विधानसे नये उत्सव-गीतोंकी रचना सम्भव होती है। —रा० खे० पा०

उत्साह—वीर रसका स्थायी भाव उत्साह है। 'नाट्यशास्त्र' (७ : २० ग)में लिखा है—"उत्साहो नाम उत्तमप्रकृतिः स चाविषादशक्तिधैर्यशौर्यत्यागादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्य धैर्यत्यागारम्भवैशारद्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।" अर्थात् उत्साह उत्तम प्रकृतिके व्यक्तियोंसे सम्बद्ध है। यह विषादका अभाव (अविषाद) शक्ति, धैर्य, शौर्य, दानशीलता (त्याग) इत्यादि विभावोंसे उत्पन्न होता है तथा धैर्य, दान-शीलता, किसी कार्यके आरम्भकी प्रगल्भता (ढिठाई) इत्यादि अनुभावोंसे व्यंजित होता है। बादके श्लोकमें बताया गया है कि उत्साह प्रयत्नमूलक (व्यवसायात्मक) है तथा असम्मोह, अर्थात् जागरूकता इत्यादि गुणोंसे विकसित होता है।

'अमरकोष'में उत्साहको 'अध्यवसाय'का पर्याय कहा है तथा असाध्य-साधनमें नियोजित होनेपर इसकी संज्ञा 'वीर्य' बतायी गयी है। 'साहित्यदर्पण'में "कार्यके करनेमें स्थिरता तथा उत्कट आवेश (संरम्भ)"को उत्साह कहा गया है (३ : १७८); 'रसगंगाधर'में पण्डितराजका कथन है कि "जिसकी, शत्रुके पराक्रम तथा किसीके दान आदिके स्मरण-से उत्पत्ति होती है तथा जिसका नाम उन्नतता है, उसे उत्साह कहते हैं।"

उत्साहकी उपर्युक्त परिभाषाओंसे उसके स्वरूपका निश्चय किया जा सकता है। "वह मनकी एक प्रयत्नमूलक उल्लास-पूर्ण वृत्ति है, जिसके द्वारा मनुष्य उत्कट आवेशके साथ किसी कार्यको करनेमें प्रवृत्त होता है तथा जिसकी अभिव्यक्ति शक्ति, शौर्य एवं धैर्यके प्रदर्शनमें होती है।" यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि उत्साहमें साहसका भाव भी अन्तर्निहित है, लेकिन जो तत्त्व उसे कोरे साहससे पृथक करता है, वह है उसकी चेतन उल्लासपूर्णता। इसीलिए रामचन्द्र शुक्ल उत्साहको 'साहसपूर्ण आनन्दकी उमंग' बताते हैं। इस सम्बन्धमें उल्लेखनीय यह है कि मनोविज्ञा-नियोंने उत्साहको प्रधान भावोंमें परिगणित नहीं किया है, क्योंकि इसमें आलम्बन एवं लक्ष्य उतने स्थिर एवं परिस्फुट नहीं होते, जैसे अन्य भावोंके। लेकिन आचार्योंने इसे प्रधान भाव इसलिए माना है कि "आश्रय या पात्रमें उसकी व्यंजना द्वारा श्रोता या दर्शकको ऐसा विविक्त रसानुभव होता है, जो और रसोंके समकक्ष है" (र० मी०, पृ० १८५)।

गर्व, धृति, दया, हर्ष, मति, आवेग इत्यादि भाव उत्साहके संचारी हैं। उदा०—"तू मौन त्याग कर सिंहनाद, रे तपी! आज तपका न काल। नवयुग शंखध्वनि जगा रही, तू जाग, जाग मेरे विशाल" (दिनकर)। उत्साह भावकी व्यंजना है, लेकिन स्थायीकी पुष्टि नहीं हो सकी है, क्योंकि वैसा तो रस-परिपाकमें ही सम्भव है। —र० ति०

उदात्त १—एक प्राचीन गूढार्थप्रतीतिमूलक अर्थालंकार। यह अलंकार रुद्रटके 'काव्यालंकार'में दिये 'सार' और उसपर ही आश्रित रुय्यकके 'अलंकारसर्वस्व'के 'उदार' अलंकारसे भिन्न है। इतिहासकी दृष्टिसे यह बहुत प्राचीन अलंकार है। दण्डी, भट्टि, भामह एवं उद्भटने इसका उल्लेख किया है। मम्मटने 'काव्यप्रकाश'में और उनका अनुकरण कर विश्वनाथने 'साहित्यदर्पण' (१० : ९४)में इस अलंकारका उल्लेख कर दो प्रकारका उदात्त बताया है। अप्पय दीक्षितने 'कुवलयानन्द'में जयदेवके 'चन्द्रालोक'के आधारपर इसे स्वीकार किया है। मम्मटने उदात्त अलंकारकी परिभाषामें बताया है कि किसी भी वस्तुकी समृद्धि तथा महान् व्यक्तियों-को उस समृद्धिका सहायक माननेसे यह अलंकार होता है (का० प्र०, १० : ११५)। उत्कर्षरूपसे किसी पदार्थका ग्रहण करना, उदात्त पदका यौगिक अर्थ है।

हिन्दीके आचार्योंने प्रायः जयदेव तथा अप्पय दीक्षितके आधारपर स्वीकार किया है और इसके दो भेद माने हैं। प्रथम—'संपतिको अधिकार जो' (ल० ल०, ३७७) या 'अति संपति बरनन' (शि० भू०, ३३७)। उदा०—"लाल करै प्रात तहाँ नीलमनि करै रात, याही भाँति सरजाकी चरचा करत हैं" (वही, ३३८) अथवा—"कामतरु विपिन कदम्ब उपवन सीरो, सुरभि पवन डोलै मृदु-सी गवन मैं।" (ल० ल०, ३७९)। द्वितीय—वर्णनीय अर्थमें महापुरुषोंके अंगभाव होनेका वर्णन—'अरु उपलक्षण और' (ल० ल०, ३७७) अथवा—'जहँ उपलच्छन बड़ेनको' (का० नि० : ११)। उदा०—"करत भये जाके तरे, राधा कृस्न बिहार। सो न होइ क्यों तरुनको बंसीबट सिगार" (पद्मा०,

२६७), अथवा—"निकसत जीवहि बाँधिकै तासौ राखति बाल। जमुना तट वा कुंजमें, तुम जु दई बनमाल।" (ल० ल०, १८०)। इन उदाहरणोमे राधाकृष्णके विहारसे तथा कृष्णके द्वारा दी जानेके कारण वंशीवट तथा वनमालके उत्कर्षका वर्णन है। —ज० कि० व०

उदात्त (sublime) **२**—अंग्रेजी शब्द 'सबलाइम'का हिन्दी रूपान्तरण। पाश्चात्य साहित्यमे सौन्दर्यशास्त्रके साथ इस शब्दावलीपर भी एक दीर्घकालीन परम्परासे विचार होता चला आ रहा है। इस तत्त्वका सर्वप्रथम विचारक लोंजाइन्स है, जिसने 'पेरिइप्सुस' ग्रन्थ काव्यके उदात्त तत्त्वके प्रतिपादनके लिए ही लिखा था। इसके अनुसार उदात्त तत्त्व शैलीका महत्तम गुण है, जो विभिन्न व्यंजनाओंके माध्यमसे किसी व्यक्तित्व या घटनाके रोमांसिक, आवेशपूर्ण एवं भयंकर तत्त्वको प्रगट करनेके लिए प्रयुक्त होता है। अरस्तूने अपने विरेचन सिद्धान्त (दे०)के अन्तर्गत उदात्तको उसके सर्वाधिक सहायक तत्त्वके रूपमें स्वीकार किया है। पाश्चात्य कला समीक्षकोमें हीगेल, कांट, ब्रेडलै, कैरेट, ब्रुक, वाल्टरपेटर, सांटायना, वोसाँके, युंग आदिने इस विषयका अच्छा विवेचन किया है।

कांट (एस्थेटिक)के अनुसार अध्यात्म स्फूर्ति ही उदात्तका सार या तत्त्व है। यह सौन्दर्यकी अनुभूतिको सुखकर एवं तृप्तिप्रद बनाकर उदात्तकी अनुभूतिके स्तर तक ले जाता है। फलस्वरूप वह सौन्दर्यचेतना आध्यात्मिक सन्तोषके समकक्ष पहुँच जाती है। उसके अनुसार भार, संकोच, स्फूर्ति एवं अन्तर्वोध इसके मूल तत्त्व है। किन्तु कांटमत कलाकी अपेक्षा अध्यात्मके अधिक निकट है। कलाकी उदात्त वृत्तियाँ मात्र आध्यात्मिक नहीं होतीं। ब्रैडले (ऑक्सफोर्ड लेक्चर्स ऑन पोएट्री) उदात्तके अन्तर्गत भय, रोमांच, अन्तश्चमत्कार एवं आन्तरिक आह्लादपूर्ण वृत्तियोको प्रधान मानता है। वह कहता है कि जब हम उदात्त शब्दका प्रयोग करते हैं तो इसका तात्पर्य केवल यह है कि हम सौन्दर्यबोधको विस्तार दे रहे है। उसने उदात्तको अधिक स्पष्ट करनेके लिए सौन्दर्यके विभिन्न स्तरोके सूचक पाँच शब्दोंका प्रयोग किया है—सबलाइम, ग्रैण्ड, ब्यूटीफुल ग्रेसफुल तथा प्रेटी। ब्यूटीफुल (सुन्दर)को मध्यमान मानकर उसने उससे उत्कृष्ट भावनाको क्रमशः ग्रैण्ड एवं सबलाइम तथा निम्नतर भावबोधको ग्रेसफुल तया प्रेटी कहा है। उसके अनुसार 'उदात्त' कलाबोधका उच्चतम गुण है, जब कि प्रेटी निम्नतम। ब्रैडलेने ब्रुक आदिकी उन एकांगी धारणाओंका खण्डन किया है, जिनके अनुसार इसे भयका त्रासद तत्त्व माना गया है। उदात्तके सम्बन्धमें युंगकी धारणा महत्त्वपूर्ण है। उसके अनुसार "ससीमबंधनग्रस्त मानव व्यक्तित्वमें असीम और अनन्त तत्त्वके उदयसे अनन्त वेदना और अनन्त आनन्द का सामयिक अनुभव होता है। यही अनुभव उदात्तका अनुभव है।" डॉ० हरद्वारीलाल शर्माने भारतीय साहित्यमें प्रयुक्त उदात्त तत्त्वकी व्याख्या अपनी 'सौन्दर्य शास्त्र' नामक पुस्तकमें की है। उनके अनुसार "ब्रह्मलय वैराग्यकी चरम भूमि है और साथ ही अनन्तवेदना जो वैराग्यसे उत्पन्न होती है, इस चरमभूमिमें पहुँचकर अनन्त आनन्दको उत्पन्न करती है। यही उदात्तकी अनुभूति है"। हिन्दी वैष्णव भक्त कवियोंमें उदात्तकी अनुभूति अपने उत्कृष्ट रूपमें मिलती है। उनके लीला वर्णनमें सुन्दरसे कहीं अधिक अभिव्यक्ति इस तत्त्वकी हुई है। किन्तु इस दिशामें अभी इनका अध्ययन नहीं हुआ है।

[सहायक ग्रन्थ—सौन्दर्यतत्त्व : सुरेन्द्रनाथदास गुप्त, अनु० आनन्द प्रकाश दीक्षित; काव्यमें उदात्त तत्त्व : सं० डॉ० नगेन्द्र; सौन्दर्य शास्त्र : डॉ० हरद्वारीलाल शर्मा; आक्सफोर्ड लेक्चर्स आन पोएट्री—डॉ० ए० सी० ब्रैडले।] —यो० प्र० सि०

उदारता गुण—दे० 'गुण', आठवॉ प्रकार।

उदारवाद—इस शब्दका अंग्रेजी पर्याय 'लिबरलिज़्म' है। यह एक विशिष्ट सामाजिक और राजनीतिक दृष्टिकोणका प्रतीक है, जो व्यक्ति और समाजके बीच समन्वय स्थापित करनेका प्रयास करता है। इस दृष्टिकोणके अनुसार न तो व्यक्ति आत्मनिर्भर है और न तो समाज ही निरंकुश है। व्यक्ति और समाज एक-दूसरेके पूरक है और दोनो अपनी निःसंगतामें अधूरे है।

उदारवादका विकास आधुनिक युगकी सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियोंके अन्तर्गत हुआ है। किन्तु इसका स्वरूप प्राचीन ग्रीक दर्शन और मध्यकालीन राजनीतिक विचारोंमें भी दीख पड़ता है। ग्रीक विचारक अरस्तू और मध्ययुगीन ईसाई विचारक सेण्ट टामस एक्वीनासके राजनीतिक विचार उदारवादी परम्पराका निर्माण करते है। इस परम्पराको आधुनिक युगकी परिस्थितियोने और प्रोत्साहन दिया। १६वी शताब्दीमें राष्ट्र राज्योंकी स्थापनाके पश्चात् यूरोपमें राजाओंकी निरंकुशताके विरुद्ध सैद्धान्तिक प्रतिक्रियाएँ होने लगी। इन प्रतिक्रियाओको अनुबन्ध सिद्धान्तमें मूर्त रूप प्राप्त हुआ। उदारवादका सर्वप्रथम आधुनिक रूप अनुबन्धवाद है। अनुबन्धवाद राज्यको कृत्रिम मानता है। यदि राज्य कृत्रिम है तो किसी उद्देश्यको ही लेकर इसकी रचना की गयी होगी। अनुबन्धवादियोंका इस बातमें मतभेद है कि राज्य किन उद्देश्योंको लेकर बनाया गया है। लेकिन इतना सब मानते है (रूसो और बर्कको छोड़कर) कि राज्य नैसर्गिक संस्था नहीं है। अनुबन्धवाद मूलतः राज्यकी निरंकुशतापर प्रहार करता है। इस सम्बन्धमें हॉब्सका अनुबन्धवाद एक अपवाद अवश्य है। केवल इस अपवादके अतिरिक्त जितने भी अनुबन्धवादी राज्यको कृत्रिम संस्था मानते है, वे सभी व्यक्ति और समाजके अधिकारोमें सन्तुलन चाहते हैं। लॉकका अनुबन्धवाद पूर्ण रूपसे इंग्लैण्डमें उदारवादी परम्पराका सूत्रपात करता है। कालान्तरमें जब अनुबन्धवाद अनैतिहासिक और अमनोवैज्ञानिक सिद्ध कर दिया गया तो अनुबन्धवाद और उदारवादका यह गठबन्धन टूट गया। उदारवादको इस परिस्थितिमें नयी प्रतिष्ठा प्रदान की गयी। उसको मनोविज्ञान और उपयोगितावादका आधार प्राप्त हुआ। किन्तु उदारवादकी राजनीतिक और सामाजिक मान्यताओंमें परिवर्तन नहीं हुआ।

उदारवादके दो मूल प्रकार हैं। पहला आर्थिक और दूसरा सामाजिक। आर्थिक उदारवाद 'यद्भाव्यम्' नीति

अर्थात् 'लैसे फेयर' सिद्धान्तका प्रतिपादन करता है। इस सिद्धान्तके अनुसार निसर्गने आर्थिक क्षेत्रमें मनुष्यके व्यक्तिगत स्वार्थोंमें प्राकृतिक एकरूपताकी स्थापना की है। प्राकृतिक एकरूपता होनेके नाते राज्य या किसी और बाहरी शक्तिकी आवश्यकता नहीं होती कि वह आर्थिक क्षेत्रका संचालन करे। मुक्त प्रतियोगिता और व्यापार-स्वतन्त्रता इस सिद्धान्तकी तार्किक संगतियाँ है। पूँजीवादके आरम्भिक चरणोंमें आर्थिक उदारवादका प्रचलन होता रहा, किन्तु धीरे-धीरे पूँजीवादी परिस्थितियोंने आर्थिक परिस्थितियोंमें राज्योंके हस्तक्षेपको अनिवार्य बना डाला। १९वीं शताब्दीके अन्तिम दो दशकोंमें आर्थिक उदारवादकी परम्परा टूटने लगी। अमेरिकामें इस परम्परापर प्रहार २०वीं शताब्दीमें प्रथम महायुद्धके पश्चात् हुआ।

राजनीतिक उदारवाद जनतन्त्रका आरम्भिक रूप है। पूर्ण जनतन्त्र इसे नहीं कह सकते, क्योंकि पूर्ण जनतन्त्र समष्टिको ही अधिकारों और शक्तिका केन्द्रबिन्दु मानता है। इस प्रकार राजनीतिक दृष्टिसे उदारवाद अर्द्ध-जनतन्त्र है। इसके अनुसार व्यक्तिके सुख और उद्देश्य वांछनीय हैं। इन्हीं सुखों और उद्देश्योंके लिए समाज और राज्यकी रचना हुई है। अतः समाज और राज्यकी प्रकृतिमें यह नहीं है कि वह व्यक्तिपर अनावश्यक अधिकारका प्रयोग करे। जहाँतक सामाजिक जीवनके लिए आवश्यक है वहींतक व्यक्तिपर राज्यका अंकुश है। राज्यका संचालन समाजके हाथमें होना चाहिये ताकि राज्यका प्रयोग समाजके हितमें हो सके। यह उदारवादी सिद्धान्त पूर्ण जनतन्त्र और पूर्ण व्यक्तिवादके मध्यमें स्थित है। धीरे-धीरे जब २०वीं शताब्दीमें समष्टिवादी परम्पराएँ सशक्त होने लगी तो राजनीतिक उदारवाद शिथिल हो गया।

ब्रिटिश शासनके समय भारतवर्षमें भी उदारवादकी लहर दौड़ी। कांग्रेसके प्रारम्भिक नेतागण उदारवादसे अत्यन्त प्रभावित थे। तत्कालीन साहित्यपर भी इस विचार-धाराकी छाप दिखाई देती है। छायावादी काव्य तथा प्रारम्भिक हिन्दी उपन्यासोंकी पृष्ठभूमिमें उदारवादकी भावनाको स्पष्ट देखा जा सकता है। —रा० कु० त्रि०

उदाहरण–गम्यौपम्य आश्रय वाक्यगत अर्थालंकार, जो दृष्टान्त अलंकारसे मिलता-जुलता है। कोई साधारण बात कहकर 'ज्यों', 'जैसे' इत्यादि वाचक शब्दों द्वारा किसी विशेष बातसे जहाँ समता दिखाई जाती है, वहाँ उदाहरण अलंकार होता है। उदा०—"यों रहीम जस होत है, उपकारीके संग। बाँटनवारेकै लगै, ज्यों मेंहदीको रंग" (रहीम)। भगवानदीनके अनुसार "दृष्टान्त अलंकारमें कवि-का मुख्य लक्ष्य उपमान वाक्य (उत्तरार्द्ध भाग)पर होता है, उदाहरण अलंकारमें कविका मुख्य लक्ष्य उपमेय वाक्य (पूर्वार्द्ध भाग)पर होता है, उत्तरार्द्ध केवल बानगीके तौरपर आता है।" अर्थान्तरन्यासमें साधारणका विशेषसे और विशेषका साधारणसे समर्थन होता है, परन्तु दृष्टान्तमे साधारणकी समता साधारणसे और विशेषकी समता विशेषसे की जाती है। —ओ० प्र०

उद्घात्यक–यह रूपकगत **प्रस्तावना**का एक भेद है। अप्रतीतार्थक पदोंके अर्थकी प्रतीति करानेके लिए जहाँ और पद साथमें जोड दिये जायँ, वहाँ उद्घात्यक होता है। 'मुद्राराक्षस'में **सूत्रधारने** ग्रहणके सम्बन्धमें ज्यों ही कहा कि 'क्रूर ग्रह केतु यद्यपि पूर्ण चन्द्रमण्डलका पराभव करना चाहता है" त्योंही **नेपथ्यसे** आवाज आयी कि "अरे मेरे जीते कौन चन्द्रगुप्तका पराभव करना चाहता है।" यहाँ **सूत्रधारका** अभिप्राय चन्द्रगुप्तसे नहीं है पर नेपथ्यसे चाणक्यने 'चन्द्र'के साथ 'गुप्त' आदि पद जोडकर उसे अन्य अर्थ दे दिया है। यहाँ चाणक्य सूत्रधार-का अभीष्ट नहीं समझता है, वह उसे अपने ढंगसे ग्रहण करता है। क्रूर ग्रहका तात्पर्य वह अमात्य राक्षस समझता है। —व० सि०

उद्दीपक हाव–दे० 'स्वभावज अलंकार', इक्कीसवाँ।

उद्दीपन विभाव–विभावका सर्व-स्वीकृत भेद। विश्व-नाथके शब्दोंमें–"उद्दीपनविभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये। आलम्बनस्य चेष्टाद्याः देशकालादयस्तथा" (सा० द०, ३ : १३१), अर्थात् रसको उद्दीप्त करनेवाली आलम्बनकी चेष्टादि तथा देशकालकी स्थितियाँ उद्दीपन विभाव हैं। देवके अनुसार भी—"रसहि जगावे दीप ज्यों उद्दीपन कहि सोइ" (भा० वि०, विभाव)। आश्रयके हृदयमें उत्पन्न रति आदि स्थायी भावोंको अधिकाधिक उद्दीप्त तथा तीव्र करनेवाला कारण उद्दीपन विभाव कहलाता है। आलम्बनकी चेष्टा तथा देश, काल आदिको उद्दीपन विभाव माना जाता है। रसके अनुसार उद्दीपन पृथक्-पृथक् होते हैं। शारदातनयने प्रत्येक रसके अनुसार उद्दीपनका वर्गीकरण करते हुए उसके क्रमशः ललित, ललिताभास, स्थिर, चित्र, रूक्ष, खर, निन्दित तथा विकृत नामसे आठ भेद बताये हैं। ललित मनको आह्लादित करते हैं और तत्तदिन्द्रियसे गोचर होते हैं। यह शृंगार रसके उत्कर्षक होते हैं। सूचित, दृष्ट या स्मृत हासकारक विभाव ललिताभास कहलाते हैं। इसी प्रकार श्रुत, दृष्ट तथा स्मृत विभाव यदि स्थिरता देनेवाले हों तो वीर रसके उद्दीपक होते हैं। जिनका अनुभव सदा हृदयमें विचित्रताका अनुभव उत्पन्न करता है, वे अद्भुत रसके ऐश्वर्य-भावक चित्र नामक विभाव कहलाते हैं। करुण रसके उद्दीपक कष्टदायक होनेके कारण रूक्ष कहे जाते हैं। कातरता उत्पन्न करनेवाले विभाव खर कहलाते है और रौद्रके उद्दीपक होते है। जिन्हे देखकर आँखे बन्द कर लेनी पड़ती है और जिनकी ओर मन प्रवृत्त नहीं होता वे वीभत्सको उद्दीपित करनेवाले विभाव निन्दित और विकृति उत्पन्न करनेवाले भयानकके उद्दीपक विभाव विकृत कहलाते है।

सखा, (दे०) सखी, (दे०) चन्द्र, चन्द्रिका, दूती, (दे०) उनके वचन, षड्ऋतु, पुष्प आदि शृंगार रसके उद्दीपक माने गये है (देव : भा० वि०, विभाव)। प्रतापरुद्रयशोभूषण-में शृंगारतिलकके आधारपर आलम्बनके गुण, उसकी चेष्टा, उसके अलंकरण तथा तटस्थ, ये चार प्रकारके उद्दीपन माने हैं, जिनमें रूपयौवनादि गुण, यौवनोद्भूतहावभावादि उसकी चेष्टाएँ तथा नूपुरअङ्गहारादि उसके अलंकरण आलम्बनगत या अविच्छिन्न माने जाते हैं और मलयानिल, चन्द्रादि तटस्थ (पृ० १५९)। इन्हे क्रमशः विषयगत तथा स्वतन्त्र भी कह सकते है। तटस्थ, आलम्बनमे बाहरी परि-

स्थितिके कारण ही सम्बन्ध रखते हैं और विषयके अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं। वातावरण सापेक्ष वर्णनके अवसरपर यही उद्दीपक कहलाते हैं और अन्य निरपेक्ष अवस्थामें आलम्बनका स्वरूप धारण कर सकते हैं। ये उद्दीपन देशकालानुसारी होकर प्रभावशाली होते हैं। गर्मीमें उशीरकी शीतलताका वर्णन प्रभावकर हो सकता है, सर्दीमें नहीं। इन सभी उद्दीपनोंका निर्वाह हिन्दीमे आधुनिक कालतक परम्परा-पालनके रूपमें होता आया है। आधुनिक कालमें कवियोंकी दृष्टि रसके अवयवोंकी पूर्तिकी ओर नहीं रहती और आलम्बन भी बहुत-कुछ बदल गये है, अतः शृंगार रसमें दूती, सखी आदिका तिरस्कार हो चुका है और आन्तरिक भावोंकी छटा ही विशेष दीख पड़ती है। शेषमें उद्दीपनोंका रूप-परिवर्तन लक्षित नहीं हुआ है। —आ० प्र० दी०

उद्देश्य—कथात्मक साहित्यके छः तत्त्वोंमेंसे अन्तिम तत्त्व, जिसमें लेखककी उस सामान्य या विशिष्ट जीवनदृष्टिका विवेचन होता है, जो उसकी कृतिमें कथावस्तुके विन्यास, पात्रोंकी योजना, वातावरणके प्रयोग आदिमें सर्वत्र निहित पायी जाती है। इसे लेखकका जीवनदर्शन अथवा उसकी जीवनदृष्टि, जीवनकी व्याख्या या जीवनकी आलोचना कह सकते हैं। उन कृतियोंको छोड़कर जिनकी रचनाका उद्देश्य मनबहलाव या मनोरंजन मात्र होता है, सभी कलाकृतियोंमें लेखककी कोई विशेष विचारधारा प्रकट या निहित रूपमें देखी जा सकती है। बिना इसके साहित्यिक कृतित्व प्रयोजनहीन और व्यर्थ होता है (दे० 'उपयोगी साहित्य', 'उपन्यास')। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि यदि किन्हीं कृतियोमे कथात्मक साहित्यका यह तत्त्व नहीं पाया जाता, भले ही वे कृतियाँ महत्त्वहीन हो, तो इसे अनिवार्य तत्त्व क्यों कहा जाये? इसका उत्तर यह है कि जिन कृतियोंमें इस तत्त्वके अभावकी बात कही गयी है, उनमें भी वस्तुतः इसका अभाव नहीं होता, केवल लेखककी दृष्टिमें कोई मौलिकता या कोई गम्भीरता नहीं होती। वह सर्वसाधारणकी जीवनदृष्टि ही उपस्थित करता है, जो नगण्य होती है। अपनी जीवनदृष्टि वही लेखक उपस्थित कर सकता है, जो विचारक भी हो। आधुनिक विचारकोंमें अनेक ऐसे हैं, जिन्होंने कथात्मक कृतियाँ, विशेषकर उपन्यासके माध्यमसे अपने दृष्टिकोणको उद्देश्यके रूपमें प्रकट किया है। —सं०

उद्भटकी वृत्तियाँ—दे० 'वृत्ति'।

उन्मनी—खेचरी, भूचरी आदि हठयोगकी पाँच मुद्राओंमेंसे एक। इसमें दृष्टिको नाककी नोकपर गड़ाते है और भौंको ऊपर चढ़ाते हैं। गोरख, कबीर आदिने उन्मनीकी साधनाको साधकके लिए बहुत उपयोगी माना है—"तूटी डोरी रस कस बहै। उन्मनी लागा अस्थिर रहै। उन्मनी लागा होइ अनन्द। तूटी डोरी बिनसै कन्द" (गोरखबानी)। साधारण अर्थ है अन्यमनस्क, संसारसे निर्लिप्त, अनमना—"हँसै न बोलै उन्मनी चंचल मेल्या मार। कह कबीर अन्तर बिधा सतगुरका हथियार" (कबीर सा० सं०)। —उ० शं० शा०

उन्माद—प्रचलित तैंतीसमेंसे एक संचारी भाव। चित्तमें विप्लव होनेको उन्माद कहते हैं। भरतने इसके कई विभाव दिये है, जैसे प्रियजनका विरह, सम्पत्ति इत्यादिका नाश, वात, पित्त, श्लेष्म आदिका प्रकोप। इसके अनुभाव तो अनेक है, जैसे अकारण हँसना, रोना, चिल्लाना, अल्ल-बल्ल बकना, कभी लेटना, कभी बैठना, कभी उठकर भाग खड़ा होना, नाचना, गाना, जोरसे पढने लगना, धूलमें लोटना फटे-पुराने कपड़े पहनना, तिनकों एवं मुरझाये फूलों और घडा, कपाल तथा सकोरोंको आभरणरूपमें पहनना, इत्यादि (नाट्य०, ७, ८४ ग)। इसमे वात-पित्त-श्लेष्मके प्रकोपसे प्रेरित हो कदाचित् दशरूपककारने 'सन्निपातग्रहादि'को भी इस संचारीका कारण बताया है, पर यह अंश व्याधिमें भी है। विश्वनाथने—'कामशोकभयादि'से 'चित्तसम्मोह'को माना है।

हिन्दीके रीतिकालके आचार्योंने "प्रिय वियोगतें जहँ बृथा बचनन लाय बिखाद" (भाव० : संचारी) अथवा 'अविचारित आचरन जो' (जगत०, ५५९)को 'उन्माद' संचारी कहा है। देव और पद्माकरके इन लक्षणोंमें भावात्मक पक्षपर अधिक बल है। पद्माकरकी विरहिणी नायिकाकी दशा 'उन्माद' संचारीके साथ अंकित है—"छिन रोवति छिन हँसि उठति, छिन बोलत छिन मौन। छिन छिनपर छीनी परति भई दशा धौं कौन" (जगत०, ५६१)। इसी प्रकार 'हरिऔध' एक गोपीकी मनःस्थितिको चित्रित करते हैं—'आके जूही निकट फिर यों बालिका व्यग्र बोली। मेरी बातें तनिक न सुनीं पातकी पाटलोंने। पीड़ा नारी-हृदयतलकी नारि ही जानती है। जूही! तू है विकचवदना, शान्ति तू ही मुझे दे" (प्रि० प्र०)। इसके उदाहरणोंसे तो प्रायः प्रियजन-विरहमें इस भावका प्रदर्शन मिलता है, जैसे 'दशरूपक'में उर्वशीके अन्तर्धान होनेपर विक्रमकी अवस्था।

अनेक अनुभावोंके कारण रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र और शारदातनयने उनकी व्याख्या कर उनका मनुष्यप्रकृतिकी दृष्टिसे वर्गीकरण कर दिया है। नाट्यदर्पणकारोंने तो कहा है —"उन्माद उत्तम प्रकृतिके व्यक्तियोंमें विप्रलम्भकी अवस्थामें और अधम प्रकृतिके व्यक्तियोंमें करुणकी अवस्थामें व्यभिचारी होता है" (ना० द०, पृ० १८३)। इसको अपस्मारसे भिन्न बताते हुए कहा है कि अपस्मार वीभत्स एवं भयानकमें होता है, वह तो 'मनोवैकल्य' है और उन्माद 'मनोऽनवस्थिति', और यही दोनोंमें भेद है। शारदातनयके अनुसार ज्येष्ठ वर्गके मनुष्योंमें इष्टके विरहमें, मध्यममें इष्टका नाश होनेसे और नीचोंमें धननाश इत्यादिसे यह भाव उद्बुद्ध होता है (भा० प्र०, पृ० २४)। परन्तु अनुभावोंका वर्गीकरण नहीं किया गया। हमारे विचारमें उन्माद विप्रलम्भ शृंगारमें ही प्रधानतया दृष्टिगोचर होता है। —ज० कि० ब०

उन्मीलित—लोकन्यायमूल अर्थालंकार, जिसमें एक वस्तुका दूसरी वस्तुमें निलय हो जानेपर भी किसी कारणवश उसकी पृथक्ताकी प्रतीति होने लगती है। यह मीलित अलंकारके ठीक विपरीत है। इस अलंकारमें दो पदार्थोंके समान धर्मोंमें भेद न होनेपर भी किसी विशेष कारणवश भेदकी प्रतीति की जाती है। सर्वप्रथम जयदेवने इसको माना है। मम्मटने इस स्थितिको 'सामान्य'में स्वीकार किया है। 'उद्योत'में स्पष्ट किया गया है—

"अभेदकी प्रतीति जब हो चुकी है, तब उसका अभेद दूर कैसे हो सकता है" अप्पय दीक्षितके आधारपर हिन्दीमें जसवन्तसिंहने 'भाषा-भूषण'में इसको स्वीकार किया है। भेद खुलनेका उल्लेख मतिराम, पद्माकर आदिने किया है। भूषणकी परिभाषा अधिक स्पष्ट है—"सदृश वस्तुमे मिलत पुनि जानत कौनेहु हेत" (शि०भू०, ३०३)। दासने मीलितमें 'कुछ भेद ठहराय' कहकर काम चलाया है।

बिहारीका उदाहरण वैचित्र्यका सुन्दर उदाहरण है—"मिलि चन्दन बेंदी रही, गोरे मुख न लखाय। ज्यों-ज्यों मद-लाली चढ़ै, त्यों-त्यों उघरत जाय" (सतसई, १८०)। गौरांगी नायिकाके भालपर लगी चन्दनकी बेंदीका भेद मद-लालीके कारण प्रतीत हुआ है। मतिरामने कोमल कल्पनाका परिचय दिया है—"सरद चाँदनीमे प्रगट, होत न तियके अंग। सुनत मंजु मंजीर धुनि, सखी न छोड़ति संग" (ल० ल०, ३४६)। तुलसीदासने 'बरवै रामायण'मे इसका सुन्दर प्रयोग किया है—"चम्पक हरवा अँग मिलि, अधिक सुहाय। जानि परै सिय हियरे, जब कुम्हिलाय"।

हिन्दी काव्यशास्त्रमे इस अलंकारपर अधिक विचार नहीं किया गया है। नायिकाओंके कोमल सौन्दर्य-वर्णनमे इसका विशेष प्रयोग हुआ है। बिहारीने इस अलंकारके प्रयोगमे विशेषता प्राप्त की है। —वि० स्ना०

उपकार्योपकारकवक्रता—दे० 'प्रकरणवक्रता', तीसरा नियामक।

उपक्षेपक—दे० 'अर्थोपक्षेपक'।

उपग्रहवैचित्र्यवक्रता—दे० 'पदपरार्धवक्रता', छठा प्रकार।

उपचारवक्रता—दे० 'पदपूर्वार्धवक्रता', दूसरा प्रकार।

उपचेतन—(subconscious)—यह स्वीकार करनेके बाद कि मानसका एकमात्र पक्ष चेतन ही नही है, वरन् उसके अन्य पक्ष भी है—उन चेतनेतर पक्षोके नामादिके बारेमें कुछ मतभेद मिलता है। उपचेतन (अथवा अवचेतन)की कई धारणाएँ मनोविज्ञानमें प्रचलित हैं और उन सभीका प्रभाव आधुनिक साहित्यमे दिखाई पड़ता है। उपचेतनके विषयमें सबसे अधिक प्रचलित दृष्टिकोण यह है कि मानसका यह पक्ष चेतन और अचेतन दोनोसे भिन्न बीचकी एक अवस्था है। जेम्सके अनुसार साधारणतः हम व्यक्त चेतनाको दो भागोंमे विभाजित कर सकते है—केन्द्रीय भाग और सीमान्त भाग अथवा चेतनाकी कोर। सीमान्त भाग या चेतनाकी कोरका ही नाम उपचेतन अथवा अवचेतन है। इस भागमें वे विचार, भाव और अनुभव रहते है जिनके विषयमें हमें अभी, इस स्थलपर तो कोई ज्ञान नहीं है, पर चेष्टा करते ही हमे उनका ज्ञान हो सकता है। जैसे साहित्य पढ़ते समय गणितका हमारा ज्ञान उपचेतनमें रहता है और जब हम गणितकी ओर ध्यान देते है तो साहित्यका ज्ञान उपचेतनमें आ जाता है।

मनोविश्लेषणमें 'उपचेतन' मानसका अधिक महत्त्व नही है, वहाँ चेतन और अचेतन ही मानसके दो महत्त्वपूर्ण भाग हैं। किन्तु डॉक्टर मार्टन प्रिन्स, जिनके वर्णित रोगियोंकी समस्याओंसे प्रभावित होकर साहित्यमें अनेक कथाओंका सर्जन हुआ है, उपचेतन (subconscious) शब्दका प्रयोग विस्तृत अर्थमें करते हैं। उनके अनुसार उपचेतनमें अचेतन और समचेतन दोनों पक्ष सम्मिलित रहते है। समचेतनसे उनका अभिप्राय मुख्य ज्ञात चेतनासे साथ अदल-बदलकर आनेवाली, पर मुख्य चेतनासे वियोजित चेतनासे है। यह **खण्डित व्यक्तित्वमें** होता है (दे० 'खण्डित व्यक्तित्व')। —प्री० अ०

उपजाति १—इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्राके चरणोंके मिश्रणसे यह वृत्त बनता है। उपजातिके १४ भेद हैं: 'प्राकृतपैंगलम्' (२:१२१) और उसीके आधारपर भानुके 'छन्द-प्रभाकर' (पृ० १४२)ने। केशव और मैथिलीशरण गुप्तने इसका प्रयोग किया है। उदा०—"परोपकारी बन वीर आओ। नीचे पड़े भारतको उठाओ। हे मित्र त्यागो मद, मोह माया। नही रहेगी यह नित्य काया" (मै० श० गुप्त)। इसमे १, ४ पाद उपेन्द्रवज्राके और २-३ इन्द्रवज्राके हैं। —पु० शु०

उपजाति २—वर्णिक छन्दोंमें मिश्रित वृत्तका एक भेद। केशवने तोटक (४ स, ।। ऽ) और मनोरमा (४ स×२ ल)के योगसे एक नवीन उपजातिका प्रयोग किया है। इसे अर्द्धसम न कहकर मिश्रित छन्द कहा जायगा, क्योंकि दोनो छन्दोंके दो-दो चरण एक साथ प्रयुक्त हुए हैं। उदा०—"सिगरे रणमण्डल माझ गये, अवलोकत ही अति भीत भये। दुहु बालनको अति अद्भुत विक्रम, अवलोकि भयो मुनिके मन सम्भ्रम" (रा० च०, ३९ : ८)। —पु० शु०

उपजाति सवैया—दे० 'सवैया'।

उपदेश-काव्य—दे० 'प्रबोधक काव्य' और 'दृष्टान्त काव्य'।

उपदेशवाद—साहित्यके माध्यमसे उपदेश देनेकी प्रवृत्ति, जिसे अँग्रेजीमे didacticism कहा जाता है। अंग्रेजीमे इस वर्गका साहित्य पर्याप्त मात्रामे मिलता है। हिन्दीका नीतिकाव्य इस वर्गमे सुविधापूर्वक नहीं रखा जा सकता, क्योंकि उसमें उपदेशकी प्रवृत्ति और गहरी तथा बहुत-कुछ साम्प्रदायिक हो गयी है। उपदेशवाद वस्तुतः एक व्यापक साहित्यिक प्रवृत्ति है, जिसे शुद्ध कलात्मक स्तरपर स्पृहणीय नही माना जाता। —रा० स्व० च०

उपनागरिका वृत्ति—दे० 'वृत्ति', पहली।

उपन्यास—यह शब्द उप=समीप तथा न्यास=थातीके योगसे बना है, जिसका अर्थ हुआ (मनुष्यके) निकट रखी हुई वस्तु, अर्थात् वह वस्तु या कृति जिसको पढ़कर ऐसा लगे कि यह हमारी ही है, इसमें हमारे ही जीवनका प्रतिबिम्ब है, इसमें हमारी ही कथा हमारी ही भाषामे कही गयी है। आधुनिक युगमें जिस साहित्यविशेषके लिए इस शब्दका प्रयोग किया जाता है, उसकी प्रकृतिको स्पष्ट करनेमें यह शब्द सर्वथा समर्थ है। यों तो उपन्यास शब्दका प्रयोग प्राचीन संस्कृत साहित्यमें भी है। भरतने 'नाट्यशास्त्र'में इसका उल्लेख प्रतिमुख सन्धिके एक उपभेदके रूपमें करते हुए इसे 'उपपत्तिकृतोह्यर्थः' तथा 'प्रसादनम्' कहा है, अर्थात् किसी अर्थको युक्तिपूर्ण ढंगसे उपस्थित करनेवाला तथा प्रसन्नता प्रदान करनेवाला। अतः यह स्पष्ट है कि उपन्यास हमारे लिए कोई नूतन शब्द नही है और गुणाढ्यकी 'बृहत्कथा', 'पंचतन्त्र', 'बौद्ध जातक कथाओं'-तक मजेमें इसके सूत्रको खींच ले जाया जा सकता है।

अंग्रेजीके नावेलके तत्त्व भी जिसके समानार्थक रूपमें उपन्यास शब्दका प्रयोग किया जाता है, हिरोडोटसमें पाये जा सकते हैं। परन्तु हम दोनोंको एक नहीं कह सकते। उपपत्तिकृतत्व और प्रसादनत्व—इन दोनों मौलिक गुणोंकी रक्षा करते हुए भी उपन्यासने अपने क्षेत्रको इतना व्यापक कर लिया है कि दोनोंमें गुणात्मक अन्तर आ गया है।

उपन्यास आधुनिक युगकी उपज है—उस युगकी जिसका दृष्टिकोण सर्वथा व्यक्तिवादी हो गया है, अराजकताका बोलबाला है, बाहरी दुनियामें तो कम, हमारे आन्तरिक जगत्‌में अधिक। समष्टिको दबाकर व्यक्ति ऊपर उठ आया है। इन्हीं परिस्थितियोंका प्रतिफल हमारा उपन्यास-साहित्य है। इसमें जो लचीलापन है, बन्धन-हीनता है, यह कभी कोई भी रूप धारण कर सकता है। इसका यही कारण है। इसमें मदोन्मत्त साहसिकोंकी कथा रह सकती है, पूरे समाजकी कथा भी रह सकती है। कथानक न भी हो तो भी कोई परवाह नहीं। जीवित मनुष्योंकी कथाकी कोई बात नहीं, कब्रसे भी उठकर मनुष्य आ सकते हैं। अराजकताके युगमें साहित्यिक सुराज कैसे सम्भव हो? इसमे एक दिनकी, एक घंटेकी तथा एक युगकी कथा रह सकती है। एक या अनेक पात्र रह सकते हैं, उपन्यासमें केवल घटनाएँ ही घटनाएँ या केवल दृश्य ही दृश्य हो सकते हैं। कथा एक सर्वज्ञ, तटस्थ, ईश्वरकी भाँति कही जा सकती है, उत्तम पुरुषात्मक रूपसे कही जा सकती है अथवा एक या एकाधिक पात्रोंके सीमित दृष्टिकोणसे कही जा सकती है। साहित्यके जितने रूप-विधान हो सकते हैं, उनमें उपन्यासका रूपविधान सबसे लचीला होता है और वह परिस्थितिके अनुसार कोई भी रूप धारण कर ले सकता है। अंग्रेजीमें जीन आस्टिनकी 'अहंकार और पूर्वाग्रह' (प्राइड एण्ड प्रेजुडिस) जैसी सुसंघटित कथाओं तथा ज्वायसके 'युलिसिस' तथा मार्शल पुस्तके 'ऐसा चर्चे दुताम्येद्रूँ' जैसी उच्छिन्न कथा-प्रवाह वस्तुके लिए नॉवेल शब्दका ही प्रयोग किया जाता है। हिन्दीमें देवकीनन्दन खत्रीकी 'चन्द्रकान्ता सन्तति', प्रेमचन्दके 'सेवासदन' तथा 'अज्ञेय'के 'नदीके द्वीप' सबको उपन्यासके नामसे ही पुकारा जाता है। जो हो, जिस अर्थमें आज हम उपन्यासको समझनेके अभ्यस्त हो गये हैं, उसमें तानाशाही नहीं चल सकती, चाहे लेखककी हो या घटनाओंकी। घटनाएँ कैसी भी हों, लोककी, परलोककी, आकाशकी, पातालकी, पर वे होंगी कार्य-कारणकी श्रृंखलामें आबद्ध, उनमें एक तारतम्य होगा, भले ही वे आन्तरिक तथा सूक्ष्म हों, वे हमारे जीवनके किसी पहलूको अवश्य रोशन करेंगी; घटनाएँ, व्यापारश्रृंखलाएँ और मानव-मन सब पारस्परिक रूपसे एक-दूसरेको स्पष्ट करते चलेंगे। घटनाएँ जीवनके केन्द्रसे निकलकर जीवनके ही रूपोंका प्रकाशन करेंगी। पशु-पक्षी तथा जड़ पाषाण भी पात्रके रूपमे उपस्थित हो सकते हैं, पर उनकी प्रतिक्रियाएँ वही होंगी, जो मानव-हृदयकी होती हैं।

उपन्यास वास्तविक जीवनकी काल्पनिक कथा है। "मैं उपन्यासको मानव-जीवनका चित्रमात्र समझता हूँ। मानव-चरित्रपर प्रकाश डालना और उसके रहस्योंको खोलना ही उपन्यासका मूल-तत्त्व है" (प्रेमचन्द)। "न्यू इंगलिश डिक्शनरी'में उपन्यासकी परिभाषा देते हुए कहा गया है—"बृहत् आकार गद्य आख्यान या वृत्तान्त जिसके अन्तर्गत वास्तविक जीवनके प्रतिनिधित्वका दावा करनेवाले पात्रों और कार्योंको कथानकमें चित्रित किया जाता है"। सब परिभाषाएँ एक ही बातपर जोर देती हैं कि उपन्यासमे मानव-जीवनका प्रतिनिधित्व हो, घटनाएँ श्रृंखलाबद्ध हों, वास्तविकताकी सेवामें नियोजित कल्पना हो।

यदि हम उपन्यासकी तुलना उस साहित्यरूपसे करें, जिसे **रोमांस** कहते है तो उसे समझनेमें कुछ आसानी हो सकती है। साहित्य और जीवनमें चार तरहके सम्बन्धकी कल्पना की जा सकती है—असम्भव, दुर्लभ, सम्भव और सुलभ। **रोमांस** प्रथम दो तरहके सम्बन्धोंपर ही आधारित है, परन्तु उपन्यासने उन्हें सर्वथा त्यागकर शेष दोको ही अपनाया है, उसपर भी अन्तिम सम्बन्धपर उसका विशेष आग्रह है। इसी बातको क्लारा रीवने अपनी पुस्तक 'प्राग्रेस आव रोमान्स'में इस प्रकार लिखा है—"उपन्यास अपने युगका चित्रण करता है। **रोमांस** उदात्त भाषामे उसका वर्णन करता है, जो न घटित है और न घटमान। उपन्यास दैनिक जीवनकी घटनाओंका सम्बन्ध बतलाता है, जो हमारे मित्रों तथा हमारे जीवनमें सम्भव हों। उपन्यासकी सफलता इसमें है कि प्रत्येक दृश्य इस सरलता और स्वाभाविकताके साथ प्रस्तुत हो और उसे इतना सामान्य बनाया जाय कि उसकी वास्तविकतामें विश्वास हो जाय, कमसे कम जबतक हम उसे पढते रहें। यहाँतक कि पात्रोंके सुख-दुःखसे हम वैसे ही प्रभावित हों, मानों वे हमारे अपने ही है"। आधुनिक युगके पूर्व कथासाहित्यके नामपर हमे जो कुछ मिलता है, उसमें बहुत-कुछ **रोमांस** जैसी ही वस्तु है। अतः यह विभेद विशेष द्रष्टव्य है। —दे० रा० उ०

अंग्रेजीके 'नॉवेल'को गुजरातीमें 'नवलकथा', मराठीमे 'कादम्बरी' और बंगला तथा हिन्दीमें उपन्यास कहते हैं। उपन्यास शब्दके हिन्दी विश्वकोश (न० ना० वसु)में इतने अर्थ दिये गये है—(१) वाक्यका उपक्रम या बातका आरम्भ होना, (२) वाक्यका प्रयोग, (३) विचार (विश्वजन्ममिमंपुण्यमुपन्यासं निबोधत—मनु०, ९:३१), (४) प्रस्ताव, (५) दान, (६) उपनिधि, धरोहर, (७) उपकथा, किस्सा। नाट्यशास्त्रमें उल्लिखित प्रतिमुख सन्धिका एक उपभेद भी 'उपन्यास' कहलाता है। परन्तु 'उपन्यास' 'नॉवेल'के लिए इतना रूढ़ हो गया है कि इसके अन्य शाब्दिक अर्थ तथा नाट्यशास्त्रीय अर्थ लुप्तप्राय हो गये है।

नॉवेलकी तरह उपन्यास भी सम्पूर्ण **कथासाहित्य**-(फिक्शन)के लिए सामान्यतः प्रयुक्त होता है, यद्यपि उसके अनेक रूप और प्रकार हैं। यूरोपमें अठारहवीं शतीतक उपन्यास सामान्य **कथा-साहित्य**के लिए प्रयुक्त होकर **रोमांस**को भी अपनी अर्थव्याप्तिमें सम्मिलित कर रहा था। परन्तु रोमांसके अन्तर्गत पद्यबद्ध कथात्मक कृतियाँ भी आ जाती है, जब कि उपन्यास एकमात्र गद्यमें

लिखित कथासाहित्यको कहते है। प्रारम्भमे रोमांस उच्च वर्गकी मर्यादाओं, मूल्यो और प्रवृत्तियोसे सम्बन्धित होता था और उसमे यथार्थसे पलायन करनेकी प्रवृत्ति पायी जाती थी, परन्तु अठारहवीं शतीमे लोकतन्त्रकी शक्तियोंके समाघातमे साहित्यमे उच्चवर्गीय **रोमांस**का स्थान उस कथा-साहित्यने ले लिया, जो मध्यवर्गके यथार्थ जीवन और उसके नैतिकता सम्बन्धी विचारोके अधिक निकट है। जीवनकी यथार्थताके अनुरूप यह कथासाहित्य सदैव गद्यकी भाषा और व्यावहारिक शैलीमें लिखा गया है। अतः आधुनिक उपन्यास साहित्यका एक नया रूप है, जिसने यूनान और रोमकी प्राचीन गद्य-कथाओ, मौखिक रूपमे प्रचलित वीराख्यानो, मध्ययुगीन गद्य-रोमांसों, प्रारम्भिक सूत्रों और इतिहासग्रन्थो तथा बहुत-कुछ पद्य-साहित्यसे भी प्रेरणा, उपकरण और सामग्री ग्रहण करके विकास किया है।

उपन्यासकी परिभाषा देना सम्भव नहीं है, परन्तु व्यापक दृष्टिसे कह सकते है कि यह गद्य-साहित्यका एक अन्यतम रूप है, जिसका आधार कथा है—चाहे वह सीधे मनुष्योंकी हो या मनुष्येतर जीव और निर्जीव प्रकृतिकी अथवा चाहे वह सच्ची हो या कल्पित। उसके उपस्थित करनेमें कल्पनाका प्रयोग आवश्यक है। कुतूहलकी सृष्टि तथा मानवीय मनोवेगोके उद्दीपन द्वारा उसमे रोचकता और किसी नीति या सिद्धान्त सम्बन्धी विचारोंके उत्तेजना द्वारा उसमें गरिमाका समावेश वांछनीय है। प्रारम्भमें उपन्यास केवल कुतूहलको जगाकर मनोविनोद करने तक सीमित जान पडता था। परन्तु वास्तवमे जिन सामाजिक परिस्थितियोंने इस लोकतान्त्रिक साहित्यरूपको जन्म दिया, उनमें यह सम्भव नही था कि मनोविनोदमात्र उसका लक्ष्य बना रहे। उपन्यासमें कविताकी भॉति रागात्मक तत्त्वकी वह स्थिति साधारणतया सम्भव नहीं मानी जाती, जो मनुष्यको भावकी सात्त्विक अनुभूति करा सके। उपन्यास भी पाठकको उसके दैनिक जीवनको ठोस वास्तविकतासे उठाकर एक अधिक परिपूर्ण और सत्य लगनेवाले कल्पनाजगत्में ले जाता है। परन्तु ऐसा वह भावोत्तेजनके सहारे नही, कथाकी रोचकता और कुतूहलके द्वारा करता है। काव्यके समीक्षकोने इसे भावकी अपेक्षा निम्न स्थान दिया है। कविता जैसे उच्च, उदात्त रागात्मक तत्त्वकी सम्भावना न होनेसे ही कदाचित् उपन्यास अधिक लोकप्रिय साहित्यरूप है। बीसवी शताब्दीमें इसे जो महत्त्व मिला है, वह कदाचित् किसी अन्य साहित्यरूपको—नाटकको भी कभी नहीं मिला था। इसमें लोकप्रियता और महनीयताका अद्भुत समन्वय हुआ है तथा इसने समाजके समस्त ऊँचे और नीचे वर्गोंको मिला दिया है। विश्वके अनेक महान् चिन्तकोंने गम्भीर मनीषासे उपलब्ध स्थायी सत्यों और मानवमूल्योंको इसी माध्यमसे प्रचारित किया है, जिससे उपन्यास केवल मनोरंजनकी वस्तु नही रहा, वह महान् सत्यों और नैतिक आदर्शोंका एक अत्यन्त मूल्यवान् साधन बन गया है। परन्तु कुतूहलवर्धन और मात्र मनोरंजन तथा मानवमूल्योंकी खोज और स्थायी सत्योंके प्रतिपादनके बीच उपन्यासोंके इतने विविध प्रकारके भेद हैं कि उन्हें वर्गीकृत करना असम्भवप्राय है। वस्तुतः उपन्यास एक जीवित और विकासशील साहित्यरूप है जिसका सम्यक् शास्त्रीय अध्ययन होना अभी शेष है।

भय और प्रेम दो प्रधान मानवीय भावोके आधारपर उपन्यासके दो मुख्य भेद किये जा सकते है—**साहसिक कथा** और **प्रेमकथा**। साहसिक कथा भौतिक जगत्के विविध प्रकारके भयपर मनुष्यकी विजय पानेकी आकांक्षाको प्रकट करनेकी भावनासे संकटो और संकटोके अतिक्रमणके संधानसे निर्मित करके उपस्थित की जाती है। साहसिक कथा कदाचित् प्राचीनतम जीवन-कथा है, जिसका स्रोत 'ऑडेसी' जैसे वीररसप्रधान ग्रन्थोंमें पाया जाता है। परन्तु उपन्यासका सच्चा और वास्तविक रूप प्रेमकथामे ही है। इसीसे चरित्र-चित्रण, मनोवैज्ञानिक अध्ययन और सूक्ष्म संकेतोंकी सम्भावनाएँ है और इसीने साहित्यमें उच्च स्थान पाया है। इनके अतिरिक्त कुछ उपन्यास **रहस्य-कल्पना**से युक्त अविश्वसनीय कथाओंसे निर्मित होते है। परन्तु उनमें लेखकको किसी जीवन-दर्शनका प्रतिपादन अभीष्ट होता है। सरवांतीजका 'डान क्विग्जट' और स्विफ्टका 'गुलीवर्स ट्रैवेल्स' इसके सुन्दर उदाहरण हैं, परन्तु असम्भव कल्पनाओके ऐसे उपन्यासोंकी संख्या अधिक नहीं है। उपन्यासोका एक चौथा भेद **ऐतिहासिक उपन्यास** भी है, यद्यपि कुछ लोगोंने इसके सच्चे साहित्यिक रूप होनेमें सन्देह प्रकट किया है। स्काट, बालजक, ड्यूमा आदि प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यासकार हो गये है।

उपन्यासके तत्त्वोंकी प्रधानताके आधारपर भी वर्गीकरण किया गया है। इस दृष्टिसे उसके दो मुख्य वर्ग हो सकते है—**घटना-प्रधान** और **चरित्र-प्रधान**। घटना-प्रधान उपन्यासोंमें पाठककी कुतूहलवृत्ति ही सन्तुष्ट होती है। वह निरन्तर 'आगे क्या हुआ ?', 'फिर क्या हुआ ?' इन्हीं प्रश्नोमे उलझा हुआ उपन्यासके साथ अन्ततक चिपका रहता है। इन उपन्यासोंका साहित्यिक मूल्य अधिक नहीं होता, सामाजिक दृष्टिसे भी इनका महत्त्व नहीं है। चरित्र-प्रधान उपन्यासोंका आकर्षण कथामें नहीं, कथाके पात्रों, उनके भावों, विचारों, चारित्रिक गुणो और दुर्बलताओ, उनके परस्परके व्यवहारों तथा उनके माध्यमसे प्रस्तुत सामाजिक रीति-नीति आदिमें केन्द्रित होता है। **घटना-प्रधान** उपन्यासोके अन्तर्गत भय, विस्मय, साहस, आश्चर्य-कल्पना और रहस्योद्घाटन सम्बन्धी उपन्यासोंके अनेक विभेद किये जा सकते हैं। **साहसिक, जासूसी, तिलस्मी, अय्यारी, खूनी** तथा **भूत-प्रेतों**की कथाओंवाले अनेक प्रकारके उपन्यास घटना-प्रधान ही है। **रहस्य-कल्पना**वाले उपन्यासोंमें भी घटनाकी ही प्रधानता रहती है, यद्यपि उसकी घटनाएँ असम्भव और अतिलौकिक होती है।

चरित्र-प्रधान उपन्यासोमे विषयकी विविधता कहीं अधिक है, अतः उनका सम्पूर्ण वर्गीकरण सम्भव नही है, क्योंकि मनुष्यकी व्यक्तिगत—बाह्य और आन्तरिक तथा सामाजिक क्रियाओं और प्रतिक्रियाओकी अनन्त सम्भावनाएँ हैं और जीवनके विकासके साथ उनके नये-नये उद्घाटन होते जा रहे हैं। फिर भी मोटे तौरपर उसके **सामाजिक**

और **मनोवैज्ञानिक**,दो प्रधान उपभेद इंगित किये जा सकते हैं। एक तीसरा विभेद **ऐतिहासिक** भी इसीके अन्तर्गत आयेगा। परन्तु **सामाजिक उपन्यास** पुनः अनेक प्रकारके होते हैं, क्योंकि समाजके अनेक स्तर और विविध प्रकारके क्रिया-कलाप हैं। परिवार, ग्राम, प्रदेश, राज्य, विश्व तथा सामाजिक प्रथाएँ, व्यक्ति और समूहकी समस्याएँ, आर्थिक परिस्थितियाँ, राजनीतिक विचारधाराएँ, दार्शनिक सिद्धान्त आदि अनेक विषय हैं, जिनमे किसी या किन्हींको उपन्यासमें प्रधानता दी जा सकती है। संकुचित अर्थमे सामाजिक प्रथाओ और समस्याओंसे सम्बन्धित उपन्यासोंको ही प्रायः **सामाजिक उपन्यास** समझा जाता है। परन्तु उस दशामें वर्गीकरणका कोई एक आधार नहीं रहता। कुछ उपन्यासोंमें किसी प्रदेशविशेषका यथातथ्य और बिम्बात्मक चित्रण प्रधानता प्राप्त कर लेता है और उन्हे **प्रादेशिक** या **आंचलिक** उपन्यास कहा जाता है। परन्तु ये उपन्यास भी **सामाजिक** या **ऐतिहासिक** ही होते हैं और चारित्रिकके अन्तर्गत आते हैं क्योंकि पात्रोंके चरित्र-चित्रणको यथार्थता प्रदान करनेके लिए ही उनकी बाह्य परिस्थितिको जीवन्त रूपमें चित्रित किया जाता है। पात्रोंके चरित्र-चित्रणमें जब सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अध्ययन और विश्लेषण किया जाता है तब इन्ही चरित्र-प्रधान उपन्यासोंको **मनोवैज्ञानिक उपन्यास** कहा जाता है। आधुनिक कालमें मनोविज्ञानके अनेक नवीन सिद्धान्त प्रतिपादित हुए हैं, यथा, फ्रायडका यौन सिद्धान्त तथा एडलर और युंगका मनोविश्लेषणका सिद्धान्त। अतः कुछ मनोवैज्ञानिक उपन्यास ऐसे होते हैं, जिनमें काम-वासनाको प्रधानता देकर उसीके आधारपर मनुष्यकी अन्तश्चेतनाके रहस्यका उद्घाटन किया जाता है। इस प्रकारके उपन्यासोंमे प्रेमको, जो उपन्यासका सबसे अधिक प्रिय भाव है, शारीरिक और वासनाप्रधान रूपमें ही चित्रित कर उसे विकृत कर दिया गया है तथा इस सिद्धान्तकी ओटमें अश्लीलतापूर्ण उपन्यासोंकी बाढ़ आ गयी है। कामवासनाको इतनी प्रधानता न देकर अन्य दमित वासनाओंको उभारकर मानस-ग्रन्थियोंको खोलनेका प्रयत्न करनेवाले दूसरे ढंगके उपन्यासमें **मनोविलेषण**को प्रधानता दी गयी है। परन्तु **मनोविलेषणवादी** उपन्यास कभी-कभी मनोविज्ञानके विशेषज्ञोंके अध्ययन-जैसे हो जाते हैं और उनमें उस प्रकारकी कथा-रोचकता नहीं रहती, जो उपन्यासकी सबसे बड़ी विशेषता है। सैद्धान्तिक या दार्शनिक अध्ययन उपन्यासका प्रकृत विषय नहीं है। इसी प्रकार राजनीतिक सिद्धान्तोंके प्रचारके लिए भी उपन्यासोंके माध्यमका प्रयोग किया गया है। साम्यवादी विचारधाराके प्रचारकोंने इस सम्बन्धमें साहित्यके इस सर्वाधिक लोकप्रिय रूपका सबसे अधिक दुरुपयोग किया है। निःसन्देह साहित्य मानवजीवनके सभी क्रिया-कलाप तथा उनसे सम्बन्धित सभी विचारों और सिद्धान्तोंको आत्मसात् करता है। विचारोंके प्रसार और सिद्धान्तोंके प्रतिपादन तथा प्रचारके लिए भी उसका उपयोग न वर्जित किया जा सकता है और न अवांछनीय ठहराया जा सकता है। परन्तु सुन्दरकी सृष्टि करना साहित्यका प्राथमिक धर्म है और साहित्यकारके लिए सौन्दर्यभावनाका अभिनिवेश साहित्यरचनाकी पहली शर्त है। सिद्धान्त, विचार और प्रचार उसके लिए, जहाँतक उसके साहित्यिक कृतित्वका सम्बन्ध है, गौण और आनुषंगिक है। परन्तु उपन्यासकी लोकप्रियताके ही कारण अर्थलोलुपो और राजनीतिक प्रचारकोंके द्वारा उसका दुरुपयोग हुआ है और ऐसी सस्ती बाजारू पुस्तकोंके ढेर लग गये हैं, जिनमें या तो मनोविज्ञान और मनोविश्लेषणके नामपर उद्दाम कामुकताको उभाडा गया है या प्रगतिशीलताके नामपर कोरा राजनीतिक प्रचार किया गया है।

कथाके स्रोतोके आधारपर वर्गीकरण करके इन्ही उपन्यासोंके **सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, पौराणिक, ऐतिहासिक** और **वैज्ञानिक**, अनेक विभेद हो सकते हैं।

शैलीकी दृष्टिसे भी उपन्यासके भेद किये जाते हैं। उपन्यासलेखक अपने पात्रोंकी जीवन-कथा प्रायः सर्वज्ञके रूपमें उपस्थित करता है। वह उनके सभी कार्यों, व्यापारों, यहाँतक कि उनके गुप्त रहस्यों और सूक्ष्मसे सूक्ष्म मनोभावोंका ज्ञाता होता है और आवश्यकतानुसार उन्हे पाठकके सम्मुख प्रस्तुत करता जाता है। इस शैलीको प्रायः **ऐतिहासिक शैली** भी कहा जाता है और अधिकतर उपन्यासोंमें यही अपनायी जाती है। इसके अतिरिक्त **आत्मकथात्मक** शैली है, जिसमें या तो उपन्यासके नायक या किसी अन्य पात्रकी आत्मकहानीके रूपमें सम्पूर्ण कथा उपस्थित की जाती है। कभी-कभी भिन्न-भिन्न पात्रोंसे अपनी-अपनी आत्मकहानी कहलाकर उपन्यासकी कथाके सूत्र जोड़े जाते हैं। **डायरी** और **पत्रों**के रूपमें भी उपन्यासकी कथा कही जाती है। डायरी तो प्रायः एक ही पात्रकी होती है, परन्तु पत्र अनेक पात्रोंके हो सकते हैं। इसी प्रकार अन्य प्रामाणिक कागज-पत्रोंको भी ज्योंका त्यों उपस्थित करके कथा कही जा सकती है। शैलीकी दृष्टिसे उपन्यासमें नित्य नये प्रयोग होते जा रहे हैं और उपर्युक्त शैलियोंके अद्भुत मिश्रण और उपयोग सामने आ रहे हैं, जिनमें नाटक, रेडियो और चलचित्रकी पद्धतियोंका अनुकरण करके प्रभावकी तीव्रता, स्वाभाविकता तथा नवीनता उपस्थित करनेका प्रयत्न किया जाता है।

जिस प्रकार उपन्यासके प्रकार अगणित हैं, उसी प्रकार उसके आकारमें भी आश्चर्यजनक विविधता पायी जाती है। जहाँ एक ओर विलियम कान्ग्रेवका 'इन काग्निटा' लगभग २०,००० शब्दोंका उपन्यास है, वहाँ दूसरी ओर मार्सेल प्रुस्तका 'ए ला रिचर्च दु तोप्येर्दु' ४,००० पृष्ठोंमे समाप्त हुआ है। अधिकतर उपन्यासमें ६०,०००से १,२०,०००तक शब्द होते हैं। परन्तु इस सम्बन्धमें कोई नियम नहीं बनाया जा सकता। **कथा-साहित्य**में उपन्यासके अतिरिक्त **छोटी-कहानी** या **कहानी**की तो भिन्न सत्ता स्वीकृत है ही और उपन्यास और **कहानी**में तात्त्विक एवं कलासम्बन्धी अन्तर बहुत-कुछ स्पष्ट है, परन्तु **कहानियों**में भी इतनी लम्बी कहानियोंके उदाहरणोंकी कमी नहीं है, जिनके छोटे-मोटे उपन्यास होनेका भ्रम हो सकता है। **उपन्यास** और **कहानी**के बीच कथासाहित्यकी एक नयी विधाको भी

स्वीकृति मिली है, जिसे **लघुउपन्यास** (शार्ट नॉवेल) या **उपन्यासिका** (नॉवेलेट) कहा जाता है। इसकी भी पृथक् सत्ता और अपनी रचना-पद्धति और तात्त्विक विशेषताएँ हैं।

यहाँ स्वयं उपन्यासके तत्त्वोंका संक्षेपमें परिचय देना आवश्यक है। यों तो सम्पूर्ण कथासाहित्यके मात्र छः तत्त्व बताये गये हैं—कथावस्तु, पात्र, संवाद, देशकाल, शैली और उद्देश्य—परन्तु उपन्यासमे इनका विशेष महत्त्व है। इनके अतिरिक्त कुछ लोगोंने द्वन्द्व या संघर्ष (कान्फ्लिक्ट) तथा कुतूहल या द्वैधाभाव (सस्पेंस)को भी तत्त्व माना है, परन्तु वास्तवमें ये रचनाकौशलके अंग है। उपर्युक्त छः तत्त्वोंमें भी मुख्य कथावस्तु और पात्र है। देशकाल कथा-वस्तुका ही एक अंग है, जो उसे स्वाभाविक और विश्वसनीय बनाता है। उद्देश्य वह परिणाम है, जिसे कथावस्तुके द्वारा प्राप्त किया जाता है और संवाद तथा शैली उसे प्राप्त करनेके साधन है।

सम्पूर्ण उपन्यासकी कहानी जिन उपकरणोंसे मिल-कर बनती है, वे **कथावस्तु** कहलाते है। ये उपकरण कथासूत्र (थीम), मुख्य कथानक (प्लाट), प्रासंगिक कथाएँ या अन्तर्कथाएँ (एपीसोड), उपकथानक (अण्डर प्लाट), पत्र, समाचार, प्रामाणिक लेख (डाक्यूमेंट्स), डायरीके पन्ने आदि हैं, जिनका उपन्यासलेखक आवश्य-कतानुसार उपयोग करता है। उपन्यास जिस मुख्य विचार, दृष्टिकोण, आधारभूत कार्य या विषयविशेषपर अवलम्बित होता है, उसीको उसका **कथासूत्र** या **थीम** कहते है। जीवन और जगत्के सम्बन्धमे नाना विचार और सिद्धान्त आविष्कृत हुए और हो रहे है। उपन्यासकार जाने या अनजाने उन्हींमेंसे किसीको अपनी कथावस्तुका मूलाधार बनाता है। प्रायः उपन्यासोंमें एकसे अधिक कथाएँ कही जाती हैं। इनमें प्रायः एक कथा प्रमुख होती हैं, जो आदिसे अन्ततक चलती है और जो कथाके प्रमुख पात्र (नायक) या पात्रोंसे सम्बद्ध होती है। यही कथा **मुख्य कथानक** कहलाती है (जैसे कि **नाटकमें आधिकारिक कथा**)। उपन्यासोंके नवीन प्रयोगोंमे मुख्य कथानकका अभाव भी देखा गया है। परन्तु वह तो एक विशेष स्थिति है। कभी-कभी एकसे अधिक, दो या तीन कथानक समान प्रमुखताके साथ-साथ चलकर इस प्रकार सम्मिलित हो सकते है कि दोनोंमें कौन प्रमुख है, यह कहना भी कठिन हो जाता है। उस दशामें उन दोनोंको प्रमुख कथानक कह सकते है। कथाके विकासमें प्रसंगवश ऐसे अनेक छोटे-छोटे इतिवृत्त आ जाते हैं जिनके द्वारा मुख्य कथानक पुष्ट होता है। ये **प्रासंगिक कथाएँ** वायुवेग या अन्य कारणोंसे उत्पन्न उन हिलोरों और भवरोंके समान है, जो धाराकी गतिमें वेग या क्षणिक अवरोध उत्पन्न करती है। ये कथाएँ कथानकके साथ अन्ततक नही चलती। परन्तु कुछ उपन्यासोंमें मुख्य कथानकके अतिरिक्त एक **उपकथानक**का भी समावेश किया जाता है। इसका कार्य मुख्य कथानकको सहायता देना तथा उसके कथासूत्रको स्पष्ट करना होता है। कथानकको पुष्ट करने या उसकी सत्यताकी प्रतीति करानेके लिए उपन्यासकार किसी महत्त्वपूर्ण समाचार, किसी व्यक्तिगत पत्र, किसी सरकारी लेख, वसीयतनामा, अधिकारपत्र, न्यायालयके निर्णय अथवा किसीकी व्यक्तिगत डायरीके किसी महत्त्वपूर्ण अंशको भी आवश्यकतानुसार उद्धृत देता है।

जीवनमें नाना प्रकारकी घटनाएँ घटती रहती हैं। उप-न्यासकार अपने उद्देश्यके अनुसार उनमेंसे चुनकर उनमें एक प्रकारकी एकता लाता है और अपनी कल्पनाके सहारे अपने **कथानक** और **कथावस्तु**का निर्माण करता है। भय और विस्मय अथवा प्रेम और घृणाके आधारपर ही इन कथानकोंकी कल्पना की जाती है। इन्हीं मुख्य भावोंको उपन्यासकार अपनी प्रतिभासे उच्चसे उच्चतर स्तरपर उठा-कर अपने कथानककी रोचकतामें भव्यता पैदा कर सकता है। इनमें भी प्रेमके भावने ही १००० ई० के मुरासाकीके 'गेंजी' नामक उपन्यासने लेकर आजतक उत्कृष्ट उपन्यासों-की सृष्टि करायी है। पुनः इसी भावको लेकर निकृष्टतम अश्लील उपन्यासोंकी रचना भी हुई है। नारी और पुरुषके प्रेम और उसमें भी नारीके भावनापूर्ण व्यक्तित्वके ही चारों ओर विश्वके अधिकतर उपन्यासोंके कथानक घूमते दिखाई देते हैं—भले ही उपन्यासोंके बाह्य **उद्देश्य** कुछ भी रहे हो। इस दृष्टिसे कथानकोंकी संख्या गिनी-चुनी है। परन्तु ऐसा नही है कि कथानकके अभावमें उपन्यासलेखन ही समाप्त हो जाय। वस्तुतः कथानकमें घटनाओंकी रोचकता और विविधता नयी परिस्थितियोंकी उद्भावनाके द्वारा सम्पन्न की जा सकती है और फिर, उपन्यासमें घटनाएँ अब उतनी महत्त्वपूर्ण नही रही, जितना **चरित्र-चित्रण** तथा उसके माध्यमसे नानाविध **उद्देश्यों**की सिद्धि। यही कारण है कि **कथावस्तुके विन्यास**मे स्वीकृत नियमोके पालनकी ओर भी कुछ उपन्यासलेखक उदासीन दिखाई देते है। मुख्य कथानककी प्रमुखताका पूर्ण निर्वाह, जो घटना-प्रसंग कथानकके विकासमें सहायक नही है उनका नितान्त बहिष्कार, उपकथानकका मुख्य कथानकके साथ स्वाभाविक सम्बन्ध आदि **वस्तु-संघटन**की अनिवार्य आवश्यकताओंकी भी कुछ लेखक उपेक्षा कर जाते हैं।

कथानकके संघटन और **वस्तु-विन्यास**में सत्याभास या विश्वसनीयता, कार्य-कारण-सम्बन्ध, मनोवैज्ञानिक क्षण, उत्कण्ठा, संघर्ष, भविष्य-संकेत और चरमोत्कर्षका होना साधारणतया आवश्यक है। यद्यपि ऐसे भी उपन्यास है, जिनमें असम्भव घटनाओंका वर्णन किया गया है और उनके द्वारा प्रतीकात्मक ढंगसे किसी उच्च सिद्धान्तका प्रति-पादन किया गया है, परन्तु साधारणतया घटनाओंके सम्बन्धमें सत्यकी प्रतीति करा देना आवश्यक है; उनमें कार्य-कारणका सम्बन्ध दिखानेसे ही यह प्रतीति होती है। इसी सम्बन्धके आधारपर पाठकके मनमें किसी घटनाके द्वारा उत्कट आशा जगाना तथा तत्क्षण उसके घटित होने-का वर्णन करना **मनोवैज्ञानिक क्षण** कहलाता है, जिससे उत्कण्ठा या उत्सुकतापूर्ण प्रत्याशा उत्पन्न होती है। सभी सफल उपन्यास-लेखक पाठककी रुचिको आबद्ध रखनेके लिए इसका प्रयोग करते हैं। कभी तो भावी आकस्मिक और नाटकीय परिणाम पहलेसे कल्पित करा दिया जाता है और कभी पाठकको उसके विषयमें तरह-तरहकी कल्पना करनेके लिए छोड दिया जाता है। ऐसा भी होता है कि पाठकको

तो नायकपर आनेवाली विपत्तिकी सूचना होती है, स्वयं नायकको नहीं होती। इस व्यंग्यात्मक उत्कण्ठा तथा **नाटकीय व्यंग्य**का प्रयोग कथानकके आकर्षणकी वृद्धिमें सहायक होता है। घटनाओंके परस्पर घात-प्रतिघातसे **संघर्ष**की स्थिति पैदा होती है, जो **पराकाष्ठा**की ओर अग्रसर होकर **चरमोत्कर्ष**की सृष्टि करती है। यह कथा-विकासका वह क्षण होता है, जब कथाकी धारा सहसा मुड़कर एक ओरको प्रवाहित होने लगती है। पाठकके कुतूहलको बढ़ानेके लिए उपन्यासोंमें कभी-कभी **भविष्य-संकेत** भी दिये जाते हैं।

उपन्यासमें कथावस्तुके संघटन और विन्यासके भी अधिक महत्त्वपूर्ण **चरित्र-चित्रण**की कुशलता है। उपन्यासके पात्रोंके क्रिया-कलापसे ही **कथावस्तु**का निर्माण होता है। अतः पात्र जितने ही अधिक सजीव और यथार्थ होंगे, कथानकमें भी उतना ही आकर्षण लाया जा सकेगा। पात्रोंको सजीव और यथार्थ बनानेके लिए उपन्यासकारकी कल्पनाशक्ति, मानवमनके सूक्ष्म अध्ययन और उसकी कलात्मक योजनाकी परीक्षा होती है। चरित्र-चित्रणके द्वारा ही कथानकमें वे समस्त खूबियाँ लायी जा सकती हैं, जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है। चरित्र-चित्रणके ही आधारपर उपन्यासकार अपनी कृतियोंमें महान् उद्देश्यों-की अवतारणा करके उसे स्थायी मूल्योंसे समन्वित कर सकता है। चरित्र-चित्रणकी विशेषता यह होनी चाहिये कि पाठक विभिन्न पात्रोंको सरलतासे पहचान सके तथा उनके साथ यथावश्यक तादात्म्यका अनुभव कर सके। मनुष्य-प्रकृतिके विभिन्न पक्षों और स्तरोंके सूक्ष्म अध्ययन और कमसे कम शब्दोंमें चित्र उपस्थित कर सकनेकी योग्यता ही सफल चरित्र-चित्रणकी कसौटी है। महान् उपन्यासकार अपने पात्रोंको देश और कालकी सीमाके अनुकूल रखते हुए भी सार्वकालिक और सार्वजनिक बना लेते हैं (दे० 'पात्र')।

संवाद या **कथोपकथन**का **चरित्र-चित्रण**में बहुत महत्त्व है। पात्रोंकी बातचीतके द्वारा ही हम उनसे भली-भाँति परिचित होते हैं। वर्णनके द्वारा उनके सूक्ष्म मनोभाव, प्रतिक्रियाएँ, संकल्प-विकल्प, विचार और वितर्क आदिका वैसा यथातथ्य और प्रभावशाली चित्र नहीं दिया जा सकता। **संवाद** पात्रोंको सजीव बना देते हैं तथा कथानकमें नाटकीयताका समावेश करके उसके प्रभावको तीव्र कर देते हैं। कभी-कभी किसी पात्रके मुखसे निकला हुआ एक शब्द भी समस्त उपन्यासमें गूँजता सुनाई देता है। **संवाद**के द्वारा कथावस्तुका विकास और पात्रोंका चरित्र-चित्रण अभीष्ट होता है, अतः उपन्यासमें इन्हीं उद्देश्योंकी पूर्तिके लिए उसका उपयोग होना चाहिये। उसमें देश, काल और पात्रके अनुकूल स्वाभाविकता, मनोविज्ञानकी उपयुक्तता और उपन्यासकी रोचकता और आकर्षणको बढ़ानेवाली अभिनयात्मकता और सरसता आवश्यक है (दे० 'कथोपकथन')।

पात्रोंके व्यक्तित्वका चित्र उनकी बातचीतसे हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है। परन्तु ये पात्र जिस **परिस्थिति और वातावरण**में रहते और कार्य करते हैं, उसके बिना पात्रोंके चित्रमें परिपूर्णता नहीं आती, वे शून्य-में लटके हुए-से अयथार्थ लगते हैं। अतः यह आवश्यक है कि कथानककी घटनाओंके घटित होनेकी सम्पूर्ण परिस्थिति, उनका स्थान और समय हमारे कल्पनापटपर अंकित कर दिया जाय, जिससे कि हम पात्रोंकी सजीवतापर विश्वास कर सकें। वस्तुतः उपन्यासमें पात्रोंकी तरह देश-कालका भी अपना व्यक्तित्व होता है। प्राचीन कथा-साहित्यसे आधुनिक उपन्यासका सबसे बड़ा अन्तर चरित्र और परिस्थितियोंके चित्रणमें है। प्राचीन कथाओंके पात्र देश-कालनिरपेक्ष होते थे, जब कि आधुनिक उपन्यास कभी-कभी समय और स्थानका ऐसा यथातथ्य चित्र दे देते हैं कि उन्हें वास्तविक रूपमे देखा और जाना जा सकता है। कुछ उपन्यासोमे **देश-काल** इतना सजीव बनाया जाता है कि वह स्वयं उपन्यासका एक पात्र बन जाता है। इसके महत्त्वकी सूचना इस बातसे मिलती है कि वास्तविक स्थानीय रंग (लोकल कलर) या प्रादेशिक (रीजनल) विवरण देनेवाले उपन्यासोंका **आंचलिक उपन्यासों**के नामसे एक विशेष वर्ग बन गया है। देश-कालके चित्रणका तात्पर्य यह है कि उपन्यासकी घटनाएँ जिस स्थान और समयकी हों, उसका ज्यौंका त्यों चित्र उपस्थित कर दिया जाय। यह **समसामयिक** और **ऐतिहासिक** दोनों हो सकता है। लेखकको उसका घनिष्ठ परिचय आवश्यक है, जिससे कि वह भौगोलिक विवरण, सामाजिक रीति-नीति, शिष्टाचार, भाषा-प्रयोग आदिको उपन्यासमें सम्मिलित करके उसकी घटनाओंमें सजीवता ला सके। परन्तु **आंचलिक और स्थानीय रंगवाले** उपन्यासोंको छोड़कर साधारणतया उपन्यासोंमे काल्पनिक स्थानों अथवा वास्तविक स्थानोका काल्पनिक वर्णन होता है। यह कोई दोष नहीं माना जा सकता, शर्त केवल यह है कि जो भी देश-कालका विवरण हो, वह वर्णित घटनाओके अनुकूल ही उसको विश्वसनीय बनानेमें सहायक हो। ऐसे उपन्यासो की रचना हुई है, जिनमें किसी कालविशेष या स्थानविशेष-की ही नहीं, किसी युगविशेषमें समस्त देशकी सभ्यता सजीव करके खड़ी कर दी गयी है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि उपन्यासमें देश-कालका चित्रण करनेके लिए भौगोलिक, ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवनका समग्र परिचय तो आवश्यक है ही, परन्तु कला-विधान करनेवाली कल्पना-शक्ति होना इससे कम महत्त्व-पूर्ण नहीं है, क्योंकि इसके बिना भौगोलिक और सामाजिक अध्ययनका उचित उपयोग नहीं हो सकता और विवरणोंमें सरसता नहीं लायी जा सकती। ऐतिहासिक उपन्यासोंमें इसका विशेष रूपमें ध्यान रखना पड़ता है कि देश-कालमें सचाईके साथ मनोरमता भी बनी रहे। विशेषज्ञताके इस युगमें ऐसी रचनाएँ भी देखनेमें आती है, जिनमें स्थानीय रंग या आंचलिकता कुछ विशेष रुचिके पाठकोंके ही काम-की है, साधारण पाठकके लिए वह उपन्यासका भार बन गयी है।

देश-कालके प्रयोगमें ही उपन्यासकार बाह्य प्रकृतिका कविताकी भाँति उपयोग करता है और कभी उपन्यासके पात्रोंकी रागात्मिका वृत्तियोंका प्रकृतिके साथ सामीप्य और

तादात्म्य दिखलाता है और कभी उनकी भावनाओंके प्रतिकूल प्राकृतिक वैभव-विलासका वर्णन करके गम्भीर व्यंग्यकी अवतारणा करता है।

शैलीको भी उपन्यासके तत्त्वोंमें गिनाया गया है, यद्यपि शैली, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, केवल एक साधन है। सभी साहित्यिक कृतियोंमें शैलीका महत्त्व है। परन्तु, कदाचित् इसलिए कि उपन्यास समग्र जीवनका एक संश्लिष्ट चित्र उपस्थित करता है और उसके अनेक आकार और प्रकार हैं, उपन्यासमें उसका विशेष उल्लेख हुआ है। शैलीके ही द्वारा उपन्यासके विभिन्न तत्त्वोंको नियोजित किया जाता है। शैलीकी विविधताका आकलन असम्भव है, क्योंकि प्रत्येक लेखककी अपनी अलग शैली होती है और वह उसके द्वारा अपने व्यक्तित्वको प्रकाशित करता है। परन्तु मोटे ढंगसे कहा जा सकता है कि कोई लेखक **व्याख्यात्मक शैली** पसन्द करते हैं, कोई **अभिनयात्मक**, किसीकी कला उस चित्रकारकी भाँति होती है, जो चित्रकी पृष्ठभूमिका सूक्ष्म अंकन करता है, अनेक रंगोंका प्रयोग करता है और चित्रके अंग-प्रत्यंगको सतर्कताके साथ प्रभावशाली रूपमें उतारता है और कोई केवल कुछ रेखाओंके द्वारा चित्रका भाव व्यंजित कर देता है। आधुनिक साहित्यमें व्यंजना, संकेत, प्रतीक और रूपककी शैलियोंके प्रयोगकी सामान्य प्रवृत्ति देखी जाती है, उपन्यासमें भी ये प्रयोग प्रचुर मात्रामें हो रहे हैं।

उद्देश्य भी वस्तुतः उपन्यासका कोई पृथक् तत्त्व नहीं है। उपन्यासमें जो कथा कही जाती है, उसका कोई-न-कोई परिणाम होता है। हो सकता है कि किसी कथाका सौन्दर्य सृष्टिके अतिरिक्त और कोई बाह्य परिणाम न हो, परन्तु फिर भी उन उपन्यासोंको छोड़कर जो केवल व्यावसायिक उद्योगके रूपमें निर्मित होते हैं, कथानककी परिस्थितियों या चारित्रिक विशेषताओंमें कोई-न-कोई विशिष्ट जीवन-दृष्टि पायी जाती है। उपन्यासकार कलाकार होनेके अतिरिक्त सामाजिक प्राणी भी होता है। जब वह किसी कथाको उपन्यासके रूपमें कहनेका निश्चय करता है, तभी उसके मनमें **कथासूत्र**के साथ वह जीवन-दृष्टि मूर्त होने लगती है जो उसने अपने सांसारिक जीवनके अनुभवस्वरूप उपलब्ध की है। यह हो सकता है कि वह स्वयं उस जीवन-दृष्टिको उस समय स्पष्ट रूपमें बता सकनेमें समर्थ न हो सके, परन्तु वह जिन परिस्थितियोंका निर्माण करता है तथा जिन पात्रोंको जन्म देता है, वे स्वयं उस जीवन-दृष्टिको अपनेमें निहित किये हुए होते हैं। कलाकी दृष्टिसे वस्तुतः वही उपन्यास श्रेष्ठ है, जिसका लेखक पाठकोंपर सफलतापूर्वक यह प्रभाव डाल सके कि उसकी रचनासे जिस **जीवन-दर्शन**का सन्देश मिलता, है वह उसने बाहरसे आरोपित नहीं किया है, वरन् वही सामयिक अथवा शाश्वत सत्य है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि आधुनिक युगमें अनेक चिन्तकों, दार्शनिकों और वैज्ञानिकोंने अपने चिन्तन, मनीषा, गवेषणा और प्रयोगोंसे प्राप्त किये हुए विचार, सिद्धान्त, सत्य और मूल्य उपन्यासके सर्वाधिक लोकप्रिय साहित्यिक माध्यमके द्वारा संसारको प्रदान किये हैं। उपन्यासके **उद्देश्य**के रूपमें ही ये उसकी **कथावस्तु** और **चरित्र-चित्रण**में निहित मिलते हैं। यह स्पष्ट है कि ये उपन्यासकार वस्तुतः चिन्तक और दार्शनिक पहले हैं, उपन्यासकार बादमें। परन्तु उनके सन्देशकी दृष्टिसे ही यदि देखा जाय तो भी उन्हें सफलता तभी मिल सकती है, जब वे उपन्यास-कलाके प्रति पूर्ण रूपसे वफादार हों और सिद्धान्तों और विचारोंके लोभमें उसके नियमोंकी तनिक भी उपेक्षा न करें। वस्तुतः इसी बातपर उपन्यासका भविष्य भी निर्भर है। —व्र० व०

भारतमें कथाप्रवृत्तिका प्रारम्भ ऋग्वेद तथा ब्राह्मणसूत्रों, उपनिषदोंकी व्याख्याओं तथा जैन-बौद्ध-साहित्योंके उपदेशोंसे प्राप्त होता है, जिनके माध्यमसे भारतीय जनता सामाजिक आचार, राजनीतिक कुशलता, धार्मिक परिष्कार, नैतिक आदर्श तथा दार्शनिक चिन्तनकी शिक्षा प्राप्त करनेके साथ मनोरंजन भी करती रही है। कथाकी यह प्रवृत्ति संस्कृतके 'पंचतन्त्र', 'हितोपदेश', 'वेतालपंचविंशति', 'सिंहासनद्वात्रिंशिका', 'शुकसप्तति', 'कथासरित्सागर', 'बृहत्कथा' तथा 'बृहत्कथामंजरी'में भी द्रष्टव्य है। किन्तु इनमें कहानीके कुतूहल और विचार-संवलित शुष्क उपदेशका प्राधान्य है। इनमें उपन्यासकी न तो भावशीलता है, न जीवनको व्यापक रूपसे देखनेकी दृष्टि और न शैलीकी ही सहज रोचकता है। औपन्यासिक तत्त्वोंकी दृष्टिसे बाणभट्टकी 'कादम्बरी' तथा दण्डीका 'दशकुमारचरित' ही, जिनमें घटना, चरित्र और शैली तीनोंकी रमणीयता है, उपन्यासके निकट पहुँचते हैं।

किन्तु हिन्दीमें उन्नीसवीं शताब्दीमें गद्यके प्रचारके साथ ही कथाकी अप्रकट प्रवृत्ति साक्षात् हुई और इंशाअल्ला खाँकी 'रानी केतकीकी कहानी' (उदयभानचरित), लल्लूलाल-रचित 'सिंहासन बत्तीसी', 'बैताल पचीसी', 'माधवानल कामकन्दला', 'शकुन्तला', 'प्रेमसागर', सदल मिश्र-रचित 'नासिकेतोपाख्यान', जटमल-रचित 'गोरा-बादलकी कथा', राजा शिवप्रसाद-रचित 'राजा भोजका सपना' इसके उदाहरण हैं। हिन्दी गद्यके इस प्रारम्भिक उन्मेषमें जनता एक ओर संस्कृतसे लिये गये पौराणिक और धार्मिक कथावृत्तों तथा 'शुकबहत्तरी', 'सारंगासदावृक्ष', 'किस्सा तोता-मैना', 'किस्सा साढ़े तीन यार'से मनोविनोद करती थी और दूसरी ओर फारसीसे ली हुई 'चहार दरवेश', 'बागोबहार', 'किस्सा हातिमताई', 'गुलबकावली', 'छबीली भठियारिन', 'दास्ताने अमीर हमजा', 'तिलस्मे होशरुबा' आदि तथा लोकप्रचलित मौखिक कहानियोंसे जी बहलाती थी। किन्तु इनमें घटनाओंकी स्वाभाविकता, जीवनकी व्यापकता और चरित्रकी अवतारणा नहीं थी। इसी समय भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने मराठीसे अनूदित 'पूर्णप्रकाश और चन्द्रप्रभा' नामक हिन्दीका प्रथम सामाजिक उपन्यास प्रस्तुत किया। पाश्चात्य संस्कृतिके प्रभाव, राजनीतिक चेतनाके विकास, राष्ट्रीयताके जागरण, अतीत गौरवके पुनरुत्थानके कालमें भारतेन्दुके सहयोगी और समकालीन साहित्यकारोंने उपन्यासकलाके विकासमें पूर्ण सहयोग दिया। इस भारतेन्दु युगके उपन्यासोंके कई स्रोत हैं। पहला, **सामाजिक** एवं **ऐतिहासिक** स्रोत है। इस स्रोतके उपन्यासोंकी प्रमुख प्रेरणा प्रचलित कुरीतियोंका निराकरण

कर सामाजिक उन्नयन करना है। इन उपन्यासोंमें प्रेम, शौर्य और सतीत्व, जातीय गौरव और राष्ट्रीयताकी भी प्रखर भावनाएँ प्रतिबिम्बित हैं। किशोरीलाल गोस्वामीके 'त्रिवेणी', 'स्वर्गीय कुसुम,' 'हृदयहारिणी,' 'लवंगलता,' 'कुसुमकुमारी', राधारमण गोस्वामीके 'विधवा विपत्ति,' 'हनुमन्तसिंह','कल्पलता,' 'चन्द्रकला', कार्त्तिकप्रसाद खत्रीका 'जया' (अनूदित), गोपालराम गहमरीका 'नये बाबू,' राधाकृष्णदासका 'निस्सहाय हिन्दू,' बालमुकुन्द शर्माका 'कामिनी', गोकुलनाथ शर्माका 'पुष्पावली' इत्यादि इस स्रोतके प्रमुख उपन्यास हैं। इस सामाजिक स्रोतसे ही सम्बन्धित नैतिक स्रोत भी है, जिसके उपन्यासोंमें गुणदोष, पापपुण्य, नीति एवं सामाजिक आचरणकी शिक्षा दी गयी है। बालकृष्ण भट्टके 'नूतन ब्रह्मचारी,' 'सौ अजान एक सुजान,' रत्नचन्द्र प्लीडरका 'नूतन चरित्र,' किशोरीलाल गोस्वामीका 'सुखशर्वरी,' श्रीनिवासदासका 'परीक्षागुरु', मेहता लज्जाराम शर्माके 'स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी,' 'धूर्त रसिकलाल', गोपालराम गहमरीके 'बड़ा भाई,' 'सास-पतोहू,' कार्त्तिकप्रसाद खत्रीका 'दीनानाथ' इत्यादि प्रमुख उपन्यास हैं। दूसरा, **तिलस्मी, अय्यारी** और **जासूसी** स्रोत है। इस स्रोतके उपन्यासोंमें चमत्कारप्रदर्शन, कुतुहलवृद्धि, जादू, घटना-संयोगका वैचित्र्य, प्रेम-प्रसंग, मिलनकी उत्सुकता, विरहकी व्याकुलता, कथानककी जटिलता, चरित्र संघटन तथा सुखान्तकी प्रवृत्ति है। किशोरीलाल गोस्वामीके 'स्वर्गीय कुसुम'में तिलस्मी घर, 'लवंगलता'में गोल तिलस्मी कमरा, 'प्रणयिनी परिणय', 'कटे मूँड़की दो दो बातें'में तिलस्मी शीशमहलकी तिलस्मी कथाएँ प्राप्त हैं। उनका प्रभाव देवकीनन्दन खत्रीके 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तति','नरेन्द्र मोहिनी,' 'कुसुमकुमारी','वीरेन्द्रवीर,' देवीप्रसाद शर्मा उपाध्यायके 'सुन्दर सरोजिनी,' जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदीके 'वसन्तमालती', देवीसहाय शुक्लके 'दृष्टान्तप्रदीपिनी,' 'जादूभरी बातें' तथा 'भयानक भेड़िया,' 'प्रवीण पथिक,' 'प्रमीला'में स्पष्ट प्रकट है। उपन्यासकलाकी दृष्टिसे 'चन्द्रकान्ता' हिन्दीका प्रथम साहित्यिक उपन्यास है। काशीनाथ शर्माके 'चतुर सखी' और विजयानन्द त्रिपाठीके 'सच्चा सपना' (अनूदित)मे भी तिलस्मका चमत्कार है। गोपालराम गहमरीके उपन्यासोंमें जासूसी स्रोत स्पष्ट है। तीसरा, अनुवाद-स्रोत है। हिन्दीमें तिलस्मी और जासूसी उपन्यासोंकी प्रधानता थी, जिससे साधारण जनताका मनोरंजन तो हुआ, किन्तु साहित्यिक समाजका विनोद न हो सका। अतः उपन्यासकार देशी और विदेशी भाषाओंसे अनुवाद प्रस्तुत करने लगे, जिनसे प्रेरित होकर हिन्दीमें **सामाजिक, ऐतिहासिक** और **गार्हस्थिक** उपन्यासोंका प्रणयन होने लगा। बँगलासे अनुवादित उपन्यासोंमें भारतेन्दुका 'राजसिंह,' राधाकृष्णका 'स्वर्णलता,' पतिप्राणा अबलाका 'राधारानी', गदाधर सिंहके 'दुर्गेशनन्दिनी,' 'बंगविजेता', किशोरीलाल गोस्वामीके 'दीपनिर्वाण,' 'बिरजा,' बालमुकुन्द गुप्तका 'मडेलभगिनी' (४ भाग), रामशंकर व्यासके 'मधुमालती', 'मधुमती', विजयानन्द त्रिपाठीका 'सच्चा सपना', राधिकानाथ बन्द्योपाध्यायका 'स्वर्णबाई', उदितनारायणलाल वर्माका 'दीपनिर्वाण', प्रतापनारायण मिश्रके 'युगलांगुरीय', 'कपालकुण्डला', अयोध्यासिंह उपाध्याय'हरिऔध'के 'कृष्णकान्तका दानपत्र', 'राधारानी', कार्त्तिकप्रसाद खत्रीके 'कुलटा', 'मधुमालती', 'दलित कुसुम'के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें प्रेम-प्रसंगोंका बाहुल्य तथा वीरताकी भावनाका अतिरेक है; कथावस्तु, संवाद, मानवीय भावोंका अंकन, घटना-वैचित्र्य और सुन्दर रुचिर शैली संव्याप्त है। संस्कृतसे अनुवादित उपन्यासोंमें गदाधर सिंहका बँगलासे संस्कृतके 'कादम्बरी'का अनुवाद, काशीनाथ शर्माका पूर्वाचार्यकृतका अनुवाद 'चतुर सखी' प्रमुख हैं। काशीप्रसाद खत्रीका 'शेक्सपीयरके परम मनोहर नाटकोंके आशय', भारतेन्दुके 'पूर्णप्रकाश और चन्द्रप्रभा' (मराठीसे अनूदित), मेहता लज्जारामका 'कपटी मित्र' (गुजराती), किशनलालका 'मुद्राकुलीन' या 'इतिहास चन्द्रोदय', रामकृष्ण वर्माके 'अकबर', 'अमला वृत्तान्तमाला', 'ठग वृत्तान्तमाला', 'पुलीस वृत्तान्तमाला' इत्यादि मुख्य है। किशोरीलाल गोस्वामीके 'उपन्यास' पत्र निकलनेके बाद कानन डायल तथा रेनाल्डके उपन्यासोंके अनुवाद अधिकतासे हुए।

भारतेन्दु-युगमें अनुवादित उपन्यासोंको छोड़कर कथाकी दृष्टिसे मौलिक उपन्यास प्रौढ़ और उच्च कोटिके नहीं है। उनमें सामाजिक उन्नयन और सुधार, जातीय गौरव, ऐतिहासिक तथ्यों, काव्य, नीति, धर्म, दर्शन तथा मानवताको स्थान मिला है। कथानक सीधे, सरल तथा शैली वर्णनात्मक है।

अद्यावधि देवकीनन्दन खत्रीने हिन्दीके सर्वप्रथम साहित्यिक उपन्यास 'चन्द्रकान्ता'मे वीरगाथाओंकी परम्परा, अलिफलैलाकी कथाओं, अमीर हमजाकी 'तिलस्म दिलरुबा' तथा अन्य लोकप्रचलित कहानियोंका प्रयोग किया है। उससे इतना कलात्मक सौन्दर्य आया है कि तिलस्मी उपन्यासोंको ही कलापूर्ण उपन्यासोंका प्राथमिक स्वरूप कहना पड़ता है। किन्तु इसके पश्चात् उपन्यासकी कलामें विभिन्न दृष्टियोंसे विकास हुआ। किशोरीलाल गोस्वामीके बाद कुछ उपन्यासकारोंने संस्कृतके प्रेमनाटकों या रीतिकालीन श्रृङ्गार-काव्यसे प्रेरणा न लेकर पारसी थियेटरों तथा उर्दू काव्यसे प्रेरणा ली। रामलाल वर्माका 'गुलबदन उर्फ रजिया बेगम' इसी प्रकारकी प्रेरणाका उपन्यास है। पारसी थियेटरोंके प्रभावसे अब हिन्दीमें पौराणिक कथानक, ऐतिहासिक वृत्त, लोकविश्रुत मौलिक कथाओं, कुटुम्ब, समाज आदिसे सामग्री जुटाकर नाटकोंके रूपमें उपन्यास लिखे जाने लगे, जिनमे संलाप और सम्भाषण द्वारा ही चरित्र तथा कथावस्तुका विकास किया जाता था। जब नायिका-भेद, रसपरिपाक, रामलीला, स्वाँग, नौटंकी, नकलके रूपमे अवशिष्ट नाट्यकलाका आरोप होने लगा तो नाटकीयतापूर्ण उपन्यास सम्मुख आने लगे। भगवानदीनका 'सती सामर्थ्य', किशोरीलाल गोस्वामीका 'कुसुमकुमारी', जयगोपालकृत 'उर्वशी' इत्यादिमें यह स्पष्ट रूपसे द्रष्टव्य है। इनमें नाटकीयता संलाप या सम्भाषणके रूपमे ही प्रयुक्त हुई थी, किन्तु नाटकीय कलाके विकासके साथ उपन्यासोंमें भी **अन्तर्द्वन्द्व, चरमसीमा, क्रिया-**

प्रतिक्रिया, संकलन-त्रय इत्यादि नाट्यकलाके गुणोंका प्रयोग होने लगा। व्रजनन्दन सहायके 'राधाकान्त' तथा प्रेमचन्दके 'रंगभूमि'में नाटकीय व्यंग्यादि बड़ी निपुणतासे प्रयुक्त हुए है।

उपन्यासके विकासक्रममे दूसरी शृंखला मनोवैज्ञानिकता है, जिसके कारण उपन्यास-कलाका सौन्दर्य खिल उठा है। अभीतक उपन्यासोंमे दैव-घटना, संयोग-वैचित्र्य, जादू, कुतूहल, तर्कपूर्ण सूझोंका प्राधान्य था, किन्तु अब उपन्यासोंमे मानव-मनके विश्लेषणसे उसके रहस्य खोले जाने लगे। बँगलामे शरच्चन्द्र तथा रवीन्द्र मनोवैज्ञानिक चित्रण प्रस्तुत कर ही रहे थे। इसके अनुकरण तथा मनोविज्ञानके अध्ययनकी प्रेरणासे हिन्दीमे भी मनोवैज्ञानिकताका सूत्रपात हुआ। इससे उपन्यास-कलामें नाटकीयता और बढ़ गयी। प्रेमचन्दके 'रंगभूमि'मे मानव-मनका सूक्ष्म निदर्शन है, किन्तु वास्तवमें मनोवैज्ञानिक विश्लेषणकी प्रवृत्तिकी प्रमुखता सन् १९२५के पश्चात् ही आती है।

वीरगाथाओंकी काव्य-परिपाटी, नाट्यकला तथा मनोवैज्ञानिकताके अतिरिक्त उपन्यासोंमें गीतितत्त्वका समावेश भी है। उपन्यासोमे गीतिमत्ता छायावादका प्रभाव है। व्रजनन्दन सहायका 'सौन्दर्योपासक', प्रसादका 'कंकाल', चण्डीप्रसाद 'हृदयेश'का 'मनोरमा' उपन्यास गीति और नाट्यका सुन्दर समन्वय प्रस्तुत करते है।

शैलीकी दृष्टिसे भी उपन्यास-कलामें विकास हुआ है। अभीतक उपन्यासकार श्रोताओं-पाठकोका ध्यान रखकर पात्रों और दृश्योका वर्णन निरपेक्षभावसे करते थे। उन्हें कहानी कहना ही आता था। संक्षेपमें यह **वर्णनात्मक** शैली है। देवकीनन्दन खत्रीके 'चन्द्रकान्ता', 'काजरकी कोठरी', लज्जाराम शर्माके 'आदर्शहिन्दू', किशोरीलाल गोस्वामीके 'चपला', रामजीदास वैश्यके 'धोकेकी टट्टी', प्रियम्वदा देवीके 'कलियुगी परिवारका एक दृश्य' प्रभृति उपन्यासोमें यह द्रष्टव्य है। किन्तु अब मनोविज्ञानके समावेशसे यह शैली भी मॅज गयी है। काल, स्थान, वातावरण और परिस्थितिके अनुसार वर्णन होने लगा है। 'कंकाल' इसका सुन्दर उदाहरण है। दूसरी शैली, **संलाप** या **सम्भाषण**के रूपमे विकसित हुई, जिससे कथा तथा पात्रके विकासके लिए दोसे अधिक पात्रोका सम्भाषण दिया जाने लगा। विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिकके 'माँ'मे व्यंजक तथा मनोरंजक सम्भाषण है। तीसरी शैली, **आत्मकथात्मक** अर्थात् उत्तम पुरुषमें कथा कहनेकी है। व्रजनन्दन सहायके 'सौन्दर्योपासक', 'राधाकान्त', रामचन्द्र शर्माका 'कलंक', इलाचन्द्र जोशीका 'घृणामयी', चन्द्रशेखरका 'वारांगनारहस्य' इत्यादि उपन्यास इस शैलीके उत्कृष्ट उदाहरण हैं। चौथी शैली, **पत्रकी शैली** है, जिसमें पत्रोंके द्वारा चरित्र और कथावस्तुका विकास होता है। बेचन शर्मा 'उग्र'का 'चंद हसीनोंके खतूत'में यह द्रष्टव्य है। पाँचवी शैली **डायरी**-उद्धरणकी है। 'शोणिततर्पण'में स्वयं कथा कहनेकी रीति प्राप्त होती है।

बीसवी शताब्दीसे पूर्व उपन्यासोंकी रचनाका उद्देश्य केवल मनोरंजन था। उपन्यास साधारण जनताकी वस्तु थे। अतः उपन्यासकार पौराणिक तथा लोक-प्रचलित कथानक लेकर कल्पनाके जादूसे कथाकी विचित्रता प्रकट करके उपन्यास-रचना करता था। किन्तु जब उपन्यास धर्म-प्रचार और समाज-सुधारके साधन बने तो **सामाजिक उपन्यास** भी लिखे जाने लगे। सास-बहू तथा ननद-भौजाईके झगड़े, बाल-विवाह, स्त्रियोंकी दासता, जाति-पाँतिका झमेला, दहेज, अस्पृश्यता आदि इनके विषय थे। वास्तवमें सन् १९०१से १९२५ तक लिखे गये उपन्यासोका उद्देश्य मनोरंजन, उपदेश तथा कलाके लिए कलाका प्रतिपादन करना था।

बीसवी शताब्दीके प्रथम चतुर्थांशमे आकार और विधानकी दृष्टिसे **घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान** और **भावना-प्रधान** उपन्यास प्राप्त होते है। घटना-प्रधान उपन्यास, **तिलस्मी, साहसिक, जासूसी, प्रेमाख्यानक, ऐतिहासिक, पौराणिक** तथा विविध प्रकारके उपन्यास रूपोंकी कोटियाँ हैं—(क) **तिलस्मी उपन्यासों**में नायक-नायिका अय्यार-तिलस्मोको तोड़ने तथा प्रतिस्पर्द्धियोंके अय्यारोको पराभूत करके बन्दी बनानेमें सफल होते है। अन्तमे नायक-नायिकाके मिलनसे उपन्यास सुखान्त बनते है। इनके लिए अद्भुत कल्पनाशक्ति, प्रतिभा और कौशलकी आवश्यकता होती है। खत्रीने फारसी एवं उर्दूसे तिलस्म लेकर हिन्दीमें उनका प्रयोग किया है। निहालचन्द्र वर्माका 'जादूका महल' ऐतिहासिक उपन्यास है। (ख) **साहसिक उपन्यास** चोर, डाकू, डकैती और चोरीसे सम्बन्धित होते है। चन्द्रशेखर पाठकका 'अमीर अली ठग', देवकीनन्दन खत्रीका 'काजरकी कोठरी', दुर्गाप्रसाद खत्रीके 'लाल पंजा', 'डकैती', जयराम गुप्तका 'राजदुलारी' दुर्गाप्रसाद खत्रीके 'रक्तमण्डल', 'सफेद शैतान', इसी कोटिके उपन्यास है। (ग) **जासूसी उपन्यासों**ने चोरी, डाका, हत्या आदिका पता कोई जासूस लगाता है, वह प्रत्येक प्रकारके वातावरण, घटना, वस्तुपारिपार्श्वकी सूक्ष्म परीक्षा करता है तथा गुप्तमेसे सत्य प्रकट करता है। जासूसी उपन्यास पश्चिमी जासूसी उपन्यासोंके अनुकरणपर लिखे गये है। इनमें कथानक स्वाभाविक होता है और कहानी बहुत स्वाभाविक रीतिसे कही जाती है। गोपालराम गहमरीके 'हत्याका रहस्य', 'गेरुआ बाबा', 'मेमकी लाश', 'जासूसकी जवानी' उत्कृष्ट जासूसी उपन्यास है। (घ) **प्रेमाख्यानक उपन्यास** या **रोमांसिक उपन्यासों**में एक ओर रीतिकाव्यकी शृंगारिक और परम्परागत प्रेमकी व्यंजना है, दूसरी ओर फारसी-उर्दूके परम्परागत प्रेमकी अभिव्यक्ति है। प्रथम प्रकारके प्रेममें प्रथम दर्शनसे उत्पन्न प्रेम, अभिसार, उत्कण्ठा, मौन, रहस्यात्मक सूत्र आदिका वर्णन है। किशोरीलाल गोस्वामीके 'अँगूठीका नगीना', 'कुसुम कुमारी' इसी प्रकारके प्रेमके उपन्यास है। दूसरे प्रकारके प्रेममे नायक-नायिका मिलनके लिए साहसिक कार्य करते है। इसमें प्रेमका चित्रण शोखी, शरारत और चुहलके साथ किया जाता है। प्रेमाख्यानोंमें अति-नाटकीय प्रसंगो तथा अस्वाभाविक अयथार्थ कार्योंकी विपुलता रहती है। रामलाल वर्माका 'गुलबदन', जी० पी० श्रीवास्तवका 'गंगा-जमुनी' इसके अच्छे उदाहरण है। (ङ) **ऐतिहासिक उपन्यासों**में ऐतिहासिकताके साथ प्रेम-प्रसंग, तिलस्म

और अय्यारी भी मिलती है। हिन्दीमे वास्तविक ऐतिहासिक उपन्यास कम है। किशोरीलाल गोस्वामीके 'लखनऊकी कब्र', 'शोणिततर्पण', 'कोहेनूर', 'शीशमहल', तथा 'रानी दुर्गावती', 'वीर पत्नी' या 'रानी संयोगिता', 'चौहानी तलवार', 'सोनेकी राख', 'अवधकी बेगम', इसी श्रेणीके उपन्यास है। व्रजनन्दन सहायका 'लालचीन', श्यामबिहारी मिश्र तथा शुकदेवबिहारी मिश्रका 'वीरमणि', वृन्दावनलाल वर्माका 'गढ कुण्डार' आदि भी ऐतिहासिक कोटिके उपन्यास है। (च) **पौराणिक उपन्यास**—'सती सीता', 'वीर कर्ण', 'एकलव्य', 'परशुराम', 'सुभद्रा', 'अनुसूया', 'चन्द्रलेखा', 'सती सीमंतिनी', 'सती मदालसा' आदिके चरित्रोंकी अवतारणा करके लिखे गये उपन्यास इस कोटिमें आते है। (छ) **विविध कथा-प्रधान उपन्यास**—लक्ष्मीदत्त जोशीका 'जपा कुसुम अथवा नई सृष्टि', 'राविन्सन क्रूसो', व्रजनन्दन सहायका 'आरण्य वाला', जयराम गुप्तका 'दिलका कॉटा'मे प्रेम-प्रसंग, अय्यारी, इतिहास, सभी कुछ है। (ज) **चरित्र-प्रधान उपन्यासोंमे** अयोध्यासिंह उपाध्यायके 'ठेठ हिन्दीका ठाट', 'अधखिला फूल', लज्जाराम मेहताके 'हिन्दू गृहस्थ', 'आदर्श दम्पति', 'आदर्श हिन्दू', पारसनाथ सिंहका 'मॅझली बहू', विजयकुमार घोषका 'छोटी बहू', प्रियम्बदा देवीका 'कलियुगी परिवारका एक दृश्य', मन्नन द्विवेदीके 'रामलाल', 'कल्याणी', शिवपूजन सहायका 'देहाती दुनिया' आदि प्रयोगकी स्थितिके चरित्रप्रधान उपन्यास है। प्रेमचन्दके 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कायाकल्प', व्रजनन्दन सहायका 'राधाकान्त', यदुनन्दन प्रसादका 'अपराधी', विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिकका 'मॉ', अवधनारायणका 'विमाता', जगदीश झा विमलका 'आशापर पानी', शिवनारायण द्विवेदीका 'छाया' इत्यादि उपन्यास प्रौढ चरित्र-प्रधान उपन्यासोंकी कोटिमें आते है। वास्तवमें अभीतकके चरित्र परम्परावद्ध या कल्पित प्रकार-विशेषके प्रतिनिधि होते थे। उनमें साधारण व्यक्तिका जीवन नही दिखाई देता था। उनमें प्रायः सभी प्रेमी और अय्यार होते थे। किन्तु चरित्रकी वैयक्तिक गतिशीलता, गुण दोषके मिश्रण, यथार्थानुकारिताके साथ आदर्शवादितामें विश्वास प्रेमचन्द और कौशिकके द्वारा ही मिला। प्रारम्भमें चरित्र-प्रधान उपन्यासोंके लिखनेमें प्रेमचन्द अकेले थे। (झ) चरित्र-प्रधान उपन्यासोंमें वैज्ञानिक सत्यकी दुहाई देनेवाले **प्राकृतवादी उपन्यास** भी है, जिनमें मनुष्य और पशुओंमें समानता प्रदर्शित की गयी है। विषय-वासनामें मनुष्य पशुसे भी गया-बीता है। विधवाश्रमसे कथानक लेकर लिखे गये बेचन शर्मा 'उग्र'के 'दिल्लीका दलाल' तथा चन्द्रशेखर पाठकके 'वारांगना रहस्य' ऐसे ही उपन्यास हैं। (ञ) **भावनाप्रधान उपन्यास** कवित्व-प्रधान होते है। 'कंकाल', 'सौन्दर्योपासक', 'मनोरमा' इसके उदाहरण हैं। किन्तु इनमें 'अँगूठीका नगीना', 'कुसुमकुमारी' तथा कुछ रूपक उपन्यास 'मायापुरी' (जासूसी), चॉद करण शारदाकृत 'कालेज होस्टल', 'चपला', 'रंगभूमि' आदि भी गिने जा सकते हैं।

हिन्दी उपन्यासोंपर 'चन्द्रकान्ता', 'रक्तमण्डल' और 'भूतनाथ'का आश्चर्यजनक प्रभाव था। उनकी कथावस्तु—कौतूहल और आश्चर्यपर आधारित थी। मथुराप्रसादके 'आनन्द महल' तथा गोपालराम गहमरीके 'झण्डा डाकू'में यह प्रवृत्ति स्पष्टतया लक्षित है। यद्यपि सन् '२५ से अय्यारीकी कौतूहल-प्रियता समाप्त हो चुकी थी, किन्तु आकस्मिकताका प्रयोग फिर भी बहुलतासे होता था। ज्योतिर्मयी ठाकुरके 'मधुवन'में आकस्मिकताका अद्भुत पुट है। इसके सहारे कथाको मोडनेका काम लिया जाता था, जिससे घटनाओंके विस्तार और सन्तुलनमें बाधा पडती थी। बीसवी सदीका यह दूसरा चतुर्थांश राष्ट्रीय जागरणोत्थानके प्रयत्न तथा क्रान्तिका काल है। अतः इसमें कथावस्तुकी महत्ता कम हो गयी। उपन्यास विचारोंकी अभिव्यक्तिका साधन बनने लगा। पहले नैतिकता या अन्य कल्पित आदर्शोंसे घटना और पात्रोंकी स्थिति निर्धारित होती थी, अब पात्र और उनके मनोविज्ञानसे कथावस्तुकी दिशा निश्चित होने लगी। विचारोंके अनुसार कथा मोड लेने लगी। वर्णन, विवरण, व्याख्याओ, परिभाषाओं, तर्कों, विचारोंके अतिरेकके कारण कथावस्तुमें असम्बद्धता भी आयी, किन्तु पात्रके मनोविज्ञानके अनुकूल होनेके कारण दोष न मानी गयी। इस प्रकार अब कथाकार नेपथ्यमे चला गया। अब पात्रोके जीवन तथा उनके कार्य-व्यापारसे कथानक निर्मित होने लगे। वे पात्र-सापेक्ष्य हो गये। चरित्रकी संयोजनामें ही कथाके सूत्र विकसित होने लगे। शिल्पकी दृष्टिसे इन उपन्यासोंके कथानक दीर्घ, व्यापक, विस्तृत और इतिवृत्तात्मक है। मुख्य कथानकके साथ गौण कथानक भी संयुक्त है। फिर भी कथानकोंमें एकसूत्रता, संवेदना, प्रसंगकी एकात्मकता है। कथासूत्र कलात्मक, सुगठित और सम्पूर्ण हैं।

चरित्रकी प्रतिष्ठाकी दृष्टिसे एक ओर ठाकुरदत्तके 'छिपा महल', गोपालराम गहमरीके 'झंडा डाकू' और राहुल सांकृत्यायनके 'शैतानकी ऑख'में पात्रोंके व्यक्तित्व घटनाओंकी बहुलता, कुतूहल और आश्चर्यके आधिक्यमे अधिक नही स्पष्ट हो सके हैं, किन्तु दूसरी ओर मनोविज्ञानकी इतनी अधिक प्रधानता है कि आदर्शको छोड़कर पात्रोके मन और उसकी असंगतियों, उसके रहस्योका ही उद्घाटन किया जाने लगा है। आदर्श और मानवीय स्वभाव भिन्न-भिन्न दिशाओंमें चलने लगे। जैनेन्द्रके 'सुनीता', ऋषभचरण जैनके 'मास्टर साहब', गुरुदत्तके 'विकृत छाया', रांगेय राघवके 'विषादमठ' और अमृतलाल नागरके 'महाकाल', जोशीके 'परदेकी रानी', 'प्रेत और छाया', 'अज्ञेय' 'शेखर—एक जीवनी', यशपालके 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही', भगवतीचरण वर्माके 'चित्रलेखा', अश्कके 'गिरती दीवारें'मे आदर्श और पात्र प्रायः एक-दूसरेसे विपरीत दिशाओंमें जा रहे है। फिर भी मनोविज्ञानके साथ साधारण, प्रकृत तथा मानवीय चरित्रोकी प्रतिष्ठा हुई है। उनके व्यक्तित्वमें तत्कालीन व्यक्ति, समाज, युग और समस्त परिस्थितियॉ प्रतिबिम्बित होने लगी हैं। 'सेवासदन', 'रंगभूमि', 'गबन', 'गोदान', 'तितली', 'कंकाल' युगके सजीव चित्र सिद्ध हुए हैं।

भाषा और रचनाशैलीकी दृष्टिसे भी उपन्यास-शिल्पमें

विकास हुआ। राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह और 'उग्र'के उपन्यासोंमें आलंकारिक, चित्रात्मक, व्यंजना-प्रधान भाषा, प्रेमचन्दमें भाषाका मुहाविरेदार स्वाभाविक रूप, जोशी और 'अज्ञेय'के उपन्यासोंमें मनोवैज्ञानिक और सामाजिक स्थितियोंके अनुसार भाषा तत्सम, तद्भव, विदेशी और देशज शब्दोंसे पूर्ण, सूर्यकान्त-त्रिपाठी 'निराला'के 'बिल्लेसुर बकरिहा' और 'चोटीकी पकड़'में भाषा अलंकाररहित, व्यावहारिक और सशक्त है।

रचनाशैलीकी दृष्टिसे उपन्यासोंकी अनेक शैलियाँ विकसित हुईं। **वर्णनात्मक शैली**में मनोविज्ञानके समावेश-के कारण वर्णन, चित्रण, संकेत, संवाद, देश, काल, परिस्थिति तथा वातावरणके समन्वयसे पात्र पाठकोंके सामने शक्तिशाली और सजीव रूपमें सरलतासे प्रत्यक्ष होने लगे। राहुलका सिंह सेनापति' तथा हजारीप्रसाद द्विवेदीका 'बाणभट्टकी आत्मकथा', प्रेमचन्दका 'गोदान', भगवतीचरण वर्माका 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' इत्यादि उपन्यासोंमें यह शैली द्रष्टव्य है। दूसरी शैली **सम्भाषण और संलाप**के सन्निवेश-से प्रारम्भ होती है, जिसमें कथाकारकी तटस्थता, चरित्रकी व्यंजना, आत्मसम्भाषणोंसे प्रकट होती है। इसमें व्यंग्य, हास्य, विनोद और नाट्यतत्त्वका भी समन्वय है। 'रंग-भूमि', 'कंकाल', 'माँ', 'घृणामयी'में इसका अच्छा प्रयोग है तीसरी शैली **व्याख्या-प्रधान** है, जिसमें कथाकार पात्रों और घटनाओंकी समस्त स्थितियोंकी मनोवैज्ञानिक, नीति-परक, दार्शनिक व्याख्याएँ करता है। जैनेन्द्र, 'अज्ञेय', जोशीके उपन्यासोंमें इसका प्रयोग हुआ है। चौथी शैली, **चित्रात्मक** है, जिसमें बाह्य और अन्तःप्रकृति दोनोंका चित्रण किया जाता है। 'परख', 'घरौंदे', 'सराय' इस शैलीके उत्कृष्ट उदाहरण हैं। पाँचवीं शैली **आलंकारिक** है, जो सीमाका अतिक्रमण करनेपर दोष बन जाती है। चण्डीप्रसाद 'हृदयेश'में आलंकारिताकी अधिकता है। छठी **डायरी-पत्र-शैली** है। 'उग्र'के 'चन्द हसीनोंके खतूत'के कथानकका संघटन कुछ पत्रोंसे ही हुआ है। प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त'का 'पाप-पुण्य' भी इसी शैलीका उपन्यास है। सातवीं **स्वागत-शैली** है। इसका उदाहरण 'संन्यासी' है। आठवी शैली **हास्यव्यंग्य**की शैली है। प्रवासीलाल वर्माका 'मूर्खराज', 'निराला'का 'कुल्लीभाट', 'बिल्लेसुर बकरिहा', अन्नपूर्णानन्दका 'महाकवि चच्चा' इस शैलीमें लिखे गये हैं। नवीं शैली **कथा-गर्भ-उपकथा-शैली** है। 'सूरजका सातवाँ घोड़ा' इसका उत्तम उदाहरण है। 'पंचतन्त्र'की शैलीमें जी० पी० श्रीवास्तवके 'लतखोरीलाल' और 'स्वामी चौखटानन्द' लिखे गये है।

वास्तवमें प्रेमचन्द और प्रसादयुग साधारण मनोविज्ञान तथा राष्ट्रीय जागृतिका काल है, जिसमें सामाजिक कुरीतियोंके निराकरणका प्रयत्न, पतन और पराजयके प्रति आदर्शोंकी स्थापनां, उत्पीड़ित, शोषित और दुःखी मानवता-के लिए हार्दिक संवेदना है। कथामें इतिवृत्त, निश्चित घटना, कार्य-व्यापारोंका आधिक्य, रचनाशैलीकी सरलता, सोद्देश्यता है। किन्तु सन् ३६के पश्चात् हिन्दी उपन्यास एक तीसरा मोड़ लेता है। इस युगमें मार्क्सके द्वन्द्वात्मक भौतिक-वाद तथा फ्रायडके यौनवाद तथा युंगके मनोविश्लेषणने व्यक्ति और समाजके मूल्योंको नये सिरेसे समझनेके लिए प्रेरित किया। चरित्रके अध्ययनके लिए मनुष्यके बाह्य संकेतों, स्वप्नों, सम्भाषणों, भाव-भंगिमाओं, कर्म-प्रेरणाओं-का अध्ययन होने लगा। विद्रोही, पापी, अपराधी, स्त्री-पुरुष सम्बन्धी नैतिक मूल्यों आदिपर मनोवैज्ञानिक गहराईसे विचार हुआ। इस युगका यह नवीन दर्शन मनोविश्लेषण-का आधार लेकर चला, जिससे उपन्यासको नयी और मौलिक दिशाएँ मिलीं। युगके समाज-निरपेक्ष व्यक्तिवादी दर्शनके कारण उपन्यास भी स्वच्छन्द और व्यक्ति-प्रधान हो गये। जैनेन्द्र, जोशी और 'अज्ञेय'के द्वारा उपन्यासके नये शिल्पकी प्रतिष्ठा हुई। भगवतीचरण वर्मा, यशपाल, उपेन्द्र-नाथ अश्कके उपन्यासोंमें प्रेमचन्दके शिल्पका ही विकास हुआ है। जैनेन्द्रके 'परख', 'तपोभूमि', 'सुनीता', 'कल्याणी' 'त्यागपत्र', 'सुखदा', 'विवर्त', 'व्यतीत', जोशीके 'संन्यासी', 'घृणामयी', 'परदेकी रानी', 'प्रेत और छाया', 'अज्ञेय'के 'शेखर', 'नदीके द्वीप'में चरित्रोंका आत्म-विश्लेषण प्रधान हो गया है। भगवतीचरण वर्माके 'चित्रलेखा', 'तीन वर्ष बाद', 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते', अश्कके 'गिरती दीवारें', 'गर्म राख', यशपालके 'दादा कामरेड'में यथार्थ और व्यंग्यका सुन्दर समन्वय है।

रचनाशैलीका प्रौढ विकास इस तृतीय उत्थानकी सर्व-प्रमुख विशेषता है। इस कालके उपन्यासोंमें देश-काल-परिस्थितिका समन्वय तथा एकसूत्रता एवं कथाकार और पाठकके बीच समदृष्टिके द्वारा नवीन शिल्पका विकास हुआ है। वर्णन और चरित्र-चित्रणके स्थानपर चिन्तन और चरित्र-विश्लेषण होने लगा। कार्यव्यापार-चित्रणके स्थानपर कर्म-प्रेरणाओं और चित्तवृत्तियोंका अध्ययन हुआ। कथा-कार आलोचक न रहकर द्रष्टा बन बैठा और कथाके स्थान-पर भाव-राशि प्रस्तुत करने लगा। मुख्य तथा आत्म-विश्लेषणके आधारपर **आत्म-कथात्मक** और निरपेक्ष-चित्रणके आधारपर **आत्मसंस्मरणात्मक** ('शेखर-एक जीवनी', 'सुखदा') तथा व्यक्तित्वकी प्रतिष्ठाके लिए कहानी-के सूत्रोंको तोड़कर **पत्र-सम्भाषणात्मक** रचना-शैलियाँ ('नदीके द्वीप', 'परख', 'तपोभूमि') विकसित हुईं। —वि० रा०

उपन्यास, ऐतिहासिक—ऐतिहासिक उपन्यासके लिए तो इतिहासकी रक्षा करनेके साथ-साथ उसके स्वरूपको अपनी कल्पनाके द्वारा स्पष्ट करना भी आवश्यक है। यह ध्यान रखना चाहिये कि उपन्यास इतिहासका अन्धानुकरण नहीं हो सकता, सबसे पहले यह उपन्यास है—साहित्यिक कथावस्तु। साथ ही वह इतिहास भी है, जिसकी मर्यादाकी भी रक्षा करनी पड़ती है। अतः यहाँ कल्पना अनियन्त्रित नहीं हो सकती। अकबर और शिवाजी दोनोंको एक साथ नहीं बिठा सकती। इस प्रकारके उपन्यासको भिन्न रुचिवाले दो स्वामियोंकी सेवा करनी पड़ती है, दोनोंके रुखकी रक्षा करते हुए अपना अस्तित्व बनाये रखना पड़ता है। अतः इसमें अन्य प्रकारके उपन्यासोंसे अधिक सतर्क प्रतिभाकी आवश्यकता पड़ती है। यूरोपीय साहित्यमें सफल ऐति-हासिक उपन्यासके लेखकके रूपमें सर वाल्टर स्कॉट तथा अलेक्जेंडर ड्यूमा जैसे कुछ ही नाम उल्लेखनीय हैं।

हिन्दीका सर्वप्रथम ऐतिहासिक उपन्यास किशोरीलाल गोस्वामीका 'कुसुमकुमारी' कहा जाता है। पर वास्तवमे इसे ऐतिहासिक उपन्यास नहीं कहा जा सकता। इसका कोई भी पात्र ऐतिहासिक नहीं है। कथा ऐतिहासिक और सच्ची घटनापर अवलम्बित है इतना ही कह देना पर्याप्त नहीं। इस दृष्टिसे तो सेठ गोविन्ददासका 'इन्दुमती' नामक उपन्यास ऐतिहासिक नामका अधिक अधिकारी हो सकता है, क्योंकि कॉंग्रेसके आन्दोलनका तिथिवार इतिहास इसमें उल्लिखित मिल जाता है। पर यह ऐतिहासिक उपन्यास नहीं है, क्योंकि इसमें पात्रके व्यक्तित्वकी महिमा गायी गयी है। ऐतिहासिक उपन्यासका अस्तित्व वृन्दावनलाल वर्माके 'गढकुंडार' तथा 'विराटाकी पद्मिनी'से प्रारम्भ होता है। 'झॉंसीकी रानी' तथा 'मृगनयनी', दोनों उपन्यास किसी भी साहित्यके प्रौढ़ ऐतिहासिक उपन्यासके समकक्ष उपस्थित किये जा सकते हैं। प्रतापनारायण श्रीवास्तव हिन्दीके दूसरे ऐतिहासिक उपन्यासकार है, जिनका 'बेकसीका मजार' हिन्दीका सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यास कहा जा सकता है।

ऊपर कहा गया है कि ऐतिहासिक कथाकारको इतिहासकी मर्यादाका ख्याल रखना अत्यावश्यक है। परन्तु इतिहासका सच्चा स्वरूप क्या है, वह विगत ऐतिह्यका शुष्क अनुकरण करे अथवा उसमें कल्पनाका भी थोड़ा योग हो और इतिहास-लेखकके सूक्ष्म मानसिक तत्त्वका उसपर हल्का प्रकाश पड़े, इस बातको लेकर विचारकोंमें मतभेद है। एक दल इतिहासको निर्वैयक्तिक तथा तटस्थ मानता है। दूसरा कहता है कि इतिहासमें तटस्थता और वस्तुपरकता नामकी चीजका कोई महत्त्व नही। हम लाख प्रयत्न करके भी इतिहास-लेखककी व्यक्तिगत धारणाओंसे उसे मुक्त नहीं कर सकते। इन्ही दो सिद्धान्तोंके अनुरूप ऐतिहासिक उपन्यासोंकी दो श्रेणियाँ हिन्दीमें स्पष्ट रूपमे दिखलाई पड़ती है। एकके समर्थक वृन्दावनलाल वर्मा तथा रांगेय राघव कहे जा सकते हैं, जिन्होंने अपने उपन्यासोंमें इतिहासकी वफादारीको अच्छी तरह निभानेका प्रयत्न किया है। रांगेय राघवने अपने ऐतिहासिक उपन्यास 'मुर्दोंका टीला'में अपने पक्षकी वकालत की है। दूसरी ओर चतुरसेन शास्त्रीने 'वैशालीकी नगरवधू' नामक ऐतिहासिक उपन्यासमें 'इतिहासरस' वाले सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है और कहा है, भाव और रसमे जो अन्तर है, वही अन्तर इतिहास-सत्य और इतिहास-रसमें है। जिस तरह भावको रसानुभूतिकी श्रेणीतक पहुँचानेके लिए तथ्योंमें परिवर्तन किया जा सकता है, उसी तरहकी स्वतन्त्रताका अवसर यहाँ भी मान्य है, क्योंकि ऐतिहासिक उपन्यासमें इतिहासका सूखा ठट्ठर खड़ा करना नहीं होता, उसमें प्राणप्रतिष्ठा भी करनी पड़ती है। चतुरसेन शास्त्रीका एक उपन्यास 'वयं रक्षामः' भी प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास है (दे० 'उपन्यास')। —दे० उ०

उपन्यास, घटना-प्रधान—उपन्यासके दो ही आधार स्तम्भ हैं—व्यक्ति और घटना। कुछ व्यक्ति होते हैं, जिनके जीवनमें घटनाएँ घटती है और अपने अस्तित्वके द्वारा व्यक्तिके जीवनपर प्रकाश डालती रहती है। उपन्यासकी सार्थकता इसीमें है कि वहाँ घटनाओं तथा व्यक्तिमे पारस्परिक सहयोग तथा आदान-प्रदान होता रहे, परन्तु कभी-कभी ऐसा होता है कि उपन्यासकी घटनाएँ अपनी स्वतन्त्रतासे घटती है, मानों उनपर व्यक्तिका नियन्त्रण नही है अथवा है भी तो नाममात्रका। कभी वे इतनी प्रधान हो गयी है कि व्यक्तिको उन्होंने दबोच लिया है। साहसिक तथा जासूसी उपन्यास प्रायः घटनाप्रधान होते है। नायक किसी भी वस्तुकी खोजमे चला, प्रेयसीकी या गुरुकी। बस क्या है, अनेकों घटनाएँ उसके जीवनमे आकर जुड़ जायँगी। 'मान न मान, मैं तेरा महमान"। अपराधी जरूर-न-जरूर कोई ऐसा सूत्र (क्लू) छोड जायगा, जो उसको खोज निकालनेमें सहायक होगा। पैरके निशान ही सही, सिगरेटकी एक टुकड़ी ही सही, पर ये ही चायकी प्यालीमें तूफान उठानेमें समर्थ होंगी और ऐसी-ऐसी घटनाओंकी सृष्टि करेंगी, जो मानव बुद्धिको चुनौती दे जायें। प्राचीन कालमें घटना-प्रधान कथाओंका ही साम्राज्य था, उनमें घटनाओंकी प्रचुरता अवश्य थी, पर जीवन दीपक लेकर खोजनेपर भी नहीं मिलता था। गुणाढ्यकी 'बृहत्कथा'को सुनकर पशु-पक्षियोंकी भूख-प्यास हराम हो गयी हो, 'पंचतन्त्र'को पढकर नीतिके उपदेश भले ही प्राप्त हो जाते हो, पर जीवनस्पन्दनके नामपर तो कुछ भी नही है। आज प्रेमचन्दके 'गोदान', 'रंगभूमि' जैसे भारी-भरकम उपन्यासोंमें जीवनके कुछ उपकरण भले ही मिल जाते हों, पर आज जीवनकी मॉंग बहुत बढ गयी है। इस दृष्टिसे उपन्यास घटना-प्रधान ही कहे जायँगे (दे० 'उपन्यास')। —दे० उ०

उपन्यास, चरित्र-प्रधान—उपन्यासका वास्तविक स्वरूप चरित्र-प्रधान उपन्यासोंमे ही प्रकट होता है। कथाका प्रारम्भ तो मानवताके प्रारम्भसे ही हुआ होगा, पर जिस समय कथा मनोरंजन और उपदेशकी खूँट छोडकर व्यक्तिकी तरफ मुड़ी होगी, उसी समय उपन्यास नामक नूतन साहित्यिक विधानका बीज भी पडा होगा। वास्तविक चरित्र-प्रधान उपन्यास तो वे कहे जायँगे, जिनमे पात्रकी कुछ विशेषताएँ प्रारम्भमे ही बता दी जायें, बादमें जितनी घटनाएँ घटें, उन सबपर इन विशेषताओंकी छाप हो। 'सेवा सदन'में यह जानते देर नही लगती कि सुमन कैसी है? मानिनी है, मनस्विनी है तथा जीवनकी सुखसुविधाओं पर फिसल पड़नेवाली है। इन गुणोंकी एक बार प्रतिष्ठा हो जानेपर हर एक अवसरपर इनका ही चमत्कार देखनेको मिलेगा। सुमन किसी भी अवस्थामें रहे, वह रहेगी वही, जो वह है। घटनाएँ आयेंगी, उसे जरा हिला-डुला देंगी, पर उखाड़ नहीं सकेंगी। चरित्र-प्रधान उपन्यासोंका दूसरा रूप वह भी होता है, जिसमें परिस्थितियोंके फेरमें पडकर पात्र कोई-सा रूप धारण कर सकता है, पर वह होगा मानवोचित ही। यशपालके 'मनुष्यके रूप'में सोमा न जाने क्यासे क्या हो जाती है, पर उन सब रूपोंमें एक आन्तरिक साम्य है। कह सकते है कि परिस्थितियोंके साथ संगति बैठा देना ही उसके चरित्रकी विशेषता है। चरित्र-प्रधान उपन्यास ही आगे बढ़कर व्यक्तिपरक उपन्यासका रूप ले लेते हैं (दे० 'उपन्यास')। —दे० उ०

उपन्यास, जासूसी—यदि आपको एक सुसंघटित

कथावस्तुवाला उपन्यास पढ़ना हो, जिसके आदि, मध्य और अवसानके बिन्दु स्पष्ट हों, जो कारण और कार्यकी श्रृंखलामें बँधा हो तो आप जासूसी उपन्यास पढ़ें। हत्या हुई, अपराधीकी खोजमें जासूस प्रवृत्त हुए, एकाधिक लोगोंपर शंका हुई, प्रमाणोंकी नाप-तोल कर सच्चे अपराधीका पता लगा और उसे दण्डित किया गया। यही जासूसी उपन्यासका प्रधान सूत्र है और इसमें कथासंघटनके सब तत्त्व वर्तमान है। पो, कानन डायल, एडगर वैलेस, ये तीनों नाम जासूसी उपन्यास लेखकोंमे चिरस्मरणीय रहेंगे। हिन्दीमें गोपालराम गहमरीने जासूसी उपन्यास और कहानियोंका अम्बार खड़ा कर दिया है। ठाकुरदत्त मिश्रका 'छिपा महल' तथा राजेश्वरप्रसाद सिंहका 'महान् अपराधी', ये दो प्रसिद्ध जासूसी उपन्यास है।

जासूसी उपन्यासके निर्माणका सूत्र सीधा है। पर एक सफल जासूसी उपन्यासकी रचना सहज नहीं। अपराधी और जासूस दोनोंको रंगमंचपर मुख्य अभिनेताकी तरह उपस्थित रहना चाहिये। पर यदि अपराधी किसी तरह भी पाठककी थोडी-सी सहानुभूति पा गया तो वह अपराधीकी फॉसीको पसन्द नहीं करेगा। अपराधीको उपन्यासके प्रारम्भमें ही उपस्थित नहीं करना चाहिये, नहीं तो पाठक मानवोचित दुर्बलताके कारण प्रथम परिचयकी सहानुभूति देने लगेगा। हत्याके लिए अथवा डकैतीके लिए पर्याप्त मनोवैज्ञानिक कारण अवश्य होना चाहिये, परन्तु उसके औचित्यका चित्रण इतने गाढ़े रूपमें नहीं होना चाहिये कि पाठकको अपराधीका दण्डित होना खटकने लगे। यदि अपराधीका चित्र अत्यधिक गाढी काली स्याहीसे चित्रित कर उसे शैतानियतका पुतला बना दिया जाय तो उसका पता लगा लेना पाठकके लिए सहज होगा और सारा उपन्यास ही बीचमें समाप्त हो जायगा, उसकी पढ़नेकी प्रेरणा ही नष्ट हो जायगी।

जासूसी उपन्यासोंकी समाप्तिपर पाठकके हृदयमें यह धारणा बननी चाहिये कि सचमुच ही बड़ी पेचीदी गुत्थीको सुलझाया गया है, जो साधारणतया सहज सम्भव न था। गोस्वामीजीके उपन्यास 'जिन्देकी लाश'में एक लड़कीको षड्यन्त्रकारियोंने मृत समझकर दफना दिया है, पर वास्तवमें वह मरी नहीं है। बादमें वह जासूसकी सहायतासे निकाल ली जाती है। प्रारम्भमें थोड़ा कौतूहल अवश्य जगता है, पर समस्या बड़े ढंगसे हल हो जाती है। ऐसा नहीं लगता कि एक बडी कठिन समस्यासे पाला पड़ा था।

इधर जासूसी कथाओंमें एक नया परिवर्तन आ रहा है और यह हुआ है यथार्थवादके नामपर। इसमें उस समाजका चित्रण हुआ है, जिसमें न्यायालयके कमरेमें दर्जनों शराबकी बोतलें रखनेवाला न्यायाधीश किसीको एक औंस शराब रखनेके लिए जेलकी सजा दे सकता है। एक सीधा-सा लगनेवाला धार्मिक पुरुष भ्रष्टाचारके केन्द्रोंका संचालक हो जाता है। आजके युगमें ऐसे व्यक्तियोंके अस्तित्वके सम्बन्धमें विश्वास करना कठिन नहीं है। इस तरहके उपन्यासोंमें अपराधीके पता लगानेपर जोर नहीं दिया जाता। अपराधीका पता तो सबको है ही। उसको अपराधी साबित करना कठिन होता है। अतः जासूस या वकीलके लिए सम्बन्धित व्यक्तिको अपराधी प्रमाणित करने तथा इस कार्यके खतरोंका सामना करनेमें ही लेखककी प्रतिभा दृष्टिगोचर होती है। ऐसी कथाओंको अंग्रेजीमें 'हार्ड ब्वाइल्ड स्टोरी' कहते हैं।

हिन्दीमें इस तरहके जासूसी उपन्यास देखनेको नहीं मिलते। दुर्गाप्रसाद खत्रीके चार जासूसी उपन्यास प्रसिद्ध हैं—१. 'रक्तमण्डल', २. 'सफेद शैतान', ३. 'प्रतिशोध' और ४. 'लालपंजा'। आजकल हिन्दीमें तीन दर्जनसे भी अधिक जासूसी पत्र निकलते हैं और जासूसी उपन्यासोंकी संख्या वर्षमें हजारोंतक पहुँच जाती है। युगलकिशोर पाण्डे तथा ओम्प्रकाश शर्मा इस क्षेत्रमें प्रशंसनीय कार्य कर रहे हैं। —दे० उ०

उपन्यास, तिलस्मी–यूनानी शब्द 'टेलिस्मा'से तिलस्म शब्द निकला है, जिसका अर्थ है इन्द्रजाल, जादू, अलौकिक कारनामे। जिस उपन्यासमें आश्चर्यजनक कारनामोंकी भरमार होगी, जहाँ पात्रोंके लिए कुछ भी करना असम्भव न होगा, जहाँ पात्र मौतकी घाटीसे भी किसी चमत्कारके कारण लौटकर सही-सलामत घर आ जायगा, विघ्न-बाधाओंके जंगलमें घिरे रहनेपर भी कैंचीकी तरह मार करता हुआ बाल-बाल बच निकलेगा, वह तिलस्मी उपन्यास कहा जायगा। हिन्दी तिलस्मी उपन्यासके लेखकोंमें देवकीनन्दन खत्री और किशोरीलाल गोस्वामीका नाम सदा अमर रहेगा। 'चन्द्रकान्ता सन्तति' और 'लखनऊकी कब्र'को पढ़कर आनन्द प्राप्त करनेवाले पाठकोंकी संख्या सदा अधिक रहेगी। वीरेन्द्र सिंह देखनेमें निरीह, कमर झुकी हुई बुढ़िया, पर आफतकी पुड़िया, लखलखा–बेहोश कर देनेवाली दवा, जरासे संकेतपर बोलने लगनेवाली तथा तलवार चलाने लगनेवाली पत्थरकी मूर्तियाँ, पलक मारते ही पैरोंके नीचे खुल पड़नेवाली सुरंग जल्दी भूलनेवाली चीजें नहीं है। 'लखनऊकी कब्रमें' ऐसे पत्र है, जो दिनमें सफेद रहें, रातमें पढ़े जा सकें, 'मास्टर की' जो सब तालोंको खोल सके, सुरंग और जेबी खजानोंकी भरमार है। मनुष्यकी शक्तियाँ सीमित हैं, पर वह अपनेको सर्वसमर्थ देखना चाहता है। उपन्यासके पात्रोंको इस तरह सर्वशक्ति-सम्पन्न, अलौकिक कर्मदक्ष देखकर पाठक अप्रत्यक्ष रूपमें ही सही, पर अपनी ही शक्तिके विस्तारका दर्शन करता है और उसके हृदयकी किसी माँगकी पूर्ति होती है। इधर लोगोंकी रुचि बदली जरूर है और लोगोंमें यथार्थवादी दृष्टिकोणका उदय हुआ है, परन्तु इससे तिलस्मी उपन्यासोंके प्रचारमें कमी नहीं होगी, कारण कि ये किसी गहरी और मौलिक माँगपर आधारित हैं।

अंग्रेजीमें १८वीं शतीमें गोथिक रोमान्सके नामसे एक आन्दोलन चला था। इसके प्रभावमें बहुतसे उपन्यास लिखे गये, जिनमें तिलस्मका रंग गाढ़ा था। गोस्वामीजीके सभी ऐतिहासिक उपन्यासोंमें तिलस्मी रंग आ गया है। 'गुलबहार' और 'कुसुमकुमारी' जैसे उपन्यास भी तिलस्मके रंगसे अछूते नहीं है। —दे० उ०

उपन्यास, पारिवारिक–पारिवारिक उपन्यासमें एक ऐसी ही समस्या हाथमें ली जाती है, जिसका प्रभाव परिवार-

तक ही सीमित रहता है, फैलकर समाजको नहीं छूता। इसका सबसे अच्छा उदाहरण अंग्रेजी उपन्यास लेखिका जेन आस्टिनका उपन्यास 'प्राइड एण्ड प्रेजुडिस' है, जिसमें एक सुखी पारिवारिक जीवनकी कथा कही गयी है। जिस समय जेन आस्टिनने अपने उपन्यासोंकी रचना की, थी, वे बड़े उथल-पुथलके दिन थे—फ्रांसकी राज्यक्रान्तिके, नेपोलियनके उत्थान और पतनके, साम्राज्योंके उत्कर्ष और अपकर्षके; परन्तु इनके उपन्यासोंके कानोंपर जूँतक नहीं रेंगी। वे सबसे तटस्थ होकर एक परिवारकी कथा कहनेमें मग्न हैं। प्रेमचन्दका 'सेवासदन' एक पारिवारिक समस्याको लेकर अवश्य प्रारम्भ होता है, पर आगे चलकर उसकी सीमामें न जाने कितनी सामाजिक समस्याएँ जुड़ जाती हैं। राजनीति भी कूद पड़ती है। अतः 'सेवासदन'को विशुद्ध पारिवारिक उपन्यास नहीं कहा जा सकता। प्रेमचन्दका 'निर्मला' नामक उपन्यास अवश्य ही पारिवारिक उपन्यासका उदाहरण हो सकता है। 'निर्मला'में दहेज-प्रथा और अनमेल विवाहकी समस्याको सामाजिक स्तरपर ही छेड़ा गया है। पर जिस भावात्मकता और तल्लीनताके साथ पारिवारिक सम्बन्धोंका वर्णन किया गया है, उसके सामने सामाजिक समस्याएँ फीकी पड़ जाती हैं। एक दृष्टिसे जैनेन्द्रकी 'परख'में पारिवारिक रंग अधिक गाढ़ा मालूम पड़ता है, कारण कि वह कुल दो-चार व्यक्तियोंतक ही सीमित है, जो एक परिवारके ही सदस्य कहे जा सकते हैं, पर कथा कहनेका ढंग कुछ ऐसा रहस्यमय, हृदयको गहराईमें डुबानेवाला तथा आदर्शवादी है कि उसका पारिवारिक रूप छिप जाता है। वह पारिवारिकसे अधिक मनोवैज्ञानिक या आदर्शवादी बन जाता है। जो हो, इतना सत्य है कि पारिवारिक जीवनको आधार बनानेवाली औपन्यासिक प्रतिभा उच्च कोटिके लघु उपन्यासोंकी सृष्टि कर सकती है। —दे० उ०

उपन्यास, प्रवाहवादी—प्रवाहवादी उपन्यास-साहित्य भी मानव-जीवनकी तरह क्रिया और प्रतिक्रियाके रूपमें अपने रूपका विकास करता चलता है। १९वीं शताब्दीमें यथार्थवादिताकी माँग बढ़ी, रोमांसोंकी काव्यमयता, जगमगाते ऐंद्रिय चित्र तथा सोनेका संसार खड़ा करनेवाली पद्धतिके विरुद्ध जो प्रतिक्रिया हुई तो हमारे सामने सुसंघटित उपन्यास आये, जिन्हें अंग्रेजीमें **प्लाट नॉवेल** कहते हैं। उनमें घटनाओंको काट-छाँटकर रख दिया जाता था, उनके आदि, मध्य, अवसान-बिन्दु एकदम स्पष्ट रहते थे, सारे वातावरणपर कारण-कार्यके नियमका नियन्त्रण रहता था। अतः इनमें जीवनकी सच्ची अभिव्यक्तिका अभाव था। इसीके विरोधमें प्रवाहवादी उपन्यासोंकी रचना प्रारम्भ हुई। कहा जाने लगा कि इन उपन्यासोंमें एक कृत्रिम पूर्णता है, जिसमें पात्रोंके भाग्यका निर्णय स्वाभाविक रूपमें नहीं, परन्तु लेखकके पूर्वाग्रहके अनुसार हुआ है। जीवन तो आकस्मिक तथा असम्बद्ध घटनाओंका मेला है। यहाँ कहीं आदि, मध्य, अवसान नहीं। विधाताने कभी अपनी सृष्टिको समाप्त-स्पर्श नहीं दिया है। सब कुछ प्रवाहमय है, हो रहा है। सब कुछ शतृ-प्रत्ययान्त है, निष्ठा-प्रत्ययान्त नहीं। इसी प्रवाहमयताकी अभिव्यक्ति उपन्यास-कलाका ध्येय है। इसका परिणाम यह हुआ कि व्यावहारिक बाह्य जगत्की कार्यकारणताको हटाकर आन्तरिक विचारजगत्की अनुक्रमताकी प्रतिष्ठा हुई और चेतना-प्रवाहवादी उपन्यासका जन्म हुआ, जो एक तरहके दिवास्वप्नमग्न मस्तिष्कोत्पन्न साहसिक उपन्यासोंका ही रूप है।

चेतना-प्रवाह मनोविज्ञानका शब्द है, जिसका प्रयोग सर्वप्रथम विलियम जेम्सने करते हुए कहा था, "चेतना छोटे-मोटे टुकड़ोंमें विभक्त होकर उपस्थित नहीं होती, वह प्रवाहमयी होती है"। मिस सिन्क्लेयरने मिस डोरोथी रिचार्ड्सनके उपन्यासकी आलोचना करते हुए १९१५में इस शब्दका प्रयोग किया था। तभीसे आलोचनाके क्षेत्रमें भी इसका धडल्लेसे प्रयोग होने लगा है। इस पद्धतिका प्रयोग जेम्स ज्वायसके 'युलिसिस' नामक उपन्यास तथा वरजिनिया वुल्फके द्वारा हुआ है।

हिन्दीमें प्रभाकर माचवेका 'परन्तु' इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। पर 'अज्ञेय', जैनेन्द्र तथा भगवतीप्रसाद बाजपेयीके ('चलते-चलते') उपन्यासोंमें भी इस पद्धतिका प्रयोग मिलता है। इसमें स्वगतोक्तियोंकी भरमार रहती है और चेतनाके उस स्तरके भावोंकी अभिव्यक्ति की जाती है, जो अभी शाब्दिक रूप धारण नहीं कर पाये हैं। अतः यहाँकी भाषा व्याकरणके नियमोंकी पाबन्दीसे मुक्त है। इसका सबसे प्रसिद्ध उदाहरण जेम्स ज्वायसके 'युलिसिस'के अन्तिम ५० पृष्ठ हैं, जिनमें कहीं-कहीं विरामचिह्न नहीं, भाषाकी बोधगम्यताकी कोई परवाह नहीं, भाषा तात्कालिक भावोन्मादके दबावके कारण गढ़ ली गयी है। नाटकोंकी स्वगतोक्तियाँ सविकल्पक एवं शाब्दिक भावोंकी अभिव्यक्ति करती हैं और वे श्रोताकी अवस्थिति मानकर ही अपने स्वरूपका निर्माण करती हैं। परन्तु प्रवाहवादी साहित्यकी स्वगतोक्तियाँ चेतनाके उस स्तरके भावोंको अभिव्यक्त करती हैं, जहाँ उन्होंने अभी शाब्दिक रूप धारण नहीं कर पाया है। साथ ही वे किसी श्रोताके सुननेके लिए नहीं लिखी जाती हैं। अतः दोनों दो प्रकारकी चीजें हैं। एकको स्वगतोक्ति ही कहकर रुक जाते हैं, पर दूसरेको आन्तरिक स्वगतोक्ति कहकर पार्थक्य प्रकट किया जाता है। —दे० उ०

उपन्यास, मनोवैज्ञानिक—उपन्यासमें पात्रोंके क्रिया-व्यापार तथा घटनाओंका वर्णन रहता है। प्राचीन कालके कथाकार इस बातकी ओर अधिक ध्यान देते थे कि पात्र क्या करते हैं, सागरको बाँधते हैं या हिमगिरिको हिला देते हैं या आकाश-पातालके कुलाबे एक कर देते हैं। पर जब इन बाह्य बातोंसे हटकर लेखकका ध्यान इस बातकी ओर केन्द्रित होने लगता है कि पात्रोंकी विचार-प्रक्रिया क्या है, वे क्या सोचते हैं, कैसे सोचते हैं, उनके क्रिया-कलापकी मूल प्रेरणा क्या है तो मनोवैज्ञानिक उपन्यासका स्वरूप सामने आने लगता है। मनुष्य दो स्तरोंपर जीता है, स्थूल और सूक्ष्म—क्रिया और विचार। दूसरे शब्दोंमें कह सकते हैं कि मनुष्यके दो रूप होते हैं—क्रियारत मानव (मैन इन ऐक्शन) और विचार-रत मानव (मैन इन कण्टेम्प्लेशन), कह सकते हैं कि उपन्यासका क्रिया रत-मानव धीरे-धीरे विचार-रत होता गया है, साथ ही उसे

मनोवैज्ञानिक रूप देता गया है।

इस आन्तरिक अभियानमें उपन्यास-कलाको चार युगोंको पार करना पड़ता है। औपाख्यानिक (एपिसोडिक नॉवेल), कथानक-संघटित (प्लॉट नॉवेल), आत्मनिष्ठ (सब्जेक्टिव नॉवेल) और मनोवैज्ञानिक (साइकोलॉजिकल नॉवेल)। प्रथम युगमें डील-डौलवाली बाह्य क्रिया-कलापकी प्रधानता थी। १८वीं शताब्दीके डीफो, स्मालेट इत्यादिके उपन्यास इसी श्रेणीमें आते हैं। उनमें पात्रोंके कारनामों (किं कृतं)का वर्णन रहता था। हिन्दीमें प्रेमचन्दके आगमनके पूर्वतक यही अवस्था रही। दूसरे युगमें 'किं'से ध्यान हटकर 'कथं, केन कारणेन'की चर्चा प्रारम्भ हुई, अर्थात् आन्तरिक मूल प्रेरणाकी प्रधानता होने लगी। क्रिया-कलाप विविध विचार-धाराओंके संघर्षके परिणामशेष (रिजल्टेण्ट)-के रूपमें दिखलाये जाने लगे। मनुष्यके अन्तर्जगत्में तरह-तरहके विचारोंका उत्कर्ष, अपकर्ष, संघर्ष-विसंघर्ष, कशमकश, रस्साकशी चलती रहती है और बाहरी क्रियाएं इन्हींके स्थूल रूप हैं। पहले बाहरी क्रिया ही थी, आन्तरिक प्रेरणा नहीं। अब आन्तरिक प्रेरणाके युगमें क्रियाएँ गौण हो गयीं। विचार-संघर्षका महत्त्व बढ़ गया। तृतीय युगमें उपन्यास-कला बाहरी क्रियाओंकी रही-सही धूलको झाड़कर अन्तर्जगत्में जा बैठी और शुद्ध आत्मनिष्ठ मनोवैज्ञानिक उपन्यासोंके दर्शन हुए। अंग्रेजीमें मेरिडिथ और हेनरी जेम्समें यह युग प्रारम्भ हुआ और हिन्दीमें जैनेन्द्र और 'अज्ञेय'से। हिन्दीमें शायद यह युग आज भी चल रहा है।

परन्तु यूरोपीय उपन्यासोंमें मनोविज्ञानके समावेशकी दृष्टिसे चौथा युग भी चल रहा है। हेनरी जेम्स या मेरिडिथने जीवनकी कितनी ही गहराईमें प्रवेश क्यों न किया हो, पर वहाँ चेतन विवेकका स्पर्श आता ही था। चित्रण करते समय आन्तरिक विचार-प्रवाहको चेतना-स्तरपर ही लाकर देखा जाता था, अर्थात् आन्तरिकताको उसी बिन्दुपर पकड़ा जाता था, जहाँ वह शब्दोंका रूप धारण किये हुए होती है। उपन्यास-कलामें गहराईके उस स्तरपर जानेका सहारा नहीं था, जहाँ उसका रूप निर्विकल्प होता था, जहाँ आन्तरिकता शब्दोंके ढाँचेमें ढलकर जमी हुई नहीं होती थी। आज उपन्यास-कला वही कर रही है। जेम्स ज्वायस, वरजिनिया वुल्फ इस तरहके मनोवैज्ञानिक उपन्यासोंके प्रणेता हैं। हिन्दीमें कुछ-कुछ 'अज्ञेय'में और प्रभाकर माचवेके 'परन्तु'में इस कलाके दर्शन होते हैं।

मनोवैज्ञानिक उपन्यासमें तीन पद्धतियाँ विशेष रूपसे पायी जाती हैं—१. पूर्वदीप्ति। इसमें घटनाओंके क्रमकी सीधी रेखा न खींचकर कथाकार उन्हें पात्रकी स्मृति-तरंगोंके रूपमें उपस्थित करता है। नरोत्तम नागरका 'दिनके तारे' तथा 'अज्ञेय'का 'शेखर—एक जीवनी' या उदयशंकर भट्टका 'वह जो मैंने देखा' इसके अच्छे उदाहरण हैं। २. चेतना-प्रवाह-पद्धति और ३. कथाके क्रमिक विकासकी अवहेलना। इसमें कथा साफ-सुथरे ढङ्गसे नहीं चलती, वह कभी भी कहीं, किसी ओर मुड़ सकती है। 'नदीके द्वीप', 'शेखर—एक जीवनी', 'परन्तु'में यह बात देखी जा सकती है।

मनोवैज्ञानिक उपन्यासमें अनुभूतिकी आत्मनिष्ठ अभिव्यक्तिपर जोर दिया जाता है। कुछ विषय मनोवैज्ञानिक होते हैं, उदाहरणार्थ, एक प्रेमीकी दो प्रेमिकाएं, दो प्रेमिकाओंका एक प्रेमी, समाजके निन्दित व्यक्तिका चित्रण, बालकोंका, विशेषतः ज्येष्ठ, कनिष्ठ और एकलौते बालकोंके क्रिया-कलापका वर्णन, अकर्मण्य, आत्मलीन तथा कल्पना-जगत्में निवास करनेवाले प्राणी। ये सब विषय ही ऐसे हैं कि जिनके आधारपर रचित उपन्यासमें मनोवैज्ञानिकता आ ही जायगी। बहुत-से ऐसे उपन्यास होते हैं, जिनका विषय तो मनोवैज्ञानिक है, परन्तु जिस पद्धतिसे उनका स्वरूप खड़ा किया गया है, वह मनोवैज्ञानिक नहीं है। इलाचन्द्र जोशीके उपन्यास इसके उदाहरण हैं। परन्तु मनोवैज्ञानिक उपन्यासोंमें ये बातें देखनेको प्रायः मिल जायेंगी—१. सुसंघटित कथावस्तुका अभाव, २. लम्बी-चौड़ी, दीर्घकालीन कथाका अभाव। 'नदीके द्वीप'में डेढ़ बरसकी कथा है, पहाड़ीके 'सराय' और 'निर्देशक'में क्रमशः एक और तीन महीनोंकी कथाएँ हैं, ३. पात्रोंकी संख्यामें कमी, ४. वार्तालापकी अधिकता, ५. वर्णनात्मकताने अधिक नाटकीयताकी प्रगति और ६. पाठककी प्रतिक्रिया, जो अन्य उपन्यासोंके पाठकसे भिन्न होती है। साधारण उपन्यासोंका पाठक उपन्यासकारके मुखकी ओर देखेगा, परन्तु मनोवैज्ञानिक उपन्यासके पाठककी दृष्टि उपन्यासके पात्रोंकी तरफ होगी। —दे० उ०

उपन्यास, रोमांस—रोमान्स शब्द 'रोमन'से निकला है, जिसका अर्थ है असाधारण। अर्थात् रोमान्स (उपन्यास)में जो पात्र होंगे वे, ऐसे तो न होंगे, जो इस पार्थिव जगत्में पाये ही न जा सकें, पर वे लाखोंमें एक होंगे और उनका दर्शन विरल होगा। रोमान्स (उपन्यास)में कथा काव्यके उपकरणोंके सहारे अपने स्वरूपको प्रकट करती है। काव्यके क्षेत्रमें जब कथा साग्रह प्रवेश कर, वहाँके तत्त्वोंको अनुरूप बनाकर उन्हें अपनी सेवामें नियोजित करती है तो रोमान्स (उपन्यास)की नींव पड़ने लगती है। उसमें कथा थोड़ी-बहुत जटिल हो जाती है। पात्रोंकी अधिकता रहती है। अनेक कथाएँ आकर जुड़ने लगती हैं, पर कवित्वपूर्ण और भावपूर्ण वातावरण भी बना रहता है। वीरोंकी अलंकृत साज-सज्जाकी, रणक्षेत्र-प्रयाणकी तथा युद्धकी झंकारकी विस्तृत विवृति पाठककी कल्पनाको तृप्त करती रहती है। रोमान्स उपन्यासोंकी वर्ण्य वस्तु बहुत ही सीमित होती है। पात्र व्यक्ति नहीं, 'टाइप' (प्रकार) होते हैं। नायक उच्च वंशोत्पन्न राजा अथवा धर्मात्मा होता है तथा नायिका सुन्दरताकी देवी—देखनेवालोंके हृदयमें शौर्यभावको जागरित करनेवाली। पात्र किसी महत्त्वपूर्ण वस्तुकी खोजमें रहते हैं, वीरव्रती होते हैं, विपन्नो, विशेषतः नारियोंका उद्धार करना तथा प्रेमकी कठिन परीक्षामें अपने प्रतिद्वन्द्वियोंको मात देना उनका व्रत होता है। क्रीड़ा, समारोह, रणप्रयास, श्मशान-यात्राके दृश्य, धार्मिक युद्ध इत्यादिका वर्णन होता है। इन सबके बीच एक सुन्दरी कन्याकी प्रतिष्ठा होती है। यही रोमान्सके उपकरण हैं। हिन्दीमें विशुद्ध रोमान्स (उपन्यास) नहीं है। चण्डीप्रसाद हृदयेशका नाम किसी तरह रोमान्सिक कथाकारके रूपमें लिया जा सकता है।

खत्रीजी तथा गोस्वामीजीके अतिरिक्त भगवतीचरण वर्माकी 'चित्रलेखा'में भी कुछ रोमान्सिक तत्त्व पाये जाते है। प्रेमचन्दकी कहानी 'कामनातरु' रोमान्सिक कथाका अच्छा उदाहरण है (दे० 'उपन्यास')। —दे० उ०

उपन्यास, सामाजिक–वास्तवमें वर्ण्य वस्तुकी दृष्टिसे उपन्यासोंके दो ही विभाग हो सकते है—ऐतिहासिक और सामाजिक। धार्मिक तथा राजनीतिक दूसरेकी ही परिधिमें आ जाते है, क्योंकि धर्म और राजनीति भी सामाजिक जीवनके किसी विशिष्ट पहलूपर ही प्रकाश डालती है। प्रत्येक युगके समाजके जीवनको परिचालित करनेवाली कुछ समस्याएँ होती हैं, जिनसे उसे जूझना पड़ता है। चूँकि उपन्यास आया ही है जीवनका प्रतिनिधित्व करनेकी प्रतिज्ञा लेकर, अतः उसमें सामाजिकताका रंग गाढ़ा हो जाना स्वाभाविक है। हर देशके कथा साहित्यमे सामाजिक उपन्यासोकी ही संख्या अधिक है। भारतेन्दुका लिखा हुआ उपन्यास 'चन्द्रप्रभा' भले ही मौलिक न हो, पर सामाजिक अवश्य है। उसमे वृद्ध-विवाहकी समस्या छेड़ी गयी है। आगेके भी जितने उपन्यासकार हैं, उनमें भी समाजकी अवस्थाका ही चित्रण अधिक है, यहाँ तक कि प्रेमचन्द, कौशिक, 'निराला', गोविन्दवल्लभ पन्त, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, प्रतापनारायण श्रीवास्तव इत्यादिके उपन्यास भी सामाजिक ही हैं। कम-से-कम उनमें कोई ऐसी विशेषता अधिक विकसित नही हो सकी है कि बेधड़क कोई दूसरा नाम दे दिया जाय।

परन्तु यह भी बात सही है कि उपन्यास व्यक्तिमूलक साहित्य है, अर्थात् उसमे लेखक समाजकी हाँ-में-हाँ मिलानेवाला निष्क्रिय पदार्थ नही होता, उसका अपना व्यक्तित्व होता है और वह अपने विशिष्ट दृष्टिकोणसे सामाजिक समस्याओंपर विचार करता है। अतः सब-कुछ होते हुए भी समाजका यथातथ्य चित्रण उपन्यासमें नही आ सकता। सामाजिक व्यक्ति जीवनसे अधिक जीते रहते हैं, अतः औपन्यासिक जीवन जीवनसे कुछ अधिक होगा या कम—अधिक इस अर्थमें कि उसमें लेखकके मतमे जो समस्याएँ महत्त्वपूर्ण हैं, उनके सम्बन्धमें लम्बे-लम्बे वाद-विवाद आ जायँगे तथा अनेक अवान्तर प्रसंगोंका भी समावेश हो सकता है; कम इस अर्थमें कि जिनसे कथाकी प्रगतिमे कुछ भी योग न मिलता हो तथा जिनसे जीवनसे भी अधिक जीनेवाले पात्रों या घटनाओंकी यथातथ्यता नही आ सकी हो और जिन बातोंसे लेखकका तात्कालिक सम्बन्ध न हो, उन्हें छोड़ा जा सकता है। 'गोदान' सामाजिक उपन्यासका स्पष्ट उदाहरण है। इसमें अनेक तरहकी समस्याएँ छेड़ी गयी हैं। इसमें स्त्रियोंके समानाधिकार, स्त्री-शिक्षा, मुक्त प्रेम सम्बन्धी कितने ही विवाद आ गये हैं। नागरिक या ग्रामीण जीवनका जो चित्र खींचा गया है, वह भी लेखककी भावनाओंमें रँगे रहनेके कारण कुछ 'अधिक' या 'कम' हो गया है।

आजके हिन्दी उपन्यासमें सब तरहकी समस्याएँ मिल जायँगी। मेहनतकश मजदूरों, गरीब किसानों और पूँजीपतियों, जमींदारों तथा मिल-मालिकोंके संघर्षको लेकर इधर अनेक उपन्यास लिखे गये हैं। विधवा-विवाह, वृद्ध-विवाह, अनमेल विवाह, स्त्रियोंकी दुर्दशा, अछूतोद्धार, तलाक, पति-पत्नीका पारस्परिक सम्बन्ध इत्यादि सब प्रश्नोंको उपन्यासमें स्थान मिला है। इधर विवाह-प्रथामें अनास्थाके भाव जागरित हुए है और इस समस्याको लेकर भी उपन्यास लिखे गये है (दे०—'उपन्यास')—दे० उ०

उपन्यास, साहसिक–रोमान्सिक उपन्यासका थोड़ा-सा सुधरा हुआ रूप साहसिक उपन्यास कहा जा सकता है। रोमान्सिक उपन्यास वर्णनप्रधान होते है। ये ऐसे ही विषयोंको तथा प्रणालीको लेकर चलते है, जिनमें काव्यपूर्ण वर्णनों तथा अनेक लघु कथाओंकी संगति बैठायी जा सके। नीलम देशकी राजकन्या तथा किसी राक्षसके पंजेमें बन्दिनी निरीह कन्याका उद्धार रोमान्सके लिए प्रिय क्यों है? इसीलिए कि उद्धारकर्ताके यात्रापथमें पड़े साहसिक कार्योंको दिखलानेका उसमे अधिक अवसर मिल जाता है। इन्ही रोमान्सिक उपन्यासोंका थोड़ा परिवर्तित रूप संघटित **उपाख्यानात्मक उपन्यास** है। सात समुद्रपर बसनेवाली परीकी खोजमें निकलनेवाले वीर नायक और 'दशकुमारचरित'के राजकुमारों तथा खत्रीजीके 'वीरेन्द्रसिंह'मे जो अपनी प्रेयसीकी रक्षा तथा उद्धारके लिए प्राणोंकी बाजी लगा देते है, थोडा-बहुत अन्तर भले ही हो, पर है वे एक ही जातिकी चीजें। इन उपन्यासोंमें भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र-जैसी कथाओंका जमघट होता है। यदि उन्हें पृथक् रूपमें भी देखा जाय तो भी कोई विशेष हानि नही है। ये घटनाएँ एक प्रधान नायकके जीवनमें ही घटती है, अतः इसी सूत्रके सहारे उपन्यासमें आकर बँधी-सी ज्ञात होती है। अनेक उपन्यासोंमें ऐसा पाया जाता है। 'रंगभूमि', 'गोदान'की कथाएँ समानान्तर चलती रहती है, केवल कभी-कभी एक-दूसरेको छूभर देती है। यह प्रवृत्ति साहसिक उपन्यासोके नायकके सूत्रसे आबद्ध भिन्न कथाओंके भग्नावशेष-रूपमें है। —दे० उ०

उपपति–दे० 'नायक' (शृंगार)।

उपमा–शब्दार्थ है सादृश्य, समानता तथा तुल्यता आदि। अलंकारके सौन्दर्यका मूल सादृश्यमें है और यही कारण है कि सादृश्यमूलक अलंकार ही प्रधान है। उपमा इन समस्त सादृश्यमूलक अलंकारोंका भी प्राण है, क्योंकि स्वतः सादृश्य है। उपमाकी श्रेष्ठता और महत्त्वके सम्बन्धमे प्रारम्भसे अन्ततक आचार्य सहमत रहे है। यही कारण है कि प्रायः सभी आचार्योंने अर्थालंकारोंमें उपमाको सर्वप्रथम स्वीकार किया है। राजशेखरके अनुसार "अलंकारशिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसम्पदाम्। उपमा कविवंशस्य मातैवेति मतिर्मम" (अलं० शे०में उद्धृत, पृ० ३२), अर्थात् उपमा सम्पूर्ण अलंकारोंमें शिरोभूषणके समान काव्यकी सम्पत्ति है और कविवंशकी माताके समान है। इसी प्रकार रुय्यकने 'अलंकारसर्वस्व'में अनेक प्रकारके वैचित्र्यके आधारपर उपमाको सम्पूर्ण अलंकारोंका बीजरूप माना है—"उपमैवानेकप्रकारवैचित्र्येणानेकालंकारबीजभूतेति प्रथमं निर्दिष्टा" (पृ० २६)। अप्पय दीक्षितने 'चित्रमीमांसा'में उपमाकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन सुन्दर उक्तिसे किया है—"काव्यकी रंगभूमिपर अनेक भूमिका भेदोंसे विविध रूपोंमे, उपमा-नटी सभी काव्यरसिकोंका मनोरंजन करती है"।

हिन्दीमें केशवकी 'कविप्रिया'को छोड़कर प्रायः सभी प्रमुख अलंकारग्रन्थोंमें उपमाको प्रथम स्थान मिला है।

उपमा शब्द तथा उसके सादृश्य अर्थका इतिहास बहुत पुराना है, अलंकारशास्त्रकी प्रतिष्ठाके बहुत पहलेसे प्रयुक्त, ऋग्वेदमें उपमा शब्दका प्रयोग मिलता है। प्रारम्भमें उपमा शब्दका प्रयोग व्याकरणके अन्तर्गत हुआ है। यास्कने 'निरुक्त'में उपमाको 'सादृश्य' माना है और उसका कर्म गुणवान् अथवा प्रसिद्धसे गुणन्यून तथा अप्रसिद्धकी समता। यह तुलना न्यूनगुणसे गुणवान्की भी की जा सकती है। भरतके पूर्वके वैयाकरणोंने सादृश्यके आधारपर उपमाका जो विवेचन और विस्तार किया है, उसे बादके आलंकारिकोंने उनके अनलंकृत दृष्टिकोणका प्रत्याख्यान करते हुए भी स्वीकार किया है। वस्तुतः सम्पूर्ण भारतीय साहित्य और कलाकी दृष्टि अपने सौन्दर्यबोधके लिए सादृश्यका आश्रय ग्रहण करती है। भारतीय सौन्दर्यका मूलाधार सादृश्य रहा है और यह उपमा उसीका पर्याय है। इस कारण अलंकारशास्त्र प्रारम्भमें सौन्दर्यशास्त्रका (काव्यशास्त्रके रूपमें) पर्याय रहा हो तो कोई आश्चर्य नहीं (कुमारस्वामी : ट्रान्सफरमेशन ऑव नेचर)। भरतसे लेकर आधुनिक कालतक अलंकारोंके विवेचनके साथ उपमाका इतिहास जुड़ा हुआ है और वास्तवमें सम्पूर्ण अलंकारोंके विकासमें आलंकारिकोंका उपमा सम्बन्धी अपना दृष्टिकोण ही परिलक्षित होता है। अलंकारोंका विवेचन जिस सीमातक उन्नत तथा सुन्दर काव्यके आधारपर चला है, उसमें सादृश्यमूलक अलंकारोंकी स्वीकृति अधिक रही है और जब उसमें कारण-कार्यकी शृंखला, लोकन्याय तथा आधार-आधेयकी वैचित्र्य-प्रधान कल्पनाओंको स्थान मिलता गया, तब समझना चाहिए कि आचार्योंकी दृष्टिसे सौन्दर्यकी भावना हटती गयी है और उनकी विवेचनाके आधारमें उत्कृष्ट काव्य नहीं रहा है।

काव्यशास्त्रके अन्तर्गत सर्वप्रथम भरतने उपमाकी व्याख्या की है—"यत्किंचित्काव्यबन्धेषु सादृश्येनोपमीयते। उपमा नाम विज्ञेया गुणाकृतिसमाश्रया" (नाट्य०, १७ : ४४), अर्थात् काव्यबन्धोंमें सादृश्यके आधारपर गुण-आकृतिके आश्रयसे जो तुलना की जाती है, वह उपमा कहलाती है। भरतके अनुसार यह ४ प्रकारसे दी जाती है—एककी एकसे, एककी अनेकसे, अनेककी एकसे और अनेककी अनेकसे (वही, ४५, ४९) और ५ प्रकारकी होती है :-प्रशंसा, निन्दा, कल्पिता, सदृशी और किंचित् सदृशी (वही, ५०, ५५)। भामहने उपमाकी परिभाषामें उपमान और उपमेयका देश, काल, क्रिया आदिके आधारपर गुणलेशसे साम्य माना है (काव्यालंकार, २ : ३०)। वामनने सूत्रमें इसी भावको ग्रहण किया है—"उपमानेनोपमेयस्य गुणलेशतः साम्यमुपमा' (का० सू० वृ० : ४ : २ : १)। मम्मटने भामहके 'विरुद्ध' शब्दसे प्रेरणा ग्रहण कर "भेद होनेपर भी समान धर्मसे सम्बद्ध होना उपमा कहा है" (साधर्म्यमुपमा भेदे—का० प्र०, ८ : ८७)। मम्मटने 'सादृश्य'के स्थानपर 'साधर्म्य'का प्रयोग किया है। वस्तुतः 'साधर्म्य'में आचार्यका ध्यान उपमान तथा उपमेयके साधारण धर्मकी ओर है और 'सादृश्य' उनका काव्यात्मक विशेष गुण है। जयदेवकी परिभाषा अधिक व्यंजक है "उपमा यत्र सादृश्यलक्ष्मीरुल्लसति द्वयोः" (चन्द्रालोक, ५ : ११), अर्थात् दोनों उपमान-उपमेयमें जहाँ चमत्कृत सौन्दर्यमूलक सादृश्य कहा जाता है। हिन्दीमें आचार्योंने उपमाकी सामान्य परिभाषा दी है। केशवके अनुसार "रूप शील गुन होंहि सम, जौं क्यों हूँ अनुसार" (कवि०, १४ : १)। मतिराम और भूषणके लक्षणपर बादके आचार्योंका प्रभाव है—"जहाँ बरनिये दुहनिकी सम छबिको उल्लास" (ल० ल०, ४०); 'जहां दुहुनको देखिये, शोभा बनत समान" (शि० भू०, ३२)। इनपर 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द'की छाया स्पष्ट परिलक्षित होती है। कुलपतिके 'रसरहस्य'में उपमाका लक्षण अधिक स्पष्ट और वैज्ञानिक है "शब्द अर्थ समता कहैं, दोउनकी जेहि ठौर। नहिं कल्पित उपमान जहं, सो उपमा सिरमौर।" यहां शब्द-अर्थ कहकर अलंकारको ध्वनिसे अलग किया है और अकल्पित उपमान कहकर इसे उत्प्रेक्षासे अलग किया गया है। अनेक आचार्योंने मम्मट तथा विश्वनाथका आधार ग्रहण किया है—"उपमेय हु उपमानको इक सम धरम जु होइ" (पद्मा०, ७)।

१. पूर्णोपमा—उपमाके प्रमुख दो भेदोंमें प्रथम। वामनके अनुसार "गुणद्योतकोपमानोपमेयशब्दानां सामग्र्ये पूर्णा" (का० सू० वृ०, ४ : २ : ५), अर्थात् गुण द्योतक (वाचक) शब्द, उपमान और उपमेयके समग्र रूपसे उपस्थित होनेपर पूर्णोपमा होती है। आगे चलकर मम्मट तथा विश्वनाथ आदिने इसी बातको यों रखा है—"पूर्णोपमामें उपमान, उपमेय, साधारण (सामान्य) धर्म और वाचक शब्द स्पष्टतया निर्दिष्ट होते हैं।" (का० प्र०, १० : ८७ वृ०; सा० द०, १० : १५)। पूर्णोपमाका लगभग इसी प्रकारका लक्षण हिन्दीके सभी आचार्योंने दिया है—"वाचक अरु उपमेय जहँ साधारन उपमान" (ल० ल०, ४३)। मतिरामका लक्षण स्पष्ट नहीं है। पद्माकरके लक्षणमें अधिक स्पष्टता है—"उपमानरु वाचक धरम, उपमेय हु जो कोइ। ये चारहु परसिद्ध जहँ, पूरन उपमा सोइ" (पद्मा०, ८)। भूषण तथा दास आदि कतिपय आचार्योंने सामान्य उपमाको पूर्ण उपमा ही मानकर उसका लक्षण अलग नहीं दिया है। उदा०—"दावदार निरखि रिसानो दहि दलराय, जैसे गड़दार अड़दार गजराजको" (शि० भू०, ३४)।—"सुभग सुधाधर तुल्य मुख, मधुर सुधासे बैन" (पद्मा०, ९)। "तापस बाला-सी गंगा कल शशि मुखसे दीपित मृदु करतल, लहरे उरपर कोमल कुन्तल" (सु० नं० पन्त : नौकाविहार)।

२. श्रौती—पूर्णोपमाके दो भेदोंमेंसे एक। मम्मटके अनुसार—"जहाँ उपमानोपमेयभाव 'यथा', 'इव', 'वा' आदि शब्दोंके श्रुतिमात्रसे प्रतीत हो जाय, श्रौती उपमा कही जाती है" (का० प्र० : १०, ८७ वृ०)। विश्वनाथने ऐसे ही 'यथा', 'इव' आदि शब्दोंका प्रयोग इस उपमामें माना है, क्योंकि इनसे सुनते ही सादृश्यका बोध हो जाता है (सा० द०, १० : १६)। हिन्दीके आचार्योंमें जसवन्त सिंह, भूषण आदिने इस विभाजनको छोड़ दिया है। कुलपतिने मम्मटके आधारपर इनको स्वीकार किया है। दासने दो भेदोंका उल्लेख किया है, पर लक्षण नहीं दिये।

पद्माकरके अनुसार "सो श्रौती सब्दहिं सुनत, जहँ, वाचकको ज्ञान" (पद्मा०, २०)। लक्षण बहुत स्पष्ट नहीं है। वस्तुतः इव, यथा, लौं, से, सौं, लौं, जिमि आदि वाचक शब्दोंके प्रयोग जहाँ सादृश्यको प्रत्यक्ष कर देते हैं, वहाँ यह उपमा मानी जाती है। उदा०—"चन्द्रमुखी न हलै न चलै निरबान निवासमें दीपसिखा-सी" (मतिराम)। "ऐसा न हो कि मैं फिरूँ खोजता तुमको, है मधुप ढूँढ़ता यथा मनोज्ञ सुमनको" (साकेत)। इनमे 'सी' और 'यथा' इसी प्रकारके वाचक हैं।

३. आर्थी—पूर्णोपमाका दूसरा भेद। मम्मटके अनुसार उपमामें 'तुल्य' आदि शब्दोंके प्रयोगसे साधर्म्यकी प्रतीति आक्षेपगम्य (शब्दलभ्य या साक्षात् नहीं) होनेपर आर्थी उपमा होती है (का० प्र०, १० : ८७ वृ)। इन्हींके अनुसरणपर विश्वनाथने भी माना है कि 'तुल्य', 'समान' आदिक तुल्यार्थी वाचक शब्दोंके प्रयोगसे आर्थी उपमा होती है (सा० द०, १० : १६)। हिन्दीके आचार्योंने इनकी स्पष्ट विवेचना नहीं की है—'अर्थ निरूपै आरथी' (पद्मा०, २०)। वस्तुतः तुल्य, समान, सदृश, तूल, सम, सरिस आदि शब्दोंके प्रयोगसे जहाँ सादृश्यकी स्थापना की जाती है, वहाँ आर्थी उपमा मानी जायगी। इन शब्दोंका सम्बन्ध उपमान और उपमेय दोनोके साथ रहता है। ऐसी स्थितिमें 'चन्द्र इव मुख'मे जिस प्रकार साक्षात् सादृश्य या साधर्म्य कथन है, वैसा 'चन्द्रतुल्य मुख'मे नहीं है। 'इव' आदि वाचक जिन शब्दोके बाद प्रयुक्त होते हैं, उनको उपमान समझ लिया जाता है, पर 'तुल्य' आदि जिस शब्दसे सम्बन्ध रखते हैं, उसका उपमान होना आवश्यक नहीं होता। उदा०—"विजय करन दारिद दमन दरन सकल दुख दंद। गिरजा पद मृदु कंज सम बन्दत हौं सुख कंद" (पोद्दार : अ० मं०, ५९)। इन दोनोंका प्रयोग लुप्तोपमाके अन्तर्गत हो सकता है—"कुंद इंदु सम देह उमा रमन करुना अयन" (रा० च० मा०, १ : ३) इसमें धर्म-लुप्त है (सुन्दर)।

४. लुप्तोपमा—उपमाके प्रचलित प्रथम भेदोंमेंसे एक। वामनने कहा है 'लोपे लुप्ता' (का० सू० वृ०, ४ : २ : ६), अर्थात् गुणादिके लोप होनेपर लुप्तोपमा होती है। मम्मट तथा विश्वनाथने पूर्णोपमा और लुप्तोपमाका भेद-विस्तार किया है और इसका लक्षण यही स्वीकृत रहा "लुप्ता सामान्यधर्मादेरेकस्य यदि वा द्वयोः" (सा० द०, १० : १७), अर्थात् उपमान-उपमेय आदिक चारोंमेंसे एक, दो, तीनका लोप होता है तो लुप्ता कहते हैं। विश्वनाथने इसे भी श्रौती तथा आर्थीमें विभाजित किया है। पर मम्मटके समान ही इन्होंने वाक्यगा और समासगा श्रौती, वाक्यगा, समासगा और तद्धितगा आर्थीमें पूर्णोपमाके भेदोंको स्वीकार किया है, केवल तद्धितगा श्रौतीकी सम्भावना नहीं मानी है। हिन्दीमें इन उपभेदोंका प्रचलन नहीं है। एक तो ये हिन्दीकी प्रवृत्तिके अनुकूल नहीं है और दूसरे जिन संस्कृत के नवीन आलंकारिकोंका हिन्दीके आचार्योंने अनुसरण किया है, उन्होंने इस प्रकारके भेदोंका विस्तार प्रायः नहीं दिया है। उन्होंने केवल उपमान, उपमेय, साधारण धर्म तथा वाचकके लोपके आधारपर भेदविस्तार किया है। जसवन्त सिंहने 'भाषाभूषण'मे लुप्तोपमाका विस्तार मम्मट तथा विश्वनाथके अनुसार त्रिलुप्तातक स्वीकार किया है, यद्यपि यह भेद हिन्दीकी प्रकृतिके अनुकूल नहीं पड़ता। मतिरामके लक्षण हैं—"होत एक द्वै तीन कों, इन चारिहु मैं लोप" (ल० ल०, ४६)। भूषणने पूर्णोपमाकी परिभाषा देकर कह दिया है 'लुप्त घटत लौं मान' (शि० भू० : ३६)। कुलपति त्रिलुप्तातक भेद मानते हैं। हिन्दीमें यह विस्तार इस सीमातक बढ़ाया गया कि चारोंके लोपका भेद भी माना गया है "इक द्वै तीनरु चारको, जहाँ लोप पहिचान। यों सु पंचदस भेद जुत, लुप्तोपमा प्रमान" (पद्मा०, १०)। इस प्रकार पद्माकरने १५ प्रकारकी लुप्तोपमाएँ बतायी और उनके उदाहरण भी दिये है। धर्मलुप्ता—जिसमें धर्मकथन न किया जाय 'कुंद इंदु सम देह उमा-रमन करुना अयन" (रा० च० मा०, १ : ४)। इसमे शिवकी देह उपमेय, कुंद इंदु उपमान और 'सम' आर्थी उपमावाचक शब्द। यहाँ 'गौर' वर्ण आदि धर्मका लोप है। उपमान लुप्ता—उपमानका कथन न किया जाना 'गज सम गमन सुमन्द' (पद्मा०, १२)। यहाँ गज उपमेय है (अन्य उपमेयकी अनुपस्थितिमें), सम आर्थी उपमावाचक तथा गमन धर्म। वस्तुतः यह श्रौती उपमाका भेद नहीं हो सकता, क्योंकि इव आदिके प्रयोगसे शब्द उपमान साक्षात् हो जाता है। वाचकलुप्ता—जिसमें वाचक शब्दोंका कथन न हो—"नील सरोरुह स्याम तरुन अरुन वारिज नयन" (रा० च० मा०, १ : ३)। यहाँ वाचक शब्दका कथन नहीं है, नयन उपमेय, सरोरुह और वारिज उपमान तथा नील और अरुन धर्म। उपमेय लुप्ता—जिसमे उपमेयरूप प्रस्तुतका कथन न किया जाय—'अति उत्तम ज्यों चन्द' (पद्मा०, १२), अथवा 'पडी थी बिजली-सी विकराल' (साकेत)। इन दोनों उदाहरणोंमें 'मुख' तथा 'कैकेयी' उपमेयोंका संकेत किया है, उल्लेख नहीं। संकेत आवश्यक है, क्योंकि उसके बिना उपमा ही सम्भव नहीं होगी।

वाचकधर्मलुप्ता—जिसमें वाचक शब्दोंके साथ साधारण धर्मका भी कथन न हो—"सुनि कुल वधू झरोखनि झाँकति रामचन्द्र छबि चन्द बदनियाँ" (गीता०)—तथा "दोनों भैया मुख शशि हमें लौट आके दिखाओ" (प्रियप्रवास)। इनमें वाचक तथा धर्मका कथन नहीं किया गया है, साथ ही उपमेयके धर्मकी प्रधानता होनेके कारण यहाँ रूपक नहीं माना जायगा, 'झाँकति' और 'दिखाओ' आदि धर्म वदन और मुखकी प्रधानता सिद्ध करते हैं। धर्मोपमानलुप्ता—जिसमें धर्मके साथ उपमानका उल्लेख भी न हो—'गज-सी गति अवरेखु' (पद्मा०, १५) तथा—"तदपि कहूँ कोई नहीं काव्यानन्द समान" (काव्यदर्पण)। इनमें उपमेय तथा वाचक शब्द 'गजगति', 'काव्यानन्द' और 'सी' 'समान' है; पर मन्द, सुख धर्म और कामिनीकी गति, सुख साधन उपमान नहीं है। यह भेद भी श्रौतीमे ही सम्भव है, क्योंकि इव आदिसे प्रस्तुत उपमेय उपमान हो जायँगे।

वाचकोपमेयलुप्ता—जिसमें वाचक और उपमेयका कथन न हो—'चपल चंचला देखु' (पद्मा०, १५) अथवा—"छवि सो रति आचरति है चलि अवलोकहु लाल" (रसमंजरी)। इनमें चंचला, रति उपमान तथा चपल, छवि

समान धर्म है, पर उपमान और वाचक शब्द नहीं हैं। वाचकोपमान लुप्ता—जिसमें वाचक शब्द तथा उपमानका कथन न हो—"दाडिम दसन सु सित अरुन है मृग नयन विसाल" (रसमंजरी)। इसमें दसन नयन उपमेय तथा सित अरुन, विसाल साधारण धर्म हैं, वाचक शब्दोंके साथ दाडिमके दाने, मृग-नेत्र आदि उपमान हैं। धर्मोपमान-वाचक लुप्ता—जिसमें इन तीनोंका कथन न हो—"वृषभ कंध केहरि ठवन" (रा० च० मा०)। या—"खो गया मेरा खग अनजान मृगेक्षणि' (सु० नं० पं०)। इनमें वृषभ, केहरि तथा मृग उपमेय नहीं हैं, क्योंकि इनकी आँखों, ठवनि तथा कन्धोंमें उपमा दी जाती है, इनसे नहीं। अतः केवल उपमेय आँख, गति और कन्धेका कथन है और सब लुप्त हैं। वाचक-धर्म-उपमेयलुप्ता—"मत्त गयंद हंस तुम सोंहैं कहा दुरावति हम सों" (सू० सा०)। यहाँ गयंद और हंस उपमान हैं, नायिकाकी गति तथा रूप आदि उपमेयकी सुन्दरता वर्णित है, अतः यहाँ वाचक, धर्म तथा उपमेय तीनोंका कथन नहीं है और कोई रूपक नहीं बाँधा गया है, इसलिए रूपकातिशयोक्ति भी नहीं है (का० द०, पृ० ३५५)। वस्तुतः इन भेदोंमें कई केवल विस्तार करनेकी प्रवृत्तिके द्योतक हैं, उनका समुचित निर्वाह नहीं हो सकता।

उपमाके अन्य भेदोंमें प्राचीनोंका मत हिन्दीमें किसीने ग्रहण नहीं किया है। वस्तुतः दण्डी द्वारा किये गये उपमाके भेद स्वतन्त्र रूपमें प्रतिष्ठित हो गये। हिन्दीके कुछ आचार्योंने जयदेव और अप्पय दीक्षितके आधारपर उपमाके भेदोंकी चर्चा नहीं की और कुछने मम्मट और विश्वनाथके आधारपर मालोपमा तथा रसनोपमा आदिकी चर्चा कर दी है। आधुनिक विवेचकोंने विश्वनाथके एक-दो भेदोंको और स्वीकार कर लिया है।

५. बिम्बप्रतिबिम्बोपमा—जहाँ उपमेय और उपमानके कहे हुए विभिन्न धर्मोंका आपसमें प्रतिबिम्ब-भाव वर्णित हो। विश्वनाथने इस उपमाका उल्लेख ऐसी उपमाओंके अन्तर्गत किया है, जिनका साधारण धर्म लुप्त नहीं है। उनके अनुसार उपमाके सभी साधारण धर्म उपमेय तथा उपमानमें अलग-अलग कथित रहते हैं और उनमें बिम्बप्रतिबिम्ब-भावसे सम्बन्ध स्थापित किया जाता है (सा० द०, १० : २३), अर्थात् उनमें केवल शाब्दिक अन्तर रहता है। यथा—"तेरा नीला वपुष जिसने होयगा कान्तिधारी, जैसे बर्हावृत मुकुटसे गोपवेशी मुरारी" (रसमंजरी)। इसमें इन्द्रधनुष-युक्त नील-मेघ और मयूर-पुच्छके मुकुट धारण किये कृष्णकी उपमा दी गयी है—साधारण धर्मका शाब्दिक कथन भिन्न है—मेघका इन्द्रधनुष और कृष्णका मयूरपुच्छ। परन्तु इन दोनोंमें समान धर्मका प्रतिबिम्बन है।

६. रसनोपमा—मम्मटके अनुसार करधनी (रशन) की एक किंकिणीका दूसरी किंकिणीसे जिस प्रकार क्रमशः सम्बन्ध रहता है, उसी प्रकार इसमें उपमेय-उपमान एक-दूसरेसे जुड़े रहते हैं (का० प्र०, १० : ९० वृ०)। विश्वनाथने इसी बातको दूसरी तरह कहा है—"यदोर्ध्वमुपमेयस्य यदि स्यादुपमानता" (सा० द०, १० : २५), अर्थात् जब उपमेय अगले क्रमसे ही उपमान हो जाय। मतिरामने इसीका भाव ग्रहण किया गया है—"जहाँ प्रथम उपमेय सो होत जात उपमान" (ल० ल०, ५१)। पद्माकरका लक्षण भी समान है—"...उपमेय जहँ, होत जात उपमान" (पद्मा०, २४)। उदा०—"सुगुन ज्ञान सम उद्यम, उद्यम सम फल जान। फल समान पुनि दान है, दान सरिस सनमान" (वही, २५)।

७. मालोपमा—मम्मटके अनुसार एक ही उपमेयके लिए अनेक उपमानोंके गुम्फनके कारण मालोपमा कहते हैं (का० प्र०, १० : ९० वृ०)। विश्वनाथने इसीको दुहरा दिया है—"मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते" (सा० द०, २६)। मतिराम, पद्माकर आदि हिन्दीके आचार्योंने भी इसीको दुहरा दिया है—"जहाँ एक उपमेयको होत बहुत उपमान" (ल० ल०, ४८)। उदा०—"रूप जाल नँदलालके, परि करि बहुरि छुटै न। खंजरीट मृग मीनसे, ब्रजबनितनके नैन" (ल० ल०, ५०)। और "पछतावेकी परछाँहीं-सी तुम उदास छायी हो कौन? दुर्बलता-सी अँगड़ाई-सी अपराधी-सी भयसे मौन" पहलेमें नैनके लिए और दूसरेमें छायाके लिए उपमानोंका कथन है।

उपमा मौलिक अलंकार है और उसके सादृश्यकी कल्पनामें सौन्दर्यकी काव्यात्मक उद्भावना है। अतएव इसका सफल और सुन्दर प्रयोग प्रत्येक युगके उत्कृष्ट कविमें मिलता है। उपमाके प्रयोगमें तुलसीकी कल्पना सबसे अधिक प्रखर है। कथाके प्रवाह और उसके भावात्मक उतार-चढ़ावके साथ उपमाएँ सहज रूपसे आकर सौन्दर्य-बोधके उत्कर्षको बढ़ाती हैं। अन्य कथा-काव्योंमें भी इस अलंकारका पर्याप्त प्रयोग हुआ है। सूर तथा अन्य कृष्ण-भक्त कवियोंके पदोंमें उपमाके सुन्दर और सहज प्रयोग हैं। रीतिकालकी ऊहात्मक तथा उक्तिवैचित्र्यकी प्रवृत्तिके साथ अन्य अलंकारोंका मेल अधिक रहा है। आधुनिक युगके कथाकाव्योंमें पुनः इसका सुन्दर प्रयोग हुआ। छायावादी तथा नवीन काव्यमें भी लुप्तोपमाके विविध रूप मिलते हैं। —र०

उपमान—अलंकार-शास्त्रमें उपमाके चार प्रमुख उपादानोंमें एक उपादान (दे०—'उपमा')। वर्णनीय वस्तुकी अथवा उपमेयकी जिस उत्कृष्ट गुणवाले पदार्थसे उपमा दी जाती है, उसे 'उपमान' कहते हैं। इस शब्दका प्रयोग उपमाके विकासके साथ जुड़ा हुआ है। निरुक्ततक इसका प्रयोग इसी अर्थमें चल पड़ा। पाणिनिके समयतक उपमाके चारों अंग निर्दिष्ट हो चुके थे। पतंजलिने उपमानकी व्याख्या की। उनके अनलंकृत उदाहरण 'गौरिव गवय'का उल्लेख बादके आचार्योंने किया है। संस्कृत तथा हिन्दीके सभी आचार्योंने उपमाके अन्तर्गत उसके चारों अंगोंका उल्लेख किया है।

रीतिकालीन आचार्य कुलपति मिश्रके शब्दोंमें 'उपमेय' और 'उपमान'का पारिभाषिक रूप इस प्रकार है—"उपमान अरु उपमेय हैं, अलंकारके प्रान। ताते इनको प्रथम ही, कहियत रूप बखान। होय बड़ाई सम किये, जाके सो उपमान। जाको बर्नन कीजिये, सो उपमान बखान"

(स्वच्छन्द)। उदा०—"अधिकार न सीमामें रहते । पावस-निर्झरसे वे बहते" (प्रसाद : कामायनी)। इसमें 'पावस-निर्झर' उपमान अथवा अप्रस्तुत वस्तु है, जिससे 'अधिकार'-रूप उपमेय अथवा प्रस्तुत वस्तुकी समता की गयी है। इसी प्रकार—"सखि ! भिखारिणी-सी तुम पथपर फैलाकर अपना अंचल, सूखे पत्तोंको ही पा क्या, प्रमुदित रहती हो प्रतिपल" (छाया : पंत)। भिखारिणी जिस प्रकार रूखा-सूखा खाकर ही सन्तुष्ट हो जाती है, वैसे ही छाया भी सूखे पत्ते पाकर क्या प्रमुदित रहती है ? इसमें उपमेय 'छाया'-की 'भिखारिणी'-रूप उपमानसे उपमा दी गयी है। यहाँ सादृश्य या उपमान सुन्दर बन पड़ा है।

हिन्दीमें 'उपमान'को अवर्णनीय, अवर्ण्य, अप्रस्तुत, अप्रकृत, अप्रासंगिक और अप्राकरणिक भी कहते हैं। सर्वाधिक प्रचलित और प्रयुक्त शब्द 'उपमान' और 'अप्रस्तुत' है। रामचन्द्र शुक्लने 'उपमान'के लिए 'अप्रस्तुत-योजना' और 'अप्रस्तुत-विधान' दो नये शब्दोंका प्रयोग किया है, किन्तु इनमेंसे 'अप्रस्तुत-योजना' शब्द अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त एवं सम्यक् अर्थका प्रतिपादक प्रतीत होता है। इनके अनुसार यह शब्द उपमानकी अपेक्षा इसलिए उपयुक्त है कि उपमान उतने व्यापक अर्थका बोधक नहीं, जितने व्यापक अर्थकी प्रतीति 'अप्रस्तुत-योजना' अथवा 'अप्रस्तुत-विधान' शब्दसे होती है। विशेषके लिए दे०—'अप्रस्तुत'। —वि० स्ना०

उपमित कथाकाव्य–दे० 'दृष्टान्तकाव्य'।

उपमेय–उपमाके चार अंगोंमेंसे एक, जिसकी किसी अन्य उत्कृष्ट गुणवाली वस्तुसे समता की जाय। उदा०—'हरिपद कोमल कमलसे', इनमें 'हरिपद' उपमेय अथवा प्रस्तुत वस्तु है, जिसकी कमलसे समता दी गयी है। और भी—"पागल-सी प्रभुके साथ सभा चिल्लाई, सौ वार धन्य वह एक लालकी माई' (मै० श० गुप्त : साकेत)। यहाँ सभा उपमेय है, जिसकी 'पागल' उपमानसे समता की गयी है।

हिन्दीमें उपमेयको वर्णनीय, वर्ण्य, प्रस्तुत, प्रकृत, प्रासंगिक या प्राकरणिक भी कहते हैं। इनमेसे वैसे तो उपमेय शब्द परिपाटीसे प्रचलित है, किन्तु आज प्रस्तुत शब्द अधिकांशमें उपमेयका स्थानापन्न हो गया है। रामचन्द्र शुक्लने भी उपमेयके स्थानपर प्रस्तुतका प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक किया है।

उपमाके विकासके साथ इसका प्रयोग भी सम्बद्ध है। उपमाके अन्तर्गत उपमेयका विचार किया गया है, हिन्दीके आचार्योंने 'जिसका वर्णन किया जाय, उसे उपमेय' समान रूपसे माना है—"जाको वर्णन कीजिये, सो उपमेय प्रमान" (मतिराम : ल० ल०, ३९)। —वि० स्ना०

उपमेयोपमा–सादृश्यगर्भ भेदाभेदप्रधान अलंकारका भेद। यह अलंकार कुछ आचार्योंके द्वारा स्वतन्त्र माना गया है—भामह, उद्भट, वामन, मम्मट तथा विश्वनाथ आदिने और कुछने उपमानके अन्तर्गत माना है जैसे दण्डी, रुद्रट तथा भोज आदिने। हिन्दीमें प्रायः आचार्योंने इसे स्वतन्त्र अलंकार माना है—मतिराम, भूषण, कुलपति, दास तथा पद्माकर आदिने। केशवने इनकी चर्चा नहीं की है और देवने 'काव्य-रसायन'में इसे उपमाके भेदके रूपमें स्वीकार किया है। मम्मटके अनुसार—'विपर्यास उपमेयोपमा तयोः" (का० प्र०, १० : ९१), अर्थात् जहाँ दोनोंमे (उपमेय-उपमानमें) परस्पर परिवृत्ति (परिवर्तन) प्रतिपादित किया जाय। विश्वनाथ तथा जयदेवने 'पर्यायेण' कहकर मम्मटका लक्षण ले लिया है। हिन्दीके आचार्योंने प्रायः इसीका अनुवाद प्रस्तुत किया है—"जहाँ परस्पर होत है उपमेयोपमान" (शि० भू०, ५३)। दासका लक्षण किंचित् अलग है—"उपमा दोऊ दुहुनकी, सो उपमा उपमेय" (का० नि०, ८)। इसमें परस्पर उपमा देनेसे अन्य उपमानोंके निरादरका भाव व्यंजित है, जो इस अलंकारकी विशेषता है। उदा०—"तेरो तेज सरजा समत्थ दिनकर सो है, दिनकर सोहै तेरे तेजके निकरसों" (शि० भू०, ५४)। अथवा—"तरल नैन तुव बचनसे, स्याम तामरस तार। स्याम तामरस तारसे. तेरे कच सुकुमार" (का० नि०, ८)। यहाँ शिवाजीके तेज और दिनकरकी तथा कच और तामरसतारकी परस्पर उपमा दी गयी है। —र०

उपयोगितावाद–किसी भी वस्तु, विचार अथवा कार्यका महत्त्व आँकनेके लिए उपयोगिताकी कसौटी बहुत दिनोंसे चली आ रही है। किसी कालविशेषके सामाजिक उद्देश्योंके अनुरूप ही उपयोगिताके प्रतिमान भी बदलते रहे हैं, पर उपयोगिताका सिद्धान्त अक्षुण्ण रहा है। उपयोगितावादको साहित्यमें सोद्देश्यतावादकी भी संज्ञा दी गयी है और इसका विरोधी सिद्धान्त 'कला कलाके लिए' अथवा कलावाद (दे०)के रूपमें उपस्थित किया गया है।

उपयोगितावाद शब्दका प्रचार १९वीं शताब्दीमें यूरोपमें हुआ है। वहाँ इसका प्रतिरूप 'यूटीलिटैरियनिज्म' (utilitarianism) है। कहा जाता है कि यह ग्रीक एपीकरस (epicurus)के आनन्दवादका पुनरुत्थान है। यूरोपमें यह अठारहवी शताब्दीके वायवी आदर्शवादके विरुद्ध प्रतिक्रियाके रूपमें आया। इसके प्रयोक्ता बैंथम (bentham), आस्टिन (austin), मिल (mill) आदि व्यक्तिवादी दार्शनिक थे। उनके अनुसार राजनीतिक संस्थाएँ, राज्यकी नीतियाँ आदि किसी आदर्श, काल्पनिक मानवीय अधिकारों एवं कर्तव्योंके लिए नहीं है, उनकी महत्ता मानवीय सम्बन्धोंकी एक निश्चित, स्थिर उपयोगिताके लिए सहायक होनेमे है। इन लोगोंके अनुसार समाजके नियमनका एकमात्र सिद्धान्त होगा 'सर्वाधिक संख्याका अधिकतम सुख'। इसका स्वरूप इस कालमें व्यक्तिवादी है। यह मुक्त व्यापार, पेशेकी स्वतन्त्रता, व्यापारके क्षेत्रमें अबाधित प्रतियोगिता, व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा अन्य व्यक्तिवादी सुधारोंकी माँग करता हुआ आभिजात्य श्रेष्ठताको चुनौती देता है। उपयोगितावादकी विचारधारामें एक विचित्र विकास परिलक्षित होता है; इस व्यक्तिवादिताकी परिणति होती है समाजोन्मुख विचारधारामे। मिल-ने यह अनुभव किया कि व्यक्तिकी निरपेक्ष स्वतन्त्रता 'सर्वाधिक संख्याके अधिकतम सुख'के विपरीत जाती है। अन्ततः उसे वैयक्तिक और सामाजिक उपयोगितामें भेद करते हुए द्वितीयको श्रेष्ठतर स्थान देनेके लिए विवश होना पड़ा। समाजवादी विचारधारा (दे०—'समाजवाद')की पृष्ठभूमिमें उपयोगितावादी दर्शनका गहरा हाथ है। समाजवादी

विचारधाराके ही चरम रूप 'मार्क्सवाद'में सर्वहारावर्गको मिली श्रेष्ठताके अनुरूप उपयोगिताकी कसौटी भी इसी वर्गका कल्याण हो गयी तथा समाजशास्त्रीय विचारकोंने कलाको वर्गयुद्धका अस्त्र माना, उसे विचारोंके प्रचारका साधन स्वीकार किया। इस प्रकार कला एवं साहित्यकी उपयोगिताको सामाजिक संघर्ष एवं विकासके साथ जोड दिया गया।

परन्तु जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, साहित्यका उपयोगितावादी दृष्टिकोण नया नहीं है। किसी-न-किसी रूपमें उपयोगिताका प्रश्न साहित्यके साथ सम्बद्ध रहा है। भामहने 'काव्यालंकार'में काव्यके तीन प्रयोजन माने थे—शास्त्रादि ज्ञान, आनन्द और कीर्ति। रुद्रटने भी यश, इष्टकी प्राप्ति, पुरुषार्थ-सिद्धि आदिको काव्यका प्रयोजन माना है। ध्वन्यालोककार कुन्तकने 'सरसोपदेशरूप प्रयोजन' स्वीकार किया है—'काव्य हृदयको प्रभावित कर कर्तव्याकर्तव्यका सरस विश्लेषण किया करता है।' काव्यसे रसप्रतीति और रसप्रतीतिसे जीवनादर्शोंकी ओर प्रगति, ऐसी कुछ विचारधारा ध्वनि-सम्प्रदायकी रही है। मम्मटने इस 'रसरूप काव्यप्रयोजन'को और परिष्कृत करके उपस्थित किया। उन्होंने काव्यके छः प्रयोजन माने—(१) यश-प्राप्ति, (२) अर्थलाभ, (३) आचारज्ञान, (४) अमंगल-निवारण, (५) रस या आनन्द, (६) सरस उपदेश। इनमें कविके प्रयोजन प्रथम चार है तथा कवि और सहृदय दोनोंके अन्तिम दो। मम्मटकी इस बातको परवर्ती आचार्योंने लगभग स्वीकार कर लिया है। आधुनिक युगमें रामचन्द्र शुक्लने भी काव्यका उद्देश्य लोकमंगल और आत्मविस्तार स्वीकार किया है। इस सम्बन्धमें यह भी ध्यान देने योग्य है कि हमारे काव्यशास्त्रमें विशुद्ध कलावादी दृष्टिकोण अपनाकर विवेचन प्रायः नहीं हुआ है। प्रत्येक आचार्यने काव्यप्रयोजनोंमें उपयोगिताके किसी-न-किसी रूपको स्वीकार किया है, यह दूसरी बात है कि प्रारम्भमें यह उपयोगिता कवितक सीमित थी, बादमें वह सहृदय-तक विस्तृत हो गयी।

पश्चिमी काव्यदर्शनमें भी उपदेशसे सम्बन्धित उपयोगिताको प्रमुख स्थान मिला है। ग्रीसमे प्लेटो-(plato)के समयसे ही यह मत प्रचलित है कि काव्य-का पहला कार्य शिक्षा देना है। शिक्षाके क्षेत्रमें भी काव्यका महत्त्वपूर्ण स्थान था, क्योंकि ऐसा विश्वास था कि उससे बच्चे देवी-देवताओंके बारेमें जानेंगे। काव्यचरित्र अनुकरण योग्य होते हैं तथा सैन्यसंचालन जैसे अनेक विषय होमर (homer) द्वारा प्रशंसनीय ढंगसे बताये गये हैं। इस शिक्षक-दृष्टिका विरोध भी ग्रीसमें कम नहीं हुआ। प्लेटोने स्वयं संकेत किया कि देवता बहुधा चरित्रहीन होते हैं। एक भी आदमी देशमें सेनानायक इसीलिए नहीं चुना गया कि उसकी शिक्षा होमरके काव्यके माध्यमसे हुई है तथा एचिलीस (achilles) जैसे चरित्र अनुकरणीय नहीं है। अरस्तू (aristotle)ने भी काव्यके सौन्दर्यबोधवाले पक्षपर अधिक बल दिया है। पर होरेस (horace)ने काव्यके उपदेशवाले पक्षको महत्त्वपूर्ण सिद्ध किया। उसने कहा कि "काव्य शिक्षा देता है, आनन्द देता है या दोनों करता है" यह बात कुन्तक और मम्मटसे बहुत दूर नहीं है। लूक्रेसिस(lucrecic)ने भी उपयोगितावादी दृष्टिकोणको ही प्रधानता दी।

आगे आकर रस्किन (ruskin)ने तो काव्यको मुख्य रूपसे उपदेशप्रधान माना है। उसके अनुसार आनन्द तो 'बाई प्रॉडक्ट' (गौण उत्पादन) है, मुख्य बात तो धर्मभावनाको तीव्र करना, नैतिक स्तरको पूर्ण बनाना और भौतिक सेवा करना है (अर्थलाभ—मम्मटने भी स्वीकार किया है)। टॉल्सटाय (tolstoy) भी काव्यके धार्मिक और नैतिक पक्षपर जोर दिया।

१९वीं शतीके अन्तिम और बीसवीं शतीके प्रारम्भिक भागमें 'कलाके लिए कला' आन्दोलनको अधिक बल मिला। वाल्टर पेटर (walter pater), आस्कर वाइल्ड (oscar wilde), ब्रेडले (bradley) जैसे समर्थ लोगोंका इसे समर्थन मिला।

स्थूल उपयोगितावादमें कुछ परिष्कार भी इस कालमें हुए। एक तो यह विचार आया कि कला आत्माको ऊँचा उठाती है, बगैर किसी प्रकारकी प्रत्यक्ष शिक्षाका आश्रय लिये, और दूसरा यह सुझाव कि वह आत्माके लिए रंजन-कारी है, मानसिक शक्तिप्रदायिनी है। नवमानवतावादी [मोर (more), इरविंग बैबिट (irwing babbitt)] आदि लेखकको मानवीय नियमोंके प्रति जिम्मेदार देखते हैं और और ये नियम वस्तुगत नियमोंसे भिन्न है।

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, उपयोगिताके रूप और प्रतिमान बदलते रहे हैं। कलाओंकी शैक्षिक और उपदेशात्मक उपयोगिता प्राचीन कालसे मान्य रही है और किसी-न-किसी रूपमे वह आज भी मान्य है। कलाकी नैतिक उपयोगिता भी स्वीकार की जाती रही है। आधुनिक युगमे रस्किन, टॉल्सटाय और गाँधी नैतिक-आध्यात्मिक उपयोगितावादके समर्थक हुए हैं। कलाएँ आनन्द देती हैं, रंजन करती हैं, यह भी उपयोगितावादी दृष्टिकोण ही है। भारतीय काव्य-चिन्तनमें तो काव्यको पुरुषार्थचतुष्टयकी प्राप्ति करानेवाला माना गया है। कम्युनिस्ट सिद्धान्तोंमे ढलकर कला वर्गयुद्धका शस्त्र बन जाती है और अब कम्युनिष्ट ही नहीं, भारत जैसे देशमे वह योजना प्रचारका अंग बन गयी है। इतना ही नहीं, शीतयुद्धने कलाओंकी एक नयी उपयोगिताको जन्म दिया है—एक दूसरेके ऊपर तीव्र प्रहार करनेका। इस प्रकार कलाओंका उपयोग शेष सृष्टिके साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करनेमें नहीं, विद्वेषात्मक सम्बन्ध रखनेमें होने लगा है। इस तरहके उपयोगोंमे यह भुला दिया जाता है कि कला मानवीय अनुभवका प्रकाशन है एवं यदि मानवीय अनुभव मूल्यवान होना है तो कथाएँ भी मूल्यवान होती हैं। साहित्यिक-कलात्मक कृतियोंके माध्यमसे पाठक जीवनके अधिक समीप गहरे और ताजे सम्पर्कमें आता है; वह अधिक समृद्ध जीवन जीता है। कलाओंकी यही वास्तविक उपयोगिता होती है। स्थूल भौतिक उपयोगिताओंमे उसका बहुत दूरका सम्बन्ध होता है।

—दे० शं० अ०

उपयोगी कला—कलाओंको सामान्यतः दो वर्गोंमें विभक्त किया जाता है—**ललित कला** तथा **उपयोगी कला**।

ललित कलाएँ मनुष्यके सौन्दर्यबोधकी प्रतीक हैं, उपयोगी कलाओंमें वैज्ञिकता तथा उपयोगिताका सम्मिश्रण रहता है। ललित कलाओंमें वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला तथा काव्यकलाकी गणना होती है। उपयोगी कलाएँ मनुष्यकी भौतिक आवश्यकताओंकी पूर्तिसे सम्बद्ध हैं। उपयोगी कलाओंमें भी थोडा-बहुत सौन्दर्यबोधका भाव तो रहता है, पर वह गौण है। कुर्सी, मेज आदि वस्तुओंमे 'डिजाइन'का ध्यान रखा जाता है, किन्तु यह डिजाइन प्रायः उपयोगिताकी दृष्टिसे बनायी जाती है। सामान्यतः—कला कहनेसे ललित कलाओंका ही बोध होता है। आधुनिक प्रयोगकी दृष्टिसे ललित कलामे तो ललित शब्द अब अनावश्यक हो गया है और इसी बातसे उपयोगी कलामे 'उपयोगी' तथा 'कला' शब्द अब एक-दूसरेके विरोधी-से जान पडते हैं। इस दृष्टिसे आधुनिक चिन्तनके क्षेत्रमें ललित कला तथा उपयोगी कलाका विभाजन मात्र पुस्तकोंतक ही सीमित रह गया है। अब कलाको अपने आपमें पूर्ण तथा विशुद्ध माना जाता है। उसके लिए सफल तथा असफल जैसे विशेषणोंकी भी अब आवश्यकता नहीं समझी जाती।

—रा० स्व० च०

उपयोगी साहित्य—प्राचीनोंने जिसे 'शास्त्र' कहा है, उसे ही आज 'उपयोगी साहित्य'के नामसे अभिहित किया जाता है। 'शास्त्र' दो प्रकारके कहे गये हैं—(१) पौरुषेय और (२) अपौरुषेय। अपौरुषेय शास्त्र श्रुति है, जिसमे वेद (ऋक्, साम, यजुः, अथर्व) और छः वेदांग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष) आते हैं। इनके अतिरिक्त 'अलंकार' नामका एक सातवाँ वेदांग भी माना गया है। पौरुषेय शास्त्र चार हैं—पुराण, आन्वीक्षिकी (न्याय), मीमांसा और स्मृतितन्त्र (धर्मशास्त्र)। इनमें पुराण और स्मृतियोंकी संख्या १८ है। इस प्रकार वेद ४, वेदांग ६, पुराण, आन्वीक्षिकी (न्याय) और स्मृति मिलाकर १४ शास्त्र-भेद हुए, जिन्हें विद्यास्थान भी कहा गया है। कुछ लोग १८ विद्यास्थान मानते हैं, जिनमे पूर्वोक्त विद्यास्थानोंके अतिरिक्त वार्ता (वाणिज्य-कृषिविद्या), कामसूत्र, शिल्पशास्त्र और दण्डनीति (राजतन्त्र) सम्मिलित हैं। इनके अतिरिक्त एक साहित्यविद्याकी भी परिकल्पना है, जो वार्ता, कामसूत्र, शिल्पशास्त्र और दण्डनीतिका सारांश कही गयी है। इस प्रकार भारतीय विचारधारामें 'शास्त्र'के रूपमे उपयोगी साहित्यकी विपुल कल्पना है। इन विभागोंका विकास धीरे-धीरे हुआ है, परन्तु पहली शताब्दीके लगभग सभी यथेष्ट विकासकी स्थितिमें थे। इस शास्त्रके विकासके लिए अनेक शैलियोंका प्रवर्तन हुआ था, जैसे सूत्र, वृत्ति, पद्धति, भाष्य, समीक्षा, टीका, पंजिका, कारिका, वार्तिक। आधुनिक युगके उपयोगी साहित्यमें विषय-विस्तार भले ही हुआ हो; परन्तु उसकी शैलियोंमें इतनी विविधता और परिपक्वता नहीं है। प्राचीन युगमें शास्त्रके किसी एक अंशपर लिखे ग्रन्थ भी थे, जिन्हें 'प्रकरण' कहते थे और ग्रन्थोंके अवान्तर अध्यायोंके लिए 'अध्याय', 'परिच्छेद', 'उल्लास' आदि शब्दोंका उपयोग किया जाता था। प्राचीन युगका उपयोगी साहित्य अधिकांश पद्यमें है, क्योंकि पद्यमें कण्ठस्थ करनेकी सुविधा थी। अपने देशमें यह परम्परा उन्नीसवी शताब्दी-तक चली आती है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दीमें शास्त्र-ज्ञानकी विस्तृत निधि प्रस्तुत है। काव्यके अतिरिक्त वाङ्मयके रूपमे जो भी उपलब्ध है, उसे 'शास्त्र' या 'उपयोगी साहित्य' कहा जा सकता है। आधुनिक युगमें वाङ्मयका यह ज्ञानोपयोगी अंग पद्यमे न होकर गद्यमे ही लिपिबद्ध होता है।

'उपयोगी साहित्य'के रूपमें आज हमे जो साहित्य प्राप्त होता है, वह प्राचीनोंके 'शास्त्र'को आत्मसात् करता हुआ कुछ आगे बढ गया है, क्योंकि पिछली दस शताब्दियोंमें ज्ञान-विज्ञान एवं विवेचनाके अनेक नये क्षेत्र उद्‌घाटित हुए हैं। अतः आज 'उपयोगी साहित्य'की व्याप्ति कहीं अधिक है। यूरोपकी औद्योगिक क्रान्तिने आधुनिक जीवनको कर्म-संकुल बना दिया है और 'साहित्य' कविता, उपन्यास, नाटक, कहानी, निबन्ध आदिकी कुछ विशिष्ट कोटियोंमें सिमट आया है। साहित्यमें उपयोगिताकी स्थापना एक पक्षके द्वारा हुई है, परन्तु साहित्येतर समस्त लिपिबद्ध सामग्रीको 'उपयोगी साहित्य' कहा गया है। 'उपयोगी साहित्य'को आज हम (१) वैज्ञानिक साहित्य (२) टेकनीकी साहित्य, (३) मानवीय सम्बन्धोंके साहित्य, जैसे अर्थशास्त्र, समाजविज्ञान, राजनीति आदि, (४) मनोविज्ञान एवं मनोविश्लेषण, (५) चिकित्साशास्त्र, (६) क्रीडा और आमोद-प्रमोदका साहित्य, (७) साहित्यशास्त्र, (८) दर्शन, (९) धर्म और (१०) विविध आदि अनेक वर्गोंमें रख सकते हैं। वास्तवमें गद्यके विकास और मुद्रण-कलाके आविष्कारके साथ मानवीय ज्ञान-चेतना अधिक विस्तृत होती गयी है और उन्नीसवी शताब्दीमें उसने मनुष्यके अन्तर्बाह्य अनेकानेक क्षेत्रोंको स्पर्श किया है। प्राचीन युगोंमें धर्म, मनोविज्ञान और नीतिशास्त्र दर्शनमे ही अन्तर्भुक्त थे, परन्तु अब इनमेसे प्रत्येक अवान्तर उपसर्गोंमें विभक्त है और विश्लेषण-बुद्धिके उत्तरोत्तर विकासके साथ नये-नये चिन्ता-क्षेत्र सामने आते जा रहे हैं। विवेचनकी जिन विभिन्न पद्धतियोंपर प्राचीन उपयोगी साहित्यकी समृद्धि आश्रित थी, उनको पीछे छोड़ दिया गया है और एक तरहसे विवेचन-पद्धतिके क्षेत्रमें आज स्थिरीकरण है, परन्तु नयी अभिव्यंजना-शैलियोंकी दृष्टिसे भी उपयोगी साहित्यका विभाजन सम्भव है। वर्णनात्मक, विवरणात्मक, विवेचनात्मक एवं वैज्ञानिक तर्कवादी तथा तथ्यप्रधान शैलियोंका उपयोगी साहित्यमें विशेष महत्त्व है। भावात्मक, कल्पनासृष्टी और लालित्यमय (अलंकृत) शैलियाँ उपयोगी साहित्यके क्षेत्रके बाहर हैं। उनका उपयोग विशुद्ध साहित्यके क्षेत्रमें अधिक श्रेयस्कर है, क्योंकि जहाँ उपयोगी साहित्यका लक्ष्य, तथ्यज्ञान एवं बौद्धिक ऊहापोह है, वहाँ विशुद्ध साहित्यका सम्बल रसानुभूति और कल्पनानन्द है।

—रा० भ०

उपयोगी और ललित साहित्यमें प्रयोजन और क्षेत्रकी भिन्नता स्पष्ट है। पाण्डित्य और कवित्व दो भिन्न वृत्तियोंके प्रतिफल हैं और वे अनिवार्यतः अन्तरावलम्बित नहीं हैं। परन्तु मनुष्यके समस्त क्रिया-कलाप, जीवन और जगत्‌के नाना रूप और व्यापारोंकी ही प्रतिक्रिया होते हैं, अतः उनके प्रयोजन और क्षेत्र सापेक्षरूपमें ही पृथक् कहे जा

सकते हैं। इस प्रकार उपयोगी और ललित साहित्यके सम्पर्क और परस्पर संक्रमणकी सम्भावनाएं स्वाभाविक है।

राजशेखरने 'काव्यमीमांसा'के द्वितीय अध्यायमें वाङ्मयके दोनों भेदों--शास्त्र और काव्य—अर्थात् उपयोगी और ललित साहित्यमें तीन प्रकारका सम्बन्ध बताया है—गद्य-पद्यमयत्व, कवि-धर्मत्व और हितोपदेशकत्व (काव्यमीमांसा, तृतीय संस्करण, बड़ौदा, पृ० ४)। इस सम्बन्ध-विवेचनके प्रारम्भमें ही राजशेखरने कहा है कि काव्य-रचना करनेके पूर्व शास्त्रमें अभिनिवेश होना आवश्यक है। शास्त्र, अर्थात् जीवनके विविध व्यापारोंसे सम्बन्धित ज्ञान-विज्ञानके परिचयके बिना काव्य-रचना करना दीपकके बिना अँधेरेमें टटोलनेके समान है (वही, पृ० २)। उपयोगी और ललित साहित्यके उपर्युक्त तीन सम्बन्धोंमें पहला—गद्य-पद्यमयत्व—वास्तवमें दूसरे कवि-धर्मत्वका मूलाधार है। अनेक विचारक और वैज्ञानिक कठिन बौद्धिक प्रयासके द्वारा उपलब्ध तथ्योंको जब भाषाके माध्यमसे व्यक्त करते हैं, तब प्रायः कवि-धर्मत्वके नाते ही वे उसमें कदाचित् अनायास कलात्मक रमणीयता ले आते हैं। कैसेलके साहित्य-विश्वकोश (कैसेल्स इनसाइक्लोपीडिया ऑव लिटरेचर)के पाण्डित्य और साहित्य (लर्निङ्ग एण्ड लिटरेचर) शीर्षक लेखमें अनेक ऐसे विद्वानोंका उल्लेख किया गया है, जो मूलतः अध्ययन, मनन और अन्वेषणके क्षेत्रमें कार्य करते हुए भी प्रसिद्ध शैलीकार हो गये हैं और जिन्होंने विचार और चिन्तनकी परिधियोंका ऐसे ललित ढंगसे विस्तार किया है कि उनके साहित्यमें व्यावहारिक उपयोगिता और शुद्ध आनन्दप्रदायिनी उदात्त कलाका अद्भुत समन्वय हुआ है। राजशेखरने अपने उपर्युक्त विवेचनमें उपनिषद्के "द्वा सपर्णा सयुजा सखाया समानवृक्षं परिषस्वजाते" आदि मन्त्रोंका उद्धरण देकर उस विपुल शास्त्रीय (उपयोगी) साहित्यकी ओर संकेत किया है, जिसमें आलंकारिक शैलीमें महान् सत्योंका उद्घाटन हुआ है। वस्तुतः प्राचीनतम साहित्यमें उपयोगी और ललित साहित्यका वह पृथक्त्व, जिसकी आधुनिक विशेषज्ञताके युगमें इतनी चर्चा है, बिलकुल नहीं पाया जाता। वैदिक साहित्य मूलतः धार्मिक साहित्य माना जाता है। परन्तु ऋग्वेदसंहितामें अग्नि, इन्द्र, वरुण, सविता आदिकी स्तुतियाँ कवित्वके किसी भी लक्षणसे हीन नहीं हैं। भाव-संवेदनाकी सम्पन्नता और कल्पनाके वैभवके साथ उनकी शैलीमें अद्भुत अलंकरण और चमत्कारके साथ गूढ़ व्यंजनापूर्ण शब्द-शिल्प पाया जाता है। अध्यात्मविद्याका उद्घाटन करनेवाली उपनिषदोंकी शैलीमें तो वर्ण्यविषयकी रहस्यात्मकताने द्विगुणित कलात्मक सौन्दर्य पैदा कर दिया है। आगे चलकर श्रीमद्भगवद्गीतामें शास्त्र और काव्यका ऐसा सहज समन्वय मिलता है कि यदि काव्यके प्रति गौरवकी भावनाका अपेक्षाकृत अभाव न समझा जाय तो गीताको काव्य कहनेमें संकोच नहीं हो सकता। पुराणोंका उद्देश्य भी धार्मिक ही है, परन्तु उनमें रूपक और अतिशयोक्तिपूर्ण कथा-शैलीका व्यवहार करके साहित्यिक प्रसाद भी सुरक्षित किया गया है।

हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओंमें उपयोगी साहित्यका अब भी बहुत अभाव है। मध्यकालीन साहित्यमें तो उपयोगी विषयोंका साहित्य नहींके बराबर लिखा गया, परन्तु गद्यके विकासके साथ-साथ अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दीमें कुछ धार्मिक साहित्य लिखा जाने लगा था, जिसमें कथावाचकोंकी पौराणिक शैलीमें साहित्यिकता लानेका प्रयास देखा जाता है। आधुनिक कालके चिन्तकों और विचारकोंमें स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, महात्मा गान्धी, सर्वपल्ली राधाकृष्णन् और जवाहरलाल नेहरू आदि अनेक विचारकों और चिन्तकोंकी शैलीमें साहित्यसौष्ठव प्रचुर परिमाणमें मिलता है। इन लेखकोंने अधिकतर अंग्रेजी भाषाका माध्यम ग्रहण किया, अन्यथा उनका साहित्यिक महत्त्व कदाचित् कहीं अधिक होता।

परन्तु ज्ञान-विज्ञानके व्यावहारिक और उपयोगी विषयोंके लिए साहित्यिक शैलीका उपयोग अपवाद मानना चाहिये। वह विचारकसे उसके प्रकृत गुण पाण्डित्यके अतिरिक्त संकीर्ण अर्थमें कवि-धर्मत्वकी भी माग करता है। वस्तुतः विषयको स्पष्ट और निर्भ्रान्त रूपमें उपस्थित करनेके लिए भाषाका अनावृत अलंकरणकी प्रवृत्तिसे, यथासाध्य, मुक्त होना आवश्यक है। इसी आवश्यकताकी पूर्तिके लिए प्राचीनतम समयसे ही वेदांग-साहित्यमें शास्त्र और काव्यके दिशा-विच्छेदका प्रमाण मिलने लगता है। प्राचीन भारतीय शास्त्र अर्थात् उपयोगी साहित्यके अन्तर्गत दर्शन, तन्त्र, स्मृति, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, गणित, भौतिकी, रसायन, आयुर्वेद, ज्योतिष, संगीत और साहित्यशास्त्र आदि अनेक विषयोंपर लिखे गये अनेकानेक ग्रन्थ चिन्तनकी गरिमा और गम्भीरता प्रमाणित करते हैं। इस विपुल उपयोगी साहित्यमें लालित्य और शैलीका चमत्कार भी कहीं-कहीं अवश्य मिलता है, परन्तु उसे रचयिताकी स्वभावगत विवशता ही कहना चाहिये। कण्ठगत करनेकी सुविधासे पद्यमें रचे जानेके कारण भी उसमें यदा-कदा काव्यकी झलक अनायास आ जाती है। परन्तु यह समस्त साहित्य—वेद, पुराण, उपनिषद्, गीता, महाभारत, रामायण, वैदिक, बौद्ध और जैनदर्शन आदि ललित साहित्यके अक्षय उपजीव्य रहे हैं और कवियों और नाटककारोंने उससे अनेक रूपमें लाभान्वित होकर अपनी कृतियोंको प्राणवान् बनाया है। वस्तुतः उपयोगी साहित्यका अनुशीलन, जिसे राजशेखरने कविके लिए अन्धकारको विदीर्ण करनेवाले दीपकके समान बताया है, उसे नित्य नये प्रत्यय, अपूर्व विवेचन-बुद्धि और पुराने भाव-चित्रोंके स्थानपर अधिक जीवन्त और व्यंजक प्रतीक एवं संकेत तो प्रदान करता ही है, प्रायः नवीन शैलियों और शिल्प-विधान-सम्बन्धी नवीन तन्त्र और पद्धतियोंके अन्वेषणमें भी वह सहायक होता है। प्राचीन भारतीय साहित्यके सौन्दर्य और ऐश्वर्यका मुख्य श्रेय उस उपयोगी साहित्यको ही है, जो हमारे शास्त्रोंमें सुरक्षित है।

धार्मिक आदर्श और दार्शनिक चिन्तन, जो भारतीय संस्कृतिके प्रतिमान निश्चय करते हैं, सम्पूर्ण भारतीय काव्यमें न्यूनाधिक रूपमें झलकते हैं। परन्तु कुछ कवियोंने प्रधान रूपसे उसे अपना उद्देश्य बनाकर कान्ता-सम्मित उपदेशके सिद्धान्तानुसार काव्यमें उपयोगिताका समावेश किया है।

एक ओर यदि अश्वघोष अपने काव्योंके द्वारा बौद्ध धर्म और सर्वास्तिवादके प्रचारका उपक्रम करते हैं तो दूसरी ओर श्रीहर्ष अपने 'नैषधीय चरित'मे कलि और देवताओंके वाद-विवादके बहाने नास्तिकवादका तीव्र खण्डन करते देखे जाते हैं। काव्यमें युग-धर्मको निष्पक्ष भावसे प्रतिबिम्बित करके भी कुछ कवियोंने पाण्डित्य और जागरूकताका परिचय दिया है। नवीं शताब्दीके शिवस्वामीने स्वयं शैव होते हुए भी तत्कालीन लोकधर्म-बौद्धमतकी प्रतिष्ठा की है। जैन कवियों द्वारा रचे गये नाटक और काव्य धर्मके आग्रहसे प्रसूत होनेके कारण ही जैन काव्य नामसे पृथक् वर्गीकृत किये जाते हैं। 'धर्मशर्माभ्युदय' (हरिचन्द) महाकाव्य और 'मोहराज पराजय' (यशःपाल) जैसे प्रतीक-नाटकका इस सम्बन्धमे विशेष उल्लेख किया जा सकता है। प्रतीक-नाटकोंमे कृष्ण मिश्रके 'प्रबोधचन्द्रोदय'का उल्लेख भी आवश्यक है, जिसमे **औपनिषदाद्वैतदर्शन**की पृष्ठभूमिमे वैष्णव धर्मकी श्रेष्ठता दिखाकर उसके प्रचारका प्रयत्न किया गया है। वेदान्त देशिक और कविकर्णपूरने भी इसी प्रकार अपने पाण्डित्य और धर्म-चिन्तनको साहित्यमें नियोजित करके उपयोगिता और लालित्यका समन्वय किया है।

इन सभी कवियोंने धर्मप्राचारार्थ साहित्यके माध्यमका उपयोग किया और उसीमें अपनी शास्त्रीय विद्वत्ताको सार्थक बनाया। परन्तु बिना किसी धार्मिक आग्रहके काव्यको शास्त्रीय ज्ञानसे संवलित करके उसकी शक्ति, गरिमा तथा प्रयोजन-शीलतामे संवृद्धि करनेवाले कवियोंके उदाहरण भी कम नही हैं। 'मुद्राराक्षस' (विशाखदत्त) और 'मृच्छकटिक' (शूद्रक) यदि राजनीति और समाज-विज्ञानके पाण्डित्यसे पुष्ट हैं तो भवभूतिके नाटक कविके वेदशास्त्रके गम्भीर ज्ञानसे भरपूर होकर काव्यको उच्च भूमिपर प्रतिष्ठित करनेमे समर्थ हुए हैं। कल्हणने यदि इतिहासको काव्यके परिधानमें वेष्टित किया है तो राजशेखरने अपने व्यापक भौगोलिक ज्ञानको काव्यमे प्रतिष्ठित किया है।

हिन्दी भाषाका तो विकास ही जीवनकी अत्यन्त यथार्थ और कठोर परिस्थितियोंकी माँगका प्रतिफलन है। इस लोक-भाषाने जिस भक्ति-काव्यके माध्यमसे उन्नति की, वह वास्तवमें एक जीवन-व्यापी मिशन था। वह एक महान् सन्देश लेकर आया था, जिसकी तात्कालिक व्यावहारिक उपयोगिता कदाचित् उसके शाश्वत सौन्दर्य और रसानन्दकी अपेक्षा कहीं अधिक थी। यह कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, मीरा आदि कवियोंकी कोमल संवेदनशीलताका परिणाम है कि उनकी कृतियाँ सामयिकताकी आवश्यकताको पूरा करके इतनी ऊपर उठ गयी कि वे आज शुद्ध काव्यानन्दका विषय बनी हुई हैं। परन्तु उनकी महत्ता अब भी उनमें निहित उपयोगिता, नवीन दृष्टिकोणपर ही आधारित है, भले ही उनका प्रतिपाद्य आज व्यावहारिकता खो बैठा हो। यह समस्त भक्ति-साहित्य समयके दार्शनिक चिन्तन और मनीषापूर्वक स्थिर किये गये जीवनके उच्च मूल्योंको समादृत किये हुए है। राम चरितमानसमें बहुश्रुत कविका पाण्डित्य ही उसके काव्यके गौरवको बढ़ाकर उसे एक साथ ही धर्म-ग्रन्थ भी बना देता है।

मध्यकालीन हिन्दी साहित्यमे इसका भी प्रमाण मिलता है कि जब काव्य जीवन-व्यापी प्रयोजन-शीलतासे विच्छिन्न हो जाता है और कवि, कोश और काव्यकी सीमित परिधिकी भाषामें ही, अपना कृतित्व ढूँढ़ने लगते हैं, तब काव्य किस प्रकार निम्न धरातलपर उतर आता है। रीतिकालके कवि यदि काव्यशास्त्रको भली भाँति हृदयंगम करनेकी योग्यता प्राप्त कर लेते, तो भी उनकी रचनाओंमे वह जीवनी-शक्ति नहीं आ सकती थी, जो शास्त्रीय अध्ययन और चिन्तनसे उपलब्ध होती है।

आधुनिक कालमे हिन्दी साहित्य पुनः समाजके नव-निर्माणकी आकांक्षासे प्रेरणा पाकर अग्रसर हुआ है। नवीन वेदान्तदर्शन, सर्वात्मवाद, मानववाद, समाजवाद, साम्यवाद और सर्वोदयके सिद्धान्तोंसे परिपुष्ट होकर उसने अपनी प्रयोजन-शीलतामे वृद्धि की है। पश्चिमके नवीन मनस्तत्त्वके सिद्धान्तों—मनोविश्लेषण और अन्तश्चेतना तथा अरविन्दके अतिचेतना सम्बन्धी अनुसन्धानोंसे भी लाभान्वित होकर वह नवीन कला-प्रयोग करनेमे समर्थ हुआ है। परन्तु इस सम्बन्धमें यह न भुला देना चाहिये कि साहित्यपर शास्त्रका आरोप या कवि द्वारा शास्त्रीय सिद्धान्तोंका अन्धानुकरण न तो काव्यका स्थायी हित कर सकता है और न उससे सिद्धान्तोंकी सचाई परखी जा सकती है। राजशेखरकी इस सलाहका कि कविके लिए शास्त्रका अभिनिवेश आवश्यक है, केवल यह तात्पर्य समझना पर्याप्त नहीं है कि कवि अपनी जानकारीका क्षेत्र बढ़ा ले। केवल इतनेसे उसे वह दीपक हस्तगत न होगा, जिससे उसका अन्धकार दूर हो सके। उसके लिए तो अध्ययनके द्वारा अर्जित ज्ञानको अपने भीतरसे प्रदीप्त करना पड़ेगा। तभी वह अपने कवि-कर्ममें शास्त्रीय ज्ञानसे वास्तविक रूपमें लाभान्वित हो सकता है।

अतः ललित साहित्यके लिए उपयोगी साहित्यका अत्यधिक महत्त्व है। जो भाषा उपयोगी साहित्यसे समृद्ध नहीं है, उसमें ललित साहित्यका स्तर भी व्यापक रूपमें अधिक ऊँचा नहीं हो सकता। —व्र० व०

उपरूपक—नाट्यपर आधृत दृश्यकाव्य रूपक कहलाते है और नृत्यपर आधृत उपरूपक। उपरूपकोंका स्पष्ट उल्लेख प्रारम्भिक नाट्याचार्योंने कहीं नहीं किया। धनंजयके नाट्य-ग्रन्थका नाम 'दशरूपक' इस तथ्यका साक्षी है कि उनकी दृष्टिमें उपरूपकोंका महत्त्व नहीं था। उन्होने उपरूपकोंका प्रसंग स्पष्ट रूपसे कहीं नहीं उठाया है। 'भावप्रकाश','साहित्यदर्पण' आदिमें दिये गये विविध उपरूपकोंका विस्तृत लक्षण इसका प्रमाण है कि उनके कालतक आते-आते नृत्यपर आधृत दृश्यकाव्य साहित्यकी कोटिमें परिगणित होने योग्य बन गये थे। इनके पूर्व 'नाट्यशास्त्र', 'अग्निपुराण', 'दशरूपक', 'प्रतापरुद्रीय', 'रसार्णवसुधाकर'में उपरूपकोंका उल्लेख नहीं मिलता। यद्यपि १७ उपरूपकोंके नाम सर्वप्रथम 'अग्निपुराण'मे प्राप्त होते हैं, किन्तु न तो उन्हें उपरूपककी संज्ञा दी गयी है और न उनके लक्षण या उदाहरण दिये गये हैं। इसी प्रकार यद्यपि धनंजयने एक स्थानपर लिखा है "डोम्बी श्रीगदितं भाणो, भाणी प्रस्थानरासकाः। काव्यं च सप्त नृत्यस्य, भेदाः स्युस्तेऽपि-

भागवत् ॥", पर उन्होंने कहीं भी इनके लक्षण एवं उदाहरण नहीं दिये। इसी प्रकार अभिनव गुप्तने **डोम्बिका, भाण, प्रस्थान, भाणिका, प्रेक्षणक, रासाक्रीड, हल्लीशक, रासक** नामक उपरूपकोंका उल्लेख तो किया है, किन्तु इनका विवेचन कहीं नहीं किया। हेमचन्द्रने 'काव्यानुशासन'में अभिनव गुप्तके नामोंके अतिरिक्त **श्रीगदित** और **गोष्ठी**को भी संयुक्त कर दिया है।

शारदातनयने 'भावप्रकाश'में जिन बीस उपरूपकोंकी यथाविधि व्याख्या की है, उनकी नामावली इस प्रकार है— **तोटक, नाटिका, गोष्ठी, संलाप, शिल्पक, डोम्बी, श्रीगदित, भाणी, प्रस्थान, काव्य, प्रेक्षणक, सट्टक, नाट्यरासक, लासक (रासक), उल्लोप्यक, हल्लीश, दुर्मल्लिका, मल्लिका, कल्पवल्ली, पारिजातक।** इस प्रकार यदि इन बीस उपरूपकोंमे 'अग्निपुराण'का **कर्ण**, 'नाट्यदर्पण'का **नर्त्तनक**, 'साहित्यदर्पण'का **विलासिका** और अभिनवगुप्त द्वारा संकेतित तीन उपरूपक और जोड दिये जायें तो सम्पूर्ण सूचीमे २६ उपरूपक सम्मिलित हो जायें। शारदातनयके पूर्व रामचन्द्रने 'नाट्यदर्पण'मे जिन उपरूपकोंका नामोल्लेख किया है, वे हैं—**सट्टक, श्रीगदित, दुर्मीलिता, प्रस्थान, गोष्ठी, हल्लीशक, नर्त्तनक, प्रेक्षणक, रासक, नाट्यरासक, काव्य, भाण, भाणिका।**

आज जो १८ उपरूपक सर्वमान्य बन गये हैं, उनके नाम एवं लक्षण आचार्य विश्वनाथने 'साहित्यदर्पण'मे विस्तारके साथ लिखे हैं, किन्तु उन्होने उपरूपककी परिभाषा देनेकी आवश्यकता न जाने क्यों नहीं समझी। रूपकोंकी नामावलीके साथ-ही-साथ १८ उपरूपकोंका नाम देकर वे लिखते है "अष्टादश प्राहुरुपरूपकाणि मनीषिण:"। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि विश्वनाथके युगमें मनीषी व्यक्तियोमे १८ उपरूपक मान्य बन गये थे, इसी कारण इन उपरूपकोंकी पूरी व्याख्या और उनके उदाहरण देनेकी उन्हे आवश्यकता प्रतीत हुई।

विद्वानोने यह प्रश्न उठाया है कि भरत मुनिकी दृष्टिसे उपरूपक क्यो बच गये? रामास्वामी शास्त्रीने इसका उत्तर देते हुए लिखा है कि उस कालमे नृत्यरूपकोका विकास नहीं हो पाया था। भरतने जिन नृत्यप्रकारोका वर्णन किया है, उनमेसे कतिपय कोहलतक उपरूपककी स्थितितक पहुँच रहे थे, अतः कोहल तथा अन्य व्याख्याकारोंने उपरूपकोंकी सृष्टि की। हर्षकी तोटक नामक उपरूपककी व्याख्या, जिसका उल्लेख शारदातनयने बारहवी शताब्दीमें किया, इस तथ्यकी साक्षी है कि हर्षके युगमें उपरूपकोंका सर्जन हो चुका था।

उपरूपकोके सर्जनकालके सम्बन्धमे विभिन्न मत है। कतिपय विद्वान् कोहलको इसका श्रेय देते हैं (भावप्रकाश, भूमिका, पृष्ठ ५१)। दूसरा मत यह है कि उपरूपककी परिकल्पना रूपक शब्दके प्रचलनके उपरान्त ही सम्भव है। यद्यपि रूपक शब्दका प्रयोग धनंजयसे पूर्व आचार्योंने भी किया है, किन्तु रूपकके १० भेदोंको रूपक नामसे अभिहित करनेका श्रेय सर्वप्रथम धनंजयको ही दिया जाता है। इसी प्रकार उपरूपकके निश्चित नामकरणका गौरव साहित्यदर्पणकार विश्वनाथको देना चाहिये।

यह है कि विश्वनाथसे पूर्व आचार्य हे

नृत्यभेदोंको गेय रूपक और रामचन्द्रने 'अन्या

कहकर सम्बोधित किया है। अभिनव गुप्तने एक स्थानपर लिखा है—"एते प्रबन्धा नृत्तात्मका:, न नाट्यात्मका नाटकादिविलक्षणा:"। इससे प्रमाणित होता है कि नृत्तपर आधृत होनेके कारण जिन प्रबन्धोंमें नाटकीय तत्त्वोंका अभाव था, उन्हे रूपक या उपरूपककी कोटिमे परिगणित करना आचार्योंको अभीष्ट न था। कालान्तरमे जब वे प्रबन्ध नृत्यका अवलम्बन लेने लगे तो वे उपरूपकोंके समीप पहुँचने लगे। विश्वनाथके युगमे ये नृत्यपर अवलम्बित प्रबन्ध इतने प्रेक्षणीय और प्रिय बन गये कि आचार्योंने इन्हे उपरूपक नामसे विभूषित किया है।

जहाँ रूपकका उद्देश्य प्रेक्षकोंके अन्तःकरणमे स्थित स्थायी भावको रसस्थितितक पहुंचा देना है, वहाँ उपरूपकका प्रयोजन है उपर्युक्त भावभंगिमाके द्वारा प्रेक्षकोंके सम्मुख किसी भाव-विशेषको प्रदर्शित करना। बाबू गुलाबरायका मत है कि इन उपरूपकोंकी हिन्दी-नाट्यकारोंको आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई। —द० ओ०

उपहास काव्य, उपहास महाकाव्य—उपहास काव्य हास्य रसके अन्तर्गत आता है, जिसमे किसी व्यक्ति, वस्तु, रीति या पद्धतिकी उपहासपूर्ण निन्दा रहती है। इसमे किसी क्षुद्र या हास्यास्पद आलम्बनको आधार बनाकर उसीके बहाने किसी गम्भीर तथ्य या ख्यात व्यक्तिकी हँसी उड़ायी जाती है। पाश्चात्य देशोंमें उपहास काव्य प्रधानतया दो प्रकारका होता था—(१) बरलेस्क या उपहास काव्य, जिसमें पैरोडी, चरित्रोपहास (कैरीकेचर), व्यंग्य (सैटायर) आदि सम्मिलित हैं, (२) उपहास महाकाव्य (मॉक हीरोइक या मॉक एपिक)। वस्तुतः उपहास महाकाव्य उपहास काव्यका ही एक रूप या अंग है। उपहास महाकाव्यमे किसी वीरकाव्य (वीरभावना-प्रधान महाकाव्य)की बाह्य शैली, भाषा, वर्णनविधि आदिका अनुकरण किया जाता है, किन्तु वर्ण्य विषय अत्यन्त क्षुद्र, महत्त्वहीन और हास्यास्पद होता है। अंग्रेजीमें पोपका उपहास महाकाव्य 'द रेप ऑन द लॉक' बहुत प्रसिद्ध है। हिन्दीमे उत्तरमध्यकालके कवि अलीमुहिब खाँ 'प्रीतम'की 'खटमल बाईसी' (१७३० ई०) उच्च कोटिका उपहास काव्य है जिसमे बहुत ही उदात्त और अलंकृत शैलीमें खटमलकी महिमा वर्णित है, पर आलम्बनकी क्षुद्रताका उस शैलीसे मेल न बैठने तथा खटमलकी महिमाका अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन होनेसे हास्य रसकी निष्पत्ति होती है। अतः उस काव्यमे प्रशस्ति काव्यकी अतिशयोक्तिपूर्ण पद्धतिका उपहास किया गया है। बेनी बन्दीजन (कविताकाल १७९२से १८२३)ने बहुतसे भड़ौवे लिखे थे, जो हिन्दीके उपहास काव्यके उदाहरण हैं। आधुनिक युगमे कई कवियोंने हास्य रसकी कविताके अन्तर्गत उपहास काव्यकी रचना की है, जिनमे कान्तानाथ पाण्डेय 'चोंच'का प्रबन्धकाव्य 'चूनाघाटी' विशेष उल्लेखनीय है। उसकी रचना, आधुनिक युगीन वीरकाव्य 'हल्दीघाटी'की शैलीमे, परन्तु उसीका उपहास करनेके लिए, हुई है। पति-पत्नीका

पूर्ण हुई उसका वध विषय है। अतः उसे अंग्रेजीके उपहास महाकाव्यके ढंगका काव्य माना जा सकता है। —शं० ना० सिं०

उपाख्यान–उप–आख्यान (व्युत्पत्तिके लिए दे०–'आख्यान')। किसी कथाके अन्तर्गत समाविष्ट अन्य कथा, जो स्वतः पूर्ण होती है, परन्तु उसका प्रयोग प्रधान कथाके अन्तर्गत होता है (दे० 'उपन्यास')।

उपादान लक्षणा–शुद्धा लक्षणाका पहला भेद। यहाँ 'उपादान'का अभिप्राय है शब्दके मुख्य अर्थका अपने आपको संगत बनानेके लिए अपने अमुख्य अर्थका आक्षेप (स्वसिद्धये पराक्षेपः, का० प्र०, २ : १०)। विश्वनाथके अनुसार "वाक्यके अर्थकी अन्वय(तार्किक)सिद्धिके लिए जब मुख्य अर्थ किसी अपनेसे भिन्न अर्थका संकेत देता है, तो वहाँ उपादान लक्षणा होती है" (सा० द०, २ : ६)। वस्तुतः इस लक्षणाके प्रयोगमें मुख्यार्थका सर्वथा त्याग नहीं किया जाता, लक्ष्यार्थके साथ मुख्यार्थ संलग्न रहता है। इसी कारण कुछ आचार्योंने इसे **अजहत्स्वार्था** कहा है। मम्मटने उपादान लक्षणाके उदाहरणमें 'कुन्ताः प्रविशन्ति', (भाले चले या चल रहे हैं) दिया है, यहाँ 'कुन्त' शब्दके अपने 'भाले' रूप मुख्य अर्थकी संगति (अन्विति) बिठानेके लिए अपने अर्थसे सम्बद्ध 'कुन्तधारी' पुरुषरूप अमुख्य अर्थका आक्षेप लक्षित है। साथ ही इस शब्दकी लक्षणा 'उपादान'के कारण है, क्योंकि मुख्य अर्थके परित्यागपूर्वक एक भिन्न अर्थका ग्रहण है। विश्वनाथने रूढ़ि उपादान लक्षणाका उदाहरण भी दिया है–'श्वेतो धावति' (सफेद दौड़ता है), यहाँ घोड़ेके लिए श्वेतका प्रयोग परम्परापर आधारित है, अतः रूढ़ि उपादान है। अजहत्स्वार्थाके उदाहरणके रूपमें विश्वनाथने दिया है–'कौओंसे दहीकी रक्षा करो'। यहाँ 'कौआ' शब्द उपलक्षणमात्र है, अर्थात् कौएके साथ अन्य सभी दहीके भक्षक जीवोंका संकेतग्रहण भी है। अतः यहाँ मुख्यार्थके साथ अन्य अर्थ भी लक्ष्यार्थमें सम्मिलित है। काव्यगत उदा०–"स्वर्णलोककी तुम अप्सरि थी, तुम वैभवमें पली हुई" (का० द०, पृ० ३६)। यहाँ 'अप्सरि' शब्द अपने अर्थकी सिद्धिके लिए 'अप्सराके समान सुन्दर' आदिका आक्षेप कर लेता है। अतः इसमें उपादान लक्षणा है। —र०

उपाय–दे० 'महायान'।

उपाय कौशल–बौद्ध पारमिताओंमेंसे उपाय कौशल वह पारमिता थी, जिसके द्वारा बौद्ध भिक्षु घूम-घूमकर जनतामें बुद्धका सन्देश और महायान धर्मके सिद्धान्तोंका प्रचार करते थे। इसी उपाय कौशलके अन्तर्गत **सन्धाभाषा**का प्रयोग तथा चैत्य-निर्माण, प्रतिमांकन, संगीत आदि कलाओंके उपयोगका विधान था। बादमें जब **मैथुन**-भावनाका विकास हुआ, तब उपाय कौशलसे तात्पर्य वैयक्तिक साधनामें मुद्रा-मैथुनकी गुह्य साधनासे हो गया। —ध० वी० भा०

उपालंभ–दे० 'सखी-कर्म'।

उपालंभ काव्य–संस्कृत काव्यशास्त्रके अन्तर्गत उपालम्भ शब्दकी स्वीकृति **सखी-कर्म** (दे०)के अन्तर्गत रही है। सखीके चार कर्मोंमें इसकी गणना की गयी है और हिन्दीके नायक-नायिका-भेदके कुछ आचार्योंने भी इसको इसी रूपमें स्वीकार किया है। नायकको उलाहना देकर उसको नायिकाके मनोनुकूल कराना ही उपालम्भ है। परन्तु काव्यशास्त्रकी यह स्वीकृत परिभाषा काव्यकी व्यापक अभिव्यक्तिकी दृष्टिसे अत्यन्त संकुचित है। हिन्दी भक्ति-काव्यमें व्यापक रूपसे और गीति-काव्यमें परम्पराके रूपमें उपालम्भका महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। इस काव्यमें मानवीय हृदयकी गहरी और मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। वस्तुतः उपालम्भ हमारी विशेष भावस्थितिका परिणाम है, जो केवल शृंगारकी सीमाओंमें नहीं बाँधा जा सकता। इसका मुख्य आधार है साहचर्यकी सहानुभूति। उपालम्भ उलाहनामात्र नहीं है, उसमें न वास्तविक शिकायत रहती है और न प्रेम-पात्रकी निन्दा, यद्यपि इस काव्याभिव्यक्तिमें आभासित यही होता है। इसका आधार गहरी आत्मीयता और प्रेम है। प्रेमी अपने प्रेम-पात्रसे अलग होकर विकल और विह्वल हो जाता है। उसकी मिलनकी उत्कण्ठा तीव्र होकर उसे व्यथित कर देती है। पर इस भावावेगमें भी उसके मनमें प्रेमकी अनुभूति अधिक गहरी होती है। ऐसी ही मनःस्थितिमें प्रेमी किसी सहृदय सहचर या सहचरीको माध्यम बनाकर अपने प्रेमीको उपालम्भ देता है। इस बहाने प्रेम-पात्रकी चर्चाके पक्ष सामने आते हैं, प्रेमका आवेग आश्रय पाकर विविध रूपोंमें प्रकट होता है। इस सम्पूर्ण अभिव्यक्तिकी केन्द्रीय भावना रहती है मिलनकी आशा-अभिलाषा। किसी-किसी स्थितिमें केवल अपने विश्वास और प्रेमकी अभिव्यक्ति इस प्रकार होती है। प्रेमके स्वरूपके अनुसार यह आशा और विश्वास विभिन्न रूपोंमें प्रकट होता है।

शृंगारके वियोगपक्षमें उपालम्भ संयोगकी आकांक्षासे अनुगुंजित रहता है। उसमें प्रियका सारा पिछला प्रेम-व्यापार उसकी निष्ठुरताके रूपमें चित्रित किया जाता है, पर उसके मूलमें प्रेमिकाकी अपनी सुखद कल्पनाओंकी स्मृति अन्तर्निहित रहती है। साथ ही वियोगकी परिस्थितिका दोषारोपण प्रियपर करके मिलन-कामना भी व्यक्त की जाती है। संयोग-शृंगारमें यही उपालम्भ नायकको स्वयं नायिका देती है, जिसके अन्तर्गत रीतिकालीन कवियोंने नायकके अन्य नायिकाके रतिचिह्नोंका तथा उसके प्रति मुख्य नायिकाके ईर्ष्याभावका कौशलपूर्ण वर्णन किया है। परन्तु यह संयोगका उपालम्भ केवल मानका अंगमात्र है, स्वाभाविक हृदयकी वेदनाकी अभिव्यक्तिका साधन नहीं। वियोगपक्षमें भी इस उपालम्भकी कई स्थितियाँ हैं। नायिका विरह-वेदनाके बीच स्वगत रूपमें अपने प्रियको उपालम्भ देती है, परन्तु इस उपालम्भमें वह स्वाभाविक तन्मयता और आशा-निराशाका स्पन्दन नहीं रहता। इसमें आन्तरिक वेदनाका उद्वेग रहता है, जो इस प्रकार मुखरित होकर वेदनाके क्षणोंको सत्य बनाता है। यही उपालम्भ जब किसी प्रकृतिरूप(पक्षी आदि अथवा मेघ-पवन आदि)का आश्रय लेकर प्रकट होता है तो भावोंकी अभिव्यक्ति अधिक गहन हो जाती है। अपने आत्मीय विश्वासके सहारे प्रेमिका उसको सप्राण मानकर अपने साहचर्यमें ले लेती है और उससे अपने मनकी बात उपालम्भके रूपमें व्यक्त

करती है। परन्तु इस प्रसंगमे उपालम्भ प्रायः **सन्देश काव्य**का अंग बन जाता है। कभी प्रियके सहचरके मिल जानेपर तो यह उपालम्भ और भी मुखर रूप धारण कर लेता है। परन्तु इस प्रकारका उपालम्भ हिन्दीके भक्ति-काव्यमे ही विशेष रूपसे मिलता है। वस्तुतः हिन्दी उपालम्भ काव्यकी भावात्मक अभिव्यक्तिका उत्कृष्ट स्वरूप इसीमे रक्षित है। भक्तिसाहित्यमे गोपी, राधा आदिके उपालम्भके साथ ही कतिपय स्थलोपर यशोदाके मातृ-हृदयका कोमल उपालम्भ भी मिल जाता है और भक्तोंकी, अपने आराध्यके प्रति अभिव्यक्त, विनय-भावनाके अन्तर्गत भी यह भाव मिलता है।

इस भावात्मक प्रवृत्तिका मूल लोक-भावना है, जो युगोंसे प्रेम-विरहके गीतोके रूपमे अभिव्यक्त हुई है। लोक-नायिका अपने प्रवासी नायकके प्रति उपालम्भशील होती है और उसको चील्ह, कागा आदि पक्षियोंके प्रति निवेदन करती है—साथ ही सन्देश देती है। कभी-कभी वह आगन्तुक पथिकको लक्ष्य करके भी निर्मोही प्रियको उपालम्भ देती है। परन्तु लोक-गीतोंमे यह भावना व्यापक आधार भी ग्रहण करती है। उस दृष्टिसे नवविवाहिता वधू अथवा विवाहिता बहिन अपने आत्मीय परिजनोंके विछोहको अनेक बार उपालम्भके माध्यमसे व्यक्त करती है। वह अपने भाईको सुधि न लेनेके लिए उपालम्भ देती है। वस्तुतः इस कोमल संवेदनाको साहित्यमे अभिव्यक्तिका अवसर नही मिला है, पर लोक-काव्यमे इसका महत्त्व अत्यधिक है।

भक्ति-काव्यके अन्तर्गत उपालम्भ काव्यका प्रमुख आधार कृष्णका मथुराप्रवास है। कृष्ण गोकुल छोडकर मथुरा जाते हैं। गोपियाँ—बादमें राधा भी, गोप, यशोदा, नन्द, ग्वाल-बाल, सभी उनके वियोगमे दुःखी और व्यथित हो जाते है। कृष्णके वापस आनेकी आशा जब धीरे-धीरे नष्ट हो जाती है तब उनकी आकुलता अधिक बढ जाती है। अन्ततः गोपियोकी वियोग-वेदना उपालम्भके रूपमे व्यक्त होती है। इसी बीच कृष्ण उद्धवको गोपियोंको समझानेके लिए भेजते हैं। उनको पाकर तो गोपियोंकी वेदना जैसे मुखर हो उठती है। वे सब उद्धवको उपलक्ष्य करके कृष्ण-को नाना प्रकारसे उपालम्भ देती है (श्रीमद्भागवत, स्क० १०)।

इसी प्रसंगको काव्यमें 'भ्रमरगीत'का नाम भी मिला है। आगे चलकर कृष्ण-काव्यमें उपालम्भ काव्य तथा भ्रमरगीत पर्यायरूपमे प्रयुक्त हुए है। हिन्दी साहित्यमे सर्वप्रथम मैथिली कवि विद्यापतिके पदोंमे राधाका कृष्णके प्रति उपालम्भका उद्वेगपूर्ण चित्रण है। विद्यापतिकी राधाके उपालम्भमें भी उनकी यौवनोद्वेलित विकलताका आवेग है। सूरकी गोपियोंके उपालम्भके दो स्थल है। पहली स्थितिमें गोपियाँ कृष्णके न आनेपर उनकी निष्ठुरता आदिके प्रति उपालम्भशील अपनी विरह-वेदनाके क्षणोंमें होती हैं। दूसरा स्थल वह है, जब उद्धवका आगमन होता है और गोपियाँ उनके निर्गुणके उपदेशके उत्तरमें उपालम्भ-का व्यंग्यके साथ समावेश करती हैं। भ्रमरगीतके इस प्रसंगमें उपालम्भकी भावना निरन्तर सन्निहित रही है और वास्तवमें गोपियोंके व्यंग्य और चतुरोक्तियोंकी व्यंजना यही है। सूरके आधारपर अन्य कृष्ण-भक्तोंने इस प्रसंगकी काव्यात्मक अभिव्यक्ति की है। नन्ददासके भ्रमरगीतमें वही भावना श्रीमद्भागवतके आधारपर व्यक्त हुई है। आधुनिक कालमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने सूरके आधारपर 'चन्द्रावली'में इसका व्यापक चित्रण किया है। इसी प्रकार 'रत्नाकर'के 'उद्धव-शतक'में रीतिकालीन शैलीमें यही प्रसंग विदग्धताके साथ प्रस्तुत किया गया है।

दास्यभावके भक्तोंकी अभिव्यक्तिके अन्तर्गत भी उपालम्भकी भावना मिलती है। अपने प्रभुके प्रति दृढ विश्वास-के साथ सूर आदि भक्त अपने प्रभुको उपालम्भ भी देते हैं—प्रभुने सबको तारा है तो उनकी बार विलम्ब क्यों? तो उनके प्रति यह उदासीनता कैसी?—इसी प्रकारकी उक्तियाँ इन भक्तोंके विनयपदोंमे पद-पदपर मिलती है। आधुनिक कालमें इस भावनाकी अभिव्यक्ति देशप्रेमके अन्तर्गत हुई है। सत्यनारायण कविरत्नने अपने 'भ्रमर-गीत'में देश-माताको यशोदाके रूपमें चित्रित किया है, जो कृष्णको देशके उद्धार न करनेके लिए उपालम्भ देती है। इसी प्रकार कई अन्य कवियोंने अपनी भावनाको व्यक्त किया है। —र०

उपेंद्रवज्रा—वर्णिक छन्दोंमे समवृत्तका एक भेद; 'पिंगलसूत्र' (६ : १७) और 'नाट्यशास्त्र' (१६ : ३३)के लक्षणके अनुसार जगण, तगण, जगण और दो गुरुओंके योगसे यह वृत्त बनता है (।ऽ।, ऽऽ।, ।ऽ।, ऽऽ) तथा ५, ६ वर्णों-पर यति होती है। इन्द्रवज्राके प्रथम वर्णको लघु करनेसे यह वृत्त बनता है। ई० वर्नन आर्नाल्डने 'हिस्टारिकल डेवेलप्मेण्ट ऑव वैदिक मीटर'मे इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा-को एक ही माना है, क्योकि दोनोंकी लय समान है। 'रामचन्द्रिका' और 'साकेत'मे इस छन्दका प्रयोग हुआ है। उदा०—"अनेक ब्रह्मादि न अन्त पायो। अनेकधा वेदन गीत गायो। तिन्है न रामानुज बन्धु जानो। सुनो सुधी केवल ब्रह्म मानो" (रा० चं०, १०, ४०)। —पु० शु०

उर्जस्वित्—दे० 'रसवत्' आदि।

उर्दू—उर्दू शब्द मूलतः तुर्की भाषाका है (अंग्रेजी 'होर्ड' तथा रूसी 'ओर्द' इसीसे प्रसूत है)। यह शब्द ईरानमें मंगोलीकालका एक स्मारक है। इसका वास्तविक अर्थ है 'उमरा एवं सलातीनकी फिरोदगाह' या 'शाही शिविर'। भारतमें यह शब्द सम्भवतः बाबरके साथ आया और शाही शिविर या शाही किलेके अर्थमें सर्वप्रथम प्रयुक्त हुआ।

किन्तु आज इस शब्दका प्रयोग पाकिस्तानकी राजभाषा-के लिए तथा भारतवर्षमे हिन्दीके उस दूसरे रूपके लिए होता है, जो भारतके शिक्षित मुसलमानोंकी साहित्यिक और सांस्कृतिक भाषा है। उर्दू खड़ीबोलीका ही वह आधु-निक या साहित्यिक रूप है, जो फारसी लिपिमे लिखा जाता है और जिसमे फारसी-अरबी शब्दोंका बाहुल्य रहता है। इस प्रकार हिन्दी और उर्दू, दोनोंका एक ही मूल होनेके कारण भी साहित्यिक वातावरण, शब्दसमूह तथा लिपिमें भेद होनेके कारण दोनोंमें बहुत अन्तर दिखाई पडता है। भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे मूलतः दोनों ही एक है, किन्तु

साहित्यिक दृष्टिसे दोनों की समानता प्रतीत होती है।

अपने आरम्भिक अर्थसे किस प्रकार यह शब्द एक विशिष्ट भाषाका द्योतक हुआ, इसका शताब्दियोंका इतिहास है। भारतमें आकर मुसलमानोंने दिल्ली-मेरठकी बोलीको अपनी बोलचालके लिए चुना। दरबारोंमें राज्यकार्य फारसी-में होता रहा, किन्तु साधारण व्यवहारके लिए देशी बोलीका प्रयोग होता रहा, जिसे मुसलमानोंने हिन्दी या हिन्दवी नाम दिया (दे०—'हिंदी, हिंदवी')। मुसलमानी सेनाके सैनिकों, शासकों तथा निर्गुण सन्तोंके द्वारा इसे अन्तः-प्रान्तीय रूप मिला। बीजापुर, गोलकुण्डा आदि दक्षिणी मुसलमानी राज्योंने राजभाषाके रूपमें इसे अपनाया और साहित्यमें इसका प्रयोग किया। दक्खिनी हिन्दी या हिन्दवीका ही समानार्थक शब्द है। रेखता नामक छन्दमें इस भाषाके साथ-साथ कुछ फारसी और अरबीके शब्द भी मिलाये जाने लगे। धीरे-धीरे कविताकी इस भाषाको रेखनेकी बोली कहने लगे। बादमें 'रेखता' शब्द ही भाषाके अर्थमें रूढ़ हो गया। उत्तरी भारतमें मुगलोंकी राजधानी ब्रजप्रदेश आगरामें होनेके कारण देशी भाषाओंमें कविता, संगीतके क्षेत्रमें ब्रजको विशेष प्रश्रय मिला, यद्यपि खड़ीबोलीसे विकसित हिन्दी या हिन्दवी रूप भी बोलचालमें प्रयुक्त होता रहा। शाहजहाँने अपनी राजधानी आगरासे दिल्ली बदली और शाहजहानाबादके नामसे नयी दिल्ली बसायी। अतः दिल्ली-मेरठकी बोलीको उन्नत करनेका फिरसे अवसर मिला। शाहजहानाबादके लालकिलेको अथवा शाही महलमें जो बाजार अमीर, उमरा अथवा बादशाह और बेगमोंके लिए लगता था, उसे उर्दू-ए-मुअल्लाकी संज्ञा दी गयी। उर्दू-ए-मुअल्लाके ये लोग खड़ीबोलीसे विकसित हिन्दी या हिन्दवीमें आगराकी ब्रजभाषाकी मिठास मिलाकर अपने साथ लाये थे। धीरे-धीरे उसमें फारसीका शरीफाना रंग चढ़ता गया। इन लोगोंकी जबानको ही जबान उर्दू-ए-मुअल्ला कहा गया। जिस समय वली औरंगाबादी दक्खिनसे उत्तरकी ओर शाहजहानाबादमें आये, उस समय-तक भी इस जबान उर्दू-ए-मुअल्लामें कविता नहीं लिखी जा रही थी। वलीके दीवानसे प्रेरणा लेकर शिष्ट, शिक्षित मुसलमान कवियोंने जबान उर्दू-ए-मुअल्लाको कविताके लिए अपनाया और सामान्य दक्खिनीकी तुलनामें इसे अत्यन्त शिष्ट और सुसंस्कृत पाया। धीरे-धीरे जबान उर्दू-ए-मुअल्लासे पहले 'मुअल्ला' शब्द, फिर 'जबान' शब्द छूट गये और केवल 'उर्दू' शब्द ही शाही किले, शाही वातावरण-से सम्बन्धित सुसंस्कृत मुसलमानोंकी शिष्ट भाषाके लिए प्रयुक्त होने लगा। इंशाअल्ला खाँ (दरिया-य-लताफत, १८०८ ई०)में स्वयं लिखते हैं "बादशाहों, और उमरा और उनके दरबारियों और हाजिरबाशोंसे उर्दूकी सनद लेनी चाहिये" (देखिये, वहीं, पृ० ६५, उर्दू अनुवाद)। शाहजहानाबादके समस्त निवासियोंकी जबानको 'उर्दू' कहनेके लिए इंशा तैयार नहीं हैं। उनके अनुसार "उर्दू जो फसाहत और बलागतकी कान मशहूर है, वह हिन्दोस्तानके बादशाहकी और चन्द अमीरों और उनके मुसाहिबों और बेगम व खानमकी और कस्बोंकी जबान है। जो लफ्ज उनमें इस्तेमाल हुआ उर्दू हो गया। यह बात नहीं कि जो कोई भी शाहजहानाबादमें रहता है, वह जो कुछ बोले, सनद है" (देखिये, दरिया-य-लताफत, पृ० १०८)। उर्दूके निर्माणकी कहानी स्वयं इंशा इस प्रकार कहते हैं, "यहाँ (शाहजहानाबाद)के खुश बयानोंने मुत्तलक होकर मुतादद जबानोंमें अच्छे-अच्छे लफ्ज निकाले और बाजे इबारतों और अलफाजमें तसर्रुफ करके जबानोंसे अलग एक नयी जबान पैदा की, जिसका नाम उर्दू रखा" (वही, पृ० ४)। मीर अम्मन देहलवीके अनुसार 'उर्दू बाजारी और लश्करी भाषा' है। उपर्युक्त कथनसे मीर अम्मनका कथन प्रामाणिक भी प्रतीत होता है। उर्दू यदि बाजारकी भाषा है तो वह शाही बाजार ही है, सामान्य बाजार, सामान्य लश्कर नहीं।

प्रो० शेरानीके अनुसार "खान साहब (सिराजुद्दीन अली खाँ) ग़ालिबन पहले शख्स हैं, जो उर्दूका लफ्ज बमानी जबान इस्तेमालमें लाये हैं" (देखिये, ओरियण्टल कालेज मैगजीन, १९३१ ई०, पृ० १४)। कुछ लोगोंके अनुसार मुसहफीने उर्दू नामका प्रयोग भाषाके अर्थमें सर्व-प्रथम किया। मीर तकी मीरने १७५२ ई०में निश्चित रूपसे जबान उर्दू-ए-मुअल्ला नामका प्रयोग किया। वाकर आगाह नामक दक्षिणके शायरने १७७२ ई०में और अली इब्राहीम खाँने १७८३ ई०में तथा अता हुसेन खाँ तहसीनने 'नौ तर्ज मुरस्सा' (१७७०-१७९३ ई०)में जबान उर्दू-ए-मुअल्ला-का उल्लेख किया। मीर अम्मन तथा इंशाने इसी भाषाको उर्दू कहा। फोर्ट विलियम कालेजके हिन्दुस्तानी विभागके अध्यक्ष गिलक्राइस्ट इसे ही हिन्दुस्तानीकी दरबारी शैली मानते हैं। कालेजमें हिन्दुस्तानीके नामसे इसका ही अध्ययन-अध्यापन होता था। धीरे-धीरे १८२३ ई०के पश्चात् विलियम प्राइस आदिके समयसे हिन्दीका महत्त्व बढ़ने लगा, किन्तु किसी विशेष कारणसे अंग्रेजोंने हिन्दुस्तानी उर्दूको विशेष प्रश्रय दिया। —मा० ब० जा०

उर्दू (साहित्य)—मुहम्मद गोरीने जब ११९९ ई०में देहलीपर विजय पायी और कुतुबुद्दीन ऐबकने शासन सँभाला तो फारसी और पंजाबीके वे शब्द जो, लाहौरमें पहलेसे बोले जाते थे, यहाँकी खड़ीबोलीमें घुल-मिल गये और ब्रजभाषा, राजस्थानी तथा हरयानी भाषाओंके शब्द मिल-मिलाकर एक नयी बोली तैयार हो गयी, जिसको अमीर खुसरो (१२५५-१३२५ ई०)ने 'हिन्दवी' या 'देहलवी' कहा है। अमीर खुसरो फारसीके प्रसिद्ध शायर थे। उन्होंने 'हिन्दवी' जबानमें भी पहेलियाँ, दोहे-चौपाइयाँ और शेर लिखे हैं। उन्होंने ऐसी गजलें भी लिखी हैं, जिनमें एक बोल फारसीका है और दूसरा हिन्दवीका, इसीलिए इस भाषाको आगे चलकर रेखता कहने लगे, जिसका अर्थ है बहुत-सी चीजोंका सम्मिश्रण।

अमीर खुसरोसे पहले इल्तुतमिशके जमानेमें सूफी कुतुब साहबने देहलीको अपना केन्द्र बना लिया था। तबसे दिल्ली सूफियोंका केन्द्र बन गयी। प्रारम्भसे ही इन सूफियोंकी नीति यह रही कि वे धर्मप्रचारमें 'हिन्दवी' जबानका प्रयोग करते थे, क्योंकि इसी भाषासे वे जनता-तक पहुँच सकते थे।

अलाउद्दीन खिलजीने जब गुजरात और दकनपर विजय पायी तो उधर भी सूफियों द्वारा हिन्दवी भाषा पहुँची। ख्वाजा गेसू दराजने 'मेराजुलआशिकीन' लिखी, जो उर्दू गद्यकी पहिली पुस्तक कही जाती है। इसके अतिरिक्त देहलीके सूफियोंके चेले देशके कोने-कोनेमे फैल गये और हर तरफसे 'हिन्दी' द्वारा अपने विचारोंको प्रकट करते रहे। अपनी कविताओंमे वे जो छन्द प्रयोग करते थे, वे कभी फारसी होते थे और कभी स्थानीय। शब्दोंके प्रयोगमें भी इन सूफियोंने फारसीके मौलिक रूपपर ध्यान नहीं दिया, बल्कि उसी उच्चारणका प्रयोग किया, जो जनता प्रयोग करती थी। उन्होंने अपने उपदेशोंमे भारतीय विचारोंसे भी बहुत-कुछ लिया। हिन्दीके कुछ कवियोंपर इन सूफियोंका प्रभाव साफ देखा जा सकता है, जैसे नामदेव, कबीर, रविदासकी भाषा इन सूफियोंसे बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। केवल अन्तर है तो इतना कि ये कवि हिन्दी छन्दोंका प्रयोग करते है और विशिष्ट शब्दावली हिन्दू धर्मसे ग्रहण करते हैं।

दकनमें बहमनी वंशका राज्य टूटनेके बाद हिन्दवी भाषाकी उन्नतिके दो बड़े केन्द्र बीजापुर (१४९० ई०) और गोलकुण्डा (१५१८ ई०) हो गये। गोलकुण्डाके कुतुब शाही राजा केवल लेखकोंकी सहायता ही नहीं करते थे, बल्कि स्वयं शायरी भी करते थे; इस वंशके चौथे राजा मुहम्मद कुली कुतुब शाह (१५८०-१६११ ई०)का विस्तृत ग्रन्थ विद्यमान है, जिसमें हर प्रकारकी कविताएँ हैं। इनके दरबारमे जो प्रसिद्ध कवि सम्बन्धित थे, उनमे वजही, गव्वासी और इब्नेनिशाती मशहूर हैं। बीजापुरके आदिल शाही राजा कला और शायरीके बड़े संरक्षक थे। उनके दरबारके प्रसिद्ध कवि मुकीमी, रुस्तमी, नुसरती आदि हैं। इन कवियोंने दकनके विशेष वातावरणको समाहित करते हुए देहलवी या हिन्दवीकी विशेष दकनी शैलीमें लिखा।

तैमूरके हमले (१३९८ ई०)के बाद दो सूफी कुतबुल आलम और शेख अहमद गुजरात चले गये थे, जहाँ उन्होंने अपने विचारोंके साथ-साथ हिन्दवी भाषाका भी प्रचार किया। धीरे-धीरे यहाँके वातावरणसे प्रभावित होकर देहलवीकी एक गुजराती शैली हो गयी, जिसका प्रयोग गुजरात, काठियावाड़ तथा आसपासके लोग करते थे। 'खूब' मुहम्मद हुसेनकी 'खूब तरंग' और अमीनकी 'यूसुफ-जुलेखा' इस शैलीके प्रसिद्ध नमूने हैं।

मुगल-शासनके बाद हिन्दवी जबानकी और उन्नति हुई। फारसीके शब्दोंका प्रयोग बढ़ गया और इस भाषाका नाम हिन्दवीसे रेखता हो गया। फिर शाहजहाँके समयमें रेखतासे इसका नाम बदलकर 'उर्दू' पड़ गया, परन्तु उर्दू शब्दके लिए रेखता शब्द मुगल-शासनके अन्तिम समयतक (१८५७ ई०) प्रयोग होता रहा।

औरंगजेबके दकनपर विजयी होनेके बाद (१६८७ ई०) उर्दूकी दकनी और गूजरी शैलियोंपर फारसीका प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा। वली जब देहली आये तो एक सूफी बुजुर्ग शेख सादुल्लाह 'गुलशन'ने उनको निर्देशित किया कि फारसी परम्पराओंका उर्दूमें प्रयोग करें। उन्होंने यह बात मानकर बिलकुल फारसीके ढंगपर उर्दूमें शेर कहना आरम्भ किया। यह नई लोगोंको ऐसी पसन्द आयी कि उनके बाद सबने यही राह पकड़ ली। देहलीमें फायज़, आबरू, हातिम, मज़हर आदिने पिंगलको एक स्थिर रूप दिया और वाक्योंको भी फारसी ढंगपर ढाला और फारसीमें जितने काव्य-रूप प्रचलित थे, उन सबको सफलतासे अपनाया।

हातिम, आबरू आदिके बाद मीर, सौदा, दर्दने उर्दू काव्यको प्रोत्साहित किया। उनके कारण यह ज़माना उर्दूका स्वर्णयुग कहलाता है। सामाजिक दशाओंसे घबराकर मीर, सौदा और बहुतसे शायर लखनऊ चले आये, जहाँका शासन बहुत अच्छा था। वहाँके नवाब भी कलाके बड़े प्रेमी थे। यहाँ इंशा और मुसहफ़ी और उनके बाद नासिख, आतश आदिने ग़ज़लमें नाम पैदा किया। मसनवीमें मीर हसनने अपना कमाल दिखाया और मरसियेमें ज़मीर, अनीस, दबीर आदिने फारसीकी परम्परासे हटकर एक विस्तृत साहित्यको जन्म दिया, जिसमें इमाम हुसैनके बलिदानको महाकाव्यके ढंगपर वर्णित किया। भाषाका भी उन्होंने क्षेत्र और बढ़ा दिया। लखनऊ स्कूलने ज़बानकी सफाई और बुलावटमें बड़ी उन्नति की। नासिख इसके प्रमुख कार्यकर्ता थे। अवधके नवाबोंने, विशेषकर वाजिदअली शाहने उर्दू साहित्यको बड़ा प्रोत्साहन दिया। कवियोंकी सहायताके अलावा उन्होंने स्वयं पचहत्तर छोटी-बड़ी पुस्तकें लिखी, जिनमें कुछ रहस्य भी हैं। इन रहस्योंको रंगमंचपर खेलनेका भी प्रबन्ध किया गया। इन्हींके प्रभावसे उर्दूका पहला नाटक 'इन्दर-सभा' अमानतने लिखा।

इसी समयमें देहलीमे जौक, मोमिन और गालिबने उर्दू कविताको ऊपर उठाया और उसमें दार्शनिक विचार प्रकट किये। उधर कलकत्तामें फोर्ट विलियम कालेजकी अधीनतामे गद्यकी पुस्तकें लिखी जा रही थीं और सरल उर्दू भाषाकी नयी शैलीका प्रचार किया जा रहा था।

गजलमें तो गालिब (१७९७-१८६९ ई०)ने भावना और आध्यात्मिक विचारोंके साथ दार्शनिक तत्त्व बढ़ाये। इसके साथ-ही-साथ उन्होंने अपने खतोंमे ऐसी सरल भाषा लिखी कि उर्दू गद्य, जो (फोर्ट विलियम और सैयद इंशाकी 'रानी केतकीकी कहानी'के अलावा) बड़ी सुसज्जित लिखी जाती थी, सरलताके मार्गपर चल पड़ी। इसके साथ-ही-साथ यह भी हुआ कि इस समयसे उर्दूके विद्वान् उर्दूमें पत्रव्यवहार करने लगे, वर्ना इस कामके लिए अधिकतर फारसीका प्रयोग होता था।

१८५७ ई०के असफल स्वतन्त्रता-संग्रामने भारतके सामाजिक ढाँचेको नया रूप दिया। अंग्रेजी शासन और अंग्रेजी शिक्षा हर तरफ फैलने लगी और पाश्चात्य संस्कृतिका प्रभाव बढ़ने लगा। इस कालमें सर सैयद अहमद खाँ (१८१७-१८९८ ई०) प्रमुख हैं, जिन्होंने सरल उर्दूके साथ-साथ बौद्धिकताका भी प्रचार किया और 'अलीगढ़ साइंटिफिक सोसाइटी' स्थापित करके उर्दूमें गम्भीर साहित्य उत्पन्न किया। उनके असरसे पाश्चात्य विचार लोगोंमें फैले। दास्तानोंको छोड़कर नजीर अहमद (१८३१-१९१२ ई०)ने १८६९ ई०में उर्दूका पहला उपन्यास 'मिरातुल अरूस' (दूल्हनका) आइना लिखा। इसके बाद

नजीर अहमदके अलावा रतननाथ 'सरशार' (१८४६-१९०२ ई०), सज्जाद हुसेन, मुहम्मद अली, शरर, हादी रुस्वा, राशिदुल खैरी आदिने उपन्यास-लेखनमें प्रसिद्धि प्राप्त की। गजलके पुराने ढंगने दाग और अमीर मीनाईने शोखी और मुहाविरेके गुन दिखाये, साथ-ही-साथ लाहौरसे मुहम्मद हुसेन 'आजाद'ने वहाँके शिक्षाविभागके अंग्रेज डाइरेक्टरकी सहायतासे 'अंजुमने पंजाव' स्थापित की (१८६७ ई०)। इस अंजुमनकी अधीनतामे १८७४ ई० से ऐसे मुशायरे होने लगे, जिनमे मिसरा, तरहके वजाय कोई विषय दिया जाने लगा और लोग उस विषयपर नज्मे लिखकर उन मुशायरोंमे पढने लगे। इस तरह उर्दूमें नयी कविता प्रारम्भ हुई, जिसका शुरूमें तो लोगोंने मजाक उड़ाया, परन्तु हाली, इस्माईल आदिकी सहायतासे यह आगे बढ़ी और फिर इकबाल (१८७५-१९३८ ई०), जोश, जफरअली खाँ आदिने इसमें दर्शन, प्रकृतिकाव्य तथा राजनीतिके तत्त्व भरे। २०वीं शताब्दीमे भारतके राजनीतिक आन्दोलन और अन्तरराष्ट्रीय राजनीतिक वातावरणने उर्दू कविताने बहुत असर लिया। उर्दू कवियोने 'होमरूल' अन्दोलनसे लेकर स्वतन्त्रतातक तमाम राजनीतिक उतार-चढ़ावपर बडी जोरदार और जोशीली नज्मे लिखीं, विशेषकर ब्रिटिशसाम्राज्य शाहीके विरुद्ध तो उर्दू कवियोकी नज्में देशभरमें प्रसिद्ध हुई हैं। पहली बडी लडाई (१९१८ ई०)-के बाद रूसी क्रान्तिने भी उर्दू कवियो और लेखकोंको प्रभावित किया। इसके साथ-साथ रोमाण्टिक उर्दू कवियो और लेखकोंका भी एक स्कूल पैदा हो गया, जिसने बडी खूबसूरत कविताएँ और कल्पनाके सुन्दर रूपोमें उपन्यास और लेख लिखे। अख्तर शीरानी, सज्जाद हैदर आदि इस मतके अनुयायी है।

१९३५ ई०से उर्दूमें प्रगतिवादका प्रचार हुआ और यह वाद उर्दूपर इतना छा गया कि आज निन्यानबे प्रतिशत चोटीके लेखक उसके माननेवाले है। कहानी, उपन्यास, समालोचना, सब शाखाओमे उन्नति हो रही है और भारतके कोने-कोनेमे इसकी कविताओ और गजलोंने ऐसा रूप धारण कर लिया है कि फिल्मसे लेकर बाजारतककी जबानपर उर्दू छायी हुई है।

उर्दूमें साइंटिफिक किताबें अवध दरबारकी अधीनतामें सन् १८४० ई० से लिखवायी और अनुवाद करवायी जाती थी। सर सैयदने भी इसमे हाथ बँटाया और बीसवी शताब्दीमें हैदराबादके निजामने जो 'ट्रान्सलेशन ब्यूरो' स्थापित किया, उसने कुछ दिनोंमें उर्दूमें भिन्न-भिन्न विषयोंपर प्रसिद्ध अंग्रेजी पुस्तकोंका अनुवाद कर दिया, जिससे हैदराबाद और जामिया मिलिया देहलीमें बी० ए०तक सब विभागोंमें उर्दूके माध्यमसे पढ़ाई होने लगी। इसके अलावा भी बहुतसे प्रसिद्ध विद्वानोंने किताबें लिखी और उर्दू साहित्यको समृद्ध किया।

उर्दूको पढ़ते समय यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि यह खास भारतकी भाषा है और उस सभ्यताकी निशानी है, जो मुसलमानोंके हिन्दुस्तानमें बसने और हिन्दुओंसे भाईचारा रखकर सम्मिलित हो जानेसे उत्पन्न हुई है।

स्वतन्त्रताकी घोषणाके बाद साम्प्रदायिक दंगोंने जो हलचल मचायी, उसमे भी उर्दू कवियों और लेखकोंने अच्छा काम किया। कृष्णचन्दर, मंटो, ख्वाजा अहमद अब्बास, इस्मत चगताई आदिने कहानियोंमें और जोश, सरदार जाफरी, वामिक आदिने कविताओंमें शान्तिमय वातावरणकी आकांक्षा व्यक्त की। गान्धीजीकी मृत्यु और उसके पश्चात् शान्ति-आन्दोलनमें भी उर्दू कवि अपना कर्तव्य पूरा करते रहे है। —म०

उलटा कुवाँ—दे० 'हठयोग'।

उलटा साधना—न केवल नाथ-पन्थ और सन्त-मतमें, वरन् उस युगकी तमाम छोटी-छोटी धर्मसाधनाओंमे भी साधनाके साथ उलटा विशेषण जोड़नेकी प्रथा थी। इसका एक विशेष अर्थ था। लगभग सभी तान्त्रिक पद्धतियोंमें वामाचारकी प्रधानता थी। उसके दो अर्थ थे, एक तो वामा-युक्त साधना और दूसरे लोकप्रचलित साधनाके सर्वथा विपरीत साधना। सिद्धोमे मुद्रा-मैथुन तो प्रचलित था, किन्तु उलटा साधना शब्दका प्रयोग उन्होने नही किया। सूर्यको उलटकर चन्द्रमें लीन करनेका रूपक अवश्य चर्यापदोंमे मिलता है। नाथ-योगियो और सन्तोमें इसका मुद्रा-मैथुनपरक अर्थ तो विलुप्त हो गया, हठयोग-परक अर्थ प्रचलित हो गया। उसमें उलटा साधनाके अर्थ थे श्वास-निरोध द्वारा गंगा (इड़ा)को उलटकर यमुना (पिंगला)में मिलाना या सूर्यको उलटकर चन्द्रमें विलीन करना। —ध० वी० भा०

उलूक—इसका आजकल अर्थ उल्लू लिया जाता है—पक्षी तथा व्यक्ति दोनोके लिए। 'सर्वदर्शन संग्रह'में कणादके वैशेषिक दर्शनको औलूक्य दर्शन कहा गया है। टीकाकार इसके दो कारण देता है—(१) कणद उलूक ऋषिके वंशज थे, (२) शिवने उलूकका रूप धारण कर कणादको छः पदार्थोंका ज्ञान दिया था। पाणिनि (४,१,१०५) तथा 'वायुपुराण'में उलूक नामक व्यक्ति (पुराणमे ऋषि)का उल्लेख है। 'महाभारत' तथा 'हरिवंश'मे उलूक जातिकी चर्चा है। 'महाभारत'में शकुनिके भाईका नाम उलूक कहा गया है। लगता है शकुनि तथा उलूक, गिद्ध तथा उल्लूके, टोटमवाली जातियाँ थीं। जाति तथा देशके नामपर व्यक्तियोंके नामकी प्रथा मिलती है।

शिव और उलूकका सम्बन्ध प्रतिपादित करनेवाले अन्य सूत्र भी हैं। भण्डारकरने शिवको एक अवतारका नाम बताया है (ज० ए० सो०, बम्बई, जिल्द २२)। वैशेषिक दर्शनमें शिवको बहुत महत्त्व दिया गया है—"जिस प्रकार चमड़ेसे आकाश मढ़ाना असम्भव है, उसी प्रकार शिवको जाने बिना दुःखोंका नाश (मुक्ति) भी असम्भव है। आगम, अनुमान और पूर्ण ध्यानके सहारे मनको शिवमें लगानेसे उत्तम योग प्राप्त होता है"। स्पष्ट है कि शिवमें इतनी आस्था पाशुपतोकी आस्थाकी समशीला है।

उलूकका पर्यायवाची 'कौशिक' है। प्राचीन साहित्यमे कुशिक नामके एक मुनिका उल्लेख मिलता है, जो लाकुलीश (दे० 'लाकुल')के शिष्य थे और उन्हींके नामपर समूचे उलूक सम्प्रदायको कौशिक कहा जाता है। उलूक लोग लाकुलीश पाशुपत मतावलम्बी थे, अतः लाकुलीशके

शिष्य कुशिक निश्चय ही पाशुपत शैव होंगे। कौशिकका उल्लू अर्थ इसका सबसे बड़ा गवाह है। 'शून्य पुराण'में धर्म और कर्मके अतिरिक्त निरंजन देवके दो सहायक और बताये गये हैं—हंस और उल्लू। लक्ष्य है कि 'शून्य पुराण'वाली कहानीका झुकाव शिवकी ओर अधिक है, अतः उल्लूका शिवसे कोई निकटका रिश्ता लेखककी पूर्ववर्ती परम्परासे जरूर होगा। आगे चलकर हंस, कूर्म, धर्म सभीके सन्धान मिल जाते हैं, पर उल्लूका कहीं पता नहीं चलता। —रा० सिं०

उल्लाप्य–एक अंक, धीरोदात्त नायक, दिव्य कथा, चार नायिकाओंका उपरूपक है। इसमें शृङ्गार, करुण, हास्यकी प्रधानता रहती है। इसकी अभिनय-प्रणाली संग्राम-बहुल होती है और शिल्पकके सत्ताइस अंगोंका निर्वाह होता है। कुछ विद्वान् तीन अंकोंका भी उल्लाप्य मानते हैं। उदा०—'देवी महादेव'। अन्य बातोंमें नाटकसे समानता है। —वि० रा०

उल्लाला–मात्रिक अर्द्धसम छन्द। 'प्राकृतपैंगलम्' तथा अन्य अपभ्रंश छन्द-ग्रन्थोंमें उल्लालाका विवेचन किया गया है (प्रा० पैं० १ : ११८)। अपभ्रंश-साहित्यमें इसका प्रयोग इस प्रकार निश्चित रूपसे अनुमित किया जा सकता है। इसके पहले और तीसरे पदमें १५, १५ और दूसरे और चौथे पदमें १३, १३ मात्राएँ होती हैं। उल्लालाका प्रयोग स्वतन्त्र भी मिलता है, किन्तु छप्पय जैसे छन्दोंके साथ इसका प्रयोग बहुत प्रचुरताके साथ हुआ है। भानुने इसका नाम 'उल्लाल' दिया है। उदा०—"हरिहर भगवन सुन्दर स्वामी, सबके घटकी तुम जानो। मेरे मनकी कीजे पूरी, इतनी हरि मेरी मानो।"(छं० प्र०, पृ० ८९)। सूदनने इसका प्रयोग 'सुजानचरित'में किया है।—रा० सिं० तो०

उल्लास १–अर्थालंकार, एकके गुण तथा दोषके प्रभावसे दूसरेमें गुण तथा दोषके आधानके चमत्कारपूर्ण (उल्लसित) वर्णनमें 'उल्लास' अलंकार होता है। सम्भवतः जयदेवने इसका सर्वप्रथम लक्षण दिया है—"अन्यमहिम्ना चेद्दोषो ह्यन्यत्र वर्ण्यते" ('चन्द्रालोक', ५ : १०१), अन्यकी महिमा और दोष अन्यत्र वर्णित हों। 'कुवलयानन्द'में 'उल्लास'को स्वतन्त्र अलंकार माना गया है, किन्तु मम्मट आदि आचार्योंने इसका उल्लेख नहीं किया है। 'रसगंगाधर'में लिखा है कि कुछ आचार्योंके मतमें यह 'काव्यलिंग'के अन्तर्गत है। उद्योतकार इसके दो भेदों (दोषसे दोष और गुणसे दोष)को 'विषम'के अन्तर्गत मानते हैं। हिन्दीमें जसवन्तसिंहने जयदेवके आधारपर एकका उदाहरण दिया है, पर मतिराम, भूषण, दास, पद्माकर आदि अधिकांशने 'कुवलयानन्द'के आधारपर चारों स्थितियोंके उदाहरण दिये हैं। मतिरामने इसकी परिभाषा दी है—'औरैके गुण दोष ते औरैको गुण दोष' (ल० ल०, ३१३)। इसी प्रकार पद्माकरका लक्षण है—"जु गुन दोष तें औरके, थपै अनत गुन दोष" (पद्मा०, २२३)।

उदाहरण—१. गुणसे गुण—"तजि तीरथ हरि राधिका, तन दुति करि अनुराग। जिहिं ब्रज केलि निकुंज मग, पग पग होत प्रयाग" (वि० रत्ना०, २०१)। यहाँ कृष्ण और राधाके शरीरकी द्युति (उज्ज्वल नखप्रभा, लाल तलवा तथा श्यामल चरण-पृष्ठ)की आभा पड़नेसे गंगा, सरस्वती और यमुनाका संगम अर्थात् त्रिवेणीसंगम प्रयाग प्रकट होता है। २. दोषसे दोष—"संगति दोषु लगै सबै, कहे ति साँचे बैन। कुटिल बंक भ्रुवसंग भए, कुटिल बंक गति नैन" (बि० रत्ना०, ३०३)। यहाँ भौंहोंकी कुटिलताके संसर्गसे आँखोंमें कुटिलताका समावेश वर्णित है। ३. गुणसे दोष—"देह दुलहियाकी बढ़ै, ज्यों ज्यों जोबन जोति। त्यों त्यों लखि सौतैं सबै, बदन मलिन दुति होति" (बि० रत्ना०, ४०)। यहाँ दुलहिनकी उभरती हुई जवानीके प्रभावसे सौतोंके मुखमण्डल मलिन हो जाते हैं। ४. दोषसे गुण—"दधि लुढ़ाय मोहन लियौ, सखी सदन बन ठौर। बड़ो लाभ मनमें गुन्यौ, जो न किये कछु और" (ल० ल० : ३१६)। अथवा—"डावरेकी वृद्धि ह्वैके दावरे न कीजे बैर, रावरेके बैर होत काज सिवराजको" (शि० भू०, २७७)। यहा औरंगजेबसे उसके मन्त्रिगण यह कहते हैं कि वह शिवाजीसे सुलह कर ले, क्योंकि जितना ही वह शिवाजीसे वैर करता है, उतना ही अधिक उनका काम बनता है। —भ० ब्र० उ०

उल्लास २–तान्त्रिक कुल साधनामें मद्यादि द्रव्यके सेवनसे चित्तमें उल्लासकी जो अनुभूति होती है, उसे वे सिद्धिका सोपान समझते हैं। इस प्रकार इनके यहाँ सात उल्लासोंकी कल्पना की गयी है—१. आरम्भ—इसमें साधक तीन चुल्लूसे अधिक नहीं पी सकता, २. तरुण, ३. यौवनोल्लास, ४. प्रौढ़ उल्लास, ५. तदन्तोल्लास, ६. उन्मनी उल्लास, तथा ७. अनवस्था उल्लास। इस सातवीं अवस्थातक पहुँचकर जीव या साधक परमात्मामें लीन होकर ब्रह्मानन्दका अनुभव करने लगता है (कौल मार्ग रहस्य, पृ० ४०-४१)। —रा० सिं०

उल्लेख–सादृश्यगर्भ अभेदप्रधान आरोपमूलक अर्थालंकारोंका एक भेद। इस अलंकारपर प्राचीनोंके साथ मम्मटने भी विचार किया है। रुय्यकने 'अलंकारसर्वस्व'में सम्भवतः सर्वप्रथम विवेचन किया है—"यत्रैकं वस्तु अनेकधा गृह्यते स रूपबाहुल्योल्लेखनादुल्लेखः" (पृ० ४७)। जहाँ किसी एक वस्तुको अनेक रूपोंमें ग्रहण किया जाय तो उसके इस प्रकार अनेक रूपोंमें कथनको उल्लेख कहा जायगा। आगे रुय्यकने इसके दूसरे भेदका संकेत भी दिया है—"पूर्वत्र ग्रहीतृभेदेनानेकधात्वोल्लेखः इह तु विषयभेदेन" (पृ० ४९)। विश्वनाथने उल्लेखके दोनों भेदोंको स्पष्टतः स्वीकार किया है—"एक वस्तुका, ज्ञाताओंके भेदके कारण अथवा विषयभेदके कारण अनेक रूपोंमें वर्णन किया जाना उल्लेख है" (सा० द०, १० : ३७)।

हिन्दीके आचार्योंने विश्वनाथ तथा अप्पय दीक्षितके आधारपर उल्लेखके दो भेद प्रारम्भसे स्वीकार किये हैं, यद्यपि इनमेंसे अनेककी प्रेरणाके मूलस्रोत जयदेव हैं और उन्होंने 'बहुभिर्बहुधोल्लेखादेकस्य' (चन्द्रालोक, ५ : २३), एक वस्तुका अनेकके द्वारा बहुत प्रकारका उल्लेखमात्र कहा है। इसका कारण 'कुवलयानन्द'का विवेचन माना जा सकता है। जसवन्त सिंह, मतिराम, भूषण तथा पद्माकर आदिने लगभग समान लक्षण दिये हैं—"कै बहुतै कै एक जहँ, एक वस्तुको देखि। बहु विधि करि उल्लेख है, सो

उल्लेख उल्लेखि" (शि० भू०, ७०)। पद्माकर 'साहित्य-दर्पण'के अधिक निकट हैं—"द्वि उल्लेख इकको जु बहु, बहु विधि समुझैं जत्र। विषय भेद सो इकहि इक, बरने बहु विधि तत्र" (पद्मा०, ४१)। उदा०—"कवि जन कल्पद्रुम कहैं, ज्ञानी ज्ञान समुद्र। दुरजनके गन कहत है भाव सिंह रन रुद्र" (ल० ल०, ७८)। अथवा प्रथम—"पीतम प्रीतिमयी अनुमाने परोसिन जाने सु नीतिन सो ठई। सौतिन हलाहल सी ती कहैं सखी सुन्दरि सील सुधामई" (का० नि०, १०)। द्वितीय—"तेरो करवाल भयो दच्छिनको ढाल भयो, हिन्दुको दिवाल भयो काल तुरकानको" (शि० भू०, ७३) अथवा "बिन्दुमें थी तुम सिन्धु अनन्त एक सुरमें समस्त संगीत। एक कलिकामें अखिल वसन्त धरापर थीं तुम स्वर्ग पुनीत?" (सु० नं० पं०: ज्योत्स्ना)।

दासने उल्लेखका लक्षण 'परम्परित मालाॅन'के समान-सा होकर भी विशेष रूपसे भिन्न हैं, कहकर स्पष्ट किया हैं। वस्तुतः मालारूपक आदिमे ग्रहण करनेवाले अनेक व्यक्ति नही होते और साथ ही उल्लेखमे एक वस्तुमें दूसरीका आरोप न होकर एक ही वस्तुका उसके वास्तविक धर्मों द्वारा अनेक प्रकारसे ग्रहण किया जाता है। उल्लेख और भ्रान्तिमे अन्तर इस प्रकार है कि प्रथममे निमित्तभेद होता है और दूसरेमे एक ही निमित्त होता है (चि० मी०)। जगन्नाथके अनुसार भ्रान्तिमें एक भ्रम होता है और उल्लेखमें अनेक (र० गं०, पृ० २६७)। —र०

उष्णीष कमल—हिन्दू परम्परामें छः चक्रों (दे० 'चक्र')की कल्पनाकी गयी है। सहस्रार उनसे परे सातवाँ और सर्वोच्च चक्र है। इन चक्रोंको कमलकी आकृतिवाला माना जाता है और उनमेंसे हरमे अलग-अलग संख्यामें दलोंकी कल्पना भी की गयी है। इन परम्पराका प्रथम चक्र मूलाधार है, जो नीचे लिंग और उपस्थके बीच अवस्थित माना गया है। सबसे ऊपर सहस्रार चक्र या सहस्रदल कमल है। बौद्ध दर्शन तथा सिद्ध साहित्यमे चक्रोंकी कल्पना थोड़ी भिन्न है। उनके मतसे सर्वोच्च चक्र यह उष्णीष कमल है, जिसमें कुल ६४ दल हैं। मेरु गिरिके शिखरपर, जहाँ महासुखका निवासस्थान है, वहीं चारमृणालोंपर स्थित यह उष्णीष कमल विराजता है। प्रत्येक मृणालके चार-चार क्रम है और प्रत्येक क्रमके चार-चार दल है। इस प्रकार यह ४×४×४×४=६४ दलोंका यह कमल है। जिस प्रकार मूलाधार, आज्ञा आदि चक्रोमें स्थित कमल दलोंपर एक-एक बीजाक्षरका अधिष्ठान माना गया है, उसी प्रकार उष्णीष कमलके चार दलोंको चार शून्योंके अनुसार चार नाम दिये गये हैं—शून्य, अति शून्य, महाशून्य और सर्वशून्य। डाकिनीके मायाजालसे घिरा हुआ जालन्धर नामक हेमगिरि शिखर सर्वशून्यका आवास है और जो सर्वशून्यका आवास है, वहीं उष्णीष कमल है। भुसुकपा इसीको नलिनीवन या पद्मवन कहते है और बताते हैं कि इसमें प्रवेशकर चित्त द्विधाहीन हो जाता है (बागची: चर्यापद, पृ० १३०)। भगवती नैरात्या इसीमें वास करती है, इसीलिए उन्हें कमलिनी कहा गया है (बौद्धगान वो दोहा, पृ० १६६)। अपने दोहो (बा० दोहाकोष, पृ० १५१)मे कण्हपा इसी उष्णीष कमलका उल्लेख करते है और इसमे महासुखका बास मानते है।

बौद्ध दर्शनके अनुसार चक्र चार है, छः नही, और इनके नाम भी हिन्दू परम्पराकी चक्र कल्पनासे भिन्न है—निर्माण चक्र, धर्मचक्र, सम्भोग चक्र और उष्णीष कमल। इन चार चक्रोंपर चार वेधन क्षणोंकी कल्पना की गयी है—विचित्र, विपाक, विमर्द तथा विलक्षण। यही विलक्षण उष्णीष कमलके वेधनका क्षण है (दे० 'वज्रतन्त्र')। तन्त्र एवं हठयोगके ग्रन्थोमे इसे 'सहस्रदल' कहा गया है और इसीकी कर्णिकाके मध्य वज्रगुरुका आसन बताया गया है। इनके मतसे इस स्थानको मध्यमार्गके अवलम्बनसे पाया जा सकता है। —रा० सि०

ऊढा (नायिका)—परकीयाका भेद, विशेष दे०—'नायिका-भेद'। इसके लिए परोढा शब्दका प्रयोग भी किया गया है। ऊढाका अर्थ है विवाहिता; क्योकि यह नायिका दूसरेसे प्रेम करती है और विवाहिता दूसरेकी होती है, अतः इसको परोढा कहा गया है। इसकी सामान्य परिभाषा इसी प्रकार सबने दी है—"ब्याही औरै पुरुषसों औरैसों रसलीन" (मतिराम: रसराज, ५९)। इस नायिकाके प्रेममे विविधता तथा भावात्मक विषमता अधिक है, अतएव यह रीतिकाव्यमें व्यापक विस्तार पा सका है। भक्तिकाव्यमें गोपियोंका प्रेम इसी कोटिका है। इस नायिकामें गोपनका भाव प्रधान होता है, इस कारण प्रेमकी विविध स्थितियोंका चित्रण अधिक आकर्षक तथा उद्वेगपूर्ण हुआ है। नायिकाके उद्वेग, आकांक्षा, चिन्ता, आक्रोश, द्विविधा तथा वेदना आदिका वर्णन इसमें प्रधान है—"क्यों इन ऑखिनसों निरसंक है मोहनको तन पानिप पीजै। नेकु निहारै कलंक लगै इहि गॉव बसै कहौ कैसे के जीजै" (मतिराम: रसराज, ६१)। शंकाके कारण नायिकाके मनमें आन्तरिक क्लेश है, वह व्याकुल है—"घूमति है घर ही मै घनी यह घायल लो घर घाल घरीक तै' (देव: भा० वि०, नायिका०)। पद्माकरने उसकी उद्विग्नताका वर्णन उक्तिके साथ किया है—"हौं तो स्याम रंग मैं चुराई चित चोरा चोरी बोरत तो बोर्यो पै निचोरत बनै नहीं" (जगद्विनोद, १: ७९)।

ऊर्ध्वचेतन—ऊर्ध्वचेतन या अतिचेतन शब्दका प्रयोग दो अर्थोंमें होता है, एक मनोवैज्ञानिक, दूसरा दार्शनिक। मनोवैज्ञानिक अर्थमें स्नायुसंघटनकी अत्यधिक उत्तेजन-शीलताको, जिसका परिणाम असाधारण रूपसे तीव्र चेतना होती है, कहते हैं। ऐसा प्रायः ज्वर या स्नायविक रोगोंमें होता है। दार्शनिक अर्थमें अतिचेतन और ऊर्ध्वचेतन समानार्थक है। इन शब्दोंसे योगियों और द्रष्टाओंकी शरीरेन्द्रियसीमातीत चेतनाका बोध होता है। योगाभ्यास और समाधि द्वारा अन्य देशकालमें स्थित और अगोचर घटनाओं, वस्तुओं आदिका ज्ञान ही ऊर्ध्वचेतना है। इस चेतनाको विभिन्न दर्शनोंमें विभिन्न नाम दिये गये है। आधुनिक साहित्यमें विशेष रूपसे ऊर्ध्वचेतनासे श्री अरविन्दके ऊर्ध्वचेतनका बोध होता है। —प्री० अ०

ऋचा—[ऋच् (तुदादि)+क्विप् करणे कर्तरि वा-ऋच्यन्ते

स्तूयन्ते देवा अनया इति ऋक्; अथवा ऋचति स्तौति देवान् इति ऋक्]। (क) साधारण अर्थ १. स्तुति, २. चमक, ३. पूजा। (ख) विशेष अर्थ—१. ऋग्वेदके मन्त्र। इन्हींका संकलन ऋक्संहिताके नामसे प्रसिद्ध है। ये मन्त्र 'ऋच्' इसलिए कहलाते हैं कि इनमें अग्नि, इन्द्र, वरुण, विष्णु, सवितृ आदि देवोंकी स्तुति की गयी है। २. बहुवचनमें प्रयुक्त (ऋचः) होनेपर यह शब्द समस्त ऋग्वेदके लिए आता है। (ग) हिन्दीमें यह शब्द सभी वैदिक मन्त्रोंके अर्थमें प्रयुक्त होता है। (घ) इसका पर्याय 'मन्त्र' शब्द है, जो ऋक्के अतिरिक्त यजुस् और सामन्का भी वाचक है। (ङ) ऋच्का व्यापक अर्थ—'वैदिक मन्त्र' (ऋक्, यजुस् और सामन्) तथा सीमित अर्थ—'ऋग्वेदका मन्त्र' है। —आ० प्र० मि०

एकदेशविवर्ति-रूपक—दे० 'रूपक', पाँचवाँ प्रकार।

एकपात्रीय नाटक—एकपात्रीय नाटक उसे कहते हैं, जो इस प्रकार लिखा गया हो कि केवल एक अभिनेता द्वारा उसका अभिनय सम्भव हो सके। बीसवीं शताब्दीमें वाईवेट गिलबर्ट, रूथ ड्रेपर तथा कार्नेलिया ओटिस स्किनर-ने इसे लोकप्रिय बनाया। प्रायः इसे **स्वगतभाषण** भी कहते हैं। एकपात्रीय नाटकमें प्रेक्षक समस्त कार्य-व्यापार एवं चरित्रोंका एक ही पात्रके मस्तिष्क द्वारा दर्शन करता है, जैसे जार्ज कैसर-लिखित 'फ्राम मार्न टु मिडनाइट,' श्रीमती एलेन ग्लासगो-लिखित 'बैरेन ग्राउण्ड' तथा हिन्दी-में सेठ गोविन्ददास-लिखित 'चतुष्पथ' और 'शाप और वर' इत्यादि।

एकपक्षीय संवादको भी एकपात्रीय नाटक कहते हैं, जिसमें एक अभिनेता किसी कल्पित व्यक्ति या व्यक्ति-समूहको लक्ष्य करके सम्भाषण करता है। उदाहरणके लिए, राबर्ट ब्राउनिंगके 'माई लास्ट डचेस,' तथा 'आंद्रिया देल सार्तो' हैं, अल्फ्रेड टेनीसन भी अपनी 'माड' शीर्षक रचनाको एकपात्रीय नाटक घोषित करता है।

एकपात्रीय नाटक मनोवैज्ञानिक कथावस्तुके चित्रणके लिए सर्वोत्तम नाट्य-शैली है। —श्या० मो० श्री०

एकांकी—आधुनिक एकांकी पाश्चात्य साहित्यकी देन है। पश्चिममें एकांकीकी रूप-रेखा दशवीं शतीके 'मिरेकिल्स' और 'मारेलिटीज' जैसे नाटक-रूपोंमें मिलती है, जिनमें धर्म-प्रचारके लिए ईसाई सन्तोंके चरित्रकी किसी एक आक-र्षक कहानीको चुना गया है या उनके धर्म-कार्य सम्बन्धी नैतिक उपदेश-प्रधान किसी एक विषयको ग्रहण किया गया है। इसके पश्चात् जनताके मनोरंजनके लिए लिखे गये विनोदपूर्ण 'इण्टरल्यूड्स'में इसका विकसित रूप मिलता है, जिनमें अधिकसे अधिक तीन पात्रोंके द्वारा किसी एक भावनाके प्रदर्शनकी प्रवृत्ति प्रकट हुई है। किन्तु उन्नीसवीं-बीसवीं शतीमें पेरिस (ई० १८८७, १८९३, १९१४), बर्लिन (१८८९), लन्दन (१८९१), डबलिन (१९०४), शिकागो (१९०६) आदि नगरोंके लघुमंचीय आन्दोलनों (लिटिल थियेटर मूवमेंट)के विकास, प्रीतिभोजोंमें भोजनसे पूर्वके समयका उपयोग करनेके लिए लिखे गये प्रहसनों तथा प्रेक्षागृहोंमें इन प्रहसनोंके प्रारम्भमें प्रेक्षकोंके बीचमें आ जानेवाली भीड़के लिए द्विपात्रीय संवादात्मक 'कर्टेन रेजर'-के प्रचलनने एकांकियोंके सर्जनको अभूतपूर्व प्रेरणा दी है। जे० एम० बेरी, जे० बी० हर्र, लार्ड डनसेनी, हॉटमैन, गाल्सवर्दी, इयोजीन ओनील, कार्कमेन, सिन्ज, ग्राहम ग्रीन्ले, गेटे, लेसिंग, मोलियर, बुबुड़, इब्सन, स्ट्रिण्डबर्ग, आस्कर वाइल्ड, टॉलस्टाय, चेखव, गोर्की, पिरेन्डेलो, टी० एस० इलियट, चार्ल्स मार्गन, ग्राहम ग्रीन, क्रिस्टोफर फ्राइ, लोर्का, क्लाडडेल, जिराउडो, सार्त्र, एनाउल, विलियम्स और मिलर आदिकी नाट्य-प्रतिभाओंने एकांकीका आधु-निक रूप प्रस्तुत किया है, जो आज एक स्वतन्त्र शक्ति-शाली साहित्यरूपमें प्रतिष्ठित हो गया है। हिन्दी साहित्य-ने भी आधुनिक एकांकीका रूप इसी साम्प्रतिक पश्चिमी रूपके सन्निकट है। अतः संस्कृत नाट्यकलाके सिद्धान्तोंके अनुसार उसके स्वरूपका निर्णय नहीं हुआ है।

इस प्रकार स्वरूपके ऐतिहासिक विकास—आवश्यकता, और प्रयोगकी दृष्टिसे स्पष्ट है कि एकांकी नाटक साहित्यका वह नाट्य-प्रधान रूप है, जिसके माध्यमसे मानव-जीवनके किसी एक पक्ष, एक चरित्र, एक कार्य, एक परिपार्श्व, एक भावकी ऐसी कलात्मक व्यंजना की जाती है कि वे एक अविकल भावसे अनेककी सहानुभूति और आत्मीयता प्राप्त कर लेते हैं।

कलेवरकी दृष्टिसे एकांकी एक अंकका नाटक है, किन्तु दृश्य-विधानके अनुसार इसके दो भेद किये जा सकते हैं—पहला, एक दृश्यका एकांकी; दूसरा, अनेक दृश्योंका एकांकी। पहली श्रेणीके एकांकीमें कथा किसी घटित घटनाके मार्मिक स्थलसे आरम्भ होती है और भावी घटनाओंके अवरोधसे जिज्ञासा तथा कुतूहलकी वृद्धि करती हुई तीव्र गतिसे विस्मयपूर्ण संक्रमण-बिन्दुतक पहुँच जाती है। इसमें कथाका प्रवाह उस निर्झरके समान होता है, जो किसी पहाड़ीसे अकस्मात् फूटता है, कुछ दूरतक दिखाई पड़ता है और शीघ्र ही आँखोंसे ओझल हो जाता है। इस प्रकार-के नाटकोंमें एक ही स्थानपर, एक ही समयमें कार्य सम्पन्न हो जाता है। इस प्रकार **त्रिक-संगति**का पूर्ण निर्वाह रहता है। भुवनेश्वरके 'रोमांस-रोमांच' और 'प्रसाद'के 'एक घूँट'के एक दृश्यकी परम्परामें आनेवाले रामकुमार वर्माके सभी एकांकी इसी वर्गके हैं। दूसरी श्रेणीके नाटकोंमें विभिन्न स्थलों और समयोंकी घटनाओं द्वारा कथामें वक्रता या विचित्रता उत्पन्न करनेका प्रयत्न किया जाता है, जिसके फलस्वरूप दो या दोसे अधिक दृश्योंकी योजना करनी पड़ जाती है। इस प्रकारके नाटकोंमें स्थल, काल और कार्यकी एकता नहीं रह पाती। इसमें कथाकी धारा भूप्रदेशकी प्रवाहशीला, विस्तृत मूलवती सरिताके सदृश होती है, जो ऋजु या वक्र गतिसे अग्रगामी होकर उद्देश्य-सिन्धुसे मिल जाती है। ऐसे नाटकोंमें चरम बिन्दुकी उत्कटता नहीं होती। उसमें किसी समस्याके उत्पन्न करने या तथ्यको उद्घाटन करनेमें ही नाटककी सफलता मानी जाती है। सेठ गोविन्ददासके 'आलोक और भिखारिणी' छः, 'चन्द्रापीड और चर्मकार' तेरह, सद्गुरुशरण अवस्थीके 'मुद्रिका' आठ दृश्यवाले एकांकी हैं। जगदीशचन्द्र माथुरके 'भोरका तारा'में दो दृश्योंके स्थानपर : १ : : २ : जैसे संकेतोंमें दो भाग मिलते हैं। उदयशंकर भट्टके 'बड़े

आदमीकी मृत्युमें कौतूहलोत्पादक चरम सीमा नहीं है। उनके दो दृश्योंवाले 'दुर्गा'में केवल संघर्ष-चित्रण ही मुख्य लक्ष्य बन गया है।

मर्यादाकी दृष्टिसे एकांकीमें केवल **आधिकारिक कथा** होती है। वही अतर्कित आरम्भ होकर अन्तकी ओर तीव्र गतिसे विकास करती है। इसीलिए उसमें जटिलता नहीं होती। उसमें प्रायः एक मुख्य घटना अनेक लघु घटनाओंके सहारे आगे बढ़ती है और कौतूहलके नये-नये स्थल उपस्थित करती जाती है। उसमें कम-से-कम पात्र होते हैं, जो किसी-न-किसी प्रकार कथासे निकटका सम्बन्ध रखते हैं। यदि गौण पात्र हुए तो वे भी मुख्य कथा और मुख्य पात्रोंके सहायक ही होते हैं। उसमें किसी सुनिश्चित ध्येयकी अभिव्यंजना अव्यर्थ शब्दोंमें सन्तुलन और मितव्ययिताके साथ की जाती है। उसमें बाह्य या अन्तःसंघर्ष भी रहता है, जो परिस्थिति, वातावरणके अनुसार उद्दीप्त होकर कथाके विकासमें सहायता देता है या कभी स्वयं **उद्देश्य** बनकर अभिव्यक्त हो जाता है। उसमें **स्थान-कालकी एकता** अनिवार्य नहीं मानी जा सकती, किन्तु विकल्पसे शिल्प-कौशलके द्वारा स्थल, काल, कार्यका उचित संकलन उपस्थित किया जा सकता है। उसका क्षेत्र संकुचित है। उसमें अन्तकी आकस्मिकता, विषयकी एकाग्रता, संवेदनकी तीव्रता, समयकी स्वल्पता और घटनाओंकी अतर्कितता रहती है।

सीमा, विस्तार और प्रभावकी दृष्टिसे एकांकीका अनेकांकी नाटकसे वही अन्तःसम्बन्ध है, जो साधारणतया कहानीका उपन्याससे होता है। जहाँ अनेकांकी नाटकमें जीवनकी विविधता, पात्रबहुलता, कथासूत्रोंकी सुविमर्शता, अंकोंकी अनेकता, चरित्र-चित्रणकी विचित्रता, कौतूहलकी अनिश्चितता, परिचयकी अधिकता, चरम विन्दुकी व्यापकता तथा कथाकी मन्दगामिता है, वहाँ एकांकीमें जीवनकी एकपक्षता, पात्र-परिमितता, कथाके प्रमुख सूत्रकी ग्राह्यता, एकांकता, चरित्र-चित्रणकी सघनता, कौतूहलकी आद्यन्तता, व्यंजनाकी निर्देशता, चरम विन्दुकी केन्द्रीयता और कथाकी क्षिप्रगामिता होती है।

कभी-कभी भ्रमवश एकांकी और कहानीमें कोई मौलिक अन्तर नहीं माना जाता, किन्तु ऐसा है नहीं। आकारकी लघुतामें वे दोनों भले ही एक-से प्रतीत हों, किन्तु उनकी प्रकृति और आत्मामें मूलतः भेद है। जहाँ एक ओर कहानीका लक्ष्य पाठक होता है, उसमें चरित्र, घटना या वातावरणमेंसे किसी एकको ओर ही दृष्टि केन्द्रित रहती है, उसमें कहानीकारके व्यक्तित्वका सीधा संस्पर्श होता है, उसकी संवेदना विचार और अनुभूतिको झकझोरकर चित्तको द्रवित करती है, वहाँ दूसरी ओर एकांकीका ध्येय अभिनय है, किन्तु वह अभिनेयके साथ पाठ्य भी है, वह पाठक और प्रेक्षक दोनोंको आनन्द देता है, उसमें घटना, चरित्र और वातावरणमेंसे तीनोंकी संगति और समन्वितिपर दृष्टि रहती है; उसमें लेखक तटस्थ रहता है, उसका व्यक्तित्व पात्रोंके माध्यमसे अप्रत्यक्ष रूपसे ही व्यक्त हो सकता है। उसका प्रभाव नाटकीयताके सहृदय सामाजिकोंके चित्तका विस्तार करता है।

यद्यपि **गीति** और एकांकी दो भिन्न रूप हैं, किन्तु आज गीति-नाट्यके विकसित हो जानेसे एकांकी गीतिके निकट आ गया है। अतः यहाँ दोनोंके स्वरूपका विचार कर लेना अनुचित नहीं है। गीति गीतिकारकी किसी अनुभूतिकी अभिव्यक्ति है, किसी रागको वाणी देना है, जब कि एकांकीकी आत्मावो, अनुभव, अनुभूति और विचारसे किसी रहस्यका उद्घाटन कर, रागको व्याप्ति देना है। एकमें सहजता है, दूसरेमें कृत्रिमता है। एकमें केवल भावकी व्यंजना है, दूसरेमें भाव और विचारका चित्रण और व्यंजना दोनों हैं। एकमें कविकी अन्तरात्माकी स्फूर्ति है, दूसरेमें पात्रोंका वाग्विलास है। एककी भाषामें संगीतात्मक अर्थ है, दूसरेमें संगीतात्मक ध्वनि है। एककी शैलीमें भाव-संकेत है, दूसरेकी शैलीमें आंगिक, वाचिक, सात्त्विक, आहार्य—चतुर्विध अभिनय तथा रंग-व्यवस्था है।

एकांकीके **कथानक**-चयनमें एकांकिकारकी अन्तःप्रेरणा ही प्रमुख है। वह अपने स्वभाव, रुचि, अरुचि और जीवन-दर्शनके अनुसार किसी भी क्षेत्रके कथानकके विषय और उपादान चुननेके लिए स्वतन्त्र है। वह मनुष्यकी युग-युगीन अपराजेय शक्तिकी ऐतिहासिक यात्राके गौरवपूर्ण कार्यों, घटनाओं, दृश्यों, धर्मप्रवर्तकों, उनके सिद्धान्तों, राजाओं और वीरोंके चरित्रों, लोकगाथाओं, उत्सवों,संस्कारों, ऋतुओं, सांस्कृतिक उत्थान-पतनों, अतीत या वर्तमान समाजकी रूढ़ प्रथाओं, कुरीतियों, दुष्प्रवृत्तियों, व्यक्ति या समाजके संघर्षों, यौन आकर्षणों, राज्य-व्यवस्थाओं, दैनन्दिन जीवनके हृदय-द्रावक चित्रों, घृणा-प्रेम, राग-द्वेष, आशा-निराशा, हर्ष-विषाद, त्याग-भोग, राग-विराग, मोह-निर्मोह, हास्य-औदासीन्य, श्रेय-हेयके द्वन्द्वोंमेंसे किसीसे भी अपने कथानकका आधार निर्मित कर सकता है। अनुभव या अनुभूतिमें जितनी अधिक सत्यता और घटनाओंमें विस्मयकी जितनी अधिक तीव्रता होगी, एकांगी उतना ही अधिक खिल जायगा। कुरुचिपूर्ण यथार्थके परित्याग और व्यावहारिक आदर्शके परिग्रहण उसके सौन्दर्य-वर्धक गुण हैं।

किन्तु एकांकी **कथानक**का विस्तार अनेकांकी नाटकोंके समान नहीं होता। उसमें कथानकको इस कौशलसे सँवारकर **कथावस्तु**का संघटन किया जाता है कि उसमें एकाग्रता, उत्तेजना, सावधानता और उद्देश्योन्मुखता आ जाती है। वस्तुकी यह संघटन-क्रिया दुरूह नहीं होती। इसमें कार्यका **आरम्भ** और **प्रयत्न** दो ही अवस्थाएँ होती हैं और **प्राप्त्याशा**के पूर्व ही कार्यकी समाप्ति हो जाती है। इस प्रकार **मुख** और **प्रतिमुख** सन्धियोंके बीच इन दोनों अवस्थाओंके कार्यके बीजका वपन कर दिया जाता है, जो तैल विन्दु-सा शीघ्र प्रसार पाकर प्रत्याशित या अप्रत्याशित अवरोधोंके रहते हुए भी आश्चर्य, जिज्ञासा, कौतूहल और विस्मयकी स्थितियाँ उत्पन्न करता है और तीव्र वेगके साथ लक्ष्यको प्राप्त कर लेता है। यह लक्ष्य **कार्य**की परिस्थिति अथवा चरित्रकी गतिके अनुसार **सुखान्त** या **दुःखान्त** होता है। इसके सदैव सुखान्त होनेकी सम्भावना नहीं रहती, क्योंकि इसमें असाधारण व्यक्तित्वसम्पन्न नायककी प्रतिनायक या प्रतिकूल परिस्थितियोंपर निश्चित विजयका

आदर्श नहीं रखा जाता।

प्रायः एक दृश्यके एकांकीमें लक्ष्य **कार्य**का आकस्मिक **चरम** उत्कर्षपर पहुँचना रहता है और उसमें **कार्यारम्भ** चरमकी स्थितिसे कुछ ही पूर्वकी स्थितिका होता है। इसलिए एकांकीके **कार्यारम्भ** और **कार्यान्त**में कुछ ही दूरीका अन्तर रहता है। कार्यकी यह स्थिति आश्चर्य, ज्ञानव्यकी जिज्ञासा, कौतूहल और विस्मयको उत्पन्न करनेमें विशेष सहायता देती है। रामकुमार वर्माके 'चारुमित्रा'में **कार्य**का आरम्भ कलिंग-युद्धके उस स्थलसे होता है, जहाँ कार्यके चरमोत्कर्ष—अशोकका हृदय-परिवर्तन—करुणे कृपालु बन जानेकी सम्भावना निकट ही है।

अनेक दृश्योंवाले एकांकीमें **कार्य** चरम विकासके रूपमें प्रस्तुत होता है। अतः उसमें या तो वस्तुस्थितिका चित्रण किया जाता है या किसी तथ्यका उद्घाटन या सत्यके प्रतिपादनकी कल्पना रहती है। सेठ गोविन्ददासके 'आलोक और भिखारिणी'में जालौकको व्रतादिको छोड़कर अपने राज्यमें किसीको निराहार न रहने देनेकी प्रतिज्ञा और किसी पशु-पक्षीतकको न मारनेकी आज्ञाका प्रजाके द्वारा सहर्ष परिपालन चित्रित हुआ है। 'भोरका तारा' ऐतिहासिक एकांकीमें कवि शेखरके द्वारा कर्तव्यके लिए प्रेमका बलिदान करना व्यंजित किया जाता है और उसकी सूचना प्रथम दृश्यमें होनेवाले सौन्दर्य तथा कर्तव्य सम्बन्धी संवादमें ही दे दी जाती है। प्रारम्भमें प्रभात द्वारा रजनी बालाके खींचे हुए पटके छोरमें स्वर्णकणकी भाँति टँके हुए भोरके तारेकी कल्पना की गयी है, जो किसी पूर्व और भावी परिस्थितिका संकेत कर जाती है। भुवनेश्वरके 'रोमांस-रोमांच'में अमरनाथके सुधारवादकी विडम्बना व्यंजित की गयी है।

कथावस्तुके मुख्य घटना-प्रसंगमें अनेक गौण घटना-प्रसंग अवरोधके रूपमें उपस्थित होकर **संघर्ष**की सृष्टि करते हैं और संघर्ष कथाका विकास करता है। इस अवरोध और संघर्षका मनोवैज्ञानिक और स्वाभाविक ढंगसे ही प्रस्तुत करना ठीक होता है। 'चारुमित्रा'में तिष्यरक्षिताके सम्मुख चारुके नृत्य करते समय ... का आगमन, कलिंग-युद्धमें मृतवत्स-विरहिता माताका चीत्कार, उपगुप्तकी उपस्थिति, चारुका स्वदेशके लिए प्राणदान इत्यादि अवरोधकी स्थितियाँ हैं। 'भोरका तारा'में कवि शेखरके एकांकी गायनमें माधवका आगमन, प्रेम और सौन्दर्यकी चर्चाके बीच एक भिखमंगीका प्रसंग, स्कन्दगुप्तके दरबारमें युवतीके गायन, राजामें शेखरके बुलानेकी उसकी प्रार्थना, समुद्रके संकेत, दूसरे दृश्यमें वीरभद्रका विद्रोह, तोरमाणके आक्रमणकी सूचना, देवदत्तकी वीरगतिका सन्देश, काव्यकी शक्तिसे जन-जीवनकी रक्षा करनेके लिए शेखरको प्रेरित करनेका प्रयत्न—सभी, कथामें नया संघर्ष लाते गये हैं और कथा अपने लक्ष्य—शेखर अबतक भोरका तारा था, अब वह प्रभातका सूर्य होगा—को प्राप्त कर लेता है।

एकांकीमें **कार्य, स्थान** और कालकी **संगति** या उनके **संकलन**का निर्वाहका कोई अनिवार्य नियम नहीं है। यह एकांकीकारकी प्रवृत्ति और उसके रचना कौशलपर आधारित है कि वह कथाके विभिन्न कोणोंको एक ही दृश्यमें मिलाये और समय, स्थान तथा कार्यकी त्रुटियोंको दूर कर दे। ऐसी अवस्थामें एकांकीकारको पहले ही कथाकी समस्त तीव्रतम स्थितियोंका संकलन सावधानीसे कर लेना पड़ता है। रामकुमार वर्माके सभी एकांकियोंमें **त्रय-निर्वाह**का अनिवार्य आग्रह है। 'चारुमित्रा'में कथा कलिंग-युद्धके पार्श्वस्थितिमें आरम्भ होती है और वहीं समाप्त हो जाती है, किन्तु कथामें इतस्ततः हुए परिस्थिति, घटना, पात्र, दृश्य, वातावरणमें वैविध्य और सौन्दर्य दिखलानेके लिए अनेक दृश्योंवाले एकांकीमें त्रिक-संगति नहीं रह पाती। 'भोरका तारा'के पहले दृश्यमें रंगभूमि कवि शेखरका साधारण गृह है और दूसरे दृश्यमें उज्जयिनीके आर्य देवदत्तका विशाल भवन है, जिसमें बदलकर महाकवि शेखर अपनी प्रेमपत्नी छायाके साथ सुख और वैभवमें रहने लगा है।

यद्यपि पूर्व और पश्चिमके प्राचीन और मध्ययुगीन नाटकसाहित्यमें प्रधान पात्रोंका चयन समाजके अभिजात्य वर्गसे ही हुआ है, केवल प्रहसनोंमें इतर वर्गको स्थान मिला है और गौण पात्रोंमें निम्न एवं मध्यवर्गके नारी-पुरुषोंको भी स्थान दिया गया है, किन्तु आजके बदले हुए समय और समाजमें इस प्रकारकी मान्यता रह नहीं है। आज नाटकमें समाजके किसी भी वर्गका प्रवेश सम्भव है। चौकीदारसे राष्ट्रपति, चतुर्वेदीसे चन्दुवा धोबीतक, पत्तीके हिलनेसे विश्वके विध्वंसतक, किसीको भी ग्रहण किया जा सकता है।

पात्र-विधानके सम्बन्धमें पहली बात यह है कि एकांकीमें उनकी संख्या पाँच-छःसे अधिक नहीं होती। दूसरे, उसमें केवल मुख्य और गौण, दोनों प्रकारके पात्र रखे जा सकते हैं। साहस, प्रणय और वीरताकी कहानीमें नायकके साथ प्रतिनायककी कल्पना भी एकांकीको प्रभावशाली बना देती है। तीसरे, पात्रोंमेंसे किसी एकको विदूषक बना दिया जाता है या उसकी अपेक्षा न समझी गयी तो कुछ पात्रोंके संवादोंमें ही हास्य, विनोद, व्यंग्यकी सामग्री प्रस्तुत कर दी जाती है। चौथे, पात्रोंका सजीव, व्यक्तित्ववान् और आकर्षणपूर्ण होना परमावश्यक है, अन्यथा न तो कथा ही रोचकताके साथ दर्शकोंके सम्मुख आयेगी और न कुशल अभिनयके द्वारा विस्मयकी सर्जना ही हो सकेगी। पाँचवें, पात्रोंके चरित्रका निर्माण उनके संस्कार, मनोविज्ञान और वातावरणके अनुसार ही होना उचित है। उनमें अन्तर्द्वन्द्व उपस्थित करते समय एकांकिकारको ऐसी पटुताकी आवश्यकता है कि जिसे पाठक या दर्शक पढ़ या देखकर स्वयं विचारोंके द्वन्द्वमें पड़ जायें कि ठीक क्या है। बलिदान होनेसे पूर्व चारुमित्राके चरित्रमें अशोकके प्रेम प्राप्त करने और कलिंग देशकी मर्यादा-रक्षाका अन्तर्द्वन्द्व है। गणेशप्रसाद द्विवेदीके 'सोहागबिन्दी'में जब काली बाबू अपनी पत्नी प्रतिमाके अस्थिखण्ड रो-रोकर बक्समें रखने जा रहे हैं तब वे विनोद बाबूको लिखे गये पत्रमें प्रतिमाके शब्दों "…मैं हर घड़ी तुम्हारी राह देखा करती हूँ फिर किससे पूछूँ तुम्हारा पता? कैसे पूछूँ?…"को पढ़कर सन्न रह जाते हैं। उनके मनमें पत्नीके पातिव्रतके सम्बन्धमें भाव-संघर्ष इतनी जल्दी उठता है कि उनके हाथमें अस्थिखण्ड

गिर जाता है और वे चारपाईपर गिर पड़ते हैं।

संवाद एकांकीका सर्वस्व है, क्योंकि संवादके द्वारा ही कथा और चरित्रके स्थल सम्मुख लाये जाते हैं। अतः संवाद एकांकिकारके शिल्प-कौशलका प्रधान निकष है। स्वाभाविकता, संक्षिप्तता, वाग्विदग्धता, रोचकता, प्रभावोत्पादकता संवादके उत्कर्ष-विधायक गुण हैं। संवादकी भाषाका निर्णय पात्रोंकी जाति, गुण, कर्म, स्वभाव, मनोवृत्ति, कथाकी प्रकृति तथा उद्देश्यकी स्थितिपर निर्भर रहता है। उसकी भाषाके वाक्योंमे सरलता, सुबोधता, प्रभावपूर्णता तथा शब्दोंमे अव्यर्थता और मितव्ययिताका होना अपेक्षित है। हास्य एकांकीकी ज्योति है। अतः संवादमे हास्य-विनोद तथा व्यंग्यके प्रसंग लाने या संकेत करनेका पूर्ण प्रयत्न भी वांछनीय है। पात्रोंके आन्तरिक गूढ़ भावोको व्यक्त करनेके लिए जिन स्वगत, आकाशभाषित या पृथक् सम्भाषणकी प्राचीन प्रथाका प्रयोग एकांकीमे नहीं होता, पात्रोंके उन आन्तरिक मनोभावोको व्यक्त करनेके लिए किसी दृश्य या वस्तुकी परिकल्पना करनी पड़ती है।

नाट्य-संकेत या रंग-संकेत कथाके परिपार्श्वसे सम्बन्ध रखते हैं। ये वे **प्रतिन्यास** या सूचनाएँ है, जिनका प्रयोग एकांकिकार कथा, चरित्र, संवादका संयुक्त प्रभाव बढ़ानेके लिए करता है।

संस्कृत नाटकोंमें रसोन्मेषके आदर्शपर ध्यान केन्द्रित किये जानेके कारण रंग-संकेतोंकी प्रचुरता नहीं है। हिन्दीमें रंग-संकेतका प्रयोग-बाहुल्य पश्चिमी प्रभाव है। पश्चिमी नाट्य-कलामें रसके स्थानपर कार्य और चरित्रपर ही सम्पूर्ण दृष्टि रहती है। रंगभूमिकी सज्जा करने, प्रेक्षकोंको नाटकोंका पूर्ण स्वरूप बताने, घटनाके कब और कहॉकी सूचना देने और अभिनयमे योग देने, उपन्यास, कहानी, कविताकी रोचकता लाने, पात्रोंकी वृत्तियों और मुद्राओंको प्रकट करनेकी दृष्टिसे इन **रंग-संकेतों**का अत्यधिक महत्त्व है। अतः रंग-संकेतोंके कार्योंकी विविध दिशाएँ हो जाती है। रंगभूमिकी व्यवस्था और पात्रोंकी आयु, वेश-भूषाका निर्देश, कथाके जटिल प्रसंगोंकी व्याख्या, पात्रोंके मानस-द्वन्द्वोंकी व्यंजना तथा उनके भावों-विचारोंको सम्प्रेषणीय और अभिनयात्मक बनानेके उपाय तथा कथामें प्रयुक्त होनेवाले भाव और वस्तुके प्रतीकोंका स्पष्टीकरण रंग-संकेतों-के द्वारा ही किया जाता है।

रूपकी दृष्टिसे आधुनिक एकांकीमें विविध प्रकारके प्रयोग हुए हैं, जिनकी अनेक कोटियॉ है, जिन्हें अन्य साहित्य-रूपोंकी भॉति विषय, उद्देश्य, शिल्प-विधान तथा आकार-विस्तारकी दृष्टिसे अनेक वर्गोंमें विभक्त किया जा सकता है। कहानीकी भाँति एकांकी भी एक नवीन विकासशील साहित्य-रूप है। आधुनिक व्यस्त जीवनमें जिसकी उन्नतिकी अपार सम्भावनाएँ हैं, साहित्यिक महत्त्वके साथ-साथ उसका सामाजिक महत्त्व भी है। हिन्दीमें रंगमंचके अभावकी अवस्थाकी, प्रधानतया आधुनिक एकांकीके रूपमे ही नाट्य-परम्पराका पुनरुत्थान हुआ है। शिक्षा और संस्कृति सम्बन्धी संस्थाओं तथा साहित्यिक गोष्ठियोंके शौकिया अभिनेताओंने एकांकीके अभिनय द्वारा ही सामाजिक जीवनके एक भारी अभावकी आंशिक पूर्ति की है। रंगमंचके भावी विकासके साथ हम एकांकीके उज्ज्वल भविष्यकी कल्पना कर सकते है।

यद्यपि संस्कृतके दस रूपकोंमेंसे भाण, व्यायोग, अंक, वीथी, ईहामृग, प्रहसन तथा अठारह उपरूपकोंमें गोष्ठी, नाट्यरासक, काव्य, प्रेखण, रासक, श्रीगदित, विलासिका, हल्लीश, भाणिका एकांकी है और प्रयोग-दृष्टिसे अन्य विभेदोंके साथ भासके 'उरुभंग', 'मध्यम व्यायोग', वत्सराजका 'किरातार्जुनीय', प्रह्लादनदेवका 'पार्थ-पराक्रम', कांचनाचार्यका 'धनञ्जय-विजय व्यायोग', रामचन्द्रका 'निर्भय भीम', विश्वनाथका 'सौगन्धिकाहरण' जैसे व्यायोग; वररुचिका 'उभयसारिका', शूद्रकका 'पद्मप्राभृतक', ईश्वरदत्तका 'धूर्तविटसंवाद' श्यामलिकका 'पादताडितक', वत्सराजका 'कर्पूरचरित', जैसे 'भाण'; वत्सराजका 'त्रिपुर-दाह', राम कविका 'मन्मथोन्मथन', वेंकट वर्माका 'कृष्ण-विजय' जैसे डिम; 'हास्यचूडामणि' जैसे प्रहसन; 'माधवी' जैसे 'वीथी'; वत्सराजका 'शर्मिष्ठा-ययाति', भास्कर कविका 'उन्मत्तराघव' जैसे 'अंक'में एकांकियोंकी परम्परा प्राप्त है। किन्तु हिन्दीमे यह परम्परा लुप्त हो गयी थी। केवल धार्मिक प्रेरणाओंसे लीला, स्वॉग और भगत आदि लोक-नाट्योंकी परम्परा चलती रही। आधुनिक युगमे भारतीय और यूरोपीय संस्कृतिसे सम्पर्क, राष्ट्रप्रेम, अतीतके प्रति अनुराग, गद्यके प्रचलन, वैज्ञानिक आविष्कार, व्यक्तिपर बल, अंग्रेजी और बॅगला साहित्यके सम्बन्ध इत्यादिसे नाटकोंको फिर विकास-का अवसर मिला। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने प्राचीनता और नवीनताके इस संघर्षकालमें बीचका मार्ग चुना। एक ओर उन्होने संस्कृत नाट्यशास्त्रकी परम्परामें रूपकों और उपरूपकोके अनेक भेदोंके अनुवाद प्रस्तुत किये है, एक सट्टक, एक नाट्यरासक, एक भाण लिखा है; दूसरी ओर अपनी रचनात्मक प्रतिभासे मौलिक नाटकोंकी रचना की है। उनके नाटकोंमें एकांकी भी है। यद्यपि यह सत्य है कि उन्होने एकांकीकी नाटकसे पृथक् सत्ता नही मानी है और उन्होने तथा उनके समकालीन नाटककारोंमेसे किसीने भी ज्ञातभावसे एकांकी लिखनेकी चेष्टा नही की है, तथापि उनके एकांकियोंमें एकांकीका स्वरूप स्पष्ट है। इस प्रकार नाटकोंकी भाँति भारतेन्दु ही हिन्दी एकांकी रूपकके भी जनक है। उनका 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' हिन्दीका प्रथम एकांकी है। भारतेन्दु, राधाचरण गोस्वामी, बाल-कृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, शालिग्राम, देवकीनन्दन खत्री, राधाकृष्णदास, अम्बिकादत्त व्यास तथा अन्य अज्ञात लेखकोंने इस एकांकी रूपके विकासमें योगदान किया है।

भारतेन्दु-युगके एकांकी, एकांकीके विकासकी प्रारम्भिक अवस्थाके द्योतक है। इस युगके एकांकी दो अर्थोंमें रूपक-एकांकी हैं। पहले अर्थमें हिन्दी नाटककारोंने संस्कृत शैलीके एकांकियोंसे भिन्न एक या अनेक अंकोंमें पूर्ण होने-वाले लघु नाटकोंको कुछ तो बॅगला रूपक-एकांकियोंके अनुकरणपर और कुछ इस नये रूपके उचित नाम न दे सकनेके कारण रूपककी संज्ञा दी है। दूसरे अर्थमें उपलक्षण या रूपक(एलिगरी)के रूपमें रूपक कहा है, जिसमें अमूर्तमें मूर्तकी, अप्रकटमें प्रकटकी, परोक्षमें अपरोक्षकी और निरिन्द्रिय-में इन्द्रियवान्‌की कल्पना कर वस्तुओंका मानवीकृत रूप

प्रस्तुत किया गया है। 'भारत-जननी' और 'भारत-दुर्दशा' ऐसे ही रूपक-एकांकी हैं। प्रायः नाटककारोंको एकांकी-लेखनकी मूल प्रेरणा धार्मिक कृत्यों एवं कथाओं, पुराणके आख्यानों, इतिहासके प्रसिद्ध इतिवृत्तों, समाजकी दुष्प्रवृत्तियों, राष्ट्रके प्रति अनुराग, प्राचीन भारतके गौरवसे मिली है। इस कालके एकांकियोंकी पहली विशेषता शिल्पादर्शकी हीनता है। इनमें संस्कृत नाट्यशास्त्रकी परम्पराएँ शिथिल हो गयी हैं। नाटककारोंने प्ररोचना, प्रस्तावना, सूत्रधार, नान्दी, मंगलाचरण, कथा-संविधानकी प्रकृतियों तथा अवस्थाओं, दृश्य-योजना, पट-परिवर्तन, भरत-वाक्य इत्यादिका विकल्पानुसार स्वतन्त्रतासे प्रयोग कहीं किया और कहीं नहीं भी किया है। इनमें अंक भी दृश्य और दृश्य भी गर्भांकके समानार्थी हो गये हैं। इनमें **स्थान** और **काल**की **एकता**का अभाव, शिथिल संवादोंका बाहुल्य, विकास और विन्यास-हीन कथा-योजनाका प्रामुख्य है। एक वाक्यमें भारतेन्दु-युगीन एकांकिकारकी दृष्टि एकांकी शिल्पपर नहीं है। उन्होंने किसी अभिप्राय या उद्देश्यकी पूर्तिके लिए एकांकियोंकी रचना की है। सम्भवतः इसी सोद्देश्यताकी प्रमुखताके कारण उनके एकांकी शिल्पप्रधान न होकर विषयप्रधान हो गये हैं। दूसरे, उनमें नृत्य, संगीत, पद्यप्रयोग, हास्य, वेशविन्यासके संकेतकी प्रवृत्ति अधिक है। तीसरे, वे अभिनेय होनेकी अपेक्षा पाठ्य अधिक हैं। उनमें उच्च कोटिका अभिनय नहीं है। चौथे, उनमें नाटककारोंकी रुचि जीवनकी स्थूलताका वर्णन करनेकी ओर है। इसलिए उनमें वृत्तियोंकी सूक्ष्म विवृति नहीं है। कल्पित या प्रख्यात कथानकको कथोपकथनका रूप देकर जैसाका तैसा धर दिया गया है। उनमें कलाकी काट-छाँट और स्वच्छता नहीं है।

भारतेन्दु-कालके रूपक-एकांकियोंकी दो कोटियाँ हैं। पहली, अनुवादित या छायांकित रूपक-एकांकी; दूसरी, मौलिक रूपक-एकांकी। पहली कोटिमें भारतेन्दुका बँगलाके 'भारतमाता'का अनुवाद 'भारतजननी' और मौलिक रूपक 'भारत-दुर्दशा' (नाट्यरासक या लक्ष्यरूपक) तथा राधाचरण गोस्वामीका बँगलाके 'भारतेर यवन'का अनुवाद 'भारतवर्षमें यवन लोग' जैसे राष्ट्रीय रूपक (एलिगरी) हैं। कांचनाचार्यकृत 'धनंजयविजय'का छायाविष्ट रूपक, अयोध्यासिंह उपाध्यायका 'प्रद्युम्नविजय' व्यायोग है। दूसरी कोटिमें भारतेन्दुके 'विषस्य विषमौषधम्', राधाचरण गोस्वामीकृत 'तन मन धन गोसाईंजीके अरपन', किशोरीलाल गोस्वामीका 'चौपट चपेट' तथा अज्ञात लेखकका 'जैसा काम वैसा परिणाम', जैसे सामाजिक प्रहसन-रूपक; भारतेन्दुका 'प्रेमयोगिनी' (अपूर्ण), राधाकृष्ण दासका 'दुःखनी बाला', अम्बिकादत्त व्यासका 'कलियुग और घी', श्रीशरणका 'बाला-विवाह', बालकृष्ण भट्टके 'कलिराजकी सभा', 'रेलका विकट खेल', 'बाल-विवाह', प्रतापनारायण मिश्रका 'कलिकौतुक', देवकीनन्दन त्रिपाठीका 'जय नरसिंहकी' और अज्ञात लेखकका 'धर्मालाप' जैसे सामाजिक रूपक; काशीनाथ खत्रीके 'सिन्धु देशकी राजकुमारियाँ', 'गुन्नौरकी रानी', 'लजवोका स्वप्न', भारतेन्दुका गीतरूपक 'नीलदेवी', राधाचरण गोस्वामीके 'सती चन्द्रावली', 'अमरसिंह राठौर' जैसे ऐतिहासिक रूपक; अम्बिकादत्त व्यासका 'मनकी उमंग' जैसे संवाद-रूपक तथा भारतेन्दुका 'सती-प्रताप' (अपूर्ण); लाला श्रीनिवास दासका 'प्रह्लादचरित', बदरीनारायण 'प्रेमघन'-का 'प्रयाग रामागमन', राधाचरण गोस्वामीका 'श्रीदामा', कृष्णशरण सिंह गोपका 'माधुरी' जैसे पौराणिक रूपक-एकांकी आते हैं।

बीसवीं शतीके प्रथम चतुर्थांशमें निबन्ध, लेख, समालोचना, कहानी और गीति रूपकोंके प्रति विशेष आकर्षण और नैतिकताकी मान्यताओंके कारण एकांकियोंका विकास अवरुद्ध रहा है। किन्तु सन् १९२९ में 'प्रसाद'के 'एक घूँट'के प्रकाशनसे एकांकीके विकासकी दूसरी अवस्थाका आरम्भ हो जाता है। 'एक घूँट' पात्रोंकी मनोवैज्ञानिकता, वातावरणकी प्रभावशाली सृष्टि, समय और स्थल-संकलनका निर्वाह, सुगठित कथा-संघटन, घटनागत संघर्षकी उत्तरोत्तर क्षिप्रता, संवादकी स्वाभाविकता, मार्मिकता, भावनाके स्पर्श, रचना-कौशल आदि सभी दृष्टियोंसे अपने पूर्वगामी भारतेन्दुकालीन रूपक-एकांकियोंसे नितान्त भिन्न है। रवीन्द्रनाथ ठाकुरके 'मुक्तधारा' एकांकीसंग्रह तथा सिंज, बेरी, शॉ, ओनील, गाल्सवर्दी, इब्सन जैसे पश्चिमी नाटककारोंकी शिल्पविधिके प्रभाव, स्कूल, कालेज, युनिवर्सिटीके वार्षिकोत्सव, मनोरंजन, रेडियोके कार्यक्रमको सफल बनानेके लिए रोचक और सरल लघु नाटकोंकी माँग, वैयक्तिक अभिरुचिके परितोष, जीवनके व्यस्ततानाजन्य समयाभाव, वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे व्यक्ति एवं समाजके आदर्शों और प्रतिमानोंकी नवीन व्याख्या, भाषाकी बढ़ी हुई अभिव्यंजनाशक्ति इत्यादि अनेक कारणोंसे एकांकी एक स्वतन्त्र साहित्यके रूपमें सम्मुख आता है। सत्येन्द्रके 'कुनाल', पृथ्वीनाथ शर्माके 'दुविधा', रामकुमार वर्माके 'पृथ्वीराजकी आँखें', भुवनेश्वरके 'कारवाँ', सूर्यशरण पारीकके 'बौलावण या प्रतिज्ञापूर्ति'के प्रकाशनसे वर्तमान एकांकियोंका धाराके रूपमें प्रणयन होने लगता है, जो आजतक द्रुत गतिमें चलता जा रहा है।

वर्तमान युगमें एकांकी स्वतन्त्र सत्ताके रूपमें सचेष्ट भावसे लिखे गये हैं। फलतः उनमें विषयकी अपेक्षा एकांकी-शिल्प प्रमुख हो गया है। अब उनमें बौद्धिक उत्सुकता, मनोवृत्तियोंका विश्लेषण, अतः संघर्षकी व्यंजना, हास्य-व्यंग्यकी हल्की मुसकान, कथोपकथनकी चारुता, मार्मिक स्थलोंका चयन, यथार्थकता, मनोविज्ञानकी ग्रन्थियोंको सुलझानेका प्रयत्न, पद्यका प्रायः अभाव, संस्कृतके आदर्श नायकका अनस्तित्व, रंग-संकेत इत्यादि क्रमशः बढ़ते गये हैं। आजके मनुष्यकी असंख्य अभिरुचियोंके अनुसार वर्तमान एकांकी प्रेरणाके विषय लोकविश्रुत राजाओं, वीरों, नेताओं, सुधारकों और सेनानायकोंके जीवन-चरित, लोकगाथाओं और पुराणोंमें वर्णित देवी-देवताओं, दैत्य-दानवोंके आचार, विचार, आदर्श, कृत्य, भक्तोंकी लीला, प्रेम, घृणा, सहानुभूति, द्वेष, वीरता, कायरता, आशा, निराशा, निर्दयता, क्रूरता, हत्या, अज्ञान, देशभक्ति, सामाजिक कुरीतियाँ, वर्ग-संघर्ष, वर्ग-वैमनस्य, साम्यवाद, प्रजातन्त्र, राजतन्त्र, धनता, निर्धनता, विवाह और त्याग,

ऊँच-नीच, प्रेम-द्वेष, ऋणी-महाजन, किसान-मजदूर, हिन्दू-मुसलमान, सत्याग्रही, निरपराध-अपराधी, सहयोग-असहयोग, यौन आकर्षण, नारी-पुरुषोंके सम्बन्ध, प्राकृतिक जीवन, हिंसा-अहिंसा, सत्य-असत्य, युद्ध-शान्ति इत्यादि रहे हैं। इनके अतिरिक्त इस कालके एकांकियोंकी प्रायः दो श्रेणियाँ हैं। पहली विषयप्रधान है, जिसमें या तो प्रसाद या बंगलाके आदर्शपर अथवा अपनी रुचि और अन्तः-प्रेरणाके अनुकूल चुने विषय तथा कथा-विधान लेकर लिखे गये हैं। पारीक, जैनेन्द्रकुमार, वृन्दावनलाल वर्मा, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, गोविन्दवल्लभ पन्त, उदयशंकर भट्ट, पहाड़ी, हरिकृष्ण प्रेमी, धर्मप्रकाश, आनन्द, राहुल सांकृत्यायन, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, सेठ गोविन्ददास आदि द्वारा रचित एकांकी इसी श्रेणीके हैं। दूसरी शिल्प-प्रधान है, जिसके एकांकियोंमें या तो पाश्चात्य रचना-प्रक्रियाको कठोरताके साथ ग्रहण किया गया है अथवा उसमें अपनी प्रतिभा और बुद्धिसे और संस्कृत नाट्यशास्त्रके आधारोंमें नये कथा-संविधान, नयी अभिव्यंजनाके द्वारा एक स्वदेशी मौलिक रूपका निर्माण कर लिया गया है। भुवनेश्वरने अंग्रेजी एकांकी रचना-शैलीका कठोर, पर सफल अनुकरण किया है। रामकुमार वर्मा, गणेशप्रसाद द्विवेदी, जगदीशचन्द्र माथुर, उपेन्द्रनाथ अश्क, विष्णु प्रभाकर, एस० पी० खत्रीने एकांकीकी स्वनिर्मित शैली प्रस्तुत की है, विशेषतया रामकुमार वर्माने संकलन-त्रयके पूर्ण निर्वाह और एक ही दृश्यमें वातावरण चरम सीमातक पहुँचानेकी एक नयी शैली प्रवर्तित की है।

वर्तमान युगमें प्रकारकी दृष्टिसे पहाड़ीका 'युग-युग द्वारा शक्तिपूजा', सेठ गोविन्ददासके 'जाति-उत्थान', 'हंगर स्ट्राइक', 'सहित या रहित', 'अट्ठानबे किसे' जैसे **सोद्देश्य एकांकी;** रामकुमार वर्माके 'ऐक्ट्रेस', 'रजनीकी रात', भुवनेश्वरके 'शैतान', प्रो० आनन्दके 'प्यास', भगवतीचरण वर्माके 'सन्देहका अन्त' जैसे **समस्या-एकांकी;** रामकुमार वर्माके 'एक तोले अफीमकी कीमत', 'नहीका रहस्य', अश्कके 'जोंक', 'समझौता', 'घड़ी', उदयशंकर भट्टके 'दो अतिथि', 'वर-निर्वाचन', 'मुंशी अनोखेलाल', 'नकली और असली' जैसे **प्रहसन एकांकी;** उदयशंकर भट्टका 'नेता', सेठ गोविन्ददासके 'विटेमन', 'अधिकार-लिप्सा', 'वह मरा क्यों ?', भुवनेश्वरका 'स्ट्राइक', रामकुमार वर्माका 'कहाँसे कहाँ', 'भगवतीचरण वर्माके 'दो कलाकार', 'सबसे बडा आदमी', पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'का 'राम करे सो होय', वृन्दावनलाल वर्माके 'पीले हाथ', 'सगुन', प्रो० आनन्दका 'मिस्टर मौलिक', एस० पी० खत्रीका 'चौराहा', हरिशंकर शर्माका 'चिड़िया-घरके संवाद', जैसे **हास्य और व्यंग्यमूलक एकांकी;** रामकुमार वर्माका 'बादलकी मृत्यु', अश्कका 'छठा बेटा' जैसे **कल्पनामूलक** (फैंटेसी) **एकांकी;** सूर्यकरण पारीकका 'बौलावण या प्रतिज्ञापूर्ति', राहुलके भोजपुरीमें लिखित **जनपदीय एकांकी;** रामकुमार वर्माके 'चारुमित्रा', 'दस मिनट', अश्कका 'लक्ष्मीका स्वागत', भुवनेश्वरका 'ऊसर' जैसे **शिल्पमूलक एकांकी;** सेठ गोविन्ददासके 'चतुष्पथ', 'प्रलय और सृष्टि', 'अलबेला', 'सच्चा जीवन' जैसे **एकपात्रीय एकांकी** (मोनोड्रामा); प्रेमचन्दका 'दुनिया', 'दिल्ली और दिवाली', नगेन्द्रका 'बिहारी' जैसे **लक्षण** या **सूचनामूलक एकांकी** (फीचर) ; विष्णु प्रभाकरके 'माँका हृदय', 'संस्कार और भावना', 'रक्तचन्दन', रामकुमार वर्माके 'ऋतुराज', 'ज्योंकी त्यों धरि दीन्ही चदरिया', जैसे **रेडियो एकांकी;** सेठ गोविन्ददास-रचित उपक्रम एवं उपसंहारवाले एकांकी; 'उत्तररामचरित' जैसे **नाटकसंक्षिप्त एकांकी;** अश्कके 'विवाहके दिन', 'मेमना', एस० पी० खत्रीके 'माँ', 'मछुएकी माँ', 'ठाकुरका घर', जैसे **दुःखान्त शैलीके एकांकी;** उदयशंकर भट्टके 'जवानी' जैसे **नाट्य-रूपक एकांकी;** 'कालिदास', 'मेघदूत', 'विक्रमोर्वशीय' तथा रामकुमारके 'प्रतिशोध' जैसे **ध्वनिरूपक एकांकी;** उदयशंकर भट्टके 'जीवन' जैसे **प्रतीकरूपक एकांकी** लिखे गये हैं।

विषयकी दृष्टिसे रामकुमार वर्माका 'दस मिनट', सेठ गोविन्ददासके 'कंगाल नहीं', 'ईद और होली', अश्कके 'विभा', 'आदि मार्ग', जगदीशचन्द्र माथुरका 'रीढकी हड्डी', उग्रका 'भाई मियाँ', उदयशंकर भट्टका 'सेठ लाभचन्द', धर्मप्रकाश आनन्दका 'दीनू', चन्द्रकिशोर जैनका 'कानून', अविनाशचन्द्रका 'विडम्बना', लक्ष्मीनारायण मिश्रका 'एक दिन' जैसे **सामाजिक;** सद्गुरुशरण अवस्थीका 'मुद्रिका', उदयशंकर भट्टके 'मनु-मानव', 'आदिमयुग' जैसे **पौरा-णिक;** रामकुमार वर्माके 'प्रतिशोध', 'भरतका भाग्य', शम्भु-दयाल सक्सेनाके 'वल्कल', 'प्रहरी', 'आतिथ्य', 'सोनेकी मूर्ति' जैसे **सांस्कृतिक;** सेठ गोविन्ददासका 'हंगर स्ट्राइक', उदयशंकर भट्टके 'एक ही कब्रमें', 'पिशाचोंका नाच' जैसे **राजनीतिक;** रामकुमार वर्माके 'चारुमित्रा', 'उत्सर्ग,' 'रेशमी टाई', सेठ गोविन्ददासका 'धोकेबाज', एस० पी० खत्रीका 'बन्दरकी खोपडी' जैसे **चारित्रिक द्वन्द्वप्रधान;** सेठ गोविन्ददासके 'सुदामाके तन्दुल', 'मानव मन', 'यूनो', 'फाँसी', गणेशप्रसाद द्विवेदीके 'सोहागकी बिन्दी' जैसे **याथार्थिक;** रामकुमार वर्माके 'पृथ्वीराजकी आँखें', 'शिवाजी', 'दीपदान', जगदीशचन्द्र माथुरका 'भोरका तारा', सेठ गोविन्ददासका 'आलोक और भिखारिणी', सुदर्शनका 'राजपूतनीकी हार', उग्रका 'अफजल-वध,' उदयशंकर भट्टके 'समुद्रगुप्त पराक्रमांक,' 'कुमारसंभव', वृन्दावनलाल वर्माके 'जहाँदारशाह', 'काश्मीरका काँटा' जैसे **ऐतिहासिक;** भुवनेश्वरके 'शैतान,' 'ऊसर', अश्कका 'पापी', गणेशप्रसाद द्विवेदीके 'दूसरा उपाय ही क्या है ?', 'शर्माजी', 'परदेका अपर पार्श्व', 'सर्वस्व-समर्पण', 'सोहाग-बिन्दी,' उदयशंकर भट्टका 'उन्नीस सौ पैंतीस', सेठ गोविन्ददासका 'स्पर्धा' जैसे **मनोविश्लेषणमूलक;** रामकुमार वर्माका 'अन्धकार', जैनेन्द्रका 'टकराहट' जैसे **दार्शनिक;** विष्णु प्रभाकरका 'माँ-बाप', अविनाशचन्द्रका 'देशरक्षाके लिए' जैसे **राष्ट्रीय एकांकियों**की रचना हुई है। आज हिन्दी एकांकी-कलाकी वक्रता, अभिनयकी सफलता, बात कहनेकी कुशलता, मनके रहस्योंको खोलने और विचारोंको सूक्ति एवं व्यंजनाशैलीमें व्यक्त करनेकी ओर जा रही है। —वि० रा०

एकाग्रता—दे० 'हठयोग', 'बोधिचित्त'।

एकार्थ काव्य—यह प्रबंध-काव्यका एक वर्ग है। प्रबंध-काव्यके वर्गोंके पारस्परिक अंतर बहुत-कुछ आकारजनित है। आकार-क्रमसे प्रबंध-काव्यके वर्गोंमें एकार्थ काव्यका स्थान मध्यम है, ज्येष्ठ वर्ग महाकाव्य और कनिष्ठ खण्ड-काव्य है।

'एकार्थ-काव्य'का प्रथम प्रयोग आचार्य विश्वनाथ-प्रसाद मिश्रने किया (वाङ्मय विमर्श, प्र० सं०, पृ० १४)। किन्तु इस काव्यरूपकी कल्पना साहित्यदर्पणकार विश्वनाथने की थी और उन्होंने इसे 'काव्य'की संज्ञा दी थी (साहित्यदर्पण, ६।३२८)। तत्सम्बन्धी श्लोकके दो पाठ मिलते हैं। प्रथम पाठ "भाषा-विभाषा नियमात्काव्यं सर्ग समुत्थितम्। एकार्थ प्रवणैः पद्यैः सन्धि सामग्र्य वर्जितम्॥" है और द्वितीयमें 'समुत्थितम्'के स्थानपर 'समुज्झितम्' है। प्रथम पाठके अनुसार एकार्थ काव्य सर्गयुक्त और द्वितीयके अनुसार सर्गविहीन हो जाता है। चार संस्करणों (निर्णय सागर संस्करण, शालग्राम शास्त्री द्वारा सम्पादित संस्करण, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊसे प्रकाशित द्वितीय संस्करण और डॉ० नगेन्द्र—सम्पादित 'भारतीय काव्यशास्त्रकी परम्परा'में संकलित पाठ)में 'समुत्थितम्' और दो ही संस्करणों (काणे एवं डॉ० सत्यव्रतसिंह द्वारा सम्पादित संस्करण)में 'समुज्झितम्' पाठ होनेके कारण पहला पाठ ही प्रामाणिक अनुमित होता है। इस तरह विश्वनाथके अनुसार भाषा अथवा विभाषामें स्थित, सर्गोंमें युक्त, संधियोंकी समग्रतासे रहित और एक ही अर्थको लेकर चलनेवाला पद्य 'काव्य' है। आचार्य विश्वनाथ-प्रसाद मिश्रने अंतिम लक्षणको प्रमुख मानकर इसे 'एकार्थ काव्य'की अभिधा दी। यह सर्वथा उचित है। एक तो 'काव्य' शब्द सामान्य अर्थमें प्रचलित है, जिसके अंतर्गत प्रबंध और मुक्तक, दोनों समाविष्ट हो जाते हैं, अतः प्रबंध काव्यके एक वर्गके लिए उस शब्दका प्रयोग वांछनीय नहीं है। दूसरे, 'एकार्थ काव्य' नामसे इस प्रकारके काव्यरूपका वह लक्षण भी स्पष्ट हो जाता है, जो इसे इसके सहोदर काव्यरूपों—महाकाव्य और खंड काव्यसे पृथक् करता है। महाकाव्यमें नायकका प्रायः समग्र जीवन आ जाता है और समग्र जीवनमें अर्थकी विविधता अनिवार्य है। एकार्थ काव्यमें नायकके जीवनका उतना ही भाग गृहीत होता है, जितना किसी अर्थ विशेषकी सिद्धिमें लगा रहता है। यही नहीं, जीवनके इस सीमित भागमें भी नायकका कार्य-कलाप विविध अर्थोंमें बिखरा न होकर एक अर्थमें सिमटा रहता है। तात्पर्य यह कि इस काव्य-रूपकी एकार्थात्मकता इसके तत्त्वोंमें सर्वप्रमुख है। अतएव इस काव्यरूपके लिए 'एकार्थ काव्य' नाम सब प्रकारसे उचित है।

इस एकार्थ काव्य-कल्पनाका आदि रूप रुद्रट-प्रतिपादित 'लघुकाव्य'में दृष्टिगत होता है। उन्होंने काव्यको महान् काव्य और लघुकाव्य, दो वर्गोंमें विभक्त कर लघु काव्यका लक्षण इस प्रकार बताया—"ते लघवो विज्ञेया येष्वन्यतमो भवेच्चतुर्वर्गात्। असमग्रानेकरसा ये च समग्रैकरसयुक्ताः॥" (काव्यालंकार, १६।६)। रुद्रटका 'महान् काव्य' वस्तुतः महाकाव्य है और उनका 'लघु काव्य' एकार्थकाव्य है। विश्वनाथकी एकार्थप्रवणता यहाँ 'येष्वन्यतमो भवेच्चतुर्वर्गात्'के रूपमें विद्यमान् है। उसके अतिरिक्त विश्वनाथने सर्गबद्धतापर, तो रुद्रटने रसकी स्थितिपर जोर दिया है। विश्वनाथ और रुद्रटके लक्षणोंमें मुख्य अंतर यही है कि प्रथमने एकार्थ काव्यके अंतर्बाह्य दोनों स्वरूपोंको स्पष्ट किया है, वहाँ रुद्रटने लघुकाव्यके केवल आंतरिक स्वरूपपर ही अपना ध्यान केंद्रित रखा है। जो हो, दोनोंको मिलाकर एकार्थकाव्यके निम्नांकित लक्षण स्थिर किये जा सकते हैं—१. एकार्थकाव्यकी रचना भाषा या विभाषामें होती है। २. वह सर्गयुक्त होता है। ३. यह एकार्थप्रवण होता है, अर्थात् चतुर्वर्गमेंसे कोई एक ही इसका उद्देश्य होता है। ४. इसमें सर्ग, संधियाँ नहीं होतीं, कुछ ही संधियाँ होती हैं। ५. इसमें अनेक रस असमग्र रूपमें अथवा एक रस समग्र रूपमें रहता है।

इनमेंसे सर्गबद्धताके नियमको हिन्दीके एकार्थकाव्यकारोंने शिथिल कर दिया है। हिंदीके एकार्थकाव्य सर्गांकित होते हैं और नहीं भी होते हैं। सर्गका काम कभी कभी वर्णन संकेतसे भी ले लिया जाता है। सम्भाषणमें 'अमुक उवाच' एवं वर्णनात्मक स्थलोंमें 'अमुक वर्णन', इस शब्दावलीका प्रयोग किया जाता है। पर सर्गांकित काव्योंमें कहीं-कहीं ये संकेत देखनेको मिल जाते हैं। हिंदी एकार्थ-काव्यके स्वरूपको निर्धारित करनेवाला दूसरा तत्त्व होता है—छंद। एकार्थ काव्यमें छंद की स्थिति पर रुद्रट और विश्वनाथ, दोनों मौन हैं। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृतके एकार्थ काव्य एक ही छंदमें लिखे जाते थे। किन्तु हिन्दीके एकार्थ काव्य आद्यन्त एक छन्दमें लिखे गये हैं और अनेक छंदोंमें भी।

अपभ्रंश तथा हिन्दीमें 'चरित', 'रास' आदि नामोंसे जो काव्य लिखे गये हैं, उनमें एकार्थ काव्यकी संख्या प्रचुर है। इनमेंसे जैन कवियों द्वारा लिखे गये काव्योंमेंसे तो नब्बे प्रतिशतसे अधिक काव्य एकार्थ काव्य ही हैं। जैनियों द्वारा लिखे गये इस प्रकारके काव्योंमें व्यक्तिके जन्मसे लेकर उसकी कैवल्य प्राप्तिनक की कथा कही जाती है। सारी कथा नायकके जीवनके इसी एक अर्थमें सिमटी रहती है और इस अर्थके सिद्ध हो जानेपर कथा एकाएक समाप्त हो जाती है। पुष्पदंतके 'नागकुमार चरित' और 'यशोधर चरित' ऐसे ही एकार्थ काव्य हैं। इसके बाद सूफ़ी एवं सूफ़ीतर प्रेमकाव्योंमें भी पर्याप्त संख्यामें एकार्थ काव्य उपलब्ध होते हैं। किंतु प्रेम काव्योंमें आकर एकार्थ काव्यका अर्थ बदल गया। वहाँ जीवनका अर्थ धर्म था, यहाँ काम भी उसकी पंक्तिमें जा बैठा। जिस प्रकार जैन एकार्थ काव्योंके नायकका प्रयोजन कैवल्य-प्राप्ति है, उसी प्रकार सूफ़ी और सूफ़ीतर एकार्थ काव्योंके नायकका प्रयोजन किसी रूपवती नायिकाकी प्राप्ति है। मध्ययुगीन कृष्णकाव्यमें एकार्थ काव्यके उदाहरण प्रायः नहीं मिलते। एक तो कृष्ण-काव्यका अधिकांश मुक्तकमें लिखा गया है और अगर प्रबंध है भी तो वह खंड-काव्यकी परिधिसे आगे नहीं बढ़ता। इसके विपरीत राम-काव्यमें एकार्थकाव्यके उदाहरण सर्वथा अलभ्य नहीं हैं।

आधुनिक युगमें भी हिन्दीमें एकार्थ काव्योंकी संख्या

कम नहीं हैं, बल्कि सत्य तो यह है कि जो भी प्रबंध-काव्य लिखे गये, अथवा लिखे जा रहे हैं, प्रायः वे सब एकार्थ काव्य और खंड-काव्य ही हैं। वर्तमान कालके एकार्थ काव्योंको देखकर यह स्पष्टतः लक्षित होता है कि इनके रचयिताओंका उद्देश्य महाकाव्य-प्रणयन था। अधिकतर कृतियोंके शीर्षकोंके साथ 'महाकाव्य' शब्दका संयोग तथा उनमें महाकाव्यके स्थूल लक्षणों—सर्गीकरण, सर्गांतमें छंद-परिवर्तन आदिका अनिवार्यतः पालन इस बातके प्रमाण हैं। यही कारण है कि आधुनिक युगका कदाचित् ही कोई एकार्थ-काव्य सर्गहीन है। फिर भी युगांतर-व्यापी सत्य, गम्भीर जीवन-दर्शन, विराट् कल्पना एवं शैलीमें गरिमा और उदात्तताके अभावके कारण ये एकार्थ-काव्यकी सीमासे आगे नहीं जा सके। बलदेवप्रसाद मिश्रका 'कौशलकिशोर', सूर्यदेव मिश्रका 'ध्रुवचरित्र', ताराचंद हारीतकी 'दमयंती', बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'की 'उर्मिला', परमेश्वर 'द्विरेफ'की 'मीरॉ', रामकुमार वर्माका 'एकलव्य', श्यामनारायण प्रसादकी 'झाँसीकी रानी' आदि आधुनिक युगके उल्लेख्य एकार्थ काव्य है। —सि० ति०

एकालाप—एक व्यक्तिके कथनको एकालाप कहते हैं। शाब्दिक अर्थकी दृष्टिसे समवेत कथनको छोड़कर सब भाषण एकालाप ही हैं, पर एकालापका व्यवहार विशेष रूपसे उस रचनाके लिए किया जाता है, जिसमे प्रारम्भसे लेकर अन्त तक एक ही पात्र बोलता हो—उसके कथनमें ही अन्य व्यक्तियोंके कार्यों, शब्दों और उपस्थितिका संकेत रहता है। एकालाप मुख्यतः नाट्य-प्रकारके अन्तर्गत आता है। इसे **स्वगत-नाट्य (दे० रेडियो स्वगत-नाट्य)** भी कहा जाता है। अंग्रेजीमें इसे 'मोनोलाग' कहते हैं।

एकालापमें पात्र विशेषको किसी नाटकीय स्थितिमें रखकर मुख्यतः उसके मनोभावोंका अंकन किया जाता है। एक प्रकारसे इसमें पात्र विशेष स्वयं अपनेसे ही बातें करता है। मैथ्यू आर्नाल्डने इसे मनके साथ मनका संलाप कहा है। जहाँ नाटक कार्यरत चरित्रका अंकन होता है, वहाँ एकालाप कार्यरत आत्मा का। इसमें पात्र अपने और अपने परिवेशका परिचय देता है, अन्य पात्रोंसे अपने सम्बन्धका ज्ञान कराता है, जिस नाटकीय स्थितिमें वह रहता है, उसे स्पष्ट करता है और अपने आन्दोलित मनोभावोंको प्रकट करता है। आधुनिक मनोविज्ञानने चेतना-प्रवाहको जो महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है, उसके फलस्वरूप एकालापकी सम्भावनाएँ बढ़ गयी हैं और अनेक कवि एवं नाटककार इसका उपयोग कर रहे हैं। हिन्दीमे एकालापके रूपमें अभी बहुत कम रचनाएँ ही लिखी गयी हैं। एकांकी नाटकके क्षेत्रमें सेठ गोविन्ददास, विष्णु प्रभाकर, कर्त्तारसिंह दुग्गल आदिकी कुछ रचनाएँ एकालापके उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत की जा सकती है। कुछ ऐसी लम्बी कविताएँ भी लिखी गयी है, जो एकालाप कही जा सकती हैं। —सि० कु०

एकावली—एक शृंखलामूलक अर्थालंकार, जिसमे शृंखला-रूपमें वर्णित पदार्थोंमें विशेष्य-विशेषणभाव-सम्बन्ध पूर्व-पूर्व विशेष्य, पर-पर विशेषण, पूर्व-पूर्व विशेषण, पर-पर विशेष्य, इन दो रूपोमें स्थापित अथवा निषिद्ध किया जाता है। रुद्रट द्वारा उल्लिखित इस अलंकारको मम्मटके (का० प्र०, १० : १३१) आधारपर विश्वनाथ इसी रूपमें स्वीकार करते है—"पूर्वं पूर्वं प्रति विशेषणत्वेन परं परम्। स्थाप्यतेऽपोह्यते वा चेत् स्यात्तदैकावली द्विधा" (सा० द०, १० : ७८)। दोनोने स्थापना और निषेधके रूपमें दो भेद माने है। जयदेवने 'चन्द्रालोक'में इसको केवल 'गृहीत-मुक्त रीतिसे विशेषण-विशेष्यके वर्णनक्रम"के रूपमे माना है। हिन्दीमें जसवन्त सिंहने 'कुवलयानन्द'के आधारपर इसीका अनुकरण किया है, पर उसकी वृत्तिपर ध्यान न देनेसे लक्षण स्पष्ट नहीं है। हिन्दीके मध्ययुगीन आचार्योंने प्रायः जयदेवका अनुसरण किया है और लक्षणके अनुसार एक ही उदाहरण दिया है। मतिराम, भूषण तथा पद्माकरके लक्षण समान है—"गहब तजब अर्थालिको जँह" (पद्मा०, १७५) और—"एक अर्थ लै छोड़िये और अर्थ लै ताहि। अर्थ पाँति इमि कहत है" (ल० ल०, २५९)।

यहाँ विशेषण शब्दका प्रयोग सामान्य रूपमे ऐसे किसी शब्दके लिए हुआ है, जो किसी वस्तुको अन्य वस्तुसे अलग करता अथवा उसे विशिष्टता प्रदान करता है। भोजने इसे 'परिकर'के अन्तर्गत स्वीकार किया था। जगन्नाथके अनुसार 'मालादीपक' (दे०)को इसका भेद मानना चाहिये।

विशेषणभावसे स्थापनके रूपमें चिन्तामणिका उदाहरण है—"धाम बाम जुत बाम जो रूपवन्त बहुरूप। सहित बिलास, बिलास जो मनमथवान अनूप"। इसमें उत्तरोत्तर कथित वस्तुका विशेषणभावसे स्थापन किया गया है। इसका प्रयोग आधुनिक युगके कवियोमें भी पर्याप्त मिलता है। गुप्तजीका यह सुन्दर प्रयोग है—"वृन्दावनमें नव मधु आया, मधुमें मन्मथ आया। उसमें तन, तनमे मन, मनमें एक मनोरथ आया" (काव्यदर्पण)। **विशेषणभावसे निषेध**के उदाहरणमें कन्हैयालाल पोद्दार तथा रामदहिन मिश्रने केशवदासका यह सवैया प्रस्तुत किया है—"सोहत सो न सभा जहं वृद्ध न, वृद्ध न ते जु पढ़े कछु नाहीं। दान न सो जहँ साँच न केसव, साँच न सो जु बसै छल छाँहीं"। इसमे सभा आदिके उत्तरोत्तर रूपमे वर्णित वृद्धादिक विशेषण है, उनका 'सो न' आदि द्वारा विशेषणभावसे निषेध किया गया है। इस प्रकार **पर-पर विशेष्य**का उदाहरण है—"रस सो काव्यरु काव्यसौ, सोहत बचन महान्। बचनन ही सौं रसिक जन, तिन सौं सन्त सुजान"। इसमें 'काव्य' आदि पर-पर विशेष्य है। —वि० स्ना०

एकीकरण—एकता या एकत्व। कलाओंमें एकीकरणसे तात्पर्य है विभिन्न तत्त्वोंका इस प्रकार मिलाना कि सम्पूर्ण कृति विश्लिष्ट न लगकर संश्लिष्ट या एक-रूप मालूम दे।

एकीकरण रूपगत भी हो सकता है और भावगत भी। रूपगत एकता वस्तुतः सन्तुलनका ही अर्थ रखती है, अर्थात् विभिन्न खण्डोंका परस्पर समतोल होना (दे० 'संतुलन')। भावगत एकतासे अभिप्राय है विभिन्न विचारोंका किसी-न-किसी रूपमें एक मूल विचारसे परिचालित या घटित होना।

रूप एवं भावकी एकता जितनी ही निश्चित और स्पष्ट होगी, उसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव उतना ही सफल; इसलिए आवश्यक है कि मूल भाव या तर्क सर्वांग और असन्दिग्ध हो। —कु० ना०

एकेश्वरवाद—एकेश्वरवाद अंग्रेजी शब्द मॉनोथीज्मके वजनपर गढ लिया गया है। अंग्रेजीमें मॉनोथीज्मका अर्थ है वह धर्म या धार्मिक दर्शन, जिसमें एक ईश्वरका विधान हो। ईश्वर परमात्मा है। वह जगत्की सृष्टि, स्थिति और लय करता है। वह नित्यज्ञान और आनन्दका आश्रय है। वह निर्दोष तथा समस्त गुणोंका आकर है।

ईश्वर और जगत्के सम्बन्धको लेकर तीन प्रकारके एकेश्वरवाद हो गये।

(क) सर्वेश्वरवाद—इसमें ईश्वर जगत् है और जगत् ईश्वर। दोनोंमे तादात्म्य-सम्बन्ध है। यही ब्रह्मवाद है। अंग्रेजीमें इसे पैनथीज्म कहते है। हिन्दी सन्तोंने इसे निर्गुणवाद या निर्गुण ब्रह्मवाद कहा। प्लाटिनस, स्पिनोजा और सूफी सन्त भी ईश्वरको इसी रूपमे मानते है।

(ख) ईश्वरकारणवाद—इसमें ईश्वर जगत्से बाह्य है। वह जगत्को उत्पन्न करके पृथक् हो जाता है और जगत्-व्यापार अपने-आप चलता रहता है। तात्त्विक दृष्टिसे इस मतमे ईश्वर जगत्का केवल निमित्त कारण है, उपादान कारण नही। अरिस्टॉटिल, डेकार्ट, भारतीय नैयायिक तथा वैशेषिक, इंग्लैण्ड तथा फ्रांसके १८वीं शतीके कतिपय दार्शनिक तथा इस्लामके अनुयायी इसी रूपमें ईश्वरको मानते है। अंग्रेजीमें इसे डीइज्म कहते है। भारतीय शब्द ईश्वरकारणवाद इस अर्थमे ही प्राचीन साहित्यमें प्रयुक्त हुआ है।

(ग) ईश्वरवाद—इस मतमें ईश्वर जगत्में व्याप्त है। वह अन्तर्यामी और नियन्ता है। जैसा कि तुलसीदासने कहा है, इस मतके अनुसार, ईश्वर 'अन्तर्यामी' और 'बाहरजामी' (बहिर्यामी) दोनों है, अतः यह उपर्युक्त दोनो मतोंका समन्वय है। इसीको सगुणवाद या सगुण ब्रह्मवाद भी कहा जाता है। गीतामें ऐसे ईश्वरको पुरुषोत्तम कहा गया है। अंग्रेजीमें इस वादको थीइज्म कहते है। ईसाई-मतानुयायी, लाइबनीज तथा भारतमें वैष्णव, शैव और पांचरात्र सम्प्रदायके अनुयायी और हिन्दीके सगुणोपासक भक्त ईश्वरको इसी रूपमें मानते है। नानक और उनके अनुयायी भी इसी मतको मानते है। इन तीन प्रकारके ईश्वरवादोसे भिन्न पातंजल योगका चौथा ईश्वरवाद है।

(घ) योगेश्वरवाद—इसमें जो पुरुष कर्म, कर्मफल तथा आशय (कर्मफलके अनुरूप संस्कारके सम्पर्क)से शून्य रहता है, वह ईश्वर कहलाता है (योगसूत्र, १ : २४)। ईश्वरमें ऐश्वर्य तथा ज्ञानकी पराकाष्ठा है। वह गुरुओंका भी गुरु है। वह प्रसन्न होकर योगियोंके मार्गमें विघ्नरूप क्लेशोंका नाश करके समाधिकी सिद्धि देता है (भोजवृत्ति, २ : ४५)। वह तारक ज्ञानका दाता है। वह प्रकृति और पुरुषोमें अन्तर्यामी नही है। वह उनका कर्ता भी नहीं है। इस कारण यह योगेश्वरवाद सर्वेश्वरवाद, ईश्वरकारणवाद तथा ईश्वरवादसे भिन्न है। हिन्दीके योगियोंका मत भी यही ईश्वरवाद है।

एकेश्वरवादके समर्थकोंने अपने-अपने ढंगसे ईश्वरका अस्तित्व सिद्ध करना चाहा है।

(क) सर्वेश्वरवादी दृष्टिकोण अलगसे द्रष्टव्य है।

(ख) ईश्वरकारणवादके अनुसार ईश्वरकी सत्ताके लिए नैयायिक उदयनाचार्यने कई प्रमाण प्रस्तुत किये हैं, जिनमेंसे तीन मुख्य हैं और इस प्रसंगमें सर्वत्र उल्लेख योग्य हैं।

जगत्के समस्त पदार्थ कार्य (उत्पन्न वस्तु) हैं। उनका कोई निमित्त कारण (उत्पादक) होना चाहिये, जैसे घड़ेका निमित्त कारण कुम्भकार है। अतः ईश्वर है। मलिक मुहम्मद जायसीकी व्यंग्योक्ति "मोका हँससि कि कोहरेहिं"-की पृष्ठभूमिमें ईश्वरकी सत्ताका यही प्रमाण छिपा है। इसे कार्यसे कारणका अनुमान कहा जाता है। निर्गुण और सगुण कवियोंने जब ईश्वरको कुम्भकार या शिल्पी कहा है तो उनका भी आशय यही तर्क था।

प्रकृतिके जड पदार्थमें आयोजन (अनुक्रम, सोद्देश्यता) है। इस आयोजनका भी कारण होना चाहिये। कोई जड वस्तु आयोजनकी प्रदात्री नहीं हो सकती, क्योंकि जड वस्तुमे संघटन-शून्यता है और आयोजनपूर्ण वस्तुओंमें संघटनकी पराकाष्ठा है। अतः कोई महामहिम चेतन प्राणी ही इस आयोजनका रचयिता है, और वही ईश्वर है। शंकराचार्यने आयोजनापूर्ण जगत्को रचना कहा है। एक चित्रकार (चितेरा) चित्रकी योजना (या आयोजना) विचार-पूर्वक करता है। जैसे चित्र देखनेसे ही उसकी योजना या आयोजनाके आधारपर किसी चतुर चितेरेकी कल्पना करनी पड़ती है, वैसे शंकराचार्यके मतमें जगत्की रचना या आयोजना देखनेसे ईश्वरका अनुमान करना पड़ता है। शंकरके इस तर्कको उदयनाचार्यने स्पष्ट किया है।

तुलसीदासकी "देखत तव रचना विचित्र अति, समुझि मनहिं मन रहिये" और कबीर आदिकी 'रचनहार', 'चितेरा' आदि पदावलियोंकी पृष्ठभूमिमे आयोजनसे अनुमानित ईश्वरकी सत्ताका ज्ञान है।

संसारमें मनुष्य अपने कर्मोका फल पाता है। जो जैसा बोता है, वह वैसा काटता है। इस नैतिक विधानका भी कोई विधाता होना चाहिये, अन्यथा इसका व्याख्यान सम्भव नही है। अतः नियन्ताके रूपमें, कर्मफल देनेवालेके रूपमे कोई चेतन प्राणी अवश्य है और वही ईश्वर है।

यही तीन तर्क ईश्वरवादी भी देते हैं। उनके मतसे पहला तर्क उपादान कारणके रूपमें भी ईश्वरको सिद्ध करता है।

पश्चिममें डेकार्ट (१७वीं शती) से लेकर आजतक इन तर्कोंका मण्डन और खण्डन होता रहा है। निष्पक्ष अनुशीलनसे यही सिद्ध होता है कि कोई चेतन प्राणी जगत्के मूलमें है। वह ईश्वर, अर्थात् सबसे बड़ा चेतन प्राणी, उपास्य आदि है यह सिद्ध नहीं होता। वैज्ञानिक विकासवादने जगत्की उत्पत्तिमे चेतन प्राणीको भी अनावश्यक और व्यर्थ बताया है। इस मतसे चेतनता जडपदार्थका ही विकास है। आधुनिक युगके प्रत्ययवादियोंने विकासवाद और ईश्वरवादके समन्वयपर जोर देकर उपर्युक्त तर्कोंके साथ विकासवादकी संगति दिखलाई है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक और दार्शनिक कांट (१८वी शती) उपर्युक्त तर्कोंमें दूसरे

और तीसरे तर्कको सही मानता है और पहलेको निष्फल।

(ग) पतंजलिने ईश्वरकी सिद्धि यों की है—

ज्ञानमें तारतम्य (न्यूनाधिक्य) है। जहाँ तारतम्य है, वहाँ पराकाष्ठा भी है। अतः ज्ञानकी भी पराकाष्ठा है, जो ईश्वर है।

पर यह तर्क लचर है। यह निश्चय रूपसे नहीं कहा जा सकता कि प्रत्येक न्यूनाधिक गुणकी पराकाष्ठा है। अनुभवमें ज्ञान, आनन्द, ईमानदारी, सफेदी, किसी गुणकी पराकाष्ठा नहीं आती। अतः तर्कसे यह प्रमाण गलत है। हाँ, रहस्यानुभूति द्वारा इसका अनुमोदन हो सकता है।

वस्तुतः ईश्वरके विषयमें दिये जानेवाले सभी प्रमाण प्रत्यक्षमूलक तर्कमें कट जाते हैं, केवल वे ही प्रमाण शेष रहते हैं, जो सन्त, भक्त, महात्मा आदि रहस्यवादी अपने दिव्य अनुभवके आधारपर देते हैं। हिन्दीका सन्त और भक्त साहित्य ऐसे अनुभवोंका विश्वकोश है।

ऋग्वेदमें एकेश्वरवादका उल्लेख है। विष्णु, वरुण, इन्द्र आदिको विभिन्न लोगोंने अपना परमेश्वर माना। पुरुषसूक्तमें शुद्ध ईश्वरवाद है और यही कारण है कि आज भी वैष्णव जन प्रतिदिन इसका ध्यान करते हैं। एक देवको जानना, उसकी उपासना परमात्माके रूपमें करना, उसके लिए यज्ञादि करना, वैदिक ऋषियोंका धर्म था। ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड तथा उपासनाकाण्डके नामसे उनकी त्रिविध साधनाका सुन्दर वर्णन वेदमें मिलता है। 'श्वेताश्वतर उपनिषद्'में ईश्वरवादका दार्शनिक वर्णन किया गया है। महाभारतकालमें गीताकी रचना द्वारा ईश्वरवादका ऐसा सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया गया कि आज भी वह अतुलनीय है। इसीसे ज्ञात होता है कि उस समयतक एकेश्वरवादकी भावना पूर्णतया विकसित हो गयी थी। सूत्रकालमें न्याय-वैशेषिक, योग और वेदान्त द्वारा एकेश्वरवादके उपर्युक्त चारों वादोंका वर्णन हुआ। पुराणकालमें ईश्वरवादमें भक्ति-साधना, अवतारवाद और मूर्तिपूजाका प्रवेश हुआ। भागवत पुराण आज भी ईश्वरवादके सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थोंमेंसे एक है। पांचरात्रों, शैवों और शाक्तोंमें भी एकेश्वरवादकी भावनाका वैसे ही विकास हुआ, जैसे ऋग्वेदसे भागवत पुराणतक वैष्णवोंमें। दोनों धाराओंमें परस्पर आदान-प्रदान भी हुआ। सगुण ब्रह्मवादियोंमें रामानुजने नारायणको और मध्वने विष्णुको परमेश्वर माना तो अन्य लोगोंने कृष्णको। स्वामी रामानन्द, कबीर और तुलसीदासने रामको ही परमेश्वर माना। इस प्रकार मुख्यतः कृष्णोपासना और रामोपासनाका सर्वत्र प्रचार हुआ। कृष्णोपासनामें राधा तथा अन्य गोपियोंको अधिक महत्त्व देनेसे कालान्तरमें अनैतिक आचारोंको भी अवकाश मिला। रामोपासना प्रायः सदैव विशुद्ध नैतिक बनी रही।

हिन्दीके निर्गुण सन्तोंमें प्रायः नानक और उनके अनुयायियोंको तथा राधास्वामी-सत्संगको छोड़कर सभी रामोपासनाके अन्दर आते हैं, पर उनके राम तुलसी जैसे सगुणोपासकोंके रामसे भिन्न हैं। वे ब्रह्म हैं, न कि दशरथसुत। नानक-पन्थ हिन्दू धर्मका ही अंग है। नानकका एकेश्वरवाद बहुत-कुछ द्वैतवादी एकेश्वरवाद या ब्रह्मवाद है। —सं० ला० पा०

एक्सप्रेशनिज्म (expressionism)—'एक्सप्रेशनिज्म' कलात्मक अभिव्यक्तिके रूपको कहते हैं, जो किसी परिस्थितिके मूल आवेगकी बाह्याकृतिको स्पष्ट करनेका प्रयत्न करती है। आधुनिक अर्थोंमें 'एक्सप्रेशन' शब्दका अर्थ या तो किसी आन्तरिक तथ्यका बाह्याकार प्रकट या स्पष्ट करना या प्रतिनिधित्व करना और या सामान्य रूपमें एक वस्तु द्वारा दूसरीकी ओर संकेत करना होता है।

सामान्य रूपसे यह कहा जा सकता है कि इस वादका प्रारम्भ, आधुनिक युगमें सन् १९२० ई०के लगभग जर्मनीमें हुआ। यों उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तिम वर्षोंमें भी कहीं-कहीं इसके संकेत मिलते हैं। प्रथम महायुद्धके बाद यह जर्मन साहित्यमें, विशेष रूपसे नाटकोंमें (दे० 'द एडिंग मैशीन'—१९२३ ई० : एमर राइस आदि नाटक) अपने पूर्ण विकसित रूपमें मिलता है। यह फ्रेंक वेडकाइंडके 'अवेकनिंग ऑफ स्प्रिंग' तथा आगस्ट स्ट्रिंडबर्गके 'दि स्पूक सोनाटा' आदि नाटकोंमें बीजरूपमें मिलता है। ये उनके चरित्रोंके अवगुणों या विशेषताओंको कल्पना-शैलीमें बनाते थे। इनकी भाषा बहुत प्रभावपूर्ण होती थी, लेकिन उसमें आत्माभिव्यक्तिपूर्ण स्वगत कथन भी हो सकते थे। इनका कार्य आकस्मिक, काल्पनिक या बहु-आधारित भी हो सकता था, जिसका निर्माण कला-चातुर्य और गम्भीर प्रभावयुक्ततासे होता है।

'एक्सप्रेशनिज्म' एक ऐसा तत्त्व है, जो किसी-किसी रचनामें किसी अपनायी हुई विधिके बजाय प्रेरणा देता या प्रकाशित करता है।

क्रोचे (१८६६-१९५२ ई०)ने यह तथ्य स्पष्ट रूपसे बताया है कि कला सदैव आत्माभिव्यक्तिका एक रूप है। उसके विचारसे, जो कुछ भी अस्तित्व रखता है, वह बाह्य नहीं है, यद्यपि मस्तिष्क अवश्य ही, अपने स्वयंके उद्देश्योंको गुप्त रख सकता है। स्काट जेम्सने क्रोचेके सिद्धान्तकी आलोचना करते हुए लिखा है कि क्रोचेने पृथ्वीपर जिस भवनका निर्माण किया है, उसका कोई आधार नहीं है। वह कलाके विषयमें लिखता है और वह कलाकारसे सलाह लेना भूल गया है। यदि वह उससे राय लेता, तो वह उसे बताता कि कलाका सम्पूर्ण कार्य संसारको कुछ सन्देश देना है और यह कि वह कोई सुन्दर वस्तु होगी। क्रोचे सन्देशके विषयमें बिलकुल भूल गया है। उसका विचार है कि क्रोचेका कवि कोई भाषा नहीं बोलता। अधिकसे अधिक उसका भाषण एक स्वगत-कथन हो सकता है। उसका कलाके विषयमें अपना विचार यह है कि कला भाषासे सम्बन्ध रखती है। वह किसी भी माध्यमसे प्रकट की गयी हो, यह गौण बात है (दे० 'द मेकिंग ऑफ लिट्रेचर' : आर० ए० स्काट जेम्स)। उसने क्रोचे तथा आर्नाल्ड, दाँते, अरस्तू या गेटे आदिकी वैचारिक भिन्नताको भी स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है।

लैटिन तथा हॉरेस क्विंटेलियन और ओविड आदिके उदाहरणोंके आधारपर यह कहा जा सकता है कि किसी रचनामें अभिव्यक्ति करनेके प्रयोगकी भाषा-कथन या शब्द कथनके सन्दर्भमें तीन प्रकारसे व्याख्या हो सकती है—(१) उद्देश्यपूर्ण अभिव्यक्ति, (२) समान रूपमें उद्देश्यपूर्ण

प्रदर्शन अथवा संकेत और (३) मनोवैज्ञानिक आन्तरिक स्थिति।

उपर्युक्त मानसिक विचारोंके अतिरिक्त तीन मुख्य सिद्धान्त हैं, जिनको सहायतासे एक्सप्रेशनिज्मको कहीं भी पहचाना जा सकता है—(१) जिसे अभिव्यक्त किया जाता है (अर्थात् experimend), (२) जो अभिव्यक्त करता है (अर्थात् experiment) और (३) जिसके माध्यमसे अभिव्यक्त किया जाय (अर्थात् expressor)। इनमेसे प्रथम (अर्थात् experimend)से सम्बन्धित एक और आधुनिक सिद्धान्त है, जो किसी अभिव्यक्तिके बाह्याकारके प्रकटीकरणको यह समझना है कि वह उसे मस्तिष्कसे बिलकुल निकाल देना है। यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि प्रभावोंकी अभिव्यक्ति और पहिचानी हुई अभिव्यक्तिमे पर्याप्त अन्तर है।

किसी कलामे अभिव्यक्तिको सदैव उसकी प्रक्रियामें एक मुख्य तत्त्व तथा अभिव्यंजनाको कार्यमे एक प्रमुख तत्त्व माना जाता है। क्लैसिकल काव्यशास्त्रमें अभिव्यंजनाको आकार या रचनासे कम महत्त्वपूर्ण माना गया है। क्लैसिकल नियमका व्यवहार और सिद्धान्त सदैव यह रहा है कि यद्यपि कलामें किसी विचार या अनुभूतिकी अभिव्यक्ति महत्त्वपूर्ण हो सकती है, परन्तु विना किसी रचनाके यह असम्भव है, जो अभिव्यक्त करने योग्य होती है।

अभिव्यंजनाकी रचनाके विरुद्ध, निस्सन्देह, आधुनिक सौन्दर्यशास्त्रियोंकी मुख्य समस्या लेसिंगके 'लायाकून'का उस नियमसे अलग हट जानेका विषय है। लेसिंगके बाद यूरोपीय सिद्धान्त अभिव्यंजनाके महत्त्वपर अधिक जोर देने लगा है और इस प्रकार अन्तमे एक ऐसी स्थितिको पहुँचता है, जहाँसे ललित कलाको एक उद्देश्यके निर्माणके लिए प्राथमिक नही माना जाता, लेकिन किसी विचारकी अभिव्यक्तिके समान, या व्यवहारमे, एक अनुभवकी रिपोर्ट समझा जाता है। ललित कला-विषयक यह धारणा यूरोपमें सम्पूर्ण उन्नीसवीं शताब्दीमें व्याप्त रही। और यद्यपि बीसवीं शताब्दीमें इसकी बहुत आलोचना हुई है, तब भी अनभिज्ञतासे यह हमारे समयकी सौन्दर्यशास्त्र-विषयक सामान्यतम धारणा है। क्रोचे इसका प्रमुख वैज्ञानिक प्रचारक है। उसके सिद्धान्तका आधार यह है कि अभिव्यक्ति और ललित कला दोनों एक-दूसरेसे मिलते-जुलते हैं, और इस प्रकार, चूँकि सब ललित कलाएँ अभिव्यक्ति हैं, सब अभिव्यक्ति ललित कला है।

क्रोचे कलाकी समानता और सौन्दर्यका समर्थन करता है और उसे उनसे पृथक् करता है, जिन्हें सामान्य रूपसे कला कहा जाता है। उसका विचार है कि सौन्दर्य वस्तुओंका कोई गुण नही है, चाहे वे पेड़ हों या पत्थरके टुकड़े, लेकिन अन्य प्रत्येक महत्त्वके समान, केवल किसी आत्मिक क्रियाशीलके स्वभावके रूपमें उत्पन्न होता है (दे० 'द थ्योरी ऑव ब्यूटी' : कोरिट)। इसलिए क्रोचे, हीगेल, शोपेनहावर तथा किसी सीमातक कांटके विचारके अनुसार कला ज्ञानका एक रूप है या वह हमारी प्रकृतिके व्यावहारिक पक्षके विरुद्ध, सम्भवतः सैद्धान्तिक है।

सहायक ग्रन्थ— हिस्ट्री ऑव एस्थेटिक्स : बोसांके। —ज० न० ई०

एलिगरि–दे० 'रूपकात्मक काव्य', 'दृष्टान्त काव्य'।

एलिजी–दे० 'शोक गीति'।

एलेक्ट्रा मनोग्रंथि–दे० 'मनोग्रन्थि'

एसे–दे० 'निबन्ध'।

ऐकांतिक–दे० 'भक्ति'।

ऐतिहासिकतावाद–इतिहास-दर्शन अथवा इतिहासकी व्याख्याके आधारपर धर्म, दर्शन, आचार-शास्त्र, संस्कृति, साहित्य, कला आदिका स्वरूप स्थिर करनेकी प्रवृत्तिके लिए 'साहित्यकार'के जनवरी, १९५३ ई०के अंकमें 'साहित्य शास्त्रमें ऐतिहासिकतावाद' शीर्षकके अन्तर्गत प्रकाशित 'मुद्राराक्षस'के लेखमें 'ऐतिहासिकतावाद' संज्ञा दी गयी है। शायद अंग्रेजीमें इस प्रवृत्तिका अभी कोई नामकरण नहीं हुआ है। वहाँ इस प्रसंगमें 'इतिहास-दर्शन' (historicism, historiology या philosophy of history), ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य (historical perspective) जैसे सामान्य शब्दोंसे ही काम चलाते हैं। वैसे 'ऐतिहासिकतावाद'के लिए अंग्रेजीमें historicalism शब्दका प्रयोग हो सकता है। सन् १९५१ ई०में न्यूयार्कसे प्रकाशित 'अमेरिकन लिटरेरी क्रिटिसिज्म १९००–१९५०' नामक संग्रहमें एडमण्ड विल्सनका आलोच्य विषयपर एक लेख है, जिसका शीर्षक है 'the historical interpretation of literature', जिसका रूपान्तर होगा 'साहित्यकी ऐतिहासिक व्याख्या' और जो 'ऐतिहासिकतावाद' अथवा 'साहित्यमें ऐतिहासिकतावाद' जैसे शब्दोंसे अधिक भिन्न नहीं है।

यों तो इतिहास-दर्शन आदिम, प्राचीनतम, प्रागैतिहासिक सभ्यताओंमें भी किसी-न-किसी रूपमें पाया जाता है, जैसा कि हिन्दुओंमें युग-चक्रोंकी कल्पनाके रूपमें, किन्तु इसका व्यवस्थित रूप हमें इटलीके सेण्ट आगस्तिन (३५४–४३० ई०)की पुस्तक 'द सिविटेट डेइ' (de civitate dei अर्थात् ईश्वरका नगर)में मिलता है। आगस्तिन ऐतिहासिक विकासके मार्गको रेखाकार मानता था। इटलीमें उसके बाद विको और हर्डरके नाम प्रसिद्ध हैं। फ्रांस और जर्मनीके इतिहास-दर्शनका सारे यूरोपपर भारी प्रभाव पड़ा। विको (१६६८–१७४४ ई०), हर्डर (१७४४–१८०३) और हीगेल (१७७०–१८३१ ई०)का उल्लेख आगे आयेगा। हीगेलके बाद उसका बाह्यार्थवादी शिष्य कार्ल मार्क्स (१८१८–१८८३ ई०) सबसे प्रभावशाली इतिहास-दार्शनिक हुआ, जिसका परवर्ती इतिहास-दर्शनपर व्यापक प्रभाव पड़ा है। वह समाजकी अर्थ-व्यवस्था तथा आर्थिक प्रवृत्तियोंको ऐतिहासिक विकासके मूलमें मानता है। वर्तमान शतीमें जर्मनीने एक और बड़ा इतिहास-दार्शनिक पैदा किया, जिसका नाम ओस्वाल्ड स्पेंग्लर (१८८०–१९३६ ई०) था। इंग्लैण्डका प्रसिद्ध इतिहास-दार्शनिक आर्नाल्ड जोसेफ ट्वायनबी (१८८९ ई०) इसका बहुत ऋणी है। अमेरिकाके समाजशास्त्रियोंमेंसे अनेकने इतिहासकी नयी व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं, जिनमें पितिरिम ए० सोरोकिन अग्रगण्य है। स्पेंग्लर और सोरोकिन अपने-अपने

ढंगके चक्रवादी (दे० 'सांस्कृतिक चक्रवाद') इतिहास-दार्शनिक हैं।

हम यहाँ केवल साहित्यके सन्दर्भमें 'ऐतिहासिकतावाद' पर विचार करेंगे। साहित्यिक ऐतिहासिकतावादका अर्थ है साहित्यके सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक पक्षोंका उद्घाटन और विश्लेषण कर उसके स्वरूप, प्रतिमानों और मूल्योंका निर्णय करना। ऐतिहासिकतावादी समाजके विकास-स्तर और तत्कालीन साहित्यके बीच आंगिक सम्बन्ध देखना है। कई तो उनमे कारण-कार्य-भावका सम्बन्ध माननेके पक्षमे हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि ऐतिहासिकतावादी साहित्यमे स्थायी तत्त्व स्वीकार ही नहीं करते। अधिकांश ऐतिहासिकतावादियोंने साहित्य सम्बन्धी शाश्वत प्रतिमानों एवं साहित्यमें स्थायी तत्त्वोंकी सत्ता मुक्तकण्ठसे स्वीकार की है। कार्ल मार्क्स भी यूनानी साहित्यमें स्थायी तत्त्व मानता ही था। ऐतिहासिकतावादी केवल यह देखना है कि समाजविशेष अथवा युगविशेषका साहित्य, युग तथा समाजका कितना और कैसा प्रतिबिम्बन करता है, वह किन-किन तत्त्वोंसे अनुशासित है, उसने समाजकी विकास-दिशाके निर्धारणमे कहाँतक योग दिया है, उसका व्यापक साहित्य-परम्परामे क्या स्थान है।

उपर्युक्त अमेरिकन समीक्षकने टी० एस० इलियट और जार्ज सेण्ट्सबेरी जैसे सफल समीक्षकोंको अनैतिहासिकतावादी बतलाया है। वे आलोचनाके समय आलोच्य साहित्यिक कृतिके निर्मायक तत्त्वोंकी मीमांसामें रुचि नहीं लेते, बल्कि अन्य कृतियोंसे उसकी तुलना करके झट मूल्य-निर्णय कर लेते हैं। उन्हें बस शुद्ध निरपेक्ष मूल्यांकनसे मतलब है, साहित्यकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमिके वैचित्र्यकी ओर उनकी दृष्टि ही नहीं जाती। मूल्यांकनकालमें वे साहित्यको मानो कालातीत, इतिहासशून्य, मान लेते हैं। भारतकी प्राचीन, संस्कृत साहित्यकी आलोचना-शैली भी शुद्ध अनैतिहासिक थी। साहित्यशास्त्रियोंके लिए मानो सारा संस्कृत साहित्य एक ही क्षणमें रचा हुआ हो। "उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्, दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः"। बस इसी प्रकारकी आलोचनाका विकास प्राचीन भारतीय साहित्यमें हो सका था। वस्तुतः आधुनिक शैलीकी इतिहासविद्या उस समय थी ही नहीं, ऐतिहासिकतावादी साहित्यशास्त्र कहाँसे विकसित होता?

सन् १७२५ ई०मे इटलीके दार्शनिक विकोकी 'ल साइन्ज़ा नुओवा' (la scienza nuova अर्थात् the new science, 'अभिनव विज्ञान') नामकी पुस्तक प्रकाशित हुई, जिसमें उसने साहित्यकी सामाजिक व्याख्या की नींव डाली थी। उसने होमरकी रचनाओंकी व्याख्या इतिहास और भूगोलके आधारपर की है। अठारहवी शतीके आठवें दशकमें तद्देशीय हर्डरने अपनी 'आइडियाज ऑन द फिलॉसफी ऑफ हिस्टरी' (ideas on the philosophy of history)में यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि काव्य भाषा, व्यवहार, जल-वायु आदिके अनुसार अपना रूप बदलता रहता है। सन् १८२२-२३ ई०में हीगेलने इतिहासदर्शनपर दिये हुए अपने व्याख्यानोंमें, जो 'लैक्चर्स ऑन द फिलॉसफी ऑव हिस्टरी' (lectures on the philosophy of history) नामसे अंग्रेजीमें पुस्तकाकार प्रकाशित है, कहा है कि कलाएँ और साहित्य युग-आत्माके व्यंजक एवं तद्द्वारा अनुशासित होते हैं। ओस्वाल्ड स्पैंग्लरका भी ऐसा ही मत है। हिपोलाइट टेन नामक फ्रांसीसी समीक्षकने अपने 'हिस्टरी ऑव इंग्लिश लिटरेचर' (history of english literature, १८६३ ई०)मे यह दिखलाया है कि साहित्य जातीय तत्त्व (race), परिसर (milieu) तथा काल (moment)का परिणाम है। उसके अनुसार मनुष्य कविताकी रचना कुछ उसी प्रकार करता है, जैसे रेशमके कीड़े कोवेका और मधुमक्खियाँ छत्तेका निर्माण करती हैं। टेनके समसामयिक इतिहासदार्शनिक मिकेलेट, रेनान, सेण्ट बौव भी साहित्यकी ऐतिहासिक व्याख्याके पक्षपाती थे। कार्ल मार्क्सके अनुसार कला और साहित्य तथा संस्कृतिके अन्य रूप भी अर्थव्यवस्थाकी आधार-शिलापर प्रतिष्ठित प्रासाद-स्वरूप हैं। साहित्यिक परिवर्तनोंका अन्तिम कारण अर्थ-व्यवस्थान्तर्गत परिवर्तन ही है। उसी कालके फ्रांसीसी दार्शनिक आगस्त कोम्त मानवीय इतिहासको तीन युगों—पौराणिक-पारलौकिक (theological), दार्शनिक (metaphysical) और वैज्ञानिक या ऐहिक(scientific or positive)में विभक्त करता है। उसके अनुसार कला और साहित्य पौराणिकता-पारलौकिकतासे आरम्भ होते देखे जाते हैं। अमेरिका-प्रवासी रूसी समाजदार्शनिक पितिरिम ए० सोरोकिन संस्कृति और साहित्यके तीन रूपों—इन्द्रियवाद (sensatism), अतीन्द्रियवाद (ideationalism) तथा अध्यात्मवाद (idealism)की पुनः-पुनः आवृत्तिमें विश्वास करता है।

इस प्रसंगमें सौन्दर्यमूलक इतिहास-दर्शन (दे० 'सौन्दर्यमूलक समाजदर्शन') अत्यन्त दिलचस्प है। सौन्दर्यवादी व्याख्याकार लिजेटीका कहना है कि संस्कृतिकी बाल्यावस्थामें स्थापत्य-कला, परिपक्वावस्थामें मूर्ति-कला तथा जीर्णावस्थामें चित्र-कलाका प्राधान्य होता है। हीगेलने अपने विशाल ग्रंथ 'फिलॉसफी ऑव फाइन आर्ट्स' (philosophy of fine arts)में एक महत्त्वपूर्ण सौन्दर्यदर्शनकी उद्भावना की है। वह कलाके विकासको महाप्रत्यय (great idea) अथवा विश्वात्मा (world-spirit)की अभिव्यक्तिका प्रकारविशेष मानता है। इस अभिव्यक्ति-प्रक्रियाके तीन सोपान हैं—प्रतीकात्मक, क्लासिकी और रोमानी। विक्टर ह्यूगोने क्रामवेल (cromwell)के आमुखमे कहा है कि प्रत्येक जातिका साहित्य तीन क्रमिक अवस्थाओंसे पार होता है। वे अवस्थाएँ हैं—प्रगीतात्मक, वीरगाथात्मक और नाटकीय। सौन्दर्यवादियोंने कला और संस्कृतिके बीच अन्योन्य-सम्बन्ध बड़े विस्तारसे दिखलानेका प्रयत्न किया है। लिजेटीके अनुसार कला संस्कृतिका बैरोमीटर (वायुभारमापक यन्त्र) है।

हिन्दीमें ऐतिहासिकतावादी प्रवृत्तिके दर्शन हमे मार्क्सवादी और समाजशास्त्रीय समीक्षा-पद्धतियोंमें ही होते हैं। साहित्यके व्यापक ऐतिहासिकतावादी दृष्टिकोणसे अध्ययनकी परिपाटी अभी प्रचलित नहीं हुई है।

'मुद्राराक्षस'के लेखका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। 'आलोचना'में हर्षनारायणने भी एक-आध तद्विषयक लेख लिखे हैं।

[सहायक ग्रन्थ—सोशल फिलॉसफीज इन एन एज ऑव क्राइसिस : सोरोकिन; फिलॉसफी ऑव फाइन आर्ट्स : हीगेल; स्टडीज इन यूरोपियन रियलिज्म : लूकाक्स।]

—ह० ना०

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य (historical perspective)—इतिहासकी कई परिभाषाएँ देखनेको मिलती हैं, लेकिन यह बात सर्वसम्मत है कि वह परिवर्तन, विशेषतः मानवतामें परिवर्तनका अध्ययन करता है। प्रत्येक समाज, संस्था, वस्तुकी अपनी एक अतीत अवस्था होती है। उस समाज, सस्था या वस्तुका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेके लिए उसके केवल वर्तमान स्वरूपको समझना पर्याप्त नहीं है; उसके अतीतका भी यथासाध्य ठीक परिचय होना अपेक्षित है। भारतीय संस्कृतिका यथावत् परिचय प्राप्त करनेके लिए यह आवश्यक है कि युग-युगान्तरमें उसमें जो परिवर्तन होते आये हैं उनका पता लगायें, केवल उसकी वर्तमान अवस्थाके आधारपर उसका स्वरूप-निर्णय भ्रामक सिद्ध होगा। समाजवादकी सुन्दर योजनाएँ कार्ल मार्क्सके पूर्व भी विद्यमान थीं, किन्तु मार्क्सने उन सबमें ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यकी कमीकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। इतिहासकी गति-विधिका पर्यवेक्षण कर जो योजना बनायी जायगी, वही अधिक व्यवहार्य हो सकती है। वस्तुतः वर्तमान ही सब-कुछ नहीं, अतीत भी बहुत-कुछ है, जिसका परिज्ञान वर्तमानको समझने और भविष्यको सँवारनेके लिए नितान्त आवश्यक है।

इतिहास, प्राचीन परिभाषाके अनुसार, अनुभवके आधारपर शिक्षा देनेवाले दर्शनका नाम है। इस परिभाषामें बहुत सार दिखायी देता है। पशुओंकी अपेक्षा मनुष्यमें यह विशेषता है कि वह अनुभवसे सीखता है, उसका जीवन सहज प्रवृत्तियोंके बदले अधिकांशतः अनुभवजन्य विवेकसे परिचालित है। अतः यदि मनुष्यको अनुभव प्राप्त करना है, यथार्थ अनुभवपर अपनी जीवन-प्रणाली प्रतिष्ठित करनी है, तो उसे इतिहासका सहारा लेना ही होगा। ऐतिहासिक परिप्रक्ष्यके बिना वह अतीत द्वारा प्राप्त विकास-स्तरसे आगे जानेकी आशा नहीं कर सकता।

इतिहास-विद्याके विकासके पूर्व मनुष्यका तत्त्वज्ञान ही नहीं, अपितु व्यवहार भी कोरी, अनुभवशून्य कल्पनापर आश्रित था। इतिहास हमें उन कल्पनाओंको जाँच कर उनके गुण-दोषकी परीक्षाका अवसर प्रदान करता है। वस्तुतः ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यके विकासके ही परिणामस्वरूप जीव-विज्ञान, नृतत्त्व-विज्ञान, समाज-विज्ञान आदि अनेक विज्ञानोंका उदय सम्भव हो सका है, अन्यथा या तो इन विज्ञानोंकी सत्ता ही नहीं होती या होती तो कोरी कल्पनापर आधारित होती। आजकल धर्म, आचार, कला, कानून—प्रत्येक संस्था अथवा प्रवृत्तिको ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यमें देखनेकी परिपाटी चल पड़ी है। यही कारण है कि आजका मनुष्य अतीतको अधिक प्रामाणिक रूपमें समझने एवं उसपर पहलेकी अपेक्षा अधिक समीचीन निर्णय देनेकी स्थिति में है। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यके अभावमें तो पुराने लोग अपने समयमें प्रचलित मूल्यों और नैतिकताको ईश्वर-निर्धारित समझनेकी भूल करते थे। अब हम इनकी सापेक्षतासे परिचित हैं।

—ह० ना०

ऐतिहासिक भौतिकवाद—यह शब्द 'हिस्टॉरिकल मैटीरियलिज्म'का हिन्दी रूपान्तर है। इसकी उत्पत्ति मार्क्सवादी विचारों और लेखोंसे होती है। ऐतिहासिक भौतिकवाद मनुष्यके इतिहास और समाजकी एक विशिष्ट व्याख्या करनेका प्रयास करता है। इसके अनुसार मनुष्यका सामाजिक जीवन उसकी आर्थिक, राजनीतिक और भौगोलिक परिस्थितियों द्वारा अनुशासित होता है। इन सब परिस्थितियोंमें आर्थिक परिस्थितियाँ अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। ऐतिहासिक भौतिकवाद इतिहासको रहस्यात्मक शक्तियोंका प्रकाशन नहीं मानता। इस दृष्टिसे ऐतिहासिक भौतिकवादका दृष्टिकोण यथार्थवादी है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवादके सामाजिक रूपको ही ऐतिहासिक भौतिकवाद कहते हैं। अतः द्वन्द्वात्मक भौतिकवादके मूलभूत सिद्धान्त ऐतिहासिक भौतिकवादके भी आधार हैं। ऐतिहासिक भौतिकवाद जीवनकी भौतिक परिस्थितियोंपर ही जोर देता है। निम्नलिखित रूपोंमें उन भौतिक परिस्थितियोंके सैद्धान्तिक रूपका निदर्शन किया जा सकता है—

(१) भौतिक परिस्थितियोंसे हमारा तात्पर्य सांस्कृतिक और आर्थिक परिस्थितियोंसे है। भौगोलिक परिस्थितियाँ मनुष्यके चरित्रका निर्माण करती हैं, किन्तु केवल इन्हींसे उसके चरित्रका निर्माण नहीं होता और न तो वह परिस्थितियाँ उसके परिवर्तनका प्रधान कारण ही है। मूलभूत परिस्थिति आर्थिक परिस्थिति है। ऐतिहासिक भौतिकवादके अनुसार जीवन-यापनके जो साधन हैं और उनके उपार्जनके लिए जिस उत्पादन-प्रणालीकी आवश्यकता है, वही हमारे समूचे सामाजिक अस्तित्वका अनुशासन करती है। प्रत्येक मनुष्यके जीनेके लिए भोजन-वस्त्र और अन्य सामाजिक वस्तुओंकी आवश्यकता होती है। इनके उत्पादनके औजार, जनता और उत्पादनशक्तिके संयोगसे ही उत्पादन शक्तियोंकी सृष्टि होती है। इसके अतिरिक्त उत्पादनके सम्बन्धमें मनुष्य एक-दूसरेके निकट आते हैं, जिससे आर्थिक मानवीय सम्बन्धोंकी सृष्टि होती है। अतः उत्पादनप्रणाली और मानवीय आर्थिक सम्बन्धोंके समन्वयसे ही समाजका इतिहास निर्मित होता है।

(२) उत्पादन निरन्तर गतिशील है, क्योंकि मार्क्सवादी किसी भी सामाजिक व्यवस्थाको स्थायी नहीं मानते, इसलिए मनुष्य विभिन्न युगोंमें विभिन्न प्रकारकी उत्पादन-प्रणालीकी रचना करता रहता है।

(३) उत्पादनके समूचे परिवर्तन उत्पादनशक्तियोंके परिवर्तनके नाते होते हैं, जिनका प्रभाव मनुष्यके आर्थिक सम्बन्धोंपर भी पड़ता है और इस प्रकारसे सामाजिक वातावरणमें इन दोनोंकी अन्तःक्रियाएँ चलती रहती हैं। अबतक इन्हीं अन्तःक्रियाओंके कारण मनुष्यने चार प्रकारकी सामाजिक व्यवस्थाओंका निर्माण किया है—१. प्रारम्भिक साम्यवाद, २. दास-व्यवस्था, ३. सामन्तवाद,

४. पूँजीवाद।

और वर्तमान समयमें जब उत्पादनकी शक्तियाँ नये रूपोंमें परिवर्तित हो रही हैं तो हम एक नयी आर्थिक और सामाजिक व्यवस्थाकी सृजना पा रहे हैं वह व्यवस्था है समाजवाद

(४) ऐतिहासिक भौतिकवादके अनुसार इतिहासकी एक मूलभूत एकता है और इस मूलभूत एकताका यह कारण है कि समूचा इतिहास निश्चित नियमोंसे परिचालित है। ये नियम द्वन्द्वात्मक भौतिकवादके सामाजिक संस्करण है।

(५) ऐतिहासिक भौतिकवादके अनुसार आर्थिक व्यवस्थाके अनुकूल ही सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक व्यवस्थाओंकी रचना की जाती है।

(६) ऐतिहासिक भौतिकवाद सामाजिक परिस्थितियोंका विश्लेषण यान्त्रिक दृष्टिसे नहीं करता। वह यह नहीं मानता है कि सामाजिक परिस्थितियाँ केवल मानव-मस्तिष्कको प्रभावित ही करती है, प्रत्युत ऐतिहासिक भौतिकवाद इसके स्थानपर यह स्वीकार करता है कि भौतिक परिस्थितियाँ और मानव-मस्तिष्क, दोनों एक-दूसरेको प्रभावित करते रहते हैं। इन्हींकी अन्तःक्रियाएँ इतिहासकी गति-विधिका नियन्त्रण करती है।

ऐतिहासिक भौतिकवाद केवल ऐतिहासिक विकासके एक पक्षपर जोर देता है, जो १९वीं शताब्दीके उत्तरार्द्ध तक नगण्य माना जाता था। हमारी वर्तमान ऐतिहासिक परिस्थितिमें ऐतिहासिक भौतिकवादके समूचे इतिहासका समग्र दर्शन नहीं हो सकता, क्योंकि आज हमें यह ज्ञात है कि इतिहास विभिन्न शक्तियोंका समन्वित रूप है (दे० 'मार्क्सवाद')। —रा० कृ० त्रि०

ओज गुण–दे० 'गुण', दूसरा प्रकार।

ओड–दे० 'सम्बोध(न) गीति'।

ओहं–दे० 'सोहं'।

औघड़–नाथपंथी योगी। ब्रिग्स (गोरखनाथ एण्ड कनफटा योगीज़, पृ० ६७)ने लिखा है कि योगी जबतक कान फड़वाकर मुद्रा नहीं धारण कर लेते, तबतक औघड़ रहते हैं और जब ये मुद्रा धारण कर लेते है तब 'कनफटा' बन जाते है। उसी पुस्तकके पृ० ७२पर ब्रिग्सने हेनरी बालफ़ोरकी कृति 'लाइफ हिस्ट्री ऑव ऐन अघोरी फकीर'-का हवाला देकर लिखा है कि अघोरपंथ गोरखनाथ द्वारा चलायी गयी एक शाखा है, जिसकी तीन उपशाखाएँ है—औघड़, सर्वंगी और घुरे। अघोरपंथके अनुयायी भक्ष्याभक्ष्यका विचार नहीं रखते। जनतामें इनके प्रति आदर-भाव और श्रद्धाकी जगह भय और घृणा अधिक होती है। स्वयं ब्रिग्सने लक्ष्य किया था (दे० 'कनफटा') कि जनता औघड़ोंको योगियोंकी अपेक्षा आधी भिक्षा देती थी। बनारस, प्रयाग आदिके आस-पासके इलाकोंमें अब भी इस प्रकारके औघड़ साधु मिलते है और आस्तिक जनता इनसे डरती तो है, पर आदर-सम्मान नहीं दे पाती। पूर्वी उत्तर-प्रदेशमें किसीको औघड कहना बहुत बड़ी गाली है। औघड़ (और 'अघोरी' भी)को कितना हीन समझा जाता है। लगता है जिन दिनों औघड़ोंको कनफटोंसे मात्र इसी अर्थमें भिन्न समझा जाता था कि वे कानफड़वाकर मुद्रा नहीं पहनते थे, उसके बाद इनका आचार-व्यवहार गोरखपन्थी साधुओंसे भिन्न आचार-व्यवहारवाले किसी अन्य सम्प्रदायसे प्रभावित होता गया। सम्भवतः औघड़ लोग कापालिकोंसे सर्वाधिक प्रभावित हुए हैं। औघड शब्दकी पुरानी अर्थ-परम्परासे अपरिचित किन्तु पढ़े-लिखे लोग औघड़ और 'कापालिक'मे कोई भेद नहीं कर पाते। —रा० सिं०

औड़मागधी प्रवृत्ति–दे० 'प्रवृत्ति', पहली।

औत्सुक्य–प्रचलित तेंतीस संचारियोंमेंसे एक संचारी भाव। अग्निपुराणमें इस संचारी भावकी यथार्थ परिभाषा दी गयी है—"औत्सुक्यमीप्सिताप्राप्तेर्वाञ्छया तरला स्थितिः" (३३९ : ३०), अर्थात् मनकी वह अस्थिर अवस्था, जो इष्टकी प्राप्तिकी इच्छाके कारण हो। भरतने इसके विभाव एवं अनुभाव निम्नलिखित प्रकारसे दिये है (नाट्य०, ७ : ७० ग)—"प्रियजनके वियोगमें उसके स्मरण और उद्यान इत्यादि उद्दीपनोंके दर्शनसे यह भाव जाग्रत् होता है। दीर्घश्वास, चिन्तामग्न अधोमुख, निद्रा एवं शयनकी अभिलाषासे इस भावकी अभिव्यक्ति होती है"। पर कालान्तरमें इस भावकी आगे व्याख्या हुई और दशरूपककारने इसके विभावों और अनुभावोंको दूसरा रूप दिया। उनके अनुसार किसी मनोहारी अभिलाषा, सम्भोग या सम्भ्रमके कारण वांछित वस्तुकी प्राप्तिमें विलम्बको सहन करनेकी क्षमता न होनेसे औत्सुक्य होता है। उच्छ्वास, त्वरा (शीघ्रता), श्वास, हृदयमें ताप, स्वेदकण या भ्रम इसके अनुभाव हैं।

हिन्दीमें सामान्यतः विश्वनाथके आधारपर लक्षण दिया गया है—"जहाँ हितूके मिलन-हित चाह रहति हिय माँह" (जगत, ५२३)। देवके 'देस न काल सह्यौ परै' (भाव०। संचारी)में विश्वनाथके 'कालक्षेपासहिष्णुता' (सा० द०, ३ : १५९)का भाव यही है। पद्माकरकी नायिकाको प्रिय-प्रतीक्षा असह्य लगती है—"सजे विभूषन वसन सब, सुपिय मिलनकी हौस। सह्यो परत नहि कैस-हू, रह्यौ अधघरी द्यौस" (जगत, ५२५)। रसखानके प्रसिद्ध सवैया "मानुष हौं तो वही रसखान बसौं मिलि गोकुल गाँवके ग्वारन। जौ पशु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नन्दकी धेनु मझारन"मे यही व्यग्रता व्यक्त हुई है। अयोध्यासिंह उपाध्यायके 'प्रियप्रवास'में कृष्णके लिए गोप-गोपियोंकी उत्सुकताका चित्रण है—"वयवती युवती बहु बालिका सकल बालक वृद्ध वयस्क भी। विवशमे निकले निज गेहसे स्वदगके दुखमोचनके लिए"।

रामचन्द्र शुक्लने इसका वर्गीकरण सुखात्मक मनोभावोंमे किया है (र० मी०, पृ० २००), परन्तु यह वास्तवमे कहना कठिन है। निश्चय रतिके कारण औत्सुक्य होता है और वह आशाजनक भी, पर मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे इस अवस्थाके परिणाम सुखान्त और दुःखान्त दोनों ही हो सकते है। यह बात दूसरी है कि काव्यशास्त्रियोंने प्रायः उल्लासपूर्ण ही उसके उदाहरण दिये है। —ज० कि० ब०

औदार्य–दे० 'अयत्नज अलंकार', छठा प्रकार तथा 'सात्त्विक गुण', 'नायक'।

कंकालदंड–शरीरका मेरुदण्ड ही कंकालदण्ड है। 'श्री

सम्पुट तन्त्र'में कहा गया है कि "कंकालदण्डरूपोऽहि सुमेरुगिरिराट् तथा" अर्थात् यही कंकालदण्ड ही गिरिराज सुमेरु है। इसी कंकालदण्डरूप गिरिराजके कन्दर-कुहरसे नैरात्म्य धातु-जगत् उत्पन्न होता है। इस गिरिके कुहरमें अवस्थित पद्ममे यदि बोधिचित्त पतित हो जाय तो कालाग्निका प्रवेश होता है और सिद्धिमे बाधा पड़ती है (बौ० गा० दो०, पृ० १२७) क्योंकि सभी प्रकारकी सिद्धियोंके निधान बोधिचित्त (शुक्र, बिन्दु)के नीचेकी ओर पतित होने तथा स्कन्धविधानके मूर्च्छित हो जानेपर सिद्धि कहाँ मिल सकती है (शुक्रसिद्धि)? —रा० सि०

कंचुक–कंचुकका अर्थ है आवरण या वेष्टन। माया इन कंचुकोंमें लपेटकर ही शिवको जीव बना देती है। परम शिवमें जब सृष्टि करनेकी इच्छा होती है, तो उनसे दो तत्त्व उत्पन्न होते है—शिव और शक्ति। परम शिव निर्गुण और निरंजन है, शिव सगुण और सिसृक्षारूपी उपाधिसे युक्त। शक्ति शिवका धर्म है। समस्त सृष्टिका मूल कारण शक्ति ही है। जिस समय शक्ति जगत्‌की सृष्टिमे प्रवृत्त होती है, शिवके दो रूप प्रकट होते है—सदाशिव और ईश्वर। सदाशिव जगत्‌को 'अहं' रूपमें देखते है, अर्थात् 'जगत् मैं ही हूँ।' सदाशिवकी इस अहंवृत्तिको 'शुद्ध विद्या' कहते है। ईश्वर जगत्‌को अपनेसे भिन्न रूपमें देखते है, अर्थात् यह जगत् मुझसे भिन्न है। ईश्वरकी इस इदन्तवृत्तिका नाम माया (दे०) है। यही माया शिवको अपने कंचुकोमे लपेटकर उन्हे 'जीव' बना देती है। मायाके पाँच कंचुक है—काल, नियति, राग, विद्या और कला। कुछ लोग मायाको भी कंचुकोंमे गिनते है और इस प्रकार छः कंचुक मानते है। परन्तु इतना स्वीकार करते है कि माया अन्य पाँच कंचुकोंका मूल है (वुडरफ़ : गा० लै०, पृ० १४६)। यही माया 'आत्मा'के विभावों (अर्थात् शक्तियों)के सकोचनका मूल और कारण है, क्योंकि माया समस्त व्यक्तियों और वस्तुओंमें भेदबुद्धि उत्पन्न करती है। इसीलिए मायाको भेदबुद्धि भी कहते है। इस प्रकार कंचुक परम सत्ताकी शक्तियों और उसके स्वरूपको सीमित और संकुचित करते है।

काल नामक कंचुकसे आवेष्ठित होकर परब्रह्म या परशिवकी नित्यता परिच्छेद (सीमा)में बदल जाती है। परिणामस्वरूप जन्म और मृत्युका चक्र चल पड़ता है। नियति द्वारा ब्रह्मकी सर्वव्यापकता संकुचित होकर किसी नियत देशमें संकीर्ण और सीमित हो जाती है। नियति नामक कंचुकसे आवेष्ठित होनेके पूर्वतक ब्रह्म स्वतन्त्र रहता है, किन्तु इसके कंचुकित हो जानेपर कृत्याकृत्य सम्बन्धी एक नियत नियमसे नियमित हो जाता है (तत्त्वसंदोह, ५।१२)। पंचरात्र आगममें नियतिको 'सूक्ष्म सर्वनियामक' कहा गया है (अहिर्बुधन्य संहिता, ६।४६) और विद्या, राग तथा कला नामक तीन शैव-शाक्त कंचुकोंको इसीके अन्तर्गत माना गया है। जिसके द्वारा ब्रह्मकी नित्य परिपूर्ण तृप्ति परिमित होकर भोगोमें प्रवृत्त होती है, उसे रागतत्त्व कहते है (तत्त्वसन्दोह, ५।१०)। ब्रह्म पूर्ण है। लेकिन जब उसकी यह पूर्णता सीमित हो जाती है, उसमें द्वैत आ जाता है यह व्यक्ति और वस्तुके रूपमें द्विधा विभक्त हो जाता है, तो उसमें अपनेसे भिन्न वस्तुओंके प्रति रुचि उत्पन्न हो जाती है, वह उन्हे प्राप्त करने की इच्छा करने लगता है। इच्छा अपूर्णताकी सूचक है। जो वस्तु अपने पास नहीं है, उसे ही पानेकी इच्छा होती है और यही इच्छा वस्तुओं और व्यक्तियोंके प्रति राग उत्पन्न करती है। अतः राग ब्रह्मकी नित्य परिपूर्ण तृप्तिको संकुचित कर अपूर्ण तृप्तिमें बदल देता है। इसी प्रकार ब्रह्म सर्वज्ञ है। जब उसकी सर्वज्ञता संकुचित हो जाती है, वह 'किंचिज्ज' अर्थात् थोड़ा जाननेवाला हो जाता है। यह स्थिति नामक कंचुकसे वेष्टित होनेपर आती है (तत्त्वसन्दोह, ५।९)। इसी प्रकार ब्रह्म "कर्तुं अकर्तुं अन्यथा कर्तुं समर्थ" है। यही उसका सर्वकर्तृत्व है। कला नामक कंचुकसे कंचुकित होकर वह किंचित्कर्ता ही रह जाता है (तत्त्वसंदोह ५।८)। इस प्रकार कला ब्रह्मकी असीम शक्तिको सीमित करके सर्वकर्तृत्वके स्थानपर अल्पकर्तृत्व समर्थ बना देनेवाला कंचुक है। —रा० सि०

कंथा–जोगीके बारह भेषोंमें कंथाकी भी गणना की गयी है (चित्रा०, २०९ : १-४)। यह गेरुए रंगकी सुजनी या चोलना होती है, जो गलेमें डाल लेनेपर अंग ढँक लेती है। इसे गुदरी भी कहते है। सु० चं०, पृ० २४० के मतसे इसे फटे-पुराने चिथड़ोंको बटोरकर सी लेना चाहिए। —रा० सिं०

कंप–दे० 'सात्त्विक अनुभाव', पाँचवाँ।

कँहरऊ–कँहार जातिके लोग पानी भरने और पालकी ढोनेका काम प्रायः किया करते है। जब ये वर या दुलहिनकी पालकीको अपने कन्धोंपर उठाकर चलते है तब शृंगार रसके रसीले गीतोंको गाकर उन्हें गुदगुदाते चलते है। इन गीतोंको 'कँहरऊ' या 'कँहरवा' कहते है। कँहार लोग वैवाहिक उत्सवोंपर नाचते भी है। इस समय ये 'हुडुक' नामक बाजा बजाते है, जो एक हाथसे पीटकर बजाया जाता है। इन गीतोंमे समाजका व्यंग्य-चित्रण किया गया है। हास्यका पुट भी इनमें वर्तमान रहता है। बूढ़ा कँहार किस प्रकार घरके लिए भारभूत हो जाता है, इसका वर्णन अनेक गीतोंमें हुआ है। बाल-विवाहकी झाँकी भी इनमें उपलब्ध होती है। —कृ० दे० उ०

कजरी–सावनके मासमे जो लोकगीत गाये जाते हैं, उन्हे कजरी या कजली कहते है। इस शब्दकी व्युत्पत्ति श्रावण मासमें आकाशमें आच्छादित बादलोंकी कालिमासे हुई है, जो काजलके समान काले होते है। इसी काजलसे कजली या कजरी शब्द बना है। ग्रियर्सनने लिखा है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्रके मतानुसार मध्यभारतके परोपकारी राजा दादूरायकी मृत्युपर वहाँकी स्त्रियोंने अपने दुःखको प्रकट करनेके लिए कजरी नामक एक नये गीतकी तर्जका आविष्कार किया। इस महीनेकी शुक्ला तीजका नाम कजली तीज है, अतः इस कारण भी इस शब्दकी निष्पत्ति सम्भव है।

कजली गीतोंको सर्वप्रथम किसने लिखा, यह कहना कठिन है। परन्तु आजसे लगभग १००-१५० वर्ष पूर्व भोजपुरी सन्त कवियों, विशेषकर लक्ष्मी सखीकी रचनाओंमें कजलीके गीत उपलब्ध होते है। मीरजापुरकी कजली बड़ी प्रसिद्ध है। वहाँ इसके दंगल भी हुआ करते है, जहाँ

पुरुषोंके साथ स्त्रियाँ भी इसमें भाग लेती हैं। इसके विषयमें यह उक्ति प्रचलित है कि "लीला रामनगरकी भारी, कजली मिर्जापुर सरनाम"।

कजलीके गीतोंमें शृंगार रसकी मात्रा प्रचुर परिमाणमें पायी जाती है। सम्भोग तथा विप्रलम्भ शृंगारके उभय पक्षोंका चित्रण इनमें बड़ी सुन्दरतासे किया गया है। गवैये दो दलोंमें विभक्त होकर इन गीतोंको गाते हैं। एक प्रश्न करता है तो दूसरे दलका व्यक्ति उसका उत्तर देता है। यह क्रम कभी-कभी पूरी राततक चलता रहता है। कजलीकी लय बड़ी सुन्दर तथा मनमोहक होती है, जिसे सुनकर श्रोतागण मुग्ध हो जाते हैं। उदा०—'कइसे खेले जइबू सावनमें कजरिया, बदरिया घिरि आइल ननदी। तू त चललू अकेली, साथे संगी न सहेली, गुण्डा घेरि लीहे तोहरी डगरिया, बदरिया घिरि आइल ननदी"। —कृ० दे० उ०

कजरीवन—महाभारतमें ऋषिकेशसे बदरिकाश्रम तकके वन-प्रदेशको कदलीवन कहा गया है। उसके अनुसार इस कदलीदेशमें अश्वत्थामा, बलि, व्यास, हनुमान्, विभीषण, कृपाचार्य और परशुराम—ये सात अमर पुरुष सदा निवास करते हैं। हनुमानजीने भीमसेनको बताया था कि इसके आगे दुर्गम पर्वत है, जहाँ सिद्ध लोग ही जा सकते हैं (वनपर्व, अध्याय १४६, ७५-७९; ९२-९३)। सुधाकर द्विवेदीने भी लिखा है कि देहरादूनसे लेकर हृषीकेश, बदरिकाश्रम और उसके उत्तरमें स्थित हिमालयके प्रान्त कजरीवन कहे जाते हैं (सुधाकर चन्द्रिका, पृ० २५२-५३)।

मध्यकालीन साहित्यमें सिद्धोंके सम्बन्धमें कदलीदेश या कजरीवनका बार-बार उल्लेख मिलता है। मत्स्येन्द्रनाथके सम्बन्धमें अनेक ग्रन्थों, जनश्रुतियों एवं जनकथाओंमें इस बातका उल्लेख मिलता है कि वे इसी कदलीदेशमें पहुँचकर एक नये भोगप्रधान आचारमें फँस गये थे और उनके शिष्य गोरक्षनाथने उनका उद्धार किया था। लक्ष्य करनेकी बात है कि महाभारतमें प्राप्त उक्त उल्लेखमें भी सिद्धोंका स्पष्ट नाम लिया गया है। 'पद्मावत' (जोगीखण्ड, ५ तथा बसंत खण्ड ११)में क्रमशः 'कजरीबन' और 'कजरी आरन' (कदली अरण्य)का उल्लेख गोपीनाथ और भर्तृहरिके प्रसंगमें हुआ है और राहुल सांकृत्यायनकी 'वाज्रयानी सिद्धोंकी सूची'में दोनोंको सिद्ध कहा गया है। मत्स्येन्द्रनाथके उद्धार-के सम्बन्धमें बंगलामें दो पुस्तकें प्राप्त हुई हैं—'मीनचेतन' (श्यामादास)और 'गोरक्ष विजय'(फयजुल्ला)। इनमें बताया गया है कि मत्स्येन्द्रनाथने कौलमार्गकी साधना कदली-देशमें की थी। एक बार चारों दिशाओंमें तप करनेवाले चार बड़े सिद्धोंकी परीक्षा लेनेके लिए गौरीने भुवनमोहिनी रूप धारण करके उन्हें भोजन कराया। चारों सिद्ध उस रूपपर मुग्ध हुए। मीननाथ (मत्स्येन्द्रनाथ)ने मन-ही-मनमें सोचा कि अगर ऐसी सुन्दरी मिले तो आनन्दकेलिसे रात काटूँ। परिणामतः देवीने उन्हें शाप दिया कि तुम महाज्ञान भूलकर 'कदलीदेश'में सोलह सौ सुन्दरियोंके साथ काम-कौतुकमें रत होगे। एक व्यक्ति सोलह सौ सुन्दरियोंका भोग किसी स्त्रीप्रधान देशमें कर सकेगा। अतः कदलीदेश कोई स्त्रीप्रधान देश अवश्य होगा। 'योगिसंप्रदायाविष्कृति'में मत्स्येन्द्रकी उक्त साधनाभूमिको 'त्रियादेश' कहा गया है। स्वयं ग्रंथकारने इस त्रियादेशकी व्याख्या करते हुए उसे 'सिंहलद्वीप' कहा है। इस प्रकार कदलीवनको प्रायः सर्वत्र कजरीवन, सिंहलद्वीप और त्रियादेश आदि विभिन्न नामों—अर्थोंमें समझाया गया है और अनिवार्य रूपसे इनके स्त्रीप्रधान देश होनेका उल्लेख या संकेत सर्वत्र मिलता है।

इस सम्बन्धमें एक बात अवश्य लक्ष्य करने योग्य है कि पद्मावतमें जायसीने दो स्थलोंपर कजरीबन और कजरी-आरनका प्रयोग किया है और दोनों बार राजा गोपीचंद और भर्तृहरिके सम्बन्धमें। 'वर्णरत्नाकर'की 'नाथ सिद्धोंकी सूची'में ४५ वाँ नाम भर्तृहरिका है। गोपीचन्दका नाम इसमें नहीं है। राहुलजीकी 'वज्रयानी सिद्धोंकी सूची'में भर्तृहरि (सं० ८६) और गोपीचन्द्र (सं० ३४)दोनोंका उल्लेख है, अतः कदलीवनका सिद्धोंसे कोई गहरा सम्बन्ध है इसे जायसी भी स्वीकार करने लगते हैं। लेकिन वह कोई स्त्री देश है या भोग-विलासकी वहाँ कोई सुविधा है, ऐसा जायसी नहीं मानते। जिन प्रसंगोंमें उन्होंने कजरीवनका उल्लेख किया है, वे इस तरहकी धारणाके प्रतिकूल ही अधिक पड़ते हैं। रत्नसेन न तो गोपीचन्दकी भाँति विरक्त थे न भर्तृहरिकी भाँति छले गये थे। वे तो अपूर्व सुन्दरी पद्मावतीके लिए योगी बन रहे थे। साथही जा भी रहे थे, सिंहलद्वीप ही, जिसे 'योगिसम्प्रदायाविष्कृति'के लेखकने कदलीवनसे अभिन्न माना है। यहाँ यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि छठीं शताब्दी (सरह आदि)से नवीं शताब्दी (मत्स्येन्द्र आदि)तकके सिद्धोंमें मुद्रा और योगिनीके साथ रसकेलि और सहज महासुखके उपभोगको जितना मान मिल सकता था, दार्शनिक और व्यावहारिक दोनों रूपोंमें वे स्त्रीके साथ चलनेवाली साधनाओंको जितनी स्पष्टता, निर्द्वन्द्वता और उन्मुक्ततासे कर—कह सकते थे, सोलहवीं शताब्दीके जायसीको उतनी छूट नहीं मिल सकती थी। शायद अपने संस्कारोंवश वे इस बातको उतनी स्पष्टतासे कहनेको उचित भी न मानते हों, अतः वे जानबूझकर कजरीबनके स्त्रीदेश या स्त्री-साहचर्य-प्रधान साधनोंका देश बतानेकी बातको जानबूझकर छोड़ गये हों—वैसे ही जैसे तुलसीदास अहल्याके इन्द्रके साथ होने-वाले रति-प्रसंगको छोड़ गये हैं। क्योंकि व्यक्त रूपसे जायसी कजरीबनको स्त्रीदेश या स्त्री-साहचर्य-प्रधान साधनवाला देश भले न कहें और गोपीचन्द तथा भर्तृहरिका नाम लेकर उसे वैराग्य-भूमि प्रमाणित करना चाहें, पर प्रसंग इस ओर संकेत करता ही है कि रत्नसेन सिंहलगढ उसी तरह जा रहे हैं, जैसे कजरीबन (सिंहलद्वीप)में मत्स्येन्द्रनाथ गये थे।

[सहायक ग्रन्थ— नाथ सम्प्रदाय : हजारीप्रसाद द्विवेदी।] —रा० सिं०

क़ता—उर्दू कवितामें जब कुछ शेर ऐसे लिखे जाते हैं, जिनका विषय क्रम-सम्बद्ध हो और उनके पहलेके शेरके दोनों मिसरोंमें 'क़ाफ़िया' और 'रदीफ़' न हो तो उन्हें क़ता कहते हैं। क़तामें दो शेरसे लेकर एक सौ सत्तर शेरतक हो सकते हैं। —मसी०

कथनी–केवल कथन करना। सन्तोंकी साधना अनुष्ठानमूलक न होकर आचरणमूलक थी, अतः सन्तोंने बराबर 'कथनी' और 'करनी'के अभेदपर बल दिया है। जो लोग केवल कहते रहते है और धर्मके नियमोंको आचरणमे नहीं ढालते उनका निस्तार नही। वास्तवमें तो जो आचरण करते है, वे ही भवसागरके पार उतर सकते है। "कथनी थोथी जगतमे करनी उत्तम सार। कहै कबीर करनी भली जगतमें, करनी उत्तम सार। कहै कबीर करनी भली उतरै भौजल पार॥" (बीजक : कबीर)। —उ० शं० शा०

कथा–दे० 'कथाकाव्य'।

कथा आख्यायिका–दे० 'कथाकाव्य'।

कथाकाव्य–प्रारम्भिक वीरयुगमें प्रचलित गाथाचक्रोंसे ही विकसनशील वीरकाव्य (महाकाव्य), कथाकाव्य और इतिहास-पुराण इन तीनों काव्य-रूपोंका विकास हुआ। वे गाथाचक्र प्रधानतया तीन प्रकारके होते थे—१. वीरभावनाप्रधान, २. रोमांसिक तत्त्वोंसे युक्त प्रेमभावनाप्रधान और ३. लोक-विश्वासों और निजंधरी पात्रोंसे सम्बन्धित तथा धर्मभावनाप्रधान। इन तीनों प्रकारके गाथाचक्रोंसे ही क्रमशः वीरभावनासे युक्त विकसनशील महाकाव्य, रोमांसिक कथाकाव्य और प्राचीन इतिहास-पुराणका विकास हुआ। विकासोन्मुख सामन्तयुगमे समाजके वर्ग विभक्त हो जाने और अभिजातवर्गके उदयके बाद सामन्ती दरबारी वातावरणमें विशिष्ट कवियों द्वारा विकसनशील महाकाव्योंके अनुकरणपर अलंकृत महाकाव्यो और खण्ड-काव्योंकी और विकसनशील रोमांसिक कथाकाव्यों या गाथाचक्रोंके अनुकरणपर रोमांसिक कथा आख्यायिकाओं या प्रेमाख्यानोंकी रचना होने लगी। इस तरह प्रबन्धकाव्य (महाकाव्य और खण्डकाव्य) तथा कथाकाव्य ये दो भिन्न रूप हो गये।

प्रबन्धकाव्य और कथाकाव्यका यह भेद भारतवर्षमें ही नहीं, पाश्चात्य देशोंमें भी बहुत प्राचीन कालसे चला आ रहा है। यूनानमें चौथी शताब्दीमे इलियड ओडेसीके रोमांसिक तत्त्वों और साहसपूर्ण कार्योंके अनुकरणमें गद्यबद्ध रोमांसिक कथाओंकी रचना हुई और पुनर्जागरणयुगमें महाकाव्योंके पुनः उत्थानके पहलेतक सारे यूरोपमें इस काव्यरूपका बहुत प्रचार रहा। मध्ययुगके अन्तिम भागमे ये कथाएँ गद्यबद्ध और पद्यबद्ध दोनो प्रकारकी होती थीं। इन कथाओके चक्र बन गये थे, जैसे ट्राय सागा या नावेला और पद्यबद्ध रोमान्सको बैलेड, ले अथवा केवल्यू कहा जाता था। उत्तर मध्ययुगमें पद्यबद्ध कथाकाव्य बहुत ही लोकप्रिय काव्यरूप था। यही आगे चलकर वर्णनात्मक प्रबन्ध-काव्य या 'नेरेटिव पोइट्री'के रूपमें विकसित हुआ। गद्यबद्ध रोमान्सको आगे चलकर इटली और स्पेनमे नावेला और इंग्लैण्डमें नावेल कहा जाने लगा और वही आधुनिक उपन्यास या कहानीका आदि रूप था। मध्ययुगमे अभिजातवर्गीय रोमन क्लासिकल परम्पराके विरुद्ध रोमांसिक स्वच्छन्दताकी प्रवृत्तिने जो विद्रोह किया, उसके परिणामस्वरूप महाकाव्यके शास्त्रीय और गुरुगम्भीर काव्यरूपकी जगह सरल और रोमांसिक कथाकाव्यका बहुत प्रचार हुआ। सर्वप्रथम फ्रांसमे १२वीं शतीके उत्तरार्द्ध तथा १३वीं शतीके पूर्वार्द्धमें किंग आर्थर और उसके सामन्तोंके वीरतापूर्ण कार्यों तथा प्रेमको रोमांसिक कथाओंको पद्यबद्ध कथाकाव्य (ले)का रूप दिया गया (इनसाइक्लोपीडिया ऑव लिटरेचर : शिप्ले, पृ० २९८, ३०३)। इंग्लैण्डमें भी १३ वीं शताब्दीमें आर्थर-गाथा-चक्रसे सम्बन्धित अनेकानेक पद्यबद्ध कथाकाव्य लिखे गये। चौदहवीं शतीमें 'पियर प्लाउमैन', 'सर गाविन एण्ड द ग्रीन नाइट', 'द पर्ल', 'कनफेसिया एमैंटिस' आदि रोमांसिक तथा अन्य कई कथात्मक काव्य लिखे गये। उसी समय चॉसरने 'कैण्टरबरी टेल्स' तथा अन्य कई कथात्मक काव्य लिखे, जिनमें विविध प्रकारके चरित्रों और घटनाओंको लेकर वर्णनात्मक कथाएँ कही गयी हैं। इन सभी कथाकाव्योंमें काल्पनिकता, रोमांसिकता, उद्दाम साहस और सामन्ती प्रेम भावनाकी अधिकता दिखाई पड़ती है।

कथाकाव्यके विकासका यह क्रम बहुत-कुछ इसी रूपमें भारतवर्षमें दिखलाई पड़ता है। रामायण-महाभारतके अनुकरणपर, किन्तु अलंकृत शैलीमें, संस्कृतके महाकाव्योंकी परम्परा विकसित हुई और उन्हीं दोनों महाकाव्योंके रोमांसिक तत्त्वों और साहसिक कार्योंका अनुकरण करके 'बृहत्कथा'की तथा उसकी पशु-कथाओंके आधारपर 'पंचतन्त्र'की रचना हुई। इनमेंसे 'बृहत्कथा'के सम्बन्धमें तो अधिकांश विद्वान् एकमत है कि उसका मूल रूप भी पद्यबद्ध रहा होगा। उसके संस्कृत रूपान्तर तो पद्यबद्ध हैं ही। 'पंचतन्त्र' यद्यपि गद्यबद्ध है, किन्तु उसमें बीच-बीचमें छन्दोंकी संख्या भी कम नहीं है। भारतमें यूरोपकी तरह अभिजातवर्गीय शास्त्रीय परम्परा और संस्कृत भाषाके विरुद्ध नवोत्थित पण्यजीवी मध्यवर्गने विद्रोह किया, जिसके परिणामस्वरूप बौद्ध और जैन साहित्य तथा कलामें वणिक् वर्ग और सामान्य जनताके जीवन और भाषाके प्रति समादर दिखाई पड़ता है। 'जातकमाला', 'बृहत्कथा' तथा 'पंचतन्त्र'की कथाओंमें अभिजात-भावना और शास्त्रीय प्रवृत्तिका प्राधान्य नहीं है। उदाहरणार्थ, गुणाढ्यने 'बृहत्कथा'में राजाओं राजवंशोंका उतना वर्णन नहीं किया है, जितना वणिकों, समुद्रके व्यापारियो और कारीगरोंका। इसीसे कीथने 'बृहत्कथा'को मध्यवर्गका काव्य कहा है (ए हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर, पृ० २७१)। जैन साहित्यमें इस प्रकारकी मध्यवर्गीय कथावस्तु और पात्रोंपर आधारित बहुत-सी पद्यबद्ध रोमांसिक कथाएँ लिखी गयीं। इन काव्योंमें कुछ तो रोमांसिक महाकाव्यकी ऊँचाईतक पहुँच गये हैं और शेष रोमांसिक कथाकाव्य ही है। 'पंचतन्त्र', 'बृहत्कथा' और 'जातकमाला'की कथाओंकी लोकप्रियतासे प्रभावित होकर अभिजातवर्गीय संस्कृतकी शास्त्रीय परम्पराके कवियोंने भी इस काव्यरूपको ग्रहण किया, यद्यपि उन्होंने इसका माध्यम पद्यको नहीं, गद्यको बनाया। इस तरह संस्कृतमें गद्यबद्ध कथाकाव्य कथा-आख्यायिकाके नामसे प्रचलित हुआ।

संस्कृतके आलंकारिकोंने कथाकाव्य नामसे किसी अलग काव्यरूपका निर्धारण नहीं किया है। भारतीय साहित्य-परम्पराके अनुसार काव्य पद्यबद्ध, गद्यबद्ध और मिश्र, तीनों प्रकारका होता है और गद्य, पद्य दोनोंमें कथाप्रबन्ध

होते हैं। पद्यात्मक प्रबन्धको सर्गबन्ध काव्य (महाकाव्य और खण्डकाव्य) कहा गया है और गद्यात्मक प्रबन्धके दृश्य और श्रव्य या अभिनेय और पाठ्य, ये दो भेद मानकर पाठ्य गद्यात्मक प्रबन्धोंके फिर कथा-आख्यायिका, परिकथा, खण्डकथा, सकल कथाप्रबन्ध, प्रवह्लिका, मतल्लिका, मणिकुल्या आदि कई भेद किये गये हैं (हेमचन्द्र : 'काव्यानुशासन', अध्याय ८; अभिनव गुप्त : 'ध्वन्यालोक' टीका उद्योत ३, कारिका ७)। अतः व्यापक दृष्टिसे देखनेपर तो गद्यबद्ध और पद्यबद्ध सभी श्रव्य प्रबन्धोंको प्रबन्धकाव्य या कथाकाव्य कहा जा सकता है, किन्तु सीमित और विशेष अर्थमें पद्यात्मक श्रव्यप्रबन्धोंको प्रबन्धकाव्य और गद्यात्मक श्रव्य प्रबन्धों(कथा, आख्यायिका, परिकथा आदि)को कथासाहित्य कहा जा सकता था। रुद्रटने तो प्रबन्धके स्पष्ट दो भेद कर दिये हैं, काव्य और कथा-आख्यायिका आदि (सन्ति द्विधा प्रबन्धा काव्यकथाख्यायिकादयः); और कहा है कि कन्या-लाभफलवाली तथा सकल शृंगारसे युक्त कथाएँ संस्कृतमें गद्यमें तथा अन्य भाषाओंमें (प्राकृत, अपभ्रंश आदिमें) पद्यमें लिखी जानी चाहिये। हेमचन्द्रके अनुसार धीरशान्त नायकसे युक्त कोई भी प्रबन्ध, चाहे वह गद्यमें हो या पद्यमें, कथा कहा जायगा (काव्यानुशासन, आठवाँ अध्याय)। इससे यह स्पष्ट है कि कुछ प्राचीन आचार्योंने कथाकाव्यको श्रव्य प्रबन्धकाव्यके एक अंगके रूपमें तथा प्रबन्धकाव्य (महाकाव्य या खण्डकाव्य)से भिन्न श्रेणीका काव्यरूप माना था। अभिनव गुप्तने महाकाव्य और खण्डकाव्यको सर्गबन्ध तथा गद्यप्रबन्धको कथा, आख्यायिका आदि कहा है और दोनोंके रसात्मक और इतिवृत्तात्मक, दो भेद किये हैं (अभिनव गुप्त ध्वन्यालोककी टीका, उद्योत ३, कारिका ७)। इस दृष्टिसे श्रव्य प्रबन्ध कुल चार प्रकारके होंगे—(१) रसात्मक और सर्गबन्ध पद्यप्रबन्ध, (२) रसात्मक गद्यप्रबन्ध कथा, आख्यायिका, (३) इतिवृत्तात्मक सर्गबन्ध प्रबन्ध, (४) इतिवृत्तात्मक गद्यप्रबन्ध। किन्तु यह विभाजन भी पूर्णतः वैज्ञानिक नहीं है, क्योंकि इसमें सर्गबन्ध प्रबन्ध और कथा-आख्यायिकाका मौलिक अन्तर स्पष्ट नहीं किया गया है और न यही बताया गया है कि सर्गबन्ध-रूपमें भी कथा-आख्यायिका लिखी जा सकती है या नहीं।

प्रबन्धकाव्य (महाकाव्य, खण्डकाव्य) और कथा-आख्यायिकाका जो अन्तर रुद्रटने बताया है, वह अवश्य सत्यके अधिक निकट है, परन्तु पूर्ण वैज्ञानिक वह भी नहीं है। यदि कथा-आख्यायिकाको ही कथाकाव्य माना जाय तो रुद्रटके अनुसार कथाकाव्य वह काव्यरूप है, जो संस्कृतमें गद्यमें और अन्य भाषाओंमें पद्यमें भी लिखा जाता है ओर जिसमें कन्याहरण, संग्राम, विप्रलम्भ शृंगार, नायकका अभ्युदय आदिसे समन्वित सरस, रोमांसिक कथानक होता है तथा जिसके आदिके मंगलाचरण, गुरुवन्दना, कवि और उसके वंशका परिचय तथा कथान्तर आदिकी योजना होती है। अतः अभिनवगुप्त और रुद्रटके काव्य-भेदोंको एक साथ रखकर देखनेपर प्रबन्धात्मक रचनाओंके तीन भेद किये जा सकते हैं—१. रसात्मक प्रबन्धकाव्य (महाकाव्य, खण्डकाव्य), २. रसात्मक कथाकाव्य (गद्य या पद्यमें लिखी आख्यायिका), ३. अनलंकृत या इतिवृत्तात्मक कथासाहित्य (गद्य या पद्यमे लिखी परिकथा, खण्डकथा, सकलकथा, धर्मकथा-प्रबन्ध और आधुनिक उपन्यास, कहानी आदि)। उदाहरणार्थ, 'कुमारसम्भव', अपभ्रंशके 'भविसयत्तकहा', 'पउमसिरीचरिउ' आदि रसात्मक प्रबन्धकाव्य हैं; 'कादम्बरी', 'दशकुमार-चरित', प्राकृतकी 'लीलाबाइकहा' आदि कथाकाव्य हैं और 'हितोपदेश', 'कुवलयमाला', 'कथासरित्सागर', 'मलयसुन्दरी कथा', 'प्रबन्धचिन्तामणि','भोजप्रबन्ध', 'वैताल पचीसी' आदि केवल कथा या कथासाहित्यके भीतर आते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्लने भी ऐसे इतिवृत्तात्मक प्रबन्धोंको केवल कथा कहा है और उसे काव्यसे भिन्न माना है (जा० ग्र०, भूमिका, पृष्ठ ७०), किन्तु उन्होंने रसात्मक प्रबन्धोंके इन दो भिन्न रूपों—प्रबन्धकाव्य और कथाकाव्यके भेदकी ओर ध्यान नहीं दिया है।

इस प्रकार कथाकाव्य वह श्रव्य प्रबन्ध है, जो एक ओर गम्भीरता, महत् उद्देश्य और महच्चरित्रके अभावमें प्रबन्धकाव्योंसे भिन्न हो गया है, दूसरी ओर रसात्मक और अलंकृत होनेके कारण इतिवृत्तात्मक कथाओंसे भी अपनी अलग सत्ता रखता है। कथाकाव्यके विशिष्ट लक्षण, जो उसे अन्य काव्यरूपोंसे भिन्न करते हैं, ये हैं—१. उनका कोई महान् उद्देश्य नहीं होता, मनोरंजन ही उनका प्रधान लक्ष्य होता है। इस कारण उनमें महानता, गुरुत्व और गाम्भीर्य भी महाकाव्यों जैसा नहीं होता। उसी तरह उनके चरित्र भी महान् या आदर्श (धीरोदात्त) न होकर प्रायः धीरललित या धीरशान्त होते हैं। २. उनका कथानक जीवन्त, प्रवाहमय और आकर्षक अवश्य होता है, किन्तु वह यथार्थ जीवनपर आधारित नहीं होता और न उसमें नाटकीय सन्धियोंसे युक्त अन्विति और सुसम्बद्धता ही होती है। इससे वह प्रायः स्फीत, विशृंखल और जटिल (काम्प्लेक्स) होता है। कथाके भीतर कथा करनेकी प्रवृत्ति होनेसे उसमें अवान्तर कथाओंकी भरमार होती है। ३. उसमें काल्पनिक कथाका चमत्कार बहुत अधिक होता है, क्योंकि उसमें असम्भव और अविश्वसनीय बातों, आश्चर्यजनक कार्यों और अप्राकृत या अमानवीय शक्तियोंकी भरमार होती है। फलतः उसमें रोमांसिकता और अतिशय भावुकता विशेष रूपसे पायी जाती है, साथ ही उसमें युद्ध, प्रेम, भयंकर यात्रा, अनहोने कार्यों आदिका अतिशयोक्तिपूर्ण चित्रण होता है। ४. उपर्युक्त-प्रवृत्तियोंके कारण कथाकाव्य लोकतत्त्वों और कथानक-रूढ़ियोंसे भरा होता है। ५. कथाकाव्योंके नायकोंका वीर-रूप उनके प्रेमी-रूपसे दबा रहता है। उनकी वीरता या तो नायिकाकी प्राप्तिके लिए होती है या चमत्कारप्रदर्शनके लिए, उसका उपयोग देश या जातिकी रक्षा जैसे महत् उद्देश्यके लिए नहीं होता। यह प्रेम भी अतिशय भावुकतापूर्ण सामाजिक दायित्वसे रहित, एकान्तिक और प्रायः स्थूल शारीरिक होता है। सूफी कथाकाव्योंका प्रेम भी यथार्थ नहीं, आदर्शात्मक (प्लेटोनिक) या प्रतीकात्मक होता है। ६. उसमें रसात्मकता, भावव्यंजना और अलंकृति तो होती है, किन्तु विचारों और भावोंकी गम्भीरता, उद्देश्यकी महत्ता, बौद्धिक ऊँचाई और भावभूमिकी व्यापकता नहीं

होती। (दे०—'चरितकाव्य')'। —शं० ना० सिं०

कथा, कथासाहित्य–कथ् धातुसे व्युत्पन्न **कथा** शब्दका साधारण अर्थ है 'वह जो कहा जावे।' कहनेमें कहनेवालेके अतिरिक्त सुननेवालेकी स्थिति अन्तर्भुक्त है, क्योंकि सुननेवालेके बिना एक क्षणको हम 'बोलने'की कल्पना तो कर सकते है, 'कहने'की नहीं। परन्तु वह सभी कुछ, जो कहा जाय, 'कथा' नही कहलाता। कथाका विशिष्ट अर्थ हो गया है किसी ऐसी कथित घटनाका कहना, वर्णन करना, जिसका निश्चित परिणाम हो। घटनाके वर्णनमें भी कालानुक्रम आवश्यक है, जैसे सोमवारके बाद मंगल, यौवनके बाद वृद्धावस्था, प्राणान्तके बाद क्षय आदि। घटना किसीसे भी सम्बन्धित हो सकती है—मनुष्य, अन्य जीवधारी, पशु-पक्षी आदि तथा जगत्के नाना पदार्थ, जिनका अनुभव किया जा चुका है या जो कल्पित किये जा सकते है। जिस किसीसे सम्बन्धित घटना हो, उसकी किसी विशेष परिस्थिति या परिस्थितियोका निश्चित आदि और अन्तमे युक्त वर्णन ही **कथा** कहलाता है।

कथाएँ अनेक प्रकारकी होती हैं, परन्तु उन्हें दो प्रधान वर्गोंमें बाँटा जा सकता है—(१) इतिहास-पुराणकी कथाएँ और (२) कल्पित कथाएँ। ऐतिहासिक कथाओंके आधारपर निर्मित **महाकाव्य, खण्डकाव्य, नाटक** आदिको साधारणतया कथासाहित्य या कथाकाव्य नहीं कहते। यद्यपि उपन्यास और कथा-कहानियोका एक वर्ग ऐतिहासिक भी माना जा सकता है, किन्तु ऐतिहासिक कथा, उपन्यास या कहानीमें प्रयुक्त होनेपर अनिवार्यतः कल्पनामिश्रित हो जाती है। कल्पनाप्रसूत या प्रधान रूपसे कल्पनाप्रसूत कथाएँ ही कथासाहित्यका आधार बनती है। यों तो साहित्य और काव्य समानार्थी शब्द हैं और काव्यका पद्यबद्ध होना अनिवार्य नहीं है (दे० 'काव्य', 'साहित्य'), परन्तु साधारणतया पद्यबद्ध कथाओंको कथाकाव्य और गद्यमे रचित कथाओंको कथासाहित्य—**उपन्यास, उपन्यासिका, कहानी** आदि कहते है। आधुनिक साहित्यमें **कथासाहित्य** शब्दका प्रयोग अंग्रेजीके **फिक्शन**के अर्थमें होता है। विशेष विवरणके लिए दे० 'कथाकाव्य', 'उपन्यास', 'कहानी'।

कथानक–**कथा**से व्युत्पन्न (दे० 'कथा')। 'कथानक'का शाब्दिक अर्थ होगा कथाका छोटा रूप या सारांश। अपने विशिष्ट अर्थमें इससे अभिप्राय है साहित्यके कथात्मक रूपों—लोकगाथा, महाकाव्य, खण्डकाव्य, नाटक, उपन्यास कहानी आदिका वह तत्त्व, जो उनमे वर्णित, कालक्रमसे शृंखलित घटनाओंकी रीढकी हड्डीकी तरह दृढता देकर गति देता है और जिसके चारों ओर घटनाएँ बेलकी भाँति उगती, बढ़ती और फैलती हैं। सीधे तौरपर कह सकते है कि कथानकका अर्थ है कार्य-व्यापारकी योजना। कथा या कहानी भी साधारणतः कार्य-व्यापारकी योजना ही होती है, परन्तु कैसी भी कोई कथा, कथानक नहीं कही जा सकती। ई० एम० फार्स्टरने कथा और कथानकका अन्तर बताते हुए कहा है कि "कथा है घटनाओंका कालानुक्रमिक वर्णन—कलेवाके बाद ब्यालू, सोमवारके बाद मंगलवार, मृत्युके बाद नाश आदि' जब कि कथानक भी घटनाओंका वर्णन होता है, परन्तु उसमे कार्य-कारण-सम्बन्धपर विशेष बल दिया जाता है। 'राजा मर गया और बादमें रानी मर गयी' कहानी है। 'राजा मर गया और फिर उसके वियोगमें रानी मर गयी' कथानक है। कालानुक्रम यथावत् है, परन्तु कार्य-कारणकी भावनाने उसे अभिभूत कर लिया है। कथानकने समयकी गति घटनावलीको खोलती जाती है और साथ ही यह भी प्रमाणित होता जाता है कि विश्वका सघटन युक्तियुक्त है, उसमें कार्य-कारणका अन्तःसम्बन्ध है तथा वह बुद्धिगम्य है।

परन्तु युक्तियुक्तता और बुद्धिगम्यताका तात्पर्य प्राकृतवाद नहीं है। कथानककी घटनाएँ यथार्थ घटनाओंकी ठीक प्रतिकृति नहीं होतीं, उनकी संयोजना कलाके स्वनिर्मित विधानके अनुसार होती है। कथानक देव-दानव, अति प्राकृत और अप्राकृत घटनाओंसे भी निर्मित होते हैं, शर्त केवल यह है कि उनका निर्माण परम्परा द्वारा स्वीकृत विधानके अनुसार हो। कथामें विश्वसनीयता ही सबकी कसौटी है। उस सत्य घटनासे, जिसकी सम्भावनाका विश्वास नहीं जमाया जा सका, वह असम्भव या असत्य घटना कहीं अधिक उपयोगी है, जिसे विश्वसनीय बनाकर कहा गया है। कथानकमे विश्वास जमानेका गुण होना चाहिये, कथाकार एक सिद्ध मिथ्यावादी होता है।

कथानक अंग्रेजीके **प्लाट** शब्दका पर्याय हो गया है। प्लाटका एक अर्थ कपट-योजना या षड्यन्त्र भी है। इस अर्थकी छाया कथानकके परिवर्तनशील रूपमें पायी जाती है। कथानककी गतिशील घटनाएँ सीधी रेखामें नहीं चलतीं। उनमे उतार-चढ़ाव आते हैं। भाग्य बदलता है, परिस्थितियाँ मनुष्यको कुछसे कुछ बना देती हैं, अपने संगी-साथियोंके साथ अथवा बाह्य शक्तियों—अपने वातावरणके विरुद्ध उसे प्रायः संघर्ष करना पड़ता है। कथानकमें जीवनके इसी गतिमान्, संघर्षशील रूपकी अवतारणा की जाती है।

कथानक कलाका एक साधन है, अतः जीवनकी प्रत्ययजनक यथार्थताके साथ उसमें आकस्मिकताका तत्त्व भी आवश्यक है। इसीके द्वारा उसमें भावोत्तेजना आती है। टामस हार्डीके शब्दोंमें, "सार्वकालिक और विश्वजनीनके साथ असाधारणके सामंजस्य"में, ही कथा और नाटकके संघटनका रहस्य छिपा है। किसी उपन्यास या नाटककी कथाकी यदि यह प्रतिक्रिया हो कि वह कितनी सच्ची है और फिर भी कितनी आश्चर्यजनक, तभी उसकी सफलता है।

कथानकके **विन्यास** अर्थात् रूप-रचनाके विषयमें भी विचार किया गया है। अरस्तूके अनुसार कथानकमें **कार्य-व्यापारकी एकता**, स्वयं अपनेमें परिपूर्णता, आरम्भ, मध्य और अन्तका होना आवश्यक है बात बहुत साधारण-सी है, परन्तु जीवनकी सम्बद्ध घटनाओंकी अनन्त शृंखलामेंसे किसी ऐसे कार्य-व्यापारका, जिसका निश्चित प्रारम्भ दिखाया जा सके अर्थात् जिसके पूर्व कोई ऐसी घटना न हो, जिसका वर्णन करना आवश्यक हो, जिसके मध्यकी घटनाएँ पूर्व और पश्चात्की घटनाओंसे सम्बद्ध हो तथा जिसका निश्चित अन्त हो अर्थात् जिसके बाद कुछ भी वर्णनीय न रहे—संक्षेपमे ऐसे कार्य-व्यापारको, जो स्वतः पूर्ण हो,

पृथक् कर सकनेका प्रश्न कथाकारके सम्मुख एक प्रमुख समस्या बनकर आता है। परन्तु **कार्य-संकलन** या **कार्य-व्यापार**की संकलनाका आशय यह नहीं है कि कथानकमें सरल कार्य-व्यापारका ही वर्णन हो। जटिल कार्य-व्यापार भी हो सकता है। कथानकके भीतर **उपकथानक** भी आ सकते हैं, परन्तु कथानकके सभी अंग उसकी केन्द्रीय योजनाके सहायक होकर ही आते हैं, उसमे प्रयुक्त प्रत्येक वाक्य, प्रत्येक शब्द कथाको अग्रसर करनेमे सहायक होना चाहिये। कथानकके **कार्य-संकलन**का रूप भिन्न-भिन्न साहित्यिक माध्यमोमे थोडा-बहुत बदल जाता है। उदाहरणके लिए, **लोकगाथा** (बैलेड)का कथानक महाकाव्यके विस्तीर्ण प्रसारवाले कथानककी अपेक्षा अधिक कसा हुआ होता है, नाटकमे **कार्य-व्यापार**को दर्शकोंके समक्ष प्रदर्शित करना पडता है जब कि उपन्यासके कथानककी योजना आन्तरिक कार्य-व्यापारपर अधिक निर्भर होती है, साथ ही उपन्यासका कथानक नाटककी अपेक्षा देश और कालके विस्तारमें अधिक स्वतन्त्रतापूर्वक फैलाया जा सकता है।

कथामें कथानकके साथ **चरित्र** भी होते है। प्रश्न होता है कि कथात्मक कलाकृतिमें कथानक पहले आता है या **चरित्र**? परन्तु यह ऐसी समस्या है, जिसका समाधान मुर्गी और अण्डेकी पुरानी पहेलीके समान असम्भव है। जहाँतक आदर्शका सम्बन्ध है, कथानक और चरित्र परस्पर इस प्रकार गुँथे हुए होने चाहिये कि उन्हें अलग-अलग किया ही न जा सके, कथानक चरित्रसे निकलता हुआ दिखाई दे तथा चरित्र कार्य-व्यापारके द्वारा निर्मित जान पड़े। परन्तु व्यवहारमें सभी कथाकार ऐसा नहीं कर पाते, कथानक और चरित्रकी योजनामे उनकी कल्पना एक साथ क्रियाशील नही हो पाती। कभी कथानकके कठोर बन्धनमें जकड़कर चरित्र कुरूप बना दिये जाते हैं और कभी चरित्रोंके दृढ़ स्वभाव और स्वच्छन्द प्रकृति द्वारा कथानककी सीमाएँ टूट जाती हैं। प्राचीनोंने चरित्रकी अपेक्षा कथानकको प्राथमिकता दी थी। अरस्तूने कथानकको ही दुःखान्त नाटककी प्रथम आवश्यकता, उसका प्राण और उसकी आत्मा बताया था। परन्तु आधुनिक कालमें मनोविज्ञानके आधारपर चरित्रको प्रमुखता दी गयी है। फिर भी अरस्तूका यह कथन कि कथामें घटनाओंका प्रवाह अर्थात् कार्य-व्यापारकी गतिशीलता आवश्यक है, आज भी न्यूनाधिक रूपमें सभी कथात्मक कृतियोंपर लागू होता है। कथानककी रचनाके सम्बन्धमे कथाकारोंको इस वस्तुस्थितिका बराबर सामना करना पड़ता है कि कथानकमें मौलिकता और विचित्रता कैसे पैदा की जाय। जीवनमे विविधता अवश्य है और उसमें नाना प्रकारके सम्बन्ध दिखाई देते है, परन्तु उस विविधतामें मूलतः ऐसी समानता निहित है कि जगत्के सम्बन्ध अन्ततोगत्वा कुछ एक गिने-चुने नमूनोंके रूपोंमें ही बँधकर रह जाते हैं। इसीलिए अनेक लेखकोंने घटनाओंकी विविधता और सम्बन्धोंकी अनेकरूपतापर आधारित कथानकोंकी गिननीतक कर डाली है।

कथानक-रचनाकी इस कठिनाईके अनुभवकी दो भिन्न प्रतिक्रियाएँ देखनेमें आती हैं। एक ओर तो वे व्यावसायिक लेखक है, जो सामयिक पत्र-पत्रिकाओं या सस्ते बाजारू प्रकाशनोके लिए लिखते है। कथानकके बने-बनाये ढाँचे उनके लिए तैयार है, प्रेमी और प्रेमिकाका संयोग-मिलन, आकस्मिक वियोग और पुनर्मिलन, किसी वीर पुरुषका शत्रुओके घेरेसे साहसपूर्वक निकल आना, आदि-आदि। कथानकोंके इन्ही चौखटोंमे चरित्रोंको बिठाकर नयी-नयी कथाओंकी रचना करना बहुत सरल हो गया है। प्रतिमास प्रकाशित होनेवाला ढेरों कथासाहित्य कथाकारोंकी इस सुविधाका प्रमाण है, परन्तु दूसरी ओर कथानककी बँधी-बँधाई परिपाटीके विरुद्ध मौलिक प्रतिभाशाली लेखकोंमें यह प्रतिक्रिया हुई है कि उन्होने कथानकको कृत्रिम बन्धन मानकर उसका यथासाध्य पूर्ण बहिष्कार करनेका निश्चय कर लिया है। विश्वविख्यात लेखकोकी ऐसी कृतियाँ है, जिनमे कथानक अत्यन्त क्षीण है, उसका कोई निश्चित ढाँचा खडा नही हो सकता। आधुनिक कालमे कविता नाटक, रगमंच, चित्रपट, संगीत, चित्रकला, सभी क्षेत्रोंमें 'शुद्धता'का जो आन्दोलन चला है, उसी क्रममें आन्द्रे जीद जैसे लेखक, उपन्यासको भी उन समस्त तत्त्वोंसे मुक्त करना चाहते है, जो विशिष्ट रूपमें उपन्यासके लिए अनिवार्य नही है। उनकी दृष्टिमे घटनाओं, संयोग और दुर्घटनाओं आदिके लिए उपयुक्त स्थान सिनेमा है, उपन्यास नही। कुछ लेखक कथानकके ढाँचेमे प्रस्तुत किये हुए जीवनको अयथार्थ और कृत्रिम कहते है। वर्जीनिया वुल्फने उपन्यासोंकी परम्पराभुक्त रूपरेखाका उल्लेख करते हुए बड़े सन्देहके स्वरमें प्रश्न किया है कि "क्या जीवन ऐसा ही होता है? क्या उपन्यास इसी प्रकारके होने चाहिये?"

साहित्यमें कथानकके विरुद्ध विद्रोहकी भावना वस्तुतः उस सामान्य विद्रोहकी भावनाका एक अंशमात्र है, जो अन्य कलाओंके क्षेत्रोंमें भी अबतक सार्थक समझे जानेवाले स्वीकृत रूपमात्रके प्रति जागरित हुई है। इसके लिए साहित्यिक 'शुद्धतावाद', आत्मलीनता, अतियथार्थवाद आदि विभिन्न आधुनिक प्रवृत्तियाँ उत्तरदायी है, जिनके कारण लेखक एक ऐसे निजी संसारकी रचना कर लेता है, जिसमें किस सीमा तक प्रवेश मिल सकेगा, यह लेखककी इच्छापर ही निर्भर है। कला और साहित्यमे प्रेषणीयताके गुणका अभाव इसका अनिवार्य परिणाम है। कला और साहित्यके इन साहसपूर्ण नवीन प्रयोगोंकी सराहना करते हुए भी प्रश्न उठता है कि क्या प्रेषणीयताको दुर्बल कर देनेसे कलाका हितसाधन सम्भव है? परम्परावादी, युक्ति और न्यायवादी तथा **मार्क्सवादी-भौतिकवादी** अपने-अपने दृष्टिकोणसे इसका विरोध करते है। अनेक लेखकोंका अब भी विश्वास है कि कलामें जीवनसे नित्य नवीन सामग्री प्राप्त करते रहनेकी शक्ति विद्यमान है तथा उसे सार्थक 'रूप'मे रूपायित किया जा सकता है। जीवनमें अपार विविधता है और उसकी परिवर्तनशीलता उसमें नित्य नया रंग भरती रहती है, अतः समरूप तत्त्वोके नये-नये समवाय रचकर कथानकके प्रयोग द्वारा कथाकृतियोंको संघटन और योजना प्रदान करना असम्भव नही है। वास्तवमें कथानकके भविष्यपर ही बहुत-कुछ नाटक, उपन्यास, कहानी आदि कथात्मक साहित्यका भावी

रूप निर्भर है (दे० 'उपन्यास', 'कथावस्तु', 'कहानी', 'नाटक')। —सं०

कथानक रूढ़ि–सामान्यतया रूढ़ि और अभिप्रायका प्रयोग एक-दूसरेके पर्यायके रूपमे किया जाता है। अभिप्राय—जिसे अंग्रेजीमें 'मोटिफ' कहते हैं, उस शब्द अथवा एक साँचेमे ढले हुए उस विचारको कहते हैं, जो समान परिस्थितियोंमे अथवा समान मनःस्थिति और प्रभाव उत्पन्न करनेके लिए किसी एक कृति अथवा एक ही जातिकी विभिन्न कृतियोंमें बार-बार आता है। विभिन्न कलारूपोंके अपने अलग-अलग अभिप्राय भी होते हैं। चित्रकलामें अभिप्रायका अर्थ होता है, "कोई चल या अचल, सजीव या निर्जीव, प्राकृतिक अथवा काल्पनिक वस्तु, जिसकी अलंकृत एवं अतिरंजित आकृति मुख्यतः सजावटके लिए किसी कलाकृतिमें बनायी जाय"। प्रत्येक देशके साहित्यमे भी अनुकरण तथा अत्यधिक प्रयोगके कारण कुछ साहित्य सम्बन्धी रूढ़ियाँ बन जाती हैं और यान्त्रिक ढंगसे उनका प्रयोग साहित्यमे होने लगता है: इन सभी रूढ़ियोंको साहित्यिक अभिप्राय कहते हैं।

भारतीय साहित्यमें परकायप्रवेश, लिंगपरिवर्तन, पशु-पक्षियोंकी बातचीत, किसी बाह्य वस्तुमे प्राणोंका बसना आदि कितने ही अभिप्राय हैं। ये सभी कथानक रूढ़ियाँ प्रधानतया दो प्रकार की हैं। एक लोक-विश्वासपर आधारित, दूसरी कवि-कल्पित। हिन्दी साहित्यमे सबसे पहले हजारीप्रसाद द्विवेदीने 'हिन्दी साहित्यका आदि-काल'में इन साहित्यिक अभिप्रायोंकी ओर ध्यान आकर्षित किया। —सं०

कथावस्तु, वस्तु (कथात्मक साहित्य)–काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी आदिके उस भागको कथावस्तु कहते हैं, जिसमें मूल कथाभाग या इतिवृत्तके साथ सम्बद्ध वे समस्त घटनाएँ भी आ जाती हैं, जिनसे मिलकर कथात्मक साहित्य-विशेषकी विषयवस्तु बनती है। अनेक नाटको या उपन्यासोमे एकसे अधिक कथा-धाराएँ होती हैं और उनके अलग-अलग नायक होते हैं। कभी-कभी उनकी फलप्राप्ति भिन्न-भिन्न होती है और कभी-कभी वे सब कथा-धाराएँ अन्तमें एक ही फलागमको प्राप्त होती हैं। कथाओंकी ये समस्त धाराएँ और उनकी श्रृंखलाएँ, घटनाओंको पुष्ट करने-वाले प्रमाण-पत्र, समाचार, दस्तावेज आदि मिलकर कथा-वस्तु कहलाते हैं। इस प्रकार कथानक अर्थका द्योतक है, यद्यपि दोनो शब्दोंका प्रयोग बहुधा समानार्थी रूपमे होता है (दे० 'कथानक', 'उपन्यास')।

कथावस्तु–रूपकोंके भेदक तत्त्व तीन हैं—वस्तु, नेता और रस—"वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः"। इन तत्त्वोंकी भिन्नताके कारण रूपकोंमें परस्पर भिन्नता पायी जाती है। वस्तु या कथावस्तु **रूपकों**का पहला भेदक तत्त्व है।

इतिवृत्त, अधिकारी, अभिनय और **कथोपकथन**-की दृष्टिसे वस्तुके कई भेद किये जाते हैं। इतिवृत्तकी दृष्टिसे वस्तुके तीन भेद किये जाते हैं—**प्रख्यात, उत्पाद्य** और **मिश्र** (दे०)। **प्रख्यात** वृत्त इतिहास-पुराणादिसे ग्रहण किया जाता है, जैसे 'प्रसाद'के 'चन्द्रगुप्त'का वृत्त ऐति-हासिक प्रख्यात वृत्त है और 'जनमेजयका नागयज्ञ' पौरा-णिक इतिवृत्त। इतिहास-पुराणसे इतिवृत्त ग्रहण करके भी नाटककार उसपर अपनी कल्पनाकी कूँची फेरता है, पर ऐसा करनेमें इस बातका ध्यान अवश्य रखा जाता है कि कल्पनाके समावेशसे वृत्तकी ऐतिहासिकता या पौराणिकता-मे किसी तरहका विकार न उत्पन्न हो। **उत्पाद्य** इति-वृत्त लेखककी कल्पना द्वारा प्रसूत होता है। लक्ष्मीनारायण मिश्रके समस्या-नाटक इसी कोटिमें आते हैं। **मिश्रवस्तुके** वृत्तकी पृष्ठभूमि तो प्रख्यात होती है, पर अनेक कथाएँ कल्पनाप्रसूत भी होती हैं।

अधिकारी या **नायकके** सम्बन्धसे वस्तुके दो भेद होते हैं—**आधिकारिक** और **प्रासंगिक**। रूपककी **मूल-कथावस्तु** आधिकारिक कही जाती है, क्योंकि इसका सीधा सम्बन्ध अधिकारी या फलभोक्तासे होता है। इसके अति-रिक्त कुछ ऐसी गौण कथाएँ भी होती हैं, जो प्रसंगानुकूल आधिकारिक कथावस्तुकी सहायता किया करती हैं। ये कथाएँ **प्रासंगिक** कही जाती हैं। **प्रासंगिक** कथाके पुनः दो भेद होते हैं—**पताका** और **प्रकरी**। सानुबन्ध या दूरतक चलनेवाली कथाको **पताका** तथा थोड़े कालतक चलकर समाप्त हो जानेवाली कथाको **प्रकरी** कहते हैं। **रूपकों**में चमत्कार लानेके लिए **पताका-स्थानक**की भी योजनाकी जाती है (दे० 'पताका-स्थानक')।

रूपकका मुख्य प्रयोजन **फल**में निहित है। यह 'फल' ही कथाका कार्य है। रूपककी सम्पूर्ण रचनामें कार्यका फैलाव होता है। यह कार्य कई **अवस्थाओं**में दृष्टिगोचर होता है। इन्हे **कार्यावस्था**के नामसे अभिहित किया जाता है। ये कार्यावस्थाएँ संख्यामें पाँच हैं—**आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति** और **फलागम**। फल-लाभकी उत्सुकता **आरम्भ** कहलाती है। फलप्राप्तिके लिए अत्यन्त शीघ्रतापूर्ण जो व्यापार किये जाते हैं, वे **यत्न** हैं। **प्राप्त्याशा**-मे प्राप्तिकी आशा तो होती है, पर वह उपाय और विघ्नोंसे घिरी रहती है। फलप्राप्तिकी निश्चयात्मक अवस्थाका नाम **नियताप्ति** है। जब सम्पूर्ण फल प्राप्त हो जाता है तब **फलागम**की अवस्था होती है (दे० पृथक् टिप्पणियाँ)।

फलसिद्धिकी दृष्टिसे वस्तुका प्रयोजन पाँच भागोंमे बँटा हुआ है—**बीज, बिंदु, पताका, प्रकरी** और **कार्य**। इन्हे **अर्थप्रकृतियों**के नामसे अभिहित किया जाता है। **रूपक**के आरम्भमें स्वल्पसंकेतित वह हेतु, जो अनेकविध विस्तृत होता हुआ इष्ट या फलका कारण होता है, **बीज** कहलाता है। किसी दूसरे अर्थ या कथासे विच्छिन्न हो जानेपर इतिवृत्तके जोड़ने या आगे बढ़ानेके कारणको **बिंदु** कहते हैं। रूपकमें दूरतक चलनेवाली सानुबन्ध कथा, जो आधिकारिक कथाके सहायतार्थ आती है, **पताका** कहलाती है। **पताका** प्रासंगिक कथा होती है। प्रासंगिक कथाका एक दूसरा भेद भी होता है, जिसे **प्रकरी** कहते हैं। **प्रकरी** उन छोटी-छोटी कथाओंको कहते हैं, जो समय-समयपर उपस्थित हो, मुख्य कथाकी सहायता कर समाप्त हो जाती है। **कार्य** रूपकका वह प्रधान साध्य है, जिसके लिए सब उपकरण एकत्र किये जाते हैं।

रूपकमे **कार्यावस्थाओं** और **अर्थप्रकृतियों**को जोड़नेके लिए पंच सन्धियोंका विधान किया गया है। ये

संख्यामें पाँच हैं : **मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श** और **निर्वहण** (उपसंहृति)। **मुख** सन्धि **बीज** और **प्रारम्भ**को मिलती है, **प्रतिमुख, यत्न** और **बिन्दु**को, **गर्भ**में **प्राप्त्याशा** और **पताका**का संयोग होता है। **विमर्श**में **नियताप्ति** और **प्रकरी**की सन्धि होती है। कार्य और फलागमके साथ ही जहाँ अन्य सभी अर्थोंका पर्यवसान हो जाता है, वहाँ **निर्वहण** सन्धि होती है। (विस्तारके लिए दे० 'संधि', 'मुख' आदि।

अभिनेताकी दृष्टिसे विचार करनेपर **कथावस्तु**को दो कोटियोंमें विभाजित किया जा सकता है—**वाच्य** और **सूच्य**। **कार्यावस्था, अर्थप्रकृति** तथा **सन्धियों**को **वाच्य**की श्रेणीमें रखा जायगा। रूपकमें कुछ ऐसी कथाएँ भी होती हैं, जिनकी केवल सूचना दी जाती है। ये कथाएँ मूल कथाकी अखण्डताकी रक्षाके लिए ही सूचित की जाती हैं। इन्हें **सूच्य** कहते हैं। सूच्य कथाओंको **अर्थोपक्षेपक, विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अंकावतार** और **अंकमुख** भी कहते हैं (विस्तारके लिए दे० 'अर्थोपक्षेपक')।

कथोपकथनकी दृष्टिसे शास्त्रकारोंने कथाको तीन कोटियोंमें बाँटा है—**सर्वश्राव्य, नियतश्राव्य** और **अश्राव्य**। किसी पात्रके कथोपकथनको यदि रंगमंचपर उपस्थित सब पात्र सुन सकें तो वह **सर्वश्राव्य**, कुछ ही सुन सकें तो **नियतश्राव्य** और यदि केवल कथन करनेवाला पात्र ही अपना कथन सुन सके तो **अश्राव्य** होता है (विस्तारके लिए दे०—ये पृथक् शब्द)।

रूपकके प्रारम्भमें आनेवाले पात्र **सूत्रधार, नटी, स्थापक, नांदी**को भी कथावस्तुके अन्तर्गत ही समझना चाहिये, क्योंकि इनके द्वारा रूपककी **प्रस्तावना** प्रस्तुत की जाती है। प्रस्तावनाके कई भेद किये गये हैं—**उद्घातक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवर्तक, अवगलित** (विस्तारके लिए दे०—ये पृथक् शब्द)।

संस्कृतके शास्त्रीय ग्रन्थोंमें रूपककी कथावस्तुके सम्बन्धमें जो विस्तृत वर्गीकरण किया गया है, वह बहुत ही यान्त्रिक हो गया है। संस्कृतके दो नाटकों ('वेणीसंहार' और 'रत्नावली')के अतिरिक्त अन्य नाटकोंको शास्त्रीय कसौटीपर खरा नहीं उतारा जा सकता। भारतेन्दुकालीन कुछ हिन्दी नाटकोंपर संस्कृतके शास्त्रीय निर्देशोंका प्रभाव दिखाई पड़ता है। इसके पश्चात्के हिन्दी नाटक संस्कृतकी शास्त्रीय परम्पराको उतना न अपनाकर पाश्चात्य शास्त्रीय' परम्पराको उतना न अपनाकर पाश्चात्य शास्त्रीय परम्पराको अधिक अपनाने लगे हैं।

अंग्रेजीमें कथावस्तुको 'प्लाट' कहते हैं। शिप्लेके अनुसार सरल या उलझनपूर्ण घटनाओंके संगुंफनको वह ढंग, जिस आधारपर रूपक या नाटकका निर्माण किया जाता है, प्लाट या कथावस्तुके नामसे अभिहित होता है।

अरस्तूने अपने 'पोइटिक्स'में कथावस्तु (प्लाट)को नाटकका प्रथम तत्त्व माना है। कथावस्तुमें प्रारम्भ, मध्य और अन्त होता है। प्रारम्भमें आगे होनेवाला कार्य संनिहित रहता है, मध्यमें विगत तथा भावी कार्यकी संनिहिति मानी जाती है और अन्त पिछली घटनाओंकी परिसमाप्तिमें देखा जाता है। कथावस्तुकी अन्विति विभिन्न घटनाओंके उचित सम्बन्धों द्वारा सम्पन्न होती है। रोमन नाटकोंके प्रभावके कारण नाटकोंमें समय, स्थान और कार्यकी अन्वितियोंपर विशेष जोर दिया जाने लगा, पर कालान्तरमें नाटककारोंको यह बन्धन स्वीकार नहीं हुआ। मोल्टनने एक स्थानपर लिखा है कि इन अन्वितियोंकी चर्चा पुरानी पड गयी है। फिर तो नाटक शास्त्रीय बन्धनोंकी चिन्तासे प्रायः मुक्त हो गये। लेकिन आज भी नाटकीय कथावस्तुके लिए आवश्यक है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे आधारभूत अन्वितिको बनाये रखे। —ब० सिं०

कथाविच्छेद-वक्रता–दे० 'प्रबन्धवक्रता', तीसरा नियामक।

कथासाम्य-वक्रता–दे० 'प्रबन्धवक्रता', छठा नियामक।

कथासूत्र–दे० 'थीम'।

कथित पद–दे० 'शब्द-दोष', छठा 'वाक्य दोष'।

कथोद्घात–रूपककी **प्रस्तावना**में जहाँ कोई नाटकीय पात्र सूत्रधारके वाक्य या वाक्यार्थको अपनी उक्तिमें प्रयुक्त करता हुआ **रंगमंच**पर प्रवेश करता है, वहाँ कथोद्घात होता है। उदाहरणार्थ, संस्कृतके 'वेणीसंहार'में सूत्रधारने ज्यों ही 'निर्वाणेत्यादि' पढ़ा त्यों ही क्रोधमें भरे भीमसेन 'आह दुरात्मन्' कहते हुए आ धमके। —ब० सिं०

कथोपकथन, कथनोपकथन–**कथासाहित्य** और **नाटक**का एक तत्त्व, जो पात्रोंको जीवन्त रूपमें स्थित करते हुए उनकी प्रकृतिको प्रत्यक्ष रूपमें प्रकट करता है। यह कार्य **कथोपकथन, संलाप** या **वार्तालाप**में प्रयुक्त शब्दोंसे ही नहीं, उनके स्वराघात या लहजे, लय और प्रवाह, शैली, अनुरंजकता और अलंकरण, सभीके सम्मिलित प्रभावसे सम्पन्न होता है। कथोपकथनके द्वारा ही विभिन्न पात्रोंमें एक-दूसरेके विरुद्ध सन्तुलन पैदा होता है तथा प्रत्येकके चरित्रचित्रणमें परिपूर्णता आती है। यह सही है कि साहित्यमें प्रयुक्त वार्तालाप शब्दशः जीवनसे नहीं लिया जाता, परन्तु वह कार्य-व्यापारको वास्तविकता अवश्य प्रदान करता है। साथही, मूलभूत संघर्षसे उदय होकर वह उसे अग्रसर करता है और इस प्रकार कार्य-व्यापारको विकसित करता चलता है। कथोपकथनमें वर्तमान कालका प्रयोग होता है, जिसके कारण कार्य अत्यन्त निकट, आँखोंके सामने तीव्र गति और गहनताके साथ घटित होता हुआ जान पड़ता है तथा साहित्यमें इसके द्वारा कहीं अधिक विविधता, विश्रान्ति और स्वाभाविकताकी वृद्धि होती है।

नाटकमें कथोपकथनका प्रयोग अधिक परम्पराभुक्त रूपमें होता है। नाटकमें अभी कुछ दिनों पहलेतक पद्यका ही प्रभुत्व था और पात्रोंका वार्तालाप भी पूर्ण रूपमें या कमसे कम आंशिक रूपमें पद्यबद्ध तथा काव्यमय हुआ करता था। बीसवीं शतीके गद्यके युगमें भी नाटकके कथोपकथन वास्तविक जीवनकी तुलनामें कहीं अधिक लम्बे, सुघरे और सन्तुलित होते हैं। उनमें वाक्चातुर्य और वचन-विदग्धताका सावधानीसे समावेश किया जाता है। नाटकमें कभी-कभी अधिक अलंकृत भाषाका भी प्रयोग होता है तथा कुछ नाटककार पात्रानुकूल भाषाका प्रयोग न करके सभी पात्रोंसे एक ही प्रकारकी परिमार्जित शैलीमें वार्तालाप कराते हैं। कुछ नाटक विवादप्रधान कहे जा सकते हैं, क्योंकि

उनमें कार्यकी न्यूनता होती है और कथोपकथनमें ही नाटकका समस्त चमत्कार सीमित होता है। परन्तु अधिकांश प्रभावशाली नाटकोंमें कथोपकथन न केवल पात्रानुकूल होता है, वरन् रंगमंचपर उपस्थित किये गये शारीरिक कार्य-व्यापारकी अपेक्षा नाटकीय संघर्षको प्रगति देनेमें कहीं अधिक सहायक होता है (दे० 'उपन्यास')। —सं०

कदलीदेश–दे० 'कजरीवन'।

कदलीवन–दे० 'कजरीवन'।

कनक कलश–सन्तोंने सहस्रारके लिए कनक कलश शब्दका व्यवहार किया है। कुण्डलिनी रूपी नदी इसी कनक कलशमें जाकर समा जाती है—"एक बिरख भीतरि नदी चाली, कनक कलस समाइ"—कबीर। अर्थात् (शरीररूपी) एक वृक्ष है, जिसके भीतर नदी (कुण्डलिनी) बह रही है, जो कनक कलश (सहस्रार)में जाकर लीन हो जाती है। गोरखबानी, सबदी १६९में इसे कंचन-कॅवल भी कहा गया है। —रा० सिं०

कनफटा–गोरखपंथी योगी, जो कानोंको फड़वाकर उसमें मिट्टी, धातु, हरिणके सींग, बिल्लौर या लकड़ीकी मुद्रा, अर्थात् कुण्डल पहनते थे। कहते हैं, जब गोरखनाथने सबसे पहले भर्तृहरिके कानमें कुण्डल पहनाया था तो वह मिट्टीका बना हुआ था। आज भी कुछ योगी मिट्टीका ही कुण्डल धारण करते हैं। गोरखपंथी साधु वसन्तपंचमी या किसी भी शुभ दिन कान चिरवाकर मन्त्र-पूत मुद्रा धारण करते हैं। सम्प्रदायमें दीक्षित होनेवाली विधवाएँ और गृहस्थ योगियोंकी स्त्रियाँ भी इसे धारण करती हैं। कान फड़वाकर मुद्रा धारण करनेके कारण ही इन्हें 'कनफटा' कहा जाता है। इस मुद्राको 'दरसनी' (दे०) भी कहते हैं। ब्रिग्स ('गोरखनाथ एण्ड कनफटा योगीज'; पृ० ६७)ने कनफटा और औघड़में भेद किया है। उनका कहना है कि योगी जबतक कान चिरवाकर मुद्रा नहीं धारण कर लेते, तबतक औघड़ रहते हैं और मुद्रा धारण कर लेनेपर 'कनफटा' हो जाते हैं। जालन्धरनाथको मत्स्येन्द्र और गोरखनाथसे भिन्न बतानेके लिए जालन्धरनाथको औघड़ बताया गया है और मत्स्येन्द्र-गोरक्षको कनफटा। इससे लगता है कि औघड़ और कनफटामें कान फड़वानेके अतिरिक्त और कोई भेद नहीं था। कुछ लोग कहते हैं कि इस प्रथाको मत्स्येन्द्रनाथने चलाया। दूसरोंका कहना है कि इसे जालन्धरनाथने गोपीचन्द्रकी प्रार्थनापर इसलिए चलाया कि अन्य पंथके योगियोंसे इस पंथके योगियोंको अलग समझा जा सके। एक तीसरी धारणाके अनुसार इसका प्रवर्तन गोरखनाथके हाथों हुआ है। 'योगिसम्प्रदायाविष्कृति'में बताया गया है कि श्रीनाथने यह प्रथा अनधिकारी व्यक्तियोंको पंथमें प्रविष्ट होनेसे रोकनेके लिए चलायी थी, क्योंकि कान फड़वानेमें पीड़ा बहुत होती थी। सम्भवतः यह कनफटा योगियोंकी हठ-साधनाकी प्रथम महत्त्वपूर्ण दीक्षा है।

कान फाड़कर मुद्रा धारण करनेकी प्रथा मत्स्येन्द्र या गोरखनाथने ही चलायी होगी, ऐसा विश्वास किया जा सकता है, वैसे इस तरहकी मुद्रा धारण करनेके बहुत पुराने प्रमाण मिलते हैं। मद्रासके उत्तरी अरकाट जिलेमें स्थित परशुरामेश्वर मन्दिरमें स्थापित लिंगपर शिवकी एक मूर्ति बनी हुई है, जिसके कानोंमें वैसे ही कुण्डल हैं, जैसे वे कनफटे योगी धारण करते हैं। टी० एस० गोपीनाथ राव (इण्डियन एण्टिक्वेरी, जिल्द ४०)ने इस लिंगको ईसा सन्‌की दूसरी-तीसरी शताब्दीका माना है। ब्रिग्सने भी लिखा है कि सालसेट, एलोरा और एलिफैण्टाकी गुफाओंमें शिवकी ऐसी अनेक योगी-मूर्तियाँ हैं, जिनके कानोंमें कनफटा योगियोंकी तरह ही बड़े-बड़े कुण्डल पहनाये गये हैं। ये मूर्तियाँ आठवीं शताब्दी की हैं। अतः यह प्रथा काफी पुरानी है। योगि-परम्परामें यह विश्वास किया जाता रहा है कि शिवने अपना सम्पूर्ण वेश ज्यों-का-त्यों मत्स्येन्द्रनाथको दे दिया था। इससे भी स्पष्ट है कि कान फड़वाकर मुद्रा धारण करनेकी प्रथा पुरानी है। कनफटा योगियोंके लिए अनिवार्य प्रतीकके रूपमें इसे मत्स्येन्द्र या गोरखनाथने बादमें चला दिया होगा।

इस बातके बहुत-से प्रमाण मिलते हैं कि कनफटा योगियोंने सोलहवीं शताब्दीमें अपना सैनिक संगठन भी तैयार कर लिया था और सिक्खोंसे उनका घमासान युद्ध हुआ था। विनोधर मठकी दीवालोंमें शस्त्र फेंकनेके लिए बने हुए निशान इसके प्रमाण हैं। एच० ए० रोज (ग्लासरी ऑव दि ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स् ऑव द पंजाब एण्ड द नार्थ वेस्टर्न प्रोविंसेज, जिल्द ३, पृ० १६५)ने लिखा है कि कच्छके योगियोंने सोलहवीं शताब्दीमें अतीथोंको बलपूर्वक कनफटा बनानेका एक भयंकर अभियान चला रखा था। अन्ततः संगठन होकर अतीथोंने इनसे लोहा लिया था और इनकी शक्तिको तोड़ दिया था। कबीरदास (बीजक ६९वीं रमैनी)ने अस्त्र-शस्त्रका व्यवहार करनेवाले इन योगियोंकी 'गफिलाई' पर करारी चोट की है।

[सहायक ग्रन्थ—हजारीप्रसाद द्विवेदी : नाथ सम्प्रदाय] —रा० सिं०

कन्नड (भाषा तथा साहित्य)–जनश्रुतिके अनुसार दक्षिण भारतकी भाषाएँ 'पंचद्राविड' भाषाएँ कहलाती हैं। ये पाँच भाषाएँ हैं—तमिल, कन्नड, तेलुगु, मलयालम तथा तुलु। प्रथम चारों भाषाएँ समृद्ध साहित्यिक भाषाएँ हैं, जिनकी अपनी-अपनी पृथक् लिपियाँ हैं। ग्राम्य गीतोंके अतिरिक्त तुलु-का न अपना कोई साहित्य है, न कोई लिपि ही। यह कन्नडकी ही एक पुष्ट बोली है, जो दक्षिण कन्नडके अधिकांशमें बोली जाती है।

तुलु-के अतिरिक्त कन्नडकी अन्य बोलियाँ हैं कोडगु, तोड, कोट, बडग। कोडगु तुलुके अति निकट है और कोडगु अथवा कूर्गमें बोली जाती है। कूर्ग वर्तमान मैसूर राज्यका सबसे छोटा जिला है। तोड, कोट और बडग ये तीनों बोलियाँ नीलगिरिकी तीन अलग-अलग पहाड़ी जातियोंमें बोली जाती हैं, जो अब भी बहुत अविकसित अवस्थामें पड़ी हुई हैं। नीलगिरि मद्रास राज्यके अन्तर्गत है।

कन्नड, कर्नाट, कर्नाटक शब्द अति प्राचीन ग्रन्थोंमें समानार्थमें प्रयुक्त हुए हैं। महाभारतमें कर्नाट शब्दका प्रयोग कई बार हुआ है (कर्नाटकाश्च कुटाश्च पद्मजालाः सतीनराः; सभापर्व, ७८, ९४; कर्नाटका महिषिका विकल्पा मूषकास्तथा; भीष्मपर्व ५८–५९)। दूसरी शताब्दी-

में लिखे हुए तमिल 'शिलप्पदिकार' नामक काव्यने कन्नड भाषा बोलनेवालोंका नाम 'कन्नाडर' बताया गया है। वराहमिहिरके 'बृहत्संहिता', सोमदेवके 'कथासरित्सागर', गुणाढ्यके पैशाची 'बृहत्कथा' आदि ग्रन्थोंमें भी 'कर्नाट' शब्दका बराबर उल्लेख मिलता है।

यद्यपि कन्नड भाषा महाभारत-रामायण कालमें भी बोली जाती थी तो भी ईसाके पूर्व लिखा हुआ कन्नडका न कोई ग्रन्थ मिलता है, न कोई शिलालेख ही। कर्नाटकमें अबतक प्राप्त शिलालेखोंमें बेलूरके पास हल्मिडि नामक गाँवमें प्राप्त शिलालेख ही एक ऐसी चीज है, जिसमें कन्नडके गद्यका सर्वप्रथम दर्शन होता है। यह शिलालेख सन् ४५० ई०में लिखा माना जाता है। सातवीं शताब्दीमें लिखे गये बादामि (बीजापुर जिलेका एक गाँव) और श्रवण-बेगोलके शिलालेखोंसे कन्नडकी सुन्दर पद्यरचनाका परिचय मिलता है (कन्नड साहित्य : प्रो० के० वेंकटरामप्पा, पृष्ठ १, ३)।

यद्यपि उपर्युक्त शिलालेखोंके आधारपर यह बताया जा सकता है कि कन्नडमें ईसाकी सातवीं शताब्दीके पहले ही गद्य-पद्यकी रचना हुआ करती थी तो भी नवीं शताब्दीके पहलेका कोई ग्रन्थ अबतक प्राप्त नहीं हो सका है। अबतक प्राप्त रचनाओंमें सबसे प्राचीन ग्रन्थ है 'कविराजमार्ग'। यह रीति-ग्रन्थ है, जो दण्डीके 'काव्यादर्श'पर आधारित है। इसका रचनाकाल सन् ८१५–८७७के बीचका माना जाता है। इस बातमें विद्वानोंमें मतभेद है कि इसके रचयिता मान्यखेटके राष्ट्रकूट चक्रवर्ती स्वयं नृपतुंग थे या उनके कोई दरबारी कवि। प्रो० मुगलि-का यह निश्चित मत है कि नृपतुङ्ग इसके लेखक नहीं थे। उनका अनुमान है कि इसके लेखक नृपतुंगके दरबारी कवि श्रीविजय थे (कन्नड साहित्य चरित्रे : प्रो० आर० एस० मुगलि, पृष्ट ५२)।

कन्नड और कर्नाटक शब्दोंकी व्युत्पत्तिके सम्बन्धमें विद्वानोंका मत एक नहीं है। कन्नडमें 'नाडु'का अर्थ है देश। कुछ विद्वानोंका विचार है कर्नाट शब्द 'करु+नाडु'से निकला है। करुनाडुका अर्थ होता है काली मिट्टीका प्रदेश। कुछ वैयाकरणोंका मत है कि 'कन्नड' शब्द संस्कृत शब्द 'कर्णाट'का तद्भव रूप है और कुछ लोगोंकी राय है कि कम्पितु+नाडु, अर्थात् सुगन्धित देशसे कन्नाडु और 'कन्नाडु'से 'कन्नड' बना है। इसके अनुसार सुगन्धित देशमें बोली जानेवाली भाषा 'कन्नड' है। कर्नाटकमें चन्दन खूब मिलता है, इसलिए सम्भव है कि ऐसा नाम पड़ा हो।

कर्नाटक शब्द अंग्रेजीमें बिगडकर 'कर्नाटिक' (karnatic) अथवा 'केनरा' (kanara) हो गया है और 'केनरा'से भाषाका नाम 'केनरीस' (kanarese) पड गया है। हिन्दीमें 'कन्नड', 'कनाडी' तथा 'केनरा', 'कनारी' भी हो गये है। आजकल कन्नड और कर्नाटकका प्रयोग क्रमशः भाषा और प्रदेशके लिए होता है।

चारों द्राविड भाषाओंकी अपनी-अपनी पृथक् लिपियाँ हैं, जिनमें कन्नड और तेलुगुकी लिपियाँ करीव-करीब एक ही हैं। इन दोनोंमें जो कुछ अन्तर है, वह नाममात्रका है। यद्यपि विद्वानोंने यह स्वीकार किया है कि इन चारों भाषाओंकी लिपियोंका विकास प्राचीन ब्राह्मी लिपियोंकी दक्षिण शाखासे हुआ है तो भी कन्नड और तेलुगुकी लिपियाँ देवनागरी लिपियोंसे जितनी मिलती-जुलती है, उतनी तमिलकी लिपियोंसे नहीं। तेरहवीं शताब्दीके पूर्व लिखे गये तेलुगु शिलालेखोंके आधारपर यह बताया जाता है कि तबतक तेलुगु और कन्नडकी लिपियाँ एक ही थी।

वर्तमान कन्नडकी लिपियाँ बनावटकी दृष्टिसे देवनागरी लिपियोंसे भिन्न दिखाई देती है, किन्तु दोनोंके ध्वनि-समूहमें अधिक अन्तर नहीं है। अन्तर इतना ही है कि कन्नडमें स्वरोंके अन्तर्गत 'ए' और 'ओ'के ह्रस्व रूप और व्यंजनोंके अन्तर्गत वर्त्स्य 'ल'के साथ-साथ मूर्धन्य 'ल' वर्ण पाये जाते है। बाकी वर्ण देवनागरीके समान है।

अबतक कन्नड साहित्यके इतिहासपर जितने छोटे-बडे ग्रन्थ लिखे गये है, उनका अवलोकन करनेसे यही मालूम होता है कि काल-विभाजनके सम्बन्धमें विद्वानोंका एक मत नहीं है। सर्वाधिक मान्य काल-विभाजन प्रो० मुगलि-का है। (१) पम्पपूर्वयुग (सन् ९५० तक), (२) पम्पयुग (सन् ९५० से ११५०तक), (३), बसवयुग (सन् ११५०से सन् १५००तक), (४) कुमारव्यास युग (सन् १५०० से १९०० तक) और (५) आधुनिक युग (सन् १९०० से)।

(१) 'कविराजमार्ग' इस युगका सर्वप्रथम एवं सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। यह माना जाता है कि इसकी रचना सन् ८१५-८७७के बीचमें हुई थी। प्रतीति यह है मान्यखेटके राष्ट्रकूट चक्रवर्ती नृपतुंगने इसे लिखा था, किन्तु आधुनिक विद्वानोंने इसपर सन्देह प्रकट किया है। प्रो० मुगलि-का यह निश्चित मत है कि राजा नृपतुंग इसके लेखक नहीं थे। उनका अनुमान है कि नृपतुंगके दरबारी कवि श्रीविजयने इसे रचा था।

इस कालका दूसरा ग्रन्थ है 'वड्डाराधने', जिसमें १९ जैन महापुरुषोंकी कहानियाँ गद्यमें निरूपित है। इसके लेखक और रचना-कालके सम्बन्धमें मतभेद है। यही समझा जाता है कि शिवकोट्याचार्य नामक जैन कविने इसे सन् ९००-१०७०के बीचमें रचा था। यद्यपि इसकी रचना प्राकृतकी 'भगवती आराधना' नामक ग्रन्थके आधारपर हुई है तो भी इसमें उत्तम काव्य सौन्दर्यकी छबि मिलती है। इस ग्रन्थकी सबसे बड़ी महत्ता यह है कि इसमें कन्नडके गद्यका सर्वप्रथम रूप प्राप्त होता है।

उपर्युक्त दो रचनाओंके अतिरिक्त अबतक दूसरा कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं हुआ है। इस कालमें असग, गुणनन्दी, गुणवर्मा आदि कवि हुए हैं, इसका उल्लेख कुछ परवर्ती कवियोंने अपनी रचनाओंमें किया है, लेकिन किसी भी कविकी कोई कृति उपलब्ध नहीं हुई है।

(२) कन्नड साहित्यके इतिहासमें पम्पका काल महत्त्व-पूर्ण युग है, जो स्वर्णयुगके नामसे भी प्रसिद्ध है। इस कालका दूसरा नाम है 'जैन युग', क्योंकि इस अवधिमें कन्नड साहित्यकी श्रीवृद्धि करनेवालोंमें जैनमतावलम्बी कवियोंका विशेष हाथ रहा। इन जैन कवियोंमें प्रत्येकने प्रधानतया दो प्रकारके काव्य रचे—एक जैन धर्म सम्बन्धी

काव्य अथवा धार्मिक काव्य, दूसरा लौकिक काव्य अथवा शुद्ध काव्य। धार्मिक काव्यकी वस्तु किसी तीर्थंकर या महापुरुषकी कहानी होती थी और लौकिक काव्यमें वैदिक धर्मसे सम्बन्ध रखनेवाले पौराणिक काव्योंके कथानकोंका चित्रण होता था। इस प्रकार दो-दो ग्रन्थ रचनेका उद्देश्य एक ओर जैन-धर्मके तत्त्वोंका प्रचार करना था और दूसरी ओर लोकप्रिय संस्कृतके महाकाव्योंका कन्नडमें प्रतिरूप प्रस्तुत करके लोगोंको अपने धर्मकी ओर आकर्षित करना था। यद्यपि जैन कवियोंका मुख्य उद्देश्य अपने धर्मका प्रचार करना ही था तो भी उनके रचे हुए काव्योंमें साहित्यिक सौष्ठवकी कमी नहीं है। ये जैन कवि संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओंके विद्वान् थे, साहित्यशास्त्र-के मर्मज्ञ थे और प्रतिभासम्पन्न कवि भी। इन कवियोंने आवश्यक परिवर्तनके साथ पौराणिक कथानकोंको अपने धर्मके अनुकूल अवश्य बनाया, किन्तु उनकी मौलिकताको नष्ट न होने देकर रोचकताको बनाये रखा। जैन कवियोंकी रचनाओंसे कन्नड भाषा और साहित्यका बड़ा उपकार हुआ। पहले-पहल कन्नड भाषाभाषियोंको संस्कृतके महाकाव्योंका रसास्वादन करनेका अवसर मिला। समृद्ध संस्कृत भाषाके सम्पर्कमें आनेके कारण कन्नडका शब्दभण्डार बढ़ा और अभिव्यंजनाशक्ति विकसित हुई। इसके अतिरिक्त संस्कृत-की काव्यशैलियोंका कर्नाटकमें प्रचार ही नहीं हुआ, वरन् कन्नड और संस्कृत-शैलियोंमें समन्वय भी हुआ। इस अवधिमें चम्पू-काव्य-शैलीका विशेष प्रचार हुआ। इस समयके धार्मिक काव्योंमें अद्भुत तथा शान्त और लौकिक काव्योंमें वीर तथा रौद्र रसोंकी विशेष रूपसे अभिव्यंजना हुई। उपर्युक्त दो प्रकारके काव्योंके अतिरिक्त छन्द, रस, अलंकार, व्याकरण, कोश, ज्योतिष, वैद्यक आदि विभिन्न विषयोंपर भी ग्रन्थ रचे गये। इस प्रकार इस युगमें कन्नड साहित्यकी सर्वतोमुखी उन्नति हुई।

इस युगके प्रमुख कवि तीन थे—पम्प, पोन्न तथा रन्न, जो 'रत्नत्रयी'के नामसे प्रसिद्ध हैं। महाकवि पम्प अथवा आदि पम्पने दो काव्य रचे—'आदि पुराण' और 'विक्रमार्जुन-विजय' अथवा 'पम्प-भारत'। 'आदि पुराण'में जिनसेनाचार्यकृत संस्कृत पूर्वपुराणके आधारपर प्रथम तीर्थंकर वृषभनाथका जीवन-चरित्र चित्रित किया गया है और 'विक्रमार्जुन-विजय'में महाभारतके कथानकका निरूपण किया गया है। ये दोनों चम्पूकाव्य हैं। पम्प कन्नडके आदि कवि माने जाते हैं। इनका जन्म सन् ९०२ ई०में हुआ था।

पोन्न पम्पके समकालीन थे। इन्होंने तीन ग्रन्थ रचे थे—'शान्तिपुराण', 'जिनाक्षरमाला' तथा 'भुवनैकरामाभ्युदय'। अन्तिम ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है। रन्नकी मुख्य रचनाएँ दो ही हैं—'अजित पुराण' तथा 'साहस भीम-विजय' अथवा 'गदायुद्ध'। गदायुद्धके नायक भीम हैं। गदायुद्धमें भीम जैसे पात्रके द्वारा वीर रसकी अनूठी व्यंजना हुई है। इसी काव्यसे रन्नकी कीर्ति अचल हुई है।

पम्प-युगके अन्य कवियोंमें चाउण्डराय, नागवर्म (प्रथम), दुर्गसिंह, चन्द्रराज, नागचन्द्र, नागवर्म (द्वितीय) आदिके नाम उल्लेखनीय हैं। चाउण्डरायका 'चाउण्डराय-पुराण' प्राचीन कन्नड गद्यका एक सुन्दर नमूना है। नागवर्म (प्रथम)के दो ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं—'कर्णाटक-कादम्बरी' तथा 'छन्दोम्बुधि'। 'कर्णाटककादम्बरी' बाणकी कादम्बरीका कन्नड प्रतिरूप है। इसकी शैली है चम्पू। प्रो० मुगलि-का मत है कि कन्नडमें अनूदित जितने ग्रन्थ हैं, उनमें नागवर्म (प्रथम)की 'कर्णाटक-कादम्बरी' सर्वश्रेष्ठ है ('कन्नड साहित्य चरित्रे', पृष्ठ ११७)। चन्द्रराज और श्रीधराचार्य नागवर्म-(प्रथम)के समकालीन कवि हैं। चन्द्रराजका कामशास्त्रपर लिखा हुआ 'मदनतिलक' नामक ग्रन्थ और श्रीधराचार्यका 'जातकतिलक' नामक ज्योतिष ग्रन्थ, दोनों उत्तम कृतियाँ हैं। इसी कालमें दुर्गसिंहने, जो भागवत सम्प्रदायके कवि थे, संस्कृत 'पंचतन्त्र'का अनुवाद प्रस्तुत किया, जो बहुत ही लोकप्रिय हुआ।

ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दियोंके बीचमें दूसरे एक प्रसिद्ध कवि हुए, जिनका नाम था नागचन्द्र। चूंकि इन्होंने 'पम्पभारत'का अनुकरण करते हुए रामायणकी रचना की, इसलिए इनका दूसरा नाम अभिनव पम्प पड़ा। नागचन्द्रने भी पूर्ववर्ती जैन कवियोंकी भाँति दो काव्य रचे—'मल्लिनाथ-पुराण' तथा 'रामचन्द्र-चरित पुराण' अथवा 'पम्परामायण'। 'पम्परामायण' ही कन्नडके उपलब्ध रामकथा सम्बन्धी काव्योंमें सबसे प्राचीन है।

पम्प-युगमें महाकवियोंका आविर्भाव हुआ और उन्होंने अपनी महान् कृतियोंसे कन्नडको समृद्ध बनाया। इसलिए इसका नाम स्वर्णयुग पड़ा। यद्यपि इस कालमें बड़े-बड़े कलात्मक प्रौढ काव्योंका निर्माण हुआ तो भी समाजके साधारण लोगोंके जीवनके साथ साहित्यका सम्पर्क नहीं रहा। इसका मुख्य कारण यह था कि इस समयके कवि राजाओंके आश्रयमें रहते थे और वे जो कुछ लिखते थे, या तो अपने आश्रयदाता राजाओंका यश गानेके लिए लिखते थे, या दरबारके अन्य पण्डितोंके बीचमें वाहवाही लूटनेके लिए या अपने धर्मका प्रचार करनेके हेतु। इसका परिणाम यह हुआ कि न बोलचालकी भाषा साहित्यके सर्जनके लिए उपयुक्त समझी गयी, न कन्नडके देशी छन्दोंका प्रयोग किया गया। सर्वत्र संस्कृतका प्रभाव पड़ा। चम्पू-शैलीमें जो प्रौढ काव्य रचे गये, वे साधारण जनताकी वस्तुएँ न होकर पण्डितोंतक ही सीमित रहे।

(३) बारहवीं शताब्दीके उत्तरार्धसे पन्द्रहवीं शताब्दी-तकका काल बसवयुग कहलाता है। इस युगका दूसरा नाम है 'क्रान्तियुग'। इस समय कर्नाटकमें बड़ी क्रान्ति मची। धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक, राजनीतिक, आदि ऐसा कोई क्षेत्र नहीं रहा, जो इस क्रान्तिसे अछूता रह सका। इस क्रान्तिके उन्नायक थे बसव, बसवण्ण अथवा बसवेश्वर। इसीलिए इस युगका नाम 'बसवयुग' रखा गया है, जो सार्थक कहा जायगा।

इस कालकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि संस्कृतनिष्ठ कन्नडके स्थानपर बोलचालकी कन्नड, साहित्यके निर्माणके लिए उपयुक्त समझी गयी और संस्कृतकी काव्य-शैलीके बदले देशी छन्दोंको विशेष प्रोत्साहन दिया गया। पिछली शताब्दियोंमें जैन मतावलम्बियोंका साहित्य-क्षेत्रमें सर्वाधिकार था। इस युगमें भिन्न-भिन्न मतावलम्बियोंने साहित्यके

निर्माणमें योग दिया। और एक महत्त्वपूर्ण विषय यह था कि साहित्यकी श्रीवृद्धिमें भक्ति एक प्रबल प्रेरक शक्तिके रूपमें सहायक हुई।

यद्यपि इस कालमें अन्यान्य धर्मावलम्बियोंने साहित्यकी सेवा की, तो भी कन्नड साहित्यने एक क्रान्तिकारी नूतन युगके निर्माणमें वीरशैव भक्तों तथा उनके अनुयायियोंका विशेष हाथ रहा। बारहवीं शताब्दीके उत्तरार्धमें बसवेश्वरका आविर्भाव हुआ। उन्होंने वीरशैव मतका पुनः संघटन करके कर्नाटकके धार्मिक एवं सामाजिक जीवनमें बडी उथल-पुथल मचायी। बसव तथा उनके अनुयायियोंने अपने मतके प्रचारके लिए बोलचालकी कन्नडको माध्यम बनाया। वीरशैव भक्तोंने भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार, नीतिपर निराडम्बर शैलीमें अपने अनुभवकी बातें सुनायीं, जो 'वचन'-साहित्यके नामसे प्रसिद्ध हुईं। इन वीरशैव भक्तों अथवा शिवशरणोंके वचन एक प्रकारके गद्यगीत हैं, जिनमें न किन्हीं छन्दोंका प्रयोग हुआ है, न किसी काव्यशैलीका अनुकरण किया गया है। यद्यपि इन वचनोंका निर्माण करते समय किसी नियमका पालन नहीं किया गया है, तो भी इनमें अपनी ही एक लय है, माधुर्य है और है आकर्षण भी। शिवशरणोंने साहित्यके लिए साहित्य नहीं रचा। उनका मुख्य उद्देश्य अपने विचारोंका प्रचार करना ही था। उनके विचारोंमें सरलता थी, सचाई थी और थी सच्चे जिज्ञासुकी रसमग्नता। इसलिए उनकी वाणीमें साहित्यिक सौष्ठव अपने-आप आ गया। इन शिवशरणोंके वचनोंने कर्नाटकमें वही कार्य किया, जो कबीर तथा उनके अनुयायियोंने उत्तर भारतमें किया।

बसव एक मतप्रवर्तक ही नहीं थे, वरन् उच्च कोटिके भक्त, विचारक और समाज-सुधारक भी थे। उन्होंने भक्तिका उपदेश दिया और इस भक्तिकी साधनामें वैदिक कर्मकाण्ड, मूर्तिपूजा, जाति-पाँतिका भेद-भाव, अवतारवाद, अन्धश्रद्धा आदिको बाधक ठहराया। जातिरहित, वर्णरहित, वर्गरहित समाजके निर्माण द्वारा उन्होंने आध्यात्मिक साधनाका मार्ग सर्वसुलभ बनाना चाहा। बसवके असाधारण व्यक्तित्वका प्रभाव कर्नाटकमें ही नहीं, प्रत्युत दक्षिणापथके विशाल भू-भागपर भी पड़ा।

इन वचनकार शिवशरणोंके अतिरिक्त वीरशैव मतावलम्बी बहुतसे ऐसे कवि हुए, जिन्होंने भक्तिभावप्रधान नाना प्रकारके काव्य-ग्रन्थ देशी छन्दोंका प्रयोग करते हुए प्रस्तुत किये। बारहवीं और तेरहवीं शताब्दियोंके बीचमें तीन श्रेष्ठ कवि हुए। वे थे हरिहर, राघवांक और पद्मरस।

वीरशैव भक्तों तथा कवियोंके अतिरिक्त इस कालमें अनेक जैन एवं ब्राह्मण कवियोंने भी नाना देशी छन्दोंमें विभिन्न विषयोंपर काव्योंका निर्माण करके कन्नड साहित्यकी वृद्धिमें योग दिया। जैन कवियोंमें नेमिचन्द्र, बन्धुवर्मा, जन्न, अण्डय्या, मल्लिकार्जुन, केशिराज, रट्टकवि, कुमुदेन्दु मुनिके नाम उल्लेखनीय हैं।

बारहवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धमें वीरशैव सम्प्रदाय कर्नाटकमें चरम उत्कर्षको पहुँचा और जैन धर्म राजाश्रयसे वंचित होकर प्रभावरहित होने लगा। तेरहवीं शताब्दीमें कर्नाटककी धार्मिक स्थितिमें फिरसे उथल-पुथल हुई। एक ओरसे कर्नाटक रामानुजाचार्य द्वारा स्थापित श्रीवैष्णव सम्प्रदायमें प्रभावित हुआ और दूसरी ओरसे उसमें मध्वाचार्यके द्वैत मतकी भक्तिकी नयी लहर चली। इन दोनों वैष्णव सम्प्रदायों द्वारा चलायी गयी भक्तिधारामें कन्नड साहित्यमें नूतन शक्तिका संचार हुआ। परिणामस्वरूप पौराणिक महाकाव्योंके कथानकोंका कन्नडमें नये सिरेसे विशुद्ध मूल रूपमें निरूपण हुआ।

(४) पन्द्रहवीं शताब्दीसे उन्नीसवीं शताब्दीके अन्ततकका काल कुमारव्यास-युग कहलाता है। इस अवधिमें विजयनगरके सम्राटों तथा मैसूरके राजाओंने कन्नड साहित्य की श्रीवृद्धिमें विशेष हाथ बँटाया। वैष्णव धर्मकी प्रतिष्ठा बढी, जिसकी प्रतिक्रिया कन्नड साहित्यमें दिखाई पडी। वैष्णव धर्म द्वारा प्रचारित भक्ति, साहित्य-सर्जनमें, प्रेरक शक्तिके रूपमें प्रकट हुई। फलतः वैष्णव भक्तों तथा कवियोंने जैन तथा वीरशैव मतावलम्बी कवियोंको साहित्य-निर्माण-क्षेत्रमें मात ही कर दिया। साहित्य जनताके अति निकट सम्पर्कमें आया। इस कालके सर्वश्रेष्ठ कवि नार्णप्प (नारणप्प) हैं, जो अपनी लोकप्रियताके कारण कुमारव्यासके अभिधानसे प्रख्यात हुए। कुमारव्यास भागवत सम्प्रदायके प्रमुख कवि थे।

नार्णप्प अथवा कुमारव्यासकी जन्मतिथि, जन्मस्थान तथा उनके रचनाकालके सम्बन्धमें विद्वानोंमें मतभेद है। प्रो० मुगलि-के अनुसार चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दियोंके बीचमें कुमारव्यास जीवित थे। कुमारव्यासने 'कन्नड भारत' अथवा 'गदुगिन भारत' और 'ऐरावत' नामक दो काव्य लिखे थे, ऐसा माना जाता है। लेकिन 'ऐरावत'के उनकी कृति होनेमें सन्देह प्रकट किया गया है। 'कन्नड भारत'में व्यासरचित महाभारतके प्रथम दस पर्वोंकी कथाका निरूपण किया गया है। यद्यपि पम्पने अपने 'पम्पभारत' द्वारा भारतकी सारी कथाका कन्नड प्रतिरूप किया था, तो भी वह कुमारव्यासके 'कन्नड भारत'की तरह लोकप्रिय नहीं हो सका। इसके दो कारण हैं—एक यह है कि 'पम्प भारत'में पाण्डित्य-प्रदर्शनकी प्रवृत्ति अधिक थी, दूसरा यह कि उसमें जैन धर्मका रंग चढ़ा था। कुमारव्यासका 'कन्नड भारत' इन त्रुटियोंसे मुक्त है।

कुमारव्यासके 'कन्नड भारत'के उपरान्त भारत, रामायण, भागवतके कथानकोंके आधारपर बहुतसे उत्तम काव्य 'षट्पदि'-शैलीमें प्रस्तुत किये गये। कुमारव्यासके बताये मार्गपर चलकर नरहरि अथवा कुमारवाल्मीकि नामक कविने वाल्मीकि-रामायणके आधारपर कन्नडमें 'तोरवेरामायण'की रचना की। यह भी भक्तिप्रधान प्रबन्ध-काव्य है, जो प्राचीन कन्नडकी एक उत्तम कलाकृति है। भागवत मतावलम्बी कवियोंमें तिम्मण्ण कवि, चाटुविट्ठलनाथ, लक्ष्मीश, नागरसके नाम उल्लेखनीय हैं। कुमारव्याससे प्रेरणा पाकर तिम्मण्ण कविने महाभारतके अन्तिम आठ पर्वोंकी कथाका निरूपण 'कृष्णराज-भारत' नामक अपने काव्यमें किया। सबसे पहली बार समग्र भागवतका कन्नड पद्यानुवाद चाटुविट्ठलनाथ नामक भागवत कविने प्रस्तुत किया। लगभग इसी कालमें एक बड़े प्रतिभासम्पन्न कवि हुए, जिनका नाम था लक्ष्मीश। इनका लिखा हुआ

'जैमिनि-भारत' एक अनुपम काव्य है। जिसमें भारतके कतिपय रोचक प्रसंगोंका सुन्दर एवं मर्मस्पर्शी वर्णन किया गया है। लोकप्रियताकी दृष्टिसे कर्नाटकमें कुमारव्यासके भारतके बाद 'जैमिनि-भारत'का स्थान है। कवि रुद्रभट्टने 'जगन्नाथविजय' द्वारा संस्कृतके वैष्णव काव्योंका कन्नड प्रतिरूप प्रस्तुत करनेकी जो परम्परा चलायी थी, एक प्रकारसे नागरस नामक कविने अपने 'वासुदेवकथामृतसार' नामक भगवद्गीताके कन्नड पद्यानुवाद द्वारा उसकी पूर्ति की।

जिस प्रकार इस अवधिमें कुमारव्यास, कुमार वाल्मीकि, लक्ष्मीश जैसे भागवत सम्प्रदायके कवियोंने भारत, रामायण, भागवत आदि महाकाव्योंसे कथावस्तुएँ लेकर कन्नडमें भक्तिप्रधान प्रबन्धकाव्योंका प्रणयन किया, उसी प्रकार माध्वमतावलम्बी भक्तोंने बोलचालकी कन्नडमें गीत, भजन, कीर्तन रचकर भक्तिका सन्देश कर्नाटकके घर-घरमें पहुँचाया। जैसा कि ऊपर बताया गया है, इन भक्तोंकी परम्पराका आरम्भ तेरहवीं शताब्दीमें नरहरितीर्थ द्वारा हुआ था। इस समय इन भक्तोंकी एक बड़ी मण्डली जुट गयी थी, जो प्रधानतया दो भागोंमें विभाजित थी। एक दलका नाम था 'व्यासकूट' और दूसरेका 'दासकूट'। इन दोनोंमें अन्तर यही था कि वे भक्त व्यासकूटके कहलाते थे, जो अधिकांश ब्राह्मण थे और जो अपने विचारोंकी अभिव्यक्तिके लिए संस्कृतको ही उपयुक्त समझते थे एवं वे भक्त दासकूटके माने जाते थे, जिनमें सभी जातियोंके लोग सम्मिलित थे और जो कन्नडके माध्यमसे भजन, कीर्तन रचते थे। सम्प्रदायकी तत्त्व सम्बन्धी बातोंमें 'व्यासकूट' और 'दासकूट'के भक्तोंमें कोई अन्तर नहीं था। इन दोनों दलोंके भक्त कर्नाटकमें हरिदासके नामसे प्रसिद्ध हैं। इन हरिदासोंने भक्ति, ज्ञान, सदाचार, नीति, प्रेम, लोकव्यवहार आदि नाना विषयोंपर सरस, किन्तु व्याकरणबद्ध कन्नडमें हजारों-लाखों पद रचकर कन्नड साहित्यका भण्डार भरा। हरिदासोंकी परम्परा तेरहवीं शताब्दीसे अठारहवीं शताब्दीतक चलती है। हरिदासोंके गीतोंका कन्नडभाषी जनतापर गहरा और व्यापक प्रभाव पड़ा है।

सत्रहवीं शताब्दीमें मैसूरके राजा चिक्कदेवरायके आश्रयमें रहते हुए कतिपय वैष्णव कवियोंने उत्तम काव्योंका निर्माण किया। इन कवियोंमें तिरुमलार्य, चिकुपाध्याय, सिंगरार्य, होन्नम्मा, हेलवन कट्टे गिरियम्मा, महा लिंगरंग आदिके नाम उल्लेखनीय हैं। इसी समय पहली बार श्रीवैष्णव सम्प्रदायका प्रभाव कन्नड साहित्यपर प्रत्यक्ष रूपमें दिखाई पड़ा। 'चिकदेवराय बिन्नप' तथा 'गीतगोपाल' नामक अपनी रचनाओंमें तिरुमलार्यने श्रीवैष्णव सम्प्रदायके साथ-साथ ऐकांतिक भक्तिका निरूपण किया है। 'हदिबदेयधर्म' होन्नम्माका एक सुन्दर काव्य है, जिसमें सतीधर्म (गृहिणी-धर्म)का प्रांजल भाषामें वर्णन किया गया है। महलिंगरंग कविके लिखे हुए 'अनुभवामृत'में शंकरके अद्वैत-सिद्धान्तका सार सरस कन्नडमें प्रस्तुत किया गया है।

इस प्रकार वैष्णव भक्तों तथा कवियोंने कन्नडके माध्यमसे जनतामें संस्कृतके वैष्णव काव्योंका कन्नडप्रतिरूप प्रस्तुत करते हुए भागवत धर्मके प्रतिदिन भक्तिका प्रचार किया है।

इस युगमें वीरशैव मतावलम्बी भक्तों एवं कवियोंने भी नाना प्रकारके ग्रन्थ रचकर कन्नडकी सेवा की। इन ग्रन्थोंका विभाजन प्रतिपादित विषयोंके आधारपर यों किया जा सकता है—(१) नूतन वचनोंका निर्माण और पूर्ववर्ती भक्तोंके वचनोंकी टीकाएँ, (२) वीरशैव मतके दार्शनिक तत्त्वोंका निरूपण करनेवाले ग्रन्थ, (३) शैव पुराणोंका अनुवाद तथा वीरशैव भक्तोंकी जीवनियोंका वर्णन करनेवाले पुराण, (४) भक्ति तथा नीतिका उपदेश देनेवाले ग्रन्थ। इनमें कुछ 'शतक'-शैलीमें भी लिखे गये हैं। वचन-शैलीके अतिरिक्त कुछ गद्यग्रन्थ भी लिखे गये और सांगत्य, त्रिपदि, वृत्त, चम्पू, गीत आदि छन्दोंका विशेष प्रयोग किया गया। इतनी लम्बी अवधिमें जितने वचनकार हुए, वे इने-गिने ही हैं।

चरितकाव्य प्रस्तुत करनेवाले वीरशैव कवियोंमें चामरस, विरूपाक्ष पण्डित, षडक्षरदेव अग्रगण्य थे। चामरसके लिखे काव्योंमें 'प्रभुलिंगलीले' एक श्रेष्ठ चरितकाव्य है। 'प्रभुलिंगलीले'में अल्लम प्रभुके जीवनवृत्तका विस्तार किया गया है। वीरशैव कवियोंमें श्रेष्ठ प्रबन्धकाव्य रचनेवालोंमें हरिहरके बाद चामरसका नाम आदरके साथ लिया जाता है। विरूपाक्ष पण्डितका लिखा हुआ 'चेन्नबसव पुराण' भी एक उत्तम प्रबन्धकाव्य है, जिसमें प्रसिद्ध वीरशैव भक्त चेन्नबसवकी कहानी कही गयी है। हरिहरके 'बसवराजरगले' तथा चामरसके 'प्रभुलिंगलीले' जैसे चरितकाव्योंमें जैसा मतधर्म तथा काव्यधर्मका सुन्दर समन्वय हुआ है, वैसा समन्वय 'चेन्नबसवपुराण'में नहीं हो पाया है। इसे एक धार्मिक ग्रन्थ ही कहना पड़ता है।

पम्प-युगमें जैन कवियोंने अपने श्रेष्ठ प्रबन्धकाव्योंके द्वारा कन्नडमें चम्पूशैलीको अत्यन्त लोकप्रिय बनाया था, लेकिन आगे चलकर इस शैलीका उपयोग कम होता गया। कुमारव्यास-युगमें फिरसे यह शैली अपनायी गयी। इसे अपनानेवाले कवि जैन नहीं थे, किन्तु वीरशैव कवि थे। सत्रहवीं शताब्दीके उत्तरार्धमें षडक्षरदेव नामक एक प्रतिभासम्पन्न वीरशैव कविने चम्पूशैलीमें तीन प्रबन्धकाव्य रचे, जिनके नाम हैं—'राजशेखरविलास', 'शबरशंकरविलास' तथा 'वृषभेन्द्रविजय'। 'राजशेखरविलास' तथा 'शबरशंकरविलास'में शिवलीलासे सम्बन्ध रखनेवाली कहानियोंका वर्णन किया गया है। 'वृषभेन्द्रविजय'की कथावस्तु बसवका जीवनवृत्त है।

इस युगमें एक महान् वीरशैव सन्तका अवतार हुआ। उनका असली नाम क्या था इसका कुछ पता नहीं लगा है। इनका साहित्यिक उपनाम 'सर्वज्ञ' था। इन्होंने 'त्रिपदि' नामक छन्दमें अपनी अमृतवाणी सुनायी है। प्रत्येक छन्द 'सर्वज्ञ' शब्दके साथ समाप्त होता है और हिन्दीके दोहेकी तरह स्वतन्त्र अर्थ रखता है।

इस अवधिमें जैन धर्मका प्रभाव लुप्त हो चला था, फिर भी कुछ जैन मतावलम्बी कवियोंने अपनी शक्तिभर कन्नडकी सेवा की। समाजकी बदली हुई परिस्थितिको ध्यानमें रखकर जैन कवियोंने प्रचलित देशी काव्य-शैलियों-

ने काव्यरचना की। ऐसे कवियोंमे भास्कर, तेरकणांबि बोम्मरस, सिहुनायक, तृतीय मंगरस, साल्व कवि, 'रत्नाकरवर्णि'के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमे रत्नाकरवर्णि सर्वश्रेष्ठ है, जिनकी कृतियोंमे 'भरतेशवैभव' मुख्य है। प्रथम तीर्थङ्कर आदिदेवके पुत्र भरत और बाहुबलिके उज्ज्वल चरित्रोंका वर्णन ही 'भरतेशवैभव'की कथावस्तु है। पम्प, हरिहर, कुमारव्यास जैसे कन्नडके महाकवियोंकी श्रेणीमे रत्नाकरवर्णिका नाम भी लिया जाता है।

इस युगकी अन्तिम शताब्दीमे अर्थात् उन्नीसवीं शताब्दीमे कुछ अच्छे कवि हुए। देवचन्द्र नामक जैन कविने 'रामकथावतार' लिखकर जैन रामायणकी परम्पराको आगे बढाया। मैसूरके राजा मुम्मुडि कृष्णराज ओडेयरके दरबारी कवियोंमे केम्पुनारायण तथा बसवप्प शास्त्रीने संस्कृत एवं अंग्रेजीके कुछ नाटकोंका अनुवाद प्रस्तुत करके कन्नडमे नाटक-साहित्यके निर्माणके लिए अनुकूल वातावरण तैयार किया। कालिदासके 'शाकुन्तल' आदि नाटकोंका बसवप्प शास्त्रीने इतनी सफलतासे अनुवाद किया कि वे अभिनव कालिदासके नामसे प्रसिद्ध हुए। केंपु नारायणने 'मुद्राराक्षस' नामक एक ऐतिहासिक उपन्यास लिखा। नंदवंशकी कहानी इसकी कथावस्तु है, जिसपर मुद्राराक्षसका प्रभाव लक्षित होता है। यही कन्नडका सर्वप्रथम उपन्यास है। इसमे प्रयुक्त गद्यका कन्नड साहित्यमें विशिष्ट स्थान है।

उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तमे मुद्दण नामक एक सफल कवि हुए, जिन्होने तीन सरस काव्य लिखे—'अद्भुतरामायण', 'रामपट्टाभिषेक' और 'रामाश्वमेध'। 'अद्भुतरामायण' और 'रामाश्वमेध' दोनों गद्यग्रन्थ हैं और 'रामपट्टाभिषेक' षट्पदि-शैलीमें लिखा हुआ खण्डकाव्य है। इनके गद्यकी यह विशेषता है कि प्राचीन कन्नडकी प्रौढता एवं मधुरताके साथ-साथ आधुनिक कन्नडकी सरलताका परिचय मिलता है। इस दृष्टिसे इस सन्धिकालकी इन तीनों कृतियोंका कन्नड साहित्यमें महत्त्वपूर्ण स्थान है।

(५) भारतीय जीवनके इतिहासमें उन्नीसवीं शतीका उत्तरार्द्ध अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस अवधिमें भारतमें अंग्रेजी भाषा तथा साहित्यके माध्यमसे जहाँ, पाश्चात्य-विचारधाराके प्रभावसे भारतीय जीवन आन्दोलित हुआ, वहाँ उस प्रभाव की प्रतिक्रियाकी प्रबल लहरें भी उठने लगी। इसी संक्रांति-कालमें भारतीय समस्त भाषाओंके साहित्योंमें आधुनिक कालका सूत्र-पात हुआ। चूँकि समान परिस्थितियों एवं प्रभावोंसे सारा भारतीय जीवन मथित हुआ, अतः यह कहा जा सकता है कि आधुनिक कन्नड साहित्यकी गतिविधिकी कहानी अन्य प्रादेशिक भाषाओंकी कहानीसे कुछ भिन्न नहीं है।

आधुनिक कन्नड साहित्य प्रधानतया चार भागों में विभाजित किया जा सकता है: (१) सन् १९०० तक प्रथम उत्थान, (२) सन् १९०१से सन् १९२०तक द्वितीय उत्थान, (३) सन् १९२१से सन् १९४०तक तृतीय उत्थान तथा (४) सन् १९४१से अद्यतन काल। आधुनिक कन्नडका प्रथम उत्थान गद्यके साथ प्रारम्भ होता है। सन् १९००से सन् १९२१तकका काल अधिक निश्चित और विविध उपलब्धियोंका काल है। सन् १९२१से सन् १९४०तककी अवधिमे कन्नडका आधुनिक साहित्य अपने स्वर्ण-युगमे प्रवेश करता है। इस समय आधुनिक कविता, उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध, आलोचना, जीवनी आदि सभी विधाओंका प्रस्फुटन तथा विकास होने लगता है। प्रथम तथा द्वितीय उत्थानमें राष्ट्रीयताका स्वर मुखरित हुआ। तदुपरान्त समाज सुधारकी भावनापर बल दिया गया। आगे चलकर पौराणिक विषयों तथा भावोंका मानवीकरण तथा प्रकृतिके प्रति रोमांटिक दृष्टिकोणका निरूपण होने लगा। जहाँ लेखककी व्यक्तिगत भाव-व्यंजनाका महत्त्व बढा, वहाँ प्रगतिशील विचारधाराका समावेश हुआ और यथार्थवाद और परम्परागत आदर्शवादके बीच संघर्ष भी दृष्टिगोचर होने लगा। कविताके क्षेत्रमें नयी कविताका सूत्रपात हुआ। इस प्रकार कन्नडका आधुनिक साहित्य सर्वतोमुखी उन्नतिके पथपर तीव्र गतिसे अग्रसर हुआ। —हि०

कन्नौजी–ग्रियर्सनके अनुसार पश्चिमी हिन्दीकी पाँच बोलियोंमेसे एक तथा धीरेन्द्र वर्माके अनुसार ब्रजभाषाका ही पूर्वीरूप। इस बोलीका क्षेत्र ब्रजभाषा और अवधीके बीचमे पड़ता है। इसका केन्द्र उत्तरप्रदेशमे कन्नौज (फर्रुखाबाद जिला) है। कन्नौजके उत्तरमे यह हरदोई, शाहजहाँपुर तथा पीलीभीततक और दक्षिणमें इटावा तथा कानपुरके पश्चिमी भागमें बोली जाती है। कन्नौजी बोलनेवालोंकी संख्या ग्रियर्सनने ४५ लाख दी थी। इस बोलीका प्रयोग साहित्यरचनाके लिए नहीं हुआ, किन्तु साहित्यिक ब्रजभाषापर इसका पर्याप्त प्रभाव दिखलाई पड़ता है, क्योंकि ब्रजभाषाके अनेक कवि कन्नौजी बोलनेवाले थे। —धी० व०

कन्या (गोपी)–दे० 'गोपी'।

कपाली–चर्यापदोमे कपाली अथवा कापालिकके अर्थ हैं चर्याधर, अर्थात् चर्याओमें निष्णात। कापालिक शब्दकी उत्पत्ति इस प्रकार बतायी गयी है—"कम् महासुखम् पालयति इति कपाली" अर्थात् 'क' महासुखके बीजको जो पालता है, वह कपाली है। इसीलिए **डोम्बी**के साधकको कपाली कहते हैं। —ध० वी० भा०

कपास–सिद्ध और सन्त-साहित्यमें मनका प्रतीक। 'तुला धुनि धुनि आंशुके आंशु शान्तिया' (चर्यापद)। 'धुन धुन धुन डाल अब मनको'—सन्त शिवदयाल (विस्तारके लिए दे० 'जुलाहा')। —ध० वी० भा०

कबीरपंथ–'कबीरपन्थ'का शाब्दिक अर्थ वह सम्प्रदाय है, जिसे सन्त कबीरने किसी समय चलाया था और जो अबतक इस नामसे प्रचलित भी चला आता है। कबीरपन्थी साहित्यमें इस बातकी चर्चा आती है कि कबीर साहबने अपने चार प्रमुख शिष्योंको चारों दिशाओंमे अपने मतके प्रचारार्थ भेजा था। उनमेसे तीन, अर्थात् चत्रभुज, बंकेजी और सहतेजीके विषयमें अधिक पता नहीं चलता, किन्तु चौथे, अर्थात् धर्मदासके लिए प्रसिद्ध है कि उन्होंने इस पन्थकी 'धर्मदासी शाखा'का मध्यप्रदेशके अन्तर्गत प्रवर्तन किया था और यह भी अपनी विविध उपशाखाओंके रूपमे प्रचलित है। कबीरपन्थके ग्रन्थोंमें

कबीर साहबके नामपर प्रचलित किये गये ऐसे बारह पन्थोंकी भी चर्चा आती है, जिनमे वस्तुतः उनके सिद्धान्तो-के विरुद्ध प्रचार किया जाता है। 'अनुराग-सागर' नामक ग्रन्थ (पृ० ९०)मे इनके प्रवर्तकोंके नाम क्रमशः 'मृत्यु अन्धा,' 'तिमिर दूत,' 'अन्ध अचेत', 'मनभंग', 'ज्ञानभंगी', 'मकरन्द,' 'चितभंग', 'अकिलभंग,' 'विसम्भर', 'नकटा', 'दुरगदानि' और 'हंसमुनि' दिये गये मिलते है, जो प्रत्यक्षतः कल्पित-से लगते है और इनके विषयमे कहा गया है कि ये सच्चे मार्गसे दूर थे। सन्त तुलसी साहबकी रचना 'घटरामायण' (पृ० २३४) तथा परमानन्द साहबके 'कबीर मन्सूर' (पृ० २९६)मे यह पता चलता है कि स्वयं कबीर साहबने अपने शिष्य धर्मदासके प्रति भी ऐसे बारह पन्थोंकी चर्चा की थी और वहाँ इन्हे क्रमशः नारायणदास, भागोदास, सुरतगोपाल, साहेबदास, टकसारीपंथके प्रवर्तक, कमाली, भगवान्दास, प्राण्नाथ, जगजीवनदास, तत्त्वा-जीवा तथा गरीबदास नाम देकर कम-से-कम ग्यारहकी चर्चा की गयी पायी जाती है। परन्तु स्पष्ट है कि इनमेसे कई व्यक्तियोका आविर्भाव सन्त कबीर साहबके बहुत पीछे हुआ होगा तथा इनमें 'धर्मदासी शाखा'के प्रवर्तकका नाम न आनेसे यह भी सन्देह किया जा सकता है कि कदाचित् इसके ही प्रचारकोंने इन नामोंका उल्लेख अपने प्रतिद्वन्द्वियों के रूपमे कर दिया होगा।

वास्तवमे आजतक उपलब्ध किसी भी प्रामाणिक सामग्री-के आधारपर, यह बतलाना कठिन है कि सन्त कबीर साहबने ऐसे किसी भी पन्थका कभी प्रवर्तन किया था अथवा इसके लिए उन्होंने अपने शिष्योको कोई स्पष्ट आदेश ही दिया था। ऐसी दशामें यह अधिक सम्भव है कि उनके निजी विचारोके पन्थ-निर्माणके प्रतिकूल होते हुए भी, उनके शिष्यो तथा प्रशिष्योंने ऐसा करना, प्रचारकी दृष्टिसे, उचित समझ लिया हो। तदनुसार 'अनुरागसागर' ग्रन्थ(रचनाकाल सम्भवतः अठारहवी शताब्दी)से यह बात स्पष्ट होते देर नहीं लगती कि उस कालतक ऐसे बारह पन्थ प्रचलित हो चुके थे तथा इसके आधारपर यह भी अनुमान कर लेना कठिन नहीं कि इस पन्थके प्रचारका क्षेत्र वर्तमान उत्तरप्रदेशसे लेकर मध्य-प्रदेश, उडीसा, गुजरात, काठियावाड, बडौदा, बिहार आदि प्रदेशोंतक विस्तार पा चुका था। उन पन्थोंके बीच पारस्परिक प्रतिस्पर्धाका भाव भी जाग्रत होने लग गया था। तबसे उनकी शाखाओं एवं उपशाखाओंकी संख्या प्रायः निरन्तर बढती ही चली गयी है और इस समयतक सारे देशमें कदाचित् ऐसे कम स्थान मिलेंगे, जहाँ कबीर साहब द्वारा न्यूनाधिक प्रभावित किसी-न-किसी सन्तके मत अथवा उसके द्वारा प्रचारित सम्प्रदायकी कुछ चर्चा न सुन पड़े।

फिर भी 'कबीरपन्थ'की शाखाओंमेसे सभी एक ही प्रकार प्रसिद्ध नहीं है और उनमेसे केवल तीनके नाम विशेष रूपसे लिये जाते है। इन शाखाओंको हम क्रमशः 'काशी शाखा', 'छत्तीसगढी शाखा' एवं 'धनौती शाखा' कह सकते है और इनकी भी कतिपय उपशाखाएँ बतलायी जाती है। काशी शाखाके संस्थापक सुरतगोपाल कहे जाते है, जिनका नाम सन्त कबीर साहबके प्रमुख शिष्योंमें भी लिया जाता है, परन्तु इन सुरतगोपालके जीवनका कोई ऐतिहासिक वृत्त अभीतक उपलब्ध नहीं हुआ है और न इस शाखाके मठ 'कबीरचौरा'मे मिलनेवाली शिष्य-परम्परा-की सूची द्वारा ही उसपर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। काशी शाखावाले कबीरचौरा मठके अन्तर्गत उसके निकटवर्ती लहरतालाके मठ तथा वस्ती जिलेके मगहरवाले मठके भी नाम लिये जाते है तथा उसीके महन्तकी अधीनता गया (बिहार प्रान्त)के कबीर साहबके मठ तथा उडीसाके कुछ मठोंवाले महन्त भी स्वीकार करते कहे जाते है। इसी प्रकार कबीर-पन्थकी दूसरी 'छत्तीसगढी शाखा' या 'धर्म-दासी शाखा' भी प्रसिद्ध है और उसके संस्थापक धर्मदासको भी सन्त कबीर साहबका एक प्रमुख शिष्य ही बतलाया जाता है। धर्मदासके ऐतिहासिक जीवनवृत्तका हमें पता नहीं और न उनका हम ठीक जीवनकाल ही बतला सकते है। सन्त दरिया साहबकी रचना 'ज्ञानदीपक'(पृ० ५७–६०)मे तो पता चलता है कि स्वयं कबीर साहबने ही दो सौ वर्ष बाद पुनः धर्मदासके रूपमें जन्म लिया था, कण्ठी तोड दी थी और कबीरपन्थ चलाया था, जिसमे आगे चलकर १२ उपशाखाएँ हुई। फिर यह भी कहा जाता है कि धर्मदासकी शिष्य-परम्परा उनके वंशवालो द्वारा ही चलायी गयी, जहा काशीवाली शाखामे ऐसी बात देखनेमें नही आती। धर्मदासी या छत्तीसगढी शाखाके एक प्रमुख केन्द्रका नाम धामखेडा है और दूसरेका खरसिया है तथा इन दोनोकी अनेक उपशाखाएँ भी वर्तमान है। छत्तीसगढी-की उपशाखाओंमे ही कबीरचौरा मठ, जगदीशपुरी (उडीसा), कबीर मठ हटकेसर और 'कबीर निर्णय मन्दिर', बुरहानपुर (मध्यप्रदेश) तथा फतुहा मठ (पटना) और लक्ष्मीपुर बगीचा रूसड़ा, दरभंगा (बिहार)के भी नाम लिये जाते है, किन्तु इनमे उसका सम्बन्ध विच्छेद हो गया सी समझा जाता है। कबीर-पन्थकी तीसरी प्रसिद्ध शाखा धनौती (बिहार)की है, जिसे उसके प्रवर्तक भगवान् गोसाईके नामानुसार 'भगताही शाखा' भी कहा जाता है। भगवान् गोसाईको पिथौरा(बुन्देलखण्ड)का निवासी बतलाया जाता है, जैसे धर्मदासके लिए बान्धवगढ़(बघेलखण्ड)का निवासी होना कहा गया है। इनकी भी जीवनीका कोई प्रामाणिक विवरण उपलब्ध नहीं है, किन्तु इतना सर्वमान्य-सा है कि ये कबीर साहबके साथ भ्रमण करते थे और इन्होने ही 'कबीर बीजक'मे संगृहीत रचनाओंको उनके मुखसे समय-समयपर सुनकर उन्हे एक जगह कर दिया था। फिर भी इनकी शिष्य-परम्परावाली तालिकामे ऐसी बात सिद्ध नहीं होती। 'धनौती शाखा'का प्रमुख केन्द्र बिहार प्रदेशके दानापुरमे था, किन्तु फिर धनौती चला गया। इसकी एक उपशाखाका किसी लहिया स्थानमे भी होना प्रसिद्ध है। कबीर-पन्थकी एक चौथी शाखा बिद्दपुर (मुजफ्फरपुर)मे है, जिसके प्रवर्तक जागूदास माने जाते है। कहते है कि कटकमे कबीर साहब द्वारा दीक्षित होकर ये भ्रमण करते हुए बिद्दपुर आये और यहीं पीछे उनका देहान्त भी हुआ। इस शाखाकी भी कुछ उपशाखाएँ बन-कठा (शिवपुर, काशी), मुंगेर (बिहार) तथा नैपाल आदि-मे पायी जाती है। इन चार शाखाओंके अतिरिक्त आचार्य

गद्दी बड़ैया, जौनपुर (उत्तर प्रदेश) तथा वचनवंशी गद्दी कमड़ा, दरभंगाकी भी शाखाएँ हैं, जिनके प्रवर्तक क्रमशः मदन साहब (मृ० सं० १९११) एवं कृष्णदास कारख (मृ० सं० [illegible]) बतलाये जाते हैं।

कबीरपन्थकी अन्य शाखाएँ तथा उपशाखाएँ भी विशेषतः उत्तरप्रदेश, बिहार, उडीसा एवं मध्यप्रदेशमे ही पायी जाती है और वहींसे उनका सुदूर दक्षिण एवं पश्चिमके प्रदेशोमे भी प्रचलित होनेके सम्बन्धमे अनुमान किया जा सकता है। और इनमेसे, कबीरकी पुत्री कही जानेवाली कमालीके नामपर, मेरठ और लुधियानाकी ओर प्रचलित 'कबीर-वंशी पंथ', कबीर-शिष्य पद्मनाथ द्वारा प्रवर्तित 'राम कबीर पंथ', 'ऊदा पंथ' तथा 'पनिका कबीर पंथ' (मध्यप्रदेश)के भी नाम लिये जा सकते हैं। उडीसामें तो सुरतगोपाल, ज्ञानदास, धर्मदास जैसे प्रसिद्ध कबीरपन्थियोकी समाधियाँ भी वर्तमान है और वहाँ एक ऐसी ही समाधि स्वय कबीर साहबकी भी बतलायी जाती है। उडीसाका प्रदेश बहुत दिनोतक वैष्णव धर्मका एक प्रधान केन्द्र रहा और पता चलता है कि कबीर साहबके लगभग सौ वर्ष पीछे वहाँ छः बहुत प्रसिद्ध उड़िया वैष्णव कवि भी हुए थे। उन कवियोकी रचनाओपर वहाँके प्रचलित बौद्ध-धर्मका भी प्रभाव लक्षित होता है, जिससे कबीरपन्थी साहित्य भी अछूता नही जान पड़ता। वहाँके वैष्णव कवि महादेवदासकी 'धर्मगीता'मे जो सृष्टि-रचना-विषयक पौराणिक संकेत मिलता है, वह मूल बातोमे कबीरपन्थके 'अनुराग-सागर'की बातोंसे भी मिलता-जुलता है। धर्म, शून्य, निरंजन, त्रिदेव आदि सम्बन्धी अनेक विचित्र विवरण इन दोनोमे तथा बौद्धोके 'शून्य पुराण'मे भी पाये जाते है और इनके आधारपर ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि इन सभीमे यह अंश किसी परम्परागत सृष्टि-कथाके आधारपर लिखा गया होगा अथवा इनमेसे एकने दूसरेको प्रभावित किया होगा। कबीर-पन्थी साहित्यकी विशेषता यह है कि उसमे सर्वत्र कबीर साहबको ही किसी-न-किसी रूपमे महत्त्व दिया गया है तथा उन्हें अलौकिकता भी प्रदान की गयी है। कबीर साहब केवल एक विचार-धाराके प्रमुख प्रवर्तक और प्रचारकमात्र ही नही रह जाते, प्रत्युत वे स्वयं सत्यपुरुषका भी स्थान ग्रहण कर लेते है। कबीर साहबका प्रत्येक युगमे प्रधान बनकर रहना तथा सृष्टिरचनादिके कार्योंको व्यवस्थित रूप देनातक भी यहाँ एक विचित्र पौराणिक रचनाशैली द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

इसी प्रकार, जैसे, सृष्टि-रचना तथा ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि देवोके जन्म एवं कर्मके विवरणोंमे एक विचित्र पौराणिकताका समावेश दीख पड़ता है, और वे उड़ीसाके 'धर्म-सम्प्रदाय' द्वारा प्रभावित भी जान पड़ते है। कबीर-पन्थकी छत्तीसगढ़ी शाखाके कर्मकाण्डोपर भी तान्त्रिकताकी छाप लगी प्रतीत होती है। इसके 'चौकाविधि', 'जोतप्रसाद', 'परघाना' आदि सम्बन्धी कृत्योंका विधान इस प्रकार किया गया पाया जाता है, जिससे कबीर साहबके मूल मतका कोई लगाव न[illegible]ी। आटेके चूर्णके द्वारा विशिष्ट रेखाओका अंकन, फूल[illegible] नारियल, पान, कलश जैसी वस्तुओंका उपयोग, प्रसाद-वितरण तथा महन्तादि सभी व्यक्तियोंका किसी नियमविशेषके ही अनुसार परम्परागत विधियोंका पूरा करना, ऐसी बाते है, जो सन्तमतकी मौलिक विचार-धारासे बहुत दूर जाती समझ पड़ती है। फिर भी इन बातोको बहुत बडा महत्त्व दिया जाता है और इन्हे किन्हीं गूढ रहस्योका प्रतीक मानकर, इनका विस्तृत समाधान भी किया जाता है। इसके सिवा कबीरपन्थी साहित्यमे अनेक ऐसी कल्पित कथाएँ भी मिलती है, जो हमें कभी-कभी बौद्ध जातकों और अवदानोंका स्मरण दिलाती है। उसके अन्तर्गत कबीर साहबके प्रति भक्तिभावका प्रदर्शन, उनकी लीलाओंका वर्णन तथा उनकी अलौकिक शक्तिका निरूपण भी प्रचुर मात्रामें पाया जाता है और आध्यात्मिक बातोंका प्रतिपादन करते समय किसी ऐसी वर्णन-शैलीका प्रयोग किया गया मिलता है, जिसके कारण उनकी गुत्थियाँ और भी रहस्यमयी बन जाती है। कबीरपन्थके साम्प्रदायिक साहित्यमें अनेक ऐसे पारिभाषिक शब्दोका भी बाहुल्य दीख पड़ता है, जिनके आशयका स्पष्टीकरण साधारण ढंगसे नहीं किया जा सकता और 'कबीर बीजक' जैसे मान्य ग्रन्थोंके भाष्यों तथा टीकाओकी रचना करते समय-तक भी उनके प्रासंगिक उल्लेख कर दिये जाते है।

अतएव, कबीरपन्थकी उपलब्ध सामग्रीके आधारपर यह अनुमान करना कि इसकी बहुत-सी बातोंमें किसी साम्प्रदायिक प्रवृत्तिका ही समावेश हो गया होगा और इस प्रकार यह कबीर साहबकी मूल विचारधारासे क्रमशः पृथक् पड़ता गया होगा, कदाचित् अनुचित नही कहा जा सकता। इसकी प्रमुख शाखाओ तथा उपशाखाओके एक विस्तृत क्षेत्रतक फैल जानेके कारण उनपर स्थानीय विशेषताओका प्रभाव पड़ना असम्भव नही था और सन्त-मतके अन्तर्गत नानकपन्थ, दादूपन्थ, बावरीपन्थ आदि साम्प्रदायिक वर्गोंकी संख्यामें निरन्तर वृद्धि होती जानेके भी कारण इसमे अनुयायियोंका झुकाव अधिकतर ऐसी बातोंको ही महत्त्व देनेकी ओर होता गया और यह उसके साथ कदाचित् होडतक भी करने लग गया। फलतः इसके प्रचार-साहित्यमें निरन्तर वृद्धि होती चली गयी तथा इसका विशिष्ट रूप क्रमशः निखरता भी चला गया। सन्तमतके उन्नायकोंमें अनेक ऐसे लोग भी हुए, जिन्होने न केवल कबीर साहबके प्रति अपनी श्रद्धा प्रदर्शित की, अपितु कभी-कभी उन्हे अपने सद्‌गुरुतकके रूपमे स्वीकार किया और एकाध सन्तोने तो यहाँतक बतलाया कि वे उस आदि सन्तके अवतार भी माने जा सकते है। इन बातोंसे इस पन्थको अधिकाधिक प्रेरणा ही मिलती चली गयी और इस दृष्टिसे वह विशिष्ट जीवनदर्शन भी ओझल हो गया, जो कभी सन्तमतका शिलाधार बन चुका था। इसी कारण कबीरपन्थका वर्तमान रूप उन बहुत-से सम्प्रदायोंसे भिन्न नहीं जान पड़ता, जो आज हिन्दू धर्मके साधारण अंग बने पाये जाते है। वर्गविशेषकी भावना, परम्पराप्रियता, भेष-धारणका आग्रह, धर्मग्रन्थके प्रति श्रद्धा, बाह्य कृत्योंकी व्यवस्था आदि कुछ ऐसी बातें है, जिनके कारण यह पन्थ उस व्यापक विश्वधर्मके स्तरतक पहुँचता नही जान पड़ता, जो कभी सन्तमतके प्रवर्तकोंका आदर्श रहा होगा। और,

इसके विपरीत, कभी-कभी दूसरी बुरहानपुरकी जैसी एकाध उपशाखाएँ, अपने विचार-स्वातन्त्र्यके कारण किसी ऐसे निर्णयतक भी पहुँचती जान पड़ती है, जिसे हम अभाववादी (nihilistic) विचारोंकी कोटिमें रख सकते हैं।

[सहायक ग्रन्थ—उत्तरी भारतकी सन्तपरम्परा : परशुराम चतुर्वेदी; कबीर और कबीरपन्थ : डा० केदारनाथ दुबे।] —प० च०

कबीरा–उत्तरभारत, राजपूताना, मध्यप्रदेश और बिहारमें ऐसे कई लोकपरक निर्गुणी गीत उपलब्ध हैं, जिनकी अन्तिम पंक्तियोंमें कबीरकी छाप मिलती है। "कहै कबीर सुनो भई साधो" जैसी पंक्तियोंवाले गीत 'कबीरा' कहलाते हैं। 'कबीरा' गीतोंके प्रचारका कारण स्वयं कबीरकी लोकप्रियता तो है ही, किन्तु परवर्ती सन्तों और निम्न वर्गके प्रति उत्कट लगाव भी इसके मूलमें है। ऐसे गीतोंपर कबीरका अपरोक्ष रूपसे प्रभाव पड़ा है। निम्न जातियोंके लोकगायक अपने इकतारों और मजीरोंकी संगतमें इन्हें रात-रातभर गाते हैं। राजस्थान और मारवाड़के रामदेव भगत भी कबीरा गानेमें गौरव अनुभव करते हैं। अस्तु 'कबीरा' कबीरकी रचनाएँ नहीं हैं, बल्कि कबीरकी भावधारासे प्रभावित लोकोन्मुखी लोकगीतविशेष हैं, जिनमें साक्षी-स्वरूप अथवा श्रद्धावश कबीरकी छाप लगायी गयी है। —श्या० प०

कमल–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। केशवने ३ सगणों, नगण और गुरुके योगसे इस नवीन छन्दका प्रयोग किया है (॥ऽ, ॥ऽ, ॥ऽ, ।।।, ऽ)। यह 'प्राकृतपैंगलम्'के इस नामके छन्दसे भिन्न है (२ : २६)। उदा०—"तरु चन्दन उज्ज्वलता तन धरे। लपटी नव नागलता मन हरे। नृप देखि दिगम्बर बन्दन करे। जनु चन्द्रकलाधर रूपहि भरे" (रा० चं०, ३२ : १७)। —पु० शु०

कमल–दे० 'हठयोग'।

कमला छन्द–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। नगण, सगण और लघु गुरुके योगसे यह वृत्त बनता है (।।।, ॥ऽ, ।ऽ)। केशवकी परिभाषा—"नगन आदि दै सगन पुनि, लघु गुरु-दीजै अन्त। आठ वरण प्रतिपद लखौ, कमला छन्द कहन्त॥" भरत (नाट्यशास्त्र, ३२ : १३४)ने मही और 'प्राकृतपैंगलम्' (२ : ७४) और दामोदर मिश्र (वाणीभूषण, २ : ७३)ने कमल नाम दिया है। उदा०—"तुम प्रबल जो हुते, भुज बलनि संयुते। पितहि भुवि ल्यावते, जगत यश पावते"(रा० चं०, ४ : १३)।—पु०शु०

कमलिनी–दे० 'महामुद्रा'।

करखा–मात्रिक सम दण्डक छन्दों (दे०)का एक भेद। भानुके अनुसार इसके प्रत्येक चरणमें ८, १२, ८, ९की यतिसे ३७ मात्रा तथा अन्तमें यगण (।ऽऽ)का प्रयोग होता है (छं० प्र०, पृ० ७६)। चन्द (पृ० रा० रा०) तथा सूदन-(सू० च०)ने इसका प्रयोग किया है। तुलसीने स्तोत्र-शैली-में इस छन्दका सुन्दर प्रयोग किया है—"मोहतम तरणि, हर रुद्र शंकर शरण, हरण मम शोक, लोकाभिरामम्" (वि० प०, पृ० १०)।

करनी–दे० 'कथनी'।

करभ–मनका प्रतीक। "एमइ करहा तेक्खु सहि विहरिअ मेढु पइट्ठउ" (दोहाकोश : प्र० चं० बागची)। "ज्यूँ निज्ञाक अपनौं करहा छाडि दुनियाँ डारै॥"—'कबीर ग्रन्थावली'। —ध० वी० भा०

करहा–सन्तोंने करह शब्दका 'ऊँट' और 'क्रियापरायण साधक'के अर्थमें बहुत बार प्रयोग किया है। गुरु रामदास-ने 'करहले' शीर्षकके अन्तर्गत दो पदोंकी रचना की है, जिनमें इस चलते इधर-उधर घूम भागनेवाले ऊँटकी तरह अपनी इच्छाओंको छिटकाकर उन्हींमें भटकते रहनेवाले मनको सम्बोधित करके सन्देश दिया गया है। मनके लिए मैगल, मंगल (मदमत्त, मतंगज, और बिल्ली, कुत्ता आदिका प्रयोग सन्तोंमें पदे-पदे मिलता है। सन्तोंकी एक विशेषवृत्ति सहज ही लक्षित की जा सकती है कि सामान्य-सा ध्वनि-साम्य पाते ही वे किसी शब्दमें नया अर्थ भर देते हैं। अल्लाह और अलहदका अन्तर्भाव इस अलह बनता है। अलहमें अनहदकी ध्वनि आयी, नहीं कि उन्होंने उसका नाता अल्लाहसे जोड़ लिया। अनाहतसे निष्पन्न अनहद शब्दको ध्वनिसाम्यके सहारे अरबी शब्द 'हद'से जोड़कर उन्होंने जहाँ अनहदका पुराना अर्थ अनाहत सुरक्षित रखा, वहाँ उसका 'असीम' अर्थ भी कर लिया। इतना ही नहीं अनाहत और असीमका अर्थ देनेके लिए एक नया शब्द ही गढ़ लिया 'बेहद'। करहके साथ भी ऐसा ही हुआ है। यह एक ओर जहाँ संस्कृतके करभ (ऊँटका बच्चा, अर्थात् ऊँट)का अर्थ देता है, वहाँ तन्त्र-मन्त्र, पूजा-पाठ, ध्यान-धारणा आदि बाह्योपचारों द्वारा उपासना करनेवाले साधकोंका अर्थ भी देता है। यहाँ एक बातका उल्लेख कर देना आवश्यक है कि ध्वनिसाम्य आदिके सहारे शब्दोंमें नया अर्थ भरनेकी यह वृत्ति सन्तोंमें थोड़ी प्रबल और कहीं-कहीं कष्टकल्पना प्रसूत अवश्य है, पर भारतीय धर्मसाधनाके साहित्यसे परिचित व्यक्ति जानता है कि यह सन्तोंकी कोई नयी विशेषता नहीं है। तान्त्रिकों, सिद्धों, नाथों आदिमें भी यह वृत्ति जहाँ-तहाँ देखी जा सकती है। जहाँ तक करहाका सम्बन्ध है सरहपादने एक स्थानपर इसका प्रयोग किया है—"बद्धो धावइ दह दिसहि मुक्को णिच्चल ठाइ। एमइ करहा पेक्खुसहि विहरिअ महुँ पडिहाइ॥" (बागची, दो० ४३)। कह नहीं सकता कि सरहने करहाका प्रयोग केवल ऊँट अर्थमें ही किया है या क्रियापरायण साधकका अर्थ भी उनके मनमें था। जहाँ तक अर्थ संगतिका सवाल है, वह ऊँटके साथ तो बैठती ही है, क्रियापरायण साधकके साथ भी पूरी-पूरी बैठ जाती है। उक्त दोहेका अर्थ किया जा सकता है—"यह चित्तरूपी करहा (१. ऊँटका बच्चा २. क्रियापरायण साधक, जो सरहके 'एक्कण्किजिय कम्म न धम्म'के विपरीत चलनेवाला है) यदि विधि-निषेधोंसे बाँध दिया जाय तो (चंचल होकर) दसों दिशाओंमें भागता फिरता है, किन्तु यदि उसे इनसे मुक्त कर दिया जाय (खाअहु पीअहु विलसहुचंगे—सरह)की पूरी छूट दे दी जाय तो वह स्थिर हो जाता है। लेकिन इस क्रियापरायण (दहयागादिमें लीन) ऊँट (नासमझ)को देखो (जो न बंध ही सका है न मुक्त ही हो सका है)। सखि, यह मुझे ठगा हुआ (विह्वल) प्रतिभात होता है"। दोहेके करहाकी अर्थ-संगति उक्त दोनों अर्थोंमें इतनी

पूर्णतामें बैठ जाती है कि लगता है, सरह इसके दोनो अर्थोंके प्रति सचेत थे। —रा० सिं०

करुण गीति–हिन्दीमें एलिजीके लिए प्रायः करुण गीतिका प्रयोग होता है। सोलहवीं शताब्दीके प्रारम्भमें अंग्रेजीमें एलिजी—मृत्यु और शोकका गीत—बनने लगी, अन्यथा प्राचीन ग्रीसमें युद्ध और प्रेमकी अभिव्यक्ति इसमें होती थी। जान्सनकृत इसकी परिभाषा थी कि यह संक्षिप्त कविता है, जिसमें न तो केन्द्रीयता होती है और न मोड, जो अपर्याप्त और अपूर्ण थी। इसके लिए विशेष छन्दकी योजना है, जिसके चरण हेक्सामीटर और पेण्टामीटरके होते और क्रमपूर्ण आते हैं। हेक्सामीटर चरणमें ६ विराम हो जाते हैं और पेण्टामीटरमें ५ विराम होते हैं। स्पेंसरकृत 'डैफ्नैडा' और मिल्टनकृत 'लिसिडास' इसी प्रकारकी रचनाएँ हैं। शेलीने कीट्सकी मृत्युपर 'एडोनैस' और आर्नाल्डने अपने मित्र क्लफकी मृत्युपर 'थाइसिस' नामक रचना लिखी। टेनिसनकृत 'इन मेमोरियम' इतनी लम्बी है कि इसकी गणना प्रकृत शोकगीतिमें संकोचके साथ की जाती है। टामस ग्रेकृत 'ओड आन दि डेथ ऑव ए फेवरिट कैट'में विषादकी एलिजिक व्याप्ति है, यद्यपि इसे कविने ओड (सम्बोधगीति) कहा है। सोलहवीं शताब्दीसे ही मृत्युजन्य शोक और करुणाकी अभिव्यक्ति इसमें होने लगी और इस समय इसका यही प्रधान अर्थ हो गया। सन् १७५१ ई० मे प्रकाशित ग्रेकृत 'एलिजी रिटेन इन ए कण्ट्री चर्चयार्ड'ने अशेष कीर्ति अर्जित की। इसमें उद्वेगहीन विषादकी अभिव्यक्ति है, निराशाकी झलक नही और जीवनकी तिक्तता और अन्यायके प्रति आक्रोश भी नही है। केवल व्यापक विषाद, मानवीय समवेदना एवं सहानुभूतिकी व्याप्ति है, क्योकि ग्रेने सामान्य ग्रामीण जीवनमें व्याप्त कारुणिकताका अनुभव किया था। चौधरी बदरीनारायण उपाध्याय 'प्रेमघन'ने 'दुर्दशा दत्तापुर'में यह पद्धति अपनायी है, यद्यपि गोल्डस्मिथ-कृत ऊजड़ग्राम (डेजर्टेड विलेज)का स्पष्ट प्रभाव है। हिन्दीमे इसे **करुणगीत** कहते है, क्योंकि इसमें कारुणिक आर्द्रता और तटस्थ विषादकी अभिव्यक्ति होती है। राजनीतिक चेतनाके जागरित होनेपर किसानों और मजदूरोंके प्रति समवेदना प्रकट करनेवाले गीतोंकी रचना हुई है, जिसमे गिरिधर शर्मा कविरत्नकी रचना 'जय जय किसान' सर्वप्रथम है।

किसी स्वजन या अत्यन्त प्रिय जनकी मृत्युको लक्ष्यकर लिखे गये गीत पाश्चात्य दृष्टिमें एलिजी है, जिन्हें **शोकगीति** कह सकते हैं। शोकगीतिमें वैयक्तिक हानिकी तीव्रानुभूति और उद्वेगपूर्ण विषाद एवं अपरिसीम निराशाकी कारुणिक शोकाविष्ट अभिव्यक्ति होती है, यह अधिकाधिक वैयक्तिक है, अतः इसमें अधिकाधिक गीतिकाव्यात्मकता मिलेगी। ऐसी रचनाओमें विक्टर ह्यूगोकृत 'त्रिस्त्रिसि दि ओलम्पियो' अद्वितीय है। प्रेमी अधिक समयके अन्तरपर अपने प्रेमके रंगस्थलकी यात्रा करता है, वहाँ पहुँचनेपर सभी वस्तुएँ परिवर्तित दीख पड़ती हैं, यहाँ तक कि प्रकृति भी परिवर्तित हो चुकी है एवं पगडण्डीके स्थानपर विस्तृत राजपथ निर्मित हो चुका है। आधुनिक कालमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्रके देहावसानपर अनेक शोककाव्य लिखे गये थे, जिनमे प्रेमघनकृत 'शोकाश्रुबिन्दु' अति प्रसिद्ध है, किन्तु यह रचना गीतात्मक नही, छन्दात्मक है। उर्दू-फारसीमें इसे मरसिया कहते है, किन्तु उसमें गेयता और वैयक्तिकतापर विशेष बल नही रहता है। प्रतापनारायण मिश्रने हसन-हुसैनकी मृत्युके सम्बन्धमें एक मरसिया लिखा था। 'बघेलियागीत'के प्रसिद्ध कवि रघुवीरनारायणने 'प्यारे शिवेश्वर'मे प्रिय व्यक्तिकी मृत्युपर शोकगीत लिखा था। इस कोटिकी रचनाओमे निरालाकृत 'सरोज-स्मृति' श्रेष्ठ रचना है (दे० 'शोकगीति')। —रा० खे० पा०

करुण रस–भरतके 'नाट्यशास्त्र' (३ श० ई०)मे प्रतिपादित आठ नाट्यरसोमें शृंगार और हास्यके अनन्तर तथा रौद्रसे पूर्व करुणकी गणना की गयी है। 'रौद्रात्तु करुणो रसः' कहकर करुण रसकी उत्पत्ति रौद्र रससे मानी गयी है और उसका वर्ण कपोतके सदृश है (कपोतः करुणश्चैव) तथा देवता यमराज बताये गये हैं (करुणो यमदैवतः)। भरतने ही करुण रसका विशेष विवरण देते हुए उसके स्थायी भावका नाम 'शोक' दिया है (अथ करुणो नाम शोकस्थायिभावप्रभवः) और उसकी उत्पत्ति 'शापजन्य क्लेशविनिपात', 'इष्टजन-विप्रयोग', 'विभवनाश', 'वध', 'बन्धन', 'विद्रव' अर्थात् 'पलायन', 'अपघात', 'व्यसन' अर्थात् आपत्ति आदि विभावोंके संयोगसे स्वीकार की है। साथ ही करुण रसके अभिनयमे 'अश्रुपातन', 'परिदेवन' अर्थात् विलाप, 'मुखशोषण', 'वैवर्ण्य', 'त्रस्तगात्रता', 'निःश्वास', 'स्मृतिविलोप' आदि अनुभावोके प्रयोगका निर्देश भी किया है। फिर निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, औत्सुक्य, आवेग, मोह, श्रम, भय, विषाद, दैन्य, व्याधि, जड़ता, उन्माद, अपस्मार, त्रास, आलस्य, मरण, स्तम्भ, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु, स्वरभेद आदिको व्यभिचारी या संचारी भावके रूपमें परिगणित किया है (६ : ६१ ग)।

धनंजय (१० श० ई०), विश्वनाथ (१४ श० ई०) आदि आगेके संस्कृत आचार्योंने करुण रसके उत्पादक विविध कारणोंको संक्षिप्त करके 'इष्ट-नाश' और 'अनिष्ट-आप्ति' इन दो संज्ञाओंमे निबद्ध कर दिया है, जिनका आधार उक्त 'नाट्यशास्त्र'मे ही मिल जाता है। धनंजय—"इष्टनाशादनिष्टाप्तौ शोकात्मा करुणोऽनुतम्" (द० रू०, ४ : ८१)। विश्वनाथ—"इष्टनाशादनिष्टाप्तेः करुणाख्यो रसो भवेत्" (सा० द० : ३ : २२२)। हिन्दीके अधिकांश काव्याचार्योंने इन्हींको स्वीकार करते हुए करुण रसका लक्षण रूढ़िगत रूपमे प्रस्तुत किया है। चिन्तामणि (१७ श० ई० पूर्वा०)के अनुसार "इष्टनास कि अनिष्ट की, आगम ते जो होइ। दुःख सोक थाई जहाँ, भाव करुन कह सोइ" (क० कु० क० त०, ८)। देव (१७ श० ई० पूर्वा०)—"विनठे ईठ अनीठ सुनि, मनमे उपजत सोग। आसा छूटे चार विधि, करुण बखानत लोग" (शब्द र०, ३)। कुलपति मिश्रने 'रसरहस्य' (१६७० ई०)मे भरतके नाट्यके अनुरूप विभावोंका उल्लेख किया है और केशवदासने 'रसिकप्रिया'मे 'प्रियके विप्रिय करन'को ही करुणकी उत्पत्तिका कारण माना है।

जहाँतक करुण रसके देवताका प्रश्न है, हिन्दीके

कवियोंने अधिकतर 'यम'के स्थानपर 'वरुण'को मान्यता प्रदान की है और इस प्रकार भरतसे लेकर विश्वनाथतकको परम्परासे भिन्न पथका अनुसरण किया है। करुण रसके उद्दीपन-विभावका निरूपण प्रायः 'साहित्यदर्पण'के 'दाहादिकावस्था भवेदुद्दीपनम्' (सा० द०, ३ : २२३)के प्रभावसे किया गया है।

करुण रसकी परिव्याप्ति और परिसीमनका निर्धारण एक जटिल प्रश्न है। यद्यपि करुणका स्थायी भाव शोक माना गया है, पर शोक तभी सम्भव है, जब उसके मूलमें 'राग' या 'रति' किसी-न-किसी रूपमें निहित हो। आदिकाव्य 'वाल्मीकि-रामायण'से सम्बद्ध क्रौंचवधकी कथासे ही इसका सूत्र मिलता है। जिस क्रौंच-मिथुनमेंसे एकके वधका परिणाम 'शोक'के 'श्लोकत्व'में घटित हुआ, वह 'काममोहित' था। इस आधारपर कुछ काव्य-चिन्तकोंने करुणका क्षेत्र अन्य रसोंकी अपेक्षा अत्यन्त व्यापक बताया है और शृङ्गारादि रसोंको उसीकी परिधिमें समाविष्ट करनेकी चेष्टा की है। इसका सबसे अधिक श्रेय 'उत्तररामचरित'-के रचयिता भवभूतिको है। इन्होंने काव्यमें करुण रसकी महत्ता और व्याप्तिका मुक्त उद्घोष किया है—"एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्भिन्नः पृथक्पृथगिव श्रयते विवर्तान्। आवर्तबुद्बुदतरंगमयान्विकारानम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समग्रम्" (३ : ४७)। मानव-हृदयको सुखकी अपेक्षा दुःख अधिक तलस्पर्शी एवं द्रवणशील अनुभूति प्रदान करता है तथा वह अधिक गम्भीर एवं स्थायी आत्मिक एकता उत्पन्न करनेकी क्षमता रखता है, कदाचित् इसी आधारपर उक्त स्थापनाकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती है।

एक ओर जहाँ करुणको इतनी व्यापक महत्ता प्रदान की जाती है, वहीं दूसरी ओर आचार्योंने उसकी सीमाओंका भी निर्देश शृङ्गारादि अन्य रसोंकी तुलनामें सूक्ष्म रीतिसे किया है। अनुभावों और संचारियोंकी दृष्टिसे विप्रलम्भ शृङ्गार करुणके सबसे निकट पड़ता है, इसीलिए भरतसे लेकर वर्तमान कालतक काव्यके तत्त्वज्ञोंको दोनोंका मौलिक अन्तर स्पष्ट करनेकी ओर विशेष ध्यान देना पड़ा है। 'नाट्यशास्त्र'में करुणको निरपेक्ष और विप्रलम्भको सापेक्ष कहकर दोनोंका पार्थक्य प्रदर्शित किया गया है—'करुणस्तु···निरपेक्षभाव औत्सुक्यचिन्तासमुत्थः। सापेक्षभावो विप्रलम्भकृतः। एवमन्यः करुणः अन्यश्च विप्रलम्भः" (६ : ४५)। उक्त उद्धृत अंशके साथ भरतने "एवमेष सर्वभावसंयुक्तः शृङ्गारो भवति" अर्थात् "इस प्रकार यह शृङ्गार सब भावोंसे संयुक्त होता है"; यह टिप्पणी जोड़कर स्पष्ट निर्देश कर दिया कि वे करुणकी तुलनामें शृङ्गारको अधिक व्यापक भाव-भूमिपर आधारित मानते थे।

जो करुण इष्टनाशसे उत्पन्न होता है, वह तो विप्रलम्भसे सरलतासे पृथक् किया जा सकता है, क्योंकि नायक-नायिका, दोनोंकी सत्ता 'रति'की स्थितिके लिए अनिवार्य है। यदि दोनोंमेंसे किसीका अवसान हो जाता है तो 'रति'की स्थिति ही नहीं होती, अतः ऐसी दशामें केवल करुण ही सम्भव है। परन्तु अनिष्टप्राप्तिसे उत्पन्न होनेवाला करुण विप्रलम्भसे तबतक अलग नहीं किया जा सकता, जबतक 'रति' और 'शोक'की सन्निहित स्थितिमें किसी एककी प्रधानता व्यक्त नहीं हो जाती। 'स्वप्नावस्थित शोक'की विशेष स्थितिको मानते हुए मिश्र रसके रूपमें 'करुण शृङ्गार' और 'करुण वात्सल्य'की भी कल्पना की गयी है (आनन्दप्रकाश दीक्षित : काव्यमें रस, अध्या० [illegible], पृ० ४६७, ३८)। कृष्ण-काव्यमें भ्रमरगीतके प्रसंगमें गोपी-विरह, यशोदा-विलाप और 'अभिज्ञानशाकुन्तल'के चतुर्थ अङ्कमें कण्वके आश्रमसे शकुन्तलाकी विदाई तथा ऐसे ही अन्य स्थल शास्त्रीय परिभाषाके अनुसार करुण रसके अन्तर्गत न आते हुए भी न्यूनाधिक करुण प्रभाव उत्पन्न करते हैं। उर्मिला-विरह तथा रामवनगमनकी स्थिति भी समानान्तर ही है, कदाचित् इसीलिए इनके वर्णनमें कवियोंने 'करुणा' या 'करुण रस'-का स्पष्ट प्रयोग किया है। मैथिलीशरण गुप्त "करुणे, क्यों रोती है? 'उत्तर'में और अधिक तू रोई। मेरी विभूति है जो, उसको 'भवभूति' क्यों कहे कोई" (साकेत, [illegible])। तुलसीदास—'सुख सुखाहिं लोचन स्रवहिं सोक न हृदय समाइ। मनहुँ करुन रस कटकई उतरी अवध बजाइ" (रा० च० मा० : २ : ५३)। रामचन्द्र शुक्लने ऐसे ही स्थलोंको ध्यानमें रखकर करुण और विप्रलम्भका अन्तर बताते हुए लिखा है कि वियोगमें प्रियके अलगसे बिछुड़नेकी विह्वलता प्रधान होती है, किन्तु शोकमें अपने कष्टकी भावना उतना काम नहीं करती, जितना प्रियके कष्टकी चेतना जीको जलाती है। इससे भी भावकी प्रधानता और अप्रधानताके आधारपर ही करुण और शृङ्गारके बीच अन्तर करनेकी पुष्टि होती है। केशवदासने वियोग शृंगारके चार भेदोंमें एक करुण भी रखा है, जो इस बातका प्रमाण है कि दोनोंकी सीमा एक बिन्दुपर मिल जाती है।

करुण रसके साथ जो इससे भी महत्त्वपूर्ण समस्या सम्बद्ध रही है, वह है दुःखके द्वारा आनन्दकी उपलब्धिकी। करुणके द्वारा प्रत्यक्ष तो दुःखकी अनुभूति होती है, परन्तु भारतीय काव्यशास्त्रमें रसोंको आनन्दोत्पादक माना गया है, अतः सैद्धान्तिक दृष्टिसे करुण रसकी निष्पत्तिसे भी भावकको आनन्दकी ही उपलब्धि होनी चाहिये। करुण काव्यसे दुःखकी अनुभूति होती ही नहीं, यह कहना प्रत्यक्ष अनुभवका विरोधी समझकर आचार्योंने विविध प्रकारके तर्कोंसे इसका समाधान प्रस्तुत करनेका यत्न किया है। कुछ विद्वान् करुण प्रसंगोंमें आनन्दकी उपलब्धि सम्भव मानते हैं और कुछ इसके विरोधी हैं। संस्कृत काव्यशास्त्रमें इस विवादका मूल पर्याप्त प्राचीन है, इधर पाश्चात्य नाटकोंमें प्राप्त ट्रेजिडीकी समस्या तथा तत्सम्बन्धी प्राचीन ग्रीक मनीषियोंके मतोंपर भी इसीके साथ विचार किया जाने लगा है। 'ध्वन्यालोक' (२ : ८)में आनन्दवर्धन-(९ श० ई० उत्त०)ने न केवल करुणमें 'माधुर्य' एवं 'आर्द्रता'की स्थिति मानी है, वरन् उसे शृङ्गार और विप्रलम्भसे उत्तरोत्तर अधिक प्रकर्षमय भी बताया है, जिससे व्यंजित होता है कि वे करुण रसको शृङ्गारसे भी अधिक तृप्तिकर अथवा आनन्ददायक मानते थे। मुक्तिवादके प्रतिपादक भट्टनायकने कहा है कि रसदशामें सत्त्वोद्रेक होनेसे भावकके लिए भावके क्षेत्रमें 'स्व' और 'पर'का भेद समाप्त हो जाता है, जिसके फलस्वरूप भावकके सात्त्विक

आस्वादनमे उसे आनन्दकी उपलब्धि होती है। करुण रसमे भी यही बात चरितार्थ होती है। मधुसूदन सरस्वतीने 'भक्तिरसायन'में सत्त्व उद्रेकके आधारपर करुण आदि दुःखात्मक रसोंमे शुद्ध सत्त्वकी स्थिति न मानकर गुणोंमें तारतम्य स्थापित किया है। उनकी दृष्टिमे सतोगुण उद्रेक-शून्य होता है, जब कि 'क्रोध' और 'शोक'मे रजोगुण और तमोगुणकी प्रधानता रहती है, जिसमे इनमें न्यूनाधिक उद्रेक अवश्य मिलता है। इसी कारण रौद्र रस और उससे उत्पन्न करुण रस विशुद्ध आनन्दकी सृष्टि नहीं कर सकते। पर इसीके साथ अनुभूतिके लौकिक और अलौकिक रूपको भी स्वीकार करते हैं, जो रस-सिद्धान्त और उसके आनन्दवादका मूल आधार है। अभिनव गुप्तने रसदशाकी अलौकिक अनुभूति और उसकी विलक्षणताका सूक्ष्म विवेचन करते हुए हृदयकी मुक्त-दशामे आनन्दकी प्राप्ति मानी है, जो उनके विचारसे सभी रसोमे अनिवार्य रूपसे रहती है, अन्यथा रस-निष्पत्ति ही असम्भव है। विश्वनाथने केवल सचेतस् व्यक्तियोको करुण रसके प्रति आकर्षित होनेमे सक्षम बताया है और करुणकी रसात्मकताको सीमित किया है। भोजने धनञ्जय और विश्वनाथके ही तर्कके आधारपर "दुःखदातापि सुखं जनयति"का प्रतिपादन किया। जिस प्रकार रतिमे नखक्षतादि कष्टदायक होते हुए भी सुखसंवृद्धिके साधन होते हैं, उनके विचारसे उसी प्रकार करुण रसमे भी दुःखद वस्तुएँ सुखानुभूति उत्पन्न करती हैं। रामचन्द्र गुणचन्द्रने अपने 'नाट्यदर्पण'मे इसी बातको 'पानक रस'का उदाहरण देकर प्रतिपादित किया है, जिसमे सुखास्वादकी तरह तीक्ष्ण आस्वाद भी रुचिकर लगता है—"पानकरसमाधुर्यमिव च तीक्ष्णास्वादेन, सुखास्वादेन सुतरां सुखानि स्वदन्ते।' (पृ० १५९)।

कदाचित् इसी समस्यासे प्रेरित होकर अनेक आचार्योंने रसोंको दो भागोंमे विभाजित कर दिया। शृंगार, वीर, हास्य, अद्भुत और शान्त, ये पाँच रस अनुकूलवेदनीय होनेके नाते सुखात्मक वर्गमें रखे गये तथा करुण, रौद्र, वीभत्स और भयानक, ये चार रस प्रतिकूलवेदनीय होनेसे दुःखात्मक वर्गमे माने गये। रसोके इस वर्ग-विभाजनका मूल स्रोत काफी पुराना है, यद्यपि सर्वाधिक प्रसिद्धि इसके लिए रामचन्द्र गुणचन्द्रको ही मिली। उनके 'नाट्यदर्पण'-की १०९वीं कारिका है—'सुखदुःखात्मको रसः'। 'नाट्य-शास्त्र'की 'अभिनव भारती' टीकामें भी कहा गया है—'सुख-दुःखस्वभावो रसः', अर्थात् रस सुख-दुख स्वभाववाले होते हैं। यह 'नाट्यदर्पण'से पहलेकी रचना है। हरिपालके 'संगीतसुधाकर', रुद्रभट्टके 'रसकलिका,' धनञ्जयके 'दशरूपक' आदि अनेक ग्रन्थोमें भी करुण रसको दुःखात्मक मानकर उसकी आनन्दात्मकतापर विचार किया गया है। रसिकोंकी उसमें उत्तरोत्तर प्रवृत्ति होती है, इसको करुण रसमें स्थिर आनन्दका प्रमाण माना गया है यथा—"अत्रोत्तरोत्तरारसिकानां प्रवृत्तयः। यदि वा लौकिककरणवद्दुःखात्मकत्वमेवेह स्यात्तदा न कश्चित्तत्र प्रवर्तेत" (धनिककृत व्याख्या : द० रू०, ४ : ४४,४५)। इस समस्यापर अनेक आधुनिक मराठी विद्वानोंने भी विचार किया है। द० के० केलकरने अपने 'काव्या-लोचन' नामक ग्रन्थमे करुणकी दुःखात्मकताके पक्षमें तर्क प्रस्तुत किया कि यदि अश्रुपात आदि दुःखबोधक अनुभाव आनन्दके व्यंजक माने जायें तो इनकी उपस्थिति रति आदि सुखदशाओंमे भी होनी चाहिये, जो नहीं होती। अतः ये दुःखके ही लक्षण हैं और करुण दुःखात्मक रस ही है। उन्होंने एक मौलिक प्रश्न यह भी उठाया कि आनन्दको ही क्यों इतनी प्रमुखता दी जाय, दुःख भी प्रमुख है। करुणके नियतिकृत, व्यक्तिगत और आदर्शात्मक, ये तीन रूप मानते हुए उन्होंने आनन्दकी उपलब्धि केवल आदर्शात्मक करुणसे ही सम्भव मानी। आगरकर और जोग आदि विचारकोंने भी लगभग ऐसी ही धारणाएँ व्यक्त की है। दा० ना० आपटेने मनके अणु और विभु, दो भेद माने हैं और कहा कि अणुरूप मन निरन्तर आनन्दलीन रहता है। केवल विभुरूप मन दुःखादि लौकिक दशाओंसे सम्पृक्त होता है। आधुनिक मनोविज्ञान इन भेदोको स्वीकार नहीं करता, अतः इनपर आधारित करुण रसकी व्याख्या भी मान्य नहीं हो सकती। दि० के० बेडेकरने रसोंके पूर्वोल्लिखित सुख-दुःखात्मक विभाजनको 'देवासुरकथा'की पौराणिक परिकल्पनापर आधारित बताया, जिसके अनुसार करुण रस आसुरी रसोंकी कोटिमें आता है। (दि० 'आलो-चना' अंक ४)पर उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि "आधुनिक साहित्यमे करुण रस रौद्रका ऐसा अनुचर नहीं है। वह स्वतंत्र है। व्यक्तित्वका गौरव और श्रेष्ठ व्यक्तियों-मे छिपे किसी दोषके कारण उदात्त व्यक्तिको जो दारुण व्यथा सहनी पड़ी, वह आजकी करुण कथाओंका विषय है" (दि० वही)। मराठी साहित्यके एक अन्य विवेचक वामन मल्हार जोशीने करुण रसकी आधुनिक व्याख्या करते हुए उससे आनन्दकी सृष्टि सम्भव मानी है। बाटवे व्यक्ति-भेदके आधारपर ही करुणमें आनन्दकी स्थिति मानते हैं, उसी प्रकार जिस तरह विश्वनाथने सचेतस् व्यक्तियोंको ही करुणसे आनन्द पानेमें सक्षम बताया है। संक्षेपमें कहा जा सकता है कि आधुनिक रस-विवेचकोंने करुण रसके आनन्द-प्रद होनेकी प्राचीन स्थापनाका सर्वथा तिरस्कार नहीं किया है।

ट्रैजिडीको लेकर योरोपीय समीक्षकों द्वारा जो समाधान करुण दृश्योंके प्रभावके सम्बन्धमे व्यक्त किये गये, उनके मूलमे प्रायः अरस्तू (४ श० ई० पू०)का 'कैथार्सिस' सिद्धान्त किसी-न-किसी रूपमे अवश्य मिलता है। 'कैथार्सिस'(दे०)का अर्थ है मनोरेचन। भयद एवं कारुणिक दृश्योंके देखनेसे अन्तर्मनके विकारोका रेचन हो जाता है और यह अन्ततः चित्तवृत्तिके लिए स्वस्थ होता है। शेक्सपीयर (१५६४-१६१६ई०)के प्रसिद्ध दुःखान्त नाटकोंकी व्याख्या बहुधा इसी दृष्टिकोणसे की जाती रही है। निश्चय ही मनोरेचनका सिद्धान्त करुण भावोंके विवेचनमें एक महत्त्वपूर्ण विचार-कोण प्रस्तुत करता है। हीगेल (१७७०-१८३१ ई०)ने मनुष्य और ईश्वरके सम्बन्धकी रहस्यात्मकता तथा मानव-आचरणकी नैतिक भावनाको ट्रैजिडीका मूल माना। कारुणिक और दुःखद घटनाएँ मानव-जीवनको परिचालित करनेवाली किसी महान् रहस्यमयी शक्तिका बोध कराती हैं, अतएव साहित्यमें करुण दृश्योंका चित्रण

हीगेलके मतमें एक उद्देश्यविशेषको भी व्यक्त करता है और वह उद्देश्य नैराश्यका प्रसार न होकर जीवनके प्रति श्रद्धा और विश्वासका प्रसार है। शापेनहावर (१७७८-१८६०ई०), नीत्शे (१८४४-१९००ई०) आदि दार्शनिकों तथा ड्राइडन (१६३१-१७०० ई०), एडिसन (१६७२-१७१९ ई०), डि० क्विंसी (१७८५-१८५९ ई०) आदि समीक्षकोंने ट्रेजिडीकी समस्यापर पर्याप्त विचार प्रस्तुत किये हैं, जिनका स्वतन्त्र महत्त्व है।

करुण रसके भेद : साधन, आलम्बन धर्म-अपचय, मन-वचन-क्रिया तथा प्रभावकी मात्राको आधार मानकर करुण रसके अनेक भेद काव्यशास्त्रमें मिलते हैं। साधनके आधारपर 'इष्टजन्य', 'स्मृत अनिष्टजन्य' तथा 'श्रुत अनिष्टजन्य' आदि भेद मिलते हैं, जो मूलतः करुण रसके उत्पादक कारणोंके ही, 'इष्टनाश' और 'अनिष्टप्राप्ति', जिनका उल्लेख प्रारम्भमें किया जा चुका है, समानान्तर हैं। स्मृत और श्रुत केवल अनिष्टबोधके प्रकारको व्यक्त करते हैं, जिनके और भी प्रकार हो सकते हैं। 'रसतरंगिणी'में भानुदत्तने करुणके आलम्बनको दृष्टिमें रखकर 'स्वनिष्ठ' और 'परनिष्ठ' नामक दो भेद किये हैं। जब शाप, बन्धन, क्लेश, अनिष्ट आदि अपने अर्थात् आश्रयसे ही सम्बद्ध हों, दूसरे शब्दोंमें जब आश्रय ही स्वयं करुण रसका आलम्बन हो तो उसे स्वनिष्ठ करुण कहा जायगा, पर जब उक्त वस्तुओंका सम्बन्ध अपनेसे पृथक् आलम्बनसे हो तो वह परनिष्ठ करुण होगा। आनन्दप्रकाश दीक्षितने इनके स्थानपर 'करुणाजनक' और 'करुणाजनित' शब्दोंका प्रयोग वांछित माना है (काव्यमें रस : अप्र० थीसिस, पृ० ४३३, ३४)। भरतके 'नाट्यशास्त्र'में करुणके तीन भेद मिलते हैं—१. (अध्याय ६ : ७८) धर्मोपघातज, २. अपचयोद्भव, ३. शोककृत। इनमें अन्तिम शोककृत सबसे अधिक प्रभावशाली होता है। भावप्रकाशकारने मन, वचन और क्रियासे अभिव्यक्ति लक्षित करके करुणको मानस, वाचिक और कर्म तीन प्रकारका माना है। इन्हें अनुभाव-भेद कहा जा सकता है।

मात्राके अनुसार किये गये करुणके पाँच भेद उक्त भेदोंकी अपेक्षा हिन्दीमें अधिक प्रसिद्ध हैं—१. करुण, २. अतिकरुण, ३. महाकरुण, ४. लघुकरुण, ५. सुखकरुण। रीतिकालीन आचार्य कवि देवने अपने 'शब्दरसायन'के अन्तर्गत इन भेदोंका उल्लेख किया है—"करुना अतिकरुना अरु महाकरुन लघु हेत। एक कहत है पाँचमें, दुखमें सुखहिं समेत" (पृ० ३८)। गुलाबरायने अपने 'नवरस' नामक ग्रन्थमें इनपर विचार करते हुए लिखा है कि 'प्रथम तीन भेदोंमें तो करुणाकी मात्रा उत्तरोत्तर उच्च होती जाती है, पर लघुकरुणमें कुछ कम हो जाती है। वहाँ वह केवल चिन्ताके रूपमें रहती है। अनिष्टका नाम रहता है, पर आशा नहीं टूटती। चित्त दुविधामें रहता है। अनिष्ट-निवारणका पूरी तरहसे प्रयत्न होता रहता है। सुखकरुण वह करुण है, जो हर्षमें बदलनेवाला हो, किन्तु वहाँ पिछले वियोगजन्य करुणका प्रबल आवेग हर्षको प्रभावित कर मनुष्यको रुला देता है। हर्षके आँसू इसी प्रकारके होते हैं" (पृ० ४४१)। संस्कृत काव्यशास्त्रके प्रस्तुत ग्रन्थोंमें इनका उल्लेख नहीं मिलता, कदाचित् इसीलिए आनन्दप्रकाश दीक्षितने इन भेदोंको निस्सार बताया है। वे किसी-न-किसी दूसरे रसमें इनके अन्तर्भावके पक्षमें हैं। रसास्वादमें स्तरभेद उन्हें अभीष्ट नहीं, यद्यपि आनन्दवर्धन आदि आचार्योंतकने रसोंमें प्रकर्ष-भेद माना है। ये भेद निश्चय ही करुण रसकी अनुभूतिके विभिन्न स्तरोंको व्यक्त करते हैं और इन्हें सर्वथा निराधार या असिद्ध नहीं कहा जा सकता।

—न० दु०

हिन्दी साहित्यके वीरकाव्यमें करुण रसकी अभिव्यक्ति बहुत कम हुई है, यद्यपि मृत्यु और अनिष्टकी परिस्थितियाँ आयी हैं। कहीं-कहीं रसाभासके रूपमें करुण आया है। नाथ कविमें कहीं करुणाका दर्शन होता है (गो० वि०, १:३७)। यत्र-तत्र आभासभर मिलता है। भक्ति-साहित्यके आशा-उल्लासमें करुणको अधिक अवसर नहीं था, यद्यपि कृष्णके मथुरा जानेका प्रसंग अपनेआपमें करुण है और सूर जैसे कविने अत्यधिक भावात्मक शैलीमें अंकित भी किया है। वस्तुतः इस अवसरपर यशोदा तथा गोपियोंके मनमें कृष्णके विषयमें आशंकाका भाव करुणकी सृष्टि करता है। आगे गोपियोंकी वियोग शृंगारकी सघन मनोदशा यत्र-तत्र करुण जान पड़ती है। राधाका चित्र अपनी वियोग-व्यथामें मौन तथा करुण है। तुलसीके कथा-काव्यमें करुण रसको अवसर मिला है। कैकेयीके वरदानोंको सुनकर दशरथके मनकी करुणाका सुन्दर चित्रण तुलसीने किया है। इसके अन्तर्गत कविने राजाके मनके आशंका, मोह, विषाद, दैन्य, जड़ता, उन्माद, त्रास, स्तम्भ, मूर्च्छा आदि अनेक संचारियोंका सहज और सूक्ष्म अंकन किया है। इस करुणाके प्लावनमें सारी अयोध्या नगरी बह जाती है। राम-वन-गमन और बादमें दशरथ-मरणकी परिस्थितियाँ करुण रसके अनुकूल हैं और कविने इसका विशद वर्णन किया है। सुमन्त्रका अयोध्या वापस आना, दशरथका समाचार पाना, उनका मरण, भरतका अयोध्या आना आदि ऐसे प्रसंग हैं। इन करुण प्रसंगोंको तुलसीने 'कवितावली' तथा 'गीतावली'में भी चित्रित किया है। सूफी प्रेमी कवियोंने वियोगके वर्णनके अन्तर्गत करुण परिस्थितियोंका अवश्य अंकन किया है, उदाहरणके लिए जायसीका 'नागमती-वियोग' लिया जा सकता है। रीतिकालके कवि इसका समुचित निर्वाह नहीं कर सके, उनके उदाहरण कमजोर हैं। मुक्तकोंमें यह सम्भव भी नहीं था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने 'हरिश्चन्द्र' नाटकमें इसकी सफल अवतारणा की है। भारतेन्दुने तथा इस युगके कई कवि और लेखकोंने देश-दुर्दशापर भी करुण रसकी कविता की है। आधुनिक महाकाव्यों तथा प्रबन्धकाव्योंमें यत्र-तत्र इसका वर्णन मिलता है। छायावादी कवियोंमें महादेवीके काव्यमें करुणाका विशेष उल्लेख किया जाता है, पर यह भावाभिव्यक्ति वियोग शृंगारके अन्तर्गत आती है। —सं०

करुण विप्रलम्भ—दे० 'विप्रलम्भ शृंगार'।

करुणा—दे० 'महायान'।

कर्पूर—दे० 'बोल-कक्कोल-योग'।

कलमा—वह वाक्य, जो इस्लाम धर्मका मूल मन्त्र है। वह वाक्य है "ला इलाह इल्लल्लाह मुहम्मद रसूल

पशु और मनुष्यमें सबसे बड़ा अन्तर ऊर्ध्वोन्मुख चेतनाका है, जो उसे प्रकृतिपर विजय प्राप्त करने और परिस्थितिको इच्छित स्वरूप देनेमें समर्थ बनाती है। आहार-भय-मैथुनादि सामान्य पशु-क्रियाओंसे ऊपर उठकर मनुष्यने जब आत्मचैतन्य प्राप्त किया, तब उसमें एक नयी दीप्तिका आविर्भाव हुआ। जीवन-कलहसे थोड़ा अवकाश पाते ही मनुष्य अपने संघर्षपूर्ण अनुभवोंसे लाभ प्राप्त करता हुआ सुख-सुविधाकी ओर बढ़ता है। पर्णकुटीसे प्रासादतक बढ़ते हुए मनुष्यने अपनी निरन्तर वृद्धिमान् आवश्यकताओंकी पूर्ति ही नहीं की, अपितु उसने अपने भीतर उत्कृष्ट सौन्दर्य-चेतनाका विकास किया और शारीरिक आवश्यकताओंसे ऊपर उठकर मनकी सन्तृप्तिको अपना लक्ष्य बनाया। पक्वान्न और सुगन्धित द्रव्योंका आविष्कार, रंगोलीकी कला, चाँदी-सोनेके आभूषणोंका वैचित्र्य, चित्र और मूर्तिका निर्माण, इष्ट-मित्रों-के हास-विनोद, कथा और काव्य, ये सब मानवकी सतत विकासोन्मुख कला-चेतनाके ही विभिन्न स्वरूप हैं। मानसिक दृष्टिसे आह्लादकारक ये चेष्टाएँ मनुष्यके भाव-जगत्को निरन्तर तरलता और सुन्दरता प्रदान करती रही हैं।

कलाका 'उपयोगी कला' और 'ललित कला'में विभाजन किया जाता है और यह बताया जाता है कि उपयोगी कला व्यवहारजनित और सुविधाबोधी है तथा ललित कला मनके सन्तोषके लिए है और उसमें उस विशिष्ट मानसिक सौन्दर्यकी योजना है, जो उपयोगितावादसे भिन्न वस्तु है। परन्तु यह स्पष्ट है कि कलाके इन दोनों भेदोंका विकास साथ-साथ हुआ और मानवके सहजीवन और उसकी माधुर्य-साधनाके फलस्वरूप ही ये दोनों नित्य विकासमान् रहे। कर्म-कुशलता ही कला है। कला और मनुष्यका सम्बन्ध अविभाज्य है। मानवके द्वारा कलाकी प्रतिष्ठा हुई और कलाके द्वारा मानवने आत्मचैतन्य एवं आत्मगौरव प्राप्त किया। पाशविक विकारोंकी तीव्रता कम करनेमें 'साहित्य, संगीत, कला'का योग-दान अप्रतिम रहा है। कलाके द्वारा ही मानव-जीवनमें माधुर्य और सौन्दर्यशीलता-का जन्म हुआ और कर्तव्य-कर्म सुन्दर एवं मधुर बना।

कलाका उद्गम सौन्दर्यकी मूलभूत प्रेरणासे हुआ है। सौन्दर्याभिरुचिका प्रमाण मनुष्यकी अनुकरणप्रवृत्ति है। प्रकृतिका अनुकरण और अतिक्रमण मानवकी सर्वोपरि चेतना है। प्रकृतिके रमणीय दृश्य, जैसे सूर्योदय, सूर्यास्त, मानव-मनको आनन्दसे भरते रहे हैं। इन दृश्योंका वह स्वतः भी निर्माण करे, ऐसी इच्छा मनुष्यके मनमें जागरित हुई। कोकिलके पंचम स्वरने उसे संगीतकी प्रेरणा दी। इसी प्रकार निर्झरने उसे नृत्यके लिए अग्रसर किया। दुर्दम्य शत्रुओंके पराभवके उपरान्त अपने उल्लासको प्रकट करनेके लिए अथवा दैवकी कृतज्ञतामें बलिदानके अवसरपर मनुष्यके सामूहिक नृत्यगीत-अभिनयके आयोजनसे नाट्य-कलाको जन्म मिला। दुःखमय परिस्थितिको कल्पनामें डुबाकर जीवनके संघर्षोंमें उसने रस लिया और हर्ष-शोक, सुख-दुःखको रस-निष्पत्तिका विषय बनाया। कलामें क्षोभ और श्रमका परिहार है, मनका रंजन और उद्बोधन है, विगत अनुभवोंकी सुखद पुनरावृत्ति है, यह जब मनुष्यने जाना तभी तो आकांक्षा-मधुर कला-निर्मिति और कलानन्द-का जन्म हुआ।

कलाकी निर्मितिसे कलाकारको एक विशिष्ट आनन्दकी उपलब्धि होती है और आनन्द-दान ही कलाका उद्देश्य है। इस कलानन्दकी अनेक कोटियाँ हैं। परन्तु कलानन्द शास्त्रज्ञानसे उत्पन्न आनन्द (ज्ञानानन्द)से भिन्न और उत्कृष्ट है। ज्ञानानन्द अपने श्रेष्ठ स्वरूपमें अमूर्त और कष्ट-साध्य है। कठिन बौद्धिक श्रमके बाद ही उसकी उपलब्धि होती है, परन्तु कलानन्द भावनात्मक और मूर्त-स्वरूप होनेके कारण सरल-ग्राह्य और सार्वजनीन है। शास्त्रमें जहाँ तात्त्विक सत्यका विकास है, वहाँ कलामें अनुभूत सत्य अथवा काल्पनिक सत्यका प्रसार है। एक तरहसे ज्ञानानन्द-का मूल खण्डानुभवका सम्बन्ध-निर्धारण है, परन्तु कलानन्द समग्र दर्शन है। दोनोंके मूलमें उत्कण्ठाका भाव है। परन्तु यह उत्कण्ठा दो प्रकारकी है—ज्ञानमें ज्ञेय वस्तुकी पर-परता लक्षित है तो कलाप्रसूत आनन्दानुभूतिमें उसकी आत्मपरता अथवा स्वीयताकी स्वीकृति है। इस प्रकार कलानन्द ज्ञानानन्दसे श्रेष्ठतर है। इसीलिए उसे लोकोत्तर एवं 'ब्रह्मानन्दसहोदर' कहा गया है।

कलाका एक लक्ष्य कुतूहलपूर्ति भी है। मनुष्यको इन्द्रिय-बन्धनों एवं देश, काल, परिस्थितियोंकी मर्यादाओंसे ऊपर उठाकर कला कल्पनाकी सहायतासे कलाकारको कुतूहलपूर्ति एवं इच्छापूर्तिका साधन बनती है। इस कुतूहलपूर्ति एवं इच्छापूर्तिसे जिस उत्कर्षमय आनन्दका जन्म होता है, वही कलाका आनन्द है। अतः कलामें प्रत्यक्षकी अपेक्षा अप्रत्यक्ष, वस्तुस्थितिकी अपेक्षा सम्भाव्य और सत्यकी अपेक्षा कल्पनाका अधिक महत्त्व है। कल्पना द्वारा मनुष्य अपनी अनुभूतिमें नये प्रत्यय जोड़ता है, नये अनुभवोंमें जीता है। फलस्वरूप उसमें नवचैतन्यका जन्म होता है। यही कलाका आनन्द है। मनुष्य समाजप्रिय प्राणी है। अतः उसका सुख-दुःख अन्य प्राणियोंके सुख-दुःखसे बँधा है। इसीलिए उसका व्यक्तित्व समरस नहीं हो पाता। भावनाओं और विचारोंके संघर्षस्वरूप उसके भीतर जो आन्दोलन होते रहते हैं, वे उसे अपूर्णताकी दुःखद सूचना देते हैं। ऐसी स्थितिमें 'कला' उसके भीतर सन्तुलन स्थापित करती है। प्रणय-भंग, महत्त्वाकांक्षाका विरोध, किंकर्तव्यविमूढ़ता, अन्तर्मनका क्षोभ, ये कुछ ऐसे कारण हैं जिनपर मनुष्यका बस नहीं चलता। इसीसे मनुष्य अन्त-र्मुखी बनता जाता है और अपने भीतर ऐसे लोकका निर्माण करता है, जहाँ इन दुःखोंका बाध है अथवा अखण्ड आनन्द-की स्थिति है। यहींसे कलाका जन्म होता है। कलाके द्वारा मनुष्यका मानस-क्षितिज उदार, व्यापक और उन्नत बना है। उसने दुःखमें भी सुखकी अनुभूति की है। पीड़ा उसके लिए चन्दन बन गयी है।

क्यों मनुष्य त्रासकीय कलामें आनन्द प्राप्त करता है? कारण है मनकी अन्तर्मुखता, जो सुखद घटनाकी अपेक्षा करुण-गम्भीर घटनासे अधिक रस ग्रहण करती है। प्रेक्षक अपने क्षुद्र दुःखोंको भूलकर रंगमंचपर स्थित महान् व्यक्ति-(नायक)के दुःखमें विभोर हो जाता है, इस प्रकार सम-रसत्वको प्राप्त करता है। मानव मनका एक भव्य पहलू यह है कि वह तटस्थ वृत्ति ग्रहण कर सकता है और

साधारणीकरण द्वारा सबके सुख-दुःख अपना सकता है। कला इस अतिक्रमणमें उसकी सबसे अधिक सहायक है। कलाके आस्वादनसे अन्तःपरिहार और मनके उद्बोधनकी भी सृष्टि होती है। कलाके नन्दन वनमें प्रवेश करते ही भावकका सारा सन्ताप गल जाता है और परिस्थितियोंसे ऊपर उठकर प्रेक्षक अप्रत्याशित सफलताओंका अनुभव करता है। इस प्रकार कलानन्दके स्वरूप और कार्यके सम्बन्धमें अनेक प्रकारसे विचार किया जा सकता है।

कलाएँ अनेक हैं, परन्तु कलाका ध्येय सर्वत्र एक ही है—सौन्दर्यका अनुसन्धान अथवा रसानुभूति। कलाका जन्म मनकी जिस मधुमयी भूमिकासे होता है वह सर्वत्र एक है। प्रणय-वंचनाके दारुण दुःखकी अभिव्यक्ति चाहे नृत्याभिनयमे हो या मूर्तिमें या चित्र-संगीतमे अभिव्यंजनका स्वरूप भिन्न होनेपर भी मूल संवेदनामें कोई भेद नहीं होगा। समस्त कलाएँ परस्पर सम्बद्ध है और उनका लक्ष्य समान है। चित्र, नाट्य, संगीत, काव्य इत्यादि कला-प्रकारोंमे तरतमता स्थापित की गयी है, परन्तु यह भुला दिया गया है कि प्रत्येक कलामें आंशिक रूपसे सभी कलाओंका उपयोग सम्भव है। संगीतमे स्वर प्रधान है, काव्यमे शब्द, परन्तु श्रेष्ठ काव्यमें गेयताका कम उपयोग नही है। संगीत स्वतन्त्र कला है, परन्तु कवितामें वह शब्द रस-परिपोषक बनकर ही सार्थक होता है। प्राचीनोंने गीत, नृत्य और वाद्यका संगीतके भीतर ही समावेश किया था, क्योकि उनका मूलाधार है गतिमानता। यही गतिमानता छन्दपद्धतिके द्वारा प्रकट होती है। चित्रकलाकी भाषा है 'रंग' अथवा 'रेखा', परन्तु वाङ्मयमें शब्दचित्रोका कम महत्त्व नहीं है। शिल्पको तो मूक काव्य ही कहा जा सकता है। वास्तवमे महान् कलाकृतियाँ समान रूपसे सभी कलाओंको प्रभावित करती रही हैं। समस्त भारतीय चित्रकला और शिल्पकला 'रामायण' और 'महाभारत'पर आधारित है और महान् कला-मन्दिरों एवं चित्रोंने कवियोंको बराबर स्फूर्ति दी है। ऐसी स्थितिसे यह प्रश्न उठता है कि कलाके भिन्न-भिन्न प्रकारभेद किन आधारोंपर अवलम्बित किये जायँ। वास्तवमें कलाओंका अन्तिम ध्येय एक होनेपर भी माध्यमकी विभिन्नता और उसकी मर्यादा उनकी अभिव्यंजना-शैली एवं सामर्थ्यको सीमित कर देती है। इसीसे उनके आकार और वैशिष्ट्य भिन्न-भिन्न होने हैं, जैसे शिल्पकी साकारता चित्रमे नहीं है और न चित्रका रंग-वैशिष्ट्य चित्रमें है। नृत्यकी गतिमयता शिल्प, चित्र और अन्य स्थिर कलाओंमें नही है। संगीत श्रव्य कला है, उसके श्रुति-माधुर्यका अनुभव चित्रकलामें कहाँ मिलेगा? केवल नाट्य ऐसी कला है, जिसमें संगीत, नृत्य, शिल्प और वाङ्मय, सबकी संहति है, इसीलिए नाट्यकला जैसी सार्वजनीयता अन्य कलाओंमें नहीं है। नाट्यकला भिन्न-भिन्न रुचिके रसिकोंमें जिस प्रकार प्रियता प्राप्त कर सकती है, वैसा शेष कलाओंके लिए सम्भव नहीं है। अन्य कलाओंमें माध्यम बदलनेसे ही कलाका स्वरूप और उसका शास्त्र बदल जाता है।

कलानुभूति एकरस और अखण्ड है, यह ऊपर बता चुके है, परन्तु प्रश्न यह है कि कलानुभूतिका स्वरूप क्या है? पहली वस्तु जो स्पष्ट है, वह यह है कि कलानुभूति निर्वैयक्तिक है। उत्कृष्ट कलाकृति हमें व्यक्तिगत संकीर्णताओंसे ऊपर उठा देती है और हम आत्मविभोर हो जाते है। कलानंद (रस)के आस्वादनमें प्राथमिक स्तरोंपर चाहे जितनी भी चेष्टा करनी पड़े, यह स्पष्ट है कि कलानुभूतिके अन्यतम क्षणोंमें रसिक कलाकृतिमात्रसे साक्षात्कार प्राप्त करता है; उसके लिए जैसे शेष संसारकी स्थिति है ही नहीं। दूसरी बात यह है कि भावकको व्यक्तित्वसे मुक्ति देकर अथवा आत्मविभोर करके कला उसके भीतर लोकोत्तर आनन्दका संचार करती है। ब्रह्मानन्दकी कल्पना भी कुछ ऐसी ही है, परन्तु ब्रह्मानन्द स्थायी वृत्ति है, कलानुभूति (रसानुभूति) क्षणिक और स्वल्प है। दोनों प्रकारके आनन्दका आधार 'भूमा' (आत्मविस्तृति)का सुख है। 'भूमामें सुख है, अल्पमें नहीं', ऐसा श्रुति कहती है। साथ ही ब्रह्मानन्दमे सत्यका भी प्रत्यक्षीकरण है, अर्थात् प्रत्यक्ष (वास्तव)का दार्शनिक ज्ञान भी सम्मिलित है तथा नैतिक दृष्टिकोणका भी समावेश है। कलानुभूति निर्विशेष रसानुभूतिमात्र है, उसके लिए न दर्शनज्ञानकी अपेक्षा है, न उसके साथ कोई नैतिक दायित्व चिपटा हुआ है। वह अपनेमे पूर्ण है। मोक्ष-सुखसे वह न्यूनतर इसलिए है कि वह अचिरस्थायी है और उसका स्रोत भोक्ताके बाहर है, भीतर नही। फिर भी अनुभूतिकी एकान्विति और उसकी विचक्षणता उसे सामान्य लोकानुभूतिसे उत्कृष्ट बना देती है।

यह कहा जा सकता है कि कला जीवनसे पराङ्मुख हो सकती है, वह नीति-निरपेक्ष बन सकती है, परन्तु ब्रह्मानन्दमें जीवन और नीति दोनोंका अन्तर्योजन है। इसीसे कला सार्वजनीन और सहजसाध्य भी है। परन्तु कलाकारका दायित्व मात्र कलाके प्रति है। इसी प्रकार कला-रसिक अपनी अनुभूतिकी सच्चाईके प्रति ही उत्तरदायी है। जहाँ रसानुभूति जीवनसे पराङ्मुख न होकर जीवनको अन्तर्योजित करनेमें समर्थ हो जाती है अथवा उच्च नैतिक भूमियोंका उद्घाटन करने लगती है, वहाँ वह अपनी सीमाका विस्तार ही करती है। उत्कृष्ट कलाका स्थायी मान मानवीयता है, जिसमें लोकमंगल और नीतिमयताका समाहार है। वह समग्र और समष्टिगत अनुभव है। इस दृष्टिसे वह मानवकी विशुद्धतर और चरमतर संवेदना है। सम्भवतः इसीलिए श्रुति 'कविर्मनीषी' कहकर कवि और द्रष्टा (ऋषि)को एकीकृत कर देती है।

कलामें जीवनके प्रति पलायन नहीं है, उसमें जीवनकी रसपूर्ण स्वीकृति है। जहाँ कला जीवन-वैषम्यसे भागकर कलाके आदर्शलोकका निर्माण करती है, वहाँ वह अन्ततः जीवनकी ओर लौटकर उसे देवोपम बनाना चाहती है। इसीसे उत्कृष्ट कवि और कलाकार जीवनके प्रति अपने दायित्वकी अवहेलना नहीं करते। उत्कृष्ट कलामें दुःखवादको कोई स्थान नही है, क्योंकि कला जीवनके प्रति आस्थाको पुष्ट करती है और जीवनके प्रति आस्था, मनुष्यके प्रति आस्थाका ही दूसरा नाम है। कलाकारका विशद एवं गहन मानव-प्रेम ही उसे देवत्व प्रदान करता है। कलाकार

मूर्त्तके भीतरसे उस अमूर्त्त सौन्दर्य और अक्षय प्रेमकी झाँकी देता है, जो समस्त दृश्यमान् वस्तुओंको एक सूत्रमें ग्रथित करता है। इसीलिए कलामें ही मनुष्य वस्तुन्मुख जगत् और मानव-स्वभावकी दुर्बलताओं एवं असंगतियोंका अतिक्रमण करनेमें सफल होता है।

कलानुभवकी प्रक्रियाके सम्बन्धमें भी पूर्व और पश्चिममें विस्तारपूर्वक विचार हुआ है। कलानुभवमें कलाकारके मनकी स्थिति क्या है? कलाविदोंका विचार है कि कलानुभवी मानस कला-विषयकी समग्र अनुभूतिको प्राप्त होता है। यह 'समाधि'की अवस्थामें ही सम्भव है, जब कलाकारका मन अनुभूति विषयसे तद्रूप हो जाता है। परन्तु वहाँ प्रश्न यह होता है कि क्या मन द्वारा सौन्दर्यानुभूति और रसास्वादन पूर्वापर प्रक्रियाएँ हैं अथवा उनमें नैरन्तर्य तथा तादात्म्य है? भारतीय कला-मतमें सौन्दर्यानुभूति और रसास्वादनकी प्रक्रिया तात्क्षणिक और एकान्वित है और इसीलिए कला-सर्जन एवं रसास्वादनकी प्रक्रियामें निरन्तर आनन्दबोध होता चलता है। इसी नैरन्तर्यके कारण कला-चेतना समीक्षात्मक है, अर्थात् सर्जन-वेलामें कलाकारका मन अपनी कृतिको अपने सम्मुख रखकर उसके गुण-दोषकी सूक्ष्म विवेचना करते हुए निर्माणके अग्रचरणोंकी ओर अग्रसर होता है।

भारतीय कला-दर्शनके अनुसार कलाचेतना भावमूलक है। इसीलिए स्थायी भावोंका कलामें महत्त्वपूर्ण स्थान है। जीवनमें भी इन स्थायी भावोंकी अनुभूति हमें होती है, परन्तु यह अनुभूति व्यक्तिगत स्तरपर होती है और उसमें रसानुभवका निर्लेप एवं साधारणीकरण नहीं होता। कलाचेतना हमारे भावोद्रेकको व्यक्तिगत चेतनासे ऊपर उठाकर उसे तटस्थता एवं सार्वभौमिकता प्रदान करती है। इसीसे त्रासकीय दुःखका लोकोत्तर आनन्दमें परिहार हो जाता है, परन्तु यह कहना उचित नहीं है कि रसानुभवमें बुद्धिका बाध है अथवा मानवीय चेतनाके अन्य अंगोंका उसमें किंचिन्मात्र भी उपयोग नहीं होता। ध्वनिकारने वस्तु-ध्वनि, अलंकार-ध्वनि और रस-ध्वनिके रूपमें कलानुभूतिके तीन स्वरूपोंका निर्देश किया है, जिनमें कलाचेतनाकी सर्वसंहृति है। इनमें रसध्वनिकी प्रमुखता होनेके कारण 'रस'को ही कलानुभूति मान लिया गया है, परन्तु इस माननेमें अन्य चेतनाओंकी अस्वीकृति नहीं है। फिर भी यह आवश्यक नहीं है कि पश्चिमी कला-दर्शन भी 'रस'के उसी रूपको स्वीकार करे, जो भारतीय कला-दर्शनने माना है। पश्चिममें कलात्मक सौन्दर्यको बुद्धिग्राह्य ही माना गया है और वहाँ अलंकार-ध्वनिकी भूमिकापर ही रसानुभूतिकी स्थापना की गयी है।

मनुष्यकी समग्रगत चेतनाको 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' सूत्रमें ही बाँधा जा सकता है। सत्य दर्शनका विषय है, शिव धर्मका अनुसन्धान है और सुन्दरका शोध कलाका मूलस्रोत है। इस प्रकार मानवीय चेतनाका एक प्रमुख अंग ही कलासे परितोष प्राप्त करता है। दर्शन ज्ञानमूलक है तो धर्म नीतिमूलक। कला ज्ञान और नीतिसे पुष्ट होकर अपने सीमित क्षेत्रका अतिक्रमण करती है। उसका ज्ञान और नीतिसे प्रकृतिगत विरोध नहीं है, परन्तु अपने मूल-रूपमें वह बुद्धिनिरपेक्ष और नीतिनिरपेक्ष है। कलाकी इन सीमाओंको समझकर ही हम उसके साथ न्याय कर सकेंगे। —रा० स०

कलापक्ष–साहित्य तथा काव्यका अन्तरंग उसका बोधपक्ष है और बहिरंग कलापक्ष। दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं। बहिरंग काव्यको उत्कर्षमय बनाते हैं तो अन्तरंग कलापक्ष अथवा बहिरंगको सार्थकता प्रदान करते हैं। काव्यके सम्बन्धमें एक प्राचीन रूपक है, जिसमें कविताकी तुलना लावण्यवती युवतीसे की गयी है। शब्दार्थ जिसका शरीर है, अलंकार आभूषण है, रीति अवयवोंका गठन है, गुण स्वभाव और रस आत्मा है। इस रूपकमें शरीरस्थ आत्माकी तरह रसको सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया गया है। काव्यके बाह्यांग छन्द (वृत्त), शब्दार्थ, अलंकार और गुण-रीति हैं। काव्यका अन्तरंग भावना, कल्पना और विचारके अन्तर्भावसे निर्मित होता है। कुछ रसिकजन बाह्यांगको अधिक श्रेय नहीं देते, परन्तु असुन्दर बाह्यांगमें सुन्दर आत्माकी कल्पना बहुत कुछ भ्रान्त है। यह अवश्य है कि अन्तरंग सौन्दर्यका बाह्यांगसे अधिक महत्त्व है, परन्तु खरादपर चढ़नेके बाद मणिका सौन्दर्य द्विगुणित हो जाता है। वास्तवमें सौन्दर्यकी प्रतीति बहिरंग और अन्तरंग दोनोंके समन्वयसे होती है और ये विविध अंग परस्पर पूरक हैं तथा इनके समग्रगत प्रभावसे ही रसनिष्पत्ति होती है। काव्यस्वरूप समग्रगत है, अतः कलापक्षका स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं है। अध्ययनकी सुविधाके लिए ही उसे अलग कर लिया गया है।

वैसे गद्य-पद्य, दोनों प्रकारकी रचनाओंमें कलापक्षका विवेचन सम्भव है, परन्तु गद्यमें कलापक्षका उतना विस्तार नहीं है, जितना पद्यमें। गद्य विचार-शक्तिको जाग्रत् करता है, पद्य कल्पना-शक्तिको। गद्यका उद्देश्य अर्थबोध, पद्यका उद्देश्य आनन्द है। गद्य तर्कनिष्ठ है, पद्य भावनानिष्ठ। अतः जहाँ गद्यमें व्यवहारोपयोगिता देखी जाती है, वहाँ पद्यमें संगीतोपयोगिता और भावोत्कृष्टता। ओजस्विता और समासप्राचुर्य श्रेष्ठ गद्यके गुण हैं तो पद्यका गुण है 'मधुर कोमलकान्त पदावली'। इसीलिए कलानिष्ठा पद्यका विषय है, गद्यका नहीं।

पद्यका कलापक्ष छन्दोबद्धतासे आरम्भ होता है, क्योंकि कविताके लिए लयबद्ध होना अनिवार्य है। मनुष्यके भीतर आन्दोलनकी जो मूल इच्छा है, उसकी तृप्ति छन्दके द्वारा ही होती है। प्रदीप्त-भावना लयबद्धता और ताल-बद्धताका ही आश्रय लेती है। क्रौंच-वधका शोक 'श्लोक'के रूपमें प्रकट हुआ, यह कोई चमत्कार नहीं था। प्रकृतिकी योजना ही ऐसी है कि उद्दीप्त भावना छन्दका रूप ग्रहण कर लेती है। नाद और लयमें विलक्षण सामर्थ्य है और इसीलिए छन्द मनको अधिक भावनाग्राही और संवेदना-मूलक बना लेता है। अनुकूल छन्द पाकर कविकी भावना अत्यन्त आकर्षणमयी बन जाती है। छन्दकी नादमयता और उसका आन्दोलन गद्यानुवादमें नहीं आता। इसीलिए उत्कृष्ट काव्यकृतिका रसास्वादन मूलमें ही सम्भव है। इस प्रकार छन्दोमयतामें काव्यका महत्त्व सन्निहित है। छन्दमें ही काव्य माधुर्य और गतिको प्राप्त होता है। कविताका गूढ़ गुञ्जन बहुत कुछ छन्दोमयता और गतिमानतापर

आधारित है। अर्थके सम्बन्धमें विद्वानोंमें भले ही मतभेद हो, परन्तु 'छन्द' (नाद-लय)के प्रभावको अस्वीकार करना सबके लिए कठिन है।

वृत्त (छन्द) और विषयकी अनुरूपता आधुनिक काव्यने भी स्वीकृत है. यद्यपि वह प्राचीन कलावादिताके विपरीत एक नयी प्रकारकी कला-प्रणालीकी सृष्टि करती है। वास्तवमें कलापक्षका एक महदंश छन्द-योजनापर परिसमाप्त हो जाता है।

परन्तु कला-योजनाका एक दूसरा रूप काव्यगत शब्द योजनाको लेकर है। पारिभाषिक शब्दावलीमे इसे शब्दालंकारोंका उपयोग कह सकते है। यमक, अनुप्रास, श्लेष—तीन प्रमुख शब्दालंकार है। यमक और अनुप्रासके समुचित उपयोगसे काव्यकी शोभा बढती है, इसमे किञ्चिन्मात्र भी शंका नही है। संवादी स्वरोंके उच्चारणसे एकतानता और सुरीलेपनका आभास होता है और काव्यकी सुश्लिष्टता एवं सौष्ठवकी वृद्धि होती है। यमक और अनुप्रास काव्यको अर्थगौरव भले ही न दें पर वे उसे स्मरणीय और रमणीय बना देते हैं। नाद-माधुर्यके निर्माणमे अनुप्रासका कम महत्त्व नहीं है। फिर भी यह निश्चित है कि इन अलंकारोके अतिरेकसे काव्य शोभाहीन बन जाता है। श्लेषमें कौतुकसृष्टि है। उसमे भी संयम अनिवार्य शर्त है।

प्राचीन कवितामें अलंकारोंका प्राबल्य था, उसीकी प्रतिक्रियामें आधुनिक काव्यमे अनलंकृत रचनाकी चाल चल पडी है। आधुनिक जीवन जिस प्रकार अनपेक्षित भारको उतारकर फेंकनेमें समर्थ हुआ है, उसी प्रकार आधुनिक काव्यकी चाल भी चपल है और उसमे गरिमाको छोड़कर चपलताका आदर्श ग्रहण किया गया है। यह कहा जाता है कि आधुनिक साहित्य सुसंस्कृत समाजके लिए नहीं रचा जाता, वह सामान्यजनके लिए है। परन्तु सामान्य अशिक्षित स्त्री-पुरुष भी पद-पदपर आलंकारिक भाषाका आश्रय ग्रहण करते है। समाचारपत्र जैसे व्यवहारोपयोगी वाङ्मयमे भी आलंकारिकताकी छाप रहती है। सम्भव है कि यह आरोप कृत्रिम हो। कलामात्र ही कृत्रिम है। उसमें सत्यकी अपेक्षा सत्याभासका अधिक महत्त्व है। अलंकार कृत्रिमत्वका सर्जन करते है तो शोभाकी वृद्धि भी करते है। कलावन्तका कौशल कृत्रिमताको इस प्रकार छिपा लेता है कि वह घनीभूत वास्तविकता बन जाती हैं। यह भी आक्षेप लगाया जाता है कि अलंकार भावनाके मारक है, पोषक नही, परन्तु केवल अतिरेक होनेपर ही यह सिद्ध होता है। श्रेष्ठ कवि और कलाकार अलंकारसे अभिव्यक्तिमे सहायता लेते है। ऐसे सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते है, जहाँ अलंकृत प्रयोग द्वारा विवेच्य, आकर्षक और मनोरम बन गया है। साहित्यकी सौन्दर्य-वृद्धिमें अलंकार निश्चय रूपसे सहायक हैं और उनके समुचित उपयोगसे काव्यानुभूति सुसज्जित और प्रभावशाली बनती है।

काव्यमें स्पष्ट अर्थबोधकी अपेक्षा सूचकता अथवा ध्वन्यर्थका अधिक महत्त्व है, क्योंकि शास्त्रीय विवेचनामें जिस स्पष्ट प्रतिपादनकी आवश्यकता होती है, वह काव्यमे भिन्न वस्तु है। पूर्ण विकसित फूलकी अपेक्षा अस्फुट कलीमें अधिक प्रियता है, क्योंकि उसमे अभी विकासकी सम्भावनाएँ सन्निहित है। इसी प्रकार अभिधार्थकी अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक सूक्ष्म और आकर्षक होता है। सच तो यह है कि सभी कलाओंमे व्यंजना-तत्त्वकी प्रधानता है, चाहे चित्रकला हो या संगीत या मूर्तिकला। काव्यगत प्रत्येक शब्दके उच्चारणसे भावकमे अनेक भावकल्पना-तरंगें आन्दोलित हो उठती है, तभी शब्दप्रयोग सार्थक होता है। जलाशयके स्थिर जलमें कंकड़ मारनेसे जिस प्रकार दूरगामी आवर्तोंका जन्म होता है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यंजक शब्द सहृदयके मानसमें अनेक भावावर्तोंकी सृष्टि करता है। विशिष्ट मानसोपकरणके अनुकूल सहृदय उनमेंसे कुछ तरंगावर्तोंको ग्रहण कर लेता है।

ध्वनि रस-निष्पत्तिमें भी सहायक होती है। वास्तवमें रसको अभिधेय नहीं, व्यंग्य माना गया है। रस अन्तर्वर्तिनी भावस्थिति है और ध्वनि या सूचकता अन्तर्मनके निगूढ अनुभवों और सूक्ष्म भावावर्तनोंको तलपर उभारनेमें समर्थ होती है, जिससे भाव-स्थिति पुष्ट होकर रसका रूप ग्रहण करती है। ध्वनि-काव्यपर गूढ़ता अथवा क्लिष्टताका लांछन लगाया जाता है, परन्तु ध्वनिमूलक गूढ़ गुंजना दुर्बोधता नही है, उसमें रसप्रतीतिकी स्फीत धारा अन्तर्निहित है। उसमें वाचककी बुद्धिमत्ता अथवा प्रज्ञाशीलताके विषयमें समादर भी निहित है। ध्वनिकाव्यका मूलाधार भाषाका विलक्षण और चमत्कृत प्रयोग है और इसीलिए उसके वाचकको रसज्ञ ही नही, विदग्ध भी होना चाहिये।

कलापक्षमें भाषाका अध्ययन भी आता है। काव्यके माध्यमसे प्रसंग, स्वभाव, भावना, विचार, अन्तर्द्वन्द्व इत्यादि भाषामें द्योतित होते है, अतः भाषा काव्य या साहित्यका व्यवहार-पक्ष है। काव्यमें किस भाषाका उपयोग हो, इस सम्बन्धमें कोई भी नियम बनाना कठिन है, परन्तु लयबद्ध, नादानुकूल, आलंकारिक एवं व्यंजक भाषा आदर्श काव्यभाषा है। भाषा भावाभिव्यक्तिका एक साधन है, परन्तु यह एक अत्यन्त लचीला साधन है। व्यक्तिके मनस्संघटन एवं स्वभावका परिणाम ही उसकी भाषा-शैली है। अतः भाषा-शैलीमें व्यक्तित्वका सम्पूर्ण प्रकाश है और उसके माध्यमसे व्यक्तित्वका भी अध्ययन हो सकता है। व्यक्तिनिष्ठ होनेके कारण ही साहित्यके बोधपक्ष और रूपपक्षको अलग करना सम्भव नही है, क्योकि भाषा और विचार अन्योन्याश्रित हैं।

भाषा-सम्बन्धी विशेषता शब्दार्थ-सम्बन्धको लेकर है अर्थात् भाषा इष्टार्थबोधका परम साधन है। परन्तु जहाँ विचार-दारिद्र्य है, वहाँ शब्दोंका व्यर्थ इन्द्रजाल भी खड़ा हो सकता है। अतः योग्य शब्दका संगत प्रयोग ही अभीष्ट है और यही कलापक्षका प्रथम सोपान है। परन्तु भाषाका सामर्थ्य उसकी व्यंजना-शक्तिमें ही है। इसी व्यंजनातत्त्वके पोषणसे अर्थ-गौरवकी सृष्टि होती है। रीति और गुण भाषाके ही तत्त्व है। प्रसाद, ओज और माधुर्य अथवा वैदर्भी, गौड़ी और पांचालीके रूपमें प्राचीन काव्य-शास्त्रने जिन भाषा-तत्त्वोंकी ओर संकेत किया था, वे सार्वदेशिक और सार्वकालिक हैं। इन्हींके व्यक्तिगत प्रयोगसे विशिष्ट लेखन-शैलीका निर्माण होता है।

परन्तु काव्यमें इन गुणोंके अतिरिक्त एक और भी गुण है, जिसे 'गेयता' कह सकते हैं। गेयताका आधार नाद-माधुर्य है, जो अनुकूल शब्द-योजनाके द्वारा माधुर्यमयी चित्तवृत्तिको जन्म देता है। शृंगार, शान्त और करुण रसोंमें माधुर्य गुणकी प्रतीति विशेष होती है। गीतिकाव्यमें कलापक्षका महत्त्व कुछ अधिक बढ़ जाता है, क्योंकि उसमें कविकी अन्तर्मुखी दृष्टि और तज्जन्य भाववृत्तिको शब्दका रूप देना होता है। अस्फुट, मधुर, अव्यक्त भाव संगीतके सूक्ष्मतम आवर्तोंमें बँधकर ही श्रेष्ठ 'गीति'की सृष्टि करते हैं।

प्राचीनोंने काव्य-गुण और काव्य-दोषके रूपमें जो विस्तृत विवेचन किया है, उसमें बहुत कुछ ऐसा है, जो काव्यके कलापक्षपर लागू होता है। गुण-दोष अनेक हैं और कला-पारखीके लिए उनका अध्ययन अनिवार्य हो जाता है। यतिभंग, वृत्तदोष, पुनरुक्ति, असंगत कल्पना आदि अनेक दोषोंका विस्तृत विवेचन हुआ है। गुणोंको ध्यानमें रखकर और दोषोंसे ऊपर उठकर ही कलापक्षको समृद्ध बनाया जा सकता है।

अन्तमें हमें 'औचित्य'के सम्बन्धमें भी कुछ निर्देश कर देना है, जिसे एक सम्प्रदाय-विशेष काव्यका प्रमुख उपकरण मानता है। जहाँ तक कलापक्षका सम्बन्ध है, औचित्य अतिरेकमें नहीं, संयममें है। देश, काल, परिस्थितिके अनुसार शब्द, अलंकार, वर्णन इत्यादिका सम्यक् प्रयोग औचित्य कहलाता है। उत्कृष्ट कोटिके शैलीकारके लिए शब्द-सम्पत्ति इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं, जितनी उस मानसिक गुणकी आवश्यकता है, जो उपयुक्त स्थानपर योग्यतम शब्दकी स्थापना कर सके। छन्द, अलंकृति, भाषा, शैली, सभी क्षेत्रोंमें उपयुक्त रूप-विन्यास और सम्यक् योगायोग औचित्यकी योजनापर ही आश्रित है।

कलापक्षको बहुधा भावपक्षसे स्वतन्त्र और अधिक श्रम-साध्य समझा जाता है। परन्तु वह वस्तुतः कविके व्यक्तित्व और उसके मनःसंगठनसे अनन्यतः सम्बन्धित है। कविके व्यक्तित्वकी विभिन्नतासे ही कलापक्षमें विभिन्नता आ जाती है, क्योंकि रुचि-वैचित्र्य और दृष्टिकोणकी विलक्षणताके अनुसार कोई कवि छन्दपर बल देता है तो किसीको अलंकार प्रिय है, कोई रीतिवादी है तो किसीको वाग्वैचित्र्य अथवा गूढ़ व्यंजना प्रिय है। भावकी तरलता, गहनता और अनन्यताके रूपमें भी कलापक्षमें विशदता, संकोच अथवा गूढ़ताका योग हो जाता है। वस्तुतः भावपक्षसे स्वतन्त्र कलापक्षकी कोई स्थिति है ही नहीं।—रा० र० भ०

कलाली—कलालीका अर्थ शराब पिलानेवाली है। इस शब्दका प्रयोग सूफियोंने नहीं किया है, लेकिन निर्गुणिया सन्तों, जैसे रैदास आदिने इसका प्रयोग किया है। गुरु तथा परमात्माके लिए इसका प्रयोग सांकेतिक रूपमें किया गया है। सूफियोंने 'साकी'का प्रयोग इसी अर्थमें किया है (दे० 'साकी', 'शुण्डिनी')। —रा० पू० ति०

कलावाद—कलावाद (कला कलाके लिए)को उस अर्थमें 'वाद' मानना कदाचित् कठिन होगा, जिस अर्थमें अन्य साहित्यिक, दार्शनिक अथवा राजनीतिक 'वाद' ग्रहण किये जाते हैं। यह कलाके प्रति एक दृष्टिकोण-विशेषका परिचायक है, जिसकी [illegible] समन्वय [illegible] किया है। भारत-वर्षमें भी काव्यके अलंकार, रीति आदि ऐसे अनेक सम्प्रदाय [illegible] हैं, जिन्होंने कलापक्षको अधिक महत्त्व-पूर्ण मानते हुए उसपर विशेष बल दिया। आधुनिक कला और साहित्यके क्षेत्रमें कलावादको नैतिक उपयोगितावादके प्रतिलोम अर्थमें उसके प्रतिपक्षी रूपमें उपस्थित किया है। एक पक्ष द्वारा कलावादको [illegible] कहा जाता है तो दूसरा पक्ष ऐसे उपयोगितावादको स्थूल सामाजिकताका आग्रह करता जान पड़ता है। कलावादी कलाको लोकातीत वस्तु, कलाकारको लोकोत्तर प्राणी और कलाजन्य आनन्दको अलौकिक आस्वादरूप एवं समाज-निरपेक्ष मानता है, जब कि उपयोगितावादी कलाको समाजकी मनोवृत्ति परिवर्तित करनेका एक सशक्त साधन मानते हुए उसे सिद्धान्त-प्रचारका सर्वप्रमुख साधन समझता है। ये दोनों सीमाएँ हैं। कुछ विचारक मध्यमार्गका अनुसरण करते हुए कलाके व्यक्तिपक्ष और समाजपक्षका समन्वय स्थापित करनेकी चेष्टा भी करते हैं। इस प्रकार कलावादके प्रति मुख्यतया तीन प्रकारकी दृष्टियाँ और तदनुरूप तीन विचारधाराएँ मिलती हैं।

योरोपीय कलाका वास्तविक इतिहास ग्रीक और रोमन धार्मिक शिल्पकी परम्परासे प्रारम्भ होता है। प्लेटो और अरस्तूने कवियों एवं कलाकारोंके सम्बन्धमें जो धारणाएँ व्यक्त की उनसे ज्ञात होता है कि प्राचीन यूनानमें हेलेनिस्टिक कालमें कलावादी विचारधारा पर्याप्त प्रमुखता रखती थी, अन्यथा उसके सजग सामाजिक परिसीमनका कोई आधार ज्ञात नहीं होता। प्लेटोके 'रिपब्लिक'में कल्पनाशील कलाकारोंके अनियन्त्रित प्रभावको नैतिक एवं सामाजिक दृष्टिसे अवांछित माना गया है। अरस्तूने कलाके प्रति अपेक्षाकृत उदार दृष्टिकोण अपनाया। सौन्दर्य सम्बन्धी सिद्धान्तोंके एक प्रसिद्ध समीक्षक बूचरका कथन है कि अरस्तू पहले विचारक थे, जिन्होंने सौन्दर्य-शास्त्रसे नीतिशास्त्रका पृथक्करण किया और यह भी बताया कि एक परिष्कृत आनन्दानुभूति ही काव्य-कलाका चरम ध्येय है।

इतना होते हुए भी अरस्तूने अपने गुरु प्लेटोकी नैतिक सामाजिक धारणाका तिरस्कार नहीं किया। कलामें नैतिक प्रयोजन तथा उपदेशात्मकता उन्हें अमान्य नहीं हुई। रोमन विचारक सिसरोने 'डेकोरम' और भव्यताको कलाका प्रधान प्रतिपाद्य माना। लोंजाइनसने अवश्य मध्यमार्गका अनुसरण किया। एक ओर उसने शिक्षा और दूसरी ओर मनोरंजनसे कलाको भिन्न एवं श्रेष्ठ माना तथा उसे संप्रेरणाके उच्च धरातलपर प्रतिष्ठित करके उसके स्वतन्त्र मूल्यांकनका प्रश्न उठाया। भावनाके उदात्तीकरणको उसने कला तथा काव्यकी मुख्य ध्येय बनाया। डायोनीसियस और डिमेट्रियस आदि अन्य रोमन आचार्योंने कलावादी वृत्तिके अनुरूप शैली पक्षपर ही विशेष विचार किया और प्रायः उसीको अधिक महत्त्व दिया। अन्धकार-युगके एक विस्तृत व्यवधानके बाद दाँतेने पुनः कलाके क्षेत्रमें उदात्त गुणोंकी नवप्रतिष्ठा की, साथ ही शैली-पक्षकी भी उपेक्षा नहीं की। दाँतेके पश्चात् योरोपीय साहित्यमें शास्त्रीय

अथवा क्लासिकल दृष्टिकोण क्रमशः रोमाण्टिक दृष्टिकोणके द्वारा स्थानान्तरित होने तथा और कला सम्बन्धी मूल्यों में भारी परिवर्तन घटित हुआ। कुछ दूरतक इस कालमें भी सन्तुलित दृष्टि बनाये रखनेका प्रयत्न किया गया। शास्त्रीयताका आग्रह कलाके क्षेत्रसे सहसा विलुप्त नहीं हो गया। सत्रहवीं शतीमें फ्रांसमें नियो-क्लासिसिज्म अथवा नव्य-शास्त्रवादकी प्रवृत्ति, कलाके प्रति मध्यकालीन चिन्तनका नवीन संस्करण बनकर उदित हुई।

क्लासिकल या शास्त्रीय कला बहुत कुछ ईसाई धर्मकी छत्रच्छायामें पल्लवित हुई। रोमको केन्द्र बनाकर बाइजैण्टाइन कलाका जो प्रसार सातवींसे पन्द्रहवीं शती ईसवीके बीच योरोपमें हुआ, उसका क्षेत्र ईजिप्टसे लेकर रूसतक विस्तृत है। इस 'चर्च'-आश्रित धार्मिक कलामें नैतिक-धार्मिक मूल्योंके आगे कलागत मूल्य निश्चित रूपसे गौण रहा। एक दृष्टिसे कला और कलाकार दोनों धार्मिक प्रचारके साधन बने; शुद्ध कलावादी दृष्टिका प्रायः इस क्षेत्रमें अभाव ही रहा। धार्मिक कला और साहित्यकी प्रायः सर्वत्र यही स्थिति रही। चर्चसे अनुप्राणित कला यद्यपि प्रचारात्मक, सोद्देश्य तथा उपदेशात्मक थी, तथापि उसमें विविध कल्पनाओं एवं भावनाओंके चित्रणके लिए पर्याप्त छूट भी थी। धार्मिक आस्थावान् कलाकार बिना किसी बाह्य नियन्त्रण एवं बाध्यताके आत्मप्रेरणासे शिल्प-सर्जन करते थे। टॉल्स्टायने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'ह्वॉट इज आर्ट'में कलाके सम्बन्धमें जो धारणाएँ व्यक्त की हैं, उनकी पूर्व-पीठिका उक्त धार्मिक कलाकी परम्परामें निहित है। कलावादी विचारधारा (कला कलाके लिए)का सबसे सशक्त विरोध कदाचित् टॉल्स्टायने ही किया। उन्होंने सुधारवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए न सौन्दर्यको कलाका साध्य माना और न आनन्दको। सुधारवाद उपयोगितावादका ही दूसरा रूप है और कलाको वह अनिवार्यतः एक गौण साधनमात्र मानकर चलता है। टॉल्स्टायके मतसे धर्मके प्रति अविश्वास ही कलावादी विचारोंको जन्म देता है।

रिनेसाँ (१४५३ई०)के बाद फ्रांस कला-आन्दोलनोंका प्रमुख केन्द्र बना। नैतिक मूल्योंकी विशृंखलतासे कलाकार आत्मस्थ हो गये। परम्परावादी तथा स्वातन्त्र्यमूलक विचारोंके बीच सुदृढ़ सामाजिक दर्शनके अभावमें अस्थिरताका वातावरण बना रहा।

सन् १८६६के लगभग फ्रांससे एक ऐसी विचारधाराका उद्गम हुआ, जिसका कलावादसे सीधा सम्बन्ध माना जाता है। 'कला कलाके लिए', जो फ्रेंच सूत्र-कथन 'ल आर्त पोर ल आर्त'के अंग्रेजीका हिन्दी अनुवाद है, इसीकी देन है। इसके परिपोषकों एवं उद्भावकोंमें जेम्स एबॉट मैकलीन ह्विस्लर (१८३४-१९०३ ई०)का नाम अग्रगण्य है। यह एक अमेरिकी चित्रकार था और फ्रांसके अतिरिक्त उसका कार्यक्षेत्र इंग्लैण्डमें भी रहा। विख्यात अंग्रेजी समालोचक रस्किन और ह्विस्लरके बीच कलाके उद्देश्यको लेकर सन् १८७०के आसपास एक महत्त्वपूर्ण वाद-विवाद चला, जिससे प्रेरित होकर ह्विस्लरने 'कला कलाके लिए' मतका आग्रहपूर्वक प्रवर्तन किया। रस्किनने नैतिक पक्षका तिरस्कार करके कलाके स्वतन्त्र एवं स्वतःपूर्ण होनेका उद्घोष किया, जो अतिवादकी सीमातक पहुँच गया। ह्विस्लर अपने चित्रोंके ऐसे शीर्षक दिया करता था जो गूढ़ व्यंजनात्मक होते थे और साधारण जनके लिए सर्वथा अबोध्य भी। इसका कारण उसका अतिवादी कलावाद ही था।

कलावादी विचारधाराको ब्रैडले, क्लाइव बेल, रोजर फ्राइ तथा जार्ज इन्नेस आदि समालोचकों द्वारा गम्भीर समर्थन प्राप्त हुआ। ब्रैडलेने नैतिक पक्षको कवितामें बाह्य स्थान दिया और उसकी श्रेष्ठताके लिए उसे नियामक तत्त्व नहीं माना। इस धारणाका खण्डन आई० ए० रिचर्ड्सने अपने 'प्रिंसिपल्स ऑव लिटरेरी क्रिटिसिज्म' नामक समीक्षा-ग्रन्थमें सैद्धान्तिक आधारपर किया। रिचर्ड्सने काव्यकी शेष जगत्से भिन्न सत्ता नहीं स्वीकार की और न उसके अनुभव सामान्य अनुभवोंसे भिन्न माने। प्रेषणीयताको उसने विशेष महत्त्व प्रदान किया। क्लाइव बेलने आधुनिक चित्र-कलामें रूप-तत्त्वको प्रधानता देते हुए significant form का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। रोजर फ्राइका क्लाइव बेलसे तथा जार्ज इन्नेसका ह्विस्लरसे विचारसाम्य दिखाई देता है। समन्वित रूपसे सभीकी दृष्टि कलावादी ही रही। कुछ कला-समीक्षकोंकी धारणा है कि चित्रकलाके क्षेत्रमें आनेवाले प्रभाववाद, उत्तर-प्रभाववाद, अभिव्यंजनावाद, घनवाद तथा अतियथार्थवाद, सभीकी आधारभूमि कलावादी विचारधारासे अभिसिंचित हुई है। क्रोचेके सौन्दर्यदर्शन द्वारा इस कलावादको सुदृढ़ दार्शनिक आधार प्राप्त हुआ है, ऐसा भी कुछ लोगोंका मत है। "सौन्दर्यका कोई बाह्य अस्तित्व नहीं है," काण्टकी इस स्थापनाको मूलमें रखकर क्रोचेने अपने 'इस्थेटिक्स' नामक ग्रन्थमें सौन्दर्यबोधके लिए कल्पनाके एक विशिष्ट रूप 'सहज ज्ञान' (intuition)की सत्ताका प्रतिपादन किया। सौन्दर्यसृष्टि और सौन्दर्यानुभूति, दोनोंको सूक्ष्म मानसिक, प्रक्रियाके रूपमें स्वीकार करते हुए अभिव्यंजना और वर्ण्यवस्तुके बीच तात्त्विक एकता स्थापित की। इस प्रकार कलापक्ष और वस्तुपक्षको विच्छिन्न करके देखनेवाली सुदीर्घ परिपाटीकी निस्सारता प्रकट की। कलाको मूलतः एक आध्यात्मिक क्रिया बताते हुए क्रोचेने अभिव्यंजनाके अतिरिक्त उसका कोई अन्य उद्देश्य स्वीकार नहीं किया। उपयोगितावादी दृष्टिका एक प्रकारसे उच्छेदन क्रोचेके सौन्दर्य-सिद्धान्तसे हो जाता है। कलाको क्रोचे स्पष्टतः नैतिक अथवा शैक्षणिक सीमाओंसे मुक्त मानता है, किन्तु यह सब कलाके अमूर्त व्यापारपर ही लागू होता है। मूर्त होनेपर क्रोचे भी कलाको सामाजिक बन्धनोंसे परे नहीं मानता। क्रोचे द्वारा दी गयी कलाकी व्याख्या तत्त्वतः समाजविरोधी नहीं है।

आधुनिक युगमें मार्क्सवादके प्रचार-प्रसारके साथ एक नये सौन्दर्यबोधका उदय हुआ, जिसका कोई स्वतन्त्र शास्त्र तो नहीं बन सका, परन्तु उसके द्वारा प्राचीन कलावादी विचारोंका तीव्र उन्मूलन अवश्य घटित हुआ। मार्क्सके अर्थशास्त्रने कलाके प्रति उपयोगितावादी दृष्टिकोणको नयी व्याख्या एवं आस्थाके साथ प्रस्तुत किया। स्टैलिन और माओने रूस और चीनमें कला तथा साहित्यको राजनीतिके

प्रचारका अस्त्र मानकर उसे राजशक्ति द्वारा पूर्णतया नवीदित रखा। कला जनताके लिए, मुख्यतया सैनिकों और श्रमिकोंके लिए ही है, अतएव कला एवं कलाकारका स्वतन्त्र व्यक्तित्व उन्हें अमान्य है। 'प्रॉब्लेम्स ऑव आर्ट एण्ड लिट्रेचर' नामक परिपत्रमें माओने मार्क्स और लेनिनके मतकी साक्षी देते हुए इसी प्रकारकी भावना व्यक्त की है।

मार्क्सवादी विचारकोंमें ट्रॉट्स्कीने अवश्य कलाके क्षेत्रमें राजनीतिक पार्टीके हस्तक्षेपको अनुचित बताया है। अपनी 'लिट्रेचर एण्ड रिवोल्यूशन' नामक कृतिमें उसने माना है कि कलाका क्षेत्र वह नहीं है, जिसमें पार्टीको आदेश देनेकी आवश्यकता हो। कलाकी रक्षा करना और सहायता करना पार्टीका काम है, परन्तु नेतृत्व केवल अव्यक्त रूपसे ही हो सकता है। कॉडवेल जैसे मार्क्सवादी समालोचकोंने ट्रॉट्स्कीकी यह दृष्टि नहीं अपनायी और कलावादी विचारों को विशुद्ध बुर्जुआ संस्कृतिकी कुत्सित वृत्तिका परिणाम घोषित किया।

हिन्दी साहित्यमें आधुनिक कालमें प्रेमचन्द द्वारा उपयोगितावादी दृष्टि और 'प्रसाद' द्वारा आनन्दवादी या कलावादी दृष्टि अपनायी गयी। आलोचकोंमें भी इसी प्रकार प्रमुखरूपसे दो वर्ग दिखाई देते हैं। मार्क्सवादी समीक्षकोंमें कुछ तो कट्टर उपयोगितावादी हैं, पर कुछ कलागत मूल्योंको भी महत्ता देते हैं और क्रोचेके अभिव्यंजनावादसे विशेष प्रभावित रहे हैं। 'साहित्यालोचन'में श्यामसुन्दर दासने 'कला कलाके लिए' नामक कलावादी सूत्रवाक्यके पीछे निहित वास्तविक अभिप्रायकी समुचित व्याख्या करते हुए लिखा है—"उस अवस्थामें 'कला कलाके लिए'का हमारे लिए केवल इतना ही अर्थ रह जाता है कि कला एक स्वतन्त्र सृष्टि है। कला-सौन्दर्य और कला-अभिव्यंजनाके कुछ अपने नियम हैं।" —ज० गु०

कल्पना—पूर्व अनुभूतियोंकी पुनर्योजनासे अपूर्वकी अनुभूति उत्पन्न करनेकी क्रिया या शक्तिको कल्पना कहते हैं। 'वर्तमान'का अवगाहन करनेवाला प्रत्यक्ष, 'अतीत'का अवगाहन करनेवाली स्मृति तथा 'अनागत'का अवगाहन करनेवाली कल्पना। क्षीर-सागर, दशमुख, स्वर्ण-शृंग आदि अननुभूत पदार्थ कल्पना द्वारा ही अनुभव-गम्य होते हैं। चरम-मनोविज्ञानके अनुसार 'अचेतन' अनुभूतियोंसे भी कवि और कलाकार अपनी कृतिके लिए पर्याप्त सामग्री पाते हैं। इस सामग्रीका संकलन कल्पना द्वारा होता है। संगीत, मूर्ति, चित्र, स्थापत्य आदि कलाओंमें भी ध्वनि आदिका नवीन संयोजन कल्पनापर निर्भर रहता है। सुन्दर वस्तुमें अंगोंका विन्यास और सन्तुलन तथा अंगांगीभाव, और भावकी एकता, 'रेकरेण्ट मोटिफ' इसीके परिणाम हैं।

कल्पना, मनो-व्यापारके स्तरोंके अनुसार कई स्तरोंपर कार्य करती है। शुद्ध 'अनुकरण', जिससे छायात्मक मनोमूर्तिका सृजन होता है, कल्पनाका प्रथम स्तर है। 'रूप'को ग्रहण करनेमें ज्यों-ज्यों उत्तरोत्तर उच्चस्तरीय मनोव्यापारोंकी आवश्यकता होने लगती है त्यों-त्यों वह अधिक मौलिक, अनुकरणसे दूर और सृजनात्मक कल्पना (creative imagination) कलामें 'रूप'के आविष्कारका अत्यन्त साधन है और यौगिक प्रक्रियाकी क्रिया-विधि। —ह० प्र० द्वि०

कल्पलता—भारतीय पुराण, काव्यके अनुसार मनोवांछित फल देनेवाले वृक्षको कल्पवृक्ष और लताको कल्पवल्ली या कल्पलता कहा गया है। देवलोककी हरवस्तु नित्य एवं अविनश्वर होती है, अतः यह कल्पलता भी अविनश्वर है। सिद्धों, नाथों और सन्तोंकी पौराणिक स्वर्गमें कोई आस्था नहीं। वे मात्र मुक्ति या कैवल्यमें विश्वास करते हैं और गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा व्याख्यात परमधाम (८,२१) जैसे दिव्यलोकमें आस्था रखते हैं, जिसे परमपद, शून्य, सहजावस्था, परममहासुख, कैवल्य आदि नामोंसे अभिहित करते हैं। नाथ योगी और सन्त उस सहजावस्था या कैवल्यकी प्राप्तिके लिए उन्मनी (दे० 'उन्मनी') को अव्यर्थ साधन मानते हैं। यह उन्मनी उनकी सभी कामनाओंको पूरी करनेवाली है और स्वयं तो अविनश्वर है ही, जिसे मिल जाती है, उसे भी अविनश्वर बना देती है अतः इनके सहजशून्य, परमपद या अल्लाह और रामके गगनके बाहर पड़नेवाले लोककी कल्पलता है। उन्मनी अर्थमें कल्पलताका व्यवहार उक्त साहित्यमें बार-बार हुआ है। बहुत बार वेलि, वल्लरी, लता आदि शब्द भी उन्मनीके अर्थमें प्रयुक्त हुए हैं। —रा० सि०

कल्पवल्ली—उपरूपकका एक भेद विशेष। भाव० प्र०के अनुसार इसमें हास्य और शृङ्गार रस होता है, नायक उदात्त या उपनायक हो सकता है। नायिकाको अभिसारिका या वासकसज्जा होना चाहिए। इसमें मुख, प्रतिमुख एवं निर्वहण सन्धियोंके प्रयोग तथा कथाकी उदात्तता अनिवार्य है। इसमें लास्यके तत्त्व आवश्यक रूपसे आने चाहिए। उदा० माणिक्य वल्लिका। —यो० प्र० सिं०

क़ल्ब—सूफी एक उच्चतर आत्माको स्वीकार करते हैं और उसके तीन विभाग करते हैं : क़ल्ब, रूह और सिर्र। क़ल्ब मनुष्यकी बौद्धिक क्रियाओंका आधार है। इसका बुद्धिसे योग है। सूफियोंके अनुसार क़ल्ब भौतिक स्थूल जगत् और आध्यात्मिक जगत्के बीच स्थित है। दृश्यमान् जगत्में अभिव्यक्त होनेवाले परमात्मा-विषयक ज्ञानको वह बाह्य इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करता है और अन्तरकी सूक्ष्म इन्द्रियोंको उससे अवगत कराता है। सूफियोंका कहना है कि यह रूह और नफ़्सके बीच स्थित है। यह कुप्रवृत्तियों और सुप्रवृत्तियोंका युद्धक्षेत्र बना हुआ रहता है। एक ओर यह परमात्मा सम्बन्धी ज्ञानके लिए खुला रहता है तो दूसरी ओर इन्द्रिय-जनित वासनाका भी प्रवेश होने देता है। —रा० पू० ति०

कविचर्या—कविशिक्षा (दे०)के अन्तर्गत राजशेखरने 'काव्यमीमांसा'के दसवें अध्यायमें कवि-चर्याका विस्तृत वर्णन किया है। राजशेखरका कहना है कि कवि निरन्तर शास्त्रों और कलाओंका पारायण करे, मन, वाणी, कर्ममें पवित्र रहे, स्मितिपूर्वक संलाप करे, उसका भवन साफ-सुथरा तथा सब ऋतुओंके अनुकूल होना चाहिये, उसके परिचारक अपभ्रंश भाषामें बोलें, अन्तःपुरके लोगोंको प्राकृत-संस्कृतका ज्ञान हो और इसके भित्र सर्वभाषाविद हों, लिखनेके लिए खड़िया, कलम, दवात, भूर्जपत्र इत्यादि

सामग्री हमेशा उसके पास रहे, कवि अपनी अधूरी रचनाको दूसरोंके सामने न पढ़े, वह अपने समयके चार विभाग करे, प्रातःकाल सन्ध्यासे निवृत्त होकर सूक्त-पाठ करे, तब अध्ययन-कक्षमें जाकर विद्याओं और काव्योंका अनुशीलन करे, दूसरे प्रहर काव्य-रचना करे, मध्याह्नके लगभग स्नान कर भोजन करे, भोजनके पश्चात् काव्य-गोष्ठी करे, चतुर्थ यामने स्वरचित काव्यकी परीक्षा करे। राजशेखरका यह वर्णन वात्स्यायन-कामसूत्र (१. ४)मे वर्णित नागरिक-वृत्त और अर्थशास्त्र (१. १९)मे वर्णित राजवृत्तसे मिलता-जुलता है। वस्तुतः इन विवरणोंसे तत्कालीन सामाजिक जीवनपर प्रकाश पड़ता है। —म० प्र० ल०

कविता–काव्यात्मक रचना (कविकी कृति)। 'काव्य'से जहाँ रचनाके भावपक्ष और अन्तःसौन्दर्यका अधिक बोध होता है, वहाँ 'कविता' शब्दके प्रयोगसे प्रायः उसके कलापक्ष और रूपात्मक सौन्दर्यको प्रधानता मिलती है। काव्य, कविता, पद्य—इन तीनों शब्दोंको हम क्रमागत रूपसे निम्नतर भावस्थितिमें रखते हैं। पद्य गद्यका विपक्षी रूप है जो छन्दोबद्ध भाव या विचारतक सीमित है। मात्र छन्दोबद्ध रचनाके लिए 'पद्य' शब्दका प्रयोग उचित है, परन्तु 'कविता' शब्द 'पद्य'से ऊँची स्थितिका द्योतक है और उसमे 'कविता' (कवि-कर्म), अर्थात् काव्यकलाको अधिक महत्त्व दिया गया है। सामान्यतः तीनों शब्द समान अर्थमें प्रयुक्त होते हैं।

यद्यपि व्यापक रूपसे छन्दोबद्ध रचनामात्रके लिए 'कविता' शब्दका प्रयोग होता है, संकीर्ण अर्थमे, आधुनिक कालमे विशेष रूपसे, 'कविता' शब्दका प्रयोग अपेक्षाकृत आकारमे छोटे, ऐसे पद्य-विशेषके लिए किया जाता है, जो आधुनिक गीति, प्रगीति या मुक्तकके अनेकानेक प्रकारोंमेसे किसी रूपमें रचा गया हो। पद्यकी ऐसी रचनाओंका पृथक् निर्देश करनेके लिए 'काव्य' शब्दका प्रयोग नहीं किया जाता। 'काव्य' शब्द जब किसी रचना-विशेषके लिए प्रयुक्त होता है तब उससे अपेक्षाकृत बड़ी, प्रायः सदैव ही प्रबन्धात्मक रचनाका अर्थ सूचित होता है। काव्य और कविता शब्दके प्रयोगका एक अन्तर यह भी है कि जहाँ 'काव्य' सामान्यतः 'साहित्य'के पर्यायवाची अर्थमें ऐसी रचनाओंको भी कह सकते है, जो पद्यमें न रची गयी हों, वहाँ 'कविता' हमे अनिवार्य रूपसे पद्यात्मक, लय और तालयुक्त शब्दावलीकी सूचना देती है; भले ही उसमें काव्यकी आन्तरिक विशेषता विद्यमान न हो और वह मात्र पद्यबद्ध हो। इसके अतिरिक्त काव्यका अभिधान ऐसी रचनाओंको नही दिया जा सकता जो अरस्तूके 'पोइटिक्स'में निर्दिष्ट 'पोइट्री'से भिन्न 'वर्स' मात्र है। —रा० भ०

हिन्दी साहित्यमे आधुनिक कालके पूर्वतक 'कविता' शब्दका प्रयोग 'कविताई' या 'कवि-ता' (कवि-कर्म)के अर्थमें ही होता था। तुलसीदासने 'रामचरितमानस'की भूमिकामें कहा है "चली सुभग कविता सविता सी। राम बिमल जस जल भरिता सी"। इसी अर्थमें उन्होंने 'भनिति' शब्दका भी कई बार प्रयोग किया है। इसी अर्थमें कहा गया है कि "'कविता' कर्ता तीन हैं तुलसी केसव सूर। 'कविता' खेती इन लुनी सीला बिनत मजूर।" अठारहवीं शतीमें भिखारीदासने लिखा था, "आगेके सुकवि रीझि हैं तौ 'कविताई', न तौ राधिका कन्हाईके सुमिरनको बहानौ है"। भिखारीदासने इसी अर्थमें 'काव्य' शब्दका भी प्रयोग किया है, "इनके 'काव्यन'मे मिली, भाषा विविध प्रकार"। हिन्दीमे 'कविता' शब्दका यह प्रयोग परम्परानुमोदित है, यद्यपि कदाचित् यह कथन अयुक्त न होगा कि संस्कृत साहित्यमें 'कविता'की अपेक्षा 'काव्य' शब्दका अधिक प्रयोग हुआ है।

संकीर्ण अर्थमें किसी रचना-विशेषके लिए 'कविता'का प्रयोग, जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, आधुनिक कालमे ही होने लगा है। प्राचीन कालमें अधिकतर या तो प्रबन्ध-काव्यकी रचना होती थी या मुक्तक-काव्यकी। एकसे अधिक छन्दोंमें एक विषयपर छोटी पद्यरचनाएँ स्तोत्र, स्तवन, प्रशस्ति, माहात्म्य आदिके रूपमे मिलती हैं। हिन्दीके मध्ययुगीन भक्त कवियोंने भी इस प्रकारकी स्तोत्रादि रचनाएँ की हैं और यह क्रम भारतेन्दु हरिश्चन्द्रतक चला आया है। परन्तु भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने सामयिक विषयोंपर विचारोत्तेजक और उद्बोधनपूर्ण स्फुट रचनाओंकी नवीन पद्धति चलायी। उनकी 'भारत-भिक्षा', 'विजयिनी-विजय-वैजयन्ती', 'श्रीराजकुमार-शुभागमन-वर्णन','मानसोपायन', 'वर्षाविनोद' आदि रचनाओंने हिन्दीमे पद्य निबन्धोंकी उस परम्पराका सूत्रपात किया, जो आधुनिक कालमें अनेकधा विकसित हुई। ऐसी रचनाओंकी ही जातिवाचक संज्ञा 'कविता' है, जो अंग्रेजीकी 'पोइम' और उर्दूकी 'नज़्म'का पर्याय है। भारतेन्दुकालमे देशभक्ति, राजभक्ति, समाज-सुधार और प्राकृतिक वर्णन सम्बन्धी असंख्य गम्भीर और व्यंग्यात्मक 'कविताएँ' रची गयी। द्विवेदीकालमें सामयिक पत्र-पत्रिकाओंके माध्यमसे इन कविताओंका प्रचलन और अधिक हो गया। वस्तुतः उन अनेक आधुनिक रूपोंमें 'कविता' भी है, जिसका उद्गम और विकास समाचार-पत्रों और पत्र-पत्रिकाओंके माध्यमसे हुआ है। परन्तु 'कविताएँ' इतिवृत्त, विवरण, शिक्षा और उद्देश्य-विषयक ही नही, भावात्मक भी हो सकती है, यह छायावादकी उन असंख्य कविताओंसे सिद्ध हो गया, जो आधुनिक गीति-काव्य (दे०–गीति-काव्य)के विविध प्रकार-भेदोंके अन्तर्गत आती है। 'प्रगतिवाद', 'प्रयोगवाद' और 'नयी कविता'के आन्दोलनोंके अन्तर्गत ऐसी ही रचनाएँ हुई है, जो पृथक्-पृथक् 'कविता' नामसे पुकारी जाती हैं। —व्र० व०

कविनिबद्धपात्रप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध–अर्थशक्त्युद्भव ध्वनिका तीसरा भेद। यह ध्वनि वहाँ होती है, जहाँ कवि स्वयं किसी प्रौढोक्तिको न कहकर स्वनिर्मित पात्र द्वारा किसी कल्पित उक्तिको कहलाता है। कविप्रौढोक्ति तथा कविनिबद्ध-पात्रप्रौढोक्तिमे कोई विशेष अन्तर नही है, क्योंकि पात्रकी उक्ति भी अन्ततोगत्वा कविकी ही उक्ति है। फिर भी वक्ताकी विशेषताके कारण कभी-कभी उक्तिमे विशेष चमत्कार आ ही जाता है। कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्धके समान ही इसके भी १२ भेद है—(१) कविनिबद्धपात्रप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध वस्तुसे वस्तुकी ध्वनि—"करी बिरह ऐसी तऊ, गैल न छाँड़त नीच। दीन्हेऊ चसमा चखनि, चाहत लखे न मीच" (का० क० : पृ० २७३)। इस उदाहरणमें मृत्युके चश्मा

लगानेका कथन प्रौढोक्ति है और इस उक्तिकी वक्ता कवि-कल्पित दूती है, जो नायिकाकी अत्यन्त शोचनीय स्थितिका परिचय नायकको दे रही है। नायिकाकी अत्यधिक कृशता-के कारण चश्मा लगाकर खोजनेपर भी मृत्यु उसे नहीं देख पा रही है। इस वस्तुसे यह बात (वस्तु) ध्वनित हो रही है कि नायकको नायिकासे मिलनेमें अब अधिक विलम्ब न करना चाहिये। (२) कविनिबद्धपात्रप्रौढोक्ति-मात्रसिद्ध वस्तुसे अलंकारकी व्यंजना—"दियो अरघ नीचे चलौ, संकट मानै जाइ। सुचिती ह्वै औरौ सबै, ससिहि बिलोकै आइ" (का० द०, पृ० ३१६)। यहाँ सखी नायिकासे यह व्यंजित करना चाहती है कि उसके मुख-चन्द्रके कारण अन्य स्त्रियाँ भ्रमित हो रही हैं। नायिकाके मुखमें चन्द्रके आरोप द्वारा इस उदाहरणमें रूपक अलंकार हो रहा है। (३) कविनिबद्धपात्रप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध अलंकारसे वस्तुकी व्यंजना—"मोर मनोरथ सुरतरु फूला। फरत करिनि जिमि हतेउ समूला" (मानस)। यहाँ दशरथ अपने मनोरथ (उपमेय)पर कल्पतरु (उपमान)का आरोप कर रहे हैं, अतः इस उदाहरणमें कवि-कल्पित पात्रकी प्रौढोक्ति है और रूपक अलंकार है। इस रूपकके विधान द्वारा दशरथ अपनी अत्यन्त दयनीय स्थिति (वस्तु)को व्यंजित करते हैं। (४) कविनिबद्धपात्रप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध अलंकारसे अलंकारकी व्यंजना—"नित संसौ, हंसौ बचत, मनहुँ सु यहि अनुमान। बिरह अगिनि लपट न सकत झपटि न मीचु सचान" (का० द०, पृ० ३१७)। सखी द्वारा मृत्युको बाज कहनेमें कवि-कल्पित पात्रकी प्रौढोक्ति है। मृत्युरूप बाज विरहकी लपटोंके कारण ही नायिकाके हंस (जीव)पर झपट नहीं पाता। अतः यहाँ रूपकसे विशेषोक्ति अलंकार ध्वनित हो रहा है, क्योंकि पर्याप्त कारणकी विद्यमानतामें भी कार्य (मृत्यु) नहीं होता।—उ० शं० शु०

कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध—अर्थशक्त्युद्भव ध्वनिका दूसरा भेद। जो कथन केवल कवि-कल्पना द्वारा निर्मित हो और बाह्य जगत्में जिसकी स्थिति न हो, उसे 'प्रौढ' कहते हैं (कविना प्रतिभामात्रेण बहिरसन्नपि निर्मितः—का० प्र०, पृ० ८५)। चकोरका आग खाना, हंसका क्षीर-नीर-विवेक, कीर्तिका श्वेत वर्ण आदि ऐसे अनेक कथन काव्यमें मिलते हैं, जो लोक-व्यवहारमें असंगत अथवा असम्भव समझे जाते हैं। इन्हें कविप्रौढोक्तिकी संज्ञा दी गयी है। स्वतःसम्भवी ध्वनिके समान कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्धके भी चार भेद हैं—वस्तुसे वस्तु अथवा अलंकार और अलंकारसे वस्तु अथवा अलंकारकी व्यंजना। (१) कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध वस्तुसे वस्तुकी व्यंजना—"सिय वियोग दुख, केहि विधि कहउँ बखानि। फूल बानते मनसिज बेधत आनि"(का० द०, पृ० ३१३)। कामका पुष्पबाणसे विद्ध करना कवि-कल्पनामात्र है। इस कथन (वस्तु) द्वारा इस बात (वस्तु)की व्यंजना हो रही है कि सीता रामके विरहमें अत्यन्त कातर हैं, अतः यह कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध वस्तुसे वस्तुका उदाहरण है। (२) कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध वस्तुसे अलंकारकी व्यंजना—"निसि ही में ससि करतु है, केवल भुवन प्रकास। तेरो जस निसि-दिन करत, त्रिभुवन धवल उजास" (का० क०, भा० १, पृ० २७०)। यशका त्रिभुवनको प्रकाशान्वित कर देना कविप्रौढोक्तिसिद्धमात्र है। यहाँ रात-दिन प्रकाश फैलाना है, इस कथन (वस्तु)से व्यतिरेक अलंकार ध्वनित होता है, क्योंकि उपमेय (यश)में उपमान (चन्द्र)की अपेक्षा कुछ उत्कृष्टता ध्वनि निकलती है। (३) कवि-प्रौढोक्तिमात्रसिद्ध अलंकारसे वस्तुकी व्यंजना—"पत्रा ही तिथि पाइये, वा घरके चहुँ पास। नित प्रति पून्यौ ही रहत आनन ओप उजास" (बिहारी)। 'आनन ओप उजास'का कथन कविप्रौढोक्तिसिद्धमात्र है। शब्दार्थमें परिसंख्या अलंकार है, क्योंकि तिथिका ज्ञान सर्वत्र स्थानोंसे वर्जित करके केवल पत्रासे ही सीमित कर दिया गया है। वाच्यार्थ-से व्यंग्यार्थ रूपमें नायिकाके रूपातिशयकी व्यंजना हो रही है। (४) कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध अलंकारसे अलंकारकी व्यंजना—"पहिरे स्याम न पीत पट, घनमें बिज्जु बिलास", इस पंक्तिमें उपमेय 'पीत पट'को असत्य करार उपमान 'बिज्जु-बिलास'को सत्य ठहराया गया है, अतः इसमें अपह्नुति अलंकार है। वाच्यार्थ रूपमें प्रस्तुत इस अलंकार द्वारा ही उपमा ध्वनित हो रही है—श्याम-तन घनके सदृश है और पीत पट बिज्जु-बिलासके समान है। इस प्रकार यह कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध अलंकारसे अलंकारकी ध्वनिका उदाहरण है। उक्त चारों उदाहरण वाक्यगत ध्वनिके हैं। पदगत व्यंजनाको सम्मिलित कर लेनेपर कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्धके कुल १२ भेद हैं।—उ० शं० शु०

कवि-भेद—कविशिक्षा (दे०)के अन्तर्गत राजशेखरने तीन प्रकारके शिष्यों (दे०)के अनुसार कवियोंके तीन भेद किये हैं—(१) सारस्वत, पूर्व जन्मके संस्कारोंके फलस्वरूप जिसे सरस्वतीका प्रसाद प्राप्त हो, (२) आभ्यासिक, जो इस जन्मके अभ्याससे कवि बना हो और (३) औपदेशिक, जो दुर्बुद्धि किसी मन्त्र-तन्त्रके प्रभावसे कवि बन गया हो (का० मी०, अ० ४)। पुनः राजशेखरने काव्यशास्त्रके विभिन्न अंगोंमें विशेष निपुणताके अनुसार कवियोंके ८ भेद किये हैं (का० मी०, अ० ५)—(१) रचना-कवि, जो पदोंके संयोजनमें निपुण हो, (२) शब्द-कवि, जो शब्दके प्रयोगमें विशेष कुशल हो, (३) अर्थ-कवि, जिसकी कवितामें अर्थ-सौन्दर्य विशेष रूपमें हो, (४) अलंकारकवि, जो अलंकारोंके प्रयोगमें विशेष पटु हो, (५) उक्तिकवि, जिसकी उक्तियोंमें विशेष चमत्कार हो, (६) रस-कवि, जो रस-निर्वाहमें विशेषतः निपुण हो, (७) मार्ग-कवि, जो रीतियोंके प्रयोगमें कुशल हो तथा (८) शास्त्रार्थ-कवि, जो अपने काव्यमें शास्त्रोंके अर्थका समावेश निपुणता-से कर सकता हो। इन समस्त गुणोंसे युक्त कविको 'महाकवि' कहते हैं। केशवदासने कवियोंके तीन भेद किये हैं—(१) उत्तम, (२) मध्यम और (३) अधम—"उत्तम मध्यम अधम कवि, उत्तम हरि रस लीन। मध्यम मानत मानुषनि दोषनि अधम प्रवीन" (कविप्रिया, ४ : २)। —म० प्र० ल०

कवि-शिक्षा—संस्कृत काव्य-शास्त्रके सभी आचार्योंने कविके लिए बहुश्रुत एवं सुशिक्षित होना आवश्यक माना है। भामह (५००—६३० ई०के बीच)ने कहा है कि "शब्दार्थका ज्ञान प्राप्तकर, शब्दार्थवेत्ताओंकी सेवा कर तथा अन्य कवियोंके निबन्धोंको देखकर काव्य-क्रियामें प्रवृत्त

होना चाहिये" (काव्यालंकार, १ : १०)। वामन (८०० ई०के लगभग)ने कविके लिए लोकव्यवहार, शब्दशास्त्र, अभिधान, कोश, छन्दःशास्त्र, कला, काम-शास्त्र तथा दण्डनीतिका ज्ञान तथा काव्य-शास्त्रका उपदेश करनेवाले गुरुओंकी सेवा आवश्यक मानी है (काव्यालंकारसूत्र, १ : ३ : १ : ११)। राजशेखर (८८०-९२० ई०)ने 'काव्य-मीमांसा'में कविशिक्षोपयोगी विविध विषयों, शास्त्र-परिचय, पदवाक्य-विवेक, पाठ-प्रतिष्ठा, काव्यके स्रोत, अर्थव्याप्ति, कविचर्या, राजचर्या, काव्यहरण, कवि-समय, देशविभाग, कालविभागका वर्णन किया है। कवि-शिक्षापर लिखनेवाले राजशेखरके परवर्ती आचार्योंने 'काव्यमीमांसा'से बहुत कुछ लिया है। क्षेमेन्द्र (१०५० ई०)ने 'कविकण्ठाभरण'में कवि-शिक्षापर प्रकाश डालते हुए कहा है कि कवि बननेके अभिलाषी अधिकारी शिष्यको साहित्यमर्मज्ञ गुरुकी सेवा करनी चाहिये, वाक्यार्थ-शून्यपदोंके सन्निवेशसे पद्यरचना-का अभ्यास करना चाहिये, प्रसिद्ध कवियोंके काव्योंका अनुशीलन करना चाहिये तथा नाटक, शिल्पियोंके कौशल, सुन्दर चित्र, प्राणियोंके स्वभाव तथा समुद्र, नदी, पर्वत इत्यादि विभिन्न स्थानोंका निरीक्षण करना चाहिये (कविकण्ठाभरण, सन्धि : १ : २)। 'वाग्भटालंकार'के कर्ता वाग्भट (१२वीं श० ई० पूर्वार्द्ध)ने कविशिक्षाका क्रम यह बताया है—"अर्थहीन, परन्तु पद्यमे चारुता लानेवाली पदावली द्वारा काव्यरचनाके लिए समस्त छन्दोंको वशमें करे" (१ : ७)। तदनन्तर "एक ही अभिधेयको संक्षिप्त एवं विस्तृत रूपमे विभिन्न अलंकारोंका प्रयोग करते हुए पद्यबद्ध करनेका अभ्यास करे" (१ : १६)। इस प्रकार "उद्योगपूर्वक शास्त्रोंका अध्ययन कर, अभ्यास द्वारा शब्दार्थको वशमे कर, कवि, समयोंका ज्ञान प्राप्त कर, मनके प्रसन्न होनेपर कविता करे" (१ : २६)। हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई०) तथा नेमिकुमारके पुत्र वाग्भट (१३वीं श० ई० उत्त०)ने अपने काव्यानुशासनोंमें प्रायः राजशेखरके आधारपर काव्यके स्रोत, कवि-समय, काव्यहरण तथा देश एवं काल-विभागका वर्णन किया है। अमरचन्द्र (१३वी श० ई०)ने 'काव्य-कल्पलता'में, देवेश्वर (१४वीं श० ई०)ने 'कविकल्पलता'में तथा केशव मिश्र (१६वीं श० ई० उत्त०)ने 'अलंकार-शेखर'में छन्द एवं अलंकार-योजनाका अभ्यास, कविके वर्ण्य विषय तथा वर्णन-परिपाटीका वर्णन किया है।

हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंमेंसे केशवदास (१५५५-१६१७ ई०)ने 'कविप्रिया'में काव्य-रचनाके ढंग, कविताके विषय, वर्णन-परिपाटी तथा काव्य-समयोंका वर्णन किया है। केशवका वर्णन बहुत कुछ 'अलंकारशेखर' तथा 'काव्यकल्प-लता'पर आधारित है। केशवके बाद कवि-शिक्षाका प्राचीन परिपाटीके अनुसार विस्तृत वर्णन जगन्नाथप्रसाद 'भानु'के 'काव्यप्रभाकर' (१९१० ई० प्रकाशित)में मिलता है। यद्यपि हिन्दी काव्य-शास्त्रमें काव्य-शिक्षा सम्बन्धी ग्रन्थोंका प्रचलन कम रहा है, पर रीतिकालका सम्पूर्ण काव्य-साहित्य संस्कृतके इन ग्रन्थोंसे प्रभावित है। इन मान्यताओं-का परम्पराके रूपमें अनुसरण किया गया है।

बीसवीं शताब्दीके प्रारम्भसे हिन्दी साहित्यके नयी दिशाकी ओर अग्रसर होनेपर काव्यांगोंके साथ-साथ कवि-शिक्षा-विषयक धारणाओंमें भी परिवर्तन हुआ। कविने किसी बँधी-बँधायी परिपाटीसे मुक्त होकर स्वतन्त्र दृष्टिसे प्रकृति और समाजकी ओर देखना प्रारम्भ किया। परन्तु कविताकी कल्याणकारिणी शक्तिको बनाये रखनेके लिए कविका भाषा, छन्द, लोकव्यवहार एवं विविध शास्त्रोंसे परिचित होना आज भी उतना ही आवश्यक है, जितना प्राचीन कालमें माना जाता था। अतः कवि-शिक्षा आज भी अपेक्षित है। —म० प्र० ल०

कवि-समय—कविशिक्षा (दे०)के अन्तर्गत 'कवि-समय'-का अर्थ है कवि-समाजमे प्राचीन परम्परासे मानी आती हुई बाते और परिपाटियाँ। इस शब्दका प्रयोग सबसे पहले राजशेखरने 'काव्यमीमांसा' (अध्याय १४)में किया है और इसकी परिभाषा दी है कि "परम्परासे चली आती हुई जिन अशास्त्रीय एवं अलौकिक बातोंका कवि वर्णन करते है उन्हे 'कवि-समय' कहते है"। कवि-समयोंकी निर्दोषताका समर्थन करते हुए राजशेखरने कहा है कि "पिछले विद्वानोंने सहस्रशाख सांग वेदका अवगाहन कर, शास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त कर, देशान्तरों एवं द्वीपान्तरोंमें भ्रमण कर जिन बातोंको जाना और उन्हें अपने काव्योंमें स्थान दिया, वे बातें भले ही आज उस रूपमें न मिलती हों, फिर भी उनका वैसा वर्णन करना 'कवि-समय' है"। राजशेखरने आगे कहा है कि "कुछ कवि-समय तो पूर्वपरम्परासे प्रतिष्ठित है, परन्तु कुछको धूर्तोंने अपनी स्वार्थसिद्धिके लिए चला दिया है।" इससे स्पष्ट है कि राजशेखरको प्राचीन मान्य कवियों द्वारा वर्जित ऐसी बातें ही, जो आज उस रूपमे नहीं मिलती, कवि-समय द्वारा अभिप्रेत हैं। राजशेखरसे पहले वामनने 'काव्य-समय' शब्दका उपयोग किया है (काव्यालंकारसूत्र, ५ : १)। परन्तु 'काव्य-समय' राजशेखरके 'कवि-समय'से भिन्न है और उसका प्रयोग वामनने व्याकरण, छन्द एवं लिंगके सम्बन्धमे प्रतिष्ठित कवि-परिपाटीके अर्थमें किया है। राजशेखरके परवर्ती आचार्योंने कवि-समयोंका जो वर्णन किया है, वह प्रायः राजशेखरके आधारपर। कवि-समयके सम्बन्धमें राजशेखरके परवर्ती आचार्योंमेंसे हेमचन्द्र (काव्यानुशासन, अध्या० १), वाग्भट (काव्यानुशासन, अध्या० १), अमरचन्द्र (काव्य-कल्पलतावृत्ति, प्रतान १), केशव मिश्र (अलंकारशेखर, रत्न ६) तथा हिन्दीके आचार्योंमेंसे केशवदास (कविप्रिया, चौथा प्रभाव) और जगन्नाथप्रसाद 'भानु' (काव्य प्रभाकर, मयूख ११)के नाम उल्लेखनीय है।

राजशेखरने 'कवि-समयों'के तीन प्रधान विभाग किये है—(१) स्वर्ग्य—स्वर्ग लोककी बातोंसे सम्बन्धित, यथा "चन्द्रमाके कलंकको खरगोश या हिरन मानना, कामदेवके ध्वजमें मकर या मीनका वर्णन करना, चन्द्रमाका जन्म अत्रिके नेत्र अथवा समुद्रसे मानना, शिवके माथेके चन्द्रको नवोदित मानना, कामदेवको मूर्त तथा अमूर्त दोनो रूपोंमें समझना, द्वादशादित्योंको, नारायण-माधव-दामोदर-शेष और कूर्मको, कमला और सम्पत्तिको एक मानना', (२) पातालीय—पातालसे सम्बन्धित, यथा नाग और सर्पोंको, दैत्य, दानव, असुरोंको एक मानना, (३) भौम—पृथ्वीलोक सम्बन्धी। पृथ्वी लोक सम्बन्धी कवि-समय चार श्रेणियोंमें

विभक्त होते हैं (क) जातिरूप, (ख) द्रव्यरूप, (ग) क्रियारूप और (घ) गुणरूप। इनमेंसे प्रत्येकके पुनः तीन भेद हैं—(१) असत्, अर्थात् जो विद्यमान नहीं है, उसका वर्णन करना, (२) सत्, अर्थात् जिसका विद्यमान होनेपर भी वर्णन न करना, (३) नियम, किसी वस्तुका किसी विशेष स्थानके प्रसंगमें ही वर्णन करना और उसके अन्यत्र मिलनेपर भी उस स्थानके प्रसंगमें वर्णन न करना।

इस प्रकार भौम कवि-समय १२ श्रेणियोंमें विभक्त होते हैं—(१) असत् जातिरूप, यथा नदियोंमें पद्म, उत्पल आदिका वर्णन, जलाशय मात्रमें हंसोंका वर्णन, सभी पर्वतोंमें सुवर्ण, रत्न आदिका वर्णन, (२) सत् जातिरूप, यथा वसन्तमें मालतीका, चन्दन वृक्षपर फल-फूलोंका, अशोक वृक्षमें फलोंका वर्णन न करना, (३) जाति-नियमरूप, यथा समुद्रमें ही मकरोंका वर्णन करना, मोतियोंका स्रोत ताम्रपर्णीको ही बताना, (४) असत् द्रव्यरूप, यथा अन्धकारका मुष्टिग्राह्यत्व और सूचीभेद्यत्व, ज्योत्स्नाका घड़ोंमें भरकर ले जाया जा सकना, (५) सत् द्रव्यरूप, यथा कृष्णपक्षमें ज्योत्स्नाका और शुक्ल पक्षमें अन्धकारका वर्णन न करना (६) द्रव्य-नियम, यथा मलय गिरिको ही चन्दनका उत्पत्ति-स्थान और हिमालयको ही भूर्जपत्रका प्रभव-स्थान मानना, (७) असत् क्रियारूप, यथा चक्रवाक-मिथुनका रातमें अलग रहना, चकोरोंका चन्द्रिका-पान, (८) सत् क्रियारूप, यथा दिनमें नीलोत्पलोंके अविकास तथा शेफालिकाके पुष्पोंके झड़नेका वर्णन करना, (९) क्रिया नियम, यथा कोयलके कूकनेका केवल वसन्तमें ही वर्णन, वर्षामें ही मयूरोंके कूजन एवं नृत्यका वर्णन, (१०) असत् गुणरूप, यथा यश, हास आदिकी शुक्लता, अयश, पाप आदिका कालापन, क्रोध, अनुराग आदिका रक्तत्व, (११) सत् गुणरूप, यथा कुन्द, कुड्मल तथा दाँतोंकी लालीका, कमल-मुकुल आदिके हरे रंगका तथा प्रियंगुके फूलोंके पीलेपनका वर्णन न करना, (१२) गुण नियम, यथा सामान्यतः माणिक्यमें रक्तत्व, फूलोंमें शुक्लता, मेघोंमें कृष्णताका वर्णन। —म० प्र० ल०

कव्वाली--कव्वालोंका गीत। यह सामूहिक गान है। 'कव्वाल'की व्युत्पत्ति 'कौल' (फारसी)से मानी जाती है और इसका अर्थ है—कहना अथवा प्रशंसा करना। कुछ लोगोंकी दृष्टिमें इसका मूल अरबीकी 'नक्ल' धातु है और इसका भी अर्थ है बयान करना। किन्तु वास्तवमें इसका मूल स्रोत फारसी ही है, क्योंकि कव्वालीकी पद्धति ईरानमें ही आविष्कृत हुई। यह राग या रागिनी नहीं, बल्कि एक विशेष प्रकारकी धुन है और कई प्रकारके काव्य-विधान इस धुनमें गाये जा सकते हैं और गाये जाते हैं। कव्वाली जातिगत पेशा नहीं; बल्कि कर्मगत है, अतः कव्वालोंकी कोई विशेष जाति नहीं, बल्कि कव्वालीका पेशा होना है। सूफियोंके माध्यमसे इसे लोकप्रियता मिली, क्योंकि उपासना-सभाओंमें वे भावोन्मादके कारण गा उठते थे और सारा उपासक-समाज उनका अनुकरण करता था। पीछे चलकर आवेश उत्पन्न करनेके साधन और माध्यम-रूपमें कव्वालको स्वीकृति मिली और क्रमशः ऐसे लोगोंके दल संघटित होने लगे, जो इस प्रकारकी सभाओंमें गाया करते थे। प्रारम्भमें ये लोग सूफी साधक ही थे, बादमें पेशेवर हो गये। कव्वालके विषय मुख्य कई भेद होते हैं। पहले-में परमात्मा सम्बन्धी प्रशंसात्मक गीत रहते हैं और दूसरेमें रसूलकी शानमें कुछ कहा जाता है। तीसरेमें औलियाके सम्बन्धमें वर्णन किया जाता है। रसूलके वंशजोंकी प्रशंसा भी उसमें होती है। भारतवर्षमें इस सामूहिक गायनका प्रवेश ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्तीके साथ हुआ, जो १० वीं मुहर्रम ५६१ हिजरीमें अजमेर पहुँचे थे। ख्वाजाने फारसीमें गजलें कही थीं, जो उपासना-सभाओंमें समवेत स्वरमें गायी जाती रहीं। कव्वालोंकी धुनमें कसीदा गजल अथवा रुबाई, कोई भी गायी जा सकती है।—रा० बे० पा०

कश्मीरी—(भाषा तथा साहित्य)—कश्मीरी भाषा मुख्यतः कश्मीर घाटीमें बोली जाती है, यद्यपि जम्मू प्रान्तके किश्तवाड़ जिलेमें बोली जानेवाली 'किश्तवाड़ी' भी इसीकी एक उपभाषा है। कुल मिलाकर इसका क्षेत्र कोई १०,००० वर्गमील है और बोलनेवालोंकी संख्या लगभग १५ लाख है।

इस भाषाके लिए 'कश्मीरी' नामका सर्वप्रथम उल्लेख अमीर खुसरो (१३वीं शती)की 'नुहसिपिहर' (सि० ३)में मिलता है, जहाँ इसे 'सिन्धी,' 'लाहौरी,' 'तिलंगी' आदिके साथ परिगणित किया गया है। पर कश्मीरमें १७ वीं शतीतक इसे 'देशभाषा' या 'भाषा' नामसे ही सूचित किया जाता रहा। स्पष्ट है कि दूसरे प्रान्तवालोंने ही इसे 'कश्मीरी' नाम दिया और बादमें कश्मीरियोंने भी इसे अपना लिया। आजकल इसे "काशुर" कहते हैं।

पर इससे यह न समझा जाय कि सोलहवीं शतीतक इस भाषाका विकास हो ही नहीं पाया था। ललद्यद-(१४वीं शती)की वाणीमें कश्मीरीका जो लालित्य निखर उठा है, उसे अपभ्रंशमेंसे उभरते-उभरते कम-से-कम दो सौ वर्ष लगे ही होंगे। और उधर, 'महानयप्रकाश' (१३वीं शती)में शितिकण्ठने (कश्मीरकी) 'सर्व गोचर देशभाषा'के जो नमूने दिये हैं, वे प्राकृतकी अपेक्षा अपभ्रंशके निकट होते हुए भी ललद्यदकी कश्मीरीसे विशेष दूर नहीं। स्पष्ट है कि जब शैव सिद्धोंने कश्मीरीको शैव तन्त्रोंका लोकसुलभ माध्यम बनाया, तो धीरे-धीरे कश्मीरी साहित्यका भी माध्यम बनती गयी। अतः कश्मीरीको दारद परिवारकी सन्तान बताना युक्तियुक्त नहीं। ग्रियर्सनने शीना और कश्मीरीके जो तुलनात्मक रूप-चित्र दिये हैं, उनमें इतना मौलिक साम्य नहीं कि कश्मीरीको भारतार्य परिवारसे बाहर माना जाय। रही बात ककुव (कृकवाक्), ओश (अश्रु), अ'छ (अक्षि) और न्वश (स्नुषा) जैसे शब्दोंकी, जो मध्य भारतीय भाषाओंकी अपेक्षा दारदके निकट दिखाई देते हैं। निश्चय ही ये शब्द कश्मीरी अपभ्रंशमेंसे होकर आधुनिक कश्मीरीमें आये हैं, क्योंकि 'महानयप्रकाश', 'छुम्मा सम्प्रदाय', 'ललवाख्य', 'वाणासुरकथा', 'सुखदुख-चरित्र' आदि सभी ग्रन्थोंकी भाषा एकमतसे भारतार्य परिवारकी ओर संकेत करती है।

आजसे कोई छः सौ वर्ष पूर्व कश्मीरी शारदा लिपिमें लिखी जाती थी, पर १४ वीं शतीमें जब फारसी कश्मीरकी राजभाषा बनी तो कश्मीरीके लिए भी फारसी लिपिका

उपयोग बढ़ता गया और आजकल भी इसी लिपिका एक अनुकूलित रूप प्रचलित है। कश्मीरी ध्वनिमालामें कुल ७२ ध्वनिमान (फोनीम) हैं। पदान्तमें जब अति ह्रस्व इ, उ, आये तो इन्हें 'मात्रा स्वर' कहते हैं। शारदा लिपिमें इनके नीचे विराम लगाया जाता था।

कश्मीरीमें नपुंसकलिंग केवल कुछ सर्वनामोंमें पाया जाता है, जैसे तस या त'मिस ज'निस (उस जनको) पुं०; पर तथ गरस (उस घरको या घरमें) नपुं०।

कश्मीरी कारक बहुत सरल हो चुके हैं, पर प्राचीन संश्लेषणपद्धतिके अवशेष अब भी पाये जाते हैं, जैसेः—

वचन (प्र० एक०) <*वच्चेन <वत्सेन; वचन (द्वि० बहु०) <*वच्चान् <वत्सान्; बचस (द्वि० एक०) <*वच्चस, <वत्सस्य; वच्चस क्युत (चतु० एक०) <*वच्चस्स किते <वत्सस्य कृते।

ऐसे ही क्रियापदोंमें भी भारतार्य विशेषताएँ स्पष्ट लक्षित होती है, जैसे—गछान छु<गच्छन् अस्ति; गव गतो; <गछि <*गच्छिसइ; ग'छिथ <*गच्छित्वा; चा'विथ <*चावयित्वा। परन्तु इस मौलिक साम्यके ऊपर कुछ ऐसी विलक्षणताएँ जमती गयी हैं कि आज ये क्रियाएँ बहुत जटिल हो चुकी हैं। यहाँतक कि लिंग, वचन, कर्ता, कर्म और कालके अनुसार एक-एक धातुके सैकड़ों रूप बनते हैं। अकेले भूतकालके साठसे ऊपर रूप बनते हैं, जैसे: पो'रुथक (तूने पढा); पो'रुथस (तूने पढा उसको); पा'रुथ (तूने पढा उनको); पो'रुथम (तूने पढ़ा मुझको); प'रिथ (तूने पढ़े), आदि-आदि; प'रु'थ (तूने पढी) आदि-आदि; पर्यथ (तूने पढी), आदि-आदि। संश्लेषणकी इस प्रक्रियापर दारद भाषा कोई प्रकाश नहीं डालती।

कश्मीरी साहित्यका विकास-क्रम भी उसकी भारतार्य परम्पराका ही द्योतक है। सुविधाके लिए इसे हम पाँच कालोंमें दर्शा सकते हैं :—

१. आदिकाल (१२५० ई०से १४०० ई०)—इसमें सन्तोंकी मुक्तक वाणीका ही अधिक जोर रहा। शितिकण्ठका 'महानयप्रकाश,' ललद्यदके 'वाख', नुन्दर्योशके 'श्लोक' और दूसरे रे'सों (ऋषियों)के पद इस कालकी प्रतिनिधि रचनाएँ हैं, जिनमें शैव दर्शन, तसव्वुफ, सहजोपासना, सदाचार, अध्यात्मसाधना और पाखण्डप्रतिरोध तथा आडम्बर-त्यागका प्रतिपादन ही अधिक हुआ है। संवेदनशील अभिव्यक्ति केवल 'लल-वाखों'में मुखरित हुई है।

२. प्रबन्धकाल (१४०० से १५५० ई०)—जैनुलाबिदीन-(बड़शाह, १४ वी शती)ने कश्मीरी साहित्यको जो प्रोत्साहन दिया, उसके फलस्वरूप कई पौराणिक, लौकिक एवं इतिवृत्तात्मक काव्योंकी रचना हुई, जिनमें वर्णनोंकी ही प्रधानता रही। पर महाभट्टावतारके 'बाणासुरवध' तथा प्रशस्तके 'सुख-दुख-चरित'के अतिरिक्त इस कालके सभी काव्य लुप्त हो चुके हैं। संगीतात्मक कृतियोंकी भी इस कालमें धूम रही, ऐसा साक्ष्य मिलता है।

३. गीतिकाल (१५५० से १७५० ई०)—इस कालमें लोक-जीवन (विशेषतः पारिवारिक), विरह-मिलन, हर्ष-विषाद और हास-रुदनका विश्वजनीन भावचित्रण हुआ। हब्बाखातून और अरणिमाल इस कालके अथ और इति है। दोनोंके गीत संवेदनाके करुण मधुर संगीतसे अनुप्राणित है। १६०० ई० के लगभग हबीबउल्लाह नौशहरीने सूफी रहस्यवादकी उद्भावना की और १६५० ई० के लगभग साहिब कौलने कृष्णचरित रचा जो गीत शैलीमें ही कृष्ण-लीलाका चित्रण करनेमें काफी सफल रहा है।

४. प्रेमाख्यान काल (१७५०से १९०० ई०)—इस कालमें गीति-परम्पराको आख्यान-काव्यका सहारा मिला, तो एक ओर रामचरित, कृष्णलीला, पार्वतीपरिणय और नलदमयन्तीपर आधारित मार्मिक 'लीला'काव्य रचे गये, और दूसरी ओर प्रेममार्गी सूफीधारा 'मसनवियों'में उमड़ती चली। फारसी मसनवियोंका रूपान्तर जोरोंपर रहा और पंजाबी, उर्दू तथा अरबीसे भी सामग्री ली गयी। इस कालकी सैकड़ो रचनाओंमेंसे भी अधिकांश अप्रकाशित ही पड़ी है। प्रमुख कृतियोंमेंसे कुछ ये है—

प्रकाशरामकी 'रामायण'; रमजान बठका 'अकनन्दुन'; महमूद गामीके 'शीरी-खुसरो', 'लैला-मजनू', 'यूसुफ-जुलैखा'; परमानन्दके 'यदास्वयंवर', 'शिवलग्न' और 'सुदामचरिथ'; वलीउल्लाहकी 'हीमाल'; मकबूलकी 'गुलरेज'; हक्कानीकी 'मुमताजे वेनजीर' और कृष्ण राजदानका 'हरिहरकल्याण'।

इनमेंसे अधिकांश काव्योंके अन्दर लौकिक और अलौकिक प्रेमके चित्रणमें कश्मीरी परिवारोंके व्यथित जीवनकी परछाइयाँ खूब झलकी हैं।

५. आधुनिक काल (१९०० ई०से)—भारतके आधुनिक युगकी विचारधाराएँ ज्यों-ज्यों कश्मीरके अवरुद्ध जीवनको स्पर्श करती गयीं, त्यों-त्यो कश्मीरी साहित्य भी आधुनिकतामें पैर धरता गया। वहाब परेका 'शाहनामा', मकबूलका 'ग्रीस्तिनामा' और रसूल मीरकी 'गजलों'ने इस नये युगकी पूर्वपीठिका तैयार की है, तो महजूरने इसकी 'प्रभाती' गायी और आजादने एक नवीन 'चेतना' देकर इसे दूसरे प्रदेशोंके भारतीय साहित्यका सच्चा सहयोगी बना दिया।

गद्यका प्रथमोन्मेष भी इसी कालमें होने लगा है। आरम्भमें केवल धार्मिक चर्चा ही गद्यका अन्तरंग रही, पर अब कहानी और नाटकका भी विकास होने लगा है और निबन्ध भी उभरता आ रहा है।

वर्तमान साहित्यकारोंमें मास्टरजी, आरिफ, नादिम, राही, रोशन, कामिल, फाजिल, अलमस्त, अख्तर, उमेश कौल, लोन, पुष्करभान और हाजिनी विशेष उल्लेखनीय है। इनमेंसे प्रायः सभी आजके भारतीय साहित्यकी प्रगतिशील प्रवृत्तियोंसे प्रेरित रहे है। अपने युगकी वस्तुस्थितिको झलकाते हुए भी इन्होंने इतिवृत्तात्मकता तथा कोरी भावुकताकी अतियोंसे अपने यथार्थ चित्रणोंको सुरक्षित रखा है और कश्मीरके प्राकृतिक वैभवमें नये कश्मीरके निर्माणकी उद्भावना द्वारा मानववादकी संजीवक रागिनी गायी है। भाषा, भाव, छन्द-विधान, सभीमें आज बहुत महत्त्वपूर्ण प्रयोग हो रहे है और अभिव्यक्तिके नये साँचे तराशे जा रहे हैं। पर अधिकांश कश्मीरी साहित्य अभी 'आज'की अपेक्षा आनेवाले 'कल'से अधिक सम्बद्ध है।

—पृ० पु०

कष्ट-कल्पना–दे० 'रस-दोष', दूसरा।

कष्टार्थ–दे० 'अर्थ-दोष', दूसरा।

कसीदा–यह उर्दू काव्यके उस रूपका नाम है, जिसमें किसीकी प्रशंसा की जाय। इसमें हर शेरका दूसरा मिस्रा एक ही **रदीफ** और **काफिये** (तुकान्त)में होता है। अगर किसी शेरके दोनों मिस्रोंकी रदीफ और काफिया एक ही हो तो उसको 'मतला' कहते हैं। गजलके आरम्भमें कम-से-कम एक 'मतला' अवश्य रखा जाता है। गजलके बीचमें भी इसका प्रयोग कई बार किया जा सकता है (दे० गजल)।

कसीदे दो प्रकारके होते हैं। एक वह, जिसमें कवि प्रारम्भसे ही प्रशंसा करने लगता है और दूसरा वह, जिसमें प्रारम्भमें एक तरहकी भूमिका दी जाती है और कवि और बातोंके अलावा वसन्त, बहार, दर्शन, ज्योतिष आदिके विषयमें कुछ कहता है। इन प्रारम्भिक वर्णनोंको 'तश्बीब' कहते हैं। 'तश्बीब'के बाद कवि प्रशंसा करनेकी ओर अपने शेरोंको मोड़ता है। इस मोड़को 'गुरेज' कहते हैं। इसका वर्णन बड़ा मुश्किल समझा जाता है और इसीके द्वारा शायरके कमालका अनुमान होता है। अच्छी 'गुरेज' वह है, जिसमें कवि 'तश्बीब'से 'तारीफ' (प्रशंसा)पर इस तरह आ जाय कि पढ़नेवालोंको यह पता ही न चले कि प्रशंसाका विषय ठूस-ठांसकर लाया गया है। कसीदेके तीसरे अंग 'मदह' (प्रशंसा)के बाद चौथा अंग 'दुआ' होता है, जिसमें कवि ममदूह (प्रशंसित व्यक्ति)के लिए शुभ-कामनाएँ करता हुआ उससे कुछ याचना करता है। इसीके बाद कसीदा समाप्त हो जाता है।

दरबारोंके प्रभावसे कसीदोंकी शैलीमें बड़े भारी-भरकम शब्दोंका प्रयोग किया जाता है। प्रशंसा करनेमें प्रशंसित व्यक्तिकी वीरता तथा उसके घोड़े और तलवारका अत्युक्ति-पूर्ण वर्णन होता है। पुरानी कवितामें कसीदेका महत्त्व इतना था कि कोई कवि उस्ताद (गुरु) तभी समझा जाता था, जब वह अच्छा कसीदा लिख लेता हो। केवल गजल कहने-वाला चाहे वह कितनी ही सुन्दर गजल लिखता हो, उस्ताद नहीं माना जाता था, क्योंकि कसीदेमें ही उसकी भावनाकी उड़ान और योग्यताकी परीक्षा होती थी। —म०

कहानी–गद्य कथा-साहित्यके एक अन्यतम भेदके रूपमें कहानी सबसे अधिक, किसी अंशमें उपन्याससे भी अधिक, लोकप्रिय साहित्यका रूप है। आधुनिक हिन्दी साहित्यमें यह रूप भी बंगलाके माध्यमसे पाश्चात्य साहित्यसे आया है। अंग्रेजीमें जिसे शार्ट स्टोरी कहते हैं, वही बंगलामें गल्प तथा हिन्दीमें कहानी नामसे प्रचलित है। हिन्दीमें भी गल्प नामका किसी मात्रामें प्रचलन रहा है, परन्तु कहानी शब्द ही सर्वाधिक स्वीकृत है। शार्ट स्टोरीके शब्दा-नुवादरूपमें कभी-कभी इसे छोटी कहानी और 'लघुकथा' भी कहा जाता है, परन्तु कहानी नाम ही अधिक सुकर और सहज है।

कथासाहित्यके बड़े रूपों, उपन्यास और उपन्यासिका-(लघु उपन्यास)की तरह कहानीमें भी कथासूत्र (थीम), कथानक, पात्र और देश-काल या परिस्थिति उसके प्रमुख तत्त्व बताये गये हैं तथा इसमें भी पात्रोंके पारस्परिक अथवा परिस्थितिके विरुद्ध द्वन्द्व या संघर्ष, संघर्षकी पराकाष्ठा, चरम सीमा तथा संघर्षकी जटिलताओंके विघटनसे कहानीके अन्तकी विकास-रेखा बनायी गयी है। उसे भी उत्तम पुरुष, सर्वज्ञ या सीमित अन्य पुरुषके रूपमें उपस्थित किया जा सकता है। परन्तु कथासाहित्यके उपर्युक्त बड़े रूपोंसे कहानीकी भिन्नता इतनी ही नहीं है कि उसका कथानक बहुत छोटा होता है, उसमें घटना-प्रसंग और द्वन्द्व तथा पात्र और उनका चरित्र-चित्रण अत्यन्त न्यून, सूक्ष्म और संक्षिप्त होता है, वरन् कहानी प्रस्तुत करनेमें लेखकके दृष्टिकोणसे तथा कहानीका वातावरण, अर्थात् समस्त कहानी-में परिव्याप्त सामान्य मनोदशासे उसके शिल्प-विधानमें ऐसी एकता और प्रभावान्विति आ जाती है, जो कहानीकी निजी विशेषता है और उसके रूपात्मक व्यक्तित्वकी सूचना प्रकट करती है।

यद्यपि कहानीके उपर्युक्त तत्त्व परस्पर अभिन्न रूपमें संपृक्त होकर प्रत्येक कहानीमें न्यूनाधिक रूपमें वर्तमान रहते हैं, किन्तु किसी कहानीमें चरित्र, किसीमें कथानक, किसीमें केवल कथासूत्र, किसीमें वातावरण और इसी प्रकार अन्य किसी तत्त्वको प्रधानता देकर शेषकी अपेक्षाकृत उपेक्षा की जा सकती है। कहानीके किसी एक तत्त्वपर अधिक बल दे देनेके कारण उसमें इतनी अधिक रूपात्मक विविधता दिखायी देती है कि कभी-कभी यह कहना कठिन हो जाता है कि यह कहानी निबन्ध नहीं, कहानी ही है, यह रेखाचित्र या संस्मरण या साधारण चुटकुला नहीं है। यदि कहानीमें कथासूत्र या आधारभूत विचार या भावपर अधिक बल दे दिया जाय तो वह अपने प्रयोजनमें निबन्धके निकट जा पहुँचती है, यदि उसमें चरित्रको प्रधानता दे दी जाय तो वह कभी-कभी व्यक्तिका रेखाचित्र बन सकती है और यदि कार्य-व्यापारको ही उसमें प्रमुख रूपमें दर्शाया जाय तो साधारण वर्णनसे उसका अन्तर बताना कठिन हो जाता है। निश्चय ही कहानीमें वर्णनात्मकता हो सकती है, उसमें किसी एक भावना, विचार या भावको एकान्ततः विकसित किया जा सकता है, उसमें किसी चरित्र-की विशेषता प्रस्तुत की जा सकती है और फिर भी वह साधारण वर्णन, निबन्ध या रेखाचित्रसे पृथक् इस कारण समझी जाती है कि उसमें किसी एक तत्त्वपर बल देते हुए पात्रोंकी क्रियाओं और प्रतिक्रियाओंके माध्यमसे जीवन और उसकी व्याख्याको प्रस्तुत किया जाता है। कहानी **निबन्ध** नहीं है, क्योंकि उसमें व्यापक मानवीय सत्योंका अन्वेषण या उद्घाटन होता है, केवल तथ्यपरक अभिधा-मूलक सत्योंका नहीं। वह साधारण वर्णन भी नहीं है, क्योंकि वर्णन करनेके साथ-साथ वह जीवनकी व्याख्या भी करती है, उसे सार्थकता प्रदान करती है, उसका दिशा-निर्देश करती है। कहानीमें सीमित और आंशिक उपन्यास की अपेक्षा अत्यन्त छोटे पैमानेपर, जीवनका एक सुसंघटित, अपनेमें परिपूर्ण चित्र उपस्थित किया जाता है, अतः वह रेखाचित्रसे भिन्न है, जिसमें वर्णनकी मनोहारिता या विषयकी प्रभावोत्पादकता होते हुए भी, उस प्रकारका संघटन और सम्पूर्णता नहीं होती।

गद्य कथा-साहित्यके इस रूपका अपेक्षाकृत अल्प कालमें

ही इतना शक्तिशाली विकास हुआ है और आकार-प्रकारकी विविधतामे वह इतना समृद्ध हो गया है कि उसकी परिभाषा देना सम्भव नहीं है। उपर्युक्त विशेषताओं-से ही हम उसे पहचान सकते है और इतना कहकर ही सन्तोष कर सकते हैं कि कहानी गद्य साहित्यका एक छोटा, अत्यन्त सुसंघटित और अपनेमे पूर्ण कथारूप है।

कहानीकी परम्परा अत्यन्त प्राचीन है, यद्यपि आधुनिक साहित्यिक कहानीका इतिहास उन्नीसवीं शतीसे प्रारम्भ होता है, जिसमें प्राप्त सबसे प्राचीन लिखित साहित्यमे ऐसी कहानियाँ मिली हैं, जिनमें पर्याप्त साहित्यिक कौशल पाया जाता है। अनुमान है कि 'जादूगरोंकी कथाएँ' किसी-न-किसी रूपमें ४,००० ई० पू०से ३,००० ई० पू०तक प्रचलित थीं, यद्यपि 'वेस्ट कार्पोरिस', जिसपर वे लिखी हुई मिलती है, कुछ समय बादका जान पड़ता है। भारतीय कहानीकी परम्परा अत्यन्त सम्पन्न है। इसका कुछ विस्तृत परिचय बादमें दिया गया है, परन्तु यहाँ इतना संकेत करना आवश्यक है कि ऋग्वेदमे, जिसकी गणना संसारके प्राचीनतम साहित्यमे होती है, काल्पनिक कहानी अपनी अनेक साहित्यिक विशेषताओंके साथ विद्यमान है। इतिहास, पुराण, रामायण, महाभारत तथा बौद्ध धर्म सम्बन्धी अवदान और जातक कथाओंके अक्षय भण्डार है। गुणाढ्यकी 'बृहत्कथा' जो अब केवल संक्षेपों और संग्रहोमे प्राप्त है तथा 'पंचतन्त्र' और 'हितोपदेश'की कहानियो-मे उस प्रकारका धार्मिक आग्रह भी नही है और नीति-शिक्षाके साथ मनोरंजनको प्रधानता दी गयी है। इन कहानियोंका विश्वव्यापी प्रचार हुआ है और इन्होंने विश्व-के कहानी-साहित्यका भण्डार भरा है। 'पंचतन्त्र' (पाँचवी, छठी शती)का छठी शतीमे ही खुसरो नौशेरवाँने पहला पहलवीमें अनुवाद कराया था। पहलवीसे छठी शतीमें ही इसका सीरियन भाषामे ईसाई पादरी बुदके द्वारा अनुवाद हुआ। अगली दो शताब्दियोंमें इसके सीरियनसे अरबीमें कई अनुवाद हुए। अरबीसे इसकी कहानियाँ यूरोपकी लैटिन, ग्रीक, जर्मन, फ्रेन्च, स्पेनिश और अंग्रेजीमें अनूदित हुई। १६वीं शतीतक इनके अनेक अनुवाद हो चुके थे और इस प्रकार इन कहानियोंने परोक्षरूपसे ही सही, साहित्यमें कहानीके आधुनिक रूपको जन्म देनेमें सहायता दी। प्राचीन यूनानी साहित्यमें भी गद्य और पद्यमें रचित अनेक कथाएँ मिलती है। बाइबिल तो कहानियोंका भण्डार है।

मध्ययुगमें यूरोपमें कहानियोंकी आश्चर्यजनक विविधता पायी जाती है। चॉसरकी 'कैण्टरबरी टेल्स' और बोकेसियो-की गद्यमे लिखित 'डिकेमेरॉं' प्रसिद्ध कहानी-संग्रह है। १७वीं, १८वी शतीतक छोटी-बड़ी कहानियोंके अनेक प्रकारके नमूने मिलते हैं, जिनमें कुछ आधुनिक कहानीके निकट पहुँच सकते है। परन्तु जान-बूझकर पृथक् साहित्य-रूपमें निर्मित सुनियोजित कहानियोंका उदय १९वी शतीके प्रथम चरणमें हुआ है। १८वीं शतीके अन्ततक तो उपन्यास-को ही एक गम्भीर साहित्यरूपमें मान्यता मिली थी। कहानियोंकी माँग उस समय हुई, जब अनेकानेक समाचार-पत्रों तथा सामयिक पत्र-पत्रिकाओंका प्रकाशन आरम्भ हुआ और पक्ष-व्यवसायको बढ़ानेके लिए सम्पादकगण ऐसी कहानियोंको लिखानेमें एक दूसरेसे होड़ करने लगे, जो पत्र या पत्रिकाके एक ही अंकमें पूरी हो जायँ।

आधुनिक कहानीका प्रारम्भ १९वीं शतीके चार देशोंके लेखक-समूहके द्वारा हुआ, जिनमें परस्पर १५ वर्षसे अधिक-का अन्तर नहीं है। जर्मनीके ई० टी० डब्ल्यू० हौफमैनके कहानी संग्रह १८१४ और १८२१के बीच प्रकाशित हुए, जेकब और विल्हेल्म ग्रिमके परियोंकी कथाओं और पुराण-कथाओंके संग्रह १८१२ और १८१५के बीच निकले तथा जॉन लुडविग टीकने भी इसी कालमें तत्परतासे कहानियाँ लिखी। इंग्लैण्ड निवासी अमेरिकन लेखक वाशिंगटन इर्विग-की 'स्केच बुक' १८१९-२०मे तथा तीन अन्य कहानीकी पुस्तकें १८३२के पूर्व प्रकाशित हुई। इसी समयके लगभग नेथनील हॉथॉर्न और एडगर एलन पो कहानी-लेखकके रूपमे प्रकट हो रहे थे। रूसमें एलेक्जेण्डर पुश्किन और निको-लाइ गोगोलने १८३१मे लिखना आरम्भ किया तथा फ्रांस-के प्रॉस्पर मेरिमीका कहानी-संग्रह १८२९में प्रकाशित हुआ। थियोफिल गौतिए और बालजककी कहानियाँ भी १८३०में प्रारम्भ हुई। ये सब कहानीको एक पृथक् साहित्यका रूप मानकर लिखनेवाले सजग कहानीकार थे। इनमें इर्विंगके शब्दोमे "विचारकी निरन्तर क्रियाशीलता और कृतित्वका सुघरपन" पाया जाता है। इर्विंगके 'रिप वॉन विंकिल', 'द लेजेण्ड ऑव स्लीपी हालो' और 'द स्टाउट जेण्टिलमैन' कहानीकलाके आदर्श कहे जाते है। परन्तु इर्विंगने कहानी कलाको एक ऐसा बँधा-बँधाया रूप देनेकी चेष्टा की, जिसमें गतिशीलता और नाटकीयताका अभाव था। हॉथॉर्न और पो-को इर्विंगके द्वारा स्थापित विधानमें परिवर्तन करना पड़ा। पाठकको तीव्रतासे प्रभावित करने तथा कहानीमें जीवन्त-शक्ति लानेके लिए हॉथॉर्न प्रसिद्ध है। गोगोलके विषयमे प्रसिद्ध है कि वह शैली और वृत्तिकी दृष्टिसे निर्दोष बनाने-के लिए एक कहानीको आठ-आठ बार लिखता था। कहानीकलाके परिश्रम-साध्य शिल्पविधानको इस प्रकार १८३०-४०के बीच पूर्ण स्वीकृति प्राप्त हो गयी।

पो-ने तो कहानीकलाके सम्पूर्ण सिद्धान्तोंका ही प्रति-पादन कर डाला और कहानी-रचनाके सुनिश्चित नियम बना दिये। उसके अनुसार कहानीमें पूर्वनिश्चित प्रभावा-न्विति सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, इसीके द्वारा कहानी मे पूर्ण एकात्मकता या संकलन (यूनिटी) आता है, अतः कहानीमें कुछ भी ऐसा न होना चाहिये, जो उस प्रभावा-न्वितिमें सहायक नहीं है। कहानीके समस्त तत्त्वोंकी, उसके सम्पूर्ण आकार-प्रकारकी उसी पूर्व-निश्चित प्रभाव या केन्द्रीय संवेदनाके आधारपर योजना की जाती है। पो-की कहानियोमें कथानकका उत्सुकतापूर्ण अनिश्चय या द्वैधीभाव-(सस्पेन्स)पूर्ण वातावरण और मनोदशा (मूड)की प्रधानता होती है। उनमें कलाकी परिपूर्णता लानेके प्रयत्नमें प्रायः जीवनकी यथार्थता नष्ट हो जाती है। पो-ने कहानीको अत्यधिक नियमबद्ध कर दिया, जिससे कि उसमें कुछ सम-झनेके लिए गतिरोध आ गया। गॉइ दि मोपासॉको इस बातका श्रेय है कि उसने कहानीको नियमोंके कठोर बन्धन-से सदाके लिए मुक्ति दिलायी। मोपासाँकी कुछ कहानियाँ

वास्तवमें महान् हैं, उसकी उत्कृष्ट कहानियोंकी संख्या भी कम नहीं है, परन्तु निकृष्ट कहानियाँ भी उसने ढेरों लिखीं। उसकी कहानियोंकी बहुत बड़ी विशेषता यह है कि चाहे वे महान् हों, अच्छी हों या बुरी, प्रत्येकमें वास्तविक जीवनका संस्पर्श मिलता है और सम्पूर्ण कहानियोंमें कुल मिलाकर ऐसा लगता है मानों लेखकने नश्वर मानवता की सुख-दुःखात्मक अनुभूतियोंको बड़े समारोहके साथ वर्णित किया है। चेखवने कहानीके रूपको और अधिक प्रगति देकर उसे नवीन प्रकारकी स्वतन्त्रता, अवसाद, आकर्षण और सुषमासे सम्पन्न किया। अमेरिकाके ओ० हेनरीने भी कहानी-साहित्यके विकासमें योग दिया। परन्तु उसकी कहानीके अन्त करनेकी कलामें ही जादू था, जो कुछ दिनोंतक ही पाठकोंको मुग्ध कर सका, क्योंकि उसकी कहानियाँ प्रायः यन्त्रमें ढली जैसी लगती हैं। उनमें वाक्-चातुर्य है और हार्दिक संवेदना भी, परन्तु लेखकका मानव व्यक्तित्व उनमें नहीं मिलता। डिकेन्सने भी कुछ कहानियाँ लिखी हैं और उनमें स्वच्छन्दता, मानवता और प्रभावोत्पादकता पायी जाती है।

कहानी साहित्यका सबसे स्वाभाविक और इसीलिए अत्यधिक स्वच्छन्द रूप है। कहानीके अनन्त प्रकार अलिखित रूपमें चलते हैं। दृष्टान्त, चुटकुले, हँसी-मजाक, साहसिक वर्णन, परियोंकी कथाएँ आदि न जाने कितने रूपमें कहानी हमारे जीवनके प्रत्येक क्षेत्र और प्रत्येक कालमें घुली-मिली रहती है। इसके अतिरिक्त स्वयं हममेंसे प्रत्येक व्यक्ति प्रतिदिन सैकड़ों कहानियोंके बीचसे गुजरता है। कहानी प्राण-वायुकी तरह अनिवार्य जान पड़ती है। इसीलिए साहित्यिक चेष्टाका अभिन्न अंग है। उसमें अगणित प्रयोग हुए हैं और होते रहेंगे। मानवीय प्रेषणका वह सरलतम रूप हो सकती है और अत्यन्त जटिल उलझा हुआ भी। वह अत्यन्त व्यवस्थित अभिव्यक्तिका रूप धारण कर सकती है और अत्यन्त शिथिल भी। सच्चे कहानीकारके हाथमें कहानी, कथानक, विकास और परिणति आदि उसके तथाकथित मूल तत्त्वोंसे सम्बद्ध उसके कला-सिद्धान्तोंके किसी भी झमेलेमें न पड़कर अत्यन्त प्रभावशाली बन सकती है। ये तत्त्व उपयोगी भी हो सकते हैं और व्यर्थ भी, प्रश्न केवल लेखकका है। लेखक ही कहानी कलाके नियम अपने लिए निर्मित करता है, अपनी शैलीके द्वारा ही वह अपनी सफलता या असफलता प्रमाणित करता है।

कहा जाता है कि कहानी इतनी ही लम्बी हो कि वह एक बैठक या लगभग आधे घण्टेमें पढी जा सके। परन्तु कोई जल्दी पढ़ता है कोई धीरे, अतः कहानीकी लम्बाईकी दूसरी माप यह बतायी गयी है कि कहानीका आकार २५०० शब्दोंसे १०,००० शब्दोंतकका हो सकता है। २५००से कम शब्दोंकी कहानी **छोटी कहानी** या **लघु कथा** (शॉर्ट शॉर्ट स्टोरी) तथा १०,०००से अधिक शब्दोंकी बड़ी कहानी (लॉंग शॉर्ट स्टोरी) कही जायगी। और यदि उसमें २०,००० शब्दोंसे अधिक हों तो उसे लघु उपन्यास या उपन्यासिका (नावेलेट) समझना चाहिये। परन्तु यह नाप-जोखका पैमाना केवल कुछ विशेषज्ञोंके कामकी चीज हो सकती है। ५०० शब्दोंसे भी कमकी कहानियाँ हैं और २०,००० शब्दोंसे अधिककी भी, और ये दोनों साधारणतया कहानी नामसे ही अभिहित हैं।

साहित्यमात्र और कदाचित् उसमे सबसे अधिक कहानी, लेखक और पाठकके बीचकी चीज है। उसके कला सम्बन्धी सिद्धान्तोंकी प्रायः दोनों ही अवहेलना करते हैं। नियम और सिद्धान्त तभी अधिक बनते हैं, जब कहानी-लेखनमें ताजगी नहीं रहती और पिष्टपेषण होने लगता है। नियमोंको ध्यानमें रखकर अच्छी कहानी नहीं लिखी जा सकती। अच्छी कहानी तो स्वतः लिख जाया करती है, क्योंकि लेखक भी स्वतः निकल आता है (दे० उपन्यास, उपन्यासिका) —सं०

भारतीय साहित्यमें कहानीका प्राचीनतम रूप ऋग्वेदके यम-यमी, पुरुरवा-उर्वशी, सरमा और पणिगण-जैसे लाक्षणिक संवादों, ब्राह्मणोंके सौपर्णी-काद्रव जैसे रूपकात्मक व्याख्यानों, उपनिषदोंके सनत्कुमार-नारद जैसे ब्रह्मर्षियोंकी भावमूलक आध्यात्मिक व्याख्याओं, महाभारतके गंगावतरण, शृंग, नहुष, ययाति, शकुन्तला, नल आदि जैसे उपाख्यानों, गीताके प्रवचनों, हरिवंश परिशिष्ट, ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त, शिव, स्कन्द जैसे पुराणोंके वार्तालापोंमें खोजा जा सकता है। इनमें कहानीकी प्रेरणाका आधार धार्मिक आचार, आध्यात्मिक तत्त्वचिन्तन तथा नीति और कर्तव्यकी शिक्षा देना है। यही कहानी व्यंजनापूर्ण रूपकोंसे वर्णन-प्रधान चरित्रों तक रमी हुई है।

भारतवर्षमें कहानीका प्राचीनतम रूप कथा है। कथी-शैलीकी कथाओंके विषय वीरों तथा राजाओंके शौर्य, प्रेम, न्याय, ज्ञान और वैराग्य, समुद्री यात्राओंके साहस, आकाश तथा अन्य अगम्य पर्वतीय प्रदेशोंमें प्राणियोंके अस्तित्व आदि हैं। इनमें **कथानक या घटना-प्रधान** रूप ही अधिक मिलते हैं। इस प्रकारकी कथाएँ भी शतियोंतक प्रचार पाती रहीं। सम्भवतः वे प्राकृतमें लिपिबद्ध की गयी होंगी। इन कथाओंमें सबसे प्राचीन कथा गुणाढ्यकी 'बृहत्कथा' है, जिसका निर्माण रामायण, उदयन, वासवदत्ता, समुद्री व्यापारियों तथा राजकुमारियोंके पराक्रमी घटना-प्रधान कथाओंसे हुआ है। यद्यपि यह अप्राप्त है, किन्तु इसके संक्षिप्त रूपोंमें बुधस्वामीके 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' क्षेमेन्द्रकी 'बृहत्कथामंजरी' और सोमदेवके 'कथासरित्सागर'-से इसके स्वरूपपर प्रकाश पड़ता है। दण्डीके इसके लिए प्रयुक्त 'कथा' शब्दसे ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ अनुमानतः गद्यमें रहा होगा। सम्भव है कि बीच-बीचमें श्लोकादि भी रहे हों। 'बृहत्कथा'की अनेक मनोरंजनपूर्ण कथाओंका विषय और शैलीका प्रभाव दण्डीके 'दशकुमारचरित', बाणभट्टकी 'कादम्बरी', सुबन्धुकी 'वासवदत्ता', धनपालकी 'तिलकमंजरी' और सोमदेवके 'यशस्तिलक'पर भी लक्षित है। यहाँतक कि काव्यग्रन्थ 'मालतीमाधव', 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्', 'मालविकाग्निमित्र', 'विक्रमोर्वशीय' 'रत्नावली', 'मृच्छकटिक' आदि भी इस कहानी-परम्परासे प्रभावित हैं।

'कथा'की परम्परामें एक शाखा नीति-कथाओंकी भी है। पतंजलिके 'अजाकृपाणीय' और 'काकतालीय' शब्द

भी किसी-न-किसी नीतिकथासे ही सम्बन्धित जान पड़ते हैं। इस दृष्टिसे इनका प्रारम्भ भी ई० सन्‌के पूर्वसे ही मानना होगा। इन नीतिकथाओंकी विशेषता यही है कि इनमें मनुष्यके स्थानपर पशु, पक्षी, वृक्ष पात्रके रूपमें गृहीत हुए हैं। वे मानवीय स्वभाव, गुणोंसे युक्त हैं। इनका उद्देश्य राजनीतिक एवं नैतिक शिक्षा देना तथा दैनिक जीवनके विविध पक्षोंका प्रतिपादन करना है। इनमें कथाशिल्पकी अपेक्षा नीति विषयके समर्थनपर अधिक बल दिया गया है, अर्थात् ये शैलीप्रधान न होकर विषय-प्रधान हैं। इनकी शैली कथागमोपकथा—कहानीके भीतर कहानीकी है। किसी नीतिके विषयमें कहानीका प्रारम्भ होता है और जैसे ही किसी नैतिक शिक्षाके साथ उसका अन्त होने लगता है, वैसे ही एक पात्र दूसरे पात्रको एक नयी कथा का संकेत कर देता है। ये कथाएँ गद्यमें हैं। बीच-बीचमें पद्यका भी प्रयोग हुआ है। शैलीकी मनोरंजकता तथा कुतूहलताके कारण इन कथाओंका अत्यधिक प्रचार हुआ। विदेशमें भी 'अरेबियन नाइट्स' जैसे कथा-ग्रन्थ बने। भारतमें इस कथा-शैलीका कथासंग्रह 'पंचतन्त्र' है। इसके पाँच तन्त्रों—'मित्रभेद'में भेदनीति, 'मित्रलाभ'-में मित्रता और पारस्परिक सहयोग, 'विग्रह'में युद्ध, उसके कारण और सन्धिकी उपयोगिता, 'लब्धप्रणाश'में असावधानीसे प्राप्त वस्तुकी भी हानि होने और 'अपरीक्षित कारक'में बिना विचारे काम करनेसे नाश होनेके विषयमें सूक्ष्म और विश्लेषक-बुद्धिसे विचार किया गया है। यह गद्यमें है, किन्तु बीच-बीचमें यथा-स्थल श्लोक भी उद्धृत किये गये हैं। 'पंचतन्त्र' जैसे कथाग्रन्थोंकी परम्परामें ही 'तन्त्राख्यायिका', 'बृहत्कथामंजरी', 'कथासरित्सागर', नारायणकृत 'हितोपदेश', जैनसिद्धार्थका 'उपमिति', 'भाव-प्रपंचकथा', हेमचन्द्रका 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' इत्यादि ग्रन्थ आते हैं।

कथाओं और नीति-कथाओंके समान ही बौद्ध विचारोंके पोषण और प्रसारके लिए संस्कृत गद्यमें अवदान ग्रन्थोंकी भी परम्परा प्राप्त है। इसमें 'अवदानशतक' मुख्य है। इसका उद्देश्य पूर्वजन्मकी प्रामाणिकता प्रमाणित करना है।

अवदानोंके अतिरिक्त बोधिसत्त्वके पूर्वजन्मोंसे सम्बन्धित जातक कथाएँ भी हैं। इनमें आर्यशूरकी 'जातकमाला' प्रमुख है। कुमारलातका 'सूत्रालंकार' या 'कल्पनामण्डितक' भी जातकों और अवदानोंका संग्रह है। इनमें अवदानों और जातकोंमें कथा-प्रधान और यत्र-तत्र कार्य-प्रधान कहानीके रूप सम्मुख आते हैं।

संस्कृतमें कथाकी कथानक-प्रधान नीतिपरक कथाओंकी परम्परा दूरतक मिलती है। इनमें विक्रमादित्य, भरथरी, मुंज, भोजके विद्या-प्रेम, न्याय, शौर्य आदि वर्णित हैं। शिवदासके 'वेतालपंचविंशतिका', 'शालिवाहन कथा', 'कथार्णव', 'सिंहासनद्वात्रिंशिका' या 'द्वात्रिंशत्पुत्तलिका' या 'विक्रमर्क', यूसुफ जुलेखापर आधारित श्री वीरकविका' 'कथाकौतुक', आनन्द-कृत 'माधवानलकथा', 'शुक सप्तति', अनन्त-विरचित 'वीरचरित', 'विक्रमोदय', 'पंचदण्डक्षत्र-प्रबन्ध,' बल्लालसेनका 'भोजप्रबन्ध' आदि ग्रन्थ इसी परम्पराकी कहानियाँ हैं।

इस प्रकार प्राचीन कालसे कहानीका प्रवाह व्यंजना-प्रधान कथारूपकोंसे इतिवृत्त, कार्य, चरित्र और वातावरण-की प्रधानताकी ओर रहा है।

जनताकी अपने चरितनायकोंके प्रति अटूट श्रद्धा तथा युग-प्रेमकी स्वाभाविक प्रवृत्तियोंके कारण कथा-साहित्यकी परम्पराका निरन्तर विकास होता रहा है। संस्कृत, पाली, प्राकृतके कथा-साहित्यकी परम्परा अपभ्रंशमें भी प्राप्त होती है। इसमें राजाओंके आख्यान और चरित्र लिखे गये। हिन्दीके आदि कालसे रीतिकाल गद्यके अभावमें भी कथा-प्रेमकी प्रवृत्ति देखी गयी है। उसने गीतों, प्रबन्धों और मुक्तकोंमें अपना स्थान बनाया है।

हिन्दीके पूर्व-मध्यकालमें भारतमें मुसलमानोंके स्थिर हो जानेपर विदेशी संस्कृतिके प्रभावसे 'लैला-मजनू,' 'शीरी-फरहाद,' 'युसुफ-जुलेखा' इत्यादि कथाओंका भी आगमन हुआ। लोक-कथाओंके आधारपर कथाकाव्य लिखनेवाले प्रेममार्गी सूफी कवियोंके प्रेमाख्यानोंमें कथा, मालामें धागेके समान बनी हुई है। किन्तु ये उड़नखटोला, उड़ाकू घोड़ा, देवी-देवता, राक्षस-देव, अप्सरा-प्रेमके अद्‌भुत चमत्कारोंके प्रसंगोंसे अलौलिक, अतिलौकिक और अस्वाभाविक हो गयी है।

वैष्णव काव्यमें प्रबन्ध और नीतिके रूपमें कथाका सुगुम्फन है। इसके अतिरिक्त इस कालमें अकबर-बीरबलकी व्यंग्य-विनोदपूर्ण कहानियाँ भी लोक-प्रचलित रही हैं।

रीतिकालके मुक्तकोंमें राधाकृष्णकी कथाओंको प्रश्रय मिला ही है, कुछ अन्य पौराणिक और ऐतिहासिक कथाओं-पर आधारित काव्योंकी भी रचना हुई। इनमें कथा कहीं अभौतिक, कहीं अतिभौतिक और कहीं भौतिक आलम्बनोंके आश्रित है। इस प्रकार इन तीनों ही कालोंमें पौराणिक, अतिदिव्य कथाओंके प्रसंगों और ऐतिहासिक, अतिभौतिक वृत्तों, जीवनियोंको लेकर लिखे गये काव्यमें कथाका प्रवाह सतत गतिशील रहा है।

किन्तु हिन्दीके आधुनिक कालकी 'कहानी' कथाके विकासमें एक नितान्त नवीन दिशा है, यद्यपि आधुनिक कहानीकी कथात्मकताकी झलक इन्शाअल्ला खाँकी 'रानी केतकीकी कहानी' या 'उदयभान चरित', लल्लूलाल-रचित 'सिंहासन बत्तीसी', 'बैताल पच्चीसी', 'माधवानलकाम-कन्दला', 'शकुन्तला', 'प्रेमसागर', सदल मिश्रके 'नासिकेतोपाख्यान', जटमलकी 'गोराबादलकी कथा', राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द'का 'राजा भोजका सपना' या 'वीरसिंहका वृत्तांत' इत्यादि मौलिक और अनुवादित कथाग्रन्थोंमें मिलती है। कहानीके इस प्रारम्भिक कालमें कहानियाँ प्रायः दो स्रोतोंसे सम्बन्धित थी—एक संस्कृत कथा या लोकप्रचलित मौखिक कथाओंका स्रोत, दूसरा उर्दू फारसीकी कहानियोंका स्रोत। पहलेमें संस्कृतकी धार्मिक एवं पौराणिक कथाओंके अनुवाद तथा 'शुक बहत्तरी', 'सारंगा सदाबृज', 'किस्सा तोता-मैना', 'किस्सा साढ़े तीन यार', 'किस्सये चार यार' आते हैं और दूसरेमें 'बागोबहार', 'किस्सा हातिमताई', 'चहार दर्वेश', 'दास्ताने अमीर हमजा', 'तिलस्मे होशरुबा' जैसी कहानियाँ रखी जा सकती हैं। इस प्रकार

इस समय ये जादू, कुतूहल और वासनामूलक प्रेमकी कहानियाँ ही भारतीय जनताका मनोरंजन कर रही थीं।

किन्तु पाश्चात्य संस्कृति तथा उसके भौतिक दृष्टिकोणके प्रसार, राष्ट्रीय जागरण, सांस्कृतिक आन्दोलन, व्यक्ति-स्वातन्त्र्यकी वृद्धि, गद्यके प्रचार, मुद्रणकी सुविधाओं और पत्रोंके इस युगमें 'हिन्दी प्रदीप', 'सरस्वती' और 'सुदर्शन'-के प्रकाशनसे कथा-साहित्यमें अभूतपूर्व क्रान्ति हुई। यद्यपि प्रारम्भमें 'हिन्दी प्रदीप'में 'कात्यायन वररुचिकी कथा', 'उपकोशाकी कथा', 'सुदर्शन'में पौराणिक आख्यान और 'सरस्वती'मे 'रत्नावली', 'मालविकाग्निमित्र', 'कादम्बरी', 'सीम्बलीन', 'एथेन्सका टाइमन', 'पेरीक्लीज', 'कामेडी ऑव एरर' (कौतुकमय मिलन) जैसी देशी-विदेशी कहानियों, काव्यों, नाटकोंके अनुवाद ही प्रकाशित हुए, किन्तु 'सरस्वती'में १९००मे किशोरीलाल गोस्वामीकी 'इन्दुमती' कहानी प्रकाशित हुई, जो परम्परागत अनूदित या तथा-कथित मौलिक कहानियोंसे सर्वथा भिन्न प्रकारकी थी। यद्यपि इसपर शेक्सपियरके 'टेम्पेस्ट' तथा किसी राजपूत कहानीका प्रभाव माना गया है, किन्तु शिल्पकी दृष्टिसे यह एक नवीन कहानी थी। इसके पश्चात् कुछ समयतक रूपान्तरित और अनुवादित कहानियोंका बाहुल्य रहा। बँगलासे कहानियोके अनुवादकोंमें गिरिजाकुमार घोष, लाला पार्वतीनन्दन तथा 'बंग महिला'का प्रमुख स्थान है। 'सुदर्शन'में माधव मिश्र पौराणिक आख्यायिकाओंके अनुवाद कर रहे थे। इन अनुवादोंके अतिरिक्त हिन्दीमे छन्दोबद्ध कहानियाँ भी लिखी गयी, जिनमे न तो विषयका आदर्श है और न शैलीका निश्चित रूप है। 'जम्बुकी न्याय' 'निन्नानवेका फेर', 'नकली किला', 'कुलीनाथ पाण्डे', 'विद्या-विहार' इत्यादि इसी शैलीकी रचनाएँ है। इसके साथ प्रारम्भमे बंग भाषाके गल्पकी शैलीका भी अनुकरण हुआ। किशोरीलाल गोस्वामीकी 'गुलबहार', मास्टर भगवानदासकी 'प्लेगकी चुड़ैल', रामचन्द्र शुक्लकी 'ग्यारह वर्षका समय', गिरिजादत्त बाजपेयीकी 'पण्डित और पण्डितानी' इत्यादि आधुनिक कहानीके निकट है, किन्तु इनमेसे कुछ विदेशी शैलीकी है, कुछ जीवन, स्केच, इतिहास, निबन्धके निकट है। कहानी-शिल्पका सौन्दर्य इनमे नही है। 'बंग महिला'-की 'दुलाईवाली' 'सरस्वती'में १९०७मे प्रकाशित हुई, जो हिन्दीकी प्रथम मौलिक आधुनिक कहानी है और दूसरी 'इन्दु'में १९११में प्रकाशित 'प्रसाद'की कहानी 'ग्राम' है। १९११ ई०में ही 'भारतमित्र'मे चन्द्रधर शर्मा गुलेरीकी 'सुखमय जीवन' कहानी भी प्रकाशित हुई। १९१२ ई०में 'इन्दु'में 'प्रसाद'की 'रसिया वालम', जी० पी० श्रीवास्तवकी कहानियाँ, 'सरस्वती'में 'कौशिक'की 'रक्षाबन्धन' (१९१३), गुलेरीकी 'उसने कहा था' (१९१६), ज्वालादत्त शर्मा, चतुरसेन शास्त्री तथा 'अदीब', 'जमाना'से निकलकर प्रेमचन्दकी कहानियाँ तथा 'प्रसाद'की 'इन्दु'मे 'पुरस्कार', 'आकाशदीप', 'बिसाती', 'स्वर्गके खण्डहर', 'प्रतिध्वनि', राधिकारमण सिंहकी 'कानोमें कंगना' (१९१३) और 'बिजली'के प्रकाशनमें हिन्दीकी आधुनिक प्रगति अबाध गतिसे आगे बढने लगी।

हिन्दीकी आधुनिक कहानीके विकासमें एक ओर मानव-जीवनके प्रेम, करुणा, विनोद, हास्य, व्यंग्य, विस्मय, आश्चर्यपूर्ण साधारण और यथार्थ परिस्थितियोंके आघात-प्रतिघात सहायक हुए है, दूसरी ओर प्राचीन प्रेम-प्रधान खण्डकाव्य, प्रबन्धकाव्य, नाटकों और प्रेमाख्यानोंमे प्राप्त काव्यात्मक कल्पनाने योग दिया है।

विषय और वातावरणकी दृष्टिसे जहाँ प्राचीन कहानीमे राजा, राजकुमार, राजकुमारियोंकी प्रणयकथाओंका आधिक्य, मानवके बाह्य क्रिया-कलाप, स्वभावके वर्णनपर दृष्टि है तथा संयोग, आकस्मिक घटनाओंसे कुतूहल, आश्चर्य और जिज्ञासाको शान्त करनेकी प्रवृत्तिकी अतिरंजकता तथा प्रेम-वृत्तिकी एकच्छत्रता है, वहाँ आधुनिक कहानीमे सामाजिक समानताके भाव जगनेके कारण, समाजकी सभी संस्थाओं, वर्गों और वर्णोंके मनुष्योंके व्यक्तिगत जीवनकी साधारण घटनाओंको कहानीका विषय बनाया गया है, मानवकी अन्तःप्रकृति चित्रित करनेका प्रयत्न किया गया है, संयोग और दैवघटनाको केवल कथानकके विकासमें साधनमात्र माना गया है, प्रेमके साथ अन्य प्रवृत्तियोंके चित्रणपर भी ध्यान दिया गया है, मानवको देव-दानवों जैसी अतिभौतिक सत्ताओंके हाथका क्रीडा-कन्दुक नहीं बनाया गया है, उनकी प्रवृत्तियोंका मनोवैज्ञानिक चित्रण किया गया है और जीवनके महत् तथ्यों एवं शाश्वत सत्योंका भी उद्‌घाटन किया गया है। शैलीकी दृष्टिसे जहाँ प्राचीन कहानीका प्रारम्भ सीधे-सादे नियमित और व्यवस्थित ढंगसे होता था, वहाँ आधुनिक कहानी कथानकके किसी भी स्थलसे प्रारम्भ हो सकती है। यही उसकी वक्रता या विचित्रता है और उसमें चित्रणकी प्रवृत्ति अधिक है। दूसरे, जहाँ प्राचीन कहानी वर्णन-प्रधान होती थी, वहाँ आधुनिक कहानी रूपकों और प्रतीकोंका सहारा लेकर कलात्मक होती जा रही है। उसकी शैलीमे निरन्तर विकास होता जा रहा है।

बीसवीं शताब्दीके प्रथम चतुर्थांशमे आधुनिक हिन्दी कहानी रूपककी दृष्टिसे चतुरसेन शास्त्रीकी 'खूनी', प्रेमचन्दकी 'आत्माराम', 'शंखनाद', 'बड़े घरकी बेटीका गुमान', 'बूढ़ी काकी', 'मुक्तिमार्ग', 'अग्निसमाधि', 'दीक्षा', 'दफ्तरी', गुलेरीकी 'उसने कहा था', 'प्रसाद'की 'भिखारिन' 'गुण्डा', कौशिककी 'ताई' जैसी **चरित्र-प्रधान**, प्रेमचन्दकी 'शतरंजके खिलाड़ी', विशम्भरनाथ जिज्जाकी 'परदेशी', राधिकारमण सिंहकी 'कानोमे कंगना', 'बिजली', चण्डी-प्रसाद 'हृदयेश'की 'प्रेम-परिणाम', 'उन्माद', 'योगिनी', 'प्रसाद'की 'आकाशदीप', 'प्रतिध्वनि', 'बिसाती', 'स्वर्गके खण्डहरमें', 'हिमालयका पथिक', 'समुद्र सन्तरण', गोविन्दवल्लभ पन्तकी 'जूठा आम', 'मिलन मुहूर्त', प्रेमचन्दकी 'प्रेमतरु', सुदर्शनकी 'हार-जीत' जैसी **वातावरण-प्रधान**; कौशिककी 'पतितपावन', ज्वालादत्त शर्माकी 'भाग्यका चक्र', पदुमलाल पुन्नालाल बख्शीकी 'झलमला' संग्रहकी कहानियाँ जैसी **कथानक-प्रधान**; गोपालराम गहमरीकी **जासूसी कहानियाँ**; दुर्गाप्रसाद खत्रीकी **वैज्ञानिक कहानियाँ**—'संसारविजय', 'रूप-ज्वाला', मथुराप्रसाद खत्रीकी 'शिखण्डी' जैसी **कार्य-प्रधान** राय कृष्णदासकी 'कला और कृत्रिम कला', 'प्रसाद'की

'कला' जैसी **प्रतीक-प्रधान**; पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'की 'निर्लज्ज', 'इन्द्रधनुष' संग्रहकी तथा चतुरसेन शास्त्रीकी 'रजकण' संग्रहकी मानव-जीवनके कुरूप, सुरुचिपूर्ण और अशुभ प्रसंगोंको लेकर लिखी **प्रकृतवादी** तथा विषयकी दृष्टिसे चतुरसेन शास्त्रीकी 'भिक्षुराज', 'प्रसाद'की 'ममता', 'देवरथ', प्रेमचन्दकी 'वज्रपात', 'सारन्धा', सुदर्शनकी 'न्यायमन्त्री', वृन्दावनलाल वर्माकी 'तातार वीर' और 'एक वीर राजपूत', 'राखीबन्द भाई' जैसी **इतिहास-प्रधान** कहानियोंसे होकर विकसित हुई है। शैलीकी दृष्टिसे आधुनिक कहानी सुदर्शनकी 'तीर्थयात्रा', प्रसाद'की 'ममता' जैसी **वर्णनात्मक**, कौशिककी 'ताई', 'द्विज'की 'गोक्षकी भिक्षा' जैसी **संलापात्मक**, प्रेमचन्दकी 'ब्रह्मका स्वॉंग', सुदर्शनकी 'अन्धेर', 'अन्धेरी दुनिया' जैसी **आत्मचरितात्मक**, 'प्रसाद'की 'देवदासी', राधिकारमणप्रसाद सिंहकी 'सुरबाला' प्रेमचन्दकी 'कुसुम' और सुदर्शनकी 'वलिदान' जैसी **पत्रात्मक शैलियों**मे व्यक्त हुई है।

किन्तु बीसवीं शतीके द्वितीय चतुर्थांशमें जीवनके तथाकथित शाश्वत कहे जानेवाले प्रतिमानों और आदर्शोंको वैज्ञानिकता छूने लगी। परिणामस्वरूप शाश्वत सत्यकी व्यंजना युगसत्य, अतीत सत्य तथा मनोवैज्ञानिक सत्यके रूपमें होने लगी। राय कृष्णदासकी 'तापसीकी तितिक्षा', 'अन्तःपुरका आरम्भ', हरिवंश राय बच्चनकी 'चुन्नी-मुन्नी'मे सत्य इसी रूपमें उद्घाटित किया गया है। इसके अतिरिक्त पहले जहाँ ईर्ष्या, क्रोध, भय, आशंका, प्रेम, घृणा, सन्देह जैसी वृत्तियोंके चित्रणपर बल दिया जाता था, वहाँ मनकी गहराइयोमें पैठ होने लगी है और व्यक्ति-समाजकी परस्पर क्रिया-प्रतिक्रियाओंको चित्रित किया जाने लगा है। जैनेन्द्रकी 'एक रात', 'चलितचित्त' तथा जोशीकी 'अभिनेत्री'में इन्हीं वृत्तियोंका विश्लेषण किया गया है। जैनेन्द्रकी 'टाइप', यशपालकी 'पुलिसकी दफा'मे यही लक्षित है। दूसरी विशेषता बुद्धिवादका तीव्र आग्रह है, जिसके कारण भावनाकी अप्रधानता बढ़ी है और सामाजिक विषमताओंके प्रति भीषण विद्रोहकी भावना जागी है, आलोचनाकी शक्ति विकसित हुई है, विचारों-सिद्धान्तोंकी पुष्टिके लिए सुभाषित जैसे वाक्यों, सूक्तियों, निर्देशोंका प्रयोग होने लगा है। अज्ञेय, पहाड़ी, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा तथा जैनेन्द्रकी कहानियोमे यह बौद्धिकता द्रष्टव्य है। आज तर्कसंगत, मनोवैज्ञानिक तथा यथार्थ जीवनके सत्योंकी व्यंजना और अन्तर्द्वन्द्वके विश्लेपणकी ही ओर अधिक रुचि है।

शैलीकी दृष्टिसे आधुनिक कालकी कहानी वर्णनसे चित्रण, चित्रणसे विश्लेषण और विश्लेषणसे सूक्ष्म विश्लेषणकी ओर बढ़ रही है तथा विषयकी दृष्टिसे प्रत्यक्ष आवश्यकताओंसे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष समस्याओं तथा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष समस्याओंसे अन्तर्मनके संघर्षों और रहस्योंकी ओर प्रगति कर रही है। —वि० रा०

कहानीके भेद—कहानी-कलाके विभिन्न तत्त्वोंकी प्रधानताके अन्तरसे कहानियोंका वर्गीकरण निम्नलिखित ढंगसे किया जा सकता है—१. कथानक या घटनाप्रधान कहानी, २. चरित्रप्रधान कहानी, ३. वातावरणप्रधान कहानी और ४. भावप्रधान कहानी।

इस वर्गीकरणके अतिरिक्त कुछ कहानियाँ ऐसी भी रह जाती है, जो किसी वर्गमें नहीं आती, वस्तुतः यही कहानी-कलाकी विकासशीलता और मौलिकता है। प्रकृतवादी, प्रतीकवादी और सांकेतिक कहानियोंके लिए एक मिश्रित वर्ग बनाना पड़ेगा।

विषयकी दृष्टिसे कहानियाँ अनेक प्रकारकी हो सकती है—ऐतिहासिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, मनोविश्लेपणात्मक, साहसिक, रोमांसिक और जासूसी आदि। शिल्पविधिकी भी किंचित् विशेषताएँ इनमे आ जाती है, अतः इनका परिचय पृथक्-पृथक् दिया गया है।

घटना या कथानक-प्रधान कहानी—घटना कहानीके अन्तर्गत **घटना-प्रधान, कार्य-प्रधान** और **चरित्र-प्रधान** तीन रूप होते है और ये तीनों रूप इसके मुख्य धरातल है, जहाँसे कहानीकार अपनी संवेदनाओंकी कलात्मक अभिव्यक्ति उपस्थित करता है।

घटना-प्रधान कहानियोमे घटनाएँ ही कथानक-निर्माणमे मुख्य होती है। इन्हीं घटनाओके माध्यमसे समूची कहानी निर्मित होती है। मूल्यकी दृष्टिसे ऐसी कहानियाँ अत्यन्त साधारण कोटिकी होती हैं। कहानी अपने आविर्भाव युगमें मुख्यतः इसी रूपमे थी और इसका विकास आजतककी कहानियोमे मिलता आ रहा है। घटना-प्रधान कहानियोंमें दैवघटना और संयोगका विशेष सहारा लिया जाता है। 'कौशिक'की प्रसिद्ध कहानी 'ताई' इसके उदाहरणमें सर्वश्रेष्ठ है। वस्तुतः **कार्य-प्रधान** कहानी घटना-प्रधान कहानीका ही एक विकसित रूप होती है। इस रूपके अन्तर्गत **जासूसी, रहस्यपूर्ण** तथा **अद्भुत कहानियाँ** आती है। इस प्रकारकी कहानियोंके प्रतिनिधि-कहानीकार गोपालराम गहमरी और दुर्गाप्रसाद खत्री उल्लेखनीय है।

चरित्र-प्रधान कहानियोंका मुख्य उद्देश्य चरित्र-चित्रण और चरित्र-विश्लेषण होता है, फलतः इन कहानियोंका मुख्य धरातल मनोविज्ञान होता है। प्रेमचन्दकी 'कफन', 'बूढी काकी', 'प्रसाद'की 'आकाशदीप', 'मधुआ', गुलेरीकी 'उसने कहा था' आदि कहानियाँ इस दिशामें सुन्दरतम उदाहरण है। 'कफन'में गरीब चमार बाप-बेटे, जाड़ेके दिनोंमें बाहर अलावको घेरे बैठे है, भीतर बहू प्रसव-पीड़ासे कराह रही है, लेकिन उसे देखने मात्रके लिए उन दोनोंमेंसे कोई भीतर नही जाता। क्यों?—इसलिए कि वे दोनों भूखे थे और अलावमे कुछ आलू पड़े थे। उन्हें डर था कि अगर कोई भीतर जायगा, तो दूसरा आलू निकालकर खा जायगा। स्त्री मर जाती है। कफनके लिए गाँववाले चन्दा करके उन्हें रुपये देते है। बाजारमे पहुँचकर दोनों उस रुपयेसे शराब पी डालते है। कहानीमे कार्य-व्यापार, घटनाएँ और प्रसंग बिलकुल नाममात्रके है और वे भी केवल उन दोनों चरित्रोंकी छायाके निमित्त है। अपने कालमें प्रेमचन्द सामाजिक धरातल तथा 'प्रसाद' ऐतिहासिक धरातलकी चरित्र-प्रधान कहानियोंके सर्वश्रेष्ठ लेखक है। संक्रान्ति-युगमें मनोविज्ञानकी उन्नति और उससे पायी हुई मनोविश्लेषणकी पद्धतिसे चरित्र-प्रधान कहानियाँ और भी सुदृढ़ तथा समुन्नत हुई। जैनेन्द्रकुमार, 'अज्ञेय', इलाचन्द्र

जोशी और यशपाल आधुनिक मनोविश्लेषणके धरातलसे चरित्र-प्रधान कहानियोंके सुन्दर कृतिकार हैं। अब इन कहानियोंमें चरित्रके बाह्य विश्लेषणकी अपेक्षा चरित्रके आन्तरिक विश्लेषणकी प्रतिष्ठा हुई है। चरित्र-प्रधान कहानियाँ घटनाओंको छोड़कर स्थूलतासे सूक्ष्मताकी ओर अग्रसर हुई है। इनमे विशुद्ध व्यक्ति-विश्लेषण तथा आत्म-विश्लेषणकी प्रवृत्ति आयी है। जैनेन्द्रकी 'एक रात', 'मास्टर जी'; 'अज्ञेय'की 'रोज', 'छाया'; इलाचन्द्र जोशीकी 'एकाकी'; यशपालकी 'एक राज', 'उत्तराधिकार'; अश्ककी 'उबाल', 'पिंजरा' आदि कहानियाँ इस क्षेत्रकी उत्कृष्ट कृतियाँ हैं।

वातावरण-प्रधान कहानी—कहानी कल्पनालोककी वस्तु न होकर जीवनकी वस्तु है और जीवन सर्वथा वातावरण-सापेक्ष्य है। हमारे दैनिक जीवनके कार्यव्यापारोंमें किसी-न-किसी परिवेश तथा वातावरणकी प्रेरणा होती है। इसी प्रेरणाको कहानीकी संवेदनाके साथ-साथ पूर्ण रूपसे चित्रित करनेसे कहानी वातावरण-प्रधान हो जाती है। वातावरणके निर्माणमें प्रकृति-चित्रण तथा रूप-चित्रण इसकी मुख्य विशेषताएँ है। सामाजिक कहानियोंमें वातावरणका निर्माण, उनमें ऐकान्तिक प्रभाव और स्वाभाविकताके साथ-साथ सौन्दर्यकी अवतारणा होती है और कहानीके चरम उद्देश्यका प्रभाव पाठकपर अनन्य ढंगसे पड़ता है, जैसे, 'प्रसाद'की 'बिसाती', 'बनजारा', 'आँधी' तथा प्रेमचन्दकी 'अलग्योझा', 'पूसकी रात' और 'गुल्ली-डण्डा' आदि कहानियाँ।

ऐतिहासिक कहानियोंमें वातावरणकी प्रतिष्ठा एक परम आवश्यक तत्त्व है। इसके बिना कहानीमे न तो ऐतिहासिकता ही आ सकती है और न वह प्राणतत्त्व, जिसके भीतरसे कहानीका उद्देश्य उभरता है। 'प्रसाद'की प्रतिनिधि ऐतिहासिक कहानियो, जैसे 'देवरथ', 'सालवती', 'आकाशदीप'में यह एक तत्त्व पूर्ण सफलतासे चरितार्थ हुआ है। ये कहानियाँ वातावरण-प्रधान कहानियोंके उत्कृष्ट उदाहरण है। वस्तुतः वातावरण-प्रधान कहानियोंमें कवित्वपूर्ण भावना, उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति, नाटकीय स्थितियोंकी अवतारणा और उनमें चरित्रोंके संघर्ष, इसकी मुख्य विशेषताएँ है।

भाव-प्रधान कहानी—चरित्र प्रधान और वातावरण-प्रधान कहानियोंके बीचमें भाव-प्रधान कहानियाँ आती है। ऐसी कहानियाँ, जिनमें चरित्र, घटना या कार्य-व्यापारपर बहुत बल न होकर केवल किसी भाव-विशेषपर बल होता है और उसीके आधारसे समूची कहानी अपनी एक लयके साथ निर्मित होती है, जैसे जैनेन्द्रकी 'नीलम देशकी राजकन्या' और 'अज्ञेय'की 'कोठरीकी बात।' भाव-प्रधान कहानियोंमें टैगोरकी कुछ कहानियाँ, जैसे 'भूखा पत्थर', उल्लेखनीय है। ऐसी कहानियोंमें एक मुख्य भावनाका प्राधान्य रखा जाता है। भाव-प्रधान कहानियाँ प्रायः प्रतीकवादी कहानियोका रूप धारण कर लेती है। जैनेन्द्रकी 'लाल सरोवर', 'राज पथिक'; 'अज्ञेय'की 'पैगोडा वृक्ष,' 'चिड़ियाघर' आदि कहानियाँ अपने भाव-चित्रोंमे किंचित् प्रतीकोंके सहारे मानसिक चित्रों एवं सत्योंकी अभिव्यक्तिमें अत्यन्त सफल हैं। ऐसी कहानियाँ प्रायः सूक्ष्म तत्त्वों तथा भावनाओंको साकार रूप देनेमे सफल होती है। अमूर्त विषयों और मनुष्यके अन्तःसौन्दर्य तथा मानसिक संघर्षोंके चित्र प्रस्तुत करनेमें ऐसी कहानियाँ अत्यन्त शक्तिशाली सिद्ध होती है।

ऐतिहासिक कहानी—संस्कृत गद्य-साहित्यमें असंख्य ललित कथाएँ ऐतिहासिक आधार लेकर लिखी गयी है और उनका मुख्य उद्देश्य नीति-स्थापना, आदर्श एवं दृष्टान्त उपस्थित करना रहा है। हिन्दीमे आधुनिक दृष्टिकोणसे ऐतिहासिक सामग्रीको बिलकुल भिन्न उद्देश्यसे कहानीका वर्ण्य विषय बनाया गया है। इतिहासको यथार्थवादी ढंगसे ग्रहण करना इसकी पहली विशेषता है। इसी दृष्टिकोणसे प्राचीनताके मोह, जातीय गौरव, राष्ट्र-प्रेम, आदर्श-स्थापना एवं वीर-पूजाकी भावनाने कहानीकारोंको इतिहासकी ओर प्रवृत्त किया है।

कलाकी दृष्टिसे सामाजिक कहानी एवं ऐतिहासिक कहानीकी सम्भावना एवं उपलब्धिमे कोई विशेष अन्तर नहीं। एकमें ऐतिहासिक यथार्थ और मनोविज्ञान है, तो दूसरीमें वर्तमान यथार्थ। इस प्रकार वर्तमानसे अतीतको जोड़ने अथवा दोनोंमें रसमय सम्बन्ध स्थापित करनेका माध्यम केवल कल्पना है। अतएव ऐतिहासिक कहानीमे कल्पना एवं तर्कजनित भावुकताका प्रवेश अत्यन्त आवश्यक है।

वृन्दावनलाल वर्मा, चतुरसेन शास्त्री, प्रेमचन्द और जयशंकर 'प्रसाद' ऐतिहासिक कहानी लिखनेवालोंमें विशेष उल्लेखनीय है। वृन्दावनलाल वर्माकी 'राखीबन्द भाई' तथा 'खजुराहोकी दो मूर्तियाँ' आदि कहानियोंमें ऐतिहासिक तथ्योंके प्रति रसमय निष्ठा तथा पुनरुत्थानकी भावना है। चतुरसेन शास्त्रीकी 'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी', 'सिंहगढ-विजय', 'बसन्त' आदि कहानियोका निर्माण कल्पना एवं इतिहासके रूमानी धरातलपर किया गया है। प्रेमचन्दकी 'राजा हरदौल', 'मर्यादाकी वेदी' और 'शतरंजके खिलाड़ी' आदि कहानियाँ वर्तमानको शक्तिशाली बनानेके लिए अतीतसे प्राणशक्ति खोजनेके सुन्दर प्रतिमान हैं। इस दिशामें 'प्रसाद'का स्थान अद्वितीय है। इनकी अनेक अमर ऐतिहासिक कहानियाँ जीवनके अनेकानेक पक्षों और उद्देश्योंको लेकर लिखी गयी है। जैसे—'देवरथ', 'सालवती', 'स्वर्गके खण्डहरमे', 'आकाशदीप', 'पुरस्कार' और 'गुण्डा' आदि। इन कहानियोंमें इतिहास और अतीतके स्वर्णिम पृष्ठोंसे रसलिप्तताकी सहज भावना, जातीय गौरव, आदर्श-स्थापन, जीवनको इतिहासकी कसौटी पर रखकर नये ढंगसे मूल्यांकन करनेका विचार और साथ ही वर्तमानसे पलायनकी प्रवृत्ति—ये अनेक विशेषताएँ एक ही व्यक्तित्वमें मिल जाती है।

शिल्पकी दृष्टिसे ऐतिहासिक कहानियोंमें वातावरणकी अवतारणा परम आवश्यक तत्त्व है। क्योंकि इसके बिना कहानीमें न इतिहासकी रसमयता एवं प्राणवत्ता आ सकती है, न कहानीका वह चरम उद्देश्य ही चरितार्थ हो सकता है, जिसके आधारपर ऐतिहासिक कहानियाँ लिखी जाती है। 'प्रसाद'की ऐतिहासिक कहानियाँ इसलिए श्रेष्ठ हैं कि उनमें परिपार्श्व और वातावरणका इतना मोहक

आकर्षक और वेग है कि पाठक उसमें लिप्त हो जाता है।

ऐतिहासिक कहानियोंमें साधारणतया कथावस्तुकी स्पष्टता, बहुलता, चित्रण-वर्णनमें भावुकता एवं कवित्वपूर्ण उद्भावना, नाटकीय स्थितियोंकी अवतारणा और संघर्षका वेग आदि विशेषताएँ विशेष उल्लेखनीय है।

सामाजिक कहानी—आधुनिक कहानी-कलाका विकास आधुनिक सामाजिकताके प्रतिनिधित्वके लिए हुआ है। जिस सच्चाई, जितनी यथार्थ पैठके साथ हमारी सामाजिकता-का प्रत्येक पक्ष, प्रत्येक स्तर एवं अंग इस कलामें बँधता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। आजकी सामाजिकतामें सम्भवतः यही कारण है कि कहानी अत्यन्त लोकप्रिय और जीवनको परखने और साधनेमें सफल हुई है।

अतएव सामाजिक कहानी वह है, जिसका उपजीव्य सारा समाज है, हर व्यक्ति है, और इन दोनोंकी सम्पूर्ण गति है, दिशा है; जिसके व्यक्तित्वमें समाजका सारा व्यक्तित्व बँधा है, कसौटीमें स्वर्ण-रेखा खिंची रहती है, जिसकी रचनामें सम्पूर्ण समाजका रहस्य, अन्तर्मन और सारा दर्शन छिपा रहता है; जिसका हर पात्र हमारा प्रतिनिधि होता है, जो वह बोलता है, सोचता है, जिस द्वन्द्व और करुणामें वह फँसा है, जिस कुण्ठा, जिस आर्थिक, नैतिक, संस्कारगत, परम्परागत दलदलमें वह जूझ रहा है, वह सब हम है, हमारा समाज है, हमारे समाजकी उपलब्धि एवं मान्यताएँ है।

हिन्दी कहानी अपने प्रारम्भसे ही सामाजिक रही है। बल्कि सामाजिक चेतनाके आग्रह एवं तनावने कहानीको विकास ही दिया है। ज्यों-ज्यों जीवन जटिल एवं द्वन्द्वमय होता गया है, त्यों-त्यों सामाजिक कहानियोंके स्तरमें विकास होता गया है, क्योंकि समाजके बदलते हुए मूल्यों एवं विचार तथा दर्शनका सीधा प्रभाव सामाजिक कहानि-योंपर पड़ता है। संप्रेषणीयताका सारा दायित्व इन्हीं कहा-नियोंपर आता है, यही कारण है कि सामाजिक कहा-नियोंमें जितने शिल्पगत प्रयोग होते है, उतने कहीं नहीं।

हिन्दी कहानियोंका विकास ऐसे युगसे आरम्भ हुआ, जब भारतीय सामाजिकताका वास्तविक संक्रान्ति-काल था, एक ओर स्वतन्त्रता-संग्राम, दूसरी ओर पाश्चात्य संस्कृतिके सम्पर्कसे भारतीय सामाजिकतामें विद्रोहकी भावना उभर रही थी। अनेक सुधारवादी आन्दोलनोंके कारण व्यक्ति, समाजको अपूर्व मुक्ति मिल रही थी। इन सब कारणोंके फलस्वरूप व्यक्ति, समाज, धर्म, जीवन, दर्शन, विवाह, छुआछूत, नारी-समस्या, परिवार, किसान और उसके जीवनसे सम्बन्धित समाजके सारे वर्ग, सारी शक्तियाँ, सारे संस्थान कहानीकी सामाजिकतामें स्थापित हुए। प्रेमचन्द इस युगके सर्वोत्कृष्ट, सम्भवतः महान् कहानीकार सिद्ध हुए, जिनकी कहानियोंकी सीमामें समूचा तत्कालीन समाज चित्रित हुआ है। 'सप्तसरोज' (१९१७ ई०)की कहानियोंसे लेकर 'मानसरोवर' प्रथम भाग (१९३६ ई०)की कहानियों-तकका प्रायः समूचा भारतीय समाज, मुख्यतया उसका निम्न वर्ग, निम्न मध्यवर्ग, मध्यवर्ग, उच्च मध्यवर्ग अपनी विविध परिस्थितियोंके साथ अभिव्यक्त हुआ है। प्रारम्भिक अवस्थाके आदर्शवादी स्तरसे विकासकी अवस्थामें आदर्शोन्मुख यथार्थवादी ढंगसे और अन्तिम अवस्थामें परम यथार्थवादी धरातलसे, उदाहरणके लिए क्रमशः 'बड़े घरकी बेटी', 'शतरंजके खिलाड़ी' अथवा 'बूढ़ी काकी' और अन्तमें 'कफन'।

सामाजिक स्तरपर प्रेमचन्द सदा यथार्थवादी थे। उनकी सामाजिक कहानियोंमें शोषण, अत्याचार, सामाजिक कुरीतियोंके प्रति सुधारका आग्रह, पराजय, पतनके प्रति आदर्शकी प्रतिष्ठा और दुःखी, पीड़ित, शोषित मानवताके प्रति अथाह संवेदना थी। यही कारण है कि प्रेमचन्दकी सामाजिक कहानियाँ भारतवर्षमें क्या, समूचे संसारमें प्रसिद्ध हुई है, क्योंकि उनकी कहानियोंके माध्यमसे भारतीय समाजका सच्चा परिचय मिलता है।

प्रेमचन्द और 'प्रसाद'-युगके उपरान्त हमारे सामाजिक और व्यक्तिगत जीवनको प्रभावित करनेवाली कुछ क्रान्ति-कारी शक्तियाँ आयीं, जैसे मार्क्सवाद और फ्रायडकी विश्लेषणपद्धति। मार्क्सवादके समाजशास्त्र, विशेषतया उसके आर्थिक दर्शनसे सामाजिक सम्बन्धों एवं उसके समूचे ढाँचेपर जो नया प्रकाश पड़ा, सामाजिक जीवनमें सापेक्ष-वादके व्यापक सन्दर्भमें जीवनका नया मूल्यांकन शुरू हुआ, यह सब सामाजिक कहानियोंमें प्रतिबिम्बित हुआ। दूसरी ओर फ्रायडकी मनोविश्लेषणकी पद्धतिने जीवनकी बाह्य घटनाओंको नगण्य सिद्ध कर, व्यक्तिके चेतन-अचेतन जगत्के मानसिक-उद्वेगों, स्वप्नचित्रों तथा बिलकुल नये ढंगमें स्त्री-पुरुष सम्बन्धोंपर ध्यान आकर्षित किया और इस कालमें इस दिशाकी सामाजिक कहानियोंमें 'काम', 'प्रेम' तथा उनकी समस्त विकृतियोंका चित्रण खुलकर हुआ और इन दोनों युगीन शक्तियोंने जहाँ एक ओर सामाजिक प्रश्नों और उनके निर्णयोंमें आमूल परिवर्तन ला खड़ा किया, उसी तरह उन प्रवृत्तियोंने कहानीकारोंके मापदण्ड और दृष्टिकोणमें भी अपूर्व क्रान्ति की। युगका जितना बौद्धिक दृष्टिकोण 'जीवन'के प्रति हुआ, उतनी ही बौद्धिकता, कहानी-की परिभाषा, रचना-कौशल और शिल्प-विधानके प्रति प्रकट हुई तथा कहानी-कलामें स्वभावतः आश्चर्यजनक वैविध्य उपस्थित हुआ। जैनेन्द्रकुमारने मूलतः चरित्रकी कहानियाँ और विशुद्ध मानसिक ऊहापोहकी कहानियाँ लिखी। नयी सामाजिकता और उसकी अभिव्यक्तिकी सफल कहानियाँ 'एक रात', 'मास्टरजी', 'ग्रामोफोनका रिकार्ड', 'मित्र विद्या-धर' और 'राजीवकी भाभी' आदि हैं। 'अज्ञेय'ने मुख्यतः व्यक्ति-चरित्रके 'टाइप'से आगे बढ़कर स्वभाव और कर्म-प्रेरणाओंके सूक्ष्म विश्लेषणकी कहानियाँ लिखीं। सामाजिक वैषम्य और संघर्षोंका चित्रण तथा अन्यायके प्रति विद्रोहका स्वर भी उनमें है। पर उन्होंने स्वयं कहा है, "मेरी दृष्टि मूलतया कविकी दृष्टि है। सामाजिक संघर्षोंके व्यक्तिगत पहलुओंको ही वे अपना विषय बनाते है"।

यशपाल मुख्यतया समाजालोचनके कहानीकार हुए। उनपर मार्क्सीयमतका प्रभाव अधिक है। उपेन्द्रनाथ 'अश्क', इलाचन्द्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा आदि भी नयी सामा-जिकताके मूल्यांकन और सफल अभिव्यक्तिके कहानीकार है।

इसके अतिरिक्त सामाजिक जीवनमें विशुद्धतः साधारण घरेलू जीवनके चित्र उपस्थित करनेवाले सामाजिक कहानी-

कारोंमे कुछ हिन्दी कहानी-लेखिकाओंके नाम उल्लेखनीय हैं, जैसे होमवती, सत्यवती मलिक, कमला चौधरी और महादेवी वर्मा।

कला-कौशलकी दृष्टिसे आजकलकी सामाजिक कहानियोंमे देशकाल-परिस्थितिके अन्तर्गत परिस्थिति-तत्त्वके चित्रणमें अपूर्व बल दिया जाता है। इसका कारण यह है कि यह कहानी-कला मुख्यतया व्यक्ति-चरित्रके धरातलसे निर्मित होकर अपने मूल रूपमे मनोवैज्ञानिकताकी ओर विकसित हो रही है, तभी इसमें व्यंजनाके तत्त्व अपूर्व ढंगसे स्थापित हुए हैं। 'अज्ञेय'की कुछ उत्कृष्ट कहानियाँ, जैसे 'साँप', 'परम्परा', 'कोठरीकी बात', 'होलोबोन्की बत्तखें' और 'वे दूसरे', इस दिशामे अपूर्व हैं।

वर्गीकरणकी दृष्टिसे सामाजिक कहानियोंके मुख्यतया तीन वर्ग है :—(अ) व्यक्तिगत जीवनसे सम्बन्धित, (आ) पारिवारिक जीवनसे सम्बन्धित, (इ) व्यापक सामाजिक जीवनसे सम्बन्धित। पहले वर्गमें चरित्र, मनोभाव तथा विश्लेषणके चित्र मिलते है। दूसरेमें पारिवारिक समस्याओंके परिवेशमें सामयिक एवं परम्पराके संघर्ष-चित्र उभरते है। प्रेमचन्द और 'प्रसाद'की कुछ कहानियाँ क्रमशः 'बड़े घरकी बेटी', 'शान्ति', 'अलग्योझा' तथा 'परिवर्तन', 'भीखमे', 'सन्देह' आदि उत्कृष्ट उदाहरण है। यहाँ व्यापक समाजके संदर्भमें समस्त सामाजिक शक्तियो, संस्थाओं तथा संस्थानोंसे व्यक्तिकी संघर्षमयी कहानियाँ आती है। प्रेमचन्द, 'प्रसाद', 'अज्ञेय', जैनेन्द्र, यशपाल, इलाचन्द्र जोशी, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' आदि इस क्षेत्रके प्रतिनिधि कहानीकार है।

मनोवैज्ञानिक कहानी—मनोवैज्ञानिक कहानियोंका उदय उस क्षण हुआ, जब कि घटनाकी कहानीसे बढकर चरित्रकी कहानियाँ हिन्दीमे आयीं। चरित्र ऐसे जो सर्वथा सजीव और स्वाभाविक हों और उनकी प्रतिष्ठा कल्पनाके धरातलसे न होकर कहानीकारकी आत्मानुभूतिके धरातलसे हो, जिससे चरित्र और पाठकमे सहज ही साधारणीकरण हो जाय।

इस तरह मनोवैज्ञानिकता कहानीका परम धर्म है, क्योंकि कहानीकार जो वस्तुतः जीवनद्रष्टा है, ऐसा सजीव चित्र कहानीमें उपस्थित करता है, जिसके पीछे चेतन पात्रोंकी मानसिक स्थितिका दृश्य है और कुशल कहानीकार उस मानसिक स्थितिका चित्रण उसके कार्यव्यापारों और कर्म-प्रेरणाओके अनुकूल मानवमनोविज्ञानकी शर्तोंपर ही करता है। जहाँ यह मनोविज्ञान कहानीका उद्देश्य बनकर आता है, विशेषतया उसे ही मनोवैज्ञानिक कहानीकी संज्ञा मिलनी चाहिये। अच्छी कहानीकी कसौटी यही मनोवैज्ञानिक सत्य है। प्रेमचन्दने कहा है, "सबसे उत्तम कहानी वह होती है, जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्यपर हो"। उदाहरणके लिए उन्होने बताया है, "बुरा आदमी भी बिलकुल बुरा नही होता, उसमें कहीं-न-कहीं देवता अवश्य छिपा रहता है, यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। उस देवताको खोलकर दिखा देना समर्थ आख्यायिका-(कहानी)का काम है"। जैसे 'प्रसाद'की 'गुंडा' नामक कहानी और प्रेमचन्दकी 'बड़े घरकी बेटी'।

लेकिन प्रेमचन्द और 'प्रसाद'की कहानियोमे जिस स्तरके मनोविज्ञानका सहारा लिया गया था, वह अपेक्षाकृत चरित्रके साधारण मनोविज्ञानसे सम्बन्धित था। 'प्रसाद'के चरित्रोमे घात-प्रतिघात तथा प्रेमचन्दके चरित्रोंका अन्तर्द्वंद्व बाह्य जीवनसे अधिक सम्बद्ध था, आन्तरिक प्रेरणाओसे कम।

प्रेमचन्द-युगके उपरान्त मनोवैज्ञानिक कहानियोंके स्तरमे बहुत विकास हुआ। व्यक्तिके स्वभाव और कर्म-प्रेरणाओंकी भूमिपर कहानियोके सर्जनका आरम्भ हुआ। जैनेन्द्र, 'अज्ञेय' और इलाचन्द्र जोशी इस दिशामे प्रमुख उदाहरण है। इस कालमें आकर वस्तुतः मनोविज्ञानशास्त्रमें अद्भुत उन्नति हुई, जिसमेंसे मनोविश्लेषणपद्धतिका प्रयोग हिन्दी कहानी-कलामे हुआ। इस तरह मनोविज्ञानका प्रयोग मानवजीवनके सभी अंगो तथा स्तरोंको समझनेके लिए किया गया। इस दशामें नये स्तरकी मनोवैज्ञानिक कहानियाँ मुख्यतः स्त्री-पुरुषके सम्बन्धोंपर लिखी गयीं, जैसे, जैनेन्द्रकी 'एक रात', 'अज्ञेय'की 'साँप'।

इस स्तरकी कहानियोसे हमारे साहित्यका मस्तक बहुत ही ऊँचा उठा है। इन कहानियोंमे मानवजीवन तथा उसकी कर्म-प्रेरणाओके प्रति अद्भुत दृष्टि है। हिन्दी कहानियोंमें नये विज्ञानके प्रयोगोको जैनेन्द्रने अपनी 'एक रात' कहानी-संग्रहकी भूमिकामे 'विकास'की संज्ञा दी है, "शरीरसे प्राणोंकी ओर बढना, बनावटसे स्वाभाविकताकी ओर बढना होगा, सजावटसे रुचिरताकी ओर और आडम्बरसे प्रसादकी ओर बढ़ना होगा। स्थूल वासनाके नीचे धरातलपर इस प्रगतिशील जगत्मे टिकना नही हो सकेगा, सूक्ष्मकी ओर अग्रसर होना ही होगा"। इस सूक्ष्म सत्यकी पकड वस्तुतः मनोवैज्ञानिक कहानियोंका धर्म बना। ऐसी कहानियोंमें साधारण चरित्रके स्थानपर विशिष्ट चरित्र, अन्तर्मुखी चरित्र और संश्लिष्ट चरित्रोंको ही प्रधानता मिली। इनमे विशुद्ध व्यक्ति-विश्लेषण, आत्म-विश्लेषण और मानसिक ऊहापोहकी प्रवृत्ति आयी। जैनेन्द्रकुमारकी 'मित्र विद्याधर'; 'अज्ञेय'की 'छाया', 'साँप', 'नम्बर दस'; इलाचन्द्र जोशीकी 'दुष्कर्मी'; यशपालकी 'एक राज़'; उपेन्द्रनाथ 'अश्क'की 'उबाल' कहानियाँ इस क्षेत्रकी प्रतिनिधि और उत्कृष्ट कृतियाँ है।

मनोविश्लेषणात्मक कहानी—मनोवैज्ञानिक कहानियोंके विकासक्रममें मनोविश्लेषणात्मक कहानियाँ आती है। मनोविज्ञानकी उन्नति और उसकी देन मनोविश्लेषण इन कहानियोंकी मूल प्रेरणा बना। जिस तरह बाह्य जगत्में हम इतने जटिल मानव-व्यापार और दुर्बोध समस्याएँ देखते है, उसी तरह इस विज्ञानने यह सिद्ध कर दिखाया कि मनुष्यका एक अन्तर्जगत् भी है, और यह अन्तर्जगत् बाह्य जगत्से कहीं अधिक शक्तिशाली और जटिल है। यह सारा बाह्य जीवन इसी अन्तर्जगत्से प्रेरित एवं निर्देशित है। मनोविश्लेषणने इसके अध्ययनके लिए यह एक नयी पद्धति भी दी है कि मनुष्यके बाह्य संकेतों, कर्म-प्रेरणाओं और भावभंगिमाओं द्वारा हम उसके संश्लिष्ट गूढ़ अन्तर्जगत्को समझ सकें।

मनोविज्ञानसे प्राप्त मनोविश्लेषणकी इस पद्धतिने

कहानियोंके स्तर एवं भावालोकमें एक क्रान्ति उपस्थित की। इन कहानियोंमें अपूर्व ढंगसे, नये दृष्टिकोणसे सामाजिक मूल्यों और प्रश्नोंको देखा गया। विद्रोह, पाप और अपराधके विश्लेषण हुए तथा पापी, विद्रोही और अपराधीके प्रति करुणा, सहानुभूति और दयाकी भावना लायी गयी, स्त्री-पुरुषके सम्बन्धोंपर मौलिक ढंगसे विचार हुए।

हिन्दीमें मनोविश्लेषणात्मक कहानियोंका सफल आरम्भ जैनेन्द्रकुमारसे हुआ। इन्होंने चरित्रोंकी अवतारणा और विकास विशुद्ध मनोविश्लेषणपद्धतिपर किया। कहानियोंमें घटनाओं और कार्योंकी अपेक्षा मानसिक ऊहापोह और विश्लेषणको प्रमुखता मिली। इस पद्धतिका विकास 'अज्ञेय'में अधिक मिला। जैनेन्द्रके चरित्रोंमें जहाँ सामाजिकता अधिक है, वहाँ 'अज्ञेय'के चरित्रोंमें उत्कृष्ट ढंगकी वैयक्तिकता है। 'अज्ञेय'की कहानियोंमें चरित्रोंकी कर्म-प्रेरणाएँ और उनकी मानसिक स्थितियोंके सूक्ष्म विश्लेषण हैं। इस प्रसंगमें इलाचन्द्र जोशीका भी नाम आता है। लेकिन 'अज्ञेय' जहाँ अपने मनोविश्लेषणमें वैयक्तिकतासे अधिक प्रेरित होनेके कारण मानवीय पहलुओं और उनकी संवेदनाओंके चित्रणमें अधिक आकर्षक और प्रभावशाली सिद्ध होते हैं, वहाँ जोशीजी 'अहं'का ही मनोविश्लेषण उपस्थित कर एक चिंतकके रूपमें अधिक उभर आते हैं और कहानियाँ अपेक्षाकृत बौद्धिक हो जाती है।

कला एवं विधानकी दृष्टिसे मनोविश्लेषणात्मक कहानियोंमें चरित्र-विश्लेषणकी निम्नलिखित शैलियाँ मिलती हैं—(१) आत्मविश्लेषण—उदाहरणके लिए जैनेन्द्रकी कहानी 'क्या हो,' इलाचन्द्र जोशीकी 'मैं' और 'अज्ञेय'की 'अमरवल्लरी,' 'विपथगा' और 'मेजर चौधरीकी वापसी'। 'मैं'के माध्यमसे आत्मानुभूतियों, स्मृतियों तथा अन्य स्तरके मानसिक चित्रोंके विश्लेषण प्रस्तुत होते हैं। शैलीकी दृष्टिसे इसमें स्वगत भाषणके तत्त्व उभर आते हैं। विशेषकर उन स्थलोंपर जहाँ चरित्रके मानसिक द्वन्द्व और ऊहापोहकी अभिव्यक्ति अधिक होती है। (२) मानसिक ऊहापोह—जैसे जैनेन्द्रकी कहानी 'ग्रामोफोनका रिकार्ड', 'अज्ञेय'की 'पठारका धीरज', 'सिगनेलर' और 'नम्बर १०'। (३) अवचेतन विज्ञप्ति—जैनेन्द्रकी 'एक रात', 'अज्ञेय'की 'पुरुषका भाग्य' और 'हीलीबोनूकी बत्तखें' कहानियाँ। (४) संकेतों और कार्यों द्वारा पुष्ट—जैनेन्द्रकी 'मास्टरजी', 'राजीव' और 'भाभी', 'अज्ञेय'की 'पुरुषका भाग्य' 'पुलिसकी सीटी', 'साँप' और 'कोठरीकी बात' कहानियाँ।

इसके अतिरिक्त प्रतीकोंके सहारे मानसिक संघर्षों तथा उनके विश्लेषणोंके चित्र कहानियोंमें उठते हैं। 'अज्ञेय' इस कलामें अद्वितीय है, 'पठारका धीरज', 'सिगनेलर', 'नम्बर १०', 'साँप', 'कोठरीकी बात', 'पुलिसकी सीटी' और 'हीलीबोनूकी बत्तखें' इस दिशाकी सुन्दरतम कहानियाँ हैं।

वस्तुतः ऐसी कहानियोंमें शिल्पविधिकी इतनी विभिन्नता तथा प्रयोग देखनेमें आता है कि उनसे कहानीकी आश्चर्यजनक उन्नति और शक्तिसम्पन्नताका पता लगता है। इनमें कला-विधानकी पटुता और हस्तलाघव कलापक्षकी मूल विशेषताएँ हैं। लेकिन भावपक्षकी दिशामें विधानकी जटिलताके प्रयोग बहुत श्रेयस्कर नहीं हैं, इससे कहानीकी सामाजिकता और प्रेषणीयतामें बड़ा विघटन उपस्थित हुआ है।

साहसिक कहानियाँ—इन्हें अंग्रेजीमें 'एडवेंचरस स्टोरी' कहते हैं। बनारसके उपन्यास बहार आफिस और 'जासूस' पत्रिकामें ऐसी कहानियाँ सर्वप्रथम हिन्दीमें आयीं। दुर्गाप्रसाद खत्रीका नाम इस प्रसंगमें उल्लेखनीय है। ऐसी कहानियोंमें कुछ स्वाभाविक और अधिक अस्वाभाविक तथा रोमांचकारी कार्योंकी स्थापनाके बीचसे कला निखरती है। इसके अतिरिक्त साहसिक कहानियोंमें रहस्यों और अनेक षड्यन्त्रोंकी भी अवतारणा की जाती है और उनके बीचमें कहानियोंमें अत्यधिक शक्तिसम्पन्नता आ जाती है। मथुराप्रसाद खत्री लिखित कहानी 'शिखण्डी' इस दिशामें एक सुन्दर उदाहरण है। **जंगलकी कहानियाँ, शिकार सम्बन्धी कहानियाँ**, जिसके प्रसिद्ध लेखक श्रीराम शर्मा हैं, इस क्षेत्रमें आती हैं। सर्जन और लोकप्रियताकी दृष्टिसे कहानियोंका यह प्रकार भी हिन्दीमें अपेक्षाकृत कम ही है। हमारे जीवनमें साहसिकताकी कमी इसका बहुत बड़ा कारण है।

साहसिक कहानियोंको कलाकी दृष्टिसे कथा कहना कोई असंगत नहीं है, इसमें भी अद्‌भुत यात्राओं एवं आदर्शोन्मुख कृत्योंकी स्थापना होती है। अनेक जीवनगत कठिनाइयों, अवरोधोंपर आशापूर्ण विजय पानेकी प्रेरणा मिलती है।

रोमांसिक कहानी—रोमांस उस कथाको कहते हैं, जिसमें आदर्श, उदात्त और अघटित प्रेम अथवा रोमांसकी स्थापना हो। यूरोपीय कथा-साहित्यमें चौदहवीं शती तक रोमांसका प्रचलन अत्यधिक था। इसी शतीमें रोमांससे अलग वास्तविक जीवनकी कथाओंको 'नोवाल' कहते थे, जिसे आगे चलकर नावेला, नावेले और एलिजाबेथकालमें नॉवेलकी संज्ञा मिली (उपन्यास और रोमांसके अन्तरको देखनेके लिए दे० क्लेरारीवकी पुस्तक 'दी पोग्रेस ऑव रोमांस', १७७५ और क्रास रचित 'डेवलपमेण्ट ऑव इंगलिश नावेल', १८९९)। इस भाँति कहानीके प्रसंगमें रोमांसका स्थान कहानीसे बहुत दूर जा पड़ता है। प्रेमाख्यान अथवा काल्पनिक साहसिकता एवं अतिस्वच्छन्द प्रेमातुरता इसकी परिधिमें है। प्रारम्भिक उपन्यासोंमें कथाके ऐसे रूप देखनेको मिल सकते हैं। प्रेमी-प्रेमिकाकी काल्पनिक आदर्शपूर्ण, साहसिक, चमत्कारपूर्ण उदात्त कथाएँ, एक-दूसरेकी प्राप्तिमें अनेक यात्राएँ, साहसिकता एवं जीवनकी बाजी लगाना, इसकी विशेषताएँ हैं। चमत्कारपूर्ण ढंगसे कथाका विकास होना, इसकी कलागत विशेषता है। दुर्गाप्रसाद खत्रीकी एक कहानी 'रूपज्वाला' रोमांसिकका एक उदाहरण है। रोमांसका प्रेमी एक विवाह-विज्ञापन पढ़कर भावी पत्नीके लिए प्रार्थनापत्र भेजता है और उत्तरमें उसे एक सुन्दरीका फोटो मिलता है। इस फोटो-मात्रसे प्रेमी प्रेमिकाके लिए अनेक त्याग करता है, पर अन्तमें प्रेमी एक ठग द्वारा छला जाता है, क्योंकि प्रेमिका काल्पनिक थी, सत्य नहीं। इस तरह क्रासके शब्दोंमें जीवनके सहज, दुर्लभ, असम्भव, अद्‌भुत रोमांसोंकी पीठिकापर, मानवकार्यों एवं कृत्योंमें निहित उदात्त-अनुदात्त भावोंमें सर्वथा आदर्शकी स्थापना

(प्रतिभा), व्युत्पत्ति एवं अभ्यासको काव्यहेतु मानते हुए कहा है—"काव्यमें असार वस्तुको दूर करने, सार ग्रहण करने तथा चारुता लानेके कारण शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास, ये तीनों स्थान पाते हैं" (काव्यालंकार, १. १४)। वामनके अनुसार 'लोक, विद्या और प्रकीर्ण काव्यांग होते हैं' (काव्यालंकारसूत्र, १. ३. १)। लोकसे आचार्यका अर्थ है लोकव्यवहार (१. ३. २), विद्याके अन्तर्गत उन्होंने शब्दशास्त्र, अभिधान, कोश, छन्दःशास्त्र, कला, कामशास्त्र तथा दण्डनीतिको लिया है (१. ३. ३)। इससे स्पष्ट है कि विद्यासे उनका अर्थ 'व्युत्पत्ति' है। प्रकीर्णके अन्तर्गत उन्होंने 'लक्ष्यज्ञत्व (काव्यपरिचय), अभियोग (काव्यरचनाका उद्योग), वृद्धसेवा, प्रतिभा और अवधान (चित्तकी एकाग्रता)" (१. ३. ११)को लिया है। राजशेखरने काव्यहेतुकी मीमांसा करते हुए श्यामदेव तथा आचार्य मंगलके मतोंका उल्लेख किया है। श्यामदेवके मतके अनुसार "काव्यकर्ममें कविकी समाधि (मनकी एकाग्रता) सर्वोत्कृष्ट साधन है" तथा आचार्य मंगल अभ्यासको प्रधान कारण मानते हैं, परन्तु राजशेखर समाधि एवं अभ्याससे उत्पन्न 'शक्ति'को ही काव्यका एकमात्र कारण मानते हैं और उसे प्रतिभा तथा व्युत्पत्तिसे बहुत दूर बताते हैं। राजशेखरका कहना है कि शक्ति ही प्रतिभा और व्युत्पत्तिको जन्म देती है (का० मी०, अ० ४)।

मम्मट (११ श० ई०)ने शक्ति (प्रतिभा), व्युत्पत्ति और अभ्यासके समन्वयको काव्यहेतु माना है—"शक्ति (प्रतिभा), लोकव्यवहार, शास्त्र एवं काव्य आदिके परिशीलनसे प्राप्त निपुणता (व्युत्पत्ति) तथा काव्यज्ञकी शिक्षासे अभ्यास—ये उसके (काव्यके) उद्भवमें हेतु बनते हैं' (का० प्र० : १ : ३)। आगे इस कारिकाकी व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है कि शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास पृथक्-पृथक् काव्यहेतु नहीं हैं, अपितु तीनों मिलकर काव्यके हेतु बनते हैं। वाग्भट (१२ श० ई० पूर्वा०) ने प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यासके सम्बन्धको स्पष्ट करते हुए कहा है—"प्रतिभा उसका (काव्यका) कारण है, व्युत्पत्ति विभूषण है और अभ्यास उसके सर्जनको बढानेवाला है, ऐसा आद्यकवियोंका कथन है" (वाग्भटालंकार, १ : ३)। हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई०)के अनुसार "प्रतिभा इस-(काव्य)का हेतु है। व्युत्पत्ति और अभ्यास प्रतिभाका संस्कार करनेवाले हैं" (काव्यानुशासन, १ : ४)। जयदेव-(१२५० ई०)ने 'चन्द्रालोक'में इसी बातको यों कहा है—'श्रुत (व्युत्पत्ति) और अभ्याससहित प्रतिभा ही कविताका हेतु है, जैसे मिट्टी-पानीके संयोगसे बीज बढ़कर लताके रूपमें व्यक्त होता है" (१ : ६)। कविराज जगन्नाथ-(१५९०-१६६५ ई०)का मत अन्य आचार्योंसे कुछ विलक्षण है। उनका कहना है कि "उस (काव्य)का कारण केवल कविमें रहनेवाली प्रतिभा है" (र० गं०, १ आनन)। व्युत्पत्ति और अभ्यासको वे प्रतिभाका हेतु मानते हैं—"और उस(प्रतिभा)का हेतु कहीं तो किसी देवता, महापुरुष आदिके प्रसादसे उत्पन्न अदृष्ट होता है और कहीं विलक्षण व्युत्पत्ति तथा काव्यरचनाका अभ्यास" (वही)।

हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंने प्रायः मम्मटके 'काव्यप्रकाश' अथवा जयदेवके 'चन्द्रालोक'का आधार लिया है। सूरति मिश्र(१७०९ ई०के लगभग)ने अपने ग्रन्थ 'काव्यसिद्धान्त'में शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यासको काव्यकारण कहा है—"कारण देव प्रसाद जिहि सक्ति कहत सब कोइ। बितपति और अभ्यास मिल त्रय बिन काव्य न होइ।" और आगे इनके सम्बन्धको 'चन्द्रालोक'की उपमाको लेकर यों कहा है—"जैसे बीजरु मृत्तिका, नीर मिलै सब आन। तबहीं तरु उपजे सु त्यों इनते कविता जान।" श्रीपतिने अपने 'काव्यसरोज' (रचनाकाल १७२० ई०)में काव्यहेतुके विषयमें कहा है कि—"शक्ति निपुणता लोकमत बितपति अरु अभ्यास। अरु प्रतिभा ते होत है ताको ललित प्रकास।" शक्तिको उन्होंने सुपुण्य-विशेष कहा है और उसका प्रतिभासे भेद किया है। जगन्नाथप्रसाद 'भानु'ने अपने 'काव्यप्रभाकर' (१९१० ई०में प्रकाशित)-में शक्ति, निपुणता (व्युत्पत्ति) और अभ्यासको काव्यहेतु माना है (का० प्र०, २ मयूख)। बिहारीलाल भट्टने भी अपने 'साहित्यसागर'में पूर्वसंस्कार (प्रतिभा), सद्ग्रन्थोंका अध्ययन (व्युत्पत्ति) और अभ्यासको काव्यकारण माना है।

१. प्रतिभा—भट्ट तौत (९५० ई०के लगभग)ने प्रतिभाकी व्याख्या इन शब्दोंमें की है—"प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता" नये-नये भावोंके उन्मेषसे युक्त प्रज्ञाको प्रतिभा कहते हैं (क्षेमेन्द्र द्वारा 'औचित्यविचारचर्चा'की कारिका ३५ की व्याख्यामें उद्धृत)। वामन (८०० ई०के लगभग) ने इसे "जन्मान्तरसे प्राप्त कोई 'संस्कार' कहा है, जिसके बिना काव्य-रचना नहीं हो सकती या होती भी है तो हास्यका कारण बन जाती है" (काव्यालंकारसूत्र, १.३.१६)। रुद्रट (८००-८५०के बीच)ने प्रतिभाके लिए 'शक्ति' शब्दका उपयोग करते हुए इसकी व्याख्या यों की है—"मनकी एकाग्रावस्थामें जिसमें अभिधेयका अनेक रूपोंमें विस्फुरण होता है और जिसमें अक्लिष्ट पद सूझ पड़ते हैं, उसे 'शक्ति' कहते हैं (काव्यालंकार, १. १५)। राजशेखर-(८८०-९२० ई०)के शब्दोंमें 'जो (बुद्धि) सार्थक शब्दसमूहको, अलंकारतन्त्रको, कहनेके ढंगको तथा ऐसी ही अन्य बातोंको हृदयमें प्रतिभासित करती है, उसे प्रतिभा कहते हैं (का० मी०, अ० ४)। मम्मट (११०० ई०)ने भी प्रतिभाके लिए 'शक्ति' शब्दका प्रयोग किया है और वामनके ढंगपर कहा है कि 'शक्ति कवित्वका बीजरूप कोई संस्कारविशेष है, जिसके बिना काव्य प्रसृत नहीं होता और यदि हो भी तो उपहसनीय होता है (का० प्र०, १. ३)। वाग्भट (१२वीं शताब्दीका पूर्वार्ध)ने प्रतिभाकी व्याख्या इस प्रकार की है—"प्रसन्न पदावली, नये-नये अर्थों तथा उक्तियोंका उद्बोधन करनेवाली कविकी स्फुरणशील सर्वतोमुखी बुद्धिको प्रतिभा कहते हैं" (वाग्भटालंकार, १, ४)। हेमचन्द्र (१०८८-११७२) तथा जगन्नाथ-(१५९०-१६६५ ई०)ने भट्ट तौतकी ऊपर उद्धृत व्याख्याका समर्थन किया है।

प्रायः सभी आचार्योंने प्रतिभाको सहज तथा काव्यका प्रधान हेतु माना है। वामनने यद्यपि प्रतिभाको 'प्रकीर्ण'के अन्तर्गत रखा है, परन्तु इसे कवित्वका बीज मानकर इसकी

महत्ता उद्घोषित की है। रुद्रट अवश्य इसके अपवाद है। उन्होंने प्रतिभाको उत्पाद्य भी माना है और दण्डीने यद्यपि प्रतिभाका महत्त्व स्वीकार किया है, परन्तु यह भी कह दिया है कि व्युत्पत्ति और अभ्यास द्वारा इसके अभावकी पूर्ति हो सकती है।

रुद्रटने प्रतिभाके दो भेद किये हैं—सहजा अर्थात् स्वाभाविक और उत्पाद्या अर्थात् जो किन्हीं साधनोंसे (यथा शास्त्राध्ययन और अभ्यास) उत्पन्न की जा सके। राजशेखरने भी प्रतिभा दो प्रकारकी बतायी है—"कारयित्री और भावयित्री। कविका उपकार करनेवाली प्रतिभा कारयित्री कहलाती है। इसके भी तीन भेद हैं, सहजा, आहार्या तथा औपदेशिकी। जन्मान्तरके संस्कारोंकी अपेक्षा रखनेवाली सहजा होती है, वर्तमान जन्मके संस्कारोंसे उत्पन्न आहार्या तथा मन्त्रतन्त्रादि साधनोंसे उत्पन्न औपदेशिकी होती है। भावक(दे०)का उपकार करनेवाली प्रतिभा भावयित्री कहलाती है। यह प्रतिभा कविके श्रम तथा अभिप्रायका बोध कराती है" (का० मी०, अ० ४)।

२. व्युत्पत्ति—राजशेखरने प्राचीन आचार्योंके मतका उल्लेख करते हुए व्युत्पत्तिका अर्थ 'बहुज्ञता' दिया है। यही अर्थ काव्यशास्त्रके सभी आचार्योंको मान्य है। परन्तु राजशेखरने स्वयं अपना मत यह दिया है कि "उचित-अनुचितका विवेक व्युत्पत्ति है" (का० मी०, अ० ४)। सभी आचार्योंने व्युत्पत्तिको प्रतिभाका संस्कारक माना है (दे० 'काव्य-हेतु')। इसके अपवादस्वरूप राजशेखरने आचार्य मंगलका मत उद्धृत किया है कि "व्युत्पत्ति, प्रतिभासे श्रेष्ठ है' और अपना मत यह दिया है कि "प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों समवेत रूपसे 'श्रेयस्कर' हैं" (वही)।

३. अभ्यास—"निरन्तर प्रयास करते रहनेको अभ्यास कहते हैं" (का० मी०, अ० ४)। सभी आचार्योंने अभ्यासको प्रतिभाका पोषक माना है। दण्डीने प्रतिभाका सर्वोपरि महत्त्व स्वीकार करते हुए भी कहा है कि "पूर्ववासना-जन्य अद्भुत प्रतिभाके न रहनेपर भी शास्त्राध्ययन और अभ्याससे वाणीकी उपासना करनेपर वाणी अवश्य ही अनुग्रह करती है" (काव्यादर्श, १ : १०४)।

४. समाधि—"मनकी एकाग्रताको समाधि कहते हैं" (का० मी०, अ० ४)। राजशेखरने श्यामदेवका मत उद्धृत किया है कि "काव्यकर्ममें कविकी समाधि सर्वोत्कृष्ट साधन है" और स्वयं समाधिको आभ्यन्तर प्रयत्न माना है तथा इसको शक्तिका एक कारण बताया है। वामनने 'समाधि'को 'अवधान' शब्दसे अभिहित किया है (काव्यालंकारसूत्र, १. ३. १७)। —म० प्र० ला०

काव्यार्थ योनियाँ—कविशिक्षा (दे०)के अन्तर्गत जिन विविध स्रोतोंसे काव्यके विषय प्राप्त होते हैं, उन्हें 'काव्यार्थ योनियाँ' कहा गया है। संस्कृत काव्यशास्त्रके आचार्योंने कविका बहुज्ञ होना आवश्यक माना है और विविध शास्त्रों, कलाओं और लोक-व्यवहारोंके ज्ञानको 'व्युत्पत्ति' संज्ञा देकर, इसको एक प्रधान काव्यहेतु (दे०) माना है। भामहने शब्द-शास्त्र, छन्दःशास्त्र, अभिधानोंमें प्रतिपादित अर्थ, इतिहासपर आश्रित कथाएँ, लोकवृत्त, युक्ति तथा कलाएँ—इनको काव्य-योनियाँ बताया है (काव्यालंकार, १.९)। वामनने लोक-ज्ञान और विद्याओंको 'काव्यांग'के अन्तर्गत रखा है (काव्यालंकारसूत्र, १. ३. १)। रुद्रटने भी भामहके उल्लिखित शास्त्रोंको गिनाया है। राजशेखरने अपने पूर्वाचार्योंके इस मतका उल्लेख किया है कि काव्य-योनियाँ १२ हैं—श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, प्रमाणविद्या (दर्शनशास्त्र), समयविद्या (धर्म-मत), राजसिद्धान्तत्रयी (नाट्यशास्त्र, अर्थशास्त्र और कामशास्त्र), लोकज्ञान, विरचना (कविकी अपनी बुद्धिसे कल्पित कथा या अर्थ) और प्रकीर्णक (ऊपर कहे शास्त्रोंसे अन्य शास्त्र, जैसे हस्ति-शिक्षा, रत्नपरीक्षा, धनुर्वेद, योगशास्त्र)। इसके अतिरिक्त उसने अपनी ओरसे अन्य चार बातें, उचित संयोग (वस्तुओं या अर्थोंका ठीक संयोग), योक्तृ-संयोग (वर्णित वस्तुका अन्य वस्तुओंके साथ संयोग), उत्पाद्य-संयोग (भिन्न वस्तुओंमें संयोगकी उद्भावना), संयोग-विकार (संयोगके कारण होनेवाले विकार), जोड़कर इस संख्याको सोलह कर दिया है (का० मी०, अ० ८)। इस प्रकार सभी शास्त्र, कलाएँ और वर्णन-परिपाटियाँ काव्य-योनियोंमें अन्तर्भूत हो जाती हैं। राजशेखरके परवर्ती आचार्योंमें क्षेमेन्द्र, मम्मट, वाग्भट, हेमचन्द्र इत्यादिने भी प्रायः इन सोलह काव्य-योनियोंका परिचय दिया है। —म० प्र० ला०

काव्यार्थापत्ति—अर्थापत्तिका पर्याय है (दे० 'अर्थापत्ति')।

काव्यास्वादरोधक—दे० 'अपकर्ष'।

काव्यास्वादविलम्बक—दे० 'अपकर्ष'।

काव्योत्कर्षविनाशक—दे० 'अपकर्ष'।

किंगरी—छोटी चिकारी या सारंगी, जिसे योगी लिये फिरते हैं। भर्तृहरिके गीत गानेवाले इसे बजाकर भीख माँगते हैं। जायसीने योगीके वेशमें इसका उल्लेख किया है (पद्मावत, १२६ : १, ३६१ : ८)। किंगरीका संस्कृत तत्सम रूप 'किन्नरी' है, जो वीणाका एक भेद है। गोपीचन्द द्वारा चलायी गयी होनेके कारण सारंगीको गोपीयन्त्र भी कहते हैं। —रा० सिं०

किंवदंती—यह संज्ञा उन समस्त आख्यायिकाओंको प्राप्त है, जो स्थानीय और ऐतिहासिक दोनों हैं। संस्कृत, प्राकृत, पाली आदिमें इसका कोई प्रयोग उपलब्ध नहीं है। लोकसाहित्यके अन्तर्गत किंवदन्ती उन कथाओंके लिए प्रयुक्त होता है, जो विपर्यस्त अथवा असम्बद्ध इतिहासकी घटनाओंपर निर्भर होकर लोक-जीवनमें बच रही हैं। प्रायः ऐतिहासिक घटनाएँ लोकपरक भावनाओंसे विकृत होकर ऐसा रूप धारण कर लेती हैं कि उन्हें इतिहास माननेकी अपेक्षा किंवदन्ती ही कहना पड़ता है। मराठीमें इसके पर्यायस्वरूप 'दन्तकथा' शब्द प्रयुक्त होता है। हिन्दीमें भी यह शब्द प्रचलित है। अभिप्रेत अर्थ दन्तकथाओंका नहीं होता है। हाँ, इतिहासका सूक्ष्म तत्त्व अवश्य उनमें निहित होता है। संस्कृतके 'उदन्त' शब्दका अर्थ है निवेदन, बात अथवा लोकवार्ता। सम्भवतः 'उ'का लोप हो जानेपर 'दन्त'का लोकप्रचलित कथाओंके साथ सम्बन्ध जुड़ जानेसे 'दन्तकथा'का प्रयोग चल पड़ा है। किंवदन्ती, अर्थात् 'किम्' (कुछ) तथा वद् (कहना)—कुछ कहना। यह 'कुछ कहना' धीरे-धीरे लोकप्रचलित दृष्टान्तोंका साधन बन जानेपर पूर्व

कालमे घटित प्रसंगोंकी कथामात्र हो गया।

किंवदन्तीके दो वर्ग हैं—स्थानीय किंवदन्ती एवं बाहरसे प्राप्त किंवदन्ती। वस्तुका जहाँ तक सम्बन्ध है, घटित सत्य दोनोके मूलमें होता है। —श्या० प०

किरपान या कृपाण–मुक्तक दण्डकका एक भेद। इसके प्रत्येक चरणमें आठ-आठकी यतिसे ३२ वर्ण होते हैं। यतियोंके स्थानपर अनुप्रास और अन्तमे गुरु लघु होना आवश्यक है। प्रायः इस छन्दमें वीर रसका वर्णन उपयुक्त होता है, किन्तु मध्यकालके कवियोंने विरह, संयोग आदि भावोंके लिए भी इसको चुना है। वास्तवमे यह आलंकारिक छन्द है, जो रीति-कालके कवियों द्वारा नाना प्रकारसे प्रयुक्त हुआ है। भानुने 'छन्दप्रभाकर' (पृ० ११९)में लिखा है कि प्रत्येक चरणके अन्तमें नगणकी योजना करनेसे छन्दमें लालित्य आ जाता है। ३२ वर्णोंके इस छन्दमे आठ-आठकी यतिपर अनुप्रास लगाना एक प्रयोग-मात्र ही लगता है। सम्भवतः यही कारण है कि पूर्ववर्ती छन्द-ग्रन्थोंमें प्रायः इस नामका छन्द नहीं मिलता। उदा०—"बिन गुन तेरी आन, भृकुटि कमान तानि, कुटिल कटाक्ष बान, यह अचिरज आहि" (कविप्रिया, पृ० १५२)। —ह० मो०

किरीट सवैया–दे० 'सवैया', पाँचवाँ प्रकार।

किलकिंचित्–दे० 'स्वभावज अलंकार,' पाँचवाँ।

कीर्त्तन–यह सामूहिक गीतका एक रूपान्तर है। इसके दो रूप हैं—लोकप्रिय अथवा असाम्प्रदायिक तथा संकीर्ण अथवा साम्प्रदायिक। चैतन्यदेवके कारण यह रूप अधिक लोकप्रिय हुआ। —रा० खे० पा०

कुंडल–मात्रिक सम छन्दका एक भेद। भानुके अनुसार २२ मात्राके चरणका छन्द, जिसमें १२, १० पर यति तथा अन्तमें २ ग (SS) रहते है। इस छन्दका प्रयोग सूरने 'सूरसागर'में तथा तुलसीने 'विनयपत्रिका'के पदोंमें विशेष रूपसे किया है। वस्तुतः यह छन्द भावावेगको प्रकट करनेमें सफलतासे प्रयुक्त हुआ है। सूरका प्रयोग—"चलन चलन श्याम कहत, कोउ लेन आयो। नन्द भवन भनक सुनी, कंस कहि पठायो" (सू० सा०, वें० प्रे०, पृ० ४५६) तथा तुलसीका भावावेग 'विनयपत्रिका'में व्यक्त हुआ है—"तू दयाल दीन हौं, तू दानि हौं भिखारी। हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप पुंज हारी"—इस छन्दके चरणके अन्तमें यदि एक ही ग (S) रहता है तो **उड़ियाना** कहलाता है। सूर तथा तुलसीने पदोंमें इसका भी प्रयोग किया है—"ठुमुकि चलत रामचन्द्र, बाजत पैंजनियाँ। धाय मातु गोद लेत, दशरथ-की रनियाँ" (गीता०)। यह छन्दरूप प्रभातीके रूपमें अधिक प्रयुक्त हुआ है। —र०

कुंडलिनी–दे० 'हठयोग'।

कुंडलिया–मात्रिक विषम छन्द। 'प्राकृतपैंगलम्' (१: १४६)में इसका लक्षण दिया गया है। यह संयुक्त छन्द है। छः पंक्तियोका यह छन्द होता है, प्रथम दो दल दोहेके होते है और अन्तिम चार रोलाके। दोहेके चार पाद दो ही गिने जाते है। दोहेको छन्दका पूर्वार्द्ध कहा जा सकता है और रोलाको उत्तरार्द्ध—इस प्रकार कुण्डलियाके प्रत्येक पादमें २४-२४ मात्राएँ होती है। दोहेके चौथे पाद-को रोलाके प्रथम पादमें दोहराया जाता है और दोहेका प्रथम पाद जिस शब्दसे प्रारम्भ होगा, वही शब्द रोलाके चतुर्थपादके अन्तमें दोहराया जाता है। यति दोहा और रोलाके अनुसार ही रखी जाती है। अपभ्रंश छन्द-ग्रन्थोमे भी कुण्डलियाका परिचय मिलता है। हिन्दीमे गिरधर-की कुण्डलिया काफी लोकप्रिय है। उनके अतिरिक्त केशव (रामचन्द्रिका), जटमल (गोराबादल०), सूदन (सुजान-चरित) तथा गुलाब (करहियेको रायसो)ने इस छन्दका प्रयोग किया है। यह छन्द वीर रस तथा उपदेशके लिए अधिक उपयुक्त है। उदा०—दोहेके दो चरण जो इसका प्रथम चरण बनाते है—"बसिबो वृन्दावन करौं, यह चाहत जिय मोर" तथा रोलाका एक चरण जो इसका तीसरा चरण बनाता है—"कर मुरलीकी घोर, भोर जमुनाको अन्हैबो"। इसका प्रथम अंश वस्तुतः दोहेका चौथा चरण ही है और इसी प्रकार दोहेका प्रथम चरण रोलाके अन्तमें 'करौं बृन्दावन बसिबो' दोहराया गया है। —रा० सिं० तो०

कुट्टमित–दे० 'स्वभावज अलंकार', सातवाँ।

कुतूहल–दे० 'स्वभावज अलंकार', पन्द्रहवाँ।

कुमार ललिता–वर्णिक छन्दोमें समवृत्तका एक भेद; 'पिंगलसूत्र'मे इसकी परिभाषा दी है—'जसौ ग्' (६ : ३), जगण, सगण और गुरुके योगसे इस वृत्तका चरण बनता है (ISI, IIS, S)। लगभग सभी आचार्योंने यह नाम माना है। उदा० "क्रिया भरत कीनी—वियोगरस भीनी। तजी गति नवीनी—मकुन्द पद लीनी' (रा० चं०, १०. १२)। —पु० शु०

कुल, अकुल–कौल मार्गियोकी दृष्टिसे कुलका अर्थ 'शक्ति' है और 'अकुल'का अर्थ शिव। कुल और अकुलका सम्बन्ध स्थापित करना ही 'कौलमार्ग' है। 'सौभाग्य भास्कर'के अनुसार "कुलं शक्तिरिति प्रोक्तमकुलं शिव उच्यते। कुलेऽकुलस्य सम्बन्धः कौलमित्यभिधीयते॥" कुल शब्दका यही मुख्य अर्थ है। वैसे इसके और भी कई अर्थ किये गये है। कुलका एक अर्थ वंश या वंश परम्परा भी होता है और अकुलका वंश या वंशपरम्पराहीन। इस दृष्टिसे शिवकी 'अकुल' संज्ञा उचित ही है क्योंकि शिवका कोई कुलगोत्र नही, आदि अन्त नही। वे अनन्य, अखण्ड, अद्वय, अवि-नश्वर, धर्महीन और निरंग है। इसके विपरीत शक्ति सृष्टि-की हेतु है, वही सम्पूर्ण जगत्प्रपंचका प्रवर्तन करती है, अतः वह 'कुल' है (दे० सि० सि० सं० ४।१०-१३)। शक्तिसे सभी पदार्थ उत्पन्न हुए है, शक्ति शिवकी प्रिया है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि शक्ति-शिव भिन्न-भिन्न है। वस्तुतः उनमें कोई भेद नही है; चन्द्रमा और चाँदनीका जैसा सम्बन्ध है, वैसा ही शिव और शक्तिका है (दे०—गो० सि० सं० तथा कौ० ता० नि०, १६-४१)। शिवकी सिसृक्षा-का नाम ही शक्ति है, अतः न तो वह शिवसे भिन्न है न शिवके बिना उसका होना सम्भव है। इधर शक्तिके बिना शिव भी शवकी तरह है, कुछ भी करनेमें असमर्थ है। 'शिव' शब्दका 'इ'कार शक्तिका वाचक है। शिवमें से इकार निकाल देनेसे 'शिव' शव हो जाता है (देवी भागवत)।

कुल—(१) दार्शनिक अर्थ—यह संसार ज्ञाता, ज्ञान और

ज्ञेयके रूपमे त्रिपुटीकृत् है । इस जगत्‌के सभी पदार्थ ज्ञान रूप धर्मके एक होनेके कारण 'सजातीय' है, इसलिए एक जाति (=कुल)में पड़नेके कारण वे 'कुल' कहे जाते हैं। (२) वंशपरक अर्थ—कुलका बहु प्रचलित अर्थ वंश है । यह दो प्रकारका होता है १. जन्मवंश और २. विद्यावंश । परमशिवसे लेकर परमगुरु तक एक ही ज्ञान-परम्परा चली आ रही है, ऐसा कौलमार्गियोंका विश्वास है, इसलिये वे विद्याक्रमको कुलकी संज्ञा देते हैं और इस कुलके अनुवर्ती कौल कहलाते है । (३) रहस्यपरक अर्थ—कुलका अर्थ जाति है । एक ही जातिकी वस्तुओंमें भिन्न जातीयताका आभास मायाजन्य है । (कौलवली निर्णय, पृ० १७-१७१) । इस भ्रमका उच्छेद करके उपास्य और उपासक दोनोंको सजातीय बताना कौलमार्गका मूल लक्ष्य है । उनके अनुसार उपास्य भी चेतन है और उपासक भी चेतन है, अतः दोनों एक ही 'कुल'के है (सौभाग्य भास्कर, पृ० ३५) । (४) योगपरक अर्थ—१. 'कु'का अर्थ पृथ्वी है और 'ल'का अर्थ लीन होना है । पृथ्वी तत्त्व मूलाधार चक्रमे रहता है । अतः मूलाधारचक्रको 'कुल' भी कहा जाता है । २. इसी मूलाधारसे सुषुम्ना नाडी जुडी हुई है । कुण्डलिनी शक्ति सहस्रार चक्रमें स्थित परमशिवसे मिलनेके लिए इस सुषुम्ना नाडीके भीतरसे उठकर ऊपर जाती है, अतः लक्षणाके सहारे सुषुम्नाको भी कुल कहते हैं—"वेदशास्त्रपुराणानि सामान्य गणिका इव । सा पुनः शंकरी मुद्रा प्राप्ता कुलवधूरिव ॥" (गो० सि० सं०, पृ० १३) । ३. कुण्डलिनी शक्तिरूपा है, शक्ति ही सृष्टि है और सृष्टि ही कुण्डली—"सृष्टिस्तु कुण्डलीख्याता सर्वभावगता हि सा ॥" (सि० सि० सं०, ४।३०) । अतएव कुण्डलीको भी कुलकुण्डली कहा जाता है ।

'कुल' शब्द भारतीय साधना साहित्यमें बार-बार प्रयुक्त हुआ है, लेकिन ऊपर बताये गये अर्थमें इसके प्रयोगका पता हमें आठवी शताब्दीसे पूर्व नही मिलता । बौद्धतान्त्रिकोंमें डोम्बी हेरुक (७७७ ई०) नामक आचार्यने कुल शब्दका प्रयोग उक्त अर्थसे मिलते-जुलते अर्थमें किया है—"कुल सेवातो भवेत् सिद्धिः सर्व कामप्रदा शुभा ॥" (दे० साधन माला) । अर्थात् "कुल सेवासे ही सभी कामनाओंको तुष्ट करने वाली शुभ सिद्धि प्राप्त होती है" । 'साधनमाला'में 'कुल' शब्दकी व्याख्या करते हुए उन्होंने बताया है कि पाँच ध्यानी बुद्धोंसे पाँच कुलोंकी उत्पत्ति हुई है—"अक्षोभ्यसे वज्रकुल, अमिताभसे पद्मकुल, रत्नसम्भवसे भावरत्नकुल; वैरोचनसे चक्रकुल और अमोघसिद्धिसे कर्म कुलकी उत्पत्ति हुई थी" ।

[सहायक ग्रन्थ—भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय; सौभाग्य भास्कर और साधन माला ।] —रा० सिं०

कुलटा—(नायिका)—परकीयाकी स्थितिके अनुसार एक भेद : विशेषके लिए दे० 'नायिकाभेद' । सर्वप्रथम उल्लेख भानुदत्तने किया है । इसका शब्दार्थ है पतित स्त्री । अनेक पुरुषोंसे प्रीति करनेवाली कामातुरा नायिका । मतिरामके अनुसार—"जो चाहत बहु नायकन सरस सुरति परप्रीति" (रसराज, ७९) । सामान्यासे इस नायिकाका भेद केवल इतना माना जाता है कि यह कामवासनासे प्रेम करती है और गणिका धनकी आकांक्षासे । इस नायिकाके वर्णनके माध्यमसे रीतिकालके कवियोंने नारी-मनोविज्ञानके इस पक्षका चित्रण किया है—"जाति चली यहि भाँति गली बिथुरी अलकै अँचरा न सँभारै" (मतिराम : रसराज, ८०) । देवने उसकी भगिमाका वर्णन किया है—"चंचल नैनी दृगंचल मोरि हँसै मुख रंचक अचल दैकै" (ब्रजभाषा नायिका०, २ : ३३३) । पद्माकरने उसकी लज्जाहीनताका अंकन किया है—"एकनको तकि घूँघटमे मुख मोरि कनैखिन दै चलै दै चलै" (भा० वि०, १ : १०८) ।

कुलिश—दे० 'वज्र' ।

कुसुमविचित्रा—वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद । 'पिंगलसूत्र' (६:३५)के लक्षणके अनुसार नगण, यगण, नगण और यगणके योगसे यह वृत्त बनता है (।।।, ।ऽऽ, ।।।, ।ऽऽ) । केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है । उदा०—"तेहि अति रूरे रघुपति देखे । सब गुन पूरे तन मन लेखे" (रा० चं०, ५ : ६) । —पु० शु०

कुसुमस्तबक—साधारण दण्डकका एक भेद । यह हेमचन्द्र (१४ श० ई०)कालीन छन्द है । हेमचन्द्रने इस छन्दका नाम 'कुसुमास्तरण' दिया है । लगता है कि सवैयाके विकासमें प्रस्तुत छन्दका हाथ अवश्य रहा होगा । 'छन्दोऽनुशासन'में इसका लक्षण दिया है—'सः कुसुमास्तरणः' अ० २ : ३०१) । भानुने इसका लक्षण—'सगण ९ वा अधिक' (छन्दःप्रभाकर) दिया है । 'जयदामन' (पृ० १४७)-पर वर्णवृत्त : दण्डकका अक्षरानुसार अंकन करते हुए वेलेणकरने १० वी संख्यामें कुसुमास्तरणका लक्षण कितना भी सगण दिया है । भानुके लक्षणके साथ यह तुलनीय है । रीतिकालीन कवियोंने इसका यदा-कदा प्रयोग किया होगा, क्योंकि एक सगण निपात कर देनेसे ध्वनिकी दृष्टिसे सवैयाका सुन्दर रूप उपस्थित हो जाता है । उदा०—"छहरै सिर पै छवि मोर-पखा उनके नथके मुकता थहरै थहरै", अन्तिम 'थहरै'का पात कर देनेसे रीतिकालीन कवियोंको अपना प्रिय सवैया आसानीसे प्राप्त हो जाता है । सम्भवतः इसी लिए प्रस्तुत छन्द बहुत प्रचलित नही हो सका, यहाँतक कि केशवदासने भी इसका प्रयोग नही किया है । फिर भी अपनी ऐतिहासिकताके कारण वह छन्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । —ह० मो०

कूप—दे० 'हठयोग' ।

कृति : कृतित्व—कलात्मक रचना । लेखक अथवा कलाकारके कर्तृत्वसे उद्भूत साहित्य, संगीत, मूर्ति अथवा चित्र । प्रत्येक कलात्मक कृति विचारों, भावनाओं और संवेदनाओंकी संहृति है, जिसका व्यक्त स्वरूप विभिन्न माध्यमोंके द्वारा विशिष्ट संकेतके रूपमें प्रकट होता है और यही व्यक्त स्वरूप प्रतीक बनकर भोक्ताके मनमें कलाकारके विचारों, उसकी भावनाओं अथवा संवेदनाओंकी निष्पत्ति करता है । इस प्रकार कृति शब्दका व्यवहार स्थूल कलासंकेतों और सूक्ष्म एवं विशिष्ट संवेदना-जगत्, दोनोंके लिए होता है । क्रोचे कलाकृतिको मानसिक ही अधिक मानता है और अनुभूतिसे उसका तादात्म्य कर देता है । 'अनुभूति ही व्यंजना है', यह क्रोचेका कला-सिद्धान्त है और इसमें अभिव्यंजनाको कृतिका बहिरंग न मानकर उसका अन्तरंग ही माना गया है (दे० रचना, सर्जन) । —रा० म०

कृष्णकाव्य–भारतीय धर्म और संस्कृतिके इतिहासमें कृष्णका व्यक्तित्व अत्यन्त विलक्षण है। कृष्ण (आंगिरस)का प्राचीनतम उल्लेख ऋग्वेद (१, ११६ : ७; १, ११६, २३; ८, ८५, १-९; ८, ८६, १-५)में पाया जाता है। इन सन्दर्भोंमें कृष्ण एक स्तोता ऋषि है, वे तथा उनके पुत्र क्रमशः अपने पौत्र और पुत्र विश्वक—विष्णुको पुनर्जीवन और आरोग्य देनेके लिए अश्विनीकुमारोंका आह्वान करते है। ऋग्वेदमे एक कृष्णासुरका भी उल्लेख है, जिसे इन्द्रने पराभूत किया था(१, १०१, १; ८, ९६, १३-१५)। परन्तु महाभारतके वीर राजनीतिज्ञ कृष्णके व्यक्तित्वसे इन प्राचीन सन्दर्भोंमे कोई समता नही मिलती। 'छान्दोग्य उपनिषद्' (३, १७, ४-६)के घोर अंगिरसके शिष्य कृष्ण देवकीपुत्र कहे गये है, जिन्हें गुरुसे यज्ञकी सरल रीति प्राप्त हुई, जिसकी दक्षिणा थी तप, दान, आर्जव, अहिसा और सत्य। महाभारतके शान्ति-पर्वमें वासुदेव कृष्णकी पूजाविधि बताते हुए जिस वैष्णव यज्ञका प्रतिपादन किया गया है, उससे उपनिषद्के इस सन्दर्भका सरलतासे सामंजस्य हो जाता है। 'घत' और 'महाउमग्ग' जातकोंमें भी कण्ह वासुदेवकी क्रमशः एक पूरी कथा तथा संक्षिप्त उल्लेख मिलता है, जिसका थोड़ा-बहुत साम्य भागवतमें वर्णित प्रसिद्ध कृष्ण-कथाने दिखाया जा सकता है। हरिवंश, विष्णु, भागवत, ब्रह्मवैवर्त आदि अनेक जैन पुराणोमें कृष्णकी कथाको अधिकाधिक महत्त्व मिला है, परन्तु इनमें भागवतकी कृष्णकथा ही सबसे अधिक विस्तृत और सांगोपांग तथा व्यवस्थित कही जा सकती है। ऐसा लगता है कि कृष्णकी कथा मौखिक रूपमें लोक-प्रचलित थी। पुराणोंमें उसका धीरे-धीरे धार्मिक रूपककी भाँति उपयोग होने लगा, जो क्रमशः बढता चला गया और कवियोंकी कल्पना उनमें नये-नये प्रसंग और सन्दर्भ जोड़ती गयी। कृष्णकी कथा कल्पनाके लिए सबसे अधिक उर्वर क्षेत्र रही है।

इस कथाके कई रूप और पक्ष है। लिखित और मौखिक रूपमें कृष्णाख्यानपर विहंगम दृष्टि डालनेसे कृष्णके तीन रूप हमारे सामने आते हैं—(१) योगी, धर्मात्माका रूप—जिसकी गीताके कृष्णमें चरम परिणति मिलती है, (२) ललित मधुर गोपालका रूप—संस्कृत साहित्यमें जिसकी चरम परिणति श्रीमद्भागवत, पद्म और ब्रह्मवैवर्त पुराणमे हुई है तथा (३) वीर राजनयिकका रूप—जो महाभारत और पुराणोंमें युद्धके सन्धि-विग्रह सम्बन्धी प्रसंगोंमें प्रकट हुआ है। ये रूप मनुष्यके ज्ञान, राग और कर्मकी तीन प्रधान मानसिक वृत्तियोके प्रतिनिधि कहे जा सकते है। ये तीनों रूप पर्याप्त प्राचीन जान पड़ते है और बाह्यतः असंगतसे लगते हुए भी उनमें एकसूत्रता देखी जा सकती है। उदाहरणके लिए कृष्णके व्यक्तित्वकी सबसे प्रमुख विशेषता—निःसंगता या तटस्थताकी वृत्ति समान रूपसे उनके सभी रूपोंमें मिलती है और ध्यानसे देखनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि इसी वृत्तिको मानो जीवनके इन तीन विभिन्न पक्षोंमें उदाहृत करनेके लिए इन तीन रूपोकी अवतारणा हुई है। परन्तु ये तीनों रूप कृष्णके उस दैवत रूपके ही अधीन विकसित हुए, जो अत्यन्त प्राचीन कालसे इष्ट देवता वसुदेव कृष्णके रूपमे लोकप्रिय होता आया था (दे० 'भागवतधर्म')। इस दैवत रूपकी परिणति अन्ततोगत्वा साक्षात् परब्रह्ममें हुई। ऐसा जान पडता है कि इष्ट देव वासुदेव कृष्णके व्यक्तित्वकी प्रमुख विशेषता उनका सौन्दर्य और माधुर्य ही था, और इसी रूपमें वे वृष्णिवंशीय सात्वत जातिके कुलदेव माने जाते थे। मौखिक रूपमे ललित मधुर गोपाल कृष्णकी कथाएँ अवश्य प्रचलित रही होंगी, जो काव्य (उदाहरणार्थ—गाथासप्तशती १, ८९; ध्वन्यालोक २, ६; बुद्धचरित १, ५०) तथा मूर्तिकला और शिलालेखों (उदाहरणार्थ-घोसुण्डी, बेसनार, नानाघाट—ब्राह्मी इन्स्क्रिप्शंस—लूडर्स संख्या ६, ६६९, ११२)मे यदा-कदा आभासित हो जाती है। परन्तु पुराणोने इन कथाओंको बहुत धीरे-धीरे अपनाया। प्राचीन पुराणोंमें केवल भागवतमे गोपाल कृष्णकी कथा सम्यक् रूपसे वर्णित की गयी; परन्तु उसमे भी राधाका नामोल्लेखतक नहीं हुआ। पद्म और सबसे अधिक ब्रह्मवैवर्त पुराणमे ही राधा-कृष्णकी प्रेम (रोमांस) गर्भित-कथा विस्तारसे दी गयी है। परन्तु लोकसाहित्य, गीत और कथाओमे कृष्णके असंख्य आख्यान चलते रहे होंगे, यह बात मध्यकालमे निर्मित देशभाषा काव्यसे प्रमाणित होती है।

संस्कृतमे राधा-कृष्ण सम्बन्धी प्रथम काव्यरचना जयदेव-(बारहवी शती)का गीतगोविन्द है, जो भक्ति और शृंगारका अनुपम माधुर्य-मण्डित गीतिकाव्य है। अनुमान है कि कविको उसकी रचनाकी प्रेरणा राधा-कृष्ण सम्बन्धी लोकगीतो तथा लोकप्रचलित आख्यानोसे ही मिली होगी। इसी लोकपरम्पराकी देशभाषामे सबसे पहली साहित्यिक अभिव्यक्ति चौदहवी-पन्द्रहवीं शतीमे विद्यापतिके मैथिल-पदोंमे हुई। पदावली हिन्दी-कृष्णकाव्यकी पहली रचना कही जा सकती है। विद्यापतिकी पदावलीकी भावधाराके सम्बन्धमे मतभेद है कि उसमे लौकिक शृंगार है अथवा भक्तिका माधुर्यभाववाला शृंगार। यह मतभेद वस्तुतः सम्पूर्ण कृष्णकाव्यके विषयमे न्यूनाधिकरूपमे उठता रहता है। बात यह है कि कृष्णके उपर्युक्त तीन रूपोंमेसे कवियोंने केवल ललित-मधुर गोपाल कृष्णको ही काव्यका विषय बनाया है, अन्य रूपोंको इसी रूपकी पुष्टि या महत्ताके लिए यदा-कदा प्रयुक्त किया है। अतः स्वभावतया इस रूपमे शृंगारकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी है, राधा और अन्य गोपियोसे सम्बन्धित प्रेमप्रसंगोकी भरमार होती गयी है। परिणामतः यह कहना असम्भवप्राय हो गया है कि कहाँ लौकिक शृंगारकी मूल प्रेरणासे रचना की गयी है और कहाँ वह भक्ति-भावनापर आधारित है। परन्तु विद्यापतिकी पदावलीके विषयमे विभिन्न मतोके बीच वास्तविकता यह जान पड़ती है कि मूलतः कविने अपने आश्रयदाताओंकी प्रसन्नताके लिए राधा-कृष्णके प्रेम-प्रसंगोंपर शुद्ध शृंगारिक रचना की थी, परन्तु कदाचित् कालान्तरमे अन्त समय निकट आते-आते उसके हृदयमे शिव और शक्तिकी तरह राधा-माधवके प्रति भी भक्ति-भावना जागरित हो गयी होगी। जो हो, विद्यापतिकी पदावली रसिकोका मनोरंजन तो करती ही रही है, चैतन्य सरीखे भक्तोको भी वह अपनी विदग्ध-माधुरी और गूढ़-गम्भीर प्रेम-प्रवणतासे रसमग्न करनेमे सफल हुई है। **भक्तिकाल** (दे०)का वातावरण ही

ऐसा भावावेशपूर्ण था कि उसमें विद्यापतिके पद क्या, भक्तोंको ध्वन्यालोकमें दिये हुए घोर शृंगारके उदाहरण भी भक्तिरसमें डूबे हुए जान पड़ते थे। इसी वातावरणमें हिन्दीके कृष्णकाव्यकी जो अधिकांशतः कृष्ण-भक्ति-काव्य है, रचना हुई।

विद्यापतिके बाद हिन्दी कृष्णकाव्यके प्रथम कवि सूरदास हुए, जिनकी प्रतिभाको पुष्टिमार्गके प्रवर्तक महाप्रभु वल्लभाचार्यने अपने सम्प्रदायके प्रचारमें लगाया। सूरदासने गोपाल कृष्णके गोकुल, वृन्दावन और मथुराके जीवनसे सम्बन्धित सम्पूर्ण आख्यानको सूरसागरमें एक गीति-प्रबन्धका रूप दिया। कथाकी सामान्य रूप-रेखा तो उन्होंने भागवतसे ही ली, परन्तु उसके प्रसंगों और विवरणोंको उन्होंने बहुत अधिक विस्तार दिया, अनेक नवीन घटनाओं और उपकथाओंकी अवतारणा की तथा सम्पूर्ण कथाको भक्ति-भावनाके साथ इस प्रकार संघटित किया कि उसमें उद्देश्यकी एकताके साथ-साथ उपकथाओं और प्रसंगोंकी बहुलता तथा शैलीकी मुक्तता होते हुए भी संयोजन और संघटनमें एकसूत्रता आ गयी। इसके अतिरिक्त विविध उपकथाएँ और घटनाप्रसंग, जिन्हें लीला कहा गया है और जो सम्पूर्ण कृष्णलीलाके अंग हैं, स्वयं विधिवत् प्रारम्भ, कथाके आदि, मध्य, अवसानकी योजना तथा निश्चित उद्देश्यके साथ रचे गये हैं, स्वतन्त्र खण्डकथा या खण्डकाव्यके रूपमें पढ़े जा सकते हैं और प्रत्येक पद जो पहले छोटी घटना या वर्णन-प्रसंग, फिर खण्डकाव्य और अन्तमें सम्पूर्ण कृष्णकथाकी एक कड़ी मात्र है, स्वतन्त्र रूपमें पूर्णतया आस्वादनीय है। वस्तुतः ये पद इसी रूपमें अलग-अलग ही पढ़े या गाये जाते हैं। कथाके सन्दर्भकी तो पाठक, गायक या श्रोता पृष्ठभूमिके रूपमें स्वयं कल्पना कर लेते हैं। इसीलिए प्रायः यह कहा जाता है कि 'सूरसागर' मुक्तकपदोंका संग्रह है। परन्तु वस्तुतः वह एक साथ ही गीति-प्रबन्ध, कृष्णकी विविध लीलाओं तथा मुक्तकपदोंका संग्रह है। कृष्णकाव्यकी एक सामान्य प्रकृति यह भी है कि वह अधिकतर मुक्तकरूपमें रचा गया है, क्योंकि कृष्णकाव्यमें वर्णित कृष्णकी कथा अत्यन्त सीमित है। सूरदासने ही उसके सभी घटना-विवरण दे दिये हैं। कृष्णके जन्म, शैशव, गोपोंके साथ क्रीड़ा, गोचारण, राधा तथा गोपियोंके साथ रस-केलि, छद्मवेशधारी असुरोंका वध, गोवर्धनधारण और इन्द्रदमन, मथुरा-प्रवास, कंस-वध, उद्धव-सन्देश, द्वारिका-गमन तथा प्रभासक्षेत्रमें गोप-गोपियों और राधाके साथ पुनर्मिलन। परन्तु सूरदास द्वारा दिया गया कथाका यह विस्तार अन्य कवियोंमें नहीं मिलता। उन्होंने इसीमेंसे कुछ प्रसंगोंपर ही लेखनी चलायी है। **अष्टछाप** (दे०)के कवियोंमें नन्ददासको छोड़कर अन्य सभी कवि सूरदासका अनुकरण करते देखे जाते हैं। पुष्टिमार्गीय कृष्णकाव्यकी एक विशेषता यह है कि इसमें गोपालकृष्णकी बाललीलाको विशेष महत्त्व दिया गया है। अन्य सम्प्रदायोंके कवियोंने इस ओर बहुत कम ध्यान दिया है। कृष्ण-कथाका सर्वाधिक प्रिय विषय राधा-कृष्णकी प्रेम-लीला है। स्वयं सूरदासने भी इसे सर्वाधिक महत्त्व दिया है। 'सूरसागर'की कथाकी एकसूत्रता राधाकृष्णके प्रसंगपर ही आधारित है। सूरदासके सहयोगी अष्टछापके अन्य कवियोंने भी उसे यथेष्ट महत्त्व दिया और निकुंजलीलाके वर्णनमें सर्वाधिक रुचि दिखायी। सूरदासके समकालीन गुसाईं हितहरिवंश (दे०-'राधावल्लभ सम्प्रदाय') और उनके अनुयायी राधावल्लभी भक्त, स्वामी हरिदास और उनके अनुयायी **सखीसम्प्रदाय** (दे०)के भक्त तथा महाप्रभु चैतन्यके **गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय**में दीक्षित भक्तकवि सभी लगभग एकान्तरूपसे राधा और गोपियोंके साथ कृष्णकी प्रेम-क्रीडाओंके वर्णनमें ही मग्न दिखाई देते हैं। सूरदासके प्रेम-चित्रणोंकी सूक्ष्मता और गूढ़ व्यंजनात्मकता तो अन्य कवियोंको दुर्लभ हो ही गयी, उनके काव्यकी यह सीमित विषयवस्तु भी और अधिक सीमित और संकुचित होती गयी और यमुना-कूल, लता-निकुंज और अन्तःप्रकोष्ठके कुछ चुने हुए प्रेम-प्रसंगोंका ही थोड़े-थोड़े अन्तरोंके साथ चर्वित-चर्वण होने लगा। धीरे-धीरे कृष्णके व्यक्तित्वका वह वीतरागत्व भी, जो इस माधुर्यभावके रूपमें भी कम-से-कम सूरदासने निरन्तर सुरक्षित रखा था, भुला दिया गया।

सूरदासके बाद सम्पूर्ण कृष्ण-कथा रचनेका प्रयत्न भक्तिकालके बाद वल्लभ सम्प्रदायके ही ब्रजबासीदासने 'ब्रज-विलास' (१,७७०)में किया, जो वर्ण्य विषयमें 'सूरसागर' और शैलीमें 'रामचरितमानस'का अनुकरण है। परन्तु काव्यकी दृष्टिसे उसका कोई महत्त्व नहीं है। कृष्ण-कथा सम्बन्धी कुछ प्रबन्धात्मक रचनाएँ नन्ददासने भी की थी— जैसे 'श्यामसगाई', 'भँवरगीत' और 'रासपंचाध्यायी', परन्तु इस प्रकारके लघु-प्रबन्ध तो 'सूरसागर'में अनेक पाये जाते हैं। नन्ददासका 'रुक्मिणीमंगल' अवश्य कृष्णके ऐश्वर्यरूपकी ओर ध्यान आकृष्ट करता है, जिसे 'सूरसागर'में गौण स्थान दिया गया है। राधावल्लभी ध्रुवदास, वल्लभ-सम्प्रदायके नागरीदास तथा राधावल्लभी हितवृन्दावनदास आदि कुछ परवर्ती भक्त कवियोंने भी कृष्णकाव्य सम्बन्धी छोटे-छोटे प्रबन्धोंकी रचनाएँ की। परन्तु ये भी काव्यकी दृष्टिसे अत्यन्त साधारण कोटिकी हैं। वास्तवमें कृष्णका ऐश्वर्य रूप ही प्रबन्ध-रचनाका प्रकृत विषय हो सकता था, परन्तु कृष्ण-भक्तिके साथ उसका सामंजस्य न होनेके कारण बहुत थोड़े भक्त-कवियोंने उसकी ओर ध्यान दिया। कृष्णके ऐश्वर्य-रूपसे सम्बन्धित केवल एक-दो प्रसंग ही काव्यके विषय बनाये गये। इनमें सबसे अधिक लोकप्रिय प्रसंग है रुक्मणी-हरण। नन्ददासके पहले अकबरी-दरबारके कवि महापात्र नरहरि बन्दीजन (१५०५-१६१०) भी रुक्मिणी-मंगल लिख चुके थे। राजस्थानीमें पृथ्वीराजने 'बेलि क्रिसण रुक्मिणी री' (१५८०) नामसे इस विषयपर एक सुन्दर काव्यकी रचना की थी, परन्तु वह सर्वथा इहलौकिक रचना है, भक्ति-भावका उसमें कोई संकेत नहीं है। रीतिकालमें नवल सिंहने भी 'रुक्मिणी मंगल' नामसे एक छोटे-से प्रबन्ध काव्यकी रचना की। उन्नीसवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धमें महाराज रघुराज सिंहने भी 'रुक्मिणी परिणय'-की रचना की। 'सुदामा चरित'के लेखक नरोत्तमदास (सोलहवीं शती) भी भक्त कवि नहीं कहे जा सकते, यद्यपि उसी प्रकारकी दैन्य भावकी भक्ति-भावना उसमें भी मिलती है, जैसी कि 'रुक्मिणी मंगल' सम्बन्धी काव्योंमें है। गौडीय

सम्प्रदायके कृष्णभक्त कवियोंने विपुल साहित्यकी रचना की है। इन कवियोंमे सूरदास, मदनमोहन, आनन्दघन (प्रथम), गदाधर भट्ट, चन्द्रगोपाल, विष्णुदास, भगवानदास आदिके नाम अधिक प्रसिद्ध हैं। इनमे भी प्रबन्धात्मक काव्योंका अभाव मिलता है। फुटकर लीला विषयक काव्य संकलन बाललीला, रथलीला, वाणीसंग्रह आदि नामोंसे संकलित हैं। निम्बार्क सम्प्रदाय (दे०)के हरिकासी तथा हरिदासी शाखाके कृष्णभक्तकी भी ठीक यही स्थिति है। इन दोनो सम्प्रदायोंके लगभग ६० कवियोंमें से किसीने भी प्रबन्धात्मक रचना नहीं प्रस्तुत की है।

इस प्रकार साधारणतया सम्पूर्ण कृष्णकाव्य और विशेष रूपमें कृष्ण-भक्ति-काव्यकी प्रकृति गीतिके ही अधिक अनुकूल है। फलतः अधिकांश प्रकृत कृष्णकाव्य गीतिपदोंमे ही रचा गया है। भक्तिकालीन वातावरणको भावाविष्ट करनेका अधिकांश श्रेय कृष्ण-भक्ति और कृष्णकी ललित लीलाओंके काव्यमय गायनको ही है। उसीने जन-जनके हृदयमें गीति-भावनाका संचार कर दिया था। फलस्वरूप उस शैलीको काव्यमें प्रतिष्ठा मिली, जिसे संस्कृत कवियोंने काव्यके गौरवके उपयुक्त न मानकर तिरस्कृत कर दिया था। रामकाव्यके यशस्वी प्रणेता तुलसीदासतकने उसे अपनाया। उनपर कृष्णकाव्य और उसकी गीति-भावनाके प्रत्यक्ष प्रभावका प्रमाण उनकी 'कृष्णगीतावली' है। कृष्णका ललित-मधुर रूप ही वस्तुतः गीति-भावनाका सहज प्रेरणा-स्रोत है, शताब्दियोंसे वह लोक-हृदयको रस-प्लावित करता आया है। यही कारण है कि कृष्ण सम्बन्धी अधिकांश गीतिकाव्य, मीराँकी पदावलीको छोड़कर, प्रत्यक्षतः आत्मनिष्ठ न होते हुए भी गीतिकी स्वात्मानुभूतिके गुणसे हीन नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कवि सहज ही उन पात्रोंके भावोंमें अपनेको तल्लीन कर लेता है, जिनके माध्यमसे कृष्णके प्रति घनिष्ठ अनुराग व्यक्त किया जाता है। संगीतात्मकता तो कृष्ण-भक्ति-काव्यमे ओत-प्रोत है। लगभग सभी भक्त कवि संगीतज्ञ भी थे। अष्टछापके अनेक कवियोंके विषयमें उनकी संगीत-निपुणता सम्बन्धी कथाएँ प्रसिद्ध हैं। स्वामी हरिदासकी ख्याति तो कदाचित् काव्यकी अपेक्षा संगीतके क्षेत्रमें ही अधिक है। लोक-विश्रुत आख्यानपर रचना करते हुए भी कवियोंने कृष्ण सम्बन्धी गीतिपदोंकी रचनामें पर्याप्त स्वच्छन्दता, सहजोद्रेक और नवीन भावोन्मेषका परिचय दिया है, क्योंकि सीमित क्षेत्रमें ही सही, कृष्णके प्रेम-प्रसंगोंमें कवि-कल्पनाको उद्दीप्त करनेकी अनुपम क्षमता रहती है। कृष्णकाव्यके गीतिपदोंमें गीति-काव्यके सभी गुण—तात्त्विक और रूप-रचना सम्बन्धी न्यूनाधिक रूपमे पाये जाते हैं और हम इसी काव्यके आधारपर भक्तिकालको हिन्दीका सर्वश्रेष्ठ गीतिकाल कह सकते है। यह अवश्य है कि काव्य-रचनाकी प्रचुरतामें कृष्णकाव्यमें भी गीति-पदोंके रूपमे ही ऐसी रचनाओंकी कमी नहीं है, जो मात्र वर्णनात्मक और उपदेशात्मक हैं तथा जिनमें बाह्य रूप-रेखाके अतिरिक्त गीतिका कोई लक्षण नहीं मिलता।

कृष्णकाव्यके श्रीकृष्णका व्यक्तित्व अत्यन्त विलक्षण है। उन्हें तत्त्वतः साक्षात् परब्रह्म, अद्वैत, परमेश्वर मानकर अपने-अपने भावके अनुसार कवियोंने वात्सल्य, सख्य और माधुर्यके आलम्बन-रूपमे अपने उदात्तीकृत लौकिक जीवनका अभिन्न अंग बनाया है। विशेषतः सूरदास तथा साधारणतः अन्य कवियोंने नन्द, यशोदा, गोप और गोपीके भावोंकी प्रतिमाके रूपमे कृष्णका चित्रण करते हुए जहाँ भावकी पूर्ण तन्मयता लानेके उद्देश्यसे उनके ब्रह्मत्वका प्रतिवाद किया, वहीं उनके ब्रह्मत्वकी गूढ़ व्यंजना हुई है। यशोदाके वात्सल्य-भाजन कृष्ण पूर्णतः बाल(पुत्र) हैं, उनके किसी अन्य रूपका संकेत भी उसे स्वीकार्य नहीं है। इसी प्रकार गोपियोंके कृष्ण, प्रेमीके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। सभी भक्त उनके ब्रह्मत्वको अस्वीकार करते हैं। परन्तु वास्तविकता यह है कि न वे पुत्र है, न सखा, न प्रेमी; वे किसीके शत्रु या मित्र नहीं; वे न नर हैं, न नारी: वे क्या हैं, यह कैसे कहा जाय? इसीलिए वे भक्तोंके भावके अनुरूप उनके भगवान् हैं। कृष्णकाव्यमे यह तत्त्ववाद कहा नहीं गया, रूपक, प्रतीक-संकेत और व्यंजनाकी शैलीमे अनुभूत कराया गया है। भावकी अनन्य परिपूर्णताके कारण कृष्णकाव्यके पात्र प्रतीकरूप है। अतः सूरदासके बाद कवियोंने उन्हे लगभग ज्योंका त्यों स्वीकृत करके ही प्रयुक्त किया है और जिस प्रकार भावकी दृष्टिसे कृष्णकाव्य धीरे-धीरे सीमित हो गया, उसी प्रकार पात्रोंकी दृष्टिसे भी उसमे संकोच आता गया और अधिकांश कवियोंकी दृष्टि कृष्ण, राधा और गोपियोंतक ही सीमित रह गयी। अन्य पात्रोंकी ओर यदि उन्होंने देखा भी तो केवल इन्हींके नाते।

भक्त कवियोंके हाथमें कृष्णकाव्य उन मानवीय भावोंके सहज परिष्करण और उदात्तीकरणका व्यावहारिक और प्रत्यक्ष दृष्टान्त बनकर प्रयुक्त हुआ था, जो मनुष्यको संसारके विषयोंमे लिप्त किये रहते है तथा पतनकी ओर ले जाते हैं। परिवारके जो नाते मनुष्यके आध्यात्मिक विकासमे उसके सबसे बड़े वैरी हैं, श्रीकृष्ण उन्हींके रूपमे भक्तोंको प्राप्त होकर उनके तत्सम्बन्धी राग-द्वेषको अपनेमें समर्पित करा लेते हैं। गीताके श्रीकृष्णने जिस निःसंगताका उपदेश दिया था, उसीको भक्त कवियोंने चित्रित किया है तथा उन्होंने आत्म-समर्पण-युक्त भक्तियोगका जो रूप अर्जुनको समझाया था, वही काव्यमे उदाहृत किया गया है।

परन्तु भावावेशकी वह उदात्त स्थिति कबतक स्थिर रह सकती थी? कौन कह सकता है कि भक्तिके प्रारम्भिक उन्मेषमे भी स्खलनकी कितनी सम्भावनाएँ रही होंगी और काम-वासना जैसी आकर्षक और पतनोन्मुख भावनाको स्वच्छतापूर्वक अभिव्यक्ति देते हुए न जाने कितनी बार कितने भक्तोंके मनमें भावकी इहलौकिकता ही ठहरकर रह गयी होगी? परन्तु इन दुष्कल्पनाओंके बावजूद, यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि कृष्णकाव्यने, कमसे-कम भक्तिकालीन कृष्णकाव्यने, जीवनकी जड़ताको भंग कर उसे गतिशील बनाया, उद्देश्यहीनताको दूर कर उसे ऊँचा लक्ष्य प्रदान किया तथा जीवनकी असुन्दरता और नीरसता मिटाकर उसे सुषमा, सौन्दर्य और आनन्दसे अनुप्राणित किया। जहाँतक सदाचार और चरित्रका सम्बन्ध है, कृष्णकाव्यने उसे मनोवैज्ञानिक आधारपर सहज प्रवृत्तिके रूपमें ऊँचा उठानेका सफल उद्योग किया। उसने मनुष्यकी सबसे

प्रमुख दुर्बलताको परम्परागत धर्मशास्त्रीय दृष्टिकोणसे दमन-पूर्वक दूर करनेके स्थानपर उसे स्वाभाविक रूपमें ऊँचा उठानेका उपाय बताया। कृष्णकाव्यमे इस युगकी सर्वोच्च जन-भावना सुरक्षित है, वह धर्म और समाजके क्षेत्रमे सर्वोत्तम लोकतन्त्रात्मक शक्तियोंका प्रतिनिधित्व करता है।

परन्तु, जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, भक्तिकालका यह आदर्श वातावरण जो भावापन्नतापर आधारित था, अधिक दिनों नहीं रह सका। भक्ति सम्प्रदायबद्ध होकर रूढ़ि और कर्मकाण्ड-प्रधान होने लगी। साम्प्रदायिक प्रचारक धन-वैभवमें लिप्त होने लगे। उनका दृष्टिकोण सांसारिक हो गया और उन लोगोंका आदर घट गया, जो सांसारिकताकी उपेक्षा करते हैं। अनजाने ही जीवनके वे मूल जो भक्तिकालने पुनर्निर्मित किये थे, भुलाये जाने लगे। भक्ति-धर्ममें ही गतिशीलताके स्थानपर जड़ता आने लगी। ऊपर संकेत किया जा चुका है कि कृष्णकाव्यका वर्ण्य विषय और उसकी भावधारा धीरे-धीरे सीमित और संकुचित होती गयी थी। जिस प्रेमीकी भावनाको उसमें प्रमुखता दी गयी थी, वह अपनी सांकेतिकता और सूक्ष्मता खोकर जड़ता और विलास-की ओर जाने लगी। यह परिस्थिति बदले हुए वातावरणमें अत्यन्त स्वाभाविक थी। सम्प्रदायोंके केन्द्र भी वैभव-सम्पन्न थे और धनिक और अधिकारी वर्ग भी कवियोंको संरक्षण देने लगे थे। कुम्भनदासने सम्राट् अकबरके आमन्त्रणपर फतेहपुर सीकरी जाकर पश्चात्ताप किया था, सूरदासने एक बार सम्राट्से मिलकर स्पष्ट कह दिया था, दुबारा कभी मिलनेका प्रयत्न न करना। परन्तु अब स्थिति बदल गयी। कविगण सम्राटों और राजाओंकी तो क्या, छोटे-मोटे सामन्तों और जमींदारोंकी शरण ढूँढने लगे। परिणाम यह हुआ कि रीतिकाल (दे०)मे कविताका वर्ण्य विषय लगभग वही रहा, जो कृष्ण-भक्तिकाव्यका था, परन्तु उसकी आत्मा बदल गयी। सर्वोच्च स्थितिसे वह निकृष्ट धरातलपर उतर आया। कृष्ण लौकिक नायकका प्रतीक नाम हो गया, कृष्ण-की अभिन्न ह्लादिनी शक्ति, राधा एक साधारण नायिका बनकर रह गयीं, गोपियाँ उनकी प्रिय, नर्म आदि सखियाँ हो गयीं। सूरदासने गोपियोंके प्रेम-भावकी अनन्यता और सम्पूर्णता सम्पादित करनेके लिए 'सूरसागर'में 'खण्डिता प्रकरण' लिखा था, जिसमें कृष्णके दक्षिण-नायक रूपका सूक्ष्म, आध्यात्मिक व्यंजनापूर्ण चित्र दिया था। उन्होंने गोपियों और राधाके प्रेम-विकासकी अत्यन्त सूक्ष्म और स्वाभाविक स्थितियोंका चित्रांकन किया था। रीतिकालीन कवियोंको उसीके आधारपर नायक-नायिका भेद (दे०) नामसे एक बृहत् काव्य-शास्त्रीय विवेचनका विषय मिल गया। विषयकी दृष्टिसे लगभग समूचा रीतिकालीन साहित्य कृष्णकाव्य है। काव्य-धाराकी दृष्टिसे भी, जैसे कृष्ण-भक्ति-काव्यमें माधुर्य भावकी प्रधानता थी, वैसे इसमें भी शृंगार-की प्रधानता है। परन्तु वास्तविक यह है कि विषय-वस्तु प्रायः नाम-मात्रको ही कृष्णपरक है, उसमें कृष्ण और राधाका बहाना-मात्र है तथा भाव-धारा बाह्यतः समान होते हुए भी विषयके अनुरूप सर्वथा लौकिक, अतः हीन कोटिकी है। उदात्तताके स्थानपर उसमें विलासिताका वातावरण है, आध्यात्मिक पिपासाके स्थानपर वासनाकी अतृप्ति है।

परन्तु ऐसा सर्वत्र नहीं है। आधुनिक कालकी सुधारवादी भावनाके प्रभावमें रीतिकालके शृंगारी काव्य और उसके तथाकथित पूर्वरूप, कृष्ण-भक्तिकाव्यकी अत्यधिक निन्दा की गयी है। माधुर्य भक्ति और लौकिक शृंगारका अन्तर तर्क और वाद-विवादके द्वारा स्पष्ट नहीं किया जा सकता। तर्कके आधारपर तो बड़े-से-बड़े भक्तकविका माधुर्य भाव मानसिक रुग्णता और दमित वासनाका प्रकाशन कहकर निन्दित किया जा सकता है। परन्तु कलामें यदि उदात्ती-करणकी स्थिति स्वीकार्य है, तो कृष्ण-भक्तिकाव्य उसका सर्वोत्तम उदाहरण कहा जा सकता है। रीतिकालीन कवि भी सर्वदा लौकिक वासनात्मक प्रेरणासे ही काव्यरचनामें प्रवृत्त होते रहे हों, यह भी दावेके साथ नहीं कहा जा सकता। अनेक रीतिकालीन कवियोमे (केवल उन कवियोंमें ही नहीं, जो निश्चितरूपमे भक्ति-प्रेरित थे और जो शुक्लजीके इतिहासके 'रीतिकालके अन्य कवि' शीर्षकमें रख दिये गये है) प्रायः भक्ति-भावनाकी प्रेरणा झलक जाती है और उनकी चित्तवृत्ति सांसारिकतासे ऊपर उठती हुई जान पड़ने लगती है। और फिर, रीतिकालमें कृष्णकाव्यकी धारा क्षीण भले ही पड़ गयी हो, टूटी कदापि नहीं। घनानन्द रीतिकालमें ही हुए, जिन्होंने सुजानके प्रेमको सहज ही कृष्ण-प्रेममें परिणत करके सांसारिकतापर विजय पायी। नागरीदास, बख्शी हंसराज, हितवृन्दावनदास, भगवत रसिक, हठीजी, ब्रजवासीदास आदि अनेक भक्तकवि जो वल्लभ, राधावल्लभ या सखी सम्प्रदायके अनुयायी थे, रीतिकालमें ही हुए हैं। इन्होंने कृष्ण-भक्तिकाव्यकी परम्पराको जीवित रखा और समसामयिक रीतिकालीन कृष्णकाव्यके प्रणेताओंके लिए चेतावनीका काम किया। इनमें और रीतिकालीन कवियोंमें एक अन्तर शैलीका भी है। जहाँ इनमेंसे कुछ कवि भक्तिकालीन कृष्णकाव्यकी पदशैलीके अनुकरणका प्रयत्न करते दिखाई देते है, वहाँ रीतिकालीन कवियोंकी शैली एकदम भिन्न, सूक्ति और उक्ति-वैचित्र्य-प्रधान मुक्तकोंकी शैली है। गीतिकाव्यकी भावापन्नता उसमे नहीं है। कलात्मक चमत्कारपर ही कविका विशेष ध्यान है। दोहा, कवित्त, सवैया, हरिगीतिका आदि कुछ छन्दोंका मुक्तक रूपमें सूरदास, हित हरिवंश, नन्ददास तथा कुछ अन्य भक्त-कवियोंने भी व्यवहार किया था, परन्तु रीतिकालमें तो राधा-कृष्णका गुणगान कवित्त और सवैयामें ही सीमित रह गया।

आधुनिक कालमें जब गद्यके रूपमें साहित्यका बहुविध विकास प्रारम्भ हुआ, तब भी कविताका विषय बहुत दिनों-तक कृष्णवार्ता ही बनी रही। हिन्दीके कवि राधा-कृष्णके प्रेम-प्रसंगोंपर इतने मुग्ध थे कि उन्हें काव्यका और कोई विषय सूझता ही न था। आधुनिक कालके प्रारम्भिक युगमें ललितकिशोरी जैसे वास्तविक भक्तकवि तो होते ही रहे, शुद्ध काव्यकलामें प्रवृत्त भारतेन्दु सरीखे कवि भी, न केवल राधा-कृष्ण-प्रेमवार्ता विषयक कवित्त और सवैया लिखते थे, जिनकी प्रेरणाके विषयमें संदेह किया जा सकता है, बल्कि सूरदासकी परम्परामें पदरचना भी करते थे। पदरचनाकी प्रवृत्ति वर्तमान कालतक समाप्त नहीं हुई है। अनगिनती

सहस्रारको शिवस्थान या कैलास भी कहा जाता है।

(३) 'पद्मावत'में जायसीने अनेक बार 'कविलास' शब्दका स्वर्गके अर्थमें व्यवहार किया है (जा० अ०; पद्मा०; २६ : ५, २७ : १, ३६ : २, ४३ : ४)। —रा० सिं०

कैवल्य—शाब्दिक अर्थ है केवलभाव यानी आत्माके वास्तविक स्वरूपका साक्षात्कार। यह शब्द योगशास्त्रका है, परन्तु अन्य शास्त्रोंमें भी मोक्षके पर्यायके रूपमे प्रयुक्त होता है। भारतीय दर्शनके सभी सम्प्रदायोंमें अज्ञानकृत आत्माके स्वरूपावरण या स्वरूप-संकोचरूपी बन्धका ज्ञान या विद्या द्वारा अपगमकर आत्म-स्वरूपका साक्षात्कार ही मोक्ष या कैवल्य माना गया है। कैवल्यका स्वरूप विभिन्न दर्शनोंमे भिन्न रूपोमें वर्णित हुआ है। परन्तु सर्वत्र यह ज्ञान द्वारा लब्ध तथा आत्म-साक्षात्कार और तत्वके यथार्थ स्वरूपावबोधके रूपमे वर्णित हुआ है।

हिन्दीमें कैवल्यका प्रयोग परम पद या मोक्षके पर्यायके रूपमें हुआ है। इसका वर्णन प्रायः राम-भक्ति-साहित्यमें उपलब्ध होता है। तुलसीने इसे अत्यन्त दुर्लभ कहा है, जो कहनेमें कठिन, समझनेमें कठिन है और कठिनाईसे विवेक द्वारा ही इसका साधन किया जाता है, क्योंकि इसकी प्राप्तिमें अनेक प्रत्यूह और अन्तराय उत्पन्न हो जाते है—"कहत कठिन समुझत कठिन साधत कठिन विवेक। होइ धुनाक्षर न्याय जो पुनि प्रत्यूह अनेक"। यही मुक्ति है जो रामकी भक्तिसे लब्ध होती है। —क० शु०

कैशिकी वृत्ति—दे० 'नाट्यवृत्ति', पहली।

कोमला वृत्ति—दे० 'वृत्ति', तीसरी।

कोश—वेदान्तमें आत्माको आवृत करने वाले पॉच कोश माने जाते हैं—अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, ज्ञानमय कोष तथा आनन्दमय कोष। शुक्र-शोणितसे निर्मित शरीर ही अन्नमय कोष है और शेष चार कोशोंमें सबसे अधिक स्थूल है। अन्य कोष अन्नमय कोष (अर्थात् शरीर) से क्रमशः सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर होते जाते है। गीता (३, ४२)में यही बात कही गयी है। अन्नमय कोषको छोड़कर शेष चार कोषोको वेदान्तमें लिंग शरीर कहा जाता हैं (दे० लिंग शरीर) और माना जाता है कि मृत्युके बाद भी यह लिंग शरीर आत्माके साथ जाता है। कबीरपंथी साहित्यमें कोषोंकी संख्या नौ मानी गयी है—अन्नमय, शब्दमय, प्राणमय, आनन्दमय, मनोमय, प्रकाशमय, ज्ञानमय, आकाशमय एवं विज्ञानमय। —रा० सिं०

कौशिक—उलूक (दे०)का एक पर्यायवाची शब्द 'कौशिक' है। कुशिक नामके एक प्रसिद्ध मुनिका उल्लेख भी मिलता है, जिन्हे लकुलीश (दे० 'लाकुल')का शिष्य बताया गया है। इनके नाम पर ही समूचा उलूक सम्प्रदाय कौशिक कहलाता है। कह नही सकता कि ऋषि विश्वामित्र तथा वर्तमान कौशिक गोत्रीय क्षत्रियोंका प्राचीन उलूक सम्प्रदाय या वैशेषिक (शैव) दर्शनसे कोई सम्बन्ध है या नही। कालक्रमसे कौशिकका मूल अर्थ तो भुला दिया गया, पर यह परम्परा बची रही कि कौशिक उल्लूको कहते है। स्पष्ट है कि कौशिकका अर्थ उल्लू होता है'। यह बात पुरानी है, बस उल्लू एक बेवकूफ और दिनमें एकदम न देखने तथा रातके अँधेरेमें सब कुछ देख सकने वाला पक्षी है और कौशिक इसी पक्षीको कहते है, यह अर्थ नया है। ऐसा होता ही है। बोधि-प्राप्त 'बौद्ध'का बुद्धू (मूर्ख, बेवकूफ) इसी तरह बना। इसी प्रकार बुद्धसे बुत बन गया। अशोकने जिन्हे आदरसहित बहुत-सा दान दिया। ऐसा पाषण्डी(सम्प्रदाय), छली, धूर्त आदिका अर्थ देनेवाला बहु प्रचलित शब्द बन गया। वैभाषिक सम्प्रदायको 'उलटा-पलटा बोलने वाला' कहकर समझा-समझाया गया (दे० 'सर्व-दर्शन-संग्रह'), जब कि इसका मूल अर्थ था 'विशिष्ट भाषा' या 'विशिष्ट भाष्य'को माननेवाला। कौशिकका 'उल्लू पक्षी' सम्बन्धी अर्थ ऐसे ही विकसित हो गया या कर दिया गया होगा। —रा० सिं०

क्रम—दे० 'अर्थदोष', पॉचवॉं।

क्रिया—साधककी अवस्थानुसार साधना-पद्धति अपनानेकी दृष्टिसे चार पद्धतियॉं प्रमुख थीं। इन्हींके नामपर वज्रयानके चार तन्त्र हो गये—क्रियातन्त्र, चर्यातन्त्र, योगतन्त्र, अनुत्तर-तन्त्र। इनमेंसे क्रिया तथा चर्या केवल शैक्षोंके लिए आवश्यक हैं, क्योंकि वे अविकसित मनवाले होते हैं। क्रिया आदि कर्मप्रधान पद्धतिका नाम है, जिसमें प्रज्ञापारमिताओंके संयम-पालनका विधान है। दान, शील, क्षमा, वीर्य, ध्यान तथा प्रज्ञाका सेवन ही क्रिया-साधना है। —ध० वी० भा०

क्रियाचतुर नायक—दे० 'नायक' (शृंगार)।

क्रियात्मक आलोचना—शैली तथा वस्तु दोनोंको अन्योन्याश्रित माननेवाले दर्शनशास्त्रज्ञोंने १९वी शतीके अन्तिम चरणमें इस आलोचना-प्रकारका प्रवर्तन किया। इस वर्गने आलोचनाके बाह्यारोपित मानों, रूढ़ियों और व्याकरणात्मक सिद्धान्तोंके साथ-साथ व्यक्तिगत अनुभूतिके आधारपर टिकी प्रभाववादी आलोचनाका भी विरोध किया। इस वर्गका विश्वास है कि किसी कलाकृतिकी वास्तविक परख न तो साहित्यकारकी जीवनी, उसके धर्म या उसकी परिस्थितियोंके ज्ञानके आधारपर की जा सकती है और न कलाकृतिमें प्रदर्शित रूढि, पाण्डित्य, व्याकरणात्मक विवेचन, शब्दशोधन अथवा छन्द-व्यवस्था आदिके आधारपर ही। इन उपादानोंसे हम कलाकृतिकी अन्तरात्मातक नही पहुँच सकते। श्रेष्ठ आलोचना वही होगी, जिसमें आलोचक उक्त ऐतिहासिक तथा सौंदर्यात्मक, दोनो दृष्टियोंको ध्यानमें रखता हुआ उनके समन्वयके साथ-साथ कलाकारके अनुभवोंको अपने मनमें जन्म देगा। आलोचकका काम है कलाकार और स्वयंके भाव-संसारमें एकरूपता स्थापित करना, अपने आपको उस कलाकारके व्यक्तित्वसे अभिन्न कर देना। इस प्रकारकी आलोचनाकी सफलताके लिये यह भी आवश्यक है कि आलोचक कविके लक्ष्य तथा उसके प्रतिपादन, दोनोंके पारस्परिक सम्बन्धका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करे। लक्ष्य तथा उसकी सिद्धिमें जिस कृतिमें जितना अधिकतम निकट सम्बन्ध होगा, वह कृति उतनी ही श्रेष्ठ समझी जायगी। अतः क्रियात्मक आलोचनाके द्वारा यह जाना जाता है कि कृतिकारका लक्ष्य क्या है, उसे उसमे कितनी सिद्धि मिली, उसके लक्ष्य तथा उसकी कृतिमें सम्बन्ध स्थापित हो सका है या नही? आदि। वस्तुतः कलाकारकी क्रियात्मकताका पुनर्निर्माण ही

अज्ञात भक्तोंके अतिरिक्त वियोगी हरि जैसे प्रसिद्ध साहित्यिकका नाम इस श्रेणीके कवियोंमें लिया जा सकता है। रीतिकालके प्रसिद्ध आचार्य भिखारीदासने कहा था, "आगेके कवि यदि प्रसन्न होंगे तो समझा जायगा कि मैं भी कोई था, अन्यथा मुझे इसीमें सन्तोष है कि मैंने कविताई करनेके बहाने राधा-कन्हाईका स्मरण तो कर लिया।" अनेक रीतिकालीन और आधुनिककालीन कृष्ण-काव्य लिखनेवाले कवियोंका यही भाव रहा है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रसे लेकर आधुनिककालीन ब्रजभाषाके शिल्पी जगन्नाथदास 'रत्नाकर' तक अनेक कवि कृष्णकाव्यपर पूर्ण अधिकार और आत्मीयताके साथ लिखते रहे हैं। छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद तथा आजकी 'नयी कविता'के युगमें भी ब्रजभाषाके कृष्णकाव्यकी परम्परा समाप्त नहीं हुई है। उसका चमत्कार ऐसा विलक्षण है कि अति आधुनिक प्रवृत्तियोंसे प्रभावित कलाकार भी उसपर रीझे बिना नहीं रहते।

कृष्णकाव्य सोलहवीं शताब्दीसे आज बीसवीं शताब्दी-तक ब्रजभाषाको काव्य-भाषाके रूपमें निखारता आया है। ब्रजभाषाको उसीके द्वारा देशव्यापी मान्यता प्राप्त हुई और गुजरातसे बंगालतक उसका प्रचार हुआ। उसीके प्रभावसे बंगालमें काव्यकी एक नवीन शैली और प्रवृत्ति 'ब्रजबूलि' (दे०) नामसे विकसित हो गयी। परन्तु कृष्ण-काव्य आधुनिक काव्य-भाषा खड़ीबोलीमें भी रचा गया है, अतः यह कहा जा सकता है कि कृष्णकाव्यसे ब्रजभाषाको गौरव मिला है, न कि ब्रजभाषासे कृष्णकाव्यको। खड़ी बोलीके कृष्णकाव्यमें, जिसके प्रमुख प्रणेता अयोध्यासिंह उपाध्याय और मैथिलीशरण गुप्त हैं, आधुनिक सुधारवाद, देशभक्ति, विश्व-मैत्री आदि भावनाओंको भी सम्मिलित किया गया है। आधुनिक कालमें जो भी मध्यकालीन अवशेष हैं, उनमें स्वाभाविक है कि अधिकांश कृष्णकाव्य ही है। वस्तुतः आधुनिककालीन कृष्णकाव्य, चाहे वह भक्ति-प्रेरित हो या रीति-प्रेरित अथवा देश-भक्ति और सुधारवादसे ही प्रेरित क्यों न हो, मध्यकालीन अवशिष्ट ही कहा जा सकता है। —ब्र० व०

कृष्ण-भक्ति शाखा–हिन्दी साहित्यके इतिहासके **पूर्व-मध्यकाल** (दे०)को अध्ययनकी सुविधाके लिए भक्तिके सम्प्रदायगत अन्तरों और उसीके परिणामस्वरूप काव्य-विषयोंके आधारपर रामचन्द्र शुक्लने चार प्रमुख शाखाओंमें विभाजित किया था। यह विभाजन स्वाभाविक और स्पष्ट होनेके कारण सर्वस्वीकृत हो गया है। पूर्व-मध्यकाल काव्यकी प्रमुख प्रवृत्तिके आधारपर **भक्तिकाल** (दे०) कहा जाता है। यह भक्ति मोटे तौरपर निर्गुण और सगुण दो पृथक् धाराओंमें विभक्त की जाती है। सगुण-धाराका अध्ययन पुनः रामभक्ति शाखा और कृष्णभक्ति शाखामें विभाजित करके किया जाता है। जैसा कि **रामकाव्य** (दे०) और **कृष्णकाव्य** (दे०)की प्रवृत्तियोंके साधारण परिचयसे ही स्पष्ट हो जाता है, इन शाखाओंमें केवल विषय-वस्तुका ही अन्तर नहीं है, दृष्टिकोण और प्रवृत्तियोंका भी स्पष्ट अन्तर है। कृष्ण-भक्ति शाखासे कवि परम-सत्यको सौन्दर्य और आनन्दके रूपमें मूर्तिमान् करते हैं और उसी निःशेष परिपूर्णतामें शिव और सत्यको अन्तर्भुक्त मानते हैं। वे मानसी और रागानुगा भक्तिके समर्थक हैं। बाह्य आचरण, मर्यादा आदिको वे तुच्छ मानते हैं। फलस्वरूप उनके काव्यमें भावात्मकता और रसात्मकता कहीं अधिक है। काव्यके कलात्मक सौन्दर्यके लिए भी उसमें कहीं अधिक उर्वर क्षेत्र है। यही कारण है कि कृष्ण-भक्ति शाखाका काव्य ही अधिक सम्पन्न और समृद्ध हुआ, उसीकी परम्परा आगे चली और आधुनिक युगतक पर्याप्त धूमधामसे जीवित है। उसीकी सहज परिणति काव्यके उस रूपमें हो सकी, जिसे बहुत अंशमें इहलौकिक (सेक्यूलर) कह सकते हैं। कृष्ण-भक्ति शाखाका काव्य आगे चलकर कृष्ण-काव्य होकर रह गया। भक्ति-भावना बहुत कुछ दब गयी या गौण हो गयी। भक्ति और काव्यकी सीमाओंको इतना निकटसे मिलाकर बहुत कुछ समान रूप कर सकनेकी क्षमता कृष्ण-भक्ति शाखाके काव्यमें ही है। वह हिन्दी-साहित्यका एक प्रधान अंग है। —ब्र० व०

कृष्णाभिसारिका–दे० 'अभिसारिका', नायिका।

केलि–दे० 'स्वभावज अलंकार', सत्रहवाँ।

कैतवापह्नुति–दे० 'अपह्नुति', छठा भेद।

कैलास–'कैलास'का प्रयोग जायसीने 'स्वर्ग'के अर्थमें किया है। 'पद्मावत'में योगियों और नाथपन्थियोंकी साधनाका प्रत्यक्ष प्रभाव दीख पड़ता है। उनकी साधनामें शिवका विशिष्ट स्थान है और शिवका स्थान कैलास है, इसीलिए सम्भवतः जायसीने 'कैलास'का प्रयोग स्वर्गके अर्थमें किया है (विस्तारके लिए दे०—'हठयोग')। —रा० पू० ति०

कैलास—(१) कैलास पर्वत जहाँ भगवान् शिव अपनी प्रिया पार्वतीके साथ रहते हैं काँगड़ीसे आगे उत्तरकी ओर स्थित है और मानसरोवरके उत्तर-पश्चिममें काफी ऊँचाई तक इसकी हिमाच्छादित चोटियाँ उठती चली गयी हैं। पुराणों, तन्त्रों तथा सम्पूर्ण भारतीय धार्मिक साहित्यमें कैलास पर्वतका बहुत अधिक महत्त्व स्वीकार किया गया है। 'स्कन्दपुराण'में तो यहाँ तक कहा गया है कि "वह व्यक्ति जो हिमाचलको देख भी नहीं सकता, केवल उसका स्मरण या ध्यान करता रहता है, काशीमें विधि सहित सम्पूर्ण पूजार्चा करने वालेसे भी महान् है"। 'महानिर्वाण तन्त्र'के प्रथम उल्लासके दो पृष्ठोंमें कैलासका बड़ा ही चित्रात्मक वर्णन किया गया है।

(२) तान्त्रिक साधकोंका विश्वास है कि जो कुछ ब्रह्माण्डमें है, वह सब पिण्डमें भी है। उसकी कल्पनाके अनुसार शिव और कैलास भी इस पिण्डमें ही वर्तमान है। 'ललिता सहस्रनाम'के १७ वें श्लोककी टीका करते हुए भास्कराचार्यने 'त्रिपुरासार'से एक अंश उद्धृत किया है, जिसमें कहा गया है कि "कुलतत्त्वमें पारंगत साधकके लिये शिवकी प्राप्तिके निमित्तसे हिमालयस्थ कैलासपर जानेकी आवश्यकता नहीं, उनका कैलास सहस्रदल कमलमें ही स्थित है और यह सहस्रार कमल प्रत्येक व्यक्तिके पिण्डमें प्राप्य है। बस यही जाननेकी देर है कि वहाँ तक पहुँचा कैसे जाय। षट्चक्रों-को क्रमशः पार करती हुई उद्बुद्ध कुण्डलिनी शक्ति सबसे ऊपर ब्रह्माण्डमें स्थित सहस्रार नामक सातवें चक्रमें परम शिवसे मिलती है। परमशिवका निवास होनेके कारण

क्रियात्मक आलोचनका मूल आधार है। कलाकृतिके आरम्भसे लेकर उसकी पूर्णतातक कलाकारको जो अनेकानेक अनुभव हुए हैं, जिन अनुभवोंके आधारपर उसकी कलाकी स्थिति, विकास और पूर्णता निर्भर है, उन सब अनुभवोंका क्रमशः पुनर्निर्माण करना ही इस आलोचनाका लक्ष्य है। इस आलोचनाकी सफलताके लिए आलोचकमें निरीक्षण, मनन, प्रेरणा, अनुभूति तथा अभिव्यक्ति, ये पाँच बातें आवश्यक मानी गयी हैं।

इस प्रकार इस आलोचना-प्रकारने अरस्तू द्वारा निर्धारित काव्य-समीक्षाके सिद्धान्तोंकी उपेक्षा करनेके साथ-साथ नाटक तथा काव्य आदि पृथक् रूढिवादी वर्गीकरणको भी महत्त्वहीन घोषित कर दिया। इस प्रणालीने न तो साहित्य-निर्माणमें काव्यात्मक विषयोंको ही मान्यता दी और न अलंकार-प्रयोग या नैतिकताको ही उपयोगी स्वीकार किया। इतना होते हुए भी इस प्रणालीमें कुछ त्रुटियाँ अवश्य रह गयी। किसी विशेष नियमावलीके अभावमें रुचि-वैभिन्य या व्यक्तिगत क्षमता-अक्षमताके कारण कविके मनके साथ आलोचकके मनकी अभिन्नताकी सिद्धि एक कठिन कार्य जान पडता है। साथ ही विभिन्न कालो और परिस्थितियोंमें प्राचीन तथा नवीन साहित्य या कलाकृतिके मूल्यांकनकी समान-सिद्धि भी सम्भव नहीं है। इसी प्रकार सौन्दर्यके अनेक स्तर तथा वर्ग हो सकते हैं, ऐसी अवस्थामें किसी कृतिकी श्रेष्ठता अंकित करना भी असम्भव हो जायगा। सामंजस्य कभी किसी कृतिकी श्रेष्ठताका घातक नहीं हो सकता, क्योंकि सामंजस्यका निर्वाह करने पर भी कवियोंकी कोटियाँ बनी रहती है। —आ० प्र० दी०

क्रिया-दोष–दे० 'शब्द-दोष', बीसवाँ 'वाक्य-दोष'।

क्रियाविदग्धा–दे० 'विदग्धा', नायिका।

क्रियावैचित्र्यवक्रता–दे० 'पदपूर्वार्धवक्रता', छठा प्रकार।

क्रोध–रौद्र रसका स्थायी भाव क्रोध है। 'साहित्यदर्पण'-में इसका लक्षण है—"प्रतिकूलेषु तैक्ष्ण्यस्यावबोधः क्रोध इष्यते" (३ : १७७), अर्थात् शत्रु इत्यादि प्रतिकूल विषयोंमें तीक्ष्णताका उद्बोध क्रोध कहलाता है। रामदहिन मिश्रका लक्षण अधिक स्पष्ट है, 'असाधारण अपराध, विवाद, उत्तेजनापूर्ण अपमान आदिसे उत्पन्न हुए मनोविकारको क्रोध कहते हैं' (काव्यदर्पण, पृ० ९५)। पण्डितराजने क्रोधकी अन्य संज्ञा 'जलन' कही है। यह स्मरणीय है कि यदि यह जलन किसी साधारण अपराधसे उत्पन्न हुई हो, तो वह कठोर वचन बोलने तथा मौनावलम्बन इत्यादिके रूपमें प्रकट होती है और तब वह 'अमर्ष' नामक व्यभिचारी कहलायेगी, क्रोध नहीं। क्रोध प्रबल, उत्कट तथा 'शत्रु-विनाश आदिका कारण' होता है। हृदयके प्रिय और अनुकूल भावोंपर आघात होनेसे भी क्रोधका प्रादुर्भाव होता है (हरिऔध)।

भृकुटिभंग, ओठ चबाना, ताल ठोंकना, डाँटना, अपने पिछले कामोंकी बड़ाई करना, शस्त्र घुमाना, उग्रता, आवेग, रोमांच, स्वेद, दाँत निकालना, नेत्रोंका लाल हो जाना इत्यादि क्रोध 'स्थायी'के व्यंजक अनुभाव हैं। दाँत निकालने, स्वेद आदि अनुभावोंके सम्बन्धमें विकासवादियोंकी व्याख्या मनोरंजक है। उनका कथन है कि सभ्यताके आविर्भावके पूर्व जब विशेष अस्त्र-शस्त्रादि नहीं बने थे, शत्रुको देखकर लोग उसे क्रोधमें आकर काट खानेको दौड जाते थे। अब सभ्य हो जानेपर शत्रुके प्रति यह दौड़कर काटनेवाला आचरण समाप्त हो गया है, किन्तु दौड़नेकी क्रियाके साथ सहचार करनेवाले तत्त्व दाँत निकालना, दाँत पीसना, नथुनोंका फुला लेना, स्वेद इत्यादि अब तक बने हुए हैं और क्रोधकी व्यंजनामें सहायक होते हैं। लेकिन जैसा गुलाबरायने कहा है, शृंगारमें पसीना आनेकी व्याख्या विकासवादी क्योंकर करेंगे? यह भी रोचक प्रसंग होगा।

मद, उग्रता, अमर्ष, स्मृति, चंचलता, असूया, आवेग इत्यादि चित्तवृत्तियाँ क्रोध 'स्थायी'के साथ सहचार करनेवाले व्यभिचारी भाव है। उदाहरण—"उठ वीरोंकी भाव रागिनी, दलितोंके दलकी चिनगारी। युग-मर्दित यौवनकी ज्वाला, जाग-जाग री क्रान्तिकुमारी" (दिनकर)। यहाँ कविकी ललकारमें 'क्रोध' भावकी व्यंजना हुई। स्थायीका प्रस्फुटन नहीं हुआ है, क्योंकि वह तो रौद्र रसमें ही सम्भव है। —र० ति०

क्लिष्ट–दे० 'शब्द-दोष', बारहवाँ 'पद-दोष'।

क्लेश–योगदर्शनमें समाधिको बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। इस दर्शनके मतसे योगका अर्थ ही होता है 'समाधि', क्योंकि चित्तवृत्तिके निरोधसे समाधि सम्पन्न होती है और 'चित्तवृत्तिनिरोधको ही योग' कहा गया है (यो० सू० १.२)। इस समाधि अर्थात् योगकी सिद्धि-प्राप्ति तथा क्लेशोंको दूर करनेके लिए (यो० सू० २,२) क्रिया-योगको अनिवार्य बताया गया है। योग दर्शन (२,३)के अनुसार "अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पंच क्लेशाः"—अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश—ये ही पाँच क्लेश है। भाष्यकार व्यासने इन्हें 'विपर्यय' कहा है और इनके अन्य पाँच नाम बताये हैं—तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र (यो० सू० १, ८का भाष्य)। इन क्लेशोंका साधारण लक्षण है कष्टदायकता। परिणामतः इनके रहते आत्मस्वरूपका दर्शन नहीं हो सकता। इनमें प्रथम (और सभी क्लेशोंका मूल कारण) **अविद्या** है, जो प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार नामक चार रूपोंमें प्रकट होती है। पातंजल 'योग दर्शन' (सू० २,५)के अनुसार "अनित्य, अशुचि, दुःख तथा अनात्म विषयपर क्रमशः नित्य, शुचि, सुख और आत्म स्वरूपताकी ख्याति 'अविद्या' है।" अर्थात् अविद्या वह भ्रांतज्ञान है, जिसके द्वारा अनित्य नित्य मालूम पडता है। अभिनिवेश नामक क्लेशमें यही भाव प्रधान होता है। अशुचिको शुचि समझना भी अविद्या है, जैसे अनेक अपवित्रताओं और मलोंके आश्रय शरीरको पवित्र समझना। पण्डित जन "स्थान, बीज, उपष्टम्भ, निस्यन्द, निधन और आधेयशौचत्वके कारण शरीरको अशुचि मानते हैं, लेकिन जो अविद्याग्रस्त हैं ऐसा नहीं मानते"। राग नामक क्लेशमें इसका प्राधान्य होता है। जो दुःखदायक है, उसको सुखदायक समझना भी अविद्या है। इस प्रकार एक ओर जहाँ अविद्याको पाँच क्लेशोंमें एक क्लेश माना गया है, वहीं इसे सभी क्लेशोंका मूल भी कहा गया

है। नित्यता, शुचिता, सुख और आत्म नामक चार भ्रमोंका आश्रय लेकर रहनेके कारण इस अविद्याको चतुष्पदा कहा गया है। संतोंने अविद्या (=माया)को बहुधा गाय कहा है वह इन्ही चार पदोंको ध्यानमें रखकर।

दूसरा क्लेश **अस्मिता** है। अस्मिता—अर्थात्, अहंकार-बुद्धि और आत्मा को एकही मान लेना। 'मैं' और 'मेरा'-पनकी अनुभूति ही अस्मिता है। तीसरा क्लेश **राग** है। पतंजलिके मतसे 'सुखानुशयी रागः' (यो० सू० ७), अर्थात् सुख और उसके साधनोंके प्रति खिंचाव, तृष्णा या लोभ ही 'राग' है। किसीके प्रति राग होनेपर मन विवश होकर अनायास ही उसकी ओर खिंच जाता है और यों क्लेशका कारण बनता है। चौथा क्लेश **द्वेष** है। पतंजलिने इसे 'दुखानुशयी' कहा है (यो० सू० ८)। दुःख या दुःख-जनक वृत्तियोंके प्रति जिघांसा या क्रोधकी अनुभूति होती है, वही द्वेष है। क्रोध, क्षोभ, जिघांसा और प्रतिघातकी भावना तभी जगती है, जब हम किसी व्यक्ति या वस्तुको किसी अनुचित या अननुकूल कार्यका कर्त्ता मान लेते है। लेकिन यह मान्यता अविद्याजन्य है। वस्तुतः आत्मा अकर्त्ता है, अतः द्वेषके वश होना अकारण क्लेशको आमंत्रित करना है। **अभिनिवेश** पाँचवाँ क्लेश है। अभिनिवेशका अर्थ है—"जो सहज या स्वाभाविक क्लेश अविद्वान् और विद्वान् सभीको अनुभूत होता है, वही अभिनिवेश है", (पतंजलि योग, २ : ९)। अभिनिवेश, जिजीविषाका दूसरा नाम है। प्रत्येक विद्वान् अविद्वान्की यह चिरपोषित अभिलाषा रहती है कि उसका नाश न हो, वह सदैव जीवित रहे। यक्ष द्वारा पाण्डवोंसे पूछे गये चार सवालोंमें एक सवाल यह भी था कि "इस दुनियाका सबसे बडा आश्चर्य क्या है?" और युधिष्ठिरने जवाब दिया था, "नित्य प्राणी मरते जा रहे हैं, पर जो बचे है, वे सदैव जीवित रहना चाहते है। इससे बडा आश्चर्य और क्या होगा"? अभिनिवेश यही आश्चर्य है और अनन्त कष्टों तथा पीडाओंको उत्पन्न करता रहता है। इसी जिजीविषाके वशीभूत होकर आदमी न्याय-अन्याय, कर्म-कुकर्म, बुरा-भला, नीच-ऊँचका विचार नही कर पाता और अपनेको नित्य नये क्लेशोंमें बाँधता जाता है। योगशास्त्रमें इन क्लेशोंका क्षय आवश्यक बताया गया है। जब तक इनका शमन नही कर लिया जाता, कैवल्यकी उपलब्धि कठिन है। क्रिया योगकी सहायतासे योगी इन क्लेशोंको क्षीण करता है और अन्तमें इनका नाश करके परमार्थको सिद्ध कर लेता है। —रा० सिं०

क्लैसिसिज्म—'क्लैसिसिज्म'का अर्थ है सर्वश्रेष्ठ, अद्वितीय, गम्भीरतम आदि। अतः 'क्लासिकल'का अर्थ हुआ सर्वश्रेष्ठ शाश्वत, उच्च कोटिकी वस्तु।

वस्तुतः इस शब्दका प्रयोग यूनान और रोमके साहित्य-के लिए हुआ। यूरोपमें १५वीं, १६वीं शताब्दीमें साहि-त्यिकोंकी रचनाकी कसौटीके लिए ग्रीक और रोमीय साहित्यको आदर्श माना गया। इसी तरह १८वीं शतीमें इंग्लैण्डके साहित्यिकोंके आदर्श थे होमर, वर्जिल, होरेस तथा अरस्तू। इस युगको 'नव्य शास्त्रवादी' कहा गया।

अरस्तूने यह देखा कि कलाकृतियोंमें विभिन्नताओके बावजूद एक ही सत्य है। उन सबकी महनीयताका एक ही सत्य है—वह सत्य अनेकत्वमें एकत्व है। अतएव उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि समस्त कलाकृतियोंमें एकत्व होनेका कारण उनका उद्देश्य है। तात्पर्य यह कि उद्देश्यकी एकता ही कलाकृतियोंमे एकत्व स्थापित करती है। इसी दृष्टिकोणसे रचनामे बाह्य रूप-सौष्ठव प्रधान हो उठता है और आलोचक उसकी खोज-बीन करता है। इसी विचारधाराको 'क्लासिकल' विचारधारा कहते हैं।

सबसे पहले हमने एक प्रश्न उठाया कि होमर आजसे हजार-दो हजार साल पहले रोम तथा एथेन्समें पढ़े जाते थे और वे आज भी लन्दन और पेरिसमें पढ़े जाते है। अनेक विभिन्नताओं और परिवर्तनोंके होते हुए उनका महत्त्व अक्षुण्ण है, इसका क्या कारण है? साहित्यिकोंने यह अनु-भव किया कि जो साहित्य कालकी कसौटीपर खरा उतरता है, वही साहित्य उच्च, श्रेष्ठ अथवा क्लासिकल कहलायगा। इस प्रकार क्लासिकल साहित्य जीवनके उन तत्त्वोंकी चेतना-का वहन करता है, जिनकी उपयोगिता या सार्थकता प्रत्येक युग तथा देशमें अक्षुण्ण रहती है। अतएव, आलोचक साहित्यके इसी स्वरूपकी परीक्षा करता है, क्योंकि क्लासि-कल साहित्यके अध्ययनका अर्थ हुआ रसात्मक संवेदनका आकलन, जो वस्तुतः मनुष्य-चेतनाके अंग और प्रतीक है। इस प्रकार इस पद्धतिका आलोचक साहित्यकी श्रेष्ठता, उच्चताके स्वरूप तथा उसके हेतुओंका विश्लेषण-विवेचन करता है। इस पद्धतिके आलोचकका विश्वास है कि कुछ साहित्य शाश्वत, अविचल अथवा क्लासिकल है और कुछ गत्यात्मक, स्वच्छन्द या रोमांसिक हैं।

संस्कृत आचार्योंके चिन्तनकी प्रणाली इनसे सर्वथा भिन्न थी। उन लोगोंने इस दृष्टिसे न तो साहित्यका अध्य-यन किया, न विवेचन। समस्त संस्कृत साहित्यशास्त्रका केन्द्रविन्दु था शरीर और आत्मा, रस, ध्वनि, वक्रोक्ति, रीति और अलंकार। वैसे कुछ विद्वानोंने संस्कृत साहित्यके ह्रासोन्मुखी कालको लक्ष्य करते हुए अतीतके साहित्यको श्रेष्ठ और शाश्वत माना। इस दृष्टिसे संस्कृत साहित्यके इतिहासमें इस सिद्धान्तको घटित किया जा सकता है, किन्तु वह कहाँतक उचित होगा यह विवादास्पद है।

हिन्दीमें निश्चय ही इस पद्धतिका स्वरूप देखा जा सकता है, परन्तु उस रूपमें नहीं, जिस रूपमें अंग्रेजी या यूरोपीय साहित्यमें। हिन्दीका रीतियुग अतीतके साहित्य-को इसी रूपमें ग्रहण करता है। इस युगके आचार्योंके प्रेरणा-स्रोत थे संस्कृतके ह्रासोन्मुखी साहित्यिक आचार्य। इनकी दृष्टि उन्हींपर टिकी थी और इन लोगोने जो कुछ भी लिखा, वह उन्हींको आदर्श मानकर। कुछ लोगोंकी रायमें रामचन्द्र शुक्ल भी शाश्वतवादी हैं, क्योंकि सूर, तुलसी और जायसीको उन्होंने श्रेष्ठ और क्लासिकल माना। उन्होने इन्हीं श्रेष्ठ कवियोंके आधारपर श्रेष्ठ साहित्यके कुछ मापदण्ड भी बताये। फिर भी इन्हें रसवादी कहना अधिक उपयुक्त होगा। आधुनिक आलोचकोंमें विश्वनाथ मिश्र, कृष्णशंकर शुक्ल, गुलाबराय, देवराजके नाम लिये जा सकते है। साहित्यके निश्चित, शास्त्रीय सिद्धान्तोंमें इनका अटल विश्वास है। —रा० कृ० स०

काँरी—जिसका विवाह न हुआ हो। सन्तोंने मायाको सदा

क्वारी शब्दमे सम्बोधित किया है :—"तुम बूझहु पंडित कवन नारि । काहु न वियाहल है कुमारि" (कबीरबीजक, ३४७) । —उ० शं० शा०

खंडकथा—दे० 'कथाकाव्य', 'खण्डकाव्य' ।

खंडकाव्य—यह प्रबन्धकाव्यका ही एक विशेष रूप है। संस्कृतके पूर्ववर्ती आलंकारिकोंने प्रबन्धकाव्य शब्दका प्रयोग अधिक न करके प्रायः सर्गबन्ध या सर्गबन्धकाव्य शब्दका ही प्रयोग किया है, क्योकि प्रबन्धके भीतर वे सर्गबन्धकाव्य-के अतिरिक्त रूपक, कथा, आख्यायिका आदि सभी प्रबन्धात्मक साहित्यरूपोंको ग्रहण करते थे। भामह और दण्डीने सर्गबन्धकाव्यका अर्थ विशेष रूपसे महाकाव्य ही लिया है और खण्डकाव्यकी चर्चा ही नही की है (दे० काव्यालंकार, १ : १९ : २१ और काव्यादर्श, १ : १३ : १४) । रुद्रटने सभी प्रबन्धो (प्रबन्धकाव्य, कथा, आख्यायिका आदि)को महत् और लघु, इन दो प्रकारोंमें विभक्त कर उनका अन्तर इस प्रकार बताया है—"तत्र महान्तो येषु च वितत्स्तेष्वभिधीयते चतुर्वर्गः सर्वे रसाः क्रियन्ते काव्यस्थानानि सर्वाणि । ते लघवो विज्ञेया येष्वन्यतमो भवेच्चतुर्वर्गात् असमग्रानेकरसा ये च समग्रैकरसयुक्ताः' (काव्यालंकार, ८ : ५ : ६) । इस तरह सर्वप्रथम रुद्रटने प्रबन्धकाव्यके दो रूपों—महान् काव्य (महाकाव्य) और लघु (खण्डकाव्य)पर मौलिक ढंगसे विचार किया है। आनन्दवर्द्धनने (ध्वन्यालोक, ३ : ७) काव्यभेदोका विवरण देते हुए प्रबन्धकाव्यके लिए सर्गबन्ध शब्दका ही प्रयोग किया है। यद्यपि कथाके भीतर उन्होने खण्डकथा, परिकथा और सकलकथाका उल्लेख किया है, पर सर्गबन्धकाव्यके भीतर महाकाव्य, खण्डकाव्य आदिका रूप-विभाजन नहीं किया है। उसी तरह हेमचन्द्रने काव्यानुशासनमें श्रव्यकाव्यमें कथा, आख्यायिका और चम्पूके साथ केवल महाकाव्यकी गणना की है। सम्भवतः उन्होंने प्रबन्धकाव्यके अर्थमें ही महाकाव्य शब्दका प्रयोग किया है और उसमें खण्डकाव्यका उल्लेख नही किया है। विश्वनाथ कविराजने साहित्यदर्पणमें महाकाव्यका लक्षण बतानेके बाद खण्डकाव्यका उल्लेख इस प्रकार किया है—"भाषाविभाषानियमात्काव्यं सर्गसमुत्थितम् । एकार्थप्रवणैः पद्यैः सन्धिसामग्र्यवर्जितम् । खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च ।' (सा० द०, ६ : ३२८-३२९) । इस परिभाषाके अनुसार किसी भाषा या उपभाषामें सर्गबद्ध एवं एक कथाका निरूपक पद्यग्रन्थ जिसमें सभी सन्धियाँ न हों, 'काव्य' कहलाता है और काव्यके एक अंशका अनुसरण करनेवाला खण्डकाव्य होता है। विश्वनाथकी इस परिभाषाका अनुसरण करके हिन्दीमें विश्वनाथप्रसाद मिश्रने 'वाङ्मयविमर्श'में प्रबन्धकाव्यके तीन भेद किये है :—महाकाव्य, एकार्थकाव्य और खण्डकाव्य । उनके अनुसार महाकाव्य और खण्डकाव्यके बीचकी कड़ी एकार्थकाव्य है, जिसे विश्वनाथने केवल 'काव्य' कहा है। उन्होने खण्डकाव्यकी परिभाषा यह बतायी है, "महाकाव्यके ही ढंगपर जिस काव्यकी रचना होती है, पर जिसमे पूर्ण जीवन न ग्रहण करके खण्ड जीवन ही ग्रहण किया जाता है, उसे खण्डकाव्य कहते है। यह खण्ड जीवन इस प्रकार व्यक्त किया जाता है, जिसमे वह प्रस्तुत रचनाके रूपमें स्वतः पूर्ण प्रतीत होता है" (वाङ्मयविमर्श, द्वितीय संस्करण पृ० ३०) । एकार्थकाव्य और खण्डकाव्यका अन्तर उन्होंने यह बताया है, "खण्डकाव्यका विस्तार भी थोड़ा होता है। एकार्थ काव्यकी भाँति पूर्ण जीवनका कोई उद्दिष्ट पक्ष उसमे नहीं होता" (वही) ।

सामान्यतया ८ या ८ से अधिक सर्गोंवाले प्रबन्धकाव्योको महाकाव्य और ८ से कम सर्गोंवाले काव्योंको खण्डकाव्य माना जाता है, परन्तु यह वैज्ञानिक विभाजन नहीं है। महाकाव्य वही प्रबन्धकाव्य माना जायगा, जिसमे महदुद्देश्य, महच्चरित्र, समग्र युगजीवनका चित्रण, गरिमामयी और उदात्त शैली आदि महाकाव्यके सभी गुण पाये जायं (दे०—'महाकाव्य') । जिन प्रबन्धकाव्योंमें महाकाव्यके उपर्युक्त लक्षण नहीं मिलते, वे चाहे आकारमे बड़े हों या छोटे, चाहे आठसे कम सर्गवाले हों या अधिक सर्गवाले, महाकाव्य नहीं माने जायँगे। ऐसे प्रबन्धकाव्य दो प्रकारके होते हैं—एक तो वे, जिनमें किसी व्यक्तिके सम्पूर्ण जीवनका चित्रण तो होता है, पर समग्र युगजीवनका चित्रण नहीं होता और न महाकाव्यके अन्य सभी लक्षण पाये जाते है। दूसरे वे, जिनमें जीवनका खण्ड दृश्य चित्रित होता है और जो कथावस्तुकी लघुता तथा उद्देश्यकी सीमाओंके कारण बृहदाकार तथा महान् नहीं बन पाते। इनमेंसे प्रथम प्रकारके प्रबन्धकाव्यको एकार्थकाव्य और दूसरेको खण्डकाव्य कहना उचित ही है। इस प्रकारके खण्डकाव्योंको ही रुद्रटने लघुकाव्य कहा है। लघुकाव्य या खण्डकाव्यके सम्बन्धमे रुद्रटका यह कथन सर्वथा उचित है कि उसमे चतुर्वर्ग फलमेंसे किसी एक फलको उद्देश्य रूपमें अपनाया जाता है और अनेक रस असमग्र रूपमे पाये जाते है अथवा कोई एक ही रस समग्र रूपमें निष्पन्न होता है। आधुनिक काव्यमें रस-दृष्टि प्रधान नहीं रह गयी है, चरित्रांकनको अधिक महत्त्व दिया जाने लगा है और चतुर्वर्ग फलवाला सिद्धान्त भी आज मान्य नहीं रह गया है। अतः रुद्रटकी परिभाषा आजके खण्डकाव्यपर पूर्णतया नहीं घटित हो सकती। विश्वनाथ कविराजकी यह परिभाषा कि खण्डकाव्य काव्यके एक अंशका अनुसरण करनेवाला होता है, अधिक स्पष्ट नहीं है क्योंकि कभी-कभी किसी चरित्रके खण्ड जीवनका चित्रण करनेवाले काव्य भी महाकाव्य होते है। जिस जीवन-खण्डको चित्रित किया जाता है यदि उसमे महत्ता है और उस काव्यकी शैली भी उदात्त और गरिमामयी है, तो उस काव्यको महाकाव्यके गुणोंसे युक्त मानना चाहिये। वस्तुतः महाकाव्यात्मक उपन्यास (एपिक नॉवेल), सामान्य उपन्यास और कहानीमे जो अन्तर है, वही अन्तर महाकाव्य, एकार्थकाव्य और खण्डकाव्यमे है। सीमित दृष्टिपथसे जीवनका जितना दृश्य दिखाई पड़ता है, उसीका चित्रण कहानी और खण्डकाव्य दोनोमें होता है। ऐसे जीवन दृश्यमें महाकाव्य और महाकाव्यात्मक उपन्यास जैसी व्यापकता, ऊँचाई और गहराई नहीं होती और न उसमें एकार्थकाव्य तथा सामान्य उपन्यासकी तरहका फैलाव, उतार-चढाव और मोड़ ही होता है, किन्तु उसमें अन्विति और कसाव अधिक होता है। इसी कारण खण्डकाव्य और कहानीमें प्रासंगिक और

अवान्तर कथाएँ नहीं होतीं और न कथामें अनावश्यक स्फीति ही होती है। —शं० ना० सि०

संस्कृत काव्यशास्त्रमें खण्डकाव्यकी कोई परिभाषा नहीं मिलती। साहित्यदर्पणके 'एकदेशानुसारी काव्य खण्डकाव्य होता है' इस कथनके ही आधारपर आधुनिक लेखकोंने खण्डकाव्यके लक्षण देनेका प्रयत्न किया है। परन्तु इस विषयमें संस्कृत काव्यके उदाहरणोंसे भी कोई सहायता नहीं मिलती, क्योंकि संस्कृतमें महाकाव्यकी महनीयता और जीवन-व्यापिनी समग्रतासे रहित, किन्तु उसीकी भाँति सर्गबद्ध कथात्मकतासे समन्वित कोई ऐसे उदाहरण नहीं मिलते, जिन्हें नवीन परिभाषाके अनुसार खण्डकाव्य कहा जा सके और जो किसी अन्य काव्य-रूपमें अन्तर्भुक्त न माने गये हों। वस्तुस्थिति यह है कि संस्कृत साहित्यके देशी-विदेशी सभी समीक्षकों और इतिहास-लेखकोंने मेघदूत, घटकर्पर, चौरपचाशिका और मेघदूतके अनुकरणमें लिखे गये अनेकानेक **सन्देश-काव्यों**को, जिन्हें खण्डकाव्य कहा जा सकता है, गीतिकाव्यमें ही सम्मिलित किया है। वास्तवमें संस्कृत साहित्यके समीक्षक खण्डकाव्यों-को ही गीतिकाव्य कहते हैं। गीतिकाव्य संज्ञाका व्यवहार संस्कृत काव्यरूपोंके सम्बन्धमें नहीं हुआ है। यह बात अवश्य विचारणीय है कि संस्कृतका यह तथाकथित गीति-काव्य उसकी स्वीकृत परिभाषापर कहाँतक खरा उतरता है (दे० 'गीतिकाव्य')।

प्राकृत और अपभ्रंशमें सैकड़ों ऐसे कथात्मक काव्य-ग्रन्थ हैं, जो महाकाव्य नहीं कहे जा सकते, अतः उनके लिए प्रबन्धकाव्य या कथा-प्रबन्धकाव्यकी सामान्य परिभाषाका प्रयोग किया गया है। इनमें अनेक चरित-काव्य हैं, जिनका उद्देश्य किसी आदर्शकी शिक्षा देना अधिक है, काव्यगत आनन्द साधन-मात्र है। इन्हीं प्रबन्ध और चरित-काव्योंके अन्तर्गत कुछ उदाहरण खण्डकाव्यके भी प्राप्त हो सकते हैं।

आदि और मध्यकालीन हिन्दी-साहित्यमें भी छोटे-बड़े सैकड़ों कथात्मक काव्य मिलते हैं, जिनमेंसे खण्डकाव्यके उदाहरण संकलित किये जा सकते हैं। इनमेंसे यदि **रासो** नामक काव्य ग्रन्थोंको **वीरगीत** या **नृत्यगीत** या **लोक-गाथा** (बैलेड) मानकर अलग कर दिया जाय, तो 'पद्मावत' को छोड़कर समस्त प्रेमाख्यानक काव्य (दे०—'प्रेमाख्या-नक काव्य') तथा राजाश्रित कवियों द्वारा रचा गया समस्त प्रशस्तिकाव्य (दे०—'वीर काव्य') खण्डकाव्यकी परिभाषा में अन्तर्भुक्त हो सकता है। इनके अतिरिक्त वैष्णव भक्ति-भावनाकी प्रेरणासे लिखे गये कुछ कथा-प्रबन्धात्मक काव्य इसी कोटिमें आ सकते हैं। इनमें एक ओर कृष्ण-कथासे सम्बन्धित विशिष्ट लीलाएँ—कालिय-दमन, गोवर्धन-पूजा, रासलीला आदि तथा अन्य कथात्मक प्रसंग—सुदामा-चरित, रुक्मिणी-मंगल आदि हैं और दूसरी ओर राम-कथाके प्रसंगोंपर आधारित स्वयंवर, अश्वमेध आदि सम्बन्धित काव्यग्रन्थ हैं।

आधुनिककालीन हिन्दी साहित्यमें अनेक ऐसी रचनाएँ मिलती हैं, जो कथा-प्रबन्धके लक्षणोंसे पूर्णतया समन्वित होते हुए भी महाकाव्य नहीं कही जा सकतीं। इनकी रचनाकी प्रेरणा बहुत कुछ पाश्चात्य साहित्यसे मिली है और वे अंग्रेजीके पेस्टोरल (ग्रामकाव्य) इडिल और एकलोग् (प्रत्युत्तर काव्य) अथवा बैलेड (लोकगाथा) आदि काव्यरूपोंके अन्तर्गत रखी जा सकती हैं। परन्तु उनकी स्वतन्त्र सत्ताको अस्वीकार नहीं किया जा सकता और यदि उन्हें किसी सामान्य काव्यरूपकी परिभाषाके अन्तर्गत रखा जा सकता है, तो उसके लिए सबसे अधिक उपयुक्त परिभाषा खण्डकाव्य ही है।

उपलब्ध साहित्यको ध्यानमें रखते हुए खण्डकाव्यके जो आधुनिक लक्षण बताये गये हैं, उनमें अभावात्मक लक्षणोंकी ही प्रधानता है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जो महाकाव्यके लक्षणोंपर खरा नहीं उतरता, वह अनिवार्यतः खण्डकाव्य कहा जा सकता है। असफल महाकाव्य या लघु आकारके किसी एक घटना-प्रसंगपर आधारित लीलाकाव्य या चरितकाव्य मात्रको खण्डकाव्यकी संज्ञा दे देना समीचीन नहीं है। खण्डकाव्यकी स्वतन्त्र और निश्चयात्मक विशेषताओंका निरूपण सम्भव है। परन्तु इनके लिए इस नामसे अभिहित समस्त रचनाओंका विवेचन, विश्लेषण आवश्यक होगा। मोटे ढंगसे कहा जा सकता है कि खण्डकाव्य एक ऐसा पद्यबद्ध कथाकाव्य है, जिसके कथानकमें इस प्रकारकी एकात्मक अन्विति हो कि उसमें अप्रासंगिक कथाएँ सामान्यतया अन्तर्भुक्त न हो सकें, कथामें एकांगिता—साहित्यदर्पणके शब्दोंमें एकदेशी-यता हो तथा कथा-विन्यासमें क्रम—आरम्भ, विकास, चरमसीमा और निश्चित उद्देश्यमें परिणति हो। कथाकी एकांगिताके परिणाम स्वरूप खण्डकाव्यके आकारमें लघुता स्वाभाविक है और साथ ही उद्देश्यकी महाकाव्य जैसी महनीयता सम्भव नहीं है। कथाकी एकांगिताके ही फल-स्वरूप खण्डकाव्यमें गीतिके अनेक लक्षण स्वतः आ जाते हैं। खण्डकाव्यका प्रतिपाद्य चाहे कोई चरित्र, घटना-प्रसंग, परिस्थिति-विशेष या कोई सामयिक अथवा जीवन-दर्शन सम्बन्धी सत्य हो, कवि अपने व्यक्तित्वका उसके साथ अपेक्षाकृत अधिक घनिष्ठतापूर्वक तादात्म्य कर लेता है। अतः खण्डकाव्यके कविका दृष्टिकोण उतना व्यक्ति-निरपेक्ष और वस्तुपरक नहीं रहता, जितना महाकाव्यके लिए अपेक्षित है। कथा-विन्यासमें नाटकीयता खण्डकाव्यके आकर्षणको बढ़ा देती है। खण्डकाव्यमें वर्णन-विस्तार नहीं हो सकता। उसकी वस्तु भावात्मक अधिक होती है, अतः गीतिकाव्यकी भावप्रवणता और तीव्र अनुभूति उसमें जितनी अधिक होती है, उसका प्रभाव भी उतना ही अधिक होता है। इस प्रकार उसकी कथाका विकास बहुत कुछ भाव-विकासपर आधारित होना है। खण्डकाव्यका यही लक्षण उसे चरितकाव्य या साधारण प्रबन्धकाव्यसे भिन्न करता है। खण्टकाव्यका कथानक पौराणिक, ऐतिहासिक, कल्पित, प्रतीकात्मक—किसी भी प्रकारका हो सकता है। बाह्य रूपरचना सम्बन्धी सर्गबद्धताका नियम जिस प्रकार महाकाव्यकी रचनामें कठोरताके साथ पालन नहीं किया गया है, उसी प्रकार खण्डकाव्यके लिए भी यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी वस्तु भिन्न-भिन्न सर्गोंमें अनिवार्य रूप-से विभाजित होनी चाहिये। सर्गोंकी संख्या निर्धारित करना तो और भी अप्रासंगिक है। साधारणतया खण्ड-

काव्यमें छन्दोंकी विविधता नहीं होती, प्रायः सम्पूर्ण काव्य एक ही छन्दमें रचा जाता है। परन्तु इसके अनेक अपवाद भी हैं। बीच-बीचमें गीतोंका प्रयोग भी खण्डकाव्यकी एक विशेषता कही जा सकती है। आधुनिक कवियोंमें द्विवेदी-कालके कवियोंने सुन्दर खण्डकाव्योंकी रचना की है। मैथिलीशरण गुप्तके 'जयद्रथवध', 'पंचवटी', 'वन-वैभव', 'वक-संहार', 'सिद्धराज', 'कुणालगीत', और 'नहुष'; रामनरेश त्रिपाठीके 'पथिक', 'मिलन' और 'स्वप्न'; जगन्नाथदास 'रत्नाकर'का 'गंगावतरण'; सियारामशरण गुप्तके 'मौर्य-विजय', 'अनाथ', 'आत्मोत्सर्ग' और 'उन्मुक्त'का खण्डकाव्यके अच्छे उदाहरणोंमें उल्लेख किया जा सकता है। कुछ छायावादी कवियोंने भी खण्डकाव्यकी रचना की है। जयशंकर 'प्रसाद'के 'प्रेमपथिक', पन्तके 'ग्रन्थि', निरालाके 'तुलसीदास' और रामकुमार वर्माके 'चित्तौरकी चिता'में अन्तर्मुखी आत्मनिष्ठ दृष्टिकोणकी प्रवृत्ति अधिक है। रामायण, महाभारत, पुराण और बौद्धसाहित्य तो खण्डकाव्योंके कथानकोंके सबसे अधिक उपजीव्य रहे ही हैं, मध्यकालीन भारतीय इतिहासकी वीरता और आत्मत्यागपूर्ण कथाओं तथा रोमांसिक प्रेम और आधुनिक देशभक्तिके भावोंको उद्बुद्ध करनेवाली कल्पित कथाओंको भी खण्डकाव्यका विषय बनाया गया है (दे०—'कथाकाव्य', प्रबन्धकाव्य, 'महाकाव्य')। —ब्र० व०

खंडित व्यक्तित्व (split personality)—सामान्य व्यक्तित्व अपने समस्त घटकोंका सामंजस्यपूर्ण समेकित रूप होता है और एक स्थायी इकाईकी भाँति व्यवहार करता है। विकारग्रस्त होनेपर उसके ये घटक असम्बद्ध या विकीर्ण हो जाते हैं, समेकन भंग हो जाता है। मनोवैज्ञानिक भाषामें इस दशाको खण्डित व्यक्तित्व कहते हैं। यह स्थिति प्रबल मानसिक संघर्षसे उत्पन्न होती है, जिसके कारण व्यक्तित्वके कुछ अंशोंपर चेतनाका अधिकार नहीं रह जाता। असंवद्ध अंश कोई विचार, भाव या प्रवृत्तियाँ हो सकती हैं। किसी सुपरिचित नाम या घटनाका भूल जाना असम्बद्ध विचारका उदाहरण है। इसी प्रकार संवेगको उत्पन्न कर सकनेवाली स्थितिके मध्य होते हुए भी व्यक्ति पहलेकी तरह उससे प्रभावित नहीं हो पाता। प्लांचेट द्वारा स्वसंचालित अथवा तथाकथित दिवंगत आत्माओंसे प्रेरित लेखन और त्राटकके द्वारा प्राप्त ज्ञान व्यक्तित्वके असम्बद्ध सरल घटकोंकी प्रक्रिया ही होती है। दिवंगत आत्माओंसे तथाकथित बातचीत करने और उनसे सन्देश प्राप्त करनेवाले 'माध्यमों'में व्यक्तित्वके असम्बद्ध अंशोंका संघटन अपेक्षाकृत अधिक घनीभूत होता है। ये अपने ही असम्बद्ध विचारोंको मृतककी वाणी मानकर स्वयं तथा दूसरोंको धोखा देते हैं।

असम्बद्ध विचारों, भावों और प्रेरणाओंकी संख्या कभी-कभी काफी प्रचुर हो जाती है और सुसंघटित होकर एक ही व्यक्तिमें एक दूसरे स्वतन्त्र व्यक्तित्वका रूप ले लेती है। यह दूसरा व्यक्तित्व पहलेके साथ-साथ भी रह सकता है अथवा वे एक दूसरेके बाद प्रकट होते रहते हैं। कभी-कभी एक ही व्यक्तिमें दोसे अधिक व्यक्तित्व भी उत्पन्न हो जाते हैं। अंग्रेजीके प्रसिद्ध लेखक रावर्ट लुई स्टीवेंसनकी प्रख्यात कृति 'डाक्टर जेकिल और मिस्टर हाइड' इस विषयका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।

साधारण जीवनमें भी खण्डित या असम्बद्ध व्यक्तित्वके पर्याप्त दृष्टान्त मिलते रहते हैं। हमारे आदर्शों और आचरणमें अन्तर इसी असम्बद्धताका द्योतक है। भीतरसे शाक्त, बाहरसे शैव और सभामें वैष्णव रूपोंको धारण करनेवाले प्राचीन कौलोंके प्रतिरूप आजकल भी मिलते हैं। मार्क्सवाद और अद्वैत वेदान्त अथवा ईसाई धर्ममें एक साथ विश्वास रखना, व्यक्तित्व, जीवन और व्यवसायकी नैतिकताओंको भिन्न समझना आदि इसी स्थितिके उदाहरण हैं। सम्भवतः सम्पूर्ण विश्व एक ऐसी ही नैतिक और आत्मिक असम्बद्धता या खण्डिततासे पीड़ित है। महाभारत-कालमें भी कुछ-कुछ ऐसी ही स्थिति थी। भीष्म, द्रोण और विदुर जैसे धर्मप्राण व्यक्ति पाण्डवोंके प्रति दुर्योधनके अन्यायोंका विरोध या उनसे विद्रोह नहीं कर पाते थे। —आ० रा० शा०

खंडिता (नायिका)—अवस्थानुसार नायिकाओंके विभाजनका एक भेद; विशेषके लिए दे०—'नायिका-भेद'। सर्वप्रथम भरत द्वारा उल्लिखित। भानुदत्तने कहा है कि जिसका प्रिय 'अन्योपभोगचिह्नितः प्रातरागच्छति', अर्थात् रात्रिमें अन्यत्र रमकर प्रातः परस्त्री-संसर्गके चिह्नोंसे युक्त आया हो। इस परिभाषामें मतिराम तथा पद्माकर आदिने 'दुखित होत' और जोड़ा है, अर्थात् इस स्थितिमें वह ईर्ष्यासे दुःखी भी होती है। मुग्धा खण्डिता पतिपर अपना क्षोभ प्रकट करनेमें भी संकुचित है—"बिन गुन माल गोपाल उर क्यों पहिरी परभात। चकित चित्त चुप ह्वै रही निरखि अनोखी बात" (पद्माकर : जगद्विनोद, १ : १५९)। मध्या खण्डिता अपना आक्रोश व्यंग्यसे व्यक्त करती है—"कोऊ करो कितेक यह तजो न टेव गुपाल। निसि औरनिके पग परो दिन औरनिके लाल" (मतिराम : रसराज, १२६)। प्रौढ़ा खण्डिताके निःसंकोच आदर-मानमें स्वतः एक व्यंग्य छिपा है—"पिय आवत अँगनैया उठिकै लीन। साथे चतुर तिरियवा बैठक दीन।' (रहीम : बरवै० : ४३)। परकीया खण्डिताको दुःख तथा आन्तरिक खेद है—"रावरे नेहको लाज तजी अरु गेहके काज सबै बिसराये। कोऊ कितेक उपाय करौ कहुँ होत है आपने पीउ पराये" (मतिराम : रसराज, १२९)। परन्तु यह खेद विरह-पीडाकी ही अभिव्यक्ति है—"जेहि लगि सजन सनेहिया छुटि घरबार। आपन हित परिवरवा सोच परार" (रहीम : बरवै०, ४५)। सामान्या खण्डिताके उदाहरणोंमें धनका उल्लेख अनिवार्यतः हुआ है—"मितवा ओठ कजरवा जावक भाल। लिहेसि काढि बरिअइया तकि मनिमाल" (रहीम : वही, ४६)। रीतिकाव्यमें खण्डिताके वर्णनोंमें वंचिता नायिकाओंकी मानसिक स्थितियोंका अंकन किया गया है। नायिकाके दुःख, ईर्ष्या, द्वेष, क्लेश, व्यथा तथा आकांक्षाका सुन्दर चित्रण हुआ है और साथ ही इसके अन्तर्गत उपालम्भकी व्यंग्यपूर्ण उक्तियोंका आलंकारिक वर्णन भी है। —र०

खड़ीबोली—(वर्नाक्यूलर हिन्दुस्तानी, जनपदीय हिन्दुस्तानी) भाषाशास्त्रकी दृष्टिसे 'खड़ीबोली' शब्दका प्रयोग दिल्ली-मेरठके समीपस्थ ग्राम-समुदायकी ग्रामीण बोलीके

लिए होता है। ग्रियर्सनने इसे 'वर्नाक्यूलर हिन्दुस्तानी' तथा सुनीतिकुमार चटर्जीने 'जनपदीय हिन्दुस्तानी' कहा है। भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे खडीबोली ही स्टैण्डर्ड हिन्दी, उर्दू तथा हिन्दुस्तानीकी मूलाधार बोली है। साहित्यिक सन्दर्भमें कभी-कभी अवधी, ब्रज आदि बोलियोंके साहित्यसे अलगाव करनेके लिए आधुनिक हिन्दी साहित्यको 'खडी-बोली' साहित्यसे अभिहित किया जाता है और इस प्रसंगमें खडीबोली शब्द 'स्टैण्डर्ड हिन्दी'का समानार्थक हो जाता है। प्रथमको हम 'खडीबोली' शब्दका विशिष्ट अर्थ और द्वितीयको सामान्य अर्थ कह सकते है।

किन्तु 'खडीबोली' शब्दके आरम्भिक अर्थ तथा नाम-करण और उसके रूप, अर्थ, प्रयोगके विकासके सम्बन्धमें विद्वानोंमें मतवैभिन्न्य दिखाई पडता है। खडीबोली नामकी व्याख्या भिन्न-भिन्न विद्वानोने भिन्न-भिन्न रूपसे की है। उन विद्वानोंकी विचार-धाराओंको निम्नलिखित वर्गोंमे बॉट सकते है—(१) कुछ विद्वान् 'खडीबोली' नामको ब्रजभाषा-सापेक्ष्य मानते है और यह प्रतिपादन करते है कि लल्लूजी-लाल (१८०३ ई०)से बहुत पूर्व यह नाम ब्रजभाषाकी मधुर मिठासकी तुलनामे उस बोलीको दिया गया था, जिससे कालान्तरमें स्टैण्डर्ड हिन्दी और उर्दूका विकास हुआ। ये विद्वान् 'खडी' शब्दसे कर्कशता, कटुता, खरापन, खडापन आदि अर्थ लेते है (द्रे० वंशीधर विद्यालंकार : उर्दू, भाग १४, पृ० ४७१, १९३४ तथा धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दीभाषाका इतिहास, तृतीय संस्करण, भूमिका पृ० ३४)। (२) कुछ लोग इसे उर्दू-सापेक्ष्य मानकर उसकी अपेक्षा इसे प्रकृत, 'शुद्ध', ग्रामीण ठेठबोली मानते है [तासी (१८३९-१८७० ई०) : हिस्ट्री द ला हिन्दुई एण्ड हिन्दुस्तानी, प्रथम संस्करण, भाग १, पृ० ३०७ तथा चन्द्रबली पाण्डे : खड़ीबोलीकी निरुक्ति, उर्दूका रहस्य]। (३) कुछ खडीका अर्थ 'सुस्थिर, सुप्रचलित, सुसंस्कृत,' परिष्कृत या परिपक्वसे मानते है (द्रे० टी० ग्रैहमबेली : द हिस्ट्री ऑव उर्दू लिटरेचर, पृ० ४, जे० आर० ए० १९३६, अक्टूबर, पृ० ७१)। (४) कुछ लोग उत्तरीभारतकी ओकारान्त ब्रज आदि बोलियोंको 'पडीबोली' और उसके विरोधमे इसे 'खडीबोली' मानते है (सुनीति-कुमार चटर्जी : ओ० डी० बी० एल०, पृ० ११ तथा भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ० १६५)। (५) जब कि कुछ लोग रेखता शैलीको 'पडी' और इसे 'खडी' मानते है।

वास्तवमें 'खडीबोली'में प्रयुक्त 'खडी' शब्द गुणबोधक विशेषण है और किसी भाषाके नामकरणमें गुण-अवगुण-प्रधान दृष्टिकोण अधिकांशतः अन्य भाषा-सापेक्ष्य होता है। संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश और उर्दू आदि इसी श्रेणीके नाम है, अतएव 'खडी' शब्द अन्य भाषा सापेक्ष्य अवश्य है, किन्तु इसका मूल खडी है अथवा खरी? और इसका प्रथम मूल अर्थ क्या है? इसके लिए शब्दके इतिहासकी खोज आवश्यक है। बोलीके अर्थमे इस नामका उल्लेख हमें मध्यकालमें कही नही मिलता है। निश्चित रूपसे इस शब्द-का प्रयोग १९वी शतीके प्रथम दशाब्दमें लल्लूजीलालने २ बार, सदल मिश्रने २ बार, गिलक्राइस्टने ६ बार किया है।

लल्लूजीलाल तथा सदल मिश्रने 'प्रेमसागर' तथा 'नासिकेतोपाख्यान' और 'रामचरित्र' नागरीलिपिमें लिखा था। इन ग्रन्थोंमें 'खडीबोली' ही शब्द मिलता है, जिसका उच्चारण निश्चय ही खडी रहा होगा। इस प्रकार हिन्दू लेखकोंमे खडीबोली शब्द ही प्रचलित रहा होगा, किन्तु रोमनलिपिमें 'प्रेमसागर'के मुखपृष्ठपर खरी (kharee) ही मुद्रित है। रोमनलिपिमें हिन्दीके ड् या ड को r या r से प्रकट करते है। इसीसे हिन्दी 'खडी'को 'खरी' लिखा गया। सम्भवतः विदेशी अंग्रेजोंमें खरी शब्द ही अधिक प्रचलित हुआ। आजका सामान्य अंग्रेज 'खडी' शब्दका उच्चारण 'खरी'के आसपास ही करेगा। भारतीय ध्वनि-विकासमें भी र और ड् ध्वनिमें पारस्परिक विनिमय होता रहा है। सम्भवतः उच्चारणकी दृष्टिसे खडी और खरी उस समय बहुत ही निकटके शब्द थे।

इस शब्दके वास्तविक अर्थज्ञानके लिए हमें लल्लूजी-लाल, सदल मिश्र तथा गिलक्राइस्टके उद्धरणोंपर पुनः गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिये। इन उद्धरणोंसे किसी प्रकार भी यह सिद्ध नही होता कि ब्रजभाषाकी अपेक्षा अधिक 'कर्कश,' 'कटु' होनेके कारण इस बोलीको यह नाम दिया गया। यदि १९वी शतीसे बहुत पूर्व ही ब्रजभाषाके विरोधमें यह नाम प्रचलित रहा होता तो स्टैण्डर्ड उर्दू, हिन्दी, हिन्दुस्तानी सबके लिए यह शब्द प्रयुक्त होता, क्योंकि भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे तीनोंकी मूलाधार बोली यही है और 'प्रेमसागर' तथा 'बागो बहार' दोनोंको खडीबोलीका ग्रन्थ कहा जाता, किन्तु ऐसा कही भी नहीं कहा गया। स्वयं लल्लूजीलालने 'लाल चन्द्रिका'की भूमिका-में अपने ग्रन्थोंकी भाषाके तीन भेद किये है—(१) ब्रज, (२) खडीबोली, (३) रेखतेकी बोली (उर्दू)। यदि खडी-बोलीको ब्रजभाषा-सापेक्ष्य समझते तो लल्लूजीलाल अपने ग्रन्थोंकी भाषाके दो ही भाग करते। वास्तवमे 'खडीबोली'-के लिए कर्कश, कटु आदि अर्थ भारतेन्दु-युगकी देन है, जब कि हिन्दी कविताके लिए ब्रजभाषा और खडीबोली दोनोंमे प्रतियोगिता हो रही थी। सम्भवतः ब्रजभाषा पक्षवालोने उसी युगमें 'खड़ीबोली'का इस प्रकार अर्थ किया होगा।

बेली महोदयके अनुसार 'खडी' ही मूल शब्द है (खरी नही), जो 'खड़ा'का स्त्रीलिंग रूप है। खडी शब्दका अर्थ है 'उठी' और जब यह शब्द किसी भाषाके लिए प्रयुक्त होता होगा, तब इसका अर्थ प्रचलित रहा होगा। इस प्रकार इनके अनुसार 'खड़ी'का अर्थ है परिपक्व, प्रचलित या सुस्थिर।

चन्द्रबली पाण्डेने अपने लेख (द्रे० 'खड़ीबोलीकी निरुक्ति')में बोलीके 'परिपक्व', 'प्रचलित' अर्थका खण्डन करते हुए यह प्रतिपादन करनेका प्रयत्न किया है कि खडी-बोली सदल मिश्रकी निजी या उनके यहाँकी प्रचलित बोली नहीं है। किन्तु उनका खण्डन मान्य नही, क्योंकि इस बोलीका प्रचलन (हिन्दवी रूपमें) अन्तःप्रान्तीय व्यवहारके लिए बहुत पहलेसे था, अन्यथा सिन्ध-गुजरातके स्वामी प्राणनाथ (कुलजम स्वरूप) और लालदास (बीतक), पटियालाके रामप्रसाद निरंजनी (योगवाशिष्ठ), राजस्थानके दौलत राम (पद्मपुराण) और बिहारके सदल मिश्र इस बोलीमें रचना न कर सकते। अतएव 'खड़ी' शब्दका अर्थ

१, ३, २१)। 'साहित्यदर्पण' (विश्वनाथ)में गद्यकी कोई परिभाषा नहीं दी गयी है। केवल उसे काव्य कहकर उसके चार भेद बताये गये हैं—मुक्तक, वृत्तगन्धि, उत्कलिकाप्राय और चूर्णक। मुक्तक समासरहित होता है, वृत्तगन्धिमें छन्दकी गन्ध आती है, अर्थात् उसके वाक्यों और वाक्यांशोंमें प्रायः छन्दोंके गण-मात्राका विधान पाया जाता है, उत्कलिकाप्राय गद्य दीर्घ समासयुक्त होता है तथा चूर्णकमें छोटे-छोटे समासोंका प्रयोग होता है (सा० द०, ६ : ३३०, ३३१)। विश्वनाथने गद्यके अन्तिम तीन भेद वामनके ही आधारपर दिये हैं, मुक्तक नामका भेद वामनने नहीं किया। काव्यालंकारसूत्रवृत्तिमें गद्यके इन भेदोंकी, जिन्हें शैलीका ही भेद समझना चाहिये, किंचित् अधिक स्पष्ट परिभाषा मिलती है। पद्यभागसे युक्त या उसके समान प्रतीत होनेवाला गद्य, जिसमें वृत्त या छन्दकी गन्ध मिले, वृत्तगन्धि होता है, दीर्घ समाससे रहित और ललित पदोंसे युक्त गद्य चूर्णक कहलाता है तथा इससे विपरीत दीर्घ समासयुक्त और उद्धत पदोंसे युक्त गद्यको उत्कलिकाप्राय कहते हैं (काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, १ : ३ : २२—२५)।

संस्कृत-साहित्यशास्त्रमें कथा, आख्यायिका, आख्यान आदिके लिए ही गद्यका उपयोग बताया गया है। कथात्मक साहित्यके अतिरिक्त विचारात्मक लेखनके लिए गद्यके साहित्यिक प्रयोग तथा शास्त्रीय और वैज्ञानिक विषयोंके लिए उसके व्यावहारिक उपयोगकी ओर कोई संकेत नहीं किया गया है।

गद्यकी सबसे सरल, व्यापक और सर्वमान्य परिभाषा यही हो सकती है कि जिस शब्दार्थयुक्त भाषाका साधारण बातचीतमें प्रयोग किया जाता है, वही गद्य है। इससे भिन्न पद्यमें असाधारण भाषाका प्रयोग होता है। उसमें विशेष प्रकारके क्रमबद्ध ताल और लयकी योजनाके लिए वाक्यगत शब्दोंके साधारण क्रममें परिवर्तन करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त गद्यका लक्ष्य सहज, सरल, सीधे और निश्चित प्रयोजनयुक्त, सामहके शब्दोंमें प्रकृत और अनाकुल शब्दार्थको प्रेषित करना है। पद्यका भी व्यवहार निश्चित प्रयोजनके लिए हो सकता है। वस्तुतः प्राचीन भारतीय शास्त्र और विज्ञानके विषय भी पद्यमें लिखे जाते थे। परन्तु उसमें सर्वत्र शब्दार्थकी सरलता और सीधापन सुरक्षित नहीं रह पाता था, क्योंकि शब्दोंकी विशिष्ट छन्दोबद्ध योजनाके लिए उसमें कृत्रिमता, भंगिमा और वक्रता आ जाना स्वाभाविक है। अतः गद्य-पद्यका भेद स्पष्ट है। काव्यकी सौन्दर्यवृत्तिसे सर्वथा असंपृक्त रहकर भी दोनों समानुरूप नहीं हो सकते, उनके रूप और प्रकृतिका अन्तर निर्विवाद है। इस दृष्टिसे पद्य और काव्यमें अन्तर किया गया है। परन्तु जैसा कि साधारणतः होता है, यदि काव्यको अनिवार्यतः पद्यबद्ध न मान लिया जाय तो गद्य और काव्यमें कोई विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। वस्तुतः जैसा कि ऊपर देख चुके हैं, काव्यके अनेक रूप गद्य में ही रचे जाते हैं। फिर भी गद्य शब्द-रचनाके बाह्य रूपका ही नहीं, उसकी आन्तरिक प्रकृतिका भी द्योतक है। हम अनेक पद्यबद्ध काव्यकृतियोंको गद्यात्मक कहते हैं, क्योंकि उनमें संवेदनशीलताकी अपेक्षा बोधवृत्तिकी प्रधानता होती है। गद्य मुख्यतः बोध, व्याख्या, तर्क, वर्णन और कथाके क्षेत्रोंमें ही सीमित है।

प्रयोगकी दृष्टिसे गद्यका साधारण रूप वह है, जो व्यावहारिक उपयोगमें आता है, परन्तु दो व्यक्तियोंके बीच साधारण वार्तालापसे लेकर बड़ी-बड़ी सभाओंके कलापूर्ण प्रभावशाली भाषणोंतक तथा क्षेमकुशल सम्बन्धी साधारण पत्र-व्यवहारसे लेकर शास्त्र और विज्ञानके विविध विषयोंके विश्लेषण, विवेचन, अनुशीलन और अनुसन्धानपूर्ण प्रबन्धों (थीसिसों)तक गद्यके इस व्यावहारिक उपयोगमें प्रयोग सम्बन्धी इतनी विविधता और अनेकरूपता है कि सामान्यतः उसकी गणना नहीं की जा सकती। गद्यके इन विविध प्रयोगोंमें जहाँ एक ओर पारिभाषिक शब्दावली उसे विशेषता प्रदान करके उसके प्रेषण-क्षेत्रको सीमित कर देती है, वहाँ दूसरी ओर गद्यके व्यावहारिक क्षेत्रमें ही अलंकृत पदावली—साहित्यिक शैली—का प्रयोग उसे उपयोगिताके साथ-साथ सौन्दर्यसे समन्वित कर देता है, जिससे उसकी प्रेषणीयताके क्षेत्रमें विस्तार आ जाता है। गद्यका इसी प्रकारका लिखित प्रयोग आधुनिक कालमें साहित्यकी एक विशिष्ट विधाके नामसे अभिहित होने लगा है। जब कोई कहता है कि रवीन्द्रनाथ ठाकुरकी कविता, कहानी और उपन्यासकी अपेक्षा उनका गद्य अधिक प्रभावशाली है, तब उनके गद्यमें लिखे गये उन छोटे-बड़े निबन्धों और प्रबन्धोंकी ओर संकेत होता है, जिनमें प्रतिपादित विषय और प्रतिपादनशैली, लेखकके विचार तथा उसका व्यक्तित्व, दोनों समानतः प्रभावित करते हैं। यह कहना कठिन होता है कि इनमेंसे कौन प्रधान है। साहित्यके इस गद्यसे **लेख, निबन्ध, प्रबन्ध** आदि तो अभिप्रेत होते हैं, परन्तु **कथा, कहानी, उपन्यास** आदि नहीं।

शास्त्र और विज्ञान **उपयोगी साहित्य** (दे०)में प्रयुक्त इस प्रकार व्यावहारिक गद्यके अतिरिक्त **ललित साहित्यमें** प्रयुक्त गद्यके दो प्रमुख प्रयोग-क्षेत्र हो जाते हैं—एक कहानी, उपन्यास, नाटक आदिका क्षेत्र, जिसका उल्लेख संस्कृत-साहित्यशास्त्रमें मिलता है और दूसरा साहित्यिक गद्यका क्षेत्र, जो **लेख, निबन्ध, संस्मरण, यात्रा, प्रबन्ध** आदिके इतने छोटे-बड़े रूपोंमें मिलता है कि उसका निखिल वर्गीकरण सम्भव नहीं है।

लिखित रूपमें गद्यका प्रयोग पद्यके बहुत बाद प्रारम्भ हुआ। इसका प्रधान कारण यही है कि मूलतः गद्यमें भाषाका रूप प्रकृत, अकृत्रिम और व्यावहारिक रहता है। कम-से-कम शब्द-प्रयोगके द्वारा जितना तीव्र और तुरन्त प्रभाव पद्यका होता है, उतना गद्यका नहीं हो सकता। परन्तु सामाजिक जीवनके विविध प्रकारके विकासके साथ-साथ गद्यके विकास तथा उसकी उपादेयता और महत्तामें वृद्धि होती गयी और आज वह व्यावहारिक क्षेत्रसे ही नहीं, साहित्यके अनेक रूपोंमें भी पद्यको अपदस्थ कर चुका है। नाटक और कथा-साहित्यमें भी पहले पद्यका व्यवहार होता था, परन्तु आज इनमें गद्यका एकान्त साम्राज्य है। कविताके क्षेत्रमें भी **गद्य-गीति** (दे०) नामसे ऐसी रचनाएँ होती हैं, जिनमें सहज शब्दार्थकी नहीं, हार्दिक संवेदनकी प्रधानता होती है।

शैलीकी दृष्टिसे गद्यके केवल चार भेद संस्कृतके आचार्यों-ने बताये है और इन भेदोंमें भी शब्दावलीके बाह्य रूपको ही लक्ष्य किया गया है, परन्तु गद्य शैलियोंके साहित्यरूप—लेख, निबन्ध, प्रबन्ध, आलोचना, कहानी, उपन्यास, नाटक, जीवनी आदिमे वर्ण्य-विषय और लेखकके व्यक्तित्वके अन्तर-मे असख्य भेद होते है। स्वयं उपयोगी साहित्य–इतिहास, धर्म, दर्शन, राजनीति, शिक्षा-विज्ञान आदि विषयोमें अनेकानेक शैलियोंका प्रयोग होता है।

हिन्दी गद्य, जो उन्नीसवी शताब्दीके पहले अपने वर्तमान रूपको प्राप्त नही कर पाया था, साहित्यिक प्रयोगमे **भारतेन्दु-युग**, **द्विवेदी-युग** तथा **छायावाद** एवं **'प्रसाद'-प्रेमचन्द** युगमें विविधरूप विकास करता हुआ वर्तमान कालमे प्रौढताकी ओर अग्रसर हो रहा है और साहित्यिक रूपोंमे ही नही, विविध उपयोगी विषयोंके माध्यमरूपमे शक्ति-संचय कर रहा है।

[सहायक ग्रन्थ—हिन्दी साहित्यका इतिहास (आधुनिक काल) : रामचन्द्र शुक्ल; आधुनिक हिन्दी साहित्यकी भूमिका तथा आधुनिक हिन्दी साहित्य : लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय; आधुनिक हिन्दी साहित्यका विकास : श्रीकृष्णलाल; हिन्दी साहित्य : भोलानाथ।]

—ब्र० व०

गद्य-काल–आधुनिक काल (दे०)को ही गद्य-काल कहा जाता है, क्योंकि हिन्दी साहित्यके इतिहासमें आधुनिक कालसे पूर्व केवल काव्यका प्राधान्य था। साहित्यिक विषयोंका निरूपण तो काव्यके माध्यम द्वारा होता ही था, उपयोगी विषयोंतककी विवेचनाके लिए पद्यको उपयुक्त साधन स्वीकार किया जाता था। सरल सामन्ती जीवन-क्रमके लिए और ऐसे साहित्यके लिए जिसका प्रणयन समाजके अल्पसंख्यक शिक्षित व्यक्तियोंतक सीमित था, काव्य उपयुक्त साधन बना रह सकता था, किन्तु अंग्रेज यूरोपीय औद्योगिक क्रान्तिका जो दृष्टिकोण अपने साथ भारतमे लाये थे, उसके लिए गद्य ही उपयोगी सिद्ध हो सकता था। इसीलिए उनके शासनकालके प्रारम्भसे ही गद्यका विकास दृष्टिगोचर होता है। प्रेस जैसे वैज्ञानिक साधनके आश्रयसे उसकी क्रमबद्ध परम्परा स्थापित होनेमें देर न लगी। गद्यके प्रारम्भकी दृष्टिसे हिन्दी साहित्यके इतिहासमे उन्नीसवी शताब्दी महत्त्वपूर्ण है। इसी शताब्दीके पूर्वार्द्धमें लगभग सभी उपयोगी विषयोसे सम्बन्धित ग्रन्थ पहले-पहल गद्यमें प्रस्तुत किये गये, जिनका अध्ययन कर हिन्दी-भाषियोंकी जीवनके प्रति दृष्टिकोण ही बदल गया।

—ल० सा० व०

गद्य-काव्य–संस्कृत साहित्यशास्त्रमें गद्य-काव्यके अन्तर्गत **कथा**, **वृत्त**, **आख्यायिका** आदिका निर्देश किया गया है, परन्तु गद्य-काव्यके अन्तर्गत और भी अनेक साहित्य-रूप आ सकते है (दे० 'साहित्य रूप' तथा 'गद्य')।

गद्य-काव्यके इस व्यापक अर्थके अतिरिक्त इसका विशिष्ट अर्थ भी है और आधुनिक कालमे यह प्रयोग इसी अर्थमें सीमित हो गया है। विशिष्ट अर्थमे गद्य-काव्य वह रचना है, जिसमें कविता जैसी संवेदनशीलता और रसात्मकता होती है। फलस्वरूप उसका बाह्य रूप भी साधारण गद्यकी अपेक्षा अधिक लययुक्त, अलंकृत और सधा हुआ होता है। संस्कृतके वृत्तगन्धि और चूर्णक (दे० 'गद्य')की शैलियाँ इसी रूपमें प्रयुक्त होती है। गद्य-काव्य वस्तुतः गद्यगीतिका ही बोध होता है। परन्तु कहानी संस्मरण, निबन्ध आदि भी गद्य-काव्यात्मक हो सकते; तथा नाटकके कथोपकथन और स्वकथन तथा उपन्यासके वर्णन, चित्रण तथा कभी-कभी कथोपकथनमें भी गद्य-काव्यात्मक शैलीका प्रयोग हो सकता है। इस प्रकार गद्य-काव्य एक साहित्य-रूप भी है और एक शैली-वैशिष्ट्य भी।

गद्य-काव्यके उदाहरणोंमें 'गीतांजलि' (अनुवाद) और 'साधना' (रवीन्द्रनाथ ठाकुर), 'साधना', 'छायापथ', 'पगला' और 'संलाप' (राय कृष्णदास), 'ठंढे छींटे' और 'श्रद्धाकण' (वियोगी हरि), 'अन्तस्तल' (चतुरसेन शास्त्री), 'हिमहास' (रामकुमार वर्मा), 'झरोखे' (सुदर्शन), 'उन्मन', 'सारङ्ग', 'स्पन्दन', 'शबनम' और 'शारदीया' (दिनेशनन्दिनी डालमिया), 'जीवन-कण', 'जीवन-धूलि' और 'शेष स्मृतियाँ' (रघुवीर सिंह), 'गेहूं और गुलाब' (रामवृक्ष बेनीपुरी) तथा 'अन्तरात्मासे' (रङ्गनाथ रामचन्द्र दिवाकर)-का निर्देश किया जा सकता है।

ये प्रायः सभी रचनाएँ गद्य-गीति कही जा सकती है, क्योंकि इनमे वैयक्तिक आत्मनिष्ठता, तीव्र भावात्मकता, अन्तर्निहित ध्वनि संगीत, भावकी एकात्मकता या भाव-संकलन और गीतिके लिए अपेक्षित भाव-विकास और उसकी परिणति—सभी लक्षण न्यूनाधिक रूपमें पाये जाते है।

—ब्र० व०

गद्य-गीति–दे० 'गद्य-काव्य'।

गम्यगमक भाव–दे० 'रसनिष्पत्ति', आरोपवादके अन्तर्गत।

गर्बा–गुजराती लोकगीतोका एक प्रसिद्ध प्रकार; प्रथा; एक गुजराती लोकनृत्यकी शैली एवं मिट्टीका वह पात्र, जो देवी अम्बाकी [illegible] लिए मगल-कलशके रूपमें सजाकर प्रस्थापित [illegible] जाता है और जिसपर चार ज्योतियाँ प्रज्वलित [illegible] जाती है। नवरात्रमें गर्बा पात्र स्थापित कर स्त्रियाँ उसके आस-पास परिक्रमा करते हुए गीत एवं नृत्य-का आयोजन करती है। इन्ही नृत्य एवं गीतोंको गर्बाकी संज्ञा प्राप्त है। किंवदन्तीके अनुसार यह प्रथा सबसे पहले द्वारिकाके मन्दिरसे आरम्भ हुई। तभीसे बाँझ स्त्रियाँ पुत्रवती होनेकी कामनासे द्वारिका जाकर अपने वस्त्रोंपर हाथके छापे लगवाने लगी। गर्बा गीत कृष्णकी प्रणयचेष्टाओं और देवी अम्बाके स्तुतिविषयक होते है।

—श्या० प०

गर्भ-संधि–रूपककी **पंच सन्धियों**मेसे तीसरी सन्धि। दशरूपककारका कहना है "गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः। द्वादशांग पताका स्यान्न वा स्यात्प्राप्तिसम्भवः" (१ : ३६)। जब **बीज** दिखाई पड जानेके पश्चात् फिरसे नष्ट हो जाय, लेकिन उसका अन्वेषण बार-बार किया जाय तब गर्भसन्धि होती है। इस सन्धिमें बीज बिलकुल नष्ट नही होता, बल्कि वह दब-सा जाता है। उसके अन्वेषणमे बीजका और भी विकास करना पड़ता है। **फल**के गर्भस्थ होनेके कारण इसे गर्भसन्धि कहा गया है।

इसमें साधारणतः पताका **अर्थप्रकृति** और **प्राप्त्याशा** अवस्थाका मिश्रण रहता है, पर पताकाका रहना आवश्यक नही है, वह हो भी सकती है और नही भी हो सकती है, किन्तु 'प्राप्तिसम्भव'का होना बहुत जरूरी है।

जिस बीजको प्रतिमुख सन्धिमें लक्ष्यालक्ष्यरूपमें देखा गया है, वही यहाँ आकर विशेष रूपसे प्रस्फुट हो जाता है, किन्तु फिर भी फलप्राप्तिका निश्चय सन्दिग्ध हो उठता है, क्योंकि इसमें कभी विघ्न आ उपस्थित होता है तो कभी अन्य व्यवधान। इस प्रकार बार-बार बीजकी खोज की जाती है। जैसा पहले भी संकेतित किया गया है कि यहाँ फल या प्राप्तिकी सम्भावना तो रहती है, पर उसका ऐकान्तिक निश्चय नहीं हो पाता।

'स्कन्दगुप्त' ('प्रसाद')में "मगधमें अनन्तदेवी, पुरगुप्त, विजया और भटार्क सम्मेलनमे गर्भसन्धिका प्रारम्भ हो जाता है, क्योंकि फिर तो क्षण-क्षणपर बीज अथवा फलका आविर्भाव और तिरोभाव होने लगता है और कुतूहलकी तीव्रता बढ उठती है। अनन्तदेवी और भटार्कके कारण फलप्राप्तिमें आशंका उत्पन्न होती है और स्कन्दगुप्तके प्रयत्नोंको देखकर आशाका उदय होने लगता है। यह द्विधाकी अवस्था चतुर्थ अंकके द्वितीय दृश्यतक चली है, अतएव वहीं गर्भसन्धिकी समाप्ति समझनी चाहिये"। (जगन्नाथ शर्मा : प्रसादके नाटकोंका शास्त्रीय अध्ययन)।

गर्भसन्धिके सन्ध्यंग निम्नलिखित हैं—अभूताहरण, मार्ग, रूप, उदाहरण, क्रम, संग्रह, अनुमान, तोटक, अधिबल, उद्वेग, सम्भ्रम, आक्षेप।

इन सन्ध्यंगोंको प्रायः प्रयोगमें नहीं लाया गया है (दे० 'सन्धि')। —व० सिं०

गर्भित–दे० 'शब्द-दोष', चौदहवाँ 'वाक्य-दोष'।

गर्व–प्रचलित तैंतीसमेंसे एक संचारी भाव। वाग्भटके अनुसार दूसरोंका अनादर (परावज्ञा—'काव्यानुशासन, पृ० ५८) गर्व है। यह लक्षण वास्तवमें गर्वके भावके वैयक्तिक स्वाभिमान और दूसरोंपर [illegible] अभिव्यक्तिका संक्षेपमात्र है। 'अग्निपुराण'(३३९-२९)म [illegible]का लक्षण ठीक है—'गर्वः परेष्ववज्ञानमात्मन्युत्कर्षभावना', अर्थात् अपने उत्कर्षकी भावनासे दूसरोंकी अवज्ञा करना। भरतने इसके विभाव एवं अनुभाव निम्नलिखित प्रकारसे दिये हैं—'वैभव, उच्च कुल, सुन्दर रूप, युवावस्था, विद्या-प्रवीणता, बल अथवा धनका लाभ गर्वके विभाव हैं। दूसरोंका अनादर, अविनय प्रश्न पूछनेपर उत्तर न देना, बात न करना, उपेक्षावृत्ति, उपहास, कठोर वचन कहना, पूज्योंका अनादर करना अकारण उपालम्भ करना इत्यादि अनुभावोंसे व्यक्त होता है, (नाट्य० ७।६७ ग)। विश्वनाथके अनुसार "गर्वो मदः प्रभावश्रीविद्यासत्कुलतादिजः। अवज्ञासविलासांगदर्शनाविनयादिकृत्"। (सा० द०, ३ : १५४)। प्रभाव, ऐश्वर्य, विद्या तथा उच्च कुल आदिके गर्वसे अविनय, अवज्ञा तथा उपेक्षा आदि करना इसके अन्तर्गत स्वीकार किया गया है। हिन्दीके आचार्योंने प्रायः यही लक्षण दिया है—"बहु बल धन कुल रूपतें, सिरु उन्नतु अभिमान। गिने न काहू आप सम" (भाव० : संचारी)।

आधुनिक कवि उदयशंकर भट्टकी इन पंक्तियोंमें 'गर्व' संचारी है—"मेरे तपका तीव्र तेज है बढ़ रहा; रविमण्डलको भेद ब्रह्मके शीर्षतक। फैला है आतंक जगत् परमाणुमें; मिटा रहा हूँ सतत लिखावट भाग्यकी" (विश्वामित्र)। रूपजनित गर्वकी व्यंजनाका उदाहरण—"मन नैनन नील सरोज गुनै न उगेजन कंज-कली अनुमानहि, भ्रम बन्धुक फूलनके अधरानरु पानन पद्म सनाल सुजानहि। मनि मोतिन चारु गुही कवरी लखि बन्धुनकी अवली मन ठानहिं; अतिमन्द मिलिन्दके वृन्द सखी दुरवार घनो दुख देन न मानहिं" (र० सं०, पृ० १३८)।

गर्व एक प्रकारका मनोविकार है। गर्वकी भावनामें अभिभूत मनुष्य स्वसन्तुष्ट है, अतः वह दूसरोंपर यह अभिव्यक्त भी करता है और इस अभिव्यक्तिसे उसे सुखका ही अनुभव होता है। उत्साहप्रधान गर्वमें वीर रसकी व्यंजना होती है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकोंने इसको स्थायी भाव माना है। —ज० कि० व०

गर्विता अथवा वक्रोक्तिगर्विता (नायिका)–नायिकाओंके अवस्थानुसार स्वतन्त्र विभाजनका एक भेद : विशेष विस्तारके लिए दे०—'नायिका-भेद'। अपने प्रियके प्रेमपर और अपने रूपपर गर्व करनेवाली नायिका—यह विभाजन भानुदत्त द्वारा सर्वप्रथम प्रस्तुत किया गया है। **प्रेमगर्विता**—प्रेमपर गर्व करनेवाली—"निज नायकके प्रेमकौ गरब जनावै बाल" (मतिराम : रसराज, १०१)। इस नायिकाको नायककी निर्भरतापर गर्व होता है—"मेरे हँसे हँसत है मेरे बोले बोलत है, मोहीकौं जानत तन मन धन प्रान री" (मतिराम : रसराज, १०२)। देवकी नायिका अपने प्रियके एकरस प्रेमपर गर्व करती है—"अङ्गन सङ्ग बसै अनुराग, हौ जीवननैं जीवनमूरि न फूटै" (ब्रजभाषा नायिका०, २ : ३४८)। पर इस प्रसंगमें नायक द्वारा नायिकाके श्रृंगार किये जानेका वर्णन रीतिकाव्यमें विस्तारसे मिलता है—"आपुहि देत जवकवा गूँदत हार। चुनि पहिराय चुनरिया प्रान अधार" (रहीम : बरवै०, ३२)। **रूपगर्विता**—अपने सौन्दर्यपर गर्व करनेवाली नायिका—"जाके अपने रूपको अति ही होय गुमान" (मतिराम : रसराज, १०४)। कभी यह गर्व स्वतः नायिकाकी उक्तिमें भासित होता है और कभी अन्यकी उक्ति द्वारा प्रकट किया जाता है। मतिरामकी यह नायिका स्वयं गर्वोक्ति करती है—"दिन द्वै मैं मुखचन्दको लखि ललचात चकोर', अतः उसका आना नहीं हो पाता (वही : १०६)। पद्माकरने अन्यकी उक्तिमें नायिकाके गर्वकी व्यंजना की है—"चन्द्रमुखी कहे होती दुखी तौ न कोऊ कहेगो सुखी रहिबो करो" (भा० वि०, १ : १३९)। इस रूप सम्बन्धी गर्वके माध्यमसे कवियोंने नायिकाके रूपसौन्दर्यका चमत्कृत और ऊहात्मक वर्णन किया है।

गल्प और छोटी कहानी–लघुकथाके सन्दर्भमें गल्प और छोटी कहानी भी देखी जा सकती है। वस्तुतः ये दोनों शब्द कहानीके छोटे रूप, संक्षिप्त रूपकी ओर संकेत करते हैं। पर लघुकथाकी अपेक्षा गल्प एवं छोटी कहानीका धर्म आधुनिक कहानीके अधिक समीप लगता है। गल्प बँगलाकी छोटी कहानियोंकी संज्ञासे प्राप्त शब्द है और छोटी कहानी अंग्रेजीके शार्ट स्टोरी शब्दसे। शिल्परचना और उद्देश्यकी दृष्टिसे गल्प, छोटी कहानी और लघुकथा—ये तीनों रूप किसी-न-किसी स्तरसे समानधर्मा हैं (दे०—'कहानी')। —ल० ना० ला०

गांधीवाद–गांधीवाद, महात्मा गान्धी (१८६९-१९४८)की

विचारपद्धतिका व्यापक नाम है। गान्धीके व्यक्तित्वके अनेक पक्ष थे। वे राजनेता थे, समाज-सुधारक थे, अर्थवेत्ता थे, शिक्षाशास्त्री थे और धर्मोपदेशक भी थे। समाज और शासनके संघटन तथा जीवनके अन्य अनेक पक्षोंके बारेमें उनके अपने विचार थे, जिनका प्रतिपादन उन्होंने अपनी दैनिक साधनाके मध्यसे गुजरते हुए किया था। मार्क्सवाद-के समान कोई व्यवस्थित शास्त्रीय अध्ययन गांधीवादके पीछे नहीं है, इसी कारण उसमें किसी प्रकारकी तर्कजन्य पद्धति-का अभाव है। उसका आधार तर्क नहीं, स्वानुभूति है। इस विचारधाराका प्रत्येक खण्ड आत्मशक्तिको लेकर चलता है। इसी कारण उसमें एक प्रकारकी आध्यात्मिकता और विचार-स्वातन्त्र्य है।

गान्धीवादको किशोरलाल मशरूवालाने तीन भागोंमें विभक्त किया है—(१) वर्णव्यवस्था, (२) ट्रस्टीशिप, (३) विकेन्द्रीकरण। विनोबाके अनुसार गान्धी समाजकी बँधी हुई कल्पनाओंको तोड़नेके स्थानपर उनका परिष्कार कर विकसित रूप प्रदान करना चाहते है। वर्णव्यवस्थाके अन्तर्गत उन्होंने (१) पारिश्रमिककी समानता, (२) होडका अभाव तथा (३) आनुवंशिक संस्कारोंसे लाभ उठानेवाली शिक्षण-योजनाका प्रस्ताव किया। ट्रस्टीशिपके अन्तर्गत आत्मविश्वासके साथ समस्त प्राणिमात्रके कल्याणके लिए कार्य करना होता है। विकेन्द्रीकरणके अन्तर्गत उद्योगोंका ही नहीं, राजसत्ताका भी विकेन्द्रीकरण उनका अपना अभीप्सित था। लक्ष्यतक पहुँचनेके लिए सत्य, अहिंसा और सेवा इन विशिष्ट साधनोंका उपभोग आवश्यक माना गया है। गान्धीवादकी सबसे बडी देन उसकी यह विचार-धारा है कि हमको साध्यके साथ-साथ साधनकी पवित्रताका भी ध्यान रखना चाहिये।

सर्वोदय (दे०) गान्धीका सामाजिक आदर्श है, सत्याग्रह, जीवनादर्श और रामराज्य शासनादर्श। सर्वोदयका अर्थ है सबकी उन्नति और उसका ध्येय है हृदयपरिवर्तन—हृदयपरिवर्तन अन्यायी, शोषक और अनीतिवान्‌का। गान्धीवादके मूल स्तम्भ दो है—सत्य और अहिंसा। सत्यका ही दूसरा नाम उन्होंने परमेश्वर माना है, तथा समस्त सृष्टिमें एक ही तत्त्वकी व्याप्ति स्वीकार कर ईश्वर और मनुष्य तथा मनुष्य एवं अन्य जीवधारियोंकी एकता स्वीकार की है। इस अन्तर्भूत एकत्वके कारण ही उन्होंने माना था कि "जो घटना एक शरीरधारीपर घटती है उसका समग्र जड़ पदार्थपर और उसकी आत्मापर प्रभाव पड़ता है"। इस प्रकार सत्यके साक्षात्कारसे समबुद्धि प्राप्त होती है और समबुद्धिसे सबके प्रति अहिंसाका भाव उत्पन्न हो जाता है। इसीलिए उन्होंने अहिंसाको सत्यका दूसरा पहलू कहा है। अहिंसामें केवल द्वेषका अभाव ही नहीं, प्रेमकी सम्प्राप्ति भी है। यह प्रेम स्वार्थ, मोह, आसक्ति आदिसे भिन्न होता है। इस अहिंसामें (अभावात्मक) वैरत्याग, (भावात्मक) चराचरप्रेम और पूर्ण निष्कामभावका समन्वय है। इस समन्वयका पहला तत्त्व जैन, बौद्ध अहिंसाका है, दूसरा वैष्णव भावनाका प्रसाद है और तीसरा तो स्पष्टतः गीताका प्रभाव है। ऐसी अहिंसाकी प्राप्तिके लिए गान्धीने आत्मशुद्धि-को आवश्यक माना है और आत्मशुद्धिके लिए अन्य सन्तोंकी भाँति अहन्ताके त्यागको अनिवार्य माना अहंकारका त्याग, तप और भगवद्भक्तिसे ही सम्भव है। तपके लिए रागभोगका त्याग और आत्मपीडन करना होता है तथा उनके लिए शक्ति, भगवान्‌पर अटल विश्वास होनेसे प्राप्त होती है। यह तप या आत्मशुद्धि केवल उस व्यक्तिका ही कल्याण नहीं करती, आत्माकी अखण्डताके कारण सारे समाजको उन्नत बनाती है।

प्रकट है कि गान्धीके जीवनदर्शनमें त्याग और तपका प्राधान्य है तथा भोग और आनन्दका तिरस्कार। कलामें भी उन्होंने शिवं और सत्यंपर ही बल दिया, सुन्दरंको उन्होंने इन दोनोंसे या तो अभिन्न माना या अस्वीकार किया। गांधीवादी विचारधारा सम्पूर्णतः जटिलताकी अपेक्षा सरलताके चारों ओर घूमती है। गांधीजीका कहना था कि मानवीय स्वभाव उतना जटिल नही होता, जितना कि मनोवैज्ञानिकोंने उसे बना रखा है। इसीलिये कलाओंको भी यदि आनन्द और संतोषका स्रोत बनना है तो उन्हें भी सरल एवं प्रत्यक्ष होना चाहिये एवं प्रकृतिके समान ही उसकी अपील तात्कालिक होनी चाहिए। स्वयं वैयक्तिक रूपसे गांधीजी प्रेरणाके लिये किसी कलाकी आवश्यकता नही समझते थे। एक बार किसीने उनसे पूछा कि क्या आप अपनी दीवालोंको चित्रोंसे युक्त देखना नही चाहते है? गांधीजीने अपने विशिष्ट ढगसे उत्तर देते हुए कहा, "मै तो दीवालें भी नहीं चाहता। नक्षत्रोंकी छायामे मै यथेष्ट रूपसे प्रसन्न होऊँगा"। पर इसका अर्थ यह नहीं कि वे कलाओंके सृजनके मूल्यको स्वीकार न करते हों। पर इस मूल्यके संबंध-मे उनके अपने निजी विचार थे। उनके लिये प्रकृति वह आदर्श है, जहाँ पर पहुँचनेके लिए कलाओंको प्रयास करना चाहिए। प्रकृति भी हमें इसलिए अपने सौन्दर्यसे इतना, आन्दोलित कर पाती है, क्योंकि वह सृष्टिके केन्द्रमें स्थित सत्यको प्रतिच्छायित या बिम्बित करती है। इस आदर्शके अनुरूप श्रेष्ठतम कला सर्वाधिक प्राकृतिक होती है क्योंकि वह सर्वाधिक सत्यपूर्ण भी होती है। कीट्सके इस कथन 'सौन्दर्य ही सत्य और सत्य ही सौन्दर्य'के अन्तिम हिस्सेको ही गांधी-जी मान्यता दे सकते थे। वे सौन्दर्यको सत्यमें और सत्यके द्वारा देखते थे, उनके अनुसार इसी दृष्टिकोणसे ही श्रेष्ठतम कला उपज सकती है। इस दृष्टिकोणके कारण तमाम रोमाण्टिक साहित्यको अपनी सराहना वे नही दे सके।

इस दृष्टिकोणका स्वाभाविक विकास है कि गांधीवादी विचारधारामें कलाओंके साथ नैतिकताका संबंध अभिन्न रूपसे जुडा हुआ है। "शुद्ध जीवन ही श्रेष्ठतम एवं सत्य-तम कला है"। इस सम्बन्धमें उनके ऊपर रस्किन(ruskin) एवं टाल्सटॉय (tolstoy)के विचारोंकी स्पष्ट छाया है। आन्तरिक अनुशासन, आत्म-त्याग एवं सहानुभूतिको भी इस संबंधमे महत्त्व प्रदान किया गया है। गांधीजीका विचार था कि वास्तविक साधु कलाकी साधना ही नहीं करता, उसमें रमता भी है। इसीलिये उन्होंने ईसामसीहको 'श्रेष्ठतम कलाकार' एवं कुरानको अरबी साहित्यकी सर्वाधिक पूर्ण कृति माना है। यज्ञमय जीवन कलाकी पराकाष्ठा है।

गांधीजीके कला संबंधी दृष्टिकोणको हम एक प्रकारका आध्यात्मिक उपयोगितावाद कह सकते है। वास्तविक

कलाको मानवकी अन्तरात्माकी अभिव्यक्ति देना चाहिये। पर यह अन्तरात्मा उनके अनुसार निरपेक्ष न रहकर सोद्देश्य नैतिक-सामाजिक कार्योंमें प्रकाशित होती रहती है। इसी कारण 'कला कलाके लिए' जैसे सिद्धान्तोंके प्रति गांधी-दर्शनमे कोई सहानुभूति नही मिलती। अस्तु, कला कुछ लोगोके आधिपत्यमे ही न रहे, उसकी अपील सार्वभौम हो—और तभी वह प्रकृतिके सन्निकट पहुँच सकेगी—यह गांधीजीका आग्रह था। कलाकार जनताके प्रति अपने कर्तव्योंके विषयमें सदैव जागरूक रहे, तभी कला अपनी सार्थकता प्रमाणित कर सकती है। कलाकी श्रेष्ठताकी कसौटी गान्धीने उसकी उपयोगिता स्वीकार की, "कलाका सम्बन्ध नीति, हितकारिता और उपयोगितासे नही है, केवल सौन्दर्यसे है—यह कहना सौन्दर्य और कलाको न समझने जैसा है। सत्य ही ऊँची-से-ऊँची कला और श्रेष्ठ सौन्दर्य है, और वह नीति, हितकारिता और उपयोगितासे भिन्न नही हो सकता"। गान्धीके अनुसार संगीत इसलिए श्रेष्ठ है कि "वह प्रार्थना और नैतिक उन्नतिमें सहायक है", किसी रससिद्धान्तके कारण नही। उनका विश्वास था, "चित्र, गायन आदि बाह्य आकारोंकी अपेक्षा शुद्ध आचरण-मे अभिव्यक्त मनुष्यकी नैतिक पवित्रता कलाका उच्चतर प्रकाशन है"।

गान्धीवादमें कला आत्म-मन्थनका प्रसाद है। "मै कला-के दो भेद करता हूँ : आन्तर और बाह्य। इनमेंसे किसपर तुम अधिक जोर देते हो, यही सवाल है। मेरे नजदीक तो बाह्यकी कीमत तवतक कुछ नही है—जबतक अन्तरका विकास न हो"। "समस्त कला अन्तरके विकासका आविर्भाव ही है। जो कला आत्माको आत्मदर्शन करनेकी शिक्षा नहीं देती, वह कला ही नही है तथा प्राकृतिक कलाकृतियोंकी अपेक्षा मानुषी-कला तुच्छ और अपूर्ण है।...जिसमें सत्यकी अभिव्यक्ति है, जिसमें ऊर्ध्वगामिनी प्रकृतिकी अभिव्यंजना या सहायता होती है, वही सच्ची कला है"।

वास्तवमें गान्धीजी एक ओर तो कलाओंको आध्यात्मिक रूपसे ऊपर उठनेवाला मानते थे और दूसरी ओर ठोस सामाजिक दायित्वोंकी माँग भी करते थे। उनकी व्यक्तिगत अभिरुचि जिन कविताओं—सूर, मीरा, तुलसी, नरसी मेहता आदिकी कृतियों—की ओर थी, उनसे ये दोनों उद्देश्य पूरे भी होते थे।

गान्धीवादकी सात्त्विक तापसी भावना और आनन्द तथा सौन्दर्यका तिरस्कार, कला सर्जन या आस्वादनके अधिक अनुकूल नही है। इसके अतिरिक्त कला सम्बन्धी यह दृष्टि-कोण, साहित्य आदिकी अबतक स्थापित अपनी परम्पराओं एवं अभिव्यंजना-पद्धतियोंके, बहुत अनुकूल नहीं पड़ता है। इसी कारण उसकी सीधी तात्त्विक अभिव्यक्ति हिन्दीमें ही नहीं, गुजरातीमें भी विरल है। कहना तो यों चाहिये कि राजनीतिमे भी, जो गान्धीका प्रमुख क्षेत्र रहा, उनके अनुयायियोंने अहिंसा, त्याग आदिको साधनरूपसे ही अपनाया, बहुत कम लोग उनकी जीवन-प्रणाली अन्तिम रूपसे ग्रहण कर उसे सिद्धिरूपमें अपना सके है।

हिन्दी साहित्यमें गान्धी-व्यक्तित्वके अनेक पक्ष, उनकी व्यवहार-प्रक्रियाके विविध रूप तथा विचार-सरणिके अंश खण्डशः अभिव्यक्त हुए है। प्रेमचन्दके उपन्यासों और कहानियोंमे सत्याग्रह, हृदय-परिवर्तन, स्वाधीनता-संग्राममें सत्य-अहिंसाके शस्त्रोंका प्रयोग, आश्रमोंकी स्थापना द्वारा सुधार आदि गान्धीवादके अनेक पक्ष अभिव्यक्त हुए हैं। 'प्रेमाश्रम', 'कर्मभूमि', 'रंगभूमि', 'गबन' उपन्यासों तथा 'नमकका दारोगा', 'समरयात्रा' एवं अन्य कहानियोंमे गान्धीवादका व्यवहारपक्ष जितना उभरकर आया है, उतना किसी अन्य लेखकमे नहीं मिलता। 'कौशिक', सुदर्शन, भगवतीचरण वर्मा एवं जैनेन्द्र अन्य कथाकार हैं, जो गान्धीवादकी यत्र-तत्र अभिव्यक्ति करते है। कवियोंमें मैथिलीशरण गुप्तकी 'यशोधरा' और 'साकेत'में गान्धीवादी विचारोंकी सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', माखनलाल चतुर्वेदी, रामनरेश त्रिपाठी, 'बच्चन' एवं सुमित्रानन्दन पन्त जैसे कवियोंने भी गान्धीवादको काव्यकी वाणी दी है। यों 'कामायनी'में भी यत्र-तत्र गान्धीवादकी झलक आलोचकोंने देखी है। गान्धीका तत्त्व-दर्शन अपने मूल रूपमे जितना कवि सियारामशरण गुप्तमे उपलब्ध होता है, उतना अन्य किसीमे नहीं। नगेन्द्रके अनुसार "सियारामशरण 'आत्मोत्सर्ग', 'उन्मुक्त', 'नोआ-खाली'में तो प्रत्यक्ष रूपसे गान्धीवादके सिद्धान्तोंकी स्थापना करते ही हैं, इनके अतिरिक्त 'आर्द्रा' और 'मृण्मयी'की काव्यवद्ध कहानियों और 'नकुल'में भी गान्धीदर्शनकी ही अभिव्यक्ति है। और यही बात 'दैनिकी' आदिकी विचारात्मक स्फुट कविताओंमे है"। " "हिन्दीमें मूलतः दो लेखक ऐसे हैं, जिन्होंने गान्धीदर्शनको गम्भीरतापूर्वक ग्रहण किया है—जैनेन्द्र और सियारामशरण गुप्त। इनमेंसे जैनेन्द्रकी स्वीकृति एकान्त बौद्धिक है। उनकी आत्मा गान्धीदर्शनके शम सात्त्विक प्रभावको ग्रहण नही कर सकी है। पन्तजीको गान्धीदर्शनकी शान्त परिष्कृति पूर्णतः स्वीकार्य है, परन्तु वे कदाचित् उसमें अभीष्ट कलाका अभाव पाते हैं, इसलिए अरविन्दके प्रति उन्हे अधिक आकर्षण है, किन्तु सियाराम-शरण गुप्तके हृदय और बुद्धि दोनोका गान्धीदर्शनके साथ पूर्ण सामंजस्य है, वह उनकी आत्मामें रम गया है"। गान्धीजीकी जीवन-प्रणालीकी सधी अभिव्यक्ति रामनरेश त्रिपाठीके 'पथिक'मे भी प्राप्त होती है। इधर आचार्य विनोबा भावेके प्रभावमें बहुत-सा स्फुट साहित्य गान्धीवादी विचारधाराके अनुकूल रचा गया है।

गान्धीका व्यक्तित्व इतना महान् था कि समकालीन जीवनका प्रत्येक पक्ष उनसे किसी-न-किसी रूपमें प्रभावित हुआ है। कला और साहित्य भी इससे अछूते नही रहे। इस दृष्टिसे हिन्दीके अधिकांश कवि और लेखकोंने उनसे किसी-न-किसी प्रकार प्रभावित होकर उनकी जीवन-दृष्टिको अभिव्यक्ति दी है। पर इस अभिव्यंजनामें सतहपरका उद्घोष और नारेबाजीकी स्तुति अधिक है, गहरी अनुभूति-का अपेक्षाकृत अभाव है।

[सहायक ग्रन्थ—सर्वोदय-तत्त्वदर्शन : गोपीनाथ धवन; गान्धीवाद-समाजवाद : किशोरलाल घ० मशरूवाला; आधुनिक हिन्दी कविताकी मुख्य प्रवृत्तियाँ : नगेन्द्र; हिन्दी कवितामें युगान्तर : सुधीन्द्र; हिन्दी-साहित्यमे विविधवाद : प्रेमनारायण शुक्ल; गान्धीवादकी रूपरेखा :

रामनाथ सुमन ।] —दे० शं० अ०

गांभीर्य–दे० 'सात्विक गुण', नायक ।

गाथा १–गाथा लोक-साहित्यका वह प्रकार है, जिसमें गेयताके साथ ही कथानककी प्रधानता रहती है । कीट्रीज-ने इसकी परिभाषा बतलाते हुए लिखा है कि गाथा वह लोकगीत है, जिसमें किसी कथाका वर्णन हो अथवा यह वह कथा है, जो गीतोंमें कही गयी हो—(कीट्रीज—इ० स्का० पा० बै०, भूमिका भाग) । सर्वप्रथम गाथा शब्दका प्रयोग ऋग्वेदमें पाया जाता है (ऋग्वेद, ८ : ३२ : १) । यज्ञके अवसरपर गाथा गानेकी प्रथा उस समय प्रचलित थी । इनके गानेवालोंको 'गाथिन्' कहा जाता था (ऋग्वेद, १ : ७ : १) । जातकोंमें श्लोकबद्ध रचनाको गाथाका नाम दिया गया है (बटुकनाथ शर्मा : पाली जातकावली, पृ० ९) । प्राकृत भाषामें लिखी गयी हालकी गाथा-सप्तशती सुप्रसिद्ध रचना है, जिसमें शृंगार रसके बड़े सुन्दर चित्र उपलब्ध होते है । भोजपुरी भाषामे गाथाका अर्थ कथा है और इसी अर्थमें इसका प्रयोग सर्वत्र किया जाता है । अतएव गाथा वह छन्दोबद्ध रचना है, जिसमें कथाकी प्रधानता हो । अंग्रेजी बैलेडके लिए लोक-साहित्यमे अब गाथा शब्दका प्रयोग होने लगा है । लोकगाथा और लोक-गीतमे बड़ा अन्तर है । इन दोनोंमें स्वरूपगत भेद और विषयगत भेद उपलब्ध होता है । आल्हा, ढोला-मारू तथा विजयमलकी गाथा इसके उदाहरण है । ये गाथाएँ कई प्रकारकी होती हैं, जिनमें प्रेमकथात्मक, वीरकथात्मक, रहस्य-रोमांच कथात्मक आदि भेद प्रसिद्ध है ।

लोकगाथाओंकी प्रधान दस विशेषताएँ होती है—(१) लोकगाथाके रचयिताका अभाव—लोकगाथाकी रचना किस व्यक्तिविशेषने की, यह कहना बडा कठिन है । देश और कालके अनुसार इसमें परिवर्तन और परिवर्द्धन होता रहता है । (२) प्रामाणिक मूल पाठका अभाव—किसी लोक-गाथाका कौन-सा मूल पाठ है, यह बतलाना सम्भव नहीं । उसके सभी पाठोंका महत्त्व समान है । लोरकी तथा विजयमल आदि गाथाओंका कौन-सा पाठ शुद्ध है, इसका निर्णय नही किया जा सकता । (३) आवृत्तिमूलक संगीत—लोकगाथाओंका संगीतसे अभिन्न साहचर्य होता है । संगीत—जिसकी बार-बार आवृत्ति की जाती है—के बिना ये निष्प्राण है । (४) स्थानीयताका पुट—गाथाओंमें स्थानीय इतिहास, रीति-रिवाज तथा प्रथाओंका वर्णन उपलब्ध होता है । (५) मौखिक—लिपिबद्ध नहीं; जबतक गाथाएँ मौखिक रहती है तभीतक इनकी जीवनी शक्ति है । लिपिबद्ध होने-पर इनका विकास अवरुद्ध हो जाता है । (६) उपदेशात्मक प्रवृत्तिका अभाव—इन गाथाओंमें धर्म या नीतिग्रन्थोंके समान उपदेश देनेकी प्रवृत्ति नही पायी जाती । (७) कथामें स्वाभाविक प्रवाह—कथामें प्रवाहका होना आव-श्यक है । लोकगाथाका प्रवाह पहाडी नदीकी भाँति गति-शील होता है । आल्हामें कितना प्रवाह है यह किसीसे छिपा नहीं है । (८) अलंकृत शैलीकी अविद्यमानता—लोकगाथा सहज, सरल तथा बोधगम्य शैलीमें होती है । वह अलंकारोंके कारण कहीं बोझिल नहीं पायी जाती । (९) टेक-पदोंकी पुनरावृत्ति—टेक-पदोंकी बार-बार आवृत्ति-से गाथाओंमें जीवनका संचार होता है । (१०) लम्बा कथानक—लोकगाथाओंका कथानक बडा लम्बा होता है । कथा ही इनकी प्रधानता है । आल्हा, लोरकी, विजयमलकी लम्बी गाथाएँ इसका उदाहरण है ।

लोकगाथाओंकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें विद्वानोंमें बड़ा मत-भेद है । कोई इसे व्यक्तिविशेषकी रचना मानता है तो कोई इसे समुदाय-विशेषकी कृति स्वीकार करता है । इस सम्बन्धमें निम्नांकित पाँच मतभेद है—(१) ग्रिमका सिद्धान्त—समु-दायवाद । (२) स्टेन्थलका मत—जनतावाद । (३) श्ले-गलका—व्यक्तिवाद । (४) बिशप पर्सीका—चारणवाद । (५) चाइल्डका—व्यक्तित्वहीन व्यक्तिवाद । ग्रिमका मत है कि किसी समुदायविशेषके लोग सामाजिक उत्सवोंपर सामूहिक रूपसे गीत गाते है । एक व्यक्ति गीतकी कोई एक कड़ी बनाता है तो दूसरा दूसरी कड़ी जोड़ता है । इस प्रकार सबके सामूहिक प्रयाससे गाथाओंका निर्माण होता है । स्टेन्थलका जनतावादी सिद्धान्त ग्रिमके सिद्धान्तका विशेषीकरण है । परन्तु श्लेगलका मत है कि गाथाएँ व्यक्तिविशेषकी रचनाएँ है । जिस प्रकार इलियड, ऑडेसी आदि महाकाव्योंका लेखक एक व्यक्ति था, उसी प्रकार ये गाथाएँ भी किसी एक व्यक्तिकी ही रचना है । यह दूसरी बात है कि अधिक काल बीत जानेके कारण उन लेखकोंका नाम आज हमें ज्ञात नही है । बिशप पर्सीका कथन है कि इन गाथाओंके रचयिता चारण लोग थे, जो राजदरबारोंमें काव्योंकी रचना कर राजाओंका मनोरंजन किया करते थे । चाइल्ड इस मतका समर्थक है कि इन गाथाओंका रचयिता कोई व्यक्ति तो अवश्य है, परन्तु उसके व्यक्तित्वका इन गीतोंमें अभाव है । परन्तु सत्य तो यह है कि गाथाओंकी उत्पत्तिमें इन सभी सिद्धान्तोंका समन्वय उपलब्ध होता है । —कृ० दे० उ०

गाथा २–(गै+थन्+स्त्री प्रत्यय टाप्) । (क) साधारण अर्थ १. गान, गीत (यथा 'गायदगाथं सुतसो-मोदुरायन्' ऋ० १।१६७।६ तथा 'इन्द्रमिद् गाथिनो बृहत्' ऋ० १।१।१३।१ इत्यादि मन्त्रोंमे); २. स्तोत्र । (ख) विशिष्ट अर्थ १. आर्या छन्द (इस अर्थके प्रामाण्यके विषयमे तारा-नाथने अपने 'शब्दस्तोममहानिधि'में छन्दोमंजरी नामक ग्रन्थका उद्धरण दिया है—"पादे द्वादश विषमे मात्राश्चाष्टा-दश द्वितीये हि । पंचदश चेत्तुरीये कथिता गाथा तथैवार्या"), २. प्राकृत भाषाका कोई भी छन्द या पद्य । (हालकृत 'गाहा सत्तसई'में 'गाहा' शब्द, जो संस्कृत शब्द, 'गाथा'का ही प्राकृत रूप है, सम्भवतः प्राकृत छन्दके ही अर्थमें प्रयुक्त हुआ है), ३. एक प्रकारकी प्राकृत । ४. 'ललित-विस्तर, इत्यादि बौद्ध साहित्यके ग्रन्थोंमें बीच-बीचमें आने-वाला पद्यात्मक या छन्दोबद्ध भाग । ५. ब्राह्मण एवं आरण्यक ग्रन्थोंमें आये हुए गद्यात्मक आख्यानोंके बीच-बीचमें आनेवाले श्लोक या पद्यात्मक अंश । इन गाथाओंमें उन आख्यानोंके बड़े प्राचीन उल्लेख मिलते है (जैसे ऐतरेय ब्राह्मणके शुनःशेप-आख्यानमें आयी हुई गाथाएँ) । (ग) हिन्दीमें यह शब्द वृत्तान्त या जीवनके अर्थमें प्रयुक्त होता है । गाथाओंमें आख्यानोंका सूक्ष्म उल्लेख या संकेत होनेके कारण कालान्तरमें यह शब्द आख्यान, कहानी या

जीवन-वृत्तान्तके ही अर्थमें प्रयुक्त होने लगा, ऐसा प्रतीत होता है। (घ) मौलिक अर्थमें इसके पर्याय गान, गीत, गीतिका इत्यादि तथा परिवर्तित (नवीन) अर्थमें कथा, कहानी, वृत्तान्त इत्यादि है। —आ० प्र० मि०

गाथा ३–जिस प्रकार **श्लोक** या **अनुष्टुप्** लौकिक संस्कृतका और दोहा अपभ्रंश तथा हिन्दीका प्रमुख छन्द बन गया, उसी तरह गाथा प्राकृतका सर्वप्रमुख छन्द था। इसका यह अर्थ नहीं कि गाथा छन्द संस्कृतमें था ही नहीं। वैदिक कालमे भी गाथा या गाता छन्दको महत्त्वपूर्ण स्थान मिला होगा और उस समयकी ऐतिहासिक-पौराणिक कथाएँ गाथा-बद्ध ही रही होंगी। इस अनुमानका आधार यह है कि उस समय उन पद्यबद्ध कथाओंको गाथा ही कहा जाता था और वे गाकर सुनायी जाती थीं। ऐसे आख्यानोंको गाथा और गाथा-नाराशंसी कहा जाता था।'अथर्ववेद'में गाथा और गाथा-नाराशंसीका नाम इतिहास-पुराणके साथ लिया गया है (अथर्व, १५ : ६ : १०, ११, १२)। लोकाश्रित वैदिक साहित्यका ही विकसित रूप प्राकृत-साहित्यमे दिखाई पड़ता है। वैदिककालीन गाथा छन्दका प्राकृत-साहित्यमें महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करना आश्चर्यजनक नहीं है। प्राकृत और अपभ्रंशमे इस गाथा शब्दका रूप गाहा हो जाना है। प्राकृतमें यह छन्द कितना प्रचलित था, इसका प्रमाण 'गाथा सप्तशती' है। सम्भवतः सातवाहन हालने लोकप्रचलित गाथाओंमेंसे सर्वश्रेष्ठ सात सौ गाथाओंको चुनकर 'गाथासप्तशती'का संकलन किया था। गाथाकाव्यका प्रभाव संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दीके मुक्तक काव्यपर कितना अधिक पड़ा है, यह संस्कृतकी 'आर्या-सप्तशती'में हेमचन्द्र द्वारा संकलित अपभ्रंशके दोहों और हिन्दीके **सतसई** काव्यकी सुदीर्घ परम्परासे स्पष्ट है। —शं० ना० सिं०

गाथागीत–दे० 'लोकगाथा' और 'साहित्यिक गाथा'।

गाथाचक्र–दे० 'कथाकाव्य', 'महाकाव्य'।

गान–'अमरकोश'के अनुसार **गीत** और **गान** समानार्थक हैं—'गीतं गानमिमे समे।' गीतका षड्विध लक्षण है—"सुस्वरं सरसं चैव सरागं मधुराक्षरम्। सालङ्कारं प्रमाणं च षड्विधं गीतलक्षणम्"। गानके सम्बन्धमें धारणा है कि स्वयम्भु शिवने रागरागांगभाषांगक्रियांगोपांग सहित गान-विद्याका सर्जन किया और उसे नारदको सिखलाया। नारदके द्वारा यह गान-विद्या पृथ्वीपर उतरी (तदेतन्नारदादिभ्यो दत्तमादौ स्वयम्भुवा। नारदेन ततो गानं पृथिव्यामवतारितम्)। गानका बड़ा व्यापक प्रभाव दिखलाया गया है और कहा गया है कि सभी-की-सभी चित्त-वृत्तियाँ गानमें विलीन हो जाती है। गीतका कर्तृरूप गान है; गीतका सम्बन्ध जहाँ रचनाविशेष से है, वहाँ गानका सम्बन्ध गेयताकी पद्धति, अर्थात् संगीततत्त्वके प्रयोगात्मक रूपसे है। गानेकी पद्धतिका सम्बन्ध रससे है। शृंगार और हास्यमे मध्यम और पंचम; वीर, रौद्र और अद्भुतमें षड्ज तथा ऋषभ; करुण रसमें गान्धार और निषाद तथा वीभत्स और भयानकमें धैवत समीचीन है। गान-पद्धतिके कई विधि-निषेध हैं। मुख-विकृतिको गानक्रियाका दोष माना गया है। —रा० खे० पा०

गाना–गाना गान शब्दका सरलीकरण है और जिस प्रकार गान क्रियासे नाम हो गया, उसी प्रकार गाना भी केवल क्रिया नहीं, बल्कि संज्ञा भी है। सामान्य दृष्टिसे शास्त्रीय संगीत-पद्धतिसे मुक्त रचना और गान-पद्धतिकी संज्ञा गान अथवा गाना है। सस्ते प्रकारके गीतोंकी भी यह संज्ञा हो गयी है। —रा० खे० पा०

गाय–सन्त-साहित्यमें गायके कई प्रतीकार्थ हैं। आत्मा, "एक गाइ नौ वछड़ा, पंच दुहेवा जाइ। एक फूल सोलह करण्डियाँ मालनि मनमें हरषि न माइ" (गोरखबानी, ११३)। वाणीके अर्थमें—"चारि ब्रिछ छव साषा वाके पत्र अठारह भाई। एतिक लै गम कीहिसि गइया, गैया अति हरहाई" (कबीर-बीजक, १६५)। मायाके अर्थमें—"हंसा संसै छूरी कुहिया, गैया पियै वछरहि दुहिया" (कबीर-बीजक, १७१)। जनजीव प्रपंचमें रत हो गया तब गैया (माया)ने बछडेरूपी जीवका ज्ञानरूपी दूध दुहकर पी लिया। "अवधू काम धेनु गहि राखी। बसि कीनी तब अमृत स्रवै आगे चीर न नाखी" (दादू)। —उ० शं० शा०

गायन–गायन और गायक प्रायः समानार्थी शब्द हैं। अष्टाध्यायीके अनुसार नर्तक, गायन (गायक) और वादक सभी शिल्पी है। गायन एक जातिविशेषका भी नाम है, जिसका पेशा नाच-गाना है। इसे गन्धर्वोंकी एक जाति माना जा सकता है। इसका उल्लेख मनुस्मृतिमें भी हुआ है। गायन गान-क्रियाका प्रचलित रूप है ('गायन चले हृदयसे'—'दिनकर')। गायनका स्त्रीवाची रूप है **'गायिनी'** जो एक प्रकारका मात्रिक छन्द है, जिसके पादोंमें क्रमशः १२-१८ और १२-२० मात्राएँ होती हैः प्रत्येक चरणके अन्तमें एक गुरु होना चाहिये। बीस मात्राओंके पश्चात् एक जगण आता है। जगणके स्थानमें चार लघु होना भी दोषहीन माना जायगा—"आदौ बारा मत्ता दूजै द्वै नौ सजाय मोद लहो। तीजै भानू कीजै चौथे वीसेजु गायिनी सुकति कहो"। —रा० खे० पा०

गीत–भगवान् शंकरसे ही स्वर और सुर दोनोंका उद्गम है। वे नादब्रह्म ही हैं। नादके एक विशेष नियन्त्रणकी संज्ञा व्याकरणशास्त्रीय स्वर है, जिसकी सहायतासे ही व्यंजनोंका उच्चारण सम्भव होता है और उसी नादके दूसरे प्रकारके नियन्त्रणकी संज्ञा लय, ताल, सुर आदि हैं। संगीतशास्त्रके अनुसार शंकरने संसारको दुःखाक्रान्त देखकर सांसारिकोंके दुःख-निवारणार्थ गीत और वाद्य प्रकाशित किया और गीतज्ञ गीत द्वारा मुक्ति पा सकता है। सामसंहिता-भाष्यके अनुसार आभ्यन्तर प्रयत्नसे स्वर-ग्रामकी अभिव्यक्ति गीत है। मीमांसा (९, ३, २९)के मतसे सामवेदमें सहस्र प्रकारके गीतोंके साधन हैं। गायक इच्छानुसार किसी एकका अवलम्बन कर सकता है। गीतके दो भेद माने गये हैं—वैदिक और लौकिक। वैदिक गीतोंकी चर्चा **गेयपद** (दे०)के अन्तर्गत हुई है। शास्त्रीयताके आधारपर लौकिक गीतके भी दो विभेद हैं—**मार्ग** और **देशी**। शास्त्रनिरूपित परम्पराका निर्वाह **मार्ग**में होता है, जिसके लिए नाट्यशास्त्रकर्ता भरतको भी प्रमाण माना गया है। भगवान् शंकर इसके आद्याचार्य हैं; अतः उनके प्रीत्यर्थ इसका विधान है। विभिन्न भूभागोंके निवासियोंकी रुचि

और रीतिके विभेदने गीतके रूपोंकी भिन्न-भिन्न परिणतियाँ हैं और इनकी संज्ञा **देशी** है। साहित्यमें जिसे गीत कहते हैं, उसका सम्बन्ध विशेष रूपमें **देशी** विभेदसे है। गायकों द्वारा मान्य पदोंकी स्वीकृति साहित्यिक तत्त्वोंके कारण नहीं, बल्कि संगीत-तत्त्वके कारण है। लोकगीतोंका परिस्फुटित रूप ही साहित्यिक गीत है और साहित्यमें यह **गीतिकाव्य**का प्रारम्भिक रूप तथा अब उसका प्रथम भेद है। गेय पदोंमें जहाँ शास्त्रीय संगीतके विधानको काव्यकी समकक्षता प्राप्त है, वहाँ गीतोंमें देशी संगीत-पद्धतिका नियमन रहता है। लौकिक कण्ठ्य संगीतका यह साहित्यिक अभियान है। 'आदिग्रन्थ'में जो गीत संगृहीत हैं, उनमें जयदेव और रामानन्दके गीतोंको सर्वाधिक प्राचीन माना जा सकता था, किन्तु उनकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध है और वे प्रसिद्ध जयदेव और रामानन्दके न होकर इन्हीं नामधारी किन्हीं व्यक्तियोंके होंगे। गेय पदोंके अन्तर्गत इनकी परिगणनाका प्रयास बादमें चलकर हुआ। प्रारम्भिक गीत लौकिक जीवन सम्बन्धी थे, जिस विधानका उपयोग धार्मिक विचारोंकी अभिव्यक्तिके लिए किया गया। सन्तकाव्यकी अधिकांश गीतात्मक रचनाएँ इसी कोटि की हैं। कई व्यक्ति समूह बनाकर जब गाते हैं तो यह **समवेत गीत**का रूप धारण करता है। उपरूपकोंमेंसे कई एक ऐसे हैं, जो समवेत गीतके विकसित और अभिनयात्मक रूप हैं। **नाट्यरासक**में नाट्यकी प्रधानता तो है, किन्तु **समवेत गान**का रूप मिलता है। **हल्लीश**के समवेत गीतका अभिनयात्मक रूप स्पष्ट है। **चर्चरी** और **बेलि**, **समवेत गीत**के ही रूप हैं। —रा० खे० पा०

गीतकाव्य—दे० 'गीतिकाव्य'।

गीतिका १—मात्रिक सम छन्दका एक भेद। २६ मात्राओंके चरणका यह छन्द माना जाता है, जिसमें १४-१२की यति तथा अन्तमें लग (।ऽ) होता है, भानु (छं० प्र०, पृ० ६५) तथा भिखारीदास (छन्दो०, पृ० ३८)। इसीके अन्तमें यदि ग ल (ऽ।) होता है तो **गीता** छन्द हो जाता है। स्पष्टतः यह बहुत गौण अन्तर है। इसका प्रयोग हिन्दीमें चन्द (पृ० रा०), केशव (रा० च०) तथा भूषण (शि० भू०)ने किया है। अन्य कवियोंने इस नामसे हरिगीतिका छन्दका प्रयोग किया है (दे०)। भूषणने हरिगीतिकाके नामसे गीता छन्दका प्रयोग किया है—"मनिमय महल सिवराजके, इमि रायगढ़में राजहीं" (शि० भू०, १६)। यहाँ मात्राएँ केवल २६ हैं। उदा०—"लै संग भक्ति मलाह करि, आरूप सो लै जाउ"—भिखारीदास (छन्दो०, पृ० ३९)।

गीतिका २—वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। हिन्दीमें इसके मात्रिक रूपको हरिगीतिका कहते हैं, पर प्राचीन परम्पराके अनुसार केशवने इसको वृत्तरूपमें प्रयुक्त किया है। स, ज, ज, भ, र, स, ल, गके योगसे यह वृत्त बनता है (।।ऽ, ।ऽ।, ।ऽ।, ऽ।।, ऽ।ऽ, ।।ऽ, ।ऽ); 'प्राकृतपैंगलम्'में (२ : १९६) इस छन्दका गीता नाम दिया गया है। उदा०—"कोउ आजु राज समाजमें बल सम्भुको धनु कर्षिहै। पुनि श्रौणके परिमाण तानि सो चित्तमे अति हर्षिहै। वह राज होइ कि रंक केशवदास सो सुख पाइहै। नृपकन्यका यह तासुके उर पुष्पमालहिं नाइहै—(रा०चं०, १ : ३१)। —पु० शु०

गीतिकाव्य—'लिरिक'के तत्त्वबोधके लिए निर्मित आधुनिक शब्द है, जिसका मूलभूत आधार **गीत** अथवा **गीतकाव्य** है। गीतका प्रयोग प्राचीनतम है और नाट्यशास्त्रमें इसके प्रयोग मिलते हैं—'गीतं शब्दितगानयोः' (हेमचन्द्र) और 'गीतं गानमिमे समे' (अमरकोश, १-६-२६)। गीतिकाव्य शब्दका सर्वप्रथम प्रयोग लोचनप्रसाद पाण्डेयने 'कविता-कुसुम-माला' (प्रथम संस्करण जून, १९०९)-की भूमिकामें किया और 'पाठकोंसे एक निवेदन'के अन्तर्गत लिखा कि काव्यके तीन प्रकार हैं—गीतिकाव्य, श्रव्यकाव्य और दृश्यकाव्य। गीतिकाव्य गीतशैलीका नव्यतम विकास है। गीत और गीतिकाव्यका विकास लोकगीतोंसे हुआ है। जयदेवकृत 'गीतगोविन्द'के गीतोंको इसका आदि स्रोत माननेका भ्रम होता रहा है। बौद्धोंने लोक-भाषाको अधिक मान्यता दी थी, यद्यपि संस्कृतमें लिखे गये बौद्ध साहित्यका अभाव नहीं है। सिद्धोंने लोक-भाषाओंको आधार बनाया, उनके 'चर्यागीत' लोकगीतोंके उपदेशात्मक अभियान हैं। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्रीने इन गीतोंको प्राचीनतम बंगला रचनाका आदर्श और उदाहरण माना है, किन्तु आधुनिक शोधकोंने इसकी अयथार्थता सिद्ध कर दी है। 'चर्यागीत' शास्त्रीय राग-रागिनियोंके अन्तर्गत वर्गीकृत हैं, किन्तु राग-रागिनियोंके नाम सूचित करते हैं कि इनके वर्गीकरणमें स्वतन्त्रता थी और देशविशेषमें भिन्न-भिन्न राग प्रचलित थे। देशविशेषमें प्रचलित लोकगीतोंकी लयात्मक पद्धतिका नामकरण उस देशके नामपर हुआ। राग **गुर्जर**, **सोरठ**, **गौड** आदि इसी वर्गके हैं। **गुर्जर**से **गूजर** और **गूजर**से **गूजरी** बनता हुआ यह सन्त-साहित्यमें आया। **गौडी**से **गवडी** और **गवडा**का रूप बना, जो सन्त-साहित्यमें मिलता है। गौरीके शास्त्रीय विधानवाली शैलीसे इसमें भिन्नता है। 'कबीर-बीजक'का **चाँचर** चौराहेपर गाया जानेवाला लोकगीत है, जिसके **चाँचर चर्चरी**रूपका उल्लेख 'पालि महाव्याकरण'में आया है। 'बीजक'की **बेली** राजस्थानीमें प्रचलित **बेलि** नामक काव्यका पूर्वरूप है। सिद्ध-साहित्यमें प्रचलित गीत नाथ-सम्प्रदायमें **सबदी**, सबद+ई=सबदी हुआ। गुरुके शब्द होनेके कारण ऐसा नामकरण हुआ। लौकिक गीतोंकी परम्परा विद्यापतिकी पदावलीमें मिलती है और उपासना-मूलक गीतोंकी **नाचारी**में राधा-कृष्णविषयक गीतोंपर जयदेवकी छाया और छाप है। आदि-ग्रन्थमें संकलित जयदेवकृत पद किसी निर्गुण सम्प्रदायानुयायी जयदेवका है, प्रसिद्ध पीयूषवर्षी जयदेवकृत नहीं। 'आदिग्रन्थ'में रामानन्दकृत दो पद हैं, जो प्रसिद्ध रामानन्दके नहीं, किसी अन्य रामानन्दके हैं। पदोंको राग-रागिनियोंके अन्तर्गत वर्गीकृत करनेकी प्रथा **सिद्धकाल**से भी प्राचीन ज्ञात होती है, क्योंकि उस कालके गीत इसी प्रकार वर्गीकृत हैं। यह परम्परा बीसवीं शताब्दीके द्वितीय दशकतक किसी-न-किसी रूपमें प्रचलित रही, लोचनप्रसाद पाण्डेय और मुकुटधरकी रचनाएँ इसी प्रकार की हैं। इस स्थितिसे स्पष्ट हो जाता है कि गीतोंका सम्बन्ध शास्त्रीय संगीतसे बना रहता है। यद्यपि संगीततत्त्व अविच्छिन्न रहा, किन्तु वह क्रमशः गौण होता

गया और काव्यत्वकी मात्रा उसी अनुपातमें बढ़ती गयी, अतः गीत गीतिकाव्य होते गये। गेय पदोंमें संगीततत्त्व प्रधान है, गीतमें काव्यत्व और संगीतकी शास्त्रीयताका सन्तुलन तथा गीतिकाव्यमें संगीततत्त्वसे काव्योत्कर्षको अधिक प्रश्रयता मिलने लगती है।

गीतिकाव्य पश्चिमसे आया हुआ विधान है, जिसकी वहाँ संज्ञा थी **लिरिक**। **लिरिक**के अर्थविकासका इतिहास गीतिकाव्यके तात्त्विक विश्लेषणके लिए आवश्यक होगा। अरस्तूने लिरिकपर विचार नहीं किया, केवल तीन स्थलोंपर स्तोत्र और मन्त्रोच्चारण (डिथीहैम्ब्स और नोम्स)के सम्बन्धमें उल्लेखमात्र किया है। काव्यके तीन वर्ग स्वीकृत थे—**प्रबन्धकाव्य (एपिक)**, **रूपक (ड्रामा)** और **गीत** (सांग) तथा **सांग**का सामान्य नाम था **लिरिक**। **लिरिक** सम्बन्धी धारणाओंमें परिवर्तन और विकास होते रहे हैं। **गीतिकाव्य**में विकसित धारणाका यही आधार है। साहित्यिक वर्गीकरणमें विभिन्न विधानोंकी निश्चित रेखा असामान्य होगी, क्योंकि पारस्परिक अन्तरावलम्बनकी प्रक्रिया सतत क्रियाशील रहती है। 'साकेत'का नवम सर्ग गीतात्मक है, 'कामायनी'के अनेक अंश स्वतन्त्र गीतिकाव्य हैं और 'प्रेमपथिक'में कथात्मक गीतावेश है। इसी प्रकार **वर्णनात्मक गीति** और **नाट्य गीति**के विधान होते हैं। यूनानी काव्यशास्त्रने **एपिक**, **ड्रामा** और **लिरिक**के लिए विभिन्न छन्दोंका विधान किया था, किन्तु ऐसा कृत्रिम वर्गीकरण टिक नहीं सका। प्रारम्भमें संगीतकार और कवि एक ही व्यक्ति था, अतः गीतोंमें भी काव्य-तत्त्वकी प्रधानता थी। इस प्रकार **गीतिकाव्य गीत** ही था और यूनानी आदर्शपर लिखे गीतोंकी संज्ञा **गीतिकाव्य** थी। कविने अनुभव किया कि उसकी रचनाओंके लिए वाद्य-यन्त्रोंकी अपेक्षा अनिवार्य नहीं है, क्योंकि उसके शब्दोंमें संगीततत्त्वका मूल निहित है, अतः गेय पद गीत हुए; एवं इस प्रकार संगीतका शास्त्रीय अभिनिवेश गीतिकाव्यकी कसौटी नहीं रहा, यद्यपि संगीतसे इसकी अविच्छिन्नता वर्तमान रही। गीतिकाव्यमें कविका स्व अधिकाधिक स्वीय रूपमें अभिव्यक्त होता है। **प्रबन्धकाव्य** अथवा **रूपक**में कवि ऐतिहासिक अथवा काल्पनिक पात्रोंपर अपने व्यक्तित्वका प्रक्षेपण करता और उनकी अनुभूतियों तथा भावनाओंको निजत्वके अनुरूप रूपायित करता है, गीतिमें वह निर्बाध और प्रत्यक्ष व्यक्तित्वको अभिव्यक्ति देता हैं, अतः इसमें पर-प्रत्यक्ष, संकोच और कुण्ठाहीन वैयक्तिक व्यक्तित्व और उच्छ्वसित भाव तरंगको वाणी दे पाता है, इसलिए इसमें सहज तरलता, अबाध मुक्तता और प्रत्यक्षानुभूतिका स्वर मिलता है। वैयक्तिकता इस प्रकार गीतिकाव्यकी अन्यतम कसौटी है। अबाध कल्पना, असीम भावुकता, विशुद्ध भावात्मकता, कर्म-कोलाहलकी चिन्तासे मुक्त विचारधारा अथवा निष्कर्षोपलब्धिके भारसे मुक्त भावधारा गीतिकाव्यके प्रकृत विषय है, इसमें सिद्धान्तीकरणका अवकाश नहीं। विचारको भी गीतिमें भावात्मक माध्यम ग्रहण करना पड़ता है। भावात्मक स्थिति क्षण-स्थायिनी होती है, अतः उसे अभिव्यक्त करनेवाली रचना भी नातिदीर्घ ही रहती है, संक्षिप्तता गीतिकाव्यका प्राण है। कविकी वैयक्तिक भावधारा और अनुभूतिको उनके अनुरूप लयात्मक अभिव्यक्ति देनेके विधानको गीतिकाव्य कहते हैं। वह उन पूर्ण और समग्र क्षणोंकी वाणी है, जिनकी स्थितिमें वे क्षण ही पूर्ण और समग्र जीवन प्रतीत होते हैं। क्षणोंकी महत्ता इसमें रहती है कि वे क्षण अपने स्थितिकालमें समग्र जीवन प्रतीत होते हैं और अभिव्यक्तिकी सार्थकता इसमें है कि वह उन समग्र क्षणोंकी समग्रताको अखण्डित और प्रभावान्वित अभिनिवेश देनेका प्रयत्न करती है। कलाकी कृत्रिमता भी इतनी सहज और नैसर्गिक रहती है कि उसमें सहजताका ही बोध सम्भव होता है।

इस सम्बन्धमें यह भी स्मरण रखना होगा कि केवल आत्मनिष्ठता, स्वपरता और वैयक्तिकता ही गीतिकाव्यके लिए पर्याप्त कसौटी नहीं है। 'निराला'के 'तुलसीदास'में स्वानुभूतिका अभाव नहीं; 'आँसू'में स्वविवृति ही प्रधान है, किन्तु इनमें सीमित गीतिकाव्यात्मकता है। गीतिकाव्यके लिए गीतिकाव्यात्मक अनुभूति और भावनाकी अपेक्षा है, जो गीतिकाव्यात्मक विधानके माध्यमसे अभिव्यक्त होगी। एक विचार, एक अमिश्र अनुभूति और भावना अथवा एक संक्षिप्त स्थितिकी संगीतात्मक एवं भावाविष्ट, अतः संक्षिप्त अभिव्यक्ति गीतिकाव्यमें होती है। छन्दोंमें संगीततत्त्व है, किन्तु छन्दोंके अन्तर्निहित संगीतसे परिपुष्ट भावात्मक संगीतात्मकतासे मण्डित गीतिकाव्यमें महत्त्वकी अखण्डता रहती है, यद्यपि तुकान्तहीन, छन्द-विमुक्त गीतिकाव्यकी कुछ रचनाएँ अत्यधिक आधुनिक कालमें आयी हैं। गीतिकाव्यमें मानवीय वृत्तियाँ अपनी सहज स्थितिमें अभिव्यक्त होती हैं, अतः उनमें आन्तरिक सौन्दर्य-गठन और अन्तर्वेगकी तरलता रहती है; बौद्धिकताकी भावात्मक परिणतिसे भिन्न पाण्डित्यका बोझ इसके लिए असह्य होता है, इसे अन्तरकी आकुलता और वेदनाकी आर्द्रतासे सिंचित करना पड़ता है, सहज ही वशीकृत होनेवाली यह परिणीता नहीं है। —रा० खे० पा०

पाश्चात्य साहित्यकी **लिरिक पोइट्री**के लिए हिन्दीमें गीतिकाव्य शब्द रूढ हो चला है, यद्यपि अब भी कुछ लोग इसके लिए **गीतकाव्य**, **प्रगीतमुक्तक** और **प्रगीतकाव्य** शब्दोंका भी व्यवहार करते हैं। परन्तु **गीत** (सांग) शब्द **लिरिक**के पूर्वरूप और अब उसके एक भेदके लिए अधिक उपयुक्त है, क्योंकि उसका यही अर्थ हमारी भाषाओंमें प्राचीन कालसे चला आया है, अतः गीतकाव्य नाम भ्रामक है। **लिरिक**का एक बाह्य लक्षण उसकी पूर्वापर प्रसंग-निरपेक्षता अवश्य है और इस कारण वह मुक्तकके अन्तर्गत आ जाता है, परन्तु **मुक्तक** नामसे हम जिस काव्यरूपको जाननेके अभ्यस्त हो गये हैं, उसकी प्रकृति और रूपरचना, दोनो लिरिकसे भिन्न हैं, अतः उसे मुक्तकके एक भेदके रूपमें मानना उसकी महत्ताको घटाना है (दे० 'मुक्तक')। प्रगीत भी गीतिकी तरह नव-निर्मित शब्द है, परन्तु उसकी अपेक्षा गीति शब्दमें अधिक सुकरता जान पड़ती है। प्रगीत विशेषण है, जिसे सम्पूर्ण अर्थ देनेके लिए 'मुक्तक' या 'काव्य' विशेष्यकी अपेक्षा रहती है और वह स्वयं गौण रह जाता है। प्रधान शब्द 'मुक्तक', 'काव्य' रह जाते हैं, जिनमें पहला भिन्न अर्थका द्योतक है और दूसरा अत्यधिक सामान्य होनेसे अतिव्याप्ति दोषसे दूषित है। कहीं-कहीं लिरिकका

शाब्दिक अनुवाद **वैणिक** भी देखनेमें आया है, परन्तु 'लायर'से व्युत्पन्न लिरिक न जाने कबका उस वाद्ययन्त्रसे अपना नाता सदाके लिए छोड़कर कहीं अधिक व्यापक अर्थमें रूढ़ हो गया है, तब वीणापर लायरके अर्थका आरोप करके उससे वैणिक शब्द गढ़ना हास्यास्पदसा है, अतः लिरिकके लिए गीति शब्द सबसे अधिक उपयुक्त है। इसी कारण उसका भी चलन अधिक व्यापक हो रहा है।

पाश्चात्य समीक्षामें गीतिकाव्यकी जो अनेक विशेषताएँ बतायी गयी हैं, उन्हें चार प्रमुख लक्षणोंमें बाँटा जा सकता है। ऐतिहासिक क्रमसे चलनेपर गीतिकाव्यका प्राथमिक लक्षण संगीतात्मकता है, परन्तु अपने विकास-क्रमसे यह संगीतात्मकता न केवल 'लायर' या अन्य वाद्ययन्त्रोंका सहारा छोड़ चुकी है, वरन् वह सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर होती गयी है, यहाँतक कि अब वह गीतिके शब्दोंकी ध्वनिमें निहित स्वर-तालमें ही सीमित होती जाती है। इतनी संगीतात्मकता तो किसी भी काव्यके लिए अनिवार्य कही जा सकती है और गीति तो तीव्र भावावेग-पूर्ण काव्य है, परन्तु गेयता अब गीतिकाव्यका प्रधान लक्षण नहीं माना जाता, क्योंकि गेयताके इतने अधिक रूप और प्रकार हैं कि यह कहना असम्भव है कि गीतिकाव्यके लिए किस प्रकारकी गेयता अपेक्षित है, अन्य काव्यरूप भी किसी-न-किसी मात्रामें गेय होते हैं। फिर भी आधुनिक गीतिकार शब्दोंके अन्तर्निहित ध्वनि-संगीतको जितना अधिक महत्त्व देते हैं, उतना अन्य काव्यरूपोंमें रचना करनेवाला नहीं। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि कविका भावावेश जब उस कोटिका होता है कि उसकी अभिव्यक्ति गीतिके रूपमें हो, तब उसकी भाषामें लय और तालका नैसर्गिक सयोग हो जाता है। पहले गीतिकाव्यका एकमात्र लक्षण गेयता (वाद्ययन्त्रोंके साथ गेयता) थी, अब गेयता उसका सबसे प्रमुख लक्षण भी नहीं है। निःसन्देह यह उसका मूल लक्षण अवश्य है और अपने परिवर्तित अर्थमें उसका अनिवार्य लक्षण भी है।

अन्य काव्यरूपोंसे गीतिकाव्य जिस लक्षणके आधारपर पृथक् पहचाना जाता है, वह है उसका आन्तरिक प्रगतिगत लक्षण, उसका अन्तर्मुखी दृष्टिकोण। गीतिकारकी दृष्टि अपेक्षाकृत सीमित, वैयक्तिक और आत्मनिष्ठ होती है। रस्किनके शब्दोंमें "गीतिकाव्य कविकी निजी भावनाओंका प्रकाश होता है। सहजशुद्ध भाव, स्वच्छन्द कल्पना, तर्कवाद और न्यायमूलकतासे मुक्त विचार, ये ही गीतिकाव्यकी वास्तविक विशेषताएँ हैं"। गीतिकी संगीतात्मकता इसीका अनिवार्य परिणाम कही जा सकती है। ब्रूनेतियरने कहा है, "गीतिकाव्यमें कवि भावानुकूल लयोंमें अपनी आत्मनिष्ठ वैयक्तिक भावना व्यक्त करता है"।

यों तो काव्यमात्र कविकी आत्माभिव्यक्ति है, परन्तु गीतिकाव्यकी वैयक्तिक आत्माभिव्यक्तिका तात्पर्य है कि वह अपरोक्ष होनेके साथ ही तीव्र भावात्मक होती है। आत्मकथा, भले ही वह पद्यबद्ध हो, गीतिकाव्य नहीं हो सकती। गीतिकाव्य हृदयके उस गम्भीर भावावेशका परिणाम है, जो सहज उद्रेक और प्राकृतिक वेगके साथ निःसृत होता है। तीव्र भावापन्नताके कारण गीतिकाव्यमें काव्यका वह गुण सबसे अधिक विद्यमान रहता है, जिसके कारण उसे रसात्मक वाक्य (विश्वनाथ), सरल, ऐन्द्रिय और भावावेशपूर्ण (मिल्टन) और सबल भावोंका स्वतःप्रवर्तित प्रवाह अथवा कल्पनाके द्वारा रुचिर मनोवेगोंका स्रष्टा (रस्किन) कहा गया है।

प्रारम्भमें गीतिकी आत्मनिष्ठ वैयक्तिकता समूहगत होती थी, उसका सीधा उद्देश्य जातीय जीवनका रंजन था। उस समय गीति अधिकतर **समवेत** (कोरिक) गायनके लिए रचा जाता था। परन्तु आधुनिक कालमें यह काव्यरूप कभी-कभी अत्यन्त असामान्य और दुरधिगम्य भावनाओंका माध्यम बन गया है, परन्तु असाधारण व्यक्ति-वैचित्र्य और अभिव्यक्तिकी विलक्षणताके बावजूद गीतिकारका उद्देश्य घनिष्ठ और अनावृत आत्माभिव्यंजन ही होता है। उसकी रचनाकी दुरूहता बहुत-कुछ अहंपूर्ण, कुण्ठाग्रस्त व्यक्तित्वका परिणाम कही जा सकती है।

गीतिकाव्यकी स्वानुभूति-मूलकताके अन्तर्गत उन रचनाओंको भी सम्मिलित करना चाहिये, जिनमें कविकी भावानुभूति भिन्न माध्यमसे व्यक्त हुई है। हिन्दीका विपुल वैष्णव भक्ति-काव्य, जिसमें कृष्ण या रामकी कथाओंके विभिन्न पात्रोंके माध्यमसे कवियोंने अत्यन्त घनिष्ठ आत्मनिवेदन किया है, सच्चे अर्थमें गीतिकाव्य ही है। आधुनिक कालके गीतिकाव्यसे भी इस पद्धतिके उदाहरण प्रचुर संख्यामें दिये जा सकते हैं। यह अवश्य है कि कृष्ण और राम-कथा सम्बन्धी गीतिकाव्यके प्रचुर परिमाणमें ऐसे उदाहरण भी हैं, जिनमें गीतिकी विशेषताएँ उत्कृष्ट रूपमें नहीं मिलती और इसका एक कारण माध्यमकी भिन्नता भी है, परन्तु यह बात तो कवकी व्यक्तिगत अनुभूतिसे सम्बन्ध रखती है कि उसकी रचनामें भावानुभूतिकी मात्रा किस कोटिकी है।

गीतिकाव्यमें नाटकीयता और कथनोपकथनका ढंग भी कभी-कभी अपनाया जाता है, परन्तु इस पद्धतिमें भी वर्णनात्मकता या तार्किकता अवांछनीय है। नाटकीय शैलीके अन्तर्गत भी भावकी अभिव्यक्तिका आत्मनिष्ठ और वैयक्तिक रहना अनिवार्य है।

अन्तर्निहित संगीतात्मकता और तीव्र अनुभूतिपूर्ण स्वानुभूतिमूलकता, ये ही दो गीतिकाव्यके तात्त्विक लक्षण हैं, जो उसकी आत्मा कहे जा सकते हैं। उन्हींके परिणामस्वरूप गीतिमें सहज उद्रेक, नवोन्मेष, सद्यःस्फूर्ति, स्वच्छन्दता, अनाडम्बर आदि विशेषताएँ आ जाती हैं। गीतिके इन्हीं आन्तरिक-प्रकृतिगत-गुणोंपर उसकी रूपगत अर्थात् आङ्गिक रचना-विधान सम्बन्धी विशेषताएँ आधारित हैं।

गीति-रचनाकी प्रथम आवश्यकता यह है कि उसमें संवेगात्मक एकता या भाव-संकलन सुरक्षित रहे। उसमें किसी एक ही विचार, भाव या परिस्थितिका चित्रण सम्भव है। गीतिकी भावमूलक इकाई नाटकके कार्य-संकलनसे भिन्न है। भावको उद्दीप्त करनेवाली गीतिकी मूल प्रेरणा निरन्तर स्पष्टतया व्यक्त रहती है, भावका विकास उसीके द्वारा नियन्त्रित होता है, जब कि नाटकके कार्यको प्रेरणा देनेवाला भाव या परिस्थिति कार्यमें घुल-मिलकर विलीन हो

जाती है। दूसरे, गीतिका प्रारम्भ बिना किसी भूमिकाके सहज उद्रेक और स्वतःस्फूर्तिके रूपमें होता है। मूल प्रेरणासे उद्दीप्त भाव अत्यन्त अखण्डित, सुसहत ढंगसे व्यक्त होता है, कोई अन्य भाव या विचार उसके सहज विकासमें बाधक नहीं हो सकता। अन्य भाव सञ्चारीके रूपमें उसे पुष्ट अवश्य कर सकते हैं, परन्तु उनके लिए गीतिके सीमित आकारमें बहुत कम गुंजाइश होती है। गीतिका भाव-विकास ज्यों ही चरम सीमापर पहुँचता है, त्यों ही गीतिका अवसान हो जाता है। कभी-कभी श्रेष्ठ गीति भावोत्तेजनाके अन्तके पूर्व ही समाप्त होकर एक विशेष अपेक्षित प्रभाव छोड जाती है। इस प्रकार गीतिकी भाव मूलक एकतामें उसके आकारकी लघुताका गुण भी निहित है। किसी एक तीव्र अनुभूत भावकी स्थिति अधिक देरतक विकासशील नहीं रह सकती। यदि उसे बढाया जायगा तो उसमें पुनरुक्ति, उपदेशात्मकता, वर्णनात्मकता और परिणामस्वरूप प्रभावहीनता आ जायगी। कविकी आत्म-निष्ठ तीव्र भावानुभूति अखण्ड और सुसंहत रूपमें गीतिके लघु आकारमें ही सुरक्षित रह सकती है। प्रेरणा-प्राप्त सौन्दर्य-कल्पनासे प्रसूत गम्भीर मनोवेगकी अभिव्यक्तिमें गतिकी तीव्रता भी स्वाभाविक है, जो लम्बी रचनामें सम्भव नहीं है।

गीतिकी आङ्गिक रूप-रचनाके लिए कोई कठोर नियम नहीं निर्धारित किये जा सकते। स्वच्छन्दता गीतिकाव्यका आवश्यक लक्षण है, परन्तु भाव-सङ्कलन और भाव-विकास सम्बन्धी उपर्युक्त विशेषताके कारण गीतिकी अङ्ग-रचनाके सहज ही तीन अंश हो जाते हैं। गीतिका प्रारम्भ भावको जागरित करनेवाली प्रेरणासे होता है, जो किसी सम्बोधनके रूपमें, भाव-प्रेरक परिस्थिति-विशेषके सङ्केत रूपमें अथवा भावोत्तेजना देनेवाले विचार, स्मरण आदिके कथनरूपमें व्यक्त की जा सकती है। यह अंश अत्यन्त संक्षिप्त होता है और उसमें स्वतः बौद्धिकता या तर्क-वृत्ति नहीं होती, यद्यपि वह बोध-वृत्तिका आधार अवश्य होता है। गीतिके इस प्रथम अंशमें प्रेरक परिस्थिति, विचार, स्मृति, प्राकृतिक दृश्यके सङ्केत आदिके द्वारा कवि एक कुतूहल-सा जगा देता है। गीतिके दूसरे अंशमें उद्दीप्त भाव विकसित होता है, जब कि बोध-वृत्ति या तर्कके सहायतासे भावकी तीव्रताको आवश्यकतानुसार अधिकाधिक वृद्धि दी जाती है। चरम सीमापर पहुँचकर गीतिका भाव तीसरे अंशमें, किसी स्थिर विचार, मानसिक दृष्टिकोण अथवा सङ्कल्पके रूपमें परिवर्तित होकर मनकी सामान्य स्थितिमें विलीन हो जाता है। इसीलिए गीति एक स्वतःपूर्ण और प्रसंग-निरपेक्ष रचना है। उसमें व्यंजना और संकेतकी प्रमुखता है। अभिनव गुप्तके शब्दोंमें पूर्वापर प्रसंग-निरपेक्ष होनेपर भी उसके द्वारा रस-चर्वणा होती है, इस अर्थमें वह मुक्तक काव्य है।

गीतिकाव्यके सम्बन्धमें प्राचीनों—प्राच्य और पाश्चात्य दोनों—की धारणा ऊँची नहीं थी। संस्कृतमें उसे कोई स्थान ही नहीं दिया गया। यूनानी विचारक अरस्तूने उसका उल्लेखमात्र करके छोड दिया। इस उपेक्षाका कारण यह है कि गीति-कविकी दृष्टि, कहा जाता है, सापेक्ष होती है, वह पूर्ण सत्यका उद्घाटन करनेमें समर्थ नहीं होती। परन्तु वास्तवमें ऐसे गीति-कवियोंकी कमी नहीं है, जिन्होंने विस्तृत जगत्पर दृष्टिपात किया है और गीतिके माध्यमसे महान् सत्योंकी उपलब्धि की है। गीति-तत्त्वोंके साथ उनकी रचनाओंमें नाटकत्व और महाकाव्यत्वके भी गुण मिलते हैं। सूरदास, मीराँ, वर्ड्सवर्थ, शेली, रवीन्द्रनाथ, 'प्रसाद' आदि ऐसे ही कवि हो गये हैं। यह भी कहा गया है कि जब युगकी अन्तश्चेतनामें काम-वासनाकी प्रधानता होती है, तभी गीतिकाव्य फलता-फूलता है। वह कथन सत्य है; केवल इसमें जो लांछनका संकेत है, वही अनुचित है। काव्यमात्र तभी फलता-फूलता है, जब युग-चेतनामें भाव-प्रवणताकी तीव्रता होती है। न विलासके वातावरणमें काव्यकी उन्नति होती है और न भौतिकतापूर्ण यान्त्रिक सभ्यता इसे पनपने देती है। प्रेमका व्यापक भाव ही तो काव्यका सबसे अधिक प्रिय भाव है, वही मानव-मनकी नाना वृत्तियोंका मूल उत्स है। विश्वके महान् गीतिकारोंने उसे उदात्त भूमिपर प्रतिष्ठित करके मनुष्यको पशु-सामान्य स्थितिसे ऊपर उठाया है। गीति-कवि उपदेश और आदर्शपूर्ण-चित्रण नहीं करता, वह व्यक्तित्वका अत्यन्त निश्छल उद्घाटन करता है। जीवनके व्यापारोंमें भी हमारी दृष्टि व्यक्तिपर पड़ती है। गीति-कवि सहज ही हमारा आत्मीय बन जाता है। वह जन्मना कवि होता है, उसकी कृति ध्वनि-काव्य है। कम-से-कम शब्दोंके सहारे लय और स्वर-तालकी अनन्त संगतियोंको मिलाकर वह हृदयकी विस्मृत भावनाओं और प्रसुप्त संस्कारोंको जगा देता है। उसमें विचारोंको भाव-संवलित करके क्रियाशील बना सकनेकी अद्भुत क्षमता होती है। उदात्त कल्पनाओंको उद्बुद्ध करके वह इतिवृत्तपूर्ण सांसारिकतासे ऊपर उठानेकी शक्ति रखता है।

गीतिकाव्यके अनेक भेदोपभेद किये गये हैं—**गीत, भावगीति** और उसके अनेक रूप, जिनमें **सम्बोध-गीति** प्रमुख है, **शोक-गीति, वर्ग-गीति** या **समाज-गीति, राष्ट्रीय गीति** आदि। इन सबपर पृथक् विचार किया गया है। —व्र० व०

भारतमें गीतिका प्राचीनतम रूप संहिताओंमें प्राप्त होता है। यद्यपि वैदिक काल आर्योंके सामुदायिक योग-क्षेमका काल है। जिसमें व्यक्तिके लिए स्थान नहीं है, उसके अश्रु, हास, उल्लास, विषाद सभी सामूहिक रूप लिये हुए हैं, तथापि तद्युगीन व्यक्तिमें धार्मिक प्रेरणाओंमें सामुदायिक रागात्मक अनुभूति जागरित करनेके लिए यज्ञ तथा संस्कारादिके अवसरोंपर वेदोंको अघाति, तुनव, कन्यवीणा, नाद इत्यादि वाद्ययन्त्रोंके साथ सस्वर गानेकी प्रथा रही है। इस प्रकार वैदिक ऋचाओंके समवेत गायनमें उच्चारण, स्वर, लय, ताल तथा नाट्य-विधानकी कठोरताके कारण गीतिके संगीततत्त्वकी रक्षा तो अवश्य हो गयी, किन्तु कुछ प्राकृतिक दृश्योंके वर्णन, रूपक-कथाओं तथा संस्कार-विशेषके समयके भावाभिव्यंजनको छोडकर उसमें वैयक्तिक भावनाकी तरलता सुरक्षित नहीं है, अतः वैदिक गीतमें गीतिका प्राथमिक गुण अवश्य पाया जाता है।

वैदिक कालकी अपेक्षा बौद्ध काल वैयक्तिक साधनाका काल है, अतएव उसमें वैयक्तिकता और आत्मनिष्ठताकी

अधिक सम्भावना है, किन्तु नैतिक आचरण और धार्मिक उपदेशके आग्रहके कारण तत्कालीन साहित्यमें व्यक्तिके स्वाभाविक मनोरागोंकी अभिव्यक्तिके लिए स्वतन्त्र अवसर नहीं मिल पाया और विरक्तिमें निष्ठाके कारण संगीतात्मकता भी अक्षुण्ण नहीं रह सकी है। फलतः पाली साहित्यमें गीतिकाव्यका अभाव ही है, यद्यपि **थेर** या **थेरी** गाथाओंकी बौद्ध भिक्षुणियोंकी आत्म भिव्यक्तिमें यत्र-तत्र गीत्यात्मकता-का आभास मिल जाता है।

संस्कृतमें वाल्मीकि-रामायण, पाठ्यके साथ गेय भी कही गयी है, किन्तु उसके इतिवृत्तात्मक कलेवरमें गीतिकी सद्यः-संजात भावना खोजनेपर ही मिलती है। दूतकाव्यकी परम्परामें कालिदासका मेघदूत कथात्मक होते हुए भी इतना व्यक्तिनिष्ठ और भावुकतापूर्ण है कि उसे गीतिकाव्यके निकट माना जा सकता है। वस्तुतः संस्कृतमें गीतिकाव्यका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण पीयूषवर्षी जयदेवका 'गीतगोविन्द' है, जिसमें एक ओर रागोंका शास्त्रीय विधान है और दूसरी ओर राधा-कृष्णकी विलास-क्रीडाओंका ललित पदावलीमें चित्रात्मक वर्णन है। इस प्रकार यहाँ गीत और गीतिकाव्य एक दूसरेके समानान्तर है।

हिन्दी साहित्यके आदिकालीन प्रबन्धकाव्यों तथा वीरगाथाओंमें भी गीतिकी प्रवृत्ति देखी जा सकती है। इनमें रण और प्रणय, वीर और शृङ्गारके वर्णनोंमें उत्साह और रतिकी गेयात्मक अभिव्यंजना हुई, जिसमें छन्दनिहित गेयता भी है और हार्दिकता भी। इस दृष्टिसे चन्द बरदाईके 'पृथ्वीराजरासो'के 'कनवज्जसमय', 'बड़ी लड़ाईके समय' तथा नरपति नाल्हके 'बीसलदेवरासो'के प्रबन्धमें भी गीतिके तत्त्व पाये जा सकते है। जगनिकके वीरगीत 'आल्हखण्ड'में **लोकगाथा** (बैलेड)का स्वरूप सुरक्षित है, जिसमें लोक-मानस संगीत और काव्यात्मकताके साथ सम्मुख आया है। डिंगल साहित्यमें पृथ्वीराजकी 'क्रिसन-रुक्मिणी-वेलि', कुशललाभके 'ढोलामारू रा दूहा' और नरोत्तमस्वामीके 'राजस्थान रा दूहा'में भी गीतिकी प्रकृतिका सम्मिलन है। वास्तवमें **लोकगाथा** गीति और प्रबन्धके सीमा-मिलनका काव्य-विधान है, अतः उसमें दोनों काव्यरूपोंके तत्त्व पाये जाते है।

मैथिल-कोकिल विद्यापतिके पदोंसे हिन्दीमें गीतिकी एक स्वतन्त्र परम्पराका प्रवर्तन होता है। यद्यपि उन्होंने जय-देवकी भाँति ही राधा-कृष्णका प्रेम अपनी पदावलीका विषय बनाया है, किन्तु उनके गीतिपदोंमें राधा-कृष्णका जो प्रणय, शिव-गंगाकी जो भक्ति व्यक्त हुई है, उसमें हृदयकी अनेक स्वाभाविक वृत्तियों तथा दशाओंका सुकुमार चित्रण है। विभिन्न रागोंके विधान और मानव-मनकी सौन्दर्यके प्रति लालसाकी जो आत्मनिष्ठ व्यंजना यहाँ द्रष्टव्य है, उसके आधारपर विद्यापति हिन्दीके प्रथम गीतिकार कहे जा सकते है, जिनमें शब्द और स्वर अपने क्षेत्रोंमें व्यापक प्रभाव लिये हुए हैं। निर्गुणाश्रित अनुभव-मार्गी सन्त कवियों—कबीर, दादूदयाल, सुन्दरदास, मलूकदास, दरिया साहब आदिके पदोंमें गीतकाव्यका अधिक उत्कृष्ट रूप उपलब्ध होता है। इन्होंने एक ओर धर्मोपदेशकके रूपमें व्यक्तिवादी सामाजिक उन्नयन, संघटन, ऐक्य, अभेद और सहानुभूति-की भावनाओंके प्रचार, कर्मकाण्ड, मिथ्याडम्बर और पाखण्डके खण्डन, गुरु, सत्संग-सदाचार तथा मानव-धर्मकी स्थापनाके लिए प्रयत्न किया है, दूसरी ओर साधकके रूपमें 'पुहुपवासमें पातरे' निर्धर्मक निराकार ब्रह्मको 'प्रिय' मानकर अपनेको उसकी प्रिया स्वीकार किया है और दाम्पत्य भावकी प्रेम-साधनामें लीन होकर मिलन-विरहकी भावस्थितियोंके सजीव चित्र उपस्थित किये है। इस प्रकार उनके पदोंमें जहाँ-जहाँ स्पष्टवादिता, तीव्रता, व्यंग्य, आत्मविश्वास और दृढता है, वहीं उनमें आन्तरिक अवस्थाओंके स्वच्छ, मधुर और मर्मस्पर्शी आवेशमय चित्रण भी है। उन्होंने धार्मिक सत्योंके उद्घाटनमें रूपकों तथा उलटबाँसियोंमें गीतिकी ध्वनिप्रधान प्रतीकात्मक शैलीका प्रयोग किया है, किन्तु वैराग्य, ऐकान्तिक साधना, उपदेशके अतिरेक, भाषाकी अस्पष्टता, गहन लाक्षणिकता तथा खण्डनात्मक प्रवृत्तिके कारण उनमें गीतिकाव्यकी उन्मुक्त प्रेषणीयता, सहज ग्राह्यता तथा आशु प्रभावोत्पादकता अपेक्षाकृत कम आ पायी है। फिर भी सन्तोंकी इस पद-पद्धतिमें गीतिका सच्चा रूप पहली बार प्राप्त होता है, जिसमें संगीतसे काव्य कुछ बिना हुआ है।

वैष्णव भक्तकवियोंके कृष्णकाव्य और रामकाव्यमें गीति-काव्यका सर्वोत्कृष्ट नैसर्गिक रूप मिलता है। इन्होंने निरा-कार ब्रह्मको भी नाम और रूपमय लीलावतारीके रूपमें प्रतिष्ठित किया है, जिसका साक्षात्कार लोकके बीच भी किया जा सकता है। कृष्णभक्त कवियोंने राधा-कृष्णके जिस रूप और रसपूर्ण पक्षको लीला-कीर्तनके लिए चुना, उसका अपरिमित सौन्दर्य इन कवियोंको अतिशय संवेदनशील और भावुक बनानेके लिए पर्याप्त है। संवेदनशीलता और भावुकता गीतरचनाके लिए प्राथमिक उपादान है। इसके अतिरिक्त दैन्य, हास्य, वात्सल्य, सख्य, कान्ताभक्तिका अनुसरण करनेके कारण इनके काव्यमें करुणापूर्ण आत्म-निवेदन, मातृत्व, मैत्री, रति-भावका जो सहजोद्रेक मिलता है, उसमें गीतिकी आत्मा सहज रूपमें देखी जा सकती है। ये कवि यद्यपि प्रायः गोपी, गोप, यशोदा, राधा-कृष्ण, कुब्जा आदि पात्रोंके माध्यमसे भावाभिव्यक्ति करते है, पर उसमें भी तन्मयता और भावशीलताके कारण सद्यः-स्फूर्ति, आत्मीयता तथा नवीनता आ गयी है। पात्रोंका सुखःदुख, हास-रुदन, संयोग-वियोग जैसे उनका ही बन गया है, यहाँतक कि प्रकृति भी उन्हींके मनोरागोंकी सहचरी है। भजन या कीर्तनके लिए गाये जानेके कारण उनके ये पद सङ्गीतमय भी है। इस प्रकार ब्रजभाषाके मधुर गायक सूरके विनय, मुरली-माधुरी, रासलीला, भ्रमरगीत आदिके पदों तथा परमानन्ददास, नन्ददास, हितहरिवंश आदिके पदोंमें गीतिकी प्रगीतात्मकता पूर्ण रूपसे सुरक्षित है। सूर-का 'भ्रमरगीत' विरहव्यथा, व्यंग्य और विनोदपूर्ण **उपालम्भ-गीति**का अन्यतम उदाहरण है। तुलसीदासकी 'गीतावली', 'श्रीकृष्ण गीतावली' और विशेष रूपसे 'विनय-पत्रिका'में गीत्यात्मकता साकार हो गयी है। इस प्रकार **भक्तिकाल**के प्रगीतोंमें अनलंकृत संक्षिप्त अर्थाभिव्यक्ति तथा शास्त्रीय सङ्गीत-विधान दोनों उच्चस्तरपर विद्यमान है।

रीतिकालमें चमत्कार-चातुर्य, अलंकरण-आधिक्य और

अवसरोपयुक्त उक्ति-वैचित्र्यके कारण मुक्तक काव्यका ही प्रणयन हुआ, गीतिकाव्यकी रचनाके लिए अवकाश नहीं मिल पाया ।

आधुनिक काल अपेक्षाकृत व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, अतीत-गौरवके प्रति आस्था तथा राष्ट्रीय जागरणका काल है, जो गीतिकाव्य-धाराके प्रसारके लिए अत्यन्त उपयुक्त है । अतः भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने एक ओर विद्यापति, चण्डीदास, सूर, तुलसी, मीराँकी परम्परामें राधा-कृष्णके आलम्बन लेकर व्रजभाषामें भक्तिपूर्ण स्फुट पद और 'चन्द्रावली'में गीत लिखे हैं, दूसरी ओर राष्ट्रीयतापरक कविताओंकी भी रचना की है । परन्तु वस्तुतः राष्ट्रीय गीतोंकी परम्परा श्रीधर पाठकने प्रारम्भ की । उन्होंने भारत-स्तवन तथा राष्ट्र-प्रेमके गीतोंकी रचना की है । इसके पश्चात् द्विवेदी-युग देश-प्रेम, नीतिपरक आचार-शीलता, इतिवृत्तात्मकता और भाषा-परिष्करणका युग है । अतः इस युगकी कविता समाज-सेवा, पुरातनप्रेम, सामाजिक व्यंग्य एवं सुधारकी भावनाओंसे पूर्ण है । महावीरप्रसाद द्विवेदीकी 'विधि-विडम्बना', नाथूराम शङ्कर शर्माकी 'पञ्चपुकार', गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'के 'अहिंसा-संग्राम', 'कविराजसे सम्बोधन', मैथिलीशरण गुप्तके 'सुकवि-कीर्तन', 'स्वर्ण-सहोदर', 'स्वर्ण-सङ्गीत', मन्नन द्विवेदीकी 'चमेली', रामचरित उपाध्यायके 'कन्हैया', 'नौकरशाही', माधव शुक्ल तथा मुकुटधर पाण्डेयकी स्फुट कविताएँ इसके उदाहरण हैं । किन्तु विषयकी एकरूपता, अभिव्यक्तिकी स्थूलता, वर्णनात्मकता और भाषाकी रूक्षताके कारण इनमें भावार्द्रता और व्यञ्जकता नहीं है, जिसके कारण ये रचनाएँ **पद्य-निबन्ध** होकर रह गयी हैं । इस युगके प्रतिक्रियास्वरूप **छायावाद** और **रहस्यवाद**का युग आता है, जिसकी गीति-शैलीपर एक ओर लावनी, कजली, दादरा, बिरहा आदि लोकप्रसिद्ध लोक-गीतोंका प्रभाव है और दूसरी ओर इंग्लैण्डके रोमांसिक युगकी 'लिरिक'-शैलीकी छाप है । इस प्रकार छायावाद-युगीन गीतिकाव्यमें भावकी दृष्टिसे आध्यात्मिक मिलन-विरह, संसारकी नित्यता-अनित्यता, जीवन-दर्शन, लौकिक प्रणय, प्रकृतिमें मानवीय भावोंका प्रक्षेपण, उसमें दिव्यानुभूति, वैयक्तिक आशा-निराशा, हर्ष-विषाद, राष्ट्रीयता, निम्न वर्गोंके प्रति करुणा आदिकी व्यंजना हुई है और कलाकी दृष्टिसे चित्रोपम ध्वन्यात्मक भाषा, स्वच्छन्द छन्दोयोजना, सारोपा और साध्यवसाना लक्षणाके विस्तार, सुकुमार कल्पना, मूर्तका अमूर्त और अमूर्तका मूर्त-विधान, विशेषण-विपर्यय, समासोक्ति और अर्थान्तरन्यासकी शैली जिसकी विशेषता है । इस युगमें गीतिके विविध कलात्मक रूप प्रस्तुत हुए हैं । 'निराला'के 'परिमल', 'गीतिका', 'प्रसाद'के 'झरना', 'लहर', पन्तके 'गुञ्जन', 'पल्लव', महादेवीके 'नीरजा', 'सान्ध्यगीत', 'दीपशिखा', रामकुमार वर्माके 'चित्ररेखा', 'आकाशगङ्गा', 'बच्चन'के 'निशानिमन्त्रण', 'एकान्त संगीत', 'आकुल अन्तर', सियारामशरण गुप्तके 'दूर्वादल', 'दूरागत गान', मैथिलीशरण गुप्तके 'झङ्कार', सुभद्राकुमारी चौहानके 'कलह-हरण', रामनाथ 'सुमन'के 'अपने कलेजेका तूफान', गोपालशरण सिंहके 'कादम्बिनी', 'दिनकर'के 'द्वन्द्वगीत', 'रसवन्ती', 'दिगम्बरि', 'नवीन'के 'नंगे-भूखोंका यह गाना', भारतीय आत्माके 'अपने मृतसे', राय कृष्णदासके 'साधना', वियोगी हरिके 'तरङ्गिणी', 'अनन्त'के ने **अध्यात्मिक भावगीति**, 'निराला'के 'वनवेला', 'कुकुरमुत्ता', 'गर्म पकौड़ी', 'खजोहरा', 'बच्चन'के 'वृद्ध जगको अखरनेवाले वासना-गीत'में सामाजिक **व्यंग्यगीति**, 'प्रसाद'के 'आँसू', 'प्रभात'के 'कलेजेके टुकड़े', 'दिनकर'के 'नयी दिल्ली', कामताप्रसाद गुरुके 'भारतीय विलाप'ने **शोक-गीति**, 'प्रसाद'के 'हिमाद्रि तुंगशृङ्ग'वाले **अभियानगीत** तथा चन्द्रगुप्तकी कार्नेलियाके **राष्ट्र-गीत**, 'निराला'के **प्रभाती** और **उद्बोधनगीत** तथा मोहनलाल द्विवेदीके **अभियान-गीत**, **राष्ट्रीय गीत**, 'दिनकर'की 'बोधिसत्व', 'हिमालयके प्रति', पन्तकी 'परिवर्तन' नामक कविताओंने **राष्ट्रगीत** और **वीरगीत**, मैथिलीशरण गुप्तकी 'पत्रावली', द्वारकाप्रसाद गुप्त 'रसिकेन्द्र'की **पत्रगीति**, जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज'के 'टूटा हियहार'ने **पत्रगीति**, 'निराला'की 'यमुनाके प्रति', भगवतीचरण वर्माकी 'नूरजहाँकी कब्रपर', 'नववधू', पन्तकी 'छाया', दिनकरकी 'वालिकासे वधू', रामकुमार वर्माकी 'नूरजहाँ', 'दिनकर'की 'समाधिके दीपसे', 'निर्झरिणी'में **सम्बोधगीति**, 'प्रसाद'के 'करुणालय', 'महाराणाका महत्त्व', पन्तकी 'ज्योत्स्ना', 'निराला'के 'पंचवटीप्रसंग', उदयशङ्कर भट्टकी 'मत्स्यगन्धा', भगवतीचरण वर्माकी 'तारा', केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'के 'संवर्त्त', मैथिलीशरण गुप्तके 'लीला', 'अनघ' और सियारामशरण गुप्तकी 'कृष्णा'में **गीतिनाट्य**का विकास परिलक्षित है । इनके अतिरिक्त अँग्रेजीकी **सानेट**-पद्धतिपर प्रभाकर माचवे और बालकृष्णरावकी **चतुर्दशपदियाँ** भी गीतिप्रधान हैं । इस प्रकार छायावादी गीतिकाव्यमें स्वाभाविक भावुकताके साथ छन्दगत संगीत ही प्राप्त होता है, उसका शास्त्रीय रूप पृथक् हो गया है ।

प्रगतिवाद छायावादकी प्रतिक्रियाके स्वरूप आया । अतः इस युगकी कविताओंमें सामाजिक विषमताके प्रति विद्रोह, साम्यवादके प्रति आग्रह, शोषक पूँजीवादी प्रथाके नाश, शोषित किसान-मजदूरोंके प्रति सहानुभूति, ईश्वरके प्रति क्षोभ, अन्तरराष्ट्रीयता, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तथा इतिहासकी अर्थमूलक व्याख्याके प्रति श्रद्धा, जीवनकी स्थूल समस्याओंके समाधानकी चेष्टा, प्राचीन रूढ़ियोंके प्रति क्रान्ति, यौन-आकर्षण, ऐन्द्रियता, मानवप्रेम आदिकी भावनाएँ व्यक्त हुई हैं । अभिव्यक्तिमें स्पष्टता, सरलता और भाषाका अभिधाप्रधान रूप ही अधिक प्रस्तुत हुआ है । पन्तके 'युगान्त', 'युगवाणी', 'ग्राम्या', 'अंचल'के 'मधूलिका', 'अपराजिता', शिवमङ्गल सिंहके 'जीवनके गाने', 'लाल सेनाके प्रति', नरेन्द्रके 'शूल-फूल', 'कर्णफूल', 'दिनकर'की 'सामधेनी', गोपालशरण सिंहकी 'मानवी', श्रीमन्नारायणके 'रोटीका राग'में इसके उदाहरण प्राप्त हैं । **प्रगतिवाद**में गीतिकी संगीतात्मकता प्रायः खोनेको है और काव्यत्व भी मन्द है ।

प्रयोगवादी कविताके विषय वर्ग-चेतना, सामाजिक वैषम्योंसे उद्भूत, गुम्फित और जटिल संवेदनाएँ, पुरातन आदर्शोंकी अस्वीकृति, आदर्श जीवनकी वास्तविकताको बन्धन मानना, नारीके कायिक सौन्दर्यके प्रति लालसा,

छन्दहीनता, पूर्ण प्रतिष्ठित काव्यादर्शोंमें अविश्वास, जीवनकी कुहेलिकामें नये प्रतिमान-अन्वेषणकी प्रवृत्ति आदि देखी जाती है, जिसमें कवि अछूते नवीन विषयोंपर लिखनेके लिए आतुर है और साम्यके लिए खोज-खोजकर नये उपमान लानेका प्रयत्न करता है। इस प्रकार प्रयोगवादी गीतिकाव्य सचेष्ट काव्यके अन्तर्गत आता है, जिसमें भाषा, भाव-व्यंजनाके नये-नये प्रयोग देखनेको मिलते है, फलतः अभी वे लोक-मानसकी वस्तु नहीं बन पा रहे है। 'तार-सप्तक' तथा 'दूसरा सप्तक', 'अज्ञेय'के 'बावरा अहेरी', धर्मवीर भारतीके 'ठंडा लोहा', जगदीश गुप्तके 'नावके पाँव' तथा रामधारी सिंह 'दिनकर'के 'नील कमल'में यह प्रवृत्ति प्रकट हुई है। —वि० रा०

गीति-नाट्य—गीति-नाट्योंके आधुनिक रूपका, जिसकी भाषा गीतात्मक है, सर्वप्रथम सन् १५५४ ई०मे जन्म हुआ था, जब कि रिन्यूसिनी-लिखित डेफ्नेको यूनानी दुःखान्त नाटकोंको पुनरुज्जीवित करनेके उद्देश्यसे रंगमंचपर प्रस्तुत किया गया था। अतः पहले गीति-नाट्य संगीतपूर्ण दुःखान्त नाट्यके रूपमे होता था। विषय भी यूनानी पौराणिक कथाओंसे लिये जाते थे। इन गीति-नाट्योंमे संगीत, चित्रकारी, गीत-रचना, नृत्याभिनय, मंच-प्ररचना इत्यादि कलाओंके सयोजनसे प्रेक्षकोंपर मोहक प्रभाव-सृष्टि की जाती थी। १९ वीं शताब्दीतक यूरोपीय देशोंके सामन्त-समाजोंमे इसकी अधिक धूम रही। इसके पश्चात् सर्व-साधारणमें भी यह लोकप्रिय होने लगा। फ्रांसमे गीति-नाट्योंकी बड़ी उन्नति हुई। वहाँ इनमे यथार्थवादी प्रवृत्तियोंका समावेश हुआ तथा इनके अनेक रूप प्रचलित हुए। इनमें सुखान्त और दुःखान्त, भावात्मक एवं यथार्थवादी—सभी प्रकारके विषय उठाये गये। गीति-नाट्यके अंग है—**१. प्रस्तावना, २. कथा, ३. संवादाभिनय, ४. गीत, ५. नर्तन।** इसमें सारी कथा गीतोंके माध्यमसे प्रस्तुत की जाती है। इसकी दो शैलियाँ है—प्रथम, मूक अभिनयात्मक, दूसरी संवादात्मक। प्रथममें एक दल-विशेष वाद्य-यन्त्रोंकी सहायतासे भावयुक्त एवं संवादात्मक गीत गाता है और दूसरा दल उन गीतोंकी अनुरूप भूमिकामें गीतके भावोंके अनुरूप अभिनय करता है। भारतमें इस प्रकारके गीति-नाट्योंका प्रचार महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुरने अपने शान्ति-निकेतनमें किया था। उनका 'चाण्डालिका' नामक गीति-नाट्य रंगपीठपर बड़ी सफलता पा चुका है। दूसरी शैलीमें गीति-नाट्य वे है, जिनमे केवल पद्य-संवादमात्र रहते है। संवादके अतिरिक्त जितना कथा-भाग है, उसे या तो गायक-मण्डली गीत द्वारा व्यक्त करती है अथवा एक भावनटी या भावनट आकर कथा-भागको नृत्य द्वारा प्रस्तुत करता है। अतः गीति-नाट्योंके प्रदर्शन-विधानमे तीन दल होते है—१. अभिनेता, २. भावनट या भावनटी या कथाभिनेता, ३. गायक-वादक-मण्डलीके दो दल, जिनमेंसे एक पात्र प्रतिनिधि होता है और दूसरा समवेत गायक। —श्या० मो० श्री०

गुँडुरी—दे० 'हठयोग'।

गुजराती—गुजरात प्रदेशकी भाषा। गुजराती शब्द गुजरातसे बना है। गुजरातकी व्युत्पत्तिके बारेमें कई मत है, परन्तु सर्वमान्य व्युत्पत्ति आज यह मानी जाती है—गुर्जर+त्रा=गुर्जरत्रा>गुज्जरत्ता>गुजरात। आठवी शताब्दीमे दसवीं शताब्दीतकके उत्कीर्ण लेखोंमें गुर्जरत्रा-मण्डल, गुर्जरत्रा-भूमि, गुज्जरत्ता आदि शब्द मिलते है। प्रसिद्ध अरब यात्री अल्बरूनी (ई० ९७०-१०३०)ने 'गुजरात' तथा और दो अन्य अरब यात्री अबुजैद (ई० ९१६) और अलमसूदी (ई० ९४३)ने क्रमशः गुर्जर और गुजरात शब्दोंका प्रयोग किया है।

ऐसा माना गया है कि शक-कुलकी गुर्जर नामकी एक जाति पाँचवी शताब्दीके उत्तरार्द्धमे छठी शताब्दीके पहले दशकतकके समयमें दक्षिण पंजाबसे राजपूतानेकी ओर गयी थी। वहाँसे यह जाति धीरे-धीरे नर्मदा नदीके आस-पासके और सौराष्ट्रके प्रदेशोंमें भी फैल गयी थी। चीनके प्रसिद्ध यात्री हुएनत्सांगकी यात्राके समय इन गुर्जरोंकी राजधानी राजपूतानेमें भिन्नमालमें थी। मुसलमानोंके आक्रमणके कारण दसवीं शताब्दीके मध्यमें गुर्जरोंको भिन्नमाल छोडना पडा और वे आजके गुजरातके उत्तर-भागमे आकर रहने लगे। इस भूमिमे गुर्जरोको आश्रय मिला, इसलिए इसको गुर्जरत्रा भूमि कहने लगे।

गुजराती भाषाके लिए केवल गुजराती शब्दका ही प्रयोग मिलता है, दूसरा कोई पर्याय प्रचलित नही है। परन्तु प्राचीन कालमें इसी भाषाको अपभ्रंश, गुर्जर भाषा अपभ्रंश गिरा, प्राकृत या भाषा कहा जाता था।

सत्रहवी शताब्दीमें हुए रसकवि प्रेमानन्दने (१६४९-१७१४ ई०) पहले-पहल अपने काव्य 'दशमस्कन्ध'मे गुजराती शब्दका प्रयोग अपनी भाषाके लिए किया—"बांधुं नागदमण गुजराती भाषा"। इसके बाद १७३१ ई०मे जर्मनीके मुख्य नगर बर्लिनके एक लाइब्रेरियन ला कोझने अपने एक लेखमे गुजराती भाषाका उल्लेख किया है। उसके बाद तो धीरे-धीरे गुजराती शब्द व्यवहारमें आने लगा और आज वही एक शब्द प्रचलित है।

गुजराती भाषाकी उत्पत्ति शौरसेनी अपभ्रंशसे हुई है। ई० १०००से लेकर आजतकका उसका क्रमशः विकास भाषाकी दृष्टिसे जितना सुस्पष्ट है, उतना अन्य किसी भारतीय आर्य-भाषाका नहीं है। प्रत्येक शतककी भाषाके नमूने प्राप्त है। अर्वाचीन गुजरातीके मूल किस शताब्दीतक देखे जा सकते हैं, इस विषयमें मतैक्य नही है, फिर भी इन हजार वर्षोंको निम्नलिखित प्रकारसे सुविधापूर्वक बाँटा जा सकता है—

१. गौर्जर अपभ्रंश अथवा प्राचीन गुजराती—
   - क. प्रथम भूमिका, बारहवी शताब्दीतक।
   - ख. द्वितीय भूमिका, चौदहवीं शताब्दीके पूर्वार्द्धतक।

२. गुर्जर भाषा अथवा मध्यकालीन गुजराती—
   - क. प्रथम भूमिका, शुद्ध, लगभग १३५०से १४२५ ई०
   - ख. द्वितीय ,, मिश्र, ,, १४२५से १५०० ,,
   - ग. तृतीय ,, शुद्ध ,, १५००से १५७५ ,,
   - घ. चतुर्थ ,, मिश्र ,, १५७५से १६५० ,,

३. अर्वाचीन गुजराती—
   - क. प्रथम भूमिका लगभग १६५०से १८२५ ई०तक।
   - ख. द्वितीय ,, ... ,, १८२५ ई०से आजतक।

इस वर्गीकरणके सम्बन्धमें मतभेद भाषा-स्वरूपके बारेमें नहीं है, बल्कि समय-विशेषकी भाषाके नामकरणके सम्बन्धमें ही है। संक्षेपमें कह सकते है कि ईसवीके ग्यारहवें शतकतक अपभ्रंश भाषा प्रचलित थी। उसके बाद दो सौ वर्षतक अपभ्रंश और पुरानी गुजरातीका अन्तराल-रूप रहा। इस रूपको कुछ लोग अन्तिम अपभ्रंश या गौर्जर अपभ्रंश कहते है। उसके बाद उस भाषाका उद्भव हुआ, जिसे टेसिटोरी प्राचीन पश्चिम राजस्थानी (O W R) कहते है। सत्रहवीं शताब्दीके मध्यसे अर्वाचीन गुजरातीके चिह्न स्पष्ट दिखाई पडते है।

आज गुजरात प्रदेशकी सीमा उत्तरमें कच्छ और मेवाड-मारवाडतक, दक्षिणमे बम्बईके थाना जिलेतक, पश्चिममें अरब समुद्रतक और पूर्वमें मालवा-खानदेशतक सामान्यतः मानी जाती है। गुजराती जिन प्रदेशोंमें बोली जाती है, उसका क्षेत्रफल ७,१०,०७२ वर्गमील है। एक करोड साठ लाख लोग गुजराती भाषा बोलते है। गुजराती लिपि देवनागरीका ही एक रूप है। उसने देवनागरीकी शिरोरेखाके बन्धनसे अपनेको मुक्त कर लिया है और कुछ अक्षरोंकी आकृतियाँ बदल दी है।

गुजरातीमे विवृत अॅ और ऑका प्रयोग अच्छी तरह होता है। लिखनेमें वह बताया नहीं जाता, मगर बोलनेमे खास ध्यान रखना चाहिये। मो, देठो, छे, गोर, कोयल आदि शब्दोंमे विस्तृत अॅ ऑ है।

गुजरातीमें कण्ठ्य **ह्**के उपरान्त औरस्य **ह्**का प्रयोग भी कभी-कभी होता है—उदाहरण, ब्राह्मण, आह्वान। यहाँ **ह्** ध्वनि छातीमेंसे निकाली जाती है। कुछ तद्भव शब्दोंमें भी यह **ह्** ध्वनि थोडी-सी मात्रामें सुनाई पडती है। अमे, तमे, ज्यारे, त्यारे आदि शब्दोंमें यह **ह्** ध्वनि सुनाई पडती है। इसे **ह्** श्रुति कहते है।

इसी प्रकार कुछ शब्दोंमें य् ध्वनि भी थोडी-सी सुनाई पडती है। जैसे, ऑखको ऑख्य; लावको लाव्य; दोरडुंको दोयडुं लोग बोल देते है। इसे य-श्रुति कहते है।

गुजरातीमे कोमल चन्द्रबिन्दु (ˇ)का लिखनेमें उपयोग नही होता है, परन्तु उच्चारणमे बराबर ध्यान रखा जाता है।

गुजरातीमें कहीं-कहीं च्, छ्, ज्, झ्के उच्चारण प्राकृतसे आये है, किन्तु साहित्यिक एवं सरकारी भाषामें शुद्ध तालव्य उच्चारण ही होता है।

ज्ञका उच्चारण गुजरातीमें ग्न होता है। इस प्रकार ज्ञानको गुजरातीमे ग्यान नहीं, ग्नान बोला जाता है।

गुजरातीमे स्वराघात (accent)का तत्त्व सूक्ष्म तौरपर देखा जा सकता है। यह स्वराघात द्विविध है। शब्दमे वह वर्ण या वर्णोंके ऊपर होता है। जैसे घर, मेज, कबाट, घरबार, षावरापणुं।

गुजरातीमें अनेक शब्दोके अन्त्यवर्ण त्वरितोच्चार्य होते है, जैसे रमण्, शाक्, गाम्। उसका कारण कदाचित् है कि इन वर्णोंपर स्वरभार नहीं आता है।

गुजराती स्वराघातका द्वितीय स्वरूप है—वाक्य अन्वयानुसार शब्दपर स्वरभार लगता है। कवि न्हानालालने अपने अनोखे काव्य छन्द, डोलन छन्दमे इनका पूरा उपयोग किया है।

गुजरातीमे प्रयुक्त फारसी अक्षरोके नीचे न बिन्दी लगायी जाती है और न उनका उच्चारण फारसी उच्चारणकी तरह होता है। ड और ढके नीचे भी बिन्दी नहीं लगायी जाती।

गुजरातीमें पूर्ण विरामकी जगह अंग्रेजीकी तरह छोटी बिन्दी (.) रखी जाती है। खडी पाई (।)का उपयोग नहीं होता। अन्य विराम-चिह्न हिन्दी जैसे ही है।

गुजरातीमे प्रत्यय शब्दके साथ ही लगते है। मात्राएँ हिन्दीकी तरह लगायी जाती है।

गुजरातीमे संस्कृतकी तरह तीन लिंग है। नपुंसक लिंगको नान्येतर जाति कहते है। सामान्यतया ओकारान्त शब्द पुल्लिंग, इकारान्त शब्द स्त्रीलिंग और उकारान्त शब्द नपुंसक लिंगके होते है।

गुजरातीमे सामान्यतः ओ लगानेसे एकवचनका बहुवचन होता है। दो ही वचन है।

गुजरातीमे हिन्दीके सर्वनामोंके उपरान्त एक अन्योन्यवाचक सर्वनाम भी चलता है।

हिन्दी और गुजरातीमे संज्ञा और विशेषणमे कुछ नामोंके सिवा साम्य ही है।

गुजरातीकी क्रियाएँ, कृदन्त तथा काल हिन्दीकी तरह ही है। अव्यय भी हिन्दीकी तरह है। सब जगह नामकरण भेद है।

प्राचीन गुजराती साहित्य—तेरहवीं शताब्दी ईसवीके मुख्य ग्रन्थ निम्नलिखित है—शालिभद्र सूरिकृत 'भरतेश्वर बाहुबलिरास', विजयसेन सूरिकृत 'रेवन्तगिरि रासु'; विनयचन्द्र सूरिकृत 'नेमिनाथ चतुष्पादिका' आदि। उस समयके गद्य-लेख भी मिलते है।

चौदहवीं शताब्दी ईसवीके मुख्य ग्रन्थ है—जिनधरकृत, 'कछूली रास', राजशेखरकृत 'नेमिनाथ फागु', किसी अज्ञात कविकृत 'वसन्त विलास फागु', जैनेतरकवि असाइतकृत 'हंसाउली', श्रीधर व्यासकृत 'रणमल्ल छन्द' आदि।

पन्द्रहवी शताब्दी ईसवीके मुख्य ग्रन्थ—जयशेखरकृत 'प्रबोध-चिन्तामणि', अब्दुर्रहमानकृत 'सन्देश रासक', माणिकचन्द्र सूरिकृत 'पृथ्वीचन्द चरित्र', भालणकृत 'कादम्बरी', पद्मनाभकृत 'कान्हडदे प्रबन्ध' इत्यादि।

कविवर नरसिंह मेहताकी कृतियाँ—'शामलदासनो विवाह', 'राससहस्रपदी', 'शृंगारमाला', 'चातुरीओ', 'हिंडोलाना पदो', 'वसन्तनां पदो', 'सुदामाचरित्र' आदि इसी शतकमें लिखी गयी है।

सोलहवीं शताब्दी ईसवीमे मीरॉ, नाकर, उद्धव, विष्णुदास आदि अनेक कवियोके ग्रन्थ मिलते है।

इस प्रकार प्राचीन गुजरातीमें रास, फागु, कथा, कथानक, चरित्र, चतुष्पादिका आदि अनेक जैनकाव्य-स्वरूप और आख्यान, कथा, बारहमासी, पद, गरबी आदि अनेक ब्राह्मणकाव्य-स्वरूप मिलते है।

मध्यकालीन गुजराती साहित्य—इस युगको प्रेमानन्द-

युग कहा जा सकता है। सत्रहवीं शताब्दीके हुए इस रससिद्ध कविकी कीर्ति गुजराती साहित्यमें स्थायी है। अपने आख्यानोंमें उसने नवों रसोंका सफल चित्रण किया है। यह कवि सौ फीसदी गुजरातीत्वसे भरा था और उसकी कृतियाँ गुजरातियोंको जैसा आनन्द देती रही है, वैसा आनन्द उस युगके किसी कविकी कृतियोंके द्वारा नहीं मिल सकता है। इस युगका दूसरा वेदान्ती कवि अखो है। कबीरकी वाणीकी तरह अखोकी वाणी भी हृदयपर सीधा असर करती है। उसके छप्पय आज भी गुजरातमें घर-घरकी कहावतें बन गये हैं। उसकी 'अखेगीता'में चिन्तन और साधनाकी परिपक्वता मिलती है। अखोकी रचनाएँ सामान्यतः दार्शनिक हैं।

इस युगके कवि शामलने पद्यमें कहानियाँ लिखी हैं। इन पद्य-कथाओंका औपन्यासिक रस आज भी पढ़नेवालोंको मुग्ध कर लेता है।

बादके कवियोंमें प्रीतम, धीरो और भोजो उल्लेखनीय हैं। इनके पद और भजन आज भी बहुत लोकप्रिय हैं।

इस युगका अन्तिम महान् कवि दयाराम है। **गरबी** साहित्यका वह चक्रवर्ती सम्राट् माना जाता है। वह पुष्टिमार्गी था और मुख्यतः श्रृंगार रसका कवि था। गुजरातकी नारियाँ आज भी दयारामकी गरबियाँ गाकर रास खेलनेमें धन्यता अनुभव करती हैं।

अर्वाचीन गुजराती साहित्य—अर्वाचीन गुजराती साहित्यकारोंमें आद्य हैं वीर नर्मद। अंग्रेजोंका शासन शुरू हो गया था। अंग्रेजी शिक्षा शुरू हो गयी थी। चारों ओर सुधारका वातावरण था। गुजरातीमें मुद्रण शुरू हो गया था। गुजरातीका पहला समाचारपत्र 'मुंबई समाचार' १० जून, १८२२ ई०से मोबेद फरदुनजी मर्जबानने प्रकाशित करना शुरू किया था। नर्मदने कॉलेजमें अध्ययन भी किया था। उस जमानेमें इस सरस्वती-पुत्रने प्रतिज्ञा की थी कि कलमके द्वारा जो धन मिले, उससे ही जीवन-निर्वाह करना है। उसकी कविताने लाखोंको मुग्ध किया, उसके गद्यने लाखोंको प्रेरणा दी। वह प्रेम-शौर्यका कवि था। नर्मदने कोशकी भी रचना की थी।

नर्मदके समकालीन कवीश्वर दलपतरामको भी हम नहीं भूल सकते। गुजरात वर्नाक्युलर सोसाइटी (आजकी गुजरात विद्यासभा)की स्थापनामें फार्बस साहबको उनसे ही विशेष सहायता मिली थी। इस सभाने गुजराती साहित्यकी अत्यन्त सेवा की है और आज भी यह इस कार्यमें संलग्न है।

आधुनिक गुजरातीके सर्वप्रथम आलोचक नवलराम पण्ड्या भी इसी युगमें पैदा हुए थे। गुजरातीका पहला प्रमुख उपन्यास लिखनेवाले नन्दशङ्कर मेहता, प्रार्थना समाजके संस्थापक भोलानाथ साराभाई, सुधारक महीपतराम नीलकण्ठ, विदेश जानेवाले पहले गुजराती करसनदास मूलजी, वैज्ञानिक भगवानलाल इन्द्रजी और ऐसे अनेक महान् व्यक्तित्व इसी युगकी देन हैं।

१८८७ ई०में गुजरातीके श्रेष्ठ उपन्यास 'सरस्वती चन्द्र'-का पहला भाग प्रकाशित हुआ। इस उपन्यासके लेखक साक्षरवर्य गोवर्धनराम त्रिपाठी १९०५ ई०में पहली गुजराती साहित्य परिषद्के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। गुजराती गद्य-शक्तिका इतना शक्तिपूर्ण प्रस्फुटन उनके पहले कभी नहीं हुआ था। यह युग पण्डित-युगके नामसे गुजरातीमें प्रसिद्ध है। गोवर्धनराम त्रिपाठी, नरसिंह राव दिवेटिया, मणिलाल नभुभाई, रमणभाई नीलकण्ठ, केशव हर्षद ध्रुव, आनन्दशङ्कर ध्रुव, कवि कान्त, कवि ब० क० ठा०, अहमदाबाद साहित्य सभा तथा गुजराती साहित्य परिषद् आदिके प्रथम संयोजक रणजीत राम, ये सब ऐसे दिग्गज पण्डित थे, जो किसी भी साहित्यके लिए गौरवपूर्ण व्यक्तित्व माने जा सकते हैं। गुजराती साहित्य इन्हें पाकर धन्य हुआ है।

बादका श्रेष्ठ व्यक्तित्व है कवि नानालालका। गुजराती कविताको जिस विकास-शिखरपर वे ले गये, उससे आगे अबतक कोई नहीं ले जा सका है। नानालाल गुजरातके रवीन्द्रनाथ ठाकुर हैं। उनके गीत और रास सदा लोकप्रिय रहेंगे।

इसके बादका युग गान्धी-मुन्शी-युगके नामसे प्रख्यात है। महात्मा गान्धी जैसा व्यक्तित्व गुजराती साहित्यको और दूसरा कौन मिल सकता था! उन्होंने स्वयं तथा उनके शिष्य गान्धीवादी लेखकोंने गुजराती साहित्यका अत्यन्त उपकार किया। उसी समय उपन्यास-सम्राट् कन्हैयालाल मा० मुन्शीने अपने उपन्यासों, नाटकों, कहानियों, लेखों द्वारा गुजराती अस्मिताको जाग्रत् किया। इनके बाद आज गुजराती साहित्य सभी क्षेत्रोंमें प्रगति कर रहा है। उपन्यास, कहानी, नाटक, एकांकी, कविता, चिन्तन, आत्मकथा, जीवनी, निबन्ध, आलोचना, पत्रकारिता सभी क्षेत्रोंमें गुजराती साहित्य समृद्ध हो रहा है। लोकसाहित्यमें मेघाणीजीने अभूतपूर्व कार्य किया है।

राष्ट्रभाषा हिन्दीके साथ गुजरातीका विशेष सम्बन्ध है। दोनों एक माताकी—शौरसेनी अपभ्रंशकी—पुत्रियाँ हैं। प्रारम्भसे दोनोंपर एक-दूसरेका प्रभाव पड़ा है। ब्रजभाषाका प्रचार गुजरातमें काफी था। गुजरातके अनेक वैष्णव कवियोंने ब्रजभाषामें रचनाएँ की हैं। भुज, कच्छमें ब्रजभाषाकी बहुत बड़ी पाठशाला थी, जहाँ उत्तरभारतसे भी लोग पढ़नेके लिए आते थे। हिन्दीके सुप्रसिद्ध कवि गोविन्द गिलाभाई सौराष्ट्रके शिहोर गाँवके थे। लल्लूजीलाल गुजराती थे। गुजराती कवि दयारामने सैकड़ों रचनाएँ ब्रजभाषामें की हैं। आजके नवोदित कवि-लेखक गुजरातीके साथ-साथ हिन्दीमें भी कविताएँ, कहानियाँ तथा उपन्यास आदि लिख रहे हैं।

हिन्दीको राष्ट्रभाषाका पद दिलानेमें अहिन्दी-भाषियोंका प्रमुख हाथ रहा है। उसमें भी गुजरातका हाथ कम नहीं है। स्वामी दयानन्द और महात्मा गान्धीके नामोंके उल्लेख इस सम्बन्धमें पर्याप्त होंगे। राष्ट्रभाषा-प्रचारके क्षेत्रमें तथा राष्ट्रभाषाकी परीक्षाओंमें भी सबसे बड़ी संख्या गुजरातियोंकी है।

साहित्यके प्रवाहको देखें तो भी विलक्षण साम्य नजर आता है। वीरगाथाकाल तथा भक्तिकालमें जैसी रचनाएँ हिन्दीमें मिलती हैं, वैसी गुजरातीमें भी मिलती हैं। रीतिकालका गुजरातीमें अभाव है। भारतेन्दु-मण्डलीने जो काम

जिस समय किया, वही काम उसी समय नर्मद-मण्डली-ने किया। आधुनिक कवितामें हिन्दीमें जिन वादोंकी कविताएँ लिखी गयी हैं, उन वादोंकी कविताएँ गुजरातीमें भी लिखी गयी हैं, यद्यपि गुजराती कवितामें वादोंके लेबल कभी नहीं लगे।

गुजराती शब्द-समूह और हिन्दीके ७५ प्रतिशत शब्द-समूहमें समानता है। खड़ीबोलीमेंसे ब्रजभाषाके तथा अपभ्रंशके शब्द अब हटते जा रहे हैं, किन्तु ऐसे शब्द गुजरातीमें हैं। —ज० त्रि०

गुड़—योग-साधनामें सोमरस या मदिरा बनानेका एक साधन—"अमृत दाखी भाठी भरिया ता मधै गुड़ झकोल्या" (गोरखबानी)। यहाँ गुडका अर्थ सुरति माना जाता है। कबीरने गुरुके शब्दको भी गुड़ माना है—"कबीर गुडकी गमि नहीं पांहण दिया बनाइ। सिष सोधी बिन सेविया पारि न पहुँच्या जाइ॥"(कबीरग्रन्थावली)। —उ० शं० शा०

गुण—शब्दार्थ है विशेषता, शोभाकारी या आकर्षक धर्म, दोषाभाव। (काव्यशास्त्रके अन्तर्गत) दोषाभाव, दोषका वैपरीत्य, काव्यकी शोभा करनेवाले धर्म (वामन), रसरूप अंगीके आश्रित रहनेवाले (आनन्दवर्धन), रसरूप अंगीके धर्म तथा रसके उत्कर्षके कारणरूप धर्म (मम्मट)।

भरत(४ श० ई०)के अनुसार दोषका विपर्यय काव्यमें गुण माना जाता है—"एत एव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः" (नाट्य०, १७ : ९५)। इस प्रकार उन्होंने इसे अभावात्मक तत्त्व माना है। विपर्ययके सम्बन्धमें मतभेद है। कोई इसका अर्थ दोषका अभाव करता है, कोई अन्यथा-भाव और कोई विपरीतभाव। अभिनव गुप्त (१०, ११ श० ई०)ने अभावके अर्थमें ही ग्रहण किया है, परन्तु भरतके गुणोंके लक्षणोंसे स्पष्ट है कि कुछ गुणोंको छोड़कर अन्य सभी भावात्मक हैं। दण्डी(७ श० ई०)की अलंकारों-की व्यापक परिभाषा 'काव्यशोभाकरान्'के अन्तर्गत गुणका अन्तर्भाव हो जाता है। सामान्य अलंकारोंपर विचार करते समय उन्होंने 'काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः' (काव्यादर्श, २ : ३) कहकर जिन पूर्वमार्गोंका निर्देश किया है, वे गुण ही हैं। वामन (९ श० ई० मध्य) गुणके प्रतिष्ठाता आचार्य हैं। उनके अनुसार 'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः' (३ : १ : १)। अर्थात् गुण काव्य-मूल शोभा(सौन्दर्य)के तत्त्व हैं। गुण शब्द और अर्थके धर्म हैं और काव्यके लिए अनिवार्य हैं। ध्वनि-सिद्धान्त निरूपित हो जानेके उपरान्त गुणका अर्थ निर्दोषताके रूपमें ग्रहण किया गया। आनन्द-वर्धन(९ श० ई०)ने गुणोंके स्वतन्त्र अस्तित्वको नहीं माना, रसाश्रित स्वीकार किया है। मम्मट(१२ श० ई०)ने इन्हीं-का अनुसरण किया है—'ये रसस्यांगिनो धर्माः', अर्थात् रसके अंगरूप धर्म गुण हैं, जो 'उत्कर्षहेतवस्ते' उनके उत्कर्षके कारण हैं (का० प्र०, ८ : ६६)। विश्वनाथ (१४ श० ई० पूर्वा०) तथा अन्य आचार्योंने मम्मटका अनुसरण किया है। जगन्नाथ (१७, १८ श० ई०)ने रसको काव्यकी आत्मा मानकर उसे गुण-शून्य कहा है और गुण शब्दार्थको धर्म माना है। परन्तु अभावात्मक या निषेधात्मक रूपमें गुणका स्पष्टीकरण नहीं होता। गुण तो निश्चय रूपसे भावात्मक है। अतः गुणके प्रसंगमें विपर्ययका अर्थ है दोषका वैपरीत्य। काव्यकी शोभाको सम्पादित करनेवाले या काव्यकी आत्माको प्रकाशित करनेवाले तत्त्व या विशेषता गुण हैं। ये गुण शब्द और अर्थके धर्म हैं। ये वर्णसंघटन, शब्दयोजना, शब्दचमत्कार, शब्दप्रभाव और अर्थकी दीप्तिपर आश्रित हैं।

गुणोंकी संख्याके सम्बन्धमें भी विद्वानोंमें मतवैषम्य है। भरतमुनिने गुणोंकी संख्या दस मानी है। उनके द्वारा प्रतिपादित दस गुण हैं—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, पदसौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदारता और कान्ति। आचार्य दण्डीने भी ये ही दस गुण माने हैं, परन्तु दण्डीकी धारणा समाधि, कान्ति आदि कुछ गुणोंके सम्बन्धमें भरतसे भिन्न है। आचार्य वामनने भी दस ही गुण माने हैं, परन्तु प्रत्येक गुणके दो भेद, शब्दगुण और अर्थगुणके रूपमें कर दिये हैं। इस प्रकार दोनों प्रकारके भेदोंको मिलाकर बीस गुण हुए। भोजने गुणोंकी संख्या चौबीस मानी, जो बाह्य, आभ्यन्तर और वैशेषिक भेदोंमें कुल बहत्तर होते हैं। बाह्य अधिकांश शब्दगुण, आभ्यन्तर अर्थगुण हैं। वैशेषिक गुण ऐसे दोष हैं, जो विशेष प्रसंगमें गुण बन जाते हैं। बाह्य तथा आभ्यन्तरमें पूर्वकथित दस भेदोंके अतिरिक्त भोजके नये चौदह भेद हैं—उदाहरण, ओजत्व, प्रेयस्, सुशब्दता, सौक्ष्म्य, गाम्भीर्य, विस्तार, संक्षेप, सम्मितत्व, भाविक, गति, रीति, उक्ति, प्रौढ़ि।

'अग्निपुराण'में अठारह गुण माने गये हैं, जो शब्दगुण, अर्थगुण और उभयगुणोंमें विभक्त हैं। शब्दगुण छः हैं—श्लेष, लालित्य, गाम्भीर्य, सुकुमारता, औदार्य, ओजस्। अर्थगुण हैं—माधुर्य, संविधान, कोमलता, उदारता, प्रौढ़ि, सामयिकता। उभयगुण हैं—प्रसाद, सौभाग्य, यथासंख्य, प्राशस्त्य, पाक, राग। आगेके आचार्योंने इस संख्यामें कमी करना ही उचित समझा। आचार्य कुन्तकने गुणका नितान्त भिन्न विवेचन किया। उन्होंने दो अनिवार्य सामान्य गुण माने, जो हैं—औचित्य और सौभाग्य। इसके अतिरिक्त चार विशिष्ट गुण माने, जो हैं—माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य। आनन्दवर्धनाचार्यने रसके धर्मरूपमें गुणको माना और इस प्रकार चित्तकी तीन अवस्थाओं—द्रुति, दीप्ति और व्यापकत्वके आधारपर केवल तीन गुणों माधुर्य, ओज और प्रसादको स्वीकार किया। वामनके द्वारा दस गुण इन्हीं तीन गुणोंके भीतर समाविष्ट सिद्ध किये गये। मम्मटने दस गुणोंका खण्डन कर तीन गुणोंको सिद्ध किया।

हिन्दीके आचार्योंने प्रायः मम्मट और विश्वनाथका अनुसरण कर तीन गुणोंको ही मान्यता प्रदान की है। चिन्तामणिने 'कविकुलकल्पतरु' (१६५० ई०)में तीन गुणों-के अन्तर्गत अन्योंका अन्तर्भाव माना है। चिन्तामणि माधुर्यको कवित्वका मूल मानते हैं। उन्होंने वामन तथा मम्मट, दोनोंके विवेचनको आत्मसात् किया है। कुलपतिने 'रसरहस्य' (१६७० ई०)में रीतिके मूल तत्त्वरूप गुणका वर्णन किया है। मम्मटका 'काव्यप्रकाश' इनका मुख्य आधार है। २० गुणोंमें इन्होंने भी तीनकी स्थापना की है, कुछ अन्तर्भाव हो जाते हैं, कुछ दोष-भावमात्र हैं और कुछ दोषरूप ही। देवने 'काव्यरसायन' (१७०३ ई०)में मम्मट-

से पहलेके आचार्योंका अनुसरण किया है। देवने १० गुणोंको स्वीकार किया है और उनमें यमक तथा अनुप्रासको मिलाकर संख्या १२ कर दी है। दासने 'काव्यनिर्णय' (१७४६ ई०)मे परम्परासे कुछ भिन्न अर्थमें गुणका भाव ग्रहण किया है। दासके अनुसार "त्यो विदग्ध हियमे रहै, दस गुन सहज स्वभाव" (१९), अर्थात् गुण सहृदयके हृदयमे स्वभावरूपमें अवस्थित रहते हैं (स्थायी भावके समान)। उनका दस गुणोंका विभाजन परम्परासे अलग है—अक्षरगुण—माधुर्य, ओज, प्रसाद; दोषाभावरूप—समता, कान्ति और उदारता; अर्थगुण—अर्थव्यक्ति और समाधि; वाक्यगुण—श्लेष और पुनरुक्तिप्रकाश। दासने यह अन्तिम गुण सौकुमार्यके स्थानपर रखा है। आधुनिक कालमें कन्हैयालाल पोद्दार तथा रामदहिन मिश्र आदिने संस्कृत-परम्पराका अनुसरण किया है। इनके अतिरिक्त रामचन्द्र शुक्लने गुणको रसाश्रित माना है और श्यामसुन्दर दासने शैलीके अन्तर्गत माना है। और इसके सम्पूर्ण विवेचनसे यह स्पष्ट ही है कि इनके माध्यमसे आचार्योंने विभिन्न शैलियोंपर विचार किया है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि वस्तु (content) तथा अभिव्यक्ति (expression)के सम्बन्धपर प्राचीन समयसे विचार होता आया है।

१. माधुर्य—माधुर्यका शब्दार्थ है मधुर होनेकी विशेषता, मिठास, रोचकता। काव्यगुणके प्रसंगमें माधुर्य शब्दका अर्थ विभिन्न विद्वानोंने भिन्न-भिन्न रूपमें ग्रहण किया है। भरतने श्रुतिमधुरताको माना है (नाट्य०, १७ : १०१)। दण्डीके अनुसार माधुर्यका तात्पर्य है रसमयता, रससे सम्पन्नता। यह माधुर्य शब्दगत रूपमें श्रुत्यनुप्रास और अर्थगत रूपमें अग्राम्यताका अर्थ रखता है। अतः माधुर्यका अर्थ सरसता, शिष्टता एवं सुसंस्कृतता है। वामनके मतानुसार पदोंकी पृथक्ताका अर्थ है समासरहित होना। इसमें दीर्घ समासताका निषेध होता है। अर्थगुणके रूपमें माधुर्यका अर्थ है उक्तिवैचित्र्य (काव्य० सूत्र० वृ०; ३ : १ : २१। ३ : २ : ११)। ध्वनिवादी आचार्य माधुर्यका दूसरा ही अर्थ करते है। सहृदयोंको द्रवित करनेवाला गुण माधुर्य है। मम्मटने माना है कि आह्लादकता और शृंगार रसमें द्रवित करनेकी विशेषता ही माधुर्य है (का० प्र०, ८ : ६८)। इस प्रकार माधुर्यका अर्थ हुआ श्रुतिसुखदता, समासरहितता, उक्तिवैचित्र्य, आर्द्रता, चित्तको द्रवित करनेकी विशेषता, भावमयता, आह्लादकता।

साहित्यदर्पणकारके मतसे ट ठ ड ढको छोड़कर क से लेकर म तकके वर्ण तथा मूर्धन्य वर्ण और अन्त्य वर्णोंके प्रयोगसे माधुर्य गुणका सम्पादन होता है। इस प्रकारका वर्णप्रयोग संयोग, करुण, वियोग और शान्त रसोंमें क्रमसे आधिक्यके साथ पोषक होता है (सा० द०, ८ : १, ३)। इस प्रकारकी रचना समासरहित या अल्पसमास युक्त होनी चाहिये, तभी माधुर्य गुणयुक्त कही जा सकती है।

हिन्दीके आचार्योंमे चिन्तामणि माधुर्यको 'चितकी द्रुति' कहते हैं, विश्वनाथके अनुसार रसोंमे उसका प्रयोग मानते हैं। कुलपति आदिने मम्मटका अनुसरण किया है। देवने माधुर्यकी परिभाषा दण्डीसे ली है। दासने विश्वनाथके अनुसार टवर्गहीन सम्पूर्ण वर्गके मृदु अक्षरोंके प्रयोगको माना है। उदा०—"निरख सखी ये खंजन आये। फेरे उन मेरे रंजनने इधर नयन मन भाये" (साकेत)।

२. ओज—ओजका शाब्दिक अर्थ है तेज, प्रताप, दीप्ति। काव्यके अन्तर्गत जो गुण सुननेवालेके मनमें उत्साह, वीरता, आवेश आदि जाग्रत करनेकी क्षमता रखता हो, वह ओज कहलाता है। भरतके अनुसार अनेक तथा विभिन्न प्रकारके समस्त पदोंवाली अर्थ-गाम्भीर्यकी श्रवणसुखद शैली (नाट्य०, १७-१०२)। दण्डीके विचारसे समासयुक्त पदोंकी बहुलतासे ओज गुण सम्पन्न होता है। ओज गुणका प्रयोग वैदर्भ मार्गके गद्य तथा गौडीय मार्गके पद्य और गद्य, दोनोमें होता है। वामनके अनुसार रचनाका गाढत्व, अर्थात् अवयवों या अक्षरविन्यासका संश्लिष्टत्व, संयुक्ताक्षरोंका संयोग, ओज गुणके लिए आवश्यक होता है (काव्य० सू० वृ०, ३ : १ : ५)। अर्थगुणके रूपमे अर्थकी प्रौढ़ता अर्थात् संयत, संक्षिप्त शब्दोंमे अधिक भाव या अर्थकी अभिव्यक्ति ओज गुणका लक्षण है (वही, ३ : २ : २)। ध्वनिके अनुयायी आचार्योंके मतसे चित्तका विस्तारक या चित्तका दीप्तिकारक गुण ओज है। इसकी स्थिति वीर रस, वीभत्स रस और रौद्र रसमें क्रमशः अधिक मानी गयी है, अर्थात् सामाजिकका हृदय वीर रसकी अपेक्षा वीभत्स रसमें और वीभत्स रसकी अपेक्षा रौद्र रसमें अधिक धधक उठा करता है (का० प्र०, ८ : ६९, ७०)। इसके लिए वर्गोंके आद्य और तृतीय वर्णोंकी संयुक्ताक्षरता, ट ठ ढ श ष आदिका प्रयोग, दीर्घ समास और उद्धतपदसंघटना आवश्यक होती है। इस प्रकार ओजमें उदात्त भाव तथा कर्कश, क्लिष्ट वर्ण-संघटन और संयुक्ताक्षरोंका प्रयोग होता है (सा० द०, ८ : ४, ६)।

चिन्तामणिने ओजको दीप्तिका कारण कहा है। देवका लक्षण प्रायः दण्डीके आधारपर है। अन्योंने मम्मटसे प्रेरणा ग्रहण की है। दासने 'साहित्यदर्पण'के अनुसार उद्धत अक्षरोंके वर्णविन्यासका यह गुण माना है। उदा०—"मारहि चपेटन्हि डाटि दाँतन्ह काटि लातन्ह मीजही। चिक्करहिं मर्कट भालु छलबल करहिं जेहि खल छीजही" (रा० च० मा०, ६ : ८१)। साहित्यमें वीर रसमें इसका प्रयोग हुआ, अतः हिन्दी वीरकाव्यमे इस गुणका विशेष प्रयोग है।

३. प्रसाद—प्रसादका शब्दिक अर्थ तो है प्रसन्नता, खिल जाना या विकसित हो जाना किन्तु भरतके अनुसार जिसमें स्वच्छता, सरलता और सहजग्राह्यता हो, अर्थात् सुनते ही अर्थ समझमें आ जाय, प्रसादगुण कहलाता है (नाट्य०, १७ : ९८)। दण्डीके मतानुसार प्रसिद्ध अर्थोंमें शब्दका ऐसा प्रयोग जिसे सुनते ही अर्थ समझमें आ जाय, प्रसाद है। वामनने प्रसादमे शैथिल्यकी विशेषता मानी है और यह बन्ध गाढ़त्वरूप ओज गुणका विरोधी है (काव्य० सू० वृ०, ३ : १ : ६)। प्रसाद गुणकी यह शिथिलता दोषरूपिणी नही है, वरन् ओजकी तुलनामें स्पष्ट करनेसे यह उसकी विशेषता प्रकट होती है (वही, ३ : २ : ३)। ध्वनिके अनुयायी आचार्योंके मतानुसार सभी रसों

और सभी रचनाओंमे ऐसा धर्म जो कि सामाजिकके हृदयमें भाव या अर्थकी शीघ्र व्याप्ति कर दे, प्रसाद गुण है। जैसे सूखे इन्धनमें अग्नि और जैसे स्वच्छ वस्त्रमें जल तुरन्त फैल जाता है, उसी प्रकार चित्तको रसोंमें और रचनामें जो तुरन्त व्यक्त कर दे, वह गुण प्रसाद है (का० प्र०, ८ : ७० : ७१)। इस प्रकार प्रसाद गुण वहाँ होता है, जहाँ सरल, सहज भावव्यंजक शब्दावलीका प्रयोग किया जाता है। अर्थकी निर्मलता या स्वच्छता इसकी विशेषता है। यह सभी रसोंमें व्याप्त रहता है।

हिन्दीके आचार्योंने प्रायः मम्मट तथा विश्वनाथका अनुसरण किया है। चिन्तामणिके अनुसार प्रसाद गुणमें अक्षरोंमे अर्थ इस प्रकार व्यक्त रहता है, जिस प्रकार सूखे ईंधनमे अग्नि और जलमे तरलता। कुलपतिने रचनारूपमे माना है। देवके लक्षणका आधार प्रायः दण्डी है। दासके अनुसार—"मन रोचक अक्षर परैं, सो है सिथिल शरीर। गुण प्रसाद जलसूक्ति ज्यों, प्रघटै अरथ गँभीर" (का० नि०, १९)। उदा०—"वह आता, दो टूक कलेजेके करता, पछताता पथपर आता", 'निराला' : भिखारी)। सभी युगोंके श्रेष्ठ कवियोंने इसका प्रयोग किया है।

४. श्लेष—श्लेषका शब्दार्थ है मेल या जोड। अनेक शब्दों, अर्थों या वर्णोंका एकमे संघटन (भरत : नाट्य०, १७ : ९७)। यह दण्डी, वामन आदि आचार्योंके द्वारा ही काव्यगुण माना गया है। आनन्दवर्धन, मम्मट आदि इसे पृथक् गुणके रूपमें स्वीकार नहीं करते है, वरन् ओजमे ही इसे समाविष्ट कर लेते है। लक्षणकी दृष्टिसे दण्डी और वामनकी शब्दावलीमे भी भिन्नता है। दण्डीके अनुसार गाढबन्धता अर्थात् रचनाका सघन संघटन श्लेष है। महाप्राण वर्णोंके द्वारा भी यह विशेषता सम्पादित होती है। वामनके अनुसार गाढबन्धता ओजका गुण है। श्लेषमे घटनाकी विशेषता होती है (काव्य० सू० वृ०, ३ : २ : ४)। क्रम अर्थात् अनेक क्रियाओंकी परम्परा, कौटिल्य, अनुल्वणत्व या प्रसिद्ध वर्णनशैली और युक्तिविन्यासका योग घटना कहलाता है। अतः श्लेष गुणमे इन सभीका योग रहता है। जिसमें अनेक पद एक पदके समान भासित होते है, ऐसी आभायुक्त रचनाकी विशेषता श्लेष कहलाती है। यह सन्धिसौष्ठव और मसृणत्व ओज गुणमे समाहित माना गया है। श्लेष गुण श्लेषालंकारसे भिन्न है। वामन और दण्डीके श्लेष, समाधि और उदारता ओजके अन्तर्गत आ जाते है। मम्मट तथा विश्वनाथने इसके गुणत्वका खण्डन किया है।

हिन्दीके प्रमुख आचार्योंमें देव और भिखारीदासने इस गुणको स्वीकार किया है, यद्यपि उन्होने भी तीन प्रमुख गुणोंका उल्लेख किया है। दासके अनुसार बहुतसे शब्दोंके अर्थको समझानेके लिए उन्हे एक सूत्रमें आबद्ध करते हुए 'समास' किया जाना यह गुण है। उदा०—"लखि लखि सखि सारस नयन, इन्दु वदन घनस्याम। बिज्जु हास दारिम दसन बिंबाधर अभिराम" (का० नि० : १९)। भिखारीदासने समासके आधारपर इसके दीरघ, मध्यम तथा लघु भेद किये है। इस गुणका प्रयोग सूर, तुलसी, जायसी आदि महाकवियोंने सफलतासे किया है। आधुनिक कालमे इसका प्रयोग कम होता जा रहा है।

५. समता—समताका शब्दार्थ है समान, तुल्य या एक-सा होनेका भाव। भरतके अनुसार जहाँ रचनामें अधिक, असमस्त, कठिन तथा व्यर्थ पद न हो (नाट्य०, १७ : ९९)। दण्डीके अनुसार बन्धों या रचनाओंकी एकरूपता है। बन्ध (रचना)के तीन प्रकार है—(क) मृदु बन्ध, जिसमें अल्पप्राण अक्षरोंकी प्रचुरता रहती है; (ख) स्फुट बन्ध, जिसमे कर्कश वर्णोंकी बहुलता रहती है; (ग) मध्यम बन्ध, जिसमे दोनों प्रकारके वर्णोंका मिश्रण रहता है। समतामे दोनोंका सम्मिश्रण रहता है और औचित्यके साथ एकरस प्रयोग होता है। यह वैदर्भ मार्गकी विशेषता है। वामनके मतमे मार्ग या रचनाशैलीका अभेद अर्थात् प्रारम्भसे अन्ततक एकरूपता समता है (काव्य० सू० वृ०, ३ : १ : १२)। समता अवैषम्य है। जिस शैलीमे रचनाका प्रारम्भ किया जाय, अन्ततक उसी शैलीका निर्वाह समता गुणकी विशेषता है (वही, ३ : २ : ५)। जिसमे प्रक्रममे भेद न हो तथा सुगमता हो, वह गुण समता है। वामनके अनुसार यह अर्थगुण है। ध्वनिके अनुयायी आचार्योंके मतानुसार यह समताका गुण प्रसादके अन्तर्गत समाहित हो जाता है (मम्मट तथा विश्वनाथ आदि)। हिन्दीमे भी प्रायः ऐसा ही हुआ है, देव तथा दासने इसका वर्णन किया है—"प्राचीननकी रीति सों, भिन्न रीति ठहराइ" (का० नि०, १९)। उदा०—"मेरे दृग कुवलयनको, होत निसा सानन्द। सदा रहै ब्रज देस पै, उदित साँवरो चन्द" (वही, वही)।

६. सुकुमारता—सुकुमारताका शब्दार्थ है कोमलता। काव्यके अन्तर्गत इस गुणका समावेश वहाँ होता है, जहाँ रचनाके अन्तर्गत परुष अर्थात् कर्णकटु कठोर वर्णोंका परिहार तथा कोमल वर्णोंकी योजना होती है और इस प्रकार कोमलताके साथ सुकुमार भावनाकी अभिव्यंजना की जाती है (भरत : नाट्य०, १७ : १०३)। इस गुणके प्रसंगमे दण्डी और वामनका लगभग एक समान ही मत है। दण्डीके विचारसे 'अनिष्ठुराक्षरप्रायं सुकुमारमिहेष्यते', अर्थात् अपरुष अक्षरोंकी योजनासे सुकुमार गुण आता है। यह दीप्तत्व गुणका विपर्यय है। वामनने भी रचनाकी अजरठता या अपरुषताको सौकुमार्य माना है—'अजरठत्वं सौकुमार्यम्' या 'अपारुष्यं सौकुमार्यम्' (काव्य० सू० वृ०, ३ : १ : २२। ३ : २: १२)। इस प्रकार परुषताका उलटा सुकुमारता है। जिसमें कठोरताका अभाव हो, वह रचना सुकुमारताके गुणसे युक्त मानी जाती है। यह सुकुमारता वैदर्भी रीतिकी विशेषता मानी गयी है। सुकुमारताके गुणका ध्वनिवादी आचार्योंने माधुर्य गुणमें समावेश कर लिया है (मम्मटादिने)। हिन्दीके आचार्योंने इसको स्वतन्त्र नहीं माना है। देवने इसका स्वतन्त्र विवेचन दण्डीके आधारपर किया है। दासने इसके स्थानपर पुनरुक्तिप्रकाशको रखा है। सम्भवतः उन्होने इसके अलग अस्तित्वको स्वीकार नहीं किया अथवा इसके विशिष्ट गुणको पुनरुक्तिप्रकाशमे स्वीकार किया है।

७. अर्थव्यक्ति—अर्थव्यक्तिका शब्दार्थ है अर्थका प्रकाशन। जहाँपर शब्दों और पदोंके द्वारा समग्र अर्थकी

(लोक-घटनाकी) पूर्ण अभिव्यक्ति हो जाय, वहाँपर अर्थव्यक्तिका गुण माना गया है (भरत : नाट्य०, १७ : १०४)। दण्डीके मतानुसार 'अर्थव्यक्तिरनेयत्वमर्थस्य', जिन पदोंके द्वारा अर्थ उद्दिष्ट अभिप्रायसे अन्यत्र न जा सके, वहाँ अर्थव्यक्ति गुण होता है। दण्डीने इसे वैदर्भ और गौड, दोनों ही मार्गोंकी विशेषताके रूपमें ग्रहण किया है। इसमें शब्दोंके नपे-तुले प्रयोगकी विशेषताकी महत्ता है। अभिप्रायकी सिद्धिके लिए जितने शब्दोंकी आवश्यकता होती है, उतने ही शब्दोंका प्रयोग, न उतनेसे कम और न अधिक, इसमें वांछनीय है। वामनके विचारमे शब्दगुणके रूपमें अर्थकी स्पष्ट प्रतीतिके हेतुस्वरूप 'अर्थव्यक्तिहेतुत्वमर्थव्यक्तिः' (काव्य० सू० वृ०, ३ : १ : २४) तथा अर्थगुणके रूपमें वस्तु और भावोंके स्वभावकी स्फुटता अर्थव्यक्ति होती है, 'वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः' (वही, ३ : २ : १४)। इस प्रकार अर्थव्यक्ति गुणके सम्बन्धमें मतभेद नहीं है। ध्वनिवादी आचार्योंके विचारमे यह अर्थव्यक्ति प्रसाद गुणके अन्तर्गत समाविष्ट हो जाती है। हिन्दीमें देवने इसके लक्षणमे प्रायः दण्डीका अनुसरण किया है। दासने इस प्रकार लक्षण दिया है—"जासु अरथ अति ही प्रघट, वह न समास अधिकाइ। अर्थ 'व्यक्तगुन' बात ज्यों, बोलै सहज सुभाइ"। उदाहरण भी स्पष्ट है—"इक टक हरि राधे लखैं, राधे हरिकी ओर। दोऊ आँनन इन्दु औ, चारयौ नैन चकोर" (का० नि० : १९)।

८. उदारता—इसका तात्पर्य है व्यापकता, उत्कर्ष, असंकीर्णता, प्रभावात्मकता। जिसके होनेसे प्रतिपाद्य अर्थमे उत्कर्षकी प्रतीति हो, वह औदार्य गुण है। भरतके अनुसार किसी रचनामें अलौकिक चरित्रोंका श्रृंगार तथा अद्भुत रसका उनसे सम्बद्ध अनेक अवस्थाओमे वर्णन होना (नाट्य०, १७ : १०५)। दण्डीने अपने 'काव्यादर्श'में लिखा है—"उत्कर्षवान् गुणः कश्चित् उक्ते यस्मिन् प्रतीयते। तदुदाराह्वयं तेन सनाथा काव्यपद्धतिः" जिस गुणके द्वारा उक्तिविशेष खिल जाती है, वह उदारताका गुण है। वामनके विचारसे रचनाका विकटत्व, जिसमे पदावली नाचती-सी जान पड़ती है, शब्दगत उदारता 'विकटत्वमुदारता' (काव्य० सू० वृ०, ३ : १ : २३) और जिसमें ग्राम्यत्वका अभाव हो, वह अर्थगत उदारता 'अग्राम्यत्वमुदारता' (वही, ३ : २ : १३) है। इस गुणके अन्तर्गत प्रांजल, सुष्ठु, संस्कृत शब्दावलीका प्रयोग अर्थके उत्कर्षके लिए होता है। कतिपय आचार्योंके विचारमें मनोरम, ललित एवं मंजुल विशेषणोंका प्रयोग इस गुणमें होना चाहिये। इसका अन्तर्भाव माधुर्य गुणके भीतर माना गया है (मम्मट आदिके द्वारा)। हिन्दीके आचार्योंमें देवने—"जाहि सुनत ही ओजको दूर होत उत्कर्ष" (शब्दरसायन) इसका लक्षण दिया है। स्पष्ट ही 'जाहि सुनत' तथा 'उत्कर्ष' दण्डीके शब्द है, पर ओजके उत्कर्षके दूर होनेकी बात देवकी अपनी है। दासने "औरोंको समझनेमें कठिन होते हुए भी जो अन्वय केवल चतुरोंकी समझमें सरलतासे आ जाय" माना है। उदा०—"कँदन अनेकन विघनके, एकरदन गनराइ। बन्दन जुत बन्दन करो, पुसकर पुसकर पाइ" (का० नि०, १९)।

९. कान्ति—कान्तिका शब्दार्थ है आभा, उज्ज्वलता और कमनीयता। भरतके अनुसार इसके अन्तर्गत श्रुतिमधुर तथा मनको प्रसन्न करनेवाली क्रीडाशीलताका वर्णन होता है (नाट्य०, १७ : १०६)। दण्डीका मत है कि जहाँ लौकिक अर्थका अनतिक्रमण नहीं किया जाता और ऐसा स्वाभाविक वर्णन किया जाता है कि कान्त जगतकी कमनीयता व्यक्त हो, वहाँ कान्ति गुण होता है—"कान्तं सर्वजगत्कान्तं लौकिकार्थानतिक्रमात्। तच्च वार्ताभिधानेपु वर्णनास्वपि दृश्यते"। यह अत्युक्तिका विपर्यय रूप है और वैदर्भ मार्गकी विशेषता है। वामनके मतमें रचनाकी उज्ज्वलता या नवीनता जहाँपर है, वहाँपर कान्ति शब्दगुण है (काव्य० सू० वृ०, ३ : १ : २५), परन्तु 'दीप्तरसत्वं कान्तिः' अर्थात् जिस रचनामे श्रृंगार आदि रस दीप्त होते है, वह कान्ति अर्थगुण है (वही, ३ : २ : १५)। जहाँ कवि नवीन कल्पनासे किसी वस्तु या भावका उज्ज्वल प्रकाशन करता है वह कान्ति है। कान्तिका अन्तर्भाव ओज गुणमें माना जा सकता है, (मम्मट आदिने)। हिन्दीमें प्रायः इसी मतका अनुसरण किया गया है। देवके अनुसार "अधिक लोक मर्जादते, सुनत परम सुख जाहि। चारु बचन पै कान्त रुचि, कान्ति बखानत ताहि" (शब्दरसायन)। इसमें दण्डीके विपरीत लोकमर्यादाकी अपेक्षा कुछ विशेषताका निर्देश है। दासने ऐसी रचनामें माना है, जिसके रुचिर शब्दोंका अर्थ 'न गूढ़, न प्रघट' हो, नागरिक हो तथा सुमति जनोंके द्वारा समझी जानेवाली हो। उदा०—"ये मूरति ध्यानमे लावनको सुर सिद्ध समूहन साध मरे। बड़ भागिनी गोपी मयंकमुखी अपनी-अपनी दिसि अंक भरे" (का० नि०, १९)।

१०. समाधि—समाधिका अर्थ है सम्यक रूपसे आधान या उपचार, अर्थात् एक वस्तुके धर्मका दूसरी वस्तुमें ठीक ढंगसे आरोपित करना। रचनाका विशिष्ट अर्थ, जिसे प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति प्राप्त करते है (भरत : नाट्य०, १७ : १००)। दण्डीके विचारमे जहाँपर लोकसीमाके अनुरोधसे अन्यके धर्मका अन्यत्र आरोप किया जाता है, वहाँ समाधि गुण होता है। दण्डीने लिखा है ?—"अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना। सम्यगाधीयते यत्र स समाधिः स्मृतो यथा" (१ : ९३)। आरोह और अवरोहके निमित्तके रूपमें वामनने शब्दगुण समाधि माना है (काव्य० सू० वृ०, ३ : १ : १३)। जहाँ अचानक नहीं, वरन् क्रमके साथ आरोहके बाद अवरोह हो, वहाँ समाधि गुण है (वही, ३ : २ : ७)। अर्थ-समाधि गुण अर्थ-दृष्टिके रूपमें है। जहाँ कवि या तो अकारण किसी नवीन अर्थका दर्शन करता है अथवा उसे दूसरे कविके काव्यकी छायासे नवीन अर्थकी दृष्टि प्राप्त होती है, वहाँ अर्थगत समाधि गुण है। ध्वनिवादी तथा कुछ अन्य आचार्योंने इसके गुणत्वपर शङ्का की है और इसे अलग गुण नहीं माना (मम्मट आदिने)। हिन्दीके आचार्योंने प्रायः इसी मतको माना है। देवने समाधिका लक्षण दण्डीके आधारपर दिया है, पर 'लोक सीव उलंघै अरथ' कहकर भाव उलट दिया है। दासका लक्षण वामनके निकट है। उदा०—"बर तरुनिनके बैन सुनि, चीनी चकित सुभाइ। दुखित दाख मिसरी मुरी,

सुधा रही सकुचाइ" (का० नि०, १९)। —भ० मि०

गुणपर्व–पातजल 'योगसूत्र'के अनुसार विशेष, अविशेष, लिंगमात्र एवं अलिंगको गुणपर्व कहा गया है (२, १९)। विशेपका अर्थ है 'जो सामान्यतया बहुतोंमे नहीं होता। नीला, पीला, खट्टा, मीठा, कड़वा, कसैला आदि भेदोंवाले द्रव्य 'विशेष' है। इसीलिए सोलह भूतेन्द्रिय विकार—नाक, कान, आँख, जिह्वा और त्वचा नामक पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—मुख, हाथ, पैर, पायु(गुदा) एवं उपस्थ नामक पाँच कर्मेन्द्रियों, ग्यारहवीं इन्द्रिय मन तथा पाँच अस्मिताओंकी पारिभाषिक संज्ञा 'विशेष' है। विशेषको शान्त, अर्थात् सुखकर, घोर अर्थात् दुखकर एवं मूढ़ अर्थात् मोहजनक बताया गया है। इसके विपरीत 'अविशेष' है, जो बहुत कार्योंका साधारण उपादान है। 'अविशेष' नीला-पीला, खट्टा-मीठा आदि भेदोंसे रहित है। यह शान्त, घोर और मूढ भावोंसे शून्य है। ऊपर बताये गये सोलह भूतेन्द्रिय विकारोंकी छः प्रकृतियोंको अविशेष कहते हैं। लिंगमात्र महत्तत्त्वको कहते है। लिंगका अर्थ गमक किया जाता है। महत्तत्त्व आत्माका गमक है, अतः यह उसका लिंग है। इसीलिए इन्द्रियादिको पुरुष या प्रकृतिका लिंग है। वैसे लिंग सम्पूर्ण वस्तुओंका व्यंजक है। विज्ञान भिक्षु-ने लिंगमात्रका अर्थ ही किया है तन्मात्र। अलिग प्रकृति है। प्रकृति कसीका लिग नही है, क्योकि इसका कोई 'कारण' नहीं है—"न वा किंचिल्लिगयति गमयतीति अलिंगम्"। 'लीनं गच्छतीति लिगम'के अनुसार जिसमें सब कुछ लीन हो जाय, वह लिग है, अतः अलिग वह हुआ जो और लय नहीं होता। यही विशेष, अविशेष, लिंगमात्र और अलिंग गुणपर्व कहलाते है (विस्तृत विवरणके लिए दे० 'पातंजल योग दर्शन', हिन्दी अनुवाद, सं० भगीरथ मिश्र एवं अन्य, लखनऊ विश्वविद्यालय, पृ० १४८-१५६)। —रा० सिं०

गुणसंप्रदाय–वह सम्प्रदाय, जो काव्यके अन्तर्गत गुणोंको सर्वोत्कृष्ट महत्त्व प्रदान करता है, गुणसम्प्रदाय है। यह रीति सम्प्रदायके अन्तर्गत है, क्योंकि रीति-सिद्धान्त गुणपर ही आश्रित माना गया है, जैसा कि वामन(९ श० ई० मध्य)का स्पष्ट मत है 'विशिष्टा पदरचना रीतिः'। 'विशेषो गुणात्मा' (काव्य० सू० वृ०, १ : २ : ७, ८)। अतः रीतिको काव्यकी आत्मा मानते हुए भी जो गुणको विशिष्ट महत्त्व देते है, वे ही गुणसम्प्रदायके आचार्य माने जाने चाहिये। भिन्नतया 'गुणसम्प्रदाय'का कोई अलग सिद्धान्त नही माना गया। अतः गुणसम्प्रदायकी अलग कोई सत्ता भी नही मानी जाती। परन्तु काव्यमे गुणको जिन आचार्योंने विशेष महत्त्व दिया, वे ही गुणसम्प्रदायके अन्तर्गत माने जा सकते है। इन आचार्योंमें दण्डी (७ श० ई०) और वामन प्रमुख है। दण्डीने यद्यपि अलंकारको महत्त्व दिया, फिर भी वे मार्ग या रीतिके निरूपणमे गुण-को महत्त्वपूर्ण स्थान देते है। उनकी दृष्टिसे वैदर्भी काव्यकी उत्तम शैली है और उस शैलीके प्राण दस गुण है ('इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः')। वामनने तो गुणों-को काव्यका सर्वस्व ही माना। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि "काव्यशोभायां कर्तारो धर्मा गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः" (वही, ३ : १ : १,२), अर्थात् काव्यकी शोभा करनेवाले धर्म गुण है और उसको अधिक उत्कर्ष देनेवाले अलकार है। मार्गनिरूपणके प्रसंगमें कुन्तक (१०, ११ श० ई०)ने भी गुणोंको महत्त्व दिया है। उनका सहज-सुकुमार मार्ग उनके द्वारा निरूपित माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य, चारों विशिष्ट गुणोंसे सम्पन्न रहता है। परन्तु यह गुणोंकी धारणा वामनके गुणोंसे भिन्न है। वामन गुणोंको काव्यका नित्यधर्म मानते है। अतः 'गुण-सम्प्रदाय'के प्रधान आचार्यके रूपमें वामनको ही मानना चाहिये। बादके आचार्योंने रीतिके विवेचनमें गुणकी अपेक्षा समासके आधारपर अधिक बल दिया, अतः रीतिका वर्णन करते हुए भी वे गुणसम्प्रदायके माननेवाले नहीं कहे जा सकते। हिन्दीमें किसी आचार्यने गुणको इस प्रकारका महत्त्व प्रदान नहीं किया। —भ० मि०

गुणातीता–दे० 'गोपी'।

गुणावतार–जब भूमा पुरुष प्रकृतिके गुणोंको श्रीविग्रह बनाकर आविर्भूत होता है तब उसे गुणावतार कहते हैं। त्रिदेव–ब्रह्मा, विष्णु और महेश—गुणावतार कहलाते हैं। —वि० मो० श०

गुणीभूत व्यंग्य–जहाँ व्यंग्यसे सम्बन्ध होनेपर वाच्यका चारुत्व अधिक प्रकर्षयुक्त हो जाता है, वह गुणीभूत व्यंग्य नामका काव्यका दूसरा भेद होता है ("प्रकारोऽन्यगुणीभूत-व्यंग्यः काव्यस्य दृश्यते। यत्र व्यंग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत्"—हि० ध्व०, पृ० ३८९)। इसे मध्यम काव्य कहते है, क्योंकि इसमें व्यंग्यार्थ वाच्यार्थकी तुलनामें गौण, अर्थात् अप्रधान हो जाता है। ध्वनि तथा गुणीभूतव्यंग्यके उदाहरण बहुधा मिले-जुले रहते है, किन्तु अप्रधानताकी दृष्टिसे ही दोनोंमे अन्तर कर लिया जाता है—जहाँ व्यंग्यार्थ प्रधान हो, वहाँ ध्वनि और जहाँ वह अप्रधान हो, वहाँ गुणीभूत व्यंग्य होता है। इसीलिए ध्वनिकारकी स्थापना है कि "यह गुणीभूत व्यंग्यका प्रकार भी रस आदिके तात्पर्यका विचार करनेसे फिर ध्वनि हो जाता है"("प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यंग्योऽपि ध्वनिरूपताम्। धत्ते रसादितात्पर्य-पर्यालोचनया पुनः"—हि० ध्व०, पृ० ४०९)। व्यंग्यार्थ अगूढ़, अपरांग, वाच्यसिद्धयङ्ग, अस्फुट, सन्दिग्धप्रधान, तुल्यप्रधान, काक्वाक्षिप्त तथा असुन्दर होनेके कारण गौण हो जाता है। इसीलिए गुणीभूत व्यग्यके उक्त आठ भेद माने गये है। ध्वनिके शुद्ध एवं संकीर्ण भेदोंके साथ मिलनेसे गुणीभूत व्यंग्यके अनेकानेक भेद सम्भव है।—उ०शं०शु०

गुप्ता (नायिका)–परकीयाकी स्थितिके अनुसार एक भेद; विशेषके लिए दे० 'नायिका-भेद'। सर्वप्रथम भानुदत्त द्वारा उल्लिखित। परपुरुषके प्रेमको छिपानेवाली नायिका, विशेषकर चतुराईसे छिपानेकी चेष्टा करती है। **भूतगुप्ता** अथवा **वृत्तसुरतगोपना**–व्यतीत घटना और उसके अवशेष चिह्नको छिपानेवाली नायिका। इस गोपनमें नायिकाका वचन-चातुर्य देखने योग्य है—"चूनन फूल गुलबवा डार कटील। टुटिगो बन्द अँगियवा फटि पट नील।" (रहीम : बरवै०, ३०)। कभी वह अपने चिह्नोंको छिपाती है—"मोंहि झकझोरि डारी कंचुकी मरोरि डारी तोरि डारी कसनि बथोरि डारी बेनी त्यों।" (पद्माकर :

जगद्विनोद, १ : ८८)। उसका कहना है कि यह सब राधाने होली खेलनेमे किया है। कभी सात्त्विक अनुभावोंको भी छिपाया गया है—"रोम उठे तन कंप छुटे मतिराम भई श्रमकी सरसाई।" (रसराज, ६८।) मतिरामकी नायिका डरनेको व्याज बनाती है। **भविष्यद्गुप्ता** अथवा **वर्तिष्यमाण सुरतगोपना**–होनेवाली घटनाको पहलेसे छिपानेका चातुर्य करनेवाली नायिका। रहीमकी नायिकाकी सरलतामें चातुर्यकी गहरी व्यजना है—"जैहौं चुनन कुसुमिआं खेत बड़ि दूर। नौवन केरि छोहरिया मुहि संग कूर।" (बरवै०, १६)। वेनीप्रवीनकी नायिकाकी इस युक्तिमे कितनी चतुराई है—"नेह के जोही पठावती हैं करिहै फिर तेहि भरी बिधु बातें।" (मीतल : ब्र० भा० नायिका०, २ : ३१८)। इसके उदाहरणोमे वचन-चातुर्य अधिक है। **वर्तमान गुप्ता** अथवा **भविष्य सुरतगोपना**—इस भेदको भानुदत्तने वृत्तवर्तिष्यमाण कहा है, जिसका भाव भिन्न है। यह नायिका अपनी प्रेमविषयक वर्तमान स्थितिको चातुर्यसे छिपानेका प्रयत्न करती है। परिस्थितिमे रक्षा कर लेनेका भाव प्रधान रहता है—"इन्हैं भेटती भेंटिहौं तोहि अली भयौ आजु तौ मो अवतार नयौ।" अथवा—"चिरजीवहि नन्दकौ बारौ अरी गहि बाँह गुबिन्दने ठाढी करी।" (दास तथा मण्डन, वही : २ : ३२०, ३२१)।

गुरु—लगभग समस्त मध्यकालीन धर्म-साधनाओमें गुरुका महत्त्व बहुत अधिक माना गया है। सम्भवतः यह तान्त्रिक युगका अवशिष्ट प्रभाव था, क्योंकि जैन, बौद्ध, शैव, शाक्त, वैष्णव, सभी सम्प्रदायोमे जब गुह्य साधनाओका समावेश हुआ तो गुरुकी स्थिति बहुत महत्त्वपूर्ण होती गयी, क्योंकि साधनाकी प्रकृति दुरूह थी और अज्ञानी साधकको गुरुका निर्देशन आवश्यक था। साथ ही विद्वानोंका कथन है कि तन्त्र-सम्प्रदाय नये सम्प्रदाय थे, अतः अनुदार पुराने आचार्योंकी तुलनामें अपने सम्प्रदायोंके आचार्योंको प्रतिष्ठित करनेके लिए भी सहसा गुरुको अत्यधिक श्रद्धासे मण्डित किया जाने लगा था। यह प्रतिद्वन्द्विता कभी-कभी जातीय और प्रादेशिक आधारपर भी चलती थी (दे० 'स्टडीज इन तन्त्राज' : प्रबोधचन्द्र बागची)।

सन्तों और नाथोंके पूर्ववर्ती सिद्धोंने गुरुको अधिक महत्त्व दिया था। यह प्रवृत्ति बौद्ध धर्ममें पहले नहीं थी। कहा जाता है, एक बार बुद्धसे पूछा गया कि उनका गुरु कौन है तो उन्होंने कहा कि उन्होने अपने अभिज्ञानसे सब प्राप्त किया, उनका गुरु कौन है? किन्तु 'गुह्य समाजतन्त्र'में प्रत्येक तथागतका गुरु एक वज्राचार्य बताया गया है, जिसकी पूजा वे स्वतः करते है। इसी सिद्धान्तके अनुसार सिद्धोंने गुरुकी महिमाका गान किया है। तिल्लोपा कहते है कि समस्त लोक तथा पण्डितोंके लिए भी जो अगम्य है, पर श्रीगुरुपादके प्रसन्न होनेपर कौन ऐसी वस्तु है, जो अगम रह जाय (दोहाकोष : तिल्लोपा)। अद्वयवज्रके 'प्रेम-पंचक'में गुरुको दूती कहा गया है, जो प्रज्ञा तथा उपायकी मध्यस्थता कर दोनोंका मिलन सम्पन्न करा देता है।

नाथों और सन्तोमें यह प्रवृत्ति बराबर चली आयी है, किन्तु नाथों और सन्तोंके गुरुमें एक अन्तर है। नाथोंका गुरु योगसाधनाका ज्ञाता है, सन्तोंका गुरु वैष्णव प्रतीत होता है और वह शब्द-सुरतिके साथ-साथ हरिभक्ति और प्रेमसाधनाका भी उपदेश देता है। नाथपन्थी बानियोमें अवश्य कई स्थलोपर ऐसा ज्ञात होता है कि शिष्य गोरखनाथ अपने गुरु मच्छीन्द्रनाथको उपदेश दे रहे हैं। पर यह सम्भवतः उस घटनाकी स्मृति है, जिसमे किवदन्तियोंके अनुसार कहा जाता है कि गोरखने योगिनियोके जालसे मच्छीन्द्रको मुक्त कराकर तान्त्रिक अनुष्ठानोका बहिष्कार किया था।

किन्तु सभी पद्धतियोंने यह माना है कि जो निगुरा है या गुरुहीन है, उसे ब्रह्मकी उपलब्धि नहीं हो सकती, पर साथ-ही-साथ उन्होने यह भी चेतावनी दी है कि अज्ञानी शिष्यको यदि अज्ञानी गुरु मिल गया तो वे दोनों विनष्ट हो जाते है (दे० 'सेवा'—गुरु-सेवा)। —ध० वी० भा०

गुह्य साधना–तन्त्रोंके उदयकालमे ऐसी धर्म-साधनाओंका आरम्भ हुआ, जो परम्परागत साधनाओंसे सर्वथा पृथक् थीं। उनमे मैथुन-साधनाका जो महत्त्व था, उसके कारण इनका प्रबल विरोध हुआ होगा, अतः ये साधक छिपकर साधनाएँ करते थे। हिन्दू, बौद्ध, जैन, सभी धर्मोंके तान्त्रिक ग्रन्थोंमें इस बातपर बल दिया गया है कि इन साधना-प्रणालियोको बिलकुल गुह्य रखना चाहिये और प्रकट कर देनेपर इनका निष्फल हो जाना बताया गया है। इसीलिए इन्हे गुह्य साधना कहा जाने लगा। इनके सिद्धान्तोका विवेचन भी प्रतीकोके द्वारा किया गया है, ताकि सिवा सम्प्रदायमे दीक्षित साधकोंके अन्य लोग उसका अर्थ न समझ पायें। इस भाषाको गुह्य वाणी कहा जाता था और तान्त्रिक अनुष्ठानोका बहिष्कार होनेपर भी सन्तोतक इस गुह्य भाषा या 'गुह्य बानी'की परम्परा चली आयी है। बौद्ध सिद्धाचार्योंमें **प्रज्ञोपाय युगनद्ध**की साधनाको गुह्य साधना कहते थे। इसमें हठयोगके द्वारा **चित्तका विशोधन** किया जाता है—अन्दर श्वासका निरोध कर और बाहर **मुद्रा**के साथ समागमके द्वारा। दोनों साधनाएँ एक-दूसरेका समर्थन करती चलती है। विभिन्न क्षणोंमें विभिन्न मुद्राओंसे युगनद्ध स्थापित कर बिन्दुको ऊर्ध्वमुखी कर विभिन्न चक्रोंमें धारण किया जाता है। —ध० वी० भा०

गूढव्यंग्या लक्षणा–मम्मट तथा विश्वनाथ आदि आचार्योंने लक्षणाके गौणी तथा शुद्धा आदिक भेदोंको गूढ तथा अगूढ व्यंग्यके रूपमें स्वीकार किया है। इसमे व्यंग्यरूप अर्थ केवल काव्य-मर्मज्ञों द्वारा ही वस्तुतः ठीक-ठीक ग्रहण किया जा सकता है। "चालेकी बातें चली, सुनति सखिन के टोल। गोपे हू लोयन हँसत, बिहँसत जात कपोल" (का० द०, पृ० ३८)। बिहारीके इस दोहेमें 'लोयन हँसत' तथा 'बिहँसत जात कपोल'में गौणी सारोपा गूढव्यंग्या प्रयोजनवती लक्षणा है, हर्षोल्लास एवं लज्जाकी व्यंजनासे नायिकाका 'मध्या' होना व्यंजित होता है। सामान्य जन इसे सुगमतासे नहीं समझ पाते, इसी कारण यह व्यंजना गूढा है। —उ० शं० शु०

गूढोक्ति–गूढार्थ-प्रतीतिवर्गमें यह अलंकार माना जा सकता है। अप्पय दीक्षितने इस अलंकारका उल्लेख किया है। उनके अनुसार इसकी परिभाषा निम्नलिखित है—"गूढोक्तिरन्योद्देश्यं चेद्यदन्यं प्रति कथ्यते" (कुवलयानन्द,

८७, पृ० १७०), अर्थात् किसी व्यक्तिके प्रति कहनेवाली बातको (लोक-लाजवश) अन्य व्यक्तियोंकी उपस्थितिके कारण उससे न कहकर किसी तीसरे व्यक्तिसे कहा जाय तो गूढोक्ति अर्थात् गुप्त उक्ति अलंकार होता है। चमत्कार यह होता है कि उस बातको वह व्यक्ति समझ ही लेता है, जिसके लिए वह कही जाय। उदा०—"वृष! अपेहि परक्षेत्रादायाति क्षेत्ररक्षकः" (वृष = बैल; ध्वनित कामुक। क्षेत्र = सस्यादि-वाला क्षेत्र; ध्वनित पत्नी)। 'कुवलयानन्द'का अनुसरण करनेवाले हिन्दीके आचार्योंने इसीके आधारपर लक्षण दिया है—"कहिवेको कछु औरसों, कहै औरसो बोल"। अथवा—"अभिप्राय जुग जहँ कहिय, काहूसो कछु बात'। (का० नि०, १६)। उदा०—"यों न प्यार बिसराइये, लई मोहि तैं मोल। मुख निरखत नँदलालको, कहै सखीसो बोल।' (ल० ल०, ३६१)। अथवा—"पहिले ही मराल मयूर चकोर मिलिन्दनको मँडरावनो है। हँसि बोली अली भली मैथिलीकी फिरि काल्हि इतै सँग आवनो है" (लछिराम: अ० मं०)। जनकपुरकी फुलवारीमे सीताजीके साथ सखी रामचन्द्रजीने यह कहना चाहती है कि वे कल वहाँ फिर आयेंगी, पर अन्य लोगोंसे यह छिपानेके लिए वह आपसमे एक दूसरी सखीसे ऐसा कहती है।

अप्पय दीक्षितने इस अलंकारको अप्रस्तुत-प्रशंसा अलंकारसे भिन्न बताया है, क्योंकि यहाँपर कार्यकारणका व्यंग्य नहीं है, न यह श्लेषमात्र है, क्योंकि यहाँपर अन्य लोगोंसे छिपानेके लिए चमत्कृत शब्दोंका प्रयोग किया जाता है। वास्तवमे 'काव्यप्रकाश'की व्याख्या 'उद्योत'के लेखकने कहा है कि गूढोक्ति ध्वनिकाव्य है, क्योंकि अलंकारमे तो व्यंग्यार्थकी अभिव्यक्ति होती है, अर्थकी व्यंग्य ध्वनि नहीं। —ज० कि० व०

गृहिणी—दे० 'महामुद्रा'।

गेय काव्य—सामवेदकी संहिता 'आर्चिक और गेय' भागोंमें विभक्त है। गेय भाग यज्ञकालमे गाया जाता था। नाट्योत्पत्तिके प्रकरणमें कहा गया है कि संगीतका भाग सामवेदसे लिया गया (नाट्य-शास्त्र, १ : १७)। पाणिनिने सामकी गेयताका उल्लेख किया है (गेयो माणवकः साम्नाम्—३ : ४ : ३८)। यज्ञकालमें गान करनेवाले व्यक्ति होते थे, जिनकी उद्गाता संज्ञा थी। 'छान्दोग्योपनिषद्'में सामोपासनाके प्रसंगमे उद्गाताको गानादिका उपदेश दिया गया है (अध्याय २, खण्ड २२)। इस प्रसंगमे प्रधान वैदिक देवताओंसे सम्बद्ध गानका विधान है और उनके लक्षणोंका निरूपण है। सोमगानको निरुक्त और स्पष्ट तथा वायुदेव सम्बन्धी गानको मृदु एवं श्लक्ष्ण कहा गया है। **सामगान**के प्रकरणमे स्वरों और वर्णोंके उच्चारणोंका जो निरूपण है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि सामगान गेय पद थे, अर्थात् अर्थ और संगीततत्त्व, दोनोंकी समान भावसे रक्षा की जाती थी। वैदिक साहित्यमे गेय पद स्तुतिपरक थे और इनका क्रमिक विकास होता रहा। सामवेदके उपवेदकी संज्ञा गान्धर्व है, जिसके लिए विधान है—"पदस्य स्वरसंघातस्तालेन संगतस्तथा। प्रयुक्तश्चावधानेन गान्धर्वमभिधीयते॥"। गेय पदोंमे 'ध्रुवक' होता है। ध्रुवकके सम्बन्धमे 'रागार्णव'मे कहा गया है—"न विवेकं विना ज्ञानं, ध्यानं नात्र रसं विना। श्रद्धया न विना दानं न गानं ध्रुवकं विना॥" जिसे बादमें चलकर ध्रुव, टेक कहा गया। 'आदि ग्रन्थ'मे टेकके स्थाननें 'रहाउ' शब्दका प्रयोग हुआ है। 'चर्याचर्यविनिश्चय'मे प्रथम गीत लुईपाका 'राग पटमंजरी'में है, जिसकी आदि पंक्ति है—"काआ तरुवर पंच विडाल चंचल चीए पइठो काल"। गेय पदोंका क्रम गोरखनाथसे प्रारम्भ हुआ और भक्तिकालीन साहित्यमें पहुँचा। कबीर, सूर, तुलसीके पद गेय काव्य है। उनका क्रम विभिन्न रागोंके अन्तर्गत रखा गया है। कुछ ऐसे राग हैं, जो शास्त्रीय नहीं हैं। कुछका सम्बन्ध देश-विशेषसे है और कुछका विषय-विशेषसे। गेय काव्यमे काव्य और गेयताकी समप्रधानता रहती है। प्रारम्भमें वाद्यकी अपेक्षा थी, किन्तु अब इसकी संगति अपेक्षित नहीं रही। गीतिमे जहाँ अन्तर्निहित संगीतकी मुख्यता रहती है, वहाँ गेय पदमें संगीतके वाह्य विधानकी अपेक्षा।

नाट्यशास्त्रमे लास्यके ग्यारह अंगोंका वर्णन किया गया है, जिनमे एक अंग है गेय पद और इसमें वीणा आदि संगीतके उपकरणों, अर्थात् वाद्योंको सामने रखकर सांगोपांग विधिसे कोई नारी अपने प्रियतमके गुणोंका शुष्क गान करती है। —रा० खे० पा०

गोचारण-काव्य (ग्राम्य काव्य)—गोचारण-काव्य पाश्चात्य साहित्यका एक प्रमुख और अत्यन्त प्राचीन काव्यरूप है। यद्यपि गोचारण-काव्यके भीतर प्रत्युत्तरकाव्य (एक्लॉग), ग्राम्य गीति (इडिल, पेस्टोरल लिरिक), ग्राम्य शोकगीति (पेस्टोरल एलिजी), ग्राम्य कथाकाव्य (पेस्टोरल रोमांस), ग्राम्य नाटक (पेस्टोरल ड्रामा), ग्राम्य प्रशस्तिकाव्य (पेस्टोरल पेनेजेरिक), ग्राम्य महाकाव्य (पेस्टोरल एपिक) आदि अनेक काव्यरूपोंका विकास हुआ, पर सभी प्रकारके गोचारण या ग्राम्य काव्यकी सामान्य और स्थिर विशेषता यह है कि उसमे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे नागरिक और ग्राम्य जीवन तथा उसके परिवेशका अन्तर दिखाना ही प्रमुख उद्देश्य होता है। गोचारण-काव्यका अर्थ लोकगीत या मौखिक रूपमें प्रचलित ग्रामीण जनताका परम्परागत काव्य नहीं है। इसके विपरीत वह शिष्ट नागर समाजके कवियों द्वारा रचित काव्य होता है, जिसमें दरबारी या नागर परिवेशमे रहनेवाला कवि ग्राम्य जीवनकी ताजगी, जीवन्तता और वातावरणको विविध शैलियोंमें अभिव्यक्त करता है। गोचारण-काव्य लिखनेवाला प्रथम कवि यूनानका थियाक्रिटस (२८० ई० पू०) था, जिसने भेड़ चरानेवालोंको पात्र बनाकर उनके संलाप या स्वगत-भाषणके रूपमें काव्य-रचना की थी। तबसे अबतक सारे यूरोपमें किसी-न-किसी रूपमे उसीकी शैली या विषयवस्तुका अनुकरण करके गोचारण-काव्यकी रचना होती आयी है।

भारतीय साहित्यमें गोचारण-काव्य नामक किसी स्वतन्त्र काव्यरूपकी परम्परा नहीं मिलती, यद्यपि ग्राम्य वातारण और पशुचारण करनेवाली जातियोंके जीवनसे सम्बन्धित काव्यका यहाँ भी नितान्त अभाव नहीं है। पालि, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्यमें आभीरों और गोपोंके जीवनसे सम्बन्धित तथा ग्राम्य परिवेशका चित्रण करनेवाला पर्याप्त काव्य मिलता है। हेमचन्द्रके प्राकृतव्याकरणमे अपभ्रंशके

संगृहीत दोषोंमें गोचारण-काव्यका सुन्दर उदाहरण मिलता है। हिन्दीमे सूरदासके पदो, विहारीके दोहो, रसखानके छन्दों और रीतिकालके कुछ कवियोकी कवितामे व्रज, विशेष रूपसे वृन्दावनके परिवेश और गोप या आभीर जातिके जीवनका बहुत ही स्वाभाविक और विवृत चित्रण मिलता है। ऐसे काव्यको गोचारण-काव्य तभी माना जायगा, जब कि गोचारण-काव्यका व्यापक अर्थ लिया जाय। यूरोपीय ढंगके गोचारण-काव्य या प्रत्युत्तर-काव्यका प्रतिरूप हिन्दी साहित्यमें खोजना व्यर्थ है, क्योंकि यहाँ उसे स्वतन्त्र काव्यरूप माना ही नही गया और न कवियों-ने जान-बूझकर प्रयत्नपूर्वक उस प्रकारका काव्य ही लिखा है। —श० ना० सि०

गोप-सखा—दे० 'गोपी'। यह बताया गया है कि गोपीभाव-की भक्ति अपनेको सखीरूपमे कल्पित करके की जाती है। उसी प्रकार सखा-भावकी भक्तिमे भक्त अपनेको श्रीकृष्ण-के गोप-सखाके रूपमे कल्पित करता है। श्रीकृष्णकी बाल्य और कैशोर लीलाके सङ्गी गोप सखा वयःक्रमके अनुसार तीन प्रकारके माने गये है। कुछ गोप अवस्थामें तनिक बड़े है, परन्तु फिर भी वे मैत्रीके भावसे गोचारण और तत्सम्बन्धी क्रीडा-विनोद आदिमे श्रीकृष्णके साथ रहते हैं। हलधरका वात्सल्य-मिश्रित सख्य प्रेम इन सखाओंका प्रतिनिधि-भाव कहा जा सकता है। इन सखाओंकी रुचि श्रीकृष्णकी उन लीलाओंमें अपेक्षाकृत अधिक रहती है, जिनमें उनका पराक्रम प्रकट होता है तथा वे दुष्टोंका संहार करके सखाओंकी सुरक्षा सम्पादित करते है। ये वयस्क सखा श्रीकृष्णकी राधा और गोपी सम्बन्धी निकुंज-लीलामें सम्मिलित नहीं होते। श्रीकृष्णसे अवस्थामे छोटे सखा भी गोकुलकी गलियो, यमुनातट, वन-प्रान्त और गोचारणकी विनोदपूर्ण क्रीड़ा, कन्दुक-केलि, छाक आदि तथा माखन-चोरी लीलामें तो सम्मिलित होते हैं, परन्तु गोपियोंके काम-भावकी प्रेम-क्रीडासे उनका कोई सम्पर्क नही रहता। श्रीकृष्णके प्रति वे मैत्रीके साथ श्रद्धा और गौरवका भाव भी रखते है। तीसरे प्रकारके गोप-सखा वे है, जो श्रीकृष्णके समवय, समशील और समव्यसन है। वे उनके अन्तरंग सखा है और उनकी प्रत्येक लीलामे उनका साथ देते है। उन्हें राधा और श्यामके अभिन्न अनुरागका भी परिचय है तथा वे पनघट, दधिदान तथा निकुंज-लीलामे काम-भावसे उद्वेलित गोपियोंको परितुष्ट करनेमें अपने प्रिय सखाकी सहायता करते है। इन्ही सखाओंमें प्रेमकी वह स्थिति दिखायी गयी है, जो संयोग और वियोग दोनों अवस्थाओंमें अनन्य भावसे क्रियाशील रहती है और भक्ति-धर्मकी भावात्मक पूर्णताको प्राप्त करती है।

गोप-सखाओंके कुछ नाम 'विष्णु' और 'श्रीमद्भागवत' पुराणोंमें भी दिये गये है। परन्तु 'पद्म' और 'ब्रह्मवैवर्त' पुराणोंसे उनकी एक लम्बी सूची बनायी जा सकती है। पुष्टिमार्गीय साहित्य, विशेषतः 'सूरसागर'में भी अनेक छोटे-बड़े और समवय सखाओंके नाम मिलते है तथा गौडीय वैष्णव सम्प्रदायके साहित्यमें नामोके साथ उनका वर्गीकरण और विवेचन भी दिया गया है। इन्हीं आत्मीय सखाओंमें आठ विशिष्ट सखा पुष्टिमार्गमें **अष्टसखा** नामसे अभिहित है, जिनके भावकी अनुरूपता **अष्टछाप**-कवियोंमे देखी जाती है (दे०—'अष्टसखा')। —व्र० व०

गोपी—ऋग्वेदमें विष्णुके लिए प्रयुक्त 'गोप', 'गोपति', और 'गोपा' शब्द गोप-गोपी-परम्पराके प्राचीनतम लिखित प्रमाण कहे जा सकते है। इन उरुक्रम त्रिपाद-क्षेपी विष्णु-के तृतीय पाद-क्षेप—परमपदमें मधुके उत्स और भूरिशृंग-अनेक सींगोवाली गउएँ है (ऋग्वेद, १:१५५:५)। कदाचित् इन गउओंके नाते ही विष्णुको गोप कहा गया है। इस आलंकारिक वर्णनमे अनेक विद्वानो, यथा मेकडानेल, ब्लूम-फील्डने विष्णुको सूर्य माना है, जो पूर्व दिशासे उठकर अन्तरिक्षको नापते हुए तीसरे पाद-क्षेपमे आकाशमे फैल जाता है। कुछ लोगोंने ग्रह-नक्षत्रोंको ही गोपी कहा है, जो सूर्य-मण्डलके चारो ओर घूमते हैं।

परन्तु गोपी शब्दकी प्रतीकात्मक व्याख्या कुछ भी हुई हो, इसका साधारण अर्थ पशु-पालक जातिकी स्त्री है और यही अर्थ न केवल इसका मूल अर्थ है, बल्कि अनेकानेक धार्मिक व्याख्याओंके बावजूद काव्य और साधारण व्यवहार, दोनोंमे निरन्तर समझा जाता रहा है। पशुपालक आभीरों या अहीरोकी जाति परम्परासे क्रीड़ा-विनोदप्रिय आनन्दी जाति रही है। इसी जातिके कुलदेव गोपाल कृष्ण थे, जो प्रेमके देवता थे, अत्यन्त सुन्दर, ललित, मधुर—गोपियोके प्रेमाराध्य। ऐसा जान पडता है कि इस जातिमें प्रचलित कृष्ण और गोपी सम्बन्धी कथाएँ और गीत छठी शताब्दी ईसवीतक सम्पूर्ण देशमें प्रचलित होने लगे थे। धीरे-धीरे उन्हें पुराणोमे सम्मिलित करके धार्मिक उद्देश्यपरक रूप दिया जाने लगा। दक्षिणके **भागवत धर्म** (दे०) आल्वार भक्तिके गीतोंमे गोपी-कृष्ण-लीलाके अनेक मनोहर वर्णन मिलते हैं। काव्यमें सबसे पहले 'गाहा सत्तसई' (गाथा-सप्तशती)में गोपी और उनमें विशिष्ट नामवाली राधा तथा कृष्णके मिलन-विरह सम्बन्धी प्रेम-प्रसंग सर्वथा लौकिक सन्दर्भमें वर्णित मिलते है। ऐसा जान पड़ता है कि गोपी-कृष्णकी कथाके अनेकानेक प्रसंग लोक-कथाओ और लोक-गीतोंके रूपमे देशभरमें प्रचलित रहे होंगे। इन कथाओं और गीतोंके भाव तथा प्रसंग साहित्यमें भी यदा-कदा अभिव्यक्ति पाते रहे होगे, जिसके बहुत थोड़ेसे प्रमाण शेष रह गये है। कदाचित् साहित्यके इस अंशको शिष्ट जनोमे अपेक्षाकृत कम महत्त्व मिला और इसी उपेक्षाके कारण यह नष्टप्राय हो गया। जो हो, संस्कृतमें 'गीतगोविन्द' (बारह-वी शती)में उसका वह रूप मिलता है, जो आगे चलकर भाषा-काव्यमे विकसित हुआ। 'गीतगोविन्द' और विद्या-पतिकी 'पदावली'से इस बातका अनुमान लगाया जा सकता है कि गोपी-कृष्ण और राधा-कृष्णकी कथाका लोक-साहित्य उस समय भी भाव-लालित्यकी दृष्टिसे कैसा सम्पन्न और मनोहर रहा होगा।

मध्ययुगमें कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायोंने पुराणों, मुख्य रूपमें श्रीमद्भागवतका आधार लेकर गोपी-कृष्णके प्रेमाख्यानको धार्मिक सन्दर्भमें आध्यात्मिक रूप दे दिया और गोपी, गोपी-भाव तथा राधा-भावकी अत्यन्त गम्भीर और रहस्यपूर्ण व्याख्याएँ होने लगीं। निश्चय ही इन व्याख्याओंके मूला-धार पुराण ही है, परन्तु उनके विवरण और विस्तार कहीं-

कहीं स्वतन्त्र रूपमें कल्पित किये गये जान पड़ते हैं। उनका प्रयोजन प्रतीकात्मक है।

'महाभारत'में गोपियोंके सम्बन्धमें कोई आध्यात्मिक व्याख्या नहीं मिलती। हरिवंशमें, जिसे महाभारतका 'खिल' कहा जाता है, कृष्णावतारका हेतु बताते हुए कहा गया है कि वसुदेव पहले कश्यप थे और कुबेरकी गौ हरण करनेके अपराधमें शापित होकर उन्होंने गौओंके बीच स्थित गोप-रूपमें जन्म लिया था। कश्यपकी स्त्री अदिति और सुरभी, देवकी और रोहिणी थीं। इन्हींके यहाँ कृष्णने, देवताओंको व्रजमें जन्म लेनेकी आज्ञा देकर, स्वयं जन्म लेनेकी इच्छा की थी। सैकड़ों-सहस्रों देवता पांचाल देशके कुरुवंश और वृष्णिवंशमें उत्पन्न हुए (हरिवंश—आदिपर्व, अध्याय ५३-५५)। हरिवंशमें स्पष्टतः कहा नहीं गया है, परन्तु यह ध्वनित होता है कि गोप-गोपियाँ भी देव-देवियाँ ही थे। हरिवंशके बाद वैष्णव पुराणोंमें गोप-गोपियोंका दैवी उत्पत्ति-विषयक न्यूनाधिक उल्लेख बराबर पाया जाता है। श्रीमद्भागवतमें भी गोपियोंको देवताओंकी स्त्रियाँ कहा गया है, जो वसुदेवके भवनमें जन्म लेनेवाले साक्षात् भगवान् विष्णुका प्रिय करनेके लिए पृथ्वीपर अवतरित हुई थीं (द० स्कं० पू०, १ : २३)। परन्तु 'हरिवंश', 'विष्णुपुराण' और 'भागवत'की गोपियाँ फिर भी लौकिक रूपमें ही चित्रित की गयी हैं, उनके विषयमें कोई रहस्य-संकेत नहीं है।

'पद्म' और 'ब्रह्मवैवर्त्त' पुराणोंमें **गोलोक**के नित्य वृन्दावनकी विशद कल्पना मिलती है, जिसमें परमानन्दरूप परब्रह्म श्रीकृष्ण राधा तथा गोपियोंके साथ नित्य क्रीड़ारत रहते हैं। 'ब्रह्मवैवर्त'(श्रीकृष्णजन्मखण्ड)में वर्णन है कि नन्दव्रजमें अवतीर्ण होनेके पूर्व श्रीकृष्णने राधा तथा गोलोकके सब गोप और गोपियोंको व्रजमें जन्म लेनेकी आज्ञा दी (अ० ६, ६३-६९)। साथ ही देवी-देवताओंने भी व्रजमें जन्म लेनेके लिए गोप-गोपीका रूप धारण किया था (वही, ११९)। 'पद्मपुराण'के अनुसार दण्डकारण्यवासी कृष्ण-भक्त मुनियोंने भी सौन्दर्य-माधुर्यका आस्वादन करनेके हेतु गोपियोंका जन्म पाया था। यहीं एक दूसरे स्थलपर तांत्रिक प्रभावके कारण वंशीरवको अनाहत नाद, कालिन्दीको सुषुम्णा तथा गोपियोंको योगिनी कहा है (पाताल०, ७५ : १०-१३)। एक तीसरे स्थलपर इन्हें 'श्रुतिरूपिणी' भी कहा गया है (वही—७७ : ७५)।

मध्ययुगके कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायोंने ही वस्तुतः गोपियोंकी उत्पत्ति सम्बन्धी रहस्यात्मक कल्पनाएँ की हैं और कुछ आलोचकोंने यहाँतक अनुमान किया है कि 'पद्म' और 'ब्रह्मवैवर्त्त' पुराणोंके राधा और गोपी सम्बन्धी अनेक विवरण उसीके प्रभाव हैं। जो हो, गोपियोंका उत्पत्ति सम्बन्धी उल्लेख अत्यन्त रोचक और विचारणीय है।

निम्बार्कके सनकादि या हंस-सम्प्रदायमें कृष्ण-ब्रह्मकी अचिन्त्य शक्तिको द्विविध बताया गया है—एक ऐश्वर्य और दूसरी माधुर्य। रमा, लक्ष्मी या 'भू' नामकी उनकी ऐश्वर्य-शक्ति है और गोपी और राधा माधुर्य या प्रेम-शक्ति। इस प्रकार राधा तथा अन्य गोपियाँ कृष्णकी आह्लादिनी शक्ति है। निम्बार्करचित 'दशश्लोकी'में कहा गया है—"अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदा विराजमानामनुरूपसौभगाम्। सखीसहस्त्रैः परिसेवितां सदा स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्॥" अर्थात् अनुरूप सौभगारूपमें कृष्णके वामांगमें आनन्दपूर्वक विराजमान, समस्त मनोकामनाओंको पूर्ण करनेवाली वृषभानुजाको नमस्कार करता हूँ, जो सहस्रों सखियों द्वारा परिसेवित है।

गोपी सम्बन्धी सबसे अधिक विस्तार गौड़ीय वैष्णव (चैतन्य)सम्प्रदाय और पुष्टिमार्ग(वल्लभ-सम्प्रदाय)में मिलते हैं। गौड़ीय वैष्णव मतके अनुसार गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्णकी ह्लादिनी शक्ति हैं। वे अप्रकट तथा प्रकट दोनों लीलाओंमें उनके नित्य परिकरके रूपमें निरन्तर उनके साथ रहती हैं। श्रीकृष्णकी तरह गोप-गोपियोंके भी प्रकट और अप्रकट, दोनों शरीर होते हैं। वृन्दावनकी प्रकट लीलामें गोपियाँ भगवान्की स्वरूप-शक्ति-प्रादुर्भाव-रूपा हैं। भगवान्की ह्लादिनी गुह्य विद्याके रहस्यका प्रवर्तन उन्हींके द्वारा होता है। वे नित्यसिद्धा हैं। रूपगोस्वामी प्रभृति चैतन्य-मतके विवेचकोंने गोपियोंका वर्गीकरण करके कृष्णकी व्रजवृन्दावनकी प्रेमलीलामें उनके विभिन्न स्थानोंका निर्देश किया है।

'उज्ज्वल नीलमणि'के 'कृष्णवल्लभा' अध्यायके अनुसार कृष्णवल्लभाओंको पहले स्वकीया और परकीया—इन दो भागोंमें बाँटा गया है। रुक्मिणी, सत्यभामा, जाम्बवती आदि कृष्णकी विवाहिता पत्नियाँ स्वकीया हैं तथा उनकी प्रेयसी गोपियाँ परकीया हैं। परन्तु गोपियोंका परकीयात्व लौकिक दृष्टिमात्रसे है। वास्तवमें तो वे सभी स्वकीया हैं, क्योंकि उन्होंने प्राण, मन और शरीर सभी कुछ कृष्णार्पण कर रखा है। फिर भी प्रकट लीलामें इन गोपियोंका परकीयात्व ही स्वीकार किया गया है। परकीया गोपियाँ—**कन्या** और **परोढा** दो प्रकार की हैं। कन्या अविवाहित कुमारियाँ हैं, जो कृष्णको ही अपना पति मानती हैं। प्रेम-भक्तिमें श्रेष्ठता परोढाओंकी ही है। **परोढा** गोपियाँ पुनः तीन प्रकार की हैं—**नित्यप्रिया, साधन-परा** और **देवी**।

जो गोपियाँ नित्यकालके लिए नित्य वृन्दावनमें श्रीकृष्णके लीला-परिकरकी अंग हैं, वे नित्यप्रिया हैं। ये वस्तुतः वे भक्त जीव हैं, जिन्होंने प्रेम-भक्तिके द्वारा भगवत्-स्वरूपमें प्रवेश पा लिया है और जो नित्यसिद्ध गोपी-देहसे उनकी लीलाके अभिन्न अंग बन गये हैं। नित्यप्रिया गोपियोंको **प्राचीना** भी कहा गया है, क्योंकि ये वे जीव हैं, जो बहुत लम्बी साधनाके फलस्वरूप गोपी-देह पाते हैं। इनका गोपी-भाव भक्तोंका साध्य नहीं है। उनका साध्य **साधना-परा** गोपियोंका रूप है।

ये **साधना-परा** गोपियाँ **यौथिकी** और **अयौथिकी**, दो प्रकार की हैं। **यौथिकी** अपने गणके साथ प्रेम-साधनामें संलग्न रहती हैं। **यौथिकी** पुनः दो प्रकार की होती हैं—**मुनि** और **उपनिषद्**। पौराणिक प्रमाणोंके अनुसार अनेक मुनिगण जो कृष्णके माधुर्यरूपका आस्वाद लेनेके लिए गोपी-भावकी आकांक्षा करते हैं, गोपियोंका जन्म पाकर कृष्णकी व्रजलीलामें सम्मिलित होनेका सौभाग्य लाभ करते हैं। ये ही मुनि-यूथकी गोपियाँ हैं। उपनिषद्-यूथकी गोपियाँ पूर्वजन्मके उपनिषद्गण हैं, जिन्होंने तपस्या करके

ब्रजमे गोपीरूप पाया है ।

अयौथिकी गोपियोका रूप उन कृपाप्राप्त जीवोंको मिलता है, जो गोपी-भावसे भगवान् कृष्णके प्रेममे रत रहते हैं और अनेक योनियोमे जन्म लेनेके बाद गोपीरूप पाते हैं । ये **अयौथिकी** गोपियाँ **नवीना** भी कहलाती है और इन्हे भक्तिके फलस्वरूप प्राचीना नित्यप्रिया गोपियोके साथ सालोक्य (दे० 'मुक्ति') प्राप्ति होती है ।

देवी उन गोपियोंका नाम हैं, जो **नित्यप्रियाओं**के अंशमे श्रीकृष्णके सन्तोषके लिए उस समय देवीके रूपमे जन्म लेती हैं, जब स्वयं श्रीकृष्ण देवयोनिमे अंशावतार धारण करते है । उपर्युक्त **कन्या** गोपियाँ ये ही देवियाँ है जो नित्यप्रियाओंकी परम प्रिय सखियोंका पद पाती है ।

नित्यप्रिया गोपियोंमे आठ प्रधान गोपियाँ **यूथेश्वरी** होती है । प्रत्येक यूथमे **यूथेश्वरी** गोपीके भावकी असंख्य गोपियाँ होती है । राधा और चन्द्रावली सर्वप्रधान **यूथेश्वरी** गोपियाँ है । इनमे भी राधा सर्वश्रेष्ठ—महाभाव-स्वरूपा है । रूपगोस्वामीके अनुसार ये सुष्ठुकान्तस्वरूपा, धृतषोडश-श्रृङ्गारा और द्वादशाभरणाश्रिता है । उनके अनन्त गुण है । राधाके यूथकी गोपियाँ भी सर्वगुणसम्पन्न है ।

राधाकी ये **अष्टसखियाँ** पाँच प्रकारकी होती हैं—**सखी** (कुसुमिका, विद्या आदि), **नित्य-सखी** (कस्तूरिका, मणिमंजरिका आदि), **प्राण-सखी** (शशिमुखी, वासन्ती आदि), **प्रिय सखी** (कुरङ्गाक्षी, मदनालसा, मंजुकेशी, माली आदि) तथा **परम श्रेष्ठ सखी** । राधाकी **परम श्रेष्ठ सखियाँ** आठ है—ललिता, विशाखा, चम्पकलता, चित्रा, सुदेवी तुंगविद्या, इन्दुलेखा, रङ्गदेवी और सुदेवी है । चित्रा, सुदेवी तुंगविद्या और इन्दुलेखा, रङ्गदेवी और सुदेवी है । चित्रा, सुदेवी तुंगविद्या और इन्दुलेखाके स्थानपर सुमित्रा, सुन्दरी, तुंगदेवी और इन्दुरेखा नाम भी मिलते है (दे० 'युमलसर्वस्व' : भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, खड्गविलास प्रेस, पटना १९११) ।

ये **अष्टसखियाँ** सब गोपियोंमें अग्रगण्य है । इनकी एक-एक सेविका भी है, जो **मंजरी** कहलाती है । **मंजरियों**-के नाम ये है—रूपमंजरी, जीवमंजरी, अनंगमंजरी, रस-मंजरी, विलासमंजरी, रागमंजरी, लीलामंजरी और कस्तूरी-मंजरी । इनके नाम-रूपादिके विषयमें भिन्नता भी मिलती है । ये सखियाँ वस्तुतः राधासे अभिन्न उन्हींकी कायव्यूहरूपा हैं । राधा-कृष्ण-लीलाका इन्हींके द्वारा विस्तार होता है । कभी वे, जैसे खण्डिता दशामें, राधाका पक्ष-समर्थन करके कृष्णका विरोध करती है और कभी, जैसे मानकी दशामें, कृष्णका विरोध करती है और कभी कृष्णके प्रति प्रवृत्ति दिखाते हुए राधाकी आलोचना करती है । परन्तु उन्हें राधामे ईर्ष्या कभी नही होती, वे कृष्णका संग-सुख कभी नहीं चाहतीं, क्योंकि उन्हे राधा-कृष्णके प्रेम-मिलनमें ही आत्मीय मिलन-सुखकी परिपूर्णताका अनुभव हो जाता है । अतः वे राधा-कृष्णके मिलनकी चेष्टा करती रहती है ।

वल्लभ-सम्प्रदाय (पुष्टिमार्ग)में भी शब्दोंके किञ्चित् हेर-फेरसे गोपियोंके सम्बन्धमे इसी प्रकारके विचार मिलते हैं । वहाँ भी **गोलोक**के नित्यरासकी गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्णके परमानन्दस्वरूपका विस्तार करनेवाली, उन्हींकी सामर्थ्यशक्ति है । उनकी उत्पत्ति स्वयं श्रीकृष्ण ब्रह्मके आनन्दकायसे हुई है । उनके बिना ब्रह्मका परमानन्द-स्वरूप अपूर्ण है । गोपियाँ कृष्ण-धर्मीकी धर्म-रूपा है । राधा उन गोपियोंमे पूर्ण आनन्दकी सिद्ध-शक्ति है, अतः वे स्वामिनी है । राधा और गोपियोंके रूपमें रस-रूप कृष्ण-ब्रह्म अपना प्रसार करके उसी प्रकार प्रसन्न होते है, जैसे बालक अपना प्रतिबिम्ब देखकर प्रसन्न होता है ।

अवतार-दशामें परमानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण-ब्रह्म अपने सम्पूर्ण रस-परिकर—राधा, गोपी, गोप, गो, वत्स आदि—तथा **लीलाधाम**के साथ ब्रजमें प्रकट होते है । अवतार-लीलाकी गोपियोके वल्लभमतमें भी **स्वकीया** और **परकीया**, दो भेद किये है, केवल उनके नाम भिन्न है । एक प्रकारकी गोपियाँ **अनन्यपूर्वा** कही गयी है, जो पुनः दो प्रकारकी है—एक कुमारियाँ, जो कृष्णको पतिके रूपमे पानेकी साधना करते हुए सदैव अविवाहित रहती है और दूसरी वे, जिनका कृष्णके साथ विवाह होता है । ये दोनों प्रकारकी **अनन्यपूर्वा** गोपियाँ कृष्णका ही वरण करती है । ये गोपियाँ **पूर्वराग**की अवस्थाके बाद कुलकी मर्यादा और लोककी लज्जा त्यागकर कृष्णसे मिलती है । **अनन्यपूर्वा** गोपियाँ वस्तुतः **स्वकीया** है ।

अन्यपूर्वा गोपियाँ **परकीया** कही जा सकती है, क्योंकि वे विवाहिता होती है और अपने लौकिक पतियोंसे सम्बन्ध त्यागकर **जार** भावसे श्रीकृष्णको प्रेमी-रूपमे प्राप्त करनेकी लालसा रखती है । लोक, वेद और कुलकी मर्यादाओंका उन्हे उल्लङ्घन करना पड़ता है ।

इन दो प्रकारकी गोपियोके अतिरिक्त एक **सामान्या** गोपियाँ और कही गयी है, जो निरन्तर कृष्णके बालरूपके प्रति यशोदाकी तरह वात्सल्य स्नेह करती है । चैतन्यमतके स्वकीया-परकीयाके अतिरिक्त तीसरे प्रकारकी **साधारणी** वल्लभाएँ कही गयी है, जो कुब्जाकी तरह केवल कामवासनाकी परितृप्तिके लिए प्रेम करती है । वल्लभ-मतकी सामान्या गोपियोंसे वे नितान्त भिन्न है । वल्लभ-मतमें वात्सल्यभावको जो महत्ता दी गयी है, उसे देखते हुए इस भावकी गोपियोंका एक भिन्न वर्ग रखना समीचीन है ।

पुष्टिमार्गीय भक्तिका प्रथम सोपान वात्सल्यभावकी भक्ति ही है, जिसे **प्रवाही पुष्टि भक्ति** कहते है । प्रवाही पुष्टि भक्त **सामान्य** गोपियाँ उच्च भक्त है । **अनन्यपूर्वा** गोपियाँ उच्चतर भक्त है, क्योकि उनमें **पूर्वराग**की अवस्थामे मर्यादाका भाव रहता है । उनकी भक्ति **मर्यादा-पुष्टि** भक्ति है । उच्चतम भक्ति **पुष्टि-पुष्टि भक्ति** होती है, जो **जार** भावकी होती है । **अन्यपूर्वा** गोपियाँ ही इसकी अधिकारिणी होती है । इस प्रकार वल्लभमतमें भी चैतन्यमतकी भाँति **परकीया-भाव**की ही सर्वोच्च महत्ता है । रास-रसका सुख केवल अन्यपूर्वा और अनन्यपूर्वा गोपियोंको ही मिलता है ।

श्रीमद्भागवतकी सुबोधिनी टीकाके रासपंचाध्यायी 'फल-प्रकरण'मे वल्लभाचार्यने रासकी इन दो प्रकारकी गोपियोंको पुनः **तामस, राजस, सात्विक**, तीन गुणोंके प्रभावसे उनके मेलके अनुसार नौ और नौ अठारह भेदोंमें वर्गीकृत किया है । इनके अतिरिक्त उन्नीसवी प्रकारकी गोपी

गुणातीता या **निर्गुणा** कहलाती हैं। वल्लभाचार्यने इन गोपियोंमें राधाका कोई उल्लेख नहीं किया। वल्लभ-सम्प्रदायमें राधाका माहात्म्य विट्ठलनाथके समयमें प्रतिष्ठित हुआ। यह अनुमान निराधार नहीं है कि पुष्टिमार्गमें राधा और गोपी-भावकी इतनी महत्ता बहुत कुछ गौडीय तथा राधावल्लभीय सम्प्रदायोंके सम्पर्कका परिणाम है। गोपियोंके उपर्युक्त वर्गीकरणसे इसकी पुष्टि होती है।

यद्यपि गोपियाँ कृष्णकी रस-शक्ति हैं, उनसे अभिन्न हैं, परन्तु लीलामें वे भिन्न तथा भक्तोंमें आनन्द-भावका अविर्भाव करनेवाली रसात्मक शक्तिकी प्रतीक भी हैं। राधा रस-सिद्धिकी प्रतीक है तथा अन्य गोपियाँ गोपीस्वरूप बननेकी कामना करनेवाले भक्तोंकी प्रेमभक्ति-साधनाकी विविध स्थितियोंकी प्रतीक हैं।

वल्लभ-सम्प्रदायमें चैतन्यमतकी तरह गोपियोंके यूथोंके विवरण तो नहीं हैं, परन्तु राधा और चन्द्रावलीको अन्य शक्ति-स्वरूपा गोपियोंकी स्वामिनी, सिद्धशक्ति-स्वरूपा कहा गया है। अन्य गोपियाँ इन्हींकी सखियाँ हैं। यहाँ भी मुख्य आठ सखियाँ मानी गयी हैं, परन्तु नामोंमें कुछ अन्तर है। पुष्टिमार्गी **अष्टसखियाँ** हैं—चम्पकलता, चन्द्रभागा, विशाखा, ललिता, पद्मा, भामा, विमला और चन्द्ररेखा। मधुरभावके भक्त सखीरूप होते हैं। पुराणोंमें विशेषरूपसे 'ब्रह्मवैवर्त्त'में अष्टसखियोंके नाम किंचित् परिवर्तनसे इस प्रकार मिलते हैं:—चन्द्रावली, श्यामा, शैव्या, पद्मा, राधा, ललिता, विशाखा तथा भद्रा। अष्टछापके परम भगवदीय आठ भक्त, जो सख्य भक्ति करनेके कारण गोचारण-लीलाके **अष्टसखा** (दे०) कहे गये हैं, मधुरभाव सिद्ध कर लेनेके कारण निकुञ्जलीलाकी अष्टसखी भी बताये गये हैं। इस प्रकार सूरदास—चम्पकलता, परमानन्ददास—चन्द्रभागा, कुम्भनदास—विशाखा, कृष्णदास—ललिता, छीतस्वामी—पद्मा, गोविन्दस्वामी—भामा, चतुर्भुजदास—विमला तथा नन्ददास—चन्द्ररेखाका भाव सिद्ध किये हुए सखीभावके भक्त हैं।

अष्टछाप-कवियोंमें सूरदासके काव्यमें माधुर्य भक्तिका सबसे अधिक विशद और विस्तृत रूप मिलता है। उन्होंने राधा और कृष्णको प्रकृति और पुरुषरूपमें वर्णित किया है तथा अन्य गोपियोंको राधाकी विविध प्रेमावस्थाकी सखियोंके रूपमें। इन सभी कवियोंने राधा और गोपियोंको एक ओर तो कृष्ण-ब्रह्मकी आनन्दरूप-प्रसारिणी शक्तिके रूपमें चित्रित किया और दूसरी ओर दाम्पत्य या कान्ताभावसे भक्ति करनेवाले अनन्य भक्तोंके रूपमें। सूरदासने राधाके अतिरिक्त ललिता और चन्द्रावलीका विशेष उल्लेख किया है और उन्हें राधाकी परम प्रिय, घनिष्ठ सखियोंके रूपमें 'मान' और 'खण्डिता'के प्रकरणोंमें चित्रित किया है। 'खण्डिता' प्रकरणोंमें इन दोके अतिरिक्त सूरदासने शीला, सुखमा, कामा, वृन्दा, कुमुदा और प्रमदाका उल्लेख किया है। गोपियोंमें कृष्ण-प्रेमकी अधिकारिणी ये ही हैं। परन्तु इनमेंसे किसीका राधासे ईर्ष्याभाव नहीं है। वास्तवमें ये राधासे ही नहीं, कृष्णसे भी अभिन्न हैं। सूरदासने कहा है—"राधिका गेह हरि-देहवासी। और तिय घरनि घर तनुप्रकासी ॥ ब्रह्म पूरन द्वितिय नहीं कोऊ। राधिका सबै, हरि सबै वोऊ ॥ दीप सौं दीप जैसे उजारी। तैसे ही ब्रह्म घर घर विहारी ॥" (सू० सा०, सभा : पद ३११३)।

सूरदासने 'दानलीला'के प्रसंगमें गोपियोंकी महिमा बताते हुए उन्हें श्रुतिकी ऋचाएँ बताया है। कृष्णके सगुण परमानन्दस्वरूपके देखनेकी श्रुतियोंकी इच्छा पूरी करनेके लिए ब्रह्मने जब **निज धाम—नित्यवृन्दावन** दिखाया, जहाँ प्रकृतिकी रमणीय शोभाके बीच किशोर श्याम गोपियोंके साथ क्रीडा करते हैं, तब श्रुतियोंने गोपीरूप पानेका वरदान माँगा। पूर्ण परमानन्द ब्रह्मने वरदान दिया कि जब मैं भरतखण्डके मथुरामण्डलमें, जो हमारा निज धाम है, गोपवेश धारण करूँगा तब तुम गोपी होकर मुझसे प्रेम करोगी। इस प्रकार वेद-ऋचाओंने गोपी बनकर हरिके साथ विहार किया। ब्रह्मा कहते हैं—"जो कोउ भरताभाव हृदय धरि हरि पद ध्यावै। नारि-पुरुष कोउ होइ श्रुतिऋचा गति सो पावै ॥ तिनकी पदरज कोउ जो वृन्दावन भू माँह। परसे सोऊ गोपिका-गति पावै संशय नाहि॥" 'सूरसागर'के इस पद (सभा : पद १७९३)के वेंकटेश्वर प्रेसके संस्करण (सं० १९८० वि०)के पाठमें त्रिपद वामन-पुराणकी साक्षी दी गयी है। वास्तवमें गदाधरदास द्विवेदी लिखित 'सम्प्रदाय-प्रदीप' नामक पुस्तकके द्वितीय प्रकरणके १ से ३० श्लोकोंका इस पदमें शब्दशः साम्य पाया जाता है। विद्याविभाग, कांकरोलीसे प्रकाशित यह पुस्तक संवत् १६१०की लिखी कही गयी है। प्रश्न उठता है कि इन दोनोंमें मूल कौन है और अनुवाद कौन? जो हो, पुष्टिमार्गमें गोपियोंकी इस प्रकारकी महिमा प्रचलित रही है। उपर्युक्त **भर्त्ता-भाव,** अर्थात् **गोपी-भाव** भक्तिका सर्वोच्च भाव माना गया है।

गौडीय वैष्णव और वल्लभसम्प्रदायोंमें गोपी और **गोपीभाव**की जो महत्ता दी गयी, उसे ही थोडे-बहुत विवरण और अवधान सम्बन्धी अन्तरोंके साथ कृष्ण-भक्तिके अन्य सम्प्रदायोंमें भी अपनाया गया है। इन सम्प्रदायोंमें **राधावल्लभीय** (दे०) और **सखी सम्प्रदाय** विशेष उल्लेखनीय हैं। इन दोनोंमें ही राधाकृष्णको अद्वय मानकर उनकी सखियोंको भी उन्हींका एक अभिन्न अंग माना गया है। अतः भक्तगण गोपियोंके सखी-भावको अपनानेके लिए ही लालायित रहते हैं। वे गोपियोंके स्वरूपका ध्यान करते हुए उन्हींकी तरह आचरण करते हैं तथा उनके भावको दृढ़ करनेकी चेष्टा करते हैं उनकी सबसे बड़ी आकांक्षा यही होती है कि किसी प्रकार उन्हें युगल मूर्तिके सन्निकट रहकर उनकी परिचर्या करनेका अवसर मिले।

[सहायक ग्रन्थ—उज्ज्वल नीलमणि (संस्कृत) : रूप-गोस्वामी; श्रीसुबोधिनी भाष्य : वल्लभाचार्य; सम्प्रदाय-प्रदीप : गदाधरदास द्विवेदी; सूरसागर : सूरदास; अष्टछाप और वल्लभसम्प्रदाय : दीनदयालु गुप्त; सूरदास : ब्रजेश्वर वर्मा; ब्रजबूलि (अंग्रेजी) : सुकुमार सेन; श्रीराधाका क्रम-विकास : (हिन्दी अनुवाद) शशिभूषणदास गुप्त।]—ब्र० व०

गोपीचंद्र—गोपीचन्द्रकी लोकगाथा उत्तरी भारतमें अत्यन्त प्रसिद्ध है। नाथसम्प्रदायके अनुयायी साधु जो 'जोगी'के नामसे विख्यात हैं, सारंगी बजाते हुए गोपीचन्द्रकी गाथाको गा-गाकर भिक्षाकी याचना करते हैं। पहिले लोगोंका

यह विश्वास था कि गोपीचन्द्रकी गाथा जोगियोंके उपजाऊ मस्तिष्ककी उपज है, परन्तु आधुनिक अनुसन्धानोंसे पता चला है कि यह गाथा ऐतिहासिक आधारपर प्रतिष्ठित है। बुकानन हैमिल्टन तथा ग्रियर्सनने प्रमाणोंके आधारपर यह सिद्ध किया है कि गोपीचन्द्र ऐतिहासिक व्यक्ति है।

गोपीचन्द्रके गीतमें सन्निहित परम्पराके अनुसार इनकी जन्मभूमि उत्तरी बंगालके रंगपुर जिलेमें मानी जाती है। ग्रियर्सनने उस स्थानका भी पता लगाया है, जो गोपीचन्द्र-की माता 'मयनामती'के नामके कारण 'मयनामतीर कोट' कहलाता है। गोपीचन्द्रके पिताका नाम मानिकचन्द्र था, जो उत्तरी बंगालमें रंगपुर जिलेमे राज्य करते थे। इनकी जाति गन्धवणिक् थी। इनकी स्त्रीका नाम 'मयनामती' था, जो योगविद्यामें बडी निपुण थी। मानिकचन्द्रके भाईका नाम धर्मपाल था। बुकाननने लिखा है कि इनका सम्बन्ध बंगालके सुप्रसिद्ध पाल-राजाओंसे था। ग्रियर्सनका भी यही मत है।

मानिकचन्द्रकी मृत्युके पश्चात् उनकी स्त्री मयनामतीने अपने अलौकिक योग-प्रभावसे यमपुरीको घेर लिया। तब उसके गुरु गोरखनाथने उसे पुत्रोत्पत्तिका वरदान दिया। इस प्रकार गोपीचन्द्रकी उत्पत्ति हुई। जब गोपीचन्द्र बडे हुए तब उनका विवाह राजा हरिश्चन्द्रकी पुत्री अदुनासे हुआ। साथ ही पुरस्काररूपमें अदुनाकी बहन पदुना भी प्राप्त हुई। मयनामती योग-बलसे यह जानती थी कि अठारह वर्षकी आयुमें यदि मेरा पुत्र योगी न हुआ तो उसकी मृत्यु हो जायगी। अतः राज्य-सुख तथा विषय-वासनामें फँसे हुए गोपीचन्द्रको उसने संन्यास ले लेनेका उपदेश दिया। गोपीचन्द्रने हाडीसिद्धको अपना गुरु बनाया और घर तथा राज्य छोड़कर जोगी हो गये। अदुना तथा पदुनाने इन्हें ऐसा न करनेके लिए बडा आग्रह किया, परन्तु उन्होंने किसीकी बात नही मानी। हाडीसिद्धने अपने शिष्य गोपीचन्द्रकी साधनाकी परीक्षा लेनेके लिए इन्हें हीरा नामक वेश्याके हाथों बेच दिया, जिसने अपनी वासनाकी पूर्ति न करनेके कारण बड़े कठोर तथा नीच कामोंको करने-के लिए कहा। मयनाको जब अपने पुत्रकी दयनीय दशाका पता चला तो उसने हाडीसिद्धकी सहायतासे इन्हे हीरा वेश्याके यहाँसे बारह वर्षोंके पश्चात् मुक्त कराया। गोपीचन्द्र फिर घर लौटकर आये और पुनः राज्य-सुख भोगने लगे।

विद्वानोंने अनेक ऐतिहासिक प्रमाणोंके आधारपर गोपी-चन्द्रका आविर्भाव-काल ११वी शताब्दीका पूर्वार्ध माना है। दक्षिणके राजा राजेन्द्र चोलके तिरुमलाईके शिलालेखसे तथा फरीदपुर और ढाकामे प्राप्त ताम्रलेखोंसे इस सिद्धान्त-की पुष्टि होती है।

गोपीचन्द्रकी गाथाका प्रचार पंजाबसे लेकर बंगालतक पाया जाता है। साथ ही गुजरात तथा महाराष्ट्रमें भी इनकी कथाका प्रचार है। इसके श्रेय-विस्तारके द्वारा ही इस कथाकी लोकप्रियताका अनुमान किया जा सकता है। विभिन्न प्रान्तोंमें प्रचलित गोपीचन्द्रके गीतोंके कथानकमे थोड़ा-बहुत अन्तर पाया जाता है। मोहन सिंहने 'उदास गोपीचन्द्र' नामक पंजाबी लोकगाथाका उल्लेख किया है। लक्ष्मणदासने गोपीचन्द्रके हिन्दी गीतका सम्पादन किया है। बंगलामें गोपीचन्द्रके गीतोका संकलन तथा सम्पादन भवानीदासने किया है। कलकत्ता विश्वविद्यालयमे 'गोपी-चन्द्रेर गान' नामसे इनका प्रकाशन हुआ है।

गोपीचन्द्रकी गाथा बडे सुन्दर तथा मनोहर पद्योंमे कही गयी है। जब राजा गोपीचन्द्र संन्यास लेनेके लिए घरसे विदा हो रहे है, उस समय उनकी रानियोका विलाप बडा मर्मस्पर्शी है। यह पाषाण-हृदयको भी एक बार पिघला देता है। सारंगी बजाकर जब 'जोगी' इस गीतको लयसे गाने लगते है तो श्रोताओंकी आँखें आँसुओंसे छलछला उठती है। अठारह वर्षकी भरी जवानीमें राज्यके सुखों तथा अदुना और पदुनाके प्रेमको ठुकराकर योगी होनेकी कहानी गोपीचन्द्रके अलौकिक त्यागकी कथा है। इसी कारण यह श्रोताओंको इतनी मार्मिक लगती है। —कृ० दे० उ०

गोपी-भाव–दे० 'गोपी'।

गोपीयंत्र–दे० 'किंगरी'।

गोमांस–'कौलज्ञान निर्णय'के ग्यारहवें पटलमें पाँच उत्तम भोज्योका उल्लेख है—गोमांस, गोघृत, गोरक्त, गोक्षीर एवं गोदधि। और लक्ष्य करनेकी बात है कि वहाँ इनको अभिधार्थमें ग्रहण किया गया है। लगता है कतिपय कारणोंसे आगे चलकर इस तरहकी बातोको अच्छा नही माना गया या बुरा माना जाने लगा, अतः शब्द तो पुराने चलते रहे, पर उनकी व्याख्याएँ बदल दी गयी। गोमांसकी योगपरक व्याख्या करते हुए 'हठयोग प्रदीपिका'में कहा गया है कि "नित्य गोमांसभक्षण और अमरवारुणीका भक्षण एवं पान करना चाहिए। जो योगी ऐसा करता है वही कुलीन है शेष सभी कुलघातक है" (३, ४६)। लेकिन इतना ही कहकर बात समाप्त नहीं की गयी है। लगता है शास्त्रकारको इस बातकी चिन्ता थी कि उसकी बातको अवश्य गलत समझा जायगा अतः वह अपने तात्पर्यार्थको खोलकर समझा देता है—'गो' शब्दका अर्थ (गाय न होकर) जिह्वा है और इस जिह्वाको उलटकर कपाल कुहरमे ले जाना और इस प्रकार चन्द्रमण्डलसे क्षरित होनेवाले अमृतरसको पीना ही 'गोमांस भक्षण' है। परवर्ती कालमें ये ऊपरसे गढी हुई व्याख्याएँ ही प्रमुख बन गयी और इनके मूल अभिधार्थ भुला या नकार दिये गये। सन्तोने अमरवारुणी, गोमांस, सुरही भच्छन, मद्य-पान आदिकी जितनी भी बातें की है, वे सभी इन परवर्ती व्याख्याओंको ध्यानमें रखकर। कबीर जब कहते है—

"नितै अमावस नितै ग्रहन होइ राहु ग्रास तन छीजै।
'सुरही भच्छन' करत बेदमुख घन बरिसै तन छीजै"।

तो प्रसंग और परम्परा दोनोंके अनुसार 'सुरभि (गाय) भक्षण'का अर्थ खेचरीमुद्रा बाँधकर चन्द्रमासे क्षरित होनेवाले अमृतको पीनेवाली हठयोगी साधनाकी बात ही करते है। मुल्लाको गाय मारनेके लिए बुरा-भला कहनेवाले कबीर अभिधार्थमें गोमांसभक्षणकी बात कभी सोच भी नहीं सकते थे। —रा० सिं०

गोरखधंधा–गोरखपन्थी साधु लोहे या लकड़ीकी सलाइयों-के हेर-फेरसे चक्र बनाकर उसके बीचमें एक छेद करते

है। इस छेदमें कौडी या मालाकार धागेको डालकर मन्त्र पढ़कर उसे निकाला करते हैं। यही 'गोरखधन्धा' या 'धन्धारी' है। योगियोके वेषमें इसका उल्लेख प्रायः सर्वत्र मिलता है (दे० पद्मावत, १३६।४, ६०१।७, ६०६।४; चित्रावली, दो० २०९, २१०, २२० तथा सुधाकर चन्द्रिका, पृ० २३९)। गोरखधन्धे या 'धन्धारी'मेंसे, क्रिया जाने बिना डोरे या कौडीको निकालना बहुत ही उलझनका काम है। इसीलिए गोरखधन्धा शब्द आजकल उलझन और झंझट-वाले कामोंका वाचक बन गया है। —रा० सि०

गोरखपंथ—दे० 'नाथ-संप्रदाय'।

गोलोक लीला—दे० 'अक्षर-धामलीला' तथा 'नित्यलीला'।

गोष्ठी—एक अंकका उपरूपक है। पात्रोमें नौ या दस पुरुषो तथा पाँच या छः स्त्रियोंका व्यापार रहता है। इसमे काम-शृंगारकी प्रधानता, कैशिकी वृत्तिका प्रयोग, उदात्त वचनोंकी योजना तथा गर्भ और विमर्श सन्धियोंको छोड़कर शेष सन्धियोंका निर्वाह रहता है। शेष सब बातोमे नाटकसे समानता है। उदाहरण—'रैवत-मदनिका।' —वि० रा०

गौडी रीति—दे० 'रीति', दूसरी।

गौण वस्तु—दे० 'प्रासंगिक वस्तु'।

गौणी भक्ति—देवार्चन, भजन-सेवाकी ओर प्रवृत्तिका नाम गौणभक्ति अथवा साधनभक्ति है। यह **पराभक्ति**की भूमिका मे प्रविष्ट होनेका प्रथम सोपान है। पराभक्तिकी साधनामें जो नाना प्रकारकी बाधाएँ उपस्थित होती है, वे गौणी भक्ति द्वारा दूर हो जाती है। नारदीय भक्तिसूत्रमें गुणभेद अथवा आर्तादि भेदसे इसके तीन प्रकार निर्दिष्ट है—"गौणी त्रिधा गुणभेदादार्तादिभेदाद्वा।" (५६)। गुणभेदसे प्रकार (१) **सात्त्विकी**—भक्तिके लिए ही की जानेवाली पूजा (श्रीमद्भागवत, ३।२९।१०), (२) **राजसी**—विषय, यश और ऐश्वर्यकी कामनासे प्रेरित होकर की जानेवाली पूजा (भागवत, ३।२९।९), (३) **तामसी**—हिंसा, दम्भ, मत्सरता सहित की जानेवाली पूजा (भागवत, ३।२९।८)। आर्तभेदसे प्रकार (१) **अर्थार्थी**—संसारी पदार्थ—धन, पुत्र, कलत्रादिके लिए की गयी पूजा, (२) **आर्त**—दुःख या संकट-निवारणार्थ की जानेवाली पूजा, (३) **जिज्ञासु**—भगवान्को जाननेकी इच्छासे की जानेवाली पूजा। अर्थार्थी, आर्त और जिज्ञासु—इन तीनों प्रकारके भक्तोंकी पूजा सकाम भक्ति कहलाती है। गौणी भक्तिमें तपोभक्तिकी अपेक्षा राजसी और रजोगुणी (राजसी) भक्तिकी अपेक्षा सात्त्विकी भक्ति श्रेष्ठ है। इसी प्रकार अर्थार्थीकी अपेक्षा जिज्ञासु, जिज्ञासुकी अपेक्षा आर्त भक्ति श्रेष्ठ है (शाण्डिल्यसूत्र, ५६)। श्रीमद्भगवद्गीतामे भक्तोंके अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी—ये चार प्रकार बतलाये गये है और ज्ञानीको सर्वश्रेष्ठ कहा गया है (अध्याय ७।१६)। —वि० मो० श०

गौणी लक्षणा—प्रयोजनवती लक्षणाके सारोपा तथा साध्यवसाना भेदोका एक प्रकार, जिसमे लक्ष्यार्थ सादृश्य सम्बन्धके आधारपर ग्रहण किया जाता है। सादृश्यका अर्थ है गुणोंकी समानता। इस लक्षणाका मूल 'उपचार' कहा गया है, 'साहित्यदर्पण'के अनुसार जिसका अर्थ है "दो अत्यन्त विभिन्न प्रतीत होनेवाले पदार्थोंमें सादृश्यके अतिशयसे भेदका न जान पड़ना"। उदा०—"उदित उदयगिरि

२०—क

मंचपर, रघुबर बाल पतंग। बिगत सन्त-सरोज सब, हरषे लोचन-भृंग"। (तुलसी : रा० च० मा० से)। इसमे रामको 'बाल पतंग' कहनेमे मुख्य अर्थका बाध है और रामकी प्रभा उदयकालीन सूर्यके समान है, यह भिन्न अर्थ(लक्ष्यार्थ) ग्रहण किया गया है। साथ ही रामकी शरीर-कान्तिका सौन्दर्य व्यक्त करना प्रयोजन है, जो सादृश्य-सम्बन्धपर आधारित है। अतः यहाँ गौणी लक्षणा है।

गौरवगीति—दे० 'प्रशस्तिगीति'।

ग्रामगीत—ग्रामगीत शब्दसे ग्रामविषयक या ग्राममे गाये जानेवाले, गाँवसे लिये गये या ग्रामनिवासियोंके गीत-जैसे अर्थ मिलते है, किन्तु हिन्दीमें कहीं-कहीं इसे लोकगीतका पर्याय मान लिया गया है। वस्तुतः ग्रामगीत शब्दका प्रयोग करनेवाले आरम्भमे लोकगीतका उतना विस्तृत अर्थ नहीं समझते थे कि उसमे ग्रामगीत भी सम्मिलित किये जा सकें। उन्होंने सामान्यतः मनुष्यके तीन समुदाय समझे। पहला जंगली या आदिम। इन्हे ही मूल अर्थमें 'फोक' या लोक कहा गया। बहुधा लोकवार्ताके विद्वानोंने जंगली जातिके गीतोंको ही लोकगीत माना, उन्हींको लोकगीतके रूपमें रखा। दूसरा मनुष्य-समुदाय था ग्रामवासी या ग्रामीण। ये ग्रामीण जन चतुर्दिक् सभ्यताके क्षेत्रमे आवृत्त रहते है। इनके गीत ही ग्रामगीत कहे गये। ये ग्रामीण 'फोक'के संकुचित पुरातन अर्थमे लोक नहीं थे। तीसरा समुदाय नागरिकोका था। इनके पास था शास्त्रीय संगीत। इस दृष्टिसे ग्रामगीतोंका रूप स्पष्ट होता है। ग्रामगीत वस्तुतः वे गीत है, जो ग्रामोमे प्रचलित मिलते है। ग्राम तो एक नागरिक इकाई हैं। उनमे भी लोक-मानस विद्यमान है। इस सिद्धान्तसे ग्रामगीत भी लोकगीत है, केवल ग्रामके स्थानीय तत्त्वोंसे वे गीत-विशेषित हो जाते है। —स०

ग्राम्य—दे० 'अर्थ-दोष', छठा तथा 'शब्द-दोष', दसवाँ 'पद-दोष'।

ग्लानि—प्रचलित तैंतीसमेंसे एक संचारी भाव। भरतके अनुसार—वमन, रेचन, रोग, अनाहार, मानसिक चिन्ता, मदपान, प्यास तथा निद्रा आदिसे यह उत्पन्न होता है और इसके अनुभाव है, निर्मल वाणी, कान्तिहीन दृष्टि, पीला चेहरा, मन्द गति तथा निर्बलता आदि (नाट्य०, ७ : ३१)। विश्वनाथने इसकी परिभाषा देते हुए लिखा है—"रत्यायासमनस्तापक्षुत्पिपासादिसम्भवा। ग्लानिर्निष्प्राणताकम्पकार्यानुत्साहतादिकृत्"(सा० द०, ३ : १७०)। अर्थात् रतिजन्य परिश्रम, मनस्ताप, भूख, प्यास आदिसे उत्पन्न विकलताको ग्लानि कहते है। इसमें कमजोरी, कम्प, काम करनेमें अनुत्साह आदि अनुभाव पाये जाते है। रामचन्द्र शुक्लने ग्लानिकी परिभाषा कुछ दूसरे ढंगकी दी है—"किसी भावके वेगके कारण जो मानसिक शैथिल्य होता है, उसे ग्लानि कहते है"(र०मी०, पृ० २२४)। इसके अनन्तर उन्होने अपनी परिभाषाको और भी स्पष्ट करते हुए कहा है कि "दुःख और मनस्तापसे उत्पन्न शिथिलता ही संचारीके रूपमें कही जा सकती है"। परिश्रमजन्य ग्लानिको वे श्रम (दे०)से भिन्न नहीं मानते।

हिन्दीके रीतिकालके आचार्योंने प्रायः संस्कृत परम्परा का अनुसरण किया है। देव तथा पद्माकर आदिके लक्षण

समान है—"भूखहि नें कि पियास तें, कै रतिश्रम तें अंग। विह्वल होत गलानि सों, कम्पादिक स्वर भंग।" (जगद्०, ४७५)। पद्माकरके उदाहरणमे नायिकाकी शिथिलतामे ग्लानिके स्थानपर श्रमका भाव प्रधान है—"राजि रही रति आँखिनमे मनमें धौं कहा तनमे सिथिलाई।" (जगद्०, ४७६)। परन्तु रति-श्रमको संस्कृत तथा हिन्दीके आचार्योंने समान रूपसे इसके अन्तर्गत माना है। अयोध्यासिंह उपाध्यायने यशोदाके चित्रणमे इस संचारीकी व्यंजना की है—"आवेगोंसे विपुलविकला शीर्णकाया कृशांगी। चिन्तादग्धा व्यथितहृदया शुष्कओष्ठा अधीरा। आसीना थी निकट पतिके अश्रुनेत्रा यशोदा। छिन्ना दीना विनत-वदना मोहमग्ना मलीना" (प्रि० प्र०)। —ब० सिं०

घत्ता–मात्रिक अर्द्धसम छन्द। घत्ताके विषम चरणोंमें १८ और सम चरणोमे १३ मात्राएँ होती है और अन्तमें तीन लघु होते है। घत्ता अपभ्रंशका एक बहुत प्रिय छन्द है। अपभ्रंशके चरित-काव्योंमे सन्धियोके प्रारम्भमे प्रायः घत्ताका प्रयोग कवियोने किया है। जिस प्रकार हिन्दीमें चौपाई-दोहा-शैलीमे चौपाईके पश्चात् दोहेका, उसी प्रकार अपभ्रंश चरित-पुराण-कृतियोंमें घत्ताका प्रयोग मिलता है। स्वतन्त्र रूपसे घत्ताका प्रयोग अपभ्रंश-कृतियोमे भी कम ही मिलता है। 'प्राकृतपैंगलम्'मे घत्ताको द्विपदी कहा है (१ : ९९)। हिन्दीमे घत्ताका प्रयोग बहुत कम मिलता है। केशवदास तथा सूदन जैसे कवियोंने इसका प्रयोग किया है। घत्ता शब्दकी व्युत्पत्ति बहुत स्पष्ट नही है। उदा०—"मोहन मुख आगे अति अनुरागे मैं जु रही ससि छबि निदरि" (भिखारीदास)। 'स्वयम्भू छन्द' तथा कुछ अन्य कृतियोंमें घत्ताके अनेक भेदोका भी उल्लेख किया गया है। अपभ्रंशका यह प्रसिद्ध छन्द हिन्दी कवियोंका प्रिय क्यों नही बन सका, कदाचित् इसका कारण दोहेकी लय और लोकप्रियता है। —रा० सिं० तो०

घत्तानंद–मात्रिक अर्द्धसम छन्द; 'प्राकृतपैंगलम्'-(१ : १०२)के अनुसार घत्ताके समान दो ही पंक्तियोंमें घत्तानन्द भी लिखा जाता है। इस प्रकार इसको भी द्विपदी कहा जा सकता है। घत्तानन्दकी प्रत्येक पंक्तिमें ११, ७, १३के विरामसे ३१ मात्राएँ होती है। घत्तानन्दका प्रयोग अपभ्रंशमें मिलता है। हिन्दीके कवियोंने इसका प्रयोग बहुत कम किया है। सूदनने 'सुजान-चरित'में प्रयोग किया है। उदा०—"जय कन्दिय कुलकंस, बलि-विध्वंस केशिय वक दानव दरन" (गदाधर : छन्दोमंजरी, पृ० ७७)। —रा० सिं० तो०

घनवाद–घनवाद (क्यूबिज़्म) चित्रणकी एक शैली है, जिसका विकास प्रथम महासमरके पूर्व इसी शतीमे हुआ। इसका आरम्भ प्रसिद्ध फ्रेंच चित्रकार सेजानकी अंकन-शैलीसे सम्बन्ध रखता है। सेजान पहला कलावन्त था, जिसने भंग-रेखाओं (कर्व)को कोणिक रूप दिया और घन रूपको निखारकर स्पष्ट किया, उसपर बल दिया। वस्तुओंकी घनताकी परिचायक इस शैलीकी शक्ति लोगोंने पहचानी और अनेक चित्रकारोंने तत्काल इस पद्धतिसे वर्ण और रेखाओं द्वारा अंकन करना प्रारम्भ कर दिया।

घनवादकी दृष्टि प्रारम्भमें लोगोको खनिज-विज्ञानसे मिली। उसके अनुसार कण अथवा अणु (रवा) ही सारे भौतिक पदार्थोंका प्राथमिक रूप था। इससे चित्रको 'क्रिस्टल' या कणत्व प्रदर्शित करना चाहिये। पदार्थोंके सारे अनन्तर विकार-रूप इन्ही कणोंके बदलते रूपसे प्रभावित होते हैं। किनारे और कोण इस दिशामें बड़े महत्त्वके होते है, इससे मनुष्य और अन्य प्राकृतिक अवयवोंको प्राथमिक रूप देनेके लिए यह आवश्यक है कि वर्तुल या भंग-रेखाएँ सर्वथा त्याग दी जायँ और वे प्राथमिक रूप ज्यामितिक आकृतियोंसे उपलब्ध की जायें। इसीसे प्रारम्भिक घनवादी चित्रोंकी भूमि रवादार मिश्रीके रूपमे तैयार की गयी। इसी प्रकार समुद्री दृश्योंमें भी लहरोंके किनारे बहुत पैने कर दिये गये। इस नयी चित्र-शैलीके प्रधान चित्रकार पाब्लो पिकासो और जार्ज ब्राक है। इनमेसे किसको इसका प्रवर्तक माना जाय, इस विषयमे चित्रालोचकोंका मतैक्य नही, परन्तु निस्सन्देह ये दोनों ही असाधारण प्रतिभासम्पन्न है।

घनवादका प्रधान सिद्धान्त यह है कि शक्ति सौन्दर्य है। दूसरे, सीधी रेखा टेढ़ी या गोल (भंग) रेखासे अधिक मजबूत होती है। विवेकतः इस सिद्धान्तको स्वीकार करना कठिन है; क्योंकि शक्ति ही यदि सुन्दर होती तब कम-जोर-कोमल कुसुम सुन्दर नहीं कहा जा सकता और यदि केवल सीधी रेखाएँ ही मजबूत समझी जातीं और गोल रेखाएं कमजोर, तो पहलेसे बनते आते सीधे द्वारोंको मेहराबदार नही बनाया जाता।

जो भी हो, घनवाद अनेक प्रकारसे विकसित हुआ और चित्रणके क्षेत्रमें उसने असाधारण प्रगति की। उसीके प्रभावसे मूर्त अमूर्त होने लगा और भविष्यवाद (दे०), निर्माणवाद आदि अनेक चित्र-शैलियाँ कालान्तरमें विकसित हुईं। घनवादको साधारणतः हम पूर्व और उत्तर, दो शैलियोंमें बाँट सकते है। पहली शैलीका आरम्भ पिकासोने अपने प्रसिद्ध चित्र 'मातिलामें महिलाका मस्तक'-में किया। इसमें और इस प्रकारके दूसरे चित्रोमे मानव शरीरको ज्यामितिक खण्डोंमें प्रस्तुत किया गया। इस प्रकार मस्तकका कणीकरण लगता तो लकड़ीके तक्षित मस्तक-सा है, पर पारखी नेत्रोंके लिए उनका अर्थ है।

पहले कालमें तो मानव-पिण्डको ज्यामितिक खण्डोंमें बाँटकर ही छोड़ दिया गया था, जिससे उनकी कई सतहें या तल बन गये, अब इस उत्तरकालीन घनवादी शैलीमें उन कतलों, तलों, सतहों या प्लेन खण्डोंको फेंट दिया जाने लगा, जिससे आँखें कही चली गयी, नाक कहीं जा पड़ी, हाथ और बाहें भिन्न-भिन्न दिशाओंमें जा लगीं। यह आवश्यक नहीं था कि दोनों नेत्र या दोनों बाहें बराबर-बराबर अपने नियत स्थानपर हों। यह कलाकार उनका प्राथमिक मौलिक तथ्य देख रहा था, अपनी विधिसे, विश्लेषणात्मक दृष्टिसे। संघातरूपमें पिण्डके अवयव प्रकट न थे, नेत्रोको उनका स्वरूप गोचर नही होता था। इससे अनेक कोणोसे देखनेके लिए उन्हें खण्डशः तोड़ डाला गया। फिर बिना किसी पद्धति या तरतीबके एकत्र कर दिया गया। रूप अब प्रधान न था, कण प्रधान थे, खण्ड प्रधान थे। इसका सबसे सुन्दर उदाहरण पिकासोके चित्र

'कानवाइलरका चित्र'में प्रस्तुत है। उस चित्रमें घड़ीका चेन लगे वेस्टकोट, बायाँ आँख, बायाँ कान और नाकके एक रुखका धुँधला आभास मिलता है, शरीरका शेष-सर्वस्व रसीदों और फाइलोंमें खो गया है। इनमे पहला यानी पूर्वकाल घनवादका विश्लिष्ट रूप प्रस्तुत करता है और उत्तरकाल उसका संश्लिष्ट रूप। भविष्यवाद, निर्माण-वाद आदि इसी उत्तरकालीन घनवादके प्रसार है।

टेकनीककी दृष्टिसे घनवादका आरम्भ सेजानने किया। उसने अंकनमें वजनकी व्यंजनाके लिए रंगका प्रयोग ब्लाक-रूपमें किया, परन्तु मूर्तनको उसने अक्षुण्ण रखा। रूपकी अरूपता उसने सिद्ध न की, उसका प्रतिनिधीकरण फलकपर बना रहा। परन्तु उस रूपकी इयत्ता सेजानके घनवादी अनुयायियों—पिकासो, ब्राक, देरें और लेगेने नष्ट कर दी। उन्होंने रूपको सर्वथा गौण कर दिया और सेजानकी भौमिक प्रक्रियामें एक नयी भाषाका विकास किया। घनवादकी इस नयी दृष्टिने यथार्थको सर्वथा तजकर वर्ण और रेखाके सौन्दर्यपर अपनी दृष्टि आरोपित की और प्रयास केन्द्रित किया और रूपका प्रायः पूर्णतः बहिष्कार किया। अद्यावधि कलालोचनके सारे स्वीकृत सिद्धान्तोको इस दृष्टिने चुनौती दे दी।

घनवाद भी प्रभाववाद (दे०)की ही भाँति पहले शाब्दिक रूपमे उपहासस्वरूप ही प्रयुक्त हुआ। चित्रकार मतीसने १९०८ ई०में घनवाद शब्दका प्रयोग एक ऐसे चित्रके सम्बन्धमें किया था, जिसके रूपायित विषयका निरूपण स्पष्टतः घनात्मक हुआ था। रूपात्मक प्रभाववादसे तो यह शैली नितान्त दूर थी ही, आभ्यन्तरवादी उत्तर-प्रभाववादी दृष्टिकोणसे भी यह एक पग आगे थी, क्योंकि रूप-आकलनको इसने कोई महत्त्व नही दिया, केवल शुद्ध अमूर्त रूपके तथ्यको ही निरूपित करनेका प्रयास किया। इसके एक विशिष्ट रूप—वैज्ञानिक घनवाद—का व्याख्याता पिकासो है। उसने उसे उसके चरम निर्विकार रूपतक पहुँचाया। पिकासो और ब्राकके अतिरिक्त घनवादी शैली-के अन्य प्रधान चितेरे लेगे, ग्लीज, मैत्जिगे और लोते है।

पाब्लो पिकासो (१८८१ ई०) मूल रूपमें स्पेनका निवासी है, पर अब पेरिसमें रहता है। आजके संसारका वह सबसे यशस्वी कलाकार है। आधुनिक चित्रांकनकी अनेकानेक शैलियाँ उसकी तूलिकासे आविर्भूत हुई है। आधुनिक फ्रेंच चित्रणकी घनवादी आदि अनेक—प्रायः सभी—शैलियोंका वह अग्रणी है। चित्रण, ग्राफ, पाटरी मूर्तन (तक्षण), सभी क्षेत्रोंमे उसकी अप्रतिम मेधाने सफल प्रयोग किये हैं। उसकी प्रतिभा प्राचीनोसे किसी मात्रामें कम नहीं है। १९०९ ई० और १९११ ई०के बीच उसने ब्राकके साथ-साथ विश्लेषणात्मक घनवादका अभ्यास किया, सन् १९१२ ई०के बाद संश्लेषणात्मक घनवाद-का। फिर तो उस दिशामें वह विविध प्रयोग करता गया और उसके प्रत्येक प्रयोगने चित्रकलाको एक नयी शैली दी। १९३७ ई०में उसने अपना प्रसिद्ध चित्र 'गेरनिका' अतियथार्थवादी—घनवादी शैलीमें अंकित कर जर्मन आतंकवादका विरोध किया।

जार्ज ब्राक (१८८२ ई०) भी फ्रेंच चित्रकार है और वह भी पिकासोके साथ घनवादका जन्मदाता माना जाता है। उसके साथ ही उसने भी घनवादकी विविध पूर्व और उत्तरकालीन शैलियाँ निर्मित कीं, बादमे फोव-आन्दोलनमे भाग लिया और घनवादी शैलीको फोवीके शैलीके चटख रंग दिये। उसने चित्रमे दीवार कागज (wallpaper)-के टुकड़ोका प्रयोग किया। इसके घनवादी चित्रोंमे गजब-का वर्ण-प्रयोग हुआ है।

फरनान लेगे (१८८१ ई०) भी प्रधान फ्रेंच घनवादी चित्रकार है। विविध शैलियोंके भावमे गुजरता वह १९१० ई०मे पिकासो और ब्राकसे मिला और उसने भी घनवादी शैली अपना ली। अलंकर्ता होनेके कारण उसके चित्रोमे बड़ी सफाई भी है। उसका चित्र 'बाजके ऊपर प्रोफील' बड़ा सुन्दर बन पडा है।

आलवर ग्लीज (१८८१ ई०-१९५३ ई०) फ्रेंच घनवादी चित्रकार और उस शैलीका सिद्धान्त-निरूपक था। मैत्जिगे-के साथ उसने घनवादी शास्त्रकी पहली पुस्तक 'दु क्युबिज्म' १९१२ ई०में प्रकाशित की। १९१९ ई० के बाद वह धार्मिक प्रेरणाओके वशीभूत हो गया और अधिकतर धार्मिक चित्र ही बनाने लगा, पर उसकी शैली घनात्मक बनी रही। चटख रंगोका घनवादी विश्लेषण उसके चित्रो-का प्राण था। जॉ मेत्जिगे (१८८३ ई०) भी ग्लीजकी ही भाँति घनवादी चित्रकार और सिद्धान्त-निरूपक था। पहले वह नवप्रभाववादियोके प्रभावमे आया। फिर पिकासो और ब्राकके प्रभावसे घनवादके दायरेमे उसने ग्लीजके साथ घनवादके सिद्धान्तोकी 'दु क्युबिज्म'में व्याख्या की। आन्द्रे लोते (१८८५ ई०) भी फ्रेंच घनवादी चित्रकार था। उसने अंकनके साथ-साथ सिद्धान्तका चिन्तन किया। ज्यामितिक आकारोंपर उसने बडी सूझ और अर्थके साथ लिखा। क्लासिकल (शास्त्रीय) कलाका प्रशंसक होता हुआ भी प्रवृत्तिसे वह आधुनिकतावादी था और पिकासो और ब्राकके सान्निध्यमें आते ही जैसे उसने अपनी सहजभूमि और प्रेरणा पा ली। उसने दलोनेकी प्रेरणासे घनवादी शैलीमे शोख रंगोंका प्रयोग किया।

[सहायक ग्रन्थ— मॉडर्न मूवमेंट इन आर्ट : विलेन्स्की।] —भ० श० उ०

घनाक्षरी—मुक्तक दण्डकका एक भेद। इसके अन्य नाम कवित्त और मनहरण भी है। इसे मुक्तक वर्णिक छन्द-की कोटिमें माना जाता है। इसमें ३१ अक्षर होते है, १६ और १५ अक्षरपर यति होती है। गुर्वन्त होना आवश्यक है। घनाक्षरीवृत्तोमें ३१ वर्णका कवित्त छन्द अन्य कवित्तोंसे सर्वाधिक प्रचलित और लोकप्रिय है। हिन्दी ब्रजभाषाका यह अपना छन्द है। विद्वानोंमे प्रायः इसकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें कोई निश्चित मत नही स्थापित किया जा सका है। कहते है, १४ वीं शताब्दीमें मार्दगिकसेन कविने इस छन्दका आविष्कार किया था। यह छन्द ध्रुपदमे ठीक बैठता है। भक्तकालीन कवियों—विशेषतः सूरदास (सूरसागर) और तुलसीदास (विनयपत्रिका)ने पदोमें इस छन्दका प्रयोग किया है। सूरदासके पूर्व किसीने कवित्त लिखा था, इसका उदाहरण नही प्राप्त होता। इसका प्रारम्भिक प्रयोग अकबर दरबारके कवि गंग, 'कवितावली'

और 'रामचन्द्रिका'में मिलता है। ऐसा माना जाता है कि चारणों और भाटोंने इस छन्दका प्रयोग किया है, पर रासो ग्रन्थों (पृथ्वीराजरासो, परमालरासो)में इसका प्रयोग नहीं हुआ है। कवित्त संज्ञाका प्रयोग छप्पय छन्दके लिए किया गया है। इन छन्दके निर्माणमे अनुष्टुप् वर्णिक छन्दकी प्रेरणा विद्यमान है। वस्तुतः ये छन्द वैदिक छन्दोके वास्तविक उत्तराधिकारी हैं, जिनमें गण, मात्रा आदिका कोई बन्धन नहीं होता। संगीत और नाद-व्यंजनाका जितना अच्छा उदाहरण रीतिकालीन तथा रीतिमुक्त कवियोंने इसमे प्रस्तुत किया है, वह अन्य छन्दोमे दुर्लभ है। यद्यपि अपनी मुक्तताके कारण ये वृत्त मुक्तक है, किन्तु इनमें लालित्य लानेके लिए अनेक बातोंकी ओर ध्यान रखना आवश्यक है।

इस छन्दके ३१ वर्णोंमें प्रायः १६ और १५ पर यति होती है, परन्तु समस्त चरणमें ८, ८, ८, ७, वर्णोके बाद यतिका प्रयोग भी होता है। कभी-कभी शब्दके बीचमे यति पडती है तब ७ या ९ वर्णोंपर यति प्रतीत होती है, परन्तु लयानुसार यतिका क्रम पहले जैसा ही रहता है। इसके चारों चरणोंमे समान अन्त्यानुप्रास या ललितान्त्यानुप्रास होता है। चरणान्तमे मगण, रगण और सगण ही आ सकते है। सूक्ष्मतः विचार करनेपर समविषम अक्षर-मैत्रीका नियम भी अनिवार्य है, केवल वर्णसंख्या पूरी करनेसे छन्दकी लय नहीं बन जाती। सम-वर्णिक शब्दके पश्चात् सम-वर्णिक शब्द और विषम-वर्णिक शब्दके पश्चात् विषम-वर्णिक शब्दका प्रयोग अनुकूल पडता है। घनाक्षरीके अष्टक पर्वको दो चतुष्कोंमें विभक्त किया जा सकता है। वर्णिक चतुष्ककी मात्रा-संख्या ४ से ८ तक हो सकती है और ६ मात्राका वर्णिक चतुष्क घनाक्षरीके लिए सर्वाधिक अनुकूल है। इससे अधिक मात्राओंके चतुष्कोंमें घनाक्षरीका प्रवाह गम्भीर और मन्द हो जाता है तथा इससे कम मात्राओंके चतुष्कोंका प्रवाह सरल और क्षिप्र हो जाता है।

इस छन्दमें सम और विषम प्रयोगोंका ध्यान रखना इसलिए उचित है कि सम प्रयोग कर्ण मधुर होते हैं, इसी प्रकार विषम प्रयोगमें विषमके साथ विषम रख देनेसे 'विषस्य विषमौषधम्' हो जाता है, अर्थात् सुन्दर हो जाता है। एक, तीन या पॉच वर्णोंमें पूर्ण हो जानेवाले पद विषम और दो, चार और छःमें पूर्ण होनेवाले सम कहलाते है। लयकी दृष्टिसे कवित्तोंमें माधुर्य लानेके लिए सम तथा विषम प्रयोगोंके सम्बन्धमें भानुने 'छन्दप्रभाकर'में ध्यान आकर्षित किया है। इसके रूप-विधानके सम्बन्धमें जगन्नाथ-प्रसाद 'रत्नाकर'ने विचार किया है। यह नियम प्रायः ३ अक्षरोंसे न्यूनके शब्दमें लागू नहीं होते, क्योंकि उनमें मगणादिकी सम्भावना नहीं होती, परन्तु अन्यत्र इस सम्भावनापर यथोचित विचार कर लेना चाहिये। यह भी ध्यान रखना चाहिये कि ये नियम उसी अवसरके निमित्त हैं, जहाँ एक ही शब्दमें गण पड़े। पर जहाँ शब्दोंके जोड़-तोडमें गण होगा, वहाँ ये नियम लागू नहीं होंगे।

इस छन्दमें प्रबन्ध-क्षमता कम है, अतः इसका प्रयोग स्फुट रचनाओंमें अधिक हुआ है। यही कारण है कि यह रीतिकालका प्रचलित और प्रिय छन्द है। अनेक रसोंमें सफलतापूर्वक प्रयुक्त होनेपर भी यह छन्द शृङ्गार और वीर रसका विशिष्ट छन्द है। आधुनिक युगमे भी ब्रजभाषाके कवियोंमे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, 'रत्नाकर' तथा खडीबोलीके कवियोमे 'हरिऔध'(रसकलश), मैथिलीशरण गुप्त (साकेत), अनूप शर्मा (सुमनांजलि), गोपालशरण सिंह, दिनकर (कुरुक्षेत्र) आदिने इसका प्रयोग किया है। वस्तुतः इसे हिन्दीका राष्ट्रीय छन्द माना जा सकता है।

रीतिकालके कवियोंने इस छन्दमे बहुतसे प्रयोग किये है। सूदनने अपने 'सुजान-चरित'में इसका कवित्त-घनाक्षरी नामसे विशेष प्रयोग किया है—"जब होत असवार, भुव-भारके निवारक बन्दि सरदार, बदनेसको कुँवार" (२७ : ३, ४)। इसमें १७, १५ पर यति है और पहिले और तीसरे चरणमे ८, ९, ८, ६ तथा दूसरे और चौथेमें ८, १०, ८, ६ पर यति है तथा अन्तमे गुरु-लघु है। देवके प्रयोगोमें कई विशेषताएँ है। कभी-कभी एक चरणकी मात्राएँ ३२ या ३३ हो गयी है—"कुँवर किशोरी मुख मोरी करै सखियन सों चोरा चोरी चितगति रोरी सी रची रही" (र० वि०, पृ० ५३)। इसमे ३२ अक्षर है। तुलसीदास और पद्माकरके कवित्तोमे ८, ८, ८, ८, यतियोंसे १६ अक्षरोंका प्रयोग भी मिलता है। केशवदासका उदाहरण—"बानी जगरानीकी उदारता बखानी जाय, ऐसी मति कहौ धौं उदार कौनकी भई" (रा० च०, प्र० १ : २)। इस छन्दमे लयके अनुसार भाव और चित्रको व्यंजित करनेकी अपूर्व शक्ति है। —पु० शु० और ह० मो०

घासलेटी साहित्य—'घासलेटी' शब्द (विकृत या नकली घीके लिए सामान्यतः प्रयुक्त)का अर्थ है—निकृष्ट, निकम्मा गंदा। अनैतिकताको प्रश्रय देनेवाले तथा लैंगिक विकृतियोंको चित्रित करनेवाले साहित्यके लिए 'घासलेट' विशेषणका सर्वप्रथम प्रयोग बनारसीदास चतुर्वेदीने किया, जब वे 'विशाल भारत'के सम्पादक थे। घासलेटी साहित्य विरोधी आन्दोलन लगभग दो वर्षसे भी ऊपर चला। इसमे कई लेखकोंने भाग लिया। सन् १९२८, १९२९ और १९३०-की हिन्दीकी पत्र-पत्रिकाओमे घासलेटी साहित्यपर बहुत कुछ लिखा गया है। 'विशाल भारत'मे कई प्रतिष्ठित व्यक्तियोंने बनारसीदास चतुर्वेदीके विचारोंका समर्थन किया तथा गोरखपुरके सम्मेलनने तो प्रस्ताव भी पास किया। महात्मा गांधीतकने इस विषयपर ध्यान दिया था एवं ऐसी कुछ कृतियाँ भी स्वयं पढी थी। इस प्रसंगमे बनारसीदास चतुर्वेदीसे उनका पत्र-व्यवहार एवं वार्तालाप भी हुआ। पत्र व्यवहार काफी बादमें स्वयं बनारसीदासजीने प्रकाशित कराया। गांधीजीने ऐसी चीजोंको उस अर्थमे तो ग्रहण नहीं किया, जिस रूपमें बनारसीदास चतुर्वेदी आदिने प्रस्तुत किया था (गांधीजीका मत ऐसी एक या दो पुस्तकोतक ही सीमित है, जो उन्होंने पढी थी)।

घासलेटी साहित्य सम्बन्धी विवाद बहुत कुछ पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'की कथा-कृतियोंको लक्ष्य करके उठा ('चाकलेट', 'अबलाओंका इन्साफ', 'दिल्लीका दलाल' आदि)। 'उग्र'के ऐसे साहित्यकी भर्त्सना आदर्शवादी-नीतिवादी समीक्षकोंकी ओरसे होना स्वाभाविक ही है। 'उग्र'ने अपनी इन रचनाओंका मन्तव्य यही बताया कि वे समाज-

की निकृष्टताको प्रोत्साहित करनेके लिए नहीं, प्रत्युत उनके प्रति अरुचि उत्पन्न करनेके लिए लिखी गयी है। अतः इस प्रसंगपर मतैक्य नहीं हो सकता। आज भी तथाकथित मनोवैज्ञानिकताके नामपर उपन्यासोंमें नग्न चित्रण देखने को मिलते हैं, जो सामाजिक स्वास्थ्यकी दृष्टिसे बड़े घातक हैं। वस्तुतः अधिकांश घटनाएँ लेखकके अपने मस्तिष्ककी उपज होती है, उनका यथार्थसे कोई सम्बन्ध नहीं होता। यथार्थ होनेपर भी यह युक्तियुक्त नहीं कि साहित्यकार, मानवकी पतनशील प्रवृत्तियोंको ब्यौरेवार लिपिबद्ध करे, फिर भले ही उनको पढ़कर उनके प्रति चाहे आक्रोश उत्पन्न हो, चाहे ललक। —म० भ०

घोड़ी–घुड़-चढ़ीके गीत; दूल्हेको घोड़ीपर बिठाते समय गाया जाता है। इसमें घोड़ीकी सज्जा, चाल, उसके हाव-भाव और उसपर चढ़नेवाले वरके सौन्दर्य आदिका उल्लेख रहता है। घोड़ीके गीत मुसलमानोंके यहाँ खास तौरसे गाये जाते हैं। —र० भ०

चंचरी–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। भानुके अनुसार 'छन्दप्रभाकर' (पृ० ८७)मे इसका लक्षण र, स, ज, ज, भ, रके योगसे बताया गया है। (ऽ।ऽ, ।।ऽ, ।ऽ।, ।ऽ।, ऽ।।, ऽ।ऽ), 'प्राकृतपैंगल'मे चर्चरी (२ : १८४), 'छन्दोनुशासन' (हेमचन्द्र)मे उज्ज्वल (२ : ३१३) और 'छन्दःसूत्र'मे विबुधप्रिया (८ : १६) नाम दिया गया है। इस छन्दमे १०,८ वर्णोंपर यति होती है, पर पिंगलने ८,१० वर्णोंपर यति मानी है। इसका मात्रिक रूप गीतिका-छन्द है। सूदनने चर्चरी नामसे प्रयुक्त किया है (सुजान-चरित), पर केशवने चंचरी नाम ही दिया है।·उदा०—'माल श्रीरघुनाथके उर शुभ्र सीतहिं सो दयी। अर्पियो हनुमन्तको तिन दृष्टि कै करुणामयी।' (रा० चं०, २६ : २३)। —पु० शु०

चंचला–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद; 'प्राकृत-पैंगलम्' (१४ श० ई०)में उल्लिखित वर्णवृत्त (१७२)। ८ गुरु-लघुके योगसे यह छन्द बनता है। 'स्वयंभुच्छन्द'में (१, ४३) इसका नाम चित्रशोभा दिया है। केशवने इसका नाम ब्रह्मरूपक दिया है। उदा०—'अन्न देइ सीसदेइ राखि लेइ प्राणजात, राज बाप मालकै करै जु पोषि दीह गात। दास होइ पुत्र होय शिष्य होय कोई माय, शासन न मानई तो कोटि जन्म नर्क जाइ।' (रा० चं० : ९ : ९)।—पु० शु०

चंचलातिशयोक्ति–दे० 'अतिशयोक्ति', छठा भेद।

चंडाग्नि–वज्रयोगमे पवन-निरोधके उपरान्त अवधूती मार्गमे चण्डाग्निके प्रज्वलित करनेकी क्रियाका विधान है। यही चण्डाग्नि समस्त क्लेश और वासनाओंको भस्म कर देती है। शैव पद्धतिमे इसीको ब्रह्माग्नि कहा गया है। नाथपन्थी तथा सन्तोंमें यद्यपि इसे चण्डाग्नि नामसे नहीं पुकारा गया, किन्तु इसका वर्णन अवश्य मिलता है। इस अग्निको प्रज्वलित करनेके लिए नौ इन्द्रियद्वारोंको पवनबन्ध द्वारा बन्द कर केवल दसवें द्वार—ब्रह्मरन्ध्र अथवा वैरोचन द्वारको उद्घाटित करना पड़ता है। —ध० वी० भा०

चंद्र–दे० 'हठयोग', 'पिंड'।

चंद्र–मात्रिक सम छन्दका एक भेद। भानुके अनुसार इसके प्रत्येक चरणमें १७ मात्राएँ होती हैं। सूरने वर्णनात्मक स्थलोंपर इसका भी प्रयोग किया है—"कियो अति मान वृषभानु बारी। देखि प्रतिबिम्ब प्रिय हृदय नारी" (सू० सा० : ना० प्र०, पृ० ३६५)।

चन्द्रगिरि–मत्स्येन्द्रनाथ एवं गोरखनाथसे सम्बद्ध कथाओंमे चन्द्रगिरी और चन्द्रद्वीप नामक स्थानका उल्लेख बार-बार आता है। 'योगि सम्प्रदायाविष्कृति' (अध्याय ३)मे एक कथा है, जिसमे बताया गया है कि गोदावरी गंगाके समीप स्थित चन्द्रगिरि नामक स्थानके एक सुराज नामके ब्राह्मण की पुत्राभिलाषिणी पत्नी सरस्वतीको मत्स्येन्द्रनाथने भभूत दी थी, जिसको खानेके फलस्वरूप उसने गोरखनाथको पुत्र रूपमे जन्म दिया था। मत्स्येन्द्रनाथसे सम्बद्ध कथाओंकी परीक्षाके बाद हजारीप्रसाद द्विवेदीने यह निष्कर्ष निकाला है कि "चन्द्रगिरि कामरूपसे बहुत दूर नहीं था और या तो बंगालके समुद्री किनारेपर कहीं था, या जैसा कि तिब्बती परम्परासे स्पष्ट है, ब्रह्मपुत्रसे घिरे हुए किसी द्वीपाकार भूमिपर अवस्थित था। इतना निश्चित है कि वह स्थान पूर्वी भारतवर्षमे कामरूपके पास कहीं था।" (नाथ संप्रदाय, पृ० ५५-५६)। चन्द्रगिरि ही चन्द्रद्वीप भी है। कुछ लोगोंका अनुमान है कि यह कलकत्तेके दक्षिणमे स्थित सुन्दरवनका ही ध्वनि परिवर्तित रूप है। सुन्दरका चन्द्र होना सम्भव भी है विशेष विवरणके लिए दे० 'नाथ सम्प्रदाय', पृ० ४३-४४)। —रा० सिं०

चंद्रवर्त्म–वर्णिक छन्दोंमे समवृत्तका एक भेद। रगण, नगण, भगण, सगणके योगसे यह वृत्त बनता है (ऽ।ऽ, ।।।, ऽ।।, ।।ऽ); 'रत्नमंजूषा' (५ : ३)में इसका वितान नाम दिया है। हेमचन्द्र (छं० २ : १६१), जयदेव (छन्दो०, ६ : ४३), विरहांक (वृत्त० ३ : ४४)ने चन्द्रवर्त्म नाम माना है। तुलसीकी चौपाइयोंमे इस छन्दके चरण मिल सकते हैं—'राम भक्तजन जीवन धनसे' (बालकाण्ड)। केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है—"स्नान दान जप जाप जु करियो। सोधि-सोधि उर माँचु जु धरियो। जोग जाग हम जा लग गहियो। रामचन्द्र सबको फल लहियो" (रा० चं०, ११ : २)। —पु० शु०

चंद्रसखी–स्त्रियोंके भक्ति-गीत; चन्द्रसखी कृष्णाश्रयी शाखाकी लोक-गायिका हैं। इनके गीत मालवा, राजस्थान, निमाड और ब्रजकी जनतामें प्रचलित है। इस कवयित्रीका काल १७ वीं या १८ वीं शताब्दी अनुमानित किया जाता है। चन्द्रसखीके भजन स्त्रियोंमें खूब प्रचलित हैं। —श्या० प०

चंद्रावल–सावनके दिनोंमे कुरुप्रदेश, बुन्देलखण्ड, राजस्थान और गंगाके मध्यवर्ती मैदानोंमें 'चन्द्रावल' अथवा 'चन्द्रावलि' नामक एक गीत-कथा प्रचलित है। किसी-न-किसी रूपमे यह कथा प्रायः सभी जनपदोंमें उपलब्ध है। कथाकी रूपरेखा इस प्रकार है—"एक दिन मुगलोंकी सेनाने चन्द्रावलिके गाँवके निकट डेरा डाला। चन्द्रावलि माताके बरजनेपर भी घड़ा लेकर पानी भरने पहुँची। मुगलोंने उसे तम्बुओंके बीच डाल लिया। तब उसका पिता, भाई आदि बारी-बारीसे उसे छुडानेके लिए मुगलोंके पास पहुँचे। चन्द्रवलिको उन्होंने नहीं छोड़ा। तब धोखेसे चन्द्रावलिने तम्बुओंमे आग लगा दी और जल गयी"। 'चन्द्रावल' वस्तुतः

चन्द्रावलिके सम्बन्धमें गेय गीतोंके कथा-रूपकी संज्ञा है। बुन्देलखण्डमें 'मथुरावली'के नामसे जो गीत-कथा गायी जाती है, उसकी कथावस्तु भी चन्द्रावलके अनुरूप है। केवल चन्द्रावलिके स्थानपर मथुरावलीका प्रयोग किया जाता है। चन्द्रावलि कहीं-कहीं ब्याहता बतायी गयी है। वह अपने पति और ससुरकी लाज रखनेके लिए तथा पिता और भाईका मुख उज्ज्वल करनेके लिए मुगलोंको समर्पित होनेकी अपेक्षा अग्निकी लपटोंमे अपनी आहुति देकर कथाको कारुणिक स्थितिमें समाप्त करती है। पाठ-भेदकी दृष्टिसे शब्दोंमें यहाँ-वहाँ भेद स्वाभाविक है। कही मुगलोंके स्थानपर 'तुरुक'का प्रयोग है। इस प्रकार जलकर 'चन्द्रावल' या 'मथुरावली' कुल-पुरुषोंकी पगड़ीकी लाज रखती है। 'रोय चले बाके साहिबा, बिहँस चले राजा बीर, राखी बहना पगड़ीकी लाज, ठाड़ी जरै मथुरावलि।' (चन्द्रावलि)।' उक्त गीतकथा श्रावणमे झूलेपर गायी जाती है। अनुमानतः गीत पॉच-छः शताब्दीसे अधिक प्राचीन नही है।

मालवामें 'चन्द्रावल' नामक एक और गीत-कथा दीपावलीके दूसरे दिन गायी जाती है। उसमे चन्द्रावलि एक गूजरी है, जो कृष्णको अपने यहाँ आमन्त्रित करती है। सेजपर छलिया कृष्णने चन्द्रावलिको बिलमाया और रात छ मासकी हो गयी। परिणामस्वरूप गौशालामें प्रतीक्षा करता हुआ उसका पति 'गोरधन' गायोंके खुरोंसे कुचलकर मर गया। उसीकी स्मृतिमे 'गोरधन' छापे जाते है और चन्द्रावल गाकर स्त्रियॉ लोकाचार पूर्ण करती है। भारतीय लोकगीतोंमें चन्द्रावलि नाम और भी कथा-प्रसंगोके बीच आता है। स्थूल रूपसे मुगलोंके अत्याचारसे पीडित चन्द्रावलि ही 'चन्द्रावल'की नायिका है। —श्या० प०

चंपू—श्रव्य काव्यका एक भेद। दे० 'साहित्यरूप'। "गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते"—(सा० द०, ६,३३६), अर्थात् गद्य-पद्यके मिश्रण काव्यको चम्पू कहते है। काव्यकी इस विधाका उल्लेख साहित्यशास्त्रके प्राचीन आचार्यों—भामह, दण्डी, वामन आदिने नही किया। यों गद्य-पद्यमय शैलीका प्रयोग वैदिक साहित्य, बौद्ध जातक, जातकमाला आदि अति प्राचीन साहित्यमें भी मिलता है। चम्पू नामके प्रकृत काव्यकी रचना दसवी शतीके पहले नहीं हुई। 'नल चम्पू'(त्रिविक्रमभट्ट), जो दसवी सदीके प्रारम्भकी रचना है, चम्पूका प्रसिद्ध उदाहरण है। इसके अतिरिक्त 'यशस्तिलक' (सोमदेव सूरि), 'चम्पू रामायण' (भोजराज), 'आनन्दवृन्दावन' (कवि कर्णपूर), 'गोपाल चम्पू' (जीव गोस्वामी), 'नीलकण्ठ चम्पू' (नीलकण्ठ दीक्षित) और 'चम्पू भारत' (अनन्त कवि) दसवींसे सत्रहवी शतीतकके चम्पू-काव्योंके उदाहरण है।

वस्तुतः यह काव्यरूप अधिक लोकप्रिय न हो सका और न काव्यशास्त्रमें उसकी विशेष मान्यता हुई। हिन्दीमें 'यशोधरा' (मैथिलीशरण गुप्त)को चम्पू-काव्य कहा जाता है, क्योंकि उसमें गद्य-पद्य दोनोंका प्रयोग हुआ है। —व्र० व०

चउपैया—मात्रिक सम छन्दका एक भेद। 'प्राकृतपैंगलम्'में इसके प्रत्येक चरणमें ३० मात्रा तथा अन्तमें ग (ऽ) माना गया है (१ : ९७)। भिखारीदासने इसी लक्षणके छन्दका नाम चौबोल दिया है (छन्दो०, पृ० ३३)। भानुने 'प्राकृतपैंगलम्'के अनुसरणपर इसमें १०,८,१२पर यति मानी है और अन्तमे एक सगण (॥ऽ) और ग (ऽ)का प्रयोग कर्णमधुर कहा है (छं० प्र०, पृ० ६९)। तुलसीने इस छन्दका प्रयोग 'रामचरितमानस'में, केशवने 'रामचन्द्रिका'में तथा रघुराजने 'रामस्वयंवर'में किया है। इनके अतिरिक्त नन्ददास तथा सुन्दरदास द्वारा भी यह प्रयुक्त हुआ है। प्रायः स्तुति या प्रशंसामें इसका अच्छा प्रयोग हो सका है; विशेषकर तुलसीने—"जय-जय अविनासी, सब घटवासी, व्यापक परमानन्दा" (रा० च० मा०, १ : १८६)। यह छन्द अलंकार-छन्द कहा जा सकता है, क्योंकि इसकी यतिके साथ यमकका प्रयोग भी होता है। उदा०—"भए प्रगट कृपाला, दीन दयाला, कौसल्या हितकारी।' (रा० च० मा०, १ : १९२) तथा—"गुनगन प्रतिपालक रिपुकुल-घालक, बालक ते र० रन्ता" (रा० चं०, ३६ : ९)।

चकवा—एक पक्षी जो जाड़ेमें नदियों और बड़े जलाशयोंके किनारे दिखाई देता है और वैशाखतक रहता है। अधिक गरमी पडते ही यह भारतवर्षसे चला जाता है। यह दक्षिणको छोड़ सारे भारतवर्षमें पाया जाता है। यह पक्षी प्रायः झुण्डमें रहता है। यह हंस जातिका पक्षी है। इसीलिए सन्त लोग इसे जीवका भी पर्यायवाची मानते है। यह अपने जोड़ेसे बहुत प्रेम करता है। बहुत कालसे इस देशमें ऐसा प्रसिद्ध है कि रात्रिके समय यह अपने जोड़ेसे अलग रहता है। सन्तोंने इसके रात्रिकालके वियोगजनित दुःखको लेकर जीवका ईश्वरसे बिछोह होनेकी कल्पना की है। "चकवा चकई दो जने, इन मारो मति कोय। ये मारे करतारके रैनि बिछोहा होय।" (कबीर सा०)। —उ० शं० शा०

चकित—दे० 'स्वभावज अलंकार', सोलहवॉ।

चतुर्व्यूह—पांचरात्रके अनुसार भगवान् लोककल्याणके लिए (दे० 'गीता', अ० ४, श्लो० ८) चार प्रकारका रूप धारण करते हैं—(१) व्यूह, (२) विभव, (३) अर्चावतार, (४) अन्तर्यामी अवतार। व्यूहमें वासुदेव (सर्वकामी परमात्म्य), संकर्षण (जीव), प्रद्युम्न (मन), अनिरुद्ध (अहंकार) की गणना है (विशेष—दे० 'व्यूहवाद')। —वि० मो० श०

चपलता—प्रचलित तैतीसमेंसे एक संचारी। भरतने इसके विभाव प्रेम, घृणा, अधैर्य, ईर्ष्या, विरोध आदिको माना है और कठोर वचन, प्रतारणा, पीटना, मारना, बॉधना आदिको अनुभाव स्वीकार किया है (नाट्य०, ७ : ६०)। विश्वनाथके अनुसार इसकी परिभाषा है—'मात्सर्यद्वेषरागादेश्चापल्यं त्वनवस्थितिः। तत्र भर्त्सनपारुष्यस्वच्छन्दाचरणादयः।' (सा० द०, ३ : १६९)। मात्सर्य, द्वेष, राग आदिके कारण मनका स्थिर न रहना चपलता है। इसमें भर्त्सना, परुषता, स्वच्छन्दता आदिका आचरण पाया जाता है। हिन्दीके कुछ आचार्योंने इसका अनुसरण किया है—"रागरु क्रोध विरोध तें चपल चेष्टा होय" (भाव०, संचारी)।

चपलता भी दो प्रकार की होती है—प्रकृतिगत और आगन्तुक। प्रकृतिगत चपलता भावदशाके रूपमें अभिव्यक्त होती है। आगन्तुक चपलता ही संचारी हो सकती है,

क्योंकि इसीका सीधा सम्बन्ध किसी स्थायी भावसे होता है। रीतिकालीन कवियोंने रागको प्रधानता दी है। पद्माकरका लक्षण है—"जहँ अति अनुरागादि तें, थिरता कछू रहै न। तित चितचाहे आचरण, वहै चपलता ऐन।' (जगत्०, ५६५)। पद्माकरने रागजन्य संचारीका ही उदाहरण दिया है—"झाँकति है कबहूँ झँझरीन झरोखनि त्यो सिरकी सिरको मे। झाँकति ही खिरकी मे फिरै थिरकी-थिरकी खिरकी-खिरकी मैं" (जगत्०, ५६६)। तुलसीदास-ने सीताके मनोभावमे इसीकी व्यंजना की है—"चितवति चकित चहूँ दिसि सीता। कहँ गये नृप किसोर मन चीता" (रा० च० मा०, १)। —व० सि०

चपलातिशयोक्ति–दे० 'अतिशयोक्ति', छठा भेद।

चरखा–लकडीका बना हुआ एक प्रकारका यन्त्र, जिसकी सहायतासे ऊन, कपास या रेशम आदिको कातकर सूत बनाते है। सन्तसाहित्यमें चरखेके रूपकसे शरीरके स्थूल रूपका ग्रहण किया गया। चरखेके समान ही शरीरके सारे व्यापारको स्पष्ट करनेके लिए एक-एक चीजका अलग-अलग वर्णन किया जाता है। "जो चरखा जरि जाय बढैया ना मरे। मैं कातौं सूत हजार चरपुला जनि जरे' (कबीर-बीजक, २२७), अर्थात् यद्यपि चरखारूपी शरीर जल जाता है, परन्तु उसका बनाने या कल्पना करनेवाला बढई (मन) नहीं मरता है। जो इस चरखेको समझ ले और उसे मनके ये संकल्प-विकल्प विदित हो जायँ तो फिर आवागमन मिट जाता है। —उ० शं० शा०

चरण–किसी छन्दकी प्रधान यतिपर समाप्त होनेवाली पूर्ण पंक्तिको उसका एक 'चरण' कहा जाता है। 'पद' और 'पाद' इसके पर्याय हैं। सामान्यतः छन्दकी कल्पना चतुष्पादके रूपमें मिलती है, अतएव अधिकांश छन्द चार चरणोंवाले होते है। चरणकी समानताका अर्थ है मात्रिक यति-गति तथा मात्रा-संख्याकी एकरूपता। वर्णिक छन्दोमें वर्ण-क्रम तथा वर्ण-संख्यासे यह समानता मापी जाती है, साथ ही यति-गतिका विचार भी रहता है। कुछ छन्द चारसे कम और चारसे अधिक चरणोंवाले भी होते हैं। वैदिक छन्दोंमें त्रिपाद गायत्री, त्रिपाद अनुष्टुप् आदि तीन ही चरणोंके होते है तथा 'षट्पद', जिसका अपभ्रंशरूप 'छप्पय' हो गया है और 'मिलिन्दपाद' नामक छन्द छः चरणोंवाले होते हैं। इसी कारण इनका नामकरण भौंरेके समानार्थी शब्दोंसे किया गया है।

सम, विषम, अर्द्धसम–जिन छन्दोंमें सब चरण समान होते हैं, उन्हें 'सम'; जिनमें दोसे अधिक चरण समान न हों, उन्हें 'विषम' और जिनमें कुछ चरण (पहला, तीसरा) एक समान हों तथा अन्य (दूसरा, चौथा) कुछ उनसे भिन्न, किन्तु परस्पर समान हों, उन्हें 'अर्द्धसम' कहा जाता है। इस प्रकार सम, विषम और अर्द्धसम ये मात्रिक और वर्णिक, दोनों प्रकारके छन्दोंके विभाजन है, जिनका आधार चरणोंकी समानता, असमानता तथा अर्द्धसमानता मानी जाती है। विषम संख्याके चरणोंवाले छन्द विषम कोटिमें ही आते हैं, चाहे सभी चरण परस्पर समान हों। यह एक प्रकारका अपवाद जैसा है, विषमताका निर्णय चरणोंके रूपसे न होकर चरण-संख्यासे होता है। —ज० गु०

चरितकाव्य–चरितकाव्य प्रबन्धकाव्यका ही एक विशेष रूप या प्रकार है। **प्रबन्धकाव्य, कथाकाव्य,** और **इतिवृत्तात्मक कथा** (पुराणकथा आदि), तीनोंके लक्षणों-का समन्वय हुआ है। यही कारण है कि प्रायः चरित-काव्योंको कभी चरित, कभी कथा और कभी पुराण कहा गया है, जैसे, 'पउमचरिउ', 'रिट्ठणेमिचरिउ', 'जसहरचरिउ', 'पज्जुण्ण कहा', 'भविस्त कहा', 'महापुराण', 'हरिवंशपुराण' आदि। वस्तुतः चरितकाव्यों-में इन तीनों शब्दोंका एक ही अर्थमें प्रयोग हुआ है और सबका अभिप्राय प्रबन्धकाव्यसे ही है, ऐतिहासिक चरित्र, पुराणकथा या साहित्यिक कथाकाव्यसे नहीं। किन्तु चरित, कथा और पुराण नामवाले सभी ग्रन्थ चरितकाव्य नहीं होते, जैसे 'बुद्धचरित', 'श्रीकण्ठचरित', 'नैषधीय चरित' आदि शास्त्रीय शैलीके महाकाव्य हैं, 'बृहत्कथा', 'श्रुतपंचमीकथा', 'लीलावई कहा', 'समराइच्च कहा', 'दशकुमारचरित', 'हर्षचरित' आदि कथाकाव्य और इतिवृत्तात्मक कथाकाव्य है तथा 'अग्निपुराण', 'वायुपुराण', 'आदिपुराण', 'उत्तरपुराण' आदि पुराणग्रन्थ है।

चरितकाव्यकी कुछ निजी विशेषताएँ हैं, जिनके कारण वह पुराण, इतिहास और कथासे भिन्न तथा एक विशेष प्रकारका **प्रबन्धकाव्य** माना जाता है। संस्कृतमें चार शैलियोंके **प्रबन्धकाव्य** मिलते हैं। शास्त्रीय शैली, ऐतिहासिक शैली, पौराणिक शैली और रोमांसिक शैली। इनमेंसे प्रथमके अतिरिक्त अन्य तीन शैलियोंमें चरितकाव्य होते है। अपभ्रंशमें पौराणिक और रोमांसिक, इन दो ही शैलियोंके **प्रबन्धकाव्य** मिलते हैं और वे सभी चरित-काव्य है। 'पउमसिरिचरिउ'की भूमिकामे हरिवल्लभ भायाणीने चरितकाव्यका स्वरूपनिर्देश करते हुए लिखा है कि "स्वरूपकी दृष्टिसे अपभ्रंशके पौराणिक काव्यो और चरितकाव्योंमे बहुत अन्तर नहीं है। पौराणिक काव्योंमे विषयका विस्तार बहुत अधिक होनेसे सन्धि-संख्या पचास-से सवा सौतक होती है, किन्तु चरितकाव्योंमें विषय-विस्तार मर्यादित होता है, जिससे सन्धि-संख्या अधिक नहीं होती। शेष बातों, जैसे सन्धि, कड़वक, तुक, पंक्ति-युगल आदिमें दोनोमें कोई भेद नहीं होता। किन्तु सभी चरितकाव्य कडवकबद्ध हों, यह बात भी नहीं है, हरिभद्र-का 'णेमिणाहचरिउ' आद्यन्त रड्डाछन्दमे है" (पउमसिरि-चरिउ, भूमिका, पृ० १५)। किन्तु यह अन्तर बाह्य स्वरूपका अन्तर है, भायाणीजीने दोनोके आन्तरिक स्वरूप-का कोई अन्तर नहीं बताया है। वस्तुतः पुराण, पौराणिक सामग्रीवाले काव्य और पौराणिक शैलीका काव्य, इन तीनो-में बहुत अन्तर होता है। इनमे पुराण तो काव्य होता ही नहीं। पौराणिक सामग्री लेकर शास्त्रीय या रोमांसिक शैलीके प्रबन्धकाव्य भी लिखे जाते है और ऐतिहासिक और उत्पाद्य सामग्री लेकर भी पौराणिक शैलीके महाकाव्य लिखे जा सकते है। अतः काव्य पौराणिक नहीं होता, बल्कि उसकी शैली पौराणिक ऐतिहासिक, रोमांसिक या शास्त्रीय होती है। इनमे तीन शैलियोमें चरितकाव्य होते है, शास्त्रीय शैलीमें नहीं होते। उदाहरणार्थ—पौराणिक शैलीके चरित-काव्य–'पद्मचरित', 'पार्श्वनाथचरित', 'पउमचरिय',

'पउमचरिउ', 'महापुराण', 'पासपुराण', 'त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित' आदि। ऐतिहासिक शैलीके चरितकाव्य—'पृथ्वीराजविजय', 'विक्रमांकदेवचरित', 'राजतरंगिणी', 'कुमारपालचरित', 'हम्मीर महाकाव्य', 'गउडवहो' आदि। रोमांसिक शैलीके चरितकाव्य—'नवसाहसांकचरित', 'चन्द्रप्रभचरित', 'शान्तिनाथचरित', 'मलयसुन्दरीकहा', 'अंजष्णा सुन्दरीचरियं', 'भविसयत्तकहा', 'करकण्डुचरिउ', 'जसहरचरिउ' आदि।

इस प्रकार प्रबन्ध-काव्यके मुख्यतः दो रूप होते है, (१) शास्त्रीय प्रबन्धकाव्य, (२) चरितकाव्य। चरितके लक्षण ये हैं: १. चरितकाव्यकी शैली जीवनचरितकी शैली होती है। उसमें प्रारम्भमे या तो ऐतिहासिक ढंगसे नायकके पूर्वज, माता-पिता और वंशका वर्णन रहता है या पौराणिक ढंगसे उसके पूर्व भावोंका वृत्तान्त तथा उसके जन्मके कारणोंका वर्णन होता है अथवा कथाकाव्यकी तरह उसके माता-पिता, देश और नगरका वर्णन रहता है। उसमें चरितनायकके जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्ततककी अथवा कई जन्मों-(भवान्तरों)की कथा होती है। उसमे शास्त्रीय प्रबन्धकाव्योंकी तरह महत्त्वपूर्ण और कलात्मकता उत्पन्न करनेवाली मुख्य घटनाओका चुनाव और वर्णनात्मक अंशोंकी अधिकता नही होती। अतः वह कथात्मक अधिक और वर्णनात्मक कम होता है। चरितकाव्यका कवि कथाको छोडकर वस्तु-वर्णन या प्रकृति-चित्रणमें अधिक देरतक नही उलझता। इसी कारण वह कथाकाव्यके अधिक निकट तथा शास्त्रीय प्रबन्धकाव्योंकी अपेक्षा अधिक स्वाभाविक, सरल और लोकोन्मुख होता है। २. चरितकाव्यमे प्रायः प्रेम, वीरता और धर्म या वैराग्य-भावनाका समन्वय दिखलाई पड़ता है। सबमें कोई-न-कोई प्रेमकथा अवश्य होती है और उसका स्थान गौण नही, महत्त्वपूर्ण होता है। उसमे पौराणिक कथानकमें भी प्रेमाख्यानक रंग भरनेका प्रयत्न दिखाई पड़ता है। प्रायः सभी चरितकाव्योंमें प्रेमका प्रारम्भ समान रूपमें स्वप्न-दर्शन, गुण-श्रवण, चित्र-दर्शन या प्रथम साक्षात्कार द्वारा होता है। विवाहके पहले या बादमें नायक-नायिकाके मार्गमें अनेक विघ्न-बाधाएँ आती हैं, युद्ध करने पडते है और अन्तमें उनका मिलन होता है। जैन चरितकाव्योंमें प्रायः अन्तमें नायक किसी प्रेरणा या उपदेशसे संसारसे विरक्त होकर जैन मुनि बन जाता है। ३. प्रायः सभी चरितकाव्योंमें कथारम्भके लिए वक्ता-श्रोता-योजना अवश्य होती है। यह प्रश्नोत्तर योजना इतने रूपोंमें मिलती है:-(क) धर्मगुरु और शिष्य, पौराणिक कथाविद् और भक्तजन अथवा श्रावक और श्रोताके बीच; (ख) शुक-शुकी, शुक-सारिका, भृंग-भृंगी अथवा किसी वक्तापक्षी और मानव-श्रोताके बीच; (ग) कवि और कवि-पत्नी या कवि और उसके किसी शिष्यके बीच। ४. उसमें अलौकिक, अतिप्राकृत और अतिमानवीय शक्तियो, कार्यों और वस्तुओंका समावेश अवश्य रहता है, जो पौराणिक और रोमांसिक शैलीके कथाकाव्यों, पौराणिक कथाओं और लोककथाओंकी देन है। इस कारण उसमें साहसपूर्ण, आश्चर्योत्पादक और रोमांसिक कार्यों तथा तत्त्वोकी अधिकता होती है और उन सभी कथानक-रूढ़ियोंकी भरमार होती है, जो लोककथा और कथा-आख्यायिकामें बहुत अधिक मिलती है। ५. उनका कथानक शास्त्रीय प्रबन्धकाव्यों जैसा पंचसन्धियोंसे युक्त और कार्यान्वितिवाला नहीं होता, वह कथाकाव्योंकी तरह स्फीन, विशृंखल, गुम्फित या जटिल होता है। ६. उसकी शैली कथाकाव्योसे अधिक उदात्त होती है, पर शास्त्रीय प्रबन्धकाव्यों जैसी अतिशय अलंकृत, चमत्कारपूर्ण या पाण्डित्य-प्रदर्शनकी प्रवृत्तिसे युक्त नही होती, जिससे उसमें अधिक सरलता, सादगी और सामान्य जनताके लिए पर्याप्त आकर्षण होता है। ७. चरितकाव्य प्रायः उद्देश्यप्रधान होता है, कथाकाव्योंकी तरह केवल मनोरंजन करना उसका लक्ष्य नहीं होता। यह उद्देश्य कभी धार्मिक, कभी प्रशस्तिमूलक और कभी लोककल्याणाभिनिवेशी होता है। परन्तु उसका उद्देश्य अधिक उभरा हुआ और स्पष्ट होता है, शास्त्रीय प्रबन्धकाव्यों जैसा कलात्मक सौन्दर्यके भीतर निहित नही होता। इसी कारण चरितकाव्य उपदेशात्मक, प्रचारात्मक या प्रशस्तिमूलक प्रतीत होते है।

उद्देश्य और विषयवस्तुकी दृष्टिसे चरितकाव्य छः प्रकारके होते है—१. धार्मिक, २. प्रतीकात्मक, ३. वीरगाथात्मक, ४. प्रेमाख्यानक, ५. प्रशस्तिमूलक, ६. लोकगाथात्मक। हिन्दीके अधिकांश मध्यकालीन प्रबन्धकाव्य अपभ्रंशके प्रबन्धकाव्योकी भाँति चरितकाव्य ही है। कुछ उदाहरण दिये जा रहे है—१. धार्मिक पौराणिक—'रामचरितमानस', 'कृष्णचन्द्रिका', 'दशावतार'। २. प्रतीकात्मक—'पद्मावत', 'लोरिकचन्दा', 'मृगावती', 'मधुमालती' आदि। ३. वीरगाथात्मक—'पृथ्वीराजरासो', 'हम्मीररासो' आदि। ४. विशुद्ध प्रेमाख्यानक—'बीसलदेव रास', 'छिताईवार्ता', 'नल दमन' आदि। ५. प्रशस्तिमूलक—'वीरसिंहदेवचरित', 'छत्रप्रकाश'। ६. लोकगाथात्मक—'ढोलामारु रा दूहा', 'आल्हखण्ड', 'उदयवत्स सावलिंगा' आदि। —शं० ना० सिं०

चरित्र, चरित्र-चित्रण—दे० 'पात्र'।

चर्चरी—चर्चरी १३वीं शताब्दीसे पूर्वका लोक-प्रचलित गीत है। जिनदत्त सूरि नामक जैन कविने इस गीतको अपनाया था। चर्चरी यद्यपि कोई निश्चित छन्द-प्रकार नही है, तथापि १२वीं शताब्दीके लगभग वसन्तके दिनोंमें आगरा और उसके निकटवर्ती क्षेत्रोंमे यह गीत खूब गाया जाता था। कबीरने बीजकमें 'चाँचर'का प्रयोग किया है, वह कदाचित् 'चर्चरी'का ही बिकृत स्वरूप है। यह गीत नृत्य करते समय गाया जाता था। कालिदास और श्रीहर्षके नाटकोंमें 'चर्चरी'का उल्लेख आया है। कतिपय टीकाओंमें 'चाँचर'को खेल बताया है, जो कदाचित् चर्चरीसे भिन्न होगा। 'चर्चरी' शृंगार-प्रधान लोकगीत होना चाहिये, जो अपनी लोकप्रियताके कारण कतिपय जैन कवियोको आकर्षित करनेमें सफल हुआ। —श्या० प०

चर्या—महायानके धर्म और साधना-पथमें बोधिचित्तको उत्पन्न करनेके लिए ६ पारमिताओंकी साधना करनी होती है, जिनमेंसे सबसे अन्तिम और महत्त्वपूर्ण प्रज्ञा-पारमिता है। इसकी साधनाके बाद बोधिचित्तोत्पाद होता है, उसके उपरान्त उसे ऊपरकी ओर उद्‌बुद्ध किया जाता है, तब

अनन्त करुणाका उदय होता है। यह समस्त प्रणाली चर्या कहलाती है, जो जनसुलभ नहीं, किन्तु जो साधक इसे सम्पन्न कर लेता है, वह अल्प बन्धनसे मुक्त अनुत्तर सम्बोधिको प्राप्त कर लोकका बन्धु और रक्षक हो जाता है। चर्या तथा क्रिया, दोनोंका ही उद्देश्य प्रज्ञा तथा उपायका अद्वय है। विधि देवी-देवता, उनकी साधनाएँ, दीक्षा, अभिषेक, मण्डल आवेश आदि क्रियाओं और चर्याओंके अन्तर्गत आते हैं। —ध० वी० भा०

चर्यापद–दे० 'सिद्ध-साहित्य'।

चांडाली–दे० 'महामुद्रा'।

चांद्रायण–मात्रिक सम छन्दका एक भेद। भानुके अनुसार इसके २१ मात्राके चरणमें ११, १०की यति होती है तथा ११ मात्रा जगणान्त (ISI) तथा १० मात्रा रगणान्त (SIS) होती है। यह प्लवंगम छन्दके निकटका छन्द है, जिसका उल्लेख 'प्राकृतपैंगलम्'में हुआ है (दे०)। भानु द्वारा निर्दिष्ट नियमका पालन प्रायः कवियोंने नहीं किया है। हिन्दीमें चन्द (पृ० रासो), सूर (सू० सा०), मान (रा० वि०) तथा रघुराज (रा० स्व०)ने इसका प्रयोग किया है। सूरने रोला-दोहाके संयुक्त छन्दोंके कथानकोंके प्रारम्भमे टेकके रूपमे इस छन्दका प्रयोग किया है, पर जगण-रगणका नियम सदा एक-सा नहीं है—"यह अति अचरज मोहि, कहा कारन ठयो" (सू० सा० : सभा, पद ११९०)। उदा०—"अपनी दया विचारि, पाप सब मीजिये" (भानु : छ० प्र०, पृ० ५६)। —सं०

चादर, चुनरी–संतोंने चादर और चूनरी जैसे शब्दोंका प्रयोग मात्र इनके अभिधार्थमें नहीं किया है। कबीरका पद 'झीनी झीनी बीनी चदरिया' बहुत ही प्रसिद्ध है जिसमें उन्होंने इडा, पिंगला और सुषुम्नाके ताने-बाने और तारसे बुनी हुई पंचभौतिक मानव देहको चादर बताया है। लक्ष करनेकी बात है कि यहाँ अभिव्यक्त विचारधारा कबीरकी कोई नयी विचारधारा नहीं है। केवल चादर शब्द नया है उसके ताने-बानेकी बुनावट नयी है। कबीरके पूर्ववर्ती दार्शनिक-चिन्तनमें इसे कंचुक कहा गया है। कंचुक, जिससे आवृत होकर ब्रह्म जीव बन जाता है। शैवोंके दर्शनमे इसे पाश कहा जाता है, जिसमे बँधकर निर्गुण, निरंजन परमशिव, सगुण अंजन 'पशु' बन जाते है। कबीर या अन्य संत चादर कहकर इसी कंचुकका अर्थबोध कराना चाहते है, पर थोडे नये ढंग से। मायावादी इस शरीरको बड़ी चीज नहीं मानते। उनकी दृष्टिमें एकमात्र पारमार्थिक सत्ता ब्रह्म है। जगत् मिथ्या है, भ्रम है, माया है, अतः इस जालको छिन्न करना, मायाके कंचुकोंका उच्छेद करके इनसे मुक्ति पाना, यही उनका प्रमुख लक्ष्य था। कबीर भी माया-के इस अर्थसे सहमत थे, कबीरके साथ ही अन्य संत कवि मायाको उसी रूपमे समझते थे। लेकिन ये शरीरको व्यर्थ नहीं मानते थे। यह माया है, पर व्यर्थ नहीं है। साईंने दस महीने लगाकर जिस चादरको स्वयं सिला हो, ठोंक-ठोककर बड़ी एहतियातसे सवाँरा सजाया हो, कबीर पियकी उस रच-पचकर तैयार की गयी उपहारकी वस्तुको व्यर्थ नहीं मान सकते थे। हठयोगमें आस्था रखने-वाला कोई भी संत (जो हठयोगी होते हुए भी मूलतः भक्त ही था) ऐसा मान नहीं सकता, क्योंकि वह इसी प्रियके उपहारको धारण करके सुहागिनी पतिव्रता बन सकता है। इसी पिण्डको साफ-सुथरा एवं पवित्र रखकर वह पियसे बेझझक मिल सकता है और इस चिन्तासे मुक्त हो सकता है कि "हौं मैली पिय ऊजरा कैसे लागूँ पायँ?" क्योंकि ब्रह्माण्डमे जो कुछ है हठयोगीकी समझसे पिण्डमे वह सब है। मूलाधारको तीन वलयोंमें वेष्टित करके बैठी कुण्ड-लिनी ही शक्ति है, जो ठीकसे उद्बुद्ध की जा सकी तो सह-स्रारमें स्थित शून्य महलके वासी प्रियसे भेंट करा देती है। इस प्रकार कभी 'मायाका कंचुक' कही जाकर समझी जाने-वाली यह 'चादर' कबीरके यहाँ ब्रह्माण्डके छोटे (पर भिन्न नहीं) रूप, अर्थात् पिण्ड या शरीरका वाचक बनकर संतोंके साहित्यमे प्रयुक्त हुई है। लोभ, मोह और पापसे यह चादर मैली होती है, ज्ञानके साबुनसे इसे साफ किया जा सकता है और यह कि इसे यत्नपूर्वक सुरक्षित रखना चाहिए, क्योंकि सुहागकी यह साडी बार-बार नहीं मिलती—"सोचु समुझ अभिमानी, चादर भई है पुरानी।" करि डारी मैली पापन सौं लोभ मोहमे सानी। ना यहि लग्यो ज्ञानके साबुन ना धोई भल पानी।" कहत कबीर धरि राखु जतन ते फेर हाथ नहिं आनी॥" ('कबीर' : हजारीप्रसाद द्विवेदी, संगृहीत वाणी सं० २१३)। इससे थोडे विशिष्ट अर्थको ध्वनित करनेवाला शब्द 'चुनरी' है। इसका अर्थ भी वही है, जो चादर का है और यह भी उसी परमप्रेयान् खसमकी दी हुई है, पर थोडी विशिष्ट इसलिए है कि यह और भी अधिक प्रेमसे, प्रेमके घनीभूत क्षणमें—शादीके अवसरपर दी हुई है। —रा० सि०

चामर–वर्णिक छन्दोमे सम वृत्तका भेद। 'प्राकृतपैंगलम्'-(२ : १५९)के अनुसार ७ गुरु, लघु एवं गुरुके योगसे यह वृत्त बनता है (र ज र ज र)। केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है। जयकीर्तिने उत्सव (छन्दो०, ६ : ३०) और हेमचन्द्र (छन्दो०, २ : २५४)ने तूणक नाम दिया है। उदा०—'वेदमन्त्र तन्त्र शोधि अस्त्र शस्त्र दै भले, रामचन्द्र लक्ष्मनै सु विप्र छिप्र लै चले" (रा० चं०, २ : २८)। —पु० शु०

चार आनंद–वज्रयानी सिद्धोंने चार क्षणों, चार आनन्दों और मुद्राओंका उल्लेख बार-बार किया है। चार क्षणोंको विचित्र, विपाक, विमर्द और विलक्षणकी संज्ञा दी गयी है। इन्हीं चार क्षणोंके भेदसे चार आनन्द बताये गये है, जिनके नाम है प्रथमानन्द, परमानन्द, विरमानन्द और सहजानन्द। प्रथमानन्द विचित्र क्षणका आनन्द है, जिसकी अनुभूति आलिंगन, चुम्बनादिसे मिलती-जुलती है। परमानन्द ज्ञान सुखका योग है। विरमानन्द समा-गम-सुखकी भाँति है। इन सभी राग-विरागोंसे वर्जित चतुर्थ आनन्द है सहजानन्द, जो सर्वश्रेष्ठ है और साधकको महासुखकी अनुभूति देता है। —ध० वी० भा०

चार काया–**त्रिकाय सिद्धान्त**के द्वारा बुद्धके दिव्यरूपकी जो परम्परा महायानी आचार्योंने प्रारम्भ की थी, उसका चरम विकास सिद्धोंमें हुआ। महायानी आचार्योंने बुद्धकी तीन कायाओंके मूलमे तीन धातुओंकी कल्पना की थी, जो

इस प्रकार है—रूपधातुसे निर्मित निर्माण-काया, काम-धातुसे सम्भोग-काया और धर्मधातुसे धर्म-काया। सिद्धोने प्रज्ञोपाय सिद्धान्तकी प्रतिष्ठा इस दिशामें भी करनेके लिए एक चतुर्थ कायाकी प्रतिष्ठा की, जिसे वे वज्र-काया, स्वभाव काया, सह-काया या महासुख-काया कहते थे। निर्माण-कायामें बुद्ध मानुषी रूप धारण कर संसारके अनुरूप जीवनयापन करते हैं। सम्भोग-कायामें आनन्द अथवा करुणाकी प्रधानता होती है, यह काया बोधिसत्त्वके रूपमें होती है। धर्म-काया तीनों लोकोंमें अपनेको अभिव्यक्त करते हुए भी सभी आवासों, क्लेशों और संस्कारोंसे मुक्त, अनादि, अनन्त, अजर, अमर और अपरिवर्तनशील होती है। चौथी सहज-काया इन चारोंमें सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि यह समस्त द्वयताओं और क्लेशादि मलावरणोंसे निरावृत, शुद्ध, सहजरूप होती है, इसीको निरंजन कहते हैं। बुद्धके इसी सहज-काया-स्थित निरंजन रूपमें करोड़ों साधकोंमेंसे कोई ही लीन हो पाता है। —ध० वी० भा०

चार-चक्र—दे० 'हठयोग'।

चिंता—प्रचलित तैंतीसमेंसे एक संचारी भाव। भरतके अनुसार इसके विभाव हैं—धनहानि, प्रिय वस्तुका अपहरण, निर्धनता आदि और अनुभाव हैं—उच्छ्वास, चिन्तन, मनन, नतमुख होना तथा दुर्बलता आदि (नाट्य०, ७ : ५१)। विश्वनाथके अनुसार इसकी परिभाषा है—"ध्यानं चिन्ता हितानाप्तेः शून्यताश्वासतापकृत्" (सा० द०, ३ : १७१)। अभीष्टकी प्राप्ति न होनेके कारण तद्विषयक ध्यानको चिन्ता कहते हैं। हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंने इसीका अनुसरण किया है। देवके अनुसार "इष्ट वस्तु पाये बिना, एक आस चितु होइ। स्वाँस ताप वैबरण जहँ, चिन्ता कहियतु सोइ" (भाव० : संचारी)। इस लक्षणमें 'नाट्यशास्त्र'की परम्पराका प्रभाव है, पर अन्य ऐसे आचार्य हैं, जिन्होंने सामान्य ढंगसे—"जहाँ कौन हू बातकी चितमें चिन्ता होय" (जगत्०, ५०४) मान लिया है।

अभीष्टकी प्राप्तिकी दृढ कामना एक तरहकी आकांक्षा है। जब यह आकांक्षा बाधित होती है तब चिन्ताका उदय होता है। यह रागात्मक प्रवृत्ति नहीं है, इसलिए बाधाओं-को दूर करनेके लिए लोगोंको प्रयत्नवान् बनाती है। इस प्रयत्नकालके बीच-बीचमें आशा, निराशा, शंका, ईर्ष्या, व्याकुलता आदिका प्रादुर्भाव होता रहता है। चिन्ताका निष्क्रियात्मक रूप भी होता है, जो चिन्ता करनेवालेको और भी अशक्त, पंगु और निरीह बना देता है। इसका प्रादुर्भाव स्वतन्त्र रूपमें भी होता है और संचारीके रूपमें भी। चिन्ता संचारीका वियोग-श्रृंगारके अन्तर्गत उदा०—"आँसुनि मोचति सोचति यों सिगरो दिन कामिनि काग उड़ावै" (भाव० : संचारी)। तुलसीदासने 'कवितावली'-में माँ कौसल्याकी पुत्रविषयक चिन्ताका सुन्दर चित्रण किया है—"भोर ही भुखात ह्वैहै, कन्द मूल खात ह्वैहैं, दुति कुम्हलात ह्वैहै मुख जलजातको"। —ब० सिं०

चित्त—दे० 'जगतानुबोध', 'बोधिचित्त', 'हठयोग'।

चित्तभूमिका—योग शास्त्रमें पाँच चित्तभूमिकाएँ मानी गयी हैं—क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र एवं निरुद्ध। चित्तभूमिका का अर्थ है चित्तकी स्वाभाविक अवस्था। योगको चित्त-वृत्तिका निरोध कहा गया है (यो० सू०, १, २)। योगशास्त्र का योग शब्द समाधिका पर्याय है। लेकिन यह समाधि थोड़ी विशेष तरहकी है। विभिन्न चित्तभूमियोंमें भी बहुधा समाधिकी अवस्था देखी जाती है, पर वह योगकी काम्य समाधि नहीं। चित्तकी प्रथमभूमि क्षिप्त है। स्वभावतः अत्यन्त अस्थिर, तत्त्व-चिन्तनमें असमर्थ चित्तको क्षिप्तभूमिक कहते हैं। प्रबल हिंसा, वैरभाव आदिके कारण क्षिप्त चित्त व्यक्ति भी कभी समाधिस्थ हो सकता है। पाण्डवोंसे हार-कर प्रबल द्वेषमें दग्ध जयद्रथका चित्त शिवमें समाहित हो गया था, ऐसा 'महाभारत'में बताया गया है। —रा० सि०

चित्त-मारण—दे० 'बोधिचित्त'।

चित्त-विशोधन—दे० 'बोधिचित्त'।

चित्त-हनन—दे० 'बोधिचित्त'।

चित्रतुरग-न्याय—दे० 'रसनिष्पत्ति', अन्तर्गत अनुमान-वाद।

चित्रपदा—वर्णिक छन्दोंमें सम वृत्तका एक भेद; विरहांक (वृ० जा० स०, ५ : ११) और जयकीर्ति (छन्दो०, २ : ६७)ने इस छन्दका वितान नाम दिया है। यह वृत्त दो भगणों और दो गुरुओंके योगसे बनता है (ऽ॥, ऽ॥, ऽऽ)। केशवने प्रयोग किया है—"रूपहिं देखत मोहै; ईश कहौ नर को है। सम्भ्रम चित्त अरूझै; रामहि यो सब बूझै" (रा० चं०, ९ : ३२)। —पु० शु०

चित्रात्मकता—चित्रात्मकताका अर्थ है शब्द या शब्दों द्वारा चित्र-निर्माण। काव्यमें चित्र कभी विशेषण द्वारा निर्मित होते हैं, कभी उपमा-रूपक आदि अलंकारों द्वारा, कभी शब्दविशेष द्वारा, कभी अनेक वाक्यों द्वारा, कभी सम्पूर्ण कृति द्वारा चित्रात्मकताको काव्यका गुण माना जाता है। कुछ विचारकोंके अनुसार तो काव्यकी सबसे बड़ी शक्ति उसके चित्रोंमें ही होती है और कविकी श्रेष्ठताका परिचय भी उसके काव्यमें उपलब्ध चित्रोंसे ही मिलाना है। चित्रात्मकताको **चित्रमयता, मूर्त्ति-विधान** या **बिम्ब-विधान** भी कहा जाता है।

काव्यात्मक चित्र काव्यके अलंकार या सौन्दर्य मात्र नहीं, उसके अनिवार्य अंग हैं। इनसे काव्यकी शक्तिमें वृद्धि होती है। बिम्ब एवं प्रतीक-निर्माण मानव-अभिव्यक्ति-के स्वाभाविक साधन हैं। एक विद्वान्का कथन है कि जब कभी हम कल्पनाको स्वतन्त्र छोड़ देते हैं, तो वह अभि-व्यक्तिके सहज माध्यमके रूपमें बिम्बों और प्रतीकोंका ही उपयोग करती है। कवि अपनी अनुभूतियों और संवेगोंको मूर्त्त रूप देनेके लिए बिम्बोंका ही सहारा लेता है। बिम्बका जन्म शून्यमें नहीं होता, कविके मानसमें होता है—उस मानसमें, जिसके निर्माणमें परम्पराका भी योग रहता है और कविके समसामयिक परिवेशका भी। फलतः काव्या-त्मक चित्रोंमें कवि अपने समसामयिक युग-जीवनको भी प्रतिबिम्बित करता है। किसी कृतिमें प्रस्तुत विभिन्न चित्रों-में जो परस्पर सम्बन्ध एवं तारतम्य बना रहता है, उसमें कविके संवेगों एवं अनुभूतियोंके पारस्परिक सम्बन्ध एवं क्रमिक विकासका भी परिचय मिलता है।

काव्यात्मक चित्रोंकी विशेषता इस बातमें है कि वे स्पष्ट

एवं ऐन्द्रिक हो—चित्र ऐसे हो, जो रूप, रंग आदिको स्पष्टतः मानस-चक्षुके सम्मुख प्रस्तुत कर सकें। ऐसे चित्र भी होते हैं जो स्पर्श, गन्ध और ध्वनिकी भी व्यंजना कराते हैं। काव्यात्मक चित्रोंके लिए यह भी आवश्यक है कि वे वास्तविक जीवनकी अनुभूतियोंपर आधारित हों और रागात्मक आवेगों द्वारा प्रेरित एवं निर्मित हों; मात्र बौद्धिक व्यायाम द्वारा सायास निर्मित चित्र, विलक्षण और चमत्कार-पूर्ण भले ही हो, पाठकमें उस संवेगकी सृष्टि नहीं कर सकते, जो काव्यात्मक चित्रोंका उद्देश्य होता है।

काव्यात्मक चित्रोंकी विशेषता उनकी ताजगी और तीव्रतामें होती है। ताजगीसे तात्पर्य उस शक्तिसे है, जो कविकी वैयक्तिक अनुभूतिको उसकी वैयक्तिकता एवं नवीनताके साथ मूल रूपमें पाठकके हृदयतक पहुँचा सके। एक ही चित्रकी दीर्घकालीन आवृत्ति एवं व्यवहारसे उसकी ताजगी और संवेग-सृष्टिकी क्षमता समाप्त हो जाती है। बासन अधिक घिसनेसे मुलम्मा छूट जानेकी बात 'अज्ञेय'ने इसी प्रसंगमें कही है। यही कारण है कि प्रत्येक युगका जागरूक कवि अपनेको व्यक्त करनेके लिए नये चित्रों और बिम्बोंकी आवश्यकताका अनुभव करता है। सघनताका अर्थ है कम-से-कम चित्रोंमे अधिकाधिक अर्थको केन्द्रीभूत करना। अत्याधुनिक कविता काव्यात्मक चित्रोंकी इन विशेषताओंपर विशेष बल देती है।

चित्रोंका निर्माण कविकी कल्पना शक्ति द्वारा होता है। उनका क्षेत्र बड़ा विस्तृत है। कवि अपने व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवनके अनुभवोंको तो अनजाने ही अपने अवचेतनमें संजोता चलता है, परम्परासे उपलब्ध अनुभूतियाँ भी उसकी सम्पत्ति बन जाती हैं। चित्रोंके निर्माणमें उसका अवचेतन मन और उसकी संक्षेपण, विस्थापन, आरोपण, तादात्म्य, दमन, उदात्तीकरण आदिकी क्रियाएँ काम करती हैं। जिस कविकी अनुभूतिप्रवणता, संवेदनशीलता और ग्रहणशक्ति जितनी ही अधिक होती है और जिसका मानस स्मृतियोंकी दृष्टिसे जितना ही अधिक समृद्ध होता है, उसके काव्यमें चित्रोंकी सम्पन्नता और विविधता उतनी ही अधिक दिखायी पड़ती है।

कुछ चित्र जटिल होते हैं, कुछ सरल। कुछ प्रतीकात्मक होते हैं, कुछ रूपकात्मक, कुछ लाक्षणिक और कुछ उपमा अथवा रूपक अलंकारमूलक। इस प्रकार चित्रोंकी अनेक कोटियाँ होती हैं। ये चित्र विभिन्न प्रयोजन सिद्ध करते हैं, पर कुछ चित्र मात्र अलंकरण बनकर भी आते हैं, पर जैसा कि पहले कहा गया, निष्प्रयोजन चित्रोंको महत्व-पूर्ण नहीं माना जाता है। —सि० कु०

चित्रिणी—दे० 'हठयोग'।

चिश्ती—दे० 'सूफी-सम्प्रदाय'।

चूलिका—यह **अर्थोपक्षेपक**का एक भेद है। "अन्तर्जवनिकासंस्थैश्चूलिकार्थस्य सूचना" (द० रू० १, ६१), अर्थात् नेपथ्यमें स्थित पात्रके द्वारा **अर्थ**(कथावस्तु)की सूचना चूलिका कहलाती है, जैसे भारतेन्दु हरिश्चन्द्रकृत 'सत्य हरिश्चन्द्र'में जब हरिश्चन्द्र कफन माँगने लगते हैं, तब नेपथ्यसे आवाज आती है "अहो धैर्य्यमहो सत्यमहो दानमहो बलम्। त्वया राजन् हरिश्चन्द्र सर्वलोकोत्तरं कृतम्।' उसी नाटकमें एक स्थानपर जब हरिश्चन्द्रका मन चंचल हो उठता है, तब नेपथ्यमें आवाज आती है "पुत्र हरिश्चन्द्र, सावधान! यही अन्तिम परीक्षा है। तुम्हारे पुरुषा इक्ष्वाकु-से लेकर त्रिशंकुपर्यन्त आकाशमें नेत्रभरे खड़े एकटक तुम्हारा मुख देख रहे हैं। आजतक इस वंशमें ऐसा कठिन दुःख किसीको नहीं हुआ था। ऐसा न हो, इनका सिर नीचा हो। अपने धैर्यका स्मरण करो"। यह चूलिका है। —व० सि०

चेटक—दे० 'नर्मसचिव', नायक।

चेतन (conscious)—मानसका चेतन-पक्ष मनुष्यके सामान्य व्यवहारमें व्यक्त होता है। चेतन मानसमें वे अनुभव और व्यापार आते हैं, जिनका हमें पूर्ण ज्ञान है। स्नायविक दृष्टिकोणसे हम कह सकते हैं कि जब स्नायविक क्रिया एक आवश्यक मात्रातक गहरी हो जाती है, हमें अनुभव होने लगता है और यही चेतना है। मनोविश्लेषण के प्रभावसे चेतन मनकी धारणामें परिवर्तन हो गया है, पूर्वकालीन मनोवैज्ञानिक यह मानते थे कि मानस सदा चेतन है, अचेतन मानसकी कल्पना ही इनके लिए असम्भव थी। परन्तु अब यह सभी स्वीकार करते हैं कि चेतन मानस हमारे सम्पूर्ण मानसका एक अंशमात्र है। यह वह अंश है, जो बाह्य जगत्के सम्पर्कमें आता है और पूर्णतः व्यक्त होता है। मानसका यह भाग हमारी जाग्रत् अवस्थामें क्रियाशील रहता है, यह यथार्थसे संचालित होता है, विचारशील है, विवेक, तर्क, ध्यान, संवेदना तथा प्रत्यक्ष-ज्ञान इसकी प्रक्रियाएँ हैं। इस पक्षमें व्यक्तित्वके **अहम्** और **सुपरईगो**का सम्बन्ध रहता है, पर **इड** इसकी पहुँचके बाहर है। —प्री० अ०

चेतना—चेतन मानसकी प्रमुख विशेषता चेतना है, अर्थात् वस्तुओं, विषयों, व्यवहारोंका ज्ञान। चेतनाकी परिभाषा कठिन है, पर इसका वर्णन हो सकता है। चेतनाकी प्रमुख विशेषताएँ हैं, निरन्तर परिवर्तनशीलता अथवा प्रवाह, इस प्रवाहके साथ-साथ विभिन्न अवस्थाओंमें एक अविच्छिन्न एकता और साहचर्य। चेतनाका प्रभाव हमारे अनुभव-वैचित्र्यसे प्रमाणित होता है और चेतनाकी अविच्छिन्न एकता हमारे व्यक्तिगत तादात्म्यके अनुभवमें। विभिन्न विषयोंकी अलग-अलग समयपर चेतना होनेपर हम सदा यह भी अनुभव करते हैं कि "मैंने अमुक वस्तु देखी थी"। यदि हमारी चेतना अखण्ड और अविच्छिन्न न होती तो यह अनुभव हमें न होता। लेकिन यह अखण्डता और अविच्छिन्नता साहचर्यसे ही सम्भव होती है। विभिन्न मानसिक प्रक्रियाओंमें साहचर्य (अथवा आसंग)के द्वारा इतना घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है कि वे मिलकर एक चेतनाका अंग बन जाती हैं। मानसिक संघर्ष, अत्यधिक दमन और भावात्मक आघातोंमें ये साहचर्य नष्ट भी हो जाते हैं और तब चेतना भी बिखरी-बिखरीसी हो जाती है और व्यक्तित्व खण्डित। चेतनामें साहचर्य नष्ट होनेकी अनेक मात्राएँ हो सकती हैं, यदि कम मात्रामें हो तो कोई विशेष व्यवहार, कोई विशेष मानसिक क्रिया सम्पूर्ण चेतनामें वियोजित हो जाती है, पर व्यक्तित्वके लिए गम्भीर समस्या नहीं उठती। पर यदि अधिक मात्रामें हो तो

बहुव्यक्तित्व, खण्डित व्यक्तित्व आदि रोग हो जाते है (दे० 'चेतन', 'आपंग', 'खण्डित व्यक्तित्व')।

चेतना शब्दका उपयोग प्रायः उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक अर्थमें ही होता है, पर कभी-कभी इसका प्रयोग दार्शनिक अर्थमे भी हो सकता है। विज्ञानवादी और प्रत्ययवादी दार्शनिक चेतना या विज्ञानको शाश्वत और एकमात्र सत्ता मानते है। इस अर्थमें 'चेतना' शब्द 'आत्मा'का समानार्थक हो जाता है—परन्तु साहित्यमे और दर्शनमें भी इस अर्थमे प्रायः 'चैतन्य' शब्दका उपयोग किया जाता है, 'चेतना' शब्द सामान्य मनोवैज्ञानिक अर्थमें ही अधिक आता है। —प्री० अ०

चैता—चैत्र मासमे जो गीत गाये जाते है, उन्हे चैता कहते है। जिस प्रकार फागुन (फाल्गुन)के महीनेमें गाये जानेवाले गीतोंका नाम 'फगुआ' पड़ गया है, उसी प्रकारसे चैत (चैत्र) मासमें गेय होनेके कारण इन गीतोंका नाम चैता है। जितनी पेशलता, मनोहरता तथा द्रावकता चैतामे उपलब्ध होती है, उतनी अन्य गीतोंमे नहीं। चैताका वर्ण्य विषय सम्भोग तथा विप्रलम्भ-श्रृंगारसे परिपूर्ण है।

चैता दो प्रकारका होता है—(१) झलकुटिया, (२) साधारण। झलकुटिया चैता उसे कहते है, जो सामूहिक रूपमे झाल 'कूटकर' (बजाकर) गाया जाता है। साधारण चैता वह है, जिसे व्यक्तिविशेष बिना किसी वाद्यकी सहायताके गाता है। झलकुटिया चैता जब सामूहिक रूपमे गाया जाने लगता है तब गवैये दो दलोंमे विभक्त हो जाते है। पहले दलके व्यक्ति गीतकी प्रथम पंक्तिको गायेगें तो दूसरे दलवाले उसके टेकको समवेत स्वरमें तारस्वरसे गायेंगे। इस प्रकार चैताके गानेका क्रम बहुत देरतक चलता रहता है। कभी-कभी गवैये भावावेशमे आकर घुटनोंके बल खड़े हो जाते है और 'आहो रामा' तथा 'हो रामा'की गगनभेदी ध्वनिसे समस्त वायुमण्डलको प्रतिध्वनित कर देते है।

चैताकी प्रायः प्रत्येक पंक्तिके प्रारम्भमे 'रामा' और अन्तमे 'हो रामा' उपलब्ध होता है। जैसे "रामा नदियाके तीरवा चनन गाछि बिरवा हो रामा"। इस गीतके गानेमे प्रथम क्रामिक आरोह होता है और अन्तमे अवरोह होता है। इसी आरोहावरोहके क्रमसे यह गीत गाया जाता है। चैता प्रेमके गीत है, अतः इनमे श्रृंगारके दोनों पक्षोंकी कहानी रागोंमे लिखी गयी है। इनमे कहीं सूर्योदयतक सोनेवाले किसी आलसी पतिके जगानेका उल्लेख मिलता है, तो कहीं पति-पत्नीके प्रणयकी झाँकी उपलब्ध होती है। कहीं यमुनामे जल भरते हुए किसी स्त्रीके 'मानिक' खोनेका वर्णन मिलता है, तो कहीं श्रीकृष्णके द्वारा गोपियोको छेड़नेका प्रसंग।

'चैता'को 'घाँटो' भी कहते है। इन गीतोंके रचयिता किसी लोककवि बुलाकीदासका उल्लेख बार-बार इनमें हुआ है। जैसे "दास बुलाकी चइत घाँटो गावे हो रामा, गाई गाई बिरहिन समुझावे हो रामा"। ये बुलाकीदास उत्तर-प्रदेशके बलिया जिलेके निवासी थे। इनकी कुटिया आज भी इस जिलेके रसड़ा गाँवके पास विद्यमान है। भोजपुरीके सन्त कवियोंने अनेक 'चैता'-गीतोंकी रचना की है।

मैथिलीमें इन गीतोंको 'चैतवार' कहते है, जिनमें वसन्तकी मस्ती और रंगीन भावनाओंका अनोखा सौन्दर्य अंकित है। इनमें एक अपूर्व लोच है जो अन्य लोकगीतोंमें उपलब्ध नहीं होता। —कृ० दे० उ०

चोर—दे० 'ताला-कुंजी'।

चोला—दे० 'जुलाहा'।

चौपई—मात्रिक सम छन्दका एक भेद। सम्भवतः 'प्राकृत-पैंगलम्'के चउपइया (दे०) नामक छन्दसे इसका सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है (१ : ९७)। भानुके अनुसार इस छन्दमें प्रत्येक चरण १५ मात्राओंका होता है और अन्तमे ग ल (ऽ।)का विधान है। भिखारीदासके 'छन्दार्णव-पिंगल'में भी इसका रूप मिलता है (पृ० २२)। हिन्दीमे इस छन्दका प्रयोग चन्द्र (पृ० रा०), सूर (सू० सा०), नन्ददास (रा० मं०, वि० मं० आदि), केशव (वी० च०)ने किया है। सूरके पदोंमें इसके पदोंका मिश्रण है—"नारद कह्यो अब पूछौ जाइ। बिनु पूछै नहि देहिं बताइ।" (सभा सं० : पद २२६)। इसी प्रकार नन्ददासने चौपइयोका बीचमे प्रयोग किया है—"तबकी कहि न परत कछु बात। इक-इक पलक कलप सम जात" (वि० मं०, पं० ३०)। सूदनने 'सुजान-चरित'मे जयकरी नामसे इस छन्दका प्रयोग किया है। इसका दूसरा नाम जयकरी प्रसिद्ध भी है। इस छन्दका उपयोग वर्णनात्मक स्थलोंमे अच्छा होता है।

चौपड़—चौपड़ खेलनेसे ज्ञान-क्रीडाका संकेतार्थ सिद्धों और सन्तोने लिया है। "करुणा पिहाड़ि खेलहु न अबल" (चर्यापद, १२)। "चौपड माही चौहटे अरध-उरध बाजार" (क० ग्र०)। —ध० वी० भा०

चौपाई—मात्रिक सम छन्दका भेद। प्राकृत तथा अपभ्रंशके १६ मात्राके वर्णनात्मक छन्दोके आधारपर विकसित हिन्दीका सर्वप्रिय और अपना छन्द। 'प्राकृतपैंगलम्'का चउपइया (दे०) १५ मात्राओंका भिन्न छन्द है। इसका विकास पादाकुलकके चौकलोंके नियमके शिथिल होनेसे सम्भव जान पड़ता है। भानुने चौपाईके १६ मात्राके चरणमें न तो चौकलोंका कोई क्रम माना है और न लघु-गुरुका। उन्होंने समके पीछे सम और विषमके पीछे विषम कलके प्रयोगको अच्छा माना है तथा अन्तमें जगण (।ऽ।) और तगण (ऽऽ।)को वर्जित माना है (छं० प्र०, पृ० ४९)। सम-समका प्रयोग—"गुरु-पद-रज-मृदु-मं-जुल-अं-जन"। विषम-विषम, सम-समका प्रयोग—"नित्य-भजिय-तजि-मन-कुटि-ला-ई"। विषम-विषम सम, विषम-विषम समका प्रयोग—"कहहु-राम-की-कथा-सुहा-ई"। दो विषम समके समान प्रयुक्त—"बंदौं राम-नाम-रघु-बरको"(भानुके छन्द० प्र०से)। तुलसीने इन नियमोंका 'रामचरितमानस'मे बहुत अच्छा निर्वाह किया है और उनके छन्द-प्रवाहका सौन्दर्य भी यही है। चन्द, जायसी, सुन्दर, सूर, नन्ददास तथा जोधराज आदिने इन नियमोंमे शिथिलता दिखलायी है। कभी-कभी १५ मात्राके चरणोंका प्रयोग मिलता है और कभी लघुगुरु (।ऽ)से अन्त किया गया है। यद्यपि १५ मात्राका चौपई (दे०) छन्द अलग है, परन्तु उसके अन्तमें ग ल (ऽ।) आवश्यक है। चरणके अन्तमें ल ग(।ऽ)का प्रयोग इस छन्दमें स्वतन्त्रतासे मिलता है। जायसीमें ऐसे अनेक छन्द है तथा नन्ददासने अपनी तीनो मंजरियोंमे ऐसे बहुत

है—१. संज्ञा और सर्वनामके बहुवचनका प्रत्यय-मन। २. कर्म-सम्प्रदान कारकके परसर्ग कू-के विकल्पमे ल्। ३. करण-के परसर्ग से-के विकल्पमे के। ४. सम्बन्ध परसर्गके लिंग-भेदसे बदलता नहीं। ५. निश्चयात्मक प्रत्यय ह और मर्यादित प्रत्यय च (अवधी-इ)। ६. सर्वनाम अवधीमे भिन्न और भोजपुरीसे मिलते हैं। —बा० रा० स०

छप्पय–मात्रिक विषम छन्द। 'प्राकृतपैंगलम्' (१ : १०५)-मे इसका लक्षण और इसके भेद दिये गये हैं। छप्पय भी संयुक्त छन्द है, जो रोला (११+१३) चार पाद और उल्लाला (१५+१३)के दो पादके योगसे बनता है। उल्लालाके दो भेदोंके अनुसार छप्पयके पाँचवें और छठे पादमें २६ या २८ मात्राएँ हो सकती है। प्रधान रूपसे २८ मात्राओवाले भेदको कवियोंने अपनाया है। भानुने इसके ७१ भेदोंका उल्लेख किया है।

छप्पय अपभ्रंश और हिन्दीमे समान रूपसे प्रिय रहा है। इसका प्रयोग हिन्दीके अनेक कवियोने किया है। चन्द (पृ० रा०), तुलसी (कवितावली), केशव (रा० च०), नाभादास (भ० मा०), भूषण (शि० रा० भू०), मतिराम (ल० ल०), सूदन (सु० च०), पद्माकर (प्र० वि०), तथा जोधराज (ह० रा०)ने इस छन्दका प्रयोग किया है। इस छन्दका प्रयोग वीर तथा समान रसोंमे चन्दसे लेकर पद्माकरतकने किया है। इस छन्दके प्रारम्भमे प्रयुक्त रोलामे गतिका चढ़ाव है और अन्तमें उल्लालामें उतार है। इसी कारण युद्ध आदिके वर्णनमें भावोके उतार-चढावका इसमें अच्छा वर्णन किया जाता है। पर नाभादास, तुलसीदास तथा हरिश्चन्द्रने भक्ति-भावनाके लिए इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा०—"डिगति उर्वि अति गुर्वि, सर्व पब्बे समुद्रसर। ब्याल बधिर तेहि काल, बिकल दिगपाल चराचर। दिग्गयन्द लरखरत, परत दसकण्ठ मुक्खभर। सुर बिमान हिम भानु, भानु संघटित परस्पर। चौंकि बिरंचि शंकर सहित, कोल कमठ अहि कलमल्यौ। ब्रह्मण्ड खण्ड कियो चण्ड धुनि, जबहि राम शिव धनु दल्यौ॥" (कविता० : बाल० ११)। —रा० सिं० तो०

छल–एक नया संचारी भाव। सम्भवतः भानुदत्तने अपनी 'रसतरंगिणी'में इस संचारी भावकी सर्वप्रथम चर्चा की है (५, पृ० ११०)। अवमान, विपरीत पक्ष एवं कुत्सित चेष्टा इसके विभाव हैं वक्रोक्ति, निरन्तर स्मित और चुपके-चुपके देखना एवं अपने विकारोंको छिपाना इसके अनुभाव है। स्पष्ट है कि यह संस्कृतके अन्य काव्यशास्त्रियों द्वारा विवेचित अवहित्था संचारीसे विशेष भिन्न नहीं। 'रस-तरंगिणी'में शृंगार एवं संग्राममें 'छल'के भावके उदाहरण दिये गये है। कदाचित् इनका अनुसरण कर हिन्दीके कवि देवने इस संचारीका प्रचार किया। उनके 'भावविलास'मे निम्नलिखित उदाहरण मिलता है—"स्याम सयाने कहावत हैं कहौ आजुको काहि सयानु है दीनों। देव कहै दुरि टेरी कुटीरमें आपनो बैर बधू उहि लीनो। चूमि गयी मुँह औचक ही पट्टु लै गयी पै इन वाहि न चीन्हो। छैल भले छिनहीमें छले दिनहीमें छबीली भलो छल कीन्हो" (भाव० : संचारी)। अतः देवके अनुसार अपने अवमानका बदला लेना छल हुआ। यदि हिन्दी काव्यशास्त्रमें इसका विकास इस प्रकार हुआ तो समझना चाहिये कि छल कोई संचारी भाव नहीं, प्रस्तुत सुविचारित योजना है। वैसे भी जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है, यदि भानुदत्तके अनुसार ही इसकी परिभाषा ली जाय तो यह अवहित्थाके अन्तर्गत है, इसको स्वतन्त्र संचारी मानना आवश्यक नहीं। —ज० कि० व०

छायानाट्य–जेम्स जे० हेजने पुत्तलिका-नाट्यमे प्रयुक्त पुत्तलिकाओंके १८ प्रचलित भेद माने है, जिनमें प्रमुख चार हैं—स्ट्रिंग पपेट (सूत्रचालित पुत्तलिका), हैंड पपेट (हस्तचालित पुत्तलिका), शेडो फिगर (छायाकृति) तथा रॉड पपेट (दण्डचालित पुत्तलिका)। छायाकृति द्वारा अभिनीत पुत्तलिका-नाट्यको छायानाट्य कहते हैं। ये छायानाट्य चीनमे ईसासे पूर्व प्रचलित थे। जार्ज जैकबकी 'गोशीइने डेश शैटेन थिएटर्स' नामक पुस्तक (१९२५में प्रकाशित)के अनुसार छायानाट्योंका प्रचार चीनसे भारतमे, भारतमे फारस, अरेबिया तथा अफ्रीका एवं यूरोपीय देशोंमें हुआ। चीनमे इन छायाओंको पारदर्शी रंगोंके द्वारा रंगीन बना दिया जाता था, किन्तु यूरोपमे पहुँचते-पहुँचते इस युक्तिका लोप हो गया था। १९वीं शताब्दीके प्रारम्भमे छायानाट्य यूरोपमे विशेष रूपसे लोकप्रिय होने लगे। मुख्यतः पुत्तलिका-नाट्यशालाओंके पर्दोंपर ये छायानाट्य बहुत बडी संख्यामे दिखाये जाने लगे। चित्रपटोंके आविष्कारके कुछ काल पूर्व (१८८०मे १८९०के बीच) इन छायानाट्यों-की बहुत अधिक धूम थी। मैजिक लैण्टर्नकी भाँति ही छायानाट्योने भी चलचित्रोंके आविष्कारको प्रेरणा दी है। वास्तवमे चलचित्रोंके आविष्कारके सहस्र वर्ष पूर्व ही इस प्रकारके छायापटों, ध्वनि, रंग एवं चल आकृतियोंका संयोग प्रचलित हो चुका था। चलचित्रोंके आविष्कारसे छायानाट्योका प्रचार बहुत कम अवश्य हो गया है, किन्तु अब भी यूरोपमे अनेक छायानाट्य-मण्डलियाँ जनतामें लोकप्रिय है।

भारतमे छायानाट्योंकी बड़ी उन्नति हुई थी। ये छायानाट्य आधुनिक चलचित्रोंके मानों मूल रूप थे। उनमे चमड़ेकी कठपुतलियाँ बनाकर प्रकाशके आगे साधारण कठपुतलियोंकी भाँति नचाते थे और उनकी छाया आगे पड़े हुए पर्देपर पड़ती थी। दर्शक-समूह पर्देपर पड़नेवाली उसी छायाके रूपमें नाटक देखता था। इस प्रकार छोटी-छोटी पुतलियोंकी सहायतासे पर्देपर सजीव मनुष्योंकी आकृतियाँ दिखायी जाती थीं। ऐसे छायानाट्यों-के तो रूपक भी अलग बनते थे, जिनके मुख्य आधार प्रायः 'रामायण' और 'महाभारत'के आख्यान हुआ करते थे। ऐसे नाटकोंमें सुभटकृत 'दूतांगद', भवभूतिकृत 'महावीरचरित', राजशेखरकृत 'बालरामायण' और जयदेवकृत 'प्रसन्नराघव' मुख्य है। भारतमे, विशेषतः दक्षिणभारतमे, ऐसे नाटक सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दीतक खेले जाते थे। जावा द्वीपमें ऐसे छायानाट्योंका प्रचार बहुत दिन पहले भारतकी देखा-देखी ही हुआ था। पिशलका तो यहाँतक कथन है कि मध्ययुगमे यूरोपमे कठपुतलियो आदिका जो नाम हुआ करता था, वह भारतका ही अनुकरण था। उनका यह भी मत है कि अंग्रेजी नाटकोंमें जो 'क्लाउन' या मसखरे

होते हैं, वे भी भारतीय नाटकोंके विदूषकोंके ही अनुकरणपर रखे गये हैं, क्योंकि विदूषकोंको सबसे अधिक प्रधानता भारतीय नाटकोंमें ही पायी जाती है। —श्या० मो० श्री०

छायावाद—छायावाद आधुनिक हिन्दी कविताकी उस धाराका नाम है, जो १९१८ ई०के आसपास द्विवेदी-युगीन (दे० 'द्विवेदी-युग') नीरस, उपदेशात्मक, इतिवृत्तात्मक और स्थूल आदर्शवादी काव्यधाराके बीचसे प्रमुखतः रीतिकालीन काव्य-प्रवृत्तियोंके विरुद्ध विद्रोहके रूपमें प्रवाहित हुई। यह नयी काव्यधारा अंग्रेजीके रोमाण्टिक कवियों तथा बंगलाके कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुरकी काव्यधाराके ढंगकी या उससे प्रभावित थी। रामचन्द्र शुक्लके मतानुसार "पुराने ईसाई सन्तोंके छायाभास (phantasmata) तथा यूरोपीय काव्यक्षेत्रमें प्रवर्तित आध्यात्मिक प्रतीकवाद-(symbolism)के अनुकरणपर रची जानेके कारण बंगालमें ऐसी कविताएँ छायावाद कही जाने लगी थीं", अतः हिन्दीमें भी इस तरहकी कविताओंका नाम छायावाद चल पड़ा (हि० सा० इ०, पृ० ६१५, आठवाँ संस्करण)। हजारीप्रसाद द्विवेदीका कहना है कि बँगलामें 'छायावाद' नाम कभी चला ही नहीं (हि० सा० उ० और वि०, पृ० ४६१)। अस्तु, छायावाद नाम पड़नेका चाहे जो भी कारण रहा हो, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि १९२० ई०के आसपास ही इस नवीन काव्यधाराका 'छायावाद' नाम प्रचलित हो गया था, जैसा कि 'श्रीशारदा'में १९२० ई०के चार अंकोंमें प्रकाशित मुकुटधर पाण्डेयके 'हिन्दीमें छायावाद' शीर्षक निबन्ध तथा उसी शीर्षकसे जून, १९२१ ई०की 'सरस्वती'में प्रकाशित सुशीलकुमारके व्यंग्यात्मक निबन्धसे स्पष्ट है।

उपर्युक्त निबन्धोंसे यह प्रतीत होता है कि उस समय छायावाद शब्दका प्रयोग अंग्रेजीके मिस्टिसिज्म-(mysticism)के अर्थमें होता था। १९२७ ई०के मई मासकी सरस्वतीमें महावीरप्रसाद द्विवेदीने 'सुकवि किंकर' उपनामसे एक लेख लिखा था, जिसमें उन्होंने रविबाबूकी कविताको मिस्टिक या रहस्यवादी माना था और हिन्दीमें प्रचलित छायावादपर छींटाकशी करते हुए लिखा था कि 'छायावादसे लोगोंका क्या मतलब है, कुछ समझमें नहीं आता। शायद उनका मतलब हो कि किसी कविताके भावोंकी छाया यदि कहीं अन्यत्र जाकर पड़े तो उसे छायावादी कविता कहना चाहिये।' इससे स्पष्ट है कि महावीरप्रसाद द्विवेदी छायावादको बँगलाकी रहस्यवादी कविताओंका अनुकरण या छायानुवाद मानते थे। १९२७ ई०में ही कृष्णदेवप्रसाद गौड़ने महावीरप्रसाद द्विवेदीके उक्त निबन्धके उत्तरमें 'छायावादकी छानबीन' शीर्षक एक लेख लिखा। उस लेखमें भी 'छायावाद' शब्दका प्रयोग रहस्यवाद (mysticism)के अर्थमें ही हुआ था (सा० प्र०: कृष्णदेवप्रसाद गौड, पृ० ३४)। इस तरह प्रारम्भमें अधिकतर विद्वानोंका यही मत था कि रहस्यवाद और छायावाद एक ही हैं। बादमें रहस्यवाद और छायावादमें भेद किया जाने लगा और रहस्यवादको मिस्टिसिज्म और छायावादको रोमाण्टिसिज्म (romanticism)का द्योतक माना जाने लगा।

रामचन्द्र शुक्ल छायावादको स्वच्छन्दतावादसे भिन्न मानते थे। उनके अनुसार छायावादके प्रारम्भके पूर्व मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय आदि कई कवि खड़ी-बोली-काव्यको अधिक कल्पनामय, चित्रमय और अन्तर्भाव-व्यंजक रूप-रंग देनेमें प्रवृत्त हुए थे और वही स्वाभाविक स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा थी। छायावादको वे दो अर्थोंमें ग्रहण करते थे, 'एक तो रहस्यवादके सीमित अर्थमें और दूसरे प्रतीकवाद या चित्र-भाषावादकी अभिव्यंजना-प्रणाली या काव्यशैलीके व्यापक अर्थमें। उनका कहना है कि "हिन्दीमें छायावाद शब्दका जो व्यापक अर्थ रहस्यवादी रचनाओंके अतिरिक्त और प्रकारकी रचनाओंके सम्बन्धमें भी ग्रहण हुआ, वह इसी प्रतीकशैलीके अर्थमें। छायावादका सामान्यतः अर्थ हुआ प्रस्तुतके स्थानपर उसकी व्यंजना करनेवाली छायाके रूपमें अप्रस्तुतका कथन। इस शैलीके भीतर किसी वस्तु या विषयका वर्णन किया जा सकता है" (हि० सा० इ०, पृ० ६६९, आठवाँ संस्करण)। इस प्रकार रामचन्द्र शुक्ल स्वच्छन्दतावादको छायावादसे भिन्न और रहस्यवादको छायावादका पर्यायवाची अथवा उसीमें अन्तर्भुक्त मानते थे। विश्वनाथप्रसाद मिश्रने एक कदम आगे बढ़कर स्वच्छन्दतावादको सामाजिक रूढ़ियोंसे विद्रोह, रहस्यवादको सांसारिक जीवनसे विद्रोह और छायावादको अभिव्यंजनावाद मानकर पूर्वप्रचलित काव्यशैलीके विद्रोहकी अभिव्यक्ति माना, परन्तु यह भी स्वीकार किया कि "आगे चलकर छायावाद नाम इतना व्यापक हुआ कि नये रूप-रंगकी कोई रचना 'छायावाद'में ही अन्तर्भुक्त हो गयी।" तात्पर्य यह कि अभिव्यंजनाका नूतन विधान छायावादका मुख्य लक्षण रहा है" (हि० सा० सा०, पृ० ५९)। इस तरह विश्वनाथप्रसाद मिश्र भी रामचन्द्र शुक्लकी तरह स्वच्छन्दतावाद और रहस्यवादको विषयवस्तु-व्यंजक और छायावादको अभिव्यंजना-पद्धति-व्यंजक संज्ञाएँ मानते हैं।

किन्तु इन सभी विद्वानोंने इस बातकी ओर ध्यान नहीं दिया कि विषयवस्तु और अभिव्यंजना-पद्धति एक-दूसरेसे अविभाज्य और अन्योन्याश्रित हैं। इस दृष्टिसे छायावाद केवल अभिव्यंजनाकी विशेष पद्धति नहीं हो सकता। उसके वैविध्यपूर्ण विषयवस्तुमें भी कोई ऐसा तत्त्व अवश्य होना चाहिये, जिसके कारण कविको उस पद्धति-विशेषका सहारा लेना पड़ा होगा। इसी बातको ध्यानमें रखकर जयशंकर 'प्रसाद'ने छायावादकी यह परिभाषा दी है—'जब वेदनाके आधारपर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी तब हिन्दीमें उसे छायावाद नामसे अभिहित किया गया। रीतिकालीन प्रचलित परम्परासे, जिसमें बाह्य वर्णनकी प्रधानता थी, इस ढंगकी कविताओंमें भिन्न प्रकारके भावोंकी नये ढंगसे अभिव्यक्ति हुई। ये नवीन भाव आन्तरिक स्पर्शसे पुलकित थे। आभ्यन्तर सूक्ष्मभावोंकी प्रेरणा बाह्य स्थूल आकारमें भी कुछ विचित्रता उत्पन्न करती है। सूक्ष्म आभ्यन्तर भावोंके व्यवहारमें प्रचलित पद-योजना असफल रही। उनके लिए नवीन शैली, नया पदविन्यास आवश्यक था। हिन्दीमें नवीन शब्दोंकी भंगिमा स्पृहणीय आभ्यन्तर वर्णनके लिए प्रयुक्त

होने लगी। शब्द-विन्यासमे ऐसा पानी चढा कि उसमें एक तडप उत्पन्न करके सूक्ष्म अभिव्यक्तिका प्रयास किया गया" (काव्यकला तथा अन्य निबन्ध, पृ० १४३)। यह परिभाषा छायावादका बहुत-कुछ सही स्वरूप उपस्थित करती है और यह स्पष्ट कर देती है कि छायावाद केवल अभिव्यंजनाकी विशेष प्रणाली या प्रतीक-पद्धति नहीं है, बल्कि उसमे ऐसे सूक्ष्म और नवीन भावोंकी योजना भी हुई है, जिनकी अभिव्यक्ति इस विशेष शैलीके अतिरिक्त अन्य किसी पद्धतिसे नहीं हो सकती थी। नवीन आभ्यन्तर अनुभूतिको व्यक्त करनेके लिए नवीन अभिव्यंजना-शैली आवश्यक थी और इसी शैलीके काव्यका नाम छायावाद पडा। छायावाद नामकी सार्थकता बताने तथा उसे विदेशी काव्य प्रवृत्तिका अनुकरण नहीं, बल्कि भारतीय काव्य-परम्पराके अनुरूप सिद्ध करनेके लिए जयशंकर 'प्रसाद'ने लिखा है—"छाया भारतीय दृष्टिसे अनुभूति और अभिव्यक्तिकी भंगिमापर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रताके साथ स्वानुभूतिकी विवृति छायावादकी विशेषताएँ हैं। अपने भीतरसे मोतीके पानीकी तरह आन्तरस्पर्श करके भावसमर्पण करनेवाली अभिव्यक्ति-छाया कान्तिमयी होती है"। इस कथनसे छायावादकी तीन प्रधान विशेषताओं—स्वानुभूतिकी विवृति या आत्मव्यंजकता, सौन्दर्यप्रेम और अभिव्यक्तिकी भगिमा या सांकेतिकताका उल्लेख हुआ है। किन्तु छायावादकी अन्य विशेषताओका उल्लेख न करनेसे 'प्रसाद'की परिभाषामे अतिव्याप्ति दोष आ गया है, क्योंकि उसके अनुसार आधुनिक प्रयोगवादी रचनाओं-मेंसे भी बहुत-सी छायावादी मानी जा सकती है।

नगेन्द्र और नन्ददुलारे वाजपेयीने छायावादकी जो परिभाषाएँ बतायी है, उनमें छायावादकी कुछ अन्य तात्त्विक विशेषताओका समावेश हुआ है। नगेन्द्रके अनुसार "छायावाद स्थूलके विरुद्ध सूक्ष्मका विद्रोह" है। छायावाद-में विद्रोहकी जो व्यापक प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है, उसकी ओर विद्वानोंका ध्यान नहीं गया था। किन्तु उस विद्रोहका स्वरूप क्या है, इस बातका उल्लेख नगेन्द्रने नहीं किया है, जिससे उनकी परिभाषामें अस्पष्टताका दोष है। वाजपेयीजी छायावादको रहस्यवाद अथवा आध्यात्मिक काव्यसे भिन्न मानते है। उनके अनुसार "नयी छायावादी काव्यधाराका भी एक आध्यात्मिक पक्ष है, किन्तु उसकी मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है। उसे हम बीसवीं शताब्दीकी मानवीय प्रगतिकी प्रतिक्रिया भी कह सकते है।... उसकी एक नवीन और स्वतन्त्र काव्यशैली बन चुकी है। आधुनिक परिवर्तनशील समाजव्यवस्था और विचार-जगत्में छायावाद भारतीय आध्यात्मिकताकी, नवीन परिस्थितिके अनुरूप स्थापना करता है।... छायावादी काव्य प्राकृतिक सौन्दर्य और सामयिक जीवन-परिस्थितियोंसे ही मुख्यतः अनुप्राणित है।... छायावाद मानव-जीवन-सौन्दर्य और प्रकृतिको आत्माका अभिन्न स्वरूप मानता है।... नवीनकाव्य (छायावाद)मे समस्त मानव-अनुभूतियोकी व्यापकता पूरा स्थान पा सकी।" (आ० सा०, पृ० ३१९-२०)। नन्ददुलारे वाजपेयीकी इस परिभाषामें छायावादकी प्रायः सभी मौलिक विशेषताएँ समाविष्ट हो गयी हैं। यदि छायावाद केवल आध्यात्मिक-काव्य होता तो उसे अवश्य रहस्यवादका पर्याय माना जा सकता था। उसी तरह यदि वह केवल प्राचीन रूढियोंके विरुद्ध विद्रोहकी अभिव्यक्ति होता तो उसे स्वच्छन्दतावादसे अभिन्न माना जा सकता था, किन्तु उसकी मूल प्रवृत्ति प्रतिक्रियात्मक नहीं, बल्कि रचनात्मक है, जो भारतीय संस्कृतिकी जीवन्त परम्परा, राष्ट्रीयताकी सशक्त आकांक्षा और नवीन मानवतावादी आदर्शोंकी प्रेरणासे अनुप्राणित है। अतः छायावाद रहस्यवाद, अध्यात्मवाद, स्वच्छन्दतावाद, मानवतावाद, राष्ट्रीयता और सूक्ष्म सौन्दर्यबोध आदि विविध प्रवृत्तियोंका समग्र रूप है, अर्थात् वह उस जागरण-युगकी प्रबुद्ध आत्मा (या नवीन आध्यात्मिक चेतना)की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है। इस दृष्टिसे नन्ददुलारे वाजपेयी-की परिभाषा अन्य लोगोंकी परिभाषाओंसे अधिक स्पष्ट, पूर्ण और समीचीन है। यहाँ आध्यात्मिकताका अर्थ धार्मिकता, अलौकिकता या दार्शनिकता नहीं, बल्कि स्थूल लौकिकता और जडताके भीतर निहित सूक्ष्म चेतनता है, जिसे 'प्रसाद'ने 'वेदना' कहा है। इसी व्यापक वेदना और नवीन आध्यात्मिक चेतनाकी सूक्ष्म अनुभूतियोकी नवीन भंगिमामयी शैलीमे जो अभिव्यक्ति हुई, उसीका नाम 'छायावाद' पडा।

उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि रहस्यवाद (दे०) छायावादका एक लघु अंशमात्र है, दोनो एक नहीं है, अर्थात् सभी रहस्यवादी कविताएँ छायावादी नहीं होतीं और न सभी छायावादी कविताएँ रहस्यवादी ही होती है। उसी तरह स्वच्छन्दतावाद (दे०)की प्रवृत्ति छायावादमे अवश्य है, पर छायावाद स्वच्छन्दतावाद नहीं है, वह उससे और भी आगे बढा हुआ तथा अन्य कई प्रवृत्तियोंका समग्र रूप है। स्वच्छन्दतावाद या रोमाण्टिसिज्म यूरोपमें अठारहवीं शताब्दीके अन्त और उन्नीसवीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें उत्पन्न और विकसित हुआ और उसके मूलमे यूरोपकी तत्कालीन आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियोकी प्रतिक्रियाका ही प्रमुख हाथ था। इसके विपरीत छायावाद उसके सौ वर्ष बाद भारतीय भूमि-मे भिन्न आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियोके बीच विकसित हुआ। यद्यपि दोनोंमे ही व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, स्थूल बन्धनो और रूढ़ियोके विरुद्ध विद्रोह, सौन्दर्य-प्रेम और आत्माभिव्यंजनाकी प्रवृत्तियाँ समान रूप-मे पायी जाती है, पर दोनोंके बीच देश और कालकी जो दूरी है, उसमे दोनोके स्वरूपमें पर्याप्त अन्तर भी है। अतः छायावाद शब्द रोमाण्टिसिज्मका हिन्दी अनुवाद नहीं है और न वह यूरोपीय रोमाण्टिक कविताका अन्धानुकरण है। वह तो भारतीय संस्कृतिसे अनुप्राणित, भारतीय परि-स्थितियोंसे अनुप्रेरित और प्रथम महायुद्धके बादके नवीन मानवतावादी आदर्शवादपर आधारित हिन्दीकी मौलिक काव्यधारा है। यूरोपीय रोमाण्टिक कविताका विद्रोह केवल सामन्तवाद और उसका समर्थन करनेवाली प्रवृत्तियों और रूढ़ियोके विरुद्ध था, किन्तु छायावादका विद्रोह सामन्त-वादके साथ विदेशी साम्राज्यवादके विरुद्ध भी था। यूरोपमे

रोमाण्टिक कविताके समयतक पूँजीवादका जितना विकास हो चुका था, उतना भारतीय पूँजीवादका द्वितीय महायुद्धके बादतक भी नहीं हुआ था। यूरोपीय पूँजीवाद उपनिवेशोंपर आधारित था और भारतीय पूँजीवाद स्वयं साम्राज्यवादके बन्धनोंमें जकड़ा था। इस कारण भारतीय व्यक्ति-स्वतान्त्र्य-की भावनामें यूरोपीय व्यक्ति-स्वातन्त्र्य जैसी शक्ति, वेग और तीव्रता नहीं थी। इससे छायावादी कविता उस अर्थमें क्रान्तिकारी कविता नहीं थी, जिस अर्थमें यूरोपीय रोमाण्टिक कविता थी। दोनोंके विद्रोहके स्वरूपमें अन्तर होनेसे उनके काव्यके स्वरूपमें भी पर्याप्त अन्तर है।

वस्तुतः छायावाद बीसवीं शताब्दीके प्रथम दो दशकोंमें भारतके नवजागरण (रेनेसाँ)का काव्यात्मक रूपान्तर है। विकासमान और संघर्षशील पूँजीवाद तथा पाश्चात्य संस्कृति, शिक्षा और साहित्यके निकट सम्पर्क या प्रभावने भारतमें व्यक्तित्ववादको जन्म दिया, जिसके परिणामस्वरूप हिन्दी कवितामें छायावादके रूपमें वैयक्तिक अनुभूतियों और व्यक्तिवादी प्रवृत्तियोंकी सीधी अभिव्यक्ति होने लगी। इस कारण छायावादी काव्यका सर्वप्रथम लक्षण यही है कि वह आत्माभिव्यंजक या विषय-प्रधान होता है। आत्माभिव्यं-जनामें कविकी कल्पनाके साथ उसकी अनुभूतियों और चिन्तनकी ही सर्वाधिक अभिव्यक्ति होती है, बाह्यार्थ-निरूपण और वस्तुवर्णनका उसमें अभाव-सा होता है। छायावादमें स्वच्छन्दतावादी विद्रोहकी भावनाका भी बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है, जिससे उसमें सामाजिक बन्धनोंसे ऊबकर प्रकृति-के अविकृत और रहस्यमय सौन्दर्यलोकमें रमनेकी प्रवृत्ति बहुत अधिक दिखाई पड़ती है। वर्तमान परिस्थितियोंके वैषम्यसे असन्तुष्ट स्वच्छन्दतावादी कविको प्रकृतिमें ही नहीं, अतीत, भविष्य, कल्पना तथा अलौकिकता या आध्यात्मि-कताके स्वप्नलोकमें भी रमनेके लिए मनोनुकूल भूमि मिलती है। इस प्रकार स्वच्छन्दतावादी काव्यमें यथार्थवाद-का केवल निषेधात्मक पक्ष ही दिखाई पड़ता है, विधेयात्मक या रचनात्मक पक्ष नहीं। उसका विधेयात्मक पक्ष आदर्श-वादी या मानवतावादी भूमिपर आधारित होता है, जिसकी कल्पना और आकांक्षा तो की जा सकती है, पर जो कभी यथार्थकी भूमिपर उतारा नहीं जा सकता। जिस पूँजीवादी व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी भावनासे स्वच्छन्दतावादका उदय हुआ था, वह स्वयं इसी प्रकारका भ्रम था, क्योंकि पूँजीवाद व्यक्तिको स्वतन्त्र बनाकर भी उसे नये आर्थिक बन्धनोंमें जकड़ देता है, जिससे व्यक्तिस्वातन्त्र्यका स्वप्न कभी यथार्थ नहीं बन पाता। अतः छायावादपर अतिशय काल्पनिकता और यथार्थ जीवनसे पलायनका जो दोषारोपण किया जाता है, वह पूँजीवादसे उत्पन्न व्यक्तिवादी स्वच्छन्दता-वादकी देन है।

उपर्युक्त विवेचनके निष्कर्षके रूपमें कहा जा सकता है कि स्वच्छन्दतावादकी निम्नलिखित विशेषताएँ छायावादमें पायी जाती हैं—१. आत्मानुभूतिकी अभिव्यक्ति, २. कल्पनाकी अतिशयता, ३. सौन्दर्यके प्रति अत्यधिक आक-र्षण, ४. विस्मयकी भावना, ५. सर्वचेतनावाद (panthe-ism) या एक ही सूक्ष्म चेतनाका समस्त विश्वमें दर्शन, ६. सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और साहित्यिक बन्धनों और रूढियोंसे विद्रोह, ७. उन्मुक्त प्रेमकी प्रवृत्ति (लौकिक या आध्यात्मिक)।

छायावादकी अन्य प्रवृत्तियाँ जो पूँजीवादी व्यक्तिवादके कारण नहीं, बल्कि अन्य कारणोंसे उद्भूत हुई हैं, वे हैं—१. भारतीय दार्शनिक और आध्यात्मिक चिन्तनकी विविध परम्पराओंकी अभिव्यक्ति, २. आधुनिक-युगीन भारतीय सांस्कृतिक नवजागरणके विविध पक्षों—विवेकानन्द और रामतीर्थकी अद्वैतमूलक भक्ति-साधना, गान्धीवादी मानवता-वाद, रवीन्द्रनाथ ठाकुरका विश्वबन्धुत्ववाद आदिकी काव्या-त्मक अभिव्यक्ति, ३. राष्ट्रीयताकी भावना और विदेशी शासनके विरुद्ध विद्रोह।

छायावाद-युगको दो कालोंमें विभाजित किया जा सकता है। १९१८ ई०से १९३० ई०तकका काल उसका पूर्वार्द्ध है, जिसमें छायावाद विकासोन्मुख था और उसमें व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और विद्रोहकी प्रवृत्ति अत्यन्त शक्तिमती, तीव्र, आशामयी और संघटित थी। १९३० ई०से १९४२ ई०-का काल उसका उत्तरार्द्ध है, जिसमें छायावादकी शक्ति बिखरने लगी और वह आदर्शके स्वप्नलोकको छोड़कर यथार्थकी कठोर भूमिपर उतरता दिखाई पड़ा। छायावाद जिस व्यक्ति-स्वातन्त्र्यकी भावनासे उत्पन्न हुआ था, वह एक भ्रम था। भ्रम भी कुछ कालतक शक्तिका स्रोत बना रह सकता है, पर जब वह टूटता है तो उसकी सारी शक्ति बिखर जाती है। १९२८-३० ई०के आसपास विश्वव्यापी मन्दी, भारतमें फैली बेकारी, स्वतन्त्रता-आन्दोलनकी अस-फलता और यूरोपीय पूँजीवादकी तानाशाहीमें परिणति देखकर भारतीय मध्यवर्गका व्यक्ति-स्वातन्त्र्यका भ्रम भी टूटने लगा। फलतः छायावादी कविकी विद्रोही भावना भी बिखरने लगी और वह स्वप्नलोकके शीशमहल (ivory-tower)से निकलकर यथार्थ जीवनकी समस्याओंका सामना करने लगी। इस प्रक्रियामें छायावादी काव्य दो धाराओंमें विभक्त हो गया, पहली धारा सामाजिकताकी थी और दूसरी घोर वैयक्तिकताकी। स्वप्न टूटनेपर या तो यथार्थका ज्ञान होनेसे नयी शक्ति आती है या घोर नियतिवाद, निराशा-वाद, अहंवाद, अराजकतावाद आदि नितान्त वैयक्तिक अथवा असामाजिक प्रवृत्तियोंका जन्म होता है। छायावाद-युगके उत्तरार्द्धमें पहली प्रवृत्ति सुमित्रानन्दन पन्त,'दिनकर', 'निराला', केदारनाथ अग्रवाल आदिकी कविताओंमें और दूसरी प्रवृत्ति 'बच्चन', नरेन्द्र शर्मा, 'अंचल', भगवतीचरण वर्मा आदि कवियोंकी कविताओंमें मिलती है। यह छाया-वादके लिए संक्रान्तिका काल था, जिसमें वह प्रगतिवाद और प्रयोगवादके नये स्वरूपमें रूपान्तरित हो रहा था, फिर भी उसकी मूल भावना और काव्य-शैली छायावादी ही थी। अतः उसे भी छायावादके अन्तर्गत ही माना जाता है। इस कालकी प्रमुख विशेषताएँ हैं—१. सामाजिक या यथार्थोन्मुख आदर्शवाद, २. छायावादी आदर्शवादकी प्रतिक्रिया और निजी सुख-दुःखकी सीधी अभिव्यक्ति, ३. मस्ती और मौजकी प्रवृत्ति, ४. निराशावाद, ५. अहंवाद, ६. ऐन्द्रियता और मधुचर्या (दे० छायावाद-युग)।

[सहायक ग्रन्थ—छायावाद युग : शम्भूनाथ सिंह; छायावादका पतन : देवराज।] —शं० ना० सिं०

छायावाद-युग—छायावादके जन्मके सम्बन्धमें कई मत प्रचलित हैं। रामचन्द्र शुक्लका मन्तव्य है, "हिन्दी कविताकी नयी धारा (छायावाद)का प्रवर्तक इन्हींको—विशेषतः मैथिलीशरणगुप्त और मुकुटधर पाण्डेयको समझना चाहिये", अर्थात् शुक्लजीके अनुसार छायावादका जन्म-काल ई० सन् १९०५के लगभग माना जाना चाहिये। परन्तु इस सम्बन्धमें अनेक विद्वानोंको आपत्ति है। इलाचन्द्र जोशी तथा शिवनाथ, शुक्लजीके इस मतका खण्डन करते हैं। ये छायावादका प्रारम्भ ई० सन् १९१३-१४के लगभग मानते हुए जयशंकर 'प्रसाद'को छायावादका जनक मानते हैं। इलाचन्द्र जोशी लिखते हैं, 'छायावादकी उत्पत्ति और विकासके सम्बन्धमें आचार्य रामचन्द्र शुक्लका वक्तव्य एकदम भ्रामक, निर्मूल और मनगढन्त है।…'प्रसाद'जी अविवादास्पद रूपमें हिन्दीके सर्वप्रथम छायावादी कवि ठहरते हैं। सन् १९१३-१४के आसपास 'इन्दु'में प्रतिमास उनकी जिस ढंगकी कविताएँ निकलती थीं (जो बादमें 'कानन-कुसुम'के नामसे पुस्तकाकार प्रकाशित हुईं), वे निश्चय रूपसे तत्कालीन हिन्दी काव्य-क्षेत्रमें युग-विवर्तनकी सूचक थीं"। शिवनाथ भी इसी मतके पोषक हैं—"मैं यों कहूँ कि आचार्य शुक्ल जहाँसे नवीन काव्यकी भारतीय पद्धतिका प्रवर्तन मानते हैं, उसके पहलेसे ही 'प्रसाद' नवीनताका प्रारम्भ कर चुके थे। छायावादके प्रारम्भकर्ता 'प्रसाद' हैं…"।

कुछ लोग 'भारतीय आत्मा' (माखनलाल चतुर्वेदी)को छायावादके प्रवर्तनका श्रेय देना चाहते हैं। इस मतके समर्थक हैं, विनयमोहन शर्मा एवं प्रभाकर माचवे। इन लोगोंका आग्रह है कि छायावादका प्रारम्भ ई० सन् १९१३-से अवश्य हुआ, परन्तु छायावादके प्रारम्भकर्ता जयशंकर 'प्रसाद' न होकर माखनलाल चतुर्वेदी हैं।

नन्ददुलारे वाजपेयीका दूसरा ही मत है। सुमित्रानन्दन पन्तको इसका श्रेय देते हुए आप लिखते हैं—"साहित्यिक दृष्टिसे छायावादी काव्यशैलीका वास्तविक अभ्युदय सन् १९२०के पूर्व-पश्चात् सुमित्रानन्दन पन्तकी 'उच्छ्वास' नामकी काव्य-पुस्तिकाके साथ माना जा सकता है"।

इस मत-वैभिन्यके पर्याप्त कारण हैं। द्विवेदीयुगकी कविताकी भाषा ब्रजभाषा थी। खडीबोलीमें कविताका सुनिश्चित एवं क्रमिक प्रवाह लगभग सन् १९०४ ई०से देखा जाता है और छायावादका प्रारम्भ-काल यदि १९१३-१४ माना जाय तो छायावाद एवं ब्रज-काव्यका मध्यकाल दस-बारह वर्षोंसे अधिक नहीं ठहरता। अस्तु, सन् १९१३-१४ ई० और १९०३-४के बीच यदि कुछ समता या अधिक निकटता दीख पडे तो कोई आश्चर्य नहीं। इसका एक कारण और है। रीतिकालके विरुद्ध द्विवेदी-कालमें विद्रोह हुआ। स्वच्छन्दतावादका प्रथम काल, जिसे सैद्धान्तिक स्वच्छन्दतावाद कहना अधिक उपयुक्त होगा, यही काल माना जाना चाहिये, अर्थात् १९००-१९१४तकके कालको सैद्धान्तिक स्वच्छन्दतावादके नामसे पुकारा जा सकता है, जिसका सिद्धान्त १९वीं शताब्दीकी कविताके संकुचित दृष्टिकोणके प्रति असन्तोष और उसकी अतिशय नियमबद्धता और साहित्यिक पाण्डित्यके प्रति विरोध था। यही कारण है कि कुछ आलोचकोंको मैथिलीशरण गुप्त और 'प्रसाद'के काव्यमें भी छायावादकी गन्ध मिलती है। नन्ददुलारे वाजपेयी, श्रीकृष्णलाल और सियारामशरण गुप्तने इस तथ्यका स्पष्टीकरण बड़े सुलझे ढंगसे किया है। इस प्रकार छायावादका प्रारम्भ १९१३-१४ ई०में होता है और १९३६तक आते-आते इसकी धारा मन्द पड जाती है।

वस्तुतः छायावाद मध्यवर्गीय चेतनाके विद्रोहका दूसरा नाम है। उस विशिष्ट कालकी परिस्थितियों और विचार-धाराओंने विविध रूपमें जीवन और काव्यको प्रभावित किया था। पूँजीवादका विकास और व्यक्तिवादका जन्म, स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियोंका उदय, प्रथम महायुद्धका प्रभाव, राजनीतिके क्षेत्रमें महात्मा गान्धीका आन्दोलन और सम्पूर्ण समाजमें स्वातन्त्र्य-प्रेमका जागरण, नयी पीढीपर पश्चिमी सभ्यताका रंग चढना तथा अंग्रेज रोमाण्टिक कवियोंसे प्रभावित होना, कवीन्द्र रवीन्द्रके प्रति श्रद्धा, बंगालमें ब्राह्म-समाजका आन्दोलन और राजा राममोहन रायके क्रान्तिकारी विचार, स्वामी दयानन्द सरस्वतीका कर्मकाण्डी वैष्णव धर्मके विरुद्ध आन्दोलन—इन विभिन्न सांस्कृतिक परिस्थितियोंने मिल-जुलकर छायावादको जन्म दिया। साहित्यके क्षेत्रमें यद्यपि रीतिकालके विरुद्ध आवाज उठ चुकी थी, भाषा बदली थी, किन्तु छन्दके वर्णवृत्त पूर्ववत् थे। वासनाका रंग छूटा था तो उपदेशकी रंगहीनता आ गयी थी। रसके ऊपर इतिवृत्त चढ बैठा था, यहाँतक कि स्थूल सौन्दर्य-बोधके विरोधमें पुनरुत्थान-युगके काव्यने सौन्दर्यको ही निर्वासित कर दिया था। फलतः नये कवियोंका उन्मुक्त मन अपनी अभिव्यक्तिके लिए दूसरा रास्ता ढूँढने लगा। संघर्षशील मध्यवर्गकी चेतनामें अभूतपूर्व परिवर्तन लक्षित होने लगे। व्यक्तिवाद, व्यक्ति-स्वातन्त्र्यके आदर्शोंकी नींव पडी। बुद्धिके विरुद्ध हृदय और स्थूलके विरुद्ध सूक्ष्म विद्रोह कर उठा। महादेवीके शब्दोंमें—"उस युगकी कविताकी इतिवृत्तात्मकता इतनी स्पष्ट हो चली कि मनुष्यकी सारी कोमल और सूक्ष्म भावनाएँ विद्रोह कर उठीं।…स्थूल सौन्दर्यकी निर्जीव आवृत्तियोंसे थके हुए और कविताकी परम्परागत नियम-शृंखलासे ऊबे हुए व्यक्तियोंको फिर उन्हीं रेखाओंमें बँधे स्थूलका न तो यथार्थ चित्रण रुचिकर हुआ और न उसका रूढिगत आदर्श भाया। उन्हें नवीन रूप-रेखाओंमें सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूतिकी आवश्यकता थी, जो छायावादमें पूर्ण हुई"।

१९१३ ई०से पहले 'प्रसाद' ब्रजभाषामें कविताएँ लिखा करते थे, परन्तु 'इन्दु'के माध्यमसे उन्होंने नयी कविताओंका प्रारम्भ किया। खडीबोलीमें उनकी पहली पुस्तक 'कानन-कुसुम' है। 'कानन-कुसुम', 'महाराणाका महत्त्व' और 'प्रेम-पथिक' इनकी प्रारम्भिक रचनाएँ हैं, जो १९२० ई०के पूर्व प्रकाशित हो चुकी थीं। १९१८ ई०में इनकी २४ कविताओंका संग्रह 'झरना' नामसे प्रकाशित हुआ। 'झरना'में यौवनका स्वर है—आत्मदान एवं आत्मप्रकाशनकी अभिलाषा है। भाव-प्रवणता एवं आर्द्रता स्पष्टतया परिलक्षित है। पुनः १९२७ ई०में 'झरना'का दूसरा संस्करण ३१ नयी कविताओंको जोड़कर प्रकाशित हुआ। यहाँ हमें स्मरण रखना होगा कि अबतक पन्तकी 'वीणा', 'ग्रन्थि' और 'पल्लव' प्रकाशित हो चुके थे। 'निराला'की स्फुट

कविताएँ पत्र-पत्रिकाओंमें छपने लगी थीं। तात्पर्य यह कि छायावादी कविता अपने पूर्ण उन्मेषको प्राप्त कर चुकी थी। १९३१ ई०में 'प्रसाद' अपनी प्रौढ़ रचना 'आँसू'के साथ हिन्दीमें आये। 'आँसू' एक श्रेष्ठ विरहकाव्य है—बल्कि विरहके अन्तर्गत भी यह मुख्यतः एक स्मृति-काव्य है। इसमें प्रेम-वेदनाको 'प्रसाद'ने बड़ी दिव्यतासे अंकित किया है। अपने अगले कविता-संग्रह 'लहर'में 'प्रसाद'ने अन्यान्य भाव-भूमियोंपर अपनी कल्पनाको दौड़ाया है। इन कविताओंमें आनन्दवादकी झलक, अज्ञात प्रियतमसे रहस्यमय अभिसारोंके चित्र, सजीले स्वप्नोंसे अतृप्तिको मिटानेका प्रयास, 'बीती विभावरी जाग री'का आह्वान और 'अब जागो जीवनके प्रभात'की कामना स्पष्टतया देखी जा सकती है। १९३६ ई०में 'कामायनी' प्रकाशित हुई। यह छायावाद-युगका महाकाव्य है। इसमें एक उदात्त आदर्शवादी स्तरपर सामंजस्यपूर्ण आनन्दवादकी धारणा स्थापितकी गयी।

छायावाद-युगके दूसरे सशक्त एवं प्रौढ़ प्रतिभाके कवि सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' हैं। 'जूहीकी कली' 'निराला'-की प्रारम्भिक कविताओंमेंसे है। इसकी रचना १९१६ ई०-में हुई थी और 'मतवाला'में इनकी कविताएँ प्रारम्भमें प्रकाशित हुई, लेकिन १९२९ ई०से ही ये प्रकाशमें आये, जिस वर्ष इनका 'परिमल' प्रकाशित हुआ। 'परिमल'की कविताओंमें कविका संयम, उदात्त अन्तःस्वर, करुणासे सहज द्रवित हृदयकी विशालता, भावोंके सूक्ष्म सौन्दर्य एवं दार्शनिक गहराई आसानीसे देखी जा सकती है। 'जूहीकी कली', 'पंचवटी', 'जागृतिमें मुक्ति', 'छः बादलगीत', 'भिक्षुक', प्रसिद्ध गीत 'भर देते हो'—'परिमल'की प्रमुख कविताएँ हैं, जिनमें छायावादी अनेकमुखी प्रवृत्तियोंकी उदात्त झलक मिलती है। 'परिमल'के बाद 'गीतिका' एवं तत्पश्चात् 'अनामिका' (१९३७)का प्रकाशन हुआ। 'अनामिका' इनका प्रतिनिधि काव्य-ग्रन्थ है। 'तोड़ती पत्थर', 'बादल गरजो', 'तोड़ो-तोड़ो कारा' आदि कविताएँ कविकी प्रगतिशील चेतनाकी सूचक हैं। 'दुःख ही जीवनकी कथा रही', 'क्या कहूँ आज जो नहीं कही', 'जीवन चिरकालिक क्रन्दन', 'मैं अकेला देखता हूँ', 'स्नेह निर्झर बह गया है', 'रेत ज्यों तन रह गया है' आदि कविताओंमें कविकी घोर निराशा और अवसादकी अनुभूतियोंके बीच भी उसकी परुष तेजस्विता देखी जाती है। 'अनामिका'में ही 'रामकी शक्ति-पूजा' छपी है। 'अनामिका'के बाद 'तुलसीदास' प्रबन्ध-काव्य प्रकाशित हुआ। तत्पश्चात् 'निराला'ने नया मोड़ लिया। 'कुकुरमुत्ता', 'अणिमा', 'बेला', 'नये पत्ते', 'अर्चना' और 'आराधना'का प्रकाशन हुआ।

सुमित्रानन्दन पन्त छायावादके तीसरे महत्त्वपूर्ण स्तम्भ हैं। इनका रचना-काल सन् १९१८ ई०से प्रारम्भ होता है। 'वीणा', 'ग्रन्थि' १९२० ई०तक प्रकाशित हो चुकी थीं। १९२१ ई०में 'उच्छ्वास' और 'आँसू' कविताएँ लिखी गयीं। 'पल्लव'का प्रकाशन १९२६ ई०में हुआ। १९१९से १९३२ ई०तककी रचनाएँ 'गुंजन'में संगृहीत हैं। 'युगान्त' कविकी नयी दिशाका सूचक है, जिसमें १९३४, ३५, ३६ ई०की कविताएँ संगृहीत हैं। इसके पश्चात् १९३९ ई०तककी रचनाएँ 'युगवाणी'में संगृहीत हैं। इनकी 'ग्राम्या' १९४० ई०के मध्यतककी कविताओंका संग्रह है। 'वीणा'में प्रारम्भिक रचनाएँ हैं, जिनमें कविकी अप्रस्तुत रूपोंका मूर्त-विधान करनेवाली लाक्षणिक शैली स्पष्ट है। प्रकृति और मानवके प्रति जिज्ञासा एवं रहस्य-भावनाकी प्रधानता है, किन्तु 'ग्रन्थि'में कविका यह किशोर उल्लास असफल प्रेमकी सघन वेदनामें परिणत हो जाता है। 'ग्रन्थि' एक खण्डकाव्य है। दृश्य-जगत्के नाना सुन्दर रूपोंका मूर्त एवं मांसल चित्रण 'पल्लव'में हुआ है। 'वीचि-विलास' 'बादल', 'नक्षत्र', 'मौन निमन्त्रण', 'आँसू', 'विश्व-वेणु', 'उच्छ्वास' आदि सौन्दर्यमयी कल्पनाकी श्रेष्ठ कविताएँ हैं। 'परिवर्तन' इनकी एक नयी उपलब्धि थी। इस कवितापर आध्यात्मिक दर्शन—विशेषकर उपनिषदोंका प्रभाव देखा जाता है। 'गुञ्जन'में इनके आत्म-चिन्तन एवं लोककल्याणके चिन्तन गुञ्जित हैं। यहाँ भी आध्यात्मिक दर्शनका प्रभाव स्पष्ट है, परन्तु 'युगान्त', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या'में इनका स्वर सर्वथा बदल जाता है। दलित-शोषित मानवताके प्रति बौद्धिक सहानुभूति ही इन पुस्तकोंका मुख्य विषय है। १९३८ और १९४५ ई०के बीच इनकी कविताएँ प्रगतिशील धाराको एक नया रूप-संस्कार देती हैं। अपने नये काव्य-संकलनों—'स्वर्ण-किरण', 'स्वर्ण-धूलि', 'उत्तरा' तथा 'अतिमा'में पन्तने अरविन्द-दर्शनसे विशेष प्रेरणा ग्रहण की है।

छायावादके कवि-चतुष्टयकी चौथी कवयित्री महादेवी वर्मा हैं। महादेवीको निराशावाद अथवा पीड़ावादकी कवयित्री कहा गया है। स्वयं महादेवी लिखती हैं, "दुःख मेरे निकट जीवनका ऐसा काव्य है, जिसमें सारे संसारको एक सूत्रमें बाँध रखनेकी क्षमता है"। इनकी कविताओंमें सीमाके बन्धनमें पड़ी असीम चेतनाका क्रन्दन है। 'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा', 'सान्ध्यगीत' और 'दीपशिखा'—इनकी प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। अतिरंजित भावना, सूक्ष्म कल्पना, सुन्दर शब्द-विन्यास, अमिट वेदना, एक अनन्त खोज इनकी कविताओंके प्रमुख तत्त्व हैं।

छायावादी काव्यके वृत्तमें रामकुमार वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, उदयशंकर भट्ट, नरेन्द्र शर्मा, 'अंचल', हरिकृष्ण 'प्रेमी', मोहनलाल महतो वियोगी, जानकीवल्लभ शास्त्री, सुमित्राकुमारी सिनहा, विद्यावती कोकिल, हंसकुमार तिवारी आदि उल्लेखनीय हैं। छायावादके बहुतसे परवर्ती कवि इस काव्य-धाराके प्रभावसे अपनेको सर्वथा मुक्त नहीं कर सके।

इस कालके कवियोंने आलोचकका भी काम किया है। महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा, पन्त, 'निराला' एवं 'प्रसाद'ने छायावादके स्पष्टीकरणके लिए काफी सामग्री दी है। —रा० कु० स०

छिनाली—दे० 'हठयोग'।

छेकानुप्रास—अनुप्रास अलंकारका एक भेद। 'छेक' शब्दका अर्थ है 'प्रिय', अर्थात् विद्वानोंको प्रिय लगनेवाला। इसका विवेचन सर्वप्रथम उद्भटने अपने 'काव्यालंकारसार-संग्रह' (८०० ई०)में किया है। मम्मटके अनुसार 'सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः' (का० प्र०, ९ : ७९), अर्थात् एकसे

अधिक व्यंजनका एक बारका साम्य। इसी प्रकार विश्वनाथका कथन है-'छेको व्यंजनसंघस्य सकृत्साम्यमनेकधा' (सा० द०, १०), जहाँ अनेक व्यंजनोंकी, स्वरूप और क्रमसे एक बार आवृत्ति हो, वहाँ 'छेकानुप्रास' अलंकार होता है। छेकानुप्रासमें वर्णोंका उसी क्रमसे प्रयोग होना चाहिए। जैसे 'रस' 'सर'में छेकानुप्रास नहीं है। 'सर' 'सर'में छेकानुप्रास है, क्योंकि इसमें आवृत्त वर्णोंका स्वरूप और क्रम समान है।

हिन्दीमें जसवन्त सिंहके 'भाषाभूषण' (१६४३ ई०)में लक्षण इस प्रकार दिया गया है-"आवृत्ति वर्न अनेककी दोय-दोय जब होय। है छेकानुप्रास स्वर समता बिनहू सोय" (१९८)। इसमें बिना स्वरसमताके भी छेकानुप्रासके प्रयोगकी बात 'साहित्यदर्पण'के 'वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्'-के आधारपर कही गयी है। कुछ आचार्योंने इसके लक्षण स्पष्ट नहीं दिये हैं, जैसे भूषण, दास तथा भगवानदीन आदि। चिन्तामणि तथा कुलपति मिश्रने मम्मटका अनुसरण किया है। भूषण कहते हैं-"स्वर समेत अच्छर पदनि, आवत सहस प्रकास" (शि० भू०, ३५५)। दासके अनुसार "वर्न बहुतकी एककी, आवृति एकहि बार" (का० नि०, १९) 'छेकानुप्रास' है। पर 'साहित्यदर्पण'में एक वर्णके एक बारके सादृश्यको छेकानुप्रास नहीं कहा गया है। इसमें तथा 'काव्यप्रकाश'की 'प्रदीप' और 'उद्योत' व्याख्याओंमें एक वर्णकी एक बार आवृत्तिको 'वृत्यानुप्रास' कहा गया है। आधुनिक विवेचकोंमें भगवानदीनने भी एक वर्णकी आवृत्तिको भी 'छेक' माना है। आचार्य रुद्रटसे 'छेक'में अनेक वर्णोंकी आवृत्ति मानी गयी है।

देवने इसका सुन्दर उदाहरण दिया है-"रीझि रीझि रहसि रहसि हँसि हँसि उठै, साँसै भरि आँसू भरि कहत दई दई"। आधुनिक कालमें ब्रजभाषाके कवि 'रत्नाकर'को विशेष सफलता मिली है-"मुक्ति मुकताको मोल माल ही कहाँ है जब मोहन लला पै मन मानिक ही वारि चुकी" (उ० श०)। इसका प्रयोग खड़ीबोलीके कवियोंमें भी मिलता है-"लपटसे झट रूख जले जले, नद नदी घट सूख चले चले। विकल ये मृग मीन मरे मरे, विकल ये दृग दीन भरे भरे" (मै० श० गुप्त : 'काव्यदर्पण'से उद्धृत)। इसका प्रयोग हिन्दी साहित्यमें प्रायः सर्वमान्य रहा है; आदिकालके वीरकाव्यमें रसकी अनुरूपताके लिए, भक्त कवियोंने सहज वर्णन सौन्दर्यके रूपमें तथा रीतिकालीन परम्परामें चमत्कारकी दृष्टिसे। भगवानदीनने 'अलंकार मंजूषा'में छेकानुप्रासका एक यह भी उदाहरण दिया है-"बाँधे द्वारका करी चतुर चित्तका करी, सो उम्मिर वृथा करी न रामकी कथा करी"। इसमें काकरी, थाकरी, आदि शब्दोंके प्रयोग द्वारा 'यमक' अलंकारका उदाहरण हो सकता है, न कि छेकानुप्रासका।-वि० स्ना०

छेकापह्नुति-दे० 'अपह्नुति', पाँचवाँ भेद।

छेकोक्ति-एक गौण अर्थालंकार। अप्पय दीक्षितने छेकोक्तिको नया अलंकार बताया है। कदाचित् उन्हें छेकानुप्रास एवं छेकापह्नुति शब्दोंमें छेक-चतुरसे प्रेरणा मिली हो, इसीलिए उन्होंने इस अलंकारकी परिभाषा की है-"छेकोक्तिर्यत्र लोकोक्तेः स्यादर्थान्तरगर्भिता" (कुवलयानन्द, ९१), अर्थात् लोकोक्तिसे किसी अन्य अर्थकी व्यंजना होनेपर छेकोक्ति अलंकार होता है। यथा-'भुजंग एव जानीते भुजंगचरणं सखे।' (वही)। इस उदाहरणमें एक व्यक्तिने किसीके सम्बन्धमें दूसरेसे पूछा तो इसने एक चौथे व्यक्तिकी ओर संकेत करके कहा कि उसकी दशा यही जान सकते हैं, क्योंकि साँप ही साँपकी गति जानते हैं। यहाँ पर लोकोक्तिके अन्यार्थकी व्यंजना होती है। 'कुवलयानन्द'के आधारपर हिन्दीके आचार्योंने भी इसे ग्रहण किया है-"और अर्थ लीन्हे सु जो, छेक उक्ति अभिराम।"(ल० ल०, ३६६) अथवा-"लोकोक्तिसे गर्भित अरथ जु आन।" (पद्मा०, २५८)। उदा०-"सिगरे तनु मोह में मोहि रहे तृन ओट पहार न देखि परै" (ल० ल०, ३६८)। इसमें लोकोक्ति भिन्न अर्थकी व्यंजना करती है-सर्वव्यापी तथा सूक्ष्म होनेकी। यहाँपर भी लोकोक्तिका अन्यार्थ व्यंजित होता है।

भोजने (शृं० प्र० : के० राघवन, पृ० ३८५) लोकोक्ति एवं छेकोक्तिको शब्दालंकार 'छाया'के अन्तर्गत माना है। —ज० कि० व०

जंगमभेस-जोगीके वेशको 'जंगमभेस' कहा गया है (चित्रा०, १५, ५)।

जगतानुबोध-शून्यवादियों और विज्ञानवादियोंमें एक सूक्ष्म दार्शनिक अन्तर यह था कि शून्यवादियोंने चित्तका अनस्तित्व और अनुत्पाद माना था, किन्तु विज्ञानवादी चित्तका अस्तित्व मानते थे और संसारको चित्तकी ही एक भ्रान्तिके रूपमें स्वीकार करते थे। इस संसारके वास्तविक स्वभावका ज्ञान प्राप्त कर चित्तका भ्रान्तिसे मुक्त होना ही जगतानुबोध है।

जगत्के स्वरूपका विवेचन करते हुए सिद्धोंने बराबर 'कन्ध, भूअ, आअत्तण, इन्दी' (दोहाकोष), अर्थात् स्कन्ध, भूत, आयतन और इन्द्रियोंकी ओर संकेत किया है, जिनकी चेतनाका प्रवाह ही वास्तवमें संसार है। इसीलिए इसे 'चर्यापद'में बार-बार भव-नदी कहा गया है। इनमेंसे प्रत्येक तत्त्वपर अलग-अलग विचार करनेपर ज्ञात होता है कि मूलतः बौद्ध परम्परामें चार महाभूतोंको ही मान्यता दी गयी थी (अ० ध० को० : वसुबन्धु)। इसका अनुसरण करते हुए सरहपाने चार महाभूत माने हैं:-पृथ्वी, अप् (जल), तेज (अग्नि), गन्धवह (वायु), किन्तु काण्हपाने गगनकी भी गणना की है। इन्हे भूत इसलिए कहा जाता है कि ये भवके आधार हैं। इन्द्रियाँ और उनके विषय भी इन्हीं पंचभूतोंके आश्रित हैं। पृथ्वीका विषय है गन्ध; इन्द्रिय-नासिका। जलका विषय है रस या स्वाद; इन्द्रिय-जिह्वा या रसना। तेजका विषय है रूप; इन्द्रिय-नेत्र। वायुका विषय है स्पर्श; इन्द्रिय-त्वचा। आकाशका विषय है शब्द; इन्द्रिय-श्रोत्र। इन्हींपर आधारित पाँच प्रकारके विज्ञान हैं। चाक्षुष, श्रोत्रिय, घ्राण, रसना, काया (त्वचा)। इन विज्ञानोंकी अधिष्ठात्री पाँच इन्द्रियाँ हैं। किन्तु विज्ञानवादमें इनके अलावा मनको छठी इन्द्रिय माना गया है और उसे मनोविज्ञानकी अधिष्ठात्री इन्द्रिय माना गया है। सिद्धोंने कहीं-कहीं छः इन्द्रियोंका उल्लेख इसी सिद्धान्तके अनुसार किया है।

इन्द्रियोंके साथ आयतनोंका भी उल्लेख है। आयतन-का अर्थ है निवासस्थल। उदाहरणके लिए, यदि हम पुष्पको देखते है तो यह पुष्पका दर्शन चाक्षुपविज्ञान है। इसके दो आयतन हुए। पुष्प इसका रूप-आयतन या विषय-आयतन हुआ और चक्षु इसका इन्द्रिय-आयतन। इस प्रकार छः विज्ञानोंके बारह आयतन हुए। छः विज्ञान और बारह आयतनकी समवेत संख्या १८ हुई। १८ धातुओंसे यह संसार निर्मित है (दे० 'चर्यापद', १३वी चर्याकी टीका)।

चित्तगत दृष्टिकोणसे तो सारा संसार इन १८ धातुओंसे बना है, किन्तु वस्तुगत दृष्टिकोणसे सभी वस्तुओंके धर्मोंका समवेत रूप संसार है। शून्यवादने तो प्रतीत्यसमुत्पादके सिद्धान्तसे सभी धर्मोंका नैरात्म्य सिद्ध कर दिया था, किन्तु विज्ञानवादने इन धर्मोंको भी चित्तगत माना था। इन धर्मोंमे पाँच प्रकारके साम्य माने गये है—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान। समस्त धर्म इन्ही पाँच स्कन्धोंमे वर्गीकृत कर दिये गये है। अतः स्कन्ध, भूत, आयतन, इन्द्रिय और विषयका विकार यह संसार है। "कन्ध, भूअ, आअत्तण, इन्दी विषय विआरु" ('दोहाकोष': सरहपा)। —ध० वी० भा०

जच्चा—जन्मोत्सवका गीत; ब्रज-लोक और अवध-लोकमे विशेष प्रचलित; जच्चाकी आशाओं-आकांक्षाओं, उसकी प्रसव-पीडा और शिशुजन्मके अवसरपर उसके सम्बन्धियों-के नेग और ठनगनसे सम्बद्ध। सत्येन्द्रने इसके तेरह उपप्रकारोंका उल्लेख किया है (दे० 'ब्रजलोक साहित्यका अध्ययन', पृ० १२३)। —र० भ्र०

जड़ता (जड़ता एवं जाड्य)—प्रचलित तैंतीसमेसे एक संचारी भाव। निश्चेष्ट हो जाना (सर्वकार्याप्रतिपत्तिः) जडता है। 'नाट्यशास्त्र'में इसके विभाव एवं अनुभाव निम्नलिखित प्रकारसे दिये है—"इष्टानिष्टश्रवणदर्शनव्याध्यादिभिर्विभावै-रुत्पद्यते। तामभिनयेदकथनाभाषणतूष्णीभावानिमेषनिरी-क्षणपरवशत्वादिभिरनुभावैः" (७ : ६६), अर्थात् इष्ट एवं अनिष्टका देखना और सुनना और व्याधि इत्यादि इसके विभाव है और किंकर्तव्यमूढ़, मौन, अनिमेषदर्शन एवं परवशताके अनुभावोंमे इसका अभिनय होता है। धनंजय-(द० रू०, ४ : १३)ने इष्टदर्शन एवं अनिष्टश्रवणके कारण जड़ताके उदाहरण दिये है। विश्वनाथका लक्षण 'नाट्य-शास्त्र'पर आधारित है (सा० द०, ३ : १४८)।

हिन्दीमें देवके लक्षणमे भी यही भाव है—"हित अहितहिं देखे जहाँ, अचल चेष्टा होइ। जानि बूझि कारज थकें, जड़ता बरने सोइ" (भाव० : संचारी)। अन्य आचार्योंमें प्रायः यही लक्षण है। कुछने स्पष्ट लक्षण नही दिया है—"उतकंठादिक तै जु है, अचल चित्त अरु अंग" (ल० ल०, ४२४)।

देवका उदाहरण—"ठौर ही ठाढे चितौत इतौ तन नेकऊ एक टकी टहली सी। देवको देखति देवता-सी वृषभान लली न हली न चली-सी" (भाव० : संचारी)। इसी प्रकार पद्माकरका उदाहरण है—"हलै दुहूँ न चलै दुहूँ, दुहूँ बिसरिगे गेह। इक टक दुहुनि दुहूँ लखें, अटकि अटपटे नेह" (जगत०, ५६४)। इन उदाहरणोंसे स्पष्ट है कि एकदम ठक हो जाना जडता है। इस अवस्थामे अनुभव होते ही, व्यक्तिके मानसिक एवं शारीरिक व्यापार क्षणभर-के लिए स्थगित हो जाते है। आशातीत सुख, अद्भुत विषय तथा अपार दुःखसे भी यह भाव व्यक्त होता है। अतः यह सुख-दुःखात्मक है। प्रधानतः यह मानसिक अवस्था है। मोह इससे भिन्न है, क्योंकि वह दुःखात्मक है। —ज० कि० ब०

जन—सामान्य अर्थोंमे इस शब्दसे समाजमे रहनेवाले लोगोंका बोध होता है। —रा० कु० त्रि०

जन-आंदोलन—जब जनता किसी संघटित लक्ष्यके लिए सामूहिक प्रयास करती है तो उस प्रयासको जन-आन्दोलन कहते है। जन-आन्दोलनकी सैद्धान्तिक एकता व्यापक और संकीर्ण दोनों हो सकती है। उदाहरणस्वरूप, किसी विदेशी सत्ताको हटानेके लिए विभिन्न राजनीतिक दल अपने सैद्धान्तिक विभेदोंका परित्याग करते है। —रा० कु० त्रि०

जनकवि—जिस कविकी दृष्टि मात्र अन्तर्मुखी न हो, जिस कविकी विषयवस्तु व्यक्ति-निष्ठ भावनाओंका चित्रण न हो और जिस कविके काव्यका सम्पर्क जनताके व्यापक जीवनसे हो, वही कवि जनकवि कहलानेका अधिकारी है। वर्तमान समयमें कुछ राजनीतिक पार्टियोंने इस शब्दका गलत प्रयोग किया है। उसके अनुसार उनकी पार्टी जनताकी पार्टी है और जिस कविका सम्पर्क उनकी पार्टीसे हो, वही जनकवि है। किन्तु जनकविका मापदण्ड उसका काव्य है। वह काव्य जितना ही व्यापक होगा, उतना ही उसका सम्पर्क समाजके जीवनसे निकट होगा और उसी काव्यका स्रष्टा सच्चे अर्थोंमें जनकवि है। —रा० कु० त्रि०

जनतंत्र—जनतन्त्र शब्द अंग्रेजी शब्द 'डेमोक्रेसी'का हिन्दी पर्याय है। इस शब्दका प्रयोग चिन्तनके इतिहासमें विभिन्न अर्थोंमें किया गया है। अपने व्यापक रूपमें जनतन्त्र एक निश्चित प्रकारकी समाजव्यवस्था और शासनप्रणालीका द्योतक है। समाजव्यवस्थाके रूपमे जनतन्त्र समता और स्वतन्त्रताकी स्थापना कर समाजको एक विशाल भ्रातृत्वके बन्धनमे बाँधनेका प्रयास करता है। इस दृष्टिसे जनतन्त्र एक विशिष्ट मानववादी चिन्तनका प्रतीक है। इसके मानववादके मूलमे समष्टिकी नैतिक प्रतिष्ठा की गयी है और समष्टिकी ही परिधिमें व्यक्तियोंका प्रक्षेपण सम्भव है। इस नाते जनतन्त्र सामाजिक जीवनमे उन सभी परि-स्थितियोंका निवारण करना चाहता है, जो व्यक्तिगत प्रशस्तिका मार्ग रोकती है। अतः जनतन्त्र आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक न्यायकी रचना करता है। शासनप्रणालीके रूपमे जनतन्त्र अपने नैतिक आदर्शोंकी पूर्तिके लिए राज्यकी सम्प्रभुतापर नियन्त्रण करना चाहता है, क्योंकि यह आदर्श जनता और समाजके बीचका जीवित विश्वास है। जनतन्त्रके लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वह जनता और समाज द्वारा ही इन आदर्शों-की प्राप्तिका प्रयास करे।

जनतन्त्रके अंग्रेजी पर्याय 'डेमोक्रेसी'मे 'डेमो' शब्दका अर्थ 'जनता' है। अतः व्युत्पत्तिक रूपमें भी 'डेमोक्रेसी' शब्द समाज और जनताकी प्रधानताको स्वीकार करता है। इतिहाससे ज्ञात होता है कि समाज और जनताकी

उच्चता सर्वप्रथम शासनप्रणालीके रूपमें व्यक्त हुई। ग्रीसमें जनतन्त्र एक राजनीतिक व्यवस्थाके रूपमें पाया जाता है। परन्तु ग्रीक जनतन्त्रने अपने शासनकालमें कभी-कभी ऐसी कठोरता और मानसिक शिथिलताका परिचय दिया है कि महान् ग्रीक विचारक प्लेटो(४२८-३४८ ई० पू०)का विश्वास ही इस शासनप्रणालीके औचित्यसे उठ गया। परन्तु उसके शिष्य अरस्तू(३८४-३२२ ई० पू०)ने पुनः जनतन्त्रमें विश्वास जगानेका प्रयास किया। फिर भी इतना स्पष्ट है कि जनतन्त्रकी पिछली भूलोंको देखकर अरस्तूने मिश्रित शासनव्यवस्थाको ही अपना व्यावहारिक आदर्श माना। उसकी व्यावहारिक आदर्श-व्यवस्थाको अंग्रेजीमें 'पॉलिटी' कहते हैं। इस शासनप्रणालीके अनुसार शासनमें गुण और संख्याका योग प्राप्त होता है। गुणकी प्राप्तिके लिए समाजका उच्च कुल अपना बौद्धिक सहयोग देता है और संख्याकी प्राप्तिके लिए सामान्य जनतासे योग माँगा जाता है। अतः अरस्तूकी व्यावहारिक आदर्श-व्यवस्थामें उच्च कुल और जनताका समन्वय किया गया है। रोमन-कालमें भी सैद्धान्तिक दृष्टिसे जनताको ही अधिकार-स्रोत माना गया था। मध्ययुगमें राज्याभिषेक-शपथ-ग्रहणकी परम्परा द्वारा जनताकी शक्तिको ही उन्नत बनानेका प्रयास किया गया। ट्यूटॅनिक जातियोंसे प्रभावित होकर सेण्ट टामस एक्युनास(१२२०-१२७४ ई०)ने भी जनताको राजासे श्रेष्ठ मानकर वैधानिक राज्यतन्त्रकी व्यवस्थाको ही वांछनीय स्वीकार किया है। आधुनिक युगकी प्रारम्भिक शताब्दियोंमें अनुबन्ध सिद्धान्त द्वारा (हॉब्सका दर्शन इस तथ्यका अपवाद है) परोक्ष रूपसे जनताको शक्तिका केन्द्र स्वीकार किया गया। जनतान्त्रिक विचारोंकी परम्पराकी व्यवस्थित और संयत परिणति फ्रांस-की राज्यक्रान्ति(१७८९ ई०)में दृष्टिगत होती है। फ्रांसकी राज्यक्रान्तिने सर्वप्रथम जनतन्त्रको शासनप्रणालीका ही रूप न मानकर जीवनके व्यापक आदर्शके रूपमें प्रतिष्ठित किया और तबसे लेकर आजतक जनतन्त्र केवल राजनीतिक मूल्योंकी ही नहीं, प्रत्युत जीवनके व्यापक प्रतिमानोंकी समस्या हो गया है।

जनतन्त्रकी मूलगत विशेषताएँ किसी निश्चित विधिमें बाँधी नहीं जा सकती। इसका कारण यह है कि जनतन्त्रके मूल्य राजनीतिक परिस्थितियोंकी सापेक्षतामें आँके जा सकते हैं। १६वीं, १७वीं और १८वीं शतीमें अनुबन्ध-सिद्धान्त द्वारा जनतन्त्र व्यक्तिवाद (दे०)से सम्बन्धित था, किन्तु जैसे-जैसे व्यक्तिवादकी परम्पराएँ टूटती गयीं, जन-तन्त्रमें व्यक्तिके स्थानपर समष्टिका दर्शन होता गया। आधुनिक राजनीतिक दर्शनके इतिहासमें जनतन्त्र और समष्टिका समन्वय रूसो(१७१२-१७७८ ई०)के सर्व-इच्छा-सिद्धान्त, अर्थात् 'जनरल विल थियरी'में प्राप्त होता है।

अतः सैद्धान्तिक स्तरपर जनतन्त्र व्यष्टिवादी और समष्टिवादी परम्पराओंका प्रतीक है। व्यक्तिवादी रूपमें यह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, व्यक्तिगत अधिकार और व्यक्तिगत हितोंको ही प्रधान मानता है। इस दृष्टिसे समाज केवल इन हितोंकी साधनाका माध्यम है। समष्टिवादी रूपमें जनतन्त्र समाज और सामूहिक जीवनको व्यक्तिसे ऊँचा मानता है। व्यक्ति समाजका केवल एक अंग है और समाजसे हटकर उसका कोई अस्तित्व शेष नहीं रहता। इस रूपमें जनतन्त्र राज्यकी निरंकुशताके स्थानपर जनताकी निरंकुशताकी प्रतिष्ठा करता है। ऐसी व्यवस्थामें व्यक्ति सामाजिक दासतामें उतना ही बँधा है, जितना वह आधुनिक युगके प्रारम्भमें राजाओंकी दासतामें था। कहा जाता है कि जनतन्त्रका समष्टिवादी रूप ही शुद्ध और पूर्ण जनतन्त्र है। पूर्ण जनतन्त्र केवल व्यवहारमें ही व्यक्तिको अपना दास बनाता है, नहीं तो सैद्धान्तिक दृष्टिसे समष्टि-शक्तिका मूलभूत तत्त्व व्यक्ति है। उसके व्यक्तित्वका नैतिक प्रक्षेपण ही समष्टिकी नैतिक शक्ति है। समष्टिमें लीन होकर व्यक्ति अपने व्यक्तित्वका उज्ज्वल और परिष्कृत रूप पाता है। इस दृष्टिकोणकी यह अन्तर्हित मान्यता है कि समष्टिका उद्देश्य व्यक्तिके नैतिक उद्देश्योंसे अलग नहीं है। इस भाँति जनतन्त्र व्यक्तिको सीमाहीन स्वच्छन्दता न देकर उसके कर्मोंपर नैतिक बन्धन लगाता है, किन्तु उन्हीं नैतिक बन्धनोंसे उस परिस्थितिका जन्म होता है, जो सच्ची स्वतन्त्रताके विकासके लिए आवश्यक है। जनतन्त्रके अनुसार स्वतन्त्रता सामाजिक जीवनमें ही सम्भव है।

शासन-प्रणालीके रूपमें जनतन्त्रकी आधारभूत मान्यता है कि किसी व्यक्ति या वर्गको यह अधिकार प्राप्त नहीं कि वह समूची जनताके भाग्यका निर्णय करे। वरन् स्वाभाविक तो यह है कि जनता स्वयं ही अपने भाग्यका निर्माण करे। अब्राहम लिंकन (१८०९-१८६५ ई०)का यह वाक्य कि "जनतन्त्र वह शासन है, जो जनताका है, जो जनता द्वारा होता है और जो जनताके लिए होता है, और जनतन्त्रात्मक शासन-प्रणालीको ठीक रूपसे व्यक्त करता है"। यह जनतन्त्र दो प्रकारका होता है। पहला प्रकार है अपरोक्ष जनतन्त्र और दूसरा है परोक्ष जनतन्त्र। अपरोक्ष जनतन्त्रमें जनता बिना किसी प्रतिनिधि-संस्थाके माध्यमसे ही अपनी शासनप्रणाली सँभालती है। इस प्रकारका जनतन्त्र पुराने युगमें ग्रीक नगरराज्योंकी कुछ व्यवस्थाओंमें पाया जाता था। आधुनिक युगमें जेनेवाकी शासन-प्रणाली भी इसी प्रकार की थी। इस वर्गके जनतन्त्रकी व्यावहारिकता इस तथ्यपर आधारित है कि जिस देशमें इस प्रकारका शासन हो, उस देशकी भौगोलिक परिधि छोटी हो, किन्तु आजके युगमें यह असम्भव है। इस नाते अपरोक्ष जनतन्त्रके स्थानपर परोक्ष जनतन्त्रका ही प्रचलन है। अपरोक्ष जनतन्त्रमें जनता प्रतिनिधि-संस्थाओंके माध्यम-से ही अपनी राजनीतिक शक्तिका संघटन करती है। संसदीय शासन-प्रणाली, जो पूर्णतया प्रतिनिध्यात्मक व्यवस्था है, परोक्ष जनतन्त्रका ही एक रूप है। परोक्ष जनतन्त्रको प्रतिनिध्यात्मक जनतन्त्र भी कहते हैं।

जनतन्त्रके आदर्श और शासन-प्रणालीकी कड़ी आलोचनाएँ भी वर्तमान युगमें की गयी हैं। अधिकतर इन आलोचनाओंके मूलमें सामान्य मनुष्यके प्रति असहानुभूति और अश्रद्धाका ही भाव है। कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि सामान्य जनताका बौद्धिक स्तर इतना ऊँचा नहीं होता कि वह शासनभारको कुशलतासे सँभाल सके। इसीसे सम्बन्धित दूसरी आलोचना यह है कि किस तर्कके नाते

यह स्वीकार किया जाय कि बहुमतका निष्कर्ष ही सत्य और ठीक है। समाजवादी भी अपने ढंगसे जनतन्त्रकी आलोचना करते हैं। उनके अनुसार वर्तमान जनतन्त्र, जो इंग्लैण्ड, पश्चिमी यूरोप और अमेरिकामें फैला है, शुद्ध जनतन्त्र न होकर पूँजीवाद (दे०)का ही एक रूप है। शुद्ध जनतन्त्र केवल समाजवादी व्यवस्थामें ही सम्भव है, जहाँ उचित न्यायकी परिस्थितियाँ हों। आर्थिक वर्गसंघर्ष और जनतन्त्र साथ-साथ नहीं चल सकते। अतः समाजवादी जनतन्त्रके विरोधी नहीं है, वे केवल उस आर्थिक परिस्थिति-पर जोर देते हैं, जो जनतन्त्रके लिए आवश्यक है। प्रथम और द्वितीय महायुद्धके बीचका समय जनतन्त्रके जीवनके लिए काफी सकटका समय था। यूरोपीय देशोंमें जनतन्त्रके विरोधमें काफी प्रतिक्रियाएँ हुई। इसी नाते यूरोपके कुछ देशोंमें जनतन्त्रात्मक शासन-प्रणालीके स्थानपर अधिनायक-वादी व्यवस्थाएँ बनायी गयी। द्वितीय महायुद्धके पश्चात् जनतन्त्रके सामने अधिनायकवादकी समस्या तो नहीं रह गयी, परन्तु राजनीतिक और आर्थिक संघटनकी समस्याएँ इतनी जटिल हो गयी है कि जनतन्त्रके लिए यह आवश्यक है कि उन समस्याओंका सुलझाव पेश करे। जनतन्त्र एक विश्वास है और वह भी बौद्धिक विश्वास। हो सकता है कि विश्वासका बल ही जनतन्त्रको इतनी शक्ति दे कि वह इन समस्याओंको सुलझा सके।

हिन्दीमें जनतन्त्रात्मक साहित्य खडीबोलीमें भारतेन्दु-युगमें प्रारम्भ होता है। यह सत्य है कि इस साहित्यमें राजनीतिक आदर्शोंकी बहुलता ही है। जहाँतक इसके साहित्य-सौष्ठवका प्रश्न है, यह साहित्य एक दृष्टिसे बहुत उन्नत नहीं कहा जायगा। इन राजनीतिक आदर्शोंकी पृष्ठभूमिमें साहित्यकारोंकी देश-प्रेमकी भावना थी। विदेशी शासनकी दासताकी प्रतिक्रियाके रूपमें ही इस साहित्यका जन्म हुआ। राष्ट्रवादी साहित्य मूल रूपमें जनतन्त्रात्मक ही होता है। वैसे तो हिन्दीके आधुनिक साहित्यमें विभिन्न राजनीतिक आदर्शोंको लेकर साहित्यकार कलाका सर्जन कर रहे हैं, किन्तु उनमें शुद्ध जनतन्त्रात्मक परम्पराको माननेवाले कोई ही है। मैथिलीशरण गुप्त और माखनलाल चतुर्वेदीके नाम इस दृष्टिसे उल्लेखनीय है।

आजके हिन्दी साहित्यके सामने दोहरी समस्याएँ है। पहली समस्या है कलात्मक मूल्योंकी और दूसरी नैतिक और राजनीतिक आदर्शोंकी। जब राजनीतिक और नैतिक आदर्शोंका समन्वय कलात्मक मूल्योंसे हो जायगा तो वह दिन साहित्यका अमर दिन होगा। अभीतक जनतन्त्रात्मक आदर्शोंके साहित्यिक रूपमें कलात्मक प्रतिभाका अभाव ही दीखता है।

[सहायक ग्रन्थ—मॉडर्न पोलिटिकल थियरी : सी० ई० एम० जोड।] —रा० कु० त्रि०

जनता–यह शब्द विभिन्न रूपोंमें प्रयुक्त होता है। कभी-कभी यह समाजकी रहस्यात्मक एकताका प्रतीक माना जाता है, किन्तु अधिकांश लोग इस शब्दसे केवल समाजके सम्पूर्ण सदस्योंका संघटित स्वरूप ही समझते है। —रा० कु० त्रि०

जनपद–अत्यन्त प्राचीन ऐतिहासिक उल्लेखोंके अनुसार आर्यजाति 'जन' अथवा समुदायों या गिरोहोंमें संघटित थी। एक आर्य जनके सब लोग अपनेको सजात, अर्थात् किसी एक मूल पुरुषसे उत्पन्न समझते थे। आर्योंके मूल प्रधान जन केवल पाँच थे, किन्तु बादको ये अनेक आर्य जनोंके रूपमें विकसित हुए।

आर्य जनोंकी राष्ट्रीय भूमियाँ 'जनपद' कहलाने लगी, अर्थात् जनपदका अर्थ उस भूमि-भागसे होता था, जहाँ कोई आर्य जन बस गया हो। प्रत्येक जनपदका एक पुर अथवा प्रधान नगर होता था, जहाँ जनपदका राजा रहता था। प्रत्येक जनको राजनीतिक संघटनकी दृष्टिसे राष्ट्रकी संज्ञा दी जाती थी। राजाका बडा पुत्र प्रायः जनपदके शासनका उत्तराधिकारी होता था। राजाको सहायता देनेके लिए दो संस्थाएँ होती थी, जो सभा और समिति कहलाती थीं। इन्हींका नाम आगे चलकर पौर और जानपद पड गया था।

धीरे-धीरे आर्यावर्तके कुछ जनपद अधिक शक्तिशाली और सम्पन्न होते गये। बौद्ध साहित्यमें निम्नलिखित सोलह महाजनपदोंका उल्लेख अनेक स्थानोंपर हुआ है—कुरु, पांचाल, शूरसेन, मत्स्य, कोसल, काशी, वृजि, मल्ल, मगध, अंग, चेदि, वत्स, अवन्ति, अश्मक, गान्धार तथा कम्बोज। अन्तिम तीनको छोडकर शेष तेरहका सम्बन्ध आर्यावर्तके मध्यदेश (दे०)से था।

जनपदोंका पृथक् स्वतन्त्र अस्तित्व साम्राज्यकालमें ही लुप्त हो गया था, किन्तु उनकी इकाइयाँ आज भी उत्तर-भारतकी भाषाओं तथा बोलियोंके रूपमें पृथक्-पृथक दिखलाई पडती है। —धी० व०

जनवाद–जनवादके मूलमें स्थित 'जन' शब्द काफी पुराना है। भारतीय वाङ्मयमें जानपद जनकी प्रतिष्ठा काफी प्राचीन कालसे चली आ रही है। यह शब्द समूहवाची है। जनवादके लिए हम कह सकते है कि यह कला, साहित्य और जीवनके प्रति विशिष्ट दृष्टिकोण है, जो जनसामान्यको महत्त्व देता है। परन्तु यह परिभाषा अत्यधिक व्यापक है, जनवाद जिस विशेष अर्थमें आज हमारी साहित्य-समीक्षामें प्रयुक्त होता है, वह हालकी ही बात है तथा उसके विकासका एक मनोरंजक इतिहास भी है।

कला और साहित्यमें आज जनवाद जिस अर्थमें प्रयुक्त होता है, उसके पीछे एक विशिष्ट दर्शन है। कार्ल मार्क्स (karl marx)ने जो समाज और उसके विविध रूपों और विचारोंकी ऐतिहासिक व्याख्याएँ की, वे कला और साहित्य-पर भी लागू होती है। साहित्यकी जो मार्क्सवादी विवेचना हुई, उसीसे जनवादका प्रादुर्भाव हुआ।

रूसमें अक्टूबर क्रान्तिके बाद संकीर्ण मार्क्सवादियोंने 'प्रोलेट कल्ट' तथा 'ऑनगार्ड' जैसी संस्थाओंकी स्थापना की और साहित्यमें मार्क्सके वर्ग-संघर्षको पूरी तरहसे लागू करनेका जोर देते हुए इन लोगोंने सर्वहारा-साहित्यकी माँग की। इन 'कुत्सित समाजशास्त्रियों'का बोलबाला १९३२ ई०तक रहा। फिर मैक्सिम गोर्की (maxim gorky) जैसे कलाकारोंकी आवाजपर इन संस्थाओंको भंग करके 'सोवियत लेखक संघ'की स्थापना हुई तथा लेखकोंके सामने एक ठोस, इतिहाससम्मत तथा क्रान्तिकारी पहलुओं-वाला व्यापक जीवनदर्शन 'सामाजिक यथार्थवाद' (दे०)के

नामसे रखा गया। मार्क्सवादी विचारधाराके प्रचारके साथ-साथ सामाजिक यथार्थवादको अभिव्यक्ति देनेवाले साहित्यका प्रचार-प्रसार भी बढा और उस समय ऐसे साहित्यको 'प्रगतिशील साहित्य' (progressive literature) कहा गया है। भारतवर्षमे भी यह विचारधारा आयी और १९३६ ई०मे 'प्रगतिशील लेखक संघ'की स्थापना हुई, परन्तु रूसके समान ही साहित्यिक क्षेत्रमे यहाँ भी एक लम्बे अर्सेतक काफी खींच-तान और संकीर्णता चलती रही। द्वितीय विश्वयुद्धने संसारके साधारण जनको झकझोर दिया। उसने अनुभव किया कि राजनेता तथा कतिपय अन्य न्यस्त-स्वार्थोवाले थोड़ेसे व्यक्ति किस प्रकार उसे युद्धकी आँचमे झोंककर आहुतियाँ देते है। अतः एक प्रकारकी राजनीतिक चेतना सारे विश्वमे आयी, फलतः साधारण जनका, विश्वके सामान्य नागरिकोंका महत्त्व बढा। इस सम्बन्धमें आजके दोनो शक्ति-संघटनोमे यह तथ्य द्रष्टव्य है कि कम्युनिस्ट ग्रूप 'पीपुल्स डेमोक्रेसी'की बात करता है और अमेरिकी समूह 'पीपुल्स कैपिटलिज्म'का नारा लगाता है। चीनकी अपनी ऐतिहासिक परिस्थितियोंमें हुई क्रान्तिने भी साम्यवादी चिन्ताधारामें लोकतान्त्रिक भावनाको समाविष्ट किया और वहाँ भी जनका आदर बढा। इस प्रकार ऐतिहासिक स्थिति ऐसी हो गयी, जिसमे जनवाद एक अनिवार्य आवश्यकता बन गया, पर यह स्मरण रखना चाहिये कि हमारे साहित्य-विवेचनमे 'जनवाद' कम्युनिस्ट स्रोतोसे ही आया है। १९४७ ई०के आस-पास भारतीय कम्युनिस्ट पार्टीने 'जनवादी' नामक एक प्रकाशन भी किया था। इस तरहकी चिन्तनधाराका जो विकास हुआ, उसे यो भी कह सकते है—सर्वहारा साहित्य, प्रगतिशील साहित्य, जनवादी साहित्य।

उपर्युक्त राजनीतिक परिस्थितियोंके अतिरिक्त मार्क्सवादी समीक्षापद्धतिमें भी यह अनुभव किया जाने लगा कि रूढ वर्ग-संघर्षके आधारपर प्राचीन क्लासिकल साहित्यका मूल्यांकन कठिन है। ऐसी स्थितिमें एक ऐसे मानदण्डकी आवश्यकता पड़ने लगी, जिसके अनुसार मार्क्सवादको मूलतः न छोड़ते हुए भी उदार दृष्टिकोणको अपनाया जा सके। इस नये दृष्टिकोण (मार्क्स, एँगिल्स, लेनिनने पहिले भी संकीर्णताका विरोध किया था, पर उनके जोशीले अनुयायियोंने प्रारम्भमे ध्यान नही दिया)के अनुसार हर युगके श्रेष्ठ कविका दृष्टिकोण जनवादी होता है। वह अपनी वर्गगत सीमाओंका उल्लंघन कर सामान्य जनका साथ देता है। 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय'के सिद्धान्तपर यों सहानुभूति वह हर वर्गको दे सकता है, पर नजर अन्ततः सामान्य जनकी ओर होती है। यह जनवादी परम्परा हर युगके श्रेष्ठ साहित्यमे देखी जा सकती है, जब कि प्रगतिवाद एक विशेष युगके साहित्य के लिए रूढ हो गया है। यह युग हिन्दीमे १९३६ ई०से आया है और इस धाराके साहित्यकार सचेष्ट भावमे मार्क्सवादी दर्शनका उपयोग करते है।

यों भी कहा जा सकता है कि प्रगतिवाद (दे०)की एक विशेषता उसका जनवादी दृष्टिकोण है। मार्क्सके दर्शनसे, जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। उसके अनुसार उत्पादनके प्रकारोंके साथ समाजमे व्यक्तियोंका पारस्परिक सम्बन्ध भी बदलता जाता है और तदनुसार आचारशास्त्र, साहित्य आदि भी बदल जाते हैं। परन्तु ऐंगिल्सने अर्थ और साहित्यके सीधे सम्बन्ध को अस्वीकार किया है। उसके अनुसार दर्शन, धर्म, साहित्य, कला आदि आकाशचारी विचारधाराएँ है, इसलिए इनका अर्थसे अप्रत्यक्ष और घुमावदार ही सम्बन्ध है। विचार अन्ततोगत्वा अर्थके द्वारा ही निर्मित होते है, पर निर्मित हो जानेपर वे अपने विकासका स्वतन्त्र मार्ग अपना लेते हैं, बल्कि साहित्य, दर्शन आदि भी मानवके आर्थिक सम्बन्धोंके परिवर्तनके प्रेरक बन जाते हैं। यहींपर जनवादी स्थिति सम्भव है, जब कि वह जनताके साथ मिलकर क्रान्तिको आगे बढानेमे प्रेरणा देती है। मार्क्सीय साहित्यशास्त्रके अनुसार कलाकारके व्यक्तित्वका निर्माण उसके वर्गकी मान्यता द्वारा होता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह अपने वर्गकी विचारधाराओंका विरोध नहीं करता। वह अपने युगकी ऐतिहासिक सीमाके भीतर समसामयिक विचारोंका विरोध भी करता है, क्योंकि वह केवल उपभोक्ता नहीं, निर्माता भी है और निर्णायकरूपमे वह एक वर्गका सदस्य होते हुए भी उसके प्रतिक्रियावादी तत्त्वोंका विरोध कर सकता है। साथ ही कला-विशेषकी अपनी परम्परा भी उसपर प्रभाव डालती है।

मार्क्सपोषित इस जनवादी विचार-सरणिके अनुसार साहित्यमे मानवके सामूहिक भावोंकी ही अभिव्यक्ति होनी चाहिये। व्यक्ति-वैचित्र्यके लिए उसमे स्थान नही है। लेखकमे शक्ति जनतामे आती है, जनताके साथ उसका सम्बन्ध जितना ही घनिष्ठ होता है, उसमे उतनी ही अधिक रचना शक्ति आती है और उसकी रचनामे उतना ही अधिक सौन्दर्य बढता है। साहित्यकारको अनिवार्य रूपसे जनताका पक्षधर होना ही पड़ेगा। इन सामूहिक भावोंपर भी युगका नियन्त्रण होता है, परन्तु प्रत्येक युगमे भविष्यके बीज भी विद्यमान रहते है। उसमे विरोधोंका निरन्तर संघर्ष चलता है। युगके विकसनशील तत्त्व ही कलाकारके लिए उपादेय होते हैं। सच्चे कलाकारकी प्रतिभा और अन्तर्दृष्टि उन तत्त्वोंका दर्शन कर लेती है, जो कि सामूहिक भावोमे ही अन्तर्भूत रहते है, बल्कि यो कहे कि सच्चे सामूहिक भावोंका निर्माण उन्ही तत्त्वोसे होता है।

इस विचारधाराके अनुसार 'साहित्य' आर्थिक परिस्थितियोसे नियमित होता है, लेकिन उनका सीधा प्रतिबिम्ब नहीं है। उसकी अपनी सापेक्ष स्वाधीनता है। साहित्यके सभी तत्त्व समान रूपसे परिवर्तनशील नही है, इन्द्रियबोधकी अपेक्षा भाव और भावोंकी अपेक्षा विचार अधिक परिवर्तनशील होते है। दो विभिन्न युगोंमे अपने अभ्युदय और ह्रासकी विभिन्न परिस्थितियोमे एक ही वर्ग दो तरहके साहित्यका पोषण करता है। सचेत लेखक सामाजिक विकासकी समस्याओंके प्रति उदासीन न रहकर शान्ति, स्वाधीनता, जनतन्त्र और जातीय संस्कृतिके लिए संघर्ष करते हैं। उनके चिन्तन, लेखन और कलाका लक्ष्य ऐसा होना चाहिये कि पीडित वर्ग मुक्ति पाये। वे अपने साहित्य

और कलासे सामाजिक परिस्थितियोंपर तभी असर डाल सकते हैं, जब वे इन परिस्थितियोंको समझें और उनके बदलते हुए रूपको अपनी रचनाओंमें जगह दें।

जनवादी कलाकार वर्ण्य विषयकी तरह शैली और भाषाको भी जनवादी बनानेका समर्थक है। चमत्कारिक और ऊहा-प्रधान शैलीका वह विरोधी होता है। जनवादी साहित्यकी भाषाको सरल और प्रवाहपूर्ण बनाना चाहता है। उसमें अलंकरण और कलाबाजीके स्थानपर अनुभूतिपर अधिक जोर दिया जाता है। अत्यधिक कोमलता और मिठासको वह ह्रासजन्य मानता है। परन्तु घटनाओंका सूखा वर्णन भी उसे अभिप्रेत नहीं, बल्कि उसके अनुसार उनके अन्तस्तलमें प्रवाहित जीवनी शक्तिका विकासमान रूप ही चित्रित होना चाहिये। कलाकारका कार्य उस शक्तिका अनावरण और घटनाओंसे सम्बन्धित करना है। सौन्दर्यका स्रोत वह वास्तविकताको मानता है और वास्तविकताका यह बोध अपनी सामयिक समस्याओंमें भाग लेनेसे आता है।

मार्क्सवादी समीक्षाओंमें यों तो हर युगके श्रेष्ठ कवि और काव्यको जनवादी माना गया है, चाहे वे वाल्मीकि, व्यास और कालिदास हों अथवा कबीर, सूर, तुलसी या मीराँ हों। आधुनिक कालमें जनवादी धाराके प्रारम्भकर्ता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हैं। 'प्रसाद', प्रेमचन्द, रामचन्द्र शुक्लने उसे आगे बढ़ाया और आधुनिक कालके जनवादियोंमेंसे कुछ प्रमुख नाम ये हैं—'निराला', वृन्दावनलाल वर्मा, यशपाल, 'अश्क', नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त, रांगेय राघव तथा राहुल सांकृत्यायन। यों किसी जमानेमें सुमित्रानन्दन पन्त और नरेन्द्र शर्मा प्रभृति साहित्यकार भी जनवादी थे।

[सहायक ग्रन्थ—१. प्रगतिशील साहित्यकी समस्याएँ : रामविलास शर्मा; २. प्रगतिशील साहित्यके मानदण्ड : रांगेय राघव; ३. प्रगतिवाद—एक रूपरेखा : धर्मवीर भारती; ४. स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य : रामविलास शर्मा।] —दे० शं० अ०

जन-साहित्य—जनकाव्यको परखनेका जो मापदण्ड है, वह मापदण्ड जन-साहित्यको आँकनेका भी है। हर एक साहित्य जन-साहित्य नहीं हो सकता। जन-साहित्य बननेके लिए समाजकी आत्माके साथ तादात्म्य स्थापित करना पड़ेगा, किन्तु वर्तमान समयमें राजनीतिक दलोंने जनकाव्यकी जो दुर्दशा की है, वही दुर्दशा जन-साहित्यकी भी हुई है। प्रगतिशील साहित्यको ही कुछ लोग जन-साहित्य मानते हैं, किन्तु यह उनकी भूल है। साहित्य मुक्त और निर्बन्ध आत्माका स्वर है। इसकी आकृति, रूपरेखा किसी भी बाहरी बाध्यताको स्वीकार नहीं करती। जन-साहित्यका सम्पर्क सामाजिक हित और कल्याणसे है, न कि दल-विशेषसे। —रा० कु० त्रि०

जनहित—यह शब्द वस्तुतः सामाजिक कल्याणसे सम्बन्ध रखता है। सारे समाजका जो कल्याण है, वही वस्तुतः समाजमें रहनेवाले लोगोंका भी कल्याण है। —रा० कु० त्रि०

जनांतिक-नियतश्राव्य (दे०)के दो भेदोंमेंसे एक। जहाँ रंगमंचपर दूसरे पात्रोंके उपस्थित रहते हुए भी दो पात्र इस तरह बात करें, मानो दूसरोंको उन्हें कुछ सुनाना अभीष्ट न हो और दूसरे पात्रोंकी ओर 'त्रिपताका कर'के द्वारा संकेत कर सामाजिकोंको इस बातकी सूचना दें कि उनका निवारण किया जा रहा है, वहाँ जनान्तिक **नियतश्राव्य** होता है।

रंगमंचपर उपस्थित जिस पात्रको कोई बात नहीं सुनानी है, उसकी ओर हाथकी सारी अंगुलियाँ ऊर्ध्वोन्मुखी कर अनामिकाको वक्राकार रखना 'त्रिपताका' कहा जाता है। इस तरहसे हाथको विशेष स्थितिमें रखना 'त्रिपताका कर'का लक्षण है। —ब० सिं०

जबरूत—दे० 'सूफीमार्ग।'

जलहरण—मुक्तक दण्डकका एक भेद। इसमें ३२ अक्षर होते हैं। आठ, आठ, नौ फिर सातपर यति होती है। साधारणतया नियम यह है कि पादान्तके दोनों वर्ण लघु हों अथवा अन्तके पूर्व एक वर्णका लघु होना आवश्यक है और अन्त यदि गुरु भी हो तो उसका उच्चारण लघुकी ही भाँति होगा। प्रस्तुत दण्डक भक्ति और रीतिकालसे लेकर घनाक्षरी वृत्त लिखनेवाले आधुनिक कालतकके कवियोंका प्रिय छन्द रहा है। केशव, मतिराम, पद्माकर, घनानन्दसे लेकर भारतेन्दु और 'रत्नाकर'तक प्रायः सभी घनाक्षरी लिखनेवाले कवियोंने जलहरण दण्डकका प्रयोग किया है। उदा०—१. "सीता जूके मुख सुख सुखमाकी उपमाको कोमल न कमल न अमल न रयनपति" (केशव : क० प्रि०)। २. "फूलि रहे फलि रहे फैलि रहे, फबि रहे, झपि रहे, झूलि रहे, झुकि रहे झूमि रहे" (पद्माकर), ३. "हरी प्रानप्यारी बिन देखे मुख तेरो मेरे, जियमें घटा घहरि-घहरि उठै" (हरिश्चन्द्र)। —ह० मो०

जालन्धर पीठ—'गोरक्षपद्धति' (पृ० १५)में कंठदेशमें स्थित विशुद्ध नामक पाँचवें चक्रका विवरण देते हुए पंडित महीधर शर्माने बताया है कि यह चक्र रक्तवर्ण, ऊर्ध्वमुख और सोलह दलोंका कमल है। इसकी स्फटिकवर्णकी कर्णिकामें वर्तुलाकार आकाश-मण्डल है, जिसमें निष्कलंक पूर्णचन्द्रमा स्थित है। इसका बीज 'हं' है और इस बीजके पार्श्वमें शाकिनी नामक शक्तिके साथ सदाशिव अवस्थित है। इसे जालंधर पीठ कहा जाता है। —रा० सिं०

जिकड़ी—ब्रजमें प्रचलित गीतविशेष, जो होलीके अवसरपर ग्राम-मण्डलियों द्वारा गाये जाते हैं। ये मण्डलियाँ कभी-कभी होड़ बद लेती हैं। गीतोंमें ही प्रश्नोत्तर होते हैं। जिसका उत्तर ठीक बैठता है, वह मण्डली जीत जाती है और हारी हुई मण्डलीका जिकड़ी भजन कटा हुआ गिन लिया जाता है। जिकड़ी भजनका स्वर धार्मिक होता है। साधारणतया उसमें चार चौक होते हैं। उन्हें गानेवाले रसिये, जो गाते समय बोल उठाते हैं, अगेड़िया, जो दुहराते हैं, पिछेड़िया और जो लम्बा खीचते हैं, हेकड़ा कहलाते हैं। जिकड़ीका प्रारम्भ **गाहे**से होता है। गाहे छः चरणोंका होता है। इस प्रकार जिकड़ीके पाँच अंग उल्लेखनीय हैं—१. गाह्यो, २. टेक, ३. साखी या फूल, ४. झड़ावन और ५. उड़ान या टूटन। जिकड़ीमें व्यंग्योक्तियाँ 'फुटकर' कहलाती हैं। ब्रजके मथुरा, अलीगढ और आगरा के क्षेत्रमें जिकड़ी चैत मासकी विशेष प्रिय गीत-शैली है। —श्या० प०

जिक्र–'जिक्र' शब्दका अर्थ स्मरण करना है। परमात्माके नामका स्मरण ही सूफियोंका 'जिक्र' है। परमात्माके सतत स्मरणसे साधक एक ऐसी अवस्थाको प्राप्त होना चाहता है, जिसमे परमात्माके सिवा अन्य सभी वस्तुओका ज्ञान उसके भीतरसे तिरोहित हो जाय। प्रारम्भमे 'जिक्र'से यही समझा जाता रहा, लेकिन बादमे चलकर और कई बातें इसके साथ जुड गयीं और इसका अर्थ ही पलट गया। इसमे नाना प्रकारकी क्रियाएँ शामिल हो गयी। कहते है कि 'जिक्र'की इन क्रियाओ द्वारा साधकको 'हाल' (भावाविष्टावस्था)की अवस्था प्राप्त हो जाती है। इस अवस्थामें साधकके मनमे परमात्माके सिवा अन्य किसी प्रकारका ख्याल नही आता।

'जिक्र'की नाना प्रकारकी क्रियाएँ सूफी सम्प्रदायोंमे प्रचलित है। ऐसा भी देखा जाता है कि बहुत-सी क्रियाएँ थोड़े-बहुत अन्तरसे भिन्न सूफी सम्प्रदायों और उपसम्प्रदायोंमें प्रचलित है। मिस्रमे 'जिक्र'की इन क्रियाओका बहुत प्रचलन है, वैसे सभी मुसलिम देशोंमे ये क्रियाएँ देखनेको मिलती है। 'जिक्र'की ये क्रियाएँ काय-साधना जैसी है।

'जिक्र'की क्रियाओंका वर्णन यहाँ सम्भव नही, फिर भी इनका अनुमान इस बातसे लगाया जा सकता है कि 'जिक्र'-की इन क्रियाओके सम्पादन द्वारा साधक एक ऐसी स्थितिमे पहुँच जाता है कि शारीरिक पीडा नामकी कोई वस्तु उसके लिए नहीं रह जाती। जलते हुए लाल छड़ोंको वे मुँहमें ले लेते है तथा शरीरमें घुसेडते है, फिर भी किसी प्रकारकी पीडाका अनुभव नहीं करते। ये सभी क्रियाएँ वे अपने शेख या पीरकी उपस्थितिमें करते है। मुर्शिद (गुरु)-के बिना इन क्रियाओंका सम्पादन अकेले भी किया जा सकता है और समूहमे भी।

'जिक्र'के दो प्रकार है। एकमे साधक जोर-जोरसे अल्लाहका नाम लेता है और दूसरेमें इसके ठीक विपरीत चुपचाप शान्त भावमे मन-ही-मन परमात्माका स्मरण करता है। इनमें प्रथमको **जिक्रे जली** और द्वितीयको **जिक्रे खफी** कहते हैं। **जिक्रे जली**में साधक जोरसे 'अल्लाह' कहता है और उत्तरोत्तर उसकी आवाज तेज होती जाती है। उसे लगता है कि जैसे आवाज कभी दाहिने घुटनेसे आती है, तो कभी बायेंसे और कभी पार्श्वसे। इसका एक निश्चित क्रम है, उसीका अनुसरण साधक करता है। एक विशेष अवस्थामें वह प्रार्थनाकी मुद्रामे मक्काकी दिशामें मुँह फेर आँखें बन्द कर लेता है। आवाजको नाभिसे खीचकर बायें कन्धेकी ओर ले आता है और 'ला' शब्दका उच्चारण करता है, तब वह 'इलाह' कहता है, मानो वह अपनी आवाज मस्तिष्कसे खीचता है और अन्तमे बाये पार्श्वसे आवाजको खीचता है और पूरी शक्ति लगाकर 'इल्लाल्लाह' कहता है।

जिक्रे खफी—की क्रियाओंका क्रम निम्नलिखित है—इसमे साधक बहुत धीरे-धीरे अथवा मन-ही-मन शब्दोका उच्चारण करता है। आँखें और जिह्वा बन्द कर लेता है और इसके बाद मानो अपने हृदयकी जिह्वासे कहता है—'अल्लहु समीयून' (परमात्मा जो सुनता है), 'अल्लहु बसीरुन' (परमात्मा जो देखता है), 'अल्लहु आलीमुन' (परमात्मा जो जाननेवाला है)। पहलेको वह नाभिसे हृदयतक ले जाता है, दूसरेको हृदयसे मस्तिष्कतक और तीसरेको मस्तिष्कसे अन्तरिक्षतक और फिर उसी क्रमसे पीछे लौटता है। इसी प्रकारसे वह बार-बार करता है। वह धीमे स्वरसे 'अल्लाह' कहता है। पहले दाहिने घुटनेसे और तब बायें पार्श्वसे: प्रत्येक बार जब वह साँस छोडता है तो 'ला इलाह' कहता है और जब खींचता है तब 'इल्लाल्लाह' कहता है। यह तीसरा जर्ब बहुत ही श्रम साध्य है और इसे सैकडों-हजारों बार दुहराया जाता है और बहुत ही महत्त्वका और पुनीत माना जाता है। —रा० पू० ति०

जिक्रे-खफी–दे० 'जिक्र'।

जिक्रे-जली–दे० 'जिक्र'।

जिज्ञासु भक्ति–दे० 'गौणी भक्ति'।

जीवन-चरित–दे० 'जीवनी'।

जीवनी, जीवनी साहित्य–किसी व्यक्तिविशेषके जीवन वृत्तान्तको जीवनी कहते हैं। जीवनीका अंग्रेजी पर्याय 'लाइफ' अथवा 'बायोग्राफी' है। हिन्दीमे जीवनीको जीवन चरित अथवा जीवन-चरित्र भी कहा जाता है। इनमे कोई मौलिक अन्तर नहीं जान पडता। जीवन-चरित कालान्तरमे किंचित् शुद्ध होकर जीवन-चरित्र बन गया और इसीका आधुनिक एक संक्षिप्त रूप जीवनी अब सर्वाधिक प्रचलित है। जीवन-चरित्रमे निहित दोनो शब्दोंको अलग करे तो जीवनके अन्तर्गत स्थूल बाह्य घटनाओको और चरित्रके अन्तर्गत चरितनायककी आन्तरिक विशेषताओंको ले सकते हैं। इस प्रकार जीवन-चरित्र अथवा जीवनीमें किसी मनुष्यके अन्तर्बाह्य, दोनो ही जीवनोका लेखा होता है।

सामान्यतः जीवन-चरित सारे जीवनमे किसीके किये हुए कार्योंका वर्णन होता है। उसमें नायकके सम्पूर्ण जीवन या उसके यथेष्ट भागकी चर्चा होनी चाहिये, पर यह कोई ऐसा नियम नही है, जिसका पालन करना हर समय सम्भव हो सके। अनेक लोगोके जीवन-चरित्र उनके जीवन-कालमें लिखे जाते है और यह स्पष्ट है कि जीवन-कालमे लिखे गये जीवन-चरित्रोंमे जिन्दगीभरका हाल दे सकना सम्भव नहीं है। यही कारण है कि जीवनी-साहित्य का एक छोर स्फुट संस्मरणको माना जा सकता है और दूसरा छोर उस जीवनीको, जिसमें जन्मसे लेकर मृत्युतकका इतिहास हो। शिप्लेके अनुसार जीवनीको नायकके सम्पूर्ण जीवन अथवा उसके यथेष्ट भागकी चर्चा करनी चाहिये और अपने आदर्शरूपमे एक विशिष्ट इतिहास होना चाहिये। यह ठीक है, पर जीवनी साधारण इतिहास और काल्पनिक कथा—दोनोंसे बहुत अधिक भिन्न होती है। पाश्चात्य साहित्यमें जीवनीको बहुत पहलेसे एक विशेष साहित्यरूप माना जाता रहा है, उपन्यास या इतिहास नही। रिनेसॉंसे पहले किन्ही विचारों अथवा सिद्धान्तोकी व्याख्या करनेके दृष्टिकोणसे जीवन-चरित लिखे जाते थे, उनका प्राथमिक उद्देश्य जीवनी लिखना नहीं होता था। मध्ययुगमें सामान्यतः सन्तों अथवा राजवंशोंसे सम्बन्धित जीवनियाँ लिखी गयी और इनमे मनुष्यको प्रकारोंके अन्तर्गत रखनेकी प्रवृत्ति प्रधान हुई, फिर भी जीवन-चरित लिखनेके पीछे सदासे ही यह भावना रही

है कि मनुष्योंको व्यक्तियोंके रूपमें समझा और माना जाय। यही भावना 'रिफार्मेशन'-कालमें इस तरह विकसित हुई कि प्रत्येक व्यक्तिमें कुछ-न-कुछ विशेषता होती है। फलतः प्रोटेस्टेण्ट जीवनियोंकी रचना हुई।

जीवनी-लेखनके सम्बन्धमें समय-समयपर अनेक दृष्टिकोण विकसित हुए हैं। आत्मीय जीवनी, लोकप्रिय जीवनी, विद्वत्तापूर्ण जीवनी, मनोवैज्ञानिक अथवा व्याख्यात्मक जीवनी, कलात्मक जीवनी और लिटन स्ट्रैची द्वारा विकसित व्यंग्यात्मक जीवनी। परन्तु शिल्पके अनुसार जीवनियोंके ये समस्त प्रकार किसी-न-किसी रूपमें एक ही मोटे वर्गके अन्तर्गत आ जाते हैं, जिसे उपदेशात्मक जीवनी कहा जा सकता है। ऐसा होते हुए भी जीवनी-लेखकके लिए उचित है कि वह चरित-नायकके जीवनको क्रमशः अन्वेषित एवं उद्घाटित करे। प्रारम्भसे ही चरित-नायकमें महत्ता और विलक्षणताके दर्शन करने लगना अच्छा नहीं रहता, क्योंकि ऐसा करनेसे नायकका चरित्र स्वाभाविक रूपसे निर्मित नहीं हो पाता।

यदि जीवनीको कथा-साहित्यसे अलग रखना है तो यह बात कभी न भूलनी चाहिये कि वास्तविक जीवनी वही है, जिसमें तथ्योंके अन्वेषणमें और उन्हें प्रस्तुत करनेमें विशेष ध्यान रखा जाय और जीवनी प्रामाणिक तथा सम्यक् जानकारीपर आधारित रहे। जीवनी-लेखकको उन सभी तथ्योंकी जानकारी कर लेनी चाहिये, जिन्होंने उसके चरितनायकके जीवनपर प्रभाव डाला हो। साथ ही, जीवनी-लेखकको चरितनायकके जीवनकी घटनाओंको उसी क्रममें प्रस्तुत करना चाहिये, जिसमें कि वे घटित हुई हों। जीवनीकी सामग्रीके कुछ स्रोत कैसेलने गिनाये हैं—(क) उसी विषय अथवा सम्बद्ध विषयोंपर पहले लिखी गयी पुस्तकें, (ख) मूल सामग्री, यथा-पत्र, डायरी या प्रामाणिक गवेषणा-सामग्री, (ग) समकालीनोंके संस्मरण, (घ) यदि वर्ण्य समय बहुत पहलेका नहीं है तो जीवित व्यक्तियोंकी यादगारें, (ङ) जीवनी-लेखक यदि अपने चरितनायकके सम्पर्कमें रहा है तो उसके अपने संस्मरण, यथा बासवेल और (च) उन स्थलोंका भ्रमण तथा पर्यवेक्षण जहाँ चरित-नायक रहा था।

हमारे देशमें जिस प्रकार इतिहास लिखनेकी कोई प्राचीन परम्परा नहीं रही, उसी प्रकार जीवन-चरित लिखनेकी भी नहीं थी। पुराणों, महाकाव्यों और नाटकोंमें राजपुरुषों, महापुरुषों और वीरोंका वर्णन अवश्य होता था, पर इन ग्रन्थोंमें इन व्यक्तियोंका अतिरंजित और अतिप्राकृत स्वरूप अंकित किया जाता था। इसी प्रकार भक्ति-कालीन वार्ताओं, नाभादासकृत 'भक्तमाल' तथा अन्य कुछ ग्रन्थोंमें जीवन-सम्बन्धी जो भी इतिवृत्त मिलते हैं, वे उपर्युक्त गुण-दोषोंसे युक्त हैं। फलतः जीवनी-लेखनकी वास्तविक एवं वैज्ञानिक दृष्टि हमारे प्राचीन साहित्यमें विरल ही है। यह दृष्टि हमें आधुनिक कालमें पश्चिमसे मिली।

हिन्दीमें अपेक्षाकृत आधुनिक रीतिसे जीवनियोंका लिखा जाना लगभग १८८२ ई०से प्रारम्भ होता है। कार्तिक प्रसाद खत्रीने १८९३ ई०में मीराँबाईका जीवन-चरित्र लिखा। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, राधाकृष्ण दास, मुंशी देवी-प्रसाद आदिने जीवन-चरित्र-लेखनमें रुचि ली और बड़ा कार्य किया। बालमुकुन्द गुप्तने प्रतापनारायण मिश्रका जीवन-चरित्र लिखा। अतिरंजित उपाख्यानों, इतिवृत्तात्मक ब्यौरों और स्फुट प्रसंगोंकी स्थितिसे आगे बढ़कर हिन्दीका जीवनी-साहित्य नायकके जीवन-तथ्योंके वैज्ञानिक विश्लेषण, सम्यक निरूपण और मनोवैज्ञानिक अध्ययनकी दिशामें गतिशील हो रहा है।

[सहायक ग्रन्थ—राष्ट्रीय जीवनियोंका कोश : इंग्लैण्ड, स्वीडेन, हालैण्ड, आस्ट्रिया, जर्मनी, अमेरिका। महात्मा तेन्दुलकर (अंग्रेजी)।] —अ० कु०

जीवनवृत्तान्तीय आलोचना (बायॅग्राफिकल क्रिटिसिज्म)–जीवनवृत्तान्तीय आलोचना-प्रणालीका यह मत है कि कृतिकार और उसकी कृतिमें एक ऐसा अनिवार्य सम्बन्ध है कि कृति मुख्यतः उसके जीवन और जीवनदृष्टिको पूर्ण रूपसे व्यक्त करती है। इस प्रणालीका यह मत है कि कृतिकार अपनी कृतिमें अपने जीवनके विकास और उसके संघर्षोंको व्यक्त करता चलता है। वस्तुतः प्रत्येक कृतिको कलाकारके जीवनमें पृथक् भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि जीवनके सुख-दुःख, अनुभव, आनन्द, तिक्त और रिक्त क्षणोंकी अनुभूतियाँ उसे प्रत्येक क्षण प्रभावित करती हैं और उसके उतार-चढ़ाव, आरोह-अवरोहमें उसकी चेतना आन्दोलित होती रहती है। इन्हीं संघर्षोंके क्षणोंमें कृतिकार-की रागात्मक भावनाएँ भी उद्वेलित होती रहती हैं और उसकी प्रत्येक कृति किसी-न-किसी रूपमें इन क्षणोंको व्यक्त करती ही है। जैसे निरपेक्ष सत्यका अस्तित्व आजके युगमें स्वीकार नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार नितान्त निर-पेक्ष अनुभूतियोंका भी अस्तित्व नहीं स्वीकार किया जा सकता। अस्तु इस दृष्टिसे इस प्रणालीका महत्त्वपूर्ण उद्देश्य यह रहा है कि कृतिकार और उसकी कृतिमें उस सम्बन्ध-को ध्यानमें रखकर मूल्यांकन किया जाय, जो परिवेश, यथार्थ और वस्तुस्थिति और परिस्थितिके रूपमें कलाकारके चिन्तन और विवेकको प्रभावित करती रही। जीवनवृत्तान्तीय प्रणाली कृतिकारके मानवीय सन्दर्भमें उसको क्रियाशील चेतनाके निर्णय, निश्चय, भाग और योग लेनेवाला व्यक्ति मानती है, इसलिए उसके कृतित्वसे उसकी क्रियाशील संवेदनाको भी नापनेकी चेष्टा करती है।

स्थापनारूपमें जीवनवृत्तान्तीय आलोचनाकी तीन मुख्य स्थापनाएँ हैं। सर्वप्रथम तो यह कि कृतिकारका जीवन जिस देश-कालमें जीता और जागता है, उस देशकालसे निरपेक्ष साहित्यका निर्माण नहीं कर सकता। उस देश-कालका परिवेश उसकी चिन्तनशक्ति, भावानुभूति और विचारको प्रभावित करता है। ये प्रभाव उसके समूचे जीवनवृत्तको मर्यादित भी करते रहते हैं और उसका संघर्ष उसकी स्वीकृतियों और अस्वीकृतियोंमें प्रतिबिम्बित होकर उसकी कृतिमें अभिव्यक्ति पाता रहता है।

दूसरा यह कि कृतिकारका जीवन और उसकी कृति, दोनों प्रत्यक्ष या परोक्षरूपमें एक दूसरेको व्यक्त करते हैं। कृति कृतिकारकी उपलब्धि है और प्रत्येक उपलब्धि जीवन-वृत्तमें विकसित होकर उसके अंगकी पूर्ति करती है। इस

दृष्टिसे यदि देखा जाय तो प्रत्येक कृति कलाकारके दो पक्षोंका प्रतिनिधित्व करती है—एक तो उसकी वर्तमान स्थितिका और दूसरे उसके विचार-दर्शनके रूपमें प्राप्त उपलब्धिका। इन दोनोंके माध्यमसे उसके व्यक्तित्वको अधिक जाना जा सकता है।

तीसरी यह कि इस आलोचना-प्रणालीके माध्यमसे हम कृतिकारके जीवनमें भाग लेकर, उसकी अनुभूतिको ग्रहण कर लेनेपर, उसकी कृतिको अधिक सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिके साथ देख और समझ सकते हैं। अस्तु, यदि पाठकके सामने किसी भी रूपमें यह दृष्टि प्रस्तुत हो सके तो बहुत-सी ऐसी रचनाएँ, जो अधिकांश सन्दर्भहीन-सी लगती हैं, उनका भी महत्त्व पर्याप्त मात्रामें ज्ञात हो जायगा।

अस्तु विवेचनारूपमें जीवनवृत्तान्तीय प्रणालीके दो स्तर हैं। एक तो यह कि प्रत्येक कृतिको उसके शिल्प और रूपाकारके आधारपर देखनेका प्रयास किया जाय और दूसरा यह कि उस वस्तुपरक दृष्टिके साथ उस कृतिकारकी मनःस्थिति और परिवेशका भी एक अध्ययन प्रस्तुत किया जाय। यद्यपि यह ठीक है कि कृतिकारके व्यक्तित्वकी गहराई, ऊँचाई और व्यापकताकी पकड़ कलामें ही व्यक्त होती है, फिर भी उसके विचारों और कल्पनाओंकी काव्यानुभूतिकी परखके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि उसके जीवनकी अनन्त झाँकियोंका एक ऐसा चित्रपट प्रस्तुत करनेका प्रयास किया जाय, जिसमें उसकी सक्रियता और उसका कृतित्व, दोनों ही समान रूपसे चित्रित हो सकें।

मनोवैज्ञानिक स्तरपर एक सीमातक सत्य होनेके बावजूद इसमें कुछ विरोधाभास है, जिसे जान लेना आवश्यक है। कृतिकारके व्यक्तित्व और उसकी जीवनीसे आत्मीयता प्राप्त करनेमें जहाँ कुछ सुविधाएँ हैं, वहाँ इसके कई दोष भी हो सकते हैं। यदि उस जीवनीसे पाठकको सहानुभूति उत्पन्न हुई तो वह, सम्भव है, उसकी रचनाओंके साथ सन्तुलित, विवेकपूर्ण मत न रखकर अतिप्रशंसावादी धारणा बना ले। साथ ही यदि उसकी आत्मीयताने उसके सामने केवल उसके व्यक्तित्वकी त्रुटियों और कमजोरियोंको ही उभारकर प्रस्तुत किया, तो सम्भव है कि वह उस आधारपर उसकी उच्चतम कृतिको भी न्यूनतम सिद्ध करनेको तत्पर हो जाय। दोनों ही स्थितियोंमें साहित्यिक अथवा कलापूर्ण विवेचन न होकर पाठककी भावनामें पक्षधरताकी सम्भावना पायी जा सकती है। जहाँ एक ओर यह कमी है, वहाँ दूसरी ओर यह भी है कि इस प्रणालीकी मूल प्रकृतिमें ही ये सीमाएँ हैं, जो उसकी स्वतन्त्रताको पुष्ट करती हैं, क्योंकि अधिकांश रूपमें किसी भी कृतिकारके वास्तविक और प्रामाणिक जीवनको जानना स्वयंमें एक सीमित सम्भावना है। दूसरी दृष्टिसे यदि देखें तो इस आलोचना-प्रणालीमें वे तत्त्व हैं, जो अतिरिक्त तथ्योंपर बल देकर अनावश्यक तत्त्वोंको महत्त्व देते हैं। अस्तु, जीवनवृत्तान्तीय आलोचना-प्रणालीके विकाससे यह भी सम्भव है कि साहित्यिक तथ्योंसे अधिक उन ऐतिहासिक तथ्योंको विशेष महत्त्व दिया जाने लगे जो केवल गौण रूपमें जीवनमें आते और प्रभावित करते हों। जीवनवृत्तान्तीय आलोचना ऐतिहासिक अन्वेषणात्मक प्रवृत्तियोंका एक विकृतिपूर्ण रूप भी हो सकता है। वैज्ञानिक आलोचनाके लिए यह आवश्यक है कि कृतिकी आलोचना और मूल्यांकन करते समय उसके व्यक्तित्वको केवल उतना ही महत्त्व देना चाहिये, जितना कि कृतिने दो। उससे परे जानेसे कृतिकी आलोचना न होकर कृतिकारकी आलोचना की जानेकी सम्भावना होती है। यदि ऐसा हुआ तो परिणाम यह होगा कि कृतिकारके आचार-विचार, व्यवहार और आचरणकी व्याख्या करते-करते कृतिकी आलोचना नहीं हो पायेगी, उनका मूल्यांकन नहीं हो पायेगा।

वस्तुतः कृति सर्वप्रथम एक कलाकृति है और इस प्रकार वह स्वयं एक कलानुभूति और सौन्दर्यानुभूतिको व्यक्त करती है। सम्पूर्ण जीवन कुत्सित, कुण्ठाग्रस्त, असामाजिक और अराजकतापूर्ण व्यतीत करनेवाला कृतिकार एक क्षण ईमानदार, उदात्त और सर्जनशील भी हो सकता है। ऐसी स्थितिमें यदि कृतिकारकी जीवनीके आधारपर उसकी कलाकृतिका मूल्यांकन करनेवाला उसके सम्पूर्ण जीवनको दृष्टिमें रखकर आलोचना करने बैठता है तो सम्भव है सम्पूर्ण जीवनवृत्तान्तके आधारपर वह उस एक क्षणके महत्त्वको न समझ पाये जिसमें कृतिकार इतना ईमानदार और संवेदनशील रहा है। अस्तु, प्रस्तुत आलोचना-प्रणाली जहाँ एक ओर मानवीय पक्षपर बल देती है वहीं वह साहित्यिक एवं कलाकी दृष्टिसे वे खतरे भी मोल लेती है, जो मूल्यांकनकी गतिविधिको दूषित कर सकते हैं।

ऐतिहासिक दृष्टिसे यदि देखा जाय तो भी यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवनवृत्तान्तीय शैलीकी अनिवार्य सीमाएँ हैं। अंग्रेजी साहित्यमें इस शैलीपर विशेष बल देनेवाला अठारहवीं शताब्दीका प्रसिद्ध कवि ड्राईडेन था, जिसका यह मत था कि प्रत्येक कृति कृतिकारके व्यक्तित्वके मूल्यांकन बिना न तो अच्छी तरह समझी जा सकती है और न उसका मूल्यांकन किया जा सकता है। सर्वप्रथम इस प्रणालीका प्रचार एवं प्रसार उस समय हुआ, जब कुछ कवियोंका जीवन-चरित्र लिखनेका प्रयास किया जा रहा था और उस प्रयासके विस्तारमें उन कृतियोंका भी विवेचन किया गया था, जो उन कवियोंके जीवनकी झाँकियाँ प्रस्तुत कर रही थीं। जैसा कि स्पष्ट है, जिन परिस्थितियोंमें इस प्रणालीका विकास हुआ, उसमें महत्त्वपूर्ण तत्त्व जीवनवृत्तान्त प्रस्तुत करना था, न कि साहित्यिक मूल्यांकन। अस्तु, जहाँ प्रस्तुत आलोचना-प्रणालीमें एक सीमातक अधिकांश सत्य है, वहाँ उसमें अतिशय आग्रह भी है, जो साहित्यिक सन्दर्भोंकी अपेक्षा अन्य सन्दर्भोंको बल देता है। इन ऐतिहासिक जीवनी लिखनेवालोंका एकमात्र आशय देश-कालकी सीमाओं, कृतिकारके व्यक्तित्वकी क्रिया, प्रतिक्रिया, दायित्व, अनुत्तरदायित्वका विवेचन करना था। इन समस्त स्थितियोंमें कविकी समसामयिकता और उसकी मानवीय क्रियाशीलताको चित्रित करनेका उद्देश्य था। कृति इन सीमाओंसे उपजकर भी इनसे परेकी सम्भावना हो सकती है, क्योंकि जीवनवृत्तान्त तो केवल वास्तविकताके सन्दर्भको प्रस्तुत करता है, कृति दृष्टिका वाहन है और दृष्टि सन्दर्भकी सीमासे सर्वथा नयी भावभूमिको भी प्रस्तुत करनेकी क्षमता रख सकती है। अतः वैज्ञानिक दृष्टिसे इस

प्रणालीमें कई कमियाँ हैं, जो इसे वैज्ञानिक होनेसे रोकती हैं। —ल० का० व०

जुगुप्सा—बीभत्स रसका स्थायी भाव जुगुप्सा है। 'रसतरंगिणी'में कहा है—"अप्रियदर्शनस्पर्शनस्मरणजनिता मनोविकृतिपरिपूर्णा जुगुप्सा", अर्थात् अप्रिय वस्तुके दर्शन, स्पर्श अथवा स्मरणसे उत्पन्न मनोविकार, जो साधारणतया अपूर्ण तथा रसपरिपाकमें ही पूर्णतया प्रस्फुटित होता है, जुगुप्सा है। 'साहित्यदर्पण'के अनुसार दोषदर्शनादिके कारण किसी वस्तुमें उत्पन्न घृणाको जुगुप्सा कहते हैं (३ : १७९)। किसी अरुचिकर अथवा प्रतिकूल वस्तुके साक्षात्कार अथवा कल्पनामात्रसे जनित चित्तवृत्तिका संकोच ही जुगुप्सा है। श्मशान इत्यादिमें शव, रक्त, मांस, मज्जा इत्यादिके दर्शनसे अथवा कभी उनके स्मरणसे, मनमें एक उद्वेग उत्पन्न होता है, जो मनुष्यको इन वस्तुओंसे दूर खिंच जानेके लिए प्रेरित करता है, क्योंकि तभी वह उस तीव्र असन्तोष, गर्हणा एवं विकलताकी भावनासे मुक्ति पाता है, जो उसके भीतर उनके दर्शन या स्मरणसे उद्भूत हुई है। यह विकर्षणकी प्रवृत्ति भय एवं क्रोधमें भी लक्षित होती है। लेकिन, भयमें वह पलायन अथवा अन्य प्रकारसे दैन्यप्रदर्शनके रूपसे प्रकट होती है तथा क्रोधमें वह मनुष्यको उस प्रतिकूल विषयके विनाश या मर्दनमें प्रवृत्त करती है, जब कि जुगुप्सामें केवल दूर हटनेकी कामना ही प्रबल होती है। जुगुप्साको अश्लीलताके साथ लपेटना भी युक्तिसंगत नहीं है। अश्लीलता मर्यादाका उल्लंघन है तथा वह शृंगारमें दृष्टिगोचर होती है, जहाँ वह घृणा या जुगुप्सा उत्पन्न नहीं करती।

मोह, व्याधि, जड़ता, ग्लानि इत्यादि जुगुप्साको पुष्ट करनेवाले व्यभिचारी भाव हैं। उदा०—"सूपनखाको रूप लखि, स्रवत रुधिर विकराल। तिय सुभाव सिय हटि कछुक, मुख फेर्‌यो तिहि काल" (पोद्दार : र० मं०)। यहाँ 'कछुक मुँह फेर्‌यो'के कथनसे जुगुप्साभावकी व्यंजना है, स्थायीका परिस्फुटन नहीं हो सका है। —र० ति०

जुलाहा—योग-साधनाओंमें साधकका प्रतीक, जो सिद्धोंसे लेकर सन्तोंतकके साहित्यमें व्यवहृत होता रहा। तन्तिपाकी चर्यामें साधकको जुलाहा, मनोवृत्तियोंको सूत्र, तनको चादर और करघेके शब्दको अनाहदनाद माना गया है। कबीरमें भी यह रूपक इसी प्रकार मिलता है। एक स्थानपर ईश्वरको कोरी मानकर सारी सृष्टिको उसका ताना-बाना बताया गया है ('सन्त कबीर' : रामकुमार वर्मा)। तनको चादर या चदरिया मानकर मैले होने (या वासना-मलिन होने) या चोलेके जर्जर होने और बदलनेका भी उल्लेख सन्तोंने बार-बार किया है। —ध० वी० भा०

जृंभा—दे० 'सात्त्विक अनुभाव', नवाँ।

जैन चरित-साहित्य—संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और आधुनिक भारतीय भाषाओं, सभीमें लिखे हुए जैन साहित्यमें विषयवस्तुकी एक ऐसी समानता मिलती है, जो उसे अपना एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रदान करती है। यह समानता प्रायः बहुत-कुछ नीरस है। जैन कविके सामने कथानकोंका स्वरूप प्रायः निश्चित रहता था, प्रतिभासम्पन्न कवि परम्परामें बँधी कथामें काव्यानुकूल प्रसंगोंपर कवित्वका प्रदर्शन करते हैं, अन्यथा बहुसंख्यक रचनाओंमें नवीनता बहुत कम मिलती है।

जैन चरित-काव्योंके दो प्रकार मिलते हैं—अनेक पात्रोंकी कथावाले ग्रन्थ और एक पात्रकी कथा कहनेवाली कृतियाँ। प्राकृत और अपभ्रंशमें जैनकवियों द्वारा लिखित चरितकाव्योंकी जो धारा मिलती है, वह हिन्दीमें भी चलती रही। परिवर्तनकालीन भाषा और सारी नवीनताओंको इन कवियोंने अपनाया है। पौराणिक पात्रों, लोककथाओंमें प्रसिद्ध पात्रों या प्रसिद्ध वीर, दानी व्यक्तियोंकी जीवन-कथाओंको इन कवियोंने चुना है और नाना प्रसंगोंकी कल्पना उनको बीचमें रखकर की है। अनेक व्रत-कथाओं, धार्मिक प्रतिज्ञाओंका पालन करनेवाले धार्मिक पुरुषोंकी कहानियाँ इन ग्रन्थोंमें कही गयी हैं।

जैन चरित-काव्य और अन्य उपदेशप्रधान लोकप्रिय कथाकाव्य प्रायः अप्रकाशित हैं और साहित्यके विद्यार्थियोंने उनकी ओर बहुत ही कम ध्यान दिया है। इस प्रकारकी अनेक कृतियोंमें कई तो बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, जिनके अस्तित्वका समाचार इधर हालके वर्षोंमें ही मिला है। चरित, चउपई और रास आदि नामोंसे युक्त इन जैन रचनाओंमें केवल आकार और शैलीका अन्तर भले ही मिले, इनके धर्मप्रधान स्वरमें विशेष भेद नहीं है। श्रावकों-(गृहस्थों)को उपदेश देनेके लिए इन रचनाओंकी सृष्टि इनके रचयिताओंने की। नाना जैन भाण्डारोंकी प्रकाशित सूचियोंमें इस प्रकारके ग्रन्थोंके उल्लेख मिलते हैं, उनमेंसे कुछके नाम यहाँ दिये जा रहे हैं। इनमें कुछकी भाषा अपभ्रंशके प्रभावसे सर्वथा मुक्त नहीं हो पायी है और दूसरी ओर अन्य कृतियोंकी भाषा जैनेतर कवियोंके समान ही है। जैसे धर्मसूरिकी १२०९ ई०में रचित 'श्रीजम्बूस्वामी रासा'की भाषामें अपभ्रंशका आभास मिलता है, शब्दावली तद्भव-प्रधान है। इसी प्रकारकी अम्बदेवकृत चरितकाव्य 'संघपति समरा रास' (१४वीं शती वि०)में दानवीर समरशाहका यश इस प्रकारकी भाषामें कहा गया है "निसि (णिसि नहीं) दीवीं झलहलहि जेम ऊगिउ तारायणु। पावल पारु न पामियए वेगि बहइ सुखसणु"...आदि। आगेकी कृतियोंमें भाषा निरन्तर विकसित होती गयी है। अन्य कृतियोंमें १३५५ ई०में रचित उदयवन्तकी कृति 'गौतम रासा' (प्रकाशित), विद्धणकृत १३६६ ई०में रचित 'ज्ञान पंचमी चउपई', १४८९ ई०में दयासागर सूरिरचित 'धर्म दत्तचरित', ईश्वरसूरिकृत 'ललितांगचरित' (१५०५ ई०), 'सारसिखा-मनरास' (१४९१ ई०), 'यशोधरचरित्र' (१५२४ ई०), 'कृपणचरित्र' (१५२३ ई०), ठकरसीकृत, कुशललाभकृत १५५९ ई०में रचित 'माधवानल चौपाई', विद्याभूषण सूरिकृत 'भविष्यदत्तरास', रायमल्लकृत 'हनुमन्तचरित्र' (१५५९ ई०) और 'भविष्यदत्तचरित्र', जिनदासकृत 'जम्बूचरित्र' (१५८५ ई०), बनवारीलालकृत 'भविष्यदत्तचरित्र' (१६०९ ई०), कल्याणदेवकृत 'देवराज वच्छराज चौपई' (१५८६ ई०), नन्दकृत 'यशोधरचरित्र' (१६२३ ई०), कर्मचन्द्रकृत 'मृगावती चौपई' इत्यादि। इस प्रकारके ग्रन्थोंकी रचना अठारहवीं-उन्नीसवीं शतीतक होती रही। उदाहरणके लिए, आमेर शास्त्रभाण्डारमें प्राप्त खुशाल-

चन्दकृत 'हरिवंशपुराण' (१७२३ ई०), 'पद्मपुराण' (१७२६ ई०), 'धन्यकुमारचरित्र', 'जम्बू-चरित्र' जैसी कृतियोंका उल्लेख किया जा सकता है।

इन कृतियोंके केवल नाम देखनेमे ही बिना किसी त्रुटिके भयके कहा जा सकता है कि प्रसिद्ध धार्मिक व्यक्तियों जैसे भविष्यदत्त, यशोधर, गौतमस्वामी, जम्बूस्वामी आदिके ही चरित्रोंको बराबर अनेक कवियोंने अपनी कथाका विषय बनाया है और यह भी बिना विवादके कहा जा सकता है कि कथाके पूर्वस्वीकृत ढाँचेमे कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नही किये गये है। इन चरितकाव्योंमें फिर भी कहीं-कहीं नवीनताएँ मिलती है। समसामयिक समाजके उल्लेख मिलते है और यत्र-तत्र समसामयिक प्रसिद्ध व्यक्तियोंको भी कविताका आधार बनाया गया है। इस सम्पूर्ण साहित्य-में महत्त्वपूर्ण कृतियाँ भी बहुत है।

[सहायक ग्रन्थ—जैन साहित्य और इतिहास: प्रेमी; हिन्दी जैन साहित्यका संक्षिप्त इतिहास: कामताप्रसाद जैन।] —रा० सिं० तो०

जोग–'जोग' उन गीतोंको कहते है जिनका वर्ण्य विषय प्रायः विवाह है। परन्तु इसके अतिरिक्त इनमे जादू और टोनाका भी उल्लेख पाया जाता है। 'तिलक चढने'के पश्चात् जब वर और कन्याके घरमें 'सगुन' गाया जाता है, तब उसी समय 'जोग' गानेकी भी प्रथा पायी जाती है। इन गीतोंमे कही वैवाहिक विधिका वर्णन है, तो कहीं कामाख्या (असम) जाकर जादू-टोना सीखकर आनेका उल्लेख उपलब्ध होता है। भोजपुरीमे जोग करनाका अर्थ जादू या टोना करना होता है। परन्तु जोगके गीत प्रधानतया विवाहके सम्बन्धमे ही उपलब्ध होते है। —कृ० दे० उ०

जोगी–जोगी या योगीके स्पष्टतः दो अर्थ है:—१. योगक्रिया करनेवाले तथा २. योगी या जोगी जाति वाले (इस दूसरे अर्थ वाले जोगीके लिए दे० आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीकी पुस्तक 'कबीर', प्रस्तावना)। सन्तोंके साहित्यमे प्रयुक्त जोगी शब्द इन दोनों अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है। कबीरमे ऐसे प्रयोग भी बहुतसे मिलते हैं, जहाँ एक ही स्थानपर मात्र एकबार प्रयुक्त जोगी शब्द उक्त दोनों अर्थ देता है। सन्तोंने जोगी को 'जगी' रूपमे भी व्यवहृत किया है और 'जौगी' रूपमे भी। ऐसे स्थलोंपर सांसारिक पचडेमें फँसे योगियोंका भी अर्थ संकेतित होता है। वैसे इस तरहके प्रयोग विरल है। 'जुगी' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। —रा० सिं०

जोगौटा–राजा रत्नसेनके योगी-वेषके चित्रणमे जायसीने जोगौटाका उल्लेख किया है—"मेखल सिंगी चक्रधारी। जोगौटा रुद्राक्ष अधारी॥" (पद्मावत, १२६)। जोगौटा, सं० योगपट्ट>अप० जोगवट्ट, का ध्वनि परिवर्तित रूप है। 'हर्षचरित'मे सरस्वतीके वेषका वर्णन करते हुए बाणने 'योगपट्ट' शब्दका व्यवहार किया है। 'यशोधरचरित'-में 'जोगवट्ट'का उल्लेख भी मिलता है। वासुदेवशरण अग्रवालने ('पद्मावत', १२६की टिप्पणीमे) जोगौटाका अर्थ दिया है—"वह वस्त्र जिसे योगी ध्यान करते समय सिरसे पैरों तक डाल लेते है। ध्यानके अतिरिक्त अन्य अवस्थामें यह कन्धेपर पडा रहता है"। —रा० सिं०

ज्ञातयौवना (नायिका)–मुग्धा नायिकाका दूसरा भेद; भानुदत्त द्वारा सर्वप्रथम उल्लिखित; हिन्दी लेखकों द्वारा प्रायः सर्वमान्य। विशेष दे० 'नायिका-भेद'। इस नायिकाको अपने तारुण्यका आभास होने लगता है। मतिरामने इस प्रकार कहा है—"निज तनु जोबन आगमन जानि परत है जाहि।" (रसराज, २१)। लगभग इन्हीं शब्दोंमे इसकी परिभाषा अन्यो द्वारा भी दी गयी है—"तनमे जोबन आगमन जाहिर जब जिहि होत" (प० : जगद्वि०, भाग ?, ३२)। नारीमे जब यौवनकी भावना स्पष्ट रूपसे प्रकट होकर उसे ही भासित हो जाती है, तब वह ज्ञातयौवना कही जाती है—"औचक आय जोबनवाँ मोहि दुख दीन। छुटि गो संग गोइयवाँ नहि भल कीन" (रहीम, ३)। नायिका अपनी स्थितिसे परिचित हो चुकी है। मतिरामकी नायिकाको अपने तारुण्यका भान हो गया है—"कानन लौं लागे मुसुकान प्रेम पागे लैने, लाज भरे लागे लोल लोचन अनंगने" (रसराज, २२)। दासकी अज्ञातयौवनामें भावना स्फुरित हो रही है—"आननमे मुसुकानि सोहावनी बंकुरता अँखियान छई है" (शृं० नि०, १३०)। पद्माकरने शारीरिक विकासका ज्ञान अधिक चित्रित किया है—"छोरि धरी हरी कंचुकी न्हानको, अगन ते जगे जोतिके कौंधे" (जगद्वि०, भा० १ : ३३)। विद्यापतिने राधाके क्रमविकास-में अज्ञातयौवनाका वयःसन्धिके रूपमे और ज्ञानका उसके भावावेगके साथ चित्रण किया है। सूरने भी राधाका इन दोनों रूपोंमे अंकन किया है। पर सूरमे शारीरिक उन्माद विद्यापतिकी अपेक्षा कम है और भावात्मक उल्लास अधिक है। अन्य सूफी प्रेमी कवियोंके साथ जायसीने अपनी नायिकाके इस रूपका व्यापक वर्णन किया है, पर उसमें वियोगकी पीडा अधिक है, जो एक प्रकारकी मदनपीडा ही जान पडती है। छायावादी कविताओंमे प्रकृतिपर मुग्धा नायिकाके विविध रूपोंका आरोप मिलता है। उदा०—'निराला'की कविता 'जुहीकी कली'। (ज्ञातयौवनाके १. नवोढा, २. विश्रब्धनवोढा भेदके लिए इन्हीं शब्दोंको देखे। केशवकी नवलअनंगा तथा लज्जाप्राय और देवकी नवयौवना, नवलअनंगा तथा सलज्जरीति ज्ञातयौवना नायिकाएँ है)। —र०

ज्ञानाश्रयी शाखा–मध्यकालमें 'निर्गुणधारा' कही जानेवाली साहित्यिक प्रवृत्तिका वह रूप, जिसका सम्बन्ध प्रधानतः परमात्माको ज्ञान द्वारा उपलब्ध करनेकी चर्चाके साथ हो, 'ज्ञानाश्रयी शाखा'के नामसे अभिहित किया जाता है और इसका कबीरादि सन्तोंकी रचनाओंमे लक्षित होना बतलाया गया है। निर्गुणधाराकी एक दूसरी शाखा, जिसे इससे भिन्न समझा गया है, 'शुद्ध प्रेममार्गी' कही गयी है और उसका सम्बन्ध प्रधानतः परमात्माको विशुद्ध प्रेम द्वारा प्राप्त करनेके विषयमे है तथा उसके उदाहरण जायसी आदि सूफी कवियोंकी कृतियोंमे मिलते है। 'ज्ञानाश्रयी' अथवा 'शुद्ध प्रेममार्गी' शब्दोंके प्रयोगका अभिप्राय यहाँ यह नहीं कि उक्त प्रकारकी रचनाओंमे क्रमशः केवल ज्ञान अथवा प्रेमका ही वर्णन पाया जाता है। सन्तो द्वारा निर्मित साहित्यमे प्रेम एवं विरहकी चर्चा प्रचुर मात्रामें दीख पडती है और इसी प्रकार सूफियोंकी प्रेम-गाथाओंमें भी हमे ज्ञान-

साधनाके प्रसंग मिल सकते हैं। इनके प्रयोगकी सार्थकता इस बातसे सूचित होती है कि सन्तोंकी रचनाओंमें ज्ञान-साधनाके महत्त्वपर विशेष बल दिया गया प्रतीत होता है, जहाँ प्रेमाभक्तिको उसका एक आवश्यक अंग ही ठहराया गया है, किन्तु सूफियोंने इसके विपरीत प्रेम एवं विरहका ही वर्णन अधिक विस्तारके साथ किया है। सन्तोंकी दृष्टिसे परम तत्त्वकी उपलब्धि एवं स्वानुभूतिमें कोई मौलिक अन्तर नहीं माना जा सकता और प्रेमानन्द वहाँ उसकी सिद्धिका एक परिणाम भी समझा जा सकता है, किन्तु सूफियोंके अनुसार, ईश्वरीय प्रेमका उदय खुदाके नूरकी ओर आकर्षण-से हुआ करता है और उसके वस्ल (मिलन)की स्थिति आ जानेपर हमें उस मआरिफ (ईश्वरीय ज्ञान)का अनुभव होता है, जो 'हाल' या उन्मादकी अवस्थामें भी परिणत हो जा सकता है।

'ज्ञानाश्रयी' शब्दमें प्रयुक्त 'ज्ञान' शब्द किसी साधारण जानकारी अथवा तर्कोंपर आश्रित दार्शनिक तत्त्वबोधका सूचक नहीं है। साधारण जानकारी या लौकिक ज्ञान इन्द्रियजन्य हुआ करता है और उसका क्षेत्र स्थूल पदार्थों-तक सीमित रह सकता है। इसी प्रकार दार्शनिक ज्ञानका भी वास्तविक आधार तत्त्वचिन्तन होता है, जिसमें बुद्धि अपनी चरम शक्तिका उपयोग करती है और वह सूक्ष्मसे-सूक्ष्म भावोंतकको भी अपना विषय बना लेता है। परन्तु 'ज्ञानाश्रयी'के ज्ञान शब्दसे अभिप्राय उस प्रतिभा या अतीन्द्रिय बोधसे है, जो आपसे आप उदय हो सकता है। इस ज्ञानके लिए इन्द्रियजन्य अनुभव अपेक्षित नहीं और न इसकी उपलब्धि बुद्धिके प्रयासपर ही निर्भर है। इसे हम बाह्य ज्ञानकी कोटिमें नहीं रख सकते। यह मूलतः अन्तर्ज्ञान है, जो सहज रूपमें तथा बिना किसी प्रत्यक्ष साधनके आधारसे उत्पन्न होता है और इसीलिए यह 'सहजज्ञान' भी कहा जा सकता है। सन्त कबीरने इसी ज्ञानको 'ब्रह्मगियान' (ब्रह्मज्ञान)का भी नाम दिया है तथा उसके निरन्तर बने रहनेकी दशाको 'सहज समाधि' कहा है। उनके अनुसार ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जानेपर करोड़ो कल्पोंतक भी सहज समाधिमें विश्राम किया जा सकता है। इसके कारण हृदयकमल पूर्णतः विकसित हो जाता है और परम ज्योतिका प्रकाश होते ही, भ्रमके निराकरण द्वारा सभी कुछ आपसे आप सूझने लगता है। कालपर सदाके लिए विजय मिल जाती है, आवागमनका झमेला दूर हो जाता है और एक ऐसी स्थिति आ जाती है, जिसका वर्णन शब्दोंमें नहीं किया जा सकता। इसे ही अन्यत्र उन्होंने 'ज्ञानलहर'की धुनका जगना अथवा 'ज्ञानकी आँधी'का उठना भी कहा है तथा इस ज्ञानका स्वरूप और भी अधिक स्पष्ट करनेके उद्देश्यसे उन्होंने अन्य पदोंकी भी रचना की है।

'ज्ञानाश्रयी शाखा' वाले 'ज्ञान'का सम्बन्ध जितना मस्तिष्कसे नहीं, उतना हृदयसे है और इसीलिए इसे भक्तिसे भिन्न नहीं ठहराया जाता। केवल मस्तिष्कप्रसूत ज्ञान एकांगी हो सकता है और उसमें नीरस विवेचनके प्रतिपादनके अतिरिक्त अन्य व्यापारोंकी आवश्यकता नहीं रहती। परन्तु हृदयप्रसूत ज्ञानमें समस्त इन्द्रियाँ अपना-अपना काम एक साथ करती हुई प्रतीत होती है और इसी कारण इसका परिणाम सच्चे 'अनुभव'के रूपमें दिखाई पड़ता है। एक साधारण ज्ञानीको तत्त्वचिन्तन द्वारा वस्तु-स्थितिका परिचयमात्र मिल सकता है, उसे इसका पूरा बोध नहीं हो पाता। वह प्रत्येक बातको विश्लेषण द्वारा पृथक्-पृथक् समझकर तद्विषयक धारणा बना सकता है, किन्तु वह उन्हें एक साथ और एक रूपमें प्रत्यक्ष कर उनमें प्रवेश भी नहीं कर पाता। इसके विपरीत सहजज्ञानी अपनेको, वस्तु-तत्त्वके अन्तस्तलतक पहुँचकर, उसके साथ एकरूप हो गया भी पाता है। वह परम तत्त्व अथवा पर-मात्माको अपनेसे पृथक् रूपमें नहीं जानता, प्रत्युत अभेद-रूपसे उसमें लीन हो जानेका अनुभव किया करता है। हिन्दी साहित्यकी अनेक रचनाओंमें ब्रह्म, जगत् एवं जीवकी चर्चा शुष्क वेदान्तकी दृष्टिसे की गयी दीख पड़ती है और उनमें इनका दार्शनिक निरूपण भी पाया जाता है, जो ज्ञानमूलक कहा जा सकता है। परन्तु वहाँ हमें उनके रचयिताओंके वे व्यक्तिगत उद्गार नहीं मिलते, जो पर-मात्माके प्रति किसी रागात्मक आकर्षण द्वारा ही सम्भव हो सकते हैं, जिनके शब्दोंमें या तो श्रद्धामूलक भक्तिके भाव भरे रह सकते हैं अथवा उस प्रेमकी अभिव्यक्ति ही हो सकती है, जो अभेदपरक आत्मीयताका परिचायक होती है।

अतएव, 'ज्ञानाश्रयी शाखा'का सम्बन्ध उस भक्तिमूलक साहित्यके साथ जोड़ा जा सकता है, जिसमें निर्गुणधाराकी प्रवृत्ति पायी जाती है। इसके अन्तर्गत गिनी जानेवाली रचनाओंमें हमें अधिकतर भारतीय ब्रह्मज्ञानके साथ चलने-वाली उपासनाकी चर्चा मिलती है। इनमें निर्गुण पर-मात्मतत्त्वके प्रति प्रदर्शित प्रेमाभक्ति-विषयक उद्गार मिलते हैं, आत्मज्ञानजनित आनन्दकी अभिव्यक्ति पायी जाती है और एक ऐसे आध्यात्मिक जीवनकी रूपरेखा भी प्रस्तुत की गयी दीख पड़ती है, जिसमें पूर्ण शान्ति, सद्भाव तथा विश्वजनीन कल्याणकी सम्भावना रहती है। ऐसी रचनाओंमें प्रायः भावगत सौन्दर्यके साथ-साथ भाषा एवं शैलीपरक आकर्षण भी उतनी ही मात्रामें लक्षित नहीं होता, जिस कारण उन्हें 'साहित्यिक' नहीं समझा जाता और इस 'शाखा'के अन्तर्गत संस्कृत बुद्धि, संस्कृत हृदय और संस्कृत वाणीका वह विकास भी नहीं देखा जाता, जो शिक्षित समाजको अपनी ओर आकर्षित कर सके। इनके रचयिताओंका उद्देश्य वस्तुतः यह कभी नहीं रहा कि वे इनके द्वारा किन्हीं 'विद्वानों'को परितोष प्रदान करें अथवा इनके कारण 'सुजानों'का आदर प्राप्त करें। प्रधानतः ज्ञानमार्गी होनेके कारण उन्होंने अपना जीवन आत्मचिन्तनमें ही बिताना अधिक उचित समझा और यदि उन्होंने अपनी निर्गुणोपासनाके फलस्वरूप किन्हीं मार्मिक भावोंकी अभिव्यक्ति भी की तो उन्हें स्वभावतः ज्यों-का-त्यों रख देना ही पसन्द किया, उनके माध्यमको सजानेकी चेष्टा नहीं की। इसके विपरीत निर्गुणधाराकी शुद्ध प्रेममार्गी शाखावाले कवियोंने प्रेमतत्त्वको महत्त्व देते समय प्रेमी-प्रेमिकाओंकी प्रेमगाथाओंकी रचना तथा उनके अन्तर्गत मार्मिक स्थलोंकी योजना करके उनमें सभी प्रकार-से सरसता लानेका भी प्रयत्न किया। —प० च०

झलकियाँ–झलकियाँ रेडियो-नाटकके अन्तर्गत आती है। स्वरूपविधानकी दृष्टिसे इन्हे पाँच-छः छोटी-छोटी रेडियो-नाटिकाओंका समूह कह सकते है। आकाशवाणीके विभिन्न केन्द्रोंने झलकियाँ, इन्द्रधनुष, लहर, रंग-तरंग नामसे प्रसारित किये जानेवाले कार्यक्रमोमे पाँच-पाँच, छः-छः मिनटकी छोटी-छोटी नाटिकाएँ रहती है, जो बीच-बीचमे दो-चार पंक्तियोंके 'नैरेशन'से परस्पर सम्बद्ध कर दी जाती है। मनोरंजकता झलकियोंकी सबसे बड़ी विशेषता होती है। इनमे जीवनके हल्के-फुल्के क्षणोंका ही अंकन होता है।

[सहायक ग्रन्थ—रेडियो-नाटक : हरिश्चन्द्र खन्ना; रेडियो-नाट्य-शिल्प : सिद्धनाथकुमार।] —सि० कु०

झाँझी–झैंझी या झाँझी, शारदीय नवरात्रके दिनोंमें गाया जानेवाला बालिकाओका गीत; ब्रजलोकमें विशेष रूपसे प्रचलित; बालिकाएँ झाँझी (मिट्टीकी छेददार हाँड़ी—जिसमे दिया जलता रहता है) लेकर एक घरसे दूसरे घरका फेरा करती है, झाँझीके गीत गाती है और पैसे माँगती है; ये गीत कथाकी दृष्टिसे अद्भुत किन्तु मनोरंजक होते है।

ब्रजके लोक-जीवनमें प्रचलित मनोरंजन-प्रधान गीतोके अन्तर्गत 'झाँझी' या 'झैंझी'के गीत आते है। क्वार-के महीनेमे शारदीय नवरात्रके अवसरपर लड़के 'टेसू'के गीत गाते है और लडकियाँ 'झाँझी' गाती है। ये दोनो गीत टेसू और झाँझीके खेलसे सम्बद्ध है और इन्हें बच्चे ही गाते है। झाँझीके गीत प्रायः संवादात्मक होते है और इनमें छोटी-छोटी कहानियाँ भी अनुस्यूत होती है। विषयकी दृष्टिसे ये गीत बड़े अद्भुत और सरस होते है। एक झाँझी गीतकी आरम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार है—"बाबा जीके चेली-चेला भिच्छ्या माँगन आए जी। भरि चुटकी मैंने भिच्छा डारी, चूँदरिया रँगि लाए जी॥" टेसू और झाँझीके खेलके अन्तमे टेसूका विवाह झाँझीसे कर देते है और टेसूका सिर उखाड़कर फेंक दिया जाता है। विस्तारके लिए दे० डॉक्टर सत्येन्द्र : 'ब्रजलोक साहित्यका अध्ययन'। —र० अ०

झाण साधना–दे० 'हठयोग', 'बोधिचित्त'।

झुंझना–जन्मोत्सवमें छठीके दिन गाया जानेवाला एक लघु-गीत। इसमें शिशुको उसके सम्बन्धियो द्वारा झुनझुना खिलानेका उल्लेख रहता है।

झुलना–इसे झूलणा या तीज भी कहते है। ब्रज तथा कुरु जनपदमें प्रचलित लोकगीतोंमें इसका स्थान विशिष्ट है। जिस प्रकार पूर्वी हिन्दी प्रदेशमें सावनके महीनेमें 'कजली' गायी जाती है, उसी प्रकार पश्चिमी प्रदेशमे झुलना या झूलना गाते है। ये गीत बहुधा कथापरक होते है और इनमें लोक-मानसकी कल्पना शक्ति तथा लोकजीवनके विविध पहलुओंके दर्शन होते है। चँद्रावली नामक एक 'झुलना' गीतकी आरम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार है—"अब रुत आई बाबा बीजणे की। सास्सु बरजै, बऊ री, पणिया मत जाई, डेरा पड़ा है मोगल का, दे लेगा तमुओंके बीच। अब रुत आई··· ॥"। 'झुलना नामका एक अन्य गीत दाइयों अथवा माताओं द्वारा शिशुको झूला झुलाते समय गाया जाता है—'झूलो मेरे लालन झूलना जी'। 'झुलना' या 'झूलना' नामक एक छन्द भी होता है, जिसके प्रत्येक चरणमे ७, ७, ७, और ५ के विरामसे २६ मात्राएँ और अन्तमें गुरु-लघु ऽ। होते है। —र० अ०

झूमर–झूमर वे गीत है, जो प्रत्येक मांगलिक अवसरपर गाये जाते है। ग्रामीण स्त्रियाँ विवाहादि उत्सवके समय सामूहिक रूपसे झूम-झूमकर इन गीतोको गाती है, अतः इनका नाम झूमर पड गया है। ये गीत बड़े प्राचीन जान पड़ते है। मैथिल-कोकिल विद्यापतिने "गावहु ए सखि झूमर लोरि" लिखकर इनका उल्लेख किया है। इससे ज्ञात होता है कि विद्यापतिके पूर्व ये लोकसाहित्यमे प्रचलित थे। भोजपुरी झूमरके गीतोंमे शृंगारके दोनो पक्षो—सम्भोग एवं विप्रलम्भका बड़ा ही सरस तथा सुन्दर वर्णन पाया जाता है। जब स्त्रियाँ झूम-झूमकर समवेत स्वरसे इन्हे गाने लगती है, तब एक समाँ बँध जाता है और श्रोताओके हृदयमे गुदगुदी पैदा होने लगती है। ये झूमरके गीत क्या है, शृंगारके रस-कलश है, जिन्हे कोकिलकण्ठी स्त्रियाँ अपने लोचभरे स्वरोंसे सहृदयोके ऊपर उँड़ेलकर उन्हे रससिक्त कर देती है। लोकगीतोके विभिन्न प्रकारोंमे इससे रसीला तथा मधुमय गीत सम्भवतः दूसरा नहीं है।

मैथिली झूमर बड़े मधुर होते है, जिनके प्रधान दो भेद है—१. सन्देशात्मक, २. भावात्मक। सन्देशात्मक झूमरोंमे काक या कोयलके द्वारा प्रवासी साजनको सन्देश भिजवाया गया है। भावात्मक झूमरोंमे रसात्मक अनुभूति और आनन्दका साधारणीकरण है। झूमरका मजमून प्रेमसे सराबोर है। इसकी पंक्ति-पंक्तिमे वारुणी और शब्द-शब्दमे जादूका असर है। झूमरके गीतोकी एक विशेष तर्ज होती है। इनको प्रायः स्त्रियाँ ही गाती है। —कु० दे० उ०

झूलना १–मात्रिक सम दण्डक छन्दोका एक भेद। 'प्राकृत-पैंगलम्'के अनुसार झुल्लण छन्दके प्रत्येक चरणमे १०, १०, १७की यतिसे ३७ मात्राएँ होती है। उदाहरणसे इस बातका आभास मिलता है कि यतिके स्थलोपर तुक मिलना चाहिये। भानुने यति १०, १०, १०, ७ और अन्तमें यगण (।ऽऽ)का निर्देश किया है। इसी छन्दके चरणमे जब २०, १७पर यति होती है, तब इसे **हंसाल** कहते है, क्योंकि दोनोके अन्तमे यगणका प्रयोग भी होता है। तुलसीने यतिके नियमका प्रायः अनुसरण नहीं किया है, २०, १७-पर यति दी है और मध्यतुकका प्रयोग भी नहीं किया है—"कनक गिरि शृंग चढ़ि, देखि मर्कट कटक, बदत मन्दोदरी परम पुनीता। महसभुज मत्त गजराज रन-केसरी, परसुधर गर्व जेहि देखि बीता (गीता०, ५)। इसमे प्रथम चरणमें यतिका प्रयोग नियमानुकूल है, पर दूसरे चरणमे यति २०, १७पर है। अतः तुलसीके प्रयोग-में झूलना और हंसालका संयोग समझना चाहिये। इनके अतिरिक्त केशव (रा० चं०) तथा रघुराज (रामस्व०)ने भी इसका उपयोग किया है। सूरने भी इस छन्दका प्रयोग पदोंकी गतिमें उतार-चढ़ावके द्वारा रोचकता पैदा करनेके लिए किया है—"झिरकि कै नारि दै, गारि गिरिधरहि तब, पूँछपर लात दै, अहि जगायो" (सू० सा०, सभा०, पद ११७०)।

झूलना २–वर्णिक छन्दोंमे सम वृत्तका एक भेद। स, ज,

ज, भ, र, स, लघुके योगसे यह वृत्त बनता है। इस छन्दमें १२, ७ वर्णोंपर यति होती है (IIS, ISI, ISI, SII, SIS, IIS, I)। भानुने (छं० प्र०, पृ० १९४) इसका नाम मणिमाल दिया है, पर केशवने झूलना। 'रामचन्द्रिका'में इसका प्रयोग हुआ है। यह छन्द मात्रिक झूलनासे भिन्न है। रूपमालाके आदिमे दो लघु रखनेसे यह छन्द बन जाता है—"तुम हौ अनन्त अनादि सर्वत्र सर्वज्ञ सरवज्ञ। अब एक हौ कि अनेक हौ महिमा न जानत अज्ञ" (रा० चं०, २७ : १)। —पु० शु०

टिटोवाद–यूगोस्लावियाके मार्शल टिटो साम्यवादी होते हुए भी राष्ट्रीयक्षेत्रोंमे अन्तरराष्ट्रीय कामिनफार्मसे यूगोस्लावियाकी कम्युनिस्ट पार्टीकी स्वतन्त्रता चाहते थे। यही सिद्धान्त टिटोवादका मूल आधार है। ट्राट्स्कीवादकी भाँति सभी प्रगतिवादी इसे भी निन्दावचनके रूपमे प्रयुक्त करते है। —रा० कु० त्रि०

टिप्पणी–[टिप्+क्विप्=टिपा, सा पण्यते स्तूयते इति टिप्पणी=टिपा पण्+अच्] (क) १. संक्षिप्त टीका, विषम-स्थलोंका व्याख्यान। २. टीकाकी टीका (जैसे महाभाष्यकी कैयटकृत प्रदीप टीकाकी नागेशकृत 'उद्योत' टिप्पणी)। (ख) हिन्दीमें 'टिप्पणी' शब्द प्रायः अंग्रेजीके 'नोट' शब्दका अर्थ देता है। 'टीक' 'टीका'के साथ समास (टीका-टिप्पणी)-के रूपमे प्रयुक्त होनेपर आलोचना, दोषप्रदर्शन, छिद्रान्वेषण या नुक्ताचीनीका अर्थ देता है। (ग) इसके पर्याय टीका, विवृति, व्याख्या इत्यादि शब्द है। व्याख्या विस्तृत होती है, टीका भी टिप्पणीकी अपेक्षा विस्तृत ही कही जायगी। टिप्पणी तो टीकाकी टीका है, उसके दुरूह या अस्पष्ट स्थलको सरल और स्पष्ट करती है।—आ० प्र० मि०

टीका–[टीक् गतौ (भ्वादि०)+अः+स्त्री प्रत्यय टाप टीक्यते गम्यतेऽर्थो यया सा] (क) सामान्य अर्थ—१. व्याख्यान-ग्रन्थ, व्याख्या, विवृति। (ख) विशेष अर्थ—१. विषम-पदव्याख्या (भानुजी दीक्षितकी रामाश्रमी), विषम-पदव्याख्यानरूपा वृत्ति (तारानाथकृत शब्दस्तोममहानिधि)। इस अर्थके अनुसार 'टीका' भी वृत्तिकी ही भाँति संक्षिप्त होनी चाहिये, क्योकि उसमे केवल कठिन और दुरूह पदोंका ही व्याख्यान होता है। परन्तु इसका विरोधी मत भी है, जिसके अनुसार टीका विषमपदोंकी ही व्याख्या नहीं, अपितु मूलके सुगम और दुर्गम समस्त पदोंकी निरन्तर व्याख्या है ('टीका निरन्तर-व्याख्या'—'सुगमानां विषमाणां च निरन्तरं व्याख्या'—हेम)। यो तो संस्कृतके विशाल टीकासाहित्यमें शायद ही कोई टीका ऐसी मिले, जिसमें प्रतिपद व्याख्यान हो, परन्तु प्रायः उपलब्ध सभी टीकाओंमें मूलके प्रायः आवश्यक सभी पदोंकी व्याख्या मिलती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि दो-चार टीकाओंमें भले ही केवल विषम पदोंका व्याख्यान हो और वे बहुत संक्षिप्त हों, परन्तु प्रायः सभी टीकाग्रन्थोंके सम्बन्धमे 'टीका'का द्वितीय लक्षण ही अधिक घटित होता है। संस्कृतका यह टीकासाहित्य मौलिकसे कही अधिक विशाल है। इसका कारण ग्रन्थकारोंमें मौलिकता या स्वतन्त्र चिन्तनका अभाव या उसकी न्यूनता नहीं, अपितु संस्कृत भाषा और उसके शास्त्रोंकी गम्भीरता और गहनता ही है, क्योंकि टीकाओंमें भी पुराने वादोंपर नये विचार, उन वादोंका नयी दिशाओमे विकास, उनका नये ढंगसे मूल्यांकन आदि सभी कुछ मिलता है। इतने विशाल साहित्यके प्रमुख ग्रन्थोका भी परिगणन कठिन है, पर कुछ सर्वाधिक प्रसिद्ध ये है—उद्योतकरकृत न्याय-वार्तिकपर वाचस्पतिमिश्रकी तात्पर्य टीका, सांख्यकारिकापर उनकी सांख्यतत्त्वकौमुदी, योगभाष्यपर तत्त्ववैशारदी तथा शंकरकृत वेदान्त भाष्यपर उनकी भामती तथा आनन्द गिरिकी न्यायनिर्णय टीका, व्याकरणमें महाभाष्यपर कय्यटकृत प्रदीप, भट्टोजिदीक्षितकी सिद्धान्तकौमुदीपर ज्ञानेन्द्रकी तत्त्वबोधिनी, काव्योमे 'कुमारसम्भव', 'रघुवंश', 'मेघदूत', 'किरात', 'शिशुपालवध' (माघकाव्य) तथा 'नैषधचरित'पर मल्लिनाथकी टीकाएं तथा 'नैषध'पर नारायणकी टीका, इसी प्रकार काव्यशास्त्रमे मम्मटके 'काव्यप्रकाश'पर चालीससे ऊपर टीकाएँ है। नाटकोंपर राघव भट्टकी टीकाएँ सर्वविदित है। (ग) हिन्दीमें 'टीका'के अर्थमे कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। मध्यकालीन भक्ति और रीतिकाव्यपर ब्रजभाषा-गद्यमे अनेक टीकाएँ मिलती है, जैसे 'चौरासी और 'दो सौ बावन वैष्णवनकी वार्ता'पर गुसाईं हरिरायकी भावप्रकाश टीका, 'साहित्यलहरी'पर सरदार कविकृत टीका, 'भक्तमाल'पर प्रियादासकी टीका (पद्यमें), हितहरिवंशके 'चौरासी पद'पर तथा बिहारीकी सतसईपर अनेक टीकाएँ है। 'रामचरितमानस'पर भी अनेकानेक टीकाएँ लिखी गयी है। —आ० प्र० मि०

टेक–गीतके आरम्भकी वह कड़ी, जो प्रत्येक चरणके अन्तमें दुहरायी जाती है; लोकगीतोंमे प्रायः तुक और मात्राका ध्यान नहीं रखा जाता, इनमे नैसर्गिक सन्तुलन-बोधपर आधारित एक स्वाभाविक लयात्मकता होती है और बार-बार दुहरायी जानेवाली टेकके कारण ये सुगेय बने रहते है; टेकके अभावमे किसी भी गीत—लौकिक या शास्त्रीय—की सगीतात्मकताका निर्वाह सम्भव नहीं। —र० भ०

टेबलो–अवाक् तथा स्थिरमुद्रा-स्थित अभिनेता-मण्डली द्वारा किसी चरित्र, घटना अथवा दृश्य (प्रायः ऐतिहासिक)-का अभिनयांकन 'टेबलो' कहलाता है। नाटकका एक पृथक् भेद होनेके अतिरिक्त 'टेबलो' कभी-कभी उस अभिनय-क्षणके लिए भी आता है, जहाँ अभिनेता एवं रंगपीठ नाटकीय वातावरणके अनुकूल एक विशेष अभीष्ट प्रभावकी सृष्टिके उद्देश्यसे सम्मिलित रूपसे चित्रलिखित हो जाते है, उदाहरणके लिए **मूकनाट्य, नृत्यनाट्य** तथा **नृत्य** आदि। —श्या० मो० श्री०

टेलिविजन नाटक–टेलिविजनके अत्याधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारने हमारी दृश्य और श्रव्य शक्तिका विस्तार कर दिया है। इसके माध्यमसे दूरस्थ स्थानोंके दृश्य और शब्द हमारे सामने सहज ही आ जाते है। इस नवीन माध्यम-के लिए लिखित नाटकको टेलिविजन नाटक कहा जाता है। बहुत कम अवधिमे ही इस नये नाट्य-रूपका अन्यान्य पाश्चात्य देशोंमे पर्याप्त विकास हुआ है, पर अपने देशमें टेलिविजन कार्यक्रम अभी प्रयोगात्मक रूपमें दिल्लीमे प्रारम्भ हुए है।

माध्यमके साथ ही नाट्य-रूप परिवर्तित होते रहे है।

इस दृष्टिसे टेलिविजन नाटक **रेडियो नाटक**, रंगमंच नाटक और फिल्म नाटकसे बिल्कुल भिन्न हो गया है। इसका अपना स्वतन्त्र रचना-तन्त्र बन गया है। टेलिविजन नाटक इस अर्थमें रेडियो नाटकसे साम्य रखता है कि दोनो अपने अभिनय-स्थानसे दूरस्थित नाट्य-प्रेमियोंका मनोरंजन करते है, पर दोनोंमे पर्याप्त अन्तर है। रेडियो नाटक जहाँ मात्र श्रव्य है, वहाँ टेलिविजन नाटक श्रव्य और दृश्य दोनो है। इस दृष्टिसे टेलिविजन नाटक रंगमंच नाटकके बहुत निकट है। रेडियो नाटकमे तीन उपकरण होते है—संलाप, ध्वनिप्रभाव और संगीत। टेलिविजन नाटकमे भी इन तीनों उपकरणोका व्यवहार होता है, पर इसमें इनके अतिरिक्त अभिव्यक्तिके अन्य साधन भी उपलब्ध है—प्राकृतिक अथवा विशेष प्रयोजनसे निर्मित दृश्य, वेश-भूषा, भाव-भंगिमाएँ और मुखकी विभिन्न मुद्राएँ, रंगमंच-सज्जा, प्रकाश-व्यवस्था, विभिन्न कोणोसे प्रयुक्त कैमरे आदि। टेलिविजन नाटकमे दृश्य साधनोपर ही विशेष जोर रहता है। जैसा कि एक टेलिविजन नाट्य-विशेषज्ञका कथन है, टेलिविजन नाटककारको स्मरण रखना होता है कि वह मुख्यतः आँखोंके लिए लिख रहा है, बादमे कानोके लिए। स्पष्ट है कि टेलिविजन नाटकमें संलापकी अपेक्षा कथानक और कार्य-व्यापारपर अधिक जोर रहता है। रेडियोमे दीर्घ शान्तिका उपयोग नही किया जा सकता, टेलिविजनमे इसका उपयोग प्रभावपूर्ण रूपमें किया जा सकता है। रेडियो नाटकके पात्र अदृश्य रहते है, फलतः उनकी संख्या बहुत कम रखनी पड़ती है, पर दृश्य माध्यमके कारण टेलिविजनमें अपेक्षाकृत अधिक पात्र आ सकते है। रेडियो नाटकमे कार्य व्यापारों एवं भावोंकी अभिव्यक्तिके लिए, समय एवं स्थानके परिवर्त्तनके लिए तथा वातावरण-निर्माणके लिए ध्वनि-प्रभावोका व्यवहार किया जाता है, पर दृश्यत्वपर अधिक जोर रहनेके कारण टेलिविजन नाटकमें ध्वनि-प्रभावोंका महत्त्व कम हो जाता है। यही बात संगीतके उपयोगके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है, पर टेलिविजन नाटकका निर्देशक भावाभिव्यक्ति तथा प्रभाव-वृद्धिके लिए उपयुक्त स्थलोंपर संगीतका व्यवहार करता है।

रंगमंच नाटकसे टेलिविजन नाटकका अन्तर दो कारणोंसे होता है—दृश्य-पट छोटा रहता है और दर्शक रंगशालासे दूर रहते है। सीमित दृश्य-पटके कारण टेलिविजन नाटकमें एक साथ ही अधिक पात्रोको प्रस्तुत करना कठिन होता है और पात्रोकी भीड़में मुख्य पात्रोकी वैयक्तिकता स्थापित करना सरल नही होता—जिन टेलिविजन कार्यक्रमोंमे रंगीन चित्रोका व्यवहार किया जाता है, उनमें वेश-भूषाके विरोधी रंगोके प्रयोगसे ऐसा करनेका प्रयत्न किया जाता है। सीमित दृश्य-पटकी क्षति-पूर्त्तिके लिए, जैसा कि विशेषज्ञ लॉरेन्स लेग्नरने कहा है, टेलिविजन नाटकमें संवेगात्मक तीव्रतापर विशेष ध्यान देनेका प्रयत्न रहता है। दर्शकोंके दूर रहनेसे टेलिविजन नाटक उनकी प्रतिक्रियाओसे वंचित रह जाता है—रंगमंच नाटकका अभिनय दर्शकोंकी प्रतिक्रियाओंसे प्रतिक्षण प्रभावित होता रहता है। हास्य-प्रधान नाटकोंके अभिनयपर प्रेक्षागृहमें बैठे हुए दर्शकोंका प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। इसीलिए टेलिविजन नेटपर हास्य-नाटक अपेक्षाकृत कम प्रभावपूर्ण हो पाते है। टेलिविजन नाटककी एक सीमा और विशेषता यह भी है कि वास्तविक एवं यथातथ्य कार्यक्रमोके बीचमे प्रसारित होता है, जबकि रंगमंच नाटक पूर्वापर सम्बन्धसे मुक्त होकर स्वतन्त्र कृतिके रूपमे प्रस्तुत किया जाता है। फल यह होता है कि रंगशालामे विश्वास-सृष्टिकी शक्ति सहज ही होती है और विश्वास-सृष्टि नाटककी पहली शर्त है। पूर्वापरके यथार्थवादी कार्यक्रमोके बीचमे होनेके कारण टेलिविजन नाटक कुछ अंशतक एक सीमामे बँध-सा जाता है, पर दूसरी ओर इसकी विशेषता है कि यह अति-कल्पनाओको भी प्रस्तुत कर सकनेकी क्षमता रखता है, क्योकि इसमे भूत-प्रेत, पशु-पक्षी आदि भी आ सकते है, मानव-आकृतियोको छोटा-बड़ा किया जा सकता है अथवा दृश्यान्तर बड़ी सरलतासे शीघ्रताके साथ किया जा सकता है।

रंगमंच नाटककी तुलनामें टेलिविजन नाटकको कुछ विशेष सुविधाएँ भी प्राप्त है। इसमे क्लोज-अपके द्वारा पात्रोकी मुखाकृतियोको इस प्रकार दिखलाया जा सकता है कि उनमे, बिना शब्दतः कुछ कहे भी, भावनाओकी अभिव्यक्ति हो सके। टेलिविजन नाटक संलापोकी स्पष्टता, सूक्ष्मता एवं स्वाभाविकताकी रक्षामे विशेष रूपसे सहायक होता है—इसमे फुसफुसाहटकी ध्वनियाँ भी स्वाभाविक रूपमे दर्शको तथा श्रोताओके पास पहुँच सकती है। विभिन्न कैमरोंके व्यवहारसे इसमे दृश्योको बड़ी जल्दी-जल्दी बदला जा सकता है। इसमे सजीव पात्रोका व्यवहार तो किया ही जाता है, आवश्यकतानुसार फिल्मोंका भी उपयोग किया जा सकता है। फलतः रंगमंचपर असम्भव लगनेवाले दृश्योको भी इसमे प्रस्तुत किया जा सकता है। क्लोज-अपकी सुविधाके कारण इसमे 'नैरेटर'का भी व्यवहार किया जा सकता है अथवा पात्रोंका उपयोग भी 'नैरेटर'के रूपमे होता है। भावाभिव्यक्तिके लिए स्वगतका व्यवहार भी स्वाभाविकताके साथ किया जा सकता है।

टेलिविजन-कला-विशेषज्ञ मैकडोनाघने टेलिविजन नाटककारोको यह स्मरण रखनेका निर्देश दिया है कि (१) टेलिविजन कैमरामे फोकसकी गहराईका अभाव रहता है। (२) किसी एक समय कैमराके सम्मुख अधिकसे अधिक तीन या चार व्यक्ति रह सकते है, यो फिल्मोके सहारे भीड़के दृश्य भी प्रस्तुत किये जा सकते है। (३) स्टूडियो छोटे होते है और सेटोंको यह सीमा स्वीकार करनी पड़ती है। (४) दृश्य, वेश-भूषा आदिके परिवर्त्तनके समय भी नाटकका क्रम भंग नही होना चाहिए। फिल्मोकी सहायतासे दृश्यान्तर और आसान हो जाते है। कभी-कभी फ्लैश-बैक आदिका भी उपयोग किया जाता है। (५) कार्य-व्यापार अनिवार्य है—मात्र वार्त्तालापसे शीघ्र ही शिथिलता आ जाती है।

शिल्पकी दृष्टिसे टेलिविजन नाटक फिल्म नाटकके सबसे अधिक निकट है, पर फिल्म नाटक-जितना लचीलापन इसमें नही रहता। माध्यम और शिल्पकी अपनी विशेषताओके होनेपर भी टेलिविजन-नाटक नाटक है और नाटकके सभी उपकरण इसमे भी आवश्यक है—कथानक, चरित-

चित्रण आदिपर इसमें भी ध्यान देना पड़ता है। चूंकि पूर्वापरके टेलिविजन-कार्यक्रमोंके साथ इसकी प्रतियोगिता रहती है, इसे रोचकता, कुतूहल, आकर्षण आदिके लिए विशेष प्रयत्नशील रहना पड़ता है। इसके प्रकार भी अनेक होते हैं—मौलिक टेलिविजन नाटक तो प्रसारित किये ही जाते हैं, कहानियों, उपन्यासों और रंगमंच नाटकोंके टेलिविजन रूपान्तर भी प्रस्तुत किये जाते हैं। यह नाट्य-रूप अभी नया है और आशा की जा सकती है कि इसकी सम्भावनाओंका विकास क्रमशः होता जायगा।

[सहायक ग्रन्थ—ए गाइड टु रेडियो-टेलिविजन राइटिंग : कैम्पबेल, हेथ और जानसन; दि प्ले इज दि थिंग : लारेन्स लेंग्नर; टेलिविजन इन दि मेकिंग : पाल रोथा। हाउ टु राइट फार टेलिविजन : एलन डौग।] —सि० कु०

टेसू—शारदीय नवरात्रके दिनोंमें गाया जानेवाला बालकोंका गीत। ब्रजलोकमें विशेष रूपसे प्रचलित। लड़के 'टेसू' मनुष्यकी आकृतिका खिलौना लेकर द्वार-द्वारपर घूमते हैं, टेसूके गीत गाते हैं और पैसे माँगते हैं। विषयकी दृष्टिसे ये गीत बड़े ऊटपटाँग और अद्भुत कहे जा सकते हैं, किन्तु ये होते हैं बड़े मनोरंजक। टेसूको जनश्रुति एक प्राचीन वीरके रूपमें स्मरण करती है। पूर्णिमाके दिन टेसू तथा झाँझी (दे०)का विवाह भी रचाया जाता है।—र० भ०

टोटेमिज्म (totemism)—टोटेमिज्म या टोटेमवाद आदिम जातियोंकी एक विश्वासप्रवृत्ति है, जिसके अनुसार वे अपनी उत्पत्ति किसी अमानव पूर्वजसे मानती हैं। विविध आदिम जातियोंका विश्वास है कि उनके पूर्वज पक्षी, नाग आदि थे। वे अपने उस स्वीकृत पूर्वजकी पूजा करती और नाम आदि धारण करती हैं। उनका विश्वास है कि वही उनकी रक्षा भी करते हैं। अपने घरों, लिबास, पताकाओं आदिपर भी वे उनके चित्र धारण करती हैं, अपने शरीरपर उन्हींके प्रतीकरूपमें गोदना आदि भी गोदवाती हैं। इन्ही पशु, पक्षियों आदि अमानव जीवोंके उल्लेखसे उनका अलिखित लोकसाहित्य भी मुखरित है। हमारे साहित्यकी वानर, ऋक्ष आदि जातियाँ भी स्वभावतः मनुष्य होकर भी इसी परम्पराके अनुसार बन्दर और रीछको अपना पूर्वज माननेके कारण अपने उन नामोंसे प्रसिद्ध हुईं। नाग आदि जातियाँ भी नागपूजक अथवा नाग-पूर्वज-प्रधान होनेसे नाग संज्ञासे विभूषित हुईं। ऐसी आदिम जातियाँ आपसमें लड़कर मानव-भक्षणतक तो करती हैं, पर अपने पक्षी-पशु आदि कल्पित पूर्वजकी जातिके जीवोंका आहार नहीं करतीं। उनके नामपर ही उनकी पूजा, टोना, टोटका आदि होते हैं। टोटम या जीव-जन्तुओंमें आदि पुरखेपनके विश्वासकी संज्ञा टोटेमिज्म या टोटेमवाद है।—भ० श० उ०

ट्राट्स्कीवाद—ट्राट्स्की सोवियत क्रान्तिकी सफलताके उपरान्त यह चाहता था कि सोवियत शक्तियाँ अन्य पूँजीवादी देशोंपर आक्रमण करें। वह क्रान्तिको रोकना नहीं चाहता था। इसी क्रान्तिको चिरन्तन क्रान्ति-(permanent revolution)के रूपमें उसने व्यक्त किया है। कुछ समयतक प्रगतिवादी आलोचक इस शब्दको निन्दावचनके रूपमें प्रयुक्त करते रहे हैं।—रा० कु० त्रि०

ट्रैक्ट—यों तो किसी भी छोटे आकारवाले निबन्ध, प्रतिपादन अथवा विवेचनको ट्रैक्ट कह सकते हैं, पर मुख्यतः उसी मुद्रित प्रबन्ध अथवा प्रवचनको ट्रैक्ट माना गया है, जो व्यावहारिक धर्म अथवा नैतिकतासे सम्बद्ध किसी विषय-पर हो। ट्रैक्ट छोटी पुस्तिका या पैम्फ्लेटके रूपमें प्रकाशित किया जाता है और उसे कभी-कभी ट्रैक्टे भी कहते हैं।

यूरोपके धर्म-आन्दोलनोंमें ट्रैक्टोंके प्रकाशनने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग दिया है। इंग्लैण्डमें 'आक्सफोर्ड ट्रैक्ट्स' या 'ट्रैक्ट्स फार द टाइम्स'के नामसे १८३३से १८४१के बीच ९० ट्रैक्ट प्रकाशित हुए और प्रसिद्ध विद्वानों द्वारा लिखित इन ट्रैक्टोंने उस आक्सफोर्ड स्कूलकी नींव डाली, जो आगे चलकर आक्सफोर्ड आन्दोलनमें विकसित हुआ। इन ट्रैक्टोंमें चर्चके अधिकार तथा परम्पराको लेकर महत्त्वपूर्ण बातें कही गयी थीं और ३९ आर्टिकलोंकी कैथोलिक व्याख्या की गयी थी।

भारतमें ईसाई मिशनरियोंके आगमन और 'ट्रैक्ट बुक सोसाइटियों'की स्थापनासे ट्रैक्ट-साहित्यका प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। १८५४में 'नार्थ इण्डिया ट्रैक्ट एण्ड बुक सोसाइटी'ने हिस्ट्री ऑव बाइबिलका अनुवाद 'धर्म पुस्तकका इतिहास' नामसे प्रकाशित किया। १८७८में यही पुस्तक 'अमेरिकन ट्रैक्ट सोसाइटी'ने प्रकाशित की। बनारस, आगरा आदि अनेक स्थानोंकी 'ट्रैक्ट बुक सोसाइटियाँ' कुछ-न-कुछ धर्म-प्रचारका कार्य किया ही करती थीं। इन सोसाइटियोंका कार्यक्षेत्र यू० पी०से लेकर पंजाबतक था।

व्यावहारिक धर्म तथा नैतिकतासे सम्बद्ध पुस्तिकाओंके लिए ट्रैक्ट शब्द हिन्दीमें अधिक प्रचलित न हो सका। विभिन्न भारतीय धार्मिक आन्दोलनोंसे सम्बद्ध पुस्तिकाएँ हिन्दीमें बराबर लिखी जाती रही हैं, पर उनके लिए ट्रैक्ट शब्दका प्रयोग नहीं हुआ। इससे ज्ञात होता है कि ट्रैक्ट नाम ईसाई धर्मसे सम्बन्धित प्रचार-साहित्यके लिए ही सीमित होकर रह गया और धर्माचरणविषयके अन्य पैम्फ्लेट, साहित्यके अर्थमें हिन्दीमें नहीं अपनाया गया।

यों ट्रैक्ट शब्दसे, जिसे विशेष प्रकारके साहित्यका बोध होता है, उसे बखानना ही चाहे तो कह सकते हैं कि हिन्दीमें ट्रैक्टों-पैम्फ्लेटों द्वारा बाइबिलकी चमत्कारपूर्ण कहानियोंका प्रचार, आर्यसमाजके विद्वानों द्वारा हिन्दू धर्मके विरोधियोंकी उक्तियोंका खण्डन, हिन्दू समाजकी कुरीतियों-पर प्रहार और वैदिक रीतियोंका प्रचार, सम्मेलनोंके सभापतियोंके भाषणके मुद्रित रूपकी प्राप्ति और सरकारकी बातोंका जनतामें प्रचार आदि होता रहा है। —अ० कु०

ट्रैजेडी—~~ट्रैजेडी (दुःखा~~न्त नाटक)का उद्भव आदि जातियोंमें प्रचलित विभिन्न धार्मिक कृत्योंसे हुआ है, जो कि सामाजिक दृष्टिसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थे। उदाहरणके लिए, मृतककी आत्माको अमरत्व प्रदान करनेके लिए तथा उसे प्रसन्न करनेके लिए उसके नायकोचित कार्योंका अभिनय (समाधि कृत्य)। इस प्रकारके धार्मिक कृत्योंमें बहुधा कथावस्तु नायक (पौराणिक, मृत अथवा ऐतिहासिक) तथा खल पात्र-के संघर्षके विषयमें होती थी और उसकी चरम सीमा नायककी मृत्यु तथा पुनर्जीवनमें निहित रहती थी। सर्व-प्रथम धार्मिक दुःखान्त नाटक जो हमें ज्ञात है, वे हैं मिस्र तथा सीरियाके भावावेशपूर्ण नाटक (पैशन प्लेज), जो

ओसिरिस, एटिस तथा एडोनिसिम नामक पौराणिक चरित्रों-पर लिखे गये हैं। जहाँतक सुदूरपूर्वका प्रश्न है, जापानके 'नोह' नाटकोंको छोडकर दुःखान्त नाटकोंकी रचनाके अधिक प्रमाण नहीं मिलते। यूरोपमें ट्रैजेडीका सर्वप्रथम विकास यूनानमें प्राचीन कालमें प्रचलित प्रकृतिदेवता डायनिसिससे सम्बन्धित जातीय धार्मिक कृत्यों द्वारा हुआ।

ट्रैजेडी यूनानी शब्द 'ट्रैगास'से आया है, जिसका शाब्दिक अर्थ है—**अजागीत**। प्राचीन कालमें बकरेकी बलि देनेकी प्रथासे इसका सम्बन्ध प्रतीत होता है। अरस्तू-ने ट्रैजेडीका सम्बन्ध उन नाट्य-रचनाओंसे स्थापित किया है, जिनके नायक आदि आधे मनुष्य और आधे बकरे होते थे। ट्रैजेडी शब्दका व्यवहार समस्त गम्भीर नाटकोंके लिए होता था, उनका त्रासद अन्त आवश्यक नहीं था। पौराणिक नाटकोंके चित्रणमें अतिरंजना और रूढ़िगत काव्यात्मक शैलीका व्यवहार होता था, परन्तु बादमें चलकर यूरिपिडेसकी कृतियों द्वारा यथार्थवादी विवरण भी नाटकमें आये, स्वच्छन्द एवं रूढ़ि-विरुद्ध कथानक अपनाये गये। अरस्तूने अपने काव्यशास्त्रमें ट्रैजेडीकी जो व्याख्या की है, वह प्राचीन यूनानी ट्रैजेडीपर बिलकुल ठीक उतरती है—"अतः ट्रैजेडी उस कार्यकी कलानुकृति है, जो कि गम्भीर एवं स्वतःपूर्ण एवं भव्य हो"। भव्यमें अरस्तूका तात्पर्य महाकाव्योंकी ही भाँति ऐसे उच्च कोटिके चरित्रोंकी कलानुकृतिसे है, जिनके व्यक्तित्व महत्त्वपूर्ण हों। ट्रैजेडीकी विशद विवेचना करते हुए अरस्तूने फिर कहा है—"ट्रैजेडी उस व्यापार-विशेषका अनुकरण है। जो गम्भीर हो, पूर्ण हो, एक निश्चित परिमाणका हो, प्रत्येक प्रकारके कलात्मक अलंकारोंसे सजी हुई भाषासे युक्त हो और ये सब प्रकार नाटकके भिन्न-भिन्न भागोंमें पाये जाते हों, जो वर्णनात्मक न होकर दृश्यात्मक हो, जो करुणा और भयका प्रदर्शन करके इन मनोविकारोंका उचित सुधार और परिष्कार कर सके...दुःखान्तके ६ अंग हैं—१. इतिवृत्त, २. आचार, ३. वर्णन-शैली, ४. विचार, ५. दृश्य और ६. गीत। इनमेंसे प्रथम दो अंग तो अनुकरणके साधन हैं, तीसरा अनुकरणका ढंग है और शेष तीन अनुकरणके आधार हैं...सबसे महत्त्वपूर्ण है घटनाओंका गुम्फन। ट्रैजेडी वास्तवमें व्यक्तियोंका ही नहीं, वरन् कार्य और जीवनका, सुख और दुःखका अनुकरण होता है। सम्पूर्ण मानवीय सुख और दुःख, कार्यका स्वरूप धारण करते हैं। जिस अन्तके लिए हम जीवन धारण किये हुए हैं, वह एक प्रकारकी कार्यशीलता है, कोई गुण नहीं। यद्यपि आचारसे मनुष्योंके गुण निर्धारित किये जाते हैं, किन्तु वे अपने कार्योंसे ही सुखी या दुःखी होते हैं। अतः नाटकीय कार्य आचरणका प्रदर्शन करनेकी दृष्टिसे नहीं आता, वरन् आचार ही कार्योंका सहायक बनकर आता है। अतः कार्य (घटनाएँ) और इतिवृत्त ही ट्रैजेडीके अन्त या परिणाम हैं और अन्त या परिणाम ही सब बातोंमें मुख्य माना जाता है"। अरस्तूके सिद्धान्तके अनुसार ट्रैजेडीमें दुःखानुभूति(मृत्यु, शारीरिक कष्ट आदि)का अत्यधिक महत्त्व है। इस प्रकारकी ट्रैजेडीके लिए अरस्तूने ऐसे नाटकका विधान किया है, जो न तो असाधारण रूपमें महान् हो और न पूर्णतः बुरा ही हो, वरन् जो किसी त्रुटिवश पतन-का भागी बन गया हो। चरित्र-चित्रण तथा कथानककी दृष्टिसे इस प्रकारकी त्रुटियोंका बहुत महत्त्व है। आधुनिक सामाजिक नाटकोंमें यह त्रुटि नायककी अपेक्षा, जो कि केवल बाह्य परिस्थितियोंका शिकार होता है, समाजमें ही अधिक दिखायी जाती है। अतः अरस्तूके अनुसार ट्रैजेडीका उद्देश्य प्रेक्षकोंमें करुणा एवं भयकी अनुभूति इस प्रकार कराना है कि धार्मिक अपवित्रताओंकी परिशुद्धि (कैथासिस) हो जाय। यह ट्रैजेडीका विशेष लक्षण है। यद्यपि अरस्तूके ट्रैजेडी सम्बन्धी सिद्धान्त यूनानी नाटकोंके प्रसंगमें आये हैं, फिर भी उनमें गिनाये गये ट्रैजेडीके ये लक्षण भव्यता, कथानक, स्थिति-विपर्यय (रिवर्सल), नाटकीय कार्यमें निर्णयात्मक मोड उत्पन्न करनेवाला तथ्य (डिस्कवरी, उदाहरणके लिए यह तथ्य कि एडिपसने अपने पिताकी हत्या करके अपनी मातासे विवाह कर लिया), पात्रोंका नैतिक निर्णय (इथॉस) तथा नायककी न्याय-बुद्धि (डायनिया), ऐसे आवश्यक तत्त्व हैं कि किसी भी युगकी पूर्ण-विकसित ट्रैजेडीमें प्राप्त होंगे। कालान्तरमें ट्रैजेडीका एक और भी लक्षण पाया जाने लगा। वह है कार्यकी एकता—अर्थात् घटनाओंका ऐसा संघटन कि एक भी घटनाके हटाने या बदलनेसे सम्पूर्ण घटना-क्रम छिन्न-भिन्न एवं क्रमहीन जान पड़े। बादमें चलकर (यूरोपके पुनर्जागरण-कालमें) फ्रांसमें **स्थान** एवं **समय**की एकताओं-के सिद्धान्त भी अपनाये जाने लगे, जो कि सम्पूर्ण यूरोपमें मान्य हो गये। कार्यके अतिरिक्त इन दोनों एकताओंकी अरस्तूके काव्यशास्त्रमें चर्चा नहीं है।

ट्रैजी-कामेडी(जिसमें सुखान्त एवं दुःखान्त, दोनों ही प्रकारकी घटनाएँ मिश्रित होती हैं)के उदयके साथ-साथ, अर्थात् स्वच्छन्दतावादी नाटकोंके प्रादुर्भावके पश्चात् इन तीनों एकताओंके सिद्धान्तोंका महत्त्व उठ गया, किन्तु घटनाओंके कार्य-कारणका सिद्धान्त अब भी व्यवहृत होता है।

१८वीं शताब्दीके बादसे ट्रैजेडीमें भव्यतावाले सिद्धान्त-में भी परिवर्तन हुआ। इस सिद्धान्तके अनुसार केवल उच्च कोटिके ही पात्र ट्रैजेडीके नायक हो सकते थे, किन्तु १८वीं शताब्दीके बादकी ट्रैजेडीमें सामान्य व्यक्ति भी नायक होने लगे। भव्यताका अर्थ अब कुलीनता, सामाजिक सम्मान, ऐश्वर्य आदि नहीं रह गया, वरन् अब वह आत्मिक एवं बौद्धिक उच्चताके अर्थमें व्यवहृत होने लगा। सामान्य व्यक्तिको यह महत्त्व प्रदान करनेका फल यह हुआ कि सामाजिक यथार्थवादका विकास हुआ और सामाजिक संघर्षवाले ट्रैजेडी नाटकोंका प्रादुर्भाव हुआ।

यथार्थवादी नाटकोंमें कुछ ऐसी भी स्थितियाँ एवं पात्र होते हैं, जो वास्तविक अर्थमें दुःखान्त नाटककी सृष्टि नहीं करते। वे ट्रैजेडी एवं **कामेडी** (दे०) दोनोंके बीचकी कोटि-में आते हैं। ऐसे नाटकोंको ट्रैजेडीकी अपेक्षा गम्भीर नाटक (सीरियस ड्रामा) कहना ही उपयुक्त होगा; उदाहरणके लिए 'राकेट टू दि मून' ऐसा ही नाटक है। इस प्रकारके नाटकोंको सामाजिक नाटक (सोशल ड्रामा) तथा समस्या-नाटक (प्राब्लम प्ले) भी कहा गया है।

भिन्न-भिन्न युगोंके दुःखान्त साहित्यमें भिन्न-भिन्न दार्शनिक धारणाएँ मिलती है। यूनानी नाटकोंमे हमें नियतिवाद मिलता है। आधुनिक युगमे दुःखान्तकी सृष्टि, व्यक्ति तथा समाज एवं उसकी रूढियों, पूर्वाग्रहों, नियमो आदिसे, उसके संघर्ष द्वारा की जाती है : उदाहरणके लिए इब्सनके 'ए डाल्स हाउस', बर्नार्ड शॉके 'सेण्ट जोन' इत्यादिमें। एमिली जोलाने ट्रैजेडीका कारण मनुष्यमें काम (यौन)वृत्तिका होना बताया है। उसके अनुसार इस काम (यौन)वृत्तिके कारण ही समस्त पाप होते है। इस प्रकार नियतिवादवाली प्राचीन धारणाका अभिनवीकरण हो गया है। अब भाग्य और कुछ नहीं, वरन् केवल वृत्ति एवं जन्मगत संस्कार रह गया है।

चेखवने ट्रैजेडीकी दूसरे ढंगमे व्याख्या की है। उसने ट्रैजेडीका कारण मनुष्यकी, संघर्षको जन्म देनेवाली इच्छाकी, असन्तुष्टि एवं तज्जन्य मानसिक कुण्ठा या घुटनको बताया है। ब्रिउनटियरने अपनी पुस्तक 'दि ला ऑव ड्रामा'में ट्रैजेडीकी व्याख्या इस प्रकार की है—"ट्रैजेडी मानवीय इच्छाकी वह शाखा है, जो संघर्षको जन्म देती है। मनुष्यका यह संघर्ष रहस्यमय शक्तियों, प्राकृत शक्तियों, नियति, सामाजिक नियमो, समकालीन व्यक्तियो और यहाँतक कि स्वयं अपने विरुद्ध भी हो सकता है"।

बीसवी शताब्दीमें राष्ट्रीय एवं वर्गीय संघर्षों तथा उनके साथ-साथ बौद्धिक एवं संवेगात्मक संघर्षोंपर श्रेष्ठ नाटकोंकी रचना हुई, किन्तु उनमें अरस्तूके सिद्धान्तके अनुसार घटना-संघटन अथवा कार्यकी प्रधानता बराबर बनी रही। महान् दार्शनिक हीगेलके शब्दोंमें कार्यकी प्रगति, मनुष्यकी इच्छा तथा उसके वातावरण—अर्थात् अन्य मनुष्योंकी इच्छाओं, समाज एवं प्रकृतिकी शक्तियों आदिके बीच होनेवाले सतत संघर्ष—द्वारा होती है।

ट्रैजेडीको चार मुख्य प्रकारोंमें विभाजित किया जा सकता है—१. मर्यादावादी या संस्कृत (क्लासिकल), जिसमें कथानक, कथावस्तु, चरित्र, भाषा, आदर्श आदिकी मर्यादापर विशेष बल दिया जाता है; २. स्वच्छन्दतावादी (रोमांसिक), जिसमें मर्यादावादी बन्धनोंका विरोध एवं स्वच्छन्द होनेकी प्रवृत्ति है; ३. मिश्र (मिक्स्ड), जिसमें मर्यादावाद तथा स्वच्छन्दतावादका मिश्रण है। यह स्वच्छन्दतावादकी अतिशय स्वतन्त्रताके विरोधमे उत्पन्न हुई और ४. यथार्थवादी (रियलिस्टिक), जिसमें मर्यादावाद, स्वच्छन्दतावाद तथा मिश्रणवाद—सभी सिद्धान्तोंकी उपेक्षा की गयी तथा सर्वसाधारणके सामान्य जीवनके यथार्थ चित्रणको लक्ष्य माना गया। इसका वर्णन ऊपर हो चुका है। —श्या० मो० श्री०

डायरी—डायरी सीमित अर्थमे तो कापी, नोटबुक या पुस्तिका है, जिसमे हर रोजकी घटनाओंका या दिनभरमें किये गये कार्योंका लेखा रखा जाय, पर प्रचलित अर्थमें डायरी दैनिक व्यापारों या घटनाओंका ब्यौरा है। डायरीमें लोग अपने कुछ या सब अनुभवों तथा निरीक्षणोंका दैनिक विवरण रखते है।

डायरीके माध्यमसे लेखकके सद्यःस्फुरित भावों तथा विचारोंको अभिव्यक्ति मिलती है। डायरीके लिए रोजनामचा, दैनिकी, दैनन्दिनी आदि पर्याय है और ये पर्याय इस दृष्टिसे सार्थक भी है कि वे डायरीके इस प्रमुख गुणकी ओर संकेत करते है कि डायरीमे लेखकका अनुभव उसके सबसे अधिक निकट रहकर अंकित होता है। डायरीमे लेखकके मनपर पड़े प्रभाव उसी दिन लिखित रूप पाते है। इस प्रकार डायरी लेखकके व्यक्तित्व-प्रकाशनका सर्वाधिक प्रामाणिक माध्यम है। प्रामाणिक इस अर्थमे कि प्रायः डायरियाँ अपने निजी भावों-विचारोंको नोटकर लेनेके उद्देश्यसे लिखी गयी है, पुस्तक-प्रकाशनके उद्देश्यसे नही। विशुद्ध डायरी सम्भवतः इस दृष्टिसे कभी नहीं लिखी जाती कि कालान्तरमे वह पुस्तकरूपमें प्रकाशित हो सकेगी।

डायरी लेखकके अत्यधिक निकट होती है, इसलिए ऐसा भी सम्भव है कि उसमे कलात्मक तटस्थताका अभाव रह जाय। अतः यह कहा जा सकता है कि डायरी कोई विशेष कलापूर्ण साहित्यरूप नही है, पर अपने मूल अभिप्रायमें वह कदाचित् साहित्य-रूप है ही नही। साहित्यिक दृष्टिसे डायरीमे सम्बद्धता या संगति और शिल्पगत कलात्मकताकी कमी हो सकती है, पर स्पष्टकथन, आत्मीयता और निकटता आदि विशेषताएँ डायरीकी उक्त कमीको पूरा कर देती हैं।

डायरी आत्मकथाका ही एक बदला हुआ रूप है। डायरीमे सामान्यतः ताजे अनुभवोंको लिखा जाता है या सम्भव है कि कभी-कभी बीते हुए अनुभवोंका पुनर्मूल्यांकन कर लिया जाय, जब कि दूसरी ओर, आत्मकथामें सारे अतीतपर अपेक्षाकृत कहीं अधिक परिपक्व और तटस्थदृष्टि डाल सकनेकी सम्भावना रहती है। डायरीमें वैयक्तिकता होती है और 'जर्नल' डायरीकी अपेक्षा किंचित् अधिक विचारप्रधान निर्वैयक्तिक रचना है।

[सहायक ग्रन्थ—महादेव भाईकी डायरी (तीन भाग) : सं० नरहरि पारीख; बालमुकुन्द स्मारक ग्रन्थ : सं० झावरमल शर्मा; बनारसीदास चतुर्वेदी : गुप्तजीकी १८९२-१९०७-तककी डायरीका कुछ अंश।] —अ० कु०

डिंगल—राजस्थानकी साहित्यिक भाषाओंमेसे पश्चिमी राजस्थानी या मारवाडीके साहित्यिक रूपको डिंगल नामसे पुकारा जाता है। मारवाडीका यह नाम बहुत प्राचीन नही है। इस भाषाके लिए 'डिंगल' नाम क्यों दिया गया, इसका कोई ऐतिहासिक या भाषाविषयक लिखित उचित समाधान प्राप्त नही होता। इस शब्दका मारवाड़ी भाषाके लिए प्रयोग उपलब्ध प्रमाणोंके आधारपर सर्वप्रथम जोधपुरके कविराज बाँकीदासके सं० १८७१में लिखित ग्रन्थ 'कुकवि बत्तीसी'मे मिलता है। बाँकीदास और उनके वंशज बुधाजीने 'डींगल' नाम दिया है, अतः डींगल ही सही शब्दरूप है। डींगलको 'पिंगल'के आधारपर 'डिंगल' कहा जाने लगा और तबसे साहित्यजगत्में 'डिंगल' नाम ही प्रचलित हो गया।

डींगल या डिंगल शब्दकी व्युत्पत्ति और अर्थके सम्बन्धमें विद्वानोंने नाना प्रकारकी कल्पनाएँ की है, किन्तु उनसे 'डींगल'के अर्थपर कोई भी प्रामाणिक प्रकाश नहीं पड़ता। सर्वप्रथम हरप्रसाद शास्त्री और एस० पी० तेस्सीतोरीने डिंगल भाषा और साहित्यपर विचार किया, किन्तु 'डिंगल'

शब्दके अर्थके सम्बन्धमें उनके तर्क काल्पनिक हैं। तेस्सीतोरीने बहुत ही परिश्रमसे डिंगलकी तीन सुन्दर कृतियों—वचनिका राठौड रतनसिंहजीरी, महेसदासरौतरी, खिडिया जगारी कही (रचनाकाल, लगभग १६६० ई०) वेलि क्रिसन रुक्मणीरी, राठौडराज प्रिथीराजरी कही (ई० सोलहवीं शती) और छन्द राउ जइतसी रउ, वीठू सूजइ रउ कहिअउ (सोलहवीं शती ई० लगभग)का सम्पादन कर प्रकाशित कराया। वेलि क्रिसन रुक्मणीरीके आजकल अन्य कई संस्करण प्राप्य हैं। 'ढोला मारू रा दूहा' डिंगल साहित्यका एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रकाशित ग्रन्थ है।

चारण, भाट, राव, मोतीसर आदि राजस्थानके जाति-विशेषके लोगोंने डिंगलमें विशेष रूपसे रचना की है, किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि केवल इन्हीं जातियोंने डिंगलमें साहित्य-सर्जन किया। जिस प्रकार डिंगलकी अपनी भाषाविषयक अलग विशेषता है, उसी प्रकार छन्द, अलंकारके सम्बन्धमें भी डिंगलकी अपनी पृथक् परम्पराएँ हैं और काव्यरूपोंके सम्बन्धमें भी डिंगलकी परम्पराएँ प्रायः बिलकुल भिन्न हैं। इतिहासविषयक गद्य-पद्यात्मक रचनाएँ ख्यात, बात आदि नामोंके अन्तर्गत मिलती हैं। दूसरी ओर पद्यात्मक काव्यकृतियोंके नाम कहीं चरितनायकोंके नामके अनुसार, कहीं प्रधानप्रयुक्त छन्दके अनुसार रखे गये मिलते हैं। डिंगल काव्यका इस प्रकार अपना स्वतन्त्र और काफी प्रभावशाली साहित्य मिलता है, जिसका सम्यक् अध्ययन अभी प्रारम्भ ही हुआ है। —रा० सिं० तो०

डिम–नाट्यदर्पणकार लिखते हैं "डिम डिम्बो विप्लव इत्यर्थः, तद्योगादयं डिमः, डिमैः संघातार्थत्वादिति"। इसी प्रकार आचार्य हेमचन्द्रने इस रूपक-प्रकारको दो और नामोंसे पुकारा है—डिम्ब और विद्रोह (काव्यानुशासन, पृ० ३२२)। सम्भवतः इस रूपकमें विविध प्रकारके विप्लवके कारण इसका नाम आचार्यने डिम्ब और विद्रोह रखा है। डिमका अर्थ समूह भी होता है। भरतमुनिके मतसे इसमें देवता, नाग, राक्षस, यक्ष, पिशाच आदि १६ पात्रोंके परस्पर वैमनस्य एवं संघर्षके कारण नाना प्रकारके मायावी तथा ऐन्द्रजालिक क्रिया-कलापोंका प्रदर्शन होता है। सम्भव है, इसी कारण इसका नाम डिम पड़ा हो।

भरतमुनिके लक्षणका अनुसरण करते हुए धनंजय, शारदातनय एवं विश्वनाथने डिमका लक्षण इस प्रकार किया है—"जिसका इतिवृत्त प्रसिद्ध हो, देव, गन्धर्व, यक्ष-राक्षस और महासर्प इत्यादि जिसके नेता हों, भूत, प्रेत, पिशाच इत्यादि १६ अत्यन्त उद्धत पात्र हों, जो माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध और उन्मत्तादिकोंकी चेष्टाओं तथा सूर्य-चन्द्र-ग्रहणके वृत्तसे व्याप्त हो, जिसमें चार अंक हों, जो **विष्कम्भक** एवं **प्रवेशक**से रहित हो, जिसमें **कैशिकी**को छोड़कर अन्य वृत्तियाँ एवं शान्त, हास्य एवं श्रृंगारको छोड़कर दीप्त छः रस हों, **विमर्श**को छोड़कर चार सन्धियाँ हों"।

नाट्यदर्पणकारने इसके विषयमें विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। उनका मत है कि डिममें शान्त, हास्य एवं श्रृंगार—इन तीन रसोंको स्थान नहीं है। डिमका मुख्य अंगी रस रौद्र होता है और बीभत्सादि शेष रस अंग बनकर आते हैं। संग्राम, बाहुयुद्ध, बलात्कार और पराभव आदिका वर्णन अनिवार्य रूपसे पाया जाता है। संक्षेपमें आचार्य रामचन्द्रने इसका लक्षण इस प्रकार लिखा है—"अशान्त-हास्यश्रृंगारविमर्शः ख्यातवस्तुकः। रौद्रमुख्यश्चतुरंगः ऐन्द्रजाल रणो डिमः ॥८६॥" (ना० द०, पृ० १२९)। भरतमुनिने 'त्रिपुरदाह' नामक डिमका उल्लेख किया है। 'भावप्रकाश'में शारदातनयने 'वृत्रोद्धरण' और 'तारकोद्धरण'-का भी उदाहरण दिया है। सागरनन्दीने सोलह नायकयुक्त डिमके लिए 'नरकोद्धरण', विख्यात वस्तुविषयके लिए 'वृत्रोद्धरण'का नामोल्लेख किया है।

भारतेन्दुने हिन्दीमें इस शैलीका अभाव देखकर संक्षेपमें इतना ही लिखा है कि "इसमें उपद्रव-दर्शन विशेष होना है। अंक चार, नायक देवता या दैत्य या अवतार"। बाबू गुलाबरायका मत है कि 'इसके चार अंक और सोलह नायक होते हैं। इसमें रौद्र रसका प्राधान्य रहता है। इसके नायक देवता, दैत्य या अवतार होते हैं और जादू तथा माया-जाल रहता है। इसमें श्रृंगार और हास्य वर्जित हैं"। उनकी दृष्टिमें भी हिन्दीमें डिमका कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं है। —द० ओ०

डेन्यूमाँ–यह फ्रांसीसी शब्द है, जिसका अर्थ है गाँठ खुलना। पाश्चात्य धारणाके अनुसार नाटकके उस स्थानको डेन्यूमाँ कहते हैं, जहाँसे नाटकीय संघर्षका अन्त एवं निष्कर्ष-का प्रारम्भ होता है। यह ठीक नाटकके चरम बिन्दुके पश्चात् आता है। सुखान्त एवं दुःखान्त नाटकोंमें इसके रूप भिन्न होते हैं। सुखान्त नाटकमें बाधाएँ शनैःशनैः हटने लगती हैं, कठिनाइयाँ एवं भ्रान्तियाँ समाप्त होने लगती हैं तथा नायक एवं नायिकाकी मनोकामनाओंकी पूर्तिके साधन उपस्थित होने लगते हैं। दुःखान्त नाटकमें डेन्यूमाँ उस स्थलको कहते हैं, जहाँसे नाटककी दुष्ट शक्तियाँ प्रबल होकर स्वच्छन्दतापूर्वक कार्य करने लगती हैं, उन्हें रोक रखनेवाली शक्तियोंका पतन हो जाता है और नाटकका दुःखमय अन्त आता है। शेक्सपीयरके 'मैकबेथ' नाटकके तृतीय अंकके प्रथम दृश्यमें फ्लिएन्सके बचकर भाग निकलने तथा बैंकोकी प्रेतात्माके प्रकट होनेके पश्चात्‌से ही मैकबेथके दुःखान्त भाग्य-परिवर्तनका प्रारम्भ हो जाता है। अतः नाटकका यह स्थल डेन्यूमाँ कहा जायगा। 'ओथेलो'के चतुर्थ अंकके प्रथम दृश्यमें जहाँ मूरको अपनी पत्नीकी दुश्चरित्रता-का विश्वास हो जाता है, वहाँसे डेन्यूमाँ प्रारम्भ हो जाता है। इसी प्रकार 'किंग लियर'में जहाँ लियर गोनेरिल और रीगैनके दिखावटी व्यवहार तथा कार्डेलियाके प्रकट रूपमें रूक्ष व्यवहारसे भ्रान्त होकर अपना राज्य उन दोनोंको दे देता है तथा कार्डेलियाके भागमें केवल अपना श्रम सुरक्षित रखता है, वहीं नाटकीय चरम-बिन्दु आ जाता है और किंग लियरके भाग्यका निर्णय हो जाता है। इस नाटकका डेन्यूमाँ इसी स्थलपर प्रारम्भ होता है। डेन्यूमाँमें अनिश्चितता, आशंका एवं द्विविधाका शमन हो जाता है और नाटककी कथा एक निश्चित दिशा पाकर अन्तकी ओर बढ़ती है। 'अभिज्ञानशाकुन्तल'में राजा दुष्यन्त द्वारा धीवरसे मुद्रिका-प्राप्तिकी घटना नाटकके सुखद अन्तका निश्चय करा देती है। अतः इसी स्थलको इस नाटकका

इन्हें समझना चाहिये । —श्या० मो० श्री०

डोम्बी—दे० 'महामुद्रा', 'हठयोग' ।

ढकोसला--ढकोसला एक ओर तो सामान्य शब्द है जिसका अर्थ होता है कोई आडम्बर अथवा मिथ्या ढोंग—'हिन्दी शब्दसागर'में इसकी व्युत्पत्ति ढंग कौशलमें मानी गयी, जो भाषा तत्त्वकी दृष्टिसे ठीक नहीं विदित होती—दूसरी ओर लोकसाहित्यका एक विभेद भी ढकोसला कहलाता है । शब्दकोशोंमें इसका उल्लेख नहीं मिलता । फैलनके शब्दकोशमें ढकोसलाके कई अर्थोंमें एक अर्थ 'फेबिल' भी है । उसी उदाहरणमें गालिबकी एक पंक्ति दी गयी है । ढकोसलेमें कल्पित कथा-वार्ताका तत्त्व होना चाहिये । लोकसाहित्यमें ढकोसला ऐसी ही लोकोक्ति या वार्ताको कहते हैं, जिसके सिर पैर नहीं दिखाई पड़ते, वे सिर-पैरकी उक्तियाँ । ये वे सिर-पैरकी उक्तियाँ, प्रभाववादी कथन-शैलियाँ हैं, जिससे तत्काल अभिप्रेत अर्थ सिद्ध होता है । कम-से-कम बढ़ती हुई बात अटक जाती है । ध्यान कहीं-से-कहीं चला जाता है । ब्रजमें ऐसे ही ढकोसलेका एक रूप है परसोकला, जैसे "भैंसिया चढ़ी पेड़पै लपलप गूलर खाय" ।

ऐसे ही बुझौली अथवा पहेलियोंकी तरहके भी ढकोसले होते हैं, इनमें किसी विचित्र स्थितिकी कल्पना करके पहेली जैसी शैलीमें प्रस्तुत कर दिया जाता है । "पीपर बैठी भैंसि उगारै ऊँट खाट पै सोवै । पीछे फेरिकै देखि लुगाई अँगियायें कुत्ता धोवै ।" ऐसा ढकोसला अनमिल्ला कहा जाता है । अचका भी इसीके अन्तर्गत आयेगा । "मेरी परोसिन कूटे धान, भनक परि गई मेरे कान, बाइ परयौ धाननको लालौ, मेरे हाथनु परि गयौ छालौ" । —स०

ढाँक—ब्रजप्रदेशमें प्रचलित लोकगीत तथा विधान । किसी व्यक्तिके साँपके द्वारा काटे जानेपर इसका आयोजन किया जाता है । एक व्यक्ति घड़ेपर थाली रखकर काठकी लकड़ीसे उसे बजाता है तथा उपस्थित गायक लोग सम्मिलित स्वरमें नाग देवताको तुष्ट करनेके लिए गीत गाते हैं । ग्रामीणोंका विश्वास है कि इस उपचारसे सर्पका विष खिंच जाता है तथा काटा हुआ व्यक्ति स्वस्थ हो जाता है । —रा०स्व०च०

तत्त्व—तान्त्रिकोंके अनुसार तत्त्व ३६ हैं । शैवयोगी भी तत्त्वोंकी संख्या ३६ मानते हैं । तान्त्रिकोंकी धारणा है कि भगवान् शिवने अपने पाँच मुखोंसे पाँच आम्नायों (दे० आम्नाय)का उपदेश किया है । इन पाँच आम्नायोंमें इन्हीं ३६ तत्त्वोंका निर्णय किया गया है । ये ३६ तत्त्व क्रमशः यों हैं—१. शिव, २. शक्ति, ३. सदाशिव, ४. ईश्वर, ५. शुद्ध विद्या, ६. माया, ७. विद्या या अविद्या, ८. कला, ९. सत्र, १०. काल, ११. नियति, १२. जीव, १३. प्रकृति, १४. मन, १५. बुद्धि, १६. अहंकार, १७. गोत्र, १८. त्वक् , १९. चक्षु, २०. जिह्वा, २१. घ्राण, २२. वाक् , २३. पाणि, २४. पाद, २५. पायु, २६. उपस्थ, २७. शब्द, २८. स्पर्श, २९, रूप, ३०. रस, ३१. गन्ध, ३२. आकाश, ३३. वायु, ३४. तेज, ३५. जल और ३६. पृथ्वी । इन ३६ तत्त्वोंको उनकी प्रकृतिका विश्लेषण करके मुख्य तीन वर्गोंमें रख दिया गया है । जहाँ सत्, चित् और आनन्द—तीनों अनाच्छादित या प्रकट रहते हैं ऐसे प्रथम दो शिव और शक्ति तत्त्वोंको 'शिवतत्त्व' या शुद्ध-तत्त्व कहा जाता है, जहाँ सत् और चित् अंश तो अनाच्छादित और सुस्पष्ट रहता है किन्तु आनन्द अंश प्रच्छन्न (आवृत) रहता है, उसे 'विद्यातत्त्व'की संज्ञा दी जाती है । इन्हें शुद्धाशुद्धतत्त्व भी कहते हैं । इस विद्यातत्त्वके अन्दर सदाशिव, ईश्वर एवं शुद्ध विद्याकी गणना होती है । शेष इकतीस तत्त्व 'आत्मतत्त्व' कहलाते हैं क्योंकि इनमें मात्र सत् (अर्थात् होना, या सत्ता) अंश ही व्यक्त और अनावृत रहता है । इन्हें अशुद्ध तत्त्व भी कहते हैं । शेष चित् और आनन्द तत्त्व पूर्णतया छिपे हुए और अव्यक्त रहते हैं । आत्मतत्त्वमें 'आत्म' शब्द थोड़ा भ्रामक है, अतः यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि तान्त्रिकोंने इस 'आत्म' शब्दका प्रयोग 'जड़ शरीरको ही आत्मा समझने'के अर्थमें किया है । अतः आत्मको देखकर यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि आत्मतत्त्व चैतन्य प्रधान है । वस्तुतः वह गुप्त चैतन्य है । आनन्द भी वहाँ गुप्त रहता है । केवल सत् अनावृत रहता है ।

सांख्योंके अनुसार तत्त्व २५ हैं । १. प्रकृति, २. पुरुष, ३. महान् या बुद्धि, ४. अहंकार, ५. शब्द तन्मात्र, ६. स्पर्श तन्मात्र, ७. रूपतन्मात्र, ८. रसतन्मात्र ९. गन्धतन्मात्र (नामक ५ तन्मात्र), १०. कान, ११. त्वचा, १२. आँख, १३. रसना, १४. नाक (नामक ५ ज्ञानेन्द्रियाँ), १५. हाथ, १६. पाँव, १७. जीभ, १८. पायु, १९. उपस्थ (नामक पाँच कर्मेन्द्रियाँ), २०. मन, २१. पृथ्वी, २२. जल, २३. तेज, २४. वायु तथा २५. आकाश (नामक पंच महाभूत) । वेदान्ती सांख्योंकी भाँति उक्त तत्त्वोंकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानते । उनके मतसे एक परब्रह्म ही वास्तविक सत्ता है, इस नाम रूपात्मक जगत्को वास्तविक समझना अज्ञान है । —रा० सिं०

तत्त्वाभिनिवेशी—दे० 'भावक' ।

तथता—दे० 'विज्ञानवाद' ।

तद्गुण—लोकन्याय-मूल अर्थालंकार, जिसमें प्रस्तुत अपने-अपने गुणको त्यागकर समीपस्थ अन्य वस्तु (अप्रस्तुत)के संसर्गसे उत्कृष्ट गुणके ग्रहणका वर्णन होता है । जहाँ अपना गुण त्यागकर समीपस्थ अन्य वस्तुके गुणग्रहणका वर्णन हो, वहाँ 'तद्गुण' अलंकार होता है । 'तद्गुण'से अभिप्राय है 'किसी वस्तुमें अन्य वस्तुका गुण होना' । 'गुण' शब्दका अभिप्राय यहाँ रंग और रूप लिया गया है । सर्वप्रथम यह अलंकार रुद्रटके 'काव्यालंकार'में अतिशय वर्गके अन्तर्गत स्वीकृत हुआ है । मम्मटके शब्दोंमें 'तद्गुण' अलंकारकी परिभाषा ऊपर दी गयी है—"स्वमुत्सृज्य गुणं योगादत्युज्ज्वलगुणस्य यत् । वस्तु तद्गुणतामेति भण्यते स तु तद्गुणः" (का० प्र०, १० : १३७) । हिन्दीमें इसको सर्वप्रथम जसवन्त सिंहने अपने 'भाषाभूषण'में 'कुवलयानन्द'के प्रभावसे लिया है । मतिरामने "जहाँ आपनो रंग तजि लेत औरको रंग' (रसराज, ३३१) कहा है, पर यह परिभाषा स्पष्ट नहीं है । कुलपति मिश्रने प्रस्तुत अलंकारकी परिभाषा अपने 'रसरहस्य'में अधिक स्पष्ट दी है—"अधिक और गुण जोगते, निज तजि औरहि लेइ । सोई तद्गुन जानिये, ताको गुण कहि देइ" । भिखारीदासकी

परिभाषा कुछ भिन्न है—"तद्गुन तजि गुन आपनो, संगतिको गुन लेत। पाये पूरबरूप फिरि, स्वगुन सुमति कहि देत" (का० नि०, १४)। स्पष्टतः दूसरेका गुण ग्रहण करनेके बाद जहाँ फिर अपना गुण ग्रहण किया जाता है, वहाँ भी 'तद्गुण' अलंकार होता है। कन्हैयालाल पोद्दारने भी इस स्थितिमें 'तद्गुण' अलंकारकी स्थिति मानी है। किन्तु अप्पय्य दीक्षितने अपने 'कुवलयानन्द'में ऐसी स्थितिमें पूर्वरूप अलंकार माना है (दे० 'पूर्वरूप')। भूषणकी तद्गुणकी परिभाषा स्पष्ट नहीं है—"जहाँ आपनो रंग तजि, गहै औरको रंग" (शि० भू०, २२८)।

बिहारीका तद्गुणका यह प्रसिद्ध उदाहरण है—"अधर धरत हरिके परत, ओठ-डीठि-पट-जोति। हरित बाँसकी बाँसुरी, इन्द्र-धनुष-रँग होति" (सतसई, ४२०)। मैथिलीशरण गुप्तके इस प्रयोगमे भ्रान्तिका आधार तद्गुण है—"नाकका मोती अधरकी कान्तिसे। बीज दाडिमका समझकर भ्रान्तिसे" (साकेत)।

हिन्दी काव्यशास्त्रमे इस अलंकारका शास्त्रीय विश्लेषण ऊपर निर्दिष्ट रीतिकालीन आचार्योंके अतिरिक्त चिन्तामणि, सोमनाथ आदिने और ही किया है। प्रायः उदाहरणोंमें परम्परागत मालाओं तथा हारोंके रंगपरिवर्तनका वर्णन है। भूषणके उदाहरण—"महत उतंग मनि जोतिनके संग आनि, कैयो रंग चकहा गहत रवि रथके", (शि० भू०, २८९)में भी 'शिशुपालवध'के रैवतक-वर्णनकी छाया है। तुलसी, रहीम तथा बिहारीमे इसके काव्यमय प्रयोग मिल जाते है। आधुनिक छायावादी कवियोंमे इसका प्रयोग यत्र-तत्र हुआ है। पन्तकी इस पंक्तिमे—"यह ऊषाका नव विकास है, जो रजको है रजत बनाना"में तद्गुणका प्रयोग है। —वि० स्ना०

तनुजा सेवा—दे० 'सेवा'।

तपन—दे० 'स्वभावज अलंकार' बारहवाँ।

तमिल (भाषा तथा साहित्य)—तमिल भाषा द्राविड भाषा-परिवारकी प्राचीनतम भाषा मानी जाती है। इसकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें अभीतक यह निर्णय नही हो सका है कि किस समय इस भाषाका प्रारम्भ हुआ। विश्वके विद्वानोंने संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओंके समान तमिलको भी अति प्राचीन तथा सम्पन्न भाषा माना है। अन्य भाषाओंकी अपेक्षा तमिलकी विशेषता यह है कि यह अति प्राचीन भाषा होकर भी लगभग २५०० वर्षोंसे अविरत रूपसे आजतक जीवनके सभी क्षेत्रोंमे व्यवहृत है। इस भाषामें उपलब्ध ग्रन्थोंके आधारपर यह निर्विवाद निर्णय हो चुका है कि तमिल भाषा ईसासे कई सौ वर्ष पूर्व ही सुसंस्कृत एवं सुव्यवस्थित हो गयी थी।

इस भाषाके नामको 'तमिल' या 'नामिल'के रूपमें हिन्दी भाषा-भाषी उच्चारण करते है। तमिल भाषाके साहित्य तथा निघण्टुमें 'तमिल' शब्दका प्रयोग मधुर अर्थमे हुआ है। कुछ विद्वानोने संस्कृत भाषाके द्राविड शब्दसे तमिल शब्दकी उत्पत्ति मानकर द्राविड द्रविड द्रमिड द्रमिल दमिल तमिल आदि रूप दिखाकर तमिलकी उत्पत्ति सिद्धकी है, किन्तु तमिलके अधिकांश विद्वान् इस विचारसे सर्वथा असहमत है।

भाषाके प्रथम नामकरणकी तिथिपर विचार करनेके लिए हमारे पास तमिलका प्रामाणिक ग्रन्थ 'तोलगाप्पियम्' नामक व्याकरण है। तमिल भाषा-साहित्यके विकासमें आधारभूत तीन कविसंघोंका विवरण तमिल वाङ्मयमें उपलब्ध होता है। 'तोलगाप्पियम्' द्वितीय कविसंघकालका ग्रन्थ है। विद्वानोंने इसे पाणिनि (४०० ई० पू०)से पूर्वका माना है। इस ग्रन्थमे पूर्ववर्ती ग्रन्थ-लेखकोंका भी उल्लेख है। इस ग्रन्थमें तमिल पदका प्रयोग हुआ है। अतः इस प्रमाणके आधारपर तमिल भाषाको कहनेवाला यह तमिल पद पाणिनिके व्याकरण 'अष्टाध्यायी'से भी पूर्वका है।

भाषामूलक प्रान्तोंके वर्गीकरणसे तमिलप्रदेश आज अतीव संकुचित हो गया है। तमिलके सर्वप्राचीन ग्रन्थ 'तोलगाप्पियम्'में तमिलप्रदेशकी सीमा उत्तरमे तिरुपति तथा दक्षिणमें कुमरी मानी गयी है। कुमरीसे अभिप्राय आजकलकी कन्याकुमारीसे नहीं है। पुरातनकालमे कुमरी नामक नदी थी। उस समय कुमरी तथा पहुली(pahruli) नदीके मध्य तमिलके ४९ देश विद्यमान थे। समय-समयपर हुए सागर-प्रलयमें तामिलका सारा विशाल भूभाग तथा वे देश विलीन हो गये है। किस प्रकार तमिलप्रदेश नष्ट हुआ, इसका विवरण तमिलके प्रमुख एवं प्राचीन महाकाव्य 'शिलप्पदिकारम्'की टीकासे जाना जाता है। तमिल भाषाके तुलनात्मक व्याकरण लिखनेवाले काल्डवेलने अपने ग्रन्थमें लिखा है कि तमिल प्रदेशकी सीमा समस्त कर्नाटक, पूर्व और पश्चिम-घाटके नीचे पालघाटसे लगाकर कुमरी अन्तरीप तथा उत्तरमें बंगोपसागरके उपकूलतक है। उन्होने तमिलप्रदेशका क्षेत्रफल ६०,००९ वर्गमील माना है। कुछ अन्य विद्वानोंके अनुसार ईसासे अनेक शताब्दियो पूर्व तमिलभाषी प्रदेश पूर्वमे जावा द्वीपसमूहसे लेकर दक्षिण पश्चिममें अफ्रीकातक विस्तृत था। आजकी गणनाके अनुसार तमिलप्रदेशके १२ जिलोमें तथा लंकामें तमिल-जन-भाषा है। आज संसारमें इस भाषाके बोलनेवालोंकी संख्या लगभग तीन करोड़ है।

भाषाओंके समान तमिल लिपिका भी विद्वानोंने अध्ययन कर निर्णय किया है। कुछ विद्वान् भारतकी सभी लिपियोंका सम्बन्ध ब्राह्मी लिपिसे ही जोडते हैं, जो नागरी लिपिका आधार है। तमिलके महान् विद्वान् राघवय्यंगारका मत है कि तमिलकी आदिम लिपिका सम्बन्ध प्राचीन मिस्री लिपिसे है।

भारतीय भाषाओंमें तमिल ही एकमात्र ऐसी भाषा है, जिसकी वर्णमाला अन्य भाषाओंकी वर्णमालाकी अपेक्षा अति न्यून है। इस भाषामे १२ स्वर, १८ व्यंजन तथा एक विसर्ग सदृश अर्धस्वर है।

पाण्डिय राजाओंके संरक्षणमे तमिलसाहित्यका संवर्धन हुआ, इसका उल्लेख पहले ही हो चुका है। 'इरैयनाकलवियलुरै' नामक ग्रन्थमें तमिल कविसंघोंका जो विवरण दिया गया है, उसका सारांश यहाँ देना उचित होगा। इस ग्रन्थके अनुसार प्रथम कविसंघ ई० पू० ९,९५०से ई० पू० ५,५५०तक, अर्थात् ४,४०० वर्षतक काव्य-निर्माणके कामकी देखभाल करता रहा। इस कविसंघके सदस्य ८९ कवि थे। इस संघका प्रधान ग्रन्थ 'अगत्तियम्' नामक

व्याकरण है, जो सम्प्रति अप्राप्य है। यह ग्रन्थ १२,००० सूत्रोंमे निर्मित तमिल भाषाका आलोचनात्मक ग्रन्थ माना गया है। इस कालमें 'परिपाडल', 'मुदुनारै', 'मुदुगुरुकु' तथा 'कलवियलुरै' आदि ग्रन्थ थे। सामुद्रिक प्रलय होनेके कारण पाण्डियोंकी राजधानी दक्षिण मदुरा सागरमग्न हो गयी। तदनन्तर कपाटपुरम् नामक स्थानपर पाण्डियोंने अपनी राजधानी निर्माण कर द्वितीय कविसंघकी स्थापना की। इस संघके सदस्य ५९ थे। यह संघ लगभग ३,७०० वर्पतक साहित्य-निर्माणका कार्य करता रहा। ई० पू० १८५०मे इस संघकी भी समाप्ति हो गयी। समाप्तिका कारण सागरकी उथल-पुथल ही है। द्वितीय संघकालके ग्रन्थ 'तोलगाप्पियम्', 'महापुराणा', 'इसैनुणुक्कम्' तथा 'भूतपुराणम्' आदि है।

अन्तमें वर्तमान मदुरामे तृतीय कविसंघकी स्थापना हुई। इसमें नक्कीरर आदि ४९ कवि सदस्य थे। यह संघ १,८५० वर्पतक रहा। पश्चात् किन्ही अज्ञात कारणोंसे इस कवि-संघका विघटन हुआ। प्रथम और द्वितीय कविसंघोके दीर्घकाल तथा विवरणोके बारेमें कुछ लोग सन्देह करते है। उन दोनों कविसंघोंके ग्रन्थ भी आजकल उपलब्ध नही है। सम्प्रति विद्यमान ग्रन्थ तृतीय कविसंघके है। अतः तृतीय कविसंघके सम्बन्धमें विद्वान् लोगोकी आस्था बनी हुई है। इस आस्थाका कारण मदुरा नगरमें आज भी प्राप्त होनेवाली ऐतिहासिक सामग्री है। तृतीय कविसंघके साहित्यमें वर्णित मन्दिर तथा मूर्तियोंका प्राप्त होना तृतीय कविसंघकी सत्ता-को प्रमाणित करता है।

आजतकके प्राप्त तमिलसाहित्यको तमिलके विद्वानोंने अध्ययन कर विभिन्न कालोंमें विभाजित किया है। इस काल-विभाजनके आधारपर पाठक तमिलसाहित्यके क्रमिक विकासको ठीक-ठीक समझ सकते है। कालोंका विभाजन इस प्रकार है—संघपूर्वकाल, संघकाल, संघोत्तरकाल, भक्ति-काल, कम्बनकाल, मध्यकाल तथा आधुनिक काल।

सागर-प्रलयका उल्लेख पूर्व ही किया गया है। सागर-प्रलयके कारण प्रथम तथा द्वितीय कविसंघका साहित्य विलुप्त हो गया है। सम्प्रति द्वितीय कविसंघका ग्रंथ सिर्फ 'तोलगाप्पियम्' तथा तृतीय कविसंघके ग्रन्थ ही हमें उपलब्ध होते हैं। इन्ही ग्रन्थोंको तमिल भाषामें संघसा-हित्यके नामसे पुकारा जाता है। इन्ही ग्रन्थोके अध्ययनके द्वारा पुरातन तमिल जातिके प्राकृतिक जीवन तथा संस्कृ-तिका ज्ञान होता है।

द्वितीय कविसंघका एकमात्र ग्रन्थ 'तोलगाप्पियम्' लक्षण-ग्रन्थ है। इसके लेखक अगस्त्यके शिष्य तोलगाप्पियर है। 'तोलगाप्पियम्' पाणिनिकी 'अष्टाध्यायी'के सदृश अद्भुत रचना है। यह ग्रन्थ ऐन्द्र व्याकरणसे प्रभावित है।

संघकालके प्रमुख काव्यग्रन्थ-संग्रहोके नाम एट्टुत्तोगै (आठ संग्रह), पत्तुपाट्टु (दस कविताएँ) और पदिनेण्कील्क-णक्कु (अठारह लघुकविता-संग्रह) है। ये सभी ग्रन्थ लम्बी-लम्बी कविताओंके संग्रह है। इन ग्रन्थोंमे शृंगार रस तथा वीर रसके भावात्मक पद्योंका संग्रह है। प्राकृतिक वर्णन तमिल कविताओंका विशेष विषय है। इन ग्रन्थोंके अध्ययनसे प्राचीन तमिल समाज, तमिल राष्ट्र, तत्कालीन चेर, चोल, पाण्डिय राजाओंका विवरण, उनकी राजनीति, धर्म, युद्ध तथा आर्थिक दशाका विशद परिचय मिलता है। इन्हीं ग्रन्थोमे जगत्प्रसिद्ध 'तिरुक्कुरल' नामक ग्रन्थ भी है। इसमे धर्म, अर्थ तथा कामकी बहुत सुन्दर एवं सजीव व्याख्या की गयी है। भारत या संसारकी किसी भी भाषामे धर्मार्थ-कामकी इतनी सरल, सुन्दर एवं संक्षिप्त व्याख्या नही मिलती। इस ग्रन्थका लेखक सन्त तिरुवल्लुवर है। इस ग्रन्थमें कबीर या बिहारीके दोहोंके समान छोटे-छोटे भाव-पूर्ण १,३३० दोहे है। 'गागरमें सागर भरना' यह उक्ति इस ग्रन्थके लिए सर्वथा चरितार्थ होती है।

तमिल भाषाके इस सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थके लेखककी जन्म-भूमि, कुल तथा वैयक्तिक धर्मके सम्बन्धमें निरन्तर अनु-सन्धान होता आ रहा है। आजतक यह निर्णय न हो सका कि ये किस धर्मके अनुयायी थे। शैव, वैष्णव, बौद्ध, जैन और ईसाई सन्त वल्लुवरको अपने ही धर्मका अनुयायी सिद्ध करनेके लिए सतत प्रयत्न करते है और 'तिरुक्कुरल'को ही अपनी बातकी पुष्टिके लिए प्रमाणरूपमे उद्धृत करते है। 'कुरल' संस्कृत भाषामें 'सुनीतिकुसुममाला'के नामसे अनू-दित हो गया है। संसारकी विभिन्न भाषाओंमें अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, लैटिन, हिन्दी, कन्नड़, मलयालम, बँगला आदि भाषाओंमें भी इसका अनुवाद हो चुका है। हिन्दीमे इसका अनुवाद तमिलवेदके नामसे प्रकाशित है।

संघोत्तरकालमे महाकाव्योंकी रचना हुई। तृतीय संघके अन्तिम कालमे उत्तरापथसे वैदिक, बौद्ध और जैन-धर्माव-लम्बी दक्षिणापथ आकर अपने-अपने धर्मका प्रचार करने लगे। इस युगमे ही संस्कृत और पाली भाषाका प्रचार हुआ। इसी समय इन भाषाओंका तमिलके साथ सम्मिश्रण हुआ। इस युगमें पाँच सर्वश्रेष्ठ महाकाव्योंकी रचना हुई। ये है—१. शिलप्पदिकारम्, २. मणिमेकलै, ३. जीवक-चिन्तामणि, ४. वलयापदि, ५. कुण्डलकेशि।

संघोत्तरकालमें महाकाव्यकी ओर लोगोकी प्रवृत्ति हुई। इसी कालमे शैव, बौद्ध, जैन तथा आजीवक धर्मावलम्बियों-का महान् धार्मिक संघर्ष हुआ। इस समय विभिन्न धर्म और आदर्शोंका प्रचार भी हुआ। अन्तमे तमिल-प्रदेशका पुरातन शैव धर्म विजयी हुआ। लगभग ई० सन् ६००में समस्त दक्षिणभारतमें शैव धर्मका व्यापक प्रचार हुआ। इसी समय वैष्णव धर्मका भी प्रचार धीरे-धीरे होने लगा। शैव नायन्मार और वैष्णव आलवार सारे देशमें पद-यात्रा कर धर्म तथा भक्तिका प्रचार करने लगे। इस प्रकार भक्तिका युग प्रारम्भ हुआ और शैव एवं वैष्णव धर्म-सम्बन्धी भक्ति-गान और काव्योंकी रचना विपुल मात्रा-में हुई।

भक्तिधाराको प्रभावित करनेवाले बारह आलवार है। इन लोगोंने भी शैव सन्तोंके समान सारे देशमें भ्रमण कर वैष्णव धर्म और भक्तिका प्रचार किया। इनकी रचनाओंको 'नालायिरदिव्यप्रबन्धम्' (४,००० पद्य) कहा जाता है। इन आलवारोंमे सभी जातिमें उत्पन्न सन्त थे।

इन आलवारोंके गेय पदोंका आजतक मन्दिरोंमे वेदोंके समान पारायण किया जाता है। इन्ही आलवारोंमें प्रसिद्ध आण्डाल एक भक्तिन हुई है। यह भगवान्‌के प्रेममें मस्त

होकर गीत गाती थीं। इसका विवाह पश्चात् भगवान् विष्णुसे हुआ है। इनके भक्ति-पूर्ण पद्य हिन्दीकी प्रसिद्ध कवयित्री मीराँके सदृश हैं। आण्डालके गीतोंका संग्रह 'तिरुप्पावै' तथा 'नाच्चियार तिरुमोलि'के नामसे विख्यात है।

भक्तिकालीन शैव-वैष्णव सन्त कवियोंने तमिल-साहित्य-की सुरसरितामें वह गति उत्पन्न की, जिससे पुनः कवियों-की प्रवृत्ति प्रबन्ध-काव्य-रचनाकी ओर झुकी। इसीका परिणाम है कि भक्तिकालके अन्तमें अनेक प्रबन्ध-काव्योंकी रचना हुई। इस कालको विद्वानोंने प्रबन्ध-कालके नामसे कहा है। इसी युगमें 'पेरियपुराण', 'कम्बरामायण' तथा 'नलवेन्बा' आदि प्रबन्ध-काव्योंकी रचना हुई है। इस काल-के प्रमुख कवि कम्बन हैं। कुछ लोगोंने प्रबन्ध-कालको कम्बनके नामसे 'कम्बनकाल' भी माना है।

कम्बन (१२वीं शती)की रामायण वृत्तम् नामक छन्दमें १२ हजार पद्योंमें निर्मित है। यह ग्रन्थ प्रबन्ध-काव्य होकर भी नाटकीय अंशोंसे पूरित है। अतः इसे विद्वान् लोग दृश्य-काव्य भी मानते हैं। तमिल काव्य-परम्पराका चरमोत्कर्ष कम्बनकी रामायणमें पाया जाता है।

१३वीं शतीके पश्चात् लगभग २०० वर्षतकका काल टीका-काल समझा जाता है। इस युगमें नवीन काव्योंकी रचना न होकर संघकालीन तथा भक्तिकालीन ग्रन्थोंकी टीकाएँ लिखी हुई हैं। इसी समयसे तमिल भाषामें गद्यका युग प्रारम्भ होता है। प्रसिद्ध व्याकरण-ग्रन्थ 'तोलगा-प्पियम्'पर 'इलंपूरणम्' नामक टीका इसी युगमें बनी है। 'तिरुक्कुरल'की प्रामाणिक टीका इस युगकी प्रसिद्ध कृति समझी जाती है। इस टीकाका लेखक प्रसिद्ध भाष्यकार परिमेललगर है। टीका-कार्योंमें नच्चिनार्किनियार अतीव प्रसिद्ध सर्वश्रेष्ठ टीकाकार समझे जाते हैं। इन्होंने तमिलके प्रसिद्ध काव्योंपर टीका लिखी है। इनकी टीका व्याकरण-ग्रन्थपर भी मिलती है।

अठारहवीं शतीमें दक्षिणापथमें पाश्चात्योंका आगमन तथा ईसाई धर्मका प्रचार होने लगा। धर्म-प्रचारके लिए ईसाई पादरियोंने तमिलका व्यवस्थित अध्ययन किया। यह काल तमिल गद्यका विकास-काल माना जाता है। ईसाइयों-ने तमिल सिखानेके लिए उपयोगी पाठ्य-पुस्तक तथा सरल व्याकरण-ग्रन्थोंका निर्माण किया है। काल्डवेलने द्राविड-भाषाओंका तुलनात्मक व्याकरण लिखा। जी० यू० पोपने 'तिरुक्कुरल', 'नालडियार' तथा 'तिरुवाचगम्'का अंग्रेजी अनुवाद किया है। इनका सरल व्याकरण बहुत ही प्रसिद्ध है और अबतक उसका ७०वाँ संस्करण निकल चुका है। तमिलके प्रसिद्ध लेखक वेदनायकम् पिल्लैने, जो पहिले हिन्दू थे, ईसाई होकर ईसाई धर्मका प्रचार करते हुए तमिल भाषामें भी अनेक अच्छे ग्रन्थोंका निर्माण किया है। 'सर्वसमरसकीर्तन', 'नीतिनूल' तथा 'पेणमणिमालै' आदि ग्रन्थ इनके प्रसिद्ध हैं। ईसाइयोंकी तमिल-सेवा सदा स्मर-णीय रहेगी। इन्हीं लोगोंने तमिल भाषामें सरल व्याकरण तथा कोशोंका निर्माण प्रारम्भ किया है। प्रसिद्ध ईसाई सन्त वीरमामुनि (फादर बेस्की)ने तमिल भाषामें 'तेम्बावाणी' नामक काव्य महात्मा ईसाके बारेमें बनाया। इनका हास्य रससे पूर्ण 'परमार्थ गुरुकदै' व्यंग्यप्रधान ग्रन्थ है। इसी प्रकार इस युगमें मुसलमानोंने भी तमिलमें कविता और गद्य लिखकर तमिल भाषाका पोषण किया है। मुसलमान लेखकोंमें मुहम्मद इब्राहीम, मुहम्मद हुसैन, नायिनार, मस्तान साहिब, गुलाब कादिर आदि उल्लेखनीय व्यक्ति हैं।

१९वीं शतीके प्रसिद्ध गद्य-लेखक आरुमुगनावलर हैं। इस युगमें नाटक, गद्य, उपन्यास, कहानी तथा गीतोंका विस्तार हुआ। संस्कृतके ग्रन्थ 'मेघदूत','कादम्बरी','गीता', 'पंचतन्त्र', 'हितोपदेश', उपनिषदों, 'रामायण' तथा 'महा-भारत' आदि ग्रन्थोंका अनुवाद हुआ। इस कालके प्रसिद्ध लेखकोंमें नागनाद पण्डितर, दामोदरम् पिल्लै, मीनाक्षी-सुन्दरम् आदि हैं। मीनाक्षीसुन्दरम् पिल्लैने अनेक लघु-काव्योंकी रचना की। ये प्रकाण्ड पण्डित एवं कुशल अध्यापक थे। इन्हींकी शिष्य-परम्परामें दाक्षिणात्य कला-निधि उ० वे० स्वामीनाद अय्यर हैं, जिन्होंने तमिलके ग्रन्थोंका विद्वत्तापूर्ण सम्पादन किया है। इस युगका ग्रन्थ 'नन्दनचरित्र' लोकगीतकी दृष्टिसे सुप्रसिद्ध है। इसके लेखक गोपालकृष्ण भारतीय हैं।

२०वीं शतीमें समस्त दक्षिणपर अंग्रेजीका व्यापक प्रभाव हो गया। इससे मातृभाषाका प्रभाव घटा। अंग्रेजीका प्रभाव भारतकी सभी भाषाओंपर हुआ। तमिल भी इससे मुक्त न रह सकी। अंग्रेजी सम्पर्कके कारण तमिल भाषाके लेखकों-का चिन्तन विभिन्न क्षेत्रोंमें हुआ। अंग्रेजीसे प्रभावित होकर साहित्यकी सभी शाखाओंमें विकास होने लगा। कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, आलोचना तथा पत्र-पत्रिकाओंकी वृद्धि इस युगकी विशेष बात है। भाषामें नवीन शैलीका सूत्रपात हुआ। इस युगमें ग्रन्थ-सम्पादनकी कलाका भी विकास हुआ है। पुराने महाकाव्य और उनपर लिखे गये टीका-ग्रन्थोंका सम्पादन इसी युगमें हुआ। इस कार्यसे तमिलका गौरव बढ़ा और पाठकोंको तमिल काव्य-ग्रन्थ सुलभतासे प्राप्त हुए। तमिल भाषामें महाकाव्य, प्रबन्ध-काव्य, लघुकाव्य तथा गीतकाव्य पर्याप्त मात्रामें हैं, लेकिन आधुनिक ढंगके नाटक नहीं थे। प्राचीन ग्रन्थोंमें नाटक तथा नाटकके लक्षण-ग्रन्थोंका विवरण मिलता है, किन्तु वे सब ग्रन्थ कालकवलित हो जानेसे सम्प्रति अप्राप्य हैं। नाटकोंके अभावको दूर करनेके लिए तिरुवनन्तपुरम् महा-राजा कालेजके दर्शनाध्यापक सुन्दरम् पिल्लैने 'मनोन्य णीयम्' नामक काव्यनाटककी रचना की। इसके पश्चात् सूर्यनारायण शास्त्रीने शेक्सपीयरकी शैलीका अनुकरण करके 'मानविजय', 'कलावती', 'रूपवती' तथा नाटकका लक्षण-ग्रन्थ लिखा। इसके पश्चात् अनेक लेखकोंने नाटक लिखे। नाटक-कम्पनियोंके अत्यधिक प्रचार होनेपर भी तमिल भाषामें उच्च स्तरके नाटकोंका अभाव ही है। नाटककी कमीको पूरा करनेवाले सम्बन्ध मुदलियार हैं। इन्होंने तमिल और संस्कृतके काव्य-ग्रन्थोंके आधारपर लगभग ८० नाटक लिखे हैं। ये स्वयं सुन्दर अभिनेता हैं। इनके नाटक तमिलप्रदेशमें व्यापक रूपसे पढ़े तथा खेले जाते हैं।

इस युगके अमर कवि सुब्रह्मण्यभारती हैं। उन्होंने जयशंकर 'प्रसाद'के समान अनेक विषयोंपर रचना की है।

ये राष्ट्रीय कवि माने जाते हैं। इन्होंने क्रान्तिकारी कविताओंके द्वारा देशमें स्वातन्त्र्यभावका जागरण किया है। महात्मा गान्धीके स्वदेशी आन्दोलनको जनताके कानतक पहुँचानेमें इनकी कविताओंने बहुत काम किया। इस कविका तमिलके आबालवृद्धपर भारी प्रभाव देखा जाता है। इनकी भाषा सरल तथा भाव उच्च है। ये ब्राह्मण-कुलमें उत्पन्न होकर भी परम सुधारवादी थे, निर्धनतासे पीड़ित होकर भी अत्यन्त उदार हृदयके थे। करुणा और क्रान्ति इनके जीवनमें साक्षात् दृष्टिगोचर होती हैं। भारतीने साधारण बोल-चालकी भाषामें समयानुकूल रचना करके सारे देशमें क्रान्ति मचा दी।

इस युगमें तमिल भाषामें उपन्यास तथा कहानियोंका आशातीत विकास हुआ और हो रहा है। १९वीं शतीके अन्तमें ही तमिल भाषामें 'प्रतापमुदालियारचरित्रम्', 'कमलाम्बालचरित्रम्', 'पद्मावतीचरित्रम्' और 'जटावल्लवर' आदि उपन्यास लिखे गये हैं। पश्चात् आरणी कुप्पुसामी मुदलियारने अंग्रेजी उपन्यासोंके आधारपर जासूसी उपन्यास लिखे। सामाजिक उपन्यास लिखनेवालोंमें वडवूर दुरैसामी अय्यंगार तथा रंगराज प्रसिद्ध हैं। सामाजिक तथा ऐतिहासिक उपन्यास लिखनेमें रा० कृष्णमूर्ति सिद्धहस्त थे। इनका 'शिवगामियिन्शपदम', 'पर्तिवनकनऊ' स्थायी महत्त्वके हैं। उपन्यासके क्षेत्रमें वरदराजन्, महादेवन्, कण्णन्, मणि, जीवा, अनुत्तमा, सरस्वती तथा गुहप्रिया आदिके नाम उल्लेखनीय हैं।

उपन्यासके समान कहानीके क्षेत्रमें भी तमिलकी प्रगति प्रशंसनीय है। तमिलप्रदेशमें कहानियोंकी मासिक पत्रिकाएँ दिनों-दिन बढ़ती जा रही हैं। पुराने कहानीकारोंमें व० वे० सु० अय्यर भारती तथा वंकटरमणीके नाम उल्लेखनीय हैं। बादके कहानीकारोंमें राजाजी, पुदुमैप्पित्तन, अकिलन, कल्की, जीवा, राजगोपालन् और पिच्चमूर्त्ति आदि हैं। इन लोगोंने सामाजिक, मनोवैज्ञानिक तथा हास्य रसप्रधान कहानियाँ लिखी हैं। स्वतन्त्र एवं मौलिक कहानी लेखन-कलाके विकासके साथ ही अंग्रेजी, मराठी, बँगला तथा हिन्दीके कहानी-साहित्यका भी तमिलमें पर्याप्त मात्रामें अनुवाद हुआ है। प्रेमचन्द तथा खाण्डेकरसे तमिल जनता सुपरिचित है। आलोचनाके क्षेत्रमें स्वामीनाद अय्यर, रा० राघवय्यर, मु० राघवय्यर, का० पिळ्ळै, सोमसुन्दर भारती, वैयापुरि पिळ्ळै, व० वरदराजन्, अ० श्रीनिवास राघवन्, सेतुपिळ्ळै तथा मीनाक्षीसुन्दरम् पिळ्ळै आदि हैं। सम्प्रति ज्ञानसम्बन्धन् आलोचनाके क्षेत्रमें उदीयमान नक्षत्र समझे जा रहे हैं। इनका 'इलक्कियकलै' नामक ग्रन्थ आलोचनाके क्षेत्रमें उच्च स्तरका ग्रन्थ माना गया है। निबन्ध-लेखकोंमें कल्याणसुन्दर मुदलियार अद्वितीय हैं। ये गान्धीवादी थे, पश्चात् समाजवादी विचारके अनुयायी हो गये। इन्होंने धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक तथा राजनीतिक विषयोंपर प्रौढ़ गद्यमें अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। तमिलकी दैनिक पत्र-पत्रिकाओंमें 'स्वदेशमित्रन्', 'दिनमणि', 'तमिलनाड' आदि पत्र प्रसिद्ध हैं। साप्ताहिक तथा मासिक पत्रोंमें 'आनन्दविकटन्', 'कल्की', 'कलैमगल कलैकदिर कावेरी', 'अमुदसुरभी मंजरी' आदि हैं। बच्चोंके लिए 'कन्नन' तथा 'कलकण्ड' उपयोगी पत्र हैं। —चं०

तरणिजा–वर्णिक छन्दके समवृत्तका एक भेद। इस वृत्तके प्रत्येक चरणमें नगण और गुरुका योग होता है (।।।, ऽ)। केवल केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है—"बरणिबो, बरणसो। जगतको, शरण सो" (रा० चं०, १ : १२)। —पु० शु०

तरीकत–इसका अर्थ आध्यात्मिक मार्ग है। ईसाकी नवीं-दसवीं शताब्दीतक इसका अर्थ कुछ और ही था। उस कालमें साधकोंको साधनाके पथपर अग्रसर होनेका व्यावहारिक ज्ञान करानेकी एक पद्धतिका बोध इससे होता था। सन् ईसवीकी ग्यारहवीं शताब्दीके बाद जब नाना सूफी सम्प्रदायोंका आविर्भाव होने लगा, तब इसका अर्थ विभिन्न सम्प्रदायोंमें प्रचलित धार्मिक क्रिया और अनुष्ठान हो गया, जिनका सहारा लेकर उस सम्प्रदायमें अन्तर्भुक्त साधक साधनाके पथपर अग्रसर होते रहे (दे० 'सूफी-मार्ग')। —रा० पू० ति०

तसव्वुफ–दे० 'सूफी' और 'सूफीमत'।

तांत्रिक मत–६०० ई०से १२०० ई०तकका समय ऐसा रहा है, जब सारे भारतवर्षमें छोटे-छोटे तान्त्रिक सम्प्रदायोंका प्रचलन हुआ। अपनी समस्त विविधताके आवरणमें भी इन सम्प्रदायोंमें एकसूत्रता यह थी कि इन सबमें तत्त्व-चिन्तनकी अपेक्षा साधना-पद्धतिकी प्रधानता थी। किसी एक देवता या शक्तिको सृष्टिका मूल तत्त्व मानना, उपासनाकी पद्धतिका प्रचुर प्रसार और विस्तारसे उसकी व्याख्या करना, यन्त्रोंका महत्त्व, देवताओंके प्रतीक बीजाक्षरों और वर्णोंका विधान, भूतसिद्धि, कुण्डलिनी योग, रहस्यमयी साधनाएँ, बाहरसे मर्यादा-विरुद्ध दीखनेवाले गुह्य वामाचार, दीक्षाएँ और गुरुका महत्त्व, ये सभी तत्त्व इनमें एक समान हैं। उनमें इतनी अधिक समानता है कि शैवोंने यदि उसे शैव परिभाषा दी है, बौद्धोंने बौद्ध, तो इससे कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता, मूल स्वर उन सभीका एक है। वे सभी तान्त्रिक मत हैं। तन्त्रकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि तत्त्व-मन्त्रोंसे समन्वित जो विपुल अर्थोंका विस्तार करता है और त्राण भी करता है, उसे तन्त्र कहते हैं। इस साधनापरक धर्मपद्धतिको 'तन्त्र' क्यों कहते थे, इसके विषयमें कहा जाता है कि तन्त्रकी व्युत्पत्ति तन् धातुसे हुई है और 'तन्यते विस्तार्यते ज्ञानम् अनेन इति तन्त्रम्'के अनुसार किसी भी ज्ञानको जो विस्तार प्रदान करता है, उसका सांगोपांग विवरण देता है, उसे तन्त्र कहते हैं। इसीके अनुसार हमें न्यायतन्त्र, चिकित्सातन्त्र आदि शब्द मिलते हैं। ज्ञात यह होता है कि धर्म-साधनाओंमें जिन नयी पूजाओं, मन्त्र-पद्धतियों, देवी-देवताओं, अनुष्ठानों, यन्त्रों, योगसाधनाओंका प्रवेश हो रहा था, उन्हें पूर्ण रूपसे एक ज्ञान या एक चिन्तना-पद्धतिके अन्दर समन्वित कर एक नियम अथवा एक अनुशासनमें सुयोजित कर देनेवाली प्रणालीका नाम तन्त्र पड़ गया।

एक विचारणीय प्रश्न यह है कि यह तन्त्राचार आया कहाँसे? कई विद्वानोंने तन्त्रोंके विदेशी उद्गमका उल्लेख किया है। हरप्रसाद शास्त्रीने तन्त्रोंका भारतमें आगमन शकोंके मगपुरोहितोंके साथ बताया है। यद्यपि इसके साथ

उन्होंने कोई विशेष प्रमाण नहीं दिये, किन्तु उनके इसी मतके आधारपर विनयतोष भट्टाचार्यने इस सम्भावनाकी कल्पना की कि योगाचारमतका प्रमुख आचार्य और वज्रयानमतमें तन्त्रोंके प्रथम उपदेशके लिए प्रख्यात 'असंग' गान्धार देशका निवासी था और सम्भव है वह मगपुरोहितोंकी तान्त्रिक साधना-पद्धतिसे परिचित हो। इसके अन्य कई प्रमाण मिलते हैं, जो अधिक प्रबल हैं। पहला तो यह है कि प्राचीन वाङ्मयमें कभी-कभी तन्त्रोंकी साधना-पद्धतिको अपरिचित और अद्भुत बताया गया है और उसे अवैदिक भी कहा गया है। दूसरे स्वतः तन्त्रग्रन्थोंमें भी कभी-कभी ऐसे उल्लेख मिलते हैं कि तन्त्रोंका प्रचार करनेके लिए देवता बाहरसे आये और फिर लौट गये। जहाँतक पुराने तन्त्रोंका प्रश्न है, उनका नाम 'आगम' भी यह सूचित करता है कि सम्भवतः वे वैदिक परम्पराके नहीं थे। हमें मध्यकालीन धार्मिक साहित्यसे यह भी ज्ञात होता है कि प्रारम्भमें इन्हें अवैदिक कहा जाता रहा और अन्तमें जो मत लोक-प्रचलित हो गया, उसे ब्राह्मण-परम्परा द्वारा ग्रहण कर लिया गया। 'कूर्मपुराण'में कम-से-कम एक बात और बहुत महत्त्वपूर्ण ज्ञात होती है कि ये तान्त्रिक सम्प्रदाय ऐसे ब्राह्मणों द्वारा प्रवर्तित थे, जो रूढिवादी ब्राह्मणों द्वारा नीची निगाहसे देखे जाते थे और जिन्होंने अपना द्विज-सुलभ वेद-पाठनका अधिकार खो दिया था।

दूसरी ओर भारतीय वैदिक वाङ्मयके अध्ययनसे हमें यह ज्ञात होता है कि अथर्व वेदमें मारण, मोहन, उच्चाटन, मन्त्र, रक्षा, सिद्धि, गुह्य साधनाओंका प्रचुर उल्लेख मिलता है। उस समय भी अथर्व वेदको आर्यपरम्परामें नहीं गिना जाता था। ऐसा विश्वास किया जाता है कि अथर्ववेदकी गुह्य साधनाएं भारतके अनार्य आदिवासियोंकी थीं, जिन्हें पूर्वागत आर्योंने अपना लिया था। इसी कारण बादमें आनेवाले अन्तरंग आर्य उन्हें 'व्रात्य' कहा करते थे। इन व्रात्योंका आचार-विचार बहुत-कुछ अनार्य जातियोंसे प्रभावित रहता था। इन्हीं व्रात्योंके साथ-साथ बहुत-सी भारतके मूल निवासियोंकी आदिम प्रवृत्तियाँ, अन्धविश्वास, यन्त्र-मन्त्र और जादू-टोना आ गया होगा। इसके अतिरिक्त कई स्थानोंपर आर्योंने इन मूल निवासियोंकी रूपवती कन्याओंसे विवाह-सम्बन्ध स्थापित किया था। इस प्रकार धीरे-धीरे आर्योंकी विचारपरम्परामें आर्येतर साधनाएँ और देवी-देवता भी प्रवेश पाने लगे।

बहुत सम्भव है कि प्रारम्भमें इन पूजोपचारोंके लिए कुलीन ब्राह्मण न प्रस्तुत होते हों, अतः बहुतसे ब्राह्मण जो निम्न वृत्ति अपनानेके कारण या आचारभ्रष्ट हो जानेके कारण रूढिवादियों द्वारा तिरस्कृत कर दिये गये हों या जो स्वयं उनके प्रति विद्रोही हों और लोकधर्म और लोकाचारको ग्रहण कर चुके हों, वे इन जातियों और इनकी पूजाओंके पुरोहित बन गये।

इस प्रकार तन्त्र वास्तवमें उन अगणित लोकाचारों, लोकमें पूजित देवियों तथा लोकप्रचलित रहस्यमय अनुष्ठानोंका परिणत रूप है, जो आदिनिवासियोंने सृष्टिसे संग्राम करते समय अपना लिये थे और जो सदैव हमारे देशके निम्न वर्गमें प्रचलित रहे। तान्त्रिक कालमें यह

लोकधर्म उभरकर ऊपर आ गया और इसको ग्रहण करनेके लिए कितने ही सम्प्रदाय प्रत्येक धर्ममें बन गये, जिनमें साधना प्रधान थी और उसी साधनाके अनुरूप उन्होंने अपने देवी-देवताओंका स्वरूप, उनके पारस्परिक सम्बन्ध, उनकी चर्या, क्रिया-अभिचार, मन्त्र आदि परिकल्पित कर लिये। इसीलिए तन्त्रोंका 'आगम' नाम सर्वथा उपयुक्त है। जो लोकप्रचलित, आदिम परम्पराओंपर आधारित अनुष्ठान उच्चवर्गीय चिन्तनामें आये, वे शुद्ध वैदिक दृष्टिसे बाहरी तत्त्व थे और कालान्तरमें विदेशी साधनाएँ भी उनमें सन्निहित होती रहीं। तान्त्रिक आचार्योंने तो घोषणा यहाँतक की कि श्रुतियों-स्मृतियों तथा पुराणोंका युग बीत गया और अब केवल तन्त्रोंका युग है और धीरे-धीरे तन्त्र-साहित्यका महत्त्व इतना बढ़ा कि वह भी वैदिक श्रुतियोंके समकक्ष गिना जाने लगा।

तान्त्रिक साधनाओंके आम्नायके अनुसार कई भेद हैं। स्थूल रूपसे ये समस्त आचार दो वर्गोंमें बँटे हैं—दक्षिण तथा वाम। दक्षिणाचारमें प्रभातमें सन्ध्या, मध्याह्नमें जप, ऊनके आसनपर बैठना, दूध-शर्कराका पान, रुद्राक्षकी माला धारण करना तथा अपनी पत्नीसे सम्भोग करना—यह विहित था। वामाचार इसका प्रतिकूल था। नृदन्तकी माला, कपालका पात्र, छोटी कच्ची मछलियोंका चर्वण, मांसभक्षण और सभी जातियोंकी परस्त्रियोंसे समानरूपसे मैथुन—यह वामाचार था।

वामाचारमें पाँच प्रकारोंका विधान है—"मद्यैर्मांसैस्तथा मत्स्यैर्मुद्रया मैथुनैरपि"। इनके आधारपर भैरवीचक्रोंकी नियोजना होती थी। उन चक्रोंमें स्त्री-साधिकाएँ तथा साधक मिलते थे और मद्यपानके उपरान्त मनोरथ सुखोंकी परस्पर पूर्ति होती थी। इस प्रकार के चक्रोंमें वर्ण और जातिका कोई भेद नहीं रहता था। "प्रवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णा द्विजातयः"। जैसे गंगामें मिलकर बाहरी जल या दूधमें मिलकर जल एकात्म हो जाता है, उसी प्रकार भैरवीचक्रमें सब उच्च वर्णके हो जाते हैं। इन चक्रोंके तीन भेद होते हैं—वीर, राज और देव। राजचक्रमें यामिनी, योगिनी, रजकी, श्वपची, कैवर्तक नारी, ये पाँच शक्ति रूपमें व्यवहृत होती हैं। देवचक्रमें राजवेश्या, नागरी, गुप्त-वेश्या, देव-वेश्या तथा ब्राह्म-वेश्या, ये पाँच शक्तियाँ सम्मिलित होती हैं। नागरीमें कोई भी रजस्वला कन्या परिगणित है।

'आगमसार'से ज्ञात होता है कि इन साधनाओंके सांकेतिक अर्थ भी थे। इसीलिए इसे खड्ग-धार या सूक्ष्म पथ बताया गया है और कहा गया है कि यदि केवल मद्यपान करनेसे व्यक्ति सिद्ध हो जाता तो सभी मद्यपियोंको सिद्धि मिल जाती। यदि स्त्री-सम्भोगसे मुक्ति मिलती होती तो कौन बचता। वास्तवमें यह पथ बाघके कान पकड़ने या खड्गकी धारपर चलनेसे भी ज्यादा कठिन है।—ध०वी०भा०

ताटंक—मात्रिक सम छन्दका एक भेद। इसका लोकप्रचलित नाम गानुने लावनी दिया है। इसके प्रत्येक चरणमें १६, १४ की यतिसे ३० मात्राएँ होती हैं और अन्तमें मगण (SSS) रहता है। सूदनने ताटंक नामसे १४, १४की यतिसे २८ मात्राका चरण तथा अन्तमें मगणका प्रयोग किया है, जो परम्परासे भिन्न है। सूर तथा तुलसीने पद-

शैलीमें इसके लावनी रूपका प्रयोग किया है। यह छन्द लावनीके लोक-प्रचलित छन्दके रूपमे भारतेन्दुकालके कवियों द्वारा ग्रहण किया गया है। लोकछन्दके रूपमे लावनीका विशेष महत्त्व है। परन्तु लावनीमे गुरु-लघुका विशेष नियम नही रहता। आधुनिक कवियोंने इसको शास्त्रीय रूपमे भी अपनाया है। उदा०—"देव तुम्हारे कई उपासक, कई ढगसे आते है। सेवामे बहुमूल्य भेंट, वे कई रंगके लाते है" (सुभद्राकुमारी चौहान)। —र०

तात्पर्यावृत्ति—कुछ आचार्यों द्वारा स्वीकृत एक विशेष प्रकारकी शक्ति, जिसके द्वारा वाक्यका वास्तविक मन्तव्य ज्ञात होता है। कुमारिल भट्ट और उनके मतानुयायी मीमांसकोको 'अभिहितान्वयवादी' कहा गया है, क्योकि वे अभिहित (अभिधा द्वारा उपस्थित) अर्थोका अन्वय सम्बन्ध मानते है। अभिधा तथा लक्षणाके अतिरिक्त वे तात्पर्यको भी एक प्रकारकी शब्दशक्ति मानते है। उनका कहना है कि शब्दोंमें मुख्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ ज्ञात करानेकी शक्ति तो रहती है, किन्तु वाक्यमे उनके एक-दूसरेसे अन्वित होनेपर ही वे वक्ताके वास्तविक तात्पर्यको व्यक्त कर पाते है। वाक्यसे विच्छिन्न तथा एक-दूसरेसे असम्बद्ध पद इस तात्पर्यार्थको नही व्यक्त कर सकते है। योग्यता, सन्निधि ('आसत्ति'—सामीप्य) तथा आकांक्षासे संयुक्त पद-समूहको ही वाक्य कहते है। वाक्यमे प्रयुक्त विभिन्न पदोका एक-दूसरेसे सम्बन्ध होनेमे किसी प्रकारकी बाधाका न होना ही योग्यता है। 'अग्नि से सीचता है', इस वाक्यके क्रियापद 'सीचता है' तथा 'अग्निसे'मे अर्थ-बाधा है, किन्तु 'जलसे सीचता है', इस वाक्यमे योग्यता है। वाक्यमे प्रयुक्त सम्बन्धित पदोंमे सामीप्यका होना आवश्यक है, जो कि "पहाड़ खाता है, अग्निमान् है देवदत्त"मे नहीं है। इसे "पहाड़ अग्निमान् है, देवदत्त खाता है' होना चाहिये। वाच्यार्थकी पूर्तिके लिए किन्ही पदोकी आकांक्षा शेष न रह जानी चाहिये, जैसे 'देवदत्त घरको' आदि पद-समूहमे क्रियापदकी आकांक्षा बनी ही रहती हैं। अभिहितान्वयवादी मीमांसकों-का मत है कि इन तीन बातोसे सम्पन्न होनेपर जब शब्दोंका तर्कसंगत सम्बन्ध (अन्वय) ज्ञात होता है, तभी शब्दोंका वास्तविक अर्थ ज्ञात होता है। इसीलिए तात्पर्यावृत्तिका मानना आवश्यक है।

प्रभाकर-मतानुयायी अन्य मीमांसकोको 'अन्विता-भिधानवादी' कहा गया है, क्योकि वे पदोंसे ही अन्वित अर्थका अभिधान मानते है। वे उपर्युक्त अभिहितान्वय-वादियोंकी तात्पर्यावृत्तिका विरोध करते है। उनके मतानुसार वाक्य द्वारा प्रस्तुत सुसम्बद्ध अर्थ स्वयं शब्दों द्वारा भी व्यक्त होता है, क्योकि प्रयुक्त शब्दोके अर्थके अतिरिक्त शब्दोंका कोई स्वतन्त्र अर्थ होता ही नही है, उनमें जो भी अर्थद्योतनका सामर्थ्य होता है, वह वाक्यमे निरन्तर प्रयुक्त होनेके कारण ही उन्हें प्राप्त हुआ है। अभिहितान्वयवादमें पहले पदोंसे अनन्वित पदार्थ उपस्थित होते हैं, पीछे तात्पर्या-वृत्तिसे उनका परस्पर सम्बन्ध होनेसे वाक्यार्थका बोध होता है। परन्तु प्रभाकरके अन्विताभिधानवादमें पदोसे अन्वित पदार्थ ही उपस्थित होते है, इसलिए उनके अन्वयके लिए तात्पर्यावृत्ति माननेकी आवश्यकता नहीं है। इस अन्वित अभिधानवादका प्रतिपादन प्रभाकरने इस आधारपर किया है कि पदोसे जो अर्थकी प्रतीति होती है, वह शक्तिग्रह या संकेतग्रह होनेपर ही होती है।...इस प्रकार व्यवहारसे जो शक्तिग्रह होगा, वह केवल पदार्थोंमे नही, अपितु अन्वित-पदार्थमे ही होगा, क्योकि व्यवहार अन्वितपदार्थका ही सम्भव है, केवल पदार्थका नही। इसीलिए अन्वित अर्थमें ही शक्ति मानते है (हि० ध्व०, पृ० २९-३०)।

'काव्यप्रकाश'के द्वितीय उल्लासके प्रारम्भमे उपर्युक्त दोनो मतोका संक्षिप्त उल्लेख मिलता है और आचार्य मम्मट अभिहितान्वयवादको स्वीकार करते है, किन्तु तात्पर्यार्थको स्वीकृत करते हुए भी ध्वनिके आचार्य उसे व्यंजनाका स्थानापन्न नही मानते है। अभिधा, लक्षणाकी भाँति ही तात्पर्यशक्ति भी व्यंग्यार्थका बोध करानेमे असमर्थ मानी गयी है। —उ० शं० शु०

तादूरूप्य रूपक—दे० 'रूपक', दूसरा प्रकार।

तानाशाही—तानाशाही व्यवस्थामें व्यक्तिका योग-क्षेम राज्य वहन करता है और उसकी प्रत्येक गतिविधिपर अंकुश रखता है। फासिज्म (दे०) तानाशाहीको पूरा प्रश्रय देता है। वह इस बातका पूरा ध्यान रखता है कि व्यक्ति राज्य द्वारा निर्धारित साँचोमे ढले हुए हो। इसके लिए उसे विचार-नियन्त्रण (दे०) और 'सेंसरशिप' (दे०)का मार्ग ग्रहण करना होता है। तानाशाहीके लिए व्यक्ति-स्वातन्त्र्य-का कोई महत्त्व नही। —ह० ना०

तामरस—वर्णिक छन्दोंमे समवृत्तका एक भेद। हेमचन्द्र-(छं० २ : १८३)ने कमलविलासिनी, जयकीर्ति (छं० २ : १३५)ने ललितपदा नाम दिया है। यह वृत्त नगण, दो जगण और यगणके योगसे बनता है (।।।, ।ऽ।, ।ऽ।, ।ऽऽ)। केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है—"जब ऋषिराज विनै कर लीनो, सुनि सबके करुणा रस भीनो। दशरथ राय यहै जिय मानी, यह वह एक भई रजधानी" (रा० चं०, ६ : २२)। —पु० शु०

तामसी भक्ति—दे० 'गौणी भक्ति'।

तारक—वर्णिक छन्दोमे समवृत्तका एक भेद। 'प्राकृत-पैंगलम्' (२ : १४४)के लक्षणके अनुसार चार सगण और गुरुके योगसे यह वृत्त बनता है (।ऽऽ, ।ऽऽ, ।ऽऽ, ।ऽऽ, ऽ)। केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा०—"यह कीरति और नरेसन सोहै। सुनि देव अदेवनको मन मोहै। हमको बपुरा सुनिये ऋषिराई, सब गाँउँ छ सातककी ठकुराई" (रा० चं०, ५ : २३)। —पु० शु०

तार्किक सत्य—आजके युगकी सौन्दर्यात्मक भावनामें सौन्दर्यको केवल 'तर्कसन्दर्भ'में प्रयुक्त होनेकी अपेक्षा सक्रिय रूपमें स्वीकार करनेका विशेष आग्रह है। तार्किक सत्य द्वारा किसी भी निष्कर्षपर पहुँचनेमे यथार्थ और वास्तविक तुष्टि नही मिल सकती। अस्तु, कार्डवेलने 'तार्किक सत्य'को क्रियाशील दृष्टिके अभावमें बौद्धिक पिंजरा माना है (दे० इल्यूजन एण्ड रीयलिटी : क्रिस्टोफर कार्डवेल)। तर्कगत संगति भी एक सत्य है, किन्तु क्रियाशीलताके अभावमे वह केवल प्राणहीन वस्तु बनकर निरर्थक सिद्ध होती है।

तार्किक सत्यका प्रारूप दार्शनिक विवेचनकी प्रक्रियामें

जन्म पाता है। यथार्थवादी इसे बूर्जुआ विचारकी परिणति भी मानते है। तर्क द्वारा शास्त्रीय रूपसे हम कई निष्कर्षोंका परीक्षण कर सकते है और स्वयं भी केवल निष्कर्ष निकाल सकते है। किन्तु प्रत्येक तार्किक सत्य अनुभूति-सत्यके मर्म और यथार्थके सौन्दर्यकी क्रियाशील गतिविधिका साक्षात्कार कर सकेगा, इसमे सन्देह है, क्योकि भावजगत्‌की रागात्मक अनुभूतिकी परखके लिए निरा तर्क अपूर्ण होगा।

तार्किक सत्यका बोध हमे केवल परीक्षण और निष्कर्षके माध्यमोसे होता है। अतः केवल तार्किक सत्यसे रसानुभूति और मूल्योंकी स्थापना नही की जा सकती। मूल्योंकी स्थापनाके लिए सत्यके गतिशील रूपको लेना पड़ेगा। अस्तु, तार्किक सत्य केवल असंगत, रूढिवादी सत्य है, जिसमे गतिशीलताके अभावके नाते बुद्धिविलासका दोष वर्तमान रहता है।

तार्किक सत्य केवल विवेचनका माध्यम बन सकता है, अन्तिम परिणति नही, क्योकि उसमे परिप्रेक्ष्य-(perspective)का अभाव होता है, सम्भावनाओंका या तो अतिरेक होता है या सम्भावनाओंका शुष्क विवरण। जीवनकी समग्रताको देख सकनेकी या उसे वहन करनेकी क्षमता तार्किक सत्यमे कभी भी नही हो पाती। जीवनकी सक्रियताका वास्तविक बोध भी तार्किक सत्य दे सकनेमे असमर्थ होता है। कलाकी दृष्टिसे तार्किक सत्य तो वैज्ञानिक सत्यसे भी कटु और अव्यावहारिक शुष्कताके साथ अवतरित होता है।

किन्तु तार्किक सत्यके कुछ गुण भी हैं, जिनको ध्यानमें रखना आवश्यक है। सर्वप्रथम तो यह कि तार्किक सत्य रूढ़ियोंका खण्डन करनेमें कटु यथार्थका परिप्रेक्ष्य बड़े सशक्त ढंगसे प्रस्तुत करनेमें सहायक होता है। दूसरा यह कि द्वन्द्वात्मक प्रणालीका विश्लेषण करनेमें उससे विशेष सहायता मिलती है। तीसरे यह कि काल्पनिक स्वप्नोकी मिथ्यावादितासे कलाको मुक्ति मिलती है। चौथे यह कि तार्किक सत्यके परिप्रेक्ष्यमे मूल्योंकी व्यावहारिकता एवं उनकी गतिशीलताको परखनेका विशेष साधन मिल जाता है। —ल० का० व०

तार्किकीकरण–अपने कार्यों, विश्वासों, असफलताओं, च्युतियों आदिको सकारण और तर्कसंगत सिद्ध करनेके लिए युक्तिसंगत अथवा लचर कारणोंकी खोज करना तथा उनको अपने कार्यों आदिकी प्रेरणा अथवा हेतु मानना मनोवैज्ञानिक भाषामे तार्किकीकरण कहलाता है। किन्तु ये कारण सच्ची प्रेरणा अथवा सच्चे हेतु न होकर वास्तविक प्रेरणा या हेतुको छिपानेका प्रयासमात्र होते है। व्यक्तिको वास्तविक कारणोंका या तो पता ही नही होता या उनका आभासमात्र होता है। अतः तार्किकीकरण शुद्ध झूठसे भिन्न होता है। वास्तविक कारण अथवा प्रेरक, प्रकट किये कारणो और प्रेरकोंकी अपेक्षा कहीं अधिक निम्नस्तरीय होते है। जब हमारी वास्तविक प्रेरणा निम्न कोटिकी और निन्दनीय होती है तब तार्किकीकरणके द्वारा हम स्वयं अपनी तथा समाजकी आलोचनासे बच जाते है। तार्किकीकरणमे सत्यका अंश थोड़ा-सा होता है, किन्तु अधिक सत्यको दबाकर इस अल्पांशको अतिरंजित कर दिया जाता है। दैनन्दिन जीवनमे तार्किकीकरणके उदाहरण हमे प्रायः नित्य मिलते रहते है। किसी आयोजनमे समयपर न पहुँचनेकी व्याख्या समयकी कमी अथवा व्यस्तताने की जाती है। अपनी असफलताके लिए भाग्य, सामाजिक अथवा आर्थिक व्यवस्था, निकृष्ट साधन, किन्हीं प्रमुख व्यक्तियोंकी अप्रसन्नता आदिको उत्तरदायी ठहराया जाता है। 'अंगूर खट्टे हैं', 'नाच न आवे, आँगन टेढ़ा' जैसी कहावते इसी मनोवृत्तिके प्रति व्यंग्य करती है। दुर्योधन अपनी अधर्मप्रवृत्तिका दायित्व चतुराईसे ही ईश्वरके ऊपर डाल देता है—"जानामि धर्म न च मे प्रवृत्तिः जानाम्यधर्म न च मे निवृत्तिः। त्वया हृषीकेश हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि॥" —आ० रा० शा०

ताल–लयकी तरह ताल शब्द भी क्षेत्रसे सम्बन्ध रखता है। स्वरकी गतिके विशिष्ट रूपका परिचय तालसे मिलता है। स्वरकी अपेक्षा तालका स्थान गौण माना जाता है। स्वर अंग है तो ताल उपांग। प्रचलित कहावत है—"सुर गया तो सिर गया, ताल गया तो बाल गया"। लय स्वर-प्रवाहके साथ एकरस हो जाती है, ताल उस प्रवाहकी गतिके उतार-चढ़ावके क्रमको सूचित करता है। ताल एक प्रकारकी माप भी है और त्रिताल, झपताल आदि भेद कदाचित् इसी आधारपर विभाजित हुए है। तालकी स्थिति स्वरसन्धियोके बीच होती है। मात्रिक छन्दोंकी लय तालके अधीन रहती है। त्रिकल और पंचकलकी आवृत्तिसे बने छन्दमे ताल पहली मात्रापर होता है। त्रिकलमें वह तीन-तीन मात्राओंके अन्तरमे १-४-७-१०-१३-१६ आदि संख्याओंकी मात्रापर रहता है और पंचकलमें पाँच-पाँच मात्राओंके अन्तरसे १-६-११-१६-२१-२६ आदिपर। सप्तकलमें पहली दो मात्राएँ ताल बिना छूट जाती हैं और ताल तीसरी और छठी मात्रापर पड़ता है, यथा—

। । । । । । । ।
हरिगीतिका हरिगीतिका हरिगीतिका हरिगीतिका (खड़ी पाइयाँ ताल सूचक है)। मात्राएँ पूरी होनेपर भी तालभंग होनेसे लय बिगड़ जाती है। उदाहरणार्थ मैथिलीशरण गुप्तकी एक पंक्ति—"वाचक प्रथम सर्वत्र ही जय जानकी जीवन कहो" शब्दोको यदि निम्नलिखित क्रमसे रख दिया जाय तो ताल भंग हो जायगा—"वाचक सर्वत्र ही प्रथम जय जीवन जानकी कहो"। कारण यह है कि इस रूपमे सप्तकलमे मात्राओंका विभाजन नही हो सकता। फलतः जहाँ ताल आना चाहिये, वहाँ वह नहीं आ पाता। मात्रिक छन्दोमे दो लघु तो दीर्घ मात्राका बोध करा सकते है, पर दीर्घको आधा करके मात्रा-गणना पूरी नही की जा सकती। 'वाचक प्रथम'में सात मात्राएँ अलग हो जाती है, पर 'वाचक सर्वत्र'में उनका अलग हो पाना सम्भव नही। इसी प्रकार 'जय जानकी'के स्थानपर 'जय जीवन' आ जानेसे कठिनाई उपस्थित हो जाती है और ताल भंग हो जाता है। मात्राएँ निश्चित होनेपर भी तालकी स्थिति भिन्न-भिन्न हो सकती है जैसे सात मात्राके ध्वनि-खण्ड 'सप्तकल'मे निम्नलिखित चार प्रकारका तालक्रम स्पष्टतया सम्भव है—

। । ।।। । । । ।
१. दादालदा; २. दादादाल; ३. लदादादा; ४. दालदादा।

इनमेंसे प्रत्येककी आवृत्तिसे स्वतन्त्र जातिके छन्द बन सकते हैं। इस प्रकार छन्दका स्वरूप निर्धारित करनेमें तालका अपना अलग महत्त्व है। —ज० गु०

ताला-कुंजी—प्राणायाम द्वारा श्वासके बन्धन या निरोधको वज्रयानी सिद्ध अध और ऊर्ध्वके मार्गमे ताला लगानेके रूपकसे व्यक्त करते थे। "पवण गमण दुआरे दिढ ताला वि दिजुई" (काण्हपा : दोहाकोष)। नाथपन्थी बानियोंमे ताला लगानेका रूपक तीन प्रसंगोंमे आया है—कुम्भकके प्रसंगमें, खेचरी मुद्राके प्रसंगमे, शब्द-योगके प्रसंगमें। अन्तमें वे यह भी कहते हैं कि शब्द ताला है, निःशब्द कुंजी है (गोरख-बानी)। सन्तोंमे भी अधिकतर कुम्भक द्वारा श्वासनिरोधके अर्थमे ताला-कुंजीका रूपक मिलता है। ताला-कुंजीकी आवश्यकता चोरसे बचानेके लिए पड़ती है। चोर है वासनात्मक मन। इस चोरसे सावधान रहनेकी चेतावनी सिद्धों, नाथो और सन्तोने बराबर दी है, किन्तु सन्तोने एक ऐसा धन पा लिया था, जो न चोर चुरा सकते थे, न जिसका क्षय हो सकता था। वह धन था हरि भक्ति। "तस्कर लेइ न पावक जालै, प्रेम न छूटै रे। चहुदिस पसर्‍यो बिन रखवारे, चोर न लूटै रे" (दादूदयालकी बानी, द्वितीय खण्ड)।

तिअड्डा—दे० 'हठयोग'।

तिरस्कार—विशेषालंकारके अन्तर्भूत अर्थालंकार। यद्यपि तिरस्कार एवं अवज्ञा शब्दोंके अर्थमे कोई विशेष भेद नही, तथापि काव्यशास्त्रमें ये दो भिन्न अलंकार है। अवज्ञाका उल्लेख पीयूषवर्ष जयदेवने सबसे पहले किया (चन्द्रालोक, ५ : १०७) और तिरस्कारका पण्डितराज जगन्नाथने। अवज्ञा अलंकार उल्लास (चन्द्रालोक, ५-१०१)के विरुद्ध है, तिरस्कार अनुज्ञाके। वास्तवमे 'काव्यप्रकाश'की 'नागेश्वरी' व्याख्या (पृ० २९४)में अनुज्ञा एवं तिरस्कार अलंकारोंके सारको विशेषालंकारके अन्तर्गत बताया है। यह विशेषके ही दो पक्ष समझने चाहिये। दूषित वस्तुमें गुण ढूँढ़कर उसकी इच्छा करना अनुज्ञा है, तो गुणान्वित वस्तुका निरादर करना तिरस्कार है। हिन्दीके रीतिकालीन आचार्यों-ने प्रायः इसे स्वतन्त्र अलंकार नहीं माना है। उदा०— "निर्गुण होना भला, गुणके गौरवपर धिक्कार है। क्योकि जब कि अन्य वृक्ष तो स्वस्थ खड़े शोभा देते है तो चन्दनके वृक्षको काटा जाता है"। चन्दनमे गुण होना भी दोष है क्योकि उसकी कामना होती है। अथवा—"जिन होवहु श्रिय विभव औ गज तुरंग बर बाग। जिनमें रत नर करत नहिं हरि-चरनन अनुराग" (अ० मं०, पृ० ३८१)। यहाँ भगवद्भक्तिके विरोधी होनेके दोषके कारण वैभवादिका तिरस्कार वर्णित है। —ज० कि० ब०

तीर्थवारि—तान्त्रिक साधनामें मद्यको तीर्थवारि कहते है (दे० 'पंचमकार')।

तीव्रानुभूतिवादी आलोचना-प्रणाली—जिस आलोचना-में कृतिके स्रष्टाकी तीव्रानुभूतिका स्पष्ट आकलन होता है, उसे तीव्रानुभूतिवादी आलोचना कहते है। किसी भी कलाकृतिकी श्रेष्ठताका निर्णय करनेके पूर्व स्वयंसे दो प्रश्न पूछना चाहिए—पहला, क्या कलाकारने जिस अपूर्व रूपकी झलक देखी है, वही मैं भी देख रहा हूँ? यदि हाँ, तो मैं उससे वशीभूत हूँ या नहीं? दूसरे, क्या कलाकारने जिस अपूर्व जगत्का निर्माण करना चाहा है, उसमें काल्पनिक वास्तविकता है अथवा नही, और है तो कहाँतक? यदि हम सभी वर्गोंके कलाकारोसे व्यक्तिगत प्रदर्शन, निष्कपट अभिव्यक्ति तथा मौलिकताकी माँग न करके केवल एक ही विशिष्ट गुणकी माँग करे तो कदाचित् आलोचना-क्षेत्रकी बहुत कुछ विशृंखलता कम हो जायगी। वह विशिष्ट गुण है अतिशय तीव्रानुभूति। कलाकार जितनी ही तीव्रानुभूति दे सके, उतनी ही उसकी कृति श्रेष्ठ होगी। तीव्रानुभूति-वादी आलोचना-प्रणालीमें कलाकारकी तीव्रानुभूति ही खोजी जाती है और उसके रूपोंको प्रस्तुत किया जाता है। नाटक या काव्यमें पात्रोंका भावावेशमय आक्रोश, अतिशयोक्तियोंकी स्थिति आदि तीव्रानुभूतिके ही रूप है। तीव्रानुभूतिको प्राचीन यूनानी समीक्षकोने भव्य-भावना-प्रसार, रोमीय समीक्षकोंने तेज और शक्ति तथा पुनरुत्थान-कालिके समीक्षकोंने प्रेरणा कहा है (विशेष दे०—'आलो-चना, इतिहास तथा सिद्धान्त' : खत्री)। —वि० मो० श०

तुक, तुकांत—किसी छन्दके दो चरणोंके अन्तमें जब अन्त्यानुप्रास आता है तो उसे तुक कहा जाता है। चरण-के अन्तमें होनेके कारण उसे तुकान्त भी कहते है। तुकमे स्वर और व्यंजन, दोनोंकी समानता और आंशिक एकता रहती है। उर्दू और फारसी काव्यमे केवल स्वरसाम्यसे भी तुक बन जाता है, जैसे अलिफका काफिया 'देखा' और 'भला'मे हो सकता है। हिन्दीमें साधारणतया इस प्रकारके तुक ग्राह्य नहीं माने जाते, उनमें व्यंजनोंकी एकता भी आवश्यक रहती है, जैसे 'देखा' 'लेखा', 'भला' 'गला'-में। संस्कृतमें स्तोत्रों और अष्टपदियों-षट्पदियोंको छोड़कर सभी प्रचलित छन्दों (वृत्तो)में तुकका अभाव मिलता है। वस्तुतः तुकका विकास लोकभाषाओंकी गेय-परम्परासे हुआ और संस्कृत साहित्यमे जयदेव आदिके गीतोंमें ही वह अपवादरूपमें पाया जाता है—"कवि संस्कृतके वृत्तमे, तुक विकलप थल होत। भाषा छन्दनिमे अवसि, सनियम करत उदोत" (वृ० त०, ३)।

हिंन्दीमे कुछ कवियोने संस्कृतके वृत्तोंमें भी तुकका समावेश कर दिया। उदाहरणार्थ मैथिलीशरण गुप्तका निम्नलिखित वसन्ततिलका वृत्त लिया जा सकता है— "ओहो! मरा यह वराक वसन्त कैसा? ऊँचा गला रुँध गया अब अन्त जैसा। देखो, बढ़ा ज्वर, जरा जड़ता जगी है। लो ऊर्ध्व श्वास इसकी चलने लगी है" (साकेत, नवम सर्ग)। कुछ तुकोंके साथ स्थायी अंश भी संयुक्त रहता है, जिसे उर्दू और फारसीकी शायरीमे रदीफ नाम दिया जाता है। उपर्युक्त वृत्तमें प्रयुक्त जगी है, लगी है, में 'है', इसी प्रकारका अंश है। कुछ तुक दोहरे होते हैं, जैसे उपर्युक्त वृत्तमें ही 'वसन्त कैसा' और 'अन्त जैसा'। वसन्त-का तुक अन्त है और कैसाका तुक जैसा। इस तरहके दोहरे तुक मैथिलीशरण गुप्तके द्वारा ही सबसे अधिक प्रयुक्त हुए हैं।

तुकान्तके सम्बन्धमें शास्त्रीय विवेचन मुख्यतया भिखारी-दासके 'काव्यनिर्णय', रामसहायकी 'वृत्ततरंगिनी' और जगन्नाथप्रसाद 'भानु'के 'छन्दप्रभाकर'में उपलब्ध होता है।

'काव्यनिर्णय'के इक्कीसवें उल्लासमें तुकोंका वर्गीकरण इस प्रकारसे किया गया है—१. उत्तमः—(क) समसरि, (ख) विषमसरि, (ग) कष्टसरि। २. मध्यमः—(क) असंयोग-मिलित, (ख) स्वरमिलित, (ग) दुर्मिल। ३. अधमः—(क) अमिलसुमिल, (ख) आदिमत्त अमिल, (ग) अन्तमत्त अमिल। वीप्सा, याम और लाटिया, ये तीन भेद दासने और दिये है। लाटिया तुक, रदीफके साथ आनेवाला काफिया है।

'भानु'ने सम-विषमादि चरणोंमें तुकोंकी स्थितिके आधार-पर उनका विभाजन छः भेदोमे किया है (काव्य-प्रभाकर, पृ० २९६-९८)—१. सर्वान्त्य, २. समान्त्य विषमान्त्य, ३. समान्त्य, ४. विषमान्त्य, ५. समविषमान्त्य, ६. भिन्न-तुकान्त। उत्तम, मध्यम और निकृष्टके नामसे दासने पूर्वोल्लिखित तुकभेदोंकी सत्ताको भी स्वीकार किया है। समसरि तुक—दरसौ, सरसौ, परसौ, बरसौ (घनानन्द : सुजान०)। विषमसरि—नीरन, गंभीरन, धीरन, तीरन (भिखारीदास : का० नि०, २२), इसमे एक चार अक्षरका तुक है। कष्टसरि—मुसकात है, सरसात है, प्रभात है, जात है (वही), इसमे प्रभात तुक कष्टसरि है। मध्यम तुकमे असंजोग—ब्याहि, चाहि (वही), चाहिके स्थानपर च्याहि होना चाहिये था। सुरमिलित—रौई, कोई, (माकेत, ९)। दुर्मिलित—उज्ज्वल, निरमल, स्रीफल, हिमंचल (का० नि०, २२), इसमें हिमंचल ऐसा तुक है। अधम तुकमे अमिल—पलकें, अलकें, झलकेके साथ छकें अमिल है (वही)। वीप्सा—धनु धनु, छनु छनु, तनु तनु, बनु बनु। लाटिया—फिरत है, फिरत है, फिरत है, फिरत है (वही)। —ज० गु०

तुरंगम—वर्णिक छन्दोमे समवृत्तका एक भेद। यह वृत्त दो नगण और दो गुरुओसे (।।।, ।।।, ऽऽ) बनता है। दामोदर मिश्रने तुंगा (वा० भू०, २ : ७२), 'प्राकृतपैंगल'मे तुग; भरतने (नाट्य०, ३२, १३६) मधुकर सदृशाख्या; दुःख-भंजन (वाग्वल्लभ, समवृत्त ३५)ने तुंगा; भानुने तुंग (छं० प्र०); दासने तुंगा (छं० ५ : ६८) नाम दिया है। केशवने इसका प्रयोग किया है। उदा०—"बहुत बदन जाके, विविध वचन ताके। बहुभुज युत जोई, सबल कहिय सोई" (रा० चं०, ४ : १०)। —पु० शु०

तुल्यदेहितुल्य—दे० 'काव्य-हरण', 'अर्थ-हरण'का भेद।

तुल्यप्राधान्य व्यंग्य—गुणीभूत व्यंग्यका एक भेद, जहाँ वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ दोनों समान रीतिसे उत्कृष्ट हों। संदिग्धप्राधान्य व्यंग्यमे वाच्यार्थ-व्यंग्यार्थकी सापेक्षिक उत्कृष्टताका निर्णय नहीं हो पाता, किन्तु इस भेदमे दोनों निश्चित रूपसे समकक्ष कहे जा सकते है। पन्तकी इन पंक्तियोंका वाच्यार्थ तथा उनका व्यंग्यार्थ (—"मनुष्यके दिन एक-से नहीं रहते, उत्थान-पतन यही सृष्टिका नियम है"), दोनों ही समान रीतिसे उत्कृष्ट है—"आह बचपनका कोमल गात, जराका पीला पात। चार दिन सुखद चाँदनी रात। और फिर अन्धकार अज्ञात" (का० द०, पृ० ३२४)। —उ० शं० शु०

तुल्ययोगिता—सादृश्यगर्भ गम्यौपम्याश्रयका पदार्थगत अर्थालंकार। यह प्राचीनों (भामह, दण्डी आदि)से स्वीकृत रहा है। अभिप्राय है तुल्य–परस्पर समान–योगका सम्बन्ध अथवा अन्वयका होना। दण्डीने 'काव्यादर्श'मे अधिक गुणवान् जनोंके सादृश्य-प्रतिपादनमे तुल्ययोगिता मानी है। उद्भट, रुय्यक तथा विद्याधरके अनुसार इसमे औपम्य-का अन्तर्निहित होना अनिवार्य है—"प्रस्तुत या अप्रस्तुत वस्तुओमें, जो एक ही गुण-धर्मके आधारपर सम्बद्ध हो जायँ, सादृश्य भी होना चाहिए" (अलं० म०)। इनकी दृष्टिसे मात्र वस्तुओका एक धर्म होना ही तुल्ययोगिता नहीं है। परन्तु मम्मट तथा विश्वनाथ प्रकृत अथवा अप्रकृतके साधारण धर्मके ग्रहणको पर्याप्त मानते है—"पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत्। एकधर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता।" (सा० द०, १० : ४८), अर्थात् प्रस्तुत या अप्रस्तुतका एक-दूसरेके साथ समान धर्मसे सम्बद्ध होना। जयदेवने 'चन्द्रालोक'में 'क्रियादि'के द्वारा प्रस्तुतो और अप्रस्तुतोकी तुल्यतामे यह अलंकार माना है (५ : ५१)। अप्पय दीक्षितके लक्षणमें 'काव्यप्रकाश' तथा 'साहित्यदर्पण'के 'धर्मैक्य'का प्रभाव है। भोजने 'सरस्वती-कण्ठाभरण'मे हित तथा अहितमें व्यवहारतुल्यताको स्वीकार किया है। हिन्दीके आचार्योंने तुल्ययोगिताके इस सम्पूर्ण विकासक्रमको अपने विवेचनमें स्थान दिया है। जसवन्त सिंह-ने 'भाषाभूषण'मे भोजके लक्षणको प्रथम भेद, 'चन्द्रालोक'-के लक्षणको दूसरा भेद तथा दण्डीके लक्षणको तीसरा भेद माना है। अन्य आचार्योंमे मतिराम, भूषण आदि कतिपय-ने दण्डीके लक्षणको छोडकर केवल दो भेद माने है और दास तथा पद्माकर आदिने तीनों भेदोंको स्वीकार किया है। कुछने मम्मट आदिके समान वर्ण्य तथा अवर्ण्यका अलग उल्लेख किया है।

प्रथम—केवल अनेक प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुतोंका एक ही साधारण धर्म एक बार कहा जाय—"जहाँ अवर्ण्यनको धरम कै वर्ण्यनको एक" (ल० ल०, १३०)। पद्माकरने इसके दो भेद किये है—'वर्न्यनको जहँ धर्म इकैई' तथा 'धर्म इकै जु अवर्न्यन केरो' (पद्मा०, ७१)। उदा०—"लखि तेरी सुकुमारता, एरी या जग माँहि। कमल गुलाब कठोरसे किहिको लागत नाहिं" (अ० मं०, २५३)। यहाँ कमल और गुलाब, दोनो अप्रस्तुतोंका एक धर्म कथन किया गया है तथा—"काहूके क्यों हूँ घटाये घटै नहिं सागर औ गुन-आगर प्रानी" (का० नि०, ८)। यहाँ 'सागर' औ 'गुन आगर प्रानी'के मात्र 'घटाये घटै नहिं'का एक धर्म कहा गया है। इसी प्रकार—"अभिनव जोबन जोति सौं जगमग होत बिलास। तियके तन पानिप बढ़ै, पियके नैन पियास" (ल० ल०, १३२)। यह वर्ण्यका उदाहरण है।

द्वितीय—हित-अनहितमे तुल्यवृत्तिके वर्णनमें—"हित अनहितको एकसों जहँ बरतन व्यवहार" (शि० भू०, १२६) अथवा—"सम फलप्रद हित अहित करें, काहूकौ यै कर्म" (का० नि०, ८)। उदा०—"जे निसि दिन सेवन करैं, अरु जे करैं बिरोध। तिन्है परम पद देन हरि, कहौ कौन यह बोध" (ल० ल०, १३४) अथवा—"दास न पापी सुरापी तपी औ जापी हितू अहितू बिलगाई। गंग तिहारी तरंगनिसों सब पावे पुरन्दरकी प्रभुताई" (का०

नि०, ८)। यहाँ हित-अनहितके प्रति गंगाकी समानवृत्ति कही गयी है।

तृतीय—प्रस्तुत (उपमेय)की उत्कृष्ट गुणवालोंके साथ गणना—"जा-जा सम जिहि कहन कों बड़े-बड़े कहि नाहिं" (का० नि०, ८) अथवा—"बहुत बड़ेनि मग बन्यौइ आनौ" (पद्मा०, ७५)। उदा०—"कामधेनु अरु कामतरु चिन्तामनि मन मानि। चौथो तेरो सुजस हू, है मनसाके दानि" (अ० मं०, २४७)। यहाँ यशको उत्कृष्ट वस्तुओंके साथ गिनाकर उनके समान फलदायक कहा गया है। अथवा "प्रबल सुरेस रमेस महेसा। सेस गनेस हु तुम हु नरेसा" (पद्मा०, ७५)।

दीपक (प्रथम)मे भी एक धर्मका निर्देश अभिप्रेत है, किन्तु वहाँ प्रस्तुत-अप्रस्तुत, दोनोंके विषयमें यह कथन होता है, जब कि तुल्ययोगितामे दोनोमेसे एकको लिया जाता है। —र०

तेज—दे० 'सात्त्विक गुण', नायक।

तेलुगु (भाषा तथा साहित्य)—तेलुगु आधुनिक भारतीय भाषाओमे एक प्रधान भाषा है। यह १,१३,११० वर्गमील-के विस्तृत क्षेत्रमे तीन करोड बीस लाख जनसमूहकी मातृ-भाषाके रूपमें बोली जाती है। आधुनिक भारतीय-भाषाओं-मे हिन्दीके बाद सबसे बड़ी संख्यामे बोली जानेवाली भाषा यही है। इसकी अपनी स्वस्थ एवं समुन्नत सांस्कृतिक परम्परा रही है, अपनी लिपि अलग रही है तथा साहित्य विशाल रहा है।

तेलुगु, तेनुगु, आन्ध्र—ये तीनो शब्द आजकल एक ही भाषाके लिए पर्याय बने है। इनमेंसे 'आन्ध्र' शब्दका प्रयोग क्रमशः 'जातिबोधक', 'देशवाचक' और अन्तमे 'भाषासूचक' अर्थोंमें होता आया है। 'तेनुगु' और 'तेलुगु' ये शब्द 'आन्ध्र'के परवर्ती रहे है। ऐतरेय ब्राह्मण (तस्यह विश्वामित्रस्यैकशतं पुत्रा आसुः, पंचाशत् एकज्यायांसो मधुछन्दसः पंचाशत् कनीयांसः, तद्वै ज्यायांसो न ते कुलम् मेनिरे, तान् अनुव्याजहारन् तानवः प्रजा भक्षिस्तेतित एतेन्ध्राः पुण्ड्राः शबराः पुलिन्दा मूतिबा इत्युदन्त्या बहवो भवन्ति वैश्वामित्रा दस्यूनां भूयिष्ठा)। महाभारतके सभा-पर्व, रामायण (वाल्मीकि-रामायण, किष्किन्धाकाण्ड, ४१)-में, गिरनार पहाड़के शिलालेख ('अन्धपिरिन्देषु' अशोकके गिरनार शिलालेख)मे, शाहबाजगढीके शिलालेखमें, 'मनु-स्मृति', 'मत्स्य', 'वायु', 'ब्रह्माण्ड' इत्यादि पुराणोंमे तथा इतिहासकार प्लिनीकी रचनामें आन्ध्र जातिका उल्लेख मिलता है। इतना सब होनेपर भी स्वयं आन्ध्र शातकर्णी या सातवाहन और इक्ष्वाकु शासकोंने अपने अनेक शिला-लेख (ई० पू० २२१से ई० सन् २१८तक, राज चलाने-वाले आन्ध्र सम्राटोंके शिलालेख, नासिक, कन्हेरी, कार्ली, नानाघाट, अमरावती, चिन्नचिन्ना वगैरह स्थानोंमे प्राप्त हुए है) आदिमें अपने जातिसूचक इस शब्दका उल्लेखतक न किया था। सम्भवतः वे लोग विश्वामित्र द्वारा अभिशप्त सन्ततिके अनुयायी कहलाना न चाहते थे। फिर तीसरी शताब्दीके आसपासके पल्लवराज शिव स्कन्दवर्माके एक ताम्रपत्र (मैदवोलुमें प्राप्त) और हरिहडगल्लिवाले लेखमें आन्ध्र राजाओंके राज्यके लिए पहले-पहल 'अन्धापथीयो' (आन्ध्रपथ) और 'सातवाहनिरट्ठ' (सातवाहन राष्ट्र) नाम मिलते है। चीनीयात्री ह्वेनत्सांगकी रचनाओंमें भी इस राज्यके लिए 'आन्ध्रमण्डल' नाम मिलता है। शातकर्णिराज्य तो अपने शिलालेखोंमें 'दक्षिणापथ' यही नाम ही देते थे। नासिकके गोतमीबालश्रीके लेखमे (दक्षिण) 'पथेसरो' यह उल्लेख मिलता है।

'आन्ध्र' शब्दका प्रयोग भाषाके लिए होने लगा है। तेलुगुके सर्वप्रथम महाकाव्य 'भारतग्रन्थ'के रचयिता नन्नय भट्टारकके समयमे उनके आश्रयदाता राजराज द्वारा प्रदत्त एक ताम्रपत्रमे नन्नयके सहयोगी नारायण भट्टको 'आन्ध्र कविताविशारद' कहा गया है। इनका समय ११वीं शती रहा। किन्तु उस समयके पूर्व ही यहाँकी भाषाके लिए 'तेनुगु' नाम व्यवहारमें था और 'तेलुगु' नाम १२०० ई०के आसपास चल पडा था। 'तेरुगु', 'तेनुगु' इन दोनों शब्दोंकी व्युत्पत्तिके बारेमे पण्डितोंमे मतैक्य नहीं रहा है। तेलुगु शब्दको कुछ लोग 'त्रिलिंग'का विकार मानते है तो दूसरे 'त्रिकलिंग'का।

भाषाशास्त्रियोंके अनुसार तेलुगु भाषाकी उत्पत्तिके बारे-मे दो मत पाये जाते है। द्राविड भाषाओंका सर्वेक्षण करके उनका तुलनात्मक व्याकरण प्रस्तुत करनेवाले काल्डवेल तथा उनकी तरह सोचनेवाले तेलुगुको द्राविडभाषा-परिवार-का एक सदस्य मानते है। भारत-यूरोपीय परिवारसे उसे भिन्न मानते है। किन्तु आन्ध्र भाषा तथा अन्य भारतीय भाषाओंका समन्वयात्मक अध्ययन करके 'आन्ध्र भाषा चरित्र' नामक बृहदाकारग्रन्थ प्रस्तुत करनेवाले चिलु-कूरि नारायण रावका मत है कि तेलुगु आर्य परिवारकी भाषा है। जिस प्रकार आधुनिक भारतीय भाषाएँ प्राकृत, पालि, अपभ्रंश आदि अपने-अपने क्षेत्रीय भाषा-विकारोंकी परिणाम है, उसी प्रकार तेलुगु भी दक्षिण-भारतमे ईसाके पूर्व और बादकी सदियोंमे प्रचलित प्राकृतका ही, जिसमे हालकृत 'गाथासप्तशती' और गुणाढ्य-की 'बृहत्कथा' वगैरह है, क्रमानुसार विकसित रूप है। पश्चिमी पण्डित ओल्डनबर्गने अपने 'तिपिटक' नामक ग्रन्थ-के दूसरे खण्डकी भूमिकामें लिखा है कि लंकामें प्राप्त 'तिपिटक' आदि बौद्ध ग्रन्थोंकी भाषा 'पालि' उस समय आन्ध्र जनपदोंमें व्यवहृत प्राकृत ही थी। दोनोमें अन्तर नहीं है। तेलुगु भाषाके व्याकरण-ग्रन्थ 'आन्ध्र शब्द-चिन्तामणि'में नन्नय भट्टारकने तेलुगुके प्रादुर्भावके बारेमें आजसे लगभग ९०० वर्ष पूर्व स्पष्ट लिखा है कि "आद्य-प्रकृतिः प्रकृतिश्चाद्ये, एषा तयोर्विकृतिः।" नारायण राव लिखते है कि 'सच बात तो यह है कि ई० पू० ३००से लेकर ई० सन् ५००तक दक्षिण-भारतमें व्याप्त प्राकृतोंको लेकर शोधकार्य पर्याप्त मात्रामें नहीं हुआ। दक्षिणी प्राकृतोंमें एक 'द्राविडी प्राकृत' भी थी। अन्य भारतीय प्राकृतोंकी तरह उसका भी विकास हुआ था। दूसरी प्राकृतोपर द्राविड प्राकृतका जैसा प्रभाव पड़ा था, उसी तरह द्राविड भाषाओं-पर भी अन्य प्राकृतोका उतना ही असर रहा। प्राचीनतम आर्य भाषाओंसे ही जिस प्रकार दूसरी प्राकृतें निकली थीं, उसी प्रकार द्राविड भाषाओंका भी विकास हुआ है।"

जहाँतक तेलुगु लिपिका प्रश्न है, यह तो सभी लोग

मान चुके हैं कि वह प्राचीन ब्राह्मीकी दक्षिणी शाखाका ही परिणाम है। दक्षिणकी चारों लिपियोंमें कन्नड लिपिके साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों प्रायः एक-सी लगती हैं। लोग यह मानते हैं कि ३-४ शताब्दियोंके पूर्वतक दोनों भाषाओंकी एक ही लिपि रही थी।

तेलुगुवर्णमाला अत्यन्त वैज्ञानिक एवं सम्पूर्ण है। उसमें ५६ अक्षर हैं। तेलुगु भाषाके सभी शब्द अजन्त या स्वरान्त होते हैं। हिन्दी आदि भारतीय भाषाओंकी तरह व्यंजनान्त नहीं। इससे यह भाषा संगीतके लिए अत्यन्त उपयुक्त है। कर्नाटक संगीतके सभी वाग्गेयकारोंने इस भाषामें कृतियाँ रची हैं। तेलुगुकी इसी संगीतात्मकताको देखकर काल्डवेलने उसे 'पूर्वी इटालिया' कहा है। तेलुगु भाषा-भाषी जनताका उच्चारण प्रायः स्पष्ट एवं शुद्ध रहता है। समस्त ध्वनियोंका उच्चारण वे कर लेते हैं।

अधिक विस्तृत क्षेत्रमें फैले रहनेके कारण विभिन्न प्रान्तोंकी व्यावहारिक तेलुगुके रूपोंमें थोडी-बहुत भिन्नताका आ जाना स्वाभाविक है। करनूल, अनन्तपुर कडया आदि पश्चिमी जिलोंकी तेलुगुमें नेल्लूर, चित्तूर, ओंगोल जैसे दक्षिणी सरहदकी भाषामें, उत्तरमें विशाखपट्टण, गोदावरी जिलोंकी बोलीमें और तेलंगानेकी भाषामें उच्चारण एवं शब्द-प्रयोगको लेकर एकरूपता नहीं रह गयी है, किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि यह कोई अलग-अलग बोलियाँ हैं। तमिल, कन्नड, महाराष्ट्र एवं उत्कल, इन पार्श्ववर्तिनी भाषाओंका प्रभाव सरहदी जिलोंके भाषा-व्यवहारपर सहज ही लक्षित होता है। राजनीतिक कारणोंसे तेलंगानेकी तेलुगुमें उर्दू शब्दोंका अंश पर्याप्त मात्रामें पाया जाता है।

किन्तु कुछ बोलियाँ भी, जो केवल मौखिक हैं और जिनका सम्बन्ध तेलुगुसे दिखाया जा सकता है, वर्तमान आन्ध्र प्रदेशके कुछ पार्वत्य क्षेत्रोंमें और उसके बाहर भी पायी जाती हैं।

ग्रियर्सनने यह राय प्रकट की है कि तेलुगुका अन्य द्राविड भाषाओंसे विलक्षण, अपना स्वतन्त्र स्थान रहा है। तेलुगुको प्राप्त इस विलक्षणताका कारण, नारायण रावके अनुसार, अन्य द्राविड भाषाओंसे अधिक प्राचीन प्राकृतोंके साथ उसका नैकट्य ही है। उन्होंने अपना यह दृढ़ विश्वास प्रकट किया है कि तेलुगुके बारेमें विचार करते समय केवल द्राविड भाषाओंके साथ उसके सम्बन्धकी मीमांसा करनेसे ही काम न चलेगा। अन्य द्राविड भाषाओंके साथ-साथ प्राचीन प्राकृतों तथा वर्तमान आर्य भाषाओंके सम्बन्धका भी परीक्षण करना, तथ्यप्रकाशनके लिए अत्यन्त आवश्यक है।

तेलुगुमें स्फुट साहित्यका दर्शन हमें सन् १०५० ई०के आसपास होता है। तबसे लेकर लगभग ९०० वर्षोंका इतिहास इस वाङ्मयका पाया जाता है। महाकवि नन्नय भट्टारकका संस्कृत भारतका काव्यानुवाद इस साहित्यकी सर्वप्रथम और सर्वांगसुन्दर कृति है। महाकवि नन्नयके ही साथ तेलुगुके अबतक उपलब्ध साहित्यका प्रारम्भ माना जाता है। ये न केवल महाकवि थे, बल्कि तेलुगुके सर्वप्रथम वैयाकरण भी रहे। किसी भी साहित्य-परम्पराका श्रीगणेश उत्तम श्रेणीकी काव्यरचना एवं व्याकरण-ग्रन्थके साथ एकदम नहीं माना जा सकेगा। शताब्दियोंकी पूर्ववर्ती साहित्य-साधनाके परिणामस्वरूप ही वैसी परिणति लक्षित होगी। नन्नयकृत व्याकरण-ग्रन्थ 'आन्ध्र शब्दचिन्तामणि'-का प्रणयन संस्कृतमें हुआ था। इस कृतिमें पूर्ववर्ती अनेक काव्योंका उल्लेख भी, उदाहरण प्रस्तुत करते समय, किया गया है। इसके अलावा इनके पूर्वके साहित्यस्वरूपपर प्रकाश डालनेवाले कई प्राचीन शिलालेख, ताँबेके बने दानपत्र प्राप्त हुए हैं, जिनपर उत्कीर्ण स्वस्थ काव्यमय रचनाओंसे प्रकट होता है कि तरुवोजा, मध्याक्करा वगैरह व्यवस्थित देशी तेलुगु छन्दोंमें सुन्दर साहित्य-प्रणयन होता था। शिलालेखों और दानपत्रोंके इन प्रमाणोंके बलपर यह कहा जा सकता है कि तेलुगुमें साहित्य-रचना ग्यारहवीं शतीसे काफी पूर्व प्रारम्भ हुई थी और ईसाकी ७वीं शतीको उसका प्रारम्भिक बिन्दु माना गया है।

आधुनिक तेलुगु साहित्यके युगप्रवर्तक कं० वीरेशलिंगम् पन्तुलुके अनुसार तेलुगुके १२५० वर्षोंके साहित्यका काल-विभाग इस प्रकार है—

(१) अज्ञात युग—ई० सन् ७००से लेकर १०५०तक।
(२) आदियुग—ई० सन् १०५०से लेकर १५००तक।
(३) मध्ययुग—ई० सन् १५००से लेकर १७५०तक।
(४) वर्तमान युग—ई० सन् १७५०से लेकर आजतक।

साहित्यमें प्रतिपादित विषयके अनुसार मोटे तौरसे इनके क्रमशः चार और भी नाम दिये जा सकते हैं—

(१) शासनयुग—लेखों और ताम्रपत्रोंका काल।
(२) पुराणयुग—संस्कृतके पुराणग्रन्थोंका अनुवाद-युग।
(३) प्रबन्धयुग—अनुकृत या स्वतन्त्र काव्यरचनाका युग।
(४) गद्ययुग—नवीन विकासका युग।

इन चारों युगोंका संक्षेपमें परिचय नीचे दिया जाता है—

(१) अज्ञात युग—वैसे तो ई० पूर्व २००के करीब आन्ध्र सातवाहन राजाओंके समयसे इसका प्रारम्भ माना जा सकता है, किन्तु सन् ७०० ई०के पूर्वके जो भी शिलालेख मिले हैं, उनकी भाषा या तो संस्कृत रही या प्राकृत। तेलुगुका रूप तो ७वें शतकके बादवाले शिलालेखोंसे देखा जाता है। इनमें वर्तमान अनन्तपुरम् जिलेमें प्राप्त बादामी चालुक्य नरेशोंके दो शिलालेख तथा जिला गुण्टूरमें उपलब्ध वेंगी चालुक्य राजाका शिलालेख विशेष रूपसे उल्लेखनीय है। इनमें प्रयुक्त भाषाका रूप काफी प्राचीन रहा। लेखोंके अतिरिक्त इस युगके साहित्यके दूसरे प्रकार हैं—'तुम्मेदपदमुलु' (भ्रमरगीत), 'गोब्बिपदमुलु', 'यक्षगानमुलु', 'मेलुकोलुपुलु' (प्रभातियाँ), सुद्दुलु' आदि।

(२) पुराणयुग—इस युगके साहित्यका प्रणयन धर्म-प्रचार, धर्म-रक्षा एवं सांस्कृतिक उत्थानवाले तीन लक्ष्योंको लेकर चला था। आदिकवि नन्नयके पूर्व देशमें बौद्ध एवं जैन विचारधाराओंकी प्रबलताके कारण सनातन धर्मका ह्रास-सा हो चला था। सनातन वैदिक धर्मके प्रति फिरसे जनताको आकृष्ट करनेके लिए उन महाभट्टारकने अपने आश्रयदाता चालुक्य-नरेश राजराज नरेन्द्रकी प्रेरणासे, पावनी गौतमीके तीरपर पंचम वेद 'महाभारत' ग्रन्थका कान्ता-सम्मित-काव्यमय शैलीमें सरस अनुवाद किया था, किन्तु 'अरण्य' पर्वका थोडा ही अंश अनूदित कर पाये कि असमयमें ही

उनका देहान्त हो गया। नन्नयके करीब दो सौ साल बाद कविब्रह्म तिक्कन सोमयाजी हुए थे, जिन्होंने शेष १५ पर्वोंका अनुवाद, अद्भुत क्षमता एवं सुन्दरताके साथ प्रस्तुत किया था। अधूरे अरण्यपर्वका शेषांश, पीछे १४वीं शतीके मध्यभागमें जाकर, एक तीसरे महाकवि 'प्रबन्ध-परमेश्वर' यर्राप्रगडाने पूरा किया था। इस प्रकार 'महाभारत' ग्रन्थका अनुवाद तीन महाकवियों द्वारा तीन शताब्दियोंमें जाकर सम्पन्न हुआ था। इन्हींको 'कवित्रयी'के नामसे श्रद्धापूर्वक स्मरण किया जाता है।

इस युगके अन्य उल्लेखनीय कवि हैं:—राजा नन्नेचोड, नाचन सोमनाथ, पाल कुरिकि सोमनाथ, रायनि भास्कर, बमोर पोतना, महाकवि श्रीनाथ। साहित्यके गौरवग्रन्थ हैं:— 'कुमारसम्भवम्', 'उत्तर हरिवंशम्', 'भास्कर रामायणम्', 'आन्ध्र महाभागवतमु', 'काशीखण्डमु', 'श्रृंगारनैषधमु', 'बसवपुराणमु' वगैरह। इनमें अन्तिम रचना स्वतन्त्र ग्रन्थ है। इस युगतक आते-आते काव्यरचनामें दो विधान जोर पकड़ने लग गये थे। एक मार्गी, अर्थात् संस्कृत काव्यरीतियों का अनुसरण करनेवाली संस्कृतशब्दबहुला रचना और दूसरी देशी, यानी जनसमूहकी रुचिके अनुसार उनकी ठेठ तेलुगुमें चलनेवाली शैली। 'महाभारत', 'भागवत', 'भास्कर रामायण', 'नैषधम्' वगैरह मार्गी कविताकी रचनाएँ रहीं। 'कुमारसम्भवम्' 'बसवपुराणम्' वगैरह शैव धर्मप्रतिपादक ग्रन्थ देशी शैलीमें मार्गी रचनाओंके लिए प्रतिक्रियाके रूपमें लिखे गये। क्रमशः वैदिक धर्मके प्रति आस्था कम होती गयी और वीर शैव और वीर वैष्णव धर्म जनतापर हावी होने लगे। ऐसे समयमें महाकवि तिक्कना, अपने ग्रन्थोंमें ठेठ तेलुगु शब्दोंका प्रचुर प्रयोग कर, मार्गी साहित्यको भी साधारण जनताके बहुत समीप ले गये।

(३) प्रबन्धयुग—यह तेलुगु साहित्यका स्वर्णयुग माना जाता है। महाकवि श्रीनाथके साथ अनुवादोंकी परम्परा रुक-सी गयी और काव्यप्रयासियोंकी दृष्टि मौलिक प्रबन्ध लिखनेकी ओर हुई। सोलहवीं शतीके प्रारम्भसे प्रबन्धरचना, यानी स्वतन्त्र महाकाव्य-प्रणयनका सूत्रपात हुआ। देशमें काकतीय शासकोंके समयसे ही मुसलमानोंके आक्रमण होने लगे। एक प्रबल हिन्दू राष्ट्रकी स्थापना करके आर्य धर्म एवं संस्कृतिकी रक्षा करनेके उद्देश्यसे महात्मा विद्यारण्यके दिशा-दर्शनमें प्रतापी विजयनगर राज्यकी स्थापना हुई। विजयनगरके राजाओंमें सबसे प्रतापी और आदर्श प्रभु हुए कृष्णदेवरायलु। वे स्वयं बड़े विद्वान् एवं कवि थे और उन्होंने अपने दरबार 'भुवन-विजय सभा'में 'अष्ट दिग्गज' महाकवियोंको प्रश्रय दिया था। अल्लसानि पेद्दना, नन्दितिम्मना, तेनालिरामकृष्ण, धूर्जटि, भट्टमूर्ति मादयगारि मल्लना, अय्यलराजु रामभद्रकवि, कन्दुकूरि रुद्रकवि धुरन्धर दिग्गज कवि थे, जिन्होंने 'मनुचरित्रमु', 'पारिजातापहरणमु', 'पाण्डुरंगमाहात्म्यमुम', 'कालहस्तीश्वरशतकमु', 'वसुचरित्रमु' आदि अनमोल महाकाव्य रचे थे। स्वयं श्रीकृष्णदेवरायने 'आमुक्तमाल्यदा' नामक महाग्रन्थ लिखा था। भट्टमूर्तिने 'वसुचरित्रमु' नामक प्रबन्धके अलावा 'नरसभूपालीयमु' नामक रीतिग्रन्थ एवं 'हरिश्चन्द्र नलोपाख्यानमु' नामक द्व्यर्थी काव्य रचे थे। इनके अलावा पिंगलि सूरन्ना नामक एक और महाकविने 'कलापूर्णोदयमु' नामक अद्भुत महाकाव्य रचा था, जिसकी टक्करका सर्वलक्षणसम्पन्न काव्य दूसरा नहीं मिलता।

इस युगके उत्तरार्द्धमें साहित्यका रंगमंच विजयनगर राज्यके पतनके बाद, दक्षिणमें तंजाऊरके राजाओंके आश्रयमें चला गया। रघुनाथरायलु, अच्युत विजयराघव बड़े ही विद्वत्कवि एवं कविपोषक नरेश थे। तंजाऊरकी ही भाँति मदुरैमें भी तिरुमल नायक आदि राजाओंने साहित्यको बहुत प्रश्रय दिया था। सुकवि चेमकूरवेंकटकविका 'विजयविलास', शेषम वेंकटपतिका 'ताराशशांकविजय', स्त्री-कवि मुद्दुपलनिका 'राधिकास्वान्तनमु' विजयराघवका 'रघुनाथनायकाभ्युदयमु', स्त्री-कवि रंगाजम्माका 'उषापरिणयमु' वगैरह अनुपम ग्रन्थ किसी भी साहित्यको गौरव प्रदान कर सकेंगे। इस युगके पूर्वार्द्धकी स्त्री-कवि आतुकूरि मोल्लाने एक छोटी, किन्तु सरस रामायण प्रस्तुत की है, जो अत्यन्त लोकप्रिय है।

इन अनुवादों तथा प्रबन्धोंके अतिरिक्त प्राचीन तेलुगुका शतक-साहित्य भी विशेष महत्त्व रखता है। शतक-काव्य-प्रणयनकी परम्परा अनुवाद-युगमें ही प्रारम्भ होकर अन्य साहित्यिक रचनाओंके समानान्तर बराबर चलती रही है। ई० सन् ११७१के सुप्रसिद्ध शैव कवि पण्डिताराध्यकी रचना 'शिवतत्त्वसारमु'के साथ इस रचनाका सूत्रपात हुआ था। कुल मिलाकर तेलुगुमें १०००से भी अधिक शतककाव्य लिखे गये थे, जिनमें ६००के करीब उपलब्ध हुए हैं। ये शतक भक्ति, श्रृंगार और नीतिपूर्ण रचनाएँ हैं, जिनमें सौ या उससे अधिक संख्यामें, मुक्तक शैलीमें छन्द गुँथे रहते हैं। प्रत्येक शतकका एक 'मकुट' होता है, जो प्राचीन हिन्दीके सतसईकारोंके नामोंकी तरह, रचनाके प्रत्येक छन्दमें जोड़ा जाता है। तेलुगुके अत्यन्त प्रचलित शतक-ग्रन्थोंमें 'वृषाधिपशतक', 'नारायणशतक', 'दाशरथिशतक', 'वेमनशतक', 'सुमतिशतक', 'आन्ध्रनायकशतक', 'भास्करशतक', 'नरसिंहशतक' वगैरह उल्लेखनीय हैं। यथावाक्कुल अन्नमय्या पालकुरिकि सोमनाथ, पोतनामात्य, गोपन्ना, वेना, बद्देन, भास्कर, कूर्मनाथ कवि, कासुल पुरुषोत्तम कवि वगैरह अत्यन्त प्रौढ़ एवं सफल शतककार हुए हैं।

गीति-साहित्य—शतकोंकी तरह प्राचीन तेलुगुका गीति-साहित्य भी अत्यन्त सम्पन्न रहा। ये गीत भी भक्ति, श्रृंगार और नीतिप्रधान रहते थे और साहित्यके साथ संगीत एवं नाट्य गुणोंसे सराबोर रहते थे। इन गीतिकारोंमें अधिकांश सन्त-महात्मा रहे। गीति-साहित्यकी इस स्वस्थ परम्परामें १५वीं शतीके ताल्लपाक अन्नमाचार्य वगैरह तथा तिरुपतके भक्त कवि क्षेत्रय्या, गोपन्ना (रामदास), नादयोगी त्यागराज आदिके नाम उल्लेखनीय हैं। त्यागराजकी कृतियाँ रामभक्तिसे अनुप्राणित थीं और तेलुगु साहित्यके विद्यापति 'क्षेत्रय्या'के पद श्रृंगारके सम्राट् मुग्ध गोपाल भगवान्की मधुर भक्तिधारासे मण्डित थे।

यक्षगान—प्राचीन तेलुगु साहित्यके दृश्यप्रबन्धोंको यक्षगान कहा जाता है। संगीत, अभिनय एवं नृत्य, इन

तान कलाओंमें प्रवीण कलाकार इनके प्रदर्शन किया करते थे। कन्दुक्कुरि रुद्रकविकृत 'सुग्रीवविजयमु' तंजाऊरके राजा विजयराघवकृत 'रघुनाथाभ्युदयमु', सन्तप्रवर त्यागराजकृत 'प्रह्लाद भक्तविजयमु' ऐसे दृश्यप्रबन्धोंमें प्रधान हैं। 'रामायण', 'महाभारत' एवं 'भागवत'की कथाओंको यक्षगानोंके रूपमें अभिनीत करनेकी अत्यन्त प्राचीन परम्परा तेलुगु जन-जीवनमें रही।

(४) वर्तमान युग—गद्ययुग या नवीन विकासका युग। ई० सन् १७५०तक देशमें ईस्ट इण्डिया कम्पनी शासनके जम जाने और देशी साहित्यके पोषक राजा-महाराजाओंके अधिकारोंके कुण्ठित हो जानेसे साहित्यके क्षेत्रमें एक प्रकारका अवसाद-सा छा गया। विजयनगर राज्यके पतनके बाद प्रभुसत्ताका विकेन्द्रीकरण जो हुआ, उससे सन् १६५० ई०से ही दक्षिणमें तंजाऊर, मदुराके अलावा पेनुगोंडा, चन्द्रगिरि, वेंकटगिरि, कार्वेटिनगर, विजयनगर, (वर्तमान विशाखपट्टण जिलेके) पेद्दापुरम्, पिठापुरम्, तेलिंगानेके गद्वाला नामक स्थानोंमें छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो चुके थे। इनके शासक तेलुगु साहित्यको करावलम्बन देते रहे। इनमेंसे दक्षिणके तंजाऊर और मदुराके राजदरबारोंमें, जैसा अभी कहा गया है, साहित्यका काफी संवर्द्धन हुआ, किन्तु फिर भी १६५० ई०से लेकर १९०० ई०तकके ढाई सौ वर्षोंका समय साहित्यिक विकासके विचारसे ह्रासयुग ही माना गया है। सन् १६५० ई०से १८५० ई०तकके उल्लेखनीय कवियोंमें समुखं वेंकटकृष्णप्प नायक, कूचिमन्चि तिम्मकवि, एनुगु लक्ष्मणकवि, अडिदमु सूरकवि, कंकटि पापराजु पुष्पगिरि तिम्मकवि, गोपीनाथ वेंकटकवि वगैरहके नाम प्रसिद्ध हैं।

विदेशी शासनने यदि एक ओर साहित्यके विकास-पथमें अवरोध प्रस्तुत कर दिये तो दूसरी ओर कुछ अंग्रेजी अधिकारी और ईसाई धर्मप्रचारकोंने तेलुगु गद्य-रचनाको प्रोत्साहन देकर, भाषा एवं साहित्यका अनमोल उपकार किया था। सी० पी० ब्राउन महोदयका नाम तेलुगु भाषा एवं साहित्यके उद्धारकके रूपमें अमर हो गया है। इन्होंने एक बहुत बडा तेलुगु शब्दकोष 'ब्रौन्य निघंटुवु' बनाया था। जूलूरि अप्पयशास्त्री और चिन्नयसूरि आदि देशी पण्डितोंने भी भाषाकी उल्लेखनीय सेवाएँ की थीं।

फिर १९वीं शतीके अन्तिम चरण और २०वीं शतीके प्रथम चरणमें कन्दुकूरि वीरेशलिंगम् पन्तुलु हुए थे, जो आधुनिक तेलुगु साहित्यके जन्मदाता कहे जा सकते हैं। हिन्दीमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्रका जो स्थान है, वही तेलुगुके लिए पन्तुलुका रहा है। कविता, नाटक, उपन्यास, निबन्ध आदि सभी क्षेत्रोंमें इस महान् लेखकने एक सर्वथा नवीन दृष्टिकोणका प्रतिपादन किया। अंग्रेजी साहित्य एवं बंगीय विचारधाराओंका, इनकी रचनाओंपर काफी प्रभाव पड़ा है।

वीरेशलिंगम् पन्तुलुके अनन्तर बहुतसे ऐसे साहित्यकार हो गये हैं, जिन्होंने गद्य, कविता, नाटक, प्रहसन, भाषा एवं साहित्यका इतिहास, निबन्ध, समालोचना, कहानी आदि सभी साहित्य-शैलियोंमें ग्रन्थ-प्रणयन किया था। इनमेंसे गुरजाड अप्पाराव मण्डयाक पार्वतीश्वरकवि, बहुजनपल्लिसीतारामाचार्युलु, वेंद वेंकटरायशास्त्री, धर्मवरम् रामकृष्णमाचार्य, वड्डादिसुब्बारायकवि, जयन्तीरामय्या, गिडुगुराममूर्ति पन्तुलु, चिलुकूरि वीरभद्रराव, कोमर्राजु लक्ष्मणराव, कोट्ट श्यामल कामशास्त्री, वाविल्ल रामस्वामिशास्त्री, तिरुपति वेंकटकवुलु, वेंकट पार्वतीश्वर कवुलु, सुरवरम् प्रतापरेड्डी आदि प्रसिद्ध हैं। तिरुपति वेंकट कवुलु और वेंकट पार्वतीश्वर कवुलु अत्यन्त प्रतिभाशाली आशुकवि एवं शतावधान चतुर थे। इनकी साहित्यिक यात्राओंने समूचे देशमें कविता-प्रेम एवं प्रणयनकी लहर दौड़ायी। कोप्परपु-कवुलु नामक कविबन्धु भी इसी ढंगके आशुकवि थे।

इनके अतिरिक्त आन्ध्र विज्ञानमण्डली, विज्ञानचन्द्रिका-मण्डली, साहितीसमिति, नव्य साहित्यपरिषद् आदि सारस्वत संस्थाओं द्वारा भी तेलुगु साहित्यकी श्रीवृद्धि हुई है। इस समय तेलुगु साहित्यकी सेवा करनेवाली संस्थाओंमें तेलुगु भाषासमिति, अखिल साहित्य कलाभिवर्द्धक आन्ध्र संसद, आन्ध्र सारस्वत परिषद् आदि साहित्य एवं ललित-कलाओंके उत्थानके लिए प्रयास कर रही हैं।

तेलुगु साहित्यकी सेवा आज भी अपने कृतिरत्नों द्वारा करनेवालोंमें इनके नाम उल्लेखनीय हैं—रायप्रोलु, सुब्बाराव, तल्लावज्झल शिवशंकर स्वामी, महोपाध्याय काशी कृष्णाचार्य, कविसार्वभौम श्रीपाद कृष्णमूर्ति शास्त्री, विश्वनाथ सत्यनारायण, राल्लपल्लि अनन्तकृष्ण शर्मा, गडियारम् शेषशास्त्री, कालोजी नारायणराव, श्रीरंगम् श्रीनिवासराव, तुम्मल सीतारामसूर्ति चौधरी, गुर्रम् जाषुआ, पुट्टपर्ति नारायणाचारी, पिंगलि काटूरि कविद्व, देवुलपल्लि कृष्णशास्त्री आदि। इन ख्यातनामा कवियोंके साथ स्वर्गीय वेटूरि प्रभाकरशास्त्री, जनमञ्चि शेषाद्रि शर्मा, चिलुकूरि नारायणराव, अडिवि बापिराजुने क्रमशः शोधकार्य, काव्यरचना, भाषाका इतिहास, चित्र और शिल्पके क्षेत्रमें विशेष योगदान किया था। मल्लंपल्लि सोमशेखर शर्मा पुरातत्त्व एवं इतिहासके उद्भट पण्डित हैं, जिन्होंने शुष्क एवं नीरस प्रतीत होनेवाले अतीतका सरस काव्यमय प्रतिपादन अनेक ग्रन्थोंमें किया है। मौलिक उपन्यासके क्षेत्रमें उन्नवलक्ष्मीनारायणपन्तुलु, विश्वनाथ सत्यनारायण, नोरिनरसिंहशास्त्री, अडिवि बापिराजु, मोक्कपाटि नरसिंह शास्त्री, मधिरसुब्बन दीक्षित, गुडिपाटि वेंकचलम्की रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। कहानीके क्षेत्रमें श्रीपादकृष्णमूर्ति शास्त्री, चिन्तादीक्षितुलु, अडिवि बापिराजु, मुनिमाणिक्यम् नरसिंह राव, विश्वनाथ सत्यनारायण, गोपीचन्द्र, कोडवटिगंटि कुटुम्बराव, पालगुम्मिपद्मराजु आदि प्रतिनिधि-लेखक हैं। हास्य और व्यंग्यके सबल लेखकोंमें भमिडिपाटि कामेश्वरराव प्रसिद्ध हैं। संस्कृतके अलंकारशास्त्र-ग्रन्थोंके प्रामाणिक अनुवाद प्रस्तुत करनेवाले पण्डित लेखकोंमें वेदाल तिरुवेंगलाचारी, सन्निधानम् सूर्यनारायण शास्त्री, जम्मुलमडक माधवराव शर्मा आदि प्रमुख हैं। साहित्यिक समालोचकोंमें राल्लपल्लि अनन्तकृष्ण शर्मा, विश्वनाथ सत्यनारायण, शिष्टला सूर्यनारायण शास्त्री, पुट्टपर्ति नारायणाचार्य आदिकी सेवाएँ अनमोल हैं। तेलुगु साहित्यका इतिहास प्रस्तुत करनेवालोंमें कुरुगंटि सीताराम भट्टाचार्य, चागंटि शेषय्या, पी० वें० हनुमन्तराव, मधुनापन्तुलु सत्यनारायण शास्त्री, अट्टकूरि लक्ष्मीकान्त झा आदि प्रधान हैं। भाषा एवं

साहित्य सम्बन्धी शोधकार्य करनेवालोंमें कोराड रामकृष्णप्पा, निडदवोलु वेंकटराव, गिडुगु सीतापति गंठि जोगि सोमयाजि आदि है। खण्डवल्लि लक्ष्मीरंजनम्‌ने 'आन्ध्रल संस्कृतचरित्र' लिखा है। अनुवादके क्षेत्रमें काफी कार्य हुआ है, रवीन्द्र, शरत, प्रेमचन्द आदिकी रचनाओंके अनुवाद हो चुके हैं। अनेक अंग्रेजी कृतियोंके अनुवाद भी हुए हैं। इनके अलावा एकांकी नाटक, 'हरिकथा', 'पुराण', 'उपाहरणा', 'शतक', 'रेडियोरूपक', 'रिपोर्ताज', व्यंग्य-चित्र आदि अनेक साहित्य-रीतियोंमें ग्रन्थ-प्रणयन प्रचुर मात्रामें हो रहा है। देशके कोने-कोनेमें बिखरे हुए सैकड़ों प्रचलित लोकगीतों एवं स्त्रियोंके गीतोंको संकलित करनेमें नेदुनूरि गंगाधरम्‌ने प्रशंसनीय कार्य किया है।

[सहायक ग्रन्थ—आन्ध्र भाषा चरित्र : विद्वान् गण्टि जोगि सोमयाजि] —रा० मू० रे०

तोटक—वर्णिक छन्दोंमे समवृत्तका एक भेद। 'पिंगलसूत्र' (६ : ३२) तथा भरतके 'नाट्यशास्त्र' (१६ : ४१)के अनुसार, चार सगणोंसे यह वृत्त बनता है (IIS, IIS, IIS, IIS)। संस्कृतमें यह बहुत प्रचलित वृत्त है। विरहांकने इसका नन्दिनी (वृत्त०, ३ : २०) नाम दिया है। तुलसीने उत्तरकाण्डकी 'रामस्तुति' और 'कलिवर्णन'मे इस छन्दका प्रयोग किया है। इसका प्रयोग चन्द, केशव, सूदन तथा जोधराज आदिने किया है। इसका प्रयोग द्रुत गतिके कारण वीर रसके वर्णनमें अच्छा हुआ है। सूदनने अन्य वर्णनोंमे भी इसका प्रयोग किया है। वीर रसका उदाहरण—"जहँ हिन्दुअ साहि लरन्त रिनं। तहँ बान परैं बरसा सुघनं" (पृ० रा०, पृ० २०९१)। 'रामचन्द्रिका'मे स्फुट प्रयोग (२ : १६, ५ : ३, ५ : ११ आदि) है। तुलसी द्वारा इस छन्दका प्रयोग—"अबला कचभूषण भूरि छुधा। धनहीन दुखी ममता बहुधा। सुख चाहहि मूढ़ न धर्मरता। मति थोरि कठोर न कोमलता" (कलिवर्णन : उत्तरकाण्ड)। —पु० शु०

तोमर १—मात्रिक सम छन्दका एक भेद। भिखारीदासके 'छन्दोर्णव पिंगल'में इसका उल्लेख है। भानुके अनुसार यह १२ मात्राओंका छन्द है, जिसके अन्तमे ग ल (SI) होता है (छं० प्र०, पृ० ४४)। सम्भवतः इसका प्रयोग हिन्दीमें ही अधिक हुआ, क्योंकि 'प्राकृतपैंगलम्'में इसका उल्लेख नही है। हिन्दीके कवियोंमें तुलसी (रा० च० मा०), केशव (रा० चं०), सूदन (सु० च०), श्रीधर (जं० ना०) और रघुराज (रा० स्व०)ने किया है। इस छन्दका प्रयोग प्रायः वीर रसके प्रसंगमें युद्ध-वर्णनके लिए किया गया है। तुलसीने लंकाकाण्डमे इस छन्दका उपयोग युद्धके भयानक तथा वीभत्स दृश्यके चित्रणमें किया है। उदा०—"धरु मारु बोलहिं घोर, रहि पूरि धुनि चहुँ ओर। मुख बाइ धावहि खान, तब लगे कीस परान" (रा० च० मा०, ६ : १०१)

तोमर २—वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। हिन्दीमें यह छन्द मात्रिकरूपमे प्रचलित है, पर केशवने इसे वृत्त-रूपमें प्रयुक्त किया है, जिसमें सगण और दो जगणोंसे एक चरण बना है। 'प्राकृतपैंगलम्' (२ : ८६)में तोमर वृत्त ही माना गया है। दामोदर मिश्र (वा० भू०, २ : ९०) और देव (श० र०, प्र० १०)ने भी इसे वृत्त माना है। उदा०—"सुनि रामचन्द्र कुमार। धनु आनिये इक बार। सुनि वेग ताहि चढ़ाउ। जस लोक लोक बढ़ाउ" (रा० चं०, ५ : ३९)। —पु० शु०

त्रास—प्रचलित तैंतीसमेंसे एक संचारी। आकस्मिक भयसे उत्पन्न चित्तक्षोभको त्रास कहते है(प्र० रु० य०, पृ० २६०)। भरतके अनुसार वज्रपात, उल्कापात, मेघगर्जन, भयानक वस्तु अथवा पशुके दर्शनसे यह मनोवेग होता है। संक्षिप्त कम्पन, रोमांच, गद्गद वाणी इत्यादि अनुभावोंसे इसकी अभिव्यक्ति होती है (नाट्य०, ७ : ९१ ग)। सागरनन्दी एवं रामचन्द्र और गुणचन्द्रने इसको भयसे पृथक् बताया है। 'नाट्यदर्पण'के अनुसार विद्युत्पात, महाभैरवनाद एवं भयानक प्राणियों तथा शव इत्यादिके दर्शनसे जो आकस्मिक उद्वेगकारी मनःक्षोभ होता है, वह त्रास है, परन्तु अनर्थकी सम्भावनासे निरुत्साह होना भय है। दूसरे शब्दोंमे त्रास संचारी एवं भय स्थायी है, एक आकस्मिक तो दूसरा 'पूर्वापरके विचार'से उत्पन्न होता है। 'दशरूपक'मे इसका बहुत सुन्दर उदाहरण माघके 'शिशुपालवध' महाकाव्यके जलविहार वर्णनसे दिया गया है, जब कि तरुणियोंके जलमें रहनेपर पाससे उनको छूकर छोटी मछलियाँ जाती है तो उन्हे त्रास संचारी भाव होता है।

हिन्दीके रीतिकालके आचार्योंने उपर्युक्त लक्षणका अनुसरण किया है। देवने 'त्रास'की परिभाषा देकर 'भय'से उसका अन्तर भी स्पष्ट किया है—"घोर श्रवन दरसन सुमृति, तंभ पुलक भवगात। छोभ होइ जो चित्तमे, त्रास कहत कवि तात" और अन्तर है "अकसमात तें त्रास अरु विचार तें भयरीति" (भाव० : संचारी०)। अन्योंने इसी प्रकारका सामान्य लक्षण ही दिया है—"जहाँ कौन हूँ अहित ते, उपजत कछु भय आय" (जगत०, ५५६)।

प्रकृतिके उद्दीपक रूपसे नायिका सन्त्रस्त है—"कवि ग्वाल चमक अचानककी लखतै ललना मुरझाय गायीं-सी। थहराय गयी, हहराय गयी, पुलकाय गयी, पल न्हाय गयी-सी" (र० मं०, पृ० १५०)। इसी प्रकार 'काव्य-दर्पण'मे विद्यापतिसे एक उदाहरण प्रस्तुत किया गया है—"सखि परबोधि सपन तल आनी। पिय हिय हरष धयल निज पानी। छुइते राइ मलिन भै गेली। विधु करे कुमुदिनी मलिन मेली"। कृष्णके स्पर्शसे राधाके मलिन होनेमें 'त्रास'की व्यंजना है। —ज० कि० ब०

त्रिक—कश्मीर शैव साहित्यकी संज्ञा त्रिक है। यह त्रिक आगम-शास्त्र, स्पन्द-शास्त्र और प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र, इन तीनोंका बोध कराता है। साथ ही यह परा, अपरा और परात्परा इन तीन अवस्थाओका बोध कराता है। इसके अलावा शैव दर्शनके अभेद, भेद और भेदाभेद, तीन पक्षोंका द्योतन कराता है। यह इच्छा, ज्ञान और क्रिया-शक्तियों तथा पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी, तीन वाचाओंको भी संकेतित करता है। इसीलिए कभी-कभी कश्मीर शैव दर्शन 'त्रिक दर्शन'के नामसे भी आख्यात होता है। इस त्रिक दर्शनका सबसे बड़ा अनुशासन समरसता है। यह प्रकृतिको सांख्यकी तरह एकदम निरपेक्ष सत्ता नहीं देता और अद्वैत वेदान्तकी तरह निष्केवल ब्रह्मके रूपमें भी इसे नहीं स्वीकार करता है। यह मानवस्वभावके सभी पक्षोंको

निर्दिष्ट करनेका प्रयत्न करता है, क्योंकि इसके अनुसार चैतन्यस्वरूप होनेके कारण शिव प्रत्येक वस्तुके साथ तादात्म्य स्थापित कराके ज्ञान कराते है, अपनी शक्तिके साथ सदा लीलारत होनेके कारण प्रीति जगाते है तथा शक्तिके ऊपर वशी होनेके कारण अप्रतिहत इच्छाशक्ति भी पैदा करते है। —वि० नि० मि०

त्रिकाया–दे० 'चार काया'।

त्रिकुटी–दे० 'हठयोग'।

त्रिभंगी १–मात्रिक समछन्दका एक भेद। 'प्राकृतपैंगलम्'के अनुसार ही (१ : १९४) भानुने इसके प्रत्येक चरणमे १०, ८, ८, ६की यतिसे ३२ मात्रा मानी है तथा अन्तमें ग (ऽ)का निर्देश किया है (छं० प्र०, पृ० ७२)। यह छन्द अलंकृत छन्द कहला सकता है, क्योंकि इसके चरणकी प्रत्येक यतिपर यमकका प्रयोग 'प्राकृतपैंगलम्'मे ही स्वीकृत रहा है। इसका प्रयोग तुलसी (रा० च० मा०), केशव (रा० चं०), मान (रा० वि०), सदानन्द (रासालग०), सूदन (सु० च०), पद्माकर (हि० वि०), जोधराज (ह० रा०) तथा रघुराज (रा० स्व०)ने प्रधानतः किया है। तुलसीने इसके प्रत्येक चरणमे केवल १०, ८, १४पर यति तथा यमकका प्रयोग किया है और इसका एक सीमातक अनुसरण केशव तथा रघुराजने भी किया है—"परसत पद पावन, शोक-नसावन, प्रकट भई तप पुंज सही" (रा० च० मा०, १ : २११)। इस छन्दकी उतर-चढावके साथ चलनेवाली गति वर्णनोंमें क्षिप्रता अथवा भावावेग व्यक्त करनेके उपयुक्त है। तुलसीने स्तुतिमे इसका प्रयोग किया है। वीरकाव्योंमें वीर तथा सहकारी रौद्र और वीभत्स रसोंमें यह प्रयुक्त हुआ है—"फिरि फेरि झटकै, सॉग सटकै; मारु करै" (सु० च०, २ : ८)। सुन्दरने 'गुरुदेव-सतपदी', 'ब्रह्मविद्यांश अष्टक' तथा 'गुरु-कृपा अष्टक'मे प्रायः इसका उपयोग किया है। केशवने शृंगार रसमें भी इसका प्रयोग किया है—"नाचै नव नारी, सुमन शृंगारी, गति मनुहारी, सुख साजै" (रा० चं०)।

भानुके अनुसार त्रिभंगीके चौकलोंमें जगण (।ऽ।)का प्रयोग वर्जित होता है। जगणका प्रयोग होनेपर इस छन्द-का नाम **शुद्धध्वनि** होता है—"अति बल उदग्ग नृप, साह अग्ग जव, समर मग्ग चलि, खग्ग करै" (चिन्तामणि : भानु)। यमकका प्रयोग आवश्यक नहीं माना गया है। —सं०

त्रिभंगी २–मात्रिक छन्द भी होता है और दण्डक वर्णिक भी। मात्रिक त्रिभंगीमें ३२ मात्राएँ होती है, १०, ८, ८, और ६पर यति होती है तथा अन्तमें गुरु होता है। हिन्दीमें मात्रिक छन्दका ही विकास हुआ है। प्रार्थना-परक भाव तथा स्तुतिपरक भावोके लिए भक्तिकालमे इसका व्यवहार बहुत प्रचलित था। तुलसी, केशव आदि कवियों-का यह प्रिय छन्द रहा है। यों इसका प्रयोग पुष्पदन्त-(१० श० ई०)के काव्यमें भी मिलता है। त्रिभंगी अपभ्रंश-कालके मुख्य छन्दों यथा तोटक, तोमर, दोहाके साथ गिना जाता है। तुलसीदासकी स्तुतियोंमें इस छन्दका विशेष प्रयोग दिखलाई पड़ता है—यथा "परसत पद पावन, शोक नसावन, प्रगट भई तप पुंज सही" अथवा "भये प्रकट कृपाला दीन दयाला कौशल्या हितकारी" (रा० च० मा०, १)। वीर रसके वर्णनमे भी इसका प्रयोग हुआ है:—जोध-राजने 'हम्मीर रासो' तथा सूदनने 'सुजान चरित'मे : उदा०—"भुव लुट्टै उट्टै, जन ज्यों कट्टै, बाँधे मुट्ठै, रोस भरे" (सु० च०, २ : २ : १७)। सुन्दरने भी इसका प्रयोग 'गुरुदयासतपदी' आदि रचनाओंमे किया है।

त्रिभंगी दण्डककी लक्षण-योजनाके सम्बन्धमे पर्याप्त मत-भेद है। जयकीर्तिने 'छन्दोनुशासन' (अ० २ : २६८)मे त्रिभंगीका लक्षण दिया है—'नसभन तजनसय'। इस दृष्टि-से त्रिभंगी छन्द २७ वर्णका होता है। किन्तु 'छन्दप्रभाकर'-(पृ० २११)के अनुसार त्रिभंगी छन्दका लक्षण है न ६+ ससभमसग = ३४ वर्ण। वर्णिक त्रिभंगीका प्रयोग हिन्दीमें नहींके बराबर हुआ है। —ह० मो०

त्रिमार्ग-सिद्धांत–रीतिके स्थानपर कुन्तक (१०, ११ श० ई०)ने अपने 'वक्रोक्तिजीवित'में तीन मार्गवाला त्रिमार्ग-सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। कुन्तकने मार्गको काव्य-रचनामे प्रवृत्त होनेके हेतुरूपमे माना है। उनका कथन है कि "सम्प्रति तत्र ते मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः"। मार्गका आधार उन्होने देशविशेष या प्रादेशिक शैलीको न मानकर कविके स्वभावको स्वीकार किया है। कवि-स्वभावभेदसे ही काव्य-प्रस्थान या मार्गके भेद है, क्योंकि वे स्वभावको सर्वोपरि मानते है—'स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते'। स्वभाव तीन प्रकारके है—सुकुमार, विचित्र और मध्यम। इसीके आधारपर कुन्तकने सुकुमार, विचित्र और मध्यम, इन तीन मार्गोका निरूपण करते हुए त्रिमार्गका सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। मार्गके इस प्रकार निर्णयका तर्क देते हुए उन्होने कहा है कि काव्यकी कसौटी सहृदयोको आनन्द प्रदान करना है। अतः यदि एक रीति या मार्ग एक प्रदेश-के लोगोंको आनन्द दे सकता है तो सभी प्रदेशोके लोगोको आनन्द दे सकता है। दूसरे प्रदेशोके लिए दूसरा मार्ग या शैली निश्चित करना व्यर्थ है, अतः उन्होने सबको आनन्द देनेवाले सुकुमार मार्गको निश्चित किया—"सुकुमाराभिधः सोऽयं येन सत्कवयो गताः"। दूसरा मार्ग अरमणीय नहीं है। वह विचित्र विशिष्ट रमणीयतापर आधारित मार्ग है। इस प्रकार यह सिद्धान्त बड़ा तर्कसंगत सिद्धान्त है।

१. सुकुमार मार्ग—कुन्तकके मतानुसार सुकुमार सत्कवियोका मार्ग है। इसमे कविकी प्रतिभा नवीन शब्द-अर्थकी उद्भावना करती है। इसमें स्वल्पालंकारोंका मनो-हारी प्रयोग बिना प्रयत्नके होता है। यह स्वाभाविक वर्णन-सौन्दर्यसे युक्त रसादिका मंजुल समन्वय करनेवाला सहज कौशलसे युक्त होता है। यह मनको रमानेवाला, विधाताके रचनावैचित्र्यके समान प्रतिभासे उद्भूत नवनिर्माणकी शोभावाला मार्ग है। इस प्रकार भव्यता, सहज सौन्दर्य, सरसता, मधुरता, प्रतिभाजात चमत्कृति, रमणीय, अनायास रचित अलंकारोंकी शोभासे दीप्त सुकुमार वह मार्ग है, जिसमे सत्कवि चलते है, जैसे कि भौंरे प्रफुल्ल काननके मार्गमें। सुकुमार मार्ग माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभि-जात्य इन चार गुणोंसे सम्पन्न होता है।

२. विचित्र मार्ग—विचित्र मार्ग आलंकारिक मार्ग है। इस मार्गमे अलंकारोंकी छटाका आकर्षण और चमत्कार

साहित्य सम्बन्धी शोधकार्य करनेवालोंमें कोराड रामकृष्णय्य, निडदवोलु वेंकटराव, गिडुगु सीतापति गंटि जोगि सोमयाजि आदि हैं। कन्दुकूरि वीरेशलिंगमने 'आन्ध्र संस्कृतकविचरित्र' लिखा है। अनुवादके क्षेत्रमें काफी कार्य हुआ है, रवीन्द्र, शरत्, प्रेमचन्द आदिकी रचनाओंके अनुवाद हो चुके हैं। अनेक अंग्रेजी कृतियोंके अनुवाद भी हुए हैं। इनके अलावा एकांकी नाटक, 'हरिकथा', 'पुराण', 'उदाहरणा', 'शतक', 'रेडियो-रूपक', 'रिपोर्ताज', व्यंग्य-चित्र आदि अनेक साहित्य-रीतियोंमें ग्रन्थ-प्रणयन प्रचुर मात्रामें हो रहा है। देशके कोने-कोनेमें बिखरे हुए सैकड़ों प्रचलित लोकगीतों एवं स्त्रियोंके गीतोंको संकलित करनेमें नेदुनूरि गंगाधरमने प्रशंसनीय कार्य किया है।

[सहायक ग्रन्थ—आन्ध्र भाषा चरित्र : विद्वान् गण्टि जोगि सोमयाजि] —रा० सू० रे०

तोटक—वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। 'पिंगलसूत्र' (६ : ३२) तथा भरतके 'नाट्यशास्त्र' (१६ : ४१)के अनुसार, चार सगणोंसे यह वृत्त बनता है (।।S, ।।S, ।।S, ।।S)। संस्कृतमें यह बहुत प्रचलित वृत्त है। विरहांकने इसका नन्दिनी (वृत्त०, ३ : २०) नाम दिया है। तुलसीने उत्तरकाण्डकी 'रामस्तुति' और 'कलिवर्णन'में इस छन्दका प्रयोग किया है। इसका प्रयोग चन्द, केशव, सूदन तथा जोधराज आदिने किया है। इसका प्रयोग द्रुत गतिके कारण वीर रसके वर्णनमें अच्छा हुआ है। सूदनने अन्य वर्णनोंमें भी इसका प्रयोग किया है। वीर रसका उदाहरण—"जहँ हिन्दुअ साहि लरन्त रिनं। तहँ वान परैं बरसा सुवनं" (पृ० रा०, पृ० २०९१)। 'रामचन्द्रिका'में स्फुट प्रयोग (२ : १६, ५ : ३, ५ : ११ आदि) है। तुलसी द्वारा इस छन्दका प्रयोग—"अवला कचभूषण भूरि छुधा। धनहीन दुखी ममता बहुधा। सुख चाहहि मूढ़ न धर्मरता। मति थोरि कठोर न कोमलता" (कलिवर्णन : उत्तर-काण्ड)। —पु० शु०

तोमर १—मात्रिक सम छन्दका एक भेद। भिखारीदासके 'छन्दोर्णव पिंगल'में इसका उल्लेख है। भानुके अनुसार यह १२ मात्राओंका छन्द है, जिसके अन्तमें ग ल (S।) होता है (छं० प्र०, पृ० ४४)। सम्भवतः इसका प्रयोग हिन्दीमें ही अधिक हुआ, क्योंकि 'प्राकृतपैंगलम्'में इसका उल्लेख नहीं है। हिन्दीके कवियोंमें तुलसी (रा० च० मा०), केशव (रा० चं०), सूदन (सु० च०), श्रीधर (जं० ना०) और रघुराज (रा० स्व०)ने किया है। इस छन्दका प्रयोग प्रायः वीर रसके प्रसंगमें युद्ध-वर्णनके लिए किया गया है। तुलसीने लंकाकाण्डमें इस छन्दका उपयोग युद्धके भयानक तथा वीभत्स दृश्यके चित्रणमें किया है। उदा०—"धरु मारु बोलहिं घोर, रहि पूरि धुनि चहुँ ओर। मुख बाइ धावहि खान, तब लगे कीस परान" (रा० च० मा०, ६ : १०१)

तोमर २—वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। हिन्दीमें यह छन्द मात्रिकरूपमें प्रचलित है, पर केशवने इसे वृत्त-रूपमें प्रयुक्त किया है, जिसमें सगण और दो जगणोंसे एक चरण बना है। 'प्राकृतपैंगलम्' (२ : ८६)में तोमर वृत्त ही माना गया है। दामोदर मिश्र (वा० भू०, २ : ९०) और देव (श० र०, प्र० १०)ने भी इसे वृत्त माना है। उदा०—"सुनि रामचन्द्र कुमार। धनु आनिये इक बार। सुनि वेग ताहि चढ़ाउ। जस लोक लोक बढ़ाउ" (रा० चं०, ७ : ३०)। —पु० शु०

त्रास—प्रचलित तैंतीसमेंसे एक संचारी। आकस्मिक भयसे उत्पन्न चित्तक्षोभको त्रास कहते हैं(प्र० रु० य०, पृ० २६०)। भरतके अनुसार वज्रपात, उल्कापात, मेघगर्जन, भयानक वस्तु अथवा पशुके दर्शनसे यह मनोवेग होता है। संक्षिप्त कम्पन, रोमांच, गद्गद वाणी इत्यादि अनुभावोंसे इसकी अभिव्यक्ति होती है (नाट्य०, ७ : ९१ ग)। सागर-नन्दी एवं रामचन्द्र और गुणचन्द्रने इसको भयसे पृथक् बताया है। 'नाट्यदर्पण'के अनुसार विद्युत्पात, महाभैरव-नाद एवं भयानक प्राणियों तथा शव इत्यादिके दर्शनसे जो आकस्मिक उद्वेगकारी मनःक्षोभ होता है, वह त्रास है, परन्तु अनर्थकी सम्भावनासे निरुत्साह होना भय है। दूसरे शब्दोंमें त्रास संचारी एवं भय स्थायी है, एक आकस्मिक तो दूसरा 'पूर्वापरके विचार'से उत्पन्न होता है। 'दशरूपक'में इसका बहुत सुन्दर उदाहरण माघके 'शिशुपालवध' महा-काव्यके जलविहार वर्णनसे दिया गया है, जब कि तरु-णियोंके जलमें रहनेपर पाससे उनको छूकर छोटी मछलियाँ जाती हैं तो उन्हें त्रास संचारी भाव होता है।

हिन्दीके रीतिकालके आचार्योंने उपर्युक्त लक्षणका अनु-सरण किया है। देवने 'त्रास'की परिभाषा देकर 'भय'में उसका अन्तर भी स्पष्ट किया है—"घोर श्रवन दरसन सुमृति, तंभ पुलक भवगात। छोभ होइ जो चित्तमें, त्रास कहत कवि तात" और अन्तर हैं "अकसमात तें त्रास अरु विचार तें भयरीति" (भाव० : संचारी०)। अन्योंने इसी प्रकारका सामान्य लक्षण ही दिया है—"जहाँ कौन हूँ अहित तें, उपजत कछु भय आय" (जगन०, ५५६)।

प्रकृतिके उद्दीपक रूपसे नायिका सन्त्रस्त है—"कवि ग्वाल चमक अचानककी लखतें ललना मुरझाय गायी-सी। थहराय गयी, हहराय गयी, पुलकाय गयी, पल न्हाय गयी-सी" (र० मं०, पृ० १५०)। इसी प्रकार 'काव्य-दर्पण'में विद्यापतिसे एक उदाहरण प्रस्तुत किया गया है—"सखि परबोधि सपन तल आनी। पिय हिय हरष धयल निज पानी। छुइते राइ मलिन भै गेली। विधु करे कुमुदिनी नलिन मैली"। कृष्णके स्पर्शसे राधाके मलिन होनेमें 'त्रास'की व्यंजना है। —ज० कि० व०

त्रिक—कश्मीर शैव साहित्यकी संज्ञा त्रिक है। यह त्रिक आगम-शास्त्र, स्पन्द-शास्त्र और प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र, इन तीनोंका बोध कराता है। साथ ही यह परा, अपरा और परापरा इन तीन अवस्थाओंका बोध कराता है। इसके अलावा शैव दर्शनके अभेद, भेद और भेदाभेद, तीन पक्षों-का द्योतन कराता है। यह इच्छा, ज्ञान और क्रिया-शक्तियों तथा पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी, तीन वाचाओंको भी संकेतित करता है। इसीलिए कभी-कभी कश्मीर शैव दर्शन 'त्रिक दर्शन'के नामसे भी आख्यात होता है। इस त्रिक दर्शनका सबसे बड़ा अनुशासन समरसता है। यह प्रकृतिको सांख्यकी तरह एकदम निरपेक्ष सत्ता नहीं देता और अद्वैत वेदान्तकी तरह निष्केवल ब्रह्मके रूपमें भी इसे नहीं स्वीकार करता है। यह मानवस्वभावके सभी पक्षोंको

निर्दिष्ट करनेका प्रयत्न करता है, क्योंकि इसके अनुसार चैतन्यस्वरूप होनेके कारण शिव प्रत्येक वस्तुके साथ तादात्म्य स्थापित कराके ज्ञान कराते हैं, अपनी शक्तिके साथ सदा लीलारत होनेके कारण प्रीति जगाते हैं तथा शक्तिके ऊपर वशी होनेके कारण अप्रतिहत इच्छाशक्ति भी पैदा करते हैं। —वि० नि० मि०

त्रिकाया–दे० 'चार काया'।

त्रिकुटी–दे० 'हठयोग'।

त्रिभंगी १–मात्रिक समछन्दका एक भेद। 'प्राकृतपैंगलम्'के अनुसार ही (१ : १९४) भानुने इसके प्रत्येक चरणमें १०, ८, ८, ६की यतिसे ३२ मात्रा मानी है तथा अन्तमें ग (ऽ)का निर्देश किया है (छं० प्र०, पृ० ७२)। यह छन्द अलंकृत छन्द कहला सकता है, क्योंकि इसके चरणकी प्रत्येक यतिपर यमकका प्रयोग 'प्राकृतपैंगलम्'में ही स्वीकृत रहा है। इसका प्रयोग तुलसी (रा० च० मा०), केशव (रा० चं०), मान (रा० वि०), सदानन्द (रासालग०), सूदन (सु० च०), पद्माकर (हि० वि०), जोधराज (ह० रा०) तथा रघुराज (रा० स्व०)ने प्रधानतः किया है। तुलसीने इसके प्रत्येक चरणमें केवल १०, ८, १४पर यति तथा यमकका प्रयोग किया है और इसका एक सीमातक अनुसरण केशव तथा रघुराजने भी किया है—"परसत पद पावन, शोक-नसावन, प्रकट भई तप पुंज सही" (रा० च० मा०, १ : २११)। इस छन्दकी उतर-चढ़ावके साथ चलनेवाली गति वर्णनोंमें क्षिप्रता अथवा भावावेग व्यक्त करनेके उपयुक्त है। तुलसीने स्तुतिमें इसका प्रयोग किया है। वीरकाव्योंमें वीर तथा सहकारी रौद्र और वीभत्स रसोंमें यह प्रयुक्त हुआ है—"फिरि फेरि झटकै, सॉग सटक्कै, मारु करै" (सु० च०, २ : ८)। सुन्दरने 'गुरुदेव-सतपदी', 'ब्रह्मविद्यांश अष्टक' तथा 'गुरु-कृपा अष्टक'में प्रायः इसका उपयोग किया है। केशवने शृंगार रसमें भी इसका प्रयोग किया है—"नाचै नव नारि, सुमन शृंगारी, गति मनुहारी, सुख साजै" (रा० चं०)।

भानुके अनुसार त्रिभंगीके चौकलोंमें जगण (।ऽ।)का प्रयोग वर्जित होता है। जगणका प्रयोग होनेपर इस छन्दका नाम **शुद्धध्वनि** होता है—"अति बल उदग्ग नृप, साह अग्ग जव, समर मग्ग चलि, खग्ग करे" (चिन्तामणि : भानु)। यमकका प्रयोग आवश्यक नहीं माना गया है। —सं०

त्रिभंगी २–मात्रिक छन्द भी होता है और दण्डक वर्णिक भी। मात्रिक त्रिभंगीमें ३२ मात्राएँ होती हैं, १०, ८, ८, और ६पर यति होती है तथा अन्तमें गुरु होता है। हिन्दीमें मात्रिक छन्दका ही विकास हुआ है। प्रार्थना-परक भाव तथा स्तुतिपरक भावोंके लिए भक्तिकालमें इसका व्यवहार बहुत प्रचलित था। तुलसी, केशव आदि कवियोंका यह प्रिय छन्द रहा है। यों इसका प्रयोग पुष्पदन्त-(१० श० ई०)के काव्यमें भी मिलता है। त्रिभंगी अपभ्रंश-कालके मुख्य छन्दों यथा तोटक, तोमर, दोहाके साथ गिना जाता है। तुलसीदासकी स्तुतियोंमें इस छन्दका विशेष प्रयोग दिखलाई पड़ता है—यथा "परसत पद पावन, शोक नसावन, प्रगट भई तप पुंज सही" अथवा "भये प्रकट कृपाला दीन दयाला कौशल्या हितकारी" (रा० च० मा०, १)। वीर रसके वर्णनमें भी इसका प्रयोग हुआ है:—जोधराजने 'हम्मीर रासो' तथा सूदनने 'सुजान चरित'में : उदा०—"भुव लुट्टे उट्टे, जम ज्यों कट्टे, बाँधे मुट्टे, रोस भरे" (सु० च०, २ : २ : १७)। सुन्दरने भी इसका प्रयोग 'गुरुदयालसतपदी' आदि रचनाओंमें किया है।

त्रिभंगी दण्डककी लक्षण-योजनाके सम्बन्धमें पर्याप्त मतभेद है। जयकीर्तिने 'छन्दोनुशासन' (अ० २ : २६८)में त्रिभंगीका लक्षण दिया है—"नसभन तजनसय"। इस दृष्टिसे त्रिभंगी छन्द २७ वर्णका होता है। किन्तु 'छन्दप्रभाकर'-(पृ० २११)के अनुसार त्रिभंगी छन्दका लक्षण है न ६+ससभमसग=३४ वर्ण। वर्णिक त्रिभंगीका प्रयोग हिन्दीमें नहींके बराबर हुआ है। —ह० मो०

त्रिमार्ग-सिद्धांत–रीतिके स्थानपर कुन्तक (१०, ११ श० ई०)ने अपने 'वक्रोक्तिजीवित'में तीन मार्गवाला त्रिमार्ग-सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। कुन्तकने मार्गको काव्य-रचनामें प्रवृत्त होनेके हेतुरूपमें माना है। उनका कथन है कि "सम्प्रति तत्र ते मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः"। मार्गका आधार उन्होंने देशविशेष या प्रादेशिक शैलीको न मानकर कविके स्वभावको स्वीकार किया है। कवि-स्वभावभेदसे ही काव्य-प्रस्थान या मार्गके भेद हैं, क्योंकि वे स्वभावको सर्वोपरि मानते हैं—'स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते'। स्वभाव तीन प्रकारके हैं—सुकुमार, विचित्र और मध्यम। इन्हीके आधारपर कुन्तकने सुकुमार, विचित्र और मध्यम, इन तीन मार्गोंका निरूपण करते हुए त्रिमार्गका सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। मार्गके इस प्रकार निर्णयका तर्क देते हुए उन्होंने कहा है कि काव्यकी कसौटी सहृदयोंको आनन्द प्रदान करना है। अतः यदि एक रीति या मार्ग एक प्रदेशके लोगोंको आनन्द दे सकता है तो सभी प्रदेशोंके लोगोंको आनन्द दे सकता है। दूसरे प्रदेशोंके लिए दूसरा मार्ग या शैली निश्चित करना व्यर्थ है, अतः उन्होंने सबको आनन्द देनेवाले सुकुमार मार्गको निश्चित किया—"सुकुमाराभिधः सोऽयं येन सत्कवयो गताः"। दूसरा मार्ग अरमणीय नहीं है। वह विचित्र विशिष्ट रमणीयतापर आधारित मार्ग है। इस प्रकार यह सिद्धान्त बड़ा तर्कसंगत सिद्धान्त है।

१. सुकुमार मार्ग—कुन्तकके मतानुसार सुकुमार सत्कवियोंका मार्ग है। इसमें कविकी प्रतिभा नवीन शब्द-अर्थकी उद्भावना करती है। इसमें स्वल्पालंकारोंका मनोहारी प्रयोग विना प्रयत्नके होता है। यह स्वाभाविक वर्णन-सौन्दर्यसे युक्त रसादिका मंजुल समन्वय करनेवाला सहज कौशलसे युक्त होता है। यह मनको रमानेवाला, विधाताके रचनावैचित्र्यके समान प्रतिभासे उद्भूत नवनिर्माणकी शोभावाला मार्ग है। इस प्रकार भव्यता, सहज सौन्दर्य, सरसता, मधुरता, प्रतिभाजात चमत्कृति, रमणीय, अनायास रचित अलंकारोंकी शोभासे दीप्त सुकुमार वह मार्ग है, जिसमें सत्कवि चलते हैं, जैसे कि भौंरे प्रफुल्ल काननके मार्गमें। सुकुमार मार्ग माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य इन चार गुणोंसे सम्पन्न होता है।

२. विचित्र मार्ग—विचित्र मार्ग आलंकारिक मार्ग है। इस मार्गमें अलंकारोंकी छटाका आकर्षण और चमत्कार

प्रधान रहता है। सब अलंकारोंमें दूसरे अलंकार ढूंढ़े जाते हैं। यह मार्ग विचित्र शब्दार्थ-वक्रताकी रमणीयतासे जगमगाता रहनेवाला होता है। इसमें अतिशयोक्तिका विलास क्रीड़ा करता है। यह सहज और अनायास मार्ग न होकर यत्नसाध्य और कृत्रिम सजावटवाला मार्ग माना गया है। आलंकारिक अतिरंजना और उक्तिवैचित्र्य इसका प्राण है।

३. **मध्यम मार्ग**—सहज शोभावाले सुकुमार मार्ग तथा आहार्य (बनावटी) चमत्कारवाले विचित्र मार्ग, दोनोंकी विशेषताओंसे सम्पन्न मार्ग मध्यम मार्ग है। —भ० सिं०

त्रिवेणी—सन्तों द्वारा प्रयुक्त उपमानों, प्रतीकों और रूपकोंको ध्यानसे देखनेपर स्पष्ट होगा कि उनमें बहुतसे ऐसे हैं, जो परम्परासे किसी अर्थ-विशेषमें प्रयुक्त होते आये हैं और सन्तोंने उन्हें ठीक उसी अर्थमें ग्रहण कर लिया है। त्रिवेणी भी इसी तरहका शब्द है। 'हठयोग प्रदीपिका' (३, १०९)-मे इडाको गंगा और पिंगलाको यमुना कहा गया है। 'शिव संहिता'मे भी इन्हें गंगा-यमुना और इनके मध्यमे स्थित सुषुम्नाको सरस्वती बताया गया है। तीनोंका संगम ब्रह्मरन्ध्रमे होता है, जहाँ स्नान करने (लीन होने)से साधकोंको अवश्य मुक्ति मिल जाती है (७, १३१)। तीर्थादिको नकारनेवाले हठयोगियोंने सभी तीर्थोंकी कल्पना पिण्डके भीतर ही करली है, क्योंकि वे मानते हैं कि जो कुछ ब्रह्माण्डमे है, वह सारा-का-सारा पिण्डमें है। जिस प्रकार हिन्दू मानता है कि त्रिवेणीमें स्नान करनेपर अवश्य मुक्ति मिलती है, उसी तरह हठयोगी भी इड़ा, पिंगला और सुषुम्नाके संगमसे निर्मित त्रिवेणीकी वैसी ही महिमाका बखान करता है। तीर्थव्रतके प्रति अनास्थावान् सन्तोंके साहित्यमे बहुधा उल्लिखित त्रिवेणीका यही अर्थ है। —रा० सिं०

त्रैधातुक—बौद्ध-दर्शनमे धातु शब्दका लोकके अर्थमे प्रयोग मिलता है। धातुका शाब्दिक अर्थ है जो धारण करे (√धृ-धारण करना)। ये लोक-धातु तीन हैं—कामधातु, रूपधातु और आरूप्यधातु। इन्हींके समूहका नाम त्रैधातुक है। कामसम्प्रयुक्त धातु **काम-धातु** है। नरक, प्रेत, तिर्यक् (पशु-पक्षी) और मनुष्य—ये चार गतियाँ, देवगतिका एक प्रदेश और भाजन लोक, जिसमे प्राणी निवास करते हैं, कामधातुके अन्तर्गत आते हैं। कामधातुके ऊपर **रूपधातु** है। रूप भौतिक होनेके कारण स्थान-सम्प्रयुक्त होता है। बौद्ध शास्त्रोंमे इसके सोलह स्थान बताये गये हैं। इसमे चार ध्यान (या पाँच ध्यान, स्थविरवादियोंके अनुसार) होते हैं। चौथे ध्यानमें आठ भूमियाँ बतायी गयी है। **आरूप्यधातु** रूपसे हीन है। अतः अरूपी धर्मोंसे संसृष्ट होनेके कारण यह देश या स्थानसे सम्बद्ध नहीं है। यह चार प्रकारका बताया गया है—आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानानन्त्यायतन, आकिञ्चन्यायतन, नैवसंज्ञानाऽसञ्ज्ञानायतन।

हिन्दी साहित्यमें सिद्धोंने जहाँ जगत्के अनित्य स्वरूपका वर्णन किया है, वहाँ त्रैधातुककी ओर भी संकेत किया है। सम्पूर्ण त्रैधातुक उनके मतानुसार चित्तसम्भूत है। यह निश्चित रूपसे वैभाषिक और योगाचार सिद्धान्तोंका प्रभाव है। —क० शु०

त्रोटक—इसमें पाँच, सात, आठ या नौ अंकोंका विधान होता है। इसके पात्रोंमें मनुष्य और देवता दोनों रहते हैं। इसमें अंगी रस शृंगार रस और प्रत्येक अंकमें विदूषककी योजना की जाती है। शेष बातोंमें नाटकसे समानता रखता है। उदा०—'स्तम्भितरंभ' (७ अंक), 'विक्रमोर्वशीय' (५ अंक)। —वि० रा०

थीम—संवाद, सम्भाषण, प्रवचनका विषय, आधारभूत कार्य या चेष्टा अथवा वह सामान्य प्रकरण या विषय, जिसे कथा-विशेषके द्वारा उदाहृत किया गया हो। हिन्दीमे थीमको **कथासूत्र** कह सकते है। सी० ई० डब्ल्यू० एल० डाल्हस्ट्राम (द एनालेसिस ऑव लिटरेरी सिचुएशन)ने कथावस्तुको पाँच भागोंमे विभाजित किया है—(१) भौतिक, अर्थात् व्यूहाणु (मालीक्यूल्स)के रूपमे मानव, (२) अंगीय (आरगैनिक) अर्थात् प्ररसपिंड (प्रोटोप्लाज्म)के रूपमे मानव, (३) सामाजिक, अर्थात् सामाजिक प्राणीके रूपमे मानव, (४) अहंभूत, अर्थात् व्यक्तिके रूपमे मानव तथा (५) दैवी, अर्थात् आत्माके रूपमें मानव। इन मूल कथा-सूत्रोंके आधारपर कलाकृतियोंके नवीन प्रकारके विश्लेषणका मार्ग खुल गया है। डाल्हस्ट्रामने थीम (कथासूत्र)को विषय (सब्जेक्ट), स्थिति (सिचुएशन) और कथानकसे भिन्न बताते हुए उसे दिशानिर्देशक विचार, अभिप्राय या तात्पर्य, उपदेश या शिक्षा और निश्चितोक्ति कहा है (दे०—'उपन्यास', 'कहानी')। —स०

थीसिस—जिस प्रस्तावनाके प्रतिपादनका उद्देश्य यह हो कि उसे सिद्ध किया और तर्क द्वारा पुष्ट बनाया जायगा, उसे थीसिस कह सकते हैं। कभी-कभी प्रस्तावनाओं और मन्तव्योंमे निहित सत्य स्वतः प्रकट नहीं होता। उसके लिए व्याख्या करने और प्रमाण जुटानेकी आवश्यकता पड़ती है। इस रूपमे प्रस्तुत मन्तव्योंको थीसिसकी कोटिमें रखा जा सकता है। व्यापक दृष्टिसे तो किसी भी विशेष अथवा निश्चित विषयपर लिखे गये निबन्धको थीसिस कह सकते हैं, पर थीसिसका इन दिनों प्रचलित वास्तविक अर्थ है—अध्येता द्वारा किसी डिग्री या डिप्लोमाके लिए प्रस्तुत प्रबन्ध।

छन्दशास्त्र और तर्कशास्त्रमे भी थीसिसका प्रयोग होता है, पर लेखनके अन्तर्गत थीसिस व्यक्ति-विशेषके अन्वेषण और विचारका परिणाम है। साथ ही वह मानव-ज्ञानमे कुछ-न-कुछ योग देती है। थीसिसमे किसी समस्याका विवेचन और निदान होना चाहिये। थीसिस और पेपर, दोनोंमे व्यक्तिगत अन्वेषणका तत्त्व विद्यमान रहता है और सामान्य दृष्टिसे देखा जाय तो इन दोनोंमे केवल आकारका अन्तर जान पड़ता है, पर वास्तवमे ये दोनों अनुसन्धानके दो प्रकार है। थीसिस वह शोध है, जिसमें कोई केन्द्रीय स्थापना की गयी हो और जो किसी विषयपर नया प्रकाश डालती हो। थीसिसका उद्देश्य यह नहीं होता कि विषयसे सम्बद्ध सारी सामग्री एकत्रमात्र कर दी जाय, अपितु यह कि वैज्ञानिक अन्वेषणकी दृष्टिसे उस सामग्रीकी व्याख्या हो और विवेचन तथा विश्लेषणके बाद कोई शोधगत तथ्य ढूंढ निकाला जाय। अस्तु, थीसिसकी चार प्रमुख आवश्यकताएँ है—व्यक्तिगत अन्वेषण, विद्वत्तापूर्ण लेखनके सिद्धान्तोंको मान्यता देना, प्रामाणिकता और किन्हीं निश्चित निष्कर्षोंकी उपलब्धि।

अंग्रेजीमें डाक्टरकी डिग्रीके लिए प्रस्तुत प्रबन्धको डेजर्टेशन भी कहते है और थीसिस शब्दका उपयोग प्रायः एम० ए० कक्षाके लिए लिखे प्रबन्धके अर्थमे किया जाता है। इस दृष्टिसे डेजर्टेशन थीसिसकी अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण और गम्भीर प्रबन्ध माना जाता है पर हिन्दीमे थीसिस शब्दका प्रयोग एम० ए० और डाक्टरेट, दोनोके ही लिए लिखे गये प्रबन्धोके अर्थमे किया जाता है।

[सहायक ग्रन्थ—हिन्दी साहित्य : भोलानाथ। (परिशिष्ट क : १९३१—४७ तककी हिन्दी थीसिसोकी सूची); अनुसन्धानका स्वरूप : सावित्री सिनहा।] —अ० कु०

थेरगाथा–पालीका 'थेर' शब्द संस्कृतके 'स्थविर' वृद्ध शब्दसे निकला है। 'गाथा' शब्द संस्कृत तथा पाली, दोनोंमें ही समान रूपसे प्रयुक्त होता है (दे० 'गाथा' १)। यह शब्द संस्कृतकी 'गै' (गाना) धातुसे थन् प्रत्यय तथा स्त्रीलिंग प्रत्यय टाप् लगकर बना है। इस प्रकार 'थेरगाथा' शब्द स्थविरों अर्थात् वृद्ध, पुराने या प्राथमिक बौद्धोके गीतोंका बोधक है। ये गीत या छन्द साधनाके उन्नत सोपानोपर पहुँचे हुए बौद्ध सन्तोके मुखमे बलात् एवं अकस्मात् निकले हुए वचन है, जिनमे उनके अमूल्य अनुभव भरे हुए है। इसी प्रकार प्राथमिक बौद्ध साधिकाओके गीत **थेरीगाथा** कहलाते है। इन गाथाओका संग्रह **'थेरी-थेरीगाथा'** नामसे 'सुत्तपिटक'के 'खुद्दकनिकाय'के अन्तर्गत हुआ है। —आ० प्र० मि०

दकनी–(दे० दक्खिनी।)

दकनी साहित्य–(दे० 'दक्खिनी')।

दक्खिनी (दकनी, दखनी)–भाषा तथा साहित्यिक सन्दर्भमें इस शब्दका प्रयोग उस भाषाके लिए किया जाता है, जिसका प्रयोग दक्षिणके बहमनी वंश तथा बीजापुर, गोलकुण्डा और अहमदनगरसे सम्बन्धित मुसलमान कवियों और लेखकोंने साहित्यके क्षेत्रमें १५वीं शतीसे १८वीं शतीतक किया और जो इन राज्योंकी राजभाषाकी तरह सम्मानित थी तथा जो आज भी इन जिलोमे बसनेवाले ग्रामीण, अशिक्षित मुसलमानो द्वारा प्रयुक्त की जानेके कारण मुसलमानी नामसे प्रसिद्ध है।

दकनी या दक्खिनी शब्दका प्रयोग इन कवियोंने हिन्दी और हिन्दवी (मध्यकालीन विशिष्ट अर्थ)के समानार्थक रूपमें किया है। हिन्दी या हिन्दवीका दक्खिनी कहलाना केवल इन दक्खिनी राज्योंके सम्बन्धके कारण है, क्योंकि हिन्दी या हिन्दवी बोलनेवाले उत्तरके ये शासक या सैनिक (सूफी) दक्षिणमें बस गये थे। इस प्रदेशमे उस समय भी भारतीय आर्य भाषाकी मराठी अथवा द्राविड भाषाओकी तमिल, तेलुगु और कन्नड बोली जाती थी। उत्तरमे आये इन मुसलमानोने इन भाषाओको न अपनाकर बोलचाल तथा साहित्यमें उसी भाषाका प्रयोग किया, जिसे वे उत्तरसे लाये थे। ये मुसलमान शासक तथा सैनिक दिल्ली और मेरठक्षेत्रसे ही आये थे, अतएव इनके द्वारा प्रयुक्त भाषामें मध्ययुगीन खड़ीबोली और बाँगरूका नमूना सुरक्षित है।

दक्खिनका साहित्य हिन्दी साहित्यकी बहुत बड़ी निधि है। जिस समय उत्तरी भारतमे खड़ीबोली केवल बोलचालकी भाषा थी, उस समय दक्षिणमें इन राज्योका संरक्षण पाकर उसमे साहित्य लिखा गया। दक्खिनीके प्रथम ग्रन्थकार ख्वाजा बन्दानवाज (१३१८-१४३२ ई०) माने जाते है। इनका ग्रन्थ 'मिराजुल आशिकीन' खड़ीबोलीगद्यका प्राचीनतम नमूना है। दक्खिनीका पहला कवि निजामी था, जो बहमनी सुलतान अहमदशाह तृतीयके शासनकाल-(१४६०-६९)मे मौजूद था। 'कदमराव व पदम' पहली रचना है। मुल्ला वजहीका प्रसिद्ध गद्य ग्रन्थ १६३५ ई०मे लिखा गया। ग़व्वासीकी 'मसनवी सैफुलमुल्क' एवं 'बदीउज्जमाल' (१६२६ ई०) एवं 'तूतीनामा' (१६३९), वजहीकी 'उतुल मुश्तरी' (१६०९ ई०), इब्न निशातीकी 'मसनवी फूलबन' (१६५५ ई०) प्रसिद्ध काव्यकृतियाँ है। गोलकुण्डाके कुतुबशाही सुलतान खुद अच्छे कवि थे। मु० कुली कुतुबशाहकी रचनाएँ कुल्लियातके रूपमे प्रकाशित हो चुकी है। वली औरंगाबादी दक्खिनीके अन्तिम कवि और उर्दूके प्रथम कवि कहे जाते हैं।

दक्खिनीके कवि यद्यपि सभी मुसलमान थे, किन्तु किसीने क्या भाषा, क्या भाव, प्रत्येक क्षेत्रमे भारतीयता नहीं छोडी। लिपि केवल फारसी है। धार्मिक साहित्यमे अवश्य फारसी-अरबीके शब्द है, किन्तु आजकी उर्दूसे बहुत ही कम, जो है भी वे तद्भवरूपमे मिलते है। अनेक संस्कृत शब्द तत्सम और तद्भव रूपमे प्रयुक्त हुए है। इस साहित्यकी सबसे बडी विशेषता है कि यह राज्य-संरक्षण पाकर सब प्रकारसे प्रामाणिक साहित्य है।

[सहायक ग्रन्थ—दक्खिनी हिन्दी : बाबूराम सक्सेना।] —मा० ब० जा०

दक्षिण नायक–दे० 'नायक' (शृङ्गार)।

दग्धाक्षर–दे० 'वर्ण'।

दयावीर–दे० 'वीर रस'।

दरसनी–नाथ पन्थियोका मुख्य सम्प्रदाय गोरखनाथी योगियोका है। ये लोग कान फाड़कर उसमे 'दर्शन' नामकी मुद्रा धारण करते है, इसीलिए इन्हे कनफटा और दर्शनी साधु कहा जाता है। यह मुद्रा अनेक धातुओकी बनती है। हाथी दाँतकी भी। ये साधु दो प्रकारकी मुद्राएँ धारण करते है—कुण्डल और दर्शन। कुण्डलको 'पवित्री' भी कहते है। कुमायूँके योगी रुईके सूतका 'जनेव' भी धारण करते है। 'पवित्री'को ये इसी सूतमे बाँधे रखते हैं। पवित्री हरिणकी सीग या पीतल, ताँबा आदि धातुसे बनती है। इसीमे रुईके सफेद धागेसे 'सिंगीनाद' नामकी सीटी भी बँधी रहती है और रुद्राक्षकी एक मनियाँ भी लटकती रहती है। प्रातः और सन्ध्याकालीन उपासना तथा भोजनके पूर्व योगी लोग इसे बजाते है। सिंगीनादके बँधे रहनेके कारण 'जनेव'को 'सिंगीनाद जनेव' कहते है। योगी लोग मूँजकी रस्सीका कटिबन्ध भी पहनते हैं, जिसे 'मेखला' कहा जाता है। —रा० सिं०

दलगत मूल्य–दे० 'मूल्य'।

दलित वर्ग–यह समाजका निम्नतम वर्ग होता है, जिसको विशिष्ट संज्ञा आर्थिक व्यवस्थाओके अनुरूप ही प्राप्त होती है। उदाहरणार्थ दास-प्रथामे दास, सामन्तवादी व्यवस्थामे किसान, पूँजीवादी व्यवस्थामें मजदूर समाजका दलित वर्ग कहलाता है। —रा० कु० त्रि०

दसद्वार–शरीरके दस छिद्र—एक मुखका छिद्र, दो नासिका-के छिद्र, दो आँखे, एक पायुका छिद्र, एक उपस्थका छिद्र और एक ब्रह्मरन्ध्र । ये दस पिण्डस्थ द्वार हैं। सन्त जब एक महलके दस दरवाजोंका उल्लेख करते हैं तो उनका तात्पर्य शरीरके इन्हीं दरवाजोंसे होता है । ब्रह्मरन्ध्रके अर्थ-मे 'दसवें द्वार' शब्दका प्रयोग भक्तिकालीन साहित्यमें बहुत अधिक मिलता है । 'गढ़ तस बाँक जैसि तोरि काया' कहकर सिंहलगढ़का जो वर्णन जायसीने किया है (दे० पद्मावत, २१५), उसमे 'नौ पौरी'का अर्थ ब्रह्मरन्ध्रके अतिरिक्त अन्य द्वारो या छिद्रो से है और 'दसवँदुआर' स्वयं ब्रह्मरन्ध्र है। पद्मावत (२१६)मे जायसीने 'दसवँदुआर'-को तालवृक्षकी तरह ऊँचा बनाया है, जिसे देखनेके लिए दृष्टिको उलटा करना (अर्थात् १. दृष्टिको बाह्यदृश्योसे हटाकर अन्तर्मुखी करना, २. दृष्टि जो प्रकृतितः नीचे देखनेकी अभ्यस्त है, उसे ऊर्ध्वमुखी करना) आवश्यक है । —रा० सि०

दशक–दे० 'मुक्तक काव्य' ।

दशधा भक्ति–नवधा भक्तिमे प्रेमलक्षणा भक्तिके जुड जानेसे भक्तिके दस प्रकार हो जाते हैं (दे० 'प्रेमलक्षणा भक्ति', 'नवधा भक्ति') । —वि० मो० श०

दशम द्वार–दे० 'दसद्वार' ।

दाक्षिणात्या प्रवृत्ति–दे० 'प्रवृत्ति', चौथी ।

दादावाद–दादा या दादावाद आधुनिक यूरोपीय कलामे एक आन्दोलन था, जिसका आरम्भ १९१६ ई०में जूरिकमे हुआ । जीन आर्प (जॉ आर)ने अपने साथियोके साथ इस आन्दोलनका प्रवर्तन किया और यह प्रथम महासमरके पूर्व ही अपनी पराकाष्ठाको पहुँच गया । इसका संचालन और प्रचार 'कबरे वोल्त्येर', 'तीन सौ इक्यानवे', 'दादा' आदि पत्र-पत्रिकाओ और निहिलिस्त चित्र-प्रदर्शनियों द्वारा हुआ । कुछ जीवनसे जले-कटे तरुण-तरुणियाँ एकत्र हुए, जिनका कहना था कि जीवनने उनके साथ दगा किया है और उन्होंने इस संसारके इस अनैतिक स्वभावके भण्डाफोड़का बीड़ा उठाया । यह उन्होंने, सारे परम्परागत, तर्क, कला, संस्कृति आदिपर प्रहार कर, किया । चित्रमें आकस्मिक और अप्रत्याशितका आधान कर उन्होने कलामे एक नयी धारा प्रवाहित की । आर्प और अर्न्स्टके 'फातागागा' चित्र इसी परम्पराके हैं। उनका कलाके साधारण रसवादी सौन्दर्यसे कोई सम्बन्ध नहीं । अन्य भी अनेक रूपोसे उन्होने परम्परागत संस्कृतिका उपहास किया । जैसे लियोनार्दो द विचीके प्रसिद्ध चित्र 'मोनालीजा'में मोनालीजाके मूँछें बनाकर फिरसे चित्रित किया । दूशाँका चित्र 'चश्माँ' भी इसी प्रकारका था, जो वास्तवमें चश्मा या फव्वारा नहीं, मात्र मूत्रालय था और जिसे उसने १९१७ ई०मे नियोजित न्यूयार्ककी एक चित्रप्रदर्शनीमें प्रदर्शित किया था ।

दादावादका अतियथार्थवाद(दे०)से घना सम्बन्ध है । उसे समझे बगैर इसको समझ सकना जरा कठिन है, इससे उसपर भी दो शब्द यहाँ कह देना अनुचित न होगा । सुररियलिज्म या अतियथार्थवादमे साधारणतया परस्पर सम्बन्धित वस्तुओको एकत्र कर उनसे प्रजनित शुद्ध यथार्थसे ऊपर एक नये अतियथार्थका दर्शन किया जाता है । यह दादावादकी ही उत्तर-संज्ञा थी। दादावादके परम्परागत प्रहारको इसने और आगे बढ़ाया और साधारण सर्जनात्मक अंकनकी जगह अवचेतनको विशृंखलित कर स्वप्न अथवा सुषुप्त चेतनाको कलामे प्रतिबिम्बित किया । फिर भी इसने कला और साहित्यका विनाश न कर एक नये कलात्मक सर्जनकी व्यवस्था की । अतियथार्थवादियोंका दावा है कि हमारी सारी प्रकट क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ हमारे अवचेतन और अर्धचेतन स्वभावसे प्रभावित रहती हैं, जिन्हें रसरूपसे हम कलाधारमें व्यक्त कर सकते है । इस दृष्टिके बावजूद अतियथार्थवादी कृतियोंमे अनायास और आकस्मिक-अप्रत्याशितकी जगह असाधारणतया आयोजित कल्पनाका समावेश होता है । आकस्मिक और अप्रत्याशित उसमें केवल निरूपित वस्तुओं और चित्रित पदार्थों या विषयोंके सान्निध्यमे है, पर यह सान्निध्य स्वयं अत्यन्त चिन्तित व्यवस्थाका परिणाम होता है, नितान्त सचेत और तर्कसम्मत प्रयासका । अतियथार्थवादी चित्रणके विशेषतः दो प्रकार हमें आज उपलब्ध है । एकके प्रतिनिधि तो साल्वादोर दाली और तांगुईके चित्र है, जिनमे कालकी गति और स्वप्निल वातावरणका फैली अग्रभूमिमें प्रचुर समावेश होता है और जिसके अवयव नितान्त स्पष्ट और रंग साफ होते है । इसके दूसरे प्रकारके चित्रो(मासों और आर्पके बनाये)में प्रातिनिधिक रूपकी छाया कम, विकरालता अधिक होती है । इसमें प्रक्षिप्त वस्तुका रूप विकृत कर दिया जाता है ।

दादावादके प्रधान चित्रकार जीन आर्प और अर्न्स्ट मार्क्स है । आर्प (१८८८ ई०) अतियथार्थवादी दृष्टिकोणका चित्रकार, मूर्तिकार और सिद्धान्त-निरूपक है और उसका प्रभाव फ्रांस, जर्मनी और स्विट्जरलैण्डके चित्रकारोंपर गहरा है । वह प्रभाव अब अमेरिकाके कलाकारोंको भी वशीभूत कर चुका है । उसके चित्रणमें रूप अधिकतर काष्ठवत् होता है, जिसे वह विविध रंगोंके सम्पुंजनसे प्रस्तुत करता है । उसमें एक उपहासास्पद प्रवृत्ति होती है, जो अप्रत्याशित वस्तुओके एकत्रीकरणसे और भी घनी हो जाती है । अर्न्स्ट मार्क्स (१८९१ ई०) भी दादावादके प्रवर्तकों और अग्रणी चित्रकारोमें है । वह अपनी शैलीके दो लक्षणोंसे विशेष प्रसिद्ध हुआ है । इन लक्षणोंके अब विशिष्ट नाम पड़ गये है—कोलाज और फ्रोताज । कोलाजके माध्यमसे अर्न्स्टने प्रकट किया कि दो नितान्त असम्बन्धित क्षेत्रोंके विचार और रूप एकत्र कर दिये जानेपर एक सर्वथा अप्रत्याशित अनुभूति अभिव्यंजित कर सकते है । इस प्रकार वह कागजके ऊपर दो फोटोग्राफके टुकड़े पास-पास चिपकाकर उनके बीचकी जमीनपर रंग भरकर एक नया यथार्थ और वस्तु-तथ्य प्रस्तुत कर देता है, जो उन टुकड़ोंसे पृथक्तः द्योतित नहीं होता । कोलाजका अर्थ ही चिपकाना होता है । अर्न्स्ट और आर्पके दादावादी फातागागा-चित्र इसी परम्पराके है । इस प्रवृत्तिकी दूसरी टेकनीक फ्रोताज कहलाती है । फ्रोताजका अर्थ है (घर्षण द्वारा) रगड़ना । इस दृष्टिमें एक सिद्धान्त है । वह यह कि दादावादी मानता है कि काष्ठादिके कणोमें गति और रूप निहित है । इससे उसका विश्वास है कि जब वह उस पदार्थपर कागज रखकर उसपर ग्रेफाइटसे रगड़ता या घिसता है, तब वह कागजपर

मूल पदार्थका रूप-गतिक भाव खींच लेता है। अर्न्स्ट मार्क्सने दादावादके प्रचारमें जीन आर्पका बड़ा साथ दिया। फिर वह शुद्ध सुररियलिस्ट हो गया। वस्तुतः अतियथार्थवाद और दादावादमें बहुत कम अन्तर है, इसीसे अर्न्स्ट और आर्प दोनों अतियथार्थवादी भी कहे जाते हैं (दे०—'अतियथार्थवाद')।

[सहायक ग्रन्थ—सुररियलिज्म : स० हर्बर्ट रीड।] —भ० श० उ०

दादूपंथ—इस सम्प्रदायके संस्थापक सन्त दादू (१५४४-१६०३ ई०) थे। यह सम्प्रदाय ब्रह्म सम्प्रदाय या परब्रह्म सम्प्रदायके नामसे भी प्रसिद्ध है। दादूके सुप्रसिद्ध शिष्य सन्त कवि सुन्दरदास एवं रज्जब साहबने अपनी रचनाओंमे पारब्रह्म या परब्रह्म-सम्प्रदायका उल्लेख किया है। दादूके आदिगुरु स्वयं परब्रह्म थे। इसी कारण इसका नामकरण परब्रह्म-सम्प्रदाय हुआ। परशुराम चतुर्वेदीके मतसे इस सम्प्रदायका स्थापनाकाल १५७३ ई० है। क्षितिमोहन सेनके मतसे सम्प्रदायकी स्थापना दादूने गृहस्थ-जीवनमे प्रवेश होनेके अनन्तर की। 'दादू जन्म-लीला परची'से ज्ञात होता है कि इस सम्प्रदायका संस्थापन १५८३ ई०के निकट हुआ। दादूपन्थकी नाद-कुल-परम्परा बुड्ढनसे प्रारम्भ होती है। एच० एच० विल्सनके मतसे बुड्ढन सन्त कबीरके शिष्य थे। दादूने प्रस्तुत पन्थकी स्थापना अपने साथियोंकी मण्डलीमें आध्यात्मिक विषयोंपर चर्चाके द्वारा की थी। पन्थकी स्थापनाका प्रमुख उद्देश्य एवं आदर्श निम्नलिखित पदसे स्पष्ट हो जाता है—

"भाई रे, ऐसा पन्थ हमारा।
द्वैपष रहित पन्थ गहि पूरा, अवरण एक अधारा।
वाद विवाद काहू सौं नाहीं, माहीं जग थै न्यारा।
समदृष्टि सुभाइ सहज मैं, आपहि आप विचारा ॥१॥
मैं तैं मेरी यहु मति नाहीं, निर्वैरी निरकारा।
पूरण सबै दे पिया आपा पर, निरालंब निर्धारा ॥२॥
काहूके सँग मोह न ममिता, संगी सिरजनहारा।
मन ही मन सौं समझि सयाना, आनँद एक अपारा ॥३॥
काम कल्पना कदे न कीजै, पूरण ब्रह्म पियारा।
इहि पंथि पहुंचि परगहि दादू, सोतत सहजि सँभारा ॥४॥"

दादूपन्थकी विचारधारापर कबीरपन्थ(दे०), सूफी दर्शन, तथा उपनिषद् साहित्यका प्रभाव स्पष्ट रूपसे पड़ा है। 'दादू जन्म-लीला परची'से ज्ञात होता है कि सम्राट् अकबर, अबुलफजल, राजा भगवन्त सिंह, बीरबल, बुलन्द खॉं, जैमल, माधवदास आदि दादूपन्थके उच्चादर्शोंसे प्रभावित थे। दादूके निधनके अनन्तर अच्छे प्रचारकों और संघटन-कर्ताओंके अभावमे दादूपन्थका विकास कई उपसम्प्रदायोंमें हो गया। महन्त जेतरामके समयमें इस पन्थके अन्तर्गत उपसम्प्रदायोंका विकास हुआ। ये उपसम्प्रदाय हैं—खालसा, नागा, उत्तरगढी, विरक्त, खाकी। खालसाका केन्द्र नराने-में है। नागा सम्प्रदायके प्रवर्तक बड़े सुन्दरदास थे। उत्तर-गढीके संस्थापक बनवारीदास थे। विरक्त सम्प्रदायके अनु-यायी घूम-घूमकर दादूके उपदेशोंका प्रचार करते रहे, अतः इनका कोई एक विशेष स्थान नहीं है। खाकी भी विरक्तोंके समान भ्रमणशील है। १९११ ई०की जयपुर राज्य-जनसंख्यामे दादूपन्थियोंकी संख्या ७,०४१ उल्लिखित है। सन् १९२१ ई०की जनसंख्यामे दादूपन्थियोंकी संख्या ५,१४० मानी गयी है। परन्तु इन उल्लेखोंसे दादूपन्थकी जनप्रियताका ठीक-ठीक अनुमान नहीं हो सकता। दादूके प्रमुख शिष्योंकी संख्या ५२ है, जिनमें सुन्दरदास, रज्जब, गरीबदास, जगजीवन, बषनाजी, भिक्खिनीदास, बाजिदजी, फकीरदास आदि अपनी काव्यप्रतिभा एवं साधनाके कारण विशेष प्रसिद्ध हुए। पन्थके वर्तमान महन्तके अनुसार आज भी दादूपन्थियोंकी संख्या एक लाखसे कम नहीं है।

दादूपन्थमें जितने कवियोंका आविर्भाव हुआ, उतने निर्गुणधाराके किसी भी सम्प्रदायमें नहीं हुआ। दादूने स्वयं बीस सहस्र पद, साखियों और बानियोंकी रचना की। दादूके शिष्य सन्तदास एवं जगन्नाथदासने 'हरदेव-वाणी' नामसे एक काव्य-संग्रह किया है। जनगोपालने 'जीवन-परची'की रचना की। रज्जबने प्रायः ५,३५२ छन्दोंकी रचना की। 'बाणी' और 'सर्व्वांगी' इनकी दो प्रमुख रचनाएँ हैं। सुन्दरदासने बयालीस ग्रन्थोंकी रचना की। 'ज्ञानसमुद्र' और 'सर्वांगयोगप्रदीपिका' इनके श्रेष्ठ ग्रन्थ हैं। गरीबदासने ३३,००० छन्दोंकी रचना की। इन्होंने भी १५ ग्रन्थोंकी रचना की। राघोदास दादूके प्रमुख शिष्य थे। इनका 'भक्तमाल' बहुत प्रसिद्ध है। साधु निश्चल-दासके 'विचार-सागर'में वेदान्त और योगका प्रतिपादन हुआ है। बषना, जगजीवन आदिने भी महत्त्वपूर्ण छन्दोंकी रचना की। सुन्दरदास इस पन्थके सर्वश्रेष्ठ कवि थे। ये भाषा और व्याकरणके पण्डित थे।

दादूपन्थी साहित्यमें परमतत्त्व या ब्रह्म परमपद, निर्वाण, शून्य, सहज सत्य आदि नामों द्वारा अभिहित हुआ है। परमतत्त्व अनिर्वचनीय और प्रेमका प्रदर्शक है। वह जगन्मय और जगत् ब्रह्ममय है। ब्रह्म जगत्का निमित्त एवं उपादान है। वह सहज 'सुन्न' है, इसी सहज शून्यसे सूर्य, चन्द्र, आकाश, पृथ्वी, जल, पावक आदि उत्पन्न हुए हैं। उसने रहस्यमय विनोदके लिए संसारकी रचना की है। सृष्टिका कारण ओंकार है। सब घटोंमें एक ही आत्मा व्याप्त है। वह परमतत्त्व संसारका सर्वश्रेष्ठ सेवक है। वह वासनारहित होकर सबकी समान रूपसे सेवा करता है। वायु, सूर्य, चन्द्रादि उसीके सेवा-भावका अनुकरण किया करते हैं। साधकको इन्द्रलोक, सत्यलोक, शिवलोक, विहिश्त या परमपद इसी जीवनकालमे प्राप्त हो जाता है। जिस शरीरके संशय नष्ट हो गये हैं, वही जीवन्मुक्त है। बाह्याडम्बर त्याज्य और माया है।

काव्य-कलाकी दृष्टिसे दादू, सुन्दरदास और रज्जबका साहित्य महत्त्वपूर्ण है। दादू साखी-रचनामे बहुत कुशल थे और सुन्दरदास सवैया लिखनेमे। जगजीवन अरिल्लोंके लिए प्रसिद्ध हैं और रज्जब अपने पदोंके लिए। वेदान्त और उपनिषदोंका ज्ञान दादूपन्थियोंके साहित्यमे भरा पड़ा है। हिन्दी साहित्यके इतिहासमें दादूपन्थका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान है। सम्भवतः इतने उत्कृष्ट कवि हिन्दीसे सम्बन्धित किसी सम्प्रदायमे नहीं हुए। इनकी रहस्यानुभूति बहुत सुन्दर और प्रभावशाली है।

[सहायक ग्रन्थ—हिन्दी काव्यमे निर्गुण सम्प्रदाय :

पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, दादू : क्षितिमोहन सेन, सुन्दर दर्शन : त्रिलोकीनारायण दीक्षित।] —त्रि० ना० दी०

दानवीर–दे० 'वीर रस'।

दास्यरस–दे० 'भक्ति'।

दिवाभिसारिका–दे० 'अभिसारिका', नायिका।

दिवास्वप्न (day-dreams)–दिवास्वप्न आत्यन्तिक कल्पनाका एक रूप तथा मनुष्यके स्वभावका अंग है। वास्तविक जीवनमें कुण्ठित, निराश अथवा असफल व्यक्ति दिवास्वप्नोंके द्वारा अपनी दमित अथवा अतृप्त इच्छाओंकी पूर्ति करता है। छोटे बच्चे अपने प्रखर दिवास्वप्नों और वास्तविकतामें अन्तर नहीं कर पाते। किशोरावस्थामें हवाई किले बनाना और उनमें खोये रहना, एक सर्वव्यापी लक्षण है। बचपन और कैशोरमें दिवास्वप्न प्रायः तीन प्रकारके होते हैं—पोषित सन्तान, वीर नायक और अपनी मृत्यु सम्बन्धी। पहले प्रकारके दिवास्वप्नोंमें व्यक्ति यह कल्पना करता है कि उसके प्रस्तुत माता-पिता असली माता-पिता नहीं हैं, वे केवल उसके तत्कालीन अभिभावक हैं और असली माता-पिता श्रेष्ठतर तथा अभिजात कुलोत्पन्न हैं। वीरनायक सम्बन्धी दिवास्वप्नोंमें व्यक्ति अपनेको किसी युद्धमें विजेता अथवा विज्ञान, साहित्य, खेल आदिके क्षेत्र-में अन्यतम रूपसे सफल या किसीकी रक्षा करके लोगोंकी प्रशंसाका पात्र हो जानेकी कल्पना करता है। मृत्युविषयक दिवास्वप्नमें व्यक्ति कल्पना करता है कि मैं मर गया हूँ, सब सम्बन्धी और मित्र शवके पास खड़े रो रहे हैं और एक लम्बे जुलूसमें श्मशानकी ओर शवयात्रामें जा रहे हैं। इसके अतिरिक्त दिवास्वप्न यौन विषयों अथवा किसी भी महत्त्वाकांक्षाको लेकर हो सकते हैं। कविता, कथासाहित्य और चित्रकलामें दिवास्वप्नोंकी अभिव्यक्ति हमें प्राय: मिलती रहती है। —आ० रा० शा०

दिव्य १–'दिव्य'का अर्थ है शपथ लेना अथवा भोजपुरीमें 'किरिया लेना'। यह संस्कृत शब्द 'दैविकी क्रिया'का बिगड़ा रूप है, जो सतकी परीक्षाके लिए की जाती थी। 'दैविकी'का धीरे-धीरे लोप हो गया और मात्र 'किरिया' अपने अपभ्रंश रूपमें प्रचलित रहा। लोकसाहित्यमें दिव्य-का उल्लेख केवल स्त्रियोंके सतीत्वकी परीक्षाके सम्बन्धमें आता है। याज्ञवल्क्य और नारद-स्मृतियोंके मतसे दिव्य सूर्य उगनेपर अथवा पूर्वाह्णको देना चाहिए। 'किरिया लेने'के लिए लोकगीतोंमें छः प्रकारके दिव्योंका उल्लेख उपलब्ध है—अग्नि, आदित्य, जल, तुलसी, तैल और सर्प-दिव्य। जल दिव्य 'गंगा विचार', तैल दिव्य शास्त्रा-नुसार 'तप्तमाषदिव्य' और सर्प-दिव्य 'घटसर्प दिव्य' है। तुलसी और आदित्य-दिव्योंका स्मृतियोंमें उल्लेख नहीं है। प्रायः परदेशी पतिके लौटनेपर पत्नीके पातिव्रत धर्मका प्रमाण किरिया लेकर ही गीतोंमें दिया गया है। यही प्रथा कहीं-कहीं 'विचरवा लेना' भी कही जाती है। —श्या० प०

दिव्य २–कौल साधनामें तीन भाव माने जाते हैं:—दिव्य-भाव, वीरभाव और पशु भाव। और इन तीनों भावोंके अनुसार तीन प्रकारके साधक या अधिकारी होते हैं। दिव्य इनमेंसे उत्कृष्ट अधिकारी होता है। वीर मध्यम कोटिका और पशु विश्वनिन्दित अधम कोटिका। वीर साधक सहज ही आत्मा और परमात्माकी अद्वैतता या एकात्मकताको पहचान जाता है। जिस प्रकार दिव्याभाव सर्वोत्कृष्ट भाव है, वैसे ही दिव्य साधक सर्वोत्कृष्ट साधक है। यह साधककी अन्तिम और सर्वोच्च स्थिति है। पशु, सभाव पशु, विभाव पशु, वीर, सभाव वीर और विभाव वीर नामक क्रमशः उत्तर स्थितियोंसे गुजरता हुआ साधक यहाँ आकर जीवन्मुक्त हो जाता है। 'कुब्जिकातन्त्र'(अध्याय-७)में दिव्य साधकके लक्षण बड़े विस्तारसे बताये गये हैं। —रा० सि०

दिव्यानुभूति–रहस्यानुभूति, विलक्षण अनुभूति। दे० 'अनुभूति'।

दीपक–सादृश्यगर्भके गम्यौपम्याश्रयवर्गका एक अर्थालंकार, जो दीपक-न्यायपर आधारित है। एक स्थानपर रखा हुआ दीपक बहुत-सी वस्तुओंको प्रकाशित करता है। यह भरत-के समयसे स्वीकृत रहा है। भरतने वस्तुतः इसमें प्रस्तुत-अप्रस्तुत भाव स्वीकार नहीं किया है। उनके अनुसार दीपक एक क्रिया द्वारा भिन्न अधिकरण शब्दोंका चमत्कारी संयोगमात्र है। उद्भट तथा वामन आदिने दीपक अलंकार-में उपमानोपमेय भावका अन्तर्भूत होना आवश्यक माना है—"उपमानोपमेयवाक्येष्वेका क्रिया दीपकम्" (का० सू० वृ०, ४ : ३ : १८)। परन्तु रुद्रटके अनुसार दीपकके बन्ध-विन्यास,अर्थात् अनेक वाक्यार्थोंमें एक क्रियापद अथवा उनमें एक कारकपदकी रचनाका चमत्कार अपेक्षित है—"यत्रैकमनेकेषां वाक्यार्थानां क्रियापदं भवति। तद्वत्कारक-पदमपि तदेतदिति दीपकं द्विधा" (काव्यालंकार, ७ : ६४)। इसी आधारपर उन्होंने इसके भेद भी माने हैं। मम्मटने अपनी परिभाषामें उद्भट तथा रुद्रट, दोनोंके दृष्टिकोणका समन्वय किया है—"दीपक अलंकारमें प्रकृत और अप्रकृतके धर्मका एक बार कथन हुआ करता है तथा वहाँ भी, जहाँ एक ही कारकका अनेक क्रियाओंसे सम्बन्ध विवक्षित रहता है" (का० प्र०, १० : १०३)। मम्मटने प्राचीन आलंकारिकोंके निरूपित भेद आदि, मध्य आदिक नहीं माने हैं। विश्वनाथने प्रस्तुत-अप्रस्तुतके एक धर्मसे सम्बन्धित होनेका कथन करके मम्मटका अनुसरण ही किया है (सा० द०, ४९) तथा भेदोंके सम्बन्धमें भी दृष्टिकोण समान है। जयदेवने प्रस्तुत-अप्रस्तुतकी तुल्यता-को ही दीपक माना है (चन्द्रालोक, ५ : ५३)। जगन्नाथने दीपकको तुल्ययोगिताके अन्तर्गत स्वीकार किया है।

हिन्दीके आचार्योंने प्रायः 'चन्द्रालोक' तथा 'कुवलया-नन्द'के आधारपर इसे स्वीकार किया है—"बर्न्य अबर्न्यनि-को जहाँ, धरम होत है एक" (ल० ल०, १३५)। चिन्ता-मणि तथा कुलपति आदि कुछ ही आचार्योंपर 'काव्य-प्रकाश'का प्रभाव स्पष्ट है। दासका लक्षण भिन्न है—'एक सबद बहुमें लगे' (का० नि०, १८)। इसमें मम्मट तथा विश्वनाथके दूसरे भेदका भाव आ जाता है। उदा०—"और हू उपाय केते सहज सुढंग ऊधौ, साँस रोकिबे कौं कहा जोग ही कुढंग है। कुटिल कटारी है अटारी है उतंग अति, जमुना तरंग है तिहारौ सतसंग है" (अ० मं०)। यहाँ 'सतसंग' प्रस्तुतके साथ अटारी आदि अप्रस्तुतोंका 'स्वास रोकना' (मृत्यु)रूप एक धर्म कहा गया है। अथवा—"रहिमन पानी राखिये, बिन पानी सब सून।

पानी गये न ऊबरै, मुक्ता मानिक चून" (का० द०)।

आवृत्तिदीपक–जयदेवके अनुसार जहाँ दीपक पदोंकी आवृत्ति हो, वहाँ आवृत्तिदीपक होता है (चन्द्रालोक, ५ : ५४)। इसके शब्द, अर्थ तथा शब्दार्थकी आवृत्तिके तीन भेद भी माने गये हैं। हिन्दीके कई आचार्योंने इसे स्वीकार किया है—"जहँ दीपकमैं होत है आवर्तनको जोग" (ल० ल०, १३७) अथवा—'दीपककी आवृत्तिमैं' (पद्मा० ७७)। अन्य कुछने भिन्न रूपमें भी लक्षण दिया है—"दीपक पद-को अर्थ जहँ, फिरि-फिरि करत बखान" (शि० भू०, १३०) अथवा—'वहै सबद फिरि-फिरि फरै' (का० नि०, १८)। उदा०—"जागत हौ तुम जगतमें, भावेसिहकी बान। जागत गिरिवर कन्दरनि, अरिवर तजि अभिमान" (ल० ल०, ३८) अथवा—"सिव सरजा तव दानको, करि को सकत बखान। बढत नदीगन दान जल, उमड़त नद गजदान" (शि० भू०, १३१) तथा—"लाज भरे लाग भरे लाभ भरे लोभ भरे, लाली भरे लाड भरे लोचन हैं लालके" (अ० मं०, २७०)। इनमें क्रमशः शब्द, अर्थ तथा शब्दार्थकी आवृत्ति है। कई विवेचक पदावृत्ति (शब्दावृत्ति) दीपक तथा पदावृत्ति यमक और पदार्थावृत्ति अनुप्रासमे भेद नहीं मानते है। कुछका कहना है कि दीपकमें क्रियावाचक पद और पदके अर्थ, दोनोकी आवृत्ति होती है, यमक तथा अनुप्रासोंमे क्रियावाचक पद और पदार्थोंका नियम नहीं माना जाता। इसके अतिरिक्त दीपकमें क्रियाकी आवृत्ति मानी गयी है और यमकमे अक्रिया-पदोंकी आवृत्ति। फिर भी भेद स्पष्ट नहीं है।

कारकदीपक—मम्मट तथा विश्वनाथने दीपकका एक रूप माना है। दासके अनुसार—"एक भाँतिके वचन-कौ, काज बोहौत जहँ होइ"। इस अलंकारमें अनेक क्रियाओंका एक ही कर्ता कहा जाता है—"कहत नटत रीझत खिझत, मिलत खिलत लजियात। भरे मौनमैं करत है नैनन हीं सब बात" (बि० र०, ३२)। यहाँ नायिकाकी अनेक क्रियाओंका कथन है। इसी प्रकार—"किन्तु शिशिरमे ठण्डी साँसें हाय कहाँतक धारूँ? तन जारूँ मन मारूँ पर क्या मैं जीवन भी हारूँ" (साकेत, का० द०)।

मालादीपक—मम्मट तथा रुय्यकने इसका सम्भवतः सर्वप्रथम विवेचन किया है। मम्मटके अनुसार इसमें "पूर्व-पूर्व वर्णित वस्तु उत्तरोत्तर वर्ण्य वस्तुमे उत्कर्षका आधान करती प्रतीत" हो (का० प्र०, १० : १०४)। आगे चलकर इसके लक्षणमे 'दीपक तथा एकावली'का योग स्वीकृत हो गया (चन्द्रालोक, ५ : ८९) तथा 'कुवलयानन्द' और हिन्दीके प्रायः सभी आचार्योंने इसी लक्षणको अपनाया—"जहँ दीपक एकावली होत दुहुनिको जोग" (ल० ल०, २६१) अथवा 'दीपक एकावलि मिलें' (का० नि०, १८)। दास आदिने मम्मटके समान इसे दीपकके समीप रखा है, पर अन्योने जयदेवके अनुसार एकावलीके बाद। वस्तुतः वादकी परिभाषा प्रथमका विकासमात्र है, क्योंकि पूर्वकथित वस्तुओसे उत्तरोत्तरकथित वस्तुओंका एक धर्मसे सम्बन्ध दोनोंमे स्वीकृत है। उदा०—"जगकी रुचि ब्रजवास, ब्रजकी रुचि ब्रजचन्द हरि। हरि रुचि बंसीदास, बंसी रुचि मन बाँधिबौ" (का० नि०, १८) अथवा "नभमें सुन्दर बिजली-सी, बिजलीमें चपल चमक-सी। आँखोमे काली पुतली, पुतलीमे श्याम झलक-सी।' ('प्रसाद' : आँसू)।

दीपक तथा तुल्ययोगिताके अन्तरके सम्बन्धमे प्रथमनें एक या अधिक प्रस्तुत और एक या अधिक अप्रस्तुत पदार्थ समान धर्मसे सम्बद्ध होते हैं, जब कि दूसरेमे या तो प्रस्तुत या केवल अप्रस्तुत वस्तुएँ ही रहती हैं। इनमें अन्तर्निहित औपम्य माननेवालोके अनुसार दीपकमें उपमेय प्रस्तुत रहता है और उपमान (अन्तर्निहित रूपमें) अप्रस्तुत रहता है; तुल्ययोगितामें, क्योंकि एकमात्र प्रस्तुत या अप्रस्तुत रहते हैं, यह सुननेवालेकी इच्छापर निर्भर है कि किसको उपमेय माने और किसे उपमान। इसी प्रकार कारणमाला तथा मालादीपकमे पूर्वोल्लिखित तथा उत्तरोत्तर आनेवाली वस्तुएँ सम्बद्ध रहती हैं, परन्तु प्रथममे पूर्ववर्ती वस्तु आगे आनेवालीका कारण होती है, जब कि दूसरेमे यह सम्बन्ध विशेष रूपमे रहता है। —र०

दीप्ति–दे० 'अयत्नज अलंकार', तीसरा प्रकार।

दुःखवाद–दुःखवादका लक्षण—दे० 'सुखवाद'। ज्ञात इतिहासके आधारपर यह कहा जा सकता है कि सर्वप्रथम गौतमबुद्ध (जन्म ५४४ ई० पू०के लगभग)ने इस सिद्धान्तकी घोषणा की कि सब कुछ दुःख है (सब्बं दुक्खं–सर्व दुःखम्)। फिर इस लोकको ही दुःखलोक और मृत्युलोक (मृत्यु सबसे बड़ा दुःख है) माना गया। जरा और मरण घोर दुःख समझे गये। जरामरण बौद्ध धर्म तथा दर्शनमें दुःखसामान्य-का पर्याय बन गया। जन्म, इच्छा, तृष्णा आदि भी दुःख-रूप समझे गये। संक्षेपमें समस्त भौतिक और मानसिक प्रपंच दुःखस्वरूप समझ लिये गये। उपनिषदोंमे भी इतना कहा गया कि जो सान्त, अनित्य, नश्वर है, वह दुःख है और जो अनन्त, नित्य तथा अमर है, वह सुख है। बुद्धने किसी पदार्थको नित्य, अनन्त और अमर नहीं माना। अतः उनके मतसे सुख कुछ नहीं है और सब कुछ दुःख ही है। अनित्यवादी तत्त्ववादका ही नैतिक रूप दुःखवाद है। बुद्ध ने इस दुःखसे बचनेका मार्ग भी बतलाया, जो अष्टांग-साधना-पद्धतिके नामसे विख्यात है। सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म, सम्यक् जीविका, सम्यक् प्रयत्न, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि—ये आठ क्रमिक सोपान है, जिनसे दुःखोंकी निवृत्ति सम्भव बतलायी गयी है। इस निवृत्तिका नाम निर्वाण है। दुःख-अभाव होनेसे निर्वाणको सुख न समझ लेना चाहिये। यह दुःखकी शान्ति ही है, सुख नहीं। तत्त्वतः यह सुख-दुःखसे उदासीनता है।

बौद्ध दर्शनके दुःखवादने हिन्दू दर्शनोंको भी प्रभावित किया। सांख्यने प्रकृतिको ही त्रिगुणमयी बतलाकर सब वस्तुओंको सत्त्व (सुख), रज (दुःख) और तम(मोह)से निर्मित माना है। अतः शुद्ध सुख कहीं नहीं है। सर्वत्र दुःखमिश्रित ही सुख है। दुःख त्रिविध है—आध्यात्मिक (आधि-व्याधि), आधिभौतिक (जलना, गिरना, डूबना आदि), आधिदैविक (प्रेत-पिशाचका दण्ड)। इनसे मुक्त होना ही अपवर्ग या मोक्ष है।

मध्ययुगके सन्तोने भी दुःखवादको अपने वैराग्य-

वादकी भूमिका कहा है। जन्म-मरण, दोनों दुःखद हैं— 'जनमत-मरत दुसह दुख होई' (तुलसीदास)। आत्मा शरीरके कारण्वास भोग रही है। संसार, परिजन, मित्रजन, सभी दुःख देनेवाले हैं। इन्द्रियाँ दुःख देती हैं। जैसे हरिण अपनी श्रवणेन्द्रियके कारण मार डाला जाता है, पतिंगा अपनी दृष्टिके कारण दीपकमें जल मरता है, वैसे ही मनुष्य अपनी पाँचों इन्द्रियोंसे दुःख भोगता है। इस दुःखसे बचनेका एक ही उपाय है—वैराग्य। वैराग्यसे भगवद्भक्ति आती है, जो आनन्ददायिनी है। दुःखवादका फल वैराग्यवाद है और वैराग्यवादका फल आनन्दस्वरूपा भक्ति। भारतकी हिन्दू जनता यदि मध्ययुगमें ऐसा सोचती है तो अनुचित नहीं है, क्योंकि उस समय वह अपनी ऐहिक शक्ति खो बैठी थी और उसपर विदेशी मुसलमानोंका क्रूरतापूर्ण शासन था। उसके पास एकमात्र आनन्द वैराग्य और भगवत्-शरणागति थी। आज भी वैराग्यवादी जगज्जीवनके प्रति दुःखवादी है।

१९वीं शताब्दीमें जर्मनीमें शोपेनहार और हार्टमन प्रसिद्ध दुःखवादी हो गये हैं, जिनपर बौद्ध विचारधाराका प्रचुर प्रभाव पड़ा था। वर्तमान समयमें आस्वाल्ड स्पेंगलर पश्चिमका प्रसिद्ध दुःखवादी दार्शनिक है।

नित्य दुःखवाद और अनित्य दुःखवाद, ये दुःखवादके दो प्रकार हैं। नित्य दुःखवादमें दुःखका शमन कभी नहीं होता और अनित्य-दुःखवादमें दुःखकी शान्ति निर्वाण या मुक्ति मिलनेसे हो जाती है। दार्शनिक रूपमें नित्य-दुःखवादको कोई भी नहीं मानता है। बुद्ध निर्वाणमें, शोपेनहार विचारमें, हार्टमन युक्तिमें, आस्वाल्ड स्पेंगलर संस्कृतिके पुनर्जन्ममें तथा हिन्दू दार्शनिक भक्त मुक्तिमें, सभी दुःखोंका (शमन) अभाव मानते हैं, पर साहित्यजगत्में वियोग, शृंगार रस तथा करुण रसके कुछ लेखक नित्य-दुःखवादको मानते हैं। मैथिलीशरण गुप्तके 'साकेत'में उर्मिला नित्यदुःखवादी है। महादेवी वर्माके काव्यमें भी यही दुःखवाद मिलता है। इस साहित्यिक नित्य-दुःखवाद-का क्या प्रमाण है? लगता है, ग्रीक 'ट्रैजेडी' (दुःखान्त नाटकों)के आधारपर ही यह दुःखवाद बना है और इसके पीछे वही सिद्धान्त काम कर रहा है, जो ग्रीक 'ट्रैजेडी'के मूलमें है।

दुःखका सम्बन्ध त्याग तथा बलिदान से है और सुख का सम्बन्ध भोग तथा परिग्रह से। यदि भोग और परिग्रह मनुष्यको वासनाके स्तरपर रखते हैं तो त्याग तथा बलिदान उसे वासनासे ऊपर उठाते हैं और सयम तथा मर्यादाका मूर्तिमान पाठ पढ़ाते हैं। इससे जहाँ सुख मनुष्यके अधःपतनका हेतु है, वहाँ दुःख उसके उत्थान का। इस मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक सिद्धान्तसे लाभ उठाते हुए हिन्दी साहित्यकी प्रयोगशील धाराके कुछ लेखकोंने दुःखवादको एक रचनात्मक तथा प्रेरक शक्तिके रूपमें ग्रहण किया है। इन लेखकोंमें 'अज्ञेय'का नाम विशेष रूपसे महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने दुःखको शक्ति देनेवाला तथा आत्माका परिष्कार करनेवाला माना है। नयी कविताके कुछ अन्य वर्तमान लेखकोंने भी वेदना तथा दुःखको अपने चिन्तनमें महत्ता दी है, परन्तु ऐसा लगता है कि इन लेखकोंका दुःखवाद किसी दार्शनिक चिन्तनधारामें सम्बद्ध न होकर वर्तमान युगके संक्रान्तिकालीन विघटनसे प्रेरित है।

अनित्य-दुःखवाद दार्शनिक सत्य है। वस्तुतः यही दुःखवाद है। सुखवाद केवल अर्थ और कामको पुरुषार्थ मानता है तो दुःखवाद केवल धर्म और मोक्षको। सुखवाद ऐहिक भोग-विलासपर जोर देता है तो दुःखवाद आत्मिक विकासपर। सुखवाद प्रवृत्तिमार्ग है तो दुःखवाद निवृत्तिमार्ग। पहला भोगवाद है तो दूसरा वैराग्यवाद। सुखवाद क्षणिक आनन्दको लक्ष्य बनाता है तो दुःखवाद चिर आनन्दको।

सुखवादकी भाँति दुःखवाद भी एकांगी मत है। यह भी एक 'अन्त' या 'अति' है। दोनों असन्तुलित विचार-धाराएँ हैं। सुख और दुःख, दोनों एक द्वन्द्वके दो अंग हैं। दोनोंका अस्तित्व अन्योन्याश्रित है। एकके अभावमें दूसरेका भी अभाव होना अवश्यम्भावी है। सबसे अधिक उल्लेख-योग्य बात तो यह है कि दोनों क्षणिक, अनित्य और परिवर्तनशील हैं। संसार न सुखलोक है, न दुःखलोक; वह दोनोंका मिश्रण है। इस प्रसंगमें सांख्यमत बहुत न्यायसंगत है। मनुष्यके लिए दोनों आवश्यक हैं, यद्यपि वह दुःख नहीं चाहता। पर जैसा कि सुमित्रानन्दन पन्तने 'सुख-दुःख' शीर्षक कवितामें कहा है, सभीको दोनोंका सम्मिश्रण ही अभीष्ट है। दुःखके न रहनेपर, उसके अनुभूत न होनेपर, सुख भी वस्तुतः अनुभवमें नहीं रहेगा।

दार्शनिक तथा नैतिक दृष्टियोंसे उपर्युक्त साधारण समन्वयके अतिरिक्त सुखवाद और दुःखवादके द्वन्द्वका समाधान आनन्दवादमें होता है। दुःखवाद भी अन्ततः आनन्दमें परिणत होता है और सुखवाद तो आनन्दका वाद है ही। कमी उसमें यह है कि वह स्थायी आनन्दको छोड़कर क्षणिक आनन्दको ही अपना लक्ष्य बनाता है।

गीताने सुखवाद और दुःखवादका समन्वय अनासक्त कर्मवादमें किया है। यहाँ दुःखवादसे अनासक्तिका भाव ग्राह्य समझा गया और सुखवादसे कर्मकी प्रवृत्ति ली गयी। दोनोंको मिलाकर अनासक्तभावसे कर्म करनेका सिद्धान्त बना, जिससे सुखकी प्राप्ति भी होती है और जीवनके महान् मूल्योंका लाभ तथा सामाजिक मर्यादाका पालन भी होता है। गीताके इस निष्कर्मवादका भारतमें बहुत प्रभाव पड़ा। आधुनिक युगमें भी लोकमान्य तिलक, महात्मा गान्धी और विनोबा भावेने इसी मतका प्रतिपादन किया है।

[सहायक ग्रन्थ— न्यायकोश : भीमाचार्य झलकीकर।] —सं० ला० पा०

दुर्मल्लिका—इसमें चार अंक होते हैं। पहले अंकमें छः घड़ीका व्यापार रहता है और विटकी क्रीड़ा रहती है। दूसरे अंकमें विदूषकका वाग्विलास दस घडी तक चलता है। तीसरे अंकमें पीठमर्दका विलास बारह घडी तक चलता है। चौथे अंकमें नागरिक पुरुषोंकी बीस घडी तक क्रीडा रहती है। उसमें कैशिकी एवं भारती वृत्तियोंका प्रयोग होता है और गर्भसन्धिका अभाव रहता है। नायक निम्न जातिका होता है तथा पुरुष पात्रोंमें सभी चतुर होते हैं। उदाहरण-'विन्दुमती'। —वि० रा०

दुर्मिल सवैया–दे० 'सवैया', चौथा प्रकार।

दूतकाव्य–दे० 'पत्रगीति', 'गीतिकाव्य'।

दूती (नायिका)–शृंगाररसके उद्दीपन-विभावके अन्तर्गत दूती भी आती है—"सखी दूतिका जानिये उद्दीपनके भेद। नायक अरु नायिकाको हरै विरहको खेद" (म० रा० : र० रा०, २८७)। भरतने दूतीके विभाजनको ही प्रधानता दी है, पर उनका दृष्टिकोण भिन्न है (दे० 'सखी')। दूसरी ओर रुद्रभट्टने सखियोंके भेदोंमें दूतीको स्वीकार किया है तथा किंचित् अन्तरके साथ धनंजय, शारदातनय, शिंगभूपाल तथा विश्वनाथने दूतीके भेदोंमें तथा विद्यानाथने सहायाके भेदोंमे कुछ कम या अधिक, वही नाम दिये हैं। सामान्यतः संस्कृतके आचार्योंमें दूती और सखीके मौलिक भावमें अन्तर नहीं माना गया है। भानुदत्तने अवश्य दूतीकी विवेचना सखीसे स्वतन्त्र रूपमें की है। उनके अनुसार—"दौत्यव्यापारपारंगमा दूती" (र० मं०, ९७)। जो दूतकार्य करने में चतुर हो, उसे दूती कहा जायगा। उनके अनुसार सखीका भाव भिन्न है (दे० 'सखी')। दूतीके भावको हिन्दीके कवियो और लेखकोने प्रायः इसी रूपमें अधिक लिया है। कुछने सखीके विभाजनके अन्तर्गत दूतीको स्वीकार किया है और उनका विचार संस्कृतके अन्य आचार्योंके निकट है (दे० 'सखी')।

कृपारामने दूतीका विभाजन उत्तमा, मध्यमा तथा अधमामे किया है और इसका अनुसरण अधिकांशने किया है। **उत्तमा**–अपना कार्य मधुर चातुर्यसे निकालती है और इसके लिए पैर पडनेमें भी नहीं हिचकती। मतिरामके अनुसार—"मोहै जो मृदु बोलिकै मधुर वचन अभिराम" (र० रा०, ३००) और पद्माकरके अनुसार—"हरै सोच उचरै बचन मधुर-मधुर हित मानि" (ज० वि०, भा० २ : २८)। भानुने पद्माकरका उदाहरण प्रस्तुत किया है—'कान्ह कलिन्दीके निकट निरखि रहे हौ जाहि। आयी खेलन फाग वह तुमही सों चित चाहि" (वही, ३२)। **मध्या**–जो अपनी बातपर बल देकर कहती है और अपना कार्य मधुर तथा परुष व्यवहारसे निकालती है। वस्तुतः इसकी परिभाषामें मतिरामने जो 'हित' तथा 'अहित' वचनोंका उल्लेख किया है, उससे पद्माकरका कहना अधिक ठीक है—"कछुक मधुर कछु-कछु परुष कहै वचन जो आय" (वही, ३२)। पर मतिरामके कथनका भाव भानुकी परिभाषामे स्पष्ट होता है—"मध्या दूती हित अहित कहत सिखाई बात" (र० र०, पृ० ६५)। वस्तुतः वह हित-अनहित, दोनोंको समझाती है। मतिरामका उदा०—"रीझि रही रिझवारि वह तुम ऊपर ब्रजराज ! लाज सिन्धुकी इन्दिरा क्योंकर आवै हाथ ?" (र० रा०, ३०५)। **अधमा**—जो स्वभावसे उग्र होती है और कार्य साधनके लिए कठोर वचनोंका प्रयोग भी करती है। मतिराम उसे 'वचन कहत सतराय' कहकर भी उसकी 'ग्रन्थनको मति देखिकै' दूती मान लेते है और भानुने कहा है कि वह 'काज'के लिए 'कुपित वचन' कहनेवाली है। पद्माकरका उदा०—"कै गुमान गुणरूपके तैं न ठान गुन मान। मनमोहन चित चढ़ि रही तोसी किती न आन।' (ज० वि०, भा० २ : ३६)।

इन तीनो भेदोंके अतिरिक्त स्वयंदूतिकाका उल्लेख भी किया गया है। **स्वयंदूतिका**—जब नायिका अपने आप दूतकार्य करती है—"आपुहि अपनो दूतपन करै जो अपने काज" (वही : ४३)। उदा०—"मंजु महाछविकी कवकी यह नीकी निकुंज परी सब खाली। हौं इह बागकी मालिनि हौं इत आये भले तुम हौ वनमाली।" (वही, ४४)। तोष, रसलीन तथा गुलाबरायने दूतीके अन्य भेद किये हैं—हित, हिताहित तथा अहित, जो पहले भेदोके रूपान्तर हैं। दूतियोंके अन्य अनेक भेद भरत तथा संस्कृतके अन्य आचार्योंके आधारपर पेशेके अनुसार किये गये है। इस विभाजनको तोष, दास, वेनी प्रवीन, देव तथा श्यामसुन्दरदासने अपनाया है, पर इन्होंने संख्याएँ भिन्न स्वीकार की हैं। तोषने २६, दासने १८, वेनीने १०, देवने १३ तथा श्यामसुन्दर दासने ८ जातियोंकी दूतियाँ बतायी है।

दूतीकर्म–सखीके समान दूतीके कार्योंपर भी विचार किया गया है। जिन लेखकोंमे सखी तथा दूतीका विभेद स्पष्टतः स्वीकृत है, उनमे दूतीके कर्मोंका उल्लेख अलग और स्पष्ट हुआ है, अन्यथा दोनोंके कर्तव्योंमे स्थिति भ्रामक है। भानुदत्तके अनुसार—"संघट्टनविरहनिवेदनादीनि कर्माणि।' (र० मं०, पृ० १६२), अर्थात् संघट्टन तथा विरहनिवेदन, दूतियोंके दो कर्म हैं। केशव, देव तथा दासने इन भेदोंको सखियोंके कर्ममे माना है। परन्तु हिन्दीमे भी कवियोंने दूतीको स्वतन्त्र माना है, उन्होने इन दो भेदोंको स्वीकार किया है। **संघट्टन**का अर्थ मिलाना है, दूती नायक-नायिकाके मिलानेका सुयोग जुटाती है। पद्माकरके अनुसार—"दोउनको जु मिलाइबो सो संघट्टन मानि" (ज० वि०, भा० २ : ३८)। उन्हींका उदाहरण है—"गोरीको जु गोपालको होरीके मिस ल्याय। विजन साँकरी खोरिमे ढोऊ दिये मिलाय" (वही, ४३)। **विरह-निवेदन**—विरहका वर्णन करके संयोगकी परिस्थिति उत्पन्न करनेमे सहयोगी होना अथवा नायकके मनको प्रभावित करना। पद्माकर इसे 'विरहविथानि सुनाइबो' कहते है। उदा०—"को जिवावतो आजु लो बाढे विरह बलाय। होती मैं जु न तोहि-सी ताकी नेक सहाय" (वही, ४०)।

कृपारामने मर्मग्रहण (किसीके हृदयके रहस्यको जानना), संगदेन (साथ-साथ रहना), प्रतिज्ञा (मिलानेकी प्रतिज्ञा करना) अन्य भेदोंके साथ दिये है। रसलीन, भानु, 'हरिऔध' तथा 'गुलाबराय'ने स्तुति, विनय, प्रबोध और निन्दा दूतीके कर्म माने हैं, जिनमेसे प्रथम दोका उल्लेख केशव और देवके सखियोंके कर्मके अन्तर्गत हुआ है।

दृश्यपरिवर्तन–दे० 'रेडियो नाटक'।

दृश्य-श्रव्य–इन्द्रियों (चक्षुरिन्द्रिय और श्रवणेन्द्रिय)को ध्यानमे रखते हुए काव्यके दो भेद किये जाते हैं—**दृश्य काव्य** और **श्रव्य काव्य**। "दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्" (सा० द०)। दृश्य काव्य वह है, जिसका रसास्वादन मुख्य रूपसे चक्षुरिन्द्रिय द्वारा लिया जाता है। श्रव्य काव्यका आनन्द कानों द्वारा प्राप्त किया जाता है। यों तो दृश्य काव्यका आनन्द भी श्रवणेन्द्रिय

द्वारा लिया जा सकता है, पर दृश्योंके विधानके कारण चक्षुरिन्द्रिय द्वारा जो आनन्द उससे प्राप्त होता है, वह श्रवणेन्द्रिय द्वारा नहीं। दृश्य काव्य अपनी अभिनेयताके कारण विशेष महत्त्वपूर्ण रहा है। इसीको **रूपक** कहते हैं। रूपकमें रूपका आरोप किया जाता है, इसलिए इसे रूपककी संज्ञा दी गयी—'**तद्रूपारोपात्तु रूपकम्**' (सा० द०, ६ : १)। इसे स्पष्ट करते हुए टीकाकारने लिखा है कि नट (नाटकके पात्र)मे रामादिक काव्य-पुरुषोंका स्वरूप आरोपित किया जाता है और सामाजिकको उसमे 'यही राम है'का आरोपात्मक ज्ञान होता है।

दृश्य काव्यको हिन्दीमे **नाटक** कहते है। संस्कृतमे इसे प्रायः **रूपक** ही कहा गया है, क्योंकि नाटक रूपकका ही एक भेद है। —व० सिं०

दृश्यांतर–दे० 'रेडियो-नाटक'।

दृष्ट अद्‌भुत–दे० 'अद्‌भुत रस'।

दृष्टांत–सादृश्यगर्भके गम्यौपम्याश्रय वर्गका अर्थालंकार। शब्दार्थ है—प्रामाणिक निश्चयको देखना। प्रथम उद्भट तथा रुद्रटने इसका विवेचन किया है और इसके बाद मम्मट तथा रुय्यकके अनुसार "इस अलंकारमे उपमेय तथा उपमान, दोनो वाक्योंमे इन सबका (उपमान, उपमेय तथा साधारण धर्मका) बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव झलकता है।' (का० प्र०, १० : १०२)। विश्वनाथने संक्षेपमे केवल "वस्तुओंके समान धर्मका प्रतिबिम्ब-भाव-कथन" मान लिया है (सा० द०, १० : ५१)।

हिन्दीके आचार्योंने यही लक्षण जयदेव तथा अप्पय दीक्षितके आधारपर ग्रहण किया है—"पद समूह जुग धर्म जहँ, जिमि बिम्बहि प्रतिबिम्ब" (ल० ल०, १४५)। अथवा—"लखे बिम्ब प्रतिबिम्ब गति उपमेयोपमान।' (का० नि०, १८)। किसी-किसीने मम्मटके साधर्म्य तथा वैधर्म्यके आधारपर दो भेद माने है। उदा०—"कान्हर कृपा कटाक्षकी करै कामना दास। चातक चितमें चेत ज्यौं, स्वाति बूँदकी आस" (का० नि०, ८) अथवा—"निरखि रूप नँदलालको, दृगनि रुचै नहि आन। तजि पियूष कोऊ करत, कटु औषधिको पान" (पद्मा० : ८३)। यहाँ साधर्म्यका दृष्टान्त है। इसी प्रकार वैधर्म्यका उदा०—"भवके ताप रहै तबलौं नरके दृढ मूल बने हिय माहीं। तब पंकज कोस छिप्यौ तमतोम कहौ वह देत कहा दिखराई" (अ० मं०, २८०)। यहाँ पूर्ववाक्यमें तापकी स्थिति और उत्तरवाक्यमें (उपमान) तमका अभाव कहकर बिम्ब ग्रहण कराया गया है।

दृष्टान्त तथा प्रतिवस्तूपमाका अन्तर स्पष्ट है, प्रथममे उपमेय-उपमान-वाक्योंमे अलग-अलग समान धर्मका कथन होता है और द्वितीयमें एक ही समान धर्म शब्दभेदसे कहा जाता है। दृष्टान्तका बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव प्रतिवस्तूपमामे नही रहता। अर्थान्तरन्यासमें सामान्यका विशेषसे या विशेषका सामान्यसे समर्थन होता है, जब कि दृष्टान्तमें दोनों ही सामान्य या दोनों ही विशेष होते हैं। —शि० प्र० सिं०

दृष्टांतकाव्य–यूरोपीय साहित्यमें तीन काव्यरूप—'एलीगरी', 'फेबिल' और 'पैरेबिल' ऐसे हैं, जिनमे परस्पर बहुत कम भेद है। इसी कारण इन सबको प्रायः 'एलीगरी'के अन्तर्गत ही मान लिया जाता है। जिस व्यापक अर्थमें एलीगरी शब्दका अंग्रेजीमें व्यवहार होता है, उसे हिन्दीमे रूपक-कथा कहा जा सकता है। पर सीमित अर्थमें एलीगरी वह कथा होती है, जिसमें पात्र अशरीरी हों या सूक्ष्म भाव, गुण या प्रवृत्ति-रूप होते है, जिनका मानवीकरण किया जाता है। ऐसी कथाको **प्रतीककथा** कहते है। फेबिलको **उपदेशकथा** कहना चाहिये, क्योंकि उसमें पशु-पक्षी या वृक्षोंको भी पात्र बनाकर उपदेशात्मक कथा कही जाती है। पैरेबिलको दृष्टान्तकथा या **उपमितकथा** कह सकते है। उसमें पात्र तो प्रायः मानव होते है और उसकी घटनाएँ किसी नीति, धर्म या आचार सम्बन्धी सिद्धान्तके प्रतिपादनके लिए दृष्टान्तरूपमें नियोजित होती है। संस्कृतमें 'प्रबोधचन्द्रोदय', 'मोहराजपराजय' आदि और हिन्दीमे 'प्रसाद'के 'कामना' और 'एक घूँट' प्रतीकात्मक नाटक है। 'पंचतन्त्र' और 'हितोपदेश'की कथाओं तथा 'महाभारत'मे प्राप्त पशु-कथाओंको उपदेशकथा मानना चाहिये, क्योंकि उनके पात्र पशु-पक्षी है। पाली-साहित्यमे 'जातक-कथाएँ' और संस्कृतमें सिद्धर्षिकी 'उपमितभव-प्रपंचकथा' दृष्टान्तकथा या उपमितकथा है। यूरोपीय साहित्यमे प्रतीक और दृष्टान्त-कथाएँ गद्य-बद्ध और पद्य-बद्ध, दोनों प्रकारकी होती थी, पर संस्कृतमे वे गद्यात्मक रूपमें ही अधिक मिलती है, पद्यबद्ध काव्यके रूपमें नहीं। इसी तरह दृष्टान्तकाव्य या उपमित-काव्यका हिन्दीमे भी अभाव है (दे० 'प्रबोधक काव्य')। —शं० ना० सिं०

दृष्टि–बरटेंड रसेलने एक स्थानपर लिखा है कि 'देखना क्या होता है? देखनेकी क्रिया बहुत उलझी हुई है। जिसे हम वस्तु (आब्जेक्ट) कहते है, उसमेंसे सब ओरसे प्रकाश-लहरियाँ निकलती और दौड़ती रहती हैं। जिस वातावरण-मेंसे वे प्रकीरित होती है, जिस क्षेत्रफलमें वे चलती है, उन सबकी अपेक्षासे इन प्रकाश-लहरियोंमे बहुत आन्तरिक परिवर्तन घटित होते रहते है। इन प्रकाश-लहरियोंकी अन्तिम मंजिल है मेरे अन्तर्नेत्रके रेटिनापर आकर टकराना। यहाँसे 'आप्टिक नर्व'की दूसरी क्रिया शुरू होती है, जो कि शारीरिक है। इसके आगे जो होता है, उसके बारेमें निश्चित कुछ कहना कठिन है, क्योंकि एक मानसिक क्रिया शुरू होती है, जिसमे पूर्वानुभूति भी संचित रहती है"। साधारण आँखोंकी दृष्टि जब इतनी उलझी हुई क्रिया है तो साहित्यमें जब यह शब्द प्रयुक्त होता है तो वह अनेक विभिन्न अर्थोंमें आता है।

'दृष्टि' कविको अपेक्षामे किसी विषयमें उसकी पैठ है। सूरकी अन्तर्दृष्टिकी प्रशंसा की जाती है। चर्म-चक्षु न होनेपर भी बाल-लीलाओका ऐसा सूक्ष्म वर्णन! क्या यह 'कल्पनाकी आँख' तो नहीं है। 'पेनेट्रेशन'से 'इनसाइट' और 'विजन'तक यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। कविको जब उपनिषदोंने द्रष्टा कहा तो इसी अर्थमे कि वह त्रिकालदर्शी है। वह भूतकालको वर्तमानमे सजीव करके सामने उपस्थित कर देता है तो भविष्यत्को भी मुट्ठीमें हस्तामलकवत् देखता है।

समीक्षाके क्षेत्रमें जब समीक्षक लेखक या कविके हेतुको

नहीं समझ पाता, लेखककी दृष्टिमे गहराईसे देख नहीं पाता, उसके रूप-रंग, रेखाओंका आकलन नहीं कर सकता, तब कहते हैं कि समीक्षककी दृष्टि पैनी नहीं है, ऊपरी-ऊपरी है या उसने अमुक रंगका चश्मा पहन रखा है। इसीलिए सत्य-शोध या 'सत्य-प्रेम' (फिलो+सौफी)को हमारे यहाँ 'दर्शन' कहा गया। साहित्य अथवा अन्य कला-सृष्टियोंमे सौन्दर्यका जो दर्शन होता है, वह ऐसी ही अन्तरानुभूतिसे, दिव्य-दृष्टि या 'इंट्यूशन'से। क्रोचेका भी यही विचार है, जिसके आधारपर वह साम्यवादियोंका आलोचक बना। अब इस दृष्टिपर कहाँतक पूर्व-कल्पनाओंका जोर हो, यह बहुत मतभेदका प्रश्न है। राजशेखरसे लगाकर टी० एस० इलियटतक इस विषयमें कई प्रकारके अनुमान किये गये है। —प्र० मा०

देवघनाक्षरी–मुक्तक दण्डकका एक भेद। ३३ वर्णोंका यह घनाक्षरी वृत्त है। सर्वप्रथम देवने इस छन्दका प्रयोग किया था और उन्हींके नामपर इस वृत्तका 'देवघनाक्षरी' नाम पड़ गया। उसके पूर्व ३१, ३२ वर्णतकका ही घनाक्षरी वृत्त होता था। अपनी ध्वन्यात्मकता और नाद-व्यंजनाके कारण परवर्ती कवियोंमे यह बहुत लोकप्रिय रहा, देवका तो यह प्रिय छन्द रहा ही—"झिल्ली झनकारैं पिक चातक पुकारैं बन मोरिन गुहारैं उठैं जुगुनू चमकि चमकि"। देवके अतिरिक्त किसी अमरनाथने भी ३३ अक्षरोंका दण्डक वृत्त माना है। 'काव्यरसायन'में देवने जिन चार प्रकारके अनियत-दण्डक दण्डकोंका भेद किया है, उनमेंसे ३० वर्णवाले और ३३ वर्णवाले कवित्त देवकी प्रतिभाके द्योतक हैं। पूर्ववर्ती आचार्योंने केवल ३१ वर्ण और ३२ वर्णके दण्डकोंका वर्णन किया था। देवने उनमें यह संशोधन किया कि ३१ वर्णवाले दण्डकमे एक अन्तिम अक्षर कम देनेसे तीस वर्णका दण्डक बन जायगा और ३२ वर्णवालेके अन्तमें एक वर्ण बढ़ा देनेसे ३३वर्णवाला कवित्त बन जायगा। इन दोनों कवित्तों (तीस वर्णवाले कवित्त)मे १६-१४पर यति होगी, जब कि ३१ वर्णवालेमें १६-१५पर यति होगी, अन्तका कम करनेसे ही पूर्व-वर्ती वर्णोंपर कोई प्रभाव नही पड़ता, उसी प्रकार ३२ वालेमें एक अक्षर बढ़ा देनेसे यतिका नियम १६-१७का हो जायगा। ऐसा नियम जगन्नाथदास 'रत्नाकर'ने 'घनाक्षरी-नियम-रत्नाकर' (पृ० १९)मे दिया है, जब कि 'छन्द प्रभाकर'में भानुने देवघनाक्षरीका नियम ८, ८, ८, ९पर यति और अन्तिम तीनों वर्णोंका लघु होना बतलाया है (पृ० २२१)। किन्तु इस नियमकी व्यापकता अन्तिम तीनों-को लघु मान लेनेसे कम हो जाती है, अतः 'रत्नाकर'का नियम ही विशेष मान्य होना चाहिये। उदा० (१)— "रतियाँ अँधेरी धीर तिया न धरत, मुख बतियाँ कढ़ति उठैं छतियाँ तपकि तपकि" (देव : श० र०, पृ० १५९), (२) —"झिल्ली झनकारैं पिक चातक पुकारैं बन, मोरनि गुहारैं उठैं जुगुनू चमकि चमकि" (जसवन्त सिंह)। —ह० मो०

देवनागरी–हिन्दी, संस्कृत तथा मराठी भाषाएँ देवनागरी लिपिमें लिखी जाती हैं। भारतवर्षकी प्राचीनतम राष्ट्रीय लिपि ब्राह्मीकी यह प्रतिनिधि उत्तराधिकारिणी लिपि कही जा सकती है।

ब्राह्मीका प्रचार भारतमें लगभग ३५० ईसवीतक रहा। इस समयतक उत्तर और दक्षिणकी ब्राह्मी लिपिमे पर्याप्त अन्तर हो गया था। दक्षिणकी शैलीमे दक्षिणभारतकी लिपियाँ विकसित हुई तथा उत्तरभारतकी शैली गुप्त-लिपि और कुटिल-लिपिमे परिवर्तित होती हुई देवनागरी तथा उत्तरभारतकी अन्य लिपियोंके रूपमें विकसित हुई।

नागरी अथवा देवनागरी लिपिका प्रयोग उत्तरभारतमे दसवीं शताब्दीके प्रारम्भसे मिलने लगता है। बारहवीं शताब्दीतक यह पूर्णतया विकसित हो गयी थी। अन्य भारतीय लिपियोंके समान देवनागरी लिपि भी बायेंसे दाहिनी ओरको लिखी जाती हैं।

देवनागरीमे लगभग ४५ मूल लिपिचिह्न हैं। स्वरोंके मात्राचिह्न तथा अंकोंके चिह्न इनसे पृथक् हैं। कुछके आधारपर नयी ध्वनियोंके लिए नये लिपिचिह्न भी बनाये गये हैं। देवनागरीके व्यंजन-चिह्नोंमे ह्रस्व 'अ' ध्वनि भी सम्मिलित रहती है, अर्थात् यह वर्णमाला अक्षरप्रधान है, ध्वनिप्रधान नहीं है।

देवनागरी वर्णमाला संस्कृत ध्वनियोंके वैज्ञानिक क्रमके आधारपर वर्गीकृत है, यद्यपि आजके उच्चारणोंमे कुछ अन्तर अवश्य हो गये हैं। इसी दृष्टिसे यह अत्यन्त वैज्ञानिक लिपि मानी जाती है। लिपिचिह्नोंके आकारकी दृष्टिसे यह बहुत सरल अथवा वैज्ञानिक नहीं मानी जा सकती।

छपाई तथा टाइपराइटर आदि मशीनोंके सुभीतेकी दृष्टिसे इसमें कुछ सुधार करनेके प्रश्नपर बहुत विचार होता रहा है। कुछ छोटे-छोटे परिवर्तन प्रयोगस्वरूप किये भी गये हैं, किन्तु कोई सर्वसम्मत सुधरा हुआ रूप अभी स्थिर नहीं हो सका है। —धी० व०

देवी (गोपी)–दे० 'गोपी'।

देश-काल–कथात्मक साहित्यमे वर्णित कार्योंकी वास्तविकता की प्रतीति करानेके लिए उनके घटित होनेके स्थान तथा समयका निर्देश करना आधुनिक कलाकी एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। परन्तु देश-कालके अन्तर्गत केवल स्थान और समय ही नहीं, रीति-रिवाज, रहन-सहनके ढंग, पात्रोंकी वेश-भूषा, उनके शिष्टाचार, आचार-व्यवहार, विचार-चिन्तन, वार्तालापकी भाषा-शैली तथा कथाकी प्राकृतिक पृष्ठभूमि आदि सभी बाते आ जाती हैं, जो कथाको स्वाभाविक वातावरण प्रदान करती हैं। इस देश-काल या वातावरणको सामाजिक और भौतिक, दो भागोंमे बाँटा जा सकता है।

आधुनिक कथासाहित्यमे अनेक महान् लेखकोंने कथाके देश-कालके रूपमें अपने समयके समूचे युगजीवनको अमरत्व प्रदान करनेका प्रयत्न किया है। उदाहरणके लिए प्रेमचन्दके उपन्यास और कहानियाँ गंगा-यमुना प्रदेशकी गान्धीयुगीन राष्ट्रीय प्रगतिका जीवित-जाग्रत् चित्र उपस्थित करती है। बालजक और जोलाने अपने उपन्यासोंमें सम्पूर्ण फ्रांसीसी सभ्यताको जीवन प्रदान किया है। जटिल और विस्तृत युगजीवनको एक ही उपन्यासमे समेटकर उसकी समस्याओंके समाधानकी चुनौती देनेवाले उपन्यासोंके साथ-साथ ऐसी प्रवृत्ति इधर कुछ विशेष बढ़ी है, जिनमे सामाजिक दृष्टिसे जीवनके किसी एक पक्ष अथवा भौगोलिक

दृष्टिसे किसी एक क्षेत्रको वाणी और गति प्रदान की जाती है। मजदूर, किसान, सेना, उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग, निम्न वर्ग, स्त्री-जीवन आदिसे सम्बन्धित विशेष अध्ययनपूर्ण उपन्यास और कहानियोंमें लेखक अपनी विशेष रुचि और सहानुभूतिके साथ विविध सामाजिक प्रश्नोंकी शोध करते हैं। विविध वर्गोंके ये चित्र प्रायः किसी क्षेत्रविशेषसे सम्बन्धित होकर रचनाको **क्षेत्रीय** (रीजनल) या **आंचलिक** विशेषता प्रदान करते हैं। ऐसी रचनामें लेखककी सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति, संश्लिष्ट वर्णन-कौशल तथा विवरणोंकी नीरसताको दूर करनेवाली भावना या कल्पनाशक्तिकी कठिन परीक्षा होती है।

ऐतिहासिक उपन्यासोंमें भी युगविशेष और क्षेत्रविशेषमें देश-कालके चित्रण द्वारा ही प्राण-प्रतिष्ठा की जाती है। कुछ ऐतिहासिक उपन्यास देश और कालकी पृष्ठभूमिको लेते हुए भी इनकी सीमाओंका अतिक्रमण कर जाते हैं और स्थायी तथा सार्वभौम मूल्योंका अन्वेषण करते हैं। दूसरी ओर ऐसे भी ऐतिहासिक उपन्यास हैं, जो मानव मनोवृत्तियोंके चित्रणमें देश और कालकी सीमाओंका अतिक्रमण करते हुए भी युगजीवनके सत्यको ही उद्घाटित करते हैं। परन्तु ऐतिहासिक उपन्यासमें दृष्टिकोण कोई भी हो, देश-कालका यथातथ्य और इतिहाससम्मत चित्रण आवश्यक है।

सामाजिक पृष्ठभूमिके अतिरिक्त कथासाहित्यमें भौतिक या प्राकृतिक परिस्थितियोंका चित्रण भी किया जाता है। यह चित्रण साहित्यमें प्रकृतिके विविध प्रकारके प्रयोगोंके आधारपर या तो केवल वर्णनको सम्पूर्णता प्रदान करनेके लिए केवल चित्रोपम, किन्तु पृष्ठभूमि मात्रके रूपमें हो सकता है या वर्ण्य विषयके साथ साम्य या विरोधके रूपमें सम्बद्ध किया जा सकता है।

वातावरणके ये दोनों पक्ष सामाजिक और प्राकृतिक साहित्यके अन्यतम तत्त्वों—कथावस्तु और चरित्र-चित्रणको सार्थकता और सजीवता प्रदान करते हैं (दे० 'उपन्यास')। —त्र० व०

देश-विभाग–काव्यशास्त्रमें देशविरुद्ध रचनाकी दोषोंमें गणना की गयी है। अतः कविके लिए देशका ज्ञान अपेक्षित है। कवियोंको देश-ज्ञान करानेके लिए राजशेखरने अपने **कविशिक्षा** (दे०) ग्रन्थ 'काव्यमीमांसा'के सत्रहवें अध्यायमें देश-विभागका वर्णन किया है। राजशेखरके परवर्ती आचार्यों—हेमचन्द्र (काव्यानुशासन : अ० २, सू० ३ के विवेकमें) तथा वाग्भट(काव्यानुशासन : अ० १)ने राजशेखरके आधारपर देश-विभागका वर्णन किया है। राजशेखरने जगत् और जगत्के विभिन्न विभागोंको 'देश' संज्ञा दी है। विभिन्न आचार्योंके मतानुसार जगत् एक, दो, तीन, सात या चौदह माने गये हैं। इनमेंसे भूलोक पृथिवी है। इसमें विभिन्न मतोंके अनुसार एक, तीन, चार या सात समुद्र हैं। मेरु आद्य वर्षपर्वत है। इसके चारों ओर इलावृत नामक वर्ष है। इसके उत्तरकी ओर तीन वर्षपर्वत हैं—नील, श्वेत और शृंगवान्। दक्षिणकी ओर भी तीन वर्षपर्वत हैं—निषध, हेमकूट और हिमवान्। इनको घेरकर क्रमशः हरिवर्ष, किंपुरुषवर्ष और भारतवर्ष अवस्थित हैं। भारतवर्षको राजशेखरने पाँच भागोंमें बाँटा है—१. पूर्वदेश, २. दक्षिणापथ, ३. पश्चाद्देश, ४. उत्तरापथ और ५. मध्यदेश।

राजशेखरका यह वर्णन बहुत-कुछ 'बृहत्संहिता' और 'वायुपुराण'के आधारपर है और भारतके प्राचीन भूगोलके ज्ञानमें बहुत सहायक है। देश-विभागके अन्तर्गत कवि-शिक्षाका व्यापक विस्तार हुआ है। विभिन्न प्रदेशोंके वर्णनके लिए निश्चित वस्तुओंके निर्देशकी शिक्षा दी गयी है। प्रदेशोंके अतिरिक्त नदी, पहाड़, वन, सरोवर, समुद्र आदिके वर्णनकी परम्पराकी निश्चित रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है। संस्कृतके आचार्योंके साथ हिन्दीमें केशवका इस दिशामें महत्त्वपूर्ण योग है (कविप्रिया, ७)। —म० प्र० ल०

देह–कबीरपंथी साहित्यमें छः देहोंकी कल्पना की गयी है। पहला देह 'स्थूल देह' कहलाता है। पचीस तत्त्वों (दे० 'तत्त्व'), दस इन्द्रियों (पाँच ज्ञानेन्द्रियऔर पाँच कर्मेन्द्रिय), पाँच प्राणों, चार अन्तःकरणों (दे० अन्तःकरण) और जीवके योगसे यह देह निर्मित है। इसकी अवस्थाका नाम 'जाग्रत अवस्था' है। दूसरा 'सूक्ष्म देह' है। यह पाँच प्राणों, दस इन्द्रियों, मन तथा बुद्धिके योगसे बनता है। स्वप्न इसकी अवस्था है। तीसरा 'कारण देह' चित्त, अहंकार एवं जीव नामक तीन तत्त्वोंसे बनता है। सुषुप्ति इसकी अवस्था है। अहंकार और जीव नामक दो तत्त्वोंसे निर्मित चौथे देह का नाम 'महाकारण देह' है। तुरीया इसकी अवस्था है। पाँचवाँ कैवल्य देह है, जो जीवात्मा नामक एक तत्त्वसे निर्मित, तुरीयातीत अवस्थाका देह है। छठा देह 'हंस देह' कहा जाता है। इसमें कोई तत्त्व नहीं है—अर्थात् यह तत्त्वातीत है। यह हंस देह ही जीवका विशुद्ध चैतन्य स्वरूप है और यही कबीरपंथी साधकका परम प्राप्तव्य है। पूर्णगुरुके बिना इस हंस देहकी प्राप्ति असम्भव है। —रा० सिं०

देहस्थ पीठ–वज्रयानी सिद्धोंके साधना-केन्द्रोंमें जालन्धर, कामरूप, ओडियान तथा श्रीहट्ट प्रमुख तन्त्रपीठ माने जाते थे। बौद्ध हठयोग-साधनामें इन बाह्य तन्त्रपीठोंकी स्थिति कायाके अन्दर भी बतायी गयी है। चर्यापदोंमें उड्डीयान तथा कामरूपका उल्लेख देहस्थ पीठके रूपमें महासुखचक्रमें मिलता है। शैव पद्धतियोंमें भी ये तन्त्रपीठ कायामें स्थित माने जाते हैं और उनके नामपर उड्डियानबन्ध, मूलबन्ध आदि प्रक्रियाएँ प्रचलित थीं। गोरखबानीमें भी उड्डियान, श्रीहट्ट (सुरहट), मुलतान (मूलस्थान), कामरूप (काँवरु) आदि देहस्थ पीठोंका उल्लेख मिलता है। सन्तोंने भी समस्त देहमें तीर्थोंकी स्थिति मानी है। —ध० वी० भा०

दैन्य–प्रचलित तैंतीसमेंसे एक संचारी भाव। भरतके अनुसार निर्धनता तथा मनस्ताप आदि इसके विभाव हैं और असंयम, शरीर-शिथिलता, मलिनता तथा मनका विक्षेप इसके अनुभाव हैं (नाट्य० ७, ४९ ग)। विश्वनाथके अनुसार इसकी परिभाषा निम्नलिखित है—"दौर्गत्याद्यैरनौजस्यं दैन्यं मलिनतादिकृत्" (सा० द०, ३ : १४५), अर्थात् दुर्गति आदिसे उत्पन्न ओजस्विताके अभावको दैन्य कहते हैं। मलिनता आदि इसके अनुभाव हैं। हिन्दी रीतिकालके आचार्योंने प्रायः 'दीनता'के नामसे इसे स्वीकार किया है और इसमें—"दुर्गति बहु बिरहादि तें

उपजै दु:ख अनन्त" (भाव० : संचारी०) माना है।

दैन्य, मद, जड़ता, चपलता आदिको रामचन्द्र शुक्लने मानसिक अवस्थाओंके रूपमें रखा है। उनके अनुसार ये अवस्थाएँ दो प्रकारकी होती हैं—प्रकृतिगत और आगन्तुक। किसी एक स्थिर प्रणालीके प्रकृतिस्थ हो जानेपर अभिव्यक्ति-कालमें किसी भावसे उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं स्थापित हो पाता। इस तरहकी प्रकृतिगत अवस्थाओंको चरित्र-चित्रणके लिए उन्होंने काफी उपयोगी माना है। दैन्य, मद आदि आगन्तुक रूपमें ही संचारी माने जा सकते हैं, क्योंकि ऐसी स्थितिमें वे भावोंसे प्रत्यक्ष सम्बद्ध हो जाते है। 'रामचरितमानस'की भूमिकामें "कवि न होउँ नहिं बचन प्रबीनू" लिखकर तुलसीदासने अपने प्रकृतिगत दैन्यका परिचय दिया है।

आगन्तुक रूपमें आनेपर दैन्य कुछ संचारियोंकी भाँति भावावेगको बढ़ा देता है। रति और भक्तिके अन्तर्गत आनेवाले दैन्य संचारी इस प्रकार मूल भावोंको वेगयुक्त बना देते हैं—"मो अबला तकि जान तुम्हैं बिन यौं बल कै बलकै जु बलाहक। त्यो दुख देखि हँसे चपला अरु पौन हूँ दूनो बिदेह तें दाहक" (घनआनन्द कवित्त, १४५)। इसी तरह सूरदासकी इस विनयमें 'दैन्य' है—"मो सम कौन कुटिल खल कामी। तुमसौं कहा छिपी करुनामय, सबके अन्तरजामी" (सू० सा० : सभा० सं० १४८)। —ब० सिं०

दोजक (दोजग)–दोजक या दोजग मूलतः फ़ारसीके दोज़ख़ शब्दका ध्वनिपरिवर्तित रूप है। मुसलमानोके अनुसार दोज़ख़ सात विभागोंवाले नरकका नाम है। संतोंने दोजक या दोजग शब्दका प्रयोग वैसे मुख्य रूपसे नरकके लिए ही किया है, पर कहीं-कहीं प्रसंगके आग्रह और कथनकी भंगी एक भिन्न अर्थका संकेत भी देती जान पड़ती है। कबीरदास 'भिस्त' शब्दका प्रयोग कभी-कभी 'अभीष्ट' अर्थमें करते दिखाई पड़ते है (दे० 'भिस्त')। ऐसे अवसर जहाँ भिस्त 'अभीष्ट' अर्थकी ओर संकेत करने लगता है, उसके साथ-साथ प्रयुक्त होनेवाला 'दोजग', नरक अर्थके साथ ही (नरकके अर्थसे नितांत विपरीत पड़नेवाले) 'अपर लोक' दूसरी-दुनियाँ या 'स्वर्ग'के अर्थका हल्का-सा संकेत करता जान पड़ता है। कबीर ग्रंथावली (डॉ० पारसनाथ तिवारी)में पद संख्या १८२ (१८४)में भी 'दोजग' शब्द भिसतिके साथ प्रयुक्त है—"दिलनापाक पाक नहिं चीन्हा तिसका मरम न जाना। कहै कबीर भिसति छिटकाई दोजग ही मन माना॥" अर्थात् "तुम्हारा हृदय अशुद्ध है, अतः उस निर्मल पाक परवरदिगारको न तू पहचान ही सका और न उसका रहस्यही समझ सका। अपने अभीष्ट (लक्ष्य)को तुमने (अनेक दिशाओंमें) छिटका दिया है और दोजग (अपरलोक=स्वर्ग)की प्राप्तिमें ही मानसिक तोष पा रहे हो"। दोजगका स्वर्ग अर्थ पहली दृष्टिमें विचित्र लग सकता है। शायद अग्राह्य भी लगे। लेकिन अगर ऐसा अर्थ नहीं है तो 'दोजग ही मनमाना'का क्या अर्थ होगा? यह कि नरकमें ही तुम्हारा मन मान गया है, नरकको तुमने स्वीकार कर लिया है यह अर्थ अस्वीकार्य नहीं। सामान्यतया कहा भी जाता है "नरकका कीड़ा नरकमें ही सुख पाता है"। हो सकता है उक्त पदमें कबीरदास भी यही कहना चाहते हों। लेकिन जैसा अर्थ मैंने किया है, कबीर भी वैसा ही अर्थ करना चाहें, इसकी संभावना भी हो सकती है और संतोंकी विचारधाराके काफी अनुकूल भी पड़ेगी। —रा० सिं०

दोधक–वर्णिक छन्दोंमे समवृत्तका एक भेद। भरत (नाट्यशास्त्र, १६ : २७)के लक्षणके अनुसार तीन भगणो और दो गुरुओंके योगसे यह वृत्त बनता है (ऽ।।, ऽ।।, ऽ।। ऽऽ)। केशवने मधु और बन्धु नामसे यही छन्द दिया है। 'प्राकृतपैंगलम्' (२ : १००)मे बन्धु, 'वृत्तजाति समुच्चय' (४ : ५५)मे भित्तक नाम दिया गया है। सूदन और केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा०—"राम गये जबते बन माहीं। राकस बैर करैं बहुधा हीं। रामकुमार हमें नृप दीजै। तो परिपूरन यज्ञ करीजै" (रा० चं०, २ : १५)। —पु० शु०

दोहा–मात्रिक अर्द्धसम छन्द। 'प्राकृतपैंगलम्' (१ : ७८)-के अनुसार इस छन्दके प्रथम तथा तृतीय पादमें १३-१३ मात्राएँ और दूसरे तथा चौथेमें ११-११ मात्राएँ होती है। यति पादान्तमें होती है; विषम चरणोंके आदिमें जगण नहीं होना चाहिये। अन्तमें लघु होता है। तुक प्रायः सम पादोंकी मिलती है। मात्रिक गणोंका क्रम इस प्रकार रहता है—६+४+३, ६+४+१।

प्राकृत साहित्यमें जो स्थान गाथाका है, प्रयोगकी दृष्टिसे अपभ्रंशमें वही स्थान दोहा छन्दका है। अपभ्रंशमें मुक्तक पद्योंके रूपमें अनेक दोहे मिलते है। प्राकृतमें जिस प्रकार 'गाथासप्तशती' तथा 'वज्जालग्ग' जैसे गाथाबद्ध संग्रह मिलते है। उसी प्रकार अपभ्रंशमें और हिन्दीमें दोहोके संग्रह मिलते है। उपदेश, मुक्तक पद्योंके रूपमें तो दोहेका प्रयोग मुनि योगीन्द्र, रामसिंह, देवसेन तथा बौद्ध सिद्धोंने किया है। हेमचन्द्र तथा अन्य अलंकारशास्त्र, व्याकरण-ग्रन्थ-लेखकोंने अनेक दोहे अपनी कृतियोंमें उद्धृत किये है। स्वयम्भूके 'पउमचरिउ'मे भी दोहेका प्रयोग मिलता है। यह छन्द हिन्दीको अपभ्रंशसे मिला है। सभी अपभ्रंश छन्दशास्त्र-विषयक कृतियोंमें दोहे तथा उसके भेदोंका विवेचन मिलता है।

'प्राकृतपैंगलम्' आदि छन्द-ग्रन्थोंमें दोहेके भ्रमर, भ्रामरादि २३ भेदोंकी चर्चा की गयी है। वर्णोंके लघु आदि भेदके अनुसार भी दोहेकी जातिकी चर्चा की गयी है, जैसे यदि दोहेमें १२ लघु वर्ण हो तो वह विप्र होता है। हेमचन्द्र तथा कुछ अन्य छन्दशास्त्री दोहेके प्रति दलमें मात्राओंकी संख्या १४+१२ मानते है। 'दोहा'की व्युत्पत्ति 'द्विपथा'से मानते है। जर्मन विद्वान् याकोबी और अल्सडोर्फने अपभ्रंश दोहोका बड़े विस्तारसे विवेचन किया है।

हिन्दीमें यह प्रायः सभी प्रमुख कवियोंके द्वारा प्रयुक्त हुआ है। पद-शैलीके कवि सूर, मीराँ आदिने अपने पदोंमें इसका प्रयोग किया है। सतसई (दे०) साहित्यमें दोहा छन्द ही प्रयुक्त हुआ है। दोहा मुक्तक काव्यका प्रधान छन्द है। इसमें संक्षिप्त और तीखी भावव्यंजना, प्रभावशाली लघु चित्रोको प्रस्तुत करनेकी अपूर्व क्षमता है। सत-

सर्रके अतिरिक्त दोहेका दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रयोग भक्तियुगकी प्रबन्ध-काव्यशैलीमे हुआ है, जिसमे तुलसीदासका 'रामचरितमानस' और जायसीका 'पद्मावत' प्रमुख है। चौपाईके प्रबन्धात्मक प्रवाहमे दोहा गम्भीर गति प्रदान करता है और कथाक्रममे समुचित सन्तुलन भी लाता है। दोहेका तीसरा प्रयोग रीतिग्रन्थोमे लक्षण-निरूपण और उदाहरण प्रस्तुत करनेके लिए किया गया है। अपने संक्षेपके कारण ही दोहा छन्द लक्षण प्रस्तुत करनेके लिए प्रयुक्त हुआ है। उदाहरण सम्भवतः स्मरणकी सुविधाकी दृष्टिसे दिये गये है।

कबीरकी साखियाँ दोहेके ही रूप है, यद्यपि छन्दशास्त्रके-ज्ञानके अभावमे इनमें दोहोंका विकृत और अव्यवस्थित रूप है। इनमे भी दोहेकी सामान्य विशेषताएँ विद्यमान है। जायसीका भारतीय छन्दशास्त्रसे सीमित परिचय है और ऐसा जान पडता है, इन्होंने अपने दोहेको सन्तोंकी साखियोंके माध्यमसे ग्रहण किया है, अतः उनके इस छन्दके प्रयोगमें भी अस्थिरता है। जायसीके दोहोंमे प्रायः विषम पद १२ ही मात्राका है और सम ११ मात्राका—"रूपवन्त मनि माथे, चन्द्र घटि वह बाढि। मेदनि दरस लुभानी, असतुति बिनवै ठाढ़ि" (पद्मा०, १३)। जायसीके कुछ दोहोंमें तो विषम पदोमें १६ मात्राएँतक है। तुलसीदासने एक विषम पदमे १२ मात्राओंका प्रयोग नवीनता लानेके रूपमें किया है—"भोजन करत चपल चित, इत उत अवसर पाइ" (राम०, १ : २३५)। —रा० सि० तो०

दोहा-साखी–'दोहा' या 'दूहा'की उत्पत्ति कतिपय लेखकोंने संस्कृतके दोधकसे मानी है। 'प्राकृतपैंगलम्'के टीकाकारोंने इसका मूल 'द्विपदा' शब्दको बताया है। यह उत्तरकालीन अपभ्रंशका प्रमुख छन्द है। "दोहा वह पहला छन्द है, जिसमें तुक मिलानेका प्रयत्न हुआ" (ह० प्र०)। प्राचीन अपभ्रंशमे इस छन्दका प्रयोग कम मिलता है, तथापि सिद्ध कवि सरहपा (९वीं शताब्दीका आरम्भ)ने इसका सबसे पहले प्रयोग किया। एक मतानुसार 'विक्रमोर्वशीय'में इसका सबसे प्राचीन रूप उपलब्ध है। फिर भी पॉचवी या छठी शताब्दीके पश्चात् दोहा काफी प्रयोगमें आता रहा। हालकी सतसईसे भी इसका सूत्र जोड़ा जाता है। यह तर्क प्रबल रूपसे प्रस्तुत किया जाता है कि कदाचित् यह लोक-प्रचलित छन्द रहा होगा। दोहा दो पंक्तियोंका छन्द है। 'बड़ो दूहो', 'तूँबेरी दूहा' तथा 'अनमेल दूहो', तीन प्रकार राजस्थानीमें और मिलते है। प्राचीन दोहाके पहले और तीसरे चरणमें १३-१३ मात्राएँ तथा दूसरे और चौथेमें ११-११ मात्राएँ होती है। 'बडो दूहो'मे १ और ४ चरण ११-११ मात्राओंके तथा २ और ३—१३-१३ मात्राओंके होते हैं। 'तूँबेरी दूहा'में मात्राओंका यह क्रम उलटा है। पहले और चौथे चरणकी तुक मिलनेसे 'अनमेल दूहो' और दूसरे और तीसरे चरणोंकी तुक मिलनेसे 'मध्यमेल दूहो' बनते हैं। दोहा लोकसाहित्यका सबसे सरलतम छन्द है, जिसे साहित्यमें यश प्राप्त हो सका।

साखी 'साक्षी'का अपभ्रंश स्वरूप है। दोहा और साखी समानार्थक हैं। सम्भवतः बौद्ध सिद्धोंको इस शब्दका ज्ञान था। 'साखि करब जालन्धर पाएँ' पंक्तिमें जालन्धरपादको साक्षी करनेका उल्लेख आया है। गोरखपन्थियोंसे प्रभावित होकर यह शब्द कबीरपन्थियोंकी रचनाओंमे आया और बादके साहित्यमें दूहेका अर्थ भी 'साखी' ग्रहण किया गया। —श्या० प०

दोही–दोही और दोहरा नये स्वतन्त्र छन्द नही कहे जा सकते। भिखारीदासने दोही और दोहराका लक्षण देते हुए कहा है कि दोहेके विषम पादोमे दो-दो मात्राएँ बढ़ा देनेसे दोही और एक-एक घटा देनेसे दोहरा हो जाता है। केशवके 'बीरसिंहदेवचरित'में दोहरा मिलता है। उदा०—"जनि बाँह गहो हौ जानती, लाल तिहारी रीति" (भिखारीदास)। —रा० सि० तो०

द्रुतविलम्बित–वर्णिक छन्दोमे समवृत्तका एक भेद। 'पिंगल-सूत्र' (६:३१)के अनुसार—नगण, दो भगण और रगणके योगमे यह वृत्त बनता है (।।।, ऽ।।, ऽ।।, ऽ।ऽ)। 'प्राकृत-पैंगलम्' (२ : १३९)मे इसे सुन्दरी और 'नाट्यशास्त्र' (१६:५१)में हरिणीप्लुता नाम दिया है। केशव (रा० चं०, ९:२९), 'हरिऔध' (प्रि० प्र०, स० १, २, ३, ४, ५, ८, १०, १२, १६), अनूपशर्मा (सिद्धार्थ, स० १, ३, ६, ७, ९, ११, १३, १५, १६, १७; वर्द्धमान पृ० ८१, ८५, ९७, ११४ आदि) एवं मैथिलीशरण गुप्त (साकेत, ९ : पृ० १९४)ने इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा०—"गिरि हिमालयके उपकूलमें। कपिल वस्तुपुरी अति रम्य थी। वह प्रसिद्धिमयी धन अन्नदा, सुभग शासन भूषित भूमि थी" (सिद्धार्थ, पृ० १)। —पु० शु०

द्वंद्वात्मक नियति (dialectical destiny)–द्वन्द्वन्यायके अनुसार प्रत्येक वस्तु अपने विनाशका बीज अपने भीतर रखती है। उसका नष्ट होकर वस्त्वन्तरके रूपमें पुनरुत्पन्न हो जाना सर्वथा अनिवार्य है। इस अनिवार्यतातत्त्वको नियति कहते हैं। द्वन्द्वात्मक नियतिमे विश्वास कर मार्क्स साम्यवादी क्रान्तिको अनिवार्य बतलाता है। पूँजीवादी (दे० 'पूँजीवाद') समाजके गर्भसे साम्यवादी (दे० 'साम्यवाद') समाजका जन्म होकर रहेगा, चाहे हम चाहें या न चाहें। इस दृढ विश्वासका एकमात्र आधार है द्वन्द्वात्मक नियतिकी कल्पना।

सोरोकिन-प्रतिपादित इन्द्रियाग्रही, अनीन्द्रियाग्रही तथा अध्यात्म प्रधान महासंस्थानोंका निरूपण अन्यत्र किया गया है (दे० 'महासंस्थान')। प्रत्येक महासंस्थान सत्य और असत्यका सम्मिश्रण माना गया है। सत्यांशसे आकृष्ट होकर मानवता एक महासंस्थानको अपनाती है, किन्तु काल-क्रमसे जब असत्यांशका प्राबल्य होता है, तब वह भिन्न महासंस्थानकी उद्भावना करती है। इस प्रकार देखा गया है कि प्रत्येक महासंस्थान अपने विनाशका बीज अपने भीतर रखता है। इस क्रमको सोरोकिन द्वन्द्वात्मक नियति कहकर पुकारता है। सोरोकिनने यहाँ स्पष्ट ही हीगेल और मार्क्सके द्वन्द्व-न्यायका सहारा लिया है। आरम्भिक महासंस्थानका सत्यांश है स्थापना (थीसिस), असत्यांश है प्रतिस्थापना (ऐण्टी-थीसिस) और स्वयं महासंस्थान है समन्वय (सिन्थीसिस)। इसी प्रकार प्रथम महासंस्थान है स्थापना, द्वितीय महासंस्थान है प्रतिस्थापना और तृतीय महासंस्थान है समन्वय। यह क्रम निर-

पवाद, नियत है। —ह० ना०

द्वंद्वात्मक भौतिकवाद—यह शब्द अंग्रेजीके 'डायलेक्टिकल मैटीरियलिज्म'का हिन्दी रूपान्तर है। इस शब्दका पारिभाषिक प्रयोग सर्वप्रथम कार्ल मार्क्स (१८१८-८३ ई०)-के लेखोंमें प्राप्त होता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद केवल भौतिकवादी दर्शन ही नहीं है, प्रत्युत उसकी एक विशिष्ट प्रणाली भी है, जिसके अनुसार वह सृष्टि और समाजका भौतिकवादी अध्ययन करता है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद हमारे दैनिक अनुभवों और पर्यवेक्षणोंपर आधारित है। नित्यप्रतिके जीवनमें हम यह देखते हैं कि संसारकी हर एक वस्तु अन्तमें नष्ट हो जाती है। जिसे जीवन प्राप्त हुआ, मरण उसका अनिवार्य उपसंहार है। समूची प्रकृति इसी सत्यकी साक्षी है। परिवर्तन ही इस सृष्टिका मूल सत्य है; गत्यात्मकता उसका जीवन। यहाँ स्थायित्व नहीं है।

यदि कहीं है भी तो वह केवल एक दीर्घकालीन यात्राकी भूमिका है। न जाने कबसे मानव-इतिहास और प्रकृतिने इस अन्तहीन यात्राका प्रारम्भ किया। यह व्यापक सत्य प्रत्येक भौतिकवादी स्वीकार करता है। किन्तु इस व्यापक सत्यकी स्वीकृति ही परिस्थितिका यथार्थ ज्ञान नहीं है, क्योंकि यह स्वीकृति परिस्थितिके केवल बाह्य रूपतक सीमित है। जबतक हम उसकी मूल प्रकृति और उसके अन्तररहस्योंका उद्घाटन नहीं करते, तबतक इस परिस्थितिका यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। इन परिवर्तनोंकी मूल प्रकृति किन्हीं निश्चित नियमोंसे संचालित होती है। ये नियम गणित और विज्ञानके नियमोंकी तरह कठोर और स्थिर हैं। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इन नियमोंको सार्वभौमिक मानता है। चाहे जीव-सृष्टि हो या समाज-सृष्टि, परिवर्तन इन्हीं नियमोंके अनुसार होता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद संकेत करता है, जिनके अनुसार सृष्टिका सारा परिवर्तन होता है। संक्षेपमें द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद वह दार्शनिक दृष्टिकोण है, जिसके अनुसार सृष्टिका तत्त्व 'मैटर' है, जिसका निरन्तर रूपपरिवर्तन हो रहा है। इस परिवर्तनकी प्रणाली द्वन्द्वात्मक है, जिसके अनुसार हर एक परिस्थितिके मूलमें संघर्ष स्थित है और संघर्ष इसलिए है कि उस परिस्थितिविशेषमें ही उसके नाशके उपकरण सन्निहित हैं। परिस्थितिविशेषके इन्हीं विरोधी उपकरणोंमें संघर्ष होता है, जो कालान्तरमें नयी व्यवस्थाका सर्जन करता है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद दर्शनकी दो विभिन्न धाराओंसे सम्बन्धित है। जहाँतक इसकी प्रणालीका सम्बन्ध है, यह हीगेलके द्वन्द्वात्मक आदर्शवाद, अर्थात् 'डायलेक्टिकल आइडियलिज्म'से प्रभावित हुआ है और जहाँतक दार्शनिक दृष्टिकोणका प्रश्न है, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद अन्य पूर्ववर्ती भौतिकवादियोंके अतिरिक्त जर्मन दार्शनिक फायरबाखके यान्त्रिक भौतिकवाद, अर्थात् मैकेनिकल मैटीरियलिज्मसे प्रभावित हुआ है।

द्वन्द्व-सिद्धान्त वस्तुतः ग्रीक शब्द 'डायलेगो'से उद्भूत हुआ है, जिसका वास्तविक अर्थ वाद-विवाद करना होता है। प्राचीन ग्रीसमें वाद-विवाद एक साधन था, जिसके द्वारा लोग एक-दूसरेकी बातोंमें तार्किक असंगतियों और आत्मविरोधकी ओर संकेत कर सत्यका अन्वेषण करते थे। उस समय कुछ ऐसे भी विचारक थे जो यह स्वीकार करते थे कि सत्यकी उत्पत्ति दो विरोधी बातोंके संघर्षमें स्थित है। प्लेटो, जिसकी दार्शनिक रचनाएँ इस पद्धतिका अनुसरण करती हैं, यह स्वीकार करता था कि द्वन्द्व, अर्थात् डायलेक्टिक्स सत्यको पानेका एक बौद्धिक साधन है। प्रोफेसर जेटलशिपने भी वाद-विवाद-प्रणालीकी महत्ता इसी रूपमें स्वीकार की है।

आधुनिक युगमें जब हीगेलने द्वन्द्व-सिद्धान्तको अपने दर्शनमें प्रतिष्ठित किया तो उसने ग्रीसवासियोंकी द्वन्द्व-कल्पनाकी मूल प्रकृतिको ग्रहण किया। अतः हीगेलके द्वन्द्व-सिद्धान्तका यह अर्थ नहीं है कि हम कथोपकथन या बहस द्वारा सत्यका अन्वेषण करते हैं। वाद-विवादमें दो विरोधी मतोंमें संघर्ष होता है और उसी संघर्षसे नये मतकी सृष्टि होती है। इस प्रणालीमें संघर्ष अनिवार्य है और उसीसे सत्यका जन्म होता है। हीगेलने इसी तथ्यको ग्रहण किया है। उसके अनुसार मनुष्यका समूचा इतिहास विरोधी तत्त्वोंके आपसी संघर्षोंसे निर्मित हुआ है। हीगेल प्रत्ययवादी विचारक था। अतः उसका द्वन्द्व-सिद्धान्त मनुष्यके बाहरी इतिहास और प्रकृतिपर लागू न होकर उनके सापेक्ष प्रत्ययोंपर लागू होता है। सर्वप्रथम मनुष्यके मस्तिष्कमें विरोधी प्रत्ययोंमें संघर्ष होता है और बाहरी इतिहास केवल उन संघर्षोंकी छाया है। हीगेल इस प्रकार मैटरको प्रधान नहीं मानता।

कार्ल मार्क्स भौतिकवादी होनेके नाते प्रत्ययको गौण और मैटरको प्रधान मानता है। इस प्रकार वह मनुष्यके सारे इतिहासको बाहरी प्रकृति और समाजमें देखता है। इसलिए कार्ल मार्क्स और हीगेलकी समता इस बातमें नहीं है कि दोनोंका दार्शनिक दृष्टिकोण एक है। दोनोंकी समता इसी बातमें स्थित है कि दोनोंके अनुसार परिवर्तनकी प्रणाली द्वन्द्वात्मक है। हीगेल और मार्क्सकी द्वन्द्वात्मक प्रणालीकी निम्नलिखित विशेषताएँ हैं:—

(१) द्वन्द्वात्मक प्रणाली प्रत्येक विकासका एक लक्षण है और इतिहास उसी लक्ष्यकी प्राप्ति करता है। हीगेलके अनुसार यह लक्ष्य पूर्वनिर्धारित है। समूची सृष्टि विकसित होकर उसी लक्ष्यकी पूर्ति करना चाहती है। इन लक्ष्योंके विभिन्न साधन हैं। ये साधन लक्ष्यसे अलग नहीं हैं, वरन् लक्ष्यका एक भाग हैं। इन साधनोंकी सार्थकता इसीमें है कि समूचा लक्ष्य उनमें व्याप्त है। तर्ककी दृष्टिसे हर एक वस्तु साधन और साध्य दोनों है। अतः समूची सृष्टिका आदिसे अन्ततक विकासका पथ तभी उद्देश्यवादी होता है, जब उसमें आत्मिक शक्तियोंका प्रश्न खड़ा हो जाता है। शारीरिक परिवर्तन या सौरमण्डलका विकास उद्देश्यवादी नहीं है, क्योंकि इन परिस्थितियोंका अध्ययन इच्छा, आवश्यकता और उद्देश्यके अनुसार नहीं किया जा सकता। परन्तु सामाजिक इतिहासके परिवर्तनोंमें इच्छाका अंश है। इसलिए सामाजिक विकासमें हम उद्देश्यसिद्धान्तको स्वीकार कर सकते हैं। मनुष्यकी आवश्यकताएँ या इच्छाएँ ही उसके उद्देश्यको जन्म देती हैं, जिसके नाते हीगेलकी सार्वभौमिक एकताका जो सिद्धान्त था, वह विभिन्न

भागोमे बँट जाता है। वे उद्देश्य सर्जनात्मक नही होते और चूकि यह मनुष्यकी इच्छापर आधारित है, इसलिए इनकी प्राप्तिको सामान्य बनानेके लिए बाहरी परिस्थितियाँ और उद्देश्योंमें एकरूपता होनी चाहिए। जबतक एकरूपता नहीं होगी, तबतक उन उद्देश्योंकी सिद्धि नही हो सकती। इसीलिए जब पूँजीवाद बहुत अधिक विकसित हो जाता है, तब उसकी परिस्थितियाँ समाजवादी उद्देश्यकी सृष्टि करती है और ये उद्देश्य उन परिस्थितियोंके अनुकुल होते हैं।

(२) द्वन्द्व-सिद्धान्त विराट्का तर्क है। सरल शब्दोमे इस वाक्यका यह अर्थ है कि मार्क्स और हीगेलके अनुसार द्वन्द्व-सिद्धान्त किसी एक विशेष अंगका अध्ययन नही करता, क्योंकि अंगका अध्ययन बिना सम्पूर्णके अध्ययनके नही हो सकता। अतः सम्पूर्ण पूर्ण सत्य है और अंग आंशिक सत्य। दूसरे शब्दोंमें सम्पूर्णकी सापेक्षतामे ही अंगोका अस्तित्व है।

(३) द्वन्द्व-सिद्धान्तके अनुसार समूचा अस्तित्व गत्यात्मक है। गत्यात्मक होनेके नाते इसकी विभिन्न अवस्थाएँ है। द्वन्द्व-सिद्धान्तने इस गत्यात्मकताको ही विकास माना है। उसके अनुसार एक अवस्थाको दूसरी अवस्थामे बदलनेके लिए एक निश्चित प्रणालीका पालन करना पड़ता है। इसको पारिभाषिक दृष्टिसे विकासत्रयी, अर्थात् डेवलपमेण्ट ट्रायो कहते है। विकासत्रयीके अनुसार जो अवस्था स्थिर है और जिसका हम अध्ययन करते है, उसको वाद, अर्थात् थीसिस कहा जाता है। जब उस अवस्थाके विरोधी उपकरण प्रकट रूपसे वादका विरोध करने लगते है तो उस अवस्थाको प्रतिवाद, अर्थात् 'एण्टी-थीसिस' कहते है। इन दोनो व्यवस्थाओंसे एक तीसरी व्यवस्थाका भी जन्म होता है, जिसे संवाद, अर्थात् सिन्थीसिस कहते है। तीसरी परिस्थितिमें पिछली दोनो परिस्थितियोके कुछ अंश विद्यमान रहते हैं और उनका समुचय नयी परिस्थितिमें धीरे-धीरे होता है। यह विकास मात्रात्मक परिवर्तनसे गुणात्मक परिवर्तनकी ओर चलता है। अतः द्वन्द्व-सिद्धान्त विकासकी दृष्टिसे चार सूत्रोमें पूर्ण रूपसे व्यक्त होता है—(क) विरोधोकी एकता (ख) विरोधोंका आपसी संघर्ष, (ग) इस संघर्षसे एक नयी समन्वित परिस्थितिका जन्म, (घ) वादसे संवादतकका परिवर्तन। यह मात्रासे गुणोंकी ओर जानेवाला परिवर्तन है। हीगेल और मार्क्सके द्वन्द्व-सिद्धान्तकी यह समता सत्यके गत्यात्मक रूपका दर्शन करती है और जब हीगेलके लिए सत्य प्रत्ययमें है तो मार्क्सके लिए जीवनकी भौतिक परिस्थितियोंमे। कार्ल मार्क्स यहींपर जर्मन दार्शनिक फायरबाखसे प्रभावित था।

जर्मन दार्शनिक फायरबाख अपनेको न तो भौतिकवादी मानता था और न आदर्शवादी, किन्तु फायरबाखके दर्शनमें कुछ अंश ऐसे हैं, जो भौतिकवादी है और जिनसे कार्ल मार्क्स प्रभावित हुआ था। फायरबाख यह कहा करता था कि मनुष्य ही उसके दर्शनका केन्द्रविन्दु है और वही समूची सांस्कृतिक परम्पराका प्रतिबिम्ब है। फायरबाख इस दृष्टिसे भौतिकवादी है, किन्तु जिस मनुष्यको अपने दर्शनका केन्द्रविन्दु मानता है, वह केवल कल्पनाजगत्की वस्तु है। इसको पारिभाषिक दृष्टिसे 'एशेन्सियल मैन' कहते है।

कार्ल मार्क्सका भौतिकवाद फायरबाखके भौतिकवादसे कई अर्थोंमें भिन्न है। मार्क्स न तो आदर्शवादियोंकी तरह भूल ही करता है कि मनुष्यकी चेतना ही सब कुछ है और जड पदार्थ उसकी छाया है और न वह भौतिकवादियोंकी तरह यह मानता है कि जड़ पदार्थ ही सब कुछ है और चेतना केवल निष्क्रिय अनुभवोंका भोक्ता है। उसके अनुसार चेतना और बाह्य परिस्थितियोंमें संघर्ष होता है। यह संघर्ष निश्चित भौतिक परिस्थितियोंमें जन्म लेता है। इसलिए मनुष्यको समझनेके लिए उसकी ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमिका अवलोकन आवश्यक है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद मनुष्यको उसकी ठोस परिस्थितियोकी सापेक्षतामें देखता है और उनके परिवर्तनोंकी प्रणाली उनके आन्तरिक संघर्षोंके अनुसार ही मानता है।

सृष्टि और प्रकृतिका यह दृष्टिकोण कई रूपोंमे मस्तिष्क और पदार्थके परम्परागत एकांगी महत्त्वको नष्ट कर देता है। इतना होते हुए भी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तथ्य और सत्यकी प्रकृतिका अन्वेषण नही कर पाता। वह केवल इसी बातका अध्ययन कर पाता है कि मनुष्यके विचारोंका जन्म कैसे होता है। —रा० कु० त्रि०

द्विविधा—नाटकके **आरम्भ** (दे०)से लेकर **नियताप्ति** (दे०)के पूर्वतकके कार्य-व्यापारकी अवस्था द्विविधासे पूर्ण होती है। इसमे परिणामके प्रति जिज्ञासाका भाव बना रहता है। प्रेक्षक उत्कण्ठापूर्वक यह जाननेका प्रयत्न करता है कि आगे क्या होगा और नाटकका अन्त दुःखमय होगा या सुखमय।

नाटकमें रुचि उत्पन्न करनेके लिए द्विविधाका होना अति आवश्यक है। इसीलिए उसमे रहस्य-गोपन (कन्सीलमेण्ट) तथा आकस्मिक विस्मय (सर्प्राइज)का विधान किया जाता है। जबतक रहस्य गुप्त रहता है, प्रेक्षककी द्विविधा बनी रहती है। किन्तु रहस्योद्घाटनके पश्चात् जो आकस्मिक विस्मय होता है। वह इस द्विविधाको समाप्त कर देता है। उदाहरणके लिए 'स्कन्दगुप्त' नाटकमें आरम्भके बादसे मालवपर विदेशियोका आक्रमण, स्कन्दगुप्त द्वारा उसकी रक्षा, सम्राट्की मृत्यु और स्कन्दगुप्तका सिंहासनारोहण, हूणोंको पराजित करनेके लिए उसके द्वारा सैन्य-संघटन और आक्रमण, किन्तु कुचक्रोंके कारण विफलता, पुनः सैन्य-संघटन और गुप्त-साम्राज्यके बचे-खुचे वीरोंको साथ लेकर युद्धकी तैयारी—यहाँ तककी सारी कथामें प्रेक्षक द्विविधाकी स्थितिमें रहता है, किन्तु उस युद्धमें सफलता होनेपर उसकी यह द्विविधाकी स्थिति समाप्त हो जाती है।

कथा-वस्तुके रचना-विधानमें नाटककार द्वारा द्विविधा उत्पन्न करनेकी दो शैलियाँ अपनायी जा सकती हैं—प्रथम वह शैली है, जिसमें प्रेक्षक आरम्भसे अन्ततक चरित्रों, घटनाओं तथा मनोवृत्तियों आदिके विषयमें भी अनजान एवं उत्सुक रहता है और अन्तमें वास्तविक घटनाओंके उद्घाटनसे वह प्रभावित एवं आश्चर्यचकित हो जाता है। दूसरी शैली वह हो सकती है जिसमें नाटककार प्रारम्भसे ही मुख्य पात्रों, उनकी मनोवृत्तियों आदि बातोंका प्रकाशन कर देता है और तब उनके लक्ष्योंको साथ लेकर कहानी

आगे बढ़ाता है। शेक्सपीयरने अपने नाटकोंमें इस दूसरी शैलीको ही अपनाया है। वास्तवमे यही शैली अपेक्षाकृत अधिक उत्कृष्ट होती है।

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा किये गये द्विविधाके एक और प्रभेदको समझ लेना उचित होगा। वह है विडम्बनापूर्ण द्विविधा (आयरनिक सस्पेंस), जिसमें प्रेक्षकको पात्रके पतनका पूर्वनिश्चय हो जाता है, किन्तु स्वयं पात्र उस समय उस पतनसे अनभिज्ञ रहता है। कभी-कभी उस समय भी जब कि दुर्भाग्य निश्चित रहता है, अन्तिम बार द्विविधाकी सृष्टि करनेमें लेखक सफल हो जाता है, जैसे 'मैकबेथ'के उस स्थलपर जहाँ मैकबेथ विश्वासपूर्वक कहता है कि कोई माईका लाल (नो मैन बार्न ऑव वूमन) उसे नहीं मार सकता। —श्या० मो० श्री०

द्विवेदी-युग–इस युगका नामकरण महावीरप्रसाद द्विवेदीके नामके आधारपर किया जाता है और उसका स्थान भारतेन्दु-काल (दे०)के तुरन्त बादसे माना जाता है। १९०३ ई०मे 'सरस्वती'का सम्पादकत्व ग्रहण करनेके पश्चात् महावीरप्रसाद द्विवेदीने खड़ीबोलीका परिष्कार प्रारम्भ किया और इस युगके मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय आदि अनेक प्रसिद्ध कवियों और लेखकोने उनके द्वारा निर्धारित साहित्यादर्शोंका अनुसरण किया। उन्होंने अनेक कवियों और लेखकोंको प्रोत्साहन प्रदान किया, जिसके फलस्वरूप वे आचार्य-रूपमें स्वीकार किये गये। उन्होंने अपने समकालीन कवियों और लेखकोंपर अपनी प्रतिभाकी अमिट छाप लगा दी और जबतक उनके समकालीन कवियों और लेखकोंकी कृतियाँ जीवित रहेंगी, तबतक महावीरप्रसाद द्विवेदीके व्यक्तित्वकी छाप स्पष्ट दिखाई देती रहेगी। द्विवेदीजी एक तीखे विनोदशील व्यंग्यकार, पुष्ट गद्य-लेखक, कवि, समर्थ समालोचक और एक सफल सम्पादक थे। उन्होंने असीम प्रतिभा द्वारा खड़ीबोली साहित्यकी गतिविधि निर्धारित की। द्विवेदी-युग उनके सम्पादनकालके प्रारम्भसे १९२५ ई०के लगभगतक माना जाता है।

जिस समय द्विवेदीजीने 'सरस्वती'का सम्पादन-भार स्वीकार किया, उस समय हिन्दी-प्रचारके साथ-साथ व्याकरणके नियमोंकी अवहेलना, स्थानीय प्रयोगोकी बहुलता, अनुपयुक्त उर्दू तथा अंग्रेजी शब्दोंका प्रचार, मनमाने ढंगसे गढ़े गये नवीन शब्द, आर्यसमाज-आन्दोलन, बॅंगलासे किये गये अनुवादो और नवोत्थान-कालीन भावनाके कारण हिन्दीकी निजी शैलीमें न खप सकनेवाले शब्दोंका प्रयोग, इन सब कारणोंसे बीसवी शताब्दीके प्रारम्भमें हिन्दी गद्य एक अराजकतापूर्ण परिस्थितिसे गुजर रहा था। द्विवेदीजीने भाषाको स्थिरता प्रदान की और भाषाका आदर्श स्थापित किया। भाषाके शब्दभण्डार और उसकी अभिव्यंजनात्मक शक्तिकी वृद्धिका जो कार्य भारतेन्दु-कालमें प्रारम्भ हुआ था, वह द्विवेदी-युगमें और भी आगे बढ़ा। भाषाको परिष्कृत करने और शब्द-भण्डार बढ़ानेके उत्साहमें खड़ीबोली आवश्यकतासे अधिक संस्कृत-गर्भित हो गयी। किन्तु गद्यमें विविध शैलियोंका आविर्भाव अवश्य हुआ। इस समय अंग्रेजीकी लाक्षणिकता, बॅंगलाकी कोमलकान्त-पदावली, अलंकारों, उर्दूकी मुहावरेदानीसे समन्वित शैलीके जन्मके साथ-साथ प्रेमचन्द जैसे लेखकोंकी कृतियोमे हिन्दीकी निजी शैलीका विकास हुआ। बालमुकुन्द गुप्त, पद्मसिंह शर्मा, गोविन्दनारायण मिश्र, पूर्ण सिंह, श्यामसुन्दर दास, रामचन्द्र शुक्ल आदिने अपने-अपने व्यक्तित्वके अनुरूप आत्मकथात्मक, वर्णनात्मक, विवेचनात्मक, भावात्मक, आलोचनात्मक, व्याख्यानात्मक, व्यंग्यात्मक, कवित्वपूर्ण, रूपकात्मक आदि विविध प्रकारकी शैलियोंको जन्म दिया। इन शैलियोंके माध्यम द्वारा वे मानव-मनकी अनेक स्थूल एवं सूक्ष्म बातोका विश्लेषण करने लगे। 'प्रसाद' और 'हृदयेश'की अलंकृत भाषा-शैलियाँ भी द्विवेदी-युगमें उत्पन्न हुई। हिन्दीकी इन विविध शैलियोंमेसे कुछ तो मौलिक थीं, कुछ अनुकरणमात्र थीं। आज हिन्दीकी केवल अपनी विशेषताओंसे सम्बन्धित शैलियाँ रह गयी है।

विविध प्रकारकी भाषा-शैलियोंके साथ-साथ द्विवेदीयुगमें गद्य-साहित्यके विविध रूपोंमें प्रतिपादित विषय और कलाकी दृष्टिसे अधिक विकास हुआ। उपन्यास-साहित्यने निश्चित रूपमे कला, विषय और उपादान, तीनों दृष्टियोसे भारतेन्दु-कालकी अपेक्षा अधिक उन्नति की। मनोविज्ञान और संघर्षका आश्रय ग्रहण कर उपन्यास-लेखकोने मानवमन और मानव-जीवनका स्वाभाविक चित्रण करना प्रारम्भ किया। सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणसे तिलिस्मी, साहसिक, जासूसी, ऐतिहासिक, पौराणिक, चरित्रप्रधान, भावप्रधान आदि प्रकारोंके उपन्यास लिखे गये। इस प्रकारके उपन्यासकारोंमें किशोरीलाल गोस्वामी, प्रेमचन्द, गोपालराम गहमरी, वृन्दावनलाल वर्मा, कौशिक, चतुरसेन शास्त्री आदिके नाम उल्लेखनीय है। इनमेंसे कुछकी वास्तविक प्रतिभा बादको प्रस्फुटित हुई। इस युगके सबसे अधिक प्रसिद्ध उपन्यासकार प्रेमचन्द है। उनमे अद्वितीय वर्णनात्मक शक्ति है और वे मानव-मनका अत्यन्त सुन्दर उद्घाटन करते है। कहानी तो निश्चित रूपसे द्विवेदी-युगकी देन है। उसका प्रारम्भ १९०० ई०में 'सरस्वती' मासिक पत्रिकासे होता है। प्रारम्भमें अंग्रेजी और संस्कृत कथाओके कहानी रूपान्तर प्रकाशित हुए। धीरे-धीरे सामयिक जीवनमें घटित होनेवाली साधारण घटनाओंके आधारपर कहानियोंका निर्माण होने लगा और चरित्रप्रधान, वातावरणप्रधान, कथानकप्रधान, कार्यप्रधान, प्रतीकवादी आदि अनेक प्रकारकी कहानियाँ वर्णनात्मक, सम्भाषणात्मक, आत्म-चरित, पत्र, डायरी आदि शैलियोंमें लिखी गयीं। प्रेमचन्द, 'प्रसाद', कौशिक, ज्वालादत्त शर्मा, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और सुदर्शन इस युगके प्रमुख कहानी-लेखक है।

बॅंगलासे किये गये अनुवादों और पारसी रंगमंचके लिये लिखे गये नाटकोंके कारण इस युगमे श्रेष्ठ, मौलिक नाट्य-कृतियोंका अभाव मिलता है। बेताब, कश्मीरी, शैदा, जौहर, राधेश्याम आदिकी नाट्य-कृतियोंमें नाट्य-कलाका हीन रूप दृष्टिगोचर होता है। नाट्य-साहित्यका यह पतन भारतेन्दु-कालमें ही प्रारम्भ हो गया था। द्विवेदी-युगमे परिस्थिति बहुत अधिक न सुधर पायी। साहित्यिक नाटकोंके रसास्वादनके लिए हिन्दी पाठक बॅंगलाकी अनूदित

कृतियाँ पढ़ते थे। भारतेन्दु-कालकी भाँति साधु रंगमंचका अभाव भी बराबर बना रहा। प्रथम महायुद्ध (१९१४-१९१९ ई०)के समयतक हिन्दीमे उत्तम कोटिकी मौलिक नाट्य-रचनाएँ एक प्रकारसे उपलब्ध नही होती—बदरीनाथ भट्टकृत 'कुरुवन-दहन' जैसे अपवादस्वरूप नाटकोंमें नाटकीय तत्त्व, चरित्रचित्रण, कथासंघटन, साहित्यिकता आदिकी दृष्टिसे नाट्य-साहित्यके उज्ज्वल भविष्यका संकेत मिल जाता है। यद्यपि राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'कृत 'चन्द्रकला-भानुकुमार' नाटक एक मौलिक और साहित्यिक नाटक था, किन्तु यह कल्पनापर अधिक आधारित था और उसका आकार बृहत् था। ऐसी परिस्थितिमे जयशंकर 'प्रसाद'ने नाट्य-क्षेत्रमे पदार्पण किया। १९२५ ई०के लगभग उनकी 'सज्जन', 'कल्याणी-परिणय', 'करुणालय', 'प्रायश्चित्त', 'राज्यश्री', विशाख', 'अजातशत्रु' और 'कामना' नामक रचनाएँ प्रकाशित हुई। द्विवेदी-युगमे उनकी प्रतिभाका प्रथम विकास अवश्य दृष्टिगोचर होता है, किन्तु उनकी वास्तविक प्रतिभा परवर्ती कालमे प्रस्फुटित हुई। 'प्रसाद'ने शिक्षित समुदायके सामने भारतके प्राचीन गौरवका चित्र प्रस्तुत करते हुए आधुनिक राष्ट्रीय भावनाओका पोषण किया। यद्यपि आन्तरिक एवं बाह्य संघर्ष, आदर्श, चरित्र-चित्रण, कथानकसंघटन, कथोपकथन आदिकी दृष्टिसे इनके नाटक महत्त्वपूर्ण है, तो भी नाट्यकला तथा रंगमंचकी दृष्टिसे वे सर्वथा निर्दोष नही है। हरिकृष्ण 'प्रेमी' तथा अन्यान्य नाटककारोंने 'प्रसाद' शैलीका ही अनुसरण किया।

निबन्ध-रचनाकी दृष्टिसे द्विवेदी-युग उसका विकासकाल है। भारतेन्दुकालमें निबन्धकारोंके विषय, उपादान और शैली सीमित रही, किन्तु द्विवेदी-युगमे महावीरप्रसाद द्विवेदी, बालमुकुन्द गुप्त, केशवप्रसाद सिह, पूर्ण सिह, यशोदानन्दन अखौरी, चतुर्भुज औदीच्य, पद्मसिह शर्मा, श्यामसुन्दर दास, रामचन्द्र शुक्ल आदिने कथात्मक, वर्णनात्मक, विचारात्मक आदि विविध प्रकारके निबन्ध प्रस्तुत कर निबन्धोंमे विषयविस्तार और विविध शैलियाँ उपस्थित कीं। पत्र-पत्रिकाओंकी भी द्विवेदी-युगमे यथेष्ट वृद्धि हुई; यद्यपि अंग्रेजीके प्रचार और भाषा-सम्बन्धी यान्त्रिक साधनोंकी कठिनाई होनेके कारण हिन्दीके दैनिक पत्रोंका स्तर और सम्पादन अधिक उन्नति न कर सका। साहित्यिक दृष्टिसे 'सरस्वती', 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' और 'इन्दु' मासिक या त्रैमासिक पत्रोंमे उल्लेखनीय है। १८९७ ई०मे 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका'के प्रकाशनसे हिन्दी समालोचना-साहित्यकी विशेष वृद्धि हुई। पिछली प्रणालीके साथ-साथ उसमें नूतन प्रणालियोका जन्म हुआ। उसमें गम्भीर अध्ययनके बाद गवेषणात्मक और समालोचना-सिद्धान्त-सम्बन्धी साहित्य प्रकाशित होने लगा। इस सम्बन्धमें श्यामसुन्दर दास, रामचन्द्र शुक्ल, मिश्रबन्धु और पद्मसिंह शर्माका कार्य प्रशंसनीय है। आगे चलकर ज्यों-ज्यों भारतीय एवं पाश्चात्य समालोचना-सिद्धान्तोका अध्ययन होता गया, त्यों-त्यों हिन्दी समालोचना-साहित्य भी समृद्ध होता गया।

द्विवेदी-युगका काव्य-साहित्य भारतेन्दु-कालके पश्चात् आधुनिक हिन्दी कविताका दूसरा और तीसरा परिवर्तनकाल है। पिछले कालमें प्रबन्धकाव्यों और गीतिकाव्योंका एक प्रकारसे नितान्त अभाव था। बीसवी शताब्दीके प्रथम बीस-पचीस वर्षोमें महाकाव्य, खण्डकाव्य, आख्यानक-काव्य, प्रेमाख्यानककाव्य और गीतिकाव्यकी रचना हुई और शब्दभण्डार, भावप्रकाशन-शक्ति आदिकी दृष्टिसे खड़ीबोलीका नवीन विकास और उत्कर्ष उपस्थित हुआ। यह काव्य बुद्धिपर प्रभाव डालनेवाला, भावों तथा विचारों-पर आधारित कल्पनाप्रसूत रूपवाला था। द्विवेदी-युगमें प्रधा-नता इतिवृत्तात्मक काव्यकी रही, किन्तु उसके लगभग अन्तमे इतिवृत्तात्मकतासे भावपूर्ण कविताकी ओर, अल-कार, रस, गुण आदिसे मानव जीवनकी उच्च वृत्तियों और भावनाओंकी ओर और प्रकृति-वर्णनमे मनःकल्पित दृश्योंकी व्यंजनाकी ओर विकसित हुआ।

प्रस्तुत कालके कवियोंने हिन्दीकाव्य-सहित्यकी परम्पराओं और रूढियोंके प्रति विरोध प्रकट कर प्रकृति, मानव और जीवनके सम्बन्धमे व्यापक दृष्टिकोण ग्रहण किया। भाषा, छन्द आदिकी दृष्टिसे रीतिकालीन परम्पराकी अतिशय नियमबद्धता और पाण्डित्य-प्रदर्शनका उसमें परित्याग कर दिया गया। प्रथम महायुद्धके लगभग अन्ततक काव्य-साहित्यमें प्रधानतः साहित्यिक परिवर्तन प्रकट हुए, किन्तु उसके बाद साहित्यिक परिवर्तन ही नही हुए, वरन् दार्शनिक और कलात्मक परिवर्तन भी हुए। विश्वकी चेतना, सृष्टिका रहस्य, एकान्त वेदना, अनन्त निराशा, सर्वचेतनवाद, प्रेम, प्रकृतिपर चेतनताका आरोपण आदि उसके नवीन पक्ष है। उसमें गीतितत्त्वको भी प्रधानता मिली। मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय, मुकुटधर पाण्डेय, बदरीनाथ भट्ट, नाथूरामशंकर शर्मा, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, 'प्रसाद', पन्त, 'निराला' आदि इस युगके अन्ततकके प्रमुख कवि है। १९०४ ई०में रूसपर जापानकी विजय, बंग-भंग-आन्दोलन, होमरूल-आन्दोलन तथा अन्तमें असहयोग-आन्दोलन द्वारा हिन्दीमें इस समय राष्ट्रीय काव्यधाराका, जो भारतेन्दु-युगमे जन्म ले चुकी थी और भी अधिक विकास हुआ। गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', श्रीधर पाठक, सत्यनारायण कविरत्न, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', मैथिलीशरण गुप्त आदिने इस काव्यधाराका पोषण किया। श्रीधर पाठकने प्रकृति-वर्णन करते समय नवीनता प्रदर्शित की और 'हरिऔध'कृत 'प्रियप्रवास' महाकाव्यकी रचना भी इसी समय हुई। काव्यमें एक नवीन मानवतावादी दृष्टिकोण उत्पन्न हुआ और रूढ़ियों तथा परम्पराओंका तिरस्कार कर कवियोंने एक नवीन युगकी भूमिका बाँधी।

द्विवेदी-युगमें यद्यपि काव्यभाषाके रूपमे खड़ीबोलीकी स्थापना हो गयी थी, तो भी ब्रजभाषाकी प्राचीन काव्य-परम्परा भी क्षीण रूपमे बराबर बनी रही। इस परम्पराका पालन करनेवाले कवियोंमें जगन्नाथदास 'रत्नाकर', राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', सत्यनारायण 'कविरत्न' आदिके नाम उल्लेखनीय है। 'रत्नाकर'ने भक्ति और रीतिकालका सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया।

[सहायक ग्रन्थ—महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग : उदयभानु सिंह।] —ल० सा० वा०

द्वैतवाद—अन्तिम सत् एक है या दो है या दोसे अधिक है? जो एक कहते है, उनके सिद्धान्तको एकत्ववाद, जो दो कहते है, उनके सिद्धान्तको द्वित्ववाद और जो दोसे अधिक कहते है, उनके सिद्धान्तको बहुत्ववाद कहा जाता है। द्वित्ववादको कभी-कभी द्वैतवाद कहते है। पर द्वित्ववाद, द्वैतवाद या बहुत्ववाद दोनोका पर्याय हो गया है। भारतीय दर्शनमें एकत्ववादको प्रायः अद्वैतवाद समझा जाता है और इसके विरोधमें जो सिद्धान्त रहता है, उसको द्वैतवाद। इन दोनोमे बहुत विरोध है। इस विरोधको दूर करके दोनोका समन्वय करनेवाले सिद्धान्त है शुद्धाद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद और द्वैताद्वैतवाद। द्वैतवाद भी उक्त वादोकी भाँति वेदान्त है, क्योंकि इसको भी श्रुति, स्मृति और ब्रह्मसूत्रके प्रमाण मान्य है। इमका भी लक्ष्य ब्रह्मको प्राप्त करना है। यह भी ब्रह्मवाद है, पर इसमें जीव, जगत् और ब्रह्मको परस्पर भिन्न समझा जाता है, अभिन्न नही।

द्वैतवादके प्रथम प्रवर्तक और आचार्य मध्वाचार्य है। वे इसको परम्परागत बतलाते है, पर उनका कथन ऐतिहासिक दृष्टिसे निराधार है। मध्वका जन्म दक्षिण-भारतमें तुलुवदेशके वेलिग्राममें उदीपिके पास मधिजीभट्ट नामक एक वेदवेदांगपारंगत ब्राह्मणके घर ११९९ ई०मे हुआ था। घरका इनका नाम वासुदेव था। ये दौड़ने, कूदने-फाँदने, तैरने और कुश्ती लड़ने आदिमे पारंगत थे। अतः इनका नाम भीम पड गया। कहा जाता है कि ११ वर्षकी उम्रमें इन्होंने अद्वैतमतके संन्यासी अच्युतपक्षाचार्यसे संन्यासकी दीक्षा ली। अब इनका नाम पूर्णप्रज्ञ रखा गया। जब ये वेदान्तमें पारंगत हो गये तो गुरुने इनका नाम आनन्दतीर्थ रख दिया। इसी नामसे इन्होंने कई ग्रन्थोंकी रचना की, जिनमें उपनिषदोंके भाष्य, गीताभाष्य और ब्रह्मसूत्रके भाष्य मुख्य है। १३०३ई० में इनका देहान्त हुआ। इनके मतके प्रसिद्ध अनुयायी और विद्वान् रचयिता जयतीर्थ (१४वी शती), व्यासतीर्थ (१५वी शती), रामाचार्य (१६वीं शती), वनमाली मिश्र (१७वी शती), विजयीन्द्र (१८वीं शती), वेदेशतीर्थ (१८वी शती) आदि है। इस मतके अनुयायी आज भी अधिक संख्यामे बम्बई राज्यके कन्नड-भाषी प्रदेश, मैसूर और पश्चिमी तटपर गोवासे लेकर कन्नाडतकके प्रान्तमें रहते है। उत्तरी भारतमें ये लोग इधर-उधर सर्वत्र बिखरे हुए है, पर दक्षिण भारतकी भाँति बहुसंख्यामे कही नही है। दक्षिण कन्नाडमें इस मतके ८ मठ है और तीन मठ शेष भारतमे है। ये आज भी इस मतका प्रचार-प्रसार करते रहते है।

द्वैतवाद अद्वैतवादकी प्रतिक्रियामें आविर्भूत हुआ। मध्वाचार्यने श्रुति तथा तर्कके आधारपर सिद्ध किया कि संसार मिथ्या नहीं है, जीव ब्रह्मका आभास नही है और ब्रह्म ही एकमात्र सत् नहीं है। इस प्रकार अद्वैतवादके अभेदका खण्डन करते हुए उन्होने पाँच नित्य भेदोको सिद्ध किया—(क) ईश्वरका जीवसे नित्य भेद है, (ख) ईश्वरका जड़ पदार्थसे नित्य भेद है, (ग) जीवका जड पदार्थसे नित्य भेद है, (घ) एक जीवका दूसरे जीवसे नित्य भेद है, (ङ) एक जड पदार्थका दूसरे जड़ पदार्थसे नित्य भेद है। इस सिद्धान्तको पंचभेद-सिद्धान्त कहा जाता है। जयतीर्थने 'वादावली' और व्यासतीर्थने 'न्यायामृत' जैसे उत्कृष्ट ग्रन्थोमे अद्वैतका खण्डन किया। अद्वैतवादी मधुसूदन सरस्वतीने इन सबके खण्डनोंका खण्डन करनेके लिए, विशेषतः 'न्यायामृत' जैसे सर्वश्रेष्ठ मध्ववादी ग्रन्थका खण्डन करनेके लिए, भेदका खण्डन करनेके लिए तथा अभेदकी सिद्धिके लिए 'अद्वैतसिद्धि' जैसे उत्कृष्ट ग्रन्थकी रचना की। मधुसूदन सरस्वतीको अपने प्रयासमे पर्याप्त सफलता मिली। द्वैतवादी रामाचार्यने 'न्यायामृत'की टीका 'तरंगिणी' नामसे लिखी। इसमे उन्होने 'अद्वैतसिद्धि'की युक्तियोंका खण्डन किया और इस प्रकार पुनः 'अद्वैतवाद'-का खण्डन करके द्वैतवादकी स्थापना की। 'तरंगिणी'की आलोचना अद्वैतवादी ब्रह्मानन्द सरस्वतीने अद्वैतसिद्धिकी टीका 'गुरुचन्द्रिका' और 'लघुचन्द्रिका' नामसे लिखकर की। इनके इन ग्रन्थोको 'गौड-ब्रह्मानन्दी' भी कहते है। अद्वैतवादी अप्पय दीक्षितने भी 'मध्वमतमुखमर्दन' लिखा। द्वैतवादी वनमाली मिश्रने 'गौड-ब्रह्मानन्दी' और 'मध्वमत-मुखमर्दन'का खण्डन किया और द्वैतवादको अद्वैतवादके खण्डनोसे बचाया। इसके अनन्तर तो अद्वैतवाद तथा द्वैतवादका संघर्ष भारतीय दर्शनमे प्रधान बन गया। 'न्यायामृत'की टीकापर टीका लिखी जाने लगी। इनका उद्देश्य था अद्वैतवादका खण्डन। उधर 'अद्वैतसिद्धि'की व्याख्यापर व्याख्या होने लगी, जिनका उद्देश्य था द्वैतवाद-का खण्डन। इन दो ग्रन्थोका इस संघर्षमे केन्द्रीय स्थान है। इनके अतिरिक्त द्वैतवादी भेदोज्जीवन और अद्वैतवादी भेद-धिक्कार लिखते रहे। एक भेदका जीवनोद्धार करते रहे और दूसरे इसको धिक्कारते रहे।

उपनिषदोंमें बहुतसे वाक्य है, जो अद्वैतवादकी स्पष्ट पुष्टि करते है। मध्वाचार्यने इन वाक्योंकी द्वैतवादी व्याख्या की है। कुछ-एकका यहाँ उदाहरण दिया जाता है, क्योंकि श्रुतियोंके समन्वयको ही वेदान्त कहते है और द्वैतवादके वेदान्त-सिद्धान्त होनेके कारण उसकी श्रुति-व्याख्या समझना आवश्यक है। 'तत्त्वमसि' (वह तू है) स्पष्टतः अद्वैतपरक है, पर मध्व इसका अर्थ लेते है—'तदीयः (तस्य) त्वम् असि' (तू उसका है)। अर्थात् तुझमे और उसमे भेद है। 'अयम् आत्मा ब्रह्म' (यह आत्मा ब्रह्म है), अद्वैतपरक वाक्य है, पर मध्व इसका यो द्वैतपरक अर्थ करते है—'अयम् जीवात्मा (आत्मा) ब्रह्म (वर्धनशील) अस्ति'—यह आत्मा बढती रहती है। 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' (ब्रह्मविद् ब्रह्म ही होता है), इस अद्वैतपरक वाक्यका द्वैतपरक अर्थ यो किया जाता है—ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्मके समान हो जाता है। जब हम कहते है कि यह पुरोहित राजा हो गया है तो हमारा अर्थ है कि यह पुरोहित राजाके समान हो गया है। इसी तरह जब कहते है कि ब्रह्मविद् ब्रह्म है, तो उसका अर्थ है कि ब्रह्मविद् ब्रह्मके समान है। 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' आदि वाक्योंका अर्थ है कि ब्रह्म बेजोड है और उसको कोई पार नही कर सकता है, वह अपार है। इन वाक्योका यह अर्थ नही है कि सिर्फ ब्रह्म ही एकमात्र सत् है और अन्य सब कुछ मिथ्या है। जो वाक्य द्वैतवादकी स्पष्ट निन्दा करते है, जैसे "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" (जो यहाँ नानात्व या भेद देखता

है, वह एक मृत्युके बाद दूसरी मृत्यु पाता रहता है), उनको मध्व पूर्वपक्ष मान लेते हैं और कहते हैं कि विरोधीके सिद्धान्तको पहले स्थापित करके श्रुति स्वयं उसका खण्डन सिद्धान्तरूपमें उत्तरपक्षमें करती है। 'असद् एवेदं अग्रासीत्' (पहले असत् ही था), इसको अद्वैतवादी भी पूर्वपक्ष मानकर परवर्ती वाक्योंमें इसका खण्डन मानता है। बस इसी प्रणालीसे द्वैत-निन्दक वाक्योंका भी द्वैतवादी उनके परवर्ती वाक्योंमें खण्डन देखता है। स्पष्ट है कि अद्वैतपरक श्रुतियोंकी द्वैतवादी व्याख्यामें दूरकी कौड़ी अधिक है। यह घुमा-फिराकर अर्थ निकालनेका फल है। सीधा अर्थ सही अर्थ होता है। अतः द्वैतवादी व्याख्याको अर्थ-विज्ञान तथा श्रुतिके ज्ञाता कभी प्रामाणिक नहीं मान सकते।

इस मतमें कुल दस पदार्थ माने जाते हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य और अभाव। प्रथम पाँच और अन्तिम वैशेषिक पदार्थ ही हैं। इनमें विशिष्ट, अंशी, शक्ति और सादृश्य जोड़ देना मध्व मतकी वैशेषिक मतसे विशिष्टता है। द्रव्य बीस प्रकारका माना जाता है—परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, अव्याकृत, आकाश, प्रकृति, गुणत्रय, अहंकारतत्त्व, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, मात्रा, भूत, ब्रह्माण्ड, अविद्या, वर्ण, अन्धकार, वासना, काल और प्रतिबिम्ब। इनमेंसे अधिकांश सांख्यके तत्त्वोंसे लिये गये हैं। मध्वमतका ईश्वर या परमात्मा बहुत कुछ न्यायके ईश्वरसे मिलता-जुलता है। उसकी प्रकृति सांख्यकी प्रकृतिसे मिलती है। इस तरह मध्वमत कुछ बातोंमें न्याय-वैशेषिक और कुछ बातोंमें सांख्य-दर्शनसे मदद लेता है।

मध्वमतका प्रचार-प्रसार कन्नड-भाषी प्रान्तमें ही अधिक है। हिन्दी-भाषा-भाषी क्षेत्रमें इस मतका अपेक्षाकृत कम प्रचार है। अतः हिन्दीमें इस मतको साक्षात् या परम्परासे माननेवाले सन्त कम ही हैं, पर उनकी बानियोंमें कभी-कभी मध्वके द्वैतवादकी स्पष्ट छाप दिखलाई पड़ती है। वे प्रायः द्वैतवादियोंका वैसे ही खण्डन करते हैं, जैसे अद्वैतवादियोंने द्वैतवादका खण्डन किया था। मध्वमतके पंचभेद-सिद्धान्तका प्रायः बड़ा प्रभाव है। ज्ञानके तारतम्य, आनन्दके तारतम्य और मुक्तिके तारतम्य—इन सिद्धान्तोंका साहित्य तथा जन-जीवनपर आज भी प्रभाव स्पष्ट है।

[सहायक ग्रन्थ—भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय; 'कल्याण'का वेदांतांक।] —सं० ला० पा०

द्वैताद्वैतवाद—संसार और ब्रह्मके सम्बन्धको लेकर दार्शनिकोंमें कई मत प्रचलित हैं। शंकरने अद्वैत, रामानुजने विशिष्टाद्वैत और निम्बार्कने द्वैताद्वैत माना। निम्बार्कके मतमें संसार ब्रह्मसे भिन्न और अभिन्न दोनों है। रामानुजने संसारको ब्रह्मसे भिन्न मानते हुए भी दोनोंकी अभिन्नतापर ही अधिक जोर दिया और शंकरने तो दोनोंको भिन्न न मानते हुए अभिन्न ही माना। निम्बार्कके मतानुसार ब्रह्मसे संसारकी भिन्नता और अभिन्नता, दोनों समान महत्त्व की हैं। इसीलिए इस मतको द्वैत (भिन्नता माननेवाला मत) और अद्वैत (अभिन्नता माननेवाला मत), दोनों एक साथ कहा जाता है। यह कहनेमें व्याघातक अवश्य लगता है, पर वास्तवमें यही सत्य है। जैसे कार्य (घट) कारण (मिट्टी)-से अभिन्न है, क्योंकि दोनोंकी सामग्री एक ही है और साथ ही भिन्न भी है, क्योंकि दोनोंके नाम, रूप, आकार, प्रयोजन आदि पृथक्-पृथक् हैं। वैसे ही संसार (कार्य) ब्रह्म-(कारण)से भिन्न और अभिन्न दोनों है। ब्रह्म अद्वैत है, संसार द्वैत (नाना) है। दोनों नित्य सत्य हैं। अद्वैत ब्रह्म (कारण) ही द्वैत संसार (कार्य)का वास्तविक रूप धारण करता है। जो भी कार्य-कारण-सम्बन्धपर विचार करेगा, उसे तात्त्विक दृष्टिमें द्वैताद्वैतवादको ही मानना पड़ेगा। इस मतका दूसरा नाम भेदाभेदवाद है।

निम्बार्क तेलंग ब्राह्मण थे। ११वीं शताब्दीमें रामानुजके परवर्ती कालमें इनका जन्म हुआ। ये ही द्वैताद्वैतवादके मुख्य प्रवर्तक हैं। इनके मुख्य ग्रन्थ 'वेदान्तपारिजात' (ब्रह्मसूत्रका भाष्य), 'दशश्लोकी' और 'श्रीकृष्णस्तवराज' हैं। इनके साक्षात् शिष्य श्रीनिवासाचार्य थे, जिन्होंने 'वेदान्तपारिजात'की टीका 'वेदान्तकौस्तुभ'की रचना की। केशव भट्ट कश्मीरी (१५वीं शताब्दी) इस मतके प्रमुख ग्रन्थकार हैं। इनके लिखे कई ग्रन्थ हैं। इस मतके अन्य सम्मानित लेखक पुरुषोत्तमाचार्य, देवाचार्य, अनन्तराय और माधव मुकुन्द हैं।

पर इस मतका इतिहास निम्बार्कसे भी प्राचीन है। ब्रह्मसूत्रकार बादरायणके पूर्व औडुलोमि और आश्मरथ्य भेदाभेदवादी थे, ऐसा ब्रह्मसूत्रसे ही ज्ञात होता है। इनके मतसे कारणात्मना जीव तथा ब्रह्मका ऐक्य है और कार्यात्मना अनैक्य। शंकराचार्यके पूर्व भर्तृप्रपंच नामके एक प्रसिद्ध उपनिषद्-भाष्यकार और भेदाभेदवादी दार्शनिक थे। शंकरके पश्चात्, पर रामानुजके पहले भास्कर नामके एक ब्रह्मसूत्र-भाष्यकार हुए हैं, जो भेदाभेदवादी ही हैं। इसके अनन्तर यादव नामके एक और भेदाभेदवादी हुए, जो निर्गुणवाद और मायावादको अन्य भेदाभेदवादियोंकी भाँति नहीं मानते थे।

सभी भेदाभेदवादी ज्ञानकर्म-समुच्चयवादी और ब्रह्म-परिणामवादी हैं। वे जीवन्मुक्तिको नहीं मानते। उनके मतसे केवल विदेह मुक्ति ही सम्भव है। भास्कर भेद-(नानात्व)को औपाधिक मानते थे और यादव तथा निम्बार्क स्वाभाविक।

हिन्दीके समस्त सन्तों और भक्तोंपर भेदाभेदवाद या द्वैताद्वैतवादका प्रभाव स्पष्ट है। जीव और ब्रह्मके भेदको समझानेके लिए वे जिन रूपकोंका प्रयोग करते हैं, उनसे यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। पर सिद्धान्तरूपसे जैसा पीताम्बरदत्त बड़थ्वालका कहना है, नानक तथा उनके अनुयायी ही विशेष रूपमें भेदाभेदवादी हैं। पर यह सिर्फ तत्त्ववाद और आभ्यन्तर धर्मसाधनाका भेदाभेदवाद है। बाह्य रूपसे निम्बार्क और नानकके मतोंमें पर्याप्त भेद है। निम्बार्क वैष्णव हैं और नानक सत्य और नामके उपासक; निम्बार्क सगुण ईश्वरकी ओर अधिक झुके हैं और नानक निर्गुणकी ओर। पर दोनोंका तत्त्ववाद भेदाभेद ही है। दोनोंमें ब्रह्म या सत्, जीव और जगत्की समान व्याख्या है।

रामानुजकी भाँति निम्बार्क भी ईश्वर, चित् (जीव) और अचित् (जड़ पदार्थ), तीन परम तत्त्व मानते हैं। ईश्वरमें

अनन्त वस्तुओंको उत्पन्न करनेकी शक्ति है। उस शक्तिमें ही सभी वस्तुएँ सारतः विद्यमान हैं। ईश्वर अपनी शक्तिका अनुभवमात्र करनेसे संसारका रूप धारण करता है। रामानुजके मतमें चित् और अचित् ईश्वरके अंगभूत हैं, पर यह निम्बार्कको अमान्य है। चित् और अचित्को ईश्वरकी शक्ति मानना—शक्तिवाद—इस मतकी अपनी विशेषता है। जीव और जड पदार्थ ईश्वरके अंश नहीं हैं, अपितु शक्ति हैं।

जीव या चित् ज्ञानस्वरूप और ज्ञानाश्रय है। वह ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता है। वह अणु है। मुक्तावस्थामे भी वह कर्ता रहता है। उस समय वह ईश्वरसे केवल एक बातमे भिन्न रहता है। वह यह कि ईश्वर नियन्ता है और जीव नियम्य। जड पदार्थ तीन प्रकारका है—प्राकृत, अप्राकृत और काल। प्राकृतका तात्पर्य है महत् तत्त्वसे लेकर महाभूततक प्रकृतिसे उत्पन्न जगत्। अप्राकृतका अर्थ उन पदार्थोंसे है, जिनसे प्रकृतिका सम्बन्ध बिलकुल नहीं है। इनमे विष्णुपद, परमपद आदि हैं।

ईश्वर सगुण है। वह निर्दोष है। जो कुछ भी दृष्टिगोचर और बोधगम्य है, उसके भीतर और बाहर ईश्वर व्याप्त है। उसको ही परमब्रह्म, नारायण, भगवान्, कृष्ण, पुरुषोत्तम आदि नामोंसे पुकारा जाता है। निम्बार्क ही प्रथम वैष्णव है, जिन्होंने कृष्ण और राधाको सर्वप्रथम विशेष महत्त्व दिया। सहस्रो सखियोसे घिरी हुई राधा और उसके वल्लभ कृष्ण, निम्बार्कके आराध्य देव हैं। दोनोंकी लीला ही सृष्टिका रहस्य है। कृष्णके ही चार व्यूह और अनेक अवतार हैं।

नानकने ब्रह्मको 'सत्य' नाम दिया, वह स्वयं रसरूप है और उसका अनुभव करनेवाला भी है। "वही देखता है, वही समझता है और वही कम एवं अधिक अनुभूत भी हुआ करता है"। वह निर्विशेष होकर भी अपना व्यक्तित्व रखता है। वही सर्वत्र है। "जैसे बूँदमे सागर है और सागरमें बूँद है, वैसे ही जीवमे ब्रह्म है और ब्रह्ममे जीव है"। स्पष्ट है कि नानकके ऐसे विचार भेदाभेदवादके अन्तर्गत ही आते है।

इस मतके अनुसार मुक्तिके लिए जीवको प्रपत्ति या ईश्वरके प्रति आत्मसमर्पणसे अपनी चर्या आरम्भ करनी चाहिये। प्रपत्तिके छः अंग है—समर्पण करनेका संकल्प (आनुकूल्यस्य संकल्पः), विरोधका परिहार (प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्), यह विश्वास कि ईश्वर गोप्ता है (रक्षिष्यतीति विश्वासः), ईश्वरके गोप्तृत्वको स्वीकार करना (गोप्तृत्ववरणम्), अपनेको उसके ऊपर न्योछावर करना (आत्मनिक्षेपः) और निःसहायताका ज्ञान (कार्पण्यम्)। निम्बार्ककी यह धर्मसाधना रामानुजीय टेंकलै मतकी साधनासे मिलती-जुलती है। भेद यह है कि प्रस्तुत मत लक्ष्मी, भू और लीला तथा उनके पति नारायणके स्थानपर सखियों सहित राधा और उसके वल्लभ कृष्णकी भक्तिपर जोर देता है। रामानुजके पूर्व भक्तिका अर्थ परमेश्वरके प्रति अनन्य प्रेम ही था। रामानुजने इस अर्थमें औपनिषदिक उपासना (सतत अर्चन और चिन्तन)को मिला दिया। निम्बार्कने इसको अमान्य समझकर भक्तिका मूल अर्थ ही ग्रहण किया। रामानुजने ऐश्वर्यप्रधान भक्तिकी शिक्षा दी। उनके मतमे ईश्वरकी भक्ति इसलिए होती है कि ईश्वर उदात्त, अतुलनीय, महान्-से-महान् और अनन्त है और इन गुणोंके कारण उसके प्रति आकर्षण, श्रद्धा और भक्ति होती है। निम्बार्कने इस ऐश्वर्यप्रधान भक्तिके स्थानपर माधुर्यप्रधान भक्तिकी शिक्षा दी। भगवान्के ऐश्वर्यसे उसकी ओर आकृष्ट होना धर्म-साधनाका आरम्भमात्र है। सच्ची साधना तो उसके प्रेम तथा जीवन्त साहचर्यमे बँधना है, उसकी मधुरिमाका आस्वादन करना है और उसे मधुर रूपमें देखना है। जीव और ईश्वरके सम्बन्धमे माधुर्यका पुट देना निम्बार्कका ही काम था।

निम्बार्कके मतका प्रचार वृन्दावन और बंगालमें विशेष हुआ। ये स्वयं वृन्दावनमें बस गये थे। उनकी और उनके अनुयायियोंकी दृष्टि सदा समन्वयपर रही है। अद्वैतवाद और द्वैतवादका ये सदा समुच्चय करते रहे।

यूरोपमें तात्त्विक तथा तार्किक दृष्टिसे द्वैताद्वैतवादका १९वीं और २०वीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें विशेष जोर रहा। जर्मन दार्शनिक हीगेल वहाँ इस आन्दोलनका प्रवर्तक था। उसके बाद उसके मतने हीगेलवादका रूप धारण किया। जर्मनीके बाहर इंग्लैण्ड, इटली, अमेरिका और भारतमें भी इस मतका प्रचार हुआ। इन देशोंमे इसने नव-हीगेलवादका रूप धारण किया। यह प्रत्ययवाद या विज्ञानवाद था। इसका मूल सिद्धान्त द्वैताद्वैतवाद या भेदाभेदवाद था। इसमें सत् और असत्को, अभेद तथा भेदको समान महत्त्व दिया गया और बोधको ही वास्तविकताका सच्चा स्वरूप माना गया। धर्ममे इसने भारतीय द्वैताद्वैतवादकी भाँति सगुण ईश्वर या ब्रह्मका समर्थन किया। यद्यपि इस भेदाभेदवाद और भारतीय भेदाभेदवादमे पर्याप्त भेद है, तथापि दोनोंका तत्त्ववाद और तर्कशास्त्र बहुत-कुछ एक-सा है। धर्मसाधना दोनोंकी बिलकुल भिन्न है। हीगेलवाद तथा नव-हीगेलवादकी धर्मसाधना ईसाई मतकी है। इसके तत्त्ववाद और तर्कशास्त्रसे लाभ उठाकर आधुनिक भारतीय द्वैताद्वैतवादने अपने सिद्धान्तोंकी व्याख्या वैज्ञानिक तथा तुलनात्मक ढंगसे करके द्वैताद्वैतवादकी अकाट्य पुष्टि की है।

भक्तवर नाभादासने निम्बार्क, केशव कश्मीरी, श्री भट्ट, हरिव्यास प्रभृति द्वैताद्वैतवादियोंके भक्तिकी सराहना की है। निम्बार्क मतके आचार्यों तथा भक्तोने ब्रजभाषामें कविता की है। इनमे सबसे पहले केशव कश्मीरीके शिष्य श्रीभट्ट हैं। इनका 'जुगलसतक' 'आदिवानी'के नामसे प्रसिद्ध है। ये तथा इस मतके अन्य भक्तगण नित्यविहारी राधा-माधव, अर्थात् लीला करनेवाले कृष्ण और राधाकी युगलमूर्तिके उपासक थे। 'जुगल किसोर हमारे ठाकुर'—यही ध्यान इस मतके भक्तोंका आराध्य है। श्रीभट्टके शिष्य हरिव्यासने 'आदिवानी'पर एक विस्तृत भाष्य लिखा है, जिसका नाम 'महावानी' है। 'जुगलसतक'के दोहोंमे जो भाव संक्षेपमें वर्णित हैं, उन्हींको गेयपदोंमें विस्तार पूर्वक 'महावानी'मे अभिव्यक्त किया गया है। हरिव्यासजी अपने सम्प्रदायमें रसिक-सम्प्रदाय नामक शाखाके प्रवर्तक हैं। इस शाखाको

हरिव्यासी भी कहा जाता है। हरिव्यासजी मधुरभावके उपासक थे। कवितामें वे अपना नाम हरिप्रिया रखते थे। 'एक स्वरूप सदा द्वै नाम' नामक इनका पद द्वैताद्वैतवाद का यथार्थ चित्रण करता है। कहा जाता है, कि वल्लभ-मतानुयायी कवियोंमें जो स्थान सूरदास का है वही स्थान निम्बार्क मतानुयायी कवियोंमें हरिव्यासजी का है। हरिव्यासके १२ शिष्योंमें हिन्दीमें सबसे प्रसिद्ध परशुरामाचार्य हैं। इनके लिखे १३ ग्रन्थ हैं।

निम्बार्क मतके भक्त किशोर कृष्ण और किशोरी राधाके उपासक हैं। हिन्दीके महाकवि बिहारीलाल, केशवदास, घनानन्द, रसिक गोविन्द और रसखान निम्बार्क मतानुयायी वैष्णव हैं। ब्रह्मचारी बिहारीशरणजीने 'निम्बार्क-माधुरी' लिखकर निम्बार्क मतके कवियोंका अच्छा परिचय कराया है। इन कवियोंमें ऊपर वर्णित कवियोंके अतिरिक्त रूपरसिक देव, वृन्दावनदेव, गोविन्द देव, नागरीदास, शीतलदास आदि प्रमुख हैं। यह उल्लेखनीय है कि द्वैताद्वैतवादने हिन्दीमें सगुण और निर्गुण भक्तों, दोनोंको प्रभावित किया है। यह सम्मान किसी अन्य दार्शनिक विचारधाराको नहीं प्राप्त हो सका है। कुछ लोगोंके मतसे सखी-सम्प्रदाय (दे०) निम्बार्कमतकी एक शाखा है, किन्तु सखी-सम्प्रदायवाले इसे निम्बार्कमतसे स्वतन्त्र मानते हैं। वे इसे **इच्छाद्वैत** कहते हैं। सखी-सम्प्रदायके प्रवर्तक हरिदासजीका कहना है—

नाहीं द्वैताद्वैत है, नाहीं विशिष्टाद्वैत।
बँध्यौ नाहीं मतवादमें, ईश्वर इच्छाद्वैत॥

[सहायक ग्रन्थ—भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय; 'कल्याण'का वेदान्तांक; हिन्दी काव्यमें निर्गुण सम्प्रदाय : पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल; भागवत संप्रदाय : बलदेव उपाध्याय; निम्बार्क माधुरी : ब्रह्मचारी बिहारीशरण; स्वामी हरिदासजी तथा अष्टाचार्य : प्रभुदयाल मीतल।] —सं० ला० पा०

धमन चमन–दे० 'हठयोग'।

धर्म (बौद्ध मतानुसार पदार्थोंका स्वरूप)–बौद्धोंके अनुसार सम्पूर्ण जगत् क्षणिक पदार्थोंका संघात है। जिसे दूसरे शास्त्रकार पदार्थ या भाव शब्दसे व्यवहृत करते हैं, बौद्ध लोग उसे ही धर्म कहते हैं। धर्म शब्दसे तात्पर्य उन सभी सूक्ष्म पृथग्भूत तत्त्वोंसे है, जो भूत और चित्तमें निहित होते हैं और जगत्की उत्पत्तिके हेतु हैं। एक क्षणमें एक ही धर्म ठहर सकता है, इसलिए धर्मोंको 'स्वलक्षण'की संज्ञा प्राप्त है। धर्म परस्पर मिलकर किसी दूसरे पदार्थको उत्पन्न करते हैं, वे किसी कारणान्तरसे उद्भूत होते हैं और स्वयं निरोधके प्रति अभिमुख होते हैं। सभी धर्म कारण-कार्य-नियमकी व्यवस्थासे नियमित होते हैं। सम्पूर्ण जगत् इन सूक्ष्मधर्मोंके संघातसे ही निर्मित हुआ है। वसुबन्धुके अनुसार आकाश, प्रतिसङ्ख्यानिरोध और अप्रतिसङ्ख्यानिरोधके अतिरिक्त सभी धर्मोंके जाति, जरा, स्थिति और अनित्यता—ये चार लक्षण हैं। यद्यपि सभी धर्म स्वलक्षण, क्षणिक और पृथग्भूत, अनात्म तथा परस्पर व्यतिरिक्त हैं, तथापि ये कारण-कार्यभावसे परस्पर सम्बद्ध हैं। इसीका नाम प्रतीत्यसमुत्पाद है।

अविद्याके कारण जगत्का यह कारण-कार्य-व्यवहार तीव्र गतिसे प्रवर्तित होता है और प्रज्ञा या धर्म-प्रविचयसे निरुद्ध होता है (दे० 'अभिधर्म कोश', १।२)। यह निरोध बुद्धत्वका सूचक है। अविद्याके क्षणमें धर्मोंका सन्तान पृथग्जनोंको उत्पन्न करता है। धर्म तीन प्रकारके होते हैं—सास्रव (मलिन), अनास्रव (मलरहित) और सास्रवानास्रव।

वैभाषिक (या सर्वास्तिवादी) और सौत्रान्तिक विशेष-रूपसे धर्मोंकी सत्तामें विश्वास रखते हैं और उनका सूक्ष्म-वर्गीकरण भी करते हैं। विज्ञानवादियोंने भी अपनी प्रणालीके अनुसार धर्मोंका वर्गीकरण किया है। वैभाषिक इन धर्मोंका वर्गीकरण मुख्यतः दो प्रकारसे करते हैं:—विषयगत वर्गीकरण और विषयिपरक वर्गीकरण। विषयगत वर्गीकरणकी दृष्टिसे धर्म संस्कृत और असंस्कृतके भेदसे द्विविध बताये गये हैं। **असंस्कृत**का अर्थ है अनुत्पन्न, यानी हेतु-प्रत्ययोंसे उत्पन्न संस्कृत धर्मोंसे व्यतिरिक्त धर्म असंस्कृत कहे जाते हैं। ये सङ्ख्यामें तीन माने जाते हैं—प्रतिसङ्ख्यानिरोध, अप्रतिसङ्ख्यानिरोध और आकाश। **संस्कृत धर्म** हेतु-प्रत्यय-सम्भूत होते हैं। जाति, जरा-मरण, स्थिति, अनित्यता (क्षणिकत्व) और स्वलक्षणत्व—ये इनके सामान्य धर्म हैं। **रूप, चित्त, चैतसिक (चैत्त) तथा चित्तविप्रयुक्त**के भेदसे ये चार प्रकारके बताये गये हैं। **रूप** समस्त भौतिक तत्वों और पदार्थोंके लिए प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द है (रूप्यत इति रूपम्)। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, उनके विषय और अविज्ञप्तिके भेदसे रूपके ग्यारह प्रकार बताये गये हैं।

सौत्रान्तिकों और विज्ञानवादियोंने वैभाषिकोंके इस विभाजनको कुछ हेर-फेरके साथ स्वीकार कर लिया। योगाचारियोंने केवल चित्त या विज्ञानकी सत्ता मानी और सम्पूर्ण बाह्य दृश्यमान जगत्को उन्होंने चित्तकी ग्राह्य-ग्राहकवासनाका ही विकल्प माना। शून्यवादियोंने इन समस्त धर्मोंको प्रतीत्यसमुत्पन्न होनेके कारण सापेक्ष, निःस्वभाव और शून्य बताया। उनके अनुसार बुद्धने कहीं भी किसी भी धर्म(के स्वाभाविक अस्तित्व)का उपदेश नहीं दिया है—"न क्वचित् कस्यचित् कश्चिद् धर्मो बुद्धेन देशितः" ('माध्यमिक कारिका', २५।२४)।

हिन्दी साहित्यमें सिद्धोंने सम्पूर्ण जगत्को क्षणिक धर्मोंका संघात मानते हुए भी उसे मायाके निर्माण और स्वप्नके समान अवास्तविक बताया। विज्ञानवाद और माध्यमिक विचारधाराओंसे प्रभावित इन सिद्धोंने जगत्को चित्तमय बताया। सभी धर्म नैरात्म्य स्वभाव हैं और उनका अस्तित्व चित्तमें ही है। सिद्धोंमें सरह और तिलोपाने बार-बार स्कन्ध, भूत, आयतन, इन्द्रियों और उनके विषयका उल्लेख किया है। सरह बार-बार इन्द्रियों और उनके विषयोंके विलयनपर बल देते हैं, क्योंकि ये ही उनके अनुसार संसार और जागतिक अनुभवकी विधायिका हैं। सरह, कण्हपा और लुईपाने स्कन्ध, धातु, आयतन और इन्द्रियोंसे निर्मित इस जगत्को बार-बार भ्रान्तिरूप बताया है और इसके त्यागनेका उपदेश दिया है। सरह कहते हैं:—"मैं बार-बार गुरुके उपदेशके अनुसार, जैसा मैंने गुरुसे सुना है, स्कन्ध भूत, आयतन, इन्द्रिय और विषयके विचार (मायात्मकता, चित्तरूपता, भ्रान्तता)को व्यक्त कर रहा हूँ" (स्कन्ध, भूत

आअत्तण इन्द्रिअ विसअ विआर अपहुअ। णउ णउ दोहाच्छन्देण, कहवु किम्पि गोप्पु)।

स्कन्ध, धातु और आयतनोंके अतिरिक्त सिद्धोंने इन्द्रियोंके साथ मन (षडायतन) और पाँच महाभूतोंका भी ग्रहण किया है, जो निश्चित रूपसे वैभाषिकोंके धर्म-विचारसे ही प्रभावित है। सरहके दोहाकोशमे पाँच स्कन्धों, धातु, आयतन तथा इन्द्रियों और विषयके साथ असंस्कृतका भी बार-बार उल्लेख और वर्णन मिलता है। महासुख (या निर्वाण) प्रतिसङ्ख्यानिरोधका ही विकसित रूप माना जा सकता है।

[सहायक ग्रन्थ—नरेन्द्रदेव : बौद्धधर्म दर्शन; बलदेव उपाध्याय : बौद्ध दर्शन; भिक्खु जगदीश कश्यप : अभिधम्म फिलासफी।] —क० शु०

धर्मकथा—'धर्मकथा' अथवा 'धर्मगाथा' शब्दका प्रयोग संस्कृत तथा विशेष रूपसे बौद्ध एवं जैन साहित्यमे उपलब्ध है। अंग्रेजीके 'मिथ' शब्दके पर्यायरूपमे हिन्दीमें 'धर्मकथा' शब्द ग्रहण किया गया है। मानव-समाजकी आद्यतम कथाएँ धर्मकथाकी सम्पत्ति है। भाषाका आरम्भ होनेपर विविध प्राकृतिक दृश्योंसे संगति बैठाते हुए जो कथाएँ निःसृत हुई, वे ही आगे चलकर परिष्कृत होती गयीं। धर्मकथा अपने वास्तविक रूपमे कहानी है, जिसमे प्रकट अर्थसे भिन्न, कोई अभिप्रेत अर्थ निहित होता है। धर्मकथामे प्रायः तीन तत्त्व निहित होते है। मूल तत्त्वकी निहिति प्राकृतिक सत्तामें होती है। उसका व्यक्तिपरक स्वरूप दूसरेमे विकसित होकर, तृतीय तत्त्वके द्वारा वस्तुकी नैतिक मान्यताओं और उपयोगिताओंसे सम्बद्ध होकर प्रकट होता है। कतिपय विद्वानोंकी रायमें धर्मकथा कारण-निरूपक कहानी है, जिसके अभिप्रेत अर्थ प्रकृति और मानवके चिर सम्बन्धोंके धार्मिक एवं सामाजिक व्यापारोंके भीतरी रहस्यसे प्रभावित होकर उद्घाटित होते है। धर्मकथाको एक मत द्वारा प्रकाश और अन्धकारके संघर्षकी रूपकवत् घटनाओंका लेखा माना गया है। सुदूर इतिहासके अन्धकारमें आदिमानवने प्राकृतिक व्यापारोंको जिन अनगढ़ शब्दोंमें व्यक्त किया, वे शब्द क्रमशः मूल अर्थसे भिन्न स्वरूप धारण करते गये। कालान्तरमें उनका रूपक स्पष्ट हो गया। दूसरे मतके अनुसार धर्मकथा मानवकी असभ्य अवस्थामें उत्पन्न हुई है। वस्तुतः धर्मकथाकी उत्पत्ति कदाचित् किसी समय समूह द्वारा किये गये अनुभव-विशेष अथवा समान मानसिक अवस्थाके परिणामस्वरूप हुई है। आंग्ल भाषामें इस विषयपर कतिपय ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। मैक्समूलरके मतसे धर्मकथा 'भाषाका रोग अथवा विकृति' या 'प्रकृति-रूपकोंकी विडम्बना' है। इस मतका खण्डन अण्ड्रलंगने 'मॉडर्न माइथोलॉजी, ए रिप्लाइ टु मैक्समूलर' ग्रन्थमे किया है। 'कस्टम एण्ड मिथ' तथा 'मिथ रिचुअल एण्ड रिलीजन' ग्रन्थ भी लंगके है, जिनमे धर्मकथापर विस्तारसे विवेचन किया गया है।

धर्मकथाकी गणना लोकसाहित्यके अन्तर्गत होती है। वस्तुतः दोनों एक-दूसरेसे निकटतः सम्बन्धित है। फ्रेजरके मतानुसार इसका सम्बन्ध कृषि और प्रजनन-कर्ममें उत्पन्न भय और आशंकाओंपर निर्भर करता है। आजकी अनेक लोककथाओंके मूल बिन्दु धर्मकथाओंमे छिपे है।—द्या० प०

धर्मगत लक्षणा—विश्वनाथके अनुसार सम्पूर्ण लक्षणाके भेदोपभेद धर्मगत तथा धर्मिगत होते है (सा० द०, २ : ११)। जहाँ लक्षणाका प्रयोजनरूप (व्यंग्यार्थ) लक्ष्यार्थके धर्ममे हो, वहाँ धर्मगत लक्षणा मानी जाती है। प्रचलित उदाहरण 'गंगापर बस्ती'मे 'गंगा' पदका लक्ष्यार्थ 'तट' लिया गया है और तटका धर्म पवित्रता-शुचिता आदि है। तटके धर्मका अतिशय सूचित करनेके प्रयोजनसे यहाँ धर्मगत लक्षणा है। —सं०

धर्मगाथा—धर्मगाथा शब्द अंग्रेजी 'मिथ'के लिए प्रयोगमे आता है। धर्मभावसे युक्त गाथा, देखनेमे तो स्पष्टतः कहानी ही होती है किन्तु इसके पात्र, विशेषतः नायक, देवी-देवता होते है। इन देवी-देवताओंमे लोगोंकी आस्तिक आस्था रहती है, इन धर्मगाथाओंमे सृष्टिका जन्म विविध प्राकृतिक तथा मानवीय व्यापारोंके मूल कारण, जातियोंका उदय, सांस्कृतिक तत्त्वोंकी व्याख्या, जैसे कौन कब पृथ्वीपर आग लाया आदिका उल्लेख रहता है। धर्मगाथाओंके सम्बन्धमे एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसमें लोक और मनीषी, दोनोंको आस्था रहती है। कुछ इसीलिए यह भी कहते है कि धर्मगाथाका सम्बन्ध मनीषी काव्यरचनासे ही है। वास्तविक बात यह है कि धर्मगाथाकी अभीतक ठीक-ठीक व्याख्या हो नहीं सकी है। फिर भी लेवीज स्पेन्सने 'ऐन इण्ट्रोडक्शन टु माइथोलॉजी'मे इनमेसे कुछ रूपोंकी व्याख्या दी है, जिसे संक्षेपमें यहाँ दिया जाता है:—

यह किसी देवता अथवा पराप्राकृत सत्ताका एक विवरण होता है, इसे साधारणतः आदिम विचारोंकी शैलीमें लाक्षणिकतासे अभिव्यक्त किया जाता है। यह वह प्रयत्न है, जिसके द्वारा मनुष्यका विश्वसे सम्बन्ध समझाया जाता है और जो इसे दुहराते है, उनके लिए प्रमुखतः धार्मिक महत्त्व रखता है अथवा इसका जन्म किसी सामाजिक संस्था, रीति-रिवाज अथवा परिस्थितियोंकी किसी विशेषताकी व्याख्या करनेके निमित्त होता है। इस परिभाषाके अनुसार धर्मगाथामें (१) देवता अथवा पराप्राकृतिक शक्तिका विवरण होता है। (२) इसमें आदिम मानस विद्यमान रहता है। (३) इसका धार्मिक महत्त्व होता है। इसे जो दुहराता या पढता है, वह किसी धर्मलाभकी आकांक्षा रखता है। (४) इसके निर्माणके दो प्रमुख कारण हो सकते है—

(क) मनुष्यकी शेष सृष्टिके साथ सम्बन्धोंकी व्याख्या करनेके लिए।

(ख) सामाजिक संस्था-प्रथा आदिकी व्याख्याके लिए।

इसे और स्पष्ट करते हुए कहा जा सकता है कि धर्मगाथा यह बताती है कि आदमकी पसलीसे हव्वाका जन्म कैसे हुआ? पशु अथवा पदार्थ कैसे उत्पन्न हुए? किसी प्राणीमे कुछ विशेषताएँ क्यों है? कौवेके एक आँख क्यों है? विशेष प्राकृतिक व्यापार क्यों होता है? चन्द्रको राहु ग्रस लेता है, अतः चन्द्रग्रहण होता है।

विद्वानोंके मतमें धर्मगाथामे धार्मिक आस्था नहीं, धार्मिक पृष्ठभूमि अवश्य होनी चाहिये। उसमें किसी देवता या दैवी पुरुषका समावेश होना आवश्यक है। यदि

ऐसा न होगा तो उसे लोककहानी कहा जायगा। किन्तु यह बात ध्यानमें रखनेकी आवश्यकता है कि केवल देवी-देवताओंके आनेसे कोई लोककहानी धर्मगाथा नहीं हो सकती। किन्तु कुछ लोककहानियाँ ऐसी प्रचलित हैं, जिनमे शिव-पार्वती, विष्णु आदिका उल्लेख मिलता है, पर उन्हे धर्मगाथा नहीं कहा जा सकता। किसी तथ्यकी व्याख्या करनेवाली कहानियोमे देवताओका समावेश होता है, पर उन्हे धर्मगाथा नहीं कह सकते—उदाहरणार्थ, गिलहरीकी पीठपर रेखाएँ क्यों है ?—सीताके वियोगमे गिलहरीने रामको सहायता दी, राम प्रसन्न हुए, उन्होंने उसपर हाथ फेरा और रेखाएँ बन गयीं—यह लोककहानी है, धर्मगाथा नहीं।

कारण यह है कि धर्मगाथाके लिए केवल यही आवश्यक नहीं कि उनमे देवताओंका सन्निवेश हो, यह भी आवश्यक नहीं कि कहानीमे कही गयी बातमें आस्था हो। ऊपरकी कहानीमे वर्णित बातपर कहने-सुननेवाले, दोनों ही विश्वास करते है। किन्तु धर्मगाथाके लिए आवश्यक है कि उक्त दोनो बातोंके साथ उसमे धार्मिक आस्था हो, उसके कहने-सुननेमे किसी धार्मिक लाभकी सम्भावना हो, उसके साथ माहात्म्यकी भावना हो।

कुछ विद्वान् धर्मगाथाको लोकवार्ताभिव्यक्ति नहीं मानते। कुछका तो कहना यह है कि धर्मगाथाका पूर्वमे कुछ भी रूप रहा हो, हमारे समक्ष तो वह महान् कवियों-की रचनाके रूपमें आती है। इन विद्वानोंका लक्ष्य 'इलि-यड' जैसी रचनाओकी ओर होता है। कुछका विचार है कि लोकवार्ता-तत्त्वका सम्बन्ध आदिम मानसके वर्तमान अवशेषोंसे होता है, किन्तु धर्मगाथा तो अतीत कालसे सम्बन्ध रखती है। यह भी कहा जाता है कि धर्मगाथामें आदिम मानसकी अभिव्यक्ति नहीं, क्योकि आदिम मानस-का विकास-क्रम कुछ भिन्न प्रकारसे हुआ है—

(१) मन शब्दका प्रयोग एक रहस्यात्मक शक्तिके अर्थमे मेलेनेशियन द्वीपसमूहमें होता है। यह वस्तुतः आत्मा अथवा आत्मशक्तिका भी मूल सार है। कुछ विद्वान् इस क्रमविकाससे सहमत नहीं। वे आत्मवत्वाद-(ऐनिमेटिज्म)से ही लोकमानसका मूल मानते है। (२) पराप्राकृतिकवाद—प्राकृत पदार्थोंके श्रद्धाभयोद्रेकी व्यापारोंमें किसी शक्तिकी उद्भावना। (३) आत्मवत्वाद (एनिमेटिज्म)—आत्मवत् सर्वभूतेषु, मेरे जैसी बुद्धि, शक्ति, विवेक पशु-पक्षियो, पदार्थों में है। (४) पदार्थात्मवाद—समस्त पदार्थोंमें आत्मा है (एनिमिज्म)। (५) देववाद—देवताओंकी कल्पना।

इन विद्वानोंके विचारसे इस पाँचवीं स्थितिमें पहुँचनेपर ही धर्मगाथाओंका उदय हुआ, अतः ये मूल लोकमानससे सम्बद्ध नहीं। भाषामें भी जैसा कि मैक्समूलरने माना, पहली अवस्था (१) धातु-निर्माणकी है (दी मेटिक पीरियड), (२) भाषाओंकी मूल जातियोंके जन्म की है—डायलेक्टिक। इस अवस्थामें आर्य, सेमेटिक, टर्की जाति-भाषाओंने जातीय धर्म ग्रहण करना आरम्भ किया, (३) धर्मगाथापरक (माइथो-लॉजिकल) है—इस अवस्थापर आकर धर्मगाथाएँ बनी, (४) लौकिक (पापुलर)—इस अवस्थापर पहुँचकर राष्ट्रीय भाषाओंका निर्माण हुआ। धर्मगाथाओंके निर्माणमे भाषाका बहुत हाथ रहा है। मैक्समूलरने यही धारणा बना ली थी कि धर्मगाथा केवल भाषाका रोग (मैलेडी ऑव लैंग्वेज) है। भाषा जब अपनी श्लेषशक्ति अथवा असमर्थताके कारण एकके स्थानपर साम्यके कारण दूसरे शब्दको ग्रहण कर लेती है और अर्थविषयक परिवर्तन भी पैदा कर देती है, तब धर्मगाथा जन्म लेती है। अतः धर्मगाथाका सम्बन्ध लोकमानससे नहीं हो सकता। फिर धर्मगाथासे लोक-कथाएँ उत्पन्न हुई है, अतः लोककथाओ और लोकवार्ताओंकी जननीको पृथक् ही मान्यता देनी पड़ेगी। इसी प्रसंगमे विद्वानोंके एक सम्प्रदायने धर्मगाथाओंको सूर्य, चन्द्र, तूफान जैसे किसी प्राकृतिक व्यापारका रूपक सिद्ध किया। किसीने धर्मगाथाओंको किसी-न-किसी ऐतिहासिक व्यक्तिकी ही रूपान्तरित तथा लोकपरिवर्द्धित कहानी माना।

इन युक्तियोंमे विशेष बल नहीं माना जा सकता। धर्मगाथामे मूलतः आदिम मानस (प्रिमिटिव माइण्ड) ओत-प्रोत है। उसमें समस्त विकार, विकास और उद्भावना लोकमानसके परिणामसे है, संस्कृत मानसकी मनीषा उसमें नहीं। यद्यपि यह विषय पर्याप्त विवादकी गुंजाइश रखता है कि आदिम उद्गार धार्मिक भावनाके मूलसे संयुक्त थे, जैसा कि फ्रेजरने माना है। मैजिक (जादू-टोना)के सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हुए फ्रेजरका कहना है कि लोकवार्ताका मूल मानस 'मैजिक भाव'का परिणाम है। टेलरने उधर ऐनिमिज्मकी स्थापना की थी और रूसके विद्वानोकी मान्यता यह हो रही है कि आदिम मानवकी मूल अभिव्यक्ति धार्मिक मूलसे युक्त नहीं थी, वह शुद्ध लौकिक थी। किन्तु इस समस्त विवादपूर्ण स्थितिके उपरान्त भी यह कहा जा सकता है कि वह धर्म भी लोकतत्त्वका अंग था और धर्मगाथाएँ उसी लोकतत्त्वके आधारपर बनीं। अतः धर्मगाथाएँ लोकवार्ता साहित्यका ही अंग है और लोकगाथाओंका अध्ययन लोकवार्ताओंके अध्ययनके लिए अत्यन्त आवश्यक है तथा लोकवार्ताओंके स्वरूपको समझे बिना धर्मगाथाओंका भी अध्ययन असम्भव है। दोनोंका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। —स०

धर्मचक्र–दे० 'हठयोग'।

धर्ममेघ (समाधि)–पातंजल योगशास्त्रमें चित्त-वृत्तिके निरोधको योग (समाधि) कहा गया है। चित्त त्रिगुणात्मक है। चित्तसे यदि रजोगुण और तमोगुणका संसर्ग रहे, तो उसे विषय एवं ऐश्वर्य प्रिय लगते है। तमोगुणसे संयुक्त चित्तकी प्रवृत्ति आसक्ति, दुःखद परिणामवाले कर्म, अनैश्वर्य एवं अधर्ममें होती है। रजोगुणप्रधान चित्तमे चांचल्य होता है, वह एक भावसे दूसरे भावकी ओर निरन्तर प्रभा-वित होता रहता है। लेकिन जब रजोगुणकी चांचल्य-धर्मी वृत्ति भी चित्तसे अपवारित हो जाती है, उस अवस्थामे सत्त्वगुणका पूर्ण विकास होता है और चित्तके स्व-स्वरूपमे स्थित हो जानेसे उसमे विवेकख्याति विषयक समापत्ति (अर्थात् बुद्धि और पुरुष स्वरूपके भेदज्ञानकी प्राप्ति) हो जाती है। विवेकख्यातिकी इसी विप्लवहीन अवस्थाको धर्म-मेघ समाधि कहते है। 'योगसूत्र' (४, २९)में पतंजलिने कहा है—"विवेकज ज्ञान (प्रसंख्यान)में भी विरागयुक्त

(कुसीदाम) होनेपर सर्वथा विवेकख्याति होनेसे धर्ममेघ समाधि उत्पन्न होती है"। चूँकि यह आत्मदर्शन रूप परम-धर्मको सींचती है, इसीलिए इसे धर्मका मेघ या धर्ममेघ कहा जाता है। जिस प्रकार मेघ पानी बरसाकर सृष्टिके कण-कणको सींच देते हैं, उसी प्रकार आत्मदर्शन रूप परम-धर्म, अर्थात् कैवल्यकी वर्षा करके साधकके चित्तको सींच देनेके कारण ही यह धर्म-मेघ है। इसलिए धर्ममेघ समाधि साधनाकी अन्तिम सीमा है। इसीकी उपलब्धिसे सम्यक् निवृत्ति या सम्यक् निरोध सिद्ध होता है। इस समाधिके लग जानेपर सम्पूर्ण क्लेशों (दे० 'क्लेश')से निवृत्ति मिल जाती है ('ततः क्लेशकर्म निवृत्तिः', यो० सू० ४, ३०)। यही क्लेशकर्म-निवृत्ति ही जीवन्मुक्ति है। इसी अवस्थाको प्राप्तकर 'जीवन्नेव विद्वान् मुक्तो भवति', क्योंकि धर्ममेघकी प्राप्तिसे, जिन कर्मोंसे भोग और अपवर्ग प्राप्त होता है, उनका परिणामक्रम समाप्त हो जाता है (यो० सू०, ४:३२) और पुरुषार्थशून्य गुणोंका प्रलयरूप कैवल्य प्राप्त हो जाता है। बौद्धदर्शन भी धर्ममेघकी कल्पनाको स्वीकार करता है। उसके अनुसार इस अवस्थामें बोधिसत्त्व सभी प्रकारकी समाधियोंको प्राप्त कर लेता है। बोधिसत्त्व-भूमियोंका यही चरम परिणाम है (विशेष विवरणके लिए दे० 'महायान बुद्धिज्म' : ले० एन० दत्त, पृ० २३८-२८९)। बौद्ध-दर्शनमें धर्ममेघका एक नाम 'अभिषेक' भी मिलता है। सन्तोंके काव्यमें मेघके बरसनेके सम्बन्धमें जो गूढोक्तियाँ मिलती हैं, उनका तात्पर्य इसी धर्ममेघ समाधिसे होता है। जब कबीर कहते है—"गगन गरजै बिजुली चमकै, उठती हिए हिलोर। बिगसत कँवल मेघ बरसाने चितवत प्रभुकी ओर"। तो उनका तात्पर्य धर्ममेघकी कैवल्यदायिनी धारा-सारवृष्टिसे ही होता है। 'ज्ञानकी आँधी' आनेपर जो जल बरसता है, वह भी धर्ममेघ समाधिकी कैवल्य-सुखकी वर्षाका ही अर्थ देती है। —रा० सि०

धर्मवीर–दे० 'वीर रस'।

धर्मसंप्रदाय–पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा और छोटा नागपुरसे रीवाँतक किसी समय धर्मदेवताकी पूजा प्रचलित थी। बंगालके वीरभूमि जिले तथा उड़ीसाके कुछ भागोंमें अब भी यह सम्प्रदाय जीवित है, यद्यपि उसका रूप बहुत कुछ भागोंमें वैष्णव या शैव हो गया है। यह सम्प्रदाय किसान, डोम, बागदी, मछुवे, बढ़ई तथा इसी प्रकारकी निम्न जातियोंमें प्रचलित था। कहा जाता है कि इस सम्प्रदायसे बौद्ध प्रभावोंकी परम्पराका सम्बन्ध है। वैसे तो सहजयानी महामुद्रा-साधना या वज्र-योगका कोई भी विशेष प्रभाव इस सम्प्रदायके साहित्यमें नहीं उपलब्ध होता, किन्तु 'क्रियासंग्रह' आदि वज्रयानी ग्रन्थोंमें उपलब्ध तान्त्रिक अनुष्ठान-पद्धतियोंसे धर्मसम्प्रदायके पुराने ग्रन्थोंकी विषयवस्तु बहुत मिलती-जुलती है। धर्मठाकुरकी अर्द्धांगिनी शीतलादेवी वास्तवमें बौद्ध देवी हारीति ही हैं, जो वेश और नाम बदलकर धर्मसम्प्रदायमें स्वीकृत कर ली गयी हैं। यह धर्मठाकुर वास्तवमें बौद्धोंके बुद्ध, धर्म और संघमेंसे लिया गया धर्म है, ऐसा कुछ विद्वानोंका मत था, किन्तु इन मतोंका कोई विशेष प्रामाणिक आधार नहीं है। इस धर्मसम्प्रदायका संयोजन १२वीं शतीके लगभग रमाई पण्डितके द्वारा किया गया है और उसमें उस समय जनतामें व्याप्त अनुष्ठानों, विश्वासों और देवी-देवताओंको एक नियमित शृंखलाबद्धता देकर धर्मठाकुरके पूजा-विधानमें सम्मिलित कर लिया गया है। यह 'धर्म' संज्ञा भी वास्तवमें संथाल, मुण्डा ओरॉव आदि आस्ट्रो-एशियाई जातियोंमें प्रचलित एक शब्दका संस्कृत रूपान्तर है। वह शब्द है 'दुलि', जिसका अर्थ कछुआ होता है। यह शब्द उत्तर-कालीन संस्कृत भाषामें भी ग्रहण कर लिया गया है और चर्यापदोंमें भी एक स्थानपर कछुएके अर्थमें इसका प्रयोग हुआ है—"दुलि दुहि पिटा धरण न जाअ" (चर्यापद २)। टीकाकार यहाँ 'दुलि'का साकेतिक अर्थ 'महासुख-चक्र' बताता है, जिसमें द्वयाकार लीन हो जाते हैं। स्वार्थक प्रत्यय ओम जोड़कर इसका रूप दुलोम, दुरोम, डुरोम आदि हो जाता है। यह 'डुरोम' या कच्छप ओरावों और संथाल आदि जातियोंका सर्वमान्य देवता था। ज्ञात होता है कि बादमें इसे संस्कृतके 'धर्म' शब्दके कच्छप-रूपमें और कभी कच्छपको धर्मके वाहनके रूपमें परिकल्पित किया जाता रहा। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री आदि विद्वान् जो आदिवासियोंकी इस कच्छपपूजा और दुलि शब्दके इतिहाससे अवगत नहीं थे, वे धर्मठाकुरके कच्छपरूपको बौद्ध स्तूपका ही रूपान्तर मानते रहे। कालान्तरमें कबीर-पन्थी साहित्यमें धर्मसम्प्रदायमें एक विशिष्ट प्रभाव-परम्परा समाविष्ट हो गयी—वह है सृष्टि-प्रक्रिया सम्बन्धी गाथाएँ और उसमें निरंजनका स्थान। निरंजनकी प्रजापति ब्रह्मके समानान्तर कल्पना कर निरंजन और मायाके सहगमनसे समस्त सृष्टिके उद्भवकी कथा धर्म-सम्प्रदायके 'शून्य-पुराण' और परवर्ती मंगल-ग्रन्थोंमें, उड़ीसाके वैष्णव साहित्यमें, बंगालके नाथ साहित्यमें और कबीरपन्थके साहित्यमें थोड़े-बहुत रूपान्तरसे लगभग एक-सी मिलती है। कुछ विद्वानों-ने इस सृष्टिकथाका मूल स्रोत बौद्ध ग्रन्थों तथा हिन्दू पुराणों-में ढूँढनेका असफल प्रयास किया है। किन्तु शरच्चन्द्र राय द्वारा संगृहीत ओरावोंमें प्रचलित सृष्टिकथा इन कथाओंकी मूल प्रेरणा प्रतीत होती है।

[सहायक ग्रन्थ—आब्स्क्योर रेलीजस कल्ट्स : एस० बी० दासगुप्त।] —ध० वी० भा०

धर्मिगत लक्षणा–विश्वनाथके अनुसार लक्षणके भेदोपभेद धर्मगत तथा धर्मिगत होते हैं (सा० द०, २ : ११)। जहाँ लक्षणका प्रयोजन रूप (व्यंग्यार्थ) लक्ष्यार्थमें हो, वहाँ धर्मिगत लक्षणा मानी जायगी। उदा०—"सहिहौं सब हौं राम मैं, किमि सहिहै सिय हाय" (र० मं०, १७)में 'हौं राम'के मुख्यार्थका बाध है, 'कठोर राम हूँ' लक्ष्यार्थ है। कठोरताके अतिशय रूप प्रयोजनके सूचित होनेके कारण लक्ष्यार्थमें प्रयोजन है, अतः धर्मिगत लक्षणा है। —सं०

धागा–सूत्र। संतोंने इस शब्दका 'ध्यानका सूत्र' अर्थमें बार-बार प्रयोग किया है—"सन्तो, धागा टूटा गगन विनसि गया, सबद जु कहाँ समाई?"—कबीरदास। 'तारी' और 'बरत' (रस्सी तथा व्रत)का भी इस अर्थमें बार-बार प्रयोग मिलता है। ध्यानकी एकाग्रता जब अतीव घनीभूत हो जाती है तो उसे समाधि कहते हैं। संतोंने धागाका व्यवहार समाधि अर्थमें बहुधा किया है। समाधि और ध्यानका

अर्थ देनेके लिए धागा, सूत वरन आदिके साथ ही 'डोरी' शब्दका व्यवहार भी नाथों-सन्तोंने बहुधा किया है। गोरखनाथने ('गो० बा०', सबदी, १२८) कहा है—"उनमनि लागा होइ अनन्द। तूटी डोरी बिनसै कन्द" अर्थात् उन्मनी (दे० उन्मनी)की समाधि लगनेमे आनन्द उपलब्ध होता है, यदि 'डोरी' टूट गयी तो कन्द (१. स्कन्ध = शरीर, २. कन्द = मूल) ही विनष्ट हो जाता है। —रा० सि०

धामी संप्रदाय—सन्त प्राणनाथ द्वारा संस्थापित धामी-सम्प्रदाय महाराजपन्थ, मेराजपन्थ, खिजडा, चकला, धाम एवं धामी नामोंसे प्रख्यात है। इन नामोंमे महाराज शब्द सम्प्रदायके प्रवर्तकके लिए श्रद्धा और आदरका द्योतक है। मेराज महाराजका अपभ्रंशरूप है अथवा मेराज अरबी-के मीराज, सजीव स्वर्गयात्राका बोधक हो सकता है। खिजडा नाम एक वृक्षविशेषके आधारपर दिया गया, जो देववन्दकी नौतमपुरीवाली समाधिके निकट विद्यमान है। उस वृक्षको गुजराती भाषामें खिजडा कहा जाता है। चकला नाम देववन्दके पुत्र विहारीदासने दिया था। विहारीदासने यह पन्थ १६५५ ई०में चलाया जो धामीसे किसी प्रकार भिन्न न था। धाम शब्द ब्रह्मका पर्याय है, जो सर्वोच्च आध्यात्मिक दशा या विशुद्ध प्रेमका केन्द्र और धाम है। धाम शब्द ब्रह्मके अलौकिक प्रदेशका बोधक है।

धामी सम्प्रदायमे प्रेमानुभूतितत्त्वकी प्रधानता है। इसी कारण किसी अन्य पन्थ, सम्प्रदाय या धर्मसे इसके भेद-भाव अथवा पृथक्ताका कोई प्रश्न नहीं है। सभी ब्रह्मके प्रेमी हैं। प्रेम प्रत्येक दार्शनिक विचारधाराका मूल तत्त्व है। इसीलिए हिन्दू, ईसाई, यहूदी तथा इसलाम धर्म इसी प्रेमके सूत्रमें बँधे है और इसी एक रस प्रेममें भीगनेके अनन्तर समस्त संसार आत्मीय प्रतीत होने लगता है। प्राणनाथने अपने समयतक प्रचलित सभी धर्मोंका अध्ययन किया और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंका अध्ययन करके उनकी मौलिक एकतापर विचार किया। इस अध्ययन और मनन-के फलस्वरूप प्राणनाथने धामी सम्प्रदायको स्थापित किया। धामी सम्प्रदाय वर्तमान थियासोफिकल या अहमदीय सम्प्रदायोंकी भाँति सब धर्मोंकी विशेषताओंको लेकर गढा हुआ एक नया सम्प्रदाय है। इस दृष्टिसे धामी सम्प्रदाय कबीरपन्थ, दादूपन्थ, नानकपन्थ आदिसे सर्वथा भिन्न और पृथक् है। इस सम्प्रदायके प्रवर्तक तथा अनुयायी दूसरेके साहित्य और साधनात्मक प्रक्रियाओंके प्रति उदार दृष्टिकोण रखते है।

प्राणनाथके मतमें प्रेमको बड़ा महत्त्व दिया गया है। ब्रह्मकी मूल शक्ति ही प्रेमस्वरूपिणी है। प्रेमकी शक्ति पाकर जीव ब्रह्माकार बन जाता है। सत्संग अध्यात्मिक अभ्युत्थानके लिए परमावश्यक है, यही धामी सम्प्रदायकी मूल विचारधारा है। इसके **सबदातीथ साख्यात**, अर्थात् प्रेम साक्षात् और स्वानुभूतिके अन्तर्गत रहनेपर भी शब्दातीत और अनिर्वचनीय है। ब्रह्मसृष्टि और जगत् एवं ब्रह्म, दोनों ही अलौकिक आनन्दस्वरूप है। शुद्ध प्रेम वास्तविक पुरुषार्थकी सच्ची अवस्था है। **सृष्टि** ब्रह्मके नामसे मुखरित हो उठती है।

प्राणनाथ अच्छे कवि थे। इनके ग्रन्थोंके नाम है। १. राम ग्रन्थ, २. षड्ऋतु, ३. खुलासा, ४. कीरतन, ५. कलस, ६. सम्बन्ध, ७. प्रकाश ग्रन्थ, ८. खेलवात, ९. प्रकरण इलाही दुलहन, १०. सागर सिगार, ११ कयामतनामा, १२. सिन्धी भाषा, १३. मारफत सागर, १४. बड़े सिगार, १५. राजविनोद, १६ प्रकटवानी, १७. ब्रह्मवाणी, १८. बीस गिरोहोका बाव, १९. बीस गिरोहोकी हकीकत, २०. कीर्त्तन, २१. प्रेमपहेली, २२. तारतम्य, २३. राजविनोद, २४. विराट् चरितामृत, २५. पदावली, २६. कलजमे शरीफ। इनमेंसे सबसे अच्छा और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है 'कलजमे शरीफ'। 'कयामतनामा'की भाषा फारसी शब्दोंमे ढली हुई है। प्राणनाथको गुजराती, फारसी, अरबी, संस्कृत तथा अन्य प्रान्तीय बोलियोका सम्यक् ज्ञान था।

[सहायक ग्रन्थ—१. उत्तरी भारतकी सन्त परम्परा : परशुराम चतुर्वेदी; २. धार्मिक साहित्यका इतिहास : शिवशंकर मिश्र।] —त्रि० ना० दी०

धारणा—दे० 'हठयोग'।

धीर—वर्णिक छन्दोंमे समवृत्तका एक भेद; तीन तगणों और दो गुरुओके योगसे यह वृत्त बनता है। जयदेवने लयग्राहि (छन्दो०, २ : १०८), विरहांकने विध्यंकमाला (वृत्त०, ३ : ४३) और भानुने विध्वंकमाला नाम दिया है। केशवने 'रामचन्द्रिका'में इसका प्रयोग किया है—"योद्धा भगे बीर शत्रुघ्न आये। कोदण्ड लीन्हे महारोष छाये। ठाढो तहाँ एक बालै बिलोक्यो। रोक्यो तहीं जोर नाराच मोक्यो" (रा० चं०, ३५ : १५)। —पु० शु०

धीरललित—दे० 'नायक' (नाटक)।

धीरशांत—दे० 'नायक' (नाटक)।

धीरा—दे० 'धीरादि' (नायिका)।

धीरादि (नायिका)—नायिकाके अपने अपराधी पति-(अन्य स्त्रीके सम्बन्धमे)के प्रति व्यवहारके आधारपर किया गया विभाजन (दे०—'नायिका-भेद')। सर्वप्रथम रुद्रटने प्रस्तुत किया है। **धीरा**—गुप्त कोप करनेवाली, व्यंग्योक्तिसे कोप प्रकट करनेवाली नायिका, भानुदत्तके अनुसार 'व्यंग्य-कोपप्रकाशा'। **मध्याधीरा**—जो "बचननिकी रचनानि सौ पियहि जनावत कोप" (मतिराम : र० रा०, ३७), पर पद्माकरने इसमे 'तजै न पति सनमान' जोड़ा है। इस प्रकार इस नायिकाके चित्रणके माध्यमसे कवियोने नारीके मनोभावों और उसके वाक्चातुर्यका सुन्दर प्रदर्शन किया है—"तुम कहा करो कान काम तें अटकि रहे, तुमको न दोस सो तो आपनोई भाग है" (मतिराम : र० रा०, ३८)। देवकी नायिका भी मीठी चुटकी लेती है—"लाल भले हौ भलौ सुखदीनौ भली भइ आजु भले बनि आये" (भा० वि० : ना०)। **प्रौढ़ाधीरा**—यह नायिका रिस न प्रकट करके भी 'रतिते रहे उदास'। पद्माकरने उदास रहनेवाली इस नायिकाको 'आदरकी खानि' भी कहा है। कई कवियोने इस नायिकामें अन्तर्निहित कोपको सुन्दर रूपमें व्यंजित किया है। देवकी नायिकाके "लोइन कोइन है उझक्यो सु बताइ दियो कवि कोप कपोलनि" (भा० वि० : ना०)। कभी इसके उदाहरणमें नायक अथवा सखी द्वारा नायिका-के भावगोपनका वर्णन होता है—"मान जानियत रूखी

मुख मुसकानि मों" (मतिराम : र० रा०, ४७)। इस नायिकाके अति उत्साहमें कभी-कभी व्यंग्य उभरा है—"आवत देखि लिये उठि आगे है आपुहि केसव आसन दीनो" (केशव : र० प्रि०, ३।२०)। **अधीरा**—प्रकट रूपमें कटु वचन कहकर कोप करनेवाली नायिका। भानुदत्तके अनुसार 'अव्यंग्यकोपप्रकाशा'। **मध्या अधीरा**—पतिका अनादर करके कटूक्ति द्वारा कोप प्रकट करनेवाली नायिका, जो 'बोल कठोर'से 'पियहि जनावति कोप' (मतिराम)। इसके अन्तर्गत नारीकी खीझ और आक्रोशका सुन्दर चित्रण किया गया है—"कोउ नहीं बरजै मतिराम रहो तितही-जितही मन भायो। काहे कौ सौंहे हजार करौ तुम तौ कबहूँ अपराध न ठायो" (र० रा०, ४१)। साथ ही नायककी भ्रमित स्थितिमें भी व्यंग्य छिपा है—"भूलेसे भ्रमेसे काहि सोचत क्रमेसे, अकुलानेसे विकानेसे ठगेसे ठीक ठाढ़ेसे" (पद्मा० : जगद्वि०, भा० १ : ५९)। **प्रौढा अधीरा**—'गरजन-ताडन' और 'रोस' प्रकट करनेवाली नायिका, भानुदत्तके 'तर्जन-ताडन'का यह अनुवाद ही है। मतिरामने इसको इस प्रकार स्पष्ट किया है—"इरु दैकै प्रियको प्रिया देय सुमनकी मारु" (र० रा०, ४९)। फूलकी मार इसके उदाहरणमें रूढि हो गयी है—"ताहि चितौति बडी अँखियानते तीकी चितौनि चली अति ओजकी। बालम ओर बिलोकिकै बाल दई मनो खैंचि सनाल सरोजकी" (देव० : भा० वि० ना०)। **धीराधीरा**—इस नायिकामें कोप गुप्त और प्रकट रहता है; भानुदत्त 'अव्यंग्यप्रकाशा' कहते हैं। **मध्या धीराधीरा**—मतिरामने "पियसौं कहिके बचन कछु रोस जतावै रोय" कहा है और पद्माकरने उसमें 'धीर वचन कहि' और जोडा है। नारीका क्रोध और व्यंग्य अधिक व्यक्त हो गया है—"कौन तिन्हें दुख जिनकें तुमसे मनभावन छैल छबीले" (मतिराम : र० रा०, ४४)। नायिकाका आक्रोश तीखा तथा मुखर है—"वाहीके जैये बलाइ ल्यों बालम हौ तुम्हे नीको बतावति हौ ढंग" (देव : भा० वि० : ना०)। कभी भावाभिव्यक्ति सुन्दर बन पडी है—"करि आदर तिय पीयको देखि दगन अलसानि। सुमुख मोरि बरसन लगी लै उसासु अँसुआनि" (पद्मा० : जगद्वि०, भा० १ : ६२)। **प्रौढ़ा धीराधीरा**—वक्रोक्ति तथा भयप्रदर्शनमें पतिको दुःखी करनेवाली और मानपूर्वक रतिकलामें उदासीन रहनेवाली नायिका। प्रायः रतिमें उदास अथवा रुखी और डर दिखलानेवाली नायिका यह मानी गयी है (मतिराम और पद्माकर)। यह नायिका अपना क्रोध स्पष्टतः प्रकट करती है—"बोली न बोल कछू सतरायकें भौंह चढ़ाय तकी तिरछौंही" (र० रा०, ५३)। "परसत गात मनभावनके भावतीकी चढि भौंहें रही ऐसी उपमाने छ्वै' (जगद्वि०, १ : ७१)। —मं०

धीराधीरा—दे० 'प्रौढ़ा', नायिका।

धीरोदात्त—दे० 'नायक', (नाटक)।

धीरोद्धत—दे० 'नायक', (नाटक)।

धृति—प्रचलित तैंतीसमेंसे एक संचारी; भरतके अनुसार इसके विभाव हैं—वीरता, आध्यात्मिक ज्ञान, ऐश्वर्य, पवित्रता, सच्चरित्रता, बड़ोंके प्रति आदरभाव तथा क्रीडाका आनन्द आदि तथा अनुभाव हैं—तृप्ति, सन्तोष आदि (नाट्य०, ७ : ७३ वा)। विश्वनाथके अनुसार इसकी परिभाषा है—'ज्ञानाभीष्टागमाद्यैस्तु सम्पूर्णस्पृहता धृतिः। सौहित्यवचनोल्लासहासप्रतिभादिकृत्'' (सा० द०, ३ : १६८). अर्थात् तत्त्वज्ञान तथा इष्टप्राप्ति आदिके कारण इच्छाओंका पूर्ण हो जाना धृति कहलाता है। इसमें सन्तृप्ति, वचनोल्लास आदि चिह्न दिखाई देते हैं। हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंने प्रायः इसीका भाव ग्रहण किया है—"ज्ञान-शक्ति उपजै जहाँ" (भा०भू० : र० वि०) अथवा "साहस ज्ञान सुसंग तें, धरैं धीरता चित्त" (जगत०, ४९०)।

रामचन्द्र शुक्लने धृतिको धैर्यसे भिन्न नहीं माना है। उन्होंने लिखा है—"नायकके गुणोंमें धैर्यका जो लक्षण कहा गया है, उसीको ग्रहण कर संचारीका नाम मैंने 'धैर्य' ही रखा है। हिन्दीवालोंने यही अर्थ ग्रहण किया है। बडे-बडे विघ्न उपस्थित होनेपर भी अपने व्यवसायसे अविचलित रखनेवाली मानसिक अवस्थाका नाम 'धैर्य' है। युद्ध-यात्राके समय विकट पर्वत, नदी आदि पड़नेपर भी बराबर अग्रसर होनेका प्रबल किये जाना धैर्य सूचित करता है। इसी प्रकार किसी वस्तुको दान करते समय उस वस्तुके अभावसे होनेवाले कष्ट आदिकी कुछ परवाह न करना, किसी धर्म-साधनके मार्गमें घोर कष्ट देखकर भी उसपर अग्रसर होते जाना धैर्यका सूचक होगा" (र० मी०, पृ० २२७)। तत्त्वज्ञान जन्य सन्तोषको रामचन्द्र शुक्लने संचारी नहीं माना है। पर प्रश्न यह उठता है कि जब तत्त्वज्ञान जन्य निर्वेद संचारी हो सकता है तब तत्त्वज्ञान जन्य धृति संचारी क्यों नहीं हो सकता? तत्त्व-ज्ञानजन्य निर्वेद संचारीमें भौतिक उपभोगोंके प्रति एक प्रकारका वैराग्यभाव उत्पन्न होता है तो तत्त्वज्ञान जन्य सन्तोषसे आत्मानन्द। तत्त्वज्ञान जन्य धृति, तत्त्वज्ञान जन्य निर्वेदका ही अगला सोपान है। दोनों ही शम स्थायीके संचारी हैं।

तत्त्वज्ञान जन्य धृतिका उदाहरण—"या जग जीवनको है यहै फल जो छल छोंडि भजे रघुराई। सोधिके सन्त महन्तन हू पद्माकर बात यहै ठहराई" (जगद्वि०, ४९२)। विरहिणी नायिकाकी धृति—"रे मन साहसी साहस राखु सुसाहस सौ सब जेर फिरेंगे। एक दिनाँ नहि एक दिनाँ कबहूँ फिर वै दिन फेर फिरेंगे" (ज०, ४९१)। —ब० सि०

धृष्टनायक—दे० 'नायक' (शृंगार)।

धैर्य—दे० 'अयत्नज अलंकार', सातवाँ।

ध्यान—दे० 'हठयोग'।

ध्येय—कथात्मक कृतियों—उपन्यास, कहानी, नाटक आदि-के छः तत्त्वोंमेंसे एक **उद्देश्य** भी है। इसीको कभी-कभी ध्येय भी कह देते हैं। **कहानी**के मुख्य या केन्द्रीय भाव अथवा उसके मुख्य संवेदनास्थलको भी ध्येय कहा गया है (दे० 'उद्देश्य', 'कहानी')।

ध्वनि—सामान्य व्यवहारमें कानोंको सुनाई पड़नेवाले नाद-को ध्वनि कहा जाता है। पारिभाषिक शब्दके रूपमें ध्वनिके आचार्योंने उसका व्यवहार कई अर्थोंमें किया है। उनके मतानुसार ध्वनि शब्दका प्रयोग निम्नलिखित रूपोंमें हो सकता है—१. वह व्यंजक शब्द, जो ध्वनित व्यापारविचारमें अभिधा और लक्षणाका विस्तृत विवेचन किया है। इस प्रकारके सभी विवेचनोंका मुख्य उद्देश्य

करे या कराये, २. वह व्यंजक अर्थ, जो ध्वनित करे या कराये, ३. वह (अर्थात् रस, वस्तु और अलंकार), जिसकी व्यंजना करायी जाये, ४. वह (अर्थात् शब्दशक्ति व्यंजना), जिसके द्वारा व्यंजना करायी जाय, ५. वह काव्य, जिसमें रस, वस्तु और अलंकार ध्वनित होते हैं। अतः ध्वनि शब्द, व्यंजक शब्द, व्यंजक अर्थ, व्यंजना-व्यापार तथा व्यंग्यकाव्यके अर्थोंमें प्रयुक्त होता है। स्पष्ट ही ये पाँचो अर्थ परस्पर एक दूसरेसे घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं और एक संश्लिष्ट प्रक्रियाके विभिन्न रूपोंका द्योतन करते हैं। सामान्य काव्यशास्त्रीय भाषामें ध्वनिका प्रयोग व्यंजनार्थके लिए हुआ करता है।

काव्य-सिद्धान्तके रूपमें ध्वनि शब्दका सर्वप्रथम प्रयोग 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थमें मिलता है, जिसकी रचना लगभग ८७५ ई० या उसके कुछ बाद हुई थी। इस ग्रन्थके कृतित्वके सम्बन्धमें बहुत मतभेद है। कुछ विद्वान् इसके तीन भागों—कारिका, वृत्ति, उदाहरणको आनन्दवर्धनकृत मानते हैं तथा कुछ अन्य विद्वान् केवल वृत्ति और उदाहरणोंको ही उनका लिखा हुआ मानते हैं; मूल कारिकाओंको वे किन्हीं अन्य पूर्ववर्ती अज्ञातनामा आचार्यकी कृति मानते हैं, जिसे व्यक्तिवाचक नामके अभावमें ध्वनिकारकी संज्ञा देते हैं। कुछ विद्वानोंने यह भी कल्पना की है कि कारिकाओंके रचयिताका नाम अथवा सम्भवतः उसकी उपाधि 'सहृदय' थी। सम्पूर्ण ग्रन्थको आनन्दवर्धनकृत माननेवाले आलोचक आनन्दको ही ध्वनिकार नामसे पुकारते हैं।

'ध्वन्यालोक'में ध्वनिकी परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—"जहाँ अर्थ अपनेको अथवा शब्द अपने अर्थको गुणीभूत करके उस (प्रतीयमान)को अभिव्यक्त करते हैं, उस काव्य विशेषको विद्वान् लोग ध्वनि (काव्य) कहते हैं"—"यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ। व्यंक्तः काव्य विशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः"(हि० ध्व०, पृ० ५३)। इस परिभाषाका आशय यही है कि विद्वान् उस काव्यको ध्वनि कहते हैं, जिसमें कथित शब्द और अर्थ अपनेको अप्रधान बनाकर व्यंग्यार्थकी अभिव्यक्ति करते हैं। वैसे तो किसी भी शब्द अथवा वाक्यमें कोई-न-कोई व्यंग्यार्थ निकाला ही जा सकता है, परन्तु प्रत्येक व्यंग्यार्थको काव्य नहीं कहा जा सकता है—चमत्कारी व्यंग्य ही काव्यके रूपमें समादृत हो सकता है। महाकवियोंकी वाणीमें यह चमत्कारी व्यंग्य अर्थ एक विलक्षण अर्थ ही हुआ करता है—रमणियोंके लावण्यके समान यह केवल सहृदयों द्वारा मनोगत किया जा सकता है। शाब्दिक परिभाषा द्वारा उसे बाँध सकना सम्भव नहीं। इसीने वह 'कुछ और ही है' (अन्यत् एव) आदि शब्दों द्वारा उसकी महत्ता व्यंजित की गयी है। ध्वनिकी इसी विशेषताके कारण 'ध्वन्यालोक'की पहली कारिकामें यह घोषित किया गया है कि काव्यकी आत्मा ध्वनि है। 'ध्वन्यालोक'का यह भी कथन है कि पूर्ववर्ती विद्वानोंने ही ध्वनिको इस ऊँचे पदपर आसीन कर दिया था। इस कथनसे तो यह ज्ञात होता है कि यह स्थापना 'ध्वन्यालोक'में ही पहली बार नहीं हुई थी, वरन् उसके पूर्व ही हो चुकी थी।

ध्वनिका सिद्धान्त वैयाकरणोंके स्फोटवादके सिद्धान्तपर आधारित है। 'ध्वन्यालोक'में इस बातका स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि ध्वनि-सिद्धान्त तथा उसका नामकरण वैयाकरणोंके स्फोटवादके सादृश्यपर कर लिया गया था—प्रथम विद्वान् वैयाकरण हैं, क्योंकि व्याकरण सब विद्याओंका मूल है। वे सुनाई देनेवाले वर्णोंको ध्वनि कहते हैं। उसी प्रकार उनके मतको माननेवाले काव्य-तत्त्वार्थदर्शी अन्य विद्वानोंने भी वाच्य, वाचक, व्यंग्यार्थ, व्यंजना-व्यापार और काव्यपद-व्यवहार्यको ध्वनि कहा है—"प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यंजकत्वसाम्याद्ध्वनिरित्युक्तः" (हि० ध्व०, ७४)।

प्राचीन वैयाकरणोंका कहना था कि श्रोत्रेन्द्रियतक पहुँचनेवाली ध्वनियाँ शीघ्र ही विनष्ट हो जाती हैं अथवा उनका तिरोभाव हो जाता है। अतः विभिन्न ध्वनियोंके समूहोंसे बने हुए शब्दोंसे अथवा विभिन्न शब्दोंसे बने हुए वाक्योंसे अर्थबोध कैसे हो सकता है—जबतक पूरे शब्द अथवा पूरे वाक्य निर्मित हो पाते हैं, तबतक उनकी विभिन्न ध्वनियोंके स्वरूपकी स्मृति नष्ट हो जाती है। शब्दका स्थूल उच्चरित रूप उच्चारण-भेदके अनुसार बदलता रहता है। इसीलिए उसे शब्दका विकृत रूप कहते हैं और उसे अनित्य माना गया है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक शब्दका सूक्ष्म प्रतिरूप (prototype) भी होता है, जो मानवीय मनमें विद्यमान रहता है—वह नित्य है और अविभाज्य है। इसी सूक्ष्म एवं नित्य ध्वनि-बिम्बको शब्दके स्फोटकी संज्ञा दी गयी है। स्फोटमें शब्दकी विभिन्न ध्वनियोंकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती है, वरन् उनके एक मिले-जुले रूपका भान होता है। शब्दकी अन्तिम ध्वनिके उच्चरित हो जानेके बाद ही स्फोट अर्थकी प्रतीति कराता है।

वैयाकरणोंके इसी स्फोटके आधारपर अलंकारशास्त्रियोंने ध्वनि-सिद्धान्तको पल्लवित किया है। उनका कहना है कि जिस प्रकार किसी शब्दकी पृथक्-पृथक् ध्वनियाँ (वर्ण) अर्थका बोध करानेमें असमर्थ रहती हैं और उनके स्फोट द्वारा ही अर्थकी अभिव्यक्ति होती है उसी प्रकार काव्यमें केवल वाच्यार्थसे काव्यगत मूल सौन्दर्यको नहीं जाना जा सकता है। काव्यका वास्तविक अर्थ वस्तुतः व्यंग्यार्थ ही प्रकट कर सकता है। इस अकथित अर्थका बोध कराना अभिधा और लक्षणा नामक शब्द-शक्तियोंके वसके बाहर है। इसका ज्ञान मात्र व्यंजना करा सकती है। यह जिस प्रच्छन्न अर्थका उद्घाटन करती है, उसीमें काव्यका सौन्दर्य निहित रहता है। जिस प्रकार किसी घण्टेके बजाये जानेपर पहले कर्कश ध्वनि सुनाई पड़ती है और पुनः वह उत्तरोत्तर सूक्ष्मतर हो जाती है, उसी प्रकार काव्यमें पहले वाच्यार्थका भान होता है और पुनः सहृदय-हृदय-आह्लादकारी गूढ़ व्यंजनाका बोध होता है।

उपर्युक्त विवरणसे स्पष्ट है कि ध्वनि-सिद्धान्तका भव्य प्रासाद शब्द-शक्तियोंपर निर्मित किया गया है। इसी कारण सभी ध्वन्याचार्योंने शब्द-शक्तिका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। मम्मटने अपनी एक अन्य कृति 'शब्द-

विभिन्न शब्द-शक्तियोंके स्वरूपका निराकरण करना तथा अभिधा और लक्षणाकी तुलनामें व्यंजनाको अधिक महत्त्वशाली प्रतिपादित करना था। कुछ आलोचकोंकी धारणा है कि व्यंजना-व्यापारको मान्यता देनेके विचारसे ही ध्वन्याचार्योंने वैयाकरणोंके स्फोटवादकी शरण ली थी। उन्हें यह बहुत रुचिकर न था कि व्यंजना-व्यापार एक मौलिक आविष्कार-सा प्रतीत हो; 'प्रथमे विद्वांसः'की दुहाई देना उनके लिए बहुत ही आवश्यक हो गया। सिद्धान्ततः व्यंजना-व्यापार ही ध्वनिके सिद्धान्तकी आधारशिला माना जा सकता है, स्फोटवाद तो वास्तवमें सादृश्य-पद्धतिपर ध्वनिके स्वरूपका स्पष्टीकरणमात्र करता है।

व्यंग्यार्थके महत्त्वकी दृष्टिसे आनन्दवर्धनने काव्यके तीन भेद किये हैं—(१) उत्तम काव्य—इसे ध्वनि-काव्य भी कहते हैं, क्योंकि इसमें व्यंग्यार्थ वाच्यार्थसे अधिक उत्कृष्ट होता है; (२) मध्यम काव्य—इसे गुणीभूत काव्य कहा गया है, क्योंकि इसमें व्यंग्यार्थ वाच्यार्थके समान उत्कृष्ट अथवा निकृष्टतर होनेके कारण गौण या कम महत्त्ववाला हो जाता है; (३) अधम काव्य—इसे चित्र-काव्य कहा गया है, इसमें किसी प्रकारका व्यंग्यार्थ नहीं रहता और केवल अलंकारोंका ही कौतुक विद्यमान रहता है। वे सभी अलंकार, जिनमें व्यंग्यार्थका सर्वथा अभाव रहता है, इसी भेदके अन्तर्गत रखे जाते हैं। आनन्दवर्धनके मतानुसार इस भेदको काव्य न कहकर काव्यानुकृति ही समझना चाहिये।

इन तीनों प्रकारके काव्योंके, बड़े ही सूक्ष्म और पाण्डित्यपूर्ण विश्लेषणके अनन्तर, हजारों भेदोपभेद किये गये हैं और ध्वनिके सार्वभौम सिद्धान्तके अन्तर्गत सभी पूर्ववर्ती स्थापनाओंको समन्वित करनेका अत्यन्त सबल और सफल प्रयत्न किया गया है।

ध्वन्याचार्योंने ध्वनि-काव्यके दो प्रधान भेद किये हैं—(१) अविवक्षित वाच्यध्वनि, जो लक्षणापर आधारित है और जिसमें वाच्यार्थकी विवक्षा (कहनेकी इच्छा) नहीं रहती है। इस काव्यमें वाच्यार्थ या तो दूसरे अर्थमें संक्रमण कर जाता है अथवा पूर्णतया तिरस्कृत हो जाता है। दोनों ही स्थितियोंमें मुख्यार्थ बाधित रहता है और दूसरा अर्थ देने लगता है। अलंकार-सिद्धान्तके आचार्य दण्डीने समाधिगुणके अन्तर्गत इसी प्रकारके लाक्षणिक प्रयोगोंका समावेश किया था और समाधि-गुणको उन्होंने काव्यका सर्वस्व माना था। इसी प्रकार रीतिमतानुयायी आचार्य वामनने भी इसी लाक्षणिक विलक्षणताका समावेश वक्रोक्तिके अन्तर्गत किया था। इस प्रकार ध्वनिवादियोंने अलंकारशास्त्रियों एवं रीतिकारोंकी स्थापनाको ही अंशतः स्वीकार किया है।

ध्वनि-काव्यका दूसरा भेद विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि है, जो अभिधापर आधारित है और जिसमें मुख्यार्थकी विवक्षा रहती तो अवश्य है, किन्तु वह अन्यपर होती है, अर्थात् वाच्यार्थ व्यंग्यार्थको प्रकाशित करता है। वाच्यार्थसे व्यंग्यार्थकी प्रतीतिका क्रम जहाँ अलक्षित रहता है, वहाँ असंलक्ष्यक्रमध्वनि होती है। भाव तथा रस आदिकी व्यंजनाएँ असंलक्ष्यक्रमध्वनिमें ही समाविष्ट हो जाती हैं। इस युक्तिसे ध्वनिके प्रवर्तकोंने सम्पूर्ण रससिद्धान्तको ध्वनिके विशाल प्रासादमें प्रतिष्ठित कर दिया। रसको ध्वनिमें अन्तर्निहित करनेका सबसे बड़ा तर्क यह है कि रस और भाव नामक मानसिक स्थितियाँ अनिर्वचनीय हैं, शब्द द्वारा कहकर उन्हें नहीं प्रकट किया जा सकता है; उनकी व्यंजना ही सम्भव है। विभाव, अनुभाव आदि व्यंजक हैं और रस व्यंग्य है। विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिके दूसरे भेद संलक्ष्यक्रमध्वनिमें वाच्यार्थसे व्यंग्यार्थकी प्रतीतिका क्रम लक्षित रहता है और इसके अन्तर्गत वस्तु एवं अलंकारकी व्यंजनाएँ होती हैं, जो या तो शब्दकी या अर्थकी अथवा शब्द और अर्थ दोनोंकी शक्तियोंसे उद्भूत हुआ करती हैं। अतः विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिके अन्तर्गत रस, वस्तु तथा अलंकारकी व्यंजनाओंका स्वरूप दृष्टिगोचर होता है।

इन तीन प्रकारकी व्यंजनाओंमें आनन्दवर्धनने रसध्वनिको सर्वोत्कृष्ट स्थान प्रदान किया। उनके मतमें रसध्वनि अंगी है, रीति, गुण, दोष और अलंकार उसके अंग हैं। इनका चमत्कार तभी देखा जाता है, जब ये रसध्वनिकी भाँति अभिव्यंजित होते हैं। माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि गुणोंकी रसके साथ अचल स्थिति हुआ करती है। वे रसके साथ उसी प्रकारसे सम्बद्ध हैं, जिस प्रकार शौर्यादिक गुण मानवीय आत्मासे सम्बद्ध हैं और रसास्वादके समय उनकी अभिव्यक्ति स्वयमेव होती है। रीति अर्थात् पद-संघटना शब्द और अर्थसे सम्बन्धित है। काव्यात्मा ध्वनि अथवा रसध्वनि रीतिरूप अंग-संस्थानमें प्रतिष्ठित रहती है। शारीरिक सौन्दर्य मनुष्यके बाह्य स्वरूपको शोभान्वित करता हुआ उसकी आत्माको ही गौरवान्वित करता है। अतः रीति भी काव्यात्मा रसध्वनिकी उपकर्त्री हुआ करती है। अलंकारोंका स्थान निकृष्टतर है। वे भी शब्द और अर्थसे सम्बद्ध हैं। वे हारादि आभूषणोंके समान अनित्य हैं। रीतिके समान शब्द और अर्थसे उनका सम्बन्ध स्थिर न होकर 'अस्थिर' ही है। उनसे शरीरकी शोभा बढ़ती है, अतः वे अप्रत्यक्ष रीतिसे कभी-कभी काव्यात्माके सौन्दर्यको कुछ अधिक चमत्कृत कर देते हैं, किन्तु अलंकारोंके अभावमें भी अंग-संस्थान एवं उसमें प्रतिष्ठित आत्माका सौन्दर्य अक्षुण्ण रहता है। जहाँ रसध्वनिके साथ अलंकार भी रहता है, वहाँ ध्वनिकी मनोमोहकता बढ़ जाती है, जहाँ केवल अलंकार रहता है, वहाँ उसे उक्ति-वैचित्र्यमात्र कहा जायगा।

इस प्रकार उत्तम काव्य अथवा ध्वनि-काव्यके सार्वभौम सिद्धान्तके अन्तर्गत रसध्वनिकी सर्वश्रेष्ठता ही नहीं प्रतिपादित की गयी, वरन् सभी पूर्ववर्ती आचार्योंकी गवेषणाओंके विच्छिन्न सूत्रोंको सर्वोत्कृष्ट ध्वनि रससे अन्तःसम्बन्धित करके काव्य-जिज्ञासुओंके समक्ष एक अत्यन्त पूर्ण, व्यापक और सर्वमान्य काव्य-सिद्धान्त उपस्थित कर दिया गया। इस विशद सिद्धान्तकी महत्ता इस बातसे भी देखी जा सकती है कि इसके बाद प्रतिपादित होनेवाले वक्रोक्तिवाद एवं औचित्यवाद भी इसके काव्यलक्षणकी परिधिसे बाहर न जा सके और न कोई परवर्ती आचार्य इसके मूल स्वरूपको विकृत ही कर सका।

उत्तम काव्यके अतिरिक्त ध्वनि-काव्यके दूसरे भेद मध्यम काव्य अथवा गुणीभूत व्यंग्य-काव्यमें व्यंग्यार्थ वाच्यार्थके चमत्कारका पोषक होनेके कारण गौण हो जाता है। अतः इस भेदमें समासोक्ति तथा रसवत् आदि ऐसे अलंकारोंको

भी काव्यकी परिधिके भीतर प्रतिष्ठित किया गया, जिनमें कुछ व्यंग्यार्थ भी रहता है, यद्यपि उसमें वाच्यार्थका ही चमत्कार रहता है। साथ ही यह भी स्मरणीय है कि प्राचीन आचार्योंने अलंकारोंके महत्त्वको प्रतिपादित करते हुए ऐसी बातोंकी ओर बराबर संकेत किया है, जिनका शब्द द्वारा कथन तो नहीं किया जाता, परन्तु उनके अस्तित्वको माना अवश्य जाता है। उदाहरणार्थ, वामन सभी अलंकारोंको औपम्यमूलक सिद्ध करते हैं और भामह तथा दण्डी सभी अलंकारोंमें अतिशयोक्तिकी स्थिति अनिवार्य रूपसे मानते हैं। किन्तु उपमा और अतिशयोक्ति स्वतन्त्र अलंकार हैं। अतः वे जब दूसरे अलंकारोंमें भी विद्यमान रहते हैं तो अकथित, अर्थात् व्यंग्यार्थरूपमें ही आते हैं और प्रधान अलंकार (अर्थात् वाच्यार्थ)की ही सहायता करते हैं। ध्वन्याचार्य इन्हें गुणीभूत व्यंग्यके अन्तर्गत रखकर समाहृत करते हैं। अधम काव्यके अन्तर्गत वे चित्रालंकार आदि शब्द-कौतुकप्रधान अलंकारोंको रखते हैं, जो व्यंग्यार्थसे सर्वथा रहित हैं। इस युक्तिसे शाब्दिक क्रीडाप्रधान अलंकारोंको काव्यकी संज्ञा मिलनेका गौरव प्राप्त हो गया। स्पष्ट ही ध्वन्याचार्य कोरे सिद्धान्तशास्त्री ही न थे, वरन् व्यवहारविद् भी थे और काव्य-जगत्‌की वास्तविकताको जानते हुए भी अनजान नहीं बनना चाहते थे। उनकी विशेषता इस बातमें है कि उन्होंने वस्तुस्थितिकी उपेक्षा भी न की और अपने सिद्धान्तपर भी दृढ रहे।

ऊपर अविवक्षितवाच्य तथा विवक्षितान्यपरवाच्य नामक ध्वनिके दो भेदोंकी चर्चा की गयी है और यह भी कहा गया है कि अविवक्षितवाच्यध्वनिके दो भेद (अर्थान्तर-संक्रमित, अत्यन्ततिरस्कृत) किये गये हैं। यह ध्वनि कभी तो किसी पदमें अथवा कभी वाक्यमें हुआ करती है। अतः अविवक्षितवाच्यध्वनिके चार भेद हैं। जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिके दो भेद होते हैं। इसके पहले भेद असंलक्ष्यक्रम-ध्वनिकी स्थिति पद, पदांश, वाक्य, प्रबन्ध, वर्ण और रचनामें हुआ करती है। फलस्वरूप इसके भी छः भेद होते हैं। विवक्षितान्यपरवाच्य-ध्वनिका दूसरा भेद संलक्ष्यक्रमध्वनि जब शब्द-शक्तिपर आधारित रहता है, तब उसमें या तो किसी वस्तुकी ध्वनि होती है अथवा किसी अलंकारकी और वस्तु अथवा अलंकारकी ध्वनियाँ किसी पद अथवा वाक्य द्वारा ध्वनित होती हैं। इसीलिए शब्दशक्त्युद्भव ध्वनिके चार भेद किये गये हैं। संलक्ष्यक्रमध्वनिके दूसरे भेद अर्थशक्त्युद्भव ध्वनिके तीन रूप होते हैं—स्वतःसम्भवी, कविनिबद्ध-प्रौढोक्तिमात्रसिद्ध, कविनिबद्धपात्रप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध। अर्थ-शक्त्युद्भव ध्वनिके उक्त तीनों भेदोंमें वस्तुसे वस्तुकी, वस्तुसे अलंकारकी, अलंकारसे वस्तुकी तथा अलंकारसे अलंकारकी व्यंजनाएँ होती हैं और इन चारोंकी स्थिति किसी पदमें अथवा किसी वाक्यमें अथवा किसी प्रबन्धमें होती है। अतः अर्थशक्त्युद्भव ध्वनिके प्रत्येक भेदके १२ उपभेद हैं, जो सब मिलाकर ३६ हो जाते हैं। संलक्ष्यक्रमध्वनिका तीसरा भेद शब्दार्थउभयशक्त्युद्भव ध्वनि है और इसके कोई भेद नहीं किये गये।

उपर्युक्त विवरणका सारांश यह है कि ध्वनिके सबसे महत्त्वपूर्ण भेद ४ हैं—अर्थान्तरसंक्रमित, अत्यन्ततिरस्कृत तथा असंलक्ष्य, संलक्ष्य। कुछ और विस्तारमें जानेपर इसके प्रमुख भेद १८ ठहरते हैं—अविवक्षितवाच्यध्वनि २ भेद + विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि १६ भेद = १८ भेद।

असंलक्ष्यक्रमध्वनि १ भेद + संलक्ष्यक्रमध्वनि १५ भेद = १६ भेद।

शब्दशक्त्युद्भव २ भेद + अर्थशक्त्युद्भव १२ भेद + उभयशक्त्युद्भव १ भेद = १५ भेद।

पदवाक्य आदिकी दृष्टिसे किये गये भेदोंको ध्यानमें रखते हुए ध्वनिके कुल मिलाकर ५१ शुद्ध भेदोपभेद किये गये हैं। नीचे दिये वंशवृक्षके आधारपर इन्हें मनोगत किया जा सकता है—
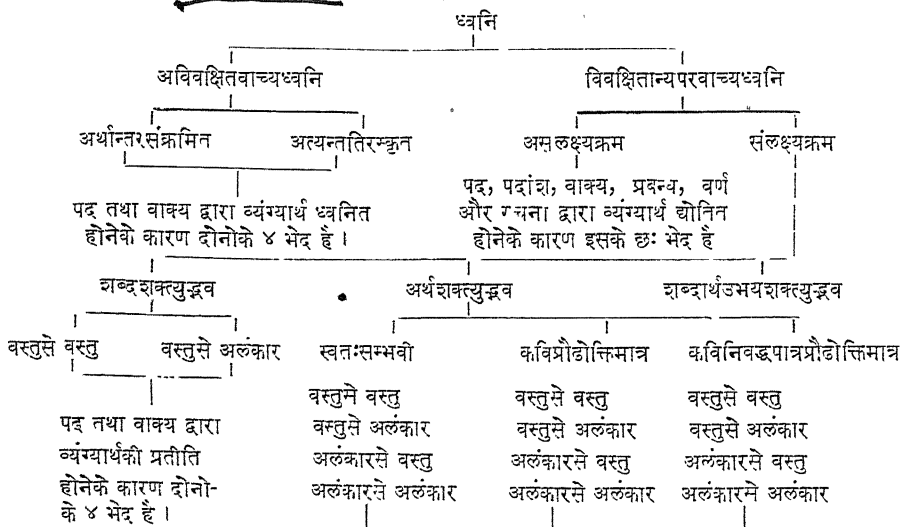
उपर्युक्त वंशवृक्षमें ध्वनिके ५१ शुद्ध भेदोंकी संख्या इस प्रकार प्राप्त होती है—अविवक्षितवाच्यध्वनि = ४ भेद + विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि ४७ भेद = ५१ भेद।

{असंलक्ष्यध्वनि ६ भेद
{संलक्ष्यध्वनि ४१ भेद
४७ भेद

इन ५१ शुद्ध भेदोंके परस्पर मिश्रणसे ध्वनिके ५१ × ५१ = २६०१ मिश्रित भेद किये गये हैं। ध्वनियोंका मिश्रण भी दो प्रकारका होता है—संकर, जो पुनः तीन प्रकारका होता है: संशयास्पद, अनुग्राह्य-अनुग्राहक, एकव्यंजकानुप्रवेश तथा संसृष्टि। मिश्रित भेदोंके साथ इन चार भेदोंका लेखा मिलानेसे ध्वनिके भेदोंकी संख्या २६०१ × ४ = १०,४०४ तक पहुँचती है। इन मिश्रित भेदोंमें ५१ शुद्ध भेद जोड देनेसे ध्वनिके कुल मिलाकर १०,४०४ + ५१ = १०,४५५ भेद किये गये हैं (द्रष्टव्य 'काव्यप्रकाश', चतुर्थ उल्लास)। —उ० शं० शु०

ध्वनि-एकांकी—दे० 'रेडियो नाटक'।

ध्वनिकाव्य (उत्तम काव्य)—काव्य (दे० काव्य)के भेदोंमें ध्वनि-काव्य सबसे प्रमुख भेद है। जिस काव्यमें वाच्य या अभिधेय अर्थकी अपेक्षा ध्वनि या व्यंग्यकी प्रधानता होती है, उसे ध्वनिकाव्य कहते हैं। कहीं-कहीं इसे उत्तम काव्य भी कहा गया है। उदाहरण—'रामचरितमानस', 'सूरसागर', 'सुजानचरित' (घनानन्दकृत), देव: भामिनी विलास, 'प्रसाद': कामायनी। —सं०

ध्वनिनाटक—दे० 'रेडियो नाटक'।

ध्वनिप्रभाव—दे० 'रेडियो नाटक'।

ध्वनिवाद—दे० 'ध्वनिसिद्धांत'।

ध्वनिसंकर—ध्वनिके विभिन्न भेदोंके परस्पर सम्मिलनसे ध्वनिके अनेकानेक मिश्रित भेद होते हैं। काव्यमें प्रायः ऐसे मिश्रित (संकीर्ण) भेद ही अधिक प्राप्त होते हैं। ध्वनियोंका मिश्रण दो प्रकारका होता है—ध्वनिसंकर, ध्वनिसृष्टि। जहाँ एक ध्वनि दूसरी ध्वनिसे 'क्षीर-नीरन्याय'-से मिली रहती है, वहाँ ध्वनिसंकर माना जाता है। ध्वनिसंकरमें दो या कई ध्वनियाँ दूध-पानीकी भाँति एक-दूसरेसे मिली-जुली रहती हैं। ध्वनिसंकर तीन प्रकारका होता है—(१) संशयास्पद संकर—यह भेद वहाँ होता है, जहाँ दो या दोसे अधिक ध्वनियाँ इस रीतिसे विद्यमान हों कि यह निश्चय न किया जा सके कि वहाँ कौन-सी ध्वनि प्रधान है। उदाहरणके लिए "सीताहरण तात जनि कहेहु पिता सन जाय। जो मैं राम तो कुलसहित कहहि दसानन आय" (का० क०, पृ० २८३)में 'जो मैं राम'का अर्थ बाधित है, क्योंकि राम तो वक्ता हैं ही। अतः 'जो मैं राम'-का अर्थ 'यदि मैं स्वनामधन्य रघुवंशके प्रतापी राजा दशरथका पुत्र हूँ तो…' आदि अर्थान्तरमें संक्रमित होनेके कारण इस उदाहरणमें लक्षणामूला अविवक्षितवाच्यध्वनि है। किन्तु इसमें अभिधामूला विवक्षितान्यपर अर्थशक्त्युद्भव वस्तुसे वस्तुकी ध्वनि भी है। रामके कथनसे यह व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है कि वे रावणको सपरिवार नष्ट कर देंगे। इन दोनों ध्वनियोंमें किसे प्रधान कहा जाय, यह निश्चय नहीं हो पाता। इसलिए इस उदाहरणमें संशयास्पद ध्वनि है। (२) अनुग्राह्य-अनुग्राहक संकर—यह ध्वनिभेद वहाँ होता है, जहाँ एक ध्वनि दूसरी ध्वनिके सहायकके रूपमें प्रयुक्त होती है। "तुम शुद्ध बुद्ध आत्मा केवल, हे चिर पुराण, हे चिर नवीन" (पन्त)। इस उदाहरणमें 'आत्मा' शब्द तथा "हे चिर पुराण, हे चिर नवीन" आदि विशेष-सूचक वाक्यांशका अर्थ बाधित होनेके कारण अर्थान्तर-संक्रमित अविवक्षितवाच्यध्वनि है। किन्तु इन लाक्षणिक प्रयोगों द्वारा कवि अपने हृदयमें स्थित गान्धी-प्रेमकी व्यंजना भी कर रहा है। पूज्य पुरुषविषयक रतिभावकी व्यंजना होनेके कारण यहाँ विवक्षितान्यपर असंलक्ष्यध्वनि (रसध्वनि) भी है। अविवक्षितध्वनि विवक्षितान्यपरवाच्य-ध्वनिका पुष्टीकरण कर रही है, अतः यहाँ अनुग्राह्य-अनुग्राहक संकर है। (३) एकव्यंजकानुप्रवेश संकर—यह भेद वहाँ होता है, जहाँ एक ही आश्रयमें, अर्थात् एक ही पद अथवा वाक्यमें एकाधिक ध्वनियाँ विद्यमान हों। उदाहरणके लिए, महादेवी वर्माके गीत "मैं नीर भरी दुखकी बदली। विस्तृत नभका कोई कोना, मेरा न कभी अपना होना, परिचय इतना, इतिहास यही, उमड़ी कल थी, मिट आज चली…आदि" (का० द०, पृ० ३१०)में एक ही कथन द्वारा एक ओर अर्थशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रम वस्तुसे व्यतिरेक अलंकारकी ध्वनि है—उपमेय (मैं)में उपमान (बदली)की अपेक्षा अपकर्ष दिखलाकर उपमानकी श्रेष्ठता व्यंजित की गयी है—दूसरी ओर गीतमें करुण रसकी व्यंजना होनेके कारण असंलक्ष्य ध्वनि (रसध्वनि) भी है। —उ० शं० शु०

ध्वनिसंप्रदाय—संस्कृत काव्यशास्त्रका सबसे प्रमुख एवं प्रौढ़ सम्प्रदाय। इस सम्प्रदायकी स्पष्ट और बहुत-कुछ पूर्ण रूपरेखा प्रस्तुत करनेवाला सबसे पहला ज्ञात ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' है। इस युग-विधायक ग्रन्थमें पहले छन्दोबद्ध कारिकाएँ दी हुई हैं, जिनमें प्रतिपाद्य विषयका सूत्रशैलीमें व्याख्यान किया गया है, तदनन्तर वृत्तियाँ हैं, जिनमें कारिकाओंमें प्रतिपादित सिद्धान्तोंका गद्यमें विस्तृत विवेचन ही नहीं है, वरन् मूलसिद्धान्तोंके विशदीकरणका भी यत्न किया गया है। वृत्तियोंके इस विवेचनमें ही कभी-कभी कुछ श्लोक भी दिये हैं, जिन्हें 'परिकरश्लोक', 'संग्रहश्लोक' अथवा 'सारांशश्लोक' कहा गया है। गद्यके इस विवेचनके अनन्तर अन्तमें उपयुक्त काव्यांशोंको देकर आलोच्य विषयोंके उदाहरण भी दिये हुए हैं। इस प्रकार 'ध्वन्यालोक'के तीन पृथक भाग किये जा सकते हैं—कारिका, वृत्ति, उदाहरण।

इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थके कृतित्वका विषय बहुत ही विवादग्रस्त रहा है। ग्रन्थके वृत्तिभागमें प्रस्तुत गद्यके विवेचनका श्रेय सर्वसम्मतिसे आचार्य आनन्दवर्धनको है। अन्तमें उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत काव्यखण्ड 'ध्वन्यालोक'के पूर्ववर्ती संस्कृत कवियोंके तथा स्वयं आनन्दवर्धनके भी हैं। मतभेद इस बातमें है कि सूत्र-बद्ध कारिकाएँ भी आनन्दवर्धन द्वारा विरचित हैं अथवा उन्हें किसी अन्य अज्ञातनामा आचार्यने बनाया था। इस मतभेदका सूत्रपात आजसे लगभग नौ सौ वर्ष पूर्व हो चुका था। 'ध्वन्यालोक'की पाण्डित्यपूर्ण एवं प्रगल्भ टीका करनेवाले प्रसिद्ध दार्शनिक एवं आचार्य

अभिनवगुप्त हुए। इनकी 'ध्वन्यालोक'की टीका 'लोचन' नामसे प्रख्यात है। आधुनिक यूरोपीय तथा भारतीय पण्डितोंने प्रधान रूपसे 'लोचन'के उल्लेखोंके आधारपर ही कारिकाओंके कर्तृत्वके सम्बन्धमें उक्त दो प्रकारके मतोंकी स्थापना की है। कारिकाओंको आनन्दवर्धनकृत माननेवाले पण्डित, 'लोचन'से कुछ ऐसे उद्धरण प्रस्तुत करते हैं, जिनका स्पष्ट आशय है कि कारिकाओंके लेखक भी आनन्द ही थे। अभिनवगुप्तकी दूसरी महत्त्वपूर्ण कृति 'अभिनवभारती'के कुछ स्थलोंमें भी इसी प्रकारका समर्थन प्राप्त है। 'ध्वन्यालोक'के परवर्ती लेखकोंके साक्ष्योंका उल्लेख भी किया जाता है। 'ध्वन्यालोक'के एक शताब्दी बाद 'वक्रोक्तिजीवित'के रचयिता कुन्तक कारिकाओं और वृत्तियोंके आनन्दकृत होनेका स्पष्ट कथन करते हैं। इसी प्रकार कुन्तक तथा अभिनवके समसामयिक महिम भट्ट भी कारिकाओं एवं वृत्तियोंके कृतित्वकी चर्चा करते हुए केवल एक ही व्यक्ति—'ध्वनिकार'का उल्लेख करते हैं। स्वयं 'ध्वन्यालोक'की वृत्तियोंके कुछ अन्तरंग साक्ष्योंके आधारपर भी यह कहा गया है कि उनमें आनन्द इस बातका दावा करते हैं कि उन्होंने ही ध्वनिसिद्धान्तका आविष्कार कर विद्वज्जनोंको उपकृत किया है। विद्वानोंका तर्क है कि यदि आनन्द कारिकाके रचयिता न होते तो वे इस प्रकारका झूठा दावा कदापि न करते। तत्कालीन कश्मीरी पण्डितोंकी प्रचलित परम्परा भी यही थी कि एक ही लेखक कारिका तथा वृत्तिकी भी रचना करता था।

उपर्युक्त स्थापनाके बिलकुल विपरीत अन्य आलोचकोंका यह मत है कि कारिकाओंके लेखक आनन्दवर्धनसे भिन्न कोई अन्य आचार्य थे। ऊपर दी हुई प्रायः सभी युक्तियोंको वे भ्रममूलक मानते हैं। निस्सन्देह वे इस बातको अंशतः स्वीकार करते हैं कि अभिनवके 'लोचन' तथा 'अभिनव-भारती'में कुछ ऐसे उल्लेख अवश्य हैं, जिनके आधारपर आनन्दवर्धन ही कारिकाओंके लेखक जान पड़ते हैं। पर इन थोड़ेसे स्थलोंके अतिरिक्त ऐसे बहुतेरे उल्लेख हैं, जिनसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि 'ध्वन्यालोक'से १५० वर्ष बाद अभिनवगुप्त कारिकाकार तथा वृत्तिकारको पृथक्-पृथक् व्यक्ति मानते थे। उन्होंने नियमित रीतिसे कारिकाकारके लिए 'मूलग्रन्थकृत्' (मूलग्रन्थकार) तथा वृत्तिकारके लिए 'ग्रन्थकृत्' (ग्रन्थकार) शब्दका प्रयोग किया है। इस पृथक्करणकी आवश्यकता लोचनकारको क्यों पड़ी, इसका कोई सन्तोषजनक उत्तर अद्यावधि नहीं दिया जा सका है। इसके साथ ही यह भी स्मरणीय है कि कारिकाकारके लिए 'ग्रन्थकृत्' शब्दका प्रयोग 'लोचन'में कहीं भी नहीं हुआ है। यह अवश्य है कि 'लोचन'के बादके आचार्योंमें कुन्तक, महिम भट्ट, क्षेमेन्द्र तथा विश्वनाथ आदि कई लेखकोंने आनन्दको ही कारिकाकार माना है, किन्तु इस प्रकारके बहुसंख्यक उल्लेख प्रस्तुत समस्याका समाधान नहीं कर सकते, क्योंकि ऐसे विषयोंमें बहुमत द्वारा निर्णय नहीं दिया जा सकता। अभिनवगुप्तकी टीकासे भी पहले 'ध्वन्यालोक'-की 'चन्द्रिका' नामकी एक टीकाकी चर्चा 'लोचन'में प्राप्त है। ऐसा जान पड़ता है कि चन्द्रिकाकार भी कारिकाकार और ध्वनिकारको पृथक मानता था। दुर्भाग्यवश 'चन्द्रिका' तथा भट्टनायककृत 'हृदयदर्शन' ग्रन्थ अप्राप्य है। सम्भव है, इनसे प्रस्तुत समस्यापर बहुत कुछ प्रकाश पड़े। कारिकाकारके व्यक्तित्वको पृथक् माननेवाले आचार्योंका कहना है कि आनन्दकृत वृत्तियोंमे विवेचित विषयको 'कारिकाकार-सम्मत' कहा गया है। यदि वृत्तिकार ही कारिकाओंका रचयिता भी था, तब तो 'सम्मति'का प्रश्न ही नहीं उठता। उसे तो केवल यही कहना चाहिए कि कारिका रचते समय उसने इसी मतको प्रतिपादित किया था। वृत्तियोंके विवेचनके बीचमे दिये गये 'परिकरश्लोकों'मेंसे कुछ तो कई कारिकाओंसे भी कहीं अधिक सारगर्भित एवं मार्मिक है, अतः आलोचकोंका तर्क है कि यदि यह मान लिया जाय कि इन श्लोकोंकी रचना बादमें वृत्तियोंके लिखते समय आनन्दने की थी, तब भी यह शंका बनी ही रहती है कि वृत्तिकारने इन्हें कारिकाओंके साथ न रखकर अपेक्षाकृत गौण स्थानपर क्यों रखा? लेखक जब कभी अपने ग्रन्थमें परिवर्तन-परिवर्द्धन करता है तो अपनी सामग्रीको लौट-पौट करनेका अधिकार उसे रहता ही है। अतः सम्भावना यही जान पड़ती है कि वृत्तिकारने अपनी रचनाको पृथक् रखनेके उद्देश्यसे ही इन श्लोकोंको कारिकाओंके साथ न मिलाकर वृत्तियोंके साथ रखा है। ध्वनिसिद्धान्तके आविष्कार करनेका आनन्दवर्धनका दावा भी नितान्त अनधिकारपूर्ण नहीं माना जा सकता है। वृत्तियोंमें उसका जो महत्त्वपूर्ण तथा विशद विवेचन प्राप्त है, वही इस दावेकी बहुत कुछ पुष्टि करता है। कई विश्वसनीय उल्लेखोंके आधारपर यह कल्पना की गयी है कि कदाचित् आनन्द ध्वनिसिद्धान्तके प्रवर्तक 'सहृदय'के समसामयिक तथा शिष्य थे। सम्भव है, अपने गुरुसे अत्यधिक घनिष्ठता एवं आत्मीयताके कारण उन्होंने इस प्रकारका दावा कर दिया हो। वृत्तिकार कारिकाकारके मतोंको अपने मतके रूपमें लिख दिया करते है, इसके उदाहरण भी अप्राप्य नहीं है। आनन्दकी वृत्तिके अन्तिम श्लोकमे 'सहृदयोदयलाभहेतोः' आदि शब्द आते है, जिनका अर्थ यह भी किया जा सकता है—यदि सहृदयको व्यक्तिवाचक संज्ञा मान लिया जाय—कि सहृदय (की कीर्ति)के अभ्युदयके निमित्त ("सत्काव्यतत्त्वनयवर्त्म चिरप्रसुप्तकल्पं मनस्सु परिपक्वधियां यदासीत्। तद्व्याकरोत्सहृदयोदयलाभहेतोरानन्दवर्धन इति प्रथिताभिधानः" (हिं० ध्व०, पृ० ४८१)। इस प्रकारके कथनोंको गुरुकी महत्ताको अभिव्यंजित करनेवाला भी माना जा सकता है। तत्कालीन कश्मीरी पण्डितोंकी प्रचलित परिपाटी यह अवश्य थी कि एक ही लेखक कारिका तथा वृत्ति, दोनोंकी रचना करता था। किन्तु प्रस्तुत समस्यापर उस परम्परासे विशेष प्रकाश नहीं पड़ता है। प्रश्न यह है कि क्या वृत्तिकार आनन्दने भी उस परम्पराका अनुसरण किया था?

इस प्रकार हम देखते है कि कारिकाओं और वृत्तियोंको पृथक्-पृथक् व्यक्तियोंकी रचना माननेके पक्षके तर्क संख्या तथा महत्त्व, दोनों ही दृष्टियोंसे बहुत ही आकर्षक प्रतीत होते है, यद्यपि दोनोंको आनन्दवर्धनकृत माननेवाले तर्क भी नितान्त निराधार नहीं कहे जा सकते। वस्तुस्थिति यह है कि ज्ञात सामग्रीके अनुशीलनसे हम किसी निर्विवाद

निष्कर्षपर नहीं पहुँच सकते हैं। जैसा कि ऊपर सकेत किया जा चुका है, यदि कुछ अप्राप्त कृतियाँ सुलभ हो सकें तो सम्भवतः इस विवादका निराकरण हो सके। 'लोचन'के पाठका प्रामाणिक पुनरुद्धार भी बहुत सहायक सिद्ध हो सकता है। यह विवाद प्राचीन कालमें ही चल पडा था। अतः मत-विशेषके माननेवालोंने 'लोचन'की हस्तलिखित प्रतियोंके पाठको अपने विचारानुकूल परिवर्तित करनेका यत्न अवश्य किया होगा (प्रस्तुत समस्याके विस्तृत अध्ययनके लिए दे०—ए० संकरमकृत 'द थियोरीज ऑव रस एण्ड ध्वनि' (१९२९), पृ० ५०–६० तथा पी० वी० काणेकृत 'द साहित्यदर्पण ऑव विश्वनाथ'—तृतीय संस्करण, १९५१, 'द हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोयेटिक्स' पृ० १५३–१९०)।

'ध्वन्यालोक'की हस्तलिखित प्रतियोंकी पुष्पिकाओंमें इस ग्रन्थके कई नाम मिलते हैं—'ध्वन्यालोक', 'काव्यालोक', 'सहृदयालोक', 'सहृदयहृदयालोक', 'काव्यालंकार'। कारिकाओंको आनन्दवर्धनसे भिन्न किन्हीं अन्य आचार्यकी रचना माननेवाले विद्वानोंका अनुमान है कि मूल ग्रन्थका नाम 'काव्यध्वनि' (संक्षिप्त रूप 'काव्य' या 'ध्वनि') अथवा 'सहृदयालोक' था। 'लोचन'की रचनासे लगभग सौ वर्ष पूर्व मुकुल भट्टकृत 'अभिधावृत्तिमातृका' (९००-९२५ ई०)-में इस बातका स्पष्ट उल्लेख प्राप्त है कि आदरणीय सहृदयने ध्वनिके नवीन सिद्धान्तको प्रतिष्ठित किया था। अतः बहुत सम्भव है, ध्वनिसिद्धान्तके प्रवर्तकका नाम अथवा उसकी उपाधि 'सहृदय' थी। इस प्रकारके सामान्य विशेषतासूचक नामोंका व्यक्तिवाचक संज्ञाके रूपमें प्रयुक्त होना कुछ विचित्र अवश्य है, परन्तु ऐसे उदाहरण संस्कृत तथा हिन्दी साहित्यमें भी मिलते अवश्य हैं—मेधाविन्, दण्डिन्, धनिक, सेनापति, भूषण।

आनन्दवर्धनका समय ज्ञात करना अपेक्षाकृत सरल है। कल्हणकृत 'राजतरंगिणी' (११४८–५१)मे उल्लिखित है कि कश्मीरके राजा अवन्तिवर्मन्के शासनकाल (८५५-८३ ई०)में कवि आनन्दवर्धनने ख्याति प्राप्त की थी। अन्य आधारोंसे भी इस कथनकी पुष्टि होती है—आनन्दने उद्भट-(८०० ई०)का उद्धरण दिया है, जब कि राजशेखर (लगभग ९००–२५ ई०)ने आनन्दके मतको उद्धृत किया है। अवन्तिवर्माके शासनकालकी तिथियोंको ध्यानमें रखते हुए आनन्दका रचनाकाल ९वीं शताब्दीके अन्तिम चरणमे मानना पड़ता है। आनन्दकी अन्य कृतियाँ 'विषमबाणलीला', 'अर्जुनचरित' तथा 'देवीशतक' हैं। 'ध्वन्यालोक' तथा 'देवीशतक'मे 'विषमबाणलीला' तथा 'अर्जुनचरित'के नाम आये हैं, अतः उन्हे इन दोनोंसे पहले रचित माना जायगा। 'देवीशतक'में यमक तथा चित्रालंकारके चमत्कारकी प्रधानता है। इसीसे आलोचकोंकी धारणा है कि उसकी रचना भी 'ध्वन्यालोक'के पहले ही हो चुकी होगी। फलस्वरूप 'ध्वन्यालोक' आनन्दकी प्रौढ़ कृति ठहरती है और उसकी रचना ८७५ ई०के लगभग या उसके बाद ही हुई होगी। यदि कारिकाओंके रचयिता आनन्दवर्धनसे भिन्न कोई अन्य आचार्य थे तो कारिकाओंका रचनाकाल ८७५ ई०से कुछ पहले मानना पड़ेगा।

'ध्वन्यालोक'ने पहले ध्वनिसम्प्रदायके अस्तित्वके कोई निश्चित प्रमाण अभीतक नहीं ज्ञात हैं। ध्वनिसम्प्रदायकी जैसी पूर्ण और विशद व्याख्या इस ग्रन्थमें प्राप्त है, उसे देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी कोई पूर्ववर्ती परम्परा अवश्य रही होगी। 'ध्वन्यालोक'की पहली कारिका "काव्यकी आत्मा ध्वनि (है), जिसे बुद्धिमान् लोग पहलेसे कहते आते हैं" (काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः) ही सूचित करती है कि पूर्ववर्ती पण्डितोंमें ध्वनिसिद्धान्तकी चर्चा पहलेसे थी। 'लोचन'ने इस कथनपर टीका करते हुए लिखा है कि इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि इस सिद्धान्तका विवेचन किसी विशिष्ट पुस्तकमें नहीं हुआ था, तथापि पूर्ववर्ती आचार्यो द्वारा अविच्छिन्न रीतिसे इसे कहा अवश्य गया था (अविच्छिन्नेन प्रवाहेण तौ एतद् उक्तम, विनापि विशिष्टपुस्तकेषु विवेचनात्)। इस कथनसे तो यही अनुमान होता है कि 'ध्वन्यालोक'के पहले ध्वनिसिद्धान्तकी स्थिति केवल मौखिक परम्पराके रूपमें ही थी। उसका व्यवस्थित विवेचन सर्वप्रथम इसी ग्रन्थमें हुआ। किन्तु यह परम्परा बहुत प्राचीन नहीं प्रतीत होती, क्योंकि भामह, दण्डी और वामन आदि पूर्ववर्ती आचार्य ध्वनिसम्प्रदायसे कुछ भी प्रभावित नहीं जान पड़ते हैं, जब कि रससम्प्रदायसे उनका परिचय अवश्य ही था।

'ध्वन्यालोक'का विषय–'ध्वन्यालोक'मे ध्वनिसिद्धान्तका विवेचन चार उद्योतोंमे विभक्त है। प्रथम उद्योतमें पहले ध्वनिविरोधी मतोंकी चर्चा करके उनकी निस्सारता प्रतिपादित की गयी है। तदनन्तर काव्यके दो अर्थों—वाच्य तथा प्रतीयमानका पृथक्करण प्रदर्शित किया गया है। वाच्य अथवा मुख्य अर्थकी महत्ता, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारोंके क्षेत्रमे प्रतिष्ठित की ही जा चुकी थी, किन्तु 'प्रतीयमान' अर्थ अथवा व्यंग्यार्थ वाच्यार्थसे भिन्न कोई अन्य ही वस्तु होती है। महाकवियोंके काव्यमे वह रमणियोंके आँख, कान, मुख आदि प्रसिद्ध अवयवोंसे भिन्न लावण्यके सदृश शोभित हुआ करता है। (प्रतीयमानं पुनरन्यदेव, वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्। यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं, विभाति लावण्यमिवांगनासु"—हि० ध्व०, पृ० १०)। केवल व्याकरण आदिके नियमोंको जाननेवाला प्रतीयमान अर्थके मर्मको मनोगत नहीं कर पाता, काव्यमर्मज्ञ सहृदय जन उसे सरलतासे ही समझ लेते हैं। समासोक्ति आदि जिन अलंकारोंमें यत्किचित् व्यंग्यार्थ रहता भी है, उन्हे ध्वनिकी संज्ञा नहीं दी जा सकती, क्योंकि उनमें वाच्यार्थकी ही प्रधानता हुआ करती है। काव्यको ध्वनिकी संज्ञा तभी दी जा सकती है, जब उसमें व्यंग्यार्थ सर्वोपरि तथा सबसे महत्त्वपूर्ण होता है। काव्य द्वारा अभिव्यंजित प्रतीयमान अर्थ या तो किसी वस्तुको अथवा किसी अलंकारको अथवा किसी रसको ध्वनित करता है। वस्तु, अलंकार तथा रसकी ध्वनियोंमे रसध्वनिका महत्त्व सर्वोपरि है। ध्वनिका जैसा चारुत्व रसध्वनिके अन्तर्गत दृष्टिगोचर होता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। जिस काव्यमें व्यंग्यार्थ प्रधान होता है, उसे उत्तम काव्य तथा जिसमे वह वाच्यार्थके समकक्ष और उससे निकृष्ट

होता है। उसे उत्तम काव्य कहते हैं। व्यंग्यार्थसे सर्वथा रहित आलंकारिक रचनाको अधम काव्यकी संज्ञा दी गयी है। तदनन्तर अर्थात् इस प्रकार प्रतिष्ठित करनेके अनन्तर ध्वनिके दो प्रमुख भेदों अविवक्षितवाच्य, विवक्षितान्यपर-वाच्योंका निरूपण किया गया है। दूसरे उद्योतमें इन दोनों भेदोंके चार प्रधान उपभेदों (अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य, अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य और संलक्ष्यक्रमव्यंग्य, असंलक्ष्य-व्यंग्य) तथा उनके अन्यान्य भेदोंको निरूपित किया गया है। इन वर्गीकरणका मुख्य आधार व्यंग्यार्थ है। तीसरे उद्योतमें व्यंजना करानेवाले, अर्थात् 'व्यंजक'—पद, वाक्य, प्रबन्ध आदिकी दृष्टिसे ध्वनिके उपर्युक्त चार भेदोंके पुनः अन्य प्रकारके उपभेदोंका विवरण प्राप्त है। इस विवरणमें ध्वनिसिद्धान्तकी व्यापकता तथा उसके विस्तारको प्रतिपादित करनेका यत्न दृष्टिगोचर होता है। ध्वनिका चमत्कार उपसर्ग-प्रत्यय, तद्धित-कृदन्त, पद, वर्णवाक्य, रचना, प्रबन्ध आदि सभी क्षेत्रोंमें अक्षुण्ण है। अलंकार, रस, गुण, रीति आदि पूर्ववर्ती सिद्धान्तोंको ध्वनिसिद्धान्तके अन्तर्गत यथास्थान प्रतिष्ठित करनेकी प्रबल चेष्टा इस विवेचनका प्रमुख लक्षण है। चौथे तथा अन्तिम उद्योतमें कविप्रतिभाकी अनन्तता और असीमताका व्याख्यान है। अपनी नैसर्गिक कल्पनाशक्तिके सहारे कविगण पुराने एवं बार-बार दुहराये हुए भावों और उद्गारोंको नित्य नये रूपोंमें उसी प्रकार प्रस्तुत किया करते है, जैसे वसन्त ऋतुमें वृक्षोंकी छटा नयी-सी प्रतीत होती है। व्यंग्य तथा व्यंजक भावोंके ऐसे नाना रूप सम्भव हैं, जो अर्थोंकी अनन्तताके मूल हेतु हुआ करते हैं, फिर भी लोकोत्तर चमत्कारकारी काव्यार्थकी सिद्धिके लिए कवियोंको केवल रसध्वनिकी अभिव्यंजनाके निमित्त ही प्रयत्नशील होना चाहिये। प्रबन्धकाव्योंमें एक ही प्रधान रसकी अभिव्यंजना होनी चाहिये, जैसे 'रामायण'में करुण रस तथा 'महाभारत'में शान्त रस। प्रसंगात् जिन अन्य रसोंकी व्यंजना प्रबन्धकाव्यमें यत्र-तत्र की जाय, उसे प्रबन्धके प्रधान रसका सहायक ही होना चाहिये। प्रतिभा-सम्पन्न कवियोंकी वाणीमें उक्ति-सादृश्यका पाया जाना स्वाभाविक ही है। यह साम्य प्राणियोंके प्रतिबिम्बके समान, उनके चित्रके समान और दूसरे देहधारी मनुष्यके समान होता है। बुद्धिमान् कविको प्रतिबिम्बरूप तथा चित्ररूप काव्यवस्तुको त्याग देना चाहिये, किन्तु तीसरे प्रकारके साम्यको नहीं छोड़ना चाहिये, क्योंकि कोई मनुष्य दूसरे देहधारी मनुष्यके सदृश होनेपर भी उससे अभिन्न नहीं माना जा सकता है—दोनोंकी व्यक्तिगत विशेषताएँ हुआ ही करती हैं और इन्हींके कारण वे समादृत हुआ करते हैं। इसी भाँति प्रतिभाशाली कवियोंकी वाणी पुराने कवियोंसे उक्तिसाम्य रखते हुए भी सहृदय जनोंके मनमें नव-आह्लादका संचारण करती रहती है।

ध्वनिसम्प्रदायका प्रवर्तन करनेवाले सर्वप्रथम ज्ञातग्रन्थ 'ध्वन्यालोक'का संक्षेपमें यही मूल प्रतिपाद्य विषय है। ध्वनिसम्प्रदायको पूर्णतया पल्लवित एवं विकसित करनेका श्रेय अभिनवगुप्त (९८०, १०२० ई०)को है, जो एक प्रतिभा-शाली कवि एवं आचार्य ही न थे, वरन् एक उच्च कोटिके दर्शनशास्त्री भी थे। मध्ययुगीन संस्कृत साहित्यके पण्डितोंमें इनका स्थान अन्यतम है। नाट्यशास्त्र तथा काव्यशास्त्रपर अभिनवके मतोंकी मान्यताका पता तो इसी बातसे चलता है कि सभी परवर्ती आचार्योंने उन्हें मुक्त कण्ठसे स्वीकार किया है। अभिनवने भरत मुनिके नाट्यशास्त्रकी अत्यन्त विशद टीका 'अभिनवभारती' नामक पुस्तकमें की है। उनके नाट्यशास्त्रके गुरु भट्ट तौत थे। काव्यशास्त्रकी दीक्षा उन्हें भट्ट इन्दुराजसे प्राप्त हुई थी, जिन्हें कुछ विद्वान् कोंकण-निवासी प्रतीहारेन्दुराज (रचनाकाल ९२०-९५० ई०)से अभिन्न मानते हैं। 'ध्वन्यालोक'पर अभिनवकी प्रसिद्ध टीका 'लोचन'का उल्लेख किया जा चुका है। यह टीका कई अन्य नामोंसे प्रसिद्ध है—'सहृदया-लोकलोचन', 'ध्वन्यालोकलोचन', 'काव्यालोकलोचन'। सैद्धान्तिक दृष्टिसे 'लोचन'में 'ध्वन्यालोक'के सिद्धान्तोंका ही विशदीकरण एवं पुष्टीकरण प्राप्त होता है। नाट्यशास्त्रके स्वरूप और उसकी अभिव्यक्तिके सम्बन्धमें अभिनवगुप्त द्वारा प्रवर्तित 'अभिव्यंजनावाद' (दे०—'रसनिष्पत्ति') नाट्यरसकी ही नहीं, वरन् काव्यरसकी समस्याका भी अन्तिम एवं व्यवस्थित समाधान उपस्थित करता है। अभिनवने यह निर्विवाद रीतिसे स्थापित कर दिया कि ध्वनिवादियोंकी व्यंजनाशक्ति ही रसकी अभिव्यक्तिके रहस्यको स्पष्ट रूपसे समझा सकती है, क्योंकि रस, भाव आदिका बोध व्यंग्यरूपमें ही हुआ करता है। इस प्रकार अभिनवने रस तथा ध्वनिके सिद्धान्तोंको अन्तस्सम्बन्धित कर दिया। ध्वनिके तीन रूपों—वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि तथा रसध्वनिकी प्रतिष्ठा 'ध्वन्यालोक'में हो ही चुकी थी। ध्वनिसिद्धान्तकी स्थापना जिस रूपमें की गयी थी, उसे देखते हुए ध्वनिकार अथवा आनन्दवर्धन इससे आगे नहीं जा सकते थे। अभिनवगुप्तने इस दिशामें एक कदम और आगे बढाया और यह घोषित किया कि काव्य रसके द्वारा ही जीवित रहता है ("रसेनैव जीवति सर्वम् काव्यम्") और रसके अभावमें काव्य काव्य नहीं कहा जा सकता। ध्वनिके शेष दो रूप, वस्तुध्वनि तथा अलंकारध्वनि, अन्ततोगत्वा रसध्वनिकी ही प्रतीति कराते हैं। अतः रस तथा ध्वनिके सिद्धान्तोंमें कोई तार्किक विरोध नहीं माना जा सकता है। अभिनवके इस विवेचनकी एक उल्लेख योग्य विशेषता यह भी है कि उन्होंने नाट्यरस एवं काव्यरसके चारुत्वका पुष्टीकरण पूर्णतया मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक स्तरपर किया है। उनके कश्मीरी शैव दर्शनके गुरु लक्ष्मणगुप्त थे, जो स्वयं उत्पलदेवके शिष्य थे। 'लोचन'में उत्पलका उल्लेख 'परमगुरु'के रूपमें हुआ है। अभिनवने उत्पलकृत 'प्रत्यभिज्ञानशास्त्र' तथा 'प्रत्यभिज्ञाकारिका'पर क्रमशः 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' (लघुवृत्ति) तथा 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विवृतिविमर्शिनी' नामक दो महत्त्वपूर्ण भाष्योंकी रचना की थी। स्वभावतः अभिनवके रसध्वनिके विवेचनोंपर उनके दार्शनिक विचारोंकी छाप प्रायः सर्वत्र ही विद्यमान है। अभिनवका कहना है कि निस्सन्देह काव्यकी आत्मा ध्वनि है, किन्तु मात्र ध्वनि ही काव्यका सर्वस्व नहीं है, उसमें शब्दार्थगुणालंकारसंयुक्त रसात्मकताका चारुत्व होना नितान्त आवश्यक है। यदि ऐसा न हो तब तो 'गंगायां घोषः' जैसी नीरस उक्तियोंको भी काव्य मानना

पड़ेगा। तार्किक दृष्टिसे सार्वभौम आत्मतत्त्व सीमित जगत्के सभी पदार्थोंमें व्याप्त है, अतः वह घटमें भी व्याप्त है, फिर भी 'घटमें जीव है' इस प्रकारका कथन नहीं किया जाता—जीवका कथन केवल जीवित शरीरधारियोंके लिए ही किया जाता है। इसी सादृश्यपर मात्र ध्वनि ही नहीं, वरन् रसात्मक सौन्दर्यमें अभिहित ध्वनि ही काव्यकी आत्मा मानी जा सकती है। अभिनवके इस विवेचनमें मौलिकता अथवा नवीनताका आभास भले ही बहुत अधिक न मिलता हो, पर उनकी प्रगल्भ एवं पाण्डित्यपूर्ण व्याख्याके फलस्वरूप ध्वनिसम्प्रदायने बहुत अधिक शक्ति और बल प्राप्त किया।

किन्तु ध्वनि जैसे सबल तथा सशक्त सिद्धान्तको भी निर्विरोध रीतिसे नहीं स्वीकार किया गया। स्वयं अभिनवगुप्तके उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि भट्टनायक (रचनाकाल ९३५-८५ ई०)कृत अप्राप्त ग्रन्थ 'हृदयदर्पण'में 'ध्वन्यालोक'में प्रवर्तित सिद्धान्तका विरोध किया गया है। रसकी अभिव्यक्तिमें व्यंजनाशक्तिकी महत्ताको भट्टनायक नहीं स्वीकार करते हैं। इसके स्थानपर वे 'भावकत्व' तथा 'भोजकत्व' नामक दो नवीन शक्तियोंको प्रतिपादित करते हैं और 'रसचर्वणा'को काव्यकी आत्मा मानते हैं। वे ध्वनिके सिद्धान्तको पूर्णतया अस्वीकृत तो नहीं करते, पर उसे शाब्दिक परिभाषासे परे केवल 'स्वसंवेद्य' मानते हैं। वक्रोक्तिको काव्यमें जीवित माननेवाले प्रसिद्ध आचार्य कुन्तक (ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दीका पूर्वार्द्ध)ने भी अपने ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित'में ध्वनिके स्वतन्त्र अस्तित्वको अस्वीकृत किया है और रसध्वनिके पूरे चमत्कारको प्रबन्धवक्रताके अन्तर्गत पूर्णतया प्रतिष्ठित किया है। कुन्तकके पाण्डित्यपूर्ण विवेचनका लक्ष्य ध्वनिसिद्धान्तको अपदस्थ करना न था, वरन् वक्रोक्तिके सर्वव्यापी चमत्कारको प्रतिष्ठित करना था। ध्वनिके भेदोपभेदोंको वक्रोक्तिके विविध प्रकारोंमें अन्तर्भूत करनेका प्रयत्न ही यह सिद्ध करता है कि वे व्यंग्यार्थके महत्त्वको स्वीकार करते थे। ध्वनिसिद्धान्तको 'ध्वंस' करनेके उद्देश्यसे रचना करनेवाले कश्मीरी आचार्य राजानक महिम भट्ट (१०२०-११०० ई०) हुए, जिन्होंने 'व्यक्तिविवेक' नामक ग्रन्थकी रचना की थी। काव्यका कोई समीचीन लक्षण न प्रस्तुत कर सकनेके कारण वे ध्वनिकारकी खिल्ली उड़ाते हैं। 'व्यक्ति' अथवा व्यंजनाको वे शब्दकी कोई शक्ति नहीं मानते। उनके मतानुसार वाक्यार्थसे व्यंग्यार्थकी प्रतीति शब्द और अर्थकी व्यंजकताके कारण न होकर अनुमानकी प्रक्रिया द्वारा हुआ करती है। 'ध्वन्यालोक'में ध्वनिका जो स्वरूप बतलाया गया है, उसे महिम भट्ट 'काव्यानुमिति' बतलाते हैं। उनके मतसे शब्दके केवल दो ही अर्थ होते हैं—वाच्य तथा अनुमेय। अनुमेय अर्थके अन्तर्गत वे लक्ष्य एवं व्यंग्य अर्थोंको समाविष्ट करते हैं—उनकी स्वतन्त्र स्थिति वे मानते ही नहीं। अनुमेय अर्थ पुनः तीन प्रकारका होता है। कभी वह वस्तुकी, कभी अलंकारकी अथवा कभी रसकी अनुमिति कराता है। वस्तु और अलंकारका व्यवहार वाच्यार्थके रूपमें हो सकता है, किन्तु रस सदैव अनुमेय होता है और वही काव्यका सर्वस्व है। वाच्यार्थ-व्यंग्यार्थमें व्यंजक-व्यंग्य सम्बन्धके स्थानपर महिम भट्ट 'लिंग-लिंगी' सम्बन्धकी कल्पना करते हैं। जहाँ 'लिंग' (हेतु)की स्थिति होगी, वहाँ 'लिंगी' (अनुमेय वस्तु)की स्थिति होगी, यद्यपि इस कथनके अपवाद हो सकते हैं। महिम भट्टके इन विचारोंपर नैयायिक श्री शंकुकके 'अनुमितिवाद'का प्रभाव प्रतीत होता है। किन्तु महिम भट्टसे सहमत होनेमें एक बड़ी कठिनाई यह है कि केवल स्थायी भावके अनुमान द्वारा रसध्वनिमें विलक्षण हृदयग्राहिता आ ही नहीं सकती, उसका प्रत्यक्ष ज्ञान ही वह चमत्कारपूर्ण स्थिति पैदा कर सकता है। विभावादि तथा स्थायी भावको 'साधन' तथा साध्यके रूपमें सम्बन्धित मानना भी आपत्तिजनक है, क्योंकि विभावादिको रसका 'ज्ञापक हेतु' नहीं माना जा सकता है। अनुमान वस्तुतः एक विशुद्ध मानसिक प्रक्रिया है, किन्तु वाच्यार्थसे व्यंग्यार्थकी प्रतीति तर्काश्रित बौद्धिक प्रक्रिया नहीं मानी जा सकती। भावुक 'रसिक' अथवा 'सहृदय' ही एक अत्यन्त संश्लिष्ट रागात्मक प्रक्रिया द्वारा व्यंग्यार्थको हृदयंगम करनेमें समर्थ होता है। निस्सन्देह महिम भट्टके ध्वनिध्वंसका विवेचन बहुत ही विद्वत्तापूर्ण है, किन्तु यह विरोध बहुत-कुछ विरोधके लिए ही किया गया था। 'व्यक्ति' अथवा व्यंजनाका विरोध करते हुए भी वे वस्तु, अलंकार एवं रसध्वनिके चमत्कारको मानते हैं, रसकी अभिव्यंजनाको भी वे वही महत्त्व देते हैं, जो ध्वनिसम्प्रदायके आचार्योंको मान्य था। यही कारण है कि उत्तरध्वनिकालके आचार्योंमें उन्हें तथा आचार्य कुन्तकको कोई अनुगामी आचार्य न मिल सके और फलतः उनके सिद्धान्तोंको विकसित नहीं किया जा सका।

अभिनवगुप्तके अनन्तर ध्वनिसम्प्रदायके प्रसिद्ध उन्नायकोंमें 'काव्यप्रकाश'(रचनाकाल १०५०-११०० ई०-के बाद)के निर्माता कश्मीरी विद्वान् मम्मटका स्थान सर्वोपरि है। नाट्यशास्त्रको छोड़कर अन्य सभी काव्यशास्त्रीय मत-मतान्तरोंका सारांश मम्मटने अपने ग्रन्थमें यथास्थान देनेका यत्न किया है। उनके ग्रन्थकी सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उसके विवेचन अत्यन्त पूर्ण और विशद होनेके साथ ही बहुत ही संक्षिप्त हैं। 'काव्यप्रकाश' अद्यावधि, निर्विवाद रीतिसे काव्यशास्त्रकी एक आदर्श पाठ्यपुस्तक, माना जाता है। उसने सभी परवर्ती आलोचकोंको प्रेरणा प्रदान की है। ध्वनिसिद्धान्तके व्यवस्थित स्थिरीकरणका पूरा श्रेय इसी कृतिको प्राप्त है। सिद्धान्ततः मम्मट ध्वनिवादी हैं, फिर भी अन्य मतावलम्बी आचार्योंके मतोंको भी उन्होंने यथास्थान समादृत किया है, यद्यपि ऐसा करनेमें उन्हें कभी-कभी विशेष कठिनाईका सामना करना पड़ा है। काव्यकी परिभाषा देते हुए वे कहते हैं कि काव्यके शब्दों तथा अर्थोंमें दोष न होने चाहिये, यद्यपि गुण अवश्य होने चाहिये, अलंकार चाहे कहीं-कहींपर न भी हों ("तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि")। इस परिभाषामें 'शब्द' और 'अर्थ'का उल्लेख स्पष्ट ही प्राचीन आचार्य भामह (ईसाकी सातवीं शताब्दी)की परिभाषा 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'का प्रभाव सूचित करता है। आलोचकोंने इस बातपर आश्चर्य प्रकट किया है कि ध्वनि और रसकी महत्ताको स्वीकार करते हुए भी मम्मटने इस परिभाषामें 'ध्वनि' तथा 'रस'का

नामोल्लेखतक नहीं किया है, जब कि 'गुण', 'दोष' तथा 'अलंकार'नकका नाम इसमें आ गया है। यह भी स्मरणीय है कि उन्होंने 'गुण' तथा 'दोष'का विवेचन स्वतन्त्र रीतिसे न करके उत्कर्षापकर्षकी दृष्टिसे ही किया है। 'गुण'के सम्बन्धमें उनकी स्थापना है कि जिस प्रकार 'शौर्य' आदि गुण आत्मासे सम्बद्ध हैं, उसी प्रकार माधुर्यादिक गुण इसके धर्म हैं, रसके साथ उनकी अचल स्थिति हुआ करती है। काव्यालंकार शारीरिक आभूषणोंके समान 'काव्य-शरीर'—शब्द और अर्थको चमत्कृत करते हैं। रसोपकारी होनेपर ही उनका महत्त्व है, अन्यथा वे उक्तिवैचित्र्यमात्र हैं। आलोचकोंकी धारणा है कि 'ध्वन्यालोक'की स्थापनाओं तथा प्राचीन आचार्योंकी मान्यताओंमें एकसूत्रता लानेके प्रयत्नके कारण ही मम्मटकी परिभाषामें उपर्युक्त प्रकारकी विशेषताएँ आ गयी हैं।

'साहित्यदर्पण' (ईसाकी १४वीं शताब्दी)के रचयिता विश्वनाथने मम्मट द्वारा प्रस्तुत काव्यकी उपर्युक्त परिभाषा-की तीखी आलोचना की है। आनन्दवर्धनने रसध्वनिकी सर्वश्रेष्ठता प्रतिपादित की थी, अभिनवगुप्तने उसकी सर्वश्रेष्ठता ही नहीं, अनिवार्यता भी सिद्ध की थी, किन्तु विश्वनाथने रसात्मक वाक्यको ही काव्यकी संज्ञा प्रदान की ('वाक्यं रसात्मकं काव्यम्')। वस्तुतः उन्होंने अभि-नवगुप्तके आशयको ही कुछ अधिक स्पष्टताके साथ प्रकट किया है। किन्तु ऐसा करनेमें उन्होंने वस्तुध्वनि तथा अलंकारध्वनिको काव्यकी परिधिसे बाहर कर दिया। विश्वनाथने काव्यके प्रथम दो भेदों—ध्वनि तथा गुणीभूत व्यंग्य—को ही मान्यता दी है और मम्मट द्वारा स्वीकृत चित्रकाव्यको रसके अभावके कारण काव्यक्षेत्रसे बहिष्कृत कर दिया है। रसात्मकताके विशेष आग्रहके अतिरिक्त विश्वनाथका मम्मटसे कोई विशेष मतभेद नहीं है और उन्होंने प्रायः 'काव्यप्रकाश'के मतोंका ही समर्थन किया है।

पण्डितराज जगन्नाथने भी अपने 'रसगंगाधर' (१६४१–५० ई०)में 'काव्यप्रकाश'की परिभाषामें गुण, दोष और अलंकारके प्रयोगपर आपत्ति की है। उनके मतसे काव्य केवल शब्द और अर्थका ही द्योतन नहीं करता, वरन् एक विशेष प्रकारके शब्द और अर्थको अभिव्यक्त करता है। विश्वनाथकी परिभाषा ('वाक्यं रसात्मकं काव्यम्') भी उन्हें मान्य नहीं है, क्योंकि काव्यके व्यापक क्षेत्रमें सर्वत्र रसकी स्थिति नहीं हुआ करती है। जिस काव्यमें वस्तु अथवा अलंकार ही व्यंजना है, उसे भी काव्य न माना जा सकेगा। अतः वे 'रमणीयार्थ-प्रतिपादक शब्द'-('रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः')को ही काव्य मानते हैं। यह रमणीयता काव्यरसिकके हृदयमें तटस्थता एवं निस्संगताकी अवैयक्तिक स्थिति पैदा कर देती है और उसे अलौकिक आनन्द प्रदान करती है। यही रसास्वादकी अलौकिक मनःस्थिति पैदा करती है। रमणीयताकी दृष्टिसे ध्वनि भी समादृत की जाती है। पण्डितराजने काव्यका चतुर्विध विभाजन किया है–उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम और अधम। जगन्नाथका पहला वर्ग 'ध्वन्यालोक'के उत्तमकाव्य-(ध्वनिकाव्य)के समानान्तर है और इस ध्वनिको उन्होंने 'परम रमणीय' बतलाया है। विस्तारोंमें उनका ध्वनिका वर्गीकरण परम्परागत है। द्वितीय वर्ग 'उत्तम काव्य'के अन्तर्गत 'ध्वन्यालोक'के गुणीभूत व्यंग्यको रखा गया है। 'ध्वन्यालोक'की भाँति गुणीभूत व्यंग्यको वे मध्यम काव्यकी संज्ञा देनेको प्रस्तुत नहीं हैं क्योंकि वाच्यार्थकी समकक्षतामें व्यंग्यार्थके गौण हो जानेपर भी काव्य चमत्कारकारी हो सकता है। अतः 'मध्यम'की संज्ञा देकर उसकी महत्ताको गिरा देना युक्तिसंगत नहीं है। तीसरी (अर्थात् उनके मतसे मध्यम) श्रेणीके काव्यमें पण्डितराज उस काव्यको रखते हैं, जहाँ व्यंग्यकी अपेक्षा वाच्यार्थका चमत्कार स्पष्ट रीतिसे उत्कृष्ट हो। चतुर्थ (अथवा अधम) श्रेणीके काव्यमें वह काव्य आता है, जिसमें शब्दचमत्कारका प्राधान्य हो और अर्थचमत्कार शब्दचमत्कारको सुशोभित करता हो। उनका यह भी कहना है कि अर्थकी रमणीयतासे सर्वथा रहित शब्दचमत्कृति प्रस्तुत करनेवाले एकाक्षरी छन्द, पद्मबन्ध आदिका एक पाँचवाँ भेद (अधमाधम काव्य) भी माना जा सकता है और प्राचीनोंके काव्यमें इनकी स्थिति भी पायी जाती है, किन्तु रमणीय अर्थकी कसौटीपर खरा न उतरनेके कारण वे उसकी स्थापना युक्तिसंगत नहीं समझते। जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, 'ध्वन्या-लोक'के ध्वनि(उत्तम)काव्यको उन्होंने उत्तमोत्तम काव्य माना है। 'ध्वन्यालोक'के शेष दो भेदों—गुणीभूतव्यंग्य तथा चित्रकाव्य—को उन्होंने तीन वर्गोंमें विभक्त किया है। उनका यह प्रयास बहुत ही पाण्डित्यपूर्ण है। उनका काव्यलक्षण अत्यन्त व्यापक, तर्कानुमोदित और बोधगम्य है। ध्वनिसिद्धान्तका मूल रूप उन्हें मान्य था, पर वे अन्धानुसरण करनेवाले न थे। अधिकारी आलोचकोंने उन्हें प्रथम श्रेणीका आचार्य माना है। अपनी स्वतन्त्र चिन्तनशक्ति एवं असाधारण प्रतिभाके बलपर उन्होंने ध्वनिको एक नये रूपमें समझने-समझानेका अद्भुत प्रयत्न किया, क्योंकि आचार्य मम्मटके काव्यलक्षणसे उन्हें सन्तोष न था। साहित्यदर्पणकारके समान उन्होंने ध्वनिके दो रूपों (वस्तु और अलंकार)को काव्यक्षेत्रसे बहिष्कृत नहीं कर दिया और साथ ही रसकी सर्वश्रेष्ठताको भी उन्होंने सुरक्षित रखा। वक्रोक्ति तथा अर्थचमत्कृति उपस्थित करनेवाले अलंकारोंको भी उन्होंने काव्यकी परिधिके भीतर ही अधिक युक्तिपूर्ण रीतिसे प्रतिष्ठित किया। सच तो यह है कि मूल ध्वनि-सिद्धान्तको सुरक्षित रखते हुए भी उन्होंने उसे नयी व्यवस्था प्रदान की और अपने काव्य-लक्षणके भीतर संस्कृत काव्यशास्त्रसम्बन्धी सभी सिद्धान्तोंको व्यवस्थित रीतिसे प्रतिष्ठित कर दिया, ताकि वे ध्वनिसिद्धान्तके अंग-से ही जान पड़ें।

मध्ययुगीन हिन्दी साहित्यमें भी ध्वनिसिद्धान्तकी यत्किंचित् चर्चा होती रही। हिन्दीमें रीतिकालके बहु-संख्यक आचार्य सिद्धान्ततः रसवादी थे। उन्होंने मुख्यतया उत्तर-ध्वनिकालके उन संस्कृत आचार्योंसे प्रेरणा ग्रहण की थी, जिन्होंने श्रृंगार रसपर विशद विवेचन प्रस्तुत किये थे। यही कारण है कि हिन्दी रीतिकारोंने श्रृंगार रस—विशेषतया उसके आलम्बन विभाव (नायक-नायिका-भेद) तथा उद्दीपन विभाव (षड् ऋतु वर्णन)—पर ही अपनी दृष्टि

केन्द्रित की। दूसरा विषय अलंकारोंका था, जिसने बहुतेरे रीतिकारोंको आकर्षित किया था। रीतिकारोंकी तीसरी परम्परामें उन थोड़ेसे ग्रन्थकारोंका उल्लेख किया जाता है, जिन्होंने ध्वनिसम्प्रदाय द्वारा प्रतिष्ठापित व्यापक काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोणका अनुगमन किया था। इस वर्गके अन्तर्गत निम्नलिखित आठ ग्रन्थोंका उल्लेख किया जा सकता है—१. कुलपति मिश्र : 'रसरहस्य' (१६७० ई०), २. कुमारमणि मिश्र : 'रसिक रसाल' (१७१६ ई०), ३. श्रीपति : 'काव्यसरोज' (१७२० ई०), ४. सोमनाथ : 'रसपीयूषनिधि' (१७३७ ई०), ५. देवदत्त : 'काव्यरसायन' (लगभग १७४३ ई०), ६. भिखारीदास : 'काव्यनिर्णय' (१७५० ई०), ७. सूरति मिश्र : 'काव्यसिद्धान्त' (लगभग ई० १८वीं शताब्दीका उत्तरार्द्ध), ८. प्रताप सिंह : 'व्यंग्यार्थ-कौमुदी' (लगभग ईसाकी १९वीं शताब्दीका मध्य)।

इन सभी ग्रन्थोंका विषय-विवेचन मुख्य रूपसे मम्मटके 'काव्यप्रकाश' तथा विश्वनाथके 'साहित्यदर्पण'पर आधारित है। इन दो ग्रन्थोंसे भी उपर्युक्त लेखकोंका बहुत घनिष्ठ परिचय न था—जटिल एवं उलझन पैदा करनेवाले विषयोंका नामोल्लेखमात्र करके वे आगे बढ़ जाते हैं। उनकी परिभाषाओंमें वह स्पष्टता, सूक्ष्मता तथा कसावट नहीं है, जो शास्त्रीय विषय-विवेचनके लिए नितान्त आवश्यक होती है और जिसके अभावमें अध्येता मूल विषयको सम्यक रीतिसे नहीं समझ पाता है। इस दिशामें भिखारीदासको अपेक्षाकृत अधिक सफलता मिली है, किन्तु उनके लक्षणोंमें भी अपूर्णता एवं भ्रामकता सहजमें ही खोजी जा सकती है। उदाहरणार्थ, लक्षणाकी परिभाषा दासजी इस प्रकार देते हैं—"मुख्य अरथकौ बाध करि सब्द लच्छना होत। रूढ़ि और प्रयोजनवती है लच्छना उदोत" (का० नि०, पृ० १९)। जब कि 'काव्यप्रकाश'में उसकी परिभाषा यह है—"मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्। अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया" (का० प्र०, २ : १९)। दासजीने केवल मुख्यार्थके बाधकी बात कहकर परिभाषाको चलता कर दिया है—"प्रयोजन अथवा रूढिके कारण मुख्यार्थसे सम्बन्धित जो दूसरा अर्थ लक्षित कराती है, उस आरोपित क्रियाको लक्षणा कहते हैं" आदिको वे छोड़ ही गये। अतः इस कोटिके ग्रन्थोंको आदर्श पाठ्यपुस्तक होनेका श्रेय भी नहीं दिया जा सकता है। इसी प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिके इस लक्षण—"कहे विवक्षितवाच्य धुनि, चाह करै कहि जाइ। असंलच्छक्रम लच्छक्रम, होत भेद द्वै ताइ" (का० नि०, पृ० ११८)से भी वर्ण्य विषयके प्रति लेखकके अनुरागकी व्यंजना स्पष्ट ही हो जाती है। 'काव्यरसायन'में देवने यह स्थापना की है कि प्रत्येक शब्दार्थमें अभिधा, लक्षणा और व्यंजना नामक तीनों शब्दशक्तियोंकी स्थिति रहती है। अतः उन्होंने इन तीनों वृत्तियोंके अनेक मिश्रित भेद बना डाले हैं। विचारणीय यह है कि लक्षणाकी स्थिति सर्वत्र कैसे हो सकती है? उसके लिए मुख्यार्थ बाधित होना आवश्यक है और क्या मुख्यार्थकी बाधा सर्वत्र ही हो सकती है? इस विलक्षण स्थापनाके कारण देवका विवेचन बहुत ही भ्रामक हो गया है।

इन कठिनाइयोंके कारण हिन्दी रीतिकारोंके विवेचन बहुत ही त्रुटिपूर्ण हैं। वस्तुतः न तो उनमें शास्त्रकारोंकी-सी प्रतिभा थी और न उनके पास शास्त्रकारोंकी शैली ही थी। उनके लक्षण दोहोंमें लिखे गये हैं और उनके साथ गद्यमय विवेचनकी कोई परम्परा न थी। सच तो यह है कि उनके आचार्यत्वका व्यक्तित्व आरोपित-सा जान पड़ता है। वे प्रधानतया कवि ही थे और उनका सारा ध्यान काव्य-रचनामें ही संलग्न था। निस्सन्देह उनके अधिकांश उदाहरण बहुत ही मौलिक और मर्मस्पर्शी हैं और इस क्षेत्रमें उन्हें बहुत बड़ी सफलता प्राप्त हुई है। इसकी महत्ताको देखते हुए उनके सैद्धान्तिक पक्षकी न्यूनताके दोषका बहुत-कुछ परिहार हो जाता है।

[सहायक ग्रन्थ—पी० वी० काणे : द साहित्य-दर्पण ऑव विश्वनाथ, तृ० संस्करण १९५१ ई० (भूमिका); एस० के० डे : द हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोयेटिक्स, भाग २ (१९२५ ई०); के० सी० पाण्डे : कम्परेटिव एस्थेटिक्स, भा० १, (१९५० ई०); विश्वेश्वर तथा नगेन्द्र : हिन्दी ध्वन्यालोक (१९५२ ई०); अनु० हरिमंगल मिश्र : काव्यप्रकाश (सं० २००० वि०); शालिग्राम शास्त्री : विमलाविभूषित साहित्यदर्पण (सं० १९९१ वि०); नगेन्द्र : देव और उनकी कविता तथा रीतिकाव्यकी भूमिका (१९४९ ई०); भगीरथ मिश्र : हिन्दी काव्यशास्त्रका इतिहास।] —उ० शं० शु०

ध्वनिसंयोजक–दे० 'रेडियो नाटक'।

ध्वनिसंसृष्टि–ध्वनिके विभिन्न भेदोपभेद जहाँ परस्पर एक-दूसरेसे मिले-जुले न होकर 'तिल-तन्दुल-न्याय'से स्वतन्त्र रीतिसे पृथक्-पृथक् स्थित हो, वहाँ ध्वनियोंकी संसृष्टि मानी जाती है। "हे अभावकी चपल बालिके, री ललाटकी खल लेखा। हरी-भरी-सी दौड़-धूप, ओ जल मायाकी चल रेखा" ('प्रसाद'), इन पंक्तियोंमें तीन स्थलोंपर लक्षणामूला ध्वनि स्वतन्त्र रीतिसे स्थित है—'चपल बालिका', 'ललाटकी खल लेखा' तथा 'जल-मायाकी चल रेखा'में साध्यवसाना लक्षितलक्षणाकी सहायतासे चिन्ताकी उत्पत्ति, उसके दुष्ट स्वरूप तथा उसकी अतिशय चंचलताकी व्यंजनाएँ हो रही हैं। —उ० शं० शु०

नकारवाद–इस दृष्टिकोणके अनुसार समस्त जगत्, जीवन, आदर्श और मूल्य निरर्थक, संयोगज तथा निस्सार हैं। जीवन शेक्सपीयरके शब्दोंमें, एक जड़ मूर्ख द्वारा कही हुई कहानी है, जिसमें गर्जन-तर्जन तो बहुत है, लेकिन जिसमें सार कुछ भी नहीं है। जो लोग इतिहासमें किसी भी अभिप्राय अथवा आदर्शकी अभिव्यक्ति नहीं मानते, उन्हें ऐतिहासिक नकारवादी कहा जाता है। इन लोगोंका मत है कि मनुष्यकी उत्पत्ति ऐसे कारणोंसे हुई है, जिनको अपने लक्ष्य और उद्देश्यका कोई भी ज्ञान नहीं था। मानवीय अभियान अणुओंके आकस्मिक संयोगसे प्रतिफलित हो गया है। अतः इसी प्रकार, मानवताने जो उन्नति और सफलताका भवन निर्मित किया है, वह एक दिन नष्ट-भ्रष्ट सृष्टिके खँडहरोंमें दब जायगा। इस तरह मनुष्य तथा उसकी प्रगति और इतिहासके सम्बन्धमें यह एक अत्यन्त निराशावादी, ह्रासोन्मुख और रुग्ण दृष्टिकोण

है। अधिकांश तत्त्ववेत्ताओं और इतिहासके दार्शनिकोंका ऐसा मत नहीं है। —आ०

नक्शबंदी—दे० 'सूफी-सम्प्रदाय'।

नचारी—बिहारके मिथिला जनपद तथा वहाँके प्रभावसे अन्यत्र भी प्रचलित शिवभक्ति अथवा शिवोपासनापरक गीतोंको 'नचारी' कहा जाता है। ये गीत बहुधा भक्ति-भावनाकी तरंगमें नाचकर गाये जाते हैं। नाचना क्रियासे ही इसकी शाब्दिक व्युत्पत्ति बतायी जाती है। 'नचारी' नामक गीत मिथिलामें बहुत लोकप्रिय हुए हैं। मैथिल साधु अथवा भिखमगे इन गीतोंको गाकर भिक्षार्जन करते हैं। मैथिल स्त्रियाँ विवाह तथा अन्य मांगलिक अवसरोंपर 'नचारी'का उपयोग हास्य तथा व्यंग्य गीतोंके रूपमें करती हैं। 'मैथिल कोकिल' विद्यापतिने बहुत-सी नचारियाँ लिखी थीं। उनकी इस शैलीकी अनेक रचनाएँ अभी लोक-जीवनमें ही प्रचलित हैं और इनका संकलन तथा सम्पादन ठीक तरहसे नहीं हो पाया है। विद्यापतिकी पदावलीसे इस कोटिकी एक रचना आंशिक रूपमें द्रष्टव्य है—
"कखन हरव दुख मोर हे भोलानाथ। दुखहि जनम भेल, दुखहि गमाएव, सुख सपनहुँ नहि भेल, हे भोलानाथ"। —र० भ०

नज़्म—नज़्म शब्दका अर्थ कविता है। उर्दू काव्यके समस्त रूपोंको नज़्म कहा जा सकता है, विशेषकर इसका प्रयोग उन कविताओंके लिए होता है, जो किसी एक विषयपर हों। इसका प्रचलन उर्दू काव्यमें शुरूसे ही मिलता है। गोलकुण्डाके राजा सुलतान मुहम्मद कुली कुतुबशाह (१५८०-१६११ ई०)के दीवानमें भी वसन्त, नौरोज, ईद, दीवाली आदिपर नज़्में हैं। परन्तु अंग्रेजी राज्यसे पहले काव्यका यह रूप चमक नहीं सका। उत्तरी भारतमें केवल 'नजीर' अकबराबादीने इस तरफ अधिक योग दिया। नज़्मका असली रंग उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तिम चरणमें उभरना शुरू हुआ।

मुहम्मद हुसैन 'आजाद'ने कर्नल हालरायडकी मददसे १८६७ ई०में यह कोशिश शुरू की कि ऐसे मुशायरे होने लगें, जिनमें मिसरा तरहके बजाय किसी विषयपर नज़्में लिखी जायें। उनकी यह कोशिश सन् १८७४में कामयाब हुई, जब 'अंजुमने उर्दू'की ओरसे लाहौरमें नियमित रूपसे इस तरहके मुशायरे होने लगे और लोग तरह-तरहके विषयोंपर नज़्में लिखने लगे। ये नज़्में ज्यादातर वर्णनात्मक होती थीं। कांग्रेसका संघटन और हिन्दुस्तानियोंमें राजनीतिक चेतनाके विकास तथा अंग्रेजी शिक्षाके प्रसारसे अधिकांश लोग नज़्में लिखने लगे। आजादके अलावा 'हाली', 'दुर्गासहाय सुरूर', 'अख्तर शिरानी', 'ज्वाला-प्रसाद बर्क', 'इक़बाल', चकबस्त, अकबर, 'जोश', 'हफीज' 'मजाज़', 'सरदार जाफरी', 'फैज़' तथा साहिर आदिने इस रूपमें उर्दू-काव्यको सम्पन्न किया और उसमें राजनीति, रोमांस, सामाजिक आलोचना, वर्गसंघर्ष आदि विषयोंको शामिल किया।

आधुनिक नज़्मोंको तीन मोटे-मोटे भागोंमें विभाजित किया जा सकता है : (१) वे नज़्में, जो मानव-प्रेमका गीत गाती हैं। साथ-ही-साथ प्रेमी तथा प्रेमिकाके मिलनमें जो रुकावटें उत्पन्न होती हैं और इन स्थलोंपर जो भावनाएँ हृदयमें उठती हैं, उनके चित्रणमें अख्तर 'शिरानी' तथा 'हफीज जालन्धरी' बहुत दक्ष हैं। (२) ऐसी नज़्में, जिनमें कवि अपने देशमें होनेवाले अत्याचारोंका वर्णन करता है, उन अंग्रेज शासकोंकी क्रूरता एवं बर्बरताकी कहानी दोहराता है, जो देशको बुरी तरह लूट रहे हैं। कवि उनसे असन्तुष्ट होकर इनकिलाबकी आकांक्षा करता है और स्वदेशियोंमें 'स्वदेश-प्रेम'की भावनाको उद्दीप्त करता है। इस प्रकारकी नज़्में लिखनेवालोंमें 'इक़बाल', 'चकबस्त' तथा 'जोश' आदि हैं। (३) वे नज़्में, जिनसे नाना प्रकारकी समस्याओंपर प्रकाश पड़ता है। कभी कवि समाजके सदस्योंकी असमानतापर खूनके आँसू रोता है तो कभी समाजके अन्दर शिक्षाके अभावके कारण फैले हुए अन्ध-विश्वासोंको दूर करनेकी आवाज लगाता है, कभी वह धर्मके ठेकेदारोंकी खबर लेता है, जो अपनेको ही भगवान् और अल्लाहका सबसे बड़ा सेवक समझते हैं, कभी पूँजीपति तो कभी रोज धर्मके नामपर होनेवाले दंगे उसकी नज़्मोंका विषय बनती हैं। कहनेका तात्पर्य यह कि आधुनिक युगकी सारी समस्याएँ नज़्मोंका विषय बनी हुई हैं। कवि न केवल इन समस्याओंका वर्णन ही करता है, वरन् इनके हल-के लिए अपने सुझाव भी प्रस्तुत करता है। आधुनिक कालमें इस प्रकारकी नज़्में लिखनेवाले 'जोश', 'सरदार जाफरी', 'फैज़' तथा 'साहिर' आदि बहुत प्रसिद्ध हैं।

इन नज़्मोंने उर्दू-काव्यको उच्च विचार तथा उच्चकोटिकी भावनाएँ प्रदान कीं। स्वदेशी एवं अन्तरराष्ट्रीय समस्याओंपर राय देनेके साथ-साथ कवियोंने दर्शन शास्त्र तथा अर्थशास्त्र आदिके दृष्टिकोणसे समाज और वैयक्तिक जीवनपर प्रकाश डाला है और उसे नवीन युगकी आत्माका बोध कराकर समृद्ध किया है।

फारसीके आधारपर उर्दू-काव्यमें 'मुसम्मत'के नामसे ऐसे रूप मौजूद थे, जिनमें नज़्में लिखी जा सकें। लोगोंने कभी-कभी इसका भी प्रयोग किया। जब नज़्मोंका रिवाज हुआ तो मिसरोंके तारतम्यको परिवर्तित करके अपने-अपने दृष्टिकोणसे शायरोंने नज़्में लिखीं। आजकल नज़्म उर्दू-काव्यकी प्रमुख शाखा है। —मसी०

नट—नाटक-रूपकादिमें अनुकार्य(ऐतिहासिक पात्र)का रूप धारणकर उनकी अवस्थाओंके अनुकरण करनेवाले व्यक्तिको नट कहते हैं। इस प्रकार नट अभिनेता होता है और नाट्य करता है। रंगशालाके व्यवस्थापक सूत्रधार तथा वस्तुकी स्थापना करनेवाले स्थापकको भी नट कहा जाता है, जो नाट्यकी समस्त विधियों और रीतियोंमें पारंगत होता है। इसके अतिरिक्त नट एक प्रकारकी जाति भी होती है, जो गानों, आंगिक व्यायामों और ऊँचे-ऊँचे बाँसों, रस्सियोंपर चढ़नेके खेलों द्वारा अपनी जीविका कमाती है।—वि० रा०

नटवा—जाति-विशेषका गीत। नटोंकी एक जाति होती है, जो गाँवमें घूम-घूमकर शारीरिक व्यायाम और तत्सम्बन्धी अन्य कलाबाजियोंका प्रदर्शन करती है। उक्त गीत इसी जातिसे सम्बद्ध हैं; जो पुरुषों और महिलाओं, दोनोंके द्वारा गाया जाता है। प्रायः ढोलक और नाचके साथ ही इसे गाते हैं। —र० भ०

नटी–नाटकादिमें वास्तव-पात्रोंका अपनेमें आरोपण कर उनकी चेष्टाओंका अभिनय करनेवाली स्त्री—अभिनेत्री—नटी होती है। सूत्रधारकी स्त्रीको भी नटी कहते हैं, जिसने सूत्रधार पूर्वरंगका विधान करते समय आमुख(प्रस्तावना)में नाटकादि वस्तुका संकेत करते हुए बातें करता है। नटी सूत्रधारके कार्योंमें सहायक बनती है। नट(जाति)की स्त्री भी नटी कहलाती है, जो नटको उसके कार्योंमें सहायता देती है। —वि० रा०

ननद–दे० 'सास'।

नफ़्स–आत्माके दो भेदोंमें एक यह है। इसे सूफ़ी निम्न कोटिका मानते हैं। वे इसे सभी प्रकारकी कुप्रवृत्तियोंका स्थान तथा समस्त बुराइयोंकी जड़ मानते हैं। उनका कहना है कि यह सब समय नीचेकी ओर ले जानेवाला है। सूफ़ी कहते हैं कि आत्मा पहले-पहल पवित्र ही निर्मित होती है, लेकिन नफ्सके कारण वह कलुषित हो जाती है और उसमें बुराइयाँ आती हैं, नफ्स और रूहमें निरन्तर संघर्ष होता रहता है। आत्माको ये विपरीत दिशाओंमें खींचते रहते हैं (दे० 'रूह')। —रा० पू० ति०

नयी कविता–ऐतिहासिक दृष्टिसे नयी कविता 'दूसरा सप्तक' (१९५१ ई०)के बादकी कविताको कहा जा सकता है, किन्तु इस ऐतिहासिक क्रमके अतिरिक्त भी नयी कविताका वास्तविक रूप उस समय प्रतिष्ठित हुआ, जब 'दूसरे सप्तक'-के बादके कवियोंने सारी कविताको 'दूसरा सप्तक'के निकट-वर्ती पाते हुए, किन्हीं अर्थोंमें कुछ भिन्नताका अनुभव भी किया। नयी कविता मूलतः १९५३ ई०में 'नये पत्ते'-के प्रकाशनके साथ विकसित हुई और जगदीश गुप्त तथा रामस्वरूप चतुर्वेदीके सम्पादनमें प्रकाशित होनेवाले संकलन 'नयी कविता' (१९५४ ई०)में सर्वप्रथम अपने समस्त सम्भावित प्रतिमानोंके साथ प्रकाशमें आयी। इस कालकी कविताका नयी कविता नाम कई कारणोंसे पड़ा। प्रथम तो यह कि नयी कविताके कवि विषयवस्तु और शिल्पकी दृष्टिसे अपने पूर्ववर्ती कवियोंके साथ तो थे, किन्तु वे स्वयं यह अनुभव कर रहे थे कि 'दूसरा सप्तक'के कवियों द्वारा जहाँ और जिस सीमातक समस्त काव्य-चेतना पहुँच चुकी थी, नयी कविता उससे आगेको ओर बढ़ चुकी है और किन्हीं अर्थोंमें वह 'दूसरा सप्तक'के कवियोंकी काव्य-चेतनासे थोड़ी पृथक् भी है। जिस काव्यके ऊपर मात्र प्रयोगवादका विवादग्रस्त आरोप और प्रति-आरोप लगाया जा रहा था, उससे भिन्न स्तरपर सर्वथा विषयवस्तुकी नवीनताको लेकर नयी कविताको प्रतिष्ठित करनेकी आव-श्यकता अनुभव करके १९५४ ई०में प्रयागकी 'साहित्य सहयोग' नामक सहकारी संस्थाने नयी कविताका प्रकाशन किया। 'नये पत्ते' दो और तीनमें तथा 'आलोचना'के कुछ अंकोंमें नयी कविताकी मूल स्थापना करते हुए इस बातकी चेष्टा की गयी कि इस नयी काव्यधाराको उस वैयक्तिक यथार्थ और सामाजिक यथार्थके साथ उन प्रति-मानोंको लेकर विकसित किया जाय, जो आजके भाव-बोधको वहन करते हुए सर्वथा नयी दृष्टिके साथ अवतरित हो रहे हैं। नयी कविताका मूल स्रोत आजके युग-सत्य और युग-यथार्थमें निहित है। इसीलिए उसमें गद्यका यथार्थ और काव्यकी संवेदनशील अभिरुचि, दोनों एक साथ सर्वथा नयी भाव-भूमिपर अनुभूतिको प्रस्तुत करती हैं। इस नयी भाव-भूमिका आग्रह उस मानवीय आत्म-विश्वास और आत्म-अभिव्यक्तिसे प्रभावित है, जिसे पिछले दो दशक केवल अपने अस्तित्वके संघर्षमें बिताने पड़े हैं और जो आज भी कई अर्थोंमें उस अस्तित्वकी वेदना-संवेदनासे ओतप्रोत है।

अस्तु, नयी कविता आजकी मानव-विशिष्टतासे उद्भूत उस लघु मानवके लघु परिवेशकी अभिव्यक्ति है, जो एक ओर आजकी समस्त तिक्तता और विषमताको तो भोग ही रहा है, साथ ही उन समस्त तिक्तताओंके बीच वह अपने व्यक्तित्वको भी सुरक्षित रखना चाहता है। वह विशाल मानव-प्रवाहमें बहनेके साथ-साथ अस्तित्वके यथार्थको भी स्थापित करना चाहता है, उसके दायित्वका निर्वाह भी करना चाहता है।

नयी कविताकी मूल स्थापनाओंमें चार तत्त्व मुख्य हैं। सर्वप्रथम तो यह कि नयी कविताका विश्वास आधुनिकतामें है। दूसरे, नयी कविता जिस आधुनिकताको स्वीकार करती है, उसमें वर्जनाओं और कुण्ठाओंकी अपेक्षा मुक्त यथार्थका समर्थन है। तीसरे, इस मुक्त यथार्थका साक्षात्कार वह विवेकके आधारपर करना अधिक न्यायोचित मानती है। और चौथा, यह कि इन तीनोंके साथ-साथ वह क्षणके दायित्व और नितान्त समसामयिकताके दायित्वको स्वीकार करती है। आधुनिकताका अर्थ विकृतियोंसे न होकर उस वैज्ञानिक दृष्टिकोणके समर्थनमें है, जो विवेचना और विवेकके बलपर हमें प्रत्येक वस्तुके प्रति एक मानवीय दृष्टि, यथार्थकी दृष्टि देती है।

भाव-बोधके स्तरपर नयी कविता कई अर्थोंमें अन्य काव्य-प्रवृत्तियोंसे भिन्न है। यह भिन्नता मात्र उद्देश्यगत नहीं, दृष्टिगत भी है। जीवनके प्रवाहमें उसकी सन्दर्भयुक्त अभिव्यक्ति नयी कविताका भाव-बोध है। सन्दर्भविशेषमें प्रत्येक वस्तुस्थितिके प्रति सापेक्ष मूल्योंका आग्रह इसकी मनोनीत नियति न होकर आत्मगत सत्य है। जब यह कहा जाता है कि नयी कविता ऐतिहासिक दृष्टिसे 'सप्तक'के कवियोंके आगेका विकसित रूप है तो उसका आशय ही यह है कि नयी कविता भाव-बोधके स्तरपर और आधुनिक यथार्थके स्तरपर सर्वथा नयी दिशाओंकी ओर अग्रसर होनेवाली अनुभूतिका प्रतिनिधित्व करती है। इसीलिए उसमें न तो छायावादकी भाँति उदात्तके नामपर पलायन करनेकी प्रवृत्ति है और न प्रगतिवादके नामपर कोई साम्प्रदायिक आग्रह। उसका विश्वास मानव विशिष्टतामें है और इस विश्वासके आधारपर वह सर्जनशील अनुभवोंसे लेकर अभिव्यक्तिके माध्यमोंतकमें उसका निर्वाह करनेका प्रयास करती है। अनुभूतियोंकी विविधता और अभिव्यक्तिके माध्यम भी इसीलिए उसके लिए इतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, जितना कि यह कि वह यथार्थ और जीवनको एक साथ वहन करते हुए भुक्त क्षणोंके दायित्वके प्रति आग्रहशील है। आधुनिकता और समसामयिकताके सन्दर्भमें लघु मानव-की विशिष्टता और उसके सन्दर्भका महत्त्व इन्हीं कारणोंसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

सौन्दर्य-बोधकी दृष्टिसे नयी कविता सौन्दर्यको यथार्थसे पृथक वस्तु नहीं मानती। यथार्थका क्रियाशील(dynamic) तत्त्व सौन्दर्यके आयामोंको निर्धारित एवं परिमार्जित करता रहता है। यथार्थहीन सौन्दर्य, निरपेक्ष सौन्दर्य या सन्दर्भहीन सौन्दर्य-बोध, जिसमें मुक्त क्षणोंकी सार्थकता और नितान्त समसामयिकताका आग्रह नहीं है, वह कहीं-न-कहीं मानवदृष्टिको कुण्ठित एवं विकृत भी करता है। अस्तु, नयी कविताका आग्रह सौन्दर्यके प्रति नहीं है, जो मात्र अलौकिक या अदृश्यके संयम-नियमसे शासित होकर व्यक्त होता है। यही कारण है कि नयी कविताके लिए यथार्थसे विकसित हुई वह तथाकथित विकृति भी महत्त्वपूर्ण है और अपने आग्रहपूर्ण अस्तित्वमें नये कविके भाव-बोधको प्रभावित करती है। यही कारण है कि नयी कविताका सौन्दर्यवाद बौद्धिक अनुभूति और बुद्धिवादको भी स्वीकार करता है। इस बुद्धिवादके साथ-साथ नयी कविताका आग्रह मुक्त क्षणोंकी आस्थामें होनेके नाते सौन्दर्यको भोगने और उसके द्वारा प्राप्त उपलब्धियोंको स्वीकार करनेमें भी व्यक्त हुआ है। प्रयोग इसी सौन्दर्यानुभूतिके स्तरपर उसके भावबोधको वहन करनेकी क्षमताके साथ स्थापित हुआ है। जब यह कहा जाता है कि नयी कविता मुक्त क्षणोंकी सत्ताको स्वीकार करती है और उपलब्धियोंको अंगीकार करती है तो इसका आशय यह है कि वह उस सहानुभूतिसे द्रवित है, जिसमें विवेचन-विश्लेषणके साथ-साथ बौद्धिक सहानुभूति भी शामिल है। प्रस्तुत कारणोंसे ही नयी कविता कुछको चौंकानेवाली लगती है और कुछको मात्र चमत्कारिक लगती है, कुछको उसमें रसहीनताका आभास मिलता है और कुछ मात्र विकृतियोंतक उसके भावको सीमित कर पाते हैं। वे उन नये तत्त्वोंको नहीं देख पाते, जो आजकी मानव अनुभूतियोंके साथ उनके परिवेशमें विद्यमान हैं और जिनके प्रति उसका दायित्व है।

परिवेशके महत्त्वपूर्ण दायित्वके प्रति नयी कविताका दृष्टिकोण दो विचारोंसे प्रभावित है। सर्वप्रथम तो नितान्त समसामयिकताकी दृष्टिसे और दूसरे अस्तित्वपूर्ण क्षणके प्रति जागरूक चेतनाकी अनुभूति और उसकी अभिव्यक्तिकी दृष्टिसे। समसामयिकताके दायित्वका निर्वाह करनेके लिए यह आवश्यक है कि कविके अन्दर आधुनिकताके प्रति एक वैज्ञानिक दृष्टिके साथ-साथ 'लघु मानव'के लघु परिवेशकी आस्था भी हो। नितान्त समसामयिकताका उद्देश्य यह है कि कविकी उस अनुभूतिका भी महत्त्व स्थापित हो, जो वह मुक्त क्षणोंके साथ-साथ उपलब्धिके रूपमें पाता है, ग्रहण करता है। आधुनिकता जिस परिवेशका निर्माण करती है, समसामयिकता उस परिवेशके प्रति व्याप्त जागरूकताको क्रियाशीलता प्रदान करती है।

अस्तु, नयी कविताका आग्रह जिस विशेष तत्त्वपर है, वह उस मानव-व्यक्तित्वकी स्थापना और उसकी उपयोगितासे विकसित होता है, जो समस्त विद्रूपताओं और कटुताओंके बावजूद मनुष्यको उसकी मूल मर्यादाके प्रति, निजत्व और अस्तित्वके प्रति जागरूक रखना चाहता है। यह आग्रह निरा कपोल-कल्पित नहीं है, वरन् इसके पीछे समस्त मानव-चेतनाका वह अनुभव है, जो एक सीमापर यथार्थको पकड़ना चाहता है, किन्तु जो उसको कुण्ठाका साधन न बनाकर सम्पूर्ण चेतनाको वास्तविकताके सन्दर्भमें प्रस्तुत करनेका अधिक सशक्त माध्यम रहा है। देश-कालकी गतिके अनुसार नयी कविताकी अनुभूति-शक्ति इसीलिए और भी उत्तरोत्तर विकसित हो रही है, क्योंकि आजके यथार्थ जीवनके बाह्य और आन्तरिक सत्योंके साथ वह अधिक भाव-स्निग्ध और स्वपरिचित हो पाती है। छायावादकी भाँति इसमें वस्तुस्थितिसे पलायनकी प्रवृत्ति न होनेके नाते यह आजकी मानसिक स्थितिको अधिक प्रतिबिम्बित करती है। ठीक उसी प्रकार प्रगतिवादके मतप्रधान काव्यकी हीन और संकीर्ण मनोवृत्तिसे पृथक् वह यथार्थकी गतिशीलताको अंगीकार करके दिग्भ्रमित नहीं होती। यही कारण है कि वह अपनी विधिताके बावजूद विकास पा रही है।

वर्तमान स्थितिमें नयी कविताके प्रति जो आरोप लगाया जाता है, उसमें यह कहा जाता है कि यह मात्र वैयक्तिक और एकांगी मतवादी कविता है, जिसमें साहित्यिक मर्यादाओंका और परम्पराओंका उल्लंघन करके केवल व्यक्तिगत सीमाओंको ही स्वीकार किया जाता है। नयी कविताके विरोधमें प्रस्तुत की गयी इन आलोचनाओं-का उत्तर स्वयं आजकी नयी कविताके भाव-क्षेत्रका विस्तृत रूप है, जो एक साथ और एक गतिसे विभिन्न भाव-स्तरोंपर अभिव्यक्ति पा रहा है। नयी कविता आज जिस मोड़पर है, उससे यह आशा की जाती है कि वह शीघ्र ही उन प्रतिमानों और आधारोंको विकसित करनेमें समर्थ होगी, जिससे उसके बिखरे हुए स्वर और अनुभूतियाँ एकत्र होकर उसके मूल्यों और मानव-आस्थाओंको प्रतिष्ठित करनेमें समर्थ होंगी। नयी कविताका विश्वास किसी मतवादकी अपेक्षा मानव-सन्दर्भमें उस व्यक्तिकी जागरूकता-में है, जो अभीतक उपेक्षित अथवा वंचित रहनेके कारण अपनी किसी भी अनुभूतिको व्यक्त करनेमें असमर्थ था।

नयी कविताकी मुख्य प्रवृत्तियाँ पाँच प्रकारोंमें विभाजित की जा सकती हैं। पहली प्रवृत्ति यथार्थवादी अहंवादकी है, जिसमें यथार्थकी स्वीकृतिके साथ-साथ कवि अपने अस्तित्वको उस यथार्थका अंश मानकर उसके प्रति जागरूक अभिव्यक्तियाँ देता है। दूसरी प्रवृत्ति व्यक्ति-अभिव्यक्तिकी स्वच्छन्द प्रवृत्ति है, जिसमें आत्मानुभूतिकी समस्त संवेदना-को बिना किसी आग्रहके रखनेकी चेष्टा की जाती है। तीसरी प्रवृत्ति आधुनिक यथार्थसे द्रवित व्यंग्यात्मक दृष्टिकी है, जिसमें वर्तमान कटुताओं और विषमताओंके प्रति कविकी व्यंग्यपूर्ण भावनाएँ व्यक्त हुई हैं। चौथी प्रवृत्ति ऐसे कवियोंकी है, जिनमें रस और रोमांचके साथ-साथ आधुनिकता और समसामयिकताका प्रतिनिधित्व सम्पूर्ण रूपमें व्यक्त हुआ है। पाँचवी प्रवृत्ति उस चित्रमयता और अनुशासित शिल्पकी भी है, जो आधुनिकताके सन्दर्भमें होते हुए भी समस्त यथार्थको केवल बिम्बात्मक रूपमें ग्रहण करता है। यथार्थवादी अहंवादके कवियोंमें 'अज्ञेय', गजानन मुक्तिबोध, कुँवर नारायण, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना इत्यादि-की रचनाएँ आती हैं। व्यक्ति-अभिव्यक्तिकी प्रवृत्ति प्रभाकर माचवे और मदन वात्स्यायनमें है, रस रोमांच और यथार्थका संकेतरूप गिरिजाकुमार माथुर, नेमिचन्द्र जैन

विद्वानोंने 'रामचन्द्रिका'के महाकाव्य होनेमें शंका प्रकट की है, अतः उसे नाट्यप्रबन्धकाव्य कहना ही अधिक समीचीन है। —शं० ना० सिं०

नाट्यरासक—इसमें एक अंक, उदात्त नायक, पीठमर्द उपनायक, श्रृंगारका समावेश और हास्य रसका प्राधान्य रहता है। इसमे नायिका वासकसज्जा, मुख और निर्वहण-सन्धियोंका प्रयोग रहता है। कोई-कोई विद्वान् इसमे प्रति-मुख-सन्धिको छोडकर चारों सन्धियाँ मानते हैं। यह दो सन्धियोंका भी होता है। इसमे लास्यके गेय पद, स्थित पाठ्य, आसीन, पुष्पगण्डिका, प्रच्छेदक, त्रिगूढक, सैन्धव, द्विगूढ, उत्तमोत्तमक तथा उक्त-प्रयुक्त जैसे दसों अंगोंकी योजना रहती है और ताल और लयका भी विधान होता है। उदा०—'विलासवती' (चार सन्धियोंका), 'नर्मवती' (दो सन्धियोंका)। हिन्दीमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्रका 'भारत-दुर्दशा' नाट्यरासक है। —वि० रा०

नाट्य-वृत्ति—नाटकके प्रसंगमे भरत (४ श० ई०)के अनुसार वृत्तियोंका बडा महत्त्व है। 'वृत्तयो नाट्यमातरः' वृत्तियाँ नाटक या अभिनयकी जननी हैं, यह कथन उनका है। अभिनव गुप्तके विचारसे पुरुषार्थ-साधक व्यापार, वृत्ति है। वृत्तिके उद्भवके सम्बन्धमे अनेक मत प्रचलित हैं। भरतने अपने 'नाट्यशास्त्र'मे लिखा है कि प्रलयके बाद नारायण विष्णुका मधु-कैटभ नामक दैत्योंसे जो युद्ध हुआ, उस युद्धमें विष्णुकी चेष्टाओंसे नाट्यवृत्तियोंकी उत्पत्ति हुई, जो चार हैं—भारती, सात्वती, कैशिकी और आरभटी। भारती विष्णुके युद्ध-समय पद-संचालनसे पड़े पृथ्वीपर भारसे उत्पन्न हुई। उनकी ओजस्विनी, वीर रसोचित चेष्टाओंसे सात्वती वृत्तिका जन्म हुआ। विष्णुने जो ललित लीला तथा विचित्र आंगिक अभिनयके साथ शिखा बाँधी, उससे कैशिकीका उद्भव तथा उन्होंने जो आवेगसे युक्त होकर नाना प्रकारकी विचित्र युद्ध-चेष्टाएँ की, उनसे आरभटी वृत्तिका विकास हुआ (नाट्य०, २२)।

इसके अतिरिक्त भरतने इनका सम्बन्ध वेदोंसे भी माना है। ऋग्वेदसे भारती, यजुर्वेदसे सात्वती, सामवेदसे कैशिकी और अथर्ववेदसे आरभटीका उद्भव हुआ। ऋग्वेदमें स्तुतियाँ हैं, इसीलिए भारती शब्द-प्रधान वृत्ति है, सात्वती कार्य-प्रधान-वृत्ति है, कैशिकी सुकुमार संगीतमय और आरभटी विलक्षण विचित्र कार्यसंयुक्त वृत्ति है। शारदातनयने ब्रह्माके चारों मुखोंसे चार वृत्तियोंका जन्म माना है। एकके अनुसार इसका सम्बन्ध शंकरके नृत्यसे माना गया है। नाट्य-वृत्तिका सम्बन्ध रसाभिनयसे है।

नाट्य-वृत्तियोंकी चर्चा काव्य-शास्त्रके ग्रन्थोमें पायी जाती है। आनन्दवर्धन (९ श० ई० उत्त०) तथा अभिनव-गुप्त (१०-११ श० ई)ने वृत्तियोंका विभाजन अर्थ-वृत्तियों और काव्य-वृत्तियोमे किया है (दे० 'वृत्ति') और भारती आदिको अर्थ-वृत्तियाँ माना है। नाट्य-वृत्तियाँ ही अर्थ-वृत्तियाँ हैं। भरतके बाद इनकी कल्पनामे कोई मौलिक अन्तर नहीं आया है। काव्यशास्त्रके जिन ग्रन्थोमें नाटकके अन्य तत्त्वोंकी चर्चा हुई है, उनमें नाट्य-वृत्तियोंका विवेचन भी है, जैसे विश्वनाथ (४ श० ई०)के 'साहित्यदर्पण' तथा शिंगभूपाल (१४ श० ई०)के 'रसार्णवसुधाकर'में। धनंजय-(१० श० ई०)के 'दशरूपक'में इनकी चर्चा है, पर इन सबका आधार भरतका 'नाट्यशास्त्र' ही है। हिन्दी रीतिकालमे केशवने 'रसिकप्रिया' (१५९१ ई०)में तथा देवने 'काव्य-रसायन' (१७०३ ई०)में इन वृत्तियोंका विवेचन किया है, परन्तु ये रस-वर्णनकी शैलियाँभर हैं। आधुनिक युगके आलोचकोंमे श्यामसुन्दर दासने 'रूपक-रहस्य'में इनका विशेष रूपसे विवेचन किया है। इन सबको आधार भरत और धनंजय ही हैं।

वृत्तियाँ नाट्यमें अनेक हो सकती हैं, पर भरतने चार वृत्तियाँ ही मानी हैं। इनमे अभिनव गुप्तकी व्याख्याके अनुसार वाणीका व्यापार भारती वृत्तिके अन्तर्गत, मनका व्यापार सात्वतीके अन्तर्गत और कायचेष्टा शेष दो वृत्तियों-के अन्तर्गत है। उग्र कायचेष्टा आरभटी और सुकुमार कायचेष्टा कैशिकी वृत्तिके भीतर मानना चाहिये।

१. कैशिकी (नाट्य-वृत्ति)—कैशिकीका सम्बन्ध केशसे है। कैशिकीकी इससे सम्बन्धित पौराणिक व्याख्या तो भरत मुनिकी है और अभिनव गुप्तकी वैज्ञानिक। इसके अतिरिक्त मल्लिनाथ, रामचन्द्र, राघवन् आदिने अपने-अपने मतानुसार इसकी व्याख्या की है। भरतने केश बाँधते समय विष्णुके अंग-विक्षेपसे कैशिकीका सम्बन्ध मानकर इसे कोमल, सुकुमार शरीर चेष्टाओंके रूपमे ग्रहण किया है। अभिनव गुप्तने पौराणिक आधार न लेते हुए यह माना है कि केश जिस प्रकार अर्थ और भावसे सम्बन्ध न रखते हुए भी शरीरकी शोभा बढाते हैं, उसी प्रकार यह वृत्ति भी नाट्यमें शरीर चेष्टाओं द्वारा शोभा बढाती है। इसी प्रकार केशकी शोभा स्त्रियोंमे होती है। अतः स्त्रियोंकी चेष्टाओंके समान चेष्टा या स्त्री-चेष्टा प्रधान होनेसे यह कैशिकी कही जाती है, यह मत नाट्य-दर्पणकारका है। कैशिकीकी कथाका कैशिकसे सम्बन्ध मानकर राघवन्ने इसे विदर्भ देशसे सम्बन्धित ललित वैदर्भी रमणीयतासे सम्बन्धित माना है। शैव मतके आधारपर इस वृत्तिका सम्बन्ध ताण्डवसे न होकर लास्यसे है। इस वृत्तिका प्रयोग नाटकमें स्त्री-पात्रोंको करना चाहिये, यह भरतके द्वारा मान्य है। इसके अन्तर्गत नृत्य, गीत, कामोद्भव मृदुल-सुकुमार चेष्टाएँ रहती हैं। इस वृत्तिका प्रयोग श्रृंगारादि रसोंके प्रसंगमे किया जाता है।

स्त्रियोंसे युक्त, अनेक नृत्यगीतोंवाली, नेपथ्यकी स्निग्धता-विचित्रता और आकर्षणसे सम्पन्न कैशिकीवृत्तिके चार भेद हैं—नर्म, नर्मस्फूर्ज, नर्मस्फोट, नर्मगर्भ।

ईर्ष्या, क्रोध, उपालम्भ-वचनसे युक्त, विप्रलम्भ आदिसे सम्पन्न **नर्म** कैशिकी वृत्ति होती है। नवमिलनवाले सम्भोग, तथा रतिके प्रेरक वचन, वेशादिसे युक्त जो भयमें अवसान रखती हो, वह वृत्ति **नर्मस्फूर्ज** है। **नर्मस्फोट** विविध भावोंके क्षण-क्षणमे विभूषित होनेवाले विशिष्ट रूपवाली वृत्ति होती है, जो समग्रतया रसत्वमे परिणत न हो, जहाँ नायक कार्यवश विशेष ज्ञानयुक्त सम्भावनादि गुणोंसे पूर्ण प्रच्छन्न व्यवहार करता है, वहाँ **नर्मगर्भ** वृत्ति होती है।

२. सात्वती (नाट्यवृत्ति)—सात्वती वृत्तिका प्रयोग उग्र रसोंमे होता है। इसका सम्बन्ध चित्तकी दीप्तिसे है। वीर, रौद्र, अद्भुत रसोंके वर्णनमे इस वृत्तिका प्रयोग होता

है, शृंगार, करुणादि रसोंमे बहुत कम। इसका प्रयोग उद्धत स्वभावके पुरुष ही करते हैं। यह भरतके मतानुसार है। अभिनव गुप्त इसका सम्बन्ध सत्त्व या मनसे मानते हैं। इस प्रकार सात्त्विक अभिनय इस वृत्तिके भीतर आना चाहिये। यह मनोव्यापाररूपा सात्त्विकी वृत्ति है। इस वृत्तिका प्रयोग न्यायोचित रूपसे किये गये संग्रामादिके वर्णन-प्रसंगमे होता है। यह विशोका वृत्ति है, क्योंकि इसका सम्बन्ध सत्त्वसे माना गया है, अतः हर्षादि भावोंकी ही इसके द्वारा अभिव्यंजना होनी चाहिये। सात्वतीमे इस प्रकार ज्ञान, न्याय, औचित्य आदिकी प्रधानता अनिवार्य है।

'नाट्यशास्त्र'के अनुसार वाणी और अंगोके अभिनयसे युक्त वचनोसे सत्त्वको जाग्रत करनेवाली सात्वतीके चार भेद हैं—उत्थापक, परिवर्तक, संलापक, संघातक। जहाँ "मैं उठूँगा, तुम अपनी शक्तिको दिखलाओ", इस प्रकारके संघर्षसे सम्बन्धित उत्तेजक वृत्ति होती है, वहाँ **उत्थापक** भेद माना गया है। जहाँ उत्थानसे प्रारम्भ होनेवाले अर्थको छोडकर संयोगवश अन्य अर्थोंको स्वीकार किया जाता है, वहाँ **परिवर्तक**, जहाँ विविध भाव-वचनयुक्त वार्तालाप चलता है, वहाँ **संलापक** और जहाँ मित्रके अर्थ, वाक्य या युक्तिसे, दैववशात् या आत्मदोषसे भेद उत्पन्न होता है, वहाँ **संघातक** भेद होता है।

३. आरभटी (नाट्यवृत्ति)—आरभटी वृत्ति, सात्वती वृत्तिसे विपरीत पड़ती है, क्योंकि इसमें न्यायोचितके स्थानपर छल, कपट रहता है। यह वृत्ति अभिमान, अहंकार आदिकी द्योतक है। अतएव धीरोद्धत नायकके प्रसंगमे यह वृति प्रधानतया उपयुक्त होती है।

अनेक प्रकारकी माया, इन्द्रजाल, कपट-वचन, दम्भ, अनृतसे युक्त आरभटी वृत्तिके भेद हैं—संक्षिप्तक, अवपात, वस्तूत्थापन और सम्फेट। अर्थपूर्ण शिल्पयुक्त, अनेक प्रकारके वैचित्र्यसे पूर्ण नेपथ्यमे वस्तुका संक्षिप्त संकेत **संक्षिप्तक** होता है। भय और हर्षको प्रकट करनेवाला, विविध वचनोंसे चमत्कार उत्पन्न करनेवाला, पात्रोके तुरन्त प्रवेश और निर्गमनसे युक्त **अवपात** होता है। सभी रसों-के संक्षिप्त वर्णन-युक्त पलायन या भगदड़ जिसमें हो या उसपर आश्रित भयका संचार हो, वह **वस्तूत्थापन** वृत्ति है। अनेक प्रकारके उपद्रवों और उत्तेजनाओ, अनेक युद्धों, छल-युद्धों और शस्त्र-प्रहार आदिका संयोजन जिसमें हो, वह **सम्फेट** नामक आरभटीका भेद है।

४. भारती (नाट्यवृत्ति)—भारतीका सम्बन्ध करुण और अद्भुत रसोंसे है। यह शब्द या वाग्वृत्ति है। अभिनव गुप्तने इसे पाठ्य-प्रधान वृत्ति माना है। यों भी भारती सरस्वती या वाणीका पर्याय है। भरतने इसे करुण और अद्भुत रसोंसे इसलिए सम्बन्धित माना है कि इन रसोंमे विलाप और वाग्विलास अधिक रहता है, परन्तु इसका प्रयोग रौद्र, वीर आदिमें भी हो सकता है। शृंगार, हास्यमें भी इसे वर्जित नही किया जा सकता। इसीलिए कुछ आचार्योंका मत है कि इस वृत्तिका प्रयोग सभी रसोंमें हो सकता है। भरतोंके द्वारा प्रयुक्त होनेसे इसका नाम भारती पड़ा ('प्रयुक्तत्वेन भरतैः भारतीति निगद्यते')। भरत नटोंसे भिन्न है। जो वाचिक अभिनय करते हैं, वे भरत है और जो मूक अभिनय करते है, वे नट है। भारतीका उद्देश्य रसकी अभिव्यक्ति है, रस चाहे कोई भी हो। भरत मुनिने 'नाट्यशास्त्र'में इसका लक्षण दिया है—"या वाक्प्रधाना पुरुष-प्रयोज्या, स्त्रीवर्जिता संस्कृतवाक्ययुक्ता। स्वनामधन्यैर्भरतैः प्रयुक्ता, सा भारती नाम भवेत्तु वृत्तिः।" (२२, २५)। आगे चलकर भारतीका सम्बन्ध सभी पाठ्य अभिनय और सभी रसाभिनयसे जोड़ा गया। इस प्रकार यह एक प्रधान और महत्त्वपूर्ण वृत्ति है।

भारती वृत्तिके भरतने चार भेद माने है—प्ररोचना, आमुख, वीथी और प्रहसन। जयकी सूचना देनेवाली मंगल और विजयसे पूर्ण, सभी पापोंको शान्त करनेवाली पूर्वरंगमें **प्ररोचना** होती है। जहाँ नटी, विदूषक, परिपार्श्वक आदि सूत्रधारसे अपने कार्यसे सम्बन्धित रूपमे विचित्र वाक्योसे वार्तालाप करते है, वहाँ **वीथी** होती है। जहाँ युक्तिसे कोई श्लिष्ट योजना की जाती है, वहाँ **आमुख** है। हास्यादिपूर्ण विचित्र वार्तालाप **प्रहसन** है।

५. भोजकी वृत्तियाँ—भोजका मत है कि जो विकास, विक्षेप, संकोच और विस्तारमे चित्तमे वर्तमान या व्याप्त रहती है, वह **वृत्ति** है। यह छः प्रकारकी होती है—कैशिकी, आरभटी, सात्वती, भारती, मध्यभारती तथा मध्यमकैशिकी। जो सुकुमार अर्थ-सन्दर्भको प्रकट करे, वह **कैशिकी**; जो प्रौढ अर्थ-सन्दर्भको प्रकट करती है, वह **आरभटी**; जो प्रौढ अर्थवाली और कोमल प्रौढ सन्दर्भको प्रकट करती है, वह **सात्वती**; कोमल अर्थमे प्रौढ सन्दर्भको प्रकट करनेवाली **मध्यमकैशिकी**; कोमल सन्दर्भमे प्रौढ़ अर्थको प्रकट करनेवाली **मध्यमारभटी** तथा कोमल अर्थ एवं कोमल प्रौढ़ सन्दर्भवाली वृत्ति **भारती**वृत्ति है। भोजकी वृत्तियोकी धारणा इस प्रकार अपनी विशेषता रखती है। स्पष्टतया रसके माध्यमसे इनका स्पष्टीकरण नही किया गया है। इसके साथ ही भोजने इनकी संख्या छः मानी है, जब कि अन्य आचार्योंने वृत्तियोकी संख्या चार ही स्वीकार की है। मध्यमारभटी और मध्यमकैशिकी ये दो वृत्तियाँ नवीन है, जिनका उल्लेख भोजके ग्रन्थ 'सरस्वतीकण्ठाभरण'-मे हुआ है, 'शृंगार-प्रकाश'में नही। —भ० मि०

नाथ—नाथसम्प्रदाय सहजयानियोंकी भाँति केवल पूर्वी भारतमें ही सीमित न होकर सारे देशमे व्याप्त धर्मसाधना रहा है। नाथसम्प्रदाय तथा उसकी शाखा-प्रशाखाएँ दूर-दूर तक फैली हुई है और ऐसा भी प्रतीत होता है कि इसमें और बहुत-सी छोटी-छोटी धर्मसाधनाएँ कालान्तरमे विलीन होती गयी है। वैसे तो नाथसम्प्रदायके धर्माचार्योंमें गोरखनाथ सबसे अधिक प्रभावशाली और प्रख्यात हैं, परन्तु वे इस सम्प्रदायके संस्थापक नही थे। वे पहलेसे चली आती हुई इस धाराके संघटनकर्ता और उन्नायक थे। इसीलिए निश्चित रूपसे यह नहीं कहा जा सकता है कि इस धाराका सूत्रपात कब और कैसे हुआ। नाथसम्प्रदायके योगी योगके द्वारा जिस **रसायन**की खोजकर अपनी कायाको अजर-अमर बनानेमें विश्वास करते थे, उस रसायनकी खोजका उल्लेख पतंजलितकने किया है, अतः यह अनुमान किया गया है कि इस धाराके मूल तत्त्व तो पतंजलिसे भी पहलेके है। एक समय ऐसा अवश्य आया है, जब नाथ-योगियों और

वज्रयानी सिद्धोंकी साधनाओंमे काफी पारस्परिक मिश्रण हुआ है। परिणामस्वरूप कुछ विद्वानोका यह मत है कि गोरखनाथ और उनके अनुयायी वज्रयानी थे और बादमे शैव हो गये। नेपालके बौद्धोंमें यही दन्तकथा प्रचलित है। किन्तु कुछ विद्वानोंकी मान्यता है कि स्वतः वज्रयानपर शैवसाधनाका प्रभाव पडा था और वज्रयानियोंमे वज्रनाथी सम्प्रदाय विकसित हो गया था। जिसका चित्त विस्फुरित हो गया हो उसे सरहपा नाथस्वरूप मानते है—"जत वि चित्तहि विस्फुरई तत्त वि णाह सरूअ" (दोहा कोष)। किन्तु इतना प्रमाण किसी भी मान्यताको स्थापित करनेके लिए यथेष्ट नही है। वास्तवमें एक ही भूभागमें शैवों और बौद्धोंकी योगपरक तान्त्रिक साधनाएँ बहुत दिनोंतक प्रचलित रहीं, अतः उनमें बहुतसे तत्त्वोंका आदान-प्रदान होना रहा। हजारीप्रसाद द्विवेदीका मत है कि "गोरखनाथने शैव-प्रत्यभिज्ञा-दर्शनके आधारपर बहु विस्तृत काया-योगके साधनोंको व्यवस्थित किया, उन दिनों अत्यन्त प्रचलित वज्रयानी तान्त्रिक साधनाके पारिभाषिक शब्दोंके सांवृतिक अर्थोंको पारमार्थिक रूप दिया और अब्राह्मण उद्गमसे उद्भूत ब्राह्मण-विरोधी साधनामार्गको इस प्रकार संस्कृत किया कि उसकी रूढि-विरोधी परम्परा तो बनी रही, किन्तु उसके अन्य वामाचारोका बहिष्कार कर दिया गया। इस प्रसंगमें जो किंवदन्तियाँ प्रचलित है, उनसे प्रतीत होता है कि गुरु मत्स्येन्द्रनाथ और शिष्य गोरखनाथमे कुछ मतभेद था और गोरखनाथ मैथुनपरक गुह्यसाधनाओके पूर्ण बहिष्कारके पक्षमे थे।'

सम्प्रदायका संघटन करते समय कुछ दूसरी गौण धर्मसाधनाएँ भी नाथसम्प्रदायमें अन्तर्भुक्त हो गयी है। वाममार्गी, शाक्त, बौद्ध और आजीवक सम्प्रदायोके भी बहुतसे अनुयायी गोरखनाथके शिष्य हो गये। वे अपने पुराने अनुष्ठान, साधनाएँ और संस्कार नही छोड़ पाये। इसीलिए गोरखके अनुयायियोका जो साहित्य मिलता है, उसमें कई प्रकारके प्रभाव लक्षित होते हैं।

वज्रयानियोकी ही भाँति नाथसम्प्रदायके प्रमुख आचार्योंको भी सिद्ध कहा जाता रहा है। 'हठयोग-प्रदीपिका'के आरम्भमें ऐसे कुछ महासिद्धोंका नाम दिया हुआ है। परम्परासे सिद्धोंकी संख्या चौरासी मानी जाती रही है, किन्तु जो विभिन्न सूचियाँ बौद्धों और शैवोंकी मिलती हैं, उनमें बहुतसे नाम दोनों सूचियोमे है। वास्तवमें ये सूचियाँ ऐतिहासिक नही और चौरासीकी संख्या भी प्रतीकात्मक है, किन्तु इससे इतना तो सिद्ध होता ही है कि कुछ सिद्धाचार्य थे, जो बौद्धों और शैवों द्वारा समान रूपसे पूजित थे।

नाथोंकी संख्या नौ मानी गयी है। 'गोरख-सिद्धान्त-संग्रह'के अनुसार आठ दिशाओंमें आठ नाथ है और केन्द्रमे आदिनाथ है। उसी ग्रन्थमें २४ कापालिक नाथोंका भी उल्लेख है। इसके अतिरिक्त कई साम्प्रदायिक गुरु-परम्पराओकी सूचियाँ भी मिलती है। लोकश्रुतियोंमें नाथोंका सम्बन्ध सिद्धियों और अतिप्राकृतिक चमत्कारोंसे जुडा हुआ है। योग-साधनाके द्वारा अपनी कायाको अमर करने और विभिन्न चमत्कारोंका प्रदर्शन करनेके लिए ये नाथ योगी प्रख्यात थे। जनतापर इन नाथ-योगियोंका बहुत गहरा प्रभाव था। देशके विभिन्न भागोंमें आज भी जो **योगी** जातियाँ पायी जाती है, उनमें अपनी-अपनी विशेषताएँ है। दक्षिणके कुछ **योगी** नागपूजक है। महाराष्ट्रमे **योगी** गृहस्थ जीवन बिताते है और भैरवकी पूजा करते है। मलयाली **योगी** कालीपूजक है और मैथुन-साधना करते है। कई वयनजीवी यवन जातियाँ भी ऐसी है, जो पहले **योगी** थीं और अब भी योगी-साधनाओंमें विश्वास करती है।

[सहायक ग्रन्थ—नाथसम्प्रदाय : हजारीप्रसाद द्विवेदी; आब्स्क्योर रेलीजस कल्ट्स : शशिभूषणदास गुप्त; नाथसम्प्रदायेर साधना ओ साहित्य : कल्याणी मल्लिक।] —ध० वी० भा०

नाथसंप्रदाय—'नाथ' शब्दका प्रयोग 'रक्षक' या 'शरणदाता'के अर्थमे 'अथर्ववेद' और 'तैत्तिरीय ब्राह्मण'मे मिलता है। 'महाभारत'मे 'स्वामी' या 'पति'के अर्थमे इसका प्रयोग पाया जाता है। 'बोधिचर्यावतार'मे बुद्धके लिए इस शब्दका व्यवहार हुआ है। जैनों और वैष्णवोंमे भी इस शब्दका प्रयोग सबसे बड़े देवताके अर्थमे पाया जाता है। परवर्ती कालमे योगपरक पाशुपत शैव मतका विकास नाथसम्प्रदायके रूपमें हुआ और 'नाथ' शब्द 'शिव'के अर्थमे प्रचलित हो गया। मत्स्येन्द्रनाथके शिष्य गोरक्षनाथ या गोरखनाथ इस मतके सबसे बड़े पुरस्कर्ता थे। उनके द्वारा प्रवर्तित कहा जानेवाला बारहपथी मार्ग नाथसम्प्रदायके नामसे प्रसिद्ध हुआ। इस सम्प्रदायके साधक अपने नामके आगे 'नाथ' शब्द जोडते है। कान छिदवानेके कारण 'कनफटा'(दे०) और 'दर्शन' धारण करनेके कारण 'दरशनी' साधु भी कहते है। गोरक्षनाथ द्वारा प्रवर्तित नाथ मत बारह शाखाओंमें विभक्त है। ऐसा कहा जाता है कि शिवजीके १८ सम्प्रदाय और गोरखनाथके १२ सम्प्रदाय परस्पर कलह किया करते थे। गोरखनाथने इन परस्पर लड़नेवाले मतोंको विनष्ट करके इन्हे १२ पन्थोंमे विभाजित कर दिया था। ये बारह पन्थ है—(१) सत्यनाथी, (२) धर्मनाथी, (३) रामपन्थ, (४) नटेश्वरी, (५) कन्हण, (६) कपिलानी, (७) वैरागी, (८) माननाथी, (९) आईपन्थ, (१०) पागलपन्थ, (११) धजपन्थ और (१२) गंगानाथी। इन बारह पन्थोंके कारण ही शंकराचार्यके दसनामी संन्यासियोंकी भाँति इन्हे बारहपन्थी योगी कहा जाता है। बारहके अतिरिक्त 'वामारग' नामका जो मार्ग है, उसे आधा पन्थ मानते है। इनमें भुजके (१) कण्ठरनाथी, (२) पागलनाथी (३) रावल सम्प्रदाय, (४) पंख, या पंक, (५) मारवाड़के वन, (६) गोपाल या रामके पन्थ शिवके सम्प्रदाय माने जाते है, (७) चाँदनाथ कपिलानी, (८) हेठनाथ, (९) आईपन्थ चोलीनाथ, (१०) मारवाड़का वैराग पन्थ, (११) जयपुरके पावनाथ और (१२) धजनाथ, गोरक्षनाथके सम्प्रदाय माने जाते है (विस्तारके लिए हजारीप्रसाद द्विवेदीकृत 'नाथसम्प्रदाय', पृ० १४८-१५६ देखिये)।

'हठयोग-प्रदीपिका'मे नाथपन्थके अनेक योगियोके नाम दिये हुए है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि ये सिद्ध लोग चिरंजीवी है और कालदण्डको खण्डित करके आज

भी ब्रह्माण्डमे विचर रहे हैं। 'हठयोग-प्रदीपिका'में आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, सारदानन्द, भैरव चौरंगी, मीननाथ, गोरक्षनाथ, विरूपाक्ष, विलेशय, मन्थानभैरव, सिद्धबोध, कन्हडीनाथ, कोरण्टकनाथ, सुरानन्द, सिद्धपाद, चर्पटीनाथ, काणेरीनाथ, पूज्यनाथ, नित्यनाथ, निरंजननाथ, कापालिनाथ, विन्दुनाथ, काकचण्डीश्वर, भयनाथ, अक्षयनाथ, प्रभुदेव, घोडाचूलीनाथ, टिण्टिणीनाथ, भल्लरी, नागबोध और खण्डकापालिकका उल्लेख है। चौदहवी शताब्दीके मैथिल ग्रन्थ 'वर्णरत्नाकर'मे चौरासी नाथसिद्धोके नाम दिये हुए है, जिनमें कई सहजयानी सिद्धोसे अभिन्न जान पडते है। इन नामोमे अनेक ऐसे है, जिनके विषयमे बहुत कम जानकारी है, परन्तु कुछ ऐसे है, जिनकी थोडी-बहुत चर्चा तान्त्रिको, योगियो और निर्गुणमार्गी सिद्धोके ग्रन्थोंमें मिल जाती है। सभी परम्पराओंसे जान पडता है कि आरम्भमें नौ मूलनाथ हुए है, परन्तु इनके नाम भिन्न-भिन्न परम्पराओंमे भिन्न-भिन्न तरहसे प्राप्त होते है। 'महार्णवतन्त्र'में भिन्न-भिन्न दिशाओमे नाथोके न्यासकी विधि बनायी गयी है। उससे नौ नाथोके नाम इस प्रकार मालूम पडते है—गोरक्ष, जालंधर, नागार्जुन, सहस्रार्जुन, दत्तात्रेय, देवदत्त, जडभरत, आदिनाथ और मत्स्येन्द्रनाथ। सुधाकर द्विवदीने 'पद्मावत'की टीकामे एकनाथ, आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, उदयनाथ, दण्डनाथ, सत्यनाथ, सन्तोपनाथ, कूर्मनाथ और जालन्धरनाथको नौ नाथ माना है। सम्प्रदायमें प्रचलित दन्तकथाओ और भिन्न-भिन्न ग्रन्थोमे प्राप्त उल्लेखोंमे ज्ञात होता है कि आदिनाथके शिष्य मत्स्येन्द्रनाथ और जालन्धरनाथ थे। मत्स्येन्द्रके शिष्य गोरक्षनाथ और जालन्धरनाथ कान्हपा या कृष्णपाद थे। आदिनाथ साक्षात् शिव थे, बाकी चार ऐतिहासिक व्यक्ति जान पडते है। इन चारोंके नाम सहजयानी सिद्धोकी सूचीमे भी प्राप्त होते है। अनुश्रुतिके अनुसार मत्स्येन्द्रनाथ कदलीदेश या कजरीदेशमें, जिसे स्त्रीदेश भी कहा गया है, विलासलीलामें फँस गये थे और गोरक्षनाथने उनका उद्धार किया था। गोरक्षनाथका मत सम्पूर्ण भारतवर्ष, पाकिस्तान, नैपाल और अफगानिस्तानमें फैला हुआ है। इन मूल चार पन्थप्रवर्तकों, अर्थात् मत्स्येन्द्रनाथ, जालन्धरनाथ, गोरक्षनाथ, कृष्णनाथके विषयमें सैकड़ो दन्तकथाएँ भारतवर्षमे फैली है और अनेक पुरुषों और स्त्रियोंके साथ इनके नाम जुड़े हुए हैं। हिन्दू और मुसलमान, दोनों ही इनके अनुयायियोमें है। जार्ज वेस्टन ब्रिग्सने अपनी पुस्तक 'गोरखनाथ एण्ड द कनफटा योगीज'में विस्तारपूर्वक इसके व्यापक प्रचारका विवरण दिया है।

मत्स्येन्द्रके कालको लेकर दन्तकथाएँ बहुत ही उलझी हुई है। परन्तु इधर कुछ ऐसे प्रमाण उपलब्ध हुए है, जिससे यह सिद्ध होता है कि मत्स्येन्द्रनाथ और उनके शिष्य गोरक्षनाथ तथा जालन्धरनाथ और उनके शिष्य कृष्णपाद समसामयिक सिद्ध थे। प्रसिद्ध कश्मीरी आचार्य अभिनव गुप्तने अपने 'तन्त्रालोक'में 'मच्छन्द' विभुको नमस्कार किया है। ये मच्छन्दनाथ निश्चित रूपसे मत्स्येन्द्रनाथ ही हैं। मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा लिखित 'कौलज्ञान-निर्णय' ग्रन्थमें उन्हें मच्छन्द्रनाथ भी कहा गया है। अभिनव गुप्तका समय निश्चित रूपसे ज्ञात है। वे सन् ई०की दसवी शताब्दीके अन्त और ग्यारहवींके आरम्भमें वर्तमान थे, इसलिए मत्स्येन्द्रनाथका आविर्भाव उसके बहुत पहले हो गया होगा। हजारीप्रसाद द्विवेदीकी 'नाथ-सम्प्रदाय' नामक पुस्तकमे यह सिद्ध किया गया है कि मत्स्येन्द्रनाथ नवी शताब्दीके मध्यभागमें वर्तमान थे। इसीसे शेष तीन नाथोके सम्बन्धमे भी नवी शताब्दीका उत्तरार्द्ध स्थिति-काल माना जा सकता है। मत्स्येन्द्रनाथ पूर्वी प्रदेशके निवासी थे, जो सम्भवतः कामरूपके पास चन्द्रगिरि या चन्द्रद्वीप नामक कोई स्थान था। लेकिन गोरक्षनाथ पश्चिम भारतमे उत्पन्न हुए थे। जालन्धरनाथका साधनास्थान पंजाबका जालन्धर नामक नगर है।

हालमे ही प्रबोधचन्द्र बागचीने मत्स्येन्द्रनाथ-रचित 'कौलज्ञान-निर्णय'का सम्पादन किया है। इस ग्रन्थके सोलहवें पटल (४६-४९)से जान पडता है कि आदियुगमें जो कौलज्ञान था, वह त्रेतामे 'महत्‌कौल', द्वापरमें 'सिद्धामृत' और कलिकालमे 'मत्स्योदरकौल' नामसे प्रकट हुआ। इसी मत्स्योदरज्ञानका नाम 'योगिनी कौल' है, इसीको 'सिद्धमार्ग' या 'सिद्धकौलमार्ग' भी कहते है। 'कौलज्ञान-निर्णय'मे इसकी साधना-पद्धति और सिद्धान्तोका विस्तार है। मत्स्येन्द्रनाथका दूसरा ग्रन्थ 'अकुलवीरतन्त्र' है। मत्स्येन्द्रनाथने इसमे बताया है कि जबतक अकुल वीररूपी ज्ञान नही होता, तभीतक बालबुद्धिके लोग नाना प्रकारकी जल्पना करते रहते है। यह धर्म है, यह शास्त्र है, यह तप है, यह लोक है, यह मार्ग है, यह दान है, यह फल है, यह ज्ञान है, यह ज्ञेय है, यह शुद्ध है, यह अशुद्ध है, यह साध्य है, यह साधन है, यह तत्त्व है, यह ध्यान है—ये सब बालबुद्धिके विकल्प है (अ० वी० तं०, ७८-८७)। जिसे यह अद्वैतज्ञान प्राप्त हो गया रहता है, उसे प्राणायाम, समाधि और ध्यान-धारणाकी आवश्यकता नही रहती (१७-२०), वह ब्रह्मा, शिव, रुद्र, बुद्ध, देवी आदि उपायोसे अभिन्न होकर स्वयं ध्यान और ध्याता बन जाता है (२६-२८), यज्ञ-उपवास, अर्चना-पूजा, होम, नित्य नैमित्तिक विधि, पितृकार्य, तीर्थयात्रा, धर्म-अधर्म, ध्यान, सबके अतीत हो जाता है (४३-४६), वह व्यक्ति समस्त द्वन्द्वोसे रहित हो जाता है।

जैसा ऊपर बताया गया है, गोरखनाथ सन् ई० नवी शताब्दीके उत्तरार्द्धमे पश्चिमभारतके किसी स्थानमें उत्पन्न हुए। उनके नामपर प्रचलित संस्कृत ग्रन्थोंसे पता चलता है कि वे ब्राह्मणवंशमें उत्पन्न हुए थे और उसी परम्परामे लालित-पालित भी हुए थे। उन्होने मार्गको बहुत व्यवस्थित रूप दिया। शैव प्रत्यभिज्ञादर्शनके आधारपर बहुधा विस्रस्त कायायोगके साधनोको निश्चित रूप दिया, आसन, बन्ध, प्राणायाम, प्रत्याहार, समाधिके सिद्धान्तों और नियमोंको सुव्यवस्थित किया, आत्मानुभूति और शैव परम्पराके सामंजस्यसे छः चक्र, सोलह आधार, दो लक्ष्य और पाँच व्योमका नियमन किया और उन दिनों अत्यन्त प्रचलित वज्रयानी साधनाके पारिभाषिक शब्दोको बलपूर्वक पारमार्थिक रूप दिया। सड़ी-गली प्राचीन सामाजिक रूढ़ियोंका कड़ा विरोध किया और कठोर

ब्रह्मचर्यपर अधिक बल दिया। गोरक्षनाथके नामपर लगभग तीस संस्कृत पुस्तकें प्राप्त होती है, जिनमें 'अमनस्क', 'अमरौघ', 'शासन', 'गोरक्षशतक', 'गोरक्षसंहिता', 'योगमार्तण्ड', 'योगबीज', 'विवेकमार्तण्ड', 'हठसंहिता' और 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' मुख्य हैं। 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' वस्तुतः नित्यानन्दकी रचित पुस्तक है। और पुस्तकोंके बारेमे भी काफी सन्देह है। पुरानी हिन्दीमें भी गोरक्षनाथकी लगभग चालीस छोटी-मोटी रचनाएँ प्राप्त होती हैं। पीताम्बरदत्त बड़थ्वालने इन रचनाओंको 'गोरखबानी' नाम देकर सम्पादित किया है। इनमेंसे कई पुस्तकें कुछ पंक्तियोंतक ही सीमित है। इस ग्रन्थमें सबदी और पद अधिक प्रामाणिक हैं।

'सिद्धसिद्धान्तपद्धति'में बताया गया है कि 'ह'का अर्थ सूर्य है, 'ठ'का चन्द्रमा। सूर्यसे तात्पर्य प्राणवायुका है और चन्द्रसे अपानवायुका, ऐसा ब्रह्मानन्दका मत है। इन दोनोंका योग, अर्थात् प्राणायामसे वायुका निरोध ही हठयोग है। दूसरी व्याख्या यह है कि सूर्य इड़ा नाडीको कहते हैं और चन्द्र पिंगला नाडीको। इसलिए इडा और पिंगला नाड़ियोंको रोककर सुषुम्नामार्गसे प्राण संचारित करनेको भी 'हठयोग' कहते हैं। इस शब्दका सबसे पुराना प्रयोग 'गुह्य समाजतन्त्र'में आता है। वहाँ बोधिप्राप्तिकी विधि बता लेनेके बाद आचार्यने कहा है कि ऐसा करनेपर भी सिद्धि प्राप्त न हो, तो हठयोगका आश्रय लेना चाहिये। 'योगस्वरोदय'में हठयोगके दो भेद बताये गये हैं। प्रथममें आसन, प्राणायाम तथा धोती आदि षट्कर्मोंका विधान है। इनसे नाडियाँ शुद्ध होती हैं और उनमें पूरित वायु मनको निश्चल बनाता है। दूसरेमें नासिकाके अग्रभागमें दृष्टि निबद्ध करके आकाशमें कोटिसूर्यके प्रकाशका स्मरण और श्वेत, रक्त, पीत और कृष्ण रंगोंके ध्यानका विधान है। यही सिद्धसेवित मार्ग हठयोग कहलाता है। परम्परासे यह भी प्रचलित है कि गोरखनाथके पूर्व हठयोगकी जो विधि थी, उसका उपदेश मृकण्डुपुत्र, अर्थात् मार्कण्डेयने किया था। मार्कण्डेयने योग(दे०)के आठो अंग, अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिको स्वीकार किया था और गोरक्षनाथने प्रथम दोको छोड़ दिया था, इसीलिए उसे षडंग योग भी कहते हैं, परन्तु नाथपन्थके ग्रन्थोमें दोनो ही प्रकारके योगोंकी चर्चा आती है। 'गोरक्षशतक'में षडंगयोगकी बात है और 'सिद्धसिद्धान्तसंग्रह'में अष्टांगयोगकी।

[सहायक ग्रन्थ—नाथसम्प्रदाय : हजारीप्रसाद द्विवेदी।] —ह० प्र० द्वि०

नाथ-साहित्य—गोरखनाथकी ४० छोटी-मोटी रचनाओंका संग्रह 'गोरखबानी' नामसे पीताम्बरदत्त बड़थ्वालने किया है। इनके नाम इस प्रकार है—१. सबदी, २. पद, ३. शिष्या-दर्शन, ४. प्राण सांकली, ५. नरवै बोध, ६. आत्मबोध, ७. अभैमात्रा योग, ८. पन्द्रह तिथि, ९. सप्तवार, १०. मछेन्द्र गोरखबोध, ११. रोमावली, १२. ज्ञान-तिलक, १३. ज्ञानचौतीसा, १४. पंचमात्रा, १५. गोरख गणेश गोष्ठी, १६. गोरख दत्त गोष्ठी, १७. महादेव गोरख गुष्ट, १८. शिष्ट पुराण, १९. दयाबोध, २० जाति भौंरावलि, २१. नवग्रह, २२. नवरात्र, २३. अष्ट पारछ्या, २४. रहरास, २५. ज्ञानमाला, २६. आत्मबोध, २७. व्रत, २८. निरंजन पुराण, २९. गोरखवचन, ३०. इन्द्री देवता, ३१. मूल गर्भावली, ३२. खाणी वाणी, ३३. गोरख सत, ३४. अष्टमुद्रा, ३५. चौबीस सिद्धि, ३६. षडक्षरी, ३७. पंच अग्नि, ३८. अष्टचक्र, ३९. अवलि सिलूक, ४०. काफिर बोध। इनके अतिरिक्त इकतालिसवीं एक और 'ज्ञानचौंतीसा' है, जो समयपर नहीं मिलनेके कारण 'गोरखबानी'में नहीं सम्मिलित किया जा सका। बड़थ्वाल प्रथम चौदहको प्रामाणिक मानते हैं, परन्तु यह कहना कठिन ही है कि इनमें कितना अंश सचमुच गोरखनाथका लिखा है और कितना बादके लोगोंने उनके नामपर चला दिया। इन पदोंमेसे कई दादू, कबीर, नानकदेवके नामपर भी पाये जाते है। इनमेंसे कुछ पदोंने लोकोक्तिका रूप धारण किया है, कुछने जोगीड़ोंका रूप ले लिया है और कुछ लोकमें अनुभवसिद्ध ज्ञानके रूपमें चल पड़े हैं। इन रचनाओंमें यद्यपि योगियोंके लिए उपदेश है, अतएव वैसी साधना-मूलक बातें पायी जाती हैं, परन्तु कुछ पद ऐसे भी हैं, जिनसे लेखकके नैतिक विश्वासका पता चलता है। उनमें काम-क्रोधका वर्जन, सहज जीवन, दृढ ब्रह्मचर्य, संयत आचरण और सहज शीलका उपदेश है।

गोरखनाथके बाद और भी अनेक सिद्धोंकी हिन्दी वाणियाँ पायी जाती है। कुछ तो राम, लक्ष्मण, हनुमान्, दत्तात्रेय, महादेव, पार्वती आदि पौराणिक व्यक्तियोंके नामपर पद मिलते हैं, जो वस्तुतः परवर्ती कालके साधुओंकी रचनाएँ हैं और पौराणिक पुरुषोंके नामपर चला दी गयी हैं। अजयपालके नामकी कुछ सबदियाँ प्राप्त हुई हैं, जिनकी भाषा काफी प्राचीन जान पड़ती है। सती काणेरीके नामपर पाये जानेवाले पद परवर्ती जान पड़ते हैं। फिर गरीब, गोपीचन्द, चौडाचोली, चर्पटनाथ, चौरंगीनाथ, जलन्ध्रीपाद, धूंधलीमल, प्रिथीनाथ, भरथरी, मच्छन्द्रनाथ, मेडकीपाव, लालजी, हडवन्तनाथ आदि सिद्धोंकी रचनाएँ विभिन्न मूलोंसे प्राप्त हुई हैं। इन पदोंका विषय योग, ज्ञान, वैराग्य, आत्मज्ञान, शील, सन्तोष और सहज जीवन है। गुरु नानकके नामपर चलनेवाली एक योगमार्गी पुस्तक 'प्राणसंकली' प्राप्त हुई है। इस पुस्तककी प्रामाणिकताके विषयमें सिख सम्प्रदायके विद्वानोंमें मतभेद है। इसे गुरुग्रन्थ साहबमें स्थान नहीं दिया गया है। पंजाबीके सुप्रसिद्ध विद्वान् भाई सन्तोष सिंहने इसकी सबसे पुरानी प्रतिको छठे गुरुके समयका बताया है, परन्तु सन्त पूरन सिंह इसे गुरुवाणी ही स्वीकार करते हैं। इस ग्रन्थमें नाथसिद्धोंकी ही चर्चा है। कुछ प्रसिद्ध नाथसिद्धोंके नाम इस प्रकार हैं—पर्वतसिद्ध, ईश्वरनाथ, चर्पटनाथ, घुग्घूनाथु, चन्दानाथ, खिन्थड़नाथ, झंगरनाथ, धूरमनाथ, धंगारनाथ, मंगलनाथ, प्राणनाथ। ये सिद्ध सन् ई०की १५वीं शताब्दीके पूर्ववर्ती होंगे, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। इनसे गुरु नानककी बातचीतका ब्यौरा दिया गया है। अधिकांश बातचीत निरंजनके स्वरूप, प्राणायाम आदि योगप्रक्रियाएँ, स्वरोदा, रससिद्धि, आत्मतत्त्व आदि विषयोंपर है। चर्पटनाथके नामपर

मिलनेवाली बहुत-सी उक्तियाँ अन्य स्रोतोमें भी उनके नामसे मिल जाती हैं, परन्तु इस ग्रन्थमे इन सिद्धोके नामपर जो उक्तिया हैं, वे इनकी ही रचनाएँ होंगी, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

हिन्दीके अतिरिक्त बँगला, मराठी, गुजराती आदि भाषाओंमे भी गोरखनाथकी उक्तियाँ प्राप्त होती हैं। सर्वत्र लोकभाषामे निबद्ध इन उक्तियोका तात्पर्य एक जैसा ही है; उनमें कायायोग, सहज जीवन, रूढिविरोध, संयत आचरण और ब्रह्मचर्यपर जोर दिया गया है। रस-पाक-साहित्यकी दृष्टिसे इनका मूल्य बहुत अधिक नहीं है।

[सहायक ग्रन्थ—नाथसम्प्रदाय : हजारीप्रसाद द्विवेदी; नाथसिद्धोकी बानियाँ : सं० हजारीप्रसाद द्विवेदी; गोरख-बानी : सं० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल।] —ह० प्र० द्वि०

नाद—कुण्डलिनीको जाग्रत् कर योगी लोग जब उद्बुद्ध कर लेते हैं, तब वह ऊपरकी ओर उठती है। उसकी इस ऊर्ध्वगतिसे जो **स्फोट** होता है, उसे नाद कहते हैं। यह नाद अनाहत रूपसे सारे ब्रह्माण्डमे व्याप्त है। यही पिण्डमे भी है, पर इसे अज्ञानी नहीं सुन सकते, क्योंकि उनका **सुषुम्ना**-पथ बन्द है। जब हठयोगसे उनका वह पथ खुल जाता है तो वे उस अनाहत ध्वनिको सुनने लगते हैं। अनुभवी साधकोंने उस ध्वनिको पहले समुद्र-गर्जन, मेघोंकी गड़गड़ाहट, शंख-घण्टे आदिकी ध्वनि और अन्तमें किंकिणी, वंशी, भ्रमर आदिकी ध्वनिके समान बताया है। यही नाद वास्तवमें उपाधियुक्त होकर सात स्वरोंमे विभाजित हो जाता है, पर निरुपाधि होकर प्रणव या ओंकार कहलाता है। इसीको शब्दब्रह्म कहते हैं। वैष्णव पद्धतियोंमें इष्टदेवके नामको शब्दब्रह्म कहा गया है। इसी शब्दब्रह्मको वैयाकरणोने **स्फोट** कहा है। सन्तोंने **अनाहतनाद**को **सोहं** ध्वनि भी कहा है। —ध० वी० भा०

नानकपंथ—नानकपन्थके संस्थापक गुरु नानक(संवत् १५२६-१५९५) थे। गुरु नानक द्वारा संस्थापित यह पन्थ दो नामोंसे अभिहित है—नानकपन्थ तथा सिख धर्म। सिख शब्द शिष्यका अपभ्रंश-रूप है। गुरु नानकके शिष्य कालान्तरमे सिख नामसे प्रख्यात हुए। कालान्तरमे सिख शब्द एक धार्मिक विचारधाराका वाहक बन गया। नानक-पन्थमें दस प्रमुख गुरु हुए, जिनमें अधिक प्रसिद्ध हैं—गुरु अंगद, गुरु अमरदास, गुरु रामदास, गुरु अर्जुनदेव, गुरु हरगोविन्द, गुरु हरराय, गुरु तेगबहादुर, गुरु गोविन्द सिंह। इन दसों गुरुओको अनेक राजनीतिक एवं धार्मिक बाधाओंका सामना करना पड़ा। गुरु अर्जुनदेवके जीवन-कालतक पन्थमें साधना, शान्ति, सद्भावना तथा सहन-शीलताकी ओर विशेष ध्यान दिया जाता था, परन्तु गुरु गोविन्द सिंहके जीवनकालमें प्रतिकार, वैमनस्य और भेदभावकी प्रवृत्ति प्रमुख हो गयी। तबसे यह पन्थ राज-नीति क्षेत्रमें अधिक महत्त्वशाली बनता गया। गुरु गोविन्द सिंहके नेतृत्वमें यह पन्थ खालसा सम्प्रदायके रूपमे विक-सित हो गया। यहाँसे सिख जातिका एक पृथक इतिहास प्रारम्भ होता है। सिख धर्म या नानकपन्थ निरा सैद्धान्तिक या आदर्शवादी मत नही है। इसे शुद्ध व्यावहारिक मत कहना उपयुक्त होगा। इस पन्थमे चरित्र-निर्माण तथा चारित्रिक विकासकी ओर विशेष ध्यान दिया गया है। नानकने वर्णव्यवस्थाकी संकुचित परिधिसे ऊपर उठाकर मानव-समाजको 'वसुधैव कुटुम्बकम्'का उपदेश दिया। उनके अनुसार आदर्श मानव वही है, जिसमें ब्राह्मणकी-सी साधना, सत्यप्रियता और चरित्रबल हो, क्षत्रिय जैसी आत्म-रक्षा-भावना हो, वैश्य जैसी व्यावहारिक बुद्धि हो और शूद्र जैसी सेवा-भावना हो।

गुरु नानकदेवके अनन्तर होनेवाले अन्य गुरुओंने कभी अपनेको उनसे भिन्न नहीं माना। गद्दीपर बैठनेके अनन्तर उन्होंने अपनेको नानक ही बतलाया। इतना ही नहीं, उन्होने अपनी रचनाओंमे रचयिताके स्थानपर नानक नाम ही उल्लिखित किया है। 'द आदि ग्रन्थ-इन्ट्रोडक्शन' शीर्षक अपने ग्रन्थमे ट्रम्पने नानकको इस्लामका अनुयायी ही माना है। 'द सिख रेलिजन'में एम० ए० मेकॉलिफ उन्हें एक भिन्न धर्मका प्रचारक मानते हैं। नानकका जन्म और पालन-पोषण हिन्दू परिवारमें हुआ था। उनकी रचनाओंमें हिन्दुओके उत्पीड़नके कारण क्षोभ दिखाई देता है।

सिख धर्ममें आत्मिक विकासपर विशेष बल दिया गया है। मनुष्यको निरन्तर साधना और अभ्यास करते रहना चाहिये। जहाँ मनुष्य अपनेको ज्ञानी या पण्डित समझ लेता है, वहीं उसका विकास समाप्त हो जाता है। नानक-पन्थमें ब्रह्म सत्य रूप माना गया है। सब-कुछ उसी सत्यमें व्याप्त है। उससे परे कुछ नही है। वह ब्रह्म स्वयं रस-रूप है और उसका अनुभव करनेवाला भी वही है। वह सर्वत्र रमा हुआ है। वह स्वयं गुण है। वही उसका कथन करता है। वही उसका मूल्य भी है। वह दृष्टि और वर्णनसे परे है। फिर भी वह सर्वत्र दृष्टिगोचर है। वह ज्योति सदा सहज स्वभावसे जानी जाती है। उसकी अनुभूतिके लिए कायाको कष्ट देना आवश्यक नहीं है। गुरु नानक और उनके अनुयायी भेदाभेद-दर्शनके समर्थक थे। मनोमारणके लिए नानकपन्थमें नाम-स्मरण ही साधना और साध्य माना गया है। नाम समस्त जीवोके लिए आश्रयस्वरूप है। इसी नामके आधारपर समस्त विश्वका अस्तित्व है। नामका कथन, गान, मनन करना परम साधना है। बिना गुरु ज्ञान नही प्राप्त होता है। गुरुके शब्दोंमें अद्भुत शक्ति है। संसारमें सब बराबर है। जातिभेद अहंकार और माया है।

सिख धर्म अनेक सम्प्रदायों और उपसम्प्रदायोमे विकसित हुआ। वीरबन्दाबहादुरके समयमे सिखोंके मध्य भेदभाव और दलबन्दी प्रारम्भ हुई। नानकदेवके जीवनकालमें ही उनके पुत्र श्रीचन्द(जन्म सं० १५५१)ने उदासी सम्प्रदायकी स्थापना की और कश्मीर, काबुल, कन्धार, पेशावर जैसे सुदूर देशोंमें केन्द्र स्थापित किये। चौथे गुरु रामदासके पुत्र प्रिथीचन्दने मीनापन्थकी स्थापना की। हन्दलजाटने हन्दली मतकी स्थापना की। गुरु हररायके पुत्र रामरायने रामैयापन्थ चलाया। गुरु गोविन्द सिंह द्वारा संस्थापित खालसा सम्प्रदायके आगे चलकर दो दल हुए, जिनमें प्रथम था सत्त खालसा और द्वितीय था बन्दई खालसा। उदासी सम्प्रदाय भी चार शाखाओंमें विकसित

हुआ। सिख धर्मकी विकृतियों या उपसम्प्रदायोंके रूपमें नागा या नानकशाही, निर्मला, नामधारी, सेवापन्थी, सिहधारी, भगतपन्थी, गुलाबदासी, निरंकारी तथा अकाली भी उल्लेखनीय हैं। नामधारीके प्रवर्तक लुधियानाके भाई रामसिंह थे, सुथराशाहीकी स्थापना सुथराशाहने की थी। इसी प्रकार कन्हैयाने सेवापन्थ, गुलाबदासने गुलाबदासी तथा दयालदासने निरंकारीकी स्थापना की।

'गुरु ग्रन्थसाहब' सिखोंका प्रमुख धार्मिक ग्रन्थ है। गुरु अर्जुनदेवने भाई गुरुदास द्वारा आदिग्रन्थ लिखवाया था। नानककी रचनाओंमें विशेष प्रसिद्ध हैं 'जपुजी' तथा 'असा दी वार'। गुरु अंगदने गुरुमुखी लिपिमें पहली बार नानककी रचनाओंको एकत्र करवाया। 'ग्रन्थसाहब'के महला २में गुरु अंगदकी रचनाएँ संगृहीत हैं। गुरु अमरदासकी सबसे प्रसिद्ध रचना 'आनन्द' है। गुरु अर्जुनदेवने 'सुखमनी', 'बावन अखरी', 'बारामासा'की रचना की। गुरु गोविन्दसिंहकी रचना 'दसवाँ पातसाहका ग्रन्थ' नामसे प्रसिद्ध है। इनके दरबारमें ५२ कवियोंको आश्रय मिला। उन्होंने संस्कृतके अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंका अनुवाद भी करवाया। सिख धर्ममें अनेक कवियोंका आविर्भाव हुआ, जो प्रतिभा और साधनाकी दृष्टिसे बहुत महत्त्वपूर्ण है।

सिखधर्ममें साधना, वीरता और भावुकताका अद्भुत समन्वय उपलब्ध होता है। इस धर्मका इतिहास वीरताकी पृष्ठभूमिमें लिखा गया है।

[सहायक ग्रन्थ—हिन्दीकाव्यमें निर्गुणसम्प्रदाय : पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल; उत्तरी भारतकी सन्त-परम्परा : परशुराम चतुर्वेदी; द आदि ग्रन्थ : ट्रम्प]। —त्रि० ना० दी०

नामकरणवैचित्र्यवक्रता—दे० 'प्रबन्धवक्रता', पाँचवाँ नियामक।

नायक (कथा साहित्य)—नायक कथाका मुख्याधार है। सम्पूर्ण कथाकी गतिशीलता उसके चरित्र एवं क्रिया-व्यवहारोंकी गतिशीलता पर निर्भर करती है। इसीलिए कथा चाहे वह काव्यकी शैलीमें हो, या नाट्य शैलीमें उसके लिए नायककी अनिवार्यता अपेक्षित है (दे० नायक : शास्त्र, नाट्य एवं काव्यमें)। कथा साहित्यका आरम्भिक स्वरूप उपदेशवादिता, नैतिक संरक्षण, ऐन्द्र-जालिक सत्य, जादू-टोने आदिसे सम्बन्धित होनेके कारण नायकके स्वरूप-पर पूर्ण प्रभाव डालता है। आरम्भिक भारतीय कथा साहित्यका नायक इन्हीं प्रेरणाओंसे संयुक्त मिलता है। पशु-पक्षी, देव, असुर, अप्सरा, किन्नर, गंधर्व तथा अन्य ऐन्द्रजालिक चमत्कारपूर्ण नायकोंकी इन कथाओंमें प्रधानता मिलती है। भारतीय नीति कथाओंमें 'पंचतन्त्र' तथा 'हितोपदेश' एवं लोककथाओंमें 'बृहत्कथा', 'बृहत्कथा श्लोक संग्रह', 'बृहत्कथा मंजरी', 'कथा सरित्सागर', 'बेताल पंचविंशतिका', 'सिंहासन द्वात्रिंशिका', 'विक्रम चरित', 'शुकसप्तति' आदि कथा संग्रहोंमें नायककी यही स्थिति है। कथा-साहित्यसे पृथक् भारतमें सामन्तवादी व्यवस्थाके कारण वीर भावनाकी उदात्तता तथा धार्मिक पृष्ठभूमिके फलस्वरूप आदर्शोन्मुख नायकोंके उच्चताकी परिकल्पना की गयी। नायकके अलौकिक, अंधविश्वासपूर्ण उद्देश्य-साधित चरित्रोंकी भी अनेकानेक कल्पनाएँ हुईं। विशेष रूपसे धार्मिक साहित्यमें इसकी बहुलता मिलती है। पुराण तथा उससे प्रभावित अन्य भारतीय कथा साहित्यमें नायककी स्थिति साम्प्रदायिक धर्म भावनासे प्रेरित उदात्त एवं आदर्शोन्मुख ही अधिक है। लौकिक वातावरणमें लिखी गयी कथाओंका नायक उच्च सामन्तवर्गीय है। दशकुमार-चरित, स्वप्नवासवदत्ता, हर्षचरित आदि कथाओंमें नायक संभ्रान्त, सर्वविद्यासम्पन्न अनेक दैवी शक्तियोंसे पूर्ण कथाके मुख्य फलके भोक्ताके रूपमें मिलते हैं। आधुनिक युगमें मध्यकालीन पौराणिक प्रभावसे निर्मित कथाएँ पूर्णतः आदर्शोन्मुख हैं। आधुनिक भारतीय कथा साहित्यमें नव जागरण (दे०)के प्रभावसे नायककी स्थितिमें अधिकाधिक विस्तार हुआ है। नायककी एक विशिष्ट दृष्टिसे संचलित रूढिबद्ध स्थितिमें पर्याप्त परिवर्तन किया गया। वह अपनी गतिविधिमें अपने सम्पूर्ण वातावरण, प्रतिक्रियाओं, सामाजिक उद्देश्यों तथा जीवनगत विभिन्न मान्यताओंको लेकर आगे बढ़नेमें समर्थवान् सिद्ध हुआ। इस पुनर्जागरण युगने कथा साहित्यको अनेक दिशाएँ दीं। उसने प्राचीन आस्थाग्रस्त, रूढ एवं कुंठित नायकके व्यक्तित्वको त्रस्त कर दिया। इस युगमें मानव अस्तित्व पूर्णतः बदल गया। वैज्ञानिक संघटनसे प्रभावित समाजकी संघटनाने 'वर्ण-व्यवस्था'के प्राचीन मानदण्डको पूर्णतः परिवर्तित कर दिया। जाति विशिष्टता, वर्ण उच्चताके आधार पर वर्गीकृत जातियोंके स्थान पर दो ही जातियाँ शेष बचीं। वे थीं—पूंजीपति तथा मजदूर। औद्योगीकरणके फलस्वरूप आर्थिक सम्पन्नता पूंजीवादी वर्गके हाथ आ गयी। इसी समय नीत्सेके अतिमानववाद (दे०)ने इन मजदूर तथा निम्नवर्गीय व्यक्तियोंके अस्तित्वको और भी कुचल दिया। हिटलर तथा मुसोलिनी उसीके शिष्य थे। द्वितीय महायुद्धके परिणामस्वरूप अनेक मानववादी दृष्टिकोण यूरोपमें प्रचारित किये गये। रूसोने 'एमिली' ग्रन्थमें 'यूरोपिया'का स्वप्न देखा। उसने महायुद्ध, मानव व्यक्तित्वकी विशृंखलता, औद्योगीकरणमें अटूट श्रद्धा तथा नागरिक कृत्रिमताका खण्डन किया। किन्तु वैज्ञानिकतावादके पुनर्प्रचारमें रूसो द्वारा निर्मित काल्पनिक-मानव सत्ता छिन्न-भिन्न हो गयी। इसी समय एक और भी महत्त्वपूर्ण आन्दोलन शुरू हुआ। वह था—मार्क्सवाद (दे०)। मार्क्सवादने समस्त सामन्तवादी तथा पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्थाको बदलकर उसके स्थान-पर परस्पर समता, एकता तथा मानवहितके सिद्धान्तत्रयकी स्थापना की। पूंजीवादने दो वर्ग बना दिया था—मध्यवर्ग तथा शोषित, मध्यवर्ग शोषकसे घृणा करता था क्योंकि उसे सुख-स्वप्नकी उत्कट लालसा थी। निम्नवर्ग मध्यवर्गसे संघर्ष करता रहा, क्योंकि उसकी दृष्टिमें वही सामने पड़ता था। पूंजीवाद अपने स्थान पर सुरक्षित था। मार्क्सने इस मध्यवर्गको निरर्थक, स्वतः नष्टचेता बनाकर पूंजीवादी आर्थिक मानदण्डको नष्ट करनेकी ओर बल दिया। इस प्रकार संसारके इतिहासमें पहलीबार मजदूरोंकी महत्ता बढ़ी। किन्तु इस प्रकारके राष्ट्र भी हैं तो कितने? अतः अधिकांश देशोंमें तथाकथित सामाजिक स्थिति ही वर्तमान रही। आधुनिक कथा साहित्य समाजकी इन विचारधाराओंसे पूर्णतः प्रभावित है। कथाका व्यक्ति समाजका व्यक्ति है

और आजकी सामाजिक रचना इसी प्रकारकी है। आधुनिक कथा साहित्य एक और सिद्धान्त-विशेषसे प्रभावित है। वह है फ्रायडका काम सिद्धान्त। इस विचारधारासे भी संसारका एक महत्त्वपूर्ण भाग प्रभावित रहा है। इस सामाजिक परिवेशमे नायकोंके वर्गीकरणकी समस्या अत्यधिक जटिल हो गयी है।

नायकका प्रथम वर्गीकरण यथार्थ और आदर्शके आधारपर किया जाता है। आदर्श नायकोका भविष्य अब अधिक नहीं रह गया है। वे जीवनकी प्रत्येक परिस्थितिमे तौले जाते हैं। इनके स्थानपर यथार्थवादी एवं प्रकृत नायकोंका प्रभुत्व बढ रहा है। प्रेमचन्द, टालस्टॉय, रवीन्द्र जैसे कुछ उपन्यास लेखकोंने आदर्श और यथार्थको लेकर कथा साहित्यमे अनेक प्रयोग किये हैं, किन्तु इसका भी भविष्य अधिक स्पष्ट नहीं है।

नायकोंका दूसरा वर्गीकरण उनके चरित्रकी गतिशीलताके आधारपर किया जाता है। इस तरहसे भी नायक दो प्रकारके ठहरते हैं—स्थिर नायक तथा गतिशील नायक। स्थिर नायक आदर्शोन्मुख, एक ही प्रकारसे रूढ तथा गतिशील कथाके छिन्न आदर्शोंमे पडे घटनाचक्रोके प्रवाहमे बनते और नष्ट होते रहते हैं। राबर्ट लिडिलने आदर्शोन्मुख यथार्थवादीकी भाँति मिश्रित नायककी भी कल्पना की है।

विभिन्न सामाजिक वर्गोके अनुसार नायकका एक तीसरा भी वर्गीकरण मिलता है। अभिजात वर्गके नायकोंकी अनेक श्रेणियाँ मिलती हैं। विलासी, उत्पीडक, सामन्तवादी, पूंजीपति, राजन्यवर्ग आदि प्रकारके नायक उच्चवर्गमे मिल जाते हैं। मध्यवर्गमे भी नायकोंकी यही स्थिति है। वे मध्यवर्गीय विद्रोही, शोषक, पथभ्रष्ट, यौन कुंठाग्रस्त आदि है। निम्नवर्गीय नायक अपनी परिस्थितिके अनुसार अनेक रूपके है। इन नायकोंकी स्थितिमें स्थिरता अधिक है। वे निम्नवर्गीय जागरूक, शोषित, आदर्शोन्मुख, लंपट आदि अनेक प्रकारके हो सकते है।

काम सिद्धान्तके आधारपर भी नायकोका वर्गीकरण किया जा सकता है। इनमें कई श्रेणियाँ बन सकती है। ये कुंठाग्रस्त आदर्शोन्मुख, दुर्बल, व्यक्तिवादी, उन्मुक्त, समाजप्रेरक, यौनपीडित प्रणयीके रूपमें रखे जा सकते है। वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्थाके समर्थक देशोंमें यौन तथा प्रणय-समस्या सम्बन्धी कथा साहित्यका अधिकाधिक विस्तार हो रहा है। यह पूर्णतः अश्लीलता तक पहुँच चुका है। निष्कर्षतः आधुनिक कथा साहित्यमे अनेकोन्मुखी नायक व्यक्तित्वोंके दर्शन होते है।

[सहायक ग्रन्थ—नावेल एण्ड द पीपुल्स : फॉक्स रालेफ; मानव मूल्य और नया साहित्य : धर्मवीर भारती; हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद : त्रिभुवन सिह; हिन्दी उपन्यासमे नायक : (अप्र० शोध प्रबन्ध, प्रयाग विश्व०) : कुसुम वार्ष्णेय।] —यो० प्र० सिं०

नायक (नाटक)—सर्वप्रथम भरतके 'नाट्यशास्त्र'मे नाटकके प्रमुख तत्त्वोंके रूपमें स्वीकृत नायकका वर्गीकरण नाटकीय कथावस्तुके आधारपर किया गया है। इसको नाट्यशास्त्रियोने स्वीकार किया ही है, कई काव्यशास्त्रियोने भी माना है (दे० 'नायक-भेद')। 'दशरूपक'में नायकके गुणोंको गिनाते हुए उसे नेता, विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियंवद, रक्तलोक, वाग्मी, रूढवंश तथा स्थिर माना गया है। उसे बुद्धि, उत्साह, स्मृति, प्रज्ञा तथा कलावान् स्वीकार किया गया है। वह शूर, दृढ, तेजस्वी, शास्त्रदृष्टिवाला और धार्मिक कहा गया है। इस नायकको चार प्रमुख भेदोंमे बाँटा गया है:—

धीरललित—धनंजयके अनुसार—"निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः", अर्थात् निश्चिन्त स्वभावका, कलाओंसे प्रेम रखनेवाला, कोमल स्वभाववाला तथा सुखी नायक धीरललित होता है (द० रू०, २ : ३)। उदा०—'स्वप्नवासवदत्ता' तथा 'रत्नावली'का नायक उदयन, 'मालविकाग्निमित्र'का अग्निमित्र। **धीरशान्त**—धनंजयके अनुसार—"सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः", अर्थात् सामान्य गुणोंसे युक्त ब्राह्मण अथवा वैश्यादिक नायकको धीरशान्त कहते हैं। उदा०—'मालतीमाधव'का नायक माधव तथा 'मृच्छकटिक'का चारुदत्त। **धीरोदात्त**—धनंजयके अनुसार—"महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः। स्थिरो निगूढाहंकारो धीरोदात्तो दृढव्रतः" धीरोदात्त नायक भावनाओंपर अधिकार रखनेवाला, गम्भीर, क्षमावान्, अपने मुँहसे अपनी प्रशंसा न करनेवाला, स्थिर चित्तका, विनयी तथा दृढ़व्रती होता है (द० रू०, २ : ४)। उदा०—'नागानन्द'का नायक 'जीमूतवाहन' तथा 'उत्तररामचरित'के नायक राम। **धीरोद्धत**—धनंजयके अनुसार—"दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाछद्मपरायणः। धीरोद्धतस्त्वहंकारी चलश्चण्डो विकत्थनः", अर्थात् इस नायकमे ईर्ष्या और दर्प अधिक होता है, माया और छल करनेमे चतुर होता है, चंचल, क्रोधी और आत्मप्रशंसक होता है। (द० रू०, २ : ५)। उदा०—रावण।

हिन्दी साहित्यके मध्ययुगमें नाटकों और नाट्यशास्त्रका नितान्त अभाव रहा है। आधुनिक कालमें नाटकका विकास संस्कृत तथा पाश्चात्य साहित्यके आधारपर हुआ है, पर क्रमशः उसके तत्त्वोंमें आधुनिक विचारधाराके कारण पाश्चात्य प्रभाव ही बढ़ता गया है। इसके साथ ही नायकोंकी यह मध्ययुगीन कल्पना नाटकोंमें स्वीकृत नहीं हो सकी है। भारतेन्दुयुगमे नाटकके विन्यासमे संस्कृत नाट्यशास्त्रसे भी प्रभाव ग्रहण किया गया था, पर प्रायः कथानक आधुनिक समाजसे लिये गये थे, इस कारण उनमे नायकका यह रूप नहीं मिलता। बादके हिन्दी नाटकोंमे ऐतिहासिक पुरुषोंका चरित्र भी आधुनिक आदर्शोंसे अनुप्राणित रहा है। —सं०

नायक-नायिका-भेद (शास्त्र)—प्रमुखतः इस विषयके अन्तर्गत श्रृंगार रसके आलम्बन-विभावके रूपमे नायक-नायिकाओका विवेचन और वर्गीकरण किया गया है। नायक-नायिका-भेदका विषय नाट्यशास्त्रमे प्रारम्भ होता है, क्योंकि सर्वप्रथम नाटककी कथावस्तु तथा उसके प्रधान रसकी दृष्टिसे नायकका विभाजन किया गया था (दे० 'नायक' (नाटक)। संस्कृत नाट्यशास्त्रके साथ काव्यशास्त्रके अन्तर्गत नायक-नायिका-भेदका विकास श्रृंगार रसके आलम्बनके रूपमें हुआ है। जहाँतक हिन्दी साहित्यके

अन्तर्गत इस विषयका सम्बन्ध है, नाटकका आधार बिलकुल नहीं लिया जा सका है। इसका प्रमुख कारण हिन्दी साहित्यमें उस समय नाट्यसाहित्य और नाट्यशास्त्र दोनोंका नितान्त अभाव है। हिन्दीने यह विषय शृंगारके आलम्बनके रूपमें ही लिया गया है। वस्तुतः संस्कृतमें भी जब यह विषय रति-भावनाके अन्तर्गत आया है, उस समय शृंगार रसके सन्दर्भमें ही इसका विस्तार प्रस्तुत किया गया है।

शृंगार रस जिस रति स्थायी भावपर आधारित है, वह भाव स्त्री-पुरुषके सम्बन्धमें ही अभिव्यक्त होता है। अतएव शृंगारके आलम्बनके रूपमें स्त्री-पुरुषके रति-सम्बन्धकी ही अनेक स्थितियाँ आती है और इन्हींके आधारपर नायक-नायिका-भेदका विकास हो सका है। शृंगार रसके आधार-के कारण इस विषयकी सीमाएँ भी उसीसे निर्धारित होती हैं और प्रायः इस विषयके आचार्य कवियोंने इनका अति-क्रमण नहीं किया है। इस विषयकी सामान्य स्वीकृत बातें इस प्रकार रखी जा सकती है—१. इस विषयके अन्तर्गत सामान्य तथा स्वाभाविक रति-भावनाको, अर्थात् स्त्री-पुरुषके रति-सम्बन्धको ही लिया गया है। अन्य समस्त प्रकारकी अस्वाभाविक, अप्राकृतिक तथा सहजाति योनि-सम्बन्धोंपर आधारित रतिभावनाको स्वीकार नहीं किया गया है। २. यौवनयुक्त तथा आकर्षक स्त्री-पुरुषोंके प्रेमको ही स्वीकार किया गया है। ३. रसबोधकी दृष्टिसे सामाजिक मर्यादाका भी सामान्यतः ध्यान रखा गया है। केशवने 'रसिकप्रिया' मे इस प्रकारकी स्त्रियोंकी सूची दी है, जिनसे रति-सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जाना चाहिये। ४. स्त्री-पुरुष, दोनोंमे रतिभावना अनिवार्य मानी गयी है, बिना इसकी पार-स्परिक स्थितिके रसकी निष्पत्ति सम्भव नहीं है। ५. प्रेमके अतिरिक्त अन्य कोई प्रसग इसके अन्तर्गत नहीं लिया गया है। इस प्रकार नायक-नायिका-भेदका विषय सीमित क्षेत्रके अन्तर्गत विकसित हुआ है और उसके अध्ययनके लिए इस बातको ध्यानमे रखना आवश्यक है।

सम्भवतः इस विषयका सर्वप्रथम विवेचन और प्रति-पादन वात्स्यायनके 'कामसूत्र'मे किया गया है, परन्तु उसका दृष्टिकोण नितान्त भिन्न है। नायक, नायिका, सखी तथा दूतियोंका सविस्तर वर्णन 'कामसूत्र'में है, परन्तु यह काव्यशास्त्रसे भिन्न है। 'कामसूत्र'के अनुसार स्वकीया-का महत्त्व नहीं है, क्योंकि उसके दृष्टिकोणसे नायिकाको प्राप्त करना होता है, जब कि काव्यशास्त्रमे प्रेमकी स्थिति स्वीकार किये बिना कोई स्त्री नायिका नहीं कही जा सकती। स्वकीया(विवाहिता)का वात्स्यायनने विचार नहीं किया है, केवल गृहस्थ जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाले कर्तव्यों-की शिक्षा दी है। 'कामसूत्र'मे नायक-नायिकाओंका विभा-जन कामशास्त्रको दृष्टिमे रखकर किया गया है। हिन्दीके नायक-नायिका-भेदमे कुछ ही लेखकोने कोक्कोकके 'रति-रहस्य'के आधारपर नायिकाओंके पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी जैसे विभाजन किये है। 'कामसूत्र'मे परि-स्थिति तथा व्यवहारपर आधारित नायक-नायिकाओके भेदोंको नहीं लिया गया है। इसी प्रकार 'कामसूत्र'मे दूतीका प्रमुख कार्य नायिकाको प्रलोभन देकर नायकके पास ले जाना है, जब कि नायक-नायिका-भेदके अन्तर्गत ऐसा दृष्टिकोण नहीं है।

नाट्यशास्त्रके अन्तर्गत रससिद्धान्तका विकास हुआ है। रस नाटकका प्रधान अंग माना गया है। नाटकमें रसकी निष्पत्ति करानेमे उसका प्रधान पात्र सहायक होता है, अतः उसे नायककी संज्ञा दी गयी। परन्तु भरतने आठ नाट्य रसोंको माना है और उनकी दृष्टिसे स्त्री-पुरुष अथवा नायक-नायिकाका विभाजन मात्र शृंगार रसपर आधारित नहीं है। इसी कारण उन्होंने सामान्यतः नाटकीय पात्रोंका विभाजन किया है, न कि शृंगार रसके आलम्बन-विभावका। भरतके 'नाट्यशास्त्र'के बाद धनंजयके 'दश-रूपक'मे नाटकीय पात्रताकी दृष्टिसे विभाजन तो किया ही गया है, साथ ही उसमे काव्यशास्त्रीय विभाजन भी अपनाया गया है। उन्होंने प्रतिनायकका उल्लेख भी किया है। रामचन्द्र-गुणचन्द्रके 'नाट्यदर्पण'मे नाट्यपरम्पराका विभाजन भी नहीं है, उसके स्थानपर केवल प्रधान, अप्रधान तथा प्रतिनायकका विभाजन किया गया है। परन्तु नाट्यशास्त्रके विभाजनको काव्यशास्त्रियों तथा रस-शास्त्रियोंने भी अपनाया है, यद्यपि यह उनमे महत्त्व नहीं पा सका, केवल परम्परा-पालनके रूपमे स्वीकार किया गया है।

नायक-नायिका-भेदके प्रमुख विषयका विवेचन वस्तुतः काव्यशास्त्र तथा रस-सिद्धान्तके अन्तर्गत हुआ है। 'अग्नि-पुराण'(९वीं शती)मे यह विषय शृंगार रसके अन्तर्गत लिया गया है। कालक्रमानुसार संस्कृतमे निम्नलिखित काव्यशास्त्रके ग्रन्थोंमें इस विषयका विस्तार है—'काव्या-लंकारसूत्र': रुद्रट (९वीं शती), रुद्रभट्टका 'शृंगारतिलक' (९वींसे ११वीं शतीतक), भोजका 'सरस्वतीकण्ठाभरण' और 'शृंगारप्रकाश' (११वीं शती), वाग्भट प्रथमका 'वाग्भटालंकार' (१२वीं शती), हेमचन्द्रका 'काव्यानुशासन' (११वीं-१२वीं शती), शारदातनयका 'भावप्रकाश' (१२वीं शती पूर्वार्द्ध), भानुदत्तका 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी' (१३वीं शती), विद्यानाथका 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' (१४वीं शती पूर्वार्द्ध), शिंगभूपालका 'रसार्णवसुधाकर' (१४वीं शती पूर्वार्द्ध), वाग्भट द्वितीयका 'काव्यानुशासन' (१४वीं शती), विश्वनाथका 'साहित्यदर्पण' (१४वीं शती), रूपगोस्वामीका 'उज्ज्वलनीलमणि' (१६वीं शती), केशव मिश्रका 'अलंकार-शेखर' (१६वीं शती उत्तरार्द्ध), अच्युत शर्माका 'साहित्यसार' (१९वीं शती)। इन समस्त ग्रन्थोंसे स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत काव्यशास्त्रकी व्यापक विवेचनाओंमे अथवा रसकी विवेचनाके अन्तर्गत इस विषयको प्रस्तुत किया गया है। हिन्दी काव्यशास्त्रमे प्रमुखतः रसके अन्तर्गत ही इस विषय-को लिया गया है और वह भी प्रायः शृंगार रसको विस्तार-से विवेचित करनेवाले ग्रन्थोंमे। कालक्रमानुसार हिन्दीके इस विषयसे सम्बद्ध ग्रन्थ इस प्रकार हैं—कृपारामकी 'हिततरंगिनी (१५४१ ई०), सूरदासकी 'साहित्यलहरी' (संदिग्ध : १५५० ई०), नन्ददासकी 'रासमंजरी' (१५६६ ई०), केशवदासकी 'रसिकप्रिया' (१५९१ ई०), रहीमका 'बरवै नायिका-भेद' (१६०० ई०), सुन्दरका 'सुन्दरशृंगार' (१६३१ ई०), तोषकी 'सुधानिधि' (१६३४ ई०), चिन्ता-

मणिका 'कविकुलकल्पतरु' (१६५० ई०), जसवन्त सिंहका 'भाषाभूषण' (१६५६ ई०); मतिरामका 'रसराज' (१७१० ई०), कुमारमणि शास्त्रीका 'रसिकरसाल' (१७१९ ई०), देवके 'भावविलास', 'रसविलास', 'भवानीविलास' तथा 'सुखसागर तरंग' (१८वीं शतीका उत्तरार्द्ध), रसलीनका 'रसप्रबोध' (१७४२ ई०), भिखारीदासका 'श्रृंगारनिर्णय' (१७५० ई०), ब्रह्मदत्तका 'दीपप्रकाश' (१८०८ ई०), पद्माकरका 'जगद्विनोद' (१८१०), बेनी प्रवीनका 'नवरसतरंग' (१८२१ ई०), प्रतापसाहिकी 'व्यंग्यार्थकौमुदी' (१८२५ ई०), चन्द्रशेखर वाजपेयीका 'रसिकविनोद' (१८४६ ई०), स्कन्दगिरिका 'रसमोदकहजारा' (१८४८ ई०), नन्दरामका 'श्रृंगारदर्पण' (१८७२ ई०), लछिरामका 'महेश्वरविलास' (१८७९ ई०), प्रतापनारायण सिंहका 'रसकुसुमाकर' (१८७२ ई०), दौलतरामका 'रसमौर' (१८९७ ई०), गंगाप्रसाद अग्निहोत्रीकी 'रसवाटिका' (१९०३ ई०), जगन्नाथप्रसाद 'भानु'का 'काव्यप्रभाकर' (१९१० ई०), बाबूराम बित्थरियाका 'हिन्दी काव्यमें नवरस' (१९२६ ई०), श्यामसुन्दर दासका 'रूपकरहस्य' (१९३१ ई०), 'हरिऔध'का 'रसकलश' (१९३१ ई०), गुलाबरायका 'नवरस' (१९३४ ई०), बिहारीलाल भट्टका 'साहित्यसागर' (१९३७ ई०), कन्हैयालाल पोद्दारका 'काव्यकल्पद्रुम (१९४१ ई०) और प्रभुदयाल मीतलका 'ब्रजभाषा साहित्यका नायिका-भेद' (१९४८ ई०)। छैलबिहारीलाल गुप्त 'राकेश'का 'स्टडीज इन नायक-नायिका-भेद' (अप्र०) इस विषयका एक वैज्ञानिक अनुशीलन है। हिन्दीमे इस अध्ययनका आधार संस्कृत काव्यशास्त्र अवश्य रहा है, परन्तु उसमें मौलिकता, विस्तार तथा नवीनता पर्याप्त मात्रामें पायी जाती हैं। वस्तुतः हिन्दी साहित्यके अन्तर्गत श्रृंगारके महत्त्वके साथ ही इस विषयका विशद विवेचन किया गया है। अधिकांश ग्रन्थोंमे रसचर्चाकी अपेक्षा नायक-नायिकाओंके वर्गीकरण और वर्णनका विस्तार अत्यधिक है। इससे रीतिकालमे इस विषयकी लोकप्रियताका पता चलता है।

नायक-नायिका-भेद सम्बन्धी विवेचनाओंके साथ दूती और सखियोंका वर्गीकरण और विवेचन भी किया गया है। वस्तुतः दूती और सखियाँ उद्दीपन-विभावके अन्तर्गत आती है। परन्तु इनका सम्बन्ध नायक तथा नायिकाओंसे है, उद्दीपनरूपमे ये रसके इन्ही आलम्बनोंकी सहायता करती है। अतएव इस विषयके अन्तर्गत इनको स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार नायिकाओंके अलंकार तथा हाव, जो प्रायः अनुभावके रूपमे स्वीकार किये गये हैं, इसी विषयके अन्तर्गत आये है। नायकके सात्त्विक गुणोंकी स्थिति भी इस विषयके अन्तर्गत स्वीकार की गयी है। वस्तुतः नायिकाओंके अलंकार तथा नायकके सात्त्विक गुण केवल उद्दीपनके रूपमें और नायिकाके हाव उद्दीपन तथा अनुभाव, दोनों ही रूपोंमे (उसकी आलम्बन अथवा आश्रयकी स्थितिके अनुसार) प्रस्तुत विषयके अन्तर्गत आते है (विशेष जानकारीके लिए इन्ही शब्दोको देखे)। —रा० गु०

नायक-नायिका-भेद (साहित्य)—हिन्दी नायिका-भेद-साहित्यके दो प्रमुख स्रोत है, एक संस्कृतका काव्यशास्त्र तथा दूसरा कृष्ण-साहित्य। वस्तुतः कृष्णभक्तिके विकासमे रससिद्धान्तका प्रभाव देखा जा सकता है। रससिद्धान्तके अन्तर्गत श्रृंगारको अत्यधिक महत्त्व प्राप्त हुआ है और कृष्णभक्तिका आधार रतिभाव ही है। इन दोनों परम्पराओंने एक-दूसरेको प्रभावित किया है। कृष्ण, गोपी तथा बादमे राधाकी कल्पनाके साथ नायक तथा नायिका-भावका विकास होता रहा है। इनकी प्रेम-क्रीडाओंमे गोपियों तथा राधाका चरित्र अनेक नायिकाओंके रूपमे अंकित हुआ है। 'हरिवंश'के 'हल्लीशक्रीडन' अध्यायमे कृष्ण तथा गोपियोंके प्रेम-प्रसंगका वर्णन है। 'पद्मपुराण'के उत्तरखण्डमे कृष्ण-कथा है, पर उनकी प्रेमक्रीडाका वर्णन नहीं है। चौथे पातालखण्डमे कृष्ण, राधा तथा गोपियोंके आध्यात्मिक अर्थकी व्याख्या अवश्य की गयी है। 'विष्णुपुराण'के पाँचवे खण्डमें कृष्णका सम्पूर्ण जीवनवृत्त है, पर गोपियोंके साथ उनकी प्रेमक्रीडाका विस्तार दो अध्यायों (१३, १४)मे है। इसका सबसे अधिक विस्तार 'भागवतपुराण'के दसवें स्कन्धमें है। इसमें कृष्ण और गोपियोंके प्रेमका पूरा विकास दिखाया गया है। गोपियाँ कृष्णके प्रति आकर्षित होती है, उनकी आकांक्षा करती हैं, विरहका अनुभव करती है और अन्ततः रासलीलामे भाग लेती है। कृष्णके मथुरा जानेके बाद गोपियाँ विरहमे निमग्न हो जाती हैं, उद्धवके सन्देश लानेपर उपालम्भशील होती है। 'ब्रह्मवैवर्तपुराण'के चौथे खण्डमे कृष्णलीलाका वर्णन है, जिसमे कृष्णके साथ राधाका विशेष महत्त्व स्वीकार किया गया है। पुराण-साहित्यके साथ ही दक्षिणके आलवार-सन्तोने गोपी-कृष्णकी प्रेम-लीलाओंका वर्णन किया है और अनेक बार स्वतः अपनी प्रेम-लीलाओंकी भावाभिव्यक्ति की है। इन भक्तोने प्रेमकी कुछ अन्य परिस्थितियोको भी उपस्थित किया है, जैसे पूर्वानुरागके लिए दूतीकी सहायता। परन्तु इन आलवार भक्तोंमें भावोंकी तीव्रता प्रधान है, शारीरिक सम्बन्धोंकी तीव्रता कम। भक्ति आन्दोलनके प्रवर्तक आचार्योंने दक्षिणके इन भक्तोंकी भक्तिभावनासे प्रेरणा ग्रहण की है। रामानुजने दार्शनिक पीठिका प्रस्तुत की है, पर वल्लभ, निम्बार्क तथा चैतन्यने कृष्णभक्तिकी स्थापना की। इन्होंने गोपी या राधा-कृष्णकी रतिक्रीडाको भक्तके अनन्य समर्पणके रूपमे स्वीकार किया और लीलाके माहात्म्यको प्रतिपादित किया। वल्लभने वात्सल्य-भक्तिको अधिक महत्त्व दिया है, पर 'भागवतपुराण'की स्वीकृतिके साथ माधुर्य-भक्तिको स्थान दिया है। वस्तुतः इस भक्तिपरम्पराका प्रत्यक्ष प्रभाव चैतन्यके प्रमुख शिष्य रूपगोस्वामी द्वारा काव्यशास्त्रके अन्तर्गत ग्रहण किया गया है। इनके 'भक्ति-रसामृत-सिन्धु' तथा 'उज्ज्वलनीलमणि'में भक्तिके आधारपर रसका निरूपण हुआ है और विभिन्न भक्तियोमें 'प्रेमाभक्ति' उज्ज्वल अथवा माधुर्य रसके रूपमे विस्तार पा सकी है। 'उज्ज्वलनीलमणि'मे विभिन्न गोपियाँ तथा उनकी विभिन्न स्थितियाँ नायिका-भेदका आधार प्रस्तुत करती है। इस प्रकार भक्ति-आन्दोलनके साथ माधुर्य-भक्तिका रूप और काव्यशास्त्रके विवेचनमें श्रृंगार रसके महत्त्वका अद्भुत संयोग हिन्दी साहित्यके मध्ययुगमें उपस्थित हुआ था।

काव्यशास्त्रमें श्रृंगार रसके अन्तर्गत नायक-नायिका-भेदका विस्तृत विवेचन हुआ है और उसीके समानान्तर

भक्ति-साहित्यमें गोपियों तथा राधाकी कृष्णके प्रति माधुर्य-भावनाके आधारपर विभिन्न नायिकाओंकी स्थिति विकसित हुई है। १२वीं शतीके उत्तरार्द्धमें जयदेवके 'गीतगोविन्द'में कृष्ण और गोपियोंके प्रेमका सजीव तथा चित्रमय वर्णन है। इस काव्यमें गोपियाँ परकीया नायिकाएँ हैं, जो प्रगल्भाके रूपमें अंकित हैं। राधामें भी मुग्धाभाव नहीं है। प्रेमलीलाके प्रसंगमें गोपियोंके तथा राधाके मनोभावोंका चित्रण किया गया है, जिनके आधारपर अनेक नायिकाओंके भेदोंकी कल्पना की जा सकती है। राधा सखीकी सहायता भी लेती है। जयदेवकी राधा कामवासनासे अत्यन्त विह्वल जान पड़ती है। बँगला कवि चण्डीदासकी राधामें परकीया-भावकी चरम परिणति देखी जा सकती है। राधा किसी अन्यकी विवाहिता है, पर वह कृष्णके प्रेममें वेदना और पीडा सह रही है। जयदेवकी राधाकी अपेक्षा चण्डीदासकी राधामें मांसल काम-पीडाके स्थानपर वेदना-जन्य भावाकुलता अधिक है; यहाँतक कि मिलनके क्षणोंमें भी वह वियोगकी सम्भावनासे विकल जान पड़ती है। विद्यापतिने अपनी नायिका राधाका वर्णन वयःसन्धिसे प्रारम्भ किया है। कविने मुग्धाभावमें काम-चेतनाका जागरण बहुत कोमल तथा सहज रूपमें उपस्थित किया है। यहाँ राधाका प्रेयसीरूप प्रधान है। विद्यापतिने दूती तथा अभिसार-प्रसंगको पर्याप्त विस्तार दिया है। उनकी राधामें मांसल वासनाका उद्वेग तथा भावाकुलता एक साथ चित्रित की गयी है।

उपर्युक्त कवियोंमें चण्डीदासने परकीया-भावके चरमोत्कर्षमें माधुर्य-भक्तिका आधार ग्रहण किया है, उनकी राधाकी अनन्यता और भावाकुलता इसमें सहायक सिद्ध हुई है। पर अन्य दोनों कवियोंमें लौकिक प्रेमका शारीरिक विलास तथा उद्वेग अधिक है, आध्यात्मिक भूमिका भी पर्याप्त नहीं है। सूरने बड़े विस्तारसे गोपियों, राधा तथा कृष्णके प्रेमका वर्णन किया है। इनमें स्वकीया-भावकी प्रधानता है। सूरके संयोगपक्षमें वासनाके मांसल चित्र अवश्य हैं, उसका तीव्र उद्वेग भी है, पर वियोगपक्षमें उनकी गोपियाँ तथा राधा पीडा और वेदनाके सूक्ष्म मनोभावोंमें अंकित हैं। अपनी इस भावस्थितिमें वे प्रेमके बहुत ऊँचे स्तरतक उठी हैं। उनकी विरहव्यथामें, आत्मनिवेदनमें, उपालम्भशीलतामें परम विरहासक्तिका आध्यात्मिक आधार है। साथ ही सूरने कथा और आध्यात्मिकताका जो व्यापक आधार प्रस्तुत किया है, वह उनके प्रेमके वासनापूर्ण चित्रोंको भी अलौकिक कर देता है। अष्टछापके नन्ददास तथा कृष्णदास आदि कवियोंने इस सम्बन्धमें प्रेरणा 'भागवत' अथवा सूरसे ग्रहण की है। अन्य भक्त कवियोंमें हितहरिवंशने अपने राधावल्लभीय सम्प्रदायमें राधा-कृष्णकी प्रेमक्रीडापर ध्यान केन्द्रित करना परमानन्दकी प्राप्ति माना है। इन्होंने अपने पदोंमें राधा-कृष्णकी प्रेमलीलाका तन्मयताके साथ वर्णन किया है। हरिदासके सखी-सम्प्रदायमें भी राधा-कृष्णकी प्रेमक्रीड़ाको सखी-भावसे अवलोकनको परम काम्य माना गया है। मीराँबाईके कृष्णके प्रति प्रेमका उल्लेख भी यहाँ किया जा सकता है।

इस प्रकार माधुर्य-भाव भक्तिके अन्तर्गत शृंगार रसको अलौकिक आधार भक्तियुगमें मिल सका था और राधा तथा अन्य गोपियोंकी अभिव्यक्तिमें अनेकानेक नायिकाओंके भेदका विकास इसी युगमें हो चुका था। स्वकीया तथा परकीयाके विविध रूपोंका बड़ा सजीव अंकन भक्ति-साहित्यमें मिलता है। स्थितिके अनुसार तथा अवस्थाके अनुसार नायिकाओंके विभिन्न रूपोंका चित्रण भी कोमल तथा भावपूर्ण है। रीतिकालके नायिका-भेद-साहित्यपर इस भक्ति-साहित्यका प्रभाव अवश्य माना जायगा। जैसा पहले कहा गया है, भक्ति-साहित्यने स्वतः शृंगार रसके काव्य-शास्त्रीय आधारको ग्रहण किया था और रीतिकालके शृंगार रसके विवेचनने पुनः इस भक्ति-साहित्यसे प्रभाव डाला। रीतियुगके अन्तर्गत विकसित होनेवाले नायिका-भेद-साहित्यमें व्यापक रूपसे नायक कृष्ण तथा नायिकाओंमें राधा तथा गोपियाँ स्वीकृत हुई हैं। ऐसा नहीं कि इन रीतिकालीन कवियोंने केवल इनके नाम लिये हैं, वरन् वे भक्तियुगीन भावनासे पूर्ण परिचित हैं और इसी परम्परासे नायक-नायिकाके रूपमें इन्हें स्वीकार किया है। केशवदासने कृष्णको 'परमपुरुष' और राधाको 'माया' माना है और 'जग नायककी नायिका' (र० प्रि०, ३ : ७८) कहा है। देवने भी 'प्रेमचन्द्रिका'में "मायादेवी नायिका, नायक पूरुष आप" कहा है। बादतक दास तथा द्विजदेव जैसे आचार्योंने "राधिका कन्हाईके सुमिरनकौ बहानौ" अथवा "न तरु सदा सुखदान श्री राधा हरि कौ सुजस"की घोषणा की है। इस सम्पूर्ण साहित्यके अध्ययनसे इतना स्पष्ट हो जाता है कि वह काव्यशास्त्रकी परम्परामें एक ओर शृंगारकी महत्ताका द्योतक है और दूसरी ओर भक्तिभावना-की परम्परामें मात्र शृंगारिक मनोवृत्तिकी स्वीकृतिका सूचक है।

आधुनिक कालके सामाजिक जागरण तथा राष्ट्रीय चेतनाके साथ हिन्दी साहित्यमें रीतिकालीन, विशेषकर नायक-नायिका-भेद सम्बन्धी शृंगारिक काव्यके प्रति वितृष्णाका भाव दिखाई देता है। पुनरुत्थान-कालके लेखकों और आलोचकोंमें सामाजिक आदर्शवादका अधिक आग्रह था और उससे प्रेरित होकर उन्होंने इस साहित्यकी तीव्र आलोचना की है। महावीरप्रसाद द्विवेदीने 'नायिका-भेद' नामक निबन्ध (र० रं०, पृ० ५७-६३)में स्पष्ट शब्दोंमें कहा कि इस साहित्यका भक्तिसे कुछ सम्बन्ध नहीं है, इसके कवियोंका उद्देश्य अपने संरक्षकोंको प्रसन्न करके पुरस्कार प्राप्त करना था, इनके आश्रयदाता राजा-महाराजाओंको विलासी होनेके कारण इस प्रकारका काव्य पसन्द था तथा इस साहित्यमें केवल परकीया तथा सामान्याके चरित्रका वर्णन है, जो नैतिक आचरणकी दृष्टिसे अनुचित है। इसी युगके प्रसिद्ध कवि मैथिलीशरण गुप्तने अपने 'भारत भारती' (पृ० १२०-२१)में इस युगकी शृंगारिक कविताकी प्रतारणा की है और अपने युगके कवियोंको नवीन आदर्शोंकी ओर उन्मुख होनेकी प्रेरणा दी है। छायावादी युगके प्रमुख कवि सुमित्रानन्दन पन्तने भी अपनी 'पल्लव'की भूमिकामें इस साहित्यको नग्न तथा अश्लील बताया है और उनके अनुसार इसमें भारतीय

नरल नारीको प्रगल्भ तथा विदग्धा परकीया नायिकाके रूपमें ही चित्रित किया गया है। रामचन्द्र शुक्लका मत भी उदार नहीं है—"शृंगारके वर्णनको बहुतेरे कवियोंने अश्लीलताकी सीमा तक पहुँचा दिया है। इसका कारण जनताकी रुचि नहीं, आश्रयदाता राजा-महाराजाओंकी रुचि थी, जिनके लिए कर्मण्यता और वीरताका जीवन बहुत कम रह गया था" (हि० सा० इ०, पृ० २६८)। श्यामसुन्दर दासने भी इस साहित्यको अनैतिक माना है (हि० वि०, पृ० ३१३-३३४)। ऐसा ही नहीं, वरन् रीति-साहित्यके समर्थक विचारकोंने भी इस विशिष्ट साहित्यको अति शृंगारिक, वासनाप्रवण तथा संकुचित माना है। परन्तु 'हरिऔध'ने इसका कारण फारसी साहित्य तथा दरबारी वातावरण माना है। विश्वनाथ मिश्रने इस युगके आश्रयदाता राजाओंको विषयी तथा ऐश्वर्यप्रिय माना है और कवियोंको धनलोलुप। प्रभुदयाल मीतलने इस साहित्यका विस्तृत अध्ययन करके इसकी विशेषताओंकी ओर ध्यान आकर्षित किया है, पर फिर भी यह माना है कि इस साहित्यमे भक्तोंका आध्यात्मिक प्रेम लौकिक प्रेममे बदल गया है, यह युग ऐश्वर्यविलासका युग था और विलासप्रिय राजाओंका आश्रय पानेके लिए इस प्रकारकी काव्यरचना आवश्यक थी (ब्रजभाषा साहित्यका नायिकाभेद)।

इन सब आरोपोंका प्रत्याख्यान करनेका प्रयत्न राकेश गुप्तने अपने प्रबन्ध 'स्टडीज इन नायक-नायिका-भेद'मे किया है। वस्तुत इनके साथ यह स्वीकार किया जा सकता है कि इस सीमित साहित्यके आधारपर सम्पूर्ण युगजीवनको भोग-विलासप्रिय नहीं कहा जा सकता है। परन्तु उनके तर्कोंके आधारपर यह भी कहा जा सकता है कि भक्ति-आन्दोलनके साथ माधुर्य-भावका प्रचार जनतामें हो चुका था और जनताके बीच आध्यात्मिक स्तरपर शृंगारी-साहित्यको पढ़ने अथवा सुननेका प्रतिबन्ध नहीं रह गया था। राकेश गुप्तने यह सिद्ध भी किया है कि इस युगके राजा-महाराजा केवल ऐश्वर्यप्रिय और विलासी ही नहीं थे, वे वीर शासक भी थे। इसके अतिरिक्त पिछले युगोंके राजा या सम्राट् कम ऐश्वर्य-विलासप्रिय नहीं रहे हैं। वस्तुतः यहाँ ध्यान देनेकी बात यह है कि सामन्ती युगोंमें शृंगारी भावना वीर भावनाके साथ ही चलती है, दोनोमे कोई विरोध नहीं होता। इस कारण यह कोई महत्त्वपूर्ण तर्क नहीं है। इसके अतिरिक्त राजाश्रयप्राप्त संस्कृत-साहित्य भी शृंगारप्रधान है। यह बात भिन्न है कि गुप्तकालमें ऐश्वर्य-विलासके साथ स्वस्थ कलाका दृष्टिकोण भी था, जो तत्कालीन संस्कृत साहित्यके महाकाव्योंमें अभिव्यक्त हुआ है। इन महाकाव्योंकी शृंगारभावना विराट् कथा और सौन्दर्यकी पीठिकापर आधारित है, जब कि रीतिकालीन काव्यकी शृंगारिकतामें इस पीठिका तथा वातावरणका अभाव है; साथ ही भक्तिसाहित्यकी परम्परामे होकर भी उसकी लौकिकता अधिक उभरी है। रीतिकाव्यके मुक्तकोंमें महाकाव्य-शैलीकी वह गरिमा, नहीं जो अपने विस्तारमें शृंगारके सूक्ष्म चित्रणोंको स्वस्थ ढंगमे आत्मसात् कर ले, और न इसमें भक्तिसाहित्यकी आध्यात्मिक पीठिका है, जिसके आधारपर कृष्ण, गोपी तथा राधाकी समस्त रतिक्रीडा भक्तकी उल्लासमयी भावनामे डूब जाय। नायिका-भेद-साहित्यके रतिविलाससे न तो संस्कृतके श्रेष्ठ महाकाव्योंमे चित्रित रतिक्रीडाकी तुलना की जा सकती है और न भक्तिसाहित्यके कृष्ण, राधा और गोपियोंके रास विलास की। किसी काव्यकी अभिव्यक्तिको उसकी पीठिका, वातावरण तथा सौन्दर्यबोधकी पूर्ण उपलब्धिसे अलग करके नहीं देखा जा सकता। संस्कृत महाकाव्योंका रतिविलास सम्पूर्ण कथाका अंग है, योजनाका अंश है। मानवजीवनके सम्पूर्ण क्रममे यह एक सहज स्थितिके रूपमे आता है और प्रकृतिके व्यापक सौन्दर्यके वातावरणमे उसकी नग्नता भव्य हो जाती है। इसमे नग्नता अपने-आपमे काव्यकी उपलब्धि नहीं है। इसी प्रकार कृष्ण-भक्त कवियोंके लीला और रासके वर्णनोंमे व्यापक आध्यात्मिक पीठिका है, कथाका भी विस्तार है और पग-पगपर कृष्णके परब्रह्मतत्त्वकी स्थापना है। इस आधार और वातावरणमे रतिक्रीड़ाका वर्णन निश्चय ही एक भिन्न अर्थ ग्रहण कर लेता है। रीतिकालके शृंगारी काव्यमे ऐसा कुछ नहीं है। इस युगके कवियोंने काव्य-शास्त्र तथा भक्ति-भावना; दोनोंकी परम्पराओंको एक रूप प्रदान किया। एकके माध्यमसे वे आश्रयदाताओंके मनोरंजनका साधन जुटा सके और दूसरेसे उनको जनताके बीच प्रतिष्ठित भक्तिभावनामे भी स्थान मिल सका। इतना अवश्य है कि उस युगमें इस काव्यको सहज स्वीकृति मिल सकी और उसमे अश्लीलता आदिका वह रूप नहीं माना गया, जिसकी ओर आधुनिक आलोचकोंने बार-बार ध्यान आकर्षित किया है।

हिन्दीका सम्पूर्ण नायक-नायिका भेद-साहित्य काव्यकी दृष्टिसे महत्त्वका है। यद्यपि वह समस्त काव्य बहुत उन्नत तथा उच्च परम्परा और स्तरका साहित्य नहीं माना जा सकता, फिर भी काव्यात्मक सौन्दर्यके अनेक पक्ष इसमें अभिव्यक्त हुए है। यह सारा काव्य मुक्तकोंमे लिखा गया है, इस कारण रसके अन्तर्गत आते हुए भी उक्ति-वैचित्र्य-प्रधान है। यह वाग्विदग्धता इस युगके दरबारी वातावरणसे प्रभावित है, पर इसमें सौन्दर्यके अनेक स्थल है। इस काव्यका कलापक्ष अधिक महत्त्वपूर्ण है, जिसमे माधुर्य, गुण, व्यंग्यार्थ, छन्दप्रवाह तथा अलंकारोंका सुन्दर प्रयोग आदि आता है। कवियोंने सूक्ष्म कल्पनाशीलताका परिचय दिया है। इस कमनीय कल्पनाका प्रयोग कवियोंने नायिकाके सौन्दर्यवर्णन, उसकी मानसिक स्थितियोंके चित्रण तथा अनेक प्रेमसम्बन्धी स्थिति-परिस्थितियोंके निर्माणमें किया है। इसके अतिरिक्त विभिन्न भेदोंके उदाहरणोंमे कवियोंने मानवजीवनके रति सम्बन्धी सूक्ष्म मनोविज्ञानका परिचय भी दिया है।

इस काव्यमे नायिकाके रूपसौन्दर्यका कल्पनाशील वर्णन है, जो अपने अद्भुत आकर्षणमे स्वाभाविक है। मतिरामके इस रूपवर्णनमे सौन्दर्यका यही नवोन्मेषकारी अंकन है—"कुन्दनकौ रँग फीकौ लगै झलकै अस अंगन चारु गुराई। ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि त्यों-त्यों खरी निखरै सी निकाई" (रसराज, ६)। देवकी नायिकाके सौन्दर्यको देखकर नयन चकित रह जाती है—

"देव स्वरूपकी रासि निहारति पाँयते सीतलौं सीसतें पाँयनि। ह्वै रही ठौरई ठाडी ठगी-सी हँसै कर ठोडी दिये ठकुरायन" (ब्र० भा० सा० ना०, १ : १०)। भावात्मक चित्रणके स्थानपर अलंकृत वर्णन भी कवियोंने किये हैं। केशवने वैचित्र्यका अधिक मोह है—"भौंरसे भँवत अभिलाप लाख भाँति दिव्य, चंपेकी-सी कली वृषभानकी कुमारिका" (र० प्रि०, ३ : ३)। कहीं-कहीं परिस्थितिका सहज सौन्दर्य भी अंकित हुआ है—"घाँघरेकी घूमन सुऊरुन दुवीचै दावि आँगी हू उतारि सुकुमारि मुख मोरै हैं। दन्तनि अधर दावि दूनरि भई सी चापि चौवर पचौवरके चूनरी निचोरै है" (पद्माकर : जगद्वि०, १ : १४)। इन कवियोंने मुग्धा नायिकाकी कोमलता, लज्जाशीलता तथा वयःसन्धि आदिका भावपूर्ण अंकन किया है। मतिराम यौवनके प्रवेशका वर्णन करते है—"कानन लौं लागे मुस्कान प्रेम पागे लैने, लाज भरे लागे लोल लोचन अनंग ते।...पानिप अमलकी झलक झलकन लागी, काईसी गई है लरिकाई कढि अंग तें" (रसराज, २२)। परन्तु इन समस्त वर्णनोंमें उक्तिका आग्रह विशेष है तथा मानसिक भावोंके स्थानपर शारीरिक विकासका चित्रण अधिक हुआ है। ससिनाथ भावपरिवर्तनका संकेत देते हैं—"लरकाईके खेल पछेल कछूक सयानि सखीन पत्यान लगी। पिय नाम सुनै तिय चौसकते दुरिकै मुरिकै मुस्क्यान लगी" (ब्र० भा० सा० ना०, १ : १०)। मध्याके चित्रणमें यौवनकी मादकता तथा लज्जाका भाव संघर्षके रूपमें व्यंजित हुआ है। विहारी इस भावस्थितिके संघर्षको व्यंजक रूपमें प्रस्तुत करते हैं—"देखत बनै न देखिबौ अनदेखैं अकुलाहिं। इन दुखिया अँखियानको सुख सिरज्यौई नाहिं" (सतसई)। 'हरिऔध'के इस चित्रमें लज्जा और उल्लासका संयोग है—"नार नवाइ सकाइ रही मुसकाइ रही दृग मोरि लजाइ कै" (ब्र० भा० सा० ना०, २ : १३)। धीरादिक भेदोंके उदाहरणोंमें नायिकाके दोष, व्यंग्य तथा उदासीनता आदिका वर्णन है, जिनमें उक्तिवैचित्र्यका विशेष आश्रय लिया गया है। परकीयाकी भावस्थितिके चित्रणमें इन कवियोंने उसकी वेदना, पीडा, क्लेश, आवेग, उद्वेग तथा उसकी लोकलज्जा आदिका मार्मिक वर्णन किया है। वस्तुतः इस युगके प्रेमी कवियोंकी मुक्त भावाभिव्यक्तिमें परकीयाकी वेदनाकी गहरी अनुभूति है। घनानन्दकी नायिकाको—"जासों प्रीति ताहि निठुराई सों निपट नेह" और वह बेचारी "कैसें करि जियकी जरनि सो जताइये" उसकी 'आँखिनके उर आरति' सदा रहती है और वह उपालम्भ देती है—"काहू कलपायहै सु कैसें कलपाय है" (सु० सा०, ७ : ८ : ९)। रसखानके प्रेमकी भी यही स्थिति है—"चित्र लिखी सी गई सब देह न बैन कढै मुख दीनि दुहाई। कैसि करौं जित जाउँ तितै सब बोलि उठै जे तो बावरि आई" (सुजान : रसखान)। ठाकुरकी नायिका लोकलाजकी अवहेलनामें दृढताका परिचय देती है—"कवि ठाकुर प्रीति करी है गुपाल सों टेरै कहौं सुनौ ऊँचै गलै। हमैं नीकी लगी मो करी हमनें तुम्हें नीकी लगौ न लगौ तो भलै" (ब्र० भा० सा० ना०, १ : १०)।

इस साहित्यमें गर्विता नायिकाकी उक्तिमें आकर्षण है; अन्यसम्भोगदुःखिताके उपालम्भमें तीखा व्यंग्य है; स्वाधीनपतिकाके हृदयमें उल्लास और संकोच है; वासकसज्जाओंके वर्णनोंमें आनन्दोल्लास तथा उत्सुकता है तथा उत्कण्ठिताकी प्रतीक्षामें व्याकुल उत्कण्ठा है। अभिसारिकाओंके शृंगारमें मनोरथका आन्दोलन तथा मिलनका संकल्प है और विप्रलब्धाकी निराशामें हृदयकी व्याकुलता है। खण्डिता वंचनाके कारण ईर्ष्यालु है; कलहान्तरिताके मनमें पश्चात्ताप है तथा गच्छत्पतिका वियोगकी आशंकामें विह्वल है। प्रोषितपतिकाकी विरहव्यथामें मार्मिक पीड़ा और भावविह्वलता है। इस नायिकाकी भावाभिव्यक्तिका आश्रय घनानन्द तथा रसखान जैसे प्रेमी कवियोंने अधिक लिया है। विरहकी तन्मयताके कारण इनका प्रेम आध्यात्मिक स्तर पा सका है। घनानन्दका यह कवित्त मार्मिक संवेदनके लिए बहुत प्रसिद्ध है—"बहुत दिनानिकी अवधि आसपास परे, खरे अखरनि भरे हैं उठि जान कों"। इसी प्रकार आलमकी इस विरह-उक्तिमें व्यथा छिपी है—"आलम जौनसे कुजनमें करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यौ करैं। नैननमें जे सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यौ करैं।" (आ० के०) रीतिकालीन कवियोंने ऋतुओंके उद्दीपक रूपका इस नायिकापर पडनेवाले घातक प्रभावका विस्तारसे वर्णन किया है—"चातक न गावैं मोर सोर ना मचावें, घन घुमडि न छावैं जौ लौं लाल घर आवैं ना" (ब्र० भा० सा० ना०, १ : १०)। अन्तमें आगतपतिकाओंकी उल्लासपूर्ण प्रतीक्षा है, जिसमें नायिका उत्सुक हृदयसे शकुन मनाती हुई और आये हुए पतिसे मिलनेके लिए अपने भावावेगको सँभाले हुए अंकित हुई है। तोषकी नायिका कौवेको मना रही है—"करनी करार तौन पहिलै करौंगी सब, आपने पियाको फिरि पाछै अंक भरिहौं" (ब्र० भा० सा० ना०, १ : १०)। मतिरामकी आगतपतिकाका भावसंघर्ष सुन्दर बन पडा है—"भीतर भौनेके द्वार खरी सुकुमार तिया तन कंप बिसेखै। घूँघटकी पट ओट दिये पट ओट किये पियकी मुख देखै" (रसराज, ६३०)। परन्तु इस सम्पूर्ण काव्यमें भावसौन्दर्यके स्थानपर उक्तिवैचित्र्य तथा आलंकारिक चमत्कारकी प्रवृत्ति तथा स्थूल वर्णनोंका आग्रह अधिक है।

[सहायक ग्रन्थ—नगेन्द्र : रीतिकाव्यकी भूमिका; प्रभुदयाल-मीतल : ब्रजभाषा-साहित्यमें नायिका-भेद; राकेश गुप्त : स्टडीज इन नायक-नायिका-भेद (अप्रा०)। —र०

नायक-भेद—नायिका-भेदकी अपेक्षा नायक-भेदका विस्तार इस साहित्यमें बहुत कम है। किसी एक भी कवि अथवा आचार्यने नायक-भेदको नायिका-भेदकी अपेक्षा छठे अंशसे अधिक स्थान नहीं दिया है। महावीरप्रसाद द्विवेदीने कहा है कि इस नायक-भेदको भी नायिका-भेदके समान विस्तार दिया जा सकता था (र० रं० : ना०)। परन्तु आधुनिक मनोविज्ञान और योनिविज्ञान इस बातका साक्षी है कि पुरुषकी अपेक्षा नारीका रति सम्बन्धी मनोभाव अधिक विषम और जटिल होता है। इसके आधारपर यह कहा जा सकता है कि नायक-भेदका विस्तार-संकोच स्वाभाविक ही था। स्त्रीकी सामाजिक और मनोवैज्ञानिक स्थितिके

कारण नायिकाके, नायककी अपेक्षा, इन शास्त्रके अन्तर्गत अनेकानेक भेद-प्रभेद विकसित हुए हैं।

नाट्यशास्त्रके वर्गीकरणका आधार भिन्न था, उसमें नाटकीय कथावस्तुकी प्रकृतिकी दृष्टिसे धीरोदात्त, धीरललित, धीरप्रशान्त और धीरोद्धत चरित्रके आधारपर नायकोंका विभाजन किया गया है। इस नाटकीय विभाजनको काव्यशास्त्रके अन्तर्गत महत्त्व नहीं मिला। परन्तु कुछ आचार्योंने इस विभाजनको परम्पराके रूपमें स्थान अवश्य दिया है। 'अग्निपुराण' तथा 'दशरूपक'के बाद भोजने अपने 'शृंगारप्रकाश'में धीरोदात्तको धर्म-शृंगारका नायक, धीरोद्धतको अर्थ-शृंगारका नायक, धीरललितको काम-शृंगारका नायक तथा धीरप्रशान्तको मोक्ष-शृंगारका नायक माना है। संस्कृतके हेमचन्द्र, शारदातनय, विद्यानाथ, शिंगभूपाल, वाग्भट द्वितीय, विश्वनाथ, रूपगोस्वामी तथा अच्युत मिश्र आदि आचार्योंने इस विभाजनको भी रखा है, परन्तु बिना किसी विशेषताके। हिन्दीमें इस विभाजन-को कुमारमणि जैसे अप्रसिद्ध आचार्यने 'साहित्यदर्पण' तथा 'दशरूपक'के आधारपर अपने ग्रन्थमें स्थान दिया है। इसके बाद केवल आधुनिक कालमें 'हरिऔध' तथा गुलाब-रायने इस विभाजनको स्वीकार किया है। श्यामसुन्दर दासका 'रूपकरहस्य' तो नाट्यशास्त्रका ग्रन्थ ही है।

भोजने नायक, प्रतिनायक, उपनायक तथा अनुनायक-का विभाजन प्रस्तुत किया था। यह विभाजन भी कथानक-पर आधारित है, अतएव हिन्दीके किसी आचार्यने इसे स्वीकार नहीं किया। भोजने मूल प्रकृतिके आधारपर नायकका विभाजन सात्त्विक, राजस और तामसमें किया है। इसी प्रकार एक स्त्री और अनेक स्त्रियोंके विचारसे उन्होंने साधारण तथा असाधारण नायकका भेद भी किया है। परन्तु इन विभाजनोंको संस्कृत काव्यशास्त्रमें ही स्वीकृति नहीं मिल सकी। इसी कारण हिन्दीमें ये नहीं आ सके। भानुदत्तका दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य-का विभाजन केवल रसलीन तथा श्यामसुन्दर दास द्वारा स्वीकृत हुआ है।

काव्यशास्त्रका स्वीकृत विभाजन पति, उपपति तथा वैशिकका है, जो स्त्री-पुरुषके सामान्य सम्बन्धपर आधारित है। संस्कृतमें यह अधिक प्रचलित नहीं रहा है। इसका सर्वप्रथम उल्लेख भानुदत्तने १३वीं शतीमें किया है। संस्कृत शिंगभूपाल तथा रूपगोस्वामीके सामान्य उल्लेखके अतिरिक्त बादमें यह विभाजन अधिक प्रचलित नहीं रहा। परन्तु हिन्दीमें इसकी प्रमुख विभाजनके रूपमें स्वीकृति रही है। सर्वप्रथम रहीमने और उनके बाद मतिराम तथा पद्माकर जैसे नायिका-भेदके आचार्योंने इसे स्वीकार किया है। नन्ददास और केशवने इसको नहीं लिया है और देवने वैशिकके स्थानपर साधारणका उल्लेख किया है। यहाँ देवका भाव भी किंचित् भिन्न है। उनके अनुसार यदि नायकको प्रथम दो वर्गोंमें नहीं रखा जा सकता तो वह 'साधारण' कहा जायगा। दूसरा महत्त्वपूर्ण विभाजन अनु-कूल, दक्षिण, शठ तथा धृष्ट नायकका है। सर्वप्रथम इसका उल्लेख 'अग्निपुराण'में हुआ है। वस्तुतः 'नाट्यशास्त्र'के विभाजन—दक्ष, ज्येष्ठ, मध्यम, अधम तथा संप्रवृद्धमें और इससे समता है। ये दोनों पुरुषके स्त्रीके प्रति व्यवहारपर आधारित हैं। कुछ आचार्योंने इसको स्वतन्त्र विभाजन माना है और कुछने इसे प्रथम विभाजनोंसे अनेक रूपोंमें सम्बद्ध किया है। प्रथम मतके प्रवर्तक संस्कृतमें रुद्रट, रुद्र भट्ट, वाग्भट तथा केशव मिश्र हैं और हिन्दीमें इनका अनुसरण नन्ददास, केशव तथा देवने किया है। 'अग्नि-पुराण'में इन चारों भेदोंका विचार धीरोदात्त आदिके अन्तर्गत किया गया है, हिन्दीमें कुमारमणि तथा श्यामसुन्दर दासने इसका अनुसरण किया है। वाग्भट द्वितीयने केवल धीरललितमें यह विभाजन माना है, क्योंकि उनके अनुसार वही रतिभावभासे सम्बद्ध है। भानुदत्तने अपनी 'रसमंजरी'में पति तथा उपपतिका विभाजन अनुकूल आदिमें माना है और इसका अनुसरण शिंगभूपाल तथा रूपगोस्वामीने किया है। परन्तु हिन्दीमें सम्भवतः केवल दास इस मतके हैं। अन्य सभी एकमत हैं कि यह चार प्रकारका अनुकूल आदिका विभाजन केवल पतिके सम्बन्धमें लागू हो सकता है।

एक अत्यन्त सामान्य प्रकारका विभाजन उत्तम या ज्येष्ठ, मध्यम, अधम या कनिष्ठमें किया गया है। यद्यपि यह विभाजन नायिकाओंके सम्बन्धमें अधिक प्रचलित है, फिर भी संस्कृतमें इसका प्रचलन दो रूपोंमें पाया जाता है। एक रूपमें इसके अन्तर्गत नायकके गुणोंके आधारपर विभाजन किया गया है और दूसरे रूपमें वैशिकके उपभेद-के अर्थमें (रसार्णव)। हिन्दीमें इसका प्रयोग बहुत कम हुआ है और वह भी सामान्य विभाजनके रूपमें। इस सन्दर्भमें इसका आधार नायकके गुण न होकर उसका नायिकाके प्रति व्यवहार है। सुन्दरके अनुसार उत्तम हर प्रकारसे नायिकाको प्रसन्न करता है, मध्यम न तो उसे प्रसन्न करनेका प्रयत्न करता है और न रुष्ट ही करता है और अधम नायिकाके मानके प्रति उपेक्षाशील रहता है—"उत्तम तियको लेत रस मध्यम समय विचार। अधम पुरुष सो जानिये, निलज निसंक अगार" (सुधानिधि, पृ० ७७)। तोष और रसलीनकी परिभाषाएँ इसके समान हैं।

नायक-भेदका विवेचन मानी, चतुर, अनभिज्ञ तथा प्रोषितके रूपमें भी किया गया है। मानी और चतुरका सम्बन्ध केवल शठसे माना गया है और अनभिज्ञको नायकाभासके रूपमें ही स्वीकार किया गया है (भानुदत्त)। नायिकाओंके आठ प्रकारोंमें केवल एक प्रोषित नायकको स्वीकार किया गया है। चतुरके दो भेद—वचनव्यंग्य-समागमचतुर और चेष्टाव्यंग्यसमागमचतुर, जिनको सामान्यतः वचनचतुर और क्रियाचतुर कहा गया है, माने गये हैं। हिन्दीके बहुतसे लेखकोंने इसी विभाजनको माना है, पर उनके विवेचनमें पर्याप्त अन्तर है। जिन्होंने इनको स्वतन्त्र रूपमें लिया है, उनमें रहीम, तोष मतिराम, नन्द-राम, बिहारीलाल भट्ट हैं। चतुरके दोनों भेदोंका सम्बन्ध कुछ लेखकोंने अन्य विभाजनोंसे जोड़ा है। दासने दक्षिण नायकके उपभेद माने हैं और इनको बेनी प्रवीन, प्रतापनारायण सिंह, भानु आदिने उपपतिके भेद माने हैं। चन्द्रशेखरके अनुसार दोनों चतुर और मानी केवल शठके उपभेद हैं और यहाँ उन्होंने भानुदत्तका अनुसरण किया

है। मानी और प्रोषित प्रायः उनके द्वारा भी स्वतन्त्र रूपमें स्वीकार किये गये हैं, जिन्होंने चतुरको किसी अन्य विभाजनके अन्तर्गत रखा है। सुन्दरने मानीको रूपगर्व-मानी और 'अपनी गौंको मानी', दो उपभेदोंमें बाँटा है। रसलीनने इसके स्थानपर रूपमानी और गुनमानी माना है और स्वयंदूत-नायकका भेद भी स्वीकार किया है। भानुदत्तके अनुसरणपर पद्माकरने अनभिज्ञ नायकको नायकाभास माना है, पर सुन्दर, स्कन्दगिरि, लछिराम और दौलतरामने इसे स्वतन्त्र भेद माना है। भानु, बाबूराम तथा 'हरिऔध'ने अनुकूल आदिके साथ पाँचवाँ स्थान दिया है। केशवने वाग्भटके आधारपर श्रृगारके दोनो भेदों, वियोग तथा संयोगको प्रच्छन्न तथा प्रकाशमें विभाजित किया है और फिर नायक-नायिकाओंका विभाजन भी इस आधारपर किया है। कुमारस्वामीने इसको केवल शठ नायकके सम्बन्धमे माना है। मिश्र-बन्धुओंके अनुसार यह विभाजन सभी रसोंके सन्दर्भमें लग सकता है।

रसलीन अकेले ऐसे आचार्य है, जिन्होंने उपपतिके विभेद—गूढ़, मूढ़ और आरूढ़में और वैशिकके भेद—अनुरक्त और मत्तमें किये है। मत्त भी तीन प्रकारका हो सकता है—काममत्त, सुरामत्त तथा धनमत्त। ब्रह्मदत्तने पद्मिनी आदि नायिकाओंके समानान्तर, वृषभ, मृग तथा अश्वमें नायकोंका विभाजन किया है, जिसका आधार कामशास्त्र जान पड़ता है। राकेश गुप्तने अपने प्रबन्धमें नायक-भेदके चार वैज्ञानिक आधार स्वीकार किये हैं—१. सामाजिक सम्बन्धके आधारपर—पति तथा उपपति। २. नायिकाओंके बीच अपने प्रेम-विभाजनके आधारपर—अनुकूल आदि। ३. सम्बन्धकी परिस्थितिके आधारपर—वियोगी, संयोगी तथा अपराधी। ४. प्रकृतिके आधारपर—उत्तम, मध्यम तथा अन्य। —रा० गु०

नायक (श्रृंगार)—श्रृंगार रसका आलम्बन-विभाव। विशेष विभाजनके लिए दे०—'नायक-भेद'। इस रूपमे नायककी स्वीकृति 'नाट्यशास्त्र'में भी मिलती है, यद्यपि उसमे प्रधान दृष्टिकोण नाट्य कथावस्तु है। इसी कारण नायकके गुणोंकी चर्चा कथावस्तुके आधारपर की गयी है। श्रृंगार रसके प्रसंगमें इसे—"तरुन सुघर सुन्दर सकल काम कलानि प्रवीन। नायक सो मतिराम कहि कवित गीत रस लीन" कहा गया है (रसराज, २३७)। "कविता राग रसज्ञ" प्रायः इसे कहा गया है। **पति**—सर्वप्रथम इसका उल्लेख भानुदत्तने किया, हिन्दीमें प्रायः स्वीकृत। भानुदत्तके अनुसार, 'विधिवत्पाणिग्राहकः', अर्थात् जिसका विधिवत् पाणिग्रहण हुआ हो, उसे पति कहते है (र० मं०, पृ० १६५)। **अनुकूल पति**—सर्वप्रथम 'अग्निपुराण'-मे उल्लिखित। भानुदत्तके अनुसार "सार्वकालिकपरांगना-पराङ्मुखत्वे सति सर्वकालमनुरक्तोऽनुकूलः", अर्थात् जो नायक सदा-सर्वदा दूसरी स्त्रियोंमे विमुख होकर अपनी प्रियामें अनुरक्त रहता है। मतिरामकी परिभाषामें यही भाव है—"सदा आपनी नारि सौं राखै अति ही प्रीति। परनारी तै विमुख जो…" (रसराज, २४४)। रहीमका अनुकूल नायक—"करत न हिय अपरधवा सपनेहु पीय। मान करनकी बिरियाँ रहिगो हीय" (बरवै०, ७५)। **दक्षिण नायक**—सर्वप्रथम 'अग्निपुराण'में उल्लेख किया गया है। भानुदत्तके अनुसार—"सकलनायिकाविषयकसम-सहजानुरागो दक्षिणः", अर्थात् जो नायक सभी नायिकाओंके विषयमें समान अनुरागका व्यवहार करता है। मतिरामने ऐसा ही कहा है—"एक भाँति सब तियन सौं जाको होय सनेह" (रसराज, २४७)। देवने 'न्यारो है सब सो मिलै' कहकर अधिक स्पष्ट किया है। नायक कृष्ण सब गोपियोंके मानकी रक्षा करते है—"आपनि आपनि पौरि बनाय कै बोल कह्यो सिगरीनि नवेलो। त्यो हँसिकै ब्रजराज कह्यो अब आज हमारिहि पौरिनि खेलो" (वही, २४८)। **शठ नायक**—सर्वप्रथम 'अग्निपुराण'में उल्लेख। भानुदत्त द्वारा इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—"कामिनीविषयक-कपटपटुः" अर्थात् जो स्त्रियोंके विषयमें कपट व्यवहार करनेमें चतुर हो, उसे शठ नायक कहते हैं। 'रसार्णव'मे इसे 'गूढापराधकृत्' माना गया है। मतिरामकी परिभाषा-में दोनों बातें आ जाती हैं—"डरै करत अपराध नहि करै कपटकी प्रीति" (रसराज, २५०)। पद्माकरने इसकी व्याख्यामें अधिक विस्तार दिया है—"सहित काज मधुरै मधुर बैननि कहै बनाइ" (भा० वि०, ना०)। रहीमका शठ नायक—"छूटल लाज डगरिया औ कुल कानि। करत जात अपरधवा परि गइ बानि" (बरवै०, ७७)। पद्माकरका शठ नायक चतुराईसे क्षमा माँगता है—"हौं न कियो अपराध बलि वृथा तानियतु भौंह। तुव उरसिज हरि परसि कै करत रावरी सौंह" (जगद्वि०, १ : २९७)। **धृष्ट नायक**—सर्वप्रथम 'अग्निपुराण'मे उल्लेख किया गया है। भानुदत्तके अनुसार—"भूयो निश्शङ्ककृतदोषोऽपि भूयो निवारितोऽपि भूयः प्रश्रयपरायणो धृष्टः", अर्थात् जो बार-बार दोष करनेपर भी निश्शंक रहे तथा मना करनेपर भी अनुनय करनेमे चतुर हो, ऐसा नायक धृष्ट है। मतिरामने लगभग ऐसा ही लक्षण दिया है—"करै दोष निरसंक जो डरै न तियके मान। लाज धरै मनमे नही नायक धृष्ट निदान" (रसराज, २६३)। देव ऐसे नायकका उदाहरण देते है—"द्वार ते दूरि करौ बहु बारनि हारनि बाँधि मृणालनि मारी। छाडत ना अपनो अपराधु असाधु सुभाइ अगाधु निहारी" (भा० वि०, ना०)। नायिकाके व्यंग्यमें इस नायकका चरित्र स्पष्ट उभरा है—"जहवाँ जात रइनियाँ तहवाँ जाहु। जोरि नयन निरलजवा कत मुसुकाहु" (रहीम : बरवै०, ७८)। **उपपति**—सर्वप्रथम भानुदत्त द्वारा स्वीकृत विभाजनका एक भेद—'आचारहानिहेतुः', अर्थात् आचारहीनताके कारण पतिको उपपति कहा गया है (र० मं०, पृ० १७१)। इसी बातको मतिराम 'जो परनारिको रसिक' कहकर व्यक्त करते है। यह नायक अनेक स्त्रियोंसे प्रेम करता है—"मन्द हँसनि दृगकोर लखि बस कर लेत प्रवीन। छिन बिछुरें गति होति यौं ज्यौं जल बिछुरत मीन" (मतिराम : रसराज, २५९)। **वैशिक**—भानुदत्तने ही इसको 'बहुलवेश्योपभोगरसिकः', अर्थात् जो अनेक वेश्याओंका उपभोग करनेवाला हो, ऐसा नायक माना है। मतिरामने भी 'प्रीति करै गनिकान सौं' कहा है तथा पद्माकरने इसे 'अलज अभीत' भी माना है। मतिराम ऐसे

नायकका वर्णन करते हैं—"वार-वार भ्रमि वारवधू वार-सौरनसैं, माँगकी मुकतनाल-बंगनैं नगन भौं" (रसराज, २६०)। **मानी**—भानुदत्तके द्वारा शठके अन्तर्गत स्वीकृत, पर हिन्दीमे प्रायः स्वतन्त्र नायकका एक भेद। मतिरामने 'कान्त मन अभिमान' कहा है और पद्माकरने 'करै जु तिय पै मान' कहा है। नायिकाकी उक्तिके रूपमे रहीम कहते हैं—"अब भरि जनम सहेलिया तकब न ओहि। ऐठलिगो अभिमनियाँ तजिगो मोहि" (बरवै०, ७९)। सखी नायकको मना रही है—"ऐसैं मनभावन गुमान है जु मन भायो, प्यारीके मनाइबे कौं तुमको मनाइये" (मतिराम : रसराज, २६४)। **वचनचतुर**—भानुदत्तने इसे शठके अन्तर्गत ही माना है, पर हिन्दीमे प्रायः सामान्य भेदके रूपमे मान्य। मतिराम, पद्माकर आदिने इसे वचनोंमे चतुराई करनेवाला माना है। रहीमका नायक किस चतुराईसे नायिकाको संकेत देता है—"सघन कुंज अमरैया सीतल छाँह। झगरति आय कोइलिया पुनि उडि जाइ" (बरवै०, ८०)। **क्रियाचतुर**—भानुदत्तने वचनचतुरके साथ रखा है—'वचनचेष्टाव्यंग्यसमागमश्चतुरः' (र० मं०, पृ० १७८)। हिन्दीके आचार्योंने क्रियाकी चतुराईसे संकेत करनेवाला कहा है। रहीमके कृष्ण किस चतुराईसे नायिकाका सामीप्य प्राप्त कर लेते हैं—"खेलत जानिसि टोलवा, नन्दकिसोर। छुइ वृषभान कुँअरिया होइ गइ चोर"। **प्रोषित**—पति आदिके विभेदोंमें यह नायक हो सकता है (भानुदत्त)। हिन्दीमें इसे भी प्रायः स्वतन्त्र रूपमे माना है। मतिरामके अनुसार "नायक होय विदेस मैं जो वियोग अकुलाय" उसे प्रोषित कहते हैं। नायिकाकी सुधिमे नायक सन्तोष प्राप्त करता है—"ह्वै है तब निसा मेरे लोचन चकोरनिको, जब वाको आनन अमल इन्दु देखिहौं" (रसराज, २७३)। —र०

नायिका—सामान्य अर्थ है नायककी पत्नी या प्रिया। नाट्यशास्त्रके अर्थमे नाटककी प्रधान पात्री; काव्यशास्त्रमे श्रृंगार रसका आलम्बन। वह सुन्दरी तथा यौवनपूर्ण स्त्री, जिसके देखनेसे रति स्थायी भाव जागरित हो, जिसका विस्तार ही श्रृंगार रस होता है। मतिराम कहते हैं—"उपजत जाहि बिलोकि कै चित्त बीच रस भाव। ताहि बखानत नायका जे प्रवीन कविराव" (रसराज, ५)। पद्माकरने इसी प्रकार परिभाषा देते हुए 'श्रृंगार'का उल्लेख विशेष रूपसे किया है। नायिकाके सौन्दर्यवर्णनमें रीतिकालीन कवियोंने उत्कर्ष प्राप्त किया है। मतिराम, देव, बिहारी तथा द्विजदेव जैसे कवियोंने नायिकाओंके सौन्दर्य-वर्णनमे मात्र शरीरको महत्त्व नहीं दिया है, उन्होंने उसके भावसौन्दर्यको भी अभिव्यक्त किया है। पर बादके पद्माकर आदि अन्य कवियोंने नायिकाओंके शारीरिक हाव-भावका अधिक वर्णन किया है; इनमे वर्णनवैचित्र्य भी अधिक है। पुराने कवियोंमें इनके साथ केशवका नाम लिया जा सकता है। नायिकाके वर्णनमे उसकी सुकुमारता, भावप्रवणता तथा भावावगका सजीव चित्रण हुआ है। मतिरामके सौन्दर्यवर्णनमे कोमल भावसौन्दर्य तथा सुकुमारता है—"कुन्दनको रंग फीको लगै झलकै अस अगन चारु गुराई। आँखिनमें अलसानि चितौनिमे मंजु विलासनकी सरसाई। को बिन मोल बिकात नहीं मतिराम लहै मुसकानि मिठाई। ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि त्यों-त्यों खरी निखरै सी निकाई" (रसराज, ७)। सौन्दर्यको नवनव उन्मेष ग्रहण करनेवाला कहा गया है, उसको देखनेसे नये-नये भावस्तर उभरते हैं। रूपसौन्दर्यवर्णनकी दृष्टिसे विद्यापतिने राधाके रूपका वर्णन यौवनकी चंचलता और मानसिक उद्वेगके साथ किया है। सूरने राधाके सौन्दर्यवर्णनमें रूपात्मक सौन्दर्यके साथ भावात्मक सौन्दर्यका अंकन भी किया है। उत्प्रेक्षाओंके माध्यमसे वे सौन्दर्यकी अनेकानेक स्थितियाँ और परिस्थितियाँ चित्रित कर सके हैं। तुलसीने सीताका रूपवर्णन मर्यादाके साथ किया है, जो सूक्ष्म सौन्दर्यबोध प्रस्तुत करता है—"सुन्दरता कँह सुन्दर करई। छबिगृह दीपसिखा जनु बरई" इसी प्रकार गीतावलीमे "अंग अंग तरंग उठे दुतिकी परिहै मनो रूप अबै धर च्वै"। पद्मावतीका रूपसौन्दर्यवर्णन करते समय जायसीने उसे अलौकिक कर दिया है। वस्तुतः प्रेममार्गी कवियोंकी "सौन्दर्य योजना रूपको पकड़नेका प्रयास है, उसको सीमामे घेरनेका प्रयास है। नारीके प्रतीकात्मक सौन्दर्यने यह व्यापक सौन्दर्य प्रकृतिमें फैलकर आध्यात्मिक संकेत ग्रहण कर लेना है" (रघुवंश : प्रकृति और काव्य, हिन्दी, पृ० २६३)। कबीर आदि सन्त कवियोंने भी रूपका अत्यन्त सूक्ष्म आधार अपने अलौकिक प्रेमके लिए ग्रहण किया है। आनन्दघन जैसे प्रेमियोंने रीतिकालीन शैलीमे अपने आलम्बनके सौन्दर्यका वर्णन किया है। आनन्दघनके सौन्दर्यवर्णनमें भावात्मक व्यंजना अधिक सूक्ष्म है—"लाजनि लपेटी चितवनि भेद भाय भरी, लसति ललित लोच चख तिरछीननमैं। छबिको सदन गोरो बदन रुचिर भाल, रस निचुरत मीठी मृदु मुसक्यानमैं" (सु० सा०, ३)। रीतिकालीन उक्तिवैचित्र्यके विकासके साथ नायिकाके सौन्दर्यवर्णनमें भी इसका प्रभाव परिलक्षित होता है—"कोमल कमलके गुलाबनके दलके सुजात गड़ि पायन बिछौना मखमलके" (पद्माकर : जगद्वि०, भा० १, १२)। आधुनिक कालके छायावादी काव्यमे सौन्दर्यबोधका स्तर सूक्ष्म हो गया और उसके साथ ही नारीसौन्दर्यकी कल्पना अशरीरी और वायवी हो गयी है। बहुत कुछ आलम्बनके, इसी सूक्ष्म रूपके कारण भी इस काव्यमे, आध्यात्मिक रहस्यका आभास मिलता है। —र०

नायिका-भेद—नायक-नायिका-भेद सम्बन्धी समस्त अध्ययन और काव्य रचनामे नायककी अपेक्षा नायिकाका महत्त्व प्रारम्भसे रहा है। स्पष्टतः उसका कारण पुरुषकी अपेक्षा नारीका रतिभावनाके क्षेत्रमें अधिक महत्वपूर्ण होना है। इस सम्बन्धमे आधुनिक मनोविज्ञान तथा शरीरविज्ञान-(कामशास्त्रके सन्दर्भमें)का साक्ष्य दिया जा सकता है कि कामभावनाके क्षेत्रमे नारीकी स्थितियाँ और प्रतिक्रियाएँ अधिक विविध, जटिल तथा विषम होती हैं। यही कारण है कि इस विषयके अन्तर्गत नायिका-भेदका विस्तार अत्यधिक है और उसमे ही आचार्यों तथा कवियोंने अपनी विवेचनात्मक शक्ति और काव्यात्मक प्रतिभाका परिचय दिया है। हिन्दी साहित्यके रीतिकालके अन्तर्गत यह सारा काव्यसाहित्य एक प्रकारसे स्वतन्त्र रूपमे विकसित हुआ

है, क्योंकि प्रारम्भमें रसका विवेचन तो गौण ही जान पड़ता है। अधिकांश काव्य-ग्रन्थोंका उद्देश्य नायिका-भेद प्रस्तुत करना रहा है और विस्तार तथा महत्त्वकी दृष्टिसे इनमें भी नायिका-भेद प्रधान है, अतएव कुछ ग्रन्थोंमें तो केवल नायिका-भेद ही प्रस्तुत किया गया है, उदा०—कृपाराम : 'हिततरंगिणी', चिन्तामणि : 'कविकुलकल्पतरु', देव : 'रसविलास' आदि। वस्तुतः इन रीतिकालीन कवियों-ने श्रृंगार रसके आलम्बनमें नायिकाओंके विविध भेद-प्रभेद वर्णन करके उनके विविध पक्षोंका चित्रण ही किया है। यही कारण है कि यह सारा श्रृंगार रसका विस्तार इस रूपमें नायिका-भेदके नामसे प्रसिद्ध हुआ। हिन्दी रीति-साहित्यके सन्दर्भमें नायक-नायिका-भेद सम्बन्धी सम्पूर्ण काव्य नायिका-भेदके नामसे ही अभिहित है।

सर्वप्रथम तथा सर्वमान्य नायिकाओंका विभाजन स्वकीया, परकीया तथा सामान्यामें किया गया है, जो नायकके साथ उसके सामाजिक सम्बन्धपर आधारित है। संस्कृतमें इसके कई अन्य रूप भी पाये जाते हैं; भरतने कुलजा, वेश्या तथा कन्यका माना है और 'अग्निपुराण'में उपर्युक्त विभाजनमें पुनर्भूको जोड़ा गया है। वाग्भट तथा केशव मिश्रने अनूढ़ा, स्वकीया, परकीया तथा पणांगना माना है। 'नाट्यदर्पण'में कुलजा, दिव्या, क्षत्रिया तथा पण्यकामिनी कहा गया है तथा रूपगोस्वामीने केवल स्वकीया और परकीयाको माना है। संस्कृतमें विद्यानाथके अतिरिक्त तथा हिन्दीमें सभीने इस विभाजनको स्वीकार किया है। कुमारमणिने स्वकीया और पतिव्रतामें अन्तर माना है, क्योंकि पतिव्रता पतिपर क्रोध नहीं कर सकती, अतएव उसके खण्डिता जैसे भेद नहीं किये जा सकते। परकीयाकी परिभाषा केवल केशवने भिन्न प्रकारसे की है। उनके अनुसार परकीया परब्रह्मकी प्रेमिका होती है। यद्यपि बादके अधिकांश कवियोंने कृष्णको नायक माना है, पर उन्होंने परकीयाकी यह परिभाषा नहीं दी। हिन्दीमें कृपाराम, कुमारमणि, रसलीन तथा भानुके अतिरिक्त अन्य सभीने सामान्या अथवा गणिकाका बहुत संक्षेपमें उल्लेख किया है। केशवने एक बार इसका उल्लेख करके फिर चर्चा नहीं की, कुमारमणिके अनुसार यह केवल रसाभासका आलम्बन हो सकती है: दासने साधारणकी परिभाषा इससे भिन्न दी है।

संस्कृतमें स्वकीयाके भेद रुद्रटके अनुसार मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा (प्रौढ़ा) है, जिनका आधार प्रायः अवस्था (वय-क्रमानुसार) है। इस मतको बादमें आचार्योंने स्वीकार किया है। भोज तथा रूपगोस्वामी जैसे कुछ आचार्योंने इस विभाजनको परकीयाके साथ भी लगाया है। प्रथम हिन्दी आचार्य कृपारामने इस विभाजनको स्वकीयाके साथ सामान्याके लिए भी लगाया है। नन्ददास, दास तथा ब्रह्मदत्तने इसको तीनों रूपोंके साथ लगाया है और गंगाप्रसाद अग्निहोत्रीने इसको स्वतन्त्र विभाजनके रूपमें स्वीकार करके एक प्रकारसे इसी मतको माना है। कुमार-मणिने भी परकीयामें मध्या और प्रौढ़ाके भेद माने हैं। परन्तु अधिकांश आचार्योंने इस विभाजनको प्रमुखतः स्वकीयामें ही स्वीकार किया है और इनमें प्रमुख हैं—केशव, रहीम, चिन्तामणि, मतिराम, देव, पद्माकर और 'हरिऔध'।

सर्वप्रथम भानुदत्तने मुग्धाका विभाजन किया है। एक दृष्टिसे उन्होंने अज्ञातयौवना तथा ज्ञातयौवना और दूसरी दृष्टिसे नवोढ़ा तथा विश्रब्धनवोढ़ा माना है। संस्कृतमें रूपगोस्वामी तथा विश्वनाथने मुग्धाके भेद करके भी भानु-दत्तका विभाजन स्वीकार नहीं किया है, पर हिन्दीमें अधिकांशने उनका अनुसरण किया है और जो कुछ आचार्य इस मतके नहीं हैं, उन्होंने विश्वनाथ तथा रूप-गोस्वामीको भी नहीं माना है। मुग्धाके भेद करनेवालोंमें जब कि संस्कृतमें केवल तीन आचार्य हैं, हिन्दीमें भी दो-तीन ही होंगे, जिन्होंने इसका विभाजन नहीं किया है। इस विभाजनको हिन्दीमें तीन प्रकारसे किया गया है। प्रथम—एक ही विभाजनके अन्तर्गत उपभेदोंके रूपमें। कृपाराम, तोष, दौलतराम और कन्हैयालाल पोद्दारने यह विभाजन अपनाया है। कृपारामने नवोढ़ाके तीन भेद और माने हैं, ललिता, वयःसन्धि तथा उदितयौवना। तोष और ब्रह्मदत्तने मुग्धाके विभाजनमें विश्रब्धनवोढ़ाको स्वीकार नहीं किया है। दौलतरामने आरूढ़यौवना या अंकुरितयौवनाको रस-सूचीमें जोड़ा है। देवने अपने नवमुग्धा, नवलवधू, नवयौवना, नवअंगना तथा सलज्जारतिके विभाजनके साथ इसको भी स्वीकार किया है और भानुदत्तके भेदोंमें केवल वयःसन्धिको और जोड़ा है। द्वितीय—स्वतन्त्र विभाजनको भानुदत्तके अनुकरणपर स्वीकार करनेवाले आचार्योंमें नन्ददास, मतिराम, दास, पद्माकर तथा गुलाब-राय हैं। इनमें किसीने भी इस बातका उल्लेख नहीं किया है कि इन दोनों विभाजनोंमेंसे कोई किसी दूसरेके अन्तर्गत विभाजित हो सकता है। तृतीय—इस वर्गके लेखकोंने दोनों विभाजनोंको एक-दूसरेसे सम्बद्ध किया है—बेनी प्रवीन, प्रताप, भानु, 'हरिऔध' तथा सीतल। इन्होंने मुग्धाको अज्ञातयौवना तथा ज्ञातयौवनामें विभाजित किया है, फिर ज्ञातयौवनाको नवोढ़ा तथा विश्रब्धनवोढ़ामें।

कुछ कवियोंने अपने स्वतन्त्र विभाजन प्रस्तुत किये हैं, जो पूर्ण रूपसे किसीके द्वारा ग्रहण नहीं किये गये। केशव-ने इसके चार भेद नवलवधू, नवयौवना, नवलअनंगा तथा लज्जाप्राया किये हैं। चिन्तामणिके अनुसार छः भेद—वयःसन्धि, अविदितयौवना, अविदितकामा, विदितमनोभवा यौवना, नवोढ़ा, विश्रब्धनवोढ़ा माने हैं। कुमारमणिने नवमदना, नवयौवना, लज्जावती, भूषणरुचि, रतिवामा, वयःसन्धि तथा विश्रब्धनवोढ़ामें विभाजित किया है; देवके स्वतन्त्र विभाजनका उल्लेख किया जा चुका है। रसलीनने अपने विभाजनमें पिछले सभी भेद-उपभेदोंको स्वीकार किया है। उनके अनुसार पाँच भेद इस प्रकार हैं—अंकुरित-यौवना, शैशवयौवना, नवयौवना, नवलअनंगा, नवलवधू, पुनः नवयौवनाके अज्ञात तथा ज्ञातयौवना नामक दो भेद, नवलअनंगाके अविदितकामा तथा विदितकामा नामक दो भेद और नवलवधूके नवोढ़ा, विश्रब्धनवोढ़ा तथा लज्जासक्ता-रतिकोविदा नामक तीन भेद किये हैं। विहारी-लाल भट्टने अलग ढंग अपनाया है। उन्होंने पहले केशव-का वर्गीकरण दिया है, फिर नवलवधूके अज्ञात तथा ज्ञात-यौवना नामक भेद दिये हैं और अन्तमें नवोढ़ा तथा विश्र-ब्धनवोढ़ाको स्वतन्त्र रूपमें रखा है।

रुद्रटने मध्या और प्रगल्भाका विभाजन धीरा, मध्या और अधीराने, फिर ज्येष्ठा और कनिष्ठामे किया है। भानुदत्तने इनके विभाजन नहीं किये और हिन्दीके अधिकाश कवियोंने भी उनका अनुसरण करके मध्याका विभाजन नहीं किया है। परन्तु कृपाराम, तोप, केशव, चिन्तामणि, कुमारमणि, देव, रसलीन तथा नन्दराम आदिने विभाजन किया है। कृपारामने अतिविश्रब्धनवोढाका उल्लेख मध्याके साथ किया है। तोपने इसके साथ प्रगल्भवचनाको और एक भेद माना है। अन्योने विश्वनाथके मध्याके भेदोको स्वीकार किया है—विचित्रसुरता, प्ररूढस्मरा, प्ररूढयौवना, ईषत्प्रगल्भवचना और मध्यमव्रीडिता। केशवदासने इसके जो चार भेद किये है, वे विश्वनाथके आधारपर ही है, केवल शब्दोमे कुछ अन्तर है, जैसे दूसरेके लिए प्रादुर्भूत मनोभवा, तीसरेमे प्ररूढके स्थानपर आरूढ और चौथेमे ईषत् अधिक है। पाँचवाँ भेद केशवमे नहीं है, पर कुमारमणि तथा रसलीनका पाँचवाँ भेद लघुलज्जा इससे मिल जाता है। चिन्तामणि, देव, नन्ददासने प्रायः केशवके वर्गीकरणको क्रम तथा नामके किंचित् हेर-फेरके बाद स्वीकार कर लिया है। प्रगल्भाका विभाजन नन्ददास, रहीम, मतिराम तथा दासने नहीं किया है। कृपाराम, तोष, रसलीन, पद्माकर, बेनी प्रवीन, चन्द्रशेखर, प्रतापनारायण सिंह, भानु तथा 'हरिऔध'ने इसके रतिप्रिया और आनन्दसम्मोहिता, दो भेद किये है। स्वतन्त्र विभाजन करनेवालोमे केशव प्रमुख है, जिन्होने प्रौढाको समस्तरसकोविदा, विचित्रविभ्रमा, आक्रमित तथा लुब्धापति भेद माने है। चिन्तामणिने प्रौढयौवना, मदनमत्ता, रतिप्रीतिमती और सुरतिमोदपरवशा भेद किये है। इसमें अन्तिम दोनों कृपाराम आदिकके भेदके समान है। कुमारमणिके पाँच भेदोंमेंसे सकलतारुण्या, विविधभावा तथा लघुलज्जा, विश्वनाथके गाढतारुण्या, भावोन्नता और दरव्रीडाके समान है तथा अधिककामा और रतिमोहनी, केशवकी रतिप्रिया और विचित्रविभ्रमामे भिन्न नहीं है। देवने आक्रमितके स्थानपर आक्रान्त देकर केशवके विभाजनको ही प्रस्तुत कर दिया है। रसलीनने प्रौढ़ाको उद्भटयौवना, मदनमत्ता, लुब्धापति और रतिकोविदामें तथा नन्दरामने समस्तरसकोविदा, विचित्रविभ्रमा, आक्रामितप्रौढ़ा और लज्जाप्रायारतिमे विभाजित किया है। ये सभी भेद परिचित है, केवल रसलीनका प्रथम विश्वनाथके गाढतारुण्याका तथा नन्दरामका अन्तिम उनके दरव्रीडाका ही रूपान्तर है।

संस्कृतमे भोजको छोड़कर रुद्रटसे लेकर रूपगोस्वामीतक, सबने नायिकाके अपने अपराधी पतिके प्रति व्यवहारके आधारपर किये गये विभाजन धीरा, मध्या या धीराधीरा और अधीराको केवल मध्या तथा प्रगल्भाके साथ स्वीकार किया है। अधिकांश हिन्दी कवि भी इसी मतके है, फिर भी कुछ अपवाद है। कृपारामने इसे स्वतन्त्र रूपसे मानवतीका विभाजन माना है और मध्या तथा प्रौढ़ाके साथ परकीया और सामान्याको भी स्वीकार किया है। जसवन्त सिंहने भोजके अनुसरणमे इसे स्वतन्त्र विभाजन माना है। कुमारमणि, दास तथा ब्रह्मदत्तने इसे खण्डिताका विभाजन मानकर एक प्रकारसे स्वतन्त्र ही माना है। अन्य अधिकांशने प्रौढाधीराके अन्तर्गत आकृतिगुप्ताका विभेद भी स्वीकार किया है। रसलीनने इसे मध्यधीराधीरासे सम्बद्ध किया है और खण्डितासे इनको (धीरादिकको) भिन्न माना है। रुद्रट तथा संस्कृतके बादके आचार्योंने ज्येष्ठा तथा कनिष्ठाको भी मध्या और प्रौढाका विभाजन स्वीकार किया है, पर हिन्दीके कवियोंमें केवल मतिराम, देव, रसलीन तथा पोद्दार आदि कुछने ऐसा स्वीकार किया है। अधिकांशने इसे स्वकीयामात्रका विभाजन माना है। कृपारामने इनके साथ समाहिताका एक भेद और स्वीकार किया है। दासने इसको दक्षिण, शठ तथा धृष्टनायकोंके साथ अलग-अलग दिखलाया। नन्ददास, रहीम, केशव जैसे कुछ कवियोने इसका उल्लेख तक नहीं किया है।

स्वकीयाके अन्य भेदोंमे, देवने वयके आधारपर—देवी (७ वर्ष), देवगन्धर्वी (७से १४ वर्ष), गन्धर्वी (१४से २१ वर्ष), गन्धर्वमानुषी (२१से २८ वर्ष), मानुषी (२८से ३५ वर्ष)का विभाजन दिया है। केवल रसलीनने इस प्रकारका विभाजन किया है—गौरी (१० वर्षतक), लक्ष्मी (सवा १२से साढ़े २४ वर्ष) और सरस्वती (३५ वर्षतक)। एक दूसरे प्रकारका स्वकीयाका विभाजन रसलीन तथा दौलतरामने दुःखिताके अन्तर्गत किया है—मुग्धापतिदुःखिता, बालपतिदुःखिता, वृद्धपतिदुःखिता। दौलतरामने चौथा भेद नपुंसकपतिदुःखिता और जोडा है। अनभिज्ञ नायकके समान इन नायिकाओंको भी रसका आलम्बन नहीं माना जा सकता है। क्योंकि यहाँ रतिका अभाव है। दासने ऊढा-अनूढाके भेदको, स्वकीयाके साथ भी माना है, पर अन्योंके द्वारा स्वकीया सदा विवाहिता स्वीकार कर ली गयी है।

संस्कृतमें परकीयाका जिसने भी विभाजन किया है, उसने इसके ऊढ़ा तथा अनूढा भेदोंको भी माना है। परन्तु हिन्दीमें नन्ददास, सुन्दर, जसवन्त सिंह तथा ब्रह्मदत्त जैसे कुछ कवियोने परकीयाका विभाजन करके भी इस विभेदको स्वीकार नहीं किया। कृपारामने परोढाको पुनः परप्रिया और परविवाहितामें विभाजित किया है। अन्य कवियोंने परोढ़ा (ऊढा)को मात्र परविवाहिता माना है। तोपने परकीयाके दो विभाजन प्रस्तुत किये है, एकके अनुसार—दृष्टिज्येष्ठा, असाध्या तथा साध्या और दूसरेके अनुसार—उद्बुद्धा तथा उद्बोधिता। असाध्याको पाँच प्रकारसे विभाजित किया है—गुरुजनभीता, दूतीवर्जिता, धर्मसभीता, अतिकान्ता तथा खलधिष्ठिता और साध्याको चार प्रकारमे—वृद्धवधू, बालकवधू, रोगीवधू तथा ग्रामवधू। रसलीनने इनमेसे प्रथम विभाजनसे दृष्टिज्येष्ठाको छोड दिया है, असाध्याको उसके समस्त भेदो सहित दिया है और सुखसाध्या (साध्या)मेसे ग्रामवधूको छोड़कर उसके ये भेद और जोड़ दिये है—नपुंसकवधू, विधवावधू, गुनीवधू, गुनरिझावती, सेवकवधू तथा निरंकुसा। रसलीनका दूसरा विभाजन भी समान है, केवल नाममे किंचित् अन्तर है—उद्भूता तथा उद्बोधिता और उन्होंने उद्भूताके साथ स्वयंदूतीको संयुक्त किया है। बादके कुछ कवियोंने तोषका दूसरा विभाजन स्वीकार किया है। उदा०—प्रतापनारायण

सिंह और 'हरिऔध'। दासने कुछ नवीनता जोडनेका प्रयत्न किया है, उद्भूताकी दो स्थितियाँ अनुरागिनी तथा प्रेमासक्ता तथा उद्बोधिताकी असाध्या और दुःखसाध्या और मानी है।

भानुदत्तने परोढाको गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा, अनुशयाना तथा मुदितामे विभाजित किया है:—पुनः गुप्ता-विभाजन वृत्तसुरतगोपना, वर्त्तिष्यमाण सुरतगोपना तथा वृत्तवर्त्तिष्यमाण सुरतगोपनामे किया है: विदग्धाका वाग्विदग्धा और क्रियाविदग्धामे तथा अनुशयानाका प्रथम, द्वितीय और तृतीयमें किया है। बहुत कम शाब्दिक परिवर्तनोंके साथ यह विभाजन अधिकांश हिन्दीके लेखकोंके द्वारा स्वीकार किया गया है। उदा०–रहीम, सुन्दर, पद्माकर, चन्द्रशेखर, नन्दराम, प्रतापनारायण सिंह, भानु, 'हरिऔध', मीतल आदि। जसवन्त सिंह, चिन्तामणि, मतिराम और देवने गुप्ताके भेदोको छोडकर इसे पूर्णतः स्वीकार किया है। तोष, बेनी प्रवीन तथा गुलाबरायने लक्षिताके दो उपभेद और जोडे है, हेतुलक्षिता और सुरतिलक्षिता। कृपाराम, नन्ददास, कुमारमणि, रसलीन, भानु तथा ब्रह्मदत्तने इस स्वीकृत विभाजनसे बहुत भिन्न रूप स्वीकार किया है। कृपारामने स्वयंदूतीको सातवाँ भेद माना है, लक्षिताके अन्तर्गत तीन भेद लिये हैं, क्रिया, वचन तथा प्रत्यक्ष-लक्षिताएँ और गुप्ताके भेदमे वर्तमानसुरतगोपना एक चौथा भेद जोडा है। नन्ददासने परकीयाका सुरतिगोपना, वाग्विदग्धा तथा लक्षितामें, सरल विभाजन किया है। कुमारमणिने प्रथम निपुना, रतिगोपना तथा लक्षिता नामक प्रधान भेद दिये है, पुनः निपुना (विदग्धा) और रतिगोपना (गुप्ता)के क्रमशः दो तथा तीन सामान्य स्वीकृत भेद किये है। उन्होने निपुनाके साथ स्वयंदूतीका उल्लेख भी किया है। लक्षिताको प्रच्छन्न तथा प्रकाशमे विभाजित किया है। प्रकाशलक्षिताके तीन भेद मुदिता, अनुशयाना तथा साहसिकामे माना है। अनुशयानाके तीन प्रचलित भेद प्रस्तुत करनेके बाद प्रथम विघटितसंकेताको वर्तमान तथा भविष्यत्संकेताके रूपमे विकसित किया है। इस प्रकार कुमारमणिने कुलटाको छोडकर अन्य सभी भेद-उपभेदोमे भानुदत्तके वर्गीकरणको ग्रहण कर लिया है; कुलटा सम्भवतः रसाभासको उत्पन्न करनेके कारण गृहीत नही हो सकी। रसलीनने इस विभाजनको अत्यधिक बढाया है, यहाँतक कि कुछ भेद बिलकुल अपरिचित है। छः भेदोंके उल्लेखके बाद इन्होने सुरतिगोपनाके चार भेद कृपारामके आधारपर कहे हैं; वचनविदग्धाके साथ पुनः स्वयंदूतीका उल्लेख किया है तथा क्रियाविदग्धाके अन्तर्गत पतिवंचिता और दूतीवंचिता, दो नये भेद दिये है। लक्षिताके दो भेदोंमें सुरतिलक्षिता तो तोष आदिके द्वारा उल्लिखित हो चुकी है; दूसरी प्रकाशलक्षिता है। अनुशयानाको सामान्य तीन भेदोंमे विभाजित किया गया है, पर इसके तीसरे भेदको पुनः दो भेदोमे बाँटा गया है, जो अस्पष्ट है। रसलीनने एक भेद पयमनोरथाका भी दिया है, पर उसका सम्बन्ध स्पष्ट नही है।

दासने इस विभाजनमे कुलटाको छोड दिया है और गुप्ताको विदग्धाके भेदके रूपमे रखा है। विदग्धा, गुप्ता तथा अनुशयानाके भेद सामान्य है, पर लक्षिताको सुरतिलक्षिता, हेतुलक्षिता तथा धीरलक्षितामे विभाजित किया गया है और इस विभाजनको छोडकर दासका सारा विभाजन विदग्धाका ही विस्तार हो जाता है, क्योंकि उन्होने मुदिता तथा अनुशयानाके उदाहरण विदग्धाके साथ ही प्रस्तुत किये है। ब्रह्मदत्तने क्रियाविदग्धा, वाग्विदग्धा, स्वयंदूतीको परकीयाके स्वतन्त्र भेद माने है और केवल अनुशयानाके उपभेद किये हैं। इस प्रसंगमे यह ध्यान रखनेकी बात है कि भानुदत्तने केवल अपना विभाजन ऊढाको लेकर किया था, पर हिन्दीमे इस मतको केवल चिन्तामणि और देवने पूर्णतः स्वीकार किया है। अन्योंने या तो इनके सम्बन्धमे कुछ कहा ही नहीं, अथवा दोनोंमें स्वीकार किया है। रसलीनने एक नया भेद दिया है, जो स्वकीया तथा परकीयामे समान रूपसे लागू होता है, कामवती, प्रेम-अशक्ता और अनुरागिनी। तोषने इनके पहले ही अपने एक स्वतन्त्र विभाजनमे इन भेदोको स्वीकार किया है। दासने उद्बुद्धाकी प्रथम स्थितियोके रूपमे इसके अन्तिम दो भेदोको माना है और उनका भाव तोषके समान है।

सामान्यके सम्बन्धमे स्वकीयाके भेदोको स्वीकार करनेवालोमे अकेले कृपारामने ही इन भेद-उपभेदोके उदाहरण भी दिये है। इन्होने मुग्धा, मध्या और प्रौढा सामान्याका विचार किया है; मुग्धाके चारो भेदोके साथ सुरत और सुरतान्तका विवेचन तीनो नायिकाओका किया है। मुख्यतः सामान्याका विभाजन करनेवालोमे भोजने ऊढा, अनूढा, स्वयंवरा, स्वैरिणी तथा वेश्या माना है और वेश्याके तीन भेद पणिका, विलासिनी तथा रूपाजीवा स्वीकार किया है। शिंगभूपाल तथा विश्वनाथने इसके केवल दो भेद रक्ता और विरक्ता माना है। हिन्दीमे सम्भवतः किसीने भी इनका अनुसरण नही किया है। कुमारमणिने स्वतन्त्रा, जनन्याधीना तथा नियमिता भेद दिये हैं; रसलीनने इसमे प्रेमदुःखिताको और जोडा है तथा भानुने केवल पहले दो भेदोको स्वीकार किया है।

स्वकीया आदिकके विभाजनके बाद भानुदत्तने नायिकाका एक स्वतन्त्र विभाजन इस प्रकार किया है—अन्यसम्भोगदुःखिता, वक्रोक्तिगर्विता, मानवती। पुनः मानवतीके लघु, गुरु तथा मध्य मानवती और वक्रोक्तिगर्विताके प्रेम तथा सौन्दर्यगर्विता उपभेद किये है। नन्ददास, केशव, चिन्तामणि तथा कुछ अन्य कवियोंको छोडकर अधिकांश हिन्दी लेखकोने इस विभाजनको किसी-न-किसी रूपमें प्रस्तुत किया है। कुछ लेखकोंने इन भेदोमेसे कुछ छोड दिये है और उनमें रहीम, मतिराम, देव, पद्माकर, भानु तथा 'हरिऔध' प्रधान है। इन्होने मानवतीके तीन भेद दिये है। परन्तु इन लेखकोंमेसे प्रमुखने इस विभाजनको वियोग शृंगारके तीन या चार भेदोके साथ अलग प्रस्तुत किया है। मतिराम, देव तथा नन्दराम आदिने वक्रोक्तिगर्विताके दो उपभेदोंको स्वतन्त्र भेदोंके रूपमें लिया है। परन्तु इन उपभेदोंमें कृपाराम, कुमारमणि, रसलीन तथा दास आदिने गुनगर्विता और जोडा है। कृपाराम तथा रसलीनने इन तीनोंके पुनः दो भेद किये है, वक्रोक्ति तथा सरलोक्ति या सुधागर्विता। कुमारमणिने चौथी यौवनगर्विता भी

मानी हैं और दासने नायिकाके आठ अंगोंके साथ गर्विताएँ भी आठ प्रकारकी मानी हैं। तोषने भानुदत्तके तीनके विभाजनमें कामवती, अनुरागिनी तथा प्रेम-अशक्ताको जोड़कर संख्या छः कर दी है। भानुदत्त तथा अधिकांश हिन्दी लेखकोंने भी इसे सामान्य विभाजन माना है, जो किसी भी वर्गकी नायिकाओंमें लगाया जा सकता है। परन्तु कुछ हिन्दी कवियोंने ऐसा नहीं किया है। कृपाराम-के अनुसार अन्यसम्भोगदुःखिता केवल स्वकीया और सामान्यामें लग सकता है, परकीयामें नहीं। प्रतापनारायण सिंहके अनुसार ये समस्त भेद केवल प्रौढाके हो सकते हैं और इन्होंने प्रौढाके अन्तर्गत परकीया तथा सामान्या, दोनो-को लिया है। भानुने मुग्धाको छोड़कर सबमें इस भेदको स्वीकार किया है। 'हरिऔध'ने माना है कि इसका उचित प्रयोग मध्या और प्रौढाके सम्बन्धमें ही हो सकता है, पर परकीया तथा स्वकीयाके सम्बन्धमें भी लग सकता है। सीतलने इसे मध्या और प्रौढाका भेद ही माना है। यद्यपि हिन्दीके अधिकांश कवियोंने इस विभाजनको स्वतन्त्र माना है, पर बहुत समयतक वे इसके लिए कोई आधार नहीं प्रस्तुत कर सके। प्रतापनारायण, भानु, 'हरिऔध' तथा पोद्दार जैसे नये लेखकोंने इसे स्वभावपर आधारित माना है और सीतलने इसे दशानुसार माना है। इस विभाजनको उचित आधार देनेकी भावना पहले भी देखी जा सकती है। कुमारमणिने गर्विताको स्वाधीनपतिका तथा मानवती और अन्यसम्भोगदुःखिताको खण्डिताके अन्तर्गत रखा है। दासने कुमारमणिका अनुसरण किया है, केवल अन्यसम्भोग दुःखिताको उन्होंने विप्रलब्धासे संयुक्त किया है। बिहारी-लालने भी कुमारमणिका अनुसरण किया है, पर ब्रह्मदत्तने अवस्थानुसार नायिकाओंके विभाजनके अन्तर्गत इन तीनो भेदोंको रखा है।

भरत द्वारा अवस्थानुसार किये गये नायिकाओंके आठ भेदोंको इतना महत्त्व प्राप्त हुआ है कि इस विभाजनको किसी भी महत्त्वपूर्ण कवि या लेखकने नहीं छोड़ा है। भरतके विभाजनमें वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, स्वाधीन-पतिका, कलहान्तरिता, खण्डिता और विप्रलब्धा इन छः भेदोंको प्रायः लेखकोंने ऐसे ही स्वीकार कर लिया है, केवल प्रोषितभर्तृका तथा अभिसारिकाका विस्तार आदि किया है। प्रोषितभर्तृकाकी विभिन्न स्थितियोंके आधारपर बादमें या तो उसके उपभेद किये गये अथवा उनको स्वतन्त्र रूपमें भेदोंके साथ स्वीकार कर लिया गया है। प्रोषित-भर्तृकाके साथ इससे मिलते-जुलते दो रूप प्रवत्स्यत्पतिका तथा आगतपतिका और माने गये हैं। भानुदत्तने पहलेके लिए प्रोष्यत्पतिका नाम देकर नवें भेदके रूपमें स्वीकार किया है। इन दोनोंको स्वतन्त्र भेदके रूपमें बहुत अधिक लेखकोंने स्वीकार किया है। उदा०—कृपाराम, रहीम, तोष, मतिराम, पद्माकर, लछिराम, प्रताप, भानु, 'हरिऔध' तथा सीतल। नन्ददास, सुन्दर तथा जसवन्त सिंहने भानुदत्तके समान नवाँ भेद प्रवत्स्यत्पतिकाको ही बढाया है। बेनी प्रबीन और गुलाब रायने ग्यारहवाँ भेद आगमिष्यत्पतिकाको माना है। ब्रह्मदत्तने गर्विता आदिक भेदोंको साथ रखकर तेरहकी संख्या पूरी की है। केशव और चिन्तामणिने किंचित् नामभेदके साथ इन आठ भेदोंको स्वीकार किया है। कुमारमणि, देव, रसलीन, दास, चन्द्रशेखर, श्यामसुन्दर, बिहारीलालने अन्य भेदोंको उपभेदोंके रूपमें स्वीकार कर लिया है। कुमारमणिके अनुसार एष्यत्पतिका (आगत) वासकसज्जाके अन्तर्गत स्वीकार की गयी है और प्रोषितपतिकाको प्रवत्स्यत्पतिका, प्रवसतपतिका और प्रवसित-पतिकामें विभाजित किया है। देवने इसके चार भेद किये हैं, प्रवत्स्यत्पतिका, शुद्धप्रोषितपतिका, आगतपतिका तथा चौथेका नाम नहीं दिया है। रसलीनने पाँच भेद इसके अन्तर्गत दिये हैं:—गमिष्यत्, गच्छत्, आगमिष्यत्, अगच्छत् तथा आगतपतिका। इन्होंने आगतपतिकाके साथ संयोग-गर्विताका उल्लेख किया है। वस्तुतः अधिकांश लेखकों-ने आगतपतिकाके अन्तर्गत उसकी तीनों स्थितियाँ आग-मिष्यत्, आगच्छत् तथा आगत स्वीकार कर लिया है। दासने इसका विभाजन (प्रोषितभर्तृकाका) प्रवत्स्यत्प्रेयसी, प्रोषित, आगच्छत् तथा आगतमें किया है, इसमें अन्तिमका उल्लेख वासकसज्जाके अन्तर्गत भी हुआ है। चन्द्रशेखर, श्यामसुन्दरने विरहिणीका विभाजन भूता, भविष्या या भावी तथा वर्तमानमें किया है।

भानुदत्तने अभिसारिकाके अन्तर्गत ज्योत्स्ना, तमिस्रा और दिवसा अभिसारिकाके भेद माने हैं; समयसूचक इस भेदको हिन्दीके अधिकांश कवियोंने स्वीकार किया है। परन्तु पद्माकर, लछिराम, दौलतराम तथा भानु आदिने अभिसारिकाके साथ सामान्य रूपसे इनको सम्बद्ध किया है; पर मतिराम, रसलीन, बेनी प्रबीन, 'हरिऔध' और सीतलने इनको परकीया या अभिसारिकाका भेद माना है। कृपाराम, रहीम, दास और स्कन्दगिरिने केवल दो भेद दिये हैं और नन्ददास, जसवन्त सिंह, देव, श्यामसुन्दर दास तथा पोद्दारने इसके भेदोंका बिल्कुल उल्लेख नहीं किया है। अभिसारिकाके इन तीनो भेदोंके अतिरिक्त केशवने अनुभूतिके आधारपर उसके तीन भेद और दिये हैं:—प्रेमा, गर्वा तथा कामा। तोषने भानुदत्तके प्रथम दो भेदोंके साथ अभिसारिकाका उल्लेख और किया है। कुमारमणिने इसके साथ चौथा भेद व्याजाभिसारिका जोड़ा है। नन्दरामने रंग (वस्त्र)के आधारपर अरुणा, पीता तथा हरिताभिसारिका और गिनाये हैं।

जैसा कहा गया है, प्रथम छः भेदोंको अधिक विस्तार नहीं मिल सका, केवल कुमारमणिने उत्कण्ठिता, विप्रलब्धा और कलहान्तरिताके भेद दिये हैं। इनके अनुसार उत्कण्ठिता या तो क्रियाविलम्बिता सुरता होती है या अनुत्पन्नसम्भोगा। यह दूसरा भेद पुनः स्थितिभेदके अनुसार साक्षाद्दर्शना, गुणश्रवणदर्शना, चित्रदर्शना तथा स्वप्नदर्शनानुतापामें विभाजित किया गया है। विप्रलब्धाका पतिवंचिता तथा सखीवंचितामें और कलहान्तरिताका ईर्ष्या तथा प्रणयकलहान्तारितामें विभाजन किया गया है। जहाँतक इस विभाजनके अन्य विभाजनमें प्रयुक्त होनेकी बात है, अधिकांश लेखकोंने मुग्धा, प्रौढ़ा, मध्या, परकीया और सामान्यामें इनके उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। कुछने इन अवस्थाओंका उदाहरण देते समय स्वकीयाको केवल एक रूपमें माना है और कुछने केवल इनके सामान्य

उदाहरणभर दिये हैं। केशवने अपने शृंगारके दोनों—प्रच्छन्न तथा प्रकाश—भेदोंमे इन अवस्थाओंके उदाहरण प्रस्तुत किये है और केवल अभिसारिकाको स्वकीया, परकीया तथा सामान्यामे स्वीकार किया हैं। देवने अपने पहले ग्रन्थोंमे इनको स्वतन्त्र विभाजनके रूपमें माना हैं, पर 'भामिनीविलास'मे केवल मध्या स्वकीयाके अन्तर्गत माना हैं। दासने इनको दो भागोंमें बाँटा है, स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा तथा अभिसारिकाको संयोग-श्रृंगारसे सम्बद्ध किया हैं और शेषको वियोग-श्रृंगारमे। श्यामसुन्दर दासने हेमचन्द्र तथा शारदातनयका अनुसरण करते हुए माना हैं कि इनमे तीन—विरहोत्कण्ठिता, अभिसारिका तथा विप्रलब्धाका ही सम्बन्ध परकीयासे है। साथ ही गुलाब रायके साथ इन्होने अभिसारिकाके अन्तर्गत प्रेष्या और दासीका उल्लेख भी किया है।

नायिकाके उत्तमा, मध्यमा तथा अधमा नामक भेदोंको हिन्दीमे अधिकांश नायक-नायिका-भेदके लेखकोंने अपनाया है। नन्ददास, जसवन्त सिंह, कुमारमणि तथा श्यामसुन्दर दास ऐसे कुछ लेखकोंने अवश्य इस विभाजनको ग्रहण नहीं किया है। 'हरिऔध'ने उत्तमाके आठ प्रकार दिये हैं—पति, परिवार, जाति, देश, जन्मभूमि, धर्म-प्रेमिका तथा निजतानुरागिनी और लोकसेविका। मध्यामे व्यंग्यविदग्धा, मर्मपीड़िता दो भेद माने गये है, पर 'हरिऔध'के ये विभिन्न विभाजन श्रृंगारके आलम्बन-विभाव-रूप नायिकाके नहीं माने जा सकते। शरीर-मनोविज्ञानके आधारपर नायिकाके पद्मिनी, शंखिनी, हस्तिनी तथा चित्रिणी नामक भेद संस्कृतके काव्यशास्त्रके ग्रन्थोमे नहीं मिलते। हिन्दीमे केशवने इनका समावेश किया है, जिसका आधार संस्कृतके कामशास्त्रके ग्रन्थ हैं। हिन्दीमे भी यह अधिक प्रचलित नहीं हो सका; मतिराम, कुमारमणि, दास, पद्माकर जैसे कवियोंने इसे छोड़ दिया है। भानुदत्तका दिव्या, अदिव्या तथा दिव्यादिव्याका विभाजन हिन्दीके लेखकोंमे केवल रसलीन तथा भानु द्वारा स्वीकार किया गया हैं। देवने अपने 'रसविलास'मे नायिकाओंका विभाजन जातियों तथा पेशोंके अनुसार भी किया है और चौबीस नायिकाएँ देशके अनुसार बतायी है। वैद्यकमें उल्लिखित शरीरकी प्रकृतिके अनुसार भी देवने कफ, पित्त तथा वात-प्रकृतिकी नायिकाएँ बतायी हैं। भरतके शीलपर आधारित विभाजन के अनुकरणपर देवने नायिकाओंका विभाजन देवसत्त्व, मनुष्य, गन्धर्व, यक्ष, पिशाच, नाग, कपि तथा काक आदि सत्त्वोंमें किया है। —रा० गु०

नार्म—यह अंग्रेजी शब्द मूल लातीनी धातुसे आया है, जिसका अर्थ है आदर्श माप-दण्ड। इसीसे आगे 'नार्मल', 'सब-नार्मल' आदि शब्द बने। जो विज्ञान आदि सत्ताके 'सत्'को ही परखते है, वे भौतिक विज्ञान बने और जो शास्त्र-सत्ताकी भूतमात्रा और सम्भावनाओंको परखते है, वे 'नार्मेटिव' शास्त्र बने। अतः नार्म वह 'जो होना चाहिये', की दिशा बताये। नीतिशास्त्र आदि ऐसे ही आदर्शशास्त्र है। प्रश्न इतना ही है कि सौन्दर्यका कौन-सा मर्म है। साहित्य-कलामे ऐसा कोई सार्वजनीन माप-दण्ड, जो सर्वव्यापी और सर्वसम्मत हो, निश्चित करना कठिन है। —प्र० मा०

नारायणीय धर्म—दे० 'भागवतधर्म'।

नामूत—दे० 'सूफीमार्ग'।

निघंटु—[नि+घटि+उ=निश्चयेन घण्टयति पठति शब्दान् इति निघण्टुः] इस पदकी व्युत्पत्ति निरुक्तकारने पाणिनिके उणादि प्रकरणके शब्दोंकी भाँति की हैं। यह त्रिविध है। एक तो नि+गम्से 'निगन्तु' शब्द और फिर वर्ण-व्यापत्तिके द्वारा ग-के स्थानमे घ तथा त-के स्थानमे ट करके 'निघण्टु' शब्द सिद्ध करते है। इसके अनुसार वैदिक शब्दोंके कोषका 'निघण्टु' नाम पड़नेका यह कारण है कि इसमे उन शब्दोंका सग्रह है, जो मन्त्रार्थके निगमक या ज्ञापक है, अर्थात् जिनका अर्थ अत्यन्त गूढ़ है और जिनका ठीक-ठीक अर्थ जाने बिना मेधावियोंको भी मन्त्रार्थ अज्ञात् या अस्पष्ट ही रहेगा। दूसरी व्युत्पत्ति पाठार्थक 'हन्' धातुसे पूर्वमे सम् उपसर्ग लगाकर तथा उपसर्ग-व्यत्ययसे उसके स्थानमे नि उपसर्ग लाकर एवं पूर्वोक्त वर्ण-व्यापत्तिके द्वारा ह-के स्थानमे घ तथा त-के स्थानमे ट करके की है। इस व्युत्पत्तिके अनुसार गूढ़ वैदिक शब्दोंके इस कोषमे पठित होनेके कारण इसका नाम 'निघण्टु' है। इस व्युत्पत्ति में समके साथ आङ् उपसर्गके भी अर्थका अध्याहार निरुक्तकारने किया है, वह यह प्रदर्शित करनेके लिए कि जितने शब्द 'निघण्टु'मे पठित है, केवल उतने ही वेदार्थ-ज्ञानके लिए विशेष रूपसे ज्ञातव्य हैं। तीसरी व्युत्पत्ति 'हृ' धातुसे की है। शेष समस्त प्रक्रिया द्वितीय व्युत्पत्ति-की है। इसके अनुसार वैदिक शब्दोंका इस कोषमे समाहार होने, अर्थात् उनके इस कोषमे इकट्ठा कर दिये जानेके कारण इसका नाम 'निघण्टु' है।

इस वैदिक कोषमे पाँच अध्याय है। प्रथम तीन अध्यायोंमे एकार्थक शब्द (अर्थात् एक एक शब्दके अनेक पर्याय), चतुर्थ अध्यायमे अनेकार्थक या नानार्थक शब्द (अर्थात् एक-एक शब्दके अनेक अर्थ) तथा पंचममे देवता-वाचक शब्द विशेष रूपसे संगृहीत हैं। वर्तमान समयमें उपलब्ध निघण्टुपर ही यास्कका निरुक्त है।

आगे चलकर यह शब्द आयुर्वेदके शब्द-कोषके लिए भी प्रयुक्त हुआ। धीरे-धीरे यह शब्द शब्द-कोषमात्रका वाचक रह गया। हिन्दीमे यह इसी अर्थमे प्रयुक्त होता है। —आ० प्र० मि०

नित्यप्रिया—दे० 'गोपी'।

नित्यलीला—दे० 'लीला'।

निदर्शना—सादृश्यगर्भके गम्यौपम्याश्रय वर्गका प्राचीनोंसे स्वीकृत चला आनेवाला अर्थालंकार। इसका अर्थ है दृष्टान्तकरण अथवा उदाहरण-प्रदर्शन। उद्भटके अनुसार इसका लक्षण है—"अभवन् वस्तु सम्बन्धो भवन् वा यत्र कल्पयेत्। उपमानोपमेयत्वं कथ्यते सा निदर्शना" (का० सा० स०, ५ : १०), अर्थात् वस्तुमें सम्बन्ध न होते हुए भी सम्बन्धकी कल्पना कर लेना तथा उपमान और उपमेयत्व-का कथन करना निदर्शना है। मम्मटके लक्षणपर उद्भटका प्रभाव हैः—"अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः" और उन्होने वामनके लक्षण—"क्रियाके द्वारा ही अपना और अपने प्रयोजनके सम्बन्धका बोध करना" (का० सू० वृ०, ४ . ३ : २०)को इसका भेद स्वीकार किया हैं।

विश्वनाथने परिभाषाको अधिक विस्तार दिया है—"वस्तुओं-के सम्भव अथवा असम्भव भी सम्बन्धमें जहाँ बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव निहित हो" (सा० द०, १० : ७१-७२) और इसी भावको जयदेव तथा अप्पय दीक्षितने इस प्रकार रखा है—"वाक्यार्थयोः सदृशयोरैक्यारोपो निदर्शना" (चन्द्रालोक, ५ : ५८), अर्थात् जिसमें दो परस्पर भिन्न वाक्योंमें भाव-साम्यके कारण एकताका आरोप किया जाय।

हिन्दीके आचार्योंने मुख्यतः 'कुवलयानन्द'के तीन भेदोंको स्वीकार कर लिया है, परन्तु कई बार अन्य भेदों-को भी स्वीकार किया है। भेदोंके लक्षण अलग-अलग दिये गये है।

प्रथम—जहाँ वाक्य अथवा पदके अर्थके असम्भव सम्बन्ध के लिए उपमानकी परिकल्पना की जाय—"सदृश वाक्य जुग अर्थको, जहाँ एक आरोप" (ल० ल०, १४८)। भूषण, पद्माकर आदिकी प्रथम निदर्शना यही है, पर दासका लक्षण भिन्न शब्दावलीमें है—"सम अनेक वाक्यार्थको, एक कहै धरि टेक" (का० नि०, ८)। उदा०—"रावरे तेजको पुंज प्रचण्ड सो आतप सूरजमै रुचि साजै। जो नृप भाऊके हाथ कृपान सो पारथके कर बान बिराजै" (ल० ल०, १४९)। अथवा—"ससिमें लसत जो जोन्ह छबि, नरमे सुमति प्रकाश" (पद्मा०, ८६)। यहाँ असम्भव-सम्बन्धमे कल्पित उपमासे सम्बन्ध स्थापित किया गया है। जो, सो, तो, जे, ते आदि वाचक शब्दोंसे असमान वाक्यों-की एकता प्रकट की जाती है।

द्वितीय—जहाँ उपमेयका गुण उपमानमें और उपमान-का गुण उपमेयमें आरोपित हो—"बर्न्य धर्म जु अबर्न्यमें थपै जु बर्न्यहु माँहि" (पद्मा०, ८७)। उदा०—"तुव बचननकी मधुरता, रही सुधा महँ छाइ। चारु चमक चल मीनकी, नैननि गही बनाइ" (वही, ८८)। यहाँ प्रथममें उपमेयका गुण उपमानपर तथा दूसरेमें उपमानका गुण उपमेयपर आरोपित है।

तृतीय—अपने स्वरूप और अपने स्वरूपके कारणका सम्बन्ध अपनी सत्-असत् क्रिया द्वारा बोध कराना—"करत असत सत अर्थको एक क्रियासौ बोध" (ल० ल०, १५२)। दासने इसीको प्रथम निदर्शना माना है—"एक क्रिया ते देति जहँ, दूजी क्रिया लखाइ। सत असत हूँ ते कहत हैं···" (का० नि०, ८)। उदा०—"दै सु फूल फल दल जु द्रुम, यह उपदेसन ज्ञान। लहि सुख सम्पति कीजिये, आयेको सनमान" (पद्मा०, ९०)। यहाँ सत् क्रियासे सत्का बोध कराया गया है। इसी प्रकार—"दीप जोति सिर धुनि सुसुकि, पौनहि सों घर होइ। यह उप-देसत सबनकों, कुसको हितू न कोइ" (वही, ९१)। यहाँ असत् क्रियासे असत्का बोध होता है।

दृष्टान्तमें दो निरपेक्ष वाक्य रहते है, यद्यपि उसमे भी उपमेय और उपमान-वाक्योंका परस्पर बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव दिखाया जाता है तथा केवल उपमानके वाक्यार्थमें दृष्टान्त दिखाकर उपमेय वाक्यार्थका निश्चय कराया जाता है। निदर्शनामें दोनों वाक्य सापेक्ष रहते है, क्योंकि उपमेय वाक्यमें उपमान वाक्यके अर्थका आरोप किया जानेके कारण परस्पर सम्बन्ध रहता है। —र०

निद्रा–प्रचलित तैतीसमेंसे एक संचारी भाव। मनकी निवृत्तिको प्रायः निद्रा कहा जाता है (दशरूपक—'मनः-सम्मीलनम्', ४ : २३)। भरतने इसके विभावों एवं अनु-भावोंको निम्नलिखित प्रकारसे दिया है—दुर्बलता, परिश्रम मदिरा इत्यादिके पान, आलस्य, चिन्ता, अधिक आहार इत्यादि विभावोंसे निद्रा संचारी भाव होता है। मुँह भारी होने, अंगोंको सहलाने, आँखोंके विलोडनसे और जँभाई लेनेसे, उच्छ्वास, शिथिल गात्रों, आँखोंको बन्द करने इत्यादिसे इस भावकी अभिव्यक्ति होती है (नाट्य०, ७ : ७१ ग)। इस गद्यके साथ 'नाट्यशास्त्र'की आर्यामें, रातके जागरणसे भी निद्राका होना बताया है। विश्वनाथने इसी बातको स्वीकार किया है—"चेतःसम्मीलनं निद्रा श्रम-क्लममदादिजा। जृम्भाक्षिमीलनोच्छ्वासगात्रभंगादिकार-णम्" (सा० द०, ३ : २५७)। निद्राके प्रभावसे आँखें आधी बन्द होना एवं वार्तालापके समय धीरे-धीरे तथा सार्थक और निरर्थक शब्दोंका प्रयोग इस भावका भली भाँति प्रदर्शन करते है।

हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंने अनुसरण करके भी प्रायः स्पष्ट लक्षण नहीं दिया है—"चिन्ता आरस खेदतें, बसे तुचां चितु जाय। सुपन दरस अवयव चलन, एकउ नींद सुभाय" (भाव० संचारी०)। इसमे तथा अन्य कई आचार्योंमे भाव आ गया है, पर पद्माकर तथा भानु आदि-ने तो केवल "सपन कहावत सोइबो वहै सु निद्रा होइ"भर कहा है (जगद्वि०, ५३८)।

हिन्दीके आचार्योंने उदाहरणमें भी प्रायः सोती हुई नायिकाका वर्णन किया है, जब कि वस्तुतः इस संचारीका भाव वास्तविक निद्रासे न होकर अलसतासे सम्बद्ध है। देव इसके अन्तर्गत स्वप्नका उल्लेख करते है—"देव अबै लगि आँखिनते वह बाँकी चितौनि टरै नही टारे। सापनेमे चित चोरि लियो वह मोर री मोरपखौवनवारे" (भा०, सं०)। रामदहिन मिश्रने वियोगीहरि द्वारा वर्णित जय-चन्दके इस संचारीका उपयुक्त उदाहरण प्रस्तुत किया है—"चिन्तामग्न राजा घूमता है उपवनमें, होकर विदेह-सा बिसार आत्मचेतना, बन्द हुई आँखे हुआ शिथिल शरीर भी" (का० द०)।

इस संचारी भावका विशदतम लक्षण रामचन्द्र गुणचन्द्र-ने 'नाट्यदर्पण'में दिया है। उनके अनुसार (ना० द०, ३, १३८) निद्रा उस समय होती है, जब इन्द्रियाँ अपने विषयोंका ग्रहण नहीं कर पाती। इसीकी व्याख्या करते उन्होंने कहा है कि स्पर्शनादि इन्द्रियोंकी 'अव्यावृत्ति'का अर्थ है विषयग्रहणके व्यापारका विराम होना, क्योंकि मन तो निद्रावस्थामें भी व्यापारशील रहता है। यह उदासीन मनोभाव अवश्य है, पर मनकी विशेष स्थिति होनेसे शारीरिक अवस्था नहीं। —ज० कि० ब०

निबंध–इसका मौलिक अर्थ नि+बन्ध(बाँधना)+घञ् (संग्रह) रोकना (वाचस्पत्यम्) या [नि+बन्ध (बाँधना) +अच्] नीमका वृक्ष और उसके सेवनसे कोष्ठ-रोग रोध है (जटाधर)।

याज्ञवल्क्यस्मृतिमें निबन्ध (निबन्धो द्रव्यमेव) द्रव्यके लिए प्रयुक्त हुआ है। हेमचन्द्रने संग्रह-ग्रन्थ, मूत्ररोधरूप

रोग, बन्धनके अर्थमें इसका प्रयोग किया है। गीता (निबन्धायासुरी मता, १६ : ५)में भी यह बाँधनेकी क्रियाके अर्थमें आया है। निबन्धका प्रयोग लिखे हुए भोजपत्रोंको सँवारकर बाँधने या सीनेकी क्रियाके लिए भी होता था, किन्तु कालान्तरमें अर्थसंकोचके रूपमें केवल साहित्यिक कृतिके लिए इसका प्रयोग किया जाने लगा।

संस्कृतमें निबन्धका समानार्थी किन्तु, अधिक व्यापक शब्द प्रबन्ध है, जिसका मूल अर्थ [प्र+बन्ध (बाँधना)+अच्] सन्दर्भ या ग्रन्थ-रचना है। आधार(कथा-विषय)-पर कल्पनासे ग्रन्थ-रचना करना भी प्रबन्ध कहा जाता था। दूसरे शब्दोंमें, परम्परानुमोदनके साथ किसी विषय या कथाका गद्य या पद्यमें प्रस्तुतीकरण प्रबन्ध कहलाता था। धीरे-धीरे यह शब्द आख्यान या कथाके सम्यक तारतम्यपर आधारित केवल काव्यके लिए प्रयुक्त होने लगा और **प्रबन्ध-काव्य**के लिए रूढ़ हो गया। वाल्मीकि-रामायण **प्रबन्ध-काव्य** है। दण्डीका 'दशकुमारचरित' **प्रबन्ध-काव्यात्मक** है। किन्तु आज निबन्ध और प्रबन्ध, दोनों ही अपने मूल या रूढ अर्थोंमें प्रयुक्त नहीं होते हैं। प्रबन्धका प्रयोग आज उस गद्य-रचनाके लिए होता है, जिसमें लेखक किसी विषयका सांगोपांग विस्तारके साथ अपनी भाषाशैलीमें विवेचन करता है। इसे अंग्रेजीके 'ट्रीटाइज' और 'थीसिस'का समानार्थी कहा जा सकता है। हिन्दीमें निबन्धका प्रयोग गोस्वामी तुलसीदासने प्रबन्ध काव्यके लिए ही किया है (भाषानिबन्धमतिमंजुलमातनोति)। (दे० 'प्रबन्ध-काव्य')।

निबन्धके पर्यायके रूपमें प्रबन्धके अतिरिक्त **लेख, सन्दर्भ, रचना** और **प्रस्ताव** शब्द भी प्रचलित हैं। **लेख** मूल अर्थमें समस्त लिखी सामग्रीके लिए आता है, किन्तु वास्तवमें यह उस गद्यरचनाके लिए प्रयुक्त होने लगा है, जिसमें लेखक प्रमुखतया निर्वैयक्तिक ढंगसे किसी विषयपर शास्त्रीय ढंगसे प्रकाश डालता है। इसे अंग्रेजीका **आर्टीकल** कह सकते हैं। **सन्दर्भ**का अर्थ पिरोना, प्रसंग, सम्बन्ध-निर्वाह, एक साथ बाँधना या बुनना है, संकलन करना, व्यवस्थित करना, साहित्यिक रचना या वह ग्रन्थ है, जिसमें किसी ग्रन्थके दुरूह स्थलोंका अर्थ दिया गया हो। यह लेखसे कम व्यापक है। निबन्धके पर्यायके रूपमें यह वह गद्य रूप है, जिसमें किसी विषयके किन्हीं प्रसंगोंपर विचार प्रकट किये जाते हैं। **रचना**का मूल अर्थ कृतिके लिए होता है। **निबन्ध**के अर्थमें यह किसी विषय या वस्तुपर उसके स्वरूप, प्रकृति, गुण-दोष आदिकी दृष्टिसे लेखककी गद्यात्मक अभिव्यक्ति है। अंग्रेजीका **कम्पोजीशन** इसके समान अर्थ रखता है (दे० 'रचना')।

किन्तु आज निबन्ध अपने मूल और रूढ़ अर्थोंसे भिन्न अर्थमें प्रयुक्त होता है। वह अपने सभी समानान्तर पर्यायोंके मौलिक तथा परम्परानुमोदित अर्थोंसे भी भिन्न अस्तित्व रखता है। वास्तवमें यह आज लैटिनके 'एग्जीजियर'-(निश्चितनापूर्वक परीक्षण करना)से निकले फ्रेंचके 'ऐसाइ' तथा अंग्रेजीके 'एसे'का पर्याय हो गया है, जिनका शाब्दिक अर्थ प्रयत्न, प्रयोग या परीक्षण होता है, और प्रयोगकी दृष्टिने जो लघु अथवा समर्याद दीर्घ कलेवरकी उस अव्यवस्थित गद्यरचनाके लिए प्रयुक्त होता है जिसमें निबन्धकार आत्मीयता या अनात्मीयता, वैयक्तिकता या निर्वैयक्तिकताके साथ किसी एक विषय या उसके किन्हीं अंशों या प्रसंगों पर अपनी निजी भाषाशैलीमें भाव या विचार प्रकट करता है। अंग्रेजीकी तरह ही हिन्दीमें निबन्धका विकास सामयिक पत्र-पत्रिकाओंके माध्यमसे हुआ है। ऐसा नहीं है कि वह अंग्रेजी 'एसे'-रूपके अनुकरणमात्रमें विकसित हुआ हो। यही कारण है कि हिन्दीमें मौन्तेनकी परम्परामें अब्राहम काउली, स्विफ्ट, लैम्ब, हैजलिट, स्टील, गोल्डस्मिथ, ली हण्ट, स्टीवन्सन जैसे न तो व्यक्तिप्रधान निबन्धकार हैं और न बेकनकी परम्परामें बेनजानसन, सेल्डन, एडीसन, जानसन, जफरी, टी० क्विन्सी, मकाले, वाल्टर पेटर जैसे विषय-प्रधान निबन्धकार ही हैं। प्रायः एक ही लेखकके दोनों प्रकारके निबन्ध मिलते हैं। —वि० रा०

११वीं शताब्दीके बाद संस्कृतमें टीकाओं—सूत्र, वृत्ति, भाष्य, समीक्षाके संग्रहके लिए निबन्ध शब्दका प्रयोग होने लगा था। निबन्धके साथ इसी अर्थमें प्रायः **प्रबन्ध** शब्दका भी प्रयोग हुआ है, अन्तर कदाचित् यह है कि किसी एक विषयपर अनेक व्याख्याओंके संग्रहको निबन्ध तथा अनेक विषयोंपर अनेक मतोंके संग्रहको प्रबन्ध कहते हैं। परन्तु हिन्दीमें संग्रह-ग्रन्थको नहीं, एक विशिष्ट साहित्य-रूपको निबन्धकी संज्ञा दी गयी है। निश्चय ही यह आधुनिक कालका रूपविधान है और बहुत कुछ अंग्रेजी 'एसे'के अर्थमें रूढ़ हो चला है।

यों तो किसी भी साहित्यरूपकी सर्वसम्मत परिभाषा देना कठिन है, परन्तु निबन्धको परिभाषामें बाँधना कदाचित् काव्यको परिभाषित करनेसे भी कठिन है। इस दृष्टिसे निबन्ध अपने शाब्दिक अर्थके विपरीत बन्धनहीन है। अंग्रेजीमें 'एसे' भी, जिसका शाब्दिक अर्थ 'प्रयास' है, परिभाषाओंमें नहीं बाँधा जा सका है और अनेक लेखकोंने 'एसे' (निबन्ध) एसे-लेखक(निबन्धकार)की कृति है, यही कहकर सन्तोष किया है। कारण यह है कि इस 'प्रयास'के अन्तर्गत छोटी-बड़ी, सरल-गम्भीर, गद्य-पद्यमें लिखी हुई अनेक प्रकारकी रचनाएँ आ जाती हैं, जिनके समान लक्षणोंका निरूपण असम्भवप्राय है। 'एसे'की अर्थव्याप्ति अत्यन्त विस्तृत है, परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि यह कोई स्वतन्त्र साहित्यरूप ही नहीं है। अनेक ऐसे लेखक हैं, जो निबन्धकारके रूपमें ही विश्वविख्यात हैं और उनके निबन्ध साहित्यकी स्थायी सम्पत्ति हैं।

'एसे' या निबन्धकी परिभाषा देनेमें जानसनके इन शब्दोंको प्रायः दुहराया जाता है—"मुक्त मनकी मौज, अनियमित, अपक्व-सी रचना, न कि नियमबद्ध और व्यवस्थित कृति" इसीके आधारपर कहा गया है कि निबन्धमें कलात्मक परिष्कारका अभाव रहता है। उसमें लेखक स्वच्छन्दतापूर्वक अपने मनकी बात कहता जान पड़ता है, जिसमें उसे मनमानी उछल-कूद करनेकी पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है, वह किसी विधि, पद्धति, विषय या विचारका बन्धन नहीं मानता। 'एसे'की इन विशेषताओंके निरूपणमें फ्रान्सीसी लेखक माइकेल दि मौन्तेन (सोलहवीं शती) तथा अंग्रेजी 'एसे'के जनक अब्राहम काउली(सत्रहवीं

शती), अठारहवीं शतीके और प्रसिद्ध अंग्रेजी निबन्धकार रिचार्ड स्टील और जोजेफ एडीसनकी कृतियोंको ही विशेषतया ध्यानमें रखा गया है। निबन्धके लक्षणोंमें स्वच्छन्दता, सरलता और आडम्बरहीनता तथा घनिष्ठता और आत्मीयताके साथ लेखकके वैयक्तिक आत्मनिष्ठ दृष्टिकोणका भी उल्लेख किया जाता है। परन्तु ये लक्षण विभिन्न लेखकोंकी कृतियोंमें कितने विविध रूपोंमें मिलते हैं, इसे स्मरण रखना आवश्यक है। निबन्धकारकी स्वच्छन्दता उच्छृंखलता नहीं है। उसकी अनियमिततामें भी एक नियम है और उसकी अव्यवस्थामें भी एक व्यवस्था। जान पडता है कि वह कलात्मक प्रयास नहीं करता, परन्तु वास्तवमें ऐसा भ्रम पैदा करनेके लिए उसे स्वतः अपनी मौलिक पद्धति खोजनी पड़ती है। अतः निबन्ध एक ऐसी कलाकृति बन जाता है, जिसके नियम लेखक द्वारा ही आविष्कृत होते हैं। इसी प्रकार सहज, सरल, आडम्बरहीन आत्माभिव्यक्तिके लिए एक परिपक्व और विचारशील गम्भीर व्यक्तित्वकी अपेक्षा है, यद्यपि उसकी कृतिमें प्रायः रचनाकी परिपक्वताका अभाव-सा दिखाई देता है। परन्तु पाठकके साथ लेखककी निकटता और आत्मीयता वास्तविक होती है। इसके अभावमें सफल कलात्मक निबन्ध-रचना सम्भव नहीं है। लेखक बिना किसी संकोचके अपने पाठकोंको अपने जीवन-अनुभव सुनाता है और उन्हें आत्मीयताके साथ उनमें भाग लेनेके लिए आमन्त्रित करता है। उसकी यह घनिष्ठता जितनी सच्ची और सघन होगी, उसका निबन्ध पाठकोंपर उतना ही सीधा और तीव्र असर करेगा। इसी आत्मीयताके फलस्वरूप निबन्ध-लेखक पाठकोंको अपने पाण्डित्यसे अभिभूत नहीं करना चाहता और अधिकाधिक ऋजु और उदार रूपमें प्रकट होता है। निबन्धकी वैयक्तिकता या आत्मनिष्ठता भी इसी आत्मीय दृष्टिकोणका परिणाम कही जा सकती है। स्वभावतः इसके भी अनेक रूप और प्रकार हो सकते हैं। अनेक ऐसे निबन्ध-लेखक हैं, जिनकी रचनाएँ निर्वैयक्तिक कही गयी हैं और वे विषयवस्तुपर तटस्थरूपमें विचार प्रकट करते दिखाई देते हैं। परन्तु वास्तवमें निबन्ध-लेखककी आत्मनिष्ठ वैयक्तिकता व्यक्ति-सापेक्ष्य है। उसकी मात्रामें न्यूनता हो सकती है, उसका सर्वथा अभाव हो, ऐसा सम्भव नहीं है। निबन्ध-लेखककी विचार-प्रगल्भता, अनुभवशीलता और प्रौढ़ताका परिचय देती है, परन्तु वह एक विशेष मनोदशा (मूड)में लिखा जाता है। इसलिए उसमें परिपूर्णता स्वभावतः नहीं होती। परन्तु ऐसा नहीं कि वह लेखकके किसी विषय-सम्बन्धी विचारोंका संक्षेप या सार होता है, प्रत्युत सीमित दृष्टिकोणसे किसी विशेष मनोदशाके अन्तर्गत लेखक उसमें अपने विचार प्रकट करता है। परिणामस्वरूप निबन्धका आकार साधारणतया अधिक लम्बा नहीं हो सकता।

निबन्धके ये लक्षण केवल उस प्रकारकी कृतियोंको ध्यानमें रखकर दिये गये हैं, जिनका आदर्श मौन्तेन और अंग्रेजीके पूर्वोल्लिखित लेखक हैं। ऐसे निबन्धोंके विषय भी अधिकसे-अधिक गम्भीर और गहन तथा अत्यन्त क्षुद्र और तुच्छ भी हो सकते हैं। परन्तु विषय कोई हो, एवरेस्टकी चोटी या साँपकी बाँबी अथवा उद्जन बम-विस्फोटका मानवताके लिए संकट या खटमलों और मच्छरोंके कारण रातका जागरण। पाठककी रुचि तो लेखककी प्रतिक्रिया और उस प्रतिक्रियाके प्रकाशन, उसकी वचन-भंगिमा, उसकी सम्पूर्ण अभिव्यक्तिकी मार्मिकता—संक्षेपमें उसके व्यक्तित्वके प्रकाशनमें, होती है। प्रायः विषय पीछे छूट जाता है, परन्तु पाठककी रुचिको लेखक मन्त्र-द्रष्टाकी तरह बाँधे रहता है और एक विलक्षण प्रभाव छोडकर अपनी बात समाप्त करता है।

परन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है, निबन्धका एक ही रूप नहीं है। यों तो उपर्युक्त लक्षणोंके अन्तर्गत भी अनेकानेक रूपके निबन्ध हो सकते हैं, परन्तु इन लक्षणोंका न्यूनाधिक अतिक्रमण करनेवाली रचनाएँ भी उत्कृष्ट कोटिके निबन्ध कही जाती हैं। यदि निबन्धोंके इस आधारपर भेद किये जायँ तो उन्हें प्रधान रूपसे तीन वर्गोंमें रखा जा सकता है—१. कथात्मक (आख्यानात्मक—नैरेटिव), २. वर्णनात्मक (डिस्क्रिप्टिव) और ३. चिन्तनात्मक (रिफ्लेक्टिव)। कथात्मक निबन्धमें कोरे काल्पनिक इतिवृत्त, पौराणिक आख्यान, आत्मचरितात्मक वृत्तान्त अथवा ऐतिहासिक, प्रतीकात्मक, काल्पनिक आदि अनेक प्रकारकी कहानियोंका उपयोग किया जा सकता है। वर्णनात्मक निबन्धमें प्राकृतिक दृश्य अथवा मानव-जीवन सम्बन्धी किसी भी घटनाका वर्णन हो सकता है। चिन्तनप्रधान निबन्धोंके विषयोंके लिए मानव-जीवनके अनन्त कार्यों और व्यापारोंकी राशि खुली पड़ी है, उनका संकेत करना भी व्यर्थ है। परन्तु चिन्तन-प्रधान निबन्धोंमें लेखक, अपनी प्रवृत्ति, स्वभाव या परिस्थितिके अनुसार, भावनाको मुख्य आधार बना सकता है या विचारको अथवा भावना और विचारका सहज समन्वय करके पाठकके हृदयको द्रवीभूत करते हुए उसकी बुद्धिको प्रेरित कर सकता है।

आधुनिक युगमें जो गद्यका युग कहा जाता है, निबन्धका महत्त्व अत्यधिक हो गया है, क्योंकि इसके माध्यमसे गद्यकी शैलियोंके निखार और विकासकी अनन्त सम्भावनाएँ हैं। 'निबन्ध ही गद्यकी कसौटी है', यह कहना अत्युक्ति न होगी, क्योंकि निबन्ध-लेखक एक ऐसे पथका अनुसरण करता है, जो किसीका जाना-समझा नहीं है। उसे अपनी भाषाकी शक्तिसे ही प्रमाणित करना पडता है कि यह अनजाना पथ उसके लिए सर्वथा परिचित और अपना है।

अन्तमें इतना कह देना और आवश्यक है कि इस साहित्यिकरूपके नामकी ओटमें ऐसी अनेकानेक रचनाएँ चलती हैं, जिनमें साहित्यिक कृतित्व बिल्कुल नहीं है, जो रचनात्मक प्रवृत्तिसे रहित हैं, भले ही वे विषय-प्रतिपादनकी दृष्टिसे मूल्यवान् हों। ऐसे लेखोंके लिए **लेख** या यदि वे अधिक गुरु-गम्भीर हों तो **प्रबन्ध**की संज्ञा अधिक उपयुक्त है। —व्र० व०

साहित्यरूपकी दृष्टिसे हिन्दीमें निबन्धका जन्म और विकास आधुनिक युगकी देन है। राष्ट्रीय जागरणकी स्फूर्ति, उत्साह, उमंग, देशप्रेम, जनवाद, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, अन्तरराष्ट्रीयता, वैज्ञानिक कलोंका प्रयोग, आवश्यकताओंकी वृद्धि, गद्यका प्रचलन, मुद्रणकलाका प्रचार, समाचार-पत्रोंका

प्रकाशन और उनके माध्यमसे लेखक और पाठकमें आत्मीय-सम्बन्धकी स्थापना, अंग्रेजी साहित्यका सम्पर्क आदि अनेक कारणोंसे साहित्यके अनेक रूपोंके साथ निबन्ध-रूपका भी आविर्भाव हुआ। इसके प्रारम्भिक प्रचार और विकासमें प्रमुख प्रोत्साहन और साहाय्य 'कविवचनसुधा', 'हिन्दी प्रदीप', 'ब्राह्मण', 'आनन्दकादम्बिनी', 'हिन्दुस्थान' आदि प्रमुख पत्रोंसे मिला। इनके पृष्ठोंमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी, बालमुकुन्द गुप्त, जगमोहन सिंह, अम्बिकादत्त व्यास, श्रीनिवास दास, केशवराम भट्ट तथा राधाचरण गोस्वामी जैसे निबन्धकारोंकी प्रतिभाएँ प्रकाशमें आयी। संयुक्त रूपमें इन सभीके निबन्धोंकी मूल प्रेरणा मनोविनोद और समकालीन समाजके नैतिक और राजनीतिक जीवनके स्तरको उच्च बनानेकी भावना है। अतएव इनके निबन्धोंमें जीवन, चेतना, समाजसुधार, राष्ट्रप्रेम, देशभक्ति, अतीत-गौरवका प्रेम, विदेशी शासनके प्रति मधुर आक्रोश, हास्य, विनोद और व्यंग्यपूर्ण शैलीमें सजीव चित्रण प्राप्त होता है। व्यक्तित्वका सहज समावेश होनेके कारण इस प्रारम्भिक उत्थानमें निबन्धोंकी प्रमुख विशेषता आत्मनिष्ठता है। वे गम्भीर और विवेचनात्मक न होकर हलके, रससिक्त, चुटकी और चिकोटीमें भरे पड़े हैं। प्रायः उनकी शैली आगमन या निष्कर्ष निकालकर शिक्षापूर्ण निर्देश और उपदेश देनेकी है। यद्यपि भाषा मुहावरों, लोकोक्तियों, तत्सम, तद्भव और अरबी-फारसी-उर्दूके शब्दोंसे भरी है, किन्तु वह शिथिल है और व्याकरणकी त्रुटियोंसे निर्दोष नहीं है।

इतिहासकी दृष्टिसे बालकृष्ण भट्ट हिन्दी निबन्धके जनक हैं। उनकी, प्रतापनारायण मिश्र तथा बालमुकुन्द गुप्त और अम्बिकादत्त व्यासकी शैली इस युगके निबन्धोंका पूर्ण प्रतिनिधित्व करती है। बालकृष्ण भट्टने 'चारुचरित्र', 'साहित्य जनसमूहके हृदयका विकास है', 'चरित्रपालन', 'प्रतिभा', 'आत्मनिर्भरता' जैसे विचारात्मक; 'ऑख', 'मुग्ध माधुरी', 'पुरुष अहेरीकी स्त्रियाँ अहेर हैं', 'प्रेमके बागका सैलानी', 'हमारे मनकी मधुपवृत्ति' इत्यादि भावात्मक; 'संसार महानाट्यशाला', 'चन्द्रोदय', 'पौगण्ड या कैशोर', 'शंकराचार्य' और 'नानक' जैसे वर्णनात्मक; 'ऑख', 'नाक', 'कान', 'बातचीत' जैसे साधारण विषयोंपर विविध निबन्ध लिखे हैं, जिनमें उनकी रुचि-अरुचि, स्वभाव और उनके जनजीवनको देखनेके दृष्टिकोणका, हास्य एवं व्यंग्यकी उद्धरण और उदाहरणपूर्ण चुटीली शैलीमें, समावेश मिलता है। प्रतापनारायण मिश्रने जहाँ एक ओर 'भौं', 'बुढापा', 'होली', 'धोखा', 'मरेको मारे शाह मदार' जैसे विनोद और सूझपूर्ण निबन्ध लिखे हैं, वहाँ दूसरी ओर 'शिवमूर्ति', 'काल', 'स्वार्थ' जैसे गम्भीर विषयोंपर भी लेखनी चलायी है। बालमुकुन्द गुप्तके 'शिवशम्भुका चिट्ठा'के आठों चिट्ठे बड़े व्यंग्य, मीठी हँसीसे पूर्ण शैलीमें देशभक्तिकी भावनासे ओतप्रोत हैं। अम्बिकादत्त व्यासने 'धैर्य', 'क्षमा' जैसे मनोवैज्ञानिक और 'ग्रामवास', 'नगरवास' जैसे वर्णनात्मक निबन्ध लिखे हैं।

हिन्दी निबन्धका द्वितीय उत्थान 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' तथा 'सरस्वती'के प्रकाशनसे प्रारम्भ होता है। महावीरप्रसाद द्विवेदीने 'सरस्वती'में अनेक प्रकारके उपयोगी, ज्ञान-विषयक, ऐतिहासिक, पुरातत्त्व-समीक्षा सम्बन्धी निबन्ध और लेख लिखे। उन्होंने गद्यकी अनेक शैलियोंका प्रवर्तन तथा भाषाका संस्कार किया। अंग्रेजीके 'बेकन'के निबन्धोंका अनुवाद भी 'बेकन विचार-रत्नावली'के नामसे प्रस्तुत किया, जिससे हिन्दीके अन्य अनेक लेखकोंको निबन्ध लिखनेकी प्रेरणा मिली और इस क्षेत्रमें माधवप्रसाद मिश्र, गोविन्दनारायण मिश्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, गोपालराम गहमरी, अध्यापक पूर्ण सिंह, गणेशशंकर विद्यार्थी, सियारामशरण गुप्त, गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, यशोदानन्दन अखौरी, चतुर्भुज औदीच्य, केशवप्रसाद सिंह, पार्वतीनन्दन, वेंकटेशनारायण तिवारी जैसे अनेक निबन्धकार सम्मुख आये। इस युगके निबन्ध प्रमुखतया साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक समाचारपत्रोंके लेखों, प्रचारप्रपत्रों (पैम्फलेट), पुस्तकोंकी भूमिकाओं और पुस्तकोंके रूपमें प्रस्तुत हुए। वास्तवमें यह युग बढ़ती हुई राष्ट्रीय जागति, विश्वप्रेम, सामाजिक एकता, भारत और पश्चिमके सम्पर्क, अतीत-गौरव, सांस्कृतिक पुनरुत्थान तथा भाषाके परिष्कारका युग है। अतः बीसवीं शतीके इस चतुर्थांशमें निबन्धोंमें विषयोंकी विविधता, विचारोंकी गम्भीरता, भाषाकी सशक्त स्वच्छता अधिक मिलती है। जीवनको सांगोपाग और गहराईसे देखनेके कारण विनोद और हास्यकी मात्रा कम होती गयी है और व्यंग्य भावनाके स्पर्शसे तरल हो गया है। रूपकी दृष्टिसे इस कालमें निबन्धने गद्य-गीत और चरितात्मक कहानीके रूपोंको भी अपनेमें समेटकर विकसित किया है। रायकृष्ण दासकी 'साधना', वियोगीहरिकी 'तरंगिणी', लक्ष्मण गोविन्द आठलेकी 'वर्षा विजय' तथा गणेशशंकर विद्यार्थीका 'प्रताप चरित' आदि इसके उदाहरण हैं।

महावीरप्रसाद द्विवेदीके कार्यको रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दरदास, गुलाब राय आदिकी निबन्ध-प्रतिभाओंने और अधिक बढ़ाया। शुक्लजी गम्भीर विचारक और विनोदी स्वभावके व्यक्ति थे। अतः उन्होंने प्रायः विचारपूर्ण विषयोंको ही निबन्धका विषय बनाया है। उनके निबन्धोंमें सूत्र या निगमन-शैलीका प्रयोग हुआ है। वे प्रारम्भमें ही किसी सिद्धान्तको उपस्थित कर देते हैं और अन्ततक उसकी विवेचनामें लीन रहते हैं। श्यामसुन्दर दास तथा गुलाब राय आगमन-शैलीके निबन्धकार हैं। तथ्योंकी व्याख्याके साथ साराश निकालते चलते हैं और अन्तमें उद्दिष्ट सत्यका उद्घाटन करते हैं। इन निबन्धकारोंने प्रायः तत्सम, देशी, तद्भव शब्दोंसे पूर्ण भाषा लिखी है, किन्तु भावप्रकाशनकी सुगमताके लिए विदेशी—अंग्रेजी, अरबी, फारसीके शब्दोंको भी सहजभावसे अपना लिया है।

बीसवीं शतीके इस उत्थानमें विभिन्न विषयोंपर निबन्ध लिखे गये हैं, जैसे १. सांस्कृतिक—माधवप्रसाद मिश्रके 'होली', 'श्रीपंचमी', 'रामलीला', 'व्यासपूजा', 'अयोध्या', 'द्वारका', 'मथुरा' आदि और चन्द्रधर शर्मा गुलेरीका 'संगीत'। २. मनोवैज्ञानिक—रामचन्द्र शुक्लके 'क्रोध', 'क्षमा', 'ग्लानि', 'करुणा' आदि। ३. समीक्षात्मक—महावीरप्रसाद द्विवेदीके 'कवि और कविता', 'साहित्यकी महत्ता' आदि; रामचन्द्र शुक्लके 'साधारणीकरण और

व्यक्तिवैचित्र्यवाद', 'कविता क्या है' आदि, गुलाब रायके 'सर्वोत्तम काव्य', 'हास्यरस' आदि, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदीके 'अनुप्रास अन्वेषण', 'हमारी शिक्षा किस भाषामें हो' आदि, सुमित्रानन्दन पन्तके 'पल्लव'का 'प्रवेश' आदि, 'निराला'के 'परिमल'की 'प्रस्तावना' आदि। ४. विचारप्रधान-माधव सप्रेका 'जीवन सग्राममे विजय पानेके उपाय', मिश्रबन्धुका 'आत्मशिक्षा', रामचन्द्र शुक्लका 'आदर्श जीवन', पूर्ण सिहका 'पवित्रता', चन्द्रधर शर्मा गुलेरीका 'कछुआधर्म' आदि। ५ भावप्रधान—चतुर्भुज औदीच्यका 'कवित्व', चन्द्रधर शर्मा गुलेरीका 'मारेसि मोहि कुठॉव', पूर्ण सिहके 'सच्ची वीरता', 'मजदूरी और प्रेम', मातादीन शुक्लका 'आशा', चतुरसेन शास्त्रीका 'कहॉ जाते हो', रायकृष्ण दासकी 'साधन'के गद्यगीत, लक्ष्मण गोविन्द आठलेका 'वर्षा-विलास', वियोगीहरिका 'तरंगिणी'के गद्यगीत, पद्मसिहका 'गणपति शर्माकी मृत्युपर'। ६. वर्णनप्रधान—मिश्रबन्धुका 'रूस-जापानका युद्ध', जी० पी० श्रीवास्तवका 'चुम्बन'में मेलेका वर्णन, महावीरप्रसाद द्विवेदीके 'एक योगीकी साप्ताहिक समाधि' और 'अद्‌भुत इन्द्रजाल', जगमोहन सिहका 'श्यामास्वप्न', कृष्णबलदेव शर्माका 'बुन्देलखण्ड पर्यटन' ७. आत्मचरितात्मक—यशोदानन्दन अखौरीका 'इत्यादिकी। आत्मकहानी', महेन्द्रलाल गर्गका, 'पेटकी आत्मकहानी', पार्वतीनन्दनका 'तुम हमारे कौन हो'। ८. स्वप्नकथात्मक—केशवप्रसाद सिंहका 'आपत्तियोका पहाड़—एक स्वप्न', कमलाप्रसाद 'क्या था', लल्लीप्रसाद पाण्डेयका 'कविता-दरबार'।

बीसवी शतीके द्वितीय चतुर्थांशमें निबन्धने अनेक साहित्यरूपोंको अपनेमें आत्मसात् करके विकास किया है। अतः इस कालके निबन्धोंमें जीवनकी वास्तविकता, कहानीकी संवेदना और जिज्ञासा, नाटककी नाटकीयता, उपन्यासकी चारु कल्पना, गद्यकाव्यकी भवातिशयता, महाकाव्यकी गरिमा, विचारोकी उत्कृष्टता—सभी कुछ एक साथ प्राप्त होती है। इस कालके निबन्ध प्रायः समाचारपत्रोके लेख, गद्यगीत (रायकृष्ण दास—छायापथ), पत्र (रामनाथ 'सुमन'—भाईके पत्र), भाषण (राहुल—साहित्य निबन्धावलि, रामचन्द्र शुक्ल—काव्यमें अभिव्यंजनावाद), संस्मरण (महादेवी—स्मृतिकी रेखाएँ), प्रचारप्रपत्रो (पैम्फलेट), पुस्तकोंकी भूमिकाओ (रघुवीर सिंहकी 'शेष स्मृतियॉ'की भूमिका) और पुस्तकों-(सदगुरुशरण अवस्थी—भ्रमित पथिक)के रूपमे प्राप्त होते है। इनकी रचना मनस्तुष्टि, सामाजिक सुधार, व्यक्तिके चारित्रिक उत्थान, प्राचीन साहित्य और इतिहासकी खोज, अध्ययन और पाण्डित्य-प्रदर्शन, मनके रहस्योद्घाटन, हास्य, व्यंग, विनोद तथा शिक्षा एवं उपदेश देनेकी प्रेरणाओंसे हुई है। इस कालके निबन्ध अधिकाधिक गम्भीर, साहित्यिक, प्रौढ़ विवेचनापूर्ण, शास्त्रीय और तर्कसंकुल हो गये है। इनमें भारतेन्दुयुगीन निबन्धोंकी-सी न तो वैयक्तिकता है और न हृदयको खिलानेवाली भावनाकी तरलता है। सम्भवतः इसका कारण जीवनको अधिक गम्भीरतापूर्वक देखनेकी प्रवृत्ति है। इस उत्थानके प्रमुख निबन्धकार ये हैं—'प्रसाद', पन्त, 'निराला', महादेवी वर्मा, माखनलाल चतुर्वेदी, धीरेन्द्र वर्मा, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, श्यामसुन्दर दास, रामचन्द्र शुक्ल, जैनेन्द्र, नगेन्द्र, सत्येन्द्र, गुलाब राय, इलाचन्द्र जोशी, रघुवीर सिंह, रायकृष्ण दास, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, सियारामशरण गुप्त, राहुल, मोहनलाल महतो, रामकुमार वर्मा, 'हरिऔध', रामनाथ 'सुमन', सम्पूर्णानन्द, भगवान् दास, उमेशचन्द्र मिश्र, वियोगीहरि, प्रभाकर माचवे, सद्‌गुरुशरण अवस्थी, पद्म सिह, पूर्ण सिह, हरिभाऊ उपाध्याय, किशोरीलाल मशरुवाला, काका कालेलकर, रामदास गौड़ आदि। इनमे हजारीप्रसाद द्विवेदी और महादेवी वर्माके निबन्धोंमे व्यक्तित्व और आत्मीयताकी झलक अधिक है। महादेवी निगमन एवं द्विवेदी आगमन चित्रशैलीके निबन्धकार है। उनके 'अशोकके फूल', 'वसन्त आ गया', 'श्रृंखलाकी कड़ियॉ' इसके अच्छे उदाहरण है।

इसके अतिरिक्त स्वतन्त्रता-प्राप्तिके पश्चात् निबन्ध पुनः व्यक्तिप्रधानताकी ओर बढ़ा है और वह विचारोके प्रकट करनेका प्रमुख एव सशक्त माध्यम बनता जा रहा है। उसका आकार भी लघुतर होता जा रहा है। भाषा बोलचालकी-सी हो रही है। उसमे तत्समताके स्थानपर तद्भव और देशी शब्दोका प्रचुर प्रयोग हो रहा है। अब कोई भी विषय निबन्धका विषय बन जाता है। विषय तो जैसे विचारोको प्रकट करनेका बहाना-सा बन रहा है। यद्यपि आज हिन्दीमे निबन्ध विकासके उच्च शिखरपर है, फिर भी निबन्धकी आत्मा पहचानकर लिखनेवाले अभी अधिक निबन्धकार नही है।

इस तृतीय उत्थानके निबन्धोंकी अनेक कोटियॉ है, जैसे १. विचार प्रधान—'प्रसाद'का 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', श्यामसुन्दर दासके साहित्यिक निबन्ध, रामचन्द्र शुक्लके 'चिन्तामणि'के निबन्ध, धीरेन्द्र वर्माके 'विचारधारा'-के निबन्ध, पीताम्बरदत्त बड़थ्वालका 'योगप्रवाह', हजारी प्रसाद द्विवेदीके 'विचार और वितर्क', 'अशोकके फूल' और 'गतिशील चिन्तन', सद्‌गुरुशरण अवस्थीका 'भ्रमिक पथिक', नगेन्द्रके 'विचार और अनुभूति' तथा 'विचार और विवेचन', सम्पूर्णानन्दका 'शिक्षाकी समस्या', जगन्नाथप्रसाद शर्मा 'मिलिन्द'का 'चिन्तनकण', इलाचन्द्र जोशीका 'विवेचना', 'अज्ञेय'का 'चिन्ता', रघुवीर सिहका 'शेष स्मृतियॉ'की भूमिका, महादेवी वर्माका 'विवेचनात्मक गद्य', जैनेन्द्रका 'राही' और 'समाज', उमेशचन्द्र मिश्रका 'सफलता', जयविजयनारायण सिहका 'चरित्रविकास' और भगवान् दासका 'समवन्य'। २. भावप्रधान गद्यगीतात्मक निबन्ध—विश्वम्भर मानवका 'सोनेसे पहले', सत्यनारायण शर्माका 'जीवनयात्रा', रायकृष्ण दासका 'छायापथ', दिनेशनन्दिनी चोरड्याका 'शबनम', तारा पाण्डेयका 'रेखाएँ', माखनलाल चतुर्वेदीका 'साहित्य देवता', सियारामशरणका 'हॉ, नही'। ३. प्रतीकात्मक—रायकृष्ण दासके 'संलाप', 'सागर और मेघ', 'सोना और लोहा'। ४. मनोवैज्ञानिक—'अज्ञेय'का 'चिन्ता', जगन्नाथप्रसाद शर्मा 'मिलिन्द'का 'चिन्तनकण'। ५. कथात्मक—पदुमलाल पुन्नालाल बख्शीके 'चर्चा', 'एक पुरानी कथा', 'बन्दरकी शिक्षा', सियारामशरणका 'झूठ-सच', ब्रजलाल बियाणीका 'कल्पनाकानन'।

६. संस्मरणात्मक—पदुमलाल पुन्नालाल बख्शीके 'रामलाल पण्डित', 'कुंजविहारी', सियारामशरणका 'हिमालयकी झलक', महादेवीका 'स्मृतिकी रेखाएँ'। ७. हास्य-व्यंग्यात्मक—सियारामशरणका 'घोड़ाशाही', आनन्दकुमारका 'बातचीत', वियोगीहरिके 'पगली', 'मेरी हिमाकत', प्रभाकर माचवेका 'मुँह'। ८. वर्णनप्रधान—(यात्रा) महादेवी वर्माका 'बदरीनाथकी यात्रा', राहुलके यात्रा-सम्बन्धी निबन्ध, धीरेन्द्र वर्माका 'यूरोपके पत्र'। —वि० रा०

निम्न-मध्यवर्ग–इस वर्गके अन्तर्गत दफ्तरके साधारण क्लर्क, बाबू आदि आते हैं, जिनकी जीविका साधारण माहवारी वेतनपर आधारित है। —रा० कु० त्रि०

निम्नवर्ग–यह समाजका वह भाग है, जो अपनी जीविकाका उपार्जन श्रमसे करता है और अधिकतर इस वर्गका ही शोषण किया जाता है। इस वर्गके अन्तर्गत किसान, मजदूर आते हैं। —रा० कु० त्रि०

निम्बार्क मत–दे० द्वैताद्वैतवाद।

नियतश्राव्य-संवादके विचारसे **रूपक**की **कथावस्तु**का यह एक भेद है। यदि किसी पात्रकी उक्तिको **रंगमंच**पर उपस्थित कुछ ही पात्र सुने तो उसे नियतश्राव्य कहते हैं। नियतश्राव्यका अर्थ है नियत पात्रोंके ही सुनने लायक।

स्वगतकी भाँति नियतश्राव्य भी कृत्रिम और अमनोवैज्ञानिक है। रंगमंचपर उपस्थित किसी पात्रकी उक्तिको कुछ नियत पात्रोंका सुनना और शेषका न सुनना सर्वथा अस्वाभाविक है।

नियतश्राव्यके दो भेद हैं—**जनान्तिक** और **अपवारित** (दे०)। —ब० सिं०

नियताप्ति–रूपककी पाँच अवस्थाओंमें चौथी अवस्था। "अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिः सुनिश्चिता" (द० रू०, १ : २१)। विघ्न-बाधाओंके हट जानेपर फलप्राप्तिके निश्चयकी स्थितिको नियताप्ति कहते हैं। प्राप्त्याशामें नायक फलप्राप्तिके सम्बन्धमें आशंकाओंसे ग्रस्त रहता है, पर नियताप्तिमें उसे फलप्राप्तिका पूर्ण निश्चय हो जाता है। 'ध्रुवस्वामिनी' नाटकमें निरीह शकोंके वधपर सामन्त-कुमारका यह कथन "मैं सच कहता हूँ कि रामगुप्त जैसे राजपदको कलुषित करनेवालेके लिए मेरे हृदयमें तनिक श्रद्धा नहीं" फलप्राप्तिका ऐकान्तिक निश्चय करा देता है। यहींपर नियताप्ति अवस्था समझनी चाहिये। —ब० सिं०

नियम–दे० 'हठयोग'।

नियमपरिवृत्त–दे० 'अर्थदोष', अठारहवाँ।

निरंगरूपक–दे० 'रूपक', छठा प्रकार।

निरंजन–निरंजनका अर्थ है अंजन-रहित, अर्थात् निर्लिप्त, मायाविनिर्मुक्त। कई धर्मसाधनाओंमें यह शब्द समान रूपसे आदर पा रहा है। 'हठयोग-प्रदीपिका'में नादानुसन्धानके बाद साधकके चित्त और मारुतका निरंजनमें विलीन होना बताया गया है। 'गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह'में भी निरंजनका साक्षात्कार ही परमपद माना गया है। कतिपय विद्वानोंका मत है कि उड़ीसाका उत्तरी भाग, रीवाँका प्रदेश, छोटा नागपुर और पश्चिमी बंगालमें आदिवासियोंका एक सम्प्रदाय प्रचलित था, जिसका आराध्य देवता **धर्म** या निरंजन था और वहाँसे उसकी शाखाएँ राजस्थानतक गयीं। उस सम्प्रदायके कुछ अवशिष्ट उपलब्ध ग्रन्थ 'शून्य पुराण', 'धर्माष्टक' आदिमें इस निरंजनकी व्याख्या मिलती है। उनमें भी इसका स्वरूप शून्य, निराकार, निषेधात्मक है। अलक्ष्य होनेके नाते कालान्तरमें **अलखनिरंजन** भी प्रचलित हो गया।

सिद्धोंने भी निरंजन शब्दका व्यवहार शून्यरूपके अर्थमें किया है। तिलोपाने कहा है कि साधकको यह विचार करना चाहिये कि "हँउ जग, हँउ बुद्ध, हँउ निरंजन"। काण्हपाने शून्य तत्त्वको निरंजन कहा है, क्योंकि वह अंजनविरहित है (दोहाकोश : प्र० चं० बागची)

नाथोंके साहित्यमें भी निरंजनका सर्वोच्च स्थान माना गया है। पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल कुछ निरंजनियोंकी बानीके आधारपर निर्गुण साहित्यकी एक निरंजनी धाराको मान्यता दिलानेके पक्षमें थे (दे० योगप्रवाह : पी० द० बड़थ्वाल)। कबीरने निरंजनको सम्मानपूर्वक स्मरण किया है, पर उन्होंने आदिपुरुषको वृक्ष और निरंजनको उसकी डाल माना है (बीजक : कबीर), किन्तु बादमें ऐसा प्रतीत होता है कि धर्मसम्प्रदायकी प्रतिद्वन्द्विताके कारण निरंजनका अनादर कबीरपन्थमें हुआ और परवर्ती कबीरपन्थी साहित्यमें निरंजनको कबीरका प्रतिद्वन्द्वी चित्रित किया गया, जो साधकों और जिज्ञासुओंको सदा भटकाता रहता है। **अलखनिरंजन**को मायावी मान लिया गया, जो सृष्टि उत्पन्न कर समस्त संसारको भटकाता रहता है। किन्तु कबीरका निजी मत ऐसा नहीं था (दे०—कबीर : हजारीप्रसाद द्विवेदी)। —ध० वी० भा०

निरंजनी संप्रदाय–निरंजनी सम्प्रदायका नामकरण उसके संस्थापक स्वामी निरंजन भगवान्‌के नामपर हुआ। निरंजन भगवान्‌के जन्म और परिचयके विषयमें कुछ भी नहीं ज्ञात है। हिन्दीके विद्वानोंमें पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल तथा परशुराम चतुर्वेदीका मत है कि निरंजनी सम्प्रदाय नाथ-सम्प्रदाय और निर्गुण-सम्प्रदायकी एक लड़ी है। इस सम्प्रदायका सर्वप्रथम प्रचार उड़ीसामें हुआ और प्रसारक्षेत्र पूर्व दिशा बनी। राघोदासने अपने 'भक्तमाल'में लिखा है कि जैसे मध्वाचार्य, विष्णु स्वामी, रामानुजाचार्य तथा निम्बार्क महन्त चक्कवेके रूपमें चार सगुणोपासक प्रसिद्ध हुए, उसी प्रकार कबीर, नानक, दादू और जगन निर्गुण-साधनाके क्षेत्रमें ख्यातिके अधिकारी बने और इन चारोंका सम्बन्ध निरंजनसे है।

निरंजनी सम्प्रदायके बारह प्रमुख प्रचारक हुए। इनके नाम हैं:—१. लपट्यौ जगन्नाथदास, २. स्यामदास, ३. कान्हड़दास, ४. ध्यानदास, ५. षेमदास, ६. नाथ, ७. जगजीवन, ८. तुरसीदास, ९. आनन्ददास, १०. पूरणदास, ११. मोहनदास, १२. हरिदास। राघोदासके अनुसार जगन्नाथदास थरोलीके निवासी थे, स्यामदास दत्तवासके, कान्हड़दास चाटूसके रहनेवाले थे, आनन्ददासका निवास-स्थान लिवाली था। मोहनदासका स्थान देवपुर, तुरसीदास का स्थान शेरपुर, पूरणदासका भम्भोर, षेमदासका सिवहाड, नाथका टोडा, ध्यानदासका झारि तथा हरिदासका डीडवाणेमें था। निरंजनी सम्प्रदायके इन सभी साधकोंमें हरिदासका स्थान श्रेष्ठ है। हरिदासजी बड़े अनुभवी थे। इनका

निधन-समय संवत् १७०० है। दादूने भी हरिदासकी बड़ी प्रशंसा की थी। गोरखनाथ और कबीरदासपर इनकी बड़ी श्रद्धा थी। भर्तृहरि और गोपीचन्दके प्रति भी हरिदास बड़े श्रद्धालु थे।

निरंजनी सम्प्रदायकी साधनामें उलटी रीतिको प्रधानता दी गयी है। साधकको अपनी बहिर्मुखी वृत्तियोंको अन्तर्मुखी करके मनको निरंजन ब्रह्ममे नियोजित करना चाहिये। उलटी डुबकी लगाकर अलखकी पहिचान कर लेनी चाहिये, तभी गुण, इन्द्रिय, मन तथा वाणी स्ववश होती है। इडा और पिंगला नाड़ियोंकी मध्यवर्तिनी सुषुम्नाको जाग्रत् करके अनहदनाद श्रवण करता हुआ बंकनालिके माध्यमसे शून्यमण्डलमे प्रवेश करके अमृतपान करनेवाला सच्चा योगी है। नाम वह धागा है, जो निरंजनके साथ सम्पर्क या सम्बन्ध स्थापित करता है। परमतत्त्व या निरंजन न उत्पन्न होता है, न नष्ट। वह एकभाव और निर्लिप्त होकर अखिल चराचरमें व्याप्त है। निरंजन अगम, अगोचर है। वह निराकार है। वह नित्य और अचल है। घट-घटमे उसकी मायाका प्रसार है। वह अप्रत्यक्ष रूपसे समस्त सृष्टिका संचालन करता है। निरंजन अवतारके बन्धनमे नहीं बँधता है। इस सम्बन्धमें हरिदासकी निम्नलिखित पंक्तियाँ पठनीय है—"दस औतार कहो क्यूँ भाया, हरि औतार अनंत करि आया। जल थल जीव जिता अवतारा। जलसमि ज्यूँ देखो ततसारा॥" (श्री हरिपुरुषकी वाणी, पृ० २३५)।

निरंजनी सम्प्रदाय वेदान्तसे प्रभावित नाथ-सम्प्रदायका विकसित रूप है। इसका दृष्टिकोण उदारतासे पूर्ण है। इसमें सहनशीलता और अविरोधकी प्रचुरता मिलती है।

हरिदास निरंजनी सम्प्रदायके सर्वश्रेष्ठ कवि है। इनकी कविताओंका संग्रह 'श्री हरिपुरुषजीकी वाणी' शीर्षकसे प्रकाशित हो चुकी है। निपट निरंजन महान् सिद्ध थे और इनके नामपर दो ग्रन्थ 'शान्त सरसी' तथा 'निरंजन संग्रह' प्रसिद्ध हैं। भगवान् दास निरंजनीने अनेक ग्रन्थोंकी रचना की, जिनमेंसे 'अमृतधारा' (रचनाकाल कार्तिक कृष्ण ३, सं० १७२८), 'प्रेमपदार्थ', 'गीता माहात्म्य' (रचनाकाल सं० १७४०) उल्लेखनीय है। इन्होंने 'भर्तृहरिशतक'का हिन्दी अनुवाद भी किया था। तुरसीदास निरंजनी सम्प्रदायके बड़े समर्थ कवि थे। इनकी ४२०२ साखियों, ४६१ पदों और ४ छोटी-छोटी रचनाओंका संग्रह पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल द्वारा किया गया था। सेवादासकी ३५६१ साखियों, ४०२ पदो, ३९९ कुण्डलियो और १० ग्रन्थोका उल्लेख बड़थ्वालने किया है। निरंजनी सम्प्रदायमे कई अच्छे और समर्थ कवि हुए है। इनकी रचनाएँ अच्छी कवित्व-शक्तिकी परिचायक है।

[सहायक ग्रन्थ—उत्तरी भारतकी सन्त-परम्परा : परशुराम चतुर्वेदी।] —त्रि० ना० दी०

निरति–लिप्त होनेका भाव। लीन होनेका भाव। निरतिके साथ ही सुरति शब्दका प्रयोग सन्त-साहित्यमे बहुधा होता है। "सुरति समानी निरतिमैं निरति रही निरधार। सुरति निरति परचा भया तब खुले स्यम्भु दुआर" (कबीर ग्रन्थावली, १४)। (दे० 'सुरति')।

निरर्थक–दे० 'शब्द-दोष', सातवाँ 'पद-दोष'।

निराशावाद–आदर्शोन्मुख साहित्य जब अपने स्थापित मूल्योंमे च्युत हो जाता है और यथार्थकी वास्तविक स्थितिसे उसका साक्षात्कार होता है तो उसे उन विस्थापित स्थितियोंमें जो निराशा होती है, उसका प्रभाव साहित्यपर भी पड़ता है। बहुधा यह निराशा केवल गौण रूपमें ही पायी जाती है, किन्तु यह भी देखा गया है कि यही गौण रूप वास्तविक भाव-भूमिको ग्रहण न करनेके बाद आत्मोन्मुख कुण्ठा और विवशतामें, पुनः घोर निराशा और उपहासमें भी परिवर्तित हो जाता है और जब यह आत्मोन्मुख कुण्ठा केवल रिक्ततासे टकराती है अथवा जब आदर्शवादकी कल्पना-भूमिसे गिरती है और अपने लिए किसी नयी भाव-भूमिका निर्माण नहीं कर पाती तो उसकी समस्त चेतनामे एक व्यापक असन्तोष, एक प्रकारकी मानसिक विक्षिप्तता प्रवेश कर जाती है। छायावादकालमें ही हिन्दी साहित्यमे एक प्रकारकी निराशावादी भावधारा विकसित हो रही थी, जो धीरे-धीरे सम्पूर्ण छायावादी काव्यपर छा गयी और जिससे मुक्त होकर प्रायः कुछ ही कवि होंगे, जिन्होंने छायावादकी विचलित उत्सुकता, वैभवप्रियताके समक्ष अपने अस्तित्वकी सार्थकताका आग्रह किया हो। ऐसा होना स्वाभाविक था, क्योंकि जिस उदात्त एवं अज्ञात रहस्यबोधसे द्रवित होकर छायावादी कविता विकसित हुई थी, उसमे ऐसे तत्त्व निहित थे, जो आत्मपीड़ा और आत्मोन्मुखताके ऐसे स्थल थे, जहाँसे समस्त चेतनाको केवल एक हल्के स्पर्शसे निराशाकी ओर ले जाया जा सकता था।

मनोविज्ञानके अनुसार निराशावाद एक मानसिक रोग है, जिसे मैलंकोलिया (melancholia) भी कहते है। इस रोगके दो मुख्य कारण है। पहला कारण तो आत्मोन्मुख विकृति है और दूसरा कारण आत्मविश्वासके अभावमे आस्थाहीनताका विकास है। मैलंकोलियाका लक्षण वर्तमानकी अपेक्षा भविष्यकी आशंकासे अधिक सम्बद्ध है। निराशाकी पृष्ठभूमिमे वर्तमानसे असन्तोषके साथ-साथ भविष्यकी अनास्था उसी प्रकार सम्बद्ध है, जैसे आदर्शोन्मुख साहित्यके साथ केवल अनावश्यक स्वर्णस्वप्नका दिवालोक और उसकी प्रतिक्रियामें नैतिक विरोधाभास उस प्रवृत्तिकी प्रकृतिमें पिरोया हुआ रहता है।

हिन्दी साहित्यमें यह निराशावाद तीन कारणोंसे विकसित हुआ। प्रथम तो यह कि आदर्शोन्मुख भावधारा जब विकसित भावबोधको ग्रहण करनेमें असमर्थ सिद्ध हुई और उसके बाद **छायावाद** (दे०)की स्वच्छन्द प्रवृत्तिको मजबूर होकर यथार्थकी ओर उन्मुख होना पड़ा तो उसके संस्कारोकी रिक्तताको अन्तिम रूपमें समस्त वेदनाओंके साथ यथार्थको भी स्वीकार करना पड़ा। इन दो विरोधी तत्त्वोसे जिस भावनाका सहज ही प्रस्फुट न होना अनिवार्य था, वह था निराशावाद।

निराशावादी प्रवृत्तियोंके अवतरित होनेका दूसरा कारण था देश-कालके प्रति उपेक्षा। सारी छायावादी काव्यधारामे गत्यवरोध मात्र इस कारण उत्पन्न हुआ कि उसने देशकालकी सीमाके परे अपनी समस्त सौन्दर्यानुभूति और बौद्धिक

चेतनाको निष्क्रिय और निष्प्रयोजन रूपमे प्रस्तुत करनेकी चेष्टामें अपनी सारी जागरूकता लगा देनी चाही। छायावादकी बौद्धिक चेतनाको उस दायित्वके प्रति कोई बोध ही नहीं हो सका, जो वर्तमानके प्रति क्रियाशील बनकर भविष्यमे आस्था प्रदान करा सकती। इसीलिए उसकी समस्त रहस्यमयता और उसका चमत्कार-वैभव केवल एक सीमा तक विकसित हो पाया, उसके बाद उसकी समस्त सम्भाव्य शक्तियोंको अन्तर्मुखी होकर स्वयं अपनेसे ही जूझकर टूटना पड़ा।

एक तीसरा कारण जिससे इस निराशावादको शीघ्रतापूर्वक हिन्दी काव्यके क्षेत्रमे विकसित होनेका अवसर मिला, स्वयं वह परिवेश था, जिसमे एक ओर यथार्थ अपने कटु सत्योंके साथ उभरकर सामने आ रहा था और दूसरी ओर वह बौद्धिक अकर्मण्यता थी, जो उसके तत्त्वोंको स्वीकार करनेमे असमर्थ थी। आदर्शोन्मुख साहित्यधाराके टूटनेका यही कारण था। छायावादियोंने जिस आदर्शवादी विचारधाराका विरोध किया था, उसी भावधाराके अयथार्थ रूपको उन्होने स्वयं अपना लिया।

छायावादी कवियोंमेंसे 'प्रसाद' और महादेवीमे यह निराशावाद विशेष रूपसे मिलता है। 'प्रसाद'का 'ऑसू' उस मैलंकोलियाका ज्वलन्त प्रमाण है, जिसमे निराशाकी इतनी तीव्र व्यंजना है कि स्वयं वह निराशावादी मानसिक स्थिति एक आनन्दविशेषका उद्रेक करने लगती है।

निराशावाद इन्ही मनःस्थितियोंको अभिव्यक्ति देता है। छायावादकी भव्य विशाल कल्पनाने जिस चमत्कार और चकाचौंधको प्रस्तुत करना चाहा था, वह मानवीय सन्दर्भसे और उसके यथार्थसे वंचित होनेके नाते केवल गहन वेदना और मिथ्या पीड़ा-विलासका एक प्रतिरूप बनकर रह गया। 'कामायनी'में निरूपित 'प्रसाद'के आनन्दवादतकको एक सीमातक केवल सक्रिय निराशावाद ही कहा जा सकता है। अन्तर केवल इतना है कि 'प्रसाद'के गीतोंमे विशेषकर 'आँसू'मे जो वेदना मिलती है, उसमे काव्यका प्रौढ रूप मिलता है और उनके बाद जो निराशावाद विकसित हुआ, उसमें न काव्य है, न प्रौढता है और न भुक्तभोगीकी अनुभूति।

उत्तर-छायावादकालमे यह निराशावाद पतनोन्मुख कवियों और गीतिकारोंमें तो इस वेगके साथ अवतरित हुआ कि समस्त काव्य-बोध और उसके साथ उस कालविशेषके कवियोंकी अनुभूति केवल एक मुद्रानुभूति बनकर रह गयी। निराशावादने मनःस्थितिसे अधिक विशिष्ट शिल्पका रूप ग्रहण कर लिया और उससे सारी भावभंगिमा ही इस अतिरेकसे डूबी हुई रीतिमें बँध गयी कि विशुद्ध अनुभूतियोंका ह्रास और पतन-सा अनुभव होने लगा।

किन्तु ऐसा नहीं है कि यथार्थवादी इस प्रवृत्तिसे मुक्त रहे हों। गजानन माधव मुक्तिबोध और 'तार सप्तक'के अन्य कवियोंकी मनोवैज्ञानिक स्थिति यह स्पष्टतः सिद्ध करती है कि नये यथार्थने छायावादके, निराशावादसे, कविकी मनःस्थितिको मुक्त तो कर दिया था, किन्तु जिस शंकाकुल स्थितिमे परम्पराओंको तोड़कर नयी काव्यचेतना विकसित हो रही थी, उसमें कम निराशा नहीं थी। प्रगतिवादने जिस रेचन भाव (catharsis)को अपना लिया था, उसमें भी यही निराशा कार्य कर रही थी और उसने भी उसे सन्दिग्धता और घुटनके विषमे सराबोर कर दिया था। भाव-भूमि तो बदल गयी थी, किन्तु भाव-बोधमे निराशा थी।

निराशावादकी परिणति पतनोन्मुख प्रवृत्तिमें होती है, क्योंकि वस्तु-दृष्टिके अभावमें व्यापक निष्ठा नहीं पनप पाती। व्यापक निष्ठा जब पूर्णतः संकुचित हो जाती है, तब कलाकारकी दृष्टि भी कुण्ठित एवं संकीर्ण हो जाती है। निराशावाद, इस प्रकार दो रूपोंमे व्यक्त होता है, एक तो मैलंकोलियाके रूपमें, जिसमे दृष्टि नकारात्मक तत्त्वोंसे विकृत हो जाती है और दूसरे, बहुधा उस व्यापक दृष्टिके अभावमें भी जो वस्तुपरक न होनेके कारण केवल आत्मलीन होकर रह जाती है। यदि मैलंकोलिया विकृतिकी मिथ्यारूपमें विकसित दृष्टि है तो दृष्टिहीनता उन नकारात्मक तत्त्वोंकी प्रतिष्ठा है, जो किसी भी परम्परा या रीतिके रूपमे समस्त चेतनाको कुण्ठित कर देती है। अस्तु, निराशावाद मूलतः साहित्यमे पतनोन्मुख परम्पराको ही प्रतिष्ठित करता है। —ल० कां० व०

निरुक्त-[निर्+वच्+क्त—निश्चयेन उच्यन्ते शब्दाः अस्मिन्निति] (क) साधारण अर्थ—१. कथित, उच्चारित, व्याख्यात। २. उद्‌घोषित (महाभारत)। ३. स्पष्ट निर्दिष्ट या विहित (आश्वलायन-गृह्यसूत्र)। ४. व्युत्पत्यात्मक अर्थ (छान्दोग्य०, ८।३।३)। (ख) विशिष्ट अर्थ—वैदिक शब्दोंका व्युत्पत्यात्मक अर्थ या व्याख्यान करनेवाले ग्रन्थ, जो वेदविद्याके अध्ययनके आवश्यक अंग होनेके कारण छः वेदांगोंमेंसे एक कहे जाते हैं। छः वेदांग ये हैं—"शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं ज्योतिषां गति। छन्दोविचितिरित्येतैः षडंगो वेद उच्यते"। २. यास्काचार्यकृत निरुक्त। यास्कके ही कथनसे ज्ञात होता है कि वे निरुक्तकारोंकी परम्परामें चौदहवे थे। उनके पूर्व तेरह निरुक्तकार हो चुके थे और प्रत्येकके अपने-अपने निघण्टु, वैदिक शब्दसंग्रह थे। वर्तमान निघण्टु, जिसपर यास्कका निरुक्त है, यास्ककृत ही है। पर कुछ लोग इसे यास्ककृत नहीं मानते। अन्य निरुक्तोंके अभावमे अब निरुक्त वेदांगसे यही यास्ककृत निरुक्त गृहीत होता है।

निघण्टुके प्रथम तीन अध्यायोंका व्याख्यान निरुक्तके प्रथम तीन अध्यायोंमे, चतुर्थ अध्यायका अग्रिम तीन अध्यायोंमे तथा पंचमका निरुक्तके अन्तिम छः अध्यायोंमे हुआ है। ये क्रमशः नैघण्टुक, नैगम तथा दैवत काण्डके नामसे प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार निरुक्त द्वादशाध्यायी ग्रन्थ है। अन्तमे दो अध्यायोंका परिशिष्ट है। तेरहवेंमें अतिस्तुति तथा चौदहवेंमे ऊर्ध्वमार्गगतिका निरूपण है। (ग) हिन्दीमें यह शब्द व्युत्पत्यात्मक अर्थ या व्याख्यानका वाचक है। —आ० प्र० मि०

निरुक्ति-एक गौण अर्थालंकार। निरुक्तिका सामान्य पर्याय शब्द-व्युत्पत्ति है, पर कवि शब्दोंका विश्लेषण भी चमत्कारितासे करता है और तब यह अलंकार हो जाता है। अप्पय दीक्षितने कहा है—"निरुक्तियोंगतो नाम्नामन्यार्थत्व-

प्रकल्पनम्'' (कुवलयानन्द ९७), अर्थात् यदि अर्थविशेषके अभिधायक शब्दोंका योगवश दूसरा ही अर्थ लगाया जाय और वह अर्थ व्याख्यात्मक हो तो निरुक्ति अलंकार होता है। हिन्दीके आचार्योंने भी इसी प्रकार लक्षण दिये हैं—'जहाँ जोगतें नामवी अर्थ कल्पना और'' (ल० ल०, ३८४) अथवा—''जहाँ नामके जोग तें, कियो अरथ कछु आन'' (पद्मा०, २७२)। उदा०—''ताप करत अवलानको दया न कछु चित आतु। तुम इन चरितन सॉंच ही दोषाकर विख्यातु'' (अ० मं०, ६२९)। कहनेका तात्पर्य यह है कि चन्द्रमाका नाम दोषाकर है—अर्थात् रजनीकर। परन्तु चन्द्रमा विरहिणी नारियोंके लिए दुःखकर होता है और इसीलिए दोषाकर शब्दकी व्याख्या ऊपरके उदाहरणोंमें अन्यथा—दोषोंका आकर (कोष)—हुई। और उस शब्दकी व्याख्याकी दृष्टिने ही यहाँ निरुक्ति अलंकार हुआ। अथवा—''कविगनको दारिद द्विरद, याही दल्यो अमान। यातें श्री सिवराजको, सरजा कहत जहान'' (शि० भू०, ३४६)। यहाँ सरजाकी व्याख्यासे अर्थकी सिद्धि होती है। —ज० कि० व०

निरूपक—दे० 'रेडियो नाटक'।

निर्गुणधारा—हिन्दी साहित्यके इतिहासके अन्तर्गत भक्तिकाल (दे०)की एक विशेष शाखा। दे० 'निर्गुण-सम्प्रदाय', ज्ञानाश्रयी शाखा, प्रेमाश्रयी शाखा।

निर्गुण-संप्रदाय—'निर्गुण' शब्द, अपने पारिभाषिक रूपमें सत्त्वादि गुणोंसे रहित या उनसे परे समझी जानेवाली किसी ऐसी अनिर्वचनीय सत्ताका बोधक है, जिसे बहुधा परमतत्त्व, परमात्मा अथवा ब्रह्म जैसी संज्ञाओं द्वारा अभिहित किया जाता है। परन्तु प्रस्तुत सन्दर्भमें, 'सम्प्रदाय' शब्दके पूर्व आ जानेके कारण, यह उन व्यक्तियोंकी ओर भी संकेत कर सकता है, जो उक्त प्रकारकी शक्तिमें विश्वास करते हों और तदनुसार उन्हींके समुदायको 'निर्गुण-सम्प्रदाय' भी सूचित कर सकता है। इसी प्रकार जहाँ 'सम्प्रदाय' शब्दका अर्थ गुरुपरम्परागत उपदेश होगा, वहाँ 'निर्गुण-सम्प्रदाय'से अभिप्राय उस पद्धतिका हो सकता है, जिसमें उक्त प्रकारकी सत्तामें आस्था रखनेका उपदेश दिया जाता हो अथवा जहाँ इस सम्बन्धमें विशिष्ट नियम प्रचलित हों। ऐसे लोगोंकी विचारधाराको 'निर्गुण-मत' कहा जाता है और उसी अभिप्रायको और भी अधिक स्पष्ट करनेके लिए कभी-कभी 'निर्गुण-सन्तमत' भी कह दिया जाता है। निर्गुण-मतको माननेवाले तथा इस प्रकार निर्गुण-सम्प्रदायमें सम्मिलित सदस्योंको कुछ लोगोंने 'निर्गुनिया' शब्द द्वारा भी अभिहित किया है। इस दृष्टिसे 'निर्गुण-सम्प्रदाय'-को ही, दूसरे शब्दोंमें, हम निर्गुनियोंका सम्प्रदाय भी कह सकते हैं। 'निर्गुण-सम्प्रदाय' शब्दके पर्यायरूपमें 'निर्गुण-पन्थ' एवं 'निर्गुण-मार्ग' शब्दोंके भी प्रयोग दीख पड़ते हैं और ये दोनों ही उक्त निर्गुण-मतका प्रचार करनेवाली साम्प्रदायिक मण्डलीविशेषके उस संघटनको सूचित करते हैं, जिसका निर्माण वैसे उद्देश्यके अनुसार किया गया हो। इसे कभी-कभी 'सन्त-सम्प्रदाय' भी कह देते हैं।

'निर्गुण' शब्द 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' (६ : ११)में उस अद्वितीय 'देव' (परमात्मा)का एक विशेषण बनकर आया है, जो सभी भूतोंमें अन्तर्हित है, सर्वव्यापी है, सभी कर्मोंका अधिष्ठाता है, सबका साक्षी है, सबको चेतनत्व प्रदान करनेवाला तथा निरुपाधि भी है। उसीकी ओर संकेत करते हुए श्रीकृष्ण द्वारा 'गीता'(१३-१४)में भी कहलाया गया है—''उसमें सब इन्द्रियोंके गुणोंका आभास है, पर उसके कोई भी इन्द्रिय नहीं है, वह सबसे असक्त रहकर, अर्थात् अलग होकर भी सबका पालन करता है और निर्गुण होनेपर भी गुणोंका उपभोग किया करता है''। तथा इसी प्रकार, श्रीकृष्णने अन्यत्र (७ : १२ : ३) भी कहा है—''यह समझ लो कि जो कुछ सात्त्विक, राजस या तामस भाव, अर्थात् पदार्थ है, वे सब मुझसे ही हुए हैं, किन्तु वे मुझमें हैं, मैं उनमें नहीं हूँ। इन तीन गुणात्मक भावोंसे, अर्थात् पदार्थोंमें मोहित होकर यह सारा संसार इनसे परेके (अर्थात् निर्गुण) मुझ अव्ययको नहीं जानता''। अतएव, जो कुछ भी पदार्थ त्रिगुणात्मक रूपमें दीख पड़ता है, वह मेरी 'गुणमयी' मायाका अंश है, जैसा इसके आगेवाले श्लोकसे ध्वनित होता है और जो परमात्मतत्त्व है, उसे 'मायातीत' भी कह सकते हैं। प्रसिद्ध 'नासदीय सूक्त'के अन्तर्गत भी यही बात इस प्रकार कही गयी है कि ''जब सृष्टिका आविर्भाव नहीं था, तब न सत् था, न असत् था और न रजस् ही था'' इत्यादि।

सन्त कबीर 'निर्गुण' शब्दका एक पर्याय 'अगुन' भी देते जान पड़ते हैं (क० ग्रं०, पद १८३)। वे उसके द्वारा सूचित किये जानेवाले तत्त्वको 'गुन अतीत' बतलाते हैं और फिर उसे 'निर्गुण ब्रह्म' भी कहकर उसकी उपासनाका उपदेश देते हैं (पृ० ३७५)। वे उसे अन्यत्र 'निरगुण राम'की भी संज्ञा देते हैं और उसकी 'गति'को अगम्य ठहराते हैं (पृ० ४९) तथा उसे केवल 'निरगुण' कहकर भी, उसी प्रकार, अकथनीय बतलाते हैं (पृ० १८६)। परन्तु एक स्थल (पृ० १८४)पर वे इसके विषयमें इस प्रकार भी कहते हैं—''राजस, तामस और 'सातिग'(सात्त्विक) ये तीनों ही उसकी माया हैं, तथा वह इन तीनोंसे परेका 'चौथा पद' है। वह गुणातीत होनेके कारण 'निर्गुण' कहलाता है, नहीं तो वह वस्तुतः निर्विषय नहीं ठहराया जा सकता तथा उसे समझ लेना धोखेकी बात होगी। गुणमें ही निर्गुण है और निर्गुणमें गुण है, यह बात बहुत सीधी-सादी-सी है और ऐसा न कहना सच्चे मार्गको छोड़कर बहकते फिरना है। लोग उसे 'अजर' कहते हैं और उसे 'अमर' भी बतलाते हैं, किन्तु सच्ची बात तो यह है कि वह 'अलख' होनेके कारण, अनिर्वचनीय है। यह ठीक है कि उसका कोई रूप नहीं और न उसका कोई वर्ण ही है, किन्तु इसके साथ यह भी एक तथ्य है कि वह घट-घटमें व्याप्त है। पिण्ड और ब्रह्माण्डकी भी बातें कही जाती हैं, परन्तु, चाहे पिण्ड हो, चाहे ब्रह्माण्ड हो, ये सभी देश और कालतक सीमित हैं, किन्तु उसका न तो आदि है और न अन्त ही है। कबीरका हरि इन सभीसे विलक्षण है'' (पृ० १८०)। फिर ''वह जैसा है वैसा समझ लेनेमें ही आनन्द है, उसे वस्तुतः न जानते हुए भी, उसका कथन करना ठीक नहीं'' तथा इसी कारण, कबीरने अपनेको उसे 'सरगुन'की अपेक्षा 'निरगुन'-रूपमें ही जाननेवाला कहा है।

'निर्गुणपन्थ'के लिए कहा गया है कि वह सर्वप्रथम मुसलमानोंके भारतमें आकर बस जानेकी नवीन परिस्थितिमें एक 'सामान्य भक्तिमार्ग'के रूपमें चला था और वह उस कालकी प्रचलित सगुणोपासनासे भिन्न एक ऐसी साधनाको लेकर विकसित हुआ था, जो एकेश्वरवादके किसी अनिश्चित स्वरूपके ऊपर आधारित रही और वह कभी ब्रह्मवादकी ओर ढलता था तो कभी पैगम्बरी खुदावादकी ओर। इसकी ओर ले जानेवाली सबसे पहली प्रवृत्ति ऊँच-नीच और जाति-पाँति सम्बन्धी भावके त्याग एवं ईश्वरभक्तिके लिए मनुष्यमात्रके समान अधिकारकी स्वीकृतिमें दीख पड़ी थी। इसके सिवाय इस 'निर्गुण-मार्ग'का प्रधान प्रवर्तक कबीरको समझा गया है, जिन्होंने इस कथनके अनुसार एक ओर तो भारतीय अद्वैतवादकी कुछ स्थूल बातें ग्रहण कर ली थीं और दूसरी ओर कुछ सूफी फकीरोंके संस्कार भी प्राप्त कर लिये थे। उनका उद्देश्य यह था कि उन भिन्न-भिन्न बाह्य विधियोंसे ध्यान हटाकर, जिनके कारण धर्ममें भेदभाव फैला हुआ है, शुद्ध ईश्वरप्रेम और सात्त्विक जीवनका प्रचार किया जाय। इसके परिणामस्वरूप, भक्तिकाव्यके अन्तर्गत, सगुण और निर्गुण नामसे दो भिन्न-भिन्न धाराएँ, विक्रमकी पन्द्रहवीं शताब्दीके अन्तिम भागसे लेकर सत्रहवींके अन्त-तक समानान्तर चलती रहीं और निर्गुणधारा भी दो शाखाओंमें विभक्त हुई, जिन्हें 'ज्ञानाश्रयी' और 'शुद्ध प्रेममार्गी' नाम दिये गये हैं। इस प्रकार 'निर्गुणधारा' एक साहित्यिक प्रवृत्ति है, जो 'निर्गुणपन्थ' या 'निर्गुण-सम्प्रदाय'के प्रभावमें, सन्त-कवियोंकी रचनाओंमें ही नहीं, अपितु सूफी कवियोंकी प्रेमगाथाओंमें भी पायी जाती है।

निर्गुण-सम्प्रदायको अपना रूप धारण करनेकी प्रेरणा देनेवाले विकासक्रममें स्वामी रामानन्दसे बहुत बल मिला था, किन्तु जिन बातोंको उसने इसलामी आधारोंकी ओरसे ग्रहण किया था, वे जितनी निषेधात्मक थीं, उतनी विधेयात्मक नहीं। स्वामी रामानन्द और उनके गुरु राघवानन्दकी उपलब्ध रचनाओंमें ऐसी अनेक बातें मिलती हैं, जो निर्गुण-सम्प्रदायकी विशेषताओंका बीजरूप समझी जाती हैं। परन्तु प्रायः वैसी ही बातें जयदेव तथा नामदेवकी भी बहुत-सी पंक्तियोंमें दीख पड़ती हैं, जो उन दोनोंके पूर्ववर्ती हैं। इसके सिवाय, जहाँतक दार्शनिक विचारधाराका प्रश्न है, इन सभीके मूल स्रोतोंका पता प्राचीन उपनिषदोंमें चल जाता है। 'निर्गुण-सम्प्रदाय'तक आते-आते वे सभी बातें अधिक स्पष्ट रूप धारण कर लेती हैं और वे वहाँ पूर्ववत् केवल प्रासंगिक-सी ही लक्षित न होकर प्रचारकार्यका प्रमुख विषयतक बन जाती हैं। इसी प्रकार जिन विशिष्ट उक्तियोंको यहाँ इस्लाम धर्मके अनुयायियों द्वारा प्रभावित समझा जाता है, उनमेंसे भी बहुतोंका पता हमें अन्य स्रोतोंमें मिल सकता है। निर्गुण-सम्प्रदायके प्रचलित होनेसे पूर्व, लगभग पाँच-छः शताब्दियोंके समयसे ही, बौद्ध सिद्धों एवं जैन मुनियोंकी रचनाओंमें वैसी आलोचनाएँ दीख पड़ने लगी थीं। वास्तवमें निर्गुण-सम्प्रदायकी प्रायः सारी बातोंका मूल स्रोत किसी-न-किसी परम्परागत विचारधारामें ढूँढ़ा जा सकता है। इस कारण इसे हम न तो सर्वथा नवीन सिद्धान्तोंका प्रचारक ठहरा सकते हैं और न इसके साहित्य-को ही नितान्त अपूर्व कह सकते हैं।

इसी प्रकार निर्गुण-सम्प्रदायका कबीरके प्रयत्नों द्वारा संघटित किया जाना भी सिद्ध नहीं होता। उनकी रचनाओंसे पता चलता है कि उन्होंने न तो प्रचलित सम्प्रदायके सिद्धान्तोंको अपनाना आवश्यक समझा और न उनके मतका पुनरुद्धार कर किसी नवीन पन्थकी ही नींव डाली। उन्होंने अपने समयके प्रमुख धर्मोंका नाम अवश्य लिया, किन्तु ऐसा करते समय भी उन्होंने केवल उनके अनुयायियोंकी साम्प्रदायिक मनोवृत्ति एवं तदनुकूल आचरणकी खरी आलोचना की तथा उन्हें बाह्य बातोंकी अपेक्षा धर्मके वास्तविक स्वरूपकी ओर अधिक ध्यान देनेका उपदेश दिया। उन्होंने किसी मान्य धर्मग्रन्थको भी केवल उतना ही महत्त्व देनेके लिए कहा, जितना उसकी बातोंके विवेककी कसौटीपर कसे जानेपर सच्चा सिद्ध होना सम्भव था। व्यर्थके पक्षपात, अन्धानुसरण, बाह्याडम्बर, शास्त्रीय विडम्बना जैसी धर्मके नामपर प्रदर्शित की जानेवाली बातोंको उन्होंने हानिकर ठहराया और प्रत्येक व्यक्तिके लिए अपने-अपने हृदयकी सचाई एवं स्वानुभूतिका सर्वाधिक महत्त्व भी बतलाया। तदनुसार कबीर साहबकी दृष्टिमें यह किसीके भी लिए अनिवार्य नहीं था कि वह अपने धार्मिक सिद्धान्तोंका अनुसरण करनेके लिए किसी एक जनसमूह या समुदायका सदस्य भी बन जाय। ऐसी दशामें और विशेष-कर इसके विरुद्ध पुष्ट प्रमाणोंके अभावमें भी, कदाचित् यही कहना अधिक युक्ति संगत है कि उन्होंने साम्प्रदायिक संघटनकी अपेक्षा विचार-स्वातन्त्र्यको ही विशेष महत्त्व दिया। उनके समयतक निर्गुण-सम्प्रदाय जैसे किसी धार्मिक संघटनका सूत्रपात भी नहीं हुआ था। पीछे गुरु नानक, दादू अथवा स्वयं उनके अनुयायियोंने भी अपनी-अपनी संस्थाएँ स्थापित कीं जो विविध पन्थोंके नामसे प्रसिद्ध हुईं, किन्तु इनका भी कोई ऐसा सम्मिलित संघटन कभी नहीं बन सका, जिसे निर्गुण-सम्प्रदाय जैसे किसी एक नाम द्वारा अभिहित किया जा सके।

अतएव जान पड़ता है कि निर्गुण-सम्प्रदाय अथवा उसके पर्यायवाची शब्द निर्गुण-पन्थका प्रयोग पहले, सगुणोपासक भक्तोंके सम्प्रदायोंसे इसकी भिन्नता प्रकट करनेके लिए हुआ और निर्गुणमतका सर्वप्रमुख प्रचारक होनेके नाते सन्त कबीर साहबको इसकी स्थापनाका श्रेय भी प्रदान कर दिया गया। इसी प्रकार इस शब्दको किसी ऐसे जनसमुदायका द्योतक भी समझा गया, जिसमें निर्गुणमतवाले उपर्युक्त सभी पन्थोंके अनुयायी सम्मिलित हों और कभी-कभी तो इस शब्दके अर्थकी व्यापकता यहाँतक पहुँचती दीख पड़ी कि निर्गुणोपासनाके नाते इसके द्वारा शुद्ध प्रेममार्गी सूफियोंतकका भी बोध करा दिया गया। फलतः निर्गुण-धाराकी प्रवृत्ति भी इन सभीकी रचनाओंमें व्यक्त होती देखी गयी और भक्तिकालीन हिन्दी साहित्यमें उन्हें तदनुसार विशिष्ट स्थान भी दिया गया।

[सहायक ग्रन्थ—हिन्दी काव्यमें निर्गुण-सम्प्रदाय : पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल; उत्तरी भारतकी संत परम्परा : परशुराम चतुर्वेदी।] —प० च०

निर्गुणी भक्ति-श्रीमद्भागवतके तृतीय स्कन्धमें इसका उल्लेख है। भगवान् कहते है कि जो मेरे गुणोंको सुनते ही मनकी गतिको अविच्छिन्न रूपसे गंगाके समुद्रकी ओर अखण्ड रूपसे प्रवाहित होनेके समान मुझ अन्तर्यामीमें संचरित कर देते है और मुझमें अहेतुक प्रेमभाव रखते है, वे निर्गुणी भक्तिके साधक कहलाते है (अ० २३, श्लोक ११-१२)। —वि० मो० श०

निर्गुन-भक्तिभावनासे ओत-प्रोत गीतोंको 'निर्गुन' कहते है। यद्यपि भजन तथा निर्गुनके गीतोंका वर्ण्य विषय एक ही है, परन्तु निर्गुन गीत एक विशेष लयमें गाया जाता है, जिसमे हृदयद्रावकताकी मात्रा प्रचुर परिमाणमे पायी जाती है। ये गीत बड़े ही मधुर होते है और श्रोताओंको आनन्द-सागरमें डुबो देते है। इन गीतोकी दूसरी विशेषता यह है कि इनकी प्रत्येक दूसरी पंक्ति 'आहो रामा' अथवा 'कि आहो मोरे रामा'से प्रारम्भ होती है और इनका अन्त 'हो राम'से होता है। जैसे "पॉच दे पचीस कोसे बसेले महाजन हो। कि आहो मोरे रामा, कवना अवगुनवा हरि मोरे रूसेले हो राम"॥

कबीरदासकी वाणी, जिसमे निराकार ईश्वरकी उपासना-का उपदेश दिया गया है, 'निर्गुन'के नामसे प्रसिद्ध है। कबीरके निरगुनिये पदों तथा इन गीतोंका वर्ण्य विषय प्रायः एक ही है। अतः इनकी भी संज्ञा 'निर्गुन' पड़ गयी। लोककवियोने इन गीतोंकी रचना करते समय इनकी महत्ताको बढ़ानेके लिए 'कबीरदास'का नाम इनमें पिरो दिया है। परन्तु वास्तवमे बीजकके कर्ता कबीर इन गीतोंके रचयिता नही हैं।

निर्गुन लिखनेकी परम्परा कबीरदासके समयसे चली आ रही है। भोजपुरीके अनेक सन्त कवियोंने निर्गुन पदो-की रचना की है। निर्गुनके गीत रहस्यवादी भावनाओंसे भरे हैं। इनमें कही तो ईश्वरको 'महाजन' कहा गया है और कहीं 'छयला' कहकर सम्बोधित किया गया है। रूपकालंकारके माध्यमसे आत्मा और परमात्माके पारस्परिक सम्बन्धका मधुर चित्रण इन गीतोंमें उपलब्ध होता है। बँगलाके बाउल गीतोंमे जो रहस्यात्मकता उपलब्ध होती है, उसका दर्शन निर्गुन गीतोंमे मिलता है। —कृ० दे० उ०

निर्णयात्मक आलोचना-प्रणाली-दे० 'निश्चयात्मक आलोचना-प्रणाली'।

निर्माणचक्र-दे० 'हठयोग'।

निर्मुक्त पुनरुक्त-दे० 'अर्थ-दोष', सोलहवाँ।

निर्वहण संधि-रूपककी **पंच-सन्धियों**मे पाँचवी सन्धि। दशरूपककारने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है: "बीज-वन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथापथम्। ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत्" (द० रू०, १:४८), अर्थात्, जहाँ एक ही प्रमुख प्रयोजनमे **कार्य** और **फलागम**के साथ ही अन्यान्य अर्थोंका पर्यवसान हो जाता है, वहाँ निर्वहण सन्धि होती है। प्रधान अर्थकी परिसमाप्तिके कारण इसे निर्वहण सन्धि कहा जाता है।

'स्कन्दगुप्त'मे जहाँ भटार्क अपने सुधारका संकल्प कर लेता है और विपत्तियाँ टल जाती हैं, वहाँसे आगे निर्वहण सन्धि आरम्भ हो जाती है। अब विरोधी शिविरके लोग या तो नायकके अनुकूल होने लगते है या फिर अपनी इहलौकिक लीला संवरण कर लेते है। 'चन्द्रगुप्त'मे सेल्यूकसके परास्त होनेके पश्चात् जो सन्धि होती है, वह निर्वहण सन्धिका ही रूप है।

इसके निम्नलिखित सन्ध्यंग है—सन्धि, विबोध, ग्रथन, निर्णय, परिभाषण, प्रसाद, आनन्द, समय, कृति, भाषा, उपगूहन, पूर्वभाव, उपसंहार तथा प्रशस्ति।

इन सन्ध्यंगोंके प्रयोग प्रायः नही किये गये है (दे० 'सन्धि')। —व० सिं०

निर्वाण-निर्वाण बहुत प्राचीन शब्द है, जिसका प्रयोग गीतामें भी हुआ है। उसमें ब्रह्म-निर्वाण उस अवस्थाको बताया गया है, जहाँ योगी इन्द्रियजित् और वासनामुक्त होकर पहुँचता है (श्रीमद्भगवद्गीता—अध्याय ५)। बौद्धोंने इस शब्दको अपनाया और साधकके प्राप्य परमपदके रूपमे इसीका व्यवहार किया। शून्यवाद और विज्ञानवाद, दोनो-की निर्वाण सम्बन्धी अपनी पृथक् मान्यताएँ थीं (दे० 'शून्य-वाद', 'विज्ञानवाद'), किन्तु सिद्धोंने यह माना था कि सहजावस्था भव और निर्वाण, दोनोंसे परे है और उसमें प्राप्त होनेवाला **महासुख** ही साधकका लक्ष्य होना चाहिए। "आइ ण अन्त ण मज्झ ण, णउ भव णउ निब्बाण, एहु सो परम महासुह णउ पर णउ अप्पाण" ('दोहाकोष': प्र० चं० बागची)। नाथ-पन्थमे आत्मानुभव-को ही निर्वाण बताया गया है जिसे नाद-साधनासे प्राप्त किया जाता है—"नासिका अग्रे पवन लुकाइबा, तब रहि गया पद निरवान।" "नाद ही ते पाइये परम निरवाना" (गो० बा०: पी० द० बड़थ्वाल)। सन्तोंने भी परमपदकी संज्ञा निर्वाण मानी है—"आपा पदुनिरबानु न चीन्हिआ इन विधि अभिउन चूकै" (सन्त कबीर: रामकुमार वर्मा)। शब्द या नाद द्वारा प्राप्त होनेके कारण इसे शब्द-निर्वाण भी कहा जाता था। परवर्ती कबीरपन्थी साहित्यमें निर्वाणको आदिपुरुषका विशेषण मानकर निर्वाणपुरुषको सहजपुरुषके भी आगे मान लिया गया था (पं० मु० सा०)। कहीं-कहीं इसे साधनमात्र माना गया और इसके द्वारा सामीप्य मुक्तिकी उपलब्धि बतायी गयी (ज्ञा० स्थि० बो०, 'बोधासागर')। —ध० वी० भा०

निर्वेद १-तैंतीस संचारियोंका नामोल्लेख करते हुए भरतने सर्वप्रथम निर्वेद संचारीका नाम लिया है। इसके सम्बन्धमें आचार्योंने विविध तर्क दिये है। उनका कहना है कि भरतने स्थायी भावोंके ठीक बाद और संचारियोके ठीक पहले निर्वेदका उल्लेख विशेष प्रयोजनसे किया है। लौकिक विषयोसे उदासीन रहनेके कारण यह अमंगलत्वका द्योतक है। मांगलिक मुनि इस प्रकारका अमांगलिक विधान नही कर सकते। इसके मूलमें कोई रहस्य है। यद्यपि यह अमंगलत्वका बोधक है, फिर भी इसका प्रथम उल्लेख किया गया है, क्योंकि यह स्थायी भाव भी है (अ० ना० भा०, २६९-९०:३३४)।

स्थायी भाव होनेसे इसका पूर्वनिर्देश हो चुका है, अतः अमंगलत्वका परिहार हो जाता है। कुछ लोगोने निर्वेदको 'देहरी-दीप'की संज्ञा दी है। राघवन् (द नम्बर ऑव रसाज)का कहना है कि भरतके विचारसे इसे स्थायी और

संचारी दोनो ओर परिगणित करना चाहिए। वस्तुस्थिति यह है कि भरतने आठ ही रस माने हैं और शान्त रसको भी उन्हींके नामपर चालू करनेके प्रलोभनसे ही उपर्युक्त तर्कोंकी उद्भावना की गयी है।

निर्वेद सचारीकी व्याख्या करते हुए भरतने निर्वेदोत्पादक कई कारणोका उल्लेख किया है—दारिद्र्य, व्याधि, इष्टजनवियोग, तत्त्वज्ञान आदि (नाट्य०, ७ : २८)। कुछ आचार्योंका कहना है कि तत्त्वज्ञानजन्य निर्वेद ही शान्तका स्थायी भाव है। दारिद्र्य, व्याधि, क्रोध, इष्टजन वियोग आदि जन्य निर्वेद संचारी है। शारंगदेवका कहना है—"स्थायी स्याद्विषयेष्वेव तत्त्वज्ञानोद्भवो यदि। इष्टानिष्टवियोगाप्तिकृतस्तु व्यभिचार्यसौ"। इससे इतना तो स्पष्ट है कि एक संस्थानके विचारक निर्वेदको शान्त रसका स्थायी माननेको तैयार नहीं हैं तथा दूसरे संस्थानके आचार्य उसे शान्तके स्थायीके रूपमें प्रतिष्ठित करनेको कटिबद्ध हैं। पर भरतके आधारपर सभी लोगोने इसे संचारीके रूपमें स्वीकार किया है। विश्वनाथ (१४ श० ई०) और धनंजय (१० श० ई०)ने भरतके अनुरूप इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—"तत्त्वज्ञानादीर्ष्यादेर्निर्वेदः स्वावमाननम्। तत्र चिन्ताश्रुनिःश्वासवैवर्ण्योच्छ्वासदीनताः" (द० रू०, ४ : ९), अर्थात् तत्त्वज्ञान, आपत्ति या ईर्ष्याके कारण स्वयंका तिरस्कार, निर्वेद नामक व्यभिचारी भाव कहलाता है। चिन्ता, अश्रु, वैवर्ण्य, उच्छ्वास तथा दीनता इसके अनुभाव हैं।

रीतिकालीन कवियोंने भी संस्कृत आचार्योंकी ही उद्धरणी प्रस्तुत की है। देव (१६-१७ श० ई०)के अनुसार "चिन्ता, अश्रु, प्रकाश करि अपनोई अपमानु। उपजहिं जहँ...सो निर्वेद वखानु" (भाव० : संचारी) और पद्माकर (१७–१८ श० ई०) परिभाषा देते हुए लिखते तथा उसके अनुभावोंको प्रस्तुत करते हैं—"उर उपजै कछु खेद लहि, विपति ईरषाज्ञान, ताही ते निज निदरिबो, सो निरबेद बखान। अति उसास अरु दीनता, विवरन अश्रु-निपात। निरवेदहु तें होत है, ये सुभाव निज गात" (जगद्वि०, ४७१-७२) और उन्हींका उदाहरण है—"यो मन लालची लालचमे लगि लोभ तरंगनमें अवगाह्यो। त्यों पद्माकर देहके गेहके नेहके काज न काहि सराह्यो। पाप किये पै न पातकी पावन जानिकै रामको प्रेम निवाह्यो। चाह्यो भयो न कछू कबहूँ जमराजहूसे वृथा बैर बिसाह्यो" (वही, ४७३)। —ब० सिं०

निर्वेद २—शान्त रसका स्थायी भाव निर्वेद है। निर्वेदका सामान्य अर्थ है सांसारिक विषयोंमें विराग या विरक्ति। यह चित्तकी अभावात्मक वृत्ति है, जो संसारके भौतिक आनन्दों एवं सुखोंकी ओरसे उसे मोड़कर परमार्थ अथवा ईश्वरकी ओर उन्मुख करती है। इस रूपमें निर्वेद रतिका ठीक विरोधी है तथा उसकी चरम परिणति मानसिक किंवा आध्यात्मिक शान्तिमें होती है।

लेकिन, शान्त रसके स्थायी-रूपमें 'निर्वेद'के अतिरिक्त विस्मय, शम, उत्साह, जुगुप्सा तथा धृति भी माने गये है। किन्तु 'विस्मय' सभी रसोंमें संचार करता है तथा वह अद्भुत रसका स्थायी भाव है ही। जुगुप्सामें केवल मनः संकोच होता है तथा उसमें विरक्तिकी कोई शक्तिमती प्रेरणा नहीं मिलती। उत्साह, धृति इत्यादि ऐसी चित्तवृत्तियाँ हैं, जो मनको लौकिक सुखोपभोगकी ओर प्रवृत्त करती हैं। अतएव शान्त रसका स्थायी निर्वेद ही है। मम्मट प्रभृति आचार्योंने निर्वेदको शान्त रसका स्थायी स्वीकार किया है, यद्यपि वह व्यभिचारी भी होता है। नाट्याभिनयके लिए अनुपयुक्त समझनेके कारण भरतने निर्वेदको पहले स्थायित्वका गौरव नहीं दिया, लेकिन बादको शान्त रसको स्वीकार करनेके साथ तत्त्वज्ञानसे उत्पन्न निर्वेदको भी स्थायी स्वीकार किया है। पण्डितराजने निर्वेदकी यों परिभाषा दी है—"जिसकी (वेदान्त आदिके द्वारा) नित्य और अनित्य वस्तुओंके विचारसे उत्पत्ति होती है और जिसका नाम विषयोंसे विरक्ति है, उसे 'निर्वेद' कहते हैं। लेकिन यह निर्वेद इष्टवियोग, अनिष्ट-प्राप्ति तथा गृहकलह इत्यादिसे भी उत्पन्न हो सकता है और तब वह 'व्यभिचारी' होता है, स्थायी नहीं। तत्त्वज्ञानसे उद्भूत निर्वेद ही 'स्थायी' संज्ञाका अधिकारी है, क्योंकि तभी उसमें उत्कटत्व इत्यादि गुणोंका सन्निवेश हो सकता है।

विश्वनाथने शान्त रसका स्थायी "निःस्पृहताकी अवस्थामें आत्माके विश्रामसे उत्पन्न सुख"को माना है, जिसकी संज्ञा 'शम' कही गयी है। वास्तवमें यह 'शम' निर्वेद (विरक्ति)-की ही प्रसृति है और व्यावहारिक दृष्टिसे इन दोनोंमें कोई भेद नहीं मानना चाहिए।

धृति, मति, उद्वेग, ग्लानि, जडता इत्यादि निर्वेद स्थायीके संचारी हैं। उदा०—"सबहि सुलभ नित विषय सुख, क्यो तू करत प्रयास। दुर्लभ यह नर तनु समुझि जिय, करहु न वृथा विनास" (पोद्दार : र० मं०)।

वैराग्यका उपदेश होनेसे यहाँ 'निर्वेद' भावमात्रकी व्यंजना है, स्थायीकी पुष्टि नहीं हो सकी है —र० सिं०

निर्वैयक्तिकतावाद—इस आलोचनात्मक दृष्टिकोणका विवेचन 'अज्ञेय'ने 'त्रिशंकु'मे किया है। "इलियटकी उक्ति है कि कलाकार, जो भोगता है, उससे पृथक् है जो सर्जन करता है" और यह पार्थक्य जितना बडा है, उतना ही बड़ा वह कलाकार होता है। भाव-दशा और रस-दशाके अन्तरवाला, अनुभूतिके परिपक्व बननेकी प्रक्रियावाला अन्तर ही यहाँ प्रधान नहीं है, बल्कि कलाकार या साहित्यकारके तटस्थ्यका प्रश्न प्रधान है। इस बातका दूसरा पहलू यह भी है कि दिन-ब-दिन ज्यों-ज्यों जगत् और जीवन अधिक यन्त्र-संकुल, विज्ञान-चालित और रागहीन होता जा रहा है, मनुष्यके अहं और उसके आसपासके परिवेशके बीच, अहं और काम (ईगो और इड)के बीच तनाव, खिचाव और कहीं-कहीं विघटन और खाई भी बढ़ती जा रही है। कविकर्म अब निरा व्यक्ति-रंजन नहीं रहा, उससे अधिक उसका दायित्व है और उसके लिए आवश्यक है कि कवि अपने आपको भी निरपेक्ष दूरीसे विश्लेषित कर सके। निर्वैयक्तिकता इसीमेंसे जागी। 'आब्जेक्टिव' दृष्टिकोण कहीं हावी हो गया और 'सब्जेक्टिविज्म' प्रायः लापता हो गया, परन्तु वह भी सही स्थिति नहीं थी। सही स्थिति व्यक्तिकी यह एक साथ दोहरी चेतना है। वह व्यक्ति भी है और निर्वैयक्तिक भी है। सन्त कवि ज्ञानेश्वरने कहा है कि

"इन्द्रियोंके बिना संवेदन, अचेतनमें चेतना (इन्द्रियेविण संवेदिजे । जेणिवेनं जाणिजे)—यही परम साध्य स्थिति है" । —प्र० मा०

निर्हेतु–दे० 'अर्थ-दोष', आठवाँ ।

निशिपालिका–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद । 'प्राकृतपैंगल' (२ : १६०)में इस छन्दका लक्षण है : भ ज स न रके योगसे यह वृत्त बनता है (ऽ।।, ।ऽ।, ।।ऽ, ।।।, ऽ।ऽ) । यह वृत्त स्रग्विणी परिवारका है, क्योंकि इन दोनों छन्दोंकी मात्रिक लय समान है । केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है । उदा०—"काम बन राम सब वास तरु देखियो । नैन सुखदैन मन मैनमय लेखियो" (रा० चं०, २ : २९) ।

निश्चय-अलंकार–अपह्नुतिकी जातिका अर्थालंकार । प्रकृत (मूल वर्ण्य)का निषेध करके अन्य (अप्रस्तुत)की स्थापना अपह्नुति है; इसके विपरीत अन्य अप्रस्तुतका निषेध करके प्रकृत प्रस्तुतकी स्थापना निश्चय-अलंकार कहलाता है। प्रतिष्ठापक विश्वनाथके अनुसार लक्षण है—"अन्यन्निषिध्य प्रकृत-स्थापनं निश्चयः पुनः" (सा० द०, १० : ५७) । निश्चयान्त सन्देह-अलंकार इससे भिन्न है, उसमें जिसको सन्देह होता है उसीको अन्तमें निश्चय हो जाता है । यहाँ एकको सन्देह रहता है, परन्तु दूसरेको प्रारम्भसे ही निश्चय होता है । गीतगोविन्दके रचयिता जयदेवका "हृदिविलसते हारो नायं भुजङ्गमनायकः" आदि इसका प्रसिद्ध उदाहरण है । दूसरा उदाहरण विद्यापतिका यह छायानुवाद पद है—"कत न वेदन मोहि देसि मदना । हर नहिं बला, मोहि जुवति जना । विभूति भूषन नहिं, चानन्क रेनू । बघछाल नहि मोरा नेतक बसनू" । —ओ० प्र०

निश्चयात्मक आलोचना-प्रणाली–यह शब्द अंग्रेजीके 'जुडीशियल'का समानार्थी है । जुडीशियलका अर्थ है—निष्पक्ष निर्णयसे सम्बन्धित, न्याय-संगत आदि । अंग्रेजीके इस शब्दके लिए हिन्दीमें प्रचलित तथा मान्य शब्द—**निर्णयात्मक** है और उपयुक्त ही है ।

अंग्रेजीका 'क्रिटिसिज्म' शब्द जिस ग्रीक धातुसे आया है, उसका अर्थ होता है—निर्णय करना । पाश्चात्य साहित्यशास्त्रका प्रारम्भिक स्वरूप निर्णयात्मक ही था और उसके निर्णयके मानदण्ड नैतिक थे । परन्तु ज्यों-ज्यों आलोचनाशास्त्रका विकास होता गया, आलोचना व्याख्यात्मक होती गयी । वस्तुतः आलोचककी तीन सीढ़ियाँ हो सकती हैं । पहली अवस्थामें आलोचक रसज्ञ पाठककी तरह कृतिसे आनन्द प्राप्त करता है, दूसरी अवस्थामें वह तटस्थ होकर कृतिका अध्ययन-मनन करता है तथा तीसरी अवस्थामें वह निर्णय देता है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि निर्णय देना बहुत ही कठिन व्यापार है, क्योंकि आलोचक तो कलाकारसे अधिक सामाजिक उत्तरदायित्वका भार वहन करता है । आलोचक ही श्रेष्ठ या अश्रेष्ठ साहित्यकी रुचि अपने पाठकोंमें जगाता है । इस प्रकार आलोचकका निर्णय बहुत ही महत्त्वपूर्ण माना जायगा । अतः निर्णयकी स्थिति आलोचनाकी अन्तिम तथा उत्कृष्टतम स्थिति है । आलोचक साहित्य-क्षेत्रका श्रेष्ठ प्रबन्धकर्ता है और वस्तुतः आलोचना निर्णयका एक मानदण्ड है । आई० ए० रिचर्ड्सके शब्दोंमें आलोचना साहित्यिक अनुभूतिके विवेकपूर्ण विश्लेषणोपरान्त मूल्यांकनका एक अस्त्र है, एक साधन है । इसी प्रकार सभी आलचकोंने निर्णयको सर्वाधिक महत्व दिया है ।

इस प्रणालीका इतिहास बड़ा लम्बा है । चाहे निर्णयका जो भी स्वरूप रहा हो, यूनानी तथा रोमीय आलोचकोंसे लेकर आजके आलोचकोंतक इस पद्धतिका इतिहास पाया जा सकता है । प्लेटो कलात्मक उत्कृष्टताके मूल्यांकनका मानदण्ड सत्यकी अनुकूलताको मानता है । अरस्तू कलाके मूल्यांकनका मानदण्ड आदर्श मानता है । लांजायनस साहित्यके गुण जाँचनेके मानदण्डको आनन्दका स्वरूप देता है । मेथ्यू आर्नल्ड ... सबरी तुलनाको श्रेष्ठतर आलोचना मानता है । इसी प्रकार टाल्स्टॉय, पी० ई० ह्यूम, रिचर्ड्स, टी० एस० इलियट आदि सबने एक स्वरसे निर्णयको आलोचनाकी अन्तिम परिणति माना है ।

संस्कृत साहित्यशास्त्रमें भी इस पद्धतिका इतिहास उपलब्ध है । संस्कृतके आचार्योंने भी निर्णयको ही आलोचनाका मूल स्वरूप माना है । भरत मुनिसे लेकर राजशेखरतक सबने किसी-न-किसी तरह इसे अपनाया है । प्रारम्भमें मानदण्डके आधार नैतिक रहे, फिर साहित्यके बाह्य तत्त्व हुए, फिर रूढ़ि हुए । तत्पश्चात् मूल्यांकनके मानदण्ड धीरे-धीरे वैज्ञानिक होते गये ।

हिन्दीमें भी निर्णय आलोचनाका प्रमुख अंग बना रहा । मिश्रबन्धु, भगवानदीन आदि प्रारम्भिक आलोचकोंने संस्कृतके रीतिकालीन मानदण्ड अपनाये, तो रामचन्द्र शुक्लने रसवादी तत्त्वोंको अपनी आलोचनाका मानदण्ड बनाया । इस प्रकार हिन्दीकी अधिकांश आलोचनामें इस पद्धतिको प्रश्रय मिला ।

सच पूछा जाय तो आलोचना निर्णयके अभावमें सच्चे अर्थोंमें कोई महत्त्व नहीं रखती । साहित्य यदि जीवनके सत्यकी अभिव्यक्ति है तो आलोचना साहित्य द्वारा अभिव्यक्त मानवीय मूल्योंकी निर्णायक है । परन्तु आलोचनाका एकमात्र यही कर्तव्य नहीं है, यह तो उसका अन्तिम कर्तव्य है । —रा० कु० स०

निष्काम-भक्ति–भगवान्के प्रति कामनासे किया जानेवाला प्रेम सकाम-भक्ति कहलाता है । आर्त, अर्थार्थी और जिज्ञासुकी सकाम-भक्ति कहलाती है । भगवान्के प्रति कामनारहित किया जानेवाला प्रेम निष्काम-भक्ति कहलाता है । मर्यादिकी भक्तिमें फलाकांक्षाका प्राधान्य रहनेसे वह सकाम और पुष्टि भक्तिमें केवल अनुग्रह-भाव रहनेसे वह निष्काम-भक्ति कही जाती है । पुष्टिमार्गमें **मुक्ति**की भी कामना नहीं की जाती । (नैयायिक जन्म-मरणके दुःखसे विमोक्षको अपवर्ग 'मुक्ति' मानते हैं । मीमांसाकार आत्माके 'प्रपंच सम्बन्धविलय'का नाम मोक्ष, वेदान्ती प्रपंचविलयको ही तथा वैष्णव 'ब्रह्मभावापत्ति'—'ब्रह्मके साथ एकात्म भाव'को मोक्षकी संज्ञा प्रदान करते हैं । —वि० मो० श०

निहितार्थ–दे० 'शब्द-दोष', पाँचवाँ 'पद-दोष' ।

नीतिकाव्य–'नीति' शब्दका सम्बन्ध संस्कृतकी 'णीञ्' धातुसे है, जिसका अर्थ 'ले जाना' या 'पथप्रदर्शन करना' होता है । इस प्रकार धात्वर्थकी दृष्टिसे नीति वह है, जो

'ले जाय' या 'आगे ले जाय'। पर यह नीति शब्दका व्यापकतम अर्थ है और यदि इसे स्वीकार करें तो कला, विज्ञान और वाणिज्य आदिकी सारी शाखाएँ-प्रशाखाएँ नीतिके अन्तर्गत आ जायेंगी, क्योंकि वे मनुष्यको किसी-न-किसी क्षेत्रमें आगे ले जाती हैं। प्रस्तुत सन्दर्भमें प्रयुक्त 'नीति' शब्द इतना व्यापक अर्थ नहीं रखता। उसकी स्थूल परिभाषा कुछ इस प्रकार दी जा सकती है—समाजको स्वस्थ एवं सन्तुलित पथपर अग्रसर करने एवं व्यक्तिको अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्षकी उचित रीतिसे प्राप्ति करनेके लिए जिन विधि-निषधमूलक सामाजिक, व्यावहारिक, आचारिक, धार्मिक तथा राजनीतिक आदि नियमोंका विधान देश, काल और पात्रके सन्दर्भमें किया जाता है, उसे 'नीति' शब्दसे अभिहित करते हैं। इस अर्थमें 'नीति' शब्दके प्राचीन प्रयोग 'महाभारत' तथा 'मनुस्मृति' आदिमें मिलते हैं। इस प्रकार ५०० ई० पू०-के लगभगतक यह शब्द इस अर्थमें प्रयुक्त होने लगा था।

'नीति'के अन्तर्गत आनेवाली इस प्रकारकी बातोंसे युक्त काव्य 'नीतिकाव्य' है। 'नीतिकाव्य'को 'औपदेशिक' या 'उपदेशात्मक' काव्य भी कहा जाता है, पर यथार्थतः केवल औपदेशिक शैलीमें लिखी गयी नीति-कविताओंके लिए ही ये नाम अधिक युक्तिसंगत हैं। सूत्रात्मक तथा अन्य शैलियोंमें लिखी गयी नीति-कविताओंमें काव्यगुण अपेक्षाकृत अधिक होते हैं, अतएव उन्हें औपदेशिक श्रेणीसे अलग रखना ही ठीक होगा। ऐसी स्थितिमें औपदेशिक (या उपदेशात्मक) काव्यको 'नीतिकाव्य'का पर्याय न मानकर उसकी एक शाखा (विशिष्ट शैलीपर आधारित) मानना कदाचित् अधिक समीचीन होगा।

भारतीय साहित्यमें नीतिकाव्यके दर्शन अत्यन्त प्राचीन कालसे होते हैं। हमारा प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद इससे शून्य नहीं है। उसकी बहुत-सी सूक्तियाँ तथा आख्यायिकाएँ नीतिपरक हैं। वहाँसे यह परम्परा संस्कृत ('धौम्यनीति', 'विदुरनीति', 'बृहस्पतिनीति', 'शुक्रनीति', 'चाणक्यनीति', भर्तृहरिका 'नीतिशतक' तथा 'कामन्दक-नीति' आदि), पालि ('जातक' तथा 'धम्मपद' आदि), प्राकृत ('उपदेश-माला', 'कथाकोशप्रकरण', 'गाहासत्तसई' तथा 'वज्जालग्ग' आदि) तथा अपभ्रंश ('पाहुड दोहा', 'सावय धम्म दोहा', 'उपदेश रसायन' तथा 'प्राकृतपैंगल'में उद्धृत छन्द आदि)मे होती हिन्दीमें आयी है। नीतिकाव्यके क्षेत्रमें भारतीय साहित्य विश्वसाहित्यमें अपना अनुपमेय स्थान रखता है। विण्टरनीत्सने स्पष्ट शब्दोंमें इसे स्वीकार किया है।

'नीतिकाव्य'का उद्भव और विकास सामाजिक और वैयक्तिक जीवनकी आवश्यकताओंके कारण हुआ है अतीत-के अनुभवोंपर आधारित उन निष्कर्षोंको इसमें अभिव्यक्ति दी गयी है, जो व्यष्टि और समष्टि दोनोंका (एक दूसरेका ध्यान रखते हुए) पथ प्रशस्त कर सकें। इसी कारण इसमें समयानुसार परिवर्तन और परिवर्द्धन भी होते रहे हैं। इस रूपमें नीतिकाव्यका महत्त्व उसकी उपयोगिताके कारण ही विशेष है। इसीलिए यह काव्यकी अन्य धाराओंकी तुलनामें कम ललित तथा रसहीन है। कुछ लोगोंने इसी आधारपर नीतिके कवियोंको कवि तथा नीतिकाव्यको काव्य कहना ठीक नहीं समझा है (रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्यका इतिहास, सं० २०२०, पृ० ३५५), किन्तु ऐसा कहना न्याय नहीं है। 'नीतिकाव्य' काव्य अवश्य है, पर रसकाव्यकी भाँति बहुत उच्च कोटिका नहीं है।

नीतिकाव्यका आकलन और मूल्यांकन ऐतिहासिक तथा विषयगत, दोनों ही दृष्टियोंसे किया जा सकता है। आदि-कालीन हिन्दी साहित्यके प्राप्त नीति-अंश युगके अनुकूल शौर्य तथा राजनीतिसे विशेष सम्बद्ध हैं। केवल नाथोंने धर्म और आचारकी कुछ बातें कही हैं। भक्तिकालमें सन्तों तथा तुलसी आदिका नीतिकाव्य विशेष रूपसे धर्म और समुचित आचारसे सम्बद्ध है। तुलसीकी दृष्टि समाजपर व्यापक रूपसे पड़ी थी, इसीलिए उनमें राजनीति और व्यवहार-नीतिका भी समावेश है। पर इसी कालके रहीम भक्तोंकी दुनियासे प्रायः दूर हैं, अतः उनका नीतिकाव्य समाज और व्यवहार-नीतिको अधिक व्यापक और व्यावहारिक रूपमें समाहित कर सका है। रीतिकालमें अन्य धाराओंकी भाँति ही नीतिकाव्यमें भी परम्परागत भावोंको ही विशेष रूपसे अभिव्यक्ति मिली है। कबीर, रहीम या तुलसी जैसी स्वानुभूतिकी पृष्ठभूमि इसमें कम है, इसीलिए उस गाम्भीर्य-का भी अभाव है। साथ ही वह (रीतिकालीन नीतिकाव्य) तत्कालीन समाजसे भी कबीर और तुलसी आदिकी तुलना-में प्रायः असम्पृक्त है। आधुनिक युगका नीतिकाव्य युगरुचि के अनुकूल न होनेके कारण मात्रामें अत्यल्प है तथा विशेष रूपसे आधुनिक राजनीतिक तथा सांस्कृतिक आन्दोलनों (स्वतन्त्रता, स्त्रीशिक्षा, राष्ट्रप्रेम, अछूत-प्रेम, वीरता, मानवता, जातिव्यर्थता तथा उद्योग आदि)के प्रधान विषयोंपर ही आधारित है। परम्परागत नीतिकी बातें उसमें अधिक नहीं हैं। इसे वातावरणका प्रभाव या युगकी आवश्यकता माना जा सकता है।

नीतिकी परिभाषा देते समय जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है, नीतिकाव्यमें धर्म आचार (ईश्वर, दया, परोपकार अहिंसा तथा भक्ष्याभक्ष्य आदि), व्यवहार (कुल, पड़ोसी, शत्रु, मित्र, स्त्री, पुत्र, माता-पिता, भाई, परिचित-अपरिचित तथा बड़े-छोटे आदि), राजनीति (राजा तथा उसका विभिन्न वर्गोंके प्रति कर्तव्यादि) तथा अन्य अनेकानेक सामान्य विषयों (धन, स्वास्थ्य, जवानी, गुण, अवगुण, खेती, व्यापार, भाग्य, ऋण, मूर्खता तथा विद्या आदि)के सम्बन्धमें देश, काल और पात्रके सन्दर्भमें करणीय और अकरणीय बातोंपर प्रकाश डाला गया है। नीतिकाव्यकी भावभूमि इतनी विस्तृत है कि देशकी नैतिक परम्पराके अनुकूल व्यक्ति और समाजके समुचित विकासके लिए आवश्यक जितनी भी सामान्य बातें हैं, सभी इसमें समाविष्ट हैं। नीतिके कवियोंने विभिन्न परिस्थितियोंमें जीवनको तथा उसकी सफलताओं-असफलताओं, उपलब्धियों एवं सम्भा-वनाओंको बहुत निकटसे देखा है, इसीलिए उनकी बातें कहीं भी कल्पनापर आश्रित नहीं हैं। या तो वे स्वानुभूति हैं या परम्परानुभूति (इस दृष्टिसे हिन्दी नीति-साहित्य संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश तथा फारसीसे पर्याप्त मात्रा-में प्रभावित है)। यही कारण है कि भारतीय जीवनमें उनकी

उपयोगितापर प्रश्नवाचक चिह्न नहीं लगाया जा सकता।

हिन्दी नीतिकाव्यको शैलीकी दृष्टिसे प्रमुखतः तीन वर्गों—उपदेश, अन्योक्ति और सूक्तिमे रखा जा सकता है। इनमें उपदेशात्मक शैलीका नीतिकाव्य शिल्पकी दृष्टिसे निकृष्टतम श्रेणीका है। इसमें उपदेशकी बातें सीधे शब्दोमे बिना वाग्वैदग्ध्यके रखी गयी है। कबीर, तुलसी, घाघ, भड्डरी तथा गिरिधर कविरायने इस शैलीका विशेष रूपसे प्रयोग किया है। अन्योक्ति शैलीका नीतिकाव्य यो तो थोड़ा-बहुत रहीम, तुलसी, बिहारी, वृन्द, रामचरित उपाध्याय तथा भगवानदीन आदि प्रायः सभी प्रमुख नीतिकारोमे मिल जाता है, पर दीनदयालने विशेष रूपसे इसका प्रयोग किया है। अन्योक्ति एक अलंकार है, जिसके सहारे कही गयी नीतिकी बातें 'शूगर-कोटेड पिल्स'की तरह अरुचिकर न लगते हुए अपना पूरा प्रभाव डालती है। कलाकी दृष्टिसे सूक्ति-शैलीमें लिखा गया नीतिकाव्य श्रेष्ठतम है। इसमें अर्थान्तरन्यास, उदाहरण, दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, लोकोक्ति, विशेषोक्ति, सार, कारणमाला, एकावली तथा विनोक्ति आदि अलंकारोंका आधार लेनेके कारण अभिव्यक्ति बड़ी सुन्दर तथा प्रभविष्णु हुई है। रहीम, वृन्द, दीनदयाल तथा भगवानदीनने इसका विशेष प्रयोग किया है; यों तुलसी, रत्नावली, बिहारी तथा रामचरित उपाध्याय आदि अन्य कवियोंमें भी इसके प्रयोग मिल जाते है।

नीतिकाव्यमें प्रमुख रूपसे ब्रजभाषाका और गौण रूपसे खड़ीबोली तथा डिंगलका प्रयोग हुआ है। इसकी भाषा कुछ अपवादोंको छोड़कर सरल, सशक्त और प्रवाहपूर्ण है। इसमें मुहावरोंका तो कम, पर लोकोक्तियोंका समुचित प्रयोग हुआ है।

नीतिकाव्यके प्रिय छन्द दोहा और कुण्डलियाँ है, पर गौण रूपसे छप्पय, चौपाई, सवैया तथा कवित्त आदिका भी प्रयोग हुआ है।

नीतिकी कुछ-न-कुछ बातें यो तो प्रायः सभी कवियोमें मिल जाती है, विशेषतः बीरबल, गंग, रत्नावली, अग्रदास, दादू, मनोहर, जमाल, सुन्दरदास, बिहारी, रसनिधि, जान, भड्डरी, बैताल, छत्रसाल, बाँकीदास, रामसहायदास, विश्वनाथ सिंह, सम्मन, प्रतापनारायण मिश्र, रामप्रसाद तिवारी, शिवसम्पति, रामचरित उपाध्याय तथा दुलारेलाल भार्गव आदिके काव्यमे तो इसके बड़े सुन्दर उदाहरण हैं, पर नीतिके प्रमुख कविके रूपमें कबीर, नरहरि, तुलसी, घाघ, रहीम, वृन्द, गिरिधर, दीनदयाल तथा भगवानदीनके ही नाम लिये जा सकते है। यहाँ इनके अत्यन्त संक्षिप्त परिचय दिये जा रहे हैं।

कबीर : (१३९८-१५१८ ई०)—कबीर यों तो निर्गुण-धाराके कवि है, पर नीतिकाव्यको भी उनकी देन कम महत्त्वपूर्ण नही है। उनकी अधिकांश साखियाँ नीति और उपदेश की हैं। कबीरकी साखियोंका सबसे बड़ा संग्रह गुजरातसे प्रकाशित हुआ है, जिसमे लगभग १८०० साखियाँ है, पर उनमें कितनी साखियाँ कबीरकी है और कितनी प्रक्षिप्त हैं, यह कहना कठिन है। किसी अन्य अधिक प्रामाणिक संस्करणके अभावमें श्यामसुन्दर दास द्वारा सम्पादित 'कबीरग्रन्थावली'को ही प्रामाणिक मानते हुए कहा जा सकता है कि कबीरके प्रधान नीति-विषय गुरु, संशय, प्रेम, क्रोध, काम, गर्व, मन, नारी, धन, हँसी, निन्दा, आडम्बर, संग, दुःख, अहं, साधु, कपट तथा आशा आदि है। इनमें उपदेशात्मक शैली तथा धर्म और आचारसे सम्बन्धित नीतिविषयोंका ही प्राधान्य है।

नरहरि : (१५०५-१६१० ई०)—अकबरके दरबारी साहित्यकारोंमें नरहरि सबसे अधिक वयोवृद्ध थे। इनको अकबरने 'महापात्र'की उपाधि दी थी। ये असनी, फतेहपुरके रहनेवाले थे। कहा जाता है इनके एक छन्दको सुनकर अकबरने गोवध बन्द करा दिया था। नरहरिका सम्बन्ध सूरीवंशसे भी था। शेरशाहके उत्तराधिकारी सलीमशाहने भी इनका यथोचित सम्मान किया था। इनका नीतिसम्बन्धी ग्रन्थ 'छप्पयनीति' है जो पूरा नहीं मिलता। अबतक इसके केवल ६० छप्पय मिले है। इनमें अधिकतर अकबरको सम्बोधित करके उसे नीतिकी शिक्षा देनेके लिए लिखे गये है। नरहरिके नीतिकाव्यके प्रधान विषय राजा, प्रजा, दान, मित्र, शत्रु, दुष्ट, प्रेम, लोभ तथा नारी आदि है।

तुलसी : (१५३२-१६२३ ई०)—रामभक्तिशाखाके प्रमुख कवि तुलसीका नीतिके कविके रूपमे भी अप्रतिम स्थान है। इनकी नीतिकी सूक्तियाँ उत्तरी भारतकी हिन्दू जनताकी जबानपर हैं और जीवनके हर क्षेत्रमें वे पथप्रदर्शन करती है। जीवनकी जितनी अधिक परिस्थितियोंका स्पर्श तुलसीके नीतिकाव्यने किया है, उतना और किसी भी नीतिकविके काव्यने नहीं किया। नीतिकी दृष्टिसे तुलसीके प्रधान ग्रन्थ 'रामचरितमानस' तथा 'दोहावली' है। इनके प्रधान विषय भक्ति, धन, मित्र, स्त्री, माता-पिता, परिवार, गर्व, संसार, मोह, माया, सन्तोष, उपकार, संग, विश्वास, दुःख-सुख, स्वामी, नौकर, राजा, मन्त्री, सज्जन, दुर्जन, भाग्य, मन, ऋण, मूर्ख तथा समय आदि हैं।

घाघ : (१७ वीं शती वि०)—घाघ कन्नौजके रहनेवाले दुबे ब्राह्मण थे। ये अकबरके समकालीन थे। अकबरने इन्हे चौधरीकी उपाधि दी थी और उसीकी आज्ञासे इन्होंने 'अकबराबाद सराय घाघ' नामक गाँव बसाया था, जो अब 'चौधरी सराय' नामसे प्रसिद्ध है और जिसका अब भी कागजातमे नाम 'सराय घाघ' है। घाघका नीतिकाव्य कहावतके रूपमे बहुत प्रचलित है। इसकी कोई पुरानी पोथी नही मिलती। रामनरेश त्रिपाठीने मौखिक परम्परासे इनके ३२३ छन्द एकत्र किये है, जिनमे बहुतोंकी केवल एक पंक्ति ही मिली है। मौखिक परम्परासे प्राप्त होनेके कारण यह कहना बड़ा कठिन है कि इनमें कितने छन्द इनके है और कितने अन्यके। त्रिपाठीजीके संग्रहके आधारपर कहा जा सकता है कि घाघने अपने छन्दोंमें व्यवहार, स्वास्थ्य, खेती तथा व्यापारके सम्बन्धमें बड़ी पतेकी बातें कही हैं। ये बातें प्रायः सीधे शब्दोंमें बिना किसी अलंकरणके कही गयी है।

रहीम : (१५५६-१६२६ ई०)—रहीम अकबरी दरबारके सबसे बड़े कवि थे। इनका नाम अब्दुर्रहीम खानखाना था और 'रहीम' इनका तखल्लुस था। रहीमकी दोहावली नीतिका बड़ा ही सुन्दर ग्रन्थ है। कुछ लोगोंका अनुमान है कि इन्होंने कोई सतसई लिखी थी, प्राप्त दोहावली

जिसका एक अंश है, पर इस अनुमानके लिए किसीने कोई पुष्ट आधार नहीं दिया है। रहीमकी दोहावलीमें २८७ छन्द हैं, जिनमें ८ सोरठे हैं और शेष दोहे। इनके नीति-विषय राजा, नारी, ऋण, मंगन, नीच, मित्र, संग, मूर्ख, धन, समय, पुत्र, चापलूसी, गर्व, गुण, संसार, ईश्वर, प्रेम तथा भाग्य आदि हैं। इन्होंने सूक्ति-शैलीमें ही अधिक लिखा है।

वृन्द :(१६४३-१७२३ ई०)—मेड़तेके वृन्दावनको हिन्दी संसार वृन्द नामसे जानता है। ये जोधपुरनरेश जसवन्त सिंह, किशनगढ़के राजा राज सिंह तथा औरंगजेबके कृपा-पात्र थे। इनका नीतिविषयक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'दृष्टान्तसतसई' है, जिसका प्रचलित नाम 'वृन्द सतसई' है। इसमें ७००-से कुछ अधिक छन्द हैं। वृन्दकी नीति-कविताका क्षेत्र व्यापक है और इसके प्रमुख विषय धैर्य, देना, समय, उपहार, संग, प्रेम, सत्य, उद्योग, प्रकृति, मन, सज्जन, दुर्जन, स्थान, शत्रु मित्र तथा राजा आदि हैं। कलापक्षकी दृष्टिसे वृन्द हिन्दीके सर्वश्रेष्ठ नीतिकार ठहरते हैं।

गिरिधर : (जन्म १६४३ ई०)—इनके जीवनके सम्बन्धमें कुछ भी ज्ञात नहीं है। इनका नीति-ग्रन्थ 'कुण्डलिया' है, जिसमें साढ़े चार सौसे कुछ अधिक कुण्डलियाँ गाँव-गाँवमें प्रसिद्ध हैं। इनकी कुछ कुण्डलियोंमें 'साँई' शब्द प्रारम्भ तथा अन्तमें आया है। लोगोंका कहना है कि ये कुण्डलिया इनकी स्त्रीकी बनायी हुई हैं। इनके नीति-छन्दोंके प्रधान विषय पिता, पुत्र, युग, नारी, यश, चिन्ता, वैर, विश्वास, संग, शत्रु, धन, लाठी तथा कमरी आदि हैं। इनमें व्यावहारिक बातें अधिक हैं। इन्होंने सीधे शब्दोंमें उपदेश या आदेशके ढंगसे अधिक बातें कही हैं। इसीलिए रामचन्द्र शुक्लने इन्हें कवि या सूक्तिकार न कहकर 'पद्यकार' कहा है।

दीनदयाल गिरि : (कविताकाल १८२२-१८५५ ई०)—ये काशीनिवासी एक संन्यासी तथा संस्कृतके प्रकाण्ड पण्डित थे। इनकी नीतिकी तीन पुस्तकें—'अन्योक्तिकल्पद्रुम' 'अन्योक्तिमाला' और 'दृष्टान्ततरंगिणी' मिलती हैं, जिनमें 'अन्योक्तिकल्पद्रुम' ही अधिक प्रसिद्ध है। 'अन्योक्तिकल्पद्रुम'में लगभग पौने तीन सौ छन्द हैं। इसमें शाखान्तोंके दोहोंको छोड़कर कुण्डलिया-छन्दोंमें बड़ी ही सुन्दर अन्योक्तियाँ हैं। 'अन्योक्तिमाला'में कुण्डलिया-छन्दमें लिखी ११० अन्योक्तियाँ हैं। 'दृष्टान्ततरंगिणी'में नीतिके २०६ दोहे हैं। गिरिकी अन्योक्तियोंके प्रस्तुत विषय जल, अजल, सूर्य, चन्द्रमा, दीपक, बादल, समुद्र, नदी, कमल, करील, सुमन, जौहरी तथा धन आदि हैं। इनके नीति-विषय राजा, भले, बुरे, सूम, मित्र, समय, मूर्ख, नारी, सन्तोष, भाग्य, विद्या, गर्व, परोपकार, यश, विश्वास तथा संसार आदि हैं। इनमें नवीनता कम है, प्रायः संस्कृतके कवियोंका इन्होंने आधार लिया है। प्रस्तुतोंके चयनमें अवश्य ये बहुत सफल हैं (दे० 'प्रबोध-काव्य', 'दृष्टान्त-काव्य')। —भो० ना० ति०

नीर—सन्तोंने सहस्रारसे झरनेवाले रससे आकाशसे बरसनेवाले जलकी तुलना करते हुए इस जलसे अपने भीजने एवं सारी सृष्टिके हरे होनेकी चर्चा की है—"आगासी मरु भरिआ नीरु। तामहि कवलु बहुत बिस्थीरु' प्रा० सं० १)। कहीं-कहीं नीर भवजल (भौ[illegible] भी प्रयुक्त हुआ है। —उ- -

नूर—नूरका अर्थ ज्योति है। सूफी कहते हैं कि परमात्माको सृष्टिके द्वारा अपनेको अभिव्यक्त करनेकी जब इच्छा हुई, तब परमात्माने अपनी ही ज्योतिसे एक ज्योतिका निर्माण किया। यह ज्योति 'नूरे-मुहम्मद' या 'नूरे अहमद' अथवा 'नूरुल-मुहम्मदिया' कही जाती है। यह ज्योति ही सृष्टिका आदि कारण है। इसी ज्योतिके लिए परमात्माने सृष्टि की तथा इसी ज्योतिके द्वारा ब्रह्माण्डका निर्माण किया। —रा० पू० ति०

नृत्यगीत—संगीत और नृत्य तो परस्पर अविच्छिन्न रूपसे सम्बद्ध हैं, काव्यका भी उन दोनोंसे आदिकालसे घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। समाजशास्त्रियोंका कहना है कि मानव-विकासकी प्रारम्भिक अवस्थामें नृत्य, संगीत और काव्य, तीनोंका प्रारम्भ एक ही साथ हुआ। उस समय तीनों कलाएँ अविच्छिन्न थीं। आदिम अवस्थामें मानव-समूह (कबीले) अपनी प्रसन्नता, उत्साह, शोक तथा धार्मिक भावनाओंकी अभिव्यक्ति सामूहिक रूपमें करते थे। यह भावाभिव्यक्ति सामूहिक नृत्यगीतके रूपमें होती थी। आज भी आदिम जातियोंमें इस प्रकारके समवेत नृत्यगीतकी प्रथा प्रचलित है। स्काटलैण्ड और फ्रान्समें समवेत नृत्य-गीतको पहले 'कैरोल' कहा जाता था, इटलीमें उसका नाम 'बेलारे' था। यूरोपीय 'बैले' (एक नृत्य)का मूल स्रोत यह 'बेलारे' ही है। साथ ही अंग्रेजीके 'बैलेड' नामक काव्य-रूप और बैलेड शब्दका विकास भी इसी 'बेलारे' (समवेत नृत्यगीत)से ही हुआ है।

नृत्यगीतके स्वरूपमें भी आदिकालसे अबतक निरन्तर विकास होता आया है। आदिम समाजमें सामाजिक या धार्मिक उत्सवोंके अवसरपर होनेवाले नृत्यगीतका स्वरूप क्या था, इस सम्बन्धमें नृतत्त्वशास्त्रियों और समाज-शास्त्रियोंका यह अनुमान है कि उसमें सामूहिक नृत्यके साथ कुछ थोड़ेसे, बहुधा अर्थहीन शब्दोंकी आवृत्ति, स्वरालाप, सम्बोधन और विस्मयादिबोधक शब्द होते थे। गानेके साथ ही वे लोग पदसंचालन भी करते थे, जिसमें सामंजस्यपूर्ण गति होती थी। यह पदसंचालनकी गति ही उनके गीतके स्वर नियत करती थी, जिससे गीतमें भी लय और तालकी योजना स्वतः हो जाती थी। इस तरह सामूहिक नृत्यगीतमें ही नृत्य, संगीत और छन्दका विकास हुआ। धीरे-धीरे चेतनाके विकास और धार्मिक या अन्य प्रकारकी प्रवृत्तियोंके उदयके साथ गीतमें सार्थक शब्दोंका प्रयोग अधिक हो गया। इस तरह एक गीतमें किसी एक भावना, प्रार्थना, घटना या कथाका वर्णन किया जाने लगा। कालान्तरमें ये भावनापरक गीत ही गीति (लिरिक), प्रार्थनापरक गीत (स्तोत्र-हिम) और घटना या कथा सम्बन्धी आख्यानगीत या लोकगाथा (बैलेड)के रूपमें विकसित हुए। किन्तु विकासकी पूर्णावस्थामें ये काव्यरूप सामूहिक नृत्यगीतसे पूर्णतः स्वतन्त्र हो गये, यद्यपि नृत्य अथवा संगीतसे उनका सम्बन्ध किसी-न-किसी रूपमें बना रहा और आज भी बना हुआ है (दे०—द बैलेड इन

लिटरेचर : टी० एफ० हेण्डरसन, पृ० ३; ए हैण्ड बुक ऑव पोएट्री : एफ० बी० गमियर, पृ० ९ और द इंगलिश एपिक एण्ड हीरोइक पोएट्री : एन० मैकनील डिक्सन, पृ० २८ : २९)।

हिन्दीमे कुछ लोगोंने लोकगाथा या बैलेडके लिए भी नृत्यगीत शब्दका प्रयोग किया है, पर यह शब्द भ्रामक है। जैसा पहले कहा जा चुका है, सामूहिक नृत्यगीतका नाम 'बैलारे' और 'बैले' भी था, पर बैलेडका विकास बादमें हुआ। बैलेडमें सामूहिक नृत्य अथवा एकाकी नृत्य आवश्यक नहीं रह गया, यद्यपि कहीं-कहीं उसका गान नृत्यके साथ बादतक भी होता रहा और अब भी होता है। ऐसे नृत्यको आख्यानक नृत्य या बैलेड डान्स कहा जाता था, बैलेड नहीं। अतः नृत्यगीत बैलेड नहीं बल्कि बैलेडका पूर्व या आदिरूप है। हिन्दी प्रदेशोंकी सामान्य जनतामें अनेक प्रकारके नृत्यगीत अब भी प्रचलित हैं, जैसे जौनपुर जिलेमे कहारोंका चौरसिया नृत्य, मीरजापुर जिलेमे आदिवासियोंका करमा नृत्य और शैला नृत्य। इनमें चौरसिया नृत्य आख्यानक नृत्य (बैलेड डान्स) और शेष दोनों नृत्यगीत (बैले) हैं (दे० 'लोकगाथा', 'साहित्यिक लोकगाथा')। —शं० ना० सिं०

नेउता–इसे न्यौरता भी कहा जाता है। 'न्यौरता' अथवा 'नौरता' अथवा 'नेउता' सम्भवतः नौरात्र (आश्विन)का अपभ्रंश रूप है। नौ दुर्गा अथवा गौरीके कुमारी-रूपकी पूजा इसके अन्तर्गत कुमारियों द्वारा की जाती है। ब्रज, बुन्देलखण्ड और मध्य प्रदेशके कुछ स्थानोमे न्यौरता खेला जाता है। अन्य प्रान्तोंमे इसके भिन्न रूप उपलब्ध हैं। ब्रजमे न्यौरताकी पृष्ठभूमिमें कुमारिकाओंकी मनोकामना-पूर्तिका आदर्श है। 'सुअटा' राक्षसकी कथा भी कही जाती है। कहते है, राक्षस कुमारियोंको कष्ट दिया करता था। पार्वतीने प्रसन्न होकर कुमारियोंकी रक्षाके लिए उसका वध कर दिया। तभीसे यह त्यौहार प्रचलित हुआ। 'न्यौरता' मिट्टीकी उस आकृतिको भी कहते है, जो इस त्यौहारके निमित्त बनायी जाती है।

बुलावेके गीतोंको भी 'नेउता' कहा जाता है। उसका ब्रजमें प्रचलित 'न्यौरता'से कोई सम्बन्ध नहीं —श्या० प०

नेपाली (भाषा तथा साहित्य)–नेपाल राज्यकी भाषा 'नेपाली' कही जाती है। नेपाली शब्द 'नेपाल'से बना है। नेपाल शब्दकी व्युत्पत्तिके सम्बन्धमें कई मत प्रचलित है। बौद्ध मतके अनुसार 'ने'का अर्थ निर्देशात्मक है। स्वयम्भू आदि बुद्धको 'ने'की संज्ञा दी गयी है, क्योंकि स्वयम्भू 'स्वर्गका मार्ग'का निर्देशक है। अतएव नेपाल उस देशका द्योतक है, जिसका रक्षक स्वयम्भू है। यह भी कहा जाता है कि 'ने' नामक मुनिके नामपर नेपाल शब्द बना। यह भी सम्भव है कि नेपाल शब्द 'नेपार' शब्दसे बना हो, क्योंकि प्राचीन मागधी भाषामें 'र'के स्थानपर 'ल'का प्रयोग सामान्यतया प्रचलित था। अतएव नेपाल नेपार शब्दका अपभ्रंश रूप हुआ। काठमाण्डूके निकटवर्ती क्षेत्रमे किरातों-की नेपार नामक उपजाति पायी जाती है; सम्भव है, इसी जातिपर नेपाल देशका नामकरण हुआ हो। आज भी इस जातिके लोगोंको 'न्यापी' कहा जाता है।

'नेपाल' शब्दका सर्वप्रथम उपयोग कौटिल्यके 'अर्थ-शास्त्र'मे किया गया है। समुद्रगुप्तकी प्रयाग-प्रशस्तिमे नेपालनरेशको 'प्रत्यन्तनृपति'की संज्ञा दी गयी है। प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनत्सांगने भी नेपालके राजा तथा देशका वर्णन किया है।

भारतमे प्रचलित अनेक भाषाओंके सदृश नेपाली-भाषाका भी मूल स्रोत संस्कृत ही है, फिर भी इसे सीधी संस्कृतसे निकली भाषा नहीं कहा जा सकता। विचार करनेपर इसे प्राकृतके विकृत रूपसे निर्गत मानना पडता है। वस्तुतः इसे संस्कृतमे चौथी पीढ़ीमें ही मानना पड़ेगा। इतना होनेपर भी नेपाली भाषामे संस्कृत शब्दोंका मुक्त प्रचलन है।

चौदहवीं शतीके आरम्भमें अलाउद्दीन खिलजीने चित्तौड विजय किया था। इसी समय राणा रत्न सिंहके वंशज कुमाऊँ पर्वत-श्रेणीके मार्गसे होकर पाल्पामें अधिकारूढ हुए। कालान्तरमें इसी वंश-शाखाके पृथ्वीनारायण शाहने आधुनिक नेपाल-शासनकी नींव डाली। इतिहासकार सूर्यविक्रम रावालीके मतानुसार मध्य राजस्थानसे पर्वतखण्ड आये हुए ये राजपूत राजस्थानी भाषा ही बोलते थे। इन्होंने पर्वतखण्डके निवासी गुरूङ मगरोंको पराजित किया और विजयी राजपूतोंकी भाषा ही राजभाषा हो गयी। ११वीं-१२वीं शतीमें नेपालराज्यमे मिथिलादेशका भी एक भाग समाविष्ट था, फलतः नेपाली भाषा मागधी प्राकृतसे भी प्रभावित हुई।

नेपाली भाषा पहले 'गोरखाली भाषा'के नामसे भी प्रचलित थी। आरम्भमें यह भाषा पर्वतखण्डमे प्रधानतया पाल्पा, डोरी, सल्यान, तनहुँ आदि क्षेत्रोमे प्रचलित रही। परन्तु नेपाल-क्षेत्रमे इसके प्रसारका श्रेय पृथ्वीनारायण शाहको ही है। काठमाण्डूको राजधानी बनानेके बाद राज्यकार्य भी इसी भाषामें होने लगा। पश्चात् पश्चिमके गुरूङ, मगर, पूर्वके राई, लिम्बू आदि जिलोमे प्रचलित नेवारी भाषाका इसमे सम्मिश्रण हुआ और वर्तमान गोरखाली भाषा बनी, जो समस्त नेपालकी राष्ट्रभाषा मानी जाती है। ब्रिटिश सत्ताकालमे पर्वतक्षेत्रके निवासियों तथा उनकी बोल-चालकी भाषाको गोरखाली कहा जाता था, परन्तु १९३२ ई०मे गोरखाली शब्दके बदले नेपाली शब्द व्यवहृत किया गया।

उत्तरमे भोट, पूर्वमें सिक्किम, दार्जलिंग, मंचीनदी, पश्चिममे महाकाली नदी और दक्षिणमे कोसी नदी नेपालकी प्राकृतिक सीमा है। नेपाल राज्य उत्तरमे भोट (तिब्बत) और अन्य तीनो ओरसे भारतसे संलग्न है। इसका क्षेत्रफल प्रायः ५६,००० वर्गमील और जनसंख्या २६ लाख है। नेपाली भाषाकी लिपि देवनागरी ही है।

नेपाली भाषामे क्रियाके अन्तमे 'छ', 'छन्' और 'हुन' वर्तमान कालको निर्दिष्ट करते है। इसकी विशेषता यह है कि योगी (अव्यय) शब्दसे पृथक् कभी नहीं रहता। यह साथ-साथमें लगा रहता है। संस्कृतके सदृश नेपालीमें भी तीन लिंग है। सामान्यतया ओकारान्त शब्द पुंलिंग, इकारान्त स्त्रीलिंग और उकारान्त शब्द नपुंसकलिंग होते है। सामान्यतया 'न्' और 'हरु' लगानेसे बहुवचन होता है। इसमें केवल दो ही वचन होते है। एकवचनसे

बहुवचन बनानेके लिए संज्ञा और सर्वनाम शब्दोंमें 'हरु' और क्रियामें 'न्' प्रयुक्त होता है।

नेपाली भाषाके प्राचीन स्वरूपके बारेमें ठीक-ठीक पता अभी नहीं लग पाया है। सबसे प्राचीन लेख १५४३ ई०-तकका महाराज द्रव्यशाहके प्रसिद्ध लाल-मुहर ताम्र-पत्रमें अंकित मिला है। प्रायः २७५ वर्ष पूर्वका एक शिलालेख भी मिला है, जो काठमाण्डूके राजा प्रतापमल्लने नेपाली भाषामें तैयार कराया था। इस भाषाको 'खस' भाषा कहते हैं। नेपाली भाषामें प्राचीन ग्रन्थ सुलभ न होनेका यह भी कारण समझा जाता है कि संस्कृतमें ही अधिकांश ग्रन्थ तैयार किये जाते थे और भाषा-ग्रन्थोंको सामान्यतया गौरव प्राप्त नहीं था। नेपालके प्राचीन लेखक प्रेमनिधि पन्त हैं, परन्तु उनका कोई लेख अभीतक प्राप्त नहीं हुआ है। इनकी पुस्तक 'प्रायश्चित्तदीप'में यदाकदा नेपाली भाषाका प्रयोग मिलता है। गुमानी कविके श्लोकोंमें तीन पाद संस्कृतमें तथा चतुर्थ नेपालीमें पाया जाता है। परन्तु इनके भी लेख अधिक नहीं मिलते। बादके लेखकोंमें वीरशाली पन्त, रघुनाथ, वसन्त, इन्दिरस, विद्यारण्य केसरी और यदुनाथ पोखरेलके नाम उल्लेख्य हैं। इन्होंने प्रधानतया खण्डकाव्य और अनुवाद-ग्रन्थ ही प्रस्तुत किये हैं। इन्दिरसके ग्रन्थ तो अभी भी दुष्प्राप्य हैं। वैष्णव होनेके कारण वीरशालीकी कविता भक्तिरससे आप्लावित है। भक्ति-स्रोतमें इन्होंने यदा-कदा छन्दोभंगका भी ध्यान नहीं रखा है। 'द्रौपदीविलाप' और गोपिका-स्तुति' इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। रघुनाथका 'सुन्दरकाण्ड', वसन्त कविका 'कृष्णचरित', विद्यारण्यके 'द्रौपदी-स्तुति' 'युगल गीत' और 'गोपिका-की स्तुति' और यदुनाथका 'कृष्ण-चरित' प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

भानुभक्त आदर्श कवि हैं। इनका जन्मकाल १८११ ई० है। इन्होंने नेपाली भाषामें सम्पूर्ण रामायण लिखी। 'वधूशिक्षा', 'भक्तमाता' आदि इनके सरस ग्रन्थ हैं। इन्होंने स्फुट कविताएं भी लिखी हैं। स्वदेशप्रेम जाग्रत करनेवाले ये नेपालके श्रेष्ठ कवि हैं। इनकी रामायणका नेपालमें वही मान है, जो भारतमें तुलसीकृत 'रामचरित-मानस'का है। इसीलिए इनको आदि कवि भी कहते हैं।

भानुभक्तके पश्चात् पन्तजलि गजुरेल, राजीवलोचन आदि अनेक कवि हुए। राजीवलोचनका 'केदारकल्प' और कूट कविताएँ अत्यन्त, लोकप्रिय हैं। पन्तजलि गजुरेलके 'मत्स्येन्द्रनाथकी कथा', 'हरिभक्तमाला' और 'गोपालवाणी' ग्रन्थ हैं।

मोतीराम भट्ट एक प्रसिद्ध नेपाली कवि थे। भानुभक्तके बाद इनकी ही गणना की जाती है। इन्होंने ही भानुभक्तकी रामायणको प्रकाशित कराया। साहित्योन्नतिके सम्बन्धमें इनका उत्साह इतना प्रबल रहा कि इन्होंने पाशुपत प्रेस खोलनेकी प्रेरणा दी और नेपाली साहित्यकी पृष्ठभूमि प्रस्तुत की। ये भारतेन्दु हरिश्चन्द्रके समकालीन और मित्र भी थे। इन्होंने अंग्रेजीमें इन्टरमीडिएटतक शिक्षा प्राप्त की थी। ३१ वर्षकी अवस्थामें ही इनका स्वर्गवास हो गया। इनके समकालीन लेखकोंमें लक्ष्मीदत्त, गोपीनाथ तीर्थराज, मरीचिमानसी, वीरेन्द्र केसरी प्रभृति उल्लेख्य हैं।

शिखरनाथ एक प्रसिद्ध नेपाली कवि थे। इनकी ख्याति समस्त नेपालमें फैली हुई है। इनकी कविताके साथ अर्थालंकारका अद्भुत पुट देखा जाता है [illegible] नेत्र', 'तीर्थयात्रावर्णन' आदि पुस्तकें काफी [illegible] शम्भुप्रसाद कवि इनके समकालीन थे, पर वे अधिक लोकप्रियता प्राप्त नहीं कर सके। कविता बनानेमें अतिशय शीघ्रता देखते हुए उनको 'आशुकवि' कहा जाता है। 'रत्नावली नाटिका'का नेपाली अनुवाद इन्होंने ७ दिनमें पूरा किया था। इनके स्फुट भजन भी प्रचलित हैं।

वर्तमान नेपाली कवियोंमें लेखनाथ सर्वमान्य हैं। इनकी कवितामें पदलालित्य लोकप्रसिद्ध है। इन्होंने 'बुद्धिविनोद', 'ऋतुविचार', 'लक्ष्मीपूजा नाटक', 'सत्यकलिसंवाद', 'लालित्य', 'तरुणतपसी' गीताके संक्षिप्त पद्यानुवाद, पंचतन्त्र और सत्तरसों स्फुट कविताओंकी रचना की है। शार्दूलविक्रीडित छन्दमें कविता प्रस्तुत करनेकी परिपाटी छोड़कर इन्होंने वसन्ततिलका और अनुष्टुप् छन्दमें ग्रन्थ लिखकर नयी साहित्यिक अभिरुचिका प्रवर्तन किया। इनके विचारोंमें मौलिकता स्पष्ट है। 'बुद्धिविनोद' पढ़नेसे नये विचारोंका स्फुरण होता है। 'तरुणतपसी' आध्यात्मिक विचारोंसे ओत-प्रोत है। प्राचीन संस्कृत साहित्यके पुटके साथ ही नवीन विचारसरणिका आलोक प्रस्तुत करनेवाले आप प्रथम कवि हैं। इनकी पद्य-रचना कलात्मक और शैली भावात्मक है। अतएव इन्हें नेपालका कविसम्राट् कहानेका श्रेय प्राप्त है। सोमनाथने भी 'आदर्शराघव' उच्च कोटिका काव्यग्रन्थ लिखा है। इनकी कविता भी भावपूर्ण होती है। हेमराजने 'चन्द्रिका' नामक व्याकरण-ग्रन्थ लिखकर ४ भागोंमें प्रकाशित किया और निःशुल्क वितरित किया है।

बालकृष्ण सम प्रसिद्ध कवि और नाटककार हैं। इन्होंने पद्यमय नाटककी परम्परा स्थापित की है। इनकी कवितामें पदलालित्यका पुट अधिक मात्रामें उपलब्ध नहीं, परन्तु भाव-गाम्भीर्यके कारण ये अत्यन्त उत्कृष्ट माने जाते हैं। इनकी प्रणाली ओजपूर्ण और नवीन विचारधाराकी प्रसारक है। 'मुटुको कथा', 'ध्रुव', 'मुकुन्द', 'इन्दिरा', 'प्रह्लाद', 'अन्धवेग' आदि पद्यमय नाटक और 'ऊनी भरेथी देनन्', 'भक्तभानुभक्त', 'म' आदि गद्यनाटक इनकी प्रधान रचनाएँ हैं। इन्होंने कई सरस कहानियाँ भी लिखी हैं। लक्ष्मीप्रसादकी कृति 'मुनामदन', 'शाकुन्तल महाकाव्य', 'सुलोचना', 'लक्ष्मी निबन्धसंग्रह' 'भिखारी', 'सावित्री-सत्यवान' आदि हैं। इनकी गद्य तथा पद्य दोनोंमें ही समान गति है। सर्वतोमुखी प्रतिभावान् होनेके साथ ही इनकी कविताओंमें विचार-गाम्भीर्य भी पाया जाता है। धरणीधर लेखनाथके समवयस्क हैं। इनकी काव्यधारामें नवीनताके साथ ही जातिभाषा और राष्ट्रोन्नतिकी प्रेरणा सन्निहित है। 'नैवेद्य' तथा स्फुट कविताएँ इनकी अबतक प्रकाशित हुई हैं। सिद्धिचरण, भिक्षु, भीमनिधि, प्रेमराज, ध्रुव आदि नेपालके ख्यातनामा कवि हैं।

रुद्रराज पाण्डेय प्रसिद्ध उपन्यासकार हैं। संस्कृत-बहुल गद्य-शैलीके स्थानपर इन्होंने नवीन शैली प्रचलित की है और ये लोकभाषामें ही लिखते हैं। इसी कारण ये अधिक लोकप्रिय हैं। सामाजिक चरित्र-चित्रणमें ये अद्वितीय हैं।

इनके ऐतिहासिक नाटक भी बड़ी रुचिसे पढ़े जाते हैं। इन्होंने 'रूपमती', 'चम्पाकाजी', 'प्रायश्चित्त', 'प्रेम', 'नवरत्न', 'हाम्रो नेपाल', 'सैंढेजंग' आदि पुस्तकोंकी रचना की है। रूपनारायणका 'भ्रमर', भवानीप्रसादकी 'यौवनकी अन्धी' और बांगदेलके भी कुछ उपन्यास प्रकाशित हुए हैं।

कथाकारोंमें विश्वेश्वरप्रसाद, गुरुप्रसाद मैनाली, पुष्कर समसेर, गोविन्दबहादुर 'गोंढाले' आदि प्रसिद्ध हैं।

राष्ट्रभाषा हिन्दीके साथ नेपाली भाषाका अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्राचीन तथा आधुनिक नेपालीमें हिन्दीके अधिकांश शब्दोंका प्रचलन है। १९वीं शतीके मध्यतक नेपालमें अवधी, भोजपुरी और मागधी भाषा विद्वानोंमें अधिक प्रचलित थी। संस्कृत कवि वाणीविलास पाण्डेयने भोजपुरी-अवधी भाषामें कविता की है। उदाहरणार्थ—"केहरसिंह गाजी भये बाजी दसरिस नाम। सतहूके मयदानमो करिभूपको छाम"। इन्दिरस और विद्यारण्य केसरीने नेपाली भाषामें कविता लिखी है, परन्तु इनमें हिन्दीका प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।

हिन्दी भाषाका प्रभाव वसन्त और रघुनाथकी कवितामें भी पाया जाता है, परन्तु उतनी अधिकतासे नहीं। भानुभक्त और उनके बादके कवियोंमें यह प्रभाव नहीं पाया जाता। आजकलकी नेपाली भाषामें भी हिन्दीके बहुतसे शब्द पाये जाते हैं। —तो० रा० पा०

नेयार्थ—दे० 'शब्द-दोष', ग्यारहवाँ 'पद-दोष'।

नैरात्मा—दे० 'महामुद्रा'।

नैरात्म्य दर्शन—दे० 'विज्ञानवाद'।

नैरेटर—दे० 'रेडियो नाटक'।

नैरेशन—दे० 'रेडियो नाटक'।

नैसर्गिक आलोचना-प्रणाली—यह ऐतिहासिक और वैज्ञानिक आलोचना-प्रणालीसे भिन्न है, जो आलोचककी स्वाभाविक प्रवृत्तिका प्रतिबिम्ब प्रकट करती है। इसमें आलोच्य कृतिपर ही आलोचककी दृष्टि होती है। वह न तो कृतिकारके जीवनचरित्रका अन्वेषण करता है और न कृतिकी सामाजिक, धार्मिक, ऐतिहासिक आदि पृष्ठभूमियोंका विश्लेषण कर उनके कृतिपर पड़नेवाले प्रभावकी ही चिन्ता करता है। इस प्रणालीमें कृति और आलोचकके मध्यमें कोई साधक या बाधक उपकरण प्रस्तुत नहीं होता। ऐसी आलोचनाकी उत्कृष्टता आलोचकके कला-सम्बन्धी उच्च मानसिक परिष्कारपर ही अवलम्बित रहती है। उसमें आलोचक प्रायः 'कला कलाके लिए' सिद्धान्तका अनुसरण करता है। यह **प्रभाववादी आलोचना**के निकट प्रतीत होती है (दे० 'प्रभाववादी आलोचना')। —वि० मो० श०

नौटंकी १—स्वाँग और लीलाके समान ही नौटंकी भी लोकनाट्यका प्रमुख रूप है। इसका प्रारम्भ मुगलकालसे पहलेका है। रासलीलाके समान इसका रंगमंच भी अस्थिर, कामचलाऊ और निजी है। इसमें छोटे-छोटे बालक स्त्रियोंका वेश धारण करते और उनका अभिनय किया करते हैं। दृश्योंके अभावमें सूत्रधार मंचपर आकर दृश्योंके घटित होनेके स्थान एवं समय और पात्रोंके विषयमें दर्शकोंको सूचना दिया करता है। इनकी कथाओंका सम्बन्ध पौराणिक आख्यानोंसे न होकर लौकिक वीर, प्रणयी, साहसिक, भक्त पुरुषोंके कार्योंसे होता है। उन्हींका प्रदर्शन इनमें किया जाता है। पंजाबमें गोपीचन्द, पूरन भक्त और हकीकतरायका सांगीत अत्यधिक लोकप्रिय है।

आज नौटंकीका रूप बदला हुआ है। इसका रंगमंच प्रायः उठाऊ और साधारण होता है। जिसका निर्माण खुले मैदानमें लट्ठों, बाँसों और कपड़ोंकी चादरोंसे किया जाता है। दर्शकोंके लिए दूरतक चाँदनी तान दी जाती है और रंगभूमि बड़े-बड़े तख्तोंसे बनायी जाती है। प्रायः एक परदेका व्यवहार किया जाता है, जो अभिनेताओंके रंगभूमिमें आनेपर उठता है और उनके चले जानेपर गिरता है। कभी-कभी कार्य-व्यापार चलते समय पात्रोंका प्रवेश नेपथ्यसे अथवा मैदानसे दर्शकोंके बीचसे होकर हो जाता है। इसका प्रेक्षागृह इतना बड़ा बनाया जाता है कि चाँदनीके नीचे सैकड़ों दर्शक बैठ जायँ और न बैठ सकनेपर पासके खुले मैदानको उपयोगमें लाया जाता है। अब इसमें अनेक दृश्य होने लगे हैं, किन्तु प्रत्येक दृश्यके कार्यकी सूचना सूत्रधार ही देता है। वही प्रारम्भमें लीला या कहानीके लेखक, पात्र तथा कथा आदिके विषयमें दर्शकोंको सूचना देता है और उनमें उनके प्रति उत्सुकता तथा जिज्ञासा उत्पन्न कर देता है।

नौटंकीका कथानक प्रणय, वीरता, साहसपूर्ण घटनाओंसे भरा रहता है। वह किसी लोकप्रसिद्ध वीर या साहसी या भागवत पुरुषकी जीवनकथापर अवलम्बित रहता है। इसमें अनेक स्त्री-पुरुष पात्र होते हैं। स्त्री-पात्रोंका अभिनय या तो विवाहिता या कुमारी स्त्रियाँ करती हैं अथवा वेश्याएँ करती हैं। वेश्याएँ दृश्यान्तमें मंचपर आकर अपने नृत्य-गान, हाव-भाव, मुद्राओंसे जनताका मनोरंजन करती हैं और नेपथ्यमें अभिनेताओंको रूपसज्जा आदि करनेका अवकाश देती हैं। रंगभूमिमें एक ओर गायकों, वाद्यवादकोंका समूह भी रहता है, जो अभिनय, संवाद, नृत्यकी तीव्रता, उत्कटता बढ़ाता रहता है। तबला और नगाड़ेका विशेष प्रयोग होता है। तबलेके तालों और नगाड़ेकी चोबोंकी गूँज रातमें मीलों सुनाई पड़ती है, जिसके आकर्षणसे सोते हुए ग्रामीण भी नौटंकी देखने पहुँच जाते हैं। रुचि-वैचित्र्यके समाधान, स्वादके परिवर्तन और शान्ति-व्यवस्था बनाये रखनेके लिए हास्यपूर्ण प्रसंगोंकी योजना रहती है, जिसमें नारी-पुरुषके रूपमें पात्र प्रहसन उपस्थित करते हैं। प्रायः संवाद पद्यप्रधान होते हैं। अभिनेता मंचपर दर्शकोंकी ओर जा-जाकर उत्तर-प्रत्युत्तर देते हैं और प्रश्न करते हैं। इस प्रकार संवाद प्रायः प्रश्नोत्तरात्मक होते हैं। उनमें उत्तेजना, साहस और दर्पपूर्ण उक्तिका बाहुल्य और प्रेम-प्रसंगोंका आधिक्य रहता है। अधिकतर किसी वीर नायकको प्यारके फाँसमें फँसा दिखाया जाता है, जिसके कारण उसका पतन हो जाता है। अन्तमें परिणाम उपदेशपूर्ण दिखाया जाता है। 'सुल्ताना डाकू'की नौटंकी उदाहरणके रूपमें ली जा सकती है। जहाँ भक्तचरितको दिखाया जाता है, वहाँ भक्तके मार्गमें अनेक कठिनाइयाँ दिखायी जाती हैं; अन्तमें उसकी विजय प्रदर्शित की जाती है। यद्यपि नौटंकीके समाप्त

होनेतक उद्देश्य प्रकट कर दिया जाता है, तथापि सूत्रधार अन्तमें फिर मंचपर आकर भलाई करने और बुराईसे बचने, सत्य-धर्मके निवाहनेकी शिक्षा देता है। प्रकाशकी योजना आद्यन्त एक समान रहती है। नौटंकीके प्रारम्भ होनेका समय रातके ८ बजेसे और समाप्त होनेका समय प्रातः ५ बजेतक है। कभी-कभी कथाके विस्तार या जमी हुई भीड़के कारण कार्यक्रम सूर्योदयतक चलता रहता है।

प्रायः नौटंकी कार्तिक-मार्गशीर्ष अथवा चैत्र-वैशाखके महीनोंमे हुआ करती है। मेलोंके अवसरोंपर इनका विशेष आयोजन होता है। उत्तरप्रदेशके पश्चिमी जिलो— फर्रुखाबाद, शाहजहाँपुर, कानपुर, एटा, इटावा, मैनपुरी, मेरठ, सहारनपुर आदिमे इसका विशेष प्रचार है। उधर त्रिभुवन-मण्डलीकी नौटंकी विशेष प्रसिद्ध है। ग्वालियरकी नौटंकी भी प्रख्यात है। रासमण्डलियोंके सदृश नौटंकीकी भी मण्डलियाँ होती हैं, जो एक स्थानसे दूसरे स्थानोंपर घूम-घूमकर नौटंकीके प्रदर्शन किया करती है। नौटंकी ग्रामीण जनताकी नाट्यवृत्तियोंका समाधान करनेवाले मुख्य साधनोंमें अत्यधिक महत्त्वशाली है। इसपर पारसी थियेटरों तथा नाटकीय रंगमंचका विशेष प्रभाव है। परन्तु आज चलचित्रके व्यापक प्रसारसे इसकी वृद्धि और इसके प्रभावमे अन्तर आ गया है। —वि० रा०

नौटंकी २—नौटंकी, स्वाँग, भगत प्रायः पर्यायवाची हैं। वस्तुतः भगत शब्द बताता है कि यह कभी भक्तिकी अभिव्यक्तिका माध्यम होगी, किन्तु आज भगतमे भक्तिका अथवा धार्मिक तत्त्वका स्थान उसके आरम्भिक अनुष्ठानोमे अथवा आरम्भिक मंगलाचरणमे रह गया है। आरम्भिक अनुष्ठानमें साधारणतः शक्तिपूजाके अवशेष दिखाई पड़ते है। स्वाँगके साथ वह अनुष्ठान भी नहीं, केवल आरम्भिक सरस्वती-वन्दना मिलती है। शेष स्वाँगका धार्मिकतासे सामान्यतः कोई सम्बन्ध नहीं रहता। स्वाँग या भगत मूलतः संगीतरूपक है। इसमें यों तो कोई भी प्रसिद्ध लोककथा खेली जा सकती है, पर शृंगार-रस-प्रधान अथवा प्रेमगाथाकी कोटिकी रचनाएँ ही प्रधानता पाती रही है। प्रेमलीला अथवा रोमांसका संस्पर्श किसी-न-किसी रूपमे होना ही चाहिये। इसीको नौटंकी भी कहा जाता है। नौटंकी मूलतः किसी प्रेम-कहानीकी केवल नौ टंक तौल-वाली कोमलांगी नायिका होगी। वही संगीत-रूपकमें प्रस्तुत की गयी और वह रूप ऐसा प्रचलित हुआ कि अब प्रत्येक संगीत-रूपक या स्वाँग ही नौटंकी कहा जाने लगा है। नौटंकी, भगत अथवा स्वाँगका मुख्य छन्द चौबोला है। इस चौबोलेके दो रूप मिलते हैं, एक छोटी तानका, दूसरा लम्बी तानका। प्रत्येक चौबोलेका आरम्भ दोहेसे होता है, जिसका अन्तिम चरण कुण्डलियाकी भाँति आगेके चौबोलेसे कुण्डलित रहता है। इसके सहकारी वाद्यवृन्दोंमे नगाड़ा अनिवार्य है। भगतका रंगमंच बल्लियोंके स्तम्भ बनाकर आदमीसे ऊँची बाड़ बाँधकर बनता है। बाड़ोंकी एक ऐसी वीथिका बनायी जाती है, जिसके बीचमें स्थान खाली रहता है। इन बाड़ोपर अभिनेता एक स्थानसे चल-कर चारों ओर घूम आता है। हर ओर उसे चौबोला दुहराना पड़ता है। स्वाँगका रंगमंच सादा होता है। भूमिसे कुछ ऊँचा एक लम्बे-चौड़े तख्त जैसा चारों ओर खुला होता है। प्रसिद्ध स्वाँगोंमें स्याहपोश, अमरसिंह राठौर, पूरनमल, हरिश्चन्द्र आदि गिने जाते हैं। —सं०

न्याय—प्रमाणों द्वारा विषयके परीक्षणको न्याय कहते हैं "नीयते विवक्षितार्थसिद्धिरनेन इति न्यायः।"

वेदोंके अर्थोंको निश्चित करनेके लिए मीमांसाकी तरह न्यायका भी उद्भव हुआ। मीमांसा वेदोंके वाक्योंके अर्थका निर्धारण करती है, न्याय उनके पदार्थों और प्रमाणोंका। उद्भवकालसे ही जहाँतक एक ओर इसका कार्य वैदिक दर्शनको अपने ढंगसे समन्वित करना था, वहीं दूसरी ओर बौद्ध दर्शनका खण्डन करना भी था। इसके प्रथम आचार्य अक्षपाद गौतम हैं, जिन्होंने न्यायसूत्रों(३री शती ई० पू०)की रचना की। वात्स्यायन(४०० ई०)ने इसपर भाष्य लिखा और उद्योतकर(६वीं शती ई०)ने फिर भाष्यपर वार्तिक लिखा। वाचस्पति मिश्र, जयन्त भट्ट तथा उदयनाचार्य न्यायके अन्य प्रसिद्ध आचार्य हैं। लगभग १२०० ई०के आसपास गंगेश उपाध्यायने 'तत्त्वचिन्ता-मणि' लिखकर नव्य न्यायकी स्थापना की, जिसके अन्य महान् आचार्य कालान्तरमें रघुवंश शिरोमणि, जगदीश भट्टाचार्य और गदाधर भट्टाचार्य हुए।

पहले न्याय और वैशेषिक पृथक्-पृथक् मत थे, पर बादको दोनों एक हो गये। न्यायका मुख्य कार्य प्रमाण-मीमांसा हो गया और वैशेषिकका पदार्थ-मीमांसा।

प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति तथा निग्रहस्थान इन १६ तत्त्वोंके ज्ञानसे निःश्रेयसकी प्राप्तिका विधान न्यायशास्त्रमें किया गया है। दुःखजन्य प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञानके उत्तरोत्तर व्यति-क्रमसे नष्ट होनेपर अपवर्ग होता है, जो निःश्रेयस है।

प्रमाण चार है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। कुछ नैयायिक उपमानको स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते हैं, अनुमानके अन्दर इसका अन्तर्भाव करते हैं। अनुमान स्वार्थानुमान और परार्थानुमान, दो प्रकारका होता है। केवल अन्तिम पंचावयव होता है, अर्थात् उसके प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन, ये पाँच अवयव होते हैं। परार्थानुमानका एक प्रसिद्ध निदर्शन यो है— पर्वत वह्निमान् है (प्रतिज्ञा), क्योंकि वहाँ धूम है (हेतु); जहाँ-जहाँ धूम रहता है, वहाँ-वहाँ वह्नि रहती है, जैसे रसोई घरमे (उदाहरण); ऐसे ही धूम और वह्निका साहचर्य पर्वतमे है (उपनय); अतः पर्वत वह्निमान है (निगमन)।

आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव (जन्मान्तर), फल, दुःख और अपवर्ग, ये प्रमेयज्ञानके विषय हैं।

नैयायिक तार्किक होते है। वे संशय करते हैं और तर्कसे संशयको दूर करना ही उनका मुख्य कार्य है। इसीलिए कहा जाता है "नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते अयं तु संदिग्धे" अर्थात् निर्णीत और अनुपलब्ध अर्थमें न्याय नहीं चलता, सिर्फ संदिग्ध विषयपर चलता है।

ईश्वरकी सत्ताको सिद्ध करनेके लिए नैयायिक प्रमाण देते हैं। वे एक परमात्मा तथा अनेक आत्माको मानते

हैं। ज्ञानको वे आत्माका एक गुणमात्र मानते हैं। ईश्वरको उसमें जगत्का निमित्त कारण-मात्र माना जाता है।

नव्य न्यायमें परिभाषा या लक्षणको अधिकाधिक प्रमाणित बनानेका प्रयास किया जाता है।

न्याय यथार्थवादी या वस्तुवादी दर्शन है। यह बहुत्व-वादी भी है। इसे प्रायः साधारण मनुष्यका सुसंगत दृष्टि-कोण समझना चाहिये।

साहित्य-शास्त्रमें शंकुकका रस-मत, अनुमितिवाद, न्याय दर्शनकी महत्त्वपूर्ण देन है। जिस परार्थानुमानके द्वारा रस-की अनुमिति नटमें की जाती है, वह यह है—नट रसवान् है, क्योंकि उसमे भाव-अभिव्यक्ति है; जहाँ भाव-अभिव्यक्ति होती है, वहाँ रस होता है, जैसे क्रोधी पुरुषमे, वैसी ही भाव-अभिव्यक्ति नटमे है, अतः नट रसवान् है। इस प्रकार इस मतमे रस मात्रमे अनुमिति है। किन्तु कालान्तरमे अभिनवगुप्तके मतने इस मतको सदाके लिए दूषित सिद्ध कर दिया (विशेष जानकारीके लिए दे० रस निष्पत्ति : दूसरा मत)।

हिन्दी साहित्यपर न्यायका प्रभाव बहुत कम पडा है। वर्तमान युगके पूर्वतक तो इसका प्रभाव प्रायः शून्य ही था। हिन्दीके लेखक प्रायः साधक हुआ करते थे और या तो केवल साहित्यिक। ये दोनो ही वर्ग न्यायके प्रभाव-क्षेत्र-से दूर थे। वे तर्कको महत्त्व नही देते थे और अनुभूति तथा कल्पनाको अधिक महत्त्व देते थे। ईश्वरकी सिद्धिके प्रमाणों-के विषयमे प्रायः यही कहा जाता रहा है कि ईश्वर बुद्धि या तर्कका विषय न होकर अनुभूतिका ही विषय है। नैयायिकोंको कोरा तार्किक समझकर उपेक्षित किया जाता रहा है।

वर्तमान समयमे जब कि प्रत्ययवाद या आदर्शवादके स्थानपर वस्तुवादको मान्यता मिल रही है और जीवनके मूल्यों तथा नाना अन्य ज्ञेयोके अस्तित्वमे संशय उत्पन्न हो रहा है तो न्यायकी मान्यता बढ रही है। पर यह न्याय अधिकतर पाश्चात्य दर्शन तथा मनोविज्ञानके रूपमे ही आज प्रभावशाली है। भारतीय न्यायका प्रभाव अब अत्यल्प है और जो कुछ है भी, वह पाश्चात्य न्यायके द्वारा है। —सं० ला० पा०

न्यूनपद—दे० 'शब्द-दोष' तीसरा 'वाक्य-दोष'।

पंकजवाटिका—वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। 'प्राकृतपैंगलम्' (२ : १४८)में इसे पंकावली नाम दिया गया है। यह छन्द भगण, नगण, जगण, जगण और लघुके योगसे बनता है (ऽ।।, ।।।, ।ऽ।, ।ऽ।, ।)। इसकी लय चौपाईके समान है। केशवने इस वृत्तका प्रयोग किया है। उदा०—"नारि न तजे मरे भरतारहि। ता सँग सहहि धनंजय झारहि। जो केहु विधि करतार जियावहि। तो कहि कहँ यह बात बतावहि" (रा० चं०, ९ : १७)। —पु० शु०

पंचक—दे० 'मुक्तकाव्य'।

पंच चामर—वर्णिक छन्दोंमे समवृत्तका एक भेद; 'प्राकृतपैंगलम्'(१४ श० ई० २ : १६८)में नाराच और 'छन्दोऽनुशासन'(६, ११ : जयकीर्ति)में महोत्सव नाम दिया गया है। ८ लघु-गुरुओं ज र ज र ज गके योगसे यह वृत्त बनता है। 'रामचन्द्रिका'में नागस्वरूपिणी (६ प्र० २३) और नागराज (२ प्र०, १६) भी नाम दिये गये है। केशव (३ प्र०, ३ : राम०); गुप्त (वहाँ मनुष्य है कि जो मनुष्यके लिए मरे—मनुष्यता) और 'प्रसाद'-(हिमाद्रि तुग श्रृंगसे प्रबुद्ध शुद्ध भारती—चन्द्रगुप्त)ने प्रयोग किया है। उदा०—"विचारमान ब्रह्मदेव अर्चमान मानिये, अदीयमान दुःख सुक्ख दीयमान जानिये" (रा० चं०, ३ : ३)।

नाराच छन्द वीर रसके लिए विशेष उपयुक्त है। तुलसीने इसका प्रार्थनाओंके लिए प्रयोग किया है। संस्कृत-का प्रसिद्ध शिवस्तोत्र इसी मे है। हम्मीर रासोमे वसन्तका वर्णन इस छन्दमे है। तुलसीका प्रयोग—"नमामि भक्त-वत्सलं, कृपालु शीलकोमल"(रा० च० मा०)। —पु० शु०

पंच पवित्र—पंचतत्त्वों (दे० 'पंचमकार')को पंच पवित्र भी कहा गया है और तान्त्रिक बौद्धों, तान्त्रिक जैनों, सिद्धों, नाथों आदिके साहित्य एवं शैव-शाक्त तन्त्रोमे बार-बार इनके माहात्म्य, प्रयोग-विधि, शोधन आदिका व्याख्यान किया गया है। पंच मकारो या पंचतत्त्वोमे मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुनकी गणना की जाती है। किन्तु कुछ ग्रन्थोंमें पंचामृतके अन्तर्गत 'विण्मूत्रादि'का उल्लेख हुआ है। विघ्न, मार (काम) आदिकी शान्तिके लिए पंचामृतके आश्रयका आदेश देते हुए 'प्रज्ञोपाय विनिश्चयसिद्धि' (परिच्छेद ५, १८-१९)में 'विण्मूत्रादि'को 'अनुत्तरारक्षा' कहा गया है और इनसे ज्वर, गर, विष, रोग, डाकिनी आदिके उपद्रव, ग्रह, मार, विनायकके प्रशमित होनेका विश्वास दिलाया गया है। 'कौलज्ञाननिर्णय'मे वैसे पंचम-कारोंमें उल्लिखित होनेवाली सभी बातोंका विवरण है, लेकिन उनके साथ ही पंचपवित्र नामसे 'विष्ठा, धारामृत, शुक्र, रक्त और मज्जा'का उल्लेख भी किया गया है (दे०—११वाँ पटल)। इससे स्पष्ट होता है कि 'कौल ज्ञान-निर्णय'-का लेखक (मत्स्येन्द्रनाथ) पंचपवित्रको पंचमकारोसे कुछ भिन्न माननेका संकेत देता है। 'प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि'में विण्मूत्रादिके अर्थ मे प्रयुक्त पंचामृत शब्द नर, अश्व, उष्ट्र, हस्ति एवं श्वानके मांसके अर्थमें भी व्यवहृत हुआ है (५,२०)। इसी प्रकार 'ज्ञानसिद्धि' नामक ग्रन्थमे पंचामृत-को स्पष्टतः 'भक्ष्य' कहा गया है, जो 'कौलज्ञान निर्णय'के पाँच उत्तम भोज्यों (गोमांस, गोघृत, गोरक्त, गोक्षीर और गोदधि)का, एक तरहसे, समधर्मी है (१, ७९ एवं १०, १), किन्तु 'कौलज्ञाननिर्णय'में पंचपवित्र शब्दका जो अर्थ किया गया है पंचामृत शब्दका प्रयोग भी बहुधा ठीक उसी अर्थ-में हुआ है और कईबार पंचामृतको पंचतत्त्व (क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर) या पंचस्कन्ध (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द) समझ लेनेके कारण अर्थसंगति ठीकसे बैठ नहीं पाती। 'मालती माधव' (अंक ५, श्लोक ४)में बताया गया है कि कापालिक अघोरघण्टकी शिष्या एवं साधना सहचरी कपालकुण्डलाने नाडियोंके उदयक्रमसे 'पंचामृत' का कर्षण करके एक ऐसी सिद्धि प्राप्त की थी, जिसके बलपर वह अनायास आकाशमार्गसे विचरण कर सकती थी। टीकाकारने 'पंचामृत' शब्दका कई अर्थ दिया है, पर एक भी संगत नहीं बैठता। हजारीप्रसाद द्विवेदीने लक्ष्य किया है

(नाथसम्प्रदाय, पृ० ८६) कि ये पंचामृत शरीरमें स्थित पाँच द्रवरस हैं—शुक्र, शोणित, मेद, मज्जा और मूत्र। इनको आकर्षण करके ऊपर उठानेकी क्रियासे शरीरको वज्रवत् बनाया जा सकता है और अणिमादिक सिद्धियाँ पायी जा सकती हैं। वज्रयानी साधकों तथा कौलमार्गी तान्त्रिकोंमें भी यह विधि है। नाथ मार्गकी वज्रोली साधनाको इसका भग्नावशेष समझना चाहिए। स्पष्ट है कि पंचपवित्र पचमकारोंसे भिन्न अर्थ रखता है। —रा० सि०

पंचमुखीरुद्राक्ष–रुद्राक्ष नामक वृक्षके गोल बीजोंकी माला शैव उसी तरह अनिवार्य रूपसे पहनते हैं जैसे वैष्णव लोग तुलसीकी माला पहनते हैं। योगी लोग रुद्राक्षकी माला पहनते हैं। 'चित्रावली' (२०९, १-४)में सिद्धोंके वेशके अन्तर्गत जिन बारह वस्तुओंका उल्लेख किया गया है, उसमें रुद्राक्षकी भी गणना की गयी है। जायसी(पद्मावत, १२६)ने राजा रत्नसेनके जोगी-वेशके वर्णनमें भी रुद्राक्षका उल्लेख किया है। रुद्राक्ष पदका अर्थ है रुद्र या शिवकी आँख। जपकार्यके लिए इसकी मालाको तन्त्रोंमें बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है और इसे विशेष फलदायिनी बताया गया है। रुद्राक्षकी मालामें मनकों (दानों)की संख्या भिन्न-भिन्न होती है। सबसे छोटी मालाको 'सुमिरनी' कहते हैं, जिसमें १८ या २८ मनके होते हैं और योगी लोग इसे हाथकी कलाईमें बाँधते भी हैं। दूसरी मालाएँ ३२, ६४, ८४ और १०८ मनकोंकी भी होती हैं। रुद्राक्षके दानोंपर कटावदार और खुरदरी फाँकें होती हैं, जिन्हें 'मुख' कहा जाता है। जपके लिए पाँच मुखोंवाले दानोंको बहुत शुभ माना जाता है। ग्यारह मुखोंवाले रुद्राक्षके दाने भी बहुत पवित्र माने जाते हैं। दो मुखोंवाले रुद्राक्ष गृहस्थयोगियोंमें अधिक फलदायक माने जाते हैं। एकमुखी रुद्राक्षका माहात्म्य भी बहुत बताया जाता है। कहते हैं जिसके गलेमें एकमुखी रुद्राक्ष हो, उसपर शत्रुकी चोट काम नहीं करती और जिस घरमें एकमुखी रुद्राक्षका दाना पड़ा हो, वहाँ लक्ष्मी स्थिर होकर निवास करती है। एकमुखी रुद्राक्ष एकमुखी है या नहीं, इसकी परीक्षाके लिए उसे किसी भेड़ेकी गर्दनमें बाँध दिया जाता है और उसकी गर्दनपर शस्त्रसे प्रहार किया जाता है। अगर गर्दन न कटे तो रुद्राक्षको असली एकमुखी मान लिया जाता है। ('सुधाकर चन्द्रिका', पृ० २४०)। इससे लगता है कि एकमुखीका अर्थ 'एक मुखवाला' न होकर उसका शुभ होना ही अधिक है। —रा० सि०

पंचायतन–("पंचानामुपास्यदेवरूपानामायतनानां समाहारः") पाँच देवताओंकी प्रतिमाओंका समुदाय पंचायतन कहलाता है। पाँच उपास्य देवताओंमें शिव, सूर्य, शक्ति, विष्णु और गणेशकी गणना होती है। किसी विशिष्ट देवताकी उपासनाके समय भी उपर्युक्त पंचदेवताओंकी स्तुतिकी प्रथा प्रायः पायी जाती है। मिथिलामें तो किसी प्रकारकी पूजामें इन पंचदेवताओंकी प्रथम स्तुति करनेका सामान्य चलन है। इसी आधारपर महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्रीने विद्यापतिको पंचदेवोपासक माना था (दे० 'कीर्तिलता'की भूमिका, पृ० १९), परन्तु विद्यापतिके पदोंमें सूर्यका स्तुतिपरक एक भी पद अभीतक प्राप्त नहीं हुआ।

तुलसीदासकी 'विनयपत्रिका'के प्रारम्भिक पदोंमें उल्लिखित पाँच देवताओंकी स्तुति की गयी है। यथा—(क) **शिव**—"देव बड़े दाता बड़े भोरे, बिबे दूर दुख मजिबे जिन्ह कर जोरे" (पदसंख्या ८)। (ख) **सूर्य**—"दीनदयालु दिवाकर देवा। कर मुनि मनुज सुरासुर सेवा" (पदसंख्या २)। (ग) **शक्ति**—"दुसह दोष दुख दलनि, करु देवि दाया" (पदसंख्या १५)। (घ) **विष्णु**—यों तो 'विनय-पत्रिका'का विष्णुके अवतार रामके प्रति ही विनय-निवेदन है फिर भी हरि-शंकरी शीर्षक पद (क्रमांक ४९)में भगवान् विष्णु और शिवकी स्तुति की गयी है और हरिहरमें अभेद स्थापित किया गया है। (ङ) **गणेश**—"गाइये गणपति जगवन्दन। शंकर सुवन भवानी-नन्दन॥ सिद्धि-सदन गज-वदन विनायक। कृपासिन्धु सुन्दर सब लायक॥" (विनयपत्रिका)। तुलसीके समान भक्त परमतत्त्व भगवान्‌की सत्ताको व्यापक मानकर उसके प्रत्येक आविर्भूत रूपके प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हैं, परन्तु अपने मनको उसके विशिष्ट विग्रहरूपमें सघनतासे केन्द्रित करते हैं। तुलसीने यद्यपि पंचदेवताओंकी स्तुति की है, पर उनसे भी अपने रामकी ही भक्तिकी याचना की है। उदाहरणार्थ श्रीगणेशकी स्तुतिके अन्तमें वे कहते हैं—"माँगत तुलसिदास कर जोरे। बसहि राम सिय मानस मोरे॥" (पदसंख्या १)। पंचायतन-पूजा तन्त्रमार्गमें भी विहित है। 'तन्त्रसार'में पंचायतन-दीक्षाके सम्बन्धमें लिखा है कि उसमें उपर्युक्त पाँच देवताओंके पाँच मन्त्र बनाकर उनसे शक्ति, विष्णु, शिव, सूर्य और गणेशकी पूजा की जाती है (विस्तारके लिए दे० 'तन्त्रसार')। —वि० मो० श०

पंचालिका रीति–(दे० 'रीति', पाँचवीं।

पंचोपासना–देव-प्रतिमा-पूजनके पाँच प्रकार पंचोपचार या पंचोपासना कहलाते हैं। यह अर्चना-भक्तिका एक अंग है। यदि प्रतिमा-पूजनके सोलह उपचार किसी कारण सम्भव न हो सकें तो साधक पंचोपचारसे भी सन्तुष्ट कर सकता है। इसमें इष्टदेवको गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य अर्पित करनेका विधान है। ये क्रमशः पृथ्वी, आप, तेज, वायु और आकाश तत्त्वोंके प्रतीक माने जाते हैं। पंचोपचार द्वारा भक्त भगवान्‌की विभिन्न रूप-धारिणी शक्तिके साथ तारतम्य स्थापित करता है।

निर्गुणी सन्त बाह्योपचारकी आवश्यकता अनुभव नहीं करते, वे बाह्योपचारपर व्यंग्य भी करते हैं। रैदास कहते हैं—"दूध बछेरे थनहु बिटारिउ, फूल भँवरि, जलु मीनि बिगारिउ। माई गोविन्द पूजा कहा लै करावउ। अकस न फूल अनूपु न पावउ। मन ही पूजा, मन ही धूप, मन ही लेउँ सहज सरूप॥" (सन्तकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी, पृ० २१५)।" उनकी अर्चनाका रूप इस प्रकार है—"ऐसी आरती त्रिभुवन तारै। तेज पुंज तहाँ प्रान उतारै। पाती पंच पुहुप करि पूजा। देव निरंजन और न दूजा। तन मन सीस समरपन कीन्हा। प्रगट जोति तहाँ आतमलीना। परम प्रकास सकल उजियारा। कहै कबीर मैं दास तुम्हारा॥" (सन्तकाव्य, पृ० १९५)। —वि० मो० श०

पंजाबी (भाषा तथा साहित्य)–दिल्लीके आसपासके प्रदेश, पूर्वी पंजाबके कुछ जिले और पहाड़ी प्रदेशको

छोडकर शेष पंजाबकी भाषा पंजाबी है। चाहे वह पंजाब पाकिस्तानमे है, चाहे भारतमें।

सन् १९३२ ई० में स्थापित की गयी पंजाब युनिवर्सिटी इन्क्वायरी कमेटीकी रिपोर्टके अनुसार इंडो-एरियन भाषाओं-मेंसे निकली सब बोलियोंमेंसे पंजाबी शायद सबसे पुरानी भाषा है। महात्मा बुद्ध और महावीरको हुए आज भी लगभग २५०० वर्ष हो चुके है। उनके द्वारा लिखित ग्रन्थो मे सैकडों ऐसे शब्द मिलते है जो ठीक उसी रूपमे आज भी पंजाबवासियोंकी दैनिक भाषामे प्रचलित है। हिन्दी या बंगलामें उन शब्दोका जो रूप चला हुआ है वह अधिकसे अधिक एक हजार वर्ष पुराना कहा जाता है। पंजाबके लोग पिछले पचीस सौ वर्षोंसे दुध, नक, कन, हथ, पिठ, सत और अठ कहते आये है और जो लोग उत्तरप्रदेश या बंगालमें बसते है, उनके पूर्वज पहले पन्द्रह सौ वर्षोंतक तो इन शब्दोको पंजाबियोकी भाँति उच्चारण करते रहे, किन्तु पिछले एक हजार वर्षसे उनको इन्होने दूध, नाक, कान, हाथ, पीठ, सात और आठ बोलना आरम्भ कर दिया है। बौद्ध धर्मग्रन्थ 'धम्मपद'मे, जैनियोके प्राचीन साहित्यमे और कालिदासके 'शकुन्तला' आदि नाटकोमे हमें पंजाबीके शब्द हेठॉ, रुख, पुत, अख आदि तो मिलते है; पर इनके हिन्दीरूप—नीचे, पेड, पूत, ऑख आदि कही नही मिलते। हिन्दी और पंजाबीका सम्बन्ध दो बहनोका सम्बन्ध है।

गुरु नानकदेवके आगमनके समय पंजाबमे कई लिपियॉ प्रचलित थीं। देवनागरी, जो अधिकतर संस्कृतके लिए प्रयोग की जाती थी और पुरानी दिल्लीकी कमिश्नरीमें प्रादेशिक बोलीके लिए भी। लडे या महाजनी, जो व्यापारी हिसाब-किताबके लिए प्रयोग करते थे, टाकरी या ठाकरी, जो पहाड़ी प्रदेशमें प्रयोगमें आती थी और जिसमें खुदे हुए कई शिलालेख कॉगडेमे मिले है और शारदा, जो कश्मीरकी लिपि थी, किन्तु पडोसी होनेके नाते पंजाबमें भी कहीं-कहीं प्रयोगमें आती थी।

कई लोग यह भी समझते है कि पजाबी साहित्य केवल सिख-जातिका अपनाया हुआ है। इस बातसे इनकार नहीं कि पिछले तीस वर्षोंसे इसकी ओर अधिक रुचि सिखोंकी है, किन्तु पंजाबी साहित्यके निर्माणमें गैर-सिख लेखकोने कही अधिक भाग लिया है। पंजाबीके प्राचीनतम लेखक, जिनका काव्य हमें मिलता है, फरीद शकरगंजी मुसलमान थे। इस तरह पंजाबीके इतिहासमें एक समय ऐसा आया, जब सिख-जातिकी प्रतिभा संस्कृत और प्राकृतकी ओर अधिक अग्रसर हुई। गुरु गोविन्द सिंहके दरबारी कवि पुरातन भाषाओंमें लिखकर प्रसन्न थे। गुरुजीने स्वयं पंजाबीमें बहुत कम कविता लिखी है। ऐसे समयमें गैर-सिखोंने ही इस भाषाको आश्रय दिया।

पंजाबी भाषाका शब्दकोश चाहे कितना भी पुराना हो, किन्तु जिस बोलीको आज हम पंजाबीके नामसे पुकारते है उसका पहला लेखक, जिसका कलाम हमारे हाथ लगा है, वह फरीद शकरगंजी है। बाबा फरीद अपने समयके प्रसिद्ध फकीर थे। इनका पूरा नाम हजरत फरीदुद्दीन मसऊद शकरगंजी था। इनका जन्म सन् ११७३ ई०में हुआ। फरीदकी कवितामे लहँदीका स्थानिक रंग है। फारसी भाषाका भी कुछ-कुछ प्रभाव है, इसलिए कि इन लोगोंको काबुलसे पंजाब आये अभी थोडा ही समय हुआ था। फरीदकी सारी कवितामें एक भावुकता है जो भक्तियुग-के बाद सूफियोका उन्माद बनकर प्रकट हुई। प्रकृतिका प्रेम और परमात्माका प्रेम फरीदकी कविताके कुछ विशेष विषय है। फरीदने अधिकतर श्लोक लिखे है।

पंजाबी भाषाकी शैलीको और अधिक निखारनेवाले भक्ति-युगके कवि थे। इनमे गुरु नानक, गुरु अर्जुन और भाई गुरुदासकी बहुत-सी कविताएँ मिलती है। इन सबका एक अपना रंग है, एक अपना स्वाद है। भक्ति-युगके कवि-योंने भगवान्‌की एकतापर जोर दिया। राम-रहीममें, उन्होंने कहा—कोई फर्क नही। कट्टर ब्राह्मण मत और इसलाममें भक्ति आन्दोलन एक प्रकारका समझौता था। इन कवियोंकी शैली सादी और मँजी हुई है। भक्ति-युगमे पुरानी रूढियोको तोडनेपर बडा जोर दिया गया। चाहे ये रीतियॉ धार्मिक थीं, चाहे साहित्यिक थीं अथवा चाहे साधारण जीवनके प्रति थीं। कवितामे इस प्रकार कवित्त, सवैया आदि पुराने छन्दोंके स्थानपर बारहमाह, वार, सद, घोड़ी आदि साधारण जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाले छन्दोको अपनाया गया। यह वह समय था, जब पंजाबमे मुगलोंके आक्रमण हो रहे थे या अभी होकर हटे थे।

इस प्रकार भगवान्‌के गुण गानेवाले गुरुओके पश्चात् गुरुओके शिष्य उत्पन्न हो गये। ईश्वरके प्रेमसे मनुष्योंमे दिखाई देते ईश्वर-प्रेमने सूफी मतको जन्म दिया। यथार्थमे सूफी मत इसलामका वह अंग है, जिसपर भारतके भक्तिमत और वेदान्तका बड़ा प्रभाव पड़ा। इस सूफी वातावरणके कारण छायावाद आया। बुल्लेशाह, शाहहुसेन, सुल्तान बाहुअली हैदर, करमअली शाह, शेख शरफ, गुलाम जीलानी, हाशिम हिदायतुल्ला और गुलामरसूल इस समय-के कुछ प्रसिद्ध कवि थे। बुल्लेशाहके काफियोमे वर्णन चाहे घरेलू वस्तुओंका और साधारण दृश्योंका होता है, किन्तु उनके पीछे हमेशा कोई उच्च अर्थ अथवा गहरा भेद होता है। सूफी कविता इश्क-हकीकीकी कविता थी, किन्तु इस ईश्वरके प्रेमको सांसारिक प्रेमके परदेमें रखकर गाया जाता था।

इस प्रकारके ईश्वरप्रेमके वातावरणमें उत्पन्न हुई कविताके पश्चात् यह आवश्यक था कि इसकी प्रतिक्रिया होती और इस प्रकार पंजाबी कवितामें एक नया युग आरम्भ हुआ। इस युगके लगभग सबके सब कवियोने इश्क-मजाजीका वर्णन किया है। उन्होने हीर-राझॉ, मिर्जा-साहिबॉ, सस्सीपूनूॅ, कामरूप, सोहनी-महिवाल आदि किस्से लिखे। इन कवियोंकी वर्णनशैली बहुत सुन्दर है। दामोदरका लिखा हुआ हीरका किस्सा सबसे पुराना माना जाता है। अपनी कवितामें वह बार-बार कहता—"आख दामोदर मैं अखीं डिठा।" ऐसे प्रतीत होता है कि यह कवि हीरा-राझॉका समकालीन था। वारिसशाहने ३५ वर्षकी अवस्थामें हीरका किस्सा लिखना आरम्भ किया। कहते है, भागभरी नामकी एक लड़कीको यह कवि प्रेम करता था और हीर-राझॉके किस्सेमें उसने अपने प्रेमको गाया है।

वारिसशाहकी शैली अभीतक पंजाबीमें अत्यन्त लोकप्रिय है।

कविके रूपमें हाशिम वारिसशाहसे कदापि कम नहीं था। हाशिमने शीरीं-फरहाद, लैला-मजनूँ, सोहनी-महिवाल, सस्सी-पुन्नू आदि कई किस्से और कुछ दोहरे लिखे। शब्दोंका संयम, वर्णनका बहाव और पात्रोंके हृदयके कोमल भावोंका ज्ञान हाशिमकी कविताकी विशेषताएँ हैं। विरहके भावको हाशिमने जहाँ कहीं भी अंकित किया है, बहुत सफलतासे किया है।

शाह मुहम्मदके साथ हम उन्नीसवीं शतीके मध्यमें पहुँच जाते हैं। शाह-मुहम्मद महाराजा रणजीत सिंहका दरबारी कवि था। शाह मुहम्मदने पहली बार पंजाबीमें ऐसी कविता लिखी, जिसे ठीक देश-प्रेमकी कविता कहा जा सकता है। पंजाबी देशसे प्रेम, पंजाबकी धरतीसे प्रेम, पंजाबकी परम्परासे प्रेम, पंजाबके सिपाहियोंसे प्रेम, पंजाबके सरदारोंसे प्रेम। पंजाबके शत्रु शाह मुहम्मदके शत्रु थे, चाहे वे मुसलमान ही क्यों न हों।

नवीन पंजाबी साहित्य उस मानसिक वातावरणका परिणाम है, जो प्रथम महायुद्धने विशेष रूपसे उत्पन्न किया था। युद्ध-प्रचार और पंजाबी सिपाहियोंके मनोरंजनको सामने रखकर साहित्य-निर्माण किया गया। युद्धमें बाहर गये पंजाबी सिपाहियोंने दूसरोंके जीवनमें झाँका, उनके मनोरंजनोंका अध्ययन किया; लौटे हुए पंजाबियोंको अवकाश था, प्रान्तका साहित्य इस वातावरणमें निखरकर प्रगतिशील हुआ।

प्रथम महायुद्ध अभी समाप्त ही हुआ था कि सिंहसभाकी लहर जोर पकड़ गयी। इस लहरका मन्तव्य था—सिख-मत और सिख-सभ्यताका प्रचार और इनको अलग करके विभिन्न रूपोंमें दर्शाना। इस जमानेमें गैर-सिखोंसे वाद-विवाद हुए, ट्रैक्ट छपे, समाचारपत्रों द्वारा जनतामें जागति उत्पन्न की गयी।

साहित्यिक दृष्टिकोणसे इसका यह लाभ हुआ कि पंजाबी गद्य निखर गया। इससे पहले प्राचीन गद्य-रचनामें कविता-सा स्वाद है।

इसके पश्चात् अकाली लहरका युग आरम्भ हुआ, यह एक प्रगतिशील युग था। जहाँ सिखोंने अपनी सभ्यता, संस्कृति और अपने सम्प्रदायके लिए रक्तपात करके अपने गौरवको सुरक्षित रखा, वहाँ अपने प्रान्तके साहित्यमें भी उन्होंने प्राण फूँक दिये।

इन दोनों लहरोंके साथ स्कूलोंकी संख्या पंजाबमें बढ़ रही थी। पश्चिमकी नवीन प्रवृत्तियोंके साथ जनताका परिचय बढ़ रहा था और पंजाबी जीवनमें एक ताजगी-सी आ रही थी।

ठीक इसी समय भाई वीर सिंह और भाई मोहन सिंह वैद्यने अपने साहित्यिक जीवनका आरम्भ किया। वीर सिंह नवीन पंजाबी साहित्यके प्रथम कवि हैं और कविता जैसी आकर्षक, परन्तु सरल-सीधी गद्य-शैलीमें इन्होंने सिख-इतिहास और सिख-दर्शनको जनताके सामने रखा। स्पष्टता और सरलता वीर सिंहके काव्यकी भी विशेषताएँ हैं। उन्होंने पंजाबीमें मुक्तक कविताको जन्म दिया और पहली बार एक लम्बी काव्य-रचना लिखकर उन्होंने दी। 'राणा सूरत सिंह' एक सफल रचना है। 'बिजलियाँ दे हार', 'लहराँ दे हार', 'मटक हुलारे' वीर सिंहकी कविताके कुछ एक संग्रह हैं, जिनमें कविका दर्शन और काव्य-कला अपने शिखरपर पहुँच गयी है। वीर सिंहसे पहले पंजाबी कवितामें कवित्त, बैंत आदि जैसे लम्बे छन्द ही प्रयोगमें लाये जाते थे। भाई साहबने सिख-गुरुओंके अनन्तर पहली बार पश्चिमी प्रवृत्तियोंसे प्रभावित होकर छोटे और सरल रूपमें निबाहे जानेवाले छन्दोंमें कविता लिखी। वीर सिंहके दर्शन सम्बन्धी विचार सिख-दर्शनसे भिन्न नहीं। कवि जीवनको उल्लास समझता है और सूफी कवियोंके समान जब वह अपने इष्टके लिए व्याकुल होता है तो उसकी आवाजमें सूफियोंसे कहीं अधिक धरतीका स्पन्दन सुनाई देने लगता है।

उधर मोहन सिंह वैद्य एक गद्य-लेखक थे, जिन्होंने हर विषयपर रचनाएँ की और एक एकाडमी स्थापित की, जिसके द्वारा संसारकी लगभग दो सौ पुस्तकें पंजाबीमें रूपान्तरित करवायी गयीं। पंजाबीमें इस आन्दोलनके कारण विज्ञान और अन्य विषयोंपर भी पुस्तकें मिलती हैं। वैद्यजीकी लेखन-शैली सरल थी। इन्होंने कुछ उपन्यास भी लिखे हैं, जो केवल लम्बी कहानियोंके प्रयासतक ही सीमित हैं। वास्तवमें भाई वीर सिंह और मोहन सिंह वैद्य नये पंजाबी साहित्यके प्रारम्भिक स्तम्भ हैं।

इन दोनों कलाकारोंकी छायामें पला और पनपा हुआ साहित्य प्रायः परम्परागत रहा है। हमेशा यह प्रयत्न किया जाता था कि किसी उद्देश्यको पेश किया जाय और कोई शिक्षा सुझायी जाय। फिरोजदीन शरफ, विधाता सिंह 'तीर' और ज्ञानी गुरुमुख सिंह 'मुसाफिर'की कविता इसी तरहकी थी। अधिक-से-अधिक ये कलाकार अपने कला-कौशलसे जनताको झकझोर सकते थे और बस। इनकी कविताके भाव-विषय देश-प्रेम, अंग्रेजी राजसे नौकरशाही-की बुराइयोंतक ही सीमित थे या फिर प्रेमपूर्ण गाथाओंका ही वर्णन होता था।

लाला किरपासागरने 'लेडी ऑव द लेक'के आधारपर 'लक्ष्मीदेवी' शीर्षक एक प्रबन्धकाव्य लिखा, जो दो भागोंमें प्रकाशित हुआ। विवरण-शैलीके दृष्टिकोणसे यह एक अमूल्य रचना है। इसी युगमें 'शकुन्तला' और 'विक्रमोर्वशीय' आदि नाटकोंका अनुवाद हुआ, जो अत्यन्त सफल है। अनुवादक संस्कृतका ज्ञाता होनेके कारण कालिदासके साथ न्याय कर पाया। मौलिक नाटककारोंसे ईश्वरचन्द्र नन्दा-लिखित 'सुभद्रा' और 'लिलेदा व्याह', ब्रजलाल शास्त्री-लिखित 'सावित्री सुकन्या' और 'पूरणनाटक' तथा बाबा बुधसिंहरचित 'दामिनी' और 'नार नवेली' जनसाधारणमें लोकप्रिय हुए। इन नाटकोंके विषय रहे हैं—विधवा-विवाह और अछूतोद्धार आदि। सरदार नानक सिंहने लगभग दो दर्जन उपन्यास लिखे हैं। इस लेखकने जनसाधारणकी रुचिको ध्यानमें रखकर लिखा है। इसने तीन गल्प-संग्रह भी प्रकाशित किये, जो उसके उपन्यासोंके समान कथानकके चुनावकी विशेषताके कारण लोकप्रिय हैं।

आधुनिक पंजाबीका सम्पूर्ण साहित्य उर्दू और हिन्दीके

साहित्यसे सर्वथा अछूत रहा है। साहित्यिक पंजाबी साहित्यके निर्माणमें सीधे अंग्रेजीसे ही प्रभावित होते रहे है। खालसा कालेज, अमृतसर सिखोंकी सबसे बड़ी संस्था होनेके साथ-साथ बहुत दिनोसे पंजाबी साहित्यकारोका केन्द्र भी रहा है। प्रिंसिपल जोध सिंह, प्रिंसिपल तेजा सिह, प्रिंसिपल गुरुबचन सिह तालिब, प्रोफेसर मोहन सिह पिछले बीस वर्षोंसे पंजाबी साहित्यको यहींसे समुज्ज्वल करते और नये लेखकोंको उत्साह देते आये हैं। इन सबने अंग्रेजी साहित्यकी लेखन-शैलीका अनुकरण किया है। नये उभरनेवाले कलाकारोंकी रचनाओंको भी अंग्रेजी भाव-शैलीके अनुसार ही आलोचनाकी कसौटीपर जाँचते आये है।

१९३६ ई०में प्रगतिशील साहित्यिकोंकी एक कान्फ्रेंस लखनऊमे हुई। प्रायः उसी समय 'लिखारी' नामक एक मासिक पत्र मोहन सिंहके सम्पादकत्वमें निकाला गया। नये पंजाबी साहित्यके पुराने-से-पुराने नमूने इसी पत्रमे मिलते है। आजकलके प्रगतिशील कलाकारोंने पहली बार 'लिखारी'में ही लिखना आरम्भ किया था। मोहन सिंह-की प्रगतिशील कविताएँ भी सबसे पहले इसी पत्रमे प्रकाशित हुई। सन्त सिह सेखोंकी नयी शैलीकी कहानियाँ 'प्रेमी दे नियाणे' और 'मॅझधार' आदि 'लिखारी'में ही सबसे पहले छपी। 'पंज दरया' नामक पत्र मोहन सिहकी उसी लगनका एक दूसरा उदाहरण है। वास्तवमें कुछ दिनों बाद 'लिखारी'का नाम बदलकर 'पंज दरया' पाठकोंको भेजा जाने लगा था।

उस समयतक नये लेखकोंने यह बात पूरी तरह अनुभव कर ली थी कि जिस तरहकी कविता फीरोजदीन शरफ लिखता है, जिस प्रकारकी कहानियाँ जोशुआ फजलदीनने लिखीं और जो नाटक किरपासागरने प्रस्तुत किये, वे प्रगतिशील साहित्यके मापदण्डोपर पूरे नही उतरते। लेकिन जो पेरिसमे कहा गया और जिसे लखनऊमें भी दोहराया गया, उसे न पाश्चात्य लेखक अभीतक हृदयंगम कर सके थे और न हमारे देशके कलाकार ही।

नये पंजाबी लेखकोमे अमृता प्रीतमने प्रतीकात्मक शैलीका शायद सबसे अधिक प्रयोग किया है, इसलिए कि वे नारी है। एक नारीको जो कवि है और अपनी कविताओंमे जीवनपर व्यंग्य करती है, कही ऐसी बात कहनी होती है, जिसे यदि हमारे समाजकी कोई साधारण नारी कहे तो अच्छा नही समझा जाता।

पंजाबीमें कहानीका जन्म सही अर्थोंमे सन् १९३५-३६ ई०में ही हुआ था। उस युगकी पंजाबी कविताकी प्रतीकात्मक शैलीने गद्यमे चेतनाकी अन्तर्धारा (stream of consciousness)का रूप ग्रहण किया। किसी पात्रसे कुछ कहलवाना इतना सरल नही, जितना उसकी उपचेतनाका अध्ययन करके उसमें समा जाना। इस तरह समय, स्थान और वास्तविकताके बन्धनोंसे ऊपर उठकर कई बार लेखक कम-से-कम शब्दोंमें, वह कुछ कह सकता है, जो यों ही किसी पात्रसे कहलवाना असम्भव-सा प्रतीत होता है। पाश्चात्य देशोंमें इस शैलीका कवितामें भी प्रयोग किया गया। हमारे देशके उर्दूके कवि मीराजीने चेतनाकी धाराको अपनी रचनाओंमें बड़ी सुघरतासे निखारा। पंजाबीमें इस तरहकी कविता कम लिखी गयी, किन्तु पंजाबी कहानीमें इस नवीनताको ग्रहण करके उसके सुन्दर प्रयोग किये गये। जब उर्दूमें हसन अस्करीकी प्रसिद्ध कहानी 'हरामजादी' छपी, उससे पहले पंजाबीमें इस प्रकारकी कहानियाँ छप चुकी थी। हमारे देशमे चेतनाकी धाराकी चर्चा पाश्चात्य उपन्यासकार जेम्स जॉयसके प्रसिद्ध उपन्यास 'यूलिसिस'के द्वारा हुई थी। 'सबेर सार' कहानी-संग्रहमे इसी नामकी कहानी चेतनाकी धाराके आधारपर ही लिखी गयी। एक सुबह एक नौजवान सोकर उठता है। पलंगपर लेटे-लेटे उसे जो-जो ख्याल आते है, उन्ही ख्यालोंकी लड़ी अन्तमें एक कहानी बन जाती है। 'आन्द्रा' नामक उपन्यास-मे जमीदारको यह पता लगता है कि जिसको वह मरवा रहा है, वह उसीके खूनका खून है, उसीके अंगका अंग है—इस द्वन्द्व, इस उलझनको लेखकने चेतनाकी लहरके द्वारा ही व्यक्त किया है।

नये लेखकोंने यह भी सोचा कि साहित्यको जीवनके निकट होना चाहिये। हमारा साहित्य सामान्य जीवनका, वह जैसा भी है, दर्पण होना चाहिये। फलतः हमारे नये लेखकों और कलाकारोंने जीवनकी साधारण-से-साधारण घटनाओंको, घिनौने-से-घिनौने पहलुओंको, भद्दे-से-भद्दे पात्रोंको चित्रित करना आरम्भ कर दिया। इस तरह एक तो वे यह दिखाना चाहते थे कि उन्होने पुराने बन्धनोंको तोड़ फेंका है और दूसरे यह प्रमाणित करना चाहते थे कि हमारे चारों ओर धूलि-धूसरित जीवन भी कलाका विषय बन सकता है। बस, वे जिन्दगीकी नालियोंको उलीचने लगे। समतल और सुन्दरको उखाड़कर उसके नीचेकी मुर्दोंकी गन्दगीको सजा-सवाँरकर, उस भद्देपन और उलझनको सविस्तर प्रस्तुत करने लगे।

सन् १९४६में एक बार दृष्टिकोण फिर बदला और यह फैसला किया गया कि प्रगतिशील साहित्य वह है, जिसमे प्रतिदिनके साधारण जीवनको विकासोन्मुख दिखाया जाय, जिसमे जीवनकी स्वस्थ भावनाका चित्रण हो, जीवनके स्वस्थ मूल्योंको उभारा जाय; लूट-खसोट, गन्दगी, अन्ध-विश्वास, अज्ञान, भूख और बीमारियोंके प्रति घृणा पैदा की जाय। स्वस्थ साहित्य वह है, जिसमें इन्सानकी इन्सानियत-को उसके सारे उपकरणोंके साथ सजा-सँवारकर प्रस्तुत किया जाय; कला और जनसाधारणके बीच जो खाई है, उसे पाट दिया जाय। स्वस्थ साहित्यमे नकारात्मक चरित्र नहीं होते, गन्दी बात करके मजा नहीं लिया जाता। स्वस्थ साहित्यमे जीवनकी वास्तविकताको उसकी सुन्दरता और उसके स्वस्थ उद्देश्योंके साथ चित्रित किया जाता है। 'लहू-मिट्टी' नामक उपन्यासके पात्रोंमे आम आदमियोंकी सामान्य सुन्दरता झलकती है। इस उपन्यासके पात्र इसलिए अच्छे नहीं कि वे निर्धन, भूखे है और उनके प्रति हमारे हृदयमें दया पैदा होती है, वरन् इसलिए कि वे पुराने बन्धनों, रीतियों और जीवनके अस्वस्थ मूल्योंकी उपेक्षा करके नयी राहोंपर विचरना चाहते है।

देशके विभाजन और उसके साथ हुए अत्याचारोंने कई प्रगतिशील साहित्यिकोंकी कड़ी परीक्षा ली। उर्दूके प्रसिद्ध साहित्यिक सआदत हसन मण्टो और हसन अस्करी

जैसे मुस्लिमलीगी हो गये, हमारे कुछ पंजाबी साहित्यिकोंने भी पाकिस्तानी नमक और फलोंका बायकाट कर दिया। साम्प्रदायिक झगड़ोंकी बावत पंजाबी साहित्यमें कुछ लेखकोंने सारा अपराध मुसलमानोंपर थोपा है, किन्तु इससे समझदार पाठक सन्तुष्ट नहीं हो पाता। कइयोंने जहाँ मुसलमानोंको बुरा-भला कहा है, वहाँ साथ-साथ हिन्दू और सिखोंकी भी निन्दा की है। इस तरह जान-बूझकर केवल दोनों पार्टियोंमें अपराधको बाँटना कुछ बनावटी-सा मालूम होता है। कइयोंने इस अत्याचारका उत्तरदायित्व आदमीके अन्दरकी पैशाचिक प्रवृत्तिको ठहराया है नेताओंके माथे दोष मढ़ा है। अमृता प्रीतमकी साम्प्रदायिक बारेमें प्रसिद्ध कविता इस विषयपर एक सुलझा हुआ उदाहरण है—

"अज आखाँ वारिस शाह नूँ किते कबराँ विचो बोल
....
इक रोई सी धी पंजाब दी, तूँ लिख लिख मारे वैण
अज लक्खाँ धीआँ रोदियाँ, तैनूँ वारिस शाह नूँ कैहण
वे दर्द मन्दाँ दया दर्दिया उठ तक अपना पंजाब
अज वेले लाशाँ विच्छियाँ, ते लहू दी भरी चिनाव"।

[आज वारिस शाहसे कहती हूँ, कहीं कब्रोंमेंसे बोलो
....
एक रोई थी बेटी पंजाबकी, तुम करुण गान लिखते चले गये,
आज लाखों बेटियाँ रोती है, वारिस शाह, और तुमसे कहती हैं,
ओ दुखियोंके हमदर्द उठ देख अपना पंजाब
आज जंगलमें लाशें बिछी हुई है और चनाव खूनसे भरपूर है।]

'अग खणवाले' नामक कहानी-संग्रहमें साम्प्रदायिक झगड़ोंके बारेमें ही लिखा गया है। इसमें रावलपिण्डीकाण्डसे लेकर महात्मा गान्धीकी हत्यातकके रक्तिम युगका चित्रण है। नानक सिंहके दो उपन्यासोंका विषय भी यह साम्प्रदायिक भावना ही है।

अगस्त, सन् १९४७ई०में देश स्वतन्त्र हुआ। लाखों बेघर हो गये, लाखों जानें चली गयीं। हमने मन्दिरोंको जलते देखा, मस्जिदोंकी ईंट-से-ईंट हमारे सामने बजायी गयी। अमृता प्रीतमने 'मेरी इकरारोंवाली रात' नामक एक कविता लिखी, पर मोहन सिंह मानते है कि सही स्वतन्त्रता तभी मिलेगी, जब हम इस भुखमरीके अभिशापसे मुक्त होंगे, जब हमारी दरिद्रताकी काली चादर उतर जायगी।

स्वतन्त्रता एक लाभ अवश्य हुआ। हमारे साहित्यिकोंने स्वतन्त्र देशके लेखकोंकी तरह सोचना आरम्भ कर दिया। मोहन सिंह, प्रीतम सिंह सफीर, अमृता प्रीतम, कर्तार सिंह दुग्गल आदि साहित्यिक जनसाधारणके पास आकर खड़े हो गये है और उनके साथ हो रहे अन्यायकी बात दुनियाको पुकार-पुकारकर सुनाने लगे है।

नया पंजाबी साहित्य आज बड़े योग्य और समर्थ हाथोंमें है। प्रथम बार साहित्यके सभी अंगोकी समान रूपसे उन्नति हो रही है। जहाँ आज सुरेन्द्रसिंह नरुला पंजाबी जीवनको सुचारु रूपसे अपने उपन्यासोंमें चित्रित कर रहा है, जहाँ बलवन्त गार्गी पंजाबी रहन-सहनको अपने नाटको में स्वस्थ ढंगसे अंकित कर रहा है, वहाँ मोहन सिंह सफीर, अमृता प्रीतम आदि पंजाबीके कवि ऐसे साहित्यका सर्जन कर रहे हैं, जिसपर कोई भी साहित्य गर्व कर सकता है। —कु० सिं० दु०

पक्षधर साहित्य (Partisan literature)–पक्षधर साहित्य वस्तुतः साहित्य नहीं होता, किन्तु मार्क्सवादियोंके अनुसार हर एक साहित्य पक्षधर साहित्य है। इस साहित्यका मापदण्ड वे आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक प्रवृत्तियाँ है, जो इसकी प्रेरक शक्तियाँ है। —रा० स० त्रि०

पतत्प्रकर्ष–दे० 'शब्द-दोष', मानका 'वाक्य-दोष'।

पताका–यह प्रासंगिक कथाके दो प्रकारोंमेंसे एक है। रूपकमें दूरतक चलनेवाली जो सानुबन्ध कथा आधिकारिक कथाके सहायतार्थ आती है वह पताकाके नामसे अभिहित की जाती है। दशरूपककारने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है "सानुबन्धपताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक्" (१।१३)। रामायणकी कथामें सुग्रीव एवं विभीषणका वृत्तान्त पताका है, वह दूरतक चलती रहती है, वह नायक या अधिकारीके पताका-चिह्नकी भाँति आधिकारिक कथाका पोषण करती है। पताकाका नायक अपना होता है और वह पताकानायक कहलाता है। 'प्रसाद'के 'स्कन्दगुप्त'में मालवकी कथा पताका है और उसका नायक बन्धुवर्मा पताकानायक है। —ब० सिं०

पताकास्थानक–दशरूपककारने **पताका**के साथ ही पताकास्थानककी व्युत्पत्ति करते हुए बतलाया है—"प्रस्तुतागन्तुभावस्य वस्तुनोऽन्योक्तिसूचकम्। पताकास्थानकम् तुल्यसंविधानविशेषणम्॥" (द० रू०, १।१४)। भावार्थ यह कि "जहाँ किसी प्रसंग द्वारा आगेकी कथा सूचित की जाती है वहाँ 'पताकास्थानक' होता है। कहीं तो यह अन्योक्ति-पद्धतिपर होता है, कहीं समासोक्ति-पद्धतिपर"। 'दशरूपक'की 'चन्द्रकला' टीकामें इसे अच्छी तरह स्पष्ट किया गया है। कभी-कभी रूपकमें भावी घटनाका संकेत किया जाता है। यह संकेत पताका या ध्वजकी तरह भावी वृत्तका सूचक होता है। यह सूचना दो प्रकारसे दी जाती है, एक तो घटनाओंकी समानताके आधारपर और दूसरी प्रस्तुत और भावी घटनाओंके वर्णनमें प्रयुक्त समान विशेषणोंके आधारपर। प्रथममें अन्योक्ति या अप्रस्तुतप्रशंसाका आश्रय ग्रहण किया जाता है और दूसरीमें समासोक्तिका। दशरूपककारने अन्योक्ति-आधृत पताकास्थानकका उदाहरण 'रत्नावली'से उद्धृत किया है "यातोस्मि पद्मनयने समयो ममैष सुप्ता मयैव भवति प्रतिबोधनीया। प्रत्यायनामयमितीवसरोरुहिण्याः सूर्योऽस्तमस्तकनिविष्टकरः करोति॥" अर्थात् "हे कमल-से नेत्रवाली, मेरे जानेका समय आ गया है, मैं जा रहा हूँ, प्रातःकाल मैं ही तुम्हें जगाऊँगा। अस्ताचलके शिखरपर आखिरी किरणोंको रखे हुए सूर्य पद्मिनीको इसी प्रकार प्रतिबोधित करता हुआ। अपने प्रत्यावर्तनका विश्वास दिला रहा है"।

यहाँ सूर्य-पद्मिनीके अन्योक्तिमय वर्णन द्वारा उदयन-रत्नावली-वृत्तान्तकी व्यंजना पताकास्थानक है।

समान विशेषणपर आधृत पताकास्थानकका उदाहरण भी दशरूपककारने 'रत्नावली'से ही दिया है—"उद्दामोत्कलिकां विपाण्डररुचं प्रारब्धजम्भां क्षणादायासं श्वसनोद्गमैर-

विरलैरातन्वतीमात्मनः। अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारी मिवान्यां ध्रुवं पश्यन्कोपविपाटलद्युतिमुखं देव्याः करिष्याम्यहम्।" "मैं चटकती कलियोंवाली, पीले रंगवाली, खिलती हुई इस उपवन-लताको देख रहा हूँ, जो वायुके निरन्तर वेगके कारण अपनी विशालताको व्यक्त कर रही है तथा मदन नामक पौधोंसे आवृत है। इसे देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि मैं कामवासनामें उत्कण्ठित, पीली पड़ी हुई, जँभाई लेती हुई, सकामा दूसरी स्त्रीको देख रहा हूँ जो निरन्तर निःश्वास ले-लेकर अपनी कामपीडाको व्यक्त कर रही हो। अतः मैं ऐसी कल्पना करता हूँ कि इस लताको देखकर मैं अन्य स्त्रीको देखनेके समान देवी वासवदत्ताका अपराध कर रहा हूँ तथा इस अपराधसे मैं निश्चय ही देवीके मुखको क्रोधसे आरक्त कान्तिवाला बना दूँगी'।

यहाँ लताका वर्णन करते हुए समान विशेषणोंके आधारपर जिस नायिकाकी सूचना दी गयी है। वह 'रत्नावली'से सम्बद्ध भावी वृत्तका सन्देह करती है। यह दूसरे प्रकारका पताकास्थानक है।

ऊपर 'दशरूपक'के आधारपर पताकास्थानकके दोनों भेदोंका उल्लेख किया गया। किन्तु भरत और विश्वनाथने पताकास्थानकके चार भेद माने हैं। 'साहित्यदर्पण'में विश्वनाथने एक प्रकारसे भरतकी ही उद्धरणी प्रस्तुत की है। भरतके मतानुसार पताकास्थानक निम्नलिखित चार स्थानोंपर होता है—(१) जहाँ अकस्मात् प्रेमानुकूल उपचारके कारण उत्कृष्ट प्रयोजन सिद्ध हो, (२) जहाँ श्लिष्ट शब्दों द्वारा नायिकादिके मंगलकी सूचना प्राप्त हो, (३) जहाँ वक्ताका अर्थ तो अव्यक्त हो, पर श्लेषत्वेन एक निश्चयकी सूचना देता हो, (४) जहाँ दो अर्थोंवाले श्लिष्ट वचन-विन्यासकी योजना हो और प्रधानेतर अर्थकी प्रतीति होती हो (ना० शा०, २१ : ३१ : ३५)।

विश्वनाथने 'साहित्यदर्पण'में इसके चार भेदोंका उल्लेख करते हुए लिखा है—"सहसैवार्थसंपत्तिर्गुणवत्युपचारतः। पताकास्थानकमिदं प्रथमं परिकीर्तितम्॥ वचः सातिशयश्लिष्टनानाबन्धसमाश्रयम्। पताकास्थानकमिदं द्वितीयं परिकीर्तितम्॥ अर्थोपक्षेपकं यत्तु लीनं सविनयं भवेत्। श्लिष्टप्रत्युत्तरोपेतं तृतीयमिदमुच्यते॥ द्व्यर्थो वचनविन्यासः सुश्लिष्टः काव्ययोजितः। प्रधानार्थान्तराक्षेपी पताकास्थानकं परम्॥" (सा० द०, ६ : ४६ : ४९)।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि विश्वनाथने भरतकी उद्धरणी प्रस्तुत की है। विश्वनाथके चार भेद वे ही हैं, जिनका उल्लेख भरतने किया है (इनके उदाहरणके लिए 'साहित्यदर्पण'का तत्सम्बन्धी प्रकरण देखिये)। हिन्दी नाटकोंमें पताकास्थानकके भेदोंको ढूँढ़ निकालना कदाचित् असम्भव ही है। —व० सि०

पति—दे० 'नायक' (शृंगार)।

पत्रगीति—दूरस्थ प्रियके पास पत्र लिखकर सन्देश भेजनेकी प्रथा प्राचीन है। प्राचीन-काव्यमें **मेघ,** हंस आदिको दूत बनाकर सन्देश भेजनेके निदर्शन हुए हैं। इस प्रकारके सन्देशोंमें मनोगत भाव, आकुल दशा और शारीरिक क्षीणताकी अभिव्यक्ति हुई है। **सन्देश-काव्य** पत्रगीतिका पूर्वरूप है। सन्देश काव्योंमें मेघदूत अधिक प्रसिद्ध है, जिसका व्यंग्यात्मक रूप 'रेल-दूत' नामक हिन्दी रचनामें प्रकट हुआ है। पत्रगीतिके रूपमें भी शकुन्तलाका दुष्यन्तको पत्रलेखन महत्त्वपूर्ण है, यद्यपि वह स्वतन्त्र अथवा मुक्तक न होकर नाटकका अंशमात्र है। कबीरदासको पत्र लिखनेकी अपेक्षा नहीं हुई, क्योंकि "प्रीतमको पतियाँ लिखूँ जो कहूँ होय बिदेस। तनमें मनमें नैनमें ताको कहा सन्देस"। मीराँने भी इसे स्वीकृत करते हुए कहा था—"सबके पिय परदेश बसत है लिखि लिखि भेजे पाती। मोरा पिया हिरदयमों बसता, गूँज करूँ दिन राती"। सूरकी गोपियोंने जो सन्देश भेजे, वे लिखित नहीं थे, क्योंकि "मसि खूटी, कागद जल भीज्यौ, सरदौ आगि जरै"। श्रीकृष्णने गोपियोंको पत्र लिखा था, जिसके सम्बन्धमें सूरकी उद्भावना है—"निरखत अंक स्यामसुन्दरके बारि बारि लावत छाती, लोचन जल कागद मसि मिलि कै ह्वै गयी स्याम स्यामकी पाती"। आधुनिक कालमें भी रवि वर्माके चित्रोंका परिचय देते हुए मैथिलीशरण गुप्तने 'शकुन्तलाका पत्र लेखन' शीर्षक कविता लिखी थी, किन्तु उसमें गीतिकाव्यत्मकता नहीं। प्रकृत पत्रगीति जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज'ने 'टूटा हार' (६ अक्टूबर, १९२७ ई०) शीर्षकसे लिखी, जो 'चाँद'के पत्रांकमें प्रकाशित हुई थी और जिसकी प्रथम पंक्ति थी—'देव, मेरी दुनियाके देव"। छायावादकालमें पत्रगीतियोंको अधिक प्रेरणा मिली, किन्तु यह रूप अधिक विकसित न हो सका। उदाहरणोंके लिए दे० 'गीतिकाव्य'। —रा० खे० पा०

पत्र, पत्रसाहित्य—हिन्दीमें अखबारको समाचारपत्र और विविध प्रकारकी मैगजीनोंको साहित्यिक पत्र, धार्मिक पत्र, राजनीतिक पत्र आदि कहा जाता है। अखबारों-मैगजीनोंके साथ पत्र शब्द जोड़ देनेका कारण सम्भवतः यह होगा कि पत्र, अर्थात् 'लेटर' किसी बातको एक व्यक्तिसे दूसरे व्यक्तितक या एक स्थानसे दूसरे स्थानतक पहुँचानेका माध्यम है। पत्र शब्दका प्रयोग प्रस्तुत सन्दर्भमें लेटरके ही अर्थमें किया जा रहा है।

जब एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्तिके पास कोई प्रत्यक्ष सन्देश भेजे तो उसे पत्र कहेंगे। आधुनिक पत्र सामान्यतः लिखित होता है, बातचीतकी शैलीमें लिखा जाता है और डाक द्वारा भेजा जाता है। प्राचीन कालमें पत्र किसी मध्यस्थके हाथों भेजे जाते थे और यह मध्यस्थ—सन्देशवाहक, पत्रवाहक, दूत या कासिद—सन्देश पानेवालेको सन्देश पढ़कर सुनाता था।

पत्र आत्मीय वार्तालापका स्थान तभी ले सकता है, जब भेजनेवाले और पानेवालेके बीच कोई तीसरा व्यक्ति न हो। मध्यस्थके होनेपर पत्रकी सहज अनौपचारिकता तथा हार्दिकता नष्ट हो जाती है और पत्र केवल औपचारिक सन्देश रह जाता है। यों प्रत्येक पत्र अनौपचारिक या निजी नहीं होता, बहुतसे पत्र खुले अथवा सार्वजनिक भी होते हैं। ये भले ही किसी एक व्यक्तिको सम्बोधित हो, पर पत्र-लेखकका उद्देश्य यही रहता है कि सब इन्हें पढ़ सकें। ऐसे पत्रोंमें या तो किसी विषयका विवेचन होता है या वे उपदेशात्मक होते हैं।

डेमेट्रियसके अनुसार पत्रमें मैत्रीपूर्ण भावना अन्तर्निहित

होनी चाहिये और शैलीकी दृष्टिसे पत्र सच्चा, सरल, संक्षिप्त और सादा होते हुए भी भव्य होना चाहिए। मध्य युगमें, पश्चिममें, पत्र-लेखनको लेकर काफी साहित्य रचा गया। मैत्रीपूर्ण भावना और शैलीके स्थानपर पत्रने वक्तृत्व-कला और अलंकरणको स्थान दिया जाने लगा। पत्र बोझीले और शैलीप्रधान हो गये; क्योंकि पत्र लिखते समय पत्र पानेवालोंकी मर्यादाका ध्यान रखना आवश्यक समझा जाने लगा।

सन्तोषका विषय यह है कि आधुनिक समयने पत्रने मैत्रीभाव और सादी शैलीको पुनः अपनाकर अपना सम्बन्ध क्लासिकल परम्परासे जोड लिया है।

हिन्दीमें बहुत कम पत्र-साहित्य पुस्तक-रूपमें प्रकाशित हुआ है, किन्तु पत्र-पत्रिकाओंमें महत्त्वपूर्ण लोगोंके पत्र यदा-कदा उद्धृत होते रहते हैं। पत्रोंको हम दो वर्गोंमें बाँट सकते है। एक तो निजी पत्र, जो प्रकाशनके उद्देश्य-से नहीं लिखे जाते और दूसरे ऐसे पत्र जो बाह्यतः पत्र होते हुए भी वास्तवमें साहित्यिक कृतिके रूपमें लिखे तथा प्रकाशित किये जाते है। हिन्दी पत्रिकाओंमें प्रकाशित होने-वाले ऐसे जिस पत्र-साहित्यको ख्याति मिली, उसमें बाल-मुकुन्द गुप्तके 'भारतमित्र'में प्रकाशित 'शिवशम्भुके चिट्ठे' और विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक द्वारा 'चाँद'में प्रकाशित 'दुबेजीकी चिट्ठी' प्रमुख है। तत्कालीन वायसराय लार्ड कर्जनके नाम लिखे गये शिवशम्भुके चिट्ठोंने उस समयके पाठकोंमें तहलका मचा दिया था। इन चिट्ठोंमें देशके सर्वोच्च शासक, वायसरायकी बड़ी तीव्र आलोचना की गयी थी।

महात्मा गांधी द्वारा लिखे गये २५,०००के लगभग पत्र गांधी-स्मारक निधि द्वारा एकत्र किये गये है। इस समय सूक्ष्म-वीक्षणयन्त्रसे इनकी फिल्में और फोटो-प्रतियाँ तैयार की जा रही हैं। व्यवस्थित और सम्पादित हो जानेके बाद ये पत्र समस्त प्रादेशिक भाषाओंमें प्रकाशित किये जायँगे।

किसी व्यक्ति और उसके जीवनको समझनेके लिए उसके पत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूत्र हैं। हमारे देशमें पत्रोंका यह महत्त्व धीरे-धीरे पहचाना जाने लगा है और प्रमुख लेखकों, नेताओं तथा अन्य विभूतियोंके पत्रोंके संकलनका कार्य प्रगति कर रहा है।

[सहायक ग्रन्थ—पिताके पत्र पुत्रीके नाम : जवाहरलाल नेहरू; द्विवेदी पत्रावली : सं० बैजनाथ सिंह 'विनोद'; बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रन्थ : सं० झाबरमल्ल शर्मा, बनारसीदास चतुर्वेदी; गुप्तजीने जो पत्र लिखे और पाये थे, उनमेंसे कुछका संकलन। पद्मसिंह शर्माके पत्र : बनारसीदास चतुर्वेदी।] —अ० कु०

पदपरार्धवक्रता (प्रत्ययवक्रता)–(प्रत्यय = सुप् और तिङ् + वक्रता = वैचित्र्य) पदके पूर्वार्ध, अर्थात् प्रातिपदिक और धातुके प्रयोग-वैचित्र्यकी भाँति पदके परार्ध, अर्थात् सुप् और तिङ् प्रत्ययका विचित्र प्रयोग भी काव्य-कलाकी एक विशेषता है। 'प्रत्ययवक्रता'के कई एक प्रकार हैं, जिनमें संस्कृतके कवि सिद्धहस्त है। प्रत्ययवक्रताका पहला प्रकार **संख्यावैचित्र्य** (संख्यावैचित्र्यविहितप्रत्ययवक्रता) है, जिसमें वचनके विचित्र विन्यासमें काव्य-कलाकी चमत्कृति हुआ करती है, जैसे "कुवलयितगवाक्ष [illegible] सरोजाकराः", अर्थात् उसकी आँखें खिले नील कमलोंकी वीथियाँ हैं और हाथ लाल कमलोंके झुण्डके झुण्ड" इसमें द्विवचन और बहुवचनका मनमाना विन्यास सहृदयोंके कल्पना-नेत्रके सामने एक अद्भुत सौन्दर्यका दृश्य उपस्थित कर रहा है। क्योंकि इसीके द्वारा कवि यहाँ नायिकाके नयन-युगल और बाहु-युगलका वह अद्भुत सौन्दर्य प्रकाशित कर देता है, जिसमें नीले और लाल कमलोंके वनके वनका सौन्दर्य एक साथ झलक उठता है और भावुक हृदयोंमें कोमल भावना भर जाती है।

कारकके विन्यास-वैचित्र्यके कारण दूसरे प्रकारकी प्रत्ययवक्रता (कारकवैचित्र्यविहितप्रत्ययवक्रता)की सृष्टि होती है, जिसमें रसभावके परिपोषके लिए चेतन पदार्थके योग्य क्रियाके कर्ताके रूपमें अचेतन पदार्थका उपनिबन्ध किया जाता है, जैसे "बिनु गोपाल बैरिन भई कुंजै" (सूरदास)में चेतन पदार्थके योग्य 'बैरी होने—शत्रुता करने'की क्रियाके कर्ताके रूपमें 'कुंजों' (अचेतन पदार्थ)का उपनिबन्ध किया गया है, जिसमें विप्रलम्भका एक चमत्कार-पूर्ण परिपोष हो रहा है।

प्रत्ययवक्रताका तीसरा प्रकार वह है जिसे, '**पुरुष-वैचित्र्य**विहित' प्रत्ययवक्रता कहा गया है। यह वक्रता कवियोंके ऐसे प्रयोगोंमें दिखाई दिया करती है, जिनमें भावपरिपोषके लिए मध्यम और उत्तम पुरुषके बदले अन्य पुरुष अथवा प्रातिपदिकका प्रयोग-चमत्कार रहा करता है, जैसे 'साकेत'के कविकी इस सूक्ति—"हे आर्य ! रहा क्या भरत अभीप्सित अब भी ? मिल गया अकण्टक राज्य उसे जब तब भी ?"में 'मुझे'के बदले 'उसे'के प्रयोगसे भरत की आत्म-निर्वेद-भावना अत्यधिक उत्कटतासे प्रकाशितकी जा रही है।

प्रत्ययवक्रताका चौथा प्रकार, जिसे **पदमध्यप्रत्यय-वक्रता** कहा गया है, वह है जिसमें पदके मध्यमें आये कृत् प्रभृति प्रत्यय वर्ण्य विषयके औचित्य और सौन्दर्यके वर्धक प्रतीत हुआ करते हैं (प्रस्तुतौचित्यविच्छित्ति स्वम-हिम्ना प्रकाशयन्। प्रत्ययः पदमध्येऽन्यामुल्लासयति वक्रताम्" (व० जी०, २ : १७)। उदाहरणके लिए, इस संस्कृत काव्यसूक्ति—"दोर्मूलावधिसूत्रितस्तनमुरः स्निह्य-त्कटाक्षे दृशौ"में 'स्निह्यत्कटाक्षे' पदके मध्यमें वर्तमानकाल-वाचक 'शतृ' (अत्) प्रत्ययके प्रयोगसे किसी सुन्दरीकी तत्कालरमणीय तिरछी चितवनोंवाली आँखोंकी सुन्दरताका हृदयहारी दृश्य उपस्थित किया जा रहा है।

प्रत्ययवक्रताका पाँचवाँ प्रकार **कालवैचित्र्यवक्रता है**, जिसमें तिङ् आदि प्रत्ययके वाच्यार्थ, अर्थात् वर्तमान आदि काल, वर्ण्य विषयके सौन्दर्यके परिपोषक होनेसे स्वयं सुन्दर हुआ करते हैं—"औचित्यान्तरतम्येन समयो रमणीयताम्। याति यत्र भवत्येषा कालवैचित्र्यवक्रता" (व० जी०, २ : २६) जैसे कि सूरदासकी इस सूक्ति—"उपमा हरि तन देखि लजाने। कोउ जलमें कोउ बनहि रहे दुरि कोऊ गगन समाने"में 'लजाने' (लजा गये) आदिके 'ने' (प्रत्यय)के वाच्यार्थ अर्थात्, भूत कालके वैचित्र्यमें कृष्णके

अंगप्रत्यङ्गके उपमानोंकी वर्तमान और भविष्य सम्बन्धी सत्ताकी सभी सम्भावनाएँ दूर की जा रही हैं और कृष्णका नित्य निरुपम रूप निखर उठता है।

प्रत्ययवक्रताका छठा प्रकार वह है, जिसे **उपग्रह-वैचित्र्यवक्रता** कहा गया है। 'उपग्रह' कहते हैं आत्मनेपदी और परस्मैपदी धातुओंके यथानियम किंवा प्रसंगोचित प्रयोगको (व० जी०, २ : ३०)। इस प्रकार वर्ण्य विषयके औचित्यसे आत्मनेपद अथवा परस्मैपदके प्रयोगवैचित्र्यका नाम उपग्रहवक्रता है ("पदयोरुभयोरेकमौचित्याद् विनियुज्यते। शोभायै यत्र जल्पन्ति तामुपग्रहवक्रताम्" (व० जी०, २ : ३१)। जैसे कि कालिदासकी इस सूक्ति (रघुवंश ९, ५२)—"तस्यापरेष्वपि मृगेषु शरान्मुमुक्षोः, कर्णान्तमेत्य बिभिदे निविडोऽपि मुष्टिः। त्रासातिमात्रचटुलैः स्मरयत्सु नेत्रैः, प्रौढप्रियानयनविभ्रमचेष्टितानि॥" अर्थात् "शिकारी दशरथकी, बाणपर कसी मुट्ठी, मृगोंके आगे पड़ते ही खुल जाती रही, क्योंकि उनके त्रस्त और चंचल नेत्र अन्तःपुरकी मृगनयनी नारियोंके कटाक्षोंकी याद दिला-दिलाकर महाराजको आत्मविस्मृत करने लगे"मे 'बिभिदे'-के आत्मनेपदके प्रयोगवैचित्र्यसे 'मुट्ठीके स्वयं खुल-खुल जाने'का जो अभिप्राय प्रकाशित हो रहा है, उससे यह समस्त काव्यबन्ध सुरभित और मनोहर हो उठता है।

सातवाँ प्रत्ययवक्रता-प्रकार **प्रत्ययान्तरवैचित्र्यवक्रता** है, जिसे तिङ् आदि प्रत्ययसे विहित अन्य प्रत्ययके प्रयोगसौन्दर्यमें देखा जा सकता है—"विहितः प्रत्ययादन्यः प्रत्ययः कमनीयताम्। यत्र कामपि पुष्णाति सान्या प्रत्ययवक्रता" (व० जी०, २ : ३२)। जैसे कि इस संस्कृत सूक्ति—"लीनं वस्तुनि येन सूक्ष्मसुभगं तत्त्वं गिरां कृष्यते, निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं वाचैव यो वा बहिः। वन्दे द्वावपि तावहं कविवरौ वन्देतरां तं पुनर्यो विज्ञानपरिश्रमोऽयमनयोर्भारावतारक्षमः;" अर्थात् "उन दोनों प्रकारके कवियोंकी वन्दना करता हूँ, जिनमे एक तो अपनी कवितासे सूक्ष्म सुन्दर वस्तुओंके निगूढ़ स्वभाव-सौन्दर्यको बाहर प्रकाशित कर देता है और दूसरा उसके बलपर एक विचित्र संसारकी सृष्टि कर डालता है। किन्तु उनसे भी बढ़े उस सहृदयकी और भी वन्दना करता हूँ, जो इन दोनों प्रकारके कवियोंकी कृतियोंका मर्म जानता है और उनके परिश्रमका मोल समझता है मे', 'वन्दे'के तिङ् प्रत्ययसे विहित 'तरप्' प्रत्ययका विचित्र विन्यास 'सहृदयता'के प्रति यहाँ कविकी उन-उन भावनाओंका प्रकाशन कर देता है, जिन्हे वह अपने मनमें सँजोये पड़ा है। —स० व्र० सिं०

पदपूर्वार्धवक्रता—(पद = सुबन्त अथवा तिडन्त + पूर्वार्ध = प्रातिपदिक अथवा धातु + वक्रता = विन्यासविचित्रता) 'पदपूर्वार्धवक्रता'का अभिप्राय है 'प्रातिपदिक' अथवा 'धातु' शब्दका विन्यासवैचित्र्य। यह भी काव्यकी एक पहचान है। इसका विश्लेषण काव्यसूक्तिमें होता है और इसके विश्लेषणसे कविकी काव्यकला-कुशलताका पता चलता है। इसके अनेकानेक प्रकार है, जिनमें **१. रूढ़िवैचित्र्यवक्रता** रूढ़ि शब्दोंके ऐसे प्रयोगोंमे दिखाई दिया करती है, जिनसे सहृदय काव्य-पाठकके हृदयमें उन शब्दोंके वाच्यार्थमे विलक्षण अर्थ भासित हुआ करते है। रूढ़िशब्दोंके विचित्र विन्यासकी दो विशेताएँ है—पहली वह, जिसे 'धर्मिगत' रूढ़िवैचित्र्यवक्रता कहा गया है और दूसरी वह, जो 'धर्मगत' रुढिवैचित्र्यवक्रता कही गयी है। 'धर्मिगत' रूढ़िवैचित्र्यवक्रतामें संज्ञाशब्दोंके लोकप्रसिद्ध 'व्यक्ति'रूप अर्थ, यथावसर, नानाविध अभिव्यग्य धर्मोंसे सर्वथा ओत-प्रोत लगा करते है और 'धर्मगत' रूढ़िवैचित्र्यवक्रतामे रूढिशब्द अपने वाच्य 'व्यक्ति'रूप पदार्थके अद्भुत, अलौकिक धर्म अथवा स्वभावके प्रकाशक प्रतीत हुआ करते है। रूढ़िवैचित्र्यवक्रताका कारण कविकी एक विचित्र इच्छा है, जो किसी उद्देश्यसे, कभी किसी वस्तुके प्रति अलौकिक सम्मान-भावना प्रकट किया करती है—"लोकोत्तरतिरस्कारश्लाघ्योत्कर्षाभिधित्सया" (व० जी०, २ : ९)। धर्मिगत रूढ़िवैचित्र्यवक्रताके उदाहरणके लिए, आनन्दवर्धनकी यह सूक्ति—"तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते। रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि"। यहाँ कमलपदमे 'रूढिवैचित्र्यवक्रता' है, क्योकि कवि कहता है—"वे ही कमल कमल है, जो सूर्यकी किरणो द्वारा अनुगृहीत होते है"। यहाँ यह स्पष्ट है कि 'कमल' शब्दसे जलजमात्रका अर्थ विवक्षित नही, अपितु अलौकिक मंगलमयता, विचित्र रमणीयता आदिकी विशेषताओसे विशिष्ट कमलका अर्थ अभिप्रेत है। धर्मगत रुढिवैचित्र्यवक्रताका उदाहरण यह सूक्ति लीजिये "देखी मैने आज जरा। हो जावेगी क्या ऐसी ही मेरी यशोधरा"(मैथिलीशरण गुप्त : सिद्धार्थ)। यहाँ 'जरा'का रूढार्थमात्र, अर्थात् 'बुढापा'का ही अर्थ नहीं प्रतीत होता, अपितु इस अर्थसे स्वभावतः सम्बद्ध किंवा कवि-विवक्षित अन्य अभिप्राय, जैसे कि प्रेम और सौंदर्यके समस्त भावोंका अनिवार्य विनाश, जीवनका नीरस अवसान आदि-आदि भी प्रकाशित हो जाते है और निर्वेदका महाभाव उत्कृष्ट हो उठता है।

पदपूर्वार्धवक्रताका दूसरा प्रकार **पर्यायवक्रता** है, जिसकी अनेक विशेषताएँ है। 'पर्यायवक्रता'की एक विशेषता वह है, जिसमें कोई पर्याय शब्द—वह शब्द, जिसके समानार्थक और भी शब्द व्यवहृत हो सकते है-अपने वाच्य अर्थका अन्तरंग मित्र-सा—'अभिधेयान्तरतमः पर्यायः (व० जी०, २ : १०) लगा करता है। जैसे कि तुलसीकी इस उक्ति 'अब चित चेतु चित्रकूटहि चलु' (वि० प०)मे 'चित' पद। यहाँ मन आदि और समानार्थक शब्दोके होते हुए भी कविने 'चित' पद ही प्रयुक्त किया है, क्योंकि यही पद ऐसा है, जो सचेत किये जानेवाले चिन्तनप्रवण अन्तःकरणके अर्थका अन्तरंग-सा लग रहा है। पर्यायवक्रताकी दूसरी विशेषता वह है, जिसे पर्याय शब्दका, अपने अभिधेय अर्थको, एक लोकोत्तर उत्कर्षसे पोषित करना कहा गया है—'अभिधेयस्यातिशयपोषकः पर्यायः' (व० जी०, २ : १०)। जैसे कि सूरदासकी यह सूक्ति "जब मोहन मुरली अधर धरी। गृहव्यवहार थके आरजपथ तजत न संक करी"। यहाँ 'मोहन' पद अपने अभिधेय 'कृष्ण' अर्थको उसके लोकोत्तर उत्कर्ष—स्वर्गीय संगीत-नैपुण्य, गोपीहृदयवशीकरणसामर्थ्य आदिसे भरता प्रतीत हो रहा है। यह भी पर्याय-वक्रताका ही एक प्रकारवैचित्र्य है, जिसमे कोई पर्याय

शब्द, स्वयं अथवा अपने विशेषणपदके सम्पर्कसे, अपने अभिधेय अर्थको, अपने रमणीय अर्थ-वैचित्र्यसे विभूषित करता प्रतीत हो—"स्वयं विशेषणेनापि स्वच्छायान्तर-स्पर्शात् अभिधेयमलंकर्तुमीश्वरः पर्यायः" (व० जी०, २ : १०)। उदाहरणके लिए 'साकेत'की इस उक्ति—"हा लाल ! उसे भी आज गँवाया मैंने"मे 'लाल' पद स्वयं अपने अभिधेय 'पुत्र'रूप अर्थको, अपने अन्य अर्थ—जैसे कि पद्मरागमणि आदिकी कमनीयता और महार्घतामे अलंकृत करता हुआ कैकेयीकी दीनताको और भी दयनीय बना रहा है।

पर्यायवक्रताकी तीसरी विशेषता 'उपचारवक्रता' है। काव्य-साहित्यमें 'उपचारवक्रता'के अनेक रूप दिखाई देते हैं। इसका एक रूप वह है, जिसमें वर्ण्य पदार्थपर दूसरे पदार्थके धर्मका आरोप दिखाई दिया करता है, जिससे सौन्दर्य-प्रेमी कविकी समदृष्टिका परिचय मिला करता है। अचेतन पदार्थपर चेतन पदार्थके धर्मका आरोप, मूर्तपर अमूर्तके सौन्दर्यका आरोप, द्रव पदार्थपर तरल पदार्थके स्वभावका आरोप आदि-आदि इस उपचारवक्रताके बहुविध वैचित्र्य है। जैसे कि सूरदासकी इस सूक्ति—"अँखियाँ हरिदरसनकी भूखी"में 'आँखोंपर'पर चेतन प्राणीके धर्म 'भूख'का आरोप एक काव्यात्मक वैचित्र्य है, क्योंकि इसीसे हरिदर्शनके लिए आँखोंकी बेचैनीका निगूढ अभिप्राय प्रकाशित हो सकता है। उपचारवक्रताका दूसरा रूप वह है, जो रूपक प्रभृति अलंकारोंके चमत्कारका प्राणरूप हुआ करता है—"यन्मूला सरसोल्लेखा रूपकादिरलंकृतिः" (व० जी०, २ : १४)। जैसे कि तुलसीदासकी सूक्ति—"एक राम घनश्याम हित चातक तुलसीदास"में 'राम'पर 'श्याम घन' तथा 'तुलसीदास'पर 'चातक'के आरोपसे दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थोंमे जो अभेदभावना प्रकाशित हुई है, उससे 'उपमेय' और 'उपमान'की अभेद-कल्पनाको प्रोत्साहन मिल रहा है, जिससे राम-रतिकी अभिव्यक्ति अनायास, किं वा उत्कट रूपमे हो उठती है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि पूर्वनिर्दिष्ट उपचारवक्रतामें तो एक पदार्थपर दूसरे पदार्थके धर्मका आरोप हुआ करता है, जिसका कारण उन पदार्थोंका किंचिन्मात्र सादृश्य हो सकता है, किन्तु यहाँ दो स्वभावतः भिन्न पदार्थोंमे अभेद-भावनाका पोषण किया जाता है, जो कि उनके पर्याप्त साम्य-दर्शनसे ही सम्भव है।

पर्यायवक्रताकी चौथी विशेषता 'विशेषणवक्रता'के रूपमें दिखाई देती है। विशेषणवक्रता महाकवियोंकी शैलीकी एक बहुत बडी विशेषता है। विशेषणवक्रतामें कारक-विशेषण और क्रिया-विशेषण दोनोंके विचित्र विन्यासका अभिप्राय अन्तर्भूत है। 'विशेषण'के विन्यास-वैचित्र्यसे क्या वस्तु-स्वभाव, क्या रस-समुन्मेष और क्या अलंकार-सौन्दर्य, सभी-के-सभी अत्यधिक मनोहर लगा करते हैं। उदाहरणके लिए इस सूक्ति—"मुरली लकुटवारे चन्द्रिका मकुटवारे, दुरित हमारे दरौ राधिका रमनजू"में 'राधिकारमन' (कृष्ण)के लिए प्रयुक्त 'मुरली लकुटवारे' और 'चन्द्रिका मकुटवारे' इन विशेषण-पदोंकी 'वक्रता' स्पष्ट है, क्योंकि इन्हीकी महिमासे यहाँ 'राधिकारमन'के प्रति कविका प्रेयसी-प्रेम और राधिकाके सौन्दर्यके प्रति [illegible] भाव एक विचित्रतासे झलक उठता है। [illegible] भाव-समाहित कविकी इस उक्ति "सह न सके [illegible] सजग व्योमकी क्रान्ति", "एक दिन उड़ने सिखाते हैं विहग"मे 'चिर-सजग'का विचित्र विशेषण-विन्यास 'व्योम'के उस अनिर्वच रहस्यका उन्मीलन कर देता है, जिसके उद्भेदनने इन्द्र और वृत्र-युद्धकी वैदिक कल्पना उत्पन्न हुई थी।

पदपूर्वार्धवक्रताका तीसरा प्रकार **संवृतिवक्रता** है। संवृतिवक्रताका अभिप्राय किसी वस्तुके लिए, उसके अलौकिक सौन्दर्यके प्रकाशनार्थ, वाचक पदके बदले 'सर्वनाम' पदका प्रयोग-वैचित्र्य है। एक कविकी इस उक्ति—"वह प्यारके वे पल ही जगका महान् कलंक"मे 'वे'का प्रयोग इसका एक सुन्दर उदाहरण है, क्योंकि इसीकी महिमासे 'प्यारके पल'की अनुभूति, किन्तु अवर्णनीय उत्कण्ठा, उत्कट रूपसे अभिव्यक्त हो उठती है।

पदपूर्वार्धवक्रताका चौथा प्रकार **वृत्तिवैचित्र्यवक्रता** है, जिसका अभिप्राय विषय अथवा भाव-सौन्दर्यके अनुरूप समास, कृत् आदि वृत्तिके प्रयोगका वैचित्र्य है।

पदपूर्वार्धवक्रताका पाँचवाँ प्रकार **लिंगवैचित्र्यवक्रता** है। इसके भी कतिपय रूप-वैचित्र्य है, जिनमे एकार्थवाची भिन्न लिंगवाले पदोमें स्त्रीलिंग पदका प्रयोग विशेष महत्त्व रखता है। जैसे कि तुलसीदासकी इस सूक्ति—"नयन सरोज मयन सरसीके" (गीतावली)मे 'सर'के बदले 'सरसी'-का प्रयोग 'लिंगवक्रता'का एक सुन्दर निदर्शन है, क्योंकि रामके बाल-रूपके प्रति वात्सल्यभावकी सुकुमार योजना जितनी इससे सम्भव है, उतनी इसके समानार्थक पुलिंग पदके प्रयोगसे नही।

पदपूर्वार्धवक्रताका एक और भी सुन्दर प्रकार है, जिसे **क्रियावैचित्र्यवक्रता** कहा गया है और जिसके रूप-पंचकमे कविकी क्रियायोजनाका सौन्दर्य दिखाई दिया करता है। इसका प्रथम रूप 'क्रिया' पदकी योजनाका वह वैचित्र्य है, जिसमें 'क्रिया' पद 'कर्ता'का अन्तरंग-सा प्रतीत होता है 'कर्तुरत्यन्तरंगत्वम्' (व० जी०, २ : २४)। जैसे कि 'उपमा एक न नैन गही' (सूरदास)मे 'गही'का जो प्रयोग है, वह यहाँके विषयकी औचित्य-महिमासे, 'नैन'-(रूपग्राहक इन्द्रिय)के प्रति अत्यन्त अन्तरतम-सा लग रहा है। 'क्रियावैचित्र्यवक्रता'का द्वितीय रूप वह है, जहा कोई 'क्रिया' कर्तृपदके योगमे विचित्र लगा रखती है। जैसे कि 'नीले वितानके तले दीप बहु जागे' (साकेत)मे 'जागे'-की क्रियाका 'सौन्दर्य' इसके कर्तृपद 'दीप'के सम्बन्धसे विलक्षण बन जाता है, जिससे यहाँ प्रस्तुत निस्तब्ध वातावरणकी विचित्रता और भी अधिक झलक उठती है। क्रियावैचित्र्यवक्रताके तीसरे रूपमे क्रियाविशेषणके द्वारा 'क्रिया'में सौन्दर्यका आधान दिखाई देता है। जैसे कि "फहर रहे थे केतु उच्च अट्टोंपर फर-फर" (साकेत)मे 'फर-फर'के क्रियाविशेषणसे पताकाओंके 'फहरने'की क्रियाका सौन्दर्य पूरा निखर उठता है। क्रियावैचित्र्यवक्रताका अति सुन्दर रूप वह है, जिसमे क्रियापदसे उपचार-सौन्दर्य झलका करता है। जैसे कि 'जीती जीती है रन

बंसी' (सूरदास)में 'बंसी'के लिए प्रयुक्त 'रण जीतने'की क्रियासे 'बंसी'पर 'प्रेयसी व्यवहार'का आरोप स्पष्ट झलक उठता है और कविकी कृष्णरतिका आनन्द वह निकलता है। —स० ब्र० सिं०

पदमध्यप्रत्ययवक्रता–दे० 'पदपरार्धवक्रता', चौथा प्रकार।

पदवक्रता (अव्युत्पन्न पद: उपसर्ग और निपात-वक्रता)–पदपूर्वार्ध और पदपरार्धवक्रता तो उन पदोंके विचित्र विन्यासमे देखी जाया करती है, जो कि 'नाम' और 'आख्यात' रूप पद हुआ करते है, किन्तु 'उपसर्ग' और 'निपात' पद भी, जिन्हे इसलिए अव्युत्पन्न पद कहा जाता है क्योकि वे प्रकृति-प्रत्यय विभागकी सम्भावनासे परे रहा करते है, अपने विचित्र उपनिबन्धसे रसभावके विचित्र परिपोषक हुआ करते है। रसभावके विचित्र परिपोषमे समर्थ 'उपसर्ग' और 'निपात' पदोकी विन्यास-विच्छित्तिका ही नाम 'पदवक्रता' (अव्युत्पन्न पद: उपसर्ग और निपात-वक्रता) है, जैसा कि कुन्तक (वक्रोक्तिजीवित-कार)ने कहा है–"रसादिद्योतनं यस्यामुपसर्गनिपातयोः। वाक्यैकजीवितत्वेन साऽपरा पदवक्रता॥" (२, ३३), अर्थात् पदके पूर्वार्ध और अपरार्धकी वक्रता अथवा विचित्रतासे अनूठी वह पदवक्रता है, जिसमें 'उपसर्ग' और 'निपात'के ही द्वारा काव्य-बन्धमे व्याप्त रसभाव छलक पडता है। उदाहरणके लिए सूरदासकी इस सूक्ति–"अँखियाँ अतिहि अजान भई"में 'अतिहि' पद (अव्युत्पन्न) अत्यधिक चमत्कार-कारक है, क्योकि इसीकी महिमासे मोहनकी रूप-माधुरीके प्रति विस्मित कवि-हृदयका रहस्य खुल निकलता है। —स० ब्र० सिं०

पद-शैली–यह कह सकना सरल नहीं है कि किस निश्चित समय काव्य-रचनाकी यह गेय शैली प्रचलित हुई। सिद्धों-के चर्या-पदोंमे इसका इतिहास जोडा जा सकता है। परन्तु इसके विकासका मूल स्रोत लोक-गीतोंकी परम्परा ही मानी जा सकती है। वस्तुतः हिन्दीके मात्रिक छन्दोंके विकासमे भी लोक-छन्दोंका आधार था और मात्रिक छन्द लोक-गीतों-की प्रकृतिसे पूरा मेल रखते है। हिन्दी पद-शैलीमे विभिन्न छन्दोका प्रयोग उनके अनेक मिश्रित रूपोंमें हुआ है, इनका निश्चित चिह्न–'टेक' भी मात्रिक छन्दका ही चरण रहता है। पद-शैलीके साथ दूसरी समस्या संगीतशास्त्रकी है। प्रायः पदोके साथ किसी-न-किसी 'राग'का निर्देश मिलता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि कविने पद-रचनाका आधार राग विशिष्ट रखा था या पदविशेष उसी रागमे गाया जा सकता है। आधुनिक संगीतज्ञ तो इन पदोंको भिन्न रागोमे ही निश्चित करते हैं। वस्तुतः इन निर्देशोंका अभिप्राय यही हो सकता है कि सम्प्रदायमे इन पदोंको गाये जानेकी यह विशिष्ट पद्धति रही है। इन पदोमें संगीतका समन्वय अवश्य है, पर ये राग-प्रधान नहीं माने जा सकते, क्योंकि राग स्वर और तालप्रधान होते है, परन्तु इनमें प्रधानता भावाभिव्यक्तिकी है। इन पदोंमे सामान्य छन्दोंसे अधिक मार्मिकता तथा व्यंजनाके साथ रूप-सौन्दर्य तथा भाव-सौन्दर्यको अंकित किया गया है। पदोंकी प्रकृति सामान्य मुक्तकोंसे भिन्न है। 'टेक' इसका विशेष अंग है और इसमे पदके भाव-सूत्रका केन्द्र रहता है। किसी भी पदकी 'टेक'मे यह देखा जा सकता है। सम्पूर्ण पदमे इस भाव-केन्द्रका प्रसार होता रहता है। मुक्तकमे, विशेषकर रीतिकालके प्रसिद्ध छन्द कवित्त-सवैयामे भावोत्कर्ष क्रमिक रूपसे अग्र-सर होकर अन्तिम चरणमे परिसमाप्त होता है। परन्तु पद-शैलीमे भाव-चित्र अथवा मूल संवेदना गुम्फित होती हुई अपने प्रसारमे पाठकको या श्रोताको अभिभूत कर लेती है।

हिन्दी साहित्यमे पद-शैलीकी दो निश्चित परम्पराएँ मिलती है। एक सन्तोंके 'सबदों'की, जो वास्तवमे पद-शैलीमे ही प्रायः लिखे या गाये गये है। इस परम्पराका सम्बन्ध सिद्धोके चर्या-पदोंसे सरलतासे देखा जा सकता है, क्योकि सन्तोने भावना तथा प्रतीकोके क्षेत्रमें सिद्धों और नाथोसे बहुत कुछ ग्रहण किया है। दूसरी परम्परा कृष्ण-भक्तोंकी पद-शैली है, जिसका आधार लोक-गीतोंकी शैली होगा। विद्यापतिके पदोंके अत्यधिक लोक-प्रचलित रूप-से यह अनुमान लगाया जा सकता है, परन्तु यही नही माना जा सकता कि ये दोनो परम्पराएँ किसी स्तरपर समान नही है। लगभग सभी आधुनिक भारतीय भाषाओ-में भक्ति-भावनाकी अभिव्यक्तिके लिए पद-शैलीका प्रयोग मध्य युगमे हुआ है और इससे भी यही सिद्ध होता है कि पद-शैलीका विकास तत्कालीन लोक-गीतोंसे ही हुआ है।

कबीर, दादू, नानक तथा सुन्दरदास आदि अनेक सन्त कवियोने पद-शैलीका प्रयोग अपनी गम्भीर तथा सघन भावाभिव्यक्तिके लिए किया है। इन्होने **साखियों**-का प्रयोग प्रायः सत्य-निरूपण, उपदेश, ज्ञानचर्चा आदिके लिए किया है, परन्तु पदोका प्रयोग अपनी आध्यात्मिक अभिव्यक्ति(प्रेम-विरह)के लिए किया है। यही कारण है कि जिन सन्तोंमें कवित्व तथा भाव-प्रवणता विशेष है, वे अधिक सुन्दर पदोंकी रचना कर सके है। कबीर और दादूके पदोका विशेष महत्त्व है। इन कवियोने 'उलट-बाँसियों'की रचना भी पद-शैलीमें की है।

कृष्ण-काव्यमे विद्यापतिने सर्वप्रथम पदशैलीका बहुत ही सुन्दर और सफल प्रयोग किया है। यौवनके स्फुरण, सौन्दर्य तथा उद्वेगजनक प्रेम-विरहके चित्र उनके पदोमे इस सजीवताके साथ अंकित हुए है कि जनता उनसे भाव-विह्वल हो उठी। इनके बाद सूरका सारा काव्य-व्यक्तित्व पदशैलीमे ही निर्मित है। उनके 'सूरसागर'का सम्पूर्ण कवित्वपूर्ण और सजीव भाग पदोंमे है। 'सूरसागर'में कथा-का सूत्र लेकर भी सूरकी मौलिक प्रकृति मुक्त है और वे सौन्दर्य तथा भावनाके कुशल कवि है। पदशैली उनकी इसी प्रकृतिके अनुकूल है। वे सौन्दर्य-चित्रोके अनेक पक्षोंको और भावनाके अनेक सूक्ष्म और सघन क्षणोंको अपने पदोमे मार्मिकता तथा कुशलताके साथ अभिव्यक्त कर सके है। परमानन्ददास, कृष्णदास, नन्ददास आदि अष्टछापके कवियोपर सूरकी स्पष्ट छाप है। पर पुष्टिमार्गके बाहरके कवियोंने भी पदशैलीमे ही अपनी भक्ति-भावनाको व्यक्त किया है। इनमे मीराँबाईका महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योकि इनकी पदशैलीमें स्वच्छन्द मुक्ति है और सहज भावावेग है। अपने पदोंके माधुर्यके लिए हितहरिवंशका नाम भी प्रसिद्ध है। आधुनिक कालमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्रके पदोंमें सूरकी मार्मिकता मिलती है और सत्यनारायण कविरत्नके

पदोंमें भी कोमल भावशीलता है।

राम-काव्यके अन्तर्गत तुलसीदासने अपनी कुछ रचनाएँ पदशैलीमें की हैं। 'कृष्णगीतावली'में उन्होंने कृष्णकी कथा-पर आधारित पद लिखे हैं, 'गीतावली'में राम-कथा पदोंमें गायी गयी है और यह तुलसीकी उत्कृष्ट रचनाओंमें है। इसमें भावोंकी मार्मिकता 'रामचरितमानस'से अधिक प्रभाव-शाली है; यह पदशैलीकी ही विशेषता है। उनकी 'विनय-पत्रिका'का अधिकांश पदशैलीमें है (प्रारम्भमें स्तोत्रशैली है)। तुलसीको पदशैलीमें समानरूपसे सफलता प्राप्त हुई है, इसमें सन्देह नहीं है। यद्यपि वर्तमान कालमें पदशैली-का प्रचार बिलकुल नहीं है, पर सामान्य जनता और सुशिक्षित जनोंमें सामान्य रूपसे इनका प्रचार और आकर्षण है। इससे इस शैलीकी शक्तिका अनुमान लगाया जा सकता है। —र०

पदार्थस्वरूपवक्रता—दे० 'वाक्यवक्रता'।

पद्धरि—मात्रिक समछन्दका एक भेद। 'प्राकृतपैंगलम्'में पज्झलिया नामक छन्द दिया गया है, जिसके प्रत्येक चरण-मे १६ मात्राएं तथा अन्तमें जगण (ISI) कहा गया है (१ : १२६)। हिन्दीमें यही छन्द पद्धरि कहलाया है। भिखारीदासने पद्धरि छन्दके प्रत्येक चरणको १६ मात्राका माना है और अन्तमें यगण(ISS)का निर्देश किया है, परन्तु उदाहरणमें जगणका प्रयोग ही किया है—"नभ रीति सघन तममय विसाल, पद अटकत कण्टक दर्भजाल" (छन्दो०, पृ० २६)। भानु कविने अवश्य पद्धरिकी परिभाषा यहीं देकर पज्झरिया नामक छन्द भिन्न माना है (छं० प्र०, पृ० ४८)। हिन्दीमें इस छन्दका व्यापक प्रयोग हुआ है:—चन्द (पृ० रा०), सूर (सू० सा०), तुलसी (गीतावली), केशव (रा० चं०), मान (रा० वि०), सदानन्द (रा० भ०), सूदन (सु० च०), गुलाब (क० रा०) तथा जोधराज (ह० रा०)। चारणोंमें वीर रसके प्रसंगोंमें, विशेषकर युद्धवर्णनके लिए इसका प्रयोग हुआ है। अपभ्रंशमें इस छन्दमें सामान्य वर्णनकी परम्परा थी। हिन्दीके कवियोंने भी वीर रसके अतिरिक्त अन्य प्रसंगोंमें इसका उपयोग किया है। मानने दहेजकी सामग्री, आभूषण, सूदनने वीरोंकी वंशपरम्परा तथा नामावली, जोधराजने आश्रयदाताकी प्रशंसा, ऋतु आदिका वर्णन इस छन्दमें किया है। तुलसीने 'गीतावली'में होली-वर्णनके लिए पदमें इस छन्दका प्रयोग किया है—"खेलत बसन्त राजा-धिराज। देखत नभ कौतुक सुर समाज" (७ : १२३)। सूदनका प्रयोग—"यों पर्यो सोर दिल्ली अपार। पुर लोग पुकारत बार-बार। (सु० चं०, ३१ : १२ : ६)।" इस छन्दमें ८-८ पर यति लगानेका नियम भी रहा है, पर हिन्दीके कवियोंने इसमें पर्याप्त छूट ली है। कभी-कभी १०, ६पर यति है कभी किसी चरणमें ठीक यति है और अन्यमें नहीं। केशवके इस छन्दमें—"कपि शोभित सुभट अनेक संग। ज्यों पूरन शशि सागर तरंग" (रा० चं०, २१ : ५६)में यतिका नियम लग सकता है। —सं०

पद्म—दे० 'कमल'।

पद्मावती—मात्रिक समछन्दका एक भेद। 'प्राकृतपैंगलम्'-के अनुसार यह ३२ मात्राके चरणवाला छन्द है, जिसमें १०, ८, १४ पर यति होती है। भानुने इसमें [illegible] अन्तमें दो गुरु (SS), तथा केशवने [illegible] पढनेका निर्देश किया है। परन्तु 'पैंगलम्'में गुरुका उल्लेख यतियोंपर ही है, अन्तमें नहीं, यह उदाहरणसे स्पष्ट है (१ : १४४–५)। इस छन्दका प्रयोग केशवने किया है—"पर्वाने जब कर्ण, पालक कर्ण, परिपूरन केशव गावे" (रा० च०)।

पद्मिनी—दे० 'महामुद्रा'।

पद्य—संस्कृत साहित्यशास्त्रमें श्रव्य काव्यका एक भेद। दे० 'साहित्यशास्त्र'। काव्य गद्य, पद्य या गद्य-पद्यके मिश्रित रूपमें लिखा जा सकता है। पद्य-काव्यसे तात्पर्य है छन्दो-बद्ध काव्य—**महाकाव्य, खण्डकाव्य, पद्य-निबन्ध, मुक्तक, गीति** आदि। इस प्रकार पद्यका अर्थ होता है छन्दोबद्ध रचना। व्युत्पत्तिकी दृष्टिसे पदयुक्त, अर्थात् गण-मात्रायुक्त रचनाको पद्य कहते हैं। इस प्रकार पद्य शब्द रचनाके बाह्य रूपका बोध कराता है, उसकी आन्तरिक प्रकृतिका कोई संकेत नहीं देता। अरस्तूने गद्य और कविताका अन्तर करके इसी ओर लक्ष्य किया है (दे० 'कविता', 'काव्य')।

परन्तु पद्य शब्दका प्रयोग कविताके लिए भी होता है, ठीक उसी प्रकार जैसे अंग्रेजीके वर्सका शाब्दिक अर्थ छन्दोबद्ध रचना (मीट्रिकल कम्पोजीशन), कोई एक छन्द या कोई एक छन्दोबद्ध पंक्ति होता है, फिर भी उसका प्रयोग कविता (पोएट्री या पोयम)के अर्थमें भी होता है। इसका कारण यह है कि काव्यकी अर्थ-व्याप्तिमें गद्य-रचनाओंके समावेशके बावजूद कविता और पद्य बहुत-कुछ अभिन्न मान लिये गये हैं। पद्य और काव्यके अन्तरको स्पष्ट करनेके लिए न जाने कितना ऊहापोह हुआ है, परन्तु फिर भी दोनोंमें सम्बन्धकी कुछ ऐसी अनिवार्यता हो गयी है कि गद्यकी काव्यात्मक, अर्थात् सौन्दर्यवृत्तिपर आधारित संवेदनशील और रसात्मक रचनाओंको गद्य विशेषण जोड़कर गद्य-कविता, गद्य-काव्य या गद्य-गीति नामसे अभिहित करना पड़ता है। —ब्र० व०

पद्यनाटक—दे० 'काव्यनाटक'।

पद्य-निबंध—दे० 'पद्य-प्रबंध'।

पद्य-प्रबंध—प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्रमें प्रबन्धका अर्थ सर्गबन्ध कथात्मक काव्य या कथा-आख्यायिका माना जाता था। रुद्रटने इसी अर्थमें प्रबन्ध शब्दका प्रयोग करते हुए लिखा है—"सन्ति द्विधा प्रबन्धा काव्यकथाख्यायिका-दयः"। इस तरह प्राचीन भारतीय आलंकारिकोंके अनुसार **महाकाव्य, खण्डकाव्य, कथा, आख्यायिका, धर्मकथा, परिकथा** आदि रसात्मक तथा वर्णनात्मक कथाएँ प्रबन्ध हैं। हेमचन्द्रने प्रबन्धको **प्रबन्ध-काव्यसे** भिन्न एक स्वतन्त्र काव्य-रूप माना है और 'परप्रबोधनार्थ' लिखी गयी नीति या धर्म-सम्बन्धी उपदेशात्मक कथाओं, जैसे 'नलोपाख्यान' आदिको प्रबन्ध कहा है। परवर्ती कालमें ऐतिहासिक और विशिष्ट व्यक्तियोंसे सम्बन्धित निजन्धरी या कल्पित घटनाओं-पर आधारित लघु कथाओंको प्रबन्ध कहा जाता था, जैसे 'प्रबन्धकोश', 'भोजप्रबन्ध' और 'पुरातनप्रबन्धसंग्रह'के प्रबन्ध। किन्तु आधुनिक युगमें प्रबन्ध शब्दका अर्थ परि-

वर्तित हो गया है। आजकल विचारात्मक, विश्लेषणात्मक और विवेचनात्मक गद्यबद्ध रचनाओंको, चाहे वे समीक्षात्मक हों या सैद्धान्तिक, प्रबन्ध कहा जाना है। अब यह अंग्रेजीके 'थीसिस' शब्दके अर्थमें प्रयुक्त होता है। कभी-कभी प्रबन्ध शब्दका प्रयोग निबन्ध (एसे) शब्दके समानार्थीके रूपमें भी होता है, किन्तु सामान्यतया निबन्ध और प्रबन्धका यह भेद मान्य हो गया है कि निबन्ध आकारमें लघु, अत्यधिक संघटित और समास-शैलीमें लिखा गया होता है और प्रबन्ध बड़े आकारका तथा व्याख्यात्मक होता है। इस तरह आजकलकी साहित्यिक मान्यताके अनुसार प्रबन्ध और निबन्ध विचारक्षेत्रके शब्द हैं, काव्य या कथा-क्षेत्रके नहीं। यद्यपि प्रबन्धकाव्य शब्दका व्यवहार आज भी होता है, पर केवल प्रबन्ध शब्द आज प्रबन्धकाव्य या कथा-आख्यायिकाका बोधक नहीं रह गया है।

प्राचीन भारतीय आलंकारिकोंने पद्य-प्रबन्ध नामक कोई काव्यरूप नहीं माना है। पद्य-बद्ध शास्त्र-ग्रन्थ तब भी लिखे जाते थे, पर उन्हें काव्य या साहित्यके अन्तर्गत नहीं माना जाता था। आधुनिक युगमें गद्य प्रधानतया विचार-विवेचनाका और पद्य भावाभिव्यंजनका माध्यम बन गया है। अतः आज गद्य-काव्य या गद्य-गीतके अतिरिक्त साराका सारा काव्य पद्य-बद्ध होता है। प्राचीन कालमें नाटक और कथा-आख्यायिकाको भी काव्य ही माना जाता था, पर अब उन्हें काव्य नहीं, गद्य-साहित्यके अन्तर्गत माना जाता है। फिर भी इस युगमें ऐसी पद्य-बद्ध रचनाएँ लिखी गयी हैं, जिन्हें न तो विशुद्ध काव्य ही माना जा सकता है और न पद्य-बद्ध शास्त्र ही कहा जा सकता है। ऐसी रचनाओंको पद्य-प्रबन्ध या पद्य-निबन्ध कहा जा सकता है, क्योंकि उनमें आधुनिक युगमें गद्यमें लिखे गये विचारात्मक या भावात्मक प्रबन्धके गुण पाये जाते हैं। अंग्रेजी साहित्यमें एलेक्जेण्डर पोपकी रचनाएँ 'एसे ऑन क्रिटिसिज्म' और 'एसे आन मैन' पद्य-प्रबन्धके उदाहरणके रूपमें रखी जा सकती हैं। पद्य-बद्ध होते हुए भी ये दोनों रचनाएँ क्रमशः समीक्षा और दर्शनकी विवेचना प्रस्तुत करती हैं और उन्हें विशुद्ध काव्यकी कोटिमें नहीं रखा जा सकता। पद्य-प्रबन्धमें बौद्धिक विवेचन और तर्क-पद्धतिका अधिक सहारा लिया जाता है और सूक्ष्म भावाभिव्यंजन तथा मार्मिक अनुभूतियों और दृश्योंके चित्रणका उनमें अभाव होता है। हिन्दीमें द्विवेदीयुगकी बहुत-सी पद्य-बद्ध रचनाएँ जैसे 'भारत-भारती', 'हिन्द' आदि अपनी इतिवृत्तात्मकता, उपदेशात्मकता और बौद्धिक विवेचनाके कारण पद्य-प्रबन्धकी कोटिमें आती हैं। वर्तमान युगके कवि रामधारी सिंह 'दिनकर'के काव्य-ग्रन्थ 'कुरुक्षेत्र'को भी कुछ विद्वानोंने पद्य-प्रबन्ध या काव्य-प्रबन्ध कहा है। 'कुरुक्षेत्र'में कथा-प्रबन्धका नितान्त अभाव है, फिर भी वह प्रबन्ध-काव्योंके समान लम्बा काव्य है, मुक्तक काव्य नहीं है। कथा-विहीन होनेपर भी उसका आकार बड़ा होनेका कारण यह है कि उसमें युद्ध और शान्तिकी समस्या तथा गान्धीवाद, समाजवाद, निष्काम कर्म और संन्यास आदि विविध विषयोंपर बहुत ही विशदता और तर्कपूर्ण ढंगसे विचार किया गया है। कविके शब्दोंमें ही "वस्तुतः 'कुरुक्षेत्र' युद्धकी मीमांसा है"। 'दिनकर'ने इस काव्यकी भूमिकामें स्वयं कहा है: "मुझे जो कुछ कहना था, वह युधिष्ठिर और भीष्मका प्रसंग उठाये बिना भी कहा जा सकता था, किन्तु तब यह रचना शायद प्रबन्धके रूपमें नहीं उतरकर मुक्तक बनकर रह गयी होती, तो भी यह सच है कि इसे प्रबन्धके रूपमें लानेकी मेरी कोई निश्चित योजना नहीं थी। यही नहीं, 'इस प्रबन्ध कविता'में व्यास और महाभारतका भी बन्धन नहीं है"। इस उद्धरणमें 'प्रबन्ध-कविता' शब्दका व्यवहार प्रबन्ध-काव्यके लिए नहीं, बल्कि पद्य-प्रबन्ध या काव्य-प्रबन्धके अर्थमें हुआ है और 'प्रबन्ध' शब्दसे कविका अभिप्राय कथा-प्रबन्ध नहीं, बल्कि विषयप्रधान विचारात्मक और विवेचनात्मक प्रबन्ध या निबन्ध(थीसिस)में है। पद्य-प्रबन्ध नामक काव्यरूप अधिक प्रचलित नहीं है और सम्भवतः इसीलिए हिन्दीके आधुनिक साहित्यशास्त्रियों द्वारा भी इस शब्दका प्रयोग अधिक नहीं होता है (दे० 'कविता')। —शं० ना० सिं०

पनिहारिन—जातिविशेषका गीत। पनहरो या पनभरोंकी एक जाति होती है, जो गाँवके घरोंमें पानी भरती है, उक्त गीत इसी जातिसे सम्बद्ध है। पनभरोंकी एक जातिका नाम कँहार है—इनके गीतको कँहरवा कहते हैं। पनिहारिनके गीत कँहरवासे बहुत भिन्न नहीं होते। —रा० भ्र०

परंपरावाद—रूढ़िवाद या सनातनीपन या शाश्वतवादके नामसे परम्परावाद चला आ रहा है। यह विभिन्न रूपोंमें लकीर पीटनेवाला दर्शन बना है। साहित्यमें यह 'ट्रैडिशनैलिज्म', अंग्रेजीमें 'एज ऑव रीजन'के कालमें 'इनसाइक्लोपीडिक्स' रूपमें मिलता है। नन्ददुलारे वाजपेयी, गुलाब राय, नगेन्द्र इत्यादि स्पष्टतः परम्परावादी हैं। वे प्राचीन काव्यशास्त्रका आधार लेते हैं या व्याख्या करते हैं तो केवल नवीनका विरोध करनेके लिए। ये आलोचक 'स्टेट्स-को-इज्म' (एतादृशत्व)के संस्थापक होते हैं। नवीनमें जो भी प्रयोगशील, साहसिक या प्रगति-उन्मुख हो, वह उन्हें अच्छा नहीं लगता। इस परम्परा-प्रतिष्ठाके मोहमें कई बार मिथ्या प्रतिष्ठा और 'मीडियाक्रेसी' भी दाद पाने लग जाती है, क्योंकि परम्पराके कुछ अंश जीवित रहते हैं; जो सप्राण नवीनतममें घुल-मिल जाते हैं, जब कि परम्पराका बहुत-सा हिस्सा काईकी तरह सड़ जाता है या सिर्फ जंग चढ़ाता रहता है। वे पीले पत्ते या मृत सिद्धान्त आगे स्फूर्ति या प्रेरणा जगा नहीं सकते, चाहे उन्हें स्वर्णाभ कह लो या 'ममियों'की भाँति शब्द-रसायन मसालोंसे सजा-सँवारकर रख लो। —प्र० मा०

परंपरित रूपक—दे० 'रूपक', सातवाँ प्रकार।

परकीया (नायिका)—सामाजिक सम्बन्धोंके आधारपर नायिकाका दूसरा भेद; जो स्त्री किसी अन्य पुरुषसे प्रेम-सम्बन्ध स्थापित करे। भरतने इसके स्थानपर कन्यका शब्द दिया है। 'अग्निपुराण'से इस भेदका निश्चित उल्लेख मिलता है। यह विभाजन सर्वस्वीकृत है। भानुदत्तने भी 'परगामित्वात्' परकीया माना है। केशवने इसे कृष्णके सम्बन्धमें 'परब्रह्म परमात्माकी प्रिया' माना है—"सबतें पर परसिद्ध जग ताकी प्रिया जु होइ"। (र० प्रि०, प्र० ३:

६७)। पर अन्य सभी आचार्योंने 'प्रेम करै परपुरुषसों' (मतिराम), 'परपुरुषरत' (पद्माकर) माना है। किञ्चित् दृष्टिकोणका अन्तर अवश्य जान पड़ता है। कुछ लेखकोंने परपुरुषमें प्रेमके उल्लेखके साथ अपने पतिकी अवहेलनाकी बात भी कही है—"जाकी गति उपपति सदा पति सों रति गति नाहिं" (देव : भा० वि०, परकीया) अथवा 'शृंगारदर्पण'में भी कहा गया है—'निजपतिवंचन'। इस परिभाषाके अन्तर्गत अनूढाकी स्थिति नहीं रह जायगी। संस्कृत नाट्यशास्त्रके ग्रन्थोंमें परकीयाको स्थान नहीं मिला, 'दशरूपक'में अन्य स्त्रीका उल्लेख अवश्य है। वस्तुतः संस्कृतके सम्पूर्ण साहित्यमें परकीयाका चित्रण प्रधान रूपसे अथवा महत्त्वपूर्ण ढंगसे नहीं हुआ है। काव्यशास्त्र-ग्रन्थोंमेंसे भी कुछमें परकीयाका प्रेम रसाभास माना गया है (मम्मट)। पर परकीयाका प्रेम अपनी गहराई तथा तीव्रतामें अधिक व्यक्त होता है, अतः काव्यशास्त्रियोंने रसाभासकी सीमामें केवल अत्यन्त अनुचित स्थलोंको माना है।

हिन्दी साहित्यका रीतिकाल परकीया-प्रेमसे भरा हुआ है, परन्तु इस सम्पूर्ण साहित्यमें नायक कृष्णको माना गया है। कृष्ण साहित्यमें गोपियोंका प्रेम परकीया-भावका प्रेम ही है। विद्यापतिकी राधा परकीयाके समान ही भावविह्वल और उद्विग्न चित्रित की गयी है। जयदेवका 'गीतगोविन्द' उनका आधार है, जिसमें राधा स्वतः परकीयाके रूपमें अंकित है। जयदेवने राधाके परकीया-रूपका मांसल तथा वासनामय चित्र प्रस्तुत किया है, जो अपनी सौन्दर्यानुभूति तथा प्रत्यक्ष और सशक्त शैलीके कारण भक्तिभावनाकी प्रेरणा दे सका है। विद्यापतिकी राधामें शरीरके साथ भावना भी प्रधान है, उसमें वासनाकी पीड़ा और वेदनाके साथ प्रेमीकी अनुभूति भी अभिव्यक्त हुई। बंगाली कवि चण्डीदासकी भावशीलता और प्रेमकी पीडा एक सीमातक विद्यापतिकी राधामें है, पर चण्डीदासकी राधामें शरीरके स्थानपर हृदय ही प्रधान है। वस्तुतः चण्डीदासकी प्रेमभावना इसी कारण भक्तिके अधिक निकट है। सूरदासने राधाको स्वकीयाके रूपमें प्रस्तुत किया है और उनके आधारपर हिन्दीके अन्य भक्त कवियोंमें अनेकने ऐसा ही किया है, पर उनकी गोपियोंमें परकीया-भाव है। इन भक्त कवियोंने 'भागवतपुराण'का आधार इस प्रसंगमें लिया है। गोपियाँ कृष्णको परपुरुषके रूपमें स्वीकार करती हैं, पर वे उनकी दृष्टिमें अलौकिक पुरुष अथवा परमपुरुष हैं। रीतिकालके कवियोंने नायकरूपमें कृष्णको स्वीकार अवश्य किया है, पर आध्यात्मिक विस्तृत भूमिकाके अभावमें उनका काव्य परकीयाकी लौकिक प्रेमलीलासे ऊँचा नहीं उठ सका। यद्यपि इस साहित्यमें उसके नानाविध भावोंका सुन्दर और विशद चित्रण हुआ है; विशेषकर रीतिकालके प्रभावमें आनेवाले उन्मुक्त भक्त कवियोंमें परकीया-भाव अधिक भावशील तथा उद्वेगशील है। रसखान, आलम, घनानन्द, शेख आदिने अपने प्रेमको इसी स्तरपर प्रकट किया, पर उसमें भावतन्मयताकी गहरी अभिव्यक्ति है। रसखानने गोपियोंके माध्यमसे अपने प्रेमको प्रकट किया है—"मेरो सुभाव चितैबेको माइ री लाल निहारिकै बंसी बजायी। वा दिन तें मोहि लागी ठगोरी लोग कहैं कोउ बावरी आयी। यों रसखानि घिर्यौ सिगरो ब्रज जानत वे कै मेरो जियराई। जो कोउ चाहै भलौ अपनौ तौ सनेह न काहूसों कीजिये माई॥" (रसखान: ब्र० मा०, ख० ३ : २०)। इसी प्रकार घनानन्दने परकीया-भावकी उद्विग्नता स्फुरित होती है। इसके दो भेद (१) अनूढा, (२) ऊढा; तथा अन्य (१) मुदिता, (२) विदग्धा, (३) अनुशयाना, (४) गुप्ता, (५) लक्षिता, (६) कुलटा हैं (इनको इन्हीं शब्दोंके अन्तर्गत देखें)। विभाजन-विस्तारके लिए दे० 'नायिका-भेद'। —रा०

परदेसिया—परदेसियाके गीत वे मनोहर गीत हैं, जिनमें परदेशमें गये हुए पतिके वियोगमें उसकी पत्नीकी विरह-वेदना मुखरित हो उठी है। इन गीतोंकी रचना 'विदेसिया'के तर्जपर की गयी है और इनका वर्ण्य विषय भी वही है, जो विदेसियाके गीतोंमें पाया जाता है। इन गीतोंकी प्रत्येक पंक्तिमें 'विदेसिया'की जगह 'परदेसिया' शब्द उपलब्ध होता है। जैसे "घरी राति गइली पहर राति गइलीसे, दुअरा करेले ठाढ़ मोर परदेसिया…"। भिखारी ठाकुरकृत विदेशिया गीतोंकी नकलपर 'परदेसिया'की रचना हुई है (दे० 'विदेसिया')। —कृ० दे० उ०

परपीड़न—परपीड़न (sadism)की उत्पत्ति सामान्य व्यवहारमें ही मिलती है। मनुष्यमें स्वाभाविक आक्रामक-वृत्ति होती है, क्रोध उसमें सम्बद्ध संवेग है। फ्रायड और अन्य मनोविश्लेषकोंके अनुसार यह मूल प्रवृत्ति कामवृत्तिसे भी सम्बन्धित हो जाती है, क्योंकि यौन व्यापारमें विषयके प्रतिरोधपर विजय पाना जैवी आवश्यकता है; पशुजीवनमें नरको मादासे युद्ध करके अपने वशमें लाना पड़ता है। सामान्य मनुष्यके यौन व्यापारमें भी इस आक्रामक वृत्तिका थोड़ा मिश्रण रहता है। जब यह अंश अत्यन्त प्रबल रूप ले लेता है और यौन व्यापारके प्रमुख उद्देश्यको पृष्ठभूमिमें करके स्वतन्त्र अस्तित्व पा जाता है तो इसे कामवृत्तिकी विकृति मानते हैं। इस अवस्थामें कामोत्तेजनाके विषयको पीड़ा पहुँचाकर ही व्यक्तिको तृप्ति मिलती है।

परपीडन और आत्मपीडन, दोनों घनिष्ठ रूपसे सम्बन्धित हैं, वृत्ति एक ही है, रूप दो हैं। आत्मपीडन परपीड़नका ही अधिक विकृत रूप है। स्त्रियों और स्त्रैण स्वभाववाले पुरुषोंकी परपीडनकी इच्छा प्रायः आत्मपीडन-का रूप ले लेती है। —प्री० अ०

परपुरप्रवेशप्रतिम—दे० 'काव्य-हरण', 'अर्थ-हरण'का भेद।

परमार्थ—दे० 'विज्ञानवाद'।

पराभक्ति—ईश्वरके प्रति अनुरक्तिका नाम पराभक्ति है। 'सापरानुरक्तिरीश्वरे' (शाण्डिल्य-सूत्र) यह अहैतुकी और अव्यवहित होती है, "अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे" (श्रीमद्भागवत, २९ : १२)। इसे साध्या भक्ति भी कहते हैं। साध्यज्ञान और परा भक्तिमें कोई भेद नहीं है। "वह सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य, कैवल्य, निर्वाण आदि किसी प्रकारका भी लाभ या मुक्ति नहीं चाहता। पराभक्तियुक्त साधक भगवत्-सेवाके अतिरिक्त कुछ नहीं चाहता। शाण्डिल्य-सूत्रमें जिस मुख्य भक्तिका उल्लेख है, वह पराभक्ति ही है। गीतामें भी कहा है—"य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति। भक्तिं मयि परां

कृत्वा…” (१८।६८)। ‘कहा करौं वैकुण्ठहि जाय’—परमानन्द (अष्टछापके कवि—पृ० १४२)। ‘तुम्हारी भक्ति हमारे प्रान’—(सू० सा० : ना० प्र० स०, १६९)। (पराभक्तिके विस्तृत लक्षणोंके लिए देखिये, भागवत ३।२९।११-१२)। —वि० मो० श०

परिकर–साहश्यगर्भके गम्यौपम्याश्रय वर्गका विशेषण-वैचित्र्य सम्बन्धी अर्थालंकार; इसका शब्दार्थ है उपकरण, शोभा बढ़ानेवाली सामग्री। इसका विवेचन रुद्रटसे प्रारम्भ हुआ, ऐसा लगता है। इसके सम्बन्धमे दो मत रहे है। मम्मट, रुय्यक, जयरथ, विद्याधर तथा विश्वनाथके अनुसार इस अलंकारमे एकसे अधिक विशेषण होने चाहिये। दूसरी ओर ‘प्रदीप’, ‘उद्योत’ और जगन्नाथके अनुसार यद्यपि एकसे अधिक विशेषण होनेपर व्यंग्यकी अधिकताके कारण चमत्कार अधिक होता है, पर एकसे अधिक विशेषणके बिना भी इसका प्रयोग हो सकता है। एक भी साभिप्राय विशेषणके प्रयोगसे यह अलंकार होता है। मम्मटके अनुसार “जिसमे साभिप्राय विशेषणोंके द्वारा प्रकृत अर्थका प्रतिपादन किया जाय” (का० प्र०, १० : ११८)। विश्वनाथ इसी मतको दुहराते है—‘उक्तैर्विशेषणैः साभिप्रायैः’ (सा० द०, १० : ५७)। हिन्दीके आचार्योंने प्रायः ‘चन्द्रालोक’ तथा ‘कुवलयानन्द’के आधारपर ‘आसय लिये जहाँ बिसेसन होय’ (भा० भू० : ९५) अथवा ‘साभिप्राय बिसेषननि’ (शि० भू०, १६०; ल० ल०, १६४; का० नि०, १६) दिया है और परिकरांकुरको स्वतन्त्र अलंकार माना है। वस्तुतः इसमें साभिप्राय विशेषणोंसे विशेष्यका कथन किया जाता है अर्थात् वक्ताका अभिप्राय विशेषणोसे व्यक्त होता है। उदा०—“भालमे जाके कलानिधि है वह साहब ताप हमारो हरैगो। अंगमें जाके विभूति भरी वहै भौनमें सम्पति भूरि भरैगो।” (का० नि०, १६) अथवा—“क्यो न फिरै सब जगतमैं करत दिगविजै मार। जाके दृग सामन्त है कुवलय जीतनहार” (ल० ल०, १६६)। यहाँ विशेषणोंका प्रयोग साभिप्राय है।

आचार्योंने एक प्रश्न उठाया है—अभिप्रायरहित विशेषणका होना ‘अपुष्टार्थ’ दोष माना जाता है, अतः उनका साभिप्राय प्रयोग उस दोषका निराकरणमात्र हुआ। जगन्नाथ आदि एक विशेषणके प्रयोगमें भी यह चमत्कार मानते है और साथ ही उनका कहना है कि अपुष्टार्थ दोषके अभाव और परिकर अलंकारके विषयमे अन्तर है। सौन्दर्ययुक्त उत्कर्षक विशेषण होना परिकरका लक्षण है और चमत्कारके अपकर्षका अभाव अपुष्टार्थ दोषका परिहार है। परिकरके विशेषणोंमें जो अभिप्राय अन्तर्निहित होते है, वे गौण व्यंग्यार्थ होते है। उनमें विशेषणोंका वाच्यार्थ ही प्रधान रहता है, क्योंकि वाच्यार्थमें ही चमत्कार होता है। दे० (कथाकाव्य)। —शि० प्र० सिं०

परिकरांकुर–परिकरमे अन्तर्भूत होनेवाला उसी वर्गका अर्थालंकार। इसको जयदेव, विद्याधर तथा अप्पय दीक्षित द्वारा स्वीकृति मिली है। ‘उद्योत’के अनुसार ‘विशेषणैः’ शब्द इतना व्यापक है कि उसमें विशेष्य भी आ जाता है, अतएव इसे स्वतन्त्र अलंकार माननेकी आवश्यकता नही है (पृ० १०८)। ‘चन्द्रालोक’के अनुसार इसका लक्षण ‘साभिप्राये विशेष्ये तु भवेत्’ (५ : ४०), ‘कुवलयानन्द’मे इसीका अनुसरण है। हिन्दीके आचार्योंने भी इसी रूपमें इसे ग्रहण किया है—‘साभिप्राय विशेष जब’ (भा० भू०, ९६) अथवा ‘साभिप्राय विशेष्यते’ (ल० ल०, १६४)। साभिप्राय विशेष्यके कथनको यह अलंकार माना गया है—“बामा भामा कामिनी कहि बोलौ प्रानेस। प्यारी कहत खिसात नहिं पावस चलत बिदेस” (बि० र०, ७०३), अथवा—“होते कहूँ क्रूर तौ न जानौं करते धौं कहा, एतो क्रूर करम अक्रूर है कमायौ जो” (उ० श०)। इसमे प्रथममें ‘भामा’ आदि तथा द्वितीयमे ‘अक्रूर’ विशेष्यका प्रयोग साभिप्राय है। —शि० प्र० सिं०

परिग्रह–ब्रह्म निर्गुण, निष्कल, असीम और पूर्ण है। माया अपने कंचुकों और कलाओंसे आवेष्टित करके उसे सगुण, सकल, ससीम और अपूर्ण बनाती है। इस प्रकार एक पुरुषोत्तम अनेक पुरुषों (दे० ‘पुरुष’)का रूप ले लेता है। एक, अनाम, अरूप, निर्गुण ब्रह्मसे ‘अनेक’ तथा नाम, रूप और गुण समन्वित सृष्टिके विकासकी यही प्रक्रिया है। माया इस प्रक्रियाका आदि बिन्दु है। जीवको ब्रह्मसे पूर्णतया परिच्छिन्न करनेके लिए जिस प्रक्रियाका मायाके यहाँसे श्रीगणेश होता है, उसके और भी कई स्तर है। अपनी विशेषताओंमें ये ब्रह्मसे नितान्त भिन्न और विपरीत धर्म वाले है, अतः इन्हे ब्रह्म तो माना नहीं जा सकता, किन्तु है ये उसीके, अतः इन्हे ब्रह्म न कहकर ब्रह्मका परिग्रह (स्वीकारकी हुई वस्तु) कहा जाता है। भारतीय दार्शनिक छः परिग्रह मानते है—माया, कला, गुण, विकार, आवरण और अंजन। संस्कृतमें ‘मा’ धातुका अर्थ है—माप, सीमा या परिच्छेद। जिसके द्वारा सीमा बाँधी जाय, वह माया है। यह ब्रह्मका पहला परिग्रह है। मित और परिच्छिन्न होनेपर ‘एक’ ‘अनेक’ बन जाता है, निरवयव सावयव हो जाता है, निष्कल सकल बन जाता है। ब्रह्म अखण्ड है। मायाके कारण उसकी अखण्डताकी जगह खण्ड दिखाई देने लगते है—यही ‘कला’ (दे०) है। यह दूसरा परिग्रह है। कला अखण्डको खण्डोंमे बँटा हुआ दिखलाती है और खण्डरूपता आयी नही कि खण्डोके बीच परस्पर संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। प्रकृतिका सार्वभौम नियम है कि अंश अंशीमें मिलनेको आतुर रहता है। अतः पूर्णके माया और कला द्वारा जो अनेक खण्ड बन गये है वे सभी उस पूर्ण और असीम (अर्थात् ब्रह्म)में मिलनेको आतुर रहते है और माया, कला उन्हें मिलनेसे रोकती है। इस तरह एक प्रकारका आकर्षण-विकर्षण निरन्तर चलता रहता है। इस आकर्षण-विकर्षणके परिणामस्वरूप गुण उत्पन्न होते है। गुण अर्थात् सत्त्व, रजस् और तमस। और निर्गुण ब्रह्म सगुण दीखने लगता है। यह ‘गुण’ तीसरा परिग्रह है। गुण पैदा होनेपर उनमें विकृतिका पैदा होना भी प्रकृत है। जल एक है। उसमे वायु प्रवेश कर जाय तो बुद्बुदे बन जाते है। हवाके झकोरोंसे लहरें और बार-बारके संघर्षसे फेनकी सृष्टि होती है। स्पष्ट है कि बुद्बुद, लहरें और फेन कुछ और नही, जलके ही विभिन्न विकार (रूप) है। अतः विकार ब्रह्मका चौथा परिग्रह है। पाँचवा परिग्रह ‘आवरण’ है। विकार मूल वस्तुको आवृत

या आच्छन्न कर लेते है। बीज, मिट्टी और जलके संयोग-से उत्पन्न होने वाला अंकुर बीजका विकार है। वह विकार उस बीजके स्वरूपको आवृत कर लेता है। अंकुर ही अंकुर दिखता है, बीजका पता नहीं चलता। वैसे बीज ही अंकुर बनता है और अंकुरके कण-कणमे वर्तमान रहता है। काई अधिक हो जानेपर जल उसके नीचे छिप जाता है। एक बात स्पष्ट समझ लेनी चाहिए कि मूलतत्त्व नष्ट नहीं हो जाता। रहता है पर विकारोंमें छिपा हुआ, उनसे आवृत। आवरण हो जानेपर मूलवस्तु अपने स्वरूपमें न दिखायी देकर विकारोके रूपमें ही दिखायी देती है—तालाब-मे पानी न दिख कर काई-ही-काई दिखाई देती है। यह 'अंजन' नामक छठाँ परिग्रह है। यहाँतक आते-आते मूल कारणका स्वरूप दिखना असम्भव हो जाता है। ब्रह्मत्व परिच्छिन्न होकर जीव या पुरुष बन जाता है।

भारतीय दर्शनोमे चार्वाक दर्शन उक्त छः परिग्रहोको स्वीकार करते है, परिणामतः वह संसारको ही सब कुछ मानता है उसके मतसे शरीर ही आत्मा है। भौतिकता-को प्रमुखता देनेके कारण यह भौतिक दर्शन कहलाता है। बौद्धोने 'अंजन'को स्वीकार नहीं किया है। वे प्रथम पाँच परिग्रहोको मानते है और जहाँ चार्वाक शरीरको आत्मा मानते हैं, वहाँ बौद्ध बुद्धि को। बुद्धिको आत्मा माननेके कारण ही ये बौद्ध कहलाये। उनके मतसे आत्माका मुख्य आवरण अन्तःकरण है और अन्तःकरणकी वृत्ति ज्ञान है, अतः ज्ञान (=बुद्धि) ही आत्मा है। जो बुद्धि स्वरूप है, ऐसे बुद्ध ही उनके ईश्वर है। बौद्ध आवरणतकके पाँच परिग्रह मानते है, जैन आवरणको भी अस्वीकार कर देते है, अतः विचारतः वे निरावरण है। इसी बातके ज्ञापनके लिए वे निरावरण या नग्न (दिगम्बर) रहते है, (श्वेताम्बर बादका विकास है) और आवरण हटा देने वाले तीर्थकरोको ही ईश्वर मानते है। वैशेषिक या न्याय दर्शन 'विकार'को भी अस्वीकार करता है। गुणतकके तीन परिग्रहोंको मानता है। इसके मतसे आत्मा और परमात्मा, दोनों 'सगुण' है। इसीलिए इसे सगुण दर्शन कहते है। सांख्य दर्शन माया और कला, दो ही परिग्रह मानता है। वह नैयायिको एवं वैशेषिकोसे एक पग आगे बढ़कर 'गुण'को भी अस्वीकार कर देता है। उनके मतसे गुणमयी प्रकृति और वस्तु है, वही जगत्की रचना करती है। आत्मासे गुणोंका सम्बन्ध नहीं है। इसीलिए इसे निर्गुण दर्शन कहते हैं। इस दृष्टिसे अन्तिम दर्शन वेदान्त है। वह केवल मायाको ही स्वीकार करता है। किन्तु मायाको भी वह कल्पित मानता है। उसके मतसे जो वस्तु परिवर्तनीय है, वह कल्पना है। अपरिवर्तनीय ही मूलतत्त्व है, वह 'एकमेवाद्वितीयं' है—एक और अद्वितीय, व्यापक और निर्विकार है, अगुण है, धर्महीन है। चूँकि वह शुद्ध मूलतत्त्व (ब्रह्म) मन और वाणीसे अतीत है, अतः मायाको स्वीकार किये बिना उसको समझा-समझाया नहीं जा सकता है, इसीलिए वेदान्ती मायाको मानते है, किन्तु जैसा कहा गया, वे मायाको भी कल्पित बताकर पूर्ण, शुद्ध, असीम, अकल ब्रह्मका आभास देनेका प्रयास करते हैं। —रा० सि०

परिचय (आलोचना)–परिचयसे तात्पर्य है **पुस्तक-परिचय**। पुस्तकको पढ़कर उसके विषयके सम्बन्धमे पाठकोको 'रिपोर्ट' दे देना वास्तवमे 'पुस्तक-परिचय' है। पुस्तकके विषय, विषयविस्तार आदिके सम्बन्धमे, अर्थात् पुस्तकमे क्या है, केवल इतना बता देना परिचयका उद्देश्य है। रिपोर्ट देनेवालेकी भाँति परिचयका लेखक अपनेको अलग रखता है। यदि वह व्यक्तिगत दृष्टिकोण देने लगेगा तो **पुस्तक-समीक्षक**के निकट आ जायगा। व्यावहारिक रूपमे पुस्तक-परिचय और **पुस्तक-समीक्षा**मे कोई अन्तर नहीं किया जाता, किन्तु दोनोंमे भेद है, यद्यपि दोनोंका पत्र-पत्रिकाओंसे घनिष्ठ सम्बन्ध है और ये दोनों प्रणालियाँ तथा स्वयं आलोचना भी मुद्रणकलाके फलस्वरूप प्रचलित हो सकी है। पुस्तकका परिचय देते समय पुस्तकके आकार-प्रकार, छपाई, गेट-अप, मूल्य, जिल्द, पुस्तक मिलनेके पते आदिका भी उल्लेख कर दिया जाता है। वास्तवमें पुस्तक-परिचय विज्ञापनके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। पाठको और लेखकोके बीच मध्यस्थता और लोकरुचि परिष्कृत करना, ये उद्देश्य पुस्तक-परिचयके नहीं है (दे० 'पुस्तक-समीक्षा')। —ल० सा० वा०

परिणाम १–सादृश्यगर्भ अभेदप्रधानके आरोपमूलक अर्था-लंकारका एक भेद। इसका शब्दार्थ है अवस्थान्तर होना। इसका विवेचन रुय्यकसे प्रारम्भ हुआ, ऐसा जान पडता है। विश्वनाथके अनुसार—"विषयात्मतयारोप्ये प्रकृता-र्थोपयोगिनि" (सा० द०, १० : ३४), अर्थात् जहाँ उपमान उपमेयपर आरोपित होकर उसके कार्यको करनेमे समर्थ होता है। वस्तुतः विश्वनाथ अपनी परिभाषामे बहुत स्पष्ट नहीं है। अप्पय दीक्षितने 'चित्रमीमांसा'मे स्पष्टतः कहा है कि जहाँ उपमान (आरोप्यमाण) किसी कार्यके उपयोगमे असमर्थ होकर उस सामर्थ्यको प्राप्त करनेके लिए उपमेयसे अभिन्न रूप होता है वहाँ परिणाम अलंकार स्वीकार किया जाता है (पृ० ५५)। जगन्नाथने भी माना है कि जहाँ स्वतन्त्र रूपसे कार्यसाधनमें असमर्थ उपमान उपमेयसे अभिन्न होकर समर्थ होता है (र० गं०, पृ० २४८)। हिन्दीमे जसवन्त सिंहने परिणामका लक्षण और उदाहरण 'कुवलयानन्द'के आधारपर दिया है। मतिरामने—"विषयी विषय अभेद सों जहाँ करत कछु काज" (ल० ल०, ७५) लक्षण दिया है, जिसमे विश्वनाथके लक्षणके समान ही अस्पष्टता है। भूषणके अनुसार अभेद होकर और (उपमान) 'स्वै' काम करता है (शि० भू०, ६७)। इसमे 'स्वै' अस्पष्ट है, उपमान वास्तवमे उपमेयका कार्य करता है। उदा०—"हाथिन बिदारिबेको हाथ है हथ्यार तेरे, दारिद बिदारिबेको हाथिये हथ्यार है।" (ल० ल०, ७६) या—'दूर करें मेरे दुरित गौरीके पदकंज' (पोद्दार : र० मं०) अथवा—"मेरा शिशु संसार वह दूध पिये परिपुष्ट हो" (मै० श० गु०)। इन उदाहरणोंमें हथ्यार, कमल तथा संसारके बिना अपने उपमेयसे एकरूप हुए काम नहीं हो सकता है।

परिणाम और रूपकमे समता जान पड़ती है। जगन्नाथ-के अनुसार परिणाममे उपमान स्वयं कार्य करनेमें असमर्थ होनेके कारण उपमेयसे एकरूप होता है और रूपकमे

उपमान स्वयं कार्य करनेमें समर्थ होता है। रुय्यकने इस मतसे उलटा मत प्रतिपादित किया था। 'अलंकारसर्वस्व'में उन्होंने कहा कि रूपकमें उपमानका किसी कार्यके करनेमें औचित्यमात्र रहता है और परिणाममें उपमेय आरोपके बिना कार्य नहीं कर सकता। स्पष्टतः यह मत पण्डितराजके मतसे अलग है और इसमें उलटा दृष्टिकोण है। विद्याधरने 'एकावली'में रुय्यकका अनुसरण किया है, पर उनके 'अलंकारसर्वस्व'में परिणामका लक्षण—"परिणामे तु प्रकृतात्मतया आरोप्यमाणस्योपयोगः" है और यह उपर्युक्त परिभाषाओंसे बिलकुल एकरूप है। —र०

परिणाम २—नाटककी **कथावस्तु**की अन्तिम स्थिति, जिसमें संघर्षका अन्त हो जाता है और नाटकका फल हमारे सन्मुख आ जाता है, परिणाम (कनक्लूजन) कहलाता है। उदाहरणके लिए, 'स्कन्दगुप्त' नाटकके पाँचवें अंकमें उस स्थलको लीजिये, जहाँ पर्णदत्तकी साधनासे साम्राज्यके सभी बचे रत्न एकत्र होकर स्कन्दगुप्तकी छत्रच्छायामें एक बार पुनः आर्यावर्तकी रक्षाका उद्योग करते हैं और वह उद्योग सफल रह जाता है। खिंगिल बन्दी बनाया जाता है और सिन्धुके इस ओर फिर कभी न आनेका पणबन्ध लेकर स्कन्दगुप्त उसे मुक्त कर देता है। इस प्रकार आर्यावर्त एवं उसके गौरवकी रक्षा होती है। दूसरी ओर, युद्ध-क्षेत्रमें ही पुरगुप्तको रक्तका टीका लगाकर वह गृहकलह और कौटुम्बिक अशान्तिको भी पूर्ण रूपसे मिटा देता है। नाटकीय संघर्षके पश्चात्की यह स्थिति परिणाम कही जायगी।

आधुनिक उपन्यासों एवं नाटकोंमें हमें प्रायः ऐसी कथा भी मिलती है, जिसमें परिणाम कुछ नहीं निकलता। कथावस्तुमें इस परिणामहीनताका बहुतसे यथार्थवादी यह कहकर अनुमोदन करते हैं कि नाटक एवं उपन्यासको जीवनका सच्चा चित्रण करना चाहिये और वास्तविक जीवनमें अन्तिम परिणाम होता ही नहीं, क्योंकि प्रत्येक स्थितिमें नवीन कार्योंकी सम्भावनाएँ निहित होती हैं। यह तर्क सैद्धान्तिक रूपसे सही है, किन्तु वास्तवमें पाठक या प्रेक्षक स्वभावतः कथाके अन्तमें परिणामकी कामना करते हैं, जिसमें **कथानक**के सभी सूत्र आकर मिल जायें, कुछ छूटा नहीं रहे।

परिणामकी दृष्टिसे नाटकोंका **सुखान्त** एवं **दुःखान्त**, दो वर्गोंमें विभाजन सर्वज्ञात है। सुखान्तका अन्त सुखमय होता है, जिसमें नायकके इष्टफलकी प्राप्ति होती है। दुःखान्तका अन्त दुःखमय होता है, जिसमें नायकका अमंगल होता है। किन्तु इस विषयमें कोई सटीक नियम निर्धारित नहीं किया जा सकता। कभी-कभी ऐसा होता है कि अन्तमें कथाके वास्तविक उद्देश्यकी क्षति होती है, जब कि उसके अधिकांश सत्पात्रोंका भाग्य फलता है। इसी प्रकार दुःखान्त नाटकमें परिणामसे उत्पन्न शोकानुभूति इस बातके प्रदर्शनसे कुछ हलकी हो जाती है कि वास्तविक विजय आदर्शोंकी ही हुई तथा सत्पात्रोंकी भौतिक पराजय व्यर्थ नहीं गयी। उदाहरणके लिए, 'रोमियो एण्ड जूलिएट'में हमारी करुणानुभूति उस समय कुछ हलकी हो जाती है, जब हमें यह ज्ञात होता है कि वह पारिवारिक शत्रुता जिसने रोमियो तथा जूलिएटके प्रेमका दुःखद अन्त किया था, स्वयं भी उसी प्रेमके कारण नष्ट हो गयी; जीत प्रेमकी ही हुई।

अरस्तूके मतानुसार परिणामका स्वाभाविक होना आवश्यक है। यदि नाटकका परिणाम कार्य-कारणके सिद्धान्तके अनुसार न होकर केवल संयोगपर आधारित हो तो वह निम्न कोटिका माना जायगा। —श्या० श्री० श्री०

परिपंथिर सांगपरिग्रह—दे० 'रस-दोष', तीसरा।

परिप्रेक्ष्य—दे० 'प्रक्षेपण'।

परिवृत्ति—वाक्यन्यायमूल अर्थालंकार (दे० 'अर्थालंकारोंका वर्गीकरण'), जिसमें पदार्थोंका सम और असमके साथ विनिमय होता है। इसमें वस्तुओंका परस्पर आदान-प्रदान किया जाता है। इसीको 'विनिमय' भी कहते हैं। यह अलंकार प्राचीनों (भामह, दण्डी)से ही स्वीकृत चला आया है। मम्मटके अनुसार इसमें 'परिवृत्तिर्विनिमयो योऽर्थानां स्यात्समासमैः' सम और असम वस्तुओंका विनिमय (का० प्र०, १० : ११३) होता है। विश्वनाथके शब्दोंमें प्रस्तुत अलंकारकी परिभाषा इस प्रकार है—"परिवृत्तिर्विनिमयः समन्यूनाधिकैर्भवेत्" अर्थात् समान, न्यून और अधिकके साथ विनिमय (सा० द०, ८)। प्रारम्भमें भामहने इस अलंकारमें 'अर्थान्तरन्यास'का रहना आवश्यक माना था (का० लं०, ३ : ३९)। वामन और परवर्ती आचार्योंने यह नहीं माना है। वामनने 'विसदृश' कहकर तथा विश्वनाथने सम, न्यून तथा अधिकका उल्लेख करके इसी बातको स्पष्ट किया है।

हिन्दीके आचार्योंमें प्रायः सभीने इस अलंकारको स्वीकार किया है। एक या दो भेदोंका उल्लेख किया गया है—"थोड़ा देकर बहुत अथवा बहुत देकर थोड़ा लेना"के रूपमें। 'भाषाभूषण' और 'कविकुलकण्ठाभरण'में थोड़ा देकर बहुत लेनेमें, 'ललितलाम'में "घाटि बाढि द्वै बातको जहाँ पलटिबो होय" (२७७) और 'शिवराजभूषण'में एक बात देकर दूसरी बातको लेने (२४५)के रूपमें एक ही भेद स्वीकार किया गया है। 'पद्माभरण'में पद्माकरने 'दै थोरो लिय अधिक जहँ' तथा 'दै बहु थोरो लेत जहँ' (१८६, १८७) दो भेद स्वीकार किये हैं। 'रसरहस्य'में कुलपतिका लक्षण स्पष्ट है—"अर्थनको जहँ बदलिबो विनिमय कहिये सोय। सम असमके भेद करि सो पुनि द्वै बिधि होय।" कुलपतिने इसे **विनिमय** कहा है।

स्पष्ट है कि परिवृत्ति दो प्रकारकी होती है सम और असम अथवा विषम। सम तथा असमके भी आगे चलकर दो-दो भेद हैं। **१. सम परिवृत्ति**—(क) उत्तम विनिमय, अर्थात् उत्तम वस्तु देकर उत्तम वस्तुका ग्रहण; (ख) न्यून विनिमय—न्यून वस्तु देकर न्यूनका ही ग्रहण। **२. विषम परिवृत्ति**—(क) उत्तमसे न्यूनका विनिमय, उत्तम वस्तु देकर न्यूनका ग्रहण; (ख) न्यूनसे उत्तमका विनिमय, न्यूनका प्रदान और उत्तमका ग्रहण। इनके उदाहरण क्रमशः इस प्रकार हैं—(क) उत्तम विनिमय—'मृदु सौरभ अर्पण करती है सुरभित मलय पवन, तरुशाखाएँ उसे चढ़ाती हैं फल पत्र सुमन" (कादम्बिनी)। (ख) न्यून विनिमय—"श्रीशंकरकी सेवारत भक्त अनेक दिखाते हैं, किन्तु वस्तुतः उनसे क्या वे कुछ भी लाभ उठाते हैं। अस्थिमालमय

अपने तनको अर्पण वे कर देते हैं, मुण्डमालमय तन उनने वन परिवर्तनमें पाते हैं" (का० क० द०)। इसमें अस्थि-माल' और 'नरमुण्डमाल' दोनों न्यून गुणयुक्त वस्तुओंका विनिमय है। यह 'व्याजस्तुति' मिश्रित 'परिवृत्ति' है। (ग) उत्तमसे न्यूनका विनिमय—"कहा कहौं हौं कौन सो आधी हौं ढहकाइ। सुधि-बुधि हरि सब हरि लई दीन्ही बिरह बलाइ" (क० कु० क० त०)। "क्रान्ति हो चुकी शान्ति भेंट अब आ मैं व्यजन करूँगी, मोती न्यौछावर करके अब श्रमकण बीन धरूँगी" (का० द०)। (घ) न्यूनसे उत्तमका विनिमय—"मो मन मेरी बुद्धि लै करि हरको अनुकूल। लै त्रिलोककी साहिबी दै धतूरको फूल"। (ल० ल०, २७१)। "मेरे अतिथिदेव आवें तो मैं सिर माथे लूँगी। उसने मुझको देह दिया मैं उसे प्राण भी दूँगी" (मै० श० गु०)। इसमें देह न्यूनसे उत्तम प्राणका परस्पर विनिमय है।

परिवृत्ति अलंकारमें यह बात विशेष रूपसे स्मरणीय है कि इसमें कविकल्पित विनिमय ही होता है, वास्तविक नहीं। जहाँ वास्तविक विनिमय होता है, वहाँ इस अलंकार-की स्थिति सम्भव नहीं हो सकती। जहाँ अपनी ही वस्तुका त्याग और ग्रहण हो, वहाँ यह अलंकार नहीं माना जाता। इस अलंकारका प्रयोग रीतिकालमें कम हुआ और उदाह-रणोंमें न्यूनाधिकता ही है, जैसा उन्होंने लक्षणमें स्पष्ट कहा है।

रीतिकालीन आचार्य देवने अपने 'भाव-विलास'में 'परिवृत्ति'का जो उदाहरण दिया है, वह वस्तुतः इस अलंकारसे सम्बद्ध नहीं है, क्योंकि वहाँ विनिमय दूसरेके साथ नहीं है। यहाँ पर्याय अलंकारकी स्थिति मानी जा सकती है। केशवके 'परिवृत्ति'के लक्षणमें विनिमयका भाव भी स्पष्ट नहीं है—"और कछू कीजै जहाँ उपजि परै कछु और" (कविप्रिया, १३ : ९) जो 'विषादन'का लक्षण है। उदाहरणमें केवल एक पंक्तिमें प्रस्तुत अलंकारका उदाहरण है "दै परिरम्भन मोहनको मन मोहि लियो सजनी सुख-दाई" (वही, १३ : ४१)। —वि० स्ना०

परिसंख्या—वाक्यन्यायमूल अर्थालंकार, जिसमें किसी वस्तुका एक स्थानसे प्रश्नपूर्वक अथवा प्रश्नरहित, व्यंग्य-रूपसे निषेध करके किसी अन्य स्थानमें स्थापन किया जाय। यह निषेध कहीं तो प्रतीयमान, अर्थात् व्यंग्य होता है और कहीं वाच्य, अर्थात् उसका शब्द द्वारा कथन होता है। अतः इसके चार प्रकार हैं—१. प्रश्नपूर्वक प्रतीयमान निषेध; २. प्रश्नपूर्वक वाच्य, शब्द द्वारा कथन, निषेध; ३. प्रश्नरहित प्रतीयमान व्यंग्य निषेध; ४ प्रश्नरहित वाच्य निषेध। रुद्रटसे इस अलंकारकी स्वीकृति रही है। 'परिसंख्या' शब्दका अर्थ 'जिसमें निषेध ही किया जाय' है। मम्मटके शब्दोंमें परिसंख्या अलंकारकी परिभाषा इस प्रकार है—"किञ्चित्पृष्टमपृष्टं वा कथितं यत्प्रकल्पते। ता-दृगन्यव्यपोहाय परिसंख्या तु सा स्मृता" (का०प्र०, १० : ११२), अर्थात् पूछी गयी अथवा न पूछी गयी किसी बातका ऐसा शब्दतः प्रतिपादन हो जो अन्तमें अपने समान किसी अन्य वस्तुके निषेधमें परिणत हो जाय। विश्वनाथका लक्षण मम्मटके समान है, केवल इन्होंने इस निषेधको वाच्य तथा व्यंग्य, दो प्रकारका और कहा है।

जयदेवने 'चन्द्रालोक'में किंचित् भिन्न लक्षण दिया है—'निषिध्यैकमन्यस्मिन्वस्तुयन्त्रणम्', अर्थात् किन्हीं दो वस्तुओंके समान गुणका एकमें अभाव बताकर दूसरेमें आरोप करना। हिन्दीमें इनके और अप्पय दीक्षितके आधारपर प्रायः इसी लक्षणका प्रचार हुआ। 'भाषाभूषण'-का लक्षण यही है—'इक थल बरजि दूजे थल ठहराइ'। मतिराम, भूषण, पद्माकर आदिके लक्षण इनके समान हैं। कुलपति मिश्रने 'रसरहस्य'में परिसंख्याका लक्षण-निरूपण मम्मट तथा विश्वनाथके आधारपर किया है—"पूछयो अनपूछयो कछुक, कह्यो मानि जहँ लेइ। वा सम और न करनको परिसंख्या कहि देइ"। उदा०—प्रश्न-पूर्वक प्रतीयमान व्यंग्य-निषेध—"हेत कहा जगमें जसको परकाज सँवारयोई निसिवासर। काहे तें आनँद होत हिये मनभावने साजनके रहिबे घर" (चिन्तामणि)। प्रश्नपूर्वक वाच्य निषेध—'आज कुटिलता कौनमें, राज मनुष्यन माहि? देखौ बूझि बिचारिकै, ब्याल बंसमें नाहि" (का० नि०, १७)। प्रश्नरहित प्रतीयमान निषेध—"मूलन ही को जहाँ अधोगति केशव गाइय। होम हुतासन धूम नगर एकै मलिनाइय। दुर्गति दुर्गन ही जो कुटिल गति सरितन ही में। श्रीफलको अभिलाष प्रकट कविकुलके जीमें" (रा० चं०)। अथवा—"देहमें पुलक, उरोंमें भार, भ्रुवोंमें भंग, दृगोंमें बाण। अधरमें अमृत, हृदयमें प्यार, गिरामें लाज, प्रणयमें मान" (सुमित्रानन्दन-पन्त)। इसमें पुलक, भार, भंग, बाण आदिके एक-एक स्थानपर स्थापन द्वारा इनकी अन्यत्र स्थितिका प्रश्नरहित प्रतीयमान निषेधसूचक परिसंख्या अलंकार है। प्रश्नरहित वाच्य निषेध—"मुक्ति बेनि ही मे बसै, अमी बसै अध-रानि। सुख सुन्दरि संजोग ही, और ठौर जनि जानि" (का० नि०, १७) अथवा—"जहाँ वक्रता सर्पके चालमें थी, प्रजामें नहीं थी न भूपालमें थी। नरोंमें नहीं, कालिमा थी घनोंमें, जनोंमें नहीं शुष्कता थी वनोंमें" (का० द०)। इसमें एक स्थानसे गुणका अन्यत्र स्थापन है, जो वाच्य है। अतः प्रश्नरहित निषेधवाच्य होनेके कारण परिसंख्या अलंकार है।

चिन्तामणिने श्लिष्ट शब्दोंके आधारपर परिसंख्याके चार भेद और भी माने हैं और इनका उदाहरणसहित लक्षण-निरूपण 'कविकुलकल्पतरु'में किया है—१. शब्दगत वर्जनीया प्रश्नपूर्विका श्लेषमूल परिसंख्या, २. प्रश्नपूर्विका अर्थगत वर्जनीया श्लेषमूल परिसंख्या, ३. शब्दगत वर्जनीया अप्रश्नपूर्विका श्लेषमूलक परिसंख्या ४. अर्थगत वर्जनीया अप्रश्नपूर्विका श्लेषमूलक परिसंख्या। उन्होंने अन्तिम भेदका उदाहरण इस प्रकार दिया है—"मति मरीचमय हारिका, हरि नगरी अवदात। सुनी त्रिगुन बर बाहिमे, जामें तमकी बात"।

दासने तीन भेद, प्रश्नपूर्वक व्यंग्य, प्रश्नपूर्वक वाच्य तथा विना प्रश्न व्यंग्य माने हैं तथा 'प्रश्नपूर्वक', 'विना प्रश्नपूर्वक' और 'प्रश्न-अप्रश्नपूर्वक'के रूपमें उदाहरण दिये हैं। केशवका यह प्रिय अलंकार है। 'रामचन्द्रिका'में इसका प्रचुर रूपमें प्रयोग मिलता है। —वि० स्ना०

परिहास—दे० 'सखीकर्म'।

परुषा वृत्ति—दे० 'वृत्ति'; दूसरी।

परोक्षवाद—बर्कलेसे लगाकर काण्टतक सब आदर्शवादी या विज्ञानवादी दार्शनिक किसी-न-किसी अज्ञात, अज्ञेय, अपरिभाष्य, अपरिमेय परोक्ष-सत्तामे विश्वास करने लगे। धर्मने पहले जो जादूई विश्वनियन्ता दिया था, उसे तार्किक-आध्यात्मिक समर्थन प्राप्त हुआ। फिर यूरोपमें एक प्रत्यक्षवादी लहर आयी—डार्विन, मार्क्स, रसेलतक यह बात चली। परन्तु बर्गसाँ, वाइटहेड आदि एक अज्ञात जीवन-शक्तिको मानते रहे। परोक्षवादको पुष्टि मिलकर एक प्रकारका नव्य-रहस्यवाद पनपा। अपने देशमे इसका उत्तम उदाहरण अरविन्दवादी दर्शन है। वह मानवकी अपरिमित सम्भावनाओंमे एक परम-मानव और उसकी ऊर्ध्व-चेतनाकी परिकल्पना करता है। —प्र० मा०

पर्यस्तापह्नुति—दे० 'अपह्नुति', तीसरा भेद।

पर्याय—वाक्यन्यायमूल अर्थालंकार। पर्याय शब्दका अर्थ है—अनुक्रम। पर्याय अलंकारमें एक ही आधेयकी क्रमशः, कालभेदसे एक साथ नहीं, अनेक आधारोमे स्वतः स्थिति होती है अथवा अन्य द्वारा की जाती है। 'विशेष' अलंकारसे इसका पृथक्करण कालभेद शब्दके द्वारा किया जा सकता है, क्योंकि 'विशेष'मे एक आधेयकी एक ही कालमे अनेक आधारोमे स्थितिका वर्णन होता है। इसका विवेचन रुद्रटमे मिलता है। पर मम्मटकी व्याख्या अधिक स्वीकृत हुई। विश्वनाथके शब्दोंमे 'पर्याय'का लक्षण है—"क्वचिदेकमनेकस्मिन्ननेकं चैकगं क्रमात्। भवति क्रियते वा चेत्तदा पर्याय इष्यते"। (सा० द०, १० : ८०), अर्थात् जहाँ एक वस्तु क्रमसे अनेक आधारोंमे अथवा अनेक वस्तुएँ क्रमसे एक आधारमें स्थित हों या की जायँ। मम्मटने भी दोनों रूपोंको स्वीकार किया है।

हिन्दीके आचार्योंमें जसवन्त सिंहने 'भाषाभूषण'में 'कुवलयानन्द' तथा 'चन्द्रालोक'के आधारपर इसका लक्षण तथा उदाहरण दिया है। मतिराम तथा भूषणके लक्षण संक्षेपके कारण अस्पष्ट है—"कै अनेक है एकमैं कै अनेकमैं एक" (ल० ल०, २६७) अथवा "एक अनेकनमैं रहै एकहि मैं कि अनेक।" (शि० भू०, २४२)। कुलपतिका काव्यलक्षण स्पष्ट और पूर्ण है—"एक अनेकनमें रहै क्रम परजायसु और। सो दूजोरु अनेक जहँ रहत एक ही ठौर" (र० र०, १५७)। चिन्तामणि तथा पद्माकर आदिने ऐसा ही लक्षण दिया है। भिखारीदासने इस आश्रय-त्यागको 'घटती बढ़ती देखिकै' संकोच तथा विकास, दो रूपोमे कहा है। हिन्दीके आचार्योंने इन दोनों भेदोंमे 'स्वत' स्थित' अथवा 'अन्य द्वारा'का अन्तर नहीं किया है।

प्रथम पर्याय—(क) स्वतःसिद्ध अनेक आधार—"हालाहल तोहि नित नये, किन सिखये ये ऐन। हिय अम्बुधि हरगर लग्यो, बसत अबै खल बैन" (भ० श०, ४ : अनु०)। इसमें हलाहल-रूप एक आधेयके समुद्र-हृदय, महादेवका कण्ठ और दुर्जन-वचन-रूप अनेक आधार अनुक्रमके साथ कहे गये है और ये आधार स्वतःसिद्ध है। इसी प्रकार महादेवीकी पंक्तियोंमें—"तेरी आभाका कण नभको देता अगणित दीपक दान। दिनको कनक राशि पहनाता विधुको चाँदीका परिधान" (का० द०)। यहाँ पर एक आभाकी स्थितिका ताराओंमे, दिवसके प्रकाशमे और चन्द्रमाकी उज्ज्वलतामें वर्णन है। (ख) अन्य द्वारा अनेक आधार—"जीन रही औरंगमें, सबै छत्रपति छाँड़ि। तजि ताहूको अब रही, सिवसिरजा कर माँडि" (शि० रा० भू०, २४३) और—"अलि कहाँ सन्देश भेजूँ, मैं किसे सन्देश भेजूँ। नयन पथसे स्वप्नमे मिल प्यासमे घुल। प्रिय मुझीमें खो गया, अब दूतको किस देश भेजूँ" (महादेवी, का० द०)।

द्वितीय पर्याय—जहाँ अनेक वस्तुओ(आधेयों)की एक आधारमे स्वतः स्थिति हो अथवा अन्य द्वारा की जाय। 'द्वितीय समुच्चय'में भी अनेक वस्तुओंकी एक आधारमे स्थितिका वर्णन होता है, किन्तु 'द्वितीय पर्याय'में अनेक आधेयोकी एक आधारमे क्रमशः स्थितिका वर्णन होता है और 'द्वितीय समुच्चय'में एक ही कालमे। उदा०—"प्रति बासर हरि होतु है, हियके सुघर सुभाय। हुती लरकई अंगसों, वही तरुनई आय" (र० पी० नि०, १९५)। यहाँ एक शरीर-रूप आधारमे 'लरकई' आदि अनेक आधेयोकी स्थितिका वर्णन किया गया है अथवा "अमृत भरे दरसै प्रथम, मधुर खलनके बैन। दुख दायक पाछै बनै, अन्तर बिष दुख ऐन" (अ० मं०, ४४०)। यहाँ अमृत और विष, दोनों वस्तुओकी एक आधाररूप खलके वचनमे स्थिति है। वस्तुतः यह अलंकार वर्णन सौन्दर्यसे सम्बद्ध है, इसलिए इसका प्रयोग भक्तिकाल, रीतिकालमे आधुनिक कालतक निरन्तर हुआ है।

दासके 'संकोच पर्याय'का उदाहरण—"सब जग ही हेमन्त है, सिसिर सु छोँहन मीत। रितु बसन्त सब छाँडिके, रही जलारौ सीत" और 'विकास पर्याय'का उदाहरण—"असुँवनते वौ नद कियौ, नदते कियौ समुद्र। अब सिगरौ जग जलमई, करन चहत है रुद्र" (का० नि०, १८)। पहलेमे क्रमशः आधारका क्षेत्र सीमित और दूसरेमें विस्तृत हो गया है। —वि० स्ना०

पर्यायवक्रता—दे० 'पदपूर्वार्धवक्रता', दूसरा प्रकार।

पर्यायोक्ति—सादृश्यगर्भके गम्यौपम्याश्रय वर्गका प्राचीनोंसे स्वीकृत चला आनेवाला अर्थालंकार। शब्दार्थ है पर्याय, अर्थात् दूसरी तरहसे वैचित्र्यके साथ कहना। भामहके अनुसार—'यदन्येव प्रकारेणाभिधीयते' (काव्यालं०, ३ : ८)। इसका लक्षण है, जिसको दण्डी तथा उद्भटने अधिक स्पष्ट किया है। मम्मटने अनुसरण तो प्राचीनोंका किया है, पर उनकी अपनी विशेषता भी है—"इसमे वाच्यार्थका एक ऐसा प्रतिपादन होना है, जो वाच्य-वाचक-भावसे भिन्न हुआ करता है" (का० प्र०, १० : ११५)। भामह, दण्डी आदिमें 'अन्य प्रकार' या 'प्रकारान्तर'का भाव स्पष्ट नहीं है, पर मम्मटने वृत्तिमे 'अवगमन व्यापार' कहकर इसे स्पष्ट किया है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि व्यंजना द्वारा वाच्यार्थका कथन पर्यायोक्तिमे आवश्यक है। यहाँ व्यंजनाके द्वारा वाच्यार्थका कथन ध्वनि द्वारा नहीं सिद्ध होता है, वरन् जो चमत्कार है, वह उक्ति-वैचित्र्यका है। विश्वनाथने रुय्यकके आधारपर इसको 'भंग्यागम्यम्' कहा है (सा० द०, १० : ६१), जिसका

अर्थ है प्रकारान्तरसे कथन। यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि जो गम्य है, वह उसी स्थानपर वाच्य कैसे हो सकता है? रुय्यकके अनुसार "गम्य अपने कार्यके द्वारा व्यक्त होता है और कार्यकारणका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है, अतः कार्यके व्यक्त होनेसे कारणका संकेत अपने-आप मिल जाता है" (अ० स०, पृ० १११)। हिन्दीके आचार्योंने प्रायः 'कुवलयानन्द'का अनुसरण किया है और इसके भेदोंका उल्लेख किया है।

प्रथम—अभीष्ट अर्थका दूसरे प्रकारसे कथन—"गम्य अर्थ प्रगटै तहाँ और वचन रचनानि" (ल० ल०, १७७) अथवा "सुगम्य जहँ, फुरै वचन रचनानि" (पद्मा०, १२३)। उदा०—"महाराज सिवराज तेरे बैर देखियतु, घन-बन ह्वै रहे हैं हरम हबसीनके" (शि० भू०, १७३)। यहाँ शिवाजीकी धाकसे 'हरम खाली हो गये हैं' कहना अभीष्ट है पर कहा अन्य प्रकारसे गया है। अथवा—"वनका व्रत हम आज तोड़ सकते कहीं। तो भाभीकी भेंट छोड़ सकते नहीं" (सा० : का० ८०)। यहाँ भी बातको अन्य प्रकारसे कहा गया है। द्वितीय—इसको 'कुवलयानन्द'में व्याजसे इष्टसाधन कहा गया है।—"जहाँ कपटसौं करत है रुचिर मनोरथ बाज" (ल० ल०, १८०) अथवा—'साधव मिसि करि काज' (पद्मा०, १२३)। परन्तु दण्डी आदिके अनुसार इसमें अपने इष्टार्थकी सिद्धिके लिए प्रकारान्तरसे (बहानेसे) कथन किया जाता है। उदा०—"तुलसी अवलम्ब न और कछू लरिका केहि भाँति जिआइहौं जू। बरु मारिये मोहि बिना पग धोये हौं नाथ न नाव चढाइहौं जू" (क०, २)। यहाँ केवटका इष्टार्थ प्रकारान्तरसे व्यक्त हुआ है अथवा—"देखन मिस मृग बिहँग तरु फिरहिं बहोरि-बहोरि" (रा० च० मा० : का० ८०)। —शि० प्र० सि०

पर्यालोचना–'पर्यालोचना'का अर्थ है 'चारों ओरसे देखना', **समीक्षा** आदि। इस शब्दका प्रयोग **आलोचना** या **समीक्षा**के पर्यायरूपमें होता है, किन्तु यह प्रयोग अत्यन्त विरल है। साथ ही 'पर्यालोचना' शब्दका प्रयोग **रिव्यू** या 'पुस्तक-समीक्षा'के लिए भी होता है (दे० 'आलोचना', 'रिव्यू')। —ल० सा० वा०

पलना–'पलना' या 'पालना'; जन्मोत्सवमें छठीके दिन गाये जानेवाले जच्चाके विविध गीतोंमेंसे एक, ब्रजलोक और अवधलोकमें प्रचलित। इसमें शिशुको पालना झुलाने और सम्बन्धियों द्वारा उसके नेग-न्योछावरका उल्लेख रहता है। —र० भ्र०

पलायन–पलायनका वैज्ञानिक रूप—'यदस्ति' (जो है)से यन्नास्ति(जो नहीं है, नवीन)की ओर जानेकी स्वाभाविक प्रवृत्तिको पलायन कहते हैं। यह आधुनिक उत्क्रान्तिवाद-(ऐमर्जेण्ट एवोल्यूशन)की विचारधारा है, जो प्रकृति और पुरुषमें विकास तथा उत्तरोत्तर नवीन रूपोंके आविर्भावको पलायन-प्रवृत्तिका परिणाम मानती है। मानव-स्तरपर असन्तोष इसीका दूसरा रूप है। यही वर्तमान स्वभाव-सिद्ध और 'वास्तविक'से 'अनागत, संकल्प-साध्य' तथा काल्पनिककी ओर ले जानेकी प्रेरणाका मूल है। इस प्रकार पलायन जीवन और जगत्‌की व्यापक मूल प्रवृत्ति है।

दार्शनिक स्तरपर 'पलायन'का रूप काल और देशकी सीमाओंसे बद्ध और परिमित स्वरूपको त्यागकर असीम और अनन्त ब्रह्म (बृहत्) स्वरूपको पानेकी इच्छा 'पलायन' है। यह 'पलायन' वैदिक साहित्यकी अनेक प्रार्थनाओंमें निहित है, जैसे 'असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय'। आगे चलकर, वेदान्त-दर्शनके निर्वेद और बौद्ध-दर्शनके वैराग्यका मूल यही पलायन है।

साहित्य और कलामें पलायन नवीनके प्रति उत्साह तथा प्राचीनके प्रति निराशाकी भावनाओंको जाग्रत् करता है। उत्साह और निराशा पलायनवादके दो मूल तत्त्व हैं। किन्तु विरोधी होनेके कारण इनका समन्वय जितना आवश्यक है उतना कठिन भी है। साहित्य और कलाके इतिहासमें ऐसे युग बीते हैं, जिनमें या तो अनेक माध्यमों द्वारा उत्साह, प्रसन्नता, वैभव, शक्ति, विजयोल्लास आदि भावनाओंकी अभिव्यक्ति कलाकारोंने की है या इन्होंने निराशा, विनाश, समर्पण (जो भक्तिका मूल तत्त्व है), वैराग्य, त्याग आदिसे अपनी रचनाओंको भावित किया है।

प्रथम महायुद्धके अनन्तर विश्वकी नैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था और आदर्शोंमें ह्रास हुआ, जिसके प्रतिक्रियास्वरूप यूरोपीय कला और साहित्यमें पलायनवादका उदय हुआ। निराशा और वेदनासे भावित एक ओर यथार्थवादी कला तथा नव-निर्माणकी कल्पनासे प्रसन्न दूसरी ओर प्रगतिवादी कलाके दो मिश्रित रूप प्रकट हुए। इन्हीं दोनोंके विकास और विस्तारका इतिहास पिछले पचास वर्षोंकी रचनाओं और कला-कृतियोंका इतिहास है। भारतीय साहित्य और कला इस प्रभावसे अछूती नहीं रही। किन्तु अपनी निजी सांस्कृतिक पृष्ठभूमिके कारण इनमें दार्शनिक निराशावाद, अलौकिक आनन्द, अतीत इतिहाससे जीवनके आदर्शोंकी शोध आदिकी भावनाएँ हैं तथा नव-निर्माणके लिए उत्साह और प्रयोगके लिए रुचि विद्यमान है। आधुनिक प्रयोगवाद (experimentalism) इसी प्रवृत्तिका चरम-विकास है। किन्तु जीवनके अनेक क्षेत्रोंमें विविध और विरोधी तत्त्वोंका समावेश और समन्वय जो इस युगकी माँग और चेतावनी है, अभी हमारी कृतियोंमें नहीं है। —ह० ला० श०

पलायनवाद–मूल शब्द जीवशास्त्रका है, जिसका आशय यह है कि समस्त चेतन-सेल्सके बीच ऐसे सेल्स भी होते हैं, जो विकाससे बच निकलते हैं और फिर समस्त चेतनामें विकृति पैदा कर देते हैं। साहित्यमें इसका प्रयोग मुख्यतः उस प्रवृत्तिको व्यक्त करनेके लिए किया जाता है, जिसमें वस्तुस्थिति और यथार्थसे कतराकर या जीवन और उसकी अनिवार्यताओंकी उपेक्षा करके किसी दिवास्वप्न या स्वप्न-लोक या अयथार्थ काल्पनिक स्थितियोंमें साहित्यकार रस और आनन्द लेकर जीवनको अनुत्तरदायित्वपूर्ण ढंगसे बिता देना श्रेयस्कर समझता है। जीवन और यथार्थसे पदच्युत एवं संस्कारहीन तत्त्वोंसे विस्थापित मनोवृत्तिको व्यक्त करनेवाला साहित्य पलायनवादी साहित्य कहा जाता है। वस्तुस्थिति और यथार्थका साक्षात्कार करनेसे जो साहित्य वंचित करे अथवा जो उसके बिना भी जीवित

रहनेकी प्रेरणा दे, वह समस्त साहित्य भी मुख्यतः नही तो अंशतः पलायनवादी होता है।

पलायनवादी प्रवृत्ति किसी भी साहित्यिक धारामें पायी जा सकती है। हिन्दीमे छायावाद (दे०) और उसके बादके गीतिकारोंमे यह प्रवृत्ति विशेषतः पायी जाती है। हिन्दी साहित्यमे इसका मुख्य काल हमे प्रगतिवाद और छायावाद-के बीचमें अधिक मिलता है। इसका मुख्य कारण यह है कि छायावादकी स्वच्छन्दवादी भावभूमिका आधार जितना उदात्त और नैसर्गिक था, उसे वहन करनेके लिए जहाँ उतने ऊँचे व्यक्तित्वकी आवश्यकता थी, वही उसके भाव-बोधको स्वीकार करनेके लिए एक विशिष्ट सन्दर्भका भी आग्रह था।

'प्रसाद'ने एक स्थानपर लिखा है—"ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक, धीरे-धीरे। जिस निर्जनमे सागर लहरी अम्बरके कोनेमे गहरी, निश्चल प्रेमकथा कहती हो तज कोलाहलकी अवनी रे"। पलायनवादकी यह प्रवृत्ति यद्यपि छायावादमें भी थी, फिर भी उसमे इतनी निहित थी कि जब उसकी वास्तविक अनुभूति उसके अनुकरणकारी कवियोंमे नही रह गयी तो उसका पतनोन्मुख रूप ही उसके बादके काव्यमे अधिक तीव्रताके साथ उभरकर आया, जिससे साहित्यिक गति-विधिमें एक अनावश्यक रीति ऐसी पनपी कि वह न तो छायावादकी होकर रह सकी और न यथार्थवादकी।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे यह प्रवृत्ति एक और कारणसे भी विकसित हुई और वह यह कि छायावादने जिस काव्य-दृष्टिको प्रश्रय दिया, वह न तो देशकालके दायित्वसे सम्बन्धित थी और न युगके यथार्थसे ही सम्बन्धित थी। छायावादके बादके गीतिकारोंने तो इस भाव-धाराको इस सीमातक पहुँचा दिया, जहाँ कि इस संसार और इसके जीते-जागते सौन्दर्यका तिरस्कार करके उन्होंने अपनी समस्त भाव-चेतनाको एक विचित्र कुहासेके वातावरणमें छिपा दिया और स्वयं अपने दिवास्वप्नोंमें लीन हो गये।

प्रस्तुत सन्दर्भमें पलायनवादके दो रूप हो गये। एक तो वह जिसमें उच्छृंखल हृदयवाद (दे०) प्रश्रय पाकर विकसित हुआ और दूसरा वह जो घोर निराशावाद(दे०)में बदलकर एक विभिन्न प्रकारकी पतनोन्मुख भावधाराको प्रश्रय देने लगा। 'बच्चन'का हालावाद (दे०) अथवा अन्य गीतिकारोका हृदयवाद या इसी प्रकारकी कविताएँ पलायनवादकी विभिन्न दिशाएँ हैं।

किसी भी साहित्यका दुर्भाग्य उस समय अपनी चरम सीमापर होता है, जब कि उसमें दृष्टिहीन कवियोंकी संख्या अधिक होती है। पलायनवाद उन्हीं विकृतियोमेंसे एक है।

—ल० कां० व०

पवाड़ा—'पवाड़ा' अथवा 'पोवाड़ा' महाराष्ट्रका प्रसिद्ध लोकछन्द है। अपनी शैली और विषयवस्तुकी दृष्टिसे राज-स्थानी चारणोंकी विरुदावली-शैलीके समस्त तत्त्वोसे पूरित होकर विशुद्ध वीरगीतके रूपमें सामान्यतः मान्य है। पवाडा 'डफ' और 'तुनतुनिया' वाद्योंके सहयोगसे ऊँची आवाजमें गाया जाता है। महाराष्ट्र शब्दकोशमें पवाडा (पोवाड़ा) वीरोके पराक्रम, विद्वानोंकी बुद्धि अथवा सामर्थ्य, गुण, कौशलके काव्यात्मक वर्णन, प्रशस्ति, स्तुति-स्तोत्र अथवा पराक्रम या कीर्तिके अर्थमें लिया गया है। यह शब्द लगभग एक हजार वर्ष पूर्वसे मराठी भाषामे प्रयुक्त होता रहा है। वैसे 'पवाडा' शब्द 'प्रवाद'का विगडा रूप प्रतीत होता है। प्रवादका अर्थ है जोरसे कहना, जनरव, किसी-को दी जानेवाली सूचना, अपवाद आदि। मराठी 'ज्ञान-कोश'के अनुसार यह प्राकृत शब्द है। रूढार्थमें यह शब्द ऐतिहासिक व्यक्तिके किसी चरित्र-प्रसंग-वर्णनके लिए मराठीमें प्रयुक्त होता है। ब्रजमें यही लोकछन्द 'पमारा', मालवामें 'पँवारा' और बुन्देलखण्डमे एक लम्बी कहानीके लिए प्रचलित है। ब्रजमे 'पमारा' सभी अवदानके रूपमें है। कहते है, पँवारो अथवा परमारोंके प्रशस्ति-गीतको ही सम्भवतः 'पँमारे' कहा जाता था। ब्रजमें 'जगदेवका पँवारा' 'जयमल-पत्तेका पँमारा', मालवामें 'कुँवर चेन सिंहका पँमारा', बिहारमें 'कुँवर सिंहका पँमारा' उल्लेखनीय लोक-गीत है। महाराष्ट्रमे तो पँवारोंका बाहुल्य है। —श्या० प०

पशु—१. वेदान्ती जिसे जीव कहते है, शैव उसीको पशु कहते है। वेदान्तियोंने जिस तरह ब्रह्म, जीव और मायाकी कल्पना की है, शैवोंने उसी तरह पशुपति, पशु और पाश की। मूलतः दोनोंका अर्थ एक ही है, भेद केवल शब्दावली-का है। पाशका अर्थ है—जाल या बन्धन; पशुका अर्थ है पाशबद्ध, जालमें पडा हुआ, मलयुक्त या कंचुकित तथा पशुपतिका अर्थ है—जालसे मुक्त, निर्मल, निष्कंचुकित। 'परशुराम कल्पसूत्र'में कहा गया है कि "शरीर कंचुकितः, शिवो जीवो, निष्कंचुकः परम शिवो"। इस प्रकार पशुका अर्थ है—मायाके कंचुकों (दे० कंचुक) और मलों (दे० 'मल')से आच्छादित शिव या ब्रह्म—अर्थात् ऐसा बुद्धजीव, जिसका चैतन्य अनेक मायिक आवरणों, अर्थात् दया, मोह, भय, लज्जा, घृणा, कुल तथा शिला (रीति) और वर्ण (जाति)से आच्छन्न हो गया है। कौलोपनिषद्में कहा गया है:—'न कुर्यात्पशु सम्भाषणम्'। इसपर भास्कर रामकी टीका है:—"बहिर्मुखाः सर्वेऽपि पशवो विद्याहीनत्वात्, एतदुपास्यतेरेव विद्यात्वात्। न शिल्पादिज्ञानयुक्ते विद्वच्छब्दः प्रयुज्यते इत्यादि वचनात्" आदि (तान्त्रिक टेक्स्ट्स, वाल्यूम १, पृ० ५)। अर्थात् कौल साधनाके अधिकारी तीन कोटिके माने जाते है—पशु, वीर और दिव्य क्योंकि कौल इस बातमें विश्वास करते है कि इस साधनाके लिए सभी लोग समान रूपसे विकसित नहीं होते। कुछ साधक ऐसे होते है, जिनमें दूसरोंकी अपेक्षा सांसारिक विषयोंके प्रति अधिक आसक्ति होती है। 'बहिर्मुखा सर्वेऽपि पशवो विद्याहीनत्वात्'का यही तात्पर्य है। इस प्रकार मोह या माया या सांसारिक विषयों और भोगोंके प्रति तीव्र आसक्ति-वाले साधकको पशु कहते हैं। यह साधकोंकी सबसे निचली कोटि है। शास्त्रमें इनके लिए भिन्न प्रकारकी साधनाका निर्देश है। इस प्रकारके साधककी अवस्थाको पशु भावकी संज्ञा दी जाती है।

२. कौल साधनामें स्वीकृत तीन अधिकारियोंमेंसे पशु सबसे हीनकोटिका अधिकारी है। कौलावली निर्णय (७।३)-में इसे विश्वनिन्दित कहा गया है और साधना-मार्गमें आगे बढ़नेके लिए इस कोटिके अधिकारीको बहु जाप, बहु होम

तथा अत्यधिक कायक्लेशकी आवश्यकता बतायी गयी है। ग्रन्थोंमें इस बातका स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि साधकको अपने अधिकार, अर्थात् शक्तिकी सीमाको समझकर ही साधना करनी चाहिए तथा यह कि वीर या दिव्य साधककी तरहकी साधना पशुको नहीं करनी चाहिए। अगर हठवश वह ऐसा करता है तो कुछ प्राप्त करना तो दूर रहा, उलटे वह अपनी हानि ही करता है, क्योंकि कौलमार्गियोंका विश्वास है कि साधनाके लिए सभी लोग समानरूपसे विकसित नहीं होते। पशु साधकमें दूसरोंकी अपेक्षा सांसारिक विषयोंके प्रति अधिक आसक्ति होती है। 'बहिर्मुखाः सर्वेऽपि पशवो विद्याहीनत्वात्'का भी यही तात्पर्य है। इस प्रकार मोह और सांसारिक विषयोंके प्रति तीव्र आसक्तिवाले साधकको पशु कहते हैं। महासिद्ध सर्वानन्दने अपने 'सर्वोल्लास' नामक ग्रन्थमें तीन प्रकारके पशुओंका उल्लेख किया है—पशु, सभावपशु और विभावपशु। इनमें पशु उसे कहते हैं, जो आहार, निद्रा, भय, मैथुनवाले पाशविक जीवनसे ऊपर उठा हुआ कोई उच्चतर भाव भी है, इससे नितान्त अनभिज्ञ होता है। वह अपने अन्दरके चित्तत्त्वसे बिल्कुल बेखबर रहता है। सभाव पशुमें अपने चित्स्वरूपके प्रति थोड़ी चेतनता या सतर्कता तो उद्बुद्ध हो गयी रहती है, लेकिन इसे किसी ऊँचे धरातलकी चेतनता नहीं कह सकते। विभावपशुमें यह चेतनता एक स्थिर रूप ले लेती है और साधकमें उच्चतर जीवनकी ओर अग्रसर होनेकी प्रबल कामना जाग्रत हो जाती है और जब उच्चतर जीवनकी ओर बढ़नेके उसके प्रयास सफल होने लगते हैं, वह पशुत्वकी सीमा पार कर 'वीर' (दे० 'वीर') बन जाता है। वीर होकर क्रमशः सभाववीर और विभाववीर होता हुआ वह अन्तमें पिछली छः अवस्थाओंसे ऊपर उठकर अन्तिम और सर्वोच्च अवस्थाको प्राप्त करके 'दिव्य' साधक बन जाता है।

पशु, सभावपशु तथा विभावपशुसे थोड़ा भिन्न एक दूसरा वर्गीकरण भी पशुका पाया जाता है, जिसे क्रमशः सकल, प्रलयकल और विज्ञानकलकी संज्ञा दी गयी है। 'सकलपशु' उस साधकको कहते हैं जो अणु, भेद और कर्म नामक तीन मलों (दे० 'मल')से बँधा रहता है। 'प्रलयकलपशु' अणु और कर्म नामक मलोंसे वेष्टित रहता है, भेद या माया छूट गयी रहती है। 'विज्ञानकलपशु' मात्र अणु नामक मलसे बद्ध होता है। —रा० सि०

पश्चिमी हिंदी–आधुनिक आर्यभाषाओं तथा बोलियोंका वर्गीकरण करते समय भीतरी उपशाखाके अन्दरके समुदायकी बोलियोंके एक वर्गके लिए ग्रियर्सन द्वारा प्रस्तावित नाम। हिन्दी बोलियोंको ग्रियर्सनने दो समूहोंमें विभक्त किया है। **पूर्वी हिन्दी** (दे०) तथा पश्चिमी हिन्दी (लिंग्विस्टिक सर्वे, भाग १ : खण्ड १)। उनकी प्रवृत्ति पश्चिमी हिन्दीको ही स्टैण्डर्ड हिन्दी माननेकी रही है। पश्चिमी हिन्दीकी बोलियाँ मुख्यतः मध्यदेशमें बोली जाती हैं। इस समूहकी बोलियोंके नाम हैं—(१) खड़ीबोली, (२) बाँगरू, (३) ब्रजभाषा, (४) कन्नौजी तथा (५) बुन्देली। खड़ीबोली या सरहिन्दी, मुख्यतः जिसके आधारपर आजकी स्टैण्डर्ड हिन्दी प्रतिष्ठित है, पश्चिम रुहेलखण्ड, गंगाके उत्तरी दोआब तथा अम्बाला जिलेकी बोली है। बाँगरू बोली जाटू या हरियानीके नामसे प्रसिद्ध है। यह दिल्ली, करनाल, रोहतक, हिसार, पटियाला, नाभा तथा झींदमें बोली जाती है। ब्रजभाषाका क्षेत्र वैसे तो बहुत व्यापक है, परन्तु विशुद्ध रूपमें यह बोली, मथुरा, आगरा, अलीगढ़ तथा धौलपुरमें बोली जाती है। कन्नौजी बोलीका क्षेत्र ब्रजभाषा और अवधीके बीचमें है और बुन्देली बुन्देलखण्डकी बोली है। धीरेन्द्र वर्मा कन्नौजी तथा बुन्देलीका अलग-अलग अस्तित्व नहीं मानते। उनके अनुसार कन्नौजी तथा बुन्देली वस्तुतः ब्रजभाषाके ही प्रादेशिक उपरूप हैं।

पश्चिमी हिन्दीकी बोलियाँ शौरसेनी अपभ्रंशसे विकसित हुई हैं। साहित्यकी दृष्टिसे मध्यकालीन तथा किसी हदतक आधुनिक ब्रजभाषा भी अत्यन्त समृद्ध रही है। अपने मध्यकालीन साहित्यके कारण ब्रजको भाषा कहकर आदृत किया गया। खड़ीबोली हिन्दीके पूर्व ब्रजभाषा ही लगभग समस्त हिन्दी प्रदेशकी साहित्यिक भाषा थी। पश्चिमी हिन्दीकी अन्य बोलियोंमें कोई महत्त्वपूर्ण प्राचीन साहित्य नहीं है। —रा० स्व० च०

पहेलियाँ–पहेलियोंको संस्कृतमें ब्रह्मोदय भी कहा जाता है। पहेलियाँ केवल बच्चोंके मनोरंजनकी वस्तुएँ नहीं, ये समाजविशेषकी मनोज्ञताको प्रकट करती हैं और उनकी रुचिपर प्रकाश डालती हैं। ये बुद्धिमापक भी हैं। ये सभ्य और असभ्य, सभी कोटिके मनुष्यों और जातियोंमें प्रचलित हैं। भारतवर्षमें तो वैदिक कालसे ब्रह्मोदयका चलन मिलता है। अश्वमेध यज्ञमें तो ब्रह्मोदय अनुष्ठानका ही एक भाग था। अश्वकी वास्तविक बलिसे पूर्व होता और ब्राह्मण ब्रह्मोदय पूछते थे। इन्हें पूछनेका केवल इन दोको ही अधिकार था। इस प्रकार पहेलियोंका आनुष्ठानिक प्रयोग भारतमें ही नहीं, संसारके अन्य देशोंमें भी मिलता है। फ्रेजर महोदयने बताया है कि पहेलियोंकी रचना अथवा उदय उस समय हुआ होगा, जब कुछ कारणोंसे वक्ताको स्पष्ट शब्दोंमें किसी बातको कहनेमें किसी प्रकारकी अड़चन पड़ी होगी। भारतके मूल निवासियोंमेंसे मण्डलाके गोंड और प्रधानतया बिरहोर जातियोंके विवाहके अनुष्ठानोंमें पहेली बुझाना भी एक आवश्यक बात मानी गयी है।

पहेलियाँ यथार्थमें किसी वस्तुका वर्णन करती हैं—ऐसा वर्णन, जिसमें अप्रकटके द्वारा प्रकटका संकेत होता है। अप्रकट इन पहेलियोंमें बहुधा वस्तु उपमानके रूपमें आता है। यह स्वाभाविक ही है कि गाँवकी पहेलियोंमें ऐसे उपमान भी ग्रामीण वातावरणसे ही लिये गये हैं।

पहेलियाँ एक प्रकारसे वस्तुको सुझानेवाले उपमानोंसे निर्मित शब्दचित्रावली हैं, जिनमें चित्र प्रस्तुत करके यह पूछा जाता है कि यह किसका चित्र है। पर इससे यह न समझना चाहिये कि उपमानोंके द्वारा यह चित्र पूर्ण होता है। उपमानों द्वारा जो चित्र निर्मित होता है, वह अस्पष्ट होता है, उससे अभिप्रेत वस्तुका बहुत अधूरा संकेत मिलता है, पर वह संकेत इतना निश्चित होता है कि यथासम्भव उससे किसी अन्य वस्तुका बोध नहीं हो सकता। —स०

पाँच–भारतीय दर्शन एवं धर्म-साधनाके साहित्यमें पाँचकी संख्या बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है। पंचप्राण, पंचस्कन्ध,

पंचतन्मात्र, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पंचपवित्र, पंचमकार, पंचायतन, पाँचगुण, पाँचपद, पाँच ध्यानी बुद्ध, उनकी पाँच शक्तियाँ, पाँच आनन्द, पाँचकुल, पाँच आकाश आदि अनेक (अनन्त भी कह सकते हैं) ऐसे विषय हैं, जिनका पाँचकी संख्यासे सम्बन्ध है। सन्त सीधी बातको भी थोड़े रहस्यात्मक ढंगसे कहनेके आदती हैं, अतः इनके साहित्यमें पाँचकी संख्या कई बार अजीब ढंगकी पहेली बनकर सामने आती है। अन्य सन्तोंकी अपेक्षा संधाभाषाकी दुरूहता कबीरमें थोड़ी अधिक है। साथ ही पाँचकी संख्याका कबीरने जिन अर्थोंमें प्रयोग किया है, अन्य सन्तोंने भी प्रायः उन्हीं अर्थोंमें इसका उपयोग किया है। कुशल इतना ही है कि सन्त साधना आदिकी चक्करदार गलियोंके भ्रमणको बहुमान नहीं देते। वे सहजता और सहज-समाधिके समर्थक हैं, अतः 'पंच'का प्रपंच (अत्यधिक विस्तार) इनके काव्यमें अधिक नहीं है। कबीरने पंच या पाँचकी संख्याका जिन विभिन्न सांकेतिक अर्थोंमें प्रयोग किया है उसे संक्षेपमें समझ लेनेसे सन्त साहित्यकी तत्सम्बन्धी दुरूहताको कुछ सरल किया जा सकता है। कबीरकी एक साखी है—"कबीर पाँच पखेरुवा राखे पोख लगाइ। एक जु आयो पारधी लगै गयो सबै उडाय" (क० ग्रं० ति० पृ० २०२, ३७)। यहाँ पारधी (साधक) जिन पाँच पखेरुओंको साथ उड़ाकर ले जाता कहा गया है, वे हैं पंचप्राण, अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान। इन्हें प्राणायामसे समेटकर साधकने कुम्भकमें बन्द कर दिया, यही कबीरका कथ्य है। इसी अर्थमें पाँचका प्रयोग पद सं० १७५में भी देखा जा सकता है (क० ग्रं० ति०, पृ० १०१)। पंचेन्द्रियोंके अर्थमें 'पंचकुसंगी' शब्दका प्रयोग भी कबीरने किया है—"कागद केरी नावरी पानी केरी गंग। कहै कबीर कैसे तिरूँ, पंच कुसंगी संग॥" (क० ग्रं० ति०, पृ० २३०, १८)। एक योगपरक रूपकमें पंचेन्द्रियोंको 'पाँच बनिजारा' शब्दसे संकेतित करते हैं—"मोहि ऐसें बनिज सों कवन काजु। जिहिघटै मूल नित बढ़ै ब्याजु॥ नावकु एकु बनिजारै पाँच। बरध पचीसक संगु काँच"…आदि (क० ग्रं० ति०, पद १२६)। यहाँ मन नायक और पंचेन्द्रियाँ वाणिज्य करनेवाली हैं। इन्द्रियोंके अर्थमें और भी कई प्रयोग देखे जा सकते हैं (क० ग्रं० ति०, पृ० १५९, १; १८०, १०)। इन पंचेन्द्रियोंको बहुत बार, पंच चोर कहकर भी संकेतित किया गया है (दे० क० ग्रं०, ति०, पद ३६, ७२, ८० तथा पृ० १२१, ८; १५१, ५)। पाँच तत्त्वोंके लिए पंचका प्रयोग तो बहुत बार हुआ है (दे० वही, पद ५, ५७, १९४ तथा पृ० २००, १४; २३१, २०)। 'पाँच कुटुम्ब' रूपमें पाँच कुलों—सत्त्व, रज, तम, काल एवं जीवका अर्थ देनेवाला प्रयोग भी कबीरने किया है—"एहुततु रांम जपहु रे प्रांनी तुम बूझहु अकथ कहांनी। जाकौ भाव होत हरि ऊपरि जागत रैनि बिहांनी॥ डाइनि डोरै सुनहां डोरै सिंघ रहै बन घेरै। पाँच कुटुंब मिलि जूझन लागे बाजन बाजु घनेरै" (क० ग्रं०, ति०, पद १३८)। पंचेन्द्रियोंका अर्थ देनेके लिए पाँच भुजंगोंका उल्लेख भी दर्शनीय है (वही, पद १३७)। इस तरहके और भी अनेक प्रयोग खोजे जा सकते हैं।

—रा० दे० मि०

पांचरात्रमत–दे० 'भागवतधर्म'।

पांचालमध्यमा प्रवृत्ति–दे० 'प्रवृत्ति', दूसरी।

पांचाली रीति–दे० 'रीति', तीसरी।

पाखंडी–प्राचीन साहित्यमें पाखण्ड शब्दका पाषण्ड रूप अधिक मिलता है। संस्कृत कोशोंमें इसका अर्थ धर्म-विरोधी, दुरात्मन्, चाण्डाल आदि बताया गया है। तुलसीदासके समयमें कपट, दम्भ आदि जैसे गर्हित अर्थ देनेवाले, शब्दोंके साथ इसका प्रयोग रूढ हो चला था। 'मानस'में इसी तरहके प्रयोग मिलते हैं—"कुपथ कुतरक, कुचालि कलि कपट दम्भ पाखण्ड। दहन राम गुन ग्राम जिमि ईधन अनल प्रचण्ड"। छल या धोखा अर्थमें भी इसका प्रयोग हुआ है—"जब कीन्ह तेहि पाखण्ड। भए प्रकट जन्तु प्रचण्ड"—मानस। किन्तु कतिपय छिटफुट प्रमाण ऐसे भी मिलते हैं, जहाँ पाषण्डका प्रयोग एक विशेष धर्म सम्प्रदायके लिए किया गया है। अशोकके समयमें पाषण्ड नामक एक धर्म-सम्प्रदायका उल्लेख मिलता है, जिसके साधुओंको अशोकने बड़े आदरके साथ बहुत-सा दान दिया था ('भाषा विज्ञान': भोलानाथ तिवारी)। बौद्ध साहित्यमें वैदिक तथा श्रमण धर्मोंके साम्प्रदायिक प्रचारकोंके अतिरिक्त कुछ ऐसे व्यक्तियोंका भी उल्लेख है जो 'कवि' कहे जाते थे। दर्शनके गूढतत्त्वों तथा नैतिक आचरणकी रहस्यमयी गुत्थियोंको सामान्य एवं निम्नस्तरके समाजवाले व्यक्तियोंके लिए बोधगम्य एवं सुलभ-सुकर रीतिसे सुलझानेका काम करनेवाले 'नख' या 'मख' नामधारी ब्राह्मण जातीय प्रचारकोंका भी उल्लेख मिलता है, जिनका पूरा नाम 'नख-पाषण्ड ब्राह्मण' होता था। ये लोग देहातोंमें घूम-घूमकर कर्मवादका प्रचार करते थे। ये अपने साथ पाषाणों पर खुदे हुए 'पटचित्र' (जिन्हें 'चरण' भी कहा जाता था) साथ लिए रहते थे। इन पटचित्रों पर स्वर्गके सुखमय जीवनकी झाँकी दी गयी रहती थी। पाषाण पर खुदे पटचित्रोंके कारण इन्हें 'पाषण्ड' कहा जाता रहा हो, यह नितान्त स्वाभाविक है, क्योंकि पाषण्डका अभिधार्थ वैसा किसी तरह नहीं हो सकता, जैसा आज प्रचलित है। पाषण्डोंका अपार प्रभाव देखकर ही शायद जैनोंने भी इस तरहके धर्म प्रचारकोंकी अपनी व्यवस्था की थी। जैनोंकी 'नायकम्म कहा' नामक पुस्तकसे इस प्रकारकी उनकी व्यवस्थाकी सूचना मिलती है। लगता है आगे चलकर बौद्ध-जैन धर्मोंके ह्रास एवं ब्राह्मण या भागवत धर्मकी पुनः प्रतिष्ठाके बाद जनतामें भी धीरे-धीरे इन पाषण्डों या पाषण्डियोंके प्रति दुर्भाव पैदा होता गया और इस शब्दका अर्थापकर्ष होता गया। उत्तरभारतकी बोलियोंमें पाखण्ड या पखण्डके साथ डण्ड शब्दका उल्लेख (डण्डपखण्ड) इस बातकी भी सूचना देता है कि आगे चलकर पाषण्डोंने पाशुपत शैवों, लकुलीशों तथा अनन्तर नाथों आदिमें अपनेको मिला लिया हो। गोरखनाथने 'पाषण्ड' नामधारी योगियोंको बड़े आदरसे याद किया है। गोरखनाथका 'पाषण्डी' योगी नामसे भिन्न होने पर भी बहुत कुछ हठयोगी जैसा ही है—"पाषण्डी सो जो काया पषारवै। उलटि पवन अगनि प्रजा लै। ब्यंद न देई सुपनै जाण। सो पाषण्डी कहिए

नत्तसमान ॥" (गो० बा० सबदी ४७)। पद्मावत (३९,५)-में उल्लिखित पखण्डी (रामचन्द्र शुक्ल) या पाखण्ड (वासुदेव शरण अग्रवाल) का भी पाषण्डीसे सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। —रा० सि०

पाठालोचन—'पाठालोचन'के लिए अंग्रेजीमें शब्द 'टेक्स्चुएल क्रिटिसिज्म' है, जिसका आशय होता है पाठ-सम्बन्धी विवेचना। किसी रचनाका वास्तविक पाठ क्या रहा होगा और किन कारणोंसे वैसा रहा होगा, इसी विषयका विवेचन पाठालोचन हुआ करता है। प्रकट है कि इस प्रकारके विवेचनकी आवश्यकता उन्हीं रचनाओंके सम्बन्धमें पड़ सकती है, जिनके पाठका प्रकाशन आधुनिक मुद्रणके प्रचारके पूर्व हुआ हो, अथवा जिनका मुद्रण लेखकके निर्देशनमें न हुआ हो।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, पाठालोचनका उद्देश्य लेखकके वास्तविक पाठका निर्धारण या पुनर्निर्माण हुआ करता है। किन्तु वास्तविक पाठ भी दो प्रकारका हो सकता है—एक वह, जो लेखककी लेखनीसे लिपिबद्ध हुआ हो और दूसरा वह, जो उसका अभीष्ट रहा हो, भले ही उसके लिपिबद्ध करनेमें लेखकसे कोई लेखन-प्रमाद हो गये हो। पाठालोचन उक्त पहले प्रकारके पाठका निर्धारण करके उक्त दूसरे प्रकारके पाठतक पहुँचनेका भी प्रयास करता है।

पाठालोचनकी सामग्री दो प्रकारकी होती है—एक तो वह, जो रचनाकी प्रतियोंके रूपमें पायी जाती है और दूसरी वह, जो उससे सम्बन्धित होती है और इतर रूपोंमें हमारे सामने आती है। यह दूसरे प्रकारकी सामग्री टीकाओं, अनुवादों, संकलनों, उदाहरणों, विवेचनों, परिचयों, संक्षेपों, छाया-रचनाओं आदिके रूपमें पायी जाती है। प्रथम प्रकारकी सामग्रीके अभाव अथवा त्रुटित होनेपर इसका महत्त्व बहुत बढ़ जाता है, किन्तु वैसे भी कभी-कभी इसके पाठ-निर्धारणमें सहायता मिलती है।

प्रतियाँ भी कई प्रकारकी होती हैं—एक तो वे होती हैं, जो स्वयं लेखककी लिखी होती हैं, दूसरी वे होती हैं, जो लिखी अन्यकी, किन्तु लेखकके द्वारा पढ़ी और आवश्यकतानुसार संशोधितकी हुई होती हैं। तीसरी इनकी प्रतिलिपियाँ होती हैं और चौथी प्रतिलिपियों की भी उत्तरोत्तर की हुई प्रतिलिपियाँ होती हैं। इनमेंसे प्रथम दो लेखककी स्वहस्तलिपियाँ कहलाती हैं और इनके प्राप्त होनेपर पाठालोचनका कार्य प्रायः नहींके बराबर रह जाता है। ऐसी प्रतियोंके पाठमें हस्तक्षेपका अधिकार पाठालोचकको उन्हीं स्थलोंपर होता है जहाँपर स्पष्ट लेखन-प्रमाद होता है, अन्यथा इन प्रतियोंका पाठ ज्यों-का-त्यों गृहीत होता है। किन्तु ऐसी प्रतियाँ नितान्त दुर्लभ होती हैं। उपर्युक्त तीसरी प्रकारकी प्रतियाँ इनके अभावमें सबसे अधिक मूल्यवान् होती हैं। उनके अभावमें भी चौथी प्रकारकी प्रतियोंसे काम लिया जाता है।

प्रतिलिपि-क्रियाके दौरानमें रचनाके पाठमें विकृतियोंका होना स्वाभाविक है। प्रतिलिपिकी पीढ़ियोंके अनुसार ही विकृतियाँ भी बढ़ती जाती हैं—अर्थात् ये प्रतिलिपियाँ मूलसे जितनी ही दूरकी पीढ़ीमें आती हैं, उतनी ही पाठ-विकृतियाँ भी उनमें अधिक होती हैं। इसलिए इन प्रतिलिपियोंका पीढ़ी-निर्धारण आवश्यक हुआ करता है। यह पीढ़ी-निर्धारण इन्हीं, अधिकांशमें, विकृतियोंकी सहायतासे होता है।

पुनः, मूलसे जब एकसे अधिक प्रतिलिपियाँ होती हैं और उन प्रतिलिपियोंकी प्रतिलिपि-परम्पराएँ चलती हैं, तो रचनाके पाठकी उतनी ही स्वतन्त्र शाखाएँ बन जाती हैं, जितनी मूलसे प्रथम प्रतिलिपियाँ हुई रहती हैं। स्वभावतः इन शाखाओंकी विकृति-परम्पराएँ भी चलती हैं और इन्हीं विकृति-परम्पराओंकी सहायतासे शाखा-निर्धारण होता है।

जब किन्हीं भी दो प्रतियोंके पाठोंको मिलाकर कोई पाठ तैयार किया जाता है, तब पाठ-मिश्रण हो जाया करता है और यह पाठ-मिश्रण भी दो प्रकारका हो सकता है। एक तो वह, जो एक ही शाखाकी दो या अधिक प्रतियोंके पाठोंको लेकर किया जाता है और दूसरा वह जो दो या अधिक शाखाओंकी प्रतियोंके पाठोंको लेकर किया जाता है। पाठ-मिश्रणकी इन प्रतियोंका महत्त्व तभी होता है, जब पहले प्रकारका मिश्रण किसी ऐसी प्रतिके पाठको लेकर किया जाता है, जिसके बराबर या पूर्वकी स्थितिकी प्रति विद्यमान नहीं होती है अथवा जब दूसरे प्रकारका मिश्रण किसी ऐसी शाखाकी प्रतिके पाठको लेकर किया जाता है, जिसकी कोई अन्य प्रति, अथवा कम-से-कम उस स्थिति या उसके पूर्वकी स्थितिकी कोई प्रति प्राप्त नहीं होती है जिस स्थितिकी प्रतिके पाठको लेकर पाठ-मिश्रण किया गया हुआ होता है।

इस सम्पूर्ण प्रतिलिपि-परम्परा—अर्थात् पाठकी शाखाओं और पीढ़ियोंके निर्धारणके अनन्तर मूलका पाठनिर्धारण सुगम और बहुत कुछ निरापद हो जाता है। जो पाठ किन्हीं भी दो या अधिक ऐसी प्रतियोंमें मिलता है जिनमें परस्पर किसी प्रकारका विकृति-सम्बन्ध नहीं होता है, स्वभावतः मूलका होता है। कठिनाई ऐसे पाठोंके सम्बन्धमें पड़ती है, जो दो या अधिक शाखाओंमें परस्पर सर्वथा भिन्न होते हैं। ऐसी दशामें यदि पाठकी दो ही शाखाएँ प्राप्त हैं और एक शाखाका पाठ इस प्रकारका नहीं प्रमाणित होता है, जिससे बिगड़कर दूसरीका पाठ बन सकता हो, तो लेखकके प्रयोगोंका सूक्ष्म अध्ययन और समस्त प्रकारकी संगतियोंके ऊहापोहके अनन्तर दोनोंमेंसे उसे ही स्वीकार करना होता है, जो निश्चित रूपसे लेखककी उक्त रचना अथवा अन्य रचनाओंसे प्रयोगसम्मत प्रमाणित हो और अधिक संगत हो। कभी-कभी ऐसी स्थिति भी पाठालोचकके सामने आती है, जब कि दोनों शाखाओंके पाठ, लेखकके प्रयोगों और संगतियोंके अनुसार समान रूपसे अविकृत प्रतीत होते हैं। ऐसी दशामें उस शाखाका पाठ ग्रहण करना सामान्यतः अधिक निरापद होता है, जिस शाखाका पाठ ऐसी अन्य स्थितियोंमें भी प्रायः अधिक प्रयोगसम्मत और संगत प्रमाणित होता है।

किसी रचनाके पाठकी तीन या अधिक शाखाएँ प्राप्त होनेपर इस पाठ-चयनमें बहुत सुगमता हो जाती है, क्योंकि जहाँपर दो शाखाओंका पाठ एक हो और शेष उससे भिन्न और परस्पर भी भिन्न हों, वहाँपर दो शाखाओंके

समान पाठको निरापद रूपसे ग्रहण किया जा सकता है। इस सिद्धान्तके प्रयोगमे तभी कठिनाई पडनी है, जब कि विभिन्न शाखाओंका पाठ स्वयं लेखक द्वारा किये हुए विभिन्न पाठसुधारों (संस्करणों)की स्थितियोंका पाठ प्रस्तुत कर रहा हो। ऐसी दशामे यह सम्भव है कि समान पाठवाली दो या अधिक शाखाएँ एक स्थितिकी हो और भिन्न पाठवाली भिन्न स्थितिकी और तब लेखक-कृत पाठ-सुधारों (संस्करणो)की इन विभिन्न स्थितियोंका निर्धारण नितान्त आवश्यक हो जाता है। यह पाठालोचनकी एक अत्यन्त जटिल समस्या होती है। पाठालोचकको इसके निपटारेके लिए ऐसे प्रत्येक संस्करणकी स्थितिका पाठ निर्धारित करना पड़ना है और तदनन्तर उन समस्तके तुलनात्मक अध्ययनके आधारपर, जिसमे लेखककी पाठ-सुधारकी प्रवृत्तियोंका अत्यन्त सूक्ष्म और विस्तृत अध्ययन करना अपेक्षित होता है, उक्त विभिन्न संस्करणोंका पूर्वापर क्रम निर्धारित करना होता है।

पाठालोचकके सामने कभी-कभी एक स्थिति और आती है। कभी-कभी विभिन्न पाठोमेसे कोई भी ऐसा नही होता, जो एक साथ लेखकके प्रयोगोंसे अनुमोदित, सभी प्रकारसे संगत और सम्भव हो। ऐसी दशामें पाठालोचकको ऐसे सम्भव पाठकी कल्पना करनी पड़ती है, जो किसी भी कारण विकृत होकर प्राप्त पाठो अथवा उनमेसे किसीमें परिवर्तित हो गया हो, साथ ही प्रयोगसम्मत तथा सभी प्रकारसे संगत और छन्दोऽनुमोदित हो। इस संशोधनका अधिकार पाठालोचकको अवश्य है, किन्तु इसका प्रयोग उसे तभी करना चाहिये जब पाठ-चयनके द्वारा पाठ-निर्धारणके सभी सम्भव उपाय व्यर्थ होजाते हों, अन्यथा उसे पाठ-चयनसे ही सन्तोष करना चाहिये।

हिन्दीमें ग्रन्थोंका सम्पादन बहुत हुआ है और कभी-कभी अच्छा भी हुआ है, किन्तु पाठालोचनकी जिस वैज्ञानिक पद्धतिका निरूपण ऊपर किया गया है, उस पद्धतिपर कार्यका अभी प्रारम्भ ही हुआ है। इस कार्यमे द्रष्टव्य निम्नलिखित है—प्रस्तुत लेखक द्वारा लिखित 'अर्धकथाका पाठ', 'हिन्दी अनुशीलन' आश्विन-मार्ग सं० २०००, पृ० ५, 'कान्हड़दे प्रबन्ध और उसका पाठ' आलोचना, जनवरी, १९५५, पृ० ६८; लेखक द्वारा सम्पादित 'तुलसी ग्रन्थावली' भाग १ (दो खण्डोंमे) हिन्दुस्तानी एकादमी, यू० पी०, प्रयाग; 'जायसी ग्रन्थावली' हिन्दुस्तानी एकादमी, यू० पी०, प्रयाग, 'बीसलदेवरासो,' हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय; 'छिताई वार्ता' (प्रकाशनीय) नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी तथा पारसनाथ तिवारी: 'कबीर-वाणी—पाठ-समस्या और पाठ' (हिन्दी परिषद, प्रयाग विश्वविद्यालय)।

विशेष जानकारीके लिए दे०—'पाश्चात्य-साहित्यालोचन'—लीलाधर गुप्त। —मा० प्र० गु०

पात्र—कथात्मक साहित्यका अन्यतम तत्त्व, चरित्र—वे व्यक्ति जिनके द्वारा कथाकी घटनाएँ घटती हैं अथवा जो उन घटनाओंसे प्रभावित होते है। इन्हीं व्यक्तियोंके क्रिया-कलापसे कथानक और कथावस्तुका निर्माण होता है। अतः भले ही किसी कृतिमें घटनाओंकी बहुलता और प्रधानता हो, पात्रो या चरित्रोंका उसमें अभाव नहीं हो सकता। कथाकी कल्पनामे ही पात्रोंकी विद्यमानता निहित है।

कथाके पात्रोंको किस प्रकार उपस्थित किया जाय, यह कलाकृतिके रूप, लेखककी रुचि तथा योग्यता और उसकी कृतिके उद्देश्यपर निर्भर है। काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी आदिमे पात्रोंके प्रयोग, अर्थात् चरित्र-चित्रणके अपने-अपने ढंग और विधान होते है। सब मिलाकर पात्रोंका चरित्र-चित्रण तीन प्रकारसे हो सकता है—१. पात्रोंके कार्योंके द्वारा, २. उनकी बातचीतके द्वारा तथा ३. लेखकके कथन और व्याख्या द्वारा। पहले दोको नाटकीय या अप्रत्यक्ष चरित्र-चित्रण कहते है और तीसरेको विश्लेषणात्मक या प्रत्यक्ष चरित्र-चित्रण। नाटकमे साधारणतया अप्रत्यक्ष चरित्र-चित्रण द्वारा ही, अर्थात् पात्रोके कार्यों और उनकी तथा उनके विषयमे दूसरोकी बातचीतके सम्मिलित प्रभावके द्वारा ही हम उनके चरित्रके विषयमे कोई धारणा बना सकते है—साधारणतया इसलिए कि कभी-कभी किसी पात्रविशेषके विषयमे लेखक किसी अन्य पात्रके माध्यमसे चारित्रिक विश्लेषण उपस्थित करके उस पात्रको समझनेमें दर्शकोंकी सहायता करता है परन्तु नाटकके चरित्र-चित्रणमें अप्रत्यक्ष या नाटकीय ढंग ही स्वाभाविक और समीचीन है। इस प्रकारके चरित्र-चित्रणकी खूबी यह है कि दर्शक या पाठक तथा पात्रोके बीच सीधा सम्बन्ध रहता है और पात्रोके सम्बन्धमे धारणा बनानेकी पाठक या दर्शकको पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है। नाटकीय चरित्र-चित्रण जितना ही व्यंजनापूर्ण और संक्षिप्त होता है, उतना ही अधिक प्रभावशाली भी। परन्तु चरित्रकी आन्तरिक सूक्ष्मताओं और मनोवैज्ञानिक रहस्योंको इस शैलीमें उतने स्पष्ट और असन्दिग्ध रूपमें उपस्थित नही किया जा सकता जितना विश्लेषणात्मक शैलीमें सम्भव है। उपन्यासके चरित्र-चित्रणमें अभिनयात्मक तथा विश्लेषणात्मक शैलियोंको मिलाकर चरित्र-चित्रण अधिक विशद रूपमें किया जा सकता है। उपन्यासके चरित्र-चित्रणमे लेखकको व्याख्या और टीका-टिप्पणी करनेकी इतनी स्वतन्त्रता होती है कि वह चारित्रिक विशेषताओंके उद्घाटनमे नाटककी अपेक्षा कही अधिक विस्तार और गहनता ला सकता है। नाटक और उपन्यासके चरित्र-चित्रणका यह अन्तर स्पष्ट ही इस बातका सूचक है कि नाटकमे कार्यकी प्रधानता होती है, जब कि उपन्यासका महत्त्व चारित्रिक अध्ययनमें ही अधिक माना जाता है। कार्य या घटनाको प्रमुखता देनेवाले उपन्यास उच्च कोटिके नही बन पाते। इसके विपरीत नाटकमे चरित्र-चित्रणका आधिक्य यदि कार्य-व्यापारको दबा दे तो नाटकीयताको क्षति पहुँच सकती है। नाटकमें देश और कालकी सीमाओंके कारण चरित्रका विकास भी उतनी स्वतन्त्रतासे नही दिखाया जा सकता। उपन्यासमें चरित्रको धीरे-धीरे विकसित होता हुआ दिखाकर विभिन्न परिस्थितियोंमें उसके उत्थान-पतनके अगणित परिवर्तनोंको चित्रित किया जा सकता है। सुविधानुसार उपन्यासकार नाटकीयता और विश्लेषणका समुचित समन्वय करके मानवीय मनोवेग, भावावेश, विचार, भावना, उद्देश्य, प्रयोजन आदिका सूक्ष्म-से-सूक्ष्म आकलन कर सकता है।

गतिशील चरित्रोंकी सृष्टि ही कथासाहित्यकी महत्ताकी कसौटी है। एक ही पात्रके स्वभाव तथा उसके आधारपर किये गये कार्योंमें मनोविज्ञानसम्मत परिवर्तन तथा कभी-कभी आश्चर्यजनक विरोधका चित्रण करके कथा-साहित्यमें जिस सौन्दर्यकी सृष्टि की जा सकती है, वह साहित्यके अन्य रूपोंके लिए ईर्ष्याकी बात हो सकती है। आर्नल्ड बेनेटके शब्दोंमें हम कह सकते हैं कि कथासाहित्यका मूलाधार चरित्र-चित्रण ही है, अन्य कुछ नहीं। कथाकी घटनाएँ तो प्रायः पात्रोंके स्वभाव और प्रकृतिसे ही प्रसूत होती हैं। उसके वातावरण या देश-कालका निर्माण चरित्रोंको स्वाभाविकता और वास्तविकता प्रदान करनेके लिए ही किया जाता है। कथनोपकथन घटनाओंसे भी अधिक चरित्रको ही व्यंजित और प्रकाशित करता है तथा कथाके उद्देश्यकी महत्ता भी चरित्रमें ही निहित होती है। मनोविज्ञानको साहित्यमें जो महत्ता मिली है, उसका आधार भी चरित्र-चित्रण ही है (दे० 'उपन्यास', 'कार्य')। —सं०

पात्रप्रवृत्तिवक्रता–दे० 'प्रकरणवक्रता', पहला नियामक।

पादाकुलक–मात्रिक सम छन्दका एक भेद। 'प्राकृत-पैंगलम्'में १६ मात्राके चरणवाले इस छन्दका विवेचन किया गया है (१ : १३०)। भानुने ४ चौकलके चरणवाले छन्दोंको पादाकुलक कहा है (छं० प्र०, पृ० ४८)। इनमेंसे प्रमुख, जिनका प्रयोग हिन्दीमें हुआ है, अरिल्ल, पद्धरियाँ तथा डिल्ला हैं (दे०)। तुलसीने चौपाइयोंके मध्यमें, सूरने पदोंमें, केशव (रा० चं०), सूदन (सु० च०) तथा श्रीधर (जंगनामा)ने इसका प्रयोग किया है। सूरकी इस चौपाई—"उमा कहौं मैं तौ नहिं जानी, अरु सिवहूँ मो सो न बखानी" (पद २२६, सभा सं०)के दोनों चरणोंमें चार-चार चौकल होनेसे पादाकुलक है। इसी प्रकार तुलसीकी इस चौपाईके चारों चरणोंमें चौकल है, अतएव इसे पादाकुलक कहा जायगा—"गुरु पद, रज मृदु, मंजुल, अंजन। नयन अमिय दृग, दोष विभंजन" (रा० च० मा०, १ : २)।

भानुने पद पादाकुलकको इसका भेद स्वीकार करते हुए माना है कि इसकी १६ मात्राओंके आदिमें द्विकल (ऽ या ।।) अवश्य रहता है और त्रिकल (।ऽ, ऽ।, ।।।) कदापि नहीं आता, समकल आदिसे अन्ततक चलते हैं। इसकी चाल तोटकवृत्तसे मिलती है। पादाकुलकके समान ही हिन्दीमें इस छन्दरूपका प्रयोग भी हुआ है। इस छन्दमें चौपाई छन्दकी अपेक्षा चंचलता अधिक रहती है। उदा०—"ब्रजमें हरि होरी खेलि रहे, गण ग्वाल अबीरहि मेलि रहे" (भानु : छं० प्र०, पृ० ५१)। —सं०

पादावृत्ति यमक–दे० 'यमक'।

पारख–संत-साधनामें गुरुका बहुत अधिक महत्त्व है। उसीके शब्द बाण (दे० 'हथियार')से बिंधकर साधकको सच्ची सुरति प्राप्त होती है और वैराग्यका उदय हो जानेसे वह परम प्राप्तव्यको पा लेता है। इसी सर्वोच्च सिद्धिके शिखर-पर पहुँचकर संत-साधक पाता है कि—"सुरति समानी निरति में, निरति रही निरधार। सुरति निरति परचा भया तब खुलि गया दुवार" (क० ग्रं० : ति०, पृ० १७०; विशेष स्पष्ट व्याख्याके लिए दे० 'निरति')। इसीलिए गुरुको संतोंने अहेरी, सूरमा, पारख, गारुडी, भेदी, खेवक, ज्ञानप्रकासी और शतरंजकी चाल बतानेवाला कहा है तो कभी चैतन्यकी चौकीपर आसन लगाकर निर्भय-निश्शंक रहनेका उपदेश देनेवाला, शब्दछोलनासे छोलकर ज्ञान मसकला देनेवाला किसलीगर बताया है। कई बार उसे परमेश्वर, या उनसे भी बड़ा कहा है (दे० क० ग्रं० : ति०, पृ० १३७-१४०)। लेकिन गुरुको ये संत जहाँ इतना अधिक मान देते हैं, वहीं उसकी योग्यताके प्रति सचेत भी हैं। अन्धे (ज्ञान-वैराग्य एवं भक्तिसे हीन) गुरुका अनुसरण सदैव कुएँमें गिराता है। कबीरने कहा भी है—"जाका गुरु है आंधरा चेला है जाचंध। अधै अंधा ठेलिया दोन्यू कूप परन्त" (क० ग्रं० : ति०, पृ० १३६)। और यदि गुरु अच्छा मिल जाय तो लोकवेदके साथ अज्ञानान्धारसे भरे मार्गपर चलनेवालेके हाथ राह चलते ज्ञानका दीपक रख देता है, जर्जर बेड़ेको डूबता देख छरककर शिष्य गुरु जैसे बड़े जहाजका सहारा लेकर डूबनेसे बच जाता है (क० ग्रं० : ति०, पृ० १३७)। इस संतगुरुका बाण जब उसके शरीरपर लग जाता है तो शिष्य प्रेम-विरहकी दावाग्निमें झुलस जाता है (वही, पृ० १३९), विरहकी जलनमें गीली लकड़ीकी तरह तिल-तिल जलता और धुँधुआता रहता है (वही; पृ० १४१) और इसी अवस्थामें सुरति निरतिमें समा जाती है। जिन सांसारिक विषयोंके प्रति मन ललकता था, उनसे बेपनाह (निराधार=आधार-हीन, अपार) विरक्ति हो जाती है और सुरति-निरतिके परिचयके इस पुण्यक्षणमें प्रियतमके प्रासादका सिंहद्वार खुल जाता है (वही; पृ० १७०) प्रिय-प्रिया एकमेक हो जाते हैं—शिव और शक्तिकी तरह सदा-सदाके लिए। आवागमनका चक्कर यहीं बन्द हो जाता है। ऐसे गुरुके लिए शिष्यके हृदयमें गोविन्दसे भी अधिक आदरकी जगहका होना नितांत स्वाभाविक है। सन्तोंने अपने गुरुको ऐसा पद दिया है, जो वेदोंमें 'तत्त्वमसि' कहकर ब्रह्म या परमेश्वर-को दिये गये पदसे भी ऊँचा है। यह पद है 'पारखपद'। यही सच्चा पद है, गीताके परमधामसे भी बहुत-बहुत ऊँचा (गीता, ८ : २१)। इसी पारखपदको पानेवाला पारखी कहा जाता है। गुरु इसी चेतन चौकी (क० ग्रं० : ति०, पृ० १३९)पर बैठनेके कारण पारखी कहलाता है। इसी पारख पदपर पहुँचकर जुलाहा कबीर पारख हुआ था (दे० कबीर : हजारीप्रसाद द्विवेदी, वाणी १०३)। —रा० दे० सि०

पारद–रसेश्वर दर्शनमें पारेको शिवका वीर्य और अभ्रकको पार्वतीका रज माना गया है। रसेश्वर दर्शन हठयोगकी 'कालरुद्रीकरण' (दे० 'कालरुद्र') नामक साधनाका भौतिक-रूपमें विकास है। 'सर्वदर्शन संग्रह' पृ० २२४में किसी प्राचीन ग्रन्थसे एक श्लोक उद्धृत किया गया है, जिसके अनुसार पारद और अभ्रकके मेलसे तैयार रसायनको मृत्यु, दारिद्र्य-नाशक बताया गया है। इसके शुद्ध प्रयोगसे अशक्त शरीरवाले भी रससिद्ध होकर मुक्त हो जाते हैं और मन्त्रगण उसके किंकर बन जाते हैं (रस हृदय १ : ७)। 'सर्वदर्शन संग्रह' पृ० २०४ पर पारदकी तीन अवस्थाएँ बतायी गयी हैं—मूर्च्छित, मृत और बद्ध। ये ही प्राणकी भी दशाएँ हैं। शिवने एक बार देवीसे कहा था कि कर्म-योग

द्वारा पिण्ड (शरीर) धारण किया जा सकता है। यह कर्म-योग दो प्रकारका है—रसमूलक तथा वायु (=प्राण)-मूलक। रस और वायु दोनों मूर्च्छित होनेपर व्याधियोंको दूर करते हैं, मृत होने पर जीवन देते हैं और बद्ध होकर अमर बना देते हैं। कबीरदास तथा अन्य सन्तोंने चांचल्य-धर्मी होनेके कारण अनेक स्थलोंपर पारदको मनके उपमान रूपमें अंकित किया है। सिद्धों और नाथोंके साहित्यमें भी यह शब्द उक्त अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। हठयोग प्रदीपिका (४ : ९५)मे पारदको मनके उपमान या सकेतक रूपमे उल्लिखित किया गया है। —रा० दे० सि०

पारमिता—महायानमे ६ प्रकारका पारमिताओंकी साधना-का विधान है। दान, शील, क्षांति (सहनशीलता), वीर्य (आध्यात्मिक शक्ति), ध्यान तथा प्रज्ञा अथवा परमार्थज्ञान। इन छहोंकी साधना **बोधिचित्त**को उत्पन्न करनेके लिए की जाती है। इनमेसे **प्रज्ञापारमिता** अन्तिम है और सबसे महत्त्वपूर्ण है। इसकी साधनाके बाद ही **बोधिचित्तोत्पाद** होता है और उसमें शून्यता, ज्ञान तथा करुणा समन्वित हो जाती है। —भ० वी० भा०

पाराती—प्रातःकालमे जो गीत गाये जाते है, उन्हे 'पाराती' कहते है, इस शब्दकी व्युत्पत्ति 'प्रातः'से है। ग्रामीण स्त्रियाँ किसी पर्व आदिके अवसरपर जब गंगा-स्नान करनेके लिए प्रातःकाल झुण्ड बनाकर जाती है, तब वे समवेत स्वरमे 'पाराती'के गीतोंको गाती जाती है। ये गीत भक्तिप्रधान होते है। इनमे भगवान्, राम, गंगा अथवा किसी अन्य देवताकी स्तुति होती है। भक्तिके रसमे सराबोर इन गीतोंमें भावुक भक्तकी भावनाका उद्गार बड़ी सुन्दर रीतिसे हुआ है। कही तो भगवान् रामकी महिमा गायी गयी है तो कही प्रियतमको रामसे प्रेम करनेका उपदेश दिया गया है। इन गीतोंको 'प्रातकाली' भी कहते है, क्योकि ये प्रातःकालमें ही गाये जाते है। इनमे ग्रामीण जनताकी भक्तिभावनाका चित्रण हुआ है।—कृ० दे० उ०

पारिजातक या पारिजातकला—उपरूपकका एक भेद विशेष। भा० प्र०के अनुसार इसमें एक अंक होता है। संधियोंमे मुख तथा निर्वहण एवं रस शृंगार होता है। नायक देव या क्षत्रियकुलोत्पन्न उदात्त होता है। नायिका कलहान्तरिता, भोगिनी, स्वकीया या गणिका हो सकती है। इन्हें दण्डरासकमें निपुण एवं संख्यामें ४से ८तक होना चाहिए। विदूषकका प्रयोग प्रायः अनावश्यक नही है, किन्तु इसके न होनेसे भी यह दूषित नही होता। उदा० गङ्गतरङ्गिका। —यो० प्र० सि०

पालि (भाषा तथा साहित्य)—पालि शब्दका सम्बन्ध विद्वानोंने 'पंक्ति', 'परियाय', 'पल्लि', 'पाटलिपुत्र' आदिसे बतलाया है, किन्तु इसकी वास्तविक व्युत्पत्ति 'रक्षा करने'के अर्थमें 'पा' धातुसे मानना युक्तियुक्त है। जिसमें बुद्ध-वचनोंकी रक्षा की गयी है, वह पालि है—पा रक्खतीति बुद्धवचनं इति पालि।

पालि भाषा मूलतः किस प्रदेशकी भाषा है, इस सम्बन्धमें भी विद्वानोंमें पर्याप्त मत-भेद है, किन्तु यह निर्विवाद है कि इसमें व्याकरणका ढाँचा मध्यदेशकी भाषाका है। इसमें मगध-प्रदेशकी भाषाके भी अनेक शब्द अवश्य आ गये है।

पालिमे ही तिपिटक (सं० त्रिपिटक)की रचना हुई है। बुद्धके समस्त उपदेश मौखिक थे। उनके शिष्य उन्हे कण्ठस्थ कर लेते थे। इन्हीं उपदेशोंका संकलन त्रिपिटकमें किया गया है। ये सीलोन (लंका)के थेर (स्थविर)वादियोंके मुख्य ग्रन्थ है। परम्पराके अनुसार इनका संकलन तथा संगायन भगवान् बुद्धकी मृत्युके पश्चात् ईसाके ४८३ वर्ष पूर्व राजगह (राजगृह)की प्रथम संगीति (सभा)मे महा-कस्सप (महाकाश्यप)के अधिनायकत्वमें हुआ था। वैशाली-निवासी वज्जिपुत्तक (वृजिपुत्र) भिक्षुओंने विनयके विरुद्ध आचरण आरम्भ किया, अतएव व्यवस्थाके लिए प्रथम संगीतिके सौ वर्ष बाद ही वैशालीमें दूसरी संगीति हुई, जिसमें महास्थविर रैवत तथा सर्वकामी मुख्य थे। तीसरी संगीति अशोक (ई० पू० २६४-२२७)की प्रेरणासे हुई, जिसमें पिटकोंको एक प्रकारसे अन्तिम रूप मिला। इस संगीतिमें ही 'सुत्तपिटक'के उपदिष्ट सिद्धान्तोंके आधारपर 'अभिधम्म' (अभिधर्म) पिटक अस्तित्वमे आया तथा अशोकके गुरु मोग्गलिपुत्ततिस्सने 'कथावत्थुप्पकरण'का संगायन किया। यह तीसरी संगीति इस दृष्टिसे भी महत्त्वपूर्ण है कि इसके प्रस्तावानुसार बौद्ध धर्मके प्रचारके लिए अनेक प्रचारक पडोसके देशोंमे भेजे गये। परम्पराके अनुसार अशोक-पुत्र महिन्द (महेन्द्र) को धर्मप्रचारार्थ सीलोन (लंका) जाना पडा था। वे ही अपने साथ त्रिपिटक भी ले गये थे।

दीर्घ कालतक सीलोनमे त्रिपिटककी मौखिक परम्परा ही चलती रही, किन्तु 'दीपवंस' तथा 'महावंस'के अनुसार वट्टगामिनीके राजत्वकाल (ई० पू० २९-१)में 'अट्ठ (अर्थ) कथाओं' सहित उसे लिपिबद्ध किया गया। समस्त त्रिपिटक मूल बुद्ध-वचन ही है, इसमें विद्वानोंमें मतभेद है। इसमें कुछ गाथाओंके प्रक्षिप्त होनेकी बात तो पुराने आचार्योंने भी स्वीकार की है। किन्तु इसमें मूल बुद्ध-वचन पूर्ण रूपसे सुरक्षित है। सूत्रोंकी शैली अत्यधिक सजीव है तथा प्रत्येक सूत्रके आरम्भमे उस स्थानका नाम भी है, जहाँ भगवान् बुद्धने उसका उपदेश किया था।

त्रिपिटकके अन्तर्गत 'सुत्त', 'विनय' तथा 'अभिधम्म'-पिटक आते है। सुत्त (सूत्र) पिटकमे साधारण बातचीत-के ढंगपर दिये गये भगवान् बुद्धके उपदेशोंका संग्रह है। इसमें सारिपुत्त तथा मोग्गलान आदि द्वारा भी उपदिष्ट कतिपय सूत्र सम्मिलित कर लिये गये है, जिनका अनुमोदन भगवान्ने अन्तमे कर दिया है। सुत्तपिटकके अन्तर्गत निम्नलिखित पाँच निकाय है—१. दीघनिकाय, २. मज्झिम निकाय, ३. संयुत्तनिकाय, ४. अंगुत्तरनिकाय, ५. खुद्दक-निकाय। खुद्दकनिकायमें पन्द्रह ग्रन्थ हैं—१. खुद्दकपाठ, २. धम्मपद, ३. उदान, ४. इतिवुत्तक, ३. सुत्तनिपात, ६. विमानवत्थु, ७. पेतवत्थु ८. थेरगाथा, ९. थेरीगाथा, १०. जातक, ११. निद्देस, १२. पटिसम्भिदामग्ग, १३. अपादान, १४. बुद्धवंस, १५. चरियापिटक।

'सुत्तपिटक'के ग्रन्थोंको पाँच निकायोंमें विभक्त करनेमे सूत्रोंके विषयका नही, अपितु उनके आकार-प्रकारका विचार किया गया है। 'दीघनिकाय'में लम्बे और 'मज्झिम-

निकाय'में मध्यम आकारके सूत्रोंका संग्रह है। 'संयुत्त' तथा 'अंगुत्तरनिकाय' वस्तुतः अन्य निकायोंके पूरक रूप है। ये दोनो 'दीघ' तथा 'मज्झिम' निकायोंमे बडे है। 'खुद्दक-निकाय' छोटे-छोटे सूत्रोंका संग्रह है।

विनयपिटकमें भगवान् बुद्धकी उन शिक्षाओंका संग्रह है, जो उन्होंने समय-समयपर संघ-संचालनको नियमित करनेके लिए दी थी। इस पिटकमे निम्नलिखित विभाग है—(१) सुत्तविभंग—(क) पाराजिक, (ख) पाचित्तिय। (२) खन्धक—(क) महावग्ग, (ख) चुल्लवग्ग, (३) परिवार।

'सुत्तपिटक'के उपदिष्ट सिद्धान्तोंके आधारपर ही वस्तुतः 'अभिधम्मपिटक'का विकास हुआ है। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित सात ग्रन्थोंकी गणना है—(१) धम्मसंगिनि, (२) विभंग, (३) कथावत्थु, (४) पुग्गलपञ्ञत्ति, (५) धातुकथा अथवा धातुकथापकरण, (६) यमक, (७) पट्ठानप्पकरण अथवा महापट्ठान। ये बौद्धधर्मके दर्शनके ग्रन्थ कहे जाते है, किन्तु वे उस रूपमें दर्शन-ग्रन्थ नहीं है, जिस रूपमें ब्राह्मण-दर्शन-ग्रन्थ। बौद्ध-धर्म आत्माके अस्तित्वको स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार मनुष्य चित्त (माइण्ड) और शरीर (मैटर)का संघातमात्र है। शरीर ही रूप कहलाता है और चित्तमें चार आकार है—वेदना (feeling), संज्ञा (conceptual knowledge), संखार (synthetic mental stages), विज्ञान (consciousness)। इन संघातकी अवस्थाओंको ही 'धम्म' कहते है। 'अभिधम्मपिटक'के सर्वाधिक प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण-ग्रन्थ 'धम्मसंगिनि'में इन धर्मोंका पूर्ण विश्लेषण एवं विभाजन किया गया है, जैसे-'कुसलाधम्मा', 'अकुसलाधम्मा','अब्याकताधम्मा' आदि। 'अभिधम्मपिटक'-के शेष छः ग्रन्थोंमे इन्ही धर्मोंके स्वरूप तथा परस्पर सम्बन्ध पर विचार किया गया है। धर्मोंका वर्गीकरण भी चार भागोंमें किया गया है। इस सम्बन्धमें निम्नलिखित गाथा उल्लेखनीय है—"तत्थ वुत्ताभिधम्मत्था चतुधा परमत्थतो। चित्तं चेतसिकं, रूपं, निब्बानमिति सब्बथा", अर्थात् परमार्थकी दृष्टिसे अभिधर्मके चार विषय बतलाये गये है—१. (किसी वस्तुका जाननेवाला) चित्त, २. (चित्तसे संयुक्त रहनेवाला) चैतसिक, ३. (विकार स्वभाववाला) रूप और ४. (तृष्णासे विमुक्त) निर्वाण।

त्रिपिटकेतर साहित्यके दो युग—प्रथम युग और द्वितीय युग किये जा सकते है।

प्रथम युगकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचना 'मिलिन्दपञ्हो' (मिलिन्दप्रश्न) है। इसमे राजा मिलिन्द तथा भिक्षु नागसेनके प्रश्नोत्तर है। इस ग्रन्थकी गणना त्रिपिटकके अन्तर्गत नही है फिर भी इसकी प्रामाणिकता उससे कम नही मानी जाती। अट्ठकथाचार्य बुद्धघोषतकने कई बातोंको पुष्ट करनेके लिए स्थान-स्थानपर 'मिलिन्दप्रश्न'का प्रमाण दिया है। यह ग्रन्थ पूर्ण रूपसे स्थविरवादी दृष्टिकोण-का प्रतिनिधि है और बौद्ध जनतामें इसका आदर है। यहाँ मिलिन्दसे तात्पर्य बैक्ट्रियाके राजा मिनाण्डरसे है। 'मिलिन्दप्रश्न'के सम्बन्धमें सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि इसके प्रणेताका नाम अभीतक ज्ञात नही। इस ग्रन्थकी शैली पालिकी अपेक्षा संस्कृतके अधिक निकट है।

पालिमें त्रिपिटकेतर-साहित्यका दूसरा युग ५वीसे ११वीं शताब्दीतक माना जाता है। इस द्वितीय युगका आरम्भ त्रिपिटककी अट्ठकथाओं (अर्थकथाओं)मे होता है। पालि अट्ठकथाओंका आधार प्राचीन सिंहलीमें लिखित अट्ठकथाएँ है। इस अट्ठकथा-साहित्यके प्रणेता आचार्य बुद्धघोष बतलाये जाते है, जिनका समय ईसाकी पाँचवीं शताब्दी निश्चित है। बुद्धघोषने निम्नलिखित अट्ठकथाएँ लिखीं—१. विनयपिटक—(क) समन्तपासादिका—विनयपिटककी अट्ठकथा, (ख) कंखावितरणी—पातिमोक्खकी अट्ठकथा। २. सुत्तपिटक—(ग) सुमंगलविलासिनी—दीघनिकायकी अट्ठकथा, (घ) पपंचसूदनी—मज्झिम-निकायकी अट्ठकथा, (ङ) सारत्थपकासिनी—संयुक्त-निकायकी अट्ठकथा, (च) मनोरथपूरणी—अंगुत्तर-निकायकी अट्ठकथा (छ), परमत्थजोतिका—खुद्दकनिकायके खुद्दकपाठ तथा सुत्त-निपातकी अट्ठकथा। ३—अभिधम्म पिटक—(ज) अट्ठसालिनी—धम्मसंगिनीकी अट्ठकथा, (झ) सम्मोहविनोदिनी-विभंगकी अट्ठकथा, (ञ) पपंचप्पकरण-कथा—अभिधम्मपिटककी 'धातुकथा', 'पुग्गलपञ्ञत्ति', 'कथावत्थु', 'यमक' तथा 'पट्ठानप्पकरण'की अट्ठकथा।

अट्ठकथाओंके अतिरिक्त बुद्धघोषकी सर्वाधिक प्रसिद्ध कृति 'विसुद्धिमग्ग' (विशुद्धिमार्ग)। इसमे बौद्धधर्मके सिद्धान्तोंका स्पष्टीकरण किया गया है। यदि इसे बौद्ध-सिद्धान्तोंका कोश कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। यह निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता कि 'जातकट्ठकथा'-(जातककी अर्थकथा)के प्रणेता भी आचार्य बुद्धघोष ही है।

बुद्धघोषके साथ-साथ बुद्धदत्तका भी उल्लेख आवश्यक है। परम्परानुसार ये बुद्धघोषके समकालीन थे। कहा जाता है कि इन्होंने 'बुद्धवंस'पर 'मधुरत्थविलासिनी' अथवा 'मधुरत्थपकासिनी' नामक अट्ठकथाकी रचना की थी। इनकी अन्य अनेक रचनाएँ भी कही जाती है।

बुद्धदत्तके बाद आनन्दका नाम आता है। ये भारतीय थे और 'मूलटीका' तथा 'अभिधम्मटीका'के रचयिता थे। धम्मपालकी 'परमत्थदीपनी' टीका और उनके अन्य ग्रन्थ भी उल्लेखनीय है। बुद्धघोषके पश्चात् धम्मपाल ही पालि-साहित्यके सर्वाधिक प्रसिद्ध टीकाकार है। बहुत सम्भव है कि धम्मपाल नामके अन्य टीकाकार भी हुए हो और उनकी कृतियाँ विख्यात टीकाकार धम्मपालके नामसे ही प्रचलित हो गयी हों। धम्मपालका समय भी विवाद-ग्रस्त है।

पालि साहित्यके प्राचीन टीकाकारोंकी सूचीमें चुल्ल-धम्मपाल, उपसेन महानाम, कस्सप, वजिरबुद्धि, खेम, अनुरुद्ध आदि अन्य नाम भी गिनाने योग्य है।

विनयपिटक सम्बन्धी दो और ग्रन्थोंका उल्लेख भी आवश्यक है। ये है—धम्मसिरिकृत 'खुद्दसिक्खा' तथा महासामिन द्वारा रचित 'मूलसिक्खा'। इनमें भिक्षुओंके लिए संघ-सम्बन्धी नियमोंके संग्रह है और कण्ठाग्र करनेके लिए पद्य-बद्ध किये गये हैं। इनकी भाषा तथा शैलीसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये रचनाएँ ग्यारहवीं शताब्दीके पूर्वकी नही है।

पालि साहित्यमे 'दीपवंस' तथा 'महावंस' इतिहास

सम्बन्धी ग्रन्थ हैं। ये दोनों वस्तुतः सिंहलके इतिहास हैं। इन दोनोंके विषय भी एक ही हैं। दोनोंमें केवल विषयकी ही समानता नहीं है, बल्कि दोनोंका वर्णन-क्रम भी एक ही है। 'महावंस' 'दीपवंस'के पीछेकी रचना है, परन्तु काव्यकी दृष्टिसे 'दीपवंस' जहाँ नीरस और शुष्क है, वहाँ 'महावंस' एक सरस तथा श्रेष्ठ महाकाव्य है।

त्रिपिटक साहित्य विशाल है। वर्मी, सिंहली, स्यामी तथा रोमन लिपियोंमें मूल त्रिपिटक प्रकाशित हो चुका है, किन्तु नागराक्षरोंमें यह उपलब्ध नहीं है। इधर जबसे कलकत्ता तथा सारनाथमें बौद्ध विहार बने और भारतके कतिपय निवासियोंने भी बौद्धधर्मकी दीक्षा ली, तबसे मूल त्रिपिटक और उसके अनुवादको हिन्दीमें प्रकाशित करनेका प्रश्न स्वाभाविक रूपमें उनके सामने आया। ऐसे लोगोंमें राहुल सांकृत्यायन अग्रणी हैं। सर्वप्रथम आपने 'सुत्तपिटक'के दो निकायों—मज्झिम तथा दीघ—एवं विनयपिटकका हिन्दी अनुवाद महाबोधि सभा, सारनाथसे प्रकाशित किया। इसके अनन्तर वर्माके भिक्षु उत्तमकी सहायतासे आपने 'खुद्दकनिकाय'के ग्यारह ग्रन्थोंको मूल रूपमें भी प्रकाशित किया। राहुलके मार्गका अनुसरण भदन्त आनन्द कौसल्यायनने किया। आपने 'जातक'का हिन्दी अनुवाद लगभग छः खण्डोंमें हिन्दी साहित्य सम्मेलनसे प्रकाशित किया। अभीतक यह कार्य पूरा नहीं हो सका है। इधर राष्ट्रीय महत्त्वकी दृष्टिसे त्रिपिटकको नागराक्षरोंमें प्रकाशित करनेका भार भारतीय सरकारने अपने ऊपर ले लिया है। यह कार्य 'नालन्दा पालि इंस्टीच्यूट'के अवैतनिक डाइरेक्टर त्रिपिटकाचार्य भिक्षु जगदीश काश्यपके तत्त्वावधानमें चल रहा है। —उ० ना० ति०

पाशुपत–(पशुपति+अण्) वैसे यजुर्वेदके 'पशूनांपतिः'से लेकर 'महाभारत'तक शिवका पशुपतिरूपमें वर्णन और पाशुपत सम्प्रदायका संकेत मिलता है, पर ईसाकी आरंभिक शताब्दीमें कुषाणयुगमें पाशुपत सम्प्रदायके महाचार्य लकुलीशका प्रादुर्भाव हुआ है। इनका मत माधवके 'सर्वदर्शन-संग्रह'में नकुलीश पाशुपतके नामसे उद्धृत है। लकुलीश श्रीकण्ठके शिष्य और महेश्वरके अन्तिम अवतार कहे जाते हैं और वे हमेशा शिवलिंगके साथ ही शिल्प आदिमें द्योतित कहे जाते हैं। लकुलीशके आचार्य सम्प्रदायके प्रवर्तनका व्यापक प्रभाव तमिल शैवोंपर पड़ा और इसीकी शाखाके रूपमें **कापालिक, कालमुख** और भैरव, वीर शैव, **रसेश्वर** आदि सम्प्रदाय विकसित हुए। इस पाशुपत सम्प्रदायको शाक्त मतसे जोड़नेका काम सोमसिद्धान्तने किया। तमिल शैव मतका सबसे प्रमाणित ग्रन्थ मेयकण्डारकृत 'शैवज्ञानबोधम्' है, जो १२ सूत्रोंमें पाशुपत मतको व्यक्त करता है। तीन ही सत्ताएँ हैं—पशुपति, पाश और पशु। इन तीनोंमें परस्पर सम्बन्ध है, पशुका पाशसे मुक्त होनेका उपाय है और इस मोक्षका विशिष्ट स्वरूप है। इस मतका विस्तार बृहत्तर भारतमें हुआ। फाह्यानने जावामें इसकी उपस्थितिका उल्लेख किया है। कम्बोज और चम्पामें भी इसका विस्तार मिलता है। वैसे 'अथर्वशिरः' और 'कैवल्य' उपनिषदोंमें भी इस सिद्धान्तकी विवेचना है। मोहनजोदड़ोके योगीकी मूर्तिको भी पाशुपतकी कल्पनामें जोड़ते हैं। —वि० नि० मि०

पिंगल–छन्द-शास्त्रका प्रचलित पर्याय। पिंगल नामक एक प्राचीन आचार्य द्वारा विरचित 'छन्दःसूत्र' ग्रन्थ छन्द-शास्त्रका आदि ग्रन्थ माना जाता है और पिंगलाचार्य आदि आचार्य। ए० बी० कीथने अपने संस्कृत साहित्यके इतिहासमें इनका सम्भावित समय ई० पू० २०० निर्धारित किया है। कालान्तरमें छन्द-शास्त्र अपने आदि आचार्यके नामसे ही अभिहित किया जाने लगा और पिंगल शब्द उसका समानार्थी हो गया। 'प्राकृतपैंगलम्' नामक प्राकृत छन्दोंसे सम्बद्ध शास्त्र-ग्रन्थ मंगलाचरणमें पिंगलाचार्यकी वन्दना करता है। बादके छन्द-ग्रन्थोंमें भी इसी प्रकार मंगलाचरणोंमें पिंगलाचार्यका स्मरण सादर किया जाता रहा।

जगन्नाथप्रसाद 'भानु'के 'छन्दःप्रभाकर'में भी परम्पराका अनुसरण करते हुए लिखा है "जय पिंगल गुरुराय, कर्ता छन्द प्रबन्धके। तुव चरणनि चित लाय, छन्द प्रभाकर कहतु हौं"। इतना ही नहीं, अन्तमें 'आरती' भी दे दी गयी है "जै जै जै पिंगल गुरुराया। सन्तत मोपर कीजिय दाया"।

इस विषयमें 'भुजंगप्रयात' छन्दको श्लेषार्थपर आधारित एक कथा भी प्रचलित है, जिससे शेषनाग आत्मरक्षाके लिए गरुडको छन्द-शास्त्र सुनाते हैं और बादमें 'भुजंगप्रयात' कहते-कहते जलमग्न होकर गरुड़के आतंकसे मुक्ति पाते हैं। पौराणिक पद्धतिसे कल्पित की गयी इस कथासे पिंगलाचार्य या पिंगलशास्त्रकी स्थितिपर कोई प्रकाश नहीं पड़ता वरन् स्थिति और भी अस्पष्ट हो जाती है। —ज० गु०

पिंगलकाव्य–'पिंगल' पहले 'छन्दःसूत्रों'के रचयिता आचार्यका नाम था, जिन्हें नाग भी कहा गया है। पीछे छन्द-सूत्रों और उन सूत्रोंपर आधारित छन्द-शास्त्रको ही 'पिंगल' कहा गया। ये छन्द-ग्रन्थ प्रायः संस्कृतमें प्रयुक्त वृत्तोंका ही निरूपण करते थे, केवल कुछ बहुप्रचलित प्राकृत वृत्तोंके भी लक्षणादि दे दिया करते थे। किन्तु कालान्तरमें प्राकृत-अपभ्रंशके छन्दोंके एक स्वतन्त्र लक्षण-ग्रन्थ भी बने और उनमेंसे अन्तिम या अन्तिमप्राय 'प्राकृतपिंगल' या 'प्राकृतपैंगल' था। इसके रचयिता भी पिंगल या नाग ही कहे गये हैं, किन्तु यह रचना चौदहवीं शती ईस्वी पूर्वकी नहीं है, क्योंकि इसमें रणथम्भौरके हम्मीर तथा मिथिलाके चण्डेश्वर तकके सम्बन्धके छन्द उदाहरणोंमें आते हैं।

'पिंगल' शब्दका प्रयोग भाषाके लिए कबसे प्रारम्भ हुआ, इसका निश्चयपूर्वक कथन कठिन है। किन्तु सत्रहवीं शतीसे उन्नीसवीं शती विक्रमीयतक पिंगल या उसके समानार्थी 'नाग' भाषाके उल्लेख मिलते हैं। सत्रहवीं शती विक्रमीयमें लिखते हुए मिर्जा खाँने अपने ब्रजभाषा-व्याकरण 'तुहफतुलहिन्द'में 'नागबानी'का उल्लेख किया है, अठारहवीं शती विक्रमीयमें आचार्य भिखारीदासने 'नागभाषा'का उल्लेख किया है। पुनः अठारहवीं विक्रमीयमें गुरु गोविन्द सिंहने और उन्नीसवीं शती विक्रमीयमें बाँकीदास, बुधाजी तथा सूरजमल आदि अनेक राजस्थानी कवियोंने पिंगल' भाषाका उल्लेख किया है। प्रश्न यह है कि 'पिंगल' भाषासे इन लेखकोंका क्या अभिप्राय है।

गुरु गोविन्द सिंह तथा राजस्थानके कवियोंने जिसे

'पिंगल' कहा है, वह तो ब्रजभाषा ही है, किन्तु मिर्जा खाँ तथा आचार्य भिखारीदासने जिसे 'नागबानी' या 'नागभाषा' कहा है, वह कदाचित् सामान्य ब्रजभाषासे भिन्न है। भिखारीदासने तो 'ब्रज' भाषाके साथ-साथ 'नागभाषा' का नाम लिया है। अतः कुछ विद्वानोका विचार है कि 'पिंगल' उस देशी प्राकृतको कहते थे, जिसके उदाहरण 'प्राकृत-पिंगल' या 'प्राकृतपैंगल'में मिलते है। इसके विरोधमे यह कहा जा सकता है कि 'प्राकृतपिंगल' अथवा 'प्राकृतपैंगल' नाममें 'पिंगल' अथवा 'पैंगल' शब्द पिंगल (आचार्य)की कृतिके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, 'पिंगल' भाषाके अर्थमें नही। भाषाके लिए तो रचनाके नाममें 'प्राकृत' शब्द ही है। दूसरे, यह भी कि 'प्राकृतपिंगल'में किसी एक प्रदेशकी देश्य प्राकृत नही है, उसमे जहाँ एक ओर राजस्थानकी देशी प्राकृतके रूप है, वहाँ मिथिलाकी भी देशी प्राकृतके रूप मिल जायँगे। फिर भी यह असम्भव नही है कि आधुनिक आर्यभाषाओंके साहित्यक्षेत्रमें पूर्ण रूपसे प्रतिष्ठित होनेके पूर्व जब अपभ्रंश बोलचालकी भाषा नही रह गयी थी, एक मध्यवर्ती देश्य प्राकृत काव्य-भाषाके रूपमें व्यापक रूपसे व्यवहृत होने लगी हो और पीछे काव्य-भाषा होनेके नाते यही 'पिंगल' नामसे कही जाने लगी हो, भले ही 'प्राकृतपिंगल' नाममें 'पिंगल' भिन्न अर्थमें प्रयुक्त हुआ हो। शौरसेनी प्राकृत और अपभ्रंश पूर्वसे काव्य-भाषाएँ रह चुकी थी, इसलिए शौरसेनी देश्य प्राकृत और तदनन्तर ब्रजप्रदेशसे बाहर काव्यक्षेत्रमें उसकी उत्तराधिकारिणी 'ब्रजभाषा'को यदि 'पिंगल' कहा गया हो, तो कुछ अनहोनी बात नही है।

काव्यक्षेत्रमें 'पिंगल'का स्थान 'ब्रजभाषा'ने कब ग्रहण किया, इस सम्बन्धमे नितान्त निश्चयपूर्वक कहना कठिन है, किन्तु कृष्णभक्ति आन्दोलनके जड़ पकड़नेके पूर्व ब्रजकी जनभाषाको साहित्यिक या काव्यभाषाका पद प्राप्त हुआ होगा, इसकी सम्भावना बहुत कम है। यह कृष्णभक्ति-आन्दोलन १४९३ ई०के लगभग जड़ पकड़ता है, इसलिए ब्रजप्रदेशके साहित्यमें 'पिंगल'के स्थान रिक्त करनेका समय भी १४९३ ई०के लगभग माना जा सकता है। ब्रजप्रदेश और कृष्णभक्ति-साहित्यके बाहर 'पिंगल'का स्थान बोलचालकी 'ब्रजभाषा'को मिलनेमें कुछ और समय लगा होगा, इसलिए वहाँ उसकी अवधि १५४३ ई०के लगभग मानी जा सकती है। १५४३ ई०के बादकी तथाकथित 'पिंगल'की रचनाएँ वास्तवमें 'ब्रजभाषा'की ही रचनाएँ अथवा कभी-कभी 'पिंगलाभास'की रचनाएँ है और इनकी गणना 'ब्रजभाषा' साहित्यके अन्तर्गत होनी चाहिए। राजस्थानमें 'पिंगल'की जो रचनाएँ निश्चित रूपसे इस तिथिके बादकी मिलती हैं और ऐसी रचनाएँ कई सौ कही गयी हैं (दे० मोतीलाल मेनारिया-लिखित 'राजस्थानका पिंगल साहित्य'), वे प्रायः ब्रजभाषामे ही है। उनमेंसे कुछमें राजस्थानीका कुछ पुट अवश्य मिल जाता है, किन्तु यह उसी प्रकार है, जैसे अवधी या बुन्देली क्षेत्रोकी ब्रजभाषाकी रचनाओंमें कभी-कभी अवधी या बुन्देलीके तत्त्व मिल जाते है। नाभादास, जसवन्त सिंह, बिहारी, प्रियादास, नागरीदास, वृन्दावनदास, पद्माकर और अम्बिकादत्तको 'पिंगल' भाषाके कवि, राजस्थानमे उस समय 'पिंगल भाषा'से जो अर्थ लिया जाता था, उस दृष्टिमे भले ही कहा जाये, जैसा मेनारियाने कहा है, किन्तु यह बहुत उचित नही जँचता है और इसलिए पिंगल काव्य-परम्परामे यहाँ उनका उल्लेख करना भी उचित न होगा।

१. 'प्राकृतपिंगल' अथवा 'प्राकृतपैंगल' (१४वी शती ई०), जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है, इस परम्पराकी प्राचीन रचनाओंके परिचयके लिए सबसे उत्कृष्ट साधन है। इसमे उस भाषाके ऐसे अनेक कवियोंकी रचनाएँ विविध छन्दोंके उदाहरणके रूपमें संकलित हैं, जिनकी रचनाएँ हमें अन्य प्रकारसे अथवा अन्यत्र प्राप्त नहीं है। खेदका विषय है कि इस ग्रन्थका अध्ययन अभीतक इस दृष्टिसे नहीं किया गया है।

२. 'पृथ्वीराजरासो' (१४वी शती ई०)—इसका रचयिता अपनेको चन्द कहता है और पृथ्वीराजका आश्रित कवि बताता है। इसीलिए यह रचना पृथ्वीराजकी समकालीन और तेरहवी शताब्दीकी भी मानी गयी है। किन्तु अभीतक इसके जितने भी पाठ प्राप्त हुए हैं, उनमे अनैतिहासिकता इतनी है कि पृथ्वीराजकी समकालीन रचना यह नहीं मानी जा सकती है। फिर भी इसका कोई-न-कोई रूप १४ वीं शती ई० तक निर्मित हो चुका था, यह इस बातसे प्रमाणित है कि चन्दके दो छप्पय जो वर्तमान 'पृथ्वीराजरासो'में भी है, एक पुराने जैन प्रबन्ध-संग्रहमें 'पृथ्वीराज प्रबन्ध'के अन्तर्गत मिलते है और इस प्रबन्ध-संग्रहकी एक प्रतिलिपि १४७१ ई०की है।

३. इसी प्रकार उक्त प्राचीन जैन प्रबन्ध-संग्रहमें जल्हरचित दो छन्द 'जयचन्द-प्रबन्ध'के अन्तर्गत प्राप्त हुए हैं और इनमेसे एक वर्तमान 'पृथ्वीराजरासो'मे चन्दके नामसे संकलित है। असम्भव नही कि 'पृथ्वीराजरासो' जैसी कोई रचना जयचन्दके चरितसे सम्बन्धित भी रही हो, जिसका रचयिता अथवा चन्दकी भाँति तथाकथित रचयिता जल्ह रहा हो और यह भी असम्भव नहीं है कि उस एक छन्दकी भाँति, जो चन्दके नामसे 'पृथ्वीराजरासो'के वर्तमान संस्करणमे पाया जाता है, कुछ अन्य छन्द भी उस कृतिके वर्तमान 'पृथ्वीराजरासो'के इस पाठमे ले लिये गये हों। इस जल्हका समय फलतः यदि उपर्युक्त चन्दके आस-पास हो तो कुछ आश्चर्य नही।

४. 'बुद्धिरासो' (१४वी-१५वी शती ई०); इसका रचयिता भी जल्ह है और यह जल्ह रचनाकी भाषा आदिकी दृष्टिसे जयचन्दविषयक उपर्युक्त छन्दोके रचयिता जल्हसे भिन्न होगा, ऐसा माननेका कोई कारण नही है। यह रचना एक कल्पित प्रेमकथा है, जिसमें एक राजकुमार जलधितरंगिनी नामक एक सुन्दरीसे प्रेम करने लगता है और उसको लेकर समुद्रतटपर रहने लगता है। कुछ समय पश्चात् वह किसी कार्यवश बाहर जाता है और अवधि समाप्त होनेपर भी नहीं लौटता है। ऐसी दशामे नायिका बहुत व्यथित होती है। उसकी माता इस प्रसंगमे यौवन और विलास-वैभवकी महत्ता प्रतिपादित कर उसे उसके प्रेमपथसे विरत करना चाहती है, किन्तु नायिका उससे सहमत नहीं होती है। इतनेमें ही नायक वापस आ जाता है और

नायक-नायिका पुनः सुखके साथ जीवन व्यतीत करने लगते है।

५. 'छिताई वार्ता' (१६वीं शती ईस्वी)—वर्तमान रूपमे यह दो लेखकोंकी कृति है—नारायणदास तथा रत्नरंगकी। मूलतः यह नारायणदासकी रचना थी, जिसमें रत्नरगने कुछ और विस्तार किया, ऐसा प्रस्तुत रचनाके एक उल्लेख-से प्रकट है। इसमें अलाउद्दीनके द्वारा देवगिरिके यादव राजा रामदेवकी कन्या छिताईके अपहरणकी कथा है। अलाउद्दीनके समसामयिक इतिहासलेखक इसामीने लिखा है कि सन्धि करके रामदेवने अपनी कन्या छिताई अलाउद्दीनको दे दी थी। इसलिए यह रचना इतिहासके एक तथ्यपर आधारित है। यह अवश्य है कि इस रचनामे छिताईका विवाह पहले ही समरसी नामक जिस राजकुमारसे हो चुका था, वह उसे अलाउद्दीनसे अपने संगीत-कौशलमे मुग्ध कर पुनः प्राप्त कर लेता है, जब कि इसामी-के अनुसार छिताई अलाउद्दीनके हरममें रहती है और अलाउद्दीनकी मृत्युके अनन्तर उसका अल्पवयस्क पुत्र कुछ समयके लिए गद्दीपर बैठता है और उस समय छिताई राजमाताके रूपमे उसकी अभिभाविका होती है। यह ऐतिहासिक कहानी अनेक दृष्टियोंसे महत्त्वकी है। पूरी कथा चउपईमें कही गयी है, केवल बीच-बीचमे इने-गिने स्थलोंपर वस्तुबन्ध तथा दोहा आदि दो-तीन अन्य छन्द भी प्रयुक्त हुए है। कथा-विकासकी दृष्टिसे यह पूर्णतः भारतीय परम्परा-में आती है। भाषाकी दृष्टिसे यह ऊपर आयी हुई पिगल-रचनाओंका अनुसरण करती है।

६. 'मधुमालतीकथा' (१४४३ ई०के लगभग)—इसके रचयिता चतुर्भुजदास निगम है। १५५३ ई०के लगभग इस रचनामें भी उसी प्रकार किन्ही माधव शर्माने कुछ सुधार किया, जिस प्रकार उपर्युक्त 'छिताई वार्ता'में रत्नरंग-ने किया, यह उसकी एक प्रतिके पाठसे ज्ञात होता है। किन्तु अन्य प्रतियोंका पाठ अन्य प्रकारसे और अन्य व्यक्तियो द्वारा अज्ञात रूपसे प्रक्षिप्त हुआ है। इसलिए यह रचना बहुत-कुछ अपने मूल रूपमे पुनर्निर्मितकी जा सकती है। यह रचना भी उपर्युक्त 'छिताई वार्ता'की भाँति महत्त्व-की है। उपर्युक्त 'बुद्धिरासो'की भाँति इसमें भी एक कल्पित प्रेमकथा है। उपर्युक्त 'छिताई वार्ता'की भाँति यह भी चउपई छन्दमें कही गयी है, किन्तु दोहा तथा सोरठा छन्द भी इसमें बहुतायतसे मिलते है। इस प्रेमकथाकी परम्परा भी सर्वथा भारतीय है।

उपर्युक्त रचनाओंके अतिरिक्त और भी अनेक रचनाएँ इस काव्य-परम्परामें रची गयी होंगी। बहुत-सी रचनाओं-की भाषा समयके प्रवाहमे बदल गयी, इसलिए कभी-कभी पुरानी तिथियाँ उनमें मिलती भी है तो उनकी प्राचीनता-पर विश्वास नही होता है। कुछ इसी प्रकार बादके प्रक्षेपों-के कारण ऐसी विकृत हो गयी है कि आधुनिक लगती है। कुछमें रचना-तिथियाँ नही दी हुई है और प्राप्त प्रतियोंकी तिथियोंके आसपास बिना पर्याप्त कारणके उनकी रचना-तिथियाँ मान ली गयी है और अनेक रचनाएँ तो अभी विस्मृतिके गर्भमें विलीन हैं, क्योंकि उन्हें किसी प्रकारका राजाश्रय अथवा सम्प्रदायाश्रय नही मिला।—मा० प्र० गु०

पिंगला—दे० 'हठयोग'।

पिंड—तन्त्र और योग-पद्धतियोंमे पिण्ड या मनुष्यके शरीर-को वस्तुतः ब्रह्माण्डका ही प्रतिरूप माना गया है, अतः प्रतीक रूपमें समस्त नदियाँ, पर्वत, आकाश, नक्षत्र आदिकी स्थिति भी शरीरके अन्दर मानी गयी है। यही नहीं, वरन् इसीलिए सिद्धोंसे लेकर सन्तोंतकने यह बार-बार घोषित किया है कि काया या पिण्डके अन्दर ही सारे तीर्थ है, सारी पवित्र नदियाँ है, सारे नक्षत्र है। **इड़ा (ललना)**को **गंगा**, **पिंगला (रसना)**को **यमुना** मानकर **सुषुम्ना** (अवधूतिका)को सरस्वती माना गया और ब्रह्मरन्ध्रमें उनके संगम-स्थल प्रयागकी परिकल्पना की गयी। तालुमूलमे **चन्द्रमा**की स्थिति मानी गयी और नाभिमूलमे **सूर्य**की और यह बताया गया है कि तालुमूलस्थ चन्द्रमासे झरनेवाला अमृत नाभि-मूलस्थ सूर्य सोखता रहता है, जबतक योगी उसे श्वास निरुद्ध कर रोक न दे। इसी प्रकार पिण्डमे ही कैलास, मानसरोवर आदिकी कल्पना की गयी। तात्पर्य यह था कि बाह्यस्थित संसार तो मिथ्या है, माया-जन्य है, वास्तविक संसार तो शरीरके अन्दर है। साधक उसपर विजय प्राप्त करे, तभी वह परमतत्त्वकी प्राप्ति कर सकता है। (दे०—'देहस्थ पीठ')। —ध० वी० भा०

पिड़िया—पिडियाका व्रत कार्त्तिक शुक्ल प्रतिपद्से आरम्भ होकर अगहन शुक्ल प्रतिपद्—पूरे एक मासतक किया जाता है। कार्त्तिक शुक्ल प्रतिपद्के दिन 'गोधन'की, जो गोबरकी मूर्ति बनाकर, पूजाकी जाती है, उसी गोबरमेसे थोड़ा-सा अंश लेकर कुँवारी लड़कियाँ 'पिड़िया' लगाती है। घरकी किसी दीवारपर गोबरकी छोटी-छोटी सैकड़ों मनुष्यकी आकृतियाँ बनायी जाती है। इसके साथ ही आटेको पानीमें घोलकर ऐपनके द्वारा दीवारपर चित्रकर्म भी किया जाता है। इस समस्त प्रक्रियाको 'पिड़िया लगाना' कहते हैं। 'पिड़िया' शब्दकी निरुक्ति 'पिण्ड'से है। जिसमें लघुवाची 'इया' प्रत्यय जोड़ा गया है। अतः 'पिड़िया' गोबरके उन छोटे-छोटे गोल पिण्डोको कहते है, जो दिवालपर लड़कियो द्वारा चिपकाये जाते है।

केवल कुँवारी कन्याएँ ही इस व्रतको अपने प्रिय भाईकी मंगलकामनाके लिए किया करती है। वे प्रतिदिन प्रातः-काल पिड़ियाकी कथा सुनती है। इसके बाद ही वे भोजन कर सकती है, अन्यथा नही। अगहन शुक्ल प्रतिपदको पूरे एक मासके पश्चात् इस व्रतकी समाप्ति होती है। इस दिन लड़कियाँ नये चावल तथा गुड़की बनी हुई खीर, जिसे 'रसिआव' कहते है, खाती है। इसके दूसरे दिन गोबरके उन पिण्डोंको किसी नदीमें प्रवाहित कर दिया जाता है।

पिड़ियाके गीतोंमें भाई और बहिनके अकृत्रिम तथा अलौकिक प्रेमका वर्णन पाया जाता है। "तोहरी बधइया भइया पिडिया बरतिया हो" इस पंक्तिमे बहिनका भ्रातृस्नेह झलकता है। कही-कहीं पिड़ियाके व्रत किये जानेवाले विविध विधानोंका उल्लेख इनमें उपलब्ध होता है। ये गीत भाई और बहनके आदर्श प्रेमकी सूचना देते है। —कृ० दे० उ०

पिटक—[पिट् (भ्वादि) शब्दसंघातयोः+क्वुन् (उणादि)

—पेटति शब्दं करोति सर्व समाहरति इति]—(क) साधारण अर्थ—१. विस्फोट, फोड़ा। २. पिटारी, पेटी, मंजूषा, टोकरी। (ख) विशेष अर्थ—१. पालि आगमोंके तीन भेद–'विनयपिटक', जिसमें बौद्ध श्रमणो तथा भिक्षुओंके संघके विनय, अर्थात् अनुशासन—आचार सम्बन्धी नियम दिये गये है। 'सुत्तपिटक', जिसमे धम्म (धर्म), अर्थात् बौद्ध-सिद्धान्तोंका भगवान् बुद्धके सूक्तों (जिससे पालिका 'सुत्त' शब्द निकलता है)—सदवचनो द्वारा निरूपण किया गया है एवं 'अभिधम्मपिटक' जिसमें अभिधम्म अर्थात् अधिक धर्म (अतिरिक्त सिद्धान्तों अथवा पूरक उपदेशों)का निरूपण किया गया है। इसीलिए ये पालि पिटक 'त्रिपिटक' कहलाते है। प्रथमके **पातिमोक्ख, खन्धक** तथा **परिवार** नामक तीन भाग है। द्वितीयके **दीघ, मज्झिम, संयुत्त, अंगुत्तर** तथा **खुद्दक** नामक पॉच भाग है। ये निकाय कहे जाते है। तृतीयके **धम्मसंगनी, विभंग, धातुकथा, पुग्गलपञ्ञत्ति, कथावत्थु, यमक** एवं **पट्ठान** नामक सात भाग है। —आ० प्र० मि०

पितृप्रधान समाज (patriarchal society)–पितृप्रधान समाजका निर्माण मातृसत्ताक व्यवस्थाके बाद हुआ। कालके प्रभावसे नारीकी शारीरिक अवस्था दुर्बल हो गयी और पुरुप धीरे-धीरे शक्ति-संचय करता गया और एक दिन वह परिवारका स्वामी बन बैठा। अब कुटुम्बकी व्यवस्था बदल गयी। उसका नेता पुरुप और पिता था और उसीका नेतृत्व कुटुम्बपर चलने लगा। जो स्थिति कुल-परिवारमें पहले नारी या माताकी रही थी, वही अब पुरुप या पिताकी हुई। चल-अचल धन-सम्पत्तिकी दाद या विरसात भी अब मातासे कन्या या पुत्रीकी जगह पितासे पुत्रकी ओर प्रवहमान हुई। अब ब्याहकर नारी पुरुपके परिवार में आने लगी, इसी व्यवस्थाका नाम पितृ-सत्ताक समाज पडा। —भ० श० उ०

पिपीलिका-मार्ग–योगकी साधनामें दो मार्गोंकी चर्चा है—१. पिपीलिका, २. विहंगम-मार्ग। प्राणायाम द्वारा षट्चक्रोको बेधकर धीरे-धीरे योगी लोग प्राणोंको ब्रह्माण्डमें चढाते है। पिपीलिका-मार्गके साधक क्रमशः आगे बढते है और विहंगम-मार्गके साधक (जिस प्रकार पक्षी एक वृक्षसे उड़कर दूसरे वृक्षपर थोड़े ही परिश्रमसे जा बैठता है) बिना अधिक काया-क्लेशके अपने मूल स्थानपर पहुँच जाते है। इसलिए पिपीलिका-मार्गको लोगोंने बहुत उत्तम नही माना है—"पॉव न टिकै पिपीलिका राई ना ठहराय। तहॉ कबीरा घर किया पल आवै पल जाय॥" (कबीर साखी-संग्रह)। —उ० शं० शा०

पिहित–रुद्रटके अनुसार अतिशय-वर्गका अर्थालंकार। यद्यपि मम्मट तथा रुय्यकने मीलित अलंकारका उल्लेख किया और पिहितका नही, रुद्रटने पिहित अलंकारका महत्त्व समझा। उनके अनुसार (का० अ० : ९ : ५०) एक ही अधिकरणका कोई गुण अपने गौरवसे, असदृश अन्याविर्भूत गुणका आच्छादन कर ले तो पिहित अलंकार होता है। यहॉपर उन्होंने असमान शब्दका प्रयोग इस अलंकारको मीलितसे भिन्न बतानेके लिए किया, क्योंकि मीलित अलंकारमें समान गुणसे ही अन्य वस्तुका आच्छादन होता है। रुद्रटके पिहितका उदाहरण—"मृदु ससि-कला-कलाप सम, सखि तव तन-दुति मॉहि। यह कृसता प्रिय-विरहकी काहूको न लखाहि" (छाया, अ० मं० से)। यहॉ अंगकी कान्ति एवं कृशताका आश्रय (अधिकरण) एक ही है, पर दोनों एक दूसरेसे भिन्न है, अंग-कान्ति द्वारा कृशताका आच्छादन हो रहा है।

'चन्द्रालोक' (५-१०९) एवं 'कुवलयानन्द' (८५)में परिभाषा और उदाहरण समान है। वहॉ कहा है कि "दूसरेके गुप्त आचरणको चेष्टा द्वारा प्रकट करनेपर पिहित अलंकार होता है", पर यह लक्षण 'काव्यप्रकाश' द्वारा दिये सूक्ष्म अलंकारका है (दे० का० प्र०, १० : १२२)। हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंने इन्हीके आधारपर इसका लक्षण स्वीकार किया है—"जानि परायी वृत्ति जहँ क्रिया सहित आकूत" (ल० ल०, ३५६) अथवा—"जहॉ छिपी पर बातकों, जानि जनावै कोई" (का० नि०, १६)। उदा०—"लखि भोरहि पियको जु तिय, मुकुर दिखायो आन" (पद्मा०, २५०)। यहॉ नायकके गुप्त आचरणको नायिकाने मुकुर दिखाकर प्रकट किया है। परन्तु इसमे सूक्ष्मसे भेद नहीं रह जाता। —ज० कि० व०

पीठमर्द–दे० 'नर्म-सचिव', नायक।

पुनः-पुनः दीप्ति–दे० 'रस-दोष', चौथा।

पुनरुक्त–दे० 'अर्थ-दोष' चौथा।

पुनरुक्तवदाभास–एक शब्दालंकार; शब्दका अर्थ 'पुनः कहे हुएकी तरह आभासमात्र' होता है।' जहॉ पुनरुक्ति-सी प्रतीत हो, परन्तु वस्तुतः पुनरुक्ति न हो, दूसरे शब्दोंमें, जहॉ पुनरुक्तिकी मिथ्या प्रतीति हो। सर्वप्रथम उद्भटके 'काव्यालंकारसारसंग्रह'में इसका स्वतन्त्र विवेचन मिलता है—"पुनरुक्ताभासमभिन्नवस्त्विवोभासिभिन्नरूपपदं पदम्" (१ : १), अर्थात् दो विभिन्न रूप-पदोंकी एक अर्थप्रतीति। उद्भटने स्पष्टतः इसको शब्दालंकार नही कहा है। मम्मटके आधारपर परिभाषा इस प्रकारका हो सकती है—"जहॉ भिन्न आकारवाले भिन्नार्थक पदोंमे वस्तुतः अर्थसादृश्य न होनेपर भी अर्थसाम्य प्रतीत हो" (काव्य०, ९ : ८६)। इनके अनुसार यह शब्दगत तथा शब्दार्थगत होता है तथा शब्दगत भी अभंग और सभंग, दो प्रकारका होता है। जयदेवने इसीको 'पुनरुक्तप्रतीकाश' माना है। साहित्यदर्पणकारने मम्मटका अनुसरण किया है। रुय्यकने इसे अर्थालंकार माना था। हिन्दीके प्रसिद्ध आचार्योंमे चिन्तामणि, भूषण, कुलपति, भिखारीदास आदिने इसको शब्दालंकारोमे स्वीकार किया है तथा आधुनिकोमे मुरारिदीनको छोड़कर सभीने इसका विवेचन किया है। इनमे चिन्तामणिका लक्षण अधिक स्पष्ट है–"भिन्न पदनमे एक सों जहॉ अर्थ आभास"। भूषण तथा दासने "पुनरुक्ति लगनेपर भी पुनरुक्ति न हो" ऐसा कहा है। प्रायः भेद नहीं किये गये हैं। कन्हैयालाल पोद्दारने भेद भी दिये है।

भिखारीदासने इस अलंकारकी परिभाषा इस प्रकारसे की है—"कहत लगै पुनरुक्ति सो, पै पुनरुक्ति न होइ। पुनरुक्तिवदाभास तेहि, कहत सकल कवि लोइ।' इसके दो भेद है—१. शब्दगत—पुनरुक्तिके आभासका शब्दके आश्रित होना। इसमे शब्द परिवर्तन कर देनेपर पुनरुक्ति-

का आभास नहीं रहता। यह सभंग और अभंग, दो प्रकारका होता है। (२) शब्दार्थ उभयगत—इसमें पुनरुक्ति शब्द और अर्थ, दोनोंके आश्रित रहती है। इसका प्रथम भेद शब्दगत है, जिसमें आभास शब्दपर आश्रित होता है। इसमें भी (क) शब्दगत सभंग—'सहसारथि सूत सु लसत तुरग आदि पद सैन। अरिवधदेह सरीर हो नृप तुम धीरज ऐन" (अ० मं०)। यहाँ 'सारथि' और 'सूत' आदि शब्दोंमें पुनरुक्ति-सी प्रतीत होती है। 'सहसारथिसूत'का सहसा, रथी, सूत इस प्रकार भंग करके इनके स्थानपर पर्यायवाची अन्य शब्द रख देनेसे पुनरुक्तिका आभास नहीं रहता, अतः यह शब्दाश्रित है। (ख) शब्दगत अभंगका दासका सुन्दर उदाहरण है—"अली भमर गुंजन लगे होन लग्यौ दल-पात। जहँ तहँ फूले बृच्छ-तरु, प्रिय पीतम कित जात" (का० नि०, २०)। यहाँ 'अली' और 'भमर' आदि शब्द यद्यपि भिन्न आकारवाले हैं, किन्तु इनका अर्थ एक ही प्रतीत होता है। यहाँ 'अली'का अर्थ है सखी और 'भमर'का अर्थ भौंरा है। इसमें शब्दोंको भंग किये बिना ही भिन्न-भिन्न अर्थोंकी प्रतीति होती है। (ग) शब्दार्थ उभयगत—'सरजा सिवाजी जस जगत जहानमें' (शि० रा० भू०, ३६८)। 'जगत' शब्दके स्थानपर 'उदित' आदि अन्य पर्यायवाची शब्द रख देनेसे पुनरुक्ति नहीं रहती, अतः शब्दाश्रित है और 'जहान'का पर्याय 'लोक' रख देनेपर भी 'पुनरुक्ति'का आभास होता है, अतः अर्थगत है। 'यमक' अलंकारमें समान आकारवाले भिन्नार्थक शब्दोंको और 'पुनरुक्तवदाभास'में भिन्न आकारवाले भिन्नार्थक शब्दोंका प्रयोग होता है। रीतिकालीन कवियोंने भाव और भाषा-सौष्ठवकी वृद्धिके लिए इस अलंकारको बड़े मनोनिवेशसे अपनाया हैं। —वि० स्ना०

पुनरुक्ति—एक शब्दालंकार। 'पुनरुक्ति'से तात्पर्य है एक बार कही गयी बातको पुनः कहना। अतः जहाँ अपने अभीष्ट भावको रुचिकर बनानेके लिए एक ही शब्दकी अनेक बार आवृत्ति की जाय, वहाँ पुनरुक्ति होती है। इसे 'पुनरुक्ति-प्रकाश' भी कहते हैं। 'पुनरुक्ति-प्रकाश'में समान आकारवाले, समानार्थक शब्दकी एक या दो बार आवृत्ति होती है। यह संस्कृत तथा रीतिकालके आचार्यों द्वारा स्वीकृत अलंकार नहीं है। आधुनिक विवेचकोंमें भगवानदीन, बिहारीलाल तथा रामदहिनने विशेष रूपसे इसे स्वीकार किया है।

भिखारीदासने 'काव्यनिर्णय'में इसकी परिभाषा इस प्रकार की है—"एक शब्द बहु बार जहँ, परै रुचिरता अर्थ। पुनरुक्ती परकाश गुन, बरनै बुद्धि समर्थ"। इन्हींका यह सुन्दर उदाहरण है—(क) "मधुमासमें दास जू बीस बिसे मनमोहन आइहै आइहै आइहै"; (ख) "विहग-विहग, फिर चहक उठे ये पुंजपुंज, चिर सुभग-सुभग"—(पन्त); (ग) 'इसमें उपजा यह नीरज सित, कोमल-कोमल लज्जित मीलित, सौरभ-सी लेकर मधुर पीर।' (महादेवी : का० द०)। आधुनिक कवियोंमें इसका सुन्दर प्रयोग मिलता है। —वि० स्ना०

पुनरुत्थान-काल—आधुनिक हिन्दी साहित्यके इतिहासमें भारतेन्दु-काल (दे०) पुनरुत्थान-कालका प्रथम चरण कहा जाता है, क्योंकि इसी समय देशवासी मध्ययुगीन पौराणिकतासे बाहर निकलकर देशके प्राचीन गौरवके अनुभवके साथ-साथ भविष्यके आशापूर्ण स्वप्न देखने लगे थे। इस नवचेतनाके फलस्वरूप गद्य और काव्य-साहित्यमें नवीन भावों एवं विचारोंका आविर्भाव और सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रोंमें गतिशीलताका जन्म हुआ। द्विवेदीयुग (दे०) उसी पुनरुत्थान-कालका द्वितीय चरण कहा जाता है। रामचन्द्र शुक्लने आधुनिक गद्य और काव्यसाहित्यकी दृष्टिसे सं० १९२५-५० तकके कालको प्रथम उत्थान, सं० १९५०-७५ तकके कालको द्वितीय उत्थान और सं० १९७५के बादके कालको तृतीय उत्थान कहा है। आधुनिक साहित्यके विकासकी दृष्टिसे शुक्लजीका यह विभाजन उचित ही जान पड़ता है। जिन कालोंको शुक्लजीने प्रथम, द्वितीय उत्थान कहा है, उन्हींको क्रमसे अभ्युत्थान-काल, परिष्कार-काल और उत्कर्ष-काल भी कहा जाता है। —ल० सा० वा०

पुनर्जागरण—दे० 'नवजागरण'।

पुराणकथा—दे० 'चरितकाव्य', 'कथाकाव्य'।

पुराणकाव्य—दे० 'चरितकाव्य', 'कथाकाव्य', 'महाकाव्य'।

पुरुष—इस गुणमय जगत्के वैसे अनेक तत्त्व हैं (दे० तत्त्व), किन्तु इनमेंसे दो अत्यन्त स्पष्ट हैं—पुरुष और प्रकृति (दे० प्रकृति)। पुरुष आत्माका वह स्वरूप है, जो माया तथा उसके कंचुकों (दे०)से वेष्टित है। सांख्यवादी जगत्को प्रधानतः चार भागोंमें बाँटते हैं—१. प्रकृति, २. प्रकृति-विकृति, ३. विकृति और ४. न-प्रकृति-न-विकृति। यही चौथा पुरुष है, जो न प्रकृति ही है, न विकृति ही (सांख्यकारिका ३)। पुरुष स्वभावतः शुद्ध और निर्विकार है, वह विशुद्ध चेतन-स्वरूप, उदासीन और ज्ञाता है। माया और उसके कंचुकोंसे वेष्टित होकर वह बँध जाता है और जबतक उसे अपने सच्चे स्वरूपका ज्ञान नहीं हो जाता, तभीतक वह प्रकृतिके जालमें फँसा रहता है। यहाँ एक बात स्पष्ट समझ लेनी चाहिए कि पुरुषका अर्थ पुमान् (अर्थात् पुल्लिंग व्यक्ति) ही नहीं है, बल्कि वह प्रत्येक जीव जो भोक्ता है, पुरुष है। वह स्त्रीलिंग भी हो सकता है पुंल्लिंग भी हो सकता है। साथ ही वह जानवरों और पेड़-पौदों जैसे सावयव-सचेतन पदार्थोंका भी बोधक है। सावयव और निरवयव पदार्थोंके बीचकी स्थितिवाले सूक्ष्म शरीरी और सूक्ष्म चेतन पदार्थ भी पुरुष है। सामान्यतः जीवका अर्थ सावयव एवं सचेतन पदार्थ होता है, किन्तु दार्शनिककी दृष्टिमें वह सब कुछ जीवात्मा है, जो परमात्मा नहीं है और पुरुष उन सबका वाचक है। आजका विज्ञान भी इसका समर्थन करता है। सामान्य धारणाके अनुसार सजीव वह है, जिसमें जीवनका स्पन्दन हो। जब कि सत्य यह है कि हर पदार्थमें यह स्पन्दन होता अवश्य है, यह बात और है कि वह कहीं-कहीं बहुत क्षीण और अस्पष्ट होता है और जहाँ यह प्रत्यक्ष तथा इन्द्रियग्राह्य नहीं होता, हम उसे निर्जीव और अचेतन मान लेते हैं, लेकिन विज्ञानने प्रत्यक्ष करा दिया है कि जीवन और चेतना विश्वके प्रत्येक अणु-परमाणुमें वर्तमान है—कहीं व्यक्त रूपमें तो कहीं प्रच्छन्न रूपमें। शाक्तोंका भी यही कहना है। अतः विश्वका हर

अणु पुरुष है। बाहर-बाहरमे निर्जीव दीखनेवाले पदार्थ तत्त्वतः निर्जीव या अचेतन नहीं है। उनका चैतन्य प्रकृतिके तमस् गुणसे मायाके कला, नियति आदि कंचुकों-से अपेक्षाकृत अधिक वेष्टित हो गया रहता है। अतः धातुओंके एक-एक परमाणु भी पुरुष है। गति जीवन है, संसारको जगत् कहते है—जगत् अर्थात् गतिशील। विज्ञान-सिद्ध है कि धातुओंके परमाणुओमे भयंकर गतिशीलता है और यह उनकी सजीवता और चेतननाका प्रमाण है। अतः ये पुरुष है। 'तत्त्वसन्दोह' (५।६)में पुरुषकी व्याख्या की गयी हैः—"सम्पूर्ण कर्तृत्व तथा अन्य सामर्थ्योंसे युक्त उसकी अनेक शक्तियाँ है, किन्तु उस परपुरुषके कंचुकित (या संकुचित) हो जानेपर उसकी शक्तियाँ भी कला, नियति, राग, विद्या और कालके रूपमे संकुचित और क्षीणशक्ति हो जाती है"। इस प्रकार उस परपुरुषको पुरुषरूपमें अभिव्यक्त करती है। 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा' (३।२।९)में भी पुरुषके सम्बन्धमे इसी तरहकी बात कही गयी है। ससीम, कंचुकित एवं अपने सच्चे स्वरूपसे अपरिचित पुरुषको उसके विशुद्ध चेतन स्वरूपका ज्ञान करा देना ही सम्पूर्ण धर्मों, दर्शनो और योगोंका मूल लक्ष्य है। 'शुद्धाशुद्धतत्त्वों' में पुरुष भी एक तत्त्व है (दे० तत्त्व)। गीता (१५।१६)में भगवान्ने तीन प्रकारके पुरुषोंका उल्लेख किया है—क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम, क्षर सभी नाशवान् भूत है और अक्षर इन भूतोके मूलमें स्थित (कूटस्थ) अविनाशी। उन्होंने परमात्मा नामक उत्तम पुरुषको इन दोनोंसे भिन्न, अव्यय, त्रैलोक्यमें व्याप्त और त्रैलोक्यका पोषक कहा है (वही, १५।१७, १८)। इस पुरुषोत्तम या अव्यय पुरुषके भी दो भेदोंका वैदिक साहित्यमें उल्लेख मिलता है। परिच्छिन्न (कंचुकित) होनेपर भी जो सबसे बड़ा है, वह 'ईश्वराव्यय' और छोटे-छोटे परिच्छेदवाला 'जीवाव्यय' कहलाता है। जिसमें कोई परिच्छेद नहीं होता, वह 'परात्पर' कहलाता है। —रा० सिं०

पुरुषवैचित्र्यवक्रता–दे० 'पदपरार्धवक्रता', तीसरा प्रकार।

पुरुषावतार–व्यापक ब्रह्म (भूमापुरुष) जब शुद्ध सत्त्वको आधार बनाकर अपने परमधामसे इस लोकमें आविर्भूत होता है, तब उसे पुरुषावतार कहते है। —वि० मो० श०

पुष्टि–दर्शनक्षेत्रमें वल्लभाचार्यका मत शुद्धाद्वैत कहलाता है और भक्तिक्षेत्रमे उनकी साधना-व्यवस्था **पुष्टिमार्ग** कहलाती है। उनका दार्शनिक मत विष्णु स्वामी-प्रेरित कहा जाता है, परन्तु पुष्टिमत उनका अपना चिन्तन-फल है, जो श्रीमद्भागवतके 'पोषणं तदनुग्रहः' तत्त्वपर आधारित है। यह पूर्वाचार्योंके मर्यादा-मार्गसे भिन्न मार्ग है। मर्यादा मार्गमे शास्त्रविहित ज्ञान-कर्मके आचरणकी अपेक्षा रहती है, परन्तु पुष्टिमार्गमें कर्मनिरपेक्ष हो भक्त भगवान् श्रीकृष्ण-के प्रति आत्मसमर्पण कर सुखी होता है; वह फलकी कामना नहीं करता। पुष्टिमार्गीय भक्तिको प्रेमलक्षणा भक्ति भी कहते हैं। सूरदासमें इसका उल्लेख है—"श्रवण, कीर्तन, पादरत, अर्चन, वन्दन, दास। सख्य और आत्म-निवेदन प्रेम लक्षणा जास(सू० सा०, वेंकटेश्वर प्रेस संस्करण, पृ० ५ : ६९)।

वल्लभसम्प्रदायी विशेषकर **अष्टछाप**के कवियोंने पुष्टि-मार्गके सिद्धान्तोंका [illegible] [illegible]तिकी[illegible]ण किया है। सूर तो 'पुष्टिमारगका जहाज' [illegible] पर[illegible] है (सूरदासकी वार्ता, प्रसंग ११)। 'नारदीय भक्ति-सूत्र'मे प्रेमरूपा भक्तिको कर्म, ज्ञान और योगसे भी श्रेष्ठ कहा है—"सा तु कर्मज्ञान योगेभ्योऽप्यधिकतरा" (२५), क्योंकि यह भक्ति फलरूपा है—'फलरूपत्वात्' (वही, २६)। भक्तिमें दृढता लानेके लिए प्रीति आवश्यक है। "प्रीति विना नहि भगति दृढाई। जिमि खगेस जल की चिकनाई" (रा० च० मा०)। यह भक्ति-साधना, विषय-त्याग और कुसंग-त्यागसे सम्पन्न होती है (ना० भ० सू०, ३५)। भगवान्के भजन, गुण-श्रवण, कीर्तन तथा महापुरुषोंके संगसे यह साधित होती है (ना० भ० सू०, ३६ : ३७ ३८)।

भगवान्के 'अनुग्रह'से ही मुक्ति प्राप्त होती है, यह सिद्धान्त सूत्ररूपसे उपनिषदोंमे भी विद्यमान है। 'कठोपनिषद्'में परमात्माके प्रसाद (अनुग्रह)से उसके साक्षात्कारका स्पष्ट संकेत है (१, २ : २०)। दे० 'शुद्धाद्वैत'। —वि० मो० श०

पुष्टिजीव–शुद्धाद्वैतके अनुसार जीव सच्चिदानन्द ब्रह्मका सत् और चित् अंश है, आनन्द अंश उसने तिरोहित रहता है। समस्त जीवसृष्टिको उन्होंने अपने **पुष्टिमार्ग**के निरूपणमें **दैवी** और **आसुरी**, दो वर्गोंमे बाँटा है। दैवी जीव पुनः पुष्टिजीव और मर्यादाजीवमें विभाजित हो जाते है। पुष्टिजीव चार प्रकारके होते है—शुद्धपुष्ट, पुष्टिपुष्ट, मर्यादापुष्ट और प्रवाहपुष्ट। ये चारों प्रकारके जीव भगवान्-की सेवाके हेतु जन्म धारण करते है। इनमें शुद्धपुष्ट तो सिद्धावस्थाके भक्त होते है, जो नित्य परमानन्द ब्रह्म श्रीकृष्णके साथ रहते है। पुष्टिपुष्ट भगवान्के सहज अनु-ग्रहभाजन भक्त होते है। भक्तिमार्गके ये ही वास्तविक अधिकारी है। मर्यादापुष्ट और प्रवाहपुष्ट जीवोंको मर्यादा और प्रवाहमार्गकी स्वाभाविक न्यूनताके साथ-साथ भगवान्-के अनुग्रहकी आशा रहती है। दे० 'पुष्टिमार्ग'। —ब्र० व०

पुष्टिपुष्ट–दे० 'पुष्टिजीव', 'पुष्टिमार्ग'।

पुष्टिभक्ति–दे० 'पुष्टिमार्ग'।

पुष्टिमार्ग–महाप्रभु वल्लभाचार्यने अपने **शुद्धाद्वैतवाद**-(दे०)के आधारपर भक्तिका जो सम्प्रदाय स्थापित किया, उसीका नाम पुष्टिमार्ग है। इसीको **वल्लभ सम्प्रदाय** या वल्लभमत भी कहते है। भागवतके 'पोषणं तदनुग्रहः' (२ : १०)के आधारपर वल्लभाचार्यने भगवदनुग्रहके अर्थमें ही पुष्टि शब्दका प्रयोग किया है। **प्रवाहमार्ग** और **मर्यादा-मार्ग**से भिन्न पुष्टिमार्ग भक्तिमार्गका ही समानार्थी है। प्रवाहमार्ग सांसारिक विषयभोगके जीवनका ही दूसरा नाम है, जिसमें पड़कर जीवन निरन्तर जन्म-मरणके प्रवाहमें पड़ा रहता है। वेद-विहित कर्मका अनुसरण करना तथा ज्ञानप्राप्तिका प्रयत्न करना **मर्यादामार्ग** कहा जाता है। पुष्टिमार्गकी प्राचीनता प्रमाणित करनेके लिए 'मुण्डकोपनिषद्'की 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः' श्रुतिको उद्धृत किया जाता है, जिसमें आत्माकी उपलब्धि केवल कृपाके द्वारा बतायी गयी है। 'कठोपनिषद्' (१, २, २०)में भी भगवान्के प्रसादसे ही आत्मदर्शन सम्भव बताया गया है। 'श्रीमद्भागवत'में तो भगवान्के अनुग्रहकी महिमा

स्थान-स्थानपर ही रखी गयी है। शुद्धाद्वैतके अनुसार ब्रह्म सत्, [illegible] और आनन्द-स्वरूप है। उसके मुख्य तीन स्वरूप है—(१) पूर्ण पुरुषोत्तम रस अथवा आनन्दस्वरूप परब्रह्म श्रीकृष्ण रूप, (२) अक्षर ब्रह्म, जो गणितानन्द है और वह पुनः दो प्रकारके रूपोंमें परिणत होता है—एक पूर्ण पुरुषोत्तमका अक्षर धाम और दूसरा काल, कर्म, स्वभावरूपसे प्रकट होनेवाले, प्रकृति, जीव तथा अनेक देवी-देवताओंका, रूप तथा (३) अन्तर्यामी रूप। मर्यादा-मार्ग अक्षर ब्रह्मकी वाणीसे उत्पन्न हुआ है, उसका साधक ज्ञानके द्वारा अक्षर-धामकी सायुज्य मुक्तिको ही ध्येय बनाता है। इस मार्गमें भगवान् साधन-परतन्त्र रहता है, अर्थात् साधकके वेदमर्यादित साधनोंके अनुसार ही फल देता है। मर्यादाकी रक्षा करना उसके लिए आवश्यक होता है, परन्तु पुष्टिमार्ग साक्षात् पुरुषोत्तम श्रीकृष्णके शरीरसे उत्पन्न हुआ है। उसका अनुयायी आत्मसमर्पण-युक्त रसात्मक प्रेमके द्वारा भगवान्की आनन्दलीलामें लीन होनेका इच्छुक होता है। पुष्टिमार्ग एकमात्र भगवान्के अनुग्रहपर निर्भर है।

भगवान् जीवोंपर अनुग्रह करनेके लिए ही अवतार-रूपमें प्रकट होते है। उनके अवतार धारण करनेका हेतु साधुओंका परित्राण या दुष्टोंका विनाश नहीं, वरन् साधन-निरपेक्ष मुक्ति प्रदान करना है। उनका यह अनुग्रह भी उनकी **लीला** (दे०) मात्र है, जिसका उससे बाह्य कोई अन्य प्रयोजन नहीं है। वह उनकी नित्यलीलाका एक प्रमुख रूप है। इस अनुग्रहपर आश्रित पुष्टिभक्ति नवधा भक्तिसे भिन्न है। नवधा भक्ति साधन-भक्ति या मर्यादा-भक्ति है, उसमें भजन, पूजन आदिकी अपेक्षा होती है। पुष्टिभक्ति रागात्मिका या **रागानुगा** भक्ति है, जो भगवत् कृपासे प्राप्त भगवत् प्रेमपर ही आश्रित है। इसीलिए इसे प्रेम-लक्षणा भक्ति कहते है।

जीवको भगवान्के अनुग्रह या पोषणकी आवश्यकता क्यों होती है, इसका उत्तर वल्लभाचार्यने जीवसृष्टिका स्वरूप समझाते हुए दिया है। लीला-विलासके लिए ब्रह्मकी जब एकसे अनेक होनेकी इच्छा होती है, तब अक्षर ब्रह्मके अंशरूप असंख्य जीव उत्पन्न हो जाते हैं। सच्चि-दानन्द अक्षर ब्रह्मके चित् अंशसे असंख्य निराकार जीव, सत् अंशसे जड प्रकृति तथा आनन्द अंशसे अन्तर्यामी रूप अग्निसे स्फुलिंग निकलनेकी तरह प्रकट होते है। जीवमें केवल सत् और चित् अंश होता है, आनन्द अंश तिरोहित रहता है। इसी कारण वह भगवान्के छः गुणों—ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य—से हीन होता है, परिणामस्वरूप वह दीन, हीन, पराधीन, दुःखी, जन्म-मरणके दोषसे युक्त, अहंकारी, विपरीत ज्ञानमें भ्रमित और आसक्तिग्रस्त रहता है। यही उसकी क्षीणता या दुर्बलता है। भगवान् अपने अनुग्रहसे उसे पुष्ट करते है, उसकी क्षीणता दीनतामें बदल जाती है।

परन्तु सभी जीव इस अनुग्रह या पोषणके अधिकारी नहीं बन सकते। इस सम्बन्धमें वल्लभाचार्यने जीवोंके प्रकार-भेद गिनाये हैं। प्रथमतः जीव दो प्रकारके होते है—दैवी और आसुरी। दैवी जीव पुनः दो प्रकारके होते है—पुष्टिजीव और मर्यादाजीव। पुनः पुष्टिजीव चार प्रकारके होते है—शुद्धपुष्ट, पुष्टिपुष्ट, मर्यादापुष्ट और प्रवाहपुष्ट। ये ही चार प्रकारके पुष्टिजीव भगवान्की सेवा (भक्ति)के अधिकारी होते है। उनका जन्म ही सेवाके हेतु होता है। मर्यादाजीव पूर्ण पुरुषोत्तमकी सेवा (भक्ति)के योग्य नहीं होते। वे जैसा कि पहले बताया जा चुका है, केवल कर्म और ज्ञान द्वारा स्वर्गादि लोक या अक्षर-सायुज्य मुक्ति प्राप्त कर सकते है। आसुरी जीव प्रवाहशील होते है। इनमेंसे यज्ञ आसुरी जीव तो भगवान्के प्रति उत्कट वैर-भाव रखनेके फलस्वरूप संहारके द्वारा उद्धार प्राप्त करते है, परन्तु दुष्ट आसुरी जीवोंका कभी उद्धार नहीं होता, वे निरन्तर जन्म-मरणके बन्धनमें पड़े रहते है।

पुष्टिजीवोंमें शुद्ध पुष्टिजीव तो नित्य और मुक्त होते है, वे भगवान्के षड्गुण अप्राकृत शरीरसे भगवान्की नित्य सेवाका आनन्दलाभ करते हैं। अवतार-दशामें वे भी भगवान्के साथ अवतरित होते है, उनकी स्थिति सिद्ध अवस्थाकी होती है। शेष तीन प्रकारके पुष्टिजीवोंकी भक्ति तीन प्रकारकी होती है और वे उसीके अनुसार पुनः पुष्टि-पुष्ट, मर्यादापुष्ट और प्रवाहपुष्ट—तीन प्रकारके होते है। भगवान्के आनन्दकाय से उत्पन्न थे पुष्टिजीव भी पाप और अहन्ता-ममतामय संसारमें लिप्त हो सकते है, परन्तु उनमें भक्तिका बीज सहज ही अंकुरित हो जाता है जो फलीभूत होकर अन्तमें उन्हें अभीष्टकी प्राप्ति कराता है। सर्वभावसे भगवान्की कृपापर ही निर्भर रहते हुए वे आनन्दरूप श्रीकृष्णकी आराधनामें रत रहते है और चातककी तरह अनन्य भावसे निरन्तर उन्हींका ध्यान करते रहते है।

इसी प्रेमभक्तिके आधारपर अंशरूप जीव अंशी ब्रह्मके साथ जो सम्बन्ध स्थापित करता है, वही **ब्रह्म-सम्बन्ध** है। पुष्टिमार्गमें दीक्षित होते समय ही भक्त गुरुके आदेशसे 'श्रीकृष्णः शरणं मम' मन्त्रका उच्चारण करके श्रीकृष्णको अपने तन, मन, धन, पुत्र, कलत्र आदिके समर्पणका संकल्प करता है और इस प्रकार समस्त सांसारिक दोषोंसे निवृत्ति प्राप्त करता है। इसके बाद भक्त किसी भी वस्तुको भगवान्को समर्पित किये बिना ग्रहण नहीं कर सकता। इस सर्वात्मसमर्पणके भावको दृढ़ करके तीन प्रकारकी सेवा की जाती है—(१) तनुजा, अर्थात् अपने तथा अपने पुत्र, स्त्री आदिके शरीरको भगवत्की सेवामें लगाना, (२) वित्तजा, अर्थात् धन, यश आदिको भगवान्के निमित्त अर्पित करना और (३) मानसी, अर्थात् मनका निरोध करके निरन्तर भगवान्में लीन रखना। मानसी सेवा ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और कठिन है।

वल्लभाचार्यने भक्तिके सामान्य लक्षणोंमें प्रेम-भक्तिके साथ-साथ भगवान्के माहात्म्यके ज्ञान और उसके निरन्तर ध्यानका भी उल्लेख किया है—"माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः। स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा" (त० दी० नि० शा० प्र०, ४६) तथा योग आदिको भी प्रारम्भिक स्थितिमें स्वीकृति दी है। परन्तु वस्तुतः पुष्टिमार्गीय भक्ति ऐकान्तिक और एकात्मक है। श्रवणकीर्तनादि नवधा भक्तिका अन्तिम सोपान आत्मसम-

र्पण उसका प्रथम सोपान है। भक्तोंके सत्संग, उनके चरित्रोंके श्रवण-मनन आदिसे आत्मसमर्पणका भाव दृढ होता है। इस प्रकार निरन्तर अभ्याससे जब भगवान्‌के प्रति माहात्म्यज्ञानयुक्त उत्कट प्रेम दृढ़ हो जाता है, तभी समझना चाहिये कि भगवान्‌का अनुग्रह प्राप्त हो गया। यह प्रेम वियोगका अनुभव प्राप्त होनेपर और अधिक प्रबल होता जाता है तथा मनमें श्रीकृष्ण-मिलनकी आकांक्षा और अधिक तीव्र होती जाती है। श्रीकृष्णके प्रति प्रेम-विरहकी दैन्यपूर्ण विकलताके अनुभवसे संसारका मोह नष्ट हो जाता है और उसे संसारके प्रति अनासक्ति हो जाती है। इस स्थितिको पुष्टिमार्गीय परिभाषामे **रागविनाश**की स्थिति कहते है। श्रीकृष्ण-प्रेमके विकासकी दूसरी स्थिति **आसक्ति**की स्थिति है। इस स्थितिमें गृहादिसे अरुचि हो जाती है तथा स्त्री-पुरुष आदि सांसारिक सम्बन्ध बाधक प्रतीत होने लगते है। आसक्ति कई प्रकारकी होती है। 'नारदभक्ति-सूत्र'मे वर्णित एकादश आसक्तियोंको इस सम्बन्धमे उद्धृत किया जाताहै—(१) गुणासक्ति या माहात्म्यासक्ति, (२) रूपासक्ति (३) पूजासक्ति, (४) स्मरणासक्ति, (५) दास्यासक्ति, (६) सख्यासक्ति, (७) कान्तासक्ति, (८) वात्सल्यासक्ति, (९) आत्मनिवेदनासक्ति, (१०) तन्मयतासक्ति और (११) परम विरहासक्ति। वस्तुतः ये आसक्तियाँ विकासक्रमके अनुसार दी गयी हैं। माहात्म्यासक्ति आसक्तिकी प्रारम्भिक अवस्था है तथा परमविरहासक्ति अन्तिम। आसक्तिके उपरान्त विकासकी तीसरी स्थिति **व्यसन** कहलाती है। इसीको **निरोध** या आत्मविस्मृतिकी स्थिति भी कहते है, जो प्रेम-भक्तिकी अन्तिम और पूर्ण परिणति है। इस स्थितिमें एक प्रकारसे आत्माका नाश हो जाता है, अतः उसे आत्म-निवृत्ति भी कहते है। भक्तका भगवान्‌के साथ प्रेममय एकीकरण हो जाता है। वह प्रेमके लिए ही प्रेम करता है तथा उसका प्रत्येक अनुभव ठीक उसी प्रकार होता है, जैसा कि स्वयं भगवान्‌का अनुभव हो सकता है।

यह पुष्टिमार्गीय प्रेम-लक्षणा भक्ति 'शाण्डिल्यभक्तिसूत्र'-के शब्दोंमे 'परानुरक्तिरीश्वरे' ईश्वरमे अति अनुरक्ति या 'नारदभक्तिसूत्र'की शब्दावलीमें "सा त्वस्मिन् परमप्रेम-रूपा अमृतस्वरूपा च' कही गयी है। प्रेमके अनेक भाव है, अतः भक्ति भी किसी भी भावसे की जा सकती है। भक्तिके भाव-विस्तारको इतना व्यापक माना गया है कि भागवतके "कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च। नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते"के अनुसार काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य अथवा सौहार्द किसी भावसे नित्य ध्यान धरनेसे भगवन्मय होनेका विश्वास प्रकट किया गया है। सूरदासने भी भागवतके उक्त वचनका प्रमाण देते हुए गोपियोंकी कान्तारतिकी व्याख्या की है—"काम क्रोधमें नेह सुहृदता कोई विधि करै कोई। धरै ध्यान हरिको जो हठ करि सूर सो हरि सों होई"। वल्लभाचार्यने 'सुबोधिनी'में उक्त श्लोकको व्याख्या करते हुए लिखा है कि काम स्त्री-भावमें, क्रोध शत्रु-भावमें, भय वधिक-भावमें, स्नेह सम्बन्धियोके भावमें, ऐक्य ज्ञान-अवस्थामें और सौहार्द सख्य-भावमे होता है; किसी भी भावसे भजन करनेसे वह भाव भगवन्मय हो जाता है। परन्तु वल्लभाचार्यने गोवर्धन-के मन्दिरमे श्रीनाथजीकी सेवा-पद्धतिकी जो व्यवस्था की थी, वह बालभावकी थी। आज भी वह परम्परा सम्प्रदायमे चली आ रही है। सूरदास और परमानन्ददास(दे० अष्ट-छाप)को सम्प्रदायमे दीक्षित करते समय उन्होने गोपाल-कृष्णके ही वात्सल्यभावके पद गानेका आदेश दिया था। इससे भी प्रमाणित होता है कि पुष्टिमार्गमें प्रारम्भमे वात्सल्यभावकी भक्तिका ही विशेष माहात्म्य था। परन्तु वल्लभाचार्यने सख्य और कान्तारतिको स्वीकार न किया हो, यह बात नहो है। एक स्थलपर स्वयं उन्होने यह आकांक्षा व्यक्त की है कि मेरे हृदयमे गोपियोके विरहका दुःख पैदा हो जाय। उनके भक्तों, विशेषतः सूरदास, परमानन्ददास आदिकी रचनाओंमे तो सख्य और कान्ता-रतिका बहुत अधिक विस्तार है और उससे असन्दिग्ध रूपमे प्रमाणित हो जाता है कि पुष्टिमार्गीय भक्ति-पद्धतिमें कम-से-कम गोसाई विट्ठलनाथके समय सख्य और कान्तारतिका माहात्म्य कहीं अधिक हो गया था। 'वार्ता'के अनुसार सूर-दास, परमानन्ददास और कुम्भनदास—वल्लभाचार्यके तीनों प्रधान शिष्य निकुंजलीलाका ही ध्यान करते हुए राधाभावमें तन्मय होकर गोलोक सिधारे थे। महाप्रभु वल्लभाचार्य चैतन्य महाप्रभुके समकालीन थे। चैतन्यके साथ उनकी दो-एक बार भेंट भी हुई थी तथा उन्होने गौड़ीय वैष्णवोंको श्रीनाथजीकी सेवामे नियुक्त किया था। अतः यह स्वाभाविक है कि वे चैतन्यके गौड़ीय सम्प्रदायमें प्रचलित कान्तारति और गोपीभावकी महत्तासे भली भाँति परिचित थे। उनके समकालीन राधावल्लभी और हरिदासी वैष्णव सम्प्रदाय भी लोकप्रिय हो रहे थे। इनमे कान्ता-रतिकी एकान्त रूपसे मान्यता थी। अतः अपने सम्प्रदायमें वात्सल्यभावकी भक्ति-पद्धति प्रतिष्ठित करते हुए उन्होंने कान्ताभावकी सम्भावनाओंको अवश्य स्वीकार किया होगा। फिर भी श्रीनाथजीकी आठ दैनिक सेवाओं—मंगलादर्शन, श्रृंगार, गोचारण, राजभोग, उत्थापन, भोग, सन्ध्या, शयन—मे, जिनमें आरतीके साथ श्रीनाथजीके नित्यकर्मों-का विधान है, कान्ताभावकी सेवाका समावेश नहीं है। वल्लभाचार्यने राधाको भी मान्यता नही दी थी, किन्तु उनके द्वितीय पुत्र विट्ठलनाथने श्रीनाथजीकी सेवाके मण्डानमें राधाको भी दैनिक सेवाओंमे तो नही, ब्रह्मोत्सवों-के रूपमें सम्मिलित किया। श्रीकृष्णके जन्मोत्सवकी तरह राधाका जन्मोत्सव भी मनाया जाने लगा। कदाचित् विट्ठलनाथके समयमे मधुर भावकी भक्तिका प्रभाव गौडीय, राधावल्लभी और हरिदासी सम्प्रदायोंके प्रभावसे बहुत अधिक हो गया था और यही कारण है कि सूरदास तथा अन्य सभी अष्टछापके कवियोंकी रचनाओंमे राधा तथा राधाकृष्णके युगल रूपकी भक्तिसे सम्बन्धित पदोंकी प्रचुरता है। विट्ठलनाथने 'स्वामिन्यष्टक', 'स्वामिनीस्तोत्र' तथा 'श्रृंगाररसमण्डन'की रचना करके राधा तथा दाम्पत्य रतिकी महत्ता प्रतिपादित की है। यद्यपि पुष्टिमार्गमे रागा-नुगा भक्तिकी उस प्रकारकी विवेचना नही मिलती, जैसी गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायके 'भक्तिरसामृतसिन्धु' और 'उज्ज्वलनीलमणि' आदि ग्रन्थोंमें मिलती है, फिर भी इस सम्प्रदायकी भक्ति-पद्धति और अनुयायी कवियोंकी, विशेष

रूपसे सूरदासकी कृतियोंमें यह स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि पुष्टिमार्गमें भी दास्य, वात्सल्य, सख्य और माधुर्य, चारों प्रकारकी रति भक्ति-पद्धतिमें समाविष्ट है तथा भावावेश और घनिष्ठताकी दृष्टिसे सबसे अधिक महत्त्व माधुर्य भावकी कान्तारतिका ही है, जिसकी आदर्श स्वयं स्वामिनी राधाजी है। पुष्टिमार्गके आदर्श भक्त नन्द, यशोदा, गोप और गोपी हैं, जिन्होंने अपने-अपने भावके अनुसार भक्ति प्राप्त की थी। भक्तिका माधुर्य भाव अलौकिक काम-भावना है, जिसमें वासनाका अभाव है। यह भाव भगवान्‌की असीम कृपासे ही प्राप्त होता है।

पुष्टिमार्गीय भक्ति स्वतः पूर्ण है। भक्तिके अतिरिक्त भक्तको और किसी बातकी आकांक्षा नहीं होती। फिर भी, भक्ति सिद्ध हो जानेपर भक्तको अनायास और अकस्मात् अलौकिक सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है। स्वयं भगवान् भक्तको अपना स्वामी मानने लगते है। भगवान्‌के साथ एकीकरण तथा सेवा-उपयोगी देह—पुष्टिभक्तिके ये ही फल कहे जा सकते है।

सेवाके सम्बन्धमें ऊपर कुछ उल्लेख किया गया है। वस्तुतः सच्ची सेवा तो भक्ति ही है। परन्तु पुष्टिमार्गीय मन्दिरोंमें **सेवा**के रूपमें बहुत-सा कर्मकाण्ड तथा प्रचुर विधि-विधान विकसित हो गया है। आठ दैनिक सेवाओंका ऊपर उल्लेख किया गया है। इनके अतिरिक्त अनेक व्रतोत्सवों और वर्षोत्सवोंके रूपमे विशेष 'सेवाएँ' भी होती रहती है। 'सेवा'के अवसरोंपर श्रीनाथजीका शृंगार किया जाता है, उनका मन्दिर सजाया जाता है, उनका वेश-विन्यास होता है, उनकी आरती की जाती है और तरह-तरहके उत्सवों तथा मनोरंजनोंका आयोजन होता है। पुष्टिमार्गमें भगवान्‌के परमानन्दरूपको उपास्य माना गया है। वे सौन्दर्य, आनन्द और रसके आगार है। अतः पुष्टि-मार्गीय मन्दिरोंकी 'सेवा'के विकासक्रममें अनेक कलाओंको प्रोत्साहन मिला है। पाककलापर ही पुष्टिमार्गमें प्रचुर साहित्य तैयार हुआ है और मन्दिरोंमें भिन्न-भिन्न समयोंपर जो भोग तैयार होता है, उसकी प्रशंसा कर सकना कठिन है। वेश-विन्यास, गृह-प्रसाधन, संगीत और काव्य, सभीको पुष्टिमार्गीय तत्त्वावधान और संरक्षणमें अभूतपूर्व उन्नति करनेका अवसर मिला। प्रत्येक अवसरकी आरतीके लिए विभिन्न रागोंका निर्देश किया गया है, जैसे मंगला आरती-पर भैरव, विभास, रामकली—वीणा, सितार आदिके साथ, फिर लगभग ९ बजे शृंगारके समय बिलावल, मध्याह्न राजभोगके समय सारंग, अपराह्न उत्थापनके समय सोरठ, फिर भोगके समय गौडी और पूर्वी, उसके अनन्तर यमन और फिर विहाग। अष्टछाप कवियोंको इन्हीं अवसरोंके लिए प्रतिदिन नये पद रचकर गानेकी प्रेरणा मिलती रही होगी। विशेष अवसरों—व्रतोत्सवों आदिके लिए वे विशेष रचना करते होंगे।

वल्लभाचार्यने पुष्टिमार्गकी स्थापना समयकी आवश्यकता का अनुभव करके की थी। अपने 'कृष्णाश्रय' नामक प्रकरण-ग्रन्थमें उन्होंने उस समयका विशद चित्रण किया है। समस्त देश म्लेच्छाक्रान्त था, गंगादि तीर्थ भ्रष्ट हो रहे थे, उनके अधिष्ठाता देवता अन्तर्धान हो गये थे, वेद-ज्ञान-का लोप हो गया था, यज्ञ-यागका अनुष्ठान सम्भव नहीं था। ऐसे अवसरपर भक्तिका मार्ग ही एकमात्र शेष रह गया था। उन्होंने भक्तिका मार्ग राजमार्गके समान प्रशस्त बनाया और उसपर उन सबको भी चलनेके लिए आम-न्त्रित किया, जो धर्मके अधिकारी नहीं समझे जाते थे। फलतः पुष्टिमार्गमें ब्राह्मणसे लेकर शूद्रतक सभी श्रेणियों और वर्गोंके स्त्री और पुरुष सम्मिलित हुए। हिन्दू ही नहीं, कुछ मुसलमानोंने भी भक्तिका यह सहज मार्ग ग्रहण किया और कृष्ण-भक्तिके आन्दोलनको व्यापकता प्रदान की। संक्षेपमें पुष्टिमार्गीय भक्ति सहज, निष्काम प्रेमभक्ति है, जिसे भगवदनुग्रहका प्रत्यावर्तित रूप कह सकते हैं, क्योंकि वह एकमात्र भगवत्कृपापर ही आश्रित है। प्रेम-भक्ति स्वतः परिपूर्ण है, उसमें किसी प्रकारकी प्रार्थना विहित नहीं है, क्योंकि प्रार्थनाकी पूर्तिके लिए भगवान्‌को कष्ट उठाना पड़ता है। भक्त भगवान्‌को कष्ट देना सहन नहीं कर सकता। पुष्टि-भक्तिमें प्रेमको गोप्य रखना आव-श्यक है, अतः अहंकार न पैदा हो जाय, इसलिए प्रेम छिपानेके लिए दम्भ करना पड़ता है। कर्मकाण्डकी नितान्त उपेक्षा प्रेम-भक्तिका लक्षण है। इस मार्गमें साधु-संन्यासी नहीं होते। धार्मिक आचार्य भी पूर्ण गृहस्थ होते हैं। इसमें त्यागका नहीं, समर्पणका महत्त्व है। समर्पणसे ही मानसिक वैराग्य दृढ होता है। सदाचारका भी इसमें कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, क्योंकि भगवन्मय जीवनमें वह स्वतः सिद्ध है। इस प्रकार पुष्टिमार्ग एक प्रवृत्ति-मार्ग है, जिसमे मानसिक निवृत्तिपर ही विशेष बल दिया गया है।

पुष्टिमार्ग प्रस्थान-त्रयीके स्थानपर 'प्रस्थान-चतुष्टय' मानता है, क्योंकि व्यासकी 'समाधिभाषा'—'भागवत' उसका प्रधान आधार-ग्रन्थ है।

[सहायक ग्रन्थ—अणुभाष्य : वल्लभाचार्य; श्रीसुबो-धिनी : वल्लभाचार्य; तत्त्वदीप-निबन्ध : सम्प्रदायप्रदीप : गदाधरदास द्विवेदी, अष्टछाप और वल्लभसम्प्रदाय : दीन-दयालु गुप्त, भागवत धर्म : बलदेव उपाध्याय।]—व्र० व०

पूँजीवाद १—उत्पादनके साधनोंपर वैयक्तिक अधिकारके सिद्धान्तपर आधारित एवं सामन्तशाहीके ध्वंसपर प्रतिष्ठित अर्थ-व्यवस्था पूँजीवादके नामसे प्रसिद्ध है। 'पूँजीवाद' शब्दकी उद्भावना उन्नीसवीं शतीके पूर्वार्द्धमें इस अर्थ-व्यवस्थाके समाजवादी आलोचकोंने की थी। यूरोपमें प्रायः औद्योगिक क्रान्ति (१८वीं तथा १९वीं शतीके भाग)के समयसे इस व्यवस्थाका श्रीगणेश माना गया है। तत्कालीन समाजमें पूँजीकी सत्ता और महत्ता बढ़ जानेके कारण ही समाजवादियोंने नयी अर्थ-व्यवस्थाको पूँजीवादकी संज्ञा दी थी। कुछ लोगोंको पूँजीवाद शब्दपर आपत्ति है। वे इस व्यवस्थाको स्वतन्त्र अनुष्ठान (free enterprise) कहकर, पुकारना पसन्द करते है। कई एक इसे उपभोक्तृ-तन्त्र अथवा उपभोक्ताओंका लोकतन्त्र(consumer's democracy)का महनीय अभिधान प्रदान करते है।

पूँजीवाद वैयक्तिक सम्पत्ति और पूँजीका हिमायती है। वह मशीनों, खानों, वाणिज्यों, व्यवसायों, उद्योगों आदि-पर व्यक्ति अथवा सदस्योंके निजी हितोंके सम्पादनार्थ

संयोजित संस्थाओं अथवा कम्पनियोंके सर्वाधिकार तथा राज्यके पूर्ण अहस्तक्षेप(laissez faire)की नीतिका प्रतिपादन करता आया है। **साम्यवाद** (दे०) और **समाजवाद** (दे०), दोनों इस नीतिका प्रबल विरोध करते है। वे प्रायः पूँजीके राष्ट्रीयकरण अथवा सामाजीकरणमे आस्था रखते है और उसपरसे व्यक्तिका अधिकार उठा देना चाहते है। समसामयिक पूँजीवादका राज्यके अहस्तक्षेपके सिद्धान्तपर अब उतना आग्रह नही रहा। अब गमनागमनके साधन, डाक, तार, रेल, टेलीफोन, रेडियो, बंक, मौलिक उद्योग आदिको राज्य धीरे-धीरे स्वायत्त करता जा रहा है। अतः अब पुराने ढरेंके, अप्रतिहत व्यक्तिवादी पूँजीवादके बदले नियन्त्रित अथवा सीमित पूँजीवाद ही देखनेको मिलता है। कार्ल पॉपर पूँजीवादके इस अभिनव रूपको लोकतन्त्रीय अथवा आर्थिक हस्तक्षेपवाद (democratic or economic interventionism) नामसे अभिहित करता है। वस्तुतः आज पूँजीवाद और समाजवादके बीचकी खाई उतनी चौडी नहीं रही, जितनी पहले थी।

पूँजीवाद पूँजीपति और श्रमिक नामके दो बडे वर्गोंको जन्म देता है। इनके साथ-ही-साथ एक मध्यमवर्गकी भी स्थिति देखनेको मिलती है, जो दिनानुदिन अधिकाधिक व्यापक होता जाता है। साम्यवादी पूँजीपति और श्रमिक-वर्गोंको परस्पर विरोधी मानते है और श्रमिकों द्वारा पूँजीपतिवर्गसे सत्ता छीनकर साम्यवादकी प्रतिष्ठा करना चाहते है।

सामंतशाही (दे०)मे व्यक्ति स्वतन्त्र नही था। उसमें व्यक्तित्व-चेतना, स्वाधिकार-चेतना तथा स्वातन्त्र्य-चेतनाका विकास नहीं हो सका था। यह विकास पूँजीवादके हाथो सम्पन्न हो सका है। **व्यक्ति-स्वातन्त्र्य** (दे०)की लहरने लोकतन्त्रका पथ प्रशस्त किया। उधर कला और साहित्यके क्षेत्रमे इस लहरने स्वच्छन्दतावाद (romanticism)का रूप लिया। भारतमे स्वच्छन्दतावादकी धारा सर्वप्रथम बॅगलाके विश्वकवि रवीन्द्रने प्रवाहित की, जिससे आप्लावित होकर हिन्दीके कवियोने **छायावाद**-काव्यका मंजुल स्वर अलापा। प्रायः सुमित्रानन्दन पन्त तथा जयशंकर 'प्रसाद'को हिन्दीमें छायावादका प्रवर्तक समझा जाता है। अवश्य ही छायावादमें सब कुछ अंग्रेजी या बॅगलाका ही नहीं है, बहुत कुछ मौलिक भी है। छायावादकी केन्द्रीय प्रेरणा राष्ट्रीय और सांस्कृतिक है और वह राष्ट्रीय जागर्ति-की हलचलमें फूला-फला है।

पूँजीवाद-युगमे विकसित व्यक्तिवादमें सामन्ती रूढ़ियोके प्रति विद्रोहकी भावना देखनेको मिलती है। इस भावनाका उन्मेष साहित्यमें भी दिखायी देता है। उन्नीसवीं शतीके उत्तरार्द्धसे लेकर बीसवीं शतीके आरम्भकालतककी अवधिमें हिन्दीकी रीतिकालीन कविताके विरुद्ध जो विद्रोह-भावना देखनेको मिलती है, उसका एक मुख्य कारण भारतमें पूँजीवादका समारम्भ ही है। इस विद्रोह-भावनाके अनेक रूप देखनेको मिलते हैं—काव्य-भाषामें परिवर्तन, नये छन्दोंका विधान, देश और समाजके प्रति प्रेम, व्यक्तिवादी स्वच्छन्दता, बौद्धिकता, इत्या द-इत्यादि।

छायावादी कविकी उत्कट व्यक्तित्व-चेतनाका ही यह परिणाम है कि वह अपने 'स्व'का बाह्य वस्तुओंपर आरोप करता पाया जाता है। वह स्वप्न-द्रष्टा होता है और अपने स्वप्नों, अपनी दमित वासनाओं तथा कुण्ठाओंमें रमना पसन्द करता है। प्रकृति 'स्वायत्त' होकर ही उसकी कविता-का उपजीव्य बनती है। छायावादमें व्यक्तित्व-चेतना इस सीमातक बढ गयी थी कि कवि निजी सुख-दुःख और वासनाओंमे इतना उलझ गया कि उसे **सामाजिक दायित्व** (दे०)की ओर ध्यान देनेका अवकाश ही नहीं रहा। छायावादी कवितामें सामाजिक पक्षके अभावका यही कारण है।

छायावाद-युग गत दो महायुद्धोके बीच फूला-फला था। इसका काव्य-साहित्य पर्याप्त समृद्ध है। जयशंकर 'प्रसाद', सुमित्रानन्दन पन्त, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', महादेवी वर्मा इस प्रवृत्तिके प्रमुख कवि है।

[सहायक ग्रन्थ—कैपिटलिज्म, सोशलिज्म एण्ड डेमोक्रेसी : शूम्पटर।] —ह० ना०

पूँजीवाद २—पन्द्रहवी शताब्दीमें भौगोलिक अन्वेषणोंके नाते स्थानीय व्यापार समुद्री जल-मार्गोंसे दूर-दूरतक फैलने लगे। इस कारण उपभोक्ताओंकी मॉग बढने लगी और उत्पादनमे अधिक वृद्धिकी आवश्यकता हुई। सामन्तवादी उत्पादन-व्यवस्था उस मॉगकी पूर्ति नहीं कर सकती थी। इसीलिए उसका स्थान पूँजीवादी उत्पादन-व्यवस्थाने लिया, जिसमें अधिक गत्यात्मकता थी। प्रारम्भमे इस व्यवस्थाकी उत्पत्ति दो निश्चित परिस्थितियोसे हुई। पहली परिस्थिति है कि कुछ लोग ऐसे हों, जिनके पास धन और उत्पादनके साधन हो और मजदूरोंसे मजदूरी करवानेके लिए तैयार हों। दूसरी परिस्थिति है कि कुछ लोग ऐसे भी हों जिनके पास उत्पादनके साधन नहीं और जो अपनी श्रम-शक्तिको मजदूरी लेकर बेच सकें। पूँजीवादका उदय इन्ही दोनों परिस्थितियोंसे होता है। इसीको कार्ल मार्क्सने 'आरम्भिक संग्रह', अर्थात् 'ओरिजिनल एक्यूमुलेशन'की संज्ञा दी है। इस अवस्थामें कृषकोंका श्रमिकोंमें परिवर्तन हो जाता है। साथ-ही-साथ पूँजीवादी समाज अपने धनसे इनके श्रमको खरीदना प्रारम्भ करता है, जिसके फलस्वरूप मजदूरोंका उत्तरोत्तर शोषण बढता है। पूँजीवादके आरम्भिक दिनोंमें पूँजीवादी मुल्क प्रतियोगिताके नियमोंमें विश्वास करता है, किन्तु जब पूँजीवादका अधिक विकास हो जाता है तो पूँजीवादी प्रतियोगिता दो परिस्थितियोंको जन्म देती है। पहली परिस्थिति है वर्ग-संघर्ष। इसके अन्तर्गत श्रमिक और पूँजीवादके आन्तरिक संघर्ष आरम्भ होते हैं। दूसरी परिस्थिति है अन्तर्वर्गीय संघर्ष। इस परिस्थितिमें स्वतः पूँजीपतियोंमे आपसमे विरोध हो जाता है। इसका कारण यह है कि प्रतियोगितामें ऊँचा पूँजीपति छोटे पूँजीपतियोको नष्ट कर देता है। इस प्रवृत्तिको कार्ल मार्क्सने पूँजीवादी एकच्छत्रता—'कैपिटलिस्टिक मनोपली'के नामसे अभिहित किया है। मार्क्सके अनुसार पूँजीवादकी तीन विशेषताएँ है—(१) वस्तु-उत्पादन, अर्थात् 'कमोडिटी प्राडक्ट'—वस्तु-उत्पादन पूँजीवादी व्यवस्थामे बहुत व्यापक हो जाता है और विनिमयके लिए इसका प्रयोग बहुत अधिक मात्रामे किया जाता है, (२) अतिरिक्त मूल्यका सिद्धान्त, अर्थात् थियरी ऑव सरप्लस वैल्यू। इसके अनुसार

पूँजीपति अनिवार्य रूपसे श्रमिकका शोषण करता है और उसीसे अपने लाभकी प्राप्ति करता है, (३) मुक्त श्रम, अर्थात् 'फ्री लेबर।' पूँजीवादमें श्रम इसलिए मुक्त और निर्बन्ध है कि वह स्वतन्त्र रूपसे अपने श्रमको कहीं बेच सकता है। दास-प्रथामें और किसानोंको इतनी स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं थी।

संक्षेपमें समूचा पूँजीवाद वह आर्थिक व्यवस्था है, जो निश्चित धनकी पूँजीका रूप देकर वस्तुमें परिवर्तित करता है और फिर उसी वस्तुको धनमें परिवर्तित करता है, किन्तु इस बार धनकी मात्रा पहलेसे अधिक होती है। मार्क्सने इस प्रवृत्तिको निम्नलिखित सूत्रमें व्यक्त किया है—'एम' अर्थात् 'मनी', 'सी'—अर्थात् 'कमोडिटी'—एम० सी० एम०। अन्तिम 'एम'—उस धनकी ओर संकेत करता है, जो वस्तुके विनिमयसे प्राप्त होता है और जिसकी मात्रा पहले 'एम'से अधिक होती है। —रा० म० त्रि०

पूँजीवादी एकच्छत्रता–जब पूँजीवाद अधिक विकसित हो जाता है, तब पूँजीवादी वर्गके भीतर संग्रहण अर्थात् 'कन्सेण्ट्रेशन' और केन्द्रीकरण, अर्थात् 'सेण्ट्रलाइजेशन'की प्रवृत्तियाँ प्रारम्भ हो जाती है। इसका यह अर्थ हुआ कि छोटी-छोटी पूँजीवादी फर्में आपसमें मिल जाती हैं, जिसके फलस्वरूप छोटी प्रतियोगी फर्में नष्ट हो जाती हैं। बड़ी फर्में छोटी फर्मोंकी अपेक्षा अधिक सफल होती हैं, क्योंकि ये वस्तु-को सस्ता करके बेच सकती हैं। धीरे-धीरे व्यापार केवल कुछ फर्मोंके हाथोंमें शेष रह जाता है। इसी प्रकार धीरे-धीरे व्यापार-विशेषके क्षेत्रमें केवल एक फर्मका ही आधिपत्य शेष रहता है। इस प्रवृत्तिको कार्ल मार्क्सने पूँजीवादी एकच्छत्रता, अर्थात् 'केपिटलिस्ट मोनोपली' कहा है। —रा० कृ० त्रि०

पूर्णोपमा–दे० 'उपमा', पहला प्रकार।

पूर्वचेतन–यह शब्द फ्रायडके मनोविज्ञानके 'प्रीकान्शस' शब्दको व्यक्त करनेके लिए हिन्दीमें प्रयुक्त होता है। वे अचेतन इच्छाएँ, वासनाएँ या प्रतिक्रियाएँ जो सरलतासे अचेतनसे चेतन अवस्थामें बदल सकती है, फ्रायडके अनुसार, 'पूर्वचेतन' है, अर्थात् जो गुप्त है और केवल वर्णनकी दृष्टिसे अचेतन है, गतिशीलताकी दृष्टिसे नहीं, पूर्वचेतन कहलाता है। अचेतन और पूर्वचेतनमें अन्तर यह है कि अचेतन दमित और गतिशील है, पूर्वचेतनमें दमन आवश्यक नहीं। अहं का बौद्धिक अंश पूर्वचेतन होता है। पूर्वचेतन और चेतनमें कोई मूलगत वैषम्य नहीं है। इस अर्थमें फ्रायडका पूर्वचेतन अन्य मनोवैज्ञानिकोंका 'अचेतन' या 'उपचेतन' है। फ्रायडीय विचारधारासे प्रभावित साहित्यिक 'पूर्वचेतन' शब्दका प्रयोग करते है।—प्री०अ०

पूर्व-मध्यकाल–हिन्दी साहित्यके **मध्यकाल** (दे०)को इतिहासकारोंने साहित्यिक प्रवृत्तियोंके आधारपर पुनः दो भागोंमें विभाजित किया है। मध्यकालका पूर्वार्ध **पूर्व-मध्यकाल** तथा उत्तरार्ध **उत्तर-मध्यकाल** कहा जाता है। पूर्व-मध्यकालका प्रारम्भ कबसे हुआ, यह एक विवाद-ग्रस्त प्रश्न है और यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि कौन-सी प्रवृत्ति कब आरम्भ हुई और कब उसका अन्त हो गया, इसकी ठीक-ठीक तिथि निश्चित कर सकना असम्भव है। प्रवृत्तिके आधारपर पूर्व-मध्यकाल **भक्तिकाल** (दे०) कहा जाता है, जो न केवल उस कालमें रचे गये साहित्यसे समर्थित है, वरन् सामाजिक जीवनकी सभी चेष्टाओं द्वारा प्रमाणित होता है। उत्तर भारतमें भक्तिके सबसे प्रथम शक्ति-शाली सन्देशवाहक स्वामी रामानन्द थे। ऐसे कुछ हिन्दीके पद भी मिले है, जो उनके रचे हुए कहे जाते हैं। अनुमानसे रामानन्दका समय चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी माना जाता है। उनके निर्गुणोपासक शिष्योंमें सबसे अधिक प्रसिद्ध कबीर हुए, जिनका समय चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी है। अतः पूर्व-मध्यकालका आरम्भ अधिक-से-अधिक चौदहवीं शताब्दीसे माना जा सकता है। रामचन्द्र शुक्लने संवत् १३७५ वि०से इसका आरम्भ माना है। इस कालके अन्तिम कवियोंमें हितहरिवंशके अनुयायी ध्रुवदासका रचनाकाल सत्रहवीं शताब्दीके मध्यतक माना गया है। केशवदास भी सत्रहवीं शताब्दीके प्रथम चरणमें जीवित थे तथा सेनापतिका कविताकाल भी सत्रहवीं शताब्दी है। पूर्व-मध्य-कालकी अन्तिम सीमा मोटे तौरपर सत्रहवीं शताब्दीका मध्य कही जा सकती है (दे० 'भक्तिकाल')। —व्र० व०

पूर्वरंग–धनिकने अपनी कारिकामें लिखा है—"पूर्व रज्यते-ऽस्मिन्निति पूर्वरंगः नाट्यशाला···", अर्थात् जिसमें सामा-जिकोंको पहले आनन्द मिले। इस तरह पूर्वरंगका अर्थ नाट्यशाला है।

किन्तु विश्वनाथने इसकी परिभाषा देते हुए लिखा है, "यन्नाट्यवस्तुनः पूर्व रंगविघ्नोपशान्तये। कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरंगः स उच्यते" (सा० द०, ६ : २२)। अर्थात् **नाट्यवस्तु** (अर्थ)के पूर्व **रंग (रंगशाला)**के विघ्नोंको दूर करनेके लिए नर्तक लोग जो कुछ करते है, उसे पूर्वरंग कहते है। यद्यपि **प्रत्याहार** आदि इसके अनेक अंग हैं, तथापि विघ्नोंकी शान्तिके लिए **नान्दी** अवश्य करना चाहिये। विश्वनाथकी परिभाषा अधिक सुस्पष्ट और प्रामाणिक प्रतीत होती है। —व० सि०

पूर्वराग–दे० 'विप्रलंभ शृंगार'।

पूर्वरूप–लोकन्यायमूल अर्थालंकार (दे० 'तद्गुण')। प्रतिष्ठापक जयदेवके अनुसार 'पूर्वरूप' दो प्रकारका है। दूसरेसे आये हुए गुणको दूर करके पुनः अपने गुणको प्रकट करना प्रथम पूर्वरूप है, "पुनः स्वगुण-सम्प्राप्तिर्विज्ञेया पूर्वरूपता" (चन्द्रालोक, ५ : १०३)। द्वितीय पूर्वरूपमें किसी वस्तुके नष्ट हो जानेपर भी दूसरी वस्तुके कारण पूर्ववस्तुका गुण विद्यमान ही रहता है—"पूर्वावस्थानुवृत्तिश्च विकृते सति वस्तुनि' (कुवलयानन्द, १४३)। मम्मट आदि-ने इसको 'तद्गुण'से अलग अलंकार नहीं माना। हिन्दीमें जसवन्त सिंहने इसकी व्याख्या की है। भिखारीदास तथा कन्हैयालाल पोद्दारने पूर्वरूपको तद्गुणमें अन्तर्भुक्त माना है, परन्तु मतिराम तथा भूषणने इसे तद्गुणसे भिन्न स्वीकार किया है—"जहाँ औरको रंग तजि, बहुरि आपनो होत" (ल० ल०, ३३३)। यह प्रथम पूर्व रूपकी परिभाषा है, द्वितीयमें "प्रगटित पूरन दसहिंकी जहँ अनुवर्तन होय," ऐसा माना है—(वही, ३३५)। भूषणकी पूर्वरूपकी परिभाषा स्पष्ट नहीं है—"प्रथम रूप मिटि जात जहँ, फिरि वैसोई होइ" (शि० भू०, २९०)। मतिरामका प्रथमका

उदाहरण परम्परापर आधारित है—"मुकुल हार हरिके हिये मरकत मनिमय होत। पुनि पावत रुचि राधिका, मुख मुसकानि उदोत" (ललि०, ३३४)। द्वितीयका उदाहरण—"अथए हू ससि हँसनिकी छायी जोन्ह अनूप" (पद्मा०, २३९)। —ओ० प्र०

पूर्वी हिंदी–पूर्वी हिन्दीका क्षेत्र पश्चिमी हिन्दीके पूर्वमें है। इसकी उत्पत्ति अर्द्धमागधी अपभ्रंशसे मानी जाती है। इसकी भाषा-वैज्ञानिक स्थिति पश्चिमी हिन्दी तथा बिहारी भाषाओके बीचकी है। दोनो बोलियोके समूहोंकी विशेषताएँ इसमें पायी जाती हैं। पूर्वी हिन्दीकी तीन बोलियाँ है—१. अवधी, २. बघेली, ३. छत्तीसगढी। इनमेंसे अवधीका साहित्य अत्यन्त समृद्ध है। बघेली तथा छत्तीसगढीमे प्रायः लोक-साहित्य ही मिलता है। पूर्वी हिन्दीकी लिपि सामान्यतः देवनागरी है।

पृथ्वी–वर्णिक छन्दोंमे समवृत्तका एक भेद। 'पिंगलछन्दःसूत्र' (७, १७) तथा 'प्राकृतपैंगलम्' (२ : १७७)के अनुसार ज, स, ज, स, य, ल, गसे यह वृत्त बनता है (ISI, IIS, ISI, IIS, ISS, IS) और इसमे ८, ९ वर्णोंपर यति होती है। भरतने इसका नाम **विलम्बितगति** दिया है (नाटय०, १६ : ८७)। केशव (रा० चं०, १४ : ११) और मैथिलीशरण गुप्त (साकेत, स० ९, पृ० २०२)ने इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा०—"अगस्त ऋषिराज जू वचन एक मेरी सुनो" (रा० चं०, ११ : १४)। "निहार सखि सारिका कुछ कहे बिना शान्त-सी" (साकेत, स० ९)। —पु० शु०

पेती बूर्जुआ–यह शब्द फ्रेंच भाषाका है। इसका तात्पर्य उस वर्गसे है, जो पूर्ण रूपसे व्यावसायिक सभ्यताका उच्च वर्ग तो नही है, किन्तु अपने दृष्टिकोण, स्वभाव, मनोविज्ञानके नाते उच्च वर्गसे मेल खाता है। —रा० म० त्रि०

पैगंबर–यह फारसीका शब्द है, जिसका अर्थ सन्देशा लानेवाला है। मनुष्योंतक अपना सन्देशा पहुँचानेके लिए परमात्मा जिसे चुनता है, वह पैगम्बर है। इसके लिए अरबीमें नबी, रसूल आदि शब्दोंका प्रयोग होता है। इन शब्दोंके लिए फारसीमे पैगम्बरका ही प्रयोग करते है। मुसलमानोंका विश्वास है कि परमात्मासे उसका सीधा सम्बन्ध है। उनका विश्वास है कि हजरत मुहम्मदका परमात्माके साथ साक्षात्कार हुआ था और उन्होंने परमात्माके वचनोंको सुना था और मनुष्योके लिए प्रकट किया था। अन्य धर्मोंमें भी पैगम्बर होनेकी बात मुसलमान स्वीकार करते हैं, लेकिन हजरत मुहम्मदको अन्तिम और परमात्माका परम प्रिय मानते है। —रा० पू० ति०

पैम्फ्लेट–पैम्फ्लेट अपने मूल रूपमें वह लघु प्रबन्ध या निबन्ध है, जिसपर प्रकार, गुण या स्वरूपका कोई बन्धन न हो। पर कालान्तरमें पैम्फ्लेटको वह छोटी रचना समझा जाने लगा, जो सामान्यतः लोकप्रिय रीतिसे लिखी गयी हो और किसी ऐसे तात्कालिक विषयसे सम्बन्धित हो, जिसकी ओर लेखक पाठकोंका ध्यान आकर्षित करना चाहे। यूरोपमें इस बीच पैम्फ्लेटकी प्रतिष्ठा कम हुई है, उसे सनही, अनगढ़, अविद्वत्तापूर्ण जैसे विशेषणोसे अभिहित किया जाने लगा है। कदाचित् पत्रकारिताके विकास तथा बृहत् आकारकी मुद्रित पुस्तकें सुलभ होनेके कारण आजके युगमें पैम्फ्लेटका महत्त्व कम हो गया है, अन्यथा उत्तर-पश्चिमी यूरोपमें, बहुत पहलेसे सामाजिक-राजनीतिक विषयोंकी चर्चामें पैम्फ्लेटोंने महत्त्वपूर्ण योग दिया है। ब्रिटेनमे १६वींसे लेकर १९वीं शताब्दीतक पैम्फ्लेट प्रचुर मात्रामे और निरन्तर लिखे जाते रहे। फ्रांसमे राजनीति तथा सत्ताकी डॉवाडोल परिस्थितियोमे बहुत-से लेखक महत्त्वपूर्ण पैम्फ्लेट लिखते रहे है। ऐसा जान पडता है कि पुराणपन्थी अथवा सुस्थिर युगोमे पैम्फ्लेट साहित्यका अधिक पनपना सम्भव नही होता, क्योकि एक तो पैम्फ्लेट सामयिक हलचलोसे सम्बद्ध रहते है और दूसरे पैम्फ्लेट-लेखनमे स्वतन्त्र वृत्तिकी प्रधानता रहती है। पैम्फ्लेटमे युग-जीवनपर लेखकके निजी विचार प्रकट होते है और यही कारण है कि अक्सर पैम्फ्लेटोंकी भाषा बडी तीखी और चुटीली रहती है। कभी-कभी तो पैम्फ्लेट लिखनेवालेके लिए पैम्फ्लेटियर शब्दका प्रयोग करके अवज्ञासूचक भाव व्यंजित भी किया जाता है।

पर, अभी कुछ समय पूर्वतक अंग्रेजी भाषामे पैम्फ्लेटकी बडी प्रतिष्ठा थी और उसे न केवल सम्पादकीय मुख-लेख, वरन् मंच (प्लेटफार्म)का भी दायित्व निभाना पडता था और ऐसी रचनामे सिद्धहस्त जोनाथन स्विफ्टको अपने समयका सबसे बडा पैम्फ्लेटियर माना गया था।

हिन्दीमे विवादास्पद राजनीतिक-धार्मिक विषयोंपर पुस्तिकाएँ प्रकाशित होती रहती है, पर पैम्फ्लेट नामक साहित्यकी पूरी शक्ति तथा उपयोगिताका अनुभव अभी हिन्दीके लेखकों-पाठकोंको नही हुआ है। कौन-सी विशेष रचना पैम्फ्लेट है और कौन नहीं—यह भी हिन्दीमे ठीक-ठीक नही बताया जा सकता। कुछ पैम्फ्लेट तथा **ट्रैक्ट**में कोई खास अन्तर नही मानते और कुछ लोग इन दोनोको ही **निबंध**के अन्तर्गत रखते है। डॉ० जॉन्सन तो पचके अजिल्द पृष्ठोंको भी पैम्फ्लेट माननेके लिए तैयार थे, पर मोटे तौरपर कहा जा सकता है कि पैम्फ्लेट निबन्ध-कोटिकी लघु गद्य-रचना है।

[सहायक-ग्रन्थ—ब्रिटिश पैम्फ्लेट्स फ्राम द सिक्सटीन्थ टु द ट्वण्टीयथ सेंचुरीज (दो भाग); इंग्लिश ट्रैक्ट्स; पैम्फ्लेट्स एण्ड प्रिण्टेड शीट्स : सं० जे० एच० ब्लूम; पैम्फ्लेटियर मन्थली : न्यूयार्कका मासिक पत्र (अंग्रेजी)।] —अ० कु०

पैरोडी–दे० 'व्यंग्यगीति',।

पोष्यपोषकभाव–दे० 'रसनिष्पत्ति',आरोपवादके अन्तर्गत।

पौराणिक काव्य–दे० 'चरितकाव्य', 'कथाकाव्य', 'महाकाव्य'।

प्रकरण–**नाटक**मे **प्रख्यात कथावस्तु** होती है, किन्तु **प्रकरण**मे **उत्पाद्य**। भरत मुनि प्रकरणका लक्षण बताते हुए कहते है कि प्रकरण भी नाटककी तरह रसाश्रित और **पंचसन्धि**-समन्वित होता है। इसमे विप्र, वणिक्, सचिव, पुरोहित, अमात्य, सार्थवाहके चरित वर्णित होते है, जिसका नायक न तो उदात्त पुरुष होता है और न दिव्य-चरित, जिसमे राजसम्भोगका वर्णन नही होता, जिसमे दास, विट्, श्रेष्ठी, वेश्या (वेश्या), हीन-कुलवधूका चरित

होता है। जिस अंकमें मन्त्री, श्रेष्ठी, ब्राह्मण, पुरोहित, अमात्य, सार्थवाहकी गृहवार्ता हो, उसमे वेश्याका प्रवेश वर्जित है। जिस अंकमे वेश्याके साथ कोई पुरुष दिखाई पडे, उसमें कुलवधुओंका प्रवेश निषिद्ध है (भरत : नाट्य०, ३१८ : अ० ९८-१०३)।

'दशरूपक'में प्रकरणका उक्त विवरण अल्प परिवर्तनके साथ प्राप्त होता है। प्रकरणका नायक मन्त्री, ब्राह्मण अथवा वणिक्‌मेंसे कोई हो सकता है। नायकका **धीरशान्त** होना आवश्यक है। उसकी कार्य-सिद्धिमें अनेक आपदाएँ आनी चाहिये। धर्मकामार्थमे तत्पर दिखाई पड़ता है। **सन्धियाँ** और **रस** नाटकके समान ही होते है। नायिका कुलीन स्त्री अथवा गणिका होती है। कहीं-कहीं दोनो दिखाई पडती है। प्रकरणकी नायिका इन दोनोके अतिरिक्त नही हो सकती। पुरुष पात्रोंमे धूर्त भी रहते है। नायिकाकी दृष्टिसे प्रकरण तीन प्रकारके होते है—१. जहाँ केवल वेश्या नायिका हो, जैसे 'तरंगदत्तप्रकरण', २. केवल कुलवती स्त्री हो, जैसे 'पुष्पदूतिका', ३. जहाँ संकीर्ण नायिकाएँ हों, जैसे 'मृच्छकटिक'।

नाट्यदर्पणकारका मत भरत मुनि और धनंजयसे प्रायः मिलता है। अन्तर केवल इतना है कि वे प्रकरणका नायक **धीरप्रशान्त** ही नही, **धीरोदात्त** भी मानते है। नायिकाके सम्बन्धमे उनका मत है कि वह नीच जातिकी भी हो सकती है (ना० द० : रामचन्द्र गुणचन्द्र-विरचित, पृ० १७७)। प्रकरणका वर्गीकरण करनेमे नाट्यदर्पणकार धनंजयसे पूर्ण सहमत नहीं है। वे तीन भेदोके स्थानपर प्रकरणके २१ भेद बताते है। अभिनव गुप्तने भी २१ प्रकारका प्रकरण माना है। रामचन्द्र गुणचन्द्रने तो इतने प्रकारके प्रकरणोका अभिनय देखा था (ना० द०, पृ० १९)।

शारदातनयने प्रकरणका नायक **धीरशान्त** ही माना है। भाषाके सम्बन्धमें उनका मत है कि यदि नायिका वेश्या हो तो उसकी भाषा प्राकृत होनी चाहिये और कुल-नायिका हो तो भाषा संस्कृत उचित है। शारदातनय प्रकरणमें शकार, कुट्टिनी, चेटी, धर्मशास्त्र-बहिष्कृत विट, चेट आदिका होना आवश्यक मानते है (भा० प्र०, ८वाँ अधि०, पृ० २४२)।

साहित्यदर्पणकारने प्रकरणमें शृंगार रसपर बल दिया है और नायक ब्राह्मण, मन्त्री अथवा वैश्य होना आवश्यक माना है। वे नायकको **धीरप्रशान्त** ही मानते है। उन्होंने ब्राह्मण नायकके लिए 'मृच्छकटिक', अमात्य नायकके लिए 'मालतीमाधव' और वैश्य नायकके लिए 'पुष्पदूतिका'का नामोल्लेख किया है (सा० द०, ४६, २२४, २२६)।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने संक्षेपमें प्रकरणका लक्षण इस प्रकार किया है—यह और बातोंमें नाटकके तुल्य होना चाहिये, किन्तु इसका उपाख्यान लौकिक हो, नायक कोई मन्त्री, धनी या ब्राह्मण हो। इसकी नायिका मन्त्रिकन्या, किसीके घरमें आश्रितभावसे रहनेवाली एवं वेश्या हो। प्रथमावस्थामें **शुद्ध** और द्वितीयावस्थामें प्रकरणकी **संकर** संज्ञा होती है। उदाहरण, 'मल्लिकामारुत', 'मालती-माधव' और 'मृच्छकटिक'।

राघवन्‌ने प्रकरणपर विशेष रूपसे विचार करते हुए संस्कृतके इस रूपकमें त्रासद तत्त्वोंकी खोज की है। उनका मत है कि भारतीय मतकी सीमाके अन्तर्गत प्रकरणमे त्रासद तत्त्व पर्याप्त मात्रामे विद्यमान है। प्रकरणमे कौशिकीवृत्तिका अभाव इसका प्रमाण है। 'मृच्छकटिक', 'तरंगदत्त', 'मालतीमाधव' आदि प्रकरणोके पर्यवेक्षणसे यह सिद्ध होता है कि प्रकरणमे त्रासद तत्त्वका होना अनिवार्य है। अश्वघोषके 'सारिपुत्रप्रकरण'से उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि प्रकरणको धार्मिकताका रूप भी दिया जाता था। इस प्रकरणमे बुद्धकी जीवनीके साथ सारिपुत्र, ब्राह्मण मौद्गलायन एवं विदूषक भी पात्रके रूपमें आते है (द सोशल प्ले इन संस्कृत, पृ० ५-६)।

निष्कर्षरूपमें कहा जा सकता है कि प्रकरणका कथानक लौकिक और कविकल्पित होता है। उसका नायक धीर और शान्त होता है, अर्थात् वह मन्त्री, ब्राह्मण या वैश्य हो सकता है; धर्म, अर्थ और कामकी प्राप्तिके लिए वह तत्पर रहता है और कई विघ्न-बाधाओका सामना करते हुए अपने अभीष्टकी प्राप्ति करता है। प्रकरणमे नायिका कुल-कन्या या वेश्या होती है और कहीं-कहीं दोनो भी। इस दृष्टिसे प्रकरणके तीन भेद माने गये है—(१) जिसमे नायिका कुल-कन्या हो, वह शुद्ध, (२) जिसमें वेश्या हो, वह विकृत और (३) जिसमे दोनों हो, वह संकीर्ण। 'तरंगदत्त' और 'मालतीमाधव' शुद्ध प्रकरण हैं, 'पुष्पदूतिका' विकृत है, 'मृच्छकटिक' संकीर्ण है। संकीर्ण प्रकरण धूर्त्त, जुआरी, विट, चेटादि पात्रोंसे संकुल रहता है। **रस, सन्धि, प्रवेशक** आदि बातोंमे प्रकरण नाटकके ही समान होता है। इसमे त्रासद तत्वोका बाहुल्य होता है। इस प्रकार अंग्रेजीके **ट्रैजेडी**का रूप इसमे प्रायः देखनेको मिलता है। —द० ओ०

प्रकरणवक्रता—(प्रकरण = काव्य-प्रबन्धका एक देश + वक्रता = विन्यासविचित्रता)—'प्रकरणवक्रता'का अभिप्राय काव्य प्रबन्धके एकदेशकी रमणीयता अथवा चमत्कारिता है। यदि किसी काव्य-प्रबन्धके कतिपय अंग रमणीय लग गये तो 'अंगी'-रूपसे अवस्थित काव्य-प्रबन्धकी रमणीयता अनायास सिद्ध हो गयी। प्रकरणवक्रताका मूल कारण कवि-कला है, जिसके विश्लेषणमें प्रकरणकी रसनिर्भरता और औचित्य-मयता (एक शब्दमें 'वक्रता') आदिके नियामक तत्त्वोंका विश्लेषण किया जा सकता है। काव्य अथवा नाटकके प्रकरणों अथवा अंगोंकी वक्रताका सर्वप्रथम नियामक **पात्र-प्रवृत्ति** है। पात्रप्रवृत्तिका अभिप्राय काव्य अथवा नाट्यके पात्रोंका ऐसा व्यक्तित्व-प्रदर्शन है, जो कवि-प्रतिभासम्भूत होते हुए भी स्वाभाविक और उत्साहपूर्ण प्रतीत हुआ करता है। संस्कृतके जितने भी प्रसिद्ध काव्य अथवा नाट्य-प्रबन्ध है, उनके रचनाकारोंने पात्रप्रवृत्तिके द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकरणोंको रसमय बनाया है और अपने काव्य अथवा नाट्य-प्रबन्धकी रसमयताको आकस्मिकतासे बचाया है। इस दृष्टिसे प्रकरणवक्रतामें हिन्दीके महाकवि भी पीछे नहीं। उदाहरणके लिए, 'साकेत'मे कैकेयीकी उक्ति—"यदि मैं उकसायी गयी भरतसे होऊँ। तो पति-समान ही स्वयं पुत्र भी खोऊँ" और रामकी प्रत्युक्ति—"हे अम्ब तुम्हारा राम

जानता है सब। इस कारण वह कुछ खेद मानता है कब?" में जो पात्रप्रवृत्ति है, उसकी महिमासे यह निर्वेद-प्रकरण रस-निर्भर हो उठा है और 'साकेत'की रस-सरिताको अपने रससे भर रहा है।

प्रकरणवक्रताका दूसरा नियामक वह है, जिसे **उत्पाद्य कथा** (दे० 'उत्पाद्यलवलावण्य') कहा करते है। उत्पाद्य-कथालावण्यका अभिप्राय काव्य अथवा नाट्य-प्रबन्धके प्रसिद्ध इतिवृत्तमे ऐसे कल्पित कथांशकी योजनाका सौन्दर्य है, जो रसभावका अधिकाधिक उद्दीपक हुआ करता है। कवि अथवा नाटककारकी कृति कथा-वस्तुका निर्वाहमात्र नहीं, अपितु रसभावकी सृष्टि है। इस दृष्टिसे कवि अथवा नाटककार प्रसिद्ध इतिवृत्तमें अपनी कल्पनासे कुछ जोड भी सकता है, जो रसोपयोगी हो और प्रसिद्ध इतिवृत्तसे कुछ हटा भी सकता है, जो कि रसोपयोगी न हो। उदाहरणके लिए, संस्कृतके कवि भवभूतिके 'उत्तररामचरित' नाटकके प्रथम अंकमें 'चित्रशालामे राम और सीता' के वृत्तान्तकी जो मौलिक योजना है, वह इसलिए है, जिसमें नाटककी करुण धारा, उद्गमसे अन्ततक, सहृदय-हृदयको अपनी ओर खीचती रहे। वक्रोक्तिके प्रतिष्ठापक आचार्यने इसीलिए कहा है—"निरन्तररसोद्गारगर्भसन्दर्भनिर्भरा। गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः" (व० जी०, ४), अर्थात् काव्य अथवा नाट्य-कृतिकी सफलता इतिवृत्त-वर्णनमे नही, अपितु ऐसे सन्दर्भो अथवा प्रकरणोके विन्यास-वैचित्र्यमे है, जो रसभाव-रमणीय हुआ करते हैं। रसभावके समुन्मीलनके लिए कवि नवीन कथांशकी कल्पना किंवा प्राचीन इतिवृत्तके परिवर्तन, दोनोंमें स्वतन्त्र है।

प्रकरण वक्रताका तीसरा नियामक **उपकार्योपकारक-भाव** है। यदि काव्य अथवा नाट्य-प्रबन्धके भिन्न-भिन्न प्रकरणोंमें परस्पर 'उपकार्योपकारकभाव' न हो तो जहाँ-तहाँ प्रकरण-सौन्दर्य होनेपर भी प्रबन्ध-सौन्दर्य नही हो सकता। 'प्रकरण'का सौन्दर्य अपने लिए नही, अपितु प्रबन्धके लिए हुआ करता है। वक्रोक्तिजीवितकारने इसीलिए कहा है—"प्रबन्धस्यैकदेशानां फलबन्धानुबन्धवान्। उपकार्योपकर्तृत्वपरिस्पन्दः परिस्फुरन्। असामान्यसमुल्लेखप्रतिभाप्रतिभासिनः। सूते नूतनवक्रत्वरहस्यं कस्यचित्कवेः" (व० जी०, ४ : ५–६), अर्थात् प्रबन्ध काव्यके प्रकरणोकी परस्पर सुसंश्लिष्टता महाकवियोंकी प्रतिभा और कलाकी एक अनुपम विशेषता हुआ करती है। जिस काव्य अथवा नाटक-प्रबन्धके प्रकरणोंमें 'अनुग्राह्यानुग्राहकभाव' (उपकार्योपकारकभाव) विराजमान रहा करता है, जिससे प्रत्येक प्रकरण एक दूसरेके समर्थक लगा करते है और प्रबन्धके प्रधान विषय अथवा रसभावका परिपोषण किया करते है, उस काव्य अथवा नाटक-प्रबन्धमें कवि-कलाका एक विचित्र वैभव झलका करता है। उदाहरणके लिए, विशाखदत्तके 'मुद्राराक्षस'के प्रकरणोका परस्पर उपकार्योपकारकभाव। 'मुद्राराक्षस'के कई एक प्रकरण है, जिनमें पहले अंकमें 'मुद्रालाभ' (महामात्य राक्षसकी अँगूठीका चाणक्यके हाथ लगने)का प्रकरण है। इस प्रकरणकी 'मुद्रालाभ'की घटना नाटकके पाँचवें अंकके 'राक्षसनिकार' नामक-प्रकरणकी राक्षस-विग्रह घटनाका मूल स्रोत है और नाटकके मुख्य कार्य, अर्थात् राक्षस-वशीकरणका मूल बीज है।

वस्तुतः काव्य अथवा नाटक-प्रबन्धमें 'उपकार्योपकारक-भाव' ही वह वज्रलेप (प्लास्टर) है, जो प्रत्येक प्रकरणको सुघटित-सुसंश्लिष्ट बनाये रहता है, जिससे काव्य अथवा नाट्यका भवन टिकाऊ हुआ करता है और अपने सौन्दर्य-औचित्यमे परिपूर्ण लगा करता है।

प्रकरणका चौथा नियामक **आवृत्ति** अथवा काव्यनाट्य-प्रबन्धके प्रत्येक प्रकरणमें एक वस्तु-स्वरूपकी नयी-नयी दृष्टि और नयी-नयी भावभंगिमाके साथ औचित्यपूर्ण पुनःपुनः योजना है—"प्रतिप्रकरणं प्रौढप्रतिभाभोगयोजितः। एक एकाभिधेयात्मा वध्यमानः पुनः पुनः। अन्यूननूतनोल्लेखरसालंकरणोज्ज्वलः। बध्नाति वक्रतोद्भेदभंगीमुत्पादिताद्भुताम्" (व० जी०, ४ : ७–८)। वर्ण्य वस्तुकी आवृत्ति पुनरुक्ति नही, अपितु प्राचीनतामे नवीनता और नवीनतामे रमणीयता है। प्रतिभा-सम्पन्न कवि अथवा नाटककार ही अपने काव्य अथवा नाटक-प्रबन्धके प्रत्येक प्रकरणमे एक वस्तुकी पुनर्वर्णनामे रमणीयता और रसमयताकी सृष्टि कर सकता है। उदाहरणके लिए, जयशंकर 'प्रसाद'के 'अजातशत्रु'के पहले अंक (दूसरे दृश्य)मे महाराज बिम्बिसारकी जो मनःस्थिति रेखांकित है—"मनुष्य व्यर्थ महत्त्वकी आकांक्षामे मरता है, अपनी नीची, किन्तु सुदृढ़ परिस्थितिमें उसे सन्तोष नहीं होता; नीचेसे ऊँचे चढ़ना ही चाहता है, चाहे फिर गिरे तो भी क्या?" वही दूसरे अंक(छठे दृश्य)में भी चित्रित हुई है—"प्रत्येक असम्भावित घटनाके मूलमें यही बवण्डर है। सच तो यह है कि विश्वभरमे स्थान-स्थानपर वात्याचक्र है; जलमे उसे भँवर कहते है स्थलपर उसे बवण्डर कहते है, राज्यमे विप्लव, समाजमे उच्छृंखलता और धर्ममे पाप कहते है"। और उसीका तीसरे अंक (नवें दृश्य)मे पुनश्चित्रण है—"हाय रे मानव! क्यों इतनी दुरभिलाषाएँ बिजलीकी तरह तू अपने हृदयमें आलोकित करता है? क्या निर्मल-ज्योति तारागणकी मधुर किरणोंके सदृश सद्वृत्तियोंका विकास तुझे नहीं रुचता? भयानक भावुकता और उद्वेगजनक अन्तःकरण लेकर क्यों तू व्यग्र हो रहा है?" किन्तु यह सब पुनरुक्ति दोष नहीं, अपितु इस नाटकके प्रकरणमे एक वस्तुस्वरूपकी ऐसी पुनरावृत्ति अथवा पुनर्योजना है, जिसमें औचित्य है और सहृदय-हृदयको रह-रहकर आकर्षित करनेकी शक्ति है। जहाँ प्रथम चित्रमे बिम्बिसारके उद्वेगजन्य निर्वेदकी झलक मिलती है और दूसरेमें इस 'निर्वेद'की मूकता भयंकर चीत्कारमें बदल जाती है, वहाँ तीसरेमें 'निर्वेदका यह उद्वेग 'आत्मावमानन'की शान्तिमें सोता दिखाई देता है।

प्रकरणवक्रताका पाँचवाँ नियामक **प्रासंगिक** अथवा प्रस्तुतोचित सूर्योदय, सूर्यास्तमय प्रभृति प्रसंगोकी ऐसी योजना है जो प्रबन्धके सौन्दर्य-वैभवको समृद्ध किया करती है, जैसे कि 'अजातशत्रु' (तीसरा अंक, तीसरा दृश्य)में मेघवर्णनका यह प्रसंग—"अलकाकी किस विकल विरहिणीकी पलकोंका ले अवलम्ब, सुखी सो रहे थे इतने दिन, कैसे हे नीरद निकुरम्ब"। यह एक प्राकृतिक दृश्यका वर्णनमात्र नहीं, अपितु 'शैलेन्द्र-मल्लिका-प्रकरण'मे

शैलेन्द्रके हृदय-परिवर्तनका सूचक है और नाटकके रसभाव-का एक सुन्दर उन्मीलन है।

प्रकरणवक्रताके छठे नियामकके रूपमें **प्रकरणरस** दिखाई देता है। प्रकरणरसका अभिप्राय प्रकरणमें (काव्यके सर्ग अथवा नाटकके अंकमें प्रबन्ध-रसके निष्पन्नभूत और साथ-ही-साथ प्रबन्ध-रसके परिपोषक रसभावकी योजनाका औचित्य है, जैसा कि वक्रोक्ति-सिद्धान्तके प्रवर्तकका कहना—"यत्रांगिरसनिष्यन्दनिकषः कोऽपि लक्ष्यते। पूर्वोत्तरै-रसम्पाद्यःसांकादेः काऽपि वक्रता" (व० जी०, ४: १०)। अर्थात् प्रकरण अथवा काव्यके किसी सर्ग और नाटकके किसी अंककी वक्रता अथवा विन्यास-विचित्रता कवि-कलाकी एक अतिरिक्त ही विशेषता है, जिसका कारण वह प्रकरण-रस है, जो कि पूर्व किंवा उत्तरवर्ती सर्गों और अंकोंके रसभावसे सर्वथा विलक्षण रूपमें चमत्कारजनक लगा करता है और प्रबन्ध-रसके प्रवाहका प्राण-सा प्रतीत हुआ करता है। उदाहरणके लिए, कालिदासके 'विक्रमोर्वशीय'के 'उन्मत्तांक'का प्रकरण-रस, जो कि 'विक्रमोर्वशीय'के विप्रलम्भ-शृंगारकी सुन्दरतम् अभिव्यक्तिकी मूल प्रेरणा-सा प्रतीत होता है।

प्रकरणवक्रताका सातवाँ नियामक **अवान्तरवस्तुयोजना** अथवा **वस्त्वन्तरवैचित्र्ययोजना** है। वक्रोक्तिजीवित-कारने स्पष्ट कहा है—"प्रधानवस्तुनिष्पत्त्यै वस्त्वन्तरवि-चित्रता। यत्रोल्लसति सोल्लेखा साऽपराप्यस्य वक्रता" अर्थात् एक नवीन प्रकारकी प्रकरणवक्रता वह है, जो कि ऐसी वस्त्वन्तरविचित्रताकी योजना (अवान्तरवस्तु-योजना)से निष्पन्न हुआ करती है, जिससे काव्य-नाट्य-प्रबन्धका प्रधान इतिवृत्त सुन्दर और सरस बन जाया करता है।

अवान्तरवस्तुयोजनाके द्वारा प्रकरणवक्रताके उदाहरण-रूपमें संस्कृतके कवि विशाखदत्तकी कृति 'मुद्राराक्षस'के छठे अंकका वह प्रसंग लिया जा सकता है, जिसमें महामात्य राक्षस और आत्महत्याका अभिनय करनेवाले चाणक्यके गुप्तचरके वृत्तान्तका वर्णन है। इस 'अवान्तर-वस्तु'की योजनासे चन्दनदासके प्राणरक्षणके लिए राक्षसके आत्मसमर्पण करनेके निश्चय और चाणक्यकी विजय, दोनोंका अनायास परिपोष हो जाता है, जिससे नाटकका रस निर्गल रूपसे प्रवाहित होकर सहृदय-हृदयमें प्रविष्ट हो जाता है।

प्रकरणवक्रताका आठवाँ नियामक काव्य-नाट्य-प्रबन्धके किसी प्रकरणमें **प्रकरणान्तर**की योजना है—"सामाजिक-जनाह्लादनिर्माणनिपुणैर्नटैः। तद्भूमिकां समास्थाय निर्वर्तितनटान्तरम्" (व० जी०, ४: १२–१३), अर्थात् किसी नाट्य-प्रबन्धके किसी प्रकरणमें 'अन्तः प्रकरण' (जैसे कि नाटकके किसी अंकमें गर्भांक) ऐसा लगता है जैसे वह समस्त रूपका प्राणभूत रूपक हो। अन्तःप्रकरणकी योजना उसी रूपक-प्रबन्धमें सम्भव है, जिसमें नाटककारकी कला स्फूर्तिशीलतासे भरी रहा करती है। रूपक-प्रबन्धके किसी अंकमें विन्यस्त गर्भांकके प्रदर्शनमें रूपकके प्रधान नट तो सामाजिक बन जाते हैं और अन्य नट अभिनय किया करते हैं। इस दृश्यके दर्शनसे नाटकके सामाजिकोंको एक अद्भुत आनन्दका अनुभव हुआ करता है। अन्तःप्रकरणकी योजनासे प्रकरणवक्रताके उदाहरणरूपमें राजशेखर-रचित 'बालरामायण'के चतुर्थ अंकका 'गर्भांक' लिया जा सकता है।

प्रकरणवक्रताका अन्तिम, किन्तु एक प्रमुख नियामक वह है, जिसे **सन्ध्यंगविनिवेश** कहा जाता है—"मुखादि-सन्धिसन्ध्यंगसंविधानकबन्धुरम्। पूर्वोत्तरादिसंगत्या भंगानां विनिवेशनम्। वक्रतोल्लेखलावण्यमुल्लासयति नूतनम्' (व० जी०, ४: १४-१५)। अर्थात् काव्य अथवा नाटक-प्रबन्धकी प्रकरणवक्रतामें सन्धि-सन्ध्यंग-योजनाकी देन अनुपम हुआ करती है। पूर्ववर्ती प्रकरण उत्तरवर्ती प्रकरणके रसभावको समुल्लसित करते चलते हैं और काव्य अथवा नाट्य-प्रबन्धमें सर्वत्र ऐसी रसोचित संगति दिखाई देने लगती है, जिसमें सहृदय सामाजिक अपने रसानुभावका युक्तियुक्त विश्लेषण कर सकता है।

प्रकरणवक्रताके सम्बन्धमें यह ध्यान रखना चाहिये कि प्रबन्ध-निर्माण-निपुण कवि या नाटककारकी प्रबन्धकला ही प्रकरणके वैचित्र्य और सौन्दर्य किंवा औचित्य और चमत्कारकी जननी है। प्रकरण-सौन्दर्य वह तरंग है, जिसे प्रबन्ध-सौन्दर्यके सागरमें क्रीडा करते देखा जा सकता है। —स० व्र० सिं०

प्रकरणरसवक्रता–दे० 'प्रकरणवक्रता', छठा नियामक।

प्रकरणांतरवक्रता–दे० 'प्रकरणवक्रता', आठवाँ नियामक।

प्रकरणिका–प्रकरणकी सजातीया है। इसमें नायक व्यापारी होता है, नायिका उसकी अपनी सजातीया होती है। शेष बातें प्रकरणके समान होती हैं। उदाहरण प्राप्य नहीं है। —वि० रा०

प्रकरी–प्रासंगिक कथाके दो भेद होते हैं—**पताका** और प्रकरी। प्रकरी उन छोटी-छोटी कथाओंको कहते हैं, जो समय-समयपर उपस्थित होकर मुख्य कथाकी सहायता कर समाप्त हो जाती हैं। प्रकरीका वृत्त अत्यधिक संकुचित होता है, यह एक ही प्रदेशतक सीमित रहती है, जैसे 'प्रसाद'के 'चन्द्रगुप्त' नाटकमें चन्द्रगुप्त और दाण्डायनका मिलन। —ब० सिं०

प्रकाशितविरुद्ध–दे० 'अर्थ-दोष', पन्द्रहवाँ।

प्रकृति–इस गुणमय जगत्के दो अत्यन्त स्पष्ट तत्त्व हैं पुरुष (दे० पुरुष) और प्रकृति। प्रकृतिको माया भी कहते हैं। यह पुरुषके ठीक विपरीत परिवर्तनशील, नाशमान् और जड़ है। कुछ आचार्य प्रकृति और पुरुषमें योग्यता सम्बन्ध मानते हैं। कुछका कहना है कि वास्तवमें प्रकृति पुरुषकी शक्ति है, इसकी अलग सत्ता नहीं है। मत्स्येन्द्रनाथने शक्ति और शिव (प्रकृति और पुरुष)को अभिन्न बताया है। एक दूसरेके बिना रह ही नहीं सकता (कौ० ज्ञा० नि०, १७।८)। गीता (९।१०)में भगवान्ने प्रकृतिको अपने अधीन बताते हुए कहा है कि "मैं अध्यक्ष होकर प्रकृतिसे सम्पूर्ण चराचर सृष्टि उत्पन्न करवाता हूँ"। सांख्यवादियोंके अनुसार प्रकृति पुरुषको अपने मायाजाल या कंचुकोंमें बाँधकर जीव-जगत्-की सृष्टि करती है। यह दृश्यमान जगत् उसीका विकार है। सत्त्व, रज और तम नामक तीन गुणोंकी साम्यावस्था-का नाम ही प्रकृति है। सांख्यवादी जगत्को प्रधानतः चार भागोंमें बाँटते हैं (दे० पुरुष)। इनमें चौथा 'पुरुष'

निर्विकार है। शेष तीनोंके विकारसे पच्चीस तत्त्व (दे० तत्त्व) उत्पन्न होते हैं और इन्हीं तत्त्वोंसे सृष्टि बनती है। चूँकि वेदान्ती प्रकृतिकी अलग सत्ता नहीं मानते। उसे पुरुषकी आश्रिता और उसकी शक्ति मानते हैं, अतः प्रकृतिके विकारसे उत्पन्न होनेवाले उक्त तत्त्वोंकी सत्ता भी नहीं मानते। उनके मतसे प्रकृति माया है।

तान्त्रिक प्रकृतिको जड नहीं मानते। उनके मतसे क्रिया प्रकृतिका स्वभाव है। 'शारदा तिलक'के अनुसार शिवके दो रूप हैं—निष्कल (निर्गुण) और सकल (सगुण)। जब शिवका शक्ति (प्रकृति)से योग होता है तो सगुण शिवका आविर्भाव होता है। निर्गुण शिव विशुद्ध चैतन्यस्वरूप है, सगुण शिव उपाधियुक्त। उपाधियुक्त शिवसे उपाधियुक्त शक्ति उत्पन्न होती है और इन दोनोंके संयोगसे परनाद पैदा होता है। परनादकी क्रियाशीलता परविन्दुको जन्म देती है। परविन्दु और परनादसे अपर (विशेषतायुक्त) नाद, बीज और विन्दु उत्पन्न होते हैं, जो क्रमशः इच्छा, ज्ञान और क्रियाके प्रतीक हैं। आगे चलकर इन्हींसे विष्णु, ब्रह्मा और रुद्रका उद्भव होता है।

प्रकृति शक्तिकी वह अवस्था है, जो माया और उसके कंचुकोंसे आवृत होनेसे उत्पन्न होती है। पुरुष भोक्ता है और प्रकृति भोग्या है। सगुण शिवको अपने कंचुको द्वारा आवृत करके यह जहाँ उसकी शक्तियोंको सीमित करती है, वहीं उसके संकुचित होनेके साथ-ही-साथ स्वयं भी संकुचित हो जाती है। तन्त्रोंमें स्वीकृत ३६ तत्त्वोंमेंसे एक प्रकृति भी है। वहाँ इसे अशुद्ध तत्त्वोंके अन्तर्गत रखा जाता है। प्रकृति शिवकी शान्ता शक्ति है। यह इच्छा, ज्ञान और क्रिया नामक शक्तियोंके स्थूल रूप सत्त्व, रज और तम नामधारी गुणोंकी साम्यावस्था है। सृष्टिके नियोजक अन्तःकरण, इन्द्रियाँ और पंच महाभूत प्रकृतिके ही विभिन्न रूप है। गीताके अनुसार प्रकृति "कार्य, कारण और कर्तृत्वका हेतु" है, अर्थात् देह और इन्द्रियोंका व्यापार प्रकृति करती है (१३।२०)। —रा० सिं०

प्रकृतिवाद—ग्रीसके प्रारम्भिक हेलोजोइस्ट (hylogoist) दार्शनिकोंके अनुसार प्रकृतिका अर्थ अस्तित्वमात्र था। सोफिस्टों (sophists)ने प्रकृतिको विश्वसर्जनके रूपमें ग्रहण किया है और प्राकृतिकको मौलिक स्वीकार किया है, जिसके विपरीत मनुष्यकृत माना जा सकता है। आगेके युगमें प्लेटो और ईसाई धर्मके प्रभावसे प्रकृति वस्तुके रूपमे स्वीकृत हुई और प्रकृतिवाद भौतिकवादका समानार्थी माना गया। यूरोपके पुनरुत्थान-युगके दार्शनिकों, विचारकों तथा कवियोंने पुनः प्रकृतिको अति प्राचीन ग्रीक अर्थमें सर्वव्यापक सर्जन-शक्तिके रूपमें प्रतिष्ठित किया है। परन्तु दार्शनिक पद्धतियोंमें इस विचार और भावनाकी कई रूपोंमें स्वीकृति होनेपर भी इस नामको प्रतिष्ठा नहीं मिली है। इन्होंने प्रेरणाका कार्य किया है और वास्तवमें प्रकृतिवादकी स्वीकृति १८वीं तथा १९वी शतीके अंग्रेजी, अमेरिकन तथा यूरोपियन कवियोंमे रही है। उन्होंने प्रकृतिका मानवीकरण किया, उसको सचेतन रूप दिया है। इन प्रकृतिके कवियोंने उसे केवल एक विशिष्ट स्मृतिके रूपमें नहीं माना, वरन् एक ऐसे मौलिक सत्य(सिद्धान्त)के रूपमें ग्रहण किया है, जो सर्जनमें परिव्याप्त है। उन्होंने बाह्य प्रकृतिमें सौन्दर्यके विविध रूपोंके साथ विश्वके नियम और व्यवस्थाके दर्शन किये। एक ओर इन विविध सौन्दर्यरूपोंसे सौन्दर्यानुभूतिका आनन्द प्राप्त हुआ और दूसरी ओर इन्हींसे ऐक्य तथा नियमकी दार्शनिक भावनाको भी प्रेरणा मिली।

इस प्रकृतिवादका सम्बन्ध रोमांनिक भावधारासे घनिष्ठ रहा है। प्राकृतवादी जीवन-क्रमको सर्वाधिक महत्त्व देनेवाले साहित्यकारोंको प्राकृतवादी (naturalist) कहा जाता है (दे० 'प्राकृतवाद')। यही कारण है कि इन कवियोंके प्रकृति सम्बन्धी दृष्टिकोणमें भी मुक्तिकी भावना अन्तर्निहित है। प्रारम्भमें रूढिवादी धर्मके विरोधकी भावना अवश्य थी। आध्यात्मिक धर्म-विश्वासोंके स्थानपर इनका आग्रह प्रकृतिपर विश्वास करनेकी ओर था। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि ये धार्मिक भावनासे हीन थे। वस्तुतः इनकी दृष्टिमें प्रकृति सामान्यतः मानवके प्रति दयालु, सहानुभूतिशील है। कुछके अनुसार इसमें किसी शीलवान् तथा बुद्धिमान् देवताका आभास भी मिलता है। वास्तवमें ये दोनों भावधाराएँ एक-दूसरीसे प्रभावित तथा एक-दूसरीमें समन्वित हुई है। इस धार्मिक भावनाके कारण ही रोमांसिक कवियोंके प्रकृतिवादमें रहस्यवादका रूप भी विकसित हुआ। अंग्रेजी रोमांसिक कवियोंमें इस प्रकृतिवादका स्पष्ट रूप पाया जाता है। वर्ड्सवर्थ (१७७०-१८५० ई०), शेली (१७९२-१८२२ ई०) तथा जर्मन कवि गेटे (१७४९-१८३२ ई०) आदि प्रकृतिवादी है, जो प्रकृतिके सौन्दर्यमें अनन्त जीवन और सर्जनके स्फुरणका अनुभव करते है। वर्ड्सवर्थने प्रारम्भमे तो प्रकृतिको मानव-जीवनका एकमात्र प्रेरणा-स्रोत माना है। वह मानवके लिए शिक्षक है और निर्देशक भी, उसके सामीप्यमें ही मानव कल्याणशील है। परन्तु क्रमशः वर्ड्सवर्थने प्रकृतिके अन्तरालमे किसी व्यापक नियन्तृ-शक्तिका आभास पाया है। शेलीके प्रकृति सम्बन्धी सौन्दर्यबोधमें यह आभास सदा ही मिलता है। शेलीकी प्रकृतिमे सौन्दर्यके साथ एक व्याप्त शक्ति और गति भी है, जो उसकी आन्तरिक शक्तिका ही प्रतीक है। गेटेकी प्रकृतिमे विराट् तत्त्व सन्निहित है। इसके बाद कॉलरिज (१७७२-१८३४), इमर्सन (१८०२-८२) तथा ह्विटमैन (१८१९-९२ ई०)के प्रकृतिवादमें एक परात्पर (transcendental) सत्यका आरोप किया गया है और इस प्रकार इनमे धार्मिक भावनाकी प्रेरणा भी विशेष रूपसे पायी जाती है। इनके लिए प्रकृति उस आध्यात्मिक सत्यका माध्यम अथवा अभिव्यक्तीकरण है। विक्टोरियन युगतक प्रकृतिके सम्बन्धमें दृष्टिकोण बहुत-कुछ बदल चुका था। विकासवाद और विज्ञानवादके प्रभावसे प्रकृतिका वह आकर्षण और सचेतनता अर्थहीन हो चली थी। मैथ्यू आर्नाल्ड (१८२२-८८ ई०) तथा टेनिसन (१८०९-९२ई०)में प्रकृति बहुत-कुछ मानव-जीवनकी पृष्ठभूमि अथवा घटनास्थलीके रूपमे अंकित है, जो मानव-जीवनके प्रति निरपेक्ष और उदासीन भी हो सकती है। फिर भी इस युगमें, विशेषकर ब्राउनिंग (१८०६-६१), स्वीनबर्न (१८३७-१९०९) तथा मेरेडिथ (१८२८-१९०९ ई०)में प्रकृतिके प्रति सौन्दर्य सम्बन्धी आकर्षण है। वर्तमान युगके कविके लिए नये सन्दर्भोंमें प्रकृतिका सारा

आकर्षण और सौन्दर्य निरर्थक हो गया। वह जीवनकी विशेषताओंकी उलझनोंमें इस प्रकार घिर गया है कि उसके चतुर्दिक् विकर्षक, स्वादहीन और जुगुप्सित ही अधिक है।

भारतीय विचारधारामें वैदिक युग एक ऐसा युग अवश्य माना जा सकता है, जिसमें प्रकृतिवादी भावनाकी एक सीमातक अभिव्यक्ति हुई थी। वैदिक गीतात्मक काव्यमें प्रकृतिका उन्मुक्त वातावरण है और उसके साथ सहज सम्बन्ध भी स्थापित किया गया है। उस युगमें वैदिक कवि प्रकृतिके चतुर्दिक् फैले हुए राशि-राशि सौन्दर्यको विमुग्ध तथा चमत्कृत दृष्टिसे देखता और आनन्द तथा कौतूहलसे विभोर होता था। ऋग्वेदका कवि प्रकृतिके रूपको तन्मय होकर देखता है, प्रकृतिकी गति और क्षण-क्षण बदलनेवाले रूपोंमें किसी व्यापक और नियामक शक्तिका आवाहन करता हुआ उल्लसित होता है। वह प्रकृतिके बिखरे हुए सौन्दर्य और चैतन्यमें अपने जीवनकी अनुरूपता पाता है और उसमें आह्लादके साथ प्राण-प्रतिष्ठा करता है।

परन्तु आगेके युगोंमें प्रकृतिवादको स्थान नहीं मिला। वैदिक भावनामें ब्रह्मकी कल्पनाके साथ ही प्रकृतिका सारा वैभव, आकर्षण तथा दैवत्व विलीन हो गया। बौद्ध-धर्म तथा जैन-धर्म जीवनके प्रति क्षणवादी तथा निराशावादी हैं। प्रकृतिका उल्लास और आकर्षण उनकी प्रकृतिके नितान्त विपरीत था। इनकी धार्मिक गाथाओंमें व्यापक करुणा और विरागके साथ प्रकृति आनन्द और उल्लासके विषयके रूपमें यत्र-तत्र अंकित है। कहीं किसी स्थलपर प्रकृतिके साथ भाव-तादात्म्य भी मिलता है। परन्तु उनकी वैराग्य-भावनामें प्रकृतिका सारा सौन्दर्य क्षणिक है। सम्पूर्ण संस्कृत साहित्यमें प्रकृतिका महत्त्वपूर्ण स्थान है। परन्तु इन कवियोंके लिए प्रकृतिका स्थान ब्रह्म-कल्पना तथा मानव-भावनाके नादका है। संस्कृत महाकाव्योंमें प्रकृतिके कोमल तथा विशद सौन्दर्यका व्यापक चित्रण मिलता है, विशेष-कर कालिदास, बाण, भवभूति और प्राकृत कवि प्रवरसेनमें प्रकृति-सौन्दर्यके नाना रूप विस्तृत योजनाके साथ अंकित है। कालिदासके महाकाव्यों, नाटकों तथा 'मेघदूत'में प्रकृतिके प्रति अनन्त सहानुभूति तथा आत्मीयताके दर्शन होते है। प्रकृतिके प्रति मानवीय तथा पारिवारिक आत्मीयताका भाव भारतीय काव्यकी विशेषता है। कालिदासके 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' तथा भवभूतिके 'उत्तररामचरित'में प्रकृतिका यह कोमल तथा करुण रूप अभिव्यक्त हुआ है। बाणकी 'कादम्बरी'में प्रकृतिके सौन्दर्यके बहुत चित्रमय और विविध रूप वर्णित है, ऐसे रूप-रंगका अंकन अन्यत्र कम ही मिलेगा। प्रवरसेनके 'सेतुबन्ध'में प्रकृतिकी कल्पना-का विराट् वैभव मिलता है। बादके महाकाव्यों—माघके 'शिशुपाल-वध', भारविके 'किरातार्जुनीय' तथा श्रीहर्षके 'नैषध' आदिमें प्रकृतिका अंकन रूढ़िवादी होता गया है। संस्कृत साहित्यमें प्रकृतिके इतने विशिष्ट स्थानके होनेपर भी संस्कृत कविके लिए प्रकृतिवादी दृष्टिकोणका महत्त्व नहीं है। प्रकृति उसके लिए कोई प्रेरणा अथवा सन्देशका स्रोत नहीं है। कालिदास तथा भवभूतिको, व्यापक अनुभूति तथा आत्मीयताके कारण, प्रकृतिवादी दृष्टिकोणके निकट माना जा सकता हैं। इसी प्रकार बाण तथा प्रवरसेन आदिको उनके सौन्दर्यबोधके कारण प्रकृतिवादके निकट देखा जा सकता है।

हिन्दी साहित्यके मध्ययुगमें प्रकृतिका स्थान काव्यमें अत्यन्त गौण रहा है। भक्ति-काव्यमें ब्रह्म तथा प्रभुकी भावनाके अन्तर्गत प्रकृति केवल माया या उसकी अभिव्यक्ति-के रूपमें ग्रहण की गयी है। रीतिकालके काव्यमें प्रकृति केवल मानवीय भावनाओंको उद्दीप्त करनेके लिए प्रयुक्त हुई है। संस्कृतके काव्य तथा काव्य-शास्त्र, दोनोंमें प्रकृतिको उद्दीपनरूपमें माना गया था और हिन्दीमें यही दृष्टिकोण मध्ययुगमें व्यापक रूपसे स्वीकृत रहा। वस्तुतः प्रकृतिवादी सौन्दर्योपासना और सगुणवादी रूपोपासनाके दृष्टिकोणमें मौलिक अन्तर है। भारतीय भक्ति-युगके साहित्यमें भगवान्‌की प्रत्यक्ष भावनाके कारण प्रकृतिवादको स्थान नहीं मिल सका। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रकृतिका सौन्दर्य-भाव आध्यात्मिक प्रेरणाका किसी रूपमें विषय नहीं बना। प्रकृतिका राशि-राशि विकीर्ण सौन्दर्य भक्तोंकी भावनाका आलम्बन हुआ है। पर यह समस्त सौन्दर्य उनके आराध्य-के रूप-निर्माणको लेकर ही है। सन्त तथा सूफी प्रेमी साधकों-में अपने उपास्यके आकारका आग्रह नहीं है। इस कारण उनकी सौन्दर्य-योजनामें प्रकृतिका रूप अरूप तथा अतिप्राकृत-की ओर झुका हुआ है। लेकिन सगुण भक्तोंकी रूपसाधनामें प्रकृतिके सौन्दर्यका मूर्त रूप ही प्रत्यक्ष होकर सामने आया है। प्रकृतिवादी तथा वैष्णव सौन्दर्योपासनामें एक प्रकारकी अनुरूपता मिलती है, जो समानान्तर होकर भी प्रतिकूल दिशामें चलती है। प्रकृतिवादी कवि प्रकृतिके फैले हुए सौन्दर्यके प्रति सचेष्ट और आकर्षित होकर उसकी क्रिया-शीलतापर मुग्ध होता है। उसके माध्यमसे किसी अज्ञात सत्ताकी ओर वह अग्रसर होकर उसकी सहानुभूति प्राप्त करता है। वैष्णव भक्तके लिए यही अज्ञात ज्ञात है, परि-चित है। उसका साक्षात् उसके लिए पूर्वनिश्चित है। वह अपने आराध्यके व्यक्तित्व-आकारमें जिस सौन्दर्यका अनन्त दर्शन पाता है, उसमें प्रकृतिका सारा सौन्दर्य अपने आप प्रत्यक्ष हो उठता है। उसके रूप-सौन्दर्यके विभिन्न रूप प्रकृतिवादी भावनाके समान स्थिर, सचेतन और सप्राण, अनन्त और अलौकिक रूपोंसे सम्बन्धित हैं। प्रकृतिवादी दृष्टिकी तुलना रूप-सौन्दर्यतक ही सीमित नहीं है, वरन् प्रकृति-चित्रणमें प्रतिबिम्बित आह्लाद और उल्लास-की भावनामें भी देखी जा सकती है। प्रकृतिवादी रहस्य-वादी प्रकृतिके सचेतन-सप्राण सौन्दर्यमें एक ऐसा सम प्राप्त करता है, जो तर्कसे परे होकर आन्तरिक आनन्दका कारण बन जाता है। इसीके विपरीत वैष्णव भक्त-कवि अपने आराध्यकी प्रत्यक्ष सौन्दर्य-भावनासे ऐसा सम स्थापित करता है कि उस क्षण प्रकृति भी आनन्द-भावनासे उल्लसित हो उठती है।

आधुनिक कालमें भारतेन्दु-युगसे ही रोमांसिक भाव-धाराके दर्शन होते है, जिसका किंचित् विकास द्विवेदी-युग-की मुक्त-धाराके कवियोंमें परिलक्षित हुआ है और श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, रूपनारायण पाण्डेय आदि कवियोंमें प्रकृतिके प्रति एक विशेष आकर्षण तथा सौन्दर्य-बोध भी पाया जाता है, जो प्रकृतिवादके निकट है। राम-

चन्द्र शुक्लने प्रकृतिके आलम्बन-रूपका सबल समर्थन किया और उसको उद्दीपनमात्र मानना संकुचित दृष्टिकोण माना है। उनके अनुसार प्रकृतिका अनन्त सौन्दर्य मानव-मनको परिष्कृत और उदात्त बनाता है। इस प्रकार उनके मतमे एक प्रकारसे प्रकृतिवादका समर्थन है। छायावादी कवियोंमें प्रकृति-सौन्दर्यके प्रति विशेष आकर्षण है। 'प्रसाद', पन्त, 'निराला' तथा महादेवी, सभीके काव्यमे प्रकृतिका सौन्दर्य अनेक रूपोंमें व्यंजित हुआ है। परन्तु पन्तको छोड़कर अन्योंमें प्रकृतिपर प्रायः मानवीय भावनाओंका, जीवनका और उसकी मधु-क्रीडाओंका आरोप पाया जाता है। पन्तको अवश्य प्रकृतिके सहज सौन्दर्यने विशेष रूपसे आकर्षित किया है। उनकी प्रकृतिका अपना जीवन है, अपनी चेतना है। वह मानव-सहचरीके रूपमें भी अंकितकी गयी है। उसमे अनन्त प्रेरणाएँ भी है। परन्तु पन्तकी प्रथम युगकी कविताओंमें ही प्रकृतिका सहज सौन्दर्यस्फुरण मिलता है। बादमे पन्त भी प्रकृतिवादके प्रभावसे मुक्त हो गये है और उनमें भिन्न प्रकारका जीवन-दर्शन विकसित हो गया है। नयी कवितामें प्रकृतिको जो यथार्थ तथा प्रभाववादी रूप मिला, उसमें आजके युगके मनुष्यकी संवेदनाओंकी उलझनें ही अधिक है, प्रकृतिका स्वतन्त्र और मुक्त रूप नही।

[सहायक ग्रन्थ—दि कानसेप्ट ऑव नेचर इन नाइनटीन्थ सेंचुरी इंग्लिश पोइट्री : जॉसेफ वारेन बीच; नेचुरलिज्म इन इंग्लिश पोइट्री : स्टफोर्ड ए० ब्रुक्स; प्रकृति और काव्य : रघुवंश।] —र०

प्रकृतिविपर्यय—दे० 'रस-दोष', नवाँ।

प्रकृतिविरोध—दे० 'वर्णन-दोष', पहला।

प्रख्यात वस्तु—इतिवृत्तके मूलके विचारसे नाटककी वस्तुके तीन भेद किये जाते हैं—प्रख्यात, उत्पाद्य तथा मिश्र। प्रख्यात वस्तु इतिहास, पुराणादिसे ग्रहण की जाती है। जयशंकर 'प्रसाद'के 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त', लक्ष्मीनारायण मिश्रके 'वितस्ताकी लहरें', 'प्रेमी'के 'रक्षाबन्धन' आदिकी वस्तु इतिहाससे ली गयी है। 'प्रसाद'के 'जनमेजयका नाग यज्ञ', उदयशंकर भट्टके 'अम्बा'की वस्तु 'महाभारत'से गृहीत है।

प्रख्यात इतिवृत्तको कवि या नाटककार ज्यो-का-त्यों नही ग्रहण कर सकता। इस प्रख्यात वस्तुपर भी कवि या नाटककार अपनी कल्पनाका रंग चढा देता है, पर यह रंग ऐसा होना चाहिये कि मूलभूत कथा या वृत्तकी वास्तविकता लुप्त या विकृत न हो जाय।

'प्रसाद'ने अपने ऐतिहासिक नाटकोंमें कल्पनाका जो पुट दिया है, उससे ऐतिहासिक इतिवृत्तमें कोई विकार नही उत्पन्न हो पाया है, पर उससे नाटकीय अन्वितिमें पूर्णता आ गयी है। संस्कृत नाटककारोंने नायकके धीरोदात्तत्वकी रक्षाके निमित्त नयी परिस्थितियोंकी कल्पना कर ली है। 'अभिज्ञानशाकुन्तल'में दुर्वासाके शापकी कल्पना ऐसी ही है। भवभूतिके 'महावीरचरित'मे बालि-वधकी घटनामें थोड़ा हेर-फेर कर दिया गया है। रामने बालि-का छलसे वध किया, यह प्रख्यात वृत्त है। पर यह रसके औचित्य तथा रामके औदात्त्यके अनुकूल नही है। अतः भवभूतिकी कल्पनाके अनुसार बालि रामसे लडने आया और मारा गया। 'प्रसाद'के ऐतिहासिक इतिवृत्तमें कल्पनाका जो पुट दिखाई पड़ता है, वह या तो बिखरे हुए वृत्तसूत्रोंको एकान्वित करनेके लिए हुआ है अथवा पात्रोंके शीलनिरूपणके लिए। ऐसा करनेके लिए उन्हें अनेक अनैतिहासिक पात्रो तथा घटनाओंकी सृष्टि करनी पड़ी है। 'स्कन्दगुप्त'के शर्वनाग, चक्रपालित और मातृगुप्तके नाटकीय व्यापार सर्वथा इतिहाससम्मत नही है, पर नाटकीय प्रवाह और अन्वितिके रक्षार्थ वैसा कल्पित कर लिया गया है। किन्तु इससे इतिहासके मूल वृत्तमें किसी तरह विक्षेप नहीं आ पाया है। विजया, देवसेना आदि कल्पित पात्रोंका सर्जन स्कन्दगुप्तके शील-निरूपणके लिए हुआ है। —ब० सि०

प्रगति-युग—प्रगति अंग्रेजीके 'प्रोग्रेस'का रूपान्तर है। प्रोग्रेसका अर्थ होता है आगे बढ़ना, एक ऐसा परिवर्तन लाना, जो किसी वस्तु, गुण या परिमाणमे वृद्धि ला सके। निश्चय ही साहित्यमें यह शब्द हमारे जीवनसे सम्बद्ध होकर प्रयुक्त हुआ है।

जीवनके प्रति दृष्टिकोण बदलते ही साहित्यके क्षेत्रमे नया आन्दोलन खड़ा होता है। छायावादकालतक हिन्दीके साहित्यकारका दृष्टिकोण भावात्मक था। वैसे छायावादने भी परम्पराके प्रति विद्रोह किया, किन्तु छायावादियोंका यह विद्रोह प्रायः वैयक्तिक स्तरतक ही उठ सका। छायावादके प्रतिक्रियास्वरूप प्रगतिवादी आन्दोलनकी आवश्यकता हुई।

१७वीं शताब्दीके बादसे होनेवाली वैज्ञानिक उन्नति चिन्तनको धीरे-धीरे बदल रही थी। मनुष्यका अन्धविश्वास टूटने लगा था और तर्कपर उसकी आस्था बढ रही थी। फलतः आदमीके मनमें यह बात बैठ गयी थी कि प्रगतिके लिए, आगे बढनेके लिए, कठिनाइयो और मुसीबतोंसे होड़ लेनेके लिए मनुष्यको किसी अतिमानव या अलौकिक शक्तिकी आवश्यकता नही। सामाजिक वैषम्य प्राकृतिक विधान नही, बल्कि यह मनुष्य द्वारा निर्मित है। कार्ल मार्क्सने यह घोषित किया कि मनुष्य सर्वोपरि है और यह विश्व ईश्वर द्वारा निर्मित नहीं है। इन विचारोंके फलस्वरूप **द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद** (दे०)की प्रतिष्ठा हुई। विज्ञान युगका नेतृत्व करने लगा। नूतन समाजकी कल्पना स्पष्ट हो उठी। इस कल्पनामे ईश्वर और शैतान, पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, कुछ भी शेष नहीं रहे, दुनिया खुशहाल हो गयी, सबको समान अवसर मिलने लगा। कोई वर्ग नहीं, कोई धर्म नही। सब समान और बराबर हो गये। दुनिया व्यक्तिके लिए नहीं रही, बल्कि दुनियामें व्यक्तिका समाहार हो गया।

स्पष्ट है, इन्हीं स्वप्नोंने साहित्यके क्षेत्रमे लोकचेता साहित्यकारोंको प्रेरित किया। भारतमे मेरठ-षड्यन्त्र केसके बाद ही रूसकी वर्गहीन सामाजिक व्यवस्था आकर्षणका केन्द्र बन गयी। मजदूरोंमें संघटनका भाव भरने लगा। ट्रेड यूनियनोंकी जड़ें जमने लगीं। सन् १९३४के लगभग भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी तथा समाजवादी दलकी स्थापना हुई। इस युगकी परिस्थितियाँ अधिक यथार्थ और समस्याएँ अधिक रूक्ष होकर हमारे सामने आयीं। छायावाद हमारी नयी समस्याओं और परिस्थितियोंके प्रति संवेदनशील नहीं

हो सका। फलतः सन् १९३६ ई०मे मुल्कराज आनन्द और सज्जाद जहीरके उद्योगसे 'भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ'की स्थापना हुई। इसके पहले अधिवेशनके सभापति प्रेमचन्द हुए, दूसरेके रवीन्द्रनाथ ठाकुर। यहाँसे प्रगतियुगका क्षीण प्रारम्भ माना जा सकता है। 'प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन' एक अन्तरराष्ट्रीय संस्था है और इसीसे सम्बद्ध भारतवर्षमें यह अधिवेशन हुआ। १९३५मे इस संस्थाका पहला अधिवेशन ई० एम० फार्स्टरके सभापतित्वमे हो चुका था। 'जोश' मलीहाबादी तथा सरदार जाफरीने भी इस आन्दोलनका साथ दिया। शिवदान सिंह चौहानने सन् १९३७के मार्चके 'विशाल भारत'मे 'भारतमें प्रगतिशील साहित्यकी आवश्यकता' लेख लिखा, जिसमें हिन्दी कवियों एवं लेखकोंको उन्होंने ललकारा—"हमारा साहित्यिक नारा कला कलाके लिए नही, वरन् कला संसारको बदलनेके लिए है। इस नारेको बुलन्द करना प्रत्येक प्रगतिशील साहित्यिकका फर्ज है।'

अब छायावादियोंके पैर डगमगाये। सामने कई सैद्धान्तिक प्रश्न आ खड़े हुए। साहित्य किसलिए? स्वयंके लिए अथवा दूसरोंके लिए? साहित्यका अन्तिम प्रयोजन क्या है—आत्मतुष्टि या समाज-कल्याण? साहित्यकी श्रेष्ठताका मापदण्ड क्या है? स्वयं साहित्यकारकी उपलब्धि क्या है? इन प्रश्नोंने छायावादी कवियोंको आत्म-अन्वेषणके लिए बाध्य किया। कहना नही होगा कि इस कालमें छायावादी प्रवृत्तियाँ प्रायः ह्रासोन्मुखी हो चुकी थीं। इस तथ्यको सबने स्वीकार किया। 'विशाल भारत'मे इलाचन्द्र जोशीने 'छायावादका विनाश क्यों हुआ'—शीर्षक लेख लिखा। 'आधुनिक कवि'की भूमिकामे पन्तने लिखा—"छायावाद इसलिए अधिक नहीं रहा कि उसके पास भविष्यके लिए उपयोगी, नवीन आदर्शोंका प्रकाश, नवीन भावनाका सौन्दर्य-बोध और नवीन विचारोंका रस नही था। वह काव्य न रहकर केवल अलंकृत संगीत बन गया था"। इसी प्रकार महादेवीने 'आधुनिक कवि'की भूमिकामें प्रगतिवादियोंको छूट देते हुए उनके साथ एक तरहका समझौता किया—'न वही काव्य हेय है जो अपनी साकारताके लिए केवल स्थूल और व्यक्त जगत्पर आश्रित है और न वही, जो अपनी सप्राणताके लिए रहस्यानुभूतिपर।' इतना ही नहीं १९३७ ई०मे ही पन्तने लिखा—"गा कोकिल, बरसा पावक कण, नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन" अथवा "द्रुत झरो जगत्के जीर्ण पत्र" (युगान्त)। इधर राष्ट्रीय कविताओंमें भी प्रगतिवादी तत्त्व विद्यमान थे। वर्गकी भावनाकी ओर संकेत करनेवाले बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' तथा 'दिनकर'की कविताएँ सन् १९३२से ही देशभरमें लोकप्रिय थी। ब्रजभाषामें रामेश्वर करुणके ७०० दोहोंका संकलन 'करुण सतसई'के नामसे प्रकाशित हो चुका था। ये दोहे रूसी साम्यवादसे प्रभावित थे। इनमें सम्पत्तिपर वैयक्तिक अधिकारको ध्वंस करनेकी तेज माँग थी और ये दोहे नये समाज-निर्माणके पक्षपाती थे। इसी समय 'दिनकर' 'रेणुका'के साथ आये। 'रेणुका'का प्रकाशन १९३५में हुआ। १९३४मे नरेन्द्रका 'शूल-फूल' और १९३६में 'कर्णफूल' प्रकाशित हुआ। भगवतीचरण वर्माका 'प्रेमसंगीत' १९३७मे प्रकाशित हुआ। परन्तु इन काव्य-संग्रहोंमे प्रगतिवादी तत्त्व विद्यमान होते हुए भी, प्रगतिवादी दर्शनका सुस्पष्ट रूप नहीं मिलता। इसीलिए पन्तको 'युगवाणी'को खड़ीबोलीमे प्रथम प्रगतिवादी ग्रन्थ कहलानेका श्रेय मिला।

इन्हीं दिनों द्वितीय महायुद्ध छिड़ा। राष्ट्रीयताकी भावनासे सारा देश जग उठा। स्वातन्त्र्य आन्दोलनने जोर पकड़ा। इधर बंगालमें अकाल आया। आजाद हिन्द फौजके सिपाहियोंपर मुकदमे चलाये गये। विश्व-युद्धमें रूसकी विजय और पराजित हिटलर और मुसोलिनीकी नृशंसता आदिने भारतीयोंको एक विचित्र द्विधामयी स्थितिमें डाल दिया। सन् १९३६-४७के भीतर घटनाएँ बड़ी जल्दी-जल्दी घटी और ये घटनाएँ ऐसी घटित हुई कि उनसे कोई भी उदासीन रहकर अलग चिन्तन नहीं कर सकता था।

अस्तु, अनेक कवि प्रगतिवाद-प्रेरित नये जीवन-आदर्शों एवं लोक-कल्याणके उत्साहसे उत्प्रेरित होकर साहित्य-क्षेत्रमें आये—'निराला', पन्त, 'दिनकर', सुभद्राकुमारी चौहान आदि भी इसी कोटिमें रखे जा सकते है, क्योंकि इन्होंने शोषणके विरुद्ध जनताके पक्षमें स्वर बुलन्द किया। आधुनिक प्रगतिशील कवियोंमें 'सुमन', केदार, गिरिजाकुमार माथुर, नागार्जुन, मुक्तिबोध, भवानीप्रसाद, शमशेर, महेन्द्र भटनागर, नरेन्द्र शर्मा, अंचल, त्रिलोचन तथा रामविलास शर्मा उल्लेखनीय हैं। छायावादके कई प्रमुख कवियोंने बादमें प्रगतिवादी विचारधाराके साथ सहयोग किया। प्रगतिवादी कथाकारोंमे यशपालका नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय है।

'सुमन' क्रान्तिकारी है। उनके काव्यमें युगचेतना जाग्रत् है और वे विश्वके साथ चलकर समुन्नत होनेकी कामना करते है। 'हिल्लोल'में युवा-हृदयकी उत्तेजनाके साथ क्रान्तिके दबे हुए स्वर है; जीवनके गानमें कवि वर्तमान परिस्थितियोंसे असन्तुष्ट और क्षुब्ध होकर विद्रोह करता है; 'प्रलय-सृजन'में कवि विप्लवी हो जाता है। सुमनका दृष्टिकोण मार्क्सवादी है। 'मास्को अब भी दूर है' और 'चली जा रही है बढ़ी लाल सेना', इनकी प्रगतिशील काव्यधाराकी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ है। मानववाद इनका मूल धरातल है और मनुष्यकी जनवादी परम्परामें इनका अखण्ड विश्वास है।

केदारनाथ अग्रवाल छायावादी भाव-भूमिसे विकसित होकर 'युगकी गंगा'तक पहुँचे है। 'युगकी गंगा'में इनकी जनवादी आकांक्षाएँ और गुप्त अन्तर्विरोध अभिव्यक्त हुए हैं। इन्होंने जन-जीवनकी कठोरता, संघर्ष, आर्थिक वैषम्य आदिको यथार्थवादी ढंगसे चित्रित किया है। नागार्जुन साम्राज्यवादकी संस्कृतिके विनाशमें विश्वास करते है। इनके काव्यमें मजदूरकी संघर्षशील चेतना समुन्नत होकर अभिव्यक्त हुई है।

नरेन्द्र आधुनिक हिन्दी काव्यमें एक शक्ति हैं। समाज सुखके वे स्रष्टा है। उनके काव्यमें गहरा यथार्थवाद है। देशकी दरिद्रता, पाखण्ड, शोषण, दुर्दशा और वीभत्सताको उन्होंने स्पष्ट स्वर दिया है।

'अंचल' भारतीय जीवनकी वास्तविक अन्तर्दृष्टि लेकर

प्रगतिवादी सिद्धान्तोंको अपनाते हैं। युगोंमे बद्धमूल अस्वस्थ रूढ़िवादी संस्कारोंके विरुद्ध जनवादी विद्रोह उनका मुख्य स्वर है। 'मधूलिका' और 'अपराजिता'मे जीवन और क्रान्तिके कुछ ही लक्षण दीख पड़ते है, परन्तु 'किरण-वेला'मे आकर प्रगतिशील दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। 'करील'की कविताओंमें समष्टिगत चेतना और जनवादी शक्तियाँ अभिव्यक्त हुई है। ध्यान रखनेकी बात है कि 'अंचल' मार्क्सवादी सिद्धान्तोंकी ठुकी-पिटी लकीरमे विश्वास नही करते। उनकी प्रगतिकी प्रेरणाका केन्द्र मानव है। वे उसीके लिए क्रान्ति चाहते है।

प्रगतियुगकी उपलब्धियाँ नवजीवन तथा जागर्तिके मन्त्र फूँककर हमारी रूढ़िवादी विचारधाराको बदलनेमें हैं। प्रगतिवादने भाषाको निश्चित रूपसे एक नयी दिशा दी है। परन्तु, इतना होते हुए भी, राजनीतिके साथ गठबन्धन होनेके कारण इसका सशक्त आन्दोलन विकसित नहीं हो सका। —रा० कु० स०

प्रगतिवाद–प्रगतिवाद **सामाजिक यथार्थवाद** (दे०)के नामपर चलाया गया वह साहित्यिक आन्दोलन है, जिसमें जीवन और यथार्थके वस्तु-सत्यको उत्तर-छायावादकालमें प्रश्रय मिला और जिसने सर्वप्रथम **यथार्थवाद** (दे०)की ओर समस्त साहित्यिक चेतनाको अग्रसर होनेकी प्रेरणा दी। प्रगतिवादका उद्देश्य था साहित्यमें उस सामाजिक यथार्थवादको प्रतिष्ठित करना, जो छायावादके पतनोन्मुख कालकी विकृतियोंको नष्ट करके एक नये साहित्य और नये मानवकी स्थापना करे और उस सामाजिक सत्यको, उसके विभिन्न स्तरोंको, साहित्यमें प्रतिपादित होनेका अवसर प्रदान करे। वर्ग-संघर्षकी साम्यवादी विचारधारा और उस सन्दर्भमे नये मानव, 'नये हीरो'की कल्पना इस साहित्यका उद्देश्य था। इसकी मूल प्रेरणा **मार्क्सवाद** (दे०)से विकसित हुई थी। इसका उद्देश्य और लक्ष्य जनवादी शक्तियोंको संघटित करके मार्क्सवाद और भौतिक यथार्थवादके आधारपर निर्मित मूल्योंको प्रतिष्ठित करना था। उसकी आत्मा **साम्यवाद** (दे०)मे थी, दृष्टि रूसके साहित्यिक इतिहासकी ओर थी, प्रेरणा राजनीतिक मन्तव्यों द्वारा अनुशासित थी और कल्पना प्रोलेतेरियत सत्ताशाहीसे अनुप्राणित थी। उसकी खोज उस नये मानवकी थी, जो समस्त पतनशील प्रवृत्तियोंके विरोधमें उपर्युक्त स्थापनाओंको विकसित करके एक प्रोलेतेरियत शासनसत्ताको उभरनेका अवसर दे। इसकी मूल स्थापना सैद्धान्तिक रूपसे प्रगतिशील थी, इसलिए इस साहित्यिक आन्दोलनको प्रगतिशील आन्दोलनके नामसे भी जाना जाता है।

ऐतिहासिक दृष्टिसे जिस प्रकारका **आदर्शोन्मुख यथार्थवाद** (दे०) प्रेमचन्दके उपन्यास और अन्य कलाकृतियोंमें विकसित हो रहा था, उसमें काफी अंश उस बौद्धिक जागरूकताका था, जो रूसकी क्रान्तिके बादसे समस्त बौद्धिक जनोंके मानसिक स्तरोंको आन्दोलित कर रहा था। १९३६ ई०में प्रेमचन्दके सभापतित्वमे 'प्रगतिशील लेखक संघ'की स्थापना हुई और धीरे-धीरे इसका सम्पूर्ण गठन समस्त देश और विभिन्न भाषा-भाषी प्रान्तोंमें फैलाया गया। प्रारम्भिक कालमें इसके नये आग्रहोंमे जिस मानव-मुक्ति और मानवताकी बात उठायी गयी थी, उसका मेल उस समयकी राष्ट्रीय चेतना एवं यथार्थवादी चेतनाके सन्दर्भमे बड़ा ही प्रभावपूर्ण लगा। किसान, मजदूर, समाजका उपेक्षित वर्ग, पददलित वर्ग-चेतना और वर्गभावनाके यथार्थने भी लेखकोंको प्रभावित किया। इसने एक ओर छायावादकी पतनोन्मुख प्रवृत्तिका खण्डन किया, दूसरी ओर उस आदर्शोन्मुख यथार्थवादका समर्थन किया, जो प्रेमचन्दके उपन्यासोंमें व्यक्त हो रहा था। एक ओर इसने पतनशील तत्त्वोंके विरोधमे स्वर उठाया और दूसरी ओर उस नियोजित यथार्थवादको प्रतिष्ठित करनेका प्रयास किया, जो मन्तव्यपूर्ण, परिकल्पित साम्यवादके अन्तर्गत था।

स्थापनाओंकी दृष्टिसे प्रगतिवाद मूल रूपसे साम्यवादी विचारधाराकी स्थापना करनेका एक सशक्त माध्यम था। इसकी स्थापनाएँ भी उसीसे अनुप्राणित और स्थापित थीं। मार्क्सवादने जिस प्रकार राजनीतिको प्रभावित करके पाश्चात्य शासन-प्रणाली एवं राजनीतिक विचारधाराको प्रभावित किया था, उसी प्रकार प्रगतिवादने साहित्यके क्षेत्रमे साहित्यिक विचाराधाराको भी प्रभावित करके उसको एक निश्चित साधन बनानेका प्रयास किया था।

भारतीय जीवनमे प्रगतिवाद अनुभूतियोंके स्तरपर देश-काल और समसामयिक यथार्थकी अवहेलना ही करता रहा है। इसीलिए उसे वह आत्मशक्ति नहीं मिल सकी, जो उसका उद्देश्य था और उसकी सम्पूर्ण भाव-भूमिको सदैव उस मरुस्थलके समान रहना पड़ा, जो केवल जलकी मरीचिकाएँ उत्पन्न करता है और स्वयं एक यथार्थको स्वीकार करनेमें असमर्थ होता है।

वास्तविक सन्दर्भमें देखनेसे प्रगतिवाद केवल एक अयथार्थवादी भावधारामात्र रह जाता है। यथार्थके प्रति उसका कोई दायित्व नहीं है, क्योंकि वह यथार्थकी सीमित और संकुचित परिधिको ही देखना चाहता है, उसको भी अपने रंगीन चश्मेसे। वह यह नहीं चाहता कि जो भी यथार्थवादी दृष्टि विकसित हो, उसमें सामान्य मानवानुभूतियोंकी विविधता हो। वह चाहता है कि सारी विविधताको एकरूपतामें बदलकर प्रस्तुत किया जाय, यह एकरूपता भी ऐसी जिसमें एक साम्प्रदायिक गन्ध हो, एक राजनीतिक मन्तव्य हो, एक ऐसी अनुदार भावस्थिति हो, जिसमें दृष्टिको विस्तार न मिलकर परिबद्धता मिले। इसलिए वह भाव एवं विचार-अनुशासन (thought-regimentation)का भी समर्थक है। प्रगतिवादके लिए देश-कालके दायित्वसे भी बढ़कर पार्टीका नारा है, संकुचित मन्तव्यकी बाह्य अनुशासित अनुभूति है।

किन्तु यह सब होते हुए प्रगतिवादने जो यथार्थोन्मुख दृष्टि उत्तर-छायावादकालमें विकसित की, उसका ऐतिहासिक महत्त्व घटता नहीं। उस समय सारी साहित्यिक चेतना जिस पतनोन्मुख प्रवृत्तिमें घुट रही थी, उसको यथार्थकी दृष्टि देनेका श्रेय प्रगतिवादको है और उस दायित्वका निर्वाह उसने जिस रूपमें भी किया हो, उसको इतना महत्त्व तो देना ही पड़ेगा कि उसने समस्त चेतनाको एक बार झकझोरनेका प्रयास किया, प्रयास भी ऐसा कि जिसने समस्त संकीर्णताओंके बाद भी वस्तुस्थितिका परिचय कराया,

उसे समझनेकी दिशा दी (दे० प्रगति युग)।

[सहायक ग्रन्थ—प्रगतिशील साहित्यके मानदण्ड : रांगेय राघव; प्रगतिवाद—एक समीक्षा : धर्मवीर भारती।] —ल० कां० व०

प्रगतिवादी आलोचना-प्रणाली–अंग्रेजीमें मार्क्सिस्ट तथा प्रोग्रेसिव और हिन्दीमें मार्क्सवादी, प्रगतिवादी या द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी। प्रवर्तक जर्मन दार्शनिक कार्ल मार्क्स। साहित्यमें इस वादका प्रवेश १९३० ई०के लगभग आरम्भ हुआ है। साहित्यके गतिशील तथा ऐतिहासिक सम्बन्धको उद्घाटित करते हुए सचेतन रूपमें समाजको बदलनेवाले साहित्यकी सृष्टिकी ओर ध्यान आकर्षित करानेवाली समाजशास्त्रीय आलोचना ही मार्क्सवादी दार्शनिक आलोचना है। मार्क्सके जीवन-दर्शनके आधारपर ही इसकी रचना हुई है। उनके दर्शनको द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कहते हैं। इसका उद्देश्य तर्ककी द्वन्द्वात्मक प्रणालीसे जगत्‌के वास्तविक सत्यका ज्ञान प्राप्त करना है। मार्क्स वस्तुको चरम सत्य तथा बुद्धि, विचार अथवा आत्माको उसका प्रतिबिम्बमात्र मानते हैं। इस दर्शनके अनुसार जगत्‌की सभी वस्तुएँ अन्योन्याश्रित, अतः परस्पर अविच्छिन्न हैं। यह जगत् परिवर्तनशील है। जागतिक सभी वस्तुओंमें स्वतः उपस्थित विरोधी तत्त्वोंका संघर्ष भी सतत वर्तमान रहता है। वस्तुमें ही उसके विनाशके तत्त्व भी निहित हैं, अतः वह विकासशील तथा मरणशील, दोनों प्रकारकी है। वस्तुका परिवर्तन सदैव उन्नतिके लिए होता है। इस प्रकार प्रत्येक परवर्ती वस्तु पहलीसे अधिक प्रौढ़ और विकसित होती है। विरोधजनित संघर्ष ही विकास है; परिवर्तन क्रान्ति है। वस्तुका विकास पहली स्थितिका विनाश करके नये रूपमें होता है। इस आधारपर समाजके ऐतिहासिक विकास एवं व्यक्तियोंके पारस्परिक या व्यक्ति और समाजके सम्बन्धोंका अध्ययन ही ऐतिहासिक भौतिकवादकी संज्ञा पाता है। भौतिक परिस्थितियाँ ही समाज और व्यक्तिगत चेतनाका निर्माण करती हैं। अतएव जीवनके साथ परिवर्तमान भौतिक मूल्योंके आधारपर ही साहित्यमें अभिव्यक्त काल-विशेषकी चेतनाका मूल्यांकन किया जाना चाहिए, यही इस प्रणालीका सिद्धान्त है। भौतिक जीवन तथा मूल्योंमें जीविकोपार्जनके प्रकार तथा उत्पादनकी पद्धतिके सर्वप्रधान होनेके कारण अर्थ ही वास्तविक मापदण्ड ठहरता है। वही व्यक्तिके पारस्परिक सम्बन्धों, आचार-शास्त्र आदिको प्रभावित करके व्यक्तिको वर्गोंमें विभाजित कर देता है। फलस्वरूप साहित्य भी वर्गगत रूपमें उपस्थित होता है। ये वर्ग दो हैं—शोषक और शोषित। अर्थ और उत्पादनका स्वामी शोषक वर्ग अपनी स्वार्थसिद्धिमें तत्पर रहता है और अर्थ-नीतिसे प्रभावित रहनेके कारण तत्कालीन साहित्य भी उसी वर्गका निर्मित हुआ करता है। वर्गहीन साहित्यकी रचना केवल वर्गहीन समाजमें ही सम्भव है। अतः मार्क्सवादी सामूहिक भावकी अभिव्यक्तिको ही साहित्यिकका लक्ष्य बताता है। उसके विचारसे चिरस्थायी साहित्यका वर्ण्य विषय सामाजिक तथा सामूहिक होना चाहिए। वह साहित्यमें मानवसापेक्ष चित्रणको ही उचित मानता है और केवल सुन्दर पक्षका उद्घाटन लेखककी पूँजीवादी प्रवृत्तिका द्योतक माना जाता है। आनन्द काव्यका लक्ष्य नहीं, अपितु साधनमात्र माना जाता है। क्रान्ति तथा नवीन रचनाके लिए उत्साहित करना ही काव्यका उद्देश्य है। साहित्यको, मार्क्सवादीके अनुसार, ज्ञानका पथ-प्रदर्शक होना चाहिए, केवल रसावह नहीं। इसी प्रकार शैलीकी ऊहात्मकता या चमत्कारप्रधानता एवं भाषाकी कोमलता-आलंकारिकता भी मार्क्सवादी समीक्षामें सामाजिक ह्रासका चिह्न स्वीकार की जाती है। भारतमें इस प्रणालीकी स्थापना सन् १९३६ ई०में मुल्कराज आनन्द, सज्जाद जहीरके प्रयत्नसे प्रेमचन्दके सभापतित्वमें 'प्रगतिशील लेखक-संघ'की स्थापनाके साथ हुई। हिन्दी आलोचकोंमें शिवदान सिंह चौहान, रामविलास शर्मा, अमृतराय तथा प्रकाशचन्द्र गुप्त इस शैलीके वर्तमान समर्थक हैं। इंग्लैण्डमें हर्बर्ट रीड, सी० डे० लेविस, स्टीफेन स्पेण्डर और अमेरिकामें वी० एफ० काल्वर्टन, ग्रेन्विल हिक्स, माइकेल गोल्ड, जोजफ फ्रीमैन, बर्नार्ड स्मिथ आदि विचारक इसी प्रणालीके समर्थक रहे हैं (दे० 'सामाजिक यथार्थवाद', 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद')। —आ० प्र० दी०

प्रगल्भता–दे० 'अयत्नज अलंकार', पाँचवाँ प्रकार।

प्रगीतकाव्य–दे० 'गीतिकाव्य'।

प्रज्ञा–शाब्दिक अर्थ—प्रकृष्ट ज्ञान। प्रज्ञासे तात्पर्य है—वस्तुओं और सांसारिक पदार्थोंके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान। प्रज्ञासे विवेक (ज्ञान)का भी अर्थ द्योतित होता है। योगमें सत्यके वस्तु स्वरूपावधारणात्मक ज्ञानको प्रज्ञा कहा गया है (ऋतम्भरा प्रज्ञा)। व्याकरण और साहित्यमें इसे प्रतिभा कहा गया है। जैन मतावलम्बी इसे ही सम्यक् ज्ञान कहते हैं। गीतामें सम्यक, प्रकृष्ट ज्ञानके अर्थमें प्रज्ञाका प्रयोग हुआ है (व्यवसायात्मिका बुद्धि)। वेदान्तमें प्रज्ञा ब्रह्म-ज्ञानसे अभिन्न मानी गयी है। बौद्ध-दर्शनमें यथावस्थित प्रतीत्यसमुत्पन्न वस्तु-तत्त्वका प्रविचय ही प्रज्ञा शब्दसे संज्ञित हुआ है।

चित्त-सन्तानके शमथ द्वारा परिशोधित हो जानेपर ही प्रज्ञाका प्रादुर्भाव होता है। चित्तका समाहित होना प्रज्ञाकी आवश्यक पूर्वभूमि है। मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा—ये चार ब्रह्म विहार प्रज्ञाके सहकारी हैं। प्रतीत्यसमुत्पन्न सभी पदार्थोंका धर्म-प्रविचय ही प्रज्ञा शब्दसे कहा जाता है, अर्थात् सभी धर्मोंकी सापेक्षता, निःस्वभावता और शून्यताका ज्ञान ही प्रज्ञा है। जहाँ सभी लौकिक ज्ञान परावृत्त हो जाते हैं, धर्मोंका उपशम हो जाता है, स्कन्ध, धातु और आयतनकी भावना भी परिहृत हो जाती है, वही अद्वय ज्ञान प्रज्ञा है। प्रज्ञा सभी प्रकारके लौकिक द्वन्द्वोंसे शून्य है। वस्तुतः प्रज्ञा और शून्यता (दे० 'शून्य') अभिन्न हैं। प्रज्ञा भी शून्यताकी भाँति समस्त विकल्पात्मक दृष्टियोंका निरास है। यह परमार्थस्वरूप और तथागतरूपिणी भी है। बुद्धके धर्मकायसे इसीलिए इसकी कभी-कभी एकता भी बतायी जाती है। दिङ्नाग कहते हैं कि यह अद्वय (दे०) ज्ञान स्वरूप है और तथागतके धर्मकायकी सूचिका है। मैत्रेयनाथके अनुसार यह संसार और निर्वाणमें या उनके अन्तरालमें अवस्थित नहीं है, अपितु सभी अध्वोंकी समता ज्ञात हो जानेपर प्रज्ञाका उदय होता है। जब पूर्णरूपसे

प्रज्ञाकी भावना की जाती है तो यही प्रज्ञापारमिता कही जाती है। धर्म-प्रविचयमें पूर्णता ही प्रज्ञापारमिता है, जो अन्य पाँच पारमिताओंकी भावनामे उदित होती है। यह निष्प्रपंच, निराभास निःस्वभाव, परा, सूक्ष्म, निर्विकल्प और सर्वज्ञज्ञानगोचर तथा सभी पारमिताओंसे अनुगत (अनुयाता) बतायी गयी है (अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता)।

महायान साहित्यमे प्रज्ञापारमिताका यही अर्थ स्वीकृत हुआ है। आगे चलकर वज्रयान साहित्यमें इसके अर्थका विस्तार हुआ और इसे पद्म, चन्द्र, ललना प्रभृति शब्दोसे बताया गया और शून्यता या उपाय, रसना तथा सूर्यसे उसकी एकता, समता या अद्वयाकारता (युगनद्ध)से ही महासुख, महानन्द या सुखराज (निर्वाण)की प्राप्ति बतायी गयी।

हिन्दी साहित्यमें सर्वप्रथम सिद्धोने वज्रयान (सहजयान)से प्रभावित होकर प्रज्ञोपायकी भावनाको प्रमुखता दी और करुणा तथा शून्यता, प्रज्ञा और उपायके एकत्व, अद्वयाकारता, इडा और पिङ्गलाके मिलन (या युगनद्ध)से ही महासुखकी अभिव्यक्ति मानी। इन लोगोने सहजमार्गकी अभिव्यक्तिके लिए शून्यता और करुणा, उपाय और प्रज्ञा इन दोनोकी अद्वयसाधनाको आवश्यक माना। प्रज्ञा और शून्यताकी एकात्मकताका, द्वयताविवर्जनका ही दूसरा नाम योग है। इन लोगोंने शून्यके साथ करुणा (प्रज्ञा)को समस्त ब्रह्माण्डका मूल धर्म माना। वस्तुतः प्रज्ञा या करुणा शून्यका ही, वैविध्य और विस्तार है। करुणा शून्यसे किसी भी रूपमें अलग नही की जा सकती।

इस प्रकार महायानकी विचारधारामे जो प्रज्ञा पहिले केवल सम्यक् ज्ञान और शून्यतासे अभिन्न मानी गयी थी, अब वह करुणा (दे० 'करुणा') और उपाय (दे० 'उपाय')की विचारधारासे संयुक्त कर दी गयी और शून्यताके एक अङ्ग या शाखाके रूपमे भी कल्पित की गयी, जिसकी शून्यसे एकता (या अद्वयभाव-समता) महासुखकी अभिव्यक्तिके लिए आवश्यक मानी गयी। पहिले प्रज्ञा और शून्यताको एक और अभिन्न माना गया था, किन्तु अब दोनोंको किंचित् भिन्न रूप मे भी कल्पित किया गया और उनका अद्वयभाव निर्वाण लाभके लिए अनिवार्य माना गया।

[सहायक ग्रन्थ—गोपीनाथ कविराज : डाक्ट्रिन ऑव प्रतिभा इन इण्डियन् फिलासफी; करुणेश शुक्ल : शङ्कर और नागार्जुनका तुलनात्मक अध्ययन (अप्र० शो० प्र०); दासगुप्त और शशिभूषण : तांत्रिक बुद्धिज्म; भट्टाचार्य : ईसोटेरिक बुद्धिज्म; नागेन्द्रनाथ उपाध्याय : तान्त्रिक बौद्ध साधना और साहित्य।] —क० शु०

प्रणयगीति—दे० 'भावगीति'।

प्रतिकूल वर्ण—दे० 'शब्द-दोष', पहला 'वाक्य-दोष'।

प्रतिक्रांति (counter-revolution)—क्रान्तिके बढते चरणको रोकनेके लिए जिन शक्तियोंका प्रयोग किया जाता है, उन शक्तियोंका सामूहिक स्वरूप ही प्रतिक्रान्ति है। अतः प्रतिक्रान्ति वह प्रवृत्ति है, वह नयी शक्ति है, जो कई शक्तियोके संयोगसे बनती है। किन्तु जब ये शक्तियाँ मिल-जुलकर कार्य करती है तो उनका स्वरूप गुणात्मकरूपमें परिवर्तित हो जाता है। प्रतिक्रान्ति उन्ही वर्गों द्वारा की जाती है, जिनका अस्तित्व समाजकी सीढियाँ है। —रा० कृ० त्रि०

प्रतिक्रियावादी (reactionary)—यह शब्द भी प्रतिक्रान्ति (दे०)की तरह क्रान्ति और प्रगतिका विरोधी है। इसकी भी प्रवृत्ति विकासोन्मुख नही है और यह भी पुरानी रूढियों, रीतियों, परम्पराओं और विचारोंकी स्थापनाका समर्थक है। —रा० कृ० त्रि०

प्रतिध्वनि—भरतका प्रसिद्ध रससूत्र "विभावानुभावसंचारियोगाद्रसनिष्पत्तिः" (= विभाव, अनुभाव, संचारी भावोके योगसे रसकी निष्पत्ति होती है), ऐसी अवस्थाकी कल्पना करता है, जिसमे शरीर और चित्त, दोनों ही विकारको प्राप्त होकर रसकी सृष्टि करते है। वस्तुतः स्थायी भावके उद्बोधनके समय चित्तमे अनेक छोटे-मोटे भावोका संचरण तथा शरीरमें तज्जन्य विविध प्रकारकी चेष्टाओंका उदय रसनिष्पत्ति और रसानुभूतिको तीव्र करनेमे अप्रतिम सहायक सिद्ध होता है। इस चित्त और शरीरकी रसोद्रेक-प्रक्रियामे सहकारिताको सौन्दर्यात्मक प्रतिध्वनि (æsthetic resonance) अथवा अनुरणनात्मक ध्वनि कहते है। —ह० ना०

प्रतिबिंबकल्प—दे० 'काव्यहरण', 'अर्थ-हरण'का भेद।

प्रतिभा—मनुष्यकी नवोन्मेषशालिनी शक्तिको प्रतिभा कहते है। 'पूर्व' अनुभवके आधारपर 'अपूर्व'का सर्जन करना नवोन्मेष है। कलाके क्षेत्रमे इस प्रतिभाके द्वारा 'सुन्दर' वस्तुका आविष्कार किया जाता है। 'नवीनता' सौन्दर्यानुभूतिका एक तत्व है, अतएव सौन्दर्यानुसन्धायिनी प्रतिभाका एक लक्षण 'नवोन्मेषशीलता' है। किन्तु सौन्दर्यकी नवीनता 'अक्षय' और 'नित्य' और क्षण-क्षणमे 'वर्द्धनशील' होनी चाहिए। यह उसी समय सम्भव है, जब सुन्दर वस्तु जीवनके क्षणिक, परिमित और परिचित अंशको व्यक्त न करके इसकी सनातन वेदना और गतिका, इसकी अनन्त और अपरिमित शक्तियोका तथा अपरिचित और अज्ञेय, किन्तु ज्ञान और भावनाके प्रबल केन्द्रका प्रतीकों द्वारा उद्घाटन करे। अतएव प्रतिभाका कार्य ससीमके द्वारा असीमकी, परिमित और प्रत्यक्षके द्वारा अपरिमित और परोक्षकी तथा ज्ञेयके द्वारा अज्ञेयकी अभिव्यक्ति करना है। अलौकिक और आनन्दमयी अभिव्यंजना प्रतिभाका मुख्य कार्य है। कलामें सुन्दर वस्तु किसी बाह्य पदार्थकी प्रतिच्छाया नही होती, अपितु यह कलाकारके मानसिक और आध्यात्मिक अनुभवोंकी व्यवस्थाको, उसके जीवनकी वेदना, शालीनता, गम्भीरता तथा उसकी कल्पनाके स्वातन्त्र्य, शक्ति और उज्ज्वलताको अनुभवमें आनेवाले साधारण उपकरणों द्वारा व्यक्त करती है। 'अनुभूति'को 'पार्थिव', 'आध्यात्मिक'को 'भौतिक', 'आन्तरिक'को 'बाह्य' रूप देना प्रतिभाका कर्तव्य है। प्रकृतिने शब्द, ध्वनि, रंग, रेखा, पत्थर, लकड़ी आदि अनेक द्रव्य प्रदान किये है, जिनकी आध्यात्मिकता प्रकट नही होती। प्रतिभा इन द्रव्योंको अपनी अनुभूतियोका माध्यम बनाती है, जिससे इन पदार्थोंमें दया, प्रेम, ओज, शालीनता, आत्म-विजय, उल्लास, लज्जा आदि ही नहीं, वरन् इनसे भी अधिक गम्भीर अनुभूतियाँ प्रत्यक्ष हो उठती है। इस प्रकार वह

सौन्दर्य-सर्जनके क्षेत्रमें 'आदि'से लेकर 'इति' तक कई क्रियाएँ सम्पन्न करती है। इन क्रियाओंके थोड़े अन्तरसे रसास्वादन भी सम्भव होता है। दे० 'काव्यहेतु', प्रथम हेतु। —ह० ला० श०

प्रतिमा-सौंदर्यानुसंधायिनी–प्रतिमाका साधारण अर्थ किसी मूलवस्तुकी प्रतिकृति, प्रतिच्छाया या प्रतीक होता है, जैसे विष्णुकी प्रतिमा। किन्तु सौन्दर्यकी अनुभूतिमें प्रतिमा कलाकारका वह मानस प्रत्यक्ष है, जिसमें ताल, लय, गति, विन्यास, सन्तुलन आदि सम्पूर्ण अंगों सहित सुन्दरका आविर्भाव होता है। सर्जन-क्षणमें यह प्रतिमा मौलिक होती है। यह कलाकारकी अपूर्व अनुभूति होती है, अनुकृति नहीं। कलाकार अपने चेतन प्रयत्नोंसे इसकी सृष्टि नहीं करता, अपितु उसकी सौन्दर्य-साधनाके फलस्वरूप यह प्रतिमा जीवनके अन्तरालसे स्वयमेव उदय होती है। मौलिक (प्राइमार्डियल), सम्पूर्ण (आर्गनिक) और स्वयम्भू—ये सौन्दर्यानुसन्धायिनी प्रतिमा (एस्थेटिक इमेज)के विशेष लक्षण हैं।

प्रतिमा केवल दृश्य अनुभूति नहीं है, अपितु वर्ण, ध्वनि, शब्दार्थ आदि माध्यमके गुणोंके अनुसार चित्र, संगीत, साहित्य आदि कलाओंमें इसके अनेक रूप होते हैं। आत्म-शक्तिकी रसनीयता (रसनीयतात्मशक्तेः—एमोशन-लाइजेशन ऑव सेल्फ) इस प्रतिमाका प्राण होता है।

कलाकार सर्जनकालमें सौन्दर्यका अनुसन्धान करनेवाली प्रतिमाका मानस प्रत्यक्ष करके अपने कौशल द्वारा उसे मूर्त वस्तुकी स्थिति प्रदान करता है। यह वस्तु 'सुन्दर' होती है। कलाकारके लिए 'प्रतिमा' वस्तुका पूर्वरूप होती है, जैसे ताजमहलके स्रष्टा द्वारा इसके वास्तविक निर्माणसे पहले इसकी मानस-सृष्टि। किसी सुन्दर वस्तुके 'सौन्दर्य'-का अनुसन्धान केवल इन्द्रियोंसे सम्भव नहीं, क्योंकि सौन्दर्यमें रूप, अभिव्यक्ति आदि अतीन्द्रिय तत्त्व रहते हैं। वह विचार, तर्क, ऊहापोह द्वारा भी सम्भव नहीं, क्योंकि सौन्दर्य कोई स्थापना, निष्कर्ष या मान्यता भी नहीं है। अतएव सौन्दर्यका साक्षात्कार इन्द्रियोंके संस्पर्शज भोग द्वारा पोषित 'कल्पना' द्वारा होता है और कल्पना सुन्दर मनोमूर्तियोंको जन्म देती है। सौन्दर्यानुसन्धायिनी प्रतिमा वह मनोमूर्ति (image) है, जो प्रेक्षकके लिए वस्तुके सौन्दर्यको प्रस्तुत करती है। —ह० ला० श०

प्रतिमुखसंधि–रूपककी पंचसन्धियोंमें दूसरी सन्धि। इस सन्धिमें **विन्दु** नामक **अर्थ प्रकृति** तथा **प्रयत्न** नामक **अवस्था**का मिश्रण होता है। "लक्ष्यालक्ष्यतयोद्‌भेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेत्", उस बीजका, जो मुखसन्धिमें बोया जाता है किंचित् लक्ष्य और किंचित् अलक्ष्य रहकर, उद्‌भिन्न होना प्रतिमुखसन्धि है। जिस तरह पहले-पहल निकलनेवाला, उगनेवाला बीजांकुर कुछ अस्पष्ट अवस्थामें रहता है, उसी तरह मुखसन्धिमें बीज बोया जाता है और प्रतिमुखसन्धिमें वह अंकुरित होता हुआ भी अस्पष्टावस्थामें ही रहता है। 'स्कन्दगुप्त'में "जहाँ हूण परास्त होते हैं, वहाँसे प्रतिमुख-सन्धिका आरम्भ हो जाता है, क्योंकि फिर तो मुखसन्धि-में दिखलाये हुए बीजका लक्ष्य-अलक्ष्य-रूपमें उद्‌भेद प्रारम्भ हो जाता है। हूणोंकी पराजय और राज्याभिषेक प्रसंगमें फलप्राप्तिविषयक बातें हैं और तुरन्त ही फिर प्रपंचबुद्धिके प्रपंचमें पड़े हुए शर्वनाग और भटार्ककी कुचक्र-रचनासे फलावरोध दिखाई पड़ने लगता है। महादेवीकी हत्याकी योजना और फिर उनका बचना, राज्याभिषेकमें जयमालाका विरोध करना, फिर अनुकूल हो जाना इत्यादि बातें लक्ष्यालक्ष्य-उद्भेदक ही तो हैं। इस स्थितिका विस्तार वहाँतक चलता है, जहाँ स्कन्दगुप्त देवसेनाको प्रपंच-बुद्धिके चंगुलसे छुड़ाता है" (जगन्नाथ शर्मा : 'प्रसाद'के नाटकोंका शास्त्रीय अध्ययन)।

प्रतिमुखसन्धिके सन्ध्यंग निम्नलिखित हैं—विलास, परिसर्प, विधूत, शम, नर्म, नर्मद्युति, प्रगमन, निरोध, पर्युपासन, वज्र, उपन्यास और वर्णसंहार।

इन सन्ध्यंगोंको प्रायः प्रयोगमें नहीं लाया गया है (दे० 'सन्धि')। —ब० सि०

प्रतिवस्तूपमा–सादृश्यगर्भके गम्यौपम्याश्रय वर्गका अर्थालंकार। इसका अर्थ है, वह अलंकार जिसमें प्रत्येक वाक्यार्थ-में उपमा, अर्थात् साधर्म्यका कथन हो। भामह तथा दण्डीने इसको उपमाके अन्तर्गत ही माना है। सम्भवतः उद्भटने इसको सर्वप्रथम स्वतन्त्र रूपमें स्वीकार किया। वामनके अनुसार—"उपमेयस्योक्तौ समानवस्तुन्यासः प्रतिवस्तु"। (का० सू० वृ०, ४ : ३ : २), अर्थात् उपमेयके कथनपर उसके समान अन्य वस्तुका वर्णन होना। वृत्तिमें वामनने स्पष्ट करनेके लिए कहा है कि समान वस्तु वाक्यार्थरूप होनी चाहिये। रुद्रट और वामनके मतको रुय्यक तथा मम्मटने अधिक स्पष्टता प्रदान की है—"जिसमें एक ही साधारण धर्म की, उपमान वाक्य और उपमेय वाक्य—दोनों वाक्योंमें दो बार स्थिति हो" (का० प्र०, १० : १०२)। विश्वनाथने इसीको और भी स्पष्ट शब्दोंमें कहा—"अन्तर्निहित साम्यवाले दो वाक्योंमें एक सामान्य धर्मका अलग शब्दोंमें कथन किया जाना" (सा० द०, १० : ५०)। 'चन्द्रालोक'का लक्षण संक्षेपमें इसी भावको व्यक्त करता है, 'कुवलयानन्द'में इसकी व्याख्यासे यह स्पष्ट है।

हिन्दीके आचार्योंमें कुछने मम्मट और विश्वनाथसे इसका लक्षण लिया है और कुछने जयदेव तथा अप्पय दीक्षितसे—"वाक्यनको जुग होत जहँ, एकै अरथ समान" (शि० भू०, १३४) अथवा—"'उपमान'रु उपमेयपर, वाक्य दोयको जत्र। धर्म इकै पद जुदन महँ" (पद्मा०, ८०)। उदा०—"राजत मुख मृदु बानि सों, लसत सुधा सों चन्द। निर्झर सों नीको सु गिरि, मद सों भलो गयन्द॥" (वही, ८१)। यहाँ 'राजत' और 'लसत', 'नीको' और 'भलो' समान धर्म भिन्न शब्दोंमें कहे गये हैं। अथवा—"एक समय जो ग्राह्य दूसरे समय त्याज्य होता है। उष्मामें हिमके कम्बलका भार कौन ढोता है" (मै० श० गु० : का० द०)। प्रतिवस्तूपमा गुणके निषेधमें भी रह सकती है, 'साहित्यदर्पण' तथा 'कुवलयानन्द' आदिमें 'वैधर्म्य'के उदाहरण हैं। उदा०—"विज्ञ जननको अमित श्रम, जानत है नर विज्ञ। प्रसव वेदना दुसह सों बाँझ न होइ अभिज्ञ" (अ० मं०, २७३)। यहाँ 'जानत है' विधि-रूप धर्म है और 'न होइ अभिज्ञ' निषेधरूप धर्म।

उपमासे इसका अन्तर यह है कि उपमामें साधारण

धर्मका कथन एक बार होता है, न कि शब्द-भेदसे दो बार। दृष्टान्तमें उपमावाचक शब्दोंका प्रयोग इसीके समान नहीं होता है, पर उसमें उपमेय, उपमान और समान धर्मका बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव रहता है। प्रतिवस्तूपमामे केवल समान धर्मका कथन शब्दभेदसे होता है। दीपक तथा तुल्ययोगितामें एक बार एक शब्दसे कथन किया जाता है और इसमें दो बार भिन्न शब्दोसे। —शि० प्र० सिं०

प्रतिषेध–एक गौण अर्थालंकार। विधि एवं प्रतिषेध अलंकारोका उल्लेख भी अप्पय दीक्षितने किया है। उन्होने इसकी परिभाषा इस प्रकार की है—'प्रतिषेधः प्रसिद्धस्य निषेधस्यानुकीर्तनम्" (कुवलयानन्द, ९८), अर्थात् यदि कोई वस्तु पहलेसे ही निषिद्ध हो और वह निषेध प्रसिद्ध हो, तो उस निषेधकी पुनश्चर्चामे यह अलंकार होता है। परन्तु यह चमत्कारपूर्ण होगा तभी सार्थक होगा। हिन्दीके कुछ आचार्योंने 'कुवलयानन्द'के अनुसरणपर इसे स्वीकार किया है—"जहाँ प्रसिद्ध निषेधको अनुकीरतन प्रकास" (ल० ल०, ३८७) अथवा—"जो प्रसिद्ध प्रतिषेध है, ताको बहुरि निषेध" (पद्मा०, २७४)। उदा०—"छुटी न गाँठि जु राम सो, तियनि कह्यो तिहि ठाहि। सिय कंकनको छोरिबो, धनुष तोरिबो नाहिं" (पद्मा०, २७५)। यहाँ धनुष तोडना और कंकणकी गाँठ खोलना प्रसिद्ध निषेध है, जिसकी चर्चा चमत्कारके साथ पुनः हुई है। —ज० कि० व०

प्रतीक–दे० 'सन्धा भाषा', 'प्रतीकवाद'।

प्रतीक कथाकाव्य–दे० 'रूपक कथाकाव्य' और 'दृष्टान्त-काव्य'।

प्रतीक काव्य–दे० 'रूपक कथात्मक काव्य'।

प्रतीकवाद–प्रतीक शब्दका प्रयोग उस दृश्य (अथवा गोचर) वस्तुके लिए किया जाता है, जो किसी अदृश्य (अगोचर या अप्रस्तुत) विषयका प्रतिविधान उसके साथ अपने साहचर्यके कारण करती है। अथवा कहा जा सकता है कि किसी अन्य स्तरकी समानुरूप वस्तु द्वारा किसी अन्य स्तरके विषयका प्रतिनिधित्व करनेवाली वस्तु प्रतीक है। अमूर्त, अदृश्य, अश्रव्य, अप्रस्तुत विषयका प्रतीक प्रतिविधान मूर्त, दृश्य, श्रव्य, प्रस्तुत विषय द्वारा करता है। जैसे अदृश्य या अप्रस्तुत ईश्वर, देवता अथवा व्यक्तिका प्रतिनिधित्व उसकी प्रतिमा या अन्य कोई वस्तु कर सकती है। साधारण तौरसे कहा जा सकता है कि प्रतीकोके माध्यमसे किसी विषयका प्रतिविधान करना प्रतीकवाद है। अपने मौलिक अर्थमे प्रतीकवाद किसी व्यक्ति, विषय, घटना अथवा क्रियाकी ओर ध्यान करनेवाले पदार्थों और चिह्नोंतक ही सीमित था। किन्तु उसके अर्थके क्रमिक विस्तारकी प्रक्रियामे उसके अन्तर्गत रुकने और चलते जानेका संकेत देनेवाले लाल और हरे रंगों जैसे तुच्छ पदार्थोंसे लेकर राष्ट्रोकी ध्वजाएँ, धार्मिक कर्मकाण्डके विविध उपकरणतक सम्मिलित हो गये है। शब्द, लिपि, गणित और संगीतमे प्रयुक्त होनेवाले चिह्नों और सूत्रोका भी समावेश उसकी सीमामें हो जाता है। मनुष्यके सामाजिक और धार्मिक व्यवहारका अधिकांश प्रतीकात्मक होता है। मनोविश्लेषक, अवचेतन जीवन और स्वप्नोंकी व्याख्या करनेमें, प्रतीकवादका प्रयोग करता है। साहित्य और कलाके क्षेत्रमें प्रतीकवाद एक विशिष्ट भावधाराका आन्दोलन और अभिव्यक्ति है, जिसका वर्णन आगे किया गया है।

प्रतीकीकरण मनुष्यका सहज स्वभाव है। भाषाका प्रारम्भिक रूप विविध मुद्राओंयुक्त और अनुकरणप्रधान था। पशुओ तथा ध्वनि उत्पन्न करनेवाले विषयोंका संकेत आदिम मनुष्य उनके सदृश आवाज उत्पन्न करके करता था। पेगेटका मत है कि प्रायः सभी शारीरिक मुद्राओंके साथ-साथ स्वर-यन्त्रमे गति होती रहती है और इस सहचारी स्वरको अलग करके उसे उस मुद्राविशेषका प्रतीक बना लेना स्पष्ट ही अधिक सुविधाजनक और अल्पश्रमी उपाय था। मनुष्यने रेखाएँ और चित्र खींचना भी शीघ्र ही सीख लिया था। उसकी ध्वन्यात्मक मुद्राओके प्रतीकोसे शब्द, शब्दोके योगसे व्याकरणयुक्त वाणीका और उसके चित्रमय प्रतीकोंसे पहले चित्रलिपि और अन्ततः चित्रलिपिसे वर्णलिपिका विकास हुआ। इस प्रकार सभी शब्द प्रतीक है।

प्रतीकोंकी दो विशेषताएँ होती है। प्रतीक सदैव किसी-न-किसी मध्यस्थ प्रकारके व्यापारका प्रतिनिधि होता है। इसका आशय यह है कि सभी प्रतीकोमे ऐसे अर्थ निहित होते है, जिनको केवल प्रत्यक्ष अनुभवके सन्दर्भसे नहीं जाना जा सकता। दूसरी यह कि प्रतीक शक्तिको घनीभूत कर देता है, प्रतीककी तुच्छता और उसके द्वारा निर्दिष्ट वास्तविक महत्त्वके परिमाणमें कोई सम्बन्ध नहीं होता। प्रतीक दो प्रकारके होते है—सन्दर्भीय और संघनित। सन्दर्भीय प्रतीकोंके वर्गमे वाणी और लिपिसे व्यक्त शब्द, राष्ट्रीय पताकाएँ, तारोके परिवहनमें प्रयुक्त होनेवाली संहिता, रासायनिक तत्त्वोंके चिह्न आदि है। संघनित प्रतीकोंके उदाहरण धार्मिक कृत्योमे और स्वप्न तथा अन्य मनोवैज्ञानिक विवशताओं-जन्य प्रक्रियाओंमे मिलते है। ऐसे प्रतीक प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति या व्यवहारके स्थानापन्नोंके संघनित रूप होते है और चेतन या अचेतन संवेगात्मक तनावोंके मुक्त प्रसरणमे सहायता देते है। व्यावहारिक जीवनमे इन दोनों प्रकारके प्रतीकोका मिश्रण मिला करता है। सन्दर्भीय प्रतीक सहज ही संवेगात्मक महत्त्व और कर्मकाण्डसे युक्त हो जाते है।

मनुष्यका समस्त जीवन प्रतीकोंसे परिपूर्ण है। वस्तुतः मनुष्य मूलतः प्रतीकोंके माध्यमसे ही सोचता है, अमूर्त चिन्तन अधिक विकसित स्तरका लक्षण है। कुछ प्रतीक सार्वभौम होते है, जैसे सिंह वीरताका, श्वेत रंग पवित्रताका, शृगाल कायरताका और लोमड़ी चतुरताका प्रतीक है। कबीलों, जातियों, समाजों और राष्ट्रोंके सामाजिक एवं व्यक्तिगत जीवनमे महत्त्व रखनेवाले अपने-अपने प्रतीक हो जाते है। आदिम समाजमे कोई विशिष्ट पशु, वृक्ष या अन्य वस्तु कबीलेका प्रतीक हराम या हलाल बन जाती है। भारतवर्षमे पीपल, बरगद, आँवला, तुलसी आदि वृक्ष और वनस्पतियाँ, गाय और सुअर ऐसे ही प्रतीकोंके अवशेष है। प्रत्येक राष्ट्रकी पताका उसके अस्तित्व, गौरव और एकताका प्रतीक होती है। राष्ट्रकी ध्वजासे राष्ट्रका बोध होने लगता है। कभी-कभी कोई फूल, पशु या अन्य विषय भी राष्ट्रका प्रतीक बन जाता है। जैसे कमल भारतका,

गुलदाउदी चीन-जापानका, कंगारू आस्ट्रेलियाका प्रतीक हो गया है। राष्ट्रीय ध्वजाका अर्द्धोत्तोलित फहराना राष्ट्रीय शोकका प्रतीक है। सार्वभौमिक उपयोगिताकी दृष्टिसे अनेक नये प्रतीक भी स्वीकार कर लिये जाते हैं। वैमानिक उड्डयनमें प्रयुक्त होनेवाले ऐसे अनेक प्रतीक हैं। कुछ प्रतीक ऐतिहासिक सन्दर्भके कारण विशेष अर्थके सूचक बन जाते हैं, जैसे भारतमें विभीषण, जयचन्द और मीर जाफरके नाम देशद्रोहके प्रतीक हैं, सीता और सावित्री आदर्श पातिव्रतकी, भीष्म दृढप्रतिज्ञता और ब्रह्मचर्यके प्रतीक हैं। सिन्दूर और चूड़ियाँ सौभाग्यकी और राखी भाई-बहिनके पवित्र सम्बन्धकी प्रतीक है। इसी प्रकार अन्य देशोंमें भी विशिष्ट अर्थ देनेवाले असंख्य प्रतीक हैं। राजनीति, साहित्य, कला, शिष्टाचार, सामाजिक व्यवहारमें अनन्त प्रतीक खोजे जा सकते हैं। नये अर्थोंसे युक्त नये प्रतीकोंका निर्माण होता रहता है।

धार्मिक क्षेत्रमें प्रतीकोंका महत्त्व बहुत बढ़ जाता है। धार्मिक संस्कार और कर्मकाण्ड, प्रतिमाओं, मन्दिरों आदिका निर्माण एवं रूपाकारका एक विशिष्ट अर्थ और महत्त्व होता है। ईश्वर निराकार है, उसका नाम और उसकी प्रतिमा उसका प्रतीक है। हिरण्यगर्भ, ओंकार, स्वयम्भू, विश्वकर्मा, सच्चिदानन्द आदि शब्द उसके शाब्दिक प्रतीक हैं। सूर्य सभी देशोंमें ईश्वरका प्रमुख व्यक्त प्रतीक माना जाता है और ज्योति या प्रकाश ज्ञानका। आस्तिक त्रिदेवोंके भी भिन्न-भिन्न प्रतीक हैं। शंख, चक्र, गदा, पद्म, गरुड़, शालग्राम, श्रीवत्स विष्णुके प्रतीक हैं। नन्दी, त्रिशूल, नवल चन्द्र, उपस्थ शिवके प्रतीक हैं। हंस ब्रह्माका प्रतीक है तथा सरस्वती और नीर-क्षीर-विवेकी आत्माका भी। उपनिषदोंमें आत्माका प्रतीक पक्षी माना गया है। देवताओंके वाहन स्वयं देवताओंके प्रतीक माने जाते हैं, जैसे चूहा गणेशका, मयूर कार्त्तिकेयका। अत्यन्त शिश्नोदर-परायण होनेके कारण बकरा व्यक्तिकी अतृप्त काम-पिपासा और क्षुधाका प्रतीक माना गया है। इसी प्रकार भैंसके स्वरूपवाला महिषासुर क्रूरता और पशुभावका प्रतीक है। वैदिक तथा पौराणिक कथाओंको उनके प्रतीकोंके वास्तविक अर्थ जाने बिना सम्यक् प्रकारसे समझा ही नहीं जा सकता। गोपियाँ आत्माकी प्रतीक हैं, उनके वस्त्र उनकी अस्मिताके; चीरहरणकी विख्यात (और सामान्य दृष्टिसे कुख्यात) लीलाका प्रतीकात्मक अर्थ आत्माके द्वारा अस्मिताका परिपूर्णतम समर्पण और निरास है। कर्मकाण्डमें प्रयुक्त आसन, मुद्रा, कवच, न्यास आदिका प्रतीकात्मक अर्थ होता है, वह अर्थ भले ही अन्धविश्वासपर आधारित और अवैज्ञानिक हो। इसी प्रकार संस्कारोंका भी प्रतीकात्मक महत्त्व है। ईसाई धर्ममें भी प्रतीकोंकी प्रचुर संख्या है। उसके अनेक प्रतीक आशा और भयसे प्रेरित मरणोपरान्त जीवनके सम्बन्धमें हैं। रोममें भूगर्भीय गुफाओंसे प्राप्त चित्रोंमें इस प्रतीकवादके उदाहरण मिलते हैं। कब्रोंपर लगाये हुए गुलाब तथा फूलनेवाले अन्य पादप स्वर्गके प्रतीक हैं। मंगलमय मेषपाल (गड़ेरिया) मृतकोंका अधिरक्षक है, भेड़े मृतक हैं। उनमेंसे एक मेषको वह अपने कन्धेपर बिठाये है। मछली ईसासे तादात्म्यका प्रतीक है। तसले या 'जग'से पानी पीती हुई पेंडुकी (पण्डुक) जीवन-द्रवसे अपनेको तृप्त करती आत्मा है। बारहसिंघा आत्माका प्रतीक है। जहाज धर्मसंघका, मेष और सिंह ईसाके, मयूर अमरताका, फीनिक्स पुनरुज्जीवनका और साँप शैतानका प्रतीक है। मछली भी ईसाके लिए प्रयुक्त प्रथम प्रतीकोंमेंसे एक है। इसी प्रकारका प्रतीकवाद अन्य धर्मोंमें भी मिलता है और उनका कर्मकाण्ड, संस्कार, मूर्ति और मन्दिर-निर्माण उनके प्रतीकवादपर अवलम्बित होता है।

रहस्यवादियोंने प्रतीकोंका विपुल प्रयोग किया है। उनके साध्य और उनकी अनुभूतिका स्वरूप भाषामें अप्रेषणीय होनेके कारण इन दोनों विषयोंके सम्बन्धमें उन्होंने जो कहा है, वह प्रतीकोंके माध्यमसे ही। इस कारण उनकी भाषा दुरूह 'सन्धाभाषा' हो गयी है, जिसके प्रतीकोंका अर्थ जाने बिना कोई अदीक्षित व्यक्ति उसे समझ ही नहीं सकता। यही कारण है कि अनेक मर्मियोंकी अभिव्यक्ति साधारण पाठकको उद्दाम प्रणय, अभिसार और उत्कट मिलनकी अभिव्यक्ति लगती है, उनकी उलटबासियाँ प्रलाप प्रतीत होती हैं।

आधुनिक मनोविश्लेषण प्रतीकवादका प्रयोग एक विशिष्ट अर्थमें करता है (दे० 'मनोविश्लेषण', 'स्वप्न-प्रतीक')।

साहित्यमें प्रतीकवादका उपयोग कई प्रकारसे होता है—(१) सर्वजीववाद—"ऐ नभकी दीपावलियो, तुम क्षणभरको बुझ जाना, मेरे प्रियतमको भाता है तमके पर्देमें आना"। इस पंक्तिमें नक्षत्रोंको जीवन्त मानकर अनुरोध किया गया है। (२) रूपक—"सखी नीरवताके कन्धे रक्खे हाथ, उतर रही सन्ध्या सुन्दरी..."। (३) उपमा—"बिखरीं अलकें ज्यों तर्कजाल"। (४) चरित्रोंको किसी भाव या विचार विशेषका प्रतिनिधि बनाकर उनके माध्यमसे भाव या विचार व्यक्त करना, जैसे 'कामायनी', 'कुरुक्षेत्र', 'डिवाइन कॉमेडी'। (५) जो साधारण भाषामें अव्यक्त और अनिर्वचनीय है, उसे प्रतीकोंके माध्यमसे व्यक्त करना।

प्रतीक कई कार्य कर सकते हैं—(१) किसी विषयकी व्याख्या करना, (२) उसको स्वीकृत करना, (३) पलायनका पथ प्रस्तुत करना, (४) सुप्त या दमित अनुभूतिको जाग्रत् करना, (५) अलंकरण या प्रदर्शनका साधन होना।

साहित्य और कलाके एक आन्दोलनके रूपमें प्रतीकवादका आविर्भाव विगत शताब्दीके अन्त (१८८५ ई०)में फ्रान्समें हुआ। उसके उद्भवकी पृष्ठभूमिपर संक्षिप्त प्रकाश डालना आवश्यक है। कलात्मक अनुभूतिके दो पक्ष हैं—प्रतिमा द्वारा सीधा प्रत्यक्षीकरण और प्रतीकके द्वारा आदर्शात्मक व्याख्याकरण। उन्नीसवीं शताब्दीके अन्ततक विज्ञान अपने चरम बिन्दुतक जा पहुँचा था और उससे पश्चिमकी मनीषा गम्भीर रूपसे प्रभावित एवं निर्मित हो रही थी। अतएव उन्नीसवीं शताब्दीमें सभी यथार्थवादकी ओर उन्मुख थे। इसके परिणामस्वरूप चित्रकलामें **इम्प्रेशनिज़्म** और साहित्यमें **प्राकृतवाद**का जन्म हुआ। इन दो वादोंके विरुद्ध आदर्शवादी प्रतिक्रियाके रूपमें साहित्य और कला, दोनोंके क्षेत्रमें १८८५ ई०में तथा उसके आगे प्रतीकवादका विकास हुआ। कवियों और चित्रकारोंने बाह्य जगत्का यथातथ्य चित्रण करना छोड़कर प्रतीकात्मक

सन्दर्भों और प्रचुर अलंकरणोंके माध्यमसे अपने स्वप्नोंके कल्पनात्मक संकेतोंको प्रस्तुत करना आरम्भ किया। प्रतीकवादके इतिहासमें १८८६ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वर्ष है। कवि जीन मोरेआसने इसी वर्ष 'फिगारो' नामके प्रसिद्ध पत्रके १८वीं सितम्बरके अंकमें प्रतीकवादका घोषणापत्र प्रकाशित किया, जिसमें उसने यह कहा कि प्रतीकवाद ही केवल ऐसा शब्द है, जो कलामें आजकल भी सर्जनात्मक प्रवृत्तिको पर्याप्त रूपसे व्यक्त कर सकता है। सभी कलाओंके सम्बन्धमें उसका प्रधान सूत्र यह था—विचार या भावको संवेदनात्मक रूप देना। शीघ्र ही अनेक पत्रिकाएँ और निकलीं, जिन्होंने कलाके इस अभिनव सिद्धान्तका प्रचार किया और प्रतीकवादी साहित्य तथा कलाकृतियोंको प्रकाशित किया। कलाके क्षेत्रमें उसी वर्ष प्रतीकवादी चित्रोंका प्रदर्शन काफे वोल्पिनीमें आयोजित 'इम्प्रेशनिस्त' चित्र प्रदर्शिनीमें हुआ।

आलोचक अलबर्ट ओरिएटने १८९१ ई० में प्रकाशित अपने एक लेखमें चित्रशिल्प सम्बन्धी प्रतीकवादकी परिभाषा की जिसपर काफी वाद-विवाद हुआ। उसने लिखा—"किसी भी कलाकृतिके लिए आवश्यक है कि (१) वह भावात्मक हो, क्योंकि उसका लक्ष्य उस भावको व्यक्त करना है, (२) प्रतीकवादी हो, क्योंकि वह भावको रूपों-आकारोंके माध्यमसे प्रस्तुत करेगी, (३) संश्लेषणात्मक हो, क्योंकि वह रूपाकारोंको सामान्य-प्रेषणीयताके लिए उपयुक्त प्रकारसे खचित करेगी, (४) विषयीपरक हो, क्योंकि उसमें विषय कभी विषयके रूपमें न ग्रहण किया जाकर विषयी द्वारा गृहीत किसी भावके संकेतके रूपमें ग्रहण किया जायगा और परिणामस्वरूप, (५) वह अलंकरणात्मक हो, क्योंकि सम्यक् प्रकारकी आलंकारिक चित्रकला, जैसा कि उसे प्राचीन मिस्री, यूनानी और आदिवासी समझते थे, विषयीपरक, संश्लेषणात्मक, प्रतीकात्मक और भावात्मक कलाको छोड़कर और कुछ भी नहीं है"।

कलाके क्षेत्रमें गोगिन, रोनार्ड, विलार्ड, रुजेल, मारिस, डेनिस, गस्तैव मोव्य, केवेन्स और रोदाँ प्रमुख प्रतीकवादी चित्रकार हैं।

साहित्यके क्षेत्रमें प्रतीकवाद शब्दका प्रयोग १८८० ई०के आसपास फ्रेन्च भाषाके देशी और विदेशी कवियोंके एक वर्गविशेषके लिए किया जाता है। उनके लिए एक दूसरा शब्द 'डिकेडेण्ट'—'क्षयोन्मुख' भी प्रयुक्त होता है। १८८६में इन क्षयोन्मुख कवियोंने जीन मोरेआसके नेतृत्वमें अपने घोषणापत्रको 'फिगारो'में प्रकाशित किया, जिसका जिक्र ऊपर किया जा चुका है। इस घोषणामें यह भी था कि प्रतीकवादी कविता भावको एक संवेद्य परिधान पहिनाना चाहती है, किन्तु उस परिधानका उद्देश्य परिधान ही नहीं है...। इस प्रकार इस कालमें सभी मूर्त घटनाएँ प्रातिम प्रत्ययोंके साथ अपनी गुह्य बन्धुता प्रदर्शित करनेवाली संवेदनात्मक प्रतीतियाँ मात्र हैं। यह प्रतीकवादी अन्दोलन उन्नीसवीं शताब्दीके (दार्शनिक) आदर्शवाद, स्वच्छन्दतावाद और नव्य-प्लेटोनिकवादी रहस्यवादसे प्रभावित था। मूलतः वह, विज्ञानजन्य प्राकृतवाद और पारनेसियनवाद-(फ्रेंच कविताका एक वाद)के विरुद्ध, जिन्हें वे अति स्थूल और अति सुस्पष्ट मानते थे, तरुणोंका विद्रोह था। तरुण कवि और कलाकार एडगर एलेन पो, बादलेयर, वाग्नर और पूर्व-रेफेलाइटोंसे अनिर्वचनीयका एक स्पर्श पा चुके थे और उसे व्यक्त करनेका माध्यम खोज रहे थे। उनका लक्ष्य घोषणा करना, वर्णन या अंकन करना न होकर अनुभूतिके क्षणभंगुर स्वरोंकी ओर संकेत करना था। प्रतीकवादके सर्वश्रेष्ठ कवि रिम्बो, कोरबियर और मालार्मे हैं। मालार्मेने प्रतीकवादको उसका सौन्दर्य-दर्शन प्रदान किया और उसकी साप्ताहिक गोष्ठियोंमें उसके वार्तालाप द्वारा इस आन्दोलनपर सम्भवतः सबसे अधिक प्रभाव डाला। अन्य प्रमुख प्रतीकवादी लेखकोंमें रोडेनबाख, लाफार्ग, ग्रिफिन गूरमाँ, मेटरलिंक, क्लाउडेल, हाउजमैन आदिकी गणना की जाती है।

प्रतीकवादी आन्दोलनका प्रभाव फ्रांसके बाहर और भी अधिक पड़ा और कला तथा साहित्यके क्षेत्रोंमें वह अभी भी महान् प्रेरक और प्रभविष्णु शक्तियोंमेंसे एक है। इंग्लैण्डमें ईलियट, जेम्स जाएस, आयरलैण्डमें यीट्स, सिंज, कैरल आदि प्रमुख प्रतीकवादी हैं। इनके अतिरिक्त शेखाफ, यूजीन ओनील आदि अनेक प्रख्यात प्रतीकवादी हैं। —आ०

प्रतीकवादी आलोचना-प्रणाली—अंग्रेजीमें इसे सिम्बोलिज्म कहते हैं। सन् १८७० तथा १८८६ ई०के मध्य फ्रान्समें पारनेशानिज्म एवं यथार्थवाद (रियलिज्म)के विरोधमें वेग्नरके संगीतसे प्रभावित होकर जिस नवीन कविता-धाराका उद्भव हुआ, वह प्रतीकवादके नामसे प्रसिद्ध हुई। इसीके आधारपर प्रतीकवादी आलोचनाके मान निर्धारित हुए हैं। इस कविता-धाराको बादलेयर, वर्लेन, मालार्मे, रिम्बो, क्लाउडेल तथा वालेरी आदि कवियोंने वादके रूपमें अपनाया। इनका प्रभाव जर्मन कवि रिल्के, रूसी लेखक ब्लोक, आयरिश कवि यीट्स, अमेरिकन हथॉर्न तथा वाल्ट ह्विटमैन आदिपर भी पड़ा। मालार्मे ही इसके प्रधान अधिनायक स्वीकार किये जाते हैं।

इस धाराको जर्मनीकी आदर्शोन्मुख दर्शनकी धाराने भी प्रभावित किया है, इसलिए हीगेल तथा शोपेनहावरके प्रभावसे इस धारामें रहस्यवृत्ति तथा अस्पष्टताको गुणके रूपमें स्वीकार कर लिया गया है। इस धाराके लेखकोंका मत है कि दृश्य जगत् वास्तविक सृष्टिका मिथ्या रूपमात्र है। वास्तविक सृष्टि अलौकिक और शाश्वत है। उस सृष्टिके सम्बन्धमें कुछ भी कहनेके लिए रहस्य और अस्पष्टताका सहारा लेना पड़ता है। किन्तु जिन रचनाओंमें दृश्य जगत्-की बात कही जायगी, उनमें दुर्बलता, निराशा और कुत्साका प्रवेश हो जायगा। यही इनकी ऐसी रचनाओंमें प्रकट भी हुए हैं। बादलेयरने विषय-वस्तु और रूप-तत्त्व, दोनोंको अखण्ड क्रिया माना था, किन्तु मालार्मेने शब्द-संकेतको प्रधान मानकर अभिव्यक्तिको महत्त्व दिया। उन्होंने रोमांच-(सेन्सेशन)को प्रधानता देकर भावना तथा बुद्धिका तिरस्कार कर दिया। ध्वनि तथा सुगन्धकी सूक्ष्मतम तथा विचित्र अनुभूतियाँ और रूप प्रस्तुत किये गये। इसके साथ ही मुक्त-वृत्त तथा संगीतको अपनाया गया। हिन्दीकी वर्तमान प्रयोगशील कवितापर प्रतीकवाद का प्रभाव स्वीकार किया जाता है। रामचन्द्र शुक्लने इसे 'चित्रभाषावाद' भी

कहा है। —आ० प्र० दी०

प्रतीत्यसमुत्पाद—प्रतीत्यसमुत्पाद बौद्ध दर्शनकी मूल भित्ति है—बौद्ध दर्शनके सभी सम्प्रदाय इस सिद्धान्तपर आधारित है। अन्य भारतीय दर्शनकी कारणताके विषयमें सत्कार्यवाद, असत्कार्यवाद और यदृच्छावाद (चार्वाकादि) तथा विवर्तवाद मानते है। बुद्धने जिस मध्यम मार्गका उपदेश दिया, उसमें प्रतीत्यसमुत्पादका महत्त्वपूर्ण स्थान है। बौद्धोंने किसी प्रकृति, पुरुष, माया या ईश्वरको जगत्का कारण न बताकर इस भवचक्रको अनादि बताया तथा जगत्के सभी क्षणिक धर्मोको कतिपय हेतु प्रत्ययोकी अपेक्षा कर प्रतीत और उत्पन्न बताया। सभी पदार्थोके हेतु और प्रत्यय होते है। इस (हेतु-प्रत्यय)की प्रतीति कर यह (धर्म) उत्पन्न होता है (अस्मिन् सति इदं भवति), यही प्रतीत्यसमुत्पादका सिद्धान्त है। अविद्या, संस्कार, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरामरण—ये बारह निदान या उत्पादके प्रत्यय माने जाते है, जो अनादि कालसे ही नदी स्रोत या घटीयन्त्रके समान निरन्तर प्रवर्तित रहते है। अनेक क्षणिक हेतु-प्रत्ययोंसे क्षणिक धर्मोका उदय होता है। इसीलिए प्रतीत्यसमुत्पादको कभी-कभी संघातवाद भी कहा जाता है।

माध्यमिकोंने प्रतीत्यसमुत्पादके बारह निदानों या अङ्गोंके विश्लेषणपर जोर न देकर, इसे सापेक्षताका द्योतक सिद्धान्त मात्र माना। प्रतीत्यसमुत्पाद उनके लिए क्षणिक कारणताका, धर्मोके इदम्प्रत्ययता निबन्धन उत्पादका, हेतु-प्रत्ययवादका सिद्धान्त मात्र नही है, अपितु यह सभी पदार्थोके सार्वकालिक और सार्वभौमिक सापेक्षताका विधायक नियम है। माध्यमिकोके अनुसार न केवल संस्कारादि ही अविद्यादिकी प्रतीति कर उत्पन्न होते है, अपितु सभी पदार्थ, सम्पूर्ण जगत् ही प्रतीत्यसमुत्पन्न है। प्रतीत्यसमुत्पाद सापेक्षताका ही नामान्तर है। जगत्के सभी पदार्थ सापेक्ष है। सापेक्ष होनेके कारण ही वे, निःसार और शून्य भी कहे गये है। इसीलिए प्रज्ञापारमिताओके प्रामाण्य पर नागार्जुनने भी प्रतीत्यसमुत्पादको शून्यताका समानार्थक बताया। सभी भाव क्षणिक, सापेक्ष, निःस्वभाव और शून्य है—प्रतीत्यसमुत्पादके विशेषणसे ही धर्म-नैरात्म्यकी विचारधारा भी विकसित हुई।

हिन्दीमे सिद्धोंके साहित्यमें पद-पदपर इसका प्रभाव ढूंढ़ा जा सकता है। जगत्की शून्यता, धर्म नैरात्म्य और भावोके सापेक्ष-प्रतीत्यसमुत्पन्न स्वरूपके बार-बार संकेत करते है। शून्यता और वज्रके विभिन्न रूपोंका प्रयोग तो वहाँ मिलता ही है (दे० 'शून्य', 'वज्र')।

[सहायक ग्रन्थ—बलदेव उपाध्याय : बौद्ध दर्शन; आचार्य नरेन्द्र देव : बौद्ध धर्म दर्शन; धर्मवीर भारती : सिद्धसाहित्य; राहुल सांकृत्यायन : हिन्दी काव्यधारा; दोहा कोष।] —क० शु०

प्रतीप—लोकन्यायमूल अर्थालंकार। 'प्रतीप' शब्दका अर्थ है विपरीत। इस अलंकारमें उपमा अलंकारकी अपेक्षा विपरीत स्थिति होती है, क्योंकि उपमा अलंकारमें उपमेयकी अपेक्षा उपमानकी उत्कृष्टताका वर्णन किया जाता है, किन्तु इस अलंकारमें उपमानका अपकर्ष वर्णित होता है। प्रसिद्ध उपमानको उपमेयरूपमें कल्पित किया जाता है। रुद्रटने इसे स्वरूप साम्यवर्गमें स्वीकार किया है। मम्मटके अनुसार इस अलंकारमें या तो उपमानका निषेध अथवा निन्दन होता है या तिरस्कार करनेके लिए उपमानका उपमेयरूपसे वर्णन किया जाता है (का० प्र०, १० : १३३)। जयदेवने उपमानकी हीनताका उल्लेख किया है और अप्पय दीक्षितने इसमें केवल उपमानकी उपमेयरूपमें कल्पना करना माना है—"प्रतीपमुपमानस्याप्युपमेयत्वकल्पनं" (कुवलयानन्द)। विश्वनाथने इसमें और जोड़ा है कि उपमानका व्यर्थ कहा जाना भी प्रतीप है (सा० द०, १० : ८८)। 'कुवलयानन्द'में इसके पाँच प्रकार है। जसवन्त सिंहने 'कुवलयानन्द'के आधारपर प्रतीपके लक्षण दिये है। अधिकतर आचार्योंने प्रतीपके भेदोके अलग-अलग लक्षण दिये है। भिखारीदासने मम्मटके आधारपर लक्षण दिया है—"सो प्रतीप उपमेइको जब कीजै उपमान। कै काहू विधि वर्न्यकौ करौ अनादर ठॉन' (का० नि०, ८)।

'प्रतीप' अलंकारमें 'उपमान'का अपकर्ष पाँच प्रकारसे वर्णित किया जाता है। अतः इस दृष्टिसे 'प्रतीप'के पाँच भेद किये जा सकते है। **प्रथम प्रतीप**—जहाँ प्रसिद्ध उपमानको उपमेयरूपमें कल्पित किया जाय—"जँह प्रसिद्ध उपमानकौ पलटि कहत उपमेय" (ल० ल०, ५७)। सोमनाथका उदा०—"देत मुकति सुन्दर हरपि सुनि परताप उदार। है तेरी तरवार सी कालिंदीकी धार" (र० पी०)। इसी प्रकार मैथिलीशरण गुप्तने इसका सुन्दर प्रयोग किया है—"कौन जाने, जायगा न यों ही दिन दूसरा; आयी तुझ-सी यह सन्ध्या धूलि-धूसरा" (यशोधरा)। **द्वितीय प्रतीप**—प्रसिद्ध उपमानको उपमेयरूपमें कल्पित करके वर्णनीय उपमेयका निरादर किया जाय—"जहाँ और उपमान लहि वर्न्य अनादर होय' (ल० ल०, ६६)। भूषण प्रसिद्ध उपमान बड़वानलको उपमेयरूपमें रखकर प्रस्तुत उपमेय 'सिव प्रताप'का निरादर करते है—"सिव प्रताप तव तरनि सम, अरि पानिप हर मूल। गरव करत केहि हेत है, बड़वानल तो तूल" (शि० भू०, ४४)। **तृतीय प्रतीप**में उपमेयकी उपमानरूपमें कल्पना करके प्रसिद्ध उपमानका निरादर किया जाता है। प्रायः हिन्दीके आचार्योंके लक्षण अस्पष्ट है—"जहाँ अनादर आनको उपावर्न्य उपमेय" (ल० ल०, ६१)। भूषणका उदाहरण स्पष्ट और व्यंजक है—"गरब करत कत चाँदनी, हीरक छीर समान। फैली इती समाज गत, कीरति सिवा खुमान" (शि० भू०, ४६)। **चतुर्थ प्रतीप**में पहले उपमेयकी उपमानसे समता की जाती है, किन्तु बादमें उस उपमानको उपमेयके अयोग्य कहते हैं, अर्थात् उपमेयकी उपमानसे समताका खण्डन करते है। इसके लक्षण भी प्रायः स्पष्ट नहीं दिये गये। भूषणके अनुसार—"पाय बरन उपमानको जहाँ न आदर और" (शि० भू०, ४७), पर पद्माकरके लक्षणमें भाव अधिक स्पष्ट है—"जु उपमान उपमेयकी समता जोग न होत" (पद्मा०, ३१)। तुलसीके वर्णनमें इसका सुन्दर प्रयोग है—"बहुरि विचार कीन्ह मन माही। सीय बदन सम हिमकर नाहीं।' (रा० च० मा०)। **पंचम प्रतीप**में उपमेयके रहते हुए उपमानकी स्थितिको

व्यर्थ अथवा अनावश्यक सिद्ध किया जाता है। लक्षणके सम्बन्धमें इसकी स्थिति भी स्पष्ट नहीं है—"हीन होय उपमानसों नष्ट होत उपमान' (शि० भू०, ४९)। भूषणके समान ही मतिरामका लक्षण—"कहा कछु न उपमानको यौं जहँ करत बखान" (ल० ल०, ६५)। दास और पद्माकर-में अपेक्षाकृत स्पष्टता है—"लखि उपमेयहिको जहाँ वृथा होत उपमान"(पद्मा०, ३२)। सोमनाथका इसका उदाहरण सुन्दर और उचित है—"तिय तो मुख ही सो सदा रहै उजास अमन्द। कहिये कहा विरंचिसो वृथा रच्यो है चन्द" (र० पी० नि०)। मतिरामने उदाहरण द्वारा अपना लक्षण स्पष्ट किया है—"राव भावसिंहजूके दानकी बड़ाई देखि, कहा कामधेनु है, कछू न सुरतरु है" (ल० ल०, ६६)।

व्यतिरेकसे इसका भेद स्पष्ट है। दोनोंमें उपमेयका उत्कर्ष दिखाया जाता है, पर 'प्रतीप'में उपमेय उपमानमें बदल जाता है और इसके विपरीत व्यतिरेकमें इस प्रकारका परिवर्तन नहीं होता, वरन् उपमेयमें कुछ गुणोंके निर्देशसे उसका उत्कर्ष प्रकट किया जाता है। जगन्नाथके अनुसार 'प्रतीप'के प्रथम तीन भेद उपमाके अन्तर्गत आ जाते हैं। चतुर्थ अनुक्त धर्मरूपमें व्यतिरेकका ही अंग है, फिर भी यह तथा पंचम **आक्षेप**में समा जाते हैं।

प्रायः इस अलंकारका प्रयोग वीर रसके नायकोंकी प्रशंसा अथवा नायिकाके सौन्दर्यके उत्कर्षके लिए किया गया है। आधुनिक युगमें इस अलंकारका प्रयोग प्रकृति-वर्णनके प्रसंगमें हुआ है। —वि० स्ना०

प्रतीयमान अर्थ–व्यंजना द्वारा ध्वनित अर्थ। दे० 'व्यंजना-शक्ति'।

प्रतीयमानोत्प्रेक्षा–दे० 'उत्प्रेक्षा', चौथा भेद।

प्रत्यक्षवाद–दर्शनमें 'एम्पेरिसिज्म' या इन्द्रिय-प्रत्यक्ष वस्तुओंपर अनुभवको आधारित करना प्रत्यक्षवाद कहलाता है। परन्तु यह प्रत्यक्ष-ज्ञान हमें कितनी दूरतक ले जा सकता है? क्षण-क्षणपर हम देखते हैं कि दृष्टि-ज्ञानकी मर्यादा है, दृष्टि-ज्ञान थोड़ा-थोड़ा है। क्षितिजके पार क्या, अँधेरेमें भी दृष्टि नहीं जाती और प्रत्येक इन्द्रिय-प्रत्यक्षके लिए वस्तुका वस्तुपन आवश्यक होता है। ऐसे समय प्रत्यक्षसे परोक्ष, उपमान, अनुमान, शब्द इत्यादि प्रमाणों-का सहारा लेना होता है। जब अन्धविश्वास टूटने लगा और वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा प्रज्ञावादकी प्रतिष्ठा हुई तो प्रत्यक्षवादका भी महत्त्व बढ़ा। कोई भी चीज तबतक सहसा मानने योग्य नहीं मानी गयी, जबतक कि उसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण न मिल गया। —प्र० मा०

प्रत्यनीक–लोकन्यायमूल अर्थालंकार; साक्षात् शत्रुका प्रती-कार न कर सकनेपर शत्रुके सम्बन्धीका तिरस्कार किया जाना। दूसरे शब्दोंमें "जहाँ प्रत्यक्षतः शत्रुका प्रतीकार करनेमें असमर्थ होनेपर, वैरनिवारणके हेतु शत्रुके पक्ष-वालोंका तिरस्कार किया जाय। सामान्यतः इसका विवे-चन रुद्रटसे प्रारम्भ हुआ। मम्मटने, प्रतिपक्षका तिरस्कार असमर्थतावश नहीं किया जा सकता", ऐसा माना है (का० प्र०, १२९)। विश्वनाथने भी शत्रुके सहायकका ऐसा तिरस्कार करना माना है, जो शत्रुके उत्कर्षका कारण हो:—"प्रत्यनीकमशक्तेन प्रतीकारे रिपोर्यदि। तदीयस्य तिरस्कारस्तस्यैवोत्कर्षसाधकः"(सा०द०, १० : ८६ : ८६)। 'प्रत्यनीक' शब्दका निर्वचन इस प्रकार किया जा सकता है—प्रति+अनीक। 'प्रति'में यहाँ अभिप्राय है 'प्रतिनिधि' (अमरकोष) और 'अनीक'का अर्थ है 'सैन्य' (मेदिनीकोष)। अतः सम्पूर्ण रूपसे 'प्रत्यनीक'का अर्थ हुआ 'सैन्य'का प्रतिनिधि। प्रस्तुत प्रकरणमें सैन्यका अर्थ लक्षणा द्वारा 'शत्रु' ग्रहण किया गया है, अर्थात् 'शत्रुका प्रतिनिधि'। जगन्नाथने 'प्रत्यनीक'को 'हेतूत्प्रेक्षा' माना है, पर 'हेतू-त्प्रेक्षा'के सन्निहित होनेपर भी पक्षवालोंके तिरस्कारादिक वर्णनमें अपना अलग चमत्कार है। अतः इसे स्वतन्त्र अलंकार माना है।

हिन्दीमें जसवन्त सिंहने 'प्रत्यनीक'का लक्षण 'कुवलया-नन्द'से लिया है—"प्रत्यनीक सो प्रबल रिपु ता हित सो करि जोर" (भा० भू०, १५०)। हिन्दीके मतिराम, भूषण, दास तथा पद्माकर आदि आचार्योंने इस लक्षणको केवल इसी रूपमें दिया है—"प्रबल सत्रुके पक्षपर जहँ विक्रम उल्लास" (ल० ल०, २८५)। चिन्तामणिने अपने लक्षणमें अवश्य मम्मटका आश्रय लिया है—"जाइ लियो नहि बैर जहँ, पर सो प्रबल विचारि। एकैकौ अपकार जो प्रत्यनीक निरधार" (क० कु० क० त०)। दासने लक्षण भिन्न रूपमें दिया है—"सत्रु मित्रके पक्षते, किये बैर औ हेत" (का० नि०, १४)। इसमें स्पष्ट है कि मित्र पक्षवालोंसे मित्रताका व्यवहार करनेमें भी 'प्रत्यनीक' अलंकारकी स्थिति होती है। कन्हैयालाल पोद्दारने सम्बन्धी दो प्रकारके मानकर इसके दो भेद किये हैं—साक्षात् सम्बन्धी तथा परम्परागत सम्बन्धी।

भिखारीदासके इस उदा०—"मदन गरब हर हरि कियो, सखि परदेस पयान। वहै बैर नाते अली मदन हरत मो प्रान" (का० नि०, १७)में मम्मटकी छाया है। यह नायिकाका कथन सखीके प्रति है। अपनेसे अधिक सौन्दर्यशाली नायकको जीतनेमें असमर्थ कामदेव नायकमें अनुरक्त नायिकाका प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, अतः साक्षात् सम्बन्धीका तिरस्कार है। मतिरामके उदाहरणमें यह सम्बन्ध मात्र परम्पराका है—"तो मुख छबिसों हारि जग, भयो कलंक समेत। सरद-इन्दु-अरबिन्द-मुखि! अरबिन्दनि दुख देत" (र० रा०, २८६)। भिखारीदासने मित्रपक्षका उदाहरण भी दिया है—"रावरे अंगको रंग बिचारि तमाल-की डार भुजा भरि भेंटति" (का० नि०, १७), गोपियाँ कृष्णके रंगकी भावनासे तमालको भेंटती हैं।

हिन्दीके रीतिकालमें उक्तिवैचित्र्यके आग्रहसे इस अलं-कारका निर्वाह नायिका-वर्णन-प्रसंगोंमें हुआ है। प्रकृतिके उद्दीपन रूपके वर्णनोंमें इसका विशेष उपयोग हो सका है। आचार्य कवियोंके अतिरिक्त बिहारीने भी सुन्दर प्रयोग किये हैं। आधुनिक महाकाव्योंमें, विशेष रूपसे रामचरित उपाध्याय और अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'के काव्योंमें, यह अलंकार प्रयुक्त हुआ है। —वि० स्ना०

प्रत्यभिज्ञा–फिरसे पहचान, पुनः स्वरूपप्राप्ति। शैव दर्शनमें आगम-शास्त्र, स्पन्द-शास्त्र और प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र नामसे त्रिक प्रसिद्ध है। आगम-शास्त्रमें अनुश्रुति है,

स्पन्द-शास्त्रमे सिद्धान्तका विस्तार है और प्रत्यभिज्ञा-शास्त्रमे इन सिद्धान्तोंका तर्कबद्ध रूपमें संग्रथन है। इस शास्त्रके प्रवर्तक वसुगुप्त और उनके शिष्य सोमानन्द हैं, जिन्होंने 'शिव-दृष्टि' ग्रन्थकी रचना की है। इस ग्रन्थपर उत्पलाचार्यने 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' या 'प्रत्यभिज्ञासूत्र' नामकी संक्षिप्त कृति प्रस्तुत की और ये ग्रन्थ इतने प्रख्यात हुए कि कश्मीर शैव मतका नाम ही प्रत्यभिज्ञा-दर्शन पड़ गया। इस ग्रन्थपर प्रसिद्ध साहित्य-शास्त्री तथा दार्शनिक अभिनव गुप्तने 'प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' और 'प्रत्यभिज्ञा-विवृत्ति-विमर्शिनी' नामसे दो टीकाएँ लिखीं, भास्करने अभिनवगुप्तकी टीकापर 'भास्करी' नामकी टीका की। स्वीकृत ग्रन्थके रूपमें इस दर्शनके अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थोंके नाम हैं—'परमार्थ-शास्त्र' और 'तन्त्र-सार', 'तन्त्रालोक' (अभिनवगुप्तकृत) तथा 'प्रत्यभिज्ञा-हृदय' (क्षेमराजकृत)। 'तन्त्रालोक'पर जयरथकी प्रसिद्ध टीका भी उपलब्ध है। प्रत्यभिज्ञा-दर्शनने शैवागमकी द्वैत-मूलक स्थापनापर अद्वैतकी भित्ति खड़ी की। सम्भवतः यह शंकरके अद्वैतका प्रभाव था, पर साथ ही प्रत्यभिज्ञा-दर्शनने अद्वैतवादमें एक नयी कड़ी जोड़ी है; वह कड़ी थी दृष्टि-गोचर और पार्थिव जगत्‌की स्वीकृति। इस दर्शनने मायाको अनिर्वचनीय न मानकर सत् माना तथा शक्तिको जड़ न मानकर चित् माना। इसने मोक्षसे भी बड़ा पुरुषार्थ स्व-विमर्शको माना। सोमानन्दने बतलाया कि स्वातन्त्र्य, अर्थात् मोक्ष प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यावहारिक जीवनमें अपने स्वरूपकी पहचान द्वारा प्राप्त कर सकता है। वस्तुतः स्वातन्त्र्य व्यक्तिकी आन्तरिक सत्ता है, वही शक्ति है, वही विमर्श है। जब शिव शक्तिमें प्रतिबिम्बित होते हैं। तभी सत्‌के साथ अहं विमर्श जगता है। यह अहं विमर्श ही मूल बिम्ब है और इसीके प्रतिबिम्ब या आभासरूपमें विश्वकी स्थिति है। विश्व ग्राहक और ग्राह्य दोनों है। शिव और शक्तिमें तादात्म्य या सामरस्य सम्बन्ध है। जीव मलकी सीमामें परिवेष्टित रहनेके कारण बद्ध बना रहता है और वह अज्ञानमें पड़ा रहता है। प्रकाश और विमर्शमें अर्थबोध और स्वातन्त्र्यसे विरहित रहता है। शिवत्वयोजना ही उसे बोधित और मुक्त कर सकती है। इसके चार उपाय हैं—अनुपाय, शाम्भव, शाक्त और आणव उपाय। एक प्रकारसे सांख्यकी आत्मगत और वस्तुगत, इन दोनों बोधोंपर आधारित दृष्टि और अद्वैतवेदान्तका निरपेक्ष ब्रह्मवाद इन दोनोंके बीच प्रत्यभिज्ञा दर्शन सामंजस्यकी स्थिति लेता है। इसका बहुत ही व्यापक प्रभाव साहित्य-शास्त्रकी मान्यताओंपर है और विशेष रूपसे रसवादकी प्रतिष्ठा प्रत्यभिज्ञाकी ही पीठिकापर हुई है। रसवादमें रसकी वही स्थापना है, जो वहाँ शिवकी है। इसीलिए वह मित और अमित दोनों प्रकारके योगियोंके ज्ञानसे परे स्व-संविद्‌का गोचर माना गया है। व्यक्तिको उसकी सीमासे विमुक्त करके उसकी विराट्‌ताका बोध करना ही प्रत्यभिज्ञा-दर्शनका मूल लक्ष्य है और यही प्राचीन भारतीय साहित्य-शास्त्रका भी क्रमशः चरम प्रतिपाद्य बना। यह संयोगकी ही बात थी कि उस साहित्य-शास्त्रके विकासका चरम उत्कर्ष भी उस प्रदेशमें हुआ, जहाँ प्रत्यभिज्ञा-दर्शन विकसित अवस्थामें अपने उत्कर्षपर पहुँच रहा था। —वि० नि० मि०

प्रत्यभिज्ञा दर्शन—दे० 'प्रत्यभिज्ञा'।

प्रत्यांतरवैचित्र्यवक्रता—दे० 'पदपरार्धवक्रता', सातवाँ प्रकार।

प्रत्यालोचना—आलोचनाकी आलोचना प्रत्यालोचनाके नामसे अभिहितकी जाती है। प्रत्येक आलोचकका अपना-अपना दृष्टिकोण होता है और आलोचना क्षेत्रमे ही विभिन्न सम्प्रदाय होते हैं। आलोचकको यह भी अधिकार है कि वह किसी कृतिके दोषोंका दिग्दर्शन कराये, उसे उपहासास्पद बताये और दोषोंका तर्कपूर्ण स्पष्टीकरण करे। ऐसी परिस्थितिमें मत-वैभिन्न्य अनिवार्य परिणामके रूपमें दृष्टिगोचर होता है और स्वयं कवि या कलाकारको और अन्य आलोचकोंको अपने पक्षसमर्थनमें उत्तर देनेका पूर्ण अधिकार रहता है। प्रत्यालोचनाके अन्तर्गत मूल कृति आलम्बन नहीं रह जाती, यद्यपि उसकी पूर्णतः अवहेलना भी नहीं की जा सकती। उसका स्थान आलोच्य आलोचनाके अन्तर्गत प्रकट किये गये तर्क, मूल्य-निर्धारण, आलोचकका दृष्टिकोण आदि बातें ग्रहण कर लेती हैं। प्रत्यालोचना करते समय काफी सतर्कताकी आवश्यकता है, अन्यथा प्रत्यालोचकका मार्ग-भ्रष्ट हो जाना सम्भव है। प्रतिपक्षी समालोचकके विचारोंकी आलोचना केवल सैद्धान्तिक दृष्टिसे की जानी चाहिये। प्रतिपक्षी आलोचकको नीचा दिखानेकी भावना भी निहित रह सकती है, किन्तु उसके व्यक्तित्व और जीवनसे सम्बन्धित बातोंको लेकर आलोचना करना प्रत्यालोचनाको दूषित बना सकता है। प्रत्यालोचना केवल प्रलापमात्र नहीं होनी चाहिये। प्रतिपक्षी आलोचककी त्रुटियोंपर प्रकाश डालना और विचार विनिमयका एक स्वस्थ वातावरण प्रस्तुत करना प्रत्यालोचनाका मुख्य ध्येय होना चाहिये। हो सकता है, दोनों पक्षोंमें कोई समझौता न हो सके। किन्तु रुचिवैचित्र्यका विद्वेषहीन रूप सुन्दर एवं स्वस्थ वातावरण निर्मित करनेमें सहायक होता है। विशुद्ध प्रत्यालोचना वही होगी, जो प्रतिपक्षीके केवल तर्कोंको परखे। पाठकोंको प्रत्यालोचना समझनेके लिए मूल आलोचनाको पढ़ना और समझना अत्यन्त आवश्यक है। प्रत्यालोचना द्वारा प्रवर्तित वाद-विवादमें कुछ उपयोगी सिद्धान्त या निष्कर्ष निकल सकते हैं और वे दूसरोंका पथ-प्रदर्शन कर सकते हैं। द्विवेदी-युगमें 'देव और बिहारी' सम्बन्धी वाद-विवादमें और आधुनिक पत्र-पत्रिकाओंमें आलोचना-प्रत्यालोचनाके दर्शन होते हैं। —ल० सा० वा०

प्रत्यावर्तन—सामाजिक-सांस्कृतिक प्रवृत्तियोंके पुनरुत्थान अथवा पुनरुद्धारको ही प्रत्यावर्तन कहते हैं। प्रत्यावर्तनका कारण प्रायः अतीतका मोह होता है। प्रायः देखा गया है कि जिस व्यक्ति अथवा जातिका वर्तमान उज्ज्वल नहीं, वह अतीतके गौरवका स्मरण कर अपनी हीनता-ग्रन्थिसे मुक्त होनेकी चेष्टा करती रहती है और यदि उसे कुछ कर सकनेकी शक्ति आयी तो वह वर्तमानको अतीत रूपमें परिणत कर देना चाहती है। इस प्रवृत्तिके फलस्वरुप पुराने रीति-रिवाजों, संस्कारों, विद्याओं आदिका प्रत्यावर्तन होने लगता है। आर्यसमाज आन्दोलनके मूलमें प्रायः यही भावना काम

करती पायी जाती है, कि अतीत सर्वांग सुन्दर था और वर्तमान कुछ नहीं है। वस्तुतः जब कोई व्यक्ति या राष्ट्र सांस्कृतिक निद्रा अथवा दासतासे मुक्त होता है तो वह सबसे पहले अपने अतीतका ध्यान करता है, जिसे ही वह अपना सच्चा स्वरूप मानता है। हाँ, यदि उसमें सर्जन-शक्ति पर्याप्त मात्रामें हुई तो वह अतीतसे भी सन्तुष्ट नहीं रह सकता और नवनिर्माणकी ओर अग्रसर हो जाता है। इस नवनिर्माणके प्रयत्नमें वह अतीतसे पर्याप्त सहायता अवश्य लेता है, किन्तु उसकी दासता स्वीकार नहीं कर सकता। यूरोपके नवजागरणकाल (दे० 'नवजागरण')मे ठीक ऐसी ही घटना घटी थी। उस समय, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, यूनानी-रोमीय विद्याका उपयोग एक नयी संस्कृतिके निर्माणमें किया गया; जो अतीतकी संस्कृतियोंसे भिन्न थी। प्रत्यावर्तन और नवजागरणमे यही भेद है। —ह० ना०

प्रत्याहार—प्रत्याहार **पूर्वरंग** (दे०)का अंग है—"प्रत्याहारादिकान्यंगान्यस्य भूयांसि यद्यपि। तथाप्यवश्यं कर्तव्या नान्दी विघ्नोपशान्तये" (सा० द०, ६ : २४)। दे० 'हठयोग'। —ब० सि०

प्रत्युत्तरकाव्य—यह भी गोचारणका ही एक रूप है, जिसे अंग्रेजीमें 'ऍकलाग' कहा जाता है। इसे हम नाटकीय शैलीका काव्य कह सकते हैं, जिसमे स्वगत-भाषण या कथोपकथनकी पद्धति तो अपनायी जाती है, पर नाटकीय कार्यों या अभिनेय घटनाओंका अभाव होता है। साथ ही उसमें वातावरण या दृश्यका वर्णन या तो कवि स्वयं करता है या किसी पात्र द्वारा कराता है। नाटकमे दृश्य-निर्देशन पहले तो होता ही नहीं था और आधुनिक युगमें कथोपकथनसे अलग दृश्य या अंकके प्रारम्भमे गद्यमें संक्षेप या विस्तारसे किया जाता है। प्रत्युत्तरकाव्यमें दृश्य-निर्देशन न होकर दृश्य या वातावरणका चित्रण होता है, जो अभिनेताओंके लिए निर्देशके रूपमें नहीं, बल्कि पाठकोंके लाभके लिए होता है। प्रारम्भमे **गोचारणकाव्य** और प्रत्युत्तरकाव्यका रूप एक ही था। बादमे जब **ग्राम्य नाटक** और **ग्राम्य कथाकाव्य** (पेस्टोरल ड्रामा और रोमांस) लिखे जाने लगे तो प्रत्युत्तरकाव्यको एक अलग काव्यरूप मान लिया गया और ग्राम्य वातावरण और गोचारण सम्बन्धी विषयवस्तुपर आधारित काव्यको गोचारणकाव्य तथा किसी भी विषयवस्तुको लेकर प्रत्युत्तर या संवाद-शैलीसे लिखे गये काव्यको प्रत्युत्तरकाव्य कहा जाने लगा। इस तरह एक विशेष शैलीका नाम प्रत्युत्तर-काव्य हो गया। हिन्दीमें इस शैलीका काव्य नहीं मिलता। —शं० ना० सिं०

प्रपत्ति—प्रपत्तिका अर्थ अनन्य भक्ति है, जो भगवान्के 'अनुग्रह'से उत्पन्न होती है और भगवान्के अनुग्रहको अपनी ओर प्रवृत्त करनेका उपाय शरणागति है, जिसे वल्लभ-सम्प्रदायमे प्रपत्ति कहा गया है। गीतामे प्रपत्तिका संकेत है—"यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे, शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्" (२ : ७), अर्थात् कायरताके दोषसे उपहत स्वभाववाला तथा धर्मसम्मूढचित्त मैं आपसे पूछता हूँ कि आप जो कुछ निश्चित कल्याणपरक साधन हो, वह कहिये। मैं आपका शिष्य हूँ। आपकी शरण आया हूँ। मुझे शिक्षा दीजिये।

शरणागतिके छः प्रकार माने गये हैं—(१) 'आनुकूल्यस्य संकल्पः' (भगवान्के अनुकूल बने रहनेका संकल्प), (२) 'प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्' (भगवान्के प्रतिकूल भावादिसे अपनेको रोकना), (३) 'रक्षिष्यतीति विश्वासः' (भगवान् रक्षा करेंगे, यह विश्वास), (४) 'गोप्तृत्व-वरणम्' (भगवान्का रक्षक-रूपमें वरण), (५) 'आत्मनिक्षेपः' (आत्मसमर्पण), (६) 'कार्पण्यम्' (दैन्य)। रामानुज-मतमे भी प्रपत्ति (शरणापन्नता)को भक्तिका सार कहा गया है। उसने प्रपत्तिके तीन आकार या विशेषण कहे गये हैं—(१) अनन्यशेषत्व, (२) अनन्यसाधनत्व तथा (३) अनन्ययोगत्व। 'अनन्यशेषत्व'का अर्थ है भगवान्का ही दास होना। 'अनन्यसाधनत्व'से तात्पर्य है एकमात्र भगवान्को ही तत्प्राप्तिमे उपाय मानना तथा 'अनन्ययोगत्व'का अभिप्राय है अपनेको एक भगवत्के ही योग्य समझना। "इन तीनों आकारोंसे विशिष्ट होनेपर ही प्रपत्तिमे पूर्णता आती है, परन्तु दैववश एक-दो आकारोंमे न्यूनता होनेपर भी भगवदनुग्रहसे फलमें किसी प्रकारकी न्यूनता नहीं आती" (भागवत सम्प्रदाय, पृ० १८)। अपने विश्वासके अनुसार परमात्माके, मुख्यतः राम-कृष्णके प्रति अनन्य भावसे भक्त कवियोंने भी आत्म-समर्पणकी भावना व्यक्त की है। निर्गुण भक्त-कवियोंने भी अपने प्रतीकोंके प्रति आत्मार्पण अथवा शरणागतिकी भाव-व्यंजना की है। अतः प्रपत्ति भक्तिका सर्वोच्च एवं सर्वमान्य भाव है। —वि० मो० श०

प्रपद्यवाद—नलिनविलोचन शर्मा, केसरीकुमार और नरेश द्वारा प्रवर्त्तित तथा पुरस्कृत काव्यांदोलन। तीनों कवियोंके आद्याक्षरोंको लेकर इसे कभी-कभी 'नकेनवाद'की भी संज्ञा दी गयी। 'नकेनके प्रपद्य' नामसे इन कवियोंका एक संयुक्त संकलन प्रकाशित हुआ है। पटनाके मासिक पत्र 'पाटल' के माध्यमसे भी नकेन तथा उनके अन्य युवा सहयोगियोंकी कविताएँ प्रकाश में आयीं। 'नकेनके प्रपद्य'की भूमिका 'परपशा'में इस वादका सैद्धान्तिक निरूपण प्रस्तुत किया गया है और मूल सूत्र उद्घोषित किये गये हैं।

प्रपद्यवादी कवियोंकी भाषा यदि साधारण जनोंकी भाषासे भिन्न है तथा दुरूह है तो यह स्वाभाविक ही है क्योंकि अपनी घोषणा संख्या ९के अनुसार कवि, प्रत्येक प्रयुक्त शब्द और छन्दका स्वयं निर्माता है। इसके अतिरिक्त प्रपद्यी द्वादशसूत्रीके दूसरे सूत्रकी घोषणा है कि प्रयोगवाद सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र है, उसके लिए शास्त्र या दल-निर्धारित नियम अनुपयुक्त हैं।

'नकेनके प्रपद्य'की भूमिकामें प्रयोगशील कवियोंको लक्ष्य करके जो प्रयोगवादपर अभियोग लगाये गये हैं, उनका उत्तर सशक्त ढंगसे दिया गया है। इस प्रकारके आरोपोंका प्रयोगशील कवियोंकी ओरसे अपनी स्थितिके अनुसार समुचित उत्तर दिया जा चुका है। फिर भी इसका अपना महत्त्व है। बौद्धिकताके आरोपका प्रत्याख्यान करते हुए कहा गया है—"हिन्दी कविताको अपनेमे वयस्क बुद्धि लाना होगा और तभी वह युगकी मेधाको अपने प्रति खींच सकती है। उसे अपने पुराने हृद्रोगसे मुक्त होना

और कथानक-रूढियोंकी अधिकता नहीं होती, जिससे उसमें कथाकाव्योंकी तरहकी एकरूपता और एकरमता नहीं होती। शिष्ट और नागर समाजकी जीवन-विधि और शिक्षित तथा काव्यदीक्षित पाठकवर्गकी रुचिको ध्यानमें रखनेके कारण प्रबन्ध-काव्यके कविमें अपनी मौलिक काव्यप्रतिभामें नवीनता लाने या पाण्डित्य-प्रदर्शन करनेकी प्रवृत्ति अधिक होती है। इससे प्रबन्ध-काव्यमें परम्परा और नवीनता, सहजता और पाण्डित्य, मनोरंजन और सोद्देश्यता तथा यथार्थ और कल्पनाका सुन्दर सामंजस्य दिखाई पड़ता है। (८) उसकी शैली अलंकृत, उदात्त और गरिमामयी होती है और उसमें कविकी सूक्ष्म निरीक्षण-शक्तिके फलस्वरूप मनोवैज्ञानिक चित्रण, विवृत वस्तुवर्णन और तत्त्वनिरूपणकी प्रवृत्ति अधिक होती है (दे० 'महाकाव्य', 'चरितकाव्य')। —शं० ना० सिं०

प्रबंधवक्रता—(प्रबन्ध = काव्य अथवा नाट्य-प्रबन्ध + वक्रता = निर्माण-विचित्रता)—प्रबन्ध-वक्रता वस्तुतः कवि अथवा नाटककारकी प्रतिभा और निर्माण-कुशलताकी असली कसौटी है। पद-पदांश-वाक्यादिकी वक्रताएँ प्रबन्ध-सौन्दर्यमें बुद्बुद-वीची-तरंगकी भाँति उन्मग्न-निमग्न हुआ करती हैं। महाकविका महनीय पद प्रबन्ध-वक्रताकी देन है। जिस कविकी कला प्रबन्ध-वक्रताकी परीक्षामें उत्तीर्ण हो जाय, उसीकी कृति सहृदय-हृदयपर एकाधिकार रख सकती है।

प्रबन्ध-वक्रताके कई एक नियामक हैं, जिनके विश्लेषणमें इसके कई एक प्रकार सिद्ध होते हैं। प्रबन्ध-वक्रताका पहला नियामक **रस-परिवर्तन** है। जिस काव्य अथवा नाट्य-प्रबन्धमें रस-परिवर्तन रहा करता है, उसका सौन्दर्य अमिट हुआ करता है। वक्रोक्तितत्त्वदर्शी आचार्यकी दृष्टिमें रस-परिवर्तनका यह अभिप्राय है—"इतिवृत्तान्यथावृत्तरस-सम्पदुपेक्षया। रसान्तरेण रम्येण यत्र निर्वहणं भवेत्॥ तस्या एव कथामूर्तेरामूलोन्मीलितश्रियः। विनेयानन्दनिष्पत्त्यै सा प्रबन्धस्य वक्रता" (वक्रोक्तिजीवित, ४ : १६-१७)। अर्थात् पहली प्रबन्ध-वक्रता वह है, जिसे 'रस-परिवृत्ति'के द्वारा काव्य अथवा नाट्य-प्रबन्धकी सरस समाप्तिका चमत्कार कह सकते हैं। मूल कथावस्तुके रसभावका अनुसरण करके भी जब कोई कवि या नाटककार अपने प्रबन्धको किसी अन्य रसभावकी ओर ले जाता है, तब ऐसा लगता है, जैसे समस्त काव्य अथवा नाट्यशरीर नवीनता और रमणीयतासे भर उठा है और सहृदय-हृदयको आनन्द-विसयसे द्रवित करने लगा है। आदिकविके आदिकाव्य 'रामायण'के रसमें डूबते-उतराते अनेक महाकवियोंने काव्य अथवा रूपक प्रबन्धोंकी रचना की है, किन्तु सबने अपने प्रबन्धका अन्त 'रामायण'के रसभावसे भिन्न रसभावमें ही किया है। क्या 'रघुवंश', क्या 'उत्तररामचरित', क्या 'रामचरितमानस' और क्या 'साकेत'—सबमें रसपरिवृत्तिजन्य प्रबन्ध-वक्रता विराजमान है और इसीलिए ये सब सहृदय-हृदयकी भाँति अमर हैं और अपने रचनाकारोंको भी अमर बनाये हुए हैं।

प्रबन्ध-वक्रताका दूसरा नियामक **समापन**-सौन्दर्य है, जिसका विश्लेषण कुन्तकने इन शब्दोंमें किया है—"त्रैलोक्याभिनवोल्लेखनायकोत्कर्षपोषिणा। इतिहासैकदेशेन प्रबन्धस्य समापनम्। तदुत्तरकथावर्तिविरसत्वजिहासया। कुर्वीत यत्र सुकविः सा विचित्रास्य वक्रता" (व० जी०, ४ : १८-१९)। अर्थात् जब कोई कवि या नाटककार अपने प्रबन्धमें मूल कथावस्तुके निर्वाहका आग्रह न कर ऐसे कथाभागसे प्रबन्धका समापन करता है, जिसमें चरितनायकके व्यक्तित्वका चमत्कारजनक उन्मीलन हुआ करता है और प्रबन्ध-रसमें विचित्र तीव्रता आ जाया करती है, तब यही समझना उचित है कि उसने अपने प्रबन्ध-समापनमें मौलिकता दिखायी है और प्रबन्धको काव्यात्मक सौन्दर्यमें भर दिया है। 'रामायण' अथवा 'महाभारत'के कथानकके आधारपर कई एक कवियोंने काव्य अथवा नाटक रचे हैं, किन्तु इनमें महाकविका पद उन्हें ही मिला है, जो अपने प्रबन्धके रसभावकी दृष्टिसे 'रामायण' अथवा 'महाभारत'के कतिपय नीरस प्रतीत होनेवाले वृत्तोंको छोड़-छाड़कर, उसी वृत्तमें अपनी रचना समाप्त करते हैं, जिसमें रस-परिपोषकी शक्ति सर्वाधिक प्रतीत हुआ करती है। इस प्रकारकी प्रबन्ध-वक्रताके उदाहरण संस्कृत अथवा हिन्दीके सभी महाकवियोंके काव्य अथवा नाटक हैं। संस्कृतके महाकवि भारविके 'किरातार्जुनीय'में प्रबन्धकी वक्रता अथवा सहृदय-हृदय-सम्मत काव्यात्मक रमणीयताका एक अन्यतम निदान यही समापन-वैचित्र्य है। भारविका महाकाव्य 'महाभारत'के अन्तिम, अर्थात् स्वर्गारोहणके वृत्तमें नहीं समाप्त होता। इसकी समाप्ति किरात (शिव) और अर्जुनके द्वन्द्व युद्धमें ही हो जाती है और इसलिए हो जाती है कि जिसमें अर्जुनका अदम्य उत्साह सहृदय-हृदयको वीर रससे प्रदीप्त और प्रज्वलित करके ही शान्त हो।

प्रबन्ध-वक्रताका तीसरा नियामक **कथाविच्छेद-वैचित्र्य** है, जैसा कि कुन्तकका विश्लेषण है—"प्रधानवस्तुसम्बन्धतिरोधानविधायिना। कार्यान्तरान्तरायेण विच्छिन्न-विरसा कथा॥ तत्रैव तस्य निष्पत्तेर्निर्निबन्धरसोज्ज्वलाम्। प्रबन्धस्यानुबध्नाति नवां कामपि वक्रताम्" (व० जी०, ४ : २०-२१)। अर्थात् कथाविच्छेद-वैचित्र्यसे प्रबन्धमें एक ऐसी सुन्दरता आ जाती है, जो पूर्वोत्तर कथा-निर्वाहके द्वारा कदापि नहीं आ सकती। यह कथाविच्छेद वहाँ प्रबन्ध-सौन्दर्यका कारण होता है, जहाँ चरितनायक अपने व्यक्तित्वके अनुरूप, अपने मुख्य उद्देश्यके स्थानपर, किसी ऐसे आनुषंगिक उद्देश्यकी ओर उन्मुख चित्रित किया जाया करता है, जिससे अन्ततोगत्वा वस्तुतः मुख्य उद्देश्यकी ही सिद्धि सूचित हो जाती है। कथाविच्छेदमें भी एक रस हुआ करता है और ऐसा हुआ करता है कि जो पहले तो प्रबन्ध-रससे अनुप्राणित रहा करता है और बादमें प्रबन्ध-रसके चमत्कारका भी परिपोषक बन जाता है। कथाविच्छेद-वैचित्र्यके द्वारा प्रबन्ध-वक्रताके उदाहरण-रूपमें संस्कृतके महाकवि माघके 'शिशुपालवध' महाकाव्यको लिया जा सकता है।

प्रबन्ध-वक्रताका चौथा प्रकार वह है, जिसे **आनुषंगिक फल**-योजना द्वारा प्रबन्धमें सौन्दर्यका आधान कहा गया है। कुन्तकने स्पष्ट कहा है—"तत्रैव फलसम्पत्तिसमुद्युक्तोऽपिनायकः। फलान्तरेष्वनन्तेषु तत्तुल्यप्रतिपत्तिषु। धत्ते निमित्ततां स्फारयशः सम्भारभाजनम्। स्वमाहात्म्यचमत्कारात्सापरा चास्य वक्रता" (व० जी०, ४ : २३-२४)।

अर्थात् काव्य अथवा नाट्य-प्रबन्धकी एक विचित्र वक्रता वह है, जो मुख्य फलके प्रति उद्योगशील रूपसे चित्रित नायक-की अन्य आनुषंगिक फल-प्राप्तिके वर्णनमें रहा करती है। कवि अथवा नाटककार अपने प्रबन्धके नायकको किसी एक फलके प्रति समुद्युक्त चित्रित कर रहा है, किन्तु नायकका महनीय व्यक्तित्व इस प्रकार विकसित होने लगता है कि अन्य भी अनेक फल उसे अनायास मिलने लगते हैं। आनुषंगिक फल-योजनाका अभिप्राय वस्तुतः चरित-नायक-के व्यक्तित्व किंवा उसमें भी सम्बद्ध रसभावकी व्यापकता-का अभिप्राय है। उदाहरणके लिए, संस्कृतके नाटक 'नागानन्द'की प्रबन्ध-वक्रता, जिसका अन्यतम कारण आनुषंगिक फल योजना है। इस नाटकके नायक जीमूत-वाहनका चरित्र-चित्रण एक आदर्श पितृभक्तके रूपमें किया जा रहा है, किन्तु नायकका व्यक्तित्व इतना महान् है कि वह जीवदया और विश्वमैत्रीकी साधनामें आत्म-समर्पण करनेके लिए तत्पर हो जाता है, जिससे नाटककार इसे इस रूपमें ही विशेषतया चित्रित करनेमें लग जाता है। इस प्रकार आनुषंगिक फल-योजना 'नागानन्द'के प्रबन्ध-सौन्दर्यका निदान बन जाती है।

प्रबन्ध-वक्रताका पाँचवाँ नियामक **नामकरण-वैचित्र्य** है। नामकरण-वैचित्र्यका अभिप्राय यह है—"आस्तां वस्तुपु वैदग्ध्यं काव्ये कामपि वक्रताम्। प्रधानसंविधानाङ्कना-म्नाऽपि कुरुते कविः" (व० जी०, ४ : २४)। अर्थात् काव्य अथवा नाटक-प्रबन्धका एक वह भी विलक्षण सौन्दर्य है, जो कि उसके ऐसे नामकरणमें झलका करता है, जिसमें उसके मुख्य इतिवृत्तको प्रेरित करनेवाली किसी घटनाकी सूक्ष्म रूपरेखा आभासित हुआ करती है। जैसे कि संस्कृत-के रूपक-प्रबन्धोंके 'अभिज्ञानशाकुन्तल', 'मुद्राराक्षस', 'कुन्दमाला' आदि नाम ऐसे नाम हैं जो सहृदयको अपने प्रति यों ही आकृष्ट कर लेते हैं और जब सहृदय इतिवृत्तसे परिचित होने लगते हैं, तब उनका आकर्षण आनन्द-विस्मयमें बदलता चलता है। हिन्दीके काव्य और नाट्य-प्रबन्धोंमें 'साकेत', 'पूर्वकी ओर', 'राखीकी लाज' आदि भी नामकरण-वैचित्र्य-जनित प्रबन्ध-वक्रताके सुन्दर निदर्शन हैं।

प्रबन्ध-वक्रताका छठा नियामक **कथासाम्य** (वस्तुतः एक मूल कथामें संक्षेपविस्तारके द्वारा वैलक्षण्य) है, जैसा कि आचार्य कुन्तकका कथन है—"अप्येककक्ष्यया बद्धाः काव्यबन्धाः कवीश्वरैः। पुष्णन्त्यनर्घामन्योन्यवैलक्षण्येन वक्रताम्" (व० जी०, ४ : २५)। अर्थात् काव्य अथवा नाटक-प्रबन्धोंका यह भी एक अन्यतम सौन्दर्य है कि मूल वृत्त चाहे एक ही हो, किन्तु भिन्न-भिन्न रुचि और भिन्न-भिन्न प्रवृत्तिवाले कवि या नाटककार, अपने-अपने प्रबन्धमें कहीं विस्तीर्ण वृत्तको संक्षिप्त कर और कहीं संक्षिप्त वृत्तको विस्तीर्ण कर, चित्र-विचित्र रूपसे नयी-नयी वस्तु-योजना करते दिखाई दिया करते हैं। उदाहरणके लिए, 'उत्तरराम-चरित', 'वीरचरित', 'बालरामायण' आदि संस्कृत रूपक-प्रबन्ध। इन रूपक-प्रबन्धोंके रचनाकार एक ही कथामार्ग-पर चलनेवाले हैं, किन्तु इनका प्रत्येक पद, प्रत्येक वाक्य और प्रत्येक प्रकरण ऐसा विलक्षण है कि सहृदय-हृदयके लिए सभी नये-नये प्रबन्ध प्रतीत होते हैं और नयी-नयी भावभंगीमें नये-नये रसका वितरण करते चलते हैं। —स० ब० सिं०

प्रबोधक काव्य—प्रबोधक काव्य कोई निश्चित काव्यरूप नहीं बल्कि शैली, विषय-वस्तु और उद्देश्यकी दृष्टिसे एक विशिष्ट काव्य-प्रकार है। अंग्रेजीमें इसे 'डाइडेक्टिक पोएट्री' कहा जाता है। ऐसा काव्य, जिसका उद्देश्य सीधे-सीधे उपदेश देना और पाठकोंका सुधार करना हो और जिसका कलात्मक पक्ष उसके नैतिक या उपदेशात्मक पक्षसे बिलकुल दब गया हो, प्रबोधक काव्य कहा जाता है। कुछ कविताओं-में कवि स्पष्ट शब्दोंमें किसी विशेष विषय या वस्तुके सम्बन्धमें पर्याप्त सूचनाएँ देते या अपने ज्ञानका प्रदर्शन इसलिए करते हैं कि पाठक उससे लाभ उठायें। ऐसा काव्य भी प्रबोधक काव्यकी श्रेणीमें ही आता है। इस दृष्टिसे मध्यकालीन हिन्दी साहित्यका वह समस्त **नीतिकाव्य,** जिसका उद्देश्य नीतिका उपदेश देकर पाठकोंको प्रबुद्ध या सचेतन करना था, प्रबोधक काव्य ही माना जायगा। आधुनिक कालमें द्विवेदी-युगके बहुतसे कवियोंने देश, समाज और धर्म-सुधारके लिए अभिधात्मक शैलीमें जो कविताएँ लिखी, वे भी प्रबोधक काव्यकी कोटिमें ही आती हैं। मैथिलीशरण गुप्त-रचित 'भारत-भारती' प्रबोधक काव्यका उत्कृष्ट उदाहरण है। स्थूल आदर्शवाद और पुनरुत्थानकी प्रवृत्तिके कारण तथा आर्यसमाजकी अतिशय सुधारवादी भावनाके प्रभावसे द्विवेदीयुगीन कवितामें खण्डन-मण्डन, बौद्धिक तर्क-वितर्क और सीधे-सादे उपदेश देनेकी पद्धति विशेष रूपसे अपनायी गयी और कलात्मक मूल्योंसे अधिक नैतिक मूल्योंपर बल दिया गया। इस कारण उस युगकी कविताएँ अधिकांशतः वर्णनात्मक, स्थूल, उपदेशात्मक और नीरस हैं। वे प्रायः सभी प्रबोधक काव्य हैं। अंग्रेजीमें ड्राइडेन और पोपकी बहुत-सी कविताएँ तथा वर्ड्सवर्थकी कुछ उत्तरकालीन कविताएँ प्रबोधक काव्यकी कोटिमें मानी जाती हैं।

प्रबोधन या उपदेश देना काव्यका प्राथमिक उद्देश्य है या नहीं, इस सम्बन्धमें प्राचीन कालसे लेकर अबतक साहित्य-शास्त्रियोंमें बहुत मतभेद रहा है। व्यापक दृष्टिसे देखनेपर तो काव्यमात्र प्रबोधक होता है, क्योंकि प्रत्येक कवितासे मनुष्यका किसी-न-किसी रूपमें लाभ होता ही है। परन्तु कुछ विचारक काव्यका सर्वप्रथम उद्देश्य प्रबोधन मानते हैं। प्लेटो तो स्पष्ट शब्दोंमें काव्यको उपदेश या नैतिक शिक्षणका साधन मानता था और विशुद्ध लिखनेवालोंको वह अपने आदर्श गणराज्यमें स्थान देने-तकको तैयार नहीं था। रोमन कवि और साहित्यशास्त्री हॉरेसने प्रबोधनको काव्यका महत्त्वपूर्ण उद्देश्य मानते हुए भी उसे एकमात्र उद्देश्य नहीं माना। उसके अनुसार कवि अपनी कविता द्वारा या तो शिक्षा देता है या आनन्द प्रदान करता है या दोनों कार्य करता है। आधुनिक युगके विचारक रस्किन, टॉल्स्टाय और महात्मा गान्धी काव्यका उद्देश्य प्रबोधनात्मक ही मानते हैं। भारतीय आलंकारिक मम्मटने काव्यका प्रयोजन इस प्रकार बताया है—"काव्यं यशसे अर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये। सद्यःपरिनिर्वृतये

कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे" । इस प्रकार मम्मट भी मानते है कि काव्यसे व्यावहारिक ज्ञानकी शिक्षा मिलती है, पर उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि यह उपदेश उसी प्रकार मधुर और आकर्षक रूपमें होना चाहिये, जैसे पत्नी अपने पतिको माधुर्यवेष्टित शैलीमें उपदेश देती है । अतः मम्मट भी हॉरेसकी तरह उपदेश और आनन्द दोनोंको ही काव्यका उद्देश्य मानते है, किन्तु उपदेश इतना सीधा और स्पष्ट नही होना चाहिये कि श्रोता उसे प्रारम्भमे ही समझ जायँ । हॉरेसके शब्दोंमे काव्यगत उपदेश बच्चेको दी जानेवाली प्यालेकी कड़वी दवा है और उसका माधुर्य प्यालेके छोरपर लिपटा शहद है । जैसे शहदके सहारे बच्चा कडवी दवा पी लेता है, उसी तरह माधुर्य और आनन्दके माध्यमसे पाठक या श्रोता उपदेश ग्रहण करते है । अतः जिस कवितामें उपदेश माधुर्य या काव्य-सौन्दर्यसे पूर्णरूपेण आवेष्टित नही होता, उसे प्रबोधक काव्य समझना चाहिये (दे० 'दृष्टान्त काव्य' । —शं० ना० सि०

प्रभाववाद (impressionism)–प्रभाववाद अंग्रेजी 'इम्प्रैशनिज्म'का हिन्दी पर्याय है । इसका उदय, विकास और समापन-काल १९वी शती ईसवीके उत्तरार्धके अन्तर्गत आता है । यूरोपीय चित्रकलाके विकास-क्रममे प्रभाववादकी स्थिति शास्त्रीय यथातथ्यांकन (academic naturalism) तथा अभिव्यंजनावाद (expressionism)की मध्यवर्ती है । आधुनिक चित्रकलाका आरम्भ प्रभाववादी आन्दोलनसे ही बताया जाता है । इस वादकी प्रेरणासे किस प्रकारके चित्रोकी सृष्टि हुई, इसका बोध निम्नलिखित परिभाषासे हो जाता है । प्रभाववाद शब्द अथवा प्रभाववादी चित्र एक विशेष प्रकारके चित्रणका बोध कराता है, जो विन्दु-विनिर्मित होनेके कारण रेखाबद्ध तथा छायाकार चित्रकी तुलनामे किंचित् रूपहीन होता है (एन्साइक्लोपीडिया ऑव पेण्टिंग, मायर्स पृ० २४३) ।

विन्दुमूलक (pointilistic) चित्रण-पद्धति प्रभाववादी चित्रोंकी सबसे प्रमुख विशेषता है । इस पद्धतिका आविर्भाव वैज्ञानिक चिन्तन द्वारा हुआ । विज्ञान-युगका यह सर्वप्रथम प्रभाव था । जिसने यूरोपीय चित्रण-शैलीको मूलतः आक्रान्त करके एक विशेष दिशाकी ओर मोड़ दिया । प्रभाववादी चित्रकारोंने अपनी वर्ण-योजनाको साधारण प्रचलित परिपाटीसे भिन्न करते हुए उसे रूढ़ियोसे मुक्त अर्द्धवैज्ञानिक आधारपर पुनःसंयोजित किया । हेमहोल्ज तथा अन्य शोधकोने रंगों और प्रकाश-किरणोंका वैज्ञानिक अध्ययन करके जो निष्कर्ष निकाले, उनका कलाके क्षेत्रमें चित्रकारों द्वारा साग्रह उपयोग किया गया । वृक्ष हरे ही बनाये जायँ, शाखाएँ और तने भूरे रंगसे चित्रित किये जायँ और आकाशको सर्वत्र नीला ही अंकित किया जाय, इन रूढ़िवादी धारणाओको प्रभाववादने प्रकृतिके मुक्त वातावरणसे प्राप्त प्रत्यक्ष अनुभवों तथा वैज्ञानिक चिन्तनसे अनुप्रेरित तर्कों द्वारा उन्मूलित कर दिया । यह वैज्ञानिक तथ्य कि परस्पर असम्बद्ध, तीव्र एवं शुद्ध वर्ण-विन्दु दूरसे देखनेपर आपसमें सम्बद्ध प्रतीत होते है, विन्दूमूलक चित्रणको व्यापक बनानेमे विशेष सहायक हुआ । इस प्रकारकी वर्ण-योजना, सीधे घोलकर पोते हुए रंगोकी अपेक्षा, कही अधिक जीवन्त प्रभाव उत्पन्न करती है । वास्तवमें यह यथातथ्यांकनकी ही वृत्ति थी, जिसने वैज्ञानिकताके आश्रयसे अपनेको नवीन रूपमे व्यक्त किया । इस दृष्टिसे प्रभाववाद 'यथार्थ चित्रण' (realistic painting)का ही परिविस्तार माना जाना चाहिए और 'आधुनिक कला'के समारम्भका श्रेय प्रभाववादके स्थानपर उत्तर-प्रभाववाद (post impressionism)की प्रवृत्तियोंको मिलना चाहिए, जिसकी परिणति अभिव्यंजनावाद (expressionism)मे हुई ।

उक्त विन्दुमूलक वैज्ञानिक वर्णयोजनाके अतिरिक्त प्रभाववादकी अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता है प्रकृतिके मुक्त वातावरणके बीच क्षणविशेषमे परिलक्षित दृश्यका प्रभावोत्पादक अंकन । प्रभाववादियोसे पूर्व यूरोपीय चित्रांकन कला-कक्षों (studios)के कृत्रिम प्रकाशमें हुआ करता था । परिणामतः निर्मित चित्रोमें गहरे मिश्रित तथा अन्धकारका आभास देनेवाले धूमिल रंगोका ही आधिक्य रहता था । शुद्धता और उज्ज्वलतासे हीन वर्ण-नियोजना द्वारा जो कल्पित प्राकृतिक दृश्य अंकित किये जाते थे, वे एकरस तथा निर्जीव लगने लगे थे । इस अन्धकार, घुटन और जीवनहीनताकी स्वाभाविक प्रतिक्रियाके रूपमे ही प्रभाववादका उदय हुआ । उसने मुक्त प्राकृतिक वातावरणको एक विशेष आकर्षणके साथ अपनाया । इसीलिए प्रभाववादको 'प्लेन एयर स्कूल ऑव पेण्टिंग' भी कहा जाता है, जिसका अर्थ है 'स्वच्छ उन्मुक्त वायुमे चित्रण करनेवाला सम्प्रदाय' । प्रभाववादी कलाकार कला-कक्षोंको छोड़कर प्रकृतिके विस्तृत प्रांगणमे खुली हवामें साँस लेनेके लिए आ गये । दृश्योंका चित्रण प्रकाशमय दृश्यस्थलोंपर ही किया जाने लगा । यूरोपकी पूर्वपरम्पराके परिप्रेक्ष्यमें यह बडी भारी क्रान्ति थी, जिसको पर्याप्त संघर्षके बाद ही व्यवस्थित मान्यता प्राप्त हुई । दृश्यके क्षण-प्रभावको विशिष्ट वर्णयोजनाके रूपमे संघटित करके प्रभाववादी चित्रकारोंने सजीव दृश्यचित्रों (landscapes)के अंकनकी एक नवीन परम्पराका सूत्रपात किया । स्थूल दृश्यके स्थानपर दृश्यदर्शनसे उत्पन्न तात्कालिक प्रभावको अंकित करना उनका ध्येय बन गया । प्रभाववादकी सत्तासे पूर्व भी ऐसे चित्रणके अनेक उदाहरण मिलते है, जिनमे तूलिकाका मुक्त एवं अरूढ़ प्रयोग किया गया है । उदाहरणार्थ, वेलाजक्विज भवनके रोमन भित्तिचित्रोंमें तथा सुंगकालके चीनी दृश्यचित्रोंमे प्रभाववादके अनेक तत्त्व उपलब्ध होते है । फ्रांस, जहाँसे आधुनिक कलाके प्रायः सभी प्रमुख वाद उद्भूत हुए हैं, उन्नीसवी शतीके प्रारम्भमे शास्त्रीय परिपाटीके पुनरुद्धारकी चिन्तामे ग्रस्त था, तथापि बीच-बीचमे ऐसे दो-एक कलाकारोंका कृतित्व सामने आ जाता था, जिनमें नवीन दिशाओंकी खोजकी प्रवृत्ति थी । डेविड और इन्ग्रीसके बाद ही डेलाक्रोस्सका आगमन ऐसा ही है । उसने निरपेक्ष शास्त्रीयतामे मानवीयता तथा नाटकीयताका समावेश किया और उस पथका उद्घाटन कर दिया, जिसपर चलनेसे लगभग पचास वर्ष बाद प्रभाववादका आविर्भाव हुआ । डेलाक्रोस्सने इंग्लैण्डके कान्स्टेबुल तथा टर्नर प्रभृति यथार्थवादी दृश्य चित्रकारोंकी वर्णयोजनाका स्वयं अध्ययन करके वर्णविन्यासकी नयी विधाका फ्रान्सीसी चित्रकलाके क्षेत्रमें प्रवेश

किया। पेरिसके प्रभाववादी चित्रकारों और इंग्लैण्डके उक्त प्रकृति-प्रेमी कलाकारोंके बीच डेलाक्रोस्सका व्यक्तित्व एक महत्त्वपूर्ण सम्बन्धसूत्र बन सका।

कला और साहित्यके क्षेत्रमें बहुतसे वादोंके नाम विरोधी वर्गके आग्रहसे ही पड़े है। 'इम्प्रेशनिज्म' या प्रभाववादके साथ भी यही घटित हुआ। मॉनेका सूर्यास्तविषयक एक चित्र, जो सन् १८७४ ई०की 'ग्रुप' प्रदर्शनीमें प्रदर्शित हुआ था, इसका आधार बना। चित्रका नाम था 'इम्प्रेशन सेटिंग सन'। आज यह चित्र कठिनाईसे आधुनिक कहा जा सकेगा, पर अपने समयमें इसके विरोधमें इतनी तीव्र प्रतिक्रिया हुई कि लगभग पूरे दशकतक इसके रचयिता क्लॉड मॉनेको दुर्भावनापूर्ण व्यंग्य और परिहासके आघात सहन करने पड़े। इस चित्रके शीर्षकमें जो 'इम्प्रेशन' शब्द आया, वही सारे प्रभाववादी आन्दोलनका आधार-विन्दु बन गया। चित्रमें सूर्यकी जलगत आलोक-प्रतिच्छायाको मुक्त तूलिका-भंगों (free brush strokes)से कुछ स्फुट और कुछ अस्फुट रूपमें लाल-पीले रंगोंमें अंकित किया गया था। आगे कदाचित् यही स्फुट विन्दुवाद (pointilism)का मूल प्रेरक सिद्ध हुआ। प्रतिबिम्बों और प्रतिच्छायाओंके प्रति प्रभाववादी चित्रकारोंका विशेष मोह रहा है और यह तत्त्व भी मॉनेकी इस कृतिमें स्पष्ट रूपसे उपलब्ध हो जाता है। कुछ चित्रोंमें बिम्बकी अपेक्षा प्रतिबिम्बके अंकनको इतना महत्त्व दिया जाता था कि यदि चित्रको उलटा करके देखा जाय तो भी वह यथार्थ लगता रहे। सन् १८६०से लेकर १८८०तक पेरिस-निवासी विविध देशोंके चित्रकारोंके बीच न्यूनाधिक मात्रामें प्रभाववादी चित्रणशैली प्रचलित रही। पेरिसके ये चित्रकार-आन्दोलन एक प्रकारसे विश्वव्यापी हो गये। आधुनिक कलाके बहुतसे प्रमुख संस्थापकोंकी कृतियोंका मूल स्रोत इसी कालमें मिलता है। विषयवस्तुकी अपेक्षा अंकन-प्रणालीको अधिक महत्त्व देते हुए प्रभाववादियोंने नागरिक, ग्रामीण और प्राकृतिक तत्त्वोंसे मुक्त एक ऐसे वातावरण की सृष्टिकी, जो सुरुचि और संस्कारकी दृष्टिसे मध्यवर्गीय था। उच्चवर्गीय चित्रकारोंकी तुलनामें प्रभाववादी चित्रकारोंके पास सम्पत्ति और साधन अत्यन्त सीमित थे और कुछ कलाकार तो निश्चित रूपसे क्षुधाग्रस्त रहकर कार्य करते थे। वस्तुजगत्की सत्ताके प्रति विश्वास और अवकाशके क्षणोंको जीवन्त रंगालेखनमें बाँधते रहनेकी अदम्य आकांक्षा ही उनका सम्बल थी। लोकापवाद और आर्थिक कठिनाइयोंके बीच उनका साहसपूर्ण संघर्ष कलाके क्षेत्रमें अपना स्वतन्त्र इतिहास रखता है। उन्होंने प्रकृतिको आत्मीयता प्रदान करते हुए उसे ऐसी वाक्यात्मक भावमयतासे चित्रित किया, जो सर्वग्राह्य हो सकी। वस्तुविन्यासमें प्रभाववादियोंने क्षणिक अनुभूतिकी तरह क्षणिक संघटनपर बल दिया। मनुष्य-मनुष्यके बीचके अस्थिर क्षुद्र सम्बन्धोंकी निस्सारता और नागर जीवनकी अर्थहीन संकुलताको उन्होंने अपने तूलिकाभंगोंसे ध्वनित किया। उदाहरणके लिए, पिसरो अथवा डेगसके कतिपय चित्रोंको प्रस्तुत किया जा सकता है। प्रभाववादी चित्रकारोंने अपने जीवनकी रिक्तताकी पूर्ति अपनी वर्ण-संवेदना द्वारा की। वर्णोंकी सतरंगी इन्द्रधनुषी आभा उनकी आत्मतृप्तिका प्रमुख साधन बनी और उसीको चित्रफलकपर विविध प्रकारसे अवतीर्ण करनेमें वे संलग्न रहे। बहुतसे चित्र मात्र वर्ण-विन्यासके स्फुरणयुक्त आह्लादकी उपलब्धिके लिए बनाये गये।

प्रभाववादी आन्दोलनके साथ सम्बद्ध प्रमुख कलाकारोंमें जिनकी गणना होती है, उनमें मॉने, रेनुआ, पिसरो, सिस्ले तथा बेजील आदिके नाम महत्त्वपूर्ण है। मॉने और डेगसने भी प्रभाववादियोंके साथ ही मिलकर काम किया। उत्तर-प्रभाववादके अन्तर्गत आनेवाले तत्कालीन तरुण कलाकार सेजॉ, गोगॉ, वानगफ तथा स्युरट, जिनको अन्तरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हुई, उक्त प्रभाववादी चित्रकारोंसे गम्भीर रूपमें अनुप्रेरित हुए। स्युरट और वानगफकी चित्रण-शैलीमें विन्दुवादका स्पष्ट समावेश है, जो प्रभाववादियोंसे रिक्थकी तरह उन्होंने उपलब्ध किया और आत्मप्रेरणासे अधिक संवेदनशील बना दिया। वानगफकी कला इस दृष्टिसे अधिक प्रशंसनीय है।

इस आन्दोलनकी जड़ें 'सैलून दे रिफ्यूजेस्'में मिलती है, जहाँ सन् १८६३ ई०के लगभग उपर्युक्त अनेक चित्रकारोंके चित्र प्रदर्शित होते रहते थे। मॉनेने केफ गेरगसको केन्द्र बनाकर इन स्वतन्त्र-चेताओंका नेतृत्व ग्रहण करनेकी चेष्टाकी, परन्तु मॉने, रेनुआ, बेजील और सिस्लेने ग्लेयर्स स्टूडिओको छोड़कर मुक्त वातावरणमें चित्रणकी परम्परा चलायी। इनका कार्यक्षेत्र अधिकतर फॉउण्टेनेब्ल्यूके समीपवर्ती भागमें रहता था। 'फ्रैंको प्रशियन' युद्धने इस चित्रकारवर्गको बिखरा दिया। कुछ इंग्लैण्ड अथवा अन्यत्र चले गये और कुछ नये प्रभावोंमें आ गये। सन् १८७४-८६के बीच लगभग सभी दलोंके कलाकार विशिष्ट प्रभाववादी चित्र-प्रदर्शनियोंमें सम्मिलित होते रहे। इन प्रदर्शनियोंका आयोजन प्राचीन परम्परावादी सैलूनोंकी चित्रशैलीके विरुद्ध किया जाता था। मुख्य संघर्षकाल १८८०-तक रहा, जिसके पश्चात् बहुतसे कलाकारोंकी स्थिति सुधर गयी और प्रभाववाद स्थिर रूप ग्रहण करने लगा। विकासकी चरम सीमाके बाद बहुतसे चित्रकार प्रभाववादी धारासे अलग होकर अभिव्यंजनाकी नयी दिशाओंकी खोजमें लग गये और रूप तथा गठनके तत्त्वोंपर विशेष बल देने लगे। प्रभाववाद एक सीमातक बढ़कर उत्तर-प्रभाववादमें परिणत होने लगा। मॉने, जिसने संघर्षकालमें प्रभाववादियोंका सुदृढ़ नेतृत्व किया, परिवर्तनसे सबसे कम प्रभावित हुआ। कहा जा चुका है कि वास्तवमें प्रभाववाद यथातथ्यांकनकी वृत्तिका ही परिविस्तार है और आधुनिक कलाका बीज उसकी अपेक्षा उत्तर-प्रभाववादकालीन चेतनामें निहित मिलता है। प्रभाववादने आधुनिक कलाके बीजको धारण करनेके योग्य भूमि तैयार की, साधारणतया यूरोपीय कला-समीक्षक ऐसा नही मानते। वे प्रभाववादके अन्तर्गत् आधुनिक कलाका बीज खोजते है। प्रभाववादके अन्तर्गत विचार करनेपर कुछ तत्त्व ऐसे अवश्य मिलते है, जिन्हें आधुनिक कलामें भी अपनाया गया है, जैसे क्षणविशेषकी अनुभूतिका महत्त्व, परम्परासे विरत होकर जीवनको अवतरित करनेके लिए नयी चित्रण-प्रणालीका ग्रहण तथा सामान्य जीवनमें प्रवेश करके विषयवस्तुका संकलन

आदि। परन्तु प्रभाववादियोंकी मूल दृष्टि आधुनिक नहीं थी, क्योंकि उनका ध्यान चित्रकारके भावात्मक व्यक्तित्व-की उपलब्धिकी ओर नहीं गया था और न उन्होंने अपनी कलाको ऐसे किसी उद्देश्यसे समन्वित किया था। वस्तु-जगत्‌के दर्शनसे उत्पन्न मनोरागों अथवा मानसिक भाव-संवेदनके स्थानपर वे 'दृश्य'के वैज्ञानिक वर्णांकनको ही अपना साध्य बनाये रहे। अपने पूर्ववर्ती यथार्थवादी कला-कारोंकी चित्रण-पद्धतिका नये वैज्ञानिक ज्ञानके सन्दर्भमें संशोधन करना मानो उनका प्रधान साध्य हो। इसी मौलिक अन्तरके कारण, जो प्रवृत्तिगत है, प्रभाववादको आधुनिक कलाका मूल माननेकी अपेक्षा प्राचीन यथार्थवाद-का एक परिविस्तार मानना अधिक युक्तिसंगत है।

चित्रकलाके क्षेत्रमें प्रभाववाद उन्नीसवीं शताब्दीतक ही सीमित रहा, परन्तु साहित्यमें बीसवीं शतीके प्रारम्भमें इसका प्रभाव परिलक्षित हुआ। कमिंग्स तथा लॉवेल आदिके द्वारा साहित्य, विशेषतः कविताके क्षेत्रमें प्रभाववादी रचनाओंकी सृष्टि हुई। जिस प्रकार चित्रकार वर्णयोजनासे प्रभावको अंकित करते थे, उसी तरह कविगण छन्दों, शब्दों तथा अक्षरोंके विशिष्ट अनमेल संघटनसे मानसिक प्रभाव-को व्यक्त करने लगे। स्थायी तथा वास्तविक तथ्यके स्थानपर अस्थायी क्षणिक विशेषकी प्रतीतिका अंकन साहित्य-में भी प्रभाववादका मुख्य लक्षण बना रहा। शीघ्र ही ह्रासोन्मुख होकर साहित्यिक प्रभाववाद वैचित्र्य-प्रदर्शन-मात्र रह गया। उसके सशक्त तत्त्वोंको आगे आनेवाली प्रयोगवादी धाराने आत्मसात् कर लिया। —ज० गु०

प्रभावात्मक आलोचना-प्रणाली–आलोच्य कृतिका आलोचकके मनपर जो प्रभाव अंकित होता है, उसे ईमान-दारीके साथ प्रस्तुत कर देना प्रभावात्मक आलोचना-प्रणालीका वैशिष्ट्य कहा जाता है। इसे अंग्रेजीमें 'इम्प्रेश-निस्टिक क्रिटिसिज्म' कहते हैं। इम्प्रेशन शब्द चित्रकलाकी शब्दावलीसे ग्रहण किया गया है। सफल कला-कृति भावुक और संवेदनशील व्यक्तियोंकी चेतना-शक्तिको उद्‌बुद्ध करती है। परिणामतः प्रत्येक संवेदनशील समीक्षक अपनी उद्‌बुद्ध चेतनाकी प्रतिक्रियाको व्यक्त कर कृतिका मूल्यांकन करता है। यह स्पष्ट है कि ऐसी समीक्षा कृतिके सम्पूर्ण रूपका वर्णन न होकर उसके द्वारा आलोचकके मनपर पड़नेवाले न्यूनाधिक प्रभावकी ही निर्देशिका होगी। अतः एक ही कृतिकी, भिन्न-भिन्न समीक्षकोंके मनपर पड़नेवाले भिन्न-भिन्न प्रकारोंके अनुसार, अनेक प्रकारकी आलोचनाएँ हो सकती हैं। इसके अतिरिक्त प्रभाववादी आलोचक अपने मनपर अंकित प्रभावोंको इस रूपमें चित्रित करता है, जो स्वयं साहित्य बन जाता है। एक कला-कृतिकी समीक्षा स्वयं कला बन जानेके कारण पुनः आलोचनाका विषय बन जाती है।

इस प्रणाली द्वारा हम साहित्यके प्रति आकृष्ट होते हैं। प्रभाववादी समीक्षक तीव्र संवेदनशील होनेके कारण कृतिके मर्मस्थलोंको सहज ही स्पर्श कर लेता है और अपनी उर्वर कल्पनाशक्तिके सहारे उनका उत्फुल्ल भावसे अंकन कर पाठकको अपने साथ ले जाता है। इसीमें उसकी सफलता निहित है। नीति और समाज-हितका साहित्य-कलासे कोई प्रयोजन है, इस ऊहापोहमें वह नहीं पड़ता। वह कलाको कलाके रूपमें ही स्वीकार करता है।

यह आलोचना-प्रणाली रचनात्मक आलोचना, आत्म प्रधान आलोचना और स्वतन्त्र आलोचना-प्रणालीके बहुत सन्निकट है। **रचनात्मक आलोचना**में कलाकृति आलो-चकके मनको क्रियाशील कर देती है और मन रचनात्मक प्रक्रियाको दुहराकर एक नयी रचनाकी सृष्टि कर देता है (पाश्चात्य साहित्यालोचनके सिद्धान्त : गुप्त, पृ० ८४)। दोनोंमें अन्तर यह है कि एकमें समीक्षक अपने मनके सभी प्रभावोंकी अपेक्षा विशिष्ट प्रभावको चित्रित करनेमें आनन्द अनुभव करता है और दूसरीमें सभी प्रभावोंका समन्वित रूप उपस्थित करता है। यह प्रणाली प्रशंसावादी आलोचना-प्रणालीके समकक्ष तभी आती है, जब उसमें अंकित प्रभाव प्रशंसात्मक होते हैं। प्रशंसात्मक आलोचना-में हर स्रोतसे आनन्द-रसको संचित कर कल्पनाप्रचुर भाषामें चित्रित किया जाता है (दे०—स्टडीज एण्ड एप्री-सियेशन)। दोनों प्रणालियोंमें इतना ही अन्तर है कि जहाँ प्रशंसावादी आलोचना सदैव कृतिकी प्रशंसा करेगी, वहाँ प्रभाववादी आलोचना आलोचकके मनपर पड़नेवाले विपरीत प्रभावके कारण उसकी घोर निन्दा भी कर सकती है। रामचन्द्र शुक्ल प्रभाववादी आलोचनाको कोई ठीक-ठिकानेकी वस्तु ही नहीं मानते (हिन्दी साहित्यका इति-हास) और हजारीप्रसाद द्विवेदी इसे 'सामान्य मानदण्डके रास्तेमें विघ्न' स्वरूप समझते हैं (दे०—साहित्यका साथी, द्वितीय संस्करण, पृ० १४६)। हिन्दीमें प्राचीन कालसे ही इस प्रणालीके चिह्न मिलते हैं, जिसका पूर्ण विकास छायावादी युगमें दृष्टिगोचर हुआ है। प्राचीन कालमें 'सूर'-की रचनाओंपर किसी प्रभाववादीकी यह उक्ति सर्वविश्रुत है—"किधौं सूरकौ सर लग्यौ, किधौं सूरकी पीर। किधौं सूरको पद लग्यो, बेधत सकल सरीर" (विशेषके लिए दे० 'द न्यू क्रिटिसिज्म' : स्पिनगार्न)। हर्बर्ट डिंग्ले अपनी 'साइंस एण्ड लिटरेरी क्रिटिसिज्म'में लिखते हैं, "अनुकृतिकी वस्तु है तो हमें उसका अनुभवमात्र करना चाहिये, उसपर लिखनेका यह कारण देनेकी आवश्यकता नहीं कि अमुक कविता क्यों अच्छी लगती है। यदि साहित्यमें समा-लोचनाका अस्तित्व आवश्यक है तब कोई वजह नहीं कि उसे साहित्यकी प्रवृत्तिके अनुसार वैज्ञानिक रूप क्यों न दिया जाय"? टी० एस० ईलियट भी प्रभाववादी आलो-चनाका प्रशंसक नहीं है, वह समीक्षामें विश्लेषणकी क्रिया-को आवश्यक मानता है। —वि० मो० श०

प्रमाणिका या नगस्वरूपिणी–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। भरतने इसे मत्तचेष्टित (ना० १६ : १५), विर-हांकने नाराचक, दामोदर मिश्र, जयदेव तथा देवने प्रमा-णिका नाम दिया है। तुलसीने अरण्यकाण्डमें इस छन्दका संस्कृतमें प्रयोग किया है—'नमामि भक्तवत्सलम्'; केशवने नगस्वरूपिणी नाम दिया है, जो प्राचीन नाम ही है, जिसे उन्होंने ग्रहण किया है। इसमें लघु-गुरु-क्रमसे ८ वर्ण होते हैं। उदा०—"भलो बुरो न तू गुनै, वृथा कथा कहै सुनै। न रामदेव गाइहै, न देवलोक पाइहै" (रा० चं०, १ : १६)। —पु० मु०

प्रयत्न–दे० 'यत्न'।

प्रयाणगीत–वीरगाथात्मक गीतोंका ही यह विभेद है, यद्यपि यह नामकरण आधुनिक है। रण-भूमिकी ओर प्रयाण करनेवाली सेनाका उल्लासोद्दीप्त **समवेत गान** ही प्रयाण-गीत है। उस अवसरपर किसी अन्य व्यक्ति द्वारा गाये जानेवाले गीतको भी प्रयाणगीत कहते हैं। 'प्रसाद'कृत 'हिमाद्रि तुंग शृंगसे' सर्वश्रेष्ठ प्रयाणगीत है, यद्यपि इस प्रकारकी रचनाके कई प्रयास किये गये हैं। स्वयंसेवकों द्वारा गाया जानेवाला गीत भी प्रयाणगीत है। राष्ट्रगानका भी प्रयाणगीतकी भाँति उपयोग होता है। —रा० खे० पा०

प्रयोग (experiment)–मूल शब्द विज्ञानकी अन्वेषण-कार्य-विधिसे लिया गया है। इसकी प्रकृतिमें यह तथ्य निहित है कि किसी भी वस्तुकी मान्य प्रकृति (accepted nature)का ज्ञान प्रयोग द्वारा पुनः अनुभव किया जा सकता है और नयी उपलब्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। प्रयोगकी प्रक्रिया द्वारा मान्य एवं निर्धारित तथ्योंके अतिरिक्त नये तथ्य भी प्राप्त किये जा सकते हैं। साथ ही प्रयोग यह मानकर किया जाता है कि प्रयोगकर्ताकी उपलब्धियाँ सही भले ही न हों, किन्तु महत्त्वपूर्ण हो सकती हैं। इसलिए प्रत्येक प्रयोगका महत्त्व है और प्रयोग-कर्ताकी स्थापनाओंका उपयोग है। दूसरे शब्दोंमें प्रयोगका उद्देश्य है मान्य सत्यका परीक्षण और फिर परीक्षण द्वारा सत्यके नये आयामोंका अन्वेषण।

इस परीक्षण और अन्वेषणकी प्रक्रियामें प्रयोगकर्ता किसी भी निर्धारित तथ्यको विभिन्न परिस्थितियोंमें रखकर उसका अध्ययन करता है। विज्ञानमें परीक्षणकी प्रक्रियामें प्रयोग-कर्ता किसी भी वस्तुको विभिन्न परिस्थितियोंमें रखकर उसके व्यवहार (behaviour)का अध्ययन करता है, उसकी वास्तविक प्रकृतिका ज्ञान प्राप्त करता है, उसकी सीमाओं और सम्भावनाओंको आँकता है। इन समस्त परिस्थितियोंके अध्ययनके बाद वह कुछ निष्कर्ष निकालता है और उन निष्कर्षों द्वारा सत्यके नये आयामोंका साक्षात्कार करके उन्हें स्थापित करता है। आधुनिक मानव-जिज्ञासा वैज्ञानिक और विवेकपूर्ण है, इसलिए आज ज्ञानके प्रत्येक क्षेत्रमें इसके महत्त्वको स्वीकार कर लिया गया है। वैज्ञानिक दृष्टि किसी भी निर्धारित मान्यताको अन्तिम सत्यके रूपमें नहीं स्वीकार करती और न वह किसी भी निर्धारित मान्यताके प्रति शंका उत्पन्न करनेमें वर्जनाओंको प्रश्रय देती है, इसीलिए वैज्ञानिक दृष्टिमें कोई भी वस्तु कभी भी पुनः प्रयोगकी कसौटीपर चढ़ायी जा सकती है और उसे फिरसे जाँचा जा सकता है। देश-कालके साथ उसकी जितनी मान्यता उचित होती है, उसे स्वीकार किया जा सकता है; जितनी गलत होती है, उसे अस्वीकार किया जाता है और जितनी नयी उपलब्धियाँ होती हैं। उन्हें स्थापित किया जाता है। वैज्ञानिक दृष्टिवाला व्यक्ति किसी भी परम्पराको बिना उसकी समसामयिकता जाँचे वहन नहीं करता। वह परीक्षण, अन्वेषण, सीमा और सम्भावनाको अन्य किसी भी वस्तुकी अपेक्षा महत्त्वपूर्ण मानता है।

इस प्रकारसे प्रयोग परीक्षण एवं विभिन्न तथ्योंके अन्वेषण करनेकी विधि है। इन्हीं परीक्षणोंके आधारपर वह किसी निष्कर्षपर पहुँचता है। ये निष्कर्ष ही उपलब्धियोंके रूपमें कार्य करते हैं। प्रयोग इन्हीं कारणोंसे किसी भी सत्यको अन्तिम सत्य नहीं मानता। साथ ही वह प्रत्येक सत्यको परिस्थितियोंकी सापेक्षतामें देखनेका प्रयास करता है। परीक्षण प्रयोगकी जिज्ञासा है। अन्वेषण उपलब्धि है। प्रयोग स्वयं सत्यके नये आयामोंको जाननेका माध्यम है।

वैज्ञानिक दृष्टिके साथ-साथ यह स्पष्ट हो जाता है कि आजका ज्ञान केवल परम्परा और रूढ़िके बलपर पूर्ण नहीं हो सकता। सर्वमान्य सत्यकी भी परीक्षा की जा सकती है, उसको नये सन्दर्भमें, आधुनिकताके सन्दर्भमें रखकर उसका वास्तविक तथ्य जाना जा सकता है। जिस सीमा-तक इस वैज्ञानिक दृष्टिको हम स्वीकार करते हैं, उस सीमा-तक हम प्रयोगके समर्थक कहे जा सकते हैं। प्रयोगको इस रूपमें स्वीकार करनेके बाद ही उसकी उपयोगिताका ज्ञान हो सकता है।

अस्तु प्रयोगकी मूल प्रवृत्ति परम्परागत स्थापनाओंसे आगे बढ़कर नयी दिशाओंकी स्थापना है। साथ ही प्रयोग यथार्थको जीवनके परिप्रेक्ष्यमें देखनेका साधन है। प्रयोग-की वास्तविक दृष्टि विवेकके आधारपर विकसित होती है। विवेककी प्रवृत्ति परीक्षण और उपलब्धिका बहुत बड़ा महत्त्व है, क्योंकि इसीके द्वारा सत्यके नये माध्यमको जाना जा सकता है।

किन्तु प्रयोगकी प्रक्रियामें कई स्थितियाँ हैं और उन स्थितियोंका ज्ञान आवश्यक है। प्रयोग यह स्वीकार करता है कि परम्परा अपने सम्पूर्ण तत्त्वोंके साथ बिना विवेक-पूर्ण दृष्टिके सत्यको वहन करनेमें असमर्थ होती है। प्रयोग यह भी स्वीकार करता है कि रूढ़ियों द्वारा स्थापित सत्य जीवनको विकास नहीं दे पाता, इसलिए उन रूढ़ियोंके स्थानपर हमें नये अन्वेषण करनेका अधिकार है। प्रयोग जीवनकी उदात्त भावनाओंका प्रतिनिधित्व करता है, इसलिए उसके साधन हैं—जिज्ञासा, दृष्टि (vision) और इनके साथका विकसित यथार्थ। अस्तु, (१) प्रयोग किसी भी निर्धारित सत्यको अन्तिम सत्य नहीं मानता। सत्यका वैज्ञानिक परीक्षण और परिशोधन किया जा सकता है। इसलिए सत्यका जीवन्त तत्त्व देश, काल और यथार्थके साथ विकसित होता है। इस विकासको जाननेकी प्रक्रिया प्रयोग है। (२) किसी भी वस्तुका व्यवहार (behaviour) उसकी प्रकृति (nature) निर्धारित करती है, किन्तु प्रकृति परिस्थितियों द्वारा शासित होती है। इस बदलती परि-स्थितिकी जागरूकता ही ज्ञान और दृष्टि, दोनोंका अभि-वर्धन करती है। प्रयोग इन परिस्थितियोंकी स्वीकृतिके साथ उनकी सीमाओं और सम्भावनाओंको जाननेकी प्रवृत्ति है। (३) सीमाओं द्वारा हमें एक स्थापित मर्यादा संस्कार-रूपमें मिलती है। सम्भावनाओं द्वारा हमें एक नयी मर्यादा मिलती है। स्थापित मर्यादाके जीवन्त तत्त्वोंको स्वीकार करना और नयी मर्यादाकी सम्भावनाओंको विकसित करना प्रयोगका धर्म है। पुरानी मर्यादाएँ हमें संस्कार देती हैं, नयी मर्यादाएँ विकासकी ओर प्रेरित करती हैं। इसलिए प्रयोग पुरानी मर्यादाके उस अंशको स्वीकार करता है, जो नयी मर्यादाके विकासमें योग देती है। नयीके प्रति

आस्थावान् होना प्रयोगकी प्रकृति है। (४) प्रयोग चमत्कारको कोई स्थान नहीं देता, क्योंकि चमत्कार विवेकको नष्ट करके अन्धविश्वासको प्रश्रय देता है। प्रत्येक अन्धविश्वास मानव-क्षमताका खण्डन करके स्थापित होता है, इसलिए प्रयोगका चमत्कारके साथ कोई सामंजस्य होना कठिन है। परीक्षण और अन्वेषणकी प्रवृत्ति स्वतः यह सिद्ध करती है कि स्थापित रूढ़ि और आधुनिक सन्दर्भ, इन दोनोको शुद्ध विवेक ही दृष्टि प्रदान कर सकता है। चमत्कार (miracle) आधुनिकता और विवेक, दोनोको अस्वीकार करके ही स्थापित होता है। प्रयोगकी वैज्ञानिक प्रक्रिया इसीलिए चमत्कारका विरोध ही नहीं करती, वरन् उसका खण्डन करती है। (५) क्षण-प्रति-क्षणकी अनुभूतिका महत्त्व प्रयोगको गतिशीलता प्रदान करता है। किसी भी वस्तुस्थितिकी मूल प्रकृति सापेक्ष सत्य और सापेक्ष यथार्थका संवरण करती है। परम्परा केवल अंशसत्यको ही निर्धारित करती है। पूर्ण सत्य (whole truth)की ओर जिज्ञासुकी बौद्धिक जागरूकता इस बातके लिए प्रेरणा देती है कि आंशिक सत्यसे पूर्ण सत्यकी ओर उन्मुख होकर हम उसके नये आयामोंको जाननेकी चेष्टा करें। यह चेष्टा ही प्रयोगकी गति है। प्रयोग अपनेमें पूर्ण नहीं होता। वह मात्र एक प्रक्रिया है, जिससे किसी भी वस्तुका या किसी भी सत्यका व्यावहारिक और वैज्ञानिक अर्थ एवं सन्दर्भ जाना जा सकता है। प्रत्येक जीवन-वस्तु या परिस्थितिकी गतिशीलता (dynamics) सदैव अपने व्यवहार और अपनी प्रकृति द्वारा सत्य और यथार्थके प्रति नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है। प्रयोग इन दृष्टिकोणोंको व्यर्थ नहीं मानता, वरन् उनके माध्यमसे नये स्तरोंका अन्वेषण करनेका प्रयास करता है। इसलिए सत्यका अन्वेषण है, प्रयोग केवल एक माध्यममात्र ही रह जाता है।

माध्यमकी एक विशेषता होती है, क्योंकि उसके सामर्थ्यपर ही अन्वेषण हो सकता है। प्रयोगकी विशेषता आजके आधुनिकतम प्रबुद्ध व्यक्तिके लिए इसलिए और भी अधिक है कि प्रयोग द्वारा ही स्थापित मान्यताओंका विवेकपूर्ण खण्डन प्रस्तुत किया जा सकता है। प्रयोग जहाँ सत्यकी व्याख्या प्रस्तुत करता है, वहीं उसके नये धरातलों और आयामोको भी प्रस्तुत करता है। प्रयोग इसीलिए केवल प्रक्रियाविशेष है, लक्ष्यविशेष नहीं। खण्डन वह इसलिए करता है कि देश-कालके विकासके साथ स्थापित मान्यताका सम्पूर्ण रूप सन्दर्भहीन होता है और आवश्यकता इस बातकी होती है कि स्थापित मान्यताका केवल उतना ही अंश लिया जाय जो आजके सन्दर्भमे उचित सिद्ध हो जाय।

—ल० का० व०

प्रयोग-युग—सन् १९४३ ई०में 'अज्ञेय'ने अपने छः मित्रोके साथ 'तार सप्तक'का प्रकाशन किया। इन कवियोका एक साथ खड़े होनेका प्रयोजन था—"उनके तो एकत्र होनेका कारण ही यही है कि वे किसी एक स्कूलके नहीं है, किसी मंजिलपर पहुँचे हुए नहीं है, अभी राही है—राही भी नहीं, राहोंके अन्वेषी"। तात्पर्य यह कि इनका काव्यके प्रति एक अन्वेषीका दृष्टिकोण था और इसी दृष्टिकोणने इन्हे एक सूत्रमें ग्रथित किया था। 'तार सप्तक'का प्रकाशन हिन्दी साहित्यकी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटनाओमेसे एक है।

प्रयोग-युगका सूत्रपात यहींसे माना जाता है, यद्यपि प्रयोगवाद नाममे 'तार सप्तक'के सम्पादक 'अज्ञेय' सहमत नहीं, बल्कि उन्होने 'दूसरा सप्तक' (१९५१)की भूमिकामे इसका विरोध भी किया है, "प्रयोगका कोई वाद नहीं है। हम वादी नहीं रहे, नहीं है। न प्रयोग अपने आपमें इष्ट या साध्य है। ठीक इसी तरह कविताका भी कोई वाद नहीं है, कविता भी अपने-आपमें इष्ट या साध्य नहीं है। अतः प्रयोगवादी कहना उतना ही सार्थक या निरर्थक है, जितना हमे कवितावादी कहना"। परन्तु जिस प्रकार छायावादियोके नहीं चाहनेपर भी, **छायावाद**-की संज्ञा निरर्थक होकर भी हिन्दी पाठको, आलोचकोंके बीच प्रचलित हो गयी, उसी प्रकार प्रयोगवाद (दे०) भी चल पड़ा।

इन नये कवियोके सम्मुख वर्तमान युगकी जटिल संवेदनाएँ थीं। सम्पूर्ण जीवन बड़ी तेजीसे बदल रहा था। मशीनी सभ्यता और संस्कृतिमें पल्लवित होनेवाला समाज अपने पूर्वसमाजसे सर्वथा भिन्न था। प्रगतिवादतक आते-आते युगका दृष्टिकोण यथार्थमूलक मात्र हो सका था, वैज्ञानिक नहीं। निस्सन्देह आजके वैज्ञानिक युगमे पूरा ताना-बाना उलट-पलट गया है। मानवीय सम्बन्ध, मानवीय मूल्य पहलेकी अपेक्षा अधिक जटिल, संकुल और अस्त-व्यस्त है। आर्थिक कठिनाइयाँ, राजनीतिक संघर्ष और वैज्ञानिक आविष्कार आज समाजको बड़ी तेजीके साथ बदलते जा रहे है। यह ठीक है कि मनुष्यके स्थायी भाव वे ही है, जो आजसे ५०० या १,००० वर्ष पहले थे, परन्तु प्रत्येक युगमे युगका अपना परिवेश होता है, उसकी अपनी विशेषताएँ होती है और साथ ही उसको अपनी कमियाँ भी होती है। इसीलिए हर एक युगमे नये साहित्यकी आवश्यकता पड़ती है। प्रयोगवाद अपने समर्थनमे यह नहीं कहता कि उसका अभीष्ट एवं सिद्धि प्रयोगमात्र है, बल्कि उसका आग्रह है कि प्रयोगके माध्यमसे ही आजकी जटिल एवं अस्त-व्यस्त संवेदनाकी अभिव्यक्ति हो सकती है। प्रयोगशीलताकी मूल प्रेरणाके सम्बन्धमे 'अज्ञेय' कहते है—"जो व्यक्तिका अनुभूत है, उसे समष्टितक कैसे उसकी सम्पूर्णतामे पहुँचाया जाय, यही पहली समस्या है, जो प्रयोगशीलताको ललकारती है, क्योंकि कवि अनुभव करता है कि भाषाका पुराना व्यापकत्व नहीं है"। नयी परिस्थितिसे नया रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करनेके उद्देश्यसे ही नये कवि एक जगह इकट्ठे हुए थे और इसीलिए इन कवियोने घोषित किया "नवोन्मेषत विस्फूर्जित और उत्तेजित कल्पनाकी हिन्दी कवितामे कमी है। उसके लिए हमे अपना अलंकार-विधान आमूल बदलना होगा, उपमान माँजने होंगे, रूपकोंकी कलई खोलनी होगी, उत्प्रेक्षाएँ सचमुच भावके उत्ससे उत्प्रेरित है या नहीं, यह देखना होगा"।

यहाँ यह दोहराना अनपेक्षित नहीं होगा कि **प्रगतिवाद**-कालकी परिस्थितियाँ आजकी परिस्थितियोसे बहुत भिन्न नहीं थी और इसीलिए उस कालके बहुतेरे कवि इस खेमेमें आ गये। वस्तुतः प्रगतिवादियोने यथार्थ जीवनके बदलते हुए अनेक पक्षोमेसे एक पक्षको चुना—वह पक्ष था आर्थिक

वैषम्य एवं वर्ग-संघर्षका। जीवनके अन्यान्य पक्ष उनकी दृष्टिमे उपेक्षित रह गये थे। फलतः नये कवियोंकी आवश्यकता आ पड़ी, जिन्होंने अपने काव्यके उपादानके क्षेत्रको विस्तृत किया और बहुपक्षी जीवनको अंकित करनेका प्रयत्न किया।

'तार सप्तक' (१९४३)के कवियोंमें गजानन माधव मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर, रामविलास शर्मा तथा 'अज्ञेय' आते हैं। 'दूसरा सप्तक' १९५१मे प्रकाशित हुआ, जिसमें भवानीप्रसाद मिश्र, शकुन्तला माथुर, हरिनारायण व्यास, शमशेरबहादुर सिंह, नरेशकुमार मेहता, रघुवीर सहाय तथा धर्मवीर भारतीकी रचनाएँ संगृहीत है। 'प्रतीक' पत्रका प्रकाशन जुलाई, १९४७से हुआ, जिसने प्रयोगवादको काफी बल दिया। इसके सम्पादक 'अज्ञेय' थे। पटनासे प्रकाशित 'पाटल'ने भी इस धाराको पुष्ट किया। तत्पश्चात् जगदीश गुप्त तथा रामस्वरूप चतुर्वेदीके सम्पादकत्वमे 'नयी कविता'का प्रकाशन १९५४में हुआ। बिहारसे 'कविता' नामक पत्रका प्रकाशन १९५५मे हुआ। इस बीच कुछ अन्य संग्रह भी आये, जैसे 'विविधा', 'कविताएँ १९५४'। प्रारम्भमें इस धाराकी गति अवश्य मन्द थी, परन्तु धीरे-धीरे इसने हिन्दी काव्यको व्यापक रूपसे प्रभावित किया। आज हिन्दीमे प्रकाशित होनेवाली प्रायः सभी पत्र-पत्रिकाओंमें इस धाराकी कविताओंको उचित प्रतिष्ठा मिलने लगी है। इस नयी धाराके कवियोंमें कुछ निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है, जिनका उल्लेख आवश्यक है। 'अज्ञेय' सबसे पहले आते है। इनके छः कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—'भग्नदूत', 'चिन्ता', 'इत्यलम्', 'हरी घासपर क्षणभर', 'बावरा अहेरी', और 'इन्द्र धनु रौंदे हुए ये'। अन्तिम तीन संकलन विशेषतः प्रयोगवादी हैं।

दूसरे महत्त्वपूर्ण कवि है भवानीप्रसाद मिश्र, जिनका 'गीतफरोश' नामसे एक संग्रह प्रकाशित हुआ है। इनके काव्यकी शक्ति असाधारण तथ्यपर निर्भर नही करती, बल्कि साधारणको असाधारण बनाकर पाठकके हृदयको छूनेमें विश्वास करती है।

गिरिजाकुमार माथुरके अबतक तीन काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके है—'मंजीर', 'नाश और निर्माण' तथा 'धूपके धान'। इनकी अभिव्यंजनापर छायावादी शैलीका प्रभाव स्पष्ट है। इनकी भावना रंगीन और रोमांसिक है।

धर्मवीर भारती अपेक्षाकृत अधिक मौलिक और स्वतःस्फूर्त हैं। इनकी अबतक दो पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी है—'ठण्डा लोहा' तथा 'अन्धा युग'। 'ठण्डा लोहा' इनकी स्फुट कविताओंका संग्रह है और 'अन्धा युग' एक दृश्य-काव्य है। 'अन्धा युग' निश्चय ही हिन्दी काव्य-क्षेत्रमें एक नया कदम है।

अन्य प्रमुख कवियोंमें नरेशकुमार मेहता, भारतभूषण अग्रवाल, नेमिचन्द्र जैन, शमशेरबहादुर सिंह आदि उल्लेखनीय हैं।

प्रयोगवादके विकसित रूप **नयी कविता**-वर्गके कवियोंमें लक्ष्मीकान्त वर्मा, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, बालकृष्ण राव, विजयदेवनारायण साही, जगदीश गुप्त, कुँवरनारायण, दुष्यन्तकुमार आदिके नाम लिये जायँगे।

प्रयोगवादपर अनेक आक्षेप लगाये जाते है। नन्ददुलारे वाजपेयी साधारणीकरणकी शिकायत करते है, तो शिवदान सिंह चौहान पाश्चात्य साहित्यके प्रतीकवादका अनुकरण-मात्र मानते है। पर सारे विरोधों तथा संघर्षोंके बावजूद प्रयोग-युग अभी समाप्त नही हुआ है। प्रयोगवादने **नयी कविता** (दे०)मे अधिक पुष्ट तथा विकसित रूप धारण कर लिया है, जो अब धीरे-धीरे नवलेखनके व्यापक आन्दोलनमें परिणत हो रहा है। —रा० कु० स०

प्रयोगवाद—एक विशेष साहित्यिक प्रवृत्ति, जिसका जन्म हिन्दीके काव्य-क्षेत्रमे 'तार सप्तक' (१९४३ ई०)के प्रकाशनके साथ माना जाता है। 'तार सप्तक'में 'अज्ञेय'ने प्रयोगकी व्याख्या प्रस्तुत करते हुए अपनी कविताओंके वक्तव्यमें कहा है, "प्रयोग सभी कालोंके कवियोंने किये है। यद्यपि किसी एक कालमें किसी विशेष दिशामे प्रयोग करनेकी प्रवृत्ति स्वाभाविक ही है, किन्तु कवि क्रमशः अनुभव करता आया है कि जिन क्षेत्रोंमे प्रयोग हुए है, उनसे आगे बढ़कर अब उन क्षेत्रोंका अन्वेषण करना चाहिये, जिन्हे अभी नही छुआ गया है या जिनको अभेद्य मान लिया गया है" (तार सप्तक, पृ० ७५)।

उपर्युक्त सन्दर्भसे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रयोगकी अनुभूति उन क्षेत्रोंकी अन्वेषण-प्रवृत्ति है, जिन्हें अभेद्य या निरपेक्ष या अन्वेषणेतर मानकर छोड़ दिया गया था। प्रयोगवाद ज्ञातसे अज्ञातकी ओर बढ़नेकी बौद्धिक जागरूकता है। यह जागरूकता 'व्यक्ति-सत्य' और 'व्यापक सत्य'के स्तरोंपर व्यक्तिकी अनुभूतिकी सार्थकताको भी महत्त्वपूर्ण मानती है। प्रयोगवाद व्यक्ति-अनुभूतिकी शक्तिको मानते हुए समष्टिकी सम्पूर्णतातक पहुँचनेका प्रयास है। परम्परा केवल यही सिखाती है कि व्यक्ति-अनुभूतिका कोई विशेष महत्त्व नहीं है, महत्त्वकी वस्तु व्यापक सत्य, समष्टिका सत्य ही है। इसीलिए परम्परा अपनी रूढ़िमें अन्वेषण और परीक्षणको महत्त्वहीन मानती है। परम्परावादी स्थापित सत्यके आगे बढ़नेमे शंकाएँ प्रस्तुत करता है। प्रयोगवाद व्यक्ति-सत्य और व्यापक सत्य अथवा व्यक्ति-अनुभूति और समष्टि-अनुभूतिको एक ही सत्यके दो रूप मानता है। प्रयोगवाद एक ओर व्यक्ति-अनुभूतिको समष्टि-अनुभूतितक उत्सर्ग करनेका प्रयास है, तो दूसरी ओर वह रूढ़िका विरोधी और अन्वेषणका समर्थक भी है।

अस्तु, प्रयोगवादका मन्तव्य समस्त परम्पराओंका खण्डन करना नही है, वरन् उसके निर्जीव तत्त्वोंके स्थानपर नये जीवन्त तत्त्वोंका अन्वेषण करना है। देश और कालके अनुसार प्रत्येक परम्परा मूलतः प्रयोगात्मक रूपमे ही विकसित होती है। जब वह देश और कालकी प्रगतिके साथ आगे विकसित होना बन्द कर देती है तो उसका रूप रूढ़िका हो जाता है। जिस क्षण कोई भी बौद्धिक जिज्ञासा परम्पराकी रूढ़िको स्वीकार करके नये माध्यमोंको अपनानेकी प्रवृत्ति अपनाती है, वह प्रयोगशीलताकी ओर अग्रसर होती है। दूसरे शब्दोंमें, रूढ़िकी तीव्र अक्षमता ही प्रयोगके नये अंकुरोंको विकसित होनेके लिए बाध्य करती है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि समयके साथ विकसित यथार्थ

भाव-बोध स्थापित मान्यताओंसे इतने आगे होते हैं कि वे इस यथार्थके सम्पूर्ण भाव-स्तरको वहन करनेमें असमर्थ होते हैं। प्रयोगवाद, यदि इस दृष्टिसे देखा जाय, तो परम्पराकी असमर्थतासे साहित्यकारकी जिज्ञासामय अभिव्यक्तिका साधन है।

हिन्दीमें प्रयोगवादका जन्म एक विशेष स्थितिमें हुआ। प्रयोगवाद या प्रयोगकी आवश्यकता साहित्यमें उस समय उपस्थित होती है, जब कविताकी प्रेषणीयता इतनी अभिधापूर्ण हो जाती है कि उसमें कोई रस विशेष नहीं मिल पाता अथवा कोई रागात्मक सहानुभूति नहीं मिल पाती। प्रयोगकी सार्थकता सदैव इसमें ही निहित रहती है कि कवि एक रूढिको त्यागकर नये स्तरपर रागात्मक सम्बन्धोंको ढूँढता है और यह प्रयास करता है कि वे माध्यम जो अपनी प्रेषणीयता नष्ट कर चुके हैं अथवा जो अत्यधिक अभिधात्मक हो गये हैं, उनके अतिरिक्त माध्यमोंको स्थापित करे। हिन्दीमें इस विशिष्ट विचारधाराके जन्मके कुछ कारण थे। प्रथम तो यह कि छायावादने अपने शब्दाडम्बरसे बहुतसे शब्दों और बिम्बोंके गतिशील तत्त्वोंको नष्ट कर दिया था। दूसरी ओर प्रगतिवादने सामाजिकताके नामपर विभिन्न भाव-स्तरोंको एवं शब्द-संस्कारोंको अभिधात्मक बना दिया था। ऐसी स्थितिमें नये भाव-बोधको व्यक्त करनेके लिए न तो शब्दोंमें सामर्थ्य था और न परम्परासे मिली हुई शैलीमें। परिणामस्वरूप उन कवियोंको, जो इनसे पृथक् थे, सर्वथा नया स्तर और नये माध्यमोंका प्रयोग करना पड़ा। ऐसा इसलिए और भी करना पड़ा, क्योंकि भाव-स्तरकी नयी अनुभूतियाँ विषय और सन्दर्भमें इन दोनोंसे सर्वथा भिन्न थीं।

प्रयोगवाद बौद्धिकस्तरपर यह स्वीकार करके चलता है कि अनुभूतियोंकी अभिव्यक्तिके लिए माध्यमकी उपयोगिता है, न कि माध्यमकी सीमाओंके अनुसार अभिव्यक्तिकी काँट-छाँटकी। अनुभूतियोंके स्तरपर प्रयोगवाद यह स्वीकार करता है कि कोई भी अनुभूति अपने क्षणमें उतनी ही महत्त्वपूर्ण है, जितनी कि समूचे जीवनके मुक्त विस्तारमें। इसलिए उस क्षणका भी महत्त्व है, जिसमें हम किसी अनुभूतिका साक्षात्कार करते हैं। यदि समूचे जीवनके सन्दर्भमें वह क्षण छोटेसे छोटा है तो भी उसकी अपनी उपयोगिता है, उसे समूचे जीवनके सन्दर्भके आधारपर त्यागा नहीं जा सकता। समूचे जीवनकी अनुभूतिके स्तरके नाते न तो व्यक्तिकी अनुभूति त्याज्य समझी जा सकती है और न क्षणको एकदम नगण्य माना जा सकता है।

यथार्थके नये सन्दर्भमें प्रयोगवाद यथार्थ और जीवनकी सापेक्षताको अधिक व्यापक स्तरपर देखनेकी चेष्टा करता है। प्रयोगवाद यह मानकर नयी दिशाओंका अन्वेषण करना अनिवार्य समझता है कि वे तथ्य जो केवल संस्कारबद्ध हो चुके हैं, उनमें न तो आधुनिकता है और न यथार्थकी गतिशील शक्तिको सहन कर सकनेकी क्षमता। यथार्थ विकासशील है, जीवन विकासशील है, अनुभूतियोंमें नये स्तर ग्रहण करनेकी शक्ति है, अभिव्यक्तिको अनुभूतियोंके अनुकूल नये माध्यमोंका प्रयोग करनेका अधिकार है।

साथ ही प्रयोगवाद यह मानकर चलता है कि किसी भी अनुभूतिकी एक बौद्धिक पृष्ठभूमि होती है और वह पृष्ठभूमि भी काव्यात्मक है। बौद्धिकता भी काव्यका अंग है, क्योंकि वह अनुभूतिका जीवित अंश है। किसी भावका बोध एक बौद्धिक प्रक्रिया है। हृदयवादी इस बौद्धिकताका बहिष्कार करके उसे सर्वथा त्याज्य बनानेकी चेष्टा करते हैं। प्रयोगवाद इस त्याज्य विभाजनको नहीं स्वीकार करता। वह मानता है कि प्रत्येक अनुभूतिका अर्थ और उसका सन्दर्भ एक बौद्धिक व्यक्तिकी अनुभूति है, इसलिए बौद्धिकताको काव्यानुभूतिसे पृथक् करके नहीं देखा जा सकता।

शिल्पकी दृष्टिसे प्रयोगवादी काव्य-पद्धतिमें प्रत्येक विषयके साथ-साथ उसका शिल्प स्वयं विकसित होता है। शिल्पको विषय-वस्तुसे पृथक् करके देखना उसकी वास्तविकताको न समझना है। विषयके अनुकूल शिल्प अनिवार्य रूपसे प्रस्तुत होता है। विषयवस्तु और शिल्प, दोनों अविभाज्य अंग हैं। दोनोंका विकास एक साथ होना है। बहुधा कविता विषयके साथ ही एक रूप लेकर प्रस्तुत होती है और वह जिस रूपमें प्रस्तुत हो, वही उसका वास्तविक शिल्प है।

इसके साथ यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी नये विषयको पुराने शिल्पके माध्यमसे नहीं व्यक्त किया जा सकता। यदि विषय-वस्तु नयी है तो प्रयोगवाद यह मानता है कि उसकी नवीनता ही उसके शिल्पको नया आकार देनेके लिए बाध्य करेगी। शिल्प न तो ऊपरसे लादा जा सकता है और न उसको खींच-तानकर हर अनुभूतिको व्यक्त करनेके लिए फैलाया या सिकोड़ा जा सकता है। अस्तु, प्रयोगवाद शिल्पके लिए किसी रीतिकी अनिवार्यता नहीं मानता।

कुछ आलोचक प्रयोगवादको केवल शिल्प-चमत्कार ही मानते हैं। उनकी यह धारणा भ्रमपूर्ण है, क्योंकि प्रयोगवाद जिस तथ्यका समर्थन करता है, उसमें यह निहित है कि भावनाओंके लिए कोई रूपविशेष नहीं चाहिये। भावनाएँ स्वयं अपनी शक्तिसे अपना रूप धारण करती हैं और जिस रूपको वह स्वाभाविकताके अनुसार ग्रहण करती हैं, वही उनका वास्तविक शिल्प होता है।

प्रयोगवादी रचनामें शिल्पका एक और भी अर्थ है। शिल्पको प्रयोगवाद शिल्पीके व्यक्तित्वका अंग मानता है। यही कारण है कि प्रयोगवादी रचना-प्रक्रिया उस व्यक्तित्वकी पूर्ण अभिव्यक्तिको काव्य-शिल्पका महत्त्वपूर्ण अंग मानकर स्वीकार भी करती है। जितना बड़ा व्यक्तित्व शिल्पीका होगा, उतना कुशल शिल्प उसकी रचनाओंमें व्यक्त होगा। रीतिमें व्यक्तित्वकी सत्ता और उसका महत्त्व नष्ट होता है। प्रयोगवाद कविके व्यक्तित्वकी स्वतन्त्रताको स्वीकार करता है, इसीलिए वह किसी भी ऐसी रीतिका समर्थक नहीं है, जिससे काव्यका वास्तविक रूप नष्ट हो जाय अथवा उसकी वास्तविक मर्यादा नष्ट होकर संकुचित हो जाय।

काव्यमें प्रयोगवाद साहित्यिक चेतनाकी सजीवता प्रदर्शित करता है। साथ ही वह उस धरातलका निर्माण भी करता है, जहाँ यथार्थ एवं मूल्योंके नये परिप्रेक्ष्य स्पष्ट

रूपमें प्रस्तुत हो सके। सजीवनाका आग्रह ही यह है कि हम अपनी अनुभूतियोंके प्रति अधिकसे अधिक ईमानदारीका व्यवहार रख सकें। कोई भी कविता अच्छी या बुरी अपनी ईमानदारीके नाते ही हो पाती है। यदि यह ईमानदारी कवितामें सुरक्षित है तो उसकी प्रेषणीयता और उसका प्रयोग भी सफल प्रयोग है।

प्रेषणीयताके प्रश्नपर प्रयोगवाद जहाँ ज्ञानके विशेषीकरणको सत्य मानता है, वहीं वह यह भी स्वीकार करता है कि प्रत्येक विशेषीकरण और साधारणीकरणकी समस्या दोनोंके तिरस्कारसे नहीं सुलझ सकती। विशेषीकरण यदि आजके युगका स्थापित सत्य है तो साधारणीकरण विगत युगका अभिधात्मक सत्य है। काव्य-रचना न तो केवल विशेषीकरण द्वारा प्रेषणीय हो सकती है, न मात्र साधारणीकरण द्वारा उसको सफलता मिल सकती है। प्रयोग इन दोनोंकी वास्तविक मर्यादाकी रक्षा करनेका प्रयास होता है (दे० 'प्रयोग-युग')।

[सहायक ग्रन्थ—'तार सप्तक' तथा 'दूसरा सप्तक'की भूमिकाएँ।] —ल० कां० व०

प्रयोगशील–(दे० 'प्रयोग', 'प्रयोगवाद') 'प्रयोगवाद' शब्दको भ्रामक सिद्ध करते हुए 'अज्ञेय' द्वारा हिन्दीकी इसी नामकी काव्यधाराके लिए प्रस्तावित नाम। प्रयोगशील वह है, जो आधुनिकताका समर्थन करते हुए नये भावबोधको अधिक-से-अधिक अन्वेषणकी ओर अग्रसर करे। अन्वेषण मानव-प्रकृतिका सहज गुण है। इस गुणके साथ ही मानव-स्वभावकी अभिरुचि और उसका सौन्दर्य-बोध, दोनोंका गहरा सम्बन्ध है। अभिरुचिमे विकास होना, उसका बदलना और नयेके प्रति जागरूक होना स्वतः यह सिद्ध करता है कि जो सर्वमान्य अथवा प्रचलित है, उसमे कहीं-न-कहीं जीर्णता है, रुकावट है अथवा प्रेषणीयताकी कमी है। इस प्रेषणीयताका तथा नयी अभिरुचि और नये सौन्दर्यबोधके साथ अधिक-से-अधिक नये आयामोंका अन्वेषण ही प्रयोगशीलताकी प्रवृत्ति है, जो उसको अधिक नया बनाये रखती है।

प्रयोगशीलताकी समस्या है व्यक्ति-अनुभूतिको समष्टि-अनुभूतितक पहुँचाना। यह समस्या प्रयोगशील रूपमे इसलिए प्रस्तुत होती है कि शब्दों, भावों और अनुभूतियोंके संस्कार नष्ट हो जानेके कारण प्रयोगशील नये माध्यमोको स्वीकार करता है और ये माध्यम साधारणतः इतने अपरिचित अथवा नवीन होते है कि सहसा उचित रूपमे वह सहज बोध नही प्रस्तुत कर पाते, जो परम्परागत शैली द्वारा सम्भव हो सकता है इस विषयमे प्रयोगशीलताकी व्याख्या करते हुए 'अज्ञेय'ने कहा है : "जो व्यक्तिका अनुभूत है, उसे समष्टितक कैसे उसकी सम्पूर्णतामें पहुँचाया जाय, यही समस्या है, जो प्रयोगशीलताको ललकारती है। इसके बाद इतर समस्याएँ है कि वह अनुभूति ही कितना बड़ा या छोटा है, घटिया या बढ़िया है, सामाजिक या असामाजिक, ऊर्ध्व या अधः या बहिर्मुखी है, इत्यादि" (तार सप्तक, पृष्ठ ७५)। 'अज्ञेय'के इस कथनका आग्रह यह स्पष्ट कर देता है कि प्रयोगशीलताका केवल प्रयोगतक सम्बन्ध नही है। उसका सम्बन्ध उन समस्त तत्त्वोंसे है, जो कविके अहम्‌को सुरक्षित रखते हुए उसे अपनी बात कह सकनेकी शक्ति देते हैं। कविका काव्य और व्यापक सत्यमें कोई अन्तर नहीं है। व्यापक सत्य या समष्टि-सत्य व्यक्तिसापेक्ष है और इसी प्रकार व्यक्ति-सत्य या आत्मसत्य भी समाज-सापेक्ष होता है। प्रयोगशीलताका समर्थक व्यक्ति-सत्यके माध्यमसे व्यापक सत्यकी उपलब्धिको श्रेयस्कर समझता है। —ल० कां० व०

प्रयोगातिशय–यह रूपकगत **प्रस्तावना**का एक भेद है। 'वह आ रहा है', इस प्रकार एक-वचनका प्रयोग करते हुए जहाँ **सूत्रधार** किसी पात्रका प्रवेश कराता है, वहाँ प्रयोगातिशय नामक प्रस्तावना होती है, जैसे 'अभिज्ञान शाकुन्तल'मे 'जैसे यह राजा दुष्यन्त'की सूचना प्रयोगातिशय है। —ब० सि०

प्रयोजनवतीलक्षणा–लक्षणाके प्रमुख भेदोंमें एक; मुख्य अर्थके बाधित होनेपर जब किसी प्रयोजनके लिए—किसी विशेष अभिप्रायसे—मुख्य अर्थसे सम्बन्ध रखनेवाले किसी भिन्न (लक्ष्यार्थ) अर्थको ग्रहण किया जाता है, तो उसे प्रयोजनवती लक्षणा कहा जाता है। मम्मट और विश्वनाथ, दोनोंने उदाहरण दिया है—'गंगायां घोषः'; यहाँ गंगा शब्दका मुख्यार्थ 'गंगाका प्रवाह' बाधित है, क्योंकि गंगाकी धारापर गाँवका होना सम्भव नही है। तदनन्तर गंगाके सम्बन्धसे इसका अन्य अर्थ 'गंगाका तट' ग्रहण किया जाता है। लक्ष्यार्थ तटका मुख्य अर्थ प्रवाहके साथ सामीप्य-सम्बन्ध है और साथ ही यहाँ इस अर्थ-ग्रहणका कारण रूढ़ि न होकर प्रयोजन है। 'गंगापर बस्ती' कहनेका तात्पर्य गाँवकी पवित्रता तथा शीतलता आदिकी विशेषताकी सूचना देना भी है। 'गंगाके तटकी बस्ती' कहनेसे यह भाव व्यक्त नहीं हो सकता था, क्योंकि शीतलतादि गुण गंगाप्रवाहमे है, न कि तटमें। प्रयोजनवती लक्षणाके भेदोपभेदके लिए (दे० 'लक्षणा शक्ति')। काव्यगत उदा०—"तुम शुद्ध बुद्ध आत्मा केवल, हे चिर पुराण, हे चिर नवीन" (पन्त)। यहाँ गान्धीजीको निर्विकार तथा अत्यन्त पवित्र सिद्ध करनेके प्रयोजनसे ही उन्हे 'आत्मा' कहा गया है। —र०

प्ररूढयौवना–दे० 'मध्या', नायिका।

प्ररूढस्मरा–दे० 'मध्या', नायिका।

प्रलय–दे० 'सात्त्विक अनुभाव', आठवाँ।

प्रवक्ता–दे० 'रेडियो नाटक'।

प्रवत्स्यत्प्रेयसी (नायिका)–अवस्थानुसार नायिकाओंके विभाजनका एक भेद; विशेषके लिए दे० 'नायिका-भेद'। सर्वप्रथम भानुदत्तने इस नायिकाको स्वीकृति दी है—"यस्याः पतिरग्रिमक्षणे देशान्तरं यास्यत्येव सा", अर्थात् जिसका पति या प्रिय आगे विदेश जाने ही वाला है, वह नायिका। प्रवत्स्यत् शब्दका अर्थ होता है प्रवासमें जाने ही वाला। मतिरामने इस स्थितिमें 'विकल होय जो बाल' भी कहा है, यद्यपि पद्माकरने केवल भानुदत्तका भाव लिया है—'चलन चहै परदेशको'। नायिकाकी इस अवस्थाके अन्तर्गत स्वकीयाके मुग्धादिक भेद, परकीया तथा सामान्याको स्वीकार किया गया है। रहीमकी मुग्धा मौन भावसे अभिभूत हो गयी है—"परिगा कान सखियवा पिय कर गौन। बैठी कनक पलँगिआ होइकै मौन"

(ब्र० भा० ना०, २ : ५३६)। वह अपनी व्यथाको लाजवश व्यक्त नहीं कर पाती—"सोवति न रैन दिन रोवति रहति बाल, बूझेतें कहत मायकेकी सुधि आयी है" (रसराज : मतिराम, २०७)। मध्या अपनी लज्जा सँभालनेमें असमर्थ हो रही है—"अबही लै मिलि मोंहि सखि चलत आज ब्रजराज। अँसुवन राखति रोकि कै जियहि निकासति लाज" (वही, २०९)। प्रौढ़ा स्वतः प्रियसे निस्संकोच होकर अपने विरहका निवेदन करती है—"रावरी तियाको तरवर सरवरनके, किसलै कमल हैं है वारक बिछावने" (वही, २१०)। वह अपनी आकांक्षा भी प्रकट करती है—"वे उलहे बन बाग निहारि निहारि जबै अकुलैहै। जैहै न फेरि फिरे घर ऐहै सु गाँवतें बाहर पाउँ न दैहै" (पद्माकर, जगद्वि०, १ : २५२)। परकीया की वेदना भी घनी है और वह प्रियको रोकनेके लिए आतुर है—"मितवा चलेउ बिदेसवा मन अनुरागि। पियको सुरति गगरिया रहि मग लागि" (र० : बरवै०, ६४)। घनानन्दने परकीयाभावके रूपमें गहरी वेदनाकी व्यंजना की है—"पहिले अपनाइ सुजान सनेह सो क्यो फिर नेहको तोरिये जू। रस प्याइ अधार दै धार मँझार दई गहि बाँह न बोरिये जू" (सु० सा०, १६)। सामान्याके उदाहरणोंमें कुछ कवियोने धन तथा आभरण आदिका उल्लेख किया है—"जैहै कहा कछु रावरेको हमरे हियको तो हरा हरि जैहै" (पद्माकर : जगद्वि०, १ : २५६)। इसमें फिर भी 'हार'के व्यंग्यार्थमें बहुमूल्य वस्तु ली जा सकती है, पर—'लै ऐहौ आभरण' कहकर मतिरामने सामान्याको प्रेमके आलम्बनरूपमे नहीं लिया है। रहीमने इस नायिकामे भी प्रेमका निर्वाह किया है—"पीतम इक सुमिरिनियाँ मुहिं देइ जाहु। जेहि जपि तोर बिरहवा करब निबाहु" (बरवै०, ६५)। रीतिकाव्य तथा इस कालके घनानन्द, रसखान, आलम जैसे प्रेमी कवियोने विरहकी सम्भावनाका चित्रण नाना भावावेगोके साथ किया है।

—र०

प्रवर्तक–यह रूपकगत **प्रस्तावना**का एक भेद है। दशरूपककारके अनुसार "प्रारब्धोत्थानकार्यान्यकरणात्परिवर्तकः", अर्थात् प्रस्तुत कार्यसे सम्बद्ध उद्योगका परित्याग कर जहाँ किसी अन्य कार्यको किया जाय, वहाँ 'प्रवर्तक' होता है; जैसे संस्कृतके 'महावीरचरित'में रामकी वीरतासे विस्मित परशुराम उनसे युद्ध न कर उनका आलिंगन करना चाहते है। यही प्रवर्तक है।

—ब० सि०

प्रवास-विप्रलंभ–दे० 'विप्रलंभ शृंगार'।

प्रवाह-जीव–दे० 'प्रवाहमार्ग', 'पुष्टजीव', 'पुष्टिमार्ग'।

प्रवाहपुष्ट–दे० 'पुष्टिजीव', 'पुष्टिमार्ग'।

प्रवाहमार्ग–यह वस्तुतः कोई साधन-मार्ग नहीं है, प्रत्युत मोक्षके लिए किसी प्रकारका साधन न करके सांसारिक सुख-भोगके लिए प्रयत्न करते रहनेको ही वल्लभाचार्यने अपने पुष्टिमार्गके निरूपणमें प्रवाहमार्गका कहा है। इस मार्गपर चलनेवाले जीव निरन्तर बन्धनमें पड़े रहते है, अर्थात् वे बार-बार जन्म लेते और मरते है।

जीवोके वर्गीकरणमें वल्लभाचार्यने दैवी और आसुरी, दो प्रधान भेद किये हैं। आसुरी जीव ही प्रवाहशील, अर्थात् जन्म-मरणके चक्रमें बहनेवाले होते है। इनमे भी दो प्रकारके जीव होते है—एक अज्ञ आसुरी जीव और दूसरे दुर्ज्ञ आसुरी जीव। अज्ञ जीव तो भगवान्के प्रति उत्कट वैरभावके फलस्वरूप उद्धार प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु दुर्ज्ञ आसुरी जीव नित्य प्रवाहशील रहते है, उनका कभी उद्धार नहीं होता। प्रवाहशील जीव संसारी भी कहे जाते है (दे० 'पुष्टिमार्ग')।

—ब्र० ब०

प्रवाहवाद–अँग्रेजी कथा-विधानकी 'स्ट्रीम ऑफ कान्शसनेस' प्रणालीका हिन्दी रूपान्तर : अँग्रेजी साहित्यमे इस शिल्पके प्रवर्तक तथा प्रचारक जेम्स जॉयस तथा वर्जीनिया वुल्फ रहे है। जॉयसका उपन्यास 'युलिसिस' इस कथा-विधानका अन्यतम उदाहरण है। कथाकी इस टेकनिकमे पात्र एक अविच्छिन्न चेतना-प्रवाहमें समय तथा स्थानसे परे बहते रहते है। अपनी सभी मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमिके बावजूद यह प्रणाली सदैव बहुत संगत नहीं लगती। वर्जीनिया वुल्फका प्रसिद्ध लघु उपन्यास 'ओलैंडो' तो मात्र एक फैण्टेसी लगता है। इस शिल्प-प्रणालीका प्रथम व्यवस्थित प्रयोग १८८७मे दुजार्दिनने किया था।

हिन्दीमे इस कथा-विधानका अभी कोई उल्लेखयोग्य प्रयोग नहीं हुआ, यद्यपि साहित्यके सिद्धान्त-विवेचनमें इस प्रणालीकी चर्चा यत्र-तत्र अवश्य मिल जाती है।

—रा० स्व० च०

प्रवृत्ति–प्रवृत्तिका सम्बन्ध केवल भाषासे ही नहीं है। भरत (४ श० ई०)का प्रवृत्तिके सम्बन्धमें मत है—"पृथिव्यां नाना देशवेशभाषाचारवार्ता ख्यापयतीति प्रवृत्तिः" (नाट्य०, १४ : ३३) अर्थात् पृथ्वीके विभिन्न देशोके वेश, भाषा तथा व्यवहारकी बातोको जो प्रकट करे, वह प्रवृत्ति है। इस प्रकार प्रवृत्ति व्यापक अर्थमे प्रयुक्त हुई है और इसके साधन भी अनेक है। जहाँ वृत्ति एक प्रकारसे शब्दों द्वारा अभिव्यंजना-पद्धति है, वहाँ प्रवृत्ति रहन-सहनको पूर्णतया प्रकट करनेकी पद्धति है। प्रवृत्ति आचार-व्यवहार वेशादि, रहन-सहनको प्रकट करनेकी पद्धति है। अतः प्रवृत्तिका सम्बन्ध केवल अभिनयसे है, जब कि वृत्तिका सम्बन्ध नाट्य और काव्य, दोनोमे ही है। वृत्तिका सम्बन्ध आन्तर व्यापारसे अधिक है, जब कि प्रवृत्ति बाह्य व्यापारसे अधिक सम्बन्ध रखती है। राजशेखर (९-१० श० ई० का० मी०)ने इसे केवल 'वेशविन्यास'के रूपमे ही ग्रहण किया है। भरतने नाट्यप्रयोगमे चार प्रवृत्तियाँ मानी है—आवन्ती, दाक्षिणात्य, पांचाली तथा औड्र-मागधी। यह विभाजन प्रदेशोकी विशेषताओके आधारपर है।

१. औड्रमागधी—भरत मुनिने और उनके आधारपर राजशेखरने नाना देशोंके वेष-भाषा-आचार-वार्ताकी द्योतक सज्जाको प्रवृत्ति माना है। यह विभिन्न देशसमूहोके विचारसे भिन्न-भिन्न नामकी है। अंग, बंग, कलिंग, पुण्ड्र, नेपाल, वत्स, ब्रह्मोत्तर, प्राग्ज्योतिष्, पुलिन्द, विदेह, ताम्रलिप्ति आदि देशोके वेशविन्यासक्रमकी द्योतक प्रवृत्तिका नाम औड्रमागधी है (नाट्य०, १४ : ४३-४५)। इसमे चन्दन, सूत्रहार, दूर्वा आदिका प्रयोग वेश-भूषाके लिए रहता है। उड्र और मगधके समीपवर्ती देशोंकी वेशविन्यासप्रवृत्ति है। औड्रमागधी।

२. पांचालमध्यमा—पांचाल, शूरसेन, कश्मीर, हस्तिनापुर, वाह्लीक, शल्य, मद्र, कुशीनगर आदि गंगाके उत्तरस्थित जनपदोंकी वेशभूषा-आचार-वार्ता-सूचक प्रवृत्ति-का नाम पांचालमध्यमा है। राजशेखरके अनुसार पांचालकी सुन्दरियोंका कपोलमण्डल सोनेके कर्णाभूषणोंके हिलनेसे तरंगित होता है। सुन्दर मोतियोंकी माला गलेमें नाभितक लटकती है। सुन्दर उत्तरीय श्रोणीसे एड़ीतक शोभायमान है। ये सात्वती और आरभटी वृत्तियोंपर आश्रित जन है। स्वल्प गीतवाद्यका प्रयोग करनेवाले और अप्रदक्षिण होते है। इनकी वेश-भूषा, आचारवार्ताकी प्रतिपादक प्रवृत्ति पांचालमध्यमा है (नाट्य०, १४ : ४७-४८)।

३. आवन्ती—अवन्ति, विदिशा, सौराष्ट्र, मालवा, अर्बुद, भृगुकच्छ, सिन्धु, सुवीर, दशार्ण, त्रिपुर आदि देशोंकी वेश-आचार-भूषा-वार्ता आदिकी द्योतक प्रवृत्ति आवन्ती या आवन्तिकी कही गयी है। इसमे पांचाल और दाक्षिणात्य प्रवृत्तियोका मिश्रण देखा जाता है। यहाँके पुरुषोकी वेशरचना पांचालके समान है, परन्तु स्त्रियोंकी दक्षिण देशके समान है। इसी प्रकार दोनोकी समन्वित विशेषता उनकी भाषा और आचारमें भी देखनेको मिलती है (नाट्य०, १४ : ४०-४१)।

४. दाक्षिणात्या—महेन्द्र, मलय, मेकल, केरल, महाराष्ट्र, कालपंजर, सह्य आदि देशोंकी वेश-भूषा-आचार-वार्ता आदिकी द्योतक प्रवृत्ति दाक्षिणात्या है। यहाँ स्त्रियों-की कुन्तलराशि चरणोतक शोभायमान है। भालप्रदेश सिन्दूरमण्डित और कटिप्रदेश पूर्णतया आच्छादित है, यह केरल प्रदेशकी स्त्रियोंकी वेशभूषा है। इस प्रदेशमें विचित्र नृत्य, गीत, वाद्य आदिका विलास रहता है, जो कैशिकी वृत्तिपर आश्रित है। इनकी रीति वैदर्भी है। श्रुत्यनुप्रास-युक्त वाणी है। यह ललित कलाओंकी लीलाभूमि दक्षिण-प्रदेशकी प्रवृत्ति है। किन्हीं-किन्हीं विद्वानोंके मतानुसार कैशिकी वृत्तिकी उदयभूमि विदर्भ है। अतः इस प्रवृत्तिका केन्द्र विदर्भको भी मानना चाहिये (नाट्य०, १४ : ३७-३९)। —भ० मि०

प्रवेशक—वह **अर्थोपक्षेपक**का एक भेद है। **विष्कम्भ**की तरह प्रवेशक भी भूत और भावी कथांशोंका सूचक है। इसमें औदात्त्यपूर्ण उक्तिका प्रयोग नहीं होता। इसकी भाषा प्राकृत ही होती है—शिष्ट प्राकृत नही। इसमें नीच पात्रों-का प्रयोग होता है। प्रवेशककी योजना सर्वदा दो अंकोके बीच की जाती है।

प्रवेशकका स्पष्टीकरण करनेके लिए आवश्यक है कि **विष्कम्भ**से इसका जो मुख्य अन्तर है, उसका उल्लेख हो जाय। यद्यपि दोनों ही भूत और भविष्यके कथांशोंके सूचक हैं, तथापि रूपकमें इनके स्थान, इनकी भाषा, पात्रोंके प्रयोगकी दृष्टिसे इनमें पर्याप्त अन्तर दिखाई पड़ता है।

प्रवेशकका प्रयोग दो अंकोंके बीचमें ही हो सकता है। **रूपक**के प्रथम अंकके आदिमे इसका प्रयोग नहीं किया जा सकता। प्रथम अंकमें इसके लिए कोई स्थान नही है। पर **विष्कम्भ (विष्कम्भक)**का प्रयोग रूपकके प्रथम अंकके प्रारम्भमें भी हो सकता है और दो अंकोंके बीचमें भी (जैसे शकुन्तलाके चौथे अंकके आदिमें)।

जहाँतक भाषाके प्रयोगका प्रश्न है, प्रवेशकमें संस्कृतका प्रयोग नही किया जाता। इसमे निम्न कोटिकी प्राकृत—मागधी, आभीरी, पैशाची आदिके प्रयोगका विधान है। पर **विष्कम्भ (विष्कम्भक)**में संस्कृत और शौरसेनीका प्रयोग करना चाहिये।

प्रवेशकके सभी पात्र (एक या दो) निम्न श्रेणीके होते हैं, जब कि **विष्कम्भ (विष्कम्भक)**मे कम-से-कम पात्र मध्यम श्रेणीका होता है। —ब० सिं०

प्रशस्तिगीति—वैदिक स्तोत्रसे प्रशस्तिगीति और प्रशस्ति-काव्यका विकास हुआ है। प्रशस्तिगीतिमें किसी लौकिक व्यक्तिकी प्रशस्ति गायी जाती है। वैदिक देवताओंकी स्तुतियोंमें लोकनायकोंकी प्रशस्तियोंके संकेत देखे जा सकते है। **गौरवगीति** स्तोत्रोंकी प्रत्यक्ष उत्तराधिकारिणी है, क्योंकि इसमें देवताओंके गौरवकी गाथा गायी गयी थी, किन्तु बादमे मानवोकी गौरवगीतियाँ गायी गयीं क्योंकि उन्होंने देवत्व लाभ किया। दारयवहुष्क (ई० पू० ५२२-४८६)के विस्तृत शिलालेखमें गौरवगीतिका मूल रूप मिलता है, यद्यपि यह गौरवगान गद्यात्मक है। राज-कवियोने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूपमे इस प्रकारकी रचनाएँ की हैं। समुद्रगुप्त (राज्यकाल ३३०-३७५ ई०) सम्बन्धी हरिषेण-विरचित प्रशस्तिकाव्य प्रयागके प्रस्तर-स्तम्भपर उत्कीर्ण है। इसके प्रथम चार चरण पूर्णतया नष्ट हो गये है। तीसरा छन्द स्रग्धरा है—[स]त्काव्य—श्री विरोधान्बुधगुणित-गुणाज्ञाहतानेव कृत्वा। [वि] दलोके (ऽ) वि[ना][शि] स्फुटबहु-कविता-कीर्ति-राज्यं भुनक्ति।' प्रशस्तिकाव्यके कवि राजाश्रित होते हैं। लोकभाषाओंको राजसभाओंमें जब स्थान मिलने लगा तो प्रशस्तिगीतिका अधिक प्रचलन हुआ। राष्ट्रीय नेताओंकी प्रशंसामे अनेका-नेक प्रशस्ति-गीतियाँ लिखी गयीं और भारत-भूमिके गौरव-की गाथा गौरवगीतियोंमें गायी गयी। —रा० खे० पा०

प्रसादगुण—दे० 'गुण', तीसरा प्रकार।

प्रसिद्धविरुद्ध—दे० 'अर्थ-दोष', नवाँ।

प्रसिद्धित्याग—दे० 'शब्द-दोष', पन्द्रहवाँ 'वाक्य-दोष'।

प्रस्तावना—रूपकमें जहाँ **नटी**, **विदूषक** अथवा **पारिपार्श्विक सूत्रधार**के साथ अपने कार्यके सम्बन्धमें विचित्र वाक्योंका प्रयोग करते हुए इस तरह बात करे कि प्रस्तुत कथा सूचित हो जाय, वहाँ प्रस्तावना होती है। इसे **आमुख** भी कहते है। प्रस्तावनाके पाँच भेद होते है—**उद्घातक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवर्तक** और **अवगलित**।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्रकी 'प्रेमजोगिनी' नाटिकामें **सूत्रधार** और **पारिपार्श्वक**का वार्तालाप प्रस्तावना ही है। —ब० सिं०

प्रस्तुत—उपमाके चार प्रमुख उपादानोंमेंसे एक उपादान, 'उपमेय'का एक पर्याय। वर्णनीय विषयकी अलंकार-शास्त्रमें प्रस्तुत नामसे अभिहित किया जाता है। उदा०—"हरि पद कोमल कमलसे" इसमे 'पद' प्रस्तुत है, क्योंकि इसीका वर्णन विषय है और 'कमलकी कोमलता'से इसीकी समता की गयी है। इसी प्रकार "अरी नीच कृतघ्नते! पिच्छल

शिखासंलग्न। मलिन काई-सी करेगी हृदय कितने भग्न" ('प्रसाद' : कामायनी)। यहाँ 'क्रन्दनता' प्रस्तुत वर्ण्य वस्तु है, जिसकी 'काई'से समानताकी गयी है।

मम्मटने अपने 'काव्यप्रकाश'में इसका उल्लेख 'प्रस्तुत' और 'प्रकृत' नामसे किया है। यथा—"अप्रस्तुतप्रशंसा सा या सैव प्रस्तुताश्रया" या—"सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्" (का० प्र०, १० : ९८ : ९२)। हिन्दीमें रामचन्द्र शुक्लने उपमेयके लिए 'प्रस्तुत' और 'उपमान'के लिए 'अप्रस्तुत' शब्दका प्रयोग किया है। —वि० स्ना०

प्रस्तुतांकुर–'अप्रस्तुतप्रशंसा'की जातिका अर्थालंकार। अप्रस्तुतसे प्रस्तुतके बोधका नाम 'अप्रस्तुतप्रशंसा' (प्रशंसा-कथन) है, उसमें अभिधा शक्तिसे अप्रस्तुत वृत्त और व्यंजना शक्तिसे प्रस्तुत वृत्तकी प्रतीति होती है। परन्तु 'प्रस्तुतांकुर'में एक प्रस्तुत अर्थसे दूसरे प्रस्तुत अर्थकी प्रतीति होती है। प्रतिष्ठापक अप्पय दीक्षितके अनुसार प्रस्तुतांकुरका लक्षण है—"प्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य द्योतने प्रस्तुतांकुरः" (कुवलयानन्द, ६७)। इसीके आधारपर हिन्दीके जसवन्त सिंह, मतिराम, दास तथा पद्माकर आदिने अपने लक्षण प्रस्तुत किये है—"प्रस्तुत करि प्रस्तुत जहाँ प्रकट होत मतिराम" (ल० ल०, १७५) अथवा "प्रस्तुत करि प्रस्तुत फुरै" (पद्मा०, १२२)। उदा०—प्रियतमके साथ उद्यानमें विहार करती हुई नायिकाने भृंगसे कहा—"हे भ्रमर! मालतीको छोड़कर तुम कंटकपूर्ण केतकीके पास क्यो जाते हो?" यहाँ भ्रमर तथा नायक दोनों प्रस्तुत है और प्रथम प्रस्तुतके प्रति कथनसे प्रस्तुतके प्रति कथनका बोध होता है—"कुलीन वधूके रहते हुए भी वेश्यागमन क्यों करते हो?" अथवा—"सुबरन बरन सुबासजुत सरस दलनि सुकुमार। चम्प कलीको तजत अलि, तैही होत गँवार" (ल० ल०, १७६)। —ओ० प्र०

प्रस्थानक–इनमें दो अंक और दस नायक होते है। हीन पुरुष नायक और दासी नायिका होती है। कैशिकी और भारती वृत्तियोंका प्रयोग होता है। सुरा-पानसे उद्देश्यकी प्राप्ति की जाती है। उदा०—'शृंगारतिलक'। शेष सब बातोमें नाटकसे समानता है। —वि० रा०

प्रहर्षण–अर्थालंकार; यह अपेक्षाकृत गौण अलंकार है। अतः 'काव्यप्रकाश', 'साहित्यदर्पण' आदि संस्कृतके प्रामाणिक काव्य-ग्रन्थोंमे इसका समावेश नहीं है। जयदेवने अपने 'चन्द्रालोक'में इसे स्वीकार किया है—"वांछितार्थाधिकप्राप्तिर्यत्नेन" (५ : ४९), जिसको भूषणने इस प्रकार रखा है—"जहँ मन-वांछित अरथतें, प्रापति कछु अधिकाय" (शि० भू०, २१५)। 'कुवलयानन्द'में इसके तीन भेद दिये गये हैं, जिनका अनुसरण हिन्दीके अन्य आचार्योंने प्रायः किया है। प्रहर्षणका शाब्दिक अर्थ हुआ प्रकृष्ट हर्षण। जिस प्रसंगमें अत्यन्त अधिक हर्ष अथवा हर्षकारी पदार्थकी प्राप्तिका वर्णन हो, वहाँ प्रहर्षण अलंकारकी उपस्थिति होगी। प्रहर्षण अलंकार विषादनका प्रतियोगी अथवा विरोधी अलंकार है।

प्रथम प्रहर्षण वहाँ होता है, जहाँ इष्ट अर्थकी सिद्धि बिना किसी उपायके ही सम्पन्न हो जाय। मतिरामके अनुसार—"जहँ उत्कण्ठित अर्थकी बिन उपाय ही सिद्धि" (ल० ल०, ३०२)। उदा०—"मंजु मनोरथ फैलि फल्यो पर आनें सबै तप पूरन पागे। मोज मढ़े उमड़े करुना खड़े श्रीरघुनाथ जटायुके आगे (लछिराम)। यहाँ जटायुके सामने रामके आ जानेसे उसके मनोरथ बिना प्रयत्नके सिद्ध हुए है। **द्वितीय प्रहर्षण** वहाँ होता है, जहाँ वांछित अर्थकी अपेक्षा अधिक लाभ अथवा सिद्धि होनेका वर्णन हो—"जहँ मन इच्छित अर्थतें, अधिक सिद्धि मतिराम" (ल० ल०, ३०५)। उदा०—"रजतकी हौस किये हेम पाइयतु जासो हयनकी हौस किये हाथी पाइयतु है" (शि० भू०, २१६)। यहाँ शिवाजीके दरबारमें चाँदीकी कामना करनेवाले कवियोंको सोना और घोड़ेकी कामना करनेवाले कवियोंको हाथीकी प्राप्तिका वर्णन है। **तृतीय प्रहर्षण** उस स्थानपर होता है, जहाँ उपाय अथवा साधनकी खोजके द्वारा फल अथवा साध्यकी प्राप्तिका वर्णन हो—"जहाँ अर्थकी सिद्धिको, जतनहि ते फल होय" (ल० ल०, ३०८)। उदा०—"हरिकी सुधिको राधिका, चली अलीके भौन। हँसत बीच ही मिलि गये, बरनि सकै कवि कौन" (वही, ३०९)।

'काव्यप्रकाश'के टीकाकार वामन भट्टने प्रहर्षणके तीनों प्रकारोंको समाधि अलंकारमे अन्तर्निविष्ट माना है, क्योंकि अकस्मात् इष्ट-लाभ, यत्नकी मात्रासे अधिक लाभ अथवा उपायकी सिद्धिका यत्न करनेपर साक्षात् फलका लाभ, ये तीनों अनायास कार्य-सौकर्यके ही अवान्तर रूप है और जहाँ कार्य-सौकर्य होता है, वहाँ समाधि अलंकार होता है। केशवकी 'रामचन्द्रिका'के इस छन्दमे प्रहर्षणका एक सुन्दर उदाहरण है—"ज्यौं अति प्यासो माँगु नीर लहै गंग जलु। प्यास न एक बुझाइ, बुझै त्रैताप बलु"। —ध० प्र० शा०

प्रहसन–भरत मुनिने प्रहसनके दो भेदोंमें इसकी परिभाषा की है। उनका मत है कि जब भगवत्, तापस, भिक्षु, श्रोत्रिय आदिका किसी (पाखण्डी) नायक या नीच व्यक्तियों द्वारा परिहास किया जाय तो **शुद्ध प्रहसन** होता है। इसमें भाषा और कथानकको आद्योपान्त समान रूपसे पाखण्डी व्यक्तियोंके यथार्थ जीवनके उपयुक्त नियोजित किया जाता है। यह परिहासके आभूषणोंसे युक्त होता है। दूसरा भेद **संकीर्ण प्रहसन** है। संकीर्ण प्रहसन उसे कहा जाता है, जिसमें वेश्या, चेट, नपुंसक, विट, धूर्त, बन्धकी-(दुराचारिणी)के अशिष्ट वेश, भाषा और चेष्टाओंका अभिनय प्रदर्शित किया जाता है। इसमें सामान्य जनतामे प्रचलित किसी दुराचरण एवं दम्भ-पाखण्डका प्रदर्शन अनिवार्य है। (ना० शा०, १८. १५४, १५८)। भरत मुनिके आधारपर धनंजयने प्रहसनका लक्षण लिखते हुए कहा है कि भाणसे मिलते-जुलते इस रूपक-प्रकारमें जब पाखण्डी और जाति-प्रतापसे पूज्य बना, नीच प्रकृतिवाला, चेट, चेटी एवं विटसे घिरा हुआ वेश और भाषामें उन्हीके सदृश चेष्टा करनेवाला, उपहासास्पद व्यवहारोंसे युक्त नायक होता है तो यह शुद्ध प्रहसन कहलाता है। उन्होंने इसके दो और भेद—**वैकृत** और **संकर** नामसे किये हैं।

शारदातनयने इसकी अंक-संख्या और सन्धियोंका भी उल्लेख किया है। उनका मत है कि प्रहसनमे एक अंक

होता है और मुख एवं निर्वहण सन्धि होती है। उन्होंने 'सागरकौमुदी'को शुद्ध प्रहसन, 'सैरन्ध्रिका'को संकीर्ण एवं 'कलिकेलि'को विकृत प्रहसन माना है (भा० प्र०, पृ० २४७)।

'रसार्णवसुधाकर'में शिंगभूपालने **भाण**के समान प्रहसनमें **अवगलित, अवस्कन्द, व्यवहार, विप्रलंभ, उपपत्ति, अनृत, विभ्रान्ति, भय, गद्गद वाक्** और **प्रलाप** नामक दस विशेषताओंका होना आवश्यक माना है। उनका मत है कि इसमें दो अंक भी हो सकते हैं (सा० द०, ६ : ६ : २६७)। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने प्रहसनका नायक राजा, धनी, ब्राह्मण या धूर्त माना है। **भाण**में एक पात्र होता है, किन्तु प्रहसनमें अनेक पात्र आते हैं। उनका मत है कि "यद्यपि प्राचीन रीतिसे इसमें एक ही अंक होना चाहिये, किन्तु अब अनेक दृश्य दिये बिना नहीं लिखे जाते" उदाहरण 'हास्यार्णव', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'अँधेर नगरी'।

गुलाब रायने केवल तीन बातें आवश्यक मानी हैं–(१) हास्यरसकी प्रधानता, (२) एक अंक और (३) **मुख** और **निर्वहण** सन्धियाँ।

उपर्युक्त सभी मतोंका समाहार करते हुए प्रहसनका लक्षण इस प्रकार दिया जा सकता है–

भाणके समान ही प्रहसन भी होता है, पर इसमें हास्य रसका आधिक्य होता है। वीथीके तेरहों अंगोंकी अवस्थिति इसमें हो सकती है। इसका हास्य उच्च कोटिका नहीं होता और प्रायः कविकल्पित होता है। इसमें **आरभटी** वृत्ति तथा **विष्कम्भक** और **प्रवेशक**का प्रयोग नहीं होता। प्रहसनमें तपस्वी, संन्यासी अथवा पुरोहित नायक होता है।

प्रहसन तीन प्रकारका होता है–**शुद्ध, विकृत** और **संकर**। प्रथम प्रकारके प्रहसनोंके नायक पाखण्डी, संन्यासी, तपस्वी अथवा पुरोहित होते हैं। **चेट, चेटी** आदि नीच पात्र भी इसमें होते हैं। इसका बहुत-कुछ प्रभाव वेशभूषा तथा बोलनेके ढंगसे जाना जा सकता है। हास्यपूर्ण उक्तियोंका इनमें बाहुल्य होता है। द्वितीय प्रकारके प्रहसनोंमें नपुंसक, कंचुकी और कामुकोंके रूपोंमें तपस्वी होते हैं और अपनी चेष्टाओं द्वारा प्रेक्षकोंका मनोरंजन करते हैं। तीसरे प्रकारके प्रहसनोंमें हँसी-दिल्लगीकी बहुत विशेषता होती है; नायक बहुधा धूर्त, छली, प्रपंची हुआ करते हैं तथा अधिबल (स्पर्धायुक्त बातें), नायिका (अव्यक्तार्थ परिहास-वचन), असत्प्रलाप (बेसिर-पैरकी बातें), व्याहार (हँसी उडाना) और मृदव (गुणको अवगुण और अवगुणको गुण बनाकर कहना)–इन **वीथ्यंगों**का अधिकतासे व्यवहार किया जाता है। हिन्दीमें भारतेन्दुकी 'अन्धेर नगरी', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', बालकृष्णके 'शिक्षादान', देवकीनन्दन त्रिपाठीके 'रक्षाबन्धन', 'एक-एकके तीन-तीन', 'स्त्री-चरित', 'वेश्या-विवाह', 'बैल छः टकेको', जयनाथ सिंहके 'सैकडोंमें दश-दश', 'कलियुगी जनेऊ', खडगबहादुर मलके 'भारत-भारत', देवकीनन्दन तिवारीके 'कलियुगी विवाह प्रहसन'; गोपालराम गहमरीके 'जैसेको-तैसा', विजयानन्द त्रिपाठीके 'महा अन्धेर नगरी', देवदत्त शर्माके 'अति अन्धेर नगरी' जैसे, प्रहसनके उदाहरण हैं।

—श्या० मो० श्री०

प्रहेलिका या प्रहेलि–चित्रकी जातिका शब्दालंकार। च्युताक्षर, दत्ताक्षर तथा च्युतदत्ताक्षर भेदवाली, अनेकार्थधातुओंसे युक्त एवं यमकरंजित उक्तिका चमत्कार प्रहेलिका है। भामहके अनुसार इसके आदि व्याख्याता रामशर्माच्युत हैं (काव्यालं०, २ : १९)। प्रहेलिकाका स्वरूप है–"नानाधात्वर्थगम्भीरा यमक-व्यपदेशिनी"। भामहने इसका खण्डन किया है, क्योंकि यह शास्त्रके समान व्याख्यागम्य है (काव्यालं०, २ : २०)। दण्डीने काव्यदोषमें पूर्व और यमक चित्र आदिके अनन्तर प्रहेलिकाके १६ पूर्वाचार्यकृत, १४ नवीन भेदोंका वर्णन किया है (काव्याद०, ३ : १०६)। विश्वनाथने प्रहेलिकाको उक्ति-वैचित्र्यमात्र माना है, अलंकार नहीं, क्योंकि यह अलंकारके मुख्य कार्य–रस-परिपुष्टिमें योग नहीं देती, प्रत्युत रसमें विघ्न डालती है (सा० द०, १०, १७)। केशवके अनुसार प्रहेलिकाका लक्षण है–"बरनिय बरतु दुराय कै हैं, कौनहुँ एक प्रकार। तासो कहत प्रहेलिका कवि कुल बुद्धि उदार" (क० प्रि०, १३ : ३०)।

—ओ० प्र०

प्राकृत–भारतीय आर्य-भाषाओंको प्राचीन, मध्य और आधुनिक, तीन कालोंमें विभाजित किया गया है। 'प्राकृत' मध्य-कालीन भाषाओंका प्रतिनिधित्व करती है। प्राकृत भाषा कोई एकाएक प्रयोगमें नहीं आ गयी। अपने नैसर्गिक रूपमें यह वैदिक कालके पूर्व भी वर्तमान थी। वैदिक भाषाको स्वयं उस कालमें प्रचलित प्राकृत बोलियोंका साहित्यिक रूप माना जाता रहा। प्राकृत महाकाव्य 'गण्डवहो'का यह उल्लेख "सयलाओ इमं वाया विसन्ति एत्तो य णेंति वायाओ एंति समुद्दंचिय णेंति सायराओ च्चिय चलाइ", अर्थात् जिस प्रकार जल समुद्रमें प्रवेश करता है और भाप बनकर पुनः समुद्रसे बाहर आता है, उसी प्रकार प्राकृतसे सब भाषाओंका उद्गम होता है और उसीमें सब भाषाएँ फिर समाहित हो जाती हैं। यह बात सर्वथा ठीक जान पडती है। यह प्राकृतका व्यापक अर्थ है। भाषाका यही स्वच्छन्द रूप स्थानगत और कालगत विभिन्नताओंके कारण ५०० ई० पू०से १,००० ई०तक पालि, प्राकृत, अपभ्रंश भाषाओंके रूपमें विकसित हुआ। प्राकृत उस कालमें लोकप्रिय भाषा बन गयी थी, जैसा राजशेखरने स्पष्ट भी किया है कि प्राकृत भाषा स्त्रीके सदृश सुकुमार और संस्कृत पुरुषके समान कठोर है। वैयाकरणोंने सम्भवतः संकुचित अर्थमें साहित्यिक प्राकृतका मूल आधार संस्कृत भाषाको माना है। यद्यपि यहाँपर संस्कृतका आशय प्राचीन आर्य-भाषाके स्वच्छन्द रूप वैदिकसे लेना युक्तिसंगत होगा, क्योंकि संस्कृत तो स्वयं ही लोक-भाषाका संस्कार किया हुआ रूप है। व्यापक अर्थके अनुसार प्राकृतका प्रारम्भिक रूप पालि, मध्यकालीन रूप प्राकृत तथा उत्तरकालीन रूप अपभ्रंश कहा गया है। मध्यकालीन रूपके अन्तर्गत साहित्यिक प्राकृत एक विशिष्ट रूप है। इसके मुख्य भेद शौरसेनी, मागधी, अर्द्धमागधी, महाराष्ट्री, पैशाची आदि हैं, जिनका उद्भवकाल १०० ई०से ६०० ई०तक माना जाता है। इनके अतिरिक्त नाटकीय प्राकृत, शिलालेखी

प्राकृत, नित्यप्राकृतका भी विभाजन किया गया है। संस्कृतके शब्दोंमें पर्याप्त ध्वनिपरिवर्तन, विभक्तियोंमें एकीकरण, कतिपय व्याकरण-सिद्ध रूपोंका ह्रास आदि प्राकृतकी मुख्य विशेषताएँ हैं। तृतीया, चतुर्थी, पंचमी तथा षष्ठीकी समान विभक्तियाँ मिलती हैं। —स० प्र० अ०

प्राकृत, अर्धमागधी–यह शौरसेनी प्रभावित मागधी प्राकृत है, पूर्ण मागधी न होनेके कारण इसे यह संज्ञा दी गयी है। इसका क्षेत्र मागधी और शौरसेनीके बीचका क्षेत्र माना जाता है। अपनी साहित्यिक तथा धार्मिक महत्ताके कारण यह 'आर्ष' प्राकृतके नामसे अभिहित की गयी है। इसके पुराने और नये, दो रूपोंका अनुमान किया गया है। जैन धर्मकी यह प्रधान भाषा थी। विशुद्ध जैन साहित्यका प्राकृत वाङ्मयमें अत्यधिक महत्त्व है। जैन धर्म तथा बौद्ध धर्मोंको व्यापक बनानेमें इस भाषाका विशेष हाथ रहा है। —स० प्र० अ०

प्राकृत, पैशाची–वैयाकरणोंने पैशाचीको शौरसेनी-प्रभावित भाषा माना है। यह प्राचीन प्राकृत मानी गयी है, पिशाच क्षेत्रमें प्रचलित होनेके कारण इसका यह नाम पड़ा। पिशाच सम्भवतः अनार्य जाति थी और द्रविडोंसे इसका घनिष्ठ सम्बन्ध था। इसका क्षेत्र भारतका पश्चिमोत्तर भाग था। आधुनिक पश्चिमोत्तरी बोलियाँ तथा भाषाएँ कश्मीरी, सीना, दरदी, काफरी, चित्राली, इसकी उत्तराधिकारिणी कही गयी हैं। इसकी प्राचीन रचना गुणाढ्य-रचित 'बृहत्कथा'का उल्लेख परवर्ती आचार्यों और लेखकोंकी कृतियोंमें हुआ है, किन्तु यह अब उपलब्ध नहीं होती। क्षेमेन्द्र-रचित 'बृहत्कथामंजरी', सोमदेवकृत 'कथासरित्सागर', बुद्धस्वामिन्-रचित 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' आदि ग्रन्थोंमें इसके संस्कृत रूपान्तरित अंश मिलते हैं। इसकी एक उपभेद चूलिका पैशाची भी है। —स० प्र० अ०

प्राकृत, महाराष्ट्री–महाराष्ट्रीको महाराष्ट्र प्रदेशकी भाषा मान लेना युक्तिसंगत न होगा। हार्नलेके मतानुसार 'महाराष्ट्र'का आशय महान् राष्ट्रसे लेना चाहिये। यह ठीक भी है, क्योंकि मध्यकालमें महाराष्ट्री व्यापक क्षेत्रकी भाषा थी। वैयाकरणोंने सम्भवतः इसलिए महाराष्ट्रीको प्रधान प्राकृत मानकर अन्य प्राकृतोंकी कतिपय निजी विशेषताएँ देकर शेषको महाराष्ट्रीके सदृश कह दिया है। "शेषम महाराष्ट्रीयवत्"। महाराष्ट्रीको स्टैण्डर्ड प्राकृत भी कहते हैं। सम्भवतः महाराष्ट्री सदृश प्राकृतको लक्ष्य करके ही संस्कृतकी अपेक्षा प्राकृतको सुकुमार भाषाकी संज्ञा दी गयी। विद्वानों द्वारा यह महाराष्ट्री उत्कृष्ट प्राकृत मानी गयी है। "महाराष्ट्रीसमां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतम् विदुः" महाराष्ट्रीका पद्यसाहित्य काफी सम्पन्न है। सुरोंका बाहुल्य होनेके कारण काव्यरचनाके लिए यह बहुत उपयुक्त भाषा सिद्ध हुई। इसमें लौकिक तथा धार्मिक, दोनों प्रकारकी विशेष साहित्यिक रचनाएँ मिलती हैं। इसका विस्तृत परिचय प्राकृतोंके साहित्यिक प्रकरणमें दिया गया है। —स० प्र० अ०

प्राकृत, मागधी–पूर्वमें बिहारप्रदेशके प्राचीन 'मगध' राज्यके नामपर इसका नामकरण हुआ। अर्वाचीन बिहारी बोलियोंमें मगहीका इससे नामसाम्य है। पूर्वी क्षेत्रोंमें मागधी व्यापक प्राकृत थी। यह गौतम बुद्धके उपदेशोंकी भाषा कही जाती है। इसका कोई स्वतन्त्र साहित्य उपलब्ध नहीं होता। केवल पूर्वी क्षेत्रके शिलालेखों तथा संस्कृत नाटकोंमें निम्न श्रेणीके पात्रोंकी भाषाके रूपमें यह सुरक्षित है। इसके उपभेद साकारी, चाण्डाली, ढक्की, शाबरी मुख्य हैं। व्याकरणोंमें इसका मुख्य आधार शौरसेनी प्राकृत माना है। —स० प्र० अ०

प्राकृत, शौरसेनी–प्राचीन आर्य-भाषाकालमें मध्य देश शिष्ट तथा साहित्यिक भाषाका क्षेत्र रहा है। अतः वहाँकी भाषा 'मध्यदेशी'के नामसे अभिहित की गयी। यही बादमें शौरसेनी प्राकृतका क्षेत्र हुआ। प्राचीन 'शूरसेन' जनपदके नामपर इसका नामकरण किया गया। मथुरा इसका केन्द्र था। इसी क्षेत्रमें शौरसेनीका कालान्तरमें विकास अर्वाचीन लोकव्यापी ब्रजभाषाके रूपमें हुआ। शौरसेनी न केवल अपने क्षेत्रकी व्यापक भाषा थी, वरन् अन्य प्राकृतोंके भाषा-क्षेत्रोंको भी इसने यथेष्ट रूपमें प्रभावित किया तथा कई उत्तर और पश्चिमोत्तर भाषाओंके उद्भवमें सहायता की। इस क्षेत्रमें अधिक राजनीतिक उथल-पुथल होनेके कारण इसका साहित्य उपलब्ध नहीं होता। केवल संस्कृत नाटकों तथा जैन धर्मके ग्रन्थोंमें यह सुरक्षित मिलती है। वररुचि तथा हेमचन्द्रने इसकी विशेषताओंका विस्तृत परिचय दिया है। —स० प्र० अ०

प्राकृत (साहित्य)–ब्राह्मण धर्मके ह्रासके साथ-साथ संस्कृत भाषाका महत्त्व भी घटा और लोकप्रचलित भाषाओंको प्रश्रय मिला। वर्द्धमान महावीर और गौतम बुद्धने अर्द्धमागधी प्राकृतोंको अपने उपदेशोंका माध्यम बनाया तथा शिक्षित वर्गमें भी प्राकृत भाषाका प्रयोग होने लगा। अतः भारतीय मध्ययुगकी सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि तथ्योंकी सम्यक् जानकारी प्राकृत वाङ्मयसे जितनी सम्भव है, उतना किसी अन्य साहित्यसे नहीं। प्राकृत साहित्यका इस दृष्टिसे विशेष महत्त्व है।

शौरसेनी, महाराष्ट्री, मागधी, अर्द्धमागधी, पैशाची मुख्य प्राकृत-भाषाएँ हैं। इन प्राकृतोंके अतिरिक्त महाराष्ट्रीका उपभेद जैन-महाराष्ट्री तथा शौरसेनीका जैन-शौरसेनी है, जिनका नामकरण पाश्चात्य विद्वान् हरमन याकोबीने किया। प्राकृतके अन्य भी कई भेद-उपभेद हैं, किन्तु साहित्यिक दृष्टिसे उनका कोई महत्त्व नहीं है। उक्त पाँच प्राकृतें ही इस दृष्टिसे विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। अनेक शिलालेख भी प्राकृत भाषामें मिलते हैं, किन्तु इनकी गणना प्राकृतके साहित्यिक रूपके अन्तर्गत नहीं की जाती। संस्कृत और प्राकृतके संक्रान्तिकालमें संस्कृत प्रभावित प्राकृतका रूप 'गाथा' अथवा 'पापुलर संस्कृत'के नामसे अभिहित किया गया है, किन्तु उसमें उपलब्ध साहित्य शुद्ध प्राकृत साहित्यके अन्तर्गत परिगणित नहीं होता। उस कालमें जैन धर्म तथा जनसाधारणके कार्य-व्यवहारकी भाषा प्राकृत थी। उपलब्ध धार्मिक तथा लौकिक प्राकृत साहित्य न्यून ही है, उसका कुछ साहित्य आज कालकवलित हो चुका है अथवा अन्धकारके गर्भमें लुप्त पड़ा है।

धार्मिक साहित्य किसी भी भाषाके साहित्यका महत्त्वपूर्ण अंग होता है। उसकी उपेक्षा किसी प्रकार नहीं की जा सकती। प्राकृत साहित्यके अन्तर्गत इसका और भी महत्त्व

है, क्योंकि तत्सम्बन्धी उपलब्ध साहित्य प्रचुर मात्रामें है और साहित्यिक दृष्टिसे उच्च कोटिका है। लगभग १०० ई०से लेकर ७०० ई०तक साहित्यिक प्राकृतका उद्‌भव-काल माना जा सकता है, यद्यपि इसके बाद सात-आठ शताब्दियोंतक प्राकृत-ग्रन्थ लिखे जाते रहे। महावीर स्वामीकी स्थिति तो बहुत पहलेकी है, किन्तु उनके उपदेशों-का संकलन बहुत बादमें हुआ। ई० शताब्दीके बादसे इन ग्रन्थोंका रचना-काल निर्धारित किया जा सकता है। जैन धर्मसे सम्बन्धित विविध-विषयक रचनाएँ जो गद्य तथा पद्य-शैलियोंमें समय-समयपर रची गयीं, काफी सम्पन्न हैं। अनेक प्रबन्ध तथा मुक्तक काव्य भी इस कालमें स्वतन्त्र रूपमें लिखे गये, जिनकी टक्करकी रचनाएँ संस्कृतमें भी नहीं मिलती। इनके अतिरिक्त प्राकृत भाषाका प्रयोग संस्कृत नाटककारोंने अपने नाट्यग्रन्थोंमें किया। कुछ नाटक तो पूर्णतया प्राकृतमें ही लिखे गये। अतएव प्राकृत साहित्यका विभाजन लौकिक काव्य तथा धार्मिक साहित्य-के रूपमें किया जा सकता है। यहाँ सर्वप्रथम लौकिक काव्यके प्रमुख ग्रन्थोंपर विचार किया जा रहा है।

पहले कहा जा चुका है कि उस कालमें महाराष्ट्री, काव्यकी प्रधान भाषाके रूपमे प्रचलित हो गयी थी। काव्य-रचनाएँ प्रायः महाराष्ट्रीमे ही उपलब्ध होती हैं। प्रबन्ध-काव्यके अन्तर्गत महाकाव्य तथा खण्डकाव्य—'रावणवहो', 'लीलावई', 'सिरचिंधकव्वं', 'उसाणिरुद्धकंसवहो' आदि दोनों प्रकारके ग्रन्थ उपलब्ध है। 'गाहासत्तसई', 'वज्जालग्गं' आदिके अतिरिक्त फुटकर गीतोंका कतिपय संकलन रीति-शास्त्रके ग्रन्थों तथा संस्कृत एवं प्राकृत नाटकों-में मिलता है। इनका अभी समुचित संग्रह नहीं हुआ है।

'रावणवहो' (रावणवध) महाराष्ट्री प्राकृतका अत्यधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, जिसका अनुवाद संस्कृतमे 'सेतुबन्ध'के नामसे हुआ है। इसका अन्य नाम 'दहमुहवहो' भी है। यह सातवीं शताब्दीके पूर्वकी रचना है, क्योंकि बाण-रचित 'हर्ष-चरित'की भूमिकामे 'सेतु' नामसे इसका उल्लेख मिलता है। दण्डीने 'काव्यादर्श'में इसे बाणसे काफी पूर्व-की रचना माना है। सुशीलकुमार दे इसे पाँचवीं शताब्दी-की रचना मानते है। कश्मीरके राजा प्रवरसेन द्वितीयको इसका लेखक माना जाता है। कुछ विद्वान् इसमें शंका करते है। वे इसे राजा प्रवरसेनके किसी राज्याश्रित कविकी कृति मानते हैं। ग्रन्थ १५ आश्वासोंमें विभाजित है। पूर्वार्धमें सेतु बाँधनेका वर्णन है और उत्तरार्धमें रावण-वध तथा रामके राज्याभिषेकतककी कथाका विस्तार है। पूर्वार्ध-में प्राकृतिक दृश्योंका मनोरम वर्णन हुआ है और उत्तरार्धमें मानवीय प्रकृतिके सूक्ष्म चित्रणमें कविकी कुशलता प्रकट होती है। ग्रन्थमें समासप्रधान शैली तथा आर्या छन्दको प्रश्रय मिला है। वर्ण्यविषय, भाषा तथा शैलीकी दृष्टिसे प्राकृत साहित्यकी यह अनुपम रचना है। इसका प्रकाशन संस्कृत, जर्मन आदि भाषाओंमें हुआ है।

महाराष्ट्री प्राकृतका दूसरा महाकाव्य 'गउडवहो' है, जिसके रचयिता 'बप्पइराअ' (वाक्‌पतिराज) है। ये कन्नौजके राजा यशोवर्मन्‌के आश्रित कवि थे, जिनका उल्लेख कविने छन्द-संख्या ७९९में किया है। ग्रन्थका रचना-काल आठवीं शताब्दी माना जाता है। यह १२०९ आर्या छन्दोंमें लिखी हुई उत्कृष्ट रचना है। वर्ण्य विषय ऐतिहासिक है। इसमे राजा यशोवर्मन् द्वारा गौड देशपर आक्रमण तथा मार्गमें पड़नेवाले कई पूर्वी प्रदेशोंके विजय आदिका वर्णन किया गया है। ग्रन्थमें घटना-योजना संश्लिष्ट और क्रमबद्ध रूपमे न होनेके कारण इसे सफल महाकाव्यकी कोटिमें नहीं रखा जा सकता, फिर भी भाषा, अलंकार तथा चित्ताकर्षक वर्णनोंका इसमें सुन्दर संघटन मिलता है।

कविकी दूसरी प्राकृत रचना 'महुमहविअअ' उपलब्ध नहीं है। इस कृतिका उल्लेख स्वयं कविके काव्य तथा 'ध्वन्यालोक', 'सरस्वतीकण्ठाभरण' आदि काव्यशास्त्रके ग्रन्थोंमें मिलता है।

'लीलावई' ग्रन्थमें कविका वंश-परिचय तो मिलता है, कोई नाम नहीं मिलता। किन्तु कुछ छन्दोंमें 'कोऊहल'की छाप तथा एक टीकाकारके उल्लेखके आधारपर विद्वानोंका अनुमान है कि इसके रचयिता महाराष्ट्रनिवासी 'कुतूहल' नामके कोई ब्राह्मण है। इसका रचना-काल १००० ई० अनुमान किया जाता है। यह एक प्रेम-काव्य है, जिसमें मुख्यतया प्रतिष्ठानके राजा सातवाहन तथा सिंहलकी राजकुमारीकी प्रेमकथाका विस्तार है। साथ ही गन्धर्वलोक-के कतिपय पात्रोंकी प्रेमकथाका भी इसमें प्रासंगिक वर्णन है। इसलिए कविने स्वयं ही अपनी कृतिको 'दिव्य-मानुषी' बताया है। सर्गबद्ध न होनेपर भी ग्रन्थमे कविकी अनोखी प्रबन्ध-पटुता प्रकट होती है। मानव-प्रेम तथा प्राकृतिक छटाके वर्णनमें कविको पूर्ण सफलता मिली है।

सिरिचिन्ध (श्रीचिह्न) प्रबन्ध-काव्य है, जिसके आठ सर्ग कवि कृष्ण लीलाशुक तथा अन्तिम ४ सर्ग कविके शिष्य दुर्गाप्रसाद द्वारा रचे गये हैं। इसमें कृष्णलीलाके साथ कतिपय प्राकृत व्याकरणोंकी व्याख्या भी है। कृष्णलीलासे सम्बन्धित एक अन्य रचना १६वीं शताब्दीके कवि श्री-कृष्णरचित 'सोरि-चरित्र' है, जिसकी भाषा कृत्रिम और भाव दुरूह है।

खण्डकाव्यके अन्तर्गत 'उषाणिरुद्द' तथा 'कंसवहो' मुख्य रचनाएँ है, जिनके रचयिता केरलनिवासी रामपाणिवाद हैं। इनका रचना-काल १७५० ई०के लगभग माना जाता है। पहलेमें उषा-अनिरुद्धके प्रेम-प्रसंग तथा विवाहका वर्णन २८० छन्दो तथा दूसरेमें कृष्णकी बाल-क्रीड़ा तथा कंसवधका वर्णन २३३ छन्दोंमें हुआ है। प्राकृतके अन्य प्रबन्ध-ग्रन्थोंका भी नामोल्लेख मिलता है, जैसे 'हरिविजय', 'रावणविजय', 'कुगालयाश्वचरित' आदि, किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि ये ग्रन्थ या तो नष्ट हो गये या कहीं लुप्त पड़े है और इनकी खोजकी आवश्यकता है।

मुक्तक काव्यके अन्तर्गत 'गाहासत्तसई' (गाथासप्तशती), 'वज्जालग्गं' प्रसिद्ध रचनाएँ है। दोनोंमें सात सौसे ऊपर गाथाएँ संगृहीत है। 'गाहासत्तसई' किसी एक कविकी रचना न होकर कई कवियोंकी कृतियोंका संग्रह है। इसके संग्रहकर्ता दक्षिणके कोई महाराज सातवाहन अथवा कवि वत्सल (हाल) माने जाते है, जिनका उद्‌भवकाल ६९ ई० माना गया है। इसकी गाथाओंका उल्लेख अलंकार-ग्रन्थोंमें

हुआ है। इसीके अनुकरणपर संस्कृतमें 'आर्यासप्तशती' लिखी गयी। इसमें विविध नायक-नायिका सम्बन्धी श्रृंगारिक वर्णनोंकी प्रधानता है। प्राकृतिक दृश्योंकी छटा भी दर्शनीय है। नीति तथा साधारण ज्ञान सम्बन्धी तथ्योंकी भी चर्चा है। विषयकी मौलिकता तथा भाषा एवं अलंकार-सौष्ठवकी दृष्टिसे यह एक अनूठी कृति है। दूसरी रचना 'वज्जालग्गं' है। इसके एक छन्दसे स्पष्ट होता है कि यह ग्रन्थ अनेक कवियोंकी रचनाओंका संग्रहमात्र है और संकलनकर्ता जयवल्लभ है। इसके अनेक छन्दोंका उल्लेख अलंकार-ग्रन्थोंमें हुआ है। ग्रन्थके ७९५ छन्द ४८ परिच्छेदोंमें विभाजित हैं। इसमे श्रृंगारके अन्तर्गत आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव, संचारी, नख-शिख आदिका विशद वर्णन मिलता है। साथ ही रीति-नीति, सज्जन, दुर्जन आदि तथा मानव-स्वभावसे सम्बन्धित प्रसंगोंका विस्तारसे चित्रण किया गया है। अनेक सुभाषित छन्द भी अनुकरणीय है। आनन्दवर्धनाचार्य-रचित 'विषमबाणलीला'-का उल्लेख 'ध्वन्यालोक'में हुआ है। जैसा ग्रन्थके नामसे ही स्पष्ट है कि यह श्रृंगार रसकी रचना है, किन्तु यह अनुपलब्ध है। गोपाल मिश्ररचित 'मुकुट' नामक रचना अधूरी उपलब्ध है। इसमें ८१ छन्दोंका उल्लेख मिलता है। इनके अतिरिक्त प्राकृतके अनेक फुटकर पद्य, कई अलंकार-ग्रन्थों-'ध्वन्यालोक', 'सरस्वतीकण्ठाभरण', 'दशरूपक', 'काव्यालंकार', 'काव्यादर्श' 'काव्यानुशासन', 'रस-गंगाधर' आदिमे उपलब्ध होते है। ये पद्यात्मक रचनाएँ विविध-विषयक है, जिनमें श्रृंगार और नीतिकी प्रधानता मिलती है। भरतरचित 'नाट्य-शास्त्र'में भी महाराष्ट्री तथा शौरसेनी प्राकृतके सैकड़ों छन्द मिलते है, जिनसे स्पष्ट होता है कि १०० ई०के लगभग प्राकृत भाषाकी पूर्ण प्रतिष्ठा हो गयी थी। उक्त सभी प्रसिद्ध रचनाओंका अनुवाद संस्कृत तथा जर्मन आदि भाषाओंमे किया गया है। इससे प्राकृत काव्यकी विशिष्टताका बोध होता है।

जैन धर्म सम्बन्धी अधिक रचनाएँ अर्धमागधी प्राकृतमें उपलब्ध होती हैं। इसमे सिद्धान्त-ग्रन्थ तथा टीकाएँ, दोनों सम्मिलित हैं। विद्वानोंने सिद्धान्त-ग्रन्थोंको आगम साहित्य (canonical) तथा इतर सिद्धान्त-ग्रन्थोंको आगमेतर (non canonical) साहित्यके अन्तर्गत विभाजित किया है। वर्धमान महावीरने अर्धमागधीमे अपने उपदेश दिये, इसके अनेक उल्लेख मिलते है। आगम ग्रन्थोंका विभाजन अंग, उपांग, सूत्र आदि भेदोंमें मिलता है। अंगकी संख्या १२ है। इनमे गद्य-पद्य, दोनोंका व्यवहार किया गया है। दृष्टान्तों द्वारा जैन धर्मकी व्यवहारोपयोगी बातों या तीर्थंकरोंकी जीवनी, ब्राह्मण तथा अन्य धर्मोंके खण्डन, निर्वाण, मोक्ष आदिका विवेचन मिलता है। उक्त अंगोंके १२ उपांग है। इनमें मृत्यु, पुनर्जन्म, पूर्वजन्म, आत्मा, नक्षत्रलोक, भूगोल, स्वर्ग, नरक आदिकी दृष्टान्तों सहित विवेचना की गयी है।

सिद्धान्त-ग्रन्थोंके अन्तर्गत छेयसुत्त और मूल सूत्र हैं। प्रथमकी संख्या छः है। इनमें जैन धर्म सम्बन्धी आचार-व्यवहार, तप आदिका विधान प्रस्तुत किया गया है। मूल सूत्र चार है। इनमें व्रत, अनुशासन आदि धार्मिक विषयोंका विशद वर्णन है। पइण्ण (प्रकीर्ण)-ग्रन्थोंकी संख्या १० है। इनमें मनुष्यके जन्म, रोग सम्बन्धी उपचार, त्याग, मरण, जीवन आदिकी विधियाँ दी गयी है। दो चूलिकासूत्र है। इन्हें जैन धर्मका ज्ञानकोश कहा जा सकता है। ये सभी आगम ग्रन्थ साहित्यिक दृष्टिसे भी काफी महत्त्वपूर्ण है। इनमेंसे अनेकमे आलंकारिक भाषा तथा समास-शैलीका प्रयोग हुआ है।

कालान्तरमें जैन-धर्म श्वेताम्बर तथा दिगम्बर—दो शाखाओंमें बँट गया। श्वेताम्बर शाखाके अनुयायिओंने महाराष्ट्री तथा दिगम्बरने शौरसेनी प्राकृतमे साहित्यका निर्माण किया। इन प्राकृतोंको जैन-महाराष्ट्री तथा जैन-शौरसेनीकी संज्ञा दी गयी है। इनमे गद्य-पद्य, सभी प्रकारकी रचनाएँ लिखी गयी है। गद्य-साहित्यका विभाजन निबन्ध, आख्यायिका, उपन्यास, कथा-चरित आदि विधाओंमें किया गया है।

जैन-महाराष्ट्रीमें कथासाहित्यके अन्तर्गत 'समराइच्चकहा' (समरादित्यकथा), 'कथाकोशप्रकरण', 'धूर्ताख्यान', 'कथामहोदधि', 'विजयचन्द्रकेवलिन्' आदि प्रसिद्ध आख्यायिका-ग्रन्थ है। इनमे बाणकी कादम्बरीके समान समास-शैलीके उत्कृष्ट नमूने यत्र-तत्र मिलते है। 'तरंगवती', 'सुरसुन्दरीचरिअ', 'कालकाचार्यकथानक', 'सिरिसिरिवालकहा' (श्रीपालकथा), 'रयनसेहरकहा' (रत्नशेखरकथा) आदि प्रसिद्ध कथा-ग्रन्थ है, जिनमे कहीं-कहीं पद्यात्मक शैलीका भी प्रयोग है। चरितसाहित्यके अन्तर्गत 'पउमचरिय' (पद्मचरित), 'वसुदेवहिण्डी', 'कुमारपालचरित' आदि मुख्य रचनाएँ हैं। इन रचनाओंका काल तीसरी शताब्दीसे लेकर १४ वीं शताब्दीतक निर्धारित किया गया है।

जैन-शौरसेनीमें दिगम्बर साम्प्रदायिकोंकी कई प्रसिद्ध रचनाएँ मिलती हैं। 'पवयणसार' (प्रवचनसार), 'समयसार', 'नियमसार', 'छप्पाहुड' (षट्प्राकृत), 'कत्तिगेयाणुपेक्खा', 'मूलाचार', 'मूलाराधना', 'श्रावकाचार', 'दर्शनसार', 'आराधनासार', 'जीवविचार' आदि पद्यात्मक रचनाएँ है। 'षट्खण्डागम', 'काषाय' प्रभृत प्रसिद्ध सूत्र-ग्रन्थ है। इन ग्रन्थोंमें जैन धर्मके सिद्धान्तोंका विशद निरूपण मिलता है। प्राकृतमें महावीर स्वामी तथा अन्य तीर्थंकरों तथा जैन-गुरुओंसे सम्बन्धित स्तुतिग्रन्थ (स्तोत्र) भी लिखे गये, जैसे 'ऋषभ-पंचासिका', 'महावीर', 'शान्तिनाथस्तवन' आदि। जैन-धर्म सम्बन्धी अनेक रचनाएँ, जैसे स्तोत्र, नाटक आदि संस्कृतमे भी मिलती है। यद्यपि संस्कृत लोक-व्यापक भाषा नही रह गयी थी, फिर भी उसका प्रयोग सीमित वर्गके द्वारा बराबर होता रहा। कालान्तरमे गुप्त-वंशके राजाओंने ब्राह्मण धर्मका पुनरुत्थान किया तथा संस्कृत भाषाको विशेष प्रश्रय दिया। किन्तु वे अन्य धर्मों तथा प्राकृत भाषाओंके प्रति भी उदार थे। अतः जैन-धर्म सम्बन्धी ग्रन्थ उस कालमे भी लिखे गये।

शौरसेनी तथा मागधी प्राकृतोंकी स्वतन्त्र रचनाएँ उपलब्ध नहीं होती, किन्तु संस्कृत नाटकोंमें इनका व्यापक व्यवहार हुआ है। तत्कालीन समाजमे कतिपय वर्गके लोगोंकी भाषा प्राकृत थी और इसलिए संस्कृत नाटककारोंने

उन पात्रों द्वारा प्राकृत भाषाका ही प्रयोग कराया है। नाटकोंमें निम्न स्तरके लोग जैसे मछुए, दुष्ट, चाण्डाल, राक्षस, महावत, नाई, म्लेच्छ आदि प्रायः मागधी बोलते हैं तथा महिलाएँ, विदूषक, गुप्तचर, गणिका, अप्सराएँ, राजमहिषी, चेटी आदिकी भाषा शौरसेनी प्राकृत है। राजा, राजगुरु, मन्त्री आदिकी भाषा संस्कृत है। कहीं-कहीं इसका अपवाद भी मिलता है। कुछ स्वतन्त्र नाटक भी प्राकृतमें लिखे गये होंगे, किन्तु संस्कृतमें रूपान्तरित होनेके बाद सम्भवतः वे नष्ट हो गये। इसीलिए वे आज उपलब्ध नहीं होते। अश्वघोष-रचित 'सारिपुत्तप्पकरण' (सारिपुत्र-प्रकरण), राजशेखर-रचित 'कर्पूरमंजरी' ऐसी ही रचनाएँ थीं, यह अनुमान किया जाता है। भास-रचित 'चारुदत्त', कालिदासके 'अभिज्ञानशाकुन्तल', 'मालविकाग्निमित्र', 'विक्रमोर्वशीय', श्रीहर्षके 'प्रियदर्शिका', 'रत्नावली', शूद्रकके 'मृच्छकटिक' आदि नाटकोंमे प्राकृतका प्रचुर प्रयोग हुआ है। इन संस्कृत नाटकोंमे प्राकृत भाषाका व्यवहार स्वाभाविक कहा जा सकता है, क्योंकि उनके कालमें प्राकृत लोकभाषाके रूपमें प्रतिष्ठित थी। नाटकका एक भेद सट्टक है, जिसमें स्त्री-पात्रोंकी प्रधानता होती है और पूर्ण रचना प्राकृतमें होती है। 'कर्पूरमंजरी', 'रम्भामंजरी', 'चन्दलेहा' (चन्द्रलेखा), 'शृंगारमंजरी', 'आनन्दसुन्दरी' आदि ऐसी ही रचनाएँ है। संकृत नाटकोंमें प्राकृत भाषाका प्रयोग एक शैली-रूपमें प्रचलित हो गया था, इसलिए प्राकृत जब लोकभाषा नहीं रह गयी तो भी संस्कृत नाटकोंमें कतिपय पात्रोंके द्वारा प्राकृत भाषाका प्रयोग कृत्रिम रूपमे कराया जाता था। प्राकृतके कृत्रिम प्रयोग सम्बन्धी कई ग्रन्थोंका उल्लेख मिलता है, किन्तु वे अभीतक उपलब्ध नहीं हो सके है।

प्राकृतमे ऐसे अनेक ग्रन्थ उपलब्ध है, जिनमें भारतीय भाषाओंके तुलनात्मक अध्ययनकी विशद सामग्री मिलती है। भाषा-शास्त्रके वैज्ञानिक अध्ययनमे इनका विशेष महत्त्व है। ५०० ई० पू०के लगभग जो राजनीतिक तथा धार्मिक उथल-पुथल प्राकृतके उद्भवका कारण हुई, वैसी ही ११०० ई०की उथल-पुथल आधुनिक आर्य भाषाओंके उद्भव और विकासका कारण बनी। भारतीय आर्य भाषाओंके विकासका सम्यक् ज्ञान प्राकृत भाषा और साहित्यके अध्ययनसे ही सम्भव हो सकता है। विविध प्राकृत भाषाओंका आधार लेकर ६०० ई०के लगभग अनेक अपभ्रंश भाषाओंका उद्भव हुआ और उन्हीं अपभ्रंशोंसे विकसित होकर आज अर्वाचीन आर्य-भाषाओका एक जाल-सा बिछ गया है।

लोकभाषा प्राकृतसे भाषाके साहित्यिक रूपोंका तथा साहित्यिक रूपोंसे पुनः लोकभाषाका विकास कैसे सम्भव होता है, यह हमें प्राकृत साहित्यके अध्ययनसे ज्ञात होता है। प्राकृतके कथा-साहित्य, सत्तसई-साहित्य आदिका प्रभाव संस्कृत तथा द्रविड भाषाओंपर तो पड़ा ही, साथ ही आधुनिक आर्य-भाषाओंपर उनका प्रभाव मिलता है। इस प्रकार हिन्दीके ऐतिहासिक विकास तथा काव्य-परम्पराओंकी पूरी जानकारी प्राकृत साहित्यके अध्ययनसे सम्भव है। हिन्दीका प्रेमाख्यानक काव्य तथा सतसई-साहित्य इसीसे अनुप्राणित है।

[सहायक ग्रन्थ—प्राकृत विमर्श : सरयूप्रसाद अग्रवाल।]

—स० प्र० अ०

प्राकृतवाद–प्राकृतवाद अंग्रेजी शब्द 'नेचुरलिज्म'का हिन्दी पर्याय है। प्रकृति सम्बन्धी काव्य अथवा साहित्यसे भिन्न अर्थमें प्राकृतवादका प्रयोग होता है। अन्य बहुतसे कला-आन्दोलनोंके समान प्राकृतवाद मुख्यतः फ्रान्समें विकसित हुआ। प्राकृतवादको व्यापक दृष्टिकोणसे ही एक निकाय कहा जा सकता है। इस दृष्टिकोणके अनुसार मानवीय मस्तिष्ककी समस्त प्रक्रियाएँ इन्द्रियजन्य है। फलतः प्राकृतवादी विचारधारामें अध्यात्मके लिए कोई स्थान नहीं रहता; जो कुछ है, सब इन्द्रियों द्वारा उद्भूत है। प्राकृतवाद एक प्रकारसे फ्रेंच यथार्थवादका ही विकसित रूप है।

प्राकृतवादका प्रमुख उन्नायक प्रसिद्ध फ्रेंच उपन्यासकार एमिली जोला (१८४०-१९०२ ई०)को माना जाता है। प्रस्तुत सन्दर्भमें इस शब्दका प्रथम प्रयोग भी जोलाने ही किया था (१८६८ ई०)। इसके बादसे प्राकृतवादको कलात्मक ईमानदारीका प्रतीक माना जाने लगा। प्राकृतवादी कलाकार अपनी समस्त अनुभूतियों तथा विश्वासोंको बिना किसी बन्धन तथा सामाजिक नियमोंको माने हुए स्वच्छन्द भावसे अभिव्यक्त करते थे। साहित्यके क्षेत्रमे प्राकृतवादी विचारधाराका विरोध भी बहुत हुआ। यह आन्दोलन प्रायः १८९० ई०तक तो चलता ही रहा, पर इसके बाद भी वह फ्रेंच कथा-साहित्यमे किसी-न-किसी रूपमे अभिव्यक्ति पाता रहा है। प्रसिद्ध आधुनिक फ्रेंच लेखक ज्यॉ पाल सार्त्रकी कृतियोंमें प्राकृतवादका प्रभाव स्पष्ट रूपसे देखा जा सकता है।

फ्रेंच प्राकृतवादके साथ-ही साथ यूरोपीय साहित्यमे जर्मन प्राकृतवादका भी विशिष्ट स्थान है। जर्मनीमे प्रायः १८८० ई०से इस विचारधाराका प्रभाव बढ़ना आरम्भ हुआ। वहाँ यह आन्दोलन मुख्यतः जोलाके समर्थन, विरोध अथवा व्याख्याको लेकर ही उदित हुआ। इसके उपरान्त परम्परागत जर्मन साहित्यके विरोधके रूपमे भी प्राकृतवादी विचारधाराका समर्थन किया गया।

हिन्दी साहित्यमें प्राकृतवाद किसी एक निश्चित तथा सुव्यवस्थित निकायके रूपमें कभी विकसित नहीं हुआ। प्राकृतवादी प्रवृत्तियाँ अवश्य ही कुछ आधुनिक लेखकोंमें मिलती हैं—विशेष रूपसे कथाकारोंमे। इलाचन्द्र जोशी, पाण्डेयबेचन शर्मा 'उग्र' तथा 'अज्ञेय'के नामोका उल्लेख इस प्रसंगमें किया जा सकता है। हिन्दीके प्रगतिवादी आन्दोलनके साथ भी कुछ प्राकृतवादी प्रवृत्तियाँ साहित्यमे दृष्टिगोचर हुई थी। नागार्जुनका उपन्यास 'रतिनाथकी चाची' इसी प्रकारकी कृति है। कविताके क्षेत्रमे 'बच्चन', 'अंचल' तथा नरेन्द्र शर्माके कृतित्वमें प्राकृतवादी प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ जाती है। 'बच्चन'की प्रसिद्ध कविता "कह रहा जग, वासनामय हो रहा उद्गार मेरा" प्राकृतवादका सक्षम समर्थन है।

यौन चित्रणोंका भरपूर उपयोग होनेके कारण प्राकृतवादके अन्तर्गत अश्लीलताकी सीमा निर्धारित करना कठिन है। हिन्दीमें प्राकृतवादी प्रवृत्ति भाषागत सीमाओंके

कारण शुद्ध रूपमें प्रायः गृहीत नहीं हो पाती। यह स्मरणीय है कि हिन्दीमें प्राकृतवाद विदेशी प्रभावके रूपमें अपेक्षाकृत कम आया है। वस्तुतः मध्यकालीन रीतिकाव्यके रूपमें तो हिन्दी प्राकृतवादकी परम्परा काफी प्राचीन सिद्ध होती है। —रा० स्व० च०

प्रागैतिहासिक युग (prehistoric age)–लिखित इतिहाससे पहलेके युगको प्रागैतिहासिक युग कहते हैं। समाजका लिखित इतिहास अपेक्षाकृत हालका ही है। उसके पहलेके इतिहासका अनुमान इमारती अवशेषोंसे करते हैं। इतिहास-पूर्वकी सामाजिक अवस्था वस्तुतः असभ्य और बर्बर है। इतिहास यथार्थ रूपमें सभ्य जातियोंका ही होता या हो सकता है, क्योंकि इतिहास परिवर्तनका प्रतीक है और परिवर्तन आदिम, असभ्य और बर्बर जातियोंमे नहींके बराबर होते है। पूर्व और नव-प्रस्तरयुग इसी प्रागैतिहासिक युगके काल-मान हैं। तबके मनुष्य पत्थर आदिके औजार-हथियार काममे लाते थे और ऐसा भी नही कि उनमें कला आदिकी प्रवृत्ति न रही हो। आखिर स्पेनके अल्तामाइरा, दक्षिण फ्रान्स और मिरजापुर आदिकी गुफाओंमें जो आदिम मनुष्यके बनाये चित्र मिले है, उनसे उनके कलात्मक प्रयासोंकी सूचना मिलती है। फिर खेतीका आरम्भ, उससे पहले अग्निकी खोज, पशुपालन, पहियेका निर्माण, चाकपर बर्तनोंका बनाना, हथियारोंकी मुट्ठियोंपर भॉति-भॉतिके चित्रण आदि भी आदिम मनुष्यकी कलात्मक प्रवृत्तिके परिचायक है। धार्मिक और नैतिक विचार भी उस युगमें रूपपर चले थे। फिर भी प्रमाणतः ऐतिहासिक युगसे प्रागैतिहासिक युगमें सभ्यताकी प्रगति कम हुई। इसका एक विशेष कारण यातायातके साधनों और फलतः जातियोंके सम्पर्ककी कमी थी। इनका विकास ऐतिहासिक युगमे हुआ, जब मानव सभ्यताकी काया पलट गयी। —भ० श० उ०

प्राणायाम–दे० 'हठयोग'।

प्राथमिक साम्यवाद–मार्क्सके अनुसार यह वह आर्थिक व्यवस्था है, जो "सभ्य और संस्कृत जातियोंके इतिहासके उषाकालमें प्राप्त होती है"। इसमे उत्पादन सामूहिक, श्रम-संयुक्त कृषि और घरेलू उद्योग-व्यवसाय रहते हैं, श्रम-विभाजन अवस्था और लिंग-भेदपर आधारित होना है। इस व्यवस्थाके विनाशका कारण व्यक्तिगत सम्पत्तिका उदय है। —रा० कृ० त्रि०

प्राप्त्याशा–रूपककी **पाँच अवस्थाओं**मेंसे तीसरी अवस्था। "उपायापायशंकाभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसम्भवः" (दश० : चौखम्भा, पृ० १५) अर्थात् जहाँ फलप्राप्तिकी सम्भावना तो हो, किन्तु उपाय और विघ्न, दोनोंकी आशंकाओंके कारण फलप्राप्तिका ऐकान्तिक निश्चय नही हो पाता है, वहाँ प्राप्त्याशा अवस्था होती है। 'ध्रुवस्वामिनी' नाटकके द्वितीय अंकमें प्राप्त्याशाका प्रसंग चलता है। शकराजके वधके पश्चात् ही फल प्राप्तिकी आशा उत्पन्न होती है। इस वधसे जो बल उसे प्राप्त हुआ है, उसीके आधारपर ध्रुवस्वामिनी अपने प्राप्यकी ओर अग्रसर हो सकी है। —व० सिं०

प्रायकी बीभत्स–दे० 'बीभत्स रस'।

प्रारंभिक घटना-प्रस्तावना (इण्ट्रोडक्शन) और आरम्भिक घटना (इनीशियल ऐक्शन)में अन्तर यह है कि प्रस्तावना नाटकके कार्य-व्यापारसे पृथक् तथा उसकी भूमिका है। नाटककी कथा-वस्तु वहाँ प्रारम्भ होती है, जहाँ प्रस्तावना समाप्त होती है। नाटकके प्रारम्भिक भागमें प्रथम अंककी समाप्तिसे पूर्व, अधिकतर प्रथम दृश्यमें ही नाटकीय कार्यका किसी मानसिक अथवा बाह्य घटना द्वारा आरम्भ होता है, जो कि नाटकीय संघर्षका सूत्रपात करता है। इसे आरम्भिक घटना कहते हैं। उदाहरणके लिए, शेक्सपीयरके 'रोमियो एण्ड जूलिएट'में जूलिएटके माता-पिताका अपनी पुत्रीका विवाह काउण्टी पेरिससे करनेका निश्चय नाटकीय संघर्षको जन्म देता है, अतः प्रारम्भिक घटना है। इसी प्रकार 'स्कन्दगुप्त' नाटकके प्रथम अंकमे अनन्तदेवी, पुरगुप्त और भटार्कके कुचक्रमें सम्राट्का निधन होता है। साथ ही साम्राज्यके परम हितैषी पृथ्वीसेन, महाप्रतिहार और दण्डनायक आत्महत्या कर लेते हैं। इन व्याघातोंका कर्तव्योन्मुख स्कन्दगुप्तकी चेष्टाओंपर प्रतिकूल प्रभाव पडता है। वह महान् उद्देश्यकी पूर्तिके निमित्त अग्रसर होकर मालव-रक्षामे संलग्न होता है। लक्ष्य-प्राप्तिके साधनका भी यहींसे आरम्भ हो जाता है। अतः इसे प्रारम्भिक घटना समझना चाहिये।

यदि नाटकमें दो या दोसे अधिक कथाएँ हो तो उनमेंसे प्रत्येककी एक प्रारम्भिक घटना होगी। ये प्रारम्भिक घटनाएँ नाटकके एक ही स्थलपर भी घटित हो सकती हैं तथा अलग-अलग स्थलोंपर भी। उदाहरणके लिए, 'मर्चेण्ट ऑव वेनिस'के प्रथम अंकमें मुख्य कथाओंकी प्रारम्भिक घटनाएँ लगभग एक ही समयपर प्रारम्भ होती है, जब कि प्रासंगिक घटना-चक्रकी प्रारम्भिक घटना तीसरे अंकके दूसरे दृश्यमें जाकर मिलती है। —श्या० मो० श्री०

प्रार्थनागीत–दे० 'स्तुतिगीत', 'भजन'।

प्रासंगिक वक्रता–दे० 'प्रकरणवक्रता', पाँचवाँ नियामक।

प्रासंगिक वस्तु–दृश्यकाव्यमें नायक या अधिकारीकी दृष्टिसे वस्तुके दो भेद किये गये है—**आधिकारिक** और **प्रासंगिक**। अधिकारीसे सम्बन्ध रखनेवाली कथा मूल कथा होती है, पर इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी गौण कथाएँ भी आती हैं, जो विशेष प्रसंगोंमें **आधिकारिक कथा**की सहायता करती है, अतः इन्हें **प्रासंगिक** कथा कहते हैं। दशरूपककारने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—"प्रासंगिक-परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसंगतः" (दश०, १ : १३की प्रथम पंक्ति), अर्थात् जो कथा दूसरे (आधिकारिक)के प्रयोजनके लिए होती है, किन्तु प्रसंगसे जिसका स्वयंका फल भी सिद्ध होता है, वह प्रासगिक कथा है। प्रासंगिक कथाका मुख्य प्रयोजन आधिकारिक वृत्तकी फलनिर्वहणतामें सहायता पहुँचाना है, किन्तु प्रसंगतः उसका स्वयंका भी फल होता है। उदाहरणार्थ, सुग्रीवकथाका प्रयोजन बालिवध और राज्यलाभ है तथा विभीषणकथाका ध्येय लंकाकी राज्यप्राप्ति है। 'प्रसाद'के 'अजातशत्रु'में उदयन और प्रसेनजित्के कथानक प्रासंगिक कथाएँ है।

प्रासंगिक वस्तुके प्रसंगमे सबसे अधिक ध्यान देनेकी बात यह है कि इनकी नियोजना इस प्रकार होनी चाहिये

कि वे आधिकारिक वस्तुके अनिवार्य अंग बनकर उसे गति प्रदान करें। आधिकारिक वस्तु अंगी हो, प्रासंगिक अंग। इस अंगांगिभावमें वक्रगतिसे चलते हुए कथानकको एक लय मिलती है। —ब० सि०

प्रिया छंद–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद; सगण और लघु-गुरुके योगसे इस वृत्तका चरण बनता है (IIS, IS)। इस छन्दका प्रयोग केवल केशवने किया है। भानुने इसका रति नाम दिया है। केशवका उदाहरण है—"सुख कन्द है, रघुनन्द जू। जग यों कहै, जगबन्द जू" (रा० चं०, १ : १३)। —पु० शु०

प्रेंखण–इसमें एक अंक, गर्भ और विमर्श सन्धियोंका निर्वाह, विष्कम्भक, प्रवेशक, सूत्रधारका अभाव, नायकहीन पुरुष होता है। नान्दी और प्ररोचना नेपथ्यसे पढ़ी जाती है। अभिनयमें युद्ध और सम्फेट रहता है। सभी वृत्तियोंका प्रयोग मिलता है। उदा०—'बालिवध'। —वि० रा०

प्रेमगर्विता–दे० 'गर्विता', नायिका।

प्रेमगीति–दे० 'भावगीति'।

प्रेममार्गी–प्रेममार्गी शब्दका प्रयोग सूफी साधकों अथवा कवियोंने नहीं किया है। हिन्दी साहित्यके इतिहास लिखनेवालोंने इस शब्दका प्रयोग सूफी साधकों और कवियोंके लिए किया है। सूफी साधक प्रेमको अपनी साधनामें बहुत बड़ा स्थान देते हैं। उनके मतमें प्रेमका अस्तित्व साधनाके प्रारम्भमें तो रहता ही है, उसकी परिणति भी प्रेममें ही होती है। परम प्रियतम परमात्माको प्रेम द्वारा पाना सूफी साधनाका अंग-विशेष है।

सूफियोंका विश्वास है कि भगवत्कृपासे ही साधकके हृदयमें प्रेम उत्पन्न होता है। परमात्मा जिससे स्वयं प्रेम करता है, उसीके हृदयमें प्रेम होता है। सूफी साधक बायजीद बिस्तामीका कहना है कि "मैं समझता था कि मैं परमात्मासे प्रेम करता हूँ, लेकिन गौर करनेपर मैंने देखा कि मेरे प्रेम करनेके पहलेसे ही वह मुझसे प्रेम करता है"। सूफियोंका विश्वास है कि इस प्रेमको पाकर प्रेमी और प्रियतम, दोनों सन्तुष्ट होते हैं। प्रेमके द्वारा जब प्रेमीके सारे अन्तर्द्वन्द्वों, सभी वासनाओंका अन्त हो जाता है तब वह आगे बढ़ता है और उसे परमात्माके दर्शन होते हैं। —रा० पू० ति०

प्रेमलक्षणा भक्ति–जिस भक्तिमें प्रेम अथवा रागकी प्रधानता होती है, उसे प्रेमलक्षणा भक्ति कहते हैं। पुष्टिमार्गीय भक्ति इसी कोटिकी है (विस्तारके लिए दे० 'पुष्टिमार्ग')। भागवत सम्प्रदायोंमें प्रेमलक्षणा भक्तिका अत्यन्त महत्त्व है। वल्लभाचार्यके पुष्टिमार्गमें गोपी-प्रेमको प्रेमलक्षणा भक्तिका आदर्श माना गया है। 'नारदीय भक्तिसूत्र'में प्रेमरूपा भक्तिका उदाहरण देते हुए ब्रज-गोपिकाओंके प्रेमको प्रस्तुत किया गया है 'यथा व्रजगोपिकानाम्', 'श्रीमद्भागवत'में व्यासने स्वयं श्रीकृष्णके मुखसे कहलाया है कि "हे गोपिकाओं, तुमने गृहस्थाश्रमकी शृंखलाओंको तोड़कर जो मेरा भजन किया है, इसके लिए मैं तुम्हारे उपकारका बदला नहीं चुका सकता" (१०।३२।२२) गोपी-प्रेमकी विविध दशाओंके लिए देखिये 'श्रीमद्भागवत' १०।४४।४५, १०।४७।५८, ६०-६१, १०।४६-४-६। गोपियोंकी तीन श्रेणियाँ हैं—(१) कुमारिका, जो कात्यायन व्रतादि द्वारा परम सेव्य श्रीकृष्णकी पतिके रूपमें कामना करती हैं; (२) गोपांगना, जो लोक और शास्त्राचारकी अवहेलना कर एकान्तभावसे श्रीकृष्णके प्रेममें व्याकुल रहती हैं; (३) व्रजांगना, जो वात्सल्यभावसे श्रीकृष्णके प्रति प्रेम धारण करती है। गोपी-प्रेममें श्रीकृष्णके माहात्म्य और प्रभावका ज्ञान, उनके प्रति व्याकुलताका भाव, सर्वस्व-समर्पण और उनके सुखमें सुखी रहनेकी इच्छा मुख्य है (ना० भ० सू०, १५-२४)। पुष्टिमार्गीय प्रेमलक्षणा भक्तिमें जाति (स्त्री-पुरुष) वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र), देश आदिका भेद-भाव नहीं है (हरिरायकृत प्र० र०, पृ० १८ : २४)। इस मार्गमें भगवान् अपने शरणागतको अनुग्रह-मात्रसे प्रपंचमुक्त कर देते है (ब्र० सू०, ३।३।२९का अणुभाष्य)।

वल्लभ-सम्प्रदायी सूर तथा अन्य अष्टछापके कवियों तथा अन्य भागवत कवियों—विद्यापति आदिमें गोपी-प्रेमकी विविध दशाओंके प्रचुर उदाहरण मिलते हैं (सू० सा०, नन्ददासकृत 'रासपंचाध्यायी' और 'भँवरगीत', 'अष्टछाप-पदावली', 'अष्टछाप परिचय', विद्यापतिकी 'पदावली')। सूफी कवियों—जायसी, मंझन आदि और निर्गुण भक्तोंमें भी प्रेमकी प्रचुर पीर प्रज्वलित हुई। हिन्दीके प्रथम निर्गुण भक्त कवि नामदेवमें यह पीर सर्वप्रथम व्यक्त हुई है। तत्पश्चात् कबीर, दादू, सुन्दरदास, रैदास आदि सभी अपने रामके लिए व्याकुल है। —वि० मो० श०

प्रेमाख्यान काव्य–प्रेम-कथानकोंका आधार लेकर काव्यकी रचनाकी परम्परा इस देशमें बहुत पुरानी है। पहलेके बहुतसे इस प्रकारके काव्योंका परिचय मिलता है, जैसे 'रत्नावली', 'पद्मावती', 'लीलावती' आदि। लोकप्रचलित कथाएँ ही सम्भवतः इन काव्योंका आधार रही है। इन कहानियोंके नायक ऐतिहासिक पुरुष भी हो सकते थे, वैसे इन कहानियोंमें ऐतिहासिकता होना जरूरी नहीं था। कल्पनाका सहारा लेकर उन प्रेमकहानियोंको मांसल बनाया जाता था। ऐतिहासिक राजाओंमें उदयन, शूद्रक, विक्रमादित्य आदिके नामसे बहुत-सी कल्पित प्रेमकहानियाँ प्रचलित है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा नाना प्रादेशिक भाषाओंमें इस तरहकी कहानियाँ वर्तमान है। ऐतिहासिक पुरुषोंको छोड़कर कल्पित नायकोंके नामसे भी प्रेमकथाएँ प्रचलित है, जो अत्यन्त लोकप्रिय है। इनमें 'माधवानल-कामकन्दला', 'हीर-राँझा', 'सारंगा-सदावृज', 'ढोला-मारवणी' आदिका उल्लेख किया जा सकता है।

इन प्रेमकहानियोंमें प्रेमी और प्रेमिकाके उत्कट प्रेम, उनके मिलनके मार्गकी बाधाएँ, मिलनके लिए नाना प्रकार-के प्रयत्न तथा अन्तमें उनके मिलनका वर्णन बड़े रोचक ढंगसे होता है। इन लौकिक प्रेमकहानियोंका उपयोग सूफी कवियोंने भी किया है। सूफी कवियोंने इन कहानियों द्वारा अपने मतका प्रचार किया है। ईसवी सन्‌की सोलहवीं शताब्दीसे इन प्रेमाख्यानोंमें प्रतीकात्मकताका समावेश हुआ, जो सूफी कवियोंकी देन है। सूफी काव्यमें प्रतीकोंका सहारा लिया गया है। इन सूफियोंके अतिरिक्त अन्य सन्तोंने भी प्रेमकथानकोंको अपनाया। सूफी साधकोंकी

तरह उन्होंने भी अपने सिद्धान्तोंका प्रचार इन कथानकोंके सहारे किया। —रा० पू० ति०

प्रेमाश्रयी शाखा–भक्तिकालकी निर्गुण शाखाके उन भक्त-कवियोकी रचनाओंको, जिन्होने परमात्माको पानेके लिए प्रेमको साधन माना है, प्रेमाश्रयी शाखाके अन्तर्गत रखा जाता है। इस शाखाके प्रमुख कवि सूफी साधक थे। सूफी परमात्माको प्रेम-स्वरूप मानते है और उसे प्रेम द्वारा ही पानेकी बात कहते है।

इस शाखाके सबसे अधिक ख्यात कवि मलिक मुहम्मद जायसी है। इनका 'पद्मावत' इस शाखाकी प्रतिनिधि रचना कही जा सकती है। जायसी ईसवी सन्‌की सोलहवी शताब्दीमे वर्तमान थे, वैसे ईसवी चौदहवी शताब्दीसे ही इस प्रकारकी रचनाओके लिखे जानेका पता चलता है। मुल्ला दाऊदका 'चन्दायन' सन् १३७० ई०की रचना है और सम्भवतः इस शाखाका यह प्रथम काव्य है। इस शाखाके अन्य कवियो तथा रचनाओमें निम्नलिखित उल्लेखयोग्य है—कुतुबन (ईसवी सन्‌की पन्द्रहवी शताब्दीका अन्त तथा सोलहवीका प्रथम भाग)की 'मृगावती', मंझनकी 'मधुमालती' (रचनाकाल सन् १५४५ ई०के लगभग), उसमानकी 'चित्रावली' (रचनाकाल सन् १६१३ ई०), जान कवि (ईसवी सन्‌की सत्रहवी शताब्दी)की 'कनकावती', 'मधुकरमालती' आदि, कासिमशाह (ईसवी सन्‌की अट्ठारहवी शताब्दी)की पुस्तक 'हंस जवाहर' तथा नूरमुहम्मदकी 'इन्द्रावती' (रचनाकाल सन् १७४४ ई०)।

सूफी साधकोके भारतवर्षमें आनेका पता ईसवी सन्‌की ग्यारहवी शताब्दीमे ही चलता है, लेकिन बारहवी शताब्दीमे सूफी सम्प्रदायोंका प्रवेश हुआ। तेरहवी और चौदहवी शताब्दीमें सूफी साधको तथा सूफी सम्प्रदायोंका पूरा जोर रहा। ये सूफी साधक अत्यधिक उदार थे तथा इनकी करामातोंकी कहानियाँ खूब प्रचलित थी, इसलिए जनतामें इनका प्रभाव व्यापक रूपसे पडा। इस देशकी जनतासे घनिष्ठ सम्पर्क होनेके कारण इन सूफी साधकोंने यहाँकी प्रचलित कहानियोको लेकर काव्यकी रचना की। इन कहानियोंके सहारे उन्होंने परोक्ष सत्ताके प्रति प्रेमका वर्णन किया है। सूफी काव्य अत्यन्त हृदयग्राही है।

इस कालकी रचनाएँ प्रायः तद्भव शब्दावली-प्रधान अवधीमें है और दोहा-चौपाईकी प्रबन्ध-परम्परामे होते हुए भी फारसीकी मसनवी-शैलीमें लिखी गयी है। इन सूफी प्रेमाख्यानक-काव्योंकी कथाएँ आध्यात्मिकताको लिये हुए है। उनमे योगियोंका प्रभाव भी स्पष्ट दिखाई देता है। लगभग सभी कथाओमे नायक योगी होकर घरसे निकल पड़े है और अन्ततः योग-साधनासे ही उन्होंने सिद्धि प्राप्त की है। जनतामें बहुचर्चित गोरखनाथ, गोपीनाथ तथा भर्तृहरिके उल्लेख इन रचनाओमे प्रायः मिलते है।

यह एक विचित्र तथ्य है कि बहुप्रचलित लोक-कहानियोंको काव्यका वर्ण्य विषय बनानेपर भी यह साहित्यधारा जनतामें अधिक लोकप्रिय नहीं हुई। कुछ इतिहासकारोंने इस स्थितिके कारण इन तथ्योंमे देखे है—(क) इन सूफी कवियोकी रचनाओंकी मूल प्रतियाँ प्रायः फारसी लिपिमे है, (ख) इन काव्योंके रचयिताओंका दृष्टिकोण प्रचारात्मक भी था, (ग) सूफी कवियोंका मुख्य प्रेरणा-स्रोत फारसी-साहित्य था, (घ) अध्यात्मके क्षेत्रमें इस शाखाके कवियोने ब्रह्मके निर्गुण स्वरूपका चित्रण किया था। इन्हीं कारणोंसे ठेठ अवधीमे अत्यन्त लोकप्रिय ढंगसे प्रस्तुत की जानेपर भी सूफियोंकी ये प्रेम-कथाएँ जनतामे अधिक प्रचलित न हो सकी (दे० 'सूफी आख्यान-काव्य')।

[सहायक ग्रन्थ—सूफीमत और हिन्दी साहित्य : विमलकुमार जैन।] —रा० पू० ति०

प्रेयस (प्रेय)–दे० 'रसवत्' आदि।

प्रेरण–उपरूपकका एक भेद विशेष। रामाक्रीड(दे०)के साथ इसका भी उल्लेख सर्वप्रथम अभिनव भारतीमे ही हुआ है। प्रहेलिकाओसे युक्त हास्यप्राय उपरूपकको प्रेरण कहा जाता है। —यो० प्र० सि०

प्रेषणीयता–वह प्रक्रिया, जिसके द्वारा कोई लेखक या विचारक अपनी भावनाएँ या विचार पाठकोतक पहुँचाता है, प्रेषण (कम्युनिकेशन) कहलाती है। लिखित या अभिव्यक्त अनुभूतिकी वे विशेषताएँ, जिनके द्वारा प्रेषण सम्भव होता है, उस अनुभूतिकी प्रेषणीयताका आधार होती है। प्रेषणका व्यापार बडा जटिल है, उसमे स्वभावतः कठिनाइयाँ होती है। लेखक किसी चीजको अपने विशिष्ट दृष्टिकोण एवं ढगसे देखता है। लेखक होनेके नाते उसकी समस्या यह होती है कि वह अपने पाठकोंको ठीक उसी दृष्टिकोण और ढंगसे देखनेकी प्रेरणा दे। ऐसा करनेमे सफल होकर ही लेखक पाठकोंमें वह रागात्मक स्पन्दन, जिसका उसे अनुभव हो रहा है, पैदा कर सकता है। प्राचीन साहित्य-शास्त्रमें एक विशेष रागात्मक स्पन्दनके उन्मेषकी क्रियाको रसानुभूतिकी स्थिति कहा गया है। इस स्थितिको पैदा करनेके लिए साहित्यकार उपयुक्त विभावों, अनुभावों आदिकी योजना करता है। इसका मतलब यह हुआ कि साहित्यकार उन वस्तु-रूपोंके विशिष्ट चित्र उपस्थित करता है, जो उसे सार्थक लगे है, वे चित्र पाठकोमे स्वभावतः सम्बद्ध भावनाओंको उत्पन्न करते है। इस प्रकार भावनाओंका प्रेषण एवं रसपरिपाक सम्भव होता है। इसका एकमात्र कारण यही होता है कि लेखककी अन्तःप्रकृति एवं पाठकोंकी अन्तःप्रकृतिमे तात्त्विक समानता है।

वस्तुओं तथा स्थितियोंमें अनेक विशेषताएँ होती है। एक खास अनुभवकी एक खास स्थितिमे लेखक और उसके साथ पाठक वस्तु-स्थितिके खास धर्मोंको ही देखते है, ये खास धर्म मनुष्यकी विशिष्ट भावनाओंसे सम्बन्धित रहते है। साहित्य-शास्त्रमे विशिष्ट भावना-पुञ्जोंको विभिन्न स्थायी भावोसे सम्बद्ध किया गया है। उदाहरणके लिए, रति नामक स्थायी भावका सम्बन्ध मानवीय भावनाओंके एक खास समूहसे है।

लेखक प्रेषण-क्रियामें असफल होता है, जब उसके देखनेका ढंग इतना व्यक्तिगत हो जाता है कि उसका सम्बन्ध मूल अन्तःप्रकृतिसे नही जुड पाता। ऐसा तब होता है, जब लेखक स्थिति-विशेषको केवल बौद्धिक धरातलपर एक निराले, असाधारण ढंगसे देखता है। बड़े लेखक अपनी असाधारण प्रतीतियोंको भी कुछ इस प्रकार मानव-प्रकृतिकी गहराइयोंसे सम्बन्धित कर लेते है कि वे पाठकोंके

लिए संवेद्य बन जाती है। इसके विपरीत मामूली लेखकोंकी आसाधरण प्रतीतियाँ केवल हलका चमत्कार उत्पन्न करके रह जाती है।

प्रेषणमें एक दूसरे कारणसे भी बाधा पड़ सकती है, विशेषतः चिन्तनके क्षेत्रमें। जब लेखक और पाठकके बौद्धिक धरातलों अथवा उनके विचारोंकी पृष्ठभूमिमें अधिक दूरी होती है तो वे एक दूसरेको समझना कठिन पाते है। जीवन-मूल्योंके क्षेत्रमें लेखक और पाठकोंकी सांस्कृतिक दूरी भी प्रेरणमे बाधक बन सकती है। किन्तु सांस्कृतिक दूरीके बावजूद यदि हम विदेशी साहित्यकारोंकी कृतियोंमें रस ले सकते है तो इसका कारण वही है, जिसका ऊपर संकेत किया गया है—साहित्यकारोंकी प्रतीतियोका मनुष्यकी मूल अन्तःप्रकृतिमे अनुस्यूत होना। —दे०

प्रोषित नायक–दे० 'नायक', शृंगार।

प्रोषितपतिका (नायिका)–अवस्थानुसार नायिकाओंके विभाजनका एक भेद; विशेषके लिए देखे—'नायिका-भेद'। भरतने 'प्रोषितभर्तृका'के नामसे उल्लेख किया है। प्रोषितका अर्थ है विदेश गया हुआ। भानुदत्तके अनुसार—"देशान्तरगते प्रेयसि सन्तापव्याकुला प्रोषितभर्तृका" (र० मं०, ९०), अर्थात् पति अथवा प्रियके विदेश चले जानेपर दुःखित नायिका। नायिकाकी इस अवस्थाके अन्तर्गत स्वकीयाके मुग्धादिक भेद, परकीया तथा सामान्याको स्वीकार किया गया है। मतिरामने इसकी परिभाषा दी है—"जाको पिय परदेशमें बिरह बिकल तिय होय" (र० रा०, १११)। मुग्धा अपनी वियोगवेदनाको छिपाना चाहती है—"आँसू सकै मोचि न सकोच बस आलिनके उलही बिरह बेलि दुलही दुरावै है" (पद्मा० : ज० वि०, १ : १४५)। मध्या अपनी विरहव्यथाकी अभिव्यक्ति सलज्ज भावसे करती है—"इक मीन बिचारो बिध्यो बनसी पुनि जालके जाइ दुमाले पर्‍यौ। मन तो मनमोहनके सँग गो तन लाज मनोजके पाले पर्‍यौ" (वही, १ : १४८)। विरहका संवेदनात्मक वर्णन रसलीनने किया है—"तिय उसाँस पिय बिरहतें उससि अधर लौं आइ। कछु बाहर निकसति कछुक भीतरको फिरि जाइ।' (ब्र० भा० ना०, २ : ५६३)। प्रौढाकी पीड़ा अधिक उद्वेगपूर्ण है—"कासों कहों सन्देसुवा पिय परदेसु। लगेहु चइत नहि फूले तेहि बन टेसु" (र० : ब० : ३८)। यह नायिका विरह-निवेदनमे अधिक मुखर होती है—"कैसें धरौं धीर बीर त्रिबिध समीर तब, तरजि गयी तो फेरि तरजन लागी री। घुँमड़ि घमण्ड घटा घनकी घनेरी आवै, गरजि गयी तो फेरि गरजन लागी री" (ब्र० भा० ना०, २ : ५८३ पद्मा०)। परकीयाकी वियोगपीडामें मार्मिक उद्वेग तथा क्लेश है—"घनआनँद जीवन दायक हौ कछु मेरियौ पीर हिएँ परसौ। कबहूँ वा बिसासी सुजानके आँगन मो अँसुअँनहि लै बरसौ" (सु० सा०, १३१)। सामान्याको शृंगार करना है, पर वह क्लेशप्रद है—"आली सिंगारति है हठसौ पर लागत अंग सिंगार अँगारौ" (मतिराम : र० रा०, १२०)।

प्रोषितपतिकाका बहुत विस्तृत और भावमय वर्णन हिन्दी साहित्यमें मिलता है। शृंगारमें वियोग-पक्षको संवेदनशीलताकी दृष्टिसे अधिक महत्त्व मिला है। इसके अन्तर्गत वर्णनोंमें भावात्मक विस्तार अधिक है और वेदनाके माध्यमसे प्रेमको गरिमा भी प्राप्त हो सकी है। बंगला कवि चण्डीदासकी राधा वियोगिनीके रूपमें अत्यधिक भावविह्वल हैं; यद्यपि विद्यापतिकी राधामे शारीरिक उद्वेग अधिक है, फिर भी वियोगिनीके रूपमें वे पीडाका अनन्त ज्वार सहन कर रही है। सूरकी राधा तथा गोपियाँ वियोगकी स्थितिमें भावविह्वल है। उनकी मनोदशाका बहुत कोमल और सूक्ष्म-चित्रण कविने किया है। कबीरने भी विरहिणीके रूपमें अपनी पीडा और क्लेशका मार्मिक अंकन किया है। जायसी और उनके साथके अन्य प्रेमी सूफी कवियोंने नायिकाके विरहका, विशेषकर बारहमासा प्रसंगमे, भावपूर्ण और संवेदक चित्रण किया है। रीतिकालके कवियोने प्रोषितपतिकाका विस्तारसे वर्णन किया है। वियोगकी वेदना, क्लेश, उद्वेग, पीड़ा तथा व्यथाका उक्ति वैचित्र्यपूर्ण चित्रण किया गया है। ऋतुओंके उद्दीपक रूपका उपयोग इन वर्णनोमे सुन्दर रूपमे किया जा सका है। सेनापतिने ऋतुओंके साथ वियोगका अंकन भावपूर्ण किया है। घनानन्द, आलम, रसखान, ठाकुर तथा बोधा जैसे मुक्त प्रेमी कवियोंने वियोगजन्य भावस्थितियोंका सुन्दर व्यंजना-पूर्ण अंकन किया है। घनानन्दकी व्यंजना अधिक लाक्षणिक है। हरिश्चन्द्रने भक्ति तथा रीति-परम्पराओंका समन्वय करते हुए प्रेमके वियोग-पक्षमें नायिकाकी इस स्थितिका भावाकुल चित्रण किया है। वर्तमान छायावादी कवियोंमें वियोग-वर्णनके साथ विरहिणीके विरह-निवेदनका सूक्ष्म तथा रहस्यपरक चित्रण है, यद्यपि इनकी रहस्यात्मकता केवल आलम्बनके अशरीरी होने तथा भावोके सूक्ष्म चित्रणतक सीमित है। —र०

प्रौढ़ा (नायिका)–इसके लिए दूसरा प्रचलित शब्द 'प्रगल्भा' है। संस्कृतमें रुद्रटसे लेकर भानुदत्ततकने इसके लिए इसी शब्दका प्रयोग किया है, विद्यानाथ तथा आगेके आचार्योंने प्रौढ शब्दका प्रयोग किया है। हिन्दीमें इसी शब्दका प्रयोग प्रायः किया गया है। प्रगल्भका अर्थ है विश्वस्त, साहसी, वाक्‌चतुर, पूर्ण विकसित, चतुर और इसीलिए इस सन्दर्भमे साहसिक तथा चतुर नारीका भाव है। भानुदत्तने इसे 'केलिकलाकलापकोविदा' कहा है। प्रौढाका अर्थ भी पूर्ण विकसित, मानी, अवस्थाप्राप्त तथा शक्तिशाली आदि है, जो पहलेके निकट है। मतिरामने परिभाषा इस प्रकार दी है—"निज पतिसौं रति-केलिकी सकल कलानि प्रवीन" (र० रा०, ३३)। यहाँ 'निज पति' भानुदत्तका 'पतिमात्र' है। देवने 'मति गति रति पतिसों' कहा है, पर पद्माकर आदिने 'ललित लाज'का भी उल्लेख किया है। इस प्रकार लज्जा कम, काम अधिक और रतिकलामें जो परम प्रवीण हो, ऐसी नायिका प्रौढा मानी जायगी। इस नायिकाके वर्णनमें कवियोंने रतिविलासका संकेतपूर्ण और व्यंजक चित्र अंकित किया है—"होत प्रभात चल्यो चहै प्रीतम सुन्दरिके हियमें दुख भारे। चन्द सो आनन दीप-सी दीपति स्याम सरोजसे नैन निहारे" (मतिराम : वही, ३४), परन्तु रीतिकालीन काव्यमें बाह्य रतिक्रीडाका वर्णन भी इस सन्दर्भमें हुआ है। भक्त-कवियोंमें विशेष रूपसे विद्यापति, सूर तथा जायसीने नायिकाके इस

रूपका भी चित्रण किया है।

इसके भेदविस्तारके लिए देखें 'नायिका-भेद'। अधिक प्रचलित भेदोंमें **रतिप्रीता** है, जिसे रतिप्रीतिमती भी कहा गया है। भानुने इसे रतिमें अत्यन्त प्रीति करनेवाली माना है और मीनलके अनुसार "पतिके साथ रतिकेलिमें अत्यन्त रुचि' लेनेवाली होती है। उदा०—"करति केलि पिय हिय लगी कोककलनि अवरेखि। विमुद कुमुद लौं ह्वै रही चन्द मन्ददुति देखि" (पद्मा० : जगद्वि०, भा० : १ : ५०)। **आनन्दसम्मोहिता**—जो नायिका अपने पतिके रतिसुखमें निमग्न हो जाय (मीनल)। उदा०—"भई मगन यों नागरी सुरुहि सुरति आनन्द। अँग अँगोहि भूषन वसन पहिरावत नँदनन्द"(वही : ५३)। **समस्तरसकोविदा**—केशव द्वारा उल्लिखित; देवने रतिकोविदा नाम दिया है। विश्वनाथने इस विभाजनको स्वीकार किया है। 'जो रस भावै प्रीतमहि ताही रसकी दानि' (केशव : र० प्रि०, ३ : ५१)। देवने केशवकी अपेक्षा भावपूर्ण चित्र अंकित किया है—"छेदि काछ-की कानि सों गुन पतिको मन मानिक पोहै' (भा० वि० : नायिका०)। **विचित्रविभ्रमा**—केशवके इस भेदको देवने सविभ्रमा कहा है, सम्भवतः यह विश्वनाथकी भावोन्नता है। केशवके अनुसार जिसकी 'दीपति दूतिका' उसको अपने प्रिय से मिलाती है। अर्थात् यह नायिका अपने सौन्दर्यसे नायकको आकर्षित कर लेती है—"ह्वै गति मन्द मनोहर केसव आनँदकन्द हिये उलहे है। भौह बिलासनि कोमल हासनि अंग सुबासनि गाढे गहे है" (वही, ५४)। **आक्रमित**—केशवके इस भेदको देवने आक्रान्ता कहा है। केशवके अनुसार यह नायिका मनसा-वाचा-कर्मणा 'बस्स कीनो मित्त' होती है। इस भेदमें नायककी स्थितिका अधिक बोध होता है—'तो हित गाइ बजावत नाचत वार अनेक सिंगार बनायो' (वही : ५६)। देवने भी नायक द्वारा श्रृंगारका वर्णन किया है। रीतिकाव्यमें इस प्रकारके चित्रण बहुत हुए हैं, पर विद्यापति तथा सूरमें भी ऐसे स्थल हैं। **लब्धापति**—लब्धापति भी। केशवके अनुसार—"कानि करै पति कुल सबै प्रभुता प्रभुहि समान" (वही, ५७)। इस नायिकाका पतिपर पूरा प्रभुत्व होता है; यह भेद भी नायककी स्थितिमें सम्बद्ध है। उदा०—"स्यामके सग सदा हम डोलैं जहाँ पिक बोलैं अलीगन गुंजै"। —र०

प्रौढ़ोक्ति—गम्यौपम्याश्रय वर्गका अर्थालंकार। सम्भवतः जयदेवने प्रथम बार प्रौढ़ोक्तिको स्वतन्त्र स्थान दिया। इनका अनुकरण 'कुवलयानन्द'के लेखक अप्पय दीक्षित और फिर 'रसगंगाधर'के लेखक जगन्नाथने किया। लेखकोंने इस अलंकारकी गणना अभेद-प्रधान वर्गके अन्तर्गत सम्बन्धातिशयोक्तिमें की है। 'रसगंगाधर'में अतिशयोक्तिके सम्बन्धमें कहा है कि 'अतिशयः'का अर्थ है 'निगरणम्'। इस मूलार्थके विचारसे प्रौढ़ोक्ति भिन्न हुई। प्रौढ़ोक्तिमें किसी उत्कर्षका होना आवश्यक है चाहे वह कृत्रिम हो अथवा काल्पनिक, और इस उत्कर्षका कारण किसी ऐसी वस्तुको बताया जाय, जो वास्तवमें असमर्थ है। अतएव जयदेवने सम्बन्धातिशयोक्तिका लक्षण पृथक् एवं प्रौढ़ोक्तिका पृथक् किया है। उनके अनुसार—"प्रौढोक्तिस्तदशक्तस्य तच्छक्तत्वाऽवकल्पनम्" (चन्द्रालोक, ५ : ४७), अर्थात् किसी एक कार्यके अयोग्य पदार्थको उसके योग्य कह देना ही प्रौढ़ोक्ति है। उन्होंने ही इसका एक सुन्दर उदाहरण भी दिया है—"कलिन्दजातीररुहाः श्यामलाः सरलद्रुमाः," अर्थात् यमुनाके तीरपर होनेसे सरल नामक वृक्ष नीले हैं, पर यमुनाके तीरमें यह सामर्थ नहीं है कि वह वृक्षोंको नीला कर दे। हिन्दीमें प्रायः आचार्योंने 'कुवलयानन्द'के आधारपर इसका लक्षण दिया है—"जो अहेतु उत्कर्षको ताहि बखानत हेत" (ल० ल०, २९४)। उदा०—"गग नीर बिधु-रुचि झलक, मृदु मुसकानि उदोति। कनक भौनके दीप लौं, जगमगाति तन जोति" (वही, २९५)। यहाँ तन-ज्योतिके उत्कर्षका जो कारण नहीं है, उसे ही कारण कहा गया है। —ज० कि० व०

प्लवंगम - मात्रिक सम छन्दका एक भेद। 'प्राकृतपैंगलम्'-के अनुसार इसके प्रत्येक चरणमें २१ मात्राएँ और अन्तमें ल ग (ıs) माना गया है (१ : १८६)। भिखारीदासने प्लवंगका जो उदाहरण दिया है, वह इसके समान है—"एक कोऊ मलयागिर खोदि बहावती"(छन्दो०, पृ० २८)। इसके अन्तमें जगण तथा गुरु (ısıs) भी है। भानुके अनुसार इस छन्दमें ८, १३पर यति आदि ग (s) तथा अन्तमें ज ग (ısıs) रहता है (छं० प्र०, पृ० ५५)। इस छन्दका प्रयोग हिन्दीमें सुन्दर तथा सूदनने किया है। सूदनने 'सुजानचरित'में यतिको ११, १०पर माना है और ज गका प्रयोग भी विकल्पसे स्वीकार किया है। उदा०—"पावन हरि जन संग सदन मान दीजिये" (छं० प्र०, पृ० ५५)। —सं०

प्लाट—दे० 'कथावस्तु'।

फना—'फना'का अर्थ लय हो जाना है। इस शब्दकी नाना प्रकारसे व्याख्या की गयी है। सूफी साधकोंमें इस शब्दको लेकर पूरा मतभेद है। वैसे साधारणतः 'फना'से यह समझा जाता है कि साधक सतत चेष्टाके द्वारा अपने आपको मिटाकर परमात्मामें लय हो जाता है। वह स्व-ज्ञानसे परे हो जाता है। आत्मा जब परमात्माके अनन्त सौन्दर्यको प्रत्यक्ष करती है तब वह इन्द्रियजनित विषयोंसे परे हो जाती है तथा प्राणिजगत् सम्बन्धी उसके समस्त ज्ञान तिरोहित हो जाते हैं। सूफी मार्गपर अग्रसर होता हुआ जब साधक अपनी समस्त वासनाओंको मिटाकर सभी इच्छाओंसे परे हो जाता है तो आत्मा परमात्मामें लीन हो जाती है। इसीको 'फना' कहते हैं। उसमें अपने-परायेकी भावना नहीं रह जाती। उस समय उसके लिए सुख-दुःखका कोई अर्थ नहीं रह जाता। उसके व्यक्तिगत जीवनकी कोई सार्थकता नहीं रहती। परमात्माको लेकर ही वह मस्तमौला बना रहता है। मजहबके नियम-कानूनों-का उसके लिए कोई अर्थ नहीं रह जाता।

सूफी कहते हैं कि 'फना'की अवस्थामें आत्मा परमात्मा-में विलीन हो जाती है। ऐसा कहनेका वे यह अर्थ लगाते हैं कि वह सर्वव्यापक सत्तामें विलीन होकर उसका अंग बन जाती है। उनके अनुसार आत्मा-विशेषका नाश नहीं होता, अतएव वे मानते हैं कि 'फना'में आत्माकी स्थिति वही है, जो महासागरमें एक बूँदकी होती है। बहुत दिनोंतक सूफी साधक इसे ही चरम लक्ष्य मानते

रहे। —रा० पू० ति०

फलागम–रूपककी पाच **अवस्थाओं**मेंसे पाँचवीं **अवस्था**। सम्पूर्ण फलकी प्राप्तिको फलागम अवस्था कहा जाता है। अधूरा फल प्राप्त होनेपर **नियताप्ति**की अवस्था ही मानी जानी चाहिये। यहींपर (फलागम अवस्थामें ही) नायकादिके अभीष्टकी सिद्धि हो जाती है। संस्कृतकी 'रत्नावली नाटिका'में उदयनको रत्नावली तथा चक्रवर्तित्व-का जो लाभ होता है, वह नाटिकाका फलागम है। 'प्रसाद'-के 'स्कन्दगुप्त' नाटकका फलागम है हूणोंकी पराजयमें आर्यावर्तकी गौरव-रक्षा और पुरगुप्तको युद्धक्षेत्रमें ही टीका लगाकर गृह-कलहका शमन। —व० सि०

फलोत्प्रेक्षा–दे० 'उत्प्रेक्षा', तीसरा भेद।

फ़ारसी (साहित्य)–फारसनिवासी अपने देशको ईरान और अपनेको एवं अपनी भाषाको ईरानी कहते है फार्स, जिसका पुराना नाम पार्स है, ईरानका एक प्रान्तमात्र है। ईरानके दो परम प्रतापी और सुविख्यात राजवंश (ई० पू० छठी शताब्दीमें अखामन्शी और ईसाकी तीसरी शताब्दीमें सासानी) इसी प्रान्तके थे, इसीलिए ईरानके बाहर पूरे देशका ही नाम फारस और वहाँकी भाषाका फारसी पड़ गया।

प्राचीन ईरानी या फारसीका, जो हिन्द-यूरोपीय भाषाकी ही एक शाखा होनेके कारण संस्कृतमें बड़ी समानता रखती थी, सबसे प्राचीन ग्रन्थ पारसियोंका धर्मग्रन्थ 'आवेस्ता' है। ई० पू० ५५९के पहले फारस या ईरानमें मीदियोंका राज्य था। 'आवेस्ता'के अतिरिक्त उस समयके किसी साहित्यका अब पता नहीं है। ई० पू० ५५९से, ई०पू० ३३०में यवनराज अलक्षेन्द्रके आक्रमणके समयतक, ईरानमें अखामन्शी राजवंशका शासन रहा। कुछ शिलालेखोंको छोड़, जिनका महत्त्व ऐतिहासिक अधिक और साहित्यिक कम है, इस समयका अन्य कोई साहित्य अब उपलब्ध नहीं है। ई० पू० ३३०से ईसवी सन् २२६तकके भी किसी साहित्यका अब पता नहीं है। ईसवी सन् २२६में ईरानपर सासानी राजवंशका शासन प्रारम्भ हुआ, जो ६५१ ई०तक रहा। सासानियोंके शासनकालमें, जब ईरान संसारके प्रमुख शक्तिशाली राज्योंमें गिना जाता था, जरथुस्त्री या पारसी धर्मका, जो विदेशी शासनके कारण इतने दिनोंसे दबा पड़ा हुआ था, फिरसे उदय हुआ और ईरानियोंकी राष्ट्रीय भावना भी पुनर्जागरित हुई, जिसके कारण साहित्यका भी, मुख्यतया धार्मिक साहित्यका उत्कर्ष हुए बिना नहीं रहा। सासानियोंका शासन आते-आते विदेशी प्रभावके कारण ईरानकी भाषामें पर्याप्त परिवर्तन हो चुका था और पहलवी लिपिमें लिखी जानेके कारण उसका नाम भी पहलवी पड गया था। इस कालके धार्मिक साहित्यमें 'आवेस्ता'पर लिखा गया भाष्य 'जेन्द' और लौकिक साहित्यमें 'यात्कारे जरीरान', जिसका दूसरा नाम 'शाहनामै गुतास्प' भी है और 'कारनामके आरतख्शीरे पापकान' विशेषतया उल्लेखनीय हैं।

ई० सन् ६५१में ईरान अरबों द्वारा आक्रान्त होकर उनके शासनाधीन हो गया, जिसके परिणामस्वरूप अरबीने शीघ्र ही फारसीको दबा लिया और फारसी साहित्यका विकास शताब्दियोंके लिए रुक गया, फारसी भाषाका आर्य-स्वरूप अरबी सम्मिश्रणके कारण बहुत-कुछ बदल गया और फारसीकी लिपि भी पहलवीसे अरबी हो गयी। इस कालका अधिकांश साहित्य फारसीमें न होकर अरबीमें ही है।

ईसाकी नवीं और दसवीं शताब्दीके बीच अरब-शासनाधीन अनेक राज्य एक-एक करके स्वतंत्र हो गये और तभी फारसी साहित्यका नये सिरेसे उदय हुआ। आदिमें तो इस नये युगके फारसी काव्यकी शैली और छन्द-योजना पूर्णतया अरबी ही थी, किन्तु आगे चलकर ईरानी कवियोंने स्वतन्त्र रूपसे गजल, रुबाई, मस्नवी आदि कई नये छन्दों और काव्य-शैलियोंका आविष्कार और विकास किया।

आधुनिक फारसी साहित्यका महाकवि, रुबाईका आदिस्रष्टा, रूदगी था। इसने रुबाई, गजल और प्रशस्ति-रचनामें बड़ी ख्याति पायी और कदाचित् मस्नवीकी रचना भी पहले-पहल इसीने की, किन्तु उसकी कोई मस्नवी अब उपलब्ध नहीं है। यह ई० सन् ९४०में जीवित था। उसके बाद हुए तो अनेक कवि, किन्तु फारसी भाषाका महान् कवि होनेका सौभाग्य 'शाहनामा' या ईरानकी राजतरंगिणीके रचयिता फिरदौसीको ही, जो महमूद गजनवीके दरबारी कवियोंमें था, प्राप्त हो सका। महमूदके दरबारका राजकवि उन्सुरी कसीदा-रचनामें रूदगीसे भी बढ़ा-चढ़ा था। उस कालका एक अन्य सुविख्यात कवि अविसेना था, जिसने अनेक गजलों और रुबाइयोंके अतिरिक्त 'दानिश्नामय अलाई' नामक एक विश्वकोशकी भी रचना की।

११वीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें फारसके एक बहुत बड़े भागपर सैल्जुकी तुर्कोंका शासन प्रारम्भ हुआ, जो १२वीं शताब्दीके अन्ततक रहा। सैल्जुकोंके समयमें फारसी साहित्यने विशेष उन्नति की। उनका प्रधानामात्य निजामुल्मुल्क अबू अलीउल हसन बड़ा विद्यानुरागी और विद्याव्यसनी था। उसने स्वयं शासनकलापर 'सियासत-नामा' नामक एक ग्रन्थकी रचना की। इस कालका गद्य-साहित्य अधिकतर अरबीमें ही है। फारसीके गद्य-ग्रन्थोंमें 'सियासतनामा'के अतिरिक्त हुजवीरीका सूफीमत-प्रतिपादक ग्रन्थ 'काशिफुल्महजूब', गजालीका रहस्यवादी ग्रन्थ 'कीमियाए सआदत' और निजामिए अरूजिए समरकन्दीका राजधर्म, काव्यकला, ज्योतिष और चिकित्सा-शास्त्र विषयक सुविख्यात ग्रन्थ 'चहार मकाला' ही उल्लेखनीय हैं। इस कालके पद्य-साहित्यमें परिमाणकी दृष्टिसे कसीदोंका ही स्थान सर्वोपरि है। अनवरी खुरासानी, खाकानी शीराजी और तिरमीजके अदीब साबिर इस कालके प्रसिद्ध कसीदाकारोंमें थे। इस कालमें सूफीवादका भी, जिसने लगभग समग्र फारसी-काव्यको प्रभावित और सुवासित कर रखा है और जो हिन्दीकी भी सूफी काव्यधाराका स्रोत है, विशेष उत्कर्ष हुआ। इस कालका सबसे बड़ा कवि, जो फारसके अमर कवियोंमें गिना जाता है, निजामी (११४१-१२०३ ई०) था, जिसने खम्सा या पंचगंज (पंचरत्न) नामसे विख्यात पाँच अत्यन्त सुन्दर मस्नवियोंकी रचना की। इसी कालमें अँग्रेजी कवि फिटजेरल्ड द्वारा अनूदित उमरखैयाम (मृत्यु ११२३ ई०)ने

भी मदिरा और कामिनीकी प्रशंसामे अपनी सुललित रुबाइयोंकी सरिता बहायी।

सैल्जुकी तुर्कोंका शासन १२वीं शताब्दीके लगभग अन्ततक रहा। उसके बाद लगभग आधी शताब्दीकी अराजकताके बाद १२५८ ई० में चगेज खाँके पौत्र हलाकू खाँने ईलखानी राजवंशकी नींव डाली। उपर्युक्त आधी शताब्दीके सन्धिकालमें चंगेज खाँने फारसी-साहित्य और संस्कृतिके दो बहुत बड़े प्रान्तो खीवा और खुरासानको पूर्णतया ध्वस्त कर दिया था और शेष ईरानको २०-२२ वर्षतक आतंकित करता रहा था। इसी सन्धिकालमे ईरानमे दो ऐसे सूफी कवि हुए, जिनकी कीर्ति आज भी ईरानके बाहरतक फैली हुई है। ये थे प्रसिद्ध मस्नवीकार मौलाना जलालुद्दीन रूमी (१२०७-१२७३ ई०) और उपदेशात्मक ग्रन्थों 'बूस्ताँ' और 'गुलिस्ताँ'के प्रसिद्ध लेखक शेख सआदी शीराजी (११८४-१२९१ ई०)।

फारसमे बगदादके अब्बासी खलीफाओका प्रभाव यद्यपि नहीके बराबर रह गया था, तथापि १२५८ ई०तक समस्त फारस उन्हीके साम्राज्यके अन्तर्गत समझा जाता था। १२५८ ई०में हलाकू खाँने खलीफाओंके साम्राज्यका अन्त कर दिया, जिससे ईरान अरबके राजनीतिक प्रभावसे सर्वथा मुक्त हो गया और फारसीने वहाँकी राजभाषाका आसन पुनः ग्रहण किया। इसका प्रभाव फारसी साहित्यकी उन्नतिपर भी पड़े बिना न रहा।

ईरानमें मुगलोंका राज्य, पहले हलाकू खाँके वंशजो, ईलखानियोके हाथ और फिर तैमूर और उसके वंशजो, तैमूरियोके हाथ चौदहवीं शताब्दीके मध्यतक रहा। मुगलोके कालमें जितने इतिहास-ग्रन्थ लिखे गये, उतने काव्य-ग्रन्थ नहीं। गीतकाव्योंके अमर रचयिता हाफिज शीराजी और यूसुफ-जुलेखा आदि ७ मस्नवियों, ३ दीवानों और कई ग्रन्थोंके रचयिता है। फारसके दूसरे अमर कवि मुल्ला नुरुद्दीन अब्दुर्रहमान जामी (जन्म १४१४ ई०) इस कालके सबसे बड़े कवियों में थे। ये सब कवि सूफी थे और इनकी सभी कृतियोंपर तसव्वुफका पूरा रंग है।

फारसी काव्य-जगत्‌के ७ सर्वोत्कृष्ट रत्नोंमेसे फिरदौसी पुरैतिहासिक काव्यके लिए, निजामी प्रेम-गाथाओंके लिए, रूमी रहस्यवादी कविताके लिए, सआदी सामान्य नीति-विषयक छन्दोके लिए, हाफिज गीतोंके लिए और जामी इन सभी प्रकारकी काव्य-कृतियोंके लिए विख्यात है।

तैमूरियोंका राज्य समाप्त होनेके बाद आधी शताब्दी-तक फारसमें काफी अराजकता रही, जिसके बाद १४९९ ई०में सफावी नामक एक ईरानी राजवंश ईरानके सिंहासनपर आसीन हुआ। यह राजवंश ईरानी होनेके साथ ही शिया मतानुयायी भी था। इसके सिंहासनपर आते ही शिया धर्म ईरानका राजधर्म हो गया और ईरानियोंकी राष्ट्रीय भावनाको भी बल मिला। तबसे अबतक राजवंश तो कई बदले, लेकिन रहे सब ईरानी ही।

फारसपर सफावी राजवंशका राज्य १४९९ ई०से १७३६ ई० तक रहा। इसी बीच भारतमें मुगल साम्राज्यका उदय हुआ और वह अपने चरमोत्कर्षपर भी पहुँचा। इस कालमें फारस और भारतका परस्पर सम्पर्क अत्यन्त घनिष्ठ रहा और अनेक फारस निवासी कवि और लेखक भारत आकर मुगल दरबारकी शोभा बढ़ाते रहे। इस देशमे भी अत्युत्कृष्ट फारसी विद्वानों, कवियों और लेखकोने जन्म लेकर फारसी साहित्यकी अमूल्य सेवा की। मुसलमानी ईरानका सबसे बड़ा शासक सफावी वंशोत्पन्न अब्बास महान् (१५८७-१६२९ ई०) मुगल सम्राट् अकबर महान्-(१५५६-१६०५ ई०)का समकालीन था और दोनोके ही दरबारोमे कवियो और लेखकोंका बड़ा मान था।

सोलहवीं शताब्दीका सबसे बड़ा ईरानी कवि हातिफी था, जिसने पुरैतिहासिक काव्य 'तैमूरनामा' और 'लैला उ मजनूँ', 'खुसरौ उ शीरीं' आदि कई मस्नवियोंकी रचना की। इस शताब्दीके अन्य लेखकोंमे 'तोहफए सामी' नामक कवियोंकी जीवनीके रचयिता साम मिर्जाका नाम भी उल्लेखनीय है।

सत्रहवीं शताब्दीमें कई अच्छे कवि और इतिहास-लेखक हुए, किन्तु इनमे कोई ऐसा नहीं हुआ, जो प्रथम श्रेणीका समझा जा सके। इतिहासकारोमे शाह अब्बास प्रथम (महान्)के इतिहास-लेखक मुन्शी इस्कन्दर बेग तथा शाह अब्बास द्वितीयके वजीर और इतिहास-लेखक ताहिर वहीदके ही नाम उल्लेखनीय है। ताहिर वहीद इंशा (साहित्यिक पत्र-व्यवहारके) भी सिद्धहस्त कलाकार थे।

अठारहवीं शताब्दीमे भी कोई अच्छा कवि नहीं हुआ। इस कालके लेखकोमे शेख अली हजीन (जिसका देहान्त १७६६ ई०में काशीमे हुआ था) और 'आतशकदा' तथा मस्नवी 'यूसुफ उ जुलैखा'के रचयिता लुत्फ अली आजुरके ही नाम उल्लेखनीय है। 'आतशकदा'मे फारसके आठ सौसे ऊपर कवियोंके जीवनचरित और वृत्तान्त दिये है। उन्नीसवीं शताब्दीके सर्वोत्कृष्ट कवि मिर्जा हबीबुल्लाह उपनाम 'कानी' (मृत्यु १८५३ ई०) समझे जाते है। १९वीं शताब्दीका उत्तरार्द्ध फारसमे साहित्यिक क्रान्तिका युग था। इस कालमे फारसके तत्कालीन बादशाह नासिरुद्दीन शाह (१८४८-१८९६)ने फारसमे दारुल्फुनून-(विज्ञान-मन्दिर)की स्थापना की और अपनी यूरोप-यात्राओं-के भी वृत्तान्त प्रकाशित किये। इस कालमे फारसका यूरोपीय देशोंसे काफी सम्पर्क रहा, जिसका प्रभाव उसके साहित्यपर भी पड़े बिना नहीं रहा। इस कालमें सानि-उद्दौला (मृत्यु १८९६ ई०)ने भूगोल और इतिहासके अनेक ग्रन्थ लिखे और लिखवाये तथा मिर्जा जाफरने फ्रांसीसी साहित्यसे प्रभावित अनेक तुर्की नाटकोंका अनुवाद किया। इसके पहले फारसी साहित्यमे नाटकोंका नितान्त अभाव था और उक्त अभाव अब भी बहुत-कुछ चला ही आ रहा है। यद्यपि कुछ स्वतन्त्र नाटकोंकी रचना होने लगी है। यही बात उपन्यासोके विषयमे भी है।

बीसवीं शताब्दीमें यूरोपीय प्रगतिवादिता और अतियथार्थवादितासे प्रभावित एक नयी काव्यधाराका आविर्भाव हुआ, किन्तु उसीके साथ पुरानी धारा भी अबाधित बहती ही जा रही है। इस शताब्दीके पुरानी शैलीके कवियोंमें इराज मिर्जा (मृत्यु १९२६ ई०), अदीबी पेशावरी (मृत्यु १९३१ ई०), युवा कवयित्री परवीन (मृत्यु १९४१ ई०), रआबी और मलिकुल शोअरा बहारके तथा

नयी शैलीके कवियोंमें इस्की (मृत्यु १९२५ ई०) तथा लाहूती (जन्म १८८७ ई०)के नाम उल्लेखनीय हैं। १९२५ ई०में वर्तमान पहलवी राजवंशने शासनकी बागडोर सँभाली और तबसे ईरानमें साहित्यिक अनुशीलन और सम्पादनके कार्यमें अभूतपूर्व प्रगति हो रही है। ईरानमें इधर अनेक पत्र-पत्रिकाएँ भी निकलने लगी हैं और वहाँका आधुनिक साहित्य अधिकतर उन्हींमें प्रकाशित होता है।

फारसी साहित्यकी अभिवृद्धि और विकास भारतमें भी कुछ कम नहीं हुआ। यहाँके सर्वप्रथम फारसी कवियोंमें अमीर खुसरो (जन्म १२२५ ई०)का नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय है, जिन्होंने अनेक शृंगार-रसात्मक छन्द, पुरैतिहासिक काव्य एवं गीतों तथा निजामीकी ही टक्करके खम्सा (पंच-काव्य-संग्रह)की रचना की। मुगलकालके फारसी कवियोंमें उर्फी शीराजी (मृत्यु १५९०), बैजी (मृत्यु १५९५ ई०), जुहूरी (मृत्यु १५१६ ई०), जहाँगीरके राजकवि तालिब आमूली (मृत्यु १६२६ ई०) और शाहजहाँके राजकवि अबू तालिब कलीम मुख्य थे। मुगलोंके ही कालमें रामायण, महाभारत, गीता, पुराण, उपनिषद् आदि संस्कृत ग्रन्थोंका भी फारसीमें अनुवाद हुआ और बदायुनी, अबुल फजल, फिरिश्ता, सुजान राय, नवाब आकिल खाँ आदिने अपने प्रसिद्ध इतिहास-ग्रन्थोंकी रचना की। आधुनिक कालके एतद्देशीय फारसी कवियोंमें सर मुहम्मद एकबालका ही नाम उल्लेखनीय है। इनकी सूफी रचना 'असरारे खुदी' फारसके साहित्य-भण्डारमें एक विशिष्ट स्थान रखती है।

मुसलमानी कालमें इस देशमें ऐसे भी अनेक फारसी ग्रन्थोंकी रचना हुई, जिनका महत्त्व हिन्दीकी दृष्टिसे अब भी बहुत है। इस प्रकारके अद्यावधि ज्ञात ग्रन्थोंमें औरंगजेबके शासनकालमें मिर्जा मुहम्मद द्वारा रचित 'तोहफतुल हिन्द' और १८वीं शताब्दीके उत्तरार्द्धमें मीर गुलामअली 'आजाद' द्वारा रचित 'सर्वे आजाद' विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं। 'तोहफतुल हिन्द'में नागरी वर्णमाला- और लिपि एवं व्याकरण, अलंकार, पिंगल, रस, नायिकाभेद आदि अनेक विषयोंका वर्णन और विवेचन है और अनेक हिन्दी काव्योंके छन्द भी उद्धृत हैं। इस ग्रन्थका अंगीभूत व्याकरण स्यात् हिन्दी भाषाका सर्वप्रथम व्याकरण है। 'सर्वे आजाद'में अनेक फारसी कवियोंके जीवनवृत्तोंके अतिरिक्त ८ हिन्दी कवियोंके भी जीवनवृत्त दिये गये हैं। इसी प्रकारके और भी अनेक तज्किरे तथा अन्य ग्रन्थ फारसीमें विद्यमान हैं।

फारसीमें कविताके चार मुख्य रूप या प्रकार हैं—कसीदा, गजल, रुबाई और मस्नवी। इनमेंसे कसीदा फारसीको अरबीकी देन है और शेष तीनों स्वयं फारसी कवियोंकी ईजादें हैं। हिन्दीकी उर्दू शैलीने कविताके इन सभी रूपोंको फारसीके समस्त पिंगल और अलंकार सहित ज्यों-का-त्यों ले लिया है। यही नहीं, वह एतद्देशीय भाषाओंमें प्रयुक्त उपमाओं और रूपकोंका आश्रय न लेकर फारसीमें प्रयुक्त और फारसके ही भूगोल, इतिहास और संस्कृतिसे प्रभावित उपमाओं और रूपकोंका प्रयोग करती आ रही है। किन्तु हिन्दीकी विशुद्ध शैलीकी स्थिति इससे भिन्न है। इस शैलीके अपने छन्द, अपने अलंकार और अपनी परम्परा है, जो उसके मुसलमान कवियोंके हाथों भी अक्षुण्ण रही है। हिन्दीके सूफी कवियोंने फारसीकी तुकान्त मस्नवीका अनुकरण अवश्य किया है, किन्तु उसके लिए फारसीके तुकान्त मस्नवी छन्दोंका प्रयोग न करके पहलेसे चले आ रहे चौपाई और दोहा छन्दोंका ही आश्रय लिया है। हिन्दीकी इस विशुद्ध शैलीमें कुछ गजलोंकी भी रचना हुई है और लाला भगवानदीन एवं कुछ अन्य कवियोंने एकाध और भी फारसी छन्दोंका प्रयोग किया है। अब कुछ दिनोंसे कुछ कवियोंका ध्यान रुबाइयों और फारसी ढंगके गीत-काव्योंकी ओर भी गया है। गजलोंका प्रयोग अधिकतर सामान्य कोटिकी रचनाओंमें ही मिलता है और ये रुबाइयाँ एवं गीतकाव्य फारसी रुबाइयों और गीतकाव्योंके अनुरूप न होकर बिलकुल अपने ही ढंगके हैं। हरिगीतिका आदि कुछ हिन्दी छन्द तदनुरूप फारसी छन्दोंके समान हैं, किन्तु उनमेंसे अधिकतर यहाँ कदाचित् पहलेसे ही विद्यमान थे और जो फारसीसे इधर आये भी वे हिन्दी पिंगलके साँचेमें ही ढल गये और फारसी अरूजका अनुकरण न करके हिन्दी छन्द-शास्त्रके नियमोंका ही पालन करते हैं। जहाँतक उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं और ऐतिहासिक एवं पौराणिक दृष्टान्तोंका सम्बन्ध है, हिन्दीके मुसलमान कवियोंने भी एतद्देशीय दृष्टान्तों, उपमाओं और उत्प्रेक्षाओंका ही अधिकतर प्रयोग किया है और यदि किसीने किसी स्थानपर किसी फारसी उपमा आदिका प्रयोग किया भी है (जैसे 'अनुराग बाँसुरी'में नूर मुहम्मदने "नरगिस फूल बिलोकि सयाना। ओहि लोचनके ध्यान भुलाना") तो वही दूसरे स्थानपर भारतीय उपमा या उत्प्रेक्षाका प्रयोग करना नहीं भूला है (जैसे नूर मुहम्मदने ही इसी ग्रन्थमें—"अंजन नैन देत जब सोई। खजन देखि बियाकुल होई")। —गो० च० सि०

फॉर्मलिज्म (formalism)—फॉर्मलिज्म या रूपवाद वह प्रयोग या सिद्धान्त है, जो निर्धारित या बाह्य रूपोंका कट्टर अनुगामी या उसपर निर्भर कहा जाता है, विशेष रूपसे धार्मिक विषयोंमें; और इसका कोई भी उदाहरण बाह्य धार्मिक रूपोंको बिना धर्मकी प्रवृत्ति या जीवनके उसका उपयोग करना या अनुसरण करना है। नाटकमें यह उस नाटकीय प्रतिनिधित्वको कहा जाता है, जो उत्पादनके सभी तत्त्वोंको, साधारण या स्वतन्त्र शब्दोंमें, अर्धस्थायी रचनात्मक पृष्ठभूमिका उपयोग करके, प्रायः रंगमंचकी सीमाओंका विचार न करते हुए, उन्हें सीमाबद्ध कर देता है। ललित कलाओंमें इस व्यवस्थाके लिए दी गयी दृढ़ता या सतर्कताको कहते हैं, विशेष रूपसे चित्रकला या मूर्तिकलामें निर्धारित या परम्परागत रचनाके नियमोंको।

रूपवादकी स्थापना सबसे पहले रूसमें आलोचनाके क्षेत्रमें सन् १९२० ई०में हुई। लगभग एक दशाब्दतक वहाँ इसकी प्रधानता रही। इस सिद्धान्तके आधारपर कलामें शिल्पका ही विशेष महत्त्व स्वीकार किया जाता है। इसीलिए कोई कलाकार शिल्प-विधानमें जिस कलाका प्रयोग करता था या जिस रूपकी योजना करता था, उसीका महत्त्व होता था।

आकार या रूप किसी उद्देश्यकी विशेषताको कहते हैं, जो अनुभव की गयी हो, या वह रचना, जिसमे किसी अनुभव या किसी वस्तुके तत्त्वोंको संयोजित किया गया हो। रूपविषयक धारणा उस आलोचनात्मक सिद्धान्तके प्रारम्भिक लेखोंसे प्राचीनतर है और पूर्वमे भी उतनी ही सामान्य है, जितनी पश्चिममे, विशेष रूपसे सृष्टि-निर्माणकी विधिके विचारके विषयमे, जिसने बनायी जानेवाली वस्तुके विषयमें मानसिक विचार या कल्पनाको उस वस्तुका रूप या रूपका सिद्धान्त माना जाता है। प्लेटोके अनुसार रूप या किसी भी वस्तुके विचार अपनी सांसारिक उत्पत्तिसे अलग, पूर्ण रूपमे पूर्व-स्थित होते हैं और जो इस प्रकार एक अनुकरण होता है। प्लेटो तथा अरस्तूके सिद्धान्तोपर आधारित रूपका आधुनिक अर्थ किसी स्वाभाविक प्रवृत्तिका एक उदाहरण है। किसी वस्तु या अनुभवकी विशेषता या रचनाके सन्दर्भमें इनके विश्लेषण या वर्णनका तात्पर्य रूप शब्द है, जिस प्रकार वह एक आकार या रूप प्रदान करता है।

अरस्तूके विचारमें रूप उन चार कारणोंमेसे एक है, जो पूर्णतया किसी वस्तुके अस्तित्वका आधार होते हैं। कारण चार होते हैं—(१) उत्पादक, (२) उद्देश्य, (३) विषय और (४) रूप। इनमेसे प्रथम दो बाह्य होते हैं और अन्तिम दो आन्तरिक। विषय उसे कहते हैं, जिससे कोई वस्तु बनती है और रूप उसे कहते हैं, जो उसे आकार देता है। इसलिए अरस्तूके अनुसार रूप केवल आकार ही नहीं है, बल्कि आकार प्रदान करनेवाला भी है, केवल रचना या विशेषता ही नहीं है, वरन् रचनाका सिद्धान्त भी है, जो विशेषता देता है। अतः अरस्तूकी धारणा है कि किसी कलाकृतिमे रूप केवल रचना नहीं है (संकुचित अर्थमे), लेकिन वह सब-कुछ है, जो किसी उल्लेख्य विशेषताका निर्धारण करता है। अर्थ या अभिव्यक्ति और रचना भी बाह्य तत्त्व है। इस प्रकार किसी साहित्यिक कृतिके विषयको सामान्य रूपमे उसकी वस्तुके समान माना जाता है, जिसके लिए किसी कृतिका अर्थ या एक सन्दर्भ होता है या स्वयं उस अर्थके साथ, और रूप तब केवल वही हो सकता है, जो एक कृतिकी विशेषतामेंसे शेष रह गया हो, जब कि उसका अर्थ निकाल दिया गया हो, अर्थात् केवल उसकी भौतिक रचना और विशेष रूपसे उसकी ध्वनि-रचना।

जिस विषयसे कोई कवि अपनी कविता तैयार करता है, वह उसके समय या स्थानकी भाषा होती है। लेकिन, जब कोई कवि अपना कार्य करता है, यह भाषा किसी भी प्रकारसे एक रूपहीन विषय नहीं होती, बल्कि यह स्वयं कलासे उत्पन्न होती है और मनुष्य द्वारा युगोंतक रूपका वस्तुके ऊपर लादा जाना होती है। जब एक लेखक अपना कार्य आरम्भ करता है, तब उसकी सामग्री बाह्य तत्त्वसे मुक्त होती है, लेकिन चूँकि ये सदैव बाह्य तत्त्व रहते हैं, जैसा कि उसके समाप्त हो गये कार्यसे लक्षित होता है, ये सब उसके लिए उस विषयका एक अंग है, जो उसे स्पष्ट करना है। उसके कार्यका आकार वह आकार है, जो वह अपने आकारोंके समूहपर लादता है और उन अधिक शुद्ध विषयोंपर उसे सम्पूर्ण रूपमे एक रचनाका आकार और स्वयं अपने द्वारा विचारे गये अर्थ देनेके द्वारा। जो आकार वह लादता है, वह उसके द्वारा कहे गये वक्तव्यकी एक अनोखी पूर्ण विशेषता होती है। जबतक उसका कार्य समाप्त नहीं हो जाता, यह नया आकार, जो वह अपनी भाषापर लादता है, एक विचार होता है, थोड़ा या बहुत, अस्पष्ट रूपमे उसके मस्तिष्कमे विचाररूपमे आता है, किसी वस्तुका विचार, जो वक्तव्य किया जाता है।

किसी बातको अभिव्यक्त करनेके लिए यह आवश्यक है कि किसी रूपको किसी विषयपर लादा जाय और इस प्रकार रूपका किसी विषयपर लादा जाना उस विषयको स्पष्ट करना है, जो कोई बात अभिव्यक्त करता है। हम किसी पूर्ण कृतिमें इस बातकी प्रशंसा नहीं करते कि विषय और आकार एकमें संयुक्त कर दिये गये है, लेकिन उस प्रशंसनीय आकारकी करते हैं, जो विषयके साथ संयुक्त कर दिया गया है।

[सहायक ग्रन्थ—फॉर्म एण्ड स्टाइल इन पोइट्री : डब्लू० पी० केर।] —प्र० ना० टं०

फासिज्म—आधुनिक युगमें धर्म द्वारा प्रतिस्थापित देवताओं-का स्थान नये देवताओंने ले लिया है। इन नये देवताओंमे शायद सबसे बड़ा देवता राष्ट्र है और उसकी प्रतिष्ठा करने-वाला नया धर्म है राष्ट्रवाद। राष्ट्रवादके विकरालतम रूपकी प्राणप्रतिष्ठा मार्च, १९१९ ई०मे बेनिटो मुसोलिनी द्वारा इटलीमें फासिज्म नामसे चलाये गये आन्दोलनमें हुई, जिसने अक्तूबर, १९२२ ई०में इटलीकी शासन-सत्ता भी हस्तगत कर ली। बादमें इस प्रकारके सर्वत्र प्रचलित आन्दोलनोंके लिए 'फासिज्म' नाम रूढ़ हो गया। इता-लीय मूल शब्द 'फासिज्मो' लैटिनके फासीज (fasees)से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है पोटली या गट्ठा। प्राचीन रोमके मजिस्ट्रेटोंके आगे-आगे अधिकारके प्रतीक रूपमे एक कुठार-से युक्त दण्डोंकी एक पोटली चला करती थी। 'फासिज्म' शब्दका इसी भावनासे सम्बन्ध है।

फासिज्म एक व्यापक मनोदशा है। इसके उद्भवकी व्याख्या कई प्रकारसे की जाती है। कुछ लोग कहते हैं कि जनतन्त्रमें असाधारण व्यक्तियोंको अपनी प्रतिभा और शक्तिका प्रदर्शन करनेका पूरा अवसर नहीं मिलता, उन्हें यह भावना सताती रहती है कि उन्हे व्यर्थ ही अयोग्य बहुसंख्याके हाथकी कठपुतली बने रहना पड़ता है। अतः उनका जनतन्त्रसे असन्तोष स्वाभाविक ही है। वे ऐसी व्यवस्थाकी कामना करने लगते हैं, जिसमे उन्हे कार्य करने-का पूरा अवसर मिल सके। इसके विपरीत अन्य अनेक व्यक्तियोंकी यह दशा है कि वे जनतन्त्रके लिए आवश्यक उत्तरदायित्वका निर्वाह नहीं कर सकते। जनतन्त्र, जिसकी आयु अभी प्रायः ३०० वर्षकी है, सबसे कठिन व्यवस्था है, क्योंकि इसमे वैयक्तिक उत्तरदायित्व बढ़ जाता है, जिसके लिए एक निश्चित प्रौढ़ता और परिपक्वताकी अपेक्षा होती है। कुछ लोगोंका विचार है कि फासिज्म इस कठिनाईसे पलायनका एक अच्छा मार्ग है। फासिज्ममें व्यक्ति अपना सारा उत्तरदायित्व अधिनायकको सौंपकर छुट्टी पा लेता है। इसके अतिरिक्त फासिज्ममें आर्थिक

प्रगति और सामाजिक सुरक्षाकी भी अधिक गारण्टी है।

साम्यवादियोंके अनुसार फासिज्म ह्रासोन्मुख पूंजीवाद (दे०)की अन्तिम अवस्था है। शक्तिशाली श्रमिक-दलको छूट देते-देते पूंजीवाद अब इस स्थितिको पहुँच गया है कि यदि वह राजनीतिक लोकतन्त्रका चोगा उतारकर श्रमिकोंका खुल्लमखुल्ला शोषण नहीं करे तो उसका नाश निश्चित है। जेम्स बर्नहमने अपनी पुस्तक 'मैनेजीरियल रेवोल्यूशन'में यह सिद्ध करनेकी चेष्टा की है कि फासिज्म व्यवस्थापकीय (मैनेजीरियल) समाज-व्यवस्थाका प्रथम रूप है। —ह० ना०

फिक्शन–दे० 'कथा-साहित्य', 'उपन्यास'।

फीचर–दे० 'रेडियो रूपक'।

फ्लैशबैक–रेडियो नाटक या फिल्म नाटकमें किसी पात्रके द्वारा विगत जीवनका जो दृश्य प्रस्तुत किया जाता है, उसे फ्लैशबैक कहते हैं। इसे **स्मृति-दृश्य** या **विगताख्यान** भी कहा जाता है। —सि० कु०

बंकनाल–शंखिनी नाड़ी। दे० 'हठयोग'।

बँगला (भाषा तथा साहित्य)–बँगला-भाषाके आदि स्वरूपकी रचना आठवींसे बारहवीं शतीके बीच हुई। बंगदेशमें आर्योंका आगमन ईसा पूर्व तीसरी शतीमें आरम्भ हुआ और ईसाकी पाँचवीं शतीतक वे बसते-बसाते रहे। इनकी भाषा संस्कृत थी। भाषाके विकासक्रममें बँगला आदि आधुनिक भाषाओंका स्तर तीसरा पड़ता है। पहले वैदिक और रामायण आदिकी संस्कृत, उसके बाद बौद्धोंकी पालि प्राकृत, फिर बँगला तथा अन्य आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ। हार्नले साहबने आधुनिक भाषाओंका नाम दिया है गौड़ीय भाषा और इसका सूत्रपात वे आठवीं शतीमें मानते हैं, जब कि बौद्ध प्रभाव विलुप्त होकर हिन्दू धर्मका पुनरुत्थान आरम्भ होता है।

बँगलाका आरम्भिक रूप संस्कृतबहुल रहा है। राजशेखरने 'काव्यमीमांसा'में लिखा भी है कि गौड या बंगाल देशमें लोग संस्कृतमें अधिक रुचि रखते थे। बीम्सने भी स्वीकार किया है कि गौडीय भाषाओंमें बँगला और मराठी ही संस्कृतके ज्यादा समीप हैं। 'साहित्यदर्पण'में अठारह प्राकृतोंकी चर्चा है और गौड़ देशकी प्राकृतका दण्डीने 'काव्यादर्श'में उल्लेख किया है—"शौरसेनीय गौडीय लाटी चान्या च तादृशी", किन्तु वररुचिने शौरसेनी और मागधी इन दोको ही माना है। इनमेंसे पहली पश्चिमी हिन्दीके पूर्वरूपकी और दूसरी बँगलाकी जननी है। मागधी प्राकृत ही वास्तवमें मूल बँगलाका प्राचीन रूप है। डाक और खनाके वचन, परागली महाभारत और हरप्रसाद शास्त्री द्वारा अन्वेषित 'बौद्ध गान ओ दोहा'में बँगलाका वह प्राथमिक रूप है, जब वह प्राकृतका केंचुल छोड़कर अपना स्वतन्त्र रूप ले रही थी। एक उदाहरण—"बुंढा बुझिया एड़िब लुंड। आगल हैले निवारिब तुंड"।

हरप्रसाद शास्त्रीने दसवीं-ग्यारहवीं शतीके कुछ ग्रन्थोंकी खोज नेपालमें की। वे हैं, 'चर्याचर्य-विनिश्चय', 'बोधिचर्यावतार', 'डाकार्णव'। उनकी रायमें इन ग्रन्थोंमें हजार साल पहलेकी बँगलाका आरम्भिक रूप है, मगर इनकी भाषा दुरूह तो है ही, बँगलासे इसकी खासी दूरी भी है। यों परिनिष्ठित प्राकृतसे बँगलाकी पूर्वावस्थाका बहुत अधिक साम्य तो नहीं है, पर उसके अनेक शब्द मिलते हैं। जैसे ये कुछ क्रियाएँ जो सहज ही बँगला बन जाती हैं—जाण (जाना=जानना), चिण (चेना=चीन्हना), बुज्झ (बोझा=बूझना), गाव (गाओया=गाना)। शुनियाका शुनिया, करियका करिया भी आसानीसे बन जाता है।

बँगला पहले प्राकृत नामसे ही परिचित थी। संजयरचित 'महाभारत'की दो सौ साल पुरानी एक पोथीमें है—"भारतेर पुण्यकथा श्रद्धा दूर नहे। पराकृत पद बँधे राजेन्द्रदास कहे"। लोचनदासके 'चैतन्यमंगल'में—"इहा बलि गीतार पड़िल एक श्लोक। प्राकृत प्रबन्धे कोह शुन सर्वलोक"। 'गीतगोविन्द'के एक अनुवादमें—"इति श्री गीतगोविन्द महाकाव्ये प्राकृत भाषायां स्वाधीनभर्तृकावर्णने सुप्रीत पीताम्बरो नाम द्वादश सर्गः"।

ग्रियर्सनने बंगला बोलनेवालोंकी संख्या ४,१३,४०,००० बतायी थी। १९२१ ई०की मर्दुमशुमारीमें यह संख्या ४,९२,९४,०९९ हुई और १९३१ ई०की मर्दुमशुमारीमें बंगाल और बंगालके बाहर बँगला बोलनेवालोंकी संख्या ५,३८,०८,१०० बतायी गयी।

भारतकी सर्वापेक्षा प्राचीन लिपि ब्राह्मी है, उसीके अनेकानेक परिवर्तनोंसे विभिन्न भारतीय लिपियाँ बनीं। प्रसिद्ध पुरातात्त्विक बुहलर साहबके मतानुसार पूर्वभारतीय नागरी लिपिमें ग्यारहवीं शतीके अन्तमें बँगला लिपिने अपना स्वतन्त्र रूप ग्रहण किया, गोकि बहुतोंको यह बात मान्य नहीं। सच तो यह है कि ब्राह्मी लिपिके कालान्तरमें तीन रूप हुए। उत्तर-भारतमें शारदा, दक्षिण-पश्चिममें नागर और पूरबमें कुटिल। इसी कुटिलसे बंगाक्षरका रूप स्थिर हुआ। सन् ११७० ई०में बोधगयामें महाराज अशोकचल्लका जो शिलालेख प्राप्त हुआ और १२४२ ई०में जो राजा दामोदर प्रदत्त ताम्रशासन चटगाँवमें मिला, उनमें बँगला अक्षरका प्राचीनतम रूप है। 'ललितविस्तर'में ऐसा उल्लेख आया है कि बुद्धदेव अध्यापक विश्वामित्रसे बंगलिपि सीख रहे हैं। ऐसा हो, तो यह ईसापूर्वकी बात है। बगुड़ा जिलेके महास्थान गढमें मौर्ययुगकी जो लिपि पायी गयी है, उससे बंगलिपिके अति प्राचीन रूपका परिचय मिलता है।

बँगला आदि आधुनिक भाषाओंको गौडीय भाषा कहनेकी एक और सार्थकता है। मुसलिम विजयके कुछ पहलेतक विन्ध्यगिरिका उत्तरी और प्राग्ज्योतिषपुरका विराट् भूभाग पाँच भागोंमें बँटा हुआ था—सारस्वत, कान्यकुब्ज, गौड, मिथिला और उत्कल। इसे पंचगौड कहते थे। इनमेंसे मिथिला सभी दृष्टियोंसे बंगालका सर्वश्रेष्ठ शिक्षक रहा था। मैथिली अक्षरको बंगालने अपनाया था। विद्यापतिके पदोंकी भाषाके अनुरूप बंगालमें ब्रजबुलीकी सृष्टि हुई थी, जिसमें सारा वैष्णव साहित्य है। यहाँतक कि अति आधुनिक कालमें रवीन्द्रनाथने भी उसी भाषामें 'ठाकुर भानुसिंहेर पदावली' रची। कन्नौजने बंगालको पंचब्राह्मण और पंचकायस्थोंका ही दान नहीं दिया, पांचालाके आदर्शोंसे ही बंगालकी आरम्भिक गीतधारा अनुप्राणित हुई। ब्रजबुली छोड़ दें तो भी बँगलापर हिन्दी-मैथिलीका

प्रभूत प्रभाव है।

बँगला वर्णमाला ग्यारह स्वर और छत्तीस व्यंजनोंकी है। इसकी एक विशिष्टता है कि वर्णके नामके ऊपर निर्भर न करके एक विशेषणका आश्रय लेना पड़ता है। प्रत्येकको समझानेकी अलग ध्वनि नहीं है। वर्णकी मूल ध्वनिसे बँगलाकी ध्वनिमें विभिन्नता है, फलस्वरूप बहुत बार भूल होती है। यहाँ गिरिश और गिरीश, दिनेश और दीनेश समान है। इसी त्रुटिसे यहाँ लोग सुतपुत्र कर्ण लिख देते है, सुर और सूरमें भ्रान्ति हो जाती है।

बँगलाकी सबसे पहली पोथी अभिनन्दरचित 'रामचरित' मानी जाती है, जो आठवीं शतीकी है। इसी नामकी दूसरी पोथी सन्ध्याकर नन्दीकी है। उसका समय है दसवीं शतीका शेष भाग। किन्तु वास्तवमे साहित्यकी अनुप्रेरणा बँगलामें जयदेवके 'गीतगोविन्द'से हुई। जयदेव बारहवीं शतीके अन्तमें हुए। उपर्युक्त तीनों ही पुस्तकें संस्कृतकी है। सच तो यह है कि चौदहवीं शतीतक बँगलाके लिखित साहित्यका कोई नमूना नहीं मिलता। लोककथा, लोक-गाथाएँ कुछ-कुछ जरूर चलती रही। 'श्यामराय', 'आँधा बन्धू', 'धोपार पाठ' आदि कुछ ग्राम-गीतिकाएँ, कुछ व्रत-कथा आदि मौखिक लोकसाहित्यका परिचय मिलता है।

बँगला साहित्यको हम पाँच युगोंमे बाँट सकते है—आदिकाल—नवींसे बारहवीं शती। प्रारम्भिक विकास-काल या चैतन्यपूर्वकाल—तेरहवींसे पन्द्रहवीं शती। विकासकाल या चैतन्योत्तरकाल—सोलहवींसे अठारहवीं शती। आधुनिक काल—आधी अठारहवीं शतीसे रवीन्द्र-नाथतक, अत्याधुनिक या रवीन्द्रोत्तरकाल।

बारहवीं शतीतक लोक-कथा, व्रतकथा,.धर्मपूजा, पल्ली-गीतिकाएँ, लोकमुख-प्रचलित निधियाँ ही साहित्यसर्वस्व रहीं। चैतन्यपूर्वकालमे मुसलमानी दरबारमे बँगलाको आश्रय मिला और उसकी श्रीवृद्धि शुरू हुई। बँगलामें 'महाभारत'का पहला अनुवाद नासिर शाहने, फिर परा-गल खाँने कवीन्द्र परमेश्वरसे कराया, जो 'परागली महा-भारत'के नामसे मशहूर है। इसमे १७ हजार श्लोक है। सन् तारीखसे युक्त बँगलाका जो पहला काव्य मिलता है, वह मालाधर वसुका 'कृष्णलीला-काव्य' है। १४८१ से ८७-तक, सात वर्षोंमे यह लिखा गया।

प्रारम्भिक विकासकालमे धर्म-भावनाकी प्रवलता रही। 'शिखायन', 'चण्डीमंगल', 'मनसामंगल', 'पदावली' आदिमें वही अभिव्यक्ति है। चैतन्यपूर्वकालसे ही 'रामायण' 'महाभारत', 'भागवत'का अनुवाद शुरू हुआ और उस पदावली-साहित्यका भी यहींसे सूत्रपात हुआ, जिसने बँगालके समस्त लोक-जीवनको उद्बुद्ध किया। सुप्रसिद्ध कृत्तिवासी रामायणकी रचना पन्द्रहवीं शतीमे हुई। रामा-यण, महाभारत, भागवत काव्यकी परम्परा लम्बे अरसेतक चलती रही। बँगलामे महाभारतकार कई हुए। इतिहासमें सबसे पहले 'महाभारत' लिखनेवालेका नाम संजय मिलता है—"भारतेर पुण्य कथा नाना रसमया संजय कहिल कथा, रचिल संजय"। विजय पण्डित, नित्यानन्द घोष आदिके भी महाभारत मिलते है। लेकिन बँगलामें सबसे ज्यादा लोकप्रिय हुआ काशीराम दासका महाभारत। बंगालके हर आदमीकी जबानपर आज भी ये पंक्तियाँ है—"महाभारतेर कथा अमृत समान। काशीराम दास कहे, शुने पुण्यवान्"।

यह सत्रहवीं शतीके अन्तमें लिखा गया। आरम्भिक विकासकालकी सर्वाधिक उल्लेखनीय घटना है विद्यापति और चण्डीदासका आविर्भाव। विद्यापतिने बँगला साहित्य बहुत प्रेरित-प्रभावित हुआ और और उनकी गीत-धाराके अनुरूप बहुत दिनोंतक काव्य-सृष्टि होती रही। पदकर्ताओंमे चण्डीदास, ज्ञानदास, गोविन्ददास आदि ही बहुत प्रसिद्ध हुए। इनमे भी सबसे अधिक सशक्त हुए चण्डीदास। चण्डीदास भी बँगलामे तीन हुए—बड़ चण्डीदास, दीन चण्डीदास, द्विज चण्डीदास।

पद-रचनाओंकी बाढ़से बंगाल तीन शतियोंतक प्लावित होता रहा। विकास युगकी अपनी विशेषता चरित-काव्यकी है। काव्यने देवी-देवताओंके आख्यानोंके बजाय मानव-जीवनकी कथाकी भित्ति बनायी। महाप्रभु चैतन्यके जीवन पर अनेक काव्य लिखे गये—'चैतन्य भागवत', 'चैतन्य मंगल', 'श्रीकृष्ण चैतन्य चरितामृत', 'चैतन्य चरितामृत' आदि। मंगल-काव्यकी परम्परामे भी इस युगमे अभिनव कड़ी जुड़ती रही। 'मनसा मंगल'पर बँगलामे लगभग ६२ काव्य मिलते है। 'मनसा मंगल'के पहले कवि काणा हरिदत्त माने जाते है, पर पहला लिखित 'मनसा मंगल' विजयगुप्तका है, जो १४९५ की रचना है। 'मनसा मंगल'-मे सबसे प्रसिद्ध केतकादास क्षेमानन्द-काव्य है, जिसमें २६०० श्लोक हैं। द्विज जनार्दन (पन्द्रहवीं शती)की चलायी चण्डी मंगल-परम्परामे भी कई उल्लेखयोग्य काव्य लिखे गये। इन सबमे कवि कंकणमुकुन्दराम चक्रवर्तीकी रचना ही सर्वश्रेष्ठ है। कृष्ण मंगल-काव्य, षष्ठी मंगल और टाप मंगल-काव्यके अतिरिक्त इस युगकी एक देन और है, विद्यासुन्दर-काव्य। विद्यासुन्दरके कवि कई हुए, लेकिन भारतचन्द्र राय गुणाकर और रामप्रसाद सेन कविरंजनके काव्यकृतित्व ही सर्वश्रेष्ठ है। श्यामा संगीत, बाउल संगीत और कविगानकी लोकप्रियता बढ़ी।

अठारहवीं-उन्नीसवीं शतीके सन्धिकालसे गद्य-युगका सूत्रपात और साहित्यके सौभाग्यकी सूचना होती है।

सन् १७७८ ई०में बँगला टाइपमे हालहेड साहब लिखित बँगलाकी पहली पुस्तक बँगला व्याकरण निकली। १८०० ई०में फोर्ट विलियम कालेजकी स्थापना हुई। उसके अध्यक्ष विलियम कैरीने पण्डितोंसे पुस्तकें लिखायीं और स्वयं कोश, व्याकरण, इतिहासमाला आदि लिखे। अनुवादोंकी बाढ़ सी आयी। उस बाढ़से साहित्यकी निजस्वधाराको वेग और प्रांजलता देनेवाले हुए राजा राममोहन राय। इस युगमे बँगला-भाषाके दो समर्थ सेवक और संस्कारक हुए—बंकिमचन्द्र चटर्जी और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर। बँगलाका पहला मासिक पत्र १८१८ ई०में निकला 'दिग्दर्शन'। उसके बाद 'समाचार-दर्पण', 'बंगाल गजट', 'समाचार-चन्द्रिका', संवादकौमुदी', 'बंगदर्शन', 'आर्यदर्शन', 'बान्धव', 'भ्रमर' 'ज्ञानांकुर', 'भारती', 'साधारणी', 'प्रचार-साधना' आदि अनेक पत्र-पत्रिकाओंने जाग्रति उत्पन्न की। बंकिम बाबूने बँगला उपन्यासोंकी नींव

डाली। उन्होंने 'दुर्गेशनन्दिनी', 'कपालकुण्डला', 'विषवृक्ष', 'इन्दिरा', 'राजसिंह', 'आनन्दमठ', 'देवी चौधरानी' आदि अनेक उपन्यास लिखे। इनके पहले बंगलाके दो उपन्यास थे, जिनका बंकिमपर प्रभाव पड़ा। वे थे टेकचन्द ठाकुरका 'आलालेर घरेर दुलाल' और भूदेव मुखोपाध्यायका 'आंगटीर विनिमय'। इनके समसामयिक औपन्यासिकोंमें तारकनाथ गंगोपाध्याय और रमेशचन्द्र दत्त है।

बंगला नाट्यशालाका उद्भव उन्नीसवीं शतीके बीचसे होता है। पांचाली गान, झूमर, यात्रा और तब नाटक। बँगलाकी पहली रंगशाला हेरासिम लेबेडेफने कायम की और बंगालियोंकी निजस्व पहली रंगशाला उसके ४० वर्ष बाद सन् १८३१ ई० में बनी। शुरूमें अँग्रेजी और संस्कृत नाटकोंके अनुवाद ही खेले जाते रहे। १८७३ ई०में नेशनल थियेटरकी स्थापनासे मौलिक नाट्यलेखनकी प्रचेष्टा शुरू हुई। 'कीर्तिलता', 'भद्रार्जुन' और 'भानुमतीविलास'में ही पहले-पहल मौलिकताके दर्शन होते हैं। फिर तो माइकेल मधुसूदन दत्त, दीनबन्धु मित्र, मनोमोहन वसु, ज्योतिरीन्द्रनाथ ठाकुर, गिरीशचन्द्र घोष, क्षीरोदप्रसाद विद्याविनोद, अमृतलाल वसु, द्विजेन्द्रलाल राय जैसे समर्थ नाटककार हुए।

गीतोंकी जो धारा आदियुगसे प्रवाहित हुई, वह विभिन्न रूपोंमें बहती आयी—बैठकी गीत, तर्जा, कविगानसे सशक्त गीतोंने जन्म लिया। काव्यमें भी माइकेल मधुसूदन और रवीन्द्रनाथ युगान्तर लाये। नये छन्दोंकी योजना और नवीन भावोंके सभावेशसे एक नये युगका जन्म हुआ। मधुसूदनके दो सफल अनुयायी हुए हेमचन्द्र और नवीनचन्द्र सेन। दोनोंने कई उल्लेखनीय रचनाएँ कीं। बँगलाके अन्यतम श्रेष्ठ कवि विहारीलाल हैं। इनकी कविताओंमें सौन्दर्य और गीतिमत्ताका अपूर्व समन्वय है। विहारीलालकी सृष्टिकी भूमिकापर ही रवीन्द्रकी बहुमुखी और विविधतामयी प्रतिभाका अभ्युदय हुआ। रवीन्द्रके व्यक्तित्वकी दिशाएँ बहुत है। काव्यमें उनकी तीन दिशाएँ हैं—प्रकृति, प्रेम और आध्यात्मिकता और उनकी रचनाओंकी मुख्यतया तीन प्रवृत्तियाँ हैं—अन्तर्मुखी, बहिर्मुखी और ऊर्ध्वमुखी। गीत, कविता, निबन्ध, कहानी, उपन्यास, नृत्य-नाट्य, गीतनाटिका, सब-कुछ उन्होंने अधिकारपूर्वक लिखकर बंगसरस्वतीका भण्डार भरा। रवीन्द्रके समसामयिक गद्य-पद्य-लेखकोंमें प्रमुख हैं—अक्षयकुमार बड़ाल, सत्येन्द्रनाथ दत्त, कालिदास राय, रजनीकान्त सेन, यतीन्द्रमोहन बागची, मोहितलाल मजुमदार, प्रभातकुमार मुखोपाध्याय, काजी नजरुल इस्लाम, राखालदास बन्द्योपाध्याय, रामेन्द्रसुन्दर त्रिवेदी आदि। औपन्यासिकोंमें शरच्चन्द्र चट्टोपाध्यायने प्रभूत यश अर्जन किया। उनके 'देवदास', 'चरित्रहीन', 'श्रीकान्त', 'शेष प्रश्न', 'दत्ता', 'पथेर दावी', 'देना-पावना', 'विप्रदास' आदि उपन्यास बहुत ही प्रसिद्ध हुए।

रवीन्द्रके साथ बँगला साहित्यका एक युग समाप्त होता है और अनेक प्रवृत्तियोंकी नवीन चेतनासे उद्दीप्त नये युगका प्रारम्भ होता है। इस युगमें एक वैचित्र्य है और अनेक वादोंकी यह भावभूमि है। बँगलाके वर्तमान काव्यका आकाश तो वैसा उद्भासित नहीं, किन्तु कथा-साहित्यकी गति अबाध है और उसमें अनेक ओजस्विनी प्रतिभाओंके दर्शन होते हैं। विभूतिभूषण बन्द्योपाध्याय ('आरण्यक', 'पथेर पांचाली' आदिके लेखक), ताराशंकर बन्द्योपाध्याय (रचना–'रायकमल','धरती देवता', आरोग्य-निकेतन' आदि), विभूतिभूषण मुखोपाध्याय ('नीलांगुरीय' 'स्वर्गादपि गरीयसी' आदिके लेखक), बनफूल ('जगम', 'मानदण्ड', 'डाना' आदिके लेखक), परशुराम ('गड्डलिका', 'कज्जली', 'हनुमानेर स्वप्नभंग'), रवीन्द्र मैत्र ('त्रिलोचन कविराज', 'मानमयी', 'गर्ल्स स्कूल'), शैलजानन्द मुखोपाध्याय ('कयला कुठी', 'वाणभापि', 'नरमेध', 'अतसी') आदिने उपन्यास-साहित्यकी श्रीसमृद्धि बढ़ायी है। प्रबोध सान्याल, अन्नदाशंकर राय, अचिन्त्यकुमार सेनगुप्त, बुद्धदेव वसु, प्रेमेन्द्र मित्र, विमल मित्र, माणिक बन्द्योपाध्याय, शरदिन्दु बन्द्योपाध्याय, सतीनाथ भादुड़ी, अमलादेवी, प्रमथनाथ विशी, मनोज वसु आदि कथा-साहित्यका भण्डार भरनेमें दत्तचित्त हैं। साहित्यके अन्य अंगोंमें भी अनेक उल्लेखनीय प्रतिभाएँ सेवानिरत हैं।

मध्यकालीन बँगला काव्यपर हिन्दी (ब्रजभाषा)के प्रभावका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। आधुनिक कालमें पाश्चात्य साहित्यका हिन्दीपर प्रभाव बँगलाके माध्यमसे ही पड़ा। काव्यमें रवीन्द्रनाथका प्रभाव हिन्दीके छायावादी कवियोंपर स्पष्ट दिखाई देता है। गद्यके क्षेत्रमें डी० एल० रॉय (नाटक) तथा रवीन्द्र और शरत् (उपन्यास)से हिन्दीका कथा-साहित्य पर्याप्त प्रभावित हुआ है। —हं० कु० ति०

बंगाली १–दे० 'धरनी'।

बंगाली २–चर्यापदोंमें **वीर** नायक जब अद्वैतज्ञानकी प्राप्ति कर लेता है (दे०—'चण्डाली') तब उसे बँगाली कहा जाता है और उसे **चण्डाली**का स्वामी माना जाता है। —ध० वी० भा०

बंद–उर्दूमें जब किसी नामांकित विषयपर लिखी गयी कविता(नज्म)को एक ही तरहके कुछ टुकड़ोंमें बाँट दिया जाता है तो उसके हर टुकड़ेको 'बन्द' कहते है। इन बन्दोंका आकार कविकी इच्छापर निर्भर होता है। —म०

बंध–जब अमूर्त वर्णोंकी रचना खड्ग आदि आकारमें प्रकट होती है तब 'चित्र' नामक शब्दालंकारके वे रूप 'बन्ध' कहलाते है। दण्डीने 'गोमूत्रिका', 'अर्धभ्रम', 'सर्वतोभद्र' चित्रोंका वर्णन किया है (का० द०, ३ : ७८ : ८२)। 'अग्निपुराण'में बाण, बाणासन, व्योम, खड्ग, मुद्गर, शक्ति, मृदंग, पद्म, मुसल, अंकुश आदिको देकर इनकी अनन्तता दिखलायी गयी है—"एते बन्धास्तथा चान्येऽप्येवं ज्ञेयाः स्वयं बुधैः"। मम्मटने 'कष्टकाव्य' कहकर खड्ग, मुरज, पद्म तथा सर्वतोभद्रका ही उदाहरण दिया है। केशवकी 'कविप्रिया'में अन्तिम 'षोडश प्रभाव' चित्रालंकारके ही निमित्त लिखा गया है, जिसमें निरोष्ठ आदि ७, नियमिताक्षरी, बहिर्लापिका, गूढोत्तर आदि ७ तथा गोमूत्रिका आदि ७ और चक्र आदि ८का वर्णन है। 'काव्यनिर्णय'के इक्कीसवें उल्लासमें दास कविने केशवके समान ही चित्रालंकारका विस्तृत परिचय दिया है। काशिराजकी 'चित्रचन्द्रिका'

हिन्दीमे इस विषयकी सब्से पूर्ण रचना है। —ओ० प्र०

बका–'बका'का अर्थ स्थिति है। 'परमात्मामे स्थिति'को सूफी बका कहते है। 'परमात्मामे वास करना', 'सर्वव्यापी सत्ताके साथ आत्माका एकमेक होना' आदिका बोध 'बका' शब्दसे होता है। बादके सूफी इसे ही चरम लक्ष्य मानने लगे। सूफियोंका कहना है कि 'बका' **फना**के बाद स्थिति है। **फना**(दे०)की अवस्थामे 'अह' भाव तिरोहित हो जाता है। इस प्रकारसे 'फना'मे एक ओर तो साधकका अस्तित्व, उसका आत्मभाव जाता रहता है और दूसरी ओर बकामें स्वात्मकी मृत्युकी पूर्णाहुति परमात्मामे शाश्वत जीवनकी प्राप्तिके साथ होती है। उसका अवास्तविक, क्षणस्थायी जीवन समाप्त हो जाता है और वास्तविक, शाश्वत जीवन प्राप्त होता है। अब साधक केवल परमात्माके 'एकत्व'का ध्यान करता हुआ उल्लाससे पूर्ण उन्मत्त बना हुआ नही रहता, बल्कि अपने पिछले गुणोंको विशुद्ध और दिव्य रूपमे प्राप्त कर 'परमात्मामें वास' करने लगता है। उसकी विशुद्ध सत्ता परमसत्ताका अंग बनकर वर्तमान रहती है। यह शान्तावस्था है। बकामें आत्मा इच्छामे, रहित हो जाता है। बकामे आत्माका सर्वव्यापी सत्तासे उसी प्रकार अभेद होता है, जिस प्रकार वर्षाकी बूंदे जब समुद्रमे पडती है तो उनका अस्तित्व नष्ट नही होता, लेकिन उनका अपना एक अलग अस्तित्व भी नहीं होता। —रा० पू० ति०

बघेली–यह नाम बघेलखण्डमे सामान्य जनकी बोलीका द्योतक है। यह बोली पूर्वी हिन्दी(दे०)के अन्तर्गत आती है। उच्चारण और पदरचनाकी दो-एक विशेषताओंको छोडकर अवधीसे इसका कोई भेद नहीं है और इसीलिए बाबूराम सक्सेनाने इसको पृथक् बोली न मानकर अवधीकी ही एक बोली माना है। रीवॉ राज्यके नरेशोके संरक्षणमें बघेलीमें कुछ काव्यरचना हुई थी, किन्तु कोई विशिष्ट साहित्य नहीं मिलता। —बा० रा० स०

बधावा–(बधाईके गीत) पुत्रजन्मके अवसरपर गाये जानेवाले गीत बधावा कहलाते है। अन्य मांगलिक अवसरो-के कुछ गीत भी बधावे कहलाते है। सभी जनपदोमे बधाई-गीत, बधावे, बधावा, बधाई अथवा बदावा कहलाते है, इसकी निश्चित शैली नही है। —श्या० प०

बन्ना–लडकेके विवाहके अवसरपर गाये जानेवाले इस लोक-गीतको 'बना' या 'बरना' भी कहते है। 'बन्ना'का शाब्दिक अर्थ वर या दूल्हा होता है। इस अर्थके अनुरूप इस गीतमें वरके रूप-गुण एवं सौन्दर्य आदिका विशद वर्णन किया जाता है। यह गीत उत्तर प्रदेशके पूर्वी तथा पश्चिमी जिलोंमें विशेष रूपसे प्रचलित है और स्थान भेदके अनु-सार इसकी भाषा तथा शैलीमें भिन्नता पायी जाती है। विवाहकी लग्न पड जानेके बाद और खासतौरसे बरातकी निकासीसे पहले स्त्रियॉ इसे ढोलकपर गाती है। यह गीत मुसलमानोके यहॉ भी निकाहके अवसरपर बडे सुन्दर ढंगसे गाया जाता है। इसमें उर्दू तथा फारसी शब्दोंके प्रयोग अधिक मात्रामे मिलते है। राहुल सांकृत्यायन द्वारा सम्पादित 'आदि हिन्दीकी कहानियॉ और गीतें' नामक संग्रहसे एक 'बन्ना' गीतका आंशिक उदाहरण इस प्रकार है—"सुनेरी लचकदार बना मेरा किनने सजाया जी। बाबा सजाया जी दादी सजाया जी, दादीका ता दार। बना मेरा किनने सजाया जी"। इसमे 'बना' नामका एक मात्रिक छन्द भी बताया गया है। इसमे १०, ८ और १४के विरामसे ३२ मात्राएँ होती है। —र० भ०

बन्नी–यह गीत 'बन्ना'के एक भेदके अन्तर्गत आता है। इसे 'बनी' या 'बरनी' भी कहते है। इसमे वधूके शील, गुण और श्रृंगार आदिका गान किया जाता है—"मेरी नन्हीं मुन्नी बन्नीको किसने सजाया। माथे ऊपर बेंदी उसकी अम्माने लगाया—लडियोंपर नूर आके परियोने सजाया।" —र० भ०

बरवै–मात्रिक अर्द्धसम छन्द। इस छन्दके पहले, तीसरे पादोमे १२, १२ और दूसरे, चौथे चरणोमे ७, ७ मात्राएँ होती है। सम पादोके अन्तमे प्रायः जगण या तगण आता है। इस छन्दका नाम प्राकृत अपभ्रंश छन्दोकी चर्चा करनेवाले ग्रन्थोमे नही मिलता। हिन्दीके छन्दोकी चर्चा करनेवाले प्राचीन ग्रन्थोमें भी इसका उल्लेख नहीं मिलता–जैसे भिखारीदासके 'छन्दार्णव' ग्रन्थमे बरवैका विवरण नही दिया गया है। इससे प्रतीत होता है कि यह छन्द लोकगीतोके रूपमे प्रचलित था और पीछे इसको साहित्यमे अपनाया गया। हिन्दीमे तुलसीदासकी इसी छन्दके नामपर प्रसिद्ध कृति 'बरवै रामायण'मे सम्भवतः सबसे पहले इसका साहित्यिक प्रयोग मिलता है। उनके बाद भी यह छन्द-साहित्यमें बहुत लोकप्रिय नही हो सका। रहीमने अपने 'बरवै नायिका-भेद'में इसका बहुत सजीव प्रयोग किया है। सुन्दरदासके 'पूर्वाभास बरवै', रघुराज सिंहके 'रामस्वयंवर' तथा सेवकके 'नखसिख'मे इसका प्रयोग हुआ है। रहीमने बरवैमे बहुत सुन्दर लघु चित्र प्रस्तुत किये है—"लहरत लहर लहरिया, लहर बहार। मोतिन जरी किनरिया, बिथुरे बार"—और तुलसीका—"सात दिवस भये साजन, सकल बनाउ"।—रा० सिं० तो०

बहिर्मुखी–दे० 'मनोविश्लेषण'।

बहुदेवतावाद–बहुदेवतावाद कर्ममीमांसाका सिद्धान्त है। देवताका यहॉ तात्पर्य यज्ञका देवता है, जिसको हवि दी जाती है। यह देवता एक काल्पनिक सत्ता है, जिसका अभिधान, केवल यज्ञके लिए किया जाता है। यज्ञ न होता, यदि कोई देवता न माना जाता, जिसको कि हवि दी जाती है। इस प्रकार यह देवता याग या यज्ञ के अधीन है। इसके भौतिक शरीर नही होता, कोई आकार नही होता। यह कुछ खाता नहीं है। यह न दण्ड दे सकता है, न पुरस्कार। दण्ड या पुरस्कार तो कर्म या यज्ञसे उत्पन्न अपूर्व फल देता है। जितने याग है, उतने ही देवता है। इस प्रकार ऐसे देवताओंकी संख्या बहुत है और इस वादको बहुदेवतावाद कहा जाता है।

बहुदेवतावाद बहुदेववाद(दे०)से भिन्न है। बहुदेवतावाद वस्तुतः नास्तिकवाद है, क्योंकि देवताओंकी वास्तविक सत्ता नहीं, केवल काल्पनिक है। बहुदेववाद आस्तिकवाद है, जिसमे देवोकी वास्तविक सत्ता मानी जाती है। देव दण्ड या पुरस्कार देता है, वह साकार होता है, शरीरी होता है, वह यज्ञके परतन्त्र नही होता। वह पुरुषोकी नियतिका चितेरा है। देवता यह सब नहीं है। अस्तु, बहुदेवतावद

और बहुदेववादमें मौलिक अन्तर है। —सं० ला० पा०

बहुदेववाद—बहुदेववाद शब्द अंग्रेजीके 'पॉलिथीज्म' शब्दके लिए हिन्दीमें गढ़ लिया गया है। अंग्रेजीमें 'पॉलिथीज्म' शब्दसे एक ऐसे देवता-विधानका बोध होता है, जिसमें बहुतसे छोटे-बड़े देवता, जिनकी छोटाई-बड़ाई निश्चित रहती है, एक महादेवताके अधीन रहते हैं। प्लेटो अपने ग्रन्थोंमें ग्रीस देशके बहुदेवता-विधानको ऐसा ही बतलाता है। इसका बड़ा देवता जिऊस या जूपिटर है। तुलसीदासकी 'विनयपत्रिका'मे भी ऐसे देवता-विधानका परिचय मिलता है। वे रामको सबसे बड़ा देवता, देवता-सम्राट् मानते हैं। उनकी 'पत्रिका' उन्हींके पास जा रही है। पर रामके पहले अनेक कर्मचारी-देवताओंके पास उनकी पत्रिका जाती है। गणपति, सूर्य, ब्रह्मा, शिव, भैरव आदि रामके ही दरबारके सामन्त या कर्मचारी हैं। इस प्रकारका बहुदेववाद सामन्तशाही और साम्राज्यशाही समाजकी उपज है। प्लेटोके समय ग्रीसमें सामन्तशाही थी और तुलसीदासके समय भारतमें साम्राज्यशाही। दोनोंने परम ईश्वरको सबसे बड़े शासक और अन्य देवोंको उसके अधीन कर्मचारी रूपमें देखा।

उपर्युक्त बहुदेववादसे भिन्न वेदोंका बहुदेववाद है। वैदिक ऋषि अनेक देवोंकी ओर आकृष्ट हुए थे। वे प्रकृतिके तेजोदृप्त रूपसे उल्लसित होते थे और जिस वस्तुसे उनको यह उल्लास मिलता था, उसे वे 'देव' या देवता कहते थे। उषा, सविता, द्यावा, पृथिवी, जल, तेज, वायु, पर्जन्य, वरुण, इन्द्र, सूर्य, अग्नि इत्यादिको उन्होंने इसी अर्थमें देवता कहा। उन्होंने इनकी स्तुतियाँ कीं और इनसे बल, आयु, विद्या, धन-धान्य, वृष्टि, पुत्र आदिकी याचना की। उस समय वैदिक आर्योंमें उल्लास था, उत्सुकता थी, शत्रुओंपर विजय प्राप्त करनेकी इच्छा थी और थी सभी श्रेष्ठ वस्तुओंका उपयोग करनेकी कामना। अपनी इस प्रवृत्तिके कारण उन्होंने नाना देवोंकी कल्पना की और उनसे उनकी शक्ति लेनेकी चेष्टा की। पर उन्होंने प्रत्येक देवको स्वतन्त्र रखा, जैसे कि वे स्वयं स्वतन्त्र थे। जिस किसी देवकी वे स्तुति करते थे, वे उसको सर्वश्रेष्ठ समझते थे। इस कारण उनके नाना देव किसी सम्राट् देवके अन्तर्गत नहीं थे। उनका संघ स्वतन्त्र था। वे वस्तुओं या भावोंके तत्त्व या शक्ति के रूपमें सोचे गये थे। मैक्स-मूलरने इस प्रकारके बहुदेववादके लिए 'हेनोथीज्म' या 'कैथैनोथीज्म' शब्दका प्रयोग किया है। इसको हम एकैकदेववाद कह सकते हैं। यह बहुदेववाद या पॉलिथीज्म नहीं है। यह सर्वेश्वरवाद या पैनथीज्म भी नहीं है। ऐसा वेदके सभी अर्वाचीन पण्डितोंने स्वीकार किया है। पर नामकरण कर देनेसे कठिनाई दूर नहीं हो जाती। इसके भावको समझना अधिक महत्त्वपूर्ण है।

भाव यह है कि वैदिक ऋषि अनेक देवोंको देव इसलिए कहते थे कि उनमें 'देवत्व' था। देवत्वकी कल्पना सर्वत्र एक है। जिसमें शक्ति और तेजस्विता हो, जो महनीय और प्रार्थनीय हो, जो करुणावरुणालय और न्यायनिष्ठ हो, उसमें देवत्वकी कल्पना की जाती थी। शक्ति एक थी। अनेक रूपोंमें उसके होनेसे उसके अनेक नाम भी हो गये, पर प्रयत्न इस बातका किया गया कि बाह्य रूप भिन्न होनेपर भी सभी देवोंकी आन्तरिक एकता होनेके कारण उनको एक समान ही देव समझा जाय, छोटा या बड़ा नहीं। इस भावनाके फलस्वरूप वैदिक बहुदेववादकी कल्पना हुई।

उपर्युक्त भावको कुछ आधुनिक पण्डित उस कालकी प्रवृत्ति मानते हैं, जब कि वैदिक ऋषियोंका ध्यान अद्वैत या एकतत्त्वकी ओर चला गया था। उनके मतसे वैदिक ऋषि आरम्भसे ही अद्वैत-तत्त्वके ज्ञाता नहीं थे। उन्हें पहले पृथक्-पृथक् देवोंका ज्ञान हुआ, पृथक्-पृथक् देवोंकी उन्होंने उपासना की और कालान्तरमें सभी देवोंमें 'देवत्व'का सामान्य गुण देखकर सबको एक अद्वैत-तत्त्वका ही नामान्तर बतलाया। कुछ भी हो, पर इतना निर्विवाद है कि वैदिक बहुदेववादमें प्रत्येक देव पूर्ण रूपसे, समान रूपसे, देव है; वह किसी अन्य देवका अनुचर नहीं है।

वैदिक बहुदेववादको ही लेकर मध्ययुगीन भारतमें एकेश्वरवादके अनेक सम्प्रदाय विकसित हुए। वैष्णव, शैव, शाक्त, सौर, गाणपत्य और ब्राह्म इनमें मुख्य हैं। इन सभी धर्मोंका समन्वय स्मार्त धर्ममें हुआ, जो आज भी बहुदेववादके रूपमें चल रहा है। स्मार्त बहुदेववाद कभी-कभी अनुयायियोंकी प्रवृत्तिके कारण अंग्रेजीके पॉलिथीज्मके अर्थमें मान लिया जाता है। पर उसका वास्तविक अर्थ वही है, जो वैदिक बहुदेववाद या एकैकदेववादका है। किसी भी देवताको इष्ट मान लेनेपर उसकी उपासनामें ही अवान्तर रूपसे अन्य सभी देवोंकी उपासना हो जाती है। मध्य युगमें वैष्णवों, शैवों, शाक्तों आदिमें परस्पर उपास्य देवको लेकर झगड़े होते थे। पर स्मार्त आचार्योंके प्रयत्नोंसे उनका विरोध शान्त हो गया और भारतके सामान्य गृहस्थ हिन्दू सब देवोंको तुल्यबल मानने लगे।

यास्कने स्थान-विभागकी दृष्टिसे देवताओंको तीन श्रेणियोंमें विभक्त किया है—पृथ्वी-स्थान, अन्तरिक्ष-स्थान तथा द्यु-स्थान। पृथ्वी-स्थान देवोंमें अग्नि, नदी-देवता, वनस्पति-देवता (जैसे सोम) आदि हैं। अन्तरिक्ष-स्थान देवोंमें इन्द्र, उषा, पर्जन्य आदि हैं। द्यु-स्थान देवोंमें सूर्य, सविता, विष्णु आदि हैं। भाव-दृष्टिसे कुछ देव नीति-रक्षक हैं, जैसे वरुण, इन्द्र, पूषा आदि और कुछ प्रकृति-देव हैं, जैसे अग्नि, सूर्य, उषा आदि। जब वैदिक ऋषियोंका ध्यान आधिभौतिकसे आध्यात्मिक श्रेयकी ओर गया तो वे मन, प्राण, वाक्, विज्ञान, आनन्द, आत्मा आदिको देवता मानने लगे।

देवताओंकी संख्या कितनी है, इसका उत्तर देना कठिन है। पहले तो यही सिद्ध करना कठिन है कि देवता है कि नहीं। यदि उसका अस्तित्व सिद्ध हो जाय तो फिर यह बताना और भी कठिन है कि वह एक है या अनेक। एकेश्वरवादी एक देवता मानते हैं। पर उनका मानना अन्धविश्वास या श्रद्धाकी वस्तु है। यदि देवता है तो स्वतन्त्र विचारकको, जो किसीका अन्धभक्त नहीं है, अनेक देव मानना पड़ेगा। यही कारण है कि यूनान और भारतमें अनेक देव माने गये। यहूदी, ईसाई और इसलाम धर्मके अनुयायियोंने स्वतन्त्र विचारक होनेके स्थानपर अन्धभक्त

होना ही स्वीकार किया। अतः वे अपने प्रवर्तककी अनुभूतिके अनुसार एकदेववादी ही रहे। सच्चा एकेश्वरवाद रहस्यवाद है। यूनान तथा भारतके भी रहस्यवादियोंने एकेश्वरवादका ही समर्थन किया है। पर धर्म रहस्यवादसे पृथक् है, यद्यपि रहस्यवाद उसका प्राण है। धर्मको सार्वजनिक होना है। रहस्यवाद कभी सार्वजनिक नहीं हो सकता, क्योंकि वह व्यक्तिगत अनुभूति है। ऐसी स्थितिमें धर्म रहस्यवादपर आधारित हो या तर्कपर? तर्कपर आधारित होनेसे धर्मका वही विकास होगा, जो यूनान और भारतमें हुआ। रहस्यवादपर आधारित होनेसे उसका वही रूप होगा, जो इसलाम, ईसाई और यहूदी धर्मों मे है। रहस्यवादी धर्मोंमें स्वतन्त्र चिन्तनकी हत्या होती है और अन्ध-भक्ति या श्रद्धाका प्राबल्य रहता है। वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे इस मतसे अच्छा बहुदेववाद है, यद्यपि वह भी विज्ञानके समुन्नत होनेपर बहुत टिक नहीं सकता।

देवताओंकी संख्याका प्रश्न जटिल है। इस प्रसगमे 'बृहदारण्यक' उपनिषद्में निम्नलिखित संवाद उल्लेखयोग्य है—शाकल्य—'याज्ञवल्क्य, कितने देवगण है?' याज्ञ०—'तीन हजार तीन सौ छः।' शा०—'ठीक है। कितने देवगण है?' या०—'तैंतीस।' शा०—'ठीक। तो याज्ञवल्क्य, कितने देवगण है?' या०—'छः।' शा०—'ठीक है। हाँ, कितने देव है?' या०—'तीन।' शा०—'ठीक। कितने देव हैं?' या०—'दो।' शा०—'ठीक। कितने देव है?' या०—'डेढ़।' शा०—'ठीक। कितने देव है?' या०—'एक।'

इसपर शंकराचार्यका कहना समीचीन प्रतीत होता है कि पृथ्वी आदिके सूक्ष्म तारतम्य क्रमसे पूर्व-पूर्व पदार्थका उत्तरोत्तरवर्ती पदार्थमे ओतप्रोत भाव बतलाते हुए याज्ञवल्क्यने सर्वान्तर ब्रह्मको प्रकाशित किया है। इसीलिए संख्याएँ अधिकसे कम होते-होते एक हो गयी है और उस ब्रह्मका नामरूपात्मक द्वैतप्रपंचमे नियन्तृत्व बतलाया गया है। स्मार्त धर्ममे ब्रह्मा, विष्णु और महेश (पत्नियों सहित)—इन तीन देवोंकी तुल्य मान्यता है। परमेश्वरको इसमे त्रैत रूपमे देखा गया है। कुछ लोग इसे ईसाई मतके त्रैतभावका प्रभाव मानते है, पर भारतीय धर्म-साधनाके इतिहाससे स्पष्ट है कि यह बाह्य प्रभावके बिना ही ब्राह्म, वैष्णव और शैवके पारस्परिक समझौतेसे सम्भव हुआ है। इन देवोंके अतिरिक्त शक्ति, गणेश और सूर्यकी भी पूजा स्मार्त धर्ममें बराबर होती है। इस समय ब्रह्माकी पूजा बन्द हो गयी है और स्मार्त धर्ममें पंचदेवोंकी (विष्णु, शिव, गणेश, सूर्य, शक्ति)की ही उपासनाकी व्यवस्था है।

ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक दृष्टिसे धर्मके इतिहासमें बहुदेववाद एक आवश्यक कड़ी है। वनस्पति-पूजा, पशु-पूजा, वीर-पूजा, रहस्यानुभूति तथा एकेश्वर-पूजा प्राकृतिक धर्मके विकासमें मुख्य स्तर है।

रहस्यवादियोंमे मनोवैज्ञानिक भिन्नताओंके कारण उनकी एकेश्वरानुभूतिमें भी भिन्नताएँ हो जाती है। कोई शिवकी, तो अन्य विष्णु, राम, रुद, करीम, ईसा, मूसा, आदिकी अनुभूति करते हैं। इन रहस्यानुभूतियोंको ब्रह्मवादकी दृष्टिमे एक ही ठहरा दिया गया। जो ऐसा नहीं मानते, उनमे या तो अन्ध-एकेश्वरवाद आ गया और या तो साधारण बहुदेववाद। फिर एकेश्वरवाद और बहुदेववादके समन्वयसे अवतारवादकी कल्पना की गयी। यदि बहुदेववाद न होता, तो अवतारवादकी कल्पनाका उद्रेक असम्भव था। निर्गुण सन्त यद्यपि घोर एकेश्वरवादी थे, तो भी वे अवतारवादसे प्रभावित थे। उनका ब्रह्म सभी अवतारोंके नामसे पुकारा जाता है।

अनेक देवोंकी पूजासे भारतमे सालभर प्रतिमास कुछ-न-कुछ पूजा, उत्सव, पर्व आदि होते रहते हैं। इससे जीवनमे आमोद-प्रमोद तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोण आता है। धर्मसहिष्णुता, जो भारतका प्रधान गुण है, सम्भवतः बहुदेववादके फलस्वरूप ही है। साहित्य, संगीत, स्थापत्य, चित्रकला, मूर्तिकला और नृत्यकलाको बहुदेववादसे बहुत गति-शक्ति मिली। वैदिक युगमे बहुदेवता-विधानके अन्दर यज्ञ होते थे। यज्ञोंके होनेसे गणितशास्त्र, खगोल, ज्यामिति, रसायनशास्त्र आदिका विकास हुआ। भारतमे प्रत्येक विद्याका उद्भव धार्मिक कृत्योंसे ही हुआ—यह अधिकांश विद्वानोंका मत है।

भारतमे बहुदेववाद सदैव साधारण जनताका धर्म रहा है। सभी साधक, भक्त, सन्त, विद्वान् और दार्शनिक बहुदेववादसे ऊपर उठकर एकेश्वरवाद या ब्रह्मवादको मानते हैं, पर इनमे दो दल हो गये हैं। एक दल बहुदेववादको धर्म-साधनामे अनावश्यक बतलाता है तो दूसरा आवश्यक। हिन्दीमें निर्गुण सन्तों और वेदान्तियोंने बहुदेववादको अनावश्यक बतलाया। सगुण भक्तोंने इसे आवश्यक माना, यद्यपि एकेश्वर-प्राप्तिको उन्होंने भी बहुदेव-पूजासे श्रेष्ठ बतलाया। तात्त्विक दृष्टिमे बहुदेववाद ब्रह्मवादके रूपमे ही ठीक कहा जा सकता है, पर धार्मिक दृष्टिसे दोनोंमें पर्याप्त अन्तर है। बहुदेववादमें ब्रह्म-पूजाका विधान है और ब्रह्मवादमे आन्तरिक या मानसिक पूजा अथवा भक्तिका। प्राचीन बहुदेववादमे यज्ञ-विधान और वर्तमान बहुदेववादमे मूर्ति-पूजा, तीर्थाटन आदिकी व्यवस्था है। आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोणने इन सबके महत्त्वको कम कर दिया है। आधुनिक दर्शन अद्वैतवादकी शिक्षा देता है और विज्ञान भौतिकवादकी। इस प्रकार दोनो बहुदेववादपर ही नही, वरन् धर्म-सामान्यपर घोर प्रहार कर रहे है।

[सहायक ग्रन्थ—भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय; मध्ययुगकी धर्म-साधना : हजारीप्रसाद द्विवेदी।]

—सं० ला० पा०

बहुरा—बहुराका व्रत भाद्रपद मासकी कृष्णपक्षकी चतुर्थीको किया जाता है। इसे बहुला भी कहते है। इस व्रतकी कथाका प्रधान पात्र बहुला है, इसीलिए इसे बहुला या बहुरा कहा जाता है। इस दिन कन्याएँ तथा युवती स्त्रियाँ दिनभर व्रत रखती है। सायंकालको किसी नदी या तालाब में स्नानकर बहुला नामक गाय, उसके बछड़े तथा सिंहकी बालूकी प्रतिमा बनाकर स्त्रियाँ पुष्पादिसे उनकी विधिवत् पूजा करती है। तदनन्तर जौके सत्तू तथा गुड़ खाती है। यह व्रत सन्तानको देनेवाला तथा ऐश्वर्यको बढ़ानेवाला माना जाता है।

बहुला नामक गायको, जो जंगलमे चरनेके लिए गयी थी, किसी सिहने पकड लिया। गायके इस आश्वासन देनेपर कि मै अपने पुत्रको सान्त्वना देकर पुनः जंगलको लौट आऊँगी, सिहने उसे छोड दिया। बहुला अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार पुनः जंगलको लौट आयी। सिह उसकी सत्यवादिताको देखकर बडा प्रसन्न हुआ और उसे मुक्त कर दिया। संक्षेपमे बहुलाकी यही कथा है। इस कथासे पुत्रके प्रति माताका प्रगाढ प्रेम और प्रतिज्ञा-पालनका पता चलता है। परन्तु इस अवसरपर जो गीत गाये जाते है, उनमे ये बाते नही पायी जाती।

बहुराके गीतोंमें सास और वधूका शाश्वत विरोध, पति-पत्नीका प्रेम तथा किसी स्त्रीके अतिशय सौन्दर्यको देख उसपर मोहित होनेका उल्लेख उपलब्ध होता है। रेशमी नामक कोई रूपयौवनसम्पन्न स्त्री बाजार जा रही है, उसके लावण्यको देखकर राजाके मोहित होनेका वर्णन सुन्दर रीतिसे किया गया है। बहुराके गीत भी झूमरके समान शृंगार रससे लबालब भरे हुए है। —कृ० दे० उ०

बहूर—अरबी-फारसीके ढंगपर उर्दूमें जिन छन्दोका व्यवहार होता है, उन्हें बहूर कहते है (दे० 'गजल')। अवरोह (आहंग)के लिहाजसे शब्दोंकी आवाजोको सामने रखकर कुछ पैमाने नियत कर दिये गये है, इन्हींको बहूर कहते है। हर बहूरमें भिन्न-भिन्न रुक्न (चरण या अंग्रेजी छन्द-शास्त्रके फीट) होते है। ये रुक्न भी आपसमे छोटे-बड़े होते है। जैसे अंग्रेजी पिंगलमे आयम्बिक तथा डैक्टइलके दो और तीन स्वराघात होते है और उन्हीसे छन्दकी पहचान की जाती है, वैसे ही उर्दूमे भी फारसीके समान फेलुन, फायेलातुन, फायलुनकी नापसे बहूरें मुकर्रर है। बहूरोंकी छोटाई-बडाई और उतार-चढावसे उनके नाम रखे गये हैं। यहाँतककी सबसे बडी बहूरका जो **बहूरे-तवील** कहलाती है, एक-एक मिसरा, पचास शब्दोंसे अधिक होनेपर भी एक बहूरमे होता है।

कुछ बहूरें **रुबाई**(दे०) और **मसनवी**(दे०)के लिए नियत है। उर्दू पिगलकी किताबोंमें तो बहुत-सी बहूरें लिखी हैं, जिनमें शायरोंने शेर भी कहे है, परन्तु प्रधानतः उर्दूमे प्रचलित सात बहूरें हैं। —म०

बाउल—बंगालके गाँवोमें गीत गा-गाकर जीवनयापन करनेवाला एक सम्प्रदाय, जिसके अनुयायियोमेंसे कुछ हिन्दू होते है, कुछ मुसलमान। हिन्दू बाउल अधिकतर वैष्णव है और मुसलिम बाउल सूफी। दोनों दिव्य-प्रेमके मार्गके गायक है। 'बाउल' शब्दका हिन्दी रूप बाउर, बावला, बौरा, बावरा है, जिसे बातुल या व्याकुल इन दोनो शब्दोंका विकसित रूप माना जा सकता है। नरहरि नामक बाउलकी कुछ पंक्तियाँ ('मिडीवल मिस्टीसिज्म ऑव इण्डिया'में क्षितिमोहन सेन द्वारा उद्धृत) इनकी सामान्य प्रकृतिकी परिचायिका है—"अरे भाई मै बाउल इसलिए कहलाता हूँ कि मै न तो किसी मालिककी आज्ञा मानता हूँ, न किसीका शासन मानता हूँ, न किसी विधि-निषेध एवं परम्परागत आचार-व्यवहारकी पाबन्दीका कायल हूँ··"। इनका सर्वप्रथम परिचय १५वी शताब्दीके आस-पास मिलता है। पश्चिमी बंगालमें इनका प्रधान केन्द्र नदियाके आसपास है। ये अपनेको मानव जातिका न कहकर पक्षियोंकी जातिका कहते है, जो पृथ्वीपर चलनेकी अपेक्षा आकाशमे उडनेके अभ्यस्त होते है। इनके गीतोंकी कोई लिखित परम्परा नही है।

बाउलोंके बहुतसे सिद्धान्त तो ऐसे हैं, जो बौद्ध सिद्धोंसे लेकर सूफी साधकोंतकमे प्राप्त होते है, पर कुछ उनकी अपनी निजी विशेषताएं है। वे 'मनेर मानुष'के खोजी है और उसके सम्बन्धमे आतुर होकर कहते है, "कोथाय पाव तारे, आमार मनेर मानुष ये रे!" (हारामणि : मुहम्मद मंसूर उद्दीन)। यह 'मनेर मानुष' वास्तवमे कोई मानवोपरि परमात्मा नही, वरन् मनुष्यका ही एक आदर्श रूप प्रतीत होता है। उल्टी साधना, गुरुका महत्त्व, मानव-देहका महत्त्व आदि तत्त्व तो सहज-साधना-पद्धतिके अवशिष्ट चिह्न है, किन्तु 'मनेर मानुष'की स्थापना इनकी मौलिक देन है, जिसे रवीन्द्रनाथ ठाकुरतकने स्वीकार किया है (दे०—द रेलिजन ऑव मैन : रवीन्द्रनाथ टैगोर; आब्स्क्योर रेलिजस कल्टस : शशिभूषणदास गुप्त)। —यू० बी० भा०

बाण-दे० 'अहेरी'।

बारहमासा—बारहमासा लोक-गीतोका वह प्रकार है, जिसमे किसी विरहिणी स्त्रीके वर्षके प्रत्येक मासमे अनुभूत दुःखों तथा हार्दिक मनोवेदनाओंकी विवृति पायी जाती है। चूँकि इन गीतोमे सालके बारहों मासोंके दुःखोका वर्णन होता है, अतः इनको बारहमासाकी संज्ञा प्राप्त हुई है। इन गीतोंकी परम्परा प्राचीन जान पडती है। जायसीने 'पद्मावत'मे नागमतीके वियोगका वर्णन बारहमासाके द्वारा बडी ही मार्मिक रीतिसे किया है। बहुत सम्भव है कि जायसीने लोकमे प्रचलित इन गीतोंकी मधुरताको देखकर हो इन्हें नागमतीके विरह-वर्णनका माध्यम बनाया हो। सेनापतिके बारहमासे भी सुन्दर है। संस्कृतमे षट् ऋतुओंका वर्णन महाकाव्यका एक आवश्यक अंग माना जाता है। परन्तु प्रत्येक मासका पृथक् निर्देश कर पति-वियोगके कारण अनुभूत दुःखोंका वर्णन हिन्दी बारहमासोंकी निजी विशेषता है।

लोक-साहित्यमे प्रचलित बारहमासे प्रायः आषाढ माससे प्रारम्भ होते हैं। कहीं-कही वर्षके प्रथम मास चैत्रमे भी शुरू होते है। इनमें विरहिणीके कष्टोंका उल्लेख मासके क्रमसे होता है। जिसमे वियोगिनीके केवल छः मासों या चार मासोंकी दुःखानुभूतिका चित्रण उपलब्ध होता है, उसे छमासा या चौमासा कहते है। बॅगला लोक-साहित्यमें भी ये गीत उपलब्ध होते हैं और 'बारमाशी'के नामसे प्रसिद्ध हैं। ब्रज, अवधी, मैथिली, मालवी तथा भोजपुरी—इन सभी बोलियोमे ये गीत पाये जाते है, परन्तु भोजपुरीके बारहमासोंमें करुण तथा विषादकी बडी गहरी रेखा दिखाई पडती है। —कृ० दे० उ०

बालयोगी—हठयोगका वर्णन करते हुए 'सेकोद्देशटीका'में साधकोंकी चार श्रेणियाँ बतायी गयी हैं—बाल, प्रौढ, वृद्ध और प्रजापति। बालयोगी प्रारम्भिक अवस्थामे होता है, अतः उसका अधिकार **महामुद्रा**के पयोधरोंतक ही होता है। **महासुखकमल**की साधनासे साधकको जिस रसकी

प्राप्ति होती है वह बालयोगीके वशकी बात नहीं, क्योंकि वह तो केवल प्रारम्भिक साधक होता है, जो बोधिचित्तकी साधना करता है। —ध० वी० भा०

बालरंडा–धक्कामार भाषाका प्रयोग सिद्धों, योगियों, नाथों और सन्तोंको बहुत प्रिय है। गोमांस, अमरवारुणी आदिके प्रसंगमें हम इसे लक्ष्य कर आये हैं। बालरण्डा (बाल-विधवा) भी इसी तरहका शब्द है। हठयोगियोंने बाल-विधवाके साथ बलात्कार करनेका आदेश दिया है। पर यह सब चौंकानेकी बातें हैं। उनका तात्पर्य यही है कि इडा (गंगा) पिंगला (जमुना)के बीचमें बालविधवा कुण्डलिनीका निवास है। योगबल (बलात्कार)से इसे उद्‌बुद्ध करके सहस्रारतक पहुँचाने (अर्थात् अपहरण)में विष्णुका परमपद मिलता है (हठ० ३, १०१-२)। यहाँ एक बातका उल्लेख आवश्यक है कि सिद्धों, नाथों और योगियोंने इस तरहके वाह्यतः समाज-विरोधी अर्थोंका वहन करनेवाले शब्दोंका प्रयोग मात्र चौंकानेकी दृष्टिसे ही किया है, ऐसा नहीं है। निश्चय ही इस तरहके शब्दोंके पीछे तान्त्रिकोंके गुह्यसमाजोंमें चलनेवाली केलिप्रधान साधनाओंका परम्परागत अर्थ-सम्बन्ध है जिसे आगे चलकर कतिपय कारणोंसे अनुचित समझा गया और उनकी नयी व्याख्याएँ कर ली गयीं। —रा० सिं०

बावरीपंथ–'बावरी' शब्दका सामान्य अर्थ होता है पगली अथवा बावली। बावरीपन्थके विषयमें लिखनेवाले, कवयित्री बावरी साहिबाका निम्नलिखित सवैया उद्धृत करते हैं। इस सवैयासे बावरी शब्दका अर्थ कुछ अधिक स्पष्ट हो जाता है—"बावरी रावरी का कहिये, मन ह्वैकै पतंग भरै नित भाँवरी। भाँवरी जानहि सन्त सुजान, जिन्हें हरि रूप हिये दरसावरी। साँवरी सूरत मोहिनी मूरत, दै करि ज्ञान अनन्त लखावरी। खाँव री सौंह तेहारी प्रभू, गति रावरी देखि भई मति बावरी"।

कवयित्री निवेदन करती है कि "प्रभु! आपकी लीलाके सम्बन्धमें मैं क्या कहूँ? मेरा मन तो आपके चारों ओर पतंगके सदृश भाँवरें, चक्कर लगाया करता है। इस भाँवर लगानेका रहस्य केवल उसीको उद्भासित है, जिसने आपकी रूप-माधुरीका पान किया है। सौगन्ध खाकर कहती हूँ कि आपकी गतिविधि देखकर मैं तो बावली हो गयी हूँ"। अतः बावली या बावरी शब्दका यहाँपर अर्थ होता है ब्रह्मकी अद्‌भुत लीला देखकर चकित रह जानेवाली स्थिति।

बावरीपन्थकी संस्थापिका बावरी साहिबा थीं। बावरी साहिबाके पूर्व इस सम्प्रदाय या पन्थके संघटनकी रूपरेखा क्या थी, इसके सम्बन्धमें कुछ भी नहीं ज्ञात है। बावरी साहिबासे पहले इस विचारधाराका पोषण करनेवाले तीन साधक हुए। परन्तु इन साधकोंने न तो संघटनकी ओर ध्यान दिया और न प्रचारकी ओर। बावरी साहिबाका आविर्भाव इन साधकोंके अनन्तर चतुर्थ स्थानपर आता है। ये साधनाके क्षेत्रमें बड़ी कुशल थीं। इसीलिए इनके अनन्तर होनेवाले साधकोंने इस पन्थका नाम बावरीपन्थ रखा। पन्थके छठे व्यक्ति यारी साहबने पन्थको सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया और इसके प्रचारके लिए भी प्रशंसनीय प्रयत्न किया।

बावरी साहिबाकी परम्पराका प्रारम्भ गाजीपुर जिलेके पटना गाँवके निवासी रामानन्दसे माना जाता है। रामानन्दके शिष्य दयानन्द हुए और दयानन्दके शिष्य मायानन्द। मायानन्दके अनन्तर बावरी साहिबाका स्थान है। बावरीकी प्रेरणा और दीक्षासे बीरू साहबने साधनामें ख्याति प्राप्त की। बीरूके बाद यारी साहब या यार मुहम्मद, केसोदास, बूला साहब (ई० १६३२से १७०९), गुलाल साहब (मृत्यु ई० १७५९), भीखा साहब (मृत्यु ई० १७९१), चतुर्भुज साहब (मृत्यु ई० १८१८), नरसिंह साहब (मृत्यु ई० १८९२), जै नारायण साहब (मृत्यु ई० १९२४) आदि प्रसिद्ध विचारक और सन्त हुए। इन्होंने बावरी पन्थकी परम्पराओंको बल दिया।

बावरी पन्थमें व्यक्तिगत सदाचार और नैतिकताकी ओर अधिक ध्यान दिया गया है। इसी कारण इस पन्थमें आचार और आचरणकी शुद्धता अपना विशेष महत्त्व रखती है। इस पन्थके प्रचार और प्रसारमें साधकों तथा शिष्योंने विशेष ध्यान नहीं दिया। इसी कारण इस पन्थका विशेष प्रसार नहीं हो सका। परन्तु इतना अवश्य है कि इस पन्थने अच्छे विचारक और कवियोंको जन्म दिया जिनमें यारी साहब, बूला साहब, जगजीवन साहब, गुलाल साहब, पलटू साहब तथा भीखा साहबका नाम विशेष आदरके साथ लिया जाता है। इस पन्थके कवियोंपर वेदान्त और सूफी दर्शनका प्रचुर प्रभाव पड़ा।

बावरी पन्थमें अजपाजापकी स्वाभाविक क्रियाको बहुत महत्त्व दिया गया है। सद्‌गुरुकी कृपासे अगम्य ज्योति तथा परमतत्त्वकी उपलब्धि होती है। स्वानुभूति, सुरति-शब्दयोग या चतुर्थ पदकी प्राप्ति सद्‌गुरुकी कृपा और निर्देशके द्वारा हो सकती है। सुरतिका सम्बन्ध काल या शब्दतत्त्वके साथ जोड़ रखना नितान्त आवश्यक है। ब्रह्मका साक्षात्कार नाम-जपसे होता है। सुरति-शब्दयोग, इस प्रकारके साक्षात्कारमें बड़ा सहायक है। योगका सच्चा ज्ञाता ही इस सुरति-शब्दयोगके रहस्यको समझ सकता है। आत्म-विचार ज्ञानयोगकी आधारशिला है। आत्मानुभूति एवं एकतानता आत्म-विचारके बिना सम्भव नहीं है। सत्संगकी महिमा अवर्णनीय है। ब्रह्म ही अविनाशी दूल्हा है। वह चेतन एवं निरन्तर शून्य है। एक ही तत्त्वकी अनेकरूपता सर्वत्र प्रतिभासित है। सोना एक ही होता है, परन्तु उससे निर्मित आभूषणोंके आकार-प्रकारमें विभिन्नता होती है। उसी प्रकार एक ही सर्वात्मा समस्त सृष्टिका मूल स्रोत है। बावरी पन्थके उज्ज्वल रत्न पलटू साहबने ब्रह्मकी अद्वैत सत्ता स्पष्ट करते हुए कहा है, "जोई जीव सोई ब्रह्म एक है"। संक्षेपमें बावरी साहिबामें आध्यात्मिक दीवानापन, यारी साहबमें सूफी संस्कार, गुलाब एवं भीखा साहबमें वेदान्ती तत्त्व तथा पलटू साहबमें ये सभी तत्त्व समन्वित होकर अभिव्यक्त हुए हैं।

बावरी पन्थमें प्रायः डेढ़ दर्जन उत्कृष्ट कवि हुए। इनमें विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं—बीरू साहब, यारी साहब, केशवदास, बूला साहब, गुलाल साहब, भीखा साहब तथा पलटू साहब। यारी साहबकी कविताओंका संग्रह 'रत्नावली' और केशवदासका 'अमीघूँट' प्रयागमें प्रकाशित हो चुका है।

बूला साहबका 'शब्दसागर', गुलाल साहबकी बानी भी उक्त प्रेससे प्रकाशित हुई है। गुलाल साहबकी दो और पुस्तकों 'ज्ञानगुष्टि' तथा 'रामसहस्रनाम'का उल्लेख हुआ है। भीखाकी 'राम कुण्डलियो', 'राम सहस्रनाम', 'रामसबद', 'रामराग', 'रामकवित्त' तथा 'भगतवच्छावली'का प्रकाशन बेलवेडियर प्रेससे 'भीखा साहबकी बानी' नामसे हो चुका है। हरलाल साहबके नामपर चार ग्रन्थ 'शब्द', 'चतुर-मासा', 'कुण्डलियाँ' तथा 'पदसंग्रह' प्रसिद्ध है। पलटू साहबकी कविताओंका संग्रह तीन भागोंमे प्रयागके बेलवेडियर प्रेससे प्रकाशित है। इसमें लगभग १००० पद संगृहीत है। नेवलदास, खेमदास, देवीदास, पहलवान-दास, देवकीनन्दन आदिकी रचनाएँ अप्रकाशित है। इनमेंसे पलटू साहब सबसे सामर्थ्यवान् कवि थे। इनमें प्रचुर काव्यप्रतिभा थी। विचारोंकी स्पष्टता और भावोंकी सुष्ठु अभिव्यंजना इनकी विशेषता है।

[सहायक ग्रन्थ—उत्तरी भारतकी सन्त परम्परा: परशुराम चतुर्वेदी।] —त्रि० ना० दी०

बा-शरा–वे सम्प्रदाय, जो **शरीअत**को मानकर चलते है। ये संप्रदाय बहुत दूरतक सनातन-पन्थी इसलामके आचार-विचारको ध्यानमे रखकर चलते हैं। प्रायः सभी प्रमुख सूफी-सम्प्रदाय और उप-सम्प्रदाय इसके अन्तर्गत आ जाते है। —रा० पू० नि०

बाह्यवादी काव्य–दे० 'वस्तुनिष्ठ' (काव्य)।

बाह्यार्थनिरूपक (काव्य)–दे० 'वस्तुनिष्ठ' (काव्य)।

बाह्यार्थपरक (काव्य)–दे० 'वस्तुनिष्ठ' (काव्य)।

बाह्यार्थमूलक (काव्य)–दे० 'वस्तुनिष्ठ' (काव्य)।

बाह्यार्थव्यंजक (काव्य)–दे० 'वस्तुनिष्ठ' (काव्य)।

बिंदु १–अर्थ-प्रकृतिकी पाँच स्थितियोंमेंसे दूसरी स्थिति। "अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम्" अर्थात् किसी दूसरे अर्थ या कथासे विच्छिन्न हो जानेपर इतिवृत्तके जोड़ने या आगे बढानेके कारणको बिन्दु कहा जाता है। जैसे तेलकी बूँद पानीमें फैल जाती है, वैसे ही बिन्दु भी नाटकीय कथा-वस्तुमें फैल जाता है। 'प्रसाद'के 'स्कन्दगुप्त'-के प्रथम अंकके "अन्तिम दृश्यमें बिन्दु अर्थ-प्रकृतिका आरम्भ हो जाता है, क्योंकि मुख्य कथावस्तु अविच्छिन्न बनी ही रहती हैं और अवान्तर, जो मालव-विजयका प्रसंग है, वहाँ अग्रसर होती हुई दिखाई पडती है। इसके पश्चात् अवान्तर कथा तो उत्तरोत्तर अग्रसर होती जाती है और आधिकारिक कथा भी बराबर चलती रहती है। इस प्रकार बिन्दुका प्रसार तृतीय अंकके प्रथम दृश्यकी समाप्तितक चलता है" ('प्रसाद'के नाटकोंका शास्त्रीय अध्ययन: जगन्नाथ शर्मा)। —ब० सि०

बिंदु २–शब्द-साधनामे संसारमे व्याप्त **अनाहत नाद**को पिण्डमें भी स्थित माना गया है। नादसे प्रकाश होता है और प्रकाशका व्यक्त रूप है बिन्दु, जो तेजका प्रतीक है। बिन्दुके तीन प्रकार है—इच्छा, ज्ञान, क्रिया। नाद और बिन्दुकी यह क्रीड़ा ब्रह्माण्डमें व्याप्त है। पिण्डमें यही बिन्दु वीर्यबिन्दुके रूपमें है और हठयोगी साधक उसी बिन्दुको कारणसे बचाकर ऊपरकी ओर उन्मुख करता है। बौद्ध तथा शाक्त तान्त्रिक साधनाओंमें बज्रोली, सहजोली आदि कई क्रियाएँ ऐसी थीं, जिनमे साधक मुद्रासे समागम करते हुए भी बिन्दुको स्खलित नही होने देता था, बल्कि उसे ऊपर खींचता था। ऐसे योगीको ही ऊर्ध्व-रेतस् कहा जाता है। —ध० वी० भा०

बिंब–दे० 'प्रतिमा' (सौन्दर्यानुसन्धायिनी), 'बिंबविधान'।

बिंबप्रतिबिंबोपमा–दे० 'उपमा', पांचवाँ प्रकार।

बिंबविधान–मनुष्यके जीवनमें बिम्बविधान अथवा कल्पना-का बडा महत्त्व है। प्रस्तुत परिवेशके संवेदनों और प्रत्यक्षके अतिरिक्त उसके मानसमें अतीतकी तथा कभी अस्तित्व न रखने, न घटनेवाली वस्तुओं और घटनाओंकी असंख्य प्रतिमाएँ भी रहती है। बिम्ब शब्द इसी मानस प्रतिमाका पर्याय है। इन बिम्बों या प्रतिमाओंका वर्गीकरण दो प्रकार-से किया जाता है। उद्भवके आधारपर प्रतिमाएँ दो प्रकार-की मानी जाती है—स्मृतिजन्य और स्वरचित; और ज्ञानेन्द्रियोंके आधारपर दृष्टि, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श प्रतिमाएँ आदि अनेक प्रकारकी होती है। स्मृतिजन्य बिम्ब पूर्वगामी अनुभूतिका पुनरुत्पादमात्र होता है, जैसे अपने किसी मित्रकी याद करनेपर उसके रूप, स्वर आदिकी दृष्टि और शब्द-प्रतिमाएँ हमारे मनमें आ जाती है। स्वरचित प्रतिमाएँ अपेक्षाकृत नूतन और मौलिक होती है, यद्यपि उनके निर्मायक घटक हमारे अनुभवमे अलग-अलग आ चुके होते है। जैसे 'मेघदूत' स्वयं कविकी स्वरचित नूतन प्रतिमा है, वह हमारे प्रत्यक्ष अनुभवमें न कभी आया है, न आ सकेगा। हाँ, हमने मेघ और दूतको अलग-अलग अवश्य देखा है। यह नूतन प्रतिमा-निर्माण या बिम्बविधान समस्त काव्य, कला, संगीत और नवनिर्माणका मूलाधार है। भाषा और चिन्तनके मूल उपादान बिम्ब ही है।

व्यक्तियोंकी बिम्बविधान सम्बन्धी क्षमतामे बडा अन्तर होता है। दृष्टि सम्बन्धी बिम्बविधान या कल्पनाकी क्षमता प्रायः सभी व्यक्तियोंमे मिलती है। दूसरा स्थान शाब्दिक बिम्बविधानकी क्षमताका है। गन्ध, रस, स्पर्श सम्बन्धी कल्पनाकी क्षमता अपेक्षाकृत कम लोगोंमे मिलती है। कुछ व्यक्तियों तथा दससे पन्द्रह वर्षतककी आयुके अधिकांश बालकोंमें एक विशिष्ट प्रकारकी शक्ति होती है। जटिलसे जटिल दृश्यको एक बार कुछ सेकण्डोंतक देख लेनेके बाद वह उनके मनपर अत्यन्त तीक्ष्णतासे अंकित हो जाता है। यहाँतक कि उद्दीपकके हटा लिये जानेपर भी वे उस दृश्यके सूक्ष्मतम ब्यौरेका इस तरह वर्णन कर सकते हैं कि जैसे वह उनके प्रत्यक्ष हो। कुछ कवियों और कलाकारोंमे यह क्षमता होती है।

साहित्य-रचनामें बिम्बविधानका स्वरूप बहुत-कुछ कवि या लेखकके अपने व्यक्तित्वपर निर्भर करता है। रचनाकी शैलीसे ही व्यक्तिके विषयमें अनुमान नही किया जा सकता, उसके बिम्बविधानसे भी किया जा सकता है। वाल्मीकि, कालिदास और अश्वघोषका बिम्बविधान उत्कृष्ट होते हुए भी विशिष्ट प्रकारका है। कबीर, सूर और तुलसीदासकी रचनाओंमें भी यही बात मिलती है। 'प्रसाद', पन्त, 'निराला' और महादेवीका बिम्बविधान उनके व्यक्तित्वके अनुसार अपने ढंगका है। —आ० रा० शा०

बिदेसिया–उत्तरप्रदेशके पूर्वी जिलोंमें, विशेषकर बलिया, देवरिया तथा बिहारके पश्चिमी जिलों (आरा और छपरा)में 'बिदेसिया'के गीत अत्यन्त लोकप्रिय हैं। ये साधारण जनताकी जिह्वापर सदा नाचते रहते हैं। इन सुप्रसिद्ध 'बिदेसिया' गीतोंके रचयिता भिखारी ठाकुर हैं, जो बिहारके छपरा जिलेके निवासी हैं। इन्होंने अपना परिचय देते हुए स्वयं लिखा है कि "जातिके हजाम मोर कुतुबपुर ह मोकाम, छपरासे तीन मील दियरामें बाबूजी। पुरुबके कोनापर गंगाके किनारेपर, जाति पेसा बाटे विद्या नही बाटे बाबूजी"। इससे पता चलता है कि भिखारी ठाकुर एक अनपढ लोककवि हैं। परन्तु इनकी प्रतिभा बडी विलक्षण है।

भिखारी ठाकुरने 'बिदेसिया' नामक नाटककी रचना की है, जिसकी कथा संक्षेपमे इस प्रकार है—कोई व्यक्ति जीविकोपार्जनके लिए विदेश (कलकत्ता, रगून) जाता है। वहाँ जाकर वह अपने घर की सभी सुध-बुध भूल जाता है। उसकी स्त्री उसके वियोगके कारण अनेक कष्ट सहन करती है। अन्तमें किसी बटोहीके द्वारा वह अपना दुःखद सन्देश पतिके पास भेजती है, जिसे सुनकर वह अपनी नौकरी छोडकर घर लौट आता है। इस कथाको भिखारी ठाकुरने बड़ा ही सुन्दर नाटकीय रूप दिया है। इसी नाटकमें वह सुप्रसिद्ध गीत उपलब्ध होता है, जो 'बिदेसिया' गीतके नामसे प्रख्यात है। चूँकि इस गीतकी प्रत्येक पंक्तिमें 'बिदेसिया'का नाम आता है, अतः इस लोकगीतको 'बिदेसिया'के नामसे अभिहित किया जाता है। इस गीतकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार है—"गवना कराइ सइयाँ घर बइठवले से अपने चलेले परदेस रे बिदेसिया। चढ़ली जवनियाँ बैरिन भइली हमरी से के मोर हरिहै कलेस रे बिदेसिया॥ दिनवाँ बीते ला सइयाँ बटिया जोहत तोर रतिया बितेली जागि-जागि रे बिदेसिया। घरी राति गइले पहर रात गइले से धधके करेजवामें आगि रे बिदेसिया"। इस गीतमें विरहकी तीव्र व्यंजना पायी जाती है। लोककविने विरह-वेदनाकी जो अनुभूति दिखायी है, उसकी उपलब्धि अन्यत्र कठिन है। समस्त गीत करुण रससे ओतप्रोत है, जिसका प्रभाव श्रोताओंके हृदयपर अमिट रूपसे पडता है।

भोजपुरी प्रदेशमें बिदेसिया नाटकका इतना अधिक प्रचार है कि सहस्रोंकी संख्यामे ग्रामीण जनता इसके अभिनयको देखनेके लिए उपस्थित होती है। अपनी युवावस्थामें भिखारी ठाकुर इन अभिनयोंमे स्वयं भाग लेते थे। अब उनके शिष्योंने अनेक नाटक मण्डलियोंकी स्थापना की है, जो इस नाटकका अभिनय करती है। भिखारीके 'बिदेसिया' नाटककी नकलपर अनेक 'बिदेसिया' नामक नाटकोंकी रचना भी हो गयी है, जिनमेंसे नाथशरण पाण्डेयकी कृति अधिक प्रसिद्ध है। भिखारीने इस नाटकको लिखकर उस नाटक-सम्प्रदायकी प्रतिष्ठा की है, जो 'बिदेसिया'के नामसे विख्यात है।

इस नाटकमें सामाजिक बुराइयों, विशेषकर बालविवाह और वृद्धविवाहकी ओर जनताका ध्यान उन्हींकी बोली भोजपुरीमें आकर्षित किया गया है। इसकी भाषा बड़ी प्रांजल, सरस एवं मधुर है। यही कारण है कि यह नाटक जनताको इतना प्रिय है। —कृ० दे० उ०

बिरहा–बिरहा अहीरोंका जातीय लोकगीत है। लोकगीतोंमे उसका स्थान उसी तरह महत्त्वपूर्ण है, जिस तरह संस्कृतमे द्विपदी, प्राकृतमें गाथा और हिन्दीमे बरवैका है। "न बिरहाकी खेती करै, भैया, न बिरहा फरै डार। बिरहा बसलै हिरदयामे हो, राम, जब तुम गैले तब गाव"। बिरहाकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें भोजपुरी बिरहाकी उक्त पंक्तियाँ द्रष्टव्य है। यह मुख्य रूपसे प्रेम और विरहकी उपयुक्त व्यंजनाके लिए सार्थक लोकछन्द है। विप्रलम्भ शृंगारकी अधिकांश बिरहामें स्थान प्राप्त है। कहते है, इसका जन्म भोजपुरी प्रदेशमें हुआ। गड़रिये, पासी, धोबी, अहीर और अन्य चरवाह जातियाँ कभी-कभी होड बदकर रातभर बिरहा गाती है। बिरहामें पहले देवी-देवताओंकी स्तुति की जाती है, तत्पश्चात् कौटुम्बिक जीवनके विभिन्न सम्बन्धोंका स्वाभाविक. वर्णन, ग्राम-जीवनके चित्र, प्रेम और विरहके कोमल प्रसग, नैहर और ससुरालकी मीनमेख, नायिकाओंकी प्रणय-उमंगे, अनब्याही ग्रामीण नारीकी व्यथा, सास-बहूके झगड़े, ननद-भावजकी चुहल आदि विषयोंके वर्णन मुखर होते हैं। यद्यपि बिरहा भोजपुरकी धरतीमे उपजा है, तथापि आजके लोक-जीवनमे बिरहाने समस्त कृषक जातियोंके गीतोंमे अपना स्थान बना लिया है। गाते समय उठनेवाली आवाजकी ऊँचाईसे दूर-दूरतक वन-प्रान्तरमे हृदयकी टीस गूँजने लगती है। यह दो कड़ियोंकी रचना है। जब एक पक्ष अपनी बात कह लेता है तो दूसरा पक्ष उसी छन्दमे उत्तर देता है। मात्राओंकी संख्या इसमे सीमित नही होती। गानेवालेकी धुनपर मात्राएँ घट-बढ जाती है। —श्या० प०

बिरहनी–सन्तोंने विरहनी, विरहनि आदि रूपोंमें इस शब्दका प्रयोग मुख्यतः तीन भिन्न अर्थोमे किया है—(१) बिरहिणी, २. विशेष रहनि (स्थिति या जीवन विधि)वाली तथा वि (पक्षी अर्थात् खग)की तरह रहनेवाली। सन्त विरहको बहुत अधिक महत्त्व देते है। वैसे इसकी पीड़ा असह्य है। विरह भुजंगका विष जब शरीरमें फैल जाता है तो किसी मन्त्रका असर इसपर नही होता। राम वियोगीकी कबीरकी दृष्टिमें दो ही स्थितियाँ है या तो वह मर जाता है या पागल हो जाता है—"बिरह भुअंगम तन बसै, मन्त्र न मानै कोइ। राम बियोगी ना जिअै, जिअै त बउरा होइ" (कबीर)।" यह ऐसा विरह है, जिसका कोई अन्त नही। चकईका प्रेम प्रसिद्ध है, उसकी विरह पीड़ा भी प्रसिद्ध है, पर विरहिणीकी पीड़ासे उसकी क्या समता? रातकी बिछुडी चकई सबेरे प्रियको पा लेती है, पर रामकी विरहिणी—"चकई बिछुरी रैनिकी आइ मिलै परभाति। जे जन बिछुरे राम सौं ते दिन मिले न राति" (कबीर)। गुरु इसी विरहका बाण मार कर कलेजेको छेद देता है। किन्तु साथ ही जिसे इस विरह पीड़ामे रस मिलता है, जो विरहकी ओदी (आर्द्र, गीली) लकरीकी तरह धुँधुआती रहना चाहती है और निवेदन करती है कि "जिहिं सरि मारा काल्हि, सो सर मेरे मन बसा। तिहि सरि आजहूँ मारि, सर बिनु सचु पाऊँ नही" (कबीर)। ऐसी विरहिणीकी रहनी विशेष

होनेको बाध्य है। वह जानती है कि "हसि हसि कंत न पाइऐ, जिन पाया तिन रोइ। हाँसी खेलाँ पिउ मिलै तौ नहीं दुहागिनि कोइ" (कबीर)। वह यह भी जानती है कि उसका विरह रातकी समाप्तिके साथ बीत जानेवाला चकईका विरह नहीं है। यह वह विरह है, जिसे पाकर शरीर सार्थक होता है। जिस तनमें विरह संचरित नहीं हुआ वह शरीर नहीं, मसान है; मृत, निर्जीव पंचभूतोंका समुच्चय मात्र। विरहके कारण रोना पीटना उसे पसन्द नहीं आता। वह तो साफ-साफ समझा देना चाहती है—"बिरहा-बिरहा मति कहौ, बिरहा है सुल्तांन। जिहि घटि बिरह न संचरै सो घट सदा मसान"। स्पष्टतः विरहके प्रति इस प्रकारकी आस्था सामान्य विरहिणीकी जीवन विधि या रहनीमें नहीं होती। यह गीली लकड़ीकी तरह धुँधुआती रहने और विरहवाणकी चोटको फिर-फिर आमन्त्रित करनेकी वृत्ति वियुक्ता आत्माकी विलक्षण सुरति (१. स्मृति—ब्रह्मसे अपने सम्बन्धकी स्मृति, आत्मा एवं परमात्माके एकत्वकी स्मृति, अपने सच्चे स्वरूपकी स्मृति, प्रियके मोहनरूपकी स्मृति तथा २. प्रीति=सुन्दर रति)की परिचायिका है जो सामान्य लौकिक विरहिणीसे विशिष्ट है। संत इस विशिष्टताका स्पष्ट संकेत तो पद-पद पर देते ही हैं। विरहनीके तीसरे अर्थकी संगति भी उनके हर प्रयोगमें बैठती चलती है। सिद्धों एवं नाथोंकी तरह सहजोली, अमरोली, वज्रोली जैसी, कभी दस और कभी अनन्त, मुद्राओंमें सन्तोंको कोई खास आस्था नहीं थी, पर खेचरीमुद्रा उन्हें पसन्द थी, गगनोपम भाव उन्हें प्यारा था, खग (दे०—खग) कहते समय वे खेचरत्वको याद रखते थे, अमरवारुणीका खेचरी अर्थ उन्हें पूर्णतया स्वीकृत था और खसमका गगनोपम अर्थ भी उन्हें उतना या उससे अधिक ही स्वीकार्य था, जितना उसका प्रिय अर्थ। 'बिरहनी' कहते समय पक्षीकी तरह आकाश, शून्य, सहस्रार या ख-में निवास करनेका संकेत भी सन्त स्पष्टतः देना चाहते हैं। इसको सर्वत्र लक्ष किया जा सकता है। सन्त स्वयंको रामकी बहुरिया और राम-वियोगी मानते हैं और जहाँ 'अलह-रामकी भी गम नहीं' हो सकती, ऐसे शून्यका अपनेको वासी बताते हैं। 'दर्द दीवाना' रहकर भी 'बेकरार' न होनेवाले ये विरही ("हमन तो दर्द दीवाना हमन को बेकरारी क्या"—कबीर), विरहनी शब्दसे खगकी रहनीका संकेत देना चाहें, यह सहज स्वाभाविक है क्योंकि खगका सम्बन्ध वे खेचरत्वसे अवश्य जोड़ते हैं। —रा० सिं०

बिलैया—भारतवर्ष कृषि-प्रधान देश है और चूहे कृषिका प्रधान शत्रु, अतः हमारे घरेलू जानवरोंमें बिल्ली प्रमुख है। कम-से-कम चूहोंके लिए काफी खूँखार भी है, अतः ग्राम कथाओंमें बार-बार यह शेरकी मौसी रूपमें चित्रित मिलती है। मक्कार भी बहुत होती है। अजानी-सी कोनेमें दुबकी रहकर चूहोंको इस कलासे पकड़ती है कि कभी वार खाली नहीं जाता। सन्तोंने मायाको जिस रूपमें समझाना चाहा है, उसमें बिल्लीके उक्त सारे गुण पाये जाते हैं, अतः इसका प्रयोग सन्त साहित्यमें बहुधा (या सदा) मायाके अर्थमें हुआ है। —रा० सिं०

बिहारी—बिहारी बोलियोंका समूह, जिसके अन्तर्गत भोज-पुरी, मैथिली तथा मगहीकी गणना होती है। बिहारी भाषाओंकी उत्पत्ति मागधी अपभ्रंशसे मानी जाती है। बिहारी भाषाके प्रदेशमें साहित्यिक भाषाके रूपमें हिन्दीका प्रयोग होता है। बिहारीके लिए तीन लिपियोंका प्रयोग होता है। मुद्रण आदिके लिए देवनागरी लिपिका प्रयोग होता है, लिखनेमें सामान्यतः कैथी व्यवहारमें आती है तथा मैथिल ब्राह्मणोंके व्यक्तिगत व्यवहारकी मैथिली लिपि अलग है। —सं०

बीज—अर्थ-प्रकृतिकी पाँच स्थितियोंमेंसे पहली स्थिति। 'दश-रूपक'के अनुसार "स्वल्पोद्दिष्टस्तु तद्धेतुर्बीज विस्तार्यनेकधा", अर्थात् रूपकके आरम्भमें स्वल्पसंकेतित वह हेतु, जो अनेक विधि विस्तृत होता हुआ इष्ट या फलका कारण होता है, बीज है। जैसे बीजसे अनेक शाखाओं और पल्लवोंसे युक्त वृक्ष उत्पन्न होता है, वैसे ही प्रारम्भमें उल्लिखित हेतुका भी नाटकमें काफी विस्तार होता है। इसीलिए इसे भी 'बीज'-की संज्ञा दी गयी है। 'स्कन्दगुप्त'के प्रथम दृश्यमें बीज उस स्थलपर दिखाई पड़ता है:—"जहाँ स्कन्दगुप्तके पूछनेपर कि 'अधिकारका उपयोग करें! वह भी किसलिए?' पर्णदत्तने अधिकार-युक्त वाणीसे उत्तर दिया है 'किसलिए! त्रस्त प्रजाकी रक्षाके लिए, शिशुओंको हँसानेके लिए, सतीत्वके सम्मानके लिए, देवता, ब्राह्मण और गौओंकी मर्यादामें विश्वासके लिए, आतंकसे प्रकृतिको आश्वासन देनेके लिए आपको अधिकारोंका उपयोग करना होगा'। इसी स्थलसे अधिकारी उदात्त कार्यव्यापारोंकी ओर संलग्न हुआ है। अधिकारकी मर्यादा ही उस कार्यका बीज रूप है, जिसकी सिद्धिके लिए सब व्यापार किये गये हैं" ('प्रसाद'के नाटकोंका शास्त्रीय अध्ययन : जगन्नाथ शर्मा)।—ब० मि०

बीजाक्षर—सभी तान्त्रिक पद्धतियोंने बीजाक्षरोंका महत्त्व स्वीकार किया था। बौद्ध-तन्त्रोंमें इनका विकास और भी रोचक है। बौद्धोंके साम्प्रदायिक ग्रन्थोंमें सूत्र-शैलीका प्रयोग होता था। बादमें स्थविरवादियोंने धरणियोंको अपने साहित्यमें स्थान दिया। जो साधक सभी सूत्रोंको समझ नहीं पाते थे, उनकी सुविधाके लिए छोटी-छोटी धरणियाँ रची गयीं (दे०—'वज्रयान')। कालान्तरमें यही धरणियाँ तान्त्रिक प्रभावमें मन्त्र और बीजाक्षर-रूपमें परिवर्तित हो गयीं। मन्त्रको जिस एक अक्षरमें घनीभूत किया गया, उसे बीजाक्षर कहते हैं। जैसे वैरोचनका 'अं', अक्षोभ्यका 'य', रत्नसम्भवका 'र', अमिताभका 'भ', अमोघसिद्धिका बीजाक्षर 'ल' था। इन बीजाक्षरोंमें देवताओंकी कल्पनाके पीछे मीमांसकोंका शब्दसिद्धान्त था, जिसमें कहा गया है कि शब्द शाश्वत है, अक्षररूपमें वर्णमालामें सदैव विद्यमान रहता है। अर्थकी स्थिति शब्दमें है, ज्ञातामें नहीं। अर्थ शब्दकी ही विवृति है और इसीलिए तन्त्रोंमें लगातार शब्द-ब्रह्मकी कल्पना मिलती है, जिससे समस्त मानवों और देवोंकी सृष्टि हुई है।

सन्तोंने इन बीजाक्षरोंको मान्यता नहीं दी थी, किन्तु परवर्ती कबीरपन्थी साहित्यमें इनका उल्लेख मिलता है। 'स्वसंवेदबोध'में सात बीजाक्षरों तथा उनके साथ अंकुरोंका उल्लेख है। उन्हींसे सात करोड़ महामन्त्रोंका उद्भव होता

है, जिनसे सात सिद्धियाँ मिलती हैं। —ध० वी० भा०

बीभत्स रस—बीभत्स रस काव्यमें मान्य नव रसोंमें अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इसकी स्थिति दुःखात्मक रसोंमें मानी जाती है। इस दृष्टिसे करुण, भयानक तथा रौद्र, ये तीन रस इसके सहयोगी या सहचर सिद्ध होते हैं। शान्त रससे भी इसकी निकटता मान्य है, क्योंकि बहुधा बीभत्सताका दर्शन वैराग्यकी प्रेरणा देता है और अन्ततः शान्त रसके स्थायी भाव शमका पोषण करता है।

भरत (३ श० ई०)के 'नाट्यशास्त्र'में बीभत्स रसको चार मुख्य उत्पत्ति-हेतुक रसोंमें माना गया है—'बीभत्साच्च भयानकः' (६ : ३९)। इसके अनुसार बीभत्स रस भयानक रसका उत्पादक है। बीभत्स रसका स्थायी भाव जुगुप्सा है, जो भयानक रसके स्थायी भयका मूल प्रेरक रहता है (६ : ४१)। भय यद्यपि आतंक आदि अनेक कारणोंसे भी उत्पन्न हो सकता है, पर सूक्ष्म दृष्टिसे भयजनित पलायनके मूलमें ऐसी किसी न-किसी स्थितिकी कल्पना अवश्य निहित प्रतीत होती है, जो भीतरसे घृणा या जुगुप्साका भाव जगाती है। धनंजय (१० श० ई०)ने रसोंमें कार्य कारण-सम्बन्ध माननेका विरोध किया है। वे उक्त हेतुभावको 'सभेद'की अपेक्षा द्वारा सिद्ध मानते हैं (दश० ४, ४४–४५)। बीभत्स रस शृंगार रसका विरोधी समझा जाता है, क्योंकि जुगुप्सा उत्पन्न करनेवाले प्रसंगके आ जानेसे शृंगार रसमें रसाभासकी स्थिति आ जाती है (दे० 'रसाभास')। शृंगार 'हृद्य' है और बीभत्स 'अहृद्य' अर्थात् हृदय द्वारा अग्राह्य। बीभत्स रसका परिचय देते हुए भरतने उसकी उत्पत्ति अहृद्य, अप्रियावेक्ष, अनिष्ट-श्रवण, अनिष्ट-दर्शन तथा अनिष्ट-परिकीर्तन आदि विभावोंसे बतायी है। सर्वांगहार, अर्थात् सब अंगोंकी निष्क्रियता, मुख-नेत्र-विघूर्णन, अर्थात् मुख-नेत्रका संकुचित होना, वमन, कम्पन आदिको अनुभाव माना गया है। संचारी या व्यभिचारियोंमें अपस्मार, वेग, मोह, व्याधि, मरण आदिकी गणना की गयी है। पुनः अनभिहितदर्शन, रसगंधस्पर्श-शब्ददोष, उद्वेजन आदिसे भी बीभत्सकी उत्पत्ति निदिष्ट की गयी है तथा नयननासाप्रच्छादन, अवनमित मुख होनेपर एवं अव्यक्तपादपतनके द्वारा उसके अभिनयका आदेश दिया गया है (नाट्य०, ६ : ७३–७४)। 'नाट्यशास्त्र'में ही बीभत्स रसका देवता महाकाल (६ : ४५)तथा वर्ण नील (६ : ४३) माना गया है। शैलीकी दृष्टिसे उसके वर्णनमें गुरु अक्षरोंका प्रयोग उचित बताया गया है। करुण रसमें भी यही विधान है (११ : ११०)।

करुण रसकी तरह बीभत्स रसको लेकर भी आनन्दोपलब्धिकी समस्या उठायी गयी है। आधुनिक मराठी लेखकोंमें वाटवेका मत तो यह है कि 'स्वतन्त्र आस्वादनके अभाव'में इसे रस-व्यवस्थासे निकाल ही देना चाहिए। द० के० केलकरने भी लगभग इसका समर्थन किया है। दि० के० बेडेकरकी धारणा है कि यह बात बीभत्स रसको आधुनिक मनोविज्ञानकी कसौटीपर तौलने और भरत-प्रणीत रस-व्यवस्थाका मूल आधार न समझनेके कारण ही हुई है। भरतने रसोंकी कल्पना द्वन्द्वरूपमें की है और इस प्रकार बीभत्स रस शृंगार रसके साथ मिलकर एक अविच्छेद्य 'द्वन्द्व'की सृष्टि करता है (दे० 'आलोचना' : अंक ४)।

अपने 'नाट्यशास्त्र'में भरतने बीभत्स रसके विभाजनकी भी व्यवस्था कर दी है, यथा—"बीभत्सः क्षोभजः शुद्धः उद्वेगी स्यात्तृतीयकः। विष्ठाकृमिभिरुद्वेगी क्षोभजो रुधिरादिजः" (६ : ८१)। इस कथनके अनुसार बीभत्स रसके तीन भेद होते हैं—१. क्षोभज, २. शुद्ध, ३. उद्वेगी। 'क्षोभज'की उत्पत्ति रुधिरादिके देखनेसे मनमें क्षोभका संचार होनेपर होती है और 'उद्वेगी' विष्ठा तथा कृमिके सम्पर्क द्वारा उद्भूत होता है। 'शुद्ध' बीभत्सकी व्याख्या भरतके इस विभाजनमें नहीं मिलती। जुगुप्साका सामान्य भाव ही कदाचित् उसका उत्पादक है, जिसमें किसी तात्कालिक स्थूल वस्तुकी अपेक्षा नहीं रहती। 'भावप्रकाश' नामक संस्कृत ग्रन्थके रचयिता शारदातनय (१३ श० ई०)ने उक्त भेदोंमेंसे केवल 'क्षोभज' और 'उद्वेगी'को ही मान्यता प्रदान की है। 'शुद्ध' उन्हें मान्य नहीं हुआ। धनंजय (१० श० ई०)ने 'दशरूपक'में भरतके तीनों भेदोंको यथावत् स्वीकार कर लिया है। भानुदत्त (१३-१४ श० ई०)ने 'रसतरंगिणी'में करुण रसकी तरह बीभत्स रसके भी 'स्वनिष्ठ' और 'परनिष्ठ', दो रूप माने हैं। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ (१४ श० ई०)ने भरत द्वारा निर्दिष्ट बातोंको तो ज्यों-का-त्यों बीभत्स रसके लक्षणमें समाविष्ट कर लिया है, पर उसके भेदोंका कोई उल्लेख नहीं किया है।

बीभत्स रसके स्थायी भाव जुगुप्साकी उत्पत्ति दो कारणोंसे मानी गयी है, एक विवेक और दूसरा अवस्था-भेद। पहलेको 'विवेकजा' और द्वितीयको 'प्रायकी' संज्ञा दी जाती है। विवेकजा जुगुप्सासे शुद्ध बीभत्स तथा प्रायकीसे क्षोभज और उद्वेगी बीभत्सको सम्बद्ध किया जा सकता है।

अधिकांश हिन्दी काव्याचार्योंने 'जुगुप्सा'के स्थानपर 'घृणा'को बीभत्स रसका स्थायी भाव बताया है। भिखारीदासने लिखा है—'घिनते है बीभत्स रस' (का० नि०, ४ : ८)। पर कहीं-कहीं कवियोंने दोनों शब्दोंका प्रयोग किया है, जैसे देवने "वस्तु घिनौनी देखि सुनि घिन उपजे जिय माँहि। छिन बाढ़े बीभत्स रस, चितकी रुचि मिट जाँहि। निंद्य कर्म करि निन्द्य गति, सुनै कि देखै कोइ। तन संकोच मन सम्भ्रमरु द्विविध जुगुप्सा होइ" (श० र०)।

इससे सिद्ध होता है कि घृणा या घिनको कवियोंने 'जुगुप्सा'का पर्याय समझकर ही प्रयुक्त किया है। देवने यहाँ जुगुप्साकी द्विविध उत्पत्ति मानी है, पर वह विवेकजा और प्रायकीके समान्तर नहीं है।

कभी-कभी बीभत्स रसका कुछ अन्य रसोंसे पृथक्करण कठिन हो जाता है। शान्त और भक्ति रसके प्रसंगोंमें भी नारीके प्रति वैराग्य-भावना व्यक्त करनेकी दृष्टिसे अथवा क्षणभंगुर शरीरके प्रति मोह कम करनेके लिए इनका बीभत्सतापूर्ण चित्रण किया जाता है और संस्कृतके स्तोत्रोंमें "नारीस्तनभरनाभिनिवेशम्…एतन्मांसवसादिविकारम्" अर्थात् नारीके विविध अंग मांस-मज्जाके विकार-मात्र हैं, कहा गया है, अथवा जैसे सूरदासने लिखा है—

"जा दिन मन पंछी उड़ि जैहै। ता दिन में तनकै विष्ठा कृमिके है खाक उड़ैहै"। ऐसे स्थलोंपर जुगुप्सा स्वयं स्थायी भाव न होकर शमका सहायक संचारी जैसा प्रतीत होता है, अतएव यहाँ बीभत्स रस नहीं माना जायगा।

हिन्दी काव्योंमें बीभत्स रस मुख्यतया युद्ध-वर्णनके प्रसंगोंमें मिलता है। पौराणिक परम्पराकी कथाओंके अन्तर्गत राक्षसों और दानवोंके क्रिया-कलाप तथा नरक आदिके चित्रणमें भी बीभत्सका विशेष समावेश रहता है और काव्यमें उनका वर्णन भी प्रायः बीभत्स रसकी कोटिमें आता है। 'कवितावली रामायण'में तुलसीने बीभत्सका एक स्थलपर अच्छा चित्रण किया है—"ओझरीकी झोरी काँधे, आँतनिकी सेल्ही बाँधे, मूँडके कमण्डल, खपर किये कोरिकै। जोगिनी झुटुंग झुण्ड-झुण्ड बनी तापस-सी, तीर-तीर बैठीं सो समरसरि खोरि कै" (लंका)। वीर काव्योंमें युद्धभूमिके वर्णनोंमें इसका विशेष उपयोग हुआ है। इसी प्रकार हरिश्चन्द्रने अपने नाटक 'हरिश्चन्द्र'में श्मशानभूमिका चित्रण किया है। —ज० गु०

बुंदेली—ग्रियर्सनके अनुसार पश्चिमी हिन्दीकी पाँच बोलियोंमेंसे एक, जो ब्रजभाषा तथा कन्नौजीके साथ पश्चिमी हिन्दी बोलियोंका दक्षिणी वर्ग बनाती है। बुन्देली बुन्देलखण्डकी बोली है। शुद्ध रूपमें यह उत्तरप्रदेशमें झाँसी, जालौन, हमीरपुर जिलों तथा मध्यप्रदेशमें ग्वालियर, भोपाल, ओड़छा, सागर, नृसिंहपुर, सिवनी तथा होशंगाबाद जिलोंमें बोली जाती है। इसके मिश्रित रूप दतिया, पन्ना चरखारी, दमोह, बालाघाट तथा छिन्दवाड़ाके कुछ भागोंमें पाये जाते हैं। बुन्देली बोलनेवालोंकी सख्या ग्रियर्सनने ६९ लाखके लगभग मानी थी। हिन्दी साहित्यके इतिहासके मध्यकालमें बुन्देलखण्ड साहित्यका प्रसिद्ध केन्द्र रहा, किन्तु यहाँके कवियोंने ब्रजभाषामें ही कविता लिखी, यद्यपि उनकी ब्रजभाषापर बुन्देली बोलीका प्रभाव जहाँ-तहाँ मिलता है। —धी० व०

बुझौवल—इसका सीधा अर्थ है 'बूझ', परीक्षासे सम्बन्धित उक्ति। शब्दार्थकी दृष्टिसे बुझौवल और पहेलीमें कोई अन्तर नहीं। कहीं-कहीं पहेलीके लिए बुझौवलका ही उपयोग होता है, पर पारिभाषिक दृष्टिसे दोनों शब्द अलग-अलग हैं। बुझौवल सप्रसंग, साभिप्राय होता है। इसमें किसी व्यक्तिसे हम अभिप्रायविशेषसे पहेलीरूपमें कोई बात कहकर अपना इष्ट साधते हैं। फलतः बुझौवलके लिए प्रसंग प्रस्तुत करनेके लिए एक कहानीकी आवश्यकता हो जाती है। उस कहानीमें बुझौवलका उपयोग केवल उक्ति-चमत्कारके लिए नहीं होता, अभिप्राय सिद्ध करनेके लिए होता है। ऐसी बुझौवलोंका एक प्रकार ऐसा हो सकता है, जिसमें सिद्धान्तपरीक्षण हो, किसीको कोई बात सिद्धान्तके रूपमें दे दी गयी और उसने फिर उसकी परीक्षा करके उसे सत्य पाया। दूसरे प्रकारकी बुझौवलमें किसी पदार्थके रूपमें पहेली बूझी जाती है। पहेली बुझौवलमें उन बातोंकी परीक्षा प्रकृत परिस्थितियोंसे हो जाती है। दूसरी बुझौवलमें किन्हीं बातोंको सिद्ध करनेके लिए परिस्थितियाँ पैदा की जाती हैं। कहीं किसी विचित्र दृश्य अथवा घटनाको देखकर पृच्छा उत्पन्न होती है और उसके समाधानके लिए कहानी प्रस्तुत की जाती है, जैसे गंगाराम पटेलकी कहानियाँ। जहाँ कहानियोंमें एक समस्या खड़ी हो जाती है और उसका समाधान किसीसे पूछा जाता है, ऐसी बुझौवल बैताल-विक्रमकी कहानियोंमें है। कहीं बुझौवल किसी बातको गुप्त रखने या गुप्त प्रकारसे किसीको कोई बात ज्ञात करानेके लिए उपयोगमें आती है। बुझौवलके द्वारा वार्तालाप भी हो सकता है। बुझौवलके उपयोगके ऐसे ही कितने ही रूप हो सकते हैं। बिना प्रसंग अथवा कहानियोंके बुझौवलका एक रूप उस सांकेतिक भाषामें मिलता है, जिसमें एक पेशेवाला अपनी बात अपने साथीको बताता है। सुनारोंकी 'पारसी' इसका उदाहरण है। कपड़ेवाले कपड़ेके भावोंको आपसमें ऐसी ही विलक्षण शब्दावलीमें प्रकट करते हैं। वस्तुतः तो ये बुझौवल हैं नहीं, क्योंकि इनका अर्थ जिसे ग्रहण करना है, वह उनका अर्थ जानता होता है। उनमें कोई सांकेतिक अर्थ नहीं रहता। बुझौवलमें अभिधार्थसे काम नहीं चलता, बुद्धिका उपयोग आवश्यक होता है। —सं०

बुत १—'बुत'का अर्थ मूर्ति है। पहले लोग समझते थे कि यह शब्द फारसीका है और अरबीमें 'बुद्' हो गया है। वास्तवमें यह शब्द 'बुद्ध'से बना है। ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दीके पहलेतक मध्य एशिया, खुरासान, अफगानिस्तान आदिमें बौद्ध धर्मका प्रचार था। सन् ईसवीकी दसवीं शताब्दीमें बुखारा बौद्ध-धर्मका एक केन्द्र था। सालभरमें दो बार वहाँ मेला लगता था, जहाँ बुद्धकी मूर्तियाँ बिकती थीं। इन्हीं मूर्तियोंसे मूर्ति शब्दका पर्याय अरबीमें 'बुद्' और फारसीमें 'बुत' हो गया। प्रेमपात्रके लिए इस शब्दका प्रयोग करते हैं। सूफी साहित्यमें इसका प्रयोग कभी परम सौन्दर्य (परमात्मा)के लिए, तो कभी मुर्शिद (गुरु)के लिए किया गया है; कभी कामिल (पूर्ण मानव)के लिए किया गया है। परमात्माके सिवा कभी-कभी अन्य उपास्यके लिए भी इसका प्रयोग हुआ है। —रा० पू० ति०

बुत २—बुत फारसी भाषा का ऐसा शब्द है, जिसका मूल उत्स सं० 'बुद्ध' शब्द है। रामचन्द्रवर्माने (दे० 'उर्दू-हिन्दी कोश', पृ० ३०८) इसे सं० बुद्ध या पुतलासे निष्पन्न माना है। पुतला शब्द सम्भवतः सं० पात्रसे बनता है और पात्रसे बुतका कोई नाता जुड़ नहीं पाता। बुद्धसे इसकी सीधी व्युत्पत्ति और विकासक्रम बैठ जाता है—बुद्ध > बुध > बुत। बुद्धकी सुन्दर और विशालकाय मूर्तियाँ अफगानिस्तान आदिमें वर्तमान हैं। बौद्ध मूर्तियाँ अपने कलात्मक सौन्दर्यके लिए अतीव विख्यात हैं ही, अतः ईरानवालोंने सौन्दर्यकी पराकाष्ठाके अर्थमें बुत (बुद्ध) शब्दको अपना लिया है। फारसीमें बुतका अर्थ अपरूप सुन्दरी, प्रेयसी, अबोला या बेजुबान सुन्दरता, (मूर्तिकी तरह) दृढ़ता आदि होता है। बुतका सम्बन्ध बुद्धसे ही है, इस बातका स्पष्ट संकेत प्रस्तुत शेरमें पाया जा सकता है, जिसमें बुत (बुद्ध) एवं बहार (विहार = बौद्ध विहार) शब्दोंका साथ-साथ प्रयोग हुआ है—"बख्त सुए खजाँ आयद। रास्त चूँ बुत परस्त सुए बहार," अर्थात् "सौभाग्य तेरे द्वारकी ओर उसी तरह दौड़ता हुआ चला आता है, जैसे बुतका पुजारी (बौद्ध) विहारकी ओर भागता हुआ

आता है"। —रा० सिं०

बुत-परस्ती–मूर्ति-पूजा। परमात्माके प्रेमी साधकके लिए भी इसका प्रयोग हुआ है (दे० 'बुत')। —रा० पू० ति०

बुद्धिवाद–सामान्यतया बुद्धिवाद शब्दका प्रयोग एक ऐसे व्यापक दृष्टिकोणके अर्थमें किया जाता है, जो जीवन और जगतको समझने तथा उसकी व्याख्या करनेमें मनुष्य-की बुद्धिको सर्वोपरि महत्त्व देता है। वह परम्परा, आप्त-वचन, धार्मिक पवित्र पुस्तकों आदिमें अन्धश्रद्धाके विरुद्ध विद्रोह है। ज्ञान और श्रेयकी खोजमें वह मानवीय बुद्धिको ही उच्चतम स्थान देता है। आभ्यन्तर और बहिःप्रकृतिकी व्याख्या करनेमें वह ईश्वर जैसी पराप्राकृतिक मान्यताओंमें विश्वास नहीं करता, वरन् वह विज्ञान द्वारा प्रस्तुत ज्ञानको स्वीकार करता है। जो तथ्य वैज्ञानिक विचारणा और पद्धतिकी कसौटीपर पूरा नहीं उतरता, उसे वह सत्य नहीं मानता। इस प्रकार वह विशुद्ध प्रकृतिवादी, इन्द्रिय-प्रत्यक्षपरक वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। स्पष्ट है कि ऐसा दृष्टिकोण ईश्वर, परम्परीण धर्म, परलोक, पुनर्जन्म, आत्मा आदिको अन्धविश्वास समझता है।

मानवीय संस्कृतिके इतिहासमें बुद्धिवादी दृष्टिकोण समय-समयपर व्यक्त होता रहता है। प्राचीन भारतमें चार्वाक और उसके अनुचरोंकी आस्था इसी प्रकारके दर्शनमें थी। प्राचीन ग्रीक और रोममें बुद्धिवादी थे। निर्वाणको जीवनका परम श्रेय बतलानेवाले बुद्ध तत्त्वतः और बहुत बड़ी सीमातक विशुद्ध बुद्धिवादी थे। विज्ञानकी सफलता और प्रधानताके कारण आधुनिक युगकी प्रवृत्ति बुद्धिवादी ही है।

बुद्धिवाद शब्दका प्रयोग प्राचीन ग्रीस और रोममें प्रचलित उस मान्यताके लिए भी होता है, जिसके अनुसार मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है। प्लेटोके अनुसार बुद्धि आत्माका सर्वोच्च अंश है और उसका कार्य शरीरपर शासन करना है अरस्तू भी बुद्धिको आत्माकी सर्वोच्च शक्ति मानता है। इस दृष्टिकोणके अनुसार बुद्धिमान् या विवेकशील मनुष्य ही सदाचारी है, क्योंकि सत्को जानना उसपर आचरण करना है, पाप अज्ञानका परि-णाम होता है।

(पश्चिमी) दर्शनशास्त्रमें बुद्धिवाद शब्द एक विशिष्ट अर्थमें प्रयुक्त होता है। इस मतके अनुसार बुद्धि सत्यकी खोज कर सकनेमें स्वतः ही समर्थ है। सत्य-ज्ञानकी प्राप्ति बुद्धिसे ही होती है। केवल इन्द्रियप्रत्यक्षसे संगत और सार्विक ज्ञान उपलब्ध नहीं हो सकता। दृष्टि, शब्द, स्पर्श, स्वाद और गन्धकी संवेदनाएँ तथा अनुभूतियाँ ज्ञान नहीं है। वह ज्ञान तभी होता है जब बुद्धि उनको सुसंघटित करती है। सत्य-ज्ञान संवेदनोंसे नहीं, वरन् प्रत्ययों, सिद्धान्तों और नियमोंसे प्राप्त होता है। मनुष्यकी बुद्धि ऐसा ज्ञान प्राप्त कर सकती है, जो इन्द्रिय-प्रत्यक्षकी सीमासे परे है। इस प्रकारके बुद्धिवादका अतिवादी रूप यह विश्वास करता है कि मनुष्य इन्द्रियोंकी सहायतासे नितान्त स्वतन्त्र होकर परम सत्यका ज्ञान प्राप्त करनेमें समर्थ है। डेकार्ट्स, स्पिनोजा, लाइबनित्ज और काण्ट आदि प्रमुख बुद्धिवादी दार्शनिक हैं। बीसवीं शतीके उन्नत साहित्यमें प्रायः सर्वत्र बुद्धिवादकी प्रधानता देखी जा सकती है। —आ०

बूर्जुआ–यह शब्द फ्रेंच भाषाका है और इसका तात्पर्य है पूँजीपति, किन्तु साधारण बोलचालकी भाषामें यह आधुनिक व्यवसायी समाजके उच्च वर्गकी ओर संकेत करता है। —रा० कृ० त्रि०

बूढ़ी–सृष्टिका मूल माया है। यह सृष्टि उसीसे उपजती और अन्तमें उसीमें विलीन हो जाती है। परमशिवमें सिसृक्षाके जागरणके साथ ही मायाका उद्भव होता है, अतः नाथों एवं सिद्धोंने इसको बूढ़ी कहा है। गोरखनाथकी एक सबदी है —"दावि न मारिबा खाली न राषिबा जानिबा अगनिका भेवं। बूढ़ी ही थैं गुरवानी होइगी सति सति भाषंत श्री गोरष देव॥" (गो० बानी, सबदी १७३, दे०—बड़थ्वाल द्वारा किया गया अर्थ)। सन्तोंने माया अर्थमें बूढ़ीका बहुत बार प्रयोग किया है। —रा० दे० सिं०

बे-शरा–वे सम्प्रदाय, जो **शरीअत**का पालन करनेमें शिथिलता दिखलाते हैं। ये इसलामके आचरण-विचारपर ध्यान नहीं देते। धर्मके मामलेमें ये बड़ी स्वतन्त्र प्रकृतिका परिचय देते हैं। नाना प्रकारके चमत्कारोंके बलपर ये लोगोंको अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। इन सम्प्रदायोंके अधिकांश साधक अशिक्षित हैं। वे अध्ययनकी आवश्यकता नहीं समझते। सनातनपन्थी इसलामके अनुयायी इन सम्प्रदायोंको अच्छी निगाहसे नहीं देखते, फिर भी साधारण जनतामें इनका खूब प्रभाव है। —रा० पू० ति०

बेस्या–गोरखनाथने संसारको वेश्याके अन्नपर जीनेवाला कहा है—"इंड ब्रह्मण्ड चहोडिया मानूं बेस्या अंन" (गो० बा०, सबदी, २११)। उनके मतसे कोई-कोई ही मायाके अन्नसे अछूता बच पाता है। सन्तोंने भी कभी-कभी मायाको बेस्या कहा है। स्पष्ट है कि नाथ और सन्त मायाको महा-ठगिनी और हर उत्पातकी जड़ मानते हैं। यह माया ही सारे प्रपंचकी जड़ है और विभिन्न रूपोंमें संसारमें व्याप्त होकर जीवको भ्रमित करती रहती है। वेश्या किसीके प्रति वफादार होकर नहीं रह सकती, वह बहुरूपिया है और सबको ठगती फिरती है। माया भी यही सब करती है। कबीरका कहना है—"माया महाठगिनी हम जानी। तिरगुन फाँसि लिए कर डोलै बोलै मधुरी बानी॥ केसव कै कमला होइ बैठी सिव कै भवन भवानी। पण्डा कै मूरति ह्वै बैठी तीरथ हूँ मैं पानी॥ जोगी कै जोगिनि ह्वै बैठी राजा कै घरि रानी। काहू कै हीरा ह्वै बैठी काहू कै कौडी कानी॥ भगता कै भगतिनि ह्वै बैठी तुरका कै तुरकानी॥" (क० ग्रं०, ति० पद १६३)। अतः इस मायाको बेस्या कहना ही वे ठीक मानते हैं। —रा० दे० सिं०

बैल–योग-साधनामें मन या बोधिचित्तको बैलकी उपमा देते हैं। चूँकि मनसे संसार उत्पन्न होता है अतः उसीको बैलके प्रसवकी चमत्कार-योजना मानते हैं—"बलद बिआअल गविआ बाँझे" (चर्यापद ३३), "बैल बियाय गाय भै बंझा" (क० ग्रं०)। —ध० वी० भा०

बैलेड–दे० 'नृत्यगीत', लोकगाथा और साहित्यिक गाथा।

बैसवाड़ी–यह नाम कभी-कभी अवधी भाषाके लिए प्रयुक्त हुआ है, किन्तु इस नामका प्रयोग बैसवाड़ीकी

बोलीके लिए अधिक उपयुक्त है। बैसवाड़ा अवध-प्रान्तका एक क्षेत्र है, जिसके भूभाग उन्नाव, लखनऊ, रायबरेली और फतेहपुर जिलोंमे पड़ते है। इस क्षेत्रके निवासी अपनी आनपर डटनेवाले तथा स्वाभिमानी होनेके लिए प्रख्यात है। भाषाके लक्षणकी दृष्टिसे यहाँकी बोली बैसवाड़ी बोली मध्यवर्ती अवधीके अन्तर्गत समझना चाहिये। प्रमुख भेदक लक्षण ये है—ह्रस्व ए और ओके लिए य और व और दीर्घ ऐ और औके लिए या और वा इस बोलीमें पाया जाता है। उदाहरणके लिए, केरकी जगह क्यार और चोर-की जगह च्वार। —डा० रा० स०

बोधक–दे० 'स्वभावज अलङ्कार', बीसवाँ।

बोधिचर्या–दे० 'महायान'।

बोधिचित्त–महायानमें साधना-पद्धतिका आधारबिन्दु बोधिचित्तको माना था (दे० 'महायान')। वज्रयानी साधनाओंमें बोधिचित्तका महत्त्व विकसित होता गया। सिद्धोंने यह भी कहा है कि चित्त साधनाका आधार है। जबतक इसमें सहज सम्बोधि नहीं जागती, तबतक वह चंचल रहता है, **मूषक**के समान और कालमें प्रवेश कर जाता है। जब यह नैरात्म्यज्ञानके प्रति जाग्रत् होकर करुणा या उपायसे समन्वित हो जाता है तब यह उस **गजेन्द्र**की भाँति हो जाता है, जो नलिनीवनमे विहार करता है। प्रज्ञोपाय-साधनामे प्रवृत्त होनेके पूर्व इसका रूप स्पन्दरूप है और प्रवृत्त होनेके बाद वज्ररूप हो जाता है। जब प्रज्ञोपायका युगनद्ध सम्पन्न कर लेता है तब यही चित्त **सहजचित्त** हो जाता है।

विज्ञानवादी परम्परामे भवजालसे मुक्त कर चित्तको करुणासे समन्वित कर साधना-पथमें अग्रसर करनेकी प्रणालीको **बोधिचित्त-समुत्पाद** कहते थे। यह साधना-महारम्भ, चित्तका महा उदय, साधकका महा उत्साह कहलाता था। वज्रयानी सिद्धोमे केवल एकाध स्थलपर समुत्पाद या महा उदयका चित्रण है, जब चित्तवृत्तियोंका अस्त होनेके बाद प्रज्ञा या शून्यकी शीतल रजनीका उदय होता है, वही प्रज्ञाज्ञानाभिषेकदानका समय है, उसमे बोधिचित्त नवचन्द्रके रूपमे विहार करता है। किन्तु अधिकतर सिद्धोंने इस प्रक्रियाके लिए समुत्पादके स्थानपर **चित्तविशोधन** शब्दका प्रयोग किया है। कहीं-कहीं **चित्तहनन** या **चित्तमारण** शब्दका भी प्रयोग है। यह विशोधन शब्द रसायनशास्त्र और उसपर आधारित प्राचीन तान्त्रिक शब्द है, जो वस्तुतः गुह्य साधनामें पारेके विशोधन और उसके द्वारा अमरत्व लाभ करनेके अर्थमें प्रयुक्त होता था। चित्त पारदवत् चंचल है और पारेके लिए भी मारण शब्दका प्रयोग है; पारेका मारण या हनन, अर्थात् पारेकी चंचलता नष्ट कर देना। सिद्ध लोग इस साधनाका सम्बन्ध बुद्धकी **धर्मकाया**से भी जोडते हैं। धर्मकाया धर्मधातुसे निर्मित होती है। चित्तका विशोधन कर उसे धर्मधातुमें परिवर्तित-कर बुद्धकी धर्मकायामे लीन कर देते है।

इसीको **अमनसिकार** या अमनस्कार-साधना भी कहते हैं। बोधिसत्त्व मनके स्वभावको अमनस्कार कहते है। 'महायान-सूत्रालंकार'में इस अमनस्कार-प्रणालीकी सम्यक् विवेचना है। सर्वास्तिवादी दशभूमिक चैत्त धर्मोंमें एक मनस्कार मानते थे, जिसका अर्थ था संसारमे प्रवृत्त होना। विज्ञानवादियोंने इसे दसमे एक गौण वृत्ति न मानकर, सर्वप्रमुख वृत्ति मान लिया, अतः मनस्कारका निषेध करना बोधिचित्तसमुत्पादकी प्रथम प्रक्रिया हो गयी। अमनस्कारमे विज्ञानवादियोंने **ज्ञाण-साधना**को विशेष सहायक माना, जो चित्तकी एकाग्रतासे सम्पन्न होती थी।

ज्ञाण-साधनामे 'अर्हन' शब्दको अपने मनमें धारण कर उसपर ध्यान एकाग्र करना चाहिये। अर्हन बीजाक्षर है, जिसके तीनो अक्षर बुद्ध, धर्म और संघ(त्रिरत्न)के प्रतीक है। बादमे चित्तमें पंच महाभूतोंका उदय होता है, जिन्हें ऊर्ध्वोन्मुख कर चक्रोंमें स्थापित किया जाता है। वज्रयानी सिद्धोने अर्हनके स्थानपर एवंको बीजाक्षररूपमे ग्रहण करने का आदेश दिया, जिसके दोनो अक्षर प्रज्ञा और उपायके प्रतीक है। इस साधनामे सिद्धोंने बोधिचित्तका उदय शुक्रतारकके रूपमें माना है (दे० 'बौद्धधर्म-दर्शन' : नरेन्द्रदेव; 'सिद्ध-साहित्य' : धर्मवीर भारती)। —ध० वी० भा०

बोधिचित्तसमुत्पाद–दे० 'बोधिचित्त'।

बोधिसत्त्व–दे० 'महायान'।

बोल-कक्कोल-योग–बोधिचित्तको जाग्रत् कर प्रज्ञा और उपायके **युगनद्ध**की साधनाको सिद्धोंने बोल-कक्कोल-योगकी संज्ञा भी दी है। यह गुह्य तान्त्रिक साधना थी, जिसके कुछ प्रतीकोंपर प्रबोधचन्द्र बागचीने प्रकाश डाला है (दे० 'स्टडीज इन तन्त्राज')। यह रस-साधना **कर्पूर**के किसी प्रयोगसे सम्बद्ध थी। कर्पूरके रूपमें सहजकी सिद्धिका संकेतात्मक उल्लेख तिल्लोपाके 'दोहाकोष'की टीकामें मिलता है। कक्कोल(कमल, प्रज्ञा)मे बोल (कुलिश, वज्र, उपाय)का प्रक्षेपण कर उसका कुन्दुरु योग करे तो उससे कर्पूररूपी सहजकी उत्पत्ति होती है। 'प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि'मे बोधिचित्ताभिषेकके समय कर्पूरका उल्लेख किया गया है। 'दोहाकोष'-की टीकामें ही इसका प्रयोग कर्ममुद्रासे मैथुनके समय बताया जाता है। —ध० वी० भा०

बोलशेविक–यह शब्द रूसकी कम्युनिस्ट पार्टीसे सम्बन्धित है, जिसने बादमे चलकर समाजवादकी स्थापना की। बहुत दिनोतक रूसमें कम्युनिस्ट पार्टीके नामके आगे बोलशेविक शब्द जुडा रहता था, किन्तु अब उसे हटा दिया गया है। —रा० म० त्रि०

बौद्ध भार्याएँ–महायानी सम्प्रदायोंमें पांच ध्यानी बुद्धोंकी कल्पना की गयी है। ये पाँच ध्यानी बुद्ध है वैरोचन, रत्नसम्भव, अमिताभ, अमोघसिद्धि और अक्षोभ्य। तान्त्रिक-पद्धतिके अनुसार इनकी पाँच भार्याओं या शक्तियोंकी भी कल्पना की गयी—मोहरति, ईर्ष्यारति, रागरति, वज्ररति, द्वेषरति। ये पंच भार्याएँ या रानियाँ ही पंच कुलोंको उत्पन्न करती थीं, जो मोह, ईर्ष्या, राग, वज्र और द्वेष कहलाते थे। समस्त वज्रयानी देवश्रृंखला ध्यानी बुद्ध तथा भार्याओंसे उद्भूत हुई है। इन्हीं शक्तियोंको वज्रधातीश्वरी, लोचना, मामकी, पाण्डरा तथा आर्यतारा भी कहते थे। —ध० वी० भा०

ब्रजबुलि–ब्रजबुलि बंगाल, असम तथा उड़ीसा प्रदेशके मध्यकालीन (१५वीं-१६वीं शती) कृष्णभक्त वैष्णव-कवियों द्वारा प्रयुक्त एक कृत्रिम-सी भाषा है। इसका मूल ढाँचा

मैथिली तथा बँगलाके संयोगसे बना है। कुछ शब्द मथुरा-वृन्दावनकी बोलीके इसमें मिश्रित रहते हैं। ब्रजबुलिका पद-साहित्य अत्यन्त समृद्ध है। आधुनिक समयमे प्रसिद्ध बंगाली कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुरने भानु सिंहके नामसे ब्रजबुलिमे कुछ पदोंकी रचना की है। —रा० स्व० च०

ब्रजभाषा–पश्चिमी हिन्दी (दे०)की पाँच बोलियोंमेंसे एक मुख्य बोली। ग्रियर्सनके अनुसार इसका प्रसार निम्नलिखित प्रदेशोंमें है—उत्तरप्रदेशके मथुरा, अलीगढ़, आगरा, बुलन्दशहर, एटा, मैनपुरी, बदायूँ तथा बरेलीके जिले, पूर्वी पंजाबमें गुड़गाँव जिलेकी पूर्वी पट्टी, राजस्थानमे भरतपुर, धौलपुर, करौली तथा जयपुरका पूर्वी भाग, मध्यप्रदेशमें ग्वालियरका पश्चिमी भाग। धीरेन्द्र वर्मा कन्नौजी बोलीको भी ब्रजभाषाके अन्तर्गत रखते हैं, अतः उत्तरप्रदेशके पीलीभीत, शाहजहाँपुर, फर्रुखाबाद, हरदोई, इटावा और कानपुर जिले भी उन्होंने ब्रजप्रदेशमें सम्मिलित कर लिये हैं। आधुनिक ब्रजभाषा १ करोड़ २३ लाख जनताके द्वारा बोली जाती है और लगभग ३८,००० वर्गमीलके क्षेत्रमे फैली हुई है।

ब्रजभाषाका साहित्यमे प्रयोग १६वीं शताब्दीके प्रारम्भसे मिलता है, जब ब्रजप्रदेशमे गौड़ीय वैष्णव और वल्लभसम्प्रदाय अथवा पुष्टिमार्गके केन्द्र स्थापित हुए। सूरदास साहित्यिक ब्रजभाषाके सर्वश्रेष्ठ कवि थे। उनके उपरान्त हिन्दी प्रदेशके लगभग समस्त कृष्णभक्त कवियोंने अपनी रचनाएँ ब्रजभाषामे ही लिखी, जिसके फलस्वरूप ब्रजभाषा हिन्दी प्रदेशकी प्रमुख साहित्यिक भाषा बन गयी। १७वीं और १८वीं शताब्दीका हिन्दी रीति-साहित्य भी ब्रजभाषामे ही लिखा गया। यह भक्तिकालकी ब्रजभाषाका अधिक परिमार्जित और साहित्यिक रूप है तथा इसपर पूर्वी ब्रज (कन्नौजी)का प्रभाव कुछ अधिक मिलता है। ब्रजभाषाकी साहित्यिक परम्परा २०वीं शताब्दीमे भी क्षीण रूपमें चल रही है।

ब्रजभाषाके वर्तमान लोक-साहित्यका अध्ययन सत्येन्द्र द्वारा हुआ है। इसमे ब्रजभाषाका वर्तमान ग्रामीण रूप मिलता है।

ऐतिहासिक विकासकी दृष्टिसे ब्रजभाषाका सीधा सम्बन्ध शौरसेनी अपभ्रंश तथा शौरसेनी प्राकृतसे है। कुछ विद्वानोंका मत है कि साहित्यिक तथा वैदिक संस्कृतका मूलाधार भी शूरसेन जनपदकी ही समकालीन बोली थी। शूरसेन जनपदकी सीमाएँ वर्तमान ब्रजप्रदेशसे मिलती-जुलती रही होंगी। इसका केन्द्र मथुरा रहा है।

यह बोली प्रारम्भमें 'पिंगल' तथा 'भाखा' नामोंसे प्रसिद्ध थी। निश्चित रूपसे 'ब्रजभाषा' नामका उल्लेख १८वीं शताब्दीसे पूर्व नहीं मिलता है। बंगाली कवियोंकी 'ब्रजबुलि' (दे०) ब्रजभाषा नहीं थी, बल्कि मैथिली बोलीसे मिली हुई हिन्दी शब्दों तथा हिन्दी व्याकरणके ढाँचेमें ढली हुई बँगालीकी ही एक शैली थी। —धी० व०

ब्रह्मनाड़ी–दे० 'हठयोग'।

ब्रह्मरंध्र–दे० 'हठयोग'।

ब्रह्मवाद–ब्रह्म शब्द बहुत प्राचीन है। ऋग्वेद तथा अन्य वैदिक साहित्यमें इसका प्रचुर प्रयोग हुआ है और ब्रह्म सम्बन्धी अनेक सिद्धान्तोंका विशद वर्णन है। आरम्भमें ब्रह्म शब्दका अर्थ धन, वाक और प्रार्थना था, किन्तु इन अर्थोंका प्रचलन शीघ्र इसकी व्युत्पत्ति द्वारा बन्द हो गया। व्युत्पत्तिसे ब्रह्म शब्द बृह (बढना) धातुसे बना है। जो बृहत्तम या महत्तम हो, जो सबसे बढा-चढ़ा हो, जिसमें 'बढना' क्रियाके सभी अर्थ शामिल हों, उसे ब्रह्म कहा जाता है। शंकर, रामानुज आदि ब्रह्मवादियोंने अपने भाष्योंमे ब्रह्म शब्दकी यही व्युत्पत्ति की है। शंकरके मतानुयायियोंने बृहत्तम या महत्तमके अर्थकी विशद व्याख्या करते हुए ब्रह्मके स्वरूपपर प्रकाश डाला है। जो देश, काल और वस्तुसे सीमित हो, जो अनित्य तथा परिवर्तनशील हो, जो गुणहीन और दोषयुक्त हो, जो जड़ तथा अज्ञानी हो, जो परतन्त्र तथा बद्ध हो, उसे महत्तम या ब्रह्म नहीं कहा जा सकता, वह तो 'अल्प' है। अतः ब्रह्म अनन्त, नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त है। 'ब्रह्म'को ही 'भूमा' कहते हैं, क्योंकि दोनों समानार्थक हैं। 'छान्दोग्योपनिषद्'में कहा गया है कि जहाँ कुछ और नहीं देखता, कुछ और नहीं जानता तथा कुछ और नहीं सुनता, वह भूमा है, किन्तु जहाँ कुछ और देखता है, कुछ और सुनता है एवं कुछ और जानता है, वह 'अल्प' है। जो भूमा है, वही अमृत है और जो अल्प है, वही मर्त्य है। इस प्रकार भूमा या ब्रह्मको अनानात्व या अद्वैत कहा गया है। यदि ब्रह्म दो है तो फिर वे ब्रह्म या बृहत्तम अथवा असीम और अनन्त नहीं हो सकते, वे अपर-सापेक्ष होंगे और इस कारण ब्रह्म न होकर अल्प होंगे। अनन्तता, निरपेक्षता, स्वतन्त्रता तथा अद्वितीयता ब्रह्मके अनिवार्य लक्षण हैं, क्योंकि बृहत्तम होनेसे वह सान्त, सापेक्ष, परतन्त्र तथा सद्वितीय नहीं हो सकता।

'तैत्तिरीय उपनिषद्'में कथा है कि भृगु अपने पिता वरुणके पास गया और बोला—भगवन्, मुझे ब्रह्मका बोध कराइये। तब वरुणने कहा—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति" अर्थात् जिससे निश्चय ही ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होनेपर जिसके आश्रयसे ये जीवित रहते हैं और अन्तमे विनाशोन्मुख होकर जिसमें ये लीन होते हैं, उसे विशेष रूपसे जाननेकी इच्छा कर, वही ब्रह्म है।

'छान्दोग्य उपनिषद्'में शाण्डिल्यने ब्रह्मकी उपर्युक्त परिभाषाके अर्थमे ही सूत्रवत् 'तज्जलान' कहा है। ब्रह्म तज्जलान है, क्योंकि वह तज्ज, तल्ल और तदन है। तत्+ज+ल+अन्‌से तज्जलान बनता है। क्योंकि समस्त भूत ब्रह्मसे जात या उत्पन्न होते हैं, इसलिए वह तज्ज है, सभी भूतोंका उसी ब्रह्ममे लय होता है, अतः वह तल्ल है, फिर समस्त भूत अपने स्थितिकालमें उसी ब्रह्ममें अनन्त या प्राणन यानी चेष्टा करते हैं, इसलिए ब्रह्म तदन है। अन्तमें तीनोंको मिलाकर ब्रह्म तज्जलान हो जाता है, जो ब्रह्मका प्रथम लक्षण है। ब्रह्मसूत्रकार बादरायणने इसी लक्षणको 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र०सू०, १ : १ : २) कहा है, जिसका शाब्दिक अर्थ है कि जिससे समस्त भूतोंके जन्म आदि (आदिसे अभिप्राय स्थिति और लयसे हैं) होते हैं, वही ब्रह्म

है। इस परिभाषाका बादमें चलकर बड़ा आदर हुआ, जिसके फलस्वरूप 'जन्माद्यस्य यतः' शताब्दियोंसे आजतक ब्रह्मका लक्षण माना जाता है। प्राविधिक शब्दावलीमे इसे ब्रह्मका तटस्थ लक्षण कहते है। इस लक्षणमे तीन बातें उल्लेखनीय है। पहली, ब्रह्मसे सृष्टि आरम्भ होती है। इस कारण जगत्के मूल कारणको ब्रह्म कहते है। दूसरी, ब्रह्म सृष्टिमे अन्तर्व्याप्त है। वह अन्तर्यामी है और सभी वस्तुओकी आधारभूत और नियामक सत्ता है। तीसरी, ब्रह्ममे ही सृष्टिका अन्त होना है, अर्थात् ब्रह्म ही सृष्टिका साध्य भी है। इससे सिद्ध होता है कि सब कुछ ब्रह्म ही है। यहाँ स्मरण रहे कि ब्रह्म 'प्रकृति'के अर्थमे जगत्का मूल कारण नही है। किसी वस्तुके मुख्यतः दो कारण होते है, उपादान कारण और निमित्त कारण। घड़ेका उपादान कारण मिट्टी है और निमित्त कारण कुम्भकार। प्रकृतिवादी प्रकृतिको केवल जगत्का उपादान कारण मानते है। निमित्त कारण कार्यको गति, आकार तथा प्रयोजनता प्रदान करता है और उपादान कारण कार्यकी वस्तु-सामग्री है। ब्रह्मके उपर्युक्त लक्षणसे सिद्ध है कि वह जगत्का उपादान और निमित्त दोनों कारण है, क्योंकि जगत्का उसीसे आरम्भ होना और उसीमे स्थिति है, इसलिए वह जगत्का उपादान कारण है, फिर वह जगत्को अपनी स्वतन्त्रतासे रचकर नियन्त्रित करता है, शासित करता है और अपनेमें ही उसका विलय करता है, इसलिए वह जगत्का निमित्त कारण है। जगत्के उपादान कारण और निमित्त कारण, दोनों एक ही ब्रह्ममें होनेके कारण, ब्रह्मवाद, प्रकृतिवाद और ईश्वरकारणवादसे पृथक् है। ब्रह्मवाद अभिन्ननिमित्तोपादानकारणवाद है, अर्थात् एक और अद्वितीय ब्रह्म ही जगत्का निमित्त और उपादान, दोनों कारण है। प्रकृतिवाद केवल जगत्का उपादानकारणवाद है और ईश्वरकारणवाद केवल निमित्तकारणवाद। सांख्यदर्शन प्रकृतिवाद, न्याय-वैशेषिक ईश्वर कारणवाद और वेदान्त ब्रह्मवादको मानता है। यद्यपि ब्रह्मवादियोमे ब्रह्मके स्वरूपपर मतभेद है, पर ब्रह्मका यह लक्षण और उसकी अभिन्ननिमित्तोपादानकारणता सबको मान्य है।

सूक्ष्म रूपसे विचार करनेपर ज्ञात होगा कि ब्रह्मको इस प्रकार समझनेपर उसे सब वस्तुओंका सत्, सब चैतन्यधारी जीवोंका चैतन्य तथा अनन्त मानना पड़ेगा। इस कारण 'तैत्तिरीय उपनिषद्'मे ब्रह्मको 'सत् चित् आनन्दम्' कहा गया है। फिर अनन्त होनेके कारण ही वह निर्दोष तथा दुःखशून्य है, इसलिए उसे आनन्द भी कहा जाता है। सत्-चित्-आनन्दको मिलाकर सच्चिदानन्द बनता है, जो ब्रह्मका दूसरा लक्षण समझा जाता है। इसको स्वरूप-लक्षण कहते है। तटस्थ लक्षण 'जन्माद्यस्य यतः' या 'तज्जलान' ब्रह्मकी परिभाषा जगत्के माध्यमसे देता है और स्वरूप-लक्षण 'सच्चिदानन्द' या 'सच्चिदनन्त' उसकी परिभाषा बिना जगत्के माध्यमसे स्वतः ब्रह्मके सद्भाव या स्वरूपमात्रसे देता है।

ब्रह्म क्या है? इस प्रश्नका उत्तर ब्रह्मकी परिभाषा निश्चित हो जानेपर भी सरल नहीं है। औपनिषद् दार्शनिकोंने विभिन्न रूपोंमें ब्रह्मको समझानेकी चेष्टा की है। स्वतन्त्र विचारकका ध्यान पहले बहिर्मुखी हो जाता है और बादमें अन्तर्मुखी। अतः पहले बाहरी वस्तुएँ—जैसे, आदित्य, चन्द्रमा, पर्जन्य, पृथ्वी आदि ब्रह्म मानी गयीं। फिर शरीर और इन्द्रियोंमेंसे प्रत्येकको ब्रह्म समझा गया। अन्तमे सारी खोजका पर्यवसान 'प्रत्यगात्मा ब्रह्म है', इस सिद्धान्तमे हुआ (दे० 'आत्मवाद')।

इस खोजमे भृगुका नाम अमर है। ऊपर कहा गया है कि 'तैत्तिरीय उपनिषद्'में भृगुने अपने पितासे ब्रह्म जाननेकी चेष्टा की। पिताने उन्हे तपस्या करनेको कहा। तपस्याके उपरान्त भृगुने पहले अन्नको ब्रह्म समझा, क्योंकि निश्चय ही अन्नसे ही सब प्राणी उत्पन्न होते है, उत्पन्न होनेपर अन्नसे ही जीवित रहते है तथा प्रयाण करते समय अन्नमें लीन होते हैं। 'अन्न'का यहाँ अर्थ पृथ्वी और पार्थिव वस्तु है। इसे हम मिट्टी भी कह सकते है।

कुछ और तप करके भृगुने प्राणको ही ब्रह्म माना, क्योंकि प्राणसे ही प्राणी उत्पन्न होते है, उत्पन्न होनेपर प्राणसे जीवित रहते है और मरणोन्मुख होनेपर प्राणमें ही लीन हो जाते है।

तीसरे, फिर तप करनेपर भृगुको ज्ञात हुआ कि विज्ञान ब्रह्म है, क्योंकि विज्ञानसे ही सब जीव उत्पन्न होते है, उत्पन्न होनेपर विज्ञानके द्वारा ही जीवित रहते है और प्रयाण करते समय विज्ञानमें ही समा जाते है।

अन्तमे पुनः तप करनेपर भृगुको ज्ञात हुआ कि आनन्द ब्रह्म है, क्योंकि आनन्दसे ही सब जीव उत्पन्न होते है, उत्पन्न होनेपर आनन्दके द्वारा ही जीवित रहते हैं और मृत्युके समय आनन्दमें ही लीन हो जाते है।

'तैत्तिरीय उपनिषद्'की 'आनन्दवल्ली'में अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्दको ब्रह्मका कोष कहा गया है। ब्रह्मको क्रमशः अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय माना गया है। इनमें परवर्तीको पूर्ववर्तीका आधार दिखलाया गया है। इससे आनन्दमय सबका आधार सिद्ध होता है। बादमें 'ब्रह्म पुच्छंप्रतिष्ठा' (ब्रह्म पुच्छप्रतिष्ठा है, अर्थात् ब्रह्म सबका आधार है) यह कहकर आनन्दमयसे भी परे ब्रह्मको निश्चित किया गया है।

भृगुके निश्चयसे सभी ब्रह्मवादी सहमत है कि आनन्द ब्रह्म है। सच्चिदानन्दमे आनन्द शब्द प्रविष्ट ही है, पर 'आनन्दवल्ली'के निष्कर्षपर वेदान्तियों या ब्रह्मवादियोंका विवाद है। शंकराचार्य और उनके अनुयायी आनन्दमयको ब्रह्म नहीं मानते। अन्य सभी वेदान्तियोंका कहना है कि अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष तथा विज्ञानमय कोषका खण्डन करके 'आनन्दवल्ली'ने निश्चय किया है कि ब्रह्म आनन्दमय है, अर्थात् आनन्दसे बना हुआ है (मय प्रत्ययका अर्थ निर्मित होता है), आनन्दसे निर्मित होनेके कारण ब्रह्ममे स्वगत भेद हैं अर्थात् आन्तरिक भिन्नताएँ हैं। पर शांकर अद्वैतवादियोंका कहना है कि अन्य कोषोंकी भाँति आनन्दमय भी कोष है और जैसे अन्य कोषोंका खण्डन किया गया है, वैसे आनन्दमय कोषका भी खण्डन अभिप्रेत है। ब्रह्म इन कोषोंकी प्रतिष्ठा है, न कि इनमेंसे कोई एक। आनन्दमय न होकर आनन्दघन, अर्थात् आनन्दकी प्रचुरता है। मय प्रत्ययका प्रयोग प्राचुर्य अर्थमें भी

होता है (द्रष्टव्य पाणिनि : तत्प्रकृतवचने मयट् ५ : ४ : १)। इससे ब्रह्ममें स्वगत भेदों या आन्तरिक भिन्नताओंकी सत्ता नहीं सिद्ध होती।

भेद या भिन्नता तीन प्रकारकी होती है—स्वगत भेद, सजातीय भेद और विजातीय भेद। यदि ब्रह्मसे भिन्न कोई विजातीय द्रव्य उसके साथ ही हो तो ब्रह्ममे विजातीय भेद मानना पड़ेगा। यदि ब्रह्म एकसे अधिक हो तो उसमे सजातीय भेद मानने पड़ेंगे। यदि ब्रह्म आनन्दमय या शरीरी या पौरुषेय हो तो उसमे स्वगत भेद मानने पड़ेंगे। सभी ब्रह्मवादी ब्रह्ममे सजातीय और विजातीय भेदका निराकरण करते है। अद्वैतवादी और चैतन्य-मतानुयायी स्वगत भेद भी नहीं मानते। अन्य सभी वेदान्ती उसमें स्वगत भेद मानते है। इस भेदको माननेसे ब्रह्म भिन्नताओं-की एकता होगी, अर्थात् वह अंगी या शरीरी होगा और भिन्नताएँ उसका अंग या शरीर होगी। इस कारण अद्वैत-वादियोंको छोड़कर अन्य समस्त वेदान्ती शरीरी ब्रह्मको मानते है। भिन्नताएँ गुण है, अतएव वे सगुण ब्रह्मको मानते हैं और शंकर निर्गुण ब्रह्मको। फिर सगुण ब्रह्मको अद्वैतवादियोंसे भिन्न सभी वेदान्ती विष्णु या विष्णुका अवतारविशेष मानते है। इसलिए उन्हे वैष्णव या वैष्णव-वेदान्ती कहा जाता है। दार्शनिक दृष्टिसे शंकरका मत समीचीन है और धार्मिक दृष्टिसे वैष्णवोंका मत बहुत आवश्यक है।

ब्रह्म जगत्की सृष्टि वस्तुतः करता है कि मायासे? इसपर सभी वेदान्तियोमे मतभेद है (दे० 'विवर्तवाद')।

शंकराचार्यने ब्रह्मके अस्तित्वके लिए तीन प्रमाण दिये है—

(क) सभी वस्तुओंका कोई मूल कारण होता है। वे अपने मूल कारणसे उत्पन्न होती है। इस कारणका भी कारण होनेपर अनवस्था दोष आ जायगा। फिर कार्य-कारण शृंखला अनन्ततक जायगी और जबतक सभी कारणोंका ज्ञान न हो जाय, तबतक किसी कार्यका ज्ञान असम्भव है, क्योंकि कार्यका ज्ञान कारण-ज्ञान द्वारा ही सम्भव है। पर अनवस्थाके कारण अनन्त कारणोंका जानना अशक्य है। अतः किसी कार्यभूत वस्तुका ज्ञान नहीं हो सकता। परन्तु यह अनुभवके प्रतिकूल है। हमे वस्तुओका यथार्थ ज्ञान होता है। अतः हमे उनका मूल कारण भी कुछ ज्ञात है और वह मूल कारण, अर्थात् अजन्मा या अनु-त्पन्न कारण ब्रह्म है। वह असत् नहीं हो सकता, क्योंकि असत्से सत्की उत्पत्ति कथमपि नहीं हो सकती है।

(ख) जगत्में वस्तुओंकी अपनी क्रमिकता है। वे परस्पर संघटित और संयोजित है। उनका अनुक्रम, संघटन या संयोजन किसी अचेतन मूल कारणसे, जैसे प्रकृतिसे उत्पन्न नहीं हो सकता। अतः उनका आदि कारण चेतन है, न कि जड-प्रकृति, अर्थात् ब्रह्म है।

(ग) ब्रह्म प्रत्यगात्मा होनेके कारण सबको सर्वदा अनु-भव होता है कि 'मैं हूँ'। इस 'मै हूँ'में वही ब्रह्म है।

अन्य वेदान्ती प्रथम दो प्रमाण ही मानते है।

'तत्त्वमसि' इस उपनिषद्-वाक्यमें तत् पदसे ब्रह्म या परमात्माका और त्वम् पदसे आत्मा या जीवात्माका बोध होता है। इसमें दोनोंका सम्बन्ध दिखलाया गया है। पर इसकी विविध व्याख्या सम्भव होनेके कारण दोनोंमें विविध सम्बन्धोंकी खोज की गयी है। (क) शंकर प्रभृति अद्वैतवादी दोनोंमे अभेद-सम्बन्ध मानते है और 'तत्त्वमसि'-का सीधा अर्थ कि 'तू (त्वम्) तत् (ब्रह्म) है' करते है। (ख) मध्व जैसे द्वैतवादी दोनोंमे शाश्वत भेद मानते है और वाक्यकी व्याख्या यों करते है—तस्य त्वम् असि, अर्थात् उसके तुम हो। वह तुम्हारा स्वामी है और तुम उसके सेवक हो। तत्त्वमसि वाक्यमें ये लोग 'तत्त्वम्'मे समास मानते है। (ग) रामानुज जैसे विशिष्टाद्वैतवादी दोनोंमें भेदसे विशिष्ट अभेदका सम्बन्ध मानते है। इनके मतसे वाक्यका विग्रह 'तत् त्वम् असि' वह तू है—यही है। पर जीवात्मा देह या अंग है और ब्रह्म देही या अंगी। जैसे 'तुम ब्राह्मण हो', 'तुम मनुष्य हो' आदि वाक्योंमें 'तुम' पदसे वाच्य जीवात्माको ब्राह्मण जातिका, मनुष्यतासे युक्त समझा जाता है, वैसे हम भी जीवात्मासे युक्त है। इस प्रकार इनके मतमें दोनोंमें अंगांगिभावका सम्बन्ध निश्चित होता है। (घ) निम्बार्क जैसे द्वैताद्वैतवादी भेद तथा अभेद, दोनो मानते है। तत्त्वमसिकी व्याख्या तत् त्वम् असि—वह तू है—यही है। पर इसका बोध 'स्फुलिंग अग्नि है', 'किरण सूर्य है' आदि वाक्योंकी भाँति है। जैसे स्फुलिंग और अग्नि अथवा किरण और सूर्य परस्पर अभिन्न तथा भिन्न दोनो हैं, वैसे जीवात्मा और परमात्मा परस्पर भिन्न तथा अभिन्न, दोनो है। (ङ) वल्लभाचार्य जैसे शुद्धाद्वैत-वादी तत्त्वमसिकी व्याख्या तस्मात् त्वमसि—तुम उससे हो, ऐसी करते है। उनके मतसे जीवात्मा परमात्मासे उत्पन्न है और परमात्मा कारणरूपसे अपने कार्यरूप जीवात्मामें रहता है। इस प्रकार दोनोंमे आत्यन्तिक अभेद नहीं है, क्योकि परमात्मा अनुत्पन्न है और जीवात्मा उत्पन्न, तथापि दोनोंमे अभेद है। (च) चैतन्य जैसे अचिन्त्य-भेदाभेदवादी दोनोंमें अचिन्त्य-भेदाभेद मानते है। इनके मतसे ब्रह्म या परमात्मामे अचिन्त्य शक्तियाँ है, जिनमें तीन मुख्य है, स्वरूपशक्ति, तटस्थशक्ति या जीवशक्ति और मायाशक्ति। इस प्रकार जीवात्मा परमात्माकी शक्ति है। वह परमात्मा-से न तो बिलकुल भिन्न है और न अभिन्न, क्योंकि वह अचिन्त्यशक्ति है। उनको भिन्न और अभिन्न, दोनो पृथक्-पृथक् माननेमे तार्किक दोष है। दोनोका समन्वय तो व्याघात है। अतः उनमें अचिन्त्यभेदाभेद ही मानना चाहिये।

ब्रह्मवादका हिन्दी-साहित्यपर दूरगामी प्रभाव पड़ा है। सन्त-साहित्य और भक्ति-साहित्यकी मूल प्रेरणा ब्रह्मवादमे है। इसके अतिरिक्त आधुनिक रहस्यवाद तथा छायावाद तथा रीतिकालीन कवियोका ईश्वरवाद किसी-न-किसी रूपमें ब्रह्मवाद ही है। निर्गुण ब्रह्मवाद और सगुण ब्रह्मवादपर तो हिन्दी-साहित्यमें अनेक ग्रन्थ लिखे गये है। कबीर पन्थमे निर्गुण ब्रह्मवाद है, तो रैदासी सम्प्रदाय और तुलसीदास तथा सूरदासमें सगुण ब्रह्मवाद। हिन्दी कवियोंने ब्रह्मवादको नूतन दिशामे मोड़ा भी है। सगुण और निर्गुणसे परे और दोनोंका साक्षी उनके मतसे 'नाम' है। तुलसीदासने स्पष्ट कहा है कि "अगुन सगुन बिच नाम

सुमाखी', 'मोरे मत बड नाम दुहूँ ते''। कबीर और रैदास जैसे सन्त नामने भी आगे अनाम तथा अबोलतक जाते है। सगुण ईश्वरके पूर्व वे मूर्ति तथा विराट्को भी ब्रह्म मानते है। कुछ सन्त 'सत्' मात्र ही ब्रह्म मानते है। कुछ विष्णुको तो कुछ उनके अवतार राम तथा कृष्णको ब्रह्म मानते है। कबीर आदि रामको ब्रह्म मानते हुए भी अपने रामको दशरथ-सुत अवतारी रामसे भिन्न मानते है। अधिकांश सन्त सर्वेश्वरवादी है। वे मुख्यतः रहस्यवादी भक्त कवि है। 'अलख', 'निरंजन', निर्गुण' आदि शब्द हिन्दी साहित्यमे घर कर गये है। उनके पीछे अनेक सारगर्भित सिद्धान्त है। ब्रह्मके स्वरूपपर इतना प्रचुर प्रकाश डालनेके अतिरिक्त हिन्दीके दार्शनिकोने ब्रह्म तथा जीवके सम्बन्धपर भी बहुत मनन और अनुभव किया है। कबीर, तुलसी, सूर, रविदास, दादू, नानक, सुन्दरदास आदि दार्शनिक कवियोंने इस सम्बन्धपर नूतन प्रकाश डाला है। 'तुम और मैं' नाममे वर्तमान युगमें भी 'निराला' जैसे रहस्यवादी दार्शनिक कविने इस सम्बन्धकी नयी व्याख्या की है। प्रायः हिन्दी साहित्यमें जीवात्मा और परमात्माका सम्बन्ध उदाहरणो और रूपको द्वारा किया जाता है, पर उनके अन्तरालमें दार्शनिक सिद्धान्त छिपे रहते है। सिद्धान्तोके अतिरिक्त साधनामें भी हिन्दीके सन्तों, भक्तों और दार्शनिकोने महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। —सं० ला० पा०

ब्रह्मसमाज—आधुनिक भारतके निर्माणमे नवीन शिक्षा और वैज्ञानिक आविष्कारोंका प्रमुख हाथ रहा है। इस दृष्टिसे ईसाकी उन्नीसवीं शताब्दी आधुनिकताका बचपनकाल है और ब्रह्मसमाजके संस्थापक राजा राममोहन राय सर्वप्रथम आधुनिक भारतीय थे। उत्तरभारतमें बंगालका ही पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान और संस्कृतिसे सर्वप्रथम सम्पर्क स्थापित हुआ था। यह समय उन्नीसवीं शताब्दीका प्रारम्भिक काल था। पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञानका बंगीय विचारधारापर ही प्रभाव नही पड़ा, वरन् प्रेस, रेल आदि वैज्ञानिक आविष्कारोंने परम्परागत रूढ़िग्रस्त सामाजिक और धार्मिक व्यवस्थामे भी परिवर्तनके चिह्न प्रकट होने लगे थे। ये परिवर्तनशील शक्तियाँ ब्रह्मसमाज-(१८२८ ई०)में आकर केन्द्रीभूत हुईं और राजा राममोहन रायने उसका नेतृत्व ग्रहण किया। ब्रह्मसमाजने धर्मशिथिल भारतवासियोको विशुद्ध हिन्दू धर्मका ज्ञान करानेका प्रयत्न किया और धीरे-धीरे परम्परागत कट्टरता और पौराणिकताका लोप होने लगा। किन्तु कट्टरताके लोपके साथ-साथ ब्रह्मसमाजकी विचारधारापर पाश्चात्य प्रभाव बहुत तीव्र रूपमें पड़ा; वास्तवमें पाश्चात्य प्रभाव तो उसपर प्रारम्भसे ही था। ज्यों-ज्यों यह प्रभाव बढ़ता गया, त्यों-त्यों कट्टर हिन्दू इस आन्दोलनसे अलग भी रहने लगे। बंगालके नव-शिक्षित समाजपर उसका जो प्रभाव पड़ा, उसे स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अपनी बंगाल-यात्रामें देख आये थे। राजा राममोहन राय संस्कृत, फारसी, अंग्रेजी आदि भाषाओके ज्ञाता थे और ईसाई मिशनरियोंसे भी उनका सम्पर्क था। उन्होंने विविध मतोंका गहन अध्ययन और उपनिषदों तथा वेदान्तका बँगलामें अनुवाद किया। उन्होंने धार्मिक सहिष्णुता और एकेश्वरवादपर जोर दिया। वास्तवमे ब्रह्मसमाजका मूल तो हिन्दू धर्ममें ही था, किन्तु उसका बाह्य रूप पाश्चात्य था। यही कारण है कि उसने नवीन उपदेश-प्रणाली, संगीतके सहारे सामूहिक आराधना-प्रणाली, नारी-शिक्षा और स्वतन्त्रता, अन्तर्जातीय विवाह आदिको प्रोत्साहन प्रदान किया। उसमे विश्व-बन्धुत्वकी भावना ओतप्रोत थी और उसने ईसाई प्रभावको आत्मसात् करते हुए धर्म और समाजके विश्लेषणार्थ बौद्धिक दृष्टिकोण प्रदान किया।

जहाँतक हिन्दी-भाषा और साहित्यसे सम्बन्ध है, ब्रह्मसमाजका ऋण एक प्रकारसे नगण्य है। राजा राममोहन रायने वेदान्तपर हिन्दीमें थोड़ा लिखा, ऐसा कहा जाता है। किन्तु उसके उपलब्ध अंशकी भाषाको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि उसमें खड़ीबोली हिन्दी गद्यकी शैली और रूपको प्रभावित करनेकी शक्ति नहीं थी। उसमें अरबी-फारसी शब्दोंका मिश्रण भी आवश्यकतासे अधिक है। ९ मई, सन् १८२९ ई०मे 'बंगदूत' नामक जो पत्र निकला, उसमें अलग-अलग कालमोमे अंग्रेजी, बँगला, फारसी और हिन्दी, चार भाषाएँ रहती थीं। उसका प्रकाशन राजा राममोहन राय, द्वारिकानाथ ठाकुर, प्रसन्नकुमार ठाकुर प्रभृति सज्जनों द्वारा होता था, यद्यपि उसमें प्रमुख भाग राजा राममोहन रायका था। हिन्दी पत्रकारिताको प्रोत्साहन प्रदान करनेकी दृष्टिसे राजा राममोहन रायका ऋण स्वीकार किया जा सकता है। आगे चलकर ब्रह्मसमाजके कुछ प्रधान समर्थकोंको हिन्दी राष्ट्रभाषा पद भी मान्य था, किन्तु इतना सब कुछ होनेपर भी खड़ीबोली हिन्दी गद्य-शैली और रूपको ब्रह्मसमाजकी देन नहींके बराबर है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जब बंगाल गये थे, उस समय वहाँ ब्रह्म समाजका प्रचार जोरोंसे था। बंगालमे जो कुछ हो रहा था, उसे उन्होंने स्वयं देखा। उनसे पहलेके खड़ीबोली हिन्दी गद्यके लेखकोंमेंसे कुछ कलकत्तामें थे या वहीं रहकर अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कर रहे थे, किन्तु उनकी गद्य-शैली या विचारधारापर ब्रह्मसमाजका कोई प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता। सम्भवतः उन्होने ब्रह्मसमाजका कही उल्लेख भी नही किया। उन्नीसवीं शताब्दीके उत्तरार्धमें जब हिन्दी साहित्यमें सुधारकी आवाज बुलन्द हुई, उस समय भी ब्रह्मसमाजका उल्लेख एकाध स्थलपर, वह भी नाममात्रके लिए, मिलता है। हिन्दीके उन्नसवी शताब्दी उत्तरार्धके साहित्यिकोंका ब्रह्मसमाजकी विचारधारासे प्रभावित होना वैसे भी असम्भव था। वे न तो दयानन्दी बन जाना चाहते थे और न किरिस्तान। उनका मार्ग मध्यम मार्ग था, अर्थात् परम्परागत सनातन धर्ममे देश, काल, परिस्थितिके अनुसार आवश्यक सुधार प्रस्तुत करना उनका ध्येय था। ऐसी परिस्थितिमे पाश्चात्य प्रभावसे ग्रस्त ब्रह्मसमाजका उनपर प्रभाव पड़ना सम्भव नहीं था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, श्रीनिवास दास, राधाकृष्णदास आदिके जो नारी-शिक्षा तथा विविध सुधारोंसे सम्बन्धित विचार थे, वे हिन्दी प्रदेशमें प्रचलित पाश्चात्य शिक्षा आदिके फलस्वरूप स्वतन्त्र रूपसे उत्पन्न हुए थे और वे उनके अपने

विचार थे। स्वयं सुधार और परिवर्तनकी प्रेरणा उन्होंने बंगालमें ली, यह दूसरी बात है, किन्तु उन सुधारों और परिवर्तनोंके मार्गका निर्देश उन्होंने अपने अनुभवके आधारपर किया। उनका दृष्टिकोण अनुकरणमूलक कदापि नहीं था। बीसवीं शताब्दीके हिन्दी लेखक और कवि स्वयं संसारके नवीन विचारोंका प्रभाव स्वीकार करते जा रहे थे और जा रहे है। रवीन्द्रनाथ या शरत्का प्रभाव उन्होंने उसी प्रकार स्वीकार किया था, जिस प्रकार अंग्रेजीके रोमाण्टिक कवियोंका। इस सन्दर्भमें ब्रह्मसमाजका योगदान कहीं भी नहीं आता।

[सहायक ग्रन्थ—लाइफ एण्ड लेटर्स ऑफ राजा राममोहन राय : मिस एस० डी० कोलेट; आधुनिक हिन्दी साहित्य : लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय।] —ल० सा० वा०

ब्रह्मानंदसहोदर—भरतके रससूत्रकी व्याख्या करते हुए भट्टनायक(१० श० ई०)ने सर्वप्रथम रसास्वादके लिए 'ब्रह्मास्वादसदृश'का प्रयोग किया है (दे० 'रसनिष्पत्ति')। उनके अनुसार भावकत्व द्वारा रज तथा तमके नष्ट होनेपर सत्त्वोद्रेकके साथ जो काव्यानन्द प्राप्त होता है, वह अनुभूतिमें ब्रह्मानन्दके सदृश है। अभिनवगुप्त (१०,११ श० ई०)-ने रसकी अनुभूतिको लोकोत्तर माना है। मम्मट (१२ श० ई०)ने अभिनवकी व्याख्या करते हुए स्वीकार किया है—"ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिकचमत्कारकारी रसः' (का०प्र०, ४ : २८ वृ०) अर्थात् रस ब्रह्मानन्द-सदृश अनुपम अनुभूति प्रदानकर अलौकिक चमत्कारका जनक होता है। वस्तुतः विश्वनाथ द्वारा रसास्वादके वर्णनमें इस कल्पनाको सबसे अधिक प्रत्यक्ष आधार मिला है—"यह रस सत्त्वोद्रेकके कारण अखण्ड है, स्वप्रकाशसे आनन्दरूपमें उद्भासित है, द्वैधमूलक ज्ञानसे शून्य है, ब्रह्मास्वादसहोदर है और लोकोत्तर चमत्कारसे अनुप्राणित है" (सा० द०, ३ : २, ३)। इसमें प्रयुक्त स्वप्रकाशित आनन्द तथा ब्रह्मास्वादको एक साथ रखकर सम्भवतः ब्रह्मानन्दकी कल्पना की गयी है।

आधुनिक हिन्दीके विचारकोंने काव्यको इसी आधारपर ब्रह्मानन्दसहोदर माना है। केशवप्रसाद मिश्र तथा श्यामसुन्दर दासने इसकी व्याख्याके लिए 'मधुमती भूमिका' (दे०)की स्थापना की है। ब्रह्मानन्दके कारण कुछ विद्वानोंने इसको अतीन्द्रिय कहा तथा योगकी भूमि माना है। पर यहाँ ध्यान देनेकी बात है कि आचार्योंने रसको ब्रह्मानन्द न मानकर उसके सदृशमात्र माना है। रामचन्द्र शुक्लने इसी कारण रसको प्रत्यक्ष अनुभूतिसे भिन्न माननेका विरोध किया है। मम्मटके सामने यह स्पष्ट था, इसी कारण उन्होंने ब्रह्मास्वादसहोदरकी विलक्षणताका ध्यान करके उसे निर्विकल्पक समाधिसे सम्बन्धित नहीं किया है (का० प्र०, ४ : २८ वृ०)।

वस्तुतः इस कल्पनाके विकासका आधार भारतीय दर्शनका काव्य-सिद्धान्तपर प्रभाव है। 'तैत्तिरीय उपनिषद्' में कहा गया है—'रसो वै सः', अर्थात् आनन्द ही ब्रह्म है। अतएव आगे चलकर जब रसको संविद्विश्रान्तिके रूपमें प्रतिपादित किया गया, तब उसे ब्रह्मानन्दके समकक्ष मानना सहज हो गया। भारतीय दर्शनोंमें यद्यपि न्याय दर्शन ब्रह्मको आनन्दसे परे मानता है, पर नव्य नैयायिक ब्रह्मको ज्ञानके साथ आनन्दमय भी स्वीकार करते हैं। सांख्यकी प्रकृति-पुरुषकी कल्पनामें यद्यपि ब्रह्मके साथ आनन्दका समावेश नहीं है, पर हिन्दी साहित्यमें प्रकृति-पुरुषकी कल्पना अत्यधिक प्रिय रही है और उनके साथ लीलाके आनन्दकी कल्पनाका विकास भी हुआ है। योगदर्शनकी 'मधुमती भूमिका'से आकर्षित होकर आधुनिक विचारकोंने इसे ही रसभूमि माना है (दे०)। परन्तु योगदर्शनके अनुसार उत्कृष्ट स्थितिमें अतिक्रान्त भावनीय होता है, अर्थात् योगी सम्पूर्ण लौकिक भावनाओंसे परे हो जाता है। अद्वैतदर्शनके अनुसार ब्रह्मानुभूतिमें उपभोक्ता तथा उपभोग्यका अन्तर ही नष्ट हो जाता है। ब्रह्म और जीवकी अलग स्थिति ही नहीं रहती, अतएव ब्रह्मास्वादकी अनुभूति जीवको किस प्रकार हो सकती है? मायाके तिरोहित होते ही साधक ब्रह्मानन्दमें निमग्न हो जाता है। अतएव अद्वैतके ब्रह्मानन्दकी स्थिति वासनातीत है। लेकिन रसके आनन्दको ब्रह्मानन्द न कहकर उसका सहोदर कहनेमें यह भाव व्यंजित है ही कि वह उसके समकक्ष नहीं है। वह ऐन्द्रिय न होकर भी इन्द्रियातीत तो नहीं है।

विशिष्टाद्वैत तथा शुद्धाद्वैत आदि वादके वेदान्तोंमें आनन्द तथा लीलाकी कल्पना अधिक सम्बद्ध है, जिससे हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओंका भक्ति-साहित्य अनुप्राणित है। इस पृष्ठभूमिपर रसके ब्रह्मानन्दसहोदर होनेकी भावना अधिक प्रत्यक्ष हो सकती है। भक्त-कवियोंने तो अपनी साधना तथा काव्यात्मक अभिव्यक्तिमें इस तथ्यको पूर्णतः प्रतिपादित किया है। तुलसी, सूर, कबीर, जायसी जैसे भक्त-कवियोंके काव्यमें ब्रह्मानन्द तथा काव्यानुभूति सहोदर जैसी ही है। शैव सिद्धान्तकी आनन्दकी भावना भी इस सिद्धान्तके अनुकूल है। इस सिद्धान्तके अनुसार आत्मा सांसारिक बन्धनरूप मलोंसे छूटकर ब्रह्मको प्राप्त करती है। इससे मुक्त होकर आत्मा अपने वास्तविक रूपमें आनन्दमय हो जाती है। वस्तुतः इस मत द्वारा प्रतिपादित विचारधाराके आधारपर अभिनवने ममत्व-परत्व आदिके त्यागकी व्याख्या की है। जिस प्रकार लोकके बन्धनोंसे मुक्त होकर साधक ब्रह्मानन्दको प्राप्त करता है, उसी प्रकार हृदयकी मुक्तिसे सहृदय काव्यानन्दकी अनुभूति ग्रहण करता है। —दे०

भँवरगुफा—नाथों और सन्तोंके साहित्यमें भँवरगुफाका उल्लेख बहुधा मिलता है। इस भँवरगुफामें अगर मन अपना आवास बना ले तो वह जीवन्मुक्त हो जाता है—ऐसा विश्वास बार-बार प्रकट किया गया है। गुरु नानकदेवकृत 'प्राणसंगली' (अध्याय ९, पृ० १९३)में कहा गया है "भँवरगुफामें डेरा करै। गुरु परसादी जीवत मरै"। गोरखनाथने अपना दृढमत व्यक्त किया है कि इस भँवरगुफामें मन जबतक विश्राम नहीं लेता, तबतक वह किसीके हाथ नहीं आता। अगम अगोचरमें निष्काम भावसे स्थिर रहने तथा नैशजागरण आदिसे मन कुछ समयके लिए शान्त भले हो जाय, वह पूरी तरह वशमें नहीं आता। भँवरगुफामें विश्रान्त होनेपर ही मनका चांचल्य उपहत होता है—"अगम अगोचर रहै निहकाम। भँवरगुफा

नाही बिसराभ। जुगति न जांणै जागै राति। मन काहू कै न आवै हाथि" (गोरखबानी, सबदी १३२)।

यह भँवरगुफा कहाँ है, इसका स्पष्ट उल्लेख मुझे कही मिल नही सका। डॉ० पीताम्बरदत्त बडथ्वालने इसे ब्रह्मरन्ध्र कहा है (दे०—गोरखबानी, सबदी १३२की टीका)। किन्तु 'प्राणसंगली' (अध्याय २, पृ० १३)मे जो उल्लेख मिलता है, उसके अनुसार भँवरगुफाकी स्थिति सुन्न सरोवर-में खिलनेवाले सहस्रदलकमल मे है। ब्रह्मरन्ध्र सुपुम्ना नाडीके शीर्षभागको कहते है। इसी ब्रह्मरन्ध्र, महापथ, राजपथ या मध्यमार्ग (हठयोग प्रदीपिका, ३ : ४)से होकर कुण्डलिनी सहस्रारमें प्रवेश करती है। अतः ब्रह्मरन्ध्र और सहस्रारस्थ भँवरगुफा एक नही हो सकते। 'प्राणसंगली'का कहना है—"सरवर सुन्न वने सहसदल, भँवरगुफा मगनाने। अति चित्रसाल बनी निज महली, हरिजन तहाँ उरझाने"। "भँवरगुफामे डेरा करै। गुरु परसादी जीवत मरै"। कहकर प्राणसंगली इसी बातकी पुष्टि करती है कि भँवरगुफामे वह स्थित है जहाँ पहुँचकर साधक जीवन्मुक्त हो जाता है। गोरखनाथके अनुसार भी इसी भँवरगुफामे विश्राम लेनेपर मन वशमे आता है, अतः निश्चय ही भँवरगुफा ब्रह्मरन्ध्रसे ऊपरकी स्थिति है। योग-साहित्यमें ब्रह्मरन्ध्रको कही भी गन्तव्य नही माना गया है। वह मार्ग है, लक्ष्य नही। जबकि उक्त स्थलोपर भँवर-गुफाको आखिरी मंजिलकी तरह स्वीकार किया गया है।

'प्राणसंगली' (अध्याय ९, पृ० २०१)मे एक बत्तीसदल-के कमलका उल्लेख है। टीकामे सन्त सम्पूर्ण सिंहजीने इसी कमलको भँवरगुफा कहा है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीने भी अपनी 'कबीर' नामक पुस्तक (संस्करण ५, पृ० २९९)में कुछ ऐसी ही बात लिखी है। सन्त सम्पूर्ण सिंह बत्तीसदलवाले कमलको भँवरगुफा कहते है, जब कि द्विवेदीजी बत्तीसदलवाले कमलको भँवरगुफामे स्थित मानते हैं। शेष बाते दोनोंकी लगभग एक सी है। दोनोंमें-से किसीने इस बातका कोई संकेत नही दिया है कि भँवरगुफा सम्बन्धी ये सूचनाएँ उन्हें कहाँसे मिली। ऊपर स्पष्ट किया गया है कि गोरखनाथ और प्राणसंगली दोनोंने भँवरगुफाको जीवन्मुक्तिका आवास, निजमहली या परमपद-का स्थान माना है। सन्त सम्पूर्ण सिंह और आचार्य द्विवेदीके वक्तव्योंमें भँवरगुफाको उस तरहका सर्वोच्च स्थान नही माना गया है। सन्तजीका कहना है—"जिस प्रकार भँवरा कमलपुष्प बासमें लम्पट हो मरता है, तिसी प्रकार ही इस आभ्यंतरिक बत्तीस दल कमलमें मग्न होकर मन, सुरतिकी अगली चढ़ाईके संकल्पको बिसार बैठता है। सति गुरुकी ओट सम्हालनेवाला ही केवल गुरू कृपासे इससे मुक्त हो सकता है"। आचार्य द्विवेदी लिखते है—"यहाँ पहुँचनेपर जीवका अहंभाव नष्ट हो जाता है परन्तु यहाँ भी उसे सच्चा ज्ञान प्राप्त नही होता। जब इस गुफासे ऊपर उठता है, तब उसे निरंकार देशमें सत्यपुरुषका साक्षात्कार होता है"। हजारीप्रसाद द्विवेदी-ने बताया है कि भँवरगुफामें स्थित बत्तीस दलके श्वेत कमलको 'निजपद' कहा जाता है ('कबीर', संस्करण ५, पृ० २९९)।

—रा० दे० सिं०

भक्ति १—भज् धातुमे इसकी उत्पत्ति हुई है, जिसका अर्थ भजना है। 'नारद'के अनुसार वह 'परमप्रेमरूपा' और अमृतस्वरूपा है, जिसे प्राप्त कर मनुष्य सिद्ध, अमर और तृप्त हो जाता है। "सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा, अमृत-स्वरूपा च" (भ० सू०, २ : ३), "यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति अमृतो भवति तृप्तो भवति" (भ० सू०, ४)। पराशर-पुत्र व्यास पूजादिमें अनुराग तथा गर्ग कथादिमें अनुरक्तिको भक्ति कहते है। "पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः। कथादिष्विति गर्गः" (भ० सू०, १६-१७)।

भगवान्को प्राप्त करनेके साधनोंमे कर्म, ज्ञान, योग और भक्तिमार्गकी गणना होती है। सहज साध्य होनेके कारण आचार्योंने भक्तिमार्गको प्रमुखता दी है—"अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ" (भ० सू०, ५८)। भक्तिमार्गका प्रमुख सम्प्रदाय भागवत धर्म है, जिसका उदय ईसाके लगभग १४०० वर्ष पूर्व अनुमाना जाता है। उससे पूर्व ऋग्वेदके वरुण-सूक्त तथा उसकी अन्य ऋचाओं (४ : १९ : ६। ७ : ८८ : ६)मे भक्तिकी कल्पनाका आभास मिलता है। ब्राह्मण-कालमे कर्मकाण्डकी प्रबलताके कारण भक्तिका प्रवाह कुण्ठित हो गया था। उपनिषद्-युगमे निर्गुण ब्रह्मकी अनुभूतिके लिए मन, आकाश, सूर्य, अग्नि, यज्ञ आदि सगुण प्रतीकोंकी उपासनाके स्पष्ट संकेत मिलते है। 'मैत्र्युपनिषद्', 'छान्दोग्योपनिषद्', 'मुण्डकोपनिषद्', 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' आदि उपनिषदोंमें शिव, रुद्र, विष्णु, अच्युत, नारायण आदिको परमात्माके रूप कहकर उनकी उपासनाका निर्देश है।

उपनिषद्-कालके अनन्तर 'महाभारत'में प्रवृत्तिमय भक्तिका रूप परिलक्षित होता है। पाणिनीय सूत्रोंमें 'वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्'से प्रतीत होता है कि पाणिनिके पूर्व वासुदेव-भक्ति प्रचलित हो गयी थी। पाणिनिका समय ईसा पूर्व चौथी शताब्दी माना जाता है, अतएव भक्तिका प्रचार निश्चय ही उससे पूर्व हुआ होगा। भक्ति-मार्गमे सर्वप्रथम वासुदेव-भक्तिका प्राधान्य था। बुद्धोत्तरकालमें भक्तिका स्वरूप विस्तृत हो गया। भिन्न-भिन्न देवताओं और विभूतियोंकी उपासना प्रारम्भ हो गयी। निर्गुण, निराकार ब्रह्मकी प्रतीकोपासना, जिसे उपनिषत्कारोंने प्रचलित करना चाहा था, सगुण-उपासना होते हुए भी अव्यक्त थी, जो सामान्य जनके लिए कष्टकर तथा अग्राह्य प्रतीत हुई, अतएव व्यक्त मानवदेहधारीकी उपासनाकी कल्पना अस्तित्वमें आयी। प्रत्यक्ष नामरूपात्मक उपासना ही भक्तिमार्ग कहलायी। भक्तिको भागवत धर्मका बल मिला। श्रीकृष्णावतारके पूर्व इसके **ऐकान्तिक**, नारायण, पाँचरात्र, **सात्वत्** आदि नाम रूढ थे। 'महाभारत'के शान्तिपर्वमें ऐकान्तिक धर्मकी उत्पत्तिकी कथा है। नर और नारायण नामक दो ऋषियोंने इस धर्मका सर्वप्रथम प्रारम्भ किया। इसीलिए ऐकान्तिक धर्म नारायणी धर्म कहा जाने लगा। इसी नारायणी धर्मका श्रीकृष्णकी सात्वत् जातिमे प्रचार हुआ। अतः यही सात्वती धर्मके नामसे प्रसिद्ध हुआ। श्रीकृष्णके पश्चात् यह **भागवत धर्म** कहलाने लगा। श्रीकृष्णका काल ईसाके लगभग १४०० वर्ष पूर्व माना जाता है।

भागवत-धर्म अपनी प्रथमावस्थामे ऐकेश्वरी भक्तिका प्रतिपादक था, क्योंकि उसके पूर्व सांख्य तथा योग-मत प्रचलित थे, जिनका प्रभाव उसपर स्वभावतः पड़ा था। द्वितीयावस्थामे ब्राह्मण-धर्मके प्राबल्यके कारण इसमे बहुदेवोपासनाका समावेश हो गया। ईसाकी आठवीं शताब्दीमे शांकर मत (अद्वैतवाद)के प्रसारने भागवत धर्मकी गति कुण्ठित कर दी। परन्तु शंकराचार्यके पश्चात् दक्षिणमे रामानुजाचार्य और मध्वाचार्यने इसका पुनरुद्धार किया। संक्षेपमें इस धर्मकी मान्यताएँ इस प्रकार हैं—

जगत्का उत्पादक एक परमेश्वर है। उसके नारायण, वासुदेव, भागवत नाम हैं। वह अनन्त, अविनाशी, अच्युत है। वह प्रकृतिसे समस्त जगत्का निर्माण करता है। जीवात्मा उसका अंश है। पर-पुरुषने ही ब्रह्मा, शिव आदि देवताओंको जन्म दिया है। जब-जब भक्तोंपर संकट पड़ता है तब-तब वह अवतार धारण करता है। अवतारोंमें राम और कृष्ण प्रमुख अवतार हैं। **वासुदेव,** संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध उसके **चार व्यूह** हैं। भक्ति ही मोक्ष-प्राप्तिका साधन है। भक्ति वासुदेव या उनके अवतारोंकी करनी चाहिए। निष्काम कर्मसे चित्त-शुद्धि होती है। जीव ४ प्रकारके हैं—(१) बद्ध, (२) मुमुक्षु, (३) केवल और (४) मुक्त। मुक्त जीव पार्थिव शरीर त्यागकर लिंग-देह धारण करता है। लिंग-देहके नष्ट हो जानेपर उसका परमानुभूतमे रूपान्तर हो जाता है। तत्पश्चात् वह क्रमशः अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, संकर्षण और वासुदेवमे लीन हो जाता है, परन्तु जीव वासुदेव नहीं बन जाता। उनकी एक कलाके नाते उनके सतत निकट रहता है।

इस पुनरुज्जीवित **भागवत धर्म**के ४ उपभेद हैं—(१) श्री सम्प्रदाय : रामानुजाचार्य द्वारा संस्थापित, (२) ब्रह्म-सम्प्रदाय : मध्वाचार्य द्वारा संस्थापित, (३) रुद्र-सम्प्रदाय : विष्णु स्वामी द्वारा संस्थापित, (४) सनकादिक-सम्प्रदाय : निम्बार्काचार्य द्वारा संस्थापित। ये चारों सम्प्रदाय शंकराचार्यके अद्वैत-सिद्धान्त और मायावादका खण्डन करते हैं और भगवान्को सगुण मानकर उनकी भक्तिपर बल देते हैं। देशमे 'श्रीमद्भागवत'के रचनाकालतक भक्तिके विकासका संकेत भागवतकारने इस प्रकार किया है—"उत्पन्ना द्रविडे चाहं वृद्धिं कर्णाटके गता। क्वचित् क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता॥ तत्र घोरकलेर्योगात् पाखण्डैः खण्डितांगका। दुर्बलाहं चिरं याता पुत्राभ्यां सह मन्दताम्॥ वृन्दावनं पुनः प्राप्य नवीनेव सुरूपिणी। जाताहं युवती सम्यक् प्रेष्ठरूपा तु साम्प्रतम्॥", अर्थात् मैं द्रविड़में उत्पन्न हुई, कर्णाटकमें बढ़ी, कभी-कभी महाराष्ट्रमे मेरा पोषण हुआ, गुर्जरमें जीर्ण हो गयी, वहाँ घोर कलिके कारण खण्डितांग हो गयी, दुर्बलताको प्राप्त हो पुत्रों सहित धीरे-धीरे वृन्दावनमें आयी, जहाँ मैं सुन्दर रूप प्राप्त कर युवती हो गयी और अब उत्कृष्ट रूपवाली हूँ" (श्रीमद्भागवतमाहात्म्य, अध्याय १, श्लोक ४८, ४९, ५०)।

भागवत धर्म और भक्तिके ग्रन्थोंमें 'श्रीमद्भगवद्गीता', 'महाभारत'का शान्तिपर्व, 'पांचरात्र-संहिता', 'सात्वत-संहिता', 'शाण्डिल्यसूत्र', 'भागवत-पुराण', 'हरिवंशपुराण', 'नारदीय भक्तिसूत्र', 'नारदपांचरात्र', रामानुजाचार्य आदि आचार्योंके ग्रन्थ प्रमुख हैं।

भक्ति, भाव है या रस—इस सम्बन्धमे साहित्याचार्योंने थोडा-बहुत विवेचन किया है। रससम्प्रदायाचार्य भरत मुनिने अपने 'नाट्यशास्त्र'में शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त रसको ही मान्यता दी है। भक्तिका उल्लेख नहीं किया। देव-विषयक रतिका नाम ही भक्ति है। मम्मटने 'काव्य-प्रकाश'मे सर्वप्रथम देव-विषयक रतिको स्वतन्त्र भावकी संज्ञा प्रदान की है। पण्डितराज जगन्नाथने 'रसगंगाधर'मे भक्तिको रस न माननेके सम्बन्धमें प्रश्नमात्र उठाया है। भरतादि मुनियोंकी रस-व्यवस्थाको भंग करना कदाचित् उन्हें अभीष्ट न था। कन्हैयालाल पोद्दारने भक्तिको केवल भाव न मानकर रस माना है (दे० कल्याण : श्रीवेदान्तांक', पृ० ५१५)। वल्लभ-सम्प्रदायी ग्रन्थ 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' (श्रीरूपगोस्वामी-विरचित)मे **भक्ति-रस**का शास्त्रीय विवेचन मिलता है।

आलवार सन्तोंने 'नामसंकीर्तन-भक्ति-धारा'से दक्षिणको रस-सिक्त कर भक्तिकी मधुर हिलोर उत्तरकी ओर बहायी। ये राम-कृष्णके भक्त थे। इन्हींकी परम्परामे रामानुजाचार्य हुए। रामानुजाचार्यने जहाँ ब्राह्मण और अब्राह्मणोंके लिए भक्तिके वेदानुकूल भक्ति और तान्त्रिक तथा पौराणिक भक्ति नामक दो भेद निरूपित किये, वहाँ उन्हींकी परम्पराको उत्तरभारतमे संचारित करनेवाले स्वामी रामानन्दने भक्तिके क्षेत्रमे भेदकी दीवारको खड़ा नहीं रहने दिया। उन्होंने भक्तिको स्त्री-पुरुष, ब्राह्मण-अब्राह्मण सबके लिए सेव्य बना दिया। रामानन्द दास्य भक्तिके अनुयायी थे। इसीको हिन्दीके भक्त कवि तुलसीदासने 'विनय-पत्रिका'में चरम सीमापर पहुँचा दिया है। 'काव्यशास्त्र'में ८, ९, १० भिन्न-भिन्न संख्या रसोंकी मानी गयी है। किन्तु वैष्णव शास्त्रकारोंने रति स्थायी भावके पाँच भेद करके उतने ही रस माने हैं। वे हैं—शान्ति, प्रीति, सख्य, वात्सल्य और प्रियता या माधुर्य। जब इन पंचविध स्थायी भावोंका विकास होता है तो इन्हींसे पाँच रस उत्पन्न होते हैं, जो शान्त, प्रीति, सख्य, वात्सल्य, **मधुर** या **उज्ज्वल** कहलाते हैं। "जब भगवान्के साथ व्यक्तिगत प्रिय सम्बन्ध स्थापित हो जाता है तब यह विकसित होनेपर प्रेमाभक्ति कहलाती है। इसे सामान्यतः 'दास्य रस' कहते हैं" (भागवत धर्म : हरिभाऊ उपाध्याय, पृ० १३४)। अतः 'विनय-पत्रिका'में 'दास्य रस'की अच्छी निष्पत्ति हुई है। रामानुजाचार्यका तारक 'राममन्त्र' रामानन्दने ग्रहण कर उसका सगुणियों और निर्गुणियोंमे खूब प्रचार किया। तुलसी कहते हैं—"राम एक तापस तिय तारी। नाम अमित खल कुमति उधारी" (रा० च० मा०)। भगवान्का राम ही नहीं, कोई भी नाम भक्तोंके कण्ठका हार बन गया। सूर कहते हैं—"सोइ सुकृत सोई पुनीत सोई कुलवन्ता। जाको निसि-दिन रहे कृष्ण नाम चिन्ता॥ योग, यज्ञ, तीर्थ, व्रत कृष्ण नाम पाहीं। बिना कृष्ण नाम कलि उद्धार और नाहीं" (सू० सा०)। निर्गुणी सन्तोंने **भक्ति रस**का स्वाद लिया है। प्रसिद्ध है—"भक्ति द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानन्द। परगट किया कबीरने सप्त द्वीप नव खण्ड"। यद्यपि कबीरकी

रामानन्दकी शिष्य-परम्परामें गणना है, पर उनकी भक्ति रामानन्दकी भक्ति-साधनाके साथ शत-प्रतिशत मेल नहीं खाती। उन्होंने उनके तारकमन्त्र 'राम'को पूर्ण रूपसे अपना लिया है, पर उससे सम्बद्ध दाशरथी रामको साक्षात् ब्रह्म या भगवान् नहीं माना। 'राम' उनके लिए सर्वव्यापक ब्रह्मका प्रतीकमात्र हैं, जिसे उन्होंने हरि, केशव, कृष्ण, सारंगपानि, गोपाल, विट्ठल आदि नामोंसे भी अभिहित किया है। उसे वे घट-घटमें ज्योतित पाते हैं। 'सूर'के समान रामानन्दने भी प्रेमलक्षणा भक्तिको अपनाकर **नवधा** भक्तिको **दशधा** बना दिया है। निर्गुणी सन्तोंने **प्रेम-लक्षणा भक्तिको**, जो निष्काम होती है, बड़े उत्साहसे स्वीकार किया है। कबीरका कथन है—"जब लगि भगति सकामता तब लगि निर्फल सेव। कहै कबीर वै क्यूं मिलै, निहकामी निज देव"। भक्तोंके प्रति भगवान्‌का अनुग्रह होता है, इसे सभी निर्गुणी सन्तोंने माना है और अनुग्रह-प्राप्त पौराणिक भक्तोंके प्रति उनका श्रद्धाभाव भी व्यक्त हुआ है। सच्चे वैष्णवोंकी उन्होंने स्तुति ही की है। भक्ति-का मुक्ति (प्रवृत्ति)से विरोध नहीं है। श्रीमद्भागवतकारने कहा है कि अनिमित्त भावसे अपने नित्य-नैमित्तिक कर्मों-का पालन कर अहिंसा-सहित पूजा-अर्चा आदि अनुष्ठान करनेवाला भक्त और गुणोंके श्रवण मात्रसे ही मुझमें लीन हो जाता है (अ० २९ : स्कं० ३ : श्लो० १५-१९)। गीता-में भी प्रायः इसी भावकी पुनरावृत्ति है (अ० १९ : ४६)। निर्गुणियोंकी **सहज-साधना** इसी कोटिकी है। वे विहित कर्म करते हुए अपने ब्रह्ममें लीन रहते हैं, उनकी अपने 'राम'के प्रति तन्मयासक्ति **लौ** अथवा 'ल्यौ' कहलाती है। वे न 'वैकुण्ठवास' चाहते हैं और न मुक्ति। कबीरके उद्गार हैं—"चलन-चलन सबको कहत है, तो जानौ बैकुण्ठ कहाँ है? जोजन परमिति मरमुन जानै, बातनि ही बैकुण्ठ बषानै। जब लगिहै बैकुण्ठकी आसा। तब लगि नहिं हरि चरन निवासा॥ कहै कबीर यहु कहिये काहि। साधु-संगति बैकुण्ठहि आहि॥" अथवा—"राम मोहि तारि कहाँ लै जैहौ। जो मेरे जीव कोई जानत हौ तो मोहि मुकति बताओ। एकमेक रमि रह्या सबनिमैं तौ काहे भरमाओ। तारण तिरण जबै लगि कहिये तब लग तत न जाना। एक राम देख्या सबहिनमैं कहै कबीर मनमाना" (सन्तकाव्य, पृ० १८३)।

विधि-निषेधकी मर्यादाको लाँघकर निर्गुणी भक्त या सन्त ब्रह्मरूप हरिका गुणानुकथन कर सुखी होते है (श्रीमद्भा-गवत, अ० १ : स्कं० २ : श्लो० ७)। भक्ति सगुणी और निर्गुणी, दोनों साधकोंका 'परमतत्त्व'को प्राप्त करनेका साधन है, उनकी साधना-प्रणालीमें ही किंचित् भेद है। जहाँ सगुण भक्त परमतत्त्व (ब्रह्म)के सगुण और निर्गुण रूप, दोनोंको स्वीकार करता है और उसके अवतारोंकी प्रतीक-प्रतिमाओंका बाह्य साधनोंसे पूजन भी करता है, वहाँ निर्गुणी भक्त या सन्त उसके निर्गुण रूपपर ही मुग्ध है और अपनी मुग्धताको उसके अवतार-नामोंके माध्यमसे व्यक्त करता है। उसके श्रीविग्रह (रूप-प्रतिमा)की बाह्य अर्चा उसे मान्य नहीं है, क्योंकि वह उसे अपनेमें अनुभव करता रहता है। भक्तिके सम्बन्धमें भागवतकारका यह मत प्रत्येक साधन-पथमें मान्य है कि "जिस प्रकार रूप, रस, गन्ध आदि गुणोंका आश्रयभूत एक ही पदार्थ भिन्न-भिन्न इन्द्रियों द्वारा विविध रूपसे अनुभूत होता है, उसी प्रकार शास्त्रके विभिन्न मार्गों द्वारा एक ही भगवान्‌की अनुभूति होती है" (दे० श्रीमद्भागवत, अ० ३३ : स्कं० ३ : श्लो० ३३)। —वि० मो० श०

भक्ति २—भक्ति रसका स्थायी भाव 'भक्ति' है। शाण्डिल्य 'भक्तिसूत्र'के अनुसार, ईश्वरमें परम अनुरक्ति ही भक्ति है—'सा परानुरक्तिः ईश्वरे'। अतएव, यह ईश्वरविषयक अनुरक्ति भक्ति रसका स्थायी भाव ठहरती है। कतिपय प्राचीन आचार्योंने भक्तिकी रसोन्मीलकताकी उपेक्षा की है। भरत मुनिने भक्तिको शान्त रसके अन्तर्गत माना है। लेकिन शान्त रसके स्थायी निर्वेदसे भक्तिका स्पष्ट विरोध है, क्योंकि भक्ति भगवद्विषयक प्रेमरूप है। मम्मटाचार्यने भी देवादिविषया रतिको केवल भाव-रूपमें स्वीकार किया है। लेकिन साधु-सन्तोंने भगवान्‌के प्रति जैसे मर्मविगलित आत्मोद्गार किये हैं तथा अनेक धर्मबुद्धि व्यक्ति आज भी जो ईश्वरानुरागमें मस्त भ्रमण करते दृष्टिगोचर होते हैं, उससे भक्तिभावकी उत्कट आस्वाद्यता भली भाँति सिद्ध होती है। भक्तकी भगवान्‌के प्रति जो पूज्य-भावना होती है, उसमें श्रद्धा, प्रेम, भीति इत्यादि कई चित्त-वृत्तियोंका संयोग होता है। इनके कारण भक्तिभावकी चर्वणीयतामें वृद्धि हो जाती है। पुरुषार्थोपयोगिता एवं उचितविषयनिष्ठत्वके तत्त्व तो इसमें स्पष्ट ही विद्यमान है। रेनो आदि मनस्तत्त्वविदों-ने धर्मभावनाको मूलभूत चित्तवृत्ति निरूपित किया है, अतएव भक्तिभावका सर्वजनसुलभत्व भी सिद्ध हो जाता है।

औत्सुक्य, गर्व, हर्ष, निर्वेद, मति, धृति इत्यादि भक्ति स्थायीके व्यभिचारी भाव है तथा रोमांच, विह्वलता, अश्रुपात इत्यादि अनुभाव है। उदाहरण—"राधा मोहन लालको जाहि न भावत नेह। परियौ मुठी हजार दस ताकी आँखिन खेह" (मतिराम)। यहाँ भक्तिभावकी व्यंजना है, स्थायीका पूर्ण प्रस्फुटन नहीं हुआ है, क्योंकि वह तो परिपाकमें ही सम्भव है। —र० ति०

भक्तिकाल—हिन्दी साहित्यका **पूर्व-मध्यकाल** (दे०) साहित्य-रचनाकी ही नहीं, सम्पूर्ण सांस्कृतिक चेतना और प्रमुख सामाजिक चेष्टा एवं कलात्मक अभिव्यक्तिकी दृष्टिसे भक्तिकाल कहा गया है। उस कालके प्रमुख कवि कबीर, रैदास, नानक, दादूदयाल, सुन्दरदास, मलूकदास, कुतबन, मंझन, जायसी, उसमान, नूरमुहम्मद, सूरदास, परमानन्द-दास, कुम्भनदास, नन्ददास, हित हरिवंश, हरिदास, रसखान, ध्रुवदास, मीराँबाई, तुलसीदास, अग्रदास, नाभादास आदि सभी अपने-अपने भावके अनुसार मूलतः भक्त थे। भक्तिकी प्रेरणासे ही इनकी जन्म-जात प्रतिभा काव्यके रूपमें प्रस्फुटित हुई। कुतबन, मंझन आदि मुसलमान सूफी कवियोंको छोड़कर इन सभी भक्त-कवियोंको भक्तिके विभिन्न सम्प्रदायोंने अपने प्रचारके लिए अपनाया और उनकी रचनाओंका युग-धर्मके निर्माणमें उपयोग किया। सच तो यह है कि इतिहासके तत्कालीन युग-निर्माता ये कवि ही हैं और उन्होंने जिस उच्च नैतिक चेतनाको जगाया था, वह आज भी किसी-न-किसी अंशमें

उत्तरभारतके अधिकांश जन-समूहके चित्तमे आरूढ है।

आलोचकोंने लक्षित किया है कि भारतीय इतिहासमें पहली बार समूचा देश एक भाव-धारासे आन्दोलित हो उठा। ग्रियर्सनने कहा है—"हम अपनेको ऐसे धार्मिक आन्दोलनके सामने पाते है, जो उन सब आन्दोलनोसे कहीं अधिक विशाल है, जिन्हे भारतवर्षने कभी देखा है, यहाँतक कि बौद्ध धर्मके आन्दोलनसे भी अधिक विशाल है, क्योंकि इसका प्रभाव आज भी वर्तमान है। इस युगमें धर्म ज्ञानका नहीं, बल्कि भावावेशका विषय हो गया था। यहाँसे हम रहस्यवाद और प्रेमोल्लासके देशमे आते और ऐसी आत्माओका साक्षात्कार करते है, जो काशीके दिग्गज पण्डितोकी जातिके नहीं, बल्कि जिनकी समता मध्य-युगके यूरोपियन भक्त बर्नार्ड ऑव क्लेयर वाक्स, थामस ए० केम्पिस और सेण्ट थेरेससे है"।

उत्तरभारतमें भक्तिका यह उन्मेष ग्रियर्सनके शब्दोमे 'बिजलीकी चमकके समान अचानक' कैसे हुआ, इसपर विद्वानोंने तरह-तरहके मत प्रकट किये है। ग्रियर्सन तथा अन्य पाश्चात्य विद्वानोका यह मत कि भक्ति-आन्दोलन ईसाई प्रभावका परिणाम है, अब असन्दिग्ध रूपसे निराधार प्रमाणित हो चुका है। ताराचन्दका यह मत कि यह इसलामके प्रारम्भिक कालमे ही पश्चिमी समुद्रतटपर आ बसे अरबोंकी देन है, कभी भी स्वीकार नहीं किया गया। एक तीसरा मत कि यह मुसलिम आक्रमणकारियोके अत्याचारों तथा उससे उत्पन्न हुई सामाजिक अव्यवस्था और अरक्षाकी भावनाके प्रतिक्रियास्वरूप अचानक उमड़ उठा था, ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यकी हीनताका सूचक है। वस्तुतः तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियोने उस प्रक्रियाको तीव्र और व्यापक बनानेमे सहायता अवश्य की, जो इसलामके आनेके पूर्व ही प्रारम्भ हो चुकी थी और जिसके लिए वर्धन-साम्राज्यके पतनके बादकी राजनीतिक विशृंखलता और बौद्ध धर्मकी तान्त्रिक परिणति एवं समस्त धार्मिक मतवादोंपर उसके प्रभावसे उत्पन्न हुए धार्मिक अधःपतनने पहलेसे ही उर्वर क्षेत्र तैयार कर रखा था। एक जीवित जाति जब अधोगतिकी सीमापर पहुँच जाती है तब उसीके भीतरसे पुनर्निर्माणकी शक्तियाँ उदय हो जाती है और वह प्राचीन मूल्यों और जीवनादर्शोंको नयी परिस्थितिमें, नये रूपमें खोज सकनेमें समर्थ होती है। भारतीय समाज इतिहासकी ऐसी अनेक संक्रान्तियोंके बीचसे गुजर चुका है। भक्ति-आन्दोलनके पूर्व न केवल राजनीतिक अव्यवस्था और उत्पीड़न तथा सामाजिक सुरक्षाका अभाव था, वरन् सामाजिक जीवन बहुत पहलेसे विच्छिन्न और क्षीण होता आया था, अनेक प्रकारकी कुप्रथाओंने घर कर लिया था तथा धर्म बाह्याडम्बर और निरर्थक कर्मकाण्डसे आक्रान्त हो गया था, उसका उद्देश्य उच्च आध्यात्मिकतासे च्युत हो गया था। शिक्षा और स्वाध्यायके अभावमें ज्ञानमार्गका अनुसरण सम्भव नही था, उसकी परिणति तो वेदान्तियोंके दम्भ और पाखण्डके रूपमे होना अवश्यम्भावी थी। कर्ममार्गके लिए सामाजिक परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं थी। वल्लभाचार्यने अपने 'कृष्णाश्रय'मे कहा है कि "देश म्लेच्छाक्रान्त है, गंगादि तीर्थ दुष्टों द्वारा भ्रष्ट हो रहे हैं, अशिक्षा और अज्ञानके कारण वैदिक धर्म नष्ट हो रहा है, सत्पुरुष पीड़ित तथा ज्ञान विस्मृत हो रहा है, ऐसी स्थितिमें एक मात्र कृष्णाश्रयमें ही जीवनका कल्याण है"। तुलसी, सूर तथा अन्य भक्त-कवियोकी रचनाओंमें कलिकालके चित्रणके रूपमे तत्कालीन दारुण अवस्थाके सजीव चित्र मिलते है। इसी परिस्थितिमे दक्षिण भारतसे उठी भक्तिकी लहरने समस्त देशको आप्लावित कर दिया।

दक्षिण-भारतमें आलवार भक्तोंके बीच भक्तिमार्ग (दे० 'भागवत धर्म')का पाँचवीं-छठी शताब्दीसे नवीं शताब्दीतक पूर्ण उत्कर्ष था। दसवीं शताब्दीमे आलवारोंके प्रपत्तिपूर्ण ऐकान्तिक भक्तिधर्मको तमिल प्रदेशके कुछ विद्वान् आचार्योंने शास्त्रीय आधार प्रदान किया और उसे वेद-प्रतिपादित ज्ञान और कर्मसे समन्वित किया।

रामानुज (ई० १०३७-११३७), मध्व (तेरहवीं शती), निम्बार्क (मृत्यु ई० ११६२)ने अद्वैतवाद-मायावादका अपने-अपने ढंगसे खण्डन करते हुए भक्तिका मार्ग प्रशस्त किया और अपने-अपने सम्प्रदायोकी स्थापना करके उसके संघटित प्रचारका उपक्रम किया। इन सभीने उत्तरभारतमे अपने केन्द्र स्थापित करके भक्ति-आन्दोलनको प्रगति दी। रामानुजकी परम्परामे स्वामी रामानन्द हुए, जिन्हे उत्तर और मध्यभारतके भक्ति-आन्दोलनका सबसे प्रथम और सबसे अधिक शक्तिशाली नेता कह सकते है। उत्तर-भारतकी सामाजिक परिस्थिति दक्षिणसे भिन्न थी, वहाँ वर्णाश्रमधर्मके छुआछूत सम्बन्धी कठोर नियम नही चल सकते थे। स्वामी रामानन्दकी क्रान्तिदर्शी दृष्टिने यह तत्काल समझ लिया और उन्होने रामानुजसे भिन्न एक नये सम्प्रदायकी स्थापना की, जिसमे छुआछूतके नियम उतने कड़े नही थे (दे० 'रामानन्दी सम्प्रदाय')। सीतारामको इष्टदेव मानकर उन्होने राम नामके मन्त्रका देशव्यापी प्रचार किया। उन्होंने हिन्दीको अपने उपदेशका माध्यम बनाया तथा कुछ पदोंकी रचना भी की। तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दीमें ही 'महाराष्ट्र'के सन्त नामदेवने उत्तरभारतमें भक्तिके प्रचारमें रामानन्दका सहयोग दिया। हिन्दीमे रचे हुए उनके कुछ पद मिले है। पंजाबकी ओर उनका विशेष प्रभाव था। सोलहवीं शताब्दीमे तैलंग ब्राह्मण वल्लभाचार्यने तथा बंगालके चैतन्यदेवने कृष्णभक्तिके प्रचारके लिए संघटित प्रयत्न किये। कृष्णभक्तिके और भी कई एक सम्प्रदाय, जैसे हित हरिवंशका राधावल्लभी (दे०) और हरिदासका सखीसम्प्रदाय (दे०), मथुरा-वृन्दावनके केन्द्रसे भक्तिका प्रचार करने लगे।

इन अनेक प्रयत्नोके फलस्वरूप भक्तिके विविध रूप सामने आये। कालक्रमकी दृष्टिसे सबसे पहला रूप निर्गुण भक्तिका था, जिसके आदि प्रवर्तक कबीरदास (१३९९-१५१८ ई०) माने जाते है। कबीरके सम्बन्धमे अनेक प्रकारकी परस्पर विरुद्ध धारणाएँ प्रचलित है। यह तो सर्वमान्य है कि उन्होंने शास्त्रीय शिक्षा नहीं प्राप्त की थी, हो सकता है कि वे निरक्षर ही हों। जन्म या प्रारम्भिक जीवनके वातावरणसे उनमे कुछ मुसलमानी संस्कार भी वर्तमान थे। परन्तु यह धारणा कि उन्होंने मात्र सुनी-

सुनायी बातोंके आधारपर (हिन्दू) वेदान्ती, मुसलमानी, सूफी और नाथपन्थी विचारोंका अनगढ बेजोड सम्मिश्रण करके अपने धार्मिक और सामाजिक विचारोंका निर्माण किया था, अब बहुत कम लोगोंमे रह गयी है। सिद्ध-साहित्य तथा सम्प्रदाय (दे०) और नाथपन्थ (दे०)का जबसे विस्तृत अध्ययन हुआ है, यह बात स्पष्ट हो गयी है कि कबीरने सिद्ध और नाथ-परम्पराओंका भरपूर उपयोग किया था। उनके विचारोंका मूलाधार वही है। कदाचित् वे स्वयं नाथपन्थी जुगीवशमें पैदा हुए थे। कबीरका विलक्षण अद्वैत-वाद, उनकी रहस्यात्मक साधना-पद्धति, धार्मिक दम्भ और आडम्बरपूर्ण विद्वत्ताके प्रति तीव्र विरोधकी भावना तथा समाजमे प्रचलित जाति-पाँति और ऊँच-नीचकी भावनाका खण्डन—यह सब उन्होंने उसी परम्पराके संस्कारके रूपमें प्राप्त किये थे, जो कम-से-कम इतनी पुरानी थी, जितना बौद्ध धर्म। कबीरकी मौलिकता और दूरदर्शिता इस बातमें है कि उन्होंने दाय-में प्राप्त संस्कारोंका सामयिक आवश्यकताओंकी दृष्टिसे उपयोग किया। नाथपन्थी प्रयोगियोंकी नीरस और कष्टकार्य साधनाको उन्होने रामानन्दसे प्राप्त भाव-भक्तिके द्वारा सरस और सरल बनाया। हठयोगी रहस्यवादको उन्होंने सूफी प्रेमभक्तिसे प्राप्त अनुभूतिपूर्ण रहस्यवाद (दे०)मे बदल दिया। कबीरने निर्भीकतापूर्वक हिन्दू और मुसलमान, दोनोंमें प्रचलित पाखण्ड और मिथ्यावादका खरे शब्दोंमें खण्डन किया। अपने विचार, जो उन्होंने हार्दिक अनुभूतिके वश तथा प्रचारकी सुविधाके लिए सूक्तिशैली-प्रधान दोहों और गेय शैलीके पदोंमे व्यक्त किये, सहज ही काव्यमय बन गये। कहा जाता है कि कबीर कवि नहीं थे, केवल साधक और समाज-सुधारक थे। परन्तु यह कथन कविकर्मके सम्बन्धमें संकुचित धारणापर आधारित है। निश्चय ही कबीर कवि-व्यवसायी नहीं थे। उनका उद्देश्य सभी कवियोंकी तरह लोगोंका मनोरंजन अथवा चमत्कार-प्रदर्शन नहीं था, वरन् वे एक क्रान्तदर्शी सन्देशवाहक थे। उनकी वाणीमें काव्यका वह नैसर्गिक गुण है, जिसका सम्बन्ध काव्यशास्त्रके अनुशीलनसे नहीं, हृदय-की सच्ची अनुभूतिको सम्पूर्ण प्राणपणके साथ व्यक्त करनेकी क्षमतासे है। अन्य धार्मिक तथा सामाजिक संस्कारोंकी तरह अभिव्यक्तिकी भाषा और शैलीको भी उन्होने सिद्ध और नाथपन्थी जोगियोंसे प्राप्त करके अपने उपयोगके अनुकूल निखार लिया था। उन्होंने साखी, सबद और रमैनी दोहा, पद और चौपाईकी शैलियाँ परम्परासे प्राप्त की थीं। अतः यह कहना भी उचित नहीं है कि कबीरके पीछे भाषा और साहित्यकी कोई परम्परा नहीं थी। केवल आधुनिक कालमें कबीरकी देनका उचित मूल्यांकन हो सका है और यह देखा गया है कि उनके विचारोंमें मानवताके शाश्वत मूल्य और सार्वजनिक मर्यादाएँ निहित है। हिन्दी साहित्यमे उनकी गणना चोटीके कवियोंमे की जाती है। मध्ययुगके भक्ति-कालमें उन्होंने अद्वितीय गौरव प्राप्त किया है।

कबीरके अतिरिक्त निर्गुणवादी सन्तोंकी परम्परामें रैदास, कमाल, नानक (१४६९-१५३९), दादू (१५४४-१६०३), मलूकदास (१५७४-१६८२), सुन्दरदास, (१५९६-१६८९) आदि अनेक भक्त हुए हैं, जिनमे अधिकांश समाज-के निम्न वर्णोंके थे। सर्वसाधारणकी भाषामें उन्होंने भक्ति-का सन्देश उन लोगोंतक पहुँचाया, जिनके लिए धर्मका द्वार सदा बन्द था। इनमें नानक तो एक प्रसिद्ध सम्प्रदायके प्रवर्तक हुए, दादूकी वाणी उनके स्वभावकी नम्रता, अनुभूतिकी रहस्यात्मक गम्भीरताका स्थायी प्रभाव डालती है तथा सुन्दरदास सन्त-कवियोंमे अपने साहित्यिक सौष्ठव और काव्यशास्त्रीय ज्ञानके एकमात्र प्रतिनिधि कहे जा सकते है।

रामानन्दी भक्तोंकी दूसरी श्रेणी सवर्णोंकी थी। ये सगुणोपासक थे। इनमे अकेले तुलसीदास(१५३२-१६२३)-का व्यक्तित्व और कृतित्व इतना महान् है कि उन्होने (राम) भक्तिके प्रचारमें जो सफलता पायी, वह किसी संघटित सम्प्रदायको भी नहीं मिल सकी। कबीर और तुलसी, दोनोंका उद्देश्य अपने समयके जर्जर जीवनमें जीवनी-शक्ति फूँककर उसे प्रगति-पथपर अग्रसर करना था, यद्यपि दोनोंके दृष्टिकोणमें अन्तर था। कबीर समाजकी टूटी हुई व्यवस्थाको समाप्त करके उसे मानवताके आधारपर नवनिर्मित करना चाहते थे। तुलसी पुरातन व्यवस्थाको ही पुनर्जीवित करनेके पक्षमे थे। कबीरने कहा था—"दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना। रामनामका मरम है आना"। परन्तु तुलसीने इन्ही दशरथ-सुत राममें जिनका चरित आदिकवि वाल्मीकिने पहले-पहल काव्यके रूपमें वर्णित किया था, परम ब्रह्मत्व और पूर्ण मानवत्वकी प्रतिष्ठा की और अत्यन्त मनोहर लोकभाषामे 'रामचरितमानस'की रचना करके रामका नाम और जीवनके सभी क्षेत्रोंके प्रतिमान प्रस्तुत करनेवाले उनके चरित्र जन-जनके हृदयमे रमा दिये। तुलसी पुराण, शास्त्र, काव्य आदिमें निष्णात ब्रज और अवधी, दोनो भाषाओंपर अद्भुत अधिकार रखनेवाले, पूर्ववर्ती और समसामयिक भाषा-कवियोंके सम्पूर्ण कृतित्वके पारखी, कविकर्मकी समस्त कठिनाइयोंके प्रति जागरूक एक ऐसे कवि थे, जिन्होने नम्रतावश अपने-को सर्वथा अयोग्य मानते हुए भी काव्यकी एक नवीन कसौटीकी घोषणा की—"कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई"। कविताकी यह कसौटी कि वह सहृदयोंको मात्र आनन्दित करे, भक्तिकालके किसी कविको स्वीकृत न थी, सभीके सम्मुख यही आदर्श था कि उनकी वाणी जन-जनका कल्याण करे। भक्तिकालके इसी आदर्शको तुलसीने मार्मिक ढंगसे व्यक्त किया है। तुलसीने प्राकृत जनोंका गुणगान करनेवाले कवियोंको धिक्कारा है। इस कालके सभी कवि इसी आदर्शपर चले है। परन्तु जनकल्याणकी भावना प्रधान होते हुए भी तुलसीमें काव्य-सौन्दर्यका जो उत्कर्ष है, उसका उदाहरण मिलना असम्भव है। तुलसीकी दृष्टिमें व्यापकता और गहराई, दोनों असाधारण है, उनकी सहृदयता और संवेदनशीलता पण्डित और मूर्ख, दोनोको हिला देनेकी शक्ति रखती है। युग-पुरुषकी दूरदृष्टि, दार्शनिककी गहरी पैठ और सच्चे कविकी रससिद्ध वाणीसे सम्पन्न यह अकेला कवि भक्ति-कालको हिन्दीका 'स्वर्णयुग' सिद्ध करानेमे समर्थ है। तुलसीने अपने समयतक प्रचलित चौपाई-दोहाकी वर्णनात्मक शैली, विविध छन्दोंके गीति-पदोंकी स्तोत्रात्मक तथा भावात्मक

शैली, सूक्ति-प्रधान दोहा शैली, छप्पयकी वीरकाव्य-शैली, कवित्त-सवैयाकी मुक्तक शैली, सभी काव्य-शैलियोंका प्रयोग करके तथा रामकथाके चरित्रोंमें उच्च आदर्श तथा मनोवैज्ञानिक स्वाभाविकताका अद्वितीय समन्वय करके राम-भक्ति-काव्यके भावी कवियोंके लिए कुछ भी कहनेको नहीं छोड़ा। रामभक्ति शाखा(दे०)के अन्य कवियोंमें अग्रदास और नाभादास भक्त ही अधिक हैं, कवि नहीं, प्राणचन्द चौहान और हृदयरामने नाटक-शैलीका प्रयोग किया, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। आगे चलकर इस धारामें या तो धार्मिक स्तवनादिकी रचनाएँ हुईं या कृष्ण-भक्ति शाखा(दे०)के भद्दे अनुकरणमें राम-सीताके संयोग-शृंगारके वर्णन लिखे गये।

रामानन्द और तुलसीके द्वारा रामकी मर्यादा-भक्तिका सामान्यतः व्यापक प्रचार हुआ। परन्तु राम-भक्तिका सघन क्षेत्र रामकी जन्मभूमि अवधप्रदेश ही रहा। भक्तिके जिस रूपने आसाम-बंगालसे गुजरातकके बडे भूभागको रसमग्न कर दिया, वह था कृष्ण-भक्तिका प्रेम-प्रधान रूप, जिसका कई संघटित सम्प्रदायोंने कृष्णकी जन्मभूमि गोकुल वृन्दावनको प्रधान केन्द्र बनाकर देशभरमें प्रचार किया तथा जो कई शताब्दियोंतक संगीत, काव्य, चित्र आदि कलाओंको प्रेरणा, विषय-वस्तु और उद्देश्य प्रदान करता रहा। हिन्दी काव्यकी कृष्ण-भक्ति शाखा इतनी समृद्ध और उत्कृष्ट है कि हम उसे न केवल भक्ति-कालकी प्रधान काव्यधारा कह सकते हैं, वरन् सम्पूर्ण मध्ययुगमें तथा उसके अनन्तर कम-से-कम आधी शताब्दीतक हम कृष्ण-काव्य(दे०)की ही प्रमुखता पाते हैं।

हिन्दीमें कृष्ण-काव्यके प्रथम कवि विद्यापति (चौदहवीं-पन्द्रहवीं शती) कहे जाते हैं, जिनके मैथिल पद कृष्ण-भक्ति-आन्दोलनके वेगके पूर्व ही रसिक जनोंका चित्त हरने लगे थे। परन्तु वास्तवमें हिन्दी काव्यकी इस शाखाके प्रवर्तक सूरदास हैं, जिन्हें पुष्टिमार्ग (दे०)के प्रवर्तक महाप्रभु वल्लभाचार्यने दीक्षा देकर अपना लिया और उनकी काव्य-प्रतिभाका भक्तिके प्रचारार्थ उपयोग किया। इस सम्प्रदायके अनेक भक्त कवित्वशक्तिसम्पन्न थे, जिनमें अष्टछाप(दे०)-के कुम्भनदास, परमानन्ददास और नन्ददास तथा अन्य भक्त-कवियोंमें रसखान विशेष प्रसिद्ध हुए। पुष्टिमार्गके अतिरिक्त गोसाईं हितहरिवंश (जन्म १५०२) द्वारा स्थापित राधावल्लभी सम्प्रदाय (दे०), बंगालके महाप्रभु चैतन्यदेव (जन्म १४८५) द्वारा स्थापित गौडीय वैष्णवसम्प्रदाय (दे०) इस कालमें कृष्ण-भक्तिका संघटित प्रचार करनेमें काव्यके माध्यमका भी सफल उपयोग कर रहे थे। इनसे पहले स्थापित हुए मध्व और निम्बार्कके ब्रह्म तथा सनकादि सम्प्रदायोंके केन्द्र तो मथुरा-वृन्दावनमें थे ही। कुछ नवीन सम्प्रदायों—गौडीय वैष्णव, सखी और राधावल्लभीके प्रवर्तक भी पहले इन सम्प्रदायोंसे सम्बन्धित रहे थे। हितहरिवंश स्वयं अत्यन्त सरस कवि थे तथा हरिदास कविके साथ-साथ प्रसिद्ध संगीताचार्य भी थे। इन सभी सम्प्रदायोंके अनुयायी सैकड़ों प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध कवियोंने भक्ति-कालको हिन्दी साहित्यका सर्वाधिक सम्पन्न काल बनानेमें योग दिया। परन्तु भक्ति-कालके समस्त कृतित्वमें काव्यका चरम उत्कर्ष सूरदासमें पाया जाता है। वस्तुतः वे ही कृष्ण-काव्यधाराकी भाषा, शैली, विषय, वस्तु, भाव और विभाव-दर्शनके आदि और अक्षय स्रोत हैं। ब्रजभाषा काव्यको एक साथ ही ऐश्वर्य और शोभा, महिमा और सौन्दर्य, गरिमा और श्रीसे सम्पन्न करके सूरदासने बिना किसी धूमधाम और नेतृत्वकी सजग भावनाके चुपचाप काव्यके सहज गुप्त ढंगसे युग जीवनकी आत्माको जितनी गहराई और स्थायित्वसे प्रभावित किया है, उतना कोई दूसरा कवि नहीं कर सका। उनकी सफलताका रहस्य यही है कि उन्होंने सच्चे कवि होनेके नाते मनुष्यकी सौन्दर्य-वृत्तिको ही परिष्कृत और उदात्त बनानेका उपक्रम किया। यही इस बातका भी कारण है कि उनका नाम युगनेताके रूपमें कभी प्रसिद्ध नहीं हुआ, यद्यपि धर्म, दर्शन और नीतिके सभी उत्कृष्ट सिद्धान्त उनकी रचनामें निहित हैं। उनका उपदेश सच्चे अर्थमें कान्तासम्मित उपदेश है। वे सोलह आने कवि और सोलह आने भक्त हैं। विश्वके बहुत थोड़ेसे चुने हुए कवियोंमें उनका स्थान सुनिश्चित है।

इन सम्प्रदायोंसे अलग स्वतन्त्र साधना और काव्य-रचना करनेवाले भी अनेक भक्त कवि हो गये हैं। मीरॉबाई ऐसी ही थीं। उनकी भक्ति-पद्धतिमें साम्प्रदायिकताका तनिक भी आग्रह नहीं है, यहाँतक कि उनमें निर्गुण और सगुणका स्वाभाविक समन्वय पाया जाता है। मीराँके पदोंकी गीति-भावना भक्तिकालके काव्यमें बेजोड़ है।

भक्तिकालकी एक और शाखा प्रेममार्गी (सूफी) काव्य-(दे०) की है। इस शाखाके सभी कवि मुसलमान हैं। वे अन्य भक्त कवियोंकी तरह भक्तिके प्रचारक नहीं कहे जा सकते। उनका प्रभाव-क्षेत्र अत्यन्त सीमित था। उनके विचारोंकी पृष्ठभूमि तथा वातावरण विदेशी होते हुए भी उनके दार्शनिक चिन्तनमें वेदान्तसे अद्भुत समता पायी जाती है। उनकी भक्तिका स्वरूप भी प्रपत्ति और प्रेमकी भावनामें ही प्रधानतया निर्मित हुआ है, अतः वैष्णव भक्तिसे उसमें अधिक अन्तर नहीं है, केवल प्रतीक और अभिव्यक्तिकी शैलीमें ही भेद है। सूफी प्रेमभक्तिने निर्गुण सन्तोंकी भक्तिको तो प्रभावित किया ही था, वैष्णव-भक्तिके साथ भी उसके आदान-प्रदानकी सम्भावना असम्भव नहीं है। परन्तु सूफी काव्यधाराका महत्त्व उसके सामाजिक पक्षमें इससे अधिक और कुछ नहीं है कि इसने भक्तिके प्रेमपूर्ण, उदार मानववादी, श्रद्धामय वातावरणके निर्माणमें सहायता की। इस काव्यधाराका शुद्ध काव्यकी दृष्टिसे ही विशेष महत्त्व है। सूफी कवियोंने प्राचीन कालसे प्रचलित मध्ययुगीन लोक-कथाओंको कथाकाव्य या प्रेम-रोमांसका अत्यन्त मनोहर रूप देकर कथाके लौकिक प्रेममें गूढ़ आध्यात्मिक प्रेमके संकेत किये हैं। कुतुबनकी 'मृगावती' (१५०१), मंझनकी 'मधुमालती', मलिक मुहम्मद जायसीका 'पदमावत' (१५२०-१५४०), उसमानकी 'चित्रावली' (१६१३) तथा 'ज्ञानदीप' (शेखनबी), 'हंस जवाहिर' (कासिमशाह) और 'इन्द्रावती' (नूरमुहम्मद) आदि अनेक प्रेमाख्यानक काव्य (दे०) सर्वसाधारणके नित्यप्रतिके जीवनकी प्रेम-भावनाओंमें ऐसी रहस्यमयी पारलौकिक

व्यंजनाएँ करते हैं कि काव्यका चमत्कार सहज ही कई गुना बढ़ जाता है। इन कवियोंमें जायसी बड़ी सरलतासे सर्वश्रेष्ठ कवियोंमें स्थान पानेके अधिकारी हैं। उनका 'पदमावत' महाकाव्य कहा जाता है। उसकी बहुत बड़ी विशेषता यह है कि हिन्दीके अन्य भक्तिकालीन काव्य-ग्रन्थोंकी तरह उसमें किसी प्रकारका सिद्धान्तवाद या धार्मिक आग्रह नहीं है। कविके द्रवणशील हृदयकी निर्मल सरस निर्झरिणीकी भाँति निःसृत होकर, 'पदमावत' एक महाकार गम्भीर सरिताके रूपमें प्रवाहित होता हुआ, असंख्य मानवीय भावधाराओंको आत्मसात् करता हुआ अध्यात्मके असीम महासागरमें मिलकर एकाकार हो जाता है। उसमें अवगाहन करनेवाले जितना ही गहरे पैठते हैं, उतने ही मूल्यवान् रत्न उपलब्ध कर सकते हैं। शुद्ध काव्यकी दृष्टिसे 'पदमावत' अद्वितीय महाकाव्य है।

इस प्रकार भक्तिकालकी चारों—निर्गुण, सूफी, राम और कृष्ण-काव्यकी धाराओंने काव्यका चतुर्मुखी विकास करके हिन्दी साहित्यको तो गौरवान्वित किया ही, भारतके इस युगको इतिहासके स्वर्णिम काल कहे जानेमें भी अद्वितीय योग दिया। दार्शनिक पृष्ठभूमि, चिन्तन-पद्धति और साम्प्रदायिक आचार और कर्मकाण्ड आदि अनेक बातोंमें पर्याप्त अन्तर होते हुए भी इन चारों धाराओंमें विलक्षण साम्य दिखाई देता है। ब्रह्मकी अद्वैतता और एकतामें अपने-अपने ढंगसे सभीका विश्वास है। व्यक्तिगत ईश्वरकी कल्पना, इष्टदेवके प्रति अनन्य भाव, उसके नाम और रूप (या अरूप)के प्रति आत्मीय अनुराग, उसके प्रति किसी-न-किसी भावके प्रेमका सम्बन्ध, उसी प्रेमकी परिपूर्णता और व्यापकतामें आस्था, गुरुके प्रति इष्टदेव जैसी श्रद्धाका भाव आदि प्रवृत्तियाँ सभी भक्ति-सम्प्रदायोंमें पायी जाती है। परन्तु समस्त भक्तिकालीन साहित्यको एक सूत्रमें बाँधनेवाली सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि विविध विश्वासों और आचारिक पद्धतियोंवाले इन अगणित कवियोंने मानव-जीवनके लिए जिन मूल्योंकी खोज की, उनमें पूर्ण समानुरूपता है तथा उनके आधारपर स्थापित व्यक्तिगत और सामाजिक मर्यादाओंमें भी कोई मौलिक अन्तर नहीं है।

[सहायक ग्रन्थ—हिन्दी-साहित्यका इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल; हिन्दी साहित्यकी भूमिका : हजारीप्रसाद द्विवेदी।] —व्र० व०

भक्ति-काव्य—दे० 'भक्ति-काल'।

भक्ति रस—भरत(३ श० ई०)से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ (१७-१८ श० ई०)तक संस्कृतके किसी प्रमुख काव्याचार्यने 'भक्ति रस'को रस-शास्त्रके अन्तर्गत मान्यता प्रदान नहीं की। जिन विश्वनाथने 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'के सिद्धान्तका प्रतिपादन किया और 'मुनि-वचन'का उल्लंघन करते हुए वात्सल्यको नव रसोंके समकक्ष सांगोपांग स्थापित किया, उन्होंने भी भक्तिको रस नहीं माना। भक्ति रसकी सिद्धिका वास्तविक स्रोत काव्य-शास्त्र न होकर भक्ति-शास्त्र है, जिसमें मुख्यतया 'गीता', 'भागवत', 'शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र', 'नारद-भक्तिसूत्र', 'भक्ति-रसायन' तथा 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' प्रभृति ग्रन्थोंकी गणना की जा सकती है।

भक्तिको रस मानना चाहिये या भाव, यह प्रश्न इस बीसवीं शताब्दीतकके काव्य-मर्मज्ञोंके आगे एक जटिल समस्याके रूपमें आता रहा है। कुछ विशेषज्ञ भक्तिको बलपूर्वक रस घोषित करते हैं। कुछ परम्परानुमोदित रसोंकी तुलनामें उसे श्रेष्ठ बताते हैं, कुछ शान्त रस और भक्ति रसमें अभेद स्थापित करनेकी चेष्टा करते हैं तथा कुछ उसे अन्य रसोंमें भिन्न, सर्वथा अलौकिक, एक ऐसा रस मानते हैं, जिसके अन्तर्गत शेष सभी प्रधान रसोंका समावेश हो जाता है। उनकी दृष्टिमें भक्ति ही वास्तविक रस है, शेष रस उसके अंग या रसाभासमात्र हैं। इस प्रकार भक्ति रसका एक स्वतन्त्र इतिहास है, जो रस-तत्त्व-विवेचनकी दृष्टिसे महत्ता रखता है।

'नाट्यशास्त्र'के सर्वप्रधान व्याख्याता अभिनवगुप्त(१०-११ श० ई०)ने भरतके रस-सिद्धान्तकी व्याख्या करते हुए शान्तको तो नवाँ रस सिद्ध कर दिया, पर नव रसोंके अतिरिक्त अन्य किसी रसकी स्वतन्त्र स्थितिको स्वीकार नहीं किया। सबका नौमेंसे ही किसी-न-किसी रसमें अन्तर्भाव मान लिया और—'एवं भक्तावपि वाच्यमिति' लिखकर वही बात भक्तिपर भी लागू कर दी। यही नहीं, उन्होंने भक्तिको रस माननेका स्पष्ट निषेध भी किया है। यथा—"अतएवेश्वरप्रणिधानविषये भक्तिश्रद्धे स्मृतिमतिधृत्युत्साहानुप्रविष्टेभ्योऽन्यथैवांगमिति न तयोः पृथग् रसत्वेन गणनम्" (अभिनवभारती), अर्थात् अतएव ईश्वरोपासना-विषयक भक्ति और श्रद्धा, स्मृति, मति, धृति, उत्साह आदिमें ही समाविष्ट होनेके कारण अंगरूप ही हैं, अतः उनका पृथक् रसरूपसे परिगणन नहीं होता। मम्मट(१२ श० ई० पूर्वा०)ने भक्तिका न तो शान्त रसमें अन्तर्भाव माना और न स्वतन्त्र रसरूपमें ही वे उसे स्थापित कर सके। अभिनवगुप्तकी उक्त धारणासे भी वे सन्तुष्ट नहीं हुए, अतएव मध्यम मार्गका अनुसरण करते हुए उन्होंने भक्तिकी मूल भावना 'देवादिविषयक रति'को व्यभिचारी भावोंसे पुष्ट भाव-विशेषके रूपमें स्पष्ट मान्यता दे दी—"रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाऽञ्जितः। भावः प्रोक्तः" (का० प्र०, ४ : ३५)।

क्या रस इतने (नौ) ही है? इस प्रश्नको सामने रखकर जगन्नाथ (१७-१८ श० ई०)ने अपने पूर्वपक्षका निरूपण करते हुए भक्तिको रस माननेवाले मतके आधारसे पूरी अभिज्ञता प्रदर्शित की—"भगवान् जिसके आलम्बन हैं, रोमांच, अश्रुपातादि जिसके अनुभाव हैं, भागवतादि पुराण श्रवणके समय भगवद्भक्त जिसका प्रकट अनुभव करते हैं और भगवान्‌के प्रति अनुरागस्वरूपा भक्ति ही जिसका स्थायी भाव है, उस भक्ति रसका शान्त रसमें अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता, क्योंकि अनुराग और विराग परस्पर विरोधी हैं। किन्तु भक्ति देवादिरति-विषयसे सम्बन्ध रखती है, अतएव वह भावके अन्तर्गत है और उसमें रसत्व नहीं माना जा सकता" (र० गं०, पृ० ४५-४६)। पहले तो लेखकने भक्ति रसके विभाव, अनुभाव, संचारी तथा स्थायी सभी रसांगोंका उल्लेख करके उसका पूरा स्वरूप खड़ा किया, फिर रसोंके नवत्वकी रूढ़िके आग्रहसे उसने शान्त रसमें भक्ति रसके अन्तर्भावपर विचार किया है। तदनन्तर

'मुनि-वचन'का उल्लंघन न हो जाय, यह सोचकर भक्तिको रस न मानकर भाव माननेके पक्षका ही समर्थन कर दिया। तर्क यह दिया कि देवादिविषयक रतिके आधारपर यदि भक्तिको रस माना जायेगा तो पुत्रादि विषयक रतिके आधारपर स्वतन्त्र(वात्सल्य) रसको भी मानना पड़ेगा। यही नहीं, इससे आगे 'जुगुप्सा' और 'शोक'को स्थायी भाव न मानकर शुद्ध भाव ही मनवानेका आग्रह किया जा सकता है, जिसके परिणामस्वरूप सारा रसशास्त्र विशृंखल हो जानेकी आशंका होती है (इत्यखिलदर्शनः व्याकुली स्यात्)। अतएव मुनि-वचनसे नियन्त्रित रसोंकी नवत्व गणना ही मान्य होनी चाहिये। यहाँ पण्डितराजने निश्चय ही संकीर्ण परम्परावादी दृष्टिकोणका परिचय दिया है। अनुराग और विरागके विरोधकी जो महत्त्वपूर्ण समस्या उन्होंने उठायी, उसका भी समुचित विश्लेषण-विवेचन नहीं किया गया। भक्तिमें अनुराग ईश्वरके प्रति और विराग संसारके प्रति रहता है, अतः आलम्बन-भेद होनेसे दोनोका वैसे विरोध सिद्ध नहीं होता, जैसे 'रसगंगाधर'के रचयिताने परिकल्पित कर लिया।

भामह (७वीं श० ई० पूर्वा०), दण्डी (७वीं श० ई०) आदि द्वारा मान्य 'प्रेयस्' अलंकारमें जिन रत्यादिक भावोंका समावेश होता था, उनमें पुत्रविषयक रतिकी तरह देवादिविषयक रतिकी भी गणना की जा सकती है, इसका सप्रमाण निर्देश करते हुए भक्ति रसके विकासका कुछ सम्बन्ध उक्त अलंकारसे भी बताया गया है (सं० सा० इ०, क० पोद्दार, पृ० ९०-९१)। भक्ति-शास्त्रमें गीता-उपनिषद्के अन्तर्गत ब्रह्मके रसमय तथा आनन्दमय होनेका अनेक स्थलोंपर उल्लेख मिलता है। गीतामें भक्ति और भक्तको विशेष महत्ता प्रदान की गयी है, किन्तु 'भागवतपुराण'को ही भक्तिको व्यापक एवं श्रेष्ठ रसरूपमें प्रतिष्ठापित करनेका मौलिक श्रेय है। 'भागवत'के प्रारम्भमें ही भगवद्विषयक अलौकिक रस तथा उसके रसिकोंका उल्लेख मिलता है—"निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्। पिबत भागवतं रसमालयम् मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः" (१, ३)। भक्ति रसकी महत्ता तथा उसका स्वरूप 'भागवत'में स्थान-स्थानपर व्यक्त किया है (दे० श्लोक—४ : ९ : १०; ६ : १२ : २२; ११ : ३ : ३२ आदि)। शाण्डिल्य भक्ति-सूत्रमें भक्तिको 'परानुरक्तिरीश्वरे' रूपमें परिभाषित करते हुए उसे द्वेषकी विरोधिनी तथा 'रस'से प्रतिपाद्य होनेके कारण भी रागस्वरूपा माना गया है—'द्वेषप्रतिपक्षभावाद्रसशब्दाच्च रागः' (६)। इसी तरह 'नारद भक्ति-सूत्र'में भक्तिको 'परमप्रेमरूपा' कहा गया है। इन सूत्र-ग्रन्थोंमें ज्ञान और भक्तिके पारस्परिक सम्बन्ध तथा राग और विरागकी भावनाके भक्तिगत अविरोधपर भी सूक्ष्म प्रकाश डाला गया है। भक्तिकी उपलब्धि अमृतत्व, तृप्ति और सिद्धिकारक होती है तथा उससे शोक, द्वेष, रति और उत्साह आदिका शमन होता है (ना० भ०, ४-५)। इसे बताकर शान्त और भक्ति रसके बीच जो द्वैध खड़ा करनेकी चेष्टा की जाती है, उसका तात्त्विक निषेध किया गया है।

मधुसूदन सरस्वतीके 'भक्तिरसायन' नामक ग्रन्थमें भक्तिके अलौकिक महत्त्व और रसत्वका विशद निरूपण करते हुए उसे एक ओर दसवाँ रस बताया गया है तो दूसरी ओर सब रसोंसे श्रेष्ठ भी माना गया है। उसके रसांगोंका निर्देश भी 'भक्तिरसायन'में मिलता है। 'भगवद्भक्तिचन्द्रिका' नामक ग्रन्थके रचयिताने भी पराभक्तिको रस कहा है—"पराभक्तिः प्रोक्ता रस इति" (अमृतरसोल्लास)।

गौड़ीय सम्प्रदायके प्रतिष्ठित आचार्य रूपगोस्वामी-(१५-१६ श० ई०)कृत 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु'में काव्यशास्त्रीय दृष्टिसे भक्ति रसका विस्तार एक सुनिश्चित व्यवस्थाके साथ किया गया है। 'भागवत'के बाद भक्ति रसकी मान्यताका सर्वाधिक श्रेय रूपगोस्वामीको ही है। उन्होंने भक्तिके पाँच रूप माने—१. शान्ति, २. प्रीति, ३. प्रेय, ४. वत्सल और ५. मधुर। ये शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य पाँच भाव-भक्तिके मूल हैं। उत्कृष्टताके आधारपर भक्ति रस पराकोटि और अपराकोटिका माना गया है। इन भावोंका मूल 'भागवत'की नवधा भक्ति तथा 'नारद-भक्ति-सूत्र'की एकादश आसक्तियोंमें मिल जाता है। ग्रन्थके दक्षिण विभागमें भक्तिके रसांगोंका विवेचन विस्तार सहित किया गया है। चैतन्य महाप्रभु गौड़ीय भक्ति-सम्प्रदायके प्रवर्तक थे। उनकी उपासनाका आधार रसप्लावित तीव्र प्रेमानुभूति रही है, अतएव उन्हींके सम्प्रदायमें भक्ति रसका विशद विस्तार हुआ, यह स्वाभाविक ही था।

हिन्दीमें रीतिकालीन काव्याचार्योंने भक्तिमूलक काव्यकी तो रचना की, परन्तु काव्य रसके रूपमें भक्तिकी प्रतिष्ठाका कदाचित् कोई भी प्रयास उन्होंने नहीं किया। देवने अवश्य भक्ति रसपर विचार करते हुए उसके प्रेम, शुद्ध तथा प्रेमशुद्ध नामक तीन भेद किये हैं और प्रेमाश्रयी भक्तिके अन्तर्गत शान्तकी गणना की है।

आधुनिक लेखकोंमें 'हरिऔध'को इस स्थितिसे सबसे अधिक क्षोभ हुआ, जो उनके 'वात्सल्य रस' शीर्षक निबन्धमें भक्तिविषयक प्रसंगान्तर बनकर तीव्रतासे व्यक्त हुआ। भक्ति रसका महत्त्व अन्य रसोंकी तुलनामें बताते हुए उन्होंने लिखा—"परमात्माका नाम रस है। श्रुति कहती है—'रसो वै सः'। रस शब्दका अर्थ है—'यः रसयति आनन्दयति स रसः'। वैष्णवोंको माधुर्य उपासना परम प्रिय है अतएव भगवदनुरागरूपा भक्तिको रस मानते हैं। ...**मेरा विचार कि वत्सलमें उतना चमत्कार नहीं, जितना भक्तिमें**..."। हरिश्चन्द्रने 'भक्ति वा दास्य' लिखकर उसे दास्यतक परिमित कर दिया है, किन्तु भक्ति बहुत व्यापक और उदात्त है, साथ ही उसमें इतना चमत्कार है कि शृंगार रस भी इसकी समता नहीं कर सकता (कौ० रमा० सं०, पृ० ४२५—२६)। इसी प्रकार कन्हैयालाल पोद्दारने भी इस समस्यापर विचार करते हुए कि 'भक्ति भाव है या रस', अपना मत बलपूर्वक भक्तिके रसत्वके पक्षमें दिया है—"दुःख और आश्चर्य है कि जिन साक्ष्याभास शृंगारादि रसोंमें चिदानन्दके अंशांशके स्फुरण मात्रसे रसानुभूति होती है, उनको रस संज्ञा दी जाती है और जो साक्षात् चिदानन्दात्मक **भक्ति रस** है, उसे रस न मानकर भाव माना गया है। यही क्यों क्रोध, भय,

जुगुप्सा आदि स्थायी भावोंको (जो प्रत्यक्षतः सुखविरोधी हैं) रौद्र, करुण, भयानक और बीभत्स रसकी संज्ञा दी गयी है (सा० स०, पृ० ७२—७३)। पोद्दारने भक्ति रसके रसांगोंकी व्याख्या निम्नलिखित रूपमे निर्धारित की है और सबको अलौकिक माना है। स्थायी भाव—भगवद्विषयक अनुराग। आलम्बन विभाव—भगवान् राम, कृष्ण आदिके अखिल-विश्व-सौन्दर्य-निधि दिव्य विग्रह। अनुभाव—भगवान्‌के अनन्य प्रेमजन्य अश्रु, रोमांच आदि। व्यभिचारी भाव—हर्ष, सुख, आवेग, चपलता, उन्माद, चिन्ता, दैन्य, धृति, स्मृति और मति। शान्त रसकी तरह ही उन्होने भक्ति रसको वास्तविक ब्रह्मानन्द-सहोदर बताया है। रति स्थायी आलम्बन-भेदसे ही रस या भाव होता है, अतएव अलौकिक आलम्बन होनेसे तो यह अलौकिक भक्ति रस होगा ही।

आधुनिक मराठी रस-शास्त्रियोंने भक्ति रसकी समस्यापर गम्भीरतापूर्वक विचार किया है। वाटवेने बीभत्स तथा रौद्र रसको कम करके नव रसोंमे उनके स्थानपर वात्सल्य और भक्ति रसको स्थापित करनेका प्रस्ताव किया है (रस-विमर्श)। डी० के० बेडेकरने इसमे भरतके रस-चतुष्टयकी व्यवस्था भंग होती हुई देखकर वाटवेके मतका तीव्र विरोध किया है। उनकी धारणा है कि रस-व्यवस्थाका मूल आधार 'देवासुर-कथा' है और रौद्र और बीभत्सको निकाल देनेमे वह बिना रावणके रामायण जैसी एकपक्षी हो जाती है (आलोचना, अंक ४ : पृ० ८६)। मा० दा० आलतेकर भक्तिका शृंगारमें अन्तर्भाव करते है, इसी तरह कृ० कोल्हटकर अद्‌भुतमे। आनन्दप्रकाश दीक्षितने इनके मतका सतर्क विरोध किया है। द० सा० पंगु निर्जीव आलम्बन होनेसे, रा० श्रीजोग भक्तिकी अव्यापकता तथा उसके मूलमे भावना न होनेसे तथा रा० हिंगणेकर भक्तिके विक्रियाहीन होनेसे उसको रसत्वका अधिकारी नही मानते। शिवराम पन्तने भक्तिके विविध रूपोंकी कल्पना करके 'देशभक्ति'को स्वतन्त्र रस बताया है, जिसका स्थायी भाव उन्होंने 'देशाभिमान' निर्धारित किया है।

वस्तुतः भक्ति रसका आलम्बन लौकिक न होकर अलौकिक ही मानना समीचीन होगा। भक्तिशास्त्रमें निराकार-निर्गुण ब्रह्मकी अवतारवादके आधारपर इस प्रकार सगुण-साकार कल्पना की गयी कि वह भक्ति-भावनाका वास्तविक आलम्बन बन सका। निश्चय ही भक्ति-काव्यमे भावनाका जो विस्तार भारतीय साहित्यमे मिलता है, उसको देखते हुए भक्तिको रस न स्वीकार करना वस्तुस्थितिकी उपेक्षा करना है। यह अवश्य है कि महत्त्वके साथ भक्ति रसकी अपनी अनेक सीमाएँ भी है जिनकी उपेक्षा नही की जा सकती। भारतकी सभी प्रमुख प्रान्तीय भाषाओंमें भक्तिका साहित्य उपलब्ध होता है। हिन्दी साहित्यमें सूर, तुलसी, मीराँ आदिकी रचनाएँ भी भक्ति रसका श्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत करती है। निर्गुणधाराके काव्यमें जहाँतक वैष्णव भावनाका प्रवेश हुआ है, वहींतक भक्ति रसकी व्याप्ति है, अन्यथा नहीं। विशेषके लिए दे० 'उज्ज्वल रस' तथा 'माधुर्य रस'। —ज० गु०

भक्तिवाद–'ध्वन्यालोक'में उल्लिखित तीन ध्वनि-विरोधी मतोंमेसे दूसरा। ध्वनिकारका कथन है कि कुछ लोग ध्वनिको भक्ति (गौण अथवा लक्षणागम्य) भी कहते हैं। लक्षणाके तीन तत्त्व माने जाते है और उन्हीं तीनो तत्त्वोंके आधारपर भक्ति शब्दकी तीन प्रकारकी व्युत्पत्ति की जाती है—'मुख्यार्थस्य भंगो भक्तिः' (भक्ति-पृथक्-पृथक् भाग)मे मुख्यार्थ बाध, "भज्यतेसेव्यते पदार्थेन इति सामीप्यादिधर्मो भक्तिः"से सामीप्य आदि अर्थान्तरकी सिद्धि तथा "प्रतिपाद्ये शैत्यपावनत्वादौ श्रद्धातिशयो भक्तिः"से प्रयोजनकी सिद्धि सूचित होती है और इन तीनों तत्त्वोमे आगत लक्ष्य अर्थको भाक्त कहते है—ततः आगतः भाक्तः। मीमांसकोंने लक्षणाके दो भेदों—गौणी तथा शुद्धामें गौणीको एक स्वतन्त्र शब्दव्यापार माना है और भक्ति पदसे वे गौणी वृत्तिका ही द्योतन करते है (विशेषके लिए दे० हि० ध्व०, पृ० १२)।

उपर्युक्त अलंकारशास्त्रियों एव मीमांसकोंने व्यंग्यार्थका निषेध नही किया। वे उसकी स्थितिको स्वीकार करते है, किन्तु लक्षणाके अन्तर्गत ही उसका अन्तर्भाव कर लेते हैं। इनके पक्षको सन्देहमूलक कहा गया है, क्योकि ये दृढताके साथ व्यंग्यार्थका विरोध नहीं करते है। सभी ध्वन्याचार्योंने भाक्तवादियोकी स्थापनाको भ्रामक सिद्ध किया है। उनका प्रधान तर्क यह है कि लक्षणामे मुख्यार्थ बाधित होनेके उपरान्त लक्ष्यार्थका बोध होता है, पर जिस प्रयोजनकी प्रतीति उत्पन्न करानेके लिए लक्षणाका सहारा लिया जाता है, उसकी प्रतीति ऐसी होती है, जिसमें व्यंजनाव्यापारके अतिरिक्त और कोई भी व्यापार समर्थ नही होता है "यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते। फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यंजना नापरा क्रिया"(का०प्र०, २:१४)। —उ० शं० शु०

भगवती नैरात्मा–नैरात्मा वस्तुतः शून्यताकी संज्ञा है। 'गुह्यसिद्धि'मे बताया गया है कि बुद्ध भगवान्‌के रूपमे भगवती नैरात्माके साथ निवास करते है। **बोधिचित्त** जाग्रत् होकर उपायके रूपमें नैरात्मामे विलीन होकर शून्यता-लाभ करता है। **युगनद्ध**में महामुद्रा ही भगवती नैरात्माका प्रतीक मानी जाती है (दे० 'महामुद्रा')। —ध० वी० भा०

भग्न-प्रक्रम–दे० 'शब्द-दोष', सोलहवाँ 'वाक्य-दोष'।

भजन–स्तुति, स्तोत्र और स्तवनका लोकरूप ही भजन है। उपासनापरक गीतोंकी संज्ञा 'भजन' है। सगुणोपासनाके कारण इस विधानको अधिक प्रसार मिला। **स्तोत्रग्रन्थ,** धर्म-सम्बन्धी **पंचक, अष्टक, दशकादि** रचनाएँ इस पद्धतिके अन्तर्गत है, यद्यपि ये भजन नही है। "भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते" इस पद्धतिकी सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना है। बौद्ध, जैन और तत्पश्चात् पौराणिक हिन्दू धर्मने यह रचना-विधि अपनायी। लोक-रचना-विधिका यह धार्मिक अभियान है। भजनके लिए न तो कोई विशेष छन्द है और न गेयताकी दृष्टिसे कोई राग-विशेष। स्तोत्र-काव्य जहाँ विशेष रूपसे छन्दात्मक है, वहाँ भजन गेय पदाश्रित है। प्रातःकाल गाये जानेवाले भजनको 'प्रभाती' कहते है। संस्कृतमे भी 'प्रभात-स्तोत्र' हैं, जिनमेंसे श्रीहर्षकृत 'सुप्रभातस्तोत्र'में बुद्धकी प्रार्थना 'स्रग्धरा' वृत्तमें है। यामुनाचार्य(अनुमानतः सन् १००० ई०)ने लक्ष्मी और विष्णुकी स्तुतिमें रचनाएँ की थीं।

स्वामी रामानन्दके कारण उत्तरी भारतमें भक्तिकी जो धारा बही, उसमें गेय पदोंमें भजनोंकी रचनाको प्रोत्साहन मिला। भजनमें इष्टका रूप-कीर्तन अथवा गुण-कीर्तन होता है। अपने दैन्य और इष्टदेवकी वत्सलताके वर्णन इसमें मिलेंगे। भजनका एक विभेद 'आरती' है। 'गोरखबानी'में संगृहीत 'आरती'की प्रथम पंक्ति है "नाथ निरंजन आरती गाऊँ। गुरुदयाल अग्याँ जो पाऊँ"। प्रभातीमें "जागिये ब्रजराज कुंवर पंछी बन बोले" महत्त्वपूर्ण रचना है। मिथिलामें शिवोपासनापरक गीतोंकी संज्ञा 'नाचारी' है। भजनोंका विभेद 'निर्गुन' भी है, जिसमें वैराग्यमय जीवनका उत्कर्ष वर्णित रहता है। इसमें सगुणोपासनापरक गेय पद भी आते हैं। वल्लभ-सम्प्रदायने भजनके स्थानमें **कीर्तन**को अधिक महत्त्व दिया, जिसमें इष्टदेवके रूप-गुण-कीर्तनकी ओर अधिक ध्यान रहता है। कीर्तनमें सामूहिकताका अंश अधिक है और भजनमें वैयक्तिक साधनाका तत्त्व; यद्यपि कीर्तन वैयक्तिक भी हो सकता है और भजन सामूहिक भी (दे० 'पद')। —रा० खे० पा०

भय–भयानक रसका स्थायी भाव भय है। 'नाट्यशास्त्र'में लिखा है—"भयका सम्बन्ध स्त्रियों तथा नीच प्राकृतिके लोगोंसे है। यह अपनेसे श्रेष्ठ व्यक्तियों तथा राजाके प्रति किये गये अपराध, वनमें भ्रमण, हाथी या सर्प देख लेना, शून्य गृहमें ठहरना, गुरुजनोंकी भर्त्सना, बरसातकी अँधेरी रात, उलूक तथा रातको बाहर निकलनेवाले जानवरोंके शब्दका श्रवण इत्यादि विभावों द्वारा उत्पन्न होता है" (नाट्य०, ७ : २१ ग)। 'साहित्यदर्पण'के अनुसार किसी रौद्र (सिंहादि)की शक्तिसे उत्पन्न, चित्तको व्याकुल करनेवाला भाव 'भय' कहलाता है (३ : १७८)। 'हरिऔध'का कथन है—"अपराध, भयंकर शब्द, विकृत चेष्टा और रौद्र-मूर्ति जीवादि द्वारा जो मनोविकार उत्पन्न होता है, उसका नाम भय है"।

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मैकडुगलके अनुसार, जिसने प्रवृत्तिमूलक कतिपय प्रधान भावोंका निरूपण किया है, भयका भाव किसी वस्तुसे बच निकलने अथवा भागनेकी सहज प्रवृत्तिसे सम्बन्धित है। भय पहुँचानेवाली वस्तु अपनी विकरालतासे मनुष्यका मनोबल ध्वस्त कर देती है और वह पलायन अथवा अन्य प्रकारसे दैन्य-प्रदर्शन करनेके लिए बाध्य हो जाता है। भयका कारण कोई गोचर वस्तु ही नहीं होती, अपितु कल्पनागृहीत विचार भी होता है। मूल तत्त्व है अपकार या अनिष्टकी निश्चित सम्भावना। लेकिन जहाँ इष्टहानि एवं अनिष्टका अनुमान हो, वहाँ शंका नामक संचारी भाव होता है, भय स्थायी नहीं।

भय तथा त्रासका अन्तर भी समझ लेना चाहिये। भरतके अनुसार बिजलीकी चमक, उल्का, गर्जन, भूकम्प, बादल, बड़े-बड़े जानवरोंका घोष इत्यादि कारणोंसे त्रास उत्पन्न होता है, अर्थात् किसी रूप या शब्दके गोचर होनेपर तत्क्षण कँपा देनेवाला मनोवेग त्रास है। भयसे आलम्बनकी निश्चित भावना होती है तथा उसका लक्ष्य भी निश्चित होता है, जब कि त्रासमें विषयकी स्पष्ट भावना नहीं होती और न कोई उसका लक्ष्य ही होता है। इसलिए त्रास संचारी है, स्थायी नहीं। रूपगोस्वामीके अनुसार "गात्रोत्कम्पो मनःकम्पः सहसा त्रास उच्यते। पूर्वापरविचारोत्थं भयं त्रासात् पृथक् भवेत्" (ह० भ० र० सि०), अर्थात् त्राससे सहसा कम्प होता है, किन्तु भय पूर्वापरके विचारसे उत्पन्न होता है।

शंका, चिन्ता, ग्लानि, त्रास, दीनता इत्यादि भयके व्यभिचारी भाव हैं। उदा०—"कारी हद कारी लख्यो बनमाली ढिग आतु। मन्द-मन्द गति मीन ज्यों चलन लग्यो बिकुलातु" (पोद्दार : र० मं०)। 'मीन ज्यों'से भय भावमात्रकी व्यंजना है, स्थायीका प्रस्फुटन नहीं हुआ है। —र० ति०

भयानक रस–भानुदत्तके अनुसार, 'भयका परिपोष' अथवा 'सम्पूर्ण इन्द्रियोंका विक्षोभ' भयानक रस है। अर्थात् भयोत्पादक वस्तुओंके दर्शन या श्रवणसे अथवा शत्रु इत्यादिके विद्रोहपूर्ण आचरणसे जब हृदयस्थ 'भय' स्थायी भाव परिपुष्ट होकर आस्वाद्य बनता है, तब वहाँ भयानक रस होता है। इसमें सम्पूर्ण इन्द्रियोंमें विक्षोभ उत्पन्न हो जाता है। हिन्दीके आचार्य सोमनाथने 'रसपीयूषनिधि'में भयानक रसकी यह परिभाषा दी है—"सुनि कवित्तन ब्यंगि भय जब ही परगट होय। तहाँ भयानक रस बरनि कहैं सबै कवि लोय"। भरत मुनिने इसका रंग काला तथा देवता कालदेवको बताया है। भानुदत्तके अनुसार इसका वर्ण श्याम और देवता यम है।

'नाट्यशास्त्र'में भयानक रसको प्रधान रसोंमें न परिगणित कर, वीभत्स रससे उत्पन्न बताया गया है। वीभत्स रसका स्थायी भाव जुगुप्सा है। अप्रिय वस्तुके दर्शन, स्पर्शन अथवा स्मरणसे उत्पन्न घृणाका भाव जुगुप्सा कहलाता है। अपराध, विकृत रव अथवा विकृत प्राणीसे उत्पन्न मनोविकार भय कहा गया है। भरतने वीभत्सके दर्शनमें भयानककी उत्पत्ति मानी है। लेकिन आधुनिक मनोविज्ञानने भय एवं जुगुप्सा, दोनोंको प्रवृत्तिप्रेरित प्रधान भावोंमें गिनाया है। वास्तवमें भयानकको वीभत्ससे उत्पन्न बतानेका कोई समीचीन मनोवैज्ञानिक आधार प्रतीत नहीं होता। अपितु, भय घृणाकी तुलनामें अधिक आदिम (primitive) मनोवृत्ति प्रतीत होता है। नृतत्त्वविदोंने मानव-विकासका अध्ययन करते हुए भयको मानवी संस्कृतिके एक बहुत बड़े भागका प्रधान कारण सिद्ध किया है। भरतने भयानकके कारणोंमें विकृत शब्दवाले प्राणियोंका दर्शन, गीदड़, उलूक, व्याकुलता, खाली घर, वन-प्रदेश, मरण, सम्बन्धियोंकी मृत्यु या बन्धनका दर्शन, श्रवण या कथन इत्यादिको निर्दिष्ट किया है, जब कि वीभत्सके विभावोंमें अमनोहर तथा अप्रियका दर्शन, अनिष्टका श्रवण, दर्शन या कथन इत्यादिको परिगणित किया है। इस उल्लेखसे ही स्पष्ट होता है कि भयके उद्रेकके लिए, जुगुप्साकी अपेक्षा, अधिक अवसर तथा परिस्थितियाँ उपलब्ध हैं, अर्थात् भयका क्षेत्र जुगुप्साकी तुलनामें अधिक व्यापक है और इसीलिए भय जुगुप्साकी अपेक्षा अधिक शक्तिशाली मनोविकार सिद्ध होता है। पुनः भयके मूलमें संरक्षणकी प्रवृत्ति कार्यशील होती है। प्राणिमात्रमें यह वर्तमान रहता है तथा मनपर इसका सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है। अतएव भयानक रसको वीभत्ससे

उत्पन्न बनाना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।

'साहित्यदर्पण'मे भयानक रसको 'स्त्रीनीचप्रकृतिः' कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि इस रसके आश्रय स्त्री, नीच प्रकृतिवाले व्यक्ति, बालक तथा कोई भी कातर प्राणी होते है—"भयानको भवेन्नेता बालः स्त्रीकातरः पुनः' (अकबरसाहि : शृं० द०)। अपराध करनेवाला व्यक्ति भी अपने अपराधके ज्ञानसे भयभीत होता है।

भयानकके आलम्बन व्याघ्र इत्यादि हिंसक जीव, शत्रु, निर्जन प्रदेश, स्वयं किया गया अपराध इत्यादि है। शत्रु-की चेष्टाएँ, असहायता उद्दीपन है तथा स्वेद, विवर्णता, कम्प, अश्रु, रोमांच इत्यादि अनुभाव है। त्रास, मोह, जुगुप्सा, दैन्य, संकट, अपस्मार, चिन्ता, आवेग इत्यादि उससे व्यभिचारी भाव है।

हिन्दीके आचार्य कुलपतिने इन सभी उपादानोंको एकत्र समेटकर भयानक रसका यो वर्णन किया है—"बाघ ब्याल विकराल रण, सूनो बन गृह देख। जे रावर अपराध पुनि, भय विभाव यह लेख। कम्प रोम प्रस्वेद पुनि, यह अनुभाव बखानि। मोह मूरछा दीनता, यह संचारी जानि। इनते नृत्य कवित्तमें, अति भय परगट होय। कवि सहृदय-को मन गमन, कहै भयानक सोय" (र० र०)। भानुदत्त-ने 'रसतरंगिणी'मे भयानक रसके दो भेद किये है—पहला स्वनिष्ठ तथा दूसरा परनिष्ठ। स्वनिष्ठ भयानक वहाँ होता है, जहाँ भयका आलम्बन स्वयं आश्रयमे रहता है और पर-निष्ठ भयानक वहाँ होता है, जहाँ भयका आलम्बन आश्रय-मे वर्तमान न होकर उसमे बाहर, पृथक् होता है। स्वनिष्ठ भयानक अपराधजन्य भयसे उत्पन्न होता है, अर्थात् आश्रय स्वयं अपने किये अपराधमे ही डरता है। उदा०—"कर्तव्य अपना इस समय होता न मुझको ज्ञात है। कुरु-राज चिन्ताग्रस्त मेरा जल रहा सब गात है। अतएव मुझ-को अभय देकर आप रक्षित कीजिये। या पार्थ-प्रण करने विफल अन्यत्र जाने दीजिये" (मैथिलीशरण गुप्त : ज० व०)। अपने वधके लिए अर्जुनकी प्रतिज्ञा सुनकर जयद्रथने ये वचन दुर्योधनसे कहे है। अभिमन्युवधका अपराध आलम्बन है, अर्जुनका प्रण उद्दीपन है, त्रास इत्यादि संचारी है तथा जयद्रथका चिन्तित होना, गात्र जलना तथा किंकर्त-व्यविमूढ होना अनुभाव है। इन उपादानोंसे पुष्ट होकर भय स्थायी भयानक रसकी निष्पत्तिमे समर्थ हुआ है। परनिष्ठ भयानक रसका उदा०—"एक ओर अजगरहिं लखि, एक ओर मृगराय। बिकल बटोही बीच ही, परचौ मूरछा खाय" (का० द०)। यहाँ अजगर और सिंह आलम्बन हैं, उन दोनों जीवोंकी भयानक आकृति तथा चेष्टाएँ उद्दीपन है, स्वेद, कम्प, रोमांच आदि संचारी हैं और मूर्च्छा, विकलता आदि अनुभाव है। इन सबमे भय स्थायी पुष्ट होकर भयानक रसकी प्रतीति कराता है।

लेकिन कही-कही भय स्थायी होनेपर भी भयानक रस नहीं होता है, क्योंकि वहाँ कविका अभीष्ट कुछ और भी होता है, यथा—"सूबनि साजि पढ़ावतु है निज फौज लखे मरहट्ठन केरो। औरँग आपुनि दुग्ग जमाति बिलोकत तेरिए फौज दरेरी। साहि-तनै सिवसाहि भई भनि भूषन यो तुव धाक घनेरी। रातहु द्यौस दिलीस तकै तुव सेन कि सूरति घेरी" (भूषण)। यहाँ शिवाजी आलम्बन, उनके पराक्रमका स्मरण उद्दीपन, औरंगजेबको अपनी ही सेनामे शिवाजीकी सेनाका भ्रम होना अनुभाव तथा चिन्ता, त्रास इत्यादि संचारी है। इन सभी अवयवोंमे भय स्थायीकी अभिव्यक्ति होती है, परन्तु कविका अभीष्ट यहाँ शिवाजीकी प्रशंसा करना है, अतएव यहाँ भय 'राजविषयक रतिभाव'मे मिल गया है और गौण बन गया है। इसलिए यहाँ भया-नक रसकी निष्पत्ति नहीं मानी जायगी।

भयानक रसका शृंगार, वीर, रौद्र, हास्य एवं शान्तके साथ विरोध बताया गया है। वीरगाथात्मक 'रासो' ग्रन्थोंमे युद्ध, रण, प्रयाण, विजय आदि अवसरोंपर भयानक रसका सुन्दर वर्णन मिलता है। 'रामचरितमानस'मे लंकाकाण्डमे भयानकके प्रभावशील चित्र अंकित है। हनुमान् द्वारा लंकादहनका प्रसंग भयानक रसकी प्रतीतिके लिए पठनीय है। रीति-कालीन वीरकाव्योंमें भी भयका संचार करनेवाले अनेक प्रसंग हैं। भूषणकी रचनाएँ इस सम्बन्धमें विशेष महत्त्वपूर्ण है। भारतेन्दु द्वारा प्रणीत 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटकमे श्मशान-वर्णनके प्रसंगमे भयानक रसका सजीव प्रतिफलन हुआ है। इस सम्बन्धमे "रुरुआ चहुँ दिसि ररत डरत सुनिकै नर-नारी"से प्रारम्भ होनेवाला पद्य-खण्ड द्रष्टव्य है। वर्तमान कालमें मैथिलीशरण गुप्त, श्यामनारायण पाण्डेय, 'दिनकर' इत्यादिकी विविध रचनाओंमें भयानक रसका उल्लेख्य प्रयोग हुआ है। छायावादी काव्यकी प्रकृतिके यह रस प्रतिकूल है, परन्तु नवीन काव्यमें वैचित्र्य-के साथ यत्र-तत्र इसकी भी झलक मिलती है। —र० ति०

भविष्यवाद—भविष्यवाद (फ्यूचरिज्म) आधुनिक चित्र-कलाकी एक शैली है। वस्तुतः यह चित्रशैली कम, आन्दो-लन अधिक है। इटलीके राजनीतिक शक्ति-ह्रासके दिनो इसका प्रादुर्भाव हुआ। आन्दोलनका अभिप्राय यह था कि भविष्य हमारा (इटलीका) है। इस आन्दोलनका प्रवर्तक इटलीका प्रसिद्ध कवि मारीनेत्ती था। उसके कवि होनेसे ही यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि यह आन्दोलन केवल चित्रकलातक ही सीमित न था वरन् साहित्य और संगीत-में भी उसका साका चला। मारीनेत्तीने जैसे उस आन्दोलन या शैलीका साहित्यमे प्रयोग किया, रुस्सोलोने वैसे ही उसका प्रयोग संगीतमे किया।

भविष्यवाद शक्ति-आन्दोलन अथवा साहित्य-संगीत-कलामें उसके आभासका प्रतीक था। इस शैलीके चित्रकार रात्रि-जीवनके भक्त थे और अधिकतर उसी सम्बन्धके विषय अपने अंकनके लिए चुना करते थे। भागती हुई मोटरें दौड़ती हुई रेलें, कौंधती हुई बिजली, बजते हुए बाजे, गति और स्वरके सभी साधन इनके वर्ण और रेखाओंकी परिधिमें आये और रूपायित हुए। चलती हुई चीजों—पहिये और चक्के, गतिमान चरण, हिलते पदार्थोंमें ही इनकी रति हुई, यद्यपि अंकनकी दृष्टिसे इन्हे विशेष सफलता न मिली। मिलती भी कैसे? प्रयास देश(सतह)की कलाको कालकी कलामें बदलनेका किया गया था, जो सम्भव न था। इसके स्रष्टाओंने अपने चित्रणमे चलचित्रका प्रभाव लानेका प्रयत्न किया। परन्तु समतलपर गतिका आभास उत्पन्न कर सकना असम्भव था। उस आभासके लिए उन्होंने बार-बार

एक ही रेखाको चित्रित किया, पर रेखाको गति न मिली। दृष्टि गतिकी मायामे बँध न सकी।

भविष्यवाद वस्तुतः घनवाद (दे०)की ही एक शाखा है, यद्यपि भविष्यवादी घोषणापत्रमे यह सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया गया है। दोनोंमे बस अन्तर इतना है कि घनवाद जहाँ गतिहीन है, भविष्यवाद वहाँ गतिमान् है। भविष्यवादी चित्रकारोंने गतिका आभास उत्पन्न करनेके लिए कुछ 'शक्ति-रेखाओं'का आविष्कार किया। आड़ी, तिरछी, काँपती-घूमती, गोल-लहरिया, शूल, शंकु या खूँटोंकी-सी रेखाओंका उन्होंने निर्माण किया, जिससे गतिकी दिशा प्रकटित हो सके या अंकित रूपका विसंवात उन्हीं रेखाओंके तलपर आधारित हो सके। इस शैलीके चित्रणमें कुछ स्थितियाँ स्वभावतः स्वीकार कर ली जाती है, जैसे अंकित सन्दूक चाहे जिस खूबीसे भी क्यों न बन्द हो, उसका भीतर और उसमें रखी वस्तुएँ साफ दिखाई देती रहेगी। वस्तुतः इस शैलीके चित्रके ऊपर दर्शक केवल दृष्टि डालकर उसका रूप नही ग्रहण करता, वरन् उसे चित्रके भीतर वर्ण और रेखाओंको भेदकर देखना होता है। स्वयं दर्शकको चित्रित वस्तुओंका ही भाग बन जाना पड़ता है। प्रभाववादियोने जिस प्रकार दर्शकको वर्ण और प्रकाशके सम्पुंजनसे प्रभावका आभास दिया था, उसी प्रकार भविष्यवादियोने रेखाओंके कम्पनसे उसे गतिका आभास देना चाहा है। भविष्यवादियोने अपने चित्रित रूपको अनेकधा तोड़ा और विभाजित किया और अन्तर्गामी प्रकाश-स्तम्भों द्वारा चित्रफलकपर चंचल गतिका आभास एक मात्रामे उत्पन्न किया।

भविष्यवादी आन्दोलनका प्रवर्तक कवि मारीनेत्ती था, जिसने पेरिसके पत्र 'फिगारो'में आन्दोलनका पहला घोषणापत्र (फरवरी २०, १९०९ ई०के अंकमे) प्रकाशित किया। ११ फरवरी, १९१० ई०को दूसरा घोषणापत्र प्रकाशित हुआ, जिसपर बोचिओनी कर्रा, बल्ला, सेवेरीनी आदि चित्रकारोंके हस्ताक्षर थे। एक तीसरा घोषणापत्र मूर्ति-कला (तक्षण)के क्षेत्रमें भी १९१२ ई०में प्रकाशित हुआ। चित्रकारोंके तरुण परिवारने अपने घोषणापत्रमें मारीनेत्तीप्रमुख विद्रोही कवियोंके भविष्यवादी दृष्टिकोणका शक्तिम शब्दोंमे समर्थन किया। उन्होंने कलाकी प्राचीन संचारगतिहीन शैलियोसे विद्रोह करते हुए एलान किया कि उनकी कला अतीतका अंकन त्याग उस सावधि और समसामयिक जीवनकी शालीनता प्रदर्शित करेगी, जो विज्ञानके आविष्कारोंसे निरन्तर रद्द होता जा रहा है।

भविष्यवाद बीसवी सदीका आन्दोलन था और इसके प्रधान नेता और चित्रकार इटलीके ही थे। वैसे इटलीके बाहरके देशोंमें भी इसका प्रचार हुआ और अंग्रेज चित्रकार नेविन्सनने इंग्लैण्डमे इस शैलीके कुछ शक्तिम चित्र लिखे। इसके कुछ मूर्धाभिषिक्त चितेरोंके विवरण यहाँ दे देना समुचित होगा।

रोमका चितेरा गियाकोमो बल्ला (१८७१ ई०) बोचिओनी और सेवेरीनीका गुरु है। १९१० ई० के भविष्यवादी घोषणापत्रपर उसके भी हस्ताक्षर थे और तत्सम्बन्धी कार्यक्रमका उसने प्रायः पचीस वर्षोंतक निर्वाह किया। फिर उसने अपनी कलाको भविष्यवादकी जकड़से कुछ मुक्त कर लिया। गतिके प्रदर्शनमे उसने कुछ दावेसे प्रयोग किये। न्यूयार्कके माडर्न आर्ट म्यूजियममे संगृहीत उसका चित्र 'गतिमान् जंजीर' (दौड़ता कुत्ता) काफी प्रसिद्ध है। उम्बर्तो बोचिओनी चितेरा और मूर्तिकार, दोनों ही था। उसने भी भविष्यवादियोंके मिलानवाले पहले घोषणापत्र (१९१० ई०) पर हस्ताक्षर किये थे। भविष्यवादी चितेरोंमे सबसे अधिक प्रबुद्ध और जागरूक वही था। मूर्तिकार भी वह पहले दरजेका था और तक्षण तथा रस-सिद्धान्तकी समझमे वह बेजोड़ था। सन् १९१२ ई०मे उसने मूर्तिकलाका भविष्यवादी घोषणापत्र प्रकाशित किया। उसने तक्षणविज्ञानमे एक नयी गतिशीलता निर्मित की—एक रूपाकृतिसे दूसरीमें अविरल बहती गतिकी। वह मेधावी कलावन्त चौंतीस वर्षकी अल्पायु (१८८२-१९१६ ई०)में ही मर गया। उसका चित्र 'फुटबाल खिलाड़ीकी गतिशीलता' काफी ख्याति प्राप्त कर चुका है।

कार्लो कर्रा (१८८१ ई०) अवस्थामे बोचिओनीसे कुल एक साल बड़ा है। वह भी १९१० ई० के पाँच घोषणाकारोंमेसे था। उसने कुछ कालतक तो बड़ी निष्ठासे भविष्यवादी कार्यक्रमके अनुसार चित्रण किया, पर पाँच वर्ष बाद वह मध्यकालीन चित्रशैलीकी ओर आकृष्ट हुआ और पुनर्जागरणकालके कलावन्तोंकी परम्परामे अंकन करने लगा। वह कुछ कालतक प्रसिद्ध ग्रीक-इटालियन चित्रकार गिरकोका भी सहकारी रहा। उसके चित्रोंमें काफी आकर्षण है। 'अनाकिस्तकी अन्त्येष्टि क्रिया' नामक उसका चित्र न्यूयार्कके माडर्न आर्ट म्यूजियममे अनेक दर्शकोंको आकृष्ट करता है। नेविन्सन (१८८९-१९४६ ई०) अंग्रेज भविष्यवादी चित्रकार था। १९१२ ई०में लन्दनमे भविष्यवादी चित्र-प्रदर्शिनीके बाद उसने पहली बार इंग्लैण्डमे इस शैलीके चित्रोंका समारम्भ किया। उसने इस शैलीसे प्रथम महासमरके अपने अनुभावोंको मनुष्यपर मशीनके घातक प्रभावके रूपमें अंकित किया। फिर वह इंग्लैण्डके कारखानोंके जीवनकी ओर मुड़ा और उसने अपने अगले चित्रोंमे मशीनी आकृतियो द्वारा जीवनकी आध्यात्मिक रिक्तता प्रदर्शित की।

लुइगी रुस्सोलो (१८८५ ई०)ने भी सन् १९१० ई० के घोषणापत्रपर हस्ताक्षर किये थे। उसने चित्रण और संगीत, दोनोंमें भविष्यवादी दृष्टिकोण अपनाया। संगीतके क्षेत्रमें तो गति उत्पन्न करनेके लिए एक ध्वनि-मशीनका आविष्कार ही कर डाला, जिससे अनेक प्रकारकी ध्वनि निकला करती थी। उसके चित्रोंमें भी तलों और रेखाओंका परस्पर अन्तरावर्तन अंकित है।

गिनो सेवेरीनी (१८८३ ई०) भी सन् १९१० ई०के पाँच घोषणाकारोंमेंसे था। उसका आकर्षण विशेषतः काबरे-(थियेटर)से सम्बन्धित विषयोंमे था। पेरिसमे बस जानेके बाद उसने वहाँके रात्रि-जीवनके चित्र प्रस्तुत किये। नवप्रभाववादी पोन्तिलिस्त (बिन्दु=पुंजन) सुराका उसपर गहरा प्रभाव पड़ा। इसीसे उसके चित्रोंके रंग अन्य भविष्यवादी चित्रोंसे कहीं अधिक शोख हो गये। प्रथम महासमरके बाद सेवेरीनी नव क्लासिसिज्मका समर्थक

बन गया। अभी भविष्यवादका आन्दोलन मरा नहीं है। उस शैलीके अनेक चित्रकार जाग्रत है। उनका दावा है कि भविष्य उनका है; गतिमानोंका। —भ० श० उ०

भागवत–विष्णुकी संज्ञा भगवत् भी है। अतः जो विष्णु अथवा उसके आकारोंकी उपासना या सेवा (वल्लभ-मतमें उपासनाके स्थानपर 'सेवा' शब्द ग्राह्य है) करता है, वह भागवत कहलाता है। —वि० मो० श०

भागवत धर्म–वैष्णव धर्म या **वैष्णव सम्प्रदाय**का प्राचीन नाम भागवत धर्म या पांचरात्र मत है। इस सम्प्रदायके प्रधान उपास्य देव वासुदेव है, जिन्हें ज्ञान, शक्ति, बल, वीर्य, ऐश्वर्य और तेज—इन छः गुणोंसे सम्पन्न होनेके कारण भगवान् या 'भगवत्' कहा गया है (दे० 'सगुण सम्प्रदाय') और भगवत्के उपासक भागवत कहलाते है। इस सम्प्रदायकी पांचरात्र संज्ञाके सम्बन्धमें अनेक मत व्यक्त किये गये है। 'महाभारत' शान्तिपर्व (३३९:११-१२)-के अनुसार चार वेदो और सांख्ययोगके समावेशके कारण यह नारायणीय महोपनिषद् पांचरात्र कहलाता है नारद-पांचरात्रके अनुसार इसमें ब्रह्म, मुक्ति, भोग, योग और संसार—पॉच विषयोका 'रात्र' अर्थात् ज्ञान होनेके कारण यह पांचरात्र है। 'ईश्वरसंहिता', 'पाद्मतन्त्र', 'विष्णुसंहिता' और 'परमसंहिता'ने भी इसकी भिन्न-भिन्न प्रकारसे व्याख्या की है। 'शतपथब्राह्मण' (१३ : ६ : १)के अनुसार सूत्रकी पॉच रातोंमे इस धर्मकी व्याख्या की गयी थी। इस कारण इसका यह नाम पडा। इस धर्मके 'नारायणीय' 'ऐकान्तिक और 'सात्वत' नाम भी प्रचलित रहे है।

अनुमान है कि लगभग ६०० ई० पू०, जिस समय ब्राह्मण ग्रन्थोके हिंसाप्रधान यज्ञोंकी प्रतिक्रियामें बौद्ध-जैन सुधार-आन्दोलन हो रहे थे, उससे भी पहलेसे अपेक्षाकृत शान्त, किन्तु स्थिर ढंगसे एक उपासनाप्रधान सम्प्रदाय विकसित हो रहा था, जो प्रारम्भमे वृष्णि-वंशीय क्षत्रियोंकी सात्वत नामक जातिमे सीमित था। वैदिक परम्पराका इसने सीधा विरोध नही किया, प्रत्युत अपने अहिंसाप्रधान धर्मको वेद-विहित ही बताया। इसलिए तथा इस कारण भी कि उसकी प्रवृत्ति बौद्ध और जैन सुधार-आन्दोलनोकी भाँति खण्डनात्मक और प्रबल प्रचारात्मक नही थी, इस सम्प्रदायकी वैसी धूम नही मची। ई० पू० चौथी शतीमे पाणिनिकी 'अष्टाध्यायी'के 'वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्' (४ : ३ : ९८) सूत्रसे वासुदेवके उपासक 'वासुदेवकों'-का प्रमाण मिलता है। ई० पू० तीसरी-चौथी शतीसे पहली शतीतक वासुदेवोपासनाके अनेक प्रमाण प्राचीन साहित्य और पुरातत्त्वमे मिले है। जैनोके सलाक पुरुषोंमें वासुदेव और बलदेव भी हैं तथा अरिष्टनेमि और वासुदेवके सम्बन्ध-का भी उल्लेख प्राचीन जैन साहित्यमे मिलता है। बौद्ध-जातकों (घत और महा उमग्ग) मे वासुदेवकी कथा कही गयी है। बौद्ध साहित्यके 'चुल्लनिद्देस'मे आजीवक, निगंठ, जटिल, बलदेव आदि श्रावकोके साथ वासुदेवको पूजनेवाले वासुदेवकोंका भी उल्लेख हुआ है, जिससे सूचित होता है कि यह सम्प्रदाय तीसरी-चौथी शती ई० पू०में विद्यमान था। इसी कालमें चन्द्रगुप्त मौर्यकी राजसभाके यूनानी राजदूत मेगास्थनीजने 'सौरसेनाई' (शौरसेनी) जातिमें जो 'जोबेरीज' (यमुना) नदीके किनारे बसती थी और 'मेथोरा' (मथुरा) और क्लीसोबारा (कृष्णपुर) जिसके प्रधान नगर थे, हेराक्लीज (कृष्ण)के विशेष रूपसे पूजे जानेका उल्लेख किया है। २०० ई० पू०के बेसनगर (भिलसा)के एक स्तम्भलेखके अनुसार बैक्ट्रियाके राजदूत हेलियाडोरस-ने देवाधिदेव वासुदेवकी प्रतिष्ठामे गरुडस्तम्भका निर्माण कराया था। वह अपनेको भागवत कहता था (एपि० इ० १०, ६३)। ई० पू० पहली शतीके नानाघाटके गुहाभिलेख-मे अन्य देवताओंके साथ संकर्षण और वासुदेवका भी नामोल्लेख है। इसी समयका एक और शिलालेख चित्तौड़-गढके समीप घोसुण्डीमें मिला है, जिसमे कण्ववंशी राजा सर्वतात द्वारा अश्वमेध यज्ञके अवसरपर भगवान् संकर्षण और वासुदेवके मन्दिरके लिए 'पूजाशिला-प्राकार' बनवाये जानेका उल्लेख है (एपि० इ०)। मथुराके एक महाक्षत्रप शोडाश (ई० पू० ८०-५७)के समयके एक शिलालेखके अनुसार वसु नामक एक व्यक्तिने महास्थान (जन्मस्थान मथुरा)मे भगवान् वासुदेवका मन्दिर बनवाया था। इन प्रमाणोसे सूचित होता है कि भागवत धर्मका सबसे पहला नाम वासुदेवधर्म या वासुदेवोपासना है, भागवत नाम भी क्रम-से-क्रम ई० पू० दूसरी-तीसरी शतीमे प्रचलित हो गया था। प्रारम्भमे यह उपासना-मार्ग शूरसेन (आधुनिक ब्रजप्रदेश)मे बसनेवाली सात्त्वत जातिमे सीमित था, परन्तु इसका प्रचार कदाचित् सात्त्वतोके स्थानान्तरणके फलस्वरूप ई० पू० दूसरी-तीसरी शताब्दियोमे ही पश्चिमकी ओर भी हो गया था तथा कुछ विदेशी (यूनानी) लोग भी इसे मानने लगे थे।

दक्षिणके प्राचीन तमिल साहित्यमें वासुदेव, संकर्षण तथा कृष्णके अनेक सन्दर्भ मिलते है। इन सन्दर्भोंके आधारपर अनुमान किया गया है कि उपर्युक्त सात्त्वत लोग, जो वैदिक पुरुवंशके एक जातिविशेषके थे, मगधके राजा जरासन्ध द्वारा आक्रान्त होनेके कारण कुरुपांचालके शूरसेनप्रदेशसे पश्चिमी सीमान्तप्रदेशकी ओर चले गये। मार्गमें इनमेसे कुछ लोग मालव और उसके दक्षिणकी ओर बस गये और वहाँसे दक्षिण देशके सम्पूर्ण उत्तरी क्षेत्र तथा कोंकणमें फैल गये। इन्हीमेसे कुछ और दक्षिणकी ओर चले गये। दक्षिणके अह्रिया, अण्डार और इडैयर जातियोके लोग पशुपालक अहीर या आभीरोके समकक्ष है। सात्त्वत जाति भी पशुपालक क्षत्रियोकी जाति थी। 'ऐतरेयब्राह्मण'में दक्षिणके सात्त्वतों द्वारा इन्द्रके अभिषेकका उल्लेख मिलता है। अतः जान पड़ता है कि सात्त्वतोंका दक्षिणगमन उससे पहले हो चुका था। वे अपने साथ अपनी धार्मिक परम्पराएँ भी अवश्य लेते गये होगे।

भागवत धर्म भी प्रारम्भमें क्षत्रियों द्वारा चलाया हुआ एक अब्राह्मण उपासना-मार्ग था। परन्तु कालान्तरमें सम्भवतः अवैदिक और नास्तिक जैन-बौद्ध मतोका प्राबल्य देखकर ब्राह्मणोंने उसे अपना लिया और वैष्णव या नारायणीय धर्मके रूपमें उसका विधिवत् संघटन किया। 'महाभारत' शान्तिपर्वके नारायणीय उपाख्यानमे इस नवीन धर्मको वैष्णव यज्ञ कहा गया है और यज्ञप्रधान वैदिक कर्मकाण्डके प्रवृत्ति-मार्गके विपरीत इसे निवृत्ति-मार्ग बताया

गया है। इस वैष्णव यज्ञमे पशुवधका स्पष्ट रूपमे निषेध तथा तप, सत्य, अहिंसा और इन्द्रियनिग्रहका विधान किया गया था। 'महाभारत'मे ही वासुदेवको वैदिक देवता विष्णुसे अभिन्न बताया गया तथा साथ ही कृष्णको भी द्वितीय वासुदेवके रूपमे उन्हीका अवतार प्रसिद्ध किया गया।

ऋग्वेदमे विष्णु-सम्बन्धी जो थोडी-सी ऋचाएँ मिलती हैं, उनमे उनका अत्यन्त भव्य वर्णन हुआ है। वे त्रिविक्रम है…तीन पाद-प्रक्षेपोमें समग्र संसारको नाप लेते है (१ : १ : ५४ : २), इसीलिए वे उरुगाय (विस्तीर्ण गतिवाले) और उरुक्रम (विस्तीर्ण पाद-प्रक्षेपवाले) कहे गये हैं। उनका तीसरा पद-क्रम सबसे ऊँचा है। उनके परमपदमे मधुका उत्स है। विष्णु पृथ्वीपर लोकोंके निर्माता हैं, ऊर्ध्वलोकमें आकाशको स्थिर करनेवाले है तथा तीन डगोंसे सर्वस्वको नापनेवाले है। ऋग्वेदमे विष्णुको अजेय गोप… विष्णुर्गोपा अदाभ्यः (१ : २२ : १८) भी कहा गया है। उनके परमपदमे भूरिश्रृंगा चंचल गायोका निवास है (१ : १५४ : ६)। उनका वह सर्वोच्च लोक गोलोक कहलाता है। यज्ञ-प्रधान ब्राह्मण-कालमें विष्णुका महत्त्व बढ़ता गया। उन्हे स्वयं 'यज्ञ'की संज्ञा दी गयी। उनकी अपेक्षा वैदिक देवता अग्निको हीन बताया गया है। 'ऐतरेयब्राह्मण'मे उल्लेख है कि विष्णुने असुरोसे छीनकर समस्त पृथ्वी इन्द्रको दे दी थी। ऐतरेयब्राह्मण (८ : ३ : १५) और 'शतपथब्राह्मण' (१ : ९, ३ : ९)मे भी इसी प्रकारका एक उल्लेख है। इस प्रकार सर्वाधिक शक्तिशाली वैदिक देवता इन्द्रकी अपेक्षा विष्णुकी महत्ता ब्राह्मण-कालसे ही बढ़ने लगी थी। ब्राह्मण-ग्रन्थोंसे विष्णुके अवतारों—वामन, वराह, मत्स्य और कूर्म सम्बन्धी प्रमाण भी एकत्र किये गये है। जो हो, पशु-यज्ञ-विरोधी नवीन धर्मके उपास्य बननेके लिए वैदिक देवताओंमे विष्णु ही सबसे अधिक उपयुक्त थे और इसीलिए 'महाभारत'मे उन्हे वासुदेवसे अभिन्न बताया गया तथा वासुदेवोपासकोंके—सात्वत धर्मको वैष्णव धर्मके नामसे प्रसिद्ध किया गया।

कृष्ण मूल वासुदेव या पर वासुदेवसे भिन्न है, ऐसा अनेक प्रमाणोंसे सिद्ध किया गया है। कृष्ण सम्बन्धी वैदिक उल्लेखों—अंगिरस् ऋषि, कृष्ण और कृष्णासुरके उल्लेखो—मे उनके वासुदेव होनेका कोई संकेत नही है (दे० 'कृष्णकाव्य')। 'छान्दोग्य उपनिषद्'के देवकी-पुत्र कृष्ण घोर आंगिरसके शिष्य है और वे गुरुसे ऐसा ज्ञान उपलब्ध करते हैं, जिससे फिर कुछ भी जाननेको शेष नही रहता तथा यज्ञकी एक ऐसी सरल रीति सीखते हैं, जिसकी दक्षिणा तप, दान, आर्जव, अहिंसा और सत्य है (३ : १७ : ४ : ६)। इससे स्पष्ट विदित होता है आंगिरस गोत्रका घोर नामक ऋषि वैदिक आंगिरसका उत्तराधिकारी था। आंगिरसोंमें सबसे प्रमुख बृहस्पति कहे गये है, जिन्हें किसी समय पांचरात्रका ज्ञान सौंपा गया था। घोर आंगिरसने देवकी-पुत्र कृष्णको जो उपर्युक्त यज्ञकी विधि बनायी थी, वह भी भागवत यज्ञ या वैष्णव यज्ञकी ही थी, अतः देवकी-पुत्र कृष्ण या वासुदेव कृष्ण भागवत धर्मके आदि प्रवर्तक नहीं थे। यह बात स्वयं गीताके 'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि' (१० : ३७)मे प्रमाणित होती है कि कृष्णसे भिन्न कोई और वासुदेव पहले हो चुका था। 'महाभारत' शान्तिपर्वमें वर्णित उपर्युक्त वैष्णव यज्ञके उपास्यका असली नाम नारायण है, जिन्हे विष्णुमे अभिन्न कहकर बताया गया है कि यही नारायण वासुदेव है और यही दुरात्मा कंसका नाश करनेके लिए द्वापर और कलियुगकी सन्धिमें मथुरामें जन्म लेगे। उस समय लोग कहेगे कि महात्मा नर और नारायण संसारका हित करनेके लिए अर्जुन और कृष्णके रूपमें प्रकट हुए हैं। यही नारायण हंस, कूर्म, मत्स्य, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण और कल्कि अवतार लेगे (शान्ति पर्व, अध्याय ३४०)। इन तथा अन्य अनेक प्रमाणोंसे यह स्पष्ट विदित होता है कि महाभारतके समयतक अध्यात्म तत्त्वके देवता नारायण, ऐतिहासिक पूज्य पुरुष वासुदेव और वैदिक देवता उरुगाय विष्णु एकाकार होकर भारत-युद्धके कृष्णमे समन्वित होने लगे थे और नाना प्रकारसे यह उद्योग होने लगा था कि कृष्ण ही एकमात्र द्वितीय वासुदेव, नारायण, हरि, भगवत् और विष्णुके अवतार है। हरिवंश तथा अनेक पुराणोमे कृष्णके एकमात्र द्वितीय वासुदेव होनेके, श्रृगाल वासुदेव और पौण्ड्र वासुदेव सम्बन्धी आख्यान मिलते है। महाभारत और पुराणोंमे कृष्णको सात्त्वतर्षभ कहा गया है, जिसमे कृष्णके भी वृष्णिवंशीय सात्त्वत होने की सूचना मिलती है। इस प्रकार सात्त्वतोंके कुल-धर्मको महाभारत और पुराणोंकी सहायतासे एक व्यापक लोकधर्म बनानेका सतत उद्योग किया गया। कदाचित् भागवत धर्मकी यह परिणति चौथी-पाँचवी शताब्दीमे गुप्तवंशके राज्यकालमें हुई। गुप्त सम्राट् अपनेको परमभागवत घोषित करनेमें गर्वका अनुभव करते थे। उन्होने पौराणिक वैष्णव धर्मको पर्याप्त प्रोत्साहन दिया। फिर भी गुप्तवंशकी उदार धार्मिक नीतिके फलस्वरूप शैव और बौद्ध धर्म भी यथेष्ट उन्नति कर रहे थे। वैदिक ब्राह्मण धर्मका स्मार्त रूप, जिसमें विष्णु, शिव, दुर्गा, सूर्य और गणेश—इन पंच देवताओंकी पूजा विहित थी, व्यापक प्रचार पा रहा था। वैष्णव धर्मके प्रचारसे ही अहिंसा और अवतारवादके सिद्धान्तका व्यापक रूपमे प्रचलन हो गया था। इस प्रकार लगभग ६०० ई० पू०से ५०० ई०तक भागवत धर्मके प्रथम उत्थानकालमें ही उसके प्रचारके प्रचुर साधन पौराणिक साहित्यके रूपमें तैयार हो गये थे। रामायण और महाभारतकी भी वैष्णव परिणति हो चुकी थी।

परन्तु छठी शताब्दीसे चौदहवी शताब्दीकी लगभग समाप्तितक उत्तरभारतमें भागवत धर्म उन्नति नही कर सका। स्मार्त वैदिक धर्म और बौद्ध धर्ममे लोकरुचिको आकृष्ट करनेकी होड-सी हो रही थी। इसी प्रतिस्पर्धामे बौद्ध धर्मने एक ओर वैष्णव धर्मकी अनेक बातें अपना ली तथा दूसरी ओर लोक-विश्वासो और लोक-प्रथाओको अपनाता हुआ वह महायान, मन्त्रयान, वज्रयान, सहजयान आदि रूपोंमे परिणत होता हुआ धीरे-धीरे नाम-शेष हो गया। पौराणिक धर्म और शंकराचार्यके उद्योग भी बौद्ध-धर्मको नष्ट करनेमे धीरे-धीरे सफल होने लगे। परन्तु इस कालमें दक्षिणभारतमे भागवत धर्मका

उत्कर्ष हो रहा था। दक्षिणके आलवार भक्तोंकी परम्परा नवी शताब्दीतक अविच्छिन्न चलती रही। उनकी भक्तिमे प्रपत्तिकी भावना और भगवान्‌के अनुग्रहका सबसे अधिक महत्त्व है। आलवारोंकी संख्या बारह मानी जाती है। इनके भावपूर्ण गीत तमिलके 'प्रबन्धम्'मे संगृहीत है, जिन्हे तमिलवेदकी संज्ञा दी जाती है। इन आलवार भक्तोमें गोदा या अण्डाल नामकी एक प्रसिद्ध स्त्री भक्त भी हुई है। इन प्रपत्तिभावप्रधान भक्तोने विष्णु वासुदेव या नारायण तथा उनके अवतार राम और कृष्णके प्रति अनन्यभावका प्रेम प्रकट किया है तथा कृष्ण और गोपियोंकी आनन्द-क्रीडाओंका तन्मयतापूर्वक वर्णन करते हुए उनके प्रति दास्य, वात्सल्य और माधुर्य भावकी भक्ति प्रकट की है।

आलवारोंकी भक्तिभावपूर्ण गीति-रचनाओमे केवल भक्तिके साधनपक्षका उद्घाटन मिलता है। नवीं-दसवी शतीमे तमिल प्रदेशमे ही आलवारोके भक्ति आन्दोलनको वैदिक और शास्त्रीय रूप देनेवाले आचार्योंका उदय हुआ। शांकर मायावाद-अद्वैतवादके साथ भक्तिका सामंजस्य कैसे हो, यह एक विकट समस्या थी। अतः अद्वैतके स्थानपर विशिष्टाद्वैतका प्रतिपादन किया गया और मायावादका प्रबल तर्कोंके आधारपर खण्डन किया गया। सबसे पहले आचार्य रगनाथ मुनि (८२४-९२४ ई०) हुए, जो नाथ मुनिके नामसे प्रसिद्ध है। लुप्तप्राय तमिल वेद (भक्तिपूर्ण गीति-काव्य)का उद्धार करके उन्होने श्रीरंगम्‌के प्रसिद्ध मन्दिरमें उसके गायनकी व्यवस्था की। 'योगरहस्य' और 'न्याय-तत्त्व' नामक इनके दो संस्कृत ग्रन्थ भी कहे जाते है, जिनमें विशिष्टाद्वैतका प्रतिपादन हुआ है। नाथ मुनिके पौत्र यामुनाचार्य (आलबंदार) हुए, जिन्होने 'गीतार्थ-संग्रह', 'सिद्धित्रय', 'महापुरुष-निर्णय' और 'आगम-प्रामाण्य' आदि अनेक ग्रन्थोंकी रचना करके विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तका समर्थन, मायावादका खण्डन, विष्णुकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन तथा पांचरात्र-सिद्धान्तकी वैदिक प्रामाणिकताकी स्थापना की। परन्तु वैष्णव आचार्योंमे सबसे अधिक प्रसिद्ध श्री रामानुजाचार्य (१०१६-११३७) हुए। उन्होने ब्रह्मसूत्रपर 'श्रीभाष्य' लिखा। इसके अतिरिक्त 'वेदार्थसंग्रह' 'वेदान्तसार', 'वेदान्तदीप', 'गद्यत्रय' और 'गीताभाष्य'की रचना करके इन्होने शांकर अद्वैत और भेदाभेदवादी भास्कर मतका खण्डन अपने मायाविरहित विशिष्टाद्वैत (दे०) तथा उसपर आधारित प्रपत्तिपूर्ण भक्ति-धर्मका प्रतिपादन किया। रामानुज द्वारा स्थापित भक्ति-धर्म श्रीवैष्णव (दे०) कहा जाता है, क्योकि विश्वास किया जाता है कि इसका प्रवर्तन स्वयं श्री (लक्ष्मी)के द्वारा हुआ है। लक्ष्मीनारायण इसके उपास्य देव हैं।

रामानुजकी मृत्युके सौ वर्षके भीतर दक्षिणमें एक अन्य आचार्य मध्व हुए, जिनके नामपर माध्व मत प्रसिद्ध हुआ। मध्वाचार्यका आध्यात्मिक सिद्धान्त भेदवाद या द्वैतवाद (दे०) है। भक्तिके प्रचारके लिए उन्होने ब्रह्म सम्प्रदायकी स्थापना की, क्योंकि उसके मूल प्रवर्तक स्वयं ब्रह्म माने जाते है। मध्वाचार्यने स्पष्ट रूपमें मायावाद-अद्वैतवादका खण्डन करके भक्तिका पथ प्रशस्त किया। दक्षिण भारतमें इस भक्ति-सम्प्रदायने, विशेष रूपसे कर्नाटक और दक्षिणी महाराष्ट्रमें कृष्णभक्तिका व्यापक प्रचार किया। बंगालका गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय भी माध्व मतकी एक शाखा कहा जाता है। मध्वाचार्यका एक नाम आनन्दतीर्थ भी था। इनके लिखे तीस ग्रन्थ कहे जाते है, जिनमें 'गीताभाष्य', 'ब्रह्मसूत्रभाष्य', 'अणुभाष्य', 'अनुव्याख्यान', 'दशोपनिषद्भाष्य', 'गीतातात्पर्यनिर्णय', 'भागवततात्पर्य-निर्णय', 'महाभारततात्पर्यनिर्णय' मुख्य हैं।

दक्षिणके ही एक और आचार्य निम्बार्क या निम्बादित्य प्रसिद्ध है। रामगोपाल भण्डारकरके अनुसार इनका समय बारहवी शताब्दी (मृत्यु ११६२ ई०) है। कुछ लोगोका विचार है कि ये इससे भी पूर्व हुए थे और इनका भक्ति-सम्प्रदाय सबसे प्राचीन है। जातिके ये तैलंग ब्राह्मण और बेलारी जिलेके निवासी बताये जाते है। परन्तु दक्षिणमें निम्बार्ककी कोई परम्परा नही मिलती। इनके सम्प्रदायका प्रधान केन्द्र वृन्दावन ही है तथा गोवर्धनके समीप निम्ब गाँव इनका स्थान कहा जाता है। इनका असली नाम नियमानन्द था, निम्बादित्य या निम्बार्क नाम एक चमत्कारके फलस्वरूप मिला था। कहते हैं, स्वयं देवर्षि नारदने इन्हें गोपालमन्त्रकी दीक्षा देकर कृष्णोपासनाका उपदेश दिया था। अपने 'वेदान्तपारिजातसौरभ'में इन्होंने बिना किसीका खण्डन किये ब्रह्मसूत्रकी संक्षिप्त वृत्तिके रूपमे अपने द्वैताद्वैत-सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है। 'दशश्लोकी' 'श्रीकृष्णस्तवराज', 'मन्त्ररहस्यषोडशी', 'प्रपन्नकल्पवल्ली' आदि इनकी कुछ और छोटी-छोटी रचनाएँ है। भक्तिके प्रचारके लिए अपने द्वैताद्वैतवाद (दे०)पर आधारित 'सनकादि-सम्प्रदाय' इन्होंने स्थापित किया। इसे हंस-सम्प्रदाय, सनातन-सम्प्रदाय और देवर्षि-सम्प्रदाय भी कहते है।

दक्षिणके उपर्युक्त तीन आचार्योंके अतिरिक्त विष्णुस्वामी नामके एक और आचार्य प्रसिद्ध है। परन्तु उनके समय, स्थान तथा धार्मिक विश्वासके सम्बन्धमें इतना अधिक मतभेद है तथा उसे दूर करनेकी सामग्री इतनी स्वल्प है कि उनके सम्बन्धमें कुछ भी निश्चित रूपसे कह सकना सम्भव नहीं जान पड़ता। कहा जाता है कि विष्णुस्वामी द्रविड देशके किसी राजाके मन्त्रीके पुत्र थे। बाल्यकालसे ही उनके हृदयमें धार्मिक संस्कार दृढ हो गये थे। स्वयं वंशीधारी किशोर श्यामने उन्हे दर्शन देकर बताया था कि निराकार रूपके अतिरिक्त मेरा साकार रूप भी होना है। मुझे प्राप्त करनेका सुगम उपाय साकारकी भक्ति ही है। फलतः विष्णुस्वामीने बालकृष्णकी मूर्तिकी प्रतिष्ठा करायी और भक्तिका उपदेश देना प्रारम्भ किया। भण्डारकरने 'भक्तमाल' (नाभादास, छप्पय ४८)के उल्लेखके आधारपर विष्णु स्वामीका समय १३वी शती अनुमान किया है, परन्तु यह निर्णय बहुत मान्य नही कहा जा सकता। विष्णुस्वामी नामके कम-से-कम तीन भक्तोंका पता चला है। इनमेंसे कौन विष्णुस्वामी शुद्धाद्वैत (दे०) मतके प्रतिपादक तथा भक्तिके 'रुद्रसम्प्रदाय'के संस्थापक थे, यह कहना सम्भव नहीं है। वस्तुस्थिति यह जान पड़ती है कि शुद्धाद्वैतकी प्राचीनता प्रमाणित करनेके लिए ही उसका सम्बन्ध विष्णुस्वामीसे जोड़ा जाता है।

दसवींसे तेरहवीं-चौदहवीं शतीतक इस प्रकार भक्तिका आन्दोलन दक्षिणमें शास्त्रीय रूप धारण करके तथा आध्यात्मिक पक्षमें दृढ होकर पुनः उत्तरकी ओर आया और चौदहवीं शताब्दीसे उन्नीसवीं शताब्दीतक प्रबल वेगके साथ देशके विस्तृत भूभागमें महाराष्ट्र, गुजरात, पंजाब, मध्यदेश, मगध, उत्कल, असम और बंगदेशमें फैलकर व्यापक लोकधर्म बन गया। उत्तरभारतमें इसका नवीन रूपमें प्रचार करनेवाले सबसे प्रथम और सबसे अधिक शक्तिशाली स्वामी रामानन्द (दे० 'रामानन्दी सम्प्रदाय') हुए, जिन्होंने आध्यात्मिक दृष्टिसे रामानुजके विशिष्टाद्वैतको ही मानते हुए भक्तिका पृथक् सम्प्रदाय स्थापित किया, जिसमें दाक्षिणात्य श्रीवैष्णवोंकी तरह स्पर्शास्पर्शके नियम कठोर नहीं थे। लक्ष्मीनारायणके स्थानपर उन्होंने सीतारामको उपास्य देव बनाया। रामानन्दी वैष्णव वैरागी वैष्णव कहे जाते हैं। रामानन्दकी दो प्रकारकी शिष्य-परम्पराएँ थीं। एकमें निम्न जातियोंके लोग थे और दूसरीमें सवर्ण लोग। मध्ययुगमें भक्तिका प्रचार करनेवाले भक्त-कवियोंमें एकके प्रतिनिधि कबीर और दूसरीके तुलसीदास हुए (दे० 'भक्तमाल')।

चौदहवीं-पन्द्रहवीं शतीमें कबीर, रैदास आदि निर्गुणोपासक सन्तोंकी भक्ति अधिक प्रबल रही (दे०—'निर्गुण-सम्प्रदाय'), परन्तु आगेकी शताब्दियोंमें वल्लभाचार्य-(१४७८-१५३०)के शुद्धाद्वैत (दे०)पर आधारित **पुष्टिमार्ग** (दे०), निम्बाचार्य द्वारा प्रतिपादित और उत्तरभारतमें उनके शिष्य श्रीनिवासाचार्य, औदुम्बराचार्य, गौरमुखाचार्य और लक्ष्मण भट्ट द्वारा प्रचारित **सनकादि सम्प्रदाय,** मध्वाचार्यके **ब्रह्म** या **माध्व सम्प्रदाय** (दे०), गोसाईं हितहरिवंश (१५०३)के **राधावल्लभीय सम्प्रदाय** (दे०), स्वामी हरिदासके **हरिदासी** या **सखी सम्प्रदाय** (दे०) तथा चैतन्य महाप्रभुके **गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय**ने कृष्णभक्ति-आन्दोलनोंके रूपमें भागवत धर्मको समयके आवश्यकतानुसार नवीन रूप दिया और समग्र लोक-जीवनको आमूल प्रभावित करके उसे नयी आशा, उमंग और क्रियात्मक शक्तिसे अनुप्राणित किया। दूसरी ओर गोस्वामी तुलसीदासने रामभक्तिके रूपमें प्रेमभक्ति और मर्यादा भक्तिका अपूर्व समन्वय करके भक्ति-धर्मको एक नवीन सामाजिक शक्ति प्रदान की। मध्ययुगमें भक्तिका प्रचार करनेवाले सभी सम्प्रदायों और उनके अनुयायी भक्त कवियोंने 'श्रीमद्भागवत पुराण'का सबसे अधिक अनुसरण किया है। एक प्रकारसे 'श्रीमद्भागवत' ही मध्ययुगीन भागवत धर्मका अक्षय स्रोत है। वल्लभ-सम्प्रदायमें तो उसे प्रस्थानत्रयीके साथ सम्मिलित करके 'प्रस्थानचतुष्टय' नामसे भक्ति-धर्मका आकर माना गया है।

[सहायक ग्रन्थ—वैष्णविज्म, शैविज्म आदि : आर० जी० भण्डारकर; इण्ट्रोडक्शन-टु परम संहिता (गायकवाड़ संस्कृत सीरीज) : दीवान बहादुर एस० कृष्ण-स्वामी अइयंगार; भागवत धर्म : बलदेव उपाध्याय।] —व्र० व०

भाग्यवाद—व्यक्तिके हिस्से (भाग)में जो कुछ करना और भोगना रहता है, उसे भाग्य कहते हैं। भाग्यके ही अपर पर्याय दैव, विधि, नियति, ईश्वरेच्छा, भवितव्यता और प्रारब्ध हैं। विधिलेख या ललाटलेखसे इसीका बोध होता है। भवितव्यताको ही 'होनी' कहते हैं। कभी-कभी इसीको 'करमगति' या कर्मगति कहते हैं, पर दार्शनिक दृष्टिसे कर्मगति और भाग्यमें अन्तर है।

भाग्यवाद वह सिद्धान्त है, जिसके अनुसार जो कुछ भी होता है या हो सकता है, वह सब भाग्यानुसार ही होता है। इसकी अभिव्यक्ति निम्नलिखित श्लोकमें मिलती है :—'यस्माच्च येन च यथा च यदा च यच्च यावच्च यत्र च शुभाशुभमात्मकर्म। तस्माच्च तेन च तथा च तदा च तच्च तावच्च तत्र च विधातृवशादुपैति", अर्थात् जिससे, जिसके द्वारा, जैसे, जब कभी, जो कुछ, जितना, जहाँ शुभाशुभ कर्म होता है, उससे, उसके द्वारा, वैसा, तब, वह, उतना, वहाँ विधिके वशसे ही होता है।

भाग्यवाद या दैववाद दैवीकारणवाद है। जैसे प्रकृति-जगत्‌में वर्तमान विज्ञानके अनुसार सब घटनाएँ कार्य-कारणकी शृंखलामें सुसम्बद्ध रहती हैं, वैसे दैववादके अनुसार प्रकृतिजगत् तथा नीतिजगत्, दोनोंको कार्य-कारण-की शृंखलामें बाँधनेवाला दैव या विधि है। प्राकृतिक घटनाओं या वस्तुओंकी भाँति मनुष्यके कर्म भी कार्य-कारणकी शृंखलामें बँधे हैं। वेदोंमें इस दैवी विधानको ऋत कहा गया और इसके गोप्ताको वरुण। वैशेषिक दार्शनिकोंने इस ऋत या दैवी विधानको ही अदृष्ट कहा और माना कि इसी अदृष्टके कारण मौलिक परमाणुओंमें गति आती है, जिसके फलस्वरूप वे संसारकी रचना करते हैं और यही अदृष्ट मनुष्योंके जीवनका भी नियन्ता है। वैशेषिक दर्शनमें अदृष्टकी यह कल्पना ईश्वरसे भिन्न की गयी। मीमांसामें इसीको अपूर्व कहा गया है। अपूर्व केवल कर्म और उसके विपाकका सम्बन्ध करानेवाला तत्त्व यहाँ माना गया। ईश्वरवादी दर्शनोंमें इसको ईश्वरेच्छा माना गया और इसका काम एकमात्र मनुष्य तथा अन्य जीवोंके कर्मोंका निर्धारण करनेवाला तत्त्व निश्चित किया गया। ईश्वरको उच्छृंखल, निर्विवेक तथा अन्धाधुन्ध न्याय करनेवाला माना गया। वह अपने इच्छानुसार ही लोगों या जीवोंको फल देता है और कर्म करवाता है। भाग्यवाद प्रायः इसी दैववादके अर्थमें अधिक प्रयुक्त होता है। "भाग्यं फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषम्", 'ईश्वरेच्छा बलीयसी', 'फलं भाग्यानुसारतः', 'होनी होके रही' आदि उक्तियाँ भाग्यवादको पौरुषवाद या प्रयत्नवादके विरोधमें लाते हैं। पौरुष या प्रयत्न व्यर्थ है, भाग्य जो चाहेगा, वही होगा। इस भाग्य-की गति विचित्र है, वह गुणको दोष और दोषको गुण बना सकती है। वह मूर्खको विद्वान् और राजाको रंक करती है या कर सकती है। असम्भवको वह सम्भव कर देती है और सम्भवको असम्भव बनाती है। भाग्य ईश्वरकी रहस्यमयी इच्छा या शक्ति है। इसे कोई जान नहीं सकता। इसका होना अवश्यम्भावी रहता है। वह किसीके द्वारा टाला नहीं जा सकता। यही वास्तवमें सब कुछ करता है, मनुष्य या अन्य जीव इसके हाथमें कठपुतली हैं। इस प्रकार भाग्यवाद मानव-स्वतन्त्रता तथा वैज्ञानिक कार्य-कारणवाद, दोनोंका विरोधी है।

भौतिक विज्ञानने जगत्की वस्तुओंको भौतिक कार्य-कारणकी शृंखलामे बँधा सिद्ध किया। नीतिने मनुष्यको भाग्यकी कठपुतली नहीं, वरन् स्वतन्त्र प्राणी सिद्ध किया। इस प्रकार दोनोने भाग्यवादका निराकरण किया।

पर विज्ञान जिन घटनाओंको कार्य-कारणके नियमके अनुसार घटित न सिद्ध कर सका, उनको उसने सांयोगिक या आकस्मिक मान लिया। नीति, जो यह मानती है कि सत्कर्मका फल अच्छा होता है और दुष्कर्मका फल बुरा होता है, यह सिद्ध न कर पायी कि क्यो सत्कर्मी दुःख उठाते है और दुष्कर्मी सुख भोगते है।

इन सब परिस्थितियोको देखकर भाग्यवाद, संयोगवाद, कर्मकालवाद और वैज्ञानिक कार्य-कारणवाद—सबमे कुछ-न-कुछ दोष मिलते है। भाग्यवादियोंने इन परिस्थितियोंके कारण अपने दैववादको कर्मवादमें बदल दिया।

कर्मवादके अनुसार विधि 'प्रतिनियतकर्मैव.फलद' है, अर्थात् वह व्यक्तियोको उनके कर्मके अनुसार ही फल देती है। पर चूँकि इस लोकमें सत्कर्मी दुःखी और दुष्कर्मी सुखी देखे गये है और कर्मफलको अटल मानना नीतिके लिए आवश्यक है, इसलिए कर्ममे कई प्रकार माने गये और जन्मान्तरवादकी कल्पना की गयी। इस लोकमे जो सुख या दुःख पाता है, वह वस्तुतः अपने पूर्वजन्मके कर्मके अनुसार उसको पाता है। यह उसका प्रारब्ध कर्म है। इस लोकमें किये गये अपने कर्मोंका फल भोगनेके लिए उसे पुनर्जन्म लेना पड़ेगा, उसका क्रियमाण कर्म अभी अनारब्ध है, अर्थात् अभी उसका फल मिलना आरम्भ नही हुआ। प्रारब्ध और क्रियमाण कर्मोंके अतिरिक्त संचित कर्म भी होते है, जो पूर्वजन्ममे किये गये है और उनका अभी फल मिलना शुरू नही हुआ। प्रारब्ध कर्म, संचित कर्मोंसे इस बातमे भिन्न है कि उनका फल मिलना शुरू हो गया है और इस बातमें समान है कि दोनों पूर्वजन्मके कर्म है। इस प्रकार क्रियमाण कर्म और संचित कर्म अनारब्ध कर्म है और इससे प्रारब्ध पृथक् होनेके कारण हम कर्मोंको प्रारब्ध और अनारब्ध, दो वर्गोंमें बाँट सकते हैं।

कर्मवादमें भाग्य प्रारब्ध कर्म हो गया। पर भाग्यवाद-को कर्मवादमें बदलनेके लिए जन्मान्तरवादको मानना आवश्यक है। ईसाई, मुसलमान और यहूदी जन्मान्तरवाद-को नही मानते है। अतः वे भाग्यवादको दैववादके रूपमें ही लेते हैं, न कि कर्मवादके रूपमें।

पर भारतीयोंने प्रायः भाग्यवादको प्रारब्धवाद या कर्मवादके ही रूपमें लिया है। केवल कुछ आलसियोने इसको दैववादके रूपमें माना है। विचारकोंने तो प्रायः इसे कर्मवाद ही समझा है। 'स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः', 'कर्मानुगो गच्छति जीव एकः', 'बुद्धिः कर्मानुसारिणी', 'करम गति टारे नाहि टरी' आदि अत्यन्त प्रचलित उक्तियाँ इस कर्मवादको प्रख्यात करती है।

कर्मवाद नीतिकी अनिवार्यतापर जोर देता है और कर्म तथा उसके विपाकमें अवश्यम्भावी सम्बन्ध मानता है। यह पौरुषकी निन्दा नही करता, उल्टे कर्मवादको ही न मानना कायरता है, क्योंकि अपने कृत कर्मके फलसे डरना सचमुच सबसे बड़ी कायरता है। पर चूँकि कर्मवादका अनिवार्य आधार जन्मान्तरवाद है, अतः इसका समर्थन जन्मान्तरवादके समर्थनसे ही हो सकता है। आज भारतमें कुछ-कुछ और पाश्चात्य देशोमे अधिकाधिक जन्मान्तरवाद-को असिद्ध ठहराया जा रहा है और इस कारण कर्मवादको भी अमान्यता मिल रही है।

जैनियो और हिन्दुओंके अनुसार कर्मवादकी एक और आधारशिला है नित्य आत्माको मानना। बौद्ध इसको नहीं मानते है। वे जन्मान्तरवादको मानते है और इस कारण कर्मवादको भी मानते है। उनके अनुसार नित्य आत्मामें विश्वास रखना कर्मवादके लिए आवश्यक नही है। कृत कर्मके फलको पानेके लिए एक ही आत्माको दोनों परिस्थितियोंमे कार्यावस्था और फलावस्थामे रहना अनिवार्य नहीं है। कार्यावस्थाकी आत्मा और फलावस्थाकी आत्मा सन्तति-रूपसे सुसम्बद्ध है, दोनों एक ही सन्तानमें आती है, अतः यद्यपि आत्मा नित्य परिवर्तनशील है, तथापि कर्मवादके अनुसार कर्म और विपाकका सम्बन्ध उसमे हो सकता है।

कर्मवाद कोई यान्त्रिक नियम नहीं है। यह अपने कर्मोंका ही नियन्त्रण है। इस कारण यह हमारी स्वतन्त्रता-के प्रतिकूल नही है। हमारी स्वतन्त्रताके दो रूप है—(१) वरणकी स्वतन्त्रता और (२) अपने कर्मके फल पानेकी अनिवार्यता। कर्मवादमे ये दोनो रूप मिलते है। पूर्वकृत कर्म अवश्य अपने कर्ताको फल देगा, यही व्यक्तिको स्वकर्म-की अनिवार्यतासे बद्ध करता है। फिर व्यक्ति अपने भविष्य-को सुधार सकता है। वह अपने संचित कर्मोंको क्रियमाण कर्मोंसे जला सकता है और इस तरह केवल प्रारब्ध कर्मोंके ही फलको भोग करके कर्मके बन्धनसे मुक्त हो सकता है। कर्मवादका यह पहलू मनुष्यकी वरणशक्तिको सिद्ध करता है।

कर्म और फलके बीचकी अवस्थामे कर्मकृत प्रभाव या आशय कहाँ रहते है? इस प्रश्नपर भारतीय दार्शनिकोंमें पर्याप्त मतभेद है। कोई उनका आश्रय कर्ता आत्मामे, कोई अदृष्टमें, कोई अपूर्वमे, कोई ईश्वरमे तो कोई कार्यमे ही मानता है, पर इन सबका तात्पर्य यह है कि कर्माशयका आश्रय चाहे जो अभ्यूहित हो, पर कर्म और विपाकमें मध्यान्तर रहता है और उस अवस्थामें कर्माशयका आश्रय कोई नैतिक प्रत्यय ही हो सकता है, उसके विशेष नामकरणमें फिर चाहे मतभेद ही क्यों न हो।

वेदोंसे लेकर आजतक भारतीय संस्कृतिमें कर्मवादको किसी-न-किसी रूपमे माना गया है। सिर्फ चार्वाक-दर्शनमें ही कर्मवादकी हत्या कर दी गयी है, पर यह दर्शन बहुत पहले लुप्त हो गया। पहले भाग्यवादका सिद्धान्त बना या कर्मवादका, इसमें मतभेद हो सकता है, पर भाग्यवाद कर्मवादसे सरल है। अतः लगता है कि पहले वैदिक ऋषियोने दैववाद या भाग्यवादकी ही ओर दृष्टि दौड़ायी। फिर जब यज्ञोंका बोल-बाला हुआ तो इसको कर्मवादमें बदल दिया गया, पर यहाँ सत्कर्म सिर्फ यज्ञ ही समझे गये। बुद्धने यज्ञके कर्मवादके विरोधमे अपना धर्मचक्र चलाया और नैतिक मूल्योंकी स्थापना की। इस प्रकार यद्यपि कर्मके बाहरी रूपका परिवर्तन हुआ, तो भी कर्मवाद-कर्मविपाकका आभ्यन्तर सम्बन्ध अक्षुण्ण रहा। स्मृति और

पुराणके युगोंमें कर्मवादको ईश्वरके साथ सम्बन्धित कर दिया गया। फिर तबसे लेकर कभी भाग्यवाद अधिक मान्य रहा, तो कभी कर्मवाद। प्रायः देशके राजनीतिक पतनकी दशामे भाग्यवादका ही अधिक बोल-बाला रहा है, पर उस समय भी ज्ञानी लोगोंने कर्मवादको ही सच्चा सिद्धान्त ठहराया है और भाग्यवादको ईश्वरइच्छावादके रूपमे नही लिया है।

हिन्दीके सन्त कवियोंने, सगुणोपासक और निर्गुणोपासक दोनोंने, भाग्यवाद और कर्मवादकी अभिव्यक्तियाँ प्रचुर-मात्रामें की है। पर इस ओर उनकी विशेष देन यह है कि उन्होने कर्मवाद और भाग्यवादको आध्यात्मिक जीवनका प्रेरक माना है।

सूरदासने देखा कि कर्म और उसके फलमें महान् अन्तर दिखाई पड़ता है—"ऊधो धनि तुम्हरो व्यवहार। आम कटावत बबुर लगावन चन्दन झोकत भार। चोर बसावत साह भगावत, चुगलनिको एनबार॥ सूरदास धनि तुम्हरी कचेरी, अन्धाधुन्ध दरबार॥" और 'दयानिधि तेरी गति लख न परै। पिता बचन मेटै सो पापी सो प्रह्लाद करै। सूरदास बल जान चरनकी कैसे सूर तरै"।

यहाँ कर्म और विपाकके विरोधको देखकर आध्यात्मिक जीवननिर्वाह करनेकी बात है। साधक देखता है कि भगवत्कृपाके बिना उसके कर्मों द्वारा उसे मोक्ष नही मिल सकता, क्योकि ईश्वरका दरबार अन्धाधुन्ध है।

ऐसी ही परिस्थितियोसे जर्मन दार्शनिक काण्टने सिद्ध किया कि भविष्य जीवन होता है, जिसमे कर्म और विपाकका अन्तर न रह जाय और इस कारण आत्माको अमर मानना चाहिये। फिर भविष्यमे इसका विधान करनेवाला विधाता अर्थात् ईश्वर भी होना चाहिये।

मीराँ कर्म और उसके फलको दैवी पाकर कहती है—"करम गति टारे नाहि टरै। मीराँके प्रभु गिरिधर नागर, विषसे अमृत करै"। जिसने दैववाद या कर्मवादका यह फल प्रत्यक्ष देख लिया कि विषका फल अमृतका स्वादन हो जाता है, वह भला क्यों अपने जीवनको भौतिकवादमें डुबो रखेगा?

कबीर, तुलसी तथा अन्य सन्तोंने भी भाग्यवाद और कर्मवादसे ईश्वरभक्तिकी प्रेरणा ली है, मानवजन्मको दुर्लभ बतलाया है और इसके सदुपयोगकी शिक्षा दी है।

आध्यात्मिक रससे वंचित रहनेवाले विद्वानोंने यह दिखलानेका प्रयास किया है कि चूँकि हिन्दीके सन्त-साहित्यका आविर्भाव उस कालमें हुआ, जब कि भारतीय जनता मुसलमानी शासकोंके अत्याचारपूर्ण शासनसे परेशान थी, इसलिए इसमें भाग्यवाद या कर्मवादकी अभिव्यक्ति अनिवार्य थी। यह विचार भ्रान्त है, क्योकि बहुतसे मुसलमान भी सन्त हुए है और बहुतसे मुसलमान शासकोंके शासनमें अत्याचार नही हुआ। पुनश्च संत-परम्परा और भाग्यवाद भारतमें मुसलमानों के आगमनसे पूर्व भी प्रचलित थे। दार्शनिक और आध्यात्मिक सिद्धान्त किसी युगकी प्रतिध्वनिमात्र नही होते।

[सहायक ग्रन्थ—दी पाथवे टु गॉड इन हिन्दी लिटरेचर : रामचन्द्र दत्तात्रेय; इण्डियन फिलॉसफी (दो भाग) : राधाकृष्णन्।] —म० ला० पा०

भाण–भरत मुनिने भाणका लक्षण बताते हुए इसके दो भेद किये है—(१) आत्मानुभूतशंसी और (२) परसंश्रय-वर्णन। प्रथम प्रकारके भाणमें कलानिपुण धूर्त या **विट** किसी धूर्त अथवा विटकी विविध अवस्थाओंका आत्मानुभवके बलपर वर्णन करता है और दूसरे प्रकारके भाणमें वह अन्य व्यक्तिके कृत्योंकी सुनी-सुनायी बातोका उद्घाटन करता है (ना० शा०, २० : श्लो० १०७-११०)। भाणमे केवल एक ही पात्र होता है और वह आकाशभाषित (काल्पनिक पात्र)के सहारे 'किं ब्रवीषि' कहता हुआ सम्बोधन, उक्ति-प्रत्युक्ति आदिके द्वारा वीर रस-सूचक शौर्य एवं शृंगार रस-द्योतक घटनाओका प्रदर्शन करता है। इसमे केवल एक अंक होता है। इसमें भारती वृत्ति, अंगोके सहित मुख या निर्वहण सन्धियोमेसे एक सन्धि, कल्पित वस्तु और लास्यके दसों अंग होते है (दश०, ३ : ४९-५१)। ऐसा ही मत विश्वनाथका भी है (सा० द०, ६ : २२७-२३०)।

भाणमें धूर्त चरित्रकी प्रधानता होनेसे सम्भवतः यह रूपक-प्रकार विद्वन्मण्डलीमे अधिक समादृत न हो पाया। इसी कारण 'काव्यानुशासन'मे इस रचनाका उद्देश्य साधारण लोगोका मनोरंजन माना गया है। इसके प्रधान रसके सम्बन्धमे आचार्योंमे मतभेद रहा है। नाट्यदर्पणकार इसमे शृंगार रस प्रधान तथा वीर एवं हास्यको गौण मानते है। किन्तु भावप्रकाशकार शारदातनय इसमें एकमात्र शृंगार रस स्वीकार करते है। सागरनन्दी किसी रसका नामोल्लेख नही करते। उनका मत है कि जिस रूपकमे परवचन (आकाशभाषित) और आत्म-वचन सान्तरग्रथित हो और जिसमे धूर्त एवं विटकी सुख-दुःखात्मक नाना अवस्थाएँ एक अंकमे सन्निविष्ट हो, वह भाण कहलाता है—"यत्र परवचनमात्मवचनैः सान्तरैर्ग्रथितं वाच्यं च भवेत्। आकाशपुरुषा यत्र व्याहरन्ति धूर्तविटानां सम्प्रयोगो नाना-वस्थाभिः सुखदुःखात्मकाभिश्चोपेतः एकांगश्च भाणः"।

शारदातनयने भाणपर विस्तारसे विचार किया है। उन्होने भाणके निम्नलिखित दस भेद किये है—**१. गेयपद, २. स्थितपाठ्य, ३. आसीन, ४. पुष्पगण्डिका, ५. प्रच्छेदक, ६. त्रिमूढ, ७. सैन्धव, ८. द्विमूढक, ९. उत्तमोत्तमक, १०. भाव्य**। उन्होने प्रत्येक प्रकारके भाण-के लक्षण भी बताये है (भा० प्र०, ८, पृ० २४४, २४६)।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने संस्कृत आचार्योंके मतके आधारपर संक्षेपमें भाणका लक्षण इस प्रकार बताया है—"भाणमे एक ही अंक होता है। इसमे नट ऊपर देख-देखकर, जैसे किसीसे बात करे, आप ही सारी कहानी कह जाता है। बीचमें हँसना, गाना, क्रोध करना, गिरना इत्यादि आप ही दिखलाना है। इसका उद्देश्य हँसी, भाषा उत्तम और बीच-बीचमें संगीत भी होता है। उदा०—'विषस्य विषमौष-धम्' (नाटक, भारतेन्दुनाटकावली, भाग २ : पृ० ४२४)।

गुलाब रायने इसके लक्षणोंका और भी संक्षिप्तीकरण किया है। उन्होने भाणका लक्षण इस प्रकार लिखा है—"यह एक ही अंकका होता है। इसमें एक ही पात्र होता है, जो ऊपरको मुँह उठाकर आकाशभाषितके ढंगसे किसी कल्पित पात्रसे बातचीत करता है। इसमें धूर्तोंका चरित्र

रहता है और खूब हँसाया जाता है" (हिं० ना० वि० पृ० ५१)।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और गुलाब रायकृत भाणके लक्षणोंसे संस्कृत आचार्योंकी सारी विशेषताएँ स्पष्ट नहीं होतीं, अतः अल्प-विस्तारके साथ भाणका लक्षण इस प्रकार दिया जा सकता है—भाणमें एक अंक और एक ही पात्र होता है। यह पात्र कोई बुद्धिमान् विट होता है। वह अपने तथा दूसरोंके धूर्ततापूर्ण कृत्योंको वार्तालापके रूपमें प्रकाशित करता है। वार्तालाप किसी कल्पित व्यक्तिके साथ होता है, जो ऊपर आकाश-स्थित होकर बातें करता है। रंगमंचपर आकर नायक आकाशकी ओर देखता हुआ सुननेका नाट्य करके कल्पित पुरुषकी उक्तियोंको स्वयं दुहराता है और उनका उत्तर देता है। स्वयं प्रश्न करता है और स्वयं ही उसका उत्तर देता है तथा शौर्य और सौन्दर्यके वर्णनसे वीर एवं श्रृंगार रसका आविर्भाव करता है। भाणमें प्रायः भारती वृत्तिका आश्रय लिया जाता है, कहीं-कहीं कैशिकी वृत्तिका भी प्रयोग होता है। इसमें अंगोंके सहित मुख और निर्वहण, दो सन्धियाँ होती है। लास्यके दस अंग भी इसमें व्यवहृत हो सकते है। इसका उदाहरण 'लीलामधुकर' है। इसके १० प्रकार होते हैं। हिन्दीमें भारतेन्दुकृत 'विषस्य विषमौषम्' भाणका उत्तम उदाहरण है। —द० ओ०

भाणिका–इसमें एक अंक होता है। नायक मन्दमति होता है और नायिका प्रगल्भा होती है। उसमें मुख-निर्वहण सन्धियोंका प्रयोग और भारती-कैशिकी वृत्तियोंका निर्वाह होता है। भाणिका भाणका सजातीय उपरूपक है। भाणके १. उपन्यास (प्रसंगपर कार्यका कीर्तन करना), २. विन्यास (निर्वेद-सूचक वाक्य), ३. विबोध (समझाना या भ्रान्तिका नाश), ४. साध्वस (मिथ्याकथन), ५. समर्पण (कोपसे उपालम्भनके वचन कहना), ६. निवृत्ति (दृष्टान्तका कीर्तन करना), ७. संहार (कार्यकी समाप्ति)—इन सात अंगोंका प्रभाव भाणिकामें रहता है। उदा०—'कामदत्ता'। —वि० रा०

भारत-यूरोपीय–एक भाषा-परिवारका नाम है। इस परिवारकी भाषाएँ अधिकांश भारतवर्षमें, ईरानमें, आरमीनियामें, प्रायः सारे यूरोप महाद्वीपमें, अमेरिका महाद्वीपमें तथा अफ्रीकाके दक्षिण-पश्चिम कोने और आस्ट्रेलियामें बोली जाती है। बोलनेवालोंकी संख्या, क्षेत्रविस्तार, साहित्य आदि सभी बातोंको देखते हुए इस परिवारका संसारके भाषा-परिवारोंसे सर्वप्रमुख स्थान है। वस्तुस्थिति तो यह है कि इस परिवारकी कुछ भाषाओंके तुलनात्मक अध्ययनसे भाषाविज्ञानका आविर्भाव हुआ।

इस परिवारका नाम सबसे पहले इण्डोजर्मनिक पड़ा। पिछले दो-ढाई सौ वर्षोंसे जर्मन विद्वान् बराबर भाषाविज्ञानके अध्ययनमें लगे रहे हैं। उन्होंने स्पष्ट देखा कि ये परस्पर सम्बद्ध भाषाएँ एक ओर पूर्व दिशामें भारतमें बोली जाती हैं और इस ओर पश्चिम छोरपर जर्मनीमें (जर्मनीके पश्चिमवाले देशोंमें बोली जानेवाली अंग्रेजी, डच आदि भाषाएँ भी जर्मनी शाखाकी हैं)। इसलिए इण्डोजर्मनिक नाम रखना स्वाभाविक ही था। पर आयरलैण्ड और वेल्समें बोली जानेवाली केल्टी शाखाकी भाषाएँ जर्मनी शाखाकी नहीं थीं। इसलिए इण्डोजर्मनिक नाम अनुपयुक्त समझा गया और इण्डोकेल्टिक सुझाया गया। पर यह नाम बिलकुल न चल सका। परिवारकी मुख्य भाषा संस्कृतके कारण सांस्कृतिक भी सोचा गया। पर इस निश्चयके कारण कि संस्कृत सभीका आदि स्रोत नहीं है, यह छोड़ दिया गया। इंजीली सम्प्रदायके अनुसार सामी, हामीके वजनपर हजरत नूहके तीसरे बेटे जैफके नामपर जैफाईट भी रखनेका विचार हुआ, पर यह भी आगे न बढ़ सका। इनके अलावा दो नाम और पेश किये गये—आर्य और इण्डोयूरोपियन। इंग्लैण्ड, फ्रान्स आदि देशोंके विद्वानोंने इण्डोयूरोपियन नाम पसन्द किया और इसीका व्यवहार करते है। इनका कहना है कि भारत और यूरोप इन्हीं दो महादेशोंमें ये भाषाएँ गौरवको पहुँची है, इसलिए ये नाम ठीक हैं। पर जर्मनीवाले अब भी इण्डोजर्मनिक शब्दका ही प्रयोग करते है।

आर्य शब्दके व्यवहारके विरुद्ध यूरोपके विद्वान् दो तर्क उपस्थित करते हैं—(१) इस नामसे इस परिवारकी भाषाओं और उनके बोलनेवालोंकी जातिका समकक्षत्व होता है, अर्थात् यह भ्रम होता है कि इस परिवारकी भाषाओंके बोलनेवाले आर्य जातिके हैं, (२) आर्य शब्दका व्यवहार इस परिवारकी हिन्दी-ईरानी शाखाके लिए अधिक उचित है, क्योंकि इन दोनों देशोंवाले अपनेको आर्य कहते हैं और इस शब्दका निरन्तर प्रयोग अपने साहित्यमें पाते हैं। पहला तर्क बिलकुल लचर है। यदि सामी, चीनी आदि भाषाओंके नामोंसे सामी आदि जातिके विषयमें भ्रम नहीं पैदा होता तो आर्य नामसे ही क्यों होने लगा? दूसरे तर्कमें कुछ सार है, किन्तु इस शाखाके लिए हिन्द-ईरानी नाम ही अधिक उपयुक्त है। अन्य शाखाओंके नाम भी उन देशोंके नामपर रखे गये है। परिवारभरके लिए आर्य शब्द ही अधिक उपयुक्त है। इण्डोयूरोपीय नाम बड़ा भारी है। प्रसिद्ध भाषावैज्ञानिक जैसपर्सन भी आर्य शब्दको पसन्द करते है, किन्तु यह भी प्रचलनमें नहीं आया। भारतीय विद्वानोंमें बाबूराम सक्सेनाने भी इसी नामको पसन्द किया है।

भारती-यूरोपीय इण्डोयूरोपियनका हिन्दी अनुवाद है और यही नाम भारतीय भाषाओंमें लिखे हुए भाषावैज्ञानिक ग्रन्थोंमें अधिकतर प्रयोगमें आया है। श्यामसुन्दर दासने इसका संक्षिप्त रूप भारोपीय सुझाया था, पर यह प्रचलित न हो सका।

इस परिवारकी प्राचीन और अर्वाचीन भाषाओंका सूक्ष्म अध्ययन करके यह कल्पना की जाती है कि इन भाषाओंका मूल स्रोत कोई आदि भाषा रही होगी। संस्कृत, आवेस्ती, ग्रीक और लैटिनके सबसे पुराने लेखों द्वारा इन भाषाओंका जो स्वरूप मिलता है, उससे ही इस आदि भाषाकी कल्पना हो सकी है। इन भाषाओंकी परस्पर तुलना की गयी और फलस्वरूप यह मालूम हुआ कि आदिम आर्य भाषामें अमुक-अमुक ध्वनियाँ रही होंगी, अमुक-अमुक सन्धिनियम रहे होंगे, संज्ञा, सर्वनाम आदिके रूप इस प्रकार चलते होंगे, क्रियाके ये रूप रहे होंगे, इत्यादि। इस आदिम भाषामें कवर्ग तवर्ग, पवर्गके स्पर्श-

वर्ण, दन्त-ऊष्म ध्वनि (स), अन्तस्थ व्यंजन (य्, र्, ल्, व्, न्, म्), अन्तस्वर (ई, ऋ, उ, ऌ, ऋ), उदासीन स्वर तथा मूल ह्रस्व (अ, ए, ओ), मूल दीर्घ स्वर (आ ए, ओ) तथा मूल स्वरों और अन्तस्थ स्वरोंके सम्मिश्रणसे १८ मिश्र ह्रस्व स्वर और १८ मिश्र दीर्घ स्वर उपस्थित थे।

आदिम आर्य भाषामें पदमें तीन अंश हो सकते थे—धातु, पूर्वप्रत्यय और परप्रत्यय और इन तीन अंशोंमेंसे कोई भी एकाक्षर या अनेकाक्षर हो सकता था। संज्ञा और क्रियाके अलावा आदिम भाषामें क्रियाविशेषण, उपसर्ग और समुच्चयबोधक आदि अव्यय थे। आदिम आर्य भाषामें तीन बातें और थीं—समास, स्वरक्रम और सुर। सुरके अलावा बलाघातका भी अनुमान किया जाता है। सिंहावलोकन करनेसे आदिम आर्य भाषामें संश्लिष्ट योगात्मक अवस्था, पर-प्रत्ययोंका बाहुल्य और उनके द्वारा सम्बन्धतत्त्वका बोधन, पदके तीन अंश, धातुका अभ्यास, उपसर्ग और मध्यप्रत्ययका अभाव, समास, स्वरक्रम और सुर, ये मुख्य लक्षण दिखाई पड़ते हैं।

इस आदिम भाषाके बोलनेवालोंके मूल निवासस्थानके विषयमें बहुत विवाद है और भारत, मध्यएशिया, त्रिविस्टप (तिब्बत), उत्तरी ध्रुवप्रदेश, यूरोपके पूर्वी हिस्सेका कोई प्रदेश तथा एशियामें यूराल पर्वतका दक्षिणी प्रदेश—इन भागोंको किसी-न-किसी प्रतिष्ठित विद्वान्ने आर्योंका मूल निवासस्थान माना है। इनमेंसे अन्तिम अर्थात् यूराल पर्वतका दक्षिणी प्रदेश इस समय अधिक सम्मत समझा जाता है। अनुमान है कि आदिम आर्योंका प्रथम सम्पर्क उत्तरी मेसोपोटामियाकी तत्कालीन सभ्य जातियोंसे ईसाके पूर्व २३वीं या २२वीं शतीमें हुआ, ईसा पूर्व २००० वर्ष पूर्वके आसपास उनकी स्थिति मेसोपोटामियामें पायी जाती है। प्रायः १४०० ई० पू०के 'बोगाज कोई' (एक गाँव)के अभिलेखमें आर्योंका प्रथम सर्वतः स्पष्ट उल्लेख है।

आदिम आर्य भाषा संस्कृत, आवेस्ती (तथा प्राचीन फारसी), ग्रीक, लैटिन, जर्मन, केल्टी, स्लावी, बाल्टी, आर्मीनी, अल्बेनी, तुखारी और हिट्टाइट—इन सभी भाषाओंका आदि स्रोत समझी जाती है। इस परिवारकी वर्तमान प्रमुख भाषाएँ हिन्दी, फारसी, जर्मन, अंग्रेजी, फ्रेंच, रूसी हैं। भारतमें इस परिवारकी भाषाओंके बोलनेवालोंकी संख्या भारतकी जनसंख्याका प्रायः ३।४ भाग है। —बा० रा० स०

भारती वृत्ति—दे० 'नाट्य वृत्ति', चौथी।

भारतेंदु-काल—हिन्दी साहित्यके इतिहासमें १८५०से १९०० ई०तकका समय भारतेन्दु-कालके नामसे अभिहित किया जाता है। प्रभावशाली व्यक्तित्व होनेके कारण और साहित्यक्षेत्रमें नेतृत्व प्रदान करनेके कारण इस कालका नामकरण युगपुरुष भारतेन्दु हरिश्चन्द्रके नामके आधारपर किया जाता है। प्राचीनसे नवीनके संक्रमण-कालमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भारतवासियोंकी नवोदित आकांक्षाओं और राष्ट्रीयताके प्रतीक थे; वे भारतीय नवोत्थानके एक अग्रदूत थे। मध्ययुगीन पौराणिक वातावरणसे जीवन और साहित्यको बाहर निकालकर उन्हें आधुनिक रूप प्रदान करनेकी उन्होंने सतत चेष्टा की। भाषा, भाव, साहित्यिक रूप आदिकी दृष्टिसे उन्होंने गद्य और काव्य, दोनों क्षेत्रोंमें हिन्दीभाषियोंका नेतृत्व किया। उनके व्यक्तित्वका प्रतिबिम्ब अन्य कवियों और लेखकोंकी रचनाओंमें बराबर मिलता है। अतः इस कालका नाम भारतेन्दु-काल उपयुक्त ही है।

भारतेन्दु-कालमें साहित्यके नये-नये मार्ग खुले। नाटक, उपन्यास, निबन्ध, समालोचना, समीक्षा, जीवनी, साहित्यिक इतिहास आदिका तथा खड़ीबोली कविताका वपनकाल यही है। गद्य भी पुष्ट होकर अपना स्वरूप स्थिर करने लगा। अनेक नवीन साहित्यिक विषयोंके अतिरिक्त ज्ञान-विज्ञान तथा उपयोगी साहित्यकी रचना भी इस कालमें हुई। हिन्दी साहित्य, जो अबतक वास्तविक जीवनसे अलग पुराने रास्तेपर पड़ा हुआ था, बहुत जल्दी विज्ञान, इतिहास, भूगोल, धर्म, पुराण, जीवनी, उपन्यास, नाटक, अर्थशास्त्र, यात्रा, गणित, राजनीति, गवेषणा-सम्बन्धी आदि नये-नये गम्भीर विषयोंकी ओर पहलेकी अपेक्षा अधिक तीव्र गतिसे प्रवृत्त हुआ। जिन हिन्दी लेखकोंने अपनी चौमुखी प्रतिभाका परिचय देकर यह गद्य-कार्य सम्पन्न किया, उनमें राजा लक्ष्मण सिंह (१८२६-१८९६ ई०), राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' (१८२३-१८९५ ई०), भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५०-१८८५ ई०), श्रीनिवास दास (१८५१-१८८७ ई०), बालकृष्ण भट्ट (१८४४-१९१४ ई०), प्रतापनारायण मिश्र, (१८५६-१८९४ ई०), राधाकृष्ण दास (१८६५-१९०७ ई०), स्वामी दयानन्द (१८२४-१८८३ ई०), बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' (१८५५-१९२३ ई०), किशोरीलाल गोस्वामी (१८६५-१९३२ ई०), तोताराम वर्मा (१८४७-१९०२ ई०), देवकीनन्दन खत्री (१८६१-१९१३ ई०) आदिके नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं। भारतेन्दुकालके हिन्दी गद्यके सम्बन्धमें यह स्मरण रखना अत्यन्त आवश्यक है कि उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्धकी अपेक्षा उसका विकास नवोदित राष्ट्रीयता और नवोत्थानकी भावनाके अन्तर्गत हुआ था। इस भावनाने एक ओर जहाँ धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक एवं आर्थिक क्षेत्रमें सजीवता एवं सप्राणताका संचार किया, वहाँ दूसरी ओर भाषाके प्रचारके लिए भी लोगोंको प्रेरित किया। आर्यसमाज-आन्दोलन और कांग्रेसकी स्थापनाके फलस्वरूप उत्तरोत्तर बढ़ती हुई राष्ट्रीयताके साथ-साथ हिन्दी-प्रचारकार्य निरन्तर आगे बढ़ता गया। पत्र-पत्रिकाओंने इस पुनीत कार्यमें भरपूर योग दिया।

भारतेन्दु-कालमें जिस उपन्यास-साहित्यका जन्म हुआ, वह कुछ-कुछ प्राचीन कथाओंके समीप होते हुए भी उनसे भिन्न है; उसपर पश्चिमका प्रभाव है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक उपन्यासोंकी ओर ध्यान दिया। कहा जाता है, 'चन्द्रप्रभा' और 'पूर्णप्रकाश' उपन्यासोंका अनुवाद कराकर उन्होंने उसे स्वयं शुद्ध किया। उनके इस कार्यमें किशोरीलाल गोस्वामीने 'त्रिवेणी', 'स्वर्गीय कुसुम', 'हृदयहारिणी', 'लवंगलता' आदि, श्रीनिवासदासने 'परीक्षा गुरु', बालकृष्ण भट्टने 'नूतन ब्रह्मचारी' और 'सौ अजान एक सुजान', देवकीनन्दन खत्रीने 'चन्द्रकान्ता', 'नरेन्द्र' आदि कृतियाँ लिखकर तथा अन्य लेखकों, जैसे राधाचरण गोस्वामी,

गदाधर सिंह, राधाकृष्ण दास, लज्जाराम शर्मा आदिने अनेक ग्रन्थ लिखकर सहयोग प्रदान किया। इस कालकी उपन्यासकला अपनी प्राथमिक अवस्थामें है। सामाजिक, नैतिक, धार्मिक और राष्ट्रीय शिक्षा देना इस युगके उपन्यासकारोंका प्रधान उद्देश्य रहता था।

उपन्यास-साहित्यकी भाँति नाटक-साहित्यका जन्म भी भारतेन्दु-कालमें हुआ। भारतेन्दुसे पहले हिन्दीमें नाटकोंका एक प्रकारसे अभाव था। उस समय रासलीलाएँ, रामलीलाएँ, पारसी थिएटर आदि ही जनताके मनोरंजनके साधन बने हुए थे। भारतेन्दु तथा अन्य साहित्यिकोंकी दृष्टिमें वे भ्रष्ट थे। हिन्दी-नवोत्थानकी भावनाके अन्तर्गत साहित्यिकोंका ध्यान प्राचीन भारतीय नाट्य साहित्यके अध्ययनसे इस ओर गया। इससे पूर्व महाराज विश्वनाथ सिंहकृत 'आनन्द रघुनन्दन', बाबू गोपालचन्द्र उपनाम गिरधरदासकृत 'नहुष नाटक' और राजा लक्ष्मण सिंह द्वारा अनूदित 'शकुन्तला नाटक' उल्लेखनीय नाटकीय कृतियाँ मिलती है। स्वतः हरिश्चन्द्रने 'चन्द्रावली', 'भारत-दुर्दशा' और 'नील देवी' जैसे मौलिक नाटकों और 'विद्या-सुन्दर', 'कर्पूरमंजरी', 'मुद्राराक्षस' आदि अनूदित या रूपान्तरित नाटकों और 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'अन्धेर नगरी' जैसे प्रहसनों तथा 'विषस्य विषमौषधम्' जैसे भाणकी रचना की। उनकी रचनाओंमें या तो ईश्वरोन्मुख प्रेम मिलता है या देशप्रेम मिलता है। अन्य नाटककारोंकी विचारधारा भी भारतेन्दुकी विचारधाराके लगभग समान थी। श्रीनिवासदासने 'रणधीर-प्रेममोहिनी', 'तप्तासंवरण','संयोगिता-स्वयंवर', 'दुःखिनी बाला', 'पद्मावती' और 'महाराणा प्रताप', किशोरीलाल गोस्वामीने 'मयंकमंजरी महानाटक', राव कृष्णदेवशरण सिंहने 'माधुरी रूपक', केशवदास भट्टने 'सज्जाद-सुम्बुल', 'शमशाद-सौसन', देवकीनन्दन त्रिपाठीने 'बैल छः टकेको','एक-एकके तीन-तीन','स्त्री-चरित्र', 'सैकड़ेमें दस-दस' आदि, विजयानन्द त्रिपाठीने 'महाअन्धेरनगरी' आदि लिखकर भारतेन्दु द्वारा स्थापित नाटकों और प्रहसनोंकी परम्परा आगे बढ़ायी। आत्मोन्नति और देशोन्नतिकी इन लेखकोंमें प्रबल आकांक्षा थी। पारसी थिएटरोंकी निन्दा करते हुए भी उनपर थोड़ा-बहुत पारसीका प्रभाव अवश्य पाया जाता है। रचना-पद्धतिकी दृष्टिसे उनमें प्राचीन और नवीन (पाश्चात्य) नाट्यशास्त्रके सिद्धान्तोंका समन्वय दृष्टिगोचर होता है, जिसका प्रतिपादन स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने अपने 'नाटक' नामक ग्रन्थमें किया था। भारतेन्दु-कालमें यदि एक साधु रंगमंचकी स्थापना भी हो जाती तो यह हिन्दी-भाषियोंका सौभाग्य होता।

भारतेन्दु-कालमें साहित्यिक निबन्धोंकी रचनाकी दृष्टिसे बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्रके नाम उल्लेखनीय हैं, जिनकी रचनाएँ स्वसम्पादित क्रमशः 'हिन्दी प्रदीप' और 'ब्राह्मण' पत्रोंमें प्रकाशित हुई। किन्तु इस कालके निबन्धकारोंके उपादान, विषय-विस्तार और शैली सीमित रही। जीवनी-साहित्य बहुत थोड़ा और साधारण कोटिका है। भारतेन्दु, रमाशंकर व्यास, काशीनाथ खत्री, राधाकृष्ण दास, बालमुकुन्द गुप्त, मुंशी देवीप्रसाद मुंसिफ आदिने जीवनी साहित्यको समृद्ध बनानेमें योगदान दिया। पत्र-पत्रिकाएँ १८२६ ई०में युगलकिशोर शुक्ल द्वारा स्थापित परम्पराका विकसित रूप प्रस्तुत करती है। भारतेन्दु-कालका लगभग प्रत्येक प्रसिद्ध लेखक या कवि किसी-न-किसी पत्रका सम्पादक था। पत्रोंसे सुधारवादी आन्दोलनों और निबन्ध-साहित्यको प्रोत्साहन मिला। भारतेन्दु द्वारा सम्पादित 'कवि-वचनसुधा', 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन' आदि, बालकृष्ण भट्ट द्वारा सम्पादित 'हिन्दी प्रदीप', प्रतापनारायण मिश्र द्वारा सम्पादित 'ब्राह्मण' और 'प्रेमघन' द्वारा सम्पादित 'आनन्दकादम्बिनी' पत्रोंके नाम विशेषतः हमारा ध्यान आकृष्ट करते है।

समालोचना-साहित्यका सम्बन्ध भी कुछ-कुछ पत्रोंसे है। प्रारम्भमें समालोचना केवल पुस्तक-परिचय या समीक्षाके रूपमें रही। १८७७ ई०में श्रीनिवास दासके 'संयोगिता-स्वयंवर'की आलोचना की गयी। इसके उपरान्त प्रबन्ध, शास्त्रीय नियम और सिद्धान्त आदिकी परीक्षा भी होने लगी। १८९७ई० मे 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका'के प्रकाशनसे हिन्दी समालोचना-साहित्यकी विशेष वृद्धि हुई और पिछली प्रणालियोंके साथ-साथ नूतन प्रणालियोंका जन्म हुआ।

भारतेन्दु-कालका सूत्रपात होनेके समय हिन्दीकी काव्य-सम्पत्ति प्राचीन ब्रजभाषा-कविता थी। यद्यपि आगे चलकर ब्रजभाषा और गौणतः खड़ीबोली-काव्यने जीवनकी परिस्थितियोंका अनुसरण किया, तो भी प्राधान्य ब्रजभाषाकी प्राचीन काव्य-शैलीका ही बना रहा। प्राचीन परम्पराके अन्तर्गत भारतेन्दु, द्विजदेव, सरदार, हनुमान्, द्विजकवि मन्नालाल, सेवक, रघुराज सिंह, भुवनेश, ललितकिशोरी तथा अनेक अन्य कवियोंने शृंगार रस, अलंकार, पिंगल, नायक-नायिका-भेद, रामभक्ति, कृष्ण-भक्ति, वीर रस, प्रेम आदिसे सम्बन्धित रचनाएं प्रस्तुत कीं। किन्तु कवियोंको अब कविताका यह प्राचीन आदर्श खटकने लगा था, अतः धीरे-धीरे हिन्दी कविताकी नवीन धाराका जन्म हुआ।

नवीन कवितामें यथार्थवाद प्रधान है। वह समकालीन इतिहासको दोनों भुजाओंसे आवृत किये हुए है। नवशिक्षित कवियोंको देशका अधःपतन, देशकी रूढ़ि-प्रियता, पाश्चात्य सभ्यताका अन्धानुकरण, पुलिस और अदालती लोगोंकी लूट-खसोट, भारतकी निर्धनता, पारस्परिक कलह आदि बातें देखकर मर्मान्तक पीड़ा होती थी। नवीन कवितामें देशभक्ति, लोकहित, सामाजिक एवं धार्मिक पुनर्निर्माण, मातृभाषोद्धार, स्वतन्त्रता आदिका स्वर उच्च हुआ। उसमें राजनीतिक चेतना है और अंग्रेजोंकी साम्राज्यवादी नीति, आर्थिक शोषण, काले-गोरेका भेदभाव आदिका विरोध है। इस कार्यमें नवशिक्षित मध्यम-वर्गका विशेष योग था। भारतेन्दु-कालकी काव्यगत राजनीतिक चेतना देशप्रेमका सन्देश देती है। भारतके दुःख-दारिद्र्यपर सन्ताप प्रकट करती है। शासन-सम्बन्धी सुधारों और जनसत्तात्मक प्रणालीकी माँग करती है। अन्तमें पारस्परिक भेदभाव भूलकर भारतवासियोंको स्वतन्त्रता प्राप्त करनेके लिए संगठित होनेकी प्रेरणा प्रदान करती है। इस कालकी कविताके प्रकृति-वर्णनमें भी शैलीगत परिवर्तन होता है। काव्यकी भाषाके रूपमें ब्रजभाषाका प्राधान्य रहा, यद्यपि भारतेन्दुकी मृत्युके बाद खड़ीबोलीने काव्यके क्षेत्रमें पदार्पण

करना शुरू कर दिया था। हिन्दी कवितामें जन-शैलीका प्रादुर्भाव भी इसी समय हुआ। भारतेन्दु-कालमें हिन्दी काव्य नवीन क्षेत्रों और विषयोंसे प्रभावित हुआ दृष्टिगोचर होता है। ज्ञान-संचयकी प्रबल आकांक्षा लेकर और नीर-क्षीर-विवेक ग्रहण कर भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, 'प्रेमघन', राधाकृष्ण दास, बालमुकुन्द गुप्त आदिने देशकी मानसिक प्रगति और उसके भावी प्रशस्त जीवनकी आधार-शिलाका निर्माण किया। वस्तुतः आधुनिकताकी दृष्टिसे भारतेन्दु-कालका ऐतिहासिक और साहित्यिक, दोनों प्रकारका महत्त्व है।

[सहायक ग्रन्थ—आधुनिक हिन्दी-साहित्य : लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय।] —ल० सा० वा०

भारोपीय–दे० 'भारत-यूरोपीय'।

भाव १–कौल साधनामें तीन प्रकारके अधिकारी माने जाते हैं। इन तीनोंकी अवस्थाओंको भाव कहा जाता है और अधिकारीके अनुसार ही भावोंको भी क्रमशः दिव्य भाव, वीरभाव और पशुभावकी संज्ञा दी जाती है। तन्त्रोंमें इन भावोंका बहुत अधिक महत्व है। 'कौलावली निर्णय'में यहाँतक कहा गया है कि "भावके बिना यन्त्र-तन्त्र निष्फल हैं। लक्ष-लक्ष वीर-साधनाओंसे क्या लाभ? भावके बिना पीठ-पूजनका क्या मूल्य! कन्या भोजनादिसे क्या होनेवाला है? जितेन्द्रिय भाव और कुलाचार कर्मका महत्त्व ही क्या है, अगर कुलपरायण व्यक्ति भावविशुद्ध नहीं है। भावसे ही मुक्ति मिलती है। भावसे कुलकी वृद्धि होती है। भावसे गोत्रकी वृद्धि एवं शरीरकी शुद्धि होती है। अगर भाव ही नहीं उत्पन्न हुआ तो न्यासविस्तार और भूतशुद्धि-विस्तारका या व्यर्थके पूजा-पाठका क्या मूल्य है? भावके अभावमें कुलका अभाव निश्चित है (कौलावली निर्णय, ७ : ४-९)। भावको दिया गया महत्त्व वहाँ और अधिक स्पष्ट हो जाता है, जहाँ इन तीन भावोंके आधारपर तीन गुरुओं, मन्त्रोंके तीन प्रकारों और देवताओंके तीन वर्गोंतकका विभाजन किया गया है—"भावस्तुत्रिविधः प्रोक्तो दिव्यवीरपशुक्रमात्।" "गुरुश्च त्रिविधश्चैव तथैव मन्त्रदेवताः" (कौलावली निर्णय, ७ : १-२)। इन भावोंमें प्रथम, अर्थात् दिव्यभाव सर्वश्रेष्ठ है। शेष दो क्रमशः इसके बाद पड़ते है (नित्यतन्त्र)। 'पृच्छिलातन्त्र' (अध्याय १०), उत्पत्ति-तन्त्र (अध्याय lxvi) तथा 'प्राणतोषिणी' (पृ० ५७०)-में बताया गया है कि वीर और दिव्यमें केवल इतना ही अन्तर होता है—वीर अधिक उद्धत होता है। रजोगुणके प्राधान्यके कारण ऐसा होना स्वाभाविक भी है। साधकको अपने भावके अनुसार ही आराधना करनेका कड़ा निर्देश है। पशु (अर्थात्) पशुभावका साधक उसी तरहसे साधना नहीं कर सकता, जैसे कि वीर या दिव्य कर सकते हैं। अगर हठवश वह वैसा करता है तो कुछ प्राप्त करनेकी जगह अपनी हानि ही करता है। 'विश्वसार'में इन भावोंकी श्रेष्ठता बताते हुए कहा गया है—"हे देवि! जो इन तीन प्रकारके भावों और सात प्रकारके आचारों (दे० 'आचार')को जानता है, वह व्यक्ति सब कुछ जानता है और वह जीवन्मुक्त हो जाता है"। —रा० सिं०

भाव २–भरत (४ श० ई०)ने रस-सम्बन्धी विभाव-अनुभाव आदिकी चर्चाके प्रारम्भमें 'भाव'पर विचार किया है। उन्होंने व्यापक अर्थमें इसकी व्याख्या की है। निश्चय ही उनकी व्याख्याका सन्दर्भ प्रमुखतः नाट्य-प्रदर्शन है। भरतने स्वतः प्रश्न उठाया है कि ये 'भाव' क्यों कहलाते हैं? क्या ये 'भावयन्ति' (परिव्याप्त) होनेके कारण 'भाव' कहलाते हैं? उत्तरमें कहा गया है—ये भाव इसलिए कहलाते हैं कि अनुभावोंके वाचिक, सात्त्विक, आंगिक तथा आहार्य प्रदर्शन द्वारा ये नाटकके अर्थको 'भावयन्ति', अर्थात् व्यंजित करते हैं। 'भाव'का अर्थ कारण है, क्योंकि यह भावित, रासित तथा कृतका समानार्थक है और इसकी मूल धातु 'भावय'का अर्थ है परिव्याप्त होना। इस प्रकार जब विभाव तथा अनुभावका अर्थ दर्शकके मनमें परिव्याप्त किया जाता है (गमयते), तो इन्हें 'भाव' कहते हैं (ना० शा०, ७ : १-२-३)। वस्तुतः भरतके अनुसार मानसिक अवस्थाओंका व्यंजक प्रदर्शन ही 'भाव' है और इसी मौलिक शब्दके आधारपर विभाव (दे०), अनुभाव (दे०) तथा संचारी भाव(दे०)की स्थापना की गयी है।

रसकी चर्चामें भरतने यह प्रश्न भी उठाया है कि रससे भावकी उत्पत्ति सम्भव है या भावसे रसकी? कुछका कथन है कि ये दोनों परस्परके सम्बन्धसे उद्भूत होते हैं, पर भरतने स्पष्टतः स्वीकार किया है कि भावोंसे रसोंकी उत्पत्ति ही सम्भव है। रसोंकी उद्भावना भावोंके प्रदर्शनसे होती है, पर भावोंके पूर्व रसकी कल्पना नहीं की जा सकती है और भावोंके अनुवर्ती रस निश्चय ही होंगे और नाटकीय प्रदर्शनके मध्यमें ये पारस्परिक सम्बन्धके आधारपर व्यंजित होते हैं। भरतने वृक्ष और बीजके दृष्टान्त द्वारा इनके सम्बन्धको स्पष्ट किया है—"वृक्ष बीजसे उत्पन्न होता है और फूल-फल वृक्षसे उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार रस सम्पूर्ण भावोंके मूल हैं और इसी प्रकार भाव सम्पूर्ण रसोंके स्रोत हैं।" (ना० शा०, ६ : ३८)।

आगे चलकर 'भाव'का एक विशिष्ट अर्थ और विकसित हुआ। धनंजय(१० श० ई०)ने आश्रयकी सुख-दुःख आदिक भावस्थितियोंके ज्ञापनको 'भाव' माना है (दश०, ४ : ४)। वस्तुतः धनंजयने आन्तरिक भावस्थितियोंके भावयन (ज्ञापन)को 'भाव' कहा है, जो 'नाट्यशास्त्र'की परम्परामें है। पर रस-निष्पत्ति-विषयक विवेचनोंके साथ रसकी सीमाओंपर विचार किया गया और इसके साथ रस और भावमें अंशानुक्रमकी स्थिति स्वीकार की गयी। मम्मट(१२ श० ई०)ने 'रसध्वनि' और 'भावध्वनि'का अलग-अलग विवेचन किया है—"रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाऽञ्जितः। भावः प्रोक्तः" (का० प्र०, ४ : ३५)। देवादिविषयक रति आदि स्थायी भावोंकी वर्णना और व्यभिचारी भावोंकी स्वतन्त्र अभिव्यंजनामें 'भावध्वनि' कही जाती है। इसी बातको विश्वनाथ (१४ श० ई०)ने और स्पष्टताके साथ कहा है—"संचारिणः प्रधानानि देवादि विषया रतिः। उद्बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते"। (सा० द०, ३ : २६०-२६१), अर्थात् जब संचारियोंका वर्णन किसी स्थायीका सहायक न होकर स्वतन्त्र तथा प्रधान होता है, देवादिविषयक रति तथा उद्बुद्धमात्र स्थायी भावका वर्णन 'भाव' मात्र कहलाता है। रसके

आस्वादनमे विभाव, अनुभाव और संचारी भावसे परिपुष्ट स्थायी भाव उद्रेकके सौन्दर्यको प्राप्त करता है, पर इन तीनो स्थितियोंमे आचार्योंके अनुसार रसास्वादनकी यह स्थिति प्राप्त नहीं होती। हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंने रसाभास, भावाभास आदिपर विचार किया है, पर 'भाव'-का स्पष्ट विवेचन कम किया है। देव(१६-१७ श० ई०)ने 'भाव'को भरतके व्यापक अर्थमे धनंजयके आधारपर ग्रहण किया है—"तातें सुख-दुखको सदा रस निदानु शृंगार। ताके कारण भाव हैं तिन्को करत विचार" (भाव० : स्थायीभाव)। आधुनिक विवेचकोने संस्कृत आचार्योंके आधारपर 'भाव'पर विचार किया है।

वस्तुतः बादके आचार्योका यह 'भाव' सम्बन्धी विवेचन बहुत वैज्ञानिक नहीं है। भरतकी स्थिति स्पष्ट है। पर अन्योंकी सीमा इस बातसे स्पष्ट है कि देवादिविषयक रतिमेंसे भक्ति तथा वात्सल्यको स्वतन्त्र रसकी स्थिति प्राप्त हो सकी है। यदि स्थायी भावके उद्बोधनमात्रमे अथवा व्यभिचारीकी स्वतन्त्र वर्णनामें कविको सफलता मिल सकेगी तो अनेक सन्दर्भोंकी व्यंजनासे मूलतः इनका रसास्वादन ही किया जा सकेगा। आचार्योंने अप्रधान स्थितिके कारण ही इस प्रकारके आस्वादको 'भाव'की संज्ञा दी है, जिस प्रकार रसाभास(दे०)में रसके सम्पूर्ण अंगोंके प्रस्तुत रहनेपर भी अनुचित प्रवृत्तिके कारण अपूर्ण परिपाक माना है, जब कि वैज्ञानिक दृष्टिसे यह सत्य नहीं है। रामचन्द्र शुक्लने प्रकृतिके आलम्बनत्वके विषयमें बहुत बल दिया है।

देवताविषयक रतिके उदाहरणमे सूर तथा तुलसीके विनय-सम्बन्धी पदोंको प्रस्तुत किया जा सकता है—"अबकी राखि लेहु भगवान। हम अनाथ बैठे द्रुम डरिया पारधि साधे बान" (सू० सा०)। तुलसीका गुरुविषयक रतिका उदा०—"बन्दौ गुरु पद पदुम परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा" (रा० च० मा०)। राज-विषयक रतिके उदाहरण रीतिकालीन कवियोंकी आश्रयदाताओंकी प्रशंसामें लिखी गयी कवितामे मिलेंगे—"राखी हिन्दुवानी हिन्दुवानको तिलक राख्यौ, अस्मृति पुरान राखे बेद विधि सुनी मैं" (भूषण : शि० बा०, १८)। इसमें महाराज शिवाजीके विषयमे भूषणका श्रद्धा-भाव व्यंजित है।

उद्बुद्धमात्र स्थायी भावके उदाहरणमे रामदहिन मिश्रने 'रामचरितमानस'के परशुराम-संवादसे उद्धृत किया है—"कर कुठार मैं अकरुन कोही। आगे अपराधी गुरु द्रोही। उतर देत छाड़ौ बिनु मारे। केवल कौसिक सील तुम्हारे" (१ : २७५)। इसमे आलम्बन, उद्दीपन और अनुभाव आदिके होते हुए भी क्रोध स्थायीकी पुष्टि नहीं हुई है। बिहारीके इस दोहेमें 'शंका' संचारी प्रधानतया व्यंजित है—"सटपटाति सी ससिमुखी, मुख घूँघट पट्ट ढाँकि। पावक झर-सी झमकिकै, गयी झरोखा झाँकि" (बि० र०, ४४६)। दे०—'अंगज अलंकार'। —र०

भावक–'भावक'का अर्थ है काव्यका अधिकारी पाठक। संस्कृत काव्य-शास्त्रमे 'भावक'के पर्यायके रूपमें 'सहृदय' शब्दका भी व्यवहार किया गया है। राजशेखरने अपने कवि-शिक्षा (दे०) सम्बन्धी ग्रन्थमें चार प्रकारके भावक बताये है—आरोचकी, सतृणाभ्यवहारी, मत्सरी तथा तत्त्वाभिनिवेशी (का० मी०, अ० ४)। **आरोचकी**का अर्थ है वस्तुओंके भले-बुरेको पहचानकर उनका सेवन करनेवाला, लक्षणामे इसका अर्थ हुआ 'विवेकी'। **सतृणाभ्यवहारी**का अर्थ है कूड़ा-कबाड़ सब कुछ खा जानेवाला, लक्षणासे इसका अर्थ हुआ 'अविवेकी'। **मत्सरी** वे भावक होते हैं, जो ईर्ष्यावश काव्यके गुणोंको जान-बूझकर छिपाते हैं, क्योंकि दूसरोंके गुणोंका बखान उनके स्वभावके विरुद्ध बात है। **तत्त्वाभिनिवेशी** वह भावक है, जो "शब्द-गुम्फनका विवेचन करता है, सूक्तियोंसे मुदित होता है, काव्यरसामृतका पान करता है और कविके तात्पर्यको ग्रहण करता है" (का० मी०, अ० ४)। —म० प्र० ल०

भावकत्व-शक्ति–दे० 'रसनिष्पत्ति', भोगवादके अन्तर्गत।

भावगीति–गीतिकाव्यके लिए वैयक्तिक अनुभूतिकी तीव्रता और संगीतात्मक आवेशकी अपेक्षा स्वीकृत की गयी है। गीतिकाव्य पाण्डित्य और अतिबौद्धिकताका भार वहन नहीं कर सकता, यद्यपि विचार-प्रधान और बौद्धिकता-मूल गीतियाँ होती है। गीतिमें भावोन्मेषमे बौद्धिक चेतनागमकी ओर गति रहती है। 'भाव' शब्दके कई अर्थ है—स्थायी भाव, अर्थात् मानवीय वासनात्मक संस्कार अथवा प्रबन्धमें निर्दिष्ट मूल भाव, संचारी भाव, अर्थात् मूल भावसे सम्बद्ध क्षणस्थायी भाव एवं अस्फुट रस। देवादिविषयक रतिको साहित्यशास्त्रमे भाव माना गया है। काव्य-विषयको भी 'भाव'-की संज्ञा दी गयी है और इसके आधारपर भाव-पक्ष और कला-पक्षकी कल्पनाएँ की गयी है। 'भावगीति' जैसे अभिधानमे भावका अर्थ भावनोत्कर्ष और मानसिक उद्वेग है, अतः इन्हे कल्पनात्मक बिम्बता देनेवाली गीति-रचना भावगीति कही जाती हैं। जीवनके हास-अश्रु, विषादोल्लास, उन्मादोद्वेग सहज भावसे अबाधित रूपमें अभिव्यक्त होते है। इस प्रकारकी गीतियोंके कई वर्ग है—शृंगारिक, भक्तिपरक, वीर गाथात्मक। शृंगारिक भावगीतियोंमे संयोग-वियोगजन्य भावानुभूतियोंकी विवृत्ति रहती है। कबीरके पदोंमें संयोग और वियोगके गीत है। विप्रलम्भका एक रूप **उपालम्भ-गीति** है, जिसका आदर्श सूरकृत **भ्रमरगीत**मे है। **व्यंग्यगीतों**के भी वहाँ उदाहरण हैं। "निस दिन बरसत नैन हमारे"में विषाद और उद्वेगकी अभिव्यक्ति हुई है। **प्रणयगीत** शृंगारात्मक गीतोका एक विभेद है, जिसमे प्रणयकी याचना रहती है। 'बाला आओ हमारे गेह रे'मे प्रणययाचनाका रूप है। सूरके राधाकृष्ण-विषयक पदोंमे प्रणय सम्बन्धी अधिकाधिक पद है। मानवती राधिकाके मान और मानभंग सम्बन्धी पद इसी कोटिमें आयेगे। 'प्रसाद'कृत 'तुम कनक किरणके अन्तरालसे' शीर्षक गीति भी इसी वर्गकी है।

प्रेमगीतिके दो भेद है—लौकिक और आध्यात्मिक; यद्यपि आध्यात्मिक प्रेमकी संज्ञा भक्ति दी गयी है। भक्ति और आध्यात्मिक प्रेममें फिर भी अन्तर है। **प्रणयगीति**की पूर्ण परिणति प्रेमगीतिमें देख पड़ती है। विरह और मिलन, दोनोके रूप प्रेममें मिलते है। कबीरमें 'गगन गरज बरसै अमी'में मिलनकी अखण्डता अभिव्यक्त है और अखण्डित मिलन ही सूरके 'राधामाधव भेंट भई'मे है। भावगीतिमें उन्माद, उच्छ्वास, आवेग, दीप्ति, चिन्ता और विषादकी

उच्छ्वसित और उच्छृंखल धारा रहती है। 'प्रसाद' कृत 'आँसू'(प्रथम संस्करण)मे यह धारा है। मीरांके पदोमे भी तरल उच्छ्वास है। प्रेमगीतिमे आकुल उच्छ्वासके स्थानमें सचेत आस्था और आश्वस्त अङ्गिना रहती है।

गीतिविधानमें भावगीतिकी ही प्रधानता है, क्योकि गीतिकाव्यमें भावात्मक संस्पर्शको ही वाणी दी जाती है। वस्तुतथ्यमे भिन्न भाव-सत्यकी ही इसमे अभिव्यक्ति होती है। अत्यन्त आधुनिक कालमे विचारप्रधान गीत लिखे जा रहे है। यद्यपि सन्त-साहित्यमे भी सिद्धान्तोंका निरूपण है, किन्तु उन निरूपणोमें भावात्मक संस्पर्श निहित है। साहित्यमे नव रसोंके नव स्थायी भाव प्रसिद्ध है—रति, उत्साह, जुगुप्सा, क्रोध, हास, भय, शोक, विस्मय और शम। वात्सल्य और भक्तिकी रसात्मकता सिद्ध होनेपर बाल-रति और इष्टदेवविषयक रतिको भी स्थायिभावत्व मिला। भावगीतिमें इन भावोंको अभिव्यक्ति मिली है। रतिके विभिन्न रूपोके आधारपर विभिन्न वर्गोंकी कल्पना की जाती है। मानव-रतिविषयक रचनाओमे विरह और मिलनके भाव रहते है और इन्हें शृंगारिक-गीति कहते है। इनका आध्यात्मिक संयोजन भक्तिका मूल तत्त्व है, जिसके दास्य, सख्य, वत्सल और मधुरादि भेदोकी कल्पना होती है। अतः भावगीतिके दो व्यापक वर्ग हुए—लौकिक और आध्यात्मिक। विभावोंके वर्णन द्वारा भी भावात्मक अभिव्यक्ति होती है। गीतिकाव्यका प्रकृत रूप भावगीतियोमे ही प्रकट होता है। —रा० खे० पा०

भावतादात्म्य—दे० 'अनुभूति'।

भावनाट्य—भावनाट्यको अंग्रेजीमें **मेलोड्रामा** कहते है। मेलोड्रामा यूनानी भाषाके दो शब्दोसे मिलकर बना है, जिनके क्रमशः अर्थ है गीत एवं नाटक।

रूसोने भावनाट्यकी परिभाषा इस प्रकार की है—"भावनाट्य वह आलंकारिक रचना है, जिसके साथ संगीत हो"। इसका प्रारम्भ इटलीमे प्राचीन यूनानी नाटकोके शैली-अनुकरणके फलस्वरूप हुआ। रिननसिनीने सर्वप्रथम १५९९में 'डैफने' नामक भावनाट्य लिखा, जिसके संगीतके प्रस्तुनकर्ता थे जे० पिएरी और कैविसनी। इसके लगभग १०० वर्ष बादतक भावनाट्य तथा गीति-नाट्यके बीच कोई अन्तर नही समझा जाता था। १७७५मे रूसोने 'पिगमेलियन' लिखा, जो अत्यन्त लोकप्रिय हुआ। इस भावनाट्यका पात्र गैलेशियाकी प्रतिमाको सम्बोधित करके **एकपात्रीय अभिनय** करता है और अन्तमें प्रतिमा सजीव होकर उसकी बाहोमें आ जाती है। बहुतसे नाट्यकारोने पात्रोकी संख्या एवं संवाद बढाकर अनेक भावनाट्य लिखे और संगीतको अधिक महत्त्व दिया। बीस वर्षके भीतर ही भावनाट्य रोमांचकारी घटना, तीव्र भाव-बोध एवं सुखद अन्तसे युक्त नाटकके एक प्रमुख भेदके रूपमे प्रतिष्ठित हो गया। अधिकांश भावनाट्योमे नाटकीय कार्योंकी व्यंजनामें वाद्य-वृन्द (आर्केस्ट्रा)-संगीतसे सहायता ली जाती थी; उदाहरणके लिए, शोककी व्यंजनाके लिए कोमल संगीत बजता था। विषय-वस्तुके सम्बन्धमें भी कोई बन्धन नहीं रह गया। काल्पनिक एवं यथार्थवादी, दोनों ही प्रकारके विषयोंपर भावनाट्य लिखे गये। अनेक उपन्यासोंको भी भावनाट्य बनाकर उन्हें रंगमंचपर अभिनीत किया गया। भावनाट्यो द्वारा नाट्य-कलाकी बहुत उन्नति हुई, क्योकि इसकी शैलीको उच्च कोटिके कलाकारों (ह्यूगो, ड्यूमा आदि)-ने अपनाया। भावनाट्योमे अभिनयका विशेष महत्त्व है। अभिनेताओंको सम्पूर्ण कुशलताके साथ अभिनय करना अभीष्ट है। भावनाट्योंका सम्बन्ध हृदयसे अधिक है, मस्तिष्कसे कम। इसमें उच्च कोटिकी साहित्यकला भी बहुत कम मिलती है। प्रतीकात्मक एवं व्यंजनात्मक भाषाका भी इसमे अपेक्षाकृत कम ध्यान रखा जाता है। बस, तीव्र संवेगात्मकता ही इसकी सर्वश्रेष्ठ विशेषता है। हिन्दीमे गोविन्दवल्लभ पन्तके 'वरमाला', 'अन्तःपुरका छिद्र', उदयशंकर भट्टके 'अम्बर', चतुरसेन शास्त्रीके 'राधाकृष्ण', मुरारिशरणके 'मीरॉ' जैसे भावनाट्योका प्रणयन हुआ मिलता है। विभिन्न पात्रोके कुल-शीलके साथ प्रधान मनोवृत्तियोका परिचय तो मिलता ही है, इसके अतिरिक्त कार्य-व्यापारकी अधिकताके कारण आद्यन्त आकर्षण भी बना रहता है। यही नाटकके लक्ष्य फल और साध्य विषयका परिचय भी स्पष्ट प्राप्त हो जाता है।

भावना-व्यापार—दे० 'रसनिष्पत्ति', भोगवादके अन्तर्गत।

भाव-पक्ष—भाव-पक्षसे तात्पर्य साहित्य या काव्यके अन्तरंगसे है, जिसे एक प्रकारकी कविताकी 'आत्मा' कह सकते है। भाव-पक्षका सर्वश्रेष्ठ स्वरूप रसनिष्पत्ति है। भाव रसकोटिपर पहुँचकर ही आस्वाद्य बनते है। फलतः, साहित्य या काव्यके अन्तरमे भावकी ही प्रतिष्ठा है। रस-निष्पत्ति मुख्यतः भावनाके परिपोषण और उसके आस्वादनपर अवलम्बित है। मानवीय अन्तःकरणमे अनेक भावनाओंका एक समुद्र सदैव हिल्लोलित है। इस भाव-समुद्रमे अनेकानेक लहरियॉ उठा करती है, परन्तु सभी क्षुद्र और क्षणजीवी भावनाएँ 'रस' नही बन पाती। जो भावना स्थायी, मूलभूत और व्यापक होगी, वही परिपुष्ट होकर रसनिष्पत्तिमें समर्थ होगी। साहित्यके अन्तर्गत स्थायी भावके रूपमें रति, क्रोध, शोक, हास, भय, जुगुप्सा, विस्मय, निर्वेद और वात्सल्य भावोकी प्रतिष्ठा है, जो रस-स्थितिपर पहुँचकर क्रमशः शृंगार, वीर, करुण, हास, भयानक, बीभत्स, अद्भुत, शान्त और वात्सल्यका रूप धारण करते है। स्थायी भावको रसकी स्थितितक ले जानेमें प्रमुख (या रसके अंग) आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव और संचारी (व्यभिचारी) भाव है। जैसे-जैसे हम नवीन युगमें प्रवेश करते है, वैसे-वैसे रसके सम्बन्धमे हमारा दृष्टिकोण बदलता जाता है। मानस-शास्त्रके आविर्भाव और विकासने रस-व्यवस्थाको अपूर्ण सिद्ध कर दिया और 'नवरस'के बाद भी कुछ अन्य रसोंकी कल्पना हुई। साथ ही गीतिकाव्यकी प्रधानताके कारण रसदृष्टिमें भी अन्तर पड़ा, क्योकि 'गीति'मे रसके समस्त अवयवोकी समाहृति सम्भव नही है। गीतिकाव्यमे रस केवल व्यंजित ही हो सकता है। अनेक गीतोंमे केवल उद्दीपन अथवा अनुभाव अथवा संचारी भाव वर्णित है। ऐसी स्थितिमें या तो 'रस'को व्यंजित माना जाय या भाव-संवेदनको ही काव्यकी परिणति समझ लिया जाय। आधुनिक मनोविज्ञानने 'रस' सम्बन्धी हमारी मान्यताको बेतरह झकझोरा है, क्योकि वह किसी भी लोकोत्तर तत्त्वमे आस्था

नही रखता। उसके अनुसार काव्य-पाठ या काव्य-श्रवणसे मनमे एक 'वृत्ति'(ऐटीट्यूड)का जन्म होता है, जिसे 'रस' कह दिया गया है। यह वृत्ति रसिकके मनमे पहलेसे ही तैयार होती है और उसीके अनुसार वह काव्यसे रस ग्रहण करता है। काव्यगत शोक रसिकके लिए हर्षका विषय बन जाता है, क्योंकि शोकके विषयमे उसकी एक अपनी कल्पना है। उसके अनुरूप जीवन-स्थिति या काव्य-स्थितिसे उसमें तादृशी भावनाका जन्म होता है, जो सुखका कारण होती है। जहाँ रसिककी मनःकल्पनाके विपरीत काव्यगत कल्पना सामने आती है, वहाँ तद्विरोधी कल्पना उद्दीप्त होती है, जिससे संघर्षमूलक प्रक्षोभका जन्म होता है। फलतः नये साहित्यमें प्रक्षोभ ही संवेद्य बन गया है।

ऊपरके विवेचनसे यह स्पष्ट है कि कवि अपने मनकी भावना अथवा कल्पनासे वाचक या श्रोताको आक्रान्त करता है और उसे नयी दृष्टि देता है। भौतिक सृष्टिमे मन अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंका इन्द्रजाल है, परन्तु कवि उनमे कुछ विशिष्ट क्षणोंकी मनःस्थिति, वातावरण, भावना, कल्पना, सुख-दुःख लेकर अनेक मनोको संक्रान्त करता है। कलाको संसर्गकारण और संस्कारक्षम कहा गया है, इसीलिए कि कलाके माध्यमसे कलाकारके मनके विशिष्ट क्षण पाठक या श्रोताके विशिष्ट क्षण बन जाते हैं। कवि अपनी चित्त-वृत्ति व्यक्त करनेके लिए अनेक विषयों, प्रसंगों, व्यक्तियों और वातावरणोंका उपयोग करता है। इन विशिष्ट प्रसंगों, चरित्रों एवं वातावरण-सन्दर्भोंसे पाठक या श्रोताकी वह विशिष्ट वृत्ति निर्मित होती है, जिसे 'रस' कहते है। इसी दृष्टिसे काव्य-विषयका महत्त्व है। वह रसोद्रेक या भावोद्रेक-का साधनमात्र है। प्राचीन काव्यमें मानव-जीवनकी अन्तः-स्थितियों एवं प्रकृतिके अनेक रूपोंको ही काव्य-विषय माना गया था, परन्तु आज काव्य या साहित्यका कोई निश्चित विषय नहीं है। आज कोई भी विषय कवि अथवा साहित्य-कारकी रस-संवेदनाको छूकर काव्य अथवा साहित्यका विषय बन सकता है।

काव्यके भाव-पक्षमें एक अन्य वस्तुका भी अपरिसीम महत्त्व है। वह है कल्पना। कल्पनाका लक्ष्य है अपूर्वत्वकी स्थापना। कही-कही यह अपूर्वत्व चमत्कारका रूप ग्रहण कर लेता है और हीन-काव्यकी सृष्टि करता है, परन्तु जहाँ यह भाव-पक्ष या विचार-पक्षको पुष्ट करता है, वहाँ निश्चय ही श्लाघ्य है। श्रेष्ठ-काव्य या श्रेष्ठ साहित्यमे भावना, कल्पना अथवा विचार अन्यतम रीतिसे एकीकृत हो जाते हैं, परन्तु जहाँ ऐसे आदर्श समन्वयकी स्थापना नही होती, वहाँ हम काव्यको भावना-प्रधान, कल्पना-प्रधान अथवा विचार-प्रधान मान लेते हैं। काव्यमे विचारकी अपेक्षा भावना या कल्पनाका अधिक महत्त्व है। जहाँ विषयकी सज्जामात्रके लिए कल्पनाका उपयोग होता है, वहाँ वह रसाविष्कारमें सफल नहीं होती और कल्पना-मात्र बनकर रह जाती है। परन्तु रसानुकूल सज्जामे कल्पना सहायक ही होती है। उदाहरणके लिए, हम 'मेघदूत'को ले सकते है। 'मेघदूत'का हेतु विरह-भावनाका चित्रण है, परन्तु इस विरह-भावनाकी अभिव्यक्तिके लिए कविको मेघों द्वारा यक्ष-पत्नीको सन्देश पहुँचानेकी कल्पना करनी पड़ी है और इससे विरह-भावनाको मूर्त रूप मिल सका है। 'प्रसाद'के 'आँसू'-मे इसी भावनाका चित्रण है, परन्तु कल्पनाका सहारा न पाकर वह भावना कुछ अस्पष्ट रह गयी है। इसमें सन्देह नहीं कि काव्यमें कल्पनाका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। सम्भाव्य, सुसंगत और रसानुकूल कल्पनासे ही काव्यका कलात्मक स्वरूप पुष्ट होता है।

कलात्मक कल्पना और सत्यमें अन्तर हो सकता है, परन्तु कल्पनाको हम मिथ्या नही मान सकते, क्योंकि उसमे भाव-पक्षकी पुष्टि ही होती है। सत्यके दो रूप हैं, एक वस्तु-जागतिक, दूसरा भाव-जागतिक। इन दोनों रूपों-मेंसे कौन अधिक सत्य है, यह कहना असम्भव है। वास्तवमें वस्तु-जगत् और भाव-जगत्मे बराबर आदान-प्रदान चला करता है। सत्य और कल्पनाके मिश्रणमें ही कलाकी स्थिति है। व्यावहारिक जीवनके तथ्यो, घटनाओ, अनुमानों इत्यादिमें एकसंगति लाना ही कल्पनाका काम है। इस प्रकार सम्भाव्य और संगति(साम्य)के आधारपर कल्पना जिस मनोज्ञ काव्य-मूर्तिका निर्माण करती है, वह कविके भाव-जगत्का सत्य होनेके कारण भ्रामक नहीं कही जा सकती। कल्पना सत्यपर आधारित होनेके कारण ही सार्थक होती है। कवि अपने मनकी भावना या विचारोके बलिष्ठ आरोपके द्वारा काल्पनिक जगत्को वस्तु-जगत्से अधिक वास्तव और ठोस बना लेता है और भौतिक सृष्टिको एक नितान्त अभिनव अर्थ देनेमे समर्थ होता है। अपनी भावना अथवा अपने विचारको सुसज्जित करनेके लिए ही कवि रूपक या प्रतीककी सहायता ग्रहण करता है, परन्तु उसे यह शंका नहीं रहती कि इससे सत्यकी हानि होगी। सच तो यह है कि कल्पनाके अन्तर्गत वास्तवकी ही प्रतिष्ठा है और उसके द्वारा ही वास्तव अद्भुत-रसात्मक और सहजग्राह्य बनता है। भावात्मक या विचारात्मक सत्य अद्भुतका स्पर्श पाकर ही लोकोत्तर आनन्दकी सामग्री बनता है और अतिशयोक्तिके माध्यमसे हृदयंगत होता है।

रूपक और प्रतीक कल्पनाके दो प्रमुख उपकरण है। इनकी योजनासे वस्तु-सत्य प्रभावशील और मनोरम बनता है। अपने मनके आशयको सुस्पष्ट सज्जा देनेके लिए कवि रूपकका आश्रय ग्रहण करता है। रूपकको हम अलंकार-मात्र न समझकर पद्धति-विशेष भी मान सकते है। प्रकाश-का आधार स्वरूपसाम्य है। उसमें मानवेतर सजीव एवं निर्जीव जगत् मनोमय बनकर मानवीयता प्राप्त करता है। रूपकके परम्परित रूपमें साम्यका एक ही पहलू प्रदर्शित होता है, परन्तु उसके सांगरूपक-रूपमें साम्यके एकसे अधिक पार्श्व उद्घाटित होते हैं। जो हो, यह निश्चित है कि भाव-बोधका एक अत्यन्त सशक्त रूप 'रूपक-पद्धति' है और उसमें कल्पनाका जो प्रौढ़ और सयत रूप समाविष्ट है, उसकी उपेक्षा करना श्रेष्ठ कविके लिए असम्भव है।

प्रतीकात्मक काव्यमे रूपक जैसे विस्तारकी आवश्यकता नहीं है। सूक्ष्मता और व्यंजकता 'प्रतीक'के विशिष्ट गुण हैं। जिस प्रकार ध्वजा जैसी अल्प वस्तु महान् राष्ट्रका प्रतीक बन जाती है, उसी प्रकार छोटी-छोटी वस्तुएँ और घटनाएँ महान् आशयोंकी व्यंजना करती है। प्रतीककी योजनामें ही कवि-कौशलके दर्शन होते हैं। प्रणयकी

उत्कटता दिखलानेके लिए दीप-पतंग जैसे प्रतीक आदिम कालसे चले आते हैं। नये-नये प्रतीकोंकी खोज और पुराने प्रतीकोंका नये सन्दर्भमें उपयोग कविताकी भाव-पक्ष सम्बन्धी वृद्धिके लिए अनिवार्य है। प्रतिभाका अर्थ ही 'अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षम प्रज्ञा' है और यह अपूर्वता रूपक और प्रतीक-पद्धतिमें स्पष्ट ही झलकती है।

जीवनकी घटनाओं और अनुभूतियोंका पृथक्करण और अपनी विशिष्ट हेतुपूर्तिके लिए उनका स्वतन्त्र रूपसे संयोग कल्पनाका काम है। इसीको कवि-प्रतिभा कहा गया है। वास्तवमें कवि-प्रतिभा और कल्पना साम्यवाची बन गये हैं और 'कल्पना' काव्यका अनिवार्य अंग है। अतः कल्पनाको हम पृथक्करण-संकलन-शक्ति कह सकते हैं। अनुभूति और स्मृति अनेक उपकरणोंकी कल्पना नये योगायोगोंमें बाँधकर एक अभिनव स्वप्नलोककी सृष्टि करती है, जो वास्तविक जगत्‌से भी अधिक सुन्दर और चमत्कारक है। विभिन्नताओंमें संगति दिखलाना भी कल्पनाका ही काम है। इस प्रकार उसके द्वारा विशदीकरण (इण्टरप्रिटेशन)की क्रिया भी सम्पादित होती है।

सामान्यतः यह विश्वास किया जाता है कि काव्यके प्रमुख तत्त्व भावना और कल्पना हैं और विचार अथवा विद्वत्ता तथा काव्यको परस्पर शत्रु माना जाता है। इसी विरोधके आधारपर गम्भीर और ललित वाङ्मयका विभाजन है और यह कहा जाता है कि बुद्धिमत्ताके विस्तार अथवा सभ्यताके विकासके साथ काव्यका ह्रास होता जाता है। इस प्रकारके अनेक विचार हैं। परन्तु समस्त विचार-सरणीमें छोटा-मोटा हेत्वाभास है। काव्य विचार-प्रधान नहीं है, परन्तु विचारशून्य भी नहीं है। तर्क और भावनाको दो—अनन्यतः विरोधी समझना भ्रान्ति है। यह कहा जाता है कि किसी वस्तुके सम्बन्धमें शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त कर लेनेसे उसका भावनात्मक आकर्षण लुप्त हो जाता है यदि यह सिद्धान्त मान लें तो कोई भी ध्वनि-शास्त्रज्ञ संगीत-कला-प्रवीण नहीं हो सकेगा। भावनात्मकता और तर्कमूलकता मानवीय व्यक्तित्वके दो अंग हैं। एक ही व्यक्तिमें दोनोंका विकास सम्भव है। वास्तवमें ये वस्तु-मुखताके दो दृष्टिकोण हैं। शंकराचार्य जैसे दार्शनिकने 'सौन्दर्यलहरी'की सृष्टि की है और कालिदास जैसे सौन्दर्य-निष्ठ कविका विचार-पक्ष भी अत्यन्त सजीव एवं सबल है। काव्यात्मक दृष्टिकोण मुख्यतः भावात्मक और कल्पना-निष्ठ होनेपर भी विचारसरणीका परित्याग नहीं कर सकता। सच तो यह है कि विचारका अपना सौन्दर्य है और कल्पना एवं भावनाके योगसे उसके सौन्दर्य एवं रूप-संघटनमें समृद्धि ही होती है। प्राचीन काव्य-लेखमें शास्त्रीय ज्ञानका विशद योग हुआ है और आजके विज्ञान-युगमें भी उसकी अनिवार्यता स्पष्ट है। आधुनिक काव्यमें विचारका महत्त्व बढ़ा ही है। काव्यको गम्भीरता प्रदान करनेमें अथवा भावनाको स्थिरता देनेमें विचार निरन्तर सहायक हुआ है। काव्य-लेखनके क्षणोंमें भी तर्कयुक्त विचारसरणी सहायक सिद्ध होती है। काव्य-रसिक केवल भावुक प्राणी नहीं है, वह विदग्ध और पण्डित रसिक है। परन्तु यह समझ लेना होगा कि काव्यगत विचार भावना-गर्भित होता है। यह तादात्म्य ही विचारको भाव-पक्षकी चीज बनाता है। काव्यगत विचार तर्क-शुद्धतापर पूरा न उतरनेपर हमें सत्यकी झलक देनेमें समर्थ होता है। इस प्रकार भाव-पक्षके अन्तर्गत भावना, कल्पना और विचार—तीनोंका विवेचन अपेक्षित है। काव्यके अन्तरंगमें इन तीनोंकी समग्रगत समन्वयात्मक प्रतिष्ठा ही वांछनीय है। —रा० भ०

भावप्रधान काव्य–दे० 'स्वात्मनिष्ठ' (काव्य)।

भावलय–'भावलय'को 'अर्थलय'से पृथक् करना कठिन है, क्योंकि भावात्मकताके कारण ही अर्थ लयान्वित होता है और अर्थलयकी स्थिति उत्पन्न होती है। फिर भी कुछ अन्तर अवश्य किया जा सकता है, क्योंकि भावकी कल्पना विचाररहित अवस्थामें भी की जा सकती है, जब कि अर्थमें भाव और विचार, दोनोंकी संश्लिष्टता रहती है। विचारोंसे निरपेक्ष जहाँ शुद्ध भावात्मक धरातलपर लयकी प्रतीति हो, वहाँ 'भावलय'की सत्ता मानी जायगी अन्यथा उसे अर्थलय-में ही समाविष्ट करना होगा। —ज० गु०

भाव-विरोध–दे० 'वर्णन-दोष', चौथा।

भावशबलता–जहाँ एकके पश्चात् एक, इस प्रकार शृंखलाबद्ध क्रमसे अनेक भाव प्रकट हो जायँ अथवा अनेक भावोंका एक साथ मिश्रण दिखाई दे, वहाँ भावशबलता मानी जाती है। आगे आनेवाला भाव अपनेसे पिछले भावको मर्दित करता हुआ प्रतीत हो, इसीमें भावशबलताका चमत्कार निहित रहता है और हिन्दीके अनेक आचार्योंने इस विशेषतापर बल दिया है। बेनी प्रवीन—"एक एकको मरदिकै, उपजत भाव अनेक। भावसबलता कहत हैं, जिनके बुद्धि विवेक" (न० र० त०, पृ० ५५)। पद्माकर—"पूरब पूरबको मरदि होत जहाँ बहु भाव।" (पद्मा०, पृ० ७७)। दूलह—"पूर्व पूर्व मर्दिकै जहाँ ही बहु भाव होय, तहाँ भावसबलता भाषत गिरा मेरे" (क० कु० क०, पृ० ७५)। पर भिखारीदासने जो लक्षण दिया, वह इस परम्परासे भिन्न प्रतीत होता है—"बहुत भाव मिलिकै जहाँ प्रकट करैं इक रंग। सबल भाव तासों कहैं, जिनकी बुद्धि उतंग" (का० नि०, ५ : ५०)।

यह परिभाषागत अन्तर संस्कृतके आचार्योंमें ही था, जिसकी छाया उक्त उद्धरणोंमें दिखाई देती है। 'रसगंगाधर'-में पण्डितराज जगन्नाथने पूर्वभावको उपमर्दित करते हुए अन्य भावके प्रकट होनेकी पूर्वाचार्यों द्वारा कही हुई बात-को खण्डित करके ऐसी स्थितिके पक्षमें अपना मत दिया, जहाँ अनेक भाव-खण्ड रसोंकी तरह मिश्रित होकर विलक्षण आस्वाद प्रदान करते हैं।

इसके किसीका अंग होनेपर 'भावशबलवत्' अलंकार होता है। 'काव्यनिर्णय'में भावशबलताका निम्नलिखित उदाहरण दिया गया है—"हरि संगति सुख मूल सखि ! ये परपंची गाउँ। तू कहि तौ तजि संक उत इग बचाइ द्रुत जाउँ" (५ : ५१)। —ज० गु०

भावशांति–जहाँ पहलेसे वर्तमान किसी भावकी शान्ति चमत्कारपूर्वक सहसा हो जाय, वहाँ भावशान्तिकी अवस्था मानी जाती है। दूसरे भावके उदयकी अपेक्षा पूर्वस्थित भावकी शान्ति ही अधिक महत्त्व एवं चामत्कारिक होती

चाहिये, अन्यथा 'भावोदय'की प्रधानताके कारण भावशान्तिकी स्थिति गौण हो जायगी। हिन्दी कवियोंने इसके लक्षण इस प्रकार दिये है—बेनी प्रवीन—"भाव जहाँ केहु भावते, तत्क्षण उपसम होइ। भावसान्ति तहँ कहत है, कवि कोविद सब कोइ" (न० र० त०, पृ० ५४)। चिन्तामणि—"उपसम पावै भाव जो भावसान्त सो जान" (क० कु० क० त०, पृ० २१४)। भिखारीदास—"भाव सान्ति सो है जहाँ मिटत भाव अन्यास" (का० नि०, ५ : ५२)। स्पष्ट है कि बेनी प्रवीन और चिन्तामणिने पूर्वाभासके तत्क्षण शमनपर विशेष बल दिया है जब कि दासने शमनके अनायास होनेको विशेष महत्त्वपूर्ण माना है।

मतिरामके छन्दकी निम्नलिखित पंक्ति भावशान्तिका एक श्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत करती है—"आँखिन ते गिरे आँसुके बूंद सु हास गयो उडि हंसकी नाई" (रसराज)। जब भावशान्ति किसीका अंग होकर आती है तो समाहित अलकार माना जाता है—"काहूको अंग होत है, जहँ भावनकी सान्ति। समाहितालंकार तहँ कहै सुकबि बहु भाँति" (का० नि०, ५ : १६)। विशेषके लिए दे० 'रसाभास'। —ज० गु०

भावसंधि–जिनका उत्कर्ष परस्पर समान रूपमे अवस्थित हो, ऐसे दो भावोंके बीचकी स्थितिको भावसन्धि कहा जाता है। इस सन्धिस्थलका चामत्कारिक होना अपेक्षित माना जाता है। आवश्यक नहीं है कि जिन भावोंकी सन्धि हो, वे अविरोधी अथवा एक प्रकृतिके ही हों, भिन्न प्रकृतिके विरोधी भावोके बीच भी भावसन्धि हो सकती है। ऐसे स्थल कभी-कभी अधिक चामत्कारिक भी होते है।

कालिदासकी प्रसिद्ध उक्ति 'न ययौ न तस्थौ' भावसन्धिकी अवस्थाको ही द्योतित करती है। बिहारीकी निम्नलिखित उक्ति भी संकोच और स्नेहके भावोका मिलन व्यक्त करती है—"छुटै न लाज न लालचौ, प्यौ लखि नैहर गेह। सटपटात लोचन खरे, धरे संकोच सनेह" (बि० स०)। नायिकाभेदमे मध्या नायिकाके अनेक उदाहरण इसी रूपमे मिलते है।

पंचवटीमे राम-भरत-मिलनके अवसरपर लक्ष्मणकी मनःस्थितिका चित्रण भावसन्धिका एक उत्कृष्ट उदाहरण है—"बन्धु सनेह सरस एहि ओरा। उत साहिब सेवा बस जोरा। मिलि न जाइ नहिं गुदरत बनई। सुकबि लखन मनकी गति भनई" (अयोध्याकाण्ड)। यद्यपि आगे स्वाभिमान विजयी होता है, पर यहाँ भावसन्धि ही है।

एकका किसीका अंग हो जानेपर (भावसन्धिवत) अलंकार माना जाता है। विशेषके लिए दे० 'रसाभास'। —ज० गु०

भावा जोखी–ब्रिग्सने गोरखनाथ ऐण्ड कनफटायोगीज (पृ० ८-९)पर कनफटा योगियों (दे० 'कनफटा')के कान-फड़वानेकी प्रथाका विवरण दिया है और बताया है कि कान फट जाना इन योगियोमें 'भावाजोखी'का व्यापार कहलाता है। जिसका कान खराब हो जाता है, वह सम्प्रदायसे अलग हो जाता है और पुजारीका अधिकार खो देता है। —रा० सिं०

भावाभास–भावाभासकी स्थिति रसाभासके ही समानान्तर मानी गयी और आचार्योंने प्रायः दोनोंका निरूपण साथ-साथ किया है। रसकी अपेक्षा भाव सीमित अनुभवको व्यक्त करता है। अतः भावाभासकी व्याप्ति भी रसाभासकी तुलनामे सीमित रहती है। अनौचित्य ही भावाभासका भी कारण होता है। 'साहित्यदर्पण'में भावाभासका लक्षण दिया है—"भावाभासो लज्जादिके तु वेश्यादिविषये स्यात्" (३, २६६)। पद्माकर द्वारा दिया गया लक्षण इसीका संवर्धित अनुवाद है—"जु रिपु सराहै सु रिपुको, लज्जा गनिकनि माँहि। कबि पण्डित बर्नन करत, भावाभास तहाँहि" (पद्मा०, पृ० ७५)। हिन्दीके अन्य काव्याचार्यों द्वारा अनुचित स्थलपर भावप्रकाशनको भावाभास माना गया है। बेनी प्रवीन—"होत अनुचित सो कछू, कयहुँ थल भावप्रकास। ताही सौ सब कहत है, कबिकुल भावाभास" (न० र० त०, पृ० ५५)। भिखारीदास—"भाव जु अनुचित ठौर है, सोई भावाभास" (का० नि०, पृ० ४२)। चिन्तामणि आदिने भी ऐसे ही लक्षण दिये हैं।

कन्हैयालाल पोद्दारने अपने 'काव्यकल्पद्रुम' (पृ० २८९ : ७)मे भावाभासकी स्थितिपर विचार करते हुए लिखा है कि "व्यभिचारी जबतक किसी रसके पोषक रहते है, तबतक वे व्यभिचारी है, जब वे प्रधानतासे प्रनीत होते हुए भाव-अवस्थाको प्राप्त होकर दूसरे किसी आभासके अंग हो जाते है, तब वे भी भावाभास कहलाते है'। इस परिभाषामें अनौचित्यकी अपेक्षा प्रधानतापर अधिक बल दिया गया है।

भावाभास और रसाभास, दोनों अनौचित्यपर आधारित होनेके कारण काव्य-दोषोंमे निकटता रखते दिखाई देते है, पर प्राचीन काव्य-शास्त्रमें रसांग बन जानेपर भामह, दण्डी आदिके द्वारा उन्हे 'ऊर्जस्वी' नामसे अलंकार-रूपमे ग्रहण किया गया है। यह मान्यता हिन्दीमें भी बनी रही, जैसे 'कविकुलकण्ठाभरण'में दूलह कविने लिखा है—'जहाँ अनुचितमें प्रवृत्त रस भाव, रसाभास, भावाभास तहाँ ऊर्जसि गनायो है"। मिश्रबन्धुओने 'ऊर्जस्वी'के दो भेद माने है, एक रसाभास सम्बन्धी, दूसरा भावाभास सम्बन्धी। (सा० पा०, पृ० ४३६ : ८)

भावाभासके उदाहरणरूपमे मानसकी निम्नलिखित अर्द्धाली ली जा सकती है—"हुमकि लात तकि कूबर मारा। परि मुँह भरि महिं करत चिकारा" (अयोध्याकाण्ड)। यहाँ आलम्बनके विकलांग होनेसे क्रोधके मूल भावके साथ हासका मिश्रण हो जाता है और परिणामतः क्रोध न रहकर भावाभास लगने लगता है।

'काव्यप्रकाश'मे मम्मट(१२ श० ई० पूर्वा०)ने अभिधामूलक असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनिके भेदोंका निर्देश करते हुए एक कारिका दी है—"रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः। भिन्नो रसाद्यलंकारादलंकार्यतया स्थितिः" (४ : २६), अर्थात् शृंगारादि रस, विविध भाव, रसाभास और भावाभास तथा भावशान्ति, भाव-सन्धि, भावोदय एवं भावशबलता इत्यादि रसवत् आदि अलंकारोंसे भिन्न अलंकार्यकी स्थितिमें आते है। इस कारिकासे भावाभासकी रस, भाव आदिसे सम्बद्ध अन्य प्रकारोंके बीच सापेक्षिक स्थिति स्पष्ट होती है तथा उसके अलंकारसे भिन्न अलंकार्य होनेकी

पुष्टि भी होती है। —ज० गु०

भाविक–गूढार्थप्रतीतिमूलक अर्थालंकार, जहाँ भूत और भविष्यत् भावो अथवा पदार्थोंका प्रत्यक्षवत् दर्शन किया जाय, वहाँ भाविक अलंकार होता है। भावका तात्पर्य हुआ कविका आशय-विशेष, उसमें संसृष्ट हुआ भाविक। साहित्य-दर्पणकारने इसकी परिभाषा दी है—"अद्भुतस्य पदार्थस्य भूतस्याथ भविष्यतः। यत्प्रत्यक्षायमाणत्वं तद्भाविकमुदाहृतम्" (सा० द०, १० : ९४)। यह भामह, दण्डी आदि प्राचीन आचार्योंसे स्वीकृत चला आनेवाला अलकार है। भामहने भाविकको व्यापक प्रबन्ध-सौन्दर्य माना है—"प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्थाः भूतभाविनः" (काव्यालंकार, ३ : ५३), अर्थात् जिसमे भूत और भविष्य प्रत्यक्ष हो जाते है। साथ ही उन्होंने इसमे शब्दकी अनुकूलता, अर्थकी विचित्रता और उदात्तता भी अपेक्षित मानी है। उद्भटकी भाविक सम्बन्धी धारणा किंचित् बदली हुई है, फिर भी "अत्यद्भुताः स्यात्तद्वाचामानुकूल्येन भाविकम्" (का० सा० सं०, ६ : ६)मे व्यापक काव्य-गुणकी स्वीकृति है। रुय्यक तथा मम्मटने इसको वाच्य सौन्दर्य, अर्थात् अलंकारके रूपमे प्रतिष्ठित किया; अतीत और अनागत पदार्थोंका प्रत्यक्षके समान वर्णन (का० प्र०, १० : ११४)। इसमे प्राचीनोंके आधारपर बढा दिया गया है कि उस पदार्थमें वैचित्र्य भी होना चाहिये। हिन्दीके आचार्योंने प्रायः जयदेवके आधारपर इस अलंकारका लक्षण दिया है—"जहाँ भयो भावी अरथ, बरनत है परतच्छ" (ल० ल०, ३७४)। भूषण, दास, पद्माकर आदिके लक्षण समान है। विहारीका यह दोहा भूतार्थप्रत्यक्षका उदाहरण है—"यों दलिमलियतु निरदयी, दई कुसुमसौ गातु। करु धरि देखौ धरधरा, अजौ न उरते जातु" (वि० र०, ६५१)। द्वितीय भाविकका उदाहरण मतिरामसे—"जनि चलाइये चलनकी चर्चा स्याम सुजान। मै देखति हौं वाहि यह बान सुनत बिन प्रान" (ल० ल०, ३७६)। आधुनिक कवियोंमेसे प्रथम तथा द्वितीय भाविकके क्रमशः इसी प्रकार—"अरे मधुर है कष्टपूर्ण भी जीवनकी बीती घडियाँ। जब निःसम्बल होकर कोई जोड़ रहा बिखरी कडियाँ" (महादेवी) अथवा—"हृदयमें खिल उठता तत्काल अधखिले अंगोका मधुमास। तुम्हारी छविका कर अनुमान, प्रिये प्राणोकी प्राण" (पन्त)।

उद्योतकारके अनुसार भाविकमे भूत और भविष्य क्रमशः भूत और भविष्यके रूपमें ही निर्दिष्ट होते है, अतः यह भ्रान्तिमानसे भिन्न है और स्वभावोक्तिसे इस कारण भिन्न है कि जहाँ स्वभावोक्तिमे प्रकृत वस्तुका धर्मवैचित्र्य व्यापक है, वहाँ भाविकमे कविका अभिप्राय। —ध० ब्र० शा०

भावोदय–जहाँ एक भावका शमन करके दूसरा भाव उदय हो और उसमें ही चमत्कार निहित हो, वहाँ भावोदयकी अवस्था होती है। बेनी प्रवीन द्वारा दिया गया इसका लक्षण विशेष स्पष्ट है—"काहू भाव विभावते, भाव उदै जो होइ। ताहीसो सब कहत है, भाव उदै कवि लोइ" (न० र० त०, पृ० ५४)। जब यह किसीका अंग होता है तो भावोदयवत् अलंकार माना जाता है। मैथिलीशरण गुप्तकी निम्नलिखित पंक्तियोंमें विषाद-भावका उदय चामत्कारिक रूपसे होता है, अतः यहाँ भावोदय कहा जा सकता है—"विहग सनाथ यदि अम्ब पंख पाता मैं। एक ही उडानमे तो ऊँचे चढ जाता मैं। किन्तु बिना पंखोंके विचार सब रीते है। हाय पक्षियोंसे भी मनुष्य गये-बीते है" (यशोधरा)। विशेष दे० 'रसाभास'। —ज० गु०

भावोदय आदि–रसवत् आदिके साथ स्वीकृत अलंकारोंका वर्ग। रससे सम्बन्धित इन अलंकारोंको रुय्यकने सम्भवतः स्वीकृति दी है और बादमें विश्वनाथ तथा अप्पय दीक्षित आदिने भी इनका उल्लेख किया है। सामान्यतः इनको संस्कृत अथवा हिन्दी, दोनोंमें स्वीकृति नहीं मिल सकी। इनको गुणीभूत व्यंग्यके अन्तर्गत ही माना गया है। हिन्दीके प्रमुख आचार्योंमें केवल पद्माकरने रसवत् आदिके साथ इनकी चर्चा भी की है।

विश्वनाथने इनके सम्बन्धमें—"भावस्य चोदये सन्धौ मिश्रत्वे च तदाख्यकाः" कहकर परिभाषा दी है (सा० द०, १० : ९७), अर्थात् भावके उदय होनेपर, भावोंकी सन्धि अथवा मिश्रण होनेपर भावोदय, भावसन्धि तथा भावशबलता नामक अलंकार होते हैं। **भावोदय**–भावका उत्कर्ष जहाँ दूसरे भावका अंग हो जाता है, वहाँ यह अलंकार होता है—"उदित होत ही भावके, भावोदय पहिचान। सो अंग हुव जहँ औरको, अलंकार वह मान" (पद्मा०, ३००)। उदा०—"तन मृग-मदकी बासने, ममुझि अँधेरे माँह। तियहि लाय हिय हरपिकै, ब्रजरसिकनके नाँह" (वही, ३०१)। यहाँ विबोधरूप भावोदय हर्षरूप भावका अंग हो गया है, अतः भावोदय अलंकार है। **भावसन्धि**—भावकी सन्धि जहाँ दूसरे भावका अंग हो जाती है, वहाँ यह अलंकार होता है—"विरुध भाव द्वैकी बहस, भावसन्धि उर आन। होत जु अंग जहँ औरको, अल्कार तहँ मान" (पद्मा०, ३०२)। उदा०—"रही धीर धरि लखि पियहि, रिस उरमें न समाति। भरि दृग आँसुन ही कह्यो, रमे कहाँ तुम राति।" (वही, ३०३)। यहाँ परस्पर विरोधी धृति तथा अमर्परूप भावसन्धि विषादरूप संचारी भावका अंग अथवा श्रृंगार रसका अंग हो गया है, अतः भावसन्धि अलंकार है। **भावशबलता**—अनेक भावोंकी एक साथ प्रतीति-रूप भावशबलता जहाँ अन्य भावका अंग हो, वहाँ यह अलंकार होता है—"पूरव-पूरवके मरदि, होत जहाँ बहु भाव। भाव-शबलता सो जु अंग, परको भूपन गाव" (पद्मा०, ३०४)। उदा०—"धिक मोहि जु न पियसो मिली, वह विहारकी चोप। हाय कहाऽब करौं सखी, गयो न उरते कोप" (वही, ३०५)। यहाँ निर्वेद-स्मृति-चिन्ता आदि भावशबलता अमर्षरूप संचारी भावका अंग अथवा अमर्प सहित भावशबलता विप्रलम्भ-श्रृंगार रसका अंग हो गयी है, अतः भावशबलता अलंकार माना जा सकता है। —सं०

भाषण-कला–इसके लिए वक्तृत्व-कला शब्दका प्रयोग भी किया गया है। भारतीय साहित्यमें इस कलाके सम्बन्धमे विशेष चर्चा नहीं हुई। दे० 'काव्य-लक्षण'। यूरोपमें इस कलाका प्रचार यूनानके प्राचीन गौरव-कालमे

अत्यधिक रहा है और यूनानी विचारकोंने इसके विवेचनको शास्त्रकी गरिमा प्रदान की है। पश्चिमका अलंकार-शास्त्र भाषण-शास्त्र(rhetorics)मे विकसित हुआ है। यूनानमे प्लेटोके पूर्व गीजियास तथा थ्रेसीमेकसने वक्तृत्व-कलामे आकर्षण तथा अलंकारोंकी आवश्यकता बतायी थी और वाक्‌शैलीको साधारण बोल-चालके स्तरसे उठानेका प्रयत्न किया। प्लेटोने इस कलाका विरोध किया, क्योंकि उनके अनुसार इस कलाका उपयोग सत्यकी अवहेलनाके लिए किया जाता है। इन्होंने अपनेसे पूर्वके शास्त्रियों द्वारा कहे गये वक्तृत्व-कलाके विभिन्न उपकरणोंकी कटु आलोचना की, जिनमे आवेदन, विवरण, प्रमाण, सम्भाविकता तथा स्वीकृति प्रधान है। भरत द्वारा उल्लिखित काव्य-लक्षणो (दे०)से इनकी समता देखी जा सकती है। प्लेटोने इस कलाके तीन आधार बतलाये हैं—प्रवृत्ति, ज्ञान तथा अभ्यास। वक्तृताके साथ ही इन्होंने गद्य-शैलीमे भी विषय प्रस्तुत करनेमे स्पष्टता, क्रम, तारतम्य तथा सामंजस्यके नियमोंकी स्थापना की है। आइसाक्रेटीज (३९२ ई० पू०)-ने अपने शास्त्रीय विवेचनमे इस कलाकी स्थापना तार्किकता-के क्षेत्रसे दार्शनिक क्षेत्रमे की। इन्होने भाषण-शास्त्रके मानवीय, राष्ट्रीय, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक महत्त्वको प्रतिपादित किया। इनके द्वारा यह कला—काव्यके समकक्ष मानी गयी। इन्होने वक्तृत्व तथा गद्य-शैलीपर एक साथ विचार किया है और विषय, औचित्य, भाषा-प्रयोग, अलंकारोंके प्रयोग, छन्दोंकी गति-लय आदिके प्रयोगके सम्बन्धमे विवेचन किया है। इन्होंने ही भाषण अथवा वक्तृताके चार अंग—प्राक्कथन, वर्णन, प्रमाण तथा उपसहार प्रतिपादित किये। अरस्तूने इस कलाका और वैज्ञानिक विवेचन किया। अरस्तूने भी विषयके चयनपर बल दिया है और आइसाक्रेटीजके अंगोको माना है। इन्होने शैली-का महत्त्व भी प्रतिपादित किया और माना है कि पहले-पहल कवियोंने भाषण-शैलीकी ओर ध्यान दिया। इन्होने श्रेष्ठ शैलीके गुण स्पष्टता और औचित्यको माना है। स्पष्टताके लिए वाक्य तथा शब्द-विन्यास और शब्द-चयनका महत्त्व है। शब्दोंका प्रयोग सर्वजन-सुलभ होना चाहिये। परन्तु अप्रचलित प्रयोग वर्जित नहीं है। वक्ता वक्तृताको सुन्दर, आकर्षक तथा गौरवान्वित बनानेके लिए अप्रचलित शब्दोंका प्रयोग कर सकता है और इनके द्वारा नवीनता और चमत्कार, दोनोंका विकास भी होगा (एस० पी० खत्री: आलोचना, इतिहास तथा सिद्धान्त, पृ० ६५)। आलंकारिक प्रयोगोंके द्वारा वक्ता स्पष्टता, सौष्ठव, चमत्कार आदि गुण अपनी वक्तृतामे लाता है। अरस्तूने अलंकारोंके प्रयोगपर महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट किये है। उनके अनुसार अलंकार मात्र चमत्कृत करनेवाले प्रयोग नहीं है, उनके सौन्दर्यसे मानसिक उल्लास प्राप्त होता है। परन्तु अरस्तूने इनके प्रयोगके सम्बन्धमे सतर्क भी किया है। यदि सौन्दर्य-की अनुभूति देना उद्देश्य है तो अलंकारोंका चुनाव जीवन-के गौरवित स्तरों और सौन्दर्य-प्रसारक स्थलोंसे होना चाहिये (वही, वही)। इस चुनावके लिए आवश्यक है कि अलंकार परिचित हों और विषयसे उनका सहज सम्बन्ध हो। भारतीय दृष्टिके लिए दे० 'अलंकार'।

अन्य अनेक शास्त्रों और कलाओके समान वक्तृत्व-कला तथा भाषण-शास्त्रका विस्तार तथा विवेचन यूनानके बाद रोममे हुआ और साथ ही उनके एतद्‌विषयक सिद्धान्तोंका मूलाधार भी यूनानी चिन्तन ही है, पर रोमके विचारकोंने इन्हे रोमीय समाजके उपयुक्त बनानेका प्रयत्न अवश्य किया है। इनमे प्रधान विचारक सिसरो (१०वीं शती) है। रोमके वागीशोने भाषाकी शुद्धतापर बल दिया है और वक्तृताके लम्बे वाक्यों, द्विरुक्तियों, तुकबन्दियोंसे सतर्क रहनेका आग्रह किया है। इन्होंने अलंकारोंका समुचित प्रयोग वक्तृतामे प्रभावोत्पादकता तथा शालीनता लानेके लिए स्वीकार किया है। सिसरोने वक्तृत्व-कलाको मानवीय विकासके लिए महत्त्वपूर्ण कला माना है। तर्क-चातुर्य तथा शब्दजालको इन्होंने श्रेष्ठ कला नहीं माना है। इन्होंने वक्तृताका सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य प्रभावपूर्ण विषय-विवेचन तथा इसके आधार विचारक्रम, दर्शन तथा मनोविज्ञानका ज्ञान माना है। औचित्य-गुणको भाषण-शैलीका प्रधान गुण स्वीकार किया गया है। इन्होंने भाषा सम्बन्धी अनेक प्रयोगोंकी ओर ध्यान आकर्षित किया है, ध्वनि-सामंजस्य, स्वर और व्यंजन-ध्वनिका मधुर प्रयोग, विरोधालंकार आदि। सिसरोने वक्तृताओमे आलंकारिक और प्रभावपूर्ण शब्दो तथा समासोंके प्रयोगका प्रतिपादन किया, जिसे बादके वागीशोंने स्वीकार किया है। द्वितीय शतीमे रोमकी भाषण-कलामे समरूपता, शैथिल्य, कृत्रिमता तथा अतिशयोक्तिपूर्ण आलंकारिकता आदि दोष आ गये थे, यद्यपि शास्त्रियोंका आग्रह यूनानी भाषण-शास्त्रको अपनानेका ही था।

अनेक शताब्दियोंके अन्धकारके बाद यूरोपमें १४वीं-१५वीं शतियोमे पुनर्जागरण (रेनेसॉ)का युग आया, जिसमे अन्य अनेक दिशाओंके समान भाषण-कलाका नव निर्माण हुआ। पिछले युगोंमे भाषण-कला और शास्त्रमें विशृंखलता आ गयी थी; शब्दाडम्बरके कृत्रिम उपायोंमे प्रभाव उत्पन्न करना मात्र इस कलाका लक्ष्य रह गया था, परन्तु इस युगमें इसका उद्देश्य शिक्षा, प्रबोधन तथा उत्तेजना प्रदान करना माना गया। वक्तृताका प्रधान तत्त्व शैलीको स्वीकार करके भी विचारके महत्त्वको प्रतिपादित किया गया है। विचार शैलीकी आत्मा है। शब्दप्रयोगके औचित्यपर भी बल दिया गया। कहा गया कि वक्तृताको अलंकार, विस्तार, कहावतों, उपमाओ, हितोपदेशों और पौराणिक कथाओंसे प्रभावशील बनाया जा सकता है। स्पष्टता तथा संक्षिप्त कथन भाषण-शैलीके प्रधान गुण हैं। अलंकारोंके सन्तुलित प्रयोगपर बल दिया गया। पन्द्रहवीं शतीके साहित्यकारोंकी दृष्टिमे भाषण-शास्त्र तथा काव्यमें केवल रूपका अन्तर माना गया है। इसीलिए उसमें अनेक अलंकारोंका प्रयोग तथा शब्द-जाल स्वीकृत था। १६वीं शतीमें दृष्टिकोण बदला और यूनानी तथा रोमके शास्त्रियोंके सिद्धान्तोंका अनुशीलन अधिक श्रद्धासे किया गया। इस युगमें विषयको भाषणका आधार माना गया, इसे यूनान तथा रोमके शास्त्रियोंने भी स्वीकार किया था। व्यापक ज्ञानकी आवश्यकताकी ओर ध्यान गया तथा शब्दोंके श्रेष्ठ चुनावपर भी बल दिया गया। वक्तृताको देश, काल

तथा परिस्थितिके अनुकूल होना चाहिये। इस युगमे विषय और अभिव्यंजनाके अभिन्न सम्बन्धको सामान्य रूपमे माना गया, प्रकृतिके सुव्यवस्थित नियमोके अनुसरणका आग्रह किया गया तथा शैलीके आकर्षणको भी स्वीकृत किया गया। स्पष्ट ही ये सम्पूर्ण सिद्धान्त यूनान तथा रोमके शास्त्रियोके प्रतिपादित नियमोंसे उद्भूत हैं। इसके बाद भाषण-कलाका विकास और उसका अनुशीलन साहित्यके क्षेत्रमे अधिकाधिक अलग पडता गया। १९वीं तथा २०वीं शताब्दीमे भाषण-कलाका क्षेत्र राजनीतिसे अधिकाधिक सम्बद्ध हो गया। परन्तु साथ ही बहुतसे वक्ता साहित्यिक हुए है और उनके भाषण उच्च कोटिकी साहित्यिक कृतियोंमे गिने जाते है।

हमारे देशमें अत्यन्त प्रभावशाली वक्ता हो गये है। राजनीतिक पराधीनताकी स्थितियों, राष्ट्रीय जीवनके जागरण और उन्नयनने सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, विपिनचन्द्र पाल, बालगंगाधर तिलक, चित्तरंजन दास, मदनमोहन मालवीय, लाजपतराय, राजगोपालाचारी, श्रीनिवास अयंगार आदि अनेक कुशल वक्ताओको जन्म दिया तथा इन वक्ताओने राष्ट्रीय भावनाके प्रचार-प्रसारमे चिरस्मरणीय योग दिया। इनके भाषणोमें भाषा और भावसम्बन्धी अनेक विशेषताएँ पायी जाती है तथा उनमेंसे अनेकका भाषण-कलाकी दृष्टिसे स्थायी महत्त्व है। सामयिक परिस्थितिके कारण ये अधिकतर अंग्रेजीमे ही है, केवल महामना मालवीय अंग्रेजीके ही समान हिन्दीके भी अच्छे वक्ता थे और उनकी वक्तृत्वकलाकी महात्मा गान्धीतकने प्रशंसा की थी। राजनीतिक नेताओके अतिरिक्त कुछ धार्मिक और सांस्कृतिक विचारकोने भी भाषण-कलाके द्वारा प्रसिद्धि पायी है। उन्नीसवीं शताब्दीमे आर्यसमाजके प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वतीमे अद्भुत वाक्कुशलता थी और वे वाणीके बलपर ही बहुधा बडे-बडे पण्डितोको परास्त कर देते थे। उनकी विशेषता यह थी कि वे गुजराती होते हुए भी हिन्दीमे बोलते थे। हम उन्हे हिन्दीका प्रथम प्रभावशाली वक्ता कह सकते है। स्वामी विवेकानन्दने अपने भाषण-कौशलसे ही देशसे बाहर भी अपनी और अपने देशकी धाक जमायी थी। वर्तमान युगमें सर्वपल्ली राधाकृष्णन् वाणीके वरद पुत्र है और उनकी भाषण-कला अद्भुत है।

हिन्दी साहित्यके आधुनिक युगमे गद्यके प्रयोगके साथ उसकी अनेक शैलियोंका विकास हुआ है, जिनमे भाषण-कलाके तत्त्वोका सन्निवेश है। भारतेन्दु-युगमें आर्यसमाजके आन्दोलनसे हिन्दी गद्य-शैलीके विकासको नयी दिशा मिली। दयानन्दके 'सत्यार्थप्रकाश'की शैलीका प्रधान रूप यही है। लक्ष्मीसागर वार्ष्णेयके अनुसार "इसमे भाषामे गहन-से-गहन विषयोपर वाद-विवाद करनेकी शक्ति आ गयी। भाव-व्यंजनामे भी इससे सहायता मिली और तर्क-शैलीके साथ-साथ भाषामें व्यंग्य तथा कटाक्ष करनेकी शक्तिका आविर्भाव हुआ" (आधुनिक हिन्दी साहित्य : गद्य)। इसी युगमें निबन्ध-लेखनकी परम्पराका जन्म हुआ, जिसका रूप स्वगत भाषण अथवा बातचीतके समान होता है (दे० 'निबंध')। निबन्ध-शैलीके भावावेश, भावोत्पादकता, हास्य, व्यंग्य तथा विषयका स्वच्छन्द प्रतिपादन-पर भाषण-कलाका एक अंशतक प्रभाव स्वीकार किया जा सकता है। बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र तथा बालमुकुन्द गुप्त आदि इस युगके निबन्धकारोंने भाषाको व्यापक बनानेकी दृष्टिसे उसे सुगम तथा भाव-वहनके योग्य बनाया, साथ ही भाव-प्रकाशनकी शक्तिसे युक्त भी किया। इनकी भाषा और शैलीमे भाषण-कलाके तत्त्व विद्यमान है। अगले द्विवेदी-युगमे भाषा अधिक संयत और परिष्कृत हुई, अतएव इस युगकी गद्य-शैलीमे भाषण-कलाके तत्त्वोका विकास अधिक सम्भव हो सका। निबन्धकारोंमे महावीरप्रसाद द्विवेदीने इसके रोचक कथा-तत्त्वको अपनाया, चन्द्रधर शर्मा गुलेरीने प्रसंगगर्भत्वके गुणका विकास किया तथा हास्य-व्यंग्यका आश्रय भी लिया। पूर्णसिंह तथा गणेशशंकर विद्यार्थीमे भाषण-शैलीका भावावेग तथा प्रभावोत्पादकता विशेष रूपसे परिलक्षित है। अन्य लेखकोंमे पद्मसिंह शर्माने आलंकारिकताके साथ भाषाका प्रभाव है, रामचन्द्र शुक्लने विषयप्रतिपादनकी गम्भीरता, स्पष्टता, औचित्य आदि गुण है और ये तत्त्व भाषण-कलासे गद्य-शैलीमे आये माने जा सकते है। इस युगमें धार्मिक, राजनीतिक तथा सामाजिक नेताओंके भाषण प्रसिद्ध हो चुके थे: स्वामी रामकृष्ण, विवेकानन्द, मदनमोहन मालवीय, मोहनदास करमचन्द गान्धी आदि ऐसे ही व्यक्तित्व है।

वर्तमान युगमें कई निबन्धकार तथा लेखक भाषण-शैलीका समुचित प्रयोग अपनी रचनाओमे करते हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी, राहुल सांकृत्यायन, रामवृक्ष बेनीपुरी आदिके कई निबन्ध और लेख इस शैलीमे लिखे गये है। इसके अतिरिक्त अनेक राजनीतिज्ञो, विचारको तथा साहित्यकारोके भाषण प्रकाशित भी हो रहे है।

भाषणको **वक्तृता** भी कहते है। **व्याख्यान, प्रवचन, उपदेश** तथा कुछ समानार्थी अंग्रेजी और अरबी-फारसी शब्दोंका प्रयोग भी इसीसे मिलते-जुलते अर्थमे होता है। परन्तु भाषण और वक्तृताको भले ही समानार्थी माना जाय, व्याख्यान, प्रवचन और उपदेश भिन्न अभिप्राय व्यक्त करते है। व्याख्यानमे किसी विषयका विस्तारके साथ स्पष्टीकरण किया जाता है। उसमे किसी पक्ष-विपक्षका समर्थन या खण्डन अपेक्षित नहीं होता, वरन् प्रस्तुत विषयके सभी आवश्यक पक्षोपर तटस्थ, किन्तु प्रामाणिक रूपमें तर्कसम्मत विचार प्रकट किये जाते है। व्याख्यान, वक्ता और श्रोतामे पण्डित और जिज्ञासु अथवा गुरु और शिष्यके सम्बन्धकी भी कल्पना करता है। प्रवचनमे किसी धार्मिक या नीति सम्बन्धी विषयका दृष्टान्तो, उदाहरणो, शास्त्रीय प्रमाणो, उद्धरणों और आख्यानोंसे पुष्ट सरल शैलीमे विशदीकरण किया जाता है। **व्याख्यान** और प्रवचनमे प्रयोजनका भी अन्तर है। जहाँ व्याख्यान श्रोताओंकी जिज्ञासा शान्त करके उनका ज्ञानवर्धन करता है, वहाँ **प्रवचन** उन्हे आचरणकी प्रेरणा देता है। **उपदेश**का प्रयोजन भी यही है और उसका विषय भी धार्मिक और नीति सम्बन्धी होता है। अतः प्रवचन और **उपदेश** पर्याय कहे जा सकते है। परन्तु दोनोकी शैली और विषय-विवेचनके ढंगमे अन्तर है। **प्रवचन**की शैली अधिक स्निग्ध शान्त और मधुर होती है, जब कि **उपदेश**मे ये गुण भी

हो सकते है, परन्तु इनके साथ उसमे ओज, आग्रह और आत्मविश्वासपूर्ण दर्प भी न्यूनाधिक मात्रामे आभासित हो जाता है। **व्याख्यान, प्रवचन** और **उपदेश**—सभीके लिए प्रस्तुत विषयके सम्यक् ज्ञान और उसे क्रम-व्यवस्थित करनेकी योग्यता, भाषापर पूर्ण अधिकार और विषय, पात्र तथा अवसरके अनुकूल उसके प्रयोग करनेके समुचित अभ्यास तथा अपेक्षित प्रभाव उत्पन्न करनेके लिए श्रोताओंके साथ मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध स्थापित करनेकी प्रज्ञा अपेक्षित होती है। परन्तु भाषा-प्रयोगके ये रूप साधारणतया साहित्यकी परिधिमें नही आते, क्योंकि इनके प्रयोजनमे ज्ञान, आचरण और क्रियाकी स्पष्टतः स्वीकृति है। भाषण या वक्तृता इनसे भिन्न है। प्रभावकी अपेक्षा उसमें भी होती है और उस भाषणमे श्रोतागण प्रायः विचलित होने लगते है, जिसमे वक्ता भाषासौन्दर्य और आलंकारिक वर्णनमे अधिक उलझकर विषयसे बहकने लगता है। लोग 'कैसा कहा'की ही सराहना करते हुए उठते हैं। भाषण करनेकी जन्मजात प्रतिभा होती है, फिर भी वह एक कला है, जो अन्य कलाओंकी तरह संस्कार और अभ्याससे परिष्कृत होती है।

[सहायक ग्रन्थ—अरस्तू : रेटरिक; ब्लेयर ह्यू : रेटरिक; स्पेन्सर हर्बर्ट : फिलासफी ऑव स्टाइल; एस० पी० खत्री : आलोचना, इतिहास तथा सिद्धान्त।] —र० तथा० ब्र० व०

भाषा—जिन ध्वनि चिह्नो द्वारा मनुष्य परस्पर विचार-विनिमय करता है, उनकी समष्टिको भाषा कहते है। भाषाके इस लक्षणमें विचारके अंतर्गत भाव और इच्छा भी है। विशेषकर असभ्य जातियोंकी भाषामें अधिकतर भाव, इच्छाएँ, प्रवृत्तियाँ आदि ही द्योतित होती है, विचारोकी मात्रा अपेक्षाकृत कम होती है। बोलते समय हमरे विचारो-की पूर्ण अभिव्यक्ति ध्वनि-चिह्नोंसे ही नही होती। उनकी मददके लिए हम इंगितका भी प्रयोग करते है। किसी-किसी जातिमें भाषाके अलावा इंगित-भाषा भी मिलती है, जिसका वे लोग विशेष समयपर उपयोग करते है। अमेरिकाके पश्चिमी प्रदेशोंमें रेड इण्डियन जातियोंमें ऐसी इंगित भाषा देखी गयी है। ध्वनि चिह्नोंके अतिरिक्त अन्य चिह्न भी हैं, जिनके द्वारा हम अपने विचार परस्पर प्रकट करते हैं, जिनमे प्रधान है लेखबद्ध अक्षर। आजकल प्रायः लेख द्वारा ही देश-देशांतरसे विचार-विनिमय होता है। ध्वनिका क्षेत्र सीमित है, लेखका अपेक्षाकृत अपरिमित। पर यह चक्षुग्राह्य अक्षर ध्वनिपर ही निर्भर है, इसलिए भाषाकी दृष्टिसे ध्वनि-चिह्नोंकी अपेक्षा इनकी नेत्रग्राह्य सत्ता गौण है।

यदि वैज्ञानिक और सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो भाषा मनुष्यके केवल विचार-विनिमयका ही साधन नही है, विचारका भी साधन है। भाषाका विचारसे अटूट सम्बन्ध है। इसे मनुष्य अपने पूर्वजोसे सीखता आया है। इस सीखनेके कारण ही भाषामें विकार अथवा परिवर्त्तन अवश्यम्भावी है और यही कारण उसकी अपूर्णताका है।

भाषाके बारेमें हमे इस बातका ध्यान रखना चाहिए कि जिन ध्वनियोंसे किसी विशेष जीव या वस्तुका बोध होता है, उनका उस जीव या वस्तुसे कोई नियत स्वाभाविक सम्बन्ध नही, केवल सामयिक व्यवहारका सम्बन्ध है। भाषाके द्योतक हमारे पुराने शब्द वाक् और वाणी है, जिनमे बोलनेका अर्थ निहित है। वाक्का दूसरा अर्थ जिह्वाका भी होता है। जिह्वा बोलनेमें प्रमुख भाग लेती है, इसीलिए बहुधा अन्य भाषाओंमे भी जिह्वा और भाषाके लिए समान शब्द है। —बा० रा० स०

भाषाधारा—हिन्दीके आदिकालीन साहित्यको भाषागत दृष्टिकोणसे दो शाखाओमे विभाजित किया गया है—अप-भ्रंशधारा (दे०) तथा भाषाधारा। भाषाके अन्तर्गत चारण-साहित्य तथा अन्य समसामयिक आरम्भिक हिन्दीके साहित्यकी गणना होती है।

भाष्य—[भाष्+यत्] (क) साधारण अर्थ—१. वचन, उक्ति; २. कोई व्याख्यान-ग्रन्थ, जैसे सायणकृत ऋग्वेदभाष्य, महीधरकृत यजुर्वेद-भाष्य इत्यादि; ३. भाषाग्रन्थ (वाजस-नेयी प्रातिशाख्य, गृह्यसूत्र तथा हरिवंश और मोनियर विलियम्स)। इस अर्थमें 'भाष्य' शब्द 'भाषा'से निकला हुआ प्रतीत होता है। जनभाषा या लोकभाषाके अर्थमे 'भाषा'का हिन्दीमे प्रयोग तो 'भाषा भनिति मोरि मति थोरी' इत्यादिसे स्पष्ट ही है, पर संस्कृतमें भी इसका यह अर्थ प्राचीन प्रतीत होता है। (ख) विशेष अर्थ—१. सूत्र-ग्रन्थोंके विशिष्ट शैलीमे लिखे गये भाष्य, जैसे शंकराचार्यकृत ब्रह्मसूत्र-भाष्य, शबरकृत मीमांसा-भाष्य, अष्टाध्यायीका पतंजलिकृत महाभाष्य इत्यादि। इस शैलीके व्याख्यानमे पहले सूत्र, पदोंका संक्षिप्त सूत्रात्मक वाक्योमें अर्थ देकर फिर उन वाक्योंके पदोंका भी विशेष व्याख्यान किया जाता है और इस प्रकार समस्त सूत्रार्थ स्पष्ट हो जाता है, जैसा कि 'भाष्य'के निम्नलिखित प्राचीन लक्षणसे ज्ञात होता है—"सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः। स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः"। (ग) हिन्दीमें इसका अर्थ सामान्यतः कोई भी व्याख्यान-ग्रन्थ लिया जाता है। (घ) उपर्युक्त व्यापक अर्थमे इसके पर्याय टीका, व्याख्यान आदि होंगे। (ङ) 'ग'मे दिया गया अर्थ व्यापक तथा 'विशिष्ट शैलीका सूत्र-व्याख्यान' अर्थ सीमित है। —आ० प्र० मि०

भिस्त—सन्तोने भिस्त, भिसत आदि रूपोंमे इस शब्दका व्यवहार बहुत अधिक किया है। भिस्त मूलतः फारसीके बहिश्त शब्दका ध्वनि परिवर्तित रूप है। फारसीमे बहिश्त-का अर्थ है स्वर्ग। साथ ही संस्कृतमे एक शब्द अभीष्ट है, जिसका अर्थ होता है—वांछित, चाहा हुआ, अभिप्रेत। अभीष्टका भीष्ट और फिर भिस्त बन जाना ध्वनिपरिवर्तनके नियमोंके अनुकूल न भी पडे तो भी सन्तो (विशेषतः कबीर)-को कोई खास अडचन नही दीखती। उनका अभिप्रेत अर्थ निकल सके तो अगमको बेगम बना देना, करभ (करह)-में 'क्रियापरायण' साधकका अर्थ भर देना (दे० करहा), चिन्तामणिसे चेतावनीका भी अर्थ निकालनेके लिए उसे 'च्यंतौवणी' रूप दे देना आसान है। इसी वृत्तिके अनुसार अभीष्ट और बहिश्त दोनोंका अर्थ देनेके लिए सन्तोंने भिस्त शब्दकी रचना कर ली और अधिकांशतः इसका प्रयोग स्वर्गके अर्थमें करते हुए भी कहीं-कहीं, इच्छित या अभिप्रेतके

अर्थमे और कहीं-कहीं स्वर्ग तथा अभिप्रेत दोनोके अर्थमे किया है।

यहाँ इस बातको स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सन्त 'बहिश्त' या स्वर्गको परम प्राप्तव्य कभी भी मान नहीं सकते थे। वैसे स्वर्गको बहुमान देनेवाले हिन्दू शास्त्रों और दर्शनोंमें भी स्वर्गको सदैव नीची कोटिकी, अनित्य या नाशवान् उपलब्धि माना गया है (विशेष विवरणके लिए दे० 'दोजग')। कबीरदास जिस समाजमें रह रहे थे और जिन हिन्दू-मुसलमानोंके भ्रमोंको काटकर उन्हे सही रास्तेपर लाना चाहते थे, उनमे स्वर्ग एवं बहिश्तको बहुत महत्त्व दिया जाता था, अतः इन शब्दोंमे तत्कालीन समाजमे स्वीकृत अर्थोंकी झलकका आ जाना स्वाभाविक भी है और आवश्यक भी, पर कबीर जहाँ भिस्तका स्वर्ग अर्थमे प्रयोग करते है, वहाँ स्वर्गका अर्थ परमधाम, कैवल्य, सहजपद या शून्यपद ही होता है। बहिश्तको भिस्त करके उसके अन्तर्गत 'अभीष्ट'का अर्थ भरनेके पीछे यह भी एक बड़ा कारण हो सकता है। कबीर तथा अन्य सन्त जिस प्रकार राम, रहीम, केशव, करीम, अल्लाह, विष्णु, गोविन्द, महादेव, रब, खुदा आदि संज्ञाओंका प्रयोग करके भी इनका अर्थ त्रिगुणातीत, द्वैताद्वैत विलक्षण, अगम्य, अलक्ष्य, अनुभवैकगम्य और भावाभाव विनिर्मुक्त, निर्गुण, निरंजन निर्लेप ब्रह्म ही समझा और समझाना चाहा है, उसी प्रकार भिस्तका अर्थ भी उनके निकट हिन्दुओंका स्वर्ग और मुसलमानोंका बहिश्त न होकर कैवल्य, परमपद शून्य-निरंजन ठाँव ही है। बहिश्तकी अपेक्षा भिस्त इसीलिए उन्हे अधिक ग्राह्य लग सकता है।

'कबीर ग्रन्थावली' (पारसनाथ तिवारी)मे भिस्तका प्रयोग पद संख्या ४२मे दो बार हुआ है। यहाँ 'भिस्ति'के साथ लगा हुआ 'घनेरी' विशेषण इसे अभीष्ट ही अधिक प्रमाणित करता है, वैसे 'स्वर्ग'वाला अर्थ भी बैठ जाता है। दूसरी बारके प्रयोगमे भी 'इच्छित'का अर्थ स्वर्गके समानान्तर बैठ जाता है। कबीरने भिस्तका प्रयोग प्रायः दोजग या दोजक (दे० 'दोजग')के साथ किया है, पर यहाँ यह अकेले प्रयुक्त हुआ है। पद सं० १७८में भी भिस्त अकेले प्रयुक्त है और मुख्यतः स्वर्गका अर्थ देता है, वैसे अभीष्ट अर्थ भी बैठाया जा सकता है। पद सं० १८३ (१८४ भी)मे भिसति दोजगके साथ प्रयुक्त है, फिर भी अर्थकी संगति अभीष्टके साथ अधिक बैठती है। पंक्तियाँ है—"दिल नापाक पाक नहि चीन्हा तिसका मरम न जाना। कहै कबीर भिसति छिटकाई दोजग ही मन माना" [तुम्हारा हृदय अशुद्ध है, अतः उस निर्मल, निरंजन, पाक परवरदिगारको न तू पहचान ही सका और न उसका मर्म ही समझ सका। अपने अभीष्टको तुमने (अनेक दिशाओंमे) छिटका दिया है और दोजग (अपरलोककी प्राप्ति)मे ही मानसिक तोष खोज रहे हो]। पद सं० १८४-में "रोजा करै नमाज गुजारै कलमै भिस्ति न होई" द्वारा "कलमा, रोजा और नमाजसे अभीष्ट सिद्धि असम्भव है", ऐसा अर्थ अधिक संगत है, वैसे स्वर्ग अर्थ भी बैठ सकता है। इस पदमें दूसरी बार प्रयुक्त भिस्तिकी भी यही स्थिति है। रमैनी ५में और पृ० १७७की १६वीं साखीमे भिस्ति अकेले स्वर्गके अर्थमें प्रयुक्त है। दादूने भिस्तका लगभग ६ या ७ स्थलोपर प्रयोग किया है, पर अर्थकी दृष्टिसे इनमे कोई गड्डमड्ड नहीं है। मूलतः ये स्वर्गके लिए ही इसका प्रयोग करते पाये जाते है। —रा० सि०

भुजंग–कुण्डलिनी रूपी नागिनका स्वामी। शवरपा इसीलिए साधकको भुजंग कहते है—(चर्यापद : २८)। —ध० वी० भा०

भुजंगप्रयात–वर्णिक छन्दोंमे समवृत्तका एक भेद। भरतके 'नाट्यशास्त्र' (१६ : ७७)मे अप्रमेया नामसे यह छन्द दिया गया है। 'पिंगलसूत्र' (६ : ३८)में लक्षण दिया है। चार यगणोंसे यह वृत्त बनता है (ISS, ISS, ISS, ISS); संस्कृतका प्रचलित छन्द है। 'प्राकृतपैंगलम्' (२ : १२६) तथा हेमचन्द्रके 'छन्दोनुशासन' (२ : १७०)मे यही लक्षण है। 'रामचन्द्रिका' (६ : १३), 'सिद्धार्थ' (पृ० ३६), 'साकेत' (पृ० १९६), 'जन्मभूमि' (कामताप्रसाद गुरु)में इस वृत्तका प्रयोग हुआ है। संस्कृतके स्तोत्रोंमे इसका विशेष प्रयोग हुआ; 'मानस'मे भी तुलसीने उत्तर-काण्डमे (संस्कृत भाषामे) वन्दनामे (नमामीशमीशान निर्वाणरूपम्—रुद्राष्टक) इसी छन्दका प्रयोग किया है। इनके अतिरिक्त चन्द, सुन्दर तथा रघुराजने भी प्रयोग किया है। हिन्दीमे यह छन्द वीर रस तथा प्रार्थनाके लिए प्रयुक्त हुआ है। अपनी विलम्बित गतिके कारण यह इनके लिए उपयुक्त है। वीर रसमें सूदनका प्रयोग—"घमण्डै घने दन्ति घण्टान बारे। उमण्डै मनो सबने मेघ कारे" (सु० च०, २ : २ : ७)। आधुनिक साहित्यका उदा०—"कभी आँखसे आँख तेरी लडेगी। कभी कण्ठमें ब्याहमाला पडेगी। कभी चित्तकी ग्रन्थिको खोल कोई। तुझे स्थान देगी, मुझे मान देगी" (सिद्धार्थ, पृ० ३६)। —पु० शु०

भुजंगी–वर्णिक छन्दोमे समवृत्तका एक भेद; भानुके 'छन्दप्रभाकर' (पृ० १३८)मे उल्लिखित तीन यगणों और लघु-गुरुके योगसे यह वृत्त बनता है (ISS, ISS, ISS, IS); इसके अन्तमें गुरु वर्ण जोड़नेसे भुजंगप्रयात बन जाता है। इस छन्दका प्रयोग हिन्दीमे अधिक नहीं हुआ है। मैथिलीशरण गुप्तने 'साकेत' और 'स्वर्गीय संगीत'में इस छन्दका प्रयोग किया है—"यही वाटिका थी, यही थी मही, यही चन्द्र था, चाँदनी थी यही। यही वल्लकी मैं लिये गोदमे, उसे छेड़ती थी महामोदमे" (साकेत, ९)। —पु० शु०

भुजरियाँ–हरियाली तीजपर ब्रज और उसके निकटवर्ती प्रान्तोंमें 'भुजरियाँ' सिरायी जाती है। भुजरियाँ स्त्री-गीतोंका एक प्रकार होते हुए भी, गेहूँकी उन बालियोंको भी कहते है, जो सिरानेके निमित्त, तीजके अवसरपर, फसलकी प्राणप्रतिष्ठाके रूपमें, छोटी टोकनियोंमें उगायी जाती है। इन्हे 'फुलरिया', 'धुंधिया', 'धेगा' और 'जवारा' (मालवा) भी कहते है। भुजरियाँ बोनेकी प्रथा आठवीं शताब्दीसे प्राचीन प्रतीत होती है। पृथ्वीराज चौहानके कालकी लोक-प्रचलित गाथाके अनुसार चन्द्रवंशी राजा परिमालकी पुत्री चन्द्रावलीको उसकी माता सावनमें झूला झुलानेके लिए बागमें नहीं ले जाती। पृथ्वीराज अपने पुत्र ताहरसे उसका विवाह करना चाहता था। आल्हा-ऊदल उस समय कन्नौजमे थे। ऊदलको स्वप्नमे चन्द्रावलीकी

कठिनाईका पता चलता है। वह योगीके वेषमें आकर उसे झूला झूलनेका आश्वासन देता है। पृथ्वीराज ठीक ऐसे ही अवसरकी ताकमें था। अपने सैनिकोंको भेजकर वह चन्द्रावलीका अपहरण करना चाहता है। युद्ध होता है। ताहर चन्द्रावलीको डोलेमें बैठाकर ले जाना चाहता है, तभी ऊदल, इन्दल और लाखन चन्द्रावलीकी रक्षा करके उसकी भुजरियाँ मनानेकी इच्छा पूर्ण करते हैं। नागपंचमी-को भी 'भुजरियाँ' उगायी जाती हैं। उसे पूजाके पश्चात् 'भुजरियाँ' गाते हुए नदी अथवा तालाब या कुएँमें सिराया जाता है। —श्या० प०

भूचरी—योगशास्त्रके अनुसार समाधि अंगकी एक मुद्रा, जिसका निवास नाकमें है और जिसके द्वारा प्राण और अपान वायु, दोनों एकत्र हो जाती है—"नासिका मध्ये भूचरी मुद्रा गन्ध विगन्ध ले उतपनी। गन्ध बिगन्ध समोकृतवा, मुद्रा तौ भई भूचरी" (अष्टमुद्रा, गोरख बानी) —उ० श० शा०

भूत—दे० 'जगतानुबोध'।

भूदान—गान्धीके सबसे बड़े शिष्य विनोबा भावेने गान्धी-वाद (दे०)का एक नया प्रयोग आरम्भ किया है, जिसे भूदान-आन्दोलन कहा जाता है। तेलंगानामें साम्यवा-दियों (दे० 'साम्यवाद')की ओरसे जो हिंसात्मक आन्दोलन चला था, उसे देखकर विनोबाके मनमें भूदान आन्दोलन-का विचार उदित हुआ था। भूदानका अर्थ है स्वेच्छासे भूमिहीनोंके लिए भूमि-प्रदान। दानका अर्थ विनोबा प्रदान या संविभाग (समान वितरण) ही लेते हैं, दान-पुण्य नहीं। विनोबा एवं उनके शिष्य गाँव-गाँव यात्रा कर भू-स्वामियोंसे भूमि प्राप्त करते-फिरते हैं। उन्हें इस कार्यमें आशातीत सफलता भी मिल रही है। वे शीघ्र ही अपना लक्ष्य प्राप्त कर लेनेकी आशा करते हैं।

भूदान-आन्दोलनसे दो महत्त्वपूर्ण शाखाएँ फूटी हैं—सम्पत्तिदान और ग्रामदान। इसीसे सम्बन्धित जीवनदान भी है। जीवनदानी अपना सम्पूर्ण जीवन विनोबाजी द्वारा चलाये आन्दोलनमें लगा देनेका व्रत लेता है।

इस आन्दोलनकी सफलताके फलस्वरूप विनोबा सर्वोदय-समाजके उदयकी आशा करते हैं। वस्तुतः ऐसा विलक्षण, अहिंसात्मक आन्दोलन मानवताने कभी नहीं देखा था। सफल होनेपर यह विश्वको एक नयी ज्योति प्रदान कर सकता है। —ह० ना०

भेदकातिशयोक्ति—दे० 'अतिशयोक्ति', दूसरा भेद।

भोगवाद—दे० 'रसनिष्पत्ति', तीसरा सिद्धान्त।

भोग-व्यापार—दे० 'रसनिष्पत्ति', भोगवादके अन्तर्गत।

भोजकत्व-शक्ति—दे० 'रसनिष्पत्ति', भोगवादके अन्तर्गत।

भोजकी वृत्तियाँ—दे० 'नाट्यवृत्ति', पाँचवीं तथा 'वृत्ति'।

भोजपुरी—बिहारके शाहाबाद जिलेमें भोजपुर परगनेके नामपर इस बोलीका नामकरण हुआ है। पूर्वी उत्तरप्रदेश तथा बिहारके व्यापक भू-भागमें यह बोली जाती है। साहित्य प्रायः नहीं है, पर लोक-साहित्यकी परम्परा समृद्ध है। आधुनिक समयमें सजग रूपसे कुछ साहित्य-प्रणयनकी चेष्टा अवश्य की जा रही है। सामान्यतः भोजपुरी प्रदेशकी साहित्यिक भाषा हिन्दी है। मुद्रण आदिके लिए नागरी लिपिका व्यवहार होता है। लिखनेमें कैथीका प्रयोग किया जाता है। भोजपुरीकी उत्पत्ति मागधी अपभ्रंशसे मानी जाती है। —सं०

भोज्य भोजक भाव—दे० 'रसनिष्पत्ति', भोगवादके अन्त-र्गत।

भौतिकवाद—भौतिकवाद दर्शनका एक प्रस्थान अथवा निकाय (school) है, जिसकी तीन मौलिक मान्यताएँ हैं। प्रथम, यह कि बाह्य जगत् हमारे प्रत्ययों, भावोंका समुच्चयमात्र न होकर एक स्वतन्त्र सत्ता है। दूसरे, यह कि वह किसी चेतन तत्त्वका परिणाम न होकर भूतों, भौतिक तत्त्वों, जड़ पदार्थों अथवा अचेतन द्रव्योंसे मिलकर बना है और तीसरे, यह कि मनुष्यमें जो चेतना दिखायी देती है, वह भौतिक द्रव्योंका ही परिणाम है।

प्राचीन भौतिकवादके अनुसार संसार अविच्छेद्य रूपसे परस्पर गुँथी हुई दो चरम सत्ताओंका परिणाम है, जिन्हें भूत (matter) और शक्ति (energy) कहा गया है। किन्तु समसामयिक विज्ञानने अन्तिम रूपसे सिद्ध कर दिया है कि भूत शक्तिसे तत्त्वतः भिन्न नहीं है, वह शक्ति-का घनीभूत रूपमात्र है। अतः अब शक्ति ही सृष्टिका मौलिक उपादान सिद्ध होती है। और यह शक्ति भी, अन्तिम विश्लेषणमें, नितान्त आकाशीय, अग्राह्य, असंवेद्य, और गणितीय होकर रह गयी है। अतएव आधुनिक चिन्तकोंकी दृष्टिमें 'भौतिकवाद' शब्द पुराना पड़ चुका है।

चेतनाकी व्याख्यामें भौतिकवादी एकमत नहीं। पुराने मात्रिक भौतिकवादके अनुसार चेतना शरीरमें उत्पन्न होनेवाला एक नया गुणमात्र है, जब कि उद्भववाद-(epiphenomenalism)के अनुसार भूतोंसे चेतनाकी उत्पत्ति, गुणात्मक परिवर्तनकी प्रक्रियासे, एक स्वतन्त्र द्रव्यके रूपमें होती है। समसामयिक उद्भवमूलक भौतिक-वादी (emergent materialist) सी० डी० ब्रॉड तो यहाँतक कहता है कि उद्भूत चेतन तत्त्व—आत्मा—शरीरके विघटनके बाद भी कुछ कालतक अपना जीवन बनाये रखता है।

कार्ल मार्क्सका भौतिकवाद 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद'-(दे०)के नामसे प्रसिद्ध है।

भारतमें अति प्राचीन चार्वाक-दर्शन भौतिकवादी दर्शन था। आधुनिक भारतमें मार्क्सके ही भौतिकवादका अधिक प्रभाव पड़ा है।

भौतिकवादने साहित्यके क्षेत्रमें 'यथार्थवाद' (दे०)को जन्म दिया है। 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' समाज-शास्त्रके क्षेत्रमें 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' (दे०) तथा वर्गवादके रूपमें अवतीर्ण हुआ, जिनका साहित्यिक रूप 'प्रगतिवाद' (दे०)के नामसे विख्यात है। हिन्दी-साहित्यमें प्रगतिवादी काव्यधारा सन् १९४० ई० से लेकर १९४६ ई०के बीच विशेष रूपसे प्रवाहित हुई।

[सहायक ग्रन्थ—हिस्टरी ऑव मैटीरियलिज्म : लैंग; माइण्ड ऐण्ड इट्स प्लेस इन नेचर : सी० डी० ब्रॉड।] —ह० ना०

भ्रम (illusion)—भ्रम और भ्रान्तिके विषयमें भारतीय दर्शनमें बहुत विचार हुआ है। रज्जुमें सर्प, शुक्ति या

सिकतामें रजतके आभासके उदाहरण तथा उनका दार्शनिक महत्त्व सुपरिचित है। आधुनिक मनोविज्ञानकी दृष्टिसे भ्रम या भ्रान्ति किसी वस्तु अथवा स्थितिका मिथ्या अथवा दोषपूर्ण प्रत्यक्ष है। कुछ भ्रम मानवमात्रको होते हैं, जैसे सीधी छड़ी पानीमें डुबोनेपर तिरछी प्रतीत होती है, रेलकी समानान्तर पटरियाँ आगे चलकर मिलती नजर आती हैं, उदित होता हुआ सूर्य किंचित् अण्डाकार लगता है। इसी प्रकार ज्यामितीय भ्रमोंमें समान लम्बाईकी रेखाएँ छोटी-बड़ी, समानान्तर रेखाएँ असमानान्तर प्रतीत होती हैं। इनके अतिरिक्त दैनन्दिन जीवनमें घटित होनेवाले भ्रम भी होते हैं। धुँधले प्रकाशमें वस्तुएँ कुछकी कुछ लगने लगती हैं। गहन अन्धकारमें सड़कके किनारे पेड़का ठूँठ भूत या डाकू लग सकता है। ईर्ष्या, द्वेष अथवा सन्देह और पूर्वाग्रहोंसे आक्रान्त व्यक्ति दूसरोंके आचरणका मनमाना अर्थ कर लेता है। ऐसे भ्रम बाह्य स्थिति और अधिकतर व्यक्तिगत उपादानोंपर निर्भर होते हैं। थके होनेकी तथा उद्विग्न अवस्थामें और रोगी होनेपर भ्रान्तियाँ अधिक होने लगती हैं। दरवाजेकी आवाज, चूहोंकी चूँ-चूँ या उछल-कूद, सूखी पत्तियोंकी खड़खड़का व्यक्ति विचित्र अर्थ कर लेता है। सम्बद्ध विचारोंकी श्रृंखलाओंके उत्तेजित हो जानेसे ऐसा होता है (दे० 'विभ्रम')। —आ० रा० शा०

भ्रमर–भ्रमरकी मकरन्द-प्रियताके कारण कवियोंने कभी-कभी इससे उस चंचलमन रसिक नायकका उपमान माना है, जो केवल एकमें अनुरक्त नहीं रहता। सन्त कवियोंने इसे चंचल मनका प्रतीक माना है, जो विषय-रसमें लिप्त होनेके कारण कमलमें बन्दी हो जाता है। कहीं-कहीं चक्रोंको **कमल** मानकर साधकके मनको भी भ्रमर बताया गया है। उसी अर्थमें ब्रह्मरन्ध्रको **भ्रमर-गुफा** भी कहा गया है। —उ० शं० शा०

भ्रमरगीत–श्रीमद्भागवत दशम स्कन्ध पूर्वार्द्धके सैंतालीसवें अध्यायमें, जहाँ गोपियाँ कृष्णके दूत उद्धवके सम्मुख अत्यन्त प्रेम-विह्वल होकर लोकलाज छोड़कर रोती हुई कृष्णकी चर्चा करती हैं, यह कहा गया है कि एक गोपी किसी भौंरेको अपने निकट गुन-गुन करते देखकर उसे कृष्णका भेजा हुआ दूत मानकर कहने लगी, "हे धूर्तके बन्धु मधुकर! तुम हमारे चरण न छुओ, तुम्हारी मूछोंमें सौतके वक्षस्थलपर विहार करनेवाली मालाका कुंकुम लगा है। मधुपति कृष्ण ही यादवोंकी सभामें उपहास करानेवाले इस प्रसादको धारण करें, हम इसे नहीं चाहते। तुम्हारी और कृष्णकी बन्धुता ठीक ही है, क्योंकि जैसे तुम सुमनोंको रस लेकर छोड़ जाते हो, वैसे ही एक बार मोहिनी अधर-सुधा पिलाकर वे भी एकाएक हमको छोड़कर चले गये" (श्लोक ११, १२, १३)। इसके बाद सभी गोपियाँ मधुकरको लक्ष्य करके प्रेमभरे उपालम्भसे कृष्णके कपट-प्रेम, निष्ठुरता, क्रूरता, अकृतज्ञता, अव्यवस्थित चित्त और विरक्तिकी सोदाहरण आलोचना करने लगीं और इस प्रकार विपरीत व्यंजनासे उन्होंने उद्धवके मनपर अपनी कृष्ण-भक्तिकी दृढता और अनन्यताका इतना प्रभाव डाल दिया कि उद्धवने उन्हें संसारमें परम पूजनीय कहकर सराहा। भागवतमें यह प्रसंग उपर्युक्त अध्यायके बारहवें श्लोकसे इक्कीसवें श्लोकतक चलता है। इसमें गोपियोंकी तीव्र विरहानुभूति भ्रमरकी अन्योक्तिके सहारे अत्यन्त ललित, हृदयावर्जक और संगीतमय पदोंमें वर्णित है, इसलिए इसे 'भ्रमरगीत' कहा गया है।

भ्रमरगीतकी कल्पना भागवतकारकी अद्भुत काव्य-प्रतिभाकी परिचायक है। वर्ण, गुण, कर्म और स्वभावमें भ्रमर और श्रीकृष्णमें ऐसी समता है कि अन्योक्तिमें अत्यन्त स्वाभाविकता और मार्मिकता आ गयी है। साथ ही, भ्रमरमें दूतत्वका आरोप करके गोपियाँ अपने नुकीले व्यंग्य-वचनोंसे कृष्णके दूत उद्धवको भी लक्ष्य बना लेती हैं। परन्तु इस समस्त प्रसंगमें भागवतकारने गोपियोंके प्रेमको पार्थिवतापर नहीं उतरने दिया। गोपियाँ हरिकी कथाको सर्वनाशिनी—संसारसे पूर्ण वैराग्य उत्पन्न करनेवाली जानकर भी उसमें सर्वभावेन आसक्त हैं और उसे दुस्त्याज्य मानती हैं (श्लोक १८)।

भागवतमें वर्णित भ्रमरगीतका प्रसंग उसके पूर्वप्रसंग उद्धव-ब्रज-आगमन और उद्धव-सन्देशके साथ प्रायः सभी कृष्णभक्त कवियोंने गीति-पदोंके रूपमें गाया है। सबसे पहले विद्यापतिकी 'पदावली'में इस विषयके कुछ पद मिलते हैं, जिनमें विरहिणी राधा मधुकरको सम्बोधित करके कृष्णकी निष्ठुरताका प्रेममय उलाहना देती हैं। परन्तु हिन्दीमें कृष्णकाव्यकी परम्पराके प्रवर्तक सूरदास ही कृष्ण-काव्यके अन्यतम विषय—कदाचित् सर्वाधिक लोकप्रिय विषय—भ्रमरगीत-परम्पराके भी प्रवर्तक हैं। कृष्णलीलाके अन्य प्रसंगोंकी तरह इस प्रसंगको भी उन्होंने 'भागवत'से कथासूत्र लेकर अत्यन्त मौलिक रूपमें अनेक नवीन उद्भावनाओंसे संवलित किया है।

'सूरसागर'के उद्धवका व्यक्तित्व 'भागवत'के उद्धवसे बहुत भिन्न चित्रित किया गया है। 'भागवत'के उद्धव श्रीकृष्णके प्रिय सखा, साक्षात् बृहस्पतिके शिष्य, महामतिमान् वृष्णिवंशीय यादवोंके मान्य मन्त्री हैं। श्रीकृष्ण उन्हें माता-पिताको प्रसन्न करने तथा अपना सन्देश सुनाकर गोपियोंके वियोगरोगको शान्त करनेके लिए ब्रज भेजते हैं (भागवत, १० पू० : ४६ : १ : २)। 'सूरसागर'के उद्धव भक्ति-मार्गके विरोधी हैं; वे अद्वैतवादी, अहंकारी ज्ञानमार्गी हैं। उनके हृदयमें भक्तिकी सरसता नहीं है। वे योग-साधनमें विश्वास करते हैं। श्रीकृष्ण उनका अहंकार भंग करनेके लिए तथा उन्हें प्रेम-भक्तिकी महत्ता समझानेके लिए गोपियोंके पास भेजते हैं। सूरदासने ज्ञान और योगके अतिरिक्त जप, तप, कर्मकाण्ड आदि भक्तिसे भिन्न सभी मार्गोंका प्रतिनिधित्व उनपर आरोपित किया है। भागवतमें तो उनका रथ और उनकी वेश-भूषा ही कृष्णके सदृश बतायी गयी है, 'सूर-सागर'में उनका रंग भी कृष्ण और भ्रमरकी भाँति काला बताकर भ्रमरपर की गयी अन्योक्तियोंमें कृष्णके साथ उन्हें भी समेटा गया है। वस्तुतः गोपियोंके कटाक्ष कृष्णकी अपेक्षा उद्धवको अधिक लक्ष्य करते हैं।

'सूरसागर'के भ्रमरगीतके दो पक्ष हैं—एक काव्य-पक्ष और दूसरा धार्मिक पक्ष। धार्मिक-पक्षकी दृष्टिसे देखनेपर वैष्णव भक्ति-आन्दोलनके समयकी धार्मिक अवस्थाका यथातथ्य चित्र हमारे सम्मुख आ जाता है। मायावाद-अद्वैत-

वादका आतंक, अनेक लौकिक देवी-देवताओंकी पूजा, शिवाराधनाका विकृत रूप, अलखवादी हठ-योगियोंका पाखण्डपूर्ण धर्माचार, अनधिकारी निर्गुणवादियों द्वारा मिथ्याका प्रचार—इन सबसे भक्ति-धर्मको संघर्ष करना पड़ा था। भ्रमरगीतकी गोपियाँ इस धर्मकी सहजता, समर्थता और सफलताको वचन और प्रत्यक्ष उदाहरण द्वारा प्रमाणित करती हैं। वे निर्गुणका विरोध तो करती दिखायी गयी हैं, परन्तु मूलतः उसका खण्डन करना उन्हें अभीष्ट नहीं है। उनका तात्पर्य यह है कि सगुणके द्वारा ही, उसकी प्रेम-भक्तिके साधनमें ही निर्गुण अद्वैतकी सच्ची अनुभूति हो सकती है। भक्तिमार्गमें, जो राजमार्गके समान प्रशस्त है, ज्ञान और कर्मके मार्ग समाहृत हैं, साधन और साध्यकी एकरूपता है। 'सूरसागर'का भ्रमरगीत सूरदासके सामाजिक दृष्टिकोणको स्पष्ट करता है तथा यह प्रमाणित करता है कि वे अपने समयकी परिस्थितिके प्रति कितने जागरूक थे तथा तत्कालीन समस्याओंका समधान वे किस उपायसे करना चाहते थे।

भ्रमरगीतका यह खण्डन-मण्डनात्मक पक्ष अत्यन्त काव्यमयी शैलीमें उपस्थित किया गया है। सूरदासकी गोपियाँ नीरस दार्शनिक वाद-विवादमें नहीं पड़तीं। उनके तर्क हार्दिक वृत्तिपर आधारित हैं, अतः उनकी उक्तियाँ अत्यन्त मार्मिक बन गयी हैं। भ्रमरगीतके इस धार्मिक पक्षने ही वस्तुतः 'सूरसागर'के इस अंशको श्रेष्ठ संकेतात्मक व्यंग्यकाव्य बना दिया है। गोपियोंके उपालम्भोंमें सूरदासकी तीव्र संवेदनशीलता, प्रेम-भक्तिकी गम्भीरता तथा अभिव्यक्तिकी चरम कलात्मकता प्रकट हुई है। भ्रमरगीतमें व्यंग्य-परिहासके प्रधान विषय हैं—(१) कृष्ण, मधुकर और उद्धव तथा उनके साथ मथुराके सभी व्यक्तियोंमें रंग, रूप, प्रकृति और स्वभावकी समानता तथा कृष्ण-वर्णके प्रति गोपियोंका तीव्र अनुराग, जो अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यध्वनिके द्वारा व्यक्त हुआ है; (२) उद्धवके व्यक्तित्वमें सरलता, गम्भीरता, प्रचण्ड पाण्डित्य और परम आत्मसन्तोषके साथ विनोदवृत्ति, हार्दिकता और सहज बोधवृत्तिका एकान्त अभाव, जिसके कारण उनका पाण्डित्य एक बोझमात्र हो गया है तथा उनकी विद्वत्ता मूर्खताके अतिरिक्त और कुछ नहीं है; (३) निर्गुणकी शून्यता, आधारहीनता और प्रयोजनहीनता तथा इन सबकी श्यामसुन्दरके समक्ष हीनता और उससे असंगति; (४) योग और उद्धवके प्रेमज्ञान और योग-मार्गकी गोपियोंके गुण-कर्म-स्वभावसे असंगति तथा सामयिक परिस्थितिमें उसकी अनुपयोगिता तथा (५) कुब्जा और कृष्णके विचित्र संयोगकी असंगति और कुब्जा द्वारा गोपियोंके लिए भेजा गया कटाक्षपूर्ण सन्देश। इन विषयोंको लेकर सूरदासने जो अपना अद्भुत काव्य-कौशल दिखाया है, उसकी कदाचित् सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे अत्यन्त सूक्ष्म संकेतोंके द्वारा विस्मयकी मधुर व्यंजना करते हुए मानव-मनकी विविध पार्थिव वृत्तियोंको उठाकर आध्यात्मिक स्तरपर पहुँचाते जाते हैं।

'सूरसागर' (सभा)में उद्धवके ब्रज आगमनसे प्रारम्भ होकर उद्धवके मथुरा लौटनेतकके (पद ४०२८से ४७७७-तक) साढ़े सात सौ पदोंके प्रसंगके अन्तर्गत भ्रमरगीतका प्रसंग ४११५ पदसे प्रारम्भ होता है और ४६७०वें पदतक गोपियाँ उसमें बीच-बीचमें बराबर उठाती जाती हैं तथा मधुकरको सम्बोधित करके उद्धव और कृष्णपर कटाक्ष करती हुई अपनी विरहजन्य मर्मव्यथा व्यंजित करती हैं।

सूरदासके बाद अष्टछापके एक अन्य कवि नन्ददासने 'भँवरगीत'की रचना की। उसकी छन्द-शैली तो 'सूरसागर'-से ली गयी है, परन्तु उसमें पुष्टिमार्गीय भक्ति-सिद्धान्त तथा दार्शनिक पक्ष अधिक मुखर हो गया है। नन्ददास 'भागवत'की ओर भी अधिक झुकते दिखाई देते हैं। नन्ददासका 'भँवरगीत' अपेक्षाकृत बहुत छोटी रचना है। सूरदासके भ्रमरगीतमें 'भँवरगीत'के, आकार-प्रकारके कम-से-कम दो प्रसंग पृथक् और स्वतन्त्र रूपमें इंगित किये जा सकते हैं। अष्टछापके अन्य कवियोंने भी भ्रमरगीतके प्रसंगपर पद-रचना की है, परन्तु सम्यक् प्रबन्धके रूपमें किसीका भ्रमरगीत नहीं मिलता। कृष्णदासके रचे हुए भ्रमरगीतका नामोल्लेख अवश्य हुआ है, परन्तु वह रचना प्राप्त नहीं हुई।

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है कि भ्रमरगीत कृष्ण-काव्यका अन्यतम लोकप्रिय विषय रहा है और केवल उन कवियोंको छोड़कर जिन्होंने विरह भावको नहीं अपनाया, राधावल्लभीय भक्त-कवि, प्रायः सभी कृष्ण विषयक काव्य-रचना करनेवाले कवियोंने इस प्रसंगपर थोड़ा-बहुत अवश्य लिखा है। रीतिकालमें भी भिन्न वातावरण और काव्यशैलीके साथ भ्रमरगीतका विषय कवियोंको प्रिय रहा और आधुनिक कालतक वह परम्परा चली आयी है। भ्रमरगीत उपालम्भ-काव्यका एक रूप है। हिन्दीमें तो वह उसका अक्षय स्रोत है, अतः उपालम्भ-काव्यके रूपमें उसकी दीर्घ और अखण्डित परम्परा मिलती है। दे० 'उपालम्भ-काव्य'। —व्र० व०

भ्रमर-गुफा–ब्रह्मरन्ध्र (दे० 'भ्रमर', 'हठयोग')।

भ्रांतापह्नुति–दे० 'अपह्नुति', चौथा भेद।

भ्रांतिमान–सादृश्यगर्भ, अभेदप्रधान, आरोपमूलक अर्थालंकारोंका एक भेद। सर्वप्रथम रुद्रटने औपम्य अलंकारोंमें इसे स्वीकार किया है। मम्मटने इसे "प्रस्तुतके दर्शनमें, अप्रस्तुतके साथ उसके सादृश्यके कारण, जहाँ अप्रस्तुत-(उपमान)की प्रतीति निरूपित की जाय", ऐसा माना है (का० प्र०, १० : १३२)। परन्तु भ्रान्तिके सौन्दर्यके लिए इसमें सादृश्यके साथ कवि-प्रतिभाका हाथ भी होना चाहिये। रुय्यक तथा विश्वनाथने इसका निर्देश किया है—"सादृश्य-हेतुकापि भ्रान्तिर्विच्छित्यर्थं कविप्रतिभोत्थापितैव गृह्यते" (अ० स०)। जगन्नाथने इसके नामके औचित्यपर प्रश्न उठाया है और कहा है कि यह नाम औपचारिक है, क्योंकि इसमें व्यक्तिके भ्रमकी अभिव्यक्ति होती है। सम्भवतः इसी भावनाके कारण इसके भ्रान्ति और भ्रम नाम भी प्रचलित हुए।

हिन्दीके जसवन्त सिंह, मतिराम, दास तथा पद्माकर आदि आचार्योंने जयदेवके आधारपर केवल नामको लक्षणरूपमें स्वीकार किया है। भूषणने मम्मट आदिके आधारपर लक्षण दिया है—"आन बातको आनमैं, होत जहाँ भ्रम आय" (शि० भू०, ७६)। उदा०—"अन्त मरैंगे चलि

जरें, चढि पलासकी डार। फिरि न मरें मिलिहें अली, ए निरधूम अँगार" (वि० र०, ३८३)। अथवा—"अति सशंकित और सभीत हो, मन कभी यह था अनुमानता। ब्रज समूल विनाशनको खडे, यह निशाचर हैं नृप कंसके" (प्रि० प्र०)। भ्रान्ति तथा रूपकका भेद स्पष्ट है, क्योंकि रूपकमे आहार्य ज्ञान (व्यंग्य, काल्पनिक) और भ्रान्तिमे अनाहार्य ज्ञान (स्वाभाविक) रहता है, अर्थात् रूपकमे जो उपमेय-उपमानकी एकरूपता रहती है, उसमे दोनोंका बोध अलग-अलग बना रहता है, जब कि भ्रान्तिमें उनकी अलग चेतना नहीं रहती, उपमेयमे उपमानका भ्रम होता है। —र०

मंगल-पाठ—दे० 'नांदी'।

मंजरी (गोपी)—दे० 'गोपी'।

मंजरी सवैया—दे० 'सवैया', वामका पर्याय।

मंडन—दे० 'सखी-कर्म'।

मंडल-चक्र—तन्त्रोंमें मण्डल गुह्य अनुष्ठानोंका एक अंग था और गुह्य साधनाओंमें मण्डल-चक्रके अनुष्ठानोंसे ही साधकको दीक्षा दी जाती थी। बादमे यह भी माना जाने लगा कि उत्तम मण्डल स्वतः तथागत और उनकी शक्तिका युगनद्ध मण्डल है। अनुत्तर-साधनामें यह भी मान लिया गया था कि सहज अथवा अनुत्तरकी उपलब्धिके उपरान्त साधक बाह्य मण्डल-कर्मोंसे विमुक्त होकर स्वयं अपनी कायामे शून्य तथा वज्रका युगनद्ध सम्पन्न कर घरमे ही मण्डल स्थापित करता है। यह मण्डल-कर्म पवनके निरोधसे सम्पन्न होता था। सन्तोंने शून्यके साथ मण्डल शब्दका प्रयोग किया है, किन्तु उनका प्रयोग इस शब्दकी तान्त्रिक परम्पराको बहिष्कृत कर केवल परम्परा-निर्वाहके रूपमे ही है। —ध० वी० भा०

मंत्र—[मन्त्रि (चुरादि०) गुप्तभाषणे+अच् (तारानाथकृत शब्दस्तोममहानिधि), घञ् (भानुजीदीक्षितकृत अमरकोष-टीका रामाश्रमी) वा।] (क) साधारण अर्थ—१. वैदिक सूक्तों या प्रार्थनाओंकी प्रत्येक इकाई। इसके तीन प्रकार होते है—ऋच् अर्थात् ऋग्वेदके मन्त्र, जो छन्दोबद्ध हैं और उच्च स्वरसे पाठ करनेके लिए है, यजुस् अर्थात् यजुर्वेदके मन्त्र, जो गद्यात्मक है और निम्न स्वरमे उच्चारण करनेके लिए है तथा सामन् अर्थात् सामवेदके मन्त्र, जो उच्च स्वरसे गाये जानेके लिए है। २. वेदोंका वह भाग, जिसके अन्तर्गत संहिताएँ (ऋक्-संहिता, यजुः-संहिता तथा साम-संहिता) आती है। ये संहिताएँ मन्त्रकाण्ड या मन्त्रभाग कहलाती है और वेदोंके ब्राह्मणभागसे भिन्न है। ३. गुप्त भाषण। ४. परामर्श, विचार। ५. नीति। (ख) विशेष अर्थ—१. जादू, टोना। २. अभीष्ट देवताकी सिद्धिके लिए तन्त्रोंमे कहे गये सूत्रात्मक मन्त्र, 'ॐ नमः शिवाय', 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इत्यादि। (ग) हिन्दीमें यह शब्द ऋक्, यजुः तथा सामके लिए सामूहिक रूपसे भी और पृथक्-पृथक् भी प्रयुक्त होता है। ऊपर भाग (ख)में दिये गये दोनो विशेष अर्थ भी होते है। —आ० प्र० मि०

मंत्रयान—बौद्धधर्मका तीसरा यान (मार्ग) मन्त्रयानके नामसे प्रसिद्ध था। इस शब्दका अर्थ अपनेमें ही स्पष्ट है। मन्त्र तथा यान दो शब्दोंसे यह बना हुआ है। वह यान (मार्ग), जिसमें मन्त्रका प्रयोग होता है। 'तत्त्वरत्नावली'में यह कहा गया है कि महायान दर्शनके दो अंग थे—(१) पारमितायान, (२) मन्त्रयान। इसे (पिछले यानको) योगाचार तथा माध्यमिक दर्शन द्वारा वर्णित किया जा सकता है। मन्त्रयान शून्यवादके सूक्ष्म विवेचनको लेकर आरम्भ हुआ था। बुद्ध-धर्म एक असाधारण मत था, जिसके सभी सूक्ष्म दार्शनिक विचारोंको समझनेमे लोग असमर्थ थे, अतएव भिक्षुओंके सामने जनताको निर्वाणका वास्तविक तत्त्व समझानेमें कठिनाइयाँ उपस्थित होने लगीं। इसी कारणसे उस निर्वाणका नाम शून्य रख दिया गया। जहाँतक बुद्ध-वचनके ग्रहण करनेका प्रश्न था, सभी साधक (अनुयायी) उपदेशोंको स्मरण नहीं कर पाते थे तथा उच्चारण करनेमे भी असमर्थ थे। अतएव अर्थरहित कुछ शब्दोंको जनताके सामने रखा गया, जिसके बार-बार उच्चारण करनेसे ही निर्वाणकी प्राप्ति (शून्य) हो सकती थी। उसे 'धरणी'का नाम दिया गया और तत्पश्चात् उसीके छोटे रूपको 'मन्त्र'की संज्ञा दी गयी। यही कारण है कि मन्त्रके मार्गसे मोक्ष-प्राप्ति करनेवाला मत 'मन्त्रयान'के नामसे प्रसिद्ध हुआ।

पुराने ढंगका विनय तथा ज्ञान-प्राप्तिके मार्ग पूर्वमध्य-युगमें लोगोंको आकर्षित न कर सके, इसीलिए मन्त्र, मुद्रा तथा मण्डल (व्यूहचक्र)का समावेश बुद्ध-धर्ममे किया गया। इस मार्गसे अन्तिम लक्ष्य (निर्वाण) तक पहुँचनेका विश्वास जनतामें जाग्रत् हो उठा। अतः मन्त्र, मुद्रा तथा मण्डलके प्रयोगसे महायानके पश्चात् बुद्ध-धर्म मन्त्रयान अथवा साधारणतया तन्त्रयानके नामसे प्रसिद्ध हो गया। मन्त्रयान तन्त्रयानकी पहली सीढ़ी थी, जिसमें महायान (दे०) मतमें प्रचलित पूजा तथा रीतिको अपनाना पड़ा और धीरे-धीरे उसका रूप परिवर्तित हो गया।

यों तो १०० ई०के लगभग नागार्जुनने 'शून्य'-सिद्धान्तको प्रतिपादित किया था, परन्तु बुद्ध-धर्ममे तन्त्र-यान (मन्त्र-तन्त्रका प्रयोग)का समावेश करनेका श्रेय असंग-को दिया जाता है, जो नागार्जुनके समकालीन थे। उन्हींके महायान 'सूत्रालंकार' ग्रन्थमे वासनायुक्त तान्त्रिक विधियों-का उल्लेख पाया जाता है। परन्तु यह कहना कठिन है कि मन्त्रका प्रयोग बुद्ध-धर्ममे किस व्यक्तिने आरम्भ किया। धरणी (धार्यते अनया इति धरणी) यानी गुप्त अक्षरोंके समूहसे ही मन्त्र विकसित हुए थे। बीज मन्त्रकी उत्पत्ति अष्टसाहसिक प्रज्ञापारमितामें पायी जाती है। अतः इस आधारपर यह कहना उचित होगा कि मन्त्रका आरम्भ ईसाकी पहली शतीमें अवश्य हो गया था। वसुबन्धुने भी उसी शताब्दीमें 'बोधसत्त्व-भूमि' नामक ग्रन्थमे लिखा है कि धरणीकी अर्थहीनता ही वास्तविक मन्त्र माना जा सकता है। अर्थहीन मन्त्र ही वास्तविक शक्ति रखते थे, जिनके बल द्वारा साधक लक्ष्यकी प्राप्ति कर सकता था। उस समयके बौद्ध-मन्त्र हिन्दू-तन्त्रसे सर्वथा मिलते-जुलते हैं। मन्त्रके साथ मुद्राका भी समावेश इस यानमे किया गया। इस परिस्थितिमे मन्त्र या धरणी अथवा गुप्त रूपसे जादू, मोहिनी मन्त्र तथा इन्द्रजाल आदि कार्योंने बुद्ध-धर्मकी आचार-पद्धतिमे परिवर्तन ला दिया।

मन्त्रयानका कई नामोसे साहित्यमें उल्लेख मिलता है। जादू, मोहिनी-मन्त्र तथा यन्त्रके प्रयोगसे इसका दूसरा नाम तन्त्रयान भी प्रसिद्ध हो गया। पूर्व-मध्ययुगमे जब पालवंशी नरेश पूर्वी भारतमे शासन कर रहे थे, नागार्जुनके 'शून्य'को 'वज्र'का नाम दिया गया। वह लक्ष्य (निर्वाण) वज्रकी तरह अभेदनीय है, उसे नष्ट नहीं किया जा सकता। अतएव उस लक्ष्य वज्रकी प्राप्तिके लिए उपासकोंने अपने पथको वज्रयान(दे०)का नाम दिया। यही मार्ग आगे चलकर कालचक्रयान तथा सहजयानके नामसे विख्यात हुआ। साहित्यके आधारपर यह ज्ञात होता है कि बौद्ध-तन्त्रको तीन श्रेणियोंमें विभाजित किया गया था—वज्रयान, कालचक्रयान तथा सहजयान। वैडेलका कथन है कि १०वीं शतीमे तान्त्रिक आचारका प्रचार उत्तरी भारत, कश्मीर तथा नैपालमें पूर्ण रूपसे हो गया था। मन्त्रयानका तीसरा नाम कालचक्रयान पड़ा, जिस (बुद्धमत)में आदि बुद्धका सिद्धान्त समाविष्ट किया गया। इसमें आदि बुद्ध तथा शक्ति(काली)के मिलनसे संसारकी उत्पत्ति मानी जाती है। आदि बुद्ध ध्यानावस्थित होकर सम्भर या डाकिनी ऐसी भयंकर शक्तियोंको पैदा करते हैं। अतएव उस पैशाचिक कार्यकी भयंकरताके कारण ही मन्त्रयान कालचक्रयानके नामसे परिवर्तित हो गया, जिसका अर्थ है 'समयका चक्र' या 'नाशका चक्र'। कालको समय, मृत्यु तथा नाशके अर्थमे प्रयोग किया गया था। कालान्तरमें इस यानको सहजयानका भी नाम दिया गया। 'सहज'को 'वज्र' या 'शून्य'के अर्थमे प्रयोग करते है। इस सिद्धान्तके अनुसार लक्ष्य(मोक्ष)की प्राप्ति अध्ययन, उपवास, स्नान, मूर्ति-पूजा या नाना प्रकारके आचार अथवा वज्रयानकी क्रियासे नहीं हो सकती। सहजयानमें वज्रयानसे इस रूपमें अन्तर था कि सहज या सत्यकी प्राप्तिके लिए तत्त्वकी दीक्षा तथा योगका अभ्यास आवश्यक समझा जाता था। इस यानमें अन्तिम ध्येयकी प्राप्तिके निमित्त मनुष्य-शक्तियोंपर अनुचित बल देना अनावश्यक समझा गया है और सहजयानवालोंको विश्वास है कि स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ स्वतः उस मार्गपर मनुष्यको ले जायँगी। अतएव सहजयानके नामकरण तथा प्रयोगका औचित्य समझा जा सकता है।

महायानके 'शून्यता'के विचारको 'वज्र'की धार्मिक भावना दी गयी। 'वज्र'के साथ 'सत्त्व' यानी चेतनाको सम्मिलित कर मन्त्रयानमे वज्रसत्त्वकी स्थिति घोषित की गयी, जो वज्रयानमें परमदेव माने गये हैं। तन्त्र तथा मन्त्रका उपयोग पूजामें होने लगा। साधनमालामें पुष्प, दीप तथा धूप आदिके प्रयोगका उल्लेख पाया जाता है। धार्मिक भावनाकी जागर्तिके साथ वज्रयानमें नये देवताओं तथा देवियोंकी प्रतिमाएँ निर्मित हुईं। आदि बुद्धको परमब्रह्म मानकर प्रज्ञापारमिताको शक्तिका स्थान दिया गया। वह विश्वशक्ति तथा शक्तिमान्‌के परस्पर संयोगका फल है। पाँच ध्यानी बुद्ध तथा उनकी शक्ति तारासे ससारकी उत्पत्ति समझी जाती है। ध्यानी बुद्ध तथा ताराके मिलनसे ही सारे देवी-देवताओंका आविर्भाव हुआ। वैरोचन, रत्नसम्भव, अमिताभ, अमोघसिद्धि तथा अक्षोभ्य, इन पाँच ध्यानी बुद्धोंके पुरोहित वज्रसत्त्वको भी कलामें स्थान दिया गया। वज्रसत्त्व अधिकतर शक्तिको आलिंगन करते दिखलाये गये है, जिसके कारण दोनोके मिलनको इस मतके अनुयायी 'यवयम'के नामसे पुकारते है। मन्त्रयानमें इसको 'भगवान्' भी कहते थे, जो सब जीवोंमें व्याप्त है। इसे हर-गौरीकी प्रतिमाके सदृश मान सकते है। प्रत्येक ध्यानी बुद्धका एक परिवार होता है। इस प्रकार कलात्मक उदाहरणोके अध्ययनसे हजारों देवी-देवताओंकी उत्पत्ति मानी जा सकती है। पाल-युगमें मन्त्रयान (वज्रयान) सम्बन्धी अनगिनत मूर्तियाँ मगधमें बनती रहीं। प्रस्तरके अतिरिक्त धातु-प्रतिमाओंके ढालनेका कार्य भी होता रहा। नालन्दा वज्रयानका प्रधान केन्द्र था, जहाँ प्रतिमाओंके निर्माणमें धीमान् तथा विटापाल नामक कारीगर व्यस्त रहे। मगधसे लेकर बंगालतक खोदाईसे निकली मूर्तियाँ अधिकतर वज्रयानसे सम्बद्ध है।

वज्रयानका सिद्धान्त तथा जीवन-लक्ष्य महायानसे भिन्न था। जगत्‌की दो शक्तियाँ शिव-शक्ति या पुरुष-प्रकृति आदि शब्द द्वन्द्वके बोधक है। शिव-शक्तिका आलिंगन आनन्दका अवसर समझा जाता है, जिसे वज्रयान(मन्त्रयान)मे वज्रसत्त्वकी प्रतिमा द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। वज्रयानमे शिवशक्तिको प्रज्ञा तथा उपायसे व्यक्त किया जाता है, क्योंकि प्रज्ञा तथा उपायका सामरस्य (परस्पर मिलन) ही निर्वाण है। तन्त्र-ग्रन्थोंमें प्रज्ञाको भगवती, युवती या डोम्बी आदि शब्दोंसे उल्लिखित किया गया है। उपायको स्वामी, पुरुष मानकर ही प्रज्ञोपाय द्वारा संसारको महासुखकी उपलब्धि करायी जाती है।

मन्त्रयान(वज्रयान)का साहित्य तीनो भाषाओं—संस्कृत प्राकृत तथा अपभ्रंशमें पाया जाता है। उस साहित्यको सगीति-प्रकारका कहते हैं, जिसमे स्वयं बुद्ध द्वारा उपदेश देनेकी बात कही गयी है। तन्त्र-साहित्यका आरम्भ निम्नलिखित वाक्यसे होता है—"एवं मया श्रुतं, एकस्मिन् समये भगवान् सर्वतस्वागत-काय-वाक्-चित्त-हृदय-वज्र-पोषितभगेषु विजहार"।

बौद्ध तन्त्र-साहित्यकी उपलब्धि नैपाल तथा तिब्बतसे अधिकतर हुई है, जिसका समुचित प्रकाशन नहीं हो सका है। गुलसमाज-तन्त्र, गुलसिद्धि, महाकल-तन्त्र तथा हेवज्र-तन्त्रके नाम लिये जा सकते है, जिनके रचयिताओंके विषयमे विशेष ज्ञात नहीं है। चौरासी सिद्धोंमें ऐसे नाम मिलते है, जिनके ग्रन्थोंमें वज्रयानी सिद्धान्तोंकी विवेचना मिलती है। चर्यापद (दे०) तथा सरहपाद और कान्हपादके दोहा नामक साहित्यमें अनेक सिद्धान्तोंपर विचार किया गया है। उदाहरणार्थ, समरस(मिलन)पर दोहा साहित्यमें विवेचन है, जिसकी हिन्दू तन्त्रके सामरस्यके साथ तुलना की जा सकती है। भुसुकपादके एक गानमें योगिनी शक्तिपर विचार किया गया है। चर्यापदमें वज्र-जपका वर्णन आता है। —वा० उ०

मंथान या मंथना—वर्णिक छन्दोंमे समवृत्तका भेद; 'प्राकृतपैंगलम्'(२ : ५०)में इसका मन्थान नाम दिया है; इसके प्रत्येक चरणमें तगण २ (ऽऽ।, ऽऽ।) होते हैं, जिसे भानुने भी माना है। 'वाग्वल्लभ'में मन्थानक नाम दिया

गया है। केवल केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा०—"वाणी कही बान; कीन्हीं न सो कान। अद्यापि आनीन; रे वादि कानीन" (रा० चं०, ४ : ७)। —पु० शु०

मंदाक्रांता–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। हेमचन्द्रके 'छन्दोनुशासन' (२ : २८९) तथा 'पिंगलछन्दःसूत्र' (७ : १९)के अनुसार म, भ, न, त, त, ग-गके योगसे यह वृत्त बनता है (SSS, SII, III, SSI, SSI, SS); इस छन्दमें ४, ६, ७ वर्णोंपर यति होती है। कालिदासने मेघदूतमें इस छन्दका आदिम प्रयोग किया था। 'हरिऔध' (प्रि० प्र०, सर्ग ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, १२, १४, १५, १६, १७), अनूप शर्मा (सिद्धार्थ–सर्ग ५, ६, ११, १३, १६) और मैथिलीशरण गुप्त(पत्रावली—पृ० १२-१५)ने इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा०—"प्यारा वृन्दाविपिन उनको आज भी पूर्व-सा है। वे भूले हैं न प्रिय जननी औ न प्यारे पिताको। वैसी ही है सुरति करते श्याम गोपांगनाकी। वैसी ही है प्रणय-प्रतिमा बालिका याद आती" (प्रि० प्र०, १४ : १६)। यह छन्द अपनी मन्द-मन्थर गतिके कारण वियोग-शृंगारके अनुकूल है। —पु० शु०

मकड़ी–मकडीकी भाँति अपनी प्रवृत्तियोंसे ही जगज्जाल बुन लेनेवाला मन—"अवधू यो मन जात है याही तै सब जाणि। मन मकडीका ताग ज्यूँ उलटि अपूगै आणि" (गो० बा०)। परिशुद्ध मनसे उत्पन्न होनेवाले तार (सुरति)से ही परम पदकी प्राप्ति भी मानी जाती है। —उ० शं० शा०

मकरंद सवैया–दे० 'सवैया', वामका पर्याय।

मगही–बिहारी समूहकी एक बोली मगहीका केन्द्र पटना और गया है। बोलीमे साहित्यका सर्वथा अभाव है। लिखनेके लिए कैथी लिपिका प्रयोग होता है। मगहीकी उत्पत्ति मागधी अपभ्रंश से है।

मच्छ–दे० 'मछरी'।

मछरी–मछलीका प्रमुख धर्म है चांचल्य। मन या चित्त भी चांचल्यधर्मी है अतः मनके अर्थमें मीन तथा इसके अन्य पर्यायवाची शब्दोंका प्रयोग भारतीय साहित्यमें बहुत पुराना है। नाथों, सिद्धों, सन्तोंने इस अर्थमें इसका प्रयोग बहुत अधिक किया है। इन्द्रियवश्यताके लिए भी मीन प्रसिद्ध है। लालची एवं विषयासक्त जीवके अर्थमे भी इनको याद किया जाता है। 'पानीमे मीन पिआसी' जैसी बात करते समय सन्तोंने मीन शब्दका प्रयोग अज्ञानी जीवके अर्थमें भी किया है। पानीपर अनन्यभावसे आश्रित होनेके कारण इसे कभी-कभी एकनिष्ठ साधक या भक्तकी तरह भी स्मरण किया गया है। सन्तोंकी एक विशेष प्रवृत्ति रही है कि जहाँ भी किसी शब्दमें किसी अन्य शब्दसे ध्वनिसाम्य दीखा, वे उस शब्दके अर्थको भी अपने कथ्यके अनुसार मोड़कर उस शब्द विशेषमें भर देते है। मछरी शब्द संस्कृत मत्स्यका ध्वनि परिवर्तित रूप है। संस्कृतमें मछरीसे थोड़ा ध्वनिसाम्य रखने वाला एक शब्द है मत्सरी। सन्तोंने अनेक स्थलोंपर 'मछरी'से मछली और मत्सरी दोनोंका अर्थ निकालनेकी कोशिश की है। —रा० सिं०

मणि–वज्रयानकी केन्द्रीय कल्पना वज्र ही है। वज्र इन्द्रका आयुध है और अश्म तथा मणिके अर्थमे भी प्रयोग होता है। मणियोंको अथर्ववेदमें सुख, समृद्धि, रक्षा आदिका साधन बताया है। अमीवर्त नामक मणिका उल्लेख मिलता है, जिसे धारण करनेसे इन्द्र दिग्विजयी हुआ था। अनेक साधनाओंमें वज्रका वैभवदाता मणिके रूपमे उल्लेख मिलता है। —ध० वी० भा०

मणिकुल्या–दे० 'मल्लिका'।

मणिपूर–दे० 'हठयोग'।

मतंग–मतंग अपनी मस्ती, दर्प, कामुकता और दुर्निवार शक्तिमत्ताके लिए प्रसिद्ध है और इन सभी अर्थोंमें इसे साहित्यमें बार-बार चित्रित-उल्लिखित किया गया है। सन्तोंने सामान्य ढंगके कथनोसे लेकर रूपकों, उपमाओं, उलटबाँसियों एवं योगपरक रूपकोंमें मतंग, गजराज, मैगल, मैमंत (मदमस्त) आदि नामोंसे इसे अपने कथ्यकी अभिव्यक्तिका साधन बनाया है। 'हठयोग प्रदीपिका'मे इसे मन (४,९०) तथा वायु (२, १५)के उपमान रूपमें निरूपित किया गया है। श्रीविचारदासने सुझाया है कि कबीर-साहित्यमें उल्लिखित हस्ती, मतंग आदि शब्द मनके बोधक हैं (बीजक, भूमिका, पृ० ४०)। संत साहित्यके सही अर्थ-निर्धारणमें सदैवसे एक विशेष कठिनाईका सामना करना पड़ा है कि एक ही शब्द भिन्न-भिन्न स्थानोंपर एक दूसरेसे भिन्न और कभी-कभी नितान्त विपरीत अर्थमें प्रयुक्त मिल जाता है। मतंग कहीं एकनिष्ठमनके प्रतीक रूपमें उल्लिखित होता है—"मैमंता त्रिन ना चरै सालै चित्त सनेह। बारि जु बाधा प्रेम कै डारि रहा सिरि खेह" (कबीर), तो कही दुर्निवार और अनेक आकर्षणोंमें फँसे मनका प्रतीक बनाकर उपस्थित किया जाता है—"मैमंता मन मारिरे घट ही माँहे घेरि। जबही चालै पीठि दै आँकुस दै दै फेरि॥" (कबीर)। इस तरहकी अर्थगत अस्थिरता साहित्यमे कोई नयी बात नहीं है। आगको सभी बुरी, सड़ी-सूखी, अशुद्ध वस्तुओंको जला देनेवाली कहते समय जहाँ उसके शुद्ध करनेवाले धर्म (पावकत्व)का उल्लेख होता है, वहीं जलाकर नष्ट करनेके कारण उसे दुष्ट भी कहा जाता है क्योकि ऐसे अवसरोंपर कविका ध्यान धर्मी (मतंग आदि)की अपेक्षा उसके धर्म (मत्तता, दुर्निवार्यता, कामवश्यता), पर केन्द्रित होता है। सन्तोंने भी अपने उपमानोके धर्मको ही अपनी अभिव्यक्तिका साधन बनाया है। कठिनाई यही है कि इनके साहित्यमें उपमानोंके धर्मोंको ही स्मरण करनेकी वृत्ति इतनी विविध और बहुल है कि सहृदय भ्रममें पड़ सकता है। उदाहरणार्थ एक जगह आक्रामक अर्थमें सिंह पंचेन्द्रियोंका वाचक बनकर आता है, तो दूसरी जगह 'ठाढ़ा सिंह चरावै गाई' कहते समय 'ज्ञान' या बोधि प्राप्त मनका। गयन्द, मतंग आदिका प्रयोग भी इस तरहके परस्पर विपरीत अर्थोंमें सन्तोने बार-बार किया है। —रा० सिं०

मति–प्रचलित तैंतीस संचारियोंमें एक। वाग्भट एवं हेमचन्द्रके काव्यानुशासनोंसे ज्ञात होता है कि एक बातका निर्णय कर लेना मति है। भरतकी परिभाषासे यह स्पष्ट नहीं होता कि यह संचारी भावके अन्तर्गत क्योंकर हो सकती है। भरतने मतिके विभाव एवं अनुभाव निम्नलिखित प्रकारसे दिये हैं—अनेक शास्त्रोंके मनन, पक्ष एवं

विपक्षका निरीक्षण करनेसे मति उत्पन्न होती है। शिष्योंको उपदेश, विचार एवं संशय दूर करनेसे इसकी अभिव्यक्ति होती है (ना० शा०, ७ : ८२ ग)। धनंजय एवं रामचन्द्र गुणचन्द्रने यह स्पष्ट कर दिया कि 'भ्रान्तिका नाश' ही मति है। परन्तु 'दशरूपक'मे दिये गये उदाहरणसे भी स्पष्ट नहीं होता कि इसकी गणना संचारियोमे कैसे हो सकती है। धनिकने 'किरातार्जुनीय'के दूसरे सर्गसे वह उदाहरण लिया है, जब युधिष्ठिर कहते हैं कि किसी भी कामको बिना सोचे-समझे नहीं करना चाहिये, इत्यादि। यह सामान्य कथन है। अतः विश्वनाथने 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्'का वह श्लोक उद्धृत किया है, जिसमे दुष्यन्त शकुन्तलाकी ओर आकृष्ट होनेको अन्तःकरणकी प्रवृत्तिका आश्रय के उचित मानते हैं। इसी उदाहरणको हेमचन्द्रने भी दिया है।

हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंने प्रायः 'शास्त्रचर्चासे भ्रमनाश'को ही मति संचारी माना है—"शास्त्र चिन्तनाते जहाँ होइ यथारथ ज्ञान। करै शिष्य उपदेश जहँ, मति कहि ताहि बखान" (भाव० : संचारी०)। देवकी नायिका मनको समझाती है—"ज्यों न निगोड़ें तबै समुझौ कवि देव कहा अब जो पछितानो। धन्य जियै जगमे जनते जिनको मनमोहनतें मन मानो" (वही)। रामदहिन मिश्रने विद्यापतिकी इन पंक्तियोंको प्रस्तुत किया है—"अपनहि नागर अपनहि दूत। से अभिसार न जान बहूत। की फल तेसर कान जनाय। आनत नागर नयन बझाय" (का० द०)। इसमें उल्लिखित मिलनको सब नहीं जानते, फिर किसी तीसरेको जनाकर क्या करना है, यह भाव 'मति' है। —ज० कि० ब०

मत्तगयंद सवैया—दे० 'सवैया', दूसरा प्रकार।

मत्तगयंद सुंदरी—दे० 'सवैया', उपजाति।

मत्तमातंग लीलाकर—साधारण दण्डकका एक भेद। हेमचन्द्र (१४ श० ई०)ने 'छन्दोनुशासन' अध्याय २, पंक्ति ३९४ में इसका लक्षण दिया है 'यथेष्ट रामत्तमातंगः'। भानुने 'रोनौवाअधिक' (पृ० २१०-छ० प्र०) दिया है, अर्थात् रगण नौ या अधिक। 'रामचन्द्रिका' (के० ग्र० भा० २ : पृ० ४२८)मे केशवदासने आठ रगणवाले छन्दको भी 'मत्तमातंग दण्डक' माना है, किन्तु पिंगलके मतका उल्लेख करते हुए उन्होंने आठ रगणको पिंगलानुसार लक्ष्मी छन्द कहा है—"रचि भुजंगवसु यगनकी लक्ष्मी रगनै आठ। आठ भ कहत किरीट है आठ स दुर्मिल पाठ"। किन्तु यह उचित मत केशवदासका नहीं लगता, क्योंकि २६ अक्षरके ऊपरवाले वृत्त ही दण्डक कहलाते है, अस्तु नौ रगणसे कममें इसका लक्षण नहीं दिया जा सकता।

हेमचन्द्रने इस दण्डकका उल्लेख किया है, इससे स्पष्ट है कि इसका प्रयोग उनके पूर्व होता रहा होगा, यद्यपि संस्कृत-काव्योमें दण्डकका प्रयोग यदा-कदा ही मिलता है। दण्डक और मात्रिक छन्दोंका पूर्ण प्रयोग प्राकृत और अपभ्रंश-कालमे ही हुआ है। केशवदासने 'मत्तमातंग'का दूसरा नाम गंगोदक (के० ग्र०, भा० २, पृ० ३१४) दिया है, किन्तु वह आठ रगणका ही है। इसलिए कहा जा सकता है कि इस दण्डक वृत्तका प्रयोग मध्यकालीन हिन्दी साहित्यमे भी नाममात्रको रहा होगा। संस्कृतमें आठ रगणके वृत्तका नाम 'स्वैरिणीक्रीडन' रहा है, जिसका भाव 'मत्तमातग लीलाकर'के अर्थमे आ जाता है, अर्थात् उन्मुक्तता। सम्भव है, इसके विकासमें उक्त छन्दका योग रहा हो—एक रगणके योगमात्रसे। छन्दकी स्वैरवृत्ति द्रष्टव्य है—"योग ज्ञाना नही यज्ञ दाना नही वेद माना नही या कली माहि मीता कहूँ"। यद्यपि सत्य तो यह है ९ रगणमे छन्दकी गति बढी लगती है और छन्दकी शोभा बिगड जाती है। छन्द ८ रगडमे ही पूर्ण हो जाता है, इसलिए इसे दण्डकके अन्तर्गत रखकर समवृत्त चतुष्पदीके ही अन्तर्गत रखना चाहिये अथवा ९ रगणका बन्धन हटाकर हेमचन्द्रकी परिभाषाके अनुसार यथेष्ट रगणका लक्षण ही देना चाहिये। —ह० मो०

मत्सरी—'भावक'।

मद—प्रचलित तैंतीसमेंसे एक संचारी; भरतकी नाट्य-प्रदर्शनके उपयुक्त व्याख्या (नाट्य० ३८-४६)को भाव-रूपमें ग्रहण करते हुए विश्वनाथने इसके सम्बन्धमे लिखा है —"सम्मोहानन्दसम्भेदो मदो मद्योपयोगजः" (सा० द०, ३ : १४६)। जिसमें सम्मोहन और आनन्दका मिश्रण हो, वह मदकी अवस्था कहलाती है। यह मद्य आदिके सेवनसे पैदा होती है।

धनंजयकी परिभाषा विश्वनाथकी अपेक्षा अधिक स्पष्ट है। उन्होने 'दशरूपक'मे लिखा है—"हर्षोत्कर्षो मदः पानात्स्खलदंगवचोगतिः" (४, २१), अर्थात् मद्यपानसे प्रादुर्भूत हर्षको 'मद' कहते है, उसमे अंग, वचन और गतिका स्खलन होता है, उनपर कोई नियन्त्रण नही रह जाता। इसके उत्तम, मध्यम तथा अधम भेद भरतसे ही स्वीकृत रहे हैं, जिनका सम्बन्ध निद्रा, हास और रुदनसे जोड़ा गया है। विश्वनाथने मद्यपान आदि कहकर इसकी व्यापकताको सीमित नहीं किया है; पर धनंजयने केवल मद्यपान-जन्य मदको ही मद संचारीके नामसे अभिहित किया है। अतः इनकी व्याख्या संकीर्ण और सीमित हो गयी है।

हिन्दी-रीतिकालमे दोनो परम्पराओंका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। देवने—"सो मद जहँ आसव पियै, हर्ष होन हिय बीच" (भाव० संचारी०)मे केवल मद्यपान कारण माना है और इसके विपरीत पद्माकरने 'धन यौवन रूपादितें' (जगद्वि०, ४८४) भी स्वीकार कर लक्षणको अधिक व्यापक बनाया है। तीन भेद हिन्दीमें भी प्रायः मान्य हुए है। प्रेमके आवेगमें प्रेमी अनियन्त्रित ढंगसे बातें करते है। रामचन्द्र शुक्लने इसे गर्वका भी संचारी माना है, क्योंकि अभिमानके जोर करनेपर भी लोग बहकी-बहकी बातें करते है। मद संचारीकी प्रकृतिगत व्यंजना—"छकि रसाल सौरभ सने, मधुर माधुरी गन्ध। ठौर ठौर झौरन झँपत, भौर झौर मधु अन्ध" (बिहारी : रत्ना० : ४९६) और दूसरा उदाहरण मधुपान-जन्य संचारीका है—"पूस निसामे सु बारुनी लै बनि बैठे दुहूँ मदके मतवाले। छाक छकी छबि ही को पियै मद नैननके कियै प्रेमके प्याले" (जगद्वि० ४८५)। दे० 'स्वभावज अलंकार', ग्यारहवाँ। —ब० सिं०

मदनमनोहर—वर्णिक छन्दोंमे समवृत्त दण्डकका एक

भेद। भ, ज, स, न, भ, ज, स, न, भ, ज, ग, (ऽ।।×७ + ऽ।ऽ)के योगसे यह वृत्त बनता है: १६, १५ वर्णोंपर यति होती है। यह घनाक्षरीका वृत्तात्मक एक भेद है। केशवने इस नवीन घनाक्षरीका प्रयोग किया है। उदा०—"आवत विलोकि रघुबीर लघुबीर तजि, ब्योम गति भूतल विमान तब आइयो" (रा० चं०, २१ : ३०)।—पु० शु०

मदनमल्लिका या मल्लिका—वर्णिक छन्दोंमे समवृत्तका एक भेद; गुरु लघु क्रमसे आठ वर्ण इस वृत्तके चरणमे होते हैं। हेमचन्द्र (छन्दो०, २ : ८३), जयकीर्ति-(छन्दो०, २ : ६६)ने समानी और दामोदर मिश्र (वा० भू०, २ : ६७)ने मल्लिका नाम दिया है। केशवने इसका प्रयोग किया है—"देश-देशके नरेश शोभिजै सबै सुवेश। जानिये न आदि अन्त कौन दास कौन सन्त" (रा० चं०, २ : ५)। —पु० शु०

मदनहरा—मात्रिक सम दण्डक छन्दोंका एक भेद। 'प्राकृत-पैंगलम'के अनुसार इसके प्रत्येक चरणमे १०, ८, १४, ८ की यतिसे ४० मात्राएँ होती है। आदिमे दो ल (।।) अथवा दो ग (ऽऽ) तथा अन्तमे ग (ऽ) रहता है (१ : २०६)। भानुने आदिमे केवल दो ल (।।) माने है (छ० प्र०, पृ० ७७)। ऐसा जान पडता है कि दो-दो यतियोंकी तुकका प्रयोग भी प्रचलित रहा है, जैसा कि 'प्राकृतपैंगलम्' तथा 'छन्दप्रभाकर'के उदाहरणोंसे स्पष्ट है। इसका प्रयोग केशव (रा० चं०) तथा सूदन (सु० च०)ने किया है। केशवने भी आदिमे दो ल तथा ग दोनोंका प्रयोग किया है। उदा०—"संग सीता लक्ष्मण, श्रीरघुनन्दन, मातनके शुभ पॉय परे, सब दुःख हरे। ऑसुन अन्हवाये, भागनि आये, जीवन पाये अंक भरे अरु अंक धरे" (रा० च०)।

मदिरा दुर्मिल—दे० 'सवैया', उपजाति।

मदिरा सवैया—दे० 'सवैया', पहला प्रकार।

मधुमती भूमिका—योगदर्शनके अनुसार साधनाकी एक भूमि है। केशवप्रसाद मिश्रने 'मेघदूत'के अनुवादकी भूमिकामे इसकी व्याख्या रस-सिद्धान्तके सम्बन्धमे की है। श्यामसुन्दर दासने अपने 'साहित्यालोचन'मे उन्हींके आधारपर इसे रस-निष्पत्तिकी भूमिकाके रूपमें स्वीकार कर लिया है। केशव मिश्रके अनुसार 'मधुमती भूमिका' चित्तकी वह विशेष अवस्था है, जिसमे वितर्ककी सत्ता नही रह जाती…पार्थक्यानुभवको अपर-प्रत्यक्ष कहते है। जिस अवस्थामें सम्बन्ध और सम्बन्धी विलीन हो जाते है, केवल वस्तुमात्रका आभास मिलता रहता है, उसे पर-प्रत्यक्ष या निवितर्क समापत्ति कहते है। चित्तकी यह समापत्ति सात्त्विक वृत्तिकी प्रधानताका परिणाम है।… जिस समय हमको वस्तुओंका पर-प्रत्यक्ष होता है, उस समय शोचनीय अथवा अभिनन्दनीय सभी प्रकारकी वस्तुएँ हमारे केवल सुखात्मक भावोंका आलम्बन बनकर उपस्थित होती है' (सा० लो०, पृ० २८०-८१)। इस प्रकार केशव मिश्रने योगीकी 'मधुमती भूमिका' तथा कविकी काव्यात्मक कल्पनाको एक स्तरपर स्थापित किया है। इन दोनोंमे उन्होने यह अन्तर स्वीकार किया है कि साधक यथेष्ट कालतक इस भूमिकापर स्थिर रहता है, जब कि कवि तथा काव्यानन्दका आस्वाद करनेवाला पाठक अनिष्ट रजस या तमसके नीचे उतरते ही उसने नीचे उतर पडता है। आनन्दप्रकाश दीक्षितने योगशास्त्रके आधारपर इस मधुमती भूमिकाका खण्डन किया है। 'योगसूत्र'मे वर्णित चार प्रकार-की योग-स्थितियोंमे मधुभूमिक द्वितीय है। योगशास्त्रके अनुसार मधुमती-भूमिका ब्रह्मविद्की सत्त्वशुद्धिको देखकर देवगण उस स्थानके योग्य मनोरम भोग दिखलाते है। वस्तुतः इसके बाद योगकी दो स्थितियाँ प्रज्ञाज्योति तथा अतिक्रान्त-भावनीय और है। आनन्दप्रकाशके अनुसार—"यह भूमि साधककी परीक्षा-भूमि है, सिद्धिभूमि नही। परीक्षा-भूमिपर अधिक देरतक स्थिर रहनेकी चेष्टाका प्रश्न नहीं उठता।…यदि यह भूमि अन्तिम भूमि नही है तो ब्रह्मानन्दका प्रश्न भी यहाँ नही उठ सकता" (काव्यमे रस, अप्रा० प्रब० : पृ० ३२२)। वस्तुतः विवेचकोंने मधुमती भूमिकाको व्यापक ब्रह्मानन्दकी भूमिके रूपमे स्वीकार करके उसके आधारपर ब्रह्मानन्द सहोदर काव्यानुभूतिकी व्याख्या की है। उपर्युक्त विशिष्ट अर्थमें उसका इस रूपमें प्रयोग भ्रामक जाना जायगा। —र०

मधुर रस—दे० 'भक्ति'।

मध्यकाल—साधारणतः चौदहवी-पन्द्रहवीसे उन्नीसवी शताब्दीके मध्यतकका काल हिन्दी-साहित्यके इतिहासमे मध्ययुग या मध्यकाल कहा जाता है। आदि, मध्य और आधुनिक—इतिहासके इस त्रिकाल-विभाजनकी सार्वभौम प्रवृत्तिने हिन्दी-साहित्यके इतिहासकारोंको भी प्रभावित किया है। विश्वके इतिहासका मध्यकाल सातवी-आठवीं शताब्दीसे प्रारम्भ होता है। भारतीय इतिहासमें भी मध्ययुगीन प्रवृत्तियाँ वर्धन-साम्राज्यके पतनके बाद इसी कालमे प्रारम्भ हो जाती है। सातवी शताब्दीसे विश्व-इतिहासमें सत्रहवींके अन्त, किन्तु भारतमे उन्नीसवींके मध्यतक बारह सौ वर्षोंका काल-विस्तार मध्यकाल या मध्ययुगकी संज्ञा पाता है। इस युगके पुनः दो विभाग किये जाते है—पूर्व-मध्ययुग और उत्तर-मध्ययुग। पूर्व-मध्ययुग बारहवी शताब्दीके अन्ततक तथा उत्तर-मध्ययुग तेरहवींसे उन्नीसवीं शताब्दीतक चलता है। इतिहासमें मध्ययुगकी यह कल्पना व्यक्तिगत और सामाजिक जीवनकी समस्त प्रवृत्तियोंके आधारपर की गयी है। इन प्रवृत्तियोंमे ह्रास और पुनरुत्थान, दोनो प्रकारकी प्रवृत्तियाँ पायी जाती है। मोटे तौरपर हम कह सकते है कि पूर्व-मध्ययुग और उत्तर मध्ययुगका अन्तर इसी बातपर आधारित है कि पूर्व-मध्ययुग समष्टिगत दृष्टिसे प्रायः ह्रासोन्मुख है और उत्तर-मध्ययुगमे पुनरुत्थानकी प्रवृत्तियाँ हुई है।

हिन्दी साहित्यका प्रारम्भ इतिहासके उत्तर-मध्ययुग (१२००—१८५७)मे होता है और उसके आदि और मध्यकाल उसीमें परिसीमित है। अतः हिन्दी साहित्यके मध्यकालकी ही प्रवृत्तियाँ नही, आदिकालकी प्रवृत्तियाँ भी इतिहासके उत्तर-मध्यकालकी प्रवृत्तियोंमे निःसृत है। इतिहासके इसी कालकी विविध राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियोंने आधुनिक भाषाओंको साहित्यिक पदपर प्रतिष्ठित होनेका अवसर दिया।

हर्षवर्धनकी मृत्युके बाद राजनीतिक सत्ताका जो विघटन प्रारम्भ हुआ, उसीके परिणामस्वरूप तेरहवी शता-

विपक्षका निरीक्षण करनेसे मति उत्पन्न होती है। शिष्योंको उपदेश, विचार एवं संशय दूर करनेसे इसकी अभिव्यक्ति होती है (ना० शा०, ७ : ८२ ग)। धनंजय एवं रामचन्द्र गुणचन्द्रने यह स्पष्ट कर दिया कि 'भ्रान्तिका नाश' ही मति है। परन्तु 'दशरूपक'मे दिये गये उदाहरणसे भी स्पष्ट नहीं होता कि इसकी गणना संचारियोमे कैसे हो सकती है। धनिकने 'किरातार्जुनीय'के दूसरे सर्गसे वह उदाहरण लिया है, जब युधिष्ठिर कहते हैं कि किसी भी कामको बिना सोचे-समझे नहीं करना चाहिये, इत्यादि। यह सामान्य कथन है। अतः विश्वनाथने 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्'का वह श्लोक उद्धृत किया है, जिसमे दुष्यन्त शकुन्तलाकी ओर आकृष्ट होनेको अन्तःकरणकी प्रवृत्तिका आश्रय ले उचित मानते है। इसी उदाहरणको हेमचन्द्रने भी दिया है।

हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंने प्रायः 'शास्त्रचर्चासे भ्रमनाश'को ही मति संचारी माना है—"शास्त्र चिन्तनाते जहाँ होइ यथारथ ज्ञान। करै शिष्य उपदेश जहँ, मति कहि ताहि बखान" (भाव० : संचारी०)। देवकी नायिका मनको समझाती है—"ज्यों न निगोड़ें तबै समुझौ कवि देव कहा अब जो पछितानो। धन्य जियै जगमे जनते जिनको मनमोहनतें मन मानो" (वही)। रामदहिन मिश्रने विद्यापतिकी इन पंक्तियोंको प्रस्तुत किया है—"अपनहि नागर अपनहि दूत। से अभिसार न जान बहूत। की फल तेसर कान जनाय। आनत नागर नयन बझाय" (का० द०)। इसमें उल्लिखित मिलनको सब नहीं जानते, फिर किसी तीसरेको जनाकर क्या करना है, यह भाव 'मति' है। —ज० कि० ब०

मत्तगयंद सवैया–दे० 'सवैया', दूसरा प्रकार।

मत्तगयंद सुंदरी–दे० 'सवैया', उपजाति।

मत्तमातंग लीलाकर–साधारण दण्डकका एक भेद। हेमचन्द्र (१४ श० ई०)ने 'छन्दोनुशासन' अध्याय २, पंक्ति ३९४मे इसका लक्षण दिया है 'यथेष्ट रामत्तमातंगः'। भानुने 'रौनौवाअधिक' (पृ० २१०-छ० प्र०) दिया है, अर्थात् रगण नौ या अधिक। 'रामचन्द्रिका' (के० ग्र० भा० २ : पृ० ४२८)मे केशवदासने आठ रगणवाले छन्दको भी 'मत्तमातंग दण्डक' माना है, किन्तु पिंगलके मतका उल्लेख करते हुए उन्होंने आठ रगणको पिंगलानुसार लक्ष्मी छन्द कहा है—"रचि भुजंगवसु यगनकी लक्ष्मी रगनै आठ। आठ भ कहत किरीट है आठ स दुमिल पाठ"। किन्तु यह उचित मत केशवदासका नहीं लगता, क्योंकि २६ अक्षरके ऊपरवाले वृत्त ही दण्डक कहलाते है, अस्तु नौ रगणसे कममें इसका लक्षण नहीं दिया जा सकता।

हेमचन्द्रने इस दण्डकका उल्लेख किया है, इससे स्पष्ट है कि इसका प्रयोग उनके पूर्व होता रहा होगा, यद्यपि संस्कृत-काव्योंमे दण्डकका प्रयोग यदा-कदा ही मिलता है। दण्डक और मात्रिक छन्दोंका पूर्ण प्रयोग प्राकृत और अपभ्रंश-कालमें ही हुआ है। केशवदासने 'मत्तमांतग'का दूसरा नाम गंगोदक (के० ग्र०, भा० २, पृ० ३१४) दिया है, किन्तु वह आठ रगणका ही है। इसलिए कहा जा सकता है कि इस दण्डक वृत्तका प्रयोग मध्यकालीन हिन्दी साहित्यमें भी नाममात्रको रहा होगा। संस्कृतमें आठ रगणके वृत्तका नाम 'स्वैरिणीक्रीडन' रहा है, जिसका भाव 'मत्तमातंग लीलाकर'के अर्थमे आ जाता है, अर्थात् उन्मुक्तता। सम्भव है, इसके विकासमें उक्त छन्दका योग रहा हो—एक रगणके योगमात्रसे। छन्दकी स्वैरवृत्ति द्रष्टव्य है—"योग ज्ञाना नहीं यज्ञ दाना नहीं वेद माना नहीं या कली माहि मीता कहूँ"। यद्यपि सत्य तो यह है ९ रगणमे छन्दकी गति बड़ी लगती है और छन्दकी शोभा बिगड़ जाती है। छन्द ८ रगडमे ही पूर्ण हो जाता है, इसलिए इसे दण्डकके अन्तर्गत रखकर समवृत्त चतुष्पदीके ही अन्तर्गत रखना चाहिये अथवा ९ रगणका बन्धन हटाकर हेमचन्द्रकी परिभाषाके अनुसार यथेष्ट रगणका लक्षण ही देना चाहिये। —ह० मो०

मत्सरी–'भावक'।

मद–प्रचलित तैंतीसमेंसे एक संचारी; भरतकी नाट्य-प्रदर्शनके उपयुक्त व्याख्या (नाट्य० ३८-४६)को भावरूपमे ग्रहण करते हुए विश्वनाथने इसके सम्बन्धमे लिखा है—"सम्मोहानन्दसम्भेदो मदो मद्योपयोगजः" (सा० द०, ३ : १४६)। जिसमें सम्मोहन और आनन्दका मिश्रण हो, वह मदकी अवस्था कहलाती है। यह मद्य आदिके सेवनसे पैदा होती है।

धनंजयकी परिभाषा विश्वनाथकी अपेक्षा अधिक स्पष्ट है। उन्होने 'दशरूपक'मे लिखा है—"हर्षोत्कर्षो मदः पानात्स्खलदंगवचोगतिः" (४, २१), अर्थात् मद्यपानसे प्रादुर्भूत हर्षको 'मद' कहते है, उसमें अंग, वचन और गतिका स्खलन होता है, उनपर कोई नियन्त्रण नहीं रह जाता। इसके उत्तम, मध्यम तथा अधम भेद भरतसे ही स्वीकृत रहे हैं, जिनका सम्बन्ध निद्रा, हास और रुदनसे जोड़ा गया है। विश्वनाथने मद्यपान आदि कहकर इसकी व्यापकताको सीमित नहीं किया है; पर धनंजयने केवल मद्यपान-जन्य मदको ही मद संचारीके नामसे अभिहित किया है। अतः इनकी व्याख्या संकीर्ण और सीमित हो गयी है।

हिन्दी-रीतिकालमे दोनो परम्पराओंका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। देवने—"सो मद जहँ आसव पियें, हर्ष हीन हिय बीच" (भाव० संचारी०)मे केवल मद्यपान कारण माना है और इसके विपरीत पद्माकरने 'धन यौवन रूपादितें' (जगद्वि०, ४८४) भी स्वीकार कर लक्षणको अधिक व्यापक बनाया है। तीन भेद हिन्दीमें भी प्रायः मान्य हुए है। प्रेमके आवेगमें प्रेमी अनियन्त्रित ढंगसे बातें करते है। रामचन्द्र शुक्लने इसे गर्वका भी संचारी माना है, क्योंकि अभिमानके जोर करनेपर भी लोग बहकी-बहकी बातें करते है। मद संचारीकी प्रकृतिगत व्यंजना—"छकि रसाल सौरभ सने, मधुर माधुरी गन्ध। ठौर ठौर झौरन झँपत, भौर झौर मधु अन्ध" (बिहारी : रत्ना० : ४९६) और दूसरा उदाहरण मधुपान-जन्य संचारीका है—"पूस निसामें सु बारुनी लै बनि बैठे दुहूँ मदके मतवाले। छाक छकी छबि ही को पिये मद नैननके किये प्रेमके प्याले" (जगद्वि० ४८५)। दे० 'स्वभावज अलंकार', ग्यारहवाँ। —ब० सिं०

मदनमनोहर–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्त दण्डकका एक

भेद। भ, ज, स, न, भ, ज, स, न, भ, ज, ग, (ऽ।।×७ +ऽ।ऽ)के योगमें यह वृत्त बनता है; १६, १५ वर्णोंपर यति होती है। यह घनाक्षरीका वृत्तात्मक एक भेद है। केशवने इस नवीन घनाक्षरीका प्रयोग किया है। उदा०—"आवत विलोकि रघुवीर लघुवीर तजि, ब्योम गति भूतल विमान तब आइयो" (रा० चं०, २१ : ३०)।—पु० शु०

मदनमल्लिका या मल्लिका—वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद; गुरु लघु क्रमसे आठ वर्ण इस वृत्तके चरणमें होते हैं। हेमचन्द्र (छन्दो०, २ : ८३), जयकीर्ति- (छन्दो०, २ : ६६)ने समानी और दामोदर मिश्र (वा० भू०, २ : ६७)ने मल्लिका नाम दिया है। केशवने इसका प्रयोग किया है—"देश-देशके नरेश शोभिजै सबै सुवेश। जानिये न आदि अन्त कौन दास कौन सन्त" (रा० चं०, २ : ५)। —पु० शु०

मदनहरा—मात्रिक सम दण्डक छन्दोंका एक भेद। 'प्राकृत-पैंगलम्'के अनुसार इसके प्रत्येक चरणमें १०, ८, १४, ८ की यतिसे ४० मात्राएँ होती हैं। आदिमें दो ल (।।) अथवा दो ग (ऽऽ) तथा अन्तमें ग (ऽ) रहता है (१ : २०६)। भानुने आदिमें केवल दो ल (।।) माने हैं (छ० प्र०, पृ० ७७)। ऐसा जान पड़ता है कि दो-दो यतियोंकी तुकका प्रयोग भी प्रचलित रहा है, जैसा कि 'प्राकृतपैंगलम्' तथा 'छन्दप्रभाकर'के उदाहरणोंसे स्पष्ट है। इसका प्रयोग केशव (रा० चं०) तथा सूदन (सु० च०)ने किया है। केशवने भी आदिमें दो ल तथा ग दोनोंका प्रयोग किया है। उदा०—"संग सीता लक्ष्मण, श्रीरघुनन्दन, मातनके शुभ पाँय परे, सब दुःख हरे। आँसुन अन्हवाये, भागनि आये, जीवन पाये अंक भरे अरु अंक धरे" (रा० च०)।

मदिरा दुर्मिल—दे० 'सवैया', उपजाति।

मदिरा सवैया—दे० 'सवैया', पहला प्रकार।

मधुमती भूमिका—योगदर्शनके अनुसार साधनाकी एक भूमि है। केशवप्रसाद मिश्रने 'मेघदूत'के अनुवादकी भूमिकामें इसकी व्याख्या रस-सिद्धान्तके सम्बन्धमें की है। श्यामसुन्दर दासने अपने 'साहित्यालोचन'में उन्हींके आधारपर इसे रस-निष्पत्तिकी भूमिकाके रूपमें स्वीकार कर लिया है। केशव मिश्रके अनुसार 'मधुमती भूमिका' चित्तकी वह विशेष अवस्था है, जिसमें वितर्ककी सत्ता नहीं रह जाती···पार्थक्यानुभवको अपर-प्रत्यक्ष कहते हैं। जिस अवस्थामें सम्बन्ध और सम्बन्धी विलीन हो जाते हैं, केवल वस्तुमात्रका आभास मिलता रहता है, उसे पर-प्रत्यक्ष या निर्वितर्क समापत्ति कहते हैं। चित्तकी यह समापत्ति सात्त्विक वृत्तिकी प्रधानताका परिणाम है।··· जिस समय हमको वस्तुओंका पर-प्रत्यक्ष होता है, उस समय शोचनीय अथवा अभिनन्दनीय सभी प्रकारकी वस्तुएँ हमारे केवल सुखात्मक भावोंका आलम्बन बनकर उपस्थित होती हैं' (सा० लो०, पृ० २८०-८१)। इस प्रकार केशव मिश्रने योगीकी 'मधुमती भूमिका' तथा कविकी काव्यात्मक कल्पनाको एक स्तरपर स्थापित किया है। इन दोनोंमें उन्होंने यह अन्तर स्वीकार किया है कि साधक यथेष्ट कालतक इस भूमिकापर स्थिर रहता है, जब कि कवि तथा काव्यानन्दका आस्वाद करनेवाला पाठक अनिष्ट रजस या तमसके नीचे उतरते ही उसके नीचे उतर पड़ता है। आनन्दप्रकाश दीक्षितने योगशास्त्रके आधारपर इस मधुमती भूमिकाका खण्डन किया है। 'योगसूत्र'में वर्णित चार प्रकारकी योग-स्थितियोंमें मधुभूमिक द्वितीय है। योगशास्त्रके अनुसार मधुमती-भूमिका ब्रह्मविद्की सत्त्वशुद्धिको देखकर देवगण उस स्थानके योग्य मनोरम भोग दिखलाते हैं। वस्तुतः इसके बाद योगकी दो स्थितियाँ प्रज्ञाज्योति तथा अतिक्रान्त-भावनीय और हैं। आनन्दप्रकाशके अनुसार—"यह भूमि साधककी परीक्षा-भूमि है, सिद्धिभूमि नहीं। परीक्षा-भूमिपर अधिक देरतक स्थिर रहनेकी चेष्टाका प्रश्न नहीं उठता।···यदि यह भूमि अन्तिम भूमि नहीं है तो ब्रह्मानन्दका प्रश्न भी यहाँ नहीं उठ सकता" (काव्यमें रस, अप्रा० प्र०: पृ० ३२२)। वस्तुतः विवेचकोंने मधुमती भूमिकाको व्यापक ब्रह्मानन्दकी भूमिके रूपमें स्वीकार करके उसके आधारपर ब्रह्मानन्द-सहोदर काव्यानुभूतिकी व्याख्या की है। उपर्युक्त विशिष्ट अर्थमें उसका इस रूपमें प्रयोग भ्रामक जाना जायगा। —र०

मधुर रस—दे० 'भक्ति'।

मध्यकाल—साधारणतः चौदहवीं-पन्द्रहवींसे उन्नीसवीं शताब्दीके मध्यतकका काल हिन्दी-साहित्यके इतिहासमें मध्ययुग या मध्यकाल कहा जाता है। आदि, मध्य और आधुनिक—इतिहासके इस त्रिकाल-विभाजनकी सार्वभौम प्रवृत्तिने हिन्दी-साहित्यके इतिहासकारोंको भी प्रभावित किया है। विश्वके इतिहासका मध्यकाल सातवीं-आठवीं शताब्दीसे प्रारम्भ होता है। भारतीय इतिहासमें भी मध्ययुगीन प्रवृत्तियाँ वर्धन-साम्राज्यके पतनके बाद इसी कालमें प्रारम्भ हो जाती हैं। सातवीं शताब्दीसे विश्व-इतिहासमें सत्रहवींके अन्त, किन्तु भारतमें उन्नीसवींके मध्यतक बारह सौ वर्षोंका काल-विस्तार मध्यकाल या मध्ययुगकी संज्ञा पाता है। इस युगके पुनः दो विभाग किये जाते हैं—पूर्व-मध्ययुग और उत्तर-मध्ययुग। पूर्व-मध्ययुग बारहवीं शताब्दीके अन्ततक तथा उत्तर-मध्ययुग तेरहवींसे उन्नीसवीं शताब्दीतक चलता है। इतिहासमें मध्ययुगकी यह कल्पना व्यक्तिगत और सामाजिक जीवनकी समस्त प्रवृत्तियोंके आधारपर की गयी है। इन प्रवृत्तियोंमें ह्रास और पुनरुत्थान, दोनों प्रकारकी प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं। मोटे तौरपर हम कह सकते हैं कि पूर्व-मध्ययुग और उत्तर मध्ययुगका अन्तर इसी बातपर आधारित है कि पूर्व-मध्ययुग समष्टिगत दृष्टिसे प्रायः ह्रासोन्मुख है और उत्तर-मध्ययुगमें पुनरुत्थानकी प्रवृत्तियाँ हुई हैं।

हिन्दी साहित्यका प्रारम्भ इतिहासके उत्तर-मध्ययुग (१२००—१८५७)में होता है और उसके आदि और मध्यकाल उसीमें परिसीमित हैं। अतः हिन्दी साहित्यके मध्यकालकी ही प्रवृत्तियाँ नहीं, आदिकालकी प्रवृत्तियाँ भी इतिहासके उत्तर-मध्यकालकी प्रवृत्तियोंसे निःसृत हैं। इतिहासके इसी कालकी विविध राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियोंने आधुनिक भाषाओंको साहित्यिक पदपर प्रतिष्ठित होनेका अवसर दिया।

हर्षवर्धनकी मृत्युके बाद राजनीतिक सत्ताका जो विघटन प्रारम्भ हुआ, उसीके परिणामस्वरूप तेरहवीं शता-

ब्दीके प्रारम्भमें उत्तरभारतमें हिन्दू राज्य-शक्तिका सदाके लिए लोप होकर मुसलिम केन्द्रीय शासनका सूत्रपात हुआ। राजनीतिकी ओरसे जनसमाजकी उदासीनता जो युगों पहले जनपदीय गणराज्योंके विनाश और साम्राज्योंकी स्थापनाके बाद केवल राजभक्तिके रूपमें सीमित होकर गहरी होती आयी थी, अब प्रायः घृणामें परिणत हो गयी। गंगा-यमुनाकी घाटीमें कवियोंके राजाश्रय पानेकी सम्भावनाएँ नष्ट हो गयीं। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंशके राजाश्रित कवियोंकी वीर-चरित-काव्य लिखनेकी परम्परा राजस्थानमें ही अपभ्रंश और हिन्दीके रासो-काव्यके यत्र-तत्र प्रणयनमें अवशिष्ट रह गयी। परन्तु उसमें जनताकी मनोभावनाओंका कोई योग न था। राजनीतिक पराभव और सामाजिक दुरवस्थाकी स्थितिमें कुछ दिनोंतक तो साहित्यिक शून्यता-सी दिखाई देती है। परन्तु इसी शून्यताने पुनर्जीवनकी शक्तियोंके उदय होनेकी भूमिकाका निर्माण किया। तेरहवीं शताब्दीके आरम्भसे सोलहवींके प्रथम चरणतक एक प्रकारका निरंकुश सैनिक शासन रहा। परन्तु मुगल-शासनकालमें धीरे-धीरे सभ्य प्रशासन-व्यवस्थाकी स्थापना होने लगी। अकबरकी उदार धार्मिक नीति तथा सुव्यवस्थाके फलस्वरूप समाजको सर्वांगीण उन्नति करनेका अवसर मिला। अकबर तथा उनके उत्तराधिकारियोंने हिन्दी कवियोंको भी प्रश्रय दिया, परन्तु इस कालके सर्वोत्कृष्ट भक्त-कवियोंका राज-दरबारसे कोई सम्बन्ध नहीं था। यह इस कालके साहित्यकी अद्वितीय विशेषता है कि उसके सर्वोत्तम रूपकी रचना जन-कवियों द्वारा हुई।

इतिहासके उत्तर-मध्ययुगमें राजनीतिका नहीं, धर्मका प्रभुत्व था। उत्तरभारतमें सातवींसे बारहवीं शताब्दीतकका समय राजनीतिक सत्ताके ही विघटनका नहीं, धार्मिक-शक्तियोंके स्खलनका भी काल है। सांस्कृतिक दृष्टिसे यह काल तान्त्रिक काल कहा जाता है। तान्त्रिक गुह्य-साधनाओंने, जिनमें शारीरिक भोगवादकी पराकाष्ठा थी, न केवल पतनोन्मुख बौद्ध महायान, मन्त्रयान और वज्रयानकी क्रमागत परम्परामें आये हुए सहजयानको आक्रान्त किया, वरन् शैव, शाक्त—यहाँतक कि वैष्णव मतमें भी तान्त्रिक साधनाएँ अंशतः प्रविष्ट हो गयीं। यह विचित्र-सा लगता है कि जहाँ एक ओर तान्त्रिक भोगवादने जघन्य रूप धारण कर लिया था, वहाँ दूसरी ओर ठीक इसके विपरीत शंकराचार्यके मायावादी अद्वैतवादने वैराग्यकी भावनाको पराकाष्ठापर पहुँचा दिया था। यद्यपि इस धार्मिक दुरवस्थाको सुधारनेका प्रयत्न वज्रयानी सिद्ध-सम्प्रदायसे ही विकसित नाथ-पन्थके जोगियों द्वारा आरम्भ हो गया था, परन्तु उसमें वह शक्ति नहीं आयी थी जो समूचे जनसमाजको आन्दोलित कर सके। इसी समय महत्त्वाकांक्षी मुसलिम आक्रमणकारियों तथा उनके सहायक धर्मान्ध मुल्लाओंका अस्त्र बनकर एक ऐकान्तिक बहिष्कारपूर्ण कट्टर धर्म-संस्कृतिने प्रवेश करके नयी समस्याएँ पैदा कर दीं। भारतीय समाजको भीतर और बाहर, दोनों ओरकी चुनौतीका सामना करना पड़ा। ऐसे अवसरपर एक जीवित जाति होनेके नाते हिन्दुओंने अपनी जीवन-शक्तिको एक नये रूपमें पुनः जाग्रत् किया तथा भक्ति-आन्दोलनके बहाने उन मानव-मूल्योंकी प्रतिष्ठा की, जिनमें सामयिक समस्याओंके समाधानके साथ जीवनके शाश्वत सत्य निहित थे।

इस धार्मिक आन्दोलनकी कदाचित् सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें जहाँ एक ओर ऐसी विविधताएँ और साम्प्रदायिक संकीर्णताएँ दिखाई देती हैं, जिनकी संगति मिलना असम्भवप्राय जान पड़ता है, वहाँ इतनी मूलभूत एकता और व्यापकता है, जो मानवमात्रको ही नहीं, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, जड़-चेतन सभीको एक सूत्रमें बाँधकर समेटती चलती है। कारण यह है कि इसे मात्र तात्कालिक परिस्थितियोंने आपद्धर्मके रूपमें जन्म नहीं दिया, वरन् इसकी जड़ें अत्यन्त गहरी, इसकी परम्परा अत्यन्त प्राचीन तथा इसकी भूमिका अत्यन्त पुष्ट और दृढ थी। चाहे नाथ-पन्थी अलखवादी जोगियोंकी परम्पराको व्यापकता देनेवाले कबीर, रैदास, नानक, दादू आदि निर्गुणिये सन्त हों या अनलहकके द्रष्टा सूफियोंके अनुयायी प्रेममार्गी कुतबन, मंझन, जायसी, उसमान आदि हो; चाहे रसावतार श्रीकृष्ण और रासेश्वरी राधाका कीर्तन करनेवाले प्रेम-भक्तिके प्रचारक वल्लभ, चैतन्य, हरिवंश, हरिदास, सूरदास, नन्ददास आदि हों या मर्यादापुरुषोत्तम पूर्णब्रह्म राम और जगज्जननी सीताके उपासक मर्यादा-भक्तिके प्रतिष्ठापक तुलसीदास हों—सभी समान रूपसे सांसारिक भोग-विलासके जीवनकी निरर्थकताको हेय और त्याज्य सिद्ध करके उसे अपने ढंगसे प्रवृत्ति और निवृत्तिके उचित सामंजस्यके द्वारा आध्यात्मिकता और इहलौकिकताके उच्च धरातलपर प्रतिष्ठित करनेका सन्देश देते हैं। सभी जीवनके बाह्याडम्बरको—चाहे वे सांसारिक वैभवका प्रदर्शन करें या धार्मिक पाखण्डका—घोर विगर्हण करते हैं। सभी जीवनकी बाह्याभ्यन्तर शुद्धता और निर्मलतापर जोर देते हैं। सभी प्रेमके विविध भावोंका भूत-दया और विश्व-मैत्रीकी उदात्त भूमिपर परिष्करण करनेका उपाय बताते हैं। सभी वर्णाश्रम धर्मसे भ्रष्ट, शास्त्रीय मर्यादासे च्युत, विशृंखल सामाजिक जीवनको पुनस्संघटित करनेकी उमंग और स्फूर्तिपूर्ण प्रेरणा देते हैं। सभी जीवनकी समग्रतापर दृष्टि रखते हुए मनुष्यको जीने योग्य बनानेका मार्ग दिखाते हैं। फलस्वरूप समाजमें चेतनाकी नयी लहर दौड जाती है और प्रसुप्त क्रियात्मक शक्तियाँ नवीन प्राणवेगसे जागकर साहित्य, संगीत तथा कलाओंकी सर्जनामें प्रवृत्त होने लगती हैं और समाजके सर्वोच्च वर्गोंसे लेकर निम्नतम वर्गोंतकमें उत्साह भर देती हैं। रामचन्द्र शुक्लने मध्ययुगमें भक्ति-काव्यकी प्रेरक शक्तियोंमें मुसलिम आक्रमणकारियों द्वारा राजनीतिक पराभव और सांस्कृतिक विध्वंससे उत्पन्न निराशाको वास्तविकतासे अधिक महत्त्व दिया है। शुक्लजीके हिन्दी साहित्यके इतिहासके आधारपर लिखे गये अनेक इतिहास-ग्रन्थोंमें यह विचार इतनी बार गलत ढंगसे दुहराया गया कि भक्ति साहित्यके सम्बन्धमें यह धारणा बद्धमूल-सी होने लगी कि यह साहित्य, हताश जातिकी, पलायन-प्रवृत्तिका प्रतिनिधि साहित्य है। परन्तु हजारीप्रसाद द्विवेदी प्रभृति अन्य इतिहासकारोंने इस दृष्टिकोणका विरोध किया है। तात्कालिक परिस्थितियोंने भक्ति-आन्दोलनके लिए अनुकूल वातावरण अवश्य उपस्थित कर दिया,

परन्तु उसकी प्रेरणा सर्जनात्मक और वनात्मक थी, प्रतिरक्षात्मक और अभावात्मक नहीं थी।

भक्ति-धर्मका यह आन्दोलन इतिहासके उत्तर-मध्ययुगकी सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है, अतः इसे सांस्कृतिक और सामाजिक दृष्टिसे **भक्तिकाल**के नामसे अभिहित किया जाता है। इसकी एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि इसके प्रचारका माध्यम आधुनिक आर्य भाषाएँ है, जिनमें हिन्दी व्यापकता और सार्वदेशिकताकी दृष्टिसे प्रमुख है। हिन्दी साहित्यके इतिहासका यह मध्यकाल कहा जाता है, जो लगभग चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दीसे उन्नीसवीं शताब्दीके मध्यतक चलता है। शुक्लजीने मध्यकालको पूर्व-मध्य और उत्तर मध्यकालोंमें विभक्त करके उनका समय क्रमशः संवत् १३७५-१७०० वि० तथा १७००-१९०० वि० निर्धारित किया है। यह समय ईसाकी चौदहवीं शताब्दीसे उन्नीसवीं शताब्दीके लगभग मध्यतक पड़ता है। किन्तु वास्तवमें यदि कबीरके समयसे मध्यकालका आरम्भ माना जाय तो उसे चौदहवीं शताब्दीसे पहले ले जाना कठिन है, क्योंकि कबीरका रचना-काल चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी ही है।

हिन्दी साहित्यके इस मध्यकालमें, जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, निर्गुण सन्त-भक्ति, प्रेममार्गी सूफी-भक्ति, प्रेम-लक्षणा कृष्ण-भक्ति तथा मर्यादामार्गी राम-भक्तिकी प्रेरणासे हिन्दीके सर्वोच्च साहित्यकी रचना हुई। भक्तिका यह आन्दोलन उत्तरभारतमें—पन्द्रवीं-सोलहवी शताब्दियोंमें अपनी पराकाष्ठापर था और उसके सबसे प्रबल सन्देशवाहक भक्त कवि ही थे, जिनमेसे कुछका उल्लेख ऊपर किया गया है (अन्य कवियोंके लिए दे० **भक्तिकाल**)। हिन्दी साहित्यके इतिहासमे इन ढाई-तीन सौ वर्षोंको **पूर्व-मध्यकाल** या **भक्तिकाल**का नाम दिया गया है। इसके बादकी दो-ढाई शताब्दियाँ भी यद्यपि इतिहासमें भक्तिकालके अन्तर्गत आती है, परन्तु क्योंकि भक्तिका प्रथम क्रियात्मक उन्मेष अपना प्रबल वेग खोने लगा था और भक्ति-आन्दोलन बहुत-कुछ सम्प्रदाय-बद्ध होकर कर्मकाण्ड और बाह्य-आडम्बर अपनाने लगा था, अतः उसकी प्रेरणा समाप्तप्राय हो गयी थी और सबसे अधिक शोचनीय बात यह थी कि कविगण कृष्णाश्रय, रामाश्रय, धर्माश्रय या जनाश्रय छोड़कर राजाओं, सामन्तों, जमींदारों और ठाकुरोंकी शरण खोजने लगे थे तथा राधा-कृष्णके आध्यात्मिक रसानन्दको आश्रयदाताओंके वासनात्मक प्रेम-विलासका रूप देने लगे थे और हार्दिक संवेदना और अनुभूतिका स्थान वाक्चातुर्य और अलंकरणने ले लिया था। इसलिए हिन्दी साहित्यके इतिहासकार इतिहासके उत्तर मध्यकालके इन अन्तिम दो सौ वर्षों, अर्थात् साहित्यके इतिहासके **उत्तर-मध्यकाल**को ह्रासका युग मानकर उसे **रीतिकाल**, अलंकृत या श्रृंगारकालका नाम देते हैं। इस कालमें इतिहासके पूर्व-मध्ययुगकी उन प्रवृत्तियोंकी पुनरावृत्ति-सी देखी जाती है, जिन्होने संस्कृतके अलंकृत काव्य, अलंकारशास्त्रके विवेचन, टीका और निबन्ध-साहित्यको जन्म दिया था। कवियोंमे अन्तःप्रेरणाके अभावमें अनुकरण और पाण्डित्य-प्रदर्शनकी प्रवृत्ति प्रबल हो गयी थी तथा जीवन क्रियाशीलताके स्थानपर भोग-विलासकी ओर उन्मुख होने लगा था। प्रायः प्रत्येक क्रान्तदर्शी आन्दोलनके बाद ऐसा देखा जाता है। अतः इस उत्तर-मध्यकालको हम मध्यकालका उतार कह सकते हैं। परन्तु यह स्वीकार करना होगा कि इस कालमे भी हिन्दी साहित्यकी अभूतपूर्व अभिवृद्धि हुई और रीतिबद्ध तथा रीतिमुक्त श्रृंगारके अतिरिक्त वीरकाव्य, नीतिकाव्य आदिकी भी रचनाएँ हुई। यदि पूर्व-मध्यकालके कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, मीराँ आदि भक्त-कवि विश्व-साहित्यिकोंमे गिने जाते हैं, तो उत्तर-मध्यकालके एक कवि—बिहारीकी ख्याति तो हिन्दीके बाहर और किसी अंशमे देशके बाहर भी हुई है। बिहारीके अतिरिक्त केशव, देव, मतिराम, भूषण, घनानन्द आदि कवियोंने हिन्दी साहित्यकी अनेकधा श्रीवृद्धि की है। ब्रजभाषाके प्रसार और परिमार्जनके क्रमको इन कवियोंने जारी रखा और उसे हिन्दी क्षेत्रके बाहरतक प्रतिष्ठित किया।

उत्तर-मध्यकालके कुछ विरक्त भक्त कवियोंको छोड़कर लगभग सभी किसी-न-किसी आश्रयदाताके संरक्षणमें रहकर काव्य-रचना करते थे, वे पूर्व-मध्यकालके कवियोंसे भिन्न शुद्ध कवि थे, कवि-कर्म उनका जीवन-व्यवसाय था। ऐसे कुछ कवि पूर्व-मध्यकालमें भी हुए हैं, जैसे अकबरी दरबारके नरहरि बन्दीजन, गंग; मुगल दरबारके नवरत्न रहीम, टोडरमल, बीरबल भी हिन्दीमें कविता करते थे तथा कहा जाता है कि स्वयं अकबरको भी काव्य-रचनाका शौक था। केशवदास ओड़छा-दरबारकी शोभा बढ़ाते थे। इनके अतिरिक्त आलम, मुबारक, बनारसीदास, सेनापति स्वतन्त्र रूपमें काव्य-रचनामें प्रवृत्त थे। अकबरके शासन-कालकी सांस्कृतिक समृद्धि साहित्यके क्षेत्रमे भी देखी जा सकती है।

जहाँतक जीवनादर्शोंका सम्बन्ध है, भक्त-कवियों द्वारा प्रतिष्ठित आदर्श ही जन-साधारणका पथ-प्रदर्शन और नियमन करता रहा। वस्तुतः भक्ति-काव्य द्वारा स्थापित मूल्य और मर्यादाएँ आधुनिक कालतक मान्य रही है। उत्तर-भारतके जन-समाजका मानस आजतक बहुत-कुछ उसीके आधारपर गठित हुआ है (दे० 'भक्ति-काल', 'रीतिकाल')।

[सहायक ग्रन्थ—हिन्दी साहित्यका इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल; हिन्दी भाषा और साहित्य : श्यामसुन्दर दास; हिन्दी साहित्यकी भूमिका : हजारीप्रसाद द्विवेदी; हिन्दी साहित्य : हजारीप्रसाद द्विवेदी; उत्तरी भारतकी सन्त-परम्परा : परशुराम चतुर्वेदी; अकबरी दरबारके हिन्दी कवि : सरयूप्रसाद अग्रवाल।] —ब्र० व०

मध्यदेश—प्राचीन कालमें उत्तरभारत अथवा आर्यावर्त्त पाँच भागोंमें विभक्त माना जाता था, अर्थात् प्राची, दक्षिण, प्रतीची, उदीची और मध्य। इस अन्तिम मध्मभागकी संज्ञा आगे चलकर मध्यदेश हुई। मध्यदेशका द्योतक पहला संकेत 'ऐतरेय ब्राह्मण'में मिलता है। इसके बाद इस शब्दका निरन्तर प्रयोग संस्कृत साहित्यमे हुआ है।

उत्तरभारतमे जैसे-जैसे आर्योंका विस्तार होता गया, वैसे-वैसे आर्यावर्त्तकी सीमाएँ बढ़ती गयी, फलस्वरूप

मध्यदेशकी सीमाओमे भी परिवर्तन हुआ। उदाहरणके लिए, मनुस्मृतिके अनुसार हिमालय और विन्ध्यके मध्यमे और विनशन(सरस्वती नदीके लुप्त होनेका स्थान)से पूर्व तथा प्रयागके पश्चिममें मध्यदेश था। 'विनयपिटक'के अनुसार मध्यदेशकी पूर्वी सीमा प्रयागसे हटकर भागलपुरके निकट मानी जाने लगी थी।

मध्यदेश शब्दका प्रयोग लगभग बारहवी शताब्दीतक होता रहा। मुसलिम शासनकालमे इसके लिए 'हिन्दुस्तान' शब्दका प्रयोग होने लगा था। वर्तमान कालमे हिन्दीप्रदेश इसका पर्यायवाची माना जा सकता है। नैपालमें हिन्दी-प्रदेशके रहनेवाले आज भी अपने पुराने नाम मदेसिया, अर्थात् मध्यदेशीयसे पुकारे जाते है।

उत्तरभारतके इस मध्यभाग, अर्थात् हिन्दी-प्रदेशके लिए कोई उपयुक्त नाम न होनेके कारण मध्यदेश शब्दका प्रयोग फिर धीरे-धीरे बढ रहा है।

[सहायक ग्रन्थ—मध्यदेश : धीरेन्द्र वर्मा।] —धी० व०

मध्यम मार्ग–दे० 'त्रिमार्ग-सिद्धान्त', तीसरा प्रकार।

मध्यमा (नायिका)–गुण अथवा प्रकृतिके अनुसार नायिकाओंके विभाजनका एक भेद; विशेषके लिए दे० 'नायिका-भेद'। भरतसे यह विभाजन स्वीकृत होता आया है। भानुदत्तके अनुसार "हिताहितकारिणि प्रियतमे हिताहितचेष्टावती" अर्थात् प्रियके द्वारा हित अथवा अहितका व्यवहार देखकर हित अथवा अहितका व्यवहार करनेवाली नायिका मध्या है (र० मं, पृ० १५३)। मतिरामने इसी भावको ग्रहण किया है—"पियसौं हिततै हित करै अनहित कीने मान" (र० रा०, २३१)। पद्माकर आदिने 'गुनाह' तथा 'दोष' शब्दोंका प्रयोग अहित शब्दके लिए किया है। स्पष्टतः अहित, अर्थात् अप्रेम दोष या अपराध ही है। इस नायिकाका क्रोध तथा अनुराग बहुत शीघ्र परिवर्तित होता रहता है—"रिसहीके आँसू रस आँसू भये आँखिनमैं, रोसकी ललाई सो ललाई अनुरागकी" (वही, २३२)। उसका आक्रोश प्रियके नमित होते ही शान्त हो जाता है—"मौहै पेख पीको बिहसोहै भये दोऊ दग सुनि सौहै भौहैं गयी उतरि कमानै-सी" (पद्माकर : जगद्वि०)। —सं०

मध्यवर्ग–पूँजीवादी व्यवस्थाने समूचे समाजको तीन भागोंमे विभाजित किया है—(१) बूर्जुआ, (२) मध्यवर्ग अर्थात् मिडिल क्लास, (३) निम्नवर्ग। मध्यवर्ग सामन्तवादी व्यवस्थामें पाया नही जाता, क्योंकि उस समय जमींदार और किसानका सम्बन्ध सीधा था, किन्तु पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्थाने समाजको इतना जटिल कर दिया है कि एक मध्यवर्गकी भी आवश्यकता हुई, जो इस जटिल व्यवस्थाके संघटनसूत्रको सॅभाल सके। इस वर्गमें नौकरीपेशा शिक्षक, क्लर्क और अन्य साधारण लोग आते है। मध्यवर्ग विशेषतः बुद्धिप्रधान वर्ग माना गया है और सामाजिक क्रान्तिके प्रायः समस्त विचारोंका सर्जन मध्यवर्गमें ही होता है। मध्यवर्गमे भी दो भाग है—उच्च मध्यवर्ग और निम्न मध्यवर्ग —रा० कु० त्रि०

मध्यव्रीडिता–दे०—'मध्या' (नायिका)।

मध्या (नायिका)–अधिकांश आचार्योंके अनुसार स्वकीयाका भेद; विशेषके लिए दे० 'नायिका-भेद'। लज्जा और कामकी मध्यस्थितिके कारण इस नायिकाको मध्या नाम दिया गया है—'समानलज्जामदना मध्या'। भानुदत्तने आगे इसे अति विश्राम और विनय (अतिप्रश्रयात्)के कारण ही अतिविश्रब्धनवोढा माना है (र० मं०, पृ० १८)। हिन्दीके अधिकांश आचार्योंने भानुदत्तकी परिभाषा शब्दशः स्वीकार कर ली है; मतिराम, देव, पद्माकर तथा भानु आदिने 'लज्जा' और 'मदन' शब्दोका प्रयोग इसी रूपमे किया है। वस्तुतः इस नायिकाकी विश्रब्धनवोढाकी अगली स्थिति माना जा सकता है, क्योंकि इसमे लज्जाकी स्थितिके साथ कामभावनाका उदय हो जाता है। रहीमने इस नायिकाका सुन्दर भावचित्र अंकित किया है–"रहत नयनके कोरवा चितवनि छाय। चलत न पग पैंजनियॉ मग अहटाय" (ब०, ८)। द्विधाकी भावनाका चित्र सुन्दर बन पड़ा है—"केलि भवनकी देहरी, खरी बाल छबि नौल। काम-कलित हियकौ लहै, लाज-कलित दग कौल" (र० रा०, ३२)। पद्माकरकी मध्याके नेत्रोमे 'मदन-लाज' समाहित हो रहा है। विद्यापतिने राधाके मध्या रूपका विकास सहज क्रममे प्रस्तुत किया है और सूरने भी राधाके इस रूपका चित्रण किया है। जायसी आदि सूफ़ी प्रेमी कवियोंने भी अपनी नायिकाओकी अवस्थाका क्रमिक विकास दिखाया है। रीतिकालीन काव्यमे नारीकी इस मनःस्थितिका उसके उद्वेग और विकलताके साथ चित्रण किया गया है, पर इनमें भावोसे परिस्थितियाँ अधिक है।

इसके भेद-विस्तारके लिए दे० 'नायिका-भेद'। **अतिविश्रब्ध**—कृपारामने इस भेदका उल्लेख किया है, पर वस्तुतः भानुदत्तने मध्याकी व्याख्या इसी रूपमें की है। **प्ररूढ़योवना**—केशवने इसे पूर्ण युवती (भाग सुहाग भरी) तथा 'कन्तके मनको भानेवाली' कहा है। यह अपने तारुण्यके प्रति पूर्ण सचेष्ट है—"चन्दकोसो भाग भाल भृकुटी कमान ऐसी, मैन कैसे पैने सर नैननि बिलासु है" (र० प्रि०, ३ : ३४), सम्भवतः यह सचेष्टता ही इसकी विशेषता है। इसे आरूढ तथा रूढयौवना भी कहा गया है। **प्ररूढ़स्मरा**—हिन्दीमे केशवदास आदिने प्रादुर्भूतयौवनाके रूपमें लिया है—"तन मन भूषित मोभियै केसव काम कलानि" (वही, ३ : ३७)। इसमें तारुण्यका किंचित् अधिक उत्कर्ष माना जा सकता है—"एक ही बंक बिलोकनि ऊपर बारै बिलोकि त्रिलोक निकाई" (वही : ३८)। देवके उदाहरणसे भी यही लगता है—"आपने आगें औ पीछे तिरीछे ह्वै देहको देखि सनेहसों भीजैं" (भा० वि० : ना०)। **ईषत्-प्रगल्भवचना**—हिन्दीमे प्रगल्भवचना है। केशवके अनुसार "बचननि माहि उराहनो देइ दिखावै त्रास" (वही, वही : ३७)। यह भेद नायिकाके अधिक विश्वस्त होनेका संकेत देता है। लज्जाका स्थान प्रगल्भता ले लेती है—"कान्ह भलें जु भलें ढग लागे भलें इन्ह नैननिके रँग रागे" (वही, वही : ३६)। उलाहनाके साथ अधिक आत्मविश्वास व्यक्त हुआ है—"मोहनको मुख चूमि भटू तब हौं अपनो मुख चूमन दैहौं" (देव : भा० वि० : ना०)। **विचित्रसुरता** अथवा सुरत-विचित्रा केशवके अनुसार जिसका 'सुरत विचित्र' हो। इसमें एक प्रकारसे लज्जाका

भाव नहीं रह गया है, अतएव इसे मध्याके अन्तर्गत स्वीकार करना अधिक उचित नहीं जान पड़ता। **मध्य-व्रीडिता**—हिन्दीमें लघुलज्जा। —सं०

मनजा सेवा—दे० 'सेवा'।

मनहरण—वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। इस नवीन वृत्तका प्रयोग केशवने किया है। कवित्तका नाम भी मनहरण है (दे०)। भानुने पाँच सगण (।।ऽ)के वृत्तका भी नाम मनहरण दिया है। यह स्रग्विणी-परिवारका छन्द है, क्योंकि इसका आधार रगणात्मक है। न, स, ३ रगणोंके योगसे यह वृत्त बनता है (।।। ।।ऽ, ऽ।ऽ, ऽ।ऽ, ऽ।ऽ)। उदा०—"अति निकट गोदावरी पास संहारिणी। चल तरंग तुंगावली चारु संचारिणी" (रा० चं०, ११: २३) —पु० शु०

मनोग्रंथियाँ—मनोग्रन्थियाँ किसी अंशतः या पूर्णतः दमित, संवेगाविष्ट विचार या विचारोंका पुंज होती हैं, जिनके साथ व्यक्तिके द्वारा स्वीकृत अन्य विचारोंका सतत संघर्ष होता रहता है। मनोग्रन्थिको दमित स्थायी भाव भी कहा जाता है, जिससे प्रेरित होकर व्यक्ति विचित्र व्यवहार करता है। मनोग्रन्थि **अवचेतन**को पराभूत कर लेनेवाली एक ऐसी विशिष्ट विचार-ग्रन्थि होती है, जिसके आसपास दमित **आदिम संवेगों**की एक गुत्थी-सी बन जाती है। मनोग्रन्थियाँ **चेतन, अचेतन** या **क्वचिच्चेतन** किसी भी प्रकारकी हो सकती हैं, किन्तु कुछ अधिकारी विद्वान् मनोग्रन्थि शब्दका प्रयोग अचेतन विचारों, भावनाओं और प्रेरणाओंके लिए ही करते हैं।

मनोग्रन्थियोंके अनेक प्रकार होते हैं। किसी विचित्र वैज्ञानिक पद्धतिमें विश्वास करना, किसी विशेष वाद या मतको ही पूर्ण समझना और उसके द्वारा समस्त मानवीय व्यापारों एवं इतिहासकी व्याख्या करना, सौ वर्ष कैसे जीयें, विश्वलिपि-निर्माण या ऐसी ही कोई और सनक, प्राकृतिक जीवन, नग्नतावाद, भोजनके सम्बन्धमें कोई विचित्र विश्वास या आग्रह आदि बौद्धिक मनोग्रन्थियोंके उदाहरण हैं। कलाके क्षेत्रमें विचित्र फैशन या वाद सौन्दर्यात्मक मनोग्रन्थियाँ हैं। इसी प्रकार सामाजिक क्षेत्रमें विचित्र सुधारोंके आन्दोलन, विचित्र आदर्शोंमें भक्ति, सदा यह प्रतीति कि लोग हमारा अपमान कर रहे हैं, हमपर अन्याय हो रहा है, हम शहीद हैं आदि सामाजिक मनोग्रन्थियोंके दृष्टान्त हैं। धर्मके क्षेत्रमें भी मनोग्रन्थियोंकी कमी नहीं है। विचित्र धार्मिक विश्वासोंसे विचित्र सम्प्रदायोंकी स्थापना हो जाती है। नाना प्रकारके व्रत, तपश्चर्या, अनुष्ठान, संस्कार, स्वर्ग-नरकमें विश्वास, कुम्भीपाकका त्रास, स्वर्गकी अप्सराओं और गिलमोंका आनन्द, कल्पवृक्ष और कामधेनु, अपनेको इष्टदेवकी प्रिया मानकर पुरुषका भी स्त्रीवत् आचरण—ऋतुमती होनेका अभिनयतक—करना, भावाविष्ट होकर नाचना-कूदना, अतीतकी किसी एक घटनाकी वार्षिक स्मृतिके अवसरपर गममें लोहेकी जंजीरोंसे अपनी छाती पीट-पीटकर लहू-लुहान हो जाना आदि धार्मिक मनोग्रन्थियोंके ही रूप हैं।

इन मनोग्रन्थियोंका व्यक्तिके जीवनपर बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ता है। जीवनमें आया हुआ कोई व्यक्ति, कोई स्थिति, कोई प्रिय या अप्रिय घटना, कोई अनुभूति या स्मृति कभी भी संयोगवश मनोग्रन्थिमें परिवर्तित हो सकती है और मनुष्यके अवचेतनमें प्रविष्ट होकर उसके समस्त चेतन व्यवहारको आजीवन प्रभावित करती रह सकती है। व्यक्तिके चरित्र और भाग्यके निर्माणमें उनका बड़ा हाथ रहता है। व्यक्तिको प्रायः अपनी मनोग्रन्थियोंका आभास नहीं होता और यदि होता या कराया जाता है तो वह उन्हें स्वीकार नहीं करता। व्यक्तिके न चाहनेपर भी वे उसके व्यवहारको संचालित करती हैं, व्यक्ति उनसे विवश जैसा हो जाता है। जिन मनोग्रन्थियोंकी साधारणतया अभिव्यक्ति नहीं हो पाती, वे स्वप्नों, मानसिक विकारों और अस्वाभाविक व्यवहारोंसे प्रकट होती हैं।

मनोग्रन्थियाँ हमारी मूल प्रवृत्तियोंके समान ही अदम्य और प्रबल होती हैं। प्रकाशित और कृतार्थ होनेके लिए वे भी मौलिक एषणाओंकी तरह विकल रहती हैं, किन्तु मनके अन्तरालमें विविध प्रेरणाओं और मनोग्रन्थियोंमें सतत चलनेवाले संघर्षके कारण ऐसा नहीं हो पाता। इस परस्पर द्वन्द्वके कारण व्यक्ति किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है और परिणामस्वरूप उसे किसी अंगका पक्षाघात अथवा कोई अन्य रोग हो जाता है। मनोविश्लेषणने प्रचुर प्रमाणोंके आधारपर यह सिद्ध कर दिया है कि हमारे अधिकांश रोगोंका वास्तविक कारण ये ही मनोग्रन्थियाँ हैं। अतएव स्पष्ट है कि इन अनिष्टकारी मनोग्रन्थियोंके कारण व्यक्तिका स्वास्थ्य, सुख और शान्ति नष्ट हो जाती है, उसके व्यक्तित्वका सम्यक् विकास नहीं हो पाता। मनोग्रन्थियोंका पता लगाकर उन्हें जड़से नष्ट करना और व्यक्तिको सम्यक सुख, शान्ति और स्वास्थ्यके पथपर ले आना मनोविश्लेषणात्मक चिकित्साका प्रधान कार्य है।

आधुनिक मनोविश्लेषणने मनुष्यमात्रमें व्याप्त और उसके जीवनमें आत्यन्तिक महत्त्व रखनेवाली कुछ विशिष्ट मनोग्रन्थियोंका पता लगाया है। इनमें ईडिपस, आत्म-हीनता, अपराध, प्रतिशोध आदि मनोग्रन्थियाँ प्रमुख हैं।

ईडिपस मनोग्रन्थि मनुष्यको सबसे अधिक प्रताडित और विशृंखल करनेवाली होती है। आधुनिक युगमें फ्रायडने ही सर्वप्रथम इसकी खोज की है। उसके अनुसार इस मनोग्रन्थिका आरम्भ बचपनके प्रारम्भिक दिनोंमें होता है। यह प्रायः अचेतन होती है और अपनी माताके प्रति पुत्रकी आत्यन्तिक आसक्ति (जो यौन होती है), पिताके प्रति ईर्ष्या तथा तज्जन्य अपराधकी भावनासे इस ग्रन्थिका निर्माण होता है। फ्रायडीय मनोविश्लेषण इस मनोग्रन्थिको सर्वसामान्य मानता है। सभी परिवारोंमें, सभी पुत्रोंमें इस ग्रन्थिका उद्भव होता है। अतः सभी लड़कोंमें इसके लक्षण मिलते हैं। साधारणतया किशोरावस्था प्राप्त करनेपर लड़के इस मातृ-आसक्तिसे मुक्त हो जाते हैं। लेकिन कुछ व्यक्ति आजीवन ईडिपस मनोग्रन्थिमें आक्रान्त रहते हैं। ऐसे व्यक्तियोंके अचेतनमें रहकर वह अनेक मानसिक विकारों, प्रवृत्तियों और यौन विकृतियोंका कारण बनती है। स्त्रियोंमें इस ग्रन्थिके प्रतिरूप पिताके प्रति (यौन) अत्यासक्ति, मातासे ईर्ष्याको फ्रायडने एलेक्ट्रा मनोग्रन्थिका नाम दिया है।

ईडिपस यूनानी पुराणोंमें वर्णित एक राजा है। उसका जन्म होनेपर भविष्यवक्ताने उसके पिता राजा लाइअसको सावधान किया कि उसकी मृत्यु उसके पुत्र ईडिपस द्वारा होगी। लाइअसने भयभीत होकर ईडिपसको फेंकवा दिया, लेकिन वह बच गया और उसका पालन-पोषण अन्यत्र हुआ। युवा होनेपर उसने संयोगवश अनजाने ही अपने पिताकी हत्या कर दी और अनजाने ही अपनी विधवा माता जोकेस्टासे विवाह कर लिया। आगे चलकर सत्य ज्ञात होनेपर ईडिपसने अपनी आँखें फोड़ लीं और जोकेस्टाने आत्महत्या कर ली। इसी प्रकार राजकुमारी एलेक्ट्राकी कथा यूराइपिडीजमें मिलती है, जिसने अपनी मातासे पिताकी हत्याका बदला लिया था। फ्रायडने ईडिपस और एलेक्ट्राको माताके प्रति पुत्रकी और पिताके प्रति पुत्रीकी आसक्तिका प्रतीक मानकर इन मनोग्रन्थियोंको यह नाम दिया।

दूसरी महत्त्वपूर्ण मनोग्रन्थि **आत्महीनता**की है। इसपर ऐडलरने बहुत बल दिया है और वह उसे मनुष्यकी प्रधान प्रेरक शक्ति मानता है। इसमें व्यक्ति अपने शरीर, रूप, बौद्धिक क्षमता, पारिवारिक-सामाजिक स्तर, आर्थिक स्थिति आदिमें किसी वास्तविक या काल्पनिक हीनताके कारण दूसरोंकी दृष्टिमें अपनेको तुच्छ समझने लगता है। आत्महीनताकी मनोग्रन्थिसे प्रेरित होकर अपनी तथा दूसरोंकी दृष्टिमें अपना आत्मसम्मान स्थापित करनेके लिए व्यक्ति बड़ा प्रयास करता है, किसी-न-किसी क्षेत्रमें विशेष सफलता और यश प्राप्त करके नैसर्गिक क्षतिकी पूर्ति कर लेना चाहता है। यह मनोग्रथि चेतन और अचेतन, दोनों प्रकारकी हो सकती है। चेतन होनेपर व्यक्तिमें आत्मविश्वासका अभाव रहता है और अपने सम्बन्धमें सदैव तुच्छ भावोंसे आक्रान्त रहता है। अचेतन होनेपर व्यक्ति अपने सम्बन्धमें एक झूठी श्रेष्ठ भावना तथा आक्रमणात्मक और अहंकारी व्यवहार द्वारा अपनी हीनताकी क्षतिपूर्ति करता है। अपनी श्रेष्ठता, अपने सद्गुणों और नैतिक उच्चताकी प्रशंसा और प्रचार स्वयं करते रहनेवाले व्यक्ति वस्तुतः अपनी आत्महीनताकी ही निष्कृति किया करते हैं। इस मनोग्रन्थिका आरम्भ अधिकतर बचपनमें ही होता है और व्यक्तिकी जीवनशैली, चरित्र, योग्यता और सफलता पर उसका गम्भीर प्रभाव पड़ता है। आत्यन्तिक स्थितिमें उससे मानसिक विकार भी उत्पन्न हो जाते हैं।

अपनेको अपराधी या पापी माननेकी मनोग्रन्थिका उद्भव किसी नैतिक च्युतिकी अनुभूतिसे होता है। यह भी चेतन अथवा अचेतन, दोनों प्रकारकी हो सकती है और उससे प्रेरित होकर व्यक्ति विचित्र व्यवहार करने लगता है। व्यक्तिके जीवनमें अत्यधिक शुद्धतावाद प्रायः किसी पूर्वकृत नैतिक अपराधकी चेतन अथवा अचेतन स्मृति या उसके निमित्त प्रायश्चित्तका द्योतक होता है। अपराधकी मनोग्रन्थिसे कभी-कभी जटिल मानसिक व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। प्रतिशोध-मनोग्रन्थियोंसे पीड़ित व्यक्ति बदला लेनेकी उद्दाम भावनासे आक्रान्त हो जाता है। जाने-अनजाने वह ऐसे काम कर बैठता है, जिससे वह अपनी अप्रसन्नता या कोपके भाजनको हानि पहुँचाकर उससे बदला लिया करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानव-प्रकृतिका सम्यक् परिचय प्राप्त करनेके लिए मनोग्रन्थियोंका अध्ययन बड़ा उपयोगी सिद्ध हो सकता है। मनोविश्लेषण-युगके पूर्व मनुष्यके हृदयके गुप्त स्तरोंमें केवल महान् प्रतिभा ही पैठ सकती थी, किन्तु मनोविश्लेषण द्वारा उपलब्ध ज्ञानके आधारपर हम स्वयं अपनेको तथा समकालीन व्यक्तियों और सहयोगियोंको ही नहीं, अनेक ऐतिहासिक व्यक्तियों और कृतियोंको भी अधिक अच्छी तरह समझ सकते हैं। महाभारतकालके कर्ण और एकलव्य आत्महीनताकी भावनासे ग्रस्त अपनी श्रेष्ठताको सिद्ध करनेवाले व्यक्ति हैं। यदि कालिदास और शेख सादीके सम्बन्धमें किंवदन्तियाँ सत्य हों तो निश्चय ही आत्महीनताकी भावनाने उनको क्षतिपूर्तिके निमित्त उत्कट प्रयास करनेके लिए विवश किया होगा। भूषण अपनी भाभीके स्त्रियोचित तानेपर घर छोड़कर चले गये थे और अन्ततः अपनेको परिवारका सर्वश्रेष्ठ कमाऊ सदस्य सिद्ध करके अपनी भाभीके पास एक लाख रुपयेका नमक भेजा था। यह भी आत्महीनताकी भावनासे प्रेरित होकर कुछ कर दिखानेका दृष्टान्त है। शेक्सपीयरकी लेडी मैकबेथका सोते-सोते हाथ धोना उसकी अपराध-मनोग्रन्थिकी स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। नित्य नूतन प्रेमिकाओंके प्रेममें पड़नेवाला दुष्यन्त भारतीय डान जुआन कहा जा सकता है। मनोविश्लेषणके अनुसार ऐसे व्यक्ति ईडिपस मनोग्रन्थिसे पीडित होते हैं और अपनी प्रेमिकाओंमें अपनी माताका प्रतिरूप खोजा करते हैं। अपनी मातासे कुछ भी मिलती-जुलती नारी मिलते ही वे उसपर मुग्ध हो जाते हैं और अपनी भूल अनुभव करते ही उनका प्रेम उड़ जाता है। मनोविश्लेषणने बीसवीं शताब्दीकी कला और साहित्यको बहुत प्रभावित किया है। हिन्दी साहित्य-पर भी उसका प्रभाव पड़ा है। —आ० रा० शा०

मनोरमा–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। इस नवीन छन्दका प्रयोग केशवने किया है। मनोरमा नामका एक अन्य वृत्त (न, र, ज, ग) प्राप्त है, जो इससे भिन्न है। सूदनने इसी नामसे ३ तगण और गुरु (सु० च०, पृ० २२५)का एक छन्द और प्रयुक्त किया है, पर इसमें चार सगणों और दो लघुओंका योग होता है (।।ऽ, ।।ऽ, ।।ऽ, ।।ऽ, ।।)। उदा०—"नृप रावणकी भगिनि गनि मो कहँ। जिसकी ठकुराइत तीनिहु लोकहँ (रा० चं०, ११ : ३५)। —पु० शु०

मनोविकार–मनुष्य विविध प्रकारके मानसिक रोगों एवं मनोविकारोंसे पीडित होता है। इनमेंसे कुछका कारण शारीरिक और कुछका मानसिक होता है। पागलपन कभी-कभी मस्तिष्कमें क्षति पहुँचनेसे, किसी विषके प्रभावसे अथवा पैतृकताके कारण उत्पन्न हो जाता है। कण्ठग्रन्थि (थायराएड ग्लैण्ड)की प्रक्रियाके आत्यन्तिक विभेदनसे बालक लगभग जड़ बुद्धिका हो जाता है। इसी प्रकार पक्षाघात, थकान, विराग, विरुचि, नपुंसकता आदि नितान्त शारीरिक कारणोंसे भी होते हैं और उन्हें मौलिक मनोविकार कहा जा सकता है, किन्तु आधुनिक मनोविज्ञानने यह सिद्ध कर दिया है कि मनुष्यके अधिकांश शारीरिक रोग

और मनोविकार मानसिक संवेगात्मक कारणोंसे होते हैं। ऐसे मानसिक विकारोंको व्युत्पन्न मनोविकार कहा जा सकता है। इनके अन्तर्गत मनोदौर्बल्य, स्नायविक रोग, कल्पनाग्रह, हठप्रवृत्ति, भीतिरोग, चिन्तारोग, उन्माद, स्थिरभ्रम, असामयिक मनोह्रास, उत्साह-विषाद-चक्र-मनोदशा आदि विकार आते हैं। मनोविश्लेषण सम्बन्धी प्रकरणोंमें यह संकेत किया जा चुका है कि व्युत्पन्न मनोविकारोंका कारण अतृप्त और दमित मूल प्रवृत्तियाँ और मनोग्रन्थियाँ होती हैं। व्यक्तिके मानसिक स्वास्थ्यके लिए यह आवश्यक है कि उसकी मौलिक प्रवृत्तियों और स्थायी भावोंको सामाजिक ढंगसे व्यक्त और कृतार्थ होनेका अवसर मिलता रहे, अन्यथा व्यक्ति कुण्ठित हो जाता है, अनेक मनोग्रन्थियाँ उसके अचेतनको आक्रान्त करके उसे शारीरिक रोगों और मनोविकारोंका शिकार बना देती हैं (दे० 'मनोग्रन्थियाँ')। —आ० रा० शा०

मनोविश्लेषण (psycho-analysis)—अपने प्रमुख और प्रारम्भिक रूपमें मानसिक और स्नायविक रोगोंकी चिकित्सा की विशेष विधि है, जिसके आस-पास मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तोंका संघटन हो गया है। इसके जन्मदाता सिग्मण्ड फ्रायड थे और उन्होंने इसका उपयोग चिकित्साशास्त्रमें ही किया। परन्तु चिकित्साकी यह विधि जिन मूल सिद्धान्तोंपर आधारित है, उन सिद्धान्तोंके स्पष्टीकरण, समर्थन, विरोध, अन्य सिद्धान्तोंकी स्थापना आदिसे फ्रायडके समयसे अबतक मनोविश्लेषणने इतनी प्रगति की है कि आधुनिक युगकी कोई भी विचारधारा इसके प्रभावसे अछूती नहीं रह सकी है। मानसिक-स्नायविक रोगोंकी चिकित्सा करते समय फ्रायडने देखा कि सम्मोहन-क्रिया (hypnotism) अथवा वार्तालापमें स्वच्छन्द-विचार-साहचर्यसे बहुतसे पुराने अनुभव पुनरुज्जीवित हो उठते हैं। उन्होंने यह भी पाया कि इन अनुभवोंका मूल कारण कामवृत्ति और उसका अचेतन रूपसे दमन है। इस प्रकार वे जिस मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तपर पहुँचे, उसका सार तीन शब्दोंमें व्यक्त हो सकता है—शैशवीय दमित कामवृत्ति। उनके अनुसार यह जीवनमें मुख्य प्रेरक शक्ति है, यह शिशुके जन्मते ही कार्यशील रहती है और इसका प्रकाशन मानवके समस्त व्यवहारमें परोक्ष रूपसे होता है। इस शक्तिको अधिक व्यापक अर्थ देनेके लिए वे 'लिबिडो' शब्दका प्रयोग करते हैं। शैशवमें जब मानसमें केवल 'इड' ही विकसित रहता है, दमनका प्रश्न नहीं उठता, किन्तु सामाजिक और नैतिक दबावोंके कारण अहं और सुपर ईगो या 'आदर्श अहम्'का विकास होने लगता है और स्वाभाविक कामेच्छाओंका दमन होता जाता है। इन दमित इच्छाओंसे अचेतन मानसका निर्माण होता है। इच्छाओंके दमनका सिद्धान्त दो विचारोंपर आधारित है, एक तो यह कि जो निषिद्ध है, वह इच्छाका विषय होता है, दूसरे यह कि जिससे भय लगता है, वह भी इच्छाका विषय है। प्रबल इच्छाका दमन ही चेतन मनमें भयका रूप ले लेता है। इन विचारोंके फलस्वरूप फ्रायडके सिद्धान्तमें यह माना गया है कि शिशुकी कामवृत्ति अपने माता-पिता और भाई-बहनोंकी ओर प्रेरित होती है, परन्तु नैतिक निषेधोंके कारण इस वृत्तिका दमन होता रहता है और व्यक्तिके मनमें कुण्ठाएँ बन जाती हैं। **ईडिपस कुण्ठा** (अथवा भावग्रन्थि) फ्रायडके सिद्धान्तमें विशेष महत्त्वपूर्ण है। ग्रीक नायक ईडिपस (जिसने अपने पिताकी हत्या करके अपनी मातासे विवाह किया था)के नामसे फ्रायड यह व्यक्त करते हैं कि शिशुके मनमें विषमलिंगी जनकके प्रति कामेच्छा और समलिंगी जनकके प्रति ईर्ष्या अवश्य होती है। इन दोनोंका दमन करके नैतिक और सामाजिक रूपसे स्वीकृत प्रेम और आदरके भाव प्रकाशित किये जाते हैं। यदि व्यक्तित्वका संघटन दुर्बल हो और कोई संवेगात्मक आघात लगे तो यह ईडिपस कुण्ठा अनेक मानसिक रोगोंको जन्म देती है। साधारण स्वस्थ जीवनमें भी ये दमित वासनाएँ और कुण्ठाएँ अपनेको व्यक्त करनेका प्रयत्न करती रहती हैं, परन्तु **आदर्श अहम्** (सुपर ईगो) द्वारा निर्मित प्रतिरोधके कारण ये अपने स्वाभाविक रूपमें व्यक्त नहीं हो पातीं और कपट वेशोंमें प्रकट होती हैं। ये कपट रूप स्वप्न और जाग्रत जीवनकी भूलें हैं। अधिक प्रबल होनेपर हिस्टीरिया, **खण्डित व्यक्तित्व,** अपराध-भावना आदि बहुतसे मानसिक-स्नायविक रोग हो जाते हैं। फ्रायडके मनोविश्लेषण सिद्धान्तमें यह सिद्धान्त भी निहित है कि मानवका छोटेसे छोटा व्यवहार भी सप्रयोजन होता [illegible] मानसिक जीवनमें कुछ भी अकारण अथवा निष्प्रयोजन नहीं होता। फ्रायडके अनुसार प्रयोजन या प्रेरणा प्रमुखतः कोई कामेच्छा होती है, जिसे हम मनोविश्लेषणके द्वारा जान सकते हैं। इस प्रकार **मनोवैज्ञानिक अभिप्राय** या प्रयोजन भी फ्रायडके सिद्धान्तका आधार है।

मनोविश्लेषणके जन्मदाता फ्रायड थे, अतः प्रमुख रूपसे मनोविश्लेषणसे उन्हींके सिद्धान्तका बोध होता है। कला और साहित्यपर भी उनके विचारोंका बहुत प्रभाव पड़ा है। फ्रायडके सिद्धान्तको यौनवाद भी कह सकते हैं। फ्रायडके अनुसार कला और धर्म, दोनोंका उद्भव अचेतन मानसकी संचित प्रेरणाओं और इच्छाओंमें ही होता है—इस कामशक्तिके उन्नयनके फलस्वरूप कलाकार सर्जन करता है। मानसिक जीवनमें यथार्थ और सुखेच्छाके बीच जो संघर्ष होता है, उसका समाधान कलाकार कलाके द्वारा करता है। फ्रायडके कलाविषयक सिद्धान्तोंने कलाके आलोचकोंको काफी सीमातक प्रभावित किया है और [illegible] किया मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तोंने आधुनिक कथा-साहित्यको [illegible] प्रेरणा दी है, किन्तु मनोविश्लेषण केवल फ्रायड [illegible] सीमित नहीं है, अन्य मनोविश्लेषकोंने अपने अनु[illegible] द्वारा कुछ नये सिद्धान्त भी दिये हैं। फ्रायडके ही सह[illegible] कारियों और शिष्योंमें ऐडलर और युंगने फ्रायडसे भिन्न [illegible] सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया है।

ऐडलरके मनोविज्ञानमें **लिबिडो** अथवा **कामवृत्ति**का उतना महत्त्व नहीं है, जितना **अहम्**का। उनका मत है कि फ्रायड कामवृत्तिको अनावश्यक महत्त्व देते हैं, मानसिक स्नायविक रोगोंका मूल कारण कामवृत्तिके अतिरिक्त अहंकी माँग भी हो सकती है। प्रत्येक व्यक्तिमें स्वाभाविक मूल प्रवृत्ति अहंस्थापन (self assertion)की होती है। इस अहंस्थापनकी इच्छा और जीवनके यथार्थका विरोध

मानसिक जीवनकी मुख्य समस्या है। यह इच्छा जीवनके तीन क्षेत्रोंमे व्यक्त होती है—समाज, व्यवसाय और विवाह। इस प्रकार ऐडलरके मनोविज्ञानमे आत्मस्थापनकी प्रवृत्ति ही प्रमुख है, कामवृत्ति नहीं। मानसिक-स्नायविक रोगका मूल कारण हीनत्व-कुण्ठा है, यथार्थने संवर्षके कारण व्यक्तिके आत्मस्थापनको सन्तोष नहीं मिल पाता और उसमे हीनत्वभावना विकसित हो जाती है। इस भावनासे मुक्ति पानेके लिए व्यक्ति प्रयत्न करता है, इसका दमन करता है। दमनके परिणामस्वरूप कुछ व्यक्तियोंमें अत्यधिक गर्व आ जाता है, जिसे हम हीनत्वकुण्ठाका कपट-रूप मान सकते है। हीनत्वभावनासे बचावके लिए व्यक्ति कुछ सरल साधन खोज लेता है, वह साधन कोई विशेष 'जीवन-शैली' होती है। जीवन-शैली जीवनके प्रारम्भिक वर्षोंमे ही निश्चित हो जाती है और परिवारमें व्यक्तिकी स्थितिसे निश्चित होती है। ऐडलरके अनुसार एकलौते बच्चे, प्रथम सन्तान, द्वितीय सन्तान, अन्तिम सन्तान, सबकी जीवन-शैली पारिवारिक वातावरणसे निश्चित होती है। ऐडलरके इन सिद्धान्तोंका साहित्य और अन्य विचार-क्षेत्रोंपर उतना प्रभाव तो नहीं पडा, जितना फ्रायडके मतका, फिर भी उनके दिये हुए तथ्य मानसिक जीवनकी समस्याओंको सुलझानेमें काफी सहायक सिद्ध हुए हैं और साहित्यमें भी उनका उपयोग होता है।

जुंगने भी मनोविश्लेषणके सिद्धान्तोंमे कुछ सुधार करके अपना मत दिया है। वह भी फ्रायडके इस मतके विरोधी थे कि जीवनकी प्रमुख प्रेरक शक्ति काम है। उन्होंने **लिबिडो** शब्दका अधिक विस्तृत अर्थ लिया, जिसमे फ्रायडकी कामवृत्ति और ऐडलरकी आत्मस्थापन-प्रवृत्ति, दोनों ही सम्मिलित है। वह उसे जीवनकी वह प्रारम्भिक और सामान्य प्रेरक शक्ति मानते है, जो मानवके सभी व्यवहारोंमें व्यक्त होती है। यह शक्ति 'जीवन-शक्ति' या 'मनःशक्ति' कही जा सकती है। यह वह मूल शक्ति है, जो विकास, क्रिया और जनन, तीनों लक्ष्योंमे अपनेको व्यक्त करती है। जुंगके मनोविज्ञानका दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि उनके अनुसार यह शक्ति एक अन्तिम साम्यावस्थाकी ओर उन्मुख रहती है। फ्रायड सदा वर्तमानको अतीतकी दृष्टिसे देखते थे, जुंग भविष्यकी दृष्टिसे देखते है।

पर [illegible]का सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त व्यक्तित्वके प्रकारोंका [illegible]न्त है। उनके अनुसार व्यक्ति मुख्यतः दो प्रकारके [illegible]है। एक तो वे जिनका ध्यान और शक्ति अपनेपर ही [illegible]न्द्रित रहती है, दूसरे वे जिनकी शक्ति सामाजिक और भौतिक वातावरणकी ओर प्रकट होती है। पहले प्रकारके व्यक्ति **अन्तर्मुखी** और दूसरे प्रकारके **बहिर्मुखी** होते हैं। अन्तर्मुखी व्यक्ति विचारों और भावनाओंमे केन्द्रित होनेके कारण अधिक भावुक, कल्पनाशील, एकान्तप्रिय और अव्यावहारिक होते है। बहिर्मुखी व्यक्ति व्यवहार-कुशल, समाजप्रिय और क्रियाशील अधिक होते है।

मनोविश्लेषणका सिद्धान्त विचार-जगत्मे न्यूटन-कोपरनिकस, आईन्स्टाइन और मार्क्सके सिद्धान्तोंकी भाँति क्रान्तिकारी सिद्ध हुआ है। वह बीसवी शताब्दीमें विश्व-मनीषाका एक अन्यतम महत्त्वपूर्ण तथा अविभाज्य अंग बन गया है। मनुष्यके हृदय तथा उसकी वास्तविक प्रेरणाओंका जो ज्ञान पहले केवल प्रतिभाशाली अन्तर्दृष्टिके लिए ही सम्भव था, वह अब सामान्य ज्ञानका विषय है। साहित्य और कलापर भी इसका व्यापक प्रभाव पड़ा है। कलाके क्षेत्रमे डाडाइज्म, सुररियलिज्म जैसे नूतन आन्दोलनोंको उसने प्रेरित किया है। नैतिकता और उसके प्रतिमानोंपर उसने नया प्रकाश डाला है और स्वच्छन्द विचारकोंकी एक नयी पीढीको जन्म दिया है। अंग्रेजी साहित्यमे डी० एच० लारेन्स और जेम्स जॉएम इस प्रवृत्तिके प्रतिनिधि लेखकोंमें है, यद्यपि मनोविश्लेषणसे उनका सीधा सम्बन्ध नहीं है। हिन्दी साहित्यमे इलाचन्द्र जोशी प्रमुख लेखक है, जिन्होंने मनोविश्लेषण और उसकी पद्धतिसे प्रत्यक्ष प्रेरणा ग्रहण की है। 'संन्यासी', 'प्रेत और छाया' तथा 'पर्देकी रानी' आदि उनके मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासोंके श्रेष्ठतर उदाहरण है। —प्रो० अ०

मनोवैज्ञानिक अभिप्राय–दे० 'मनोविश्लेषण'।

मनोहंस–वर्णिक छन्दोंमे समवृत्तका एक भेद। स ज ज भ र के योगसे यह वृत्त बनता है (।।ऽ, ।ऽ।, ।ऽ।, ऽ।।, ऽ।ऽ)। 'प्राकृतपैंगलम्'में इसका मनोहंस (२ : १६२) नाम दिया है, पर जाने किस कारण केशवने इस छन्दका नाम भी कलहंस दिया है और स ज स स ग (।।ऽ, ।ऽ।, ।।ऽ, ।।ऽ, ऽ; रा० चं०, १५ : १४) लक्षणवाले छन्दका नाम भी कलहंस दिया है। 'छन्दकौस्तुभ'मे दूसरे छन्दका नाम कलहंस दिया है (२ : ९६), अतः सम्भव है, पहले मनोहंसका कलहंस नाम भूलसे दिया गया हो। उदा०—"तहँ ताहि दै बरुको चले रघुनाथ जू। अति सूर सुन्दर यों लसै ऋषि साथ जू" (रा० चं०, ५ : ७)। —पु० शु०

मरजिया भाव–मरकर जीनेका भाव। संसारके लिए साधक मृतके समान होकर परमात्माके प्रेमको लेकर जीवित रहता है। संसारके सभी प्रपंचोंसे वह दूर हो जाता है। उसकी अपनी कोई कामना, अपनी कोई वासना नहीं रह जाती। अपने 'अहं'को मिटाकर परमात्माका प्रेम प्राप्त करनेके लिए सब कुछ करनेको वह तैयार रहता है। सूफी साधक अबू यजीदने कहा है कि "संसारसे शत्रुता कर मैं परमात्माके पास भागा, लेकिन उसके प्रेमने इस प्रकारसे मेरे ऊपर काबू कर लिया कि मैं स्वयं अपना दुश्मन बन गया"। इसी प्रकारसे अल-शिबलीने कहा है कि "प्रेम हृदयमे अग्निके समान है, जो परमात्माकी इच्छाके सिवा अन्य सभी वस्तुओंको जलाकर भस्मीभूत कर देता है"। ऐसी अवस्थामे वह प्रेमके लिए पागल बना रहता है और उसकी प्राप्तिके लिए किसी प्रकारके कष्टको कष्ट नहीं समझता। विशुद्ध ज्ञान और प्रेम दोनोंकी प्राप्ति इसी प्रकारके साधकके लिए सम्भव है और बिना इन दोनोंके परमात्माके साथ 'एकमेक' होना सम्भव नहीं। —रा० पू० ति०

मरण (मृति)–संचारी भावोंमे इसकी गणना होनेसे प्रश्न उठ सकता है कि यदि भरतने मरणके प्रदर्शनका निषेध किया तो उन्होंने स्वयं ही संचारियोंके अन्तर्गत इसकी विवेचना क्यों की? इसका समाधान 'नाट्यदर्पण' एवं 'काव्यानुशासन'में किया गया है। वहाँ बताया है कि "मरणकी पूर्वावस्था मृति है। क्योंकि मरणका

फडके-खांडेकर-युग" (१९२५से १९४८ ईसवी), ७. पेडसे-दॉडेकर-युग, मर्ढेकर-गाडगिल-युग (१९४८से आजतक)।

मराठी भाषाके अस्तित्वका पता कुछ सूक्ष्म लक्षणोंमे हमे ईसवी सन् ४८८के मंगलवेढे ग्रामके ताम्रपटमें मिलता है। सन् ७३६ ईसवीके चिकुर्डेके ताम्रपटमें भी उस भाषाके कुछ लक्षण विदित होते है। लेकिन मैसूरके पासके श्रवण बेलगोलाके गोमतेश्वरके ९८३ ईसवीके शिलालेखमे मराठीके स्पष्ट वाक्य मिलते है। 'चावुंडराजें करवियलें' एवं 'गंग राजे सुत्ताले करवियले' ये दोनों वाक्य सम्पूर्ण मराठीके है। ११वीं शताब्दीका 'राजीमती-प्रबोध' नामका ग्रन्थ प्राप्त है, जिसमे महाराष्ट्री स्त्रीका वर्णन करते समय यह कहा गया है, "मी कॉई सांवओ, गोमटी मुद्द"; ये मराठीके वाक्य है। ११२९के 'मानसोल्लास' ग्रन्थमे 'जेणे', 'मत्स्यरूपे', 'आणियलें', 'वाणियलें', 'रावो', 'नारायणु' आदि मराठी छायावाले शब्द मिलते है। ११८७के परलके शिलालेखमें शपथ खोदी हुई है "अथ तु जो कोणु हुविए शासन लोपी तेया श्रीवैद्यनाथ देवाची भाल सकुटुम्बिआ पड़े, तेयाची माय गाढवे...।" १२०६के चालीसगॉवके पासके भवानी मन्दिरके शिलालेखमे (पाटणके) यह वाक्य मिलता है— "इयॉ पाटणी जे केणे उधटे तेहाचा असि आउँ जो राउला होता ग्राहकापासी तो मढा दीन्हला"। १२७३के पंढरपुरके शिलालेखमे ये शब्द है—"स्वस्ती श्री सकु ११९५ श्री मुख संवत्सरे फागनी पूर विठ्ठलदेव रायासि तिसा सिति फुले, दॉडे आचन्द्रार्क चालविआ नाना भक्त मालीओं दत्त पैकाचा विवरु"।

भाषाकी परम्परा यद्यपि बहुत प्राचीन मिलती है, फिर भी हाल सातवाहनकी सप्तशतीमे मराठी प्राकृत या अपभ्रंशका मूल मानी जाती है। यह ग्रन्थ महाराष्ट्रीमे लिखा हुआ है। नमूनेके तौरपर एक गाथा यहॉ दी जाती है— "दुग्गअ कुडुम्व अट्ठी कहँणु गए धोइएण सोढव्वा। दसिओ सरन्त सलिलेण उहअ रुण्णं एवं पडएण॥" (गाथा १८, स० आ० जोगलेकर, नया संस्करण), अर्थात् दरिद्री कुटुम्बमे-कपड़ो-वस्त्रोंकी इतनी दुर्दशा होती रहती है कि जब वह धोया जाता है और सूखनेके लिए टॉगा जाता है तब वह दुर्दशाके असह्य हो जानेके कारण उसी वस्त्रके छोर-छोरसे गिरनेवाली पानीकी बूदोंके मिस रो पड़ता है।

महानुभाव-काल—मराठीका आदिकवि होनेका सम्मान मुकुन्दरायको ही है। इनका काल ११२८ ईसवीसे ११९८ ईसवीतक है। इनके ग्रन्थोंमें 'विवेकसिन्धु' प्रधान ग्रन्थ माना जाता है, जो मराठीका आद्य ग्रन्थ है। इसके सिवा 'परमामृत' नामका भी इनका एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है। 'विवेकसिन्धु'के पूर्वार्धमें सद्गुरु-सच्छिष्य-लक्षण, काम-क्रोधादि रिपुओका दमन, आत्मानात्म विचार आदि विषय और उपदेशपरक बहुतसे अन्य विषय भी सम्मिलित है। इसके उत्तरार्धमे शरीरपतनके बादकी अवस्थाओंसे सम्बद्ध स्थूल-सूक्ष्म कारण, काल महाकारण देहका वर्णन है।

इनके अनन्तर महानुभाव-सम्प्रदायका साहित्य प्रभावी हुआ है। महात्मा चक्रधर इस सम्प्रदायके प्रणेता थे। इस सम्प्रदायमें 'सातीग्रन्थ' (सात ग्रन्थ) प्रमाण, अतएव सम्प्रदायके आधारभूत माने जाते है। वे ये हैं—१. शिशुपालवध' (११९५), रचयिता भास्कर भट्ट बोरीकर, २. 'एकादश स्कन्ध' (११९६), रचयिता भास्कर भट्ट बोरीकर, ३. 'वत्सहरण' (१२००), रचयिता दामोदर पंडित, ४. 'रुक्मिणी-स्वयंवर' (१२१०), रचयिता नरेन्द्र कवि, ५. 'ज्ञानबोध' (१२५३), रचयिता विश्वनाथ बालापूरकर, ६. 'सह्याद्रिवर्णन' (दत्तलीलाचरित्र १२५४), रचयिता रवळो व्यास, ७. ऋद्धपूरवर्णन' (१२८५), रचयिता नारो व्यास अर्थात् नारायण बहाळिये।

अहिंसा, संन्यास, सगुणोपासना, भक्ति, सदाचार और परोपकार, ये इस सम्प्रदायके प्रमुख सिद्धान्त है।

ज्ञानदेव-नामदेव-काल—इसके बाद नाथसम्प्रदायके प्रख्यात कवि ज्ञानेश्वरका काल आता है। इस कालके प्रमुख भक्त-कवियोमे नामदेव, ज्ञानदेव, गोरा कुँभार, नरहरि सोनार, बंका महार, सॉवता माळी आदि कवि आते है। नामदेव परमभक्त थे। इन्होने पंजाबमे घूम-घूमकर भक्तिका प्रचार किया था। अतः इनकी वाणी 'ग्रन्थसाहब'में भी संगृहीत है। ज्ञानेश्वर और नामदेव समकालीन थे। ज्ञानेश्वर-लिखित 'भावार्थदीपिका' (अथवा ज्ञानेश्वरी) भी 'भगवद्गीता'की ओवीबद्ध टीका है। वह ग्रन्थ शके १२१२ में लिखा गया है। दृष्टान्तोंसे भरी हुई, अपनी काव्य-कल्पनाओके कारण बेजोड़ 'ज्ञानेश्वरी' मराठी साहित्यका अलौकिक भूषण है। ज्ञानेश्वरीमे उपमा आदि अलंकारोंकी भरमार है। घरकी फूटका वर्णन और उसका परिणाम दिखानेवाली ओवियॉ पढने लायक हैं—जैसे "काष्ठें काष्ठ मथिजे। तेथ वन्हि एक उपजे। तेणें काष्ठजात जाळिजे। प्रज्वलोनि। तैसा गोत्रीचि, परस्परें। जरी वध घडे मत्सरें। तरी तेणें महादोषें घोरें। कुळचि नासे"। इन षड्रिपुओंके वर्णनमे कितना जोश है, देखें—"ज्ञानविधीचे भुजंग। विषय दरीचे वाघ। भजन मार्गीचे मॉग। मारक हे॥ हे देह दुर्गीचे धोंड। इन्द्रिय ग्रामीचे कोंड"।

एकनाथ-काल—ज्ञानेश्वरके बादका काल अवनतावस्थाका है। एकनाथतकका काल साहित्यकी दृष्टिसे विशेष उल्लेखनीय नहीं है। एकनाथने ही ज्ञानेश्वरीका संशोधन किया, प्रचार किया और उसका महत्त्व बढ़ाया। 'श्रीमद्भागवत'-के ११वें स्कन्धपर टीका लिखकर अपना 'एकनाथी भागवत' घर-घर पढ़ने लायक बनाया। समाजके भिन्न वर्णों तथा वर्गोंमें भक्तिका, सद्गुण, सगुणका प्रचार किया और अपने प्रभावसे जातीय अन्धताको दूर करनेका परिश्रम किया। इसलिए एकनाथ जबर्दस्त समाजसेवक, त्यागी, शूर तथा उच्च कोटिके भक्त थे।

इनके बाद मुक्तेश्वरका काल आता है, जो अपने भारत-परके ग्रन्थोंके लिए प्रसिद्ध हैं। उनका 'वनपर्व', 'सभापर्व', 'विराट्पर्व', 'सौप्तिक पर्व' तथा अन्य मुक्तक तथा खण्ड-काव्य प्रसिद्ध है।

तुकाराम-रामदास-काल—अब शिवकाल अपना महत्त्व बढाता है। शिवाजी महाराजके समसामयिक सन्त समर्थ रामदास स्वामी तथा तुकाराम अपनी बोधपर तथा प्रासादिक कविताके लिए प्रसिद्ध है। श्री समर्थ रामदास निरे निवृत्ति-मार्गी नहीं थे। ये घर-गृहस्थीका उपदेश देते थे और फिर भी ईश्वर-भक्ति तथा अद्वैत-तत्त्वज्ञानकी ओर लोगोंका ह्र

आकर्षित करते थे। उनका कहना था, "आधी प्रपंच करावा नेटका। मग ध्यावे परमार्थ विवेका। येथें आलस करूं नका। विवेकी हो", अर्थात् गृहस्थी छोड़कर परमार्थके ही पीछे लगनेमे मनुष्य अन्न खानेसे भी वंचित रहेगा। 'प्रपंच सोडून परमार्थ केला। तरी अन्न मिळेना खायाला। मग तया करंट्याला। परमार्थ कैचा? रामदास स्वामीने शिवाजीकी बड़ी सहायता की थी। उनका 'दासबोध' ग्रन्थ और 'मनाचे श्लोक' बहुत ही अच्छे और प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

तुकाराम विठ्ठलभक्त थे। वे विरक्त थे और बड़ी ही प्रसादगुणपूर्ण कविता उन्होंने लिखी। उनकी वेदना और तड़पकी समानता मराठी ही क्यों, अन्य भाषाओंके साहित्य-मे भी शायद ही कोई कवि कर सकता है।

मोरोपन्त-वामन पण्डित-काल—शिवकालके रामदास और उनके शिष्य कल्याण, दिनकर गोसावी, गिरिधर, उद्धव आदिकी साहित्य-सेवाके बाद वामन पण्डितकी पण्डिताईका काल आता है। इस कालमें पुराने भक्तोंकी गाथाएँ आख्यानकोंके रूपमे गायी जाने लगी। पाण्डित्य अधिक था, भक्ति भावना कम थी। अलंकारोंकी भरमार, शब्दचयनकी उत्कृष्टता तथा काव्य-कौशलका कमाल उस समय दिखाया जाता था।

पेशवे-काल—इसी कालमे मोरोपन्तकी कविताका भी समावेश करना चाहिए। यों तो उत्तर-पेशवेकालीन साहित्य शाहीरी साहित्य है। उस समय प्रभाकर, सगन-भाऊ, हैबती, होनाजी, बाला, राम जोशी आदि कई लावणीकार शाहीर निर्माण हुए और मराठी साहित्य शृंगार-मे डूब गया। वीर रसके पोवाडे भी उस समय गाये जाते थे, लेकिन प्रधान भावना शृंगारकी थी।

आधुनिक काल—इसका प्रारम्भ छत्रे-युगसे होता है। सदाशिव काशीनाथ छत्रेको गद्य-साहित्यका पिता कहते है। इस युगके प्रधान लेखकोंमे बालशास्त्री जाम्भेकर भी है, जिन्होने नीतिकथाएँ लिखी। हिन्दुस्तान तथा इंग्लैण्डके इतिहास भी उन्होंने लिखे है।

दादोबा-युगके प्रवर्तक है दादोबा पांडुरंग तर्खडकर व्याकरणकार। ये महाराष्ट्रके पाणिनि कहलाते है। आद्य व्याकरणकारके नाते इनका मराठी साहित्यमे बहुत सम्मान है। इनके समसामयिक हरि केशवजी, भाऊ महाजन, लोकहितवादी अच्छे गद्य-लेखक हुए है। लोकहितवादीके 'शतपत्र' काफी मशहूर है। इन्होने अंग्रेजीके वैभव और यशसे प्रभावित होकर आत्मनिरीक्षण किया और अपने समाजके दोषोंको अपने पत्रोंमें स्पष्ट रूपमें दिखा दिया।

इनके शतपत्रोंके जबर्दस्त विरोधक बादमे पैदा हुए। लेकिन शास्त्री-युगमें अनुवाद बहुतसे हुए। कृष्णशास्त्री चिपळूणकर, परशुराम गोडबोले, कृष्णशास्त्री राजवाड़े आदि अनेक साहित्यकारोने अनुवादों और स्वतन्त्र रचनाओं-के द्वारा मराठी साहित्यका गद्यविभाग खूब सँभाला।

मालाकार-युगमे मराठी भाषाके शिवाजी विष्णुशास्त्री चिपळूणकरकी निबन्धमाला बहुत प्रभावी हुई, अंग्रेजोंके गुणोंका अनुकरण और दोषोंकी निन्दा उन्होंने की। इस युगमें मराठीके लेखकोने राजकीय तथा सामाजिक सुधारों-के लिए बड़े ही प्रयत्न किये। राजकीय सुधारके प्रवर्तक लोकमान्य तिलक थे तथा सामाजिक सुधारोंके प्रवर्तक गो० ग० आगरकर थे। जबर्दस्त जोशीली शैलीमे लिखनेवाले शिवराम महादेव परांजपे भी राजकीय-विषयक उपरोधा-त्मक निबन्ध लिखकर इसी कालमे अपना कार्य कर चुके है।

उसके बादसे लेकर कोल्हटकर-युगमे भारताचार्य चि० वि० वैद्य, साहित्यसम्राट् न० चि० केळकर, विनोदमूर्ति श्री कृ० कोल्हटकर, सूक्ष्म तत्त्वज्ञ टीकाकार (समालोचक) वा० म० जोशी, हरिभक्ति-परायण साहित्यके इतिहास तथा चरित्रलेखक ल० रा० पांगारकर आदि सुयोग्य साहित्य-कारोंने मराठी साहित्य सुसम्पन्न कर दिया।

उपन्यासकारोंमे वि० स० खांडेकर, ना० सी० फड़केने बहुत काम किया। ऐतिहासिक उपन्यासोंमे जो काम ह० ना० आपटेने किया, वही काम सामाजिक क्षेत्रमें इन दोनो साहित्यकारोंने किया। खांडेकर कलाका ध्येयवादी उपयोग करनेमे अग्रसर हुए, फड़के कलाके लिए पक्षपाती थे।

आजका युग पेडसे-दांडेकरका है, जिन्होने मनोवैज्ञानिक कथाओंका निर्माण किया। इनका लेखन अद्यतन है।

कवियोंमें केशवसुत भा० रा० ताम्बे, यशवन्त, गिरीश, माधव ज्यूलियन, थों० वा० गद्रे, अनिल, ग० ह० पाटील, साधुदास, वा० ना० देशपाण्डे, कुसुमाग्रज आदि कवियोने नये युगका निर्माण किया। नवकाव्यके प्रथम पुरस्कर्ता मर्ढेकरका अनुकरण हुआ और विन्दा करन्दीकर, य० द० भावे, मुक्तिबोध आदिने बड़ा ही नाम कमाया। पाडगाँव-कर और वसन्त बापट भी आजके मान्य कवि है।

बहुत प्राचीन कालसे उत्तरी भारतसे दक्षिणभारतका घना सम्बन्ध तीर्थक्षेत्रोंके कारण है। काशीक्षेत्र, प्रयागका त्रिवेणी-संगम तथा अन्य क्षेत्रोंके कारण दक्षिण भारतके ही क्यों, सभी हिन्दुओंका गमन वहाँपर होता आया है। अतः प्राचीन कालसे भाषाओंका आदान-प्रदान भी होता रहा। नामदेव जब उत्तरभारतमें घूमते थे, विशेषतः पंजाबमे, तब उन्होंने प्रचारकार्य किया, अतः 'ग्रन्थसाहब'मे उनकी कविता भी संगृहीत है। वह कविता हिन्दीमें है। इसी तरह ज्ञानदेव, एकनाथ, तुकाराम, रामदास आदि अनेक सन्तोंने हिन्दी भाषामे अपने भजन गाये है तथा उपदेश-भरे गीतोंकी रचना की है। निर्गुण अद्वैतका प्रचार, सगुण-भक्तिसे ज्ञान तथा मोक्षप्राप्ति, सज्जनता, नीतिमत्ता तथा शील-संरक्षणकी रक्षा, उपदेश आदि विचारोंमे हिन्दी साहित्य तथा मराठी साहित्यमें काफी समानता है। खास-कर मराठी सन्तोंने अपने विचार उत्तरभारतकी यात्रामे हिन्दीमें प्रकट किये है। इस तरह मराठीने हिन्दीको बहुत-कुछ दिया है।

हिन्दीसे भी मराठीने बहुत-कुछ लिया भी है। कबीर आदि सन्तोंके भजनोंका उपयोग भगवत् कीर्तन करनेवाले हरिदास अपने कीर्तनोंमे इतना करते है कि बिना उनके कीर्तनका 'पूर्वरंग' सफल ही नहीं होता।

नाथपन्थके साहित्यका प्रभाव ज्ञानेश्वरके गुरु तथा ज्येष्ठ बन्धु निवृत्तिनाथपर भी हुआ। ये सभी भाई नाथ-पन्थी कहे जाते है।

कबीरकी उलटवाँसियोंके समान ही एकनाथके 'भारूड' है। उन्होने ईश्वरभक्तिको 'भूत' कहा है, जो किसीके

शरीरमे प्रवेश करता है और उसकी सारी जिन्दगी बरबाद कर देता है। नामदेव भी उलटवाँसियाँ तथा गूढ़ार्थक अभंग लिखनेमे सिद्धहस्त है। —रा० बा० चि०

मर्यादाजीव–दे० 'मर्यादामार्ग', 'पुष्टिजीव', 'पुष्टिमार्ग'।

मर्यादापुष्ट–दे० 'पुष्टिजीव', 'पुष्टिमार्ग'।

मर्यादाभक्ति–दे० 'मर्यादामार्ग'।

मर्यादामार्ग–वल्लभाचार्यने अपने पुष्टिमार्गके निरूपणमे जीवोंके लिए तीन मार्गोंके अनुसरणका उल्लेख किया है—पुष्टिमार्ग, प्रवाहमार्ग और मर्यादामार्ग। मर्यादामार्ग वैदिक या शास्त्रोक्त धर्मका मार्ग है। उसकी उत्पत्ति अक्षर ब्रह्मकी वाणीसे हुई है। इस मार्गके अनुयायी ज्ञान और विधि-निषेधयुक्त कर्मका अनुसरण करके सायुज्य मुक्तिकी प्राप्तिका उद्योग करते है। उनके लिए भगवान् साधन-परतन्त्र होता है, अर्थात् वेद-विहित मर्यादाकी रक्षा उसके लिए आवश्यक होती है; उसीके अनुसार आचरण करनेपर वह फल दे सकता है, अन्यथा नहीं। मर्यादामार्गका सिद्धान्त है—कर्मानुरूप फल। भक्ति भी मर्यादामार्गीय हो सकती है, जिसे **साधन भक्ति** भी कह सकते है। भक्तिके श्रवण-कीर्तन आदि नौ भेद मर्यादाभक्तिके ही है, भजन, पूजन आदि साधनोकी सहायतासे ही इस भक्तिकी उपलब्धि हो सकती है। वल्लभाचार्यने **प्रपत्ति** (आत्मसमर्पण)के भी (जो भक्तिके लिए नितान्त आवश्यक है) दो भेद किये है—मर्यादाकी प्रपत्ति और पुष्टिमार्गीय प्रपत्ति। मर्यादाकी प्रपत्तिमें कर्मका अनुष्ठान आवश्यक होता है। इसके विपरीत पुष्टिमार्गीय प्रपत्तिमे कर्मकी तनिक भी अपेक्षा नहीं होती, केवल भगवान्का अनन्य आश्रय ही भक्तका एकमात्र सहारा होता है। **रागानुगा (रागात्मिका या प्रेम-लक्षणा)** भक्तिसे भिन्न जो कृष्णभक्ति सम्प्रदायोंमे प्रचलित रही है तथा तुलसीदास द्वारा प्रतिपादित रामकी भक्ति **मर्यादा-भक्ति** कही गयी है। उसके उपास्य राम मर्यादावतार थे, जब कि कृष्णका अवतार लीलावतार था।

जीवोंके विविध प्रकार बतलाते हुए वल्लभाचार्यने एक प्रकारके मर्यादाजीव भी बताये है, जो मर्यादामार्ग (कर्म और ज्ञान)के पालन हेतु ही जन्म लेते है और स्वर्गादि लोक या अक्षर सायुज्य मुक्तिके अधिकारी कहलाते है। वे पूर्ण पुरुषोत्तमकी सेवा (भक्ति)के योग्य नहीं होते (दे० 'पुष्टिमार्ग')। —ब्र० व०

मर्यादावतार–भगवान्के जिस अवतारकी लीला (चरित्र)में मर्यादा पायी जाती है, उसे मर्यादावतार कहते है। रामका अवतार मर्यादावतार माना जाता है —वि० मो० श०

मल–शिव या ब्रह्म ही जीवके रूपमें परिणत होता है। 'शांकर अद्वैत'के अनुसार 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' है। 'परशुराम कल्पसूत्र'में इसी बातको यो कहा गया है कि "शरीरकंचुकितः शिवो जीवो निष्कंचुकः परमशिवः", अर्थात् मायाके कंचुकों (दे० 'कंचुक') या मलोंसे आच्छादित शिव ही जीव है और मायाके कंचुकोंसे अनावृत जीव ही परम शिव है। 'कौल ज्ञान निर्णय'में थोड़े विस्तारसे मत्स्येन्द्रनाथने भी यही बात कही है कि "जीव द्वारा ही जगत्की सृष्टि हुई है, जीव ही तत्त्वनायक है, जीव ही पुद्गल है, जीव ही हंस है, वही व्यापक परशिव है। वही मन है, वही चराचरमे व्याप्त है, स्वयं स्वयंको जान लेनेपर वह जीव मुक्ति और मुक्ति दोनोंका दाता है। आत्मा ही प्रथम गुरु है, आत्मा ही आत्माको बाँधता है, बँधे हुए आत्माको आत्मा ही मुक्त करता है, यह काया भी आत्मा ही है, अपनेसे भिन्न जितने भी पदार्थ है, वे सब भी आत्मा है और यह, कि इस रहस्यको जिसने हृदयंगम कर लिया है, वही योगिराट् है, वह साक्षात् शिव है, वह स्वयं तो मुक्त है ही दूसरोको भी मुक्त करता है" (कौलज्ञान निर्णय १७।३३-३७)। तात्पर्य यह कि शिव या ब्रह्म ही जीव-रूपमे अपनेको परिणत करता है। इसमे माया उसकी सहायता करती है। माया ब्रह्म या शिवको मलोसे आच्छादित या कंचुकित करती है और कंचुकित होकर वह जीव बन जाता है। ये मल तीन बताये जाते है—१. आणव, २. मायिक और ३. कर्म। आणव, अर्थात् अपनेको अणुमात्र समझना। इससे आत्माके सम्बन्धमे या तो व्यक्तिको कोई ज्ञान ही नहीं रहता या फिर वह ज्ञान भ्रान्त होता है। मायिक, अर्थात् तत्त्वतः जगत्के समस्त पदार्थ एक ही है, एक ही परमसत्ताके व्यक्त रूप है, अद्वैत और अभिन्न है किन्तु मायिक मलसे आवृत हो जानेके बाद शिवकी यह अभेदबुद्धि मारी जाती है और उसमे भेद बुद्धि आ जाती है। गोस्वामीजीके शब्दोमे उसमे "मैं, तैं, मोर, तोर"का भेद आ जाता है। यह मेरा है वह तुम्हारा, यह मनुष्य है, वह पशु, यह नीच है, वह ऊँच—इस तरहके सभी विचार मायिक मलके परिणाम है। कर्मसे तात्पर्य है अनेक जन्मोमे स्वीकृत-संचित कर्मोंका संस्कार। ये ही तीन मल है, जिससे वेष्टित करके माया शिवको जीव बना देती है। —रा० सि०

मलकूत–दे० 'सूफीमार्ग'।

मलयालम (भाषा तथा साहित्य)–पर्वत और सागरके बीचमे केरल भूमि फैली है। एक दन्तकथा प्रचलित है कि इसे परशुरामजीने अपना परशु फेंककर बनाया था। अतः भार्गव-क्षेत्रके नामसे यह प्रख्यात है। हजारो वर्षोंसे यह मलबार कहलाती आयी है। इसका प्रमाण आज भी मिलता है। ईसाके ५४५ वर्ष पहले ही विदेशियोने 'मला' शब्दका प्रयोग करना आरम्भ किया था। बिशप काल्डवेल की राय है कि अरबियोंकी ओरसे इसको 'मलाबार' नाम प्राप्त हुआ। ११५० ई०मे इडरिसीने 'मणिबार' और १२७० ई० मे काश्विनीने 'मलबार' शब्द केरलके लिए प्रयुक्त किया था।

इसका पहला नाम मलयाण्मा या मलयाय्म था। अर्थ है मलयालियोकी रीति। यह शब्द बादको मलयालं बन गया। 'अलं'का अर्थ है राज्य। सह्यमाला (पर्वत)के पश्चिम भागकी भूमि होनेसे नाम सार्थक है और पहाड़की तराई होनेके कारण 'मलाबार' नाम भी अर्थपूर्ण है। आज यह नाम केरल और उसकी भाषाके लिए प्रयुक्त होता है।

मलयाल भाषा द्राविडगोत्रकी है। केवल भाषाके अर्थमे जो तमिल शब्द प्रचलित था, उसका तद्भव रूप है द्राविड > तमिल् > तमिलं > दमिल > दमिड > द्रविड। मलयाल भाषाकी उत्पत्तिके बारेमें कई मत है। कुछ लोगोकी राय है कि संस्कृतसे इसका जन्म हुआ है। विभक्ति, प्रत्ययरूप,

सर्वनाम आदि ही तो भाषाकी भिन्नताको प्रकट करनेवाले अंश है। इन बातोंमें सर्वथा अलग रहनेके कारण मलयालमको संस्कृतकी सन्तान कहना बिलकुल गलत है। मलयालमको तमिलकी बेटी कहनेवाले भी कम नही है। लेकिन भाषाविज्ञानके विद्यार्थियोके आगे यह राय मूल्यहीन है।

तमिल, तेलुगु, कन्नड, मलयालम जैसी प्रमुख द्राविड भाषाओंके लिए एक मौलिक भाषा तो विद्यमान थी। यही 'मूल द्रविड भाषा' राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन, जलवायु और देश-प्रकृतिके कारण परिवर्तित और स्वतन्त्र बनी। उसीसे इन भाषाओंका विकास हुआ है। व्याकरणकी बातोंमे वे अपने परिवारका अनुसरण करती है। चेन्तमिलकी उत्पत्तिके पहले ही मलयालम अपनी अलग सत्ता जमाने लगी थी। इसी आशयको प्रकट करते हुए गुण्डरटने कहा है कि द्रमिल नामवाली तमिलकी शाखा मलयालम है। काल्डवैलके इस कथनका भी कि मलयालम तमिलकी उपशाखा है, यही आशय है।

काल्डवैल और स्टुवर्ट राबर्टसन, दोनों इस बातसे सहमत है कि तमिलमे व्याकरणका विकास होनेके पहले ही मलयालम स्वतन्त्र भाषा बन चुकी थी। केवल द्रविड भाषाओंके बीच सहोदर-भावना ही है। यही आजकलका सिद्धान्त है। पश्चिमी पर्वत-पंक्तियोके पश्चिममे, कन्नडकी दक्षिणी सीमाके दक्षिणमें चार सौ मीलकी लम्बाई और १५५० मीलके व्यासमें स्थित प्रकृति-कोमल केरलकी मातृभाषा ही मलयालम है। ईसाकी चौथी शतीसे यह भाषा स्वतन्त्र बनी थी। लेकिन कई वर्षोंके बाद ही इसमें साहित्य निर्माण शुरू हुआ।

केरलमे दो तरहकी लिपियाँ प्रचलित थीं। 'वट्टेपुत्तु' और 'कौलेपुत्तु'। विदेशियोंकी संगतिसे इसको 'वट्टेपुत्तु' नाम मिला। असलमें यह तमिल लिपियोंसे भी अधिक पुरानी है। 'वट्टेपुत्तु'का शब्दार्थ है 'गोल लिपियाँ'। ये अपने नामको सार्थक करती हैं। 'चिलप्पनिकारम्' जैसा तमिलग्रन्थ पहले इसी लिपिमें लिखा गया था। बर्णलके मतानुसार एरामिक या फिनिशियन लिपिसे इसका जन्म हुआ था, लेकिन बहुमतका स्वीकृत सिद्धान्त है कि अशोककी ब्राह्मी लिपिसे 'वट्टेपुत्त'का विकास हुआ।

ईसाकी तीसरी शतीमें मार्कोपोलोने केरलका भ्रमण किया था। उन्होंने लिखा है कि केरलका अपना लिपिसमूह है। आर्य-द्राविडसंकरसे जब संस्कृत शब्दोंका प्रयोग होने लगा तो नये 'ग्रन्थाक्षर' उधार लेनेकी आवश्यकता पड़ी। 'वीरराघवपट्टय' जैसी रचनाएँ इस बातकी सबूत है। नये शब्दोंके लिए नयी लिपियाँ बनने लगीं। 'वट्टेपुत्त'का रूपान्तर हुआ। इन्हीं सर्ग-विकास परिणामोंसे आजकी मलयालम लिपिका जन्म हुआ। द्राविड रीतिके अनुसार वर्गके खरानुनासिकोंका प्रयोग ही मलयाली भी करते थे। संस्कृत शब्दोंके समावेशसे बादमें अनिखर मृदु घोषोंका जन्म हुआ। यह परिवर्तन 'मणिप्रवाल' भाषाकी उत्पत्तिको भी व्यक्त करता है। इसमें कुल लिपि-चिह्नोंकी संख्या ५१ है। अंग्रेजीकी-सी वर्णमाला नहीं, बल्कि अक्षरमालाका प्रयोग ही केरलीयोंने स्वीकार कर लिया है।

व्याकरण और उच्चारणमें मलयालम भाषा हमेश मितस्वभाव और प्रयत्नलाघवका पालन करती है।

जहाँ चेतना प्रव्यक्त है, वही लिंग-व्यवस्था है। अचेतनोंको नपुंसककी सीमामे डाल दिया गया है। नामोंके पहले लिंग-द्योतक शब्द लगा दिये जाते है।

मलयालममे केवल एकवचन और बहुवचन है। विशेषण-विशेष्योंको लिंगसमताकी जरूरत नही।

उत्तम पुरुष सर्वनामके दो बहुवचन रूप हैं। एक केवल वक्ताको और दूसरा वक्ता और श्रोता, दोनोंको प्रकट करता है। क्रियाओंके विधिरूप और निषेधरूप है। संस्कृत और अंग्रेजी जैसी भाषाओंमे जिस व्याक्षेपक सर्वनामका प्रयोग है, वह इसमें नहीं है, कर्मणि और भावेप्रयोग भी नही है।

जब भाषाका स्वतन्त्रतासे विकास होने लगा तो वह साहित्यको जन्म देने लगी। साहित्यके उदयानुसार स्थान-निर्णय लिया जाय तो यथाक्रम तमिल, कन्नड, तेलुगु और मलयालम कह सकते है। किन्तु काल्डवैल, नस्ट्रकनोव जैसे पण्डितोंकी राय है कि बोलचालकी भाषामे सबसे अधिक प्राचीन ग्रन्थ मलयालम भाषामें पाये जाते है।

आरम्भमें केरलपर तमिल राजाओंका शासन था। इस समय मलयालियोंने 'चिलप्पनिकारम्' जैसे तमिल ग्रन्थ रचे। प्राचीन शिलालेखोंमें भी तमिल भाषा दिखाई देती है, क्योंकि तमिल उस समयकी राजभाषा थी। धीरे-धीरे पाट्ट (गीत) और मणिप्रवाल नामकी दो शाखाओंसे साहित्यका विकास हुआ। 'रामायण'के युद्धकाण्डकी कथाके आधारपर एक प्राचीन तिरुविनांकोरके राजाने 'रामचरित' नामक काव्य-ग्रन्थ रचा। यह मलयालम भाषाका प्रथम काव्यग्रन्थ है। द्राविड लिपियोंमें रची हुई इस पुस्तकमें तमिलका अंश पाया जाता है। ईस्वी सन् बारहवी शतीमें इसका निर्माण हुआ। इसमें जनताकी व्यवहार-भाषा नही, बल्कि विकासोन्मुख मलयालमकी मधुरता है। 'रामचरित'के चार शताब्दी पहले ही मलयालममें ललित गान और प्राचीन कथाओंका प्रचार हो गया था।

१४वीं शतीमें 'कणिश्श रामायण' रचा गया। इसमें भी तमिल मिली हुई है। सप्रत्यय संस्कृत शब्दोंके प्रयोग भी पाये जाते है। प्रतिभाशाली कवि रामप्पणिक्करने भावगम्भीर, किन्तु गेय छन्दोंमें रामायणकी कथा रची है। 'उण्णुनीली सन्देश' भी इसी कालकी रचना है। विभक्त्यन्त संस्कृत शब्द और मलयालमके सामंजस्यसे उत्पन्न मणिप्रवाल शैलीमें यह सन्देश-काव्य रचा गया है। इससे यह बात एकदम विदित हो जाती है कि संस्कृतका प्रभाव धीरे-धीरे भाषामे बढ़ता आ रहा था, किन्तु ५वी शतीमें जो 'रामकथा पाट्ट' रची गयी, उसमें तमिलकी बहुलता दिखाई देती हैं।

'कणिश्श रामायण'के जमानेमें चेरुश्शेरि नपूनिरीने जो 'कृष्णगाथा' लिखी, वह मलयालम भाषामें थी; यह उसकी ललित-मधुर शैलीकी अनर्घसम्पदा है। कृष्णकथाके आधारपर आपने जो महान् रचना की, उसमें मलयालम भाषा और मलयालम साहित्यकी पौर्णमी प्रस्फुटित हुई है।

देशके वीर साहसिक नेताओंकी वीरताका वर्णन करते हुए उत्तर केरलके अज्ञात कवियोने ओजभरी भाषामें

'वटक्कन पाट्टकल' रचे हैं। इनमें भी कृष्ण-गाथाकी-सी अकलंक ललित मलयालम शैलीका रूप प्रस्फुटित है। केरलमें भाषाके प्रादेशिक भेद मौजूद थे। अतः कालमें समानता होनेपर भी इन कृतियोंकी भाषामें किसी तरहकी समता नहीं दीखती। 'रामचरित' जैसे गीत और 'उण्णुनीली सन्देश' जैसे मणिप्रवाल काव्य १२वीं शतीके पहले ही लिखे गये थे।

धीरे-धीरे गीत और मणिप्रवालके लक्षण प्रकट करनेवाले रीति-ग्रन्थ 'लीलातिलकम्'की रचना हुई। यद्यपि इसकी रचना संस्कृतमें की गयी है, तो भी उदाहरणके लिए असंख्य सुन्दर श्लोक मलयालम काव्योंसे उद्धृत हैं। कालानुसार मलयालम साहित्यका निम्नलिखित विभाजन सर्वमान्य है—(१) प्राचीनकाल : ईसकी १४वीं शतीतक, (२) नवीनकाल : ईसाकी १४वीं शतीसे।

धार्मिक आचार-विचारोंकी व्याख्या करनेवाले 'भद्रकालिप्पाट्ट', सर्पप्पाट्ट', 'तीयाट्टपाट्ट', 'कृषिप्पाट्ट', आदि गीत तथा 'तम्पुरानपाट्ट', 'कणियाकुल तुपोर' जैसी वीरगाथाएँ आरम्भकालकी रचनाएँ हैं। 'भारत' और 'रामायण'की कथाओंके आधारपर 'रामचरित', 'कण्णश्श-रामायण', 'भाषा भगवद्गीता', 'कृष्णगाथा', 'भारत-माला' जैसी भावपूर्ण साहित्यिक रचनाएँ इसी युगमें हुईं। 'गीता'का प्रथम अनुवाद भी इसी समय मलयालम भाषामें हुआ।

इसी बीचमें मणिप्रवाल साहित्य भी विकसित होने लगा था। आर्य-द्राविड संस्कृतियोंके सामंजस्यका गहरा प्रभाव इसमें दिखाई देता है। देशमें संस्कृतका प्रचार हुआ। केरलके नम्पूतिरि ब्राह्मणोंने इसमें बड़ा योग दिया। तमिलका जो प्रभाव भाषापर पड़ा था, उसे संस्कृतने मिटा दिया। धीरे-धीरे कवियोंने विभक्त्यन्त संस्कृत शब्द और मलयालम शब्द मुक्ता-विद्रुमोंके समान गूँथकर श्लोक, कीर्तन, चम्पू जैसी रचनाएँ करनी शुरू की। ज्योतिष, शिल्पशास्त्र आदिपर गद्य-ग्रन्थ भी रचे गये।

कोट्टारक्कर तम्पुरानने रामायण कथा आठ भागोंमें बाँटकर कथावली साहित्यकी नींव डाली। उण्णायिवार्यर, कोट्टयतम्पुरान, इटयिम्मन वम्पि जैसे महान् कवियोंने इस शाखाको सम्पन्न किया। उण्णायिवार्यरका 'नलचरितम्' अभिनययोग्यता, शिल्पसुभगता एवं सुकुमार भावोंके लिए विख्यात है। केरलकी यह कला विश्व-कला-मण्डपका अमूल्य उपहार है।

सत्रहवीं शतीमें कविकुलगुरु श्रीतुंचत्तेषुत्तश्शनका रंगप्रवेश हुआ। आपने मणिप्रवाल भाषाका परिष्करण किया, एक सार्वदेशिक भाषा-शैली सामने रख दी और 'भारत', 'अध्यात्मरामायण' आदि संस्कृत ग्रन्थोंका भक्तिपूर्ण तथा भावोज्ज्वल भाषामें अनुवाद किया। उन्होंने द्राविड़ छन्दोंका विकास किया। संक्षेपमें ये भाषा और भाव दोनोंके सुधारक थे।

केरलके अप्रतिम हास्यकवि कुंचनप्यार चेरुश्शेरी, एषुत्तउन आदि पूर्वज कवियोंके समान स्मरणीय हैं। आपने नृत्त और गान, दोनोंको मिलाकर 'तुल्लल' नामक कलारूपकी स्थापना की। पुरातन कथाओंमें चेतना मिलाकर केरलीय जीवनकी ओर उन्होंने तीखे परिहासके तीरोंकी वर्षा कर दी। उनकी वाणियोंका यह प्रभाव था कि चोट खानेपर भी लोग हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते थे। उनके बारेमें कई आलोचकोंने यह अभिप्राय प्रकट किया है कि विश्व-साहित्यके हास्यरचना करनेवालोंमें उनका स्थान कभी दूसरा नहीं हो सकता। कविताको राज-दरबारों और पण्डितोंके बीचमेंसे निकालकर जनताके समक्ष लानेमें आपने जो महान् परिश्रम किया है, वह स्मरणीय रहेगा। संस्कृत नाटकोंके अनुवाद और पौराणिक कथाके आधारपर नयी मौलिक रचनाएँ इस समय अधिकतासे होने लगीं।

उन्नीसवीं शतीके उत्तरार्द्धमें अंग्रेजी भाषाका प्रचार होने लगा। मुद्रणालयोंकी स्थापना भी हो गयी। विश्व-साहित्य-की विभिन्न प्रवणताओंका परिचय प्राप्त हुआ। इस नये अनुभवने मलयालम साहित्यका कायापलट कर दिया। केरलवर्म वलिय कोयित्तम्पुरानके समयसे केरलमें 'सांकेतिक साहित्य' क्षीण हुआ और काल्पनिक साहित्यकी प्रगति होने लगी। पौराणिक कथाका रोमन्थ छोड़ दिया गया। रूप और भावमें नवीनता आने लगी। अभिव्यंजना, विषय तथा जीवन प्रकृतिके प्रति दृष्टिकोणमें परिवर्तन हुआ। भाव-तीव्रता इस नयी प्रवणताकी जान बन गयी। कहानी, उपन्यास, नाटक जैसे कलारूपोंकी प्रचुरता होने लगी। कुमारनाशन्, वल्लत्तोल नारायण मेनोन, उल्लूर परमेश्वर-य्यर आदि कवियोंकी प्रतिभासे भावगीतों और खण्डकाव्योंका विकास हुआ। शंकर कुरुप, चंगम्पुपु कृष्ण पिल्लैने भाषा-कवितामें नयी जान फूँक दी। वल्लत्तोलने अपने भावगीतोंसे नौजवानोंकी आत्मामें स्वतन्त्रताकी तृष्णा जगा दी। प्रेमगायक कुमारानाशन्ने प्रेमकी महनीयताका यशोगान किया और हिन्दू जनताके दिव्योंसे जातिको दूर करनेकी सफल चेष्टा की। सियेविनाकूरके इतिहासको वातावरण बनाकर सी० वी० रामन पिल्लैने ऐतिहासिक उपन्यास लिखा। स्व० ई० वी० कृष्ण पिल्लै, के० सुकुमारन् आदिने कहानी-कलाकी नींव डाली। स्व० ओ० चन्तुमेनवनने 'इन्दुलेखा', 'शारदा' जैसे सामाजिक उपन्यासोंका निर्माण किया। मलयालम साहित्यके प्रारम्भकालीन सामाजिक उपन्यासोंमें इनका स्थान अद्वितीय है।

१९४० ई०तक आकर साहित्यकी दिशा बिलकुल बदल गयी। साहित्य-रंगमण्डपमें संकीर्णता और राजनीति-का विकास होने लगा। रूसकी क्रान्ति, दूसरे महा-युद्धका विनाशकारी परिणाम, गुलामीकी जंजीरोंमें जकड़े हुए राष्ट्रोंकी विवशता, विज्ञानकी अपथयात्रा आदिने आधुनिक कवियोंकी आत्माको सचेत किया। फलतः उनकी आत्मासे विश्वमानवका विराट् रूप प्रकट हुआ। अपनी काल्पनिक कविताके गौरीशंकर, शंकरकुरुपने इसी विश्व-मानवको खड़ा किया है। बालामणि अम्माने नारीकी आत्माका अलौकिक परिवेश कवितामें दरसा दिया है।

नौजवान कवियोंमें वैलोप्पिल्लि श्रीधर मेनवन, इडश्शेरि गोविन्दन नायर, पी० भास्करन्, अन्युनन नम्पू-तिरि, ओलप्पमण्णा, वयलार रामवर्मा, पालानारायण नायरके नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। वैलोप्पिल्लिकी कविताएँ शत-प्रतिशत केरलीय हैं। उनकी भावना केरलीय जीवनकी

शिराओंके समान फैली है। मानव-हृदयकी अव्यक्त वेदनाको प्रकाशमें लाने और उसे कलासुभग करनेमें इडइशेरी अप्रतिम है।

एन० वी० कृष्णवार्यरका क्षेत्र बिलकुल अलग है। आप केरलीय कवितामें प्रयोगवादके प्रचारक है। आपकी मौलिक कविताएँ आधुनिकताकी डोरी पकडकर चिरनवीन हो जाती है। भावोचित भाषाके प्रयोगमें उनकी निपुणता प्रशंसनीय है।

समालोचनाकी सभी शाखाएँ मलयालम साहित्यमें विकसित हो गयी है। विषयप्रधान समालोचनामें पी० शंकरन् नय्यर, पी० दामोदरन् पिल्लै और एम० गुप्तन् नायरने युगान्तर कर दिया है। विषयप्रधान समालोचनामें कुट्टिकृष्ण मारार प्रमुख है। आपकी पैनी दृष्टि और व्यंग्य-भरी ओजपूर्ण शैली प्रशंसनीय है।

तुलनात्मक समालोचनाके आचार्य ए० बालकृष्ण पिल्लै है। आपकी सर्वतोमुखी प्रतिभा अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं जानती। इसी शाखामें प्रो० मुण्डश्शेरीने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। दार्शनिक एवं वैज्ञानिक समालोचकके नामसे भास्करन् नायर प्रख्यात है। एन० वी० कृष्णवार्यर और के० सुरेन्द्रन् मनोवैज्ञानिक समालोचनाकी सफलताके प्रतीक है।

आजकल केरलके प्रत्येक गाँवमें नाटकोत्सव मनाया जाता है। केरलीय जनताके बीचमें नाटकका अभूतपूर्व प्रचार है। सिद्धहस्त नाटक-रचयिताओंकी यहाँ कमी नहीं। एन० कृष्ण पिल्लै, इब्सनके पदचिह्नोंपर चलते है। गाँवका जीवन इडश्शेरीमें मुखरित होता है। ले० टॉमस, टी० एन० गोपिनाथन् नायर, के० टी० मुहम्मद और एन० पी० मुहम्मदके नाटक अधिक जनप्रिय है। नाटक-शाखाके विकासके लिए उत्तर और दक्षिणमें दो कला-समितियाँ स्थापित भी हो चुकी है।

कहानी और उपन्यासका क्षेत्र पर्याप्त रूपसे विकसित है। आरम्भकालमें मोपासॉ, चेखव, मॉम आदिकी प्रेरणा रही, लेकिन बादको यह कला अपने पैरों आगे बढी। कहानी और उपन्यासकी कला दिन-प्रतिदिन नवीन हो रही है। तकषि, देव, बशीर, कारूर, वर्कि, एस० के० पोट्टक्काड जैसे भावुक कलाकार इस क्षेत्रमें प्रमुख है। प्रतिभाशाली नौजवान लेखकोंकी संख्या तो असंख्य है।

जीवनीके क्षेत्रमें ए० डी० हरिशर्मा, सीताराम, पी० के० परमेश्वरन् नायर और के० सुरेन्द्रन्की लेखनीने सफलता प्राप्त की है। भ्रमण सम्बन्धी साहित्यमें एस० के० पोट्टेक्काड अद्वितीय है। निबन्धमें के० पी० केशवमेनवन, के० दामोदरन्, सी० जे० तोमस और एम० गोविन्दन्की सेवाएँ कृतज्ञतासे स्मरणीय हैं। हास्य-साहित्यकी मेखला ई० पी० कृष्ण पिल्लै, संजयन, आनन्दकुट्टन्, राजराजवर्मा और एन० पी० चेलेप्पन् नायरने सम्पन्न है।

आजकल केरलमें सैकडो मासिक पत्रिकाएँ और साप्ताहिक पत्र निकल रहे है। इनमें मौलिक और अनूदित कथा, कविता, लेख आदि प्रकाशित हो रहे हैं। हिन्दी, बँगला, मराठी जैसी भाषाओंका परिचय बढता जा रहा है। विश्व-साहित्यकी नवीन प्रवणताओंसे केरल परिचित है। सिद्धहस्त भावुक कलाकारोंकी एक नयी पीढी आगे बढ़ रही है। निस्सन्देह उनकी लेखनी केरलकी कला और साहित्यमें अभूतपूर्व क्रान्ति उत्पन्न करेगी। —ए० चं०

मल्लिका (मणिकुल्या)—उपरूपकका एक भेद विशेष। 'भावप्रकाश'के अनुसार शृंगार रस, कैशिकी वृत्ति तथा दो अंक होना आवश्यक है। इसमें विदूषक तथा विट्का प्रयोग अपेक्षित है। गर्भ तथा विमर्श सन्धियोंके प्रयोग, कथानकके रहस्यका उद्घाटन प्रथम अंकमें नहीं होना चाहिए। कथा समाप्ति रहस्योद्घाटनसे होना आवश्यक है। —यो० प्र० सिं०

मसनवी—मसनवीका शाब्दिक अर्थ 'दो' होता है। यह काव्यका ऐसा रूप है, जिसके हर शेरके दोनो मिस्रे एक ही **रदीफ** और **काफिये**में होते है। हर शेरका रदीफ और काफिया आपसमें अलग-अलग भी हो सकता है। इसलिए मसनवीमें शायरको क्रमबद्ध विषयवर्णनमें बड़ी आसानी होती है। कसीदा या गजलमें सब शेरोंमें एक ही रदीफ और काफियेकी पाबन्दीके कारण क्रमबद्ध वर्णन कठिन होता है, परन्तु मासनवीमें यह पाबन्दी नहीं है।

मसनवीके लिए सात बह्रें नियत है। इन्हीं सात बह्रोंमें मसनवी लिखी जा सकती है। मसनवीमें शेरोंकी संख्याकी कोई सीमा नहीं है। छोटी मसनवियाँ आठ, दस, बारह शेरोंकी भी है और बडी मसनवियोंमें शेरोंकी संख्या हजारोंतक पायी जाती है। फारसीमें फिरदौसीका प्रसिद्ध 'शाहनामा' मसनवी ही है। इसमें साठ हजार शेर है।

मसनवीमें विषयकी भी कोई सीमा नहीं है। कवि जिस विषयपर चाहे, मसनवी लिख सकता है। उर्दू मसनवी लिखनेवालोंने मसनवियोंमें आख्यान भी लिखे है, भगवान्की प्रशंसा भी की है तथा साहित्यिक तत्त्वों और प्राकृतिक दृश्योंको भी चित्रित किया है।

'मसनवी'की खूबी यह है कि जिस घटना या वृत्तका वर्णन किया जाय, उसे सरलता तथा विस्तारके साथ इस प्रकार वर्णित किया जाय कि वह घटना आँखोंके सामने फिरने लगे और पूरा वातावरण चलचित्रकी तरह सामने आ जाय।

उर्दूकी मसनवियोंसे हमको साहित्यिक तत्त्वोंके साथ बहादुरीकी घटनाओं तथा उन सामाजिक स्थितियोंका ज्ञान होता है जो तत्कालीन रहन-सहन, रीति-रिवाजका यथातथ्य परिचय देती है।

उर्दूके अधिकतर कवियोंने छोटी-बड़ी मसनवियाँ लिखीं है। इनमें 'मीर', 'मीरहसन', 'दयाशंकर', 'नसीम', मिर्जा 'शौक' और 'कलक' मशहूर है। 'रामायण' तथा 'श्रीमद्भगवद्गीता'के उर्दूमें जितने अनुवाद हुए है, वे सब 'मसनवी'के रूपमें ही है। उर्दूके नये कवियोंने भी मसनवियाँ लिखी हैं। उनमें नयी सामाजिक और राजनीतिक चेतना मिलती है। इनमें इकबालका 'साकीनामा' और सरदार जाफरीका 'नयी दुनियाको सलाम' अधिक प्रसिद्ध है।

हिन्दीके प्रेमाख्यानक काव्यकी परम्परामें इसी काव्य-रूपको अपनाया गया है। जायसीका 'पद्मावत' मसनवी

ही है। इस दृष्टिसे मसनवीको भी एक ऐसे कथाकाव्यका प्रतिरूप कह सकते हैं, जो महाकाव्यके निकट पहुँच सकता है। —म०

महफिल—सांकेतिक रूपसे उपासना अथवा साधनाका स्थान। जगत्‌के अर्थमें भी सूफ़ी कवि इसका प्रयोग करते हैं। —रा० पू० ति०

महाकरुण—दे० 'करुण रस'।

महाकाव्य—महाकाव्यकी परिभाषा निश्चित करनेवाले प्राचीनतम भारतीय आलंकारिक भामह (पाँचवीं शताब्दी ई०) हैं। उनके अनुसार लम्बे कथानकवाला, महान् चरित्रोंपर आश्रित, नाटकीय पंचसन्धियोंसे युक्त, उत्कृष्ट और अलंकृत शैलीमें लिखित तथा जीवनके विविध रूपों और कार्योंका वर्णन करनेवाला सर्गबद्ध सुखान्त काव्य ही महाकाव्य (काव्यालं०, १ : १९ : २१) होता है। दण्डी-(छठी शताब्दी ई०)ने भामहकी परिभाषाको समेटते हुए भी महाकाव्यके स्थूल बाह्य लक्षणोंपर अधिक जोर दिया है (काव्यादर्श, १ : १४ : १९)। उनके अनुसार महाकाव्य वह है, जिसका कथानक इतिहास या कथासे उद्भूत हो, जिसका नायक चतुर और उदात्त हो, जिसका उद्देश्य चतुर्वर्गफलकी प्राप्ति हो, जो अलंकृत, भावों और रसोंसे भरा हुआ और बड़े आकारका, सर्गबद्ध और पंचसन्धियोंसे युक्त काव्य हो। दण्डीने महाकाव्यके प्रारम्भ, वर्णनीय वस्तु-व्यापार तथा सर्ग और छन्दके सम्बन्धमें विशेष ध्यान दिया है। इससे स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि उनके लक्ष्य-ग्रन्थ 'महाभारत', 'रामायण' नहीं, बल्कि अश्वघोष और कालिदासके महाकाव्य थे। दण्डीकी परिभाषा ही आगे चलकर अधिक प्रचलित हुई और हेमचन्द्र तथा विश्वनाथ कविराजने उसीमें कुछ बातें जोड़कर अपने लक्षण बनाये। हेमचन्द्र (बारहवीं शताब्दी ई०)ने यद्यपि रामायण-महाभारतको ध्यानमें नहीं रखा, पर संस्कृतके अतिरिक्त प्राकृत और अपभ्रंशके महाकाव्योंकी ओर उनकी दृष्टि गयी थी। "पद्यं प्रायः संस्कृतप्राकृतापभ्रंशग्राम्यभाषानिबद्धभिन्नान्त्यवृत्तसर्गाश्वाससन्ध्यवस्कन्धकबन्धं सत्संधिशब्दार्थवैचित्र्योपेतं महाकाव्यं' (काव्यानु०, अ० ६), फिर भी उनकी परिभाषा दण्डीकी परिभाषासे अधिक भिन्न नहीं है। उनकी परिभाषामें नवीनता इतनी ही है कि उन्होंने लक्षणोंको शब्दवैचित्र्य, अर्थवैचित्र्य और उभयवैचित्र्यमें रसानुरूप सन्दर्भ, अर्थानुरूप छन्द, समस्त लोक-रंजकता आदिका होना आवश्यक माना है (काव्यानु०, अ० ८)। उन्होंने 'देश-काल-पात्रचेष्टा-कथान्तरानुषजम्' कहकर महाकाव्यमें जीवनके व्यापक अनुभवों और कार्योंका चित्रण करनेकी आवश्यकता बतायी है। सम्भवतः यह लक्षण उन्होंने प्राकृत, अपभ्रंश और संस्कृतके पौराणिक, ऐतिहासिक और रोमांसिक शैलीके महाकाव्योंको ध्यानमें रखकर निर्धारित किया है। विश्वनाथने पूर्ववर्ती सभी आचार्योंके मतोंका समाहार करके, पर विशेष रूपसे दण्डीकी परिभाषाके आधारपर, अपने लक्षण निर्धारित किये हैं (सा० द०, ६ : ३१५-३२८)। उनके आदर्श ग्रन्थ माघ, भारवि और श्रीहर्षके महाकाव्य हैं। इसलिए उन्होंने अपनी परिभाषामें महाकाव्यके बाह्य या स्थायी लक्षणोंका ही अधिक निर्देश किया है, उनके मूल तत्त्वोंपर आधारित स्थायी लक्षणोंका नहीं। उन्होंने यह शर्त भी लगा दी कि महाकाव्यका नायक कुलीन क्षत्रिय या देवता होना चाहिये और महाकाव्यमें आठ या आठसे अधिक सर्ग होने चाहिये। रुद्रट (सातवीं शताब्दी ई०)की महाकाव्य सम्बन्धी मान्यता उपर्युक्त सभी आचार्योंकी मान्यताओंसे अधिक व्यापक है। (काव्यालं०, अ० १६ : २-१९)। उन्होंने संस्कृतके परवर्ती महाकाव्योंके अतिरिक्त रामायण-महाभारत तथा प्राकृत, अपभ्रंश और संस्कृतके पौराणिक रोमांसिक महाकाव्योंको भी ध्यानमें रखकर महाकाव्यके लक्षण निर्धारित किये हैं। उन्होंने पद्यबद्ध कथाके उत्पाद्य और अनुत्पाद्य तथा महत् और लघु, ये दो प्रकारके भेद करके केवल महत्प्रबन्धको ही महाकाव्य कहा है, चाहे उसकी कथा उत्पाद्य हो या अनुत्पाद्य। उन्होंने अवान्तर कथाओंकी आवश्यकताके साथ युग-जीवनके विविध रूपों, पक्षों और घटनाओंको चित्रित करनेकी बात बहुत स्पष्ट रूपसे और विस्तारसे कही है। उनके अनुसार महाकाव्यका नायक द्विजकुलोत्पन्न, सर्वगुणसम्पन्न, महान् वीर, विजिगीषु, शक्तिमान्, नीतिज्ञ, कुशल राजा होता है और अन्तमें उसीकी विजय होती है। साथ ही, महाकाव्यमें प्रतिनायक और उसके कुलका भी वर्णन रहता है। उत्पाद्य कथानकवाले महाकाव्योंमें रुद्रटके मतसे प्रारम्भमें सन्नगरी-वर्णन और नायकके वंशकी प्रशंसा होती है और उसमें अलौकिक और अतिप्राकृत तत्त्वोंका भी समावेश रहता है। ये बातें प्रायः कथा-आख्यायिकामें मिलती हैं। अतः रुद्रटने कथात्मक (पौराणिक-रोमांसिक) महाकाव्योंकी स्थिति भी स्वीकार की है, जिसे अन्य आचार्योंने नहीं माना है। इस तरह पद्यबद्ध कथाका, जिसे पाश्चात्य देशोंमें रोमान्स या रोमांसिक कथा-काव्य कहा जाता है, महाकाव्यपर जो प्रभाव पड़ा है, उसे केवल रुद्रटने ही परिलक्षित किया है।

प्राचीन पाश्चात्य काव्यशास्त्रियोंमें अरस्तूने महाकाव्यके सम्बन्धमें सबसे अधिक विचार किया है। यूनानमें उस समय काव्यके तीन रूप, महाकाव्य, गीतिकाव्य और दुःखान्त नाट्यकाव्य प्रचलित थे। अरस्तूके अनुसार महाकाव्य वह काव्यरूप है, जिसमें कथात्मक अनुकरण होता है, जो षट्पदी छन्द (हेक्सामीटर)में लिखा जाता है, जिसका कथानक दुःखान्त नाटकके समान अन्वितियुक्त और किसी सम्पूर्ण आद्यन्त घटनाका वर्णन करनेवाला होता है। और कथानकका आदि, मध्य और अन्तयुक्त जीवन्त विकास दिखाया जाता है, जिससे वह जीवित प्राणीकी तरह पूर्ण इकाई प्रतीत होता है। महाकाव्यमें समुचित आनन्द प्रदान करनेकी क्षमता होती है। उसका रूप-गठन इतिहाससे बहुत भिन्न होता है, क्योंकि कवि महाकाव्यकी सामग्रीका इतिहाससे इस प्रकार चयन करता है कि उसमें सम्बन्धयुक्त अन्विति दिखलाई पड़ती है, जो इतिहासमें नहीं होती। अरस्तूके अनुसार कवि पूर्वकालीन या समकालीन घटनाओं-का वर्णन भी महाकाव्यमें अवान्तरकथाके रूपमें कर सकता है अथवा विविध वस्तु-व्यापारोंका विवरणात्मक वर्णन कर सकता है, जिससे युग-जीवनके विविध पक्षों और रूपोंका सम्यक् उद्घाटन हो सके। उन्होंने महाकाव्यमें नाटकीय

तत्त्वों, अतिप्राकृत और अलौकिक कार्यों या घटनाओं, कथानकमें प्रयुक्त कल्पना और सम्भावनापर आधारित तथ्यों तथा महाकाव्यकी भाषा और शब्द-चयनपर भी विचार किया है। इस तरह उनकी परिभाषा गाथाचक्रोंसे विकसित विकसनशील महाकाव्योंके आधारपर निर्मित हुई है, जो यूरोपके परवर्ती अलंकृत महाकाव्योंपर पूर्णतया घटित नहीं होती।

प्रारम्भिक या विकसनशील महाकाव्योंमें अनिवार्य रूपसे रोमांसिक तत्त्व रहा करते थे। उन महाकाव्योंमे रोमांसिक कल्पनाएँ अलौकिक और अतिप्राकृत तत्त्वों तथा कथानक-रूढ़ियोंका आश्रय लेकर प्रयुक्त हुई है। वर्जिलने शास्त्रीय शैलीके जिन महाकाव्योंका प्रारम्भ किया, उनमे ये रोमांसिक तत्त्व अधिक नही होते। इसी कारण आगे चलकर महाकाव्य और रोमांसिक कथाकाव्य (रोमांस), ये दो भिन्न काव्यरूप हो गये। मध्ययुगमे यूरोपकी परिस्थितियाँ ऐसी थी, जिनमें रोमांसिक कथाकाव्योंका बहुत अधिक प्रचार हुआ और महाकाव्यका उदात्त काव्यरूप भुला दिया गया। किन्तु पुनर्जागरण-युगमे महाकाव्यका सम्मान फिर बढा और दाँते, एरियास्टो, स्पेन्सर, कैमांस, टैसो और मिल्टनने उसे चरमोत्कर्षपर पहुँचाया। इनमेसे कुछके महाकाव्योंपर रोमांसिक कथाकाव्यका प्रभाव बहुत अधिक है। पुनर्जागरण-युगके आलोचकोंमें इस प्रश्नपर बहुत मतभेद था कि महाकाव्यमे रोमांसिक तत्त्वोंका क्या स्थान होना चाहिये। इटलीका प्रसिद्ध लेखक दावेनाँत तो शास्त्रीय महाकाव्योका इतना पक्षपाती था कि वह एरियास्टो और दाँतेके महाकाव्योंको, उनकी रोमांसिक प्रवृत्तिके कारण, महाकाव्य माननेको तैयार नहीं था। इसके विपरीत टैसोने, जिसने स्वयं रोमांसिक शैलीका महाकाव्य लिखा है, अपनी आलोचनाओंमे एरियास्तोका जोरदार समर्थन किया है। उसने महाकाव्यको शास्त्रीय नियमोके बन्धनमे जकड़नेवालों-का विरोध करते हुए कहा कि महाकाव्य और रोमांसिक कथाकाव्यमे कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। सोलहवीं शताब्दीतक तो टैसोका यह सिद्धान्त मान्य रहा, पर सत्रहवीं-अठारवीं शताब्दीके आलोचकोंने दोनोंको भिन्न काव्यरूप माना और महाकाव्यकी उदात्तता, गम्भीरता, अन्विति और आदर्शोंपर अधिक जोर दिया। बॉसूका नाम विशेष उल्लेखनीय है।

आधुनिक युगके पाश्चात्य आलोचकोंने महाकाव्यकी परिभाषाको अधिक व्यापक बनानेका प्रयत्न किया है। डब्ल्यू० पी० करके मतसे "महाकाव्यमें चरित्रोंकी कल्पना बहुत ही स्पष्ट और सम्पूर्ण रूपमें की जाती है, अतः उनकी विभिन्न मनःस्थितियों और समस्याओंके चित्रणके कारण महाकाव्यमें नाना प्रकारके दृश्यों और गुणोंका चित्रण स्वभावतः हो जाता है। इस प्रकार इसमें समग्र जीवनके कार्य-कलाप जीवन-कथाका रूप धारण कर लेते हैं। महाकाव्यकी सफलता कविकी कल्पना-शक्ति और चरित्र-चित्रणपर निर्भर होती है। कुछ महाकाव्योंमें कथानक यद्यपि नाटकीय गुणोंसे युक्त नही होता और नायक महत्त्व-हीन होता है, फिर भी ऐसे कथानकोंमें एक विशेष गरिमा होती है, जिससे वे महाकाव्य माने जाते है" (एपिक एण्ड रोमांस, पृ० १७)। अंग्रेजीके एक अन्य आलोचक एबर क्रोम्बीका कहना है कि बड़े आकारके कारण ही कोई काव्य महाकाव्य नहीं हो जाता। जब उसकी शैली महाकाव्यकी शैली होगी, तभी उसे महाकाव्य माना जायगा और वह शैली कविकी कल्पना, विचारधारा तथा उनकी अभिव्यक्तिमें जुड़ी रहती है। इस शैलीके काव्य (महाकाव्य) हमे एक ऐसे लोकमे पहुँचा देते है, जहाँ कुछ भी महत्त्वहीन और असारगर्भित नही होता। महाकाव्यमे एक पुष्ट, स्पष्ट और प्रतीकात्मक उद्देश्य होता है जो उसकी गतिका आद्यन्त संचालन करता है (दि एपिक, पृ० ४१-४२)। सी० एम० बावराने महाकाव्यकी परिभाषा निश्चित की है : "महाकाव्य बृहदाकार कथात्मक काव्यरूप है, जिसमें कुछ महत्त्वपूर्ण और गरिमायुक्त घटनाओंका वर्णन होता है और जिसमें कुछ चरित्रोंके क्रियाशील और भयंकर कार्योंसे भरे जीवनकी कथा होती है। उसके पढनेसे हमें एक विशेष प्रकारका आनन्द प्राप्त होता है, क्योकि घटनाएँ और पात्र हमारे भीतर मनुष्यकी महत्ता, गौरव और उपलब्धियोंके प्रति दृढ़ आस्था उत्पन्न करते है" (फ्रॉम वर्जिल टु मिल्टन, पृ० १)। अन्तमें यहाँ स्वच्छन्दतावादके प्रवर्तक वाल्टेयरका मत दिया जा रहा है, जिसे मैकनील डिक्सनने महाकाव्य-की सबसे व्यापक और समीचीन परिभाषा मानकर उद्धृत किया है—'ऐसे काव्यग्रन्थ ही महाकाव्य नामके अधिकारी है, जिनमें किसी महती घटनाका वर्णन होता है और जिन्हें समाज व्यवहारतः महाकाव्य मानने लगते है। चाहे उसकी घटना सरल हो या जटिल, चाहे एक स्थानपर घटित होनेवाली हो या उसका नायक ससारभरमे भटकता फिरे, चाहे उसमें एक नायक हो या अनेक, चाहे उसका नायक अभागा हो या सौभाग्यशाली, भयंकर क्रोधी हो या धर्मात्मा, चाहे वह राजा हो या सेनापति या इनमेसे कुछ भी न हो, चाहे उसके दृश्य महासागरके हों या धरतीके, स्वर्गके हों या नरकके, इससे कुछ नहीं बनता-बिगड़ता। इसके बावजूद कोई मान्य महाकाव्य तबतक महाकाव्य कहा जाता रहेगा, जबतक आप उसके गुणोके अनुरूप उसका कुछ और नामकरण नही कर देते" (इंग्लिश एपिक एण्ड हीरोइक पोइट्री : पृ० ९)।

वाल्टेयरका अभिप्राय यह है कि महाकाव्यमें कुछ ऐसे गुण होते है, जो भले ही शब्दोंमें व्यक्त न किये जा सकें, पर समाज अपनी सहज बुद्धि द्वारा उन्हें पहिचानता है। अतः किसी काव्यका महाकाव्य होना कुछ बाह्य लक्षणों या परम्परागत रूढियोंके अपनाये जानेपर नही, बल्कि समाज-की स्वीकृतिपर निर्भर है। उस स्वीकृतिके लिए वाल्टेयरने केवल एक शर्त रखी है और वह है महाकाव्यमें घटनाका महती या गरिमामयी होना। इस तरह वाल्टेयरने यह सिद्ध किया है कि संकीर्ण मानदण्डसे महाकाव्यका स्वरूप-निर्णय नहीं हो सकता। मैकनील डिक्सनने भी इसी मतका समर्थन करते हुए लिखा है—"यद्यपि महाकाव्यका एक निश्चित स्वरूप होता है, पर उसे संकीर्ण लक्षणोंके बन्धनमें नही बाँधा जा सकता। उदाहरणार्थ, शास्त्रीय महाकाव्यका यह नियम कि उसमे कल्पित और अविश्वसनीय आश्चर्यके तत्त्व नहीं होने चाहिये, यदि दृढ़तापूर्वक स्वीकृत किया

जाय तो अनेक महान् महाकाव्योंको महाकाव्यकी श्रेणीसे निकाल देना पड़ेगा" (वही, पृ० १८-१९)। वस्तुतः महाकाव्यकी ऐसी व्यापक परिभाषा होनी चाहिये, जिसके अनुसार शास्त्रीय, रोमांसिक, नाटकीय, मनोवैज्ञानिक, प्रतीकात्मक आदि सभी प्रकारके तथा सभी देशों और कालोंके महाकाव्योंकी परख हो सके। ऐसी एक परिभाषा यह हो सकती है—"महाकाव्य वह छन्दोबद्ध कथात्मक काव्यरूप है, जिसमें क्षिप्र कथा-प्रवाह या अलंकृत वर्णन अथवा मनोवैज्ञानिक चित्रणसे युक्त ऐसा सुनियोजित, सांगोपांग और जीवन्त लम्बा कथानक हो, जो रसात्मकता या प्रभावान्विति उत्पन्न करनेमें पूर्ण समर्थ हो सके, जिसमें यथार्थ, कल्पना या सम्भावनापर आधारित ऐसे चरित्र या चरित्रोंके महत्त्वपूर्ण जीवनवृत्तका पूर्ण या आंशिक रूपमें वर्णन हो, जो किसी युगके सामाजिक जीवनका किसी-न-किसी रूपमें प्रतिनिधित्व कर सके, जिसमें किसी महत्प्रेरणासे अनुप्राणित होकर किसी महदुद्देश्यकी सिद्धिके लिए किसी महत्त्वपूर्ण, गम्भीर अथवा रहस्यमय और आश्चर्योत्पादक घटना या घटनाओंका आश्रय लेकर संश्लिष्ट और समन्वित रूपसे जातिविशेष या युगविशेषके समग्र जीवनके विविध रूपों, पक्षों, मानसिक अवस्थाओं और कार्योंका वर्णन और उद्घाटन किया गया हो और जिसकी शैली इतनी गरिमामयी और उदात्त हो कि युग-युगान्तरतक महाकाव्यको जीवित रहनेकी शक्ति प्रदान कर सके"।

महाकाव्यकी इस परिभाषामें विभिन्न युगों और देशोंके विभिन्न शैलियोंके महाकाव्योंमें प्राप्त स्थायी लक्षणोंका समावेश हो गया है। उन्हें मोटे तौरपर महाकाव्यके निम्नलिखित अवयवोंके स्वरूपमें विभाजित करके उपस्थित किया जा सकता है—१. महदुद्देश्य, महत्प्रेरणा और महती काव्य-प्रतिभा; २. गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्त्व; ३. महाकार्य और युगजीवनका समग्र चित्रण; ४. सुसंघटित जीवन्त कथानक; ५. महत्त्वपूर्ण नायक तथा अन्य पात्र; ६. गरिमामयी उदात्त शैली; ७. तीव्र प्रतिभान्विति और गम्भीर रस-व्यंजना; ८. अनवरुद्ध जीवनी-शक्ति और सशक्त प्राणवत्ता।

ये तत्त्व या लक्षण सर्वांश या अधिकांशमें जिन काव्योंमें प्राप्त होंगे, वे ही वास्तविक रूपमें महाकाव्य-पदके अधिकारी हो सकते है। यों तो महाकाव्य-रूपमें लिखे गये या माने गये प्रबन्धकाव्य प्रत्येक देशमें बहुत अधिक मिलते हैं, पर उनमें सभी वास्तविक महाकाव्य नहीं होते। महाकाव्यके लक्षणोंका अनुसरण करके अथवा प्रसिद्ध महाकाव्योंका अनुकरण करके लिखे जानेके कारण ही कोई काव्य महाकाव्यकी श्रेणीमें नही प्रतिष्ठित हो सकता। ऐसे न जाने कितने बृहदाकार ग्रन्थ भारत और यूरोपमें लिखे जा चुके है, पर उनमेंसे अधिकतर या तो महाकाव्य माने नहीं गये या महाकालने उन्हे विस्मृतिके गर्भमें ढकेल दिया। दूसरी ओर ऐसे काव्य, जिनके कवि या तो अज्ञात है अथवा जो न जाने कितने हाथोंकी रचना है, और ऐसे काव्य-लेखकोंने कभी सोचा भी नही था कि वे महाकाव्य लिख रहे हैं, कालान्तरमें व्यापक प्रभाववाले महाकाव्यके रूपमें मान्य हुए है। ऐसे काव्योंने युग-युगतक किसी विशेष देश, जाति या समाजके जीवनको प्रभावित और आनन्दित किया है। यही कारण है कि नाटक, कथाकाव्य, इतिहास-पुराण और गीतिकाव्यके ग्रन्थोंकी जहाँ कोई गणना नहीं हो सकती, वहाँ किसी भाषाके महाकाव्योंके नाम उँगलियोंपर गिने जा सकते हैं और उस भाषाके जाननेवाले अधिकांश लोग उन्हें अच्छी तरह जानते रहते हैं। ऐसा इसलिए है कि महाकाव्य हर समय और हर कवि द्वारा नहीं लिखा जा सकता। उसका एक उपयुक्त समय होता है और जब कोई विराट् चेतनावाला महान् कवि उस उपयुक्त अवसरको पहिचानकर तत्कालीन सामाजिक आवश्यकताओंकी पूर्ति अनजाने ही करनेकी चेष्टा करता है तब सच्चे महाकाव्यका निर्माण होता है।

संसारके सभी देशोंमें जहाँ महाकाव्यकी रचना हुई है, उसकी परम्परा दो धाराओंमें विभक्त होकर प्रवाहित होती आ रही है—मौखिक परम्परावाली धारा और लिखित परम्परावाली धारा। यद्यपि इन दोनोंमें बहुत अन्तर है, पर वस्तुतः दोनों महाकाव्यकी ही धाराएँ हैं, क्योंकि दोनोंके मूल तत्त्व एक ही है। पहले प्रकारके महाकाव्योंको प्राकृत या विकसनशील महाकाव्य (ऑथेण्टिक एपिक या एपिक ऑफ ग्रोथ) कहते है और दूसरे प्रकारके महाकाव्योंको साहित्यिक या अनुकृत अथवा अलंकृत महाकाव्य (लिटरेरी या इमिटेटिव एपिक या एपिक ऑव आर्ट)। अनेकानेक अज्ञात कवियोंकी प्रतिभाके योगसे कण्ठानुकण्ठ विकसित होनेवाले महाकाव्य प्रथम धारामें और विशिष्ट कवियों द्वारा अपनी प्रतिभा और कला-प्रदर्शनको व्यक्त करनेकी दृष्टिसे लिखे गये महाकाव्य द्वितीय धारामें आते हैं। यूरोपके प्राचीनतम महाकाव्य 'इलियड' और 'ओडेसी' हैं, जो होमरकृत बताये जाते हैं, पर वस्तुतः जिनका मौखिक परम्परामें सैकड़ों वर्षोंमें विकास हुआ था। इंग्लैण्डका 'बियोवुल्फ', जर्मनीका 'निबुलंगेनलीड', फ्रांसका 'सांग ऑव द रोलाँ' इसी प्रकारके कण्ठानुकण्ठ विकसित महाकाव्य है। पहली शताब्दीमें वर्जिलने होमरके महाकाव्योंके अनुकरणपर, किन्तु शास्त्रीय शैलीमें 'इनीड' नामक महाकाव्य लिखा और परवर्ती कवियोंने प्रायः वर्जिलकी शास्त्रीय शैलीका ही अनुकरण किया। ये सभी लिखित महाकाव्य दूसरी धारामें आते है। इसी तरह भारतमें 'महाभारत' और 'रामायण' विकसनशील महाकाव्य हैं, जिनके निर्माणमें न जाने कितने अज्ञात कवियोंकी प्रतिभाका योग रहा है और न जाने कितनी शताब्दियोंतक निरन्तर विकसित होते हुए उन्होंने अपना वर्तमान रूप प्राप्त किया है। किन्तु अश्वघोष, कालिदास, माघ, भारवि, स्वयंभू, पुष्पदन्त, तुलसी आदि कवियोंके महाकाव्य अनुकृत या अलंकृत हैं, क्योंकि इस प्रकारके महाकाव्योंका प्रारम्भ 'रामायण' और 'महाभारत'के अनुकरणपर ही हुआ था, यद्यपि उनकी शैली विशिष्ट कवियोंकी वैयक्तिक प्रतिभाके योगके कारण रामायण-महाभारतसे भिन्न प्रकार की है। इस प्रकार मौखिक और लिखित (विकसित और रचित) परम्पराके कारण ही महाकाव्यके दो रूप हो गये है। प्रारम्भमें तो अनुकृत या अलंकृत धाराके भीतर सर्वत्र शास्त्रीय शैलीके महाकाव्य ही लिखे गये, पर बादमें शास्त्रीय शैलीके

बन्धनोंकी प्रतिक्रिया हुई, फलस्वरूप रोमांसिक, ऐतिहासिक और पौराणिक शैलीके महाकाव्य भी लिखे जाने लगे। ऐसे महाकाव्योंपर विकसनशील महाकाव्योंकी रोमांसिक और आश्चर्योत्पादक प्रवृत्तिका तथा लोक-जीवनके विश्वासोंका अधिक प्रभाव था।

समाजशास्त्रीय और ऐतिहासिक विकासक्रमकी दृष्टिसे देखनेपर स्पष्ट ज्ञात होता है कि महाकाव्यके विभिन्न रूपों और शैलियोंका विकास समाजके विकासक्रमके अनुरूप हुआ है। विकसनशील महाकाव्य अनिवार्यतः प्रारम्भिक वीर-युग (हीरोइक एज) और सामन्ती वीर-युग (एज ऑव शिवेलरी)मे ही विकसित हुए। विकासोन्मुख सामन्त-युग या सामन्ती साम्राज्य-युगमें विशेष रूपसे शास्त्रीय या 'संस्कृत' शैली(क्लासिकल)के महाकाव्योंकी रचना हुई। ह्रासोन्मुख सामन्त-युगमें रूढिवादी प्रवृत्तियोंकी संकीर्णता और कठोरता तथा सामन्ती मनोवृत्तिके कारण एक ओर तो अतिशय अलंकृत, रूढिवाद और चमत्कारप्रधान महाकाव्य लिखे गये, दूसरी ओर लोकाश्रित धर्म और लोक-विश्वासोंका आश्रय लेकर तथा सामन्ती बन्धनोके प्रति विद्रोही भावनाके कारण रोमांसिक, ऐतिहासिक और पौराणिक शैलीके महाकाव्य लिखे गये। सामन्त-युगके उपरान्त पूँजीवाद-युग वैयक्तिक विद्रोह, राष्ट्रीयता और स्वच्छन्दताकी भावना लेकर अवतरित हुआ, जिसके फलस्वरूप आधुनिक युगमे स्वच्छन्दतावादी शैलीके महाकाव्य लिखे गये। इस शैलीके अन्तर्गत, **रूपककथात्मक (एलीगोरिकल)**, मनोवैज्ञानिक, नाटकीय, प्रगीतात्मक आदि कई शैलियाँ आ जाती है, पर सबकी मूल प्रवृत्ति सामन्ती युगकी रूढियों और शास्त्रीय महाकाव्यके लक्षणोंके कठोर बन्धनोंके प्रति विद्रोह की है। इस तरह महाकाव्य मुख्यतः दो प्रकारके होते है—१. साहित्यिक परम्परामें विकसित और २. लोक-कण्ठमें रहकर विकसित लोक-महाकाव्य (फोक एपिक)। अलंकृत महाकाव्यकी मुख्यतः निम्नलिखित शैलियाँ है—१. शास्त्रीय, २. रोमांसिक, ३. ऐतिहासिक, ४. पौराणिक, ५. रूपककथात्मक, ६. नाटकीय, ७. प्रगीतात्मक, ८. मनोवैज्ञानिक या मनोविश्लेषणात्मक। हिन्दीमें 'पृथ्वीराजरासो' साहित्यिक परम्परामें विकसित विकसनशील महाकाव्य और 'आल्हखण्ड' लोक-महाकाव्य है। इनके अतिरिक्त 'पद्मावत', 'रामचरितमानस' और 'कामायनी' क्रमशः रोमांसिक, पौराणिक और रूपककथात्मक शैलीके महाकाव्य है। 'कामायनी'मे मनोवैज्ञानिक और प्रगीतात्मक शैलियोंका भी सामंजस्य हुआ है। केशवकी 'रामचन्द्रिका' और लाल कविका 'छत्रप्रकाश' यदि महाकाव्य होते तो उन्हें क्रमशः नाटकीय और ऐतिहासिक शैलीका महाकाव्य माना जाता। —शं० ना० सिं०

हिन्दीमें यद्यपि लम्बे आकारके अनेक सर्गबद्ध काव्य-ग्रन्थोंकी रचना हुई, किन्तु उनमेसे केवल कुछको ही महाकाव्य कहा जा सकता है और सच्चे अर्थमे तो महाकाव्यका प्रायः अभाव ही समझना चाहिये। वास्तवमें हिन्दी भाषाके सम्पूर्ण विकास-कालमें महाकाव्यकी रचनाके लिए उपयुक्त वातावरणका अभाव रहा है।

हिन्दीका आदि काल भारतीय इतिहासमें युद्ध और संघर्षका समय था। केन्द्रीय राजसत्ताके अभाव तथा राष्ट्रीयता और देशभक्तिकी भावनाके लोपके कारण अराजकता तथा अनिश्चयका ही साम्राज्य था। धार्मिक तथा सामाजिक दृष्टिसे भी यह युग संक्रान्ति तथा परिवर्तनका युग था। बौद्ध और जैन धर्म लुप्तप्राय हो चले थे; ब्राह्मण-धर्मका पुनरुत्थान नयी शक्तिके साथ हो चला था। विचार और दर्शनके क्षेत्रमें कोई नयी उद्भावना नही हुई, इसके विपरीत चिराचरित रूढियोंके पालनका आग्रह ही अधिक दिखाई पडता है। वह राष्ट्रके पतनका युग था।

'पृथ्वीराजरासो' तथा 'आल्हखण्ड' इस कालके दो प्रसिद्ध महाकाव्य है, पहलेको हम साहित्यिक परम्पराका विकसनशील महाकाव्य और दूसरेको लोक-महाकाव्यकी संज्ञा दे सकते है।

रासोका बृहत्तम रूपान्तर जो नागरीप्रचारिणी सभासे प्रकाशित है, ६९ समय (सर्ग)का विशाल ग्रन्थ है। इसमे अन्तिम हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज चौहानके जीवन-वृत्तके साथ सामन्ती वीर-युगकी सभ्यता, रहन-सहन, मान-मर्यादा, खान-पान तथा अन्य जीवन-विधियोका इतना ब्योरेवार और सही वर्णन हुआ है कि इसमे तत्कालीन समग्र युगजीवन अपने समस्त गुण-दोषोके साथ यथार्थ रूपमें चित्रित हो उठा है। अध्यात्म, राजनीति, धर्म, योग, कामशास्त्र, मन्त्र-तन्त्र, युद्ध, विवाह, मृगया, मन्त्रणा, दौत्य, मानवीय सौन्दर्य, संगीत-नृत्य, वन-उपवन-विहार, यात्रा, पशु-पक्षी, वृक्ष, फल-फूल, पूजा-उपासना, तीर्थ-व्रत, देवता-मुनि, स्वर्ग, राज-दरबार, अन्तःपुर, उद्यान-गोष्ठी, शास्त्रार्थ, वसन्तोत्सव तथा सामाजिक रीति-रिवाज—तात्पर्य यह कि तत्कालीन जीवनका कोई पहलू ऐसा नही बचा है, जो रासोमे न आया हो। किन्तु इन विषयोमे भी युग-प्रवृत्तिके अनुसार सबसे अधिक उभार मिला है युद्ध, विवाह, भोग विलास तथा मृगयाके ही वर्णनोको और यही कारण है कि 'पृथ्वीराजरासो'मे चारित्र्यकी वह गरिमा नही आ पायी है, जो आदर्श महाकाव्यके लिए आवश्यक है। रासोके ६५वें समयमें पृथ्वीराजकी रानियोके नाम गिनाये गये है, जिनकी संख्या तेरह है। इनमेसे केवल चारके विवाह उभय पक्षकी स्वेच्छासे हुए, शेष सबको बलात् हरण किया गया था, जिनके लिए युद्ध भी करने पड़े थे। इन विवाहोके वर्णन रासोमे अत्यधिक विस्तारसे मिलते है, जिससे ज्ञात होता है कि ये ही उक्त महाकाव्यके प्रमुख विषय है। शहाबुद्दीन गोरीके आक्रमणोके समय पृथ्वीराज इतना विलासी हो गया था कि संयोगिताके महलसे बाहर निकलता ही नहीं था। उसकी सहायताके लिए रावल समर सिंह दिल्ली आकर ठहरते थे, किन्तु पृथ्वीराजको इसकी सूचना लेनेकी भी फुर्सत नहीं थी। प्रजामें कष्ट और असन्तोष बढ़ता है। अन्तमे वह शहाबुद्दीन द्वारा बन्दी बनाकर गजनी ले जाया जाता है, जहाँ चन्दके संकेतसे गोरीका वधकर स्वयं भी मर जाता है। इस प्रकार रासो हमारे पतन और गमकी कहानी है।

रासोमें कथानककी शिथिलता, विशृंखलता तथा असन्तुलित योजना भी अत्यधिक खटकती है। कथानकका जो एक क्षीण तन्तु है, वह भी बीच-बीचमें विवाह, मृगया

आदिके उबा देनेवाले लम्बे वर्णनोंके कारण टूट जाता है। कथानकमें सुनिश्चित योजना तथा समानुपातिक संघटनके अभावका कारण कदाचित् यह भी है कि उसके वर्तमान रूपान्तरमें मूल रचनाके अतिरिक्त प्रक्षेप भी अत्यधिक परिमाणमें हुए हैं।

अतः 'पृथ्वीराजरासो' उत्कृष्ट कोटिके महाकाव्योंकी श्रेणीमें रखे जानेके योग्य नहीं जान पड़ता।

'आल्हखण्ड'में महोबेके दो प्रसिद्ध वीरों—आल्हा और ऊदल (उदय सिंह)का विस्तृत वर्णन है। कई शताब्दियों-तक मौखिक रूपमें चलते रहनेके कारण उसके वर्तमान रूपमें जगनिककी मूल रचना खो-सी गयी है, किन्तु अनुमानतः उसका मूल रूप तेरहवीं या चौदहवीं शताब्दीतक तैयार हो चुका था। आरम्भमें वह वीर रस-प्रधान एक लघु लोकगाथा (बैलेड) रही होगी, जिसमें और भी परिवर्द्धन होनेपर उसका रूप गाथाचक्र (बैलेड साइकिल)के समान हो गया, जो कालान्तरमें एक लोक-महाकाव्यके रूपमें विकसित हो गया।

रासोके सभी गुण-दोष 'आल्हखण्ड'में भी वर्तमान हैं। दोनोंमें अन्तर केवल इतना है कि एकका विकास दरबारी वातावरणमें शिष्ट, शिक्षित-वर्गके बीच हुआ और दूसरेका अशिक्षित ग्रामीण जनताके बीच। 'आल्हखण्ड'पर अलंकृत महाकाव्योंकी शैलीका कोई प्रभाव नहीं दिखलाई पड़ता। शब्द-चयन, अलंकार-विधान, उक्ति-वैचित्र्य, कम शब्दोंमें अधिक भाव भरनेकी प्रवृत्ति, प्रसंग-गर्भत्व तथा अन्य काव्य-रूढ़ियों और काव्य-कौशलका दर्शन उसमें बिलकुल नहीं होता। इसके विपरीत उसमें सरल स्वाभाविक ढंगसे, सफाईके साथ कथा कहनेकी प्रवृत्ति मिलती है, किन्तु साथ ही उसमें ओजस्विता और शक्तिमत्ताका इतना अदम्य वेग मिलता है, जो पाठक अथवा श्रोताको झकझोर देता है और उसकी सूखी नसोंमें भी उष्ण रक्तका संचार कर साहस, उमंग और उत्साहसे भर देता है। उसमें वीर रसकी इतनी गहरी और तीव्र व्यंजना हुई है और उसके चरित्रोंको वीरता और आत्मोत्सर्गकी उस ऊँची भूमिपर उपस्थापित किया गया है कि उसके कारण देश और कालकी सीमा पार कर समाजकी अजस्र जीवनधारासे 'आल्हखण्ड'की रसधारा मिलकर एक हो गयी है। इसी विशेषताके कारण उत्तर-भारतकी सामान्य जनतामें लोकप्रियताकी दृष्टिसे 'रामचरितमानस'के बाद 'आल्हखण्ड'का ही स्थान है और इसी विशेषताके कारण वह सदियोंसे एक बड़े भू-भागके लोक-कण्ठमें गूँजता चला आ रहा है।

मध्यकालमें, जब कि हिन्दी भाषाका गौरव-सूर्य मध्याह्न-स्थित, चरम बिन्दुका स्पर्श करने जा रहा था, हिन्दीके दो सिद्धहस्त कवियों द्वारा दो ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रचे गये, जिनमें उत्कृष्ट महाकाव्यके अनेक गुण समाहित हो सके हैं। वे हैं—मलिक मुहम्मद जायसीकृत 'पद्मावत' तथा गोस्वामी तुलसीदासकृत 'रामचरितमानस'। दोनोंमें सुप्रसिद्ध कथानकोंका आधार लिया गया है, जिनमें जीवनके सभी पहलुओंके सर्वांगीण अनुभव भरनेके पर्याप्त अवसर आये हैं और उनका सूक्ष्मतासे उपयोग भी किया गया है। दोनों महाकवियोंकी भाषा तथा शैलीमें विलक्षण शक्ति है और दोनोंने अपनी भास्वर प्रतिभाकी सहायतासे इस महान् देशके उस उत्थानशील युगके उत्कृष्टतम विचारोंको समेटकर अपनी-अपनी रचनाओंमें मुखरित करनेका सफल प्रयास किया है। किन्तु महाकाव्यकी दृष्टिसे विचार करनेपर दोनोंमें कुछ कमियाँ भी खटकती हैं। 'मानस'में पौराणिकताका आत्यधिक प्रभाव रहनेके कारण कहीं-कहीं शिथिल कथानक और अवान्तर कथाओं तथा प्रसंगोंका आधिक्य हो गया है (विशेषतया बालकाण्ड तथा उत्तरकाण्डमें), इसके अतिरिक्त माहात्म्य और स्तोत्र, देवताओं द्वारा विभिन्न अवसरोंपर पुष्प-वर्षा आदिके वर्णनोंकी पुनरावृत्ति, सैद्धान्तिक विवेचनों और प्रचारात्मक उपदेशोंका आधिक्य, सब मिलाकर 'मानस'के काव्यात्मक पक्षको कुछ दबा देते हैं। किन्तु विचित्रताकी बात यह है कि धर्म-परायण भारतीय जनताकी मनोवृत्तिके अनुकूल होनेके कारण उसके दूषण भी भूषण हो गये हैं और इन्हीं विशेषताओंके कारण यह महाकाव्यके साथ-साथ धर्म-ग्रन्थ भी बना हुआ है। 'रामचरितमानस' ही संसारका ऐसा अकेला महाकाव्य है, जिसका करोड़ों व्यक्तियोंके बीच धर्मग्रन्थ और काव्य, दोनों ही रूपोंमें आदर है और अकेले इस ग्रन्थने लोक-जीवनको जितनी गहराईतक प्रभावित किया है, उतना संसारके किसी भी महाकाव्यने शायद ही कभी किया हो।

'पद्मावत'के नायक रतनसेनके जीवनमें—विशेषतया उसके उत्तरार्द्धमें—कुछ ऐसी घटनाएँ घटित होती हैं, जिनसे एक आदर्श चरितनायकके योग्य उत्कर्षका अभाव उसमें खटकता है। अलाउद्दीन और देवपालके युद्धोंका कारण पद्मावती दिखायी गयी है और अन्तमें उसीके कारण रतनसेनकी पराजय तथा मृत्यु भी दिखायी जानेसे एक ओर जहाँ प्रेम-मार्गमें आत्मोत्सर्गका आदर्श सिद्ध होता है, वहीं दूसरी ओर भारतीय आदर्शका हनन भी होता है। राजनीतिक अथवा सामाजिक क्षेत्रमें भी रतनसेनको हम कोई उच्च आदर्श स्थापित करते हुए नहीं देख पाते। उसमें मानव-सुलभ दुर्गुण—जैसे द्रव्यलोभ, धनमद, अदूरदर्शिता, उतावली आदि—भी दिखाई पड़ते हैं। इसलिए स्वाभाविक रूपसे उसके प्रति पाठककी वैसी श्रद्धा नहीं जाग्रत होती—जैसी राम, कृष्ण, भीष्म पितामह, राणा प्रताप आदि वीरश्रेष्ठोंके प्रति होती है। यद्यपि जायसीने वहाँ ऐतिहासिक सत्यकी रक्षा करते हुए सामन्तकालीन प्रवृत्तियोंका यथातथ्य वर्णन किया है, किन्तु इससे महाकाव्यकी उत्कृष्टतापर आघात अवश्य लगता है।

हिन्दी साहित्यका उत्तर-मध्यकाल फिर महाकाव्य-निर्माणके लिए अनुर्वर सिद्ध हुआ। दरबारी वातावरणमें काव्य-ज्ञान-प्रदर्शन द्वारा अधिक-से-अधिक सम्मान और धन प्राप्त करनेके लिए इस कालके कवियोंमें काव्य-शास्त्रोंके आधारपर रस, अलंकार, छन्द तथा नायिका-भेदके विस्तृत निरूपण द्वारा पाण्डित्य-प्रदर्शन और चमत्कार-प्रियताकी प्रवृत्ति इतनी अधिक बढ़ गयी थी कि लोक जीवनको प्रभावित करनेवाले किसी महत् उद्देश्यको लेकर काव्य-रचनाके लक्ष्य-की ओर उनका ध्यान ही नहीं गया। यही कारण है कि रीतिकालीन काव्यधारा विशेषतया मुक्तक-प्रधान रही, प्रबन्ध-काव्योंकी रचना प्रबन्ध-काव्यके अनुपातमें कम

हुई। जो बड़े आकारवाले प्रबन्ध-काव्य है, उनमेसे कुछ तो ऐसे है, जिनमे ऐतिहासिक इतिवृत्त ही प्रधान है और विषय-वस्तु, काव्य-शैली, चरित्र-चित्रण तथा उद्देश्यकी महत्ताकी दृष्टिसे जिनका अधिक महत्त्व नही है। कुछ पौराणिक-शैलीके प्रबन्ध-काव्य है, जिनकी रचना 'महाभारत', 'रामायण' अथवा 'रामचरितमानस'के अनुकरण-पर हुई है। प्रथम कोटिकी रचनाओंमें मानकृत 'राजविलास', गोरेलालकृत 'छत्रप्रकाश', सूदनकृत 'सुजानचरित' तथा जोधराजकृत 'हम्मीररासो'के नाम लिये जा सकते है और द्वितीय कोटिकी रचनाओमें सबल सिंह चौहानका 'महाभारत', ब्रजवासीदासका 'ब्रजविलास', मधुसूदनदासका 'रामाश्वमेध', पद्माकरका 'रामरसायन', विश्वनाथ सिंहकृत 'रामायण', गुमान मिश्रकी 'कृष्णचन्द्रिका' और केशवदासकी 'रामचन्द्रिका' प्रमुख है। इनमेंसे अधिकांशको भ्रमवश महाकाव्य कह दिया जाता है। वस्तुतः महाकाव्यके गुण किसीमें नहीं है।

'राजविलास' ऐतिहासिक शैलीका चरित-काव्य है, जिसमें संस्कृतके प्रशस्तिमूलक चरित-काव्य तथा हिन्दीके 'पृथ्वीराजरासो'की काव्य-पद्धति अपनायी गयी है। इसमे महाराणा राजसिंहके वंशकी उत्पत्ति, उनके पूर्वपुरुषोंका इतिहास, राणाके जन्म, विवाह, युद्ध आदिके साथ उनके पराक्रम तथा औदार्य आदिका वर्णन हुआ है। असमयमे ही राजसिंहकी मृत्यु (सन् १६८० ई०)के कारण ग्रन्थकी रचना भी आगे न बढ सकी और वह अपूर्ण रह गया है। इसमें कुल १८ विलास है, किन्तु ऐतिहासिक वृत्तवर्णन ही इसका प्रधान उद्देश्य ज्ञात होता है। इसमें न तो कथानककी अन्विति है और न वीर रसके अतिरिक्त अन्य रसोंकी अंगरूपमें योजना ही हुई है। नायकको जीवनकी विविध परिस्थितियोंमें रखकर उसके चरित्रका पूर्ण उत्कर्ष दिखानेमें भी ग्रन्थकार सफल नही हो सका है और न भाषा तथा शैलीमें ही महाकाव्योचित गरिमाकी झलक मिल पाती है। इन कारणोंसे 'राजविलास'को महाकाव्य नही माना जा सकता।

'छत्रप्रकाश'मे छत्रसाल बुन्देलेकी कीर्तिका वर्णन है और यद्यपि इसमें कुल छब्बीस अध्याय है, किन्तु पूरे ग्रन्थमें नीरस ऐतिहासिक इतिवृत्तात्मकता ही दिखाई पड़ती है। सरस मार्मिक स्थलोके चुनावके साथ जिस मर्मस्पर्शी भावव्यंजनाकी महाकाव्यमें आवश्यकता होती है, उसका इसमें नितान्त अभाव है। इतिहासकी दृष्टिसे 'छत्रप्रकाश' महत्त्वकी पुस्तक है, क्योंकि उसमें सब घटनाएँ सच्ची और सब ब्योरे ठीक-ठीक दिये है, किन्तु इसे महाकाव्य माननेका कोई आधार नहीं दिखाई पड़ता।

'सुजानचरित'में सुजान सिंह जाटके जीवन तथा युद्धोंका वर्णन है, किन्तु उनका चरित्र इतना उदात्त तथा लोकप्रसिद्ध नहीं कि उसके आश्रयपर महाकाव्यकी रचना हो सके। 'सुजान-चरित' अत्यन्त साधारण कोटिकी रचना है, जिसमें न तो जीवनके विविध पक्षोंका ही समावेश हो सका है और न उसकी शैली तथा उसकी शब्द-योजनामें ही सजीवताके कोई लक्षण वर्तमान हैं।

'हम्मीररासो', उन्नीसवी शताब्दीकी रासो-परम्परामे सम्भवतः अन्तिम महत्त्वपूर्ण काव्यग्रन्थ है। यद्यपि यह ९७९ छन्दोंका एक बड़ा ग्रन्थ है, किन्तु सर्गोंमें विभक्त नही है। जोधराजने अपने आश्रयदाता राजा चन्द्रभानके अनुरोधसे उनके पूर्वज हम्मीरदेवके चरित्रका वर्णन करनेके लिए इस काव्यकी रचना की। यद्यपि इसमे महाकाव्यकी वस्तु-वर्णन सम्बन्धी अनेक रूढियों, जैसे प्रकृति, युद्ध, संयोग तथा विप्रलम्भ, कुमारोदय, नगरावरोध, मृगया, यत्न, मन्त्रणा, दौत्य, नगर, देश आदिके वर्णनकी पद्धति भी अपनायी गयी है, फिर भी उद्देश्यकी महत्ता, महत्प्रेरणा, कथानककी संघटित योजना, तीव्र प्रभावान्विति, अनवरुद्ध जीवनी-शक्ति आदिके अभावमें महाकाव्य नही माना जा सकता। नायककी पराजय तथा मृत्युके कारण यह दुःखान्त भी हो गया है।

दूसरी कोटिकी रचनाओमें सबल सिंहकृत 'महाभारत', विश्वनाथ सिंहकृत 'रामायण' तथा ब्रजवासीदास-कृत 'ब्रजविलास' यद्यपि पर्याप्त बडे और लोकप्रिय ग्रन्थ है, पर उनमें काव्यात्मकता तथा मौलिकताका अभाव है। साधारण श्रेणीके भक्त पाठकोके लिए ही उनका महत्त्व है। पद्माकरका 'रामरसायन' वाल्मीकि-रामायणके आधारपर 'रामचरितमानस'की शैलीमें लिखा गया बडा चरितकाव्य है, किन्तु काव्यात्मकता इतनी निम्न कोटिकी है कि विद्वानोंको इसे पद्माकरकी रचना माननेमे भी सन्देह होता है। 'रामाश्वमेध' रीतिकालके अधिकांश प्रबन्धकाव्योकी अपेक्षा अधिक परिमार्जित शैलीका काव्य है। उसमें 'पद्मपुराण' तथा 'वाल्मीकि-रामायण'के उत्तरकाण्डकी कथाका आधार ग्रहण किया गया है और रामके अश्वमेध यज्ञको केन्द्रविन्दु बनाकर कथा-वस्तुका विन्यास हुआ है। मधुसूदनदासने इस ग्रन्थकी रचनामें 'रामचरितमानस'की शैलीका अनुकरण किया है, जिसमें उन्हे पूर्ण सफलता मिली है। किन्तु उत्कृष्ट काव्यसौष्ठव तथा उदात्त शैली होते हुए भी उसमें उद्देश्यकी वह महत्ता, जीवनकी वह समग्रता तथा प्रतिभाकी वह उत्कृष्टता नही दिखाई पड़ती, जो मानसमे है। रामके जीवनकी एक लघु कथाका ही आश्रय लेकर कविने वस्तुवर्णन—ह्रास-कथानकका अनावश्यक विस्तार किया है, किन्तु केवल बृहत् आकारके आधारपर 'रामश्वमेध'को महाकाव्य मानना उचित नही है।

'रामचन्द्रिका'में कुल ३९ प्रकाश या सर्ग है और यद्यपि उसमे भारतीय साहित्यके सर्वोत्कृष्ट नायक 'रामचन्द्र'का समस्त जीवन-वृत्त वर्णित है, किन्तु उसका उपयोग केवल छन्द-वैविध्य, पाण्डित्य-प्रदर्शन तथा अलंकार आदिकी योजनामें ही हुआ है—उसके द्वारा केशव न तो किसी महत्कार्यका आदर्श रख सके, न जीवनके विविध पक्षोंका उद्घाटन ही कर सके। केशवकी कल्पना ऐसी विराट् नही है, जो समस्त युग-समाजके सदसत् रूपोंकी विवेचना और प्रत्यक्षीकरण कर सके। 'रामचन्द्रिका'मे कथानककी जीवन्तताका नितान्त अभाव है। वस्तु-वर्णनमे देश-काल-स्वभावके औचित्य अथवा प्रबन्ध-कौशलका तनिक भी ध्यान नहीं रखा गया है। अनपेक्षित वर्णनोंकी भरमार है, जिससे काव्य-सौन्दर्य नष्ट हो गया है। अतिशय क्लिष्ट और अस्वाभाविक कल्पनासे उद्भूत संस्कारोके प्रयोग, अत्यधिक वस्तु-

परिगणनाकी प्रवृत्ति, नाना प्रकारके छन्दोंके प्रभावहीन प्रयोग और पाण्डित्य-प्रदर्शनके आडम्बरके कारण 'रामचन्द्रिका' अत्यन्त दुरूह और कृत्रिम काव्य हो गया है। अतः उसको महाकाव्य क्या, एक सफल प्रबन्ध-काव्य भी नहीं माना जा सकता।

गुमानकृत 'कृष्णचन्द्रिका'का यद्यपि उतना प्रचार नहीं हुआ, किन्तु कई दृष्टियोंसे वह पर्याप्त महत्त्वपूर्ण काव्य है। उसमें 'रामचन्द्रिका' और 'मानस'की शैलियोंका सुन्दर समन्वय हुआ है। शास्त्रीय लक्षणोंकी दृष्टिसे उसमे महाकाव्यके सभी लक्षण वर्तमान हैं—केवल एक अभाव है, वह यह कि एक सर्गमें एक ही छन्दका प्रयोग नहीं हुआ है। यह सब होते हुए भी महाकाव्यके नायकमे जो महत्ता होनी चाहिये, वह 'कृष्णचन्द्रिका'के कृष्णमें नहीं मिलती। उसमे उनके जीवन-व्यापी कार्योंका वर्णन नहीं मिलता। उसकी शैली यद्यपि निर्दोष और आकर्षक है, किन्तु उसमे महाकाव्योचित उदात्तता और गम्भीरता नहीं है, जो कविकी महाप्राणता, विराट् कल्पना और गम्भीर दृष्टिसे उद्भूत होती है।

हिन्दीका वर्तमान काल सामन्त-युगके अन्त और पूँजीवादी प्रवृत्तियोके उदयके साथ अवतरित हुआ। व्यक्ति-स्वातन्त्र्यके बढते हुए आन्दोलनने इस कालके साहित्य और संस्कृतिको भी एक नयी दिशा दी और प्रेरित किया, जिसके फलस्वरूप काव्यमे भी व्यक्तिगत चिन्तनके साथ आत्मानुभूतिने जोर पकड़ा। आधुनिक वैज्ञानिक खोजोंके प्रकाशमें पुराने विश्वासों, आचारो तथा मान्यताओंकी मनुष्यने नये ढंगसे व्याख्या की।

वर्तमान कालमे हिन्दीमें लम्बे आकारके प्रबन्ध-काव्योंकी बाढ-सी आ गयी। उनमेंसे अधिकांशको स्वयं उनके रचयिताओंने महाकाव्यकी संज्ञा दी है और कुछको उनके आकार आदिके कारण भ्रमवश महाकाव्य माना जाता है। इस प्रकारकी रचनाओं के अन्तर्गत निम्नलिखित ग्रन्थोंका नाम लिया जा सकता है—१. 'राम-स्वयंवर' : महाराज रघुनाथ सिंह, २. 'रामचन्द्रोदय' : रामनाथ ज्योतिषी, ३. 'रामचरित-चिन्तामणि' : रामचरित उपाध्याय, ४. 'कोशलकिशोर' : बलदेवप्रसाद मिश्र, ५. 'वैदेही-वनवास' : अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', ६. 'मेघनाद-वध' (माइकेल मधुसूदन दत्तकृत मूल बॅगलासे अनुवाद) : मैथिलीशरण गुप्त, ७. 'साकेत सन्त' : बलदेवप्रसाद मिश्र, ८. 'नूरजहाँ' : गुरुभक्त सिंह, ९. 'दैत्यवंश' : हरदयालु सिंह, १०. 'सिद्धार्थ' : अनूप शर्मा, ११. 'वर्द्धमान' : अनूप शर्मा, १२. 'जननायक' : रघुवीरशरण मित्र, १३. 'हल्दीघाटी' : श्यामनारायणपाण्डेय, १४. 'जौहर' : श्यामनारायण पाण्डेय, १५. 'आर्यावर्त' : मोहनलाल महतो 'वियोगी', १६. 'मेधावी' : रांगेय राघव, १७. 'कुरुक्षेत्र' : 'दिनकर', १८. 'विक्रमादित्य' : गुरुभक्त सिंह, १९. 'गान्धीचरित्रमानस' : विद्याधर महाजन, २०. 'पार्वती' : रामानन्द तिवारी, २१. 'अंगराज' : आनन्दकुमार।

इन काव्योंमें वह शक्ति नहीं है, जो उन्हे अमरता प्रदान कर सके। अनाकर्षक तुकबन्दी, अशक्त भाषा, उपयुक्त शब्दोंके चयनकी अक्षमता, गम्भीर जीवन-दर्शनका अभाव और कल्पना-शक्तिकी हीनताके कारण न तो उनमे गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्त्व आ सका है और न शैली ही महाकाव्योचित गरिमा और उदात्ततासे युक्त हो सकी है। साथ ही एक विचित्रता यह है कि उक्त ग्रन्थोंके रचयिताओंमेंसे अधिकांशने इन प्रबन्ध-काव्योंकी रचना महाकाव्यकी ही दृष्टिसे की है और उन्हे महाकाव्य माननेका प्राक्कथन आदिमे स्वयमेव कर भी दिया है। ऐसे ही महाकवियशःप्रार्थी महानुभावोंके प्रति रवीन्द्रनाथ ठाकुरने लिखा है कि इस समयके कवि जैसे 'आओ एक एपिक लिखा जाय' कहकर सरस्वतीके साथ पहलेसे ही बन्दोबस्त करके एपिक लिखने बैठ जाते हैं, प्राचीन कवियोंमे ऐसा फैशन न था ('मेघनाद-वध'के हिन्दी अनुवादकी भूमिका : पृ० १५७, झाँसी, प्र० सं०, सं० १९८४)।

महाकाव्यकी दृष्टिसे आधुनिक कालके केवल चार ग्रन्थ विचारणीय हैं। वे हैं—१. हरिऔधकृत 'प्रियप्रवास', २. मैथिलीशरण गुप्तकृत 'साकेत', ३. जयशंकर 'प्रसाद'कृत 'कामायनी', ४. द्वारकाप्रसाद मिश्रकृत 'कृष्णायन'। 'प्रियप्रवास' तथा 'साकेत'मे आधुनिक बौद्धिकतावादका प्रभाव भलीभाँति दिखाई पड़ता है। एकमे यदि 'श्रीमद्भागवत'-की कथाका बौद्धिकीकरण और कृष्ण-राधा आदिके चरित्रोका उदात्तीकरण है, तो दूसरेमें रामायणके उपेक्षित पात्रोंको प्रकाशमे लाकर उसके देवत्वगुण-युक्त पात्रोको मानव जीवनके सामान्य धरातलपर उपस्थित करनेका प्रयास किया गया है। किन्तु एकमे कृष्णके प्रवासपर गोपियोंके विरह-वर्णनको और दूसरेमे प्राचीन कवियो द्वारा उपेक्षिता उर्मिलाके विरह-वर्णनको अत्यधिक महत्व देनेके कारण दोनोका दृष्टिकोण एकांगी हो गया है। मानव-जीवनके अन्य आवश्यक अंग या तो अछूते रह गये है या केवल नाममात्रको ही उनकी चर्चा मिल पाती है। गम्भीर जीवन-दर्शनके अभावमें इन कवियों द्वारा उपस्थापित चरित्रोंमे महत्ताका वह उच्च आदर्श नहीं आ सका है जो प्राचीन महाकवियों द्वारा उन्ही पात्रोंके चरित्रांकनोमे पाया जाता है। नवीन युगकी आरम्भिक रचनाएँ होनेके कारण भाषा-शैली आदिका निखार भी उच्चतर स्थितितक नहीं पहुँच सका है और यद्यपि आरम्भमें जनताने बड़े चावसे अपनाया, किन्तु समयकी प्रगतिके साथ उनका मूल्य निरन्तर बढनेकी अपेक्षा घटता हुआ ही दिखाई पड रहा है। समग्र-जीवनके चित्रणकी दृष्टिसे 'कृष्णायन'मे अवश्य ही कुछ विशिष्टता दिखाई पडती है, किन्तु उसमें शैलीकी उदात्तता, गम्भीर रसवत्ता, तीव्र प्रभावान्विति, काव्यात्मक उत्कृष्टता तथा जीवनी-शक्तिका अभाव खटकता है। 'मानस'की भाँति 'कृष्णायन' भी सामान्य जनता द्वारा अपनाया जायगा, इसमें सन्देह ही है, क्योंकि इसमे कृत्रिमता तथा अनुकरण-प्रियता ही अधिक है। इस प्रकार उक्त तीनों प्रबन्ध-काव्योको हम महाकाव्यकी कोटिमे नहीं रख सकते।

'कामायनी' आधुनिक हिन्दी साहित्यका एक ऐसा महत्त्वपूर्ण प्रबन्ध-काव्य है, जिसमें आधुनिक युगकी प्रवृत्तियों और विशेषताओंका पूर्ण प्रतिनिधित्व हुआ है और जो अनेक दृष्टियोंसे हिन्दीके ही नहीं, अपने युगके पूर्ववर्ती समस्त भारतीय महाकाव्योसे भिन्न एक निराले स्थानका

अधिकारी है। 'प्रसाद'ने वर्तमान युगके बुद्धिवादका दुष्परिणाम दिखानेके लिए शतपथ-ब्राह्मणमें वर्णित एक आख्यानका आधार लिया है, जिसमे प्राचीन जल-प्लावनके उपरान्त मनु सृष्टिके पुनर्विधानका उपक्रम करते हैं। रूपककी भावनाके अनुसार 'कामायनी' अथवा श्रद्धा विश्वास-समन्वित रागात्मिका वृत्ति है, जो मनुष्यको जीवनमें शान्ति प्रदान कर उसे कल्याण-मार्गपर अग्रसर करती है। इडा व्यवसायात्मिका बुद्धि है, जो मनुष्यको तर्क-वितर्कके निर्मम जालमें उलझाकर सुख-शान्तिसे दूर ढकेल ले जाती है। इसके अतिरिक्त, चिन्ता, लज्जा, काम, वासना आदि नाना चित्तवृत्तियोंको कल्पनाकी जिस मधुमती भूमिकापर सजाया गया है, उससे 'प्रसाद'की उत्कृष्ट कवित्व-शक्तिका परिचय मिलता है।

'कामायनी'की प्रेरणा-शक्ति भारतीय संस्कृतिकी वह उदार कल्याणाभिनिवेशी दृष्टि है, जिसका केन्द्रबिन्दु समन्वय है। उसमें 'प्रसाद'ने भारतीय संस्कृतिको विश्वमानवकी संस्कृतिमे, व्यक्ति-चेतनाको समष्टि-चेतनामे विलीन करके मानवतावादका नवीन और आदर्श रूप उपस्थित किया है। एक सफल द्रष्टाकी भाँति उसमें उन्होने मावन-जीवनको आदिसे अन्ततक हस्तामलकवत् देखकर उसके मूल रहस्यका उद्घाटन किया है। उद्देश्यकी इसी महत्ताके कारण उसमें वह गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्त्व भी आ सका है, जिसके कारण कोई काव्य महाकाव्य कहलाता है।

वस्तु-वर्णन तथा भाव-व्यंजनामें यद्यपि 'प्रसाद'ने महाकाव्यके शास्त्रीय लक्षणों और चिराचरित रूढियोका पालन नही किया और उसमें मंगलाचरण, सज्जन-दुर्जन चिन्ता आदि प्रस्तावना सम्बन्धी ब्यौरों तथा सामाजिक सम्बन्धों, उत्सवो और रीति-रिवाजोंका वर्णन नही मिलता, किन्तु आलंकारिकों द्वारा निर्दिष्ट कुछ वस्तुओं—जैसे नगर, समुद्र, नदी, वन, पर्वत, स्वर्ग, यात्रा, ऊषा, सन्ध्या, रात्रि, चन्द्र-सूर्य-नक्षत्रादि, वसन्त, युद्ध, विप्रलम्भ-संयोग, कुमारोदय, विवाह, राज्याभिषेक आदिका बड़ा ही विशद और सांगोपांग वर्णन हुआ है। इनमे भी सबसे अधिक उल्लास कविने प्राकृतिक उपकरणों तथा शृंगारके विविध अवयवोंके वर्णनमें दिखाया है।

उक्त विशेषताओंके साथ ही 'कामायनी'की एक भारी त्रुटि यह है कि उसका कथा-तन्तु अत्यन्त क्षीण है और उसमे भी दार्शनिकता तथा मनोवैज्ञानिकताका इतना जटिल जंगल है कि वह केवल ऐसे पाठकोतक ही सीमित रह जाता है, जिनका बौद्धिक और सांस्कृतिक स्तर सामान्य धरातलसे पर्याप्त ऊँचा हो। भारतीय संस्कृतिके मूल तत्त्वों, विशेषतया अद्वैतवाद तथा शैवागमके प्रत्यभिज्ञादर्शनके साथ-ही-साथ आधुनिक मनोविज्ञानके प्रमुख तत्त्वों—फ्रायडके काम-सिद्धान्त, मार्क्सके द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, डार्विनके विकासवाद आदि—से जिनका सामान्य परिचय भी न होगा, वे निश्चय ही 'कामायनी'में उतना आनन्द नहीं प्राप्त कर सकते। यही कारण है कि उसे वैसी लोकप्रियता कदाचित् नही प्राप्त हो सकती, जैसी 'रामचरित-अथवा 'पद्मावत'को प्राप्त है, किन्तु उसका निरालापन भी यही है कि वह घटना-प्रधान और इतिवृत्तात्मक महाकाव्य नही है। वह भाव-प्रधान मनोवैज्ञानिक महाकाव्य है, अतः स्वभावतः उसमे मानव-मनके विविध पक्षोका उद्घाटन और व्याख्या ही प्रधान वस्तु है, घटना-वैविध्य नही। इस अभावके होते हुए भी अपनी अन्य विशेषताओंके कारण 'कामायनी'को हिन्दीके उत्कृष्ट महाकाव्योंकी कोटिमें स्थान मिलता है।

उपर्युक्त विवेचनमे स्पष्ट है कि हिन्दीमे वास्तविक महाकाव्य केवल पाँच—'पृथ्वीराज रासो', 'आल्हखण्ड', 'पद्मावत', 'रामचरितमानस' और 'कामायनी' हैं। अन्य प्रबन्ध-काव्य जिन्हे आकारकी विशालता तथा महाकाव्य सम्बन्धी अन्य रूढियोंके पालनकी दृष्टिमे महाकाव्य माना जाता है, वास्तविक महाकाव्य नहीं, महाकाव्याभास मात्र हो सकते हैं (दे० 'प्रबन्ध-काव्य' और 'चरित-काव्य')। —पा० ना० ति०

महान्—'महान्' या 'महत्' सांख्यदर्शनमे बुद्धिके वाचक शब्द हैं। बाह्य जगत्की दृष्टिसे यह विराट् बीज है, अतः इसे 'महत्तत्त्व' भी कहते है। आभ्यंतरिक दृष्टिसे यह वह बुद्धि है, जो जीवोमे विद्यमान रहती है और ज्ञाता एवं ज्ञेय-के आपसी भेदाभेदका निश्चय और अवधारण करती है। सांख्य दर्शनके अनुसार प्रकृति तथा पुरुषके संयोगसे प्रकृतिमें विक्षोभ होता है और उसकी साम्यावस्था टूट जाती है। इस विक्षुब्ध स्थितिको 'गुणक्षोभ' कहा जाता है। यहीं प्रकृति विकृतिका रूप लेने लगती है और प्रकृतिके प्रथम विकार 'महान्' या बुद्धिका उद्भव होता है। सांख्यदर्शन जगत्की उत्पत्तिकी अपनी कल्पना है (दे० 'सांख्यकारिका' एवं 'सांख्य कौमुदी', २१-२४)। इस सृष्टि क्रममे सबसे पहले महान् या बुद्धिका प्रादुर्भाव होता है, फिर उससे अहंकारका। पुनः सात्त्विक अहंकारसे एकादश इन्द्रियों (५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ, १ मन)की, तामस अहंकारसे पंचतन्मात्रोंकी उत्पत्ति होती है। राजस अहंकार उक्त दोनों अहंकारोंको शक्ति देता है, जिससे उनमें उक्त विकार उत्पन्न होते है। इस प्रकार महान् प्रकृतिमें सृष्टि क्रममे घटित होनेवाली प्रथम विकृति है। —रा० दे० सिं०

महापुरुषवाद—इतिहासकी प्रगति और परिणतिकी व्याख्या और इतिहासको प्रक्रियामें अन्तर्लीन तत्त्वोंके उद्घाटनके अनेक प्रयत्न देखनेको मिलते है। महापुरुषोंके आविर्भाव-का दृष्टिकोण इन प्रयत्नोंमें एक गौरवपूर्ण स्थान रखता है।

महापुरुषोंके आविर्भावके हवाले ऐतिहासिक घटनाओंकी व्याख्या करनेकी प्रथा बहुत पुरानी है। प्रसिद्ध यूनानी इतिहासकार हेरोडोटस (४८५-४२५ ई० पू०), जिसे विश्वका प्रथम इतिहासकार तथा इतिहासका पिता कहा जाता है, यह मानकर चलता है कि सम्पूर्ण इतिहासका विधाता महापुरुष ही हुआ करता है किन्तु महापुरुषके आविर्भावके दृष्टिकोणको एक सुव्यवस्थित इतिहास-दर्शनका रूप देनेका श्रेय टॉमस कार्लायल (१७९५-१८८१)को है, जिसकी **'हीरोज एण्ड हीरो-वर्शिप'** शीर्षक पुस्तक आज एक क्लासिक बन चुकी है। इस पुस्तकमे बडी ही रोचक शैलीमें असाधारण शक्ति अथवा प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियोंको ऐतिहासिक विकास और परिवर्तनका एकमात्र कारण सिद्ध करनेकी चेष्टा की गयी है।

कार्लायलका कहना है कि समस्त इतिहास वस्तुतः महापुरुषोंका इतिहास है या यों कहें कि इतिहास महापुरुषोंकी जीवनीके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

महापुरुषसे उसका क्या तात्पर्य है? कार्लायलसे पहले जो इतिहास लिखा जाता था, उसे आज सैनिक इतिहासका कटाक्ष-मूलक नाम दिया जाता है। तत्कालीन इतिहासमें केवल आक्रमण और संघर्ष सम्बन्धी घटनाओंकी भरमार रहती थी। सभ्यता और संस्कृतिके विविध पक्षोंका इतिहास यूं ही टाल दिया जाता था। किन्तु कार्लायलने एक नयी परम्पराका प्रवर्तन किया। उसके महापुरुष केवल रणभूमिमें नहीं अपितु साहित्य, कला, धर्म प्रभृति सभी क्षेत्रोंमें देखनेको मिलते है। वह मोटे तौरपर छः प्रकारके महापुरुषोंकी चर्चा करता है—

(१) अवतारी महापुरुष, जिसे साक्षात् ईश्वरके रूपमें माना गया हो, जैसे ओडिन।

(२) देवदूत, जैसे मुहम्मद।

(३) कवि, जैसे शेक्सपियर।

(४) धर्मशास्त्री, जैसे मार्टिन लूथर।

(५) साहित्यकार, जैसे डॉ० जानसन।

(६) राजा, जैसे नैपोलियन।

प्रत्येक प्रकारका महापुरुष अपने-अपने क्षेत्रमें इतिहासका निर्माण तथा परिचालन करता है और सबका ऐतिहासिक महत्त्व है। तथापि वह राजाको इनमें सबसे बडा दर्जा देता पाया जाता है।

कार्लायलके महापुरुषवादकी एक अत्यन्त रोचक उपस्थापना है महापुरुषत्व-धर्मकी तात्त्विक एकताका सिद्धान्त। प्रत्येक प्रकारका महापुरुष अन्य प्रकारका महापुरुष बननेकी क्षमता और सम्भावना रखता है। उदाहरणार्थ, यदि परिस्थिति अनुकूल हुई तो एक महायोद्धाको एक महाकवि बनते देर नहीं लगेगी। इसी प्रकार, युगकी मांगके उत्तरमें एक बहुत बडा कवि भी उतना ही बड़ा योद्धा बन सकता है। प्रत्येक प्रकारके महापुरुषको, अव्यक्त रूपमे, प्रत्येक अन्य प्रकारका महापुरुष समझना चाहिए।

महापुरुषत्व-धर्मकी तात्त्विक एकताका सिद्धान्त एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थापना है, किन्तु इसकी ओर चिन्तकोंका ध्यान कम ही गया है। जब सिकन्दरने डायोजेनीज नामक यूनानी सन्तसे कुछ मांगनेको कहा, तो सन्तने बस इतना ही कहा कि सामनेसे हट जाओ, मुझे धूप खाने दो। सिकन्दर इससे इतना प्रभावित हुआ कि—कहा था कि यदि मैं सिकन्दर न होता तो डायोजेनीज बनना चाहता। सिकन्दरके महापुरुषने डायोजेनीजके महापुरुषको पहचाना था और उसके साथ तादात्म्यका अनुभव किया था। इसी प्रकार, जैसा कि हम देखेंगे, जब, कार्लायलके समान, हीगेल, स्पेंग्लर, नीत्शे आदि योद्धाके प्रति अपार भक्ति प्रकट करते हैं और उसे श्रेष्ठतम महापुरुष घोषित करते हैं, तब वे उसके साथ महापुरुषत्वके तलपर तादात्म्यका ही अनुभव करते रहे होंगे। इन तथ्योंकी व्याख्या अन्यथा असम्भवप्राय है।

कार्लायलके बाद केवल दो चिन्तक ऐसे हुए हैं, जिन्हें शुद्ध महापुरुषवादी माना जा सकता है। उनमेंसे प्रथम हैं एक अमेरिकी लेखक, फ्रेडरिक ऐडम्स उड। उसने अपनी पुस्तक 'द इन्फ्लुएन्स ऑव मॉनर्क्स'में ऑकड़े देकर यह सिद्ध करनेकी चेष्टा की है कि राजा ही युगका स्रष्टा होता है। भीष्मने कहा था—"कालो वा कारणं राज्ञः राजा वा कालकारणम्। इति ते संशयो मा भूत्, राजा कालस्य कारणम्॥", अर्थात् राजा ही काल अथवा युगका कारण होता है, न कि युग राजाका। उड और भीष्ममें यहाँ विलक्षण मतैक्य दिखाई देता है।

कार्लायल और उडके बाद सम्भवतः एकमात्र शुद्ध महापुरुषवादी हैं प्रसिद्ध अमेरिकी दार्शनिक विलियम जेम्स (१८४२-१९१०), जिसने अपने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निबन्ध 'ग्रेट मेन एण्ड देयर इनवायरॉनमेंट'में बड़ी ही ओजपूर्ण शैलीमें महापुरुषवादी दृष्टिकोणको विशद करनेकी चेष्टा की है। इस निबन्धकी विशेषता है महापुरुषवादपर हर्बर्ट स्पेंसर द्वारा किये गये आक्षेपोंका विद्वत्तापूर्ण उत्तर, जिसकी बानगी आगे आयेगी।

कुछ चिन्तक ऐसे हैं, जो शुद्ध महापुरुषवादी नहीं कहे जा सकते और जो महापुरुषोंके आविर्भावके दृष्टिकोणको केवल आंशिक रूपमें प्रश्रय देते पाये जाते हैं।

हीगेल (१७७०-१८३१), जिसकी दृष्टिमें इतिहास विश्वात्माकी उत्तरोत्तर स्वरूपोपलब्धिकी कहानी है, की मान्यता है कि प्रत्येक युगकी अपनी आत्मा होती है, जिसका प्रतिनिधित्व महापुरुष करता है। महापुरुषोंका आविर्भाव विश्वात्माके कार्य-साधनके निमित्त हुआ करता है, किन्तु लोग तथा महापुरुष स्वयं भी प्रायः इस भ्रममें पड़ जाते हैं कि वे इतिहासको बदलनेमें किसी निजी स्वार्थकी सिद्धि कर रहे हैं।

स्पेंग्लर (१८८०-१९३६) भी महापुरुषको उसकी संस्कृतिकी आत्मा कहकर पुकारता है। उसके अनुसार महापुरुष विश्व-संचालिनी महानियतिके अभिकर्त्ता (एजेंट) होते हैं।

हीगेलको जब भी किसी महापुरुषका उदाहरण देना होता है, तब वह सिकन्दर, सीजर, फ्रेडरिक महान् और नैपोलियनका ही उल्लेख करता है। लगता है कि वह योद्धा ही को वास्तविक महापुरुष माननेके पक्षमें है। स्पेंग्लर योद्धा और राजनेताको 'तथ्याग्रही पुरुष' (मैन ऑव फैक्ट) और विचारक और 'पुस्तक-कीट'को 'सत्याग्रही पुरुष' (मैन ऑव ट्रूथ)की संज्ञा देता है और कहता है कि तथ्याग्रही सत्याग्रहीसे श्रेष्ठ और इतिहासको सर्वाधिक प्रभावित करनेवाला होता है। सत्याग्रही बस साहित्यके इतिहासमें स्थान पाकर रह जाता है, ठोस इतिहासमें उसका उसे कोई स्थान नहीं मिलता।

मैक्स वेबर (१८६४-१९२०)के इतिहास-दर्शनमें भी महापुरुषवादका महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह महापुरुषत्व-धर्मको करिश्मा (charisma) कहकर पुकारता है। आर्नाल्ड जे० टूवायनबीकी मान्यता है कि क्रियाका स्रोत समाज नहीं, बल्कि कोई महापुरुष ही हुआ करता है। ये महापुरुष या तो विजेता होते हैं या तारक (सेवियर)। उत्कर्षोन्मुख सभ्यताका नेता विजेता और अपकर्षोन्मुखका तारक होता है।

आजका प्रसिद्ध अमेरिकी दार्शनिक सिडनी हुक अपनी पुस्तक **'द हीरो इन हिस्ट्री'** मे काफी हदतक मार्क्सवादसे महापुरुषवादकी ओर लौट आया है।

महापुरुषवादी इतिहास-दार्शनिकोने प्रस्थान-निर्माणका विशेष यत्न नही किया है। महापुरुषवादी दृष्टिकोणसे मानवीय इतिहासका विधिवत् अध्ययन वस्तुतः हुआ ही नही है। इसका एक कारण यह है कि शुद्ध महापुरुषवादी दो या तीन ही लेखक दिखायी देते है, शेष तो केवल आंशिक रूपमे महापुरुषवादको प्रश्रय देते है। अब आलोचकोंने महापुरुषवादपर जो आपत्तियाँ उठायी है और महापुरुषवादियोंने अपने दृष्टिकोणके समर्थनमे जो तर्क-वितर्क किये है, हम उनपर किंचित् विचार करना चाहेगे।

हर्बर्ट स्पेंसर (१८२०-१९०३) और कार्ल मार्क्स (१८१८-१८८३)का कथन है कि महापुरुषवाद जहाँ तक जाता है, वहाँ तक तो ठीक है, किन्तु वह दूर तक नही जाता—वह महापुरुषोंकी महत्ताकी व्याख्या करनेमे असमर्थ है। उनका कहना एक सीमा तक ठीक भी है। कार्लायल तो यह कहकर मौन हो जाता है कि महापुरुष अज्ञात और असीमकी ओरसे मनुष्यके लिये भेजा गया सन्देशहर है। हीगेल और स्पेग्लरके अनुसार महापुरुष क्रमशः विश्वात्मा और नियतिकी ओरसे आविर्भूत होता है। उनके अनुसार वह मानव-योनिके अन्तर्गत एक उपयोनि है। इनके विरुद्ध, मोटे तौरपर, स्पेंसर और मार्क्सका मत है कि महापुरुष सामाजिक-आर्थिक शक्तियो अथवा युगकी मांगके वश आविर्भूत होते है।

मार्क्स और एंगिल्सकी मान्यता है कि प्रत्येक युग अपने महापुरुष ढूँढ़ लेता है और यदि वे ढूँढ़नेसे नहीं मिलते तो उनका आविष्कार कर लेता है। एंगिल्स तो यहाँतक कहनेको तैयार है कि यदि किसी महापुरुषको उसके क्षेत्रसे हटा भी दिया जाय तो उसका स्थान लेनेके लिए तुरन्त एक दूसरा महापुरुष उत्पन्न हो जायगा, जो लगभग पहले महापुरुषके सदृश ही होगा।

कार्लायलने अपनी पुस्तकमें इस प्रकारकी शंकाओके लिए एक समाधान दे रखा है। उसे आश्चर्य है कि लोग महापुरुषको समयकी पैदावार बतलाकर उसकी महत्ता कम कैसे कर देते है। उसके शब्द सुनिये—"लोगोंका कहना है कि वह समयकी पैदावार था, समयकी पुकारके फलस्वरूप वह पैदा हुआ, समयने सब कुछ किया, उसने कुछ नही किया...। मुझे तो यह बौद्धिक दिवालियापन प्रतीत होता हैं। समयकी पुकार? अफसोस, हमें ऐसे समयोंका पता है, जिन्होने अपने महापुरुषको काफी जोरसे पुकारा था, किन्तु उसे पाया नही। वह था ही नही, विधाताने उसे भेजा ही नही था, समयको पुकारते-पुकारते अस्त-व्यस्त और ध्वस्त हो जाना पड़ा, क्योंकि पुकारनेपर वह महापुरुष पहुँचा ही नही"।

इसके अतिरिक्त, महापुरुषवादी यह भी तर्क उपस्थित करते है कि प्रतिभाशाली ही वास्तविक महापुरुष हो सकता है और प्रतिभाकी उत्पत्ति एक सर्वथा आकस्मिक घटना है। ऐसी स्थितिमे युगकी माँगपर महापुरुष झट उपस्थित कैसे हो जायगा। विलियम जेम्स और सिडनी हुकने इस सम्बन्धमे महापुरुषवादके विरोधियोंके लिए बड़े विकट प्रश्न उठाये है। स्पेंसरको उत्तर देते हुए जेम्स कहता है कि क्या यदि शेक्सपियर शैशव-कालमे ही परलोक सिधार गया होता तो उसके जन्मस्थान स्ट्रेटफर्ड-ऑन-अवॉनकी किसी अन्य मांके माध्यमसे उसकी प्रतिलिपि तैयार हो जाती? इसी प्रकार सिडनी हुकने एंगिल्सके खण्डनमे कहा है कि एंगिल्सके अनुसार आर्थिक अन्तर्विरोधका अन्त एक अटल ऐतिहासिक आवश्यकता है और रज और वीर्यका समागम ऐतिहासिक दृष्टिसे आकस्मिक है। तो फिर ऐतिहासिक आवश्यकता प्राणिशास्त्रीय क्षेत्रकी आकस्मिकतापर कैसे हावी हो जाती है? ऐतिहासिक आवश्यकता और प्राणिशास्त्रीय आकस्मिकताका सामंजस्य कैसे सम्पन्न हो जाता है? अतः महापुरुषको सामाजिक-आर्थिक शक्तियोंकी पैदावार बतलाकर उसका ऐतिहासिक महत्त्व कम नही किया जा सकता।

अस्तु, अब हम महापुरुषवादी दृष्टिकोणका थोड़ा मूल्यांकन करनेका प्रयत्न करे। मार्क्सवादी तथा महापुरुषवादके अन्य विरोधी यह भूल जाते है कि इतिहासकी प्रक्रिया अथवा विकास-मार्गके कई विकल्प होते है और यह कि यदि मौकेपर समर्थ महापुरुष उपस्थित रहा तो इस बातका निर्णय बहुत कुछ उसके हाथमे होगा कि इतिहास कौन सा मार्ग ग्रहण करे। यहाँ महापुरुषकी प्रभविष्णुतासे किसी प्रकार भी इनकार नही किया जा सकता। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि क्या महापुरुष ऐतिहासिक विकासको आमूल-चूल उलट सकता है? उदाहरणार्थ, क्या वह इतिहासकी प्रक्रियापर इतना वश प्राप्त कर सकता है कि पूँजीवादके बाद सामन्तवाद जैसी प्रतिगामी व्यवस्थाकी प्राणप्रतिष्ठा कर दे? यहाँ उत्तर हाँमें कदापि नही दिया जा सकता। इस स्थितिमे निश्चय ही सामाजिक-आर्थिक शक्तियाँ उसकी अपेक्षा कहीं अधिक बलवती सिद्ध होंगी। इस तथ्यसे इनकार करनेका अर्थ होगा, महापुरुषवादको अतिकी सीमातक ले जाना।

एक समसामयिक लेखक कार्ल जी० गुस्तावसनने महापुरुषकी इतिहासकारिताके निर्धारण-निर्णयके सिलसिलेमें छः बातोंपर ध्यान देनेकी सिफारिश की है—(१) कुछ सामाजिक शक्तियाँ किसी भी महापुरुषके लिए अजेय होती है; (२) दीर्घकाल-व्यापी प्रवृत्तियोंका अनुशासन महापुरुषके लिए भी कठिन होता है; (३) किसी एक ऐतिहासिक घटनाकी तफ़सीलें प्रायः सम्बद्ध पुरुषों द्वारा ही अनुशासित होती है; (४) इतिहासकारिताके स्थल बहुधा 'ठीक समयपर ठीक आदमी' नियमके निदर्शन होते है; (५) अवसर पाकर साधारण प्रतिभा भी इतिहासमें क्रान्तिका कारण बन जाती है और (६) प्रत्येक ऐतिहासिक परिवर्तनपर उसके विशिष्ट सन्दर्भमें ही विचार होना चाहिए।

वस्तुतः प्रश्न यह नही होना चाहिए कि क्या महापुरुष इतिहासकी प्रक्रियाको दिशा दे सकता है, बल्कि यह कि वह उसे किस सीमातक दिशा दे सकता है। प्रत्येक अन्य प्रकारकी क्षमताके समान इतिहासके निर्माणकी क्षमतामे भी तारतम्य देखनेको मिलता है। कुछ व्यक्ति तो ऐसे है, जो इतिहासको एक नगण्य सीमातक ही प्रभावित कर सकते है, कुछ ऐसे है, जो एक पूरे युगको बना-बिगाड़ सकनेमें

सक्षम है और कुछ ऐसे भी हो सकते और होते हैं, जो एक पूरी संस्कृतिका भाग्य-विधान करनेकी सामर्थ्य रखते हैं। इस तारतम्यको ध्यानमें रखकर महापुरुषोंके कार्यका मूल्यांकन ही वैज्ञानिक और यौक्तिक मूल्यांकन कहा जा सकता है।

अभी हालतक इतिहास-लेखनके क्षेत्रमे महापुरुषवादी प्रवृत्तिका बोलवाला रहा है। सांस्कृतिक इतिहास-लेखनके क्षेत्रमे यह वाद अपने पुराने रूपमे तो नहीं रहा, किन्तु वह किसी-न-किसी रूपमे अब भी विद्यमान है। युग-विशेषके लेखक-समूह तथा प्रवृत्ति-समूहका इतिहास प्रस्तुत करनेके बदले केवल बड़े लेखकों और बड़ी प्रवृत्तियोंका विवरण दे देना पर्याप्त समझा जाता है। प्रचलित साहित्येतिहास-लेखनकी इस व्यापक प्रवृत्तिकी विचारोत्तेजक आलोचना नलिनविलोचन शर्माके 'साहित्यका इतिहास-दर्शन' (१९६०)मे देखनेको मिलती है। इस सम्बन्धमे इस पुस्तककी हर्षनारायणकी जुलाई १९६३के **क ख ग**मे प्रकाशित समीक्षा भी द्रष्टव्य है।

हिन्दीमें इतिहासकी महापुरुषवादी व्याख्याकी चर्चा, शायद सर्वप्रथम मन्मथनाथ गुप्त और रमेन्द्रनाथ वर्माके 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' (१९४६ ई०)में आयी, किन्तु 'महापुरुषवाद' शब्दका प्रथम प्रयोग हर्षनारायणके जनवरी १९५२ ई०के 'प्रतीक'मे प्रकाशित लेख 'इतिहासकी महापुरुषवादी व्याख्या बनाम मार्क्सवाद' मे हुआ। इस लेखकी मन्मथनाथ गुप्तकी आलोचना 'हर्षनारायणकी प्रत्यालोचनाके साथ मार्च' १९५२ ई० के 'प्रतीक'में प्रकाशित हुई थी। मन्मथनाथ गुप्तने 'प्रगतिवादकी रूप-रेखा' (१९५२ ई०)में अपनी आलोचना समाविष्ट करते हुए हर्षनारायणकी प्रत्यालोचनाकी समीक्षा की है।

[सहायक ग्रन्थ—कार्लायल : हीरोज ऐण्ड हीरो-वर्शिप; फ्रेडरिक ऐडम्स उड : द इन्फ्लुएन्स ऑव मॉनर्क्स; बी० एच० लेहमान : कार्लायल्स थियरी ऑव द हीरो; एरिक बेन्टले : द कल्ट ऑव द सुपरमैन; जैकब बर्कहार्ट : द ग्रेट मैन इन हिस्ट्री और फोर्स ऐण्ड फ्रीडम; विलियम जेम्स : ग्रेट मेन ऐन्ड देयर एन्वायरॉनमेन्ट; द विल टु बिलीव ऐण्ड अदर एसेज; टॉल्स्टॉय : वार ऐन्ड पीस और सेकण्ड एपिलॉग; हर्बर्ट स्पेन्सर : स्टडी ऑव सोशियोलॉजी; प्लेखानोव : द रोल ऑव द इन्डिविजुअल इन हिस्ट्री; सिडनी हुक : द हीरो इन हिस्ट्री; बुखारिन : हिस्टॉरिकल मैटीरियलिज्म; मार्क्स-एंगेल्स : सेलेक्टेड करेस्पॉन्डेन्स; आर० एम० मैकआइवर : 'हिस्टॉरिकल एक्सप्लेनेशन', एसेज ऑन लॉजिक ऐन्ड लैंगुएज—सेकन्ड सीरीज (ऐण्टॉनी फ्ल्यू द्वारा सम्पादित); गुस्टॉव्सन : अ प्रिफेस टु हिस्ट्री; हर्षनारायण : 'द रोल ऑव पर्सनॉलिटी इन हिस्ट्री' (मॉडर्न रिव्यू, नवम्बर, १९५९ ई०); 'इतिहास-की महापुरुषवादी व्याख्या बनाम मार्क्सवाद' ('प्रतीक', जनवरी, १९५२ ई०); 'महापुरुषवाद' (वही, मार्च, १९५२ ई०); मन्मथनाथगुप्त, (वही, 'ऐतिहासिक भौतिक-वाद')।] —ह० ना०

महाभुजंगप्रयात सवैया–दे० 'सवैया', तेरहवाँ प्रकार।

महामुद्रा–बौद्ध तन्त्रोंमें मण्डलचक्र और मुद्रा-मैथुनमें स्त्रियोंका उपभोग आवश्यक अनुष्ठान माना जाता था, यद्यपि वे इस साधनाको भौतिक रूपमे ग्रहण नहीं करते थे। 'मुद्रा', अर्थात् 'मोद देनेवाली' इस व्याख्यामे मुद्राको नारी रूपमे कल्पित किया गया। सिद्धोंने भगवती नैरात्माको महामुद्राके रूपमे परिकल्पित किया। महामुद्राकी साधना सबसे कठिन साधना मानी जाती थी, इस साधनामे निष्णात होनेके उपरान्त ही साधककी गणना सिद्धाचार्योंमे होती थी। अपनी समकक्ष किसी योगिनीको महामुद्रा-रूपमे वरण कर साधक गुरुके पास जाता है। वहाँ उसे अभिषिक्त किया जाता है, फिर साधक महामुद्राके साथ **मण्डल-चक्र**मे प्रवेश करता है। 'गुह्यसमाजतन्त्र'के अनुसार नारी महामुद्राके तनमे भी पंच तथागतोंका वास है, अतः उसकी साधना कर लेनेवालेको तथागत-चक्री भी कहते हैं। इसीलिए महामुद्राकी साधना कर लेनेवाला फिर समस्त बाह्य अनुष्ठानोंसे मुक्त हो जाता है।

महामुद्राको अन्य अनेक रूपों और भागोंमें भी बाँटा गया है। सिद्धोंके कालमे नायिका-भेद भी महामुद्राके अन्य रूपोंके आधारपर किया गया है, यद्यपि इस विभाजन अथवा विभिन्न नामोंके पीछे काव्यशास्त्रकी कोई परम्परा न होकर **हठयोग** तथा **मुद्रा-मैथुन** सम्बन्धी गुह्य संकेत ही है। इन अन्य नायिकाओंमेंसे **डोम्बी**में अद्वैतभाव प्रधान रहता है। क्योंकि यह ज्ञानसे सम्बद्ध है, इस कारण **नैरात्मा प्रज्ञा**को भी डोम्बी कहते हैं। डोम्बीको वायुतत्त्वसे संलग्न माना गया है, जो प्राण तथा अपान वायुके निरोधसे सम्बद्ध है। डोम्बी परिशुद्धावती है, इसके नायकको **कापालिक** कहते है।

मणिमूलमे सम्पुटीकरणके उपरान्त **चण्डाग्नि** प्रज्वलित कर साधक अवधूतिकाके द्वारा उसे ऊपरकी ओर प्रवाहित करता है। इसी चण्डाग्निको ग्रहण करनेके कारण **अवधूतिका**को **चाण्डाली** कहा जाता है। महामुद्रा **नैरात्मा**को इस प्रतीकके द्वारा प्रायः प्रकट किया गया है। चाण्डाली सारे चक्रोंको पारकर ललाट-स्थित **कमलचक्र**तक पहुँचकर आनन्द उत्पन्नकर पुनः नाभिचक्रमें वापस आ जाती है। यही चाण्डाली अपनी ऊर्ध्व गतिमे डोम्बी और उष्णीष कमलमे पहुँचनेपर **सहज-सुन्दरी** कहलाती है। काण्हपा तो प्रज्ञा-महामुद्राको **गृहिणी**रूपमे भी वर्णित करते हैं और स्पष्ट कहते हैं कि "जैसे नमक पानीमे घुल जाता है, उसी प्रकार अपनी गृहिणीको अपने चित्तमे धारण करो" (दोहाकोष)। बादमे वैष्णवोंमें परकीया रूपपर जो इतना आग्रह मिलता है, उसका सिद्धोंमें सर्वथा अभाव है। उन्होंने नायिकाके स्वकीया-रूपपर विशेष बल दिया है। वे उसे 'वधू'-रूपमें भी अभिहित करते हैं। परिणयके लिए बरयात्राकी सारी सज्जाका प्रचुर वर्णन मिलता है। सिद्धों द्वारा वर्णित विभिन्न नायिकाओंमे **शुण्डिनी** भी एक है—जो दो घड़ोंमें बल्कल-चूर्णसे मदिरा खींचती है। उसके मदिरालयके कई द्वार हैं, जिनमेंसे दशम **वैरोचन द्वार**से ग्राहक चिह्न दिखाकर आते हैं, जिन्हें वह मदिरा पिलाकर सन्तुष्ट करती है। एक नायिका **मातंगी** भी है, जो गंगा तथा यमुनाके बीचसे नाव खेकर ले जाती है और

सभी यात्रियोंको नावपर बिठाकर बारी-बारीसे उतारती है। सिद्धोंके पदोंमें नायिकाओंका मुग्धात्व, मध्यात्व तथा प्रौढात्व, तीनों ही प्रवृत्तियाँ मिलती है। शबरपाकी **शबरी** संसारसे दूर ऊँचे पर्वतपर मोर-पंखोंसे शृंगार किये हुए अबोधप्रकृति बालिकाकी भाँति रहती है। उसकी जिन चेष्टाओंका विवरण शबरपाने दिया है उनसे उसका मुग्धात्व प्रकट होता है (चर्यापद)। कुक्करीपा द्वारा वर्णित वधूरूपमें मध्यात्व और महामुद्राकी प्रौढा प्रवृत्तिका संकेत योगिनीमें मिलता है, जो रतिप्रिया प्रौढा है एवं नायकको पूर्णतया आनन्द देनेमें समर्थ है (चर्यापद)। कृष्णाचार्यपा इसीको डोम्बी वधू बताते हुए उसके साथ विवाह-समारोह रचाते है और इसीको **कामचण्डाली**की संज्ञा भी देते हैं। आधी रातको कमल खिलता है, बत्तीस योगिनियाँ उसके दलोंपर क्रीडा करती हैं, उनकी नायिकाको **पद्मिनी** कहा जाता है, क्योंकि मृणाल बनकर वह कमलरसको प्रवाहित कर रही है। यही **अवधूतिका** है, जो मृणाल बनकर कमल-रसको प्रवाहित करती है, इसे **कमलिनी** भी कहा जाता है। बौद्धोंकी भावसाधनाके अन्तर्गत बोधिचित्त और शून्यताकी प्रणयकेलिमें विभिन्न रूपकोंको व्यक्त करनेके लिए नायक तथा नायिकाके रूपमें तथागत और **भगवती नैरात्मा**को माना गया, अर्थात् तथागतकी नायिकाको नैरात्मा कहा जाता है। उसी विश्वव्याप्त प्रणयकेलिमें साधक बोधिचित्तको नायक और नैरात्मज्ञानको नायिका मानकर अपने चित्तमें आयोजित करता है। —ध० वी० भा०

महायान—महायान शब्दका वास्तविक अर्थ इसके दो खण्डों (महा+यान)से स्पष्ट हो जाता है। 'यान'का अर्थ मार्ग और 'महा'का श्रेष्ठ, बडा या प्रशस्त समझा जाता है। तात्पर्य उस ऊँचे या प्रगतिशील मार्गसे था, जो हीनयानसे बढकर था। यह लोकोत्तर मार्ग था, जिसका ऊँचा आदर्श था और इसीके कारण ईसापूर्व पहली शताब्दीमें ही बुद्धधर्ममें विभेद हो गया। वैशाली-संगीतिमें पश्चिमी तथा पूर्वी बौद्ध पृथक्-पृथक् हो गये, जिन्होंने त्रिपिटकमें कुछ परिवर्तन किया। पूर्वी शाखाको महासंघिकका भी नाम दिया जाता है, जिससे आगे चलकर महायानका नामकरण किया गया। बुद्धधर्ममें महायानके आरम्भकी तिथि निश्चित करना कठिन है। परमार्थके कथनानुसार कनिष्ककी चौथी संगीति-में भी महायानकी पूर्वस्थितिका अनुमान लगाया जा सकता है। तिब्बती इतिहास-लेखक तारानाथने लिखा है कि कनिष्कके पुत्रके राज्यमें (दूसरी शतीमें) महायानका काफी प्रसार हो गया था। उस सम्बन्धमें साहित्य भी तैयार हो रहा था। पालि साहित्य (हीनयान साहित्य)में कुछ ऐसा सन्दर्भ आता है, जिससे ज्ञात होता है कि महा-यानके विचार लोगोंमें काम कर रहे थे। महायान ग्रन्थ 'प्रज्ञापारमिता'में अनेक दार्शनिक सिद्धान्त उल्लिखित हैं। इस ग्रन्थका चीनी अनुवाद १४८ ई०में लोकरक्षाने किया था। अतएव इस आधारपर यह कहा जा सकता है कि ईसवी सन्‌की पहली शतीमें महायानका प्रचार अवश्य हो गया था, तभी तो 'प्रज्ञापारमिता'की रचना हुई। इस मतका आरम्भ महासंघिक-मतकी स्थितिमें ही कहा जाता है, जो महायानका पूर्वगामी मत था। इसके समर्थनमें अन्य प्रमाण भी उपस्थित किये जाते हैं। महायान-दर्शनके सर्वप्रथम लेखक नागार्जुनका जन्म बुद्धनिर्वाणके चार सौ वर्षों बाद, यानी पहली शतीमें हुआ था। अतः गौण रूपसे यह स्वतः प्रमाणित हो जाता है कि महायानका प्रारम्भ इसके पहले ही हो चुका था। सम्भव है कि महायानका नामकरण बादकी घटना हो। ईसवी सन्‌की तीन शता-ब्दियोंतकके लेख यह घोषित करते है कि महायान-मत अधिक लोकप्रिय हो गया था। इसका विस्तार उत्तर-पश्चिमसे दक्षिण-भारततक हो चुका था (नासिक तथा कार्लेके लेख)।

दक्षिणभारतमें कृष्णा नदीकी घाटीमें भी इस मतका प्रसार हो गया था, इस कारण 'अन्धक' शब्दका प्रयोग भी महायानके लिए यत्र-तत्र मिलता है। इस नामका भौगो-लिक कारण था। कृष्णा नदीकी घाटी आन्ध्र देशके नामसे विख्यात है। इसलिए महायानके पूर्व महासंघिकको 'अन्धक' नामसे उल्लिखित किया गया। बोधिसत्त्वकी भावनाके कारण महायान बोधिसत्त्वयानके नामसे भी उल्लिखित है।

कुछ विद्वानोंका मत है कि महायानका जन्म दक्षिण-भारतमें हुआ और वहींसे वह उत्तरभारतमें फैला। जहाँतक शब्दके प्रयोगका विचार है, सम्भवतः महायान तीसरी शतीके बाद प्रयुक्त किया गया। सातवाहन राजाओंके लेखोंमें महासंघिक शब्दका ही प्रयोग मिलता है। हीन-यान शब्दके प्रयोगके साथ ही महायानका प्रयोग आवश्यक हो जाता है। फाहियानने इसका प्रयोग किया है। साहित्य-ग्रन्थोंमें हीनयान (दे०)के साथ महायानका प्रयोग स्वाभाविक था, ताकि दोनों मतोंकी विभिन्नता स्पष्ट रूपसे व्यक्त हो सके। उदाहरणके लिए, 'सद्धर्मपुण्डरीक'में जहाँ श्रावक तथा प्रत्येक बुद्धका उल्लेख आता है, वहाँ महायान-का नाम मिलता है। महावस्तुमें भी हीनयानका वर्णन मिलता है। 'दिव्यावदान'में बोधिसत्त्वजातिक भिक्षुओंका वर्णन है, जो दूसरे शब्दोंमें महायान-भिक्षु कहे जा सकते है। उनको हीनयानवाले स्नेहकी दृष्टिसे नहीं देखते थे। कहनेका तात्पर्य यह है कि महायानका प्रयोग हीनयान अथवा श्रावकयान (दे०)के साथ होता रहा।

यदि महायानके दार्शनिक सिद्धान्तोंका अनुशीलन किया जाय तो उसकी विशेषताएँ निम्नलिखित रूपमें उल्लिखित की जा सकती है—सर्वप्रथम महायानवालोंने बोधिसत्त्वकी भावनाका बुद्धधर्ममें समावेश किया। वह सदाचार, परोपकार तथा उदारता आदि गुणोंसे सम्पन्न माना जाता है, जो संसारके निर्वाणके लिए प्रयत्नशील रहता है। बोधिसत्त्व महामैत्री तथा करुणासे सम्पन्न होता है तथा जगत्‌के प्रत्येक प्राणीको क्लेशसे मुक्त तथा निर्वाण-में प्रतिष्ठित करना उसका लक्ष्य होता है।

त्रिकामकी कल्पना महायानकी दूसरी विशेषता है। धर्मकाम, सम्भोगकाम तथा निर्वाणकाम महायानको मान्य थे।

दशभूमिकी कल्पना तीसरी विशेषता है। हीनयानके मतानुसार अर्हत्-पदकी प्राप्ति केवल चार भूमियोंमें मानी गयी है, परन्तु महायानमें निर्वाणकी उपलब्धि दशभूमियों-से होती है।

निर्वाणकी कल्पनामें भी महायान अपनी विशेषता रखता है। हीनयानी निर्वाण दुःखाभाव-रूप है, परन्तु महायानी निर्वाण आनन्द-रूप है। उनके विचारमें बुद्धत्वकी प्राप्ति ही सर्वोपरि लक्ष्य था। उनका कथन था कि पुद्गल-शून्यता तथा धर्मशून्यताके कारण वे क्लेशावरणसे रहित हो सकते हैं।

महायान-मतका अभ्युदय भक्तिको लेकर हुआ था। बुद्ध साधारण मानव न होकर लोकोत्तर पुरुष थे। उनकी भक्ति करनेसे ही मानव इस दुःख-बहुल संसारसे पार जा सकता है। भक्तिको प्रश्रय देनेसे ही महायानके समयमें बुद्धकी प्रतिमाका निर्माण होने लगा। अतः महायानके कारण चित्र तथा मूर्तिकला (बौद्ध कला)की विशेष उन्नति हुई। महायानके ऊपर ब्राह्मण-धर्मके सिद्धान्तोंका प्रभाव ही भक्ति-भावनाका कारण था। प्राचीन आचार्य असंगने 'सूत्रालंकार'में लिखा है कि महायान-धर्म हीनयानके साथ ही उत्पन्न हुआ। इसे पीछे किसीने प्रचारित नहीं किया। यह भी बुद्धवचनपर आधारित है। उनके मतानुसार यदि शाक्यमुनिने इसका प्रवर्तन नहीं किया तो ऐसा कौन बुद्धत्व-प्राप्त व्यक्ति था, जो धर्मचक्रप्रवर्तनकी सामर्थ्य रखता हो। आधुनिक विद्वान् इसे माननेमें असमर्थता प्रकट करते हैं। असंगका तर्क जितना भी बल रखता हो, परन्तु हीनयान या महायानकी समकालीन उत्पत्ति तथा विकासकी बातें पुष्ट नहीं हो पातीं। सारांश यह है कि महायान-धर्म हीनयानसे कई विषयोंमें भिन्न विचार रखता था, जो कालान्तरमें समाविष्ट हुए।

महायान-पन्थने सामाजिक उन्नतिके लिए पारमिताकी ओर गृहस्थोंका ध्यान आकर्षित किया। पारमिता अथवा पारमी उपासकोंके हृदयमें प्रेम तथा बुद्धधर्मकी ओर श्रद्धा उत्पन्न करती है। इन्हें कथानक, उपाख्यान अथवा कहावत-की संज्ञा दे सकते हैं। 'शिक्षासमुच्चय' नामक ग्रन्थमें बोधि-सत्त्वके कर्तव्यका उल्लेख मिलता है, जिसका तात्पर्य यह है कि गृहस्थको वैसा ही करना चाहिये। महायान-मता-वलम्बियोंका कथन था कि गृहस्थोंमें दानकी भावना तृष्णा, भय, चिन्ताको दूर करती है। अतएव गृहस्थको अत्यधिक दान देना चाहिए। सामाजिक प्राणीको समचित्त होना चाहिये। ज्ञान-प्राप्तिके उचित मार्गका अवलम्बन तथा अनानात्वचारित (जो किसीमें विभेद उत्पन्न न करे)की भावना आवश्यक है। गृहस्थको पुत्रको शत्रु मानना चाहिये, क्योंकि वह अधिक प्रेम तथा आकर्षणका पात्र है; इसीके कारण पिता बुद्ध-वचनसे विमुख हो जाता है। प्रेम उचित मार्गसे पृथक् कर देता है। गृहस्थमें सम भावना होनी चाहिये तथा गृही बोधिसत्त्व किसी भी पदार्थको अपना न समझे। उसे सांसारिक वस्तुओंको त्यागना चाहिये, ताकि मृत्युके समय वह तृष्णारहित सुखका अनुभव करे।

गृहस्थको मदिराका प्रयोग न करना चाहिये, बीभत्स तथा अश्लील दृश्य न देखना चाहिये, क्रोध न करना चाहिये तथा गम्भीर विचारवाला होना चाहिये। वह गृहस्थ दुराचारसे विमुख होकर भी स्त्रीमें लीन न रहे। परोपकारकी भावना इतनी जाग्रत् हो कि वह अपना स्वार्थ त्याग कर दे। गृहस्थको बुद्धत्वप्राप्तिके लिए पूजा करना आवश्यक है। इस तरहके अनेक उच्च विचारोंको महायान-ने समाजमें प्रसारित किया, ताकि जनताका कल्याण हो सके।

महायान-धर्म भक्ति तथा पूजाकी भावनासे जनतामें लोकप्रिय होता गया तथा लोग उसकी ओर आकर्षित होते गये। बुद्ध तथा बोधिसत्त्वकी पूजाका आरम्भ हुआ और कलामें लक्षणके स्थानपर बुद्ध तथा बोधिसत्त्वकी प्रतिमाएँ तैयार होने लगीं। गान्धार-शैलीमें बौद्धमूर्ति निर्मित होने लगी। बुद्धको योगी और भिक्षुके रूपमें तथा बोधिसत्त्वको राजकुमारके वेशमें (वस्त्रालंकारयुक्त) दिखलाया गया। शुंग-युगकी कलामें बुद्धके नाना प्रतीक प्रधान स्थान प्राप्त कर चुके थे। भरहुत, बोधगया तथा साँचीकी कला लाक्षणिक थी। कनिष्कके समयमें गान्धारमें सर्वप्रथम बुद्धमूर्ति बनने लगी। कुमारस्वामीका मत है कि गान्धार तथा मथुराके कलाकेन्द्रोंमें बुद्धप्रतिमाका निर्माण स्वतन्त्र रूपसे हुआ। दोनों शैलियोंमें किसीका प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता। भगवान् बुद्धकी प्रतिमाएँ ध्यान तथा बुद्धत्व-प्राप्तिकी अवस्थामें दिखलायी गयी हैं। सारनाथमें बुद्धने धर्मचक्रप्रवर्तन किया था, अतएव धर्मचक्रको हटाकर भगवान् द्वारा पाँच साधुओंको दीक्षित करनेका दृश्य प्रतिमा द्वारा प्रदर्शित किया गया। इसी प्रकार स्तूपसे परिनिर्वाण-का ज्ञान न कराकर स्वयं बुद्धकी प्रतिमा शयनावस्थामें तैयार की गयी। बुद्धप्रतिमा सर्वथा चीवरके साथ बनने लगी। ऐतिहासिक घटनाओंको साकार बुद्धप्रतिमासे प्रद-र्शित कर लाक्षणिक कलाको प्रायः समाप्त कर दिया गया। चैत्य-गुफाओंमें भी स्तूपके आगे बुद्धकी मूर्ति जोड़ दी गयी, जिसके कारण प्रतीक गौण हो गये। बुद्धकी प्रतिमा आसन (बैठी), स्थानक (खड़ी) तथा शयन (लेटी) अवस्थामें दिखलाई पड़ती है। उनमें हाथोंकी विभिन्न मुद्राएँ (ध्यान, भूमिस्पर्श, धर्मचक्रप्रवर्तन, अभय, वरद तथा व्याख्यान) स्पष्ट रूपसे व्यक्त की गयी हैं। गान्धार, मथुरा तथा सारनाथके कलाकेन्द्र इस तरहकी मूर्तियोंके लिए प्रसिद्ध हैं। गान्धारमें महापुरुषके लक्षणों (जालांगुली, ऊर्णा, लम्बे कान आदि)का प्रदर्शन मिलता है। मथुरामें विशालकाय स्थूल भावनाके साथ बुद्धप्रतिमा बनायी गयी तथा सारनाथमें ध्यानावस्थित, गम्भीर भावना तथा मननशील एवं दार्शनिक विचारयुक्त मूर्तियाँ तैयार हुईं। सारनाथकी धर्मचक्रप्रवर्तनयुक्त बुद्धप्रतिमा इतनी लोकप्रिय हुई कि गुप्त-युगके पश्चात् मगध तथा बंगालमें उसीका अनुकरण होता रहा। सारांश यह है कि महायान-मतके कारण शुंग-युगकी लाक्षणिक पद्धतिके स्थानपर बौद्ध प्रतिमाएँ कलामें प्रतिष्ठित होने लगीं। कुषाण-युगमें गुप्तकालपर्यन्त बौद्धकलामें जो कुछ परिवर्तन दिखलाई पड़ता है, उसका श्रेय महायान-मतको है।

महायान-साहित्यके निर्माणकर्ताओंमें अश्वघोष, नागा-र्जुन तथा असंगके नाम विशेषतया उल्लेखनीय हैं। अश्व-घोषने, जो कनिष्कके समकालीन थे, 'सूत्रालंकार' नामक ग्रन्थ लिखा। पीछेके दो आचार्योंके विषयमें चीनी तथा तिब्बती आधारपर जो ज्ञान होता है, वह स्पष्ट नहीं है।

नागार्जुनको तान्त्रिक उपदेशक तथा कीमियागिरीमे निपुण व्यक्ति कहकर उल्लेख किया गया है। नागार्जुन दक्षिण-भारतके ब्राह्मणकुलके भूषण थे, जो कालान्तरमे नालन्दामे संघके मठाधीश हो गये थे। पंचविंशति साहस्रिक प्रज्ञापारमितापर उनकी टीका सर्वप्रसिद्ध है। असंग भी पेशावरके ब्राह्मणकुलोत्पन्न उपदेशक थे। इन्होंने योगाचार-दर्शनका प्रतिपादन किया था। भ्राता वसुबन्धुके साथ इनका नाम लिया जाता है। महायानके प्रधान ग्रन्थोमे 'बुद्ध-चरित', 'महायानसूत्र' (सद्धर्मपुण्डरीक), 'लंकावतारसूत्र' तथा 'प्रज्ञापारमिता'के नाम लिये जाते है। अवदान-ग्रन्थ भी महायान-मतानुयायियोंने लिखा था। महायान-ग्रन्थ संस्कृतमें लिखे गये थे। —वा० उ०

महाराग–वज्रयानी साधनामें सम्बोधिका वास्तविक लक्षण महाराग है। यह राग तरुणी महामुद्राके प्रति साधकका अटूट स्नेह है, जिसके बिना इस जन्ममें बोधि मिलना असम्भव है। यह महाराग केवल एकपक्षीय नही होता। भगवती प्रज्ञा भी महामुद्राके रूपमें साधकसे उतना ही प्रेम करती है और नायक-नायिकाके रूपमें उपाय तथा प्रज्ञा, मन तथा वाक्, बोधिचित्त तथा नैरात्मा या साधक तथा महामुद्रा इस महाराग-रूप स्थायी भावके आलम्बन थे। सांसारिक राग और विरागका परित्याग कर इस महारागके स्वरूपको पहचानना ही मोक्षका कारण है। केवल शून्यता-ज्ञान ही यथेष्ट नहीं, क्योंकि बोधिचित्त शून्यता और करुणाके अद्वयसे उत्पन्न होता है और करुणा ही राग है। चूँकि राग करुणाका प्रतीक है और शून्यतासे संग करनेके लिए उन्मुख है, अतः उसे वज्रराग कहा गया है। यही वज्रराग महामुद्राके प्रति अनुरक्त होनेसे महाराग कहलाता है और बन्धनसे मुक्त कर देता है। सांसारिक बुद्धिसे ग्रहण किये जानेपर यही बन्धनका कारण होता है और महामुद्राके प्रति अनुरक्त होनेपर महारागके रूपमें मोक्षप्रदाता होता है। —ध० वी० भा०

महाशून्य–दे० 'शून्य', 'चक्र' तथा 'उष्णीशकमल'।

महासंस्थान–मूल्यों, मानों, प्रतिमानों एवं आदर्शोंकी चेतना (मानव) संस्कृतिकी वह विशेषता है, जो उसे पशु-समाजसे भिन्न करती है। इन मूल्यों, मानों, प्रतिमानों एवं आदर्शोंकी समष्टिको पितिरिम ए० सोरोकिन महा-संस्थान (सुपरसिस्टम) नामसे पुकारता है। प्रत्येक संस्कृतिका महासंस्थान उसमें व्यापक जीवन-दृष्टिसे अनुप्राणित होता है। समाजकी जीवन-दृष्टिमें परिवर्तन आनेपर महा-संस्थान भी परिवर्तित हो जाता है।

सोरोकिनने जीवन-दृष्टियोंकी संख्या पाँच निश्चित की है—(१) यह कि परमतत्त्व इन्द्रियगोचर है (इन्द्रियवाद, प्रत्यक्षवाद अथवा इहलोकवाद); (२) यह कि परमतत्त्व अतीन्द्रिय है (अतीन्द्रियवाद, परोक्षवाद अथवा परलोकवाद); (३) यह कि परमतत्त्व उभयात्मक है (अध्यात्मवाद); (४) यह कि परमतत्त्व अज्ञात और अज्ञेय है (अज्ञेयवाद) और (५) यह कि परमतत्त्वका प्रतीयमान रूप ज्ञात है और तात्त्विक रूप अज्ञात और अज्ञेय (संशयवाद)। इनमें अन्तिम दो दृष्टियाँ नकारात्मक होनेके कारण कभी समाजके बड़े भागको अपील नहीं कर सकतीं। अतः प्रथम तीन दृष्टियाँ ही समाज-दर्शनकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण हैं। इन तीनों दृष्टियोंके अनुरूप तीन प्रकारके महासंस्थान देखनेको मिलते है—(१) इन्द्रियाग्रही, प्रत्यक्षप्रिय अथवा इहलोक-केन्द्रक (सेन्सेट), (२) अतीन्द्रियाग्रही, परोक्षप्रिय अथवा परलोक-केन्द्रक (आइडिएशनल) और (३) अध्यात्म-प्रधान (आइडियलिस्टिक)। इनके अतिरिक्त एक चौथा गौण भेद भी है—मिश्र (एकलेक्टिक), जो उक्त तीन मुख्य भेदोंकी खिचडी (न कि समन्वय या सामंजस्य) है।

महासंस्थानका वहन अनेक सांस्कृतिक-सामाजिक संस्थान किया करते है। सांस्कृतिक संस्थान मुख्यतः पाँच है—(१) भाषा-संस्थान, (२) विज्ञान-संस्थान, (३) धर्म-संस्थान, (४) ललितकला-संस्थान और (५) आचार-संस्थान। इनके अतिरिक्त एक छठा गौण संस्थान भी होता है, जिसे सोरोकिन मिश्र या खिचड़ी संस्थान कहते है। आचार-संस्थानमें कानून-संस्थान, राजनीति-संस्थान तथा अर्थ-संस्थान सम्मिलित है। ललितकला-संस्थान चित्रकला, मूर्तिकला, स्थापत्य-कला, संगीत, साहित्य और नाट्यकला नामसे प्रसिद्ध उपसंस्थानोंसे मिलकर बना है। समाजमें महासंस्थान तथा तदंगभूत विविध सांस्कृतिक संस्थानों-उपसंस्थानोके अतिरिक्त उनके साधनभूत अनेक सामाजिक संस्थान भी होते है, जैसे परिवार, राज्यसंस्था, श्रमिक-संघ इत्यादि।

उपर्युक्त सामाजिक दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण तीनों जीवन-दृष्टियोंमेसे कोई भी पूर्ण सत्य नही है। अतः समाजके लिए सदा एक ही जीवन-दृष्टिसे सन्तुष्ट रहना सम्भव नही। मानवता पहले एक जीवन-दृष्टि अपनाती है, किन्तु काल-क्रमसे जब उसकी अपूर्णता प्रकाशमें आती है, तब वह उसे छोड़ विरोधी दृष्टि अपना लेती है। इस प्रकार उसका महासंस्थान भी बदल जाता है और महासंस्थानके बदलनेसे ही समाज बदला करता है। महासंस्थानगत परिवर्तन शीघ्र ही सांस्कृतिक और सामाजिक संस्थानोमे प्रतिफलित होने लगता है। इस प्रकार महासंस्थानोंका चक्र चल पड़ता है।

सोरोकिनके महासंस्थानवादके अनुसार हिन्दू, चीनी और मिस्रीय संस्कृतियोंका महासंस्थान सदासे परलोक-वादात्मक रहा है, जब कि यूरोपमें महासंस्थानत्रयके अबतक दो चक्र चल चुके है। हमारे देखते-देखते यूरोपमें इहलोक-केन्द्रक संस्थानका पतन हो रहा है और परलोक-केन्द्रक महासंस्थानका उदय।

अन्तमें यह बतला देना आवश्यक हैं कि सोरोकिनने यत्र-तत्र इस बातका संकेत किया है कि उपर्युक्त अपूर्ण अथवा अंशतः सत्य जीवन-दृष्टियोंके अतिरिक्त एक पूर्णतर समन्वित (इण्टीग्रल) जीवन-दृष्टि भी है। इसे हम समन्वयवाद (इण्टीग्रलिज्म) कह सकते है। तो फिर इस पूर्णतर दृष्टिपर आधारित एक पूर्णतर महासंस्थान क्यों नही? यह समस्या सोरोकिनने कहीं नही उठायी है।

सोरोकिनके अतिरिक्त अनेक अन्य समाजदार्शनिकोंने भी अपनी-अपनी लाक्षणिक भाषामें महासंस्थान सम्बन्धी धारणाएँ प्रस्तुत की है। समाज ए० कास्टके अनुसार सामाजिक (सोशल) और वैचारिक (आइडियालाजिकल)

नामके, अल्फ्रेड वेबर, मैक आइवर आदिके अनुसार सभ्यता (सिविलिजेशन) और संस्कृति (कल्चर) नामके, आगवर्न, वेब्लेन आदिके अनुसार भौतिक और निर्भौतिक नामके और कार्ल मार्क्सके अनुसार आधार और प्रासाद नामके महासंस्थानोंकी समष्टि है। सामाजिक, भौतिक अथवा आधारभूत महासंस्थानका परिवर्तन अथवा विकास-क्रम रेखाकार होता है, न कि चक्राकार। वैचारिक, सांस्कृतिक अथवा प्रासादभूत महासंस्थानमें इतर महासंस्थानके विकास-क्रमसे स्वतन्त्र कोई अपना विकास-क्रम प्रायः नहीं होता। यद्यपि ये महासंस्थान एक-दूसरेको प्रभावित करते रहते हैं, तथापि सामाजिक आदि नामोंसे अभिहित महासंस्थानमें अधिक प्रभविष्णुता होती है। —ह० ना०

महासुख–यह समरस है, सहजानन्द है, जो न तो श्रवणसे सुन पड़ता है, न नयनसे देख पड़ता है, न पवन उसे हिला पाता है, न अग्नि उसे जला पाती है, न जल-वर्षासे वह आर्द्र होता है, न वह बढ़ता है, न घटता है, न वह अचल है, न वह गतिशील है। उपनिषदोंके ब्रह्मकी भाँति इसकी नेतिपरक व्याख्या दी जा सकती है। किन्तु साथ ही यह केवल नेतिपरक नहीं है, क्योंकि जिसे भवमें लगकर व्यक्ति मरता है, उत्पन्न होता है, बन्धनमें पड़ता है, उसीमें लगकर वह परम महासुखको भी सिद्ध कर लेता है। इसलिए इसकी तो केवल अनुभूतिकी अगम्यताके कारण वह व्याख्याके परे हो जाता है। महासुखकी व्याख्या नहीं की जा सकती। केवल गुरु ही शिष्यको इस मार्गमें प्रवृत्त करा सकता है (विस्तारके लिए दे०—इण्ट्रोडक्शन टु तान्त्रिक बुद्धिज्म : शशिभूषणदास गुप्त)। —ध० वी० भा०

महासुखचक्र–दे० 'हठयोग'।

मातंगी–दे० 'महामुद्रा'।

मातृनिष्ठ समाज (matriarchal society)–आज हम पितृसत्ताक समाजमें रह रहे हैं, जिसमें पिता परिवार या कुलका स्वामी और प्रधान होता है। यह स्थिति इतनी पुरानी है कि हमें इसका गुमान भी नहीं होता है कि इससे अन्य भी कोई सामाजिक स्थिति हो सकती है। पर एक समय था, जब हमारा समाज पिताकी प्रधानतामें नहीं, माताके नेतृत्वमें व्यवस्थित था। वह मातृनिष्ठ समाज था। उसमें माता ही परिवारकी स्वामिनी थी। कुटुम्बकी देख-भाल, उसका नियन्त्रण आदि वही करती थी। तब वह आजकी भाँति अबला भी न थी। उसके शिराव्यंजित अंगांग शक्तिके परिचायक थे और परिवारके सारे पुरुष, उसका नरतक, उसका लोहा मानते थे। आज भी मातृसत्ताक व्यवस्था नागा-खासी आदि असम और बर्माकी आदिम जातियोंमें है। हमारे सभ्य समाजमें भी मलाबार (केरल)में मातृसत्ताक व्यवस्था है, जिसमें स्वामी पुरुष नहीं, नारी है। नारी अपनी माताके परिवारमें ही रहती है और पुरुष वहीं उसके पास जाता है। दाय या वरासत भी पिता-पुत्रतः न चलकर माता-कन्यातः चलती है। परिवारकी चल और अचल धन-सम्पत्ति कानूनी तौरपर मातासे पुत्रीको मिलती है, पितासे पुत्रको नहीं। —भ० श० उ०

माता–सन्तोंने माता, माई आदि शब्द-रूपोंका व्यवहार जहाँ माँके अर्थमें किया है, वहाँ यदि सम्भव हो सका है तो इनमें दूसरे भी अर्थोंको भरनेका प्रयास भी किया है। माईका दुहरे अर्थका संकेत देते हुए दादू कहते हैं—"एक ही एकैं भया अनन्द एक ही एकैं भागे द्वंद ॥ एक ही एकैं आप ही आप। एक ही एकैं माइ न बाप॥" (दादूदयालकी अनभै वाणी, सबद २८६)। अर्थात् १. उस ब्रह्मके यहाँ माँ-बापका कोई भेद नहीं है। वह एक है, माँ भी वही है बाप भी वही है। २. वह ब्रह्म निर्गुण, निराकार निरंजन है। उसके यहाँ व्याप्त होने (बाप)का सवाल उठता ही नहीं, अतः अँटने (माई)का भी कोई सवाल नहीं। व्याप्त होने और अँटनेका सवाल स्थूलताके साथ होता है। वह तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। कबीरने 'माई' शब्दका व्यवहार माँ और माया (अज्ञान)के अर्थमें यों किया है—"मुसि मुसि रोवै कबीरकी माई। ए बारिक कैसे जीवहिं खुदाई। ××× कहत कबीर सुनहु मेरी माई। पूरन हारा त्रिभुवन राई" (क० ग्रं० ति०, पद १२)। माताके साथ बाँझ विशेषण लगनेपर यह शब्द निश्चित रूपसे मायाका अर्थ देता है, पर अकेला माता या माई शब्द भी बहुत बार मायाका अर्थ देता है। —रा० दे० सिं०

मात्रा–'मात्रा' शब्द उच्चरित ध्वनिके परिमाणकी इकाईका बोधक है। 'मत्ता', 'मत्त', 'कला' और 'कल' इसके पर्यायवाची माने गये हैं। 'ह्रस्व' और 'दीर्घ', इसके ये ही दो भेद होते हैं और दीर्घका उच्चारणकाल ह्रस्वका दूना स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार ह्रस्व (।) अर्थात् लघु वर्णमें एक मात्रा और दीर्घ (ऽ), अर्थात् गुरु वर्णमें दो मात्राएँ गिनी जाती हैं। विशेषके लिए दे० 'वर्ण'। —सं०

मात्रिक गण–वर्णिक गणोंकी तरह मात्रिक गणोंकी कल्पना भी छन्दःशास्त्रके अनेक आचार्यों द्वारा की गयी है, जैसे सुखदेव मिश्रके 'वृत्तविचार'के छन्दोंका रूप वर्णिक वृत्तोंकी तरह विजड़ित एवं सुस्थिर नहीं होता। कदाचित् इसीसे न तो मात्रिक गणोंका उतना प्रचलन ही हुआ और न वे उतने परिचित हो सके। इनकी संख्या पाँच है, यथा—१. टगण—६ मात्राओंका, १३ उपभेद। २. ठगण—५ मात्राओंका, ८ उपभेद। ३. डगण, ४ मात्राओंका, ५ उपभेद। ४. ढगण—३ मात्राओंका, ३ उपभेद। ५. णगण—२ मात्राओंका, २ उपभेद।

इनके उपभेदोंके नाम-रूपका परिचय भी दिया गया है (दे० 'छन्दःप्रभाकर', पृ० ४२ : जगन्नाथप्रसाद 'भानु')। —ज० गु०

मात्रिक छंद–मात्रा गणनापर आधारित छन्द मात्रिक छन्द कहे जाते हैं। इनमें वर्णोंकी संख्या भिन्न हो सकती है, परन्तु उनमें निहित मात्राएँ नियमानुसार होनी चाहिये। वर्ण-संख्याको छोड़कर केवल मात्रा-संख्यापर आधारित होनेके कारण इन छन्दोंकी प्रकृति वर्णवृत्तोंकी तुलनामें अधिक मुक्त तथा तरल रही है। लोक-प्रचलित आधुनिक भाषा-रूपोंमें तथा प्राचीन प्राकृत और अपभ्रंशमें इन्हीं छन्दोंका व्यापक प्रयोग मिलता है। गेयताके भी ये अधिक अनुरूप सिद्ध होते हैं। हिन्दी साहित्यमें मात्रिक

छन्दोंका विशेष प्रभुत्व रहा है। दोहा, चौपाई, रोला, सोरठा, वीर और हरिगीतिका आदिका प्रबन्धकाव्योंमें और दोहा, कुण्डलिया, छप्पय आदिका मुक्तककाव्यमे मुख्यतया व्यवहार हुआ है। सम्पूर्ण पद-साहित्य मात्रिक छन्दोंके शुद्ध और मिश्रित रूपोंका ही विस्तार है।

कुछ शास्त्रकारोंने वृत्त शब्दको सामान्य छन्दवाची मानकर मात्रिक छन्दके स्थानपर 'मात्रावृत्त' या मात्रिक वृत्त भी लिखा है—"मत्तवृत्त इक दूसरो वर्णवृत्त पुनि आन" (दशरथ : वृत्तविचार, १७)। 'वृत्ततरंगिनी'मे १ से ३२ मात्राके समस्त मात्रिक छन्दोंकी संख्या ९२,२७,४६३ बतायी गयी है।

माधवी सवैया–दे० 'सवैया', वामका पर्याय।

माधुर्य–दे० 'अयत्नज अलंकार', चौथा प्रकार तथा 'सात्त्विक गुण', नायक।

माधुर्य गुण–दे० 'गुण', पहला प्रकार।

माधुर्य रस–'माधुर्य रस' और 'उज्ज्वल रस' परस्पर पर्यायवत् है। माधुर्यको 'उज्ज्वलनीलमणि'में रूपगोस्वामीने भक्तिका सर्वश्रेष्ठ भाव माना है। उनकी दृष्टिसे मधुर ही वास्तविक भक्ति रस है—"मधुराख्यो भक्तिरसः" (१।३)। राधा-कृष्णकी अलौकिक पारस्परिक प्रीति ही माधुर्य रसका मूल है। उसे 'भक्तिरसराट्'की पदवी दी गयी है (दे० 'उज्ज्वल रस', 'भक्तिरस')। —ज० गु०

माध्यमिक–दे० 'शून्यवाद'।

मानवती (नायिका)–अवस्थानुसार स्वतन्त्र विभाजनका एक भेद; विशेषके लिए दे० 'नायिका-भेद'। यह विभाजन सर्वप्रथम भानुदत्त द्वारा प्रस्तुत कियां गया है। अपने प्रियको अन्य स्त्रीके प्रति आकर्षित जानकर ईर्ष्याने मान करनेवाली नायिका। मतिरामने 'ईरषासों लाज' करनेवाली कहा है, पर पद्माकरने केवल 'पियसो करै जु मान' माना है। 'रसिकविनोद'मे 'लखि नायक औगुन' ईर्ष्या करके मान करनेवाली कहा है। रीतिकालीन कवियोंके उदाहरणोंमें मानकी परिस्थिति और उसके दूर करनेके उपायोंका वर्णन अधिक है—"नाम कह्यौ पियके मुखतें तिय औरकौ सो सुनिकै उर ऐंठी। देवजू ऊ हँसि सौहै करी रिसकी सिसकी भरि भौह अमैठी"। (ब्र० भा० नायिका०, २ : ३७०)। कम ही स्थलोंपर उसका भाव-चित्र उभर सका है—"लाज लची मृगलोचनिकौ चित सोच सँकोच भयौ सरकौहै। ऑखिनते खिसके अँसुऑ रिसके अधरा किसके फरकौहै" (वही, ३७१)। अन्यत्र मानवतीको सखियॉ समझाती है—"नेह जरावनको महा दीप-बाति जिय जानि", अतः मान करना उचित नही है। (मतिराम : रसराज : १७९)। कोई सखी नायकको सन्तोष देती है—"धीर धरो किन मेरे गुबिन्द घरीकमे जो या घटा घहरैहै" (पद्माकर : जगद्वि०, १ : १३२)।

मानववाद–दे० 'नवमानववाद'।

मान विप्रलंभ–दे० 'विप्रलम्भ शृंगार'।

मानवीकरण–'अमानव'में 'मानव'-गुणोके आरोप करनेकी साधारण प्रवृत्ति या प्रक्रियाको मानवीकरण कहा जाता है। सब वस्तु जीवित है (सर्वजीवन्तवाद, एनिमिज्म) सब वस्तु मनसे युक्त है (पैन साइकिज्म) तथा सब वस्तुएँ रागद्वेष आदि मानव-गुणोंसे सम्पन्न हैं (सर्वमानववाद, एन्थ्रापामार्फिज्म), इसी प्रवृत्तिके रूपान्तर है। विज्ञानके लिए दोष होते हुए भी ये वाद मनुष्यके स्वभावसे निःसृत होते है और मनुष्यके स्वभावपर आश्रित होनेके कारण, कला और साहित्य इनके आधारपर कई अलंकारों और गुणोका आविष्कार करते हैं।

कलाकी भॉति धर्म भी धार्मिक भावनाके आधारके लिए प्रतीकोंकी सृष्टि करता है। मानवीकरण इस प्रक्रियाका सार है।

इसके अतिरिक्त कलामें अभिव्यक्तिका मुख्य माध्यम स्वयं कलाकार है। उसके माध्यमसे मूर्ति, चित्र, भवन आदिमे अभिव्यक्त होनेवाली कला कलाकारकी मानवताको भी अभिव्यक्त करती है। इसीसे कलाकृतिमे मार्मिकताका आविर्भाव होता है। प्रकृतिके पुष्प और कलाकारके पुष्पमे मानव-माध्यमसे व्यक्त होनेके कारण मार्मिकताका ही अन्तर होता है। यही कलात्मक अनुभूतिकी विशेषता है। कला मानवीकरण द्वारा प्रकृतिको रूपान्तरित करती है। हमारे देशकी सिंह, हाथी, वाराह आदिकी मूर्तियोमे मानवता और मार्मिकताकी स्पष्ट झलक है। —ह० ला० श०

मानवीय मूल्य–दे० 'मूल्य'।

मानस–इस शब्दसे विचारों, संवेदनाओं, अनुभूतियोके संघटन और आधारस्वरूप एक सत्ताका बोध होता है। सामान्य भाषामें जिसे हम मन कहते है, मानस उसीका साहित्यिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे परिष्कृत रूप कहा जा सकता है। इस सामान्य अर्थमे 'मानस' शब्दका प्रयोग प्राचीन हिन्दी साहित्यमे प्रचलित रहा है, परन्तु आधुनिक साहित्यमे विशिष्ट मनोवैज्ञानिक अर्थमे इसका प्रयोग अधिक होता है। अंग्रेजी भाषामे जिसे 'माइण्ड' कहते है, उसीका हिन्दी रूपान्तर मानस है। 'मन' शब्दका प्रयोग भी कभी-कभी इसी अर्थमे होता है। मानसकी धारणा मनोविज्ञान और मनोविश्लेषणकी प्रगतिके साथ-साथ परिवर्तित और संशोधित होती रही है। आरम्भमे मानसका अर्थ बहुत-कुछ 'आत्मा'के समान था, अर्थात् वह अदृश्य, अस्पष्ट, चेतन सत्ता जो हमारे अनुभवोंका आधार है, जो परम शुद्ध चैतन्यस्वरूप है। इस अर्थमे मानस दार्शनिकोका विवेच्य विषय अधिक था, साहित्यिको और मनोवैज्ञानिकोंका कम। मनोविज्ञानके विकासके साथ-साथ मानसकी धारणा भी बदल गयी। उन्नीसवी शताब्दीमे शक्ति-मनोविज्ञान (faculty psychology)के प्रभावसे 'मानस'से उस संघटनका बोध होता है, जिसके विभिन्न विभाग अथवा शक्तियॉ (faculties) है। इस धारणामें मनकी अविच्छिन्न एकता और सम्पूर्णताकी उपेक्षा निहित थी। धीरे-धीरे इसपर भी ध्यान गया और मानससे उस सम्पूर्ण संघटित सत्ताका बोध होने लगा, जो चेतनाके विभिन्न रूपोमे व्यक्त होती है। इस धारणाके अनुसार मानस पूर्णतः चेतन होता है, क्योकि चेतना मानसका स्वरूप है। मनोविश्लेषणके प्रवर्तक फ्रायडकी खोजोंसे यह सिद्ध हो गया कि मानसके कई पक्ष होते है—चेतनपक्ष उनमेसे एक है, इससे हम सबसे अधिक परिचित भी होते है, पर मानसके अन्य पक्ष भी है, जैसे अचेतन, अवचेतन या अर्द्धचेतन आदि। ये

सभी पक्ष किसी-न-किसी प्रकार मनुष्यके व्यक्तित्वको प्रभावित करते है और उसके व्यवहारमे व्यक्त होते है। फ्रायडके बाद उसके अनुयायियों और अन्य दार्शनिकों-मनोवैज्ञानिकोने भी मानसके विभिन्न क्षेत्रों अथवा स्तरोंका विवेचन-विश्लेषण किया। इस प्रकार आधुनिक साहित्यमे मानसके कई पक्षोंकी धारणा ही प्रचलित है। इन पक्षोके नाम और संख्याके विषयमे मनोवैज्ञानिक एकमत नही है, फलस्वरूप साहित्यमे भी बहुतसे नाम प्रचलित है, जिनमेसे कुछ तो समानार्थक ही है। —प्री० अ०

मानसरोवर—दे० 'हठयोग'।

मानसिक अनुभाव—दे० 'अनुभाव'।

मानसिक विजड़ीकरण—यदि व्यक्तिमें किसी मूल प्रवृत्तिका विकास सहज-सामान्य ढंगसे नही होता, तो इस द मत विकासके कारण वह अपने शिशुकालीन स्तरपर ही रुक जाती है। ऐसी स्थितिमे व्यक्ति अपनी अवस्थाके समरूप विषयो और व्यक्तियोंमे न रुचि ले पाता है और न उनसे रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर पाता है। मनोविश्लेषणकी भाषामे इसी दशाको मानसिक विजडीकरण कहते है और विशेषकर इसका सम्बन्ध व्यक्तिके कामुक प्रेम-जीवनसे होता है। शिशुके प्रारम्भिक जीवनमे स्वमुग्धता, आत्मरति, माता अथवा पिताके प्रति प्रेमका स्थान प्रधान रहता है। यदि उसका संवेगात्मक विकास सामान्य तौरपर होता रहता है तो वयस्क होनेपर वह किसी निम्नलिंगी व्यक्तिको अपने प्रेमका पात्र बना लेता है तथा उसका रागात्मक जीवन अभीष्ट रूपसे समायोजित हो जाता है। ऐसा न होनेपर वह स्वमुग्धता, आत्मरति या माता-पिताके प्रेममे ही विजडित हो जाता है, सामान्य-जीवन नही बिता पाता। समलिंगी कामुकता स्वमुग्धता और आत्मरतिका ही रूप है। इस विकृतिसे आक्रान्त व्यक्ति अपनी जननेन्द्रियको बहुत महत्त्व देता है, उसपर मुग्ध होता है और अपनी जैसी ही जननेन्द्रियसे रहित व्यक्तिको अपने प्रेमका पात्र नहीं बना पाता। इसके अतिरिक्त, समलिंगी कामुक व्यक्ति अपने प्रेमपात्रके माध्यमसे स्वयं अपने शिशुकालीन रूपको ही प्यार करता है। इस प्रकार उसका मानसिक विजडीकरण शिशुकालीन स्तरपर हो जाता है। शिशुकी प्रथम प्रेमपात्री माता होती है। ईडिपस और एलेक्ट्रा मनोग्रन्थियोंके विकासकालमे पुत्रका यौन प्रेम माताके प्रति और पुत्रीका पिताके प्रति हो जाता है। संयोग और परिस्थितिवश कभी-कभी व्यक्ति अपनी इस बाल्य-वृत्तिमें ही जड़ीभूत हो जाता है और फिर पुरुष किसी अन्य स्त्रीसे तथा स्त्री किसी अन्य पुरुषसे रागात्मक सम्बन्ध-में बँधनेमें समर्थ नही हो पाती (दे० 'मनोविश्लेषण', 'मनोग्रन्थियाँ')। —आ० रा० शा०

मानिनी सवैया—दे० 'सवैया', बारहवॉ प्रकार।

मानी नायक—दे० 'नायक' (शृंगार)।

माया १—अद्वैत वेदान्तमे निर्गुण ब्रह्मको ही सम्पूर्ण जगत्का अधिष्ठान, मूल उपादान, स्थिति तथा प्रलयका हेतु और निर्विकल्प तत्त्व माना गया है। मायासे संयुक्त होकर ही वह निर्विकल्प, निर्विशेष और निरुपाधि ब्रह्म अनेकविध प्रापञ्चिक रूपोंमें विभावित होता है। माया शब्द अद्वैत साहित्यमे इन कतिपय अर्थोंमे प्रयुक्त हुआ है—भ्रमात्मिका प्रपञ्चरूप चराचर जगत्-सृष्टि, पपञ्चके साथ ब्रह्मके स्वरूप-विनिमयका हेतु, जगत्के उद्भवकी हेतुभूत शक्ति ब्रह्मकी उपाधियों और विवर्तकी हेतु शक्ति, आत्मा तथा जगत्के परस्पर स्वरूपकी अनिर्वचनीयता।

ऋग्वेद और यजुर्वेदमे माया इन्द्रकी शक्तियोके प्रतीक और उपनिषद् साहित्यमे ब्रह्मकी सहचरी शक्तिके रूपमे वर्णित हुई है। अद्वैत सिद्धान्तमे यह त्रिगुणात्मिका, नामरूपमय और सम्पूर्ण संसारकी बीजशक्ति मानी जाती है। ब्रह्म इससे संयुक्त हो शबल और सगुण रूपमे भासित होता है और इसी रूपमे जगत्का कारण भी बनता है। हिरण्यगर्भ शब्दमे ब्रह्मके इसी रूपको लक्षित किया जाता है (ऋ० सं०, १०।१२१)। माया त्रिगुणात्मिका भावरूप, अज्ञानमय तथा अनिर्वचनीय है। यह सत्, असत् और सद्-असत् किसी भी रूपमें वर्णित नही हो सकती, अतएव इसे अनिर्वचनीय और अव्यक्त शब्दसे व्यक्त किया जाता है। यह अनिर्वचनीय नाम और रूपो द्वारा अभिव्यक्त होती है। कार्योंके द्वारा ही मायाका अनुमान होता है (विवेक चूडामणि, ११०) और ईश्वर इसका आश्रय है (छा० उप०, शा० भा०, ८ : १४ : १)। कभी-कभी इसे आकाश, अक्षर और प्राण शब्दोसे भी वर्णित किया जाता है।

परवर्ती अद्वैत साहित्यमे मायाकी दो शक्तियाँ—आवरण और विक्षेप बतायी गयी है। आवरण-शक्ति ब्रह्मके निरुपाधिक और निर्गुण स्वरूपको आवृत्त कर लेती है और विक्षेप-शक्तिसे सम्पूर्ण प्रपञ्चात्मिका नामरूपात्मक सृष्टिका उद्भव होता है। कभी-कभी आवरण शक्तिको अविद्या और विक्षेप-शक्तिको माया कहा जाता है (दे० वदान्त परिभाषा : शिखामणि टीका)। जगत्-कारण होने के कारण कभी-कभी मायाको प्रकृति भी कहा जाता है (तु० गीता, शा० भा०, ४ : ७)।

साधारण रूपसे माया को सांसारिक भ्रम और अज्ञानका ही नामान्तर माना जाता है और इस चराचर सृष्टिके मिथ्यात्व और उसकी भ्रमात्मकताको भी माया शब्दसे व्यञ्जित किया जाता है। बौद्ध दर्शनमे इसी तात्पर्यको लेकर सभी भाव मायोपम बताये गये हैं।

हिन्दी साहित्यमे सिद्ध-साहित्य, निर्गुणवादी सन्त-साहित्य और भक्ति-कालके सगुण साहित्यमें मायाका प्रयोग मिलता है। सिद्ध, बौद्ध सिद्धान्तोसे प्रभावित है। महायानवादियोंकी भाँति ही वे समस्त जागतिक पदार्थोंको ख-सम और मायोपम बताते है। इस प्रकार वे मायाका 'भ्रम'के पर्यायके रूपमे प्रयोग करते है। निर्गुणवादियोमें कबीरने अद्वैत सिद्धान्तोंसे प्रभावित होकर ही मायाका प्रयोग किया है। माया उनके लिए 'ब्रह्मकी फँसरी' है। यह मोहिनी और 'महा ठगिनी' है, जिसके वशमे होकर सम्पूर्ण संसार भ्रमित हो रहा है। इसका स्वरूप शब्दों द्वारा बताया नही जा सकता। माया ही सभीको भ्रष्ट कर रही है, जो सभीको 'राम'से विमुख भी करती है। यह तृष्णा रूप भी है, जो ज्ञान द्वारा ही, सद्गुरुकी कृपासे दूर होती है। सगुणवादियोमें तुलसीने माया के अज्ञानमय तथा

भ्रमात्मक स्वरूपका ग्रहण किया है। सम्पूर्ण प्रपञ्चके मूलमें यह भ्रमात्मिका माया ही अवस्थित है।

इस प्रकार संस्कृतमें मायाके स्वरूपका जो सूक्ष्म और विशद विश्लेषण हुआ था, हिन्दी साहित्यमें उसके सामान्य स्वरूप सांसारिक भ्रम तथा प्रपञ्च और अज्ञानात्मकताका ही ग्रहण हुआ तथा उसे त्रिगुणात्मिका और शब्दों द्वारा अकथ्य बताया गया। कहीं-कहीं इन्द्रजाल और यौगिक शक्तियोंके अर्थमें भी मायाका वर्णन प्राप्त होता है।

[सहायक ग्रन्थ—राहुल सांकृत्यायन : हिन्दी काव्य धारा और दोहाकोश; बलदेवप्रसाद मिश्र : तुलसीका दर्शन; राधाकृष्णन् : इण्डियन फिलॉसफी भाग २।] —क० शु०

माया (वैष्णव भक्ति-काव्यके संदर्भमें) २–हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्यके संदर्भमें माया सम्बन्धी अनेक धारणाओंका विकास हुआ। इस विकासकी पृष्ठभूमिमें माया सम्बन्धी पौराणिक एवं दार्शनिक धारा अधिक महत्त्वपूर्ण है। शांकर अद्वैतकी माया सम्बन्धी निषेधात्मक सत्तावादी धारणाके प्रतिकूल मध्व, वल्लभ, निम्बार्क एवं विष्णुस्वामीने अपनी स्थापनाएँ पुरस्कृतकी (दे० 'मायावाद')। मायावादी निषेधात्मक सत्ताके आधारपर इनकी धारणाएँ भावात्मक थीं। वैष्णवभक्तिकी दार्शनिक मान्यताके अनुसार मायाको शक्ति माना गया है। उसके अनुसार इसके तीन भेद हैं। १—अन्तरंग शक्ति या माया (२) बहिरंग शक्ति या माया ३—तटस्थ शक्ति या माया। प्रथम माया वह है, जिसके स्वरूपका अनुभव भगवान् स्वनिष्ठ आत्मिक अनुभवसे करते हैं। बहिरंग माया अन्तरंगके पूर्णतः प्रतिकूल है। उनकी आन्तरिक माया शक्ति उनसे पूर्णतः पृथक् रहती है। इसका नाम अविद्या या अज्ञान है। यह सांसारिक प्रपंचकी मूल कारण है। वैष्णव आचार्योंने इसके दो भेद किये हैं—(क) गुणमाया और (ख) जीवमाया।

गुणमायासे प्रेरित समस्त सृष्टिका कर्म व्यापार निष्पन्न होता है। जीवमाया व्यक्तिको मोहित करके सांसारिक प्रपंचमें फँसाये रहती है। तीसरे प्रकारकी माया, अर्थात् ब्रह्मकी तटस्थ शक्ति जीवके रूपमें अवतरित होकर निरन्तर उसके पास स्थित रहती है। अवतारके रूपमें राधा, सीता आदिकी गणना इसी रूपमें होती है।

मध्यकालीन हिन्दी साहित्यकी पृष्ठभूमिके निर्माणमें पुराणोंका योगदान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण रहा है। माया सम्बन्धी पौराणिक धारणाका इन काव्योंपर अधिकाधिक प्रभाव पड़ा है। ब्रह्म पुराण (२८९ : १४-१५)में गोपियोंको माया-रूपमें कल्पित किया गया है। पद्मपुराण (पाताल : ७७-१५)में राधाको चिन्मयी माया शक्तिकी संज्ञा मिली है। ब्रह्मवैवर्त पुराण (कृष्णजन्मखण्ड, ५२-५७)में राधाको पुनः पूर्णशक्ति तथा चिन्मायाके रूपमें स्वीकार किया गया है। देवीभागवत पुराणके रास प्रकरणमें राधाको चिद्शक्तिरूपिणी प्रकृति माना गया है। भागवतमें अनेकानेक स्थलों पर इन्हें पूर्ण शक्ति, महालक्ष्मी, लक्ष्मी, चिद् प्रकृति तथा योगमाया कहकर पुकारा गया है।

रामभक्तिकी परम्परामें सीताविषयक ये ही धारणाएँ प्राप्त होती हैं। वाल्मीकि रामायण (सर्ग छः, ११७-२७)में सीताको 'लक्ष्मी' कहा गया है, किन्तु यह प्रसंग अर्वाचीन है। रामतापनीयोपनिषदमें सीताको सृष्टिकी मूल प्रकृति कहकर पुकारा गया है। अध्यात्म रामायण (१ : ७ : २७)-में उन्हें प्रकृति, योगमाया तथा परमशक्तिके रूपमें सम्बोधित किया गया है। भागवतमें सीताको 'ब्रह्मविद्या' तथा स्कन्द पुराणमें 'विद्या'की संज्ञा मिली है।

हिन्दी वैष्णव भक्ति-काव्यपर माया सम्बन्धी इन धारणाओंका अधिक प्रभाव पड़ा है। तुलसी-साहित्यमें माया सम्बन्धी दृष्टिकोण अपेक्षाकृत अन्य समसामयिक कवियोंसे अधिक विस्तृत है। उनके अनुसार माया पाँच प्रकार की है—**महाशक्ति या महामाया**—कविने इसे आदि शक्तिके रूपमें तटस्थ मायाकी भाँति कल्पित किया है। यह सीताके रूपमें अवतरित होकर निरन्तर रामके साथ रहती है। **राममाया**—इसका कार्य प्रपंच है। नारद और सतीको इसीने भ्रमित किया था। **जड़माया**-कविने इस मायाका अर्थ शांकर अद्वैत (दे०)के मायावादी धारणासे लिया है। ("जासु सत्यता ते जडमाया। भास सत्य इव मोह निकाया")। **दासी माया**—यह रामभक्तोंसे भयभीत रहनेवाली माया है। तुलसीने इसीको 'नर्तकी' आदिके सम्बोधनोंसे पुकारा है। **भक्तिकी समकक्षी माया**—यह माया निरन्तर रामको प्रिय रहती है। **विद्या-माया तथा अविद्या माया**—विद्या माया भक्तको वैराग्योन्मुख करती है तथा अविद्या माया संसारोन्मुख। ये मायायें रामकी हैं। इसके अतिरिक्त कविने **सीतामाया** एवं **निशाचरमाया**की भी कल्पना की है। सीता तथा निशाचर अपनी मायाकी सहायतासे प्रपंच उत्पन्न करते हैं। निशाचर माया आसुरिक माया है। कृष्ण भक्त कवियोंमें सूरने अविद्या मायाके कृत्योंका विस्तारसे उल्लेख किया है। उन्होंने मायाको नटी, कौटिक नाच नचानेवाली, मनमें भ्रम उत्पन्न करनेवाली माना है (दे० पद० सं० ४२से ५५; विनयः सू० सा०, स० संस्करण)। सूरने राधाको शक्ति या आदि मायाके रूपमें कल्पित किया है। राधावल्लभी सम्प्रदायमें राधाको पूर्ण शक्ति माना गया है। रसिक सम्प्रदायमें सीताकी भी ठीक यही स्थिति है। निश्चित ही, मध्यकालीन हिन्दी भक्ति साहित्यमें माया सम्बन्धी दृष्टिकोणमें पर्याप्त विस्तार मिलता है। —यो० प्र० सि०

मायावाद–मायावाद अद्वैतवाद (दे०)का समानार्थक है। अद्वैतवाद जिस सिद्धान्तका विधिमूलक विधान करता है, उसीका निषेधमूलक विधान मायावाद करता है। उपनिषदोंमें दो प्रकारके वचन हैं—एकको अद्वैत-श्रुति कहा जाता है, तो दूसरेको नाना-श्रुति। अद्वैत-श्रुतिके अनुसार एक सत् यानी सत्ता एक है, इस मतका व्याख्यान होता है। फिर इसीके निषेध-पक्षका व्याख्यान नाना-श्रुति करती है। वह कहती है—नेह नानास्ति किंचन, नानात्व सत् नहीं है। इसी नाना-श्रुति पर मायावाद आधारित है।

मायावाद अद्वैतवादका निष्कर्ष है। यदि सत्ता एक है या यों कहिये—यदि एकता सत्ता है और वही एकमात्र सत्ता है, तो फलतः नानात्व या अनेकता असत् है। यही मायावाद है। किन्तु मायावादका यह अर्थ एक दिनमें विकसित नहीं हुआ और इसके विकासके अनन्तर भी मायावादके

अनेक पहलुओंका विकास आज तक होता रहा है।

मायावादके इतिहासको कई कालोंमें बाँटा जा सकता है। वैदिक काल, बुद्ध-काल, बुद्धोत्तर-युग, शंकराचार्य-काल, शंकरोत्तर-युग तथा हिन्दी सन्त-युग इनमें प्रमुख हैं। वैदिक कालमें मायाके अनेक अर्थ थे; उसका अर्थ निश्चित नहीं हुआ था। जो विस्मयकारी है, जो भ्रामक है, जो रहस्यमय है, जो जघन्य या निन्द्य है, जो कारण-शक्ति है, जो अतर्कसम्मत है, जो परिवर्तनकारी है, जो विचित्र है, जो नाना है, जो बहु-रूप है, जो अग्राह्य है, जो धोखा देनेवाला है—सबको माया कहा जाता था। 'मायासे इन्द्र पुरुरूप धारण करता है' (इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते)। वेदसे लेकर उपनिषत्तक इन अर्थोंमें माया-का व्यवहार, होता रहा। इसके बाद बुद्ध-युगमें मायाका व्यवहार, स्वप्न, भ्रम, वंचना, झूठ तथा असत्के अर्थमें होने लगा। बुद्धोत्तर-युगमें जब कि महायानका विकास हुआ, मायाके अर्थमें एक और परिवर्तन हुआ। इस युगमें मायाको लेकर सर्वप्रथम एक वाद बनाया गया। मायाका यहाँ अर्थ अतात्त्विक, असार या दार्शनिक दृष्टिसे असत् है। विज्ञानवाद और शून्यवादमें इस मतका खूब प्रचार रहा। इसके अनन्तर शंकराचार्यके युगमें मायाके अर्थमें घोर परिवर्तन हुआ। उन्होंने बौद्धोंकी भाँति मायाका अर्थ अतात्त्विक, असार तथा दार्शनिक दृष्टिसे असत्के अर्थमें अवश्य किया, किन्तु बौद्धोंने मायाको व्यक्तिगत माना था और उन्होंने इसको समष्टिगत माना। बौद्धमतसे प्रत्येक मनुष्यको अपने अनुभवमें जो अतत्त्वका परिचय होता है, वही अतत्त्व माया है। शंकराचार्यके मतमें माया व्यक्तिगत अनुभवोंसे परे है। एक ही माया सभी मानवोंको प्रभावित करती है। माया विश्वव्यापक है। वह व्यक्तिके मनकी उपज नहीं है। बौद्धोंने मायाको मात्र प्रातिभासिक या सांवृत्तिक (संवृत्ति—सत्य) माना था। शंकराचार्यने इसे प्रातिभासिकसे पृथक् किया और इसे व्यावहारिक कहा। माया व्यावहारिक है। यह दृश्य है किन्तु मिथ्या है। जो दृश्य हो और साथ ही मिथ्या हो, वह माया है—ऐसा अर्थ शंकराचार्यने स्थिर किया किन्तु शंकराचार्यके अर्थके अनर्थ होने लगे। बहुतसे लोग उनके द्वारा किये गये अर्थ और बौद्धों द्वारा किये गये अर्थकी बारीकी समझनेमें असमर्थ हुए। ऐसे लोगोंने शंकराचार्यको प्रच्छन्न-बौद्ध कहा। इनमें रामानुज, मध्व तथा उनके अनुयायी अधिक उल्लेखनीय हैं। उनके लिए मायावाद गाली है। उधर शंकराचार्यके अनुयायियोंने मायाके अर्थको स्पष्ट करनेका भार लिया और उस स्पष्टीकरणमें मायावादकी तर्कसम्मत व्याख्या की। इस तरह शंकरोत्तर युगमें मायावाद दो दिशाओंमें बहने लगा। बादमें चलकर हिन्दी सन्तोंके समयमें इन दोनों दिशाओंका सम्मेलन हुआ और फलस्वरूप माया-वादका एक दूसरा रूप विकसित हुआ। इस युगमें सांख्यकी प्रकृति और अद्वैतवादकी मायाको मिला दिया गया और उसे भगवान्‌की शक्ति समझा गया। किसीने उसको भगवान्-की स्त्री कहा, किसीने उसे ठगिनी कहा और किसीने उसे भगवान्‌की शक्ति कहा। शक्ति कहनेवालोंमेंसे भी अनेक लोगोंने उसकी अनेक प्रकारसे कल्पनाएँ कीं।

दार्शनिक दृष्टिसे शंकरोत्तर-युगमें शंकराचार्यके अनुयायियों-ने मायाके जो लक्षण किये हैं, वे महत्त्वपूर्ण हैं। पद्मपादने कहा कि जो सत् और असत्‌से विलक्षण है, वह माया है। माया एक तृतीय कोटि है; वह सत् और असत्, इन दोनों कोटियोंसे भिन्न है। उसको विलक्षण कहा जाता है क्योंकि वह इन दो कोटियोंसे भिन्न है। इसी अर्थमें उसे अनिर्व-चनीय कहा जाता है। जगत् इस अर्थमें माया है, रस्सीमें देखा गया सर्प इस अर्थमें माया है। रस्सीको जब लोग साँप समझते हैं, तब वह साँप कैसा रहता है? क्या वह साँप सत् है, यानी वास्तविक साँप है? नहीं: वह वास्तविक या सत् साँप नहीं है, क्योंकि भ्रमके अनन्तर उसका अस्तित्व नहीं रहता। फिर क्या वह असत् है? नहीं; क्योंकि वह देखा जाता है और उसके संस्पर्शसे लोग मर जाते हैं। इस तरह वह साँप न तो सत् है और न असत्। वह विलक्षण है। संसारमें देखे गये साँपका उस साँपसे कोई सम्बन्ध नहीं है। जिस तरह वह साँप विलक्षण है, वैसे ही सम्पूर्ण जगत् विलक्षण है। यह ध्यान देने योग्य है कि अद्वैतवादी जगत्‌को भ्रम नहीं कहते। वे जगत्‌की तुलना रस्सीसे देखे गये साँपसे अवश्य करते हैं, किन्तु इस तुलना या समीकरणसे वे यह निष्कर्ष नहीं निकालते कि जगत् भ्रम है। वास्तवमें भ्रम और जगत्, दोनों विलक्षण हैं। दोनोंका स्तर एक नहीं है और इस कारण दोनोंको मिलाना ठीक नहीं है। किन्तु दोनों न सत् हैं और न असत्। इस दृष्टिसे दोनों अलग-अलग अपने स्वभावके कारण मिथ्या हैं या माया हैं। तार्किक दृष्टिसे यही मायावाद है और इसका खण्डन कर सकना असंभव है।

साधनाकी दृष्टिसे एक ऐसी अवस्था आती है, जिसमें साधकको यह ज्ञान होता है कि एक मात्र वही सत् है और समस्त जगत् तुच्छ या तीनों कालमें असत् रहनेवाला है। इस दृष्टिसे मायाका अनुभव इसी अवस्थामें होता है। जब ब्रह्मज्ञान या आत्मज्ञान होता है, तब जगत्‌का ज्ञान नहीं रहता और जब जगत्‌का ज्ञान रहता है, तब ब्रह्म या आत्माका ज्ञान नहीं रहता। जब आत्माका ज्ञान नहीं रहता, तभी मनुष्य मायाके जालमें पड़ा रहता है। हिन्दी-के निर्गुण सन्तोंने इस साधनावस्थाका अच्छा वर्णन किया है। इनमें कबीर, दादू आदि मुख्य हैं।

सृष्टि-विज्ञानकी दृष्टिसे मायाको जगत्‌का कारण माना जाता है। किन्तु माया जगत्‌का इस प्रकारका कारण नहीं है, जिस प्रकार सांख्यदर्शन (दे०)में प्रकृति जगत्‌का कारण है। जगत् मायाका परिणाम है अवश्य, किन्तु साथ ही वह ब्रह्मका विवर्त भी है (दे० 'विवर्तवाद')। ब्रह्म और मायाका सम्बन्ध क्या है? कभी मायाको ब्रह्मकी शक्ति कहा जाता है तो कभी उपाधि। अद्वैतवादके अनुसार दूसरा मत अधिक ठीक है, किन्तु पहला मत भी अद्वैतवादमें प्रचलित है। इसके अनुसार माया तीन शक्तियोंका पुंज है। ये तीन शक्तियाँ—आवरण-शक्ति, विक्षेप-शक्ति और मल-शक्ति हैं। आवरण-शक्तिके कारण वस्तुका जैसा स्वरूप रहता है, वह नहीं दिखायी देता और उसपर अज्ञानका पर्दा पड़ जाता है। विक्षेपशक्तिके कारण उसके स्थानपर दूसरी वस्तु दिखाई पड़ती है। मल-शक्तिके कारण मनुष्य उस दूसरी वस्तुका

उपयोग करने लगता है। उदाहरणके लिए एक मेजको लीजिये। परमार्थतः एकमात्र ब्रह्म है, किन्तु उसको हम अपने अज्ञानके पर्देसे नहीं देख पाते। यह आवरण-शक्तिका कार्य है। फिर ब्रह्मके स्थानपर हम मेजका विक्षेप कर लेते है, अर्थात् मेज देखते है। यह विक्षेपशक्तिका कार्य है। फिर मेजके जितने उपयोग हम करते है, वह मल-शक्तिके कारण है। जब इन तीनों शक्तियोंको हम निराकृत कर देते है, तब हमें मेजके स्थानपर ब्रह्म दिखाई पड़ता है।

मायावादका प्रभाव हिन्दी प्रदेश और उसके साहित्यपर बहुत गहरा पडा है। हिन्दी प्रदेशमे प्रत्येक वयस्क व्यक्ति माया शब्दसे परिचित है लोकगीतोंमें भी मायाका प्रचुर प्रभाव पड़ा है। संत-साहित्य तथा कृष्णोपासक और रामोपासक भक्ति साहित्यमे मायाके सिद्धान्तकी मार्मिक विवेचना हुई है। इससे सम्बन्धित एक प्रश्न भी उठाया गया है कि मायाका अनुभव आत्मसाक्षात्कारके पूर्व होता है या पश्चात्? ज्ञानी संतोमे इस प्रश्नपर विवाद है। भक्त कवियोने भक्तिके द्वारा साक्षात्कार करनेका विधान किया है। अतः उन्होने इस प्रश्नकी उपेक्षा की और कहा कि भक्तिके राजमार्गसे जब साक्षात्कार मिलता है, तब माया अपने-आप दूर हो जाती है। तुलसीदास जैसे सगुणोपासक कवियोके अनुसार साक्षात्कार होनेपर भी माया बनी रहती है। माया और भक्ति, दोनो भगवान्‌की पत्नियाँ है। भक्त, भक्तिकेद्वारा भगवानसे मिलता है। उसके मिलनेसे माया का अस्तित्व ज्यों-का-त्यो रहता है। किन्तु कबीर जैसे निर्गुणोपासक कवियोंने माना है कि साक्षात्कारके बाद जगत् जल जाता है, तब माया रहती ही नहीं है। सगुणोपासकोके मतसे साक्षात्कारके अनन्तर भी माया रहती है, किन्तु वह भक्तपर प्रभाव नही डाल सकती। प्रायः सभी सन्तो और भक्तोने यह माना है कि जब माया प्रभाव डालती है तो उसका प्रभाव दूषित ही रहता है। उन्होने मायाको अशुभ या अश्रेयके अर्थमे विशेषतः लिया है। जिसे पश्चिमी धर्म-दर्शनमें 'ईविल' (evil) कहते है, उसको ही हिन्दीके संतों और भक्तोने माया कहा है। इस तरह जहाँ अद्वैतवादी दार्शनिकोंके लिए मायावाद तत्त्व-दर्शन और ज्ञान-मीमांसाका सिद्धान्त है, वहाँ हिन्दीके संतों और भक्तोंके लिए यह केवल धर्म-दर्शनका सिद्धान्त है (दे० 'माया')। —सं० ला० पा०

मारिफ़त—मारिफतका अर्थ ईश्वरीय, आध्यात्मिक ज्ञान है। सूफी साधक मानते है कि मारिफ (आध्यात्मिक सच्चा ज्ञान) परमात्माके 'एकत्व'का बोध है। इसके द्वारा मनुष्य समझ पाता है कि 'भिन्न'की प्रतीति होना मिथ्या है। इस ज्ञानके सहारे मनुष्य अपने-आपको जान पाता है और अपने-आपको जानना परमात्माको जानना है। इस प्रकार परमात्मा-विषयक सूफियोंके रहस्यमय ज्ञानको 'मारिफ' कहते है। सूफी इसे प्रकाश मानते हैं, जिससे हृदय आलोकित हो उठता है। मारिफत ज्योतिस्वरूप परमात्माके प्रकाशसे ही प्रकाशवाला है। इसीके सहारे साधक परमात्माके 'एकत्व'को देखनेमें समर्थ होता है (दे० 'सूफी मार्ग')। —रा० पू० ति०

मार्क्सवाद—यह शब्द अंग्रेजीके 'मार्क्सिज्म' शब्दका हिन्दी पर्याय है। चिन्तनके इतिहासमें इसका उद्भव कार्ल मार्क्स (१८१८-१८८३ ई०)के विचारोंसे होता है। मार्क्सवाद जीवनका सम्पूर्ण दर्शन माना जाता है, पर केवल दर्शन माननेसे मार्क्सवादके सम्पूर्ण तथ्योकी अभिव्यक्ति नही होती। इसीलिए कुछ विद्वान् मार्क्सवादको क्रियात्मक दर्शनके रूपमे भी स्वीकार करते है। कार्ल मार्क्सने स्वतः फायरबाखपर अपनी 'थीसिसे' लिखते समय इस तथ्यपर प्रकाश डाला था कि अबतक वे दार्शनिक सृष्टिकी केवल व्याख्या करते रहे है, किन्तु अब वह समय आ गया है कि हम उसका परिवर्तन करें। परिवर्तन मूलतः क्रियाशीलताका प्रतीक है। इसलिए जिस दर्शनका लक्ष्य परिवर्तन है, वह मूलतः क्रियात्मक है। इस प्रकार मार्क्सवादके दो स्वरूप है—पहला, सृष्टि और समाजका विश्लेषणात्मक अध्ययन और दूसरा, उसी संचित अध्ययनके आधारपर सामाजिक परिवर्तनका प्रयास।

मार्क्सवाद समाजवादी विचारधारा है, किन्तु समाजवाद (दे०)के इतिहासमें मार्क्सवादको वैज्ञानिक समाजवादकी श्रेणी प्राप्त हुई है। वैज्ञानिक समाजवाद एंगिल्सके अनुसार वह समाजवाद है, जो समाजवादी व्यवस्था स्थापित करनेके पहले उन तमाम वैज्ञानिक नियमोका ज्ञान प्राप्त कर लेता है, जिनके आधारपर सामाजिक परिवर्तन होते है। एंगिल्सका कहना है कि सामाजिक गत्यात्मकता नियमविहीन नहीं होती। यदि हम इन नियमोको जान लें तो उसीके अनुरूप समाजवादी परिवर्तन कर सकेंगे। वैज्ञानिक समाजवाद जिस स्थानपर खड़ा है, वह स्वप्नों और भावनाओंकी कोमल भूमि नहीं है, वरन् सत्य और परिस्थितिका कठोर धरातल है।

मार्क्सवाद, जैसा कहा जा चुका है, सृष्टि और समाजका समन्वित दर्शन है। अतः मार्क्सवादका अपना एक दार्शनिक दृष्टिकोण भी है। इसी दृष्टिकोणकी पृष्ठभूमिमे समूचा मार्क्सवाद समझा जा सकता है।

मार्क्सवादके दार्शनिक दृष्टिकोणको द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (दे०) कहते है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद वह दर्शन है, जिसके अनुसार सृष्टिका मूल सत्य पदार्थ है, किन्तु जो निरन्तर परिवर्तनशील अवस्थामे होनेके नाते द्वन्द्वात्मक प्रणालीसे ही जाना जा सकता है। भौतिकवादी प्रत्यय और पदार्थमें पदार्थको प्रथम स्थान देते है। उनके अनुसार प्रत्यय पदार्थके पश्चात् ही सृष्टिमे आया। अतः पदार्थकी सृष्टि प्रत्ययसे न होकर प्रत्ययकी सृष्टि पदार्थसे हुई है। प्रत्ययवादी शाश्वत चेतनाको ही सृष्टिका उद्गम-स्थान मानता है और उसके अनुसार पदार्थके जितने भी परिवर्तन है, वे केवल चेतना-जगत्‌में होनेवाले प्रत्यय-विकासकी छाया है। अतः शुद्ध भौतिकवादकी दृष्टि बहिर्मुखी है।

भौतिकवादके कई रूप हैं। हर एक भौतिकवादी इतना तो मानता ही है कि प्रत्यय पदार्थ-प्रसूत है, किन्तु प्रत्यय और पदार्थमें क्या सम्बन्ध है, इस विषयपर भौतिकवादियोमे मतभेद है। कुछ भौतिकवादी, जिन्हें यान्त्रिक भौतिकवादी, अर्थात् मैकेनिकल मैटीरियलिस्ट कहते है, यह मानते हैं कि प्रत्ययका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता।

यह हर एक क्षण अपने अस्तित्वके लिए पदार्थपर ही अवलम्बित है, अतः प्रत्यय क्रियाशील नहीं है। जब प्रत्यय क्रियाशील नहीं है तो मानव-मस्तिष्क सक्रिय न होकर बाह्यगत अनुभवोंका मात्र संचित कोष है। मानव-मस्तिष्ककी निष्क्रियता अनुभवात्मक मनोविज्ञान-की एक महान् विशेषता है और यान्त्रिक भौतिकवादी, मस्तिष्ककी इसी निष्क्रियतापर जोर देते है। इस प्रकार मनुष्य अपनी बुद्धि और संचित अनुभवोंका प्रयोग करके भी प्रकृति और पदार्थकी रूपरेखाओका परिवर्तन नहीं कर सकता। वह हर एक क्षण पदार्थकी कठोर शृंखलामे जकड़ा हुआ है। यान्त्रिक भौतिकवाद जब इस प्रकार मानव और मानव-मस्तिष्कको अनन्त अनुभवोंका निष्क्रिय भोक्ता मानता है, तो द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पदार्थ-प्रसूत प्रत्ययको एक स्वतन्त्र अस्तित्वके रूपमे देखता है। इतना ही नहीं, वह प्रत्ययको क्रियाशील भी मानता है और उसके अनुसार बाह्य जगत्का समूचा परिवर्तन पदार्थ और प्रत्ययके अन्तरावलम्बनका इतिहास है। अन्तरावलम्बन द्वन्द्व-सिद्धान्तपर आधारित है। इसीलिए द्वन्द्वात्मक भौतिक-वाद हर एक परिवर्तनको द्वन्द्वात्मक दृष्टिसे देखता है। द्वन्द्वात्मकमे संघर्ष अनिवार्य है और संघर्ष केवल दो मूल विरोधी शक्तियोमे होता है। इसी नाते द्वन्द्वात्मक भौतिक-वादके अनुसार सृष्टिका मूल सत्य परिवर्तन है, जो सदैव दो विरोधी शक्तियोके संघर्षसे होता रहता है। द्वन्द्व-सिद्धान्त हीगेलके द्वन्द्वात्मक प्रत्ययवाद, अर्थात् 'डायलेक्टि-कल आइडियलिज्म'से लिया गया है।

हीगेल प्रत्ययके इतिहासमें ही संघर्षका इतिहास देखता था, किन्तु मार्क्सके अनुसार प्रत्यय गौण है और पदार्थ प्रधान; इसलिए संघर्षका इतिहास पदार्थमे है, न कि प्रत्ययमें। इसीलिए मार्क्स कहा करता था कि हीगेलका द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त सिरके बल चलता है। इस प्रकार हीगेलसे द्वन्द्व-सिद्धान्त और फायरबाखसे भौतिकवाद लेकर मार्क्सने द्वन्द्वात्मक भौतिकवादका शिलान्यास किया। द्वन्द्वात्मक भौतिकवादकी कुछ मूलभूत मान्यताएँ है। इसकी पहली मान्यता यह है कि हर एक वस्तुके विरोध उसी वस्तुमे सीमित रहते है, किन्तु वे कुछ कालतक दबे रहते है। इस परिस्थितिको वाद कहते हैं। इसकी दूसरी मान्यता यह है कि कालान्तरमे वाद-परिस्थितिका विरोध वे ही तत्त्व करने लगते है, जो उसमे सन्निहित थे। इस परिस्थितिको प्रतिवाद कहते है। किन्तु द्वन्द्व-सिद्धान्तके अनुसार किसी भी नयी परिस्थितिका जन्म दो विरोधी परिस्थितियोंके संघर्षसे होता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवादकी तीसरी मान्यता यह है कि जब वाद और प्रतिवादका संघर्ष होता है तो एक तीसरी परिस्थितिकी सर्जना होती है, जो उन दोनों परिस्थितियोसे भिन्न होती है और जिसमें दोनों परि-स्थितियोके कुछ अच्छे अंश उपस्थित रहते है। इस तीसरी परिस्थितिको संवाद अथवा प्रतिवादका प्रतिवाद कहते है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवादकी चौथी मान्यता यह है कि वादसे संवादतकका विकास मात्रात्मकसे गुणात्मक परिवर्तनकी ओर होता है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवादके प्रकाशमे जब मानव-समाजके इतिहासका अध्ययन किया जाता है तो मनुष्यके समूचे अतीतको एक व्यवस्थित अर्थसूत्र प्राप्त हो जाता है। उस समय इतिहासमे इधर-उधर बिखरी घटनाओका संकलन नहीं होता। उसके चरणोंको निश्चित गति और लय प्राप्त होती है। उसका जीवन निश्चित ऐतिहासिक नियमोमे बँध जाता है। उन्ही निश्चित ऐतिहासिक नियमोंके समन्वित रूपको ऐतिहासिक भौतिकवाद (दे०) कहते है। ऐतिहासिक भौतिकवादके अनुसार मनुष्यके सारे कर्तव्योंकी प्रेरणा उत्पादन है। इसी लक्ष्यको लेकर मनुष्य सामाजिक सम्बन्धोकी स्थापना करते है। अतः मनुष्यके समूचे सामाजिक सम्बन्ध उसके उत्पादन-सम्बन्धोंपर आधारित है। जब उत्पादन-सम्बन्धमें परिवर्तन होगा तो उसके सामाजिक सम्बन्ध भी परिवर्तित हो जायँगे। अतः समाज-के दो ढाँचे है। पहला ढाँचा है आधारभूत ढाँचा, जो उत्पादन-सम्बन्धोपर आधारित है और दूसरा वह ढाँचा है, जो आधारभूत ढाँचेपर आश्रित है। दूसरे ढाँचेके अन्तर्गत समाज, साहित्य, कला, दर्शन एवं संस्कृति सम्बन्धी तत्त्व आते है। इस नाते कविकी काव्यप्रेरणा, दार्शनिककी ज्ञान-जिज्ञासा, कलाकारका कलात्मक लक्ष्य और संस्कृतिका मूल उद्देश्य, सब-कुछ आर्थिक व्यवस्था द्वारा अनुशासित होता है।

समाजकी उत्पादन-प्रणालीका परिवर्तन भी दो विरोधी शक्तियोके संघर्षसे होता है। इस संघर्षको कार्ल मार्क्सने वर्ग-संघर्ष कहा है। वर्ग-संघर्ष दो वर्गोमे होता है। इसमे-से एक वर्ग, जिसे शोषक वर्ग कहते है, समाजका आर्थिक और राजनीतिक शासन करता है। दूसरा वर्ग, जिसे शोषित वर्ग कहते है, उन लोगोका वर्ग है, जो शारीरिक श्रम तो अवश्य करते है, किन्तु उस शारीरिक श्रमका फल उनको न प्राप्त होकर शोषकवर्गको प्राप्त होता है। इसलिए शोषित और शोषक वर्गमे संघर्ष अनिवार्य हो जाता है। और इसी संघर्षके मूलमें विकासस्थिति है।

मार्क्सवादके अनुसार अबतक समाजमें चार प्रकारकी सामाजिक अवस्थाएँ प्राप्त हो सकी है। पहली व्यवस्था है आदिम साम्यवादकी, जिसमे लोग स्वतन्त्र थे और उनका समष्टि-जीवनसे कोई सम्पर्क नहीं था। दूसरी व्यवस्था है दास-व्यवस्था, इसके अन्तर्गत कुछ शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति शक्तिहीनोंपर शासन करते थे, किन्तु जब कुछ दासोंने क्रान्ति की तो सामन्तवादी व्यवस्थाने उसका स्थान लिया। सामन्तवादी व्यवस्थामे भी जब वर्ग-संघर्ष प्रारम्भ हो गया तो उसका स्थान एक नयी विकसित आर्थिक व्यवस्थाने लिया, जो आज भी जीवित है। इसे पूँजीवाद कहते है। किन्तु पूँजीवादमें भी वर्ग-संघर्ष चल रहा है और मजदूर सम्पत्तिपर सामूहिक नियन्त्रणका प्रयास कर रहा है। कुछ देशोमे तो पूँजीवाद समाप्त हो गया है और उसके स्थानपर समाजवादकी स्थापना हो रही है। इस नयी व्यवस्थाको साम्यवाद (दे०) कहते है। कार्ल मार्क्सने सामाजिक व्यवस्थाओकी इन्ही रेखाओंकी ओर संकेत किया है, जो अबतक इतिहासके विकासमें दृष्टिगत हो रही है।

मार्क्सके अनुसार पूँजीवादी व्यवस्था शोषणपर आधारित है। यह शोषण सर्वहाराका है, क्योंकि सर्वहारा

शारीरिक श्रमसे उत्पादन करता है, किन्तु उसका लाभ पूँजीपतियो या स्वामियोके हाथमे जाता है। दैनिक जीवनके इस साधारण अनुभवको कार्ल मार्क्सने अर्थशास्त्रके जटिल रूपमे व्यक्त किया है। इसे मूल्यका सिद्धान्त अथवा 'थ्योरी ऑव वैल्यू' कहते है। मार्क्सका कहना है कि जब आधुनिक वैज्ञानिक साधनोंसे युक्त मजदूर किसी वस्तुका उत्पादन करता है, तभी उस वस्तुको विनिमय-मूल्य प्राप्त होता है। किसी वस्तुका विनिमय-मूल्य कितना है, यह उस वस्तुपर लगाये गये श्रमके बराबर है, किन्तु जब पूँजीपति मजदूरको मजदूरी देता है तो वह उसके द्वारा ही मजदूरका शोषण करता है। मजदूरको जो मजदूरी प्राप्त होती है, वह उसके द्वारा किये गये श्रमके बराबर नही होती, अतः मजदूर जितने मूल्यका सर्जन करता है और जितने मूल्यका वह दाम पाता है, उसके अन्तरको कार्ल मार्क्स अतिरिक्त मूल्य या 'सरप्लस वैल्यू' कहता है। यह अतिरिक्त मूल्य भी मजदूर द्वारा निर्मित हुआ है, क्योंकि मजदूर मूल्यकी रचना करता है, किन्तु मिल-मालिक इस 'सरप्लस वैल्यू'को अपना लाभ समझकर अपने पास रख लेता है। इस प्रकार कार्ल मार्क्सने यह सिद्ध करनेका प्रयास किया है कि पूँजीवादी व्यवस्थामें यह स्वाभाविक है कि मिल-मालिक मुनाफा करे और जिस धनपर मजदूरका नैतिक अधिकार है, उसको हड़प ले।

मार्क्सवादके अनुसार राज्य भी इन आर्थिक व्यापारोंका निरपेक्ष द्रष्टा नही है। एक समय था, जब पूँजीवादियोने आर्थिक क्षेत्रमे राज्यसे हस्तक्षेप न करनेकी माँग की थी। वह युग 'लैसेज फेयर' नीतिका युग था। किन्तु पूँजीवादकी शक्तियाँ जब शिथिल होने लगी तो उन्होंने राजनीतिक शक्तिका सहारा लिया। राज्य मार्क्सके अनुसार वर्ग-संघर्षका प्रतीक है। इसलिए मार्क्स समाजवादी क्रान्ति द्वारा राज्यका भी उन्मूलन करना चाहता है।

समाजवादी क्रान्ति केवल सर्वहारा ही कर सकता है। मार्क्सने क्रान्तिकी पद्धतियों और साधनोंपर विशद रूपसे अपने विचार व्यक्त किये है। उसके अनुसार केवल व्यावसायिक श्रम-वर्ग ही शक्ति, साहस और बुद्धि रखता है, जो क्रान्तिके लिए नितान्त आवश्यक है। क्रान्ति सफल हो जानेपर साम्यवादकी सृष्टि होती है, किन्तु क्रान्तिकी सफलता और साम्यवादकी स्थापनाके बीच समयका लम्बा अन्तराल आता है। इस बीच पूँजीवादी राज्यको नष्ट करके मजदूर-राज्यकी स्थापना होती है। यही मजदूर-राज्य शान्तिमय ढंगसे सारे समाजको साम्यवादकी ओर ले जाता है।

आधुनिक साहित्य तथा साहित्य-चिन्तनपर मार्क्सवादकी गहरी छाप है। हिन्दी साहित्यमे मार्क्सवाद द्वारा प्रेरित साहित्यको प्रगतिवाद(दे०)की संज्ञा दी गयी है। —रा० कु० त्रि०

मालती—वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। भानु-(छं० प्र०, पृ० १५८)के अनुसार नगण, २ जगण और रगणके योगसे यह वृत्त बनता है (।।।, ।ऽ।, ।ऽ।, ऽ।ऽ)। जयकीर्ति(छन्दो०, २ : १३९)ने इसे वरतनु नाम दिया है। केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा०—"विपिन विराध बलिष्ठ देखियो। नृप तनया भयभीत लेखियो। तब रघुनाथ (सु) बाण कै हयो। निज निरवाण पन्थका ठयो।" (रा० चं०, ११ : ८)। —पु० शु०

मालती (प्रमोद)—वर्णिक समवृत्तका एक भेद। भरतके 'नाट्य-शास्त्र'में मालती नामका दो जगणका छन्द मिलता है (।ऽ।, ।ऽ।)। इसे केशव और भानुने मालती तथा देवने प्रमोद नाम दिया है। 'प्राकृतपैंगलम्' और 'वाणीभूषण'मे सुमालती नाम दिया गया है। केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा०—"जु पै जिय जोर, तजौ सब शोर। सरासन तोरि, लहौ सुख कोरि" (रा० चं०, ४ : ८)। —पु० शु०

मालादीपक—'दीपक'से सम्बद्ध श्रृंखलामूलक अर्थालंकार। इस अलंकारमें पूर्वोक्त वस्तुओसे उत्तरोत्तर वर्णित वस्तुओंका सम्बन्ध एक धर्मसे स्थापित किया जाता है। इस अलंकारमे जगन्नाथ तथा अप्पय दीक्षितके अनुसार पूर्ववर्णित पदार्थों और उत्तरोत्तर पदार्थोंमे परस्पर प्रस्तुत-अप्रस्तुत अथवा उपमेय-उपमानभाव (सादृश्य) सम्बन्ध नही रहता। मम्मट तथा रुय्यकसे यह अलंकार मिलता है। मम्मटने दीपकके प्रकार-रूपमें इसकी परिभाषा दी है—"मालादीपकमाद्यं चेद्यथोत्तरगुणावहम्", अर्थात् इसमे पूर्ववर्णित वस्तु उत्तरोत्तर वर्णित वस्तुमे उत्कर्षका आधान करती प्रतीत होती है (का० प्र०, १० : १०४)। रुय्यकने इसी बातको अधिक स्पष्ट किया है—"पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तर गुणावहत्वे" (अ० स०, पृ० १४१)। 'विश्वनाथ'का लक्षण अधिक स्पष्ट नही है। मम्मटने 'दीपक'के बाद इसपर विचार किया है, पर रुय्यकने कारणमालाके बाद। हिन्दीमे रुय्यकका अनुसरण हुआ है।

हिन्दीके सभी प्रमुख आचार्योंने 'कुवलयानन्द'के आधारपर दीपक और एकावली अलंकारोंके संयोगसे मालादीपक अलंकार माना है—"दीपक एकावलि मिलें मालादीपक जान"(का० नि०, १८)। जसवन्त सिंह, मतिराम, भूषण, सोमनाथ तथा पद्माकर—सभीके लक्षण समान है।

भिखारीदासका उदा०—"जगकी रुचि ब्रजबास, ब्रजकी रुचि ब्रजचन्द हरि। हरि रुचि बंसी दास, बंसी रुचि मन बाँधिबो" (का० नि०, १८)।" यहाँ प्रथमकथित 'जग'-से उसके उत्तरकथित 'ब्रजबास'का, 'ब्रजबास'से 'ब्रजचन्द' आदिका 'बाँधिबो' इस एक क्रियारूप धर्मसे सम्बन्ध स्थापित किया गया है। अतः 'मालादीपक' अलंकार है। आधुनिक कवि जयशंकर 'प्रसाद'ने अपने 'आँसू' काव्यमें इसका सुन्दर प्रयोग किया है—"घनमें सुन्दर बिजली-सी, बिजलीमें चपल चमक-सी। आँखोंमें काली पुतली, पुतलीमे श्याम झलक-सी। प्रतिमामे सजीवता-सी, बस गयी सुछवि आँखोंमें। थी एक लकीर हृदयमे, जो अलग रही लाखोंमे"।

मालादीपक और कारणमाला, दोनों अलंकारोंमें पूर्वकथित पदार्थोंका उत्तरोत्तरवर्णित पदार्थोंसे सम्बन्ध स्थापित किया जाता है, पर पहलेमें प्रत्येक पूर्वकथित पदार्थ बादवालेका कारण कहा जाता है और दूसरेमें प्रत्येक पूर्व-पदार्थ बादवालेके साथ विशेषण-विशेष्यके सम्बन्धमें उपस्थित होता है (दे० 'दीपक', तीसरा प्रकार)। —वि० स्ना०

मालिनी–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। पिंगलाचार्यके अनुसार इसकी परिभाषा है—'मालिनी नौ म्योय्' (७ : १४), अर्थात् न, न, म, य, यके योगसे यह वृत्त बनता है। बादमें ८, ७ वर्णोंपर यतिका नियम भी विकसित हुआ। भरतने इसका नाम नान्दीमुख (ना० शा० १६ : ७३) दिया है। हिन्दी साहित्यमें इसका प्रयोग केशव (रा० चं०, १३ : २७), रहीम (मदनाष्टक), सूदन (सु० चं०), हरिऔध (प्रि० प्र०, स० ४, ५, ६, ७, ९, १०, ११, १३, १५, १७), मैथिलीशरण गुप्त (पत्रावली, पृ० १६–१९) और अनूप शर्मा (सिद्धार्थ, स० १ : १३, १६ एवं वर्द्धमान, पृ० ७०)ने किया है। उदा०—"जय रतिपति तेरी हो, तुझे सर्वदा ही' (वर्द्धमान स० १ : १४०)।

हिन्दी कवियोंने इसमें विशेष नवीन प्रयोग किया है। चन्दने इस छन्दको तोड़कर नवीनता प्रदान की है और इसका नाम 'काव्य जाती' रखा है। उनके प्रयोगके अनुसार नया छन्द न न ऽऽ और र र ऽ में विभक्त जान पड़ता है। यह परिवर्तन यतिके प्रयोगपर बल दिये जानेसे सिद्ध हुआ है। चन्दने तो यतिका प्रयोग किया था, पर दीनदयाल गिरि तथा सूदनने इन यतियोंपर तुकका प्रयोग भी किया—"विशद बकुल-माला, शोभती यों विशाला" (अ० क०, १५)। —पु० शु०

मालोपमा–दे० 'उपमा', सातवाँ प्रकार।

माहिया–पंजाबीका अत्यन्त लोक-प्रचलित शृंगार तथा करुण रससे ओतप्रोत लोकगीत। शृंगारके विरह-पक्षकी इसमे मार्मिक अनुभूति मिलती है। पंजाबी शिष्ट साहित्यके ऊपर भी इस लोक-परम्पराकी रचनाका यत्र-तत्र प्रभाव दिखाई देता है। —सं०

मिथ्याध्यवसित–कार्य-कारणमूलक अर्थालंकार। जहाँ किसी अर्थको मिथ्या सिद्ध करनेके लिए किसी अन्य सिद्ध मिथ्याकी कल्पना की जाय। जयदेवने 'मिथ्याध्यवसाय' नामक लक्षणका निरूपण किया है कि इसमें कार्य और कारणकी मिथ्या कल्पना करके कार्यसिद्धिका वर्णन होता है—"स्यान्मिथ्याध्यवसायश्चेदसती साध्यसाधने" (चन्द्रालोक, ३ : ७)। परन्तु अप्पय दीक्षितने 'मिथ्याध्यवसित' अलंकार माना है। इसका लक्षण है—"किंचिन्मिथ्यात्व सिद्ध्यर्थं मिथ्यार्थान्तरकल्पनम्" (कुवलयानन्द, १२७)।

हिन्दीके जगत सिंह, मतिराम, भूषण, दास, पद्माकर आदि आचार्योंने 'कुवलयानन्द'के आधारपर प्रायः इसके लक्षण दिये है—"झूठ अर्थकी सिद्धिको, झूठो बरनन आन" (शि० भू०, २७२) अथवा—'एक झुठाई सिद्धि कौ, झूँठो बरनत और" (ल० ल० : २९८), अर्थात् मिथ्यात्व सिद्ध करनेके लिए किसी दूसरे मिथ्या अर्थकी कल्पना—"धरै जु माला नभ कुसुम, करै सु परतिय प्रीति" अथवा —"जो आँजै नभ कुसुम रस, लखै सु अहिके कान" (पद्मा०, २१५)। यहाँ 'परतिय प्रीति' तथा 'अहिके कान'को झूठा सिद्ध करनेके लिए असत्य कल्पनाएँ की गयी है। इस अलंकारकी समीपता निदर्शना और अतिशयोक्ति अलंकारोंसे है। उद्योतकारने इसे अतिशयोक्ति तथा जगन्नाथने प्रौढोक्तिके अन्तर्गत माना है। —ओ० प्र०

मिश्र वस्तु–इतिवृत्तकी दृष्टिसे यह नाटककी वस्तुके तीन भेदों—प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्र—मेंसे एक है। इसमें इतिवृत्तकी पृष्ठभूमि तो **प्रख्यात** रहती है, पर अनेकानेक कथाएँ कल्पित होती है। लक्ष्मीनारायण मिश्रके 'नारदकी वीणा'के इतिवृत्त 'आर्यों और अनार्योंका संघर्ष'की पृष्ठभूमि प्रख्यात है, किन्तु कथाओंकी सर्जना नाटककारकी अपनी कल्पना है। —व० सि०

मिसरा–उर्दू कवितामें छन्दका एक चरण मिसरा कहलाता है। जब शब्दोंको किसी खास **बह्र** छन्दके वजन (माप)पर लिख दिया जाय तो उसे एक मिसरा कहते है। बह्रकी लम्बाईके हिसाबसे मिसरे छोटे-बड़े होते है। जिस बह्रकी जो माप नियत है, उसपर हर मिसरेको पूरा उतरना चाहिये। अगर मिसरा उस मापसे छोटा होगा या उसका आहंग (लय-अवरोह) बह्रके समान न होगा, तो उस मिसरेको अनुपयुक्त समझा जायगा। यह दोष हिन्दीमें छन्दोभंग कहा जाता है (दे०—'बह्र', 'शेर')। म०

मीन–दे० 'मछरी'।

मीमांसा–(क) मीमांसाका शाब्दिक अर्थ गवेषणा अथवा विवेचन है। प्राचीन कालमें तथा वर्तमान समयमे मीमांसाका प्रयोग प्रायः इसी अर्थमें होता है।

(ख) परन्तु दर्शन-जगत्‌मे केवल मीमांसासे वेदमीमासा, कर्ममीमांसाका ही बोध होता है। वेदोंकी मीमांसा धर्मकर्ममें होनेके कारण ही इसे धर्ममीमांसा या कर्ममीमांसा कहते है। इससे मीमांसाका प्रयोजन भी मालूम हो जाता है—जो धर्मका निरूपण करता है—"धर्माख्यं विषयं वस्तु मीमांसायाः प्रयोजनम्" (कुमारिल : श्लो० वा०, ११)।

(ग) मीमांसा कर्ममीमांसा और ज्ञानमीमांसा, कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड दोनोंके लिए प्रयुक्त होता है। इसीलिए प्रथमको 'पूर्वमीमांसा' और द्वितीयको 'उत्तरमीमांसा' कहते है। पूर्व और उत्तर शब्दोंसे स्पष्ट है कि वस्तुतः ये दोनो शास्त्र एक ही दर्शनके अंग है। यह अंगिदर्शन वैदिक दर्शन है।

मीमांसाके इन त्रिविध अर्थोंके बावजूद यह शब्द पूर्वमीमांसा या कर्ममीमांसाके अर्थमें रूढ़ हो गया है। हिन्दीमे सामान्यतः मीमांसा शब्दका प्रयोग समीक्षाके अर्थमे होता है।

अन्य सभी भारतीय-दर्शनोंकी भाँति मीमांसाका उद्‌भव भी वेदोंसे हुआ। पर अन्य दर्शनोंकी अपेक्षा यह अधिक वैदिक दर्शन है। इसका विषय वेदोक्त धर्मकी व्याख्या है। गौतम बुद्धने वेदोक्त धर्मके कर्मकाण्ड-पक्षपर प्रहार किया था। फलस्वरूप वेदज्ञोंने अपने धर्मको सुव्यवस्थित रूपसे रखनेका प्रयास किया। इन प्रयासोंमे जैमिनी (४०० ई० पू०)का प्रयास सर्वोत्तम रहा और 'कर्ममीमांसासूत्र' मीमांसाका मौलिक ग्रन्थ हो गया। शबर (२०० ई०)ने इसपर अपना भाष्य लिखा। कुमारिल और प्रभाकर (७वी शती)ने इस भाष्यकी व्याख्या की और धर्मके सिद्धान्तोंका खण्डन करते हुए उसके प्रभावको देशभरमें बिलकुल क्षीण कर दिया। कुमारिल और प्रभाकर मीमांसाके क्रमशः भट्टमत तथा गुरुमतके संस्थापक है। कालान्तरमें मुरारि मिश्रका भी एक तीसरा मत चल पड़ा।

बौद्ध धर्मके उन्मूलनमें मीमांसाका प्रमुख हाथ रहा है।

इसने वेदोंकी कर्मपरक व्याख्या की और अवैदिक धर्मोंकी कटु आलोचना की। बौद्ध धर्मके भारत छोड देनेके बाद मीमांसाका विरोध न्यायवैशेषिकसे हो गया। मीमांसामें किसी ईश्वरका विधान नहीं है, न्यायवैशेषिकमे है। मीमांसा सभी प्रमाणोंको स्वतःप्रामाण्य मानती हैं, तो न्यायवैशेषिक परतःप्रामाण्य। मीमांसा वेदोंको अपौरुषेय मानती है तो न्यायवैशेषिक पौरुषेय। मीमांसा पहले निरीश्वरवादी थी। जैमिनि ईश्वर और आत्माके विषयमें कुछ नहीं कहते। कुमारिल और प्रभाकर भी ईश्वरकी मान्यताके विरोधी नहीं प्रतीत होते। अतः मीमांसाको प्रायः निरीश्वरवादी न कहकर लोग अज्ञेयवादी कहते है। कालान्तरमे आपदेव और लौगाक्षि भास्कर (१७वीं शती)ने मीमांसाको ईश्वरवाद-की ओर उन्मुख किया। वेदान्तदेशिककी 'सेश्वर मीमांसा'में तो 'पूर्वमीमांसा' और 'उत्तरमीमांसा', दोनों मिल गयीं, और मीमांसामे ईश्वरको स्थान मिल गया, पर कुमारिलका मत मीमांसाका अधिक प्रचलित मत है।

मीमांसा वेदोंका तात्पर्य निश्चित करनेके लिए, सहायक, श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान तथा समाख्या, इन षट् प्रमाणोंको मानती है। इसमे वेदके दो भाग माने जाते है, मन्त्र और ब्राह्मण—'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'। विषयके विचारसे वेदोंके ५ विभाग है—१. विधि, २. मन्त्र, ३. नामधेय, ४. निषेध और ५. अर्थवाद। 'स्वर्गकामो यजेत्', इस प्रकारके वाक्योंको विधि कहते है। अनुष्ठानके अर्थ-सारकोंको मन्त्र कहते है। यज्ञोंके नामकी संज्ञा नामधेय है। अनुचित कर्मसे विरत होनेको निषेध कहते है और किसी पदार्थके सच्चे गुणोंके कथनको अर्थवाद कहते है। इन पाँच विषयोंके होनेपर भी वेदोंका तात्पर्य विधि-वाक्योंमें ही है। विधि चार प्रकारकी होती है। कर्मके स्वरूपको बतलानेवाली उत्पत्तिविधि, अंग तथा प्रधान अनुष्ठानके सम्बन्धको बतलानेवाली विनियोगविधि, धर्मसे उत्पन्न फलके स्वामित्वको व्यक्त करनेवाली अधिकारविधि है तथा प्रयोगके प्राशुभाव (शीघ्रता)की बोधक विधिको प्रयोगविधि कहते है।

ज्ञानके साधनों या प्रमाणोमे प्रभाकरके अनुसार प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान तथा अर्थापत्ति है। कुमारिलके मतसे इनके अतिरिक्त छठा प्रमाण अभाव या अनुपलब्धि है।

तत्त्ववादमें कुमारिलके अनुसार पदार्थ पाँच है—द्रव्य, गुण, कर्म, जाति और अभाव। द्रव्य ११ है—पृथ्वी, अप, तेज, वायु, आकाश, दिक्, काल, आत्मा, मन, तम और शब्द। गुण २४ हैं।

कर्म तीन है—नित्य, नैमित्तिक और काम्य। प्रथम दो अनिवार्य है। उनके न करनेसे प्रत्यूह होता है। प्रातः और सायं उपासना या प्रार्थना करना नित्यकर्म है। ग्रहणके अवसरपर गंगास्नान करना नैमित्तिक कर्म है। काम्य कर्म वे है, जो किसी कामनासे किये जायँ, जैसे पुत्रेष्टियज्ञ, अश्वमेधयज्ञ आदि। काम्य कर्मके कर्ताको सच्चा अधिकारी होना चाहिये।

कर्म और उसके फलमे अनिवार्य सम्बन्ध है। इस सम्बन्धका संस्थापक ईश्वर नहीं है, बल्कि अपूर्व है। अपूर्व एक शक्ति है। कर्मसे अपूर्व होता है। अपूर्वसे उस कर्मका फल उत्पन्न होता है। प्रभाकरने इसीको नियोग कहा है। कुमारिलके मतसे अपूर्व कर्म हो जानेपर नित्य आत्मामें उत्पन्न हो जाता है और जब वह फल दे देता है तो फिर वह नष्ट हो जाता है। प्रभाकरके मतसे अपूर्व नित्य आत्मामे नहीं, किन्तु कर्ममे ही रहता है, नियुज्य रहता है, इसीलिए वे इसे नियोग कहते है।

मीमांसामें कर्म या क्रियाका प्रधान महत्व है। इसके अनुसार केवल क्रिया, क्रियावान और क्रियाके अंगोका ही अस्तित्व है और इससे भिन्न किसी वस्तु या पदार्थका अस्तित्व नहीं है।

आत्मा या पुरुष प्रधानतः कर्ता या क्रियावान है। वह प्रधानतः ज्ञाता या द्रष्टा नहीं है। क्रियावान होनेके कारण वह सदा कर्म करता है। कर्म अपने फलको स्वयं अपूर्व या नियोगके माध्यमसे प्रदान करता है। इससे क्रियावान आत्मा भोक्ता हो जाती है। ज्ञान भी इस मतमे क्रिया या व्यापार है। मीमांसाके अनुसार भट्टलोल्लटने साहित्य-शास्त्रमें रस-मतका निरूपण किया, जिसे उत्पत्ति-वाद या आरोपवाद (दे० रस-निष्पत्ति : पहलामत) कहा जाता है। रस रामादि अनुकार्यमें भावोंके संयोगसे उत्पन्न हो जाता है। वह रंगमंचकी परिस्थितियोंके अनुकूल अपनेको अनुकार्य समझता है और इस प्रकार अनुकार्यके रसका अनुभव करता है। जैसे यज्ञमें मीमांसाने 'देवो भूत्वा देवान् यजेत्' (देव होकर देवोंकी उपासना करनी चाहिए)-का सिद्धान्त रखा, वैसे साहित्य-शास्त्रमें रसने अनुकार्य—रामादि होकर अनुकार्यके रसका अनुभव करना चाहिए—इस सिद्धान्तको माना। भट्टलोल्लटके उत्पत्तिवादके आधार है आत्माका कर्त्ता-भोक्ता होना तथा ज्ञानका कर्म रूप होना। क्योंकि प्रत्येक कर्मकी प्रक्रिया एकत्र और उसका फल अन्यत्र होता है, जैसे पाक-क्रिया कर्त्तामें है और उसका फल ओदनादिपर पड़ता है, वैसे रसकी प्रक्रिया मूलतः अनुकार्यमें और अनुकरणसे अनुकर्ता नटमें तथा उसका फल प्रेक्षकमें होता है।

भाषाशास्त्रकी दृष्टिसे मीमांसाके दो मत अत्यन्त प्रसिद्ध है—अभिहितान्वयवाद (कुमारिलका) और अन्विताभिधानवाद (प्रभाकरका)। एकके अनुसार आकांक्षा, योग्यता और सान्निध्यके कारण पदोंके अर्थोंका भली भाँति अन्वय हो जानेपर उन पदोमेसे प्रत्येकके अर्थसे भिन्न वाक्यका एक विशेष तात्पर्यार्थ होता है। दूसरा यह है कि पदोंके वाक्य-अर्थोंसे ही वाक्यार्थका बोध होता है।

मीमांसाको लोग प्रायः प्राचीन कर्मकाण्डमात्र समझते है और इस कारण इसकी कटु आलोचना करते है। कबीर जैसे निर्गुण सन्तोंने इसी अर्थमें मीमांसाकी तीव्र आलोचना की है। पर मीमांसाका वास्तविक रूप कर्मकाण्ड नहीं है। वह कर्मवाद है। यह कर्म और उसके फलको बिना ईश्वरके, अपूर्व या नियोगकी मददसे सम्बन्धित करती है और निष्काम कर्म करनेपर जोर देती है। इस अर्थमें मीमासाकी शिक्षाएँ सदा ग्राह्य है। 'करम गति टारे नाहिं टरी' जैसे पदोंमे मीमांसाके तथाकथित खण्डन करनेवाले कबीर आदिने वास्तवमे मीमांसाके कर्मवादका अनुपम समर्थन किया है। तुलसीदास जब लोकमर्यादाकी स्थापना करते

हैं तो वस्तुतः वे मीमांसाके ही अमूल्य कर्मवादकी व्याख्या करते हैं। लोकमान्य तिलकने तो 'गीता-रहस्य'से ज्ञानमार्ग तथा भक्तिमार्ग और योगमार्गको असम्मत करते हुए निष्काम कर्मयोगको ही निकाला था। महात्मा गान्धी भी मीमांसाके नित्य और नैमित्तिक कर्मोंको मानते थे। उनकी रचनाओंमें यज्ञका, जिसका अर्थ वे परोपकारार्थ कार्य कहते थे, प्रभाव स्पष्ट है। वस्तुतः कर्मका उच्छेद नहीं हो सकता और इसलिए किसी-न-किसी अर्थमें कर्म-मीमांसाकी भी मान्यता सदैव रहेगी। मीमांसक, विशेषतः कुमारिल, कर्म और ज्ञानके समुच्चयपर जोर देते हैं। साधु निश्चलदासने भी अपने दादूपन्थी साधनमार्गमें इस समुच्चयको माना है—"धर्ममीमांसाके द्वादश अध्याय हैं (मीमांसासूत्रके)। जैमिनि नाम ताका कर्ता है। कर्म-अनुष्ठानकी रीतिताम प्रतिपादन करी है। यातें विधिसे कर्ममें प्रवृत्ति धर्म-मीमांसाका फल है। कर्ममें प्रवृत्तिसे अन्तःकरण-शुद्धि, तासे ज्ञान और ज्ञानतें मोक्ष, इस रीतिसे धर्ममीमांसाका मोक्षफल है"।

[सहायक ग्रन्थ— पूर्वमीमांसा : गंगानाथ झा।] —सं० ला० पा०

मीलित–लोकन्यायमूल अर्थालंकार, जिसमें किन्हीं दो पृथक् वस्तुओंमें स्वाभाविक अथवा आगन्तुक-तुल्य धर्मके कारण भेद लक्षित न हो, अर्थात् एक वस्तुका दूसरेमें निलय हो जाना मीलित अलंकार है। मीलितका अर्थ है मिल जाना। इसमें नीर-क्षीर-न्यायसे एक वस्तुका दूसरी वस्तुमें तिरोभाव हो जाता है। सर्वप्रथम प्रयोग रुद्रटके 'काव्यालंकार'में हुआ। मम्मटका लक्षण इस प्रकार है—"समेन लक्ष्मणा वस्तु वस्तुना यन्निगूह्यते। निजेनागन्तुना वापि तन्मीलितमिति स्मृतम्" (का० प्र०, १० : १३०), अर्थात् जिसमें किसीके द्वारा किसी वस्तुका किसी दूसरी वस्तुसे किसी स्वाभाविक अथवा आकस्मिक चिह्नके कारण तिरोधान अथवा छिपाना वर्णित हो। विश्वनाथकी परिभाषा सरल है—"मीलितं वस्तुनो गुप्तिः केनचित्तुल्यलक्ष्मणा" (सा० द०, १० : ८९), अर्थात् जब कोई वस्तु समान लक्षणके कारण दूसरी वस्तुको तिरोभूत कर ले। वस्तुतः इसमें मम्मटके स्वाभाविक तथा आकस्मिक चिह्नके स्थानपर सादृश्यमात्रका उल्लेख है। 'कुवलयानन्द'के आधारपर हिन्दीमें जसवन्त सिंहने सादृश्यके कारण अभेदकी बात कही है—"मीलित सोइ सादृश्यतें भेद जबै न लखाय" (भा० भू०, १७४)। फिर आगे हिन्दीके आचार्योंने इसी प्रकार लक्षण दिया है। मतिराम तथा सोमनाथके लक्षण अस्पष्ट हैं तथा भूषण और पद्माकरने सादृश्यसे भेद न जान पड़नेकी बात कही है। वस्तुतः यह सादृश्य, जैसा कि मम्मटने कहा है, स्वाभाविक अथवा आकस्मिक लक्षणोंपर आधारित है, अतएव निगूहन (छिपाना) दो प्रकारसे माना गया है।

बिहारीके इस वर्णनमें स्वाभाविक कान्ति द्वारा अँगिया-की कान्तिका तिरोभाव है—"भई जु छवि तन बसन मिलि, बरनि सकै सु न बैन। आँग ओप आँगी दुरी, आँगी आँग दुरै न" (सतसई, १८९)। दासने आगन्तुक धर्मों द्वारा तिरोभावका उदाहरण इस प्रकार दिया है—"केसरिया पट कनक तन कनकाभरन सिंगार। गत केसर केदारमें जानी जाति न दार" (का० नि०, १४)।

मतिरामने भी इस अलंकारका उक्तिपूर्ण प्रयोग किया है—"होति न लखाई निसि चन्दकी उज्यारी मुख, चन्दकी उज्यारी तन छाहौं छपि जाति है" (ल० ल०, ३४२)। भूषणके उदाहरणमें उक्तिका चमत्कार है—"पावन न हेरे तेरे जस में हिराने निज गिरिको गिरीस हेरैं गिरिजा गिरीसको" (शि० भू०, ३०२)। इसी प्रकार महादेवीकी इन पंक्तियोंमें इसका सुन्दर प्रयोग है—"वे आभा बन खो जाते शशि किरणोंकी उलझनमें, जिससे उनको कण-कणमें ढूँढूँ पहिचान न पाऊँ"।

हिन्दीमें 'मीलित' अलंकारका प्रयोग प्रायः सभी रीतिकालीन एवं कतिपय आधुनिक कवियोंने रूप और भावकी संवेदनाको तीव्र करनेके लिए किया है। बिहारीने मीलित अलंकारका जितना काव्यपूर्ण प्रयोग किया है, उतना रीतिकालीन अन्य कवियोंने नहीं। यह उनका प्रिय अलंकार है। शृंगार रसमें नायिकाओंके रूपको अधिक संवेदनीय बनानेके लिए कविने इसी अलंकारका अपेक्षाकृत अधिक प्रश्रय लिया है। जायसीने नायिकाके अलौकिक रूप-सौन्दर्य-वर्णनके लिए इस अलंकारका भी प्रयोग किया है।

तद्गुण, भ्रान्ति तथा मीलितमें वास्तविक अन्तर है। तद्गुणमें साधारण (सदृश) लक्षणवाली वस्तुका तिरोभाव नहीं होता, वरन् उत्कृष्ट गुणवाली वस्तुका गुण प्राप्त किया जाता है; भ्रान्तिमें एकके स्थानपर दूसरेका भ्रम होता है, दोनों उपस्थित नहीं रहते; मीलितमें समान गुण एक-दूसरे-में तिरोधान हो जाते हैं, अर्थात् दोनों रहते हुए भी एक-दूसरेमें छिप जाते हैं। दण्डीने मीलितको अतिशयोक्तिका एक भेद माना है तथा यह रुद्रटके पिहित अलंकारके समान है। —वि० स्ना०

मुकरी–यह लोकप्रचलित पहेलियोंका ही एक रूप है, जिसका लक्ष्य मनोरंजनके साथ-साथ बुद्धिचातुरीकी परीक्षा लेना होता है। इसमें जो बातें कही जाती हैं, वे द्व्यर्थक या श्लिष्ट होती हैं, पर उन दोनों अर्थोंमेंसे जो प्रधान होता है, उससे मुकरकर दूसरे अर्थको उसी छन्दमें स्वीकार किया जाता है, किन्तु यह स्वीकारोक्ति वास्तविक नहीं होती। हिन्दीमें अमीर खुसरोने इस लोककाव्य-रूपको साहित्यिक रूप दिया। अलंकारकी दृष्टिसे इसे छेकापह्नुति कह सकते हैं, क्योंकि इसमें प्रस्तुत अर्थको अस्वीकार करके अप्रस्तुतको स्थापित किया जाता है (दे० 'अपह्नुति')। —शं० ना० सिं०

मुक्तक काव्य–मुक्त शब्दमें कन् प्रत्ययके योगसे मुक्तक शब्द बनता है, जिसका अर्थ अपने-आपमें सम्पूर्ण या अन्य-निरपेक्ष वस्तु होता है ("मुक्तकमन्येनालिंगितं तस्य संज्ञायां कन्"—ध्वन्यालोककी लोचन टीका ३, ७)। ध्वनि-सिद्धान्तके आधारपर ही मुक्तकको काव्यमें आदरणीय स्थान मिला है। 'ध्वन्यालोक'के अनुसार जिस काव्यमें पूर्वापर-प्रसंग-निरपेक्ष रस-चर्वणाका सामर्थ्य होता है, वही मुक्तक कहलाता है। अतः मुक्तक काव्यसे उस काव्य-रूपका बोध होता है, जिसमें कथात्मक प्रबन्ध या विषयगत बहुत लम्बे निबन्धकी योजना नहीं होती। हेमचन्द्राचार्यने केवल मुक्तक शब्दका व्यवहार न करके मुक्तकादि शब्द प्रयुक्त किया है और उसका

सामान्य लक्षण यही बताया है कि जो अनिबद्ध हों, वे मुक्तकादि है (अनिबद्धं मुक्तकादि—काव्यानु०, आठवाँ अध्याय)। अतः मोटे तौरपर प्रबन्धहीन या स्फुट, सभी पद्यबद्ध रचनाएँ मुक्तक काव्यके अन्तर्गत आ जाती है। दण्डीने इस प्रकारके अनेक अनिबद्ध या प्रबन्धकाव्यके अंश जैसे काव्यरूपोंको एक ही साथ रखा है, यद्यपि उनका एक नाम मुक्तक या मुक्तकादि नहीं दिया है—"मुक्तकं कुलकं कोशः संघात इति तादृशः। सर्गबन्धांशरूपत्वादनुक्तः पद्यविस्तरः॥" (काव्यादर्श, १:१३)। इससे स्पष्ट हो जाता है कि दण्डी सर्गबन्ध या प्रबन्धकाव्यके सभी रूपों, महाकाव्य खण्डकाव्य आदिको एक श्रेणीका काव्य और अनिबन्ध या सर्गबन्ध काव्यके अंशके रूपमें प्रतीत होनेवाले अन्य सभी रूपोंको अन्य श्रेणीका काव्य मानते थे, यद्यपि उन्होंने उन सबका एक नाम 'मुक्तक काव्य' नहीं बताया है। वस्तुतः अपनेमें पूर्ण, अन्य निरपेक्ष एक छन्दवाली रचनाको ही सभी आचार्योंने मुक्तक कहा है, पर चूँकि अन्य-निरपेक्ष एकाधिक छन्दोंवाली रचनाएँ भी अनिबद्ध या कथाहीन होती है, अतः उन सबको मुक्तकादि कहकर प्रबन्धकाव्यकी तरह मुक्तक काव्यको भी एक सामान्य काव्य-रूप मान लिया गया। इस प्रकार जैसे प्राचीन यूनानी साहित्यमे छन्दोबद्ध श्रव्य काव्यके दो भेद थे—महाकाव्य (एपिक) और गीतिकाव्य (लिरिक), उसी तरह प्राचीन भारतीय साहित्यमें भी छन्दोबद्ध श्रव्य काव्यके दो भेद मान्य हो गये—प्रबन्धकाव्य और मुक्तक काव्य।

संस्कृतके आचार्योंने इस अनिबद्ध या मुक्तक काव्यके कई भेद किये है। दण्डीने तो मुख्य भेदोंका ही नाम लिया है—मुक्तक, कुलककोश और संघात, पर अन्य आचार्योंने उसके अन्य भेद भी माने है। 'ध्वन्यालोक'में आनन्दवर्धनने मुक्तक, सन्दानितक, विशेपक, कलापक, कुलक और पर्यायबन्ध—छः नाम लिये है (ध्व० लो०, का०, ३ : ७)। 'अग्निपुराण'ने इनमें प्रथम पॉच भेद ही माने है और सन्दानितककी जगह युग्मक नाम दिया है। हेमचन्द्रने मुक्तादि अर्थात् मुक्तक काव्यके ये भेद माने हैं—मुक्तक, सन्दानितक, विशेषक, कलापक, कुलक, कोश, प्रघट्टक, विकीर्णक और संघात (काव्यानु०, ८ : १०)। विश्वनाथ कविराजके अनुसार मुक्तक, युग्मक, सन्दानितक, कलापक कुलक, कोश और व्रज्या अनिबद्ध काव्य है (सा० द०, ६ : ३१४, १५)। ये भेद श्लोकसंख्या, रचनाकार अथवा विषयके अनुसार किये गये है, जो इस प्रकार है—१. मुक्तक—सज्जनोंको चमत्कृत करनेवाला, अपने-आपमें पूर्ण, अर्थ व्यक्त करनेवाला एक श्लोक—"मुक्तकं श्लोक एवैकश्च-मत्कारक्षमः सताम्" (अग्निपुराण) तथा "एकेन छन्दसा वाक्यार्थसमाप्तौ मुक्तकम्" (काव्यानु०, ८, १०)। २. युग्मक या सन्दानितक—दो श्लोकोंमे पूर्ण अर्थ करनेवाली या क्रिया समाप्त होनेवाली रचना। ३. विशेषक—तीन श्लोकोंवाली रचना। ४. कलापक—चार श्लोकोंवाली रचना। ५. कुलक—पॉच श्लोकोंवाली रचना ('पंचभिः कुलकं मतम्'—सा० द०), पर कुछ आचार्योंने इसमे श्लोकसंख्या अधिक मानी हैं। हेमचन्द्रके अनुसार इसमे पॉचसे चौदहतक श्लोक होते है ('पंचभिश्चतुर्दशान्तैः कुलकं')। 'अग्निपुराण'के अनुसार पॉचसे अधिक श्लोकोंवाली रचना, जिसका अन्वय एकमे हो, कुलक है। ६. कोश—ऐसे श्लोकोका संग्रह जो परस्पर सम्बद्ध न हों। यह मुक्तकोंका समूह होता है ('कोशः श्लोकसमूहस्तु स्यादन्यो-न्यानपेक्षकः'—सा० द०, ६ : ३२९)। हेमचन्द्राचार्यके अनुसार किसी एक कवि या अनेक कवियोंकी सूक्तियों-(मुक्तकों)के समुच्चयका नाम कोश है, जैसे सतसई आदि ('स्वपरकृतसूक्तिसमुच्चयः कोशः सप्तशतकादिः (काव्यानु०, आठवाँ अध्याय)। ७. प्रघट्टक—एक कविकृत श्लोकसमूह या मुक्तक-समुच्चय (कोश)का नाम प्रघट्टक है (काव्यानु०, आठवाँ अध्याय), जैसे 'बिहारी सतसई' या 'गाथासप्त-शती'। ८. विकर्णक—अनेक कवियों द्वारा लिखित मुक्तको-का संग्रह। यह भी कोशका ही एक भेद है, जैसे 'दोहाकोश', 'सुभाषितकोश' आदि। ९. संघात या पर्याय-बन्ध—एक कवि द्वारा एक विषयपर रचित छन्दोंको संघात कहते है.('एकार्थविषयः एककर्तृकपद्यः संघातः'—काव्यादर्श-टीका, १ : १३)। आनन्दवर्द्धनने 'ध्वन्यालोक' (कारिका, ३ : ७)में इसे पर्यायबन्ध कहा है।

राजशेखरने सर्वप्रथम स्पष्ट शब्दोंमे काव्यके विषया-नुसार दो भेद किये है—प्रबन्धकाव्य और मुक्तक काव्य—'स पुनर्द्विधा मुक्तक प्रबन्धविषयत्वेन', (का० मी०, ९)। उन्होने उनमें प्रत्येकके विषयगत भेदके अनुसार पाँच भेद माने है—१. शुद्ध, २. चित्र, ३. कथोत्थ, ४. संविधानक और ५. आख्यानकवान्, किन्तु यदि विषयकी दृष्टिसे विभाजन किया जाय तो मुक्तकके अनन्त भेद हो सकते है। संख्याके आधारपर भी जो विभाजन किया जाता है, वह वैज्ञानिक नहीं है, क्योकि उससे भी असंख्य भेद हो सकते है। वस्तुतः मुक्तक काव्यके अन्तर्गत जितने भी काव्यरूप प्रचलित हो चुके हो, चाहे वे संख्याके आधारपर निर्मित हुए हों, चाहे विषय, छन्द या रागके आधारपर, उन सबको मुक्तक काव्यका भेद मान लेना चाहिये, यद्यपि ऐसे भेदोकी संख्या अनिश्चित ही रहेगी, क्योंकि समाज और साहित्यके विकासके साथ-साथ काव्यरूपोंमें भी परिवर्तन और विकास होता चलता है। पुराने काव्यरूप लुप्त हो जाते है और नये-नये विकसित होकर प्रचलित होते रहते है। कालभेदकी तरह देश-भेदके अनुसार भी काव्यरूपोंमे भिन्नता होती है। अतः मुक्तक काव्यके अन्तर्गत जो भी काव्यरूप किसी भी देश या किसी भी कालमें प्रचलित थे या है, उन्हे मुक्तक काव्यके भेदके रूपमें स्वीकार करना चाहिये। उदाहरणके लिए, यूरोपीय साहित्यमें ठीक मुक्तक (एक श्लोकवाली रचना) जैसा काव्य-रूप प्रचलित नहीं था, पर वहाँ महाकाव्य, नाट्यकाव्य, कथाकाव्य (नेरेटिव या रोमान्स)के साथ गीतिकाव्य (लिरिक पोइट्री)को मान्यता मिली थी और उसके भी अनेक भेदोपभेद प्रचलित थे। प्राचीन भारतीय साहित्य-शास्त्रियोंने मुक्तक काव्यको तो माना है, पर गीतिकाव्यका उल्लेख उन्होंने नहीं किया, यद्यपि विश्वनाथ कविराजके पूर्व ही जयदेवके 'गीतगोविन्द'की रचना हो चुकी थी। मध्ययुगमें हिन्दीके पद्य-साहित्यकी रचना बहुत हुई, जो गीतिकाव्यका ही एक रूप है। आधुनिक युगमें उर्दू और

फारसीके कई काव्यरूप, जैसे गजल, रुबाई या चतुष्पदी तथा अंग्रेजी साहित्यके प्रभावमें पाश्चात्य गीतिकाव्यके विविध रूप, जैसे सम्बोधगीति, शोकगीति, सॉनेट आदि भी हिन्दीमें अपनाये गये हैं। ये सभी मुक्तक काव्यके ही अन्तर्गत माने जाते हैं।

अस्तु, हिन्दीमें मुक्तक काव्यके जितने रूप मिलते हैं उनके विकास और मूल स्रोतोंके अध्ययनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि मुक्तक काव्यके केवल उतने ही भेद नहीं हो सकते, जितने संस्कृतके साहित्यशास्त्रियोंने गिनाये हैं। संस्कृत साहित्यमें ही मुक्तक काव्यके जितने रूप प्रचलित थे, उन सबका उल्लेख आचार्योंने अपने ग्रन्थोंमें नहीं किया है। कहा जा सकता है कि कोश और संघातके अन्तर्गत अन्य सभी प्रकारके मुक्तक काव्यरूपोंका समावेश हो जाता है, पर इसे श्रेणी-विभाजन ही कहा जा सकता है, मुक्तक काव्यरूपोंका वर्गीकरण नहीं। काव्य-क्षेत्रमें जितने भी मुक्तक काव्य-रूप मिलते हैं, उन सबकी कुछ निजी विषयगत या रूपगत विशेषताएँ होती हैं और उन काव्यरूपोंके स्वतन्त्र विकासका इतिहास भी है। संस्कृतके आचार्यों द्वारा बताये गये मुक्तकके उपर्युक्त रूपभेदोंमें उन विशेषताओं तथा विकासक्रमपर प्रकाश नहीं पड़ता है और न मुक्तकके विभिन्न काव्यरूपोंका पूर्ण परिचय ही मिल पाता है। संस्कृतमें मुक्तक काव्यके जितने रूप प्रचलित थे, हिन्दीमें उनमेंसे कुछको अपनाया गया और कुछको छोड़ दिया गया। उदाहरणार्थ, युग्मक, विशेषक और कलापक नामक मुक्तक काव्यरूप हिन्दीमें नहीं मिलते और कुलकका नाम छोड़कर पंचक, अष्टक, दशक आदि संख्यावाचक नाम स्वीकार कर लिये गये हैं। इसी तरह कोश नाम प्रचलित नहीं है, पर पचासा, बावनी, सतसई, हजारा आदि संख्यावाचक या दोहावली, पदावली आदि छन्दवाचक नाम प्रचलित हो गये हैं, जो कोशके रूपमें माने जा सकते हैं। फारसी और अंग्रेजीके सम्पर्क तथा अपभ्रंशकी काव्यपरम्पराको ग्रहण करनेके कारण भी हिन्दीमें बहुतसे ऐसे नये मुक्तक काव्यरूप आ गये, जो संस्कृतमें नहीं थे। प्राचीन हिन्दी साहित्य लोकाश्रित रहा है। इससे लोकभाषाओंमें प्रचलित अनेक मुक्तक काव्यरूपोंको भी हिन्दीमें अपना लिया गया है। इन सब काव्यरूपोंको मोटे तौरपर निम्नलिखित वर्गोंमें विभाजित किया जा सकता है—१. संख्यावाचक या संख्याश्रित मुक्तक—(क) मुक्तक—(एक छन्दवाला), (ख) कुलक—(१) पंचक, (२) अष्टक, (३) दशक, (ग) कोश—बीसी, बाईसी, चौबीसी, पचीसी, इकतीसी, बत्तीसी, चालीसा, पंचाशिका या पचासा, बावनी, सत्तरी, बहोत्तरी, शतक या सप्तशती, हजारा आदि। २. वर्णमालाश्रित—मातृका, कक्क, ककहरा, बारहखड़ी। ३. छन्दाश्रित—चौपाई या चौपई, दूहा या दोहा, दोहावली, छप्पय, कुण्डलिया, कवित्त, कवितावली, अमृतध्वनि आदि। ४. रागाश्रित—रास, लावणी, गरबा, पद, कजरी, धमाल, गीता, गीतावली आदि। ५. ऋतु और उत्सवमूलक—फाग, होली चर्चरी या चाँचर, चौमासा, बारहमासा, षड्ऋतु, मंगल, सोहर, गारी, ब्याहलो, बधावा आदि। ६. पूजाश्रित, धर्माश्रित—स्तुति, स्तोत्र, विनय, स्तवन, विनती, पूजा, प्रभाती, साँझ या साँझी, निर्गुन, भजन, महिमा, माहात्म्य, रमैनी, साखी, सबद, उलटबाँसी आदि। ७. लोकाश्रित—मुकरी, पहेली, कहावत, ढकोसला आदि। ८. फारसी काव्यरूप—गजल, रुबाइयाँ, चतुष्पदी (चौपदे) आदि। ९. अंग्रेजी काव्य-रूप—द्विपदी (कप्लेट), चतुर्दशपदी (सॉनेट), सम्बोध-गीति (ओड), शोकगीति (एलिजी), गीत (सॉन्ग), गीति या प्रगीत मुक्तक (लिरिक)। १०. साहित्य-शास्त्राश्रित—छन्द, रस, ध्वनि और नायक-नायिका-भेदके लक्षण और उदाहरणके छन्द। ११. अन्य फुटकर काव्यरूप—अष्टयाम, दूतकाव्य, या सन्देशकाव्य, गोष्ठी संवाद, नख-शिख आदि।

ऊपर जो नाम गिनाये गये हैं, वे सभी मुक्तक काव्यके अन्तर्गत आते हैं, भले ही उनमेंसे कुछको काव्य-रूप न मानकर काव्य-संज्ञा कहा जाय। काव्य-संज्ञाएँ छन्द-शैली, संख्या या विषयके आधारपर प्रचलित होती हैं और उन्हींमेंसे जिनका रूप निश्चित हो जाता है और अनेक कवि उसकी रूपगत पद्धतियोंका समान रूपसे कड़ाईसे पालन करने लगते हैं तो उन्हें काव्य-रूप कहा जाता है। उपर्युक्त काव्य-संज्ञाओं या काव्य-रूपोंमेंसे संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंशसे हिन्दीमें गृहीत हुए हैं और अनेक ऐसे हैं, जो परवर्ती अपभ्रंशमें ही अधिक हैं, हिन्दीमें नहीं या बहुत कम मिलते हैं। अतः परवर्ती अपभ्रंशको हिन्दीका ही प्रारम्भिक रूप मानकर उनको उपर्युक्त सूचीमें सम्मिलित किया गया है। जो अत्यन्त प्रचलित और महत्त्वपूर्ण मुक्तक काव्यरूप हैं, उनका परिचय और उदाहरण अलग दिया गया है। यहाँ कुछ सामान्य काव्य-रूपोंका ही उदाहरण दिया जा रहा है।

१. संख्याश्रित मुक्तक काव्य—'कुलक' हिन्दीमें कुलकसंज्ञक काव्य नहीं मिलते, यद्यपि परिभाषाके अनुसार कुलक बहुत मिलेंगे। अपभ्रंशमें कुलकसंज्ञक काव्य ये हैं—देवसूरिका 'उपदेश कुलक', जिनदत्त सूरिका 'कालस्वरूप कुलक', प्रद्युम्नका 'दानादि कुलक', जिनप्रभ सूरिके 'आत्म-सम्बोधन कुलक, धर्माधर्म कुलक, नवकारफल कुलक और विवेक कुलक' आदि। 'कोश'—कोशसंज्ञक काव्य भी हिन्दीमें नहीं, प्राकृत अपभ्रंशमें ही है, जैसे सातवाहन हालकी 'गाथासप्तशती' या 'गाथाकोश', कण्ह और सरहके 'दोहा-कोश'; पर हिन्दीके सतसई, हजारा, पचासा, बावनी आदि संज्ञावाले काव्य भी वस्तुतः कोश ही हैं। 'हजारा'—एक हजार मुक्तक छन्दोंका संग्रह, जैसे रसनिधिका 'रतन-हजारा', कालिदासका 'कालिदास-हजारा'। 'शतक' या 'शतिका'—इसमें एक ही विषयपर एक जातिके सौ या सौसे अधिक छन्द होते हैं, जैसे संस्कृतमें भर्तृहरिके 'शतक-त्रय', हिन्दीमें देव कविका 'नीति-शतक', मुबारकके 'अलक-शतक' और 'तिल-शतक', खुमानका 'लक्ष्मण-शतक' आदि। 'पंचाशिका' या 'पचासा'—एक ही विषयके पचास छन्दों-वाले काव्य, जैसे बृन्द कविकी "भाव-पंचाशिका', पद्माकरका 'प्रबोध-पचासा', मण्डनका 'नैन-पचासा' आदि। 'चौवनी'—ध्रुवदासकी 'प्रीति-चौवनी'। 'बावनी'—केशवकी 'रतन-बावनी', भूषणकी 'शिवा-बावनी', अग्रदासकी 'उपदेश उप-खाणबावनी'। 'चालीसा'—'हनुमान-चालीसा' आदि।

'चौंतीसी'—जनकराजकिशोरीशरणकी 'सिद्धान्त-चौंतीसी', विश्वनाथ सिंहकी 'वसन्त-चौंतीसी'। 'बत्तीसी'—द्विजदेवकी 'श्रृंगार-बत्तीसी'। 'छवीसी'—मनियार सिंहकी 'हनुमत-छवीसी'। 'पचीसी'—देव कविकी 'देव-पचीसी', 'ब्रह्म-पचीसी', 'तत्त्व-पचीसी' और 'आत्म-पचीसी', खुमानकी 'हनुमत-पचीसी' और 'नृसिंह-पचीसी', नागरीदासकी 'पावस-पचीसी' आदि। 'बाईसी'—प्रीतम कविकी 'खटमल-बाईसी'। 'दशक'—भूषणका 'छत्रसाल-दशक'। 'अष्टक'—रहीमका 'मदनाष्टक' (संस्कृत), नागरीदासके 'आनन्द लग्नाष्टक', 'अरिल्लाष्टक' और 'फाग गोकुलाष्टक', 'ग्वाल'का 'राधाष्टक' आदि। 'पंचक'—खुमानका 'हनुमान-पंचक'।

२. **वर्णमालाश्रित मुक्तक काव्य**—इसमें प्रत्येक पंक्ति वर्णमालाके अक्षरक्रमसे प्रारम्भ होती है। इसके कई नाम प्रचलित है। 'मातृकासंज्ञक'—अपभ्रंशमे 'दोहा मातृका', 'शालिभद्रमातृका', 'संवेगमातृका' आदि। कक्क-संज्ञक—अपभ्रंशमे 'पच शालिभद्र कक्क'। 'ककहरा'—महाराज विश्वनाथ सिंहका 'ककहरा', रामसहाय दासका ककहरा। 'अखरावट'—जायसीका 'अखरावट'। 'बारहखडी'—जनकराजकिशोरीशरणकी 'बारहखड़ी', अपभ्रंशमे महाचन्दका 'बारखडी' दोहा।

३. **छन्दाश्रित**—ऐसे छन्द जो बहुत लोकप्रिय हो जाते हैं, कवियों द्वारा विशेष रूपसे गृहीत होते है और कविगण इन छन्दोंके नामपर अपने मुक्तकोके कोश या संग्रहका नामकरण भी करते है। कुछ उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं। 'दोहा'—अपभ्रंशमे राम सिंहका 'पाहुड़ दोहा', महाचन्दका 'बाहरखडी दोहा', देवसेनका 'सावयधम्म दूहा'। हिन्दीमें 'ढोला-मारू रा दूहा'के दोहे भी वस्तुतः मुक्तक ही है। 'दोहावली'—तुलसीदासकी 'दोहावली', दुलारेलालकी 'दुलारे-दोहावली'। 'कुण्डलिया'—गिरिधरदास, दीनदयालगिरि और बैतालकी कुण्डलिया। 'छप्पय'—'छप्पय रामायण', नरहरि बन्दीजनकी 'छप्पय नीति'। 'सोरठा'—रहीमका 'श्रृंगार सोरठा'। 'बरवा'—तुलसीका 'बरवै रामायण', यशोदानन्दनका 'बरवै नायिकाभेद', रहीमका 'बरवै नायिकाभेद'। 'कवित्त'—नागरीदासके 'रासके कवित्त', छूटकके कवित्त, 'चाँदनीके कवित्त' आदि। सेनापतिका 'कवित्तरत्नाकर', तुलसीदासकी 'कवितावली'। तुलसीने घनाक्षरी, सवैया और छप्पय सबको कवित्तके अन्तर्गत माना है।

४. **रागाश्रित**—संगीतशास्त्रके प्रभावसे अथवा लोक-प्रचलित गीतोंकी लयसे प्रभावित होकर भी बहुतसे मुक्तक काव्यरूपोंका विकास हुआ है। उनमेंसे पद और गीतका विचार गीतिकाव्यके अन्तर्गत किया जायगा। शेषमेंसे कुछके उदाहरण दिये जा रहे है। 'रास'—अपभ्रंशमें मुक्तक काव्यके रूपमे राससंज्ञक काव्य बहुत मिलते है, यद्यपि हिन्दीमे रास या रासो नामसे प्रबन्धकाव्य ही लिखे गये है। रासक या रासा नामक एक छन्द भी होता है, पर राससंज्ञक काव्योंमें वह अनिवार्य नहीं रह गया था। जैन मन्दिरोंमें लगुडारास और तालारास नामक गीति-नृत्य प्रचलित था। सम्भवतः बादमें उसमेंसे नृत्य-वाद्यका अंश निकल गया और वह एक विशुद्ध गेय काव्यरूप बन गया। अपभ्रंशके रास, उपदेश रसायनरास, संघपति समरारास आदि। 'संदेशरासक'के बहुतसे छन्द भी मुक्तक जैसे ही है। हिन्दीमें मुक्तक रासो, रसिक गोविन्दका 'कलयुग-रासो'। 'लावनी'—यह एक लोकप्रचलित राग है, जो वाद्यके साथ गाया जाता है। हिन्दी कवितामें इसे भी एक भिन्न काव्य-रूपकी भाँति कवियोंने अपनाया, जैसे नवल-सिंह कायस्थकी 'रहस:लावनी', तुकन गिरि सोसाई, रिसाल गिरि और देवी सिंहकी लावनियाँ। 'रेखता' नागरीदासका 'रेखतो', नजीर अकबराबादीके 'रेखते'।

५. **ऋतु-उत्सव-आश्रित**—'चर्चरी' या 'चाँचर' एक लोक-प्रचलित राग है, जिसे प्रायः स्त्रियाँ वर्षाऋतुमें नृत्यके साथ गाती है। अपभ्रंशमें इसका नाम चर्चरी मिलता है, जिससे पता चलता है कि यह गेय काव्य-रूप था, जैसे अपभ्रंशमें जिनदत्त सूरि, जिनप्रभ सूरि और सोलणकी चर्चरियाँ। हिन्दीमे नागरीदासकी चाँचरी। 'फाग-होरी'—फाग-काव्यकी परम्परा अपभ्रंशसे ही मिलने लगती है, जैसे 'आदिनाथ फाग', 'नेमिनाथ फाग', 'स्थूलिभद्र फाग' आदि। हिन्दीमें फाग और होरी, दोनों नामोंसे काव्य मिलते है, जैसे नागरीदासका 'फाग-विलास', 'होरीकी माँझ', 'फागविहार' आदि। 'ऋतु और बारहमासा'—दे० 'षड्ऋतु' और 'बारहमासा'।

६. **पूजा-धर्म-आश्रित**—अपभ्रंशमें स्तोत्र, स्तुति, महिमा नामक बहुतसे काव्य है, जैसे देवसेनकी 'ऋषभ जिनस्तुति', जिनप्रभसूरिकी 'जिनमहिमा' और अन्य धर्म-सूरिस्तुति', 'मलयसूरिस्तुति', 'महावीरस्तोत्र' आदि। ये अधिकतर जैन पुरुषों और गुरुओंसे सम्बन्धित है। हिन्दीमे भी इस प्रकारके स्तुतिमूलक मुक्तक मिलते है, जैसे गिरिधरदास (गोपालदास)का 'दनुजारिस्तोत्र', 'शिवस्तोत्र', 'गोपालस्तोत्र', 'एकादशी-माहात्म्य' आदि। साँझी और भजन भी गेय धार्मिक मुक्तक काव्य है, जैसे नागरीदासकी 'साँझी', विश्वनाथ सिंहके 'भजन'। **रमैनी, साखी, सबद** और **निर्गुन**का विवरण अन्यत्र दिया गया है। —शं० ना० सिं०

मुक्त-छंद—मुक्त-छन्दका प्रयोग हिन्दी काव्यक्षेत्रमे एक विद्रोहका प्रतीक रहा है। इसे स्वच्छन्द छन्द भी कहा गया है। अतुकान्त कविता उतनी विद्रोहात्मक सिद्ध नही हुई, जितना मुक्त-छन्द, क्योकि अतुकान्तके पक्षमें संस्कृतका विपुल काव्यसाहित्य उद्धृत किया जा सकता था, परन्तु 'मुक्त-छन्द' छन्दःशास्त्रके अनेक परम्परागत सर्वस्वीकृत नियमोंका उल्लंघन करता हुआ दिखाई दिया। चरणोंकी अनियमित, असमान स्वच्छन्द गति और भावानुकूल यति-विधान, यही मुक्त-छन्दकी मुख्य विशेषताएँ है, जिन्हें प्राचीन शास्त्रीय दृष्टिसे विहित नहीं माना गया और मुक्त-छन्दका प्रयोग करनेवाले कवियोंपर नाना प्रकारके व्यंग्य-विद्रूप होते रहे। मुक्त-छन्दकी स्वच्छन्द प्रवृत्तिका परिहास करते हुए इसे रबड़ छन्द, केंचुआ छन्द, कंगारू छन्द इत्यादि अनेक नाम दिये गये, फिर भी छन्द-स्वातन्त्र्य-भावनाके युगानुरूप होनेके कारण इसकी सत्ता उन्मूलित नहीं की जा सकी। अंग्रेजी (blank verse) और बँगला साहित्यमें विकसित उन्मुक्त छन्द-प्रणालीने हिन्दी मुक्त-

छन्दकी उद्भावना और स्थितिमे पर्याप्त प्रेरणा एवं सहयोग दिया। सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और सुमित्रानन्दन पन्तको मुक्त-छन्दको हिन्दीकाव्यमे संस्थापित करनेका श्रेय है। 'प्रसाद'ने भी कुछ कविताएँ मुक्त-छन्दमे रचीं, जैसे 'पेशोलाकी प्रतिध्वनि', परन्तु व्यापक रूपसे वे मुक्त-छन्दको स्वीकार न कर सके। 'निराला'ने अपने 'परिमल'-की भूमिकामें इसका परिचय निम्नलिखित रूपमें दिया है—"मुक्त छन्द तो वह है, जो छन्दकी भूमिमे रहकर भी मुक्त है। इस पुस्तकके तीसरे खण्डमे जितनी कविताएँ हैं, सब इसी प्रकार की हैं। इनमें कोई नियम नही। केवल प्रवाह कवित्त छन्दका-सा जान पडता है। कहीं-कहीं आठ अक्षर आप-ही-आप आ जाते हैं। मुक्त-छन्दका समर्थक उसका प्रवाह ही है। वही उसे छन्द सिद्ध करता है और उसका नियमराहित्य उसकी मुक्ति"। पन्तकी सुप्रसिद्ध पंक्तियाँ स्वयं छन्दोबद्ध होते हुए भी मुक्त-छन्दका उन्मुक्त उद्घोष करती हैं—"खुल गये छन्दके बन्ध, प्रासके रजत पाश। अब गीत मुक्त औ, युगवाणी बहती अयास" (नवदृष्टि)। पन्तने मुक्त छन्दका आधार मात्रिक संगीतको भी माना, परन्तु 'निराला'का आग्रह रहा कि मुक्त-छन्द केवल वर्णिक अथवा अक्षर-छन्दपर ही आधारित होना चाहिये, क्योंकि उसकी प्रकृति स्त्री-प्रकृति न होकर पुरुष-प्रकृति है। दोनोंमें इस सम्बन्धमे पर्याप्त वाद-विवाद भी चला, जिसका परिचय 'निराला'की 'पन्त और पल्लव' नामक रचनासे मिलता है। कुछ अंश द्रष्टव्य है—"पन्तजीकी कविताओंमे स्वच्छन्द छन्दकी एक लड़ी भी नहीं, परन्तु वे कहते है, 'पल्लव'मे मेरी अधिकांश रचनाएँ इसी छन्दमें है, जिनमें 'उच्छ्वास', 'आँसू' तथा 'परिवर्तन' विशेष बड़ी है। यदि गीतिकाव्य और स्वच्छन्द छन्दका भेद, दोनोंकी विशेषताएँ पन्तजीको मालूम होती तो वे ऐसा न लिखते।...पन्तजीने जो लिखा है कि स्वच्छन्द ह्रस्व-दीर्घ-मात्रिक संगीतपर चल सकता है, यह एक बहुत बड़ा भ्रम है। स्वच्छन्द छन्दमें 'आर्ट ऑव म्यूज़िक' नहीं मिल सकता, वहाँ है 'आर्ट ऑव रीडिंग', वह स्वरप्रधान नहीं, व्यंजन प्रधान है। वह कविताकी स्त्री-सुकुमारता नहीं, कवित्वका पुरुष-गर्व है' (पृ० ४४)। 'निराला'की उपर्युक्त स्थापनाएँ इस बातका प्रमाण है कि वे हिन्दीमें मुक्त-छन्दके सबसे अधिक ओजस्वी प्रवक्ता रहे हैं और इस सम्बन्धमें उनकी धारणाएँ स्वतन्त्र महत्त्व रखती हैं। 'निराला'के व्यक्तित्वमें मुक्त-छन्दने अपनी सार्थकता उपलब्ध की, इसमें सन्देह नहीं। 'निराला'की 'जागरण' शीर्षक कवितामें मुक्त-छन्द-की व्याख्या मुक्त-छन्दमें ही की गयी है—"अलंकार लेश रहित, श्लेषहीन। शून्य विशेषणोंसे—। नग्न नीलिमा-सी व्यक्त। भाषा सुरक्षित वह वेदोंमें आज भी—। मुक्त-छन्द, सहज प्रकाश वह मन का—। निज भावोंका प्रकट अकृत्रिम चित्र"। (परिमल, पृ० २६४)। महावीरप्रसाद द्विवेदीने अतुकान्त कविताका तो पक्ष लिया, परन्तु मुक्त-छन्दका समर्थन वे न कर सके और 'आजकलकी कविता' नामक एक निबन्धमें उन्होंने मुक्त-छन्दके प्रयोक्ता कवियो-को अहंवादी घोषित किया। उनका विरोध भी मुक्त-छन्दकी प्रगतिको कुण्ठित न कर सका। छायावादोत्तरकालमे हिन्दी कविताकी एक प्रमुख धाराने मुक्त-छन्दको अपनाया और अब अधिकांश प्रयोग मुक्त-छन्दमे ही हो रहे हैं, जिनसे उसके स्वरूपमें वैविध्य और सामर्थ्यमें विकास परिलक्षित होने लगा है।

मुक्त-छन्दके लिए कहा गया है कि "यह पश्चिमी बीजका पूर्वीका अंकुर है" (लक्ष्मीनारायण सुधांशु : जीवन-के तत्त्व और काव्यके सिद्धान्त)। इस कथनमे बहुत-कुछ सत्य है, क्योंकि पश्चिमी मुक्त-छन्दकी कविताओंने आधु-निक भारतीय कविताके रूपविधानको अवश्य प्रभावित किया है। अमेरिकी कवि वाल्ट ह्विटमैन (१८१९-१८९२)ने अपने कवितासंग्रह 'घासकी पत्तियाँ' (leaves of grass)मे, जिसे वह जीवनभर परिवर्धित करता रहा, मुक्त-छन्दका आग्रहपूर्वक व्यवहार किया है। उस कालमे अंग्रेजीके प्रचलित छन्दविधानके विरुद्ध उसका मुक्त-छन्द एक क्रान्तिकारी तत्त्वके रूपमे सामने आया। मुक्त-छन्दकी पंक्तियाँ घासकी पत्तियोंकी तरह असमान होते हुए भी सहज सौन्दर्यसे युक्त होती हैं, कदाचित् इसी सादृश्यसे ह्विटमैनने अपने संग्रहका उक्त नामकरण किया होगा, ऐसी कल्पना की जाती है। 'दी म्यूजिक ऑव पोइट्री' शीर्षक निबन्धमे टी. एस. ईलियटने लिखा है कि "मुक्त छन्दके नामसे बहुत-सा अपरिपक्व गद्य भी लिखा गया है, जो अनपेक्षित है। मुक्त छन्दका स्वागत उस काव्य-रूपको पुनरुज्जीवित करने या नये रूपको विकसित करनेकी दृष्टिसे ही आविर्भूत हुआ। बाह्य एकताके विरुद्ध कविताकी आन्त-रिक एकतापर मुक्त-छन्द बल देता है, जो प्रत्येक काव्य-रचनाके लिए सत्य है। कविता अपने 'रूप'से पूर्व ही जन्म ले चुकती है, इस अर्थमे कि 'रूप' कुछ कहनेसे ही उत्पन्न होता है"। —ज० गु०

मुक्तपदग्राह्य यमक—दे० 'यमक'।

मुकहरा सवैया—दे० 'सवैया', सातवाँ प्रकार।

मुक्ति—संसारमे दुःख है, इस तथ्यको स्वीकार करते हुए उसकी आत्यन्तिक निवृत्तिको भारतीय दर्शनमे मुक्ति कहा गया है। परन्तु मुक्ति या मोक्षकी कल्पना भारतीय दर्शन और ज्ञान, कर्म तथा भक्तिके विविध साधन-मार्गोंमे भिन्न-भिन्न प्रकारसे की गयी है। सबसे सीधी और सरल कल्पना चार्वाक दर्शन की है, जिसमे अन्य दर्शन-सिद्धान्तोके समान आत्यन्तिक दुःख-निवृत्तिको भी मुक्ति माना गया है, परन्तु इस शरीरको ही दुःखका कारण मानते हुए 'मरणमेवापवर्गः' मरणको ही अपवर्ग (मोक्ष) कहा गया है, क्योंकि शरीरसे भिन्न और कोई सत्ता नहीं है, शरीरके नाश होते ही सब दुःख दूर हो जाते है। जैन दर्शनमें कर्मके आत्यन्तिक क्षयको ही मोक्ष कहते है। मोक्ष प्राप्त कर लेनेपर जीव अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य, अनन्त श्रद्धा और अनन्त शान्ति—अनन्त-चतुष्टय—की स्वयः उपलब्धि करके अपने नैसर्गिक शुद्ध स्वरूपमे आ जाता है। मोक्ष या कैवल्यकी प्राप्ति पृथ्वीपर सशरीर जीवित रहनेकी अवस्थामें भी हो सकती है, अर्थात् जैन-दर्शन जीवन्मुक्तिमे विश्वास करता है। स्वयं भगवान् बुद्धने केवल आत्यन्तिक दुःख-निवृत्तिको 'निर्वाण' (मोक्ष) कहा है और इसे उन्होंने दुःख-निरोधके

नामसे अपने चार आर्य-सत्योंमें सम्मिलित किया है। आर्य-अष्टांगिक मार्गके आचरणसे प्रज्ञाके होते ही सद्यः निर्वाणकी प्राप्ति होती है। शील,—गृहस्थोंके लिए पंचशील तथा भिक्षुओंके लिए दशशील—समाधि और प्रज्ञा निर्वाण-प्राप्तिके लिए आवश्यक है। प्रज्ञाके अनुष्ठानसे ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है, मनोमय शरीरका निर्वाण हो जाता है तथा दिव्य श्रोत्र, दिव्य चक्षु, पूर्वजन्म-स्मरण, परचित्त-ज्ञान तथा ऋद्धियोंकी उपलब्धि हो जाती है। फलस्वरूप दुःखके विनाशका अनुभव हो जाता है और चित्त अज्ञानमे पड़ने तथा जन्म लेने और भोग करनेकी इच्छासे सदाके लिए मुक्त हो जाता है। यही बौद्ध निर्वाणका रूप है। बुद्ध भगवान्‌के बाद बौद्ध धर्ममें अनेक दार्शनिक वाद पैदा हो गये और उनमे निर्वाणकी भी भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ की गयी। वैभाषिक मतमे जिसका सम्बन्ध हीनयान सम्प्रदाय-से है, निर्वाण दो प्रकारका होता है—सोपाधि-शेष तथा निरुपाधि-शेष। सोपाधि-शेष **जीवन्मुक्ति**की अवस्था है और निरुपाधि-शेष **विदेहमुक्ति**की। यही मत प्राचीन मत है। महायान सम्प्रदाय प्रवृत्ति-प्रधान और भक्तिवाद-को माननेवाला सम्प्रदाय है। अपने विकास-क्रममे महा-यानकी परिणति क्रमशः मन्त्रयान, वज्रयान और सहज-यानमे होती गयी और इन सबमे निर्वाण-सुखकी अत्यन्त आकर्षक और मनोरंजक कल्पनाएँ की गयी।

वैदिक षडदर्शनोंमे न्याय, 'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः', दुःखसे अत्यन्त विमोक्षको अपवर्ग कहता है। गृहीत जन्म-का नाश तथा भविष्य जन्मकी अनुत्पत्ति ही 'अत्यन्त' विमोक्ष या मुक्ति है। मुक्त होकर आत्मा अपने नौ विशेष गुणों—बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा संस्कारसे छुटकारा पा जाती है। नैयायिकोंके मतसे मुक्त आत्मामें सुखका भी अभाव होता है। सुखका रागसे अनिवार्य सम्बन्ध है और राग बन्धनका कारण है। अतः मोक्ष-दशामें सुखकी विद्यमानता नही मानी जा सकती। निःश्रेयस् या मुक्ति दो प्रकार की होती है—अपर और पर। आत्मतत्त्वकी प्रत्यक्ष अनुभूति होनेपर अपर निःश्रेयस् या जीवन्मुक्तिकी प्राप्ति होती है, परन्तु प्रारब्ध कर्म तब भी नष्ट नही होते। इनके क्षीण हो जानेपर ही पर-निःश्रेयस्‌की प्राप्ति हो सकती है। वैशेषिक दर्शनमें भी न्यायकी भाँति दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति तथा आत्माके विशेष गुणोंके उच्छेदको ही मुक्ति माना है, यद्यपि आनन्द या सुखके अभावकी बात उस तरह उन्होंने नही उठायी है।

सांख्यके अनुसार दुःख प्रकृतिजन्य है। पुरुष स्वभावतः मुक्त और निःसंग है। परन्तु अविवेकके कारण प्रकृतिके साथ उसका संयोग होता है और उसमें दुःखका प्रतिबिम्ब पडता है, जिससे वह संसार या दुःखभोगको प्राप्त होता है। 'द्वयोरेकतरस्य वा औदासीन्यमपवर्गः' (सां० सू०, ३ : ६५)के अनुसार प्रकृतिसे वियुक्त होकर पुरुषका एकाकी हो जाना ही **कैवल्य** या **मोक्ष** है। वस्तुतः बन्धन और मुक्ति, दोनों प्रकृतिके ही धर्म है। पुरुष इनसे परे है। उसके मोक्षका तात्पर्य है उसके प्रतिबिम्ब-रूप मिथ्या दुःखका नाश, जो विवेक द्वारा यह जान लेनेसे सिद्ध होता है कि मै अमरणशील, अपरिवर्तनशील, नित्य और सत्य हूँ। सांख्यके अनुसार मुक्ति दो प्रकार की होती है—जीव-न्मुक्ति और विदेहमुक्ति। जीवन्मुक्तिकी अवस्थामे पुरुष, प्रकृतिकी निवृत्ति हो जानेपर भी ठीक उस प्रकार प्रारब्ध कर्ममें संलग्न रहता है, जैसे कुम्हारका चाक बर्तन बनाकर उतार लेनेके बाद भी कुछ देरतक घूमता रहता है। परन्तु तीन तापोंका नितान्त विनाश शरीरके नाश होनेपर **विदेहमुक्ति**में ही सम्भव है। सुख और दुःख सापेक्षिक शब्द है, अतः मुक्तिमे दुःखकी तरह सुखका भी अभाव मानना पड़ेगा। इस सम्बन्धमे सांख्यका मत न्यायके अनुरूप है। योगदर्शन भी सांख्यकी तरह मोक्षको कैवल्य नामसे अभिहित करता है। कैवल्यका अर्थ है केवल या एकाकी स्थिति। यहाँ सांख्यकी प्रकृतिके स्थानपर बुद्धिसे पुरुषके सम्बन्ध-विच्छेदकी अपेक्षा बतायी गयी है। ऐसा होनेपर ही पुरुष चित् रूपमे प्रतिष्ठित होता है और कैवल्य की प्राप्ति करता है। पुरुषार्थ-शून्य होनेसे उसके गुणोका अपने कारणमे लय हो जाता है। जब त्रिगुणका नाश हो जाता है तब योगी अतिक्रान्त मानवीय दशाको, अर्थात् चिन्तनयोग्य पदार्थोंकी सीमाको पार करके परम पदकी स्थितिको प्राप्त कर लेता है।

मीमांसकोंने मोक्षके विषयमें अधिक सूक्ष्मतासे विचार किया है, अतः उनमें परस्पर मतभेद पाया जाता है। इस विषयमे तो एकमत है कि दृश्य जगत्‌के साथ आत्माके सम्बन्धका विनाश ही मोक्ष है (प्रपञ्च-सम्बन्ध-विलयो मोक्षः —शा० दी०)। जीव संसारका भोग करनेवाले शरीर, भोगके साधन इन्द्रिय और भोगके विषय पदार्थ—इस त्रिविध बन्धनमें बँधा रहता है। इस बन्धनके 'आत्यन्तिक विनाश'का ही नाम मोक्ष है। मुक्तावस्थामे आनन्दकी अनुभूति होती है या नही, इस सम्बन्धमे दो मत है। एक मतके अनुसार मुक्तावस्थामे आत्माके शुद्ध स्वरूपके उदय होनेपर नित्य सुखकी अभिव्यक्ति अवश्य होती है, यद्यपि बाह्य पदार्थोंके साथ सम्बन्ध न रहनेसे बाह्य सुखकी अनु-भूति नही रहती। दूसरे मतके अनुसार मुक्तात्मामे सुखका भी आत्यन्तिक विलय हो जाता है। आत्माको प्रिय या अप्रिय, हर्ष या शोकका स्पर्श नही होता।

अद्वैतवेदान्त-दर्शन आत्मा तथा ब्रह्मकी एकता मानता है। अतः आत्मैक्य-ज्ञान उत्पन्न होते ही सद्यः आनन्दका उदय हो जाता है और 'प्रपंच-विलय' हो जाता है। प्रपंच-विलय ही वेदान्तकी मुक्तावस्था है। संसारका यह प्रपंच स्वप्नकी भाँति अविद्या-निर्मित और मिथ्या है। ब्रह्म-ज्ञान होनेसे अविद्याका विनाश हो जाता है और जगत्‌की सत्ता नहीं रहती। तभी अद्वैतकी अनुभूतिमें मोक्षकी आनन्दानुभूति होती है। वेदान्तकी इस सम्बन्धमे मीमांसासे भिन्नता है। मीमांसाके अनुसार तो केवल प्रपंचके सम्बन्धका विलय होता है, परन्तु वेदान्त स्वयं प्रपंचका विलय मानता है, क्योंकि उसके अनुसार प्रपंचकी कोई वास्तविक सत्ता नही है।

उपर्युक्त दार्शनिक मत-वादोंके अतिरिक्त साधना-मार्गोंमे भी मोक्षके सम्बन्धमें विविध धारणाएँ है। वैष्णव भक्ति-धर्म-पांचरात्रके अनुसार 'ब्रह्मभावापत्ति' ही मोक्ष है, अर्थात् जीव ब्रह्मके साथ एकाकार होकर निःशेष आनन्दका उप-

भोग करता है और कभी संसारमें लौटकर नहीं आता। मुक्त दशामें जीव भगवान्‌के पर-रूपके साथ परम व्योम वैकुण्ठमें आनन्द-क्रीडा करता है। वैकुण्ठमें अनन्त, गरुड, विष्वक्सेन आदि नित्य जीव निवास करते हैं। मुक्त जीव वहाँपर त्रिकालाबाधित रूपसे भगवान्‌के सेवा-भजनमें लीन रहता है।

भागवत धर्ममें भगवान्‌की भक्तिको परिपूर्ण माना गया है। श्रीमद्भागवतमें वर्णित साधनरूपा भक्तिसे भिन्न साध्यरूपा भक्ति, जो रागानुगा होती है, स्वतः कमनीय है, साधकको उसके अतिरिक्त किसी बातकी, लौकिक-अलौकिक सिद्धियों या मोक्षकी कामना नहीं रहती। भगवान्‌के साथ नित्य वृन्दावनमें विहारकी कामना इतनी मनोहर है कि उसके आगे मुक्ति नीरस और शुष्क है, परन्तु इस सामान्य धारणाको स्वीकार करते हुए वैष्णव-दर्शनमें मुक्तिके सम्बन्धमें कुछ-न-कुछ अवश्य कहा गया है। विशिष्टाद्वैत मतमें जीव और ब्रह्मकी उस प्रकारकी अभिन्नता नहीं मानी गयी है, जैसी शांकर अद्वैतवादमें, अतः विशिष्टाद्वैतवादी मुक्त जीवको ब्रह्ममें अभिन्न नहीं, उसके समान हुआ मानते हैं। उसे ब्रह्मके स्वरूप और गुणकी प्राप्ति हो जाती है, ब्रह्मके साथ मिलकर वह एकाकार नहीं होता। वह सर्वज्ञ और सत्य-संकल्प तो हो जाता है, परन्तु उसमें सर्वकर्तृत्व नहीं आता। रामानुजके मतमें **जीवन्मुक्ति** मान्य नहीं है। वे केवल **विदेहमुक्ति** ही मानते हैं। वैकुण्ठमें भगवान्‌का दासत्व ही परम मुक्ति है।

कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायोंमें द्वैतवादी माध्व मत भगवान्‌की कृपा और उनसे प्रेम करनेके फलस्वरूप प्रकृति या अविद्याके बन्धनसे छूटनेको ही मुक्ति मानता है। उसके अनुसार मुक्ति चार प्रकारकी होती है—(१) **कर्मक्षय,** अर्थात् संचित पाप-पुण्यका विनाश, परन्तु इस अवस्थामें प्रारब्ध कर्मोंका नाश नहीं होता; (२) **उत्क्रमण-लय,** जिसमें प्रारब्ध कर्मके क्षयके बाद जीव ब्रह्मनालका उत्क्रमण करता हुआ सुषुम्ना-पथको पार कर लेता है और उसे जीवत्वका बोध नहीं होता, विष्णुतेजसे जीवके हृदयका द्वार (ब्रह्मद्वार) खुल जाता है और हृदयस्थ भगवान् जीवको वैकुण्ठलोकमें ले जाकर अपने तुर्य रूपका साक्षात्कार कराते हैं; (३) **अर्चिरादिमार्ग,** जिसमें जीव देहादि प्रतीकके आश्रयसे ज्ञानलाभ करता है और सुषुम्नाकी पार्श्ववर्ती नाड़ीसे ऊर्ध्वगमन करते हुए अर्चिरादि लोक और फिर वायुलोक होते हुए ब्रह्माके लोकमें जाता है। वहाँ वह ब्रह्माके भोगावसानके बाद परम पद लाभ करता है और (४) **भोग,** जिसमें प्रारब्ध कर्मोंका क्षय होनेपर एक गुणोपासक ज्ञानी देह त्यागकर पृथ्वी आदिपर परमानन्दका भोग करता है, उसे श्वेतद्वीपवासी नारायणका दर्शन मिलता है और वह नारायणकी आज्ञासे पृथ्वीपर विचरण कर सकता है। मुक्तिकी इन चार अवस्थाओंके अतिरिक्त माध्व मतमें मुक्ति-भोग भी चार प्रकारका माना गया है—**सालोक्य, सायुज्य, समीप्य** और **सारूप्य।** सालोक्य मुक्ति-भोगमें जीव भगवान्‌के लोकमें पहुँचकर वहाँ इच्छानुकूल भोग करता हुआ निवास करता है। सामीप्यमें भगवान्‌के समीप रहकर वह आनन्द-लाभ करता है। सारूप्यमें भगवान्‌के समान रूप और गुण प्राप्त करके आनन्द प्राप्त करता है। सायुज्य मुक्तिका भोग भगवान्‌में प्रविष्ट होकर भगवद्देह द्वारा प्राप्त होता है परन्तु यह मुक्ति-भोग केवल देवगण ही पाते हैं। प्रलय-कालकी अवस्थामें अवश्य लक्ष्मीको छोड़कर सभीको भगवद्देहमें प्रविष्ट होना पड़ता है। अन्य कालोंमें जीवको पहले तीन मुक्ति-भोग ही प्राप्त होते हैं, जिनमें स्त्रियोंके साथ जल-केलि, प्रासादोंमें आनन्द-क्रीडा, यज्ञादि अनुष्ठान, भगवान्‌के गुण-कीर्तन तथा उनके समीप रहकर नृत्य आदिकी कल्पना की गयी है। जीवको परमानन्दकी प्राप्ति सारूप्य अवस्थामें नहीं होती, वह केवल शुद्ध सत्त्वमय लीला-शरीरसे क्रीड़ाका आनन्द ही भोग सकता है।

द्वैताद्वैतवादी निम्बार्काचार्यके मतमें मुक्ति दो प्रकारकी कही गयी है—**क्रममुक्ति** तथा **सद्योमुक्ति।** निष्काम-कर्म-युक्त विधि-निषेधका पालन करते हुए जीवको अर्चन-वन्दन आदिके द्वारा स्वर्गादि लोकको प्राप्ति होती है, फिर वह सत्यलोकमें जाता है और जब प्रलयावस्था आती है तब वह ब्रह्ममें **सायुज्य**-लाभ करता है। यही क्रममुक्ति है। इससे भिन्न श्रवणादि भक्तिके आचरण द्वारा जिन जीवोंका संसारका बन्धन टूट जाता है और भगवत्कृपाकी प्राप्ति हो जाती है, उन्हें सद्योमुक्तिका लाभ होता है। वे हरिपद या कृष्णलोकमें पहुँच जाते हैं। यही मुक्ति निम्बार्कके सनकादि-सम्प्रदायमें अभीष्ट बतायी गयी है। परब्रह्म श्रीकृष्णके दो स्वरूप हैं—एक ऐश्वर्यप्रधान और दूसरा आनन्दप्रधान। सकाम भक्तिसे हरि-पदकी प्राप्ति होनेपर भगवान्‌के ऐश्वर्यादिजनक आनन्दकी प्राप्ति होती है तथा निष्काम सेवा और प्रेममयी भक्तिके फलस्वरूप भगवान्‌के समीप रहकर उनकी सेवा करनेका आनन्द मिलता है। भगवान्‌के सामीप्यसे मुक्त जीवोंको उन्हींके समान गुण प्राप्त हो जाते हैं और उन्हें नित्यसिद्ध देह मिल जाती है। यह देह निर्विकार और भगवत्सेवा-योग्य होती है। निम्बार्क-सम्प्रदायी मुक्तिके ही समान वल्लभाचार्यके शुद्धाद्वैतकी मुक्तिका विचार है। उन्होंने भी क्रममुक्ति और सद्योमुक्तिका इसी प्रकार भेद बताया है। उनके अनुसार भी मर्यादामार्गका अनुयायी ज्ञानके द्वारा अक्षर-सायुज्य मुक्तिको प्राप्त करता है। यही क्रममुक्ति है। परब्रह्म परमानन्दकी प्राप्ति तो भगवान्‌के अनुग्रह (पुष्टि)प्राप्त भक्तोंको ही हो सकती है। तभी उनमें तिरोहित आनन्द-अंश पुनः प्रादुर्भूत हो जाता है और जीव भगवान्‌से अभेद प्राप्त कर स्वयं सच्चिदानन्द बन जाता है, अर्थात् उसकी देह, इन्द्रिय और अन्तःकरणमें भगवदानन्दकी स्थापना हो जाती है। अतः वल्लभ-सम्प्रदायी सद्योमुक्ति स्वरूपापत्तिरूपी है।

चैतन्यके गौडीय वैष्णव सम्प्रदायमें भी जड़ मायासे मुक्त होकर ब्रह्म-सायुज्य-कैवल्य-मुक्तिकी कल्पना की गयी है और भक्तिके द्वारा स्वरूपानुभवसे बैकुण्ठ और भगवान्‌के गोलोककी प्राप्ति बतायी गयी है। वैधी भक्तिसे, जो कि भगवान्‌का ऐश्वर्यमार्ग है, भगवान्‌का मथुरा-द्वारका धाम मिलता है और रागानुगा भक्तिके माधुर्यमार्गके अनुगामी भगवान्‌के माधुर्य रूपके समीप गोलोकमें जाते हैं। इसका क्रम इस प्रकार है कि मृत्युके बाद स्थूल शरीर छोड़कर सूक्ष्म शरीरसे भक्त सूर्य-मण्डलमें जाता है। फिर वह

विरजा नदीमे निमग्न होकर अपना कारण-शरीर छोड देता है। अन्तमें वह दिव्य स्वरूप धारण कर बैकुण्ठमे पहुँचता है, जहाँ भगवान् उसे स्वयं निज धाममें ले लेते हैं।

कृष्ण-भक्तिके हरिवंशी (राधावल्लभी) और हरिदासी (सखी) सम्प्रदायोंमे सिद्धान्त-निरूपण बहुत कम हुआ है। फिर भी हितहरिवंशका मुक्तिके सम्बन्धमे यह विचार जान पडता है कि जब जीवनकी द्वैतबुद्धि नष्ट हो जाती है और वह हित(प्रेम)रूपसे अद्वयका भाव प्राप्त कर लेता है, तब वह नित्य वृन्दावन-विहारका आनन्द-लाभ करता है, जहाँ वृन्दावन, राधा, श्रीकृष्ण और सखियाँ—ये चार उपकरण एक तत्त्वके रूप है। ये सब उपकरण प्रेमरूप है, जीव भी प्रेमरूप हो जाता है। सखी-सम्प्रदायमे सिद्धान्त-पक्षका नितान्त अभाव होनेसे, हम उसमे स्वीकृत मुक्तिका विचार निम्बार्क-सम्प्रदायके ही समान मान सकते हैं, क्योंकि यह सम्प्रदाय उसीकी एक शाखा कहा जा सकता है।

मुक्ति, कैवल्य, मोक्ष, निर्वाण, निःश्रेयस् सम्बन्धी उपर्युक्त विचारोंका विवेचन हिन्दी साहित्यके भक्ति-काव्यके अध्ययनके लिए उपयोगी हो सकता है, क्योंकि भक्त कवियोंने काव्यकी रचना पुरुषार्थ-चतुष्टयके अन्तिम सोपान—मोक्षके लक्ष्यसे ही की है। परन्तु यह ध्यानमे रखनेकी आवश्यकता है कि इन भक्तोंने भक्तिको ही साधन और साध्य, दोनों माना है और प्रायः इस सम्बन्धमे उदासीनता दिखायी है कि भक्तिका फल क्या होता है। दुःखकी निवृत्ति, संसारके बन्धनका नाश, उद्धार आदिकी कामना उन्होंने अवश्य की, परन्तु साधन और कर्तव्यपर ही उनका ध्यान विशेष रूपसे रहा है, सिद्धिकी उन्होंने अधिक चिन्ता नही की। —व्र० व०

मुखसंधि–रूपककी **पंच-सन्धियों** (दे० 'संधि')मे पहली सन्धि ('मुखं बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा'–द० रू०, १ : २४)। मुखसन्धिमें अनेक तरहके रसोंको उत्पन्न करनेवाली बीजोत्पत्ति पायी जाती है। यह बीज **अर्थ-प्रकृति** और **आरम्भ** कार्यावस्थाको जोडता है। उदाहरणार्थ, 'स्कन्दगुप्त' नाटकमे मुखसन्धि वहाँपर होती है, जहाँ "बीज अर्थ-प्रकृतिकी उत्पत्तिके साथ ही स्कन्दगुप्त मालव दूतको आश्वासन देता है, 'दूत! केवल सन्धि-नियमसे ही हम बाधित नही हैं, किन्तु शरणागत-रक्षा भी क्षत्रियका धर्म है। तुम विश्राम करो। सेनापति पर्णदत्त पुष्यमित्रोंकी गति, समस्त सेना लेकर रोकेंगे। अकेले स्कन्दगुप्त मालवकी रक्षा करनेके लिए सन्नद्ध है। जाओ, निर्भय निद्राका सुख लो। स्कन्दगुप्तके जीते, मालवका कुछ न बिगड सकेगा।" इसपर पर्णदत्त कहता है, 'युवराज! आज यह वृद्ध हृदयसे प्रसन्न हुआ। कोई चिन्ता नही, गुप्त साम्राज्यकी लक्ष्मी प्रसन्न होगी।' यहींसे मुखसन्धिका आरम्भ मानना चाहिये। प्रारम्भ नामक अवस्थाके साथ बीज अर्थ-प्रकृतिकी उत्पत्ति इसी स्थलसे दिखाई पडती है।...इसका विस्तार प्रथम अंकके समाप्तिस्थलतक चलता है" (जगन्नाथप्रसाद शर्मा : प्रसादके नाटकोंका शास्त्रीय अध्ययन)।

मुखसन्धिके कुल १२ सन्ध्यंग है—उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, विलोभन, उक्ति, प्राप्ति, समाधान, विधान, परिभावना, उद्भेद, भेद तथा करण। —ब० सिं०

मुख्य कथावस्तु–दे० 'आधिकारिक वस्तु'।

मुग्धा (नायिका)–अधिकांश आचार्योंके अनुसार स्वकीया नायिकाका एक भेद। इसके विषयमे विस्तारके लिए दे०—'नायिका-भेद'। एक सीमातक यह भेद परकीयाका भी माना जा सकता है, विशेषकर अनूढाका। यह भेद वयःक्रमपर आधारित माना जाता है, पर यह नायिकाकी लज्जाशीलताके अनुपातसे किया गया भी कहा जा सकता है। यह सर्वप्रथम रुद्रट द्वारा दिया गया है। 'मुग्ध' शब्दके अर्थ है—स्तब्ध, विमूढ, भ्रमित, विभ्रान्त तथा सुन्दर और इस नायिकामे इन समस्त गुणोंको माना गया है। ऐसी नायिका, जिसके शरीरमे यौवनका नवसंचार हुआ हो, जो लज्जाशीला अपनी रतिभावनासे परिचित हो रही हो—'तत्रांकुरितयौवना मुग्धा' (भानुदत्त : र० म०, पृ० ७) अथवा—'नववयः कामा रतौ वामा मृदुः क्रुधि' (शिंगभूपाल : रसार्णव, पृ० ९६)। किशोरावस्थामे तारुण्यके प्रकट होनेकी बात इस नायिकाके सम्बन्धमे अधिक कही गयी है—"अभिनव यौवन आगमन जाके तनमै होय" (मतिराम : रसराज, १४) तथा—"झलकत आवै तरुनई नयी आसु अँग अंग" (पद्माकर : जगद्वि०, भा० १ : २१)।

प्रस्तुत नायिकाके वर्णनमें कवियोने इसी भावको प्रधानता दी है और नायिकाकी यह अवस्था रीतिकालीन कवियोंके लिए विशेष आकर्षणका विषय रही है। अवस्था-विशेषमें नारीमें आकस्मिक परिवर्तन परिलक्षित होने लगते है, उनका सुन्दर भावपूर्ण वर्णन इन कवियोने किया है—"नैक मन्द मधुर कपोल मुसक्यान लागे, नैक मन्द गमन गयन्दनकी चाल भौ" (मतिराम : रसराज, १५)। पद्माकरने भी इसी चढती हुई मधुराईका चित्रण किया है—"ये अलि या बलिके अधरानमें आनि चढी कछु माधुरई सी" (जगद्वि०, भा० १)। विद्यापति और सूरने राधाका मुग्धारूपमें वर्णन बहुत भावपूर्ण किया है। राधा कृष्णके प्रति प्रारम्भमे इसी भावसे आकर्षित होती है। इस भावस्थितिके चित्रणमे विद्यापतिने यौवनके स्फुरणका और सूरने भावोंके स्पन्दनका अंकन किया है। आधुनिक छायावादी कवियोंमें प्रकृतिपर मुग्धा नायिकाका भावारोप बहुत सुन्दर बन पड़ा है। इसका सामान्य विभाजन इस प्रकार है—१. अज्ञातयौवना, २. ज्ञातयौवना और पुनः १. नवोढा, २. विश्रब्ध नवोढा (विशेष इन्ही शब्दोंके अन्तर्गत देखें। अन्य प्रकारके विभाजन-विस्तारके लिए दे० 'नायिका भेद')।

मुदिता (नायिका)–परकीयाकी स्थितिके अनुसार एक भेद। विशेषके लिए दे० 'नायिका-भेद'। सर्वप्रथम भानुदत्त द्वारा उल्लिखित। परपुरुष-सम्बन्धी प्रेमकी अभिलाषापूर्ति होते देखकर मुदित होनेवाली नायिका। मतिरामने 'चित चाही सुन बातै लखि' मुदित होना कहा है और पद्माकर बातके साथ 'घात' भी जोड़ते है। वस्तुतः परकीया नायिकाके सन्दर्भमें मनचाही स्थिति एक घातके रूपमें उसे प्राप्त हो सकती है—"बिछुरत रोवत दुहुन-कौ सखि यह रूप लखै न। दुख असुआँ पिय नैन है सुख अँसुआ तिय नैन" (मतिराम : रसराज, ८४), अथवा रहीमने नायिका-

का उल्लास अंकित किया है—"जस मदमातल हथिया हुमकत जाति। चितवत जाति तरुनियाँ मन मुसुकाति" (बरवै०, २६)। स्थितिका वर्णन पद्माकर इस रूपमें प्रस्तुत करते हैं—"तव लगि झुकि आयी घटा अधिक अँधेरी रैन" (जगद्वि०, १ : ११२)।

मुद्रा १–एक गौण अर्थालंकार। 'कुवलयानन्द'में अप्पय दीक्षितने इस अलंकारका सम्भवतः प्रथम बार उल्लेख किया है। इस अलंकारकी चर्चा इस तथ्यका प्रतीक है कि प्रायः साहित्य-शास्त्रके सिद्धान्त प्रत्यक्ष उदाहरणोंपर आश्रित होते हैं। भासकृत 'प्रतिमा' नाटकमें इसका अति प्राचीन उदाहरण मिलता है। अप्पय दीक्षितने इसकी परिभाषा की है कि "मुख्यार्थसमन्वित शब्दोंके द्वारा जब सूच्य कथा-वस्तुकी सूचना हो तो मुद्रा अलंकार होता है" (७३), जैसे 'प्रतिमा' नाटकमें 'राम सबकी रक्षा करें', इस प्रकारके मंगलवाक्यमें न केवल रामके विशेषणोंका उल्लेख है, अपितु 'प्रतिमा' नाटककी कथाकी सूचना भी मिलती है। हिन्दीमें अप्पय दीक्षितका अधिक अनुसरण करनेवाले आचार्योंने इसका विवेचन किया है—"प्रकृत अर्थ पर पदनिसौ सुद्ध प्रकासत अर्थ"। भूषण तथा दास आदिने इसे स्वीकार नहीं किया है। उदा०—"करुणे क्यों रोती है? उत्तरमें और अधिक तू रोई। मेरी विभूति है जो, उसको भवभूति क्यों कहे कोई" (साकेत, अ० मं० से)। मुद्रा लक्ष्य-निर्देशका वाची है, अतः इस अलंकारका यह नाम पड़ा; जैसे नक्षत्रमालामें अग्नि एवं अन्य देवताओंके नामसे नक्षत्रोंकी सूचना होती है। —ज० कि० ब०

मुद्रा २–मुद्राके कई अर्थ साधना-पद्धतियोंमें लिये गये हैं—(क) शारीरिक अंगों, उँगलियों आदिकी अनेकविध स्थितियाँ, जैसे, भूस्पर्श मुद्रा, अभय मुद्रा आदि; (ख) विष्णुके आयुधोंके जो चिह्न भक्तगण अपने शरीरपर धारण करते हैं, तिलक आदिके रूपमें; (ग) गोरखपन्थी साधुओंके पहननेका एक कर्णाभूषण, जो प्रायः काँच या स्फटिकका होता है। यह कानके बीचमें एक छेद करके पहना जाता है, जिसके कारण इन्हें **कनफटे**की संज्ञा दी गयी है; (घ) हठयोगमें विशेष अंगविन्यास, जैसे **खेचरी मुद्रा** आदि; (ङ) तान्त्रिक गुह्य साधनाओंमें वह रमणी, जो तान्त्रिक अनुष्ठानोंमें सह-साधिका रहती है।

तान्त्रिक मुद्राका अर्थ मोद देनेवाली (मुद्+रा) करते हैं। नाथोंके कुछ पदोंमें ऐसा संकेत मिलता है कि सम्भवतः वज्रयानी साधनाओंके प्रभावसे कुछ अन्तर्भुक्त शाखाओंमें तान्त्रिक अर्थमें मुद्रा-साधना विद्यमान थी, पर अधिकतर नाथ-साधक केवल हठयोगके अर्थमें मुद्रा-साधना करते थे। वज्रयानी साधनामें गुह्य-साधनापरक अर्थ प्रचलित था। 'श्रीसम्पुट'में भगवान् बुद्धको चार चक्रोंमें अपनी चार कायाओंसे क्रमशः लोचना, मामकी, पाण्डरा और तारासे सम्भोग करते हुए बताया गया है। (दे० 'महामुद्रा')।

कुण्डलोंका उल्लेख भी सिद्धोंने किया है। चर्यापदमें काण्हपाने कापालिक-वेश धारण करते समय सूर्य-चन्द्ररूपी कुण्डल धारण किये हैं। नाथ-सम्प्रदायमें भी ये कुण्डल सूर्य-चन्द्रके प्रतीक माने जाते हैं और साधनाकी एक स्थिति पार करनेके उपरान्त ही साधक इन्हें पहन पाता है।

बौद्धतन्त्र-ग्रन्थोंमें स्पष्टतः मुद्राओंकी आयु, जाति, रूप आदिका सांगोपांग विवेचन मिलता है। उनकी **मण्डलचक्र**-साधनाओंमें यह गुरुका दायित्व था कि वह उपयुक्त मुद्राओंका चुनाव करे। 'सेकोद्देश टीका'में दीक्षित करते समय मुद्राकी आयु बीस वर्षतककी बतायी गयी है। 'प्रज्ञोपाय-विनिश्चयसिद्धि'में कहा गया है कि मुद्राके आलिंगनमें साधकमें वज्रावेश जागता है, किन्तु ये चुम्बन, आलिंगन, समागमादि क्षुब्ध, आसक्त और विषयी मनसे नहीं करने चाहिये, अन्यथा ये बन्धनके कारण बन जाते हैं। —ध० वी० भा०

मुरली–हरिवंश-वर्णित हल्लीस-नृत्य तथा विष्णु, भागवत आदि पुराणोंके रास-नृत्यके वर्णनमें उल्लेख है कि कृष्णने शरद् पूर्णिमाकी प्रफुल्ल रजनीमें यमुनाके पुष्पसुवासित पुलिनपर रास-नृत्य करनेके लिए पहले मधुर वंशी-वादन करके व्रज-गोपिकाओंका आह्वान किया था। कृष्णका वंशी-नाद सुनकर गोपियाँ अपना गृहकार्य, अपने पति, दूध पीते शिशु–अपने समस्त पारिवारिक उत्तरदायित्व छोड़कर, कुल-मर्यादा और लोक-लज्जाको तिलांजलि देकर कृष्णके निकट खिंची चली आयी थीं। इस सन्दर्भके आधारपर मध्ययुगके कृष्ण-भक्त-कवियोंने विशेष रूपमें कृष्णकी मुरलीका इस प्रकार वर्णन किया है कि वह कृष्णकी योगमाया-शक्ति या नाद-ब्रह्मकी प्रतीक बन गयी है। कृष्णकी यह शक्ति उनके पूर्ण पुरुषोत्तम परमानन्द परब्रह्म रूपमें ही प्रकट होती है। रासके प्रसंगमें सूरदास कहते हैं—"मुरलीकी धुनि वैकुण्ठमें पहुँची, जिसे सुनकर नारायण और कमलाके हृदयमें बड़ी रुचि पैदा हुई। (नारायणने कहा) 'प्रिये यह अद्भुत वाणी सुनो'''नन्द-नन्दन जो रासविलास करते हैं, वह हमसे बहुत दूर है''' (सू० सा० : ना० प्र० स०, पद १६८०)। कृष्णकी मुरलीरूपी **योगमाया** ही रासके अद्भुत रसकी कुंजी है। सूरदास कहते हैं—"रास रस मुरलीसे ही जाना है। श्यामके अधरपर बैठकर मुरलीने जो नाद किया। उससे चन्द्रमा अपना मार्ग भूल गया, पृथ्वीपर जल-थलके जीव मोहित हो गये, नभ-मण्डलमें देवता थक गये, तृण, द्रुम, सलिल और पवनके भी श्रवणमें शब्द पड़ा, वे भी अपनी गति भूल गये, पाताल और रसातल भी नहीं बचे'''। यह ऐसा अपार रास-रस उत्पन्न किया, जो कभी न देखा था और न सुना था। नारायण इस धुनिको सुनकर ललचाने लगे'''" (वही, पद १६८७)। मुरली-नाद सुनकर अचर चलने लगते हैं और चर स्थगित हो जाते हैं, पत्थरोंसे जल झरने लगता है, विफल वृक्ष फल जाते हैं। इस प्रकार सबकी गति विपरीत हो जाती है, तभी तो गोपियाँ लोक-विरुद्ध आचरण करने लगती हैं। कृष्णकी इस मोहक योगमायाका प्रभाव गोपियोंको सहज ही संसारसे विमुख करके कृष्णोन्मुख कर देता है। कृष्णकी यह मोहिनी शक्ति उनसे अभिन्न है, वे उसे कभी अलग नहीं करते। इसीलिए गोपियाँ ही नहीं, स्वयं राधा भी उससे ईर्ष्या करती हैं और कृष्णका वैसा ही सामीप्य प्राप्त करनेके लिए लालायित रहती हैं। कृष्ण अपने इस मधुर नादसे, जो नित्य और अनाहत है, सम्पूर्ण व्रजको—वहाँके आबाल-वृद्ध-नरनारी, तृण-वीरुध, द्रुम-लता, नदी-निर्झर, वन-पर्वत—

सभी चराचर पदार्थोंको आप्लावित कर देते हैं। रस-रूप नाद-ब्रह्म ही मानों स्वतः अणुको आनन्दसे परिपूर्ण कर देता है। इसीलिए व्रजकी आनन्दक्रीड़ाओंकी परिसमाप्तिपर कृष्णके मथुरागमनके पूर्व उनके सखा कहते हैं, "छबीले मुरली नैकु बजाउ। बलि-बलि जात सखा यह कहि-कहि, अधर-सुधा रस प्याउ। दुर्लभ जनम लहब वृन्दावन, दुर्लभ प्रेमतरंग। ना जानिबे, बहुरि कब ह्वैहै, श्याम तिहारो संग"··· (वही, पद १८३४)। परब्रह्म श्रीकृष्णके परमानन्दरूपकी यह लीला व्रज-वृन्दावनमे ही सीमित है। —व्र० व०

मुसम्मत—उर्दूमें किसी नामांकित विषयपर लिखी गयी कविता (नज़्म)को कभी-कभी एक तरहके कई टुकड़ोंमे बाँट दिया जाता है। जब किसी नज़्मके हर **बंद** (दे०)मे तीन-तीन मिसरे हो तो उसे **मुसल्लस** कहते हैं, चार-चार मिसरे हो तो **मुरब्बा,** पाँच-पाँच मिसरे हो तो **मुखम्मस** और छः छः मिसरे हो तो **मुसद्दस** कहते है।

मुसम्मतके ऊपर लिखे पहले तीन रूपोमे हर बन्दका आखिरी मिसरा एक ही **रदीफ** और **काफिये** (तुकान्त)मे होना चाहिये। केवल **मुसद्दस**मे पहले चार मिसरे एक ही रदीफ और काफियेमे और आखिरके दो मिसरे दूसरे **रदीफ** और **काफिये**मे होते है। —म०

मुहावरा-दोष—दे० 'शब्द-दोष', इक्कीसवाँ 'वाक्यदोष'।

मूर्तिविधान—दे० 'चित्रात्मकता'।

मूल कथावस्तु—दे० 'आधिकारिक वस्तु'।

मूल प्रवृत्तियाँ (instincts)—मूल प्रवृत्तियाँ अथवा आदिम वृत्ति शब्दका प्रयोग साहित्य और सामान्य भाषामे बड़े ही विरल और अनिश्चित अर्थमे किया जाता है। स्वयं मनोवैज्ञानिकोंमे भी मूल प्रवृत्तियोंकी परिभाषा, संख्या और स्वरूपके विषयमे बड़ा मतभेद है। किन्तु इसमे कोई सन्देह नही है कि कतिपय मौलिक संवेगोको अनुभव करने तथा कतिपय लक्ष्योंको प्राप्त करनेकी जन्मजात प्रवृत्तियाँ मनुष्य-मात्रमे परिव्याप्त है। बुद्धि, शिक्षा और संस्कृतिके समाधानके फलस्वरूप लक्ष्यो तथा उनके प्राप्ति-साधनोके मौलिक आदिम रूपोका उदात्तीकरण और प्रस्फुटन हो सकता है, किन्तु मूल प्रवृत्ति परिष्कृत और संस्कृत कितनी ही क्यो न हो जाय, उसका नाश कभी नही होता। मानवीय चरित्र, साहित्य, कला, धर्म आदिकी नीवकी ईंटें मूल प्रवृत्तियाँ हैं।

लायड मार्गनके अनुसार मूल प्रवृत्ति सम्पूर्ण प्राणी द्वारा सम्पादित ऐसी क्रियाओकी जटिल शृंखला है, जो समस्त जातिके लिए हितावह होती है और जिसे उस जातिके समस्त प्राणी एक ही ढंगसे, बिना सीखे हुए करते है। यह परिभाषा कीट, पतग, पशु-पक्षियोके व्यवहारपर आधारित है और मानवीय स्तरपर मूल प्रवृत्तियोंकी व्याख्या नही कर पाती। मैक्डूगलने मूल प्रवृत्तिकी परिभाषा इस प्रकार की है—"मूल प्रवृत्ति वह नैसर्गिक प्रवृत्ति है, जिससे प्रेरित होकर प्राणी किसी पदार्थ अथवा स्थितिकी ओर आकृष्ट होता है, उसकी उपस्थितिमे एक विशिष्ट संवेगका अनुभव करता है और उनके प्रति एक विशिष्ट प्रकारका आचरण करता है"। मैक्डूगलकी परिभाषा लायड मार्गनके मतकी पूरक है और यद्यपि वह सर्वमान्य नही है, वह मूल प्रवृत्तिके स्वरूपपर पर्याप्त प्रकाश डालती है।

आहार, निद्रा, भय आदि तथा दारैषणा, पुत्रैषणा, वित्तैषणा आदिके रूपमें भारतीय साहित्यमें भी मूल प्रवृत्तियाँ स्वीकार की गयी है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकोंमे मूल प्रवृत्तियोकी संख्या जेम्सने ३२, थार्नडाइकने ४०से १००तक, ड्रेवरने २ (बुभुक्षात्मक और प्रतिक्रियावादी) और फ्रायडने केवल १ (यौन प्रवृत्ति तथा आगे चलकर आत्म-संरक्षण और मृत्युकी मूल प्रवृत्ति) स्वीकार की है। विलियम मैक्डूगल मनुष्यमे चौदह मूल प्रवृत्तियाँ और उनके सहगामी चौदह संवेग मानता है—

मूल प्रवृत्ति	संवेग
१. युयुत्सा	क्रोध
२. प्रतिकूलता	जुगुप्सा
३. जिज्ञासा	आश्चर्य
४. दैन्य	आत्महीनता
५. आहारकी खोज	भूख
६. यौन प्रवृत्ति	कामुकता
७. सन्तानैषणा, सन्ततिरक्षा	वात्सल्य, स्नेह
८. संघ-प्रवृत्ति	एकाकीपन
९. पलायन	भय
१०. शरणागति	कातरता
११. आत्मप्रदर्शन	गौरव
१२. सर्जना	रचनात्मक आनन्द
१३. परिग्रह	प्रभुत्वका सुख
१४. हास्य	आमोद

—आ० रा० शा०

मूलबंध—दे० 'हठयोग'।

मूलाधार—दे० 'हठयोग'।

मूल्य—मूल्य शब्द वस्तुतः नीतिशास्त्रीय 'वैल्यू'का पर्यायवाची है। अर्थशास्त्रमे वह 'बाजारदर'के अर्थविनिमयके एक आवश्यक प्रतिमानके अर्थमे प्रयुक्त होता है। मानवीय क्रियाओंमें, आचार-व्यवहारमे अच्छाई या शिवत्वका मूल्य क्या है, इसपर नीतिशास्त्रने बहुत विचार किया है। कुछ लोगोंके अनुसार ऐसा सर्वव्यापक, सर्वसम्मत मूल्य-निर्धारण असम्भव है। उदाहरणार्थ, कही पातिव्रतकी महिमा है, कहीं पत्नी-व्रतकी, कही एकपत्नीत्वकी, कही बहुपत्नीत्वकी और कही केवल क्षणिक स्त्री-पुरुष-सम्बन्धोकी। ऐसी स्थितिमे 'अधिकोका हित' यह उपयोगितावादी कसौटी कुछ नीति-शास्त्रियों (मिल, जोन्स)ने प्रस्तुत की, तो कुछ लोगोंने नैतिक क्रियाके मूलमे जो हेतु या कारण-सरणी है। उसकी मीमांसा करके सोद्देश्य कर्ममे ही 'मानवको अपने-आपमे साध्य', यानी उसे श्रेष्ठतम और नैतिक कर्म माना (काण्ट)। आदर्शवादी नीतिका अन्तिम मूल्य मानव-कल्याण और उसकी अधिकाधिक अनासक्तिको ही मानते रहे (बुद्ध, ग्रीन, गान्धी)। नीतिशास्त्रमें तो उपनिषदोंके श्रेय-प्रेय-विवेचनसे या सुकरातके सत्यके लिए जहर पीनेसे लेकर आजतक यह प्रश्न बार-बार उठा है और कई बार इसके कई उत्तर दिये जा चुके है।

साहित्यशास्त्रमें 'मूल्य' शब्द समाजकल्याण या मानव-हितवाले व्यापक अर्थतक सीमित नही है, अन्यथा समस्त

धर्मग्रन्थ ही सर्वश्रेष्ठ साहित्य माने जाते। कई बार साहित्यमें वर्णित आचरण, घटना या व्यक्ति नीतिसम्मत नहीं होते, फिर भी उसका अपना मूल्य होता है। दुष्यन्तका शकुन्तलाको छोड देना या भुला देना अच्छी बात नहीं, परन्तु उसी घटनासे शाकुन्तलका मूल करुण स्वर उभरता है या ईडिपसके जीवनकी निर्मम नियति या 'अन्ना' या 'चरित्रहीन' या ऐसे सैकडों उदाहरण विश्वसाहित्यमे दिये जा सकते हैं। देवता या असुर, स्त्री या पुरुष अमुक प्रकारका बाह्यतः अनैतिक जान पडनेवाला पापाचरण करते हैं, परन्तु घटनाओंके तर्कसे या वर्णनकी विशेषतासे वही बात उस क्षणके लिए पाठक या दर्शकके मनमे विश्वास जगा देती है कि वह अनीतिमान् नहीं है या पापकी रूढ परिभाषामे नहीं आती। यहाँ 'शिव' और 'सुन्दर'का द्वन्द्व शुरू होता है (दे० 'ब्यूटी ऐज ए वैल्यू' : अलेक्जैण्डर)। एक मत उनका है जो सत्य-शिव-सुन्दर तीनों मूल्योंको एक ही सत्ताके तीन पहलूमात्र मानते हैं। दूसरा मत उन सौन्दर्यवादियोका है, जो सौन्दर्यको ही अन्तिम मूल्य समझकर चलते है, नीति-प्रचारक 'शिव'को और वैज्ञानिक या वास्तववादी निरे 'सत्य'को।

मूल्य और प्रतिमान समानार्थी शब्द हैं। दोनो ही मानवनिर्मित निकष या कसौटियाँ है, जिनके सहारे साहित्यकी परख की जाती है। मनुष्य चूँकि पहले व्यक्ति है, इकाई है—उसके अपने कुछ मूल्य होते हैं। परन्तु व्यक्ति—मनुष्य एक बृहत्तर मानव-समाजका, परिवार, नगर, प्रदेश, प्रान्त, राष्ट्र या संसारका सदस्य, नागरिक, सामाजिक विशेष होकर सामान्य अंग भी है, अतः उसके प्रत्येक विचार, कर्म और कल्पनामें मूल्यका प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

पहले पारिवारिक मूल्य लें। वे व्यक्तिके चरित्र-निर्माणमे सहायक या बाधक होते हैं। एक व्यक्ति परिवारका प्रथम पुरुष है या अन्तिम, उसकी सभी बहनें हैं या सब भाई हैं या वह अकेला है या अविवाहित है या अन्य प्रकारकी जो भी स्थितियाँ है, वे उसकी साहित्यिक अभिरुचि, शिक्षा-संस्कार आदिको निर्णीत करती है। इन्हींमेसे एक विशिष्ट प्रकारकी मूल्य-संहिता (value pattern) व्यक्ति बनाता है। वह उसके साहित्य-निर्माण और साहित्य-निर्णयको निश्चित करती है।

इन मूल्योंकी टकराहट (या समाहार) परिवारसे बडे जाति, मुहल्ला, नगर, समाज, राष्ट्र या भाषा-दल या अन्य प्रकारके गुटोकी संस्थाओके मूल्योसे होती है। व्यक्ति बनता है, बिगड़ता है, बिखरता है। उसके साहित्य-मूल्य भी उसी मात्रामे बनते, बिगड़ते, बिखरते जाते हैं। इन सब विविध मूल्योंके बाद भी एक बड़ा मूल्य बचा रहता है, जो एक प्रकारसे इन सबका सार है और वह है मानवीय मूल्य। यद्यपि मानवतावादको भी विशेषणोसे परिभाषित किया गया है, यथा वैज्ञानिक, क्रान्तिकारी, नव्य आदि; मानवीय मूल्य ही अन्ततः साहित्यमे विवेकके बढ़ानेकी दिशामे सहायक हो सकते हैं।

सामाजिक मूल्य एक विशिष्ट प्रकारके अर्थशास्त्रीय-राजनीतिक दृष्टिकोणसे प्रयुक्त किया हुआ शब्द है। शेक्सपीयर या कालिदासके नाटकोंमें चाहे सामाजिक या दलगत मूल्य बहुत कम हो, फिर भी वे श्रेष्ठ साहित्य इसीलिए माने जाते हैं कि उनमें साहित्यिक मूल्य अधिक है। अतः इन दोनो मूल्योंका समीकरण मानना आवश्यक नहीं है। ऐसा भी पाया गया है कि बहुत-से असामाजिक जान पडनेवाले व्यक्तियोंने श्रेष्ठ साहित्य रचा है और वैसे तो दलगत मूल्योंके कारण कई अच्छे लेखक भी संकुचित हो गये हैं, उनके लेखनका नयापन प्रायः नष्ट हो गया है या कि उभर ही नहीं पाया है। दल तो स्वतन्त्र विचार या कल्पनावाली सृष्टिका शत्रु है। अब साहित्यमें यह माना जाने लगा है कि अन्ततः वे व्यक्ति-मूल्य ही प्रधान है, जो समाज-मूल्यके विरोधी न होकर उनके पोषक हो। वे ही सच्चे मानवीय मूल्य भी है। —प्र० मा०

मूषक–चंचल मन, जो अज्ञानके अन्धकारमे चूहेकी भाँति विचरण करता है। कालरूपी सर्प उस चूहेको खा जाता है—'निसि अंधारी मूसा आचारा' (चर्यापद, २१)। 'मूसा पैठा बाँबिमे' (क० ग्रं०)। —ध० वी० भा०

मेंढक–मनका प्रतीक। 'बेगस साँप बडिल जाअ' (चर्यापद, ३३)। 'मींडक सोवे साँप पहरइया' (क० ग्रं०)। —ध० वी० भा०

मैथिली–मैथिली भाषा गंगाके उत्तर दरभंगा(बिहार)के आसपास बोली जाती है। मैथिलीका अपना विशिष्ट प्राचीन साहित्य है, जिसमें विद्यापतिका नाम अन्यतम है। आधुनिक समयमे मैथिलीमे साहित्य रचना अभी हालमें प्रारम्भ हुई है। मैथिलीकी अपनी अलग लिपि है, जो बँगलासे बहुत मिलती-जुलती है। उत्पत्तिकी दृष्टिसे मैथिलीका सम्बन्ध मागधी अपभ्रंशसे है। —सं०

मैथुन–दे० 'गुह्य साधना', 'मुद्रा', 'युगनद्ध'।

मोटनक–वर्णिक छन्दोमे समवृत्तका एक भेद। भरतके 'नाट्यशास्त्र'(१६ : २९)मे इस वृत्तका मोटक नाम दिया गया है। इसमें तगण, दो जगण और लघु-गुरुका योग होता है(ऽऽ।, ।ऽ।, ।ऽ।, ।ऽ)। केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है—"सोहैं घन स्यामल घोर घने। मोहैं तिनमें बक-पाँति मनें। संखावलि पी बहुधा जल स्यो। मानौ तिनको उगिलै बक स्यो" (रा० चं०, १३ : १३)। —पु० शु०

मोटिफ़–किसी कृतिकी योजनाका वैशिष्ट्य, कोई शब्द या विचारका प्रतिरूप, जिसकी समान स्थितिमे बार-बार आवृत्ति होती है, या जो समान मनोदशा जागरित करनेके लिए किसी एक कृतिमे या एक ही जातिकी अनेक कृतियोंमें बार-बार दुहराया जाता है। लोक-कथामे इसका प्रयोग विशेष रूपमे देखा जाता है। इस प्रकारकी पुनरावृत्तियोंके कारण एक प्रकारकी आन्तरिक संगीतात्मकताकी सृष्टि होती है। दे० 'लोककथा', 'कथानक-रूढि'। —सं०

मोट्टायित–दे० 'स्वभावज अलंकार', छठा।

मोदक–वर्णिक छन्दोमे समवृत्तका एक भेद। 'प्राकृतपैंगलम्' (२ : १३६)के अनुसार ४ भगण इस वर्णिक वृत्तमें होते हैं (ऽ।।, ऽ।।, ऽ।।, ऽ।।)। 'मन्दारमरन्दाचम्पू' (९ : ५)मे इसका नाम भामिनी दिया है। केशवने इसका नाम सुन्दरी दिया है, अन्य आचार्योंने मोदक। सूदन (सु० च०, पृ० २१३) और केशवने हिन्दीमें इसका प्रयोग

किया है। उदा०–"राज वहै वह साज वहै पुरु। नाम वहै वह धाम वहै गुरु। झूठ सो झूठहिं बाँधत हो मन। छोड़त हो नृप सत्य सनातन"(रा० चं०, ३० : २२)। —पु० शु०

मोह–प्रचलित तैंतीसमेंसे एक संचारी; भरतके अनुसार इसके विभाव है—आकस्मिक आघात, आपत्ति, रोग, भय, उद्वेग तथा गत शत्रुताका स्मरण आदि और अनुभाव निश्चेष्टता, गिरना, झुकना तथा ठीक-ठीक न देख पाना आदि (ना० शा०, ७ : ५२)। विश्वनाथकी व्याख्याके अनुसार—"मोहो विचित्रताभीतिदुःखावेगानुचिन्तनैः। मूर्च्छनाज्ञानपतनभ्रमणादर्शनादिकृत्" (सा० द०, ३ : १५०), अर्थात् भय, दुःख, घबराहट, अत्यन्त चिन्ता आदिके कारण उत्पन्न चित्तकी विकलता मोह है। मूर्च्छा, अज्ञान, पतन, चक्कर आना, दिखाई न देना आदि इसके अनुभाव है। हिन्दी रीतिकालीन आचार्योंमें कुछने 'नाट्यशास्त्र'की परम्पराका अनुसरण किया है। देवका लक्षण ऐसा ही है—"अद्भुत दरसन वेग भय, अति चिन्ता अति कोह। जहाँ मूर्च्छा बिसमरन लम्भतादि कहु मोह" (भाव० : संचारी०)। पर अन्य कुछ आचार्य इसे—'बिरह दुःख-चिन्ता जनित' मात्र कहते है, जिसमे "आपुहि अपनी देहको ज्ञान जबै नहि होइ" (जगद्वि०, ५०७)।

रामचन्द्र शुक्लने जड़ता और मोहको मिलती-जुलती मानसिक अवस्थाएँ माना है। उनका कहना है कि "जड़ता है एकदम ठप हो जाना, जिसमें मनुष्यकी शारीरिक और मानसिक, दोनो क्रियाएँ एक क्षणके लिए बन्द-सी हो जाती है। यह अवस्था इष्ट और अनिष्ट, दोनोंके दर्शनसे हो सकती है। इसमें चित्तकी व्याकुलता नही रहती। मोह दुःखावेगके कारण ही होता है और उसमे चित्तकी व्याकुलता और मूर्च्छा होती है" (र० मी०, पृ० २२३)। पर जब मोहके अनुभावकी व्यंजना मूर्च्छाके रूपमे होती है तब यह जड़तासे मिलता-जुलता प्रतीत होता है। मोह और जड़तामें एक मौलिक अन्तर यह है कि मोह जहाँ केवल दुःखावेगमें ही होता है, वहाँ जड़ता दुःखावेग और सुखावेग, दोनोमे दिखाई पड़ती है। सुखके आतिशय्यसे भी लोग कभी-कभी जड़-से हो जाते है। पद्माकर प्रेमकी विह्वलताका वर्णन करते है—"दोउनको सुधि है न कछू बुधि वाहि बलाहमें बूड़ि बही है। मोहन मोहि रह्यो कबको कबकी वह मोहनी मोहि रही है" (जगद्वि०, ५०८)। तुलसीदासने सीताके सुखसे उत्पन्न मोहका चित्रण किया है—"रामको रूप निहारत जानकी कंकनके नगकी परछाही। याते सबै सुधि भूलि गयी कर टेक रही पल टारत नाही" (क०)। —ब० सिं०

मोहन १–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। इस नवीन छन्दका प्रयोग केशवने किया है। इसमें भगण, नगण, जगण और यगणका योग होता है (ऽ।।, ।।।, ।ऽ।, ।ऽऽ)। उदा०–"देखहु भरत चमू सजि आये। जानि अबल हमको उठि धाये। ही सत हय बहु बारन गाजे। दीरघ जहँ तहँ दुन्दुभि बाजे" (रा० चं०, १० : १६)। —पु० शु०

मोहन २–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद; 'वाग्वल्लभ' में इसका मधुमारक नाम दिया गया है। इस छन्दका प्रयोग केशवने किया है। इसमें सगण और जगणके योगसे छन्द बनता है (।ऽऽ, ।ऽ।)। उदा०—"धरि चित्त धीर; गये गंग तीर। शुचि है शरीर; पितु तर्पि नीर" (रा० चं०, १० : ३२)। —पु० शु०

मोहनक–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद; दो गुरु और तीन सगणोके योगसे यह वृत्त बनता है। केशवने इसका प्रयोग किया है। उदा०—"आये दशरत्थ बरात सजे, दिग्पाल गयन्दनि देखि लजे। चारयो दल दूलह चारु बने। मोहे सुर औरनि कौन गने" (रा० चं०, ६ : ३)। —पु० शु०

मोहनी–मात्रिक अर्द्धसम छन्द। मात्रायुक्त छन्दोके अध्यायमें भिखारीदासने 'छन्दार्णव'में एक मोहनी छन्दके लक्षण दिये है। भानु कविने 'छन्दप्रभाकर'मे मात्रिक अर्द्धसम प्रकरणमें इसका लक्षण दिया है कि विषम पदमे १२ और सममे ७ मात्राएँ होती है, अन्तमे सगण होता है। भिखारीदास द्वारा दिये गये लक्षणवाला मोहनी इससे भिन्न है। मोहनीका प्रयोग बहुत विरल हुआ है। सुन्दरदासने 'रामाष्टक'में इसका प्रयोग किया है। उदा०—"शम्भु भक्त-जन त्राता, भवदुख हरें। मन वांछित फलदाता, मुनि हिय धरें" (छं० प्र०, पृ० ८१)। —रा० सिं० तो०

मौक्तिक दाम–वर्णिक छन्दोमें समवृत्तका एक भेद। 'प्राकृतपैंगलम्' (२ : १३४)मे इसका लक्षण है; इस वृत्तमे चार जगण होते है (।ऽ।, ।ऽ।, ।ऽ।, ।ऽ।)। चन्द (पृ० रा०), जोधराज (ह० रा०), सूदन (सु० च०) तथा केशव (रा० चं०)ने इसका प्रयोग किया है। अपनी द्रुत गतिके कारण वीर रसमें विशेष रूपसे प्रयुक्त हुआ है। उदा०—"रहौ चुप है सुत क्यों बन जाहु। न देखि सकै तिनके उर दाहु। लगी अब बाप तुम्हारेहि वाय। करै उलटी विधि क्यों कहि जाय" (रा० चं०, ९ : ८)। —पु० शु०

मौग्ध्य–दे० 'स्वभावज अलंकार', तेरहवाँ।

यत्न–रूपककी पाँच अवस्थाओंमेंसे दूसरी अवस्था। "प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः" (द० रू०, १ : २०), अर्थात् फलप्राप्तिके लिए अत्यन्त त्वरायुक्त जो व्यापार किये जाते है, उन्हें यत्न कहते है। 'स्कन्दगुप्त'के द्वितीय अंकमे प्रयत्नावस्था है। ध्रुवस्वामिनी'मे प्रयत्न नामक कार्यावस्था वहाँ आरम्भ होती है, जहाँ उसने अपना यह मन्तव्य व्यक्त किया है—"तो कुमार ! (चन्द्रगुप्त) हम लोगोंका चलना निश्चित ही है। अब इसमे विलम्बकी आवश्यकता नही"। शकराजका सामना करनेका यह निश्चय फलप्राप्तिके लिए प्रयत्नरूपमे है। इसी प्रवाह और प्रसंगमें पूर्वोक्त अनुरागोदय भी पुष्ट रूप धारण करता है। इसी प्रयत्नके लिए वह कहती है—"हम दोनो ही चलेंगे। मृत्युके गह्वरमे प्रवेश करनेके समयमे भी तुम्हारी ज्योति बनकर बुझ जानेकी कामना रखती हूँ।" (जगन्नाथ शर्मा : 'प्रसाद'के नाटकोंका शास्त्रीय अध्ययन)—ब० सिं०

यथार्थवाद–साहित्यकी एक विशिष्ट चिन्तन-पद्धति, जिसके अनुसार कलाकारको अपनी कृतिमे जीवनके यथार्थ रूपका अंकन करना चाहिये। यह दृष्टिकोण वस्तुतः आदर्शवाद (दे०)का विरोधी माना जाता है। पर वस्तुतः तो आदर्श उतना ही यथार्थ है, जितनी कि कोई भी यथार्थवादी परिस्थिति। जीवनमें अयथार्थकी कल्पना दुष्कर है। किन्तु

अपने पारिभाषिक अर्थमे यथार्थवाद जीवनकी समग्र परिस्थितियोंके प्रति ईमानदारीका दावा करते हुए भी प्रायः सदैव मनुष्यकी हीनताओं तथा कुरूपताओंका चित्रण करता है। यथार्थवादी कलाकार जीवनके सुन्दर अंशको छोडकर असुन्दर अंशका अंकन करना चाहता है। यह एक प्रकारसे उसका पूर्वाग्रह है।

यथार्थवादी प्रवृत्तियाँ सब देशोंके साहित्यमे विभिन्न कालोंमे मिलती हैं। वस्तुतः यथार्थवाद सुधारक साहित्यका प्रथम अस्त्र है। किसी भी सामाजिक स्थितिके प्रति विद्रोह करते समय साहित्यकार उसका यथार्थवादी चित्र उपस्थित करता है। इस प्रकार वह अपने पाठकके मनमे उस आक्रोशको जन्म देना चाहता है, जिसके बिना किसी भी सुधार, परिवर्तन अथवा क्रान्तिकी कल्पना नही की जा सकती। हिन्दी साहित्यमे यथार्थवादी प्रवृत्तियाँ मध्यकालसे ही दिखाई देने लगती है। कबीर एक प्रकारसे हिन्दीके प्रथम यथार्थवादी कवि है। उनके समाजमे जो खोखलापन घर कर गया था, उसका अत्यन्त सशक्त चित्रण उन्होने अपने काव्यमे किया है। जीवनकी विकृतियाँ तथा कुरूपताएँ सर्वत्र उनके आक्रोशका लक्ष्य बनी है। कबीरके उपरान्त तुलसीमे भी किसी हदतक यथार्थवादकी प्रवृत्ति दिखाई देती है। अपने दृष्टिकोणमे आदर्शवादी होते हुए भी वे सामाजिक जीवनकी कटुताओंकी ओरसे अपनी आँखें नही फेर सके थे। 'रामचरितमानस'के उत्तरकाण्ड तथा 'विनयपत्रिका'के कुछ पदोंमें तुलसीकी यथार्थवादी दृष्टि गहरेतक पैठी है।

आधुनिक अर्थमें यथार्थवादका हिन्दी साहित्यमें प्रथम विकास प्रगतिवाद(दे०)के माध्यमसे हुआ। द्विवेदीयुगीन आदर्शप्रियता तथा छायावादी काल्पनिक जगत्के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया हुई, उसने प्रगतिवादी साहित्य-सर्जनमें यथार्थवादको एक अपरिहार्य अंग बना दिया। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि सभी रूपोंमें आधुनिक जीवनके गहरे संघर्षों, विद्रूपों, अन्तर्द्वन्द्वों तथा कुरूपताओंका अंकन हुआ। इस युगके दो मनीषी—मार्क्स तथा फ्रायडने अपने-अपने ढंगसे यथार्थवादके विकासमे सहयोग दिया। मार्क्सने सामाजिक जीवनके कटु यथार्थकी ओर संकेत किया और फ्रायडने वैयक्तिक जीवनकी गर्हित कुण्ठाओंकी ओर ध्यान दिलाया। कुछ तो समयकी आवश्यकताने और कुछ इन दो चिन्तकोंकी विचारधाराने यथार्थवादको युगकी अनिवार्य प्रवृत्ति बना दिया। हिन्दी साहित्यमें प्रगतिवादकी मौलिक शक्ति-सम्भावना यथार्थवादको ही लेकर विकसित हुई थी।

प्रगतिवादके उपरान्त प्रयोगवादको भी यथार्थवादका दाय मिला। एक प्रकारसे प्रयोगवादमें यथार्थवादकी प्रवृत्ति कुछ और गहरी हुई। जीवनकी तुच्छ-से-तुच्छ परिस्थितिको भी साहित्यमे चित्रित करने योग्य समझा गया। द्वितीय महायुद्धने यथार्थवादको साहित्यमें और अधिक ग्राह्य बनाया और इस प्रकार प्रयोगवादने इस मौलिक प्रवृत्तिको अपनी आधार-शिलाके रूपमें स्वीकार किया। पर प्रयोगवादी यथार्थवादके साथ एक व्यापक तथा उदार मानवतावादकी भावना संयुक्त थी, जो आगे नयी कविताके आन्दोलनके साथ और अधिक विकसित हुई। वस्तुतः हिन्दीका आधुनिक यथार्थवाद साम्प्रदायिक न रहकर उक्त मानवतावादी प्रवृत्तियोंके संयोगसे साहित्यके क्षेत्रमे अधिक कलात्मक तथा सामाजिक बन सका है। —रा०स्व०च०

यथासंख्य—वाक्यन्यायमूलक अर्थालंकार; 'यथासंख्य'से अभिप्राय है संख्या, अर्थात् क्रमके अनुसार, जहाँ क्रमशः कथित पदार्थोंका उसी क्रमसे, आगेके पदार्थोंसे अन्वय किया जाय। इसीको 'क्रम' अथवा 'यथाक्रम' अलंकार भी कहते हैं। यथासंख्य अलंकार 'क्रम'का पर्याय है। यह प्राचीन अलंकार भामहके समयसे सदा स्वीकृत रहा है। भामहने सूचना दी है कि उनके पूर्व मेधाविन्ने इसको संख्यान नामसे कहा है। दण्डीके शब्दोंमे इसकी परिभाषा इस प्रकार है—"उद्दिष्टानां पदार्थानामनुदेशो यथाक्रमः। यथासंख्यमिति प्रोक्तं संख्यानं क्रम इत्यपि"(काव्यादर्श, २७३), अर्थात् पहले कहे हुए पदार्थोंका उसी क्रमसे फिर दुहराया जाना। वामनने इसे 'क्रम' कहा है। मम्मट तथा विश्वनाथ ने पदार्थोंके क्रमिक सम्बन्धको स्वीकार किया—"यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः" (का० प्र०, १० : १०८), अर्थात् पदार्थ जिस क्रमसे वर्णित हो, उसी क्रमसे आगे उल्लिखित पदार्थोंके साथ उनका सम्बन्ध प्रदर्शित करना।

हिन्दीमे प्रायः यह अलंकार सर्वमान्य रहा है। मतिराम तथा भूषणके लक्षण स्पष्ट नही है—"क्रमसों कहि तिनके अरथ क्रमसो बहुरि बनाय" (शि० रा० भू०, २४०)। पद्माकरने इस क्रमको 'अन्वय'से युक्त कहा है। चिन्तामणिने "क्रम क्रमवौ अन्वइ जहाँ बरन्यो अनुक्रम संग" (क०कु०क० त०) कहकर संस्कृतके आचार्योंका अर्थ व्यक्त किया है।

रसलीनका यह प्रसिद्ध दोहा इसका सुन्दर उदाहरण है—"अमी हलाहल मद भरे सेत स्याम रतनार। जियत मरत झुकि झुकि परत जिहि चितवत इक बार"। अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'का यह वर्णन भी—"वसन्तने सौरभने परागने; प्रदान की थी अति कान्त भावसे। वसुन्धराको, पिकको, मिलिन्दको; मनोज्ञता, मादकता, मदान्धता" (प्रि० प्र०)। हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंके पूर्ववर्ती कतिपय भक्त तथा शृंगारी कवियोकी रचनाओंमे भी इस अलंकारका स्वाभाविक प्रयोग मिलता है। आधुनिक कवियोंने भी काव्य-सौन्दर्यकी अभिवृद्धिके निमित्त इस अलंकारको यथोचित रूपमे अपनाया है।

केशवका क्रम (यथासंख्य) अलंकारका लक्षण अस्पष्ट है (कविप्रिया, ११)। इस अलंकारके उदाहरणोसे ऐसा प्रतीत होता है कि जिसे केशवने क्रम कहा है, परवर्ती आचार्योंने उसीको एकावली माना है। कन्हैयालाल पोद्दारने इनके एक उदाहरणको एकावलीके अन्तर्गत प्रस्तुत किया है। —वि० स्ना०

यम—दे० 'हठयोग'।

यमक—एक शब्दालंकार; यमकका अर्थ है युग्म या जोड़ा। इसमें भिन्नार्थके साथ वर्णावृत्ति या शब्दावृत्ति होती है। 'यम' अलंकारमें आवृत्त शब्द या तो निरर्थक होते है या सार्थक। यदि सार्थक हो, तो वे सभी भिन्नार्थक होते है। भरतके समयसे इस अलंकारको मान्यता प्राप्त रही है।

भरतने 'शब्दाभ्यास'मात्रको यमक माना है और उसके दस भेद किये हैं (ना० शा०, १६ : ६३)। भामहने "सुननेमें समान प्रतीत होनेवाले, पर अर्थमें भिन्न वर्णोंकी पुनरुक्ति या आवृत्ति"को यमक माना है (काव्यालं०, २ : १७)। दण्डी तथा वामन आदिका मत ऐसा ही है—"पदमनेकार्थमक्षरं वाऽवृत्तं स्थाननियमे यमकम् (काव्यालं० सू० वृ०, ४ : १ : १), अर्थात् स्थान नियमके साथ अनेकार्थक पद अथवा अक्षरकी आवृत्ति। वस्तुतः किसी भी पदमें आवृत्त वर्णोंका क्रम समान माना गया है, जैसे 'सर' 'सर'। 'सर' 'रस'में यमक नहीं हो सकता, क्योंकि वर्णोंका उपस्थापन क्रमानुसार नहीं हुआ है। मम्मटने इसी बातको यों रखा है—"अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः"(का० प्र०, ९ : ८३), अर्थात् अर्थ होनेपर भिन्न-भिन्न अर्थवाले वर्ण अथवा वर्णसमूहका बार-बार सुनाई देना। विश्वनाथका भाव समान है। 'चन्द्रालोक'के लेखक जयदेवने परिभाषा संक्षिप्त कर दी है—"किसी भी दो-तीन अक्षरोंके समूहकी आवृत्ति" (५ : ८)।

हिन्दीमें भी यह अलंकार सर्वस्वीकृत रहा है। केशवकी 'कविप्रिया'में १५वाँ प्रभाव यमक-विषयक है। जसवन्त सिंहने—"जमक, शब्दको फिर स्रवन, अर्थ जुदा सो जानि" (भा० भू०, २०२) कहकर मम्मटका अनुसरण किया है। चिन्तामणि, भूषण, दूलह तथा दासके लक्षण लगभग समान हैं। चिन्तामणिने 'फिरि स्रवन'का उल्लेख किया है, अन्योंने 'आवृत्ति'का कथन किया है। केशवने अव्यपेत तथा सव्यपेत भेद माने हैं, जिनके आधार प्राचीन आचार्य हैं। हिन्दीमें इसके विशिष्ट भेदोंका उल्लेख नहीं है, किसी-किसीने भंग तथा अभंग पदोंकी आवृत्तिके कारण इसके दो भेद किये हैं। दासने अनेक भेद अवश्य स्वीकार किये हैं।

यमक अलंकारमें आवृत्ति तीन प्रकारसे हो सकती है—(१) किसी पदमें केवल निरर्थक वर्णोंकी आवृत्ति, (२) निरर्थक तथा सार्थक, दोनों प्रकारके वर्णोंकी, (३) केवल सार्थक वर्णोंकी। भूषणका उदा०—"पूना वारी सुनिकै अमीरनकी गति, लई भागिबेको मीरन समीरनकी गति है" (शि०भू०, ३६६)। देव कविका सुन्दर उदा०—"अनुरागके रंगनि रूप तरंगनि अंगनि मोद मनौं उफनी। कवि देव हिये सियरानी सबै सियरानीको देख सुहाग सनी"। दासका उदा०—"मुकत बिराजत नाकमें, मिलि बेसर मुख माँहि। मुकत बिराजत नाकमें, मिलिबे सर-मख माँहि" (का० नि०, १९)।

रीतिकालमें भूषण, देव, दास, पद्माकर तथा आधुनिक ब्रजभाषा-कवि 'रत्नाकर' आदि अनेकने इस अलंकारका सफलतापूर्वक प्रयोग किया है, किन्तु देवका यह प्रिय अलंकार है। देवने अपने पदबन्धोंकी सजावट तथा कसावटके लिए इसको अपनाया है।

पादावृत्तियमक—पूरे पादकी जहाँ आवृत्ति होती हो। भूषणने इसके सुन्दर उदाहरण 'शिवाबावनी'में प्रस्तुत किये हैं—'नगन जड़ाती ते वै नगन जड़ाती हैं' (२६), इसमें 'नग जड़ाना' तथा 'नंगे जाड़ा खाना' भिन्न अर्थ है। इसी प्रकार "ऐसी परी नरम हरम बादशाहनकी, नासपाती खातीं ते बनासपाती खाती हैं" (२८)। **भागावृत्तियमक**—जहाँ पादके आधे भागकी अथवा तीसरे या चौथे भागकी आवृत्ति होती है, वहाँ 'भागावृत्ति यमक' होता है। उदा०—"दिवि रमनी रमनीय कित, है रति रति समहीन। हरि बनिता बनिताहि छिन, मनमथ मथ बस कीन" (अ० म०)। इसमें 'रमनी', 'रति', 'बनिता' और 'मथ'की उन्हीं पादोंके तीसरे भागमें आवृत्ति है। **सिंहावलोकन**—इसमें सिंहके सदृश मुड़-मुड़कर देखनेके समान किसी शब्दकी छन्दके आदि और अन्तमें आवृत्ति होती है। इसमें किसी छन्दके प्रथम चरणके प्रारम्भिक शब्दकी छन्दके अन्तिम चरणमें आवृत्ति होती है, अर्थात् जो शब्द छन्दके प्रारम्भमें वर्तमान रहता है, वही शब्द छन्दके अन्तमें। इसको **मुक्तपदग्राह्य** यमक भी कहते हैं।

देवने 'सिंहावलोकन यमक'का उल्लेख अपने 'शब्द-रसायन'में किया है, परन्तु उसे स्वतन्त्र अलंकार न मानकर अनुप्रासका एक भेद माना है। भिखारीदासने अपने 'काव्यनिर्णय'में सिंहावलोकन यमकको यमकका एक भेद माना है और उसीको 'मुक्तपदग्राह्य यमक' कहा है। दासके अनुसार—"चरन अन्त अरु आदिके, जमक कुण्डलित होइ। सिंह-बिलोकन है वहै, मुक्तक पद ग्रह सोइ" (१९)। देवके 'शब्दरसायन'का उदा०—"भाल है लाल सिन्दूर भरयो मुख सिन्धुर चारु औ बाँह बिसाल है। साल है सत्रुनको कवि देव सुसोभित सोमकला धरे भाल है"। दासके 'काव्यनिर्णय'का उदा०—'सरसो बरसो करै नीर अली धुन लीन्हे अनंग पुरन्दर सो। दरसो चहुँ ओरनते चपला करि जाती कृपानके ओसरसो"।

'अग्निपुराण'के अनुसार यमकके दो भेद हैं—'अव्यपेत' और 'व्यपेत'। 'यमक' में जिन पदों या वर्णोंकी आवृत्ति होती है, वे आवृत्त पद या वर्ण, यदि एक-दूसरेके समीप हों, तो 'अव्यपेत यमक' होता है। व्यपेतका तात्पर्य है पदोंके बीचमें व्यवधान होना, अर्थात् यममें 'आवृत्त' पद या वर्ण जब एक-दूसरेके समीप न हो तब 'व्यपेत यमक' अलंकार होता है। जैसे (क) "सजनी सज नीरद निरखि, हरषि नचत इत मोर" (कवि प्रया, १५ : ९६)। इसमें 'सजनी' 'सजनी' एक दूसरेके समीपस्थ हैं, अतः 'अव्यपेत यमक' है। (ख) "माधवसो धव राधिका, पावहु कान्ह कुमार। पूजहु माधव नियमसों गिरिजाको भरतार" (वही, १५ : १११)। इसमें 'माधव' और 'धव' आवृत्त शब्द हैं, परन्तु इनके बीचमें अन्य शब्दोंका व्यवधान (अन्तर) पड़ा है, अतः 'व्यपेत यमक' है। इन दो भेदोंका उल्लेख 'काव्यादर्श' और 'सरस्वतीकण्ठाभरण'में भी है। हिन्दीमें केशवदासने भी 'कविप्रिया'में इन दोनों भेदोंका उल्लेख किया है। 'कविप्रिया'के टीकाकार भगवानदीन 'दीन'ने इन दो भेदोंको लिपि-भ्रमके कारण 'अव्ययेत और 'सव्ययेत'के नामसे लिख दिया है।

लाटानुप्रासमें एकार्थक शब्दोंकी आवृत्ति होती है और यमकमें आवृत्त शब्द या तो निरर्थक होते हैं, अथवा यदि सार्थक हों, तो भिन्नार्थक होते हैं। —वि० स्ना०

यमुना—दे० 'हठयोग'।

यात्रा-साहित्य—मनुष्य-जातियोंका इतिहास उनकी यायावरी प्रवृत्तिसे सम्बद्ध है। सम्भवतः यह मानवकी

एक मूल प्रवृत्ति है। प्रारम्भमें यह उसके लिए आवश्यक भी थी। परन्तु उसके सौन्दर्यबोधके विकासके साथ चतुर्दिक फैले हुए जगत्का आकर्षण भी उसके लिए बढ़ता गया है। यहाँके देशोंमें विविधता है, ऋतुओंमें परिवर्तन होता है और साथ ही प्रकृतिके रूपोंमें विभिन्नता और सौन्दर्यका वैचित्र्य है। इसके अतिरिक्त सर्जनमें स्वतः एक गति है, जिसके साथ ताल मिलाकर चलना स्वतः एक उल्लास है। इस प्रकार सौन्दर्यबोधकी दृष्टिसे उल्लासकी भावनासे प्रेरित होकर यात्रा करनेवाले यायावर एक प्रकारसे साहित्यिक मनोवृत्तिके माने जा सकते हैं और उनकी मुक्त अभिव्यक्तिको यात्रा-साहित्य कहा जाता है। साहित्यिक यायावरको एक अद्भुत आकर्षण अपनी ओर खींचता है, वह मन्त्र-मुग्धकी भाँति उसकी ओर खिंच जाता है। संसारके लोग इस पुकारको सुन नहीं पाते या सुनकर भी अनसुनी कर देते हैं। वे चलते हैं, यात्रा करते हैं, पर वे तेलीके बैलकी तरह अपने भारके साथ कोल्हूके चारों ओर घूमनेमें ही अपने परिश्रमकी सार्थकता मान बैठते हैं। पर साहित्यिक यायावर मुक्त मनोवृत्तिके साथ घूमता है, उसकी यात्रा—घुमक्कड़ीका अर्थ अपने आप पूर्ण होता है।

संसारके बड़े-बड़े यायावर अपनी मनोवृत्तिमें साहित्यिक थे। फाहियान, ह्वेनत्सांग, इत्सिंग, इब्न बतूता, अलबरूनी, मार्कोपोलो, बर्नियर और टैवर्नियर आदि जितने प्रसिद्ध घुमक्कड़ हुए हैं अथवा देश-विदेशके साहसी अन्वेषक हुए हैं, सबमें साहित्यिक यायावरका रूप रक्षित है। वे निःसंग-भावसे घूमते रहे हैं, घूमना ही उनके लिए प्रधान उद्देश्य रहा है। यात्रा करने मात्रसे कोई साहित्यिक यायावरकी संज्ञा नहीं प्राप्त कर सकता और न यात्राका विवरण प्रस्तुत कर देना मात्र यात्रा साहित्य है। पिछले युगोंके यात्रियोंमें राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक अथवा सांस्कृतिक दृष्टिको प्रधानता मिली है, परन्तु इनके बीचमें ऐसे संस्मरणीय अंश भी हैं, जिनसे उनकी आन्तरिक प्रेरणाका आभास मिल जाता है। भारतमें यात्रियोंकी कमी नहीं रही है, क्योंकि तिब्बत, चीन, ब्रह्मा, मलाया और सुदूर पूर्वके द्वीपोंमें भारतीय धर्म और संस्कृतिका सन्देश इन यात्रियोंके पीछे गया होगा, पर भारतीय दृष्टिमें इतिहास, विवरण, संस्मरण तथा आत्मचरितके प्रति विचित्र अनास्था आरम्भसे रही है। सम्भवतः यही प्रधान कारण है कि भारतीय साहित्यमें उपर्युक्त अंगोंके साथ यात्रा-विवरणोंका नितान्त अभाव है। परन्तु कालिदासके विभिन्न देशों तथा प्रकृतिके रूपोंके वर्णनोंसे उनकी यायावरी मनोवृत्तिका परिचय मिलता है। बाणकी घुमक्कड़ प्रवृत्तिकी अभिव्यक्ति उनके 'हर्षचरित' तथा 'कादम्बरी'के देश-देशकी प्रकृति और नाना प्रकारके लोगोंके वर्णनोंमें हुई है।

आधुनिक हिन्दी साहित्यमें यह साहित्यिक रूप भी कई अन्य रूपोंके साथ पाश्चात्य साहित्यके सम्पर्कमें आनेके बाद ही विकसित हुआ है। प्रारम्भिक लेखकोंने यात्रा-विवरण लेखरूपमें प्रस्तुत किये हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने इस प्रकारके उल्लेख किये हैं। परन्तु यात्रा-साहित्यका विकास शुद्ध निबन्धोंकी शैलीसे माना जा सकता है। निबन्ध-शैलीके व्यक्तिपरकता, स्वच्छन्दता तथा आत्मीयता आदि गुण यात्रासाहित्यमें भी पाये जाते हैं। निबन्धकार जिस प्रकार अपने विषयको अपनी मानसिक संवेदनशीलतासे ग्रहण करता और उन्हींकी प्रेरणासे विस्तार भी देता है, बिलकुल उसी प्रकार यात्री भी अपनी यात्राके प्रत्येक स्थल और क्षणोंमेंसे उन्हीं क्षणोंको सँजोता है, जिनको वह अनुभूत सत्यके रूपमें ग्रहण करता है। वह सर्वसाधारणकी दृष्टिसे प्रत्येक बातका विवरण देकर नहीं चलता और यदि विवरण तथा विस्तार देना ही होता है तो वह उन्हें अपने भावावेशमें प्रस्तुत करता है अथवा आत्मीयताके वातावरणमें उपस्थित करता है। यात्री अपने साहित्यमें संवेदनशील होकर भी निरपेक्ष रहता है। ऐसा न होनेपर यात्राके स्थानपर यात्रीके अधिक प्रधान हो उठनेकी सम्भावना है। यात्रामें स्वतः स्थान, दृश्य, प्रदेश, नगर, गाँव मुखरित होते हैं, उनका अपना व्यक्तित्व उभरता है। इस पथपर मिलनेपर मिलनेवाले नर-नारी, बच्चे-बूढ़े अपने नानाविध चरित्रोंके साथ उसके व्यक्तित्वको अधिक स्पन्दित और मुखरित करते हैं। मार्गमें पड़नेवाले मन्दिरों, मसजिदों, मीनारों, विजय-स्तम्भों, स्मारकों, मकबरों, किलों और पुराने महलोंसे संस्कृति, कला और इतिहासके उपकरणोंको जुटाकर यात्राकी पीठिका तैयार होती है। फिर भी अपनेको अदृश्य भावसे सर्वत्र रखना ही होता है, यात्री अपनी यात्राको मानसिक प्रतिक्रियाओंके रूपमें ही ग्रहण करता है। अपनेको केन्द्रमें रखकर भी प्रमुख न होने देना साहित्यिक यायावरका कर्तव्य है, क्योंकि यदि लेखकका व्यक्तित्व उभरेगा तो अन्य सब गौण हो जायगा और यात्रा-साहित्य न होकर आत्मचरित ही रह जायगा, यात्रा-संस्मरण न रहकर आत्म-संस्मरण हो जायगा।

यात्रीमें, प्रगीतोंके गायकोंका-सा भावावेश और निबन्धकारकी-सी मस्ती रहती है। वह लापरवाही और मौजसे जीवनके प्रति एक विशेष दृष्टिकोण रखता है। इस बातको आधुनिक यात्रा-साहित्यके यात्रियोंने मुक्त-कण्ठसे घोषित भी किया है। राहुलके अनुसार "जिसने एक बार घुमक्कड़ धर्म अपना लिया, उसे पेंशन कहाँ, उसे विश्राम कहाँ ? आखिरमें हड्डियाँ कटते ही बिखर जायेंगी" ('किन्नर देशमें')। देवेन्द्र सत्यार्थी यात्राके आह्वानको सुन रहे हैं : "मेरा पथ मेरे सामने है। मैं जीवित मानवका पक्ष लेता हूँ।··· जीवन आज उसी यात्राके लिए आह्वान कर रहा है" ('रथके पहिये')। देवेशचन्द्र दास यात्राको मुक्तिके रूपमें ग्रहण करते हैं : "आज छुट्टी है, छुट्टी। मन-ही-मन जिस वसन्त-व्याकुलताका अनुभव करता था, उससे आज बन्धन-मुक्त होऊँगा। कामकी बाधा दूर हो गयी, वह किसी प्रकार क्यों न हुई हो—आँधीमें उड़कर अथवा वर्षामें घुलकर—और मैं अनिर्दिष्ट पथपर बाहर निकल आया हूँ" (यूरोपा)। 'अज्ञेय' जीवनको यायावरका चिरन्तन पथ मानकर कहते हैं : "यायावरको भटकते चालीस बरस हो गये, किन्तु इस बीच न तो वह अपने पैरों-तले घास जमने दे सका है, न ठाठ जमा सका है, न क्षितिजको कुछ निकट ला सका है···उसके तारे छूनेकी तो बात ही क्या।··· यायावरने समझा है कि देवता भी जहाँ मन्दिरोंमें रुके कि शिला हो गये, और प्राण-संचारकी पहली शर्त है

गति : गति : गति" (अरे यायावर, रहेगा याद)।

यात्रा-साहित्य विभिन्न शैलियोंमें लिखा गया है और उसके विभिन्न रूप पाये जाते हैं। इस विषयमें कुछ ऐसा साहित्य है, जो केवल यात्रोपयोगी साहित्य कहा जा सकता है और जिसका उद्देश्य विभिन्न देशों अथवा स्थानोंका विस्तृत और व्यापक परिचय देना रहता है। इनमें भी कुछ परिचयात्मक अधिक रहता है और कुछ यात्राके लिए अन्योंको प्रेरणा देनेके लिए होता है। राहुल सांकृत्यायन (हिमालय-परिचय, मेरी यूरोप-यात्रा आदि), स्वामी प्रणवानन्द (कैलास-मानसरोवर), शिवनन्दन सहाय (कैलास-दर्शन), गोपाल नेवटिया (भूमण्डल-यात्रा), भिक्षु धर्मरक्षित (नेपाल-यात्रा, लंका-यात्रा) आदिका यात्रा-साहित्य इसी कोटिमें आता है। परन्तु इनके यात्रा-वर्णनोंमें भी स्थान-स्थानपर भावावेग, उल्लास, आत्मीयता आदिकी अभिव्यक्ति पायी जाती है। कुछ यात्रियोंका उद्देश्य देश-विशेषके व्यापक जीवनको उसके सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्यमें उभारना रहता है। इनमें सत्यनारायण (आवारेकी यूरोप-यात्रा), यशपाल (लोहेकी दीवारके दोनों ओर), जगदीशचन्द्र जैन (चीनी जनताके बीच), राजवल्लभ ओझा (बदलते दृश्य), गोविन्द दास (सुदूर दक्षिण-पूर्व) आदि लेखक हैं। इन्होंने देशके प्राकृतिक रूप और सांस्कृतिक जीवनको एक साथ अभिव्यक्त करनेका प्रयत्न किया है, देशकी सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक स्थितियोंपर अपने निजी विचारों या प्रभावोंको व्यक्त किया है। इन लेखकोंकी शैली प्रायः यथार्थ चित्रणकी है और ये क्रमशः यात्रामें पड़नेवाले नगरों, स्थानों, दृश्योंका वर्णन प्रस्तुत करते चलते हैं और उन स्थानोंके जीवनपर भी प्रकाश डालते हैं। परन्तु इनमें कई स्थलोंपर लेखक अपने प्रभावों और भावात्मक प्रतिक्रियाओं-का भी समावेश करता है।

अधिकतर यात्रा-साहित्य संस्मरणात्मक होता है और इसमें यात्री अपने प्रभावों, प्रतिक्रियाओं और संवेदनाओं-को महत्त्व देता है। भगवतशरण उपाध्याय (वो दुनिया), अमृतराय ('सुबहके रंग'), रांगेय राघव ('तूफानोंके बीच') तथा रामवृक्ष बेनीपुरी ('पैरोंमें पंख बाँधकर' तथा 'हवापर') आदि इसी कोटिके लेखक हैं, जिन्होंने अपनी यात्रामें अपनी दृष्टि, अपनी प्रतिक्रियाओं तथा संवेदनाओंको अधिक महत्त्व दिया और देशके जीवन, परिस्थितियों तथा पात्रोंको इसी दृष्टिसे देखा है। इसी कारण अपेक्षाकृत इन कृतियोंमें अधिक साहित्यिक आकर्षण है। कुछ यात्री प्रकृति-सौन्दर्य तथा उसके जीवनसे अधिक आकर्षित तथा अभिभूत होते हैं, उनके साहित्यमें उसीकी अभिव्यक्ति प्रधान होती है। काका कालेलकरकी 'हिमालय-यात्रा', हंसकुमार तिवारीका 'भूस्वर्ग कश्मीर', श्रीनिधिकी 'शिवालिककी घाटियोंमें' अधिकतर यही सौन्दर्य है। सामान्यतः यात्रा-साहित्यमें प्रकृतिका सौन्दर्य सर्वत्र एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

कुछ ऐसे यायावर हैं, जो अपने यात्रा-साहित्यको समग्र जीवनकी अभिव्यक्तिके रूपमें ग्रहण करते हैं। उनके लिए प्रकृति सजीव है, यात्रामें मिलनेवाले पात्र आत्मीय, स्वजन हो जाते हैं। वे देशकी आत्माका साक्षात्कार करते हैं। वे देश-देशमें बिखरे हुए इतिहासको, संस्कृतिको, समाजको अपनी अनुभूतिका अंग बनाकर अभिव्यक्त करते हैं। उनके यात्रा-साहित्यमें महाकाव्य और उपन्यासका विराट् तत्त्व, कहानीका आकर्षण, गीतिकाव्यकी मोहक भावशीलता, संस्मरणोंकी आत्मीयता, निबन्धोंकी मुक्ति, सब एक साथ मिल जाती है। उत्कृष्ट यात्रा-साहित्य ऐसा ही होता है। 'अज्ञेय'के 'अरे यायावर, रहेगा याद'में ऐसा ही सौन्दर्य तथा आकर्षण है। इसके साथ देवेशचन्द्र दासकी 'यूरोपा' तथा 'रजवाड़े', मोहन राकेशकी 'आखिरी चट्टानतक' आदिका नाम भी लिया जा सकता है। —र०

यान–शाब्दिक अर्थ है, जिससे जाया जाय। इस दृष्टिसे गन्तव्य मार्ग और यात्राका साधन (सवारी)—ये दो अर्थ सम्भव होते हैं। प्रथम अर्थमें यान शब्दका वैदिक साहित्यमें प्रयोग मिलता है, जैसे देवयान और पितृयान (ऋ० सं०, १ : १६ : ४, १० : ११० : २, कौ० उ० १ : ३, मु० उ० ३ : १ : ६, छा० उ० ५ : १० : २, प्रश्न १ : ९)। प्रारम्भमें इस शब्दसे मार्गका ही अर्थ लिया जाता था। यात्राके साधन—सवारीके अर्थमें यह शब्द पालि निकायोंमें प्रयुक्त हुआ है। पालि निकायों और पालि संयुक्तागमके चीनी अनुवादमें एकयान, ब्रह्मयान, धम्मयान, विनययान, देवयान और सद्धर्म-विनययानका उल्लेख है। संयुक्तनिकायमें यान शब्दका सवारीके अर्थमें रूपकके साथ वर्णन मिलता है। इस प्रकार इससे वहाँ तत्त्वके प्रापक मार्गपर व्यक्तिको अग्रसर करनेवाले साधनका अर्थ द्योतित होता है। बौद्ध धर्मके इतिहासमें, निकायोंके उपरान्त, सर्वप्रथम महासांघिकोंने इस शब्दका प्रयोग किया। अपने विपक्षी स्थविरोंकी हीनता प्रदर्शित करनेके लिए उन्होंने द्वियान, त्रियान, श्रावकयान, अर्हत्यान और अन्तमें हीनयान तथा अपने सिद्धान्तोंका गौरव दिखानेके लिए स्वयंके लिए एक यान, अनुत्तरयान, बुद्धयान, बोधिसत्वयान और अन्तमें महायान शब्दका प्रयोग किया। इससे यानका तात्पर्य निश्चित ही निर्वाणका प्रापक लोकोत्तर मार्ग और साधन ही रहा। नागार्जुन, ज्ञानविधि तथा अन्य वज्रयान आचार्योंने यानका इसी अर्थमें प्रयोग किया है। आज जो अर्थ पंथ शब्द (जैसे—कबीरपंथ, दादूपंथ)से लिया जाता है, लगभग वही अर्थ यान शब्दसे भी लिया जाता है।

हीनयान और महायान—बौद्ध धर्मके ये दो प्रमुख यान हैं (दे०—हीनयान, महायान)। ये ही प्रारम्भिक यान थे। बादमें महायानके दार्शनिक सम्प्रदायोंका विकास हुआ। योगाचार और माध्यमिक शून्यवादकी विकसित परम्परामें मन्त्रों, धारणियों और तन्त्रोंके प्रभावसे, साधन प्रधान यानों—वज्रयान, मन्त्रयान, कालचक्रयान और सहजयानका उदय हुआ। शून्य या शून्यताके विश्लेषण और व्याख्यानको इन यानोंने प्रमुखता दी और शून्यताको वज्र तथा प्रज्ञा, इड़ा, वाम, प्रभृति संकेतात्मक शब्दोंसे (वज्रयान) या सहज, महासुख और निरंजन जैसे प्रतीकात्मक संकेतोंसे बताया। इन यानोंका साहित्य संस्कृत, संकर संस्कृत और अपभ्रंशमें सुरक्षित है।

इन यानोंकी प्रमुख विचारधाराओंके प्रभावसे ही सिद्ध-साहित्यका उदय हुआ, जो अधिकांशतः अपभ्रंशमें लिखा

गया। सिद्ध-साहित्यका पर्याप्त अंश केवल भोटभाषीय अनुवादोंमें ही सुरक्षित है, जो तिब्बती 'कंजूर'में संगृहीत है। अपभ्रंशमें प्राप्त सिद्धोंका साहित्य हिन्दीके विकासकी एक महत्त्वपूर्ण रेखा प्रस्तुत करता है। अपभ्रंशसे ही हिन्दीका वर्तमान स्वरूप विकसित हुआ है। सिद्धोंके 'दोहाकोश' और चर्यागीतियोंका इस दृष्टिसे विचारणीय महत्त्व है। सिद्ध-साहित्यकी प्राप्तिके पूर्व हिन्दी साहित्यका प्रारम्भ दसवीं शताब्दीसे माना जाता था, परन्तु अब ईसाकी सातवीं-आठवीं शताब्दीसे ही माना जाने लगा है। सिद्ध लोक-प्रचलित रीतियों, सहज-मार्ग और तान्त्रिक साधनासे प्रभावित थे और उन्होंने अपने समयकी प्रचलित लोकभाषा, जो सम्भवतः अपभ्रंश थी, में ही रचनाएँ कीं। इनमें सरहपा, लुईपा, शान्तिपा, तिलोपा, शबरपा, वीरूपा प्रभृतिके नाम उल्लेखनीय हैं।

[सहायक ग्रन्थ—हरप्रसाद शास्त्री : चिप्स् फ्रॉम बुद्धिस्ट वर्क शॉप; शिशिरदास गुप्त : इण्ट्रोडक्शन टु तान्त्रिक बुद्धिज्म; नागेन्द्रनाथ उपाध्याय : तान्त्रिक बौद्ध साधना और साहित्य; राहुल : हिन्दी काव्यधारा; दोहा-कोश।] —क० शु०

यामल—शाक्त आगमोंका वह प्रकार, जो राजस वृत्तिके अधिकारियोंको ध्यानमें रखकर निर्मित हुआ है (दे० 'आगम' और 'डामर')।

युक्ति—साधर्म्य-बीज अर्थालंकार। अपने मर्मको छिपानेके लिए क्रिया द्वारा दूसरेका वंचन 'युक्ति' अलंकार है। जयदेवने इसका लक्षण-निरूपण करते हुए लिखा कि उत्कृष्ट धर्मके सम्बन्धसे उपमानमें उपमेयकी अपेक्षा किसी चमत्कारी अर्थकी सिद्धि 'युक्ति' है (चन्द्रालोक, ३ : ९)। जयदेवका युक्तिका लक्षण अन्य आचार्योंके 'व्यतिरेक' नामक अलंकारसे मिलता-जुलता है। अप्पय दीक्षितने युक्ति नामक अलंकार माना है, जिसका लक्षण है "युक्तिः परातिसन्धानं क्रियया मर्मगुप्तये" (कुवल०, १, ५६)। दीक्षितकी युक्ति व्याजोक्तिके समान ही है, परन्तु व्याजोक्तिमें गोपन उक्ति द्वारा होता है, युक्तिमें क्रिया द्वारा, व्याजोक्तिमें आकार-गोपन होता है, युक्तिमें अनुराग आदिका गोपन।

हिन्दीके मतिराम, दास, पद्माकर आदि आचार्योंने अप्पय दीक्षितके आधारपर स्वीकार किया है—"मरम छिपावनको जहाँ क्रिया आन सन्धान" (ल० ल०, ३६४)। अथवा—"क्रिया चातुरीसो जहाँ, करे बातको गोप" (का० नि०, १६)। आधुनिक विवेचकोंने इसे स्वीकार नहीं किया है। परन्तु रीतिकाव्यके अन्तर्गत नायिका-वर्णनों (मुग्धा, प्रवत्स्यत्पतिका)में इसका बहुत अधिक प्रयोग हुआ है। उदा०—"गेह चली सखियाँ सिगरी चित सुन्दर साँवरे रूप लुभायो। आँखिन पूरि कटीले कपोलन कण्टक कोमल पाँइ चुभायो" (ल० ल०, ३६५)। परन्तु तुलसीके इस वर्णनमें इसका सुन्दर और सहज प्रयोग है—"बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी। खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिनहि सिय सयननि" (रा० च० मा०, २ : ११६)। —ओ० प्र०

युगनद्ध—बौद्ध धर्ममें तान्त्रिक प्रवृत्तियोंका प्रवेश होनेके बाद शिव और शक्तिके सम्मिलनके समानान्तर युगनद्धकी कल्पनाका विकास हुआ। 'पंचक्रम'ने युगनद्धकी व्याख्या तत्त्वदर्शनके आधारपर करते हुए कहा गया है कि "पुद्गल-नैरात्म्य और धर्म-नैरात्म्यकी एकता ही युगनद्ध है, संवृत्ति और परमार्थकी एकता युगनद्ध है, करुणा और उपायकी एकता युगनद्ध है"। 'अद्वयवज्रसंग्रह'ने शून्यता और करुणाके ऐकात्म्यको युगनद्धकी संज्ञा दी गयी है—"शून्यता नारी है और करुणा पुरुष, और दोनोंका अद्वय ही युगनद्ध है, वही धर्मकाया है"। इसी सिद्धान्तके अनुसार विभिन्न वज्रयानी देवताओंको अपनी शक्तियोंके साथ समागम करते हुए वर्णित किया गया है। भगवान् वज्रधर अपनी शक्ति भगवती प्रज्ञा (नैरात्मा, वज्रवाराही, वज्रधात्वीश्वरी)के साथ रहते हैं। हेरुक अपनी शक्ति वज्रवैरोचनीके आलिंगनमें आबद्ध हैं। पाँच ध्यानी बुद्ध अपनी-अपनी भार्याओंके साथ अद्वयस्थितिमें हैं (दे० 'बौद्ध-भार्याएँ')। इन मूर्तियोंको तिब्बतमें 'यब-युम' कहते हैं। साधक भी जब वज्रधरकी अवस्थामें पहुँच जाता है तो अपनी मुद्राके साथ मैथुन साधनामें प्रवृत्त हो युगनद्ध-साधना करता है। इसीको **प्रज्ञोपाय-साधना** भी कहा गया है। —ध० वी० भा०

युगसत्य—जर्मन शब्द 'जाइटजीस्ट' (कालकी आत्मा) या युग-चिन्ताके अर्थमें आजकल हिन्दीमें यह शब्द प्रयुक्त होता है। परन्तु 'युग' शब्दके काल-सापेक्ष होनेसे यह कहना कठिन है कि निश्चित रूपसे युगसत्य एक राष्ट्र या समाज-विशेषके लिए कौन-सा है? द्विवेदी-युगके सत्य क्या छायावादी युगमें नष्ट हो गये या छायावादी युगसत्य प्रगतिवादी युगसत्यमें बदल गया? सत्य इस प्रकारसे अपना चोला नहीं बदला करता। सत्य यदि विवेकाश्रित कोई आस्था है तो प्रगतिमान् हो सकता है, ऊर्ध्वगामी हो सकता है, बढ़ सकता है, विकसित हो सकता है, पर पूर्णतः नष्ट होकर, केंचुल बदलकर नयी केंचुल धारण करे, ऐसा कम होता है। अतः युगसत्यको समझने या परखनेमें जल्दबाजी नहीं की जा सकती, क्योंकि इस प्रकारसे यदि किसीके लिए गान्धीवाद युगसत्य हो जाता है, तो कुछ दिनों बाद मार्क्सवाद या अरविन्दवाद भी सहज, सुविधाके अनुसार युगसत्य बनता जाता है। युगसत्यके साहित्यमें तबतक कोई अर्थ नहीं है, जबतक वह व्यक्तिका अपना निजी सत्य नहीं हो जाता। —प्र० मा०

युद्धवीर—दे० 'वीर रस'।

योग—'योग' शब्दका प्रयोग कई अर्थोंमें होता है—(क) योगका सामान्य अर्थ 'सम्बन्ध' है। (ख) दर्शनमें योग प्रायः जीवात्मा और परमात्माके सम्बन्धको कहते हैं। इस सम्बन्धको प्राप्त करनेके उपायको भी योग कहा जाता है। इस अर्थमें योग शब्द मार्ग या प्रणालीका पर्याय है, जैसे भक्तियोग या भक्तिमार्ग, ज्ञानयोग या ज्ञानमार्ग, कर्मयोग या कर्ममार्ग। (ग) योग चित्तवृत्तिके निरोधके अर्थमें अब रूढ़ हो गया है। पतंजलि (२ शती ई० पू०)ने सर्वप्रथम योगसूत्रकी रचनाकी, जिसमें इन्होंने ऐसे ही योगको परिभाषित किया—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'। पतंजलिके योगको राजयोग भी कहा जाता है। राजयोगमें

भिन्न हठयोग है, जिसका मूल तन्त्र-ग्रन्थोंमे है। योगके ये ही दो भेद अधिक प्रचलित हैं, यद्यपि योगकी प्रणालियाँ अनेक है।

कुछ लोगोंने योगको वेदमूलक माना है, कुछने इसे जैनागमोंसे निकला बताया है, कुछने बौद्ध-दर्शनसे इसका सम्बन्ध जोड़ा है और अन्तमे कुछ लोगोंने योगकी इन सबसे स्वतन्त्र परम्परा प्राचीन कालसे ही आजतक मान रखी है। प्रायः यह माना जाता है कि उक्त चारों परम्पराओंमे चार प्रकारके योग हैं। राजयोग वैदिक है, तो हठयोग किसी स्वतन्त्र परम्पराका है, जिसे हम तन्त्र-शास्त्र कहते है। जैन और बौद्ध योगोंको इन दो योगोंसे भिन्न समझना चाहिये। राजयोग और हठयोग, दोनोंके स्वतन्त्र प्रवाह आद्योपान्त चलते रहे, कभी-कभी कुछ साधनोंमें दोनोंका मेल हो जाता था। जहाँ दोनोंका समन्वय होता था, वहाँ यह जाना जाता था कि हठयोग प्रथम सोपान या साधन है तो राजयोग द्वितीय सोपान या साध्य। हठयोगका सम्बन्ध अधिकतर शरीर-विकास और कायाकल्पसे है और राजयोगका सम्बन्ध मुक्ति या मोक्षसे है। हिन्दीके सन्तोंने राजयोग-प्राप्त समाधिको सहज समाधि कहा और हठयोगसे प्राप्त समाधिको हठ-समाधि कहा। गोरखपन्थी योगियोंको हठयोगी समझा जाता है और निर्गुण-सन्तों तथा अद्वैतवादियोंको राजयोगी।

योगसूत्रमें चार पाद हैं। निश्चलदासने अपने 'विचारसागर'में इसके राजयोगको संक्षेपमें व्यक्त किया है : "प्रथम पादमे चित्तवृत्तिका निरोधरूप समाधि और ताके समाधान, अभ्यास, वैराग्यादिक कहे हैं। तैसे चित्तविक्षिप्त सामाधिके साधन यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि ये आठ समाधिके अंग द्वितीय पादमें कहे हैं, तृतीय पादमें योगकी विभूति कही है, चतुर्थ पादमें योगका फल मोक्ष कहा है। इस रीतिसे योगशास्त्र भी ज्ञानसाधन, निदिध्यासनकूँ सम्पादन द्वारा मोक्षका हेतु है"। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य ये पाँच यम है। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान ये पाँच नियम है। स्थिर तथा सुखपूर्वक बैठनेके प्रकारको आसन कहते है : 'स्थिर-सुखमासनम्'। श्वास-प्रश्वासकी गतिका विच्छेद प्राणायाम है। यह चार प्रकारका होता है, रेचक (कोष्ठ्य वायुको बाहर निकालकर बाहरीको रोक देना), पूरक (नासारन्ध्रसे बाहरी वायुको बाहर निकालकर बाहरीको रोक देना), कुम्भक (एक ही प्रयत्नसे वहाँ श्वास-प्रश्वासकी गति रोकी जाय) और केवल कुम्भक। इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे हटाकर निरुद्ध करना प्रत्याहार है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार बहिरंग साधन है। अन्तिम तीन ध्यान, धारणा और समाधि अंतरंग साधन है।

'देशबन्धस्य चित्तस्य धारणा' अर्थात् किसी स्थानपर चित्तको लगाना धारणा है। उस स्थानपर ध्येय वस्तुका ज्ञान जब एकाकार रूपसे प्रवाहित होता है और उसे दबानेके लिए कोई अन्य ज्ञान नही होता, तब इसे ध्यान कहते हैं। जब ध्यान और ध्येय वस्तु एकमेव हो जाते है तो उसे समाधि कहते हैं। यह दो प्रकारकी होती है—सम्प्रज्ञात समाधि, जिसमें ध्येय वस्तुका ज्ञान बना रहता है और असम्प्रज्ञात समाधि, जिसमे ध्येय, ध्यान तथा ध्याताका ऐकात्म्य हो जाता है। पहलीको सबीज या सविकल्पक समाधि भी कहते है और दूसरीको निर्बीज या निर्विकल्पक।

योगका तत्त्ववाद सेश्वरसांख्य है। यहाँ ईश्वर क्लेश, कर्म, विपाक तथा आशयसे शून्य पुरुषविशेष है।

सूरदासने अष्टांगयोगसाधनाको भक्तिका साधन बताया है—"भक्तिपन्थ कौं जो अनुसरै। सो अष्टांग योगकौ करै। यम नियमासन प्रानायाम। करि अभ्यास होइ निष्काम। प्रत्याहार धारना ध्यान। करै जु छाँड़ि बासना आनि। क्रम-क्रम सौं पुनि करै समाधि। सूर स्याम भजि मिटै उपाधि"। पर इन्हीं सूरदासने गोपियोंसे योगका खण्डन कराया है—"ऐ अलि कहा जोगमै नीको। तजि रस रीति नन्दनन्दनकी, सिखवत निरगुन फीकौ" (सू० सा०, १०) और "फिरि फिरि कहा सिखावत मौन। बचन दुसह लागत अलि तेरे, ज्यौं पजरेपर लौन। सृंगी, मुद्रा, भस्म, त्वचामृग, अरु अवराधन पौन" (वही)।

इससे स्पष्ट है कि सूरदासको पातंजल सेश्वर योग इष्ट है, पर निरीश्वर योग तथा हठयोग इष्ट नही है।

गोरखनाथ हिन्दीमे हठयोगके प्रवर्तक है। उनके नाथ-सम्प्रदायके कनफटा जोगी हठयोगी ही है। इसके अनुसार महाकुण्डलिनी शक्ति विश्वमे व्याप्त है। व्यक्तिमे इसके रूपको कुण्डलिनी कहते है, जो अग्निचक्रमें रहती है। व्यक्तिमें प्राणके साथ यह जन्मना आती है। अग्निचक्रके ऊपर मूलाधारचक्र, स्वाधिष्ठानचक्र, मणिपुरचक्र, अनाहतचक्र, विशुद्धाख्यचक्र, आज्ञाचक्र और सहस्रारचक्र हैं। अन्तिमको शून्यचक्र या कैलास भी कहते है। यहाँ सदा अमृत चूता रहता है। योगीका कर्तव्य साधना द्वारा कुण्डलिनीको जगाकर क्रमशः इसी चक्रतक ले जाना और अमृत पिलाना है। शरीरमे ६२ हजार नाडियाँ है, पिंगला, सुषुम्ना आदि। सुषुम्ना शाम्भवी शक्ति है। इसीके बीचसे कुण्डलिनी उठकर ऊपर जाती है। उसके उठनेपर शब्द होता है, जिसे 'नाद' कहते है और नादसे प्रकाश होता है, जिसके प्रकट रूपको बिन्दु कहते है। कुण्डलिनीको जगानेके लिए धौति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौलि और कपालभाति, इन ६ कर्मोंसे शरीरको शुद्ध करना पड़ता है। इनके अतिरिक्त आसनो, मुद्राओं, प्राणायामो, ध्यानो और समाधिको करना पड़ता है।

कबीर कभी-कभी हठयोगकी पदावलीका व्यवहार करते है, पर उनका मत हठयोगसे भिन्न है। इसकी वे स्पष्ट निन्दा करते है।

कबीरका योग पातंजल योग तथा हठयोग, दोनोंसे भिन्न है। उनका योग भक्तियोग है और वह भी नामभक्ति ही। हिन्दी निर्गुणोपासक सन्तोंने प्रायः कबीरकी निर्गुण-भक्तिके योगको ही अपनाया है। सगुणभक्तोंने भक्ति और पातंजल योगका समन्वय किया है। कुछ सगुणभक्तोंने यद्यपि पातंजल योगका अभ्यास नही किया, केवल भक्ति की है, पर उन्होंने योगका खण्डन भी नही किया।

हठयोग कठिन है। नामभक्तिका योग पूर्ण रहस्यवाद है, जिसको विरले ही कर सकते हैं। भक्तिके लिए भी पहले

अन्तःकरण-शुद्धि चाहिये। अतः पातंजल योगकी आवश्यकता है, क्योकि यह सुगम है और अन्तःकरण शुद्ध कर देता है। यही कारण है कि वर्तमान युगमे भी इसका बहुत प्रभाव है। महात्मा गान्धीने भी पातंजल योगको मान्यता दी है।

[सहायक ग्रन्थ—पातंजलयोगदर्शन : गीता प्रेस, गोरखपुर; कबीर : हजारीप्रसाद द्विवेदी; विचारसागर : निश्चलदास।] —सं० ला० पा०

योग-अग्नि—साधक अपने शरीरसे एक ऐसी शक्ति या ज्वाला उत्पन्न कर लेता है, जिसमे वह स्वयं जलकर भस्म हो जाता है। यह परम्परा साहित्यमें काफी दूरतक चली है। "अस कहि जोग अगिनि तन जारा। भएउ सकल मख हाहाकारा" (रा० च० मा०)। —उ० शं० शा०

योगधारा—दे० 'नाथ-साहित्य'।

योगमाया—'भगवद्गीता'के सातवे अध्यायमे भगवान् कृष्ण कहते है—"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः। मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्", अर्थात् "अपनी योगमायासे छिपा हुआ मै सबके सम्मुख प्रत्यक्ष नही होता हूँ, अतः यह अज्ञानी जन मुझ अजन्मा, अविनाशीको नही जानता है"। यहाँ उस नाम-गुण-रूपात्मक आवरणको योगमाया नामसे अभिहित करते हैं, जिसे "इच्छाद्वेषसे उत्पन्न हुए द्वन्द्व-मोहने आवृत प्राणी" हटाकर तत्त्वरूपकको नही देख पाते है। यह गुणमयी (सत्त्व, रज, तम—तीन गुणोंसे युक्त) माया दुस्तर है तथा इसे तरनेमे वे ही समर्थ है, जो भगवान्को ही निरन्तर भजते है (गीता, ७, १४)। **भागवत धर्मके** शास्त्रीय विवेचनमें आचार्योंने भगवान्की इस मायाको प्रायः दो रूपोमे देखा है। एक वह है, जो अज्ञान या अविद्याजन्य है। यह मिथ्या है और मात्र भ्रम-जन्य है। वल्लभाचार्य इसे अविद्या-माया और अहन्ता-ममतामय मिथ्या संसारको जन्म देनेवाली कहते है। परन्तु अद्वैतमे प्रायः विशिष्टता, शुद्धता या द्वैताद्वैतता-परक-विश्वास करते हुए भी ये आचार्य जगत् या व्यक्त प्रकृतिकी ब्रह्ममयी सत्ताको स्वीकार करते हैं और उसे ही ब्रह्मकी शक्तिरूपा माया मानते है। इसी माया-शक्तिके रूप ब्रह्म लीला-विलासके लिए एकसे अनेक होनेकी इच्छा पूर्ण करता है और नाना रूपात्मक जगत्के रूपमे अंशतः व्यक्त होता है। इस मायाको जो सच्चे रूपमें, अर्थात् ब्रह्मकी शक्तिके रूपमें जान लेते है, वे ही ज्ञानी है और जो इसके बाह्य नाम, रूप और गुणके द्वारा मोहमे पड़ जाते है, वे मूढ़ या अज्ञानी हैं।

विशिष्टाद्वैतवादके अनुसार यह नानारूपात्मक प्रकृति जड़ अक्षर ब्रह्मका एक व्यक्त रूप है। परन्तु पूर्ण पुरुषोत्तम आनन्दरूप श्रीकृष्ण परब्रह्म भी, जो गोलोकमे अपनी नित्य आनन्दकी क्रीड़ामे मग्न रहते है, ब्रजमण्डल वृन्दावन धाममें पृथ्वीपर अवतरित होकर अपनी आनन्दमयी लीलाका विस्तार करते है। लीला-विलासके लिए वे अपनी ही आनन्दिनी या आह्लादिनी शक्तिको राधाके रूपमें व्यक्त करते है। यह आह्लादिनी शक्ति कृष्ण पुरुषकी अभिन्न प्रकृति उन्हीकी माया या योगमाया है, जो उनसे अभिन्न है। राधा और कृष्ण तो एक है ही, गोपियाँ और गोप भी उनकी इसी माया नामक शक्तिका विस्तृ[पुंसोः परस्परं रिरंसा रतिः] की मुरली (दे०)को भी उनकी यो[...]ामवासनामय हृदयकी किया है। 'श्रीमद्भागवत'में भी कृष्ण[...]ण्डितराजने भी कहा अभिन्न उनकी आकर्षणशक्तिके प्रतीकके रू[...]म नामक जो गयी है, परन्तु सूरदासने मुरलीके प्रभावका अत्य[...]। किक और विस्मयजनक वर्णन किया है, जिससे यह स[...]ारके नही रहता कि वे उसे कृष्णकी योगमाया शक्तिके रूपमें ह[...] कल्पित करते हैं। दानलीलामे एक स्थलपर कृष्ण अपनी कमरीके सम्बन्धमे गोपियोंसे कहते है—"इस कमरीको कमरी समझती हो। जिसकी जितनी बुद्धि होती है, वह उन्हे उतना ही समझ पाता है। इसके एक रोमपर चीर-पटम्बर निछावर हो सकते है। तुम इसकी निन्दा करती हो। यह तीन लोककी आडम्बर है। इसी कमरीके बलसे असुरोका संहार किया है, इसी कमरीसे सब योग किये है। यही मेरी जाति-पाँति, यही सब योग है"। योगमायाका आवरण, जिसका उल्लेख कृष्णने गीतामे किया है, अज्ञानियोको भ्रममे डालता है, परन्तु भक्तोके लिए वही प्रेमका अतीव आकर्षण बन जाता है। इसीके द्वारा कृष्णने अर्जुनको अपना विस्मयकारी विराट् रूप दिखाया था।

'श्रीमद्भागवत' और अन्य पुराणोमें यशोदाके गर्भसे उत्पन्न हुई उस कन्याको योगमाया कहा गया है, जिसे वसुदेव कृष्णसे बदल ले गये थे (भागवत, १० : ५० : ३ : ४७-४८) तथा जिसे कंसने देवकीसे छीनकर शिलाके ऊपर पटका था। वह विष्णुकी अनुजा देवी योगमाया आकाशमें जाकर दिव्यायुधधारिणी अष्टभुजा मूर्तिसे विराजमान हुई तथा कंसको चेतावनी देकर अन्तर्हित हो गयी और वाराणसी आदि अनेक स्थानोमे अनेक नामोंसे प्रसिद्ध होकर अवस्थित हुई (वही ४ : ९ : १२)। वैष्णव पुराणोमें इस प्रकारके और भी सन्दर्भ है, जिनमे शक्तिको कृष्ण(विष्णु) की योग-माया बताया गया है। —ब्र० व०

योग-संप्रदाय—दे० 'नाथ-संप्रदाय'।

योग-साहित्य—दे० 'नाथ-साहित्य'।

योगिनी—दे० 'महामुद्रा'।

योगी—दे० 'नाथ'।

योनि—हठयोगियोका मत है कि ब्रह्मरन्ध्रस्थ सहस्रारपद्मके मूलमे एक त्रिकोणाकार शक्तिकेन्द्र है, जहाँ चन्द्रमा निवास करता है और सदैव अमृत स्रवित करता रहता है। हठयोगी इस त्रिकोणाकार शक्ति केन्द्रको 'योनि' कहते है। —रा० सिं०

यौथिकी (गोपी)—दे० 'गोपी'।

यौन वर्जना—वर्जनाका मनुष्यके मनोवैज्ञानिक, नैतिक और आध्यात्मिक विकासमे बहुत महत्त्व है। सभी मनोवैज्ञानिक मानते है कि मनुष्यमे स्वाभाविक कामवृत्ति होती है और वह अपने मौलिक रूपमें संयत भी नही होती। मनोविश्लेषक तो इस वृत्तिको सर्वव्यापक मानते है। परन्तु हमारा नैतिक और सामाजिक वातावरण यौन वृत्तिके नियन्त्रणपर जोर देता है, अतः वर्जनाकी उत्पत्ति होती है। यौन वृत्तिकी तृप्तिकी इच्छाके साथ ही परित्यागकी भी एक स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, यद्यपि इसमें सुख नहीं मिलता, पर व्यक्ति स्वयं ही कुछ अज्ञात भयोंसे प्रेरित

होकर उस ओरसे हट जाता है। यह विराग और परित्याग कई कारणोंसे हो सकता है, पर वे प्रायः अज्ञात रहते हैं, जैसे व्यावहारिक कठिनाइयाँ, सुपर ईगोका आदेश, सामाजिक दण्डका भय। इस प्रकार स्वयं व्यक्तिका मानस ही यौन वृत्तिके उच्छृङ्खल परितोषके विरुद्ध वर्जनाएँ बना लेता है। लेकिन वर्जना यदि 'उच्च अहम्' (सुपर ईगो) द्वारा निर्मित हो तो उसके अनुसार चलनेमे व्यक्तिको सन्तोष ही मिलता है।

वर्जना एक दूसरे प्रकारकी भी हो सकती है, एक बर्बरतायुक्त निषेध जो किसी बाह्य अधिकारी द्वारा व्यक्तिपर लादा गया हो। यह निषेध या वर्जना (taboo) व्यक्तिकी प्रबलतम प्रवृत्तिपर होती है। वर्जनामे कुछ संकटमय, कुरूप और निषिद्धका भाव रहता है। धर्म और नीतिके प्रभावसे कुछ यौन वर्जनाएँ सभीके लिए स्वाभाविक हो गयी है और इनके विरुद्ध जानेका विचारमात्र भयानक लगता है, पाप लगता है। मनोविश्लेषणोंके अनुसार इस प्रकारकी वर्जनाओंका उल्लंघन करनेकी इच्छा भी अचेतन रूपसे सदा उपस्थित रहती है। वर्जनाका पालन स्वाभाविक परित्याग (instinctive renunciation)की प्रवृत्तिके कारण होता है। व्यक्ति सामान्य धार्मिक, सामाजिक, नैतिक वातावरणमे विशेष वर्जनाएँ या निषेध आरोपित कर लेता है और उनका पालन उतनी ही कट्टरतासे करता है जितनी कट्टरतासे बर्बर जातियाँ अपनी जातिगत वर्जनाओंका करती है। इन वर्जनाओंकी उत्पत्ति रहस्यमय होती है और उसमें किसी बाह्य दण्डका अनावश्यक भय होता है, क्योंकि व्यक्तिके मनमें भय रहता है कि उल्लंघन करते ही कुछ अत्यन्त भयानक आपत्ति अवश्य आयेगी। कुछ विशेष मानसिक रोगियोंमें अत्यन्त विचित्र प्रकारकी वर्जनाएँ देखी जाती है। कभी-कभी वर्जनाका थोड़ा उल्लंघन करनेके बाद व्यक्ति किसी विशेष क्रिया द्वारा पापका प्रभाव नष्ट करनेका प्रयत्न करता रहता है। इन क्रियाओंको 'आब्सेसिव ऐक्ट्स' कहते है। —प्री० अ०

यौन विकृति–स्वाभाविक यौन वृत्ति और यौन व्यापारके स्थानपर अत्यन्त अस्वाभाविक रूपमें यदि मनुष्य यौन तृप्ति पाये, तो वही यौन विकृति है। ये विकृतियाँ एक ओर तो दमन, वर्जना और अवरोधका परिणाम हैं और दूसरी ओर स्वाभाविक विकासकी वियोजित या विच्छिन्न (dissociated) अवस्थाएँ है। अत्यन्त स्वाभाविक यौन व्यापारमें भी मानवीय स्तरपर कुछ विशिष्ट क्रियाएँ हो सकती है, पर इन्हें विकृति नही मानते। विकृति संज्ञा तभी दी जाती है, जब ये क्रियाएँ अत्यन्त प्रबल होकर यौन व्यापारके प्रमुख उद्देश्यकी उपेक्षा कर देती है। यौन विकृति दो प्रकारकी हो सकती है—एक तो कामेन्द्रियोंका अन्यथा उपयोग, दूसरे, कामोत्तेजनाके विषयके साथ स्वाभाविक क्रिया न करके अन्य अस्वाभाविक ढंगोंसे तृप्ति पाना। **परपीड़न** और **आत्मपीड़न** दूसरे प्रकारकी यौन विकृतियाँ हैं। आत्मरति तथा समलिंगी रति सामान्यतः काम-विकासकी स्वाभाविक अवस्थाएँ है, पर जब व्यक्तिका विकास इन अवस्थाओंमें स्थिर हो जाता है तो ये भी यौन विकृतियाँ मानी जाती हैं।

यौन विकृतियाँ सम्पूर्ण व्यक्तित्वके विकास और संघटनको व्यक्त करती है। यदि थोडी मात्रामे भी ये उपस्थित हो तो व्यक्तित्व विशेष प्रकारका हो जाता है और बहुत-सी सामाजिक तथा नैतिक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती है। ऐसी समस्याओंका निरूपण आधुनिक साहित्यमे प्रायः होता है (दे० 'मनोविश्लेषण')। —प्री० अ०

यौन वृत्ति–दे० 'मनोविश्लेषण'।

रंगद्वार-कृत्य–रूपकको आरम्भ करते हुए सर्वप्रथम **कायिक, वाचिक** आदिका अभिनय अवतरित होता है। इससे नाटकके आरम्भकी सूचना होती है। —ब० सिं०

रंगमंच–वह मंच, जिसपर प्रेक्षकोंके सम्मुख नाटकका अभिनय प्रदर्शित किया जाता है। अब इससे प्रेक्षागृह तथा नाटक, दोनोंका ही बोध होता है। आधुनिक रंगमंचके मुख्यतः ४ भाग होते है—१. नेपथ्य, २. पार्श्व या पक्ष, ३. दृश्य सामग्री, अर्थात् दृश्य-नियोजनमे प्रयुक्त वे वस्तुएँ, जो आसानीसे मंचपरसे हटायी या उसपर रखी जा सकें, जैसे, मेज, कुर्सियाँ, कृत्रिम वृक्ष, पर्वत आदि और ४. मंचका अग्र भाग, जो प्रेक्षकोंको मंचसे पृथक करता है। —श्या० मो० श्री०

रचना–गद्य अथवा पद्यमें भावों अथवा विचारोंका संबद्ध रूप। अरस्तूने रचनाके दो रूप माने है—कविता (पोइट्री) और अभिभाषण (रिटॉरिक)। इन दोनोंमे भेद यह रखा गया था कि कविता अनुकृति थी और अभिभाषणमे विचारके धारणा-पक्षका प्राधान्य था। वैज्ञानिक रचनाके रूपमें अरस्तूने एक अन्य श्रेणीकी भी योजना की थी। इस प्रकार रचनामे सर्जनात्मक अथवा कल्पनानिष्ठ, प्रेरणात्मक और सूचनात्मक, तीनों प्रकारकी सृष्टियाँ आ जाती हैं, जिनसे क्रमशः आनन्द, कर्म और ज्ञानके पक्षोंका समर्थन होता था। सभी गद्य-पद्य-रचनाएँ इन तीनो वर्गोंके अन्तर्गत रखी जा सकती है। सामान्य अर्थोंमें रचनासे निबन्ध या प्रबन्धका बोध होता है, जिनके चार प्रकार या अंग है—विवरण, वर्णन, वितर्क और व्याख्या। रचनामे इनमेसे जिस तत्त्वकी प्रधानता होती है, उसीके आधारपर उसका नामकरण होगा (दे० 'कृति', 'सर्जन')। —रा० म०

रचनात्मक शक्ति–कवि, कलाकार, चिन्तक अथवा साहसीकी वह शक्ति है, जिसके द्वारा ये व्यक्ति अपने-अपने क्षेत्रोंमें अपूर्व और अद्भुत प्रतिमाओंका आविष्कार करते हैं तथा अपने कौशलसे अनुकूल माध्यम द्वारा उन मानसिक अनुभूतियोंको मूर्त करते है। यह शक्ति स्वाभाविक अथवा साधना-जन्य हो सकती है। इसके दो रूप होते है—कारयित्री और भावयित्री। कारयित्री—जैसे बुद्धकी शान्ति, शम-दम-युक्त अथवा विष्णुकी वैभव, शक्ति-सौम्य-युक्त मूर्तिका शिलाके माध्यमसे निर्माण करनेकी शक्ति। भावयित्री—मूर्तिके दर्शनसे इन आध्यात्मिक विभूतियोंका अनुभव करनेकी शक्ति। इसी प्रकार अन्य क्षेत्रोंमें भी। —ह० ला० श०

रति–श्रृंगार रसका स्थायी भाव 'रति' है। 'प्रकृतिवाद'में रतिका अर्थ किया गया है:—स्मरप्रिया, कामपत्नी, अनुराग, आसक्ति, क्रीडा, रमण, सन्तोष। इस तालिकासे रति शब्दसे व्यंजित तीन प्रसिद्ध अर्थोंकी विज्ञप्ति होती है;

प्रथम, रति कामदेवकी पत्नीका नाम है; द्वितीय, रति अनुराग अथवा प्रेमका सूचक है; तृतीय, रति क्रीडा अथवा रमण, अर्थात् स्त्री-पुरुषके एक-दूसरेके प्रति नैसर्गिक आकर्षणकी एक विशिष्ट प्रकारकी प्रमोदपूर्ण अभिव्यंजनाका वाचक है।

कामदेवकी प्रियाके रूपमें कालिदासने 'कुमारसम्भव'मे जो प्रसिद्ध रति-विलाप वर्णित किया है, उससे रति सहृदय काव्यानुरागियोंके मानसमे उपविष्ट हो गयी है। 'कामसूत्र'मे 'काम' शब्दका पहले सामान्य अर्थ "आत्मासे मुक्त मन द्वारा कर्ण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा एवं घ्राणका अपने-अपने विषयानुकूल प्रवृत्त होना" बतलाया गया है और पुनः "स्त्री-पुरुषके पारस्परिक स्पर्श द्वारा जनित आभिमानिक सुखोके विषय-बोध"को प्रधान काम निश्चित किया है। इस प्रकार काम रतिके उपर्युक्त तीसरे अर्थका व्यंजक बन जाता है। अर्थात्, काम और रति, रमणेच्छाके सूचक पर्याय बन जाते है। रतिका दूसरा अर्थ अनुराग अथवा प्रेम बताया गया है। इस अर्थमे रति व्यापक क्षेत्रमें शासन करती है; वह स्त्री-पुरुषके दैहिक संसर्गकी संकुचित सीमाका अतिक्रमण कर मनुष्य-जीवनके सम्पूर्ण प्रेय और श्रेयकी नियामिका प्रवृत्ति बन जाती है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक मैकडुगलने मनुष्यकी मूल प्रवृत्तियोंमे यौन संसर्गकी प्रवृत्तिको भी परिगणित किया है तथा उससे सम्बद्ध भावको 'लस्ट' (lust) कहा है। फ्रायडका 'लिबिडो' (libido) भी यही 'लस्ट' है, जिसे रतिका समानार्थक समझा गया है। यह 'लिबिडो' परिष्कृत होकर व्यापक प्रेमका स्वरूप ग्रहण कर लेता है। रतिके जो अर्थ ऊपर दिये गये है, उनमें भी उसके विकसित होने एवं विषयके अनुकूल स्वरूप ग्रहण कर लेनेका भाव सन्निहित है।

साहित्यशास्त्रियोंने रतिकी परिभाषामें कहीं-कहीं उसके व्यापक अर्थकी ओर भी संकेत किया है। 'नाट्य-शास्त्र'मे रतिको 'आमोदात्मक भाव' बताकर उसे 'इष्टार्थ विषयकी प्राप्ति'से उत्पन्न कहा गया है। मम्मटका कथन है कि—"रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाऽञ्जितः। भावः प्रोक्तः। आदि शब्दान्मुनिगुरुनृपपुत्रादिविषया। कान्ताविषया तु व्यक्ता शृंगारः" (का० प्र०, ४ : ३५ तथा वृ०), अर्थात् देवता आदिके विषयमे उत्पन्न होनेवाली रति (प्रीति) और अंजित (प्रधानतया व्यक्त) व्यभिचारीको भाव नामसे पुकारते है। मूल कारिकामें 'आदि' शब्दसे मुनि, गुरु, नृप, पुत्र, शिष्य आदि-विषयिणी रति (प्रीति) समझनी चाहिये। कान्ताविषयिणी प्रधानतया वर्णित (व्यक्ता) रति तो शृंगार ही है।

यहाँ मम्मटने रतिका व्यापक अर्थ लिया है तथा कान्ताविषयक रतिको शृंगारका साध्य कहा है। विश्वनाथ प्रिय वस्तुमें मनके प्रेमपूर्ण उन्मुख होनेको रति मानते है—'रतिर्मनोनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्' (सा० द०, ३ : १७६)। मनोनुकूल अर्थकी सीमा निश्चय ही व्यापक है, यद्यपि उसमें स्त्री-पुरुषकी एक-दूसरेके प्रति मानसिक अनुकूलताका भाव भी समाविष्ट है।

सुधासागरकारने रतिको उस संकुचित अर्थमें ग्रहण किया है, जिस अर्थमें वह शृंगारी काव्यमें चित्रित हुई है—"स्मरकरम्बितान्तःकरणयोः स्त्रीपुंसोः परस्परं रिरंसा रतिः स्मृता" अर्थात्, स्त्री-पुरुषके कामवासनामय हृदयकी परस्पर रमणेच्छाका नाम 'रति' है। पण्डितराजने भी कहा है कि स्त्री-पुरुषकी एक-दूसरेके विषयमें प्रेम नामक जो चित्तवृत्ति होती है, उसे 'रति' स्थायी भाव कहते हैं।

हिन्दी आचार्योंमें देवने 'प्रेमचन्द्रिका'में पाँच प्रकारके प्रेमका वर्णन किया है, यथा—"सानुराग प्रेम जो शृंगारमय कहा गया है; सौहार्द, जो इष्ट-मित्र, स्वजन-परिजनसे सम्बन्धित है; भक्ति; वात्सल्य तथा दुःखमे आर्द्र होकर किया गया प्रेम, जो 'कार्पण्य'कहा गया है"। उसमें सानुराग प्रेम, अर्थात् शृंगारपूर्ण प्रेमके सम्बन्धमें 'रति'को स्थायी भाव कहा गया है, यथा—"प्रेमांकुर सो रति कहत रस-सिंगार थिति भाव" (भ० वि०)। उपर्युक्त विवेचनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि रतिके क्षेत्रमें देवादि-विषयक प्रीतिको भी समाविष्ट किया गया है, तथापि शृंगार रसका स्थायी भाव बताकर उसे स्त्री-पुरुष-विषयक रमणमूलक स्वाभाविक मनोवेगके ही रूपमें अन्तिम स्वीकृति मिली है। भरतका कथन है कि यह आमोदात्मक भाव ऋतु, माल्य, अनुलेपन, आभरण द्वारा उत्पन्न होता है तथा स्मित आनन, मधुर वचन, भ्रूक्षेप, कटाक्ष इत्यादि अनुभावों द्वारा प्रकाश पाता है।

'हरिऔध'ने 'रसकलश'में तीन प्रकारकी रति बतायी है—१. उत्तम रति, अर्थात् सदा एकरस रहनेवाली अनन्य प्रीति, २. मध्यम रति, अर्थात् अकारण परस्पर प्रीति, जिसमें मैत्रीभावकी प्रधानता होती है तथा ३. अधम रति, अर्थात् जिसमें स्वार्थकी प्रधानता होती है। उनकी उत्तमा, मध्यमा एवं अधमा नायिकाएँ इस त्रिविध रतिका प्रतिनिधित्व करती है। उदा०—"लाल अलौकिक लरिकई लखि-लखि सखी सिहाँति। आज कालि मैं देखियतु उर उकसौंहीं भाँति" (वि० स०, १६५)। यहाँ रतिभावकी व्यञ्जना है, स्थायीका पूर्ण स्फुटन नहीं हो सका है, क्योंकि वह तो रसपरिपाककी ही दशामें सम्भव है। (दे०—'स्वभावज अलंकार', उन्नीसवाँ। —र० ति०

रतिप्रीता—दे० 'प्रौढा', नायिका।

रत्नावली-एक गौण अर्थालंकार। अप्पय दीक्षितने 'कुवलयानन्द'में ही इसका उल्लेख किया है। जयदेवके 'चन्द्रालोक'ने अधिक सत्रह अलंकारोंमेंसे यह भी एक है। अप्पय दीक्षितने इसका लक्षण दिया है—"क्रमिक प्रकृतार्थानां न्यासं रत्नावली विदुः" (कुव०, ७४), अर्थात् मुख्यार्थ-समन्वित शब्दों द्वारा क्रमानुसार किसी तथ्यका वर्णन करनेसे रत्नावली अलंकार होता है। हिन्दीके उन्हीं आचार्योंने इसे स्वीकार किया है, जिन्होंने अप्पय दीक्षितका अधिक अनुसरण किया है—"प्रस्तुत अर्थनको जहाँ क्रमते थापन होय।' (ल० ल० : ३२९)। इसका 'कुवलयानन्द'में दिया हुआ उदाहरण—"नव-नील सरोजनको इहिके जुग-दीरघ-नैनन पत्र दियो। गज-कुम्भनसों इहिके कुच-कुम्भन पूरब-पक्ष स-दक्ष ठयो। अति बंक निसंक भई भृकुटी सरके धनुको अनुवाद छयो। पुनि हास विलास भरे मुखसों इन खण्डन चन्द्र प्रकास कियो" (अ० मं०)। नारी-वर्णनके सारगर्भित शब्दों द्वारा यहाँपर बुधजनके शास्त्रार्थके प्रसिद्ध

क्रमका वर्णन हुआ है; पत्र देना, पूर्वपक्ष करना, प्रतिपक्षीके लेखका अनुवाद करना और तत्पश्चात् खण्डन करना, यह शास्त्रार्थका क्रम प्रसिद्ध है। —ज० कि० व०

रथोद्धता–वर्णिक छन्दोंमे समवृत्तका एक भेद; 'पिंगल-सूत्र' (६७ : २३) और भरतके 'नाट्यशास्त्र' (१६ : ३५)के अनुसार रगण, नगण, रगण और लघु-गुरुके योगसे यह वृत्त बनता है (ऽ।ऽ, ।।।, ऽ।ऽ, ।ऽ), ६-७ वर्णोंपर यति होती है। केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है—"चित्रकूट तब रामजू तज्यौ। जाय यज्ञ थल अत्रिको भज्यौ। राम लक्ष्मण समेत देखियो। आपुनो सफल जन्म लेखियो (रा० चं०, ११ : १)। —पु० शु०

रदीफ–उर्दू कवितामें अन्त्यानुप्रास या तुकान्तको रदीफ कहते हैं। किसी नज़्म या गजल आदिमे हर शेरके आखिरमें जो शब्द हर बार आ जायँ, उन्हे रदीफ कहते हैं। —म०

रमण छंद–वर्णिक समवृत्तका एक भेद। इसके प्रत्येक चरणमे एक सगण होता है (।।ऽ)। इस छन्दका प्रयोग केवल केशवने किया है—"दुख क्यों, हरि है। हरिजू हरिहै" (रा० चं०, १ : ११)। —पु० शु०

रमैया–रमइया या रमैया रूपमे इस शब्दका व्यवहार सन्त-साहित्यमें हुआ है और सामान्य अर्थमे यह राम या ब्रह्मके लिए प्रयुक्त हुआ है। जब कबीर कहते है—"रमइया गुन गाइऐ रे जातैं पाइऐ ब्रह्मगियानु' (क० ग्रं० : पारसनाथ तिवारी, पद ८२), तो उनका मतलब उसी आदि और नियामक सत्तासे होता है जिसे वे राम, रहीम, माधो, मुरारि आदि संज्ञाओसे अभिहित करते है। 'बीजक'में भी 'रमैया राम' शब्द आता है :—"हंसा सरवर सरीर में, हो रमैया राम। जागत चोर घर मूसै हो, रमैया राम"। यहाँ भी 'रमैया राम' विवेक सयुक्त आत्माके अर्थमे प्रयुक्त है। लेकिन कबीर-पन्थकी साम्प्रदायिक परम्परामें 'रमैया राम' निरंजन या भरमानेवाले ब्रह्मका वाचक माना जाता है। मायाको कबीरदासने 'रमैयाकी दुलहिन' कहा है—'रमैया क दुलहिनि लूटा बजार', किन्तु यहाँ रमैयाका अर्थ दुष्ट निरंजन या धोखा-ब्रह्म ही है, ऐसा निर्विवाद रूपसे नही कहा जा सकता। हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है। वैसे साम्प्रदायिक परम्परामे रमैया रामको दुष्ट निरंजन या धोखा-ब्रह्म माननेका कोई-न-कोई कारण होगा अवश्य। हजारीप्रसाद द्विवेदी (अनुसन्धानकी प्रक्रिया, पृ० ९६)ने लक्ष्य किया है कि 'रमैया राम'के इस परम्परास्वीकृत अर्थका सम्बन्ध धर्म सम्प्रदायका संयोजन करनेवाले, शून्य पुराण, धर्ममंगल आदि पुस्तकोंके रचयिता 'रमाई' पण्डितसे हो सकता है। ओरॉव जातिके लोगोंमें 'रमई पण्डित'का बड़ा आदर और पूजा-अर्चा प्रचलित है। स्पष्ट है कि कबीरपन्थियोंको रमई पंडितके अनुयायियोंसे निपटना पड़ा था। दुष्ट ब्रह्म अर्थ इस ओर अच्छा संकेत करता है। —रा० दे० सि०

रव सम (गगनोपम)–शाब्दिक अर्थ है आकाशके समान शून्य, तत्वहीन, निःसङ्ग और निर्लेप, प्रकृत्या निर्मल। (महायान) बौद्ध ग्रन्थोंमें सभी पदार्थोंको सापेक्ष, निःस्वभाव और शून्य बताया गया है। इसी प्रकरणमें उन्हें खसम या गगनोपम भी कहा गया है। गगनोपम, गन्धर्वनगर, मायोपम और मायामरीचि—ये सभी शब्द जागतिक पदार्थोंके शून्य और भ्रमात्मक स्वरूपको द्योतित करनेके लिए ही प्रयुक्त किये जाते है।

कहीं-कहीं निर्मलके अर्थमे भी गगनसम या गगनोपम शब्दका प्रयोग मिलता है, प्रायः चित्तकी निर्मलताको द्योतित करनेके लिए।

हिन्दी साहित्यमे सिद्धोंने सभी धर्मोंको रव-सम, शून्य और अवास्तविक, तत्त्वहीन तथा भ्रान्तिसदृश बताया है (सहज महातरु फरिअइ तिलोए। खसम सहात बाजत मुक्क बोइ)। साथ ही मनकी समरसताको गगनके समान निःसङ्ग भी कहा है—"जिम जले पाणिअ टलिआ मेउन आज; तिम मण रअणा समसे गअण समान"।—क० शु०

रस–व्युत्पत्तिके अनुसार इसके दो अर्थ होते है–१. आस्वाद, 'रस्यते आस्वाद्यते इति रसः', २. द्रवत्व, 'सरते इति रसः'। साधारण रूपमे इसके अनेक भिन्नार्थक प्रयोग हुए है, जैसे षड्रस, इन्द्रियसुख, दूध, शब्द, रूप, गन्ध, स्पर्शादि गुणोंमेसे एक आनन्द। आयुर्वेदमे रसायन, पारद, वीर्य, जल अथवा जलीय पदार्थ तथा रसनेन्द्रियग्राह्य पदार्थके लिए इसका प्रयोग हुआ है। वेदोमे सोमरस, वनस्पतियोका द्रव, दूध, जल, स्वाद और गन्धके लिए, शतपथ ब्राह्मणमे मधुके लिए, उपनिषदोंमें प्राणतत्त्व या स्वादके लिए, रामायणमें जीवन-रस, पेय तथा विष और महाभारतमे जल, सुरा, गन्ध, काम एवं स्नेहके लिए इसका प्रयोग मिलता है।

साहित्य-शास्त्रमे इसका प्रयोग काव्यास्वाद अथवा काव्यानन्दके लिए हुआ है। सबसे पहले नाट्यके सम्बन्धमें इसका उल्लेख किया गया था। उपलब्धिके विचारसे भरत मुनि (३ श० ई०)का 'नाट्यशास्त्र' ही पहली रचना है, जिसमें इसका स्वरूप बताया गया है। भरतके "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" सूत्रके अनुसार विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भावके संयोगसे रसकी निष्पत्ति होती है। भरतने इन तीनों अंगोंके भेदादिका वर्णन करते हुए स्थायी भावोंका पृथक् रूपसे नाम लिया है। इन सबके आधारपर उक्त सूत्रकी विद्वानों द्वारा की गयी विस्तृत व्याख्याओंमेंसे अभिनवगुप्त (१०-११ श० ई०)की व्याख्याके आधारपर काव्यप्रकाशकार मम्मट (१२ श० ई०)ने कहा है कि आलम्बनविभावसे उद्बुद्ध, उद्दीपनसे उद्दीप्त, व्यभिचारी भावोसे परिपुष्ट तथा अनुभावों द्वारा व्यक्त हृदयका स्थायी भाव ही रसदशाको प्राप्त होता है। काव्य पढने, सुनने या अभिनय देखनेपर विभावादिके संयोगसे निष्पन्न होनेवाली आनन्दात्मक चित्तवृत्ति ही रस है। उदाहरणार्थ, पुष्प-वाटिकामें राम घूम रहे है, एक ओरसे मैथिली आ जाती है। स्थल नितान्त एकान्त है, प्रातःकालका सुखद समीर शरीर और मनको उत्साहित कर रहा है, पुष्पोकी छटा मनको मोहित किये ले रही है। ऐसी दशामे राम सीताको देखकर मोहित हो जाते है और उनकी ओर आकर्षित होते है। उन्हे रोमांच हो जाता है। कटाक्षपात करते है, बार-बार रुक-रुककर देखते है, उनकी ओर बढनेकी चेष्टा करते है। उनके द्वारा हर्ष, लज्जा आदिका प्रकाशन होता है। इस दृश्यको देख, पढ़ या सुनकर सहृदयके हृदयमें वासना-

रूपसे संस्थित रति नामक स्थायी भाव जाग्रत् होकर इस सीमातक उद्दीप्त हो जाता है कि वह देश-कालका ज्ञान भूलकर उसी घटनामें तन्मय हो जाता है। इस प्रकार सीता आलम्बन विभाव, एकान्त तथा वाटिकाका मनोरम दृश्य उद्दीपन विभाव, कटाक्षादि आश्रयगत अनुभाव एवं लज्जा तथा हर्ष आदि व्यभिचारी भावके संयोगसे रति नामक स्थायी भाव जिस आनन्दमयी तन्मयावस्थाको उपस्थित करता है, वही रस है।

सहृदयगत यह रस केवल उस समयतक वर्तमान रहता है, जबतक कि विभाव आदि विद्यमान रहते हैं, इसीलिए उसे 'विभावादि जीवितावधि' कहा गया हैं। विभावादिमें-से किसी एकके भी न रहनेपर उस समयतक रसकी निष्पत्ति नहीं हो सकती, जबतक वर्णन या दृश्यके किसी संकेतसे अभावका आक्षेप न कर लिया जाय। इसी अनिवार्य संयोगके कारण भरत मुनिने रसकी तुलना पानक रससे की है, अर्थात् जिस प्रकार गुड, मिरिच, खटाई, नमक आदि आनुपातिक परिमाणमे मिलाकर पीनेपर वह एक विलक्षण प्रकारका स्वाद देता है और इनमेसे पृथक्-पृथक् रूपमे केवल किसी एकका भी स्वाद नहीं आता, उसी प्रकार काव्य-रस भी एक प्रकारकी विलक्षण, अलौकिक एवं अनिर्वचनीय अनुभूति है, जो लोक-व्यवहारसे भिन्न है और केवल आनन्द देती है। इसका आस्वाद ही किया जा सकता है:–'आस्वाद्यत्वात् रसः'। इसीलिए इसकी अनुभूतिको रसास्वाद, रसचर्वणा आदि कहा गया है। विशेषके लिए दे०—'रस-निष्पत्ति'।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ (१४ श० ई०)ने सत्त्वोद्रेक-को रसका हेतु बताया है और रसको अखण्ड, स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय, वेद्यान्तरस्पर्शशून्य, ब्रह्मानन्दसहोदर तथा लोकोत्तर चमत्कारप्राण कहा है। लोकव्यवहारमें जिस प्रकार किसीको शोक, भय आदिकी अनुभूति होती है, वैसी लौकिक अनुभूति काव्यके द्वारा नहीं होती, अपितु एक विलक्षण आनन्द ही सब प्रकारके दृश्योंसे प्राप्त होता है। इस कारण इसे अलौकिक कहा गया है। इसकी अनुभूति निर्विघ्न दशामे ही अबाध रूपसे होती है। इसलिए इसे अखण्ड कहते है। यह लोक-स्वार्थोंसे ऊपर उठाता है, अतः स्वप्रकाशानन्द, वेद्यान्तरस्पर्शशून्य तथा चिन्मय आदि कहा जाता है। यह आनन्ददायी भी है और विलक्षण भी, अतएव लोकोत्तर चमत्कारप्राण कहा गया है। रससे उत्पन्न होनेवाला आनन्द बाह्येन्द्रियगत, अनुकूलसंवेदना-जन्य आनन्दसे सर्वथा भिन्न प्रकारका है। वह मानस-प्रत्यक्ष कहा गया है। इसकी अलौकिकताके आधारपर ही विभावादिको रस-हेतु न कहकर उनको विभावादि जैसा विलक्षण नाम दिया गया है। रस न ज्ञाप्य है, न कार्य, न साक्षात् अनुभव है, न परोक्ष, न वह निर्विकल्पक ज्ञान है, न सविकल्पक। उसकी कोई विशेष सीमा नहीं निर्धारित की जा सकती, वह अनिर्वचनीय है।

रसके सम्बन्धमें ब्रह्मानन्द (दे० 'ब्रह्मानन्द-सहोदर')की कल्पनाका मूल स्रोत 'तैत्तिरीय उपनिषद्' है। 'रसो वै सः' कहकर इस उपनिषद्में ब्रह्मको ही आनन्द या रसरूप बताया गया है। इसके अनुसार आनन्द ही ब्रह्म है। आनन्दमय ब्रह्म ही समस्त भूतमात्रका जनक है। आनन्द ही प्राणस्वरूप है, जिसे धारण करनेपर सब जीवित रहते हैं और आनन्दमे ही लय भी होते हैं। इसीके आधारपर योगी द्वारा अनुभूत ब्रह्मानन्दसे तुलना करके काव्यानन्दको ब्रह्मानन्दसहोदर कह दिया गया है।

रस आस्वादरूपमें एक होकर भी उपाधि-भेदसे मुख्यतः आठ प्रकारका माना गया है। शृंगार, हास्य, रौद्र, करुण, वीर, बीभत्स, भयानक तथा अद्भुत—इन आठ रसोंकी कल्पना ही दृश्य काव्यके प्रसंगमे की गयी थी। बादमे शान्त भी जोड दिया गया, जिसे निर्वेद स्थायीके कारण क्रियाहीन अतः अनभिनेय मानकर नाट्यमे अप्रयोज्य ठहराया गया था। उसका सम्बन्ध श्रव्य काव्यके साथ दृश्यसे भी स्थिर किया गया। कालान्तरमे वात्सल्य और भक्तिको भी स्वीकृति मिली, किन्तु लौल्य, मृग्य, अक्ष, व्यसन, दुःख, उदात्त, उद्धत, पारवश्य, कार्पण्य, ब्रीडनक आदि रस स्वीकृति न पा सके। एक ही रसमे कई रसोंके अन्तर्भावका प्रयत्न भी निष्फल रहा। शृंगार रसराज मान लिया गया। —आ० प्र० दी०

रस-दोष—दोषोंके विस्तृत विवरणके लिए दे० 'काव्य दोष'। रस-दोषको समझनेके लिए रसकी परिभाषा जान लेना आवश्यक है। रसका आस्वाद वेद्यान्तरसम्पर्कशून्य होता है, अर्थात् यह किसी अन्य वस्तुके सम्बन्धसे रहित होता है। रसका प्राण एकमात्र आस्वाद ही है और उसकी अवधि विभावादिकोंपर निर्भर है। रस वाच्य नहीं है, वरन् विभावादि द्वारा प्रतीत होनेवाला व्यंग्यार्थ है। व्यंग्यार्थ वाच्य नहीं होता, किन्तु ध्वनि द्वारा ध्वनित होता है। साहित्यमे ध्वनिकी प्रधानता स्थापित हो जानेपर रस ध्वनिकी काव्यात्माके रूपमे प्रतिष्ठित हो गया। फलस्वरूप रसौचित्यको काव्यकी मुख्य कसौटी माना गया और उसके गुण-दोषका विवेचन तदनुसार किया जाने लगा। इस प्रकार रस-दोषोंका आविर्भाव हुआ। रसौचित्यके आधारपर रस दो प्रकारके माने गये है—१. नित्य और २. अनित्य। वे दोष, जो सभी अवस्थाओंमे काव्यकी आत्माका अपकार करते हैं, नित्य दोष है। अनित्य दोषका सम्बन्ध रूप और आकारसे है। इस प्रकार रस-दोष नित्य तथा शब्द-दोष और अर्थ-दोष अनित्य है।

भामह और दण्डीने दोषोंके गुणत्व-साधनकी ओर संकेत किया है। इसको आधार मानकर आनन्दवर्धन तथा दूसरे ध्वनिवादियोंने रस-दोषोंका वैज्ञानिक एवं सूक्ष्म विवेचन किया है। इसी पद्धतिपर रसका अपकर्ष करनेवाले तत्त्व दोष कहलाते हैं, यह धारणा स्थिर की गयी है। 'ध्वन्यालोक'-मे रस-दोषोंके निरूपणमें 'दोष'के स्थानपर 'अनौचित्य' शब्दका प्रयोग हुआ है। 'ध्वन्यालोक'का अनुसरण करते हुए क्षेमेन्द्रने इसी विषयपर 'औचित्यविचारचर्चा' नामक ग्रन्थ लिखा है। मम्मटने 'काव्यप्रकाश'में ध्वनिवादियोंकी रससिद्धान्त-पद्धतिपर रस-दोषका विवेचन किया है। विश्वनाथने 'साहित्यदर्पण'में मम्मटका अनुकरण किया है। तोषनिधिने 'सुधानिधि'मे रस-दोषका वर्णन किया है। कुलपति मिश्रकृत 'रस-रहस्य', देवकृत 'काव्य-रसायन', भिखारीदासकृत 'काव्य-निर्णय', जनराजकृत 'कविता-

रस-विनोद', उजियारे कविकृत 'रसचन्द्रिका', 'हरिऔध'-कृत 'रस-कलस'में रस-दोषोंका अच्छा विवेचन किया गया है।

रसके आस्वादमे बाधा डालनेवाले तत्त्वोंको रस-दोष कहते है। रसविषयक कुछ ऐसे दोष है, जो एक पद्यमे नही, वरन् काव्य या नाटककी प्रबन्धरचनामे ही हो सकते है। इन दोषोंके उदाहरणोमे मम्मटने अनेक सुप्रसिद्ध महाकाव्यों और नाटकोंका नामोल्लेख किया है। उनके उत्तरकालवर्ती प्रायः सभी आचार्य इस विषयमे उनसे सहमत है। रस-दोषोंकी संख्या मम्मटके अनुसार दस है, जो इस प्रकार है—१. स्वशब्दवाच्य (रस-दोष), २. कष्ट-कल्पना (विभाव-अनुभावकी), ३. परिपन्थिरसांगपरिग्रह (रस-दोष), ४. पुनः-पुनः दीप्ति (रसकी), ५. अकाण्डप्रथन (रसका), ६. अकाण्डच्छेदन (रसका), ७. अंगभूत रसकी अतिवृद्धि, ८. अननुसन्धान (अंगीकी विस्मृति), ९. प्रकृति-विपर्यय, १०. अनंगवर्णन (रस-दोष)।

१. स्वशब्दवाच्य—मम्मट, विश्वनाथ तथा भिखारीदास आदिके अनुसार रसकी प्रतीति व्यंजनाद्वारा होनी चाहिये, न कि शब्दवाच्यता द्वारा। जहाँ अपने ही शब्द (शब्द-वाच्य)द्वारा रस, स्थायी भाव तथा संचारी भावका कथन किया जाता है, वहाँ स्वशब्दवाच्य रस-दोष होता है (का० प्र०, ७ : ६०; सा० द०, ७ : १२)। (क) रसकी स्वशब्दवाच्यताका दोष—"अंचल ऐंचि जु सिर धरत, चंचलनैनी चारु। कुच कोरनि हिय कोरि कै, भरयो सुरस शृंगार" (का० नि०, २५)। यहाँ शृंगार रसका वर्णन है, पर 'शृंगार'का नामोल्लेख कर दिया है, अतः रस-दोष है। इस दोषका निवारण इस प्रकार किया गया है "कुच कोरनि हिय कोरिकै, दुख भरि गयी अपार"। (ख) स्थायी भावकी स्वशब्दवाच्यता—"अकनि अकनि रन परस्पर, असि प्रहार झनकार। महा महा योधन हिये, बढ़त उछाह अपार" (वही)। यहाँ वीर रसका वर्णन है, अतएव उछाह (उत्साह) स्थायी भावके कथनसे उक्त दोष आ गया है। (ग) व्यभिचारी भाव (संचारी भाव)की स्वशब्दवाच्यता—"आनँद और रस लज्ज गयन्दकी खालनपै करुनानि मिलाई" (वही)। यहाँ 'लज्जा' आदि संचारी भावोंको वाच्यमें कहा गया है, अतः यह दोष है। यह दोषपरिहार इस प्रकार किया जा सकता है—"आनन सोभपै ह्वैकै निचोही गयन्दकी खालपै ह्वै जलसाई"। कहीं-कहीं वाचक शब्द आ जानेपर भी रस-दोष दोष नही रहता है, यथा—"जात जगायो है न अलि, आँगन आयो भानु। रसमोयो सोयो दोऊ, प्रेम समोयो प्रानु" (वही)। यहाँ नायिका-का स्वभाव व्यभिचारी भाव-वर्णन है, जो शब्दवाच्यता है। 'सोने'को और भाँतिसे कहना श्रेष्ठ रस नही और प्रेमकी शब्दवाच्यता है। वह अत्यन्त रसिकता और प्रतीतिका कारण है। अपरांग होकर व्यंग्यमे सखीकी दोनोके प्रति प्रीति स्थायी भाव है, यह गुण है। अतः यहाँपर दोष नही है।

२. कष्ट-कल्पना (विभाव-अनुभावकी)—मम्मट और साहित्यदर्पणकारका मत है कि जहाँ विभाव और अनुभावका ठीक-ठीक ज्ञान न हो सके कि किस रसका यह विभाव है अथवा अनुभाव, वहाँ यह दोष होता है (का० प्र०, ७ : ६०)। जहाँ विभाव और अनुभवकी कल्पना करनेके लिए कष्ट या कठिनाईका अनुभव हो, वहाँ यह दोष होता है। (क) विभावकी कष्टकल्पना—"उठति गिरति फिरि फिरि उठति, उठि उठि गिरि गिरि जाति। कहा करौ कासो कहौ क्यों जीवै यहि राति", (का० नि० २५)। यहाँ नायिकाकी विरहदशाका वर्णन है, वह व्याधि-के बहाने और ही लगती है, इससे विभावकी कष्ट-कल्पना स्पष्ट है। कहीं-कहीं यह गुण होता है, यथा—"कै चलि आगि परोसकी, दूरि करौ घनश्याम। कै हमको कहि दीजिये, बसै और ही ग्राम"। यहाँ छिपाकर कहनेसे भी यह नायक-नायिकाकी विरहाग्नि विदित होती है, प्रत्यक्ष आग नही, अतः यह गुण है, दोष नही। (ख) अनुभावकी कष्टकल्पना—"भावती भावते ओर चितै सहजै ही में भूमि निहारन लागी" (वही)। यहाँ प्रेमका कुछ अनुभाव कहना उचित था, स्वभावतः भूमि अवलोकनसे प्रेम नही जाना जाता। इस प्रकारसे कहना चाहिये—"आँखिन कै ललचौही लजौही प्रिया प्रिय ओर निहारन लागी"।

३. परिपंथिरसांगपरिग्रह—विश्वनाथने मम्मटके 'प्रतिकूल विभावादिग्रह'को यह नाम दिया है। इसीको भिखारीदासने 'अन्य रस-दोष' कहा है। जहाँ प्रकृत रसके विरुद्ध विभाव, व्यभिचारी आदिका वर्णन किया जाता है, वहाँ यह दोष होता है, अर्थात् जिस रसका वर्णन हो रहा है, उसके विरोधी रसकी सामग्रीका वर्णन करना परि-पन्थिरसांगपरिग्रह दोष होता है। (क) प्रकृतरस-विरुद्ध विभावका वर्णन—"अरी खेलि हँसि बोलि चलु, भुज प्रीतम गल डारि। आयु जात छिन छिन घटी, छीजै घट सों बारि" (का० नि०, २४)। यहाँ शृंगारके वर्णनमे 'आयु घटनेका ज्ञान' शान्त रसका विभाव वर्णित है, अतः उक्त दोष है। (ख) प्रकृत रस-विरुद्ध अनुभावका वर्णन—"बैठी गुरुजन बीच सुनि बालम बंसी चारु। सकल छोड़ि बन जाउँ यह, तिय हिय करति बिचारु" (वही)। यहाँ नायिकामें उत्कण्ठाका वर्णन है। 'सब छोड़कर वनमे जाना' निर्वेद स्थायी भाव शान्त रसका है, अतः विरुद्धता-दोष है। यह इस प्रकार होना चाहिये—"कौने मिस बन जाउँ यह तिय हिय करति बिचारु"।

४. पुनः-पुनः दीप्ति (रसकी)—मम्मट तथा विश्व-नाथके अनुसार किसी रसका परिपाक हो जानेपर, अर्थात् 'रस'-विशेषका प्रसंग समाप्त हो जानेपर उस रसका फिर वर्णन (दीप्ति) करना (का० प्र०, ७ : ६१; सा० द०, ७ : १४)। भिखारीदासका मत है कि जहाँ बार-बार दीप्तिका ही उल्लेख किया जाता है और उपमादिका कुछ वर्णन नही करते है, वहाँ यह दोष होता है। यथा—"पंकज पायनि पैजनियाँ कटि बाँधरी किंकिनिया जरबीली। ईंगुरकी सुरकी दुरकी नथ भालमें बालके बेंदी छबीली" (का० नि०, २५)। इसी प्रकार कालिदासने 'कुमारसम्भव'मे रति-विलापके प्रसंगमें करुण रसका वर्णन (सर्ग ४, १) समाप्त करके फिर उस (सर्ग ४, ४)मे दीप्त किया है। यहाँ यह दोष है। उक्त प्रसंगमे रस-ध्वनिके दार्शनिकोंको जो दोष दिखलाई दिया करता है, वह दोष है अंगभूत रसकी अभि-

व्यक्तिकी अविच्छिन्न धारावाहिकताका दोष। यहाँ मम्मटने रसध्वनितत्त्वज्ञानियोंकी इस मान्यताका पुष्टीकरण किया है। पर जहाँ अभिनवगुप्त (ध्वन्यालोकलोचन, पृ० ३६५, चौखम्भा) कालिदासके महाकवि होनेके कारण उनकी रति-विलाप-वर्णनाके इस दोषका यथाकिंचित् परिहार करना चाहते हैं, वहाँ मम्मट इसे स्पष्टतः रस-दोष मान लेते हैं।

५. अकाण्डप्रथन (रसका)—आनन्दवर्धनके आधार-पर मम्मटने इस दोषको अनवसरमें रस-वर्णना तथा अकाण्ड-प्रथन नामोंसे पुकारा है (का० प्र०, ७ : ६१ वृ०)। विश्वनाथने यही नाम दिया है (सा० द०, ७. १४)। भिखारीदासने 'असमै जुक्ति कथन' कहा है (का० नि०, २५)। जहाँ प्रस्तुतको छोड़कर अप्रस्तुत रसका विस्तार किया जाय, वहाँ अकाण्ड-प्रथन दोष होता है, यथा—"सजि सिंगार सर पै चढ़ी सुन्दरि निपट सुवेस। मनो जीति भुवलोक सब चली जितन दिवि देस" (वही)। यहाँ सहगामिनीको देखकर शान्त रस तथा दया-वर्णन उचित है, शृंगार नहीं। इसी प्रकार 'वेणीसंहार' नाटकके दूसरे अंकमे अनेक वीरोंके विनाशके समय बीचमे ही रानी भानुमतीके साथ दुर्योधनके प्रेम-प्रलाप वर्णनमे यही दोष है। वहाँ शृंगार रसका वर्णन असामयिक है। इस प्रसंगमे मम्मटने अभिनवगुप्तकी मान्यताको स्पष्ट किया है।

६. अकाण्डछेदन (रसका)—आनन्दवर्धनाचार्यने इसे 'अनवसरमे रसविच्छित्ति' (ध्वन्यालोक, ३ : १९)। कहा है। किसीके वर्णनमें अचानक बिना अवसरके रसका विच्छेद कर देना, अर्थात् उसके विरुद्ध रसकी अवतारणा कर देनेसे यह दोष होता है (का० प्र०, ७ : ६१ .वृ०), यथा—"राम आगमन सुनि कह्यो, राम बन्धुसों बात। कंकन मोहि छोराइबे, उतै जाहु तुम तात" (का० नि०, २५)। यहाँ रामका परशुरामके पास जाना न कहकर 'कंकन खोलने'की बात कही गयी है। इसमें उनकी काद-रता व्यक्त होती है। इसी प्रकार भवभूतिकृत 'महावीर चरित'के द्वितीय अंकमें जहाँ राम और परशुरामका युद्धो-त्साह अविच्छिन्न रूपसे अभिव्यक्त हो रहा है, वहाँ रामका 'कंकणमोचनके लिए जा रहा हूँ' कहकर युद्धोत्साहसे विरत हो जाना वर्णित है। इससे रामगत वीर रसके आस्वादमे विघ्न पड़ गया है। अतः यह दोष है।

७. अंगभूत रसकी अतिवृद्धि—प्रत्येक काव्य और नाटकमें एक मुख्य रस रहता है जिसे अंगी कहते है और उनके काव्यरस अंग कहलाते है। जहाँ अंग अथवा अप्रधान (प्रतिनायक आदि) रस-वर्णनाके उपकरणोंका आवश्यकता-से अधिक विस्तारसे वर्णन किया जाता है, वहाँ अंगभूत रसकी अतिवृद्धि रस-दोष होता है (का० प्र०, ७ : ६२ वृ०)। यथा—"दासीसो मण्डन सनै, दर्पन माँग्यो बाम। बैठि गयी सो सामुहे, करि आनन अभिराम" (का० नि०। २५)। यहाँ नायिका अंगी है, दासी अंग है। इससे दासीका अति शोभा-वर्णन दोष है। इसी प्रकार महाकवि भारविके 'किरातार्जुनीय' महाकाव्यके आठवें सर्गमें अप्सराओंकी विलासक्रीडाके शृंगारात्मक विस्तृत वर्णनमे यह दोष है, क्योंकि 'किरातार्जुनीय' शृंगार रस-प्रधान नहीं है।

८. अनुसन्धान या अंगीकी विस्मृति—मम्मटके अनुसार अंगी, अर्थात् प्रधान रूपसे अवस्थित नायक आदि-को अवान्तर विषयोंके वर्णनमे भूल-सा जाना दोष कहलाता है (का० प्र०, ७ : ६३ वृ०)। अभिप्राय यह है कि समस्त रचनामे प्रतिपाद्य रसकी विस्मृति न होनी चाहिये और उसके पोषणका बराबर ध्यान बना रहना चाहिये। रसके अनुभवका प्रवाह आलम्बन और आश्रयपर ही निर्भर है। उनका आवश्यक प्रसंगपर अनुसन्धान न होनेसे रंग-भंग हो जाता है। जैसे श्रीहर्षकी 'रत्नावली' नाटिकाके चतुर्थ अंकमे बाभ्रव्य (सिंहलेश्वरके कंचुकी)के आगमनसे साग-रिका (जो प्रधान नायिका है)का (नायक वत्सराज द्वारा) एक प्रकारसे विस्मरण, जिससे नाटिकाका प्रतिपाद्य शृंगार रस विच्छिन्नप्राय हो गया है। भिखारीदासने इसका उदा-हरण दिया है—"पीतम पठै सहेट निज, खेलन अटकी जाय। नकि तेहि आवत उतहिते, तिय मन-मन पछि-ताय" (का० नि०, २५)। यहाँ खेलसे नायकसे बढ़कर प्रेम ठहराया गया है। अतः उक्त रस-दोष है। आनन्द-वर्धनने प्रबन्धकी रस-व्यंजकताके निमित्तोंमे 'अंगीके अनु-सन्धान'को भी एक निमित्त माना है (ध्वन्यालोक, पृ० ३४१, चौखम्भा)। मम्मटने प्रबन्धकी रस-व्यंजकताकी इस विशेषताके विपर्ययको ही अंगीके विस्मरणरूप (अंगिनो-ऽननुसन्धानम्) रस-दोषके रूपमे मान लिया है।

९. प्रकृति-विपर्यय—मम्मटके अनुसार जिस प्रकृतिके लिए जो वर्णन अनुचित हो, उसका वहाँ वर्णन प्रकृति-विपर्ययरूप रस-दोष है। तात्पर्य यह है कि प्रकृति(नायक आदि)के तीन प्रकार हुआ करते है—१. दिव्य (देवतारूप इन्द्र आदि), २. अदिव्य (मनुष्यरूप वत्सराज आदि) और ३. दिव्यादिव्य (मनुष्यरूपसे अवतीर्ण देवभूत राम, कृष्ण आदि)। इन तीनोंके भी धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त ये चार भेद है, जो वस्तुतः वीर रस-प्रधान, रौद्र रस-प्रधान, शृंगार रस-प्रधान और शान्त रस-प्रधान—इन चार प्रबन्ध-नायक भेदोंसे सम्बन्ध रखते है। पुनः यह द्वादशविध प्रकृति-भेद (गुणोत्कर्ष-गुणापकर्ष और गुणोत्कर्षापकर्षके कारण) उत्तम, मध्यम और अधम रूपसे ३६ प्रकारका है। इस प्रकृतिगत औचित्यके निर्वाहके लिए आवश्यक यह है कि रति, हास, शोक और अद्भुत आदिका वर्णन दिव्य प्रकृतियो (इन्द्र आदि नायकोंके सम्बन्ध)मे भी उसी प्रकार किया जाना चाहिये, जिस प्रकार अदिव्य उत्तम (मनुष्यरूप वत्सराज आदि) प्रकृतिके सम्बन्धमे किया जाया करता है। किन्तु दिव्य प्रकृतियों (देवरूप नायकों)मे भी जो उत्तम दिव्य प्रकृति-भेद है, उसके प्रसंगमे, सम्भोग-शृंगाररूप रतिका वर्णन कदापि नहीं किया जाना चाहिये, क्योंकि उत्तम दिव्य प्रकृतिगत सम्भोगका वर्णन उतना ही अनुचित है, जितना कि अपने माता-पिताके सम्भोगका वर्णन (का० प्र०, ७ : ६३ वृ०)। भिखारीदासका वर्णन इसीपर आधारित है।

कालिदासके 'कुमारसम्भव'में शंकर और पार्वतीके सम्भोग-शृंगारके वर्णनमे यह दोष है। इसी प्रकार स्वर्ग पाताल आदि गमन, समुद्र-उल्लंघन आदि कार्य भी दिव्य

या दिव्यादिव्य प्रकृतिके ही वर्णनीय है, न कि अदिव्य प्रकृतिके, क्योंकि अदिव्य प्रकृतियोंके अमानुषिक कार्योंके वर्णनमें प्रत्यक्ष असत्यकी प्रतीति होनेके कारण रसास्वाद नहीं हो सकता है। मम्मटने 'प्रकृति-विपर्यय'रूप रस-दोषको आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा निर्दिष्ट प्रबन्ध सम्बन्धी रस-व्यंजकताके निमित्त 'भावौचित्य' (ध्वन्यालोक ३ : १०)के प्रतिकूल आचरण करनेमें माना है। यहाँपर यह स्पष्ट है कि रस-दोष-प्रसंगमें 'प्रकृति विपर्यय'-रूप रस-दोष-प्रकारका जो अनुसन्धान मम्मटने किया है, उसमें उनकी ध्वनि-मर्मज्ञता और रसतत्त्ववेदिता वस्तुतः झलक उठी है।

१०. अनंग-वर्णन—मम्मटके अनुसार अनंग, अर्थात् अमुख्य अथवा रसके अनुपकारकका वर्णन भी एक प्रकारका दोष है (का० प्र०, ७ : ६३ वृ०)। ऐसे वर्णनमें प्रधानभूत रसको कोई लाभ नहीं होता है। उदाहरणार्थ, 'कर्पूर-मंजरी' (प्रथम जवनिकान्तर)में नायिका विभ्रमलेखा द्वारा और स्वयं नायक चण्डपाल द्वारा किये गये वसन्त-वर्णनकी उपेक्षा करके चारण-वर्णित वसन्त-वैभवकी ही राजा (नायक चण्ड-पाल)द्वारा प्रशंसा, जिसमें प्रकृत सम्भोग-शृंगाररूप रसकी अभिव्यक्तिमें कोई सहायता नहीं मिलती।—टी० सि० तो०

रसना—शरीरस्थ बहत्तर हजार नाडियोंमें ललना (दे० 'ललना') रसना और अवधूती (दे० 'अवधूती') बहुत ही महत्त्वपूर्ण और प्रमुख मानी गयी है। रसनाको प्रायः पिंगला कहते हैं। साँस लेते समय जो साँस दाहिनी ओर-से निकलती है, वह इसी पिंगला मार्गसे होकर आती है। इसे चन्द्रनाड़ी, चन्द्रअंग (हठ०, ३ : १५), यमुना (वही, ३ : १०२) तथा असी (शिव संहिता, ५ : १२३) भी कहा जाता है। सन्तसाहित्यमें इसका बार-बार उल्लेख हुआ है (दे० 'हठयोग')। —रा० दे० सि०

रसनिष्पत्ति—रसके साथ निष्पत्ति शब्दका प्रयोग भरत-(४ श० ई०)से निश्चित रूपसे मिलता है—"विभावानु-भावसंचारीसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" (ना० शा०, ६ : ३२)। 'निष्पत्ति'का शब्दार्थ है प्रकाशन, उत्पत्ति, पूर्णता अथवा परिपक्वता। पर 'रसनिष्पत्ति' काव्यशास्त्रके अन्तर्गत काव्य-की सौन्दर्यानुभूतिके समकक्ष स्वीकृत शब्द रहा है और इसकी व्याख्या तथा विवेचनमें अनेक विद्वानोंने मौलिक प्रतिभाका परिचय दिया है। वस्तुतः 'काव्यानुभूति', 'काव्यानन्द' आदि शब्द एक प्रकारसे 'रसनिष्पत्ति'के समानार्थी हैं और इस सम्बन्धमें जितना गम्भीर तथा विवादपूर्ण चिन्तन हुआ है, वह सब काव्यकी अन्तर्भूत प्रकृति तथा तद्विषयक अनुभूतिकी सूक्ष्म तथा जटिल स्थिति-के कारण ही।

भरतके सूत्रमें 'निष्पत्ति' तथा 'संयोग' प्रमुख शब्द रहे हैं, जिनकी व्याख्या विभिन्न आचार्योंने अपने-अपने मतके अनुसार की है। भरतके शब्दोंमें विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावोंके संयोगसे रसनिष्पत्ति होती है। भरतने छः प्रकारके विभिन्न स्वादोंवाली वस्तुओंके मेलसे बने हुए आपानकसे इसकी तुलना करके समझानेका प्रयत्न किया है और आस्वाद्य होनेके कारण इसे 'रस' माना है। आगे भरतने स्थायी भावके आस्वादनको 'रसनिष्पत्ति'के रूपमें ग्रहण किया है। भाव तथा रसके सम्बन्धपर विचार करके भी वे यही कहते हैं कि रस और भाव एक-दूसरेपर अन्योन्याश्रित हैं (दे० 'भाव')। भरतने रसत्वके लिए नाना भावोंके 'उपगत' होनेका उल्लेख किया है, जिसका अर्थ है कि विभाव, अनुभाव, संचारी आदि भाव यहाँ स्थायी भावके समीप आकर अनुकूलता ग्रहण करते हैं। आनन्दप्रकाश दीक्षितने अभिनवगुप्तकी 'अभिव्यक्ति'का मूलाधार भरतके 'एवमेते काव्यरसाभिव्यक्तिहेतवः'में माना है (काव्यमें रस : अ० प्रब०, पृ० १८८)। इन्होंने भरतके 'आस्वादयन्ति मनसा' (ना० शा०, ६ : ३३)में साधारणी-करणका संकेत भी स्वीकार किया है।

वस्तुतः भरतकी इस परिभाषाको आगेके प्रमुख आचार्योंने कुछ भिन्न शब्दावलीमें प्रस्तुत किया है। धनंजय (१० श० ई०) ने कहा है—"विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः। आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायी भावो रसः स्मृतः" (द० रू०, ३ : १)। धनंजयने 'सात्त्विक भावों'का विशेष उल्लेख किया है और साथ ही स्पष्टतः स्थायी भावको आस्वाद्य रूपमें व्यक्त करनेको रस माना है। मम्मट (११ श० ई०)ने रति आदि स्थायीके कारण, कार्य तथा सहकारीके रूपमें विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावोंको मानकर—"व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः" (का० प्र०, ४ : २८), अर्थात् इन्हीं विभावादिमें व्यक्त हुआ स्थायी भाव ही रस कहा जाता है। इस बातको विश्वनाथ (१४ श० ई०)ने इस प्रकार रखा है—"रसतामेति रत्यादिः स्थायीभावः सचेतसाम्" (सा० द०, ४ : १), विभावादिकसे रति आदि स्थायी भाव रसत्वको प्राप्त करता है। इन्होंने भी प्रपानक रसके समान रसास्वादको कहा है। हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंमें अधिकने रसविवेचन-के सम्बन्धमें रुचि नहीं दिखलायी और जिन्होंने कुछ कहा है, उन्होंने संस्कृतकी परम्परामें भाव ग्रहण किया है—"मिलि विभाव अनुभाव पुनि संचारिनके वृन्द। परिपूरन थिर भाव यों सुर स्वरूप आनन्द" (पद्माकर : जगद्वि०, ६०४)। आधुनिक विवेचकोंने रसके सम्बन्धमें विस्तारसे विचार किया है और भरतसे लेकर अभिनवगुप्ततककी रस-विवेचनकी परम्पराको आगे भी बढ़ाया है।

भरतके सूत्रके आधारपर रसकी व्याख्या करनेवाले आचार्योंमें भट्ट लोल्लट (९ श० ई० पू०) प्रथम माने जाते हैं। इनके ग्रन्थका पता नहीं लग सका है, केवल 'अभिनवभारती'में अभिनवगुप्तके द्वारा प्रस्तुत इनका मत आगेके आचार्योंके लिए भी इनके सिद्धान्तके विषयमें तर्क-वितर्कका आधार रहा है। 'अभिनवभारती'के अनुसार भट्ट लोल्लटका मत है—"विभावादिका स्थायी भावसे संयोग होनेपर रसनिष्पत्ति होती है। विभाव रसके कारण-स्वरूप है। इनके द्वारा स्थायी भावकी 'उपचित' अवस्थाका नाम रस है। यह रस मूलतः अनुकार्य, अर्थात् रामादिक ऐतिहासिक पात्रोंमें ही होता है, किन्तु उनके रूपादिके अनुसन्धानसे अनुकर्ता—नटमें भी विद्यमान होता है" (अ० भा०, पृ० २७४)। इस प्रकार भट्ट लोल्लटके अनुसार 'निष्पत्ति'का अर्थ 'उत्पत्ति' या 'पुष्टि' है। इस दृष्टिसे इनके सिद्धान्तको उत्पत्तिवाद कहा गया है। मम्मट (१२ श० ई०)ने भट्ट लोल्लटके मतको इस प्रकार उद्धृत किया

है—'आलम्बन, उद्दीपन विभावोंके कारण उत्पन्न रति आदि भाव अनुभाव-कार्योंसे प्रतीत योग्य होकर, व्यभिचारी सहकारियोंसे उपचित होकर रसरूपको प्राप्त होते हैं, जो मुख्यतः अनुकार्यमें होता है, किन्तु अनुसन्धानवश नटमें प्रतीयमान होते हैं (का० प्र०, ४ : २८)। वस्तुतः मम्मटने 'प्रतीयमान' शब्दके प्रयोगमें प्रस्तुत मतको नवीनता प्रदान की है। गोविन्द ठक्कुरने इसकी व्याख्यामें कहा है—"नटे तु तुल्यरूपतानुसन्धानवशादारोप्यमाणः सामाजिकानां चमत्कारहेतुः" (का० प्र०, पृ० ८८), अर्थात् नटमें अनुकार्यकी तुल्यताके अनुसन्धानके कारण सामाजिक उन्हींपर अनुकार्यका आरोप कर लेता है और चमत्कृत होता है। इसीके आधारपर इस व्याख्याको **आरोपवाद** कहा गया है। भट्ट लोल्लटने 'संयोग'को तीन अर्थोंमें स्वीकार किया है—स्थायी भाव विभावके साथ उत्पाद्य-उत्पादक-सम्बन्धसे उत्पन्न होते हैं, अनुभाव अनुमाप्य-अनुमापक-सम्बन्धसे उनकी अनुमिति कराते हैं तथा संचारी भाव पोषक-पोष्य-भाव-सम्बन्धसे उनकी रस-रूपमें पुष्टि करते हैं। इस रसकी अवस्थिति यद्यपि मूल रूपमें अनुकार्यमें ही होती है, पर अभिनेताके कौशलपूर्ण अभिनयके कारण दर्शक उसीपर अनुकार्यका आरोप करता है।

भट्ट लोल्लटके रस सिद्धान्तकी आलोचना अनेक दृष्टियोंसे की गयी है। मीमांसा (दे०) दर्शनपर आधारित इस सिद्धान्तका खण्डन न्यायदर्शन (दे०)की दृष्टिसे किया गया। न्यायके अनुसार कारण, कार्यका नियमतः पूर्ववर्ती है तथा कारणका नाश भी कार्यको प्रभावित नहीं करता। इस दृष्टिसे विभाव और स्थायी भावके बीच इस प्रकारका सम्बन्ध नहीं माना जा सकता; क्योंकि रस भावादिके साथ ही स्थिर होता है और नष्ट होता है। ऐसी स्थितिमें 'निष्पत्ति'का अर्थ 'उत्पत्ति' नहीं हो सकता। सामानाधिकरण्य-सिद्धान्तके अनुसार कार्य तथा कारणकी स्थिति एकमें ही मानी जायगी, पर प्रस्तुत सिद्धान्तमें रसकी अवस्थिति रामादि अनुकार्यमें कही गयी है और उसका आस्वादन प्रेक्षकके द्वारा स्वीकार किया गया है, जो बिलकुल भिन्न है। शंकुकने भट्ट लोल्लटके 'स्थायी भावकी उपचितावस्था'-का खण्डन किया है। उनके अनुसार यदि स्थायी भावकी उपचितावस्थाको रस तथा अनुपचितावस्थाको भावमात्र मानेंगे तो उसकी मन्द, मन्दतर, मन्दतम तथा मध्यस्थादि स्थितियोंकी व्यर्थ कल्पना करनी होगी। यदि उपचित स्थायी भाव ही रस है तो हास्यके स्मित, अपहसित आदि ६ भेदोंको किस आधारपर माना जा सकता है? इसके अतिरिक्त क्रोध, उत्साह, शोक आदि स्थायी भाव क्रमशः क्षीण, क्षीणतर और क्षीणतम होते जाते हैं और उनके उपचित होनेकी स्थिति ही नहीं आ सकेगी। अतएव इसके आधारपर 'रसनिष्पत्ति'की व्याख्या ठहर नहीं सकती। आरोपमें सदृश वस्तुके ज्ञानके साथ उस वस्तुका स्मरण भी अनिवार्य है। पर पौराणिक, ऐतिहासिक तथा काल्पनिक अनुकार्योंसे प्रेक्षकका परिचय सम्भव नहीं हो सकता, फिर अपरिचित रहकर भी प्रेक्षक नटपर उनका आरोप किस प्रकार कर सकता है? साथ ही भावोंका अनुकरण न होकर केवल बाह्य रूपादिका अनुकरण ही सम्भव है। भट्टनायक (१० श० ई० म०)ने इस सिद्धान्तको एक भिन्न स्थिति स्वीकार करके इसका खण्डन किया है। प्रेक्षक द्वारा आरोपके माध्यमसे विभावादिको अपना ही विभावादि समझना भी सगत नहीं है, पौराणिक अथवा ऐतिहासिक विभाव शक्ति और क्षमता-भेदके कारण प्रेक्षकके नहीं हो सकते। इसी प्रकार ऐतिहासिक पात्रोंके प्रति पूज्यादि भावोंके कारण भी यह आरोपकी स्थिति सम्भव नहीं होगी। करुण रस सम्बन्धी शोकादिक भावोंके आरोपमें प्रेक्षकको आनन्द मिल सकता है, इस विषयमें भी शंका की गयी। आरोप-सिद्धान्तमें रसस्थितिके ज्ञानमात्रसे प्रेक्षकके आनन्दकी सम्भावना स्वीकार की गयी है, पर रस ज्ञानगम्य नहीं, आस्वादनीय है। किसी वस्तुस्थितिके ज्ञानसे हम निश्चिन्त, तटस्थ, विरक्त अथवा अनुरक्त हो सकते हैं, पर आरोपके ज्ञान-मात्रसे आनन्द (रस)की सम्भावना कैसे मानी जा सकती है? गोविन्द ठक्कुरने स्पष्ट कहा है—"राम-सीतामें रति है, ऐसा समझ लेनेमात्रसे हमें आनन्द नहीं आ सकता। इसके लिए हमारा अपना साक्षात्कार आवश्यक है" (का० प्र०, पृ० ९३)। अनुकर्ता नट एकमात्र अनुकार्यमें आश्रित रसका तटस्थभावसे प्रदर्शन कर सकता है, इसपर भी आपत्ति की गयी है।

आधुनिक विचारकोंमें कान्तिचन्द्र पाण्डेयके अनुसार भट्ट लोल्लटने 'अनुसन्धान' शब्दका प्रयोग मीमांसकोंके अनुकूल 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा'-सिद्धान्तके अनुसार 'योजन' अर्थमें किया है। उनकी दृष्टिमें रंगमंचकी व्यावहारिकता विशेष थी, प्रेक्षकका दृष्टिकोण नहीं (कम्परेटिव एस्थेटिक्स, भा० १, पृ० २९, ३०)। आनन्दप्रकाश दीक्षितने भी स्वीकार किया है कि 'उन्होंने प्रेक्षककी दृष्टिसे विचार नहीं किया है। यदि हम यह स्वीकार कर लें तो भट्ट लोल्लटका सिद्धान्त बहुतसे तत्सम्बन्धी आक्षेपोंसे बच जाता है और आरोपवादकी कल्पना परवर्ती आचार्यों द्वारा निर्मित हवाई महलके समान निस्सार सिद्ध हो जाती है", (काव्यमें रस : अप्र० प्रब०, पृ० २००)। आगे इन्होंने यह भी माना है कि "अनुकार्यको ही वास्तविक रसाश्रय मानकर भट्ट लोल्लटने कविवर्णित अनुकार्यकी ओर संकेत करते हुए कवि-कल्पनाको श्रेय देनेका प्रयत्न किया है' (वही)।

भरतने काव्यके पाठक या नाटकके प्रेक्षकके मानसमें रसनिष्पत्तिकी स्थितिका रूप स्पष्ट नहीं किया है, पर उनकी व्याख्या तथा रसके विभिन्न अंगोंके विवेचनसे यह स्पष्ट है कि उन्होंने रसानुभूतिके लिए मानसकी भावात्मक प्रक्रिया (emotional tendency and expression)का आधार ग्रहण किया है। वास्तवमें भट्ट लोल्लटने रसकी व्याख्या इस सामान्य भावात्मक प्रक्रियासे अधिक भिन्न अर्थमें नहीं की है। कान्तिचन्द्र पाण्डेयके मतका समर्थन भी इस विषयमें लिखा जा सकता है। रंगमंचके व्यावहारिक दृष्टिकोणके कारण सम्भवतः इस आचार्यके सम्मुख अनुकार्यकी सामान्य भावात्मक स्थिति प्रधान रही है और उन्होंने रसकी व्याख्या बहुत-कुछ इसी अर्थमें की है। रसको मुख्यतया अनुकार्योंमें उपचित मानने-का भाव यही है। आनन्दप्रकाश दीक्षितने भट्ट लोल्लट द्वारा कविकल्पनाको श्रेय देनेकी बात कही है, परन्तु

काव्यवृत्तकी कल्पना करनेवाले कविकी स्थितिका स्पष्ट विवेचन इन आचार्योंने नहीं किया है। प्रस्तुत सन्दर्भमें वृत्तका अर्थ है 'काव्यवृत्त', जिसकी कवि कल्पना करता है। कविकी इस कल्पनाका आधार जगत् है, पर यह कविके प्रत्यक्षबोध, स्मृतियों तथा विचारोंके स्वतन्त्र संयोग-रूप कल्पनापर आधारित है। इस प्रकार जिन चरित्रों अथवा स्थितियोंको उसने अपनी संस्कारजन्य कल्पनासे स्थान-काल-प्रमेयकी सीमामें बाँधा है, वे वास्तवमें उसके अपने अनुभव जगत्‌से गृहीत है। यह काल्पनिक वृत्त (ऐतिहासिक आदि भी इसी रूपमें) काव्यमें वर्णित या नाटकमें अभिनीत होता है। इस प्रकार जब आचार्य कहते हैं कि रसकी स्थिति अनुकार्य (चरित्र)में है, तो वे चरित्रकी भावात्मक प्रक्रियाके मनोवैज्ञानिक सत्यको स्वीकार करते है। पर साथ ही यह भी स्पष्ट है कि काव्यात्मक रसानुभूति के सम्बन्धमें उनकी दृष्टि सीमित है (रस-सिद्धान्त और आधुनिक मनोविज्ञान : अनुशीलन, व० ३ : अं० २)।

रससूत्रकी व्याख्या करनेवाले दूसरे आचार्य शंकुक (९ श० ई० उत्त०) है, जिन्होंने न्यायदर्शनके अनुमान प्रमाणके आधारपर **अनुमितिवाद**की स्थापना की है। अभिनवगुप्त (१०-११ श० ई०)के अनुसार इनका मत इस प्रकार है—"विभावादि कारण, अनुभावादि कार्य, व्यभिचारी भावादि संचारियोंके द्वारा प्रयत्नपूर्वक अर्जित होनेपर वास्तविक रामादिगत स्थायी भाव, अनुमानके बलसे अनुकरणरूपमें अनुकर्तामें कृत्रिम होकर भी मिथ्या न भासते हुए प्रतीयमान होता है। विभावोंका काव्यके द्वारा, अनुभावोंका शिक्षाके द्वारा तथा व्यभिचारी भावोंका अनुभव-ज्ञानके द्वारा अनुसन्धान (अर्थप्रतीति) होता है। स्थायी भावकी अर्थप्रतीति काव्य द्वारा नहीं की जा सकती।··· भरतने अपने सूत्रमें 'स्थायी भाव'का उल्लेख नहीं किया है। इसलिए अनुक्रियमाण रति स्थायी भाव ही अभिनयसे शृंगार है और इस प्रकार उसका (शृंगार रसका) तदात्मकत्व (स्थायी भावसे) तथा तत्प्रमत्व (स्थायी भावमूलक होना) युक्त है।···रामके सुखी होनेके अभिनयमें नर्तक (अभिनेता) सुखी है, ऐसी प्रतिपत्ति नहीं होती। ये राम नहीं है अथवा ये रामके समान है, इस प्रकारकी प्रतिपत्ति नहीं होती। किन्तु सम्यक्, मिथ्या, संशय तथा सादृश्य-मूलक जो प्रतिपत्तियाँ होती है, उनसे विलक्षण चित्र-तुरग-आलिखित अश्व-न्यायसे—जो सुखी राम है 'वह यह है' इस प्रकारकी प्रतीति होती है" (अ० भा०, पृ० २७४)। मम्मट (१२ श० ई०)ने भी शंकुकके अनुमिति-वादको प्रस्तुत करते हुए नट-रामकी प्रतीतिकी व्याख्या की है। यह प्रतीति 'चित्र-तुरग'के समान न सम्यक् प्रतीति है, न मिथ्या-प्रतीति, न संशय-प्रतीति और न सादृश्य-प्रतीति, अपितु एक विलक्षण, अलौकिक, कलात्मक प्रतीति ही कही जा सकती है। काव्यार्थोंके आधारभूत चरित-नायकके रूपमें अपने-आपको ढालनेकी शक्ति रखनेवाला नट अभिनय-कलाकी शिक्षा और अभ्यासके बलपर जो प्रदर्शन करता है, वह जीवनकी दृष्टिसे भले ही अवास्तविक अथवा अस्वाभाविक हो, पर सामाजिककी कलात्मक दृष्टिसे, जिसमें वह 'नट' नहीं, अपितु 'राम' दिखाई दिया करता है, कृत्रिम नहीं लगता। वास्तविक जीवनमें रामादिके हृदयके रति-भावका अनुमान, उनका साक्षात्कार करनेवाले लोग इसीलिए किया करते है कि उन्हें रामके हृदयके रति भावके कारण, कार्य और सहकारी रूप अनुमापक साधनोंका ज्ञान हो जाया करता है। इसी प्रकार रंगमंचके 'नट राम'के हृदयके रत्यादि रूप स्थायी भावका अनुमान, सहृदय सामाजिक जन इसीलिए किया करते है कि उन्हें 'नट राम'के हृदयके रत्यादिरूप स्थायी भावके अनुमापक पदार्थोंका साक्षात्कार रंगमंचपर हुआ ही करता है, क्योंकि 'नट राम'के स्थायी भाव यदि 'गम्य' है—लोक-विलक्षण अनुमेय हैं तो रंगमंचपर प्रदर्शित सीतादिरूप विभाव, अनुभाव और संचारी भाव उसके 'गमक' है। सामान्य जीवनमें रामकी चित्तवृत्तिका अनुमान 'रस' नहीं माना जाता, किन्तु 'नट राम'के रत्यादिकरूप स्थायी भावका अनुमान एकमात्र 'रस'का आस्वादन होता है (का० प्र०, ४ : ४६ का०)।

वस्तुतः शंकुकका यह मत न्याय-सिद्धान्तके अनुमान-प्रमाणपर आधारित है, जिसमें पहले देखी गयी वस्तुका, किसी समय साक्षात् न देखकर भी, उससे साहचर्य-सम्बन्ध रखनेवाली किसी अन्य वस्तुको देखकर ज्ञान प्राप्त होता है। ऊपर कहा गया है कि शंकुकने इसको संशयादिसे भिन्न माना है। जब हमारे ज्ञानको कोई अन्य वस्तु बाधा पहुँचाती है अथवा हमारा ज्ञान किसी अन्य ज्ञानके आधार-पर अप्रामाणिक सिद्ध होता है तब उसे मिथ्या कहते है। रसास्वादके प्रसंगमें इस प्रकारकी बाधा नहीं उपस्थित होती, क्योंकि जितने समयतक हम प्रदर्शनको देखते (काव्यका पाठ करते) है, उतनी देरतक उसमें किसी कारण बाधा नहीं उपस्थित होती। नाट्यप्रदर्शन जिस रूपमें है, वह अयथार्थ भी नहीं कहा जा सकता। शंकुकके अनुसार यदि उसे एक क्षणके लिए अयथार्थ मान भी लें तो उसके कारण आनन्दानुभूतिमें शंका नहीं होनी चाहिये। संशयकी स्थितिमें व्यक्ति किसी निश्चयपर नहीं पहुँचता, पर रसात्मक बोधमें ऐसी स्थिति भी नहीं रहती और क्योंकि इसमें अनुकार्य-अनुकर्ताके पृथक्त्वका ज्ञान लुप्त हो जाता है, अतः सादृश्य-ज्ञानकी स्थिति भी स्वीकार नहीं की जा सकती। यह अनुमिति-ज्ञान है जिसे शंकुकने चित्र-तुरग' न्यायसे समझाया है। अर्थात् चित्रांकित तुरगके समान अभिनय वास्तविक पात्रका अनुकरणमात्र है और अभिनेता वास्तविक पात्र न होकर अनुकर्तामात्र।

परवर्ती आचार्योंने शंकुकके 'अनुमितिवाद'का खण्डन किया है। अनुमान तो वास्तविकताके आधारपर किया जा सकता है, कृत्रिम विभावादिके द्वारा इसकी सिद्धि कैसे हो सकती है? ऐसा नहीं कि शंकुकका अपने सिद्धान्तके इस पक्षकी ओर ध्यान न हो। उन्होंने स्वयं अभिनेताके कौशलके सहारे अनुमानकी सिद्धि मानी है, साथ ही उन्होंने दूरकी उठी हुई धूलको धुँआँ समझकर अग्निके अनुमानकी बात कही है। सामने प्रत्यक्ष रंगमंचके अभिनयके सम्बन्धमें इस प्रकारका अनुमान नहीं किया जा सकता। दर्शक पहलेसे ही जानता है कि अभिनयके पात्र वास्तविक नहीं हैं। अतः उसके रसास्वादनको समझनेके

लिए अनुमान पर्याप्त कारण नहीं हो सकता। कहा गया कि सामान्य जगत्के कारणके स्थानपर विभावादिके संयोग-पर रसास्वाद आधारित है, पर ये विभावादि प्रेक्षकके नहीं हैं; उनसे उसका सीधा सम्बन्ध ही नहीं। यथार्थ जगत्में वस्तुसौन्दर्यसे रसानुभूतिको स्वीकार नहीं किया जा सकता। परन्तु यदि अविद्यमान रहनेपर भी अनुमान-मात्रसे रसास्वादकी सिद्धि होती, तो विद्यमान होनेपर उसकी सिद्धिमें किसी प्रकारकी शंका नहीं होनी चाहिये। पर लोकमें रति आदिको प्रत्यक्ष देखकर आनन्द नहीं होता, ऐसी स्थितिमें अनुमानसे कैसे माना जा सकता है? शंकुक-के सिद्धान्तपर क्षणिकवादका आरोप भी लगाया गया। नैयायिक परिणामवादके साथ अनुभवको क्षणिक मानते हैं। रसानुभूतिको क्षणिक माननेसे काव्यके आकर्षणमें बाधा उपस्थित होगी। शंकुकने प्रेक्षकके तन्मयीभावके कारण रसा-नुभूतिको धारावाहिक माना है। वह तन्मयावस्थामें प्रदर्शित रत्यादिका अनुसन्धान करता है और बार-बार शंका करता हुआ अनुमान नहीं करता। पुनः-पुनः अनुसन्धान करना ही 'चर्वणा' है। रसप्रदीपकारका आरोप है कि एक बार वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर लेनेपर पुनः अनुमान नहीं किया जा सकता। प्रेक्षक 'रसका अनुमान' नहीं करता, वरन् अनुभव करता है। शंकुकके द्वारा भी नटमें रसकी स्थिति स्वीकार नहीं की गयी, अतः उनके सिद्धान्तमें तटस्थता-का दोष आ गया है (र० प्र०, पृ० २४, २५)। इसके अतिरिक्त अनुकरण बाह्य व्यवहारका भी बहुत सम्भव नहीं होता और आन्तरिक भावोंका अनुकरण तो किसी प्रकार सम्भव नहीं है। यदि अनुकरणके सामर्थ्यको मान भी लें तो करुण आदिके दृश्यमें आनन्दकी उपलब्धि किस प्रकार स्वीकार की जा सकती है? वस्तुतः भट्ट लोल्लट-के समान शंकुकने भी प्रेक्षकके आनन्दका कारण उससे असम्बद्ध माना है, प्रेक्षक प्रदर्शित विभावादिकका केवल अनुमान करता है। अभिनवगुप्तके गुरु भट्ट तोतने कहा है कि सादृश्यानुमान फलके अनुसार होता है और अनु-मानकर्ताको सादृश्यका अनुभव होता है। परन्तु अभिनेता द्वारा प्रदर्शित भावनाएँ उसके मनमें वर्तमान किसी सादृश्यपर आधारित नहीं है और प्रेक्षक भी ऐसा नहीं मानता। प्रेक्षक जानता है कि यह ऐसा अभिनेताके दीर्घ-कालीन अभ्यासके कारण प्रतीत होता है। उनका कहना है कि ज्ञान या तो निश्चित रूपसे सत्य होता है या मिथ्या। इन दोनोंसे भिन्न कहना भ्रामक है। 'चित्र-तुरग-न्याय'में सादृश्य ज्ञानमात्र है, उसे तुरग कहते हुए भी हम जानते हैं कि वह वास्तविकके सदृशमात्र है (अ० भा०, १: पृ० २७७)।

आधुनिक विवेचकोंमें राकेश गुप्तने 'चित्र-तुरग-न्याय'-को चारों प्रकारका ज्ञान सिद्ध किया है। वे भट्ट तोतके समान उसे केवल सादृश्य-ज्ञान ही नहीं मानते। उनका कहना है कि दर्शक 'चित्रलिखित तुरग'को चित्रलिखित-मात्र मानता है और लक्षणाके आश्रयसे उसके कहनेका अर्थ भी यही होता है। वास्तविकताका ज्ञान न होनेवालेको भ्रम होगा, या तो वह अश्व मान लेगा या संशयमें रहेगा। आनन्दप्रकाश दीक्षितके अनुसार राकेश गुप्तने चित्रकला-अनभिज्ञ दर्शककी कल्पना की है और दूर रखे हुए चित्रका उदाहरण दिया है। नाटकमें अथवा काव्यमें इन दोनों स्थितियोंको स्वीकार नहीं किया जा सकता। दीक्षितका कहना है: "सारांश यह है कि अनुकर्ता अन्तर्भावोंका नहीं, बाह्य अनुभावोंमात्रका अनुसरण करता है और अपने शिक्षाभ्यासादिके साथ-साथ हृदय-संवादके बलपर काव्यका उचित स्वर तथा बलके साथ वाचन करते हुए अपनी ओरसे यथाशक्ति उस स्थितिमें उत्पन्न हो सकनेवाले भावोंको व्यक्त करता है। इस प्रकारकी प्रतीतिको अनुकरण नहीं कहा जा सकता। उसमें अनुकर्ताकी शिक्षा तथा कल्पनाका योग स्वीकार किया गया है। इस प्रकार उसकी तटस्थता दूर हो जाती है" (काव्यमें रस, अप्रका० प्र०, पृ० ५१५)।

शंकुकने भट्ट लोल्लटकी अपेक्षा अपने सिद्धान्तमें अधिक मनोवैज्ञानिक आधार ग्रहण किया है। उन्होंने वास्तविक पात्रमें भावात्मक प्रक्रिया द्वारा स्थायी भावका उद्बोध माना है और प्रेक्षक द्वारा अभिनेताओंमें अनुकरणके अनुमानसे वही भाव-स्थिति रसरूपमें आस्वादित होती है, ऐसा स्वीकार किया है। रस सिद्धान्तकी सम्पूर्ण विवेचनाको समझनेके लिए रसकी दो स्थितियोंको जान लेना चाहिये—"एक साधारण जीवनमें भावात्मक प्रक्रियाकी उद्बुद्ध घटना और दूसरी काव्यानुभूतिमें रसनिष्पत्ति"। एकको 'रसस्थिति' और दूसरीको 'रसनिष्पत्ति'की स्थिति मानना अधिक वैज्ञानिक है। शंकुकने 'चित्र-तुरग-न्याय' द्वारा अभिनय-(काव्यकला भी)का प्रत्यक्ष बोध तथा स्मृतिसे संयुक्त कल्पनाका आधार स्वीकार किया है। चित्रांकित तुरग केवल तुरगका चित्ररूपमें प्रत्यक्ष बोधका विषय नहीं है (जैसी राकेश गुप्तकी भ्रामक स्थापना है), उसमें तुरगत्वके साथ जो कल्पना और स्मृतिका संयोग है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। अभिनय-सौन्दर्य (काव्य-सौन्दर्य)के द्वारा प्रेक्षक या पाठकके मनपर जो प्रभाव पड़ता है, वह प्रत्यक्ष बोधसे कहीं व्यापक है। जिस प्रकार प्रेक्षक आरोप करनेके लिए अपने अनुभव और संस्कारोंका सहारा लेता है, उसी प्रकार वह अपनी कल्पनाके आधारपर नाटकीय घटना (नाटक-कारकी कल्पना)का अनुमान कर सकेगा। मनोविज्ञानकी दृष्टिसे इस सिद्धान्तके सम्बन्धमें यह आक्षेप महत्त्वपूर्ण है कि यदि प्रेक्षक आश्रयकी मनःस्थितिसे तादात्म्य स्थापित करके रसकी प्रतीति करता है तो उसे आश्रयके समान अपनी भावस्थितिमें दुःख-सुख, दोनों का अनुभव होना चाहिये। परन्तु शंकुकके मतमें तादात्म्यका उल्लेख इस प्रकार नहीं है। इसके अतिरिक्त आचार्यके अनुसार यदि प्रेक्षक भावा-त्मक घटनाको सत्य मानकर अपने अस्तित्वसे घटनाओंको सम्बन्धित मान ले तो वह संस्कृत, भावज्ञ प्रेक्षक या पाठक नहीं समझा जायगा। ऊपरकी विवेचनामें इस आक्षेपका भी उल्लेख किया गया है कि विभावादि, जो अतीतसे सम्बन्धित हैं, वे प्रेक्षक अथवा पाठकके अनुमानके विषय कैसे होंगे। परन्तु यह आक्षेप इसी आधारपर ठहर सकता है, यदि अनुमानको स्मृतिसे सम्बन्धित प्रत्यक्ष बोधोंके रूप-में सादृश्यके आधारपर ही स्वीकार किया जाय। कल्पनाके तत्त्वको स्वीकार कर लेनेपर स्मृतिके स्वतन्त्र संयोगोंकी

सम्भावना सहज हो सकती है। मनोविज्ञानकी दृष्टिसे प्रमुख आक्षेप यह माना जा सकता है कि शंकुकने अपने मतमें स्मृति और अनुभवको स्वीकार किया है, पर कल्पना-की स्थापना स्पष्टतः नहीं कर सके हैं (रस-सिद्धान्त और आधुनिक मनोविज्ञान—अनुशीलन, व० ३ : अं० २)।

भरतके रससूत्रकी व्याख्या करनेवाले तीसरे आचार्य भट्टनायक (१० श० ई०) हैं, जिनका सिद्धान्त **भोगवाद** है। भट्टनायकने रसके पूर्ववर्ती व्याख्याकारोंके मतोंका खण्डन करते हुए स्वमतकी स्थापना की है। 'अभिनव-भारती'में उद्धृत उनका मत इस प्रकार है—"काव्यमें दोषाभाव, गुण तथा अलंकाररूप और नाटकमें चतुर्विध अभिनयरूप विभावादि कारणके द्वारा अभिधार्थसे ग्रहण किये गये निविड निजत्वका मोह तथा संकट आदिको निवारण करनेवाली भावकत्वरूपमें शब्दकी दूसरी शक्ति साधारणीकरण तथा अपने भावन-व्यापारसे इस निजत्वके मोहको दूर करके रसको भावनावान् करती है और भावन-योग्य बनाती है। फिर भोगशक्ति, जो अनुभव, स्मृति आदिसे विलक्षण है, रजस् और तमस्के अनुवेधके वैचित्र्य-के बलसे वृद्धि, विकास तथा विस्तारस्वरूप है, हृदयके विस्तार और विकासके लक्षणवाली है, सत् गुणके उद्रेकके कारण प्रकाशमान् आनन्दसे संकल्प-विकल्पसे भिन्न (विल-क्षण) है, उसमें परब्रह्मास्वादके समान रस अनिर्वाच्य रूप-से भोगा जाता है" (अ० भा० : प्र०, पृ० २७८)। मम्मट (११ श० ई०)ने इसी बातको संक्षेपमें दुहरा दिया है—"काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणी-करणात्मना भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानः स्थायी सत्त्वोद्रे-कप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिसतत्त्वेन भोगेन भुज्यते इति" (का० प्र०, ४ : २६), अर्थात् काव्य और नाटकमें अभिधा-से भिन्न दूसरी भावकत्वशक्ति अपने व्यापारसे विभावादिक-को साधारणीकृत रूपमें प्रस्तुत कर स्थायी भावको भाव्यमान या भावन-योग्य बनाती है। फिर तीसरी भोगशक्ति साधा-रणीकृत भाव्यमान् स्थायी भावको आनन्दमय तथा एक-रसरूपमें आस्वादन योग्य बनाती है। इस स्थितिमें 'सत्त्व'-सुख और प्रकाशका उद्रेक इतना प्रबल हो जाता है कि रजस् और तमस् (मनकी चंचलता और मूढ़ता) अभिभूत हो जाया करते हैं।

भट्टनायकके पूर्व ध्वनि-सिद्धान्तकी स्थापना हो चुकी थी और शब्दकी अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना नामक तीन शक्तियाँ स्वीकृत की जा चुकी थीं। परन्तु भट्टनायकने रसनिष्पत्तिके लिए अभिधाके साथ दो नयी शक्तियोंकी स्थापना की—**भावकत्व** तथा **भोजकत्व**। अभिधाको आचार्यने उस शक्तिके रूपमें स्वीकार किया है, जिससे इसको नाटक अथवा काव्यमें प्रस्तुत अथवा वर्णित अर्थका बोध होता है। इसीके द्वारा हम यह समझनेमें समर्थ होते हैं कि किन पात्रों अथवा परिस्थितियोंका उल्लेख किया गया है। इसके द्वारा कथाके व्यक्तिविशेष अथवा घटना-विशेषका बोध होता है। आचार्यके अनुसार यह बोध रसनिष्पत्तिकी बाधा है और उन्होंने इसके स्थानपर व्यक्ति-निरपेक्ष बोधकी आवश्यकता मानी है। उनका कहना है कि अभिधासे व्यक्ति अथवा परिस्थितिविशेषका बोध हो जाने-पर भी कलात्मक नाटकीय प्रदर्शन अथवा काव्यकी सुन्दर अभिव्यक्ति (शब्दचयन, पद-विन्यास, अलंकार आदि) के कारण प्रेक्षक तथा पाठकका मन इस विशिष्टताके बोधको भूलने लगता है और जितना ही वह भूलता जाता है, उतना ही उस व्यक्ति या स्थितिका वह निरपेक्ष चिन्तन करनेमें समर्थ होता है। इस रूपमें सामाजिक नाटकमें प्रदर्शित अथवा काव्यमें वर्णित विभावादिकको केवल किसी विशिष्ट व्यक्तिका न मानकर सामान्य रूपमें ग्रहण करता है। इस स्थितिकी प्राप्ति भट्टनायकके अनुसार 'भावकत्व-शक्ति'से होती है। यह रसास्वादनके पूर्वकी स्थिति मानी गयी है। इसके द्वारा सामाजिक देश-कालकी सीमाओं तथा लोक-मर्यादाओंके बन्धनसे मुक्त हो जाता है। उसके लिए राम अतीतके पात्र नहीं रह जाते। उनकी सीताविषयक रति सामाजिकके लिए बाधा नहीं उपस्थित करती। इस प्रकार आचार्यके अनुसार 'भावकत्व-शक्ति' और 'साधारणी-करण'-व्यापार (दे०)से ताटस्थ्य तथा आत्मगतत्व सम्बन्धी दोष दूर हो जाते हैं। इसके अनन्तर तीसरी भोजकत्वशक्ति द्वारा सामाजिक भावित स्थायी भावादिका रस-रूपमें भोग करता है, जो अपनी विलक्षणतामें परब्रह्मास्वाद (दे०)के समान लौकिक अनुभव तथा स्मृति-ज्ञानसे नितान्त भिन्न है। उपर्युक्त विवेचनासे स्पष्ट है कि भट्टनायकके अनुसार 'निष्पत्ति'का अर्थ 'भोग' है, जिसमें विभावादिके स्थायीके भोजक हैं और स्थायी भोज्य; जिसका विभावादिके द्वारा 'भोग' किया जाता है। यहाँ विभावादि तथा स्थायी भावका सम्बन्ध भोज्य-भोजक-भावका माना जायगा।

भट्टनायकका भोगवाद सांख्यदर्शन (दे०)पर आधारित है। सांख्यके अनुसार सृष्टि त्रिगुणात्मक प्रकृतिकी अभिव्यक्ति है और निर्विकल्प ब्रह्म भी इसके चक्करमें त्रिगुणमय हो जाता है और अनेक रूपोंमें अपनेको व्यक्त करता है। सत्त्व, रज तथा तम—ये गुण हैं, जिनसे शरीर प्रकाशित है। सत्त्वमें प्रीति, रजमें अप्रीति तथा तमोगुण विषादात्मक है। सांख्य द्वारा प्रतिपादित प्रकृतिके इस त्रिगुणात्मक स्वरूपकी कल्पना भट्टनायकके सत्त्वोद्रेकके समान है। परन्तु सांख्यमें पुरुष प्रकृतिके बन्धनमें अपने-आपको भूल जाता है और अन्य दोनों गुणोंको विजय करके ही सत्त्वोद्रेकके सहारे पुरुष मुक्तस्वरूप होता है। अपने आत्मस्वरूपकी परम स्थितिको कैवल्यपद कहा गया है, जो मध्यस्थकी स्थिति मानी गयी है, जिसमें पुरुष स्वतः साक्षी, द्रष्टामात्र रहता है। भट्टनायकके भोगवादका आधार यह सिद्धान्त अवश्य है, पर भोगकी स्थितिसे कैवल्यपदकी स्थितिका मौलिक अन्तर है, यद्यपि सत्त्वोद्रेककी स्थिति दोनोंमें स्वीकार की गयी है। सांख्यके अनुसार मध्यस्थकी स्थिति उदासीनकी स्थिति है, जिसमें वह सुख-दुःखसे परे होता है। इस मुक्तिकी स्थितिमें पुरुष सभी गुणोंसे हीन हो जाता है, यद्यपि इस स्थितिको प्राप्त करनेमें सत्त्वोद्रेकका सहारा मिलता है। सांख्यका कैवल्य भोगका विरोधी है और भट्टनायकने उसीका प्रतिपादन किया है। भट्टनायकने इस भोगको परब्रह्मास्वादके सदृश मानकर सम्भवतः यह सिद्ध किया है कि यह रसस्थिति लौकिक अनुभवगम्य स्थितिसे भिन्न है और साथ ही यह ब्रह्मास्वाद भी नहीं है,

केवल उसके समान है। वास्तवमें रसानुभूति संवित् (चित् स्वभाव) है, जो विश्रान्तिमें परिणत होती है। परन्तु दार्शनिक स्थितिमें शुद्ध चित् स्वभाव अहंकारशून्य होकर सुख-दुःखकी सम्पूर्ण भावनाओंसे मुक्त हो जाता है। परन्तु इस प्रकारकी निरपेक्ष स्थिति रसास्वादके क्षेत्रमें सम्भव नहीं है। काव्यजगत् लौकिक जगत्से भिन्न है और यह अहंकार वासनाको जागरित नहीं करता है, क्योंकि काव्यकी कल्पित वस्तुएँ विशेषसे सम्बद्ध न होकर पूर्णतः निर्वैयक्तिक होती है और इन निर्वैयक्तिक रूपोंके कारण काव्यानन्द प्राप्त करनेवाला व्यक्ति निजत्वके मोह-बन्धनोंसे अलग रह सकता है। परन्तु उसकी बुद्धिनिरपेक्ष स्थिति थोड़े ही कालके लिए सम्भव हो सकती है (एस० के० दे० : हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोएटिक्स, भा० २ : पृ० १५८)।

भट्टनायकके मतकी प्रधान आलोचना इस रूपमें की गयी है कि लक्षणा और व्यंजनाके रहते हुए भी उन्होंने भावकत्व तथा भोजकत्व नामक दो नवीन शक्तियोंकी स्थापना की। इस मतके आलोचकोंने भट्टनायकके भावकत्व-व्यापारको व्यर्थ माना और कहा कि इसका कार्य लक्षणासे चल सकता है। पर इस मतके समर्थकोंका उत्तर है कि लक्षणाका व्यापार कठिन है, जिसको ग्रहण करनेमें सभी सामाजिक समर्थ नहीं हो सकते और भरतकी दृष्टिमें नाट्यकलाको सर्वसाधारणके योग्य बनाना है। लक्षणासे अर्थ ग्रहण करनेके लिए कुशाग्रबुद्धिके अतिरिक्त काव्यानुशीलनका अभ्यास भी आवश्यक है। ऐसा मानकर चलना नाट्यकी सार्वजनिकतामें बाधक होगा। इस प्रकार काव्यानुशीलनकी कई कोटियाँ भी माननी पड़ेंगी, योग्यतानुसार व्यक्ति लक्षणा-व्यापारसे अर्थ ग्रहण करेगा। इसके अतिरिक्त लक्षणाका अर्थग्रहण एक क्रमसे होता है, जिसमें पौर्वापर्यका सम्बन्ध परिलक्षित होता है, पर रसास्वाद इस क्रममें उपस्थित नहीं होता। काव्यके सहज रसास्वादनके लिए भावना तथा भोगकी शक्तियाँ अधिक उपयुक्त है। (काव्यमें रस : अप्रका० प्रब०, पृ० २२३)। इस मतके समर्थकोंका यह भी कहना है—"लक्षणाका व्यापार विभावादिके साधारणीकरणतक मान भी लिया जाय तो भी स्थायी भावके साधारणीकरणमें लक्षणा किस प्रकार काम दे सकेगी? लक्षणा अभिधापर आश्रित है, किन्तु अभिधा मानसिक भावोंको समझानेमें सर्वथा अनुपयोगी है, अतः यहाँ वह किस प्रकार अपना कार्य सम्पन्न कर सकेगी? इस प्रश्नका उत्तर अभिधावादी लोग न दे सकेंगे। अतः भावकत्वको अनिवार्य रूपसे स्वीकार करना पड़ेगा" (वही, पृ० २२३)।

भट्टनायकके मतके आलोचकोंका कहना है कि स्थायी भावोंके भावनका काम यदि लक्षणा-शक्तिसे नहीं चलता तो व्यंजनासे सरलतापूर्वक हो सकता है। अभिनवगुप्तने व्यंजनाको स्वीकार कर भट्टनायकके द्वारा प्रतिपादित दोनों शक्तियोंको निरर्थक माना है। रस-व्यंजनाके अन्तर्गत इनका अन्तर्भाव हो जाता है। भरतके कथन—"काव्यार्थान् भावयन्तीति भावः"में भावकत्व भावकी मौलिक शक्ति माना गया है। अतः स्थायी तथा संचारी भाव अपनी इस योग्यतासे स्वतः साधारणीकृत रूपमें अलौकिक रसास्वादके हेतु होते हैं। अभिनवगुप्तने भट्टनायक द्वारा रस-प्रतीतिका विरोध भी स्वीकार नहीं किया है। अनुमानके अर्थमें प्रतीतिको भले ही अस्वीकार किया जाय, पर ज्ञानके अर्थमें अस्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रतीतिके अतिरिक्त भोगका अर्थ क्या हो सकता है? 'रसन व्यापार' कहकर भी उसे प्रतीतिसे भिन्न नहीं सिद्ध किया जा सकता। स्थायी भावका ही भोग हो सकता है, उसकी प्रतीति चित्तमें बनी रहती है। अतीत अथवा अनुपस्थित वस्तुका भोग नहीं किया जा सकता। भोग भी व्यवहार है, अतएव उसके माननेसे प्रतीति भी आप-से-आप स्वीकृत हो जाती है (अ० भा० : प्र० भा०, पृ० २७९)। भट्टनायकने स्थायी भावकी प्रतीतिको असम्भव माना है, पर अभिनवगुप्त इन्हींकी प्रतीतिपर विश्वास करते हैं। यह बात दूसरी है कि इस सन्दर्भमें प्रतीति चर्वणा, आस्वाद अथवा भोग आदि नामोंसे पुकारी जाती है (ध्वन्यालोक, पृ० १८७)। अभिनवने भोग-व्यापारको अन्ततः व्यंजना अथवा ध्वनन-व्यापार माना है।

परवर्ती आचार्योंकी आलोचनाके बावजूद भट्टनायकका सिद्धान्त बहुत दूरतक सत्यपर आधारित है। इस आचार्यकी मौलिकता तथा सूक्ष्म दृष्टिको स्वीकार करना पड़ा है। इनके द्वारा प्रतिपादित सत्त्वोद्रेक, विश्रान्ति, साधारणीकरण आदि शब्दोंको आगेके आचार्योंने स्वीकृति दी है। रसानुभूतिको ब्रह्मास्वादसहोदर (दे०) कहनेकी परम्परा इसी आचार्यसे प्रारम्भ हुई है। साधारणीकरणका सिद्धान्त (दे०) रस-व्याख्याके क्षेत्रमें इनका सबसे महत्त्वपूर्ण योग माना जा सकता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे विचार करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि भट्टनायकने अपना सिद्धान्त नाटक और काव्य, दोनोंको दृष्टिपथमें रखकर स्थापित किया है, फिर भी नाट्यप्रदर्शन उनके सामने अधिक प्रत्यक्ष है वस्तुतः वास्तविक जीवनमें स्थायी भावकी उद्‌बुद्ध स्थिति और रसनिष्पत्तिके अन्तरको सर्वप्रथम भट्टनायकने ही स्पष्टतः स्वीकार किया है। सामान्य अभिधार्थसे आचार्यका तात्पर्य प्रत्यक्ष ज्ञान (काव्यवर्णित वस्तुका पर-प्रत्यक्ष) है। इस स्तरपर विभावादिकका अर्थ केवल लौकिक जीवनकी भावात्मक प्रक्रियासे सम्बद्ध माना जा सकता है और इस आधारपर काव्यात्मक रसकी व्याख्या नहीं की जा सकती, जैसा पिछले आचार्योंके मतोंके सम्बन्धमें देखा जा चुका है। अतएव आचार्यने भावकत्व-शक्तिकी स्थापना की। उनके अनुसार इस शक्तिसे एक ओर प्रेक्षक निजत्व-मोहकी स्थितिसे मुक्त होता है और दूसरी ओर इसीसे विभावादि उसके मानसमें साधारणीकृत स्थितिमें प्रत्यक्षीभूत होते हैं, इस प्रकार यह शक्ति प्रेक्षकमें रसको भाव्यमान करती है। वस्तुतः प्रत्येक भावात्मक प्रक्रियामें इच्छाशक्तिका स्थान रहता है। आचार्य द्वारा स्वीकृत भावन-व्यापार इच्छा-शक्तिका रूप ही जान पड़ता है। प्रेक्षकके मनमें नाटकीय कथावस्तुके प्रति जो उत्सुकता जाग्रत् होती है, वह इच्छा-शक्तिकी प्रेरणासे ही सम्भव है और यह इच्छाशक्ति न तो नाटकीय विभावोंके प्रति क्रियाशील है और न अनुभावोंसे सम्बन्धित है—वह तो कथावस्तुके प्रदर्शनके प्रति उत्सुक और इच्छुक है। सम्भवतः इसी कारण राकेश गुप्तने भ्रमवश समस्त काव्यानुभूतिकी भावात्मक प्रक्रियाको काव्यात्मक उत्सुकता-मात्र माना है। यह नाटकीय प्रदर्शन

न तो जीवनका प्रत्यक्ष बोध है और न स्मृति-संयोग, इसी आधारपर उत्पत्तिवाद तथा अनुमानवादको अस्वीकार किया गया है इस कलात्मक मानसिक घटनाने प्रत्यक्ष बोध (concepts)से हम कल्पनात्मक सृष्टि कर लेते है, जिसमे स्मृति और अनुभवोका आधार अवश्य है, पर संयोगका क्षेत्र मुक्त है। इसीको आचार्यने भोगशक्ति माना है और इसे अनुभव, स्मृतिसे विलक्षण (भिन्न) स्वीकार किया है। भोगशक्तिसे प्रत्यक्ष बोधको कल्पनात्मक स्तर मिलता है और अनुभूत्यात्मक (affective) वैचित्र्य (चमत्कार)के रूपमें आस्वादनका आनन्द भी मिलता है। इस कल्पनात्मक स्तरकी स्थिति निश्चय ही प्रत्यक्ष जगत्से भिन्न (विलक्षण) है। काव्य अथवा नाटककी कल्पनात्मक स्थितिमे प्रेक्षक (जो सहृदय तथा संस्कृत भी होता है) अपनी भावनात्मक प्रक्रियामे भी सुख-दुःखसे भिन्न अनुभूति ग्रहण करेगा। आगे भावनाशक्ति 'इच्छा शक्ति'के साथ यह अनुभूति चमत्कार-सौन्दर्यसे अधिकाधिक बढेगी। प्रश्न उठ सकता है कि यदि यह अनुभूति सुख-दुःख(रजस्-तमस्)से भिन्न है तो उत्सुकता इच्छाशक्तिको आकर्षित कैसे करती है? आचार्यके शब्दोंमे उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है—इच्छाशक्तिकी गति ही ऐसी है; सौन्दर्यबोध (सत्त्वगुण) भी संकल्प-विकल्पसे हीन, आनन्दमय है और यह आनन्द स्वयं आकर्षित करता है। इस इच्छाशक्तिरूपी भावन-शक्तिमे निजत्वका भाव नही रह सकता, क्योंकि कथावस्तुमे प्रस्तुत या प्रदर्शित भावनात्मक प्रक्रियाके प्रति प्रेक्षक या पाठक तटस्थ ही है। लेकिन यह तटस्थता क्रियाशक्ति तथा इच्छाशक्तिसे प्रेरित है। इच्छाशक्तिकी इस प्रेरणाके कारण काव्यात्मक भावस्थितिसे स्थायी भाव सम्बन्धी सुख-दुःख अलग रहेगे। इच्छाशक्तिकी प्रेरणा इस स्थितिमे वस्तु-वैचित्र्यकी ओर रहती है। साथ ही, जिस कल्पनाके आधारपर प्रेक्षक या पाठक कथावस्तुको ग्रहण करता है, उसमें विभावादिको स्मृतिके अनुभवात्मक संयोगसे साधारणीकृत रूपमें ग्रहण किया जाता है और कल्पनाके स्वतन्त्र संयोगोंका व्यापार ही साधारणीकरण (दे०) है।

अभिनवगुप्त (१०-११ श० ई०) भरतके रससूत्रके चौथे व्याख्याता है। वस्तुतः इनकी 'नाट्यशास्त्र'पर 'अभिनवभारती' तथा 'ध्वन्यालोक'पर 'लोचन' नामक टीकाओंके आधारपर रस-सिद्धान्तके अन्य आचार्योंके मतोंकी स्थापना भी की जा सकी है। अभिनवगुप्तका सिद्धान्त **अभिव्यक्तिवाद**के नामसे प्रसिद्ध है, जो प्रायः शैव दर्शन-पर आधारित माना जाता है। ऊपर भट्टनायकके भोगवाद-की आलोचनाके प्रसंगमें कहा गया है कि अभिनवगुप्तने उनकी शक्तियोंकी कल्पनाको अस्वीकार करके यह माना है कि यह कार्य लक्षणा तथा व्यंजनासे सम्पादित हो जाता है। इस प्रमुख अन्तरके अतिरिक्त अभिनवगुप्तने भट्टनायकके मतकी अन्य बातोंको स्वीकार किया है। परन्तु उनका इस विषयमें महत्त्वपूर्ण योग है—सामाजिकोंके अन्तःकरणमें वासनारूपसे स्थायी भावोंकी स्वीकृति। भट्टनायककी विवेचनामें इस बातका कोई संकेत नही है कि प्रेक्षक अथवा पाठकके स्वयंके भावोंसे रसास्वादनका कोई तात्त्विक सम्बन्ध है। प्रेक्षक या पाठककी स्वयंकी मनःस्थितिमे रसनिष्पत्तिके लिए क्या कोई मनोवैज्ञानिक आधार है? इस प्रश्नका उत्तर अभिनवके पूर्वकी व्याख्याओं के आधारपर नहीं दिया जा सकता। अभिनवगुप्तने सामाजिकके अन्तःकरणमे वासनारूप संस्कारोंकी कल्पना करके रसका सामाजिकके भावोंसे सीधा सम्बन्ध स्वीकार किया है। उनके अनुसार रसनिष्पत्तिके लिए सामाजिकमें अनादि वासना अनिवार्य है और यह वासना सबमें होती है। वासना-संवाद ही रसका हेतु है। इन्ही संस्कारोको स्थायी भावकी संज्ञा दी गयी है। ये सभी सामाजिकोमे जन्मसे होते है और किसी-न-किसी स्थितिमें सदैव बने रहते हैं। इनके बिना कोई भी प्राणी नही होता (अ०भा० : प्र० भा०, २८९)। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रत्येक सामाजिक इसी कारण रसास्वादनका समान अधिकारी माना जा सकता है। भरतके द्वारा सामाजिकोंके लिए प्रयुक्त 'सुमनस्' शब्दका उल्लेख किया गया है, अभिनवने इसीके आधारपर उसके लिए 'सहृदय' शब्दका प्रयोग किया है। सहृदयताके लिए काव्यानुशीलन तथा अभ्यासकी पहली शर्त है। काव्यानुशीलनके अभ्याससे सामाजिकका मन-मुकुर स्वच्छ और विशद हो जाता है और उसपर प्रदर्शित अथवा वर्णित भावोंका प्रभाव गम्भीर होकर पडता है और इस स्थितिमे सामाजिक तन्मय होकर हृदयसंवाद द्वारा रसास्वाद करता है (अ० भा०, पृ० २८६)।

अभिनवने सहृदयके रसास्वादमे विघ्नों (दे०)को भी माना है और उनके दूर करनेका उपाय विभावोंके प्रदर्शन तथा वर्णनके चमत्कारको स्वीकार किया है। यही अद्भुत चमत्कार भोगरूप अथवा स्पन्दरूप होता है। यह दशा न लौकिक है और न मिथ्या। न इसे अनिर्वचनीय कह सकते है, न लौकिकके सदृश और न आरोपमात्र (अ० भा०, पृ० २८१)। अभिनवगुप्तने विभावादिके रसास्वाद होनेकी योग्यताके लिए भट्टनायकके साधारणीकरण (दे०) सिद्धान्तको स्वीकार किया है। उन्होंने रसनिष्पत्तिके सम्बन्धमे चार स्थितियोंकी कल्पना की है। पहली स्थितिमें रंगमंचपर (दृश्य काव्यमे) व्यक्ति अथवा स्थितिविशेषका प्रत्यक्ष बोध होता है। इसके बादकी स्थितिमें रंगमंचके वातावरण(काव्यकी वर्णना)से कथावस्तुका यह विशेषका भाव दूर होने लगता है और पात्र तथा स्थितियाँ सामान्य रूपमें आती हैं। इस स्थितिमें व्यक्तिविशेषका बोध तो नहीं होता, किन्तु द्वैत बना रहता है, तीसरी अवस्थामें चित्तमें अवस्थित स्थायी भाव न तो उसके अपने रह जाते हैं और न किसी अन्यसे उनका किसी प्रकारका सम्बन्ध रहता है। विभावादिके विशेषत्व-लोपके साथ अन्तःकरणमे स्थित स्थायी भाव साधारणीकृत होकर उद्बुद्ध होने लगते है। अन्तिम स्थितिमें निर्विघ्न होकर सहृदय साधारणीकृत रूपमें उद्बुद्ध स्थायीका रसरूपमें आस्वादन करता है (अ० भा० : प्र० भा०, पृ० २०९)। अभिनवके अनुसार 'निष्पत्ति'का अर्थ 'अभिव्यक्ति' है। विभाव विभावना-व्यापारके द्वारा स्थायी भावको अंकुरित करता है, अनुभाव अनुभावना-व्यापारसे इस स्थायीको अनुभवयोग्य बना देते है और संचारी भाव अनुरंजन-व्यापारके द्वारा उसे पूर्णतया व्यंजित कर देते है। इस प्रकार प्रेक्षक अथवा पाठकके

स्थायी भाव रसरूपमें प्रकट अथवा व्यक्त होते हैं।

अभिनवगुप्तका अभिव्यक्तिवाद शैव दर्शन(दे०)पर आधारित है, जो स्वतः अद्वैतवादी (दे०) है। इस सिद्धान्तमें परम शिवको मायाजनित देश-कालकी सीमासे मुक्त माना गया है और इस मुक्तावस्थाके कारण इसे चमत्कार भी कहा गया है। अभिनवगुप्तने विघ्नविनिर्मुक्त, संवित्, चमत्कार, रसना, आस्वाद आदिको पर्याय कहा है। विमर्श तथा चमत्कार एक ही माने गये है, अतएव अभिनवके अनुसार आस्वाद आदि विमर्शके भी पर्याय है। उन्होंने इस आस्वादको विश्रान्ति, समापत्ति तथा विघ्नविनिर्मुक्त कहकर परम शिवकी मुक्तावस्था अथवा आत्मस्थ स्थितिकी ओर संकेत किया है। यही विमर्श है। अभिनव द्वारा प्रतिपादित स्थायी भावोंकी वासनारूपमें अन्तःकरणमे स्थिति तथा रसकी निर्विघ्न प्रतीति इस दार्शनिक सिद्धान्तके अनुकूल है। शिवकी आन्तरिक इच्छाशक्तिसे सृष्टिकी अभिव्यक्ति होती है और उनकी इच्छाशक्ति निर्विघ्न है। इसी प्रकार सहृदयके अन्तःकरणमें वासनारूपमे अवस्थित स्थायी भाव निर्विघ्न होकर रसरूपमे अभिव्यक्त होते है। भट्टनायकके सत्त्व, रज तथा तमसे सम्बद्ध भोगवादको अभिनवने अस्वीकार कर ब्रह्मास्वादसहोदररूप रसानुभूतिको गुणातीत ही माना है। इसीसे उसे व्यक्ति तथा स्थिति-सम्बन्धसे मुक्त मानकर 'परम भोग' तथा 'विश्रान्ति' माना गया है। इसकी आत्मस्थ अवस्था ही निरपेक्ष आनन्द है। भोगकी स्थिति वास्तविक आनन्द नही मानी जा सकती। भोगकी अवस्थामें भोगमें ही लीन हो जाना तथा विषयको विस्मृत कर केवल स्वानुभूतिमें स्थित होना आनन्द कहा जायगा (काव्यमें रस, पृ० २३७)।

अभिव्यक्तिवादके आलोचकोंने अभिव्यक्ति स्वीकार कर लेनेका अर्थ रसकी पूर्वस्थिति स्वीकार कर लेना माना है। बिना किसी वस्तुकी पूर्वस्थितिके उसकी अभिव्यक्ति सम्भव नही। वस्तुतः इस आरोपका उत्तर अभिनवगुप्तने स्वय दिया है—जैसे चावल भातके रूपमे आ जाता है, उसी प्रकार स्थायी भाव रसरूपमे अभिव्यक्त होता है। दूसरा आरोप है कि यदि स्थायी भाव अपनी सूक्ष्म स्थितिमे विभावानुभावादिके संयोगमे रसरूपमे अभिव्यक्त होते है तो रसकी कोटियॉ माननी पड़ेंगी। परन्तु वस्तुतः यह संयोग विभावानुभावादिकका एक साथ स्थायीके साथ घटित होकर रसरूपमे व्यंजित होता है, उनके पृथक्-पृथक् संयोगसे नही। कुछ आलोचकोंने इस प्रकार विभावादि तथा रसमे कारण-कार्य-सम्बन्धके साथ विभावादिमे पौर्वापर्य भी माननेकी बात कही है। अभिनवके द्वारा साहचर्य-सम्बन्ध माना गया है, अतएव कार्य-कारण सम्बन्ध मानना उचित न होगा। परिणामतः कार्य-कारणपर आधारित अभिव्यक्तिवाद भी स्वीकृत नही हो सकता। इस आरोपके प्रत्याख्यानके लिए परवर्ती आचार्योंने 'दीपघटन्याय'का आश्रय लिया है। दीपक अन्धकारमें रखे हुए घटको प्रकाशित करता है, दीपके साथ-साथ वह भी गोचर हो जाता है। इस प्रकार यहाँ दीपक घटको प्रकाशित करनेका उसी प्रकार कारण है जिस प्रकार रस विभावादिके साथ ही व्यंजित हो जाता है, उनमे पौर्वापर्य सम्बन्धकी आवश्यकता नही। परन्तु यहाँ आपत्ति की जा सकती है कि दीप और घटकी स्थिति समकालिक होकर भी उनमें पृथक्त्वका बोध बना रहता है, पर रसप्रतीति विभावादिकी 'सवलिता-प्रतीति' है। इसमें विभावादिका पृथक्-पृथक् ज्ञान नहीं रहता। अभिनवने इसी विचित्रताके कारण रसको अलौकिक मान लिया है (आनन्दप्रकाश दीक्षित : काव्यमें रस, पृ० २४०)। महिमभट्टने 'व्यक्तिविवेक'मे अभिव्यक्तिके तीन प्रकारोंकी कल्पना करके उसका खण्डन किया है। पहली स्थिति कारणमे कार्यको निहित माननेकी है, जैसे, दूधसे दहीकी अभिव्यक्ति। दूसरी स्थिति कार्यके रहने बिना कारणके अभिव्यक्त न होनेकी स्थिति, जैसे दीप और घटका उदाहरण। इन दोनोंको ध्वनिके अन्तर्गत स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि इनमे ध्वन्यर्थ तो प्रत्यक्ष ही है। तीसरी स्थितिमें पूर्व अनुभूत विषयकी स्मृति द्वारा अभिव्यक्ति हो सकती है, जैसे धुएँमे आगकी व्यंजना। महिमभट्ट इसे ही रसप्रतीतिका उदाहरण मानते है और इसके आधारपर यह सिद्ध करते है कि इस रस-ध्वनिकी प्रतीति भी परिणामस्वरूप है, क्योंकि असंलक्ष्यक्रममे भी किसी-न-किसी रूपमे क्रम स्वीकृत है। अतएव उनके विचारमें रसप्रतीतिको अभिव्यक्ति कहनेका कोई अर्थ नही है (व्य० वि०, पृ० ७८)। आनन्दप्रकाश दीक्षितका कहना है कि महिमभट्टके आक्षेपोका कारण उनके द्वारा प्रस्तुत अभिव्यक्तिकी परिभाषा है तथा उन्होने जिन उदाहरणोंको लिया है, वे अभिनव द्वारा स्वीकृत नही है। घट-दीपकका उदाहरण मात्र इस बातको व्यक्त करनेके लिए दिया गया था कि व्यंजितकी अनुभूति व्यंजक-निरपेक्ष नहीं है।

पहले ही कहा जा चुका है कि भट्टनायकके भोगवादमे मनोविज्ञानका पर्याप्त आधार है। वस्तुतः भट्टनायकके सामने नाटकका आदर्श अधिक प्रत्यक्ष लगता है और अभिनवगुप्तके सामने काव्यका। मानसिक प्रक्रियाका भोगवादकी शक्तियोंमे अधिक स्पष्टतः उल्लेख है। वैसे अभिधाके प्रत्यक्ष बोध और परप्रत्यक्ष (concept), लक्षणामे स्मृतिके विभिन्न संयोग और व्यंजना द्वारा कल्पनाके स्वतन्त्र संयोगोकी व्याख्या हो जाती है। इसमे मानसके केवल ज्ञानात्मक पक्षपर अधिक बल दिया गया है। इस आधारपर यह व्याख्या सत्य भी है, पर इसमे मानसिक प्रक्रियाके दो पक्षोका, अर्थात् अनुभूति (रागात्मक) और इच्छाशक्ति (चिकीर्षा)का स्पष्ट उल्लेख नही हुआ है। अतएव भोगवादी व्याख्या रसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्याके अधिक निकट है। पर इसमे रसनिष्पत्तिका मनोवैज्ञानिक आधार क्या है, इसका उत्तर नही मिलता। प्रेक्षककी कल्पनातक उसमें स्वीकृत है, पर उसमे भावात्मक रसास्वादका आधार क्या है, जिसकी प्रेक्षक या पाठक भावना द्वारा अनुभूति करता है और भोग द्वारा कल्पित और आस्वादित करता है? दूसरा एक और प्रश्न उठता है, काव्यार्थके वैचित्र्यसे प्रेक्षक या पाठकके मनकी चमत्कृत स्थितिके अतिरिक्त रसनिष्पत्तिके लिए साक्ष्य क्या है? इन प्रश्नो और जिज्ञासाओका समाधान अभिव्यक्तिवादसे अवश्य होता है। इसमे रसनिष्पत्तिके लिए कल्पनाकी ओर संकेत किया गया है। सामाजिककी भावस्थितिमे वासनारूपसे

जो स्थायी भावोका संस्कार अभिनवगुप्तने स्वीकार किया है, उसके आधारपर सामाजिक साधारणीकृत विभावादिसे भावात्मक स्थिति(emotional tendency)की कल्पना करनेमें समर्थ होता है। जिस प्रकार हम प्रत्यक्ष बोधोंके संचित अनुभव-कोशके आधारपर वस्तुस्थितियोंकी स्मृति और कल्पना करते है, उसी प्रकार वासनामें स्थायी भावोंके संचित सस्कारोंके आधारपर प्रेक्षक या पाठक भावनात्मक स्थितियोंकी कल्पना करनेमे सफल होता है। अब सम्भावित शंका रह जाती है कि इस कल्पनामे भावात्मक स्थितिके प्रत्यक्षीकरणसे आनन्दकी अनुभूति ही क्यों होती है? पहली बात है कि कवि और नाटककारके मनमें कथावस्तुकी कल्पना इसी आनन्दानुभूतिके साथ होती है और प्रेक्षक-पाठक उसीका पुनः प्रत्यक्षीकरण करता है। इसके अतिरिक्त कलात्मक और साधारण कल्पनामें जो अन्तर है, उससे उनकी अनुभूतियोमे भी अन्तर हो जाता है। काव्यकी कल्पनामें प्रेक्षक-पाठकमें वास्तविक जीवनसे सम्बद्ध भावनाओंका उद्बोधन नहीं होता। आचार्योंने काव्य अथवा नाटकसे भावतादात्म्य करनेवाले, अर्थात् उसे अपने जीवनकी घटनाओंके रूपमें समझ लेनेवाले पाठक या प्रेक्षकको संस्कृत भावज्ञकी कोटिमे माना ही नही है। साधारण जीवनकी कल्पनामें अपने जीवनका सम्बन्ध होता है और इस कारण व्यक्ति उसके प्रति अपनी कल्पना-शक्तिको इस प्रकार निरपेक्ष नही कर पाता, जो काव्य और कलाकी विशेषता है। दूसरी बात है, जिसका समाधान अभिव्यक्तिवादसे ही सम्भव हो सका है। साधारणीकरणकी प्रक्रिया कथावस्तुको कल्पनामें ग्रहण करानेमें ही सहायक नहीं होती, वरन् प्रेक्षक या पाठक उस भावात्मक स्थितिको अपने वासनारूप स्थित स्थायी भावोंकी साधारणीकृत स्थिति (दे०)मे ग्रहण करता है। साधारणीकरणको दोनों पक्षोंमें स्वीकार करनेसे एक ओर कल्पना करनेके लिए आधार मिलता है तो दूसरी ओर पाठकके मनमें भावात्मक स्थिति साधारणीकृत स्थायी भावोंकी ओर संकेत करती है, अर्थात् यह भावात्मक स्थिति पूर्वसंचित स्थायी भावोंके व्यापक आधारपर सम्भव होती है। इससे हमारे दूसरे प्रश्नका उत्तर भी मिल जाता है। यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि काव्यके अर्थग्रहणमें पाठक(प्रेक्षक)के मनमें कल्पनाके सहारे भावनात्मक स्थिति व्याप्त हो जाती है, जो काव्यके सौन्दर्य-चमत्कारके साथ आनन्दानुभूतिसे सम्बन्धित हो जाती है। भट्टनायकके भोगवादके सम्बन्धमे कहा गया है कि पाठककी इच्छाशक्ति निरपेक्ष क्रियाशीलतामें इस समस्त मानसिक घटनाका अनुभूतिपक्ष है और भावनात्मक स्थितिकी कल्पना उसका आधार है। आचार्योंने कार्य-कारण का क्रम न स्वीकार करके रसनिष्पत्तिको एक पूर्ण मानसिक घटना माना है। यहाँ अलौकिक (काव्यात्मक) शब्दको मनोवैज्ञानिक अर्थमें लौकिक घटनाके प्रत्यक्षोंसे भिन्न काल्पनिक अर्थमें मानना आचार्यका अभिप्राय है। आस्वादको रसनिष्पत्तिमें स्वीकार करके आचार्यने काव्य-सौन्दर्यके उद्बोधमें इच्छाशक्तिका सचेष्ट होना स्वीकार किया है और संकल्प-विकल्पमे रहित मानकर काव्य द्वारा व्यंजित भावनात्मक स्थितिको कल्पनात्मक सौन्दर्यसे सम्बन्धित किया गया है। इस प्रकार अभिव्यक्तिवादने रसनिष्पत्तिके उन मनोवैज्ञानिक आधारोको उद्घाटित किया है, जो भोगवादतक स्पष्ट नहीं हो सके थे (रस-सिद्धान्त और आधुनिक मनोविज्ञान : हिन्दी अनुशीलन, वर्ष ३ : भा० २)।

आगेके आचार्योंमें अभिनवगुप्तका अभिव्यक्तिवाद स्वीकृत रहा। मम्मट (११ श० ई०)ने उनके मतको ही प्रतिष्ठा प्रदान की है। जगन्नाथ (१७-१८ श० ई०)ने अपने 'रस-गंगाधर'में भी इसीका आधार ग्रहण किया है। जगन्नाथने अभिनव द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तको वेदान्त-दर्शनका आधार प्रदान करनेका प्रयत्न किया है। उन्होंने सामाजिक-के अन्तःकरणमें संचित संस्काररूप वासनाको माना है, पर आत्माको इस स्थितिमे अज्ञानोपहित माना है। उनके अनुसार 'व्यक्त'का अर्थ है अज्ञानरूप आवरणका नष्ट हो जाना। अज्ञानरूप आवरणके नष्ट होनेका अभिप्राय वास्तव में चैतन्यका विषय होना अथवा उसके द्वारा प्रकाशित होना माना गया है। किसी आच्छादनसे ढँका हुआ दीपक उससे मुक्त हो जानेपर चारो ओरके पदार्थोंको प्रकाशित करता है और स्वतः भी प्रकाशित होता है, इसी प्रकार चैतन्यस्वरूप आत्मा विभावादिसे मिश्रित रति आदिको प्रकाशित करती है और स्वयं प्रकाशित होती है। संसारके पदार्थोंको अन्तःकरणसे युक्त आत्मा भासित करती है और अन्तःकरणके रत्यादि धर्म उसके द्वारा ही प्रकाशित होते है (हि० र० गं०, पृ० ५५-५८)। इस व्याख्याके सम्बन्धमें कठिनाई प्रस्तुत हुई कि अन्तःकरणमें वासनारूपसे स्थित रत्यादिका प्रकाशन कहाँतक सम्भव है? स्थायीका मान भी लिया जाय तो विभावादि तो अन्तःकरणसे बाह्य है, उनका प्रकाशन आत्मा द्वारा कैसे होगा? दूसरी बात यह भी है कि अन्तःकरणके धर्मके रूपमे इनका प्रकाशक रस नित्य होना चाहिए, जैसा वह नही है। जगन्नाथने स्वप्नमे देखे हुए अश्व तथा राँगेमे चाँदीकी प्रतीतिके उदाहरण द्वारा यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि विभावादिका साक्षिभास्य हो सकता है, अर्थात् वे आत्मचैतन्यके द्वारा प्रकाशित हो सकते हैं और रसकी नित्यताके सम्बन्धमे उनका मत है कि वस्तुतः रस विभावादिके सम्बन्धके कारण अनित्य माने जाते है। ये विभावादि नष्ट और प्रस्तुत होते है। इसके साथ ही अज्ञानरूप आवरण कभी नष्ट हो जाता है और कभी नहीं और इसीके अनुसार रस भी व्यक्त और विलीन होता है।

जगन्नाथकी व्याख्याका एक दूसरा रूप है, जिसमें रस-निष्पत्तिके लिए अलौकिक क्रियाका आश्रय नही लिया गया है। सहृदयकी चित्तवृत्ति विशेष योग्यताके कारण अपने सम्मुख प्रस्तुत विभावादिके द्वारा उद्दीप्त अपनी कल्पनामे स्थायी भावसे युक्त आत्मानन्दमें तल्लीन हो जाती है। वह किसी अन्य पदार्थका बोध उस समय नही कर पाती। वस्तुतः इस स्थितिमें आचार्यने आवरणहीन चिद्विशिष्ट स्थायी भावोकी स्थितिको ही रस स्वीकार किया है (हि० र० गं०, पृ० ६०-६१)। इस आनन्दको लौकिक सुखोंके समान नहीं माना जा सकता। अन्य सुख अन्तःकरणकी वृत्तियोंसे युक्त है, जब कि यह शुद्ध चैतन्यरूप है, इसीलिए आनन्दमय भी है। इस प्रकार जगन्नाथकी

पहली व्याख्याके अनुसार ज्ञानरूप आत्माके द्वारा प्रकाशित होनेवाले स्थायी भावको रस स्वीकार किया गया है और दूसरी व्याख्याके अनुसार स्थायी भावके विषयमे चित्तवृत्ति सम्बन्धी तल्लीनता (ज्ञान)को रस माना गया है। आनन्दप्रकाश दीक्षितका कहना है कि "चाहे भग्नावरण-चिद्विशिष्टको रस-चर्वण माना जाय अथवा अन्तःकरण-वृत्तिकी आनन्दमयताको—दोनो पक्षोमें किसीको भी माननेपर रसकी आनन्दमयता असन्दिग्ध ठहरती है" (काव्यमे रस, पृ० २४८)। आनन्दमय होकर भी रसास्वाद ब्रह्मानन्दसे भिन्न है। समाधिजन्य ब्रह्मानन्द विषयसे असम्पृक्त होनेपर प्राप्त होता है, जब कि रसास्वादमे विभावादि विषयोंका संयोग परमावश्यक है। जगन्नाथने रसास्वादको व्यंजनाके अर्थमे शाब्दी कहा है, अर्थात् यह काव्यके शब्दार्थपर निर्भर है। साथ ही इसका अनुभव आन्तरिक है, अतएव इसे अपरोक्षात्मिकता भी कहा गया है।

जगन्नाथके 'रसगंगाधर'मे नवीनोके नामपर एक मत दिया गया है, जो उनके द्वारा प्रस्तुत ग्यारह मतोमे है। इस सिद्धान्तमे दोषदृष्टिकी प्रधानता है। सर्वप्रथम व्यजनावृत्तिसे आलम्बनविषयक आश्रयकी रतिका ज्ञान सहृदयको होता है। इसके बाद सहृदयताके कारण पाठकके मनमें एक दोषभावना जागरित होती है, जिससे उसकी अन्तरात्मा कल्पित विभावादिसे आच्छादित हो जाती है और उसमे सीपके टुकड़ेमे चाँदीकी प्रतीतिके सदृश इस दोषके कारण अनिर्वचनीय सत्-रूप रत्यादि चित्तवृत्तियाँ उत्पन्न हो जाती है। इन्ही चित्तवृत्तियोंके आत्मचैतन्य द्वारा प्रकाशित होनेको रसास्वाद कहते है। यह रसनिष्पत्ति दोषका कार्य है और उसके साथ ही नष्ट हो जाती है। इनके अनुसार यह न सुखरूप है, न व्यंग्य है और न इसका वर्णन हो सकता है। फिर भी इसे सुखरूप कहा जाता है, क्योंकि प्रतीतिके अनन्तर उत्पन्न होनेवाले सुखसे इसका अन्तर नही किया जा सकता। इसी प्रकार इसे व्यंग्य और वर्णन करने योग्य भी मान लिया जाता है (हि० र० गं०, पृ० ६७-६८)। इन सिद्धान्तवादियोंने साधारणीकरणको दोषपर आधारित माना है, क्योकि जब रत्यादि स्थायी भाव विशेषसे सामान्य होकर हमारे-जैसे लगते है, तब वस्तुतः विभावादि हमको आच्छादित ही कर लेते है और वासनारूपमें स्थायियोकी स्थिति भी दोष-कल्पना ही है। अपनी प्रत्यक्ष सीमाओके कारण यह सिद्धान्त मान्यता नही प्राप्त कर सका। जगन्नाथने भ्रमवादी सिद्धान्तका भी उल्लेख किया है। इसके अनुसार आलम्बन (शकुन्तलादि)के सम्बन्धमे रत्यादि स्थायी भावयुक्त आश्रय (दुष्यन्तादि)के साथ अभेदका मनःकल्पित ज्ञान ही रस है (वही, पृ० २७)। पर इस प्रकार तो स्वप्नज्ञान भी रस कहा जायगा। कल्पित मनःस्थितियोके अनुभव किस आधारपर सम्भव हो सकते है? इसके अतिरिक्त भ्रम केवल ज्ञानरूप है, उसका आस्वाद किस प्रकार हो सकता है? (काव्यमें रस, पृ० २५९)।

हिन्दीके मध्यकालमें रसनिष्पत्तिके सम्बन्धमें कोई चर्चा नही हुई। आधुनिक हिन्दीके विचारकोमें रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दर दास, गुलाबराय, केशव मिश्र, रामदहिन मिश्र तथा नगेन्द्र आदिने रस सिद्धान्तकी विवेचना की है और उसको महत्त्व भी प्रदान किया है। प्रायः रसनिष्पत्ति सम्बन्धी उनके विचार अभिनवके सिद्धान्तको स्वीकार करते है, पर साधारणीकरण (दे०)की स्थितिके सम्बन्धमे मौलिक ढंगसे सोचनेका प्रयत्न किया गया है। रामचन्द्र शुक्लने अपनी साधारणीकरणकी व्याख्याके अनुसार रसास्वादकी विभिन्न कोटियाँ स्वीकार की—उत्तम, मध्यम तथा निकृष्ट, जो एक प्रकारसे प्राचीन आचार्योंके रसाभास, भावाभासके समान है। पर रामचन्द्र शुक्लका दृष्टिकोण लोक-कल्याणके आदर्शपर प्रतिष्ठित है और उनके रस सम्बन्धी आलम्बनके साधारणीकरण और इस प्रकार आश्रयसे तादात्म्यके सिद्धान्तके मूलमें यही आदर्श है। इसके विपरीत नगेन्द्रने कविकी मनःस्थितिसे तादात्म्य मानकर रसकी व्याख्या की है। रामचन्द्र शुक्लकी व्याख्याको आनन्दप्रकाश दीक्षितने स्वीकार किया है, क्योंकि उनके अनुसार कवि सहृदय सामाजिकको अन्ततः दृष्टिमे रखकर अपने काव्यकी रचना करता है (विशेषके लिए दे० 'साधारणीकरण')।

रामचन्द्र शुक्लकी व्याख्यामें रसको मूल भावनात्मक प्रक्रियाके समकक्ष समझनेका भ्रम अवश्य है, अन्यथा न तो उन्हें रसकोटियोंकी स्थापना करनी पड़ती और न लोककल्याणके विरुद्ध आश्रयके भावोंमे तादात्म्य स्थापित करनेकी कठिनाई ही सामने आती। एक प्रकारसे रामचन्द्र शुक्लने शंकुककी अनुमितिप्रतीतिको साधारणीकरणके सिद्धान्तके आधारपर स्थापित किया है। राकेश गुप्तने तो एक प्रकारसे रसास्वादनमे भ्रमात्मक अनुमानको स्वीकार किया है। वस्तुतः इन विचारकोने अपने विचारमें साधारण पाठक अथवा दर्शकोके मानसिक स्तरको सामने रखनेका प्रयत्न किया है। अपने-अपने विभिन्न मानसिक स्तरों, संस्कारो तथा अभ्यासके अनुसार काव्य अथवा नाटकके रसका, विभिन्न पाठक अथवा दर्शक कई स्तरोंपर रसास्वाद प्राप्त करते है। यह ठीक है। इन विभिन्न स्तरोंके कारण ही रामचन्द्र शुक्लने रसानुभूतिके कई स्तर स्वीकार किये है और राकेश गुप्तने रसनिष्पत्तिको अत्यन्त साधारण तथा असंस्कृत जनकी दृष्टिसे समझनेका प्रयत्न किया है। यह ठीक है कि अनेक लोग आश्रयसे अपना तादात्म्य (आरोप) कर लेते है और उसके सुख-दुःखको ग्रहण करते है, उसके क्रोध-आवेगमे प्रवाहित होते है। ऐसे लोगोकी भी कभी नहीं है (जैसे आजके सिनेमा-दर्शक), जो कथाके स्थानपर मात्र आश्रय और आलम्बन-विषयक भावनाओमे डूबते-उतराते रहते है। पर नाटक अथवा काव्यके वास्तविक रसास्वादनको इस रूपमे नहीं ग्रहण किया जा सकता। इस रसनिष्पत्तिमे दर्शक अथवा पाठकका कथावस्तुके अभिनय अथवा वर्णनके प्रति जो आकर्षण है, वह प्रदर्शन अथवा अभिव्यक्तिके सौन्दर्यका होता है, घटनात्मक कौतूहलजन्य नही। इसके साथ ही उसकी मनःस्थिति प्रदर्शित अथवा वर्णित पात्रों और घटनाओके प्रति असम्पृक्त (संविद्विश्रान्त) ही रहती है। इस प्रसंगमें अभिनवगुप्तकी व्याख्या सबसे अधिक वास्तविकताके निकट है और उनके साधारणीकरणका भाव विभावादिकसे अथवा उनके भावोके साथ तादात्म्यसे नहीं लिया जा सकता (दे०)।

रसनिष्पत्तिका मूलाधार सौन्दर्यानुभूति है; या यह

भी कहा जा सकता है कि सौन्दर्यकी अनुभूतिके आनन्दसे भिन्न रसास्वादका अर्थ कुछ नहीं है। स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, संचारी आदिका वर्णन, विवेचन तथा विस्तार मात्र इसलिए है कि रससिद्धान्त काव्यकी व्याख्या मनुष्यके मनोभावोंके आधारपर करनेका प्रयत्न करता है। रसानुभूतिके क्षणमें सब स्थायी समान है, विभाव समान है, अनुभाव और संचारी समान है। रसानुभूतिकी तीव्रता आदिमे काव्याभिव्यक्तिके कारण कमी हो सकती है, पर न तो दो रसोमे तात्त्विक भेद होता है और न रसके स्तर अथवा कोटियाँ ही सम्भव है (रघुवंश : प्रकृति और काव्य, भाग १ : ५)।

[सहायक ग्रन्थ—एस० के० दे० : हिस्ट्री ऑव पोएटिक्स; ए० शंकरन : द थ्योरी ऑव रस एण्ड ध्वनि; आनन्दप्रकाश दीक्षित : काव्यमें रस (अप्रकाशित प्रबन्ध)।] —र०

रसनोपमा–दे० 'उपमा', छठा प्रकार।

रसपरिवर्तनवक्रता–दे० 'प्रबन्धवक्रता', पहला नियामक।

रसराज–शृंगार रसको आचार्यों द्वारा 'रसराज'की उपाधि प्रदान की गयी है। भरत मुनिका कथन है कि संसारमे जो कुछ पवित्र, उज्ज्वल एवं दर्शनीय है, वह शृंगारके भीतर समाविष्ट हो सकता है। 'अग्निपुराण'मे कहा गया है कि रतिमूलक शृंगार ही एकमात्र रस है तथा अन्य सभी रस उससे ही प्रसूत हुए है—"तद्भेदाः काममितरे हास्याद्या अप्यनेकशः"। प्रकृतिवादी शृंगारको 'आद्य रस' मानते हैं। हिन्दीके आचार्योंने शृंगारकी रसराजताका तन्मयतापूर्वक व्याख्यान किया है। केशव नवरसोमे शृंगारको 'नायक' कहते हैं। मतिरामने उसे स्पष्ट 'रसराज' कहा है तथा अपनी प्रसिद्ध शृंगारी रचनाको 'रसराज'का नाम ही प्रदान किया है। सरदार कविने अपने ग्रन्थ 'साहित्य-सुधानिधि'-में शृंगारके रसराजत्वका तर्कपूर्ण प्रतिपादन किया है। वर्तमान कालमे रामचन्द्र शुक्लने रतिको एकमात्र शुद्ध स्थायी मानते हुए शृंगारकी प्रधानता स्वीकार की है (र० मी०, पृ० १७३)।

निम्नलिखित कारणोसे शृंगार रसराज माना गया है—

१. शृंगारभावकी व्यापकता—शृंगारका मूल भाव रति अथवा काम, समस्त विश्वमें व्याप्त है। क्या नर-नारी, क्या पशु-पक्षी, क्या लता-पादप, सृष्टिके सकल जंगम-स्थावर इस भावकी अनुभूतिसे अनुप्राणित है, क्योकि प्रजनन तथा स्व-वंश-रक्षणकी निसर्गज प्रवृत्तिको इस भावसे अनुमोदन एवं परिपोषण प्राप्त होता है। 'बृहदारण्यक'में तो पुरुष-(भगवान्)को ही काममय कहा गया है। आचार्योंने कामभावकी हृद्यता तथा सकलजातिसुलभताका उल्लेख किया है। रुद्रटने कहा है कि शृंगार रस (आस्वाद्यमान कामभाव) आबालवृद्ध सभीमें व्याप्त है, अतः इसकी रचना सम्यक रूपसे करनी चाहिए। **२. उत्कट आस्वाद्यता**—अन्य रसोंकी तुलनामें शृंगार रस अधिक चर्वणीय है। इसका स्थायी रति मानव-हृदयस्थ 'अहंकार' अथवा 'अस्मिता'से उत्पन्न बताया गया है। अतएव, मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे रतिका चित्रण अन्य भावोंकी अपेक्षा अधिक आस्वादित हो सकता है। **३. अन्य रसोंको समाहृत करनेकी योग्यता**—बीभत्स, करुण, रौद्र, भयानक तथा शान्त रसोंसे शृंगारका विरोध बताया गया है। लेकिन आचार्योंने विरोध-परिहारकी व्यवस्था की है। हिन्दीके आचार्य देवका यह कथन है कि 'शृंगार रस'की छत्रच्छायामे सभी रस एकत्र दिखलाई पड सकते है। देवके निम्नलिखित दोहे द्रष्टव्य है—"निर्मल स्याम सिंगार हरि, देव अकास अनन्त। उड़ि उडि खग ज्यों और रस, बिबस न पावत अन्त। भाव सहित सिंगारमें, नवरस झलक अजस्र। ज्यो कंकनमनि कनकको, ताहीमें नवरत्न। भूलि कहत नवरस सुकवि, सकल मूल सिंगार। जो सम्पति दम्पतिनुकी, जाको जग बिस्तार" (भ० वि०)। **४. सभी संचारियों एवं सात्त्विकोंको आत्मसात् करनेकी सामर्थ्य**—आचार्योंके अनुसार त्रास, आलस्य, उग्रता, जुगुप्सा एवं मरण, शृंगारमे निषिद्ध है। लेकिन, शृंगारी रचनाओंमे इन त्याज्य व्यभिचारियोंका सुन्दर एवं सफल प्रयोग मिलता है। वियोगकी कामदशाओंमें मरण या मृति गृहीत ही है। शृंगारमे होनेवाले स्तम्भ, रोमांच, स्वरभंग, कम्प तथा निर्बलताका हेतु भय अथवा त्रास भी होता है। उसी प्रकार जृम्भा आलस्य-जनित ही है। बिब्बोक हाव शृंगारमे गृहीत है और इसमे उग्रता एवं जुगुप्सा, दोनो पाये जाते है। प्रौढ़ा अधीरा एवं मानिनी नायिकाओंमे ये दोनों संचारी अनेक अवसरोंपर उग्र रूप धारण करते दीखते है। इस तरह सभी संचारी शृंगारमे प्रविष्ट होते है, जब कि अन्य रसोके संचारियोंकी संख्या परिमित है। सात्त्विक भावोंका पूर्ण सामञ्जस्य तथा 'हाव' नामक कुछ अन्य दशाएँ भी शृंगारमे ही घटती है। इन्ही विशेषताओंके कारण भोजराजने 'शृंगारप्रकाश'-में कहा है कि रति आदि उनचास भाव शृंगारको घेरकर उसे वैसे ही समृद्ध करते है, जैसे किरणें सूर्यको घेरकर उसकी दीप्तिको उद्दीपित करती है। **५. विभावोंकी विशेषता**—शृंगारके आलम्बन नायक-नायिका है, जिनके साथ पाठक या श्रोता पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर सकते है। अन्य रसोंके आलम्बनोंमे यह विशेषता नही होती। शृंगारके उद्दीपन विभाव भी अन्य रसोकी तुलनामें अधिक व्यापक, रमणीय एवं हृदयावर्जक है। जैसा सरदार कविका कथन है, अन्य रसोके उद्दीपन अधिकतर मानुषी है, जब कि शृंगारके उद्दीपन मानुषी एवं दैवी (प्राकृतिक, यथा ऋतु-रमणीयता इत्यादि), दोनो है। शृंगारके उद्दीपन सर्वत्र तथा बारहों मास सुलभ है, जब कि अन्य रसोंमें ऐसी बात नही है। संयोग एवं विप्रलम्भके समान भेद भी अन्य रसोंमे नहीं होते। अतएव, मानव-हृदयकी जितनी अधिक वृत्तियोंके चित्रणका अवसर इस रसमे उपलब्ध है, वह अन्यत्र सम्भव नही है। भोजराजने ठीक ही कहा है—"शृंगारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्। स एव चेदशृंगारी नीरसं सर्वमेव तत्"(स० क०, ५ : ३)। —र० ति०

रसवत् आदि–रसवत् आदि वर्गके प्राचीनो द्वारा स्वीकृत अलंकार। भामह, दण्डी तथा उद्भटने अलंकारोंके अन्तर्गत इस रूपमे रस, भाव आदिको स्वीकार किया है। बादके आचार्योंने इनको अलकार नहीं माना है और अपरांग-व्यंग्यके अन्तर्गत इनकी स्थिति स्वीकार की है। परन्तु रुय्यक, विश्वनाथ तथा अप्पय दीक्षितने इनका विवेचन

अवश्य कर दिया है। हिन्दी अलंकारशास्त्रके अन्तर्गत इनकी व्यापक रूपसे उपेक्षा की गयी है। किसी प्रधान आचार्यने इनको अलंकारोंमें नहीं गिनाया है, केवल पद्माकरने इनका विवेचन एक अलग अलंकार-प्रकरणमें किया है। आधुनिक विवेचकोंने भी इनको अलंकार न मानकर अपरांगव्यंग्य(गुणीभूत व्यंग्य)का विषय माना है (कन्हैयालाल पोद्दार : अ० म०, पृ० ४२४)।

विश्वनाथके अनुसार इनका लक्षण है—"जब रस, भाव, रसाभास-भावाभास, भावप्रशम प्रधान न रहकर गुणीभूत (अप्रधान) बन जाते हैं तो क्रमशः रसवत्, प्रेय (प्रेयस्), ऊर्जस्वी तथा समाहित अलंकार माने जाते हैं (सा० द०, १० : ९५-९६)। **रसवत्**—जब एक रस किसी दूसरे रसका अथवा भाव, रसाभास भावाभास आदिका अंग हो जाता है, तब उसे रसवत् अलंकार कहते हैं। पर पद्माकरके अनुसार—"सो रस जहँ अंग औरको, है रसवत तिहि ठाम" (पद्मा०, २८८)। उदा०—"जिहि राखी ब्रजमण्डली, जु गिरि सुकरपर छाइ। तजि गुमान तासो भटू, मिलै हिये हरपाइ" (पद्मा०, २८९), यहाँ दयावीर रस प्रधान न रहकर शृंगारका अंग हो गया है। **प्रेयस्**—जहाँ एक भाव किसी अन्य भावका अंग हो जाता हो वहाँ प्रेयस् अलंकार होता है। पद्माकरके अनुसार—"भाव-अंग रस भावको, जहँ तहँ प्रेयस ठान" (पद्मा०, २९०)। उदा०—"प्रभु-पद-सौंह करे कहत, बाहि तुच्छ इक तीर। लखत इन्द्रजिनकों हुनहु, तौ तुम लछमन बीर" (पद्मा०, २९१)। यहाँ गर्व व्यभिचारी भाव क्रोध स्थायी भावका अंग हो गया है। **ऊर्जस्वी**—रसाभास तथा भावाभासका प्रधान न रहकर अन्य भाव आदिका अंग हो जाना ऊर्जस्वी अलंकार माना जाता है। पद्माकरने रसाभास तथा भावाभासके आधारपर परिभाषा दी है—"दुहूँ जहाँ अंग औरके, सु ऊर्जस्वि पहिचान" (पद्मा०, २९५)। उदा०—"लखि बन फिरत सुछंद, नृप तुव रिपु-रमनीन सौं। करतु विलासु पुलिन्द, तजि निजप्रिय बनितानकौं" (र० मं०, ३३६)। यहाँ भीलों तथा रिपु-रमणियोंमें उभयनिष्ठ रति न होनेसे रसाभास है और यह कविकी राज-विषयक रतिभावका अंग है। अतः भावका रसाभास अंग होनेसे ऊर्जस्वी अलंकार है। भावाभासका उदा०—"ताहि अनूप बखानहीं, सकल कविनके गोत। मुख सरोज जा को निरखि, सौति-नयन अलि होत" (पद्मा०, २९७)। यहाँ स्वपत्नीनिष्ठ भावाभास शृंगार रसका अग होनेसे अलंकार है। **समाहित**—जब भाव-शान्ति प्रधान न रहकर किसी अन्य भाव आदिका अंग बन जाता है, तब उसे समाहित अलंकार कहते हैं। पद्माकरके अनुसार—"सो अँग है जहँ औरको, वहै समाहित जान" (पद्मा०, २९८)। यहाँ सो-का अर्थ भावशान्ति है। उदा०—"आयो प्रात लिवाइबे, निरखि उठी हरपाइ। सुनि धुनि चातककी तबहिं चली भाजि अकुलाइ" (वही, २९९)। यहाँ हर्षरूप भावशान्ति त्रासभावका अंग हो गया है, अतः समाहित अलंकार है। —र०

रस-विघ्न—अभिनवगुप्त(१०-११ श० ई०)ने सर्वप्रथम अपनी रसनिष्पत्ति(दे०)की व्याख्यामें कहा है कि रसात्मक अनुभूति वीतविघ्न भी होनी चाहिये ("सर्वथा रसनात्मकवीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रसः"—अ० भा०, पृ० २८१)। रसास्वादकी योग्यता यदि सामाजिकमें अपेक्षित है तो कविके लिए भी आवश्यक है कि वह उसमें पूर्ण सहायक हो। जिस प्रकार भावककी सहृदयताकी कमी रसास्वादकी बाधक है, उसी प्रकार कविकी कमियाँ भी। इन्हींको रस-विघ्न माना गया है। इनकी संख्या सात मानी गयी है—**१. प्रतिपत्तिमें अयोग्यता** या **सम्भावना-विरहता**—कवि कल्पनाके आधारपर अपनी कथावस्तुका निर्माण करता है, उसकी सम्पूर्ण सम्भावना तथा अभिव्यक्ति कल्पनापर आश्रित होती है, परन्तु इसका भाव यह नहीं है कि वह जीवनके यथार्थपर आधारित न हो। यदि कथावस्तु अथवा वर्णित विषय-वस्तुके सम्बन्धमें पाठकके मनमें यथार्थ जीवनका विश्वास न जम पाया तो वर्ण्य या अभिनयमें उसका चित्त नहीं लग सकेगा। इसका यह अर्थ नहीं है कि काव्यमें पाठकके अपने जीवनके स्तरसे भिन्न वर्ण्य विषय न हो। वस्तुतः जीवनके यथार्थमें वह सब आता है, जिसका अनुभव हम किसी रूपमें कर सकते हैं। कविका यथार्थ तथ्यात्मक न होकर सत्यपर आधारित होता है। **२-३. स्वगतत्व-परगतत्व-नियमेन देशकाल-विशेषावेश**—अर्थात् अपने और परायेके नियमसे देश और कालका आवेश होना। काव्यमें वर्णित अथवा नाटकमें प्रदर्शित भावोंको यदि सामाजिक स्वयं अपने मान लेंगे तो उससे वे उदासीन हो जायँगे। ये मेरे हैं, अथवा ये दूसरेके हैं, इस प्रकारकी देश तथा काल सम्बन्धी भावना काव्यके रसास्वादमें बाधक होगी। जबतक पाठक अपने-परायेके स्वार्थ-सम्बन्धोंसे मुक्त होकर काव्यमें रुचि न लेगा, वह लौकिक दुःखादिसे नहीं छूट सकता। अतएव रसास्वादके लिए व्यक्तिविशेष तथा देश-काल-सापेक्ष अनुभूतियाँ बाधा मानी गयी हैं। साधारणीकरण(दे०)व्यापारसे ही यह निरपेक्षता सम्भव होती है। **४. निजसुखदुःखादि-विवशीभाव**—अर्थात् अपनी व्यक्तिगत भावनाओंसे विवश हो जाना। उपर्युक्त स्थितिमें वर्ण्य विषयके प्रति पाठकके व्यक्तिगत सम्बन्धोंकी बात है और यहाँ उसके अपने व्यक्तिगत जीवनकी भावनाओंका प्रश्न है। यदि पाठककी मनःस्थिति अपने व्यक्तिगत सुख-दुःखकी अनुभूतिसे आक्रान्त है तो यह उसके रसास्वादके लिए बाधास्वरूप है। यह अवश्य है कि कविकी अभिव्यक्तिका सौन्दर्य पाठकके मनको आकर्षित करता है, उसको संविद्विश्रान्तिकी स्थितिमें पहुँचानेका प्रयत्न करता है, पर पाठक अथवा दर्शककी अपनी मनःस्थितिपर भी बहुत-कुछ निर्भर है। **५. प्रतीत्युपायवैकल्यस्फुटत्वाभाव**—अर्थात् प्रतीतिके उपायोंकी विकलता और उसका स्पष्ट न होना भी रसास्वादमें बाधा है। जिन काव्यात्मक अथवा नाटकीय उपकरणोंसे रसप्रतीति सम्भव होती है, यदि वे पूर्ण नहीं हैं अथवा स्पष्टतः प्रयुक्त नहीं हैं तो रसास्वादमें बाधा पड़ना अनिवार्य है। यहाँ अभिनवका भाव है कि काव्यात्मक अभिव्यक्ति अथवा नाटकीय प्रदर्शन पूर्ण कलात्मक होना चाहिये, उसके बिना रसनिष्पत्ति सम्भव नहीं हो सकती। भावोंके अभिव्यक्तीकरणमें विभावादिक अधिक

प्रत्यक्ष तथा मूर्त रूपमे उपस्थित होने चाहियें। इसकी असफलता रसकी बाधा है। **६. अप्रधानता**—अर्थात् किसी अप्रधान तत्त्वको रस-व्यंजनामें महत्त्व देनेसे रसास्वादमें बाधा ही उपस्थित होती है। नाटकीय कथाविधानमे यदि नाटककार अप्रधान चरित्रो अथवा घटनास्थितियोंको महत्त्व देता है तो दर्शकके रसास्वादमे विघ्न उपस्थित होगा। इसी प्रकार प्रधान स्थायी भावके स्थानपर यदि कवि विभाव, अनुभाव तथा संचारी आदिके चित्रणको अधिक महत्त्व देता है तो रसका पूर्ण संयोजन नही उपस्थित हो सकेगा। वस्तुतः कथात्मक अथवा भावात्मक सन्तुलनका अभाव काव्यके प्रभावको क्षीण ही कर देगा। **७. संशययोग**—अर्थात् अभिव्यक्तिके सम्बन्धमे पाठक अथवा दर्शकके मनमे किसी प्रकारका संशय अथवा सन्देह होना भी रसास्वादके लिए उचित नही है। यहाँ संशयसे कथात्मक कौतूहलका भ्रम नहीं करना चाहिये, क्योंकि कौतूहल सौन्दर्यानुभूतिकी वृद्धिमे सहायक सिद्ध होता है और संशय बाधास्वरूप माना गया है। एक स्थायी भावके विभाव, अनुभाव तथा संचारी आदि दूसरेके भी हो सकते है और यदि प्रदर्शित अथवा वर्णित विभावादिकसे यह संशय उत्पन्न हो कि शोककी अभिव्यक्ति है अथवा रतिकी तो निश्चय इस रूपमे रसनिष्पत्तिमे, अर्थात् पाठक या दर्शकके रसास्वादमे बाधा उपस्थित होगी। वस्तुतः इस संशयकी स्थितिमे साधारणीकरण सम्भव नही हो सकता।

अभिनव द्वारा प्रतिपादित इन विघ्नोंपर विचार करनेमे स्पष्ट हो जाता है कि यदि काव्यात्मक रसानुभूतिमे किसी प्रकारकी अपूर्णता है तो उसका कारण यह नही है कि सौन्दर्यानुभूतियाँ भिन्न-भिन्न प्रकारकी होती है या रसनिष्पत्तिकी कई कोटियाँ है (दे० 'रसनिष्पत्ति')। वस्तुतः रसनिष्पत्तिके सम्बन्धमे जो अनेक स्थितियोंकी कल्पना की जाती रही है अथवा की जाती है, उसका मुख्य कारण है कि हम एक ओर असफल तथा दोषपूर्ण काव्य-कृतियोंपर सफल कृतियोके स्तरपर ही विचार करते है तथा पाठक या दर्शककी सभी कोटियोंको रसास्वादनके एक ही स्तरपर रखना चाहते है। वस्तुतः अभिनवके अनुसार शुद्ध काव्यके (कलाको भी सम्मिलित किया जा सकता है) रसास्वादनको उपर्युक्त सीमाओपर ध्यान रखकर ही समझा जा सकता है। —र०

रसव्यंजना—दे० 'रसनिष्पत्ति' तथा 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य'।

रसशास्त्र—वह शास्त्र, जिसमे साहित्यमे प्रयुक्त रसका सांगोपांग शास्त्रीय विवेचन किया गया हो। इस शास्त्रमे अनेक प्रश्नोंका सुविवेचित वर्णन रहता है, जैसे रस क्या है, रसका क्या स्वरूप है, रसका काव्यमें क्या महत्त्व है? साहित्यके उत्तम स्वरूपगठनके लिए अलंकार, रीति, गुण, वक्रोक्ति, औचित्य, ध्वनि आदि मार्गोंसे रसका क्या सम्बन्ध है और उसका इनके साथ कैसा प्रयोग होना चाहिये, इनमेसे किसी एकको काव्यमें विशेष महत्त्व दिया जाय अथवा रसको ही उसमें प्रधान माना जा सकता है? रसके अंग कौनसे है तथा उनका स्वरूप क्या है, रसकी निष्पत्ति कैसे होती है? रसका सम्बन्ध कवि, नट, मूल पात्र अथवा पाठकमेंसे किससे है, रसका मनोविज्ञानसे क्या सम्बन्ध है? रसके अन्तर्गत आनेवाले विभिन्न विभाव, अनुभाव आदिके भेद कौनसे है और उनकी संख्या कितनी है? परस्पर इन सब व्यभिचारी तथा स्थायी भाव आदिका क्या सम्बन्ध है? रसका विभिन्न दार्शनिक मतोंसे क्या सम्बन्ध है, साधारणीकरणका क्या स्वरूप है, रसास्वादका अधिकारी कौन है, रसास्वादमें किसी प्रकारका विघ्न तो नहीं होता, होता है तो क्यों और कितने प्रकारका तथा उसे कैसे दूर किया जा सकता है? रसको अलौकिक क्यो कहा जाता है, रस केवल आनन्दात्मक ही होता है या करुण आदि रसोमे दुःखका भी अनुभव होता है, नही होता तो क्यो नही होता, रस एक ही है अथवा उसके भेद किये जा सकते है, भेदोंकी संख्या किस आधारपर निश्चित की जाय और उसे घटाया या बढाया जा सकता है कि नही? प्रत्येक रसके कितने भेदोपभेद हो सकते है और उसके उदाहरण क्या है? रसराज कौन है, रसोंका अन्तर्भाव एक-दूसरेमें हो सकता है कि नही, परस्पर कौनसे रस मित्र और कौनसे रस विरोधी है, एक साथ किनका प्रयोग हो सकता है और किनका नही? रसाभास क्या है और उसके कितने भेद है, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावशबलता तथा रसालंकार स्वरूप क्या है? रसके साथ किस शब्द-शक्तिका सम्बन्ध है, उसे संलक्ष्यक्रमव्यंग्य कहा जाय या असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य या अभिधेय? काव्यके अनेक स्वरूपोंकी आलोचना करनेके लिए रस-सिद्धान्त कहाँतक उपयोगी हो सकता है, आदि। —आ० प्र० दी०

रससंप्रदाय—रसवाद। रसके सम्बन्धमे विचार करते हुए उसका महत्त्व प्रतिपादित करनेवाले लेखकोंका समूह या रस-विवेककी वैचारिक पद्धति।

लिखित रूपमें रसका सर्वप्रथम वर्णन भरत मुनि (३ श० ई०)के 'नाट्यशास्त्र'के छठे तथा सातवें अध्यायोंमे पाया जाता है। सम्पूर्ण नाट्यशास्त्रमें विभिन्न स्थलोंपर रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति, गुण, अलंकार तथा नाट्यधर्मी आदिके प्रसंगमें रसका महत्त्व स्थापित किया गया है। भरत तथा अन्य लेखकोंके उल्लेखोसे उनके पूर्ववर्ती सदाशिव, ब्रह्म, तण्डु, नन्दिकेश्वर, वासुकि, नारद, भरतवृद्ध, आदिभरत, शौद्धोदनि आदि कई आचार्योंका पता चलता है, किन्तु उनके किसी ग्रन्थके अभावमे उनके विचारोंका पता नही चलता। राजशेखर (ई० ९२५)ने नन्दिकेश्वरको तथा केशव मिश्र (१६वी शती)ने शौद्धोदनिको रसका पुरस्कर्ता माना है। भरतने ब्रह्माको महत्त्व दिया है। ब्रह्माने ही आठ नाट्यरसोको प्रस्तुत किया। ऋग्वेदसे पाठ, सामवेदसे गीत, यजुर्वेदसे अभिनय तथा अथर्ववेदसे रस लेकर पाँचवें वेद नाट्यशास्त्रकी रचना की गयी। चौथे अध्यायमें बताया गया है कि ब्रह्मा भरत और उनकी शिष्यमण्डलीके साथ कैलास पर्वतपर शिवके पास गये थे, जहाँ उनके द्वारा प्रस्तुत त्रिपुरदाहके अभिनयपर प्रसन्न होकर शिवने उन्हे नाटकके पूर्वरंगोंके साथ ताण्डवके करणों और अंगहारोंके प्रयोगकी सम्मति दी और तण्डुको शिक्षाके लिए नियुक्त कर दिया। शारदातनय (१२वी शती)का कथन है कि विष्णुके कहनेपर नन्दिकेश्वरने ब्रह्माको नाट्यवेदकी शिक्षा दी और ब्रह्माने भरतको शिक्षा दी। शारदातनयने वासुकि,

नारद, व्यास तथा वाल्मीकिकी एक परम्परा और बतायी है, जिसमें शान्त रस भी स्वीकार किया था। किन्तु किसी रचनाके अभावमें भरत ही प्रथम पुरस्कर्ता स्वीकार किये जाते हैं।

रसको अलंकारवादी, रीतिवादी, ध्वनिवादी, नाट्यशास्त्र-कर्ता तथा ध्वनिविरोधी सभीने महत्त्व दिया है। भामह-(५वीं-६ठी शती)ने रसको अलंकारके ही अन्तर्गत रखा और रस सम्बन्धी रसवत्, प्रेयस् तथा ऊर्जस्वी नामक तीन अलंकारोंका वर्णन किया। ये अलंकार क्रमशः रस, भाव तथा उनके आभासकी अवस्थाएँ हैं, तथापि उनका यह कथन कि रसके प्रयोग द्वारा काव्य सुस्वादु हो जाता है, उसकी शास्त्रीयताकी कटुता नष्ट हो जाती है और उसके परिणामस्वरूप पाठक उसे भेषजके समान ग्रहण कर लेते हैं, इस बातका द्योतक है कि वे रसके आस्वादनीय रूपसे तो परिचित ही थे। दण्डी (६-७ श० ई०)ने 'काव्यादर्श'-मे गुणोंका रससे सम्बन्ध स्वीकार किया। उन्होंने 'काव्य-शोभाकर धर्म'को अलंकार कहकर रसादि सभीको अलकार तो माना, किन्तु रसयुक्त मधुर वचनोंको पुष्परसके समान मादक बताया है और सानुप्रास पद-रचनाको रसावह माना। उन्होंने काव्यमे 'रसभावनिरन्तरता'को आवश्यक माना है। रीति-सिद्धान्तके प्रतिपादक वामन (८ श० ई०) रूपको ही काव्यमें सर्वश्रेष्ठ मानकर नाट्यसे रसका सम्बन्ध मानते हैं, उन्होंने गुणोंको काव्यशोभाकर धर्म, अलकारों-को शोभावर्धक तथा रसको गुणोंकी कान्ति कहा है। रस ही गुणोंके मूलमें है। उद्भट (८ श० ई०)ने पहली बार रसालंकारोमे 'समाहित'को स्वीकार किया तथा नाट्यमे शान्त रसकी प्रतिष्ठा की। उद्भटके पश्चात् रुद्रट तथा रुद्रभट्ट-का नाम लिया जाता है। उन्हें कुछ विद्वान् पृथक् दो व्यक्ति मानते है और रुद्रटको ९वीं शताब्दीमे तथा रुद्रभट्टको ९००-से ११०० ई०के बीच हुआ बताते है और कुछ विद्वान् दोनोंको एक ही मानते है। रुद्रटने 'काव्यालंकार'की रचना की और रुद्रभट्टने 'श्रृंगारतिलक'की। काव्यालंकारमे रसको नाटकतक ही सीमित रखनेका विरोध किया गया और रसहीन समस्त काव्यको शास्त्रकी श्रेणीमे रखनेका आग्रह किया गया। इसमे शान्त तथा प्रेयान् नामक रसोंको भी स्वीकार किया गया तथा पूर्ण उत्कृष्टताको पहुँचे हुए व्यभिचारी भावोंका भी श्रृंगारादि रसोंके समान प्रभावशाली अनुभव स्वीकार किया गया। इसी प्रकार 'श्रृंगारतिलक'मे भी श्रृगार रसको प्रधान माना गया है, शान्तको स्वीकार किया गया है। तथा रसको नाट्येतर काव्यमे भी स्वीकार कर लिया गया है।

आनन्दवर्धन (८४०-८७० ई०के बीच)ने ध्वनि-सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हुए वस्तु तथा अलंकारके साथ रसको भी ध्वनिके अन्तर्गत स्वीकार करके इन दोनोंसे अधिक रसध्वनिको महत्त्व दिया और रसध्वनिवाले काव्यको सर्वश्रेष्ठ घोषित किया। ध्वनिको काव्यात्मा मानकर भी उन्होंने रसको प्रेरक और साररूप माना तथा वाल्मीकि-रामायणको रसका आदिकाव्य स्वीकार किया। श्रव्य काव्यके साथ-साथ नाट्यमें भी उन्होंने शान्त रसको प्रयोज्य माना है और रसको असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य कहा है। आनन्दवर्धनके अनन्तर 'अग्निपुराण'में रसका अत्यन्त संक्षिप्त उल्लेखमात्र मिलता है। विशेषता यह है कि इसने श्रृंगारको सर्वाधिक महत्त्व मिला है। छठी शताब्दीमें भी 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण'-में रसकी भरतके आधारपर संक्षिप्त चर्चा हुई थी, जिसमें कोई नवीनता नहीं जान पड़ी। पुराणोंके नाममात्रके उल्लेखोंके समान ही ९वीं शताब्दीके लेखक राजशेखरको केवल इस बातका महत्त्व दिया जा सकता है कि उन्होंने 'काव्यमीमांसा'मे रस-चर्चाको न रखते हुए भी काव्य-पुरुषोत्पत्तिके प्रसंगमे रसको काव्यात्माके रूपमें मान लिया है। इन सब लेखकोंसे विस्तार और गम्भीरताकी दृष्टिसे आनन्दवर्धनका सबसे अधिक महत्त्व है। अलंकारोंको 'कटककुण्डलवत्' कहकर रसको अत्यधिक महत्त्व देनेका इन्होंने अभूतपूर्व प्रयत्न किया। किन्तु ध्वनिके विरोधमें प्रतिहारेन्दुराज, भट्टनायक, धनंजय, धनिक तथा महिम भट्टने अनेक तर्क उपस्थित किये, जिनका आगे चलकर अभिनवगुप्तने प्रतिवाद किया। इन ध्वनिविरोधियोंने भी रसके महत्त्वको स्वीकार किया है। प्रतिहारेन्दुराज (१०वीं शती) स्वयं रसको काव्यात्मा मानने तथा रसको अलंकारोंसे पृथक् रखनेके पक्षमे थे। भट्टनायक (१००० ई०)ने तो रसनिष्पत्ति-सूत्रकी सांख्यवादी व्याख्या भी की और ध्वनि-के स्थानपर रससंचारको ही पाठककी दृष्टिसे काव्यमे प्रधान माना। इस प्रकार इन्होंने रसको काव्यात्मा सिद्ध किया। धनंजय (९९४ ई०)ने 'दशरूपक'मे तथा धनिकने उसकी 'अवलोकटीका'मे भट्टनायकका अनुसरण किया, रसका सम्बन्ध तात्पर्य-शक्तिसे सिद्ध किया और ध्वनिको व्यर्थ बताया। उन्होंने काव्य तथा रसका सम्बन्ध व्यंग्य-व्यंजक न मानकर भाव्य-भावकभावका माना और भट्टनायकके मत 'भुक्तिवाद'की प्रतिष्ठा की। १०२० ई०के आस-पास महिम भट्टने न्याय-सिद्धान्तके आधारपर रसकी अनुमितिका सिद्धान्त प्रतिपादित किया और ध्वनिके स्थानपर काव्यानु-मितिकी प्रतिष्ठा की। इतना विरोध होते हुए भी ध्वनिका सिद्धान्त जीवित रहा और रसकी प्रतिष्ठा हर प्रकारसे अक्षुण्ण बनी रही। ८वीं शतीसे ११वीं शतीके बीच रसको सर्वप्रधान सिद्धान्तके रूपमें मानकर भरतके रससूत्रकी व्याख्याके चार प्रमुख प्रयत्न हुए, जिनके कारण रसको और भी अधिक विशदता और विस्तारसे समझनेकी प्रेरणा मिली। रस-सम्प्रदायके इतिहासमें इन चार व्याख्याओंका सर्वाधिक महत्त्व है। ये व्याख्याएँ भट्ट लोल्लट (८वीं शती), शंकुक (९वी शती), भट्ट नायक (११वीं शती) तथा अभिनव-गुप्त (११वी शती)के द्वारा क्रमशः मीमांसा, न्याय, सांख्य तथा शैव सिद्धान्तके आधारपर की गयी और जो उत्पत्ति या आरोपवाद, अनुमितिवाद, भुक्तिवाद तथा अभिव्यक्तिवादके नामसे विख्यात है (दे० 'रसनिष्पत्ति')।

कालान्तरमें १०वीं शतीमें वक्रोक्तिवादके प्रतिपादक कुन्तक, ११वीं शतीमें औचित्य-सिद्धान्तके पुरस्कर्ता क्षेमेन्द्र, 'काव्यप्रकाश'के लेखक मम्मट, १२वीं शतीमें 'भावप्रकाश'-के लेखक शारदातनय, 'काव्यानुशासन'के लेखक हेमचन्द्र, १३वीं शतीमें 'संगीतरत्नाकर'के लेखक शार्ङ्गदेव, १४वीं शतीमें 'रसार्णवसुधाकर'के रचयिता शिंगभूपाल तथा १६वीं शतीमें 'रसप्रदीपकार' प्रभाकर आदि अनेक लेखकोंने रस-

सिद्धान्तका निरूपण और पोषण किया। किन्तु ११वीं शती-में भोजराज, १२वीं शतीमें रामचन्द्र गुणचन्द्र, १४वीं शती-में भानुदत्त, विश्वनाथ कविराज, १६वीं शतीमें रूपगोस्वामी तथा १७वीं शतीमें पण्डितराज जगन्नाथका नाम ही महत्त्व-पूर्ण दिखाई देता है। भोजराजने रसको सर्वोपरि मानकर 'शृंगारप्रकाश' ग्रन्थमें उसका गम्भीर एवं व्यापक विवेचन करते हुए रस एक ही है, यह सिद्ध किया। काव्यको रसवत् कहनेका उनका अभिप्राय उसे रसयुक्त बताना था, अलंकार बताना नहीं। । उन्होंने रसकी उत्पत्ति अहंकारसे बतायी है। अहंकार, शृंगार तथा रस तीनोंमें इनके विचारमें कोई अन्तर नहीं है। अहंकार रसकी प्रथमावस्था है, जिसमें विभिन्न भाव उत्पन्न होते हैं। दूसरी अवस्थामें स्थायी, संचारी तथा सात्त्विकोंकी गणना है। यह सभी रस-दशातक पहुँच सकते हैं। तीसरी अवस्थामें अहंकार प्रेमका रूप धारण कर लेता है। रामचन्द्र गुणचन्द्रने 'नाट्यदर्पण'-में नाट्यके प्रसंगमें रसको दो प्रकारका बताया है। वह करुण, भयानक, बीभत्स और रौद्रको दुःखकारक मानते हैं और शेषको सुखकारक। इसी नवीनताके लिए उनकी प्रसिद्धि है। भानुदत्तने 'रसतरंगिणी'में मुख्यतः शृंगार-रसका वर्णन करते हुए रसके लौकिक, अलौकिक तथा मानो-रथिक आदि भेद बताये हैं और छल तथा जृम्भा जैसे नवीन भावोंकी कल्पना की है। उन्होंने वात्सल्य, -लौल्य, भक्ति तथा कार्पण्य रसको अन्य प्रतिष्ठित रसोंमें अन्तर्भुक्त कर लिया है। उनके पश्चात् विश्वनाथ कविराज ही पहले व्यक्ति हैं, जिन्होंने रसादिका विचार करते हुए रसको काव्यात्मा घोषित किया और अद्‌भुतमें ही अन्य रसोंके अन्तर्भावकी चर्चा की। चैतन्य सम्प्रदायके अनुगामी रूपगोस्वामीने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' तथा 'उज्ज्वलनीलमणि'में भक्ति रसकी प्रतिष्ठा की और 'भक्तिरसामृतसिन्धु'में उसके मुख्य तथा गौण भेदोंके अन्तर्गत सभी रसोंको ले आनेका प्रयत्न किया। भक्तिका स्थायी 'कृष्णरति' बताया गया है। अतः भक्ति रस कृष्णका शृंगार-वर्णन-सा ही है। पण्डितराजने काव्यशास्त्र-का विवेचन करते हुए रसध्वनिके अन्तर्गत काव्यात्मा रस-को अत्यन्त प्रतिष्ठा प्रदान की और वेदान्त-सिद्धान्तके अनुकूल यह बताया कि रस निज-स्वरूपानन्द है, जो चित्तके भग्नावरण होनेपर प्रकट होता है; भग्नावरणकी सिद्धि विभावादि द्वारा होती है। इनके पश्चात् संस्कृत काव्य-शास्त्रोंमें नवीन विचारके लिए कोई मार्ग नहीं दीखता। मम्मटके साथ ही काव्यशास्त्रका सैद्धान्तिक निरूपण एक प्रकारसे बन्द हो गया था। रसको पण्डितराजतक आते-आते पूर्ण प्रतिष्ठा मिल चुकी थी और रस ध्वनिके अन्तर्गत आकर भी आगे प्रधान ही बना रहा।

हिन्दीमें रस-विचारका प्रवर्तन संस्कृतके भरतके 'नाट्य-शास्त्र', भानुदत्तकी 'रसमंजरी' तथा 'रसतरंगिणी', भोजके 'शृंगारप्रकाश' एवं विश्वनाथके 'साहित्यदर्पण'के आधारपर हुआ। वस्तुतः इन ग्रन्थोंकी रचना या तो दरबारमें फारसी कवितासे टक्कर लेनेके लिए तथा उदाहरण ढूँढ़नेके लिए हुई या ज्ञानप्रदर्शन या अल्पज्ञोंको शिक्षा देनेके लिए। रसका विचार या तो केवल रसविषयक ग्रन्थोंमें नायिका भेदके साथ हुआ है या रस तथा ध्वनिका एकत्र विचार करनेवाले ग्रन्थोंमें अथवा समस्त काव्यशास्त्रके विवेचक ग्रन्थोंमें। सब प्रकारके ग्रन्थोंमें मुख्यतः शृंगार रसका ही वर्णन किया गया है। इन ग्रन्थोंमें उदाहरण तो ललित प्रस्तुत किये गये हैं, किन्तु विवेचनका कोई प्रयत्न संस्कृतके पूर्व तथा उत्तरपक्षके समान नहीं दीखता। हिन्दीमें केशव, देव, उजियारे कवि, रामसिंह, ग्वालकवि, भारतेन्दु, 'हरिऔध' तथा रामचन्द्र शुक्लने नवीन चिन्तनका मार्ग दिखाया है। भारतेन्दुसे आधुनिक कालका उन्मेष हुआ है। रीतिकालमें केशवने भोज द्वारा कथित अनुरागके प्रकाश तथा प्रच्छन्न नामक दो भेदोंके अनेक प्रसंगोंपर घटित करनेकी असफल चेष्टा की और इसी प्रकार शृंगारके अन्तर्गत अन्य रसोंके अन्तर्भावका उनका प्रयत्न भी निष्फल रहा। देवने भानुदत्तके समान रसके लौकिक, अलौकिक तथा उनके भी शृंगारादि नौ रस एवं स्वाप्निक, मानोरथिक, औपनयिक भेद किये। वह शृंगारको ही एकमात्र रस मानते हैं। धर्मसे अर्थ, अर्थसे काम, कामसे सुखकी उत्पत्ति मानते हुए सुखका रस शृंगार बताया गया है और शृंगारके प्रति उत्साहसे वीर आदि, निर्वेदसे शान्त, बीभत्स आदिकी उत्पत्ति मानी है। काव्य, जीवन और रसका सम्बन्ध स्थापित करके उन्होंने जीवनके लिए काव्यकी उपयोगिता और उसमें रसको सार तत्व बताया है। भानुदत्तके अतिरिक्त भोज तथा भरत-का प्रभाव भी इनपर दिखाई पड़ता है। इनके बाद उजियारे कवि (१७८० ई०)ने 'जुगलरसप्रकाश' ग्रन्थमें प्रश्नोत्तर-शैली अपनाकर केवल नौ रसोंकी ही प्रतिष्ठा की है और उन्हींके अन्तर्गत वात्सल्य, भक्ति, कार्पण्य आदिको मान लिया है। वस्तुतः नवीन चिन्तनकी दृष्टिसे १७८२ ई०के आसपास रामसिंहका 'रसनिवास' ग्रन्थ उल्लेखनीय है। इन्होंने मनोविकार तथा भावका अन्तर बताते हुए भानुदत्तके अनुकरणपर रसानुकूल मनोविकारमात्रको ही भाव माना है। हास्य रसका स्थायी हास न बताकर 'हसता' कहा गया है और उसके 'नाट्यशास्त्र'के अनुकूल स्वनिष्ठ तथा परनिष्ठ, दो भेद किये गये हैं। भरतने जिस प्रकार हास्यके हसित, उपहसित आदि भेद किये हैं, उसी प्रकार नामान्तरसे इन्होंने मुसुकानि, हसनि, विहसनि, उप-हसनि, अपहसनि तथा अतिहसनि, छः भेद बताये हैं। इनमेंसे दो-दोको क्रमशः उत्तम, मध्यम तथा अधम कहा गया है। भानुदत्तके समान शान्त रसके साथ मिथ्या ज्ञानरूप स्थायीके आधारपर माया रसकी कल्पना भी की गयी है, किन्तु विवेचन वैसा नहीं है। मुख्य विशेषता यह है कि रसके आधारपर काव्यकी अभिमुख, विमुख तथा परमुख नामक तीन कोटियाँ की गयी हैं। परमुखके प्रधान दो भेद हैं—अलंकारमुख एवं भावमुख। विमुख रसहीन काव्य होता है और अभिमुख रसपूर्ण। ये भेद क्रमशः गुणीभूत व्यंग्य, अव्यंग्य तथा ध्वनि-भेदोंके समान हैं। देवके समान रसके लौकिक तथा अलौकिक भेदोंको भी इन्होंने स्वीकार किया है और शृंगारादिको लौकिक ही बताया है। इनके पश्चात् ग्वाल कवि (१८४७ ई०)ने 'रसरंग' ग्रन्थमें अलौकिक भेदके स्वाप्निक, मानोरथिक तथा औपनयिक भेदोंमेंसे शृंगारादि नौ रसोंको औपनयिकका भेद बताया है। एक और नवीनता यह है कि इन्होंने प्रत्येक इन्द्रियके

आठ-आठ सात्त्विक माने हैं, जो तर्कसंगत और व्यावहारिक नहीं है। इनके दोनो विचारोंमें इसी प्रकारकी असंगति है।

हाव-भावके क्षेत्रमें भी कुछ नवीनता लानेका प्रयत्न किया गया था। हावोंमें भिखारीदास (१८वीं शती)ने 'साहित्यदर्पण'के अठारह नायिका अलंकारोंके साथ 'बोधक' तथा 'हेला' भी जोड दिये हैं, जिनमें हेला तो अंगज अलकार है ही और बोधकका आधार केशवका 'बोध' हाव है। भावोंमें केशवने जुगुप्सा स्थायीके स्थानपर अशक्त शब्द 'निन्दा'का प्रयोग किया और दासने रुद्रटके प्रेयान्के आधारपर प्रीतिको ही भाव माना। देवने भानुदत्तके आधारपर छल संचारीकी स्थापना की और वितर्क संचारीके विप्रतिपत्ति, विचार, संशय, अध्यवसाय नामक भेद किये। इन्होंने काम-दशाओंके अनेक भेद भी प्रस्तुत किये और आठों सात्त्विकोंका रसरणमें ही अन्तर्भाव कर दिया। संचारियोंके शरीर तथा आन्तर भेद करके क्रमशः सात्त्विक तथा व्यभिचारी भावोंका वर्णन किया गया। यह भेद भी वस्तुतः 'रसतरंगिणी'से प्रभावित है। इस प्रकार हिन्दी रीतिकालमें नवीनता-प्रदर्शनकी चेष्टा तो रही, किन्तु वस्तुतः वह जहाँ-तहाँसे संस्कृतके आधारपर ही हुई। साथ ही गहन विवेचनका अभाव भी रहा।

आधुनिक कालमें भारतेन्दुका नाम दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर तथा आनन्द रसोंकी अवतारणाकी दृष्टिसे उल्लेख्य है। उनके पश्चात् 'हरिऔध'ने 'रसकलश'में वात्सल्य रसका प्रबल समर्थन किया तथा शृंगारादि रसोंके उदाहरणके साथ रसका विशद निरूपण करनेकी चेष्टा की। कन्हैयालाल पोद्दार, भानु, गुलाब राय आदिके रस-विवेचनके ग्रन्थोंके प्रकाशनसे संस्कृत-पद्धतिका पुनरुत्थान हुआ और गुलाब रायके 'नवरस'ग्रन्थमें आधुनिक मनोविज्ञानके प्रकाशमें भी प्रत्येक रसका थोडा-बहुत विचार किया गया। हिन्दीके पुराने लेखकोंसे संस्कृत लेखकोंके विचारोंकी तुलना भी हुई, किन्तु निष्पत्ति और साधारणीकरण अथवा नवीन रसोंकी उद्भावना और रसाभासका विशद और विस्तृत विचार न हुआ। इस कामको गुलाब रायने अपने 'सिद्धान्त और अध्ययन' ग्रन्थमे एक सीमातक पूरा किया। आधुनिक कालमें वास्तविक महत्त्वके अधिकारी रामचन्द्र शुक्ल है, जिन्होंने रसका न केवल मनोविज्ञानके प्रकाशमें विवेचन किया, अपितु आधुनिक विदेशी काव्यकी परिस्थितियोंके विचारसे भी रसके भारतीय स्वरूपकी स्थापना की। साधारणीकरणके प्रश्नपर आपने विदेशी और देशी अध्ययनके आधारपर मौलिक चिन्तनकी धाराका सूत्रपात किया। रस और रसानुभूतिके स्वरूप, उसके प्रकार और कोटियोंपर उनके विचार उल्लेखनीय है (दे० 'साधारणीकरण')। रसकी ऐसी स्थापना दीर्घ कालके पश्चात् हुई। इनके पश्चात् इधर पुनः इस अध्ययनकी प्रवृत्ति जाग्रत् हुई, जो नगेन्द्र आदिके शोध-प्रबन्धोंके रूपमे प्रकट हो रही है। इन प्रबन्धोंमे यूरोपीय अध्ययनके साथ भारतीय चिन्ताधाराके सम्यक् सन्तुलनकी चेष्टा की जा रही है और आधुनिक काव्यमें रसका महत्त्व परखा जा रहा है। इस दिशामें हिन्दी डी० फिल०के लिये स्वीकृत तथा अंग्रेजीमें प्रकाशित डॉ० छेलबिहारी गुप्त 'राकेश'का शोध-प्रबंध 'साइकोलॉजिकल स्टडीज इन रस' अर्थात् मनोविज्ञानके सिद्धान्तोंके प्रकाशमें रस-विचारकी आलोचना करनेवाला ग्रंथ भी उल्लेख्य है तथा 'काव्यमें रस'के नामसे पी० एच-डी० उपाधिके लिये स्वीकृत इस लेखकका शोध-प्रबन्ध रस-विषयक भारतीय चिन्ताधाराको व्यक्त करने और देशी-विदेशी भाषा-साहित्यके आधारपर रस-सिद्धान्तका स्वरूप निश्चित करनेवाले ग्रंथके रूपमें पठनीय है। यह ग्रंथ अब अंशतः 'रस सिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण' नामसे प्रकाशित हो रहा है। —आ० प्र० दी०

रसांतर्य—यह सौन्दर्यशास्त्रका शब्द है, जिसे हरद्वारीलाल शर्माने अपनी पुस्तक 'सौन्दर्यशास्त्र'में प्रयुक्त किया है। इस शब्दका अंग्रेजी पर्याय 'एस्थेटिक डिस्टेन्स' है। अभिनवगुप्तने रसानुभूतिकी सात बाधाओंका निरूपण किया है, जिनमेंसे एकका नाम है "स्वगतपरगतत्वनियमेन देशकालविशेषावेशः", अर्थात् प्रेक्षकका 'स्व' पर, देश-काल, आदिकी विशेषतासे इतना आविष्ट होना कि वह उसे भुला ही नहीं पावे। नाटक आदि देखते समय जो प्रेक्षक अपने और प्रेक्षणीय वस्तुके भेदको भुला नहीं पाता, वस्तुमे तन्मय नहीं हो जाता, उसके साथ एक प्रकारका तादात्म्य अथवा साधारण्य स्थापित नहीं कर लेता, उसमें रसोद्रेक सम्भव नहीं। लेकिन प्रेक्षक और वस्तुके बीच अत्यन्त अभेदकी समापत्ति भी रसोद्रेकमें बाधक ही है। जब प्रेक्षक सारी घटनाओंका आरोप अपनेमें करने लगता है तो उसकी स्थिति उस सामान्य व्यक्तिकी-सी हो जाती है, जो स्वयं सुख-दुःख भोग रहा हो। अतः जिस प्रकार वह सामान्य व्यक्ति अपने ऊपर घटित घटनाओंमें रसास्वादन नहीं कर सकता, उसी प्रकार वह प्रेक्षक भी नाटक आदिसे रसानुभूति नहीं कर पाता। अतः कुशल प्रेक्षक अपनेको वस्तुसे उचित अन्तरपर रखकर ही रसास्वादनमें समर्थ होता है। इस अन्तरको 'रसान्तर्य'की संज्ञा दी गयी है। —ह० ना०

रसाभास—रसनिष्पत्तिके लिए अपेक्षित पूर्ण औचित्यके आंशिक अभावमें जब सहृदयको रसके स्थानपर रसके आभासकी प्रतीति हो अथवा रस-परिपाक न होकर रस केवल आभासित होकर ही रह जाय, उस अवस्थामें प्राचीन आचार्यों द्वारा 'रसाभास'की स्थिति मानी गयी है। अभिनवगुप्त (१०-११ श० ई०)ने अपने 'ध्वन्यालोकलोचन'में रसाभासको 'शुक्तौ रजताभासवत्', अर्थात् सीपीमें रजतके आभास जैसा बताया है। रसाभास होनेपर रस-दशा बनी रहती है या नष्ट हो जाती है, इस मौलिक प्रश्नपर आचार्योंमें मतभेद रहा है। रस और रसाभासके आधारभूत औचित्य-अनौचित्य परस्पर विरोधी हैं, अतः एक मत रसाभासको रसका विरोधी मानता है। परन्तु जगन्नाथ (१७-१८ श० ई०) और उनसे पूर्व अभिनवगुप्त, दोनोंने अनेक तर्क देकर सिद्ध किया कि रसाभासमें पूर्णतया रसका अभाव नहीं होता। अपने प्रतीतिकालमें रसाभास रस जैसा ही आस्वाद्य रहता है, पर जब बुद्धि अनौचित्यतक पहुँच जाती है तो सारी रसानुभूति रसाभास बनने लगती है। ध्वनि-मतके प्रतिपादकोंने कदाचित् इसीलिए रस और रसाभास, दोनोंको ही ध्वनिके अन्तर्गत रखा है। मूल

रसकी अनुभूतिमें रसाभास आ जानेपर अन्य रसकी प्रतीति भी उसके द्वारा हो सकती है, ऐसी सम्भावना अभिनवगुप्तने मानी है।

तेरहवीं शती ईसवीके एक संस्कृत काव्याचार्य शिंगभूपालके 'रसार्णवसुधाकर' नामक ग्रन्थमें रसाभासपर विशेष विचार किया गया है। रसाभासके परिभाषास्वरूप इसमें लिखा है कि जब 'अंग रस' अविनीत अमात्यकी तरह बढ़कर अपने स्वामी 'अंगी रस'को आच्छादित कर ले, तो रसाभास हो जाता है। शिंगभूपालने रसाभासके भेद भी प्रदर्शित किये हैं, जैसे शृंगार-रसाभास चार प्रकारका बताया गया है—१. अराग, २. अनेक राग, ३. तिर्यक् राग, ४. म्लेच्छ राग। तेरहवीं शतीके ही एक अन्य आचार्य शारदातनयने 'भावप्रकाशन'में रसाभासकी निम्नलिखित परिभाषा दी है, जो पूर्वोक्त परिभाषाकी ही अधिक निश्चयात्मक परिणति-सी है—"भागद्वयं प्रविष्टस्य प्रधानस्यैकभागता। रसानां दृश्यते यत्र तत्स्यादाभासलक्षणम्", अर्थात् जहाँ अप्रधान रसके दो भाग हो जायँ और प्रधान एक ही भाग रह जाय, वहाँ रसाभास लक्षित होता है। 'भावप्रकाशन'के षष्ठाधिकारमें बताया गया है कि शृंगार रसका रसाभास हास्यके मिश्रणसे, हास्यका बीभत्ससे, वीरका भयानकसे, अद्‌भुतका बीभत्स तथा करुणके संश्लेषसे, रौद्रका शोक और भयके आवेशसे, बीभत्सका अद्‌भुत तथा शृंगारके सम्मिलनसे, भयानकका वीर तथा रौद्रके संयोगसे तथा इसी प्रकारका अन्य परस्पर विरोधी रसोंके अनौचित्यपूर्ण सम्मिश्रणसे रसाभास उत्पन्न होता है।

रसमें अनौचित्य किस-किस प्रकारसे और कैसे-कैसे हो सकता है, इसका व्यापकतासे विचार किया गया और उसके नैतिक एवं सामाजिक पक्षकी ओर भी दृष्टि डाली गयी। 'साहित्यदर्पण'में विश्वनाथ (१४ श० ई०)ने रसाभासकी समस्यापर इसी दृष्टिकोणसे प्रकाश डाला है। लगभग ऐसी ही दृष्टि 'रसगंगाधर'में पण्डितराजकी भी रही है। उन्होंने विभावमें अनौचित्य न मानकर रत्यादिक स्थायी भावोंके अनुचित रूपमें प्रवृत्त होनेमें रसाभासकी उत्पत्ति बतायी है। इस सम्बन्धमें विशेष विवेचन 'काव्यमें रस' शीर्षक शोध-प्रबन्धमें आनन्दप्रकाश दीक्षितने किया है (नवम अध्याय)।

हिन्दीके आचार्य कवियोंने रसाभासकी जो परिभाषाएँ दी है, वे अधिकतर परिपाटीबद्ध हैं—१. कुलपति मिश्र—"अनुचित है रसभाव जहँ, ते कहिये आभास" (र० र०, पृ० ३०)। २. चिन्तामणि त्रिपाठी—"अनुचित विषय करति जु है सोई रस आभास" (क० कु० क० त०, पृ० २१४)। ३. पद्माकर—"रसाभास अनुचित करम, करब अजोग्य बिलास। हास्य करब गुरु निगमको, सुत पितुसो रत नास" (पद्मा०, पृ० ७५)। ४. भिखारीदास—"रस सो भासितु होतु है, जहाँ न रसकी बात। रसाभास तासों कहै जे है मति अवदात" (र० सा०)। ५. प्रतापसाहि—"जहँ अनुचित रस भावको, रसाभास तहँ जानि। रस-ग्रन्थन अवगाहिके कबिजन कहत बखानि" (का० वि०, ३)। इन परिभाषाओंसे रसाभासकी स्थितिका कठिनाईसे सामान्य बोध ही हो पाता है। किसीने मौलिक प्रश्नको नहीं उठाया। प्रायः सभी कवियोंने संस्कृतके पूर्ववर्ती आचार्योंकी अनौचित्यकी बातको दोहरा दिया है।

गंगाप्रसाद अग्निहोत्रीकी 'रसवाटिका'की चतुर्थ क्यारी-(पृ० १२७-१२८)में अनुचित प्रसंगके सम्बन्ध तथा अयोग्य वर्णन, दोनोंसे ही रसाभास होनेका उल्लेख है। लेखकने राधाकृष्णके प्रेमको राधाके परकीया-भावके कारण शृंगारका रसाभास मान लिया है। और भी कुछ मतोंके अनुसार कृष्णचरितमें ऐसे अनेक तत्त्व पाये जाते हैं, जैसे कृष्णका बहुनायकत्व तथा अल्पावस्था आदि, जिनके कारण कृष्णकाव्यके बहुतसे स्थल रसका संचार न करके रसाभास उत्पन्न करते हैं। सहृदयकी विवेकशक्ति और संस्कारके अन्तरसे भी अनुभूति भिन्न हो सकती है। एक ही वर्णन किसी सहृदयको रस और किसीको रसाभाससे युक्त लग सकता है। अतः रसाभासके लिए कोई निश्चित नियम बना देना कठिन है (विशेषके लिए दे० 'भावाभास')। —ज० गु०

रसाभिव्यक्ति–दे० 'रसनिष्पत्ति', एक पर्याय।

रसिया–संगीतज्ञोंकी धारणा है कि रसिया ध्रुपद-घरानेकी चीज है। रसिया ब्रजके लोकगीतोंमें अपने वैशिष्ट्यके कारण प्रसिद्ध और प्रिय है, जो सभी अवसरोंपर अपना प्रभाव डालनेकी क्षमता रखता है। ध्रुपदकी शैलीको सम्भवतः लोक-प्रचलित रसियाका शास्त्रीय संस्कार कहा जा सकता है। हिन्दुस्तानी संगीतको जो देय ब्रजभाषा तथा स्वामी हरिदाससे प्राप्त हुआ, उसका श्रेय बहुत-कुछ रसियाके लोक और शास्त्रीय, दोनों स्वरूपोंको है। 'आईने अकबरी'में दो प्रकारके गीतोंका उल्लेख है—मार्ग और देशी। देशी शैलीमें ध्रुपद विशेषतः उल्लेखनीय है, जो चार चरणोंके द्वारा बिना छन्द और मात्राकी बन्दिशोंके शृंगारप्रधान विषयको व्यक्त करनेकी सामर्थ्य रखता है। 'आईने अकबरी'में जिस ध्रुपदका उल्लेख है, वह कदाचित् रसियासे सम्बन्धित हो।

रसिया होलीका प्रमुख गीत है। होलीके अनेक गीत रसियाकी ढालोंमें गाये जाते हैं। लोककवि घासीराम, सनेहीराय, छीतरमल आदि कवियोंके ब्रजभाषामें अनेक रसिये प्रचलित हैं। हिन्दीके प्रसिद्ध सन्त कवियोंने भी राधा और कृष्णकी लीलाओंके वर्णनमें रसियाको प्रभावित किया है। शृंगार-प्रधान विषय रसियामें खिले हैं। बरसानेकी होली, राधा और कृष्णके मनोविनोद और प्रेम-प्रसंग प्रायः रसियामें वर्णित हैं। रसियाका तर्ज सीधा और सामूहिक गानके अतिरिक्त व्यक्तिपरक अभिव्यक्तिके अनुरूप है। —श्या० प०

रसेश्वर-दर्शन–(रस = द्रव। रसेश्वर = द्रवोंका राजा पारद। रसेश्वर-दर्शन = पारद-साधनपर आश्रित दर्शन) शैवागमोंमें और शैव पुराणोंमें पारदको शिवका वीर्य कहा गया है, इसीलिए प्रसिद्ध दार्शनिकोंने भी पारद-साधनमें गहरी रुचि ली। पतंजलिने दूसरी शती ईसाके पूर्व पारदके रसायनपर प्रकाश डाला। नागार्जुनने पारदके प्रयोगपर सबसे पहला महत्त्वपूर्ण कार्य किया, इसके बाद शाक्त और शैव दर्शनोंके सर्जनात्मक युग(६०० ई०से १३०० ई०तक)में इसका वैज्ञानिक प्रणालीपर विकास हुआ, यही रसेश्वर-दर्शनके रूपमें माधवके 'सर्वदर्शनसंग्रह'में प्रख्यात हुआ। १२वीं

शतीमें लिखे गये 'रसार्णव' और १४वीं शतीमें लिखे गये 'रसरत्नसमुच्चय'में मर्दीकरण, जारण, मारण, अधःपतन, ऊर्ध्वपातन, स्वेदन, स्तम्भन जैसी जटिल प्रक्रियाओंका विशद निरूपण किया गया है और साधकके लिए साधनावस्थामें कैसे रहना चाहिये, इसपर भी प्रकाश डाला गया है। यह दर्शन-तन्त्र और आगमोंकी शाखा है, क्योंकि इसकी दार्शनिक मान्यता बहुत-कुछ तन्त्रकी ही है, शब्दावली भी लगभग वही है, तत्त्वमीमांसा भी वही है, केवल पारदकी बिन्दुप्रतीकताका विस्तार और विश्वके भौतिक सुखके ऊपर विशेष ध्यान इसकी अपनी विशेषता है। —वि० नि० सि०

रहस्यवाद—अपनी अन्तःस्फुरित अपरोक्ष अनुभूति द्वारा सत्य, परम तत्त्व अथवा ईश्वरका प्रत्यक्ष साक्षात्कार करनेकी प्रवृत्ति रहस्यवाद है। यह प्रवृत्ति मनुष्यकी प्रकृतिका एक अविच्छेद्य अंग रही है और रहस्यानुभूति सम्भवतः मनुष्यकी श्रेष्ठतम एवं उदात्ततम अनुभूति है। इसकी अभिव्यक्ति सभ्यताके प्रायः सभी स्तरों, देशों और कालोंमें होती रही है। रहस्यवाद उतना ही पुरातन है, जितनी कि स्वयं मानवता। रहस्यवाद और रहस्यवादी किसी जाति, धर्म या देशविशेषमें सीमित नहीं रहे हैं। रानाडेके शब्दोंमें सभी देशों और सभी युगोंके मर्मियों(रहस्यवादी साधकों)-का एक अथवा शाश्वत समाज है, जो जाति, धर्म और राष्ट्रगत सीमाओंसे नितान्त रहित है। उनकी मर्मानुभूतिकी असीमता और चिरन्तनता देश-कालके परे है।

मनुष्यकी यह प्रवृत्ति अद्वितीय है। यह उसको सामान्य जीवनके विषयोंसे विमुख एवं विरक्त कर देती है और जिस प्रकार पादपकी जड़ स्वतः ही पृथ्वीके केन्द्रकी ओर चलती है, उसी प्रकार उसकी चेतनाको स्वयं अपने भीतर, अपने मूल उत्सकी ओर जानेके लिए विवश कर देती है। रहस्यवादी साधकके लिए रहस्यानुभूतिका सत्य उतना ही असन्दिग्ध होता है, जितना कि स्वयं उसका अपना अस्तित्व अथवा साधारण मनुष्यके लिए जितना असन्दिग्ध यह गोचर जगत् है। अतएव रहस्यानुभूति व्यक्तिगत धर्मका आधार बनती आयी है। अनुभूतिके उन परम क्षणोंमें आत्मा एक नयी शक्तिसे ओत-प्रोत, नूतन और असीम आनन्दमें आक्रान्त और अभिभूत, एक अनन्त सुहृद्, शिव और सुन्दर तत्त्वमें निमज्जित, मुक्त और पवित्रीकृत अनुभव करती है। कभी-कभी ऐसी मर्मानुभूतिके साथ-साथ अलौकिक शब्द, ध्वनि आदि सुनाई पड़ती है, अलौकिक ज्योति अथवा रूपोंके दर्शन होते हैं, अन्य विचित्र शारीरिक परिवर्तन घटित होते हैं। किन्तु ऐसी बातें अन्य तीव्र मानसिक प्रक्रियाओंके साथ भी कभी-कभी घटती हैं। अतः उन्हें सन्तोंकी मर्मानुभूतिका अनिवार्य लक्षण नहीं माना जा सकता। श्रेष्ठ प्रकारकी रहस्यानुभूतिसे श्रेष्ठतम स्तरके जीवनका उद्भव होता है। परम उदात्त, निःस्व, निरहंकार, असीम प्रेम और करुणायुक्त, पवित्रतम, सन्तका-सा जीवन, उत्कृष्ट रहस्यानुभूतिका अवश्यम्भावी परिणाम होता है। सच्ची रहस्यानुभूतिके उपरान्त व्यक्तिका आमूल दिव्य परिवर्तन-सा हो जाता है।

मर्मी साधक परम सत्यकी खोज करता है, किन्तु अपनी इस खोजमें वह ज्ञानप्राप्तिके सामान्य साधनोंका उपयोग न करके एक दूसरे ही साधनका प्रयोग करता है। ज्ञानकी प्राप्ति साधारणतया आप्त वचनों, ज्ञानेन्द्रियों एवं बौद्धिक प्रक्रियाओंसे हो जाती है। मर्मी इन सभी साधनोंको अपूर्ण और अपर्याप्त मानता है। उसकी धारणा है कि परम सत्यका वास्तविक ज्ञान मनुष्यकी अपनी एक शक्तिविशेष द्वारा ही प्राप्त हो सकता है और वह है सहज ज्ञान, अन्तःस्फुरित, अपरोक्षानुभूति द्वारा ज्ञान प्राप्त कर सकनेकी शक्ति। अपनी इस शक्तिको विकसित और सक्षम करनेके लिए वह अनेक साधन करता है, लेकिन वह बुद्धि, संकल्प और भावनात्मक पक्षोंका विरोधी नहीं होता, न उनका बहिष्कार ही करता है। शंकर और एकहार्ट जैसे महात्माओंने बुद्धिका सम्यक् प्रयोग सिद्धान्तपक्षमें किया है और यह तो मर्मी साधकोंकी सर्वमान्य मान्यता है कि संकल्प और भावनाओंका सम्यक् परिष्कार और समायोजन किये बिना कोई भी साधना नहीं हो सकती और न ईश्वरका दर्शन ही हो सकता है। इसीलिए प्रायः सभी सन्त अपनी सामान्य नैसर्गिक प्रवृत्तियोंसे क्षुब्ध और उनके परिमार्जन तथा उदात्तीकरणमें दत्तचित्त दिखलाई पड़ते हैं। कभी वे 'मोसो कौन कुटिल खल कामी', 'मैं पतितनको टीको', 'ममता तू न गयी मन मोते' कहकर अपनी भर्त्सना करते हैं, कभी 'कबहुँक ऐसी रहनि रहौंगो'का संकल्प करते हैं और कभी 'चदरिया'को जैसीकी तैसी रख देनेपर बालसुलभ उल्लाससे भर उठते हैं। सगुणोपासक मर्मी साधक तो अपनी भाव और भक्ति-सम्पदाका आश्रय ग्रहण करके ही इष्टदेवकी कृपाका भागी बनता है। इस प्रकार यद्यपि मर्मी इन तीनों पक्षोंका समुचित उपयोग कर लेता है, फिर भी अपरोक्षानुभूति ही उसका प्रधान साधन रहती है। रहस्यवादका आग्रह केवल इतना ही है कि बुद्धिकी समस्त भाग-दौड़के उपरान्त परम तत्त्वमें रहस्यका एक ऐसा अंश रह जाता है, जो उसके लिए अगम्य है और जिसे अन्तःस्फुरित सहज ज्ञानके द्वारा ही जाना जा सकता है। रहस्यानुभूतिका सत्य स्वतन्त्र है। बौद्धिक स्तरपर किसी दर्शनके खण्डन-मण्डनपर वह निर्भर नहीं है। उसके निकट ईश्वर ज्ञानका विषय नहीं, अनुभूति है। रहस्यानुभूतिमें ज्ञाता और ज्ञेय एक हो जाते हैं। वहाँ ज्ञान बुद्धिके विश्लेषणसे नहीं, वरन् ज्ञेय और ज्ञाताके तादात्म्यसे प्राप्त होता है।

दार्शनिक दृष्टिसे रहस्यवाद शब्द बहुत व्यापक है और किसी एक विशिष्ट दार्शनिक मतके लिए उसका प्रयोग करना उचित नहीं प्रतीत होता। रहस्यवादी साधकोंके अन्तर्गत निर्गुण ब्रह्मवादी, उपनिषदोंके ऋषि, लाओ त्जे, प्लोटिनस, शंकर और एकहार्ट, सगुण ईश्वरके उपासक प्रभु ईसा, वैष्णव, ईसाई और मुसलमान सन्त तथा किसी भी निर्गुण या सगुण परम तत्त्व अथवा ईश्वरमें विश्वास न करनेवाले, किन्तु फिर भी योगसाधनाका आश्रय लेनेवाले बौद्ध और जैन साधकोंको कुछ विद्वानोंने सम्मिलित किया है। इस व्यापक स्तरपर रहस्यवादकी सर्वसम्मत दार्शनिक मान्यताओंको सूत्रबद्ध कर सकना कठिन है। अपेक्षाकृत संकीर्णतर दृष्टिकोणसे रहस्यवादकी कुछ व्यापक धारणाएँ

मानी जा सकती है।

अपनी विधिसे रहस्यवाद अनुभववादी और यथार्थवादी है। वह किसी आप्त वचनमें विश्वास न करके स्वयं अपनी प्रत्यक्ष और असन्दिग्ध अनुभूतिमें विश्वास करता है। अपनी साधनाके साध्य ईश्वर, ब्रह्म, परम तत्त्व, ताओ आदिके अस्तित्वको पूर्ण स्वतन्त्र मानता है। उसकी सत्ता रहस्यवादीके लिए स्वयं अपनी सत्ताकी भाँति अथवा साधारण मानवके निकट इस जगत्की सत्ताकी भाँति असन्दिग्ध है। वह ईश्वरके अस्तित्वमें श्रद्धामात्र नहीं रखता, वह उसके प्रत्यक्ष ज्ञानका दावा करता है। उस परम तत्त्वका साक्षात्कार सम्भव है। परमतत्त्व एक और अद्वितीय है। ईश्वर, मन, वाणी, इन्द्रियों और बुद्धिके परे है, अनिर्वचनीय और वर्णनातीत है। उसका वर्णन 'ऐसा नहीं', 'ऐसा नहीं'—नेति-नेति द्वारा निषेधात्मक रूपमें ही किया जा सकता है। उसके सभी वर्णन अपूर्ण है और अपूर्ण रहेंगे। वह नाम-रूप तथा बुद्धिके समस्त प्रवर्गोंसे रहित है। मनुष्यकी आत्मा भी ठीक इसी तरह की है। वर्णनातीत और इन्द्रियातीत है। परम तत्त्व यानी विराट् ब्रह्म और व्यष्टि आत्मा अभिन्न है। 'तत्त्वमसि' वही तू है 'सोऽहं'—मैं वही हूँ, 'अहं ब्रह्मास्मि'—मैं ब्रह्म हूँ आदि उपनिषद्-वचन और सूफियोंका 'अनलहक' इसी सत्यको व्यक्त करनेवाले चिरन्तन वाक्य हैं। अतएव आत्मा परम तत्त्वका साक्षात्कार, अन्तर्जगत् और बहिर्जगत्, दोनोंमे समान रूपसे कर सकती है। जो बाहर है, वही भीतर है। दोनोंमें पूर्ण तादात्म्य है। सम्यक् साधना द्वारा यह ज्ञान प्राप्त कर सकना सम्भव है और यह ज्ञान प्राप्त करना मनुष्यके जीवनका परमतम निःश्रेयस है। उसकी उपलब्धि-का पथ नैतिक और आत्मिक साधना है।

रहस्यवादकी सर्वव्यापकताके सम्बन्धमें ऊपर कहा जा चुका है। आदिम समाजोंमें रहस्यवादका उत्कृष्ट रूप नहीं मिलता। उनमें यह विश्वास अवश्य प्रचलित है कि देवता, भूत-प्रेत तथा अन्य दैवी शक्तियाँ मनुष्यकी चेतनापर अधिकार करके उसे विशिष्ट शक्ति-सम्पन्न बना देती है। पवित्रताकी भावना और उन शक्तियोंसे सम्पर्क स्थापित करनेके लिए विश्वास किया जाता है कि दैवी शक्तियाँ कुछ चुने हुए व्यक्तियोंको अपना यन्त्र बना लेती हैं। मेलेनेसिअनोंकी माना और आइरोक्यूओंकी ओरेण्डा नामक शक्तियाँ इसी प्रकार की है। जहाँतक साधनोंके द्वारा व्यक्तिको इन शक्तियोंके सम्पर्कमें लाने और उनसे अपनेको पूरित कर लेनेका प्रश्न है, हम उसे आरम्भिक प्रकारका रहस्यवाद कह सकते है। इसी प्रकार साइबेरियाके शामानवादी समाजोंमें इष्टदेवतासे सम्पर्क स्थापित करनेके लिए आदिम कर्मकाण्डकी व्यवस्था है। विविध उपाय करके समाधि जैसी अवस्था उत्पन्न की जाती है। उनका विश्वास है कि ऐसी दशामें मनुष्यकी आत्मा शरीर छोडकर चली जाती और देवतासे संयुक्त हो जाती है। प्रायः अन्य सभी आदिम समाजोंमें ओझा लोग किसी-न-किसी प्रकारसे रहस्यवाद अथवा योगका प्रयोग करते है।

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, बौद्ध धर्म ब्रह्म या ईश्वर जैसे किसी परम तत्त्व और मनुष्यकी आत्मा-में विश्वास नहीं करता और न ब्रह्मके साक्षात्कारको मनुष्य-के जीवनका ध्येय मानता है। भगवान् बुद्धने मनुष्यका लक्ष्य निर्वाण और उसका साधन आर्य-अष्टांगिक मार्ग बतलाया है। इसके अतिरिक्त, बुद्ध अत्यन्त बुद्धिवादी और उपयोगितावादी थे। अतएव सामान्य प्रकारके रहस्यवादका स्थान, जिसका लक्ष्य किसी परम तत्त्व या ईश्वरका साक्षात्कार है, बौद्ध धर्ममें नहीं है। किन्तु यदि रहस्यवादके अन्तर्गत पराबौद्धिक प्रज्ञा या बोधिकी प्राप्ति तथा उसके निमित्त योगाभ्यास जैसे साधनों-का प्रयोग भी मान लिया जाय तो उसमे भी हमें रहस्यवादका व्यावहारिक रूप मिल जायगा। बुद्धोपदिष्ट स्वयं आर्य-अष्टांगिक मार्गका अन्तिम पद समाधि है। स्वयं बुद्धको भी प्रज्ञा अथवा बोधिकी प्राप्ति अपरोक्षानुभूति द्वारा ही हुई थी। बौद्धचर्यामें योगाभ्यास, मानसिक एकाग्रता, समाधि जैसी दशा उत्पन्न करनेके लिए विविध साधनोंकी व्याख्या है। श्रेष्ठ बौद्ध साधक शील-सम्पदाका ही अर्जन नहीं करता, वह उत्तम योगी भी होता है। चीन और जापानमें विकसित तथा अब भी प्रचलित बौद्ध धर्मकी ध्यानसम्प्रदाय-शाखामें परम सत्यके स्वरूपकी अपरोक्षा-नुभूति, उसमें आकस्मिक अन्तर्दृष्टि प्राप्त कर लेनेपर ही बल दिया गया है। महायान बौद्ध धर्ममें अमिताभ बुद्धकी उपासना आरम्भ होनेसे उसमे रहस्यवादका सामान्य तत्त्व भी सम्मिलित हो गया। बौद्ध धर्मके तान्त्रिक विकासमें भी रहस्यवादका तत्त्व वर्तमान था।

चीनमें लाओ त्जेके सिद्धान्त भारतीय रहस्यवादसे मिलते है। उसने परम तत्त्वको 'ताओ' अथवा मार्गका नाम दिया। उसके अनुसार ताओ स्वर्गसे उच्चतर और पूर्वतर है, कालके भी पूर्व उसकी सत्ता थी, व्यक्त ईश्वरके पहले भी वह वर्तमान था। वह प्रकृतिका विधान है, शाश्वत, अपरिवर्तनशील, अगोचर, प्रथम हेतु, सर्वव्यापक है। उसका वर्णन निषेधात्मक-नेति-नेति-ढंगसे ही किया जा सकता है। उसको प्राप्त करना मनुष्य-जीवनका परम ध्येय है। इसके निमित्त लाओ त्जेने निवृत्ति, पूर्ण शून्यता, इच्छाके आत्यन्तिक नाश और अपनी सम्पूर्ण सत्ताको ताओके अधीन एवं समर्पित कर देनेका उपदेश दिया है। लाओ त्जेने ईश्वरका किंचित् भी वर्णन नहीं किया है। वह मनुष्यका परम कर्तव्य अपनी इच्छा और अपनी सत्ताको ताओको समर्पित करके उसका यन्त्र बन जाना ही मानता है।

प्राचीन यूनानकी प्रधान प्रवृत्ति यद्यपि बौद्धिक और ऐहिक थी, फिर भी रहस्यवादका सूत्र वहाँ भी मिलता है। दार्शनिक पाइथागोरस रहस्यवादी था। आरफिक रहस्यवादी विविध रहस्योंसे सम्बन्धित कर्मकाण्ड किया करते थे। सुकरातके समाधि जैसी अवस्थामें जाने और दिव्य शक्तिसे पूरित हो उठनेका वर्णन मिलता है। प्लेटोने अपने सलापोंमें आरफिक रहस्यवादियोंका मजाक उडाया है और उनके कुछ विचारोंको स्वीकार भी किया है। प्लेटो स्वयं एक महान् रहस्यवादी था। अपने 'सिंपोसिअम' नामक संलापमें उसने रहस्यानुभूतिका प्रतीकात्मक वर्णन दिया है। प्लेटोके शिष्य प्लोटिनसकी भी गणना संसारके महान्

रहस्यवादियोंमें होती है। उनने रहस्यवादकी दार्शनिक पृष्ठभूमि दी और अरब तथा यूरोपके रहस्यवादियोंपर महान् तथा व्यापक प्रभाव डाला।

ईसाई धर्मके प्रवर्तक प्रभु ईसामसीहका जीवन आदर्श रहस्यवादीका जीवन है। उनके शब्द ईश्वरके प्रत्यक्ष साक्षात्कार और सान्निध्यजन्य अमित गम्भीरता और बलसे व्याप्त हैं। स्वयं बाइबिल रहस्यवादका एक श्रेष्ठ ग्रन्थ है। उसके एपिसिल्स नामक अंशोंमें ईश्वरके प्रत्यक्ष साक्षात्कारकी दिव्यानुभूतिका वर्णन है। सन्त पालकी श्रद्धा, आस्था और विश्वासका आधार यह दिव्य साक्षात्कार ही है। ईसाई धर्मके अन्तर्गत रहस्यवादी सन्त और साधक प्रायः सदैव ही होते रहे हैं। ईसाई रहस्यवादपर प्लोटिनस और नव्य प्लेटोवादियोंका बहुत प्रभाव पड़ा है। छद्मनामी डायोना-इसस, जान स्कोटस एरिजेना, क्लेरवोके बर्नार्ड, माइस्टर, एकहार्ट, होल्र, सूसो, टेरेसा, क्रूसाके निकोलस, ब्रूनो, साइलेसिअस, बोएम, दाँते, ब्लेक, क्रूसके सन्त जान, सेलसके फ्रांसिस, मैडम गुयाँ मोलिनोज आदिकी गणना प्रमुख ईसाई रहस्यवादियोंमें होती है।

इस्लाम धर्ममें रहस्यवादी साधनाका सूत्र स्वयं हजरत मुहम्मदके जीवनमें मिलता है। उन्होंने तापसी साधनों, रात्रिजागरण, व्रत, प्रार्थनाओं आदिकी उपयोगितापर बल दिया है। इन साधनोंका प्रयोग वे स्वयं भी करते थे। किन्तु एक आन्दोलनके रूपमें इसलामके अन्तर्गत रहस्य-वादका सूत्रपात सूफीवादमें हुआ। आरम्भिक सूफी इसलामसे घनिष्ठ रूपसे सम्बद्ध थे। आगे चलकर दूसरी शती हिजरीमें बसराकी महिला सन्त रबिआने रहस्यवादी प्रेमका सिद्धान्त प्रचारित किया। तदनन्तर ईश्वरके प्रति भक्ति और उससे मिलनके रहस्योंकी अभिव्यक्ति लौकिक प्रमाण और सुरापानकी शब्दावलीमें होने लगी। तीसरी शती हिजरीमें इसलामके ईश्वरवादके विरोधी सर्वेश्वरवादी सिद्धान्तका विकास हुआ। आगे चलकर सीरियामें अबू सुलेमान अल दारानीने ज्ञान और आनन्दके माध्यमसे रहस्यानुभूतिके सिद्धान्तकी स्थापना की। ईरानके अबू याजिद(८७४ ई०)ने सर्वेश्वरवाद स्वीकार करके फनाका सिद्धान्त प्रतिपादित किया। तीसरी शती हिजरीतक सूफी सम्प्रदाय (दे०) सुसंघटित हो गया। साधनाके पथ-प्रदर्शक ग्रन्थोंकी रचना हुई। साधनामें अनेक सीढ़ियाँ पार करनी होती हैं—प्रायश्चित्त, परिवर्जन, त्याग, दरिद्रता, धैर्य, ईश्वरमें विश्वास, ईश्वरेच्छामें सन्तोष आदि। इनके उपरान्त आध्यात्मिक अनुभूतिकी भय, आशा, प्रेम, ध्यान और साक्षात्कारकी दशाएँ आती हैं। सूफी साधनामें दरिद्रता, तप और पवित्रतायुक्त जीवन तथा सद्गुरुकी कृपा अनिवार्य है। गजाली, जलालुद्दीन रूमी, हाफिज, उमर खैयाम, निजामी, सादी और जामी प्रसिद्ध ईरानी सूफी कवि हैं। सूफियोंका प्रभाव भारतवर्षमें भी पड़ा और यहाँ भी अनेक प्रसिद्ध सूफी सन्त और कवि हुए हैं।

रहस्यवाद और रहस्यवादी साधनाका प्रमुख देश भारत है। अत्यन्त प्राचीन कालसे लेकर आधुनिक समयतक इस देशमें रहस्यवादी साधना होती रही है। वैदिक युगमें विशुद्ध रहस्यवादी साधना प्रमुख नहीं थी और ऋग्वेदमें उनके संकेत प्रचुर मात्रामें नहीं मिलते, किन्तु नर, ऋत और पुरुष सम्बन्धी विचारोंमें उनके बीज अवश्य उपलब्ध होते हैं। किन्तु उपनिषदें भारतीय रहस्यवादका हृदय हैं। उपनिषदें वह हिमालय हैं, जिनसे वेदान्तकी विविध गंगाओंकी धाराएँ प्रवाहित हुई हैं। उपनिषदोंमें ही परम तत्त्व और व्यष्टिकी आत्माके वास्तविक स्वरूपपर प्रकाश डाला गया है। वह परम तत्त्व एक और अद्वितीय, शान्त और अनन्त, सत्-चित्-आनन्द, अलक्षण और निर्विकार, समस्त जगत्का अधिष्ठान, ब्रह्म है। मनुष्यकी आत्मा भी ऐसी ही और उससे अभिन्न है। इसीलिए ऋषि श्वेतकेतुसे कहता है—'तत्त्वमसि'—वही तू है। उपनिषदोंमें कोई एक सुस्पष्ट दार्शनिक विचारधारा नहीं मिलती। शंकर, रामानुज, मध्व, वल्लभ, निम्बार्क आदि आचार्योंने अपनी-अपनी दार्शनिक मान्यताओंके अनुसार उपनिषदोंका भाष्य किया है। वस्तुतः उनमें सर्वेश्वरवाद, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत आदि सभी मतोंके अनुकूल उक्तियाँ मिल जाती हैं। किन्तु जहाँतक व्यावहारिक साधना-पक्षकी बात है, उपनिषदोंका आग्रह प्रत्यक्ष रहस्यानुभूति और ज्ञान प्राप्त करनेपर है। त्याग, वैराग्य, श्रद्धा, तप, पवित्र जीवन और योगाभ्यास साधनके रूपमें स्वीकार किये गये हैं। उपनिषदोंको मुख्यतया ज्ञानमार्ग, निर्गुण उपासनाका प्रतिपादक माना जाता है।

सगुणोपासक भक्ति-सम्प्रदायके रहस्यवादकी परम्परा भी बड़ी प्राचीन है। उपनिषदोंकी उपासनामें भक्तिपर विशेष बल नहीं दिया गया है, किन्तु भक्तिमार्ग आत्म-समर्पण और भक्तिके द्वारा उसी लक्ष्यपर पहुँचना चाहता है। 'भगवद्गीता'में भक्तिको बहुत महत्त्व दिया गया है और उसमें श्रीकृष्णने ज्ञानी भक्तको अपना सर्वाधिक प्रिय कहा है। दक्षिणके आलवार सन्तों और वैष्णव आचार्योंने सगुण रहस्यवादी साधनाका प्रचार देशभरमें कर दिया। मध्य-युगमें भक्ति-आन्दोलनका अभूतपूर्व प्रस्फुटन हुआ। वल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु, रामानन्द, तुलसीदास, सूरदास, मीराँबाई, तुकाराम, नरसी मेहता आदि प्रमुख मध्ययुगीन भक्त हैं।

मध्ययुगमें रहस्यवादकी निर्गुण शाखाका भी विशेष प्रस्फुटन हुआ। इसके प्रमुख प्रतिनिधि कबीर, नानक, रैदास, धर्मदास, दादू इत्यादि हैं। नाथ-सम्प्रदायकी परम्परामें गोरखनाथका नाम अग्रगण्य है।

आधुनिक कालमें भी भारतमें रहस्यवादकी धारा प्रवाहित रही है। भारतीय पुनरुत्थान-युगके अग्रणी राजा राममोहन राय औपनिषदिक रहस्यवादमें आस्था रखते थे। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर विख्यात रहस्यवादी साधक थे। रामकृष्ण परमहंसके प्रादुर्भावसे रहस्यात्मक साधनाको और भी बल प्राप्त हुआ। उनके प्रमुख शिष्य स्वामी विवेकानन्द तथा अन्य शिष्योंने उनका सन्देश देश-विदेशमें फिर विकसित किया। ब्राह्मसमाज भी ऐसी ही साधनाका पोषक था। उत्तरभारतमें स्वामी रामतीर्थ और ईसाई सन्त साधु सुन्दर सिंहके नाम इस सम्बन्धमें उल्लेखनीय हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर मर्मी साधक थे। दक्षिणमें श्री रमण महर्षिने निर्गुण रहस्यवादकी साधनाका मार्ग विशेष रूपसे आलोकित

किया। प्रयाग विश्वविद्यालयके दर्शन विभागके भूतपूर्व अध्यक्ष रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे अपने जीवन और साहित्यमें रहस्यवादका प्रतिपादन करते रहे। अरविन्दकी साधना-पद्धतिमें भी रहस्यवादके तत्त्व हैं। रहस्यवादी आधारपर स्थापित होनेवाला एक नया सम्प्रदाय राधास्वामी-मत है, जिसका प्रधान केन्द्र दयालबाग, आगरामें है।

रहस्यवादने समग्र मानवीय संस्कृतिपर व्यापक प्रभाव छोड़ा है। वस्तुतः वह मानवीय चेतनाके प्रमुख और उदात्ततम निर्णायक तत्त्वोंमेंसे है। उसने साहित्य और कलाको प्रेरणा दी है और संस्कृतिके निर्माणमें योग दिया है। रहस्यवादी भावनासे प्रेरित साहित्यका परिमाण विशाल है। पश्चिममें प्लेटोके तद्विषयक संलाप, प्लोटिनस-की कृतियाँ, दाँतेकी डिवाइन कॉमेडी, सन्तोंके आत्मचरित तथा साधनाविषयक ग्रन्थोंकी प्रचुर संख्या है। रहस्यानु-भूतिका वर्णन वर्ड्सवर्थ और टेनिसनकी कविताओंमें भी मिलता है। दूसरे महायुद्धके उपरान्त पश्चिमके बौद्धिकोंमें रहस्यवादके प्रति एक नयी अभिरुचि उत्पन्न हुई। इनमें एल्डस हक्सले और क्रिस्टोफर आइशर उडके नाम प्रमुख हैं। पूर्वमें रहस्यवादसे प्रेरित साहित्य और भी प्रचुर है। ईरानके सूफी कवियोंका नाम ऊपर लिया ही जा चुका है। भारतमें उपनिषद, 'ब्रह्मसूत्र' 'भगवद्गीता' तथा इन तीनोंपर विविध आचार्योंके भाष्य, 'योगवाशिष्ठ', 'महाभारत'के अंश, 'भक्तिसूत्र', 'श्रीमद्भागवत' आदि रहस्यवादके प्रसिद्ध प्राचीन ग्रन्थ हैं। शंकराचार्य तथा अन्य आचार्यों और विद्वानोंकी तत्सम्बन्धी कृतियोंकी संख्या प्रचुर है। यदि तन्त्रोंके उदात्त पक्षको रहस्यवादी साधना माना जा सके, तो विशाल तन्त्र-साहित्य भी इसके अन्तर्गत आ सकता है। हिन्दीके आरम्भिक कवि रहस्यवादी सिद्ध ही हैं। मध्ययुगमें निर्गुण और सगुण धाराओंके रहस्य-वादियोंकी कृतियाँ तो हिन्दी साहित्यकी अक्षय निधि हैं। कबीर, नानक, दादू, सूरदास, तुलसीदास, मीरॉबाई आदि सैकड़ों रहस्यवादी कवियोंने हिन्दी साहित्यको अमूल्य कृतियाँ दी हैं। अन्य भारतीय भाषाओंमें भी रहस्यवादका विशाल साहित्य है। आधुनिक कालमें रामकृष्ण परमहंसके उपदेश, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, रमण महर्षि अरविन्द, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, रामचन्द्र द० रानडे आदिकी कृतियोंसे भारतका रहस्यवादी साहित्य समृद्ध हुआ है। हिन्दीके क्षेत्रमें इधर कोई काव्य-प्रतिभा-सम्पन्न सच्चा रहस्यवादी साधक नहीं हुआ। रवीन्द्रनाथकी विश्वव्यापी ख्यातिसे प्रभावित होकर छायावादी युगमें कुछ कवियोंने रहस्यवादी शैलीमें कविता अवश्य की, किन्तु सच्ची अनुभूति और जीवनसे प्रेरित न होनेके कारण उसे कृत्रिम रहस्यवाद ही कहा जा सकता है। —आ०रा०शा०

रहस्यानुभूति–लौकिकतासे विमुख होकर जब किसी अज्ञात, रहस्यमय अलौकिक शक्तिके प्रति राग, उत्सुकता, विस्मय, जिज्ञासा, लालसा एवं मिलनानुभव व्यक्त किया जाने लगता है, तब उस अनुभव-वेद्य अवस्थाको रहस्यानुभूति की अवस्था कहते हैं। इसे दिव्यानुभूति भी कह सकते हैं, क्योंकि उसका सम्बन्ध अलौकिक शक्तिसे होता है। अंग्रेजोंमें इसे 'मिस्टिक फीलिंग' कहेंगे। ज्ञानी जिस रहस्यको साधनाके द्वारा सुलझाता है, अनुभूतिप्रवण उसीको निवेदन और रागानुभवके द्वारा प्रकट करता है। दोनों एक ही शक्तिको आलम्बन स्वीकार करते हैं, किन्तु दूसरा व्यक्ति उसमें अनेक रागात्मक सम्बन्ध जोड़कर विरहानुभूति भी व्यक्त करता है; कभी वह उसमें एकाकारिताका अनुभव करता है। यद्यपि रामचन्द्र शुक्ल इसे भारतीय काव्यमें रवीन्द्रनाथ ठाकुरके माध्यमसे यूरोपीय प्रभावमात्र मानते हैं और अलौकिक शक्तिके प्रति लालसाकी अभिव्यक्तिको झूठा या कृत्रिम रहस्यवाद मानते हैं, तथापि 'प्रसाद'ने इसे वैदिक कालसे आगत भारतीय विचारके रूपमें ही स्वीकार किया है। भारतीय सन्तों, सूफियों, रहस्यवादी कवियोंमें इस आध्यात्मिक रहस्यानुभूतिकी प्रभावशालिनी अभिव्यक्ति दीख पड़ती है। 'प्रसाद', पन्त, 'निराला' तथा महादेवी वर्मा आदि इस प्रकारके हिन्दी काव्यके प्रतिनिधि कवि हैं। —आ० प्र० दी०

रागानुरागसंबंधरूपा भक्ति–यह रागके द्वारा भगवान्-से सम्बन्ध स्थापित करानेवाली भक्ति है। रूप गोस्वामीने गौणी भक्तिके एक उपभेदके अन्तर्गत ही इस भक्ति-प्रकार-को रखा है (भ० र० सि० : पू० वि०, २ : ६२)। भक्त और भगवान्‌के मध्य, सम्बन्धके विचारसे इसके चार प्रकार हैं—(१) दास्य, (२) सख्य, (३) वात्सल्य, (४) दाम्पत्य। हनुमान्‌को दास्य, सुदामा, उद्धव और अर्जुनको सख्य, नन्द-यशोदाको वात्सल्य तथा राधा एवं रुक्मिणीको दाम्पत्य-भावका आदर्श माना जाता है (हिन्दी काव्यमें वर्णित इन भावोंके उदाहरणोंके लिए दे०—'आस-क्तियाँ')। —वि० मो० श०

राजचर्या–राजशेखरने अपने कविशिक्षा (दे०) ग्रन्थ 'काव्यमीमांसा'के दसवें अध्यायमें राजाओं द्वारा आयोजित कवि-परिषदोंका विस्तृत वर्णन किया है। राजशेखरका कहना है कि राजा लोग कवियों और काव्यों तथा अन्य विद्वानोंकी परीक्षाके लिए ब्रह्म-सभाका आयोजन करें। उज्जयिनीमें ऐसी ही ब्रह्म-सभाओंमें कालिदास, मेण्ठ, भारवि जैसे कवियोंकी परीक्षा हुई थी और पाटलिपुत्रकी सभाओंमें उपवर्ष, वर्ष, पाणिनि, पिंगल, व्याडि, वररुचि, पतंजलि जैसे आचार्योंकी परीक्षा हुई थी। इन परिषदोंसे तत्कालीन राजदरबारोंके वातावरणका आभास मिलता है और उनमें कवियोंके स्थानका रूप भी स्पष्ट होता है। —म० प्र० ल०

राजपथ–सुषुम्ना नाड़ी (दे० 'अवधूती')।

राजसी भक्ति–दे० 'गौणी भक्ति'।

राजस्थानी–राजस्थानकी बोलियोंका समूह; हिन्दीभाषी प्रदेशके सीमान्तपर अवस्थित है। राजस्थानी बोलियाँ मौलिक दृष्टिसे पश्चिमी हिन्दीसे बहुत भिन्न नहीं हैं। राजस्थानीकी चार बोलियाँ हैं—१. मेवाती—अहीरवाटी—यह अलवरमें तथा दिल्लीके दक्षिणके प्रदेशमें गुड़गाँवके आस-पास बोली जाती है। २. मालवी—इस बोलीका केन्द्र मालवा प्रदेश है। ३. जयपुरी–हाड़ौती–यह जयपुर, कोटा और बूँदीमें बोली जाती है। ४. मारवाड़ी–मेवाड़ी—यह मारवाड़ तथा मेवाड़ प्रदेशकी बोली है।

राजस्थानी प्रदेशकी साहित्यिक भाषा हिन्दी है तथा

मुद्रण आदिके लिए नागरी लिपिका प्रयोग होता है। राजस्थानके निवासी अपने व्यवहारमें नागरीके ही एक उपरूप महाजनीका प्रयोग करते हैं, जिसका प्रचार मारवाड़ियोंके व्यापारके साथ-साथ प्रायः समस्त उत्तर-भारतमें हो गया है। —सं०

राधावल्लभी संप्रदाय—मध्ययुगके कृष्णभक्ति-सम्प्रदायोंमें अन्यतम राधावल्लभी सम्प्रदायके संस्थापक गोसाईं हित हरिवंश थे। 'हित' उनका उपनाम था। इसलिए इस सम्प्रदायको **हरिवंशी सम्प्रदाय** भी कहते हैं। इस सम्प्रदायका कोई दार्शनिक मतवाद नहीं है, अतः यह केवल साधनमार्ग है; तात्त्विक दृष्टिसे इसके अनुयायियोंने भी बहुत दिनोंतक कोई विचार नहीं प्रकट किये। इसके सम्बन्धमें जो भी जानकारी प्राप्त हो सकती है, वह हित हरिवंशकी रचनाओं—'हित-चौरासी' और 'राधा-सुधा-निधि' (संस्कृत)से अथवा उनके अनुयायी हरिराम व्यास और ध्रुवदासकी रचनाओंसे। नाभादासने 'भक्तमाल'में हरिवंश गोसाईंकी भजनकी रीतिको अत्यन्त गूढ़ और रहस्यमयी कहा है। इसे वस्तुतः भलीभाँति तो वही जान सकता है, जो इनके पन्थका अनुयायी हो। नाभादास केवल इतना जानते हैं कि इसमें विधि और निषेधके लिए कोई स्थान नहीं है। राधाके चरणोंकी उपासना और राधा-कृष्णके केलि-कुंजकी खवासी—चाकरी करना ही भक्तका एकमात्र कर्तव्य है (भक्तमाल, छ० ९०)। प्रियादासने भी 'भक्तमाल'के इस कथनकी टीका करते हुए कहा है कि 'हित'जीकी रीतिको कोई लाखोंमें एक जान पाता है। इस भक्तिमार्गमें राधाको ही प्रधानता दी जाती है, कृष्णका ध्यान उसके बाद किया जाता है। इस भक्तिका भाव अत्यन्त विकट है। स्वभावकी अनुकूलता तथा कृपाकी प्राप्तिसे ही उसे प्राप्त किया जा सकता है। प्रेमकी ही उसमें प्रधानता है, जिससे विधि और निषेध उपेक्षणीय हैं।

राधावल्लभी सम्प्रदायके साहित्यमें अध्यात्मपक्षका विवेचन बहुत कम हुआ है, भक्तिका प्रकाशनमात्र उसमें मिलता है। कवियोंने राधा-कृष्णकी कुंज-क्रीड़ा और सुख-विलासका ही मधुर और ललित चित्रण किया है। कर्म और ज्ञान-मार्गका इसमें स्पष्टतया खण्डन करके प्रेम-भक्तिका प्रतिपादन किया गया है। भक्तके लिए यही अपेक्षित है कि राधा-कृष्णकी नित्य-केलिका सतत ध्यान करता हुआ आनन्दमग्न रहे। राधावल्लभी मतमें केवल संयोग-सुखकी लीला ही स्वीकृत है, वियोगकी भावना मान्य नहीं है। निकुंज-लीलाका मनन ही परम रस माधुरी भाव है। इसी भावका चित्रण 'हित-चौरासी' तथा सम्प्रदायके अन्य ग्रन्थोंमें हुआ है।

सम्प्रदायकी पारिभाषिक शब्दावलीमें 'हित' शब्द सबसे महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है मांगलिक प्रेम जो परात्पर-तत्त्व है, अद्वय है, युगलरूप है, श्यामा-श्याम या राधा-कृष्ण है। राधा-कृष्ण अभिन्न तत्त्व हैं, वे प्रेमरूप हैं, प्रेमके कारण भी हैं और कार्य भी, वे जलतरंगकी तरह एक-दूसरेमें ओतप्रोत हैं। हरिवंशने अपना रस-सिद्धान्त बताते हुए कहा है—"यत्किंचिद् दृश्यते सृष्टौ सर्व हितमयं विदुः," अर्थात् सृष्टिमें जो कुछ जड-चेतन दिखाई देता है, वह सब एक ही वस्तु 'हित' प्रेम समझो। प्रेम-तत्त्वके अतिरिक्त अन्य किसीकी भी सत्ता हरिवंश स्वीकार नहीं करते। उन्हें सर्वत्र अपनी प्रेम-स्वरूपा आराध्याका ही दर्शन होता है—"सर्वान् वस्तुतया निरीक्ष्य परमं स्वाराध्य बुद्धिर्मम"। 'हित'जीका यह प्रेमाद्वैतका सिद्धान्त श्रुतिके 'रसो वै सः' वचनसे समर्थन पा सकता है। इस रसरूप ब्रह्मका अवतार श्रीकृष्ण ही हैं और उनका पूर्ण रस-रूप राधाके साथ मधुर केलिमें ही प्रकट होता है। राधावल्लभका यह रसमय रूप दो प्रकारका होता है—एक व्रज-रस और दूसरा निकुंज-रस। व्रज-रसमें गोपियोंका उपपति-प्रेम (जार-प्रेम) होता है, अर्थात् यह रस परकीया-भावका होता है। यह केवल अवतार-दशामें प्रकट होता है, अतः यह अनित्य है। इससे भिन्न निकुंज रस नित्य अखण्ड, सदा एकरस रहनेवाला है। उसमें 'स्व' और 'पर'का कोई भेद नहीं है। वह 'रस' केवल वृन्दावनमें दृष्टिगोचर होता है, अतः उस नित्य रसको 'श्रीवृन्दावन-रस' भी कहते हैं। श्रीवृन्दावनरति उसका स्थायी भाव है। परम तत्त्व—रस-रूप राधावल्लभ ही नित्य, सत्य और सच्चिदानन्दघन हैं। सौन्दर्य, माधुर्य रस और आनन्दकी वे सीमा हैं। वे ही परब्रह्म—ब्रह्मके भी ब्रह्म हैं। वे अवतारी हैं, अवतार नहीं; अग्निस्फुलिंगवत् सब अवतार उन्हींसे निःसृत होते हैं। सृष्टि, पालन और प्रलयसे उन्हें कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि वे नित्य रस-मग्न हुए निज-रूपा स्वामिनी श्रीराधाके साथ नित्य आनन्द-विहार करते रहते हैं। 'हित'जीके अनुसार राधा और कृष्ण अद्वय हैं, एक ही तत्त्व हैं। राधा ही नहीं, विहारके अन्य अंग वृन्दावन तथा सखियाँ भी अभिन्न हैं, एक प्रेम-तत्त्वरूप हैं। इस नित्य विहारमें विरहकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। यह विहार दिव्य धाम श्रीवृन्दावनमें अनादि-अनन्त रूपसे निरन्तर होता रहता है। श्रीकृष्ण, राधा और सखियोंकी तरह वृन्दावन भी स्थूल और सूक्ष्म दोनोंसे परे, अनिर्वचनीय है। इस प्रकार इस मतमें 'हित' ही ब्रह्म है, जड-जंगम समस्त सृष्टि भी 'हित'का ही स्थूल रूप है, अर्थात् वह नित्य 'हित' इन नाना स्थावर-जंगम रूपोंमें जडता संचारी भावको प्राप्त हो गया है। वस्तुतः सभी जीव और जड सृष्टि उसी एक 'हित-मित्र' प्रेमतत्त्वके चित्रमात्र हैं।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, राधावल्लभी मतमें वियोग मान्य नहीं है, उसके अनुसार परकीया और स्वकीया, दोनों भाव अपूर्ण हैं, क्योंकि स्वकीयामें मिलनका ही सुख है, विरह नहीं है तथा परकीया भावमें मिलनका पूर्ण सुख नहीं है। ये दोनों भावनाएँ एकदेशीय और एकांगी हैं। हरिवंशने सारस और चकईके संवादमें इन दोनों भावोंकी न्यूनता प्रदर्शित की है। प्रियके विरहमें भी चकईका जीवित रहना प्रेमकी न्यूनताका द्योतक है तथा सारसका नित्य मिलन-सुखका प्रेम विरहानुभवके बिना एकांगी है। हरिवंशके अनुसार प्रेमकी पूर्णता वह है, जिसमें मिलनावस्थामें भी विरहकी उत्सुकता और आकांक्षा बनी रहे, जिससे प्रेमकी लवलेशमात्र क्षीणता न हो, प्रत्युत वह नित्य नूतन होता रहे, उसमें निरन्तर आकांक्षा और उमंगकी लहरें उठती रहें। उन्होंने उसे 'प्रेम विरहा' नामसे अभिहित

किया है; मिलनमें विरहका भाव नित्य अतृप्तिके अनुभवसे जाग्रत् रहे। अवियुक्त मिलनमें भी सदैव यह अनुभव होता रहे कि कभी मिले ही नहीं, यही 'प्रेम विरहा'की स्थिति है।

राधावल्लभी मतमें कृष्ण और राधा पुरुष और प्रकृतिरूप हैं। नित्य-विहारी श्रीकृष्ण एकमात्र पुरुष हैं तथा उनकी निजरूपा 'ह्लादिनी' प्रेमशक्ति राधा परम प्रकृति है। समस्त जगत् इन्हीं युगलकिशोरका प्रतिबिम्ब है। राधा ही जड़ और जीव, दोनों प्रकारकी प्रकृतिमें सर्वत्र व्याप्त है। वे ही सखी हैं, वे ही गोपी। समस्त जीव प्रेम-रूपा गोपी ही हैं। उनमें वे दिव्य गुण विद्यमान हैं, जो श्रीकृष्णकी अभिन्न-तत्त्व सखियोंमें हैं। केवल वे निज-स्वरूपको भूल गये हैं, इसी कारण जन्म-मरणके भ्रममें पड़ गये हैं। निज-स्वरूपके स्मृति-भावसे वे प्रेम रूपको प्राप्त कर सकते हैं। निजरूपका स्मरण कैसे हो सकता है, इसके लिए बताया गया है कि प्रेम-रसकी साधनामें भक्तके दो शरीर होते हैं—एक साधन-शरीर, दूसरा सिद्ध या दिव्य शरीर। साधन-शरीरके द्वारा मनमें प्रेमभावको दृढ़ करनेका उपाय किया जा सकता है। वह उपाय यह है कि भक्त मनमें अपने किसी दिव्य शरीरकी भावना करता रहे। परम सौन्दर्य और माधुर्यके आगार श्रीकृष्णकी अपार लावण्यमयी सखीके रूपके शारीरिक सौन्दर्य, मनोहर वस्त्राभरण तथा हार्दिक अनुरागका ध्यान करते हुए अपने ऊपर उसका पूर्ण भावसे आरोप करनेसे ही यह सम्भव हो सकता है। अतः राधा-वल्लभी भक्ति-पद्धतिमें इसी सखी-भावका विधान किया गया है। किशोरीरूपमें अपनेको कल्पित करनेसे ही युगल-किशोरकी रस-भावना सम्भव है। भक्त स्वामिनीजीके पार्श्व-में पहुँचनेके लिए उन्हींके समान स्वरूपानुसन्धान करता है और अपनेको उनकी चतुर सुकुमारी किशोरी परिचारिका बनाकर धन्य मानता है। यही स्वरूपानुसन्धान भक्तका दिव्य या सिद्ध शरीर है। इसीके आधारपर राधावल्लभलाल-की रस-लीलासे पूर्ण साधर्म्य स्थापित हो सकता है। इसी रूपमें भक्त आकांक्षा करता है कि जो रस श्यामा-श्याममें प्रवाहित रहता है, उसका एक कण मेरे हृदयमें भी प्रस्फु-टित हो जाय।

हित हरिवंश (सन् १५०२-१५५२ ई०) श्रीकृष्णकी वंशी-के अवतार कहे जाते हैं। पहले वे मध्व-सम्प्रदायके अनुयायी थे, फिर निम्बार्क-सम्प्रदायमें सम्मिलित हुए। एक बार जब वे अपने निवासस्थान देवबन्द (सहारनपुर)से वृन्दावन जा रहे थे तो रास्तेमें एक ब्राह्मणने उन्हें अपनी दो कन्याएँ और एक कृष्णमूर्ति भेंट की। वृन्दावन आकर उन्होंने राधावल्लभ नामसे उस मूर्तिको स्थापित किया और उसपर एक मन्दिर बनवाया। कहते हैं, स्वयं श्रीराधिकाजीने इन्हें वृन्दावन आकर स्वतन्त्र सम्प्रदाय स्थापित करनेका स्वप्नमें आदेश दिया था। सन् १५३४ ई०में राधावल्लभकी मूर्तिका 'पट-महोत्सव' हुआ और उसके बाद इन्होंने अपनी राधा-वल्लभीय भक्ति-पद्धतिका संघटित प्रचार प्रारम्भ किया। ठेठ ब्रजका यह कृष्णभक्ति-सम्प्रदाय अपने प्रभाव और प्रसारमें कदाचित् वल्लभ-सम्प्रदायके बाद ही आता है। इसने भी काव्य, संगीत और प्रसाधनकला आदिको संरक्षण और प्रोत्साहन दिया तथा भक्तिकालीन समृद्धिमें अन्यतम योग दिया। 'हित-चौरासी' काव्यकी दृष्टिसे भी उच्च कोटिकी रचना है। हित हरिवंशके भक्तिपूर्ण व्यक्तित्वका इतना प्रभाव था कि गौडीय वैष्णव सम्प्रदायके अनुयायी हरिराम व्यास (अनुमानतः सन् १४९२-१५९३ ई०), जो संस्कृतज्ञ शास्त्रार्थी विद्वान् थे, राधावल्लभी मतमें सम्मिलित हो गये। उनकी रचनाका सम्प्रदायकी दृष्टिसे भी महत्त्व है और साहित्यिक दृष्टिसे भी। इसी प्रकार ध्रुवदास (अनुमानतः १५७३-१६४३ ई०) स्वप्नमें ही हितजीके शिष्य बन गये थे। इनके छोटे-बड़े चालीस ग्रन्थ मिले हैं, जिनका माधुर्य भक्तिके प्रचारमें महत्त्वपूर्ण योग रहा है। राधावल्लभी मतके कुछ प्रसिद्ध भक्त कवि रीतिकालमें भी हुए हैं, जिनमें चाचा हित वृन्दावनदास (अनुमानतः १७००-१७८७) और श्री हठीजी अधिक प्रसिद्ध हैं। हित वृन्दावनदासके बीस हजार पद और छन्द मिले हैं। गुण और परिमाण, दोनों दृष्टियोंसे इस सम्प्रदायने ब्रजभाषा-काव्यमें महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

[सहायक ग्रन्थ—हित-चौरासी और राधासुधानिधि : हित हरिवंश; व्यासवाणी : हरिराम व्यास; भागवत सम्प्र-दाय : बलदेव उपाध्याय; अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय : दीनदयालु गुप्त; राधावल्लभ-सम्प्रदाय—सिद्धान्त और साहित्य : विजयेन्द्र स्नातक।] 			—व्र० व०

राधिका—एक छन्द विशेष।

राम—रामका शाब्दिक अर्थ है—जिसमें सभी देवता रमण करें, यानी परब्रह्म, परम शक्ति (अध्यात्मरामायण)। बादमें परब्रह्मके अवतारके रूपमें रामकी प्रतिष्ठा हुई (पौराणिक कालमें) और वाल्मीकि रामायणमें वर्णित दशरथ-पुत्र राम-के साथ इसकी अभिन्नता प्रतिपादित की जाने लगी। हिन्दीमें अधिकांशतः रामकी इसी रूपमें प्रतिष्ठा हुई। तुलसीने अपने 'रामचरितमानस' ग्रन्थमें रामकी मर्यादा-पुरुषोत्तमके रूपमें प्रतिष्ठा की और सम्पूर्ण राम-काव्यमें रामका यही अर्थ ग्रहण किया गया। निर्गुण परम्परा और विशेषतः कबीरने रामसे परब्रह्मका अर्थ ग्रहण किया है—"कस्तूरी कुण्डली बसे, मृग ढूँढे बन माँहि। ऐसे घट-घट राम हैं, दुनियाँ देखे नाहिं"। 			—क० शु०

रामकथा—वैदिक कालके पश्चात् सम्भवतः छठी शताब्दी ई० पू०में इक्ष्वाकुवंशके सूतों द्वारा ऐतिहासिक घटनाओं-के आधारपर रामकथा-विषयक गाथाओंकी सृष्टि होने लगी थी। इसके फलस्वरूप चौथी शताब्दी ई० पू०तक रामका चरित्र लेकर स्फुट आख्यान-काव्यका प्रचुर साहित्य उत्पन्न हुआ था, जो कोशल प्रदेशतक सीमित न रहकर उत्तर-भारतमें फैलने लगा था। उस समय आदिकवि वाल्मीकिने इस आख्यान-काव्यके आधारपर एक विस्तृत प्रबन्ध-काव्य-की रचना की, जिसमें रामके निर्वासनसे लेकर अयोध्यामें उनके प्रत्यागमनतक अर्थात् प्रचलित रामायणके अयोध्या-काण्डसे लेकर युद्धकाण्डतककी कथा-वस्तुका वर्णन था। आदि रामायण नर-काव्य ही था, इसमें राम आदर्श मानव और वीर क्षत्रियके रूपमें प्रस्तुत किये थे।

वाल्मीकिकृत आदिरामायणका रूप स्थिर नहीं रह सका। वह कई शताब्दियोंतक मौखिक रूपसे ही प्रचलित

था। अतः काव्योपजीवी कुशीलव अपने श्रोताओंकी रुचिका ध्यान रखकर लोकप्रिय अंश बढ़ाने तथा कथानकमें नवीन सामग्री, विशेषकर अद्भुत रसकी सामग्रीका समावेश करने लगे। प्रमुख प्रक्षेप ये हैं—कनकमृगका वृत्तान्त, लंकादहन, हनुमान्‌का औषध-पर्वत ले आना, सीताकी अग्नि-परीक्षा। इसके अतिरिक्त राम कौन थे; सीता कौन थीं, इनका जन्म और विवाह कहाँ, कब और किस प्रकार हुआ था, रावण कौन था, रावण-वधके बाद राम-सीताका जीवन कैसा बीता, उनके कौन-कौन सन्तति उत्पन्न हुई, आदि—ये अत्यन्त स्वाभाविक प्रश्न थे। जनताकी इस जिज्ञासाको सन्तुष्ट करनेके उद्देश्यसे बालकाण्ड और उत्तरकाण्डके प्रारम्भिक रूपकी रचना कर ली गयी। इस प्रकार हम देखते हैं कि विकासका प्रथम सोपान यह है कि रामकथा रामका अयन, अर्थात् रामका पर्यटन न रहकर पूर्ण रामचरितके रूपमें परिणत हुई।

अवतारवादकी भावना पहले-पहल 'शतपथब्राह्मण'में परिलक्षित होती है। प्रारम्भमें विष्णुकी अपेक्षा प्रजापतिको इस सम्बन्धमें अधिक महत्त्व दिया जाता था। बादमें वासुदेव-कृष्ण विष्णुके अवतार माने जाने लगे, जिसके फलस्वरूप अवतारवादको बहुत प्रोत्साहन मिला। साथ-साथ विष्णुका महत्त्व बढ़ने लगा और अवतारवादकी सारी भावना धीरे-धीरे विष्णुमें केन्द्रीभूत होने लगी। दूसरी ओर रामकथाके प्रसारके साथ-साथ रामका महत्त्व भी बढ़ने लगा था। परिणाम यह हुआ कि सम्भवतः पहली शताब्दी ई० पू०से लेकर राम और उनके भाई विष्णुके अंशावतार माने जाने लगे। अतः रामायणके कई स्थलोंपर रामावतार-विषयक सामग्री और बालकाण्ड तथा उत्तरकाण्डमें बहुत-सी पौराणिक कथाएँ प्रक्षिप्त की गयीं—इस तरह प्रचलित वाल्मीकि-रामायणका वर्तमान रूप उत्पन्न आ।

रामकथाकी लोकप्रियता ध्यानमें रखकर बौद्धों और जैनियोंने भी रामको अपने-अपने धर्ममें एक महत्त्वपूर्ण स्थान दिलाया। इस प्रकार रामकथा भारतीय संस्कृतिमें इतनी व्याप्त हो गयी कि रामको उस समयके तीन प्रचलित धर्मोंमें एक निश्चित स्थान मिला—ब्राह्मण-धर्ममें विष्णुके अवतारके रूपमें, बौद्ध धर्ममें बोधिसत्त्वके रूपमें और जैन धर्ममें आठवें बलदेवके रूपमें, जो त्रिषष्टि महापुरुषोंमेंसे एक हैं।

अवतारवादके कारण रामकथामें अलौकिकताकी मात्रा अवश्य धीरे-धीरे बढ़ने लगी, फिर भी इसका प्रमुख दृष्टिकोण धार्मिक न बनकर शताब्दियोंतक साहित्यिक ही रहा। अतः एक ओर बारहवीं शताब्दीतकके धार्मिक साहित्यमें रामकथाका स्थान अपेक्षाकृत गौण है, दूसरी ओर भारतीय तथा भारतके निकटवर्ती देशोंके ललित साहित्यमें इसकी व्यापकता अद्वितीय है (दे० 'रामकाव्य')। इन बहुविध साहित्यिक रचनाओंमें 'आदिरामायण'की आधिकारिक कथावस्तुमें प्रायः कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किया गया है। लेकिन बालकाण्ड तथा उत्तरकाण्डके कथानकका अत्यधिक विकास हुआ, उदाहरणार्थ—सीता और हनुमान्‌की विभिन्न जन्म-कथाएँ, सीतात्याग, कुश-लवचरित तथा रामकथाके निर्वहणके विविध रूप।

अतः विकासका द्वितीय सोपान यह है कि रामकथा, आदर्श क्षत्रिय रामका चरित्र न रहकर, विष्णुकी अवतार-लीलामें परिणत हुई और उसी रूपमें किंचित् परिवर्तन तथा पर्याप्त परिवर्द्धन सहित समस्त भारत तथा इसके निकटवर्ती देशोंमें फैल गयी।

बारहवीं शताब्दी ई०के बाद रामभक्ति पूर्ण रूपमें पल्लवित होकर रामकथाके स्वरूपपर प्रभाव डालने लगी (दे० 'रामभक्ति')। १४वीं शताब्दी ई० से लेकर समस्त भारतीय रामकथा-साहित्य भक्ति-भावसे ओत-प्रोत है। उस समयके पूर्व ही रामकथा विदेशमें फैल गयी थी, अतः विदेशी रामकथा-साहित्यमें भक्तिका अभाव है दे० 'रामकाव्य')। उस भक्तिभावके फलस्वरूप रामकथाका वातावरण बदलने लगा। प्रारम्भमें राम, भरत आदि चारों भाई विष्णुके अंशावतार थे, अब राम परब्रह्मके पूर्णावतार माने जाने लगे और लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न क्रमशः शेष, शंख तथा सुदर्शनके अवतार। सीता पहले लक्ष्मी अवतार, किन्तु बादमें परा शक्ति अथवा मूल प्रकृतिके रूपमें स्वीकृत होने लगी।

रामकथाकी आधिकारिक कथावस्तुमें भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होने लगे। सीता राक्षसके वश में हुई थीं, यह विचार भक्तोंको असह्य और असम्भव हुआ, अतः उपास्य देवीकी मर्यादाकी रक्षाके लिए भक्तिभावने सीताकी एक छायामात्रका हरण स्वीकार किया। मूल रामकथामें रावणने कामवासनासे प्रेरित होकर सीताहरण किया था और दण्डस्वरूप वह राम द्वारा मारा गया था। रामकथाके विकासके द्वितीय सोपानमें दुष्ट राक्षस रावणका नाश ही रामावतारका उद्देश्य है। रामभक्तिके पूर्ण पल्लवित होनेके साथ यह भावना उत्पन्न हुई कि जो कोई राम द्वारा मारा जाय, वह रामका पद प्राप्त कर लेता है, अतः यह माना गया कि रावणने मोक्ष पानेके उद्देश्यसे सीताका अपहरण किया था तथा रामके हाथसे मरकर सायुज्य मुक्ति प्राप्त की थी। इसी तरह कथानकके अन्य गौण प्रसंगोंका दृष्टिकोण भी बदल गया तथा विभिन्न पात्रोंकी उग्रता तथा कुटिलता रामभक्तिमें लीन कर दी गयी है।

अतः रामभक्तिके प्रादुर्भावके पश्चात् रामकथाकी सम्पूर्ण कथावस्तुका वर्णन एक नवीन दृष्टिकोणसे किया गया है। यह रामकथाके विकासका तृतीय सोपान है—विष्णुकी अवतार-लीलामात्र न रहकर रामकथा भक्तवत्सल भगवान् रामके गुण-कीर्तनमें परिणत हुई।

इस प्रकार रामकथा अनेक रूप धारण करते हुए शनैः-शनैः सम्पूर्ण भारतीय साहित्य तथा निकटवर्ती देशोंमें भी फैलकर एशियाई संस्कृतिका एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व बन गयी है। कारण यह है कि मानव-हृदयको द्रवीभूत करनेकी जो शक्ति रामकथामें है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसके अतिरिक्त रामकथामें लोकसंग्रहकी भावना आदर्शप्रिय भारतीय जनताको शताब्दियोंसे प्रभावित करती चली आ रही है। भारतकी समस्त आदर्श-भावनाएँ रामकथामें, विशेषकर मर्यादापुरुषोत्तम राम तथा पतिव्रता सीताके चरित्र-चित्रणमें केन्द्रीभूत हो गयी हैं। फलस्वरूप राम-

कथा भारतीय संस्कृतिके आदर्शवादका उज्ज्वलतम प्रतीक बनकर भारतकी जनताके लिए अत्यन्त कल्याणकारी सिद्ध हुई है।

[सहायक ग्रन्थ—रामकथा : कामिल बुल्के।]—का०बु०

रामकहानी–दे० 'आत्मकथा'।

रामकाव्य–आदिकवि वाल्मीकिके अनेक शताब्दियों पूर्व रामकथाको लेकर आख्यान-काव्यकी सृष्टि होने लगी थी, किन्तु वह साहित्य अप्राप्य है। अतः वाल्मीकिकृत रामायण प्राचीनतम उपलब्ध रामकाव्य है, इसकी रचना सम्भवतः चौथी शताब्दी ई० पू०के अन्तमें हुई थी। बहुत समयतक मौखिक रूपमें प्रचलित रहनेके कारण इसका रूप स्थिर नहीं रह सका, रामकथाके प्रारम्भिक विकासके साथ-साथ इसमें परिवर्तन तथा परिवर्द्धन किया गया है। समस्त बालकाण्ड तथा उत्तरकाण्डके अतिरिक्त अन्य काण्डोंमें भी बहुत-सी प्रक्षिप्त सामग्रीका समावेश हुआ, यहाँतक कि 'आदिरामायण'का कलेवर कम-से-कम दूना हो गया (दे० 'रामकथा')। प्रचलित 'वाल्मीकिरामायण'के तीन भिन्न पाठ मिलते हैं—१. दाक्षिणात्य पाठ (गुजराती प्रिण्टिंग प्रेस, बम्बई तथा दक्षिणके संस्करण)। २. गौडीय पाठ (गोरेसियो द्वारा सम्पादित तथा पेरिसमें सन् १८४३ ई०में प्रकाशित, कलकत्ता संस्कृत सिरीजका संस्करण)। ३. पश्चिमोत्तरीय पाठ (दयानन्द महाविद्यालय, लाहौरका संस्करण)। प्रत्येक पाठमें बहुतसे श्लोक, बड़े-बड़े अवतरण तथा पूरे सर्गतक ऐसे हैं, जो किसी एक या अन्य दो पाठोंमें नहीं पाये जाते। इसके अतिरिक्त जो श्लोक दो या तीन पाठोंमें मिलते हैं, उनमें भी पर्याप्त मात्रामें अन्तर है तथा श्लोकोंका क्रम भी दो अथवा तीनों पाठोंमें अलग-अलग है। इस वैभिन्यका कारण यह है कि वाल्मीकिके कई शताब्दियों बाद रामायणको अलग परम्पराओंके आधारपर लिपिबद्ध किया गया है। पाठोंके तुलनात्मक अध्ययनसे पता चलता है कि गौड़ीय तथा पश्चिमोत्तरीय पाठोंमें अपेक्षाकृत अधिक समानता पायी जाती है। इन दोनोंमें दाक्षिणात्य पाठके बहुतसे आर्ष प्रयोग एक ही तरहसे सुधारे गये हैं और बहुतसे अन्य स्थलोंपर भी दोनोंका पाठ दाक्षिणात्य संस्करणसे भिन्न होते हुए भी एक है। अतः प्रतीत होता है कि प्रारम्भमें सम्भवतः पहली शताब्दी ई०से रामायणके दो पाठ धीरे-धीरे भिन्न होने लगे थे–उदीच्य तथा दाक्षिणात्य। बादमें उदीच्य पाठने दो शाखाओंमें विभक्त होकर गौड़ीय तथा पश्चिमोत्तरीय पाठोंको जन्म दिया। यद्यपि इन तीनों पाठोंमें पर्याप्त मात्रामें अन्तर पाये जाते हैं, फिर भी आधिकारिक कथावस्तुके दृष्टिकोणसे वे गौण ही हैं (दे० 'वाल्मीकि रामायणके तीन पाठ'—'नागरीप्रचारिणी पत्रिका', वर्ष ५८, अंक १-२, पृ० १-३५)।

वाल्मीकिकी प्रतिभाने रामकथाको एक ऐसा चित्ताकर्षक तथा मर्मस्पर्शी रूप प्रदान किया था कि आगे चलकर भारतकी काव्यधारा रामकथाको लेकर चलती रही। इसके अतिरिक्त निकटवर्ती देशोंमें भी प्रचुर रामकाव्यकी सृष्टि हुई है। प्रस्तुत परिचयमें क्रमशः बौद्ध तथा जैन साहित्य, संस्कृत-प्राकृत-ललित साहित्य, अन्य भारतीय भाषाओंके साहित्य और विदेशी साहित्यमें रामकाव्यका सिंहावलोकन किया जायगा।

बौद्धोंने ईसवी सन्के कई शताब्दियों पूर्व रामको बोधिसत्त्व मानकर, रामकाव्यको अपने जातक-साहित्यमें स्थान दिया है। इस प्रकार 'दशरथजातक', 'अनामकं जातकम्' तथा 'दशरथकथानकम्', ये तीन जातक उत्पन्न हुए। इनका मूल स्रोत सम्भवतः रामकथा सम्बन्धी प्राचीन आख्यान-काव्य है। आगे चलकर बौद्धोंमें रामकथाकी लोकप्रियता घटने लगी, अतः अर्वाचीन बौद्ध साहित्यमें रामकाव्यका अभाव है।

बौद्धोंकी भाँति जैनियोंने भी रामकथाको अपनाया, लेकिन जैन साहित्यमें इसकी लोकप्रियता शताब्दियोंतक बनी रही, जिसके फलस्वरूप एक अत्यन्त विस्तृत जैन रामकाव्यकी सृष्टि हुई। विमल सूरिने पहले-पहल ईसवी सन्की तीसरी शताब्दीमें 'पउमचरिय' (प्राकृतमें) लिखकर रामकथाको जैन धर्मके साँचेमें ढालनेका प्रयत्न किया। इसका संस्कृत रूपान्तर रविषेणने सन् ६६० ई०में किया था, जो 'पद्मचरित'के नामसे प्रसिद्ध है (हिन्दी खड़ीबोली-गद्यके इतिहासमें इस 'पद्मचरित'का स्थान महत्त्वपूर्ण है—संवत् १८१८में दौलतरामने इसका भाषामें अनुवाद किया)। आगे चलकर जैन कवियोंने रविषेणके आधारपर रामकाव्यकी रचना की है। प्रमुख काव्य-ग्रन्थ इस प्रकार हैं—संस्कृतमें हेमचन्द्रकृत 'जैन रामायण' (१२वीं श० ई०); जिनदासकृत 'रामपुराण' (१५वीं शताब्दी ई०) तथा पद्मदेवविजयगणिकृत 'रामचरित' (१६वीं श० ई०), अपभ्रंशमें स्वयंभूदेवकृत 'पउमचरिय' (८वीं श० ई०), कन्नड भाषामें नागचन्द्रकृत 'पम्परामायण' (११वीं श० ई०), कुमुदेन्दुकृत 'रामायण' (१३वीं श० ई०) तथा देवप्पकृत 'रामविजयचरित' (१६वीं श० ई०)।

जैन रामकथाका एक दूसरा रूप हमें पहले-पहल गुणभद्रकृत 'उत्तरपुराण' (९वीं श० ई०)में मिलता है। इसके आधारपर भी संस्कृत, प्राकृत तथा कन्नडमें बहुतसे ग्रन्थोंकी रचना हुई है।

संस्कृत ललित साहित्यके स्वर्णकालमें अधिकांश कवियोंने रामकथाके आधारपर महाकाव्यों अथवा नाटकोंकी सृष्टि की है। बादमें संस्कृत साहित्य बहुत-कुछ निर्जीव कृत्रिमताकी शृंखलाओंमें बँध गया, किन्तु रामकथा-विषयक श्लेषकाव्य, विलोमकाव्य, चित्रकाव्य तथा शृंगारिक खण्डकाव्य इस बातका प्रमाण देते हैं कि रामकथाकी लोकप्रियता अक्षुण्ण रही।

रामकथा सम्बन्धी प्राचीन महाकाव्योंमें वाल्मीकीय कथानकको ही आधार माना गया है। उन रचनाओंकी एक सामान्य विशेषता यह है कि रामायणकी अपेक्षा उनमें शृंगारको अधिक स्थान मिला है। 'सेतुबन्ध' तथा 'भट्टिकाव्य'में यह वर्णन राक्षसोंकी शृंगार-चेष्टाओंतक सीमित रहा, किन्तु 'जानकीहरण'में राम-सीताका सम्भोग-वर्णन भी 'कुमारसम्भव'के अनुकरणपर किया गया है। निम्नलिखित महाकाव्य अधिक महत्त्वपूर्ण हैं—कालिदासकृत 'रघुवंश'में समस्त रामचरितके अतिरिक्त अन्य रघुवंशीय राजाओंका भी चरित्र वर्णित है। फिर भी रामको इस महाकाव्यका प्रधान नायक माना जा सकता है। यद्यपि

कालिदासने परम्परागत कथानकमें कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किया, फिर भी उनकी प्रतिभाने एक मौलिक युक्ति द्वारा उनको वाल्मीकिके अन्धानुकरणसे बचा लिया है। अयोध्याको लौटते समय राम पुष्पकपर बैठकर सीताको वनवासके स्थल दिखलाते हैं और अतीतके सुख-दुःखका स्मरण दिलाकर रामकथाकी कथावस्तुका एक मर्मस्पर्शी, करुण रससे ओतप्रोत चित्र प्रस्तुत करते हैं। बादके रामकाव्यमें इस युक्तिका बहुत अनुकरण किया गया है। महाराष्ट्री प्राकृतमें लिखित 'रावणवह' अथवा 'सेतुबन्ध'की रचना सम्भवतः कश्मीरमें राजा प्रवरसेन अथवा उनके दरबारमें किसी कवि द्वारा, ५वीं अथवा ६ठी शताब्दी ई०में हुई थी। इसके १५ सर्गोंमें रामायणके युद्धकाण्डकी कथावस्तुका अलंकृत शैलीमें वर्णन किया गया है। ६ठी अथवा ७वीं शताब्दी ई०में भट्टिने 'रावणवध' लिखा, जो 'भट्टिकाव्य'के नामसे प्रसिद्ध है। इसके २२ सर्गोंमें व्याकरणके नियमोंके निरूपणके साथ-साथ प्रचलित रामायणके प्रथम छः काण्डोंकी कथावस्तुका वर्णन किया गया है। भट्टिका पाण्डित्य असन्दिग्ध है, किन्तु उनकी काव्य-प्रतिभा उनकी रचनाकी कृत्रिमतामें दब गयी है। कुमारदासकृत 'जानकीहरण'में बालकाण्डसे युद्धकाण्डतक कथानकका वर्णन है। कुमारदासने कालिदासकी शैलीका अनुकरण किया है; रचनाकी विशेषता यह है कि इसमें शृंगारात्मक स्थलोंका बाहुल्य है। आधुनिक समालोचक कुमारदासको सिंहलद्वीपका राजा न मानकर उसे ८०० ई०के लगभगका कवि समझते हैं। अभिनन्दकृत 'रामचरित' (नवीं शताब्दी ई०)के ३६ सर्गोंमें राम-लक्ष्मणके प्रस्रवण-पर्वतपर वर्षा-निवाससे लेकर कुम्भ-निकुम्भ-वधतककी कथा वाल्मीकिके आधारपर दी गयी है। रावणके सम्भोग-शृंगारका विस्तृत वर्णन इस काव्यकी विशेषता है। भीम नामक कविने ४ सर्गोंके परिशिष्टमें युद्धकाण्डका कथानक पूरा किया है। रचना साधारण है। क्षेमेन्द्रकृत 'रामायण-मंजरी' (१०३७ ई०)के ६३८६ श्लोकोंमें रामायणके पश्चिमोत्तरीय पाठका संक्षेप मिलता है। काव्यके दृष्टिकोणसे इसका कोई भी महत्त्व नहीं है। 'उदारराघव'की रचना १४वीं शताब्दी ई०में साकल्यमल्ल द्वारा हुई थी। इसके १८ सर्गोंमेंसे केवल नौ सर्ग सुरक्षित हैं, जो कथानकको शूर्पणखाके वृत्तान्ततक पहुँचा देते हैं। इसकी शैली अलंकृत एवं कृत्रिम है। १४वीं शताब्दीके बाद बहुतसे राम-विषयक महाकाव्योंका उल्लेख मिलता है। लेकिन ये प्रायः अप्रकाशित हैं और कम साहित्यिक महत्त्व रखते हैं।

रामकथा सम्बन्धी नाटकोंके अभिनयकी प्रथा प्राचीन कालसे चली आ रही है (दे० 'हरिवंश', विष्णुपर्व, अध्याय ९३)। उन प्राचीनतम नाटकोंका लोप हुआ, लेकिन आगे चलकर भी राम-विषयक नाटकोंकी रचना शताब्दियोंतक होती रही। महाकाव्योंकी अपेक्षा इन नाटकोंमें परम्परागत कथानकमें अधिक परिवर्तन किया गया है तथा अनेक नवीन पात्रोंकी भी कल्पना कर ली गयी है। राम-नाटकोंकी सामान्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं—विस्तृत वर्णन तथा संवाद, जिससे इनमें प्रायः गतिका अभाव है; शृंगार रसकी व्यापकता (राम-सीताका पूर्वानुराग), आदर्शवादका प्रभाव (बालिवधका परिवर्तित रूप, कैकेयीका दोष निवारण); अद्भुत रसकी सामग्रीका प्रवेश (दे० 'आश्चर्यचूडामणि', 'अद्भुतदर्पण'), पात्रोंका एक-दूसरेका रूप धारण करनेकी प्रवृत्ति (दे० 'महावीरचरित', 'अनर्घराघव', 'बालरामायण', 'महानाटक' आदि)। १४वीं शताब्दीतक निम्नलिखित रामकथा-सम्बन्धी नाटक उपलब्ध हैं। बादके नाटक साहित्यिक दृष्टिकोणसे बहुत कम महत्त्व रखते हैं।

भासकृत माने जानेवाले दो रामनाटक मिलते हैं—'प्रतिमा' नाटक तथा 'अभिषेक' नाटक। अधिक सम्भव है कि दोनों कालिदासके बाद किसी दक्षिणभारत-निवासी कवि द्वारा रचित हुए हों। 'प्रतिमा' नाटकमें अयोध्याकाण्ड तथा अरण्यकाण्डकी कथावस्तुका सात अंकोंमें वर्णन किया गया है। कैकेयी तथा भरत इस नाटकके प्रमुख पात्र हैं, दशरथ-मरणके चित्रणमें करुण रसका अच्छा परिपाक है। कैकेयीको निर्दोष ठहरानेके लिए एक नयी कल्पना की गयी है। किसी ऋषिके शापके फलस्वरूप पुत्रवियोगके कारण दशरथका मरण अनिवार्य जानकर कैकेयीने वसिष्ठसे परामर्श लेनेके बाद रामको किसी और विकट विपत्तिसे बचानेके उद्देश्यसे उनको वनवास दिलाया। 'अभिषेक' नाटकमें नाटकीय एकताका अभाव है। इसमें बालिवधसे लेकर रामके अभिषेकतककी घटनाओंका वर्णन है। कविने बालि तथा रावणका सहानुभूतिपूर्वक चित्रण किया है। आठवीं शताब्दी ई०के पूर्वार्द्धमें भवभूतिने 'महावीरचरित'के सात अंकोंमें राम-सीता-विवाहसे लेकर रामाभिषेकतककी कथा प्रस्तुत की है। इसमें एकता लानेके उद्देश्यसे रामके प्रति रावणका द्वेष नाटकका मुख्य विषय बना दिया गया है। रावण एक दूत द्वारा सीताके साथ विवाहका प्रस्ताव भेज देता है और इस प्रस्तावकी अस्वीकृतिपर वह अपमानका प्रतिशोध करनेका संकल्प करता है। रामनाटकोंमें 'महावीरचरित'का स्थान ऊँचा है, फिर भी वीर रसके उग्र भावोंकी अपेक्षा भवभूति शृंगार तथा करुणके कोमल भावोंकी अभिव्यक्तिमें कहीं अधिक सफल हुए हैं। 'उत्तररामचरित' न केवल भवभूतिकी उत्कृष्ट रचना है, जिसमें वह कालिदासकी समता कर सकता है, परन्तु वह समस्त राम-काव्यका सर्वोत्तम नाटक भी है। इसमें प्रचलित रामायणके उत्तरकाण्डकी कथावस्तुका एक नवीन रूप प्रस्तुत है। लोकापवादके कारण सीताके निर्वासित किये जानेके पश्चात् भवभूतिने नाटकको सुखान्त बनानेके लिए वाल्मीकिके आश्रममें राम तथा अयोध्याकी जनताके सामने सीता-चरित-सम्बन्धी एक नाटकके अभिनयकी मौलिक कल्पना की है। इसके फलस्वरूप प्रेक्षकगणको सीताकी निर्दोषताका विश्वास हो जाता है और सीता रामके साथ अयोध्या लौटती हैं। काव्य-सौन्दर्यसे प्लावित आदर्श दाम्पत्य-प्रेमका जो करुणात्मक तथा मर्मस्पर्शी चित्रण 'उत्तररामचरित'में प्रस्तुत है, वह सम्भवतः ही विश्वसाहित्यमें कहीं अन्यत्र मिल सके। 'कुन्दमाला'की कथावस्तु 'उत्तररामचरित'से मिलती-जुलती है। इसकी रचना धीरनाग द्वारा सम्भवतः नवीं शताब्दीमें हुई थी। वाल्मीकि-आश्रमके निकट पहुँचकर राम एक कुन्दमाला देख लेते हैं, जिसकी बनावट सीताके सान्निध्यका प्रमाण देती है। इस घटनासे इस नाटकका

नामकरण हुआ। मुरारिकृत 'अनर्घराघव' (९०० ई०)मे विश्वामित्रके आगमनसे युद्धकाण्डतकका वृत्तान्त वर्णित हैं। कथानकमें जो परिवर्तन किये गये है, वे प्रायः 'महावीर-चरित'पर निर्भर हैं। इस रचनामे नाटकीय तत्त्वोंका अभाव है, मुरारि पहले कवि सिद्ध होते है, नाटककार बादमे। राजशेखरकृत 'बालरामायण' (१०वी श० ई०) सबसे विस्तृत राम-नाटक है, दस अंकोंमें सीतास्वयंवरसे रामाभिषेकतककी समस्त कथा भवभूति और मुरारिके अनुकरण-पर प्रस्तुत की गयी है। लम्बे-लम्बे वर्णनो तथा भावुकता-पूर्ण पदोंके बाहुल्यके कारण यह नाटक रंगमंचके योग्य नही रह गया है। महानाटकके दो पाठ मिलते हैं—बंगालमें मधुसूदन तथा अन्यत्र दामोदर मिश्रका, जो मूल रचनाके अधिक निकट है। इस रचनामें १४वी शताब्दी-तक प्रक्षेप किये गये है। यह रंगमंचके उद्देश्यसे नही लिखा गया, अधिक सम्भव है कि यात्राओमे इसका पाठ होता था। मायुराजकृत 'उदात्तराघव' (८वीं श० ई०) हालमे प्राप्त हुआ है और अबतक अप्रकाशित है। शक्तिभद्रकृत 'आश्चर्यचूड़ामणि' दक्षिण भारतमे नवी शताब्दीका माना जाता है, लेकिन इसकी इतनी प्राचीनता सन्दिग्ध है। इसमे शूर्पणखाके आगमनसे सीताकी अग्नि-परीक्षातककी कथा है, अद्भुत रसकी प्रधानता तथा पात्रों द्वारा एक-दूसरेका रूप धारण करनेके कारण इस रचनामें गाम्भीर्यका अभाव है। 'प्रसन्नराघव' (१२वी अथवा १३वीं श० ई०)की रचना महादेवके पुत्र जयदेव द्वारा हुई थी। सीता-स्वयंवरसे युद्ध-काण्डतककी समस्त कथा सात अंकोंमें वर्णित है। यद्यपि जयदेवके काव्य-कौशलके सम्बन्धमें सन्देह हो ही नही सकता, फिर भी 'प्रसन्नराघव' उत्कृष्ट नाटक नही माना जा सकता, क्योंकि 'अनर्घराघव'के अन्धानुकरणके साथ-साथ इसमें नाटकीय एकताका नितान्त अभाव खटकता है। हस्तिमल्लकृत 'मैथिलीकल्याण' (१३वी श० ई०) शृंगार रस-प्रधान चार अंकोंका नाटक है, जिसमें राम-सीताके पूर्वानुरागका चित्रण है। सोमेश्वरकृत 'उल्लाघराघव'(१३वी श० ई०)के आठ अंकोंमें विवाहके पश्चात् सीताकी विदासे लेकर युद्धकाण्डके अन्ततककी कथा वर्णित है। सुभट्टकृत 'दूतांगद' (१३वी श० ई०)में अंगदका दूतकार्य आधिकारिक कथावस्तु है। 'उन्मत्तराघव' (१४वी श० ई०) नामक प्रेक्षणकमे भास्करभट्टने 'विक्रमोर्वशीय'के चतुर्थ अंकके अनु-करणपर राम द्वारा सीताकी खोजका वर्णन किया है।

संस्कृत साहित्यका प्रथम श्लेषकाव्य रामकथासे सम्बन्ध रखता है। सन्ध्याकर नन्दिकृत 'रामचरित' (१२वी श० ई०)के २२० आर्या छन्दोमें रामकथा तथा साथ-साथ बंगाल-के राजा रामपालका चरित्र वर्णित है। १५वीं शताब्दीतक इस प्रकारकी और तीन रचनाएँ मिलती है—धनंजयकृत 'राघव-पाण्डवीय', माधवभट्टकृत 'राघव-पाण्डवीय' तथा हरदत्त सूरिका 'राघवनैषधीय'। प्रथम रामकथा-विषयक विलोमकाव्य १६वीं शताब्दीका सूर्यदेवकृत 'रामकृष्णविलोम-काव्य' है, इसके बादके दो 'यादवराघवीय' नामक काव्यों-का भी उल्लेख मिलता है। दो अप्रकाशित चित्रकाव्योंके नाम ये है—कृष्णमोहनकृत 'रामलीलामृत', वेंकटेशकृत 'चित्रबन्धरामायण'। शृंगारिक खण्डकाव्यके क्षेत्रमें प्रायः 'मेघदूत' और 'गीतगोविन्द'का अनुकरण किया गया है। 'मेघदूत'की परम्परामें वेंकटदेशिककृत 'हंससन्देश' अथवा 'हंसदूत' (सीताके प्रति रामका सन्देश), रुद्र वाचस्पतिका 'भ्रमरदूत', वासुदेवका 'भ्रमरसन्देश' आदि, 'गीतगोविन्द'-के अनुकरणपर 'रामगीतगोविन्द', 'गीताराघव', 'जानकी-गीता', 'संगीतरघुनन्दन'। इसके अतिरिक्त साहित्यदर्पण-कार विश्वनाथका 'राघवविलास', सोमेश्वरकृत 'रामशतक', मुद्गलभट्टका 'रामार्याशतक', कृष्णेन्द्रकृत 'आर्यारामायण' आदि रचनाएँ रामकाव्यकी व्यापकताका प्रमाण देती है।

विभिन्न आधुनिक भारतीय भाषाओंका प्रथम महाकाव्य अथवा सबसे लोकप्रिय काव्यग्रन्थ प्रायः कोई रामायण है। इसके अतिरिक्त बहुत-सी अन्य रचनाएँ भी रामकथामे सम्बन्ध रखती है। यहाँ केवल अपेक्षाकृत महत्त्वपूर्ण सामग्रीका उल्लेख सम्भव है।

द्राविड भाषाओंमे प्राचीनतम प्राप्त राम-काव्य कम्बन-कृत 'तमिल रामायण' है, जिसकी रचना १२वी शताब्दी ई०मे हुई थी। 'वाल्मीकिरामायण'के अतिरिक्त 'जानकी-हरण' इस काव्यके कथानकका आधार है। कम्बनने संस्कृत तथा तमिल काव्य-शैलियोका समन्वय कर और तमिल साहित्यमे एक नये युगके प्रवर्तक बनकर, तमिल कवियोमे ही नही, भारतीय कवियोंमें भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है। तेलुगु साहित्यमे बहुत रामकथा-विषयक सामग्री मिलती है, किन्तु निम्नलिखित तीन रचनाएँ विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं—१. 'रंगनाथरामायण'—१३वीं शताब्दीमे 'द्विपद' छन्दमें रचित, २. 'भास्कररामायण',-तेलुगुमें सबसे कलात्मक रामकाव्य (१४वी श० ई०), ३. 'मोल्ल-रामायण' (१६वी श० ई०), मोल्ल-नामक कुम्हारिन द्वारा रचित। यह जनसाधारणमें अत्यधिक लोकप्रिय है। मलयालम रामकाव्यकारोंने मौलिकताका प्रदर्शन नही किया है। 'रामचरित' (१४वी श० ई०) मलयालम साहित्यकी प्राचीन रचना है, जिसमे प्रचलित रामायणके युद्धकाण्डकी कथावस्तु वर्णित है। बादमे 'वाल्मीकिरामायण'के दो अनु-वाद किये गये है—'कण्णश्श-रामायण' तथा 'केरल वर्मा-रामायण'। वहाँका सबसे लोकप्रिय रामकाव्य लगभग १६०० ई०का एजुत्त चन द्वारा 'अध्यात्मरामायण'का अनुवाद है। जैन रामकाव्यके अन्तर्गत कन्नड भाषाके प्राचीनतम रामकाव्यका ऊपर उल्लेख हुआ है। ब्राह्मण रामसाहित्यकी सबसे प्रसिद्ध रचना 'तोरवे रामायण' है, जिसकी रचना १६वी श० ई०मे तोरवे नामक ग्रामके निवासी नरहरि द्वारा हुई। इन्होंने 'मैरावण' भी लिखा है, जिसमें हनुमान् द्वारा मैरावण-वधका वर्णन है।

आधुनिक आर्य-भाषाओंका रामकाव्य राम-भक्तिके पूर्ण विकासके पश्चात् ही उत्पन्न हुआ है, अतः इसपर प्रायः राम-भक्तिकी गहरी छाप है। उत्तरभारतमें तुलसीकृत 'रामचरितमानस' तथा कृत्तिवासीय रामायण, दोनों अपने-अपने भाषा-क्षेत्रमे अत्यन्त लोकप्रिय है तथा शता-ब्दियोंसे जनसाधारणको आध्यात्मिक तृप्ति एवं नैतिक बल प्रदान करते चले आ रहे हैं। कृत्तिवासने १५वी श० ई०में पयार छन्दमें अपनी रामायणकी रचना की थी। इसके बादके बंगाली रामकाव्यकी प्रमुख रचनाएँ इस प्रकार

है—बड़ नित्यानन्द आचार्य (अद्भुताचार्य)का 'आश्चर्य रामायण', जो संस्कृत अद्भुत रामायणपर निर्भर है, चन्द्रावतीकी 'रामायण गाथा', कविचन्द्रकृत 'अंगद रायबार' रघुनन्दन गोस्वामीकृत 'रामरसायन' (१८वीं श० ई०)। हिन्दी रामकाव्यका परिचय प्रस्तुत कोशमें अन्यत्र मिलेगा (दे० 'हिन्दी राम-साहित्य')। असमिया तथा गुजराती साहित्यमें रामकथाकी अपेक्षा कृष्णकथाको अधिक महत्त्व-पूर्ण स्थान मिल गया है, फिर भी इन दोनों भाषाओंका रामकाव्य नगण्य नहीं है। १४वीं श० ई०में माधव कन्दलिने 'वाल्मीकि-रामायण'का असमिया भाषामें पद्यानुवाद तथा दुर्गावरने १६वीं शतीमें 'गीति-रामायण'की रचना की थी। असमिया साहित्यके वैष्णव कालके सर्वश्रेष्ठ कवि शंकरदेवने 'रामविजय' नाटक लिखा है। गुजराती साहित्यमें भालणका 'सीतास्वयंवर' अथवा 'रामविवाह' (१५वीं श० ई०) प्राचीनतम रामकाव्य माना जाता था, किन्तु हालमें आशासतकी रामलीला-विषयक पदावली प्रकाशमें आयी है, जिसकी रचना १४वीं श० ई०में हुई थी। आजकल गुजरातमें १९वीं शताब्दीकी गिरधरदासकृत 'रामायण' सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है और सबसे लोकप्रिय भी है। मराठीका प्राचीनतम तथा सबसे प्रचलित राम-काव्य एकनाथकृत 'भावार्थ-रामायण' है, जिसकी रचना १६वीं शताब्दीमें हुई थी। उड़िया साहित्यमें सबसे प्रसिद्ध रामायणके तीन नाम मिलते हैं—'जगमोहन-रामायण' (कविका दिया हुआ), 'बलरामदास रामायण' (कविके नामपर) तथा 'दाण्डिरामायण' (छन्दके नामपर), जिसकी रचना १५०० ई०के लगभग हुई थी। उड़ियाकी दो और रामायण प्रसिद्ध हैं—अर्जुनदासका 'रामविभा' और सिद्धेश्वरदासका 'विलंका रामायण'। 'कश्मीरी रामायण'की रचना १८वीं श० ई०के अन्तमें दिवाकर प्रकाश भट्ट द्वारा हुई थी तथा नेपाली भाषामें भानुभट्टने अपना 'रामायण' १९वीं शताब्दीमें लिखी है।

विदेशमें रामकथाका प्रसार पहले-पहल बौद्धों द्वारा हुआ था। 'अनामकं जातकम्' तथा 'दशरथकथानम्'का क्रमशः तीसरी और पाँचवीं श० ई०में चीनी भाषामें अनुवाद हुआ था। इसके बादका प्राचीनतम विदेशी राम-काव्य 'तिब्बती रामायण' है, जिसकी रचना सम्भवतः आठवीं श० ई०में हुई थी। पूर्व-तुर्किस्तानकी 'खोतानी रामायण' नवीं श० ई० की है। इन दोनोंमें पर्याप्त मात्रामें समानता है और इनका बृहत्कथा तथा गुणभद्रकृत 'उत्तर-पुराण'से सम्बन्ध असन्दिग्ध है।

हिन्देशिया तथा हिन्दचीनमें 'वाल्मीकि-रामायण' प्राचीन कालसे ज्ञात है, किन्तु उस समयका कोई साहित्य सुरक्षित न रह सका। हिन्देशियामें आजकल रामकथाके दो रूप मिलते हैं—१. जावाके १०वीं श० ई०के रामायण ककविनका रूप, जिसका प्रधान आधार भट्टिकाव्य है; २. अर्वाचीन 'हिकायत सेरी राम' (१५वीं श० ई०)का रूप, जो कहीं अधिक लोकप्रिय है; इसके आधारपर आधुनिक समयतक रामकाव्यकी सृष्टि तथा राम-नाटकोंका अभिनय हुआ है। यद्यपि 'सेरी राम'का कथानक 'वाल्मीकि रामायण'से बहुत-कुछ भिन्न है, फिर भी इसकी आधिकारिक कथावस्तुमें कोई ऐसा महत्त्वपूर्ण परिवर्तन अथवा परिवर्द्धन नहीं मिलता, जो अर्वाचीन भारतीय रामकथाओंमें विद्यमान न हो। हिन्दचीन, स्याम तथा ब्रह्मदेशमें प्रचलित राम-कथा मुख्यतया 'सेरी राम'पर आधारित है। कम्बोडियाके 'रामकेर्ति' (१६वीं श० ई०) तथा स्यामके 'रामकियेन' (१८वीं श० ई०)में बहुत समानता है, दोनोंमें 'वाल्मीकि-रामायण' तथा सेरी रामका समन्वय करनेका प्रयत्न किया गया है। ब्रह्मदेशका रामकाव्य अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। राम-नाटकोंका अभिनय वहाँ १८वीं श० ई०के उत्तरार्द्धमें स्यामसे लाये हुए कैदियों द्वारा प्रारम्भ हुआ था। १८०० ई०में यू तोने 'राम यागन'की रचना की थी, जो ब्रह्मदेशका सबसे महत्त्वपूर्ण काव्यग्रन्थ माना जाता है।

"रामायणं महाकाव्यमादौ वाल्मीकिना कृतम्। तन्मूलं सर्वकाव्यानामितिहासपुराणयोः॥" ('बृहद्धर्मपुराण', अध्याय २५, २८)के इस कथनमें अतिशयोक्तिकी मात्रा कम है। रामायण न केवल संस्कृत साहित्यका प्रथम महाकाव्य है, जिसकी शैली (विशेषकर प्रकृति-चित्रण तथा अलंकार-विधान)से अन्य कवि प्रभावित हुए, वरन् उसकी कथावस्तु भी समस्त साहित्यके विभिन्न अंगोंमें व्याप्त है। साहित्य-कारोंने भी इस बातका अनुभव किया है। 'प्रसन्नराघव'की प्रस्तावनामें सूत्रधारसे पूछा जाता है कि सब कवि क्यों रामचरित्रका पुनः-पुनः वर्णन करते हैं और वह उत्तरमें कहता है—यह कवियोंका दोष नहीं है, गुणोंका दोष है, जिन्होंने रामको ही अपना एकमात्र आश्रय बना लिया है। इसमें कवियोंका दोष हो अथवा न हो, किन्तु वास्तवमें इसका कारण वाल्मीकिकी प्रतिभा ही है। बौद्ध रामकथाओं-को छोड़कर उपर्युक्त समस्त रामकाव्यपर इनकी छाप स्पष्ट है। अतः यह निर्विवाद है कि विश्वसाहित्यके इतिहासमें शायद ही किसी अन्य कविका प्रादुर्भाव हुआ हो, जो प्रभावकी दृष्टिसे भारतके आदिकवि वाल्मीकिकी तुलना कर सके। हिन्दीके रामकाव्यके लिए दे० 'हिन्दी राम-साहित्य'।

[सहायक ग्रन्थ—रामकथा : कामिल बुल्के।]—का०बु०

राम-भक्ति—भारतीय भक्ति-भावना तथा वैष्णव धर्ममें राम-भक्तिकी व्यापकता देखकर इस तथ्यपर सहज ही विश्वास नहीं होता कि भक्ति-मार्ग तथा वैष्णव धर्मकी उत्पत्ति और विकासके बहुत शताब्दियों बाद राम-भक्तिका जन्म हुआ था।

यज्ञप्रधान ब्राह्मण-धर्मके प्रतिक्रियास्वरूप भागवत धर्म उत्पन्न हुआ था, जिसमें पहले-पहल भारतीय भक्ति-मार्ग पल्लवित हो सका। बादमें भागवतोंके इष्टदेव वासुदेव कृष्ण वैदिक देवता विष्णुके अवतार माने गये हैं और इस प्रकार भागवत तथा ब्राह्मण-धर्मके समन्वयसे वैष्णव धर्मकी उत्पत्ति हुई। इस समयसे लेकर भक्ति-भावना विष्णु-नारायण-वासुदेव-कृष्णमें केन्द्रीभूत होकर उत्तरोत्तर विकसित होने लगी। ईसवी सन्‌के प्रारम्भसे राम भी विष्णुके अवतारके रूपमें स्वीकृत होने लगे (दे० 'रामकथा'), किन्तु शता-ब्दियोंतक राम-भक्तिका कहीं निर्देश नहीं मिलता। गोपाल भण्डारकरका कहना है कि भक्तिके क्षेत्रमें रामकी प्रतिष्ठा विशेष रूपसे ग्यारहवीं शताब्दी ई०के लगभग प्रारम्भ हुई।

वास्तवमें राम-भक्तिकी पहली अभिव्यक्ति काव्यमें हुई

थी। तमिल आलवारोंकी 'नालियर-प्रबन्ध' नामक रचनामें भगवान् विष्णु तथा उनके अवतारोंके प्रति असीम भक्ति तथा पूर्ण आत्मसमर्पणके उद्गार मिलते हैं। कृष्णको उन पदोंमें अधिक महत्त्व दिया गया है, किन्तु पहले आलवारोंने लेकर रामका भी निरन्तर उल्लेख मिलता है तथा कुलशेखर (नवीं शताब्दी ई०) के पदोंमें प्रौढ़ राम-भक्ति अंकित की गयी है। ११वीं शताब्दीमें लेकर राम-भक्ति सम्बन्धी काव्य-रचनाओंकी संख्या बढ़ने लगी, जिनमें स्तोत्रोंका स्थान प्रमुख है, जैसे 'श्रीरामसहस्रनामस्तोत्र', 'रामरक्षास्तोत्र' आदि। १५वीं शताब्दीसे लेकर समस्त रामकाव्य भक्ति-भावसे ओत-प्रोत होने लगा (दे० 'राम-काव्य')।

राम-भक्तिकी काव्यात्मक अभिव्यक्तिके बाद ही, इसका श्रीसम्प्रदायमें शास्त्रीय प्रतिपादन भी किया गया है। शास्त्रका यह सहारा पाकर राम-भक्तिकी प्रतिष्ठा और इसके क्षेत्रका विस्तार भी दिनों-दिन बढ़ने लगा।

श्रीसम्प्रदाय उन चार सम्प्रदायोंमेंसे एक है, जो शंकराचार्यके मायावादके प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न हुए और अवतारवादको स्वीकार कर भक्तिका दार्शनिक आधार प्रस्तुत करते हैं। श्रीसम्प्रदायके प्रवर्तक रामानुजने राम-भक्तिके विषयमें तो कुछ नहीं लिखा है, उनकी भक्ति नारायणमें केन्द्रीभूत थी, फिर भी उन्होंने अपने श्रीभाष्यमें अवतारोंमें राम और कृष्ण, दोनोंका उल्लेख किया है। बादमें उनके सम्प्रदायमें पहले-पहल परमपुरुषके अवतार राम तथा मूल प्रकृति सीताकी दास्य-भक्तिका प्रतिपादन किया गया है। निम्नलिखित राम-भक्ति सम्बन्धी संहिताएँ सुरक्षित हैं—'अगस्त्यसंहिता', 'कलिराघव', 'बृहद्राघव' और 'राघवीय संहिता'। इसके अतिरिक्त श्रीसम्प्रदायमें तीन उपनिषदोंमें राम-पूजाका भी निरूपण मिलता है—'रामपूर्वतापनीय' (११वीं श० ई०), 'रामोत्तरतापनीय' तथा 'रामरहस्योपनिषद्'।

उत्तर भारतके राम-भक्तिकी अद्वितीय लोकप्रियताका श्रेय बहुत-कुछ रामानन्दको है (दे० 'रामानन्द-सम्प्रदाय')। रामानन्द श्रीसम्प्रदायमें दीक्षित हुए थे, किन्तु वे उस सम्प्रदायकी राम भक्तिको एक नया रूप देकर रामावत-सम्प्रदायके प्रवर्तक बन गये। उनकी प्रामाणिक रचनाएँ 'श्रीवैष्णव-मताब्जभास्कर' और 'श्रीरामार्चनपद्धति' हैं। श्रीसम्प्रदायमें विष्णुके सब अवतारोंका ध्यान रखा जाता था। रामानन्दने रामको ही अपना इष्ट माना और राम-नामको अपनी साधनाका मूल मन्त्र बना दिया है। साथ-साथ उन्होंने सब जातियोंको दीक्षा लेनेका अधिकार दिया तथा संस्कृतके स्थानपर भाषामें भी राम-भक्तिका प्रचार किया। इससे राम-भक्तिको बहुत प्रोत्साहन मिला और वह उत्तर-भारतके कोने-कोनेमें फैलने लगी। अन्ततोगत्वा जन-साधारणकी धार्मिक चेतनामें इसका स्थान प्रधान ही रहा। इसमें तुलसीदासकी प्रतिभा अधिक सहायक सिद्ध हुई, फिर भी रामानन्द हिन्दी राम-भक्ति-साहित्यके मूल प्रेरक माने जा सकते हैं।

राम-भक्तिके विकासके साथ-साथ रामकथाको भक्तिके साँचेमें ढालनेकी आवश्यकताका भी अनुभव हुआ, फलस्वरूप बहुत-सी साम्प्रदायिक रामायणोंकी सृष्टि होने लगी, जिनमें 'अध्यात्मरामायण', 'आनन्दरामायण', 'अद्भुतरामायण' तथा 'भुशुण्डीरामायण' प्रमुख हैं। इनमेंसे 'अध्यात्मरामायण' निर्विवाद रूपसे सबसे महत्त्वपूर्ण है। इसका रचनाकाल सम्भवतः १५वीं शताब्दी है। इसका स्पष्ट उद्देश्य है शंकराचार्यके सुप्रसिद्ध वेदान्तके आधारपर राम-भक्तिका प्रतिपादन करते हुए वाल्मीकि-रामकथाको किंचित् परिवर्तनके साथ प्रस्तुत करना। इसमें रामानुज द्वारा प्रतिपादित समुच्चयवादका स्पष्ट शब्दोंमें विरोध किया गया है और विशिष्टाद्वैतका कहीं भी समर्थन नहीं मिलता। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि 'अध्यात्मरामायण'-की रचना श्रीसम्प्रदाय तथा रामावत-सम्प्रदायसे अलग रहते हुए किसी स्वतन्त्र दार्शनिक कवि द्वारा हुई थी। बादमें 'अध्यात्मरामायण' रामावत-सम्प्रदायमें प्रतिष्ठा पाने लगी और 'रामचरितमानस'का मुख्य आधार-ग्रन्थ भी बन गयी है।

राम-भक्तिकी एक अन्तिम विशेषताका उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है। इस भक्तिपर कृष्ण-राधा सम्बन्धी साहित्यका प्रभाव भी पड़ा और बादमें उत्तरोत्तर बढ़ने लगा। 'अध्यात्मरामायण'में केवल बाललीलाके वर्णनमें कृष्णकाव्यका प्रभाव पाया जाता है, किन्तु 'आनन्दरामायण', 'सत्योपाख्यान' आदिमें राम और सीताकी विलास-क्रीड़ाओंका भी विस्तृत वर्णन मिलता है और बादमें रामकी रास-लीलाका भी चित्रण किया गया है, उदा०—'हनुमत्संहिता', 'बृहत्कोशलखण्ड', 'भुशुण्डीरामायण' आदि। साधनाके क्षेत्रमें भी यह प्रभाव दृष्टिगोचर है। राम-भक्ति प्रधानतया दास्यभावकी न रहकर कुछ सम्प्रदायोंमें मधुरोपासनामें परिणत हुई।

[सहायक ग्रन्थ—रामकथा : कामिल बुल्के।]—का० बु०

राम भक्ति शाखा—दे० 'हिन्दी राम-साहित्य'।

रामलीला—जनश्रुति है कि हिन्दीमें नाटकोंका अभाव देखकर गोस्वामी तुलसीदासने रामलीलाका प्रारूप बनाया और काशीमें सबसे पहली रामलीला उन्हींकी प्रेरणासे हुई। रामलीलाके जन्ममें हिन्दुओंकी धर्म-प्राणता, लोक-नायककी मान्यता और नाट्य-प्रेम ही प्रमुख है। भक्तिकालमें इसका प्रचार जोरोंपर था। अवध, काशी और मिथिला इसके प्रधान केन्द्र थे, जहाँ आश्विनभर रामलीला नाटकके रूपमें दिखलायी जाती थी। राजपूताना, मथुरा-वृन्दावन, गोकुल, आगरा, अलीगढ़, मैनपुरी, एटा, इटावा, फर्रुखाबाद, शाहजहाँपुर, कानपुरमें भी इसका प्रचार था। यह दक्षिणमें बरार, मैसूर और रामेश्वरम्तक प्रचलित थी। रीतिकालमें मानवीय शृंगारकी ओर प्रवृत्ति होनेके कारण रामलीलामें शिथिलता आ गयी। आधुनिक कालमें आज भी उक्त स्थानोंमें इसका प्रचार है और यह नागरिक, विशेषतया ग्रामीण जनताकी नाट्य-वृत्तियोंकी पोषक बनी हुई है। इसीका प्रदर्शन प्रतिवर्ष क्वाँरके दशहरा या चैतकी रामनवमीके मेलोंके अवसरोंपर किया जाता है।

रामलीलाका आधार पौराणिक रामकथा है और 'रामचरितमानस'की दोहे चौपाइयाँ ही उसका प्राण है। यह पद्यात्मक संवादोंमें ही परिपूर्ण होती है। अतः संवादरूप रामलीलामें काव्यमयता, गम्भीरता और प्रगल्भता रहती

है। धनुषयज्ञके दृश्य, सीता-स्वयंवर, परशुराम-लक्ष्मण-संवाद, राम-वनगमन, सीताहरण, लंकादहन, अंगद-रावण-के संवाद, लक्ष्मण-मेघनाद-युद्ध, राम-कुम्भकरण-रावण-युद्ध, भरतमिलाप तथा रामका राज्याभिषेक आदि इसके प्रमुख अंश हैं, जिनके प्रदर्शनको जनता मन्त्रमुग्ध होकर देखती है। युद्ध और संवादोंमें अनुकार्योंकी अवस्थाओं और रूपोंका अनुकरण अनुकर्ता बड़ी सफलताके साथ करते हैं। नायक मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम और नायिका जगज्जननी सीता होती हैं। वीर, करुण, अद्भुत, भयानक, शृंगार रसकी प्रधानता रहती है। कथानकके विस्तारके कारण स्थान, काल, कार्यकी त्रिक-संगति नहीं रह पाती और न नाटकादिकी भाँति इसका रंगमंच परिसीमित रह पाता है। वह विस्तृत खुला मैदान होता है, जहाँ हजारों नर-नारी लीला देखते हैं। फिर भी रस्सियों, तारोंसे मैदानके आयताकार भागको घेर लेते हैं, जिसमें लीलाके कार्य सम्पन्न होते हैं, जिन्हें जनता चारों ओर बैठकर या खड़ी होकर देखा करती है। इसमें जहाँकी लीला होती है, वहाँके स्थानका दृश्य उपस्थित किया जाता है—अवधपुरी जनकपुरी, लंकापुरी आदि।

रामलीला दिन और रात, दोनोंमें सम्पन्न होती है। दिनकी रामलीलामें अनेकों लीलाएँ दिखायी जाती हैं। संवादोंमें गति, अभिनेताओंको निर्देश और रंग-व्यवस्थाके लिए सूत्रधार रहता है, जो 'रामचरितमानस'के सम्बन्धित स्थलोंको पढ़ता जाता है।

कथाप्रसंगसे सम्बन्धित अनेक चौकियाँ और लागें भी रंगमंचके घेरेमें लायी जाती हैं, जिनमें सम्बन्धित चरितोंके स्वरूप और आकार बड़ी कुशलतासे सँवारे-सुधारे हुए होते हैं। लीला करनेवाले किशोर, युवा, प्रौढ़ और वृद्ध पुरुष होते हैं। वे नारी पात्रोंका भी अभिनय करते हैं। दिनकी लीला प्रायः १-२ बजेसे ५-६ बजे दिनतक चलती है। रातकी लीलाका कार्यक्रम ८-९ बजेसे १२ या २-३ बजेतक चलता है। रातकी लीलाका रंगमंच भी खुलेमें होता है, किन्तु रंगभूमि अपेक्षाकृत छोटी होती है, जो तख्तोंको बिछाकर बनायी जाती है, आसपास बाँसों और कपड़ेकी चादरोंसे घेर देते हैं। इसमें प्रायः एक ही परदा होता है। नेपथ्यसे लीला करनेवाले आते रहते हैं अथवा दर्शकोंके बीचसे भी आ जाया करते हैं। पात्रोंका प्रवेश सूत्रधार ही कराता है। प्रारम्भमें ही वह श्रीरामकी स्तुति करनेके बाद खेली जानेवाली लीलाके विषयमें संक्षेपमें बता देता है। पश्चात् लीलाका कार्यक्रम समाप्त हो जाता है। सूत्रधार प्रायः रंगभूमिमें ही उपस्थित रहता है और संवादोंका संचालन करता है और सम्बन्धित स्थलोंको 'रामचरितमानस'से पढ़ता जाता है और परिवर्तनके स्थलोंकी ओर भी संकेत करता जाता है। परदेके पीछेसे निर्देशक लीला करनेवालोंको पद्य आदिके भूलनेपर सहायता करता रहता है। रातमें एक-दो चौकियाँ ही निकाली जाती हैं। रासलीलाकी भाँति रामलीलामें नृत्य और संगीतकी प्रधानता नहीं होती, वरन् उसका सम्पूर्ण वातावरण चरितनायककी शालीनता, गम्भीरता और मर्यादासे व्याप्त रहती है। लीलाके अन्तमें रामायणकी आरती होती है, जिसे पासके बैठे दर्शक भी लेते हैं। पश्चात् लीलाका कार्य समाप्त हो जाता है। रामलीलाके ये आयोजन स्थानीय ही होते हैं। रासलीलाकी भाँति इसकी मण्डलियाँ नहीं होतीं।

रामलीलाका एक अन्य रूप इलाहाबाद, ग्वालियर, रामपुर, जयपुर और जोधपुरमें दशहरेके अवसरपर देखा जाता है, जिसमें चौकियोंपर सम्बन्धित कथानायकोंके सजीव रूप बनाये जाते हैं, जो न बोलते हुए भी रामलीला करते होते हैं। यह रामलीलाका मूक स्वरूप है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि नाट्यरूपमें रामलीलाका रूप संवादात्मक ही है, जो आज चलचित्रका प्रसार होनेपर भी नागरिक, विशेषतया ग्रामीण जनताका मनोविनोद और उसकी रुचिका परिष्कार करता है।

रामलीलाको रूपकोंमें समवकार और व्यायोग तथा उपरूपकोंमें उल्लाप्य, प्रेक्षण और संलापकका परिवर्तित मिश्रण कहा जा सकता है। —वि० रा०

रामाक्रीड—यह ऋतुवर्णनोंसे संयुक्त एक विशेष प्रकारका उपरूपक है। इसमें स्त्रियोंकी अधिकता रहती है। इसके उल्लेखका श्रेय अभिनवगुप्त को है, ('अभिनवभारती', गायकवाड सीरीज, पृ० १८३)। —दो० प्र० मि०

रामानंद-संप्रदाय—रामानन्द-सम्प्रदायकी स्थापना विक्रमकी १५वीं शताब्दीमें हुई थी। इसके संस्थापक प्रसिद्ध वैष्णवाचार्य स्वामी रामानन्दजी थे, जिन्होंने अपने अनुयायियोंको 'वैरागी' नामसे अभिहित किया था। वैरागियोंका एक दल आगे चलकर 'अवधूत' भी कहलाया। इन्हें 'तपसी' भी कहते हैं। विलसन, रूपकला, पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, मैकालिफ, परशुराम चतुर्वेदी तथा रामानन्दी विद्वान् रामटहलदासके मतसे इस सम्प्रदायके प्रवर्तक स्वामी रामानन्दका पूर्वसम्बन्ध रामानुज-सम्प्रदायसे था और अपने मतकी पुष्टिमें प्रायः सभी विद्वानोंने नारायण नाभादासकृत 'भक्तमाल'का साक्ष्य लिया है। रामटहलदासने हर्याचार्यकृत 'रामस्तवराजभाष्य', रामानन्द स्वामीकृत 'रामार्चन पद्धतिः', महन्त जीवारामकृत 'रसिक प्रकाश भक्तमाल', 'सम्प्रदायदिग्दर्शन' आदि ग्रन्थों, प्राचीन गद्दियोंकी गुरु-परम्पराओं, सम्प्रदायके महात्माओं एवं सन्तोंके मतोंका उल्लेख भी उपर्युक्त मतकी पुष्टिमें किया है। रामटहलदासजीने रामानुज तथा रामानन्द सम्प्रदायोंमें चले आते हुए पारस्परिक सम्बन्धकी ओर भी संकेत किया है। रामानन्दी साधुओंने समय-समयपर रामानुजाचार्योंकी रक्षा नाथ-पन्थी साधुओंसे की है और कभी-कभी उनकी पालकी तक उठायी है। अतः स्पष्ट है कि रामानुज-सम्प्रदायसे रामानन्द-सम्प्रदायका कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है। रामानन्द द्वारा स्वतन्त्र सम्प्रदायके निर्माणका कारण बतलाते हुए कुछ विद्वानोंने कहा है कि देशभ्रमणसे लौटनेपर रामानन्दके गुरु-भाइयोंने यह कहकर कि अपने भ्रमणकालमें उन्होंने खान-पान सम्बन्धी भेदको स्वीकार न किया होगा, रामानन्दके साथ भोजन करनेमें आपत्ति की। फलतः गुरु राघवानन्दकी आज्ञा पाकर रामानन्दने एक नवीन सम्प्रदायकी स्थापना की, जो अपने दृष्टिकोणमें पर्याप्त उदार था। फर्कुहरके मतसे रामानन्द परम्परासे चले आते हुए किसी रामावत-सम्प्रदायके ही

गृहस्थ थे, जिसके मान्य ग्रन्थोंमें 'अध्यात्मरामायण' तथा 'वाल्मीकिरामायण' विशेष उल्लेखनीय हैं। आगे चलकर प्रमाणाभावमें फर्कुहरको अपना यह मत त्याग देना पड़ा।

सम्प्रदायके आधुनिक विद्वानों—स्वामी रघुवराचार्य तथा भगवदाचार्यके अनुसार आदिकालमें एक ही श्रीसम्प्रदाय था। कालान्तरसे मन्त्र, उपास्य, उपासनादि आचारोंकी भिन्नताके कारण इसकी दो शाखाएँ हो गयीं। एकमें भगवान् रामको प्रधानता मिली, दूसरीमें भगवान् नारायणको। समयवश शिथिल होती हुई रामशाखाका उद्धारमात्र स्वामी रामानन्दने किया था। अपने मतके समर्थनमें उन्होंने अग्रदासकृत एक परम्परा उद्धृत की है, जिसके अनुसार रामानन्दकी गुरुपरम्परा यों होगी—राम-सीता-हनुमान-ब्रह्मा-वसिष्ठ-पराशर-व्यास-शुक-पुरुषोत्तम - गंगाधरानन्द-रामेश्वर-द्वारानन्द-देवानन्द-श्यामानन्द-श्रुतानन्द—चिदानन्द-पूर्णानन्द-श्रियानन्द-हर्यानन्द-राघवानन्द - रामानन्द। खेद है इस परम्पराको प्रामाणिक सिद्ध करनेवाली सामग्रीका आजतक अभाव ही है; सम्प्रदायके तथा बाहरके अनेक विद्वान् इसे कल्पित एवं नवनिर्मित मानते हैं। स्वयं 'रामार्चन-पद्धति' ग्रन्थमें रामानन्दने अपनी एक गुरु-परम्परा दी है। अधिकांश विद्वान् उसीको प्रामाणिक मानते हैं। परम्परा यों है—राम-सीता-पृतनापति-शठकोपनाथ-पुण्डरीकाक्ष—श्रीराममिश्र—यामुन—पूर्ण-रामानुज—कूरेशवोपदेव-माधवाचार्य—देवाधिप—पुरुषोत्तम—गंगाधर-सद्रामेश्वर-द्वारानन्द—देवानन्द—श्रियानन्द- हर्यानन्द—राघवानन्द—रामानन्द। यह परम्परा सम्प्रदायकी सभी मान्य एवं प्राचीन परम्पराओंसे मिलती है, अतः इसकी प्रामाणिकता अधिक साक्ष्य-संगत है। फिर भी इसे निस्सन्दिग्ध नहीं कहा जा सकता, एक तो यहाँ लक्ष्मीनारायणके स्थानपर राम-सीताको आद्याचार्य माना गया है, जो रामानुज-सम्प्रदायमें अमान्य है, दूसरे 'रामार्चन पद्धतिः'की किसी भी प्राचीन हस्तलिखित प्रतिके अभावमें रामानुज और रामानन्दके बीचके आचार्योंके नाम तथा उनकी संख्याके सम्बन्धमें भी कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। इस ग्रन्थके सम्पादक पं० रामटहलदास तथा पं० रामनारायणदास रामानन्द-सम्प्रदायको रामानुज सम्प्रदायकी एक शाखा मात्र माननेवाले विद्वानोंमें प्रमुख थे, अतः जबतक 'पद्धति'की कोई प्राचीन हस्तलिखित प्रति नहीं मिलती, तबतक इस परम्पराको ज्यों-का-त्यों मान लेना अधिक युक्ति-संगत न होगा। इससे केवल यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि रामानन्दके गुरु राघवानन्द रामानुजी आचार्य थे। रामानन्दके समयतक कदाचित् श्रीसम्प्रदाय (रामानुज-सम्प्रदाय) उत्तरभारतकी समस्याओंके सुलझानेमें अक्षम सिद्ध हो गया था। इसी कारण उन्हें एक नवीन सम्प्रदायकी स्थापना करनेकी आवश्यकता अनुभूत हुई, जो अपने दृष्टिकोणमें अधिक उदार एवं साधनापक्षमें कर्म-काण्डकी रूढ़ियों एवं जटिलताओंसे अधिक मुक्त था।

'अगस्त्यसंहिता' एवं 'भक्तमाल'से प्राप्त सूचनाओंके आधारपर रामानन्दके जीवन-वृत्तका निर्माण निम्नलिखित ढंगसे किया जा सकता है—रामानन्दका जन्म प्रयागमें पुण्यसदन शर्माके घर सं० १३५६ वि०, माघ कृष्ण सप्तमी, सूर्यके सात दण्ड चढ़नेपर, सिद्धि योग, चित्रा नक्षत्र, कुम्भ लग्नमें हुआ था। माताका नाम सुशीला देवी था। उनके गुरु स्वामी राघवानन्दजी थे। रामानन्दने विस्तृत तीर्थ-यात्राएँ कर अपना केन्द्रमठ काशी, पञ्चगंगाघाटपर स्थापित किया। वहीं उन्होंने कबीरादिको अपना शिष्य बनाया। सं० १४६७ वि०में काशीमें ही उनका देहावसान हो गया। स्वामीजीके जीवनपर प्रकाश डालनेवाले अन्य ग्रन्थों—'प्रसंगपारिजात', 'भविष्यपुराण', 'वैश्वानरसंहिता', 'रसिकप्रकाश भक्तमाल'की टीका आदिकी प्रामाणिकता नितान्त सन्दिग्ध है। रामानन्द-सम्प्रदायमें यही मत मान्य है। कुछ विद्वानोंने कबीर, पीपा, सेन आदिके सम्बन्धमें प्रचलित तिथियोंको सत्य मानकर स्वामीजीकी जीवन-तिथि निश्चित करनेकी चेष्टाकी है, किन्तु 'भक्तमाल'-के साक्ष्यपर रामानुज और रामानन्दमें अधिक कालका अन्तर नहीं माना जाना चाहिए। नाभादासने मध्ययुग एवं उसके पूर्वके भक्तोंके विवरण जिस स्पष्टता एवं गहराईसे दिया है, उससे यह मान लेना कि उन्होंने रामानुज और रामानन्दके बीचके अनेक आचार्योंको छोड़ दिया होगा, उचित नहीं प्रतीत होता। रामानुजकी मृत्यु सन् ११३७ ई०में मानी जाती है, इस दृष्टिसे रामानन्दकी तिथियोंके सम्बन्धमें साम्प्रदायिक मत सत्यसे अधिक दूर नहीं कहा जा सकता।

विद्वानोंने 'श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर' तथा 'श्रीरामार्चन-पद्धति'को ही स्वामी रामानन्दकी प्रामाणिक रचनाके रूपमें स्वीकार किया है। 'आनन्दभाष्य', 'सिद्धान्तपटल', 'रामरक्षास्तोत्र', 'योगचिन्तामणि' 'ज्ञान लीला' 'ज्ञान ति आत्मबोध' आदि उनके नामपर प्रचलित ग्रन्थमात्र हैं। 'गीताभाष्य', उपनिषद्भाष्य', 'श्रीरामाराधन', 'रामानन्दादेश' तथा 'वेदान्तविचार' आदि अभीतक न तो प्रकाशमें ही आ सके हैं और न उनकी हस्तलिखित प्रतियाँ ही प्राप्त हैं। रघुवर मिट्ठूलाल शास्त्री 'अध्यात्मरामायण' को भी स्वामीजी कृत मानते हैं, पर उनका यह मत प्रामाणिक नहीं सिद्ध होता। काशी नागरीप्रचारिणी सभामें रामानन्दके नामपर कुछ हस्तलेख सुरक्षित हैं, जिनका प्रकाशन सभाकी ही ओरसे 'रामानन्दकी हिन्दी रचनाएँ' नामसे हुआ है, किन्तु उनकी प्रामाणिकता असन्दिग्ध नहीं कही जा सकती। 'आदिग्रन्थ', 'सर्वांगी' तथा श्री उदय शंकर शास्त्रीके संग्रह आदिमें उपलब्ध रामानन्दके हिन्दी पदोंका सम्प्रदायमें कोई प्रचार नहीं; अतः उन्हें उनकी प्रामाणिक रचना मान लेनेका विशेष आधार नहीं मिलता। 'शिवरामाष्टक' तथा 'हनुमानस्तुति' भी इसी कोटिकी रचनाएँ हैं। इस सम्बन्धमें वस्तुस्थिति तो यह है कि स्वामी रामानन्दसे प्रभावित विभिन्न मतों एवं सम्प्रदायोंमें रामानन्दके व्यक्तित्वको मोड़नेकी अनेक चेष्टाएँ हुई हैं और इस प्रयासमें उनके नामपर अनेक ग्रन्थ भी प्रचलित हो गये हैं, इनमेंसे कुछमें सन्त मतकी व्याख्या की गयी है, कुछमें योग (तपसी शाखाके 'सिद्धान्त पटल' आदिमें)की चर्चा मिलती है और कुछमें विशुद्ध वैष्णव मतकी पुष्टि की गयी है। वस्तुतः रामानन्द एक सगुणोपासक वैष्णवाचार्य थे। अतः 'श्रीवैष्णवमताब्ज-

भास्कर' और 'श्रीरामार्चन-पद्धति'के साथ ही 'आनन्द-भाष्य'को आधुनिक रामानन्द-सम्प्रदायका दर्पण कहा जा सकता है। भगवदाचार्यकृत 'त्रिरत्नी' भी सम्प्रदायका मान्य ग्रन्थ है। साम्प्रदायिक भाष्योंमें 'जानकीभाष्य' तथा भगवदाचार्यकृत 'वेदान्तभाष्य' भी प्रमुख है। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक विद्वानों एवं कवियोंके ग्रन्थों एवं रचनाओंने रामानन्द सम्प्रदायको प्रभावित किया है।

पीछे कहा जा चुका है कि रामानन्दका सम्बन्ध रामानुज-सम्प्रदायसे ही था। उनके पश्चात् पंचगंगामठके अधिपति अनन्तानन्द हुए। यों तो रामानन्द स्वामीके द्वादश-शिष्य 'भक्तमाल', 'अगस्त्यसंहिता' आदिमें माने गये हैं, किन्तु परशुराम चतुर्वेदी जैसे विद्वानोंके अनुसार कबीर, सेन, धना, पीपा और रैदासको निस्सन्दिग्ध रूपसे उनका शिष्य मानना उचित नहीं। इनका यह मत इन भक्तोंके सम्बन्धमें प्रचलित समस्त परम्पराओंकी अवहेलना करता है, अतः इसे स्वीकार कर लेनेमें अनेक बाधाएँ हैं। अन्य शिष्योंमें अनन्तानन्द, सुखानन्द, सुरसुरानन्द, पद्मावती, नरहर्यानन्द, सुरसुरी और भावानन्द आदि प्रमुख हैं। सम्प्रदायके विकासमें अनन्तानन्द तथा उनके शिष्योंका ही अधिक हाथ रहा। मध्ययुगमें उनके शिष्य कृष्णदास पयोहारीने अपने यौगिक चमत्कारों द्वारा योगियोंको परास्त कर राजस्थानके गलता स्थानमें सम्प्रदाय-की पहली प्रमुख गादी स्थापित की। पयोहारीजीके तीन प्रमुख शिष्यों, अर्थात् कील्ह, अग्र और टीलाने मध्ययुगमें सम्प्रदायकी मर्यादाका विस्तार किया और उसे पर्याप्त दृढ़ता दी। मध्ययुग तथा उसके अनन्तर सम्प्रदायकी अनेक गादियोंकी स्थापना हुई, जिनमेंसे ३५ द्वारागादियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। ये द्वारागादियाँ अनन्तानन्द, सुरसुरानन्द, नरहर्यानन्द, सुखानन्द, राम कबीर, भावानन्द, पीपा, योगानन्द, अनभयानन्द, कील्ह, अग्र, टीला, भगवन्नारायण, केवलकूवा आदिके नामसे स्थापित हुई। सम्प्रदायके प्रसिद्ध स्थान हैं गलता, रेवासा, डाकोर, चित्रकूट, अयोध्या और मिथिला।

रामानन्द-सम्प्रदायमें योगके प्रवर्तक कील्ह थे और द्वारकादासने उसे पर्याप्त पल्लवित किया। आज भी कुछ रामानन्दी साधु इसी कारण अवधूत नामसे पुकारे जाते हैं। इनके प्रमुख ग्रन्थ 'योगचिन्तामणि', 'रामरक्षास्तोत्र' और 'सिद्धान्तपटल' हैं।

सम्प्रदायमें माधुर्य भावके प्रचारक अग्रदास कहे जाते हैं, किन्तु आधुनिक युगमें अयोध्यामें जानकीघाटके महान्त रामचरणदासने इसका विशेष प्रचार किया। महान्त जीवारामकृत 'रसिकप्रकाश भक्तमाल'के अनुसार स्वयं रामानन्द भी रसिक थे। यही नहीं, इनके गुरु राघवानन्दको शंकर भगवान्ने 'रसिक संप्रदाय' चलानेकी आज्ञा दी थी। इस ग्रंथके अनुसार हर्यानन्दके भी 'सदाचारमें रसिकता' वर्तमान थी, अनन्तानन्द चारुशीलाके रूपोपासक थे। कृष्णदास पयोहारीने भी योग और शृंगार दोनोंका समन्वय किया था। इन्हीं पयोहारीजीके शिष्य कील्हदास और अग्रदास थे। अग्रदासके पश्चात् उस भावको पल्लवित एवं पुष्पित करनेवालोंमें नाभादास, बाल अली, रूप अली, मधुराचार्य, हर्याचार्य, रामसखे, रामदास गूदर, रामप्रसाद प्रेमसखी, चित्रसिंधु, रघुवरशरण, मलूकदास, केवलकूवा, सूरकिशोर, कृपानिवास, जनकराज किशोरी शरण आदिका विशेष हाथ रहा है। इस शाखाने स्वसुखके प्रचारक थे रामचरणदास और तत्सुखविधानकर्ता थे कृपानिवास। पहले मतवाले चारुशीलाको माधुर्यका आद्याचार्य मानते हैं, दूसरे मतके अनुयायी चन्द्रकलाको। इस शाखाके प्रमुख ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—'हनुमत्संहिता', 'अमररामायण' 'भुशुण्डीरामायण', 'महारामायण', 'कोशलखण्ड', 'रागनवरत्न', 'महारासोत्सव', 'लोमशसंहिता', 'वाल्मीकि-संहिता', 'सदाशिवसहिता', 'रामरहस्योपनिषद्', 'मन्त्र-रामायण', 'आनन्दरामायण' और 'शाण्डिल्यसहिता'। इनमेंसे कोई भी रचना प्राचीन एवं प्रामाणिक नहीं कही जा सकती।

सम्प्रदायमें दिगम्बर, निर्वाण, निर्मोही, खाकी, निरावलम्बी, सन्तोषी, महानिर्वाणी आदि सात अखाड़े हैं। इनमें साधुओंकी छः श्रेणियाँ हैं—यात्री, छोरा, बन्दगीदार, मुरीठिया, नागा और अतीत। इनकी तीन अनियाँ होती हैं। नासिक, प्रयाग, उज्जैन और हरद्वारमें कुम्भके अवसरपर नागा साधु बनाये जाते हैं। सम्प्रदायमें डाकोर, डॉडिया, नन्दराम, त्यागी और महात्यागी आदि पाँच खालसे भी बन गये हैं। मठोंका प्रबन्ध महान्त, गोलकी और साधारण सभा द्वारा होता है।

कबीरपन्थ, रैदासपन्थ, सेनपन्थ आदि इस सम्प्रदायसे दूरीसे सम्बद्ध पन्थ हैं।

रामानन्द-सम्प्रदायमें विशिष्टाद्वैतको ही मान्यता प्राप्त है। स्वयं रामानन्दने अपने मतको इस नामसे कहीं भी अभिहित नहीं किया है, फिर भी उनका तत्त्ववाद विशिष्टा-द्वैत-सम्मत ही है। आगे चलकर 'आनन्दभाष्य' आदिमें तो इस दर्शन-प्रणालीकी पूर्ण प्रतिष्ठा भी की गयी है। रामानन्द-सम्प्रदायकी दार्शनिक विचारधाराको स्पष्ट करनेके लिए 'श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर', 'श्रीरामार्चन-पद्धति', 'आनन्द-भाष्य' और भगवदाचार्यकृत 'त्रिरत्नी'को आधार बनाया जा सकता है। इस सम्प्रदायके आराध्य हैं द्विभुज भगवान् रामचन्द्र। ये असंख्य लावण्य, शक्ति और शीलके केन्द्र हैं। संसारके एकमात्र कर्ता, पालक एवं संहर्ता वे ही हैं। जीव उनका ही शेष है। 'आनन्दभाष्य'का तो स्पष्ट मत है कि "ब्रह्म शब्दश्च महापुरुषादिपदवेदनीयं निरस्ताखिल-दोषमनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगणं भगवन्तं श्री-राममेवाह"। 'आनन्दभाष्य'के मतमें वेदान्तका प्रतिपाद्य अद्वैत नहीं, विशिष्टाद्वैत है और अद्वैतवादकी प्रतिष्ठा करनेवाली समस्त श्रुतियाँ नकारात्मक प्रणालीसे विशिष्टाद्वैत-का ही प्रतिपादन करती हैं। ब्रह्म ही जगत्का कारण है। 'सदेव सोम्य इदमग्र आसीत्' वाक्य सत् पदसे सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म ही वाच्य है, जो स्थूल चिदचिद्वि-शिष्टका कारण है। उसने अपनी इच्छासे ही इस जगत्की सृष्टि की। भगवदाचार्यके मतमें सृष्टि-संकल्प विशिष्ट ब्रह्मको ब्रह्मा, सृष्टिकी स्थितिके संकल्पविशिष्ट ब्रह्मको विष्णु तथा सृष्टिके संहारके संकल्पसे विशिष्ट ब्रह्मको रुद्र कहा गया है। 'त्रिरत्नी'में भगवान्के पर, व्यूह, विभव,

अन्तर्यामी तथा अर्चावतार आदि रूपोंका भी वर्णन किया गया है। जीव भी परमात्माका ही अंश है, किन्तु वह कभी आनन्दमय नहीं हो सकता। ईश्वर स्वतंत्र है, जीव परतंत्र; ईश्वर ज्ञानाश्रय है, जीव अज्ञानी। फिर भी वह ब्रह्म द्वारा अन्तर्बहिर्व्याप्त एवं उसका अंश है। सीताजीको भगवान्‌की अनादि सहचरी एवं पुरुषकारभूता कहा गया है।

जीवको नित्य, ईश्वरकी अपेक्षा अज्ञ, चेतन, अज, सूक्ष्म, अनेक, जिज्ञासुओं द्वारा वेद्य कहा गया है। रामानंदकेमतमें जीव दो प्रकारके होते हैं:—बद्ध और मुक्त। बद्ध जीव दो प्रकारके होते :—मुमुक्षु और बुभुक्षु। मुमुक्षुके दो भेद हैं :—शुद्ध भक्त तथा चेतनान्तर साधन। मोक्षपरायण जीवोंके भी प्रपंच और पुरुषकार-निष्ठ दो भेद होते हैं। प्रपन्नके भी दृप्त और आर्त्त तथा पुरुषकार-निष्ठ जीवोंके आचार्य कृपामात्र प्रपन्न तथा महापुरुष-सेवातिरेक प्रपन्न दो-दो भेद होते हैं मुक्त जीवोंके भी दो भेद होते हैं—नित्य और कादाचित्क। नित्यजीवोंके परिजन और परिच्छद तथा कादाचित्क जीवोंके भागवत और केवल दो-दो भेद होते हैं। भागवतोंके भी भगवत्परायण तथा कैंकर्यपरायण और केवलोंके दुःखभावनैकपरायण और अनुभूतिपरायण दो-दो और भेद होते हैं। भगवदाचार्यने जीवोंके और भी सूक्ष्म भेद किये हैं, जो रामानुजसे विशेष प्रभावित हैं।

प्रकृतिका प्रयोग इस सम्प्रदायमें सांख्यके ही अर्थमें है। अंतर इतना ही है कि यह प्रकृति सांख्यकी भाँति पुरुषसे स्वतंत्र नहीं, ईश्वराधीन हैं। जगत्‌का कारण ब्रह्म ही है, प्रधानादि नहीं। संकल्पमात्रसे ब्रह्म उसकी रचना करता है। सृष्टिमें जो क्रम रहता है, प्रलयमें ठीक उसका उलटा हो जाता है। भगवदाचार्यके मतमें सृष्टिविकास सप्तीकरणके ढंगमें नहीं है, त्रिवृत्करणके ढंगमें है। सृष्टिक्रमका वर्णन करते हुए भगवदाचार्यने सांख्यमतका ही अनुसरण किया है।

सांसारिक बन्धनोंसे मुक्त होकर साकेतलोकको प्रयाण कर सायुज्यकी प्राप्तिको मोक्ष माना गया है। 'आनन्द-भाष्य'में मोक्षको परमपुरुषानुभवरूप ही माना गया है। जीव सुषुम्ना नाड़ीसे निकलकर अर्चिरादि मार्ग द्वारा ब्रह्म-को प्राप्त होता है। मुक्ति सद्यः नहीं होती, क्रमसे होती है। जीव ब्रह्मसुखका अनुभव कर सकता है, ब्रह्मकी भाँति जगत्‌की सृष्टि, पालन एवं संहारका अधिकारी नहीं। 'साम्यमुपैति'का अर्थ भोगसाम्य ही है। सर्वांशमें ब्रह्मके साथ जीवको समता प्राप्त हो ही नहीं सकती, क्योंकि मुक्त जीवोंको भी जगद्व्यापार और लक्ष्मी विलास अत्यन्त असंभव है।

भक्तिको रामानन्द-सम्प्रदायमें मोक्षका साधन कहा गया है। प्रपत्ति और न्यास इसके दो प्रमुख अंग हैं। ध्येय द्विभुज राम ही है। सीताजीको ही पुरुषकाररूपा कहा गया है। भगवत्कृपाप्राप्तिके नवधा साधन इस सम्प्रदायमें भी मान्य हैं। सम्प्रदायकी मुख्य भक्तिपद्धति दास्यभाव की है। आधुनिक कालमें माधुर्य, सख्य, वात्सल्य एवं शान्ता भक्ति-प्रणालियाँ भी चल पड़ी हैं। 'आनन्दभाष्य'के मतमें भगवदितर वस्तुओंमें वितृष्णापूर्वक परम प्रिय भगवानमें अनुराग ही भक्ति है। भक्तको वास्तविक तत्त्वका अनुसन्धान करना ही चाहिये। मन आदि प्रतीकों-में आत्मबुद्धि नहीं रखनी चाहिये।

भक्तिके अधिकारी सभी हैं। 'आनन्दभाष्य'में अवश्य ही शूद्रोंको वेदाध्ययनका अधिकार नहीं दिया गया है।

कर्मकाण्डको भी इस सम्प्रदायमें विशेष मान्यता नहीं मिली। फिर भी आह्निक कर्म नियमसे किये जाने चाहिये। वैष्णवोंको पंच संस्कारोंसे युक्त भी होना चाहिये। आजकल अष्टयामीय पूजा-पद्धतिका भी सम्प्रदायमें पर्याप्त प्रचार है।

हिन्दी कवियोंमें तुलसीदास, कबीर और मैथिलीशरण गुप्तपर रामानन्द-सम्प्रदायका सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है। यों तो तुलसीदास सम्प्रदायसे, विशेष रूपसे गुरुशिष्य-रूपसे सम्बद्ध नहीं प्रतीत होते, किन्तु उनकी दार्शनिक एवं भक्ति सम्बन्धी धारणाओंपर रामानन्दका विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। उनके राम रामानन्दके रामकी ही भाँति जगत्‌के स्रष्टा, रक्षक तथा लयकर्ता हैं। वे ज्ञान-स्वरूप, स्वप्रकाश, अविनाशी, नित्य, तपस्यादिसे दुर्लभ, स्वतन्त्र एवं उपनिषत्प्रतिपाद्य हैं। अपूर्व शक्ति, लावण्य एवं शीलके आगार हैं। वे असंख्य कल्याणगुणोंके आकर शरणागतरक्षक, उदार एवं भक्तवत्सल हैं। उनमें और जीवमें पिता-पुत्र, रक्ष्य-रक्षक, सेवक-स्वामी तथा सेव्य-सेवकादि अनेक सम्बन्ध हैं। सीताजी पुरुषकारभूता हैं। गोस्वामीजीने जीवोंको ईश्वरकी अपेक्षा अज्ञ, चेतन, अमल, सहज सुखकी राशि, स्वकर्मफलभोक्ता, अनेक एवं आनन्द-स्वरूप माना है। किन्तु वे जीवको अणु-परिमाणवाला नहीं मानते। जीव भेदका भी निरूपण उन्होंने विस्तारसे नहीं किया। सम्प्रदायकी प्रकृति सम्बन्धी धारणाओंका भी प्रभाव तुलसीपर पड़ा है। उनके भी मतमें प्रकृति नित्य, अज्ञ, अचेतन, सम्पूर्ण विश्वका कारण, स्वतन्त्रव्यापारहीन एवं महदहंकारादिकी सृष्टिकर्त्री हैं। किन्तु ईश्वराधीन होकर ही वह जगत्‌की सृष्टि करती हैं। विषमता और संहारका कारण कर्म ही हैं। जगत् भगवानकी लीला है। आगे चलकर 'आनन्दभाष्य'में भी यही मत लिया गया है। भाष्यमें जहाँ प्रकृतिको ब्रह्मका अचिदंश और प्रपंचको सत्य माना गया है, वहीं तुलसीदासने इस संसारको असत्य एवं स्वप्नवत् माना है, ब्रह्मके अचिदंशका वास्तविक परिणाम नहीं। सायुज्य मुक्तिमें तुलसीदासका विश्वास था, किन्तु न तो उन्होंने साकेतका आध्यात्मिक चित्र ही प्रस्तुत किया है और न अर्चिरादि मार्गोंका ही विवेचन किया है। उनके रामको वैकुण्ठसे भी अधिक प्रिय अवध है।

कबीरदासने जहाँ अपने रामको निर्गुण एवं निरंजन कहा है, वहीं उन्होंने उनके गुणों—अनन्तशक्ति, शरणागत-रक्षकत्व, भक्तवत्सलता, उदारता आदि—का भी वर्णन किया है और वहीं वे 'श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर'की विचार-धारासे प्रभावित हुए प्रतीत होते हैं। फिर भी अवतारी राममें उनका विश्वास नहीं था। कबीरदासके मतमें जो आना-जाना है, वह तो माया है, प्रतिपल न तो कहीं जाता है, न आता है, वह काल विवश नहीं है। अवतारोंमें कबीरदासका एकदम विश्वास नहीं है। उनका 'साहब' बड़ा मेहरबान है, वह न तो कभी जीतता है और न कभी

हारता है। वह कहीं जन्म नहीं लेता। उनका राम पावकरूपी है और घट-घटमें समाया हुआ है। इस अनुपम तत्त्वको न तो मुँह है, न माथा और न उसका कोई रूप है। पुष्पगंधसे भी वह पतला है। फिर भी उसके गुण अनन्त है। जीवतत्त्वके विवेचनमें भी कबीरपर रामानन्दकी अपेक्षा अद्वैतका प्रभाव अधिक परिलक्षित होता है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि ईश्वर और जीवमें प्रतिबिम्ब सम्बन्ध है। वस्तुतः उन्हें 'जीव-पीव'में कोई अन्तर नहीं दिखलाई पड़ता है। हंसा और सोहं एक ही समान हैं, कायाके ही गुण भिन्न-भिन्न है। प्रकृतिको विश्वमात्रकी अधिष्ठात्री, त्रिगुणात्मिका, ईश्वराधीन, महदहंकारजननी आदि कहनेके साथ ही उन्होंने संसारको असत्य एवं मिथ्या भी कहा है। सायुज्यमुक्ति अथवा अर्चिरादि मार्गमें उनकी कुछ भी आस्था नहीं थी। साकेतलोकके सम्बन्धमें भी वे मौन है।

मैथिलीशरण गुप्तकी आस्था दाशरथि राममें ही है। उनके मतमें जो निर्विकार, निरीह, सर्वव्यापी, अजन्मा, अनादि, अनन्त, निर्गुण ब्रह्म है, वही साकार होकर रामके रूपमें अवतरित हुआ। वही राम विश्वका स्रष्टा, रक्षक और लयकर्ता है, वह लोकेश एवं लीलाधाम है। वह असंख्य कल्याणगुणोंका आकर होते हुए भी मानव है। उनके भी मतमें सीताजी पुरुषकारभूता है। गुप्तजीने जीवको अनादि, अनन्त, अजरामर एवं अविनाशी माननेके साथ ही उसे पुरुषोत्तमका अंशज भी कहा है। उनके मतसे यह संसार प्रकृति और पुरुषकी क्रीड़ा है। कहीं-कहीं उन्होंने अद्वैतकी भावना भी व्यक्त की है, किन्तु सायुज्य मुक्तिसे उसका समन्वय करके ही। वे भगवानके अर्चावतारमें भी विश्वास रखते है :-"मानिये तो शंकर हैं, कंकर हैं अन्यथा"। वे तीर्थोंमें निवासको भी महत्त्वपूर्ण मानते है। कविके मतसे माया, जीव और ईश्वरके मध्यमें खड़ी है। वह गुणकर्ममयी है और इसे जान लेना असम्भव है। जिसपर रामकी कृपा हो जाती है, वही इससे छूट सकता है। सायुज्य मुक्तिमें उनका विश्वास है, किन्तु अर्चिरादि मार्गोंकी चर्चा वे नहीं करते। साकेतधामका चित्र तो उन्होंने पूर्ण रूपसे प्रस्तुत किया है, किन्तु साकेत-लोकका उल्लेख वे नहीं करते।

सम्प्रदायकी भक्ति-पद्धतिका भी प्रभाव उपर्युक्त कवियोंपर पड़ा है। पंच संस्कारोंमें इन कवियोंकी आस्था नहीं है, किन्तु भक्तिके अन्य आवश्यक अंगोंके सम्बन्धमें उनकी अधिकांश धारणाएँ रामानन्दी ही है। नवधा भक्ति, प्रपत्ति और न्यासमें प्रायः इन सभी कवियोंने अपनी आस्था व्यक्त की है। कबीर इनके मानसी पक्षपर ही अधिक बल देते है। प्रपत्तिके छओं अंगोंका भी इन कवियोंने वर्णन किया है। भक्तिके अन्य आवश्यक अंगों, अर्थात् भगवत्कथा-श्रवण, गुणकथन, नाम-स्मरण, भगवत्कैंकर्य, निरभिमानिता, विश्वभरमें भगवानका रूपदर्शन, गुरु-सेवा, सत्संग, काम-क्रोध आदिका परित्याग तथा अहिंसाको प्रायः इन सभी कवियोंने महत्त्व दिया हैं। कबीरदासने तो अहिंसापर बहुत ही बल दिया है। महाव्रतोंमें इन कवियोंकी कोई आस्था नहीं है। प्रायः इन सभी कवियोंकी भक्ति दास्य-भावकी है। तुलसी और कबीरने माधुर्य भावका भी विस्तृत निरूपण किया है। अर्चावतारमें तुलसीदास और मैथिलीशरण गुप्तकी विशेष आस्था है। भक्तिके क्षेत्रमें जाति-पाँतिका भेदभाव रामानन्दकी ही भाँति इन कवियोंको भी मान्य नहीं है। इस सम्बन्धमें 'आनन्दभाष्य'की विचारधारा इनके मेलमें नहीं है। ये कवि भक्तिको ज्ञानसे अधिक महत्त्वपूर्ण समझते है, विशेषतया वैष्णवी भक्तिमें इन सभी कवियोंकी पूरी आस्था थी। तुलसीने गोरखके योगकी निन्दा की और कबीरने शास्त्रोंकी। मैथिलीशरण गुप्तको भक्ति एक संस्काररूपमें मिली है। वह रामके चरणोंमें उनकी अद्भुत आस्था बनकर सामने आयी।

सम्प्रदायमें सम्बद्ध अन्य कवियोंमें अग्रदेव, अवध-भूषणदास, कृपानिवास, कामदेन्द्रमणि, गोमतीदास, चित्र-निधि, जनकराजकिशोरीशरण, जनकलाडिलीशरण, जीवाराम, जानकीरसिकशरण, नाभादास, प्रेमसखी, बाल अली, मधुर अली, युगलानन्यशरण, रसरंगमणि, रामचरणदास, रामप्रियाशरण, रामसखे, रूपकिशोर, सुधामुखी आदिपर माधुर्य भावका अधिक प्रभाव पड़ा है। राधावल्लभी सम्प्रदायने भी इन कवियोंको पर्याप्त रूपमें प्रभावित किया है। आजकल इन भक्तोंके अनुयायियोंने अपना एक अलग सम्प्रदाय बना लिया है, जिसका नाम इन्होंने 'रसिक सम्प्रदाय' रखा है। इन्होंने माधुर्यभावके अन्तर्गत ही सखाभाव, सखा-सखी भाव, दास्य भाव, वात्सल्य भाव आदिको भी समाविष्ट कर लिया है। इस सम्प्रदायका अधिकांश साहित्य हस्तलिखित है और मिथिला, अयोध्या, राजस्थान, अहमदाबाद आदिमें बिखरा पड़ा है। अयोध्यामें लक्ष्मणकिला और जानकी घाटमें इस सम्प्रदायके ग्रन्थोंका अच्छा संग्रह है। प्रकाशित ग्रन्थ मणिपर्वतके श्री रामकुमारदासजी रामायणीके संग्रहमें मिल जायँगे (विशेष विवरणके लिये लेखकका 'रामानन्द सम्प्रदाय' नामक ग्रन्थ द्रष्टव्य है इसके अलावा 'रामभक्तमें मधुर उपासना' तथा 'रामभक्तिमें रसिक सम्प्रदाय' अन्य सहायक ग्रन्थ है)। —ब० ना० श्री०

रावल—रावल सम्प्रदाय योगियोंकी एक महत्त्वपूर्ण शाखा है। कुछ विद्वानोंने रावल शब्दको संस्कृत 'राजकुल'का अपभ्रंश रूप कहा है। हजारीप्रसाद द्विवेदीने अनेक ऐतिहासिक, पुरातात्त्विक, भाषाशास्त्रीय और आनुश्राविक प्रमाणोंके आधारपर बड़ी तर्कपूर्ण रीतिसे रावलको 'लाकुल' शब्दका रूपान्तर बताया है। अनेक स्वस्थ प्रमाणोंके आधारपर बताया है कि बाप्पा रावलको उन्होंने लाकुलीश सम्प्रदायका अनुयायी सिद्ध किया है और सातवीं शताब्दीके पहले ही लाकुलीश लोग कुछ सम्मान पाने लगे थे, क्योंकि आठवीं शताब्दीमें बाप्पाका 'रावल' उपाधि धारण करना, इस बातका निश्चित प्रमाण है कि इस समयतक यह सम्प्रदाय काफी यश पा चुका था। बादमें चलकर रावल या लाकुल पाशुपत गोरखनाथके सम्प्रदायमें मिल गये थे, इसके भी निश्चित प्रमाण है। ब्रिग्स ('गोरखनाथ एण्ड कनफटा योगीज', पृ० २४०)ने बताया है कि सोमनाथमें प्राप्त सन् १२८७के एक लेखमें गोरखनाथका नाम लाकुलीशके साथ लिया गया है। धर्मनाथके पुनर्जन्म और 'रावलपीर' संज्ञासे सम्बद्ध कथाके आधारपर आचार्य द्विवेदीजीने रावल

योगियोंकी समूची शाखाको लाकुलीश पाशुपत सम्प्रदायकी उत्तराधिकारिणी सिद्ध किया है। उनका अनुमान है कि "शुरू-शुरूमें जब गोरक्षनाथने शैव एवं योगमूलक सम्प्रदायोंका संगठन किया होगा, तो उन्हें (अर्थात् जाति-पाँतिका बन्धन न माननेवाले लाकुलीशोंको) सम्प्रदायमें इसलिए स्वीकार किया होगा कि उन दिनों ये शास्त्रज्ञ सम्प्रदायकी प्रतिष्ठा पा गये थे। इनमें योग-प्रक्रिया भी पर्याप्त मात्रामें थी। गोरक्षनाथके पन्थमें आनेके बाद, जैसा कि हुआ करता है, इन लोगोंके सम्प्रदायमें गोरक्षनाथ लाकुलीशके अवतार मान लिये गये होंगे और बाप्पा रावलके साथ गोरक्षनाथकी कहानी चल पड़ी होगी" ("नाथ सम्प्रदाय, पृ० १६०—६१)। आचार्य द्विवेदीजीने यहीं एक पाद-टिप्पणीमें रावलोंके नागनाथी होनेपर भी थोड़ा प्रकाश डाला है। उलूक, कणाददर्शन, शिवके उलूक अवतारों, कौशिक और कुशिक (दे०—उलूक)में भी लाकुलीशोंका सम्बन्ध सम्भव है। लाकुलीशोंको किसी जमानेमें वेद-विरुद्ध, सत्शास्त्रका परिपन्थी और पापयोनि भी माना जाता था (भागवत, ४ : २), पर आगे चलकर रावल रूपमें इन योगियोंकी एक महत्त्वपूर्ण शाखा ही बन गयी। (विस्तृत विवरण और प्रमाण पुरस्सर स्थापनाके लिए दे० आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीका 'शोधसामग्री' शीर्षक निबन्ध, अनुसन्धानकी प्रक्रिया, पृ० १०८-११७ तथा 'नाथसम्प्रदाय' पृ० १५६-१६१)। —रा० दे० मि०

राष्ट्रगीत—अंग्रेजी-राज्यकी स्थापनाके साथ ही भारतवर्षमें इंग्लैण्डका जातीय संगीत (नेशनल ऐन्थम) प्रचलित हुआ। सन् १८८३ ई०में विलायतमें जातीय संगीत-सभा (नेशनल ऐन्थम सोसाइटी)की स्थापना हुई, जिसका उद्देश्य था कि 'गाड सेव द क्वीन'का भारतवर्षकी बीस भाषाओंमें अनुवाद कराया जाय और उन्हें समयानुसार गवाया जाय। फारसके मिरजा मुहम्मद बाकर खाँने अरबी तथा फारसीमें, मैक्समूलर और राजा सुरेन्द्रमोहनने संस्कृतमें, सुरेन्द्रमोहनने बँगलामें, महाराजा ट्रावनकोरने मलयालममें, के० एन० कविराजीने गुजरातीमें, बी० बालाजी नेनीने मराठीमें और भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने हिन्दीमें अनुवाद प्रेषित किया। भारतेन्दुका अनुवाद था—"प्रभु रच्छहु दयाल महरानी, बहु दिन जियें प्रजा सुखदानी, हे प्रभु रच्छहु श्रीमहरानी। सब दिसमें तिनकी जय होइ, रहै प्रसन्न सकल भय खोइ, राज करै बहु दिन लौं सोइ, हे प्रभु रच्छहु श्रीमहरानी"।

सन् १८८५ ई०में भारतीय राष्ट्रीय-महासभा (इण्डियन नेशनल कांग्रेस)की स्थापना हुई, किन्तु उस समय कांग्रेस राजभक्त संस्था थी और उसने इंग्लैण्डके राष्ट्रगीतको ही अपनाया था। बंकिमचन्द्र चटर्जीने 'आनन्दमठ' नामक उपन्यासमें 'वन्दे मातरम्' शीर्षक गीत लिखा था। लार्ड कर्जनने बंगालको दो भागोंमें विभक्त किया—पूर्वी और पश्चिमी बंगाल। बंगालने इसका एकस्वरसे तीव्र रूपमें विरोध किया और फलस्वरूप एक प्रबल आन्दोलनने जन्म ग्रहण किया। स्वदेशी सभाएँ स्थापित हुईं। इन सभाओंमें बंकिमचन्द्रके 'वन्दे मातरम्'को राष्ट्रगीतका गौरवान्वित पद मिला। स्वदेशी आन्दोलनके प्रसारके साथ ही यह गीत समग्र भारतमें राष्ट्रगीतके रूपमें प्रचलित हुआ।

प्रथम असहयोग आन्दोलनकी विफलताके पश्चात् हिन्दू-मुस्लिम राजनीतिकी साम्प्रदायिकताको स्पष्टता मिलने लगी और कुछ लोगोंको इस गीतमें साम्प्रदायिकताकी और 'तोमार प्रतिमा गड़ि मन्दिरे मन्दिरे'में मूर्तिपूजाकी गन्ध मिलने लगी, किन्तु स्वराज्य-प्राप्तितक किसी-न-किसी रूपमें यह राष्ट्रगीतके रूपमें समादृत रहा। अंग्रेजी सरकारकी दृष्टिमें जहाँ 'गाड सेव दि किंग' अथवा 'क्वीन' राष्ट्रगीत (नेशनल ऐन्थम) था, वहाँ देशभक्तोंकी दृष्टिमें 'वन्दे मातरम्'। भारतवर्षको स्वराज्य-प्राप्तिके पश्चात् विधान-निर्माणका अधिकार मिला और विधानसभाकी स्थापना हुई। राष्ट्रगीतकी समस्यापर विचार करनेके लिए विधान-सभाने एक उपसमिति संघटित की और उस समितिने रवीन्द्रनाथ ठाकुर-रचित 'जन-गण-मन-अधिनायक'को राष्ट्र-गीतके लिए उपयुक्त माना, फलतः विधानसभाने इसे राष्ट्रगीतके रूपमें स्वीकृत किया। इस समय यही भारतीय संघका राष्ट्रगान है। राष्ट्रगानको जातीय संगीत और राष्ट्रीय गीत भी कहा जाता है, किन्तु 'जाति'का प्रयोग एक विशेष अर्थमें होनेके कारण 'राष्ट्रगीत' ही उपयुक्त है और राष्ट्रीय गीतमें विशेष प्रकारके गीतोंकी परिगणना होगी (दे० 'राष्ट्रीय गीत')। —रा० छै० पा०

राष्ट्रीय कविता—'राष्ट्रीय' शब्द साहित्यमें दो-तीन अर्थोंमें प्रयुक्त किया जाता है। प्रथम अर्थमें राष्ट्रीय कविताके अन्तर्गत उन रचनाओंको लिया जा सकता है, जिनमें देशको एक इकाई मानकर काव्यसर्जन किया गया हो। इस प्रकारकी रचनाएँ किसी सीमातक एक विशिष्ट कालमें संस्कृति और सभ्यताकी जो स्थिति होती है, उसका प्रतिनिधित्व करती है। जातीय जीवनमें उनका विशिष्ट स्थान रहता है। उनकी मूल प्रेरणा देश और जाति होती है और उन्हें अभिव्यक्ति देना ही इस प्रकारकी कविताओंका प्रमुख उद्देश्य रहता है। महाकाव्यका लेखक राष्ट्रीय कविताका निर्माता ही कहा जायगा, क्योंकि वह एक सभ्यता और संस्कृतिको लिपिबद्ध करनेका प्रयास करता है (एवरक्राम्बीका 'द एपिक' लेख)। जब कभी विश्व-साहित्यमें प्रतिनिधित्वका प्रश्न आता है, तब राष्ट्रीय काव्यको प्रस्तुत किया जाता है। वह जातीय गौरवका प्रतीक है। जिन देशोंमें सभ्यता और संस्कृतिका पर्याप्त विकास हुआ है, उनमें इस प्रकारकी कविता सहजसुलभ है। गिलबर्ट हिवेटने अपनी पुस्तक 'द क्लासिकल ट्रेडिशन'-(पृ० २२)में लिखा है कि १,००० ई०के काफी पूर्व ही इंग्लैण्डमें मौलिक, बहुमुखी, समृद्ध और जीवन्त राष्ट्रीय साहित्यका निर्माण हो रहा था। रोमन साम्राज्यके पतनके अनन्तर उसका आरम्भ हुआ और समस्त बाधाओंके बावजूद उसका विकास होता रहा। इस दृष्टिसे विश्वकी समस्त विकसित सभ्यताओंमें राष्ट्रीय काव्यका सर्जन हुआ है। राष्ट्रीय कविताका आरम्भिक स्वरूप लोकगीतोंमें देखा जा सकता है। जनतासे सीधा सम्पर्क होनेके कारण इनमें कलात्मक सौन्दर्य भले ही न हो, किन्तु इनमें उस देश और सभ्यताकी आन्तरिक भावधारा स्पष्ट होती है। एक भूखण्डमें कई भाषाओंके प्रचलनसे कभी-कभी ऐसा भी

होता है कि एक ही कथा सभी भाषाओंमें अभिव्यक्ति पाती है। लोकगानोंके निर्माता प्रायः अज्ञात होते हैं। इन जन-कवियोंमें कलाका इतना विकास नहीं होता कि वे अपनी रचनाओंको लिपिबद्ध कर सकें। आगे चलकर कोई महाकवि बिखरी हुई परम्पराके आधारपर अपने महाकाव्यकी सृष्टि करता है। होमरका 'इलियड', 'ओडेसी', वर्जिलका 'इलियड', दांतेकी 'डिवाइन कॉमेडी', गेटेका 'फाउस्ट', मिल्टनका 'पैराडाइज लॉस्ट', वाल्मीकिकी 'रामायण', व्यासका 'महाभारत' आदि प्राचीन काव्य राष्ट्रीय कविताके अन्दर रखे जाते हैं। हिन्दीमें तुलसीके 'रामचरितमानस'-को राष्ट्रीय काव्यके रूपमें स्वीकार किया जा सकता है।

राष्ट्रीय कविताका व्यापक प्रयोग देशभक्तिकी कविताओं-के लिए किया जाता है। इनमें देश और जातिके प्रति एक ममताका भाव रहता है। यों तो प्रत्येक युगमें ऐसे कवि होते हैं, जो राष्ट्रीय भावनाओंकी कविता लिखते हैं, किन्तु विशेष परिस्थितियोंमें इस प्रकारका काव्य सर्जन बढ़ जाता है। परतन्त्र देशोंमें राष्ट्रीय भावनाओंके विकासके साथ-साथ देश-भक्तिकी कविताओंकी मात्रामें वृद्धि होती जाती है। जब कभी किसी देशपर विदेशी आक्रमण होता है, उस अवसरपर भी युद्धगीतके रूपमें देश-भक्ति सम्बन्धी कविताओं-की सृष्टि की जाती है। विश्व-इतिहासमें कुछ ऐसे भी विशिष्ट अवसर आते हैं, जब राष्ट्रीय भावनाओंकी कविताओंका सर्जन पर्याप्त मात्रामें हुआ है। अमेरिकाकी क्रान्ति, फ्रान्स-की राज्य-क्रान्ति, रूसकी साम्यवादी क्रान्ति, चीनका गृह-युद्ध आदि अवसरोंपर इस प्रकारकी कविताएँ लिखी गयी हैं। ऐसे अवसरोंपर दोनों पक्ष अपनेको राष्ट्रभक्त कहते हैं। चीनके गृह-युद्धमें अधिकांश काव्य अतिशय भावुकता-प्रधान और आवेशपूर्ण लिखा गया है। उत्साह ही उसका मूल प्रेरक भाव है। इसमें जीवनके शाश्वत भाव नहीं होते, जो काव्यको स्थायित्व प्रदान करते हैं। महान् कवि प्रायः ऐसी राष्ट्रीय भावनाओंके काव्य-सर्जनमें तत्पर नहीं होते। एक बार जर्मनीके क्र्कने जब गेटेसे युद्धगीत लिखनेको कहा था तो उसने उत्तर दिया था कि "मैं मानवको घृणा नहीं करता, इस कारण मेरे लिए युद्धगीत लिखना सम्भव नहीं' (गेटे : एमाइल लुडविग)। इस प्रकारका काव्य सद्भावनासे प्रेरित होनेके कारण स्तुत्य होता है, किन्तु स्थायी भावोंसे वंचित होनेके कारण महान् काव्यकी संज्ञा नहीं प्राप्त कर सकता। अधिकांश राष्ट्रीय भावनाओंकी कविताएँ जिस उद्देश्य-पूर्तिके लिए लिखी जाती हैं, उनकी पूर्ति करनेमें किसी सीमातक सफल होती हैं, तत्पश्चात् वे विस्मृतिके गर्भमें चली जाती हैं। राष्ट्रीय कविताओंके विविध पक्ष हो सकते हैं। एक तो उसका ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक पक्ष है, जिसमें देशके प्राचीन इतिहासके प्रति आदरका भाव प्रकट किया जाता है। इटलीकी राष्ट्रीय भावनाओंकी कविता रोमन साम्राज्यका स्मरण कराती है। इस प्रकारकी कविताओंमें देशकी सभ्यता-संस्कृतिके प्रति एक मोह रहता है। राष्ट्रीय कविताओंके लेखकका अन्य पक्ष सुधारवादी भी हो सकता है, जिसमें कवि अपने देशकी वर्तमान परिस्थितिसे असन्तुष्ट होकर उसमें सुधार चाहते हैं। हिन्दीमें भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युगके अधिकांश कवियोंका काव्य सुधारवादी दृष्टिकोणसे लिखा गया है।

हिन्दी कवितामें राष्ट्रीय भावनाका आरम्भिक स्वरूप वीरगाथा-कालकी कविताओंमें प्राप्त होता है। इसकी दो-तीन मुख्य प्रेरणाएँ हैं। एक तो यह कि देशपर विदेशी आक्रमण हो रहे थे, जो एक अन्य धर्मावलम्बियों द्वारा परिचालित थे। इसी कारण वीरगाथा-कालकी राष्ट्रीय भावना धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक अधिक है। उसमें जातीयताका भाव प्रबल है। विदेशी आक्रमणोंके अभावमें देशके राजा आपसमें भी टकरा जाते थे। इस अवसरपर उनके दरबारी कवि अपने-अपने आश्रयदाताकी स्तुतिमें लग जाते थे। इस प्रकारकी कविता राष्ट्रीय कविताका संकुचित और विकृत रूप है। उसे चारण-काव्य कहना अधिक उपयुक्त होगा। वीरगाथा-कालकी राष्ट्रीय कविताओं-में शृंगारका पुट भी स्थान-स्थानपर दिखाई देता है। इसका कारण यह है कि उस समय अधिकांश कविता राजाश्रित थी और राजाओंकी मनोवृत्ति भोगविलास की थी। 'पृथ्वी-राजरासो', 'हम्मीररासो', 'वीसलदेवरासो' आदि इस समय-के प्रतिनिधि काव्य-ग्रन्थ हैं। वीरगाथा-कालकी ही मनोवृत्ति किंचित् सामान्य परिवर्तनोंके साथ रीतिकालमें मिलती है। चन्द बरदाईने पृथ्वीराजकी यशोगाथाके रूपमें जिस प्रबन्ध-काव्यका सर्जन किया था, उस परम्पराका पालन रीतिकाल-के कवि किसी महान् व्यक्तित्वके अभावमें न कर सके। इस समय भूषणने शिवाजीकी अभ्यर्थनामें जो कवित्त लिखे हैं, उनमें जो राष्ट्रीय-भावना है, उसमें जातीयताकी भावना प्रमुख है।

राष्ट्रीय भावनाओंका पूर्ण प्रतिफलन भारतीय स्वातन्त्र्य-संग्राममें दिखाई देता है। उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तमें जिस राष्ट्रीय आन्दोलनका आरम्भ हुआ, वह क्रमशः संघटित होता चला गया। बीसवीं शताब्दीके आरम्भमें जिस द्विवेदी-युगका पूर्ण विकास हुआ, उसकी मूल प्रेरणा राष्ट्रीय ही कही जायगी। इस युगके दो प्रतिनिधि कवि मैथिलीशरण गुप्त और अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' हैं। इन दोनों कवियोंकी राष्ट्रीय-भावना आदर्शवादी है और उसमें सुधारकी प्रवृत्ति है। राम और कृष्णके पुरातन कथानकके रूपमें एक आदर्श नेताकी कल्पना है। राष्ट्रीय भावनाओंका स्पष्ट रूप मैथिलीशरण गुप्तकी 'भारतभारती'-में दिखाई देता है। "जग जायँ तेरी नोकसे, सोये हुए हों भाव जो" कविकी इस पंक्तिसे उसके उद्देश्यका ज्ञान हो जाता है। इसीके अनन्तर छायावादका काव्य-सर्जन अपनी प्रौढ़ अवस्थापर आया। इसकी देशभक्ति सम्बन्धी चेतना अधिक सांस्कृतिक है। इसके अतिरिक्त प्रायः इसी समयसे धर्म-निरपेक्ष राष्ट्रीयताका भाव गहरा होने लगता है। मैथिलीशरणको सम्भवतः इसी कारण 'राष्ट्रकवि' कहा जाता है, क्योंकि उनमें राष्ट्रीय-भावना अधिक स्पष्ट है। इसी प्रकार माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', रामधारी सिंह 'दिनकर', सुभद्राकुमारी चौहान, सोहन-लाल द्विवेदी आदिमें भी राष्ट्रीय भावना अधिक स्पष्ट है, किन्तु छायावादके कवियोंने अपनी देशभक्तिको एक सांस्कृतिक आवरणसे मण्डित किया है। उसमें केवल आवेश ही नहीं, किन्तु एक अधिक स्थायी ताप है।

'निराला'का 'भारति जयविजयकरे' गीत, भारत माताका एक सर्वांगीण चित्र प्रस्तुत करता है, जिसका आधार प्रकृतिका सौन्दर्य है। सुमित्रानन्दन पन्तने भारतमाताके कई चित्र 'ग्राम्या' और 'युगवाणी'में प्रस्तुत किये हैं। 'प्रसाद'के 'हिमालयके आँगनमें उसे प्रथम किरणोंका दे उपहार' नामक प्रसिद्ध गीतमें भारतीय इतिहासका गौरवपूर्ण चित्र है। महात्मा गान्धीके पदार्पणने साहित्यके आवेशको किसी सीमातक कम किया। अहिंसावादने काव्यको भी प्रभावित किया। इसी कारण छायावाद-युगमें देशभक्ति सम्बन्धी कविताएँ ऐसी भी हैं, जिनमें स्थायित्व है। कलात्मक दृष्टिसे उनमें परिपक्वता है। वे किसी राष्ट्र-सेवीका आवेशमात्र नहीं हैं। उत्तर-छायावाद-युगमें कुछ कवियोंने सन् १९४२ ई०की अगस्त-क्रान्ति, आजाद हिन्द फौज और अन्तमें स्वतन्त्रता-प्राप्तिसे प्रेरित होकर अनेक ऐसी कविताएँ लिखीं, जिनमें देशभक्तिका उफान है। इनमें अत्यधिक आवेशके कारण भाषण-शैलीका प्रयोग हुआ है। सुभद्राकुमारी चौहानकी प्रसिद्ध कविता "बुन्देले हर-बोलोंके मुँह हमने सुनी कहानी थी, खूब लड़ी मरदानी वह तो झाँसीवाली रानी थी" आदि कविताएँ बहुत लोकप्रिय हुई थीं। वास्तवमें इस प्रकारकी कविताएँ अपनी सरल अभिव्यक्तिके कारण जन-काव्य बन जाती हैं। श्याम-नारायण पाण्डेयका प्रबन्धकाव्य 'हल्दीघाटी', रामनरेश त्रिपाठीके खण्डकाव्य 'पथिक' और 'मिलन' देशभक्तिसे अनुप्राणित हैं। गान्धीके व्यक्तित्वसे प्रेरणा लेकर जो अनेक कविताएँ लिखी गयीं, उनमें राष्ट्रीय भावनाका स्वर है। सोहनलाल द्विवेदीने इस प्रकारकी बहुत-सी कविताएँ लिखी हैं। गान्धीके निधनके बाद 'सूतकी माला' (बच्चन) आदि कविता-संग्रह प्रकाशित हुए। राष्ट्रीय कविताका एक अन्य पक्ष है, जिसमें प्रगतिशीलताका अंश अधिक है। इन कवियोंमें सामाजिक विषमताके प्रति विक्षोभका भाव दिखाई देता है। आर्थिक और सामाजिक समताको ही वे सच्ची स्वतन्त्रता मानते हैं। रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', शिवमंगल-सिंह 'सुमन' और नागार्जुन आदि ऐसे ही कवि हैं। पर्याप्त अंशमें वे मार्क्सवादी विचार-पद्धतिसे प्रभावित हैं। इस प्रकार हिन्दीमें राष्ट्रीय कविताका इतिहास काफी प्राचीन न होकर भी संख्याकी दृष्टिसे पर्याप्त है। कभी-कभी राष्ट्रीय कविताका प्रयोग परम्परागत काव्य-प्रणालीके लिए भी किया जाता है। अंग्रेजीके 'क्लासिकल' शब्दके समीप उसे रखा जा सकता है, किन्तु इस प्रकारका प्रयोग बहुत कम मिलता है।

[सहायक ग्रन्थ—हिन्दी साहित्य—बीसवीं शताब्दी : नन्ददुलारे वाजपेयी; आधुनिक हिन्दी कविताकी मुख्य प्रवृत्तियाँ : डॉ० नगेन्द्र; आधुनिक काव्यधाराका सांस्कृतिक स्रोत : केसरीनारायण शुक्ल; हिन्दी कवितामें युगान्तर : सुधीन्द्र; छायावाद युग : डॉ० शम्भूनाथ सिंह।]—प्रे० शं०

राष्ट्रीय गीत—राष्ट्रीय आन्दोलनके सूत्रपातके साथ देश-भक्तिपूर्ण गीतोंका अधिक प्रचलन हुआ। हिन्दीमें 'मर्यादा', 'प्रभा' और 'प्रताप'के कारण ऐसे गीतोंको अधिक प्रोत्साहन मिला। राष्ट्रीयताके किसी अंगविशेषसे इनका सम्बन्ध रहता है और उनमें जातीय जीवन और संस्कृतिका प्रतिफलन होता है। अतीत-गौरवके प्रति मोहको अभिव्यक्त करनेवाले गीतोंके प्रथम प्रणेता भारतेन्दु थे। वर्तमानकी करुण स्थितिके भी गीत उन्होंने गाये थे। जयशंकर 'प्रसाद'ने अतीतके मोहको काव्यात्मक रमणीयता दी। जन्मभूमिके प्रति प्रेम, अशेष श्रद्धा और निष्ठाकी अभिव्यक्ति इस प्रकारके काव्यमें होती है और इसके सहज आकर्षण और सौन्दर्यको मुखरित करनेवाले प्राथमिक कवियोंमें श्रीधर पाठक अग्रगण्य हैं। इसमें भविष्यकी आशाको वर्तमानके असन्तोषके कारण अधिक बल मिलता है। राजनीतिक मुक्तिके पश्चात् राष्ट्रीय गीतोंका स्वर बदल गया है। —रा० खे० पा०

राष्ट्रीय साहित्य—राष्ट्रीय शब्द 'राष्ट्र'का विशेषण है और राष्ट्र अंग्रेजी शब्द 'नेशन'के पर्यायरूपमें हिन्दीमें प्रयुक्त होता है। इस प्रकार राष्ट्रीय शब्दको 'नेशनलिस्टिक'के समीप रखा जा सकता है। विश्वमें राष्ट्रीय भावनाका साहित्यसे अत्यन्त प्राचीन सम्बन्ध रहा है। यूनानके नगर-राज्योंमें इनके बीज प्राप्त होते हैं। स्पार्टा, एथेन्स आदिकी सभ्यता-संस्कृति प्रसिद्ध है। राष्ट्रीय भावनाकी सहायतासे एक जन-समूह संघटित होता है। जिमरनने अपनी पुस्तक 'राष्ट्रीयता और सरकार'में लिखा है—"मेरी दृष्टिमें राष्ट्रीयताका प्रश्न सामूहिक जीवन, सामूहिक विकास और सामूहिक आत्मसम्मानसे सम्बद्ध है"। विश्व-सभ्यताके विकासमें कुछ अवसर ऐसे आये हैं, जब राष्ट्रीय भावनाने जोर पकड़ा। यूरोपकी व्यावसायिक क्रान्तिका राष्ट्रीय भावनाके विकासमें पर्याप्त सहयोग है। लगभग १५०० ई०के अनन्तर सभी देशोंके साहित्यमें इस भावनाने प्रमुखता प्राप्त की। प्रत्येक देश अपनी जातिगत विशेषताओंको लेकर साहित्य-सर्जनमें अग्रसर हुआ। ग्रीक और लैटिनकी प्रभुता कम हो गयी। इटलीमें मैकियावेली, टासो आदि, फ्रांसमें मोंतें, रेसिन आदि; स्पेनमें सर्वेण्टिस, इंग्लैण्डमें स्पेन्सर, शेक्सपीयर, जॉन्सन, बेकन, मिल्टन आदि तथा जर्मनीमें फ्लेमिंग आदि लेखकोंने राष्ट्रीय साहित्यका सर्जन किया। इस समय राष्ट्रीय भावनाकी जो धारा प्रवाहित हुई, वह संकीर्ण नहीं है, इसी कारण उसे मानववाद (humanism)की संज्ञा दी गयी है। इस साहित्यमें देशके जन-जीवनको चित्रित किया गया है, किन्तु उसका दृष्टिकोण व्यापक और उदार है। रूसी और फ्रांसकी राज्यक्रान्ति (१८वीं शताब्दी)ने राष्ट्रीय भावनाको समस्त यूरोपमें प्रसारित कर दिया। इसी आधारपर अर्नेस्ट रेनानने लिखा है कि व्यक्तियोंकी एक साथ मिलकर रहनेकी अदम्य इच्छा ही राष्ट्रीयताकी जननी है। फ्रांसकी क्रान्तिने स्वतन्त्रता, बन्धुत्व, समानता (liberty, fraternity, equality)का जो सन्देश दिया, वह साहित्यमें व्यापक रूपसे प्रतिफलित हुआ। रॉबिन्सनका कथन है कि नेपो-लियन यूरोपकी राष्ट्रीय भावनाका पिता है। अंग्रेजी स्वच्छन्दतावादी कवियोंमें वर्ड्सवर्थपर इसका सीधा प्रभाव पड़ा। वर्ड्सवर्थकी आलोचना करते हुए हरबर्ट रीडने इसकी चर्चा की है।

राष्ट्रीय साहित्य किसी एक ही अर्थका द्योतक नहीं कहा जा सकता। राष्ट्रीय साहित्यके अन्तर्गत वह समस्त

साहित्य लिया जा सकता है, जो किसी देशकी जातीय विशेषताओंका परिचायक हो। इस प्रकारके साहित्यमे जातिका समस्त रागात्मक स्वरूप, उसके उत्थान-पतन आदिका विवरण आ सकता है। उसका होना एक प्रकारसे अनिवार्य है। 'महाभारत' और 'रामायण' भारतके राष्ट्रीय काव्य हैं। मिल्टनका 'पैराडाइज लॉस्ट' राष्ट्रीय काव्यके रूपमें प्रस्तुत किया जा सकता है। रूसके प्रसिद्ध लेखक बेलिन्स्कीने एक बार रूसी लेखकोंमे यह शिकायत की थी कि वे राष्ट्रीय साहित्यका सर्जन नहीं करते। उनपर विदेशों-की प्रबल छाया है। इसका आशय यही है कि लेखक अपने देशकी परम्पराका पालन नहीं करते। राष्ट्रीय साहित्यके अन्तर्गत किसी देशकी लोक-कथाएँ, लोकगीत आदि भी आ जाते हैं। प्रत्येक समृद्ध साहित्यमे इस प्रकार-की सम्पत्ति होती है। कभी-कभी महाकवि इस बिखरी हुई सामग्रीका उपयोग करते हैं। होमरने अपने महा-काव्योंमे यूनानकी बिखरी हुई परम्पराको एक सूत्रमें बाँध दिया है। विभिन्न देशोंके राष्ट्रगान इसी साहित्यके अन्तर्गत आ जायेंगे। विशेष अवसरोंपर राष्ट्रगान गाया जाता है। इसमे पूर्वजोंके गौरवकी भावना रहती है। होरेसमें राष्ट्रीय भावना प्रबल है, क्रूसेड्स अथवा धर्मयुद्धके समय जो साहित्य लिखा गया, उसमें धार्मिक भावना अधिक है। भारतका 'जन-गण-मन' (रवीन्द्र), ग्रेट ब्रिटेनका 'गॉड सेव द किंग' (१७३९ ई०), ग्रीसका 'सन्स आव ग्रीस, कम एराइज' (१८२१ ई०, बायरनका अनुवाद) आदि राष्ट्रगान हैं। राष्ट्रीय साहित्यके अन्तर्गत हिन्दीमें तुलसीके 'रामचरितमानस' और प्रेमचन्दके साहित्यको रखा जा सकता है। 'प्रसाद'के नाटक भी इसी कोटिमें रखे जा सकते हैं। रवीन्द्रनाथकी अधिकांश कृतियाँ राष्ट्रीय जन-जीवनसे अनुप्राणित हैं। हिन्दीमे राष्ट्रीय साहित्यकी समृद्ध परम्परा अभीतक कई कारणोंसे सुदृढ न हो सकी। स्वतन्त्रताके पूर्व हिन्दी भारतकी एक बहुसंख्यक जनताकी भाषा होकर भी राजभाषा नहीं थी। बंगाली, मराठी, गुजराती आदि भाषाओंमे पर्याप्त साहित्य-सर्जन हुआ है, जो अपने प्रदेशका जन-जीवन चित्रित करता है।

परम्पराके प्रति आग्रहके रूपमें भी कभी-कभी राष्ट्रीय साहित्यका व्यवहार होता है। अंग्रेजीमें इसके लिए कभी-कभी 'क्लासिकल' शब्द प्रयोगमें लाया जाता है। टी० एस० इलियटने अपनी पुस्तक 'क्लासिक क्या है?' (what is a classic ?)मे इसका विवेचन किया है। गिलबर्ट हिवेटने अपने ग्रन्थ 'द क्लासिकल ट्रेडिशन'में विस्तारसे क्लासिकल परम्परापर विचार किया है। हिन्दीमें राष्ट्रीय साहित्यके रूपमें क्लासिकल साहित्यको अपेक्षाकृत कम ही स्वीकार किया गया है।

राष्ट्रीय साहित्यका सर्वाधिक प्रयोग उस साहित्यके लिए किया जाता है, जिसमें देश-प्रेमकी भावना प्रबल रहती है। इस प्रकारकी रचनाएँ विशेष प्रकारकी राजनीतिक परिस्थितियोंमें प्रस्तुत की जाती है। जब दो देश अथवा दो जातियाँ आपसमें संघर्षरत होती है। तब इस प्रकारकी साहित्य-सृष्टि होती है, यहाँतक कि युद्धगीत (war song) भी लिखे जाते हैं। एक परतन्त्र देशमें जागरणके साथ-साथ राष्ट्रीय-भावना प्रबल होने लगती है। देशभक्तिसे अनुप्राणित साहित्यमे एक आवेश, उत्साह और साथ-ही-साथ वीरत्वका भाव प्रबल रहता है। इसमे अतीत-गौरवका गान किया जाता है। पूर्वजोंकी दुहाई दी जाती है। देशकी महिमाका अंकन होता है। किन्तु साथ ही इस प्रकारके साहित्यमे साधारण घृणा और उपेक्षाका भाव भी परिलक्षित होता है, जो विजितकी विजेताके प्रति एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया है। इस प्रकारका साहित्य एक उद्देश्यकी पूर्ति करता है। मार्क्सवादी समीक्षक इसको गरिमामय तथा महत्त्वशाली कह सकते हैं, किन्तु इस प्रकारकी रचनाओंमें स्थायित्व होना सम्भव नहीं। उसमें साहित्यकी उच्च अभिव्यंजना-शक्तिकी खोज करना भी उचित नहीं। एक भारी जनसमुदायमे चेतना लानेके लिए इनकी सृष्टि की जाती है। प्रथम कोटिका साहित्यकार भी देशभक्तिसे अनुप्राणित होकर रचनाएँ कर सकता है, किन्तु उसकी ये रचनाएँ प्रायः साधारण कोटिकी ही होंगी। ज़ारके विरुद्ध संघर्षरत लेनिनकी लाल सेनाके लिए इस प्रकारका पर्याप्त साहित्य रचा गया था, किन्तु वह गोर्कीके राष्ट्रीय साहित्यकी समता नहीं कर सकता। उसे दास्तोएव्स्कीकी रचनाओंका-सा गौरव नहीं मिल सकता। देशभक्तिके साहित्यमे जातीय भावनाको कभी-कभी प्रश्रय मिलता है। आयरलैण्ड जब स्वतन्त्रता चाहता था तो उस देशके साहित्यकारोंने अपनेको एक अलग इकाई घोषित कर दिया था। भारतमे जातीय वैमनस्यके कारण इस प्रकारकी स्थिति उत्पन्न हो गयी थी। राष्ट्रीय भावनाओंपर आधारित देशभक्तिका साहित्य एक ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। मैथिलीशरण गुप्तकी 'भारतभारती' राष्ट्रीय भावनाओंकी प्रतिनिधि रचना है, किन्तु उसे उच्च काव्यकी संज्ञा नहीं दी जा सकती।

हिन्दी साहित्यमें राष्ट्रीय-भावनाको आरम्भसे ही देखा जा सकता है। बहुत समयतक भारत एक अखण्ड देश रहा है, इसी कारण संस्कृत साहित्यमे आवेशपूर्ण राष्ट्रीय भावनाके दर्शन नहीं होते। विदेशी आक्रमणोंके कारण साहित्यमे यह भावना प्रबल होती चली गयी। वीरगाथा-कालके साहित्यमे जो राष्ट्रीय भावना मिलती है, उसमे जातीयताका भाव प्रमुख है। रासोकी परम्परामें वीरभावका प्राधान्य है। इस युगमें देशभक्तिका जो भाव है, वह कभी-कभी दूषित रूपमे भी प्रकट हुआ है। जब राजा आपसमे टकराते थे, तो उनके दरबारी कवि अपने-अपने राजाओंकी अभ्यर्थनामे लग जाते थे। वास्तवमें हिन्दीमें राष्ट्रीय साहित्यकी गतिशील धारा भारतेन्दु-युगसे आरम्भ होती है। इस समयमे राष्ट्रके धर्म-निरपेक्ष रूपका आधुनिक विभावन विकसित होने लगा था। भारतेन्दुकी अधि-कांश रचनाओंकी प्रेरणाके मूलमे इस भावनाको देखा जा सकता है। उस समयके निबन्धलेखक प्रताप-नारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट आदिके निबन्धोंपर एक दृष्टि डालनेसे यह सत्य प्रकट हो जाता है कि एक ओर यदि वे समाजसुधारकी भावनासे प्रेरित थे, तो साथ ही वे विदेशी राजसत्ताके घोर विरोधी थे। रामचन्द्र शुक्लने भारतेन्दुका मूल्यांकन करते हुए लिखा है कि उनका सबसे ऊँचा स्वर

देशभक्तिका है (हि० सा० इ०, पृ० ४००)। इस समयके प्रमुख पत्र 'हरिश्चन्द्र मैगजीन'(आठ संख्याओंके बाद जिसका नाम 'हरिश्चन्द्रचन्द्रिका' हो गया)की फाइलें इस बातका प्रमाण हैं कि उस समयकी प्रमुख भावना राष्ट्रीय है। कांग्रेस-आन्दोलनकी प्रगतिके साथ-साथ राष्ट्रीय भावना प्रबल होती गयी। द्विवेदी-युगका हिन्दी साहित्य इससे ओत-प्रोत है। इस समय देशमें जो विभिन्न राष्ट्रीय आन्दोलन हुए, उनका प्रत्यक्ष प्रभाव भारतकी गति-विधिपर दिखाई देता है। पट्टाभि सीतारामैयाने अपनी पुस्तक 'कांग्रेसका इतिहास'में कहा है कि कांग्रेस-आन्दोलनोंका प्रभाव लगभग सभी साहित्योंपर पड़ा है। भारतीय राजनीतिमें गान्धीके प्रवेशसे राष्ट्रीय भावनामें किंचित् महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। राजनीतिमें अहिंसा और सत्यको प्रधानता मिली। हिन्दी साहित्यमें उत्साह, वीरता, शौर्य आदिके स्थानपर अपेक्षाकृत नैतिक और सांस्कृतिक रचनाएँ आने लगीं। राष्ट्रीय भावना प्रत्यक्ष न होकर किसी सीमातक परोक्ष हो गयी। हरिकृष्ण 'प्रेमी'के नाटकोंमें देशभक्तिका जो स्वर है, उसमें जातीय एकताका भी आग्रह है। इस भावनाका विकास होता गया और वह विश्व-भावनातक पहुँच गयी। छायावाद-युगकी कविताओंमें इसी विश्व-मानवताका स्वर है। स्वतन्त्रता-प्राप्तिके अनन्तर देश-प्रेमकी भावनाने एक और करवट ली। इस नयी दिशामें पूर्वके प्रगतिशील विचार भी सम्मिलित हैं। मार्क्सवादी लेखकोंकी रचनाओंमें जो राष्ट्रीय भावनाएँ मिलती हैं, उनमें वर्ग-संघर्षकी भावना प्रमुख स्थान प्राप्त करती है। हिन्दी साहित्यके इतिहासमें जो राष्ट्रीय भावना प्राप्त होती है, उसमें विविधता है। भारतके राजनीतिक जीवनमें जो परिवर्तन हुए हैं, उन्होंने साहित्यकी गति-विधिको पर्याप्त प्रभावित किया है। आरम्भमें जो वीरताका भाव था, वह वीर-पूजाका रूप है। सन् १८५७ ई०की क्रान्तिके अनन्तर देश-प्रेमका स्वर प्रबल हुआ। देशके सभी विचारशील व्यक्तियोंने एक स्वरसे विदेशियोंका विरोध किया। गान्धीके आगमनने उस भावनाको संस्कृतिनिष्ठ और नैतिक बनाया। अन्य विचारधाराओंका भी इसपर प्रभाव पड़ा।

[सहायक ग्रन्थ— आधुनिक साहित्य : नन्ददुलारे वाजपेयी; आधुनिक हिन्दी कविताकी मुख्य प्रवृत्तियाँ : डॉ० नगेन्द्र; आधुनिक काव्यधाराका सांस्कृतिक स्रोत : केसरीनारायण शुक्ल; हिन्दी कवितामें युगान्तर : सुधीन्द्र।] —प्रे० शं०

रास—रास रसके बहुवचन, ब्रह्म, महारासमें गोपिकाओंके बीच एक कृष्णके अनेक रूप, स्त्रियों और पुरुषोंके परस्पर हाथ बाँधकर मण्डलाकार-नृत्य, कृष्ण-गोपियोंके हस्तबद्ध वृत्ताकार नृत्य, प्राचीन पशुपालक नृत्य (चिल्लाहट)में संगीतके योगसे विकसित नाट्यरूप, रासलीलामें परिवेष्टित चन्द्रकी चन्द्रिकापर मुग्ध होकर कृष्ण-गोपिकाओंकी क्रीड़ा, रहस्यलीला और देश-भाषाके शब्द 'रास'के अर्थमें प्रयुक्त हुआ माना गया है। आज 'रास'से लोकनाट्यके एक रूपका बोध होता है, जिसमें राधा-कृष्ण-गोपियोंकी मण्डलाकार रूपमें गीति और नृत्यके साथ शृंगारिक क्रीडाएँ दिखायी जाती हैं। अतः यह रासलीलाके लिए भी रूढ़ है।

नाट्यरूपकी दृष्टिसे यह रास संस्कृतके नाट्यरासक, गोष्ठी, काव्य, श्रीगदित और हल्लीश उपरूपकोंके अधिक निकट है, विशेषतया नाट्यरासककी और रासकी प्रकृतिमें दूरतक साम्य है। इस दृष्टिकोणसे रासका संकेत भासके 'बालचरित' नाटक, बाणके 'हर्षचरित', भट्टनारायणके 'वेणीसंहार' तथा 'भागवत'के दशम स्कन्ध (२९ से ३३ अध्याय)के 'रास'में मिलता है। बारहवीं शतीके मन्दिरोंमें भी इसके स्वरूपका पता लगता है।

रास रास, रासक या रासोके रूपमें काव्यका रूप भी रहा है। जैनाचार्य जिनवल्लभ सूरिके निर्देशों, ककक्कसूरि-कृत 'उपकेश गच्छ पट्टावली' (हस्तलिखित) तथा 'खरतर-गच्छ पट्टावली'से ज्ञात होता है कि बारहवीं शतीमें रास या रासकका प्रचार था और रासक-ग्रन्थोंका निर्माण भी प्रारम्भ हो गया था। ये रासक-ग्रन्थ सैकड़ोंकी संख्यामें मिलते हैं। 'पृथ्वीराजरासो', 'खुमानरासो', 'बीसलदेवरासो' भी इसी परम्परामें हैं। ये रासक-काव्य-ग्रन्थ अपभ्रंश और गुर्जर-मिश्रित राजस्थानी भाषामें लिखे गये हैं। इनका प्रारम्भ जैनाचार्योंके द्वारा ही हुआ है। उन्होंने जैन धर्मके प्रचारके लिए रास-नाटकोंको आधार बनाया। रास-ग्रन्थोंसे स्पष्ट है कि आगे चलकर रासकी नृत्यगीतपूर्ण शृंगारप्रधान तथा नृत्यगीतहीन धर्मप्रधान, दो धाराएँ हो गयीं। नृत्य और संगीतकी प्रमुखताके कारण शृंगारप्रधान धारा लोकप्रसिद्ध और प्रचलित हो गयी। जैनेतर ग्रन्थोंमें यही धारा मिलती है। सोलहवीं शतीमें वल्लभाचार्य तथा हित हरिवंशने इसी शृंगारमूलक रासमें धर्मके अंगके साथ नृत्यकी पुनःस्थापना की तथा उसका नेता रासरसिकशिरोमणि कृष्णको बनाया। इस प्रकार काव्यका रूप फिर नाट्यरूप पा गया।

रासकी दूसरी नाट्यशैली भी प्राप्त है, जिसमें बोधिसत्त्व तथा जीमूतवाहनके आत्मोत्सर्गका संगीत तथा नृत्यके साथ अभिनय किया गया। हर्षका 'नागानन्द' रासकी इसी शैलीमें लिखा गया है। —वि० रा०

रासक—इसमें एक अंक, पाँच पात्रोंका का विधान, मुख, प्रतिमुख, निर्वहण सन्धियोंका प्रयोग होता है। कैशिकी, भारती वृत्तियोंका निर्वाह होता है। नायिका प्रसिद्ध और नायक मूर्ख होता है। विभिन्न प्रकारकी प्राकृतोंका प्रयोग किया जाता है। सूत्रधारका अभाव रहता है। उदात्त भावोंका उत्तरोत्तर विकास किया जाता है। वीथ्यंग और कलाएँ रहती हैं। उदाहरण—'मेनकाहित'। इसके अतिरिक्त 'भाव-प्रकाश'में नान्दीके सुश्लिष्ट होनेका भी निर्देश है। —वि० रा०

रासधारी—राजस्थानी नृत्यनाट्यकी विशेष शैली। इसमें धार्मिक लोकनायकोंके चरित्र कथानकोंके माध्यमसे अभिनीत किये जाते हैं। बहुधा राम और कृष्ण रासधारीके मुख्य विषय हैं। गीत और नृत्य कथाके विस्तारमें सहायक होकर प्रमुख स्थान पाते हैं। रासधारीके गीत परम्परागत हैं। साधारणसे मंचपर, लोक-जीवनके प्रचलित मनोविनोद-के हेतु नाट्यमण्डलियाँ लोकनाट्यकी शैलीमें रासधारीका आयोजन करती हैं। रासधारीमें ब्रजके रासका थोड़ा प्रभाव लक्षित होता है। —श्या० प०

रासलीला—सोलहवीं शतीमें श्री वल्लभाचार्य तथा हित हरिवंशादि महात्माओंने लोकप्रचलित जिस शृंगारप्रधान रासमें धर्मके साथ नृत्य, संगीतकी पुनःस्थापना की और उसका नेतृत्व रसिकशिरोमणि श्रीकृष्णको दिया था, वही राधा तथा गोपियोंके साथ कृष्णकी शृंगारपूर्ण क्रीडाओंमें युक्त होकर रासलीलाके नाममें अभिहित हुआ।

रासलीला लोकनाट्यका एक प्रमुख अंग है। भक्तिकालमें इसमें राधा-कृष्णकी प्रेम-क्रीडाओंका प्रदर्शन होता था, जिनमें आध्यात्मिकताकी प्रधानता रहती थी। इनका मूलाधार सूरदास तथा अष्टछापके कवियोंके पद और भजन होते थे। उनमें संगीत और काव्यका रस तथा आनन्द, दोनों रहता था। लीलाओंमें जनता धर्मोपदेश तथा मनोरंजन साथ-साथ पाती थी। इनके पात्रों—कृष्ण, राधा, गोपियों—के संवादोंमें गम्भीरताका अभाव और प्रेमालापका आधिक्य रहता था, कार्यकी न्यूनता और संवादोंका बाहुल्य होता था। इन लीलाओंमें रंगमंच भी होता था, किन्तु वह स्थिर और साधारण कोटिका होता था। प्रायः रासलीला करनेवाले किसी मन्दिरमें अथवा किसी पवित्र स्थान या ऊँचे चबूतरेपर इसका निर्माण कर लेते थे। देखनेवालोंकी संख्या अधिक होती थी। रास करनेवालोंकी मण्डलियाँ भी होती थी, जो पूना, पंजाब और पूर्वी बंगालतक घूमा करती थीं।

किन्तु उन्नीसवीं शतीमें रीति-कविताके प्रभावसे रासलीलाओंकी धार्मिकता, रस और संगीतको धक्का लगा। अतः उनमें न तो रसका प्रवाह रहा और न संगीतकी शास्त्रीयता। उनमें केवल नृत्य, वाग्विलास, उक्तिवैचित्र्यकी प्रधानता हो गयी। उनका उद्देश्य केवल मनोरंजन रह गया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रकी 'श्रीचन्द्रावली नाटिका'पर रासलीलाका प्रभाव है और आधुनिक कालमें वियोगी हरिकी 'छद्मयोगिनी नाटिका' भी रासलीलासे प्रभावित है। आज भी उत्तरप्रदेशके पश्चिमी जिलों—फर्रुखाबाद, मैनपुरी, इटावा—विशेषतया मथुरा-वृन्दावन, आगराकी रासलीलाएँ प्रसिद्ध हैं। ये प्रायः कार्तिक-अगहन, चैत्र-वैशाख और सावनमें हुआ करती हैं।

आज भी रासलीलाका रंगमंच साधारण होता है। वह प्रायः मन्दिरोंकी मणिपर, ऊँचे चबूतरों या ऊँचे उठाये हुए तख्तोंपर बाँसों और कपड़ोंसे बनाया जाता है। उसमें एक परदा रहता है। पात्र परदेके पीछेसे आते रहते हैं। दृश्यान्तरकी सूचना पात्रोंके चले जानेपर कोई निर्देशक देता है। रंगभूमिमें एक गायक और वादक बैठे होते हैं और सामने प्रेक्षकोंके लिए खुले आकाशका प्रेक्षागृह रहता है; कभी-कभी चाँदनी या चँदोवा भी तान दिया जाता है। वास्तविक रासलीला प्रारम्भ होनेसे पूर्व आयी हुई जनताके मनोरंजन और आनेवाली जनताके प्रतीक्षार्थ रंगभूमिमें भजन-गान ढोलक, मँजीरा, हारमोनियम तथा सितारके साथ होता रहता है। लीलारम्भसे कुछ पहले सूत्रधारकी भाँति एक ब्राह्मण या पुरोहित व्यवस्थापकके रूपमें आता है, जो राधा-कृष्णकी दिखलायी जानेवाली लीलाका निर्देश करता है और उसके पात्रों और लीला (कथा)की प्रशंसा कर प्रेक्षकोंको उनकी ओर आकृष्ट करता है। यह प्ररोचना और प्रस्तावना जैसा कार्य है। पश्चात् परदा उठता है और राधा-कृष्णकी युगल छविकी आरती की जाती है। आरतीके समय रंगभूमिके गायकादि तथा प्रेक्षक उठ खड़े होते हैं। परदा फिर गिरता है और उसके अनन्तर निश्चित लीलाका कार्यक्रम प्रारम्भ हो जाता है। पात्रोंमें राधा-कृष्ण तथा गोपिकाएँ रहती हैं। बीच-बीचमें हास्यका प्रसंग भी रहता है। विदूषकके रूपमें 'मनसुखा' रहता है, जो विभिन्न गोपिकाओंके साथ प्रेम एवं हँसीकी बातें करके कृष्णके प्रति उनके अनुरागको व्यंजित कराता है; साथ-ही-साथ दर्शकोंका भी मनोरंजन करता है। जब कभी परदेके पीछे नेपथ्यमें अभिनेताओंको वेशविन्यास या रूपसज्जा करनेमें विलम्ब होता है तो उस अवकाशके क्षणोंके लिए कोई हास्य या व्यंग्यपूर्ण दो पात्रोंके प्रहसनकी योजना कर ली जाती है, किन्तु यह कार्य लीलामें सम्बन्धित नहीं होता। रास-कार्य सम्पन्न करनेवाले रासधारी कहलाते हैं। वे प्रायः बालक और युवा पुरुष होते हैं। लीलामें हास्यका पुट और शृंगारका प्राधान्य रहता है। उसमें कृष्णका गोपियों, सखियोंके साथ अनुरागपूर्ण वृत्ताकार नृत्य होता है। कभी कृष्ण गोपियोंके कार्यों एवं चेष्टाओंका अनुकरण करते हैं और कभी गोपियाँ कृष्णकी रूपचेष्टादिका अनुकरण करती हैं और कभी राधा सखियोंके, कृष्णकी रूपचेष्टाओंका अनुकरण करती हैं। यही लीला है। कभी कृष्ण गोपियोंके हाथ-में-हाथ बाँधकर नाचते हैं और कभी वे मण्डलाकार गोपियोंसे घिरकर उनके बीचमें नाचते हैं। इन लीलाओंकी कथावस्तु प्रायः राधा-कृष्णकी प्रेम-क्रीडाएँ होती हैं। जिनमें सूरदास आदि कृष्णभक्त-कवियोंके भजन गाये जाते हैं। कार्यकी अधिकता नहीं, वरन् पदप्रधान संवाद, सौन्दर्य, नृत्य, गीत, वेणुध्वनि, ताल, लय, रसकी अबाध धारा बहती है। रंगसंकेतोंके लिए पर्देके पीछे निर्देशक रहता है, जो अभिनेताओंके भूल जानेपर संवादोंके वाक्य या भजन एवं पदकी पंक्ति स्मरण करा देता है। लीलामें अभिनय कम, संलाप अधिक रहता है। कृष्ण धीरललित नायक होते हैं, जो समस्त कलाओंके अवतार माने जाते हैं। राधा उनकी अनुरंजनकर्त्री शक्तिके रूपमें दिखायी जाती है। वही समस्त गुणों एवं कलाओंकी खान नायिका बनती है। गोपियाँ, सखियाँ—सभी गाढ़यौवना और भावप्रगल्भा होती हैं। उनमें शोभा, विलास, माधुर्य, कान्ति, दीप्ति, विलास, विच्छित्ति, प्रागल्भ्य, औदार्य, लीला, हाव, हेला, भाव आदि सभी अलंकार होते हैं।

लीलाके अन्तमें युगल छविकी पुनः आरती होती है। इस बार प्रेक्षक जनता भी आरती लेती है और आरतीके थालमें पैसे-रुपयेके रूपमें भेंट चढ़ाती है। इस बार आरतीके बाद लीलाके विषयमें मंगलकामना की जाती है। यह एक प्रकारका भरतवाक्य है। पश्चात् लीलाका कार्यक्रम समाप्त हो जाता है और पटाक्षेप हो जाता है। रासलीला हल्लीश, श्रीगदित, काव्य, गोष्ठी, नाट्यरासकका ही लोकाश्रय द्वारा परिवर्तित नाट्यरूप है। —वि० रा०

रासो काव्य—'रासो' नामसे अभिहित कृतियाँ संस्कृत तथा प्राकृतमें नहीं मिलती हैं, वे पहले-पहल अपभ्रंशमें और उसके अनन्तर हिन्दी और गुजरातीमें मिलती हैं। ये कृतियाँ दो प्रकार की हैं—एक तो गीत-नृत्यपरक हैं और

दूसरी छन्द वैविध्यपरक। गीत-नृत्यपरक धारा पश्चिमी राजस्थान तथा गुजरातमें विशेष रूपसे समृद्ध हुई और छन्द वैविध्यपरक धारा पूर्वी राजस्थान तथा शेष हिन्दी प्रदेशमें अधिक विकसित हुई।

'रासो' शब्दकी अनेक व्युत्पत्तियाँ दी गयी हैं—'राजसूय', 'रहस्य', 'रसायण' आदि अनेक शब्दोंसे 'रासो'का विकास हुआ कहा गया है। किन्तु रासो-साहित्यके इतिहास और भाषाशास्त्रके ध्वनि-विकासके नियमोंको देखते हुए इनमेंसे कोई भी ग्राह्य नहीं है। 'रासो' नामका विकास 'रास' और 'रासक'से हुआ है। 'रासो' या 'रासक' एक अति प्राचीन भारतीय नृत्य रहा है, जिसका सम्बन्ध कृष्णलीलासे भी रहा है। 'रास' और 'रासो' ग्रन्थ बारहवी शती विक्रमीसे मिलने लगते हैं। फलतः इस समयके नाट्यशास्त्र और छन्दशास्त्रके ग्रन्थोंसे उपर्युक्त दोनोंकी उत्पत्तिपर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

तेरहवी शती विक्रमीके एक प्रसिद्ध नाट्याचार्य शारदातनयने अपने 'भावप्रकाश'में 'लास्य' नृत्यके चार भेद बताये हैं—शृंखला, लता, पिण्डी तथा भेद्यक और 'लता'के पुनः तीन भेद बताये हैं—दण्डरासक, मण्डलरासक तथा नाट्यरासक। सम्भवतः इसी 'नाट्यरासक'से उस नामके उपरूपककी उत्पत्ति हुई होगी, क्योंकि 'नाट्यरासक' नामक उपरूपकके भेदमें रागोंके साथ उपर्युक्त शृखला, लता, पिण्डी तथा भेद्यक नृत्योंका प्रयोग होना भी बताया गया है। गीत-नृत्यपरक रासकी उत्पत्ति इसी 'नाट्यरासक' नामक उपरूपकसे हुई ज्ञात होती है। इस धाराकी कृतियाँ विशेष अवसरों या पर्वोपर नृत्यवाद्यादिके साथ गायी ही नही जाती थीं, कभी-कभी अभिनीत भी होती थीं। इस तथ्यके प्रमाण पर्याप्त मात्रामें मिलते है और इन कृतियोंमे प्रायः इनके गाये जाने और नृत्यके साथ प्रस्तुत किये जानेका माहात्म्य भी ग्रन्थान्तमें कहा गया है।

इसी प्रकार, उस युगके अपभ्रंश-छन्दशास्त्रियोंने 'रासक' और 'रासाबन्ध' काव्योंके लक्षणोंका निर्देश किया है। विरहांकने लिखा है कि जिस रचनामें अडिल्ला, दोहा, घत्ता, रड्डा और ढोसा छन्द अधिकतासे पाये जाते है, वह 'रासक' कहलाता है। स्वयम्भूने लिखा है कि काव्योंमें 'रासाबन्ध' अपने घत्ता, छप्पय, पद्धड़ी तथा अन्य (विविध) रूपकोंके कारण जनमनअभिराम होता है। 'रासा' नामक एक प्रसिद्ध छन्द भी प्रायः सभी छन्द-ग्रन्थोंमें लक्षित मिलता है। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि पहले रासाप्रधान छन्द वैविध्यपरक काव्यग्रन्थोंको 'रासाबन्ध' और 'रासक' कहा गया और बादमें सभी छन्द वैविध्यपरक काव्य 'रासक' कहलाने लगे। यह 'रासक' गीत, नृत्य, अभिनय द्वारा प्रस्तुत न होकर, भाषित मात्र ही होता था। इस परम्पराकी सबसे प्रमुख प्राचीन रचना 'सन्देशरासक'में एक स्थानपर नगर-वर्णनके प्रसंगमें जो "कह बहुरू विणिवद्धउ रासउ भासियउ" कहा गया है, वह इसी परम्पराके बहु(विविध)रूप निबद्ध (रूपक-छंद) 'रासक'के भाषित होनेके सम्बन्धमें है।

दोनों परम्पराओंके इस भेदपर ध्यान न देनेके कारण प्रायः समालोचकोंने भूलें की हैं। जिस प्रकार 'रासो'की व्युत्पत्तिके सम्बन्धमें तरह-तरहकी कल्पनाएँ की गयी हैं, उसी प्रकार 'रासो'की विषयवस्तु आदिके सम्बन्धमें भी। किन्तु उपर्युक्त दोनों परम्पराओंके परिशीलनसे ज्ञात होगा कि रासो काव्योंमे विषयवस्तु, रस, शैली आदिका कोई प्रतिबन्ध नही है। उनके विषय धार्मिक भी हैं, लौकिक भी; जहा एक ओर शान्त रस ही एकमात्र रस है, वहाँ दूसरी ओर वीर और शृंगार भी अंगी रस हैं। रचनाएं एक ओर कथानकका विकास करती हैं, तो दूसरी ओर कोई कथानक उनमें है ही नहीं, केवल विषय-निरूपण है। कथानक भी कभी धार्मिक है, पौराणिक है, ऐतिहासिक है, तो कभी निरा कल्पित है। कोई रचनाएँ १००-१२५ पंक्तियोंकी है, तो कोई ५०,००० पंक्तियोंकी। नीचे दोनो परम्पराओंकी प्रमुख रचनाओंका जो संक्षिप्त उल्लेख किया जा रहा है, उससे यह बात स्पष्ट हो जायगी।

गीत-नृत्यपरक रासो-परम्परा—(१) 'उपदेशरसायन' (११३४ ई०)—इसके रचयिता जिनदत्त सूरि हैं और यह जैन धर्मोपदेशके लिए लिखी गयी है। इसमे कोई कथा नहीं है, कुल छन्दसंख्या ३२ है। (२) 'भरतेश्वर बाहुबलीरास' (११८४ ई०)—इसके रचयिता शालिभद्र सूरि है। इसमें ऋषभदेवके दो पुत्रों—भरतेश्वर और बाहुबलीके बीच राजसत्ताके लिए हुए संघर्षकी कथा है। कुल छन्दसंख्या २०३ है। (३) 'बुद्धिरास' (११८४ ई०)—इसके रचयिता भी उपर्युक्त शालिभद्र सूरि हैं। इसका विषय उपर्युक्त 'उपदेशरसायन'की भाँति जैन धर्मोपदेश है। रचना ६३ छन्दोंमें समाप्त हुई है। (४) 'जीवदयारास' (१२०० ई०)—इसके रचयिता आसगु है। इसका विषय दयाधर्मका उपदेश है। (५) 'चन्दनबालारास' (१२०० ई०के लगभग)—इसके भी रचयिता उपर्युक्त आसगु है। इसमें चन्दनबालाकी धार्मिक कथा कही गयी है। कुल छन्दसंख्या ३५ है। (६) 'जम्बूस्वामीरास' (१२०९ ई०)—यह रचना धर्मसूरि की है। इसमे जैन महात्मा जम्बूस्वामीका चरित तथा गुण वर्णित है। (७) 'रेवन्तगिरिरासु' (१२३१ ई०के लगभग)-यह कृति विजयसेन सूरि की है। इसमें गिरनारके जैन मन्दिरोंके जीर्णोद्धारकी कथा है। कुल छन्दसंख्या ७२ है। (८) 'नेमिजिणन्दरासो' अथवा 'आबूरास' (१२३२ ई०)—यह पाल्हणकी कृति है। इसमें नेमिनाथकी कथा कही गयी है। कुल छन्दसंख्या ५५ है। (९) 'गयसुकुमालरास' (१२४३ ई०के लगभग)—यह देल्हणिकी कृति है। इसमें गयसुकुमारका चरित वर्णित है। कुल छन्दसंख्या ३४ है। (१०) 'सप्तक्षेत्रिरासु' (१२७० ई०)—इसका रचयिता अज्ञात है। इसमें जैन सप्तक्षेत्रों—जिन-मन्दिर, जिन-प्रतिमा, ज्ञान, साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकाकी उपासना वर्णित है। कुल छन्दसंख्या ११९ है। (११) 'पेथडरास' (१३०३ ई०के लगभग)—इसके रचयिता मण्डलिक है। इसमे संघपति पेथड़का चरित वर्णित है। कुल छन्दसंख्या ६५ है। (१३) 'कच्छूलिरास' (१३०६ ई०)—इसके रचयिताका नाम अज्ञात है। इसमें एक जैन तीर्थ कच्छूलि ग्रामका वर्णन है। कुल छन्दसंख्या ३५ है। (१४) 'समरारासु' (१३१४ ई०के बाद)—इसके रचयिता अम्बदेव सूरि है। इसमें संघपति समराका चरित्र वर्णित है। कुल छन्दसंख्या ११० है। (१५) 'बीसलदेवरास' (१३५० ई०के लगभग)—

इसके रचयिता नरपति नाल्ह हैं। इसमें अजमेरके चौहान राजा वीसलदेवकी स्त्रीसे रूठकर उड़ीसा जानेकी कथा है। रचना कुल १२८ छन्दोंमें समाप्त हुई है।

उपर्युक्त रचनाओंमेंसे अन्तिम पश्चिमी राजस्थानीमें है और शेष अपभ्रंश तथा अपभ्रंश और आधुनिक आर्य भाषा हिन्दीके विभिन्न मात्राओंमें मिश्रणकी शैलियोंमें है। अन्तिमको छोड़कर सभी धार्मिक उपदेशों और धार्मिक कथाओं अथवा चरितोंसे सम्बन्धित हैं। इस परम्पराके बादकी रचनाएँ भी जैन धर्मकी ही हैं और सभी दृष्टियोंसे पूर्वोल्लिखित प्रथम चौदह रचनाओंकी परम्परामें हैं, इसलिए उनका उल्लेख अनावश्यक होगा। ये रचनाएँ संख्यामें कई सौ बतायी जाती हैं, इसलिए इनका संक्षिप्त उल्लेख भी प्रस्तुत लेखमें सम्भव न होगा। इन धार्मिक रचनाओंमें काव्यके तत्त्व भी बहुत कम मात्रामें मिलते हैं, इसलिए साहित्यके इतिहासमें इनका महत्त्व काव्यरूपको ही समझनेमें अधिक है।

छन्द वैविध्यपरक रासो-धारा—(१) 'मुंजरास' (११४० ई० पूर्व)—यह रचना अभीतक प्राप्त नहीं हुई है। केवल इसके कुछ छन्द हेमचन्द्रके प्रसिद्ध प्राकृत व्याकरण (११४० ई०) तथा मेरुतुंगके 'प्रबन्धचिन्तामणि'-(१३०४ ई०)में उद्धृत हैं। रचयिता अज्ञात है। 'प्रबन्ध-चिन्तामणि'मे मुंज और मृणालवतीके प्रेमकी कथा भी दी गयी है, जिसमें मृणालवतीके विश्वासघातके कारण मुंजका प्राणान्त होता है। उद्धृत छन्द विविध प्रकारके है, जिससे यह अनुमान सहजमें किया जा सकता है कि यह इसी परंपराकी रचना है। (२) 'सन्देशरासक' (११४३ ई०के लगभग)—इसके रचयिता अब्दुल रहमान हैं। इसमें एक प्रोषितपतिका विरहिणीकी ललित कथा है। इसमें कुल २२ प्रकारके छन्दोंका प्रयोग हुआ है, जिनमे रासा एक प्रमुख छन्द है। काव्यकी दृष्टिसे यह रचना उत्कृष्ट है। कुल छन्दसंख्या २२३ है। (३) 'पृथ्वीराजरासो' (१३५० ई०के लगभग)—यह रचना चन्दवरदायीकी कही जाती है। इसमें पृथ्वीराजका चरित वर्णित है। इस रचनाके कई पाठ है, जिनमे छन्दसंख्या ४२२के लगभगसे लेकर १०,०००के लगभगतक है। इन सभीमें चन्द पृथ्वीराजके राजकविके रूपमें आता है, किन्तु इन सभी पाठोंमे अनैतिहासिक तत्त्व विद्यमान है, इसलिए यह रचना इनमेंसे किसी भी रूपमें पृथ्वीराजकी समसामयिक नहीं मानी जा सकती। काव्यकी दृष्टिसे यह रचना निस्सन्देह उत्कृष्ट है। (४) 'हम्मीररासो' (चौदहवीं शती ई०)—इस नामकी कोई रचना अभीतक मिली नहीं है, किन्तु 'प्राकृतपैंगलम्'में अनेक छन्द विविध वृत्तोंमें हम्मीरके सम्बन्धके उद्धृत है, इसलिए इस बातकी यथेष्ट सम्भावना है कि कोई 'हम्मीररासो' भी लिखा गया था और उसीसे ये छन्द लिये गये है। इनका रचयिता अज्ञात है। ये छन्द वीर रसके हैं और काव्यकी दृष्टिसे उत्कृष्ट है। (५) 'बुद्धिरासो' (चौदहवीं शती ई०)—इसका रचयिता जल्ह है। इसका विषय एक राजकुमार तथा जलधितरंगिनी नामक नायिकाकी एक कल्पित प्रेमकथा है। इसमें भी छन्द वैविध्य प्रकट है। कुल छन्दसंख्या १४० है। जल्हके दो छन्द एक प्राचीन जैन प्रबन्ध-संग्रहमें, जिसकी हस्तलिखित प्रति सं० १५२८ की है, 'जयचन्द-प्रबन्ध'के अन्तर्गत मिलते है। असम्भव नहीं कि जिस प्रकार चन्दका 'पृथ्वीराजरासो' है, उसी प्रकार जल्हका कोई 'जयचन्दरासो' भी रहा हो। (६) 'परमालरासो' (सोलहवीं शती ई०)—यह कोई स्वतन्त्र रचना नहीं है। यह वस्तुतः 'पृथ्वीराजरासो'के महोबाखण्डका ही, जो स्वतः एक प्रक्षिप्त अंश है, और भी प्रक्षिप्त रूपान्तर है। (७) 'राउ जैतसीरो-रासो' (१५४३ ई०के लगभग)—इसका रचयिता अज्ञात है। इसमें बीकानेरके महाराजा राव जैतसीके युद्धका वर्णन है। कुल छन्दसंख्या ९० है। (८) 'विजयपालरासो' (१५४३ ई०के लगभग)—इसके रचयिता नल्हसिंह भाट है। इसमें विजयगढ़के यदुवंशी राजा विजयपालकी दिग्विजयका वर्णन है। पूरी रचना नहीं मिली है। (९) 'रामरासो' (१६१८ ई०)—इसके रचयिता माधवदास चारण हैं। विषय रामकथा है। कुल छन्दसंख्या १६०० के लगभग है। (१०) 'राणारासो'(१६१८ ई०के पूर्व)—इसके रचयिता दयाल कवि है। इसमें सीसोदिया वंशके राजाओंका चरित वर्णित है। कुल छन्दसंख्या ८७५ है। (११) 'रतनरासो' (१६२३ ई०के लगभग)—इसके रचयिता कुम्भकर्ण है। इसमें रतलामके महाराजा रतनसिंहका चरित वर्णित है। (१२) 'कायमरासो' (१६३४-१६५६ ई०)—इसके रचयिता न्यामत खॉ 'जान' है। इसमे कायमखानी वंशके नवाबोंका चरित वर्णित है। (१३) 'शत्रुसालरासो' (१६५३ ई०के लगभग)—इसके रचयिता राव डूंगरसी है। इसमें बूंदीके राव शत्रसालका चरित वर्णित है। इसकी छन्दसंख्या ५००के लगभग है। (१४) 'माँकणरासो' (१७०० ई०)—यह रचना कीर्तिसुन्दर की है। इसमें माँकण (मत्कुण=खटमल)का चरित्र वर्णित है। यह रचना अपने विषय-वैशिष्ट्यके कारण महत्त्व रखती है। इसमें कुल ३९ छन्द है। (१५) 'सगतसिंहरासो' (१६९८ ई०के लगभग)—यह रचना गिरिधर चारण की है। इसमें राणाप्रतापके भाई शक्ति सिंहका चरित्र वर्णित है। कुल छन्दसंख्या ९४३ है। (१६) 'हम्मीररासो' (१७२८ ई०)—यह रचना जोधराध की है। इसमे रणथम्भौरके हम्मीरका चरित्र वर्णित है। इसकी कुल छन्दसंख्या १००० के लगभग है। (१७) 'खुमाण-रासो' (विक्रमी १८वी शती): इसके रचयिता दलपति विजय हैं। इसमे खुमाणके वंशका इतिहास है। यह खुमाण (८१३-८३३ ई०के लगभग)के समयकी रचना मानी जाती है, किन्तु इसमें संग्राम सिंह द्वितीय (१७१०-१७३३ ई०)-तकका चरित वर्णित है। इसकी छन्दसंख्या ५,००० के लगभग है।

इस परम्परामे भी बहुत पीछेतक रचनाएँ होती रहीं, किन्तु उनमें धाराका निरन्तर ह्रास परिलक्षित होता है, इसलिए उनका उल्लेख अनावश्यक होगा। भाषाकी दृष्टिसे इस परंपराकी प्रथम, द्वितीय तथा चतुर्थ रचनाएँ अपभ्रंश तथा अपभ्रंश और आधुनिक आर्यभाषा हिन्दीकी मिश्र शैलियोंमें है, शेष सभी रचनाएँ आधुनिक आर्यभाषा हिन्दीमें है। इस परम्परामे जहाँ एक ओर ऐतिहासिक महापुरुषोंके चरित्र है, दूसरी ओर रामका अवतारी चरित्र भी वर्णित हुआ है और तीसरी ओर खटमल भी इस धाराकी एक

रचनाका विषय बन गया है। छन्दोविधान ही इस परम्परा-की एक अनिवार्य विशेषता है और इस परंपराकी किसी भी रचनाका प्रणयन गीत, नृत्य, अभिनयकी दृष्टिसे नहीं हुआ है। काव्यके तत्त्व इस परम्पराकी रचनाओंमें प्रायः प्रचुरता-के साथ मिलते हैं, अतः साहित्यकी दृष्टिसे यह परम्परा [illegible] अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वकी है। —मा० प्र० गु०

रिपोर्ताज–रिपोर्ताज फ्रांसीसी भाषाका शब्द है और अंग्रेजी शब्द रिपोर्टसे इसका गहरा सम्बन्ध है। रिपोर्ट किसी घटनाके यथातथ्य साध्य वर्णनको कहते है। रिपोर्ट सामा-न्यतः समाचारपत्रके लिए लिखी जाती है और उसमें साहित्यिकता नहीं होती। रिपोर्टके कलात्मक और साहि-त्यिक रूपको ही रिपोर्ताज कहते हैं। वस्तुगत तथ्यको रेखा-चित्रकी शैलीमें प्रभावोत्पादक ढंगसे अंकित करनेमें ही रिपोर्ताजकी सफलता है। आखों-देखी और कानों-सुनी घट-नाओंपर रिपोर्ताज लिखा जा सकता है, कल्पनाके आधारपर नहीं। लेकिन तथ्योंके वर्णनमात्रसे रिपोर्ताज नहीं बना करता, रिपोर्ट भले ही बन सके। घटना-प्रधान होनेके साथ ही रिपोर्ताजको कथातत्त्वसे भी युक्त होना चाहिये। रिपो-र्ताज-लेखकको पत्रकार तथा कलाकारकी दोहरी जिम्मेवारी निभानी पड़ती है। साथ ही उसके लिए आवश्यक होता है कि वह जनसाधारणके जीवनकी सच्ची और सही जानकारी रखे और उत्सवों, मेलों, बाढ़ों, अकालों, युद्धों और महा-मारियों जैसे सुख-दुःखके क्षणोंमें जनताको निकटसे देखे। तभी वह अखबारी रिपोर्टर और साहित्यिक रचनाकारकी हैसियतसे जन-जीवनका प्रभावोत्पादक ब्योरा लिख सकेगा।

द्वितीय महायुद्धमें यह साहित्यिक गद्यरूप पाश्चात्य साहित्य और विशेषतः रूसी साहित्यमें बहुत लोकप्रिय और विकसित हुआ। एलिया एरनबर्गको रिपोर्ताज लेखकके रूप-में बड़ी ख्याति मिली। हिन्दीमें रिपोर्ताज-साहित्य मूलतः विदेशी साहित्यके प्रभावसे आया, पर हिन्दीमें रिपोर्ताजकी शैली मँज नहीं सकी है। बंगालके अकाल और जन-आन्दो-लन आदि विषयोंको लेकर कुछ रिपोर्ताज लिखे अवश्य गये हैं, पर हिन्दीमें रिपोर्ताजको एक सुनिश्चित साहित्य-रूपकी प्रतिष्ठा अभी नहीं मिल सकी है। सर्वश्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, रांगेय राघव, प्रभाकर माचवे, अमृतराय आदिने हिन्दीमें रिपोर्ताज लिखे हैं। —अ० कु०

रिव्यू–हिन्दीमें इसे **पुस्तक-समीक्षा** कहते हैं। कुछ विद्वानोंने इसे पर्यालोचना नाम भी दिया है। संसारमें लगभग प्रत्येक देशमें पुस्तक-समीक्षाका प्रचार प्रेस और समाचार-पत्रोंके कारण हुआ। प्रेसके प्रचलित हो जानेके फलस्वरूप साहित्य इतनी अधिक मात्रामें प्रकाशित होने लगा है कि सामान्यतः पाठकोंको उसकी पूरी जानकारी प्राप्त करना कठिन हो गया। साथ ही, जीवन इतना व्यस्त और संघर्षमय हो गया है कि प्रत्येक पाठकको प्रत्येक पुस्तकका अध्ययन करना और अपना निर्णय देना कठिन है। यूरोपमें सत्रहवीं शताब्दीके लगभग मध्यसे और हिन्दीमें उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्धसे पुस्तक-समीक्षाका सूत्रपात होता है। प्रारम्भमें तो **पुस्तकपरिचय** ही अधिक रहता था। धीरे-धीरे पत्र-पत्रिकाओंके सम्पादक पाठकोंकी साहित्याभिरुचिके नियन्ता बने और प्राचीन तथा नवीन साहित्यकी प्राचीन कालमें तथा समयविशेषमें प्रचलित मानदण्डोंके आधारपर परीक्षा होने लगी। हिन्दीमें अधिक-तर नवीन पुस्तकोंका परीक्षण ही होता था। यूरोपमें तो 'मैगजीन'से भिन्न 'रिव्यू' प्रकाशित हुए, जिनमें केवल पुस्तकपरिचय और समीक्षा ही रहती थी। पुस्तकसमीक्षाके प्रारम्भिक कालमें व्यक्तिगत आक्षेप, दलीय [illegible] आदि बातें भी रहती थीं, किन्तु शीघ्र ही उसमें शिष्टताका समा-वेश हुआ।

पुस्तकसमीक्षाका व्यावहारिक मूल्य तो है, किन्तु वह आलोचनासे भिन्न वस्तु है। यदि थोड़ी देरके लिए यह प्रश्न हटा दिया जाय कि समीक्षक कहाँतक अपनेको तटस्थ रख सकता है, तो केवल यही शेष रह जाता है कि प्रत्येक समीक्षामें पुस्तकका संक्षिप्त परिचय तथा केवल शैलीके थोड़ेसे संकेतमात्रसे आलोचना होनेका परिचय मिल जाय। वास्तवमें आलोचना और पुस्तक-समीक्षामें तात्त्विक भेद है।

पुस्तकसमीक्षामें किसी ग्रन्थकारकी केवल एक ही रचना-का, वह भी ताजी प्रकाशितका, उल्लेख रहता है। किन्तु वैसे एक ही विषयसे सम्बन्धित कई जिल्दोंका उल्लेख रह सकता है। पुस्तकके बाजारमें आते ही या उससे पहले ही उसकी समीक्षा पत्रोंमें प्रकाशित हो जाती है और वह एक समान बौद्धिक धरातलपर स्थित पाठकोंके लिए होती है। यह समीक्षा जब प्रकाशित होती है तो विज्ञापनकी दृष्टिसे प्रकाशित होती है, न कि पाठकोंकी माँगके फलस्वरूप। समीक्षक पुस्तकके मूल्य, जिल्द, टाइप आदिका भी उल्लेख करता है। पुस्तकसमीक्षामें लेखकके अध्ययन-क्षेत्र या स्वयं लेखकके सम्बन्धमें कुछ नहीं रहता। वह केवल पाठकोंको विषयसे परिचित करा देती है। विभिन्न विषयोंसे सम्बन्धित पुस्तकोंकी समीक्षाकी भाषा भी भिन्न-भिन्न प्रकारकी होती है। साथ ही एक ही पत्रमें एक-से पाठकोंके लिए लिखते रहनेसे समीक्षक केवल अपनी रुचिको ही रुचि समझने लगता है और स्वेच्छानुसार किसीकी प्रशंसा या निन्दा करने लगता है। समीक्षक पुस्तकों और पाठकोंके बीच सम्बन्ध स्थापित करता है और पुस्तकें छाँटनेमें पाठककी सहायता करता है। आधुनिक समयमें बहुतसे पाठक तो, बिना पुस्तक पढ़े ही, समीक्षाके आधारपर वाद-विवाद करने लगते है। समीक्षक जान-बूझकर जनताको वही चीज देता है, जो जनता चाहती है—सूचना और मनबहलाव। कोई-कोई समीक्षा तो बड़ी रोचक और आकर्षक होती है। उत्तम कोटिकी समीक्षामें पुस्तकका संक्षेप बहुत कम दिया जाता है। समीक्षक उद्धरण भी दे सकता है, किन्तु उनकी सीमा निर्धारित रहती है। अनेक समीक्षाओंमें केवल इधर-उधरकी बातें रहती हैं और समीक्षक व्यापारसे व्यर्थकी टाँग अड़ाता है।

आलोचक तो बहुज्ञ और गम्भीर होता है। समीक्षकमें दायित्व और गम्भीरताके स्थानपर जल्दबाजी रहती है। ऐसे समीक्षकोंकी लेखकों और कवियोंने भर्त्सना की है। आधुनिक समयमें तो समीक्षकोंकी संख्या बहुत बढ़ गयी है और एक ही कृतिकी कई तरहकी समीक्षाएँ निकलती हैं। मतविभिन्नताके कारण कभी-कभी तो पाठक बेचारा चक्करमें

पड जाता है। इसमें पुस्तकसमीक्षाका उद्देश्य ही विफल होता हुआ दृष्टिगोचर हो रहा है। उसका कोई आलोचनात्मक मानदण्ड नहीं रह गया। वास्तवमें पुस्तकसमीक्षक यदि सचाई बरते तो पाठकोंके लिए बड़े उपयोगी सिद्ध हो सकते है। कुशल समीक्षक लेखक और पाठकके बीच मध्यस्थ है। उसे अपना उत्तरदायित्व समझना चाहिये, विशेषतः आधुनिक वैज्ञानिक और व्यस्त युगमें जब कि उसकी मध्यस्थता अपरिहार्य-सी हो गयी है, वह लेखकके लिए भी उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

पुस्तकसमीक्षा कभी-कभी **आलोचनाके** निकट भी आ जाती है और यह उस समय जब कि समीक्षक निर्णय देने लगता है। हिन्दीमें उन्नीसवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धमें प्रारम्भिक आलोचना पुस्तकसमीक्षा द्वारा व्यक्त हुई और वह अनेक आलोचकोंके लिए शिक्षास्थल सिद्ध हुई। पश्चिममें भी ऐसा हुआ। इतनेपर भी पुस्तकसमीक्षा और आलोचना भिन्न-भिन्न वस्तुएँ है। पुस्तकसमीक्षाकी उपर्युक्त विशेषताओंमें आलोचनाके गुणोंका प्रायः ह्रास देखा जाता है। आलोचक तो अपना सम्पर्क स्थापित कर कृतिका मूल्यांकन करता है और समीक्षककी भाँति पुस्तकको खण्ड-खण्ड रूपमें न देखकर समग्र रूपमें देखता है। आलोचक पत्रकी बाधाओं और सीमाओंसे मुक्त रहता है। पुस्तक-आलोचक विभिन्न ग्रन्थों और लेखकोंकी तुलना कर सकता है। किन्तु यह कार्य पुस्तकसमीक्षककी परिधिसे बाहर है। आलोचक कलात्मक और सौन्दर्यशास्त्र-सम्बन्धी मूल्यांकन करता है।

—ल० सा० वा०

रीति—इसका शब्दार्थ है प्रणाली, पद्धति, मार्ग, पन्थ, शैली आदि। रीतिका अर्थ विशिष्ट कार्य-पद्धति होता है। संस्कृत साहित्यमें रीतिको काव्यकी आत्माके रूपमें स्वीकार किया गया है। वह रीति 'विशिष्ट पदरचना' मानी गयी है। यह विशिष्टता गुणोंपर आधारित है, जैसा कि रीति-सिद्धान्तके प्रवर्तक वामन(९ श० ई० मध्य)का मत है। इस प्रकार रीति गुणोंसे सम्बन्धित है। रीतिका दूसरा सम्बन्ध पदरचनासे है, जो कि समासपर निर्भर है। अतः कुछ आचार्योंने समासहीनता, स्वल्पसमासता, दीर्घसमासताके रूपमें भी रीतिको देखा है। भरत(४ श० ई०, 'नाट्यशास्त्र'ने नाट्यके प्रयोगमें विभिन्न प्रदेशोंके अनुसार जिस प्रकार आवन्ती, दाक्षिणात्या, पांचाली, ओड्रमागधी आदि प्रवृत्तियोंका वर्णन किया है (ना० शा०, १४ : ३६-४०), उसी प्रकार भामह और दण्डी(७-८ श० ई० : 'काव्यालंकार' तथा 'काव्यादर्श')ने रीतिका भी देशोंसे सम्बन्धित रूपमें वर्णन किया है। कुन्तक(१०-११ श० ई०, 'व० जी०')ने रीतिको मार्ग कहा है, जिसका आधार देश नहीं, वरन् कविस्वभाव है। विश्वनाथ(१४ श० ई० पूर्वा०, 'सा० द०')ने इसे रसका उपकार करनेवाली (उपकर्त्री रसादीनाम्) कहकर व्यक्त किया है। उन्होंने इसे शैलीके रूपमें ग्रहण किया है, जिसका आधार वर्णसंघटन, गुण और समास है। रीतिके भेद दो, तीन और चारतक माने गये हैं। भामह और दण्डीने दो भेद—गौडी और वैदर्भी माने हैं। वामनने वैदर्भी, गौडी और पांचाली तथा रुद्रटने वैदर्भी, गौडी, पांचाली और लाटी भेद किये हैं। कुन्तकने रीतिको मार्गके रूपमें ग्रहण किया है और उसका सम्बन्ध गुण और कविस्वभावसे स्थापित किया है। उनके द्वारा किये गये भेद हैं—सुकुमार, विचित्र और मध्यम। इस प्रकार रीतिकी विवेचना समास, गुण, अलंकार और वैचित्र्य आदिके आधारपर की गयी है। आनन्दवर्धन (९ श० ई० उत्त०) और मम्मट (१२ श० ई० पूर्वा०) आदिने रीतिके नियामक तत्त्वोंमें वक्ता, वाच्य, विषय और रसकी अनुकूलता या औचित्यको स्वीकार किया है ('ध्वन्या०' तथा 'का० प्र०')। इस प्रकार रीति शब्द शैली या मार्गके विशिष्ट रूपमें गृहीत है।

रीति शब्दका हिन्दी साहित्यमें विशेष अर्थमें प्रयोग हुआ है। यहाँपर रीतिका तात्पर्य, लक्षण देते हुए या लक्षणको ध्यानमें रखकर लिखे गये काव्यसे होता है। इस प्रकार रीति-काव्य (दे०) वह काव्य है, जो लक्षणके आधारपर या उसको ध्यानमें रखकर रचा जाता है। अलंकार, रस, ध्वनि आदिको लेकर इनके उदाहरणरूपमें रचित हिन्दी काव्य इस साहित्यके अन्तर्गत है। शास्त्रीय परम्परामें चिन्तामणिने 'कविकुलकल्पतरु' (१६५० ई०)में रीतिको काव्यका स्वभाव माना है, जो विद्यानाथ(१३-१४ श० ई०)के 'प्रतापरुद्रयशोभूषण'के आधारपर है और वृत्तिसे भिन्न है। कुलपतिने रीतिकी पर्यायवृत्तियोंपर 'रसरहस्य'में विचार किया है (१६७० ई०)। देवने अपने 'काव्यरसायन'में (१७०३ ई०) रीतिको काव्यद्वार माना है, जिसका भाव माध्यमसे है। देवने रीति और गुणका एक रूपमें वर्णन किया है, यह परम्परासे अलग बात है। गुण रीतिके आधार माने गये हैं, पर उन्हें अभिन्न किसीने नहीं माना है। वास्तवमें रीति अधिक व्यापक है। दासने 'काव्यनिर्णय'(१७४६ ई०)में मम्मटके आधारपर रीतियोंके स्थानपर केवल वृत्तियोंका वर्णन किया है। जगत सिंहने 'साहित्यसुधानिधि'(१८२८ ई०)में रुद्रटके आधारपर रीति-विभाजन किया है, केवल समासोंकी संख्यामें अन्तर है। आधुनिक विवेचकोंमें कन्हैयालाल पोद्दार, अर्जुनदास केडिया तथा रामदहिन मिश्र हैं; जिनका आधार संस्कृत-रीतिशास्त्र है। नवीन दृष्टिके आलोचकोंने इसे वर्णनकी शैलीके रूपमें स्वीकार किया है (और भी दे० 'गुण')।

१. वैदर्भी-रीति—विदर्भ आदि देशोंमें प्रचलित रीति वैदर्भी मानी गयी है। इसके सम्बन्धकी धारणाओंमें कुछ विकास देखनेको मिलता है। यह रीतिकाव्यकी सर्वोत्तम रीति मानी गयी है। दण्डी श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति और समाधि, इन दस गुणोंसे युक्त वैदर्भी रीति मानते हैं। वामनने भी इसे समग्र गुणोंसे युक्त माना है, परन्तु इसके साथ ही वे इसे वीणाके स्वरोंके समान मधुर और विलक्षण कान्तिसे युक्त मानते हैं। उनका कथन है "अस्पष्टा दोषमात्राभिः समग्रगुणगुम्फिता। विपंचीस्वरसौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते" ('का० सू० वृ०', १ : २ : ११ वृ०)। इस प्रकार वैदर्भी रीतिकी विलक्षण आभा है। रुद्रट और राजशेखर वैदर्भीको समासरहित शैलीके रूपमें ग्रहण करते हैं। रुद्रटके मतानुसार यह सुकुमार और कोमल गुणोंसे युक्त होनेके कारण शृंगार, करुण, प्रेयस् आदि रसोंके लिए

उपयुक्त है। राजशेखर इसे स्थानानुप्रास और योगवृत्तिसे युक्त मानते हैं। कुन्तकने वैदर्भीको सुकुमार मार्गके रूपमें व्यक्त किया है। 'साहित्यदर्पण'में इसका पूर्ण स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—"माधुर्यव्यंजकैर्वर्णैः रचना ललितात्मिका। अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते" (९ : २-३), अर्थात् माधुर्य गुणकी व्यंजना करनेवाले वर्णों द्वारा वृत्तिहीन (समासरहित) या अल्पवृत्तिवाली रचना वैदर्भी है।

२. **गौड़ी रीति**—गौडी ओजपूर्ण शैली है। दण्डीके मतानुसार दसों गुणोंका समावेश इसमें नहीं होता है। वामनने इसे ओजकान्तिमयी शैलीके रूपमें ग्रहण किया है, जिसमें उग्र पदों और समासकी बहुलता होती है। मधुरता और सुकुमारताका इसमें अभाव रहता है (का० सू० वृ०, १ : २ : १२)। रुद्रटने इसे दीर्घ समासवाली रीति माना है, जो कि रौद्र, भयानक, वीर आदि उग्र रसोंकी अभिव्यंजनाके लिए उपयुक्त होती है। राजशेखरके मतानुसार दीर्घ समासवाली, सानुप्रास तथा योगवृत्तिसम्पन्न गौडी रीति है। कुन्तकके विचित्र मार्गके भीतर इस रीतिका समावेश हो सकता है, परन्तु उनकी धारणा कुछ भिन्न है। विश्वनाथने 'साहित्यदर्पण'में इस रीतिका लक्षण निम्नांकित रूपमें दिया है—"ओजः प्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः। समासबहुला गौडी" (९ : ३-४)। इस प्रकार ओज गुणप्रकाशक वर्णोंसे युक्त उद्भट रचना, जिसमें समास और विद्वत्तापूर्ण पदोंका अधिक प्रयोग होता है, गौडी रीति है।

३. **पांचाली रीति**—पांचाली रीतिका उल्लेख भामह और दण्डीने नहीं किया है। वामनने ही इसका उल्लेख प्रथम बार किया है। यह माधुर्य और सुकुमारतासे सम्पन्न रीति है और अगठित, भावशिथिल, छायायुक्त (कान्तिरहित), मधुर और सुकुमार गुणोंसे युक्त होती है। वामनका कथन है—"अश्लिष्टश्लथभावां तां पूरणच्छायया-श्रिताम्। मधुरां सुकुमाराञ्च पांचालीं कवयो विदुः" (का० सू० वृ०, १ : २ : १३ वृ०)। रुद्रटके मतमें पांचाली लघु समासवाली होती है और राजशेखर भी यही मानते हैं। यह स्वल्पानुप्रास और उपचारवृत्तिसे युक्त मानी गयी है। कुन्तकके मध्यम मार्गमें इसकी विशेषताएँ देखी जा सकती हैं। विश्वनाथने लिखा है—"समस्तपञ्चषट्पदो बन्धः पांचालिका मता" ('सा० द०', ९ : ४), यह पाँच-छः समासयुक्त पदोंके बन्धवाली रचना पांचाली है। पांचाली इस प्रकार मध्यमा रीति है।

४. **लाटी**—लाटीका उल्लेख वामनने भी नहीं किया है। रुद्रटने इसका वर्णन किया है। लाटी उनके मतसे मध्यम समासवाली, उग्र रसोंके वर्णनके लिए उपयुक्त है। अन्य आचार्योंने इसका उल्लेख नहीं किया। विश्वनाथने इसे वैदर्भी और पांचालीके मध्यकी रीति माना है—"लाटी तु रीतिर्वैदर्भीपांचाल्योरन्तरे स्थिता" (सा० द०, ९ : ५)। इस प्रकार लाटी रीतिकी कोई अलग विशेषता स्पष्ट नहीं हो पाती।

५. **पंचालिका**—पंचालिका पांचाली रीतिका ही दूसरा नाम है। इसका उल्लेख राजशेखरने अपने ग्रन्थ 'कर्पूरमंजरी'में किया है। 'कर्पूरमंजरी'के मंगलाचरण-श्लोकमें तीन रीतियोंका उल्लेख मिलता है—वच्छोमी, मागधी और पञ्चालिका; परन्तु इनके लक्षण नहीं दिये गये हैं। अन्यत्र पांचाली रीतिका संकेत करते हुए राजशेखरने माना है कि शब्दार्थका समान संघटन करनेवाली समन्वयपूर्ण रीति है। वामनने भी वैदर्भी और गौडी रीतियोंकी विशेषताओंका समन्वय करनेवाली रीतिको पांचाली माना है। वही पञ्चालिका रीति है। **मागधी**—मागधी रीतिका उल्लेख 'कर्पूरमञ्जरी'में हुआ है। राजशेखरने 'काव्यमीमांसा'में वैदर्भी, पांचाली और गौडी, तीन रीतियोंका उल्लेख किया है। अतः यह मागधी, गौडीया रीति ही जान पड़ती है। भोजने मागधीको खण्डरीति माना है। अर्थात् जहाँ अन्य रीतियोंका अंशतः निर्वाह हो, वहाँ मागधी रीति है। यह भी सम्भव है कि 'बालरामायण'में उल्लिखित 'मैथिली' रीतिका पर्याय यह मागधी रीति हो, जैसा कि श्रीपादका भी मत है। **मैथिली**—मैथिली नामक रीतिका उल्लेख केवल दो विद्वानों, राजशेखर और श्रीपादने किया है। इसका उल्लेख राजशेखरकी 'काव्यमीमांसा'में नहीं है, वरन् 'बालरामायण'में है। इस रीतिमें अर्थकी अतिशयता, परन्तु स्वाभाविकता, पूरे प्रबन्धमें सन्दर्भ तथा समासका अल्प प्रयोग तथा योग-परम्पराके अनुरूप उक्ति आदि विशेषताओंका होना आवश्यक है। इसे कुछ लोग मागधीका ही रूप मानते हैं। **वच्छोमी**—इस रीतिका उल्लेख राजशेखरने अपने ग्रन्थ 'कर्पूरमंजरी'में किया है। यह वत्सगुल्मीका प्राकृत रूप है और वैदर्भी रीतिसे भिन्न नहीं है। वच्छोमी रीति वैदर्भीका ही पर्याय है। अतः वच्छोमी रीति भी रसको उत्पन्न करनेवाली और प्रसार एवं माधुर्य गुणोंसे सम्पन्न रीति है। —भ० मि०

रीति-आलोचना-प्रणाली—कृतिकी अन्तरात्मा, उसके भावविन्यास, तद्गत दृष्टिकोण तथा चेतनाको प्रधानता देकर कृतिके बाह्य रूप, उसकी शैली आदिको गौण माननेवाली वह आलोचना-प्रणाली, जो रचना द्वारा सभी पाठकोंपर समान प्रभावको ही उसकी श्रेष्ठताका मानदण्ड मानती है, रीति-प्रणाली कही जाती है। कृतिकी आलोचनाके मुख्य स्वीकृत आधार उसके बाह्याभ्यन्तर पक्ष ही हैं, किन्तु यह प्रणाली एकांगी और वैषम्यमूलक होकर केवल कृतिकी अन्तरात्माको ही महत्त्व प्रदान करती है और बाह्य उपकरणोंको गौण मानकर चलती है। इस प्रणालीका आलोचक कृतिके आन्तरिक तत्त्वोंका दिग्दर्शन कराता हुआ उसका तीव्र अनुभव कराता है। —आ० प्र० दी०

रीतिकाल—हिन्दी-साहित्यका उत्तरमध्यकाल 'रीतिकाल' (१६५८-१८५७ ई०) कहलाता है। इस कालके काव्यकी प्रमुख धाराका विकास कविताकी रीतिके आधारपर हुआ। यह 'रीति' शब्द संस्कृतके काव्यशास्त्रीय 'रीति' शब्दसे भिन्न अर्थ रखनेवाला है। संस्कृत साहित्यमें रीतिको काव्यकी आत्मा माननेवाला एक सिद्धान्त है, जिसका प्रतिपादन आचार्य वामनने अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकारसूत्र'में किया था—'रीतिरात्मा काव्यस्य'। रीति काव्यकी आत्मा है और काव्यकी श्रेष्ठताकी कसौटी रीति है, यह मान्यता इस सिद्धान्तकी है। वैदर्भी, पांचाली, गौडी, लाटी रीतियाँ हैं। रीतिका आधार गुण है। संस्कृतकी रीति सम्बन्धी यह

धारणा हिन्दी काव्यशास्त्रके कुछ ही ग्रन्थोंमें ग्रहण की गयी है। परन्तु रीतिको काव्य-रचनाकी प्रणालीके रूपमें ग्रहण करनेकी अपेक्षा प्रणालीके अनुसार काव्य-रचना करना, रीतिका अर्थ मान्य हुआ। इस प्रकार रीतिकाव्यका अर्थ हुआ ऐसा काव्य जो अलंकार, रस, गुण, ध्वनि, नायिका-भेद आदिकी काव्यशास्त्रीय प्रणालियोंके आधारपर रचा गया हो। इनके लक्षणोंके साथ या स्वतन्त्र रूपसे इनके आधारपर काव्य लिखनेकी पद्धति ही **रीति** नामसे विख्यात हुई और यह पद्धति जिस कालमें सर्वप्रधान रही, वह काल 'रीतिकाल'के नामसे प्रसिद्ध हुआ।

रीतिकाल सं० १७००से १९०० वि०तकका काल है। मोटे तौरपर शाहजहाँके शासनकी समाप्ति और औरंगजेबके शासनके प्रारम्भ (१६५८ ई०)से लेकर प्रथम स्वाधीनता-संग्राम (१८५७ ई०) तक यह काल माना जाता है। इस युगमें भक्तिकालीन काव्यधाराओं, जैसे सन्तकाव्य, प्रेमाख्यानकाव्य, रामभक्तिकाव्य, कृष्णभक्तिकाव्य, वीरकाव्य, नीतिकाव्य आदिका विकास हुआ। परन्तु सबसे अधिक महत्त्व उसी रीतिकाव्यको प्राप्त हुआ, जो अलंकारों, रसों, नायिका-भेदों, शब्द-शक्तियों, ध्वनि-भेदों आदिके आधारपर लिखा गया। यह प्रवृत्ति इस युगकी नवीन चेतनाके रूपमें जाग्रत् हुई। इस कारण इसीके आधारपर यह नामकरण हुआ।

रीतिकाल समृद्धि और विलासिताका काल है। साधनाके काल भक्तियुगसे यह इसी बातमें भिन्नता रखता है कि इसमें कोरी विलासिता ही उपास्य बन गयी, वैराग्यपूर्ण साधनाका समादर न रहा। नवाब, जागीरदार, मनसबदार, सामन्त—सभीका उद्देश्य विलासिता और समृद्धिका जीवन था। इस समृद्धिके जीवनके लिए साधन किसी भी प्रकारके क्यों न हों, समृद्धिका अर्जन ही सामर्थ्यकी सार्थकता थी। ये उच्च वर्गके लोग कला और कविताके संरक्षक थे। कुछ तो स्वयं कवि एवं कलाकार थे। इस प्रकार इस काव्यमें ऐहिक जीवनके सुख-भोगपर बल दिया गया। यह जीवनकी क्षणभंगुरताको भुलाकर नहीं, वरन् इसलिए कि इस क्षणभंगुर जीवनमें जितने ही दिन सुख-भोगके बीत सकें, उतना ही अच्छा।

सजाव-शृंगारकी एक अदम्य लिप्सा इस युगके साहित्यमें प्रतिबिम्बित है। उपासनाके लिए जिन राम और कृष्णका चरित्र भक्तियुगमें अत्युत्कृष्ट रूपमें चित्रित हुआ, उनमें भी शृंगारिकताका आरोप कर शृंगारिक स्वरूपके उद्घाटनमें प्रतिभाको लगाया गया। लोकैषणाका सीमित और भोग्य रूप इस कालके यथार्थवादी धरातलका संकेत करता है। पर यह यथार्थवाद सामाजिक क्रान्तिके बीज बोनेवाले आधुनिक यथार्थवादसे भिन्न था। वह कला और कारीगरीका यथार्थ है, चिन्तना, ठेस, असन्तोषकी चिनगारी बिखेरनेवाला यथार्थ नहीं। इस कालकी कलात्मक उपलब्धियोंमें एकरसता है, विविधता नहीं।

हिन्दी रीतिकालके अन्तर्गत सामान्यतः दो प्रकारकी रचनाएँ मिलती हैं। एक तो वे रचनाएँ, जिनमें मुख्यतः काव्यशास्त्र-सिद्धान्तोंको छन्दोबद्ध किया गया है। स्पष्टतः हिन्दी कवियोंका यह प्रयास बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं हो सका है। सिद्धान्त-प्रतिपादनकी दृष्टिसे इनका अधिक महत्त्व इस कारण नहीं है कि उनमें मौलिकताका अंश बहुत कम है। इस प्रकारके रीतिग्रन्थ अधिकतर संस्कृत लक्षण-ग्रन्थोंके अनुवाद हैं या फिर उनकी छायापर आधारित हैं। काव्य-रसकी दृष्टिसे भी इनका स्तर ऊँचा नहीं है, क्योंकि इन आचार्य कवियोंका मुख्य ध्येय काव्य-लक्षणोंको वर्णित करना था, स्वतन्त्र रूपसे अनुभूतिपरक काव्य-सर्जन करना नहीं। फिर भी यह अवश्य है कि इन कवियोंके उदाहरणोंमेंसे कुछ अंश शुद्ध काव्यके अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। दूसरे वर्गके अन्तर्गत वे रचनाएँ आती हैं, जो काव्य-लक्षणोंको प्रतिपादित करनेकी दृष्टिसे नहीं लिखी गयीं। इस प्रकारके काव्यमें भाषा, भाव तथा शैली—सभीका अत्यन्त निखरा हुआ रूप मिलता है। यह लक्षणमुक्त कविता ही वास्तवमें रीतिकालका प्राणतत्त्व है।

हिन्दीमें रीति-साहित्यके विकासके अनेक कारण हैं। एक कारण तो संस्कृतमें इसकी विशाल परम्परा है। जिस समय भाषा-साहित्यका प्रारम्भ हुआ, उस समय भी संस्कृतमें लक्षण या अलंकार-साहित्यकी रचना चल रही थी। दूसरा कारण भाषा-कवियोंको प्राप्त राज्याश्रय है। अकबरने सबसे पहले हिन्दी कवियोंको दरबारमें आश्रय दिया और इस प्रकार हिन्दी काव्यको प्रोत्साहन मिला। आगे चलकर अन्य राजाओंने भी इस प्रवृत्तिका अनुसरण किया। राजपूताना तथा मध्यभारतकी रियासतों, ओरछा, नागपुर आदिमें भाषा-कवियोंको राज्याश्रय प्राप्त हुआ और आगे इन्हें हिन्दू और मुसलमान, दोनोंके ही दरबारोंमें प्रतिष्ठा मिली। इसके फलस्वरूप व्यापक रीति-साहित्यकी रचना हुई।

हिन्दी रीति-साहित्यके विकासका एक तीसरा कारण भी सामने आता है, जो है कवि और काव्यके स्वतन्त्र रूपकी प्रतिष्ठा। इस क्षेत्रमें केशवदासका कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और इसी कारण उनको आगेके युगमें दीर्घ कालतक इतना सम्मान प्राप्त हुआ।

रीति-काव्यके विकासमें तत्कालीन राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियोंका महत्त्वपूर्ण योग रहा है। वस्तुतः ये परिस्थितियाँ इस प्रकारके काव्य-सर्जनके अनुकूल ही थीं। उस समयकी राजनीतिक उथल-पुथल और सत्ता एवं वैभवकी क्षणभंगुरताने जीवनके दो अतिरेकपूर्ण दृष्टिकोण विकसित करनेमें सहायता दी। एकने जीवनके प्रति पूर्ण विरक्ति और त्यागका भाव जागरित किया, जब कि दूसरेने पूर्ण भोगका दृष्टिकोण। ऐहिक काव्यको इस प्रकारका विलासपूर्ण चित्रण करनेकी प्रेरणा देनेमें राजनीतिक स्थितिका भी हाथ था।

जहाँतक सामाजिक पक्षका सम्बन्ध है, मध्ययुगका समाज सामन्तवादी पद्धतिपर आधारित था, जिसमें सम्राट् शीर्षपर था, जिसके बाद उसके अन्तर्गत राजा, अधिकारी और सामन्त थे, जिन्हें समाजमें विशेष अधिकार और सम्मान प्राप्त थे। कवियोंको अपने इन आश्रयदाताओंकी रुचिके अनुसार या उन्हें प्रभावित करनेवाला काव्य लिखना आवश्यक था, जिसमें उनकी ऐहिक सन्तुष्टि होती थी और प्रतिभाका भी कम-से-कम एक क्षेत्रमें विकास होता रहता था। मध्यकालके ये अमीर और सामन्त अत्यन्त विलास-

पूर्ण जीवन व्यतीत करते थे। एक राजा, अमीर अथवा सामन्तके यहाँ दो, तीन, चार या इससे भी अधिक रानियाँ रहती थीं, जिनका काम अपनेको अलंकृत करके पतिको रिझाना और उसके प्रसन्न होनेपर विलास-सामग्रीकी और वृद्धि करते रहनेके अतिरिक्त और कुछ नहीं था। नारी उनके हाथोंमें भोग-विलासका एक उपकरणमात्र बनकर रह गयी थी।

मुगलकालीन भारतीय समाजके जीवनके एक पक्षका ऊपर संकेत किया गया है, जो कि रीतिकाव्यके सौन्दर्य और विलासपूर्ण चित्रणको प्रेरणा देनेवाला था। परन्तु इसका दूसरा पक्ष जन साधारणका है। नैतिकताकी दृष्टिसे जन साधारणका चरित्र इन विलासी दरबारियोंकी अपेक्षा कहीं अच्छा था, उसपर भक्ति-युगका प्रभाव था।

मध्ययुगीन मुगल-शासनके परिणामस्वरूप हमें कई बातें जीवनमें परिव्याप्त हुई दीखती हैं। प्रथम तो एक केन्द्रीय सुदृढ शासक होनेसे देशके भीतर तुलनात्मक दृष्टिसे शान्तिका वायुमण्डल बन गया। द्वितीय, इस शान्तिके अवसरपर जीवनमें कला और संस्कृतिको विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ। शिष्ट और सुसंस्कृत व्यवहारका सम्मान बढ़ा। तीसरी बात यह है कि इसी शान्ति और समृद्धिके परिणामस्वरूप कला-प्रेम और विलासिताकी भावना भी प्रखरतासे जाग्रत् हुई। जीवनमें सौंदर्यको, चाहे वह संकीर्ण अर्थमें ही क्यों न हो, प्रमुख स्थान मिला। इसके अतिरिक्त चौथी बात यह है कि भाषा-साहित्यको राजाओं और सामन्तोंसे संरक्षण और आश्रय मिला। इन सभी बातोंका रीतिकालीन हिन्दी काव्यपर प्रभाव परिलक्षित होता है।

रीतिकालीन काव्यके सम्बन्धमें सामान्यतः दो प्रकारके मत हैं—एक उसे नितान्त हेय और पतनोन्मुख काव्य कहकर उसके प्रति घृणा और द्वेषका भाव जगाता है और दूसरा उसपर अत्यधिक रीझकर केवल उसे ही काव्य मानता है और अन्य रचनाओं, जैसे भक्ति और आधुनिक युगकी कृतियोंको उत्तम काव्यमें परिगणित नहीं करता। वस्तुतः ये दोनों ही दृष्टिकोण पक्षपातपूर्ण हैं।

रीतिकालीन काव्यपर जो दोष लगाये जाते हैं, वे ये हैं—अश्लीलता, समाजको प्रगति प्रदान करनेकी अक्षमता, आश्रयदाताकी प्रशंसा, विलासप्रियता और रूढ़िवादिता। रीतिकालीन समस्त काव्यको दृष्टिमें रखकर जब हम इन दोषोंपर विचार करते हैं तो हम कह सकते हैं कि ये समस्त दोष उस युगके काव्य या समस्त रीतिकाव्यपर लागू नहीं किये जा सकते हैं। साथ ही, इन दोषोंमेंसे अधिकांश प्रत्येक युगके काव्यमें किसी-न-किसी अंशमें पाये जाते हैं।

जहाँतक अश्लीलताका प्रश्न है, हम देखते हैं कि यह भावना वस्तुतः युगसापेक्ष है। एक ही प्रकारका वस्तु-रूप एक युगमें अथवा एक स्थिति या अवस्थामें अश्लील होता है और दूसरेमें नहीं। कालिदास तथा अन्य संस्कृत कवियोंकी रचनाओंमें शरीरके कुछ अवयवोंका काव्यमें वर्णन और उल्लेख उन दिनों अश्लील नहीं समझा जाता था। आज वह अश्लील समझा जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अश्लील सापेक्ष पद है। जिन शब्दों (जैसे नीवी, नितम्ब, उरोज आदि) और जिन वर्णनोंको हम आज अश्लील कहते हैं, उन सबकी परम्परा संस्कृत काव्यमें गहराईके साथ रही है और बहुत-कुछ वहींसे उस शब्दावलीका प्रवेश हिन्दी साहित्यमें हुआ है।

दूसरा दोष प्रायः यह लगाया जाता है कि यह काव्य समाजको प्रगति प्रदान करनेमें समर्थ नहीं है। रीतिकाव्य और कुछ प्रबन्धकाव्योंमें भी हमें व्यापक जीवन-दर्शन नहीं मिलता, इसमें कोई सन्देह नहीं। रीतिकाव्य वास्तवमें यौवनका मादक, विलासपूर्ण काव्य है। फिर भी उसमें ऐसी उक्तियाँ तथा स्थितियाँ मिलती हैं, जो जीवनका अनुभव और कभी-कभी आदर्श बताती हैं। अतः आधुनिक दृष्टिसे सामाजिक प्रगतिको प्रेरणा प्रदान न करते हुए भी, इसमें जीवनोपयोगी तथ्योंका अभाव नहीं है।

आश्रयदाताकी प्रशंसामें उठी हुई काव्य-स्फूर्तिका सामाजिक तो नहीं, परन्तु ऐतिहासिक महत्त्व अवश्य है। आश्रयदाताकी प्रशंसा कला और काव्यके संरक्षण और आश्रयके कारण भी थी और इसके लिए उनकी उदार भावना सराहनीय है। ये राज्याश्रय, जिनमें रीतिकालीन कलाकृतियोंका विकास हुआ, कवि-प्रतिभाको प्रोत्साहित कर सके, साथ-ही-साथ दूर-दूरसे प्रति-भावोंको अपने गुणों और कला-प्रेमके कारण खींच सके। अतः मध्ययुगीन राज्याश्रयने कला, काव्यके संरक्षण और प्रेरणाके लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, यह हमें मानना पड़ेगा।

जैसा पहले कहा गया, रीतिकालके अन्तर्गत विकसित होनेवाले रीतिसाहित्यके दो पक्ष हैं—शास्त्रीय और शास्त्र-निरपेक्ष। इन दोनों ही पक्षोंके प्रति दृष्टिकोणोंमें अन्तर है। लगभग एक-सी परिस्थितियोंमें और कहीं-कहीं तो एक ही कवि द्वारा लिखे जानेपर भी इन दोनों प्रकारकी काव्य-प्रवृत्तियोंमें, अन्तर, उनके कवियोंके दृष्टिकोणके कारण है। पहले वर्गके कवि अपनी प्रवृत्तिसे आचार्य अधिक थे। रीतिग्रन्थ उन्होंने या तो अपनी प्रेरणासे या अधिकांशतः अपने आश्रयदाताकी इच्छासे लिखे थे। दूसरे वर्गके कवि आचार्य रहे हों या न रहे हों, कवि वे अवश्य ही थे।

रीतिशास्त्र या रीतिकाव्य लिखनेकी परम्परा हिन्दीको संस्कृतसे प्राप्त हुई। संस्कृत साहित्यशास्त्रके पाँच काव्य-सिद्धान्तोंमेंसे प्रायः सभीका कुछ-न-कुछ प्रभाव हिन्दी रीतिशास्त्रपर पड़ा है। परन्तु जहाँतक शास्त्रीय विवेचनका प्रश्न है, वह रीति और वक्रोक्ति-सिद्धान्तोंके आधारपर अधिक नहीं लिखा गया। अलंकार, रस और ध्वनिके ही लक्षण और उदाहरण देनेका सामान्यतः प्रयत्न देखनेको मिलता है। इन सिद्धान्तोंका भी विवेचनात्मक निरूपण कम हुआ है।

इसके कई कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि हिन्दीमें रीतिशास्त्र लिखनेवाले कवियोंके पूर्ववर्ती तथा समकालीन संस्कृतके ऐसे विद्वान् आचार्य थे, जिन्होंने काव्यशास्त्रके एक या अधिक अंगोंको लेकर उनकी बड़ी ही विस्तृत और स्पष्ट व्याख्या की थी। ऐसी दशामें हिन्दी कवियोंके लिए कुछ भी मौलिक कार्य करना कठिन था। फिर हिन्दीमें लिखनेवाले सभी काव्यशास्त्री संस्कृत साहित्यके पूर्ण विद्वान् नहीं थे। इसके अतिरिक्त जिन लोगोंके

लिए ये ग्रन्थ निर्मित किये जा रहे थे–अर्थात् कवियोंके आश्रयदातागण और सामान्य जनता–वे स्वयं इस प्रकारके विवेचनमें रुचि नहीं रखते थे। वे मुख्यतः अपने मनोरंजनार्थ हिन्दी काव्य चाहते थे।

हिन्दीके रीतिशास्त्रका आधार पूर्ण रूपसे संस्कृत काव्यशास्त्र है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हिन्दीमें रीतिशास्त्र लिखनेवाले प्रत्येक लेखकने संस्कृत काव्यशास्त्रका पूरा अध्ययन किया था या किसी ग्रन्थको पूर्णतः हिन्दीमें उतारा था। प्रायः अपनी योजनाके अनुकूल हिन्दी रीतिशास्त्रके लेखकने अपने आधारभूत ग्रन्थका पठित या श्रुत ज्ञान प्राप्त किया था। इस कार्यके लिए जिन संस्कृत ग्रन्थोंका अधिकांश आधार लिया गया है, वे हैं भरतका 'नाट्यशास्त्र', भामहका 'काव्यालंकार', दण्डीका 'काव्यादर्श', उद्भटका 'अलंकारसारसंग्रह', केशव मिश्रका 'अलंकारशेखर', अमरदेवका 'काव्यकल्पलताकृति', जयदेवका 'चन्द्रालोक', अप्पय्य दीक्षितका 'कुवलयानन्द', मम्मटका 'काव्यप्रकाश', आनन्दवर्धनका 'ध्वन्यालोक', भानुदत्तके 'रसमंजरी', 'रसतरंगिणी', विश्वनाथका 'साहित्यदर्पण' आदि।

हिन्दीके पूर्ववर्ती अपभ्रंश साहित्यमें रीतिशास्त्रकी परम्परा नहीं रही। इसको प्रेरणा देनेवाला संस्कृत साहित्य ही है और इस परम्पराको हिन्दीमें डालनेवाले प्रमुख व्यक्ति आचार्य केशवदास (१५५०से १६१० ई०) हैं। केशवके पूर्व भी कुछ ग्रन्थ लिखे गये हैं, जिन्हें हम रीतिशास्त्रके ग्रन्थ कह सकते हैं, परन्तु वे विशिष्ट रचनाएँ-सी ही हैं, प्रेरक प्रयासके रूपमें उन्हें हम ग्रहण नहीं कर सकते। 'शिवसिंहसरोज'के आधारपर जिस ग्रन्थका उल्लेख हमारे साहित्यके इतिहासकार सर्वप्रथम करते हैं, वह पुण्ड या पुष्य कवि है, जिसने ७१३ ई०के लगभग हिन्दी भाषामें संस्कृतके किसी अलंकारग्रन्थका अनुवाद किया था, परन्तु वह ग्रन्थ अभीतक किसीके देखनेमें नहीं आया। यदि वास्तवमें उस समयका कोई इस प्रकारका लिखा गया ग्रन्थ मिल जाता है तो वह न केवल रीतिशास्त्रका, वरन् हिन्दीका पहला ग्रन्थ ठहरता है। परन्तु अभीतक इस सम्बन्धकी कोई प्रामाणिक सूचना प्राप्त नहीं हो सकी है।

ऐसी अवस्थामें रीतिशास्त्रपर प्राप्त सबसे पहला ग्रन्थ कृपारामका 'हिततरंगिणी' ही है। इसकी रचना सन् १५४१ ई०में हुई। यह पाँच तरंगोंमें विभक्त है और प्रायः भरतके 'नाट्यशास्त्र'के आधारपर है। इसके पश्चात् १५५९ ई०का लिखा मोहनलाल मिश्रका 'शृंगारसागर' ग्रन्थ रस और नायिका-भेदका विवरण प्रस्तुत करता है तथा अष्टछापके प्रसिद्ध कवि नन्ददासका लिखा 'रसमंजरी' ग्रन्थ भी इसी समयके आस-पासका है। करनेस बन्दीजनके ग्रन्थ भी केशवके पूर्ववर्ती ग्रन्थोंमें ही रखे जा सकते हैं। परन्तु इन आचार्यों और ग्रन्थोंमें कोई भी विशेष महत्त्वपूर्ण प्रभाव रखनेवाला नहीं है। अतः हम कह सकते हैं कि रीतिशास्त्रीय परम्परा डालनेवाले पहले आचार्य केशवदास ही हैं।

केशव तथा उनके पूर्ववर्ती कवियोंका काव्य प्रवृत्तिकी दृष्टिसे तो रीतिकालमें आता है, परन्तु काल-क्रमकी दृष्टिसे नहीं। काल-विभाजनकी दृष्टिसे केशव (१५५०से १६१० तक), सुन्दर तथा चिन्तामणि (रचनाकाल १६४३ ई०के लगभग प्रारम्भ होना है) का स्थान भक्तिकालके ही अन्तर्गत है। केशवदासके ग्रन्थोंमें 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' हैं, प्रबन्ध-रचनाकी पद्धतिपर लिखा गया 'रामचन्द्रिका' हिन्दी महाकाव्योंकी पंक्तिमें समादृत है। केशव मूलतः अलंकार-सम्प्रदायके अनुयायी थे। रस-सम्प्रदायके अन्तर्गत सुन्दर तथा चिन्तामणि पूर्व-रीतिकालीन प्रसिद्ध कवि हैं। चिन्तामणि त्रिपाठीकी गणना हिन्दी रीतिशास्त्रके उत्कृष्ट और बड़े आचार्योंमें है। इनके प्राप्त ग्रन्थोंमेंसे 'पिंगल-शृंगारमंजरी', 'कविकुलकल्पतरु'को विशेष महत्त्व है।

रीतिकालके अन्तर्गत जिन कवियोंकी गणना की जाती है, वे प्रमुखतः संस्कृतके अलंकार, रस तथा ध्वनि-सम्प्रदायोंके अनुयायी थे। रीति और वक्रोक्ति-सिद्धान्तके आधारपर हिन्दीमें कुछ विशेष नहीं लिखा गया।

अलंकार-सम्प्रदायके अनुयायियोंमें केशवके उपरान्त काल-क्रमकी दृष्टिसे जसवन्त सिंहका नाम आता है। इनका सबसे अधिक प्रसिद्ध रीतिग्रन्थ 'भाषाभूषण' रहा है। मतिराम (१६१७ ई०) की प्रवृत्ति रसकी ओर अधिक है और लक्षणकारकी अपेक्षा वे कवि अधिक हैं, फिर भी उनके 'अलंकारपंचाशिका' (१६९० ई०) और 'ललितललाम' ग्रन्थ अलंकारपर हैं। भूषण (१६१३से १७१५ ई०) मतिरामके भाई थे। इन्हें आलंकारिक ही कहना चाहिये। यद्यपि इनकी उक्तियाँ वीर रसपूर्ण हैं, फिर भी इनके प्रधान ग्रन्थ 'शिवराजभूषण' (१६५३ ई०) में अलंकारोंके ही लक्षण-उदाहरण हैं। भूषण महाराज शिवाजीके मित्र तथा उनके दरबारके कवि थे। इस सम्प्रदायके अन्य प्रमुख कवियोंमें गोप, रसिक, सुमति, गोविन्द, दूलह (रचनाकाल १७५०से १७५५ ई०), बैरीसाल, गोकुलनाथ तथा पद्माकर हैं। पद्माकर (१७५३से १८३२ ई०) को रीतिकालका अन्तिम आलंकारिक कवि कहना चाहिये। कवि और रीति-ग्रन्थकार, दोनोंके ही रूपमें पद्माकरका नाम अत्यन्त प्रसिद्ध हुआ।

रस-सम्प्रदायके अन्तर्गत तोष तथा मतिरामकी ख्याति विशेष है। तोष कविका १६३७ ई०का लिखा हुआ ग्रन्थ 'सुधानिधि' है। इसकी सरसता उदाहरणोंमें है। लक्षणोंमें कोई विवेचन सम्बन्धी नवीनता नहीं है। इसी प्रकारका ग्रन्थ मतिराम (१६१७ ई०) का 'रसराज' है। इसमें शृंगारका नायक-नायिका-भेदरूपमें वर्णन है। मतिरामके लक्षण महत्त्वपूर्ण नहीं; हाँ, उदाहरण अवश्य बड़े ही सरस, कोमल तथा कल्पनायुक्त हैं। रसके क्षेत्रमें सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य आचार्य देव (१६७३-१७६८) का है। देवने रसपर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें अधिकतर शृंगार और नायिका-भेदकी ही चर्चा है और एक ही प्रकारके भाव अन्य ग्रन्थोंमें भी आये हैं। रस सम्बन्धी भावना प्रमुखतः 'भावविलास', 'भवानीविलास' और 'काव्यरसायन'में प्रकट हुई है। देवने रसके दो भेद माने हैं—लौकिक और अलौकिक। देवके पश्चात् कालिदास, कृष्णभट्ट, कुमारमणि, श्रीपति, सोमनाथ, उदयनाथ, 'कवीन्द्र' दास आदि अनेक आचार्योंने नायिका-भेद और रसपर लिखा है। परन्तु रसके सम्बन्धमें कोई महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट नहीं हुए हैं। इस सम्प्रदायके अन्य

कवियोंमें रसलीन (अंगदर्पण, रसप्रबोध), दास, रूपसाहि, समनेस, उजियारे, [illegible] प्रतापसिंह ('[illegible]' १८२९ [illegible]) [illegible] प्रतीत [illegible] [illegible] नाम [illegible] उल्लेखनीय है। रसविवेचन तथा काव्यांगोंके [illegible] दोनों ही दृष्टियोंसे [illegible] तथा [illegible] [illegible] है।

हिन्दी रीतिकालके अन्तर्गत ध्वनिके सर्वप्रथम आचार्य कुलपति मिश्र हैं। [illegible] जयसिंहके लिए उन्होंने 'रस-रहस्य'की रचना की। 'रसरहस्य'का रचनाकाल १६७० ई० है। कुलपतिके विचार प्रौढ़ और प्रामाणिक हैं, पर कोई नवीन विचार देखनेको नहीं मिलते। कुलपतिके बाद देवने छन्दपर लिखा है। इस कालके अन्य कवियोंमें सूरति मिश्र, कुमारमणि भट्ट, श्रीपति, सोमनाथ, भिखारीदास, रसपति तथा रामदासके नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं। रीतिकालके आचार्य कवियोंमें भिखारीदास (रचनाकाल १७२८-१७५० ई०)का नाम प्रमुखतम है। इन्होंने 'रससारांश', 'छन्दोर्णवपिंगल', 'काव्यनिर्णय' और 'शृंगार-निर्णय' ग्रन्थ काव्यशास्त्रपर लिखे। काव्यशास्त्रकी दृष्टिसे सबसे प्रौढ़ और प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्यनिर्णय' है, जिसमें ध्वनिका विवेचन और रस, अलंकार, गुण, दोष आदिका वर्णन है।

हिन्दी रीतिकाव्य (लक्षणरहित काव्य)की परम्परा भक्ति-कालसे ही प्रारम्भ हो जाती है। कृपाराम, मल्ल (बीरबल), गंग, बलभद्र मिश्र, केशवदास, रहीम तथा मुबारक काल-क्रमकी दृष्टिसे यद्यपि भक्तिकालके अन्तर्गत आते हैं, परन्तु उनकी काव्यपद्धति प्रायः रीतिप्रधान ही थी। उनके कृतित्व-में प्रमुख ध्यान काव्यरचनाका है और कोई उद्देश्य यदि है तो गौण। रीतिकाव्यकी प्रेरणा मुख्यतः आचार्य केशवदास और अकबरके दरबारी कवियोंसे ही प्राप्त हुई थी। इस परम्पराके साथ काव्यकी एक स्वच्छन्द धाराका विकास हुआ, जिसके प्रवाहने रीतिकालमें समस्त काव्यरसिकोंको ओत-प्रोत कर दिया।

इस युगके रीति-कवियोंमें सबसे प्रथम सेनापति (१५८९ ई०)का नाम आता है। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कवित्तरत्नाकर' है। सेनापतिकी विशेष प्रसिद्धि उनके प्रकृति चित्रण तथा श्लेषचमत्कारके कारण है। 'कवित्तरत्नाकर'की रचना सन् १६४९ ई०में हुई। रीतिकाव्यकी इस प्रथम महत्त्वपूर्ण रचनाने हिन्दी रीतिकाव्यको अतिशय प्रेरणा प्रदान की, इसमें सन्देह नहीं।

बिहारीलाल (१६०३-१६६३ ई०) रीतिकाव्यके सर्व-श्रेष्ठ कवि हैं और उनकी यह ख्याति उनके अन्यतम ग्रन्थ 'सतसई'पर आधारित है, जिसे उन्होंने जयपुरके महाराज जयशाहके आदेशपर लिखा था। मुक्तक रचना होते हुए भी सतसईमें सतसईकारका ध्यान अलंकार, रस, भाव, नायिका-भेद, ध्वनि, वक्रोक्ति, रीति, गुण आदि सबपर है और सभीके सुन्दर उदाहरण इसमें हैं।

रीति-परम्पराका पालन करते हुए और भाई होते हुए भी भूषण (१६१३से १७१५)की प्रकृति मतिरामके बिल-कुल विपरीत है। भूषणका काव्य ओजपूर्ण और वीर रससे ओत-प्रोत है। अतः रीतिकाव्यकी शृंगारिक परम्पराका अनुगमन न करके इन्होंने वीर-परम्पराका मार्ग पकड़ा। इनके नाम [illegible] है। और शृंगार लिखनेवाले तो रीतिकालमें और भी कवि हैं, पर [illegible] [illegible] लिखनेवाले भूषण अकेले हैं। शिवाजीकी वीरता तथा अन्य गुणोंसे प्रेरित भूषणका 'शिवराजभूषण' आलंकारिक सौन्दर्यसे भरपूर है।

ललित शब्दावलीमें कोमल भावनाओंको व्यक्त करने-वाले सुकुमार कल्पनाके कवि मतिराम (१६१७ ई०)का काव्य रीतिकाव्यका प्रतिनिधित्व करता है। इनके ग्रन्थ 'ललितललाम', 'रसराज' 'अलंकारपंचाशिका' आदिमें यद्यपि लक्षण दिये हुए हैं, फिर भी प्रधानता उदाहरण-काव्यकी है। अतः उनकी गणना रीतिशास्त्रियोंसे अधिक रीति-कवियोंमें होती है।

घनानन्द (रचनाकाल १६५८ ई०) प्रसिद्ध प्रेमी, भक्त और कवि थे। उनका ध्यान अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, नायिका-भेद, रस आदिकी ओर नहीं है, फिर भी इनकी रचनामें आलंकारिक चमत्कार तथा शृंगारके संयोग और वियोग, दोनों ही पक्षोंका इतना दक्षतापूर्ण वर्णन है कि रीति-परम्पराका प्रभाव उसमें स्पष्ट लक्षित होता है। घनानन्दका 'सुजानसागर' रीतिकाव्यके प्रमुख ग्रन्थोंमेंसे एक है।

देव (१६७३ ई०)को आचार्य और कवि, दोनों ही रूपोंमें सफलता प्राप्त हुई। उनके कृतित्वमें मौलिकता तथा कवित्व-शक्तिका विलक्षण संयोग हुआ है। भावकी पकड़, सूक्ष्म निरीक्षण, भाषापर अधिकार, छन्दकी गति, शब्दवर्ण-मैत्री, सरसता और उक्तिवैचित्र्य, सब मिलकर देवकी रचनाको रमणीय बनाते हैं। मानव स्वभावका उन्हें बड़ा सूक्ष्म ज्ञान था। अपने ग्रन्थ 'भावविलास'की रचना देवने १६ वर्षकी अवस्थामें की थी।

भिखारीदास (रचनाकाल १७२८-१७५० ई०) आचार्य और कवि, दोनों ही रूपोंमें उत्कृष्ट हैं। जहाँ अपने ग्रन्थोंमें इन्होंने ध्वनि, अलंकार, रस, नायिका-भेद, छन्द आदिके लक्षण और विवेचन प्रस्तुत किये हैं, वहीं उनके उदाहरणों द्वारा प्रस्तुत कविता रीतिकाव्यका सुन्दर नमूना है।

भिखारीदासके समकालीन रसलीन (सैयद गुलाम नबी बिलग्रामी)का काव्य बड़ा ही सुरीला है और उक्ति-चमत्कारके कारण इनके दोहे अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इनके लिखे दो ग्रन्थ मिले हैं—'अंगदर्पण' और 'रसप्रबोध'।

बेनी प्रवीन (१७९९-१८१८ ई०)की रचना मतिराम और पद्माकरकी टक्कर की है और 'नवरसतरंग' शास्त्रीय-ग्रन्थ न होकर काव्य ही है। भाषा टकसाली ब्रजभाषा है और ग्रन्थमें ललित और सुन्दर भावाभिव्यक्ति है। व्यंग्य द्वारा अभिव्यक्त भाव बड़े सुन्दर हैं।

पद्माकर (१७५३-१८३३ ई०) रीतिकाव्यके अन्तिम प्रतिभासम्पन्न कवि हैं। इनके ग्रन्थ 'जगद्विनोद' तथा फुटकर छन्दोंमें रीतिकाव्यकी प्रवृत्तियोंका सुन्दर परिचय मिलता है। पद्माकरमें भावविवृतिकी विलक्षण शक्ति है।

ग्वाल (रचनाकाल १८२२-१८६१ ई०) भी पद्माकरकी परिपाटीपर हैं। इनकी भाषा अधिक प्रांजल न होकर बाजारूपन लिये है। फिर भी इनके वर्णन सुन्दर हैं।

रीतिकालीन काव्य प्रायः ब्रजभाषा तथा उसके स्थानीय

रचनाओंमें लिखा गया। अधिकांश काव्य राजाश्रयमें लिखा गया था। अधिक प्रवृत्ति अलंकृत काव्य लिखनेकी रही है। शृंगारके अन्तर्गत काम-वासना और नारी-सौन्दर्यका चित्रण हुआ है, कहीं-कहीं भक्ति-भावना भी दिखाई दे जाती है। कुछ रचनाओंमें वीर-भावना, नीति-उपदेश, लोक ज्ञान, व्यवहार आदिसे सम्बन्धित सामग्री मिलती है। इस युगके कवियोंका जीवनके प्रति दृष्टिकोण आध्यात्मिक न होकर ऐहिक अधिक है।

[सहायक ग्रन्थ— रीतिकाव्यकी भूमिका : नगेन्द्र; हिन्दी काव्यशास्त्रका इतिहास : भगीरथ मिश्र; हिन्दी रीतिसाहित्य : भगीरथ मिश्र।] —भ० मि०

रीतिकाव्य—हिन्दी साहित्यके अन्तर्गत 'रीतिकाव्य' विशिष्ट अर्थमें प्रयुक्त होता है। रीतिकाव्य वह काव्य है, जो अलंकार, रस, नायिका-भेद, गुण, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि काव्यके सिद्धान्तोंके आधारपर या इनको ध्यानमें रखकर लिखा जाय। हिन्दी साहित्यमें रीतिकाव्यकी परम्परा बड़ी सुदृढ़ है। इस काव्यकी परम्पराका प्रारम्भ आचार्य केशवदासके द्वारा माना जाता है। उसके बाद विभिन्न काव्य-सिद्धान्तोंको दृष्टिमें रखकर काव्यके जो उदाहरण लिखे गये, वे रीतिकाव्यके नमूने हैं। रीतिकाव्यको हम दो रूपोंमें पाते हैं—एक लक्षणयुक्त और दूसरा लक्षण-रहित। प्रथममें लक्षण और उदाहरण, दोनों ही रहते हैं और दूसरेमें लक्षणोंका ध्यान रखकर उदाहरणरूप उत्कृष्ट रचना की गयी है। सीमित अर्थमें रीतिकाव्यका अर्थ लक्षण-रहित काव्य-ग्रन्थोंसे लिया जाता है। इस सन्दर्भमें लक्षण-युक्त ग्रन्थोंको रीतिशास्त्रके अन्तर्गत रखा जाता है। परन्तु सामान्य अर्थमें रीतिकाव्यके अन्तर्गत लक्षणरहित तथा लक्षणयुक्त, दोनों ही प्रकारके काव्यग्रन्थोंका समावेश हो जाता है।

लक्षणयुक्त काव्य लिखनेकी परम्परा संस्कृतसे चली आती है। अलंकार, रस, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनिको काव्यकी आत्मा या शोभाविधायक तत्त्वोंके रूपमें स्वीकार किया गया है, परन्तु हिन्दी काव्यमें अलंकार, रस, भाव, नायिकाभेद, ध्वनिके लक्षण और उदाहरणकी परम्परा पड़ी है, रीति, वक्रोक्ति आदिकी नहीं। प्रधानतया रीति-काव्यके भीतर अलंकार और रस एवं नायिका-भेदके ग्रन्थ खूब मिलते हैं। लक्षणयुक्त ग्रन्थोंमें संस्कृत ग्रन्थोंके समान गम्भीर विवेचन नहीं मिलता। हिन्दीके इन लक्षणयुक्त ग्रन्थोंमें भी मौलिकता और रोचकता उदाहरणोंकी ही है, शास्त्र-विवेचनकी नहीं। हिन्दी रीतिकाव्यके लेखकोंके सम्मुख उद्देश्य ही भिन्न प्रकारका था। विद्वानोंके लिए लिखना उनका उद्देश्य नहीं था। साहित्य-रसिकोंके लिए ही उन्होंने इन ग्रन्थोंका प्रणयन किया था और इनका आधार संस्कृतके ग्रन्थ थे।

जो लक्षणरहित रीतिकाव्य-ग्रन्थ हैं, उनका अधिक मौलिक महत्त्व है, क्योंकि उनके अन्तर्गत ब्रजभाषा काव्यका सुन्दर और प्रांजल रूप मिलता है। सेनापति, बिहारी, मतिराम, घनानन्द, दास, पद्माकर आदि कवियोंकी रचनाएँ, चाहे वे लक्षणोंके उदाहरणरूपमें हों चाहे स्वच्छन्द रूपमें, हिन्दी साहित्यकी अमूल्य निधि हैं।

हिन्दीका रीतिकाव्य अपनी निजी विशेषताएँ रखता है। पहली विशेषता तो भाषा सम्बन्धी है। रीतिकाव्यमें ब्रजभाषाका परिमार्जन प्रधान रूपसे हुआ। वर्ण-संघटन, शब्दमैत्री, रोचक उपमानोंके साथ शरीरके अंग-प्रत्यंगोंकी रूपमाधुरीका वर्णन सजीव शब्दावलीमें किया गया है। दूसरी विशेषता भाव और चेष्टाओंके चित्रणकी है। सुकुमार भावों और ललित चेष्टाओंकी मार्मिक अभिव्यंजना इस काव्यमें मिलती है। सीमित क्षेत्रमें भी इस काव्यमें मनो-भावोंका सूक्ष्म-से-सूक्ष्म चित्रण बड़ा ही हृदयग्राही है। यह काव्य यौवन या किशोरावस्थाका चित्रण करनेवाला काव्य है, जैसे इस युगके कवियोंके सामने जीवनके और पक्ष उपस्थित ही न रहे हों। ये कवि प्रमुखतया नायिकाओं-के कवि हैं या यों कहें कि यौवनके कवि हैं। तीसरा विशेषता यह है कि इस काव्यमें जीवनकी विविधताके दर्शन नहीं होते। संघर्ष, साधना और वास्तविक समस्याओंका चित्रण यह काव्य नहीं करता। रीतिकाव्यके द्वारा सामन्तवादी युगमें भी साहित्यिक अभिरुचि जाग्रत् हुई। ग्राम्य क्षेत्रोंमें भी इस काव्यका प्रचार हुआ और काव्य-सौन्दर्य, अलंकार एवं नायिका-भेद-विवेचन लोकव्यापी हो गया।

रीतिकाव्यकी परम्परा रीतिकालमें ही समाप्त नहीं हुई, आधुनिक युगतक चलती रही। भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युगतक तो यह धारा चलती ही रही, आज भी इस परम्पराका काव्य चल रहा है और यत्र-तत्र सुन्दर रचनाएं हो रही हैं। रीतिकाव्य प्रायः ब्रजभाषाके ही काव्य हैं और इसी काव्यमें इस परम्पराका विकास हुआ है।

[सहायक ग्रन्थ—हिन्दी रीतिसाहित्य : भगीरथ मिश्र।] —भ० मि०

रीतिवाद—यह आधुनिक शब्द है। यह वह प्रवृत्ति है, जो कि हिन्दी साहित्यके उत्तरमध्यकालमें प्रचलित हुई। इसके अन्तर्गत इस प्रकारके काव्यके लिखनेका आग्रह था, जिसमें कि प्रथम लक्षण देकर, फिर उसके अनुरूप अलंकार, रस, नायिका-भेद आदिके उदाहरणरूपमें ही रचना की जाय। यह प्रवृत्ति आधुनिक युगतक भी प्रचलित रही। यह केवल प्रवृत्ति न रह पायी, क्योंकि इस प्रवृत्तिके पीछे प्रचारका आग्रह रहा और उस युगमें यही काव्य विशेष सम्मानित हुआ। यह बौद्धिक प्रचाराग्रह इस लक्षणगर्भ काव्यको प्रेरित करनेके कारण रीतिवादके रूपमें ग्रहण किया जाता है (विशेष दे० 'रीतिकाव्य')। —भ० मि०

रीति-संप्रदाय—आचार्यों, विवेचकों और लेखकोंका वह समुदाय अथवा वह परम्परा, जो काव्यके अन्तर्गत रीतिके महत्त्वको स्वीकार करती है या जिन्होंने अपने शास्त्रीय ग्रन्थोंमें रीतिकी विवेचना की है, रीति-सम्प्रदाय कहलाता है। रीति-सम्प्रदायके प्रवर्तक वामन (९ श० ई० मध्य) हैं, जिन्होंने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' ('का० सू० वृ०', १ : २ : ६), अर्थात् रीति काव्यकी आत्मा है, इस रूपमें रीतिको प्रतिष्ठित किया। रीतिको काव्य-सिद्धान्तके रूपमें प्रतिष्ठित करनेवाले आचार्य ये ही हैं। वामनके पूर्व भी भामह और दण्डी (७ श० ई०)ने रीतिकी चर्चा की थी और गौड़ीय और वैदर्भमार्गके रूपमें इसे स्वीकार किया, पर यह वर्णन

प्रासंगिक ही था। पूर्ण सैद्धान्तिक प्रतिष्ठा देनेका श्रेय वामनको ही है। वामनके बाद रुद्रट (९ श० ई० उत्त०, 'काव्यालंकार')ने रीतियोंकी संख्याकी वृद्धि करके एक और जोड दी और इस प्रकार चार रीतियां मानी गयी। कुन्तक-(१०-११ श० ई०, वक्रोक्तिजीवित)ने रीतिका विवेचन दूसरे रूपमें किया, जो कि अधिक स्वाभाविक माना जा सकता है। उनके तीन मार्ग—सुकुमार, विचित्र और मध्यम मार्ग, वामनकी रीतियोंसे भिन्न हैं। यह मार्ग काव्यात्माके रूपमें कुन्तकने स्वीकार नहीं किये। कुन्तकके मार्ग वास्तवमें सुकुमार और विचित्र है। इनके आधारभूत गुणोंको भी इन्होंने माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्यके रूपमें रखा है, वामनके श्लेषादि दस गुणोंके रूपमें नहीं। आनन्दवर्धनने रीतिकी नहीं, गुणोंकी चर्चा की है। राजशेखर (९-१० श० ई०, 'काव्यमीमांसा')ने रीतिका विवेचन समासके आधारपर किया। मम्मट (११ श० ई० उत्त०, 'काव्यप्रकाश')ने दस गुणोंको तीन गुणोंमें ही समाविष्ट कर दिया। रीतिकी विवेचना विश्वनाथ (१४ श० ई० पूर्वा०, 'साहित्यदर्पण')की है। रीतिकी चर्चा करनेवाले यही संस्कृतके अन्तिम आचार्य है। इन्होंने अपने लक्षणोंमें मार्ग, रीति और वृत्ति, सबका समावेश कर दिया। इस प्रकार वैदर्भी, पांचाली और गौडी रीतियाँ ही रह गयीं। ध्वनि, वक्रोक्ति और रसकी प्रतिष्ठा हो जानेपर रीति-सिद्धान्त गौण रहकर पीछे पड़ गया और उसकी अधिक चर्चा नहीं हुई। हिन्दीमें रीति-सम्प्रदायका इस रूपमें कोई प्रभाव नहीं रहा है (विशेष दे०—'रीति', 'गुण')। —भ० मि०

रुद्रटकी वृत्तियाँ—दे० 'वृत्ति'।

रुबाई—रुबाईमें चार समवृत्त चरण होते हैं। कसीदा अथवा गजलके प्रारम्भिक चार पाद रुबाई हो जा सकते है। रुबाईके लिए विशेष छन्दोंका विधान है और उनमे मुख्य है 'हजाज'। परन्तु उर्दूमें 'इकबाल'ने इस नियमका पालन नहीं किया है। चार चरणों अथवा मिसरोंमेंसे प्रथम-द्वितीय और चतुर्थ सम-तुकान्त, अर्थात् एक ही **काफिये** और **रदीफ**में होते हैं, केवल तीसरा चरण भिन्न-तुकान्त होता है। रुबाई मुक्तक है और अपने-आपमें पूर्ण भी। इसके चार चरणोंमें दो **बैत** होते है, इसलिए इसका नाम 'दो-बैती' है और चार मिसरे होते है, अतः रुबाई कहलाती है। रुबाई फारसीका सर्वाधिक लोकप्रिय रचना-विधान है। फारसीमें इसे 'तराना' भी कहते है। उमर खैयामकी 'रुबाइयात'के फिट्जजेराल्ड-कृत अंग्रेजी अनुवाद-को इंग्लैण्ड और अमेरिकामें अधिक प्रशंसा प्राप्त हुई और उमर खैयामकी रहस्यात्मकताका प्रचार हुआ। अपने देशमें उमर खैयामकी प्रसिद्धि गणितज्ञ, ज्योतिषी और दार्शनिकके रूपमे थी, फिट्जेराल्डके कारण उसकी ख्याति रहस्यवादी कविके रूपसे भी हुई। हिन्दीमें भी फिट्जजेराल्डकृत अनुवादके अनेक अनुवाद हुए है और उनमें हरवंश राय 'बच्चन' कृत 'खैयामकी मधुशाला' अधिक प्रसिद्ध और लोकप्रिय हुई। मैथिलीशरण गुप्तकने इसका अनुवाद किया है। 'बच्चन'कृत 'मधुशाला' इसी रचना-विधानमें है—"जितनी दिलकी गहराई हो उतना गहरा है प्याला, जितनी मनकी मादकता हो, उतनी मादक है हाला, जितनी उरकी भावुकता हो, उतना सुन्दर साकी है, जितना ही जो रसिक, उसे है, उतनी रसमय मधुशाला"। यों तो रुबाईमें सब बातें कही जा सकती है, लेकिन उर्दूके शायरोंने इसमें ज्यादातर नैतिक बातें ही लिखी हैं। रुबाइयाँ करीब-करीब उर्दूके सभी शायरोंने लिखी है, लेकिन इनमे अनीस, दबीर, इकबाल, जगतमोहन 'खाँ' और जोश आदिने विशिष्ट स्थान प्राप्त किया है। हिन्दीमें उमर खैयामकी रुबाइयोंके अनेक अनुवाद हुए है और उनके प्रभावसे अनेक प्रसिद्ध कवियोंने रुबाइयां लिखी है। नये कवि 'मुक्तक' नामसे भी रुबाइयाँ लिखते है। रुबाइयोंमें प्रायः सूक्ति या उक्तिवैचित्र्यकी प्रधानता रहती है।—रा०खे०पा०

रूख—हिन्दीमें रूख वृक्षका पर्याय है। सन्तोंने अपनी रचनाओंमें रूखके साथ ही बिरिख, पेड़, तरवरि (तरुवर), बिरिछ (वृक्ष), बावना (बिरवा) आदि अन्य पर्यायोंका प्रयोग किया है। पर इन प्रयोगोंमें एक विलक्षणता यह है कि ये अधिकांशतः योगपरक रूपकों, उल्टबाँसियों एवं साधना-सम्बन्धी गुत्थियोंके रूपमें प्रयुक्त हुए हैं। अकेले कबीरके साहित्यमें वृक्षके सामान्य अर्थमें प्रयुक्त उक्त कतिपय शब्द भिन्न-भिन्न प्रसंगोंमें कभी ब्रह्मके अर्थमें तो कभी सहस्रार, समाधि, सहज समाधि, मेरुदण्ड, संसार, शरीर, माया आदिके अर्थमें प्रयुक्त हुए हैं।

(१) ब्रह्म—भारतीय धर्म एवं दर्शनके साहित्यमें ब्रह्मको वृक्ष रूपमें वर्णित करनेकी परम्परा बहुत पुरानी है। ऋग्वेद १, २४, ७मे वरुण लोकके एक ऐसे वृक्षका वर्णन है, जिसे ऊर्ध्वमूल कहा गया है। उसकी किरणें ऊपरसे नीचेकी ओर फैलती बतायी गयी है। ऋग्वेद १०, १३५, १; १, १६४, २२ तथा ५, ५४, १२मे क्रमशः जिस 'सुपलाशवृक्ष' या जिसके अग्रभागमें सुस्वादु पीपल है और जिसपर दो पक्षी बैठते है या फिर जिस पीपलको वायु देवता हिलाते हैं, ऐसे वृक्ष भी इसी ब्रह्मवृक्षका व्याख्यान करनेवाले हैं। 'विष्णु-सहस्रनाम'में परमेश्वरके अन्य नामोंमें 'वरुणोवृक्षः' भी एक नाम है। 'कठोपनिषद' (६, १)में जिस ब्रह्ममय सनातन अश्वत्थ वृक्षका वर्णन है, वह भी ब्रह्मवृक्ष ही है। गीता (१५, १)मे "ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययं। छन्दांसि यस्य पर्णाणि यस्त वेद स वेदवित्" कहकर इसी ब्रह्मवृक्षका संकेत किया गया है। तुलसीदासने 'रामचरित मानस' (उत्तरकाण्ड)में रामकी वन्दना करवाते हुए वेदोंके मुखसे कहलाया है—"अव्यक्तमूलमनादितरु त्वच चारि निगमागम भने। पट कन्ध साखा पंचबीस अनेक पर्न सुमन घने॥ फल जुगल बिधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आश्रित रहे। पलवत फूलत नवल नित संसार बिटप नमामहे" (वेदस्तुति)। कबीरने अपने कई पदोंमें थोड़े-बहुत अन्तरके साथ यही बात कही है। परम्पराको ध्यानमें न रखनेके कारण तथा चर्यापदोंमें "तरुवरको काया, चित्त, सृष्टि-विस्तार, सहज तत्त्व" आदिके उपमान रूपमें देख, बिना किसी सोच-विचारके कबीरके ब्रह्मवृक्ष सम्बन्धी पदोंको कुछ विद्वानोंने काया और चित्तका व्याख्याता मान लिया है। किन्तु बात ऐसी है नहीं। कबीरका कहना है—"जांनी जांनीं रे राजारामकी कहानी। अंगर जोति राम परकासै गुरमुखि बिरलै जानी॥ तरवर

एक अनन्त डार पुनि पुहुप पत्र रस भरिया। यह अंमृत की वाडी है रे तिनि हरि पूरा करिया ॥१॥ पुहुप वास भँवरा एक राता बाहर ले उरभरिया। सोरह मंझे पवन झकोरै, आकासे फल फरिया ॥२॥ सहज समाधि बिरिख यहु सींचा धरती जलहर सोखा। कहै कबीर तासु मैं चेला जिनि यहु बिरवा पेखा ॥३॥" (क० ग्रं० ति०, पद ११२)। 'राजारामकी कहानी' पद स्पष्ट रूपसे ब्रह्मवृक्ष-का संकेत दे रहा है। 'सहज-समाधि बिरिख यहु सींचा' भी स्पष्ट करता है कि समष्टि रूपमे जो ब्रह्म है, व्यष्टि रूपमे वही सहस्रारस्थ परमशिव है, जो सहज-समाधिमे प्राप्त उन्मन्यावस्थामे सिंचित अर्थात् तृप्त होता है। शक्ति या कुण्डलिनीसे समरस होकर यह अनन्त शाखा है और पत्र-पुष्पवाला वृक्ष हरा-भरा होता है। पद संख्या १०८मे कबीरने पुनः इसी ब्रह्मवृक्षका उल्लेख किया है, थोडे भिन्न रूप में। यहाँ यह पिण्ड (१. शरीर २. तना)मे हीन और बिना पुष्पके फलनेवाला बताया गया है। अन्तिम पंक्तियोमे 'अपरंपार पार परसोतम'की जिस मूर्तिपर बलिहारी होनेकी बात कबीरने की है, वह इसके 'ब्रह्मवृक्ष'-वाले अर्थको बिल्कुल स्पष्ट कर देती है। पद संख्या ११९मे इसी वृक्षका उल्लेख करते हुए कहा गया है—"बीज बिनु अंकुर पेड बिनु तरवर बिनु साखा तरवर फरिया" (क० ग्रं० ति०)। पद संख्या १५२मे इस वृक्षका ब्योरेवार चित्रण देखनेको मिल जायगा। पद ११६मे स्पष्ट रूपमें 'ऊर्ध्वमूलमधः शाख'वाले वृक्षका उल्लेख दर्शनीय है।

(२) सहस्रारके अर्थमे भी बिरिख शब्दका प्रयोग कबीरने किया है—"ऊँचा बिरिख अकासि फल पंखी मूआ झूरि। बहुत सयाने पचि मुए फल निर्मल पै दूरि॥" (क० ग्रं०, ति० पृ० १८३, ३०)।

(३) कबीरने रूख शब्दका प्रयोग मेरुदण्डके अर्थमे भी किया है—"समुन्दर लागी आगि। नदिया जलि कोइला भई। देखि कबीरा जागि मंछी रूखां चढि गई॥" (क० ग्रं० ति०, पृ० १४८, ५४), अर्थात् "शरीररूपी समुद्रमें प्रिय-विरहकी आग लग गयी और उसने विषयलिप्साकी प्रवहमान धाराको जला दिया। दिन-रात विषयोमे लिप्त मानसिक वृत्तियों या इन्द्रियसुखकी ललकका प्रतीक मन (मंछी) मेरुदण्डरूपी वृक्षपर चढ-कर विषयवारिसे परे हो गया"। पद सं० ११९मे कबीरने बाँझ माता (माया)से बिना बापके उत्पन्न (निर्गुण, अस्ति-नास्तिसे अतीत ब्रह्मसे उत्पन्न) हाथ-पैर आदि इन्द्रियोंसे हीन आत्माको जिस तरवरपर चढते बताया है, वह भी यह मेरुदण्ड ही है—"बाँझ का पूत बाप बिनु जाया बिनाँ पाँऊँ तरवर चढिया" (क० ग्रं० ति०)। कबीरने वृक्षके भीतर प्रवाहित होनेवाली नदीका उल्लेख एक पदमे किया है—"एक बिरष भीतरि नदी चाली कनककलस समाइ। पंच सुअटा आइ बैठे, उदै भई बन राइ"। नदीपर विचार करते हुए लक्ष किया गया है कि यह बिरष मेरुदण्डका वाचक है (दे० 'नदी')।

(४) समाधिके अर्थमे भी तरवरका प्रयोग कबीरने किया है—"फल मीठा पै तरवर ऊँचा कौन जतन करि लीजै। नेक निचोइ सुधारस वाकौ कौन जुगति सौ पीजै॥ पेड बिकट है महा सिलहला अगह गह्या नहि जावै। तनमनमेलिह चढै सरधा सौ तब वा फलको पावै॥—तथा आगे" (क० ग्रं० ति०, पद १४३)। उक्तपद-मे तरवर समाधि है और उसका फल सहस्रारमे प्राणका अवस्थान या कुण्डलिनीका परमशिवसे सामरस्य। पेडका सिलहलापन (फिसलन) समाधिमे प्राणवायुको धारण करने-का संकेतक है। अधर (आकाश, सहस्रार)मे पाँव फिसलकर गिरनेकी बात कुछ वैसी ही है, जैसे अवधूसे यह सवाल पूछते समय थी कि "जब उनमनिकी तारी टूटै तब कहाँ रही तुमारी" (कबीर, पृ० १५६)।

(५) समाधि और सहज समाधिमें कबीर अन्तर मानते थे और सहज-समाधिके कट्टर समर्थक थे। समाधि वह है, जो आँखको मूँदकर या नासिकाग्रपर अवस्थित करके, सभी इन्द्रियोंसे मनको रोककर आयास और कष्टसे सधे। सहज समाधि इससे नितान्त भिन्न है। उसके लिए तो कबीरका कहना है "आँख न मूँदौ कान न रूँधौ तनिक कष्ट नहीं धारौं। खुले नैन पहिचानौ हँसि हँसि सुन्दर रूप निहारौं"। बारहमास-चौबीस पहर फलोंसे लदे रहनेवाले, शीतल छायामे युक्त तथा मनरूपी पक्षीके केलि-सदन रूप जिस तरवरका गुणगान कबीर प्रस्तुत साखीमे कर रहे है, वह निश्चयतः सहज समाधि ही है—"तरवर तासु बिलंबिए जो बारह मास फरन्त। सीतल छाया गहिर फल, पंखी केलि करन्त॥" (क० ग्रं, ति०, पृ० २०३, ३)।

(६) संसारको भी कबीरने वृक्ष कहा है और वर्तमान, भविष्य और भूत नामक तीन कालोंको उसकी शाखा, चार युगोको पत्र तथा पाप-पुण्यको दो फल बताया है—"सुख कै बिरिख यहु जगत उपाया। समुझि न परै बिषम तेरी माया॥ साखा तीनि पत्र जुग चारी। फल दोइ पाप पुन्नि अधिकारी॥" (क० ग्रं०, ति०-रमैनी ११)।

(७) मायाका अर्थ देनेके लिए भी बिरिखका प्रयोग कबीरने किया है—"आगै आगै दौ जरै, पाछै हरियर होइ। बलिहारी तेहि बिरखकी जरि काटे फल होइ॥" (क० ग्रं०, ति० पृ० १७८, १), अर्थात् इस मायारूपी वृक्षकी बलिहारी है कि वाह्य विकारोमे झुलसता, जलता रहकर भी यह सामान्य सांसारिक वृक्षोकी तरह जल नहीं जाता। ज्यों-ज्यों विषयोंकी आगमे झुलसाते जाइये, यह त्यों-त्यो हरा होता है। अगर अच्छा फल पाना है तो इस मायाका मूलोच्छेद आवश्यक है।

(८) प्रसंगके आग्रहको ध्यानमें रखकर कबीरने एक स्थानपर पिण्डको शरीरके अर्थमे प्रयुक्त किया है—"पंखि उडानी गगन कौ पिण्ड रहा परदेस। पानी पीया चंचु बिनु भूलि गया यहु देस॥" (क० ग्रं०, ति०, पृ० १६७, ६), अर्थात् इस शरीररूपी पेड़ (पिण्ड)को परदेशमें छोडकर (क्योकि यह संसार उसका अपना देश नही है) आत्मारूपी पक्षी परमशून्यमे उडकर चला गया और इस देशको भुला ही बैठा। उस परमव्योममें चोंचके बिना पानी पीकर (पानी पिये बिना ही पानी पीनेकी तृप्ति प्राप्तकर) वह इस (चोंचसे पानी पीकर कुछ देरके लिए तृप्त और फिर पिपासाकुल बना देनेवाले) देशको भूल ही

गया। यहाँ इतना संकेत दे देना आवश्यक है कि सन्तोंके साहित्यमें इतने प्रकारके आपाततः विपरीत और भिन्न अर्थोंका किसी शब्द विशेषमें सन्निवेश इस बातको स्पष्ट कर देता है कि रूपक, उपमा या इस तरहके अन्य किसी रूपमें किसी शब्द, विषय या वस्तुको रखते समय सन्त धर्मोंकी अपेक्षा उसके धर्मको ही ध्यानमें रखते थे। और चूँकि किसी भी वस्तुके धर्म अनन्त हैं, अतः उसके अर्थ भी अनन्त हो सकते हैं। आपाततः इस तरहकी स्वच्छन्दता अर्थगत गड़बड़ीका प्रमुख कारण है। सन्तोंके साहित्यकी अनेकशः, आपाततः विपरीत पड़नेवाली व्याख्याएँ इसी कारण सम्भव हो सकी हैं और शायद आगे भी होती रहेंगी। —रा० दे० सि०

रूपक—सादृश्यगर्भ अभेदप्रधान आरोपमूल अर्थालंकार, जिसमें अति साम्यके कारण प्रस्तुतमें अप्रस्तुतका आरोप करके अभेद दिखाया जाता है। इस शब्दका अर्थ है एकता अथवा अभेदकी प्रतीति। भरतने जिन ४ अलंकारोंका वर्णन किया है, उनमेंसे यमक शब्दालंकार है तथा दीपक वाक्यालंकार; सामान्य सादृश्यजीवी अलंकार उपमा और रूपक ही हैं। गुण और आकृति दोनोंके आधारपर सादृश्यका नाम उपमा है, रूपकमें केवल गुणके आश्रयसे किञ्चित् सादृश्यको अपने 'विकल्प'से रूप प्रदान किया जाता है (ना० शा०, १६ : ४४ तथा ५७ : ५८)। भामहने रूपकका निरूपण उपमासे पूर्व किया है। उनके मतमें रूपककी दो विशेषताएँ हैं—उपमेयकी उपमानसे एकरूपता तथा गुणोंकी समता। रूपकके २ भेद हैं—समस्त-वस्तुविषय तथा एक-देश-विवर्ति। उपमासे रूपकमें अन्तर करते हुए दो विशेषताएँ हैं—'गुणलेश'के आधारपर तथा असमान उपमानसे 'साम्य' ('काव्यालंकार' २ : २१-२२ तथा ३०)। दण्डीके अनुसार गुण, क्रिया, द्रव्य किसी भी प्रकारसे उद्भूत सादृश्यका नाम उपमा है और जब उपमान उपमेयका परस्पर-भेद तिरोभूत हो जाता है तो उस सादृश्यको ही रूपक कह देते हैं (काव्यादर्श, २ : १४ तथा ६६)। रूपकके २० भेद हैं—समस्त, असमस्त, समस्तव्यस्त, सकल, अवयव, अवयवी, एकांग, युक्त, अयुक्त, विषम, सविशेषण, विरुद्ध, हेतु, श्लिष्ट, उपमारूपक, व्यतिरेकरूपक, आक्षेपरूपक, समाधानरूपक, रूपकरूपक, तत्त्वापह्नवरूपक ('काव्यादर्श', २ : ६७से ९६तक)।

वामनने रूपकको उपमाका प्रपंच मानते हुए इसका लक्षण किया है कि उपमानके साथ उपमेयके गुणका साम्य होनेसे उपमेयमें उपमानके अभेदका आरोप ही रूपक है—"उपमानोपमेयस्य गुणसाम्यात् तत्त्वारोपो रूपकम्" ('का० सू० वृ०, ४ : ३ : ६)। रुद्रटके मतसे उपमानमें सिद्ध गुणका उपमेयमें साध्य बनना तो उपमा अलंकार है ('काव्या०', ८ : ४) और गुणोंके साम्यसे उपमान एवं उपमेयके अविवक्षित सामान्य भेदको रूपक कहते हैं ('काव्या०', ८ : ३८)। प्राचीन आचार्योंने गुणलेशके चमत्कारी साम्यको उपमा माना है और गुणोंकी विशेष समताको रूपक।

मम्मटने उपमान और उपमेयके अभेदको रूपक बताया है (का० प्र०, १० : ९३)। विश्वनाथने इसी लक्षणको स्पष्ट किया है कि निरपह्नव (बिना सत्यके गोपनके) विषयमें विषयीका रूपित आरोप रूपकालंकार है ('सा० द०', १० : ४१)। जयदेव ('चन्द्रालोक', ५ : १८) और अप्पय दीक्षित ('कुवल०', १७)के लक्षण भी इन्हींसे मिलते-जुलते हैं। 'अलंकारसर्वस्व'में "विषयिणा विषयस्य रूपवतः करणाद् रूपकम्" (पृ० ३५) तथा एकावलीमें "विषयी विषयं रूपयति रूपवन्तं करोतीति अन्वर्थाभिधानं रूपकम्" (पृ० २१२) लिखकर उपमेय और उपमानकी रूपवत्ताका ही आग्रह प्रकट किया गया है।

हिन्दीके आचार्योंमें केशवने दण्डीके आधारपर रूपकका लक्षण अत्यन्त प्राथमिक अवस्थाका दिया है—"उपमाके ही रूपसों, मिल्यो बरनिये रूप" ('क० प्रि०', १३ : १२)। जसवन्त सिंहने लक्षण नहीं दिया है। मतिराम, भूषण, दास तथा पद्माकर आदि अधिकांश रीतिकालीन आचार्योंने मम्मट और विश्वनाथके लक्षणका अनुसरण किया है—"बरनत विषयी विषयकों करि अभिन्न तद्रूप" (ल० ल०, ६८) अथवा—'कहुँ कहिये वै दूसरौ, कहुँ न राखिये भेद'। (का० नि०, १०)। कुलपतिने 'साहित्यदर्पण'की कारिका तथा वृत्तिके आधारपर लक्षण दिया है—"उपमा अरु उपमेयको, भेद परै नहिं जान। समता व्यंग्य रहै जहाँ, रूपक ताहि बखान" ('र० र०')। यहाँ व्यंग्य समता (वृत्तिमें)के कथनसे उनकी प्रौढ़ताका परिचय मिलता है। आधुनिक विवेचकोंने भी मम्मट अथवा विश्वनाथके आधारपर लक्षण दिये हैं।

भरतने अलंकारोंके भेद नहीं बताये। भामहने रूपकके दो भेद किये हैं—समस्त-वस्तु-विषय तथा एक-देश-विवर्ति। आगे चलकर मम्मटने इन दोनों भेदोंको सांग (सावयव) रूपकके उपभेद मान लिया ('का० प्र०', १० : ९३-९४)। दण्डीने उपमा और रूपकके भेदोंकी इयत्ता नहीं मानी। रूपकके मुख्य २० भेद दिये हैं। 'समस्त रूपक'में उपमान और उपमेयका समास हो जाता है, जैसे 'बाहु-लता', 'पाणि-पद्म'। असमस्त समस्त रूपकका विपरीत है, जैसे 'अँगुलियाँ पल्लव हैं'। समस्त-व्यस्त रूपकमें उपर्युक्त दोनों गुणोंका मिश्रण होता है, जैसे 'स्मित मुखचन्द्रकी ज्योत्स्ना हैं', यहाँ 'मुखचन्द्र'में समास है और 'स्मित ज्योत्स्ना है' वाक्यमें समास नहीं है। सकल रूपक अर्वाचीनोंका सांग या सावयव रूपक है। अवयव रूपक अर्वाचीन आचार्योंके एक-देश-विवर्तिके समान है। अवयवी रूपक अर्वाचीन निरंगके समान है। इसमें वदनको ही पंकज कह दिया जाता है, उसके अंगोंको रूपता नहीं प्रदान की जाती। एकांग रूपकमें उपमेयके एक अंगको ही रूपित करते हैं, इसी प्रकार द्वयंग, त्र्यंग आदि भेद हो सकते हैं। उपमेयके आधेयभूत अवयवोंके लिए जिन आरोप-विषय-भूत वस्तुओंका प्रयोग हो, उनमें यदि परस्पर सम्बन्धकी संगति है तो युक्त रूपक और यदि विरोध है तो अयुक्त रूपक अलंकार है। अंगीके रूपण तथा अंगोंमेंसे कुछके रूपण तथा कुछके अरूपणसे विषम रूपक बनता है। विशेषण-विशिष्ट पदार्थके आरोपमें सविशेषण रूपक है। उपमानके प्रसिद्ध कार्योंकी अक्रिया तथा अप्रसिद्ध कार्योंकी क्रियामें विरुद्ध रूपक, हेतु-प्रदर्शनपूर्वक अप्रस्तुतके आरोपमें हेतु रूपक (अर्वाचीनोंके

उल्लेख अलंकारसे मिलता-जुलता), श्लिष्ट साधारण धर्मके प्रयोगमें श्लिष्ट रूपक, प्रस्तुत एवं अप्रस्तुतके साधर्म्यमें उपमा रूपक तथा वैधर्म्यमें व्यतिरेक रूपक अलंकार होता है। आक्षेप अलंकारकी सामग्रीसे आक्षेप रूपक तथा समाधान-पूर्वक आरोपसे समाधान रूपक बनता है। रूपकके गर्भमें स्थित रूपकका नाम रूपक-रूपक तथा अपह्नुति-गर्भसे रूपकका नाम तत्त्वोपह्नव रूपक हो जाता है। जिस प्रकार भरतने उपमाके अनेक भेदोंको लोकसे ग्रहण करनेकी सम्मति दी है, उसी प्रकार दण्डीने उपमा तथा रूपकके विकल्पोंमेंसे कतिपयकी ही व्याख्या की है, शेष पाठकोंके अनुमानपर छोड़ दिये हैं ('काव्यादर्श', २ : ६६-९६)।

रुद्रटने रूपकके सावयव, निरवयव तथा संकीर्ण भेद करके सावयवके ३ उपभेद—सहज, आहार्य तथा सहजाहार्य माने हैं। निरवयवके ४ उपभेद हैं—शुद्ध, माला, रशना तथा परम्परित। एकदेशीय उपर्युक्त समस्त विषय-रूपकोंसे भिन्न है। अर्वाचीन आचार्योंमें मम्मटने प्रथम तो रूपकके २ भेद किये हैं—समस्त वस्तु-विषय तथा एक-देश-विवर्त्ति, परन्तु इन दोनों भेदोंको सांग रूपकके ही अन्तर्गत मान लिया है। जो सांग नहीं है, वह शुद्ध निरंग रूपक है। माला रूपकमें अनेक अप्रस्तुतोंका एक प्रस्तुतमें आरोप होता है। परम्परितके ४ उपभेद श्लेषमूल, श्लेषरहित, केवलरूप तथा मालारूप हैं। रशना रूपकमें मम्मटने चमत्कार नहीं माना।

विश्वनाथने रूपकके भेदोपभेदोंको स्पष्ट किया है। रूपकके ३ भेद हैं—परम्परित, सांग तथा निरंग; परम्परितके २ उपभेद हैं—श्लिष्ट तथा अश्लिष्ट; और प्रत्येक उपभेद केवल तथा माला, दो प्रकारका है। इस प्रकार परम्परित रूपक ४ प्रकारका हुआ। सांगके दो उपभेद हैं—समस्त वस्तु-विषयक तथा एक-देश-विवर्त्ति। निरंगके भी दो उपभेद हैं—मालानिरंग तथा केवलनिरंग। इस प्रकार रूपकके केवल ८ भेद हुए।

जयदेवने रूपकके ४ भेद किये—सोपाधि, सादृश्य, आभास तथा रूपित रूपक। सोपाधि रूपकमें एक आरोप-प्रधान आरोपके प्रति कारण होता है। 'काव्यप्रकाश'में इसीको 'परम्परित' रूपक कहा गया है। सादृश्य रूपक सावयव या सांग रूपकका ही नाम है, इसमें उपमान और उपमेय, इन दोनोंका अलग-अलग पदोंसे सादृश्य बतलाया जाता है। आभास रूपकमें रूपकका आभास होता है, किसी सौन्दर्यकी प्रतीति नहीं होती, 'अंगयष्टि' पदमें यष्टिका अंगपर आरोप केवल लम्बाईके कारण है, सौन्दर्यबोधके निमित्त नहीं। रूपित रूपकमें आरोपित पदोंका पुनः आरोप होता है, यह दण्डीका रूपक-रूपक अलंकार है। अप्पय दीक्षितने 'कुवलयानन्द'में रूपकके २ भेद किये हैं—'अभेद' तथा 'तद्रूप' और प्रत्येक भेदके ३ उपभेद हैं—आधिक्य, न्यून तथा अनुभय।

हिन्दीके आचार्योंने प्रायः रूपकके अप्पय दीक्षितके ६ भेदोंको अपनाया है, उनके अनुभय उपभेदका नाम सम दिया है। केवल केशवदासने 'कविप्रिया'में रूपकके ३ भेद माने हैं—अद्भुत रूपक, विरुद्ध रूपक तथा रूपक-रूपक। अद्भुत रूपक दण्डीके व्यतिरेक रूपकका नामान्तर है, शेष दोनों भेद 'काव्यादर्श'में ज्यों-के-त्यों मिलते हैं। कुलपतिने मम्मट तथा विश्वनाथके आधारपर सांग, शुद्ध, परम्परित तथा माला रूपक—चार भेद माने हैं। आधुनिक विवेचकोंने रूपकके भेदोंको नियम देनेका प्रयत्न किया है। कन्हैयालाल पोद्दारने रूपकके दो भेद—अभेद तथा तद्रूप मानकर दोनोंके सम, अधिक, न्यून भेद माने हैं; फिर समके सावयव (सांग), निरवयव तथा परम्परित भेद किये हैं और इन तीनोंके भी क्रमशः समस्त वस्तु-विषय, एक-देश-विवर्त्ति; श्लिष्ट, मालारूप; श्लिष्ट शब्द, भिन्न शब्द नामक दो-दो भेद किये हैं ('अलं० म०', पृ० १३७)। इसमें उन्होंने मम्मट आदिके साथ अप्पय दीक्षितके विभाजनको मिलानेका प्रयत्न किया है। रामदहिन मिश्रने दूसरे प्रकारसे यह विभाजन दिया है—अभेद और मालाके दो प्रकार आहार्य और वास्तव माने हैं और तीन भेद केवल इसीके कहे गये हैं। सावयव आदि अपने भेदोंके सहित स्वतन्त्र हैं।

१. अभेद—अप्पय दीक्षितने 'कुवलयानन्द'में सादृश्य-मूलक अलंकार रूपकके दो भेद माने हैं—अभेद तथा तद्रूप। जब विषयीका विषयमें अभेद-पर्यवसान हो तो अभेद रूपक होता है। हिन्दीमें प्रायः बिना लक्षण दिये केवल विभाजन करके उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। इसमें उपमेयसे अभेदरूपसे उपमानका आरोप किया जाता है और इसके तीन भेद 'कुवलयानन्द'के ही आधारपर हिन्दीके आचार्योंने माने हैं—न्यून, अधिक और सम। जहाँ उपमेयमें उपमानके आरोपके अनन्तर कुछ न्यूनता कही जाती है, न्यून कहलाता है। दूलह कविका उदाहरण है—"राम तुम लंकके बिरोध बिन" (राममें लंका-विजयकी सामर्थ्य थी, तुममें नहीं है, तुम रामसे न्यून हो)। या—"पच्छिन बिगिर बिहंग है, सुण्डन बिगिर मतंग" (ल०ल०, ७०)। अथवा—"निर्झरमें अक्षय स्वरप्रवाह है, पर वह विकल विराग नहीं" (मिलिन्द : 'का० द०')। **अधिक**—जहाँ उपमेयमें उपमानके आरोपके अनन्तर कुछ अधिकता कही जाती है—"राम अवियोगी तुम" (दूलह), अर्थात् राम वियोगी थे और तुम अवियोगी हो, अतः राममें अधिक हो या—"नव बिधु बिमल तात जसु तोरा, रघुबर किंकर कुमुद चकोरा। उदित सदा अथइहि कबहूँ ना, घटहि न जग नभ दिन दिन दूना" (रा० च० मा०, २ : २०९)। इसमें चन्द्रमा घटता-बढ़ता है, पर यश सदा उदित रहता है, अधिक है। **सम**—जहाँ उपमेयमें उपमानकी न्यूनता या अधिकताके बिना सम आरोप हो—"राम तुम यज्ञपाल" (दूलह), अर्थात् राम भी यज्ञपाल थे और तुम भी, अतः अभेद समता है। या—"बीती विभावरी, जाग री। अम्बर पनघटमें डुबो रही ताराघट ऊषा नागरी" ('प्रसाद')। इसमें अम्बरमें पनघट, तारामें घट तथा ऊषामें नागरीका अभेद-कथन है।

२. तद्रूप—'कुवलयानन्द'में स्वीकृत रूपकका एक भेद। भेदके रहते हुए भी सामान्य धर्मके आश्रयसे अप्रस्तुतका प्रस्तुतमें आरोप 'तद्रूप' रूपक कहलाता है, यथा—'मुख दूसरा चन्द्र है'। 'मुख' और 'चन्द्र' अलग हैं, फिर भी सामान्य धर्मके सादृश्यसे मुखपर चन्द्रका आरोप कर दिया गया है। अभेदके समान इसके भी तीन भेद माने गये हैं।

न्यून—जहाँ इस आरोपमें उपमेय हीन कहा गया है—"विप्रनिके मन्दिरन तजि, करत ताप सब ठौर। भावसिंह भूपालको, तेज तरनि यह और" ('ल० ल०', ७३)। अधिक—जिसमें तद्रूप आरोपके अनन्तर उपमेयमें कुछ अधिकता कही जाय—"अमिय झरत चहुँ ओर अरु, नयन ताप हरिलेत। राधा मुख यह अपर ससि, सतत उदित सुख देत" ('अ० मं०', १४१)। 'अपर ससि'में तद्रूप और 'सतत उदित'के कथनमें अधिकका भाव है। सम—जहाँ तद्रूपता समान हो—"भूमि पुरन्दर भाऊके हाथ पयोद नहीं वर काज ठये हैं। पन्थिनके पथ रोकिवेको घने वारिद वृन्द वृथा उनये हैं" ('ल० ल०', ७२)। अथवा- "सुधा सहित मुख ससि लख्यौ, वृथा सरदको चन्द"(पद्मा०,३७)।

३. सांगरूपक—रूपक अलंकारका एक भेद, जिसको सावयव रूपक भी कहते हैं। दण्डीका सकल रूपक भी यही भेद है। भामहने रूपकके समस्त वस्तु-विषय और एक-देश-विवर्त्ति, दो भेद किये थे, मम्मटने उन दोनोंका एक नाम 'सावयव' रूपक माना है और दोनों भेदोंको सांग या सावयवका उपभेद बना दिया है। सांग और सावयव दोनों नाम मम्मटके 'काव्यप्रकाश'से ही प्रचलित हो गये। श्लोकमें 'सावयव' शब्दका व्यवहार है('का०प्र०', १० : ९४ वृ०)।

जगन्नाथके अनुसार परस्पर सापेक्षसे सम्बद्ध रूपकोंका संघात सावयव रूपक है—"परस्परसापेक्षनिष्पत्तिकानां रूपकाणां संघातः सावयवम्'। उदाहरण—"रक्त अँगुलियाँ ही पत्रपंक्ति है, नख-किरणें ही केसर है, इस प्रकार आपके चरण तो साक्षात् कमल है" (अनुवाद)। विश्वनाथके अनुसार यदि अंगीका सांग रूपण हो तो रूपक 'सांग' कहलायेगा।—"अंगिनो यदि सांगस्य रूपणं सांगमेव तत्" ('सा० द०', १० : ३०)।

४. समस्त वस्तु-विषय—उपभेदमें आरोप्यमाण विषय शब्दोपात्त होकर सकल विषयोंको अन्तर्भूत कर लेते हैं, यथा—"रावणरूपी अनावृष्टिसे क्लान्त मरुद्रूपी शस्यकी वाणीरूपी अमृतमें खींचकर विष्णुरूपी कृष्णमेघ शान्त हो गया" (अनुवाद)। वस्तुतः इसमें उपमेयमें उपमानका आरोप अवयवों (अंगों) सहित होता है—"रनित भृंग घण्टावली, झरित दान मधु नीरु। मन्द मन्द आवतु चल्यौ कुंजरु कुंज समीरु" ('वि० र०', ३८८)।

५. एक-देश-विवर्त्ति—सांग रूपकमें आरोप्यमाण विषयका आरोप क्वचित् (एकदेशमें) शब्दोपात्त होता है और क्वचित् अर्थोपात्त, अर्थात् कहीं आरोप शब्द द्वारा किया जाय और कहीं अर्थके बलसे ज्ञात हो। यथा—"लावण्य-रूपी मधुमें पूर्ण इसके आननको लोकलोचनरूपी भ्रमर पीते हैं", यहाँ रूप्यमाण विषय है मुखका पद्मत्व, जिसका आरोप शब्दोपात्त नहीं, प्रत्युत 'लावण्यरूपी मधु'के अर्थसे सिद्ध होता है। अथवा—"तरल मोतीसे नयन भरे! मानससे ले उठे स्नेह घन, कसक विद्युत्पलकोंके हिमकण। सुधि स्वातिकी छाहँ पलककी सीपीमें उतरे" (महादेवी : 'का० द०'से), यहाँ आँसू उपमेयका शब्दसे कथन नहीं है, पर अन्य आरोपोंके द्वारा स्वतः स्पष्ट है।

६. निरंग रूपक- रूपक अलंकारका एक भेद। इसको निरवयव भी कहते हैं। निरंग रूपकमें केवल अंगीका ही आरोप होता है, उसके अंगोंका नहीं। यह भेद दण्डीके अवयवी रूपक भेदमें मिलता-जुलता है। उदाहरण—'वदन पंकज है', इस वाक्यमें वदनके अवयवोंपर पंकजके अवयवोंका आरोप नहीं किया गया। 'निरंग' रूपक दो प्रकारका है—शुद्ध तथा माला, शुद्ध-निरंगको केवलनिरंग भी कहते हैं, एक उपमेयमें अनेक उपमानोंका आरोप माला-रूपक है। शुद्धका उदा०—"वर धामन वाम चढ़ी बरसैं मुसुकानि सुधा घन सार घनी। सखियानके आनन इन्दुन तैं अँखियानकी बन्दनवारि तनी" (देव : 'अ० मं०')। यहाँ मुसक्यानमें सुधाका, आननमें इन्दुका और अँखियानमें बन्दनवारका आरोप है। मालाका उदा०—"ओ चिन्ताकी पहली रेखा, अरे विश्ववनकी व्याली। ज्वाला-मुखी स्फोटके भीषण प्रथम कम्प-सी मतवाली" ('प्रसाद' : 'का० द०'से)। यहाँ चिन्तामें अनेक उपमानोंका आरोप है।

७. परम्परित रूपक—रूपकका एक भेद। प्रतिष्ठापक मम्मटके अनुसार—रूपकके केवल ३ भेद हैं—सांग, निरंग तथा परम्परित। विश्वनाथके अनुसार प्रस्तुतपर अप्रस्तुतका सांग आरोप सांग रूपक या सावयव रूपक है। 'निरंग'में केवल अंगीका ही आरोप होता है, उसके अंगोंका नहीं।

परम्परित भेदमें एक आरोप दूसरे आरोपका कारण होता है—"यत्र कस्यचिदारोपः परारोपस्यकारणम्"('सा० द०', १० : ४३)। उदाहरण—"त्रैलोक्य-मण्डपकी आधार-स्तम्भ हरिकी भुजायें तुम्हारी रक्षा करें" (अनुवाद)। यहाँ त्रैलोक्यमें मण्डपका आरोप करके जो रूपक बना, उसीके कारण भुजाओंमें आधारस्तम्भका आरोप करके परम्परित रूपक हुआ। यह दण्डीके रूपक-रूपकमें अंशतः मिलता-जुलता है।

परम्परित रूपकके २ उपभेद हैं—श्लिष्ट शब्दमूलक तथा भिन्न शब्दमूलक। प्रथममें श्लिष्ट शब्दोंके प्रयोगमें रूपक होता है, द्वितीयमें श्लेषके बिना ही भिन्न-भिन्न शब्दोंमें आरोप होता है। श्लिष्टका उदा०—"सखि! नील नभस्सरमें उतरा यह हंस अहो तरता तरता। अब तारक-मौक्तिक शेष नहीं, निकला जिनको चरता चरता। अपने हिमबिन्दु बचे तब भी चलता उनको धरता धरता। गड जायँ न कंटक भूतलके कर डाल रहा डरता डरता" (मैथिलीशरण गुप्त : 'अ० मं०'से)। इसमें 'हंस' और 'कर' श्लिष्ट शब्द हैं (सूर्य तथा किरण) और इन्हींके कारण अन्य आरोप है। भिन्नका उदा०—"बाडव ज्वाला सोती थी, इस प्रणय-सिन्धुके तलमें। प्यासी मछली-सी आँखें, थीं विकल रूपके जलमें" ('प्रसाद' : आँसू)। इसमें आँखोंमें मछलीका आरोप, रूपमें जलके रूपकका कारण है।

रूपक उपमाके समान सहज सौन्दर्यबोधका अलंकार है। इसका प्रयोग सभी युगोंके श्रेष्ठ कवियोंने अनेक प्रकारसे किया है। सूर, तुलसी तथा जायसीने इसके प्रयोगमें विशेष सफलता प्राप्त की है। जायसीके सांग रूपकोंमें प्रत्येक अंगके सादृश्य या साधर्म्यका क्षेत्र बहुत व्यापक तथा विविध रहता है। वे व्यापक प्रभावका ध्यान रखकर चलते हैं, किसी निश्चित योजनाको लेकर नहीं। सूरके सांग रूपक प्रायः उत्प्रेक्षापुष्ट हैं, जिनके सहारे कवि सजीव और अलौकिक सौन्दर्यको चित्रित करता है।

कार्य-स्थितियोंके वर्णनमें उसने सांग तथा परम्परित रूपकोंका प्रयोग किया है तथा भावाभिव्यक्ति (विरह)में रूपकोंका अत्यन्त व्यंजक तथा स्वाभाविक निर्वाह हुआ है। तुलसीने सांग, निरंग तथा परम्परित रूपकोंका बहुत काव्यात्मक प्रयोग किया है। विस्तृत सांग रूपक बहुत पूर्ण और प्रसिद्ध है (रामकथा, भक्ति, ज्ञान, रामचरितमानस आदिके रूपक)। वीर-काव्यमें रूपकका प्रयोग युद्धवर्णन तथा अन्य युद्ध-सामग्रीके वर्णनमें किया गया है, जिनमें वर्षा, विवाह, तीर्थराज आदि प्रचलित रूपक अधिक है। आधुनिक छायावादी कवियोंमें इनका व्यापक तथा सुन्दर प्रयोग देखा जा सकता है। केवल उपमेय और उपमानके क्षेत्र बदले गये है, अधिक सूक्ष्म और मनोभावात्मक हो गये हैं। भक्तिकालीन कवियोंका सौन्दर्य-बोध रूप-प्रधान ही था। —ओ० प्र०

रूपककथाकाव्य—(एलेगरी) वह कथात्मक प्रबन्ध है, जिसमें प्रस्तुत कथाके भीतर कोई अन्य अप्रस्तुत कथा भी अन्तःसलिलाकी भाँति छिपी रहती है। काव्यमें ही नहीं, कथासाहित्य और नाटकमें भी रूपक कथा होती है। रूपककथाके कई प्रकार होते है और अंग्रेजीमें सबको एलेगरी कहा जाता है। एलेगरीके लिए हिन्दीमें **रूपक, प्रतीक, अन्योक्ति** और **उपमित कथा** शब्दोंका भी प्रयोग होता है। किन्तु यह अनुवाद भ्रामक है। रूपक एक अलंकार है, जिसमें उपमेय और उपमानका अभिन्नत्व दिखाया जाता है, परन्तु एलेगरीमें यह बात नहीं होती। रूपक नाटकका प्राचीन नाम भी है। अतः रूपक काव्यसे नाटक काव्यका भ्रम हो सकता है। इसी कारण कुछ लोगोंने एलेगरीको केवल रूपक न कहकर अध्यवसित रूपक कहा है, जो अधिक उपयुक्त है। प्रतीक (सिम्बॅल) भी एलेगरीमें भिन्न अर्थका बोधक है, यद्यपि एलेगरीमें प्रायः प्रतीकात्मकता भी रहती है। प्रतीकमें प्रस्तुत (वर्ण्य वस्तु) नगण्य होता है, उसका अप्रस्तुत या प्रतीयमान अर्थ ही साध्य होता है। अन्योक्तियाँ प्रायः प्रतीकात्मक ही होती हैं, किन्तु एलेगरीमें कभी-कभी अन्योक्ति नहीं, समासोक्ति होती है, जिसमें प्रस्तुत और प्रतीयमान दोनों अर्थोंका समान रूपमें महत्त्व होता है। चन्द्रबली पाण्डेयने इसे उपमित कथा कहा है ('अनुराग बाँसुरी'की भूमिका)। परन्तु उपमित कथासे दृष्टान्त कथा (पैरबिल)का बोध होता है, जो रूपककथासे भिन्न काव्यरूप है (दे० 'दृष्टान्त काव्य')। अतः अंग्रेजीके एलेगरी शब्दमें जो व्यापकता है, वह हिन्दीके रूपक, प्रतीक अन्योक्ति या उपमितकथा शब्दोंमें नहीं है। ये शब्द अलग-अलग और सीमित अर्थके द्योतक हैं। अध्यवसित रूपकसे कथात्मकताका बोध नहीं होता। अतः वह भी पूर्ण अर्थ व्यक्त नहीं करता। अतएव एलेगरीके लिए हिन्दीमें रूपककथा ही सबसे अधिक उपयुक्त शब्द है।

रूपककथाके निम्नलिखित रूप-भेद प्राप्त होते है—(१) जिसमें पात्र भावनाओं, विचारों या सूक्ष्म अशरीरी तत्त्वोंके मानवीकृत रूप होते हैं, जैसे, संस्कृतमें 'प्रबोधचन्द्रोदय', 'मोहराजपराजय' आदि नाटक और हिन्दीमें 'प्रसाद'का 'कामना' नामक नाटक। ऐसी रूपककथामें चरित्र-चित्रण, घटनाओंकी योजना आदिमें यथार्थता या स्वाभाविकता नहीं होती, क्योंकि उसके पात्र ही मानवीकृत होते है और मानवीकरण अपने-आपमें एक अयथार्थ व्यापार है। (२) जिसमें पात्र मानवीकृत तो नहीं होते, पर प्रतीकात्मक अवश्य होते है। मानवीकरणमें प्रस्तुत और प्रतीयमान एक ही होते हैं, अर्थात् प्रवृत्ति, भावना या सूक्ष्म तत्त्व आदि नाम ही पात्रका नाम होता है। परन्तु प्रतीकात्मक पात्रमें पात्रका नाम चाहे जो भी हो, वह पात्र अपने गुणों या कार्यों द्वारा किसी प्रतीयमान तत्त्व या प्रवृत्तिका प्रतिनिधित्व करता है। ऐसी रूपककथामें पात्र ही नहीं, अधिकांश घटनाएँ और वर्ण्य वस्तुएँ भी प्रतीकात्मक या सांकेतिक होती है, इस प्रकारकी रूपककथाएँ भी दो तरहकी होती है—(क) अन्योक्ति-मूलक, जिसमें प्रस्तुत कथा गौण या व्यर्थ और अप्रस्तुत कथा प्रधान होती है और (ख) समासोक्तिमूलक, जिसमें प्रस्तुत और अप्रस्तुत, दोनों कथाएँ समान महत्त्वकी होती है। किन्तु इसमें यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक घटना या वस्तु प्रतीकात्मक या सांकेतिक ही हो। उसमें अप्रस्तुत या प्रतीयमान कथा भी आद्यन्त नहीं मिलती, बीच-बीचमें ही मिलती है। जायसीका 'पद्मावत' समासोक्तिमूलक 'रूपककथा'-काव्य है। (३) जिसमें पात्र मानवेतर प्राणी या जड़ पदार्थ होते है। वे पात्र मानव-भाषा बोलते, समझते और मानवोंमें बातचीत करते दिखाये जाते है। 'पंचतन्त्र' और ईसपकी 'पशु-कथाएँ' (बीस्ट फेबिल्स) ऐसी ही है। धार्मिक या आध्यात्मिक तत्त्वनिरूपण या नैतिकता और व्यवहार-कुशलताका उपदेश देना ही इनका उद्देश्य होता है। हिन्दीमें 'प्रसाद'के 'एक घूँट' और सुमित्रानन्दन पन्तके 'ज्योत्स्ना' नामक नाटकोंमें इसी ढंगकी रूपककथाएँ है, क्योंकि उनमें वृक्षों और जड़ वस्तुओंको भी मानवीकरण करके पात्र बनाया गया है। ऐसी कथाओंमें स्वाभाविकता और यथार्थ जीवनका अभाव दिखाई पड़ता है। (४) जिसमें पात्र तो यथार्थ मानव होते है और घटनाएँ भी स्वाभाविक होती है, परन्तु उसका समग्र प्रभाव गूढार्थव्यंजक और सांकेतिक होता है। उसमें कवि पात्रोंके जीवनका ऐसा मनोवैज्ञानिक और यथार्थ चित्र उपस्थित करता है और ऐसी घटनाओं और परिस्थितियोंका चुनाव करता है कि पूरी कथा मानव-जीवनसे सम्बन्धित किसी सूक्ष्म सत्य या महत्त्वपूर्ण घटनाकी ओर संकेत करती प्रतीत होती है। यह संकेत पूरी कथाके समन्वित प्रभावमें अधिक प्रतिफलित होता है; कथाके अवयवोंमें उतना नहीं। वेबरने 'वाल्मीकि-रामायण'की कथाको इसी प्रकारकी रूपककथा माना है। वैदिक और पौराणिक साहित्यमें इस प्रकारकी सांकेतिक या रूपकात्मक कथाएँ बहुत मिलती है। 'प्रसाद'के महाकाव्य 'कामायनी'की कथा भी इसी प्रकारकी रूपककथा है।

रूपककथा जब किसी प्रबन्ध-काव्यके माध्यमसे अभिव्यक्त होती है तो उस काव्यको रूपककथात्मक काव्य (एलेगॉरिकल पोइट्री) कहा जाता है। अंग्रेजीमें स्पेन्सरका 'फेयरी क्वीन' और ब्राउनिंगका 'आइडिल्स ऑव द किंग' इसी प्रकारके रूपकथात्मक महाकाव्य माने जाते है। हिन्दीके मध्यकालीन प्रेमाख्यानक काव्योंमें प्रायः सभी रूपक-

कथात्मक काव्य है, जिनमें सर्वप्रमुख जायसीका 'पद्मावत' है। कुछ लोगोंने तुलसीके 'रामचरितमानस'में भी रूपक-कथा खोजनेका प्रयास किया है। आधुनिक कवियोंमें 'प्रसाद'की 'कामायनी' भी रूपककथात्मक महाकाव्य ही है। —शं० ना० सि०

रूपककाव्य–दे० 'रूपककथाकाव्य'।

रूपकातिशयोक्ति–दे० 'अतिशयोक्ति', पहला भेद।

रूपगर्विता–दे० 'गर्विता', नायिका।

रूपघनाक्षरी–मुक्तक दण्डकका एक भेद। इसमें ३२ अक्षर होते हैं और १६, १६पर यति तथा अन्तमें लघुगुरु होते हैं। भानुने 'छन्दप्रभाकर' (पृ० २१८)में 'छन्दोविनोद'का उद्धरण दिया है, जिसके अनुसार ८, ८, ८, ८पर विश्राम होना लिखा है। बात वही है। मनहरण छन्दकी ही भाँति रूपघनाक्षरी वृत्त भी ब्रजभाषा कविताका प्रिय छन्द रहा है। केशवदासने इसमें चतुराक्षर शब्दोंका प्रयोग अत्यन्त सुन्दरताके साथ किया है, पर वह मात्र प्रयोग है ('कविप्रिया', पृ० २१९)। ब्रजभाषाके प्रायः सभी कवियोंने इस वृत्तका प्रयोग किया है। उदा०—"ब्रजकी कुमारिका वे लीने सुक सारिका, पढ़ावै कोक कारिकानि केसव सबै निबाहि"। विशेषके लिए दे० 'घनाक्षरी'। —ह० मो०

रूपमाला १–मात्रिक सम छन्दका एक भेद। भानुके अनुसार प्रत्येक चरणमें २४ मात्रा तथा अन्तमें ग ल (ऽ।) रहता है। इसका अन्य नाम मदन भी दिया गया है। इस छन्दका उपयोग पद-शैलीमें प्रायः मिलता है। सूर, तुलसी तथा मीराँने इसका प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त केशव (रा० चं०) तथा रघुराज (रा० स्व०)में यह छन्द मिलता है। शोभन छन्द और इसमें विशेष अन्तर नहीं है, क्योंकि अन्तमें ग लके स्थानपर जगण (।ऽ।) होता है। इसी कारण प्रायः इनका एक साथ प्रयोग होता है। सूरके इस छन्दमें ऐसा ही है—"तनक दै री माइ माखन, तनक दै री माइ। तनक करपर तनक रोटी, माँगत चरन चलाइ" (सू० सा०, सभा सं०, पद ७८४)।

रूपमाला २–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। हिन्दीमें मात्रिक रूपमाला (ऽ। ऽऽ × ३ + ऽ।) बहुत प्रचलित है। केशवने इस छन्दका वर्णिक प्रयोग किया है। 'प्राकृतपैंगलम्'(२ : ८९)के इस नामके छन्दसे यह भिन्न है (तीन मगण)। र, स, ज, ज, भ, ग, लके योगसे यह वृत्त बनता है (ऽ।ऽ, ।।ऽ, ।ऽ।, ।ऽ।, ऽ।।, ऽ।)। उदा०—"रावरे मुखको विलोकत ही भये दुख दूरि। सुप्रलापन ही रह्यो उर मध्य आनँद पूरि" (रा० चं०, २३ : ७)। —पु० शु०

रूह–सूफियोंके मतानुसार आत्माके दो भेद हैं—रूह और नफ्स। रूह सद्वृत्तियोंका उद्गमस्थल है। यह विवेकके द्वारा परिचालित होती है। रूह आत्माको ऊपरकी ओर ले जाती है। परमात्मा सम्बन्धी वृत्तियोंका यह वासस्थान है। परमात्माका प्रेम रूहका ही विषय है। इसमें बुराई नहीं आ सकती। इब्नुल फरीदने रूहको अमर कहा है। जीलीके अनुसार परमात्माने अपनी ज्योतिसे रूहकी सृष्टि की और फिर उससे जगत्का निर्माण किया। हुजवीरीका कहना है कि रूह और शरीर दो अलग-अलग पदार्थ हैं और परमात्मा इन दोनोंको एकत्र करता है। (दे० 'नफ्स')। —रा० पू० ति०

रेख़ता–रेखता शब्द फारसी मूल 'रेखतन्'से बना है, जो फारसीमें अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त होता है। (१) बनाने, ईजाद करने, (२) किसी चीजको कालिबमें ढालने या नयी वस्तु बनाने, (३) उपयुक्त बनाने या मौजूँ करने आदि इसके अर्थ हैं। शेरानीके अनुसार जहाँ खुसरूने ईरानी और भारतीय छन्दःशास्त्रके समन्वयसे अनेक नयी चीजें तैयार कीं, वहाँ उन्होंने रेखताका भी आविष्कार किया। जिसमें फारसी ख्याल हिन्दीके मुताबिक हों और जिसमें दोनों जबानोंके सख्द एक राग और एक तालमें बँधे हों, उसको रेखता कहते हैं। इस प्रकार रेखता छन्द या गीतकी एक नयी शैली थी, जिसमें फारसी और हिन्दी मिसरे ताल और रागके ऐतबारसे छन्द होते थे—यथा "ज़ेहाल मिस्कीं मकुन तगाफुल दुराय नैना बनाय बतियाँ" (खुसरू)। अकबर-कालीन फारसी कवि सादी भी (१५९६ ई०) रेखतासे गीत-का अर्थ लेते हैं—"सादी कि गुफ्तः रेख़तः दर रेखतः दुर रेखतः। शीरो शकर आमेखतः हम रेखतः हम गीत है"। यही दक्षिणमें इस शब्दके प्रथम प्रयोक्ता कहे जा सकते हैं। रेखता हिन्दी छन्दोंमें भी पहुँच गया था। कबीर आदि निर्गुण सन्तोंने रेखते लिखे हैं, जो मध्यकालीन खड़ीबोली-में हैं और जिनमें फारसी-अरबीके प्रचलित शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं।

धीरे-धीरे छन्दके क्षेत्रसे निकलकर यह शब्द ऐसी पद्य-शैलीके लिए प्रयुक्त होने लगा, जिसमें दो भाषाओंका मिश्रण हो। इस प्रकार रेखताका अर्थ मिश्रित भाषाके लिए होने लगा। शेख वाजिन्द, जमाल, सादी आदिने रेखता शब्दका यही अर्थ लिया है, यथा—"अँखियाँने झड़ लगाया ससवा करेंगी, आखिर, दर दा कि राज़ पिनहाँ ख्वाहिद शुदा सतरारों" (ख्वाजा हाफिज, १२वीं सदी हि०)। दक्खिनी-के कवियोंने अपनी भाषाको हिन्दी, हिन्दवी, गूजरी, दकनी कहा जो उत्तरकी खड़ी बाँगरूका ही रूप है। जब पद्यकी भाषामें फारसी तुर्कीके भी मिलने लगी, तब इस प्रकारके पद्यके लिए रेखता शब्दका प्रयोग होने लगा—"वली तुझ हुस्नकी तारीफमें जब रेखता बोले"। यही अर्थ लेकर रेखता दकनसे उत्तर आया। वलीसे प्रेरणा प्राप्त करके फारसीका गाढ़ा रंग देकर फारसीदाँ मुसलमान कवियोंने रेखताको, जो अभीतक केवल पद्यके लिए प्रयुक्त होता था, 'ज़बान उर्दू-ए-मुअल्ला' बना दिया। रेखता और उर्दू कुछ दिनोंतक समानार्थकसे चले। उर्दूके हातिम (१७४६ ई०) मीर, सौदा, गालिबतकने इस शब्दका प्रयोग किया है, किन्तु धीरे-धीरे इसके स्थानमें उर्दू शब्द प्रचलित हो गया।

हिन्दीके गद्य-लेखक लल्लूलालने अपनी भाषाके तीन वर्ग किये—(१) खड़ीबोली, (२) ब्रजभाषा, (३) रेखतेकी बोली (उर्दू)। मुंशी दुर्गाप्रसाद 'रेखते'का मानी 'गिरे हुए'से लेते हैं। स्वर्गीय आजादके अनुसार "इस जबानको रेखता कहते हैं, क्योंकि मुखतलिफ जबानोंने इसे रेखता किया, जैसे दीवारको ईंट, मिट्टी, चूना, सफेदी वगैरह पुख्तः करते हैं या रेखताके माने हैं गिरी-पड़ी परेशान चीज, क्योंकि इसमें अलफाज परेशान जमा हैं, इसलिए इसे रेखता कहते हैं"।

मूलतः रेख़ता खड़ीबोलीका ही विकसित रूप है। हिन्दुओंके रेख़तोंमें केवल खड़ीबोलीका ढाँचा है। १७वीं शतीके बाद उत्तरी भारतमें मुसलमानोंके रेख़ते खड़ीबोली और फ़ारसी तरकीबके मिश्रित रूपमें हैं। —मा० व० जा०

रेखाचित्र—रेखाचित्र कहानीसे मिलता-जुलता साहित्य-रूप है। यह नाम अंग्रेज़ीके 'स्केच' शब्दकी नाप-तोलपर गढ़ा गया है। स्केच चित्रकलाका अंग है। इसमें चित्रकार कुछ इनी-गिनी रेखाओं द्वारा किसी वस्तु, व्यक्ति या दृश्यको अंकित कर देता है—स्केचमें रेखाओंकी बहुलता और रंगोंकी विविधतामें अंकित कोई चित्र नहीं है, न वह एक फोटो ही है, जिसमें नन्ही-से-नन्ही और साधारण-से-साधारण वस्तु भी खिंच आती है। साहित्यमें जिसे रेखाचित्र कहते हैं, उसमें भी कम-से-कम शब्दोंमें कलात्मक ढंगसे किसी वस्तु, व्यक्ति या दृश्यका अंकन किया जाता है। इसमें साधन शब्द हैं, रेखाएँ नहीं। इसीलिए इसे **शब्दचित्र** भी कहते हैं। कहीं-कहीं इसका अंग्रेज़ी नाम **स्केच** भी व्यवहृत होता है।

रेखाचित्र किसी व्यक्ति, वस्तु, घटना या भावका कम-से-कम शब्दोंमें मर्मस्पर्शी, भावपूर्ण एवं सजीव अंकन है। कहानीसे इसका बहुत अधिक साम्य है—दोनोंमें क्षण, घटना या भाव विशेषपर ध्यान रहता है, दोनोंकी रूप-रेखा संक्षिप्त रहती है और दोनोंमें कथाकारके नरेशन और पात्रोंके सलापका प्रसंगानुसार उपयोग किया जाता है। इन विधाओंके साम्यके कारण अनेक कहानियोंको भी रेखाचित्र कह दिया जाता है और इसके ठीक विपरीत अनेक रेखाचित्रोंको कहानीकी संज्ञा प्राप्त हो जाती है। कहीं-कहीं लगता है, कहानी और रेखाचित्रके बीच विभाजन-रेखा खींचना सरल नहीं है। उदाहरणके लिए, श्री रायकृष्णदास लिखित 'अन्तःपुरका आरम्भ' कहानी है, पर वह आदिम मनुष्यकी अन्तःवृत्तिपर आधारित रेखाचित्र भी है। श्री रामवृक्ष बेनीपुरीका पुस्तक 'माटीकी मूरतें'-में संकलित 'रजिया', 'बलदेव सिंह', 'देव' आदि रेखाचित्र कहानियाँ भी हैं। श्रीमती महादेवी वर्मा लिखित 'रामा', 'घीसा' आदि रेखाचित्र कहानी भी कहे जाते हैं। कहानी और रेखाचित्रमें साम्य है अवश्य, पर जैसा कि शिप्लेके विश्व साहित्य कोशमें कहा गया है, रेखाचित्रमें कहानीकी गहराईका अभाव रहता है। दूसरी बात यह भी है कि कहानीमें किसी-न-किसी मात्रामें कथात्मकता अपेक्षित रहती है, पर रेखाचित्रमें नहीं।

व्यक्तियोंके जीवनपर आधारित रेखाचित्र लिखे जाते हैं, पर रेखाचित्र जीवनचरित नहीं है। जीवनचरितके लिए यथातथ्यता एवं वस्तुनिष्ठता अनिवार्य है। इसमें कल्पनाके लिए अवकाश नहीं रहता, लेकिन रेखाचित्र साहित्यिक कृति है—लेखक अपनी भावना एवं कल्पनाकी तूलिकासे ही विभिन्न चित्र अंकित करता है। जीवनचरितमें समग्रताका भी आग्रह रहता है, इसमें सामान्य एवं महत्त्वपूर्ण सब प्रकारकी घटनाओंके चित्रणका प्रयत्न रहता है, लेकिन रेखाचित्रकार गिनी-चुनी रेखाओं, गिनी-चुनी महत्त्वपूर्ण घटनाओंका ही उपयोग करता है। इन बातोंसे यह भी स्पष्ट है कि रेखाचित्र आत्मकथा और संस्मरणसे भी भिन्न अस्तित्व रखता है।

रेखाचित्रकी विशेषता विस्तारमें नहीं, तीव्रतामें होती है। रेखाचित्र पूर्ण चित्र नहीं है—यह व्यक्ति, वस्तु, घटना आदिका एक निश्चित दृष्टिबिन्दुसे प्रस्तुत किया गया प्रतिबिम्ब है, जिसमें विवरणकी न्यूनताके साथ-साथ तीव्र संवेदनशीलता वर्तमान रहती है। इसीलिए रेखाचित्रांकनका सबसे महत्त्वपूर्ण उपकरण है, उस दृष्टिबिन्दुका निर्धारण, जहाँसे लेखक अपने वर्ण्य-विषयका अवलोकन कर उसका अंकन करता है। इस दृष्टिसे व्यंग्य चित्र और रेखाचित्रकी कलाएँ बहुत समान हैं। दोनोंमें दृष्टिकी सूक्ष्मता तथा कम-से-कम स्थानमें अधिक-से-अधिक अभिव्यक्त करनेकी तत्परता परिलक्षित होती है। रेखाचित्रके लिए संकेत सामर्थ्य भी बहुत अवश्य है—रेखाचित्रकार शब्दों और वाक्योंसे परे भी बहुत कुछ कहनेकी क्षमता रखता है। रेखाचित्रके लिए उपयुक्त विषयका चुनाव भी बहुत महत्त्वपूर्ण है—इसकी विषय-वस्तु ऐसी होती है, जिसे विस्तृत वर्णन और रंगोंकी अपेक्षा न हो और जो कुछ ही रेखाओंके संघातसे चमक उठे। चाँदनी रातमें ताजमहलकी शोभाको रेखाचित्रमें बाँधा जा सकता है, पर शाहजहाँ और मुमताज-महलकी प्रेमकथाको रेखाचित्रकी सीमामें बाँध सकना कठिन काम है।

रेखाचित्रके लिए विषयका बन्धन नहीं रहता, सब प्रकारके विषयोंका इसमें समावेश हो सकता है। मूल चेतनाके आधारपर रेखाचित्रोंको अनेक वर्गोंमें रखा जा सकता है—संस्मरणात्मक, वर्णनात्मक, व्यंग्यात्मक, मनोवैज्ञानिक आदि।

हिन्दीमें अनेक लेखकोंने रेखाचित्र लिखे हैं। इस क्षेत्रके कुछ महत्त्वपूर्ण नाम हैं—बनारसीदास चतुर्वेदी : 'रेखाचित्र', महादेवी वर्मा : 'अतीतके चलचित्र', 'स्मृतिकी रेखाएँ' और 'शृंखलाकी कड़ियाँ', रामवृक्ष बेनीपुरी : 'माटीकी मूरतें' तथा 'गेहूँ और गुलाब', प्रकाशचन्द्र गुप्त : 'पुरानी स्मृतियाँ और नये स्केच तथा रेखाचित्र', कन्हैयालाल मिश्र, 'प्रभाकर' : 'भूले हुए चेहरे' आदि। —सि० कु०

रेख्ती—पर्देकी रस्मके कारण पुरुष और स्त्रियोंकी सोसायटी अलग-अलग हिस्सोंमें बँट गयी थी। इसीके प्रभावसे स्त्रियोंकी बोली ऐसी हो गयी थी, जिसमें उनके मुहावरे अलग हो गये थे और उनकी बोलचालका ढंग भी पुरुषोंसे अलग हो गया था। उसको बेगमाती ज़बान कहते थे। लखनऊमें जब शायरीका ज़ोर हुआ और लोगोंको नयी-नयी चीज़ें सूझने लगीं तो 'रंगीन'ने बेगमाती ज़बानमें शेर कहने शुरू किये। उर्दूको रेख़ता कहते थे। इसलिए बेगमाती ज़बानकी शायरीको इसका स्त्रीलिंग बनाकर रेख़्ती कहने लगे। इसमें वक्ता सदैव स्त्री ही होती है और उसीकी ओर-से वर्णन किया जाता है। 'रंगीन'की यह नयी शायरी देखकर 'इन्शा'ने भी रेख़्तियाँ लिखीं। इनके अतिरिक्त मिरज़ा अलीबेग 'नाज़नी', मीर यार अली 'जान साहब', बेगम आदि रेख़्तीके प्रसिद्ध कवि हैं। बेगमोंकी विशेष बोली इकट्ठा और सुरक्षित करनेका रेख़्तीने बड़ा सफल काम किया। इनके पढ़नेसे लखनऊकी सभ्यताकी अगणित ऐसी बातें मालूम होती हैं, जो साहित्यके किसी और रूपमें नहीं

मिलती। इस कालमें नवाबोंका लखनऊ भोग-विलासमें ऐसा डूबा हुआ था कि रेख्तीका झुकाव भी इसी ओर हो गया। इसलिए गजलकी तरह भावनाओंके मधुर चित्र इसमें नहीं मिलते। उदाहरणार्थ—'है डियालीने मिवा आजका दिन आजकी रात, घरमें निकलो न जरा आजका दिन आजकी रात। तीसरे दिन नहीं जाते हैं किसीके घरसे, और रह जाओ तुआ आजका दिन आजकी रात। सुब्हको देखा है मुँह शाम बरनका मैंने, घरमें काटे खुदा आजका दिन आजकी रात"; "डोली मँगाके उनके घर आप हूँ मैं जाती, गैरोंके हाथ वाजी भेजूं पयाम कबतक"; "मगलका दिन है साहब हो जायगी वह दुबली, बच्चीको मेरी देखो मारो न तुम थपेडे" तथा "देकली दिलको हुई नौज मैं पहनूँ गजरे, फूलोंके बोझसे दुखने लगे जानियाँ गजरे"। —म०

रेडियो डाकुमेण्ट्री–दे० 'रेडियो रूपक'।

रेडियो नाटक–रेडियो द्वारा प्रसारणार्थ लिखित नाटक रेडियो नाटक कहा जाता है। चूंकि यह मात्र श्रव्य होता है, अतः इसे श्रव्य नाटक भी कहते हैं और चूंकि इसमें ध्वनिकी प्रधानता होती है, अतः ध्वनि नाटक भी कहते हैं। पर रेडियो नाटक अथवा रेडियो नाट्य नाम ही अधिक प्रचलित एवं व्यवहृत है। इसकी संक्षिप्त रूपरेखाके कारण इसे **एकांकी** समझ लिया जाता है, पर ऐसा समझना निराधार है (दे०—'एकांकी')। रेडियो नाटकके सम्बन्धमें अंकका प्रश्न नहीं उठता। इसमें एक दृश्य भी रह सकता है, अनेक दृश्य भी हो सकते हैं। दृश्योंपर भी किसी प्रकारका बन्धन नहीं है, दो पंक्तियोंका भी दृश्य हो सकता है, दो सौ पंक्तियोंका भी। पंच अंकीय नाटकोंको भी रेडियो नाटक बनाकर प्रसारित किया जाता है। कुछ लोग इसे **रेडियो रूपक**का पर्याय समझते हैं, पर रेडियो रूपक रेडियो नाटकके अनेक प्रकारोंमेंसे एक है (दे०—'रेडियो रूपक')।

प्राचीन आचार्योंने जिस स्वरूपविधानको **दृश्य** कहा था, वह रेडियो नाटकके रूपमें मात्र श्रव्य हो गया है। साधनों एवं माध्यमके परिवर्तनके कारण रेडियो नाटक **रंगमंच-नाटक**से अनेक बातोंमें भिन्न है। रंगमंच-नाटक दृश्य भी है और श्रव्य भी। वह आंगिक अभिनयकी भी कला है, वाणीकी भी। उसमें वातावरण एवं परिस्थितियोंको सूचित करनेवाले दृश्य-साधन उपलब्ध हैं, पात्रोंके व्यक्तित्वके सूचक परिधान, अलंकरण, मुद्रा आदि प्राप्त हैं, पर रेडियो नाटक इनसे पूर्णतः वंचित है। रंगमंचपर एक साथ ही अनेक पात्रोंकी उपस्थिति होनेपर भी पात्रों एवं उनके क्रिया-कलापोंका परिचय दर्शकोंके लिए कोई समस्या नहीं बनता, पर रेडियो नाटकमें क्षण-क्षण इन बातोंपर ध्यान देनेकी आवश्यकता होती है, जिससे श्रोताओंके लिए वह सहज बोधगम्य हो सके। दृश्यतत्त्वके अभावमें रेडियो नाटकमें पात्रोंकी संख्या कम होती है, जिससे वे सरलतासे पहचाने जा सकें। इसी कारण उसका कथानक अपेक्षाकृत सरल होता है। स्पष्ट है कि रेडियो नाटक अधिक लम्बे नहीं हो सकते। आध घण्टेका रेडियो नाटक आदर्श कहा जा सकता है। दस-पन्द्रह मिनटके नाटक भी काफी लोकप्रिय होते हैं। एक घण्टेसे अधिकके नाटक प्रायः प्रसारणीय नहीं होते। क्रमशः प्रसारित होनेवाले नाटक भी साधारणतः पन्द्रहसे तीस मिनटके होते हैं। लेकिन जहाँ रेडियो नाटकपर इतने बन्धन हैं, वहाँ उसमें रंगमंचीय नाटकोंकी तुलनामें कुछ सुविधाएँ भी प्राप्त हैं। इसमें संकलनत्रयका कोई बन्धन नहीं है। रेडियो नाटककी घटनाएँ बड़ी सरलतासे उत्तरी ध्रुवसे दक्षिणी ध्रुव तथा गौतम बुद्धके कालसे गान्धीयुगतककी यात्रा कर सकती हैं, केवल एक बातको ध्यानमें रखकर कि प्रभावकी अन्विति सदा बनी रहे और नाटक अपने समग्र रूपमें श्रोताओंको प्रभावित कर सके। साथ ही रेडियो नाटक मनोवैज्ञानिक चित्रणकी अनेक सुविधाएँ प्रदान कर नाटककारके लिए पात्रोंके मनकी गहराईमें भी उतर सकना सरल बना देता है। अतः जहाँ रंगमंचकी सीमाओंके कारण रंगमंचीय नाटक केन्द्रमुखी होकर सघनताकी ओर ही जानेका प्रयास करता है, वहाँ रेडियो नाटक विस्तारमें भी जा सकता है, गहराईमें भी। उसमें एक साथ ही सामाजिक जीवनकी विविधरूपिणी यथार्थता भी अंकित हो सकती है, अन्तरको उद्वेलित करनेवाले द्वन्द्व भी अंकित हो सकते हैं। गतिशील दृश्योंका संयोजन भी बहुत अंशोंतक रंगमंचकी परिधिके बाहर है, पर रेडियो नाटकके लिए यह बहुत सुकर है। दृश्यान्तर या दृश्यपरिवर्तन भी रेडियोके लिए बहुत आसान है। वाद्य-संगीत, ध्वनिप्रभाव या शान्तिके द्वारा उसमें बड़ी सरलतासे दृश्यान्तर सूचित कर दिया जाता है। रंगमंचपर सब प्रकारके दृश्य भी उपस्थित नहीं किये जा सकते, पर रेडियो नाटकमें समुद्रकी उत्ताल तरंगोंपर डूबती-उतराती नौका भी चित्रित की जा सकती है, कारखानोंमें काम करते हुए मजदूर भी दिखाये जा सकते हैं। रंगमंचपर अस्वाभाविक लगनेवाले प्रतीकात्मक पात्र भी सजीव स्वाभाविक प्राणी बन जाते हैं, भाव और विचार भी मानव-शरीर धारण कर लेते हैं तथा हास्यास्पद जैसे लगनेवाले मानवीकृत जड़-पदार्थ भी प्राणवन्त हो उठते हैं। सुमित्रानन्दन पन्तकी 'ज्योत्स्ना'के पात्र रेडियोपर जितने स्वाभाविक लगेंगे, उतने रंगमंचपर नहीं। रंगमंचका अस्वाभाविक स्वगत-कथन भी माइक्रोफोनके स्पर्शसे पूर्णतः स्वाभाविक हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जहाँ दृश्य-साधनोंके अभावके कारण रेडियो नाटककी अनेक सीमाएँ हैं, वहीं इसे अनेक प्रकारकी सुविधाएँ भी प्राप्त हैं।

रेडियो नाटकका आधार ध्वनि है। ध्वनि भावाभिव्यक्तिका बहुत बड़ा साधन है। हम एक ही शब्दको भिन्न-भिन्न प्रकारसे उच्चारित करके प्रेम, घृणा, क्रोध आदि विभिन्न भावनाओंकी अभिव्यक्ति प्रतिदिन ही अपने व्यावहारिक जीवनमें करते हैं। रेडियो नाटकमें ध्वनिका उपयोग जिन तीन रूपोंमें होता है, वे हैं भाषा, ध्वनिप्रभाव और संगीत।

भाषाका जो स्वरूप हमारे पढ़ने-लिखनेके नहीं, बोलने और सुननेके काम आता है, वही रेडियो नाटकका मूल आधार है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि रेडियो नाटककी भाषा सरल, स्वाभाविक, भावाभिव्यंजक और अभिनेताओं द्वारा आसानीसे बोली जा सकनेवाली होनी चाहिये। रेडियो नाटकमें भाषाका व्यवहार दो रूपोंमें

होता है—१. **कथनोपकथन** या संलापके रूपमें और २. **नैरेशन** या प्रवक्ताके कथनके रूपमें । नैरेशनसे तात्पर्य नाटकके उस अंशसे होता है, जिसमें पात्र नाटकके क्रिया-कलापका वातावरण निर्मित करता है, आवश्यक विवरण देता है, घटनाओंकी श्रृंखला जोड़ता है अथवा घटनाओंकी आलोचना करता है । इंग्लैण्डकी प्रसारण-संस्था बी० बी० सी०मे ऐसे पात्रका व्यवहार पहली बार १९२७में सिसिल लिविसने 'लार्ड जिम' उपन्यासके रूपान्तरमें किया था । ऐसे पात्रको **नैरेटर, सूत्रधार, प्रवक्ता, वाचक, वाचिका, निरूपक, प्रसारक, कथाकार, आलोचक, उद्घोषक, स्वर, स्त्री-स्वर, पुरुष-स्वर** आदि नाम दिये जाते है। इनमेसे **नैरेटर, प्रवक्ता, वाचक** और **स्वर** नाम अपेक्षाकृत अधिक व्यवहृत होते है । ऐसे पात्रोंका काम नाटककी उन बातोंको कहना होता है, जो कथनोपकथनके अन्तर्गत नही आ पाती । **रेडियो रूपक**में नैरेटर कुछ बहुलतासे आते है, पर रेडियो नाटकमें वह जितना ही कम आये, नाटक उतना ही कलात्मक समझा जाता है । यह अवश्य है कि उसकी उपस्थिति-अनुपस्थिति बहुत अंशोतक नाट्य-विशेष एवं उसके प्रकारपर भी निर्भर होती है । नैरेटर दो प्रकारके होते है—१. वे नैरेटर, जिनके व्यक्तिगत जीवनका नाटककी घटनाओंमे कोई सम्बन्ध नही होता । वे नाटकके क्रिया-कलापके तटस्थ दर्शक एवं प्रवक्ता होते है । २. वे नैरेटर, जो नाटकके पात्र होते है और जिनके जीवनकी घटनाएँ नाटकसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखती है । ऐसे नैरेटरको पात्र नैरेटर भी कहते है । उदाहरणके लिए, यदि कोई पात्र-अपने जीवनकी कथा बीच-बीचमें नाटकीय प्रसंगोंके लिए स्थान छोड़कर सुनाता है, तो वास्तवमे पात्र नैरेटर ही है । ऐसे नैरेटरको कभी-कभी पहचान सकना कठिन भी होना है ।

ध्वनिका तात्पर्य है रेल, तूफान, वर्षा, बादल, आदिकी ध्वनियाँ, जिनका व्यवहार नाटक प्रसारित करते समय किया जाता है । ध्वनिप्रभाव और वाद्य-संगीतकी आवश्यकता पात्रोंके कार्योंके लिए पृष्ठभूमि एवं वातावरण-निर्माण, भावाभिव्यंजन, दृश्यान्तर, देश-काल-परिचय आदिके लिए होती है । इनके द्वारा नाटकमें सजीवता एवं प्रभावोत्पादकता आती है ।

शिल्पकी दृष्टिसे रेडियो नाटकके मुख्य भेद ये है—रेडियो नाटक, रेडियो रूपक, रेडियो रूपान्तर, रेडियो फैण्टेसी या अतिकल्पना, मोनोलॉग या स्वगत नाट्य या एकपात्रीय नाटक, संगीत रूपक और झलकियाँ ।

रेडियो नाटककारका काम केवल नाट्य-लेखन है, अभिनेताओंको उचित निर्देश देकर, उनसे रिहर्सल कराकर उसे अन्तिम रूपमें प्रसारित करनेका काम **प्रोड्यूसर** करता है । कुछ लोग उसे **निर्देशक** या **संचालक** भी कहते हैं । प्रसारणके समय नाटकके अपेक्षित स्थलोंपर ध्वनिप्रभावका नियोजन **ध्वनि-संयोजक** करता है ।

हिन्दीमें रेडियो नाटकको प्रारम्भ हुए अभी बहुत दिन नहीं हुए । सर्वप्रथम नाटक ऑल इंडिया रेडियो, दिल्ली केन्द्रसे सन् १९३६में प्रसारित हुआ था । वह भी मौलिक नाटक नहीं, रंगमंचके लिए लिखित एक बँगला नाटकका अनुवाद था । बंगालमें चूँकि रंगमंच-परम्परा पहलेसे थी, वहाँ नाटकोंका प्रसारण १९२८से ही प्रारम्भ हो गया था । उस समय ऑल इंडिया रेडियोकी स्थापना नही हुई थी । वे नाटक भी रंगमंचके ही होते थे और तीन-तीन घंटेतक प्रसारित किये जाते थे । वास्तवमें, नया माध्यम होनेके कारण इस क्षेत्रमें सब जगह पहले प्रयोग ही हुए, पहले रंगमंच-नाटक ही रेडियो द्वारा प्रसारित किये गये । इंग्लेण्डमें भी जो पहला नाटक रेडियो द्वारा प्रसारित हुआ था, वह शेक्सपीयरके 'जूलियस सीजर'का एक दृश्य था । अपने पूर्ण रूपमे प्रसारित होनेवाला पहला नाटक शेक्सपीयरका 'ट्वेल्थनाइट' था, जिसका प्रसारण २८ मई, १९२३ ई०को हुआ था । १९२६ ई०तक बड़े-बड़े नाटकोंके प्रसारणके पहले रंगमंच-नाटकोके दृश्य-संकेतोंकी तरह चार-पाँच मिनटकी भूमिकाएँ होती थीं । फिर बादके अनुभवोसे ज्ञात हुआ कि रेडियो नाटक रंगमंच नाटकसे बिलकुल भिन्न है, और तब १९२७में सिसिल लिविस द्वारा रूपान्तरित कांरेडके उपन्यास 'लार्ड जिम' और उसके कुछ ही पहले रेडियोके लिए विशेष रूपसे लिखित रिचर्ड ह्यूजेजके मौलिक रेडियो नाटक 'डेंजर'के प्रसारणसे रेडियो नाटक रंगमंच-नाटकसे भिन्न स्वतन्त्र अस्तित्व प्राप्त कर सका । हिन्दी क्षेत्रने भी अपने अनुभवोसे यह समझा कि रेडियो नाटक रंगमंच-नाटकसे भिन्न है और जागरूक लेखको द्वारा रेडियो नाटक लिखे जाने लगे । रेडियो नाटक प्रगतिपर है और दो प्रकारसे इसका विकास हो रहा है । एक ओर रेडियोके लिए मौलिक नाटक लिखे गये है और दूसरी ओर देशी-विदेशी प्रसिद्ध रंगमंच-नाटकों, कहानियो और उपन्यासोके रेडियो रूपान्तर प्रस्तुत किये जा रहे है ।

[सहायक ग्रन्थ—रेडियो नाटक : हरिश्चन्द्र खन्ना; रेडियो नाट्य शिल्प : सिद्धनाथ कुमार; दि रेडियो प्ले : फेलिक्स फेलन; दि राइट वे टु रेडियो प्ले राइटिंग : वाल जीलगुड; रेडियो थियेटर : वाल जीलगुड; रेडियो प्लेज एण्ड हाउ टु राइट देम : चार्ल्स हैटन; हाउ टु राइट फॉर रेडियो : जेम्स ह्विप्ले; क्रिस्टोफर कोलम्बस : लुई मैक्नीस; फाइव रेडियो प्लेज—इण्ट्रोडक्शन : वाल जीलगुड ।]

—सि० कु०

रेडियो नाट्य—दे० 'रेडियो नाटक' ।

रेडियो नाट्य रूपान्तर—दे० 'रेडियो रूपान्तर' ।

रेडियो फीचर—दे० 'रेडियो रूपक' ।

रेडियो फैंटेसी—रेडियो फैण्टेसी रेडियो नाटकका एक प्रकार है । इसे अतिकल्पना भी कहते है । फैण्टेसीका अर्थ है कल्पना और रेडियो फैण्टेसीमे काल्पनिक चित्रणकी प्रधानता रहती है । काल्पनिकता तो सभी नाटकोंमें होती है, लेकिन यहाँ काल्पनिक चित्रण एक विशेष अर्थमें प्रयुक्त किया जा रहा है । यथार्थ जगत्में जिन घटनाओंका होना सम्भव नही है, उन्हें रेडियो फैण्टेसीमें घटित होते चित्रित किया जाता है और उनके द्वारा किसी प्रभावशाली विचार या मार्मिक अनुभूतिकी अभिव्यक्ति की जाती है । इसमे अलौकिक और मानवेतर प्राणी भी आवश्यकतानुसार पात्र-रूपमें आते है । रंगमंचपर फैण्टेसीको प्रस्तुत करना कुछ

कठिन है और प्रस्तुत होनेपर उसके अस्वाभाविक लगनेकी सम्भावना भी है, पर रेडियोपर फैण्टेसी बिलकुल स्वाभाविक लगती है। हिन्दीमें रेडियो फैण्टेसीकी रचना अभी बहुत कम हुई है। —सि० कु०

रेडियो मोनोलॉग–दे० 'रेडियो स्वगत नाट्य'।

रेडियो रूपक–रेडियो रूपक **रेडियो नाटक**के अनेक भेदोंमेंसे एक है। प्राचीन नाट्यशास्त्रके **रूपक**से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। वास्तवमें रेडियो रूपक शब्द अंग्रेजीके **रेडियो फीचर**के लिए व्यवहृत किया जा रहा है; यद्यपि यह कह सकना कठिन है कि फीचरका अनुवाद रूपक क्यों, कब और कैसे कर लिया गया। अब तो फीचर के लिए रूपक शब्द रूढ़ हो गया है।

बी० बी० सी०में फीचर नाम डाकुमेण्ट्री 'यथातथ्य सूचनाओंपर आधारित रचना'के लिए व्यवहृत होता है। लगभग पच्चीस वर्ष पहले बी० बी० सी०में फीचर नामकी रचनाएँ नहीं होती थीं, लेकिन बी० बी० सी०का नाटक-विभाग रेडियो टेकनीकके सम्बन्धमें नये-नये प्रयोग करता रहा है। उसे विशेष अवसरोंके लिए विशेष कार्यक्रमोंका आयोजन करना पड़ता, ठीक वैसे ही, जैसे स्वाधीनता-दिवस, रवीन्द्र-दिवस, प्रसाद-जयन्ती आदि विशेष अवसरोंके लिए ऑल इण्डिया रेडियोके विभिन्न स्टेशनोंसे विशेष कार्यक्रम आयोजित किये जाते हैं और जिस प्रकार इन विशेष कार्यक्रमोंकी सूचनाएँ रेडियो हाइलाइट या 'विशेष कार्यक्रम' शीर्षकोंसे समाचारपत्रोंमें दी जाती है, उसी प्रकार बी० बी० सी०की विशेष कार्यक्रमोंकी सूचनाएँ पत्रोंमें निकलती थीं। इन कार्यक्रमोंको सामान्य कार्यक्रमोंकी अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया जाता था और इन्हें 'फ़ीचर्ड प्रोग्राम' कहते थे। बोलचालमें 'ड'का लोप हो गया और ये फीचर प्रोग्राम कहे जाने लगे। पहले फीचर प्रोग्रामका अर्थ वहाँ विशेष कार्यक्रम ही था, लेकिन धीरे-धीरे उसके अन्तर्गत वे सभी रचनाएँ आने लगीं, जो रेडियो टेकनीककी दिशामें कुछ नये प्रयोगोंके लिए लिखी जाती थीं। इन प्रयोगशील कार्यक्रमोंका झुकाव कल्पना-प्रधान रचनाओंकी ओर कम, तथ्यप्रधान रचनाओंकी ओर अधिक था। उन्हीं दिनों ग्रेट ब्रिटेनमें **डाकुमेण्ट्री** फिल्मोंका विकास हुआ और रेडियो प्रोग्रामोंसे सम्बद्ध कुछ व्यक्ति उनका अनुकरण करने लगे। वे आवाजको रिकार्ड करनेवाली मशीनोंके द्वारा यथातथ्य घटनाओंके रिकार्ड तैयार कर लेते और उन्हींके आधारपर नाटकीय रचनाएँ लिखकर प्रसारित करते। ये नये प्रकारकी रचनाएँ, जिन्हें **रेडियो डाकुमेण्ट्री** कहा जाता, बड़ी आकर्षक थीं। फलतः इस दिशामें अनेक प्रयोग होते रहे और अब तो इनकी टेकनीक इतनी विकसित हो चुकी है कि बी० बी० सी०में नाटक-विभागसे पृथक इनके लिए अपना एक स्वतन्त्र विभाग ही है।

अंग्रेजीके प्रसिद्ध कवि एवं नाटककार लुई मेकनीसने, जो बी० बी० सी०से सम्बद्ध भी हैं, फीचरको वास्तविकताका नाटकीकृत रूप कहा है। वास्तविकताका मतलब यहाँ वास्तविक घटनाओं एवं तथ्योंसे है। lawrence gillian, जिनकी गिनती बी० बी० सी०के आलेख-रूपकोंके प्रवर्त्तकोंमें होती है, कहते हैं कि रूपक तथ्यपर आधारित होता है, नाटक कल्पनापर। यदि रूपककार दामोदर नदीकी योजनापर कोई रूपक लिखना चाहे, तो उसे उस योजनामें लगे हुए लोगों तथा उस क्षेत्रमें रहनेवालोंके विचार उन्हींके शब्दों और उन्हींकी आवाजमें प्राप्त करने होंगे। यह काम उन लोगोंसे बातचीत करके और उसका रिकार्ड तैयार करके किया जायगा और उन्हीं रिकार्डोंके आधारपर एक सजीव, मनोरंजक एवं नाटकीय रचना प्रस्तुत की जायगी। रेडियो रूपकोंमें सब प्रकारकी वास्तविकताओंका नाटकीकृत रूप उपस्थित किया जा सकता है। जिस प्रकार वास्तविकताओंकी कोई सीमा नहीं है, उसी प्रकार रूपकोंकी भी कोई सीमा नहीं है।

रेडियो रूपक वास्तवमें एक स्वतन्त्र कला है, जो नाटक आदिके स्वरूपविधानोंसे पूर्णतः पृथक् है। एच० आर० विलियम्सनका तो कहना है कि रेडियोके पास यदि कोई अपनी कला है, जिसका निर्माण केवल रेडियोने किया है, तो वह रूपक है। रेडियोसे प्रसारित की जानेवाली अन्य रचनाएँ तो बहुत अंशतक पहलेसे उपलब्ध रचनाओंके रूपान्तरस्वरूप हैं।

साधनोंके अभावमें रेडियो रूपककी कलाका हिन्दीमें अभी विकास नहीं हो सका है, यद्यपि उस ओर प्रयत्न किये जा रहे हैं। तथ्यप्रधान रूपक प्रसारित अवश्य किये जाते हैं, लेकिन उनमें तथ्य सम्बन्धी रिकार्डोंका व्यवहार नहीं होता। तथ्यप्रधान ऐसी सामान्य रचनाओंको भी रेडियो रूपक ही कहा जाता है। इनसे पृथक्ता प्रदर्शित करनेके लिए उन रूपकोंको, जिनमें रिकार्डोंका पर्याप्त व्यवहार होता है और जो सही अर्थमें रेडियो फीचर या रेडियो डाकुमेण्ट्री कहे जा सकते हैं, **आलेखरूपक** या **वस्तुरूपक** कहा जाने लगा है। आलेखरूपक नाम अधिक प्रचलित है। —सि० कु०

रेडियो रूपांतर–रेडियोके श्रव्य माध्यमके लिए रंगमंच-नाटकों, कहानियों और उपन्यासोंके परिवर्तित स्वरूप-विधानको रेडियो रूपान्तर कहते हैं। इन रचनाओंको श्रव्य माध्यमके उपयुक्त बनानेके लिए कुछ आवश्यक परिवर्तनोंके द्वारा इन्हें रेडियो नाटक बना दिया जाता है। जिन कहानियों और उपन्यासोंमें नाटकीय तत्व नहीं होते, उनमें भी नाटकीय तत्वोंका समावेश करके ही सफल रेडियो रूपान्तर प्रस्तुत किये जाते हैं। नाटकीयताकी अनिवार्यताके कारण ही कुछ लोग रेडियो रूपान्तरको **रेडियो नाट्य रूपान्तर** कहते हैं। यह नाम भी सैद्धान्तिक दृष्टिसे ठीक है, पर रेडियो रूपान्तर नाम ही अधिक प्रचलित एवं व्यवहृत है। ऑल इण्डिया रेडियोके विभिन्न केन्द्रोंसे अनेक सफल रेडियो रूपान्तर प्रसारित हुए हैं और हो रहे हैं, पर प्रकाशित रूपमें इने-गिने ही मिलेंगे।

[सहायक ग्रन्थ— रेडियो नाटक : हरिश्चन्द्र खन्ना।] —सि० कु०

रेडियो वार्त्ता–रेडियोके आविष्कारने जिन अनेक नये साहित्य-रूपोंको जन्म दिया है, उन्हींमेंसे एक रेडियो-वार्त्ता है। अंग्रेजीमें इसे रेडियो-टॉक कहते हैं। इसे रेडियो-बातचीत भी कहा जाता है।

रेडियो-वार्त्ता निबन्धके बहुत निकट होती है, पर

निबन्धमें। इसमें अनेक भिन्नताएँ हैं। यह मात्र श्रव्य है। यह लिखित होकर भी मुद्रणके लिए नहीं, प्रसारणके लिए होती है, आँखोंके लिए नहीं, कानोंके लिए होती है, पढ़नेके लिए नहीं, सुननेके लिए होती है। फलतः किसी श्रव्य रचनाकी सभी विशेषताएँ इसमें अपेक्षित होती हैं। किसी लिखित निबन्धको पाठक एकसे अधिक बार भी पढ़ सकता है, पर रेडियो-वार्त्ता श्रोताको एक ही बार सुननेको मिलती है। इसलिए सरलता, स्पष्टता और बोधगम्यता रेडियो-वार्त्ताके लिए अनिवार्य है। केवल अपने शब्दोंके द्वारा रेडियो-वार्त्ता श्रोताओंकी मानसिक दृष्टिके सम्मुख निश्चित चित्र उपस्थित कर सके, इसके लिए इसमें चित्र-निर्माणकी शक्ति भी अपेक्षित है। बी० बी० सी०के प्रसिद्ध प्रसारण-कर्त्ता लियोनेल गेमलिनके शब्दोंमें—"रेडियो द्वारा प्रस्तुत ध्वनिचित्र चित्रशालाके चित्रोंकी तरह गतिहीन नहीं होते, बल्कि बड़े गतिशील होते हैं, श्रोताके सामने एक क्षणके लिए आते हैं और फिर विदा हो जाते हैं, श्रोता उन्हें दुबारा नहीं देख सकता; फलतः उन्हें बिलकुल स्पष्ट होना चाहिए"। इसके अतिरिक्त रेडियो-वार्त्तामें विषय-वस्तुका क्रमिक विकास बहुत ही तर्कसंगत और सुसम्बद्ध होना चाहिए, क्योंकि श्रोताओंकी स्मरण शक्तिपर भी इसे ध्यान रखना होता है। साहित्यका लिखित रूप स्मरण-शक्तिका सहायक होता है, पर रेडियो-वार्त्तामें इस सुविधाका अभाव है। आलोचक रोजर मैनवेल्के अनुसार "प्रसारित वार्त्ता श्रुत रूपमें, श्रोताके विचार-प्रवाहमें एक-एक वाक्य करके रहती है और उसके बाद विस्मृत होती हुई स्मृतिकी टेढ़ी-मेढ़ी राहोंमें प्रवेश करती है। फलतः वार्त्ताकी समाप्तिपर सामान्य श्रोताके लिए वार्त्ताके प्रारम्भ और विकासके विषयमें निश्चित रूपसे कुछ कह सकना कठिन होता है"। श्रोताकी इस मनोवैज्ञानिक अक्षमतापर रेडियो-वार्त्ताको ध्यान देना पड़ता है।

कुछ लोग रेडियो-वार्त्ताको 'रेडियो-भाषण' भी कहते हैं, पर प्रत्यक्ष भाषणसे रेडियो-वार्त्ता भिन्न होती है। प्रत्यक्ष भाषणमें वक्ता सभामें उपस्थित समूहसे बातें करता है, व्यक्तियोंसे नहीं। प्लेटफार्मसे अलग-अलग व्यक्तियोंसे बातें करना सम्भव है ही नहीं। रेडियो-वार्तामें एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिसे ही बातें करता है, यह दूसरी बात है कि यह दूसरा व्यक्ति अलग-अलग बैठे हुए हजारों व्यक्तियोंका अंग होता है। निष्कर्षतः रेडियो-वार्त्तामें व्यक्ति-व्यक्तिके बीचका आत्मीय सम्बन्ध अपेक्षित रहता है। साथ ही, चूँकि रेडियो-वार्त्ता एक व्यक्ति प्रसारित करता है, इसमें उसकी वैयक्तिकताकी अभिव्यक्ति अनिवार्य मानी जाती है। जैनेट डनबर कहते हैं—"प्रसारणमें सम्भवतः सबसे बड़ी चीज वैयक्तिकता ही है"।

रेडियो-वार्त्ता मात्र श्रव्य होनेके कारण भाषित शब्दोंकी शक्ति और सम्भावनाओंका पूर्णतः उपयोग करती है। इसकी भाषा पुस्तकोंकी निर्जीव भाषा नहीं, प्रत्यक्ष सम्भाषणकी सजीव भाषा होती है। इसके लिए ऐसी प्राणवन्त शैलीकी अपेक्षा होती है, जिसके शब्द बोलते हैं, चित्र-निर्माण करते हों, जो श्रोताओंको अपने सौन्दर्यके प्रति आकृष्ट न कर अपने भीतर उफनते भावों-विचारोंके प्रति आकृष्ट करते हों, जिसके वाक्योंमें गति हो, प्रवाह हो, लयात्मकता हो, सप्राणता हो।

[सहायक ग्रन्थ—द रेडियो-टॉक : जैनेट डनबर; यू आर आन-द एयर : लियोनेल गेमलिन; गुड लिस्निंग : एल्कन ऐण्ड डोरोथियन एलन; ब्राडकास्टिंग : हिल्डा मैथिसन।] —सि० कु०

रेडियो स्वगत नाट्य–रेडियो स्वगत नाट्य रेडियो नाटकका एक प्रकार है। इसे एकपात्री नाटक और रेडियो मोनोलॉग भी कहते हैं। इसमें कोई कथोपकथन नहीं होता। प्रारम्भसे अन्ततक केवल एक ही व्यक्ति अपनी कहानी कहता है तथा अपनी भावनाओंको अभिव्यक्त करता है। कथोपकथनका नितान्त अभाव होनेके कारण इसे नाटक कहनेमें संकोच होता है, लेकिन नाटकमें अपेक्षित द्वन्द्व स्वगत नाट्यमें भी होता है, भले ही यह द्वन्द्व पात्रविशेषके अन्तर्जगत्का ही हो। नाटकके अन्तर्गत इसे रखनेका यही आधार है। जब इसे नाटक कहा जाता है, तब तात्पर्य केवल यह होता है कि स्वगतनाट्यमें नाटकका अपेक्षित द्वन्द्व है और वह पढ़नेके लिए नहीं, अभिनयके लिए लिखा जाता है तथा कोई कुशल अभिनेता उसे नाटकीय ढंगसे प्रस्तुत कर श्रोताओंको प्रभावित कर सकता है।

[सहायक ग्रन्थ—रेडियो नाट्य शिल्प : सिद्धनाथ कुमार।] —सि० कु०

रोपनी–वर्षा ऋतुमें धानके बीज किसी खेतमें घने बो दिये जाते हैं। जब धानके पौधे कुछ बड़े हो जाते हैं, तब उन्हें उस खेतसे उखाड़कर दूसरे खेतोंमें थोड़ी-थोड़ी दूरपर 'रोप' (गाड़) दिया जाता है। इस समय जो गीत गाये जाते हैं वे 'रोपनी'के नामसे प्रसिद्ध हैं। यह कार्य प्रायः मुसहर तथा चमार लोगोंकी स्त्रियाँ करती हैं।

खेतमें पानी लगा है। कभी-कभी ऊपरसे जलवृष्टि भी हो रही है। नीचे भी जल और ऊपर भी जल। ऐसे समयमें मुसहरिनें धानके हरे पौधोंको लेकर खेतमें रोपती जाती हैं और कलकण्ठसे अमृतकी वर्षा करती जाती हैं। इन गीतोंको सुनकर श्रोताओंका हृदय रससिक्त हो जाता है।

गार्हस्थ्य जीवनका मधुर चित्रण इन गीतोंका प्रधान वर्ण्य विषय है। इनमें कहीं ससुरालके कष्टोंका सजीव चित्र उपलब्ध होता है तो कहीं पति-पत्नीका घनिष्ठ प्रेम। कोई पति परदेश गया हुआ है। इसी बीच उसकी स्त्री अपने मायके चली जाती है। जब वह परदेशसे लौटता है, तब अपनी स्त्रीको घरमें न पाकर बड़ा दुःखी होता है। वह मनिहारीका भेष धारण कर उसे खोजने निकल पड़ता है और अन्तमें अपने लक्ष्यकी सिद्धि प्राप्त करता है।

सोहनीके गीतोंकी भाँति रोपनीके गीत भी बड़े सरस और मनोरम होते हैं। —कृ० दे० उ०

रोमांच–दे० 'सात्त्विक अनुभाव', तीसरा।

रोमांचवादी आलोचना (romantic criticism)—यह एक प्रकारकी स्वच्छन्द आलोचना-प्रणाली है, जो शास्त्रीय नियमोंकी कट्टरताके विरोधमें प्रचलित हुई है। सोलहवीं शताब्दीमें अरस्तूके शास्त्रीय नियमोंका कट्टरतासे आग्रह होने लगा, तब सिन्थियो जेराल्डीने रोमांचक स्वच्छन्दताको साहित्यालोचनके लिए उपयुक्त घोषित

किया। पैट्रीजीने इस बातपर जोर दिया कि काव्यके लिए विषय-वस्तुकी विशेषता आवश्यक नहीं है, काव्यमय शैलीमें उसका निरूपणमात्र होना चाहिये। काव्यमय शैली, शैलीके अनुसार, कल्पनामूलक अभिव्यक्ति है, क्योंकि वह मानवकी जन्मजात प्रवृत्ति है। कल्पनाके द्वारा ही अमूर्त भाव मूर्त रूप धारण करते हैं। रोमांचवादीकी दृष्टिमें साहित्यकी सृष्टि अन्तस्तलमें सुप्त आनन्दको जाग्रत् करनेके उद्देश्यसे होती है। वह लोककी प्रकृत भावनाओंको लोकभाषामें व्यक्त करना चाहता है। वह साहित्यकी बद्ध रूढियोंकी लीकपर नहीं चलना चाहता। वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज और हैजलिट रोमांचवादी माने जाते हैं। वर्ड्सवर्थकी 'लीरिकल बैलेड्स'की भूमिकाके प्रकाशनसे रोमांचवादी आलोचनाका प्रारम्भ होता है, कालरिज, टी० एस० ईलियटके शब्दोंमें आंग्ल साहित्यका आलोचक है, वह जर्मनीके सौन्दर्यवादियोंसे प्रभावित था। उसने भी रोमांचक आलोचना-शैलीको प्रचारित किया (दे० हिस्ट्री ऑव माडर्न क्रिटिसिज्म (द्वितीय भाग) : रेनेवैलेक; बायाग्राफिका लिटरेरिआ : कालरिज)। जहाँतक साहित्य-शास्त्रकी नियमबद्धताके विरोधका प्रश्न है, रोमांचवादी समीक्षा प्रभाववादी आलोचनाका अनुसरण करती है। महादेवीकी 'मैं सजग चिर साधना ले' शीर्षक गीतकी आलोचना देवराजने इन शब्दोंमें की है—"कवयित्रीकी आत्मा जीवनके विशिष्ट दिव्य क्षणोंमें, या यों कहिये, अपनी उन्मुक्तावस्थामें सत् और चिन्मय तत्त्वके साथ तादात्म्यकी अनुभूतिमें अनुप्राणित हो उठी। उसे समझमें आया, अबतक मैं कितनी भूलमें थी। यदि हम दुनियाको और इसकी सारी हलचलको अपने प्रियसे मिलाकर देखें तो कहाँ दुःख, कहाँ ससीम और असीम। सारा विश्व एक आनन्दोल्लाससे थिरकता-सा दिखलाई पड़ेगा। वह मौलिक सत् पदार्थ, जिसे आत्माने अपनी उन्मुक्तावस्थामें देखा था, उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति इसी रूपमें हो सकती थी, जिस रूपमें वह काव्य-शरीर धारण कर खड़ी है" (रोमेण्टिक साहित्यशास्त्र)। हिन्दीमें रोमांचवादी नामक विशिष्ट नामसे कोई आलोचना-प्रणाली प्रचलित नहीं हुई, प्रभाववादी समीक्षामें ही वह समाविष्ट हो गयी है। —वि० मो० श०

रोमांटिसिज्म—रोमाण्टिसिज्म अथवा स्वच्छन्दतावाद सामान्यतः एक प्रवृत्तिविशेषका द्योतक शब्द है। यह प्रवृत्ति किसी-न-किसी कालमें प्रायः सभी साहित्योंमें परिलक्षित होती है। इस प्रवृत्तिकी मान्य परिभाषा है—"साहित्यिक उदारवाद ही रोमाण्टिसिज्म है," अर्थात् प्राचीन शिष्ट तथा क्लैसिक परिपाटीके विरोधमें उठ खड़ी होनेवाली विचारधाराको रोमाण्टिसिज्म कहा जाता है।

एक सामान्य प्रवृत्तिका नाम होनेपर भी रोमाण्टिसिज्म शब्दका विशिष्ट प्रयोग १९वीं शतीके अंग्रेजी काव्यके लिए होता है, जिसके प्रमुख कवि थे वर्ड्सवर्थ, शैली, कीट्स, बायरन तथा काउपर। रोमाण्टिसिज्मकी विशेषताएँ हैं—उसका गहरा तथा आध्यात्मिक स्तरका प्रकृति-प्रेम, एक व्यापक तथा उदार मानवतावादमें विश्वास तथा काव्यकी मुक्त तथा स्वच्छन्द अभिव्यक्ति-प्रणाली।

१८वीं शतीके अंग्रेजी साहित्य नव-शास्त्रवादने अतीतके साहित्यको अपना आदर्श मानकर साहित्यिक नियमादिका निर्माण किया। इन लोगोंने अपने नूतन उत्साहमें साहित्य-की आत्माको उपेक्षित रखा। फलतः नियम, टेकनीक, रचना-पद्धति आदिमें उलझकर वे रह गये। वे यह भूल गये कि पाँचवीं शतीका साहित्य अपने युग एवं परिवेशमें निर्मित हुआ था और उन समस्त सम्भावनाओंको अपने युगमें एकत्र कर लेना असम्भव है। अतः परिणाम यह हुआ कि इस कालके साहित्यिक ग्रीक साहित्यके मुखापेक्षी हो गये। इसलिए परम्परा-समर्थित साहित्यमें रसज्ञता या रस-निष्पत्तिपर जोर दिया गया, जो सामान्य होती है, विशेष नहीं।

१७८९ ई०की फ्रांसकी राज्यक्रान्तिकी तिथि महत्त्वपूर्ण है। रूसो रोमाण्टिक धाराका प्रथम प्रतिनिधि था। स्वातन्त्र्यकी लालसा एवं बन्धनोंका त्याग उसका मुख्य आग्रह था। प्राचीन धर्म, परम्परागत सामाजिक संस्कार आदि समाप्त हुए और रोमाण्टिसिज्मका जन्म हुआ। साहित्यको सीमा, नियम, आदर्श, उद्देश्य आदिसे निकालकर व्यापक बनाया गया। साहित्य जीवनकी तरह ही गतिशील है तथा युग एवं परिवेशके अनुकूल परिवर्तनशील। इसका बोध होते ही साहित्यकारोंने परम्पराके प्रति विद्रोह किया तथा अनुकरणके बदले आन्तरिक प्रेरणाको महत्त्व दिया। फिलिप सिडनीकी 'एन एपोलोजी फॉर पोयट्री', 'डिफेन्स ऑव पोयट्री' तथा कालरिजकी 'बायाग्राफिका लिटरेरिआ' आदि पुस्तकें इसी कोटिमें आयेंगी। बर्गसाँ, क्रोचे, फ्रॉयड और मार्क्सने आगे चलकर साहित्यके इसी गत्यात्मक स्वरूपका समर्थन किया।

संस्कृत साहित्यमें ऐसा बँटवारा नहीं हुआ है, पर रसवादियों तथा ध्वनिवादियोंको हम इसके अन्तर्गत मान सकते हैं। फिर भी इस कथनका महत्त्व बाह्यवादियोंकी तुलनामें ही है, क्योंकि वक्रोक्ति, रीति, अलंकारवाले जहाँ साहित्यके बाह्य स्वरूपके सम्बन्धमें रूढ है, वहाँ रसवादी तथा ध्वनिवादी भावोंके सम्बन्धमें। इसलिए संस्कृत साहित्यशास्त्रमें ऐसी विचार-प्रणाली उपलब्ध नहीं है।

हिन्दीमें अवश्य ही इसका महत्त्वपूर्ण इतिहास उपलब्ध है। २०वीं शतीके प्रारम्भमें ही रीतिकाल तथा द्विवेदी-युगके विरुद्ध छायावादका उदय हुआ। छायावादी कवि अंग्रेजीके स्वच्छन्दतावादी आन्दोलनसे प्रभावित थे। इन लोगोंके विद्रोहका आधार वैयक्तिक स्वतन्त्रता थी।

छायावाद तथा रहस्यवाद अपनी विचार-पद्धति और रूप-विधान, दोनोंके ही लिए रोमाण्टिसिज्मका अत्यधिक ऋणी है। आध्यात्मिक स्तरका प्रकृतिप्रेम, उदार मानवतावाद तथा काव्यकी स्वच्छन्द अभिव्यक्ति-प्रणाली—रोमाण्टिसिज्मकी ये तीनों ही प्रमुख प्रवृत्तियाँ छायावाद तथा रहस्यवादमें मिलती है। रोमाण्टिसिज्मका यह प्रभाव कुछ तो प्रत्यक्ष था और कुछ रवीन्द्रनाथ ठाकुरके माध्यमसे आया था। छायावादी कवियोंमें रोमाण्टिसिज्मसे सबसे अधिक प्रभावित सुमित्रानन्दन पन्त हैं।

[सहायक ग्रन्थ—रोमाण्टिक साहित्यशास्त्र : देवराज उपाध्याय।] —रा० कृ० स०

रोमांस–दे० 'उपन्यास', 'कहानी' (रोमांसिक)।

रोला–मात्रिक सम छन्दका एक भेद। 'प्राकृतपैंगलम्'के अनुसार इस छन्दके प्रति चरणमें २४ मात्राएँ और अन्तमें ग (ऽ) रहता है (१ : ९१)। भिखारीदासने केवल २४ मात्राके चरणका उल्लेख किया है और यति अनियमित बतलायी है (छन्दो०, पृ० ३०) और उनके उदाहरणमें अन्तमें ग (ऽ) भी नहीं है—"त्यों कारे कान्हहिं लखि मनु न तिहारो पागत। हमको तो वाही ते जगत उज्यारो लागत" (वही, ३१)। प्रचलित परम्पराके अनुसार रोलामें ११, १३ पर यतिका विधान है (भानु : छं० प्र०, पृ० ६१)। हिन्दीमें इस छन्दका प्रयोग चन्द (पृ० रा०), सूर (सू० सा०), नन्ददास (रा० पं०), केशव (रा० चं०), सूदन (सु० च०) तथा रघुराज (रा० स्व०) आदिने किया है। यह छन्द प्रत्येक रसमें प्रयुक्त हो सकता है। इसमें वर्णनका सौन्दर्य अधिक हो जाता है। नन्ददासकी 'रासपंचाध्यायी,' 'सिद्धान्तपंचाध्यायी', 'रुक्मिणीमंगल'में इस छन्दके प्रयोगसे वर्णन-सौन्दर्य बहुत अच्छा बन पड़ा है। सूरने वर्णनात्मक अंशोंमें रोलाका अन्य छन्दोंके साथ उपयोग किया है। सूदनने इसमें विवरण दिये हैं, घोड़ोंका वर्णन तथा लूटकी सामग्री। नन्ददासकी दोनों 'पंचाध्यायियाँ' तथा 'रुक्मिणीमंगल' रोला छन्दमें है तथा 'भँवरगीत' और 'श्यामसगाई'में दोहा तथा १० मात्राकी टेकके साथ रोला-का प्रयोग किया गया है। नन्ददास जैसे रोला लिखनेमें सिद्धहस्त कविने भी यतिके नियमके पालनका सदा ध्यान नहीं रखा है। अन्य सभी कवियोंमें यतिका निश्चित अनुसरण नहीं मिलता, इससे स्पष्ट है कि इस विषयमें बहुत निश्चित नियम नहीं रहा है। उदा०—"सुनि पियके रस बचन, सबन रिस छाँडि दयो है। हँसि-हँसि अपने कण्ठनि, लाल लगाइ लियो है" (रा० पं०, प० ४४५-४४६)। इस छन्दमें यतिका नियम ठीक है, पर—"वन्दन करौं कृपानिधान, श्री सुक सुभकारी"—(वही, प० १)में यति १४, १०पर है।

रौद्र रस–काव्यगत रसोंमें रौद्र रसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। भरतने 'नाट्यशास्त्र'में शृंगार, रौद्र, वीर तथा वीभत्स, इन चार रसोंको ही प्रधान माना है, अथच इन्हींसे अन्य रसोंकी उत्पत्ति बतायी है, यथा—"तेषामुत्पत्तिहेतवश्चत्वारो रसाः शृंगारो रौद्रो वीरो वीभत्स इति" (६ : ३८ ग)। रौद्रसे करुण रसकी उत्पत्ति बताते हुए भरत कहते हैं कि रौद्र रसका कर्म ही करुण रसका जनक होता है, "रौद्रस्यैव च यत्कर्म स ज्ञेयः करुणो रसः" (६ : ३९-४१)।

रौद्र रसका स्थायी भाव क्रोध है तथा इसका वर्ण रक्त एवं देवता रुद्र है। भानुदत्तने 'रसतरंगिणी'में लिखा है—"परिपूर्णः क्रोधो रौद्रः सर्वेन्द्रियाणामौद्धत्यं वा। वर्णोऽस्य रक्तो दैवतं रुद्रः", अर्थात् स्थायी भाव क्रोधका पूर्णतया प्रस्फुट स्वरूप रौद्र है अथवा सम्पूर्ण इन्द्रियोंका उद्धत स्वरूपका ग्रहण कर लेना रौद्र है। इसका रंग लाल है तथा देवता रुद्र है। यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि यद्यपि रुद्रका रंग श्वेत माना गया है, तथापि रौद्र रसका रंग लाल बताया गया है, क्योंकि कोपाविष्ट दशामें मनुष्यकी आकृति, क्षोभके आतिशय्यसे रक्त वर्णकी हो जाती है।

केशवदासने 'रसिकप्रिया'में भानुदत्तकी बात दुहरायी है—"होहि रौद्र रस क्रोधमें, विग्रह उग्र शरीर। अरुण वरण वरणत सबै, कहि केसव मतिधीर" (१४-२१)। रामदहिन मिश्रने विभावोंको भी समेटते हुए रौद्र रसकी परिभाषा दी है—"जहाँ विरोधी दलकी छेड़खानी, अपमान, अपकार, गुरुजन-निन्दा तथा देश और धर्मके अपमान आदिसे प्रतिशोधकी भावना जाग्रत् होती है, वहाँ रौद्र रस होता है' (का० द०)।

भानुदत्तके परिपूर्ण क्रोध तथा इस प्रतिशोधमें कोई भेद नहीं है। वास्तवमें क्रोध स्थायीका प्रकाश क्रोधभाजन-के प्रति बदला लेनेकी उग्र भावनामें ही होता है। पण्डित-राज जगन्नाथके अनुसार क्रोध शत्रुविनाश आदिका कारण होता है। प्रसिद्ध मनस्तत्त्वविद् मैकडुगलने क्रोधको युयुत्साकी प्रवृत्तिसे व्युत्पन्न बताया है, जो भारतीय आचार्योंकी स्थापनाओंसे भिन्न नहीं कहा जायगा।

भरत मुनिका कथन है कि रौद्र रस राक्षस, दैत्य और उद्धत मनुष्योंसे उत्पन्न होता है तथा युद्धका हेतु होता है। किन्तु बादमें वे कहते हैं कि अन्य लोगोंमें भी रौद्र रस उत्पन्न होता है, यद्यपि राक्षसोंका इसपर विशेष अधिकार होता है, क्योंकि वे स्वभावसे ही रौद्र अर्थात् क्रोधशील हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे भलाईके बदले बुराई पानेवाले, अनादृत होनेवाले, अपूर्ण या अतृप्त आकांक्षावाले, विरोध सहन न करनेवाले तथा तिरस्कृत निर्धन व्यक्ति क्रोध करते हैं और वे रौद्ररसकी उत्पत्तिके कारण हो सकते हैं। इसी प्रकार क्रोधको उत्पन्न करनेवाले व्यक्ति भी अनेक कोटियोंके हो सकते हैं।

रौद्र रसके परिपाकके लिए क्रोध स्थायीकी आस्वा-द्यताके निमित्त निम्नलिखित अवयवोंकी उपस्थिति अपेक्षित हैं। आलम्बन-विभाव—शत्रु तथा विरोध पक्षके व्यक्ति; उद्दीपन-विभाव—शत्रु द्वारा किये गये अनिष्ट कार्य, अधिक्षेप, अपमान, अपकार, कठोर वचनोंका प्रयोग इत्यादि। अनुभाव—मुख तथा नेत्रका लाल होना, भ्रूभंग, दाँत तथा होठ चबाना, कठोरभाषण, शस्त्र उठाना, गर्जन, तर्जन, विरोधियोंको ललकारना इत्यादि। व्यभिचारी भाव—मद, उग्रता, अमर्ष, चंचलता, उद्वेग, असूया, स्मृति, आवेग इत्यादि।

रौद्र रस एवं वीर रसमें आलम्बन समान होते हैं, किन्तु इनके स्थायी भावोंकी भिन्नता स्पष्ट है। वीरका स्थायी भाव उत्साह है, जिसमें भी शत्रुके दुर्वचनादिसे अपमानित होनेकी भावना सन्निहित है, लेकिन अवज्ञादिसे जो क्रोध उत्पन्न होता है, उसमें 'प्रमोदप्रतिकूलता', अर्थात् आनन्दको विच्छिन्न करनेकी शक्ति वर्तमान रहती है, यथा—"अवज्ञादिकृतः प्रमोदप्रतिकूलः परिमितो मनोवि-कारः क्रोधः" (र० त०)। अतएव इस स्फूर्तिवर्धक प्रमोद अथवा उल्लासकी उपस्थितिके ज्ञानसे वीर रस रौद्रसे पृथक् पहचाना जा सकता है। इसके अतिरिक्त नेत्र एवं मुखका लाल होना, कठोर वचन बोलना इत्यादि अनुभव रौद्र रसमें ही होते हैं, वीरमें नहीं, यथा—"रक्तास्यनेत्रता चात्र भेदिनी युद्धवीरतः" (सा० द०, ३ : २३१)। रौद्र

रसका उदाहरण—"बोरौ सबै रघुबंस कुठारकी धारमें बारन बाजि सरत्थहि। बानकी बायु उडाइ कै लच्छन लक्ष्य करौ अरिहा समरत्थहिं। रामहि बाम समेत पठै बन कोपके भारमें भूंजौ भरत्थहिं। जो धनु हाथ धरै रघुनाथ तो आजु अनाथ करौ दसरत्थहिं" (रा० चं०)। धनुषभंगके प्रसंगमें परशुरामने उक्त वचन कहे हैं। राम, लक्ष्मण इत्यादि विभाव हैं, धनुषका टूटना अनिष्ट कार्य है, जो उद्दीपन-विभाव है। अमर्ष, गर्व, उग्रता इत्यादि व्यभिचारी भाव हैं। गर्वदीप्त कठोर भाषण, जिसमें राम, भरत इत्यादिको ललकारा गया है, अनुभाव है। इन अवयवों द्वारा 'क्रोध' स्थायी भाव परिपुष्ट होकर आस्वादित होता है, अतएव यहाँ रौद्र रस निष्पन्न हुआ है। लेकिन इस पद्यमें रौद्र रसके अवयवोंके रहते हुए भी रौद्र रसकी निष्पत्ति नहीं हुई है—"सत्रुनके कुलकाल सुनी धनुभंग धुनी उठि बेगि सिधाये। याद कियो पितुके बधकौ फरकै अधरा दृग रक्त बनाये। आगे परे धनु-खण्ड बिलोकि प्रचंड भये भृगुटीन चढ़ाये। देखत श्रीरघुनायककौ भृगुनायक बन्दत हौ सिर नाये" (र० मं०, ४, १९८)। यहाँ क्रोधके आलम्बन रामचन्द्र हैं, अधरोंका फड़कना, नेत्रका रक्त होना इत्यादि अनुभाव हैं, पिताके बधकी स्मृति, गर्व उग्रता आदि संचारी भाव हैं। इस प्रकार रौद्र रसके सम्पूर्ण तत्त्व विद्यमान हैं, लेकिन यहाँ क्रोध गौण बन गया है और सभी उपादान परशुरामके प्रति कविके प्रेमभावके व्यंजक बन गये हैं। अतएव प्रस्तुत पद्य मुनिविषयक रति भावका उदाहरण हो गया है और रौद्र रसकी निष्पत्ति नहीं हो सकी है। रौद्र रसका हास्य, शृंगार, भयानक तथा शान्तसे विरोध बताया गया है और वीर एवं मैत्रीभाव कहा गया है।

रासो ग्रन्थोंमें वीर रसके साथ-साथ रौद्र रसके प्रचुर उदाहरण मिलते हैं। 'रामचरितमानस'में लक्ष्मण और परशुराम तथा रावण और अंगदके संवादोंमें रौद्र रसकी भरपूर व्यंजना हुई है। चित्रकूटमें भरतके सेना सहित आगमनका समाचार सुनकर लक्ष्मणने जो भीषण क्रोध व्यक्त किया है, वह भी रौद्र रसका सुन्दर उदाहरण है। केशवदासकी 'रामचन्द्रिका'से रौद्र रसका उदाहरण पहले ही अंकित किया जा चुका है। भूषणकी रचनाओंमें भी रौद्र रसके उदाहरण मिल जाते हैं। वर्तमान कालमें श्यामनारायण पाण्डेय तथा 'दिनकर'की रचनाओंमें रौद्र रसकी प्रभावकारी व्यंजना हुई है। संस्कृतके ग्रन्थोंमें 'महाभारत' तथा 'वीरचरित', 'वेणीसंहार' इत्यादि नाटकोंमें रौद्र रसकी प्रभूत अभिव्यक्ति हुई है। —र० ति०

लक्षक शब्द—काव्यमें प्रयुक्त तीन प्रकारके शब्दोंमें दूसरा। जब वाचकरूप शब्द अपने मुख्य अर्थके बाधित होनेपर रूढ़ि अथवा प्रयोजनके कारण अपने मुख्य अर्थसे सम्बद्ध किसी अन्य अर्थका प्रतिपादन करने लगता है, तब उसे लक्षक अथवा लाक्षणिक शब्द कहते हैं। लक्षक शब्दसे ही लक्षणा-शक्ति या व्यापार प्रतिपादित है और लक्षणा-शक्ति द्वारा लक्षित होनेवाले लाक्षणिक शब्दके अर्थको लक्ष्यार्थ कहते हैं।

लक्षण-लक्षणा—शुद्धा लक्षणाका दूसरा भेद; यहाँ 'लक्षणा'-का अभिप्राय है शब्दोंके मुख्य अर्थका अपने अमुख्य अर्थके लिए अपने आपको इसलिए समर्पित कर देना कि वह अमुख्य अर्थ संगत हो जाय ('परार्थे स्वसमर्पणम्'—का० प्र०, २ : १०)। विश्वनाथके अनुसार "वाक्यके अर्थमें किसी वस्तुके दूसरी वस्तुसे अन्वय (तार्किक) सिद्धिके लिए मुख्यार्थको छोड़कर भिन्न अर्थका ग्रहण किया जाना, लक्षण-लक्षणा है" (सा० द०, २ : ६)। क्योंकि इस लक्षणामें शब्द अपना मुख्य अर्थ छोड़ देता है, अतः इसे जहत्स्वार्था भी कहते हैं। अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यध्वनिमें यही लक्षणा होती है। इसका प्रसिद्ध उदाहरण—'गंगायां घोषः', अर्थात् गंगापर बस्ती है, यहाँ मुख्य अर्थपरित्याग इसलिए है कि अपने अमुख्य अर्थ तटस्थके संकेतको ग्रहण कर सके। गंगा शब्दकी लक्षणा-वृत्ति सर्वथा स्वार्थसमर्पण—अपने अर्थके बिलकुल त्याग देनेके कारण है। विश्वनाथने रूढ़ि लक्षण-लक्षणाका उदाहरण भी दिया है—'कलिंग साहसी'; यहाँ मुख्यार्थका त्याग अमुख्य अर्थकी सिद्धिके लिए है, पर साथ ही यह परम्परासे सिद्ध प्रयोग है। काव्यगत उदा०—"है रिपोर्टमें कलेजा छप रहा, देशके आनन्द-भवनोंने कहा" (का० द०)। यहाँ 'कलेजा' शब्द प्रसंगके अनुरोधसे अपना अर्थ छोड़ देता है और 'दुःखपूर्ण गाथा'-का अर्थ देता है, अतः इसमें लक्षण-लक्षणा है।

लक्षणा-शक्ति—काव्यमें तीन प्रकारके शब्दोंके अर्थ जिन शक्तियों द्वारा व्यक्त होते हैं, उनमेंसे दूसरी शक्ति। लक्षणा वहाँ होती है, जहाँ लक्षक अथवा **लाक्षणिक** (दे०) शब्दका प्रयोग हो। मम्मटके अनुसार—"मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्। अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया" (का० प्र०, २ : ९), अर्थात् मुख्य अर्थके बाधित होनेपर रूढ़ि अथवा प्रयोजनके कारण जिस क्रिया (शक्ति) द्वारा मुख्य अर्थसे सम्बन्ध रखनेवाला अन्य अर्थ लक्षित हो, उसे लक्षणा-व्यापार (शक्ति) कहते हैं। विश्वनाथकी परिभाषा मम्मटसे ली गयी है, केवल 'क्रिया'-के स्थानपर 'शक्ति' शब्दका प्रयोग मिलता है (सा० द०, २ : ५)। शब्द अपने मुख्य अर्थ द्वारा जो अमुख्य अर्थका प्रतिपादन करता है, वह शब्दके आरोपित काल्पनिक व्यापारसे सम्बद्ध है। इसको आरोपित व्यापार इसलिए कहा जाता है कि प्रत्यक्षमें यह मुख्यार्थका व्यापार है और अपने-आपमें अविवक्षित अथवा अन्तर्निहित यह मुख्यार्थ अपनेसे भिन्न, किन्तु किसी-न-किसी सम्बन्धसे सम्बद्ध लक्ष्यार्थ (अमुख्यार्थ)का बोधक हुआ करता है। अमुख्य अर्थका बोध करानेवाले इस शब्दके इस व्यापार-(लक्षणा)को व्यवहित व्यापार कहना संगत है, क्योंकि शब्द और उसके अमुख्यार्थके बीच मुख्यार्थका व्यवधान पड़ता है। इस प्रकार लक्षणाव्यापारकी तीन स्थितियाँ हैं—१. मुख्यार्थका बाध, २. मुख्यार्थका अमुख्यार्थ (लक्ष्यार्थ)-के साथ योग (सम्बन्ध) और ३. रूढ़ि अथवा प्रयोजन।

मम्मटके अनुसार लक्षणाके भेदोपभेद इस प्रकार हैं—लक्षणाके दो भेद—रूढ़ि-लक्षणा तथा प्रयोजनवती; प्रयोजनवतीके दो भेद—गौणी और शुद्धा; गौणीके दो भेद—सारोपा तथा साध्यवसाना; शुद्धाके चार भेद—उपादान, लक्षण, सारोपा, साध्यवसाना और ये छहों भेद गूढ़व्यंग्य और अगूढ़-व्यंग्य, दोनोंमें होते हैं। विश्वनाथने शुद्धाके

समान ही गौणीके भी चार भेद स्वीकार किये है और इस प्रकार गूढ़ तथा अगूढ़-व्यंग्यमें मिलाकर उनकी संख्या १६ है। ये सोलह पदगत तथा वाक्यगतके भेदसे ३२ और धर्मगत तथा धर्मिगत भेदसे ६४ प्रयोजनवती लक्षणाके भेद स्वीकार किये गये है। विश्वनाथने 'साहित्यदर्पण'में रूढि-लक्षणाका विभाजन इस प्रकार किया है—शुद्धा तथा गौणी, पुनः इनके उपादान तथा लक्षण-लक्षणा और इन चारों भेदोके सारोपा तथा साध्यवसाना दोनों प्रकार होनेसे आठ भेद होते है। ये आठों भी कही पदगत और कहीं वाक्यगत होनेसे १६ भेद कहे गये है। 'साहित्य-दर्पण'का विस्तार महत्त्वपूर्ण नही है। प्रमुख भेदोपभेदोको यथास्थान देखा जा सकता है।

लक्षिता (नायिका)–परकीयाकी स्थितिके अनुसार एक भेद; विशेषके लिए दे०—'नायिका-भेद'। सर्वप्रथम भानुदत्तने इसका उल्लेख किया है—जिसका परपुरुष-प्रेम सबपर प्रकट हो जाय—"होत लखाय सखीनकों पियसों जाको प्रेम" (मतिराम : 'रसराज', ७६)। पद्माकरकी परिभाषामें इस प्रकट प्रेमको जानकर 'कहै तिय आन'की शर्त भी है। वस्तुतः यदि प्रेम प्रकट होगा तो उसका वर्णन करना भी अनिवार्य है। नायिकाके इस रूपात्मक वर्णनमें उसकी भावव्यंजना भी छिपी रहती है—"आजु नयनके कजरा औरे भाँति। नागर नेह नवेलिया सुदिने जाति" (बरवै, १७) और उसके द्वारा उसका प्रेम व्यक्त हो जाता है—"बातके बूझन ही मतिराम कहा करिये यह भौंह तनैनी। मूँदि न राखत प्रीति भटू यह गूँदी गुपालके हाथकी बैनी" (रसराज, ७७)। रीतिकाव्यमे इस प्रकारकी सखियोंकी उक्तियोमें परकीयाकी प्रकट उद्विग्नता, अस्तव्यस्तता तथा भावाकुलता व्यंजित हुई है—"मोहि करत कित बाबरी किये दुराव दुरै न। कहे देत रंग रातके रंग निचुरतसे नैन" (बिहारी)।

लक्ष्मी सवैया–दे० 'सवैया', गंगोदकका पर्याय।

लक्ष्य–गोरखनाथने हठयोगकी साधनाके लिए लक्ष्योंकी जानकारीको अनिवार्य बताया है (गोरक्ष पद्धति, पृ० १२)। लक्ष्य दो बताये गये है बाह्य लक्ष्य एवं आभ्यन्तर लक्ष्य। बाह्य लक्ष्योंमें सोलह आधारों (दे० 'आधार') की गणना की जाती है और आभ्यन्तरमे षट्चक्रोकी (दे० 'चक्र')। —रा० सिं०

लघु उपन्यास–अंग्रेजीमें छोटे उपन्यासोंको नॉवेलेटकी संज्ञा दी जाने लगी है। यों तो उपन्यासके जन्मकालसे ही छोटे आकारके उपन्यास लिखे जा रहे है और जहाँ एक ओर ४,००० पृष्ठोंका उपन्यास है, वहाँ दूसरी ओर केवल २०,००० शब्दोमें सम्पूर्ण उपन्यासकी कथा कह दी गयी है (दे० 'उपन्यास')। इन दो अतियोके बीच आकारकी आश्चर्यजनक विविधता कथासाहित्यके इस एक संज्ञावाले रूपमे पायी जाती है। इसी विविधतामेंसे नावेलेट (लघु उपन्याससे या उपन्यासिका) नामसे कथासाहित्यका एक पृथक् रूप पहचानकर निकालनेकी चेष्टा की गयी है। कथासाहित्यका एक अन्य रूप **कहानी** या **छोटी कहानी** भी उपन्याससे छोटे आकारकी रचना है, परन्तु उसकी उपन्याससे भिन्नता केवल इस बातमे नहीं है कि वह उससे बहुत छोटे आकारकी कृति है—वस्तुतः लम्बी-छोटी कहानियाँ (लांग शार्ट स्टोरीज) भी लिखी गयी है – वरन् उसकी भिन्नताका प्रधान कारण उसका स्वतन्त्र कला-विधान है। छोटी कहानीका विकास स्वतन्त्र रूपमें हुआ है, वह छोटे उपन्यासोंमेंसे पृथक् करके नामांकित नही कर ली गयी, जैसा कि नॉवेलेटके सम्बन्धमें हुआ है। आकारकी दृष्टिसे ही देखे तो नॉवेलेट या **उपन्यासिका** अधिकतर उपन्यासोंसे आकारमें लघु और अधिकतर कहानियोसे आकारमें बृहत् कथारूप है, साधारणतया उसका आकार ३०,०००से ५०,००० शब्दोंमे सीमित माना जा सकता है। परन्तु केवल आकारके आधारपर किसी साहित्यका निर्णय करना समीचीन नही है। उपन्यास नामसे प्रचलित असंख्य ऐसी कृतियाँ है, जो आकारमे लघु होती हुई भी लघु उपन्यास इसलिए नहीं कही जा सकती कि उनकी लघुता उनका दोष है, सफल कृति बननेके लिए उनके आकारमें भी वृद्धि आवश्यक थी।

लघु उपन्यास या उपन्यासिकामें कथानक एकात्मक होता है। उसमें उप-कथानक (अण्डर प्लॉट) नही होता तथा प्रासंगिक कथानक (एपिसोड) भी इतने कम और एकान्ततः कथानकके अंगरूप होते है कि वे कथानककी एकात्मकता और संहितिमें व्यवधान न पैदा कर सकें। चरित्र-चित्रण किसी एक पात्र अथवा किसी चरित्रवैशिष्ट्यमे केन्द्रीभूत होता है। देश-काल अथवा वातावरणके विशद और सूक्ष्म चित्रणोंके लिए उसमें स्थान नही होता, वह कथानकके ही अनुरूप, अधिक व्यंजनापूर्ण और सूक्ष्म होता है। उसकी शैलीमे आत्माभिव्यंजनका गुण कहीं अधिक रहता है, उपन्यासकार कथाके किसी-न-किसी पात्रके साथ अधिक महत्त्वपूर्ण सहानुभूतिके साथ एकाकार दिखाई देता है। उसकी संवेदना अधिक तीव्र और भावात्मक होती है। उपन्यासकी गति अन्तिम परिणति या उद्देश्य-सिद्धिकी ओर अधिक सीधी और द्रुत होती है। निश्चय ही लघु उपन्यास जीवनका खण्डचित्र उपस्थित करता है और इस खण्डचित्रका फलक अपेक्षाकृत छोटा होता है, उसमें विवरणोंकी संकुलता भी अधिक नही हो सकती। इन्हीं विशेषताओंके परिणामस्वरूप इस प्रकारके उपन्यासका आकार छोटा होता है। अतः लघु उपन्यासका लघु होना उसके अपने विशिष्ट शिल्प-विधानका अनिवार्य परिणाम है।

लघु उपन्यासकी एक बहुत बडी विशेषता यह है कि लेखककी आत्माभिव्यक्ति अधिक वैयक्तिक होती है। बृहत् उपन्यासकी भाँति वह केवल कल्पनाके आधारपर नहीं लिखा जा सकता, उसमें चित्रित जीवनखण्डकी किसी-न-किसी रूपमें साक्षात् अनुभूति आवश्यक है। तभी लेखक अपनी कृतिमें भावनाकी वह तीव्रता ला सकता है, जो लघु उपन्यासके लिए आवश्यक है। प्रायः लघु उपन्यास किसी व्यक्तिगत मार्मिक अनुभूतिसे प्रेरणा पाकर रचा जाता है, जैसा कि गेटेने लोट ब्रफके गम्भीर प्रेमकी स्मृतिसे प्रेरित होकर 'सॉरोज ऑव वर्थर' नामक लघु उपन्यास लिखा था। उसने स्वयं स्वीकार किया है कि "मेरी व्यक्तिगत अनुभूतियोने इसे जन्म दिया है"। इसी प्रकार बेंजामिन

कांस्टैण्टको 'एडाल्फ' नामक लघु उपन्यास लिखनेकी प्रेरणा अपने एक घनिष्ठ मित्रसे प्राप्त हुई थी। अतः लघु उपन्यास-का लेखक कहीं अधिक निकटताके साथ आत्म-परिचय दे देता है। उसमें स्वयं उसके भाव और विचार अधिक प्रभावशाली रूपमें व्यक्त होते हैं।

लघु उपन्यास किसी एक प्रेरणासे लिखा जाता है, अतः उसमें एक ही भावनाकी प्रमुखता रहती है। उसके कथानक-की एकात्मकता और संहितिमें भी इसी कारण इतनी सघनता होती है कि उसमें वर्णन-विस्तारके लिए कोई स्थान नहीं रहता। पात्रोंकी संख्या उसमें कम-से-कम होती है तथा उसमें किसी-न-किसी पात्रको इतनी अधिक प्रमुखता दी जाती है कि वही उपन्यासके समस्त उपकरणोंकी योजना तथा लेखक और पाठकके आकर्षणका केन्द्र बन जाता है, वही उपन्यासकी प्रमुख भावना (मोटिफ)का नियन्त्रण करता है। कह सकते हैं कि लघु उपन्यास अनिवार्यतः नायक या नायिका-प्रधान उपन्यास होता है। अन्य पात्र अपनी कुछ ही विशेषताओंके साथ अवतरित हो सकते हैं, प्रायः समग्र रूपमें उनके चरित्र-चित्रणका अवकाश उसमें नहीं रहता। परन्तु पात्रोंकी ये विशेषताएँ अत्यन्त सतर्कता-के साथ अंकित की जाती हैं, जिससे कि उनका व्यक्तित्व पहचाना जा सके। लघु उपन्यासके चरित्रांकनमें मनो-वैज्ञानिक कुशलता कहीं अधिक अपेक्षित है।

लघु उपन्यासका चलन और लोकप्रियता युगकी माँगका परिणाम कही जा सकती है। हमारा समाज इतना अधिक जटिल होता जा रहा है, उसकी समस्याएँ इतनी उलझी हुई लगती हैं कि किसी संवेदनशील भावप्रवण कथाकारके लिए यह अधिक सुविधाजनक है कि वह किसी एक प्रश्न या किसी एक समस्याको उठाकर उसका व्यक्तिगत स्तरपर तीव्र प्रभावान्वितिके साथ निरूपण करे। अन्ततोगत्वा जीवन और जगत्की ये समस्याएँ व्यक्तिके जीवनको ही प्रभावित करती हैं, परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि समस्त युग-जीवनको चित्रित कर सकनेमें लेखककी असमर्थताने लघु उपन्यासको जन्म दिया है। लघु उपन्यासके कुछ लेखकोंके विषयमें जो अधिक आत्मनिष्ठ, संवेदनशील और भावप्रवण प्रवृत्तिके हैं, यह बात ठीक हो सकती है, परन्तु जिस लेखकने 'सॉरोज ऑव वर्थर' लिखा, उसीने 'विल्हेलेन मीस्टर' जैसा बृहत् उपन्यास भी लिखा था। जिसने 'रंगभूमि' और 'गोदान' जैसे बड़े उपन्यासोंकी रचना की उसीने 'निर्मला' भी लिखा था। वास्तवमें लघु उपन्यास समस्याको जिस तीव्रता और गहनताके साथ सामने ला सकता है, वह बृहत् उपन्यास-के विस्तारमें सम्भव नहीं है। बृहत् उपन्यासमें लेखकका दृष्टिकोण अत्यन्त तटस्थतापूर्ण प्रेक्षकका रहता है, जब कि लघु उपन्यासकार अपने पात्रोंकी संवेदनाओंको मानों स्वयं वहन कराता है।

जिस प्रकार गीतिकाव्यको महाकाव्यकी तुलनामें प्रायः कम महत्त्व दिया जाता है, उसी प्रकार लघु उपन्यासके विषयमें कहा जाता है कि उसमें जीवनका कोई बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रश्न नहीं सुलझाया जा सकता तथा उसमें भावनाकी प्रधानता होनेके कारण लेखकका दृष्टिकोण अत्यन्त सीमित, प्रायः भावुकतापूर्ण और इसी कारण अस्वस्थ और रुग्ण-सा होता है। परन्तु, जैसा कि ऊपर कहा गया है, हमारे वर्तमान युगका जीवन ही कुछ ऐसा बनता जा रहा है कि यह विरले युगपुरुषका ही काम है कि उसके सम्बन्ध-में किसी समग्रतापूर्ण जीवन-दर्शनका व्याख्यान कर सके। यदि लेखक अनुकरण, कृत्रिमता और आडम्बरको त्यागकर सचाईके साथ अपनी प्रतिक्रियाओंको एक लघु चित्र-फलकपर अधिक प्रभावशाली रूपमें अंकित कर सके तो उसका अधिक आदर होना चाहिये। लघु उपन्यास इस बातकी सुविधा देता है कि लेखक स्वयं अर्जित मान्यताओं और मूल्योंको अधिक स्पष्टताके साथ प्रस्तुत कर दे। साथ ही इस कथारूपमें उसे शिल्प-विधानके नये-नये प्रयोग करनेकी अधिक सुविधा है। समग्रता छोटी-छोटी इकाइयोंसे मिलकर बनती है, व्यष्टिके बिना समष्टिका कोई अस्तित्व नहीं है। अतः यदि जीवनकी समस्याएँ अपने सीमित रूपमें, किन्तु अधिक सच्चाई और तीव्रताके साथ सामने लायी जायँ तो वे बड़ी समष्टिगत समस्याओंके समाधानमें सहायक बन सकती हैं। निश्चय ही लघु उपन्यासकार अधिक महत्त्वाकांक्षी नहीं होता।

स्वयं लघु उपन्यासके अनेक रूप हो सकते हैं। यह स्वाभाविक है, क्योंकि इसमें लेखकका दृष्टिकोण अधिक स्वात्मपरक होता है। अनेक लघु उपन्यास अपनी वैयक्तिकताके कारण **आत्मकथा** जैसे बन गये हैं, अनेकमें भावनाकी तरलता इतनी अधिक है कि उनमें **गीति**के तत्त्व उभर आये हैं, कुछके कथाप्रसंग स्वयं इतने परिपूर्ण-से हो गये हैं कि वे **कहानियों**के **संग्रह**से लगते हैं, यद्यपि उनमें सम्पूर्ण कथा तथा प्रभावकी अन्वितिमें एकात्मकता है। कुछ लघु उपन्यास संवादों तथा घटनाप्रसंगोंकी नाटकीयता-के कारण **एकांकी**का आभास देते हैं। परन्तु ये और अनेक अन्य प्रयोग लघु उपन्यासके कथारूपका लचीलापन ही प्रकट करते हैं। उसमें प्रयोगोंके लिए उर्वर क्षेत्र है। ऐसा लगता है कि यह साहित्य रूप अधिक लोकप्रिय होता जायगा (दे० 'उपन्यास')। —ज० व०

लघु कथा—सम्भवतः लघु कथा शब्द अंग्रेजीके 'शार्ट स्टोरी' शब्दका सीधा अनुवाद है। वैसे **कहानी** शब्द भी अंग्रेजीके 'शार्ट स्टोरी'के ही लिए है। इस प्रकार लघु कथा और कहानीमें तात्त्विक दृष्टिसे कोई अन्तर नहीं दीख पड़ता। व्यावहारिक दृष्टिसे 'लघु कथा' कहानीके छोटे रूप (शार्ट शार्ट स्टोरी)से अपना तात्पर्य रखती है। पर यह कहना कि लघु कथा लम्बी कथाका सार रूप है, नितान्त भ्रमोत्पादक है।

लघु कथाएँ वस्तुतः दृष्टान्तोंके रूपमें विकसित हुई हैं। ऐसे दृष्टान्त मुख्यतया नैतिक और धार्मिक क्षेत्रोंसे प्राप्य हैं। इस प्रकार नैतिक दृष्टान्तोंके स्तरसे नैतिक लघु कथाएँ सर्वत्र मिलती हैं, जैसे, ईसपकी कहानियाँ, 'पंचतन्त्र'की कथाएँ, 'महाभारत', 'बाइबिल', 'जातक' आदिकी कथाएँ। इसी प्रकार धार्मिक दृष्टान्तोंके अन्तर्गत भी लघु कथाओंके अनेक उदाहरण मिल सकते हैं।

पर आधुनिक कहानीके सन्दर्भमें 'लघु कथा'का अपना स्वतन्त्र महत्त्व एवं अस्तित्व है। प्रेमचन्द, 'प्रसाद'से लेकर

जैनेन्द्र, 'अज्ञेय'तक इस धाराकी एक शक्तिशाली गति है। प्रेमचन्दने अपनी कहानी-कलाके उत्कर्षकालमें लघु कथाओंके रूपमें कहानियाँ लिखी हैं, जैसे 'नशा', 'मनोवृत्ति', 'जादू' और 'दो सखियाँ'। 'प्रसाद' इस दिशामें अपूर्व हैं। 'छाया' और 'प्रतिध्वनि' संग्रहमें 'अघोरीका मोह', 'गुदड़ीके लाल', 'करुणाकी विजय', 'प्रलय', 'प्रतिमा', 'दुखिया' और 'कलावतीकी शिक्षा' आदि लघु कथाओंके सुन्दरतम उदाहरण हैं। ये कथाएँ गद्यगीत और रेखाचित्रके शिल्पको समीप पहुँचती हैं।

जीवनकी उत्तरोत्तर द्रुतगामिता और संघर्षके फलस्वरूप उसकी अभिव्यक्तिकी संक्षिप्तताने आज कहानीके क्षेत्रमें लघु कथाओंको अत्यधिक प्रगति दी है। बँगला साहित्यमें टैगोर और आजकल 'बनफूल' इस क्षेत्रमें विशेष उल्लेखनीय हैं। हिन्दीमें सुदर्शन, रावी और कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' आदिकी कुछ लघु कथाएँ बड़ी मार्मिक हैं। रचनाकी दृष्टिसे लघु कथाओंमें भावनाओंका उतना महत्त्व नहीं है, जितना किसी सत्यका, किसी विचारका, विशेषकर उसके सारांशका महत्त्व है (दे० 'कहानी')। —ल०ना०ला०

लघु करुण—दे० 'करुण रस'।

लघुलज्जा—दे० 'मध्या' (नायिका)। 'मध्यव्रीडिता'का हिन्दी पर्याय।

लज्जाप्राया—दे० 'विश्रब्धनवोढा'।

लता साधना—तन्त्रोंमें स्त्रीको लता कहा गया है, क्योंकि जिस प्रकार लता वृक्ष या किसी आधारदण्डको आश्रय करके उसे लपेटते हुए स्थित रहती है उसी प्रकार स्त्री भी पुरुषके आधारपर स्थित और आश्रित रहती है। अतः ऐसी तान्त्रिक विधि, जहाँ स्त्रियोंके उपभोग द्वारा साधना की जाती है, 'लता साधना' कहलाती है। —रा० सि०

लय—लयकी निष्पत्ति गति प्रवाह और यति, विरामके पारस्परिक एवं क्रमिक संघातमें होती है। लयका स्वरूप तत्त्वतः आवृत्तिमूलक है तथा उसकी व्याप्ति दिक् और काल, दोनोंमें है। संगीत और कवितामें लय कालसापेक्ष रहती है और चित्रकला, मूर्तिकला तथा वास्तुकलामें दिक्सापेक्ष। इस प्रकार लयकी व्याप्ति सभी ललित कलाओंमें पायी जाती है। गायन, वादन और नृत्य, संगीतके इन तीनों अंगोंको परस्पर सूत्रबद्ध करनेवाली वस्तु लय ही है। काव्यमें यह शब्द संगीतके क्षेत्रसे ही आया प्रतीत होता है। संगीतशास्त्रमें लयके तीन भेद मिलते हैं— १. द्रुत, २. मध्यम, ३. विलम्बित। संस्कृत वृत्त द्रुतविलम्बितको यह नाम इसलिए मिला कि उसके प्रत्येक चरणके प्रारम्भिक अंशमें द्रुत लय और अन्तिम अंशमें विलम्बित लय होती है। छन्दके प्रत्येक पादकी गति लयसमन्वित मानी गयी है, यथा—'पादन्यासो लयमनुगतः'।

लय-तत्त्व अमूर्त और स्वयम्भू होता है, ऐसा भी प्रतिपादित किया गया है (दे०—मराठी पत्रिका 'छन्द', जून ५६—'लय-तत्त्व आणि संगीत')। लयकी एक महत्त्वपूर्ण विशेषता उसकी सम्भरणशक्ति (power of integration) है, जिसके द्वारा वह विभिन्न तत्त्वोंको संग्रथित करती हुई संश्लिष्टता प्रदान करती है। उसका एक और उल्लेखनीय गुण है, अपने क्रमिक संस्पर्शमें भावावेगको उद्दीप्त करनेकी क्षमता।

कला, काव्य और संगीतमें ही नहीं, सामान्य जीवनमें भी लयतत्त्वकी घनिष्ठ व्याप्ति मिलती है। श्वास-प्रश्वास, हृद्गति, ऋतु-चक्र, दिन-रात आदिका अनुभव क्रमिक रूपमें लयात्मकताके साथ ही होता है। लय और जीवनकी यह घनिष्ठता ही कदाचित् कला आदिके क्षेत्रमें उसके विशेष आकर्षणका मूल कारण है।

आवृत्ति अनेक रूपोंमें होती है। स्थूल आवर्तनके अन्तर्गत सूक्ष्म आवर्तन और सूक्ष्मतर प्रत्यावर्तनोंकी स्थिति रह सकती है, जैसे गतिशील जलमें एक बड़ी लहरके अन्तर्गत छोटी और छोटीके भीतर उससे भी छोटी, सूक्ष्म लहरोंका अन्तर्भाव रहता है। आवर्तन समान क्रमसे तो होता ही है, पर उसके अर्द्धसम, विषम तथा ऐसे ही अवान्तर विभेद-प्रभेद भी परिलक्षित होते हैं। हरिगीतिका छन्द इसी शब्दकी चार आवृत्तियोंसे बन जाता है और भुजंगप्रयात अपने नामकी दो आवृत्तियोंसे। सवैया छन्दमें भी आवृत्तिका क्रम प्रायः समान रहता है। परन्तु बहुतसे वृत्त और छन्द ऐसे होते हैं, जिनमें आवृत्तिके क्रमको इतनी सरलतासे नहीं समझा जा सकता। उदाहरणार्थ, मन्दाक्रान्ताके प्रारम्भमें गुरु वर्णकी चार आवृत्तियोंसे एक लय बनती है, फिर उसे सन्तुलित करनेके लिए चार लघु वर्ण आते हैं। इसके बाद जो लयखण्ड बचता है, उसमें तीन यगणात्मक समान लघु लयांश आते हैं और इस प्रकार समष्टिरूपमें एक संघटित चरणकी सृष्टि होती है (ऽऽऽऽ, ।।।।, ।ऽऽ, ।ऽऽ, ।ऽऽ), जिसकी पूरी-पूरी चार आवृत्तियोंसे पूर्ण मन्दाक्रान्ता वृत्त बनता है। वर्णिक तथा मात्रिक छन्दोंकी लयका भी इसी तरह विश्लेषण किया जा सकता है। ऊपरसे देखनेपर केवल गणों या मात्राओंके विधानसे लयका वास्तविक रूप बहुत स्पष्ट नहीं हो पाता। —ज० गु०

ललना १—शिशु लालन-पालनका गीत; जन्मोत्सव और विवाहोत्सवमें 'बधावा'के अवसरपर गाया जाता है। इस गीतकी टेकके रूपमें बहुधा—"आरे मोरे ललना हो, बाजैली बधइया कौनी ओर"—जैसी पंक्तियोंका व्यवहार होता है। इसी नामका एक वर्ण-वृत्त है, जिसके प्रत्येक चरणमें क्रमशः भगण, मगण और दो सगण होते हैं (दे० 'हठयोग')। —र० भ०

ललना २—हिन्दूतन्त्रों, वज्रयानियों, सिद्धों और हठयोगियोंने शरीरस्थ अनेकशः (७२,०००) नाडियोंकी कल्पना की है, जिनमें तीन प्रमुख हैं—ललना, रसना और अवधूती। साँस लेते समय हमें इनमेंसे प्रथम दोका आभास मिलता है। जो नाड़ी बायीं ओर है, वही ललना या इड़ा है। सन्तोंके साहित्यमें इसी नाड़ीको सूर्य और गंगा भी कहा गया है। इसे सूर्य अंग (हठयोग प्र०, ३ : १५) गंगा (वही ३ : १०२) तथा वरुणा (शिव संहिता, ५ : १००) कहा गया है। इसी इड़ाको पिंगलाकी तौलपर कबीरने 'इंगला' बना दिया है। —रा० दे० सि०

ललित—एक गौण अर्थालंकार; जहाँ वर्णनीय वृत्तान्तको न कहकर उसका प्रतिबिम्ब वर्णित किया जाय, वहाँ ललित अलंकार होता है। संस्कृतके प्रमुख आचार्योंने ललित अलंकारको स्वतन्त्र नहीं माना है, क्योंकि वे इसका अन्तर्भाव

निदर्शनासे मानते हैं । संस्कृत आचार्योंमें अप्पय दीक्षितने इसे स्वतन्त्र अलंकार माना है । 'कुवलयानन्द'के आधारपर ही हिन्दीके आचार्योंने प्रायः इसे स्वीकार किया है । मति-रामने इसकी परिभाषा दी है ।—"वर्ण्य वाच्यको अर्थको जहँ केवल प्रतिबिम्ब" (ल० ल०, ३००) । उदाहरण—"मेरी सीख सिखै न सखि, मोसों उठै रिसाय । सोयो चाहत नींद भरि, सेज अंगार बिछाय" (वही, ३०१) अथवा—"अरे विहगम लौट अब तेरा नीड रहा इस वनमें । छोड उच्च पदवी उडान वह गया है सूना गगनमें" (मैथिलीशरण गुप्त : का० द०) । यहाँ नायिका तथा गोपी-के द्वारा मुख्य बात छायारूपमें कही गयी है । जो आचार्य ललितको स्वतन्त्र अलंकार मानते हैं उनका कहना है कि यह अप्रस्तुत प्रशंसासे इसलिए भिन्न है, क्योंकि वाच्यार्थ प्रस्तुत होता है; समासोक्तिसे इसलिए भिन्न है कि इसमें अप्रस्तुतकी प्रतीति न होकर प्रतिबिम्ब वर्णित होता है; निदर्शनासे यह अन्तर है कि इसमें अप्रस्तुतमें एकताका आरोप नहीं होता है० ('सात्त्विक गुण', नायक, 'स्वभावज अलंकार', नवों) । —भ० प्र० मा०

ललित कला—कलाओंको सामान्यतः दो वर्गोंमें विभक्त किया जाता है—ललित कला तथा **उपयोगी कला** । ललित कलाके अन्तर्गत वास्तुकला अथवा स्थापत्यकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला और काव्यकला, ये पाँच भेद माने जाते हैं । इनमेंसे प्रथम तीन, अर्थात् वास्तुकला, मूर्तिकला तथा चित्रकलाको दृश्य माना गया है तथा संगीतकला और काव्यकलाको प्रमुखतः श्रव्य कहा गया है । ललित कलाएँ मनुष्यके सौन्दर्य-बोधकी विकसित अवस्थाओंकी परिचायक हैं । ललित कलाएँ गौण रूपसे उपयोगी भी हो सकती हैं, परन्तु प्रमुखतः वे अलौकिक आनन्दकी सिद्धिमें ही सहायक सिद्ध होती हैं । इस दृष्टिसे सामान्यतः कला कहनेसे ललित कलाओंका ही बोध होता है ।

पाँचों कलाओंमें अपेक्षाकृत श्रेष्ठत्व किसी कलामें प्रयुक्त उपकरणोंकी सूक्ष्मताके आधारपर निर्धारित किया जाता है । इस कसौटीपर हीगेलके अनुसार स्थापत्य अथवा वास्तु-कला सबसे निम्न स्तरकी ठहरती है तथा काव्यकला सर्वा-धिक उत्कृष्ट सिद्ध होती है । वास्तुकलाको निकृष्टतम मानने-का कारण यह है कि उसमें प्रयुक्त उपकरण ईंट, रोड़ा, चूना आदि एकदम मूर्त हैं, अतः कलाकारकी कल्पना उसमें पूरी अभिव्यक्ति नहीं पाती । वास्तुकलाके बाद मूर्तिकला आती है । इसके उपकरण पत्थर, छेनी, आदि वास्तुकलासे तो कम मूर्त हैं, पर फिर भी उनमें सूक्ष्मताका अभाव है । चित्रकलाके उपकरण अपेक्षाकृत सूक्ष्म हैं, किन्तु कागज, रंग, कूची आदिका मूर्त स्वरूप काफी स्पष्ट है । संगीत कलामें केवल ध्वनिसंयोजनके आधारपर रससृष्टि होती है और काव्यकलामें तो केवल शब्द (जो मात्र प्रतीक हैं) शेष रह जाते हैं, जिनको उपकरण बनाकर कवि अपनी सृष्टि करता है ।

कुछ विद्वान् काव्यकलाकी अपेक्षा संगीतकलाके उपकरणों-को अधिक सूक्ष्म मानते हैं और इस दृष्टिसे काव्यकलाकी तुलनामें संगीतको श्रेष्ठतर मानते हैं । इस मतके अनुया-यियोंका कहना है कि शब्दोंका तो प्रतीक होनेपर भी निश्चित अर्थ होता है, जो मूर्त पदार्थोंसे सम्बद्ध रहता है, पर संगीतमें तो केवल ध्वनियोंके आरोह-अवरोहसे ही निश्चित रसकी सृष्टि की जाती है । —रा० क० द०

ललित साहित्य—प्राचीन साहित्यमें 'साहित्य'के पर्यायके रूपमें 'वाङ्मय' शब्दका उपयोग होता था और 'शास्त्र' तथा 'काव्य' उसके दो प्रकार थे । शास्त्रको आधुनिक परि-भाषामें यदि हम 'उपयोगी साहित्य' कहें तो काव्यको 'ललित साहित्य' या 'सरस साहित्य' कहेंगे । 'ललित साहित्य'में साहित्यकी वे सब कोटियाँ आयेंगी, जिनमें बोध-पक्ष उतना प्रधान नहीं, जितना रागपक्ष, अर्थात् जिनमें बुद्धिकी अपेक्षा हृदयको स्पर्श करनेकी सामर्थ्य अधिक है । गद्य और पद्य दोनोंमें ही ललित साहित्यकी सृष्टि सम्भव है, शर्त है लालित्य, अर्थात् सौन्दर्यनिष्ठा । काव्य, उपन्यास, कहानी, नाटक, रेखाचित्र, वर्णनात्मक गद्य-पद्य ललित साहित्यके अन्तर्गत आयेंगे । ललित साहित्यमें शैलीगत लालित्यका आग्रह कदाचित् अभिन्न है । परन्तु वास्तवमें ललित कलामें जिस प्रकार उपयोगी कलाका वैपरीत्य है, उसी प्रकार कदाचित् इस विरोधको ध्यानमें रखते हुए 'ललित साहित्य' और 'उपयोगी साहित्य' शब्दोंका प्रच-लन हुआ । प्राचीनतम युगोंसे साहित्यके दो उद्देश्य रहे हैं—कलात्मक सौन्दर्य और तज्जन्य आनन्द एवं उप-योगिता । ये दोनों प्रयोजन परस्पर विरोधी-से लगते हैं । ऊपरसे विचार करनेपर दोनों प्रयोजनोंमें कोई संगति नहीं दिखलाई देती और इसी विरोधके आधारपर ललित साहित्य-को उपयोगी साहित्यसे पृथक् और विरोधी माना जाता है । परन्तु फिर भी यह निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि साहित्यके ललित रूपमें भी एक सूक्ष्म ढंगकी उपयोगिता है, जिसकी विवेचना नीति और मानस-शास्त्रोंके आधारपर की जा सकती है । ललित साहित्यमें उस वृत्तिकी प्रधानता रहती है, जिसे भरत मुनिने 'नाट्यशास्त्र'में 'क्रीडनीयक' कहा है । विश्रान्तिजनन अथवा विनोदकरण ललित साहि-त्यके अन्य हेतु कहे गये हैं । यह निश्चित है कि ललित साहित्यमें कलात्मकता, सौन्दर्यसृष्टि, कल्पना-विलास, भावना-परिष्कार आदिका महत्त्व अधिक है और तत्त्वज्ञान, इतिहास, समाजशास्त्र और अन्य ज्ञानमूलक साहित्य-चेष्टाओंका बोध है । यह शब्द 'सरस साहित्य'के समानार्थ प्रयुक्त होता है (दे० 'सरस साहित्य') । —रा० भ०

लाँगुर—'लाँगुर' अथवा 'लँगुरिया' ब्रजमें गाये जानेवाले देवीके गीतोंका एक प्रकार है । 'लाँगुर' अथवा 'लँगुरिया' इन गीतोंमें एक पात्र बनकर आता है । वह अपने वैचित्र्य-के कारण अधिक आकर्षक है । ब्राह्मणका बालक लाँगुर तुलसीके पेड़से उत्पन्न होकर माताका आज्ञाकारी पुत्र है । वह अधिक खाता है, गाँजेका बड़ा पिवैया है गुजरियाको भिलमाता है और अनोखे काम करता है । स्त्रियाँ अपने गीतोंमें उसपर पति-भावका आरोप करती हैं । कहीं वह छोटा है, तो कहीं बड़ा । लाँगुरका हर गीत 'लाँगुर' अथवा 'लँगुरिया'के शब्द टेकवत् धारण किये चलता है । हास्य, व्यंग्य, विनोद, प्रणय आदि सभी लाँगुर गीतोंमें व्यक्त हुए हैं । देवीका विशेष प्रिय होनेके कारण भक्तोंको भी

कदाचित् लाँगुर इसीलिए प्रिय हो गया है। गीतोंके 'लाँगुर'-का आरोप एक-दो उदाहरणसे स्पष्ट है—(१) "करौलीवाली नदिया बहाये लिये जाय। जब नदिया मेरे पाँयन आयी, सम्हारिवारे **लाँगुरिया**" और (२)"दरदकौ मारौ **लाँगुरिया** मरि-मरि जाय। **लाँगुर** तुम लोटा हम डोर, सरकि आओ जाथी बनो"। यों तो लाँगुर अथवा 'लाँगुरिया' देवीका पुत्र माना गया है, पर स्त्रियाँ भक्ति श्रद्धाके साथ उसका नाम ले-लेकर रसिकताका आरोप करती हैं। —श्या० प०

लाटानुप्रास—शब्दालंकार, अनुप्रासका भेद 'लाट' एक देशविशेष तथा उसके निवासियोंका नाम है। लाट देशके निवासियोंको यह अलंकार अत्यन्त प्रिय रहा होगा, अतः उनके नामपर इसका नाम 'लाट' पड़ा।

'प्रायेण लाटजनप्रियत्वाल्लाटानुप्रासः' (सा० द०, १० : ६ वृ०)। इसमें अनेक शब्दोंकी आवृत्ति होती है, अर्थात् वाक्यकी भी और एक शब्दकी भी। जहाँ शब्द और अर्थकी आवृत्ति हो, अर्थात् जहाँ एकार्थक शब्दोंकी आवृत्ति तो हो, परन्तु अन्वयमें अभिप्रायकी भिन्नता हो। इसे शब्द या पदोंकी आवृत्तिके कारण शब्दानुप्रास या पदानुप्रास भी कहते हैं। इसका विवेचन भामहने अनुप्रासके अन्तर्गत और उद्भटने स्वतन्त्र भेदके रूपमें किया है। मम्मटने इसकी परिभाषा निम्नलिखित प्रकारसे की है—"शब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः" (का० प्र०, ९ : ८१), जिसमें समानार्थक किन्तु भिन्न तात्पर्यवाले शब्दोंका सादृश्य हो।

भिखारीदासकी परिभाषा इस प्रकार है—"एक सब्द बहु बार जहँ, सो लाटानुप्रास। तातपर्यते होत है, औरै अर्थ प्रकास" (का० नि०, १९)। हिन्दीमें जसवन्त सिंहने भाषा-भूषण'में मम्मट तथा विश्वनाथके आधारपर 'शब्द अर्थके भेदसो, भेद बिनाहू सोग' लक्षण दिया है। भूषणकी परिभाषा—'भिन्न अभिन्न पदन सों' (शि० भू०, ३५५) अस्पष्ट है। कुलपतिने शब्दसाम्यका आधार माना है।

इस अलंकारमें कहीं-कहीं सम्पूर्ण वाक्यकी आवृत्ति होती है—"औरनके जाँचे कहा, नहिं जाँच्यो सिवराज। औरनके जाँचे कहा जो जाँच्यो सिवराज" (शि० भू०, ३६४)। इसमें दोनों वाक्योंमें अन्वयसे अर्थभेद है। पदोंकी आवृत्ति जो कभी स्वतन्त्र और कभी समासके होते हैं। पदका उदाहरण—'करि करुना करुनायतन' (का० क०) और समस्त पदका उदाहरण—"मन-मृगया करि मृग-दगी, मृगमद बेंदी भाल। मृगपति-लंक मृगांक-मुख, अंक लिये मृग-बाल" (का० नि०, १९)। इस अलंकारका प्रयोग चमत्कारवादी कवियोंमें ही मिलता है। छेक और वृत्ति अनुप्रासमें वर्णोंकी आवृत्ति होती है, परन्तु लाटमें शब्दोंकी। छेकमें अनेक वर्णोंकी एक ही बार आवृत्ति होती है और वृत्तिमें अनेक बार। यमक अलंकारमें भी पदों या शब्दोंकी आवृत्ति होती है, परन्तु आवृत्त पद या शब्द भिन्नार्थक होते हैं। लाटमें आवृत्त पद या शब्द एकार्थक ही होते हैं। —वि० स्ना०

लाटी रीति—दे० 'रीति', चौथी।

लावनी—'संगीत राग कल्पद्रुम'के अनुसार लावनी (लावणी) उपराग है—"लावणी जोगिया जंगी आड़ंग सुहाना कौलिका"। यह देशी रागके अन्तर्गत है। देशी रागके सम्बन्धमें कहा गया है कि भिन्न-भिन्न देशोंमें जो भिन्न-भिन्न नाम धारण करे, वह देशी राग है—"देश देशे भिन्ननाम तद्देशीगानमुच्यते" (रा०, १, पृ० १७)। दीपक रागकी भार्या देशी रागिनीसे इसमें भिन्नता है, क्योंकि देशी रागको ग्राम्य राग भी कहा जाता है। स्पष्ट है कि लोकगीतोंसे इसका विकास हुआ है, जिसका संस्कृतानुकरण लावणीमें मिलता है। इसका सम्बन्ध लावनी देश (लावाणक)-से था, जो मगधके समीप था एवं उसी देशसे सम्बद्ध होनेके कारण इसका नाम लावनी पड़ा। मियाँ तानसेनने जिन मिश्रित रागिनियोंको शास्त्रीयता प्रदान की थी, उनमेंसे लावनी भी थी। कुछ लोगोंकी धारणा है कि निर्गुण भक्तिधाराके साथ इसका सम्बन्ध था। वस्तुतः लोकरागिनी होनेके कारण इसे लोक-कवियोंने अपनाया। सगुण-निर्गुणका इसमें विभेद उपयुक्त नहीं है। लावनीके कई वर्ग होते हैं—लावनी भूपाली, लावनी देशी, लावनी जंगला, लावनी कलांगड़ा, लावनी रेखता आदि। कबीरके कुछ गीतोंकी परिगणना लावनीके अन्तर्गत हुई है, किन्तु ग्रन्थावलीमें यह नाम नहीं मिलता। प्राचीन कवियोंमें हस्तिराम, हरिदास, रसरंग, कृष्णानन्द आदि लावनीके प्रसिद्ध कवि हुए हैं। लावनी रेखताका उदाहरण है—"गोरी एक बनी है हद वेश, शिरपर लटके लम्बे केश। अदासे चली है मुख मोर, अँचरा दिया है उरसे छोर"। वल्लभचन्द्र-लिखित लावनी कलांगड़ा है—"हनूमान बीर बंका, जिनका मुलकोंमें डंका, हुक्म पाय कूदि गये लंका, उठी जब रावणके शंका"। भारतेन्दु-कालमें लावनीबाजोंके दंगल होते थे और भारतेन्दुने भी लावनीकी रचनाएँ की थीं, जिनका संग्रह 'फूलोंका गुच्छा' नामक संकलनमें हुआ है। कुछ लावनियाँ 'प्रेमतरंग', 'प्रेम-प्रलाप' आदि ग्रन्थोंमें भी संकलित हैं। कुछ लावनियाँ रेखताके ढंग की हैं—"तुझे कोई कावेमें हाजिर कोई दैरमें बतलाता, भूले हैं सब अक्लमें बेशक इनके फर्क पड़ा"। और कुछ लावनियाँ प्रचलित भाषामें—"मोहि छोड़ि प्रान-प्रिय कहूँ अनत अनुरागे"। प्रतापनारायण मिश्र भी लावनीबाजोंकी संगतिमें रहते थे और उन्होंने भी इसकी रचनाएँ की हैं। —रा० खे० पा०

लाहूत—दे० 'सूफी मार्ग'।

लिंग—'कौलज्ञान निर्णय'के तृतीय पटल (३ : ६-८)में चक्रोंका उल्लेख किया गया है और बताया गया है कि चार, आठ, बारह, सोलह, चौसठ, सौ, सहस्र, कोटि, डेढ़कोटि और तीनकोटि दलवाले चक्रोंके ऊपर नित्योदित, अखण्डित, अमल, सर्वव्यापी और निरंजन पद्म है। इसीकी इच्छासे सृष्टि होती है और प्रलयके बाद इसीमें विलीन भी हो जाती है। चूँकि चराचर इसमें लीन हो जाता है, अतः इसे लिङ्ग कहते हैं—'लीनं गच्छतीति लिंगम्'। इसी अखण्डमण्डलाकार निर्विकार निष्कल लिंग (शिव)को न जान पानेसे बन्ध होता है और जान लेनेसे सारे बन्धन कट जाते हैं (कौ० ज्ञा० नि०, ३ : ९-११)। पातंजल 'योग सूत्र' (२ : १९)में गुणपर्व (दे० 'गुणपर्व')के अन्तर्गत लिंग और अलिंगका उल्लेख किया गया है। वहाँ लिंग संपूर्ण वस्तुओंका व्यंजक है। विज्ञान भिक्षुने 'लिंगमात्र'का अर्थ 'तन्मात्र' किया है। अलिंगका अर्थ 'प्रकृति' किया जाय तो लिंग पुंप्रकृतिके लिंगका अर्थ देगा। षट्चक्र-निरूपण (५१)में

परमशिवमें सामरस्यकी अभिलाषा रखने वाली कुण्डलिनी शक्तिके शिवसे संयुक्त होनेकी प्रक्रिया बताते हुए उसके लिंगत्रयभेदनका उल्लेख किया गया है। लिंगत्रयपर टीका करते हुए कालीचरणने क्रमशः मूलाधार, अनाहत एवं आज्ञा नामक चक्रोंमें स्थित स्वयंभू, बाण एवं इतर नामके तीन लिंगोंका उल्लेख किया है। 'मायातन्त्र'में भी इन तीन लिंगोंका उल्लेख है। —रा० सि०

लिंगवैचित्र्यवक्रता–दे० 'पदपूर्वार्धवक्रता', पाँचवा प्रकार।

लिंग शरीर–वेदान्तमें आत्माके दो आवरण बताये गये हैं—शुक्र-शोणितसे निर्मित शरीर या अन्नमय कोष तथा शेष चार कोश (प्राणमय, मनोमय, ज्ञानमय एवं आनन्दमय)। वेदान्तके मतसे ये चारों कोष ही लिंग शरीर है। मृत्युके उपरान्त आत्मा अन्नमय कोष, अर्थात् स्थूल शरीरसे तो मुक्त हो जाता है, पर इन चार, अपेक्षाकृत सूक्ष्म, कोषोंसे उसका छुटकारा तबतक नहीं होता, जबतक वह मुक्त न हो जाय। परिणामतः मृत्युके बाद भी यह लिंगशरीर इस जीवनमें किये गये सम्पूर्ण कर्मफलात्मक संस्कारोंको अपने साथ ले जाता है। सांख्य दर्शनकी भाषामें कहना हो तो कहा जा सकता है कि लिंगशरीर, मृत्युके उपरान्त, सम्पूर्ण भावोंको अपने साथ ले जाता है। यहाँ कर्म और भावका अर्थ एक ही है। वेदान्तमें जिसे कर्म कहते हैं, सांख्यमें उसे ही भाव (सांख्यकारिका, ४०) या बुद्धिका व्यापार, धर्म या विकार कहते हैं। वेदान्तमें आठ पुरियोंकी कल्पना है। पंचीकरण वार्तिक (३२ : ३७)में इसका विवरण मिलता है—१. पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, २. पाँच कर्मेन्द्रियाँ, ३. चार अन्तःकरण (दे० 'अन्तःकरण'), ४. पाँच प्राण, ५. पाँच तन्मात्र (दे० 'तन्मात्र') ६. अविद्या, ७. काम तथा ८. कर्म। इस पुर्यष्टकको भी लिंग-शरीर कहा गया है। —रा० सि०

लिट्रेचर–लिपिबद्ध सम्पूर्ण सामग्रीके लिए 'लिट्रेचर' शब्दका प्रयोग होता है, जिसे संस्कृत वाङ्मयका समानार्थक माना जा सकता है। सामान्य अर्थोंमें मुद्रित सूचना, उपयोगी साहित्य अथवा समग्र रचनाके लिए इस शब्दका उपयोग होता है, जैसे, किसी विशिष्ट विषयका साहित्य। टिनडेलने इस शब्दका इस सन्दर्भमें प्रथम बार उपयोग किया था। प्रतीकवादी कलाकार इस शब्दका उपयोग लांछनके अर्थमें करते हैं, जिससे परम्पराबद्धता एवं भावशून्य अर्थविवृतिकी ओर संकेत होता है। वरलें जैसे प्रतीकवादी शुद्ध काव्यको ही वास्तविक मानते हैं, शेष जो कुछ है, लिट्रेचर-मात्र है। परन्तु इन दोनों अतियोंके बीचमें एक संकुचित अर्थ भी है, जिसके अनुसार 'लिट्रेचर' शब्द 'साहित्य' या 'काव्य'का द्योतक है (दे० 'साहित्य', 'उपयोगी साहित्य', 'काव्य', 'काव्यकला', 'ललित साहित्य', 'सरस साहित्य')। —रा० भ०

लिबिडो–लिबिडो शब्द लैटिन भाषाका है, जिसका अर्थ कामुकता है। फ्रायडने आरम्भमें इस शब्दका प्रयोग उसके मौलिक अर्थमें ही किया, किन्तु आगे चलकर मनोविश्लेषणमें उसका प्रयोग शक्ति अथवा सम्पूर्ण जीवनी-शक्तिके सामान्य अर्थमें होने लगा। विशेष सन्दर्भोंमें, जैसे उभयलिंगी लिबिडो, समलिंगी-प्रेम, लिबिडोके विकासके स्तरोंके विवेचनमें यह शब्द अब भी मौलिक अर्थमें प्रयुक्त होता है। हिन्दी भाषामें अभीतक इस शब्दके लिए कोई उत्तम पर्याय रूढ नहीं हो सका है। व्यापक अर्थमें लिबिडो जीवन, प्रेम और क्रियाशीलताके प्रति अदम्य पिपासाको व्यक्त करती है और तृष्णा शब्द सम्भवतः इस भावके समीपतम है। भगवान् बुद्धने तृष्णा शब्दका प्रयोग कुछ इसी अर्थमें किया है।

फ्रायडके अनुसार (दे० 'फ्रायडवाद', 'मनोविश्लेषण') लिबिडो केवल प्रौढ कामुकता नहीं है, वह सभी प्रकारका प्रेम है, चाहे वह प्रेम माता-पिता, भाई-बहन, मित्र, सन्तान, देश और आदर्शके लिए हो या स्वयं ईश्वरकी भक्ति हो। कला, साहित्य, धर्म, विज्ञान आदि लिबिडोसे ही अनुप्राणित हैं। लिबिडो—तृष्णा—की तृप्ति होती रहना मानसिक स्वास्थ्यके लिए अनिवार्य है। किन्तु फ्रायडका यह मत नहीं है कि उसकी तृप्ति केवल कामुकताके स्तरपर स्वेच्छाचार द्वारा ही हो सकती है। समाजमें कामुकताकी निर्बन्ध तृप्ति सम्भव नहीं है। यदि वह सम्भव भी होती तो व्यक्ति तथा समाजके लिए अन्ततः हानिकर होती। अतएव जब लिबिडोका सम्यक् समाजीकरण (दे०) अथवा उदात्तीकरण नहीं हो पाता, व्यक्तिमें अनेक मानसिक व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। अनहद लिबिडो अवांछनीय मार्गोंसे फूट पडती है। शिशुकी भाँति आदिम मानव भी अपने शरीरमें ही प्रसूत संवेदनोंमें बडा रस लेता है। वह आत्मरति-प्रेमी होता है। विशिष्ट संवेदनोंको उत्पन्न करनेके लिए वह अपनी शक्तिका अपार क्षय किया करता है, जिससे समाजको कोई लाभ नहीं होता। इसलिए सभ्यता और संस्कृतिका एक प्रमुख उद्देश्य व्यक्तिगत शक्तिके इस वासनात्मक क्षयको रोककर उसे समाजोपयोगी कार्योंमें लगाना है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि सामान्य प्रौढ मानवके यौन जीवनकी पूर्ण उपेक्षा की जा सकती है। उसके दुष्परिणाम ही होते हैं। असम्यक् अति उदात्तीकरण अथवा तापस जीवनके अपने खतरे हैं।

फ्रायडने लिबिडोको तीन भागोंमें बाँटा है—ईडिपस या एलेक्ट्रा मनोग्रन्थि, स्वपीडन और परपीडन। —आ० रा० शा०

लिरिक–दे० 'गीतिकाव्य'।

लीला १–वल्लभाचार्यने अपने शुद्धाद्वैतवाद और पुष्टिमार्गी भक्ति-सिद्धान्तोंके आधारपर 'श्रीमद्भागवत'के तृतीय स्कन्धकी 'सुबोधिनी टीका'में भगवान्‌की लीलाकी व्याख्या की है। विलासकी इच्छाका ही नाम लीला है। कार्यव्यतिरेकसे, अर्थात् कार्यसे रहित यह कृतिमात्र है। इस कृतिके बाहर कोई कार्य उत्पन्न नहीं होता। उत्पन्न किये गये कार्यमें कोई अभिप्राय नहीं होता। इसमें कर्ताको कोई प्रभाव भी नहीं उत्पन्न होता। किन्तु अन्तःकरणके पूर्ण आनन्दपूर्ण उल्लाससे कार्योत्पत्तिके सदृश कोई क्रिया उत्पन्न होती है। यही भगवान्‌की लीला है। लीलाका लीलानन्दके अतिरिक्त और कोई प्रयोजन नहीं है। सृष्टि और प्रलय भगवान्‌की लीला ही है।

पुष्टिमार्ग(दे०)के अनुसार सच्चिदानन्द ब्रह्मके मुख्य तीन स्वरूप होते हैं–(१) पूर्ण पुरुषोत्तम रस अथवा आनन्दरूप

परब्रह्म श्रीकृष्ण, (२) अक्षर ब्रह्म, जो गणितानन्द, अर्थात् सीमित आनन्द वालरूप है। यह दो रूपोंमें प्रकट होते हैं—एक पूर्ण पुरुषोत्तमका अक्षर धाम तथा दूसरा काल, कर्म, स्वभावके अनुसार प्रकट होनेवाले जीव तथा अनेक देवी-देवताओंके रूपमे परिणत होनेवाला रूप और (३) अन्तर्यामी रूप। पूर्ण पुरुषोत्तम परम रूप परब्रह्म श्रीकृष्ण गोलोक या अक्षर धाममें नित्य आनन्द-लीलामे मग्न रहते है। वहाँ नित्य वृन्दावन, नित्य यमुना, नित्य गोपी, नित्य विहारका आनन्द रहता है। उनकी यह नित्यलीला अवतार दशाकी लीला कही जाती है। अवतारदशामे उनका गोलोक व्रजमें पृथ्वीपर उतर आता है और वे गोपांगनाओंके साथ व्रजकी आनन्द-केलिमें मग्न दिखाई देते है। उनकी यह लीला भी बिना किसी प्रयोजनके लीलाके आनन्दके लिए ही होती है। इसलिए इसे अहेतु-लीला कहते है। इस रूपमे श्रीकृष्ण रसेश और पुष्टिपुरुषोत्तम कहे गये है। वे लोक-वेदकी मर्यादासे अतीत हैं। श्रीकृष्णका इस रूपमे व्रजमे प्रकट होना न तो गुणावतार है, न अंशावतार या कलावतार। वे तो स्वयं साक्षात् भगवान् है। यह विचार 'श्रीमद्भागवत'के "एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' कथनपर आधारित है, जिसके अनुसार भगवान्‌के अन्य सभी अवतार अंश–कलावतार है। श्रीकृष्ण अवतार नही, स्वयं अवतारी है। परन्तु श्रीकृष्णके लीलावतार या रसावतारसे भिन्न वल्लभाचार्यने उनके मर्यादावतारको भी स्वीकार किया है। इस रूपमे वे अन्य अवतारोकी भाँति वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध-रूपसे चतुर्व्यूहात्मक है और मर्यादापुरुषोत्तम कहे जाते है। मर्यादापुरुषोत्तम-रूपसे उनका प्रयोजन वेद-धर्मकी रक्षा तथा मर्यादावादी स्थापना होता है। श्रीकृष्णके चार व्यूहोंमें वासुदेव मोक्षदल, संकर्षण दुष्टोके संहारकर्ता, प्रद्युम्न सृष्टि-रक्षक और पालन-कर्ता तथा अनिरुद्ध धर्म-रक्षक और धर्मके उपदेष्टा है। इस प्रकार श्रीकृष्णका अवतार दो रूपोमें माना गया है। मथुरापति, द्वारकाधीश, देवकीनन्दन, वासुदेव कृष्ण मर्यादापुरुषोत्तम हैं। इसी रूपमे उन्होंने व्रजमे भी अनेक असुरोंका संहार किया था। परन्तु नन्द, यशोदा, गोप और गोपीके प्रिय कृष्ण सदा रसेश्वर पुष्टिपुरुषोत्तम है। वे व्रजमें अपनी अवतरित लीलाका विस्तार आनन्दके हेतु ही करते है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, यह समग्र चराचर सृष्टि भी भगवान्‌की लीला है। यह सच्चिदानन्द ब्रह्मके अपार रूपसे उस समय प्रकट होती है, जब पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म-को, जो अपने अपार धाम गोलोकमें नित्य एकरस आनन्दमें मग्न रहता है, एकसे अनेक होनेकी इच्छा होती है। सृष्टि सच्चिदानन्द ब्रह्मकी सत् अंशरूपा है, जो सत्त्व, रज और तम, तीन गुणोंसे मिलकर बनती है। ये गुण प्राकृत है, परन्तु स्वयं ब्रह्मकी सत् शक्तिके ये गुण अप्राकृत है और क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और महेश अपारब्रह्मके गुणावतार कहे गये है। इनके अतिरिक्त अपारब्रह्मके अंशावतार या कलावतार भी अनेक है—वामन, वाराह, मत्स्य, परशुराम, राम आदि अंशावतार ही है।

व्रजमें भगवान्‌की लीला भावभेदके अनुसार अनेक प्रकारकी होती है। मुख्य भाव दास्य, वात्सल्य, सख्य और माधुर्य है। इनके आधारपर भक्तोकी प्रीति प्रेम-अनुरूपा है और कान्ता या मधुर रतिके लिए भगवान् अपनी अनेक प्रकारकी लीलाका विस्तार करते है। उनकी बाललीला प्रीति-रतिकी, गोचारण लीला प्रेम-रतिकी और कैशोर लीला, जो गुप्त और रहस्यपूर्ण है, कान्ता या मधुर रतिकी पोषक है। दास्य भावकी प्रीति-रति तो वस्तुतः भगवान्‌के ऐश्वर्य-रूपके प्रति होती है, अतः कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायोंमे उसे विशेष महत्त्व नही दिया गया है। फिर भी अन्य भावोंको संकलित करनेवाली लीलाओंमें प्रायः भगवान् अपने माहात्म्य-ज्ञानके हेतु अपना ऐश्वर्यरूप भी किंचित् झलका देते है और विभिन्न भावोके भक्तगण उस क्षण उनके प्रति दैन्यकी भावना एक-एक प्रकारसे संचारी भावके रूपमे अनुभव करने लगते है।

यद्यपि पुष्टिमार्गमे गोपाल कृष्णके बालरूपकी ही प्रकटतः वैधानिक मान्यता है, परन्तु उनकी कैशोर भावकी उपासना-का भी विशद विस्तार पुष्टिमार्गीय भक्तोके काव्योंमें मिलता है। वत्सलमत(दे०–'अष्टछाप')मे मधुरभावके भक्त सखीरूप होते है। राधिका इन सखियोंमे सर्वोपरि है, वस्तुतः वे स्वामिनीजी ही कही जाती है। कृष्णके मुख्य सखा आठ है और उनकी सखियाँ भी आठ है। इनके अतिरिक्त असंख्य सखा और सखियाँ है। अष्टछापके कवि, जो कृष्णके अष्ट-सखा कहे जाते है, रात्रिकालीन कुंजलीलामें सखीरूप हो जाते है।

चैतन्य-सम्प्रदायके अनुसार भगवान् अपनी स्वरूप-शक्तिके साथ लीलामे प्रवृत्त होते हैं। वे अपनी आह्लादिनी शक्ति राधा तथा उनकी सखियों गोपियोंके साथ लीला करते है। यह लीला दर्पणमे प्रतिबिम्बके साथ बालककी क्रीड़ाके समान है। जीव भगवान्‌की इस लीलाका द्रष्टा रहता है। वह उस लीलारसमे तभी सम्मिलित हो सकता है, जब वह गोपियोंकी सेविकाओंके पास पहुँचकर उनकी सेवा करके उनकी कृपाका अधिकारी बन जाय और गोपियाँ उसे कृपा करके हावभावमयी राधाके निकट पहुँचा दे। उस अवस्थामे उसका जीवत्व नष्ट हो जाता है और वह स्वरूपशक्तिके रूपमें परिणत हो जाता है।

भगवान् श्रीकृष्ण लीलारसके विस्तारके लिए एक साथ ही बाल, पौगण्ड, किशोर और यौवन किसी भी अवस्थामें प्रकट हो सकते है। ये सब अवस्थाएँ एक साथ ही चलती हैं। भावके अनुसार वे तत्तत् अवस्थामें भक्तोंको प्राप्त हो जाते है, परन्तु उनका किशोररूप ही कृष्ण-भक्तोका सर्वाधिक प्रिय और वरेण्य रूप है। वे सदैव किशोर माने गये हैं।

श्रीकृष्णकी मुख्य रूपसे दो प्रकारकी किशोर-लीलाएँ हैं—एक कुंजलीला और दूसरी निकुंजलीला। कुंजलीलाका स्थायी भाव श्रीकृष्ण-रति है, आलम्बन श्रीकृष्ण तथा आश्रय गोपियाँ है। गोपियाँ उपपति (जार)के रूपमें श्रीकृष्णसे परकीया-भावकी विरहप्रधान रति करती है। राधावल्लभीय सम्प्रदाय(दे०)मे इस लीलाके रसको व्रज-रस कहा गया है। कुंजलीलाका ही दूसरा नाम व्रजलीला भी दिया गया है। यह व्रज-रसका क्रीडा-विनोद श्रीकृष्ण-अवतारकी लीला है,

अवतारीकी लीला नहीं। अतः यह नित्य नहीं है, अवतार-दशामें ही प्रकट होती है। इससे भिन्न नित्य-विहारी श्रीकृष्णकी निकुंजलीला देश और कालसे परे अखण्ड एक-रस होती है। निकुंजलीलाका नाम निकुंज-रस या वृन्दावन-रस है। यह लीला अत्यन्त गोप्य और रहस्यपूर्ण है। इस लीलामें प्रेमतत्त्वरूप श्रीकृष्ण अपने चार अंगों—श्रीराधा, श्रीकृष्ण, श्रीवृन्दावन तथा सखियोंके साथ प्रकट होकर निरन्तर प्रेम-केलिमें मग्न रहते हैं। उस क्रीडामें वियोगका भ्रम भी नहीं पैदा हो सकता। स्व-परके भेदसे रहित नित्य मिलनका, अखण्ड आनन्दके रूपमें वृन्दावन-रस निष्पन्न होता है। राधावल्लभीय मतके अनुसार इस वृन्दावन-रसमें राधा-रति स्थायी भाव है, राधा आलम्बन तथा श्रीकृष्ण आश्रय है। इस प्रकार इसमें राधाकी प्रधानता है। परन्तु गौडीय वैष्णव मतमें निकुंजलीलाकी भावाश्रया श्रीराधिका तथा आलम्बन श्रीकृष्ण माने गये हैं।

नित्य और अवतरित लीलाके अतिरिक्त लीलाका एक रूप अनुकरणात्मक भी है। इसमें भक्तगण श्रीकृष्णकी आनन्दलीलाका अभिनय करके अपने-अपने भावको दृढ करते हैं। अनुकरण-लीला श्रीकृष्णकी रासलीलाके रूपमें प्रस्तुत की जाती है। रासलीलामें केवल उसी रासका अभिनय नहीं होता, जो श्रीकृष्णने 'भागवत'में वर्णित चीरहरण-लीलाके समय दिये गये वचनके अनुसार शरत्-पूर्णिमाकी रातमें गोपियोंके साथ किया था, वरन् श्रीकृष्णकी अन्य लीलाएँ—माखन-चोरी, गोवर्धन, कालियदमन, चीरहरण, सर्पदशन, पनघट, दान आदि भी अभिनीत होती हैं। रासमण्डलियाँ इन लीलाओंको प्रेमी भक्तोंके सम्मुख प्रायः खुली रंगशालामें प्रदर्शित करती हैं (दे०—'रासलीला')। —ब्र० व०

लीला २–यौवन-कालमें स्त्रियोंके शरीरज, प्रयत्नज और स्वभावज वर्गोंमें विभक्त बीस अलंकार माने गये हैं। दस स्वभावज अलंकारोंमेंसे लीला भी एक अलंकार है। नायिकाका अपने मधुर अंगोंकी चेष्टाओं द्वारा प्रिय (नायक)के वाग्वेषचेष्टादिका श्रृंगारिक अनुकरण करना लीला कहलाता है। आचार्योंने लीलाके तीन भेद माने हैं—१. स्वगता—उपर्युक्त परिभाषा स्वगता लीलाकी ही है; २. सखीगता—जब नायिका सखीसे नायकके प्रेमालाप, वेशभूषा तथा चेष्टादिका अनुकरण करवाती है; ३. स्वप्रियता—जब नायिका नायकसे अपने रूप और चेष्टादिका अनुकरण करवाती है और स्वयं भी नायकके वचन, वस्त्राभूषण, रूप और क्रियाओंका अनुकरण करती है।

लीला—रासलीला, रामलीला और हनुमान्‌लीला जैसे लीलानाट्यरूपोंका भी अर्थ-ज्ञापन करती है (दे०–'स्वभावज अलंकार', पहला)। —वि० रा०

लीलावतार–परमात्मशक्तिके २४ अवतार, जिनका उद्देश्य संसारमें 'गीता' (अ० ४ : ८)में वर्णित कार्य होता है, लीलावतार कहलाते हैं। (विस्तारके लिए दे०—'अवतार'।) —वि० मो० श०

लीलावती–मात्रिक सम छन्दका एक भेद। 'प्राकृत-पैंगलम्' (१ : १७७)के अनुसार इसमें बिना गुरु-लघुके विचारके ३२ मात्रा प्रतिचरणमें होती है। यह छन्द पद्धरियाका दूना है। कई कवियोंने इसका नाम लीला दिया है, पर इस नामके दो भिन्न छन्द १२ तथा २४ मात्राके भिखारीदास (छन्दोर्णव, पृ० २० : ३१) और भानु (छं० प्र०, पृ० ४४ : ६२)ने माने हैं। प्रस्तुत छन्दका प्रयोग सूदन (सु० च०), सदानन्द (रा० भ० सिं०) तथा रघुराज (रा० स्व०)ने किया है। उदा०—"ताको नित सेये सहजहिं लहिये चार पदारथ मन भाये" (छं० प्र०, पृ० ७३)।

लुप्तोपमा–दे० 'उपमा', चौथा प्रकार।

लुब्धापति–दे० 'प्रौढा', (नायिका)।

लेख–दे० 'निबंध', 'आर्टिकिल'।

लेश–अप्रस्तुत प्रशंसाके निकटका एक गौण अर्थालंकार। सर्वप्रथम दण्डीने इस अलंकारका उल्लेख करते हुए कहा—"लेशमेके विदुर्निन्दां स्तुतिं वा लेशतः कृताम्" (काव्या०, २ : २६८), अर्थात् अंशमात्रमें निन्दाको स्तुति एवं स्तुतिको निन्दा करना लेश अलंकार है। प्रतीत होता है कि इस परिभाषाके निन्दा एवं स्तुति पदों द्वारा अन्य अलंकारोंसे भ्रम हो जानेकी सम्भावना निहित होनेके कारण रुद्रटने दोष एवं गुण शब्दोंका प्रयोग किया (काव्या०, ७ : १००)। अप्पय दीक्षितके समयतक कदाचित् लेश एवं अप्रस्तुत-प्रशंसा और व्याज-स्तुतिमें भ्रम होने लगा होगा, जिसकी व्याख्यामें लक्षणकारिकाके अतिरिक्त वृत्तिमें इन सबके भिन्न अर्थोंपर प्रकाश डाला गया है। हिन्दीके आचार्योंने प्रायः इसका लक्षण इस रूपमें दिया है—"जहाँ दोष गुन होत है, जहाँ होत गुन दोष" (ल०ल०, ३२४)। गुण तथा दोषके आधारपर इसके दो भेदोंका उल्लेख भी किया गया है। दासने दोनोंकी परिभाषा भी अलग दी है।

'कुवलयानन्द'का उदाहरण है—"यद्यपि सम्पूर्ण अन्य पक्षी स्वच्छन्दचारी रूपमें उड़ते हैं, पर हे शुक! तुम्हारी मधुर वाणीका फल यह हुआ कि तुम पंजरबद्ध हो" (७२)। यह गुणसे दोषका उदाहरण है। और भी—"प्रतिबिम्बित तो बिम्बमें, भूतल भयो कलंक। निज निर्मलता दोष यह मनमें मानि मयंक" (ल० ल०, ३२६)। दोषसे गुणका उदा०—"रहिमन विपदा हू भली, जो थोरे दिन होय। हित अनहित या जगतमें जानि परत सब कोय"। स्पष्टतः जहाँ व्याजस्तुतिमें स्तुतिका गम्यार्थ निन्दा एवं निन्दाकी स्तुति होती है, वहाँ गुणविशेषकी अवगुणके रूपमें तथा दोषविशेषणकी गुणके रूपमें अंशमात्रमें कल्पना होनेसे लेश अलंकार होता है। अब प्रश्न होता है कि लेशमें और अनुज्ञा एवं तिरस्कारमें क्या भेद है? ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ अनुज्ञा तथा तिरस्कार व्यक्तिगत इच्छाकी प्रतीति कराते हैं, वहाँ लेश उसकी कल्पना की (दे० 'अनुज्ञा', 'तिरस्कार')। —ज० कि० व०

लै, लौ, ल्यो–लै, लौ या ल्योको सन्तोंने सुरतिका सहायक माना है और अधिकांश स्थलोंपर सुरति-निरति या सुरतिके साथ लै, लौ या ल्यौका प्रयोग किया है। लै शब्द संस्कृतके लयका ध्वनि परिवर्तित रूप है। शरीरके अन्दर संचरित होनेवाले प्राणवायुओंकी निरोधावस्थाका नाम लय है—'अन्तश्चराणां निरोधात्' (कालिदास)। इस प्रकार प्राणवायु या चित्तवृत्तिका भीतर-ही-भीतर विलीन हो जाना

लौ है। 'लौ' दीपककी जलती हुई अग्निशिखाका नाम है। कालिदासने शिवकी समाधिकी उपमा 'निवात निष्कम्प प्रदीप'से दी है (कुमार संभव, ३ : ४८)। संस्कृतमें समाधिकी यह उपमा बहु प्रचलित है। तात्पर्य यह कि समाधिकी अवस्थामें व्यक्ति उसी प्रकार प्रज्वलित एवं स्थिर रहता है, जैसे वायुहीन स्थानमें जलती हुई दीपशिखा। यही 'लययोग' है। सन्तोंका लै या लौ शब्द उक्त लय एवं लौ का मिलाजुला अर्थ देता है और चित्तवृत्तियोंके विलय, समाधि आदिका वाचक है। लै, लौका ही एक दूसरा रूप 'ल्यो' है। अर्थ इसका भी वही है। सन्तोंने लौलीन, लवलीन, और यदाकदा 'बिलै' शब्दका प्रयोग भी इसी अर्थमें किया है। समाधिकी इसी अवस्थाका उल्लेख करते हुए कबीर कहते हैं—"जिहि बन सिंघ न संचरै, पंखी उड़ि नहि जाइ। रैनि दिवसकी गमि नही, तहाँ (रहा) कबीर लौ लाइ॥" (क० ग्रं०, ति०, पृष्ठ १७३, ४)। लौलीनका प्रयोग भी इसी अर्थमें कबीर आदिने बहुशः किया है—"छाँड़्यो गेह नेह लगि तुमसे भई चरन लौलीन" (क० ग्रं०, ति०, प० १५)। लै अर्थमें बिलै शब्दका प्रयोग दादूने इस प्रकार किया है—"राम कहत रामहि रह्या आप विसर्जन होइ। मन पवना पंचौ बिलै, दादू सुमिरण सोइ" (दादूदयालकी अनभै वाणी, पृ० ११५)। —रा० दे०सि०

लोक—शब्दकोशोंमें लोक शब्दके कितने ही अर्थ मिलेंगे, जिनमेंसे साधारणतः दो अर्थ विशेष प्रचलित हैं। एक तो वह जिससे इहलोक, परलोक अथवा त्रिलोकका ज्ञान होता है। वर्तमान प्रसंगमें यह अर्थ अभिप्रेत नहीं। दूसरा अर्थ लोकका होता है जनसामान्य—इसीका हिन्दी रूप लोग है। इसी अर्थका वाचक 'लोक' शब्द साहित्यका विशेषण है। किन्तु इतनेसे लोकका वह अभिप्राय प्रकट नहीं हो पाता, जो साहित्यके विशेषणके रूपमें वह प्रदान करता है।

वास्तवमें साहित्यको यह एक नया विशेषण मिला है। भाषाकी दृष्टिसे साहित्यका भेद हमें विदित है। हम हिन्दी साहित्य, बँगला साहित्य, अंग्रेजी साहित्य कहने और समझनेके अभ्यस्त हैं। वैसे ही स्थल-भेदसे भी साहित्य हमारे लिए अपरिचित नहीं, भारतीय साहित्य, यूरोपीय साहित्य आदि। भाषा और स्थलके भेद भौगोलिक है, किन्तु यह लोकसाहित्य किस प्रकारका साहित्य है? लोक विशेषण किस अन्य प्रकारके साहित्यकी सम्भावना मानता है? ये प्रश्न हैं। भारतीय साहित्यमें तो हमें परम्परासे 'लोक' और 'वेद'का कुछ विभेद विदित होता है। लोक-परिपाटी और वेद-परिपाटी जैसी दो पृथक् परिपाटियाँ है। 'महाभारत'में लोक-वेद-विधिमें विरोधको बतानेवाले कई काव्य मिलते हैं—"वेदाच्च वैदिकाः शब्दाः सिद्धा लोकाच्च लौकिकाः"। 'भगवद्गीता'में—"अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः" आदि।

लोक तथा वेदका पुराना अन्तर यह बताता था कि जो वेदमें स्पष्टतः नहीं है, वह यदि लोकमें हो अथवा जो वेदमें है, उसके अतिरिक्त लोकमें हो, वह लौकिक है। यहाँ साहित्यमें लोक अथवा लौकिक किसी अवहेलना अथवा उपेक्षाका भाव प्रकट नहीं करता। यद्यपि लोकसाहित्यका लोक वेदमें एक भिन्नताका भाव तो प्रकट करता है, फिर भी उस समस्त अर्थको प्रकट नही करता, जो ऊपर बताया गया है। यहाँ वैदिकसे भिन्न शेष समस्त बातें लौकिक कहलायेंगी। वाल्मीकिकी 'रामायण', कालिदासका 'शकुन्तला' नाटक, भारवि-माघ-भवभूतिकी रचनाएँ सभी लौकिक कोटिकी होंगी, किन्तु लोकसाहित्यके अन्तर्गत इनका समावेश नहीं हो सकता।

वस्तुतः हमें इसके लिए अन्यत्र देखना होगा, क्योंकि लोकसाहित्य शब्द अंग्रेजीका अनुवाद है। यह अंग्रेजीके जिस शब्दका अनुवाद है, वह है 'फोक लिट्रेचर'। फोकका पर्याय लोक है और लिट्रेचरका साहित्य।

इस फोकके विषयमें 'इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका'ने बताया है कि आदिम समाजमें तो उसके समस्त सदस्य ही लोक (फोक) होते हैं और विस्तृत अर्थमें तो इस शब्दसे सभ्य राष्ट्रकी समस्त जनसंख्याको भी अभिहित किया जा सकता है, कि सामान्य प्रयोगमें पाश्चात्य प्रणालीकी सभ्यताके लिए ऐसे प्रयुक्त शब्दोंमें, जैसे लोकवार्ता (फोक लोर), लोकसंगीत (फोक म्यूजिक) आदिमें इसका अर्थ संकुचित होकर केवल उन्हींका ज्ञान कराता है, जो नागरिक संस्कृति और सविधि शिक्षाके प्रवाहोंसे मुख्यतः परे हैं, जो निरक्षर भट्टाचार्य हैं अथवा जिन्हें मामूली-सा अक्षरज्ञान है; ग्रामीण और गँवार।

हम अपनी दृष्टिसे यह कह सकते हैं 'लोक' मनुष्य-समाजका वह वर्ग है, जो आभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पाण्डित्यकी चेतना और पाडित्यके अहंकारसे शून्य है और जो एक परम्पराके प्रवाहमें जीवित रहता है। ऐसे लोककी अभिव्यक्तिमें जो तत्त्व मिलते हैं, वे लोकतत्त्व कहलाते हैं। —स०

लोक-अपवाय—लोक-अपवाय अथवा लोअप्पवाय, यह शब्द लोक अपवादसे व्युत्पन्न है। लोकापवादका हिन्दीमें आज अर्थ होता है 'लोक-निन्दा', किन्तु अपवादका अर्थ निन्दा ही नहीं होता। अपवादका एक अर्थ होता है नियमसे कोई विशिष्ट च्युति। लोकनियमोंका जहाँ उलंघन होगा, वहाँ लोकापवाद होगा। लोकापवाद अथवा लोक-अपवादका सीधा-सादा अर्थ है लोकमत। —स०

लोक-कथा—कथा शब्द सामान्यतः कहानीका पर्यायवाची है, इस दृष्टिसे तो लोक-कथा और लोक-कहानीमें कोई अन्तर नहीं होगा, किन्तु ऐसा वस्तुतः है नहीं। कथा शब्द प्रयोगमें एक विशेष प्रकारकी कहानीके लिए आता है। यह कहा जाता है कि 'रामायण'की कथा हो रही है या इसी प्रकार सत्यनारायणकी कथा, गणेश-चौथकी कथा आदि। इन प्रयोगोंसे प्रकट होता है कि कथा कोई ऐसी वार्ता है, जो किसीके द्वारा कहकर सुनायी जाती है और उसे सुनानेका धार्मिक अभिप्राय होता है। उसे सुननेवालेको धार्मिक सन्तोष प्राप्त होता है, धर्मलाभ होता है, अन्य कोई मानता पूरी होती है या पूरी करनेके लिए वह सुनी जाती है। अतः जो कहानी धार्मिक अभिप्रायसे अनुष्ठानके साथ सुनानेके लिए हो, वह कथा कही जायगी। जिसके साथ परम्परा जुड़ी हुई है और लोकमानसका तत्त्व जिसमें विशेष हो, वह लोक-कथा कही जायगी। ऐसी लोक-कथाका

बहुधा किसी-न-किसी रूपमें धर्मगाथा (दे०) या पुराण-कथासे सम्बन्ध होता है। एक पूजा-कहानी होती है, उसमें भी धार्मिक अभिप्राय रहता है, पर यह कहानी सामान्यतः पूर्णरूपेण लोक-कहानी होती है, जिसमें देवी-देवता भी अपने अनोखे रूपमें आते हैं। ऐसे ही किसी-किसी कहानीमें कोई भी देवी-देवता नहीं होता। ये पूजा-कहानियाँ केवल स्त्रियोंमें चलती हैं और इनके अन्तर्गत करवा चौथ, अहोई आठें, भैया-दूज, अनन्त चौदस, स्याऊ आदि अवसरोंपर कही-सुनी जानेवाली कहानियाँ आती हैं। लोक-कथाओंका विषय भी धार्मिक होता है, किसी-न-किसी रूपमें किसी देवी-देवताके अवतारसे सम्बन्धित होता है।

लोक-कथाके इस पारिभाषिक प्रयोगके साथ एक मुहावरेके रूपमें भी इसका प्रयोग होता है, वहाँ यह लोक-प्रवादका पर्यायवाची है। किसीके सम्बन्धमें जो चर्चा या चवैया लोकमें चलता रहता है, वह भी लोक-कथा कहलाता है। —स०

लोक-कहानियाँ—लोकमें प्रचलित और परम्परासे चली आनेवाली, मूलतः मौखिक रूपमें प्रचलित, कहानियाँ लोक-कहानियाँ कहलाती हैं। आज ऐसी कहानियाँ भी हैं, जो लिखी जा चुकी हैं, पर इतनेसे ही ये लोक-कहानीका स्वरूप नहीं छोड़ देतीं। लिखी हुई लोक कहानियोंसे यह विदित हो जाता है कि वे मूलतः मौखिक थीं। 'कथा-सरित्सागर'में कहानियोंकी भूमिकासे भी यही सिद्ध होता है कि वे कहानियाँ सुनकर लिखी गयीं। उन कहानियोंके मूल प्रवक्ता शिव हैं। लोक-कहानियोंके सम्बन्धमें एक मत यह था कि ये मूलतः धर्मगाथाएँ (दे०) ही हैं, समयके प्रभाव और मूल स्रोतसे दूर होकर इन्होंने धर्मगाथाओंके नाम-स्थान त्याग दिये हैं, यह मत आज मान्य नहीं है। कुछ कहानियाँ अवश्य ऐसी मिल सकती हैं, जिनका मूल धर्म-गाथामें हो, पर अधिकांश लोक-कहानियाँ ऐसी नहीं। कुछ समय पूर्व यह धारणा भी अत्यन्त बलवती थी कि विश्वभर-की लोक-कहानियोंका मूल एक स्थान है। वहींसे चलकर वे विश्वभरमें फैलीं। बेन्फीने यह सिद्ध किया कि वह मूल स्थान भारत है। उन्होंने भारतीय कहानियोंकी विश्वयात्रा-का क्रमबद्ध मार्ग भी निर्देशित किया। यह मत अंशतः आज भी मान्य है, पर सिद्धान्ततः इसका खण्डन हो गया है। वस्तुतः जबतक कहानियोंके अध्ययनका आधार कहानी-रूप 'टेल टाइप' रहा, यह विवाद चलता रहा। अब लोक-कहानियोंके अध्ययनका आधार रूढ़तन्तु अथवा अभिप्राय (मोटिफ) हो गया है। विश्वकी अधिकांश कहानियोंमें एकसे रूढ़तन्तु मिलते हैं। इन तन्तुओंका अध्ययन करनेसे विदित होता है कि वे सभी क्षेत्रोंमें स्वतन्त्र रूपसे निर्मित हो सकते हैं। लोक-कहानियोंके ये समस्त तुलनात्मक, ऐतिहासिक और रूढ़तन्तु-विषयक अध्ययन रोचक ही नहीं, महत्त्वपूर्ण भी हैं। इसमें शब्द-शास्त्रके लिए भी सामग्री है, और नृविज्ञानका तो यह एक आधार है। लोक-कहानीमें सांस्कृतिक सामग्री बहुत होती है और उसमें लोक-विश्वासों-का भी उल्लेख रहता है, पर ये कहानियाँ किसी भी प्रकार-की धार्मिक सन्तुष्टिसे सम्बन्ध नहीं रखतीं।

लोक-कहानी शब्दका कभी-कभी प्रयोग अंग्रेजी शब्द 'फोक टेल'के पर्यायवाचीके रूपमें भी होता है। अंग्रेजीमें यह शब्द बहुत व्यापक अर्थ रखता है और इसमें अवदान, लोककथा, धर्मगाथा, पशु-पक्षियोंकी कहानियाँ, गीति-कथाएँ आदि लोकप्रचलित वार्ताएँ सम्मिलित की जा सकती हैं। —स०

लोकगाथा—यह अंग्रेजीके 'बैलेड' शब्दका समानार्थी है। बैलेडके लिए हिन्दीमें ग्रामगीत, नृत्यगीत, आख्यानगीत, आख्यानक गीत, वीरगाथा, वीरगीत, वीरकाव्य आदि अनेक शब्दोंका प्रयोग विभिन्न लोगोंने किया है, पर इनमेंसे कोई भी शब्द बैलेड शब्दका पूर्ण और सही अर्थ नहीं व्यक्त करता। ग्रामगीत, जिसे लोकगीत भी कहते हैं, कई प्रकार-का होता है और लोकगाथा उसका एक रूप है। लोकगाथा-में कोई कथा अवश्य होती है। पर सभी लोक गीतों या ग्रामगीतोंके लिए कथातत्त्व आवश्यक नहीं। आख्यानगीत या आख्यानक गीत भी बैलेडका सही अनुवाद नहीं है, क्योंकि इससे बैलेडके लोककाव्य होनेकी व्यंजना नहीं होती। आख्यानक गीत साहित्यिक भी होते हैं, पर उन्हें वास्तविक लोकगाथा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे लोकगाथाकी तरह मौखिक परम्परामें विकसित और लोक-प्रचलित या लोकोद्भूत नहीं होते। वीरगीतसे वीरता-व्यंजक गीतिकाव्यका बोध होता है, पर लोकगाथा गीति-काव्यके अन्तर्गत नहीं, आख्यानक काव्य या प्रबन्धकाव्यके अन्तर्गत आती है। वीरगाथा शब्द भी भ्रामक है, क्योंकि सभी लोकगाथाएँ वीरतापरक ही नहीं होतीं, उनमें कुछका वर्ण्य विषय प्रेम और शृंगार और कुछका धर्म भी होता है। इसके अतिरिक्त वीरगाथा और वीरकाव्य शब्दोंसे उस लोक-तत्त्वका बोध नहीं होता, जो लोकगाथाका अनिवार्य अंग है। अतः बैलेड शब्दका सबसे उपयुक्त हिन्दी रूपान्तर लोकगाथा ही है।

'इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका'के अनुसार इंग्लैण्डमें बैलेड उस काव्यरूपका नाम है, जिसमें सीधे-सादे छन्दोंमें कोई सीधी, सरल कथा कही गयी हो। प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान् डब्ल्यू० पी० केरके मतके अनुसार बैलेड वह कथात्मक गेय काव्य है, जो या तो लोककण्ठमें ही उत्पन्न और विकसित होता है या लोकगाथाके सामान्य रूप-विधानको लेकर किसी विशेष कवि द्वारा रचा जाता है, जिसमें गीतात्मकता (लिरिकल क्वालिटी) और कथात्मकता, दोनों होती है और जिसका प्रचार जन-साधारणमें मौखिक रूपमें एक पीढ़ीसे दूसरी पीढ़ीमें होता रहता है (फॉर्म एण्ड स्टाइल इन पोइट्री, पृ० ३)। जोजेफ टी० शिप्लेकी 'डिक्शनरी ऑव वर्ल्ड लिटरेरी टर्म्स'के अनुसार बैलेड शब्दका प्रयोग तीन अर्थोंमें होता है—(१) साहित्यके क्षेत्र-में सीमित और विशिष्ट अर्थमें बैलेड मुख्यतः एक लघु कथात्मक और प्रगीतात्मक काव्यका नाम है; (२) सामान्य अर्थमें इस शब्दका प्रयोग किसी भी ऐसे लघु गीतके लिए होता है, जो हमारी भावात्मक सत्ताका स्पर्श करता है; (३) संगीतके क्षेत्रमें भी बैलेड शब्दका प्रयोग होता है, जो एकाकी वाद्य सहित या समवेत किसी भी प्रकारका होता है, अथवा जो नृत्यके साथ गाया जाता है। पियानो और वाद्यवृन्दपर गानेके लिए भी बैलेड लिखे

जाते है। इससे स्पष्ट है कि पश्चिमी देशोंमें बैलेड शब्दका प्रयोग विविध अर्थोमे होता है। किन्तु साहित्यशास्त्रियोके बीच उसकी वह विशिष्ट और सीमित अर्थवाली परिभाषा ही मान्य है, जो डब्ल्यू० पी० केरने बतायी है। वह लोककण्ठमे निर्मित और विकसित होता है और उसमे छन्दोबद्ध कथा (गाथा) भी होती है, अतः लोकगाथा ही उसका सबसे उपयुक्त और सार्थक नाम हो सकता है। लोकगाथा मानव-समाजका आदिम साहित्यिक रूप है। मानव जब कबीलोमें रहता था, तब उसकी सामाजिक मनोभावनाकी अभिव्यक्ति सामूहिक नृत्य-गीतके रूपमे होती थी। देवी-देवताओ या पूर्वपुरुषो या टोटेमकी कल्पना उदित होनेपर उनसे सम्बन्धित आख्यान भी उन नृत्य-गीतोके वर्ण्य विषय बन गये। ये ही आख्यानक नृत्य-गीत लोकगाथाके प्रारम्भिक रूप थे। सामूहिक नृत्य-गीतने बादमे समवेत नृत्य-गीत-(कोरल डांस)का रूप धारण किया, जिसमें थोडेसे विशेषज्ञ व्यक्ति (स्त्री और पुरुष) नृत्य-गान करते और अन्य लोग देखकर आनन्द लेते थे। उसके बाद ज्यों-ज्यो समाजमे व्यक्ति-भावना विकसित होती गयी, संगीत, नृत्य और काव्य विच्छिन्न होते गये और उनके विशेषज्ञ भी समाजके और लोगोसे विशिष्ट स्थान रखने लगे। समवेत नृत्य-गीतमे पहले सब साथ नाचते-गाते थे। बादमे कोई एक व्यक्ति अगुआ बनकर गाता या नाचता था और अन्य उसीका अनुसरण करते थे। विशिष्ट प्रतिभा और स्मरणशक्तिवाले व्यक्ति नृत्य, संगीत और आख्यानमे अलग-अलग विशेषज्ञता प्राप्त करने लगे। इस तरह सामूहिक या समवेत नृत्य-गीत-से ही नृत्य-संगीत और काव्य (गीत और गाथा)का अलग-अलग कलाओके रूपमे विकास हुआ। इन्ही गाथाविद् (गाथिन्) अगुओसे आगे चलकर कवि, चारण, सूत मागधादिका पेशागत या जातिगत विकास हुआ। प्राचीन लिखित साहित्य और आधुनिक युगमें सामान्य अशिक्षित जनता, विशेषकर आदिम जातियोके मौखिक साहित्यमें उपर्युक्त कथन प्रमाणित होता है। ऋग्वेदके कुछ संवाद-सूक्तो और नाराशंसी गाथाओको प्राचीनतम लोकगाथा माना जा सकता है। पुराणों और महाभारतमे भी इस तरहकी लोकगाथाएँ शिष्ट साहित्यिक रूप धारण कर समाविष्ट हो गयी है।

लोकगाथाओंकी उत्पत्ति सर्वप्रथम तब हुई, जब समाज अविभक्त और एक इकाईके रूपमे था। इस कारण लोकगाथाएँ प्रारम्भमे समूचे समाजकी सम्पत्ति थी, सभी इन्हे गाते और अपनी ओरसे उनमे कुछ-न-कुछ जोड़ते-घटाते थे। इस तरह एक स्थानसे दूसरे स्थानमे और एक पीढीसे दूसरी पीढ़ीमे कण्ठानुकण्ठ यात्रा करते रहनेके कारण उनका रूप नित्य परिवर्तनशील रहा। बादमें समाजके वर्ग विभक्त हो जानेपर उच्च वर्गोंके बीच कुछ विशेषज्ञों, कवि-चारण आदि—द्वारा साहित्यकी रचना होने लगी और साहित्य उनका वैयक्तिक कृतित्व माना जाने लगा, अब वह समूचे समाजकी सम्पत्ति नही रह गया। किन्तु सामान्य जनतामें, जो अभी भी एक इकाईके रूपमें थी और शिक्षा तथा शिष्ट संस्कारों द्वारा परम्परा-विरहित नहीं हुई थी, वे पुरानी लोकगाथाएँ कण्ठानुकण्ठ विकसित होती और नवीन गाथाएँ निर्मित होती रहीं। ऐसे समाजमें लिखने-पढनेकी प्रथा न होनेसे वे लोकगाथाएँ अलिखित रूपमे ही बनी रहीं। इसी कारण उनकी प्राचीन हस्त-लिखित प्रतियाँ नही मिलतीं।

लोकगाथाएँ गानेके लिए होती है। इनमेंसे कोई-कोई नृत्य या वाद्यके साथ गायी जाती है और जो नृत्य-वाद्यके साथ नही गायी जातीं, उनका भी अपना-अपना अलग राग होता है। इन लोकगाथाओके विशेषज्ञ ही इन्हे गाते है। पर इन गानेवालोंको भी गुरु या बाप-दादोसे सीखी हुई गाथा ज्यों-की-त्यों याद नही रहती, अतः ये कथाके भीतर प्रायः नये प्रसंग जोड देते है। इनमे आशु कविता करनेकी शक्ति होती है, वे गाथाकी भाषाको भी बदलते रहते है। इसी कारण किसी भी लोकगाथाका सर्वत्र एक जैसा पाठ नही मिलता।

लोकगाथाकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें लोकसाहित्यके विशेषज्ञोंके मुख्यतः तीन मत है— (१) लोकनिर्मितिवाद, (२) व्यक्ति-निर्मितिवाद और (३) विकासवाद।

१. लोकनिर्मितिवाद (कम्यूनल ऑथरशिप)के प्रवर्तक जैकब ग्रिम और विल्हेम ग्रिम तथा समर्थक स्टीनथाल टेनब्रिन्क आदिका कहना है कि भाषा, पौराणिक विश्वास, रीतिरिवाज और नीतिशास्त्रके समान लोकगाथाओंका किसी रहस्यमयी प्रक्रियासे विकास हुआ है, अर्थात् उनकी रचना पूरे समाज द्वारा हुई है, वे अपौरुषेय काव्य हैं। व्यक्तियो द्वारा उनकी रचना नही होती।

२. व्यक्तिनिर्मितिवाद (इनडिविडुअल ऑथरशिप) श्लीगेल, उह्लैण्ड, टाल्बी, बिशप परसी, रिस्टन, स्काट आदिका मत है। इनका कहना है कि प्रत्येक कविताके पीछे किसी-न-किसी कविका हाथ अवश्य रहता है। पूरे समाज द्वारा काव्य-रचना नही हो सकती, अलग-अलग व्यक्ति (कवि) ही काव्य निर्मित करते है। अतः लोकगाथाओकी रचना भी विशिष्ट कवि ही करते थे, समूचा समुदाय नही। रचना हो जानेके बाद अवश्य उनपर पूरे समाज या समुदायका अधिकार हो जाता था, रचनाकार अपना कार्य करके अलग हो जाता था। इन विद्वानोंमेंसे कुछका कहना है कि लोकगाथाका प्रारम्भ चारणों और गायकों द्वारा हुआ।

३. विकासवाद आधुनिक विद्वानोंने, जिनमें चाइल्ड, डब्ल्यू० पी० केर, गमियर और ऐण्ड्रू लैण्ड प्रमुख है, प्रतिपादित किया है। इनका विचार है कि लोकगाथाओंकी रचना नही, उनका विकास हुआ है, अर्थात् अनेकानेक व्यक्तियोके अलग-अलग प्रयत्नोंके फलस्वरूप वे विकसित हुई है। जैसे नदीके प्रवाहमे पत्थरके टुकड़े घिस-घिसाकर गोल और सुन्दर आकार धारण कर लेते है, उसी तरह लोकगाथाएँ जहाँ-कहींसे, जिस किसीके द्वारा प्रारम्भ हुई हों, वे लोककण्ठमे युग-युगतक प्रवाहित होकर नित नवीन रूप धारण करती रहती है और तबतक विकसित होती रहती है, जबतक पढ़े-लिखे लोग उन्हे लिख या छापकर उनका रूप स्थिर नही कर देते।

लोकगाथाकी निम्नलिखित विशेषताएँ होती है, जिनका उल्लेख ए० बी० गमियरने अपनी पुस्तक 'ओल्ड इंग्लिश

बैलेड्स'की भूमिकामे किया है—

(१) उसमें आत्मव्यंजक तत्त्व (सब्जेक्टिव एलीमेण्ट)-का पूर्णतः अभाव होता है, अर्थात् वह अनिवार्यतः वस्तु-व्यंजक (आब्जेक्टिव) होता है। (२) वह लोकका काव्य है। लोक द्वारा ही उसका निर्माण और विकास होता है। कण्ठानुकण्ठ प्रसार और प्रचार होनेके कारण उसका निश्चित पाठ नहीं होता और न उसकी लिखित प्रतियाँ ही होती है। (३) उसमे श्रमसाध्य कलात्मकता नहीं होती, किन्तु यथार्थ-चित्रणकी प्रवृत्ति अधिक होती है। उसमे अनावश्यक भरतीकी सामग्री और वाग्जाल नहीं होता। (४) उसमें परम्परा-प्रेमकी भावना, सहजोच्छ्वास, भावात्मकता और सरल कल्पना (डाइरेक्ट विजन)की मात्रा जितनी अधिक होती है, उतनी बौद्धिकता, कल्पनाशीलता और श्रमसाध्य कलात्मकताकी नहीं। (५) उसमे भाषा और विचारोंकी सरलता होती है और नैसर्गिकता तो ऐसी होती है, जो केवल प्रारम्भिक मानव समाजमें ही मिलती है। (६) उसमें रूढ़, अस्वाभाविक और श्रमसाध्य अलंकारों और शब्दोंका अभाव होता है। उसमे प्रयुक्त अलंकार और शब्द व्यावहारिक जीवनसे गृहीत होते हैं, परम्परागत साहित्यिक स्रोतोंसे नहीं। (७) उसमे कुछ विशेष अलंकारों, मुहावरों और विशेषणोंकी आवृत्ति बार-बार होती है। (८) उसका छन्द सीधा-सादा और सरल होता है और तुकोंपर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। (९) उसमे गेयता होती है, परन्तु वह शास्त्रीय संगीतसे भिन्न, सरल होती है। (१०) उसमे कोई छोटी या बड़ी कथा अवश्य होती है।

लोकगाथाओंका प्रचार अधिकतर अपढ ग्रामीण लोगोंमें ही होता है। शिक्षाका प्रचार ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, लोकगाथाओंके प्रति पढ़े-लिखे लोगोंकी रुचि कम होती जाती है। उस समय उनके संरक्षक अथवा समाजशास्त्रीय अध्ययनकी दृष्टिसे उनका संग्रह और प्रकाशन किया जाता है। छप जानेके बाद उनका रूप स्थिर हो जाता है। छपाईकी मशीनके आविष्कारके बाद लोक-कवि पूर्वप्रचलित लोकगाथाओंके अनुकरणपर नयी-नयी गाथाएँ लिखकर छपाने और बाजारोंमें बेचने लगते हैं, पर ये कृत्रिम गाथाएँ हैं, वास्तविक लोकगाथा नहीं। अंग्रेजीमें इन्हें 'ब्रॉड साइड बैलेड' कहा जाता है।

हिन्दी भाषा-भाषी विभिन्न प्रदेशोंमें भिन्न-भिन्न लोक-गाथाएँ पायी जाती है। कुछ लोकगाथाएँ ऐसी भी है, जो विभिन्न प्रदेशोंमें रूपभेदोंके साथ मिलती है; उनकी भाषा भिन्न हो गयी हैं, पर मूल कथा एक ही है। कुछ लोकगाथाएँ तो विकसित होकर गाथाचक्र और लोकमहाकाव्य (फोक एपिक)का रूप धारण कर चुकी है। 'आल्ह-खण्ड' ऐसा ही महाकाव्य है। हिन्दीकी अन्य प्रमुख लोक-गाथाएँ ये हैं—'लोरिकायन', 'सोरठी', 'विजयमल', 'भरथरी', 'गोपीचन्द' और 'कुँवर सिंह' (दे० 'नृत्यगीत', 'साहित्यिक लोकगाथा')। —शं० ना० सिं०

लोकगीत—लोकगीत शब्दके ये अर्थ हो सकते है—(१) लोकमें प्रचलित गीत, (२) लोकनिर्मित गीत, (३) लोक-विषयक गीत।

वस्तुतः लोकविषयक गीत शब्दका अर्थ इस प्रसंगमें अभिप्रेत नहीं। लोकगीत लोकमे प्रचलित गीत ही होता है, पर इस प्रचलनके दो अर्थ ही हो सकते है, एक तो किसी समयविशेषमात्रमे प्रचलित। ऐसा होता है कि कभी-कभी कोई गीत कुछ समयके लिए लोकमे बहुत प्रचलित हो जाता है। यह प्रचलन अस्थायी होता है, कुछ समय उपरान्त वह समाप्त हो जाता है। ऐसे अत्यन्त अस्थायी गीत लोकगीतके अन्तर्गत नहीं आयेंगे। दूसरे अर्थमें ऐसा प्रचलन आता है, जिसकी एक परम्परा बनती है, जो कुछ पीढियोंतक चलती जाती है। किन्तु ऐसे गीतोंके भी दो प्रकार होते है। हमें आज भी तुलसी, सूर, कबीरके भजन परम्परासे पीढ़ी-दर-पीढ़ी चले आते मिलते है। ये गीत भी यथार्थतः लोकगीतकी सीमामे नहीं आ सकते। लोकगीत तो वह प्रकार है, जिसको ऐसे किसी व्यक्तित्वसे सम्बन्धित नहीं किया जा सकता, जिसकी मेधा लोक-मानसकी स्वाभाविक मेधा नहीं। जब ऐसा है तभी यह प्रश्न प्रस्तुत होता है कि तो क्या लोकगीत लोक द्वारा निर्मित होते है?

अभाववादी व्यक्ति यह मानेंगे कि लोक कोई ऐसी सत्ता नहीं, जो गीत बना सके। लोक तो मनुष्योंका ही समूह है, उसमेसे कोई एक व्यक्ति ही गीत बना सकता है। इस कथनमे सत्य अवश्य है, पर लोकगीत वस्तुतः वही हो सकता है, जिसमें रचयिताका निजी व्यक्तित्व नहीं होता। वह लोक-मानससे तादात्म्य रखता है और ऐसी व्यक्तित्व-हीन रचना करता है कि समस्त लोकका व्यक्तित्व ही उसमे उभरता है और लोक उसे अपनी चीज कहने लगता है। वह लोकका अपना गीत होता है, जो परम्परामें पड़ जाता है और परम्परा उसमें समय-समयपर अनुकूल परि-वर्तन करती रहती है।

ऐसे लोकगीतोंमें एक ओर तो ऐसे गीत हो सकते हैं, जिनमें लोकवार्ता-तत्त्व समाविष्ट हो। ऐसे गीतोंमे भूविज्ञान-विद्‌के लिए बहुत सामग्री रहती है। दूसरी ओर ऐसे भी गीत लोकगीत होते है, जिनमे लोक अपने मनोरंजनके उपकरण जुटाता है। इन दोनों प्रकारके गीतोंमे लोक-संस्कृतिके विविध चरण परिलक्षित होते हैं। एक ओर लोकगीत अपौरुषेय भी होते हैं, ऐसे गीत, जिन्हे स्त्रियाँ भी गाती है। विविध अनुष्ठानोंके अवसरोंपर ये अपौरुषेय गीत गाये जाते है। दूसरी ओर केवल पुरुषोंके गानेके भी गीत होते है। ये प्रायः लोकरंजक होते है। स्त्री-पुरुष दोनो मिलकर सामूहिक रूपमें भी गाते है। बच्चोंके गीतोंमें अद्‌भुत कल्पनाका छटाक्षेप होता है अथवा शिक्षा होती है। बालिकाओंके गीत भी अलग मिलते हैं। ये गीत उनके खेलोंसे सम्बन्धित रहते हैं। जैसे प्रत्येक अनु-ष्ठानके साथ कोई-न-कोई गीत रहता ही है, वैसे ही ऋतुओंके अनुकूल भी गीत होते हैं। गीतोंका सम्बन्ध मनुष्यके कामों और गतियोंसे भी रहता है। चक्की पीसते समय, पैर चलाते समय कोई-न-कोई गीत गाये जाते हैं। गीत छोटे भी होते है और बड़े भी, इतने बड़े हो सकते हैं कि कई दिन उनके गानेमें लगें। इन बड़े गीतोंमें प्रायः कोई लम्बी कथा दी रहती है। ऐसे गीतोंके नाम उनके विषयके अनुरूप होते है और उनकी तर्ज भी बँध जाती है। 'ढोला' नामक गीत नलके पुत्र ढोलाके नामपर है

और 'ढोला' गीतकी एक तर्जका भी नाम हो गया है; ऐसे ही 'आल्हा'। कुछ गीत किसी विशेष गायकवर्गसे सम्बन्धित होते है। यह वर्ग उन गीतोंको गा-गाकर अपनी आजीविका चलाते है। भोया 'भैरों'के गीत गा-गाकर भिक्षा एकत्र करते हैं। कुछ विशेष नामवाले लोकगीत भी है, जैसे 'साके'। साकोंमें किसी वीरकी गाथा रहती है। 'पँवारा' भी ऐसा ही होता है।

लोकगीत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लोकाभिव्यक्ति है। विदेशों-में लोकगीतोका वैज्ञानिक अध्ययन बहुत आगे बढ़ गया है। भारतमे तो अभी संग्रहका काम भी पूरा वैज्ञानिक परिपाटीपर नही हो पाया है। उनकी लय, सुर, ताल, चरण, टेक, प्रकृति और प्रत्येकके इतिहास या विज्ञानका अध्ययन तो आगेकी बात है। लोकगीतोंको भी अभी साहित्यिक अनुसन्धानका विषय बनाया गया है, लोकवार्ता-विज्ञानकी दृष्टिसे इनका अनुसन्धान नहीं हो रहा है।—स०

लोकजत्ता (लोक-यात्रा)—लोक-यात्राका अर्थ है लोककी यात्रा—(१) संसार-यात्रा, जीवन, (२) व्यवहार, (३) व्यापार। दण्डीने इस शब्दका प्रयोग अपने 'काव्यादर्श'-(१ : ३)में यों किया है—"इह शिष्टानुशिष्टानां शिष्टानामपि सर्वथा। वाचमेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते"। लोक-यात्राका प्रधान अर्थ लोक-व्यवहार है। इस शब्दको लोक-साहित्यके क्षेत्रमें लेनेसे लोकका ऐसा समस्त व्यवहार इसमें सिद्ध होगा, जो परम्परासे चला आ रहा है, जिसके लिए लोकप्रमाणके अतिरिक्त कोई दूसरा प्रमाण नहीं। व्यवहार-के शब्दके नाते इसमें आचारकी प्रधानता होगी, लोककी कलात्मक अभिव्यक्तिके अन्य रूप इसमें नही आयेंगे। —स०

लोक ज्ञान—लोक सामान्यतः कितना ज्ञान रखता है, इसका अध्ययन ही लोक-ज्ञानके अन्तर्गत आता है। लोक-ज्ञानसे लोक-संस्कृतिकी मानसिक समृद्धिका पता लगाते हैं। —स०

लोकनाट्य—लोक-नाट्यकी उत्पत्ति लोकविश्वास, लोक-प्रचलन, धार्मिक रूढियाँ, जन-परम्पराएँ, वीर पूजा, मनोरंजन, उत्सव, मांगलिक पर्व तथा शोकके अवसरों आदि धारणाओके बीच हुई है। अनेक विद्वान्, नाटकोकी उत्पत्ति लोकनाट्यसे ही बताते है। डॉ० नगेन्द्रके अनुसार जीवनकी सामूहिक आवश्यकताओं एवं प्रेरणाओंके बीच इसका जन्म हुआ होगा। संस्कृतके अनेक उपरूपक तथा रूपकोंमे डिम, प्रहसन, भाण, हल्लीसक, रासक, रास, लास्य, लास्यनाट्क वीथी, नर्तनक, रामाक्रीड आदि लोक-नाटकोंके ही परिष्कृत रूप है। हल्लीसक, रास तथा नर्तनक-के लोक-नाट्यके रूपमें अभिनीत होनेके अनेक प्रमाण मिलते हैं। लोकसे सम्बन्धित उत्सवों, अवसरों, मांगलिक पर्वों तथा कार्योंपर इनका अभिनय आवश्यक माना जाता है। इनके लिए उत्कृष्ट कोटिके रंगमंच तथा आकर्षक एवं बहुमूल्य साजसज्जाकी आवश्यकता नही पड़ती। लोक-नाट्यको प्रधानतया दो भागोंमें विभक्त किया जाता है :—**(क) नृत्यपरक लोकनाट्य (ख) प्रहसनात्मक लोक-नाट्य**। प्रहसनात्मक नाटकोंमें विभिन्न कथन, शारीरिक मुद्राएँ एवं वेशभूषा हास्यास्पद कोटिकी होती है और इन्हीके द्वारा व्यंग्यपूर्ण अभिनय किया जाता है। नृत्य-परक लोकनाट्यमें सामाजिक तथा पौराणिक घटनाको आधार बनाकर संगीत, नृत्य तथा अभिनयकी सहायतासे मनोरंजन किया जाता है। लोकनाट्य सम्पूर्ण भारतमें विभिन्न रूपोंमें प्राप्त हैं। कुछ आदिम जातियोंके लोक-नाट्योंका अभीतक संकलन नही हो पाया है। भारतीय लोकनाट्योंके कतिपय निम्न स्वरूप विभिन्न प्रान्तोंमे अधिक प्रचलित हैं—उत्तर प्रदेशमे रामलीला, रासलीला, स्वांग, नौटंकी, भाण, चभरवा, कँहरवा, मध्यप्रदेशमें मॉच, गुजरातमे भॅवाई, बंगालमे जात्रा, कीर्तन, रास, गंभीरा, महाराष्ट्रमें तमाशा, ललित, गोंधल, बहुरूपिया तथा दशावतार एवं तमिल, तेलुगु और कन्नड़मे यक्ष गान अधिक प्रचलित है। तेलुगुमें इसीको विथि, विथिनाटकम् या भागवत नाटकम् भी कहते है। उत्तर प्रदेशमें लोकनाट्यों-की लिखित परम्परा भी अनेक वर्षोंसे प्रचलित हो चुकी है। लोकनाट्यके लेखकोंमें सेठू सिंह, धीसा, फूल सिंह, शंकरदास, चन्द्रपाल जाट, चन्दरवादी, तौकासिंह आदिकी गणना की जाती है।

[सहायक ग्रन्थ—लोकधर्मी नाट्यपरम्परा : श्याम-परमार; भारतीय नाट्य साहित्य : नगेन्द्र; फेथ, फेयर्स एण्ड फेस्टिवल्स ऑव इण्डिया : सी० एच० बक।] —यो० प्र० सिं०

लोकनृत्य—लोकनृत्य वस्तुतः प्राकृतिक नृत्य है। लोक-जीवनमें जहाँ भी भावुकताके क्षण आते है, वहीं उसके अनुकूल किसी-न-किसी प्रकारके नृत्यका रूप प्रकट होने लगता है। इन नृत्योंमें कला तो स्वभावतः होती ही है, पर कलात्मक होनेका चैतन्य नही होता। अतः आदिम और जंगली जातियोंमें यह नृत्य जितना सशक्त होता है, उतना अन्य जातियोमे नही। इसका यह अर्थ नही कि अन्य क्षेत्रो अथवा जातियोंमे लोकनृत्य हो ही नही सकता। सभ्यसे सभ्य जातियोंमे भी एक लोकमानसका अंश रहता है, अतः उसमें भी किन्हीं असावधान क्षणोंमें परम्पराके फलस्वरूप लोकनृत्य फूट पड़ते है। ये उतने सशक्त नहीं होते और कितने ही संशोधनोंसे युक्त हो जाते है। लोकनृत्योका विषय जीवन-चक्र ही होता है। यौन संकेत, कृषि तथा सन्ततिवृद्धि, भूत-प्रेतनिवारण, जादू-टोना, ऋतु-आवाहन, विवाह, जन्म-मृत्यु—ये सभी किसी-न-किसी रूपमें संकेतमुद्राओं अथवा प्रतीक अभिप्रायोसे नृत्योंके द्वारा प्रकट होते रहते है। साधारण लोकनृत्य सामूहिक होते है, पर व्यक्तिनिष्ठ भी हो सकते है। जीवन और प्रकृतिसे घनिष्ठतः सम्बन्धित होनेके कारण लोकनृत्योंका रूप किसी वर्गके अपने व्यवसायके अनुकूल हो जाता है। कृषकोंका नृत्य, पशुपालकोंसे भिन्न हो जाता हैं और अहेरियोका कुछ और ही होगा। लोकनृत्यका जन्म तीन वासनाओंकी प्रक्रियाओं-से हुआ है—आकर्षकको उपलब्ध करनेकी चेष्टासे, अना-कर्षकसे बचनेकी चेष्टासे तथा इन चेष्टाओंके लिए टोनेके रूपमें प्रत्येक नृत्यमें किसी-न-किसी प्रकारके टोना-संकेतसे। मेघ-वर्षाके लिए नृत्य किये जाते हैं। अति वर्षा हो तो उसे रोकनेके लिए नृत्यविधान रहता है। देवी-देवताको प्रसन्न करनेके लिए नृत्य होते है। देवताका शरीरमें आवा-

हन करनेके लिए नृत्य होते हैं। फसल अच्छी हो, इसलिए नृत्य होते हैं। ऐसे टोनेके नृत्यके साथ कोई-न-कोई टोटका या अनुष्ठान भी लगा रहता है। विवाहके अवसरपर भी आनुष्ठानिक नृत्यका विधान रहता है। शास्त्रीय नृत्यका मूल लोकनृत्यमें रहता है। लोकनृत्यकी उद्दामताको अनुशासित करके और उसे ऐसे सिद्धान्तोंमें बाँधकर प्रस्तुत किया जाता है, जो उस आवेगको अभिप्रायकी दृष्टिसे सौन्दर्य-उपलब्धिके एक स्तरपर दृढ कर देते हैं। लोकनृत्य ऐसे किसी कृत्रिम सिद्धान्तकी सीमाएँ नहीं स्वीकार करता। —स०

लोक-परंपरा—लोगोंमें जो रीति-रिवाज परम्परासे चले आते हैं, वे लोक-परम्परा कहलाते हैं। परम्परासे एक शृंखलाका भाव तो मिलता है, पर उसमें निहित समृद्धि अथवा सामग्री गौण हो जाती है। लोकवार्ता लोक-परम्परामें अपनी सामग्री ग्रहण करती है। लोक-परम्परा लोकवार्ताका सहायक तत्त्व है। —स०

लोक-प्रतिभा—प्रतिभा मानसिक और बौद्धिक विधायक तत्त्वको कहते हैं। लोकवार्तामें लोक-प्रतिभा प्रकट होती है, उससे हम जान सकते हैं कि लोकने सामान्यतः सहज ही कितनी मेधा उपलब्ध कर ली है। लोक-प्रतिभा लोकवार्तासे निष्कर्षरूपमें जानी जा सकती है। न तो समस्त लोकवार्ता ही लोक-प्रतिभा है, न लोक-प्रतिभा लोकवार्ता है। —स०

लोक-प्रवाह—लोक-प्रवाह लोक-परम्पराके अर्थके निकट होते हुए भी प्रवाहके कारण केवल उन शक्तियोंसे युक्त गतियोंका अर्थ दे सकता है, जो लोकको आन्दोलित किये रहती है। लोक-वार्ता एक छोटेसे मरणासन्न प्राचीन वर्गकी भी हो सकती है, पर प्रवाह केवल सशक्त परम्पराको ही महत्त्व देगा और प्रवाह भावुकतासे भी युक्त होगा। लोकवार्ता तो लोकके अन्तरालमें जमकर बैठी हुई परम्परासे सम्बन्धित होती है। —स०

लोक-मानस—लोक-साहित्यके निर्माणके पीछे एक सामूहिक लोक-मानसकी कल्पना अनेक विद्वानोंने की है। उनकी विचारधाराओंके अनुसार लोकगीतों तथा लोककथाओं आदिकी रचना समस्त लोक एक साथ करता है, उनके निर्माणमें लोक-प्रतिभाके सच्चे रूपका दर्शन होता है। प्रसिद्ध डेनिश भाषावैज्ञानिक जैस्पर्सनने उक्त मतका खण्डन किया है। उसके अनुसार किसी भी प्रकारके लोक-साहित्यकी रचना अन्ततः कोई एक व्यक्ति करता है, बादमें परिवर्तन-परिवर्धन भले ही पूरा समाज करता रहे। इस दृष्टिसे लोक-साहित्य भी शिष्ट साहित्यकी भाँति मूल रूपसे अलग-अलग व्यक्तियों द्वारा रचित होता है। मौखिक परम्परासे चलनेके कारण फिर लोक उसमें अनेक प्रकारके प्रक्षेपण कर लेता है। —रा० स्व० च०

लोक-वाङ्मय—कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि लोकवार्ताके अन्तर्गत लोककी वही अभिव्यक्ति आनी चाहिये, जो वाणीके द्वारा प्रकट होती है। ऐसी समस्त अभिव्यक्तिको लोक-वाङ्मय कहा जाना चाहिये। लोक-वाङ्मय शब्द बहुत विस्तृत अर्थवाला है। लोककी व्यावसायिक और व्यापारिक अभिव्यक्ति भी इसके अन्तर्गत आ सकती है, जो नैमित्तिक हो और परम्परा न रखती हो। —स०

लोकवार्ता—लोकवार्ता अंग्रेजी 'फोकलोर'का पर्यायवाची है और उसी शब्दकी भाँति लोक—'फोक' और वार्ता—'लोर'के संयोगसे बना है। लोकवार्ता एक विशेष अर्थका वाचक शब्द है। सन् १८४६ ई०में इस शब्दके अंग्रेजी पर्याय 'फोकलोर'का प्रयोग इस विशेष अर्थमें डब्ल्यू० जे० थामसने किया था। उस समयसे लोकवार्ताके अन्तर्गत वह समस्त आचार-विचारकी सम्पत्ति आ जाती है, जिसमें मानवका परम्परित रूप प्रत्यक्ष हो उठता है। थामस महोदयने यह शब्द सभ्य जातियोंमें मिलनेवाले असंस्कृत समुदायकी प्रथाओं, रीति-रिवाजों तथा मूढाग्रहोंको अभिव्यक्त करनेके लिए गढा था। कुछ समय उपरान्त ही लोकवार्ताका संग्रह-संकलन और अध्ययन होने लगा। इसीके परिणामस्वरूप लोकवार्ताको विज्ञानका रूप देनेके प्रयत्न किये गये। इसके उपरान्त धीरे-धीरे लोकवार्ताको वैज्ञानिक महत्त्व मिलने लगा।

लोकवार्ताका प्रमुख तत्त्व है परम्परा। जो बातें परम्परासे प्राप्त हुई हैं, वे लोकवार्ता हैं, पर तभी जब उनमें मानसकी अभिव्यक्ति हो। परम्परा तो मनीषी अभिव्यक्तियोंकी भी हो सकती है। परम्पराका अर्थ अलिखित अथवा मौखिक परम्पराको माना जाय, तब भी ऐसी समस्त परम्परा लोकवार्ता नहीं मानी जा सकती। परम्पराके साथ दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व लोक-मानस (दे०) ठहरता है। यह लोक-मानस समाज और उसके व्यक्तियोंको उत्तराधिकारमें प्राप्त होता है तथा इसका कुछ-न-कुछ अंश प्रत्येक व्यक्तिके पास होता है। यही कारण है कि लोकवार्ता किसी-न-किसी रूपमें अवश्य विद्यमान रहती है।

कभी यह समझा जाता था कि लोकवार्ता आदिम अभिव्यक्तियोंके परम्पराप्राप्त आधुनिक रूपोंका ज्ञान कराती है, किन्तु आज यह स्पष्ट हो गया है कि वर्तमान समाजमें मिलनेवाले आदिम तत्त्वोंका विवेचन नृविज्ञानका विषय है, लोकवार्ताका नहीं। लोक-मानसमें केवल आदिम मानस ही नहीं होता। आदिम मानसको युग-प्रवाहोंने अप्रत्यक्षतः जिस रूपमें संस्कृत किया है, वह समग्र लोक-मानस है और लोकवार्तारूपी उसकी अभिव्यक्तिमें आदिम तत्त्वका कुछ-न-कुछ अंश किसी-न-किसी रूपमें रहता अवश्य है। उस आदिम मूलके चारों ओर समय उसके अनुकूल अन्य पर्त लगाता जाता है। इसलिए केवल आदिम कही जानेवाली जातियोंकी परम्पराओंको ही लोकवार्ता नहीं कहा जायगा, उस जैसी मनोवृत्तिके परिणामसे उत्पन्न सभ्यसे सभ्य समाजकी परम्परा और अभिव्यक्ति भी इसके अन्तर्गत होगी।

परम्पराकी चीज होते हुए भी यह कहना ठीक नहीं होगा कि लोकवार्ता सदा मौखिक या अलिखित ही होती है। 'कथासरित्सागर' लिखित ग्रन्थ है, जिसमें लोकवार्ताका भण्डार है। पर यह अवश्य है कि आरम्भमें लोकवार्ता मौखिक और अलिखित होती है और इसी रूपमें जन्म लेती है। वह लिखे जानेके लिए जन्म नहीं लेती, बल्कि मानवकी सहजात अभिव्यक्तिके रूपमें प्रकट होती है। प्रकट भले ही किसी व्यक्तिविशेषके माध्यमसे हुई हो, प्रकट होते ही प्रत्येक लोकवार्ता लोकग्राह्य और लोकानुप्राणित होकर

वह रूप प्राप्त कर लेती है, जिसे किसी एककी कृति नहीं, वरन् लोकमात्रकी चीज कहा जाता है।

यह कहना भी ठीक नहीं कि लोकवार्ता केवल मौखिक अभिव्यक्ति है। लोकवार्तामें जहाँ लोकगीत, लोक-कहानियाँ, लोक-विनोद, कहावतें, पहेलियाँ आदि आती हैं, वहीं लोक-विश्वास, पूर्वग्राह, टोने-टोटके, रीति-रिवाज, परम्परागत लोक-नृत्य, लोक-चित्र भी आते हैं। लोकवार्तामें इनके स्वरूपकी प्रधानता रहती है, ऐतिहासिक अथवा मानसिक दृष्टिसे इस सामग्रीका मूल्यांकन अन्य क्षेत्रों और विज्ञानका विषय हो जाता है।

अतः लोकवार्ताके मौखिक पक्षको प्रधानता देना उसके क्षेत्रको संकुचित करना है। इसलिए जहाँ लाक्षणिक भाषा-तत्त्व, संगीत, नृत्य, थापे तथा चित्रका अध्ययन स्वयं एक अलग-अलग विद्याका विषय माना जा सकता है, वहाँ इनमें मिलनेवाले परम्परागत लोक-मानसका स्वरूप लोकवार्ताके अन्तर्गत आयेगा। यों कहना अधिक ठीक होगा कि ये सब अभिव्यक्तियाँ तो लोकवार्ताके क्षेत्रकी चीजें हैं, पर इन्हें अन्य विज्ञानोंके उपयोगकी सामग्री भी बनाया जा सकता है और बनाया गया है।

मोटे तौरपर लोकवार्ताके तीन सम्प्रदाय आज विद्यमान हैं—पहला, भारतिक सम्प्रदाय। इस सम्प्रदायके विद्वान् भाषातत्त्वविद् तथा मानविक हैं। ये संस्कृतके पण्डित रहे हैं और भारतसे सीधा सम्पर्क स्थापित कर इन्होंने भारतकी लोकवार्ताकी मौलिक परम्पराओंको जानकर संस्कृतके ज्ञान और भाषातत्त्वके सूत्रसे लोकवार्ताके अध्ययनकी महत्त्वपूर्ण सामग्री एकत्र की है और उसका मार्ग प्रशस्त किया है। लोकवार्ताके विविध अभिप्राय अथवा रूढतन्तु कब-कब और कहाँतक विद्यमान मिलते हैं और उनके तथा विविध तन्तुओं और मुहावरोंके अर्थोंमें क्या-क्या परिवर्तन हुए हैं, यह इस सम्प्रदायने बतानेकी चेष्टा की है। स्पष्ट है कि बिना इसके लोकवार्ताको ठीक-ठीक हृदयंगम नहीं किया जा सकता।

दूसरा, मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय है। जैसा नामसे ही स्पष्ट है, इसका सम्बन्ध समाजशास्त्रीयतासे है। भाषा-तत्त्वका सहारा यह भी लेता है, पर जहाँ भारतिक सम्प्रदाय लिखित भाषाके लोकवार्ता-तत्त्वको प्रधानता देता है, वहाँ यह सम्प्रदाय मौखिक तत्त्वको प्रधानता देता है। अतः इस सम्प्रदायके अध्ययनका विषय वर्तमान भाषावर्गोंसे सम्बन्धित लोकवार्ता हो गयी है। फलतः इसने नये-नये भाषावर्गोंके क्षेत्रोंका अनुसन्धान करके लोकवार्ताविषयक मौलिक तत्त्वोंका उद्घाटन करनेका प्रयत्न किया है।

तीसरा, मानविक सम्प्रदाय है। यह लोक-कथाओंके संग्रह और विविध कथाओंके अधिकाधिक संस्करणोंको प्राप्त करने तथा उनका वर्गीकरण कर लोकवार्ताके तुलनात्मक अध्ययनको महत्त्व देता है। यह लिखित अथवा मनीषी साहित्यकी भाँति अलिखित लोकवार्ताकी स्वतन्त्र स्थिति और विकासको मान्यता देता है। —स०

लोक-विद्या—लोक-विद्या लोकोपयोगी विद्या नहीं, पर वह विद्या है, जो लोकके विविध व्यवसाय-व्यापारों और तद्विषयक अनुष्ठानोंकी परम्परासे सम्बन्धित हो। कृषिविज्ञान लोकोपयोगी विद्या है, पर कृषिकर्ममें प्रवृत्त होनेपर लोक किस प्रकारके आनुष्ठानिक व्यापार करता है और उसके कृषि-कर्मका स्वरूप क्या है, यह लोक-विद्याके क्षेत्रके अन्तर्गत आता है। लोक-विद्याके अन्तर्गत टोने-टोटकोंसे चिकित्सा करना तथा बँधी परम्पराओंसे कार्य करनेकी शैलियाँ भी आयेंगी। लोक-विद्या भी लोकवार्ताका एक अंग हो सकती है। —स०

लोक-साहित्य—लोक-साहित्य शब्द 'लोक' और 'साहित्य', इन दो शब्दोंसे बना है। इसका वास्तविक अर्थ है लोकका साहित्य; लोक यहाँ अंग्रेजीके फोक (folk) शब्दका पर्यायवाची है। लोक-साहित्य भी अंग्रेजीके फोकलिट्रेचरका अनुवाद है। फोकके पर्यायसे लोक-साहित्यके कई अर्थ हो सकते हैं—(१) उस लोकका साहित्य, जो सभ्यताकी सीमाओंसे बाहर है, सभ्य समाजमें जिनकी गिनती नहीं—उनका साहित्य, (२) जंगली जातियोंका साहित्य। फोक शब्दके अन्तर्गत वे ही लोग आ सकते है, जो आदिम परम्पराको सुरक्षित रखे हुए हैं, क्योंकि लोक-साहित्य (फोक-लिट्रेचर)का सम्बन्ध फोक-लोर लिट्रेचर अथवा लोकवार्ता-साहित्यसे है, (३) लोकसाहित्य ग्रामीण साहित्य है, (४) लोकसाहित्य वह युग-युगीन साहित्य है, जो मौखिक परम्परासे प्राप्त होता है, जिसके रचयिताका पता नहीं, जिसे समस्त लोक अपनी कृति मानता है; (५) लोकसाहित्य वह साहित्य है, जो लोक-मनोरंजनके लिए लिखा गया हो—उस लोकके लिए, जो विशेष पढ़ा-लिखा नहीं।

वास्तवमें लोक-साहित्य वह मौखिक अभिव्यक्ति है, जो भले ही किसी व्यक्तिने गढी हो, पर आज जिसे सामान्य लोक-समूह अपना ही मानता है और जिसमें लोककी युग-युगीन वाणी-साधना समाहित रहती है, जिसमें लोक-मानस प्रतिबिम्बित रहता है। इसी कारण जिसके किसी भी शब्दमें रचनाचैतन्य नहीं मिलता, जिसका प्रत्येक शब्द, प्रत्येक स्वर, प्रत्येक लय और प्रत्येक लहजा सहज ही लोकका अपना है और उसके लिए अत्यन्त सहज और स्वाभाविक है।

इस लोक-साहित्यके पर्यायके रूपमें कभी 'ग्राम-साहित्य' शब्दका भी प्रयोग किया गया है, किन्तु ग्राम-साहित्य और लोक-साहित्यमें अन्तर है। ग्राम-साहित्य केवल ग्रामोंका साहित्य ही होगा, लोक-साहित्य नगर और शहरमें भी मिलता है। ग्राम-साहित्यके अन्दर वह साहित्य भी आ सकेगा, जिसे कोई ग्रामनिवासी ग्राम-रुचिके अनुसार आज भी रचता हो। ग्रामपर लिखा हुआ साहित्य भी ग्राम-साहित्य ही कहा जायगा। वस्तुतः बहुत-सा ऐसा ग्राम-साहित्य हो सकता है, जो लोक-साहित्य न हो और बहुत-सा ऐसा लोक-साहित्य हो सकता है जो ग्राम-साहित्य न हो।

लोक-साहित्य जन-साहित्यसे एकदम भिन्न है। जन-साहित्य जन-साधारणका साहित्य है। जन लोककी अपेक्षा अधिक सुगठित और निजी सत्ताके प्रति चैतन्य समूह है और बहुधा राजनीतिक पृष्ठभूमिके साथ होता है, जन-साहित्य जन-कल्याणके भावसे भी प्रस्तुत किया जा सकता है, उनको किसी प्रकारकी शिक्षा देनेवाला भी हो सकता

है, उनके अधिकारों और कर्तव्योंको भी अभिव्यक्त कर सकता है। यह लोक-साहित्यकी भाँति सहज, स्वाभाविक और कर्तव्यभावसे रहित नहीं हो सकता।

इसी प्रकार जनपदीय साहित्य भी केवल क्षेत्रीय विशेषताका द्योतक रह जाता है। वह लोक-साहित्यसे अभिहित व्यापक सामान्यताका बोध नहीं कराता।

लोक-साहित्यका क्षेत्र काफी विस्तृत है। इसके दो भेद तो प्रमुख किये जा सकते हैं।

लोक-साहित्य

१. लोकवार्ता-साहित्य २. वाणी-विलास, इतर लोक-साहित्य।

लोकवार्ता-साहित्य वह साहित्य है, जिसमें किसी समुदाय-की लोकवार्ता अभिव्यक्त हुई है अथवा जो स्वयं लोकवार्ताका एक आनुष्ठानिक अंग हो। इस क्षेत्रसे बाहरका समस्त लोक-साहित्य इतर लोक-साहित्य है।

यह समस्त लोक-साहित्य सामान्यतः निम्नलिखित भेदोंमें विभक्त किया जा सकता है—

लोक-साहित्य

लोक-गीत लोक-कथा लोक-कहानी चुटकले, कहावतें पहेलियाँ मन्त्र

१. बड़े गीत, भगत या नौटंकी गीत, २. स्वाँग गीत, ३. आनुष्ठानिक गीत, पूजा, जागरण, व्रत, त्योहार, संस्कार आदि ४. अन्य

लोक-साहित्यके, अन्य दृष्टियोंसे भी, कई भेद किये जाते हैं। एक भेद है पुरुष-गीत और पुरुष-साहित्य, जो केवल पुरुषवर्ग द्वारा ही गाया-कहा जाता है। इसीको पौरुषेय वाङ्मय भी कहा गया है। स्त्रीवर्गका साहित्य अपौरुषेय वाङ्मय है, जो केवल स्त्रियों द्वारा ही प्रयोगमें आता है। बालक-बालिकाओंका लोक-साहित्य एक अलग वर्गमें आयेगा। —स०

लोकोक्ति १—एक गौण अर्थालंकार। सम्भवतः सर्वप्रथम 'कुवलयानन्द'में अप्पय दीक्षितने इसकी परिभाषा निम्न-लिखित प्रकारसे की है—"लोकप्रवादानुकृतिर्लोकोक्तिरिति भण्यते" (९०), अर्थात् लोकविख्यात किसी कहावतके अनुकरणसे लोकोक्ति अलंकार होता है। अनुकरण करनेका यहाँ अर्थ यह है कि उस कहावतका किसी भी पादमें उल्लेख करनेसे यह अलंकार होता है। जैसे—"सहस्व कतिचिन्मा-सान्मीलयित्वा विलोचने" (वही), अर्थात् आँखें मीचकर कुछ दिन मेरे साथ रहो, विरह न होनेके लिए प्रार्थनामें 'विलोचने मीलयित्वा' लोकवादका अनुकरण है। हिन्दीमें इसीके आधारपर आचार्योंने इस अलंकारको स्वीकार किया है—"जहँ कहनावति अनुकरन लोक उक्ति" (ल० ल०, ३६६) अथवा—"जहँ लोककी कहनावति ठहराउ" (पद्मा०, २५७)। उदा०—"मै तृन सो गन्यो तीनहु लोकनि, तू तृन ओट पहार छपावै" (ल० ल०, ३६७)। इसमें लोकोक्तिका प्रयोग है। भोजने छेकोक्ति और इस अलंकारको शब्दालंकार 'छाया'के अन्तर्गत माना है (वे० राघवन् : शृंगारप्रकाश, पृ० ३८५)। —ज० कि० ब०

लोकोक्ति २—मौखिक लोक-साहित्यमें लोकोक्ति-साहित्यका बहुत महत्त्व है। लोकोक्ति अन्य लोक-साहित्यसे स्वभाव और प्रयोगमे भिन्न होती है। लोकोक्तिमें गागरमें सागर भरनेकी प्रवृत्ति काम करती है। इसमें जीवनके सत्य बड़ी खूबीसे प्रकट होते है। यह ग्रामीण जनताका नीतिशास्त्र है लोकोक्तियाँ मानवी ज्ञानके घनीभूत रत्न है, जिनमे बुद्धि और अनुभवकी किरणें फूटनेवाली ज्योति प्राप्त होती है। लोकोक्तियाँ प्रकृतिके स्फुलिंग (रेडियो-ऐक्टिव) तत्त्वोंकी भाँति अपनी प्रखर किरणें चारों ओर फैलाती रहती है। लोकोक्ति-साहित्य संसारके नीति-साहित्य (विज़डम-लिट्-रेचर)का प्रमुख अंग है। सांसारिक व्यवहारपटुता और सामान्य बुद्धिका जैसा निदर्शन कहावतोमें मिलता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। लोकोक्तिके विपयमें इस चर्चासे प्रकट होगा कि कहाँतक लोकोक्तिका संकुचित अर्थ लिया गया है। लोकोक्ति केवल कहावत ही नहीं है, प्रत्येक प्रकारकी उक्ति लोकोक्ति है। इस विस्तृत अर्थको दृष्टिमें रखकर लोकोक्तिके दो प्रकार माने जा सकते हैं—एक पहेली, दूसरा कहावतें। पहेली भी लोकोक्ति है। लोक-मानस इसके द्वारा अर्थ-गौरवकी रक्षा करता है और मनोरंजन प्राप्त करता है। यह बुद्धि-परीक्षाका भी साधन है। यद्यपि पहेलियाँ स्वभावमे कहावतोंकी प्रवृत्तिसे विपरीत प्रणालीपर रची जाती है, क्योंकि पहेलियोंमे एक वस्तुके लिए बहुतसे शब्द प्रयोगमे आते है, भावसे इनका सम्बन्ध नही होता, प्रकटको गोप्य करनेकी चेष्टा रहती है, बुद्धि-कौशलपर निर्भर करती है, जब कि कहावतमें सूत्र-प्रणाली होती है, भावकी मार्मि-कता घनीभूत रहती है, लघु प्रयत्नसे विस्तृत अर्थ व्यक्त करनेकी प्रवृत्ति रहती है। फिर भी पहेलियाँ उतनी ही उक्तियाँ है, जितनी कहावतें। कहीं-कहीं इन उक्तियोंके भी कुछ और रूप मिलते है। वे है अनमिला, भेरि, अचका, औठपाव, खुंसी, गहगड्ड, ओलना तथा ऐसे ही अन्य। ये पद्यात्मक होते है और निरर्थक और सार्थक, दो भागोमे बाँटे जा सकते हैं। निरर्थक इनमेंसे अनमिला होता है। वस्तुतः अनमिलामें अर्थ अभिधार्थ तो होता है, पर वह अर्थ किसी प्रकार भी सन्तोष नही देता। अतः वह अर्थ, जो शब्दके पृथक्-पृथक अर्थसे भिन्न सम्पूर्ण वाक्यसे मिलता है, जिससे वाक्य सार्थक होता है, अर्थ नही होता, किन्तु प्रभावार्थ अवश्य होता है। वह प्रभावार्थ वैलक्षण्य और अनमिल सम्बन्धसे प्रकट किया जाता है। शेष प्रकार सार्थक है। इन्हें हम कहावतके अन्तर्गत रखते है। —स०

लोरी—शिशुओंको सुलानेके लिए गायी जानेवाली लयें लोरी कही जाती हैं। विश्वभरमें बच्चोंको सुलानेके लिए किसी-न-किसी प्रकारकी लयकी गुनगुनाहट माताएँ करती हैं। ऐसा करते हुए या तो बच्चेको पालनेमें हलके-हलके झुलाया जाता है या गोदमें लेकर हलके-हलके हिलाया जाता है। पलँगपर लेटकर सुलाया जा रहा हो, तो 'दो-दो' कहते हुए ही थपथपाया जाता है। यह सभी गुन-गुनाहटें लोरी नहीं कही जा सकतीं। लोरियाँ लोकगीतोंका

ही एक अंग है और उनमे जबतक शब्द नहीं भरे जाते, तवतक केवल लय या ध्वनि लोरी नहीं कही जा सकती। विश्वलोकवार्तासे विदित होता है कि बहुधा विश्वमें विभिन्न स्थानोपर कुछ शब्दविशेष बोले जाते है, जैसे 'लू-लू' लल्लय, लुल्लय, 'निन्न-नन्न','बो-ब बो','दो-दो'। सुलाते समय अथवा थपथपाते समय ऐसे शब्दोंकी संगीतमय आवृत्ति भी लोरी नहीं कही जा सकती। लोरीमे कोई-न-कोई अर्थ रहता है। भारतमें बहुधा नीदको बुलाया जाता है—"आ जा री नीदिया, मेरे लालाके नैनोमे घुल-मिल जा"। नीदको प्रलोभन दिये जाते है; कहीं-कहीं लोरीमें देवी-देवताओंसे मनौती की जाती है कि वे बच्चेकी रातमे रक्षा करें। निंदास-भरे वातावरणका कोमल वर्णन रहता है। कहीं-कहीं बच्चेके अच्छे-अच्छे गुणोंका बखान रहता है। उसे अच्छा होनेके प्रलोभन दिये जाते है। कुछ लोरियोमें विषाद और थकान भी अभिव्यक्त होती है। लोरीमे माताएँ बच्चोंकी सुख-समृद्धिका टोटका मानती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे प्रतीत होता है कि लोरीसे एक तो बच्चेका ध्यान इधर-उधर बिखरनेसे रोक लिया जाता है, दूसरे बच्चेको आन्तरिक आश्वासन रहता है कि वह अकेला नहीं है और किसी-न-किसीका स्नेहपूर्ण संग उसे मिला हुआ है। यह आश्वासन उसके मनमे किसी भी भयका उदय नहीं होने देता। ताल-युक्त ध्वनि और थपथपाहट या झूलन, मन और शरीरको सुख भी पहुँचाते है। लोरीमे यों तो कोई भी विषय रह सकता है, क्योंकि माँ जानती है कि वह शिशु न तो उसे समझता है, न वह समझानेके लिए गायी जाती है। सूरदासने एक गीतमें बताया है कि कृष्णको पालनेमें सुलाते हुए यशोदा 'जोइ-सोइ कुछ गावै'के साथ ही वह नीदको हुए कहती है—"मेरे लालको आउ निंदरिया, काहे न आनि सुआवै। तू काहे नहिं वेगहि आवै, तोको कान्ह बुलावै"।

सूरदासने लोरीमें बालदशाके कौतुक गाये जानेकी सूचना दी है। लोरीका उपयोग बाल-वर्णनोके साहित्यमें मिलता है। यह लोकवार्तासे ही लिया गया है। —स०

लौ—लाग, चाह, चित्तकी वृत्ति—"खसम न चीन्हें बावरी परपुरुपे लौलीन, कहहिं कबीर पुकारिकै परी न बानी चीन्ह" (कबीर : बीजक)। लौलीन, किसीके ध्यानमें डूबा हुआ या मस्त—"लौ इनकी लागी रहै निज मन मोहन रूप। ताते इन रसनिधि लयौ लोयन नाम अनूप" (रसनिधि)। —उ० शं० शा०

लौकिक छंद—लौकिक, अर्थात् अवैदिक छन्दोका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। समस्त मात्रिक छन्द इसी वर्गमें आते हैं। वर्णित वृत्तोंमें यद्यपि १ से २६ वर्णतकके सभी वृत्त वैदिक बताये जाते हैं, परन्तु पाद-व्यवस्था वैदिक नियमोंके अनुसार न होनेपर वे भी लौकिक मान लिये जाते है। लौकिक छन्द सामान्यतया चार चरणोंके होते है। संस्कृत, प्राकृत अपभ्रंश और हिन्दीमें लौकिक छन्द ही प्रयुक्त हुए है। आर्या आदि विशिष्ट प्रकारके छन्द भी इसी वर्गमें परिगणित होते हैं। लौकिक छन्दोंमें गेयताकी अपनी स्वतन्त्र परम्परा रही है, विशेष रूपसे मात्रिक छन्दोंमें, जो स्वराघात और प्लुत ध्वनियोंके अभावमें वैदिक गेयतासे भिन्न प्रकारकी सिद्ध होती है। संस्कृत वर्णिक वृत्तोंको छोड़कर प्रायः शेष सभी लौकिक छन्दोमें तुकान्तका विधान मिलता है, जो उनकी एक महत्त्वपूर्ण विशेषता कही जा सकती है। वैदिक छन्दोकी अपेक्षा इनमें नियमन और स्थिरताका अधिक आग्रह मिलता है। अनेकरूपता और तरलता मात्रिक छन्दोंमें सर्वाधिक मात्रामें मिलती है, जिसका प्रभाव संस्कृत छन्द-रचनापर भी पड़ा और उसमे भी अष्टपदी आदि गेयताप्रधान रूपोका विकास हुआ। सभी लौकिक छन्दोंको किसी कोटिमे रखना कठिन है। उनमे परस्पर पर्याप्त विभेद एवं अन्तर दिखाई देता है। —ज० गु०

लौकिक शृंगार—दे० 'शृंगार'।

वंशवज्रा—वर्णिक छन्दोंमे अर्द्ध-सम वृत्तका एक भेद। मैथिलीशरण गुप्तने 'साकेत'में इन्द्रवंशा और इन्द्रवज्राके योगसे एक नवीन अर्द्ध-सम वृत्तका प्रयोग किया है। पूर्व आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट संज्ञाके अभावमे इस छन्दका वंशवज्रा नाम पुत्तूलाल शुक्लने दिया है। इसके प्रथम और तृतीय चरणोमे त, त, ज, र, (ऽऽ।, ऽऽ।, ।ऽ।, ऽ।ऽ) एवं द्वितीय और चतुर्थ चरणमे त, त, ज, ग, ग (ऽऽ।, ऽऽ।, ।ऽ।, ऽऽ) रहते है। उदाहरण—"लेते गये क्यो न तुम्हें कपोत वे, गाते सदा जो गुण थे तुम्हारे? लाते तुम्हीं हा! प्रिय पत्र-पोत वे, दुःखाब्धिमे जो बनते सहारे" (साकेत, ९)। —पु० शु०

वंशस्थ—वर्णिक छन्दोंमे समवृत्तका एक भेद। भरतके 'नाट्यशास्त्र' (१६ : ४) तथा 'पिंगलसूत्र' (६ : २९)मे लक्षण दिया है; जगण, तगण, जगण और रगणके योगसे यह वृत्त बनता है (।ऽ।, ऽऽ।, ।ऽ।, ऽ।ऽ)। केशव (रा० चं०, ३ : ११), 'हरिऔध' (प्रि० प्र०, ९ : ११ : १३ : १५ : १६), अनूप शर्मा (सिद्धार्थ, ४ : ६ : ८ : १० : १३ : १४ : १७) और 'वर्द्धमान' (प्रायः आद्योपान्त)में इसका प्रयोग हुआ है। 'वर्द्धमान'के समान वंशस्थका कभी प्रयोग नही हुआ। इस छन्दमें ५-७ वर्णोंपर यति आती है। तुलसीदासने भी प्रयोग किया है। उदा०—"त्वदीय आलिंगन हेतु, हे प्रिये! हुआ न क्यो आज सहस्रबाहु मैं। बिलोकनेको छबि अंग-अंगकी। बना न क्यों देवि सहस्र-चक्षु मै" (वर्द्ध०, २ : ४७)। —पु० शु०

वक्रतासांकर्य—व्युत्पन्न पदके पूर्व और पर भाग और अव्युत्पन्न पदकी अपनी-अपनी वक्रताका परस्पर सांकर्य किसी काव्यसूक्तिकी एक अद्भुत शोभासम्पत्ति है। काव्यकी यह अद्भुत शोभासम्पत्ति कविप्रतिभाके विचित्र विलासका परिणाम है—"परस्परस्य शोभायै बहवः पतिताः क्वचित्। प्रकारा जनयन्त्येतां चित्रच्छायामनोहराम्" (व० जी०, २ : ३४)। उदाहरणके लिए यह काव्यसूक्ति—"सन्ध्या हो रही है नील नभमें शरदके। शुभ्र घन तुल्य, हरे वनमें, शिविरके। स्वर्णके कलशपर अस्तगत भानुका। अरुण प्रकाश पड झलक रहा है यों, छलक रहा हो भरा भीतरका वर्ण ज्यों। फहर रहा है केतु उसपर धीरेसे, बनके व्यजन राज मंगल-कलशका, जिसमें न टूट पड़े कोई विघ्न-मक्षिका, भंग करनेको रस-रंग कभी उसका" (सिद्धराज)। यहाँ 'हो रही है'के क्रियापदमें 'काल-वैचित्र्यवक्रता' झलक रही है, जिससे 'सन्ध्या'के तत्काल रमणीय उद्भवके विद्ध चित्रपर आँखें टँगीकी टँगी रह जाती हैं। साथ ही 'छलकने'के

क्रियापदकी 'उपचारवक्रता' इतनी मनोज्ञ है कि स्वर्णवर्णपर मद्यके आरोपसे सहृदय-हृदयमें उन्माद भर उठता है। इसके अतिरिक्त 'रमरंग'-पदकी 'पर्यायवक्रता' स्वर्णकलशके जिस मदिरोत्सवके दृश्यको सामने उपस्थित कर जाती है, उसकी सुन्दरता भावना द्वारा शतधा प्रतिफलित हो उठती है। इस 'वक्रतासांकर्य'से कविकी सूक्ति एक विचित्र चित्र-सी सुन्दर लगने लगती है। —सु० ब्र० सि०

वक्रोक्ति (शब्दालंकार) १—यह 'वक्रोक्ति'की संकुचित सीमा है। भामहने अपने 'काव्यालंकार'में इसको अधिक महत्त्व दिया है। उनके अनुसार 'नितान्त' आदि शब्दों द्वारा शब्द और अर्थकी उक्ति ही वाणी-सौष्ठव नहीं हो जाती, वक्र शब्द और अर्थकी उक्ति ही वाणीका काम्य अलंकार है। कुन्तकने 'वक्रोक्ति'को काव्यका जीवन ही माना है (दे० 'वक्रोक्ति-संप्रदाय')। परन्तु क्रमशः इसका महत्त्व कम हो गया और रुद्रटने 'काव्यालंकार'में इसे शब्दालंकारके रूपमें स्वीकार किया है और इसके श्लेष तथा काकु, दो भेद भी माने हैं (२ : १४ : १५)। मम्मटने इसे स्वीकार किया है—"यदुक्तमन्यथावाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते। श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा" (का० प्र०, ९ : ७८), अर्थात् किसीके अन्य अभिप्रायसे कहे हुए वाक्यका दूसरे व्यक्ति द्वारा श्लेष अथवा काकु उक्तिसे अन्य अर्थ कल्पित किया जाना। रुय्यक तथा जयदेवको छोड़कर अन्य बादके आचार्योंने भी इसे शब्दालंकार माना है।

हिन्दीमें इस अलंकारके सम्बन्धमें स्थिति स्पष्ट नहीं है। केशव, जसवन्त सिंह, भूषण तथा मतिराम आदिने इसे अर्थालंकारके अन्तर्गत रखा है। चिन्तामणि, कुलपति, सोमनाथ तथा दासने शब्दालंकारके रूपमें स्वीकार किया है, पर इनके लक्षणों तथा उदाहरणोंमें अस्पष्टता है, जिससे यह कहा नहीं जा सकता कि इन्होंने इसे शब्दालंकार समझा है या अर्थालंकार। प्रायः दोनों वर्गोंके आचार्योंके लक्षण-उदाहरण समान प्रकारके हैं। कुलपतिकी परिभाषा 'साहित्यदर्पण'के अनुकरणपर है—"कहै बात औरै कछू, अर्थ करै कछु और। वक्र उक्ति ताको कहैं, श्लेष काकु द्वै ठौर। (र० र०, ४)"। भिखारीदासका लक्षण और उलझा हुआ है—"व्यर्थ काकुते अर्थको फेरि लगावै तर्क" (का० नि०, २१)।

श्लेष वक्रोक्ति—वक्ताके कथनका श्लिष्ट शब्दों द्वारा अन्य व्यक्तिसे भिन्न अर्थ कल्पित किया जाना। श्लिष्ट शब्द या पदका कभी भंग होकर और कभी अभंगरूपमें भिन्नार्थ किया जाता है। इस आधारपर इसके दो भेद माने गये हैं, भंगपद और अभंगपद। पहलेका उदाहरण—"अयि गौरवशालिनि, मानिनि, आज सुधास्मित क्यों बरसाती नहीं? निज कामिनीको प्रिय, गौ अवशा अलिनी भी कभी कहि जाती कहीं" (का० क० द्रु०)। इसमें 'गौरवशालिनी' पदको 'गौ', 'अवशा' और 'अलिनी'में भंग करके श्लेषार्थ निकलता है। दूसरेका उदाहरण—"एक कबूतर देख हाथमें पूछा कहाँ अपर है? उसने कहा अपर कैसा? उड़ है गया सपर है" (गुरुभक्त सिंह : नूरजहाँ)। इसमें 'अपर'का अर्थ 'दूसरे'से है और श्रोताने 'अपर'का अर्थ 'पर-रहित' लिया है।

काकु वक्रोक्ति—वक्ताके वाक्यसे अर्थात् कण्ठध्वनिकी विशेषतासे श्रोता द्वारा अन्य अर्थ कल्पित किया जाना। वस्तुतः इस भेदको लेकर ही अधिक अस्पष्टता है। वस्तुतः जहाँ अर्थपरिवर्तन मात्र कण्ठध्वनिपर निर्भर होगा, वहाँ शब्दका महत्त्व नहीं रह सकता, अतएव यह अर्थालंकार हो जायगा। कन्हैयालाल पोद्दारने विभेद किया कि जहाँ शब्द बदलनेपर भी वक्रता बनी रहे, वहाँ अर्थालंकार मानना चाहिये और जहाँ नष्ट हो जाय वहाँ शब्दालंकार। आचार्योंके उदाहरणमें प्रायः वक्रता अर्थगत ही है। परन्तु इसको मम्मट आदि आचार्योंने सम्भवतः कण्ठध्वनि, अर्थात् कथन-शैलीके कारण शब्दालंकार ही स्वीकार किया है। बिहारीका उदाहरण—'लिखन बैठि जाकी सबी, गहि-गहि गरब गरूर। भये न केते जगतके, चतुर चितेरे कूर" (सतसई, ३४७)। इसमें 'भये न केते'का कथन शैलीके अनुसार दूसरेका अर्थ हो जायगा 'सभी हो गये'।

वक्रोक्ति (अर्थालंकार) २—अर्थ है वक्र उक्ति; वाणीके विलक्षण व्यापारको वक्रोक्ति माना गया है। भामहने समस्त अलंकारोंको वक्रोक्तिमूलक माना है। कुन्तकने इसे विशिष्ट अर्थमें ग्रहण किया है। परन्तु वामनने 'वक्रोक्ति'-को उपमाप्रपंचके अन्तर्गत अर्थालंकार माना है—"सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः" (काव्या० सू० वृ०, ४ : ३ : ८)। इनके अनुसार जैसे रूपक आदिमें गौण अर्थका अलंकारत्व होता है, उसी प्रकार लाक्षणिक अर्थका अलंकारत्व हो सकता है और इसी सादृश्यसे 'लक्षणा-वक्रोक्ति' होती है। उदा०—"तनिक देरमें सरोवरके कमल खिल गये और क्षणभरमें कैरव भी बन्द हो गये" (वही)। इसमें नेत्रके धर्म उन्मीलन तथा निमीलनसे कमलोंके विकास आदिका लक्षणासे बोध होता है। आगे चलकर जयदेवने 'चन्द्रालोक'में 'वक्रोक्ति' अर्थालंकारके रूपमें इस प्रकार लक्षण दिया है—"वक्रोक्तिः श्लेषकाकुभ्यां वाच्यार्थान्तरकल्पनम्" (५ : १११), अर्थात् श्लेष तथा काकु द्वारा वाच्यार्थ बदलनेकी कल्पना। मम्मट तथा विश्वनाथकी इसी शब्दालंकारकी परिभाषासे विशेष अन्तर नहीं है, वस्तुतः यह दृष्टिकोणका अन्तर है।

हिन्दीके आचार्योंमें केशव, जसवन्त सिंह, मतिराम, भूषण आदिने इसे अर्थालंकार माना है। केशवने 'वक्रोक्ति'-को प्राच्योंके अनुकरणपर व्यंग्यका पर्यायवाची माना है—"सूधी बातमें बरनिय टेढ़ो भाव" (क० प्रि०, १२ : ३)। अन्योंने जयदेव तथा अप्पय दीक्षितका अनुसरण किया है—"श्लेष काकुसों अर्थकी रचना और जु होय" (ल० ल०, ३६९)। भूषणने इसी भावको 'अरथ लगावै और' कहकर व्यक्त किया है। वस्तुतः शब्दालंकार माननेवालों तथा अर्थालंकार माननेवालोंके मतोंमें स्पष्ट अन्तर नहीं है। कन्हैयालाल पोद्दारने दोनों रूपोंमें इसे स्वीकार किया है (दे० 'वक्रोक्ति १')।

इसकी व्यापक परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है—अर्थश्लेष तथा काकुके बलसे अन्य अभिप्रायसे कहे हुए वाक्यके दूसरेके द्वारा भिन्न अर्थकी कल्पना। केशवका उदाहरण—"तैं जु कह्यौ मुखे मोहनको अरबिन्द सो है

सो तौ चन्द सो देख्यो" । (कवि०, १२ : ४) । इसमें 'चन्दके समान सकलंक है' यह दूसरा अर्थ अन्यके द्वारा लिया जायगा। इसी प्रकार बिहारीके दोहे—"किती न गोकुल कुल बधू, किहि न काहि सिख दीन। कौनै तजी न कुल गली, ह्वै मुरली-सुरलीन" (बि० र०, ६५२)में 'सबको शिक्षा दी गयी' तथा 'सबीने कुल-गली त्याग दी', यह अर्थ दूसरेके द्वारा लिया जायगा। तुलसीका उदा०—"मानस सलिल सुधा प्रतिपाली। जियइ कि लवण पयोधि मराली। नव रसाल वन बिहरणशीला। सोह कि कोकिल बिपिन करीला" (रा० च० मा०, २)।

रीतिकालमें इस अलंकारका अत्यधिक प्रयोग किया गया है। नायिकाओंके रूप तथा उनकी प्रेमकी विभिन्न स्थितियोंके चित्रणमें इसका प्रयोग चमत्कृत ढंगसे किया गया है। बिहारीको इन वर्णनोंमें विशेष उत्कर्ष प्राप्त हुआ है। —सं०

वक्रोक्तिवाद—दे० 'वक्रोक्ति-सिद्धान्त'।

वक्रोक्ति-संप्रदाय—दे० 'वक्रोक्ति-सिद्धांत'।

वक्रोक्ति-सिद्धांत—कुन्तक (१०-११ श० ई०)के 'वक्रोक्ति-जीवित'में प्रतिपादित एक प्रमुख काव्य-सिद्धान्त। इस आचार्यने अपनी मौलिक प्रतिभाके द्वारा अपने पूर्वके अलंकार, गुण, रीति, ध्वनि तथा रस आदि प्रतिष्ठित सिद्धान्तोंके स्थानपर एकदम नवीन काव्य-सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है। कुन्तकने वक्रोक्तिको 'काव्यकी आत्मा'के रूपमें स्वीकार किया है। वस्तुतः उन्होंने इसको अत्यन्त व्यापक सिद्धान्तके रूपमें स्वीकार किया है। आचार्यने इसके अन्तर्गत प्रचलित सभी काव्य-सिद्धान्तोंका समाहार किया है और साथ ही समस्त काव्यांगों—वर्ण-चमत्कार, शब्द-सौन्दर्य, विषय-वस्तुकी रमणीयता, अप्रस्तुत-विधान, प्रबन्ध-कल्पना आदिको उचित स्थान दिया है। कुन्तकके अनुसार वक्रोक्ति केवल वाक्-चातुर्य अथवा उक्ति-चमत्कार नहीं है, वह कवि-व्यापार अथवा कवि-कौशल है। नगेन्द्रके अनुसार आधुनिक शब्दावलीमें इसे कलावाद कह सकते हैं—अर्थात् काव्यका सर्वप्रमुख तत्त्व कला या उपस्थापन-कौशल है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उन्होंने विषय-वस्तुका ही निषेध किया है। उन्होंने काव्य-वस्तुकी स्वाभाविक रमणीयताको स्वीकार किया है। परन्तु कविको वस्तुके सहृदय-रमणीय धर्मोंको व्यक्त करना चाहिये और यह कवि-प्रतिभासे ही सम्भव है। इस प्रकार उनके अनुसार अन्ततः कवि-व्यापार ही प्रमुख है।

भारतीय काव्य-सिद्धान्तोंमें रस-सिद्धान्त अनुभूति अथवा भावनापक्षपर प्रतिष्ठित है और अलंकार-सिद्धान्त मौलिक रूपसे कवि-कल्पनापर आधारित है। वक्रोक्ति-सिद्धान्तका सम्बन्ध इस दृष्टिसे भी अलंकार-सिद्धान्तसे है। वस्तुतः वक्रोक्तिमें अलंकारोंके कल्पना-वैचित्र्यको अधिक व्यापक आधारपर स्वीकार किया गया है। यह कल्पना कवि-निष्ठ है, सहृदय-निष्ठ नहीं। ध्वनि तथा वक्रोक्तिका अन्तर भी यही है कि ध्वनिकी कल्पना सहृदय(पाठक)-निष्ठ है और वक्रोक्तिकी कल्पना काव्य-निष्ठ। अतएव ध्वनिका दृष्टिकोण व्यक्तिपरक है और वक्रोक्तिका वस्तु-निष्ठ। परन्तु कुन्तकने रसको वक्रोक्तिका प्राण-रस मानकर कल्पनाके साथ भावनाके महत्त्वको भी स्वीकार किया है। कुन्तकने रसको वक्रताका विशिष्ट अंग मानकर भी अंगी वक्रताको ही माना है। प्रत्यक्षतः वक्रताके बिना रसकी स्थिति सम्भव नहीं है, जब कि रसके बिना वक्रताकी अपनी स्वतन्त्र स्थिति है। यद्यपि कुन्तकने ऐसी स्थितिको अधिक महत्त्व नहीं दिया है और रस-विहीन वक्रताको तिरस्कारयोग्य ही माना है।

कुन्तकका वक्रोक्ति-सिद्धान्त बहुत सीमातक व्यापक ही नहीं, समन्वयशील सिद्धान्त है। जैसा कि ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यसे स्पष्ट हो सकेगा कि इसकी उद्भावनाके मूलमें अलंकार-सिद्धान्तकी परम्पराके साथ ध्वनि-सिद्धान्त है। रसकी प्रतिष्ठाका उल्लेख किया गया है। अतएव कुन्तकके सिद्धान्तमें सम्पूर्ण काव्यको स्वीकृति मिली है। उनके सिद्धान्तमें बल भले ही कलापक्षपर हो, पर उनकी व्याख्याके अन्तर्गत वस्तुपक्ष तथा भावपक्षका पूरा समाहार हुआ है। रस अथवा भावके दीप्त होनेपर उक्ति अपने-आप दीप्त हो उठती है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि रस-निष्पत्तिमें वक्रताका अभाव हो सकता है—कुन्तककी वक्रता ऐसी ही व्यापक है। रसवादी विवेचकोंका कहना है कि वक्रताकी अनिवार्यता निश्चित है, पर काव्यमें उसे भाव-व्यंजक ही होना चाहिये, क्योंकि भावनाका ही महत्त्व काव्यमें विशेष है। उनके अनुसार रस-विहीन काव्य भाव-सौन्दर्यसे हीन केवल शब्द अथवा अर्थ-क्रीड़ाका चमत्कारमात्र होगा। परन्तु कुन्तकने उक्ति-वैचित्र्यको मात्र शब्द अथवा अर्थकी क्रीड़ा स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने इस प्रकार कवि-प्रतिभा तथा कवि-कौशलको काव्यगत अनिवार्य तत्त्वके रूपमें स्वीकार किया है। कुन्तकका वक्रोक्तिको काव्यका प्राण-तत्त्व माननेका अभिप्राय भी यही है और काव्यके आधुनिक युगतकके विकासको देखते हुए यह भी स्पष्ट है कि रस-विहीन काव्यमें सौन्दर्यकी स्थिति एक सम्भव कल्पना है। यह कहना कि सारा सौन्दर्य हमारे भावात्मक (emotional) जीवनपर आधारित है, गलत है; हमारे सौन्दर्य-बोधके अनेकानेक स्तर बौद्धिक जीवनसे सम्बद्ध हैं। वैसे जीवनमें बुद्धि तथा भावनाकी प्रतिक्रियाएँ एक-दूसरेसे स्वतन्त्र नहीं हैं।

वक्रोक्ति-सिद्धान्तकी प्रतिष्ठा तथा प्रतिपादन कुन्तकने अवश्य किया है, पर इसकी परम्परा काफी प्राचीन है। बाण तथा सुबन्धु आदि कवियोंमें इसके सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। परन्तु भामह (६-७ श० ई०)ने वक्रोक्तिका प्रयोग बहुत-कुछ इसी व्यापक अर्थमें किया है। उन्होंने वक्रोक्तिमें शब्द और अर्थ, दोनोंका अन्तर्भाव माना है (काव्या०, १ : ६)। उन्होंने वक्रोक्ति तथा अतिशयोक्तिका समान अर्थमें प्रयोग किया है। अतिशयोक्तिका अर्थ है 'लोकातिक्रान्तगोचरता', अर्थात् जो लोकके सामान्य अर्थसे विचित्र हो (वही, २ : ८१-८४)। वक्रोक्तिको भामह इसी कारण मूल अलंकार मानते हैं। इसके बिना वाक्य काव्य न होकर वार्तामात्र रह जाता है। दण्डी (७ श० ई०)ने भी वक्रोक्तिको भामहके समान महत्त्व दिया है। परन्तु उनके अनुसार "द्विधा भिन्नं स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्" (काव्यादर्श, २ : ३६२), अर्थात् वाङ्मयके दो भेद हैं

स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति। भामहने स्वभावोक्तिको अस्वीकार किया था। दण्डीने भी वक्रोक्ति तथा अतिशयोक्तिको समस्त अलंकारोंके मूलमें स्वीकार किया है। यहाँ भी दोनो पर्याय हैं और उनका मुख्यार्थ भी समान है—"लोकसीमातिवर्तिनी विवक्षा', अर्थात् वस्तुके लोकोत्तर-वर्णनकी इच्छा। भामह और दण्डीमें केवल यह अन्तर है कि भामह स्वभावोक्तिको भी वक्रोक्तिकी परिधिमें स्वीकार करते हैं और दण्डी उसे भिन्न मानते हैं तथा वक्र कथनमें कम महत्त्वपूर्ण समझते हैं।

आगे चलकर इसके प्रयोगमें अर्थ-संकोच हुआ है। वामन (९ श० ई०)ने अपने 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति'में इसे अर्थालंकारके रूपमें माना है—'सादृश्याल्लक्षणावक्रोक्तिः' (४, ३ : ८), अर्थात् लक्षणाके अनेक निबन्धोंमें सादृश्य-निबन्धना लक्षणा वक्रोक्ति है। वामनकी परिभाषाका मात्र ऐतिहासिक महत्त्व है, क्योंकि इसमें एक ओर दण्डीके समाधि गुण और दूसरी ओर परवर्ती आनन्दवर्धनकी ध्वनि-कल्पनाके तत्त्व सन्निहित हैं। अभिधासे भिन्न होनेके कारण लक्षणामें वक्रता तो होगी ही, पर इसमें लक्षणाके अन्य वक्रतर रूपोंका निर्देश नहीं हुआ है। रुद्रट (९ श० ई०)के समयतक वक्रोक्ति केवल अलंकार रह गयी, जो वाक्छलपर आश्रित है (दे० 'वक्रोक्ति', 'शब्दालंकार' तथा 'अर्थालंकार')। आनन्दवर्धनने वक्रोक्तिकी स्वतन्त्र व्याख्या नहीं की है। परन्तु उन्होंने इसको विशिष्ट अलंकार मानकर भी तीसरे उद्योतमें इसके सामान्य तथा व्यापक रूपको भी स्वीकार किया है। भामहके वक्रोक्ति सम्बन्धी मतको स्वीकार करते हुए आनन्दवर्धनने अतिशयोक्ति तथा वक्रोक्तिको पर्याय माना है और सभी अलंकारोंको अतिशयोक्ति-गर्भित स्वीकार किया है। महाकवियों द्वारा व्यक्त यह अतिशय-गर्भिता काव्यमें अनिर्वचनीय शोभाका कारण होती है। इसीसे अलंकारोंको शोभातिशयता प्राप्त होती है। इस वक्रताका प्रयोग विषयके अनुकूल ही होना चाहिये। वस्तुतः ध्वनि-सिद्धान्तका प्रभाव वक्रोक्ति-विवेचनपर अत्यधिक पड़ा है। कुन्तककी 'वक्रोक्तिजीवित'की रूपरेखा मुख्यतः 'ध्वन्यालोक'पर आधारित है। इसके अनेक प्रसंगोंके विस्तारमें ध्वनि-विस्तारकी छाया है। वक्रोक्तिका विस्तार ध्वनिके समान ही वर्ण, प्रत्यय, विभक्ति आदिसे प्रारम्भ कर प्रबन्ध तथा नाट्यकाव्योंतक माना गया है। अनेक चमत्कार-भेद दोनोंमें समान है, कई उदाहरण भी समान हैं।

अभिनव (१०-११ श० ई०)ने वक्रोक्तिके सामान्य रूपको स्वीकार किया है। उनके अनुसार शब्द और अर्थकी वक्रताका आशय है उनकी लोकोत्तर स्थिति और इस लोकोत्तरका अर्थ अतिशय ही है। भोज (११ श० ई०)के 'शृंगारप्रकाश'में वक्रोक्ति सम्बन्धी मान्यताओंका समन्वय किया गया है। भोजके बाद मम्मट (११ श० ई०) आदिने वक्रोक्ति(दे० 'अर्थालंकार' तथा 'शब्दालंकार')को विशेष रूपमें ही स्वीकार किया है और रुद्रटके आधारपर प्रायः इसके काकु तथा भंग-श्लेष भेद माने गये हैं। रुय्यक (१२ श० ई०)ने इसको व्यापक रूपमें स्वीकार करके भी अर्थालंकार-विशेष ही माना है। आगेकी परम्परामें विद्यानाथ तथा अप्पय दीक्षित (१७ श० ई०)ने अर्थालंकार, विश्वनाथ (१४ श० ई०) आदिने शब्दालंकार माना है।

हिन्दी काव्यमें वक्रोक्तिका सुन्दर प्रयोग मिलता है, पर सिद्धान्त-रूपमें इसकी चर्चा आधुनिक कालसे पहले बिलकुल नहीं की गयी। केशव (१६-१७ श०ई०)ने 'वक्रोक्ति उक्ति-रूप' शब्दालंकार न मानकर 'निदर्शन उक्ति-रूप' अर्थालंकार माना है। अन्य परवर्ती आचार्योंने शब्दालंकार ही माना है। जसवन्तसिंह (१७ श० ई०) तथा भूषण (१७ श० ई०)-ने अर्थालंकारके अन्तर्गत इसपर विचार किया है और दास (१८ श० ई०)ने श्लेषार्थ अलंकार-वर्गमें इसका निरूपण किया है। पर इस समस्त विवेचनका सम्बन्ध अलंकार-रूपमें ही है, सिद्धान्तमें इसका कुछ सम्बन्ध नहीं है; यद्यपि रीतिकालके कवियोंमें बिहारी तथा घनानन्द आदि कतिपय कवियोंमें वक्रोक्तिका प्रयोग व्यापक रूपमें हुआ है। हिन्दीमें वक्रोक्ति-सिद्धान्तके प्रति आकर्षण आलोचना-पद्धतिके विकासके साथ उत्पन्न हुआ। नगेन्द्रके अनुसार महावीरप्रसाद द्विवेदीके कला-चमत्कारके समर्थनमें एक प्रकारसे वक्रोक्तिकी मान्यता प्राप्त हुई है। पर द्विवेदी-युगके काव्यमें काव्य-चमत्कारका नितान्त अभाव है। इस युगमें पद्मसिंह शर्मा, जगन्नाथदास 'रत्नाकर' तथा हरिऔध आदि प्राचीन काव्य-मर्मज्ञोंने वक्रोक्तिको मान्यता प्रदान की है। आगे चलकर रामचन्द्र शुक्लने रस-सिद्धान्तकी स्वीकृतिके साथ उक्ति-चमत्कारका विरोध किया। उनकी दृष्टिमें चमत्कारका अर्थ मनोरंजन है। उनके अनुसार उक्ति-वैचित्र्य काव्यका व्यापक लक्षण नहीं माना जा सकता। उनके अनुसार ऐसी अनेक मार्मिक उक्तियाँ हो सकती हैं, जिनमें वैचित्र्य अथवा वक्रता न हो, साथ ही वक्रतापूर्ण उक्तिमें भी भाव-व्यंजनाका अभाव हो सकता है। स्पष्ट है, रामचन्द्र शुक्लने वक्रोक्ति-सिद्धान्तको संकुचित अर्थमें ग्रहण किया है। उन्होंने वक्रोक्ति तथा अभिव्यंजनावाद (दे०)का एकीकरण भी किया है। परन्तु इन दोनों सिद्धान्तोंमें मौलिक अन्तर है और साथ ही दोनोंमें वस्तु-तत्त्वकी वैसी अवहेलना भी नहीं है, जैसी रामचन्द्र शुक्लने बतलायी है।

छायावादी युगमें काव्य-शैलीमें वक्रताका विशेष महत्त्व स्वीकृत हुआ है। यह वक्रता मात्र शैलीगत न होकर वस्तुगत रूपमें भी परिलक्षित हुई है। 'प्रसाद'ने भी कुन्तकके वक्रोक्ति-सिद्धान्तको स्वीकार किया है—"इस लावण्यको संस्कृत साहित्यमें छाया और विच्छित्तिके द्वारा कुछ लोगोंने निरूपित किया था" (काव्यकला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ९०)। इस प्रकार 'प्रसाद'ने वक्रताको वास्तविक काव्य-गुण माना है। नगेन्द्रके अनुसार—"छायावादमें वक्रताके दोनों रूपों—विदग्धता और चारुताका ही वैभव मिलता है। 'प्रसाद' तथा पन्तमें जहाँ चारुताका चरम उत्कर्ष है, वहाँ 'निराला'में विदग्धताका। महादेवीके प्रणय-काव्यमें भाव-प्रेरित वक्रताका सुन्दर विकास है।' (भा० का० भू०, पृ० ४५६)। इस युगमें लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', गुलाब राय तथा नगेन्द्रने वक्रोक्तिका व्यवस्थित रूपसे विवेचन किया है। 'सुधांशु'ने अपने ग्रन्थ 'काव्यमें अभिव्यंजनावाद'में वक्रोक्ति-सिद्धान्त तथा पश्चिमके अभि-

व्यंजनावाद, दोनोंकी समुचित विवेचना की है। उनके अनुसार कुन्तकका सिद्धान्त भामहसे विकसित हुआ है और उसके मूलमें अलंकारोंका कल्पना-वैचित्र्य है। वक्रताके आधार रूप लोकोत्तर वैचित्र्यका तद्विदाह्लादके साथ तादात्म्य कर कुन्तक रस-सिद्धान्तको माननेके लिए प्रेरित होते हैं और साथ ही कुन्तकके सिद्धान्तमें ध्वनि-सिद्धान्तसे कतिपय बातें ली गयी हैं। 'सुधांशु'के मतसे वक्रोक्ति तथा अभिव्यंजनावादमें प्रकृतिगत भेद है। वक्रोक्तिसे अलंकारका सम्बन्ध स्पष्टतः स्वीकृत है, किन्तु अभिव्यंजनाके लिए उसका स्वतन्त्र महत्त्व नहीं है अभिव्यंजनामें स्वभावोक्तिका भी मान है, वक्रोक्ति-सिद्धान्तमें नहीं। नगेन्द्र इससे सहमत नहीं हैं, क्योंकि वक्रोक्तिमें स्वभावोक्तिके काव्यतत्त्वका निषेध नहीं है, केवल अलंकारताका निषेध है। गुलाब रायने भी इन दोनों सिद्धान्तोंको अलग माना है। उनके अनुसार क्रोचेने उक्तिको प्रधानता दी है, उक्ति-वैचित्र्यको नहीं। क्रोचेके मतसे सफल अभिव्यक्ति या केवल अभिव्यक्ति कला है। इस अभिव्यक्तिमें स्वभावोक्ति और वक्रोक्तिका भेद नहीं है। उक्ति केवल एक ही प्रकारकी हो सकती है, जो अभिव्यक्ति है। नगेन्द्रने इस मतका समर्थन किया है। उनके अनुसार अभिव्यंजनावादमें उक्तिका केवल एक ही रूप मान्य है—वह वक्र हो या ऋजु; उसमें वार्ता तथा वक्रताका भेद नहीं है। परन्तु वक्रोक्तिमें उक्तिके वैदग्ध्यपर बल दिया गया है। नगेन्द्रके अनुसार वक्रोक्ति-सिद्धान्तमें स्वाभावोक्ति तथा वक्रोक्तिमें वैपरीत्य नहीं है; वैपरीत्य वस्तुतः वार्ता और वक्रोक्तिमें है। वस्तुतः प्रगति-युगके ह्रास-युगके बाद प्रयोगवादी तथा नयी कवितामें वक्रोक्तिकी पुनः प्रतिष्ठा हुई है, नये सन्दर्भों तथा नये अभिनिवेशमें।

[सहायक ग्रन्थ—एस० के० दे : हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोयटिक्स; राघवन : भोजका शृंगारप्रकाश; नगेन्द्र : भारतीय काव्यशास्त्रकी भूमिका।]

वचनचतुर नायक—दे० 'नायक', शृंगार।

वचनविदग्धा—दे० 'विदग्धा', (नायिका)।

वज्र—सिद्धोंकी साधनामें शून्यका पूरक तत्त्व वज्र था—दृढ़ता, अभेद्यता आदि वज्रके लक्षण शून्यतामें है, अतः उसे वज्र नाम दिया गया। यह वज्र पुरुषरूपमें बोधिचित्तमें जाग्रत् होकर नैरात्म्य-ज्ञानमें लीन होनेके लिए अग्रसर होता था। इसके मणि, अश्म तथा अस्त्र आदि वैदिक अर्थोंका परित्याग कर वज्रयानमें इसे परम तत्त्वके अर्थमें स्वीकार किया जाने लगा था। बादमें वज्रके साथ **मुद्रा-मैथुन** साधनोंका जो विशेष सम्बन्ध रहा, उसके कारण शुद्धतावादी गोरखपन्थियोंने इसको विशेष आदर नहीं दिया। सूफियोंमें कपाट, अग्नि, चित्तके साथ 'वज्र' विशेषणका प्रयोग हुआ है। 'पद्मावत'में एक स्थानपर आठ वज्रोंका भी उल्लेख है, जिससे यह ज्ञात होता है कि वज्रकी बौद्ध कल्पना किसी-न-किसी रूपमें जीवित उस समय भी थी। किन्तु परवर्ती सम्प्रदायोंमें यह वज्र शब्द बिलकुल विस्मृत कर दिया गया (दे० 'वज्रयान', 'मणि')। —ध० वी० भा०

वज्रधर—वज्र धारण करनेवाला, अर्थात् कमल-कुलिश साधनामें निष्णात बौद्ध सिद्ध वज्रधर कहलाता था। बुद्धका एक वज्रयानी रूप वज्रधरका भी था, जिसमें वे अपनी शक्तिके साथ **युगनद्ध-साधना**में लीन रहते हैं। —ध० वी० भा०

वज्रयान—बौद्ध धर्मका वह रूप, जो देवता, मन्त्र, गुह्य साधनाओं और अभिचार आदि तान्त्रिक प्रवृत्तियोंसे युक्त है और 'दोहाकोष' तथा 'चर्यापदों'के लेखक सिद्धाचार्य जिसके अनुयायी थे। वज्रयानका सूत्रपात कब और कैसे हुआ, अत्यन्त प्रामाणिक सामग्रीके अभावमें अभी भी यह अनुमानका ही विषय है। किन्तु ईसाकी छठी शताब्दीके बाद जब सारे देशमें तान्त्रिक प्रवृत्तियोंका आधिपत्य हो गया, तब लगभग सभी धर्मसाधनाओंने किसी-न-किसी रूपमें तान्त्रिक प्रणालीको स्वीकार कर लिया। उसीके आस-पास वज्रयानका विकास-काल माना जा सकता है।

चमत्कारपूर्ण अतिप्राकृतिक सिद्धियोंका उल्लेख तो बुद्धके ही समयमें मिलता है और कुछ भिक्षुओंका झुकाव भी इन चमत्कारोंकी ओर था, किन्तु बुद्धने बराबर इनकी निन्दा की है। किन्तु बुद्धकी मृत्युके बाद धीरे-धीरे इनका समावेश होता रहा, यहाँतक कि 'दीघनिकाय'में आटानाटीय सूत्रमें ही गृध्रकूट पर्वतपर तथागतकी उपस्थितिमें उनकी सहमतिसे वैश्रवणको आटानाटीय रक्षा पढ़ते हुए चित्रित किया गया, जो अमनुष्योंसे भिक्षुओंकी रक्षा करता है। कुछ विद्वानोंके मतानुसार यह अंश प्रक्षिप्त है और जब सिंहलमें यह पिटक लिपिबद्ध किया गया, तब इसका समावेश कर दिया गया। आगे चलकर महायानकी दो शाखाएँ हो गयीं—पारमिता-नय और मन्त्र-नय। वास्तवमें साधकोंकी सुविधाके लिए शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिताको पहले दशसाहस्रिका, फिर अष्टसाहस्रिका, फिर शतश्लोकी और अन्तमें केवल एक हृदय-सूत्रमात्रमें उसे सम्पुंजित कर दिया गया। इस प्रकारके बहुतसे सूत्र, मन्त्र और धरणियोंका प्रचलन हुआ। उनके साथ ध्यानी बुद्धोंका भी सम्बन्ध जुड़ गया और इस प्रकार पारमिता-नयकी अपेक्षा मन्त्र-नय अधिक लोकप्रिय होता गया और उसीमें गुह्य साधनाएँ जुड़ गयीं। दर्शनकी अपेक्षा क्रिया, चर्या, अनुष्ठानका विकास हुआ और धीरे-धीरे मन्त्रयान और उससे वज्रयानका विकास हुआ। कुछ विद्वान् मन्त्रयानको वज्रयानकी शाखा मानते हैं, किन्तु यह धारणा भ्रमात्मक प्रतीत होती है। वस्तुतः मन्त्रयान **महायान**के वज्रयानमें संक्रमणकी अवस्था था। वज्रयानके पूर्ण विकासके बाद भी मन्त्रयानको विस्मृत नहीं किया गया और अद्वयवज्र तथा अन्य सिद्धाचार्योंने भी इस नामका बहुधा स्मरण किया है। यद्यपि मन्त्रयान नामका तिरस्कार तो नहीं हुआ, किन्तु **वज्र**की एक सर्वव्यापी कल्पना बौद्ध तन्त्रवादमें इतनी प्रबल हो उठती है कि स्वतः शून्यको ही वज्र कहा जाने लगा। देवता, समाधि, काय, वाक्, चित्त, मुद्राएँ, शक्तियाँ, ज्ञान, उपाय, योग, सभीके नाम 'वज्र'-समन्वित होने लगे। अद्वयवज्रने साधर्म्यके आधारपर शून्यताको वज्र कहा—"दृढसारमसौशीर्यमच्छेद्याभेद्यलक्षणम्, अदाहि अविनाशी च शून्यता वज्रमुच्यते"। इसी शून्यता-ज्ञानको वज्रज्ञानकी संज्ञा दी गयी और उसे

प्राप्त करानेवाली धर्मसाधनाको वज्रयान कहा गया। किन्तु यह वज्रयान महायानसे पृथक् या मन्त्रयानसे पृथक् साधना न होकर अनुत्तर सम्यक्-सम्बोधिको प्राप्त करानेवाला वज्रप्रधान मार्ग था।

यह **वज्र**की कल्पना आयी कहाँसे? वज्रको अश्म या **मणि** भी कहा जाता है और इन्द्रका आयुध वज्र है, जिससे वह शत्रुओंको पराजित करता है। बौद्ध-ग्रन्थोंमें कहीं-कहीं वज्रको इन्द्रके वज्रकी ही भाँति त्रिदन्त बताया गया है; तीन दन्त है—धर्म, बुद्ध और संघ। ज्ञात होता है कि ब्राह्मणोंने वैदिक देवता इन्द्रकी जितनी उपेक्षा की, उसका परिहार बौद्धोंने किया है। प्रज्ञापारमिताओंमें इन्द्रका नवरूप मिलता है, जहाँ वे संगीतियोंमें तथागतके शिष्यरूपमें सम्मिलित होते है। ऐसा लगता है कि गुरु-दक्षिणामें बौद्धोंने उनका आयुध **वज्र** ले लिया। उसे शून्यता-ज्ञानवाले प्रतीकार्थ दे दिये और फिर तो उसका ऐसा महत्त्व बढ़ा कि पाँच ध्यानी बुद्धोंसे परे छठे वज्रसत्त्व-की कल्पना की गयी, जो प्रज्ञापारमिताके पति हैं; जिनका अस्त्र अमोघ वज्र है, जो **युगनद्ध**-रूपमें सदा अपनी **शक्ति**-के साथ समन्वित रहते है।

सातवीं शताब्दीमें दसवीं शताब्दी तक वज्रयानका स्वरूप निरन्तर विकसित होता गया। इस बीचमें जितने आचार्य हुए, उन्होंने उतने प्रकारकी पद्धतियोंका प्रचार किया। इसी बीचमें वज्रयानका सम्पर्क चीन, जापान, गान्धार, आदि जितने देशोंमें हुआ, उतने नये देवी-देवता शाक्तों, वैष्णवों और बोन्पा आदि धर्मोंसे लिये गये। बुद्धके इतने कुलोंका विकास हुआ कि वज्रयानका एक शृंखलाबद्ध विवरण दे सकना असम्भव है। इतना स्पष्ट है कि चिन्तना, साधना, मन्त्र, देवता, तन्त्र, योग, आचार, भाषा, इन सभी दिशाओंमें बौद्ध धर्म इतना सर्वग्राही कभी नहीं रहा, जितना इस कालमें। अन्तमें इन सभी प्रवृत्तियोंको एकसूत्रता प्रदान करनेके लिए वज्रयानके अन्तर्गत कई आम्नाय मान लिये गये और साधकको स्वतन्त्रता दी गयी कि वह अपनी प्रवृत्ति और गुरुके निर्देशके अनुसार साधना करे। साथ ही साधकके मानसिक विकासके अनुसार वज्रयानमें पहले क्रिया, फिर धर्म, फिर योग और अन्तमें अनुत्तरकी साधनाका विधान बताया गया। आचार्य अवधूतीपाने 'कुदृष्टिनिर्घात-क्रम'मे दो प्रकारके साधक बताये है—'शैक्ष' तथा 'अशैक्ष'। शैक्ष अविकसित मनवाले होते हैं, अतः उन्हें आचारके सभी नियम पालन करने पड़ते हैं और उनके लिए **क्रिया** तथा **चर्या**का विधान है। अशैक्ष विकसित होते है और **योग** तथा **अनुत्तर**की साधना करते है और उनको आचारगत स्वतन्त्रता प्राप्त होती है, किन्तु अनुत्तरकी साधना करनेवाले सिद्ध अन्य पद्धतियोंका तिरस्कार नहीं करते थे, वे केवल **सहज-स्वभाव** धारण करनेपर अधिक बल देते थे। किन्तु यह मानना कि सहजयान वज्रयानसे पृथक् कोई सम्प्रदाय था, जिसमें अनुष्ठानों और गुह्य साधनाओंका अभाव था, भ्रान्त धारणा है, क्योंकि इस सन्दर्भमें **सहज**-का अर्थ ही प्रज्ञोपायात्मक है, अर्थात् सहज वह अद्वय तत्त्व है, जो प्रज्ञा और उपायके सहगमनसे उद्भूत हो। जो इन दोनोंके अद्वय अनुत्तरको सिद्ध कर सामरस्यका अनुभव करता है और महासुखकी प्राप्ति करता है, वह सहज सिद्ध है। अतः सहजयान वज्रयानसे पृथक् कोई सम्प्रदाय नहीं था, उसीका एक पद्धति-मात्र था। सम्प्रदाय-के लिए सहजयान शब्दका प्रयोग किसी पुराने ग्रन्थमें नहीं मिलता। आधुनिक विद्वानोंने सहजकी अत्यधिक महिमा देखकर यह नामकरण कर दिया है, ऐसा प्रतीत होता है। समस्त पुरानी उपलब्ध सामग्रीमें सहजयानका प्रयोग केवल एक स्थलपर मिलता है (१४ वीं चर्याकी टीकामें)। वहाँ भी वह सम्प्रदायके लिए न प्रयुक्त होकर एक रूपकके अन्तर्गत सहजरूपी नौकाके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है और वहाँ उसका अर्थ अवधूतिका नाम भी नाड़ी है।

'चक्र-सम्भार-तन्त्र'की भूमिकामें काजी दावा समदुपने वज्रयानके छः प्रमुख भेद बताये है—क्रिया-तन्त्र-यान, चर्या-तन्त्र यान, योग-तन्त्र-यान; पुनः इस योग-तन्त्र-यानके ३ प्रभेद है—महा-योग-तन्त्र-यान, अनुत्तर-योग-तन्त्र-यान, अति-योग-तन्त्र-यान। ये भेद शायद तिब्बती परम्परामें प्रचलित हों। भारतीय परम्परामें पूर्वोक्त क्रिया, चर्या, योग तथा अनुत्तर, इन्हीं चारका प्रचलन था। —ध० वी० भा०

वज्रा—दे० 'हठयोग'।

वज्रोली—'गोरक्ष पद्धति' (पृ० ४०)के विवरण तथा मुरलीधर शर्माकी टीकामें संग्रहीत सूचनाओंके अनुसार योगोक्त नियमोंको जाने बिना भी स्वेच्छासे जो वज्रोलीको जानता है और उसका अभ्यास करता है, वह सिद्धि प्राप्त कर लेता है। इस मुद्राकी साधनाके लिए दो वस्तुओंकी आवश्यकता बतायी गयी है—वशवर्तिनी स्त्री और सम्भोग-के बाद पीनेके लिए (पर्याप्त) दूध। पुरुष हों या नारी सभी वज्रोली सिद्ध कर सकते है। इसमें सम्भोगके समय क्षरित होनेवाले वीर्यको इन्द्रियके आकुंचनका अभ्यास करके ऊपर खींचनेका आदेश है। इसे योग-भोग, दोनोंका आनन्द देनेवाली कहा गया है, साथ ही इसे मुक्ति देनेवाली भी बताया गया है।

वज्रोलीको एक शुद्ध योगपरक एवं आध्यात्मिक व्याख्याके रूपमें स्वीकार किया है। 'घेरण्डसंहिता'(३ : ४०) में बताया गया है कि दोनों हाथोंकी हथेलियोंको पृथ्वीपर जमाकर दोनों पैरोंको ऊपर आकाशमें खड़ा कर दिया जाय और शिरको भी ऊपर उठाये रखा जाय। इस प्रकार सिद्ध होनेवाली वज्रोणि मुद्रा शक्ति और चिरजीवन देनेवाली होती है। यहाँ वज्रोणि मुद्राकी जो विधि बतायी गयी है, उसमें और 'गोरक्ष पद्धति'में विवृत वज्रोलीमें कोई भी साम्य कहीं दिखाई नहीं पड़ता और ऐसा लगता है, जैसे यह कोई भिन्न मुद्रा है। लेकिन ४२, ४३में कहे गये इसके फलोंसे यह अनुमान पुष्ट होता है कि वज्रोणि, वज्रोली ही है क्योंकि इसमें भी बिन्दु-सिद्धिकी बात की गयी है और बताया गया है कि यदि महाभोगी व्यक्ति भी इस मुद्राका आचरण करें, तो उसे सभी सिद्धियाँ मिल सकती हैं।

—रा० सिं०

वटगमनी—वटगमनी मैथिली लोकगीतोंका एक प्रकार है, जिसका शाब्दिक अर्थ होता है—पथपर गमन करनेवाली। मिथिलामें मेलों तथा उत्सवोंके अवसरपर ग्रामीण स्त्रियोंका

समुदाय इसे बड़े प्रेमके साथ गाता है। वर्षा ऋतुमें बागोंमें झूलेपर बैठकर भी बटगमनी गायी जाती है, जिसे सुननेके लिए रसिक श्रोताओंकी भीड़ लग जाती है। कोई-कोई इस गीतको **सजनी** भी कहते हैं, क्योंकि गीतके प्रत्येक चरणके प्रथम और तृतीय वाक्यखण्डके अन्तमें सजनी शब्दकी पुनरावृत्ति पायी जाती है। बटगमनीके दो भेद होते हैं—(१) संयोग-सुखान्त और (२) वियोग-दुःखान्त। मैथिली लोक-गीतोंके सम्पादक राकेश लिखते हैं कि बटगमनीके भावोंकी बन्दिश मैथिली है और तर्ज रोमाण्टिक ढाँचेमें ढली है। उसकी कल्पना वैशाख-सन्ध्या-सी शीतल और भाषा मिश्रीकी डलीकी तरह मीठी है। बटगमनीके कुछ गीतोंमें विद्यापतिका नाम पाया जाता है और कुछ तो उनकी पदावलीमें स्थान भी पा चुके हैं। भानुनाथ, दुखभंजन, मेघदूत, फतूरलाल, कर्ण जयानन्द, चतुरानन आदि अनेक मैथिली कवियोंने इन गीतोंकी रचना की है। बटगमनीके गीत शृंगार रससे ओत-प्रोत हैं, जिन्हें सुनकर श्रोतागण मुग्ध हो जाते हैं। —कृ० दे० उ०

वधू–दे० 'महामुद्रा'।

वर्गगीत–दे० 'समूहगीत'।

वर्गगीति–दे० 'समूहगीत', 'गीतिकाव्य'।

वर्ग-नैतिकता–कार्ल-मार्क्सके अनुसार नैतिक मानदण्डोंमें न कुछ शाश्वत है, न चिरन्तन। अच्छे और बुरेका मानदण्ड साधारणतया वर्ग-स्वार्थोंकी सापेक्षतामें ही किया जाता है। अतः समाजमें जितने वर्ग हैं, उतने ही प्रकारकी वर्ग-नैतिकता होती है। इस नैतिकताके अनुसार हम उसी कार्यको अच्छा समझते हैं, जो हमारे वर्ग-स्वार्थोंकी पूर्ति करता है। —रा० म० त्रि०

वर्ग-युद्ध–वर्ग-संघर्ष (class struggle) जब समाजमें स्पष्ट और साकार रूप धारण करता है तो उसे वर्ग-युद्ध कहते हैं। इस वर्ग-युद्धके कई रूप होते हैं। साधारण तौरपर ये हड़तालसे प्रारम्भ करते हैं और इसका अन्तिम स्वरूप विध्वंसात्मक होता है, जिसमें तोड़-फोड़ भी शामिल है। वर्ग-युद्धके अन्तर्गत ही श्रेणी-संघर्ष और वर्ग-वैषम्य आता है, क्योंकि वर्ग-वैषम्यसे ही श्रेणी-संघर्षका जन्म होता है और उसीसे वर्ग-युद्ध प्रारम्भ होता है। —रा० म० त्रि०

वर्ग-स्वार्थ–मार्क्सके अनुसार सारा समाज विभिन्न आर्थिक वर्गोंमें बँटा हुआ है। इन विभिन्न आर्थिक वर्गोंकी विभिन्न आवश्यकताएँ हैं। इन्हीं आर्थिक आवश्यकताओंके अनुरूप उनके सांस्कृतिक, धार्मिक एवं नैतिक स्वार्थ भी हैं। अतः वर्ग-स्वार्थ वह धुरी है, जिसके चारों ओर अन्य सामाजिक स्वार्थ चक्कर काटते हैं। मार्क्सके अनुसार वर्ग-स्वार्थ एक बहुत बड़ी मनोवैज्ञानिक शक्ति है। पूँजीपति और श्रमिक जब कभी समाजके सम्बन्धमें कोई महत्त्वपूर्ण कार्य करता है तो वह अपने वर्ग-स्वार्थकी प्रेरणासे ही प्रेरित होता है। —रा० म० त्रि०

वर्गहीन समाज–मार्क्सके अनुसार जब उत्पादनके साधनोंपर समाजका सामूहिक नियन्त्रण होता है, तब समाजमें कोई भी वर्ग नहीं होता। फलस्वरूप उस समाजमें आर्थिक शोषण भी नहीं होता। उसी समाजको वर्गहीन समाज भी कहते हैं। प्राथमिक साम्यवाद, अर्थात् 'प्रिमिटिव कम्युनिज्म', जिससे मनुष्यका इतिहास प्रारम्भ होता है और कम्युनिज्म, जिसकी रचना पूँजीवादके उपरान्त होगी, वर्गहीन समाजके दो विभिन्न रूप हैं, जिनमेंसे प्रथम समाज आदिम होनेके कारण कम विकसित है और दूसरा यान्त्रिक सभ्यताका उत्तराधिकारी होनेके नाते पिछली तमाम आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्थाओंकी अपेक्षा अधिक विकसित है। —रा० म० त्रि०

वर्ण–नादके तात्त्विक चिरन्तन रूपको 'अक्षर' और उसके लिखित व्यक्त रूपको 'वर्ण' संज्ञा दी जाती है। व्यवहारमें अक्षर और वर्ण पर्यायकी तरह प्रयुक्त होते हैं। जैसे वर्ण-गणनापर आधारित वर्णिक छन्द कवित्तको घनाक्षरी कहा जाता है, पर लिखित ध्वनि समूहको देवनागरीमें—'वर्णमाला' ही कहते हैं। वर्ण दो प्रकारके माने गये हैं—'ह्रस्व' और 'दीर्घ'। छन्दःशास्त्रमें ह्रस्वके लिए 'लघु' और दीर्घके लिए 'गुरु' शब्दका प्रयोग होता है।

गुरु, अर्थात् दीर्घ वर्ण ह्रस्व या लघुकी तुलनामें दुगुनी मात्रा रखता है, ऐसा माना जाता है। मात्रिक छन्दोंका विधान इसी मान्यतापर आधारित है। वैज्ञानिक दृष्टिसे लघु-गुरुके उच्चारण-कालका अनुपात क्या होगा, इसपर विचार नहीं हुआ है। अभी यह मान्यता व्यावहारिक अनुमानपर ही अधिक आश्रित है। गुरु वर्णके लिए 'ऽ' चिह्न प्रयुक्त होता है। मात्रिक छन्दोंमें मात्रा गणना करते समय किस वर्णको गुरु माना जाय, इस सम्बन्धमें प्राचीन विद्वानोंने विचार किया है और तत्सम्बन्धी नियम भी निर्धारित किये हैं। इस विषयमें कालिदासके 'श्रुतबोध' नामक छन्द-ग्रन्थकी यह आर्या विशेष प्रसिद्ध है—"संयुक्ताद्यं दीर्घं सानुस्वारं विसर्गसम्मिश्रम्। विज्ञेयमक्षरं गुरु पादान्तस्थं विकल्पेन"। इस सम्बन्धके नियम इस प्रकार हैं—(१) संयुक्त अक्षरसे पूर्वके वर्ण गुरु होते हैं, उन स्थानोंको छोड़कर जहाँ संयुक्ताक्षरका उच्चारण स्वराघातसे हीन साधारण लघु वर्णकी तरह हो, जैसे 'मल्हार', 'कह्यो', 'सुन्यो', 'तुम्हें', 'उन्हें', 'मरचो' आदि शब्दोंमें। संयुक्ताक्षरसे यदि नया शब्द प्रारम्भ हो तो हिन्दीमें उसका प्रभाव कुछ अपवादोंके अतिरिक्त पूर्ववर्ती शब्दके अन्तिम लघु अक्षरपर नहीं पड़ता, जैसे, 'वह भ्रष्ट'में 'ह' लघु ही रहेगा। (२) अनुस्वारयुक्त वर्ण गुरु होते हैं। (३) विसर्गयुक्त वर्ण गुरु होते हैं। (४) चरणके अन्तमें आनेवाला वर्ण भी आवश्यकतानुसार गुरु स्वीकार कर लिया जाता है। (५) दीर्घ मात्राओंसे युक्त सभी वर्ण गुरु माने जाते हैं, यदि उनका उच्चारण लघुकी तरह न किया जाय, जैसे 'तोहार', 'कहेउ' आदिमें। वस्तुतः उच्चारण ही किसी वर्णको गुरु बनानेका मुख्य आधार है।

लघु, अर्थात् ह्रस्व वर्ण मात्रागणनाकी प्रमुख इकाई हैं। इनके लिए '।' विराम-चिह्न प्रयुक्त होता है। दो लघु वर्ण मिलकर एक गुरुके बराबर माने जाते हैं। जो वर्ण गुरु नहीं स्वीकार किये जाते, उन्हें भी लघु समझ लिया जाता है। इस सम्बन्धके नियम इस प्रकार हैं—(१) संयुक्ताक्षर स्वयं लघु होते हैं। (२) चन्द्रबिन्दुसे युक्त लघु वर्ण लघु ही होते हैं। (३) ह्रस्व रूपमें उच्चरित गुरु वर्ण भी लघु होते हैं। (४) ह्रस्व मात्राओंसे युक्त सभी वर्ण लघु

होते है । (५) हलन्त व्यंजन भी लघु मान लिये जाते है, केवल संस्कृतमें इनकी गणना नही होती है ।

वर्णिक गण—वर्णिक वृत्तोंमें गुरु-लघु-क्रमसे वर्णोंकी व्यवस्था एवं गणना करनेके लिए तीन-तीन वर्णोंके आठ स्वतन्त्र समूहोंकी कल्पना की गयी और उन्हें गण कहा गया । विभिन्न गणोंके विभिन्न नाम, देवता, अवतार, फल और शुभाशुभ प्रभावको भी परिकल्पित किया गया, जो इस प्रकार है—

नाम	वर्णक्रम	देवता	फल	प्रभाव	अवतार
यगण	ISS	जल	आयु	शुभ	कच्छप
मगण	SSS	भूमि	लक्ष्मी	शुभ	मत्स्य
तगण	SSI	आकाश	शून्य	अशुभ	वामन
रगण	SIS	अग्नि	दाह	अशुभ	वाराह
जगण	ISI	सूर्य	रोग	अशुभ	परशुराम
भगण	SII	चन्द्रमा	यश	शुभ	रामचन्द्र
नगण	III	स्वर्ग	सुख	शुभ	कृष्ण
सगण	IIS	वायु	विदेश	अशुभ	नृसिंह

प्राचीन परम्परावादी कवि, जो शास्त्रविधिसे काव्य-रचना करनेमें विश्वास रखते थे, इस बातके सम्बन्धमें सतर्क रहते थे कि काव्यके आदिमें कहीं 'अगण', अर्थात् अशुभगण न पड जाय, अन्यथा उन्हें उसका अशुभ फल भोगनेकी आशंका रहती थी ।

संस्कृतमें गणोंका रूप पहचाननेके लिए यह श्लोक प्रचलित है—"मस्त्रिगुरुस्त्रिलघुश्च नकारो, भादि गुरुः पुनरादिलघुर्यः । जो गुरुमध्यगतो रल मध्यः, सोऽन्तगुरुः कथितोऽन्तलघुस्तः" । इसके अतिरिक्त एक और सूत्र 'यमाताराजभानसलगा' इधरके बहुतसे छन्दग्रन्थोंमें उपलब्ध होता है, जो अधिक संक्षिप्त एवं स्मरणसाध्य है ।

वर्णिक छंद—केवल वर्ण-गणनाके आधारपर रचे गये छन्द वर्णिक कहलाते हैं । वृत्तोंकी तरह इनमें गुरु-लघुका क्रम निश्चित नहीं होता, केवल वर्णसंख्याका ही निर्धारण रहता है और इनमें चार चरणोंका होना भी अनिवार्य नहीं है । ऐतिहासिक दृष्टिसे वर्णिक छन्दोंकी परम्परा बैदिक कालतक जाती है । इनके दो भेद माने गये है—(१) साधारण (२) दण्डक । १से २६ वर्णतकके छन्द 'साधारण' और २६से अधिक वर्णवाले छन्द 'दण्डक' होते है । हिन्दीके सुपरिचित छन्द घनाक्षरी (कवित्त), रूपघनाक्षरी और देव-घनाक्षरी दण्डक भेदके अन्तर्गत आते है । 'साधारण'के अन्तर्गत 'अमिताक्षर' छन्दको लिया जा सकता है । वस्तुतः यह घनाक्षरीके एक चरणके उत्तरांशसे निर्मित होता है । इसमें १५ वर्ण होते हैं और ८, ७पर यति रहती है । इन वर्णिक छन्दोंमें लघु-गुरुमें अन्तर नहीं माना जाता और उनका व्यवहार समान रूपसे किया जाता है । गति और प्रवाहका निश्चय कविके लयबोधपर आश्रित रहता है । इस सम्बन्धमें कुछ नियम बनानेकी भी चेष्टा की गयी, परन्तु वह व्यावहारिक सिद्ध नहीं हुई ।

वर्णिक वृत्त—वर्णिक छन्दका ही एक क्रमबद्ध, नियोजित एवं व्यवस्थित रूप वर्णिक वृत्त होता है । वृत्त उस सम छन्दको कहते हैं, जिसमें चार समान चरण होते हैं और प्रत्येक चरणमें आनेवाले वर्णोंका गुरु-लघु-क्रम सुनिश्चित रहता है । गणोंके विधानमें नियोजित होनेके कारण इसे गणबद्ध या गणात्मक छन्द भी कहा जाता है । संस्कृत साहित्यमें ही विशेष रूपसे वर्णिक वृत्तोंका सर्वाधिक प्रयोग हुआ है । संस्कृतकी नियमबद्ध प्रकृति ही इनके विकासका मूल है और उसीसे इनका पूर्ण सामंजस्य सिद्ध होता है । प्राकृत, अपभ्रंश आदि मुक्त प्रकृतिकी भाषाओंसे इनकी संगति नही बैठ सकी । हिन्दीमें संस्कृत वर्णिक वृत्तोंके प्रयोगका सबसे अधिक आग्रह केशव तथा 'हरिऔध'ने दिखाया । सवैया भी वर्णिक वृत्त है, परन्तु गुरुको लघु पढ लेनेकी छूटके कारण इसका प्रयोग हिन्दीमें अन्य वर्ण-वृत्तोंकी तुलनामें अधिक मिलता है । शार्दूलविक्रीडित, मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, द्रुत-विलम्बित, वंशस्थ, मालिनी इत्यादि ऐसे प्रमुख वर्णिक वृत्त हैं, जिनके साथ मध्यकालीन संस्कृत काव्यका गौरवपूर्ण इतिहास जुड़ा हुआ है ।

दग्धाक्षर—जिस प्रकार गणोंके शुभाशुभ प्रभावकी कल्पनाकी गयी, उसी प्रकार अक्षरोंको भी शुभ और अशुभ प्रभावसे युक्त माना गया और तदनुसार उनका विभाजन भी किया गया है । क, ख, ग, घ, च, छ, ज, ड, द, ध, न, य, श, स, क्ष, ये १५ अक्षर शुभ और ङ, झ, ञ, ट, ठ, ढ, ण, त, थ, प, फ, ब, भ, म, र, ल, व, ष, ह, ये १९ अक्षर अशुभ वर्गमें आते हैं । इन अशुभ अक्षरोंमेंसे भी झ, ह, र, भ, ष, ये ५ अक्षर विशेष कुप्रभावयुक्त होनेसे दग्धाक्षर कहलाते है । यदि देवतादिके नाममें न आये हो तो छन्दके आदिमें इनका प्रयोग शास्त्रीय दृष्टिसे नितान्त वर्जित है । —ज० गु०

वर्णन-दोष—संस्कृत और हिन्दीके आचार्योंने काव्य-दोषका अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन किया है । पद, पदांश, वाक्य, अर्थ, रस आदिके अन्तर्गत प्रायः समस्त दोषोंका समावेश कर दिया गया है । ऐसे होते हुए भी आधुनिक काव्यमें नवीन विधाओं तथा स्वच्छन्दता आदिके कारण कुछ प्राचीन गौण दोष अधिक स्पष्ट रूपसे विकसित होने लगे है । कविगण अपनी रचनाओंमें सम्बन्ध-निर्वाहका समुचित ध्यान नही रखते है । उनके विषय-प्रतिपादनमें पदार्थों, घटनाओं और पात्रोंके स्वभाव एवं मानसिक प्रवृत्तियोंके विरुद्ध चित्रणोंकी प्रधानता रहती हैं । वे शब्दोंके वास्तविक अर्थोंका ध्यान नहीं रखते है । साथ ही नये शब्दोंकी विचित्र रचनाएँ की जाने लगी हैं । शब्दोंके रूपोंको बिगाड़ा जा रहा है । अशुद्ध मुहावरोंका प्रयोग होने लगा है । प्रकृति-विरोधी वर्णन निस्संकोच भावसे होने लगे हैं ।

भाषा और विषय-वर्णनके साथ स्वतन्त्रता और स्वच्छन्दताके नामपर मनमानी स्वेच्छाचारिताका परिचय दिया जाने लगता है । परिणामतः विषय, भाव, अर्थ और भाषा, सभीका रूप विकृत होने लगा है । आधुनिक विवेचकों-(रामदहिन मिश्र : का० द०)ने इन दोषोंकी ओर ध्यान आकृष्ट किया है । इन दोषोंका इतना विकास हो चुका है कि इनके अस्तित्वको अलगसे स्वीकार करना आवश्यक हो गया है । यह निर्विवाद है कि उक्त त्रुटियोंसे सम्बन्धित ये दोष वर्णन-दोषके अन्तर्गत परिगणित किये जाते है । कुछ प्रमुख वर्णन-दोषोंके नाम है—१. प्रकृति-विरोध, २. अर्थ-

विरोध, ३. स्वभाव-विरोध, ४. भाव-विरोध, ५. अभिधेयार्थ-विरोध।

१. प्रकृति विरोध—यह दोष 'प्रसिद्धिविरुद्ध' अर्थ-दोषके अन्तर्गत समन्वित हो जाता है। प्रसिद्धि-विरुद्धका क्षेत्र 'प्रकृति-विरोध'-दोषकी अपेक्षा अधिक विस्तृत है। जहाँ प्राकृतिक सत्यके विरुद्ध वर्णन किया जाता है, वहाँ प्रकृति-विरोध दोष होता है। यथा—"कहुँ केतकी कदली करौंदा कुन्द अरु करवीर है। कहुँ दाख दाडिम सेव कटहल तूत अरु जम्भीर है। कितहूँ कदम्ब कदम्ब कहुं हिंताल ताल तमाल है। पीयूषमें मीठे फले कितहूँ रसाल रसाल है" (भूषण : शि० भू०)। रायगढ़का वर्णन करते समय भूषणने उक्त पंक्तियोंका प्रयोग किया है। इन्होंने देश और कालका ध्यान न रखते हुए रायगढ़में उन सभी वृक्षोंका उल्लेख कर दिया है, जिनका उत्पन्न होना रायगढ़में सम्भव नहीं है, अतः यहाँ प्रकृति-विरोध दोष है। अथवा "बिन्दुसारके परम पुण्यसे उपजा श्यामल विटप अशोक। स्निग्ध सघनता पल्लवके नीचे छाया चिर शीतल आलोक" (कुणालसे)। पल्लवोंके नीचे अन्धकारके स्थानपर आलोकका वर्णन करना प्राकृतिक सत्यके विरुद्ध है, अतः उक्त दोष है।

२. अर्थ-विरोध—इस दोषका समाहार 'प्रसिद्धि-विरुद्ध' नामक अर्थ-दोषमें हो जाता है। जहाँ स्वीकृत अर्थके विरुद्ध वर्णन किया जाता है, वहाँ अर्थ-विरोध वर्णन-दोष होता है। यथा—"भूलि न जइयो पथिक! तुम तिहिं सरिता पथ ओर। तरुनि पदाहत अंकुरित नव असोक उहि ओर"। रक्त अशोकको देखकर विरहानुभवी किसी पथिककी अन्य पथिकसे उक्ति है। कामिनीके पादके आघातसे अशोकका पुष्पित होना ही कवि-सम्प्रदायमें प्रसिद्ध है, न कि अंकुरोद्गमका होना। अतः यहाँ अप्रसिद्ध बातका उल्लेख है, अर्थात् विरुद्ध-अर्थका वर्णन है। अथवा—"लगे कामनाके पक्षी दल करने मधुमय कलरव। लगीं वासनाकी कलिकाएँ बिखराने मधु वैभव"। कलिका पुष्पकी अविकसित अवस्था होती है। यहाँ कलिका द्वारा 'सुगन्ध' और 'मधु'की वर्षा करनेका वर्णन लोकप्रसिद्धि, स्वीकृत अर्थ एवं वास्तविकताके विरुद्ध है, अतः यहाँ अर्थ-विरोध वर्णन दोष है।

३. स्वभाव-विरोध—इस दोषका समन्वय, एक सीमा तक, प्रसिद्धि-त्याग (प्रसिद्धिहत) नामक शब्द-दोषके अन्तर्गत हो जाता है। स्वभाव-विरोध दोषसे अभिप्राय है, ऐसा कथन करनेसे, जो वर्ण्य विषयके स्वभावके विरुद्ध किया गया हो—"पता नहीं था संगरमें फिर पलक भाँजते धमक गया। वार किया, संहार किया, छिप गया अचानक चमक गया" अथवा—"फोड़-फाड़कर कुम्भस्थल, मदमस्त गजोंको मर्दन कर। दौड़ा, सिमटा, जमा, उड़ा, पहुँचा दुश्मनकी गर्दनपर"। उक्त दोनों छन्द 'हल्दीघाटी' काव्यसे लिये गये है। महाराणा प्रतापके घोड़े 'चेतक'का वर्णन है। इस चित्रणमें स्वभाव-विरोधका आभास मिलता है। अतएव स्वभाव-विरोध वर्णन-दोष है।

४. भाव-विरोध—इस दोषका आंशिक भाग, अप्रत्यक्षरूपसे प्रकृति-विपर्यय रस-दोषके अन्तर्गत समन्वित हो जाता है। जहाँ वर्णित विषय या भावके विरुद्ध कोई चित्रण किया जाता है, वहाँ भाव-विरोध दोष होता है। "आँखोंमें था घन अन्धकार पदतल बिखरे थे अग्निखण्ड। वह चलती थी अंगारोंपर लेकरके जलते प्राणपिण्ड" (कुणालसे)। यहाँ 'आँखों'में घना अन्धकार छाया होनेपर चलना असम्भव था। यह वर्णन सम्बन्धित पात्रकी मानसिक दशाके विपरीत वर्णित है। कुणालसे तिरस्कृत होनेपर तिष्यरक्षिताके मनमें बदला लेनेकी भावना कार्य कर रही थी। ऐसी दशामें उक्त वर्णन भाव-विरोध-वर्णनसे दूषित है।

५. अभिधेयार्थ-विरोध—साक्षात् संकेतित अर्थका बोध करानेवाली मुख्य क्रिया (व्यापार)को अभिधा कहते है। इस प्रकार जिस अर्थका बोध होता है, उसे अभिधेयार्थ कहते है। जहाँ शब्द अपने अभिधेयार्थमें प्रयुक्त नहीं होता है, वहाँ अभिधेयार्थ-विरोध वर्णन दोष माना जाता है। प्राचीन समयसे ही इस प्रकारकी त्रुटियाँ कवि करते आये है। इसीलिए अनुचितार्थ-शब्द-दोषका आविर्भाव हुआ। अतः एक प्रकारसे अभिधेयार्थ-विरोध-दोषका समन्वय अनुचितार्थ-शब्द-दोषमें हो जाता है। स्वच्छन्दतावादी आधुनिक युगमें यह प्रवृत्ति अधिक बढ़ गयी है। यह दोष (क) शब्दार्थ-परिवर्तन, (ख) शब्दोंके अंग-भंग, (ग) मुहावरोंका अशुद्ध प्रयोग, (घ) अंग्रेजी आदिसे दोषपूर्ण अनुवाद आदि सभी प्रकारके साहित्यमें दृष्टिगोचर हो रहा है।

(क) शब्दार्थ-परिवर्तन-दोष—अजान और अनजान अपने मूल अर्थमें अज्ञात और अज्ञानीके लिए प्रयुक्त होते हैं, किन्तु अंग्रेजीके 'इन्नोसेण्ट' शब्दके अर्थमें भोलापन, निर्मल आदिके लिए पन्त द्वारा प्रयुक्त किये गये है। यथा—"सूर सिन्धु! तुलसीके मानस! मीराके उल्लास अजान" अथवा—"धूलकी ढेरीमें अनजान। छिपे है मेरे मधुमय गान"। **(ख) शब्दोंके अंग-भंग** और नवीन अर्थकी उद्भावना—'मनोज' शब्द रूढ है, जिसका अर्थ कामदेव ही है, परन्तु पन्तने 'मन'से (शरीरसे विभिन्नता दिखानेके लिए) उत्पन्न, व्युत्पत्ति अर्थमें ही उसका प्रयोग किया है—"तुम आत्माके मनके मनोज" (बापूके प्रति)। 'अछूत' शब्दका भी ऐसा ही प्रयोग किया गया है—"छू अमृत स्पर्शसे हे अछूत"।

पन्तने कुछ ऐसे शब्दोंका निर्माण किया है, जो अर्थ-बोधमें बाधा डालते है। (अ) 'पावसके उड़ते फणिधर' (बादल), (आ) 'तमके सुन्दरतम रहस्य' (तारे), (इ) 'इन्द्र-जाल जननी' (रात्रि), (ई) 'स्वर्गके अग्रदूत' (देवता), (उ) कुसुमित सुभग सिंगार' (हरसिंगार)। इन प्रयोगोंसे अर्थ-बोधमें कठिनता उत्पन्न हो जाती है। पन्तने अंग्रेजीके ढाँचेमें ढालकर कुछ नये शब्द गढ़े हैं—यथा स्वप्निल, अनिर्वच आदि। **(ग)** अंग्रेजीसे अनुवादित शब्दावली और मुहावरे—(अ)"हे विधि! फिर अनुवादित कर दो"। यहाँ अनुवादित 'ट्रांसलेटेड'का अनुवाद है। पन्तने 'गोल्डेन टच' और 'सिलवरी'से 'सुनहले स्पर्श' और 'रूपहरे' शब्दोंका निर्माण किया है। इस प्रकार बनाये हुए इनके शब्द हिन्दी भाषामें खप नहीं पाते। पन्तके अतिरिक्त 'निराला' आदि आधुनिक कवियोंकी रचनाओंमें भी इस प्रकारके अनेक उदाहरण मिलते है, जिनको देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि ये साहित्यकार अभिधेयार्थ आदि

दोषोंकी ओर उचित ध्यान नहीं देते हैं। परन्तु साथ ही इनके द्वारा निर्मित सैकड़ों शब्द और वाक्यांश नवीन शक्ति तथा अभिव्यक्तिके वाहक भी हैं, जिनसे हिन्दी भाषाकी व्यंजकता अधिकाधिक बढ़ी है। —टी० सि० तो०

वर्णविन्यासवक्रता—(वर्ण = व्यंजन + विन्यास = सन्निवेश + वक्रता = वैचित्र्य)। काव्य अथवा कविकर्मकी सबसे पहली पहचान वर्णोंकी विन्यास-विचित्रता है, जिसे 'वर्णविन्यासवक्रता' कहा गया है। वर्णोंके विचित्र विन्यासमें कुशल कवि अपनी रचनामें चित्र और संगीतकी विशेषताओंका आधान किया करता है। काव्यके लिए वर्णसन्निवेशवैचित्र्य आवश्यक माना गया है, क्योंकि वर्णोंके 'ललित' और 'परुष' स्वभावका सम्बन्ध रसास्वादसे है। रसास्वादमें सहृदयका चित्त या तो पिघल पड़ता है या प्रज्वलित हो उठता है। चित्तके पिघलने (द्रुति) और प्रज्वलित होने (दीप्ति)में वर्णोंके 'लालित्य' और 'पारुष्य'का बहुत बड़ा हाथ रहा करता है। इसीलिए वर्णोंके सन्निवेश-वैचित्र्यको सबसे पहला 'कविकर्म' कहा गया है। वर्णोंके विन्यास-वैचित्र्य (वर्णविन्यासवक्रता)के कई प्रकार काव्य-साहित्यमें दिखाई देते हैं, जिनमें पहला वह है, जिसमें कुछ थोड़े व्यवधानके साथ एक या दो या अनेक व्यंजनोंका सन्निवेश-सौन्दर्य प्रतीत हुआ करता है—"एको द्वौ बहवो वर्णा बध्यमानाः पुनः पुनः। स्वल्पान्तरास्त्रिधा प्रोक्ता वर्णविन्यासवक्रता" (व० जी०, २ : १)। जैसे कि तुलसीदासकी यह सूक्ति, अर्थात् "फूलत फलत पल्लवित पलुहत बिटप बेलि अभिमत सुखदायी। सरित सरनि सरसीरुह संकुल सदन सँवारि रमा जनु छायी" (गीतावली)। यहाँ 'फ', 'प' 'व' और 'स' की, थोड़े-थोड़े व्यवधानके साथ, जो सन्निवेश-शोभा है, उससे चित्रकूटकी सन्निवेश-शोभाका चित्र खिंच जाता है।

वर्णविन्यासवक्रताका दूसरा प्रकार वह है, जो कि अनुनासिक वर्णोंसे संयुक्त 'क'से 'म' पर्यन्तके वर्ण, परस्पर संयुक्त 'त', 'ल', 'न' आदि तथा रेफ-संयुक्त अवशिष्ट व्यंजनोंके औचित्यपूर्ण सन्निवेशका सौन्दर्य है। संस्कृत कविता इस वर्णविन्यासवक्रतासे भरपूर है। हिन्दीके प्राचीन कवि इस प्रकारके विचित्र वर्णविन्याससे अपने वर्णनीय विषयको प्रभावशाली बनाते रहे हैं। उदाहरणके लिए, तुलसीदासकी यह सूक्ति—"तुलसी मनरंजन रंजित अंजन नैन सुखंजन जातक-से" (कवितावली)। यहाँ अनुनासिक-(अनुस्वार या ञ)से संयुक्त 'ज'की ध्वनि-माधुरीसे वर्णनीय विषयका माधुर्य निखर उठता है।

वर्णविन्यासवक्रताका तीसरा प्रकार वह है, जहाँ बिना व्यवधानके भी, एक या दो या अनेक व्यंजनोंका विन्यास-वैशिष्ट्य हृदयावर्जक लगा करता है। स्वरोंका व्यवधान कोई व्यवधान नहीं माना जाता—"क्वचिदव्यवधानेऽपि मनोहारिनिबन्धना" (व० जी०, २ : ३)। जैसे कि यह पंक्ति—'एक ही लोल लहरके छोर' (सुमित्रानन्दन पन्त : परिवर्तन)में 'ल'का अव्यवहित (बिना किसी अन्य वर्णके बीचमें पड़े) विन्यास, अर्थ-पर्यालोचनके बिना भी, चंचलताके अभिप्रायका अभिव्यंजक हो रहा है।

यही वर्णविन्यासवक्रता एक या दो या अनेक व्यंजनोंके ऐसे औचित्यपूर्ण सन्निवेश-वैचित्र्यमें भी रहा करती है, जहाँ स्वरोंका वैसादृश्य बाधक नहीं माना जाया करता—"सा स्वराणामसारूप्यात् परां पुष्णाति वक्रताम्" (व० जी०, २ : ३)। जैसे कि—"मोर मुकुट कटि काछनी, कर मुरली उर माल" (बिहारी)में, 'क' और 'ट'का विचित्र सन्निवेश यहाँके विषय-औचित्यके लिए अत्यन्त उचित प्रतीत हो रहा है।

वर्णविन्यासवक्रताके चौथे प्रकारमें एक या दो या अनेक व्यंजनोंकी व्यवहित या अव्यवहित आवृत्तिसे 'यमक'की झाँकी झलका करती है, जैसे कि—"धरि धीर कहै चलु देखिए जाइ जहाँ सजनी रजनी रहिहैं" (कवितावली)में 'जनी जनी'का मनोहर यमकाभास इस वाक्यकी मुक्तावलीमें मणिकी भाँति रमणीय लग रहा है।

वर्णविन्यासवक्रताका पाँचवाँ प्रकार वह है, जहाँ ऐसा लगता है जैसे एक सुकुमार वर्णको अनायास आवृत्त (दुहरा) कर छोड़ दिया गया और दूसरे सुकुमार वर्णकी आवृत्ति स्वयं चल पड़ी—"नातिनिर्बन्धविहिता नाप्यपेशलभूषिता। पूर्वावृत्तपरित्यागनूतनावर्तनोज्ज्वला" (व० जी०, २ : ४)। यह वर्णविन्यासवक्रता उस कविकी कला नहीं, जो वृत्यनुप्रासमें सिद्धहस्त हुआ करता है, यह तो उस कविके वशमें रहा करती है, जो रसभाव-समाहित हुआ करता है। 'सुकुमार', 'विचित्र' और 'मध्यम' तीनों मार्गोंके अनुयायी कवि माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणोंके अभिव्यंजक वर्णविन्यासमें इस वर्णविन्यासवक्रताको रंग-बिरंगकी बना दिया करते हैं। इस प्रकारकी वर्णविन्यास-वक्रताके ही आधारपर काव्यकी उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्तियोंकी कल्पना की गयी है। उदाहरणके लिए, सूरदासकी यह मधुर सूक्ति—"देखो माई सुन्दरताको सागर। बुधि बिबेक बल पार न पावत मगन होत मन सागर। तनु अति स्याम अगाध अम्बुनिधि कटि पट पीत तरंग। चितवन चलत अधिक रुचि उपजत भँवर परत अँग-अंग। मीन मैन मकराकृत कुण्डल भुजबल सुभग भुजंग। मुकुट माल मिलि मानो सुरसरि द्वै सरिता लिये संग"। यहाँ एक व्यंजनकी तान कानमें पहुँची नहीं कि दूसरे वर्णका सुन्दर आलाप छिड़ जाता है और 'सुन्दरताके सागर' (बालकृष्ण)का ध्वनि-चित्र सहृदय काव्य-पाठकके हृदयपर अंकित हो उठता है।

वर्णविन्यासवक्रताका छठा प्रकार वह है, जो कि आदि या मध्य या अन्त या अन्य किसी नियत स्थानपर, एक या दो या अनेक सदृश श्रुतिवाले ऐसे वर्णोंके व्यवहित या अव्यवहित उपनिबन्धमें दिखाई दिया करता है, जिनका अर्थ भिन्न-भिन्न हुआ करता है और जो श्रतिरंजक होनेके साथ-साथ मनोरंजक तथा वर्ण्य विषयके औचित्यसे पूर्ण रहा करते हैं—"समानवर्णमन्यार्थं प्रसादि श्रुतिपेशलम्। औचित्ययुक्तमाद्यादिनियतस्थानशोभि यत्॥ यमकं नाम कोऽप्यस्याः प्रकारः परिदृश्यते" (व० जी०, २ : ६, ७)। इस वर्णविन्यासवक्रतासे यमक अलंकारका निर्माण हुआ करता है। जबतक यमक वर्णविन्यासवक्रताके रूपमें रहा करता है तबतक तो वह कुंकुमके अंगरागकी भाँति कविताके शरीर-सौन्दर्यमें घुला-मिला प्रतीत होता है, किन्तु जब

वर्णविन्यासवक्रता यमक बन जाती है और कविका यमक-प्रेम एक व्यसन बन जाता है तब यह स्वाभाविक है कि कविताकी सुकुमारता यमक-भारसे कुम्हला जाय। रस-समाहित कवियोंके 'यमक'से वर्णविन्यासवक्रताकी छटा छिटका करती है। उदाहरणके लिए, भूषणकी इस सूक्ति—'धारापर पारा पारावार यों हलत है'में जो सुन्दर बन्ध है, उसमें वर्णविन्यासवक्रताका यही प्रकार दिखाई दे रहा है। संस्कृतके कवियोंमें कालिदासके यमक-बन्ध(रघुवंश: बसन्त-वर्णन) उनकी उपमाकी भाँति अनुपम है। —म० व्र० सि०

वर्णिक गण—दे० 'वर्ण'।

वर्णिक छंद—दे० 'वर्ण'।

वर्णिक वृत्त—दे० 'वर्ण'।

वर्तिष्यमाणसुरतगोपना—दे० 'गुप्ता', (नायिका)।

वल्लभ-संप्रदाय—दे० 'पुष्टिमार्ग'।

वसंततिलका—वर्णिक छन्दोंमे समवृत्तका एक भेद। भरतके 'नाट्यशास्त्र' (१६ : १७) और 'पिंगलसूत्र' (७ : ८)-के लक्षणके अनुसार तगण, भगण, २ जगण और २ गुरुके योगसे यह वृत्त बनता है (ऽऽ।, ऽ।।, ।ऽ।, ।ऽ।, ऽऽ)। तुलसी, केशव (रा० चं०, ९ : ६), 'हरिऔध' (प्रि० प्र०, सर्ग ५, ९, १२, १४, १५, १६), मैथिलीशरण गुप्त (पत्रावली, पृ० २४, २७) और अनूप शर्मा (सिद्धार्थ सर्ग २, ७, १२)ने इसका प्रयोग किया है। उदा०—"सारंगने, सुमनने नभने, पिकीने पुष्पौघमे, पवनमें, महिमें, हियेमें। गुंजारसे, सुरभिसे, छविसे, स्वरोंसे। उद्भ्रान्ति, क्रान्ति, शुचिता, मृदुता प्रचारी" (सिद्धार्थ, पृ० २०)। इस छन्दका काश्यपक मतने सिंहोन्नता, और सैतवके मतसे उद्धर्षिणी (पिं० सू०, ७ : ९, १०) नाम है। —पु० शु०

वस्तु—दे० 'कथावस्तु'।

वस्तुनिष्ठ (काव्य)—अंग्रेजीके 'आब्जेक्टिव'के लिए प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द। हिन्दीमे इसके लिए अन्य अनेक पारिभाषिक शब्दोंका चलन है, जैसे बाह्यार्थ-निरूपक (शुक्ल), बाह्यार्थमूलक, बाह्यार्थव्यंजक, बाह्यार्थपरक, वस्तु-प्रधान, वस्तुपरक, वस्तुमूलक, विषयप्रधान, विषयपरक, वैषयिक, निर्वैयक्तिक और बाह्यवादी।

गीतिमूलक रचनाओंके आत्यन्तिक स्वात्मनिष्ठ दृष्टिकोणके आधारपर आधुनिक कालमें साहित्यको स्वात्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ—दो वर्गोंमें बाँटा जाता है। वस्तुनिष्ठ साहित्यकी यह विशेषता है कि उसमें रचयिता यथासाध्य पूर्णतया तटस्थ रहकर रचना करता है, अपने व्यक्तिगत राग-द्वेषसे उसे प्रभावित नहीं होने देता। महाकाव्य, नाटक, उपन्यास आदि गम्भीर साहित्य-रूप अपनी वस्तुनिष्ठतामें ही महान् होते हैं।

परन्तु वस्तुनिष्ठता और स्वात्मनिष्ठताके दृष्टिकोण सापेक्षी होते है। वस्तुतः न तो कोई रचना पूर्ण रूपमे निर्वैयक्तिक हो सकती है और न पूर्ण रूपमें विषयनिरपेक्ष। वस्तुनिष्ठ रचनाओं—नाटक, महाकाव्य, उपन्यास आदिमें भी लेखक किसी न-किसी रूपमें अपने व्यक्तित्वका उद्घाटन कर ही देता है। अन्तर केवल मात्रा और प्रकारका है। वस्तुनिष्ठ रचनाओंमे लेखकका आत्माभिव्यंजन प्रत्यक्ष नहीं होता, वह किसी भिन्न माध्यमसे प्रस्तुत किया जाता है। साथ ही उसकी सघनता और तीव्रता कहीं कम होती है। इस कारण वस्तुनिष्ठ रचनाएँ उतनी संवेगात्मक और भाव-प्रधान नहीं होतीं; वर्ण्य विषयसे वे असम्पृक्त नहीं हो सकती।

प्राचीनोंके निकट वस्तुनिष्ठता और निर्वैयक्तिकता साहित्यका परम आदरणीय गुण था। इसीके द्वारा वे महान् साहित्यकी रचना सम्भव मानते थे। परन्तु आधुनिक कालमें व्यक्तित्वका प्रकाशन साहित्यकी एक प्रमुख विशेषता हो गयी है। अतः प्रत्येक रचनामें, चाहे वह रूपतः वस्तुनिष्ठ ही हो, लेखककी वैयक्तिक विशेषताओंके आकलन और विश्लेषण-विवेचनकी चेष्टा की जाती है। इस प्रकार वस्तुनिष्ठ साहित्यका एक वर्ग होनेके साथ-साथ वस्तुनिष्ठता एक गुण या विशेषता भी है (दे० 'स्वात्मनिष्ठ साहित्य-रूप')। —ब्र० व०

वस्तुपरक (काव्य)—दे० 'वस्तुनिष्ठ' (काव्य)।

वस्तुप्रधान (काव्य)—दे० 'वस्तुनिष्ठ' (काव्य)।

वस्तुमूलक (काव्य)—दे० 'वस्तुनिष्ठ' (काव्य)।

वस्तुरूपक—दे० 'रेडियो रूपक'।

वस्तुवक्रता—दे० 'वाक्य-वक्रता'।

वस्तुविन्यास—दे० 'कथानक', 'उपन्यास', 'कहानी'।

वस्तु-सत्य—वस्तु-सत्य ग्राह्य यथार्थका एक रूप है—विशेषकर ऐसा रूप, जिसमें वस्तु-विशेष और व्यक्ति-विशेषके रागात्मक सम्बन्धकी सम्भावनाएँ पूर्ण रूपसे एक-दूसरेको प्रभावित नहीं करतीं अथवा जिसका रागात्मक सम्बन्ध पूर्ण रूपसे विकसित नहीं हो पाया है। सौन्दर्यशास्त्र और कलाशास्त्रकी दृष्टिसे वस्तु-सत्यकी स्थितिके विषयमें मतभेद होते हुए भी यह तो मानना पड़ेगा कि वस्तु-सत्यका वास्तविक रूप वह यथार्थ है, जो आत्म-सत्यके अतिरिक्त भी व्याप्त है, प्रस्तुत है, किन्तु जो चेतन शक्ति द्वारा गृहीत होकर अनुभूतिके स्तरपर हमारे भाव, विचार, आदर्श और नैतिकता, सबको प्रभावित कर सकता है। वस्तु-सत्यका परिवेश और उसका विस्तार हमे प्रतिक्षण यथार्थका बोध कराता है। कलामें वस्तु-सत्य काल्पनिक सत्यको मर्यादित एवं अनुप्राणित करनेके साथ-साथ उसे सार्थकता भी प्रदान करता है। —ल० का० व०

वस्तूत्प्रेक्षा—दे० 'उत्प्रेक्षा', पहला भेद।

वस्त्वंतरवैचित्र्यवक्रता—दे० 'प्रकरणवक्रता', सातवाँ नियामक।

वहिरंग साधन—'पातंजल योगसूत्र' (१,२)में चित्तवृत्तिके निरोधको योग कहा गया है। भाष्यकार व्यासने योगका अर्थ 'समाधि' बताया है। इस योग या समाधिका लक्ष्य है कैवल्य प्राप्ति। योग या समाधि इसी कैवल्य प्राप्तिका साधन है। समाधिकी अवस्थातक पहुँचनेके लिए कई साधनोंका उपयोग आवश्यक है। सूत्रकारने कुल आठ साधनोंका उल्लेख किया है और इन्हे दो वर्गोंमे बाँटकर समझाया है—(१) वहिरंग साधन और (२) अन्तरंग साधन। अन्तरंग साधनोंको 'संयम' कहा गया है और धारणा, ध्यान तथा समाधिको इनमें परिगणित किया गया है (दे० 'संयम')। वहिरंग साधनोंमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार नामक पाँच साधनोंकी गणना की जाती है। **'यम'** बाह्याभ्यंतर इन्द्रियोंके संयमन (वित्तिसंकोचन)-

का नाम है। यमोंकी संख्या पाँच बतायी गयी है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना) ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (किसीसे कुछ न लेना)। यमोंके ठीक विरोधी वितर्क हैं। वितर्क भी पाँच हैं—हिंसा, असत्य, स्तेय, वीर्यक्षय और परिग्रह। यमोंकी उपलब्धि और वितर्कोंके नाशके लिए पाँच प्रकारके नियमोंका विधान है। ये **नियम** हैं—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान। समाधिकी सिद्धिके लिए तीसरे बहिरंग साधनका नाम **आसन** है। हाथ पैरका विशेष रीतिसे सन्निवेश ही आसन है। परवर्ती योग ग्रन्थोंमें अनेक कष्टसाध्य आसनोंका विधान मिलता है। पतंजलिने स्थिर और सुखकर आसनोंको ही योग साधनाका उत्तम उपाय कहा है—'स्थिर सुखमासनम्' (यो०सू०, २ : ४६)। चौथा बहिरंग साधन **प्राणायाम** है। ये तीन बताये गये हैं। साँसको एक नासारन्ध्रसे धीरे-धीरे खींचकर भीतर भरना **पूरक प्राणायाम** कहलाता है। खींचे गये साँसको यथाशक्ति तबतक भीतर रोके रखना जबतक सम्भव हो, **कुंभक प्राणायाम** कहा जाता है और इस रोकी गयी साँसको धीरे-धीरे नाकके रास्तेसे बाहर निकालना **रेचक प्राणायाम** कहा जाता है। बहिरंग साधनोंमें अन्तिम **प्रत्याहार** है। प्रत्याहारका अर्थ है हटाना, दूर करना। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धादि विषयोंके प्रति हमारी इन्द्रियोंकी सहज प्रवृत्ति होती है। यह प्रवृत्ति स्थिरताकी विरोधिनी है। अतः कान, आँख आदि इन्द्रियोंको तत्तत् विषयोंसे परावृत करके अन्तर्मुख करनेको ही योगमें प्रत्याहार संज्ञा दी गयी है। इस प्रकार इन्द्रियाँ वशमें रहती है, क्योंकि बाह्य विषयोंसे सम्बन्ध टूट जानेके कारण वे चित्तका पूर्णरूपेण अनुसरण करती हैं। इसी स्थितिको प्राप्त होने पर धारणा, ध्यान और समाधि नामक अन्तरंग साधनोंको क्रमशः स्वायत्त और आचारित करनेकी शक्ति आती है। ये ही पाँच बहिरंग और तीन अन्तरंग साधन **अष्टांग योग** कहे जाते है।—रा०दे०सिं०

वाक्यगत लक्षणा—विश्वनाथके अनुसार सम्पूर्ण लक्षणाके भेदोपभेद पदगत तथा वाक्यगत होते हैं (सा० द०, २ : १२)। जहाँ वाक्यके अन्तर्गत अनेक पदोंके समूहमें लक्ष्यार्थ हो, वहाँ वाक्यगत लक्षणा मानी जाती है। उदा०—'कीन्ह कैकेयी सबकर काजू' मे लक्ष्यार्थ सम्पूर्ण वाक्यपर आधारित है, किसी एक पदपर नहीं।

वाक्यवक्रता—(वाक्य = परस्पर अन्वित पदसमुदाय + वक्रता = वैचित्र्य) 'वाक्यवक्रता' किसी पद अथवा पदांशकी शोभा नहीं, अपितु पदादि समुदायकी संवलित शोभा है, जिसके अनन्त रूप हैं। वाक्यवक्रताके प्रकारोंकी गणना असम्भव हैं, क्योंकि इसके मूलमें पड़ी कवि-प्रतिभाके वैचित्र्य अगण्य है। वाक्यवक्रतामें समस्त अलंकार-वर्ग अन्तर्भूत हो जाते है। वाक्यवक्रताके रहस्यके जान लेनेपर उपमादि अलंकारोंका रहस्य स्वयं स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि सभी अलंकार इसीके विविध हाव-भावसे प्रतीत होते है।

वाक्यवक्रता वस्तुतः कविका निर्माण-कौशल है, जो काव्यके सभी उपकरणों और प्रसाधनोंसे परे एक अतिरिक्त काव्य-सौन्दर्य है। जैसे चित्रकी मनोहरता फलक, रेखा और रंगकारीमें नहीं, अपितु चित्रकारकी चित्रण-कुशलतामें रहा करती है, वैसे ही काव्यकी हृदयहारिता शब्द, अर्थ, गुण और अलंकारमें नहीं, अपितु कविकी निर्माण-कुशलतामें रहा करती है। क्या वस्तु-स्वभाव-वर्णन, क्या रस-भाव-समुन्मीलन और क्या अलंकार-वैचित्र्य-विन्यास, सर्वत्र जो भी मनोहारिता है, वह सब वाक्यवक्रता अथवा कवि-कौशलकी ही महिमा है—"मार्गस्थवक्रशब्दार्थगुणालंकारसम्पदः। अन्यद्वाक्यस्य वक्रत्वं तथाभिहितिजीवितम्। मनोज्ञफलकोल्लेखवर्णच्छायाश्रियः पृथक्। चित्रस्येव मनोहारि कर्तुः किमपि कौशलम्" (व० जी०, १ : ३, ४)। अर्थात् सुकुमार, विचित्र और मध्यम, तीनों कवि-मार्गोंकी जो भी शब्द-शोभा, अर्थ-शोभा और गुण-महिमा तथा अलंकार-सम्पत्ति है, उन सबसे भिन्न कविकी निर्माण-कुशलता अथवा 'वाक्यवक्रता' है। जैसे चित्रकी मनोहर शोभा चित्रकारके चित्रणमें रहा करती है, जो कि चित्रकी आत्मा है, वैसे ही काव्यकी रमणीयता-सम्पत्ति कविकी वर्णनामें रहा करती है, जो कि काव्यकी आत्मा है।

भाव-स्वभाव-वर्णनमें वाक्यवक्रताकी रूपरेखा इस सूक्तिमें देखिये—"अंकमें भर, तुम्हे, किसी दीपशिखाने शलभ, क्या सुनाया···"—यहाँ यद्यपि कविने स्वहृदय-संवेद्य वस्तु-स्वभावका ही वर्णन किया है, किन्तु एक नवीन उल्लेखके कारण 'दीपशिखा' और 'शलभ'के अतिपरिचित और सर्वपरिचित व्यक्तित्वमें एक ऐसी नवीनता छा जाती है, जिसका विश्लेषण यहाँके मधुर और प्रसन्न अभिजात पदों और अर्थोंके विश्लेषणमें नहीं, अपितु इन काव्योपकरणों और इनकी शोभाओंकी जननी कवि-प्रतिभाके विश्लेषणमें ही सम्भव है। यहाँ जो वस्तु-स्वभाव-सौन्दर्य है, वह इतना सुकुमार है कि रूपक प्रभृति अलंकारोंका भार सँभालनेमें असमर्थ-सा लग रहा है। इस सूक्तिकी मनोहारिता कविकी निर्माण-कुशलता (वाक्यवक्रता) में है, जो कविके उस सुकुमार स्वभावकी ओर संकेत करती है जो वस्तुओंको भावनाकी अंगुलियोंसे छूना चाहता है, जिसमें उनका स्वभाव-सौकुमार्य अक्षुण्ण बना रहे।

भाव-स्वभाव-वर्णनमें विचित्र स्वभावके कविकी वाक्यवक्रता एक दूसरे रूपकी ही हुआ करती है। जैसे कि इस सूक्ति अर्थात्—"रुधिरके हैं जगतीके प्रात, चितानलके ये सायंकाल; शून्य-निःश्वासोंके आकाश, आँसुओंके ये सिन्धु विशाल; यहाँ सुख सरसों, शोक सुमेरु, अरे, जग है जगका कंकाल" (सु० न० पं०)में, जो वाक्यवक्रता है वह एक अमूर्त वस्तुको—क्योंकि यहाँका वर्ण्य विषय 'परिवर्तन' एक अमूर्त वस्तु है—मूर्त रूपमें प्रतिष्ठित कर रही है और इस मूर्त रूपके उस भीषण सौन्दर्यकी चित्रकारी कर रही है, जिसमें उत्प्रेक्षाकी रंगकारी देखते ही बनती है। यहाँकी वाक्यवक्रतासे कविके विचित्र स्वभावकी वह झाँकी दिखायी दे जाती है, जिसमें कविकी प्रौढ कल्पना वस्तु और अवस्तु का भेद भुलाये अपनी विचित्र सृष्टिमें निरत पड़ी है।

रस-भाव-समुन्मीलनमें वाक्यवक्रता एक विशेषता उत्पन्न किया करती है। उदाहरणके लिए, सूरदासकी इस सूक्ति—"कहाँ लौं बरनौं सुन्दरताई। खेलत कुँवर कनक आँगनमें नैन निरखि छबि छायी। कुलहि लसत सिर स्याम सुभग अति बहुबिधि सुरँग बनायी। मानों नव घन ऊपर राजत

मथवा धनुष चढ़ायी। अति सुदेश मृदु चिकुर हरत मन मोहन मुख बगरायी। मानो प्रगट कंजपर मंजुल अलि अवली घिरि आयी", आदिमें, जो वाक्यवक्रता है, जिसमें, बालकृष्णकी मधुर-मूर्तिके चिन्तनमें काव्यात्मक उत्प्रेक्षाओं-की जननी कवि-प्रतिभा तन्मय और तत्पर हो रही है, उसीकी महिमामें वात्सल्यका आनन्द-विस्मय सहृदय-हृदय-को स्निग्ध बना रहा है।

वैसे तो रसभाव-समुन्मेष अथवा भाव-स्वभाव-वर्णनमें सर्वत्र कवि-कौशल ही प्राणरूपसे संचरित हुआ करता है, किन्तु अलंकार-योजना तो एकमात्र कवि-कौशलकी ही देन है। बिना वाक्यवक्रता अथवा कवि-कौशलके अलंकारोंकी सुन्दरता और विचित्रता असम्भव ही है।

वाक्यवक्रताकी मूल शक्ति तो कवि-प्रतिभा है ही, किन्तु **वस्तुवक्रता** इस मूल शक्तिके स्फुरणका एक निमित्त अवश्य है। वस्तुवक्रताके दो रूप हैं। पहली वस्तुवक्रता वह है, जिसमें कवि जिस वस्तुका वर्णन करता है, उसके अत्यन्त रमणीय स्वभाव-सौकुमार्यका सर्वतोभद्र उन्मीलन किया करता है। वस्तु-स्वभावके सौकुमार्यको अक्षुण्ण रखने-के लिए वह ऐसे शब्दों और ऐसे अर्थोंका गुम्फन करता है, जो यथावसर वस्तु-सौन्दर्यका प्रतिपादन या अभिव्यंजन करनेमें समर्थ हुआ करते हैं। वस्तु-स्वभावके सौकुमार्यका दर्शन चर्म-चक्षुओंसे नहीं, अपितु भावना-दृष्टिसे ही सम्भव है। इस प्रकारकी वस्तुवक्रताका निदान कविकी वह स्वातन्त्र्यशक्ति है, जो प्रसंगके औचित्यसे या तो वस्तुओंके स्वाभाविक सौन्दर्यकी साम्राज्य-रचना करना चाहती है या वस्तु-स्वभाव-सौन्दर्यकी उर्वरा भूमिपर रस-भावकी अमृत-वर्षामें आनन्द लेती है।

दूसरी वस्तुवक्रता पहली वस्तुवक्रतासे भिन्न प्रकारकी है। पहली वस्तुवक्रताको यदि **सहजा** अथवा **अनाहार्या** (स्वाभाविक) वस्तुवक्रता कह सकते हैं, तो दूसरी वस्तुवक्रता-को **आहार्य** (कविकौशल-निर्वर्तिता) वस्तुवक्रता कहा जा सकता है। कुन्तकने स्पष्ट कहा है—"अपरा सहजाहार्य-कविकौशलशालिनी। निर्मितिर्नूतनोल्लेखलोकातिक्रान्त-गोचरा" (व० जी०, ३ : २), अर्थात् पहली वस्तुवक्रता (भाव-स्वभावकी स्वाभाविक महिमा)के अतिरिक्त दूसरी वस्तुवक्रता वह है, जो शक्ति-व्युत्पत्ति और अभ्यासके परि-पाकसे प्रौढ़ कवि-कौशलकी लोक-विलक्षण नवीन वस्तुसृष्टि है। तभी तो कहा गया है—"अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः। यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते", अर्थात् काव्यके संसारका विधाता कवि है। कभी वह अपने काव्य-संसारमें सुन्दर स्वभाव-युक्त लोक-वस्तुओंका प्रतिरूप रचा करता है और कभी अपने काव्य-संसारको सर्वथा अलौकिक वस्तुओंके समुल्लेखसे सुन्दर बनाया करता है। इस दूसरे प्रकारकी वस्तुवक्रतामें अर्थालंकारोंके समस्त वैचित्र्य और सौन्दर्यकी रूप-रचना अन्तर्भूत है।

वस्तुवक्रताका उपर्युक्त द्वैविध्य निर्मूल नहीं। वस्तुतः **पदार्थस्वरूप** ही द्विविध है। प्रथम पदार्थस्वरूपमें लोकवर्ती समस्त चेतन और अचेतन पदार्थोंका वह स्वभाव-सौकुमार्य समा जाता है, जो कविके भावना-प्रत्यक्षका विषय हुआ करता है और जिसके समुचित समुल्लेखमें पहली वस्तु-वक्रताका परिच्छेद और अनुभव सम्भव है। कुन्तकने इसी-लिए कहा है—"भावानामपरिम्लानस्वभावौचित्यसुन्दरम्। चेतनानां जडानां च स्वरूपं द्विविधं स्मृतम्। मुख्यम-क्लिष्टरत्यादिपरिपोषमनोहरम्। स्वजात्युचितहेवाकसमुल्ले-खोज्ज्वलं परम्", अर्थात् चेतन (मुख्य चेतन मनुष्य आदि और अमुख्य चेतन पशु-पक्षी आदि) और अचेतन (ऋतु-नदी-पुष्प-लता आदि), दोनों श्रेणीके पदार्थोंका द्विविध स्वरूप है, जो कविके दर्शन और वर्णनका विषय हुआ करता है। इस द्विविध पदार्थस्वरूपमें पहला पदार्थस्वरूप वह है, जिसके दर्शनमें कविकी रस-साधना सिद्ध हुआ करती है और जिसका वर्णन कविकी रस-योजना-कुशलताकी कसौटी हुआ करता है। इसके अतिरिक्त दूसरा पदार्थ-स्वरूप वह है, जो वस्तु-स्वभाव-समुल्लेख अथवा नूतन वस्तु-निर्मितिमें लीन कवि-प्रतिभा अथवा कवि-कल्पनाका आधार हुआ करता है।

कविकी वर्णनाका विषय पदार्थस्वरूप, जो कि 'स्वभाव-प्राधान्य' और 'रस-प्राधान्य'के कारण दो प्रकारका हुआ करता है, द्विविध वस्तुवक्रता और साथ-ही-साथ वाक्य-वक्रता (कविकी निर्माण-कुशलता)का आधार है। जितने भी अलंकार हैं या हो सकते हैं, वे सभी इस द्विविध पदार्थ-स्वरूपके सौन्दर्य-वर्धक होनेसे ही 'अलंकार' कहे जा सकते हैं। पदार्थस्वरूप अलंकार्य है, अलंकार नहीं। —स० न० सिं०

वाङ्मय—वाङ्मय शब्दकी परिभाषा उपस्थित करते हुए राजशेखरने 'काव्यमीमांसा'के द्वितीय अध्यायमें उसके दो भेद किये हैं—शास्त्र तथा काव्य। इनके भेदों-प्रभेदोंका भी ग्रन्थमें विस्तृत उल्लेख है। शास्त्रके अन्तर्गत अपौरुषेय शास्त्र 'श्रुति' और 'वेदांग', अर्थात् शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष और अलंकार आते हैं। पौरुषेय शास्त्र हैं पुराण, आन्वीक्षिकी (न्याय), मीमांसा, स्मृति, तन्त्र। इस प्रकार शास्त्रके १४ भेद हुए—चार वेद, छः वेदांग, पुराण, आन्वीक्षिकी, मीमांसा, स्मृति। इन्हींको विद्यास्थान कहा गया है। काव्यके अन्तर्गत वह सब सर्जनात्मक साहित्य आता है, जो कविता, नाटक, कादम्बरी (उपन्यास), कथा आदिके नामसे प्रचलित है। इस प्रकार वाङ्मयमें समस्त लिपिबद्ध मानव-चेष्टा आ जाती है। अंग्रेजीमें इस अर्थमें वाङ्मयका पर्याय 'लिट्रेचर' है।

पश्चिमी विवेचनामें शास्त्र और काव्यमें मौलिक भेद है और वाङ्मय इन दोनोंको लेकर ही पूर्ण है, परन्तु भारतीय साहित्य-विवेचना काव्य और शास्त्रके अन्तरावलम्बनको स्वीकार करती है। काव्यका आधार शास्त्र ही माना गया है। राजशेखरने 'काव्यमीमांसा'के द्वितीय अध्यायकी पहली कारिकामें इस स्थापनाको प्रस्तुत किया है कि "काव्य-ज्ञानके लिए शास्त्रज्ञान आवश्यक है; जैसे बिना दीपकके पदार्थोंका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार शास्त्र-ज्ञानके बिना काव्य-ज्ञान असम्भव है। अतः काव्योंके पहले शास्त्रोंका अभ्यास करना आवश्यक है"। वास्तवमें यह दृष्टि व्यावहारिक दृष्टि है। भारतीय विचारधारा श्रुतिको समस्त ज्ञानका आधार मानती है और शास्त्रके अन्तर्गत श्रुति और श्रुत्यंगोंका सम्पूर्ण समावेश करती है। फलस्वरूप काव्य अनिवार्यतः शास्त्रसे पोषित हो जाते हैं। काव्यके

भेदोपभेदोंका विवेचन सामान्यतः साहित्यशास्त्रका विषय नहीं है, परन्तु पश्चिममें विषय, रीति और वृत्तके आधारपर काव्यके अनेक भेद किये गये है। भारतीय विवेचना काव्यांगोंको महत्त्व देती है और रस, रीति, गुण, अलंकार, ध्वनि और औचित्यके भीतर काव्यके विभिन्न स्वरूपों और प्रक्रियाओंपर प्रकाश डालती है। राजशेखरने शब्द और अर्थके सहभावको लेकर चलनेवाली समस्त मानव-चेष्टाको वाङ्मय अथवा साहित्यकी संज्ञा दी है। उन्होंने शास्त्रोक्त ६४ कलाओंको साहित्यके ही अन्तर्गत रखा है और उन्हें उपविद्याएँ माना है। इस प्रकार वाङ्मयमें भाषाबद्ध समस्त ग्रन्थ-सम्पत्तिका समावेश हो जाता है, अर्थात् गद्य-पद्यादि ग्रन्थ-समूहको वाङ्मय कहा जाता है। वास्तवमे वाङ्मय शब्दमे 'साहित्य' शब्दमे भी कुछ अधिक व्यापकता है और काव्य तथा शास्त्रके बीचकी चेष्टाएँ भी, जैसे पत्रकारिता, उसके अन्तर्गत आ जाती हैं। विशेषणके रूपमे वाङ्मय शब्दका प्रयोग मूल वचन, प्रमाण अथवा वाचिक (शब्दमय) अर्थमे होता है। भारतीय दर्शनमे नाद ब्रह्मकी भी कल्पना है, जो समस्त सृष्टिको शब्दमय (वाङ्मय) मानती है (शास्त्रके भेदोपभेदके लिए दे० 'उपयोगी साहित्य')।—रा० र० भ०

वाचक, वाचिका–दे० 'रेडियो नाटक'।

वाचक शब्द–काव्यमे प्रयुक्त तीन प्रकारके शब्दोंमें प्रथम, मम्मटके अनुसार—"साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः" (का० प्र०, २ : ६), अर्थात् ऐसा शब्द, जो साक्षात् संकेतित अर्थका बोधक होता है। यह शब्द ऐसे अर्थका प्रतिपादक है, जिसका उस शब्दके साथ सम्बन्ध वाच्यवाचक भावके रूपमें सहज ही सिद्ध रहता है। यहाँ 'संकेत'का अर्थ एक निश्चित प्रकारकी मान्यता है, जो किसी शब्दके निश्चित अर्थके सम्बन्धमे प्रचलित रहती है। बिना इस प्रचलित मान्यताको समझे शब्दका प्रयोग निरर्थक हो जायगा। वाचक शब्दमे संकेत, अर्थात् उसकी अर्थविषयक मान्यता साक्षात् भी होनी चाहिये। संकेत साक्षात् और असाक्षात्, दोनों प्रकारका हो सकता है। उदाहरणके लिए यदि गोवर्धन पर्वतको दिखाकर कहा जाय—'यह गोवर्धन है', तो 'यहाँ साक्षात् संकेत होगा। यदि उस पर्वतके समीपके गाँवको 'यह गोवर्धन है' कहा जाय तो यह संकेत परम्परा-सम्बन्धसे ग्रहण किया जायगा। यह वाचक शब्द नही है, क्योंकि अर्थग्रहण साक्षात् नहीं है, वरन् लाक्षणिक है।

इस संकेतका 'ग्रहण' काव्यमें कई प्रकारसे होता है। सामान्यतः यह अर्थग्रहण व्यवहारके द्वारा होता है। देख-सुनकर बालक बड़ोंके शब्द-अर्थके संकेतको समझ जाते है। बड़े लोग कहते हैं—'गैया ले आओ' और लड़का सेवकके द्वारा पशुविशेषको ही ले आया देखकर समझ लेता है कि गैया एक पशुविशेषके लिए संकेत है। आप्तवाक्यों द्वारा भी संकेतग्रहण होता है। बड़े-बूढ़े बच्चोंको वस्तुओंका नाम सिखाते है और बच्चे उनके संकेतोंको याद कर लेते है। प्रसिद्ध शब्दके साहचर्यसे संकेतग्रहण इस रूपमे होता है कि कमलके साथ मधुकरका अर्थ भौंरा ही लिया जाता है, मधुमक्खी आदि नहीं। गैयाके समान नीलगाय होती है, यह जानकर व्यक्ति जंगलमें देखकर उसे सादृश्य (उपमान)के आधारपर पहचान लेता है। इसी प्रकार व्याकरण तथा कोशके द्वारा भी संकेतग्रहण होता है।

विश्वनाथने मम्मटके आधारपर वाचक शब्द चार प्रकारके माने हैं—"संकेतो गृह्यते जातौ गुणद्रव्यक्रियासु च" (सा० द०, २ : ४), अर्थात् ये जाति, गुण, द्रव्य तथा क्रियावाचक है। ये जाति, गुण, यदृच्छा (द्रव्य), क्रियावस्तु तथा पदार्थोंके धर्म-विशेष हैं और इन्हींमे उक्त शब्दोके संकेतका ज्ञान होता है। जातिवाचक–जातिका बोध करानेवाला धर्म, जैसे मनुष्यमे 'मनुष्यत्व' (मनुष्यका भाव) जाति है—मनुष्यका आकार-प्रकार तथा स्वभाव आदि उसकी मनुष्य जातिका सामान्य धर्म है, जो मनुष्यमात्रमे स्थित है। इसी प्रकार घोड़ा, हाथी, गाय आदि जातिवाचक शब्द है। गुणवाचक—वस्तुकी विशेषताका बोध करानेवाला धर्म, अर्थात् एक ही जातिमे विभिन्न व्यक्तियोंके भेदको व्यक्त करनेवाला गुण। सभी गायोंके बीचसे किसी विशेषकी ओर संकेत करनेके लिए काली, सफेद, धौली आदि शब्दोंका प्रयोग गुणवाचक है। क्रियावाचक—जो शब्द-क्रियाको निमित्त मानकर प्रयुक्त होते है। पाचक, पाठक आदि शब्द क्रियावाचक है। यदृच्छा (द्रव्य) वाचक—जिनका प्रयोग केवल वक्ताकी इच्छापर निर्भर हो और उसीसे संकेतग्रहण करता हो। व्यक्तिके नाम व्यक्तिकी इच्छापर निर्भर है। उनका प्रयोग जब प्रचलित हो जाता है तो उनको सांकेतिक मान्यता प्राप्त हो जाती है। अतः राम, श्याम, धर्मदत्त आदि यदृच्छावाचक शब्द हैं। जाति, गुण, यदृच्छा तथा क्रिया नामक चार वाचक शब्दोंके उदाहरण भिखारीदासने इस प्रकार दिये है—"जाति नाम जदुनाथ, अरु कान्ह जदिच्छा धारि। गुनते कहिये स्याम, अरु क्रिया नाम कंसारि"। वाचक शब्दोके अर्थको वाच्यार्थ कहते है, जो जाति, गुण, द्रव्य तथा क्रियापर आधारित है। मम्मटने इसे वैयाकरणोंका मत माना है। नैयायिकोंके अनुसार तो एकमात्र जाति वाच्यार्थ है। मम्मटने 'काव्य-प्रकाश'में विभिन्न दार्शनिक मतोंका संकेत देकर काव्यके प्रसंगमें उन्हें अनुपयोगी माना है। —र०

वाच्यसिद्ध्यंगव्यंग्य–गुणीभूत व्यंग्यका एक भेद। यह भेद वहाँ होता है, जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थकी सिद्धि करता है। अपरांग व्यंग्यमें व्यंग्यार्थ वाच्यार्थका सहायक होता है, किन्तु इसमें व्यंग्यार्थके बिना वाच्यार्थ सिद्ध नहीं होता, असंगत जान पड़ता है। "करत प्रकास सु दिसिनको, रही ज्योति अति जागि। है प्रताप तेरो नृपति, बैरी-बंस-दवागि" (का० क०, पृ० ३१८)। इस उदाहरणमे 'बैरी' शब्दके सामीप्यके कारण अभिधा द्वारा 'बंस'का अर्थ 'वंश' हुआ, किन्तु 'बैरी वंश दावाग्नि है', इस कथनमें अर्थ-बाधा है। तदनन्तर व्यंजनाके सहारे "बैरीकुल बाँसके जंगलके सदृश है" यह व्यंग्यार्थ ज्ञात हुआ। इस व्यंग्यार्थके सहारे ही वाच्यार्थ बैरी-वंशका दावाग्नि होना सिद्ध होता है। —उ० शं० शु०

वाच्योत्प्रेक्षा–दे० 'उत्प्रेक्षा', चौथा भेद।

वातावरण–दे० 'देश-काल'।

वात्सल्य–वत्सल रसका स्थायी भाव है। माता-पिताका अपने पुत्रादिपर जो नैसर्गिक स्नेह होता है, उसे 'वात्सल्य' कहते हैं। मैकडुगल आदि मनस्तत्त्वविदोंने वात्सल्यको

प्रधान, मौलिक भावोंमें परिगणित किया है, व्यावहारिक अनुभव भी यह बताता है कि अपत्य-स्नेह दाम्पत्य रससे थोड़ी ही कम प्रभविष्णुतावाला मनोभाव है। संस्कृतके प्राचीन आचार्योंने देवादिविषयक रतिको केवल 'भाव' ठहराया है तथा वात्सल्यको इसी प्रकारकी 'रति' माना है, जो स्थायी भावके तुल्य, उनकी दृष्टिमें चर्वणीय नहीं है (का० प्र०, ४)। सोमेश्वर भक्ति एवं वात्सल्यको 'रति'के ही विशेष रूप मानते हैं—"स्नेहो भक्तिर्वात्सल्यमिति रतेरेव विशेषः", लेकिन अपत्य-स्नेहकी उत्कटता, आस्वादनीयता, पुरुषार्थोपयोगिता इत्यादि गुणोंपर विचार करनेसे प्रतीत होता है कि वात्सल्य एक स्वतन्त्र प्रधान भाव है, जो स्थायी ही समझा जाना चाहिये। भोज इत्यादि कतिपय आचार्योंने इसकी सत्ताका प्राधान्य स्वीकार किया है। विश्वनाथने प्रस्फुट चमत्कारके कारण वत्सल रसका स्वतन्त्र अस्तित्व निरूपितकर 'वत्सलता-स्नेह' (वात्सल्य)को इसका स्थायी भाव स्पष्ट रूपसे माना है—"स्थायी वत्सलता-स्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम्" (सा० द०, ३ : २५१)।

हर्ष, गर्व, आवेग, अनिष्टकी आशंका इत्यादि वात्सल्य-के व्यभिचारी भाव हैं। उदा०—"चलत देखि जसुमति सुख पावै। ठुमुकि ठुमुकि पग धरनी रेंगत, जननी देखि दिखावै" (सू० सा० सा० : गो० ली०, २१) इसमें केवल वात्सल्य भाव व्यंजित है, स्थायीका परिस्फुटन नहीं हुआ है। —र० ति०

वात्सल्य रस—वात्सल्य शब्द वत्ससे व्युत्पन्न और पुत्रा-दिविषयक रतिका पर्याय है। इसका प्रयोग रसकी अपेक्षा भावके लिए अधिक उपयुक्त है, कदाचित् इसीलिए प्राचीन आचार्योंने 'वात्सल्य रस' न लिखकर 'वत्सल रस' लिखा और वत्सलता या वात्सल्यको उसका स्थायी भाव माना, यथा—भोजराज (११ श० ई० पूर्वा०)—"शृंगारवीर-करुणाद्भुतरौद्रहास्यबीभत्स**वत्सल**भयानकशान्तनाम्नः" (शृं० प्र०, १ : ६)। विश्वनाथ (१४ श० ई० पू०)ने इसका लक्षण दिया है—"स्फुटं चमत्कारितया **वत्सलं** च रसं विदुः। स्थायी वत्सलतास्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम" (सा० द०, ३ : २५१), अर्थात् प्रकट चमत्कार होनेके कारण वत्सलको भी रस माना जाता है। वात्सल्य स्नेह इसका स्थायी भाव होता है तथा पुत्रादि आलम्बन। आगे उसका विस्तार देते हुए कहते हैं—"बाल-सुलभ चेष्टाओंके साथ-साथ उसकी विद्या, शौर्य, दया आदि विशेषताएँ उद्दीपन हैं। आलिंगन, अंगसंस्पर्श, शिरका चूमना, देखना, रोमांच, आनन्दाश्रु आदि अनुभाव हैं अनिष्टकी आशंका, हर्ष, गर्व आदि संचारी माने जाते हैं। इस रसका वर्ण पद्म-गर्भकी छवि जैसा और देवता लोकमाता या जगदम्बा है" (सा० द०, ३ : २५३-५४)।

भोजराज(११ श० ई०)ने 'शृंगार'को रसराज सिद्ध करनेके प्रसंगमें अन्य रसोंकी गणना करते हुए उनकी संख्या 'वत्सल रस'को मिलाकर दस बतायी है, जिससे स्पष्टतया ज्ञात होता है कि उनके समयतक नौ रसोंके समकक्ष वत्सलको भी मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण'में जिस सांगोपांग रूपमें इसका निरूपण हुआ है, उससे ज्ञात होता है कि काल-क्रममें इसको अधि-काधिक मान्यता एवं विकास प्राप्त होता गया।

ऐसा प्रतीत होता है कि वात्सल्य रसका उद्गम-स्रोत दृश्य काव्यमें न होकर श्रव्य काव्यमें निहित है। भरत-(३ श० ई०)के 'नाट्यशास्त्र'में ऐसा कोई सूत्र नहीं है, जिससे इसकी सिद्धि हो सके। आठ नाट्यरसोंके साथ शान्तको मिलानेपर अधिक-से-अधिक नौ रसोंकी ही स्वीकृति उसमें मिलती है।

भामह, दण्डी, उद्भट और रुद्रट जैसे आलंकारिकों द्वारा मान्य 'प्रेयस्' नामक अलंकारसे वात्सल्य रसके उद्गमका कुछ सम्बन्ध सम्भव दिखाई देता है। 'प्रेयः प्रियतराख्यानम्' कहकर दण्डी (६ श० ई०)ने 'प्रेयस्' अलंकारको प्रीति भावसे सम्बद्ध बताया। उद्भट (८-९ श० ई०)ने इसका जो उदाहरण दिया है' उसमें 'सुतवालभ्याप्ति-विशेषा स्पृहावती', 'मृगीकी गोदमें बैठे मृग-शावकका' भाव-पूर्ण चित्र समाविष्ट है, जिससे 'प्रेयस्'के वात्सल्य भाव होनेका आभास मिलने लगता है। रुद्रट(९ श० ई०)के 'काव्यालंकार'से इसकी पुष्टि होती है। अभिनवगुप्त-(१०-११ श० ई०)ने 'अभिनवभारती'में नौ रसोंकी चर्चा करनेके उपरान्त अन्य रसोंकी सम्भावनाका संक्षिप्त उल्लेख तथा अपनी ओरसे उनका खण्डन करते हुए लिखा है कि "बालस्य मातापित्रादौ स्नेहो भये विश्रान्तः", अर्थात् माता-पिताके प्रति बालकके स्नेहका अन्तर्भाव भयमें हो जाता है। आगे—'वृद्धस्य पुत्रादावपि द्रष्टव्यम्', अर्थात् इसी प्रकार वृद्धका पुत्रादिके प्रति स्नेह देखा जाना चाहिये। उनका तात्पर्य यह है कि वात्सल्य भावमात्र है और उसकी रसरूपमें स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानी जानी चाहिये। अभिनवगुप्तसे सहमति रखकर ही कदाचित् मम्मट (११ श० ई०)ने 'काव्यप्रकाश'में लिखा है—"रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाऽञ्जितः। भावः प्रोक्तः" (४ : ३५), अर्थात् देवता आदिके विषयमें उत्पन्न होनेवाली रति और प्रकटीकृत या व्यक्त व्यभिचारी-को भाव कहा जाता है। मम्मटके रस-निरूपणसे पूर्व 'तद्विशेषानाह'की व्याख्या करते हुए 'बालबोधिनी' टीका-कारने जो टिप्पणी दी है, उससे पूर्वोक्त 'प्रेयस्'विषयक अनुमानाश्रित धारणा प्रत्यक्ष हो जाती है—"किसीकी सम्मति है कि एक शृंगार रस ही रस है, किसीने प्रेयांस, दान्त, उद्धतके साथ वर्णित नव रसको द्वादश रस माना है। जिस रसका स्थायी भाव स्नेह हो उसको प्रेयांस कहते हैं और इसीका नाम वात्सल्य है"। स्पष्ट ही यहाँ टीकाकारने भोजराजकी मान्यताका सन्दर्भ देते हुए प्रेयांस-को ही वात्सल्य बताया है, जिसका संकेत 'वत्सलप्रकृतेः'के रूपमें 'सरस्वतीकण्ठाभरण'में ही मिल जाता है। संस्कृत-काव्यशास्त्रमें वात्सल्यकी स्थिति किस प्रकार एक अलंकारसे बढ़ते-बढ़ते रसतक पहुँच गयी, इसका कुछ आभास उपर्युक्त विवेचनसे हो जाता है।

वात्सल्यके स्थायीके सम्बन्धमें भी कहीं-कहीं भिन्न मत व्यक्त किया गया है। कवि कर्णपूरने 'ममकार'को, 'मन्दारमरन्दचम्पू'के रचयिताने कार्पण्यको इसका स्थायी भाव माना है। प्रारम्भमें वात्सल्यका अन्तर्भाव शृंगारके अन्तर्गत ही किया जाता रहा, क्योंकि वत्सलता रतिका ही

एक विशिष्ट रूप है। सोमेश्वरने रतिके तीन भेद बताते हुए लिखा है—"स्नेह, भक्ति, वात्सल्य रतिके ही विशेष रूप है। तुल्योंकी अन्योन्य रतिका नाम स्नेह, उत्तममें अनुत्तमकी रतिका नाम भक्ति और अनुत्तममें उत्तम रतिका नाम वात्सल्य है" (काव्यप्रकाशकी काव्यादर्श टीका)। यहाँ स्नेह, भक्ति और वात्सल्यमें भेद किया गया है। इससे वात्सल्य भक्तिकी भावनाका विलोम सिद्ध होता है। उत्तम और अनुत्तम शब्दोंसे कदाचित् श्रेष्ठताका अर्थ न लेकर छोटे-बड़ेका अर्थ ही लिया गया प्रतीत होता है। (दे० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'का 'वात्सल्य रस' नामक लेख कोपोत्सव स्मारक संग्रह)।

केशवदास (१६-१७ श० ई०), चिन्तामणि (१७ श० ई० मध्य), भिखारीदास (१८ श० ई० पूर्वा०)आदि प्रायः सभी प्रमुख रीतिकालीन काव्याचार्योंने वात्सल्य रसकी उपेक्षा की है। उन्होंने इस विषयमें 'साहित्यदर्पण'का उदाहरण सामने न रखकर नौ रसोंकी रूढ़ परम्पराका पालन किया है। भारतेन्दु(१९ श० ई० उत्त०)ने अवश्य अपने 'नाटक' नामक ग्रन्थमें अन्य रसोंके साथ वात्सल्यको स्थान दिया है, पर उसका कारण भिन्न है। भारतेन्दुने वात्सल्यके साथ दास्य, सख्य और माधुर्यकी भी गणना की है, जिससे प्रकट हो जाता है कि उन्होंने इसकी अवतारणा गौड़ीय सम्प्रदायके भक्तिशास्त्रके आधारपर की, जो उनके समयतक वैष्णव भक्तिके क्षेत्रमें प्रायः सर्वमान्य हो चुका था। भक्तिशास्त्रके अनुसार भी वात्सल्य भाव ही सिद्ध होता है, क्योंकि रस तो भक्ति स्वयं ही है, जो उक्त चारों भावोंके द्वारा भावित होता है।

सूरदास द्वारा इस वात्सल्य भावका इतना विस्तार किया गया कि 'सूरसागर'को दृष्टिमें रखते हुए वात्सल्यको रस न मानना एक विडम्बना-सा प्रतीत होता है। 'हरिऔध' ने मूलतः इसी आधारपर वात्सल्यको रस सिद्ध किया है। यही नहीं, उन्होंने वात्सल्यको वीभत्स, हास्य आदि अनेक रसोंसे तर्कसहित श्रेष्ठ सिद्ध किया है।

कृष्ण-लीलाके अन्तर्गत सूरका वात्सल्य-वर्णन रसत्व-प्राप्तिके लिए अपेक्षित सभी अंगोपांगोंको अपनेमें समाविष्ट किये है। दूसरे, भक्तिकी दृष्टिसे वात्सल्य सूरका अपना भाव नहीं है। अतएव 'सूरसागर'में नन्द यशोदा तथा अन्य वयस्क गोपियोंका बालकृष्णके प्रति प्रेम, आकर्षण, खीझ, व्यंग्य, उपालम्भ आदि सब कुछ वात्सल्य रसकी ही सामग्री है। कृष्णका सौन्दर्य-वर्णन तथा बाल-क्रीडाओंका सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्रण भी इसीके अन्तर्गत आता है। तुलसीका 'गीतावली', 'कृष्णगीतावली' तथा 'कवितावली'में 'रामचरितमानस'से श्रेष्ठतर वात्सल्य रसकी कविता मिलती है। 'हरिऔध'के 'प्रियप्रवास' और मैथिलीशरण गुप्तके 'साकेत' तथा 'यशोधरा'में नयी भूमिकाओंमें वात्सल्यका उद्रेक प्राप्त होता है।

कदाचित् किसी प्राचीन संस्कृत या हिन्दीके आचार्यने वात्सल्य रसके भेदोपभेद करनेकी चेष्टा नहीं की है। कारण स्पष्ट है कि अधिकतर उसे रस ही नहीं माना गया है। पर आनन्दप्रकाश दीक्षितने अपने शोधग्रन्थ 'काव्यमें रस'में वात्सल्यके निम्नलिखित भेद माने है—१. गच्छत्प्रवास, २. प्रवासस्थित, ३. प्रवासागत, ४. करुण। यह चारो उपभेद वियोग-वात्सल्यके है, जो स्वयं एक भेद है। शृंगारकी तरह वात्सल्यके भी संयोग और वियोगके आधारपर दो भेद किये गये है; करुण वात्सल्य नामक विभेद करुण-शृंगारके समानान्तर है। प्रवासपर आधारित विभेद वात्सल्य रसके वियोगपक्षमें उतने उपयुक्त नहीं लगते, जितने विप्रलम्भ शृंगारमें, क्योंकि एक विशेष अवस्थातक शिशुमें प्रवाससामर्थ्य ही नहीं होती (दे० 'काव्यमें रस', अप्र० प्र०, पृ० ४९३-९६)। —ज० गु०

वाममार्ग–दे० 'तान्त्रिक मत'।

वाम सवैया–दे० 'सवैया', आठवाँ प्रकार।

वारिधर–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। इस वृत्तमें रगण, नगण और दो भगणोंका योग होता है (ऽ।ऽ, ।।।, ऽ।।, ऽ।।)। आचार्योंने इस छन्दका निर्देश नहीं किया है, पर केशवने इसका प्रयोग किया है। उदा०—"राजपुत्रि यक बात सुनौ पुनि, रामचन्द्र मन माँह कही गुनि। राति दीह जमराम जनी जनु। जातनाति तन जानत कै मनु। (रा० चं०, १३ : ८९)। —पु० शु०

वार्तालाप–दे० 'कथोपकथन'।

वार्त्तिक–वृत्ति+ठक्—वृत्तौ साधुः वार्त्तिकः, 'वृत्तिरूपेण कृतो ग्रन्थो वार्त्तिकम्'। (क) साधारण अर्थ—(१) व्यापार-कुशल, वणिक् (क० स० सा०) और (२) वार्ताहर। (ख) विशेष अर्थ—(१) मूलमें कथित, अकथित या अस्पष्ट कथित अर्थको स्पष्ट करनेवाले नियम, जैसा कि "उक्तानुक्तदुरुक्तार्थ-व्यक्तिकारि तु वार्त्तिकम्" इस लक्षणसे ज्ञात होता है, (२) वे ग्रन्थ, जिनमें मूलका भाव स्पष्ट करनेवाले ऐसे नियम दिये गये हों। उपर्युक्त लक्षण पाणिनिकी अष्टाध्यायीपर कात्यायन द्वारा लिखे गये वार्त्तिकोंके विषयमें विशेष रूपसे घटित होता है और सम्भवतः उन्हींको दृष्टिमें रखकर किया गया था। ये वार्त्तिक पाणिनिकृत सूत्रोंकी ही भाँति संक्षिप्त और गद्यात्मक है। पर इन्हे छोड़ प्रायः अन्य सभी वार्त्तिक छन्दोबद्ध या पद्यात्मक ही है। ये सूत्रों तथा उनकी वृत्तिकी अपेक्षा संक्षिप्त होते है, पर इसका अपवाद भी मिलता है, जैसे कुमारिलके श्लोक-वार्त्तिक तथा तन्त्र-वार्त्तिक, स्वामी शंकराचार्यकृत 'बृहदारण्यकोपनिषद'-भाष्यपर सुरेश्वराचार्यके वार्त्तिक भाष्योंसे छोटे नहीं, बहुत बड़े है। उद्योतकारका न्यायवार्त्तिक भी वात्स्यायनके न्याय-भाष्यपर लिखा गया है और कथमपि संक्षिप्त नहीं कहा जा सकता। फिर ये वृत्ति और भाष्यके बीचके नहीं, भाष्योंके बादके हैं। धर्मकीर्तिका प्रमाणवार्त्तिक व्याख्यान ग्रन्थ नहीं, मौलिक ग्रन्थ है। इसपर उनकी अपनी 'वृत्ति' है, पर यह 'वृत्ति' शब्द यहाँ टीका या व्याख्यानके सामान्य अर्थमें प्रयुक्त है। —आ० प्र० मि०

वासकसज्जा (नायिका)–अवस्थानुसार नायिकाओंके विभाजनका एक भेद; विशेषके लिए दे० 'नायिका-भेद'। सर्वप्रथम भरत द्वारा उल्लिखित। वासकका अर्थ है सुगन्धि और वस्त्र, सज्जाका अर्थ है आभूषित करना, अर्थात् सुगन्धादि तथा वस्त्रादिसे अपनेको सुसज्जित करनेवाली नायिका। भानुदत्तके अनुसार "अद्य मे प्रियवासर इति निश्चित्य या सुरतसामग्रीं सज्जीकरोति" (र० मं०, पृ०

१२३), अर्थात् अपने प्रियका निश्चित मिलन जानकर साज-शृंगार करनेवाली नायिका। मतिरामने इसी भावको व्यक्त किया है—"ऐहै प्रीतम आजु यो निश्चय जाने बाम। साजे सेज सिंगार सुख…" (र० रा०, १६७)। पर कुछ आचार्योंने केवल 'पिया मिलनके काज' (पद्माकर), इस सज्जाको माना है। इस परिस्थितिको स्वकीयाके मुग्धादिक भेदोंमें, परकीया तथा सामान्यामें प्रायः स्वीकार किया गया है। मुग्धा वासकसज्जामें उचित लज्जा तथा संकोच है—"हरुउ गवन नबेलिया दीठि बचाइ। पौढ़ी जाइ पलँगिया सेज बिछाइ" (रहीम)। रसलीन मध्याकी सज्जाका वर्णन सुन्दर चित्रके रूपमें प्रस्तुत करते है—"लाल मिलन गुन तनु सजति बाल बदनकी जोति। खिनक कमल-सी मलिन खिन अमल चन्द-सी होति" (ब्र० भा० ना०, २ : ४१५)। प्रौढाकी सज्जा और प्रतीक्षामें संकोचका अभाव है—"सब सिंगार सुन्दरि सजै बैठी सेज बिछाय। भयो द्रौपदीको बसनु बासर नाहि बिहाय" (मतिराम : र० रा०, १७३)। परकीयाने मिलनके अवसरको जानकर सज्जा की है—"फूल बिनन मिसि कुंजमें पहिरि गुंजकी माल" (पद्माकर : जगद्वि०, १ : २११)। सामान्याकी इस परिस्थितिका चित्रण और भी स्वाभाविक बन पड़ा है—"सुन्दरि सेज सँवारिकै साजे सकल सिंगार। दृग कमलनके द्वारपै बाँधे बन्दनवार" (मतिराम : वही, १७७)। इस नायिकाके रूपमें भक्त कवियोंने राधा तथा गोपियोके मिलनके लिए शृंगार तथा साथ ही तदनुरूप मनोभावोंका वर्णन किया है। विद्यापति और सूरने राधाके वासक-सज्जा-रूपका अंकन भी किया है। रीतिकाव्यमें साज-सज्जा तथा मिलनोत्कण्ठाको एक साथ अंकित किया गया है।

वासोख्त–उर्दूके जिस काव्यमें प्रेमी अपनी प्रेमिकासे बिगडकर उसे बातें सुनाता है, उसको बेवफा ठहराता है, उसपर यह दोषारोपण करता है कि तुम अब मुझसे बेपरवाह हो गयी हो, उसे वासोख्त कहते है। गजलमें भी आशिक अपने माशूकको बेवफा कहता है, उससे बेपरवाही-की शिकायत करता है, परन्तु उसमे आशिक सदैव नम्रता-का भाव रखता है। वासोख्तमें वह यह दोष देकर कि माशूक उससे बेवफाई कर रहा है, वह तो यह जताता है कि पहले तुम कुछ नहीं थे. तुमको मैंने आज इतना महान् बनाया है, मेरे ही कारण तुमको यह प्रसिद्धि प्राप्त हुई है और अब तुम इस गौरवको प्राप्त कर नये-नये चाहनेवालोमें पड़ गये हो। मुझको कमी नहीं है, मैं तुमसे भी अच्छा और सुन्दर माशूक ढूँढ निकालूँगा। फिर उससे मेरा परिचय घनिष्ठ होगा। प्रेमकी बातें होंगी, सुखपूर्वक दिन व्यतीत होंगे।

फारसीमें वासोख्तका रिवाज नहीं था। मीर तकी मीरने उर्दूमें वासोख्त लिखे। उनके अतिरिक्त सौदा, जुरअत, सदासुख, निसार तथा मोमिन आदिने दिल्लीमें वासोख्त लिखे। किन्तु वासोख्तका अत्यधिक प्रचार उस समय हुआ, जब लखनऊके नवाबोंने वहाँके जीवनमें कविता, गायन, नृत्य तथा अन्य ललित कलाओं-को प्रोत्साहन दिया। बर्क, बहेर, अमानत, रिन्द, नवाब, मिरजा शौक, सहेर, जवाहर सिंह 'जौहर', तोताराम 'शमा' आदिने बडे जोरदार वासोख्त लिखे, जिनमें 'अमानत' लखनवीको सबसे अधिक प्रसिद्धि प्राप्त हुई। परन्तु अब लोक-रुचि बदल गयी है और बीसवी शताब्दीमें लोगोका ध्यान इसकी ओरसे बिलकुल हट गया है।

वासोख्त और गजलमे एक अन्तर रूपका भी है। गजलमें प्रत्येक शेर पृथक्-पृथक् अर्थ रखता है और इसमें एक ही 'काफिया' और 'रदीफ' (तुकान्त)की पाबन्दी होती है। वासोख्त मुसद्दस(छः-छः शेरोंके बन्द)में लिखी जाती है और इसमें विषयका क्रमशः वर्णन किया जाता है। उसकी लम्बाई अनिश्चित होती है। अमानतके प्रसिद्ध वासोख्तमें २५० से अधिक बन्द है। —म०

वासुदेवोपासना–दे० 'भागवत धर्म'।

वासुदेव धर्म–दे० 'भागवत धर्म'।

वाह्यवादी आलोचना-प्रणाली–प्रस्तुत शब्द अंग्रेजीके 'फॉर्म'के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'फॉर्म'के लिए हिन्दीमे 'शिल्प', 'रूप' प्रयुक्त होता है। इसीलिए कुछ विद्वानोने इसको रूपात्मक, शिल्पगत तथा कलागत आलोचनाके नामसे अभिहित किया है। परन्तु आलोचनाके इतिहासकी पीठिकामें वाह्य शब्द ही अधिक उपयुक्त है, क्योकि संस्कृतसे प्रभावित हिन्दी आलोचनामें रूप या शिल्पको वाह्य ही माना गया है। अतः अंग्रेजीका 'फॉर्मल क्रिटि-सिज्म' हिन्दीमें 'वाह्यवादी आलोचना'के नामसे अभिहित होता है।

जिस प्रकार हमारी आत्मा और शरीर, दोनां दो भिन्न वस्तुएँ है और भिन्न होकर भी अभिन्न है (क्योंकि यदि शरीर न रहे तो आत्माके अस्तित्वका पता न चले और आत्मा न रहे तो शरीर निर्जीव हो जाय), उसी प्रकार साहित्यके भी दो तत्त्व हैं—आत्मा और शरीर, भाव और रूप, फॉर्म और मैटर अथवा वाह्य और अन्तर। साहित्यके ये दोनो तत्त्व एक होकर भी दो है। फलतः साहित्यके आलोचकोंने इन्हें स्वतन्त्र रूपमे मान्यता दी है।

इस दृष्टिसे वाह्यवादी आलोचना, आलोचनाकी वह पद्धति कहलायेगी जो साहित्यके वाह्य पक्ष अर्थात् शिल्प पद्धति कहलायेगी, जो साहित्यके वाह्य पक्ष, अर्थात् शिल्प और रूपको अधिक महत्त्व देती है।

इसका इतिहास बहुत पुराना है। यद्यपि प्लेटो और अरस्तूने फॉर्मको हेय माना, किन्तु व्यवहाररूपमें इन्होने इसीका विवेचन किया। प्लेटोने काव्यकी अनुभूतिको ऐन्द्रिय अनुभूति मानकर उसे समाजका विरोधी ठहराया। अरस्तूने 'पोयटिक्स'में नाटक और महाकाव्यके सामान्यतः वाह्यांगका ही विवेचन किया। वैसे यूरोपमें नव्य-शास्त्रवाद-के कालको रीतिका काल कहा जा सकता है। पोपकी आलोचना अर्थको गौरव देकर भी शैली या रीतिको अधिक महत्त्व देती है। विक्टर ह्यूगो, पेटर, वाल्टर रैले आदिने इसी पद्धतिका अनुसरण किया। स्वयं **अभिव्यंजनावाद** (जो कि मूलतः वाह्यवादका विरोधी है) सौन्दर्यका अस्तित्व रूपसे भिन्न नहीं मानता। इसके कट्टर समर्थक तो वाह्य-वादका पोषण ही करते हैं।

वस्तुतः इस आलोचना-पद्धतिका जितना विशद एवं

पूर्व विवेचन संस्कृत-साहित्यशास्त्रमें उपलब्ध है, उतना यूरोपीय साहित्यशास्त्रमें नहीं। रीतिवादी, वक्रोक्तिवादी, अलंकारवादियोंने स्पष्टतया काव्यके केवल बाह्यपक्षको ही महत्त्व दिया है। ऐसी निर्भीक घोषणाएँ अन्यत्र दुर्लभ हैं। यहाँतक कि रीतिवादियोंने रीतिको ही काव्यकी आत्मा माना तथा रीतिके स्वरूपको स्पष्ट करते हुए वामनने लिखा—"इन तीन रीतियोंके भीतर काव्य इस प्रकार समाविष्ट हो जाता है जिस प्रकार रेखाओंके भीतर चित्र"। अलंकार-सम्प्रदायवालोंने सालंकार शब्द-अर्थको ही काव्यकी आत्मा माना।

हिन्दीमें संस्कृतके रीतिवादियोंका प्रभाव बहुत अधिक पड़ा। फलतः हिन्दी आलोचनाका प्रथम उत्थानकाल इसी सिद्धान्तसे प्रभावित रहा। उसका नाम भी रीति-युग दिया गया। केशवदास, सेनापति, चिन्तामणि, कुलपति, देव, दास आदि कवि-आचार्योंने काव्यके बाह्यपक्षको ही अधिक महत्त्व दिया।

संक्षेपतः हिन्दी रीति-युग ही प्रस्तुत प्रणालीका सच्चा समर्थक माना जायगा। —रा० कु० स०

विकल्प–वाक्य-न्यायमूल अर्थालंकार; शब्दका अर्थ है 'यह या वह'। इस अलंकारमें समान सामर्थ्ययुक्त परस्पर विरोधी पदार्थोंमें एक ही काल और स्थितिमें विरोध दिखाया जाता है, अर्थात् जहाँ 'यह या वह' इस प्रकारका कथन किया जाय—'अनेन वान्येनेति विकल्पः' (कौटिल्य : अर्थशास्त्र)। सर्वप्रथम रुय्यकने इसका प्रतिपादन किया है और इसके मूलमें 'उपमा' भावको आवश्यक माना है—"औपम्यगर्भत्वाच्चात्र चारुत्वम्" (अलं० सू०, पृ० १५३)। विश्वनाथने 'चन्द्रालोक'का आधार ग्रहण किया है—"विकल्पस्तुल्यबलयोर्विरोधश्चातुरीयुतः" (सा० द०, १० : ८४), अर्थात् दो समान सामर्थ्यवाली वस्तुओंका चातुर्यपूर्ण विरोध-प्रदर्शन।

हिन्दीमें 'कुवलयानन्द'के आधारपर जसवन्त सिंहने इसको लिया है। इस परम्परामें लक्षण करनेवाले आचार्योंमें भूषण, सोमनाथ तथा दास आदिने 'कै वह कै यह' (शि० रा० भू०, २४९)के विकल्पको अलंकार माना है, पर 'साहित्यदर्पण'के अनुसार लक्षण देनेवाले मतिराम हैं—"समबलजुत द्वै बातको बरनत जहाँ विरोध" (ल० ल०, २७५)। पद्माकरका ऐसा ही मत है।

हिन्दीके कई आचार्योंने उदाहरणमें केवल विकल्पका भाव रखा है और इस कारण अलंकारका उचित निर्वाह नहीं हुआ है। मतिरामका यह उदाहरण समुचित है—"बैर तौ बढायो कह्यो काहूको न मान्यो, अब दाँतनि तिनूका कै कृपान गहौ करमें" (ल० ल०, २७६)। इसमें "या तो दाँतोंमें तिनका दबाओ या हाथमें तलवार धारण करो", इन दो समान बलयुक्त बातोंमें प्रत्यक्ष विरोध है। सन्धि-विग्रहवाली दोनों बातोंका साथ-साथ एक ही कालमें होना असम्भव है। एकके पर्यवसानमें ही दूसरेका आश्रय लिया जा सकता है। मतिरामके सम्पूर्ण छन्दमें तो इस प्रकारकी तुल्यबल वस्तुओंका विरोध चार बार हुआ है। चारोंमें एक भी विरोधमें कहीं शैथिल्य नहीं है। आधुनिक ब्रजभाषा-कवि जगन्नाथदास 'रत्नाकर'ने अपने काव्यमें अनेक स्थलोंपर इसका सुन्दर निर्वाह किया है—"कै तो तव विजय जयद्रथ सुनैहै जाय, कै तो लै पराजय प्रलाप आप ऐहौं मैं"।

अथवा, नतरु, या, कि, किंवो आदि इस अलंकारके वाचक हैं। इस अलंकारमें चार स्थितियाँ स्वीकार की गयी हैं—(१) समान बलकी वस्तुएँ, (२) दोनोंका सम्पादन एक साथ एक व्यक्तिके द्वारा न हो सके, (३) इच्छानुसार एकको वरण करनेकी छूट तथा (४) दोनोंमें कल्पित सादृश्य; जैसा कहा गया है, मात्र विकल्प होनेसे यह अलंकार सिद्ध नहीं होता। 'सन्देह' अलंकारमें अनिश्चय होता है, पर इसमें निश्चय। एक प्रकारसे यह 'समुच्चय'के विपरीत भी है। —वि० रना०

विकसनशील महाकाव्य–दे० 'महाकाव्य', 'कथाकाव्य'।

विकस्वर–अर्थान्तरन्यासमें अन्तर्भूत अर्थालंकार; यह अलंकार अपेक्षाकृत अर्वाचीन है, क्योंकि भामह, दण्डी आदि प्राचीन अथवा मम्मट, विश्वनाथ आदि अपेक्षाकृत अर्वाचीन आचार्योंने इस अलंकारका उल्लेख नहीं किया है। 'कुवलयानन्द'में इसका स्वतन्त्र उल्लेख है। वस्तुतः इसका अन्तर्भाव अर्थान्तरन्यासमें मानना चाहिये, जिसमें सामान्यका विशेषके द्वारा समर्थन होता है। उद्योतकारने ऐसा ही किया है। पण्डितराज जगन्नाथने विकस्वरके प्रथम प्रकारको उदाहरणके और दूसरेको अर्थान्तरन्यासके अन्तर्गत माना है। हिन्दीके अनेक आचार्योंने भी इसको स्वतन्त्र मान्यता नहीं दी है। उदाहरणतः भूषणने 'शिवराजभूषण'में इसका उल्लेख नहीं किया है। दास, पद्माकर आदिने अप्पय दीक्षितके अनुसरणपर अपनाया है। मतिरामने इसकी निम्नलिखित परिभाषा दी है—"कहि विसेष सामान्य पुनि कहिये बहुरि बिसेष" (ल० ल०, २९२), अर्थात् जहाँ विशेषका सामान्यसे समर्थन करके फिर उस सामान्यका उस विशेष द्वारा समर्थन किया जाता है वहाँ विकस्वर (विकसनशील) अलंकार होता है। उदा०—"मधुप मोह मोहन तज्यौ, यह स्यामनकी रीति। करौ आपने काज लौं, तुम्है भाँति सौ प्रीति" (ल० ल०, २९३)। यहाँ प्रथम चरणके पूर्वार्द्धमें जो विशेष है, उसका उसके उत्तरार्द्धमें प्रतिपादित सामान्य द्वारा समर्थन हुआ है और फिर द्वितीय पंक्तिमें सामान्यका एक अन्य विशेष द्वारा समर्थन हुआ है। कन्हैयालाल पोद्दारने विशेष द्वारा समर्थनकी इस अन्तिम प्रक्रियाको दो प्रकारसे वर्णित किया है—(१)उपमा द्वारा और (२) अर्थान्तरन्यास-रीतिसे। —ध० ब्र० शा०

विकासवाद–व्यापक रूपसे विकासवादका अर्थ है, वह मत जो प्रस्फुटन, व्यक्तीकरण, विकासमें विश्वास करता है। आधुनिक विज्ञानसे हमें नक्षत्रों और सौर मण्डल, पृथ्वी, अणुओं, समाजों, प्राणियों आदि तथा भाषा, धर्म, परम्परा और आदर्शोंके विकासका ज्ञान प्राप्त होता है, किन्तु सामान्यतया विकासवाद शब्दका प्रयोग वनस्पति और प्राणिवर्गके सम्बन्धमें किया जाता है। प्रस्तुत विवेचन उसके इस पक्षतक ही सीमित है।

विकास सम्बन्धी धारणाओंका इतिहास काफी पुराना है। भारत और ग्रीस, दोनों देशोंके दर्शनोंमें तत्सम्बन्धी आरम्भिक विचार मिलते हैं। किन्तु आधुनिक वैज्ञानिक

युगमें विकासकी प्रक्रियापर सम्यक् रूपसे विचार और गवेषणा हो सकी है। वर्तमान युगमे विकासवाद-सिद्धान्त-की स्थापना करनेवाला प्रथम वैज्ञानिक ला मार्क (१७४४-१८२९ ई०) है। उसके अनुसार प्राणी जिन गुणोंको अपने जीवनकालमे अर्जित करता है, वे सन्ततिमें भी परिवहित हो जाते है। परिवर्तनकी प्रक्रिया इसी प्रकार होती है। जिन अंगो और पेशियोंका उपयोग होता रहता है, वे पुष्ट और विकसित होती है, जिनका उपयोग नही होता, वे क्षीण और दुर्बल हो जाती है। ला मार्कने व्यक्तिके प्रयास और इच्छाके महत्त्वको भी स्वीकार किया है। किन्तु इस सिद्धान्तका पर्याप्त साक्षी न मिलनेसे अधिकांश वैज्ञानिकोने उसे त्याग दिया है।

आधुनिक विकासवादके इतिहासमें दूसरा महत्त्वपूर्ण नाम चार्ल्स डार्विन (१८०९-१८८२ ई०)का है। डार्विनने चार बातोपर बल दिया है—(१) आनुवंशिकता। समान माता-पितासे समान सन्ततिकी उत्पत्ति होती है। प्रकृति अत्यन्त उर्वरा है। कुछ प्राणियोंकी वंशवृद्धि ज्यामितीय अनुपातमें होती है। (२) परिवर्तिता--प्राणियोमे व्यक्तिगत भेद होते है। ये भेद आंगिक कारणो अथवा संयोगजन्य होते है। (३) अस्तित्वके लिए संघर्ष—प्राणियोंमे जीवनके लिए घोर संघर्ष होता है। (४) योग्यतमका अति जीवित रहना—इस संघर्षमें योग्यतम प्राणी ही जीवित बच पाते है।

आगे चलकर वाइजमैन (१८३४-१९१४) और ह्यूगो डी व्राइसने भी अपने सिद्धान्तोंसे डार्विनके मतको परिपूर्ण किया। इधर लायड मार्गनके निर्गत विकासवाद (एमरजेण्ट इवोल्यूशन)के सिद्धान्तको विशेष मान्यता प्राप्त हुई है। इसके अनुसार जीवन और जगत्के विकासके मध्य नये गुणोंसे युक्त ऐसे नये रूपोका उद्भव होता है, जिनकी व्याख्या पूर्वगामी स्तरोंमे नही की जा सकती (जैसे, भौतिक पदार्थ—जीवन—बुद्धि—मूल्य)। फ्रेंच दार्शनिक बर्गसॉने विकासवादके यान्त्रिक सिद्धान्तोंका प्रत्याख्यान करते हुए अपने सर्जनात्मक विकासवादका सिद्धान्त प्रतिपादित किया है।

विकासवादने मनुष्यकी विचारधारापर गम्भीर और व्यापक प्रभाव डाला है। उसने विचारजगत्में एक क्रान्ति ही कर डाली है और वह आधुनिक मनीषाका एक अविभाज्य अंग बन गया है। विश्व, मनुष्य, ज्ञान और चेतना, नैतिक और मूल्यों, धर्म और ईश्वरके प्रति मनुष्यकी धारणाओंको उसने लगभग बदल डाला है। सम्भवतः विज्ञानकी अन्य किसी खोज या सिद्धान्तोंसे मनुष्यकी विचार-धारणाओंपर इतना गहरा प्रभाव नहीं पड़ा।

इस सिद्धान्तसे प्रभावित होकर मनुष्यको यह विचार त्याग देना पड़ा है कि समाज और जगत् स्थिर है। परिवर्तन, विकास, परिवर्धन और उन्नति उसके जीवन-सूत्र बन गये है। मानवताका दृष्टिकोण लोकपरक और ऐहिक हो गया है। मनुष्य अब अपनेको सृष्टिका केन्द्र और सर्वोच्च शिखर न मानकर इतर प्राणियोंकी भॉति एक पशुजाति मानने लगा है। मनुष्यकी चेतना और उसके द्वारा स्वीकृत चिरन्तन मूल्य अब उतने असन्दिग्ध नहीं रह गये। विकासवादके आधारपर नयी नैतिकता और नये मूल्योंका प्रस्फुटन हुआ है। नैतिकता किसी सत्य अथवा ऋत, किसी ईश्वर अथवा अवतारकी आज्ञा न रहकर मनुष्य और जीवनमें ही आधारित सिद्ध हुई है। स्वयं धर्म विकासकी प्रक्रियासे उत्पन्न हुआ है। धर्मका आधार मानवीय अनुभूति और बुद्धि है। ईश्वरने यह सृष्टि ऐसी ही किसी दिन नहीं उत्पन्न कर दी थी, उसका निर्माण प्रतिक्षण हो रहा है।

विकासवादके सिद्धान्तोंसे प्रभावित सबसे प्रसिद्ध दार्शनिक नीत्शे है। उसने करुणा, बन्धुता, प्रेम आदिके पुरातन मूल्योंका अवमूल्यन करके जीवन-संघर्षमें विजयश्री प्रदान करनेवाले क्रूर एवं निर्मम गुणोंको विकसित करनेपर बल दिया। नात्सी और फासिस्ट आन्दोलनोंका मूलाधार विकासवादी दर्शन है। पाश्चात्य मनीषापर विकासवादका इतना व्यापक प्रभाव पडनेके कारण प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूपसे साहित्य भी उससे अछूता नही रह सका। जीवन तथा साहित्यके दृष्टिकोणको आधुनिक युगमे धार्मिकसे ऐहिक बनानेमे विकासवादका महत्त्वपूर्ण योग रहा है। —आ०

विक्षेप—दे० 'स्वभावज अलंकार', चौदहवॉ।

विगताख्यान—दे० 'फ्लैशबैक'।

विघटन (disintegration)—जब संकटापन्न समाज संकटके आगे घुटने टेक देता है, तब उसमें विघटन आरम्भ हो जाता है। सामाजिक विघटनका अर्थ है समाजका छिन्न-भिन्न हो जाना। संकट मोटे तौरपर पॉच प्रकारके होते है—(१) प्रकृतिका कोप—भीषण सूखा, अकाल, जल प्लावन, महामारी, भूगर्भगत उपद्रव इत्यादि, (२) युद्ध—आक्रमणात्मक अथवा रक्षात्मक, (३) आन्तरिक अव्यवस्था—अशान्ति अथवा उपद्रव, (४) समाजकी जीवनी शक्तिका ह्रास और (५) मूल्यों अथवा आदर्शोंका पतन—आदर्श-शून्यताकी स्थिति। प्रथम संकटका निवारण न कर सकनेपर जन-समाजका एक भाग नष्ट हो जाता है और शेष तितर-बितर होकर अन्य समाज अथवा समाजोमें जा मिलता है। द्वितीय संकटका वारण न कर सकनेपर भी समाजका एक बडा भाग इसी प्रकार नष्ट अथवा अभिद्रुत हो जाता है और शेष आक्रामकका दास बनकर अपनी स्वतन्त्र सामाजिक सत्ता खो देता है। तृतीय संकटका वारण न कर सकनेपर भी समाजकी कुछ ऐसी ही दशा हो जाती है। चतुर्थ और पंचम संकट जितने महत्त्वपूर्ण है, उतने ही जटिल उनके विश्लेषण और विवेचन। आगे जो कुछ लिखा जा रहा है, उससे इनपर बहुत-कुछ प्रकाश पड़ेगा।

विशेषतः प्रथम महायुद्धके कालसे अबतक अनेक इतिहासज्ञ, दार्शनिक तथा अन्य प्रकारके विचारक यह घोषणा करते आ रहे है कि पाश्चात्य अथवा यूरोपीय सभ्यताका सूर्य या तो अस्त हो चुका है या शीघ्र ही अस्त होनेवाला है। इनमेंसे अनेकने संस्कृतियोंके जन्म और मरणके विषयमें व्यापक सिद्धान्तोंकी उद्भावना कर डाली है। इनमें ओस्वाल्ड स्पेंग्लर और आर्नाल्ड जे ट्वायनबीके अनुसार पहले भी अनेक संस्कृतियाँ विघटित और विनष्ट हो चुकी है, जिनमेंसे कईके शव धरित्री अब भी वहन कर रही है।

संस्कृति अथवा सभ्यताका विघटन और विनाश क्यों और कैसे होता है? स्पेंग्लरका उत्तर है कि प्रत्येक संस्कृति

एक सजीव प्राणी अथवा पौधेके समान जन्म लेती, बढ़ती और परिपक्व होती है और जब वह अपनी सम्पूर्ण सम्भावना-राशि निःशेष कर चुकती है तब विघटित और विनष्ट हो जाती है। विघटनके समय संस्कृतिकी पूरी मीनार धराशायी होने लगती है। पहले विश्व-नगर विघटित होते है, फिर प्रान्त और अन्तमें समूचा देश विघटित हो जाता है। बचे-खुचे मनुष्य आदिम, बर्बर अथवा दासताकी अवस्थाको प्राप्त होकर रह जाते है।

ट्वायनबीकी मान्यता है कि सभ्यता जबतक परिसर (एनविरनमेण्ट) अथवा परिस्थितिकी चुनौतीका सफल प्रतिकार करती रहती है, तबतक संवर्द्धित होती रहती है और जब उसकी यह क्षमता नष्ट हो जाती है, तब उसमें विघटन आरम्भ हो जाता है। सभ्यतामें सर्जन-शक्तिका एवंविध ह्रास ही विघटनका कारण है। विकास और ह्रासकी प्रक्रियाका लेखा यह है कि सभ्यताके उद्भव और विकासका कारण है परिसरकी चुनौती तथा समाजकी सर्जनशील अल्पसंख्या (क्रिएटिव माइनारिटी) द्वारा उसका सफल प्रतिकार। प्रत्येक नयी चुनौती नये उत्तर, नयी प्रतिक्रियाकी माँग करती है। जब यही सर्जनशील अल्पसंख्या सर्जन-कार्यकी ओरसे उदासीन एवं आलस्य-प्रमोदसे विजडित हो जाती है, तब उसमें जनताकी श्रद्धा क्रमशः कम होने लगती है। अतः उस अल्पसंख्याको बल-प्रयोग द्वारा अपना महत्त्व रखना पड़ता है। इस प्रकार वह सत्ताधारी अल्पसंख्या (डॉमिनेण्ट माइनारिटी) मात्र होकर रह जाती है। फलतः सभ्यताका आन्तरिक तनाव बढ़कर विघटन आरम्भ हो जाता है। टवायनबी सभ्यताके ह्रास-कालके तीन सोपान बतलाता है—(१) पतन, (२) विघटन और (३) विनाश। प्रथमसे तृतीय सोपानतक पहुँचनेमें कभी-कभी शतियाँ—सहस्राब्दियाँ लग जाती है। ट्वायनबीमे इस बातके भी संकेत मिल जाते हैं कि यूरोपीय सभ्यता पतनोन्मुख है, यद्यपि वह इसे बचानेके लिए भगवान्से प्रार्थना भी करता एवं करनेकी सिफारिश करता है। स्पेंग्लर और ट्वायनबी, दोनोंका मत है कि विघटन एवं विनाशके बाद सभ्यता प्रायः शतियों-सहस्राब्दियोंतक अपना प्रस्तरीभूत अस्तित्व बनाये रखती है, किन्तु वह विश्वके रंगमंचपर कोई भूमिका ग्रहण करने योग्य नहीं रह जाती।

सोरोकिनकी स्थिति निराली है। वह सम्पूर्ण समाजको पूर्णतः एकीभूत अवयवी माननेके पक्षमें नहीं है। अतः उसका कहना है कि जब सम्पूर्ण पाश्चात्य संस्कृति कभी संघटित ही नहीं रही तो विघटित कैसे होगी? वह विघटन केवल महासंस्थान (दे०)मे ही मान सकता है। उसकी मान्यता यह है कि पाश्चात्य संस्कृति जिस इन्द्रियाग्रही महासंस्थानके शासनमे है उसका विघटन हो रहा है और उसके विघटनसे तदधीन सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थान भी विघटित हो रहे है। वह इस बातको स्पष्ट कर देता है कि जो सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थान तथा समुदाय इस इन्द्रियाग्रही महासंस्थानके अन्तर्गत नहीं है, उनका विघटन न हो रहा है और न होनेका कोई अर्थ ही है।

सोरोकिनकी धारणा है कि जब महासंस्थानमे विघटन आरम्भ हो जाता है, तब समाजको एक महान संकटकालसे गुजरता हुआ समझना चाहिये। ऊपर हमने पाँच प्रकारके संकट बताये है, उनमेंसे चौथे संकटकी मीमांसा स्पेंग्लर और ट्वायनबीके मतोंकी मीमांसाके साथ हो गयी है। सोरोकिनके मतका सम्बन्ध पाँचवे प्रकारके संकटसे है। उसकी समझमे इससे बड़ा दूसरा संकट नही। महासंस्थान समाजके मूल्यों एवं आदर्शोंकी समष्टिका नाम है।

संकटकालमे मनुष्यके मन, चरित्र, समूहों अथवा संस्थाओंमें जो अन्तर्विरोध निहित होते है, वे व्यक्त हो जाते है। इस स्थितिको सोरोकिन द्वन्द्वग्रस्तता (पोलराइजेशन)की संज्ञा देता है। जब द्वन्द्वग्रस्त व्यक्तिकी आन्तरिक दोनों परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ तुल्यबल होती है, तब वह खण्डित-व्यक्तित्व हो जाता है, जब इस प्रकारकी प्रवृत्तियोंकी संख्या अधिक होती है, तब उसके मन और व्यवहारमें अनेकदिक् विघटन आरम्भ हो जाता है और उसके फलस्वरूप वह असाधारण बन जाता है और यदि वे प्रवृत्तियाँ तुल्यबल नहीं हुई तो प्रबलतर या प्रबलतम प्रवृत्ति विजयी होती है और फलतः उस व्यक्तिके मन और व्यवहारमे अब उस प्रवृत्तिकी दृष्टिसे पहलेसे अधिक सामंजस्य और दृढ़ता आ जाती है। उदाहरणार्थ, यदि पापोन्मुखता और पुण्योन्मुखताके युद्धमें पापोन्मुखताकी विजय होती है, तो द्वन्द्वग्रस्त व्यक्ति संकटकालमें कहीं अधिक नियमित रूपसे पापकर्मा हो जाता है और यदि पुण्योन्मुखताकी विजय हुई तो वह संकटकालमे कहीं अधिक साधुवत् आचरण करने लगता है। इस प्रकार संकटापन्न समाज जब अतियोंसे ग्रस्त हो जाता है—उसमें बीचकी स्थिति, मध्यम पथका लोप हो जाता है।

संकटकालमें समाजके मूल्यों, मानों, प्रतिमानो एवं आदर्शोंका भी विघटन, विनाश और पुनस्संघटन देखनेको मिलता है। मूल्योंके आपसी संघर्षमे निर्बल मूल्य सर्वथा विघटित और विनष्ट हो जाते हैं, लेकिन यदि वे तुल्य बलके हुए तो दोनों लड़कर नष्ट हो जाते है और या तो उनके स्थानपर एक तीसरा ही मूल्य आ धमकता है या एक शून्य उत्पन्न हो जाता है। मूल्यगत शून्य अथवा आदर्श-शून्यताकी अवस्था समाजके लिए अत्यन्त भयावनी है, क्योंकि इसके कारण समाजका सर्वतोमुखी विघटन आरम्भ हो जाता है। अन्ततः मूल्य अथवा आदर्श ही समाजके विभिन्न सदस्यों अथवा अंगोंको एकताके सूत्रमें आबद्ध किये हुए है। कहना न होगा कि आजकल प्रायः सभी पुराने मूल्य विघटित होते जा रहे है और मूल्य-शून्यताकी आशंका उत्पन्न हो गयी है। —ह० ना०

विचार-नियंत्रण—फासिस्ट (दे० 'फासिज्म') तानाशाही विद्यालयोंपर पूरा नियन्त्रण रखती है, वह उन्हे शैक्षिक बैरक बनाकर छोड़ती है। उनमें विद्यार्थीको वही पढ़ना, सोचना, मानना, लिखना होता है, जो राज्य द्वारा स्वीकृत है। स्वतन्त्रचेता व्यक्तियोंके लिए फासिस्ट राज्यमें कोई स्थान नही। एक फासिस्ट लेखक कहता है कि फासिस्ट राज्यमें वैज्ञानिकको वैसे ही सत्यकी खोजमें स्वतन्त्रता है, जैसा कि राज्यको दिखायी देता है। ऐसे राज्यमे कलाकी स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है। शिक्षाके समान कलाको फासिस्ट प्रचारका साधनमात्र बनकर रह जाना होता है।

गोबेल्सने कहा था कि तटस्थ, अराजनीतिक कलाके लिए जर्मनीमें कोई स्थान नहीं होना चाहिये।

वस्तुतः फासिज्मको मानव-विवेकमें आस्था ही नहीं है। उसका सारा जोर विवेक-शून्य सहज प्रवृत्तियों (instincts) और क्रियाशीलतापर है। यहाँतक कि वह शब्दशः शान्तिका शत्रु है और युद्धको वरदान समझता है। मुसोलिनीने कहा था : "मैं नित्य, निरन्तर शान्तिमें विश्वास नहीं करता, यही नहीं कि मैं केवल इसमें विश्वास नहीं करता, बल्कि मैं इसे अवसादजनक तथा मनुष्यके समस्त मौलिक गुणोंका अभाव-स्वरूप मानता हूँ"। वस्तुतः फासिज्म बुद्धिवाद-विरोधी विचारधाराओंमें अग्रगण्य है। वह ज्ञानमें नहीं, क्रियामें आस्था रखता है। जर्मन दार्शनिक हेडेगरने कहा था कि उसे दार्शनिकोंकी अपेक्षा कृषकोंसे अधिक ज्ञान प्राप्त होता है। फासिस्ट उससे भी आगे बढ़कर कहता है कि उसे खेतकी भी अपेक्षा युद्ध-क्षेत्रमें अधिक ज्ञान प्राप्त होता है। —ह० ना०

विचित्र—एक अर्थालंकार; यह अलंकार अपेक्षाकृत गौण अलंकारोंमें है और संस्कृतके बहुत थोड़े आचार्योंने इसे प्रश्रय दिया है। मम्मटने इस अलंकारको अपने ग्रन्थमें स्थान नहीं दिया। इस अलंकारकी प्रथम विवेचना रुय्यकने विरुद्ध फलके लिए प्रयत्न करनेके रूपमें की है (अ० स०, पृ० १३३)। इसीके आधारपर जयदेव, विश्वनाथ आदिने इसका विवेचन किया है—"तद्विरुद्धस्य कृतिरिष्टफलाय चेत्" (सा० द०, १० : ७२), अर्थात् जहाँ इष्ट फलकी प्राप्तिके लिए विपरीत प्रयत्न किया जाय। हिन्दीके आचार्योंने प्रायः इनके तथा 'कुवलयानन्द'के आधारपर लक्षण दिये हैं—"जहाँ करत हैं जतन फल, चित्त चाहि विपरीत" (शि० भू०, २१२)। यह अलंकार तब होता है, जब जो इष्ट फल है, उसकी प्राप्तिके लिए उसके विपरीत प्रयत्न किया जाय। उदा०—"अमर बने इस लोभसे रणमें मरते वीर। भवसागरके पारको बूड़ें गंगा नीर" (रामदहिन मिश्र)। विचित्रका अर्थ है अद्भुत, विस्मय अथवा आश्चर्य। इष्ट फलके विपरीत प्रयत्न करनेमें एक अद्भुतता है और वही इस अलंकारका चमत्कार है। —ध० ब्र० शा०

विचित्र मार्ग—दे० 'त्रिमार्ग-सिद्धान्त', दूसरा प्रकार।

विचित्रविभ्रमा—दे० 'प्रौढ़ा' (नायिका)।

विचित्रसुरता—दे० 'मध्या' (नायिका)।

विच्छित्ति—दे० 'स्वभावज अलंकार' तीसरा।

विजया १—मात्रिक समदण्डक छन्दोंका एक भेद। भानुके अनुसार इसके प्रत्येक चरणमें १०, १०, १०, १० पर यतिसे ४० मात्राएँ तथा अन्तमें कर्णमधुर होनेके लिए रगण (ऽ।ऽ)का प्रयोग होता है (छं० प्र०, पृ० ७८)। केशव (रा० चं०) आदिने इसका प्रयोग किया है—"चालि अचला अचल, घालि दिगपाल बल, पालि ऋसिराजके बचन परचण्डको"।

विजया २—मात्रिक सम दण्डक छन्दोंका एक भेद। इसके प्रत्येक चरणमें १२, १२, १२, ८ या १२, १२, १०, १० यतिसे ४४ मात्राएँ तथा अन्तमें प्रायः रगण (ऽ।ऽ) होता है। तुलसीने 'विनयपत्रिका'में इसका प्रयोग किया है—"जय जय जग जननि देवि, सुर नर मुनि असुर सेवि, भुक्ति मुक्ति दायिनि, भयहरनि कालिका" (प० १६)। इसकी गति वस्तुके बहुत अनुकूल है और तुलसीने सफलता-पूर्वक इसका निर्वाह किया है। सूरने पदोंके अन्तर्गत इसका सुन्दर प्रयोग किया है—"चन्दन आँगन लिपाइ, मुतियन चौकैं पुराइ, उमँगि अँगनि सौं बजावौ" (सू० सा०, सभा सं०, प० ७१३)।

विजया ३—मात्रिक तथा मुक्तक दण्डकका एक भेद। इसमें ३२ वर्ण होते हैं, ८,८ वर्णोंकी चार चौकड़ी, अन्तमें लघु-गुरु अथवा नगण भी होता है। कवित्तोंके विपरीत इस दण्डकमें सम-समके अतिरिक्त दो विषमोंके बीच सम पद भी आता है। केशवदासने 'रामचन्द्रिका'के २१ वें अध्याय-के ८ वें छन्दमें विजयाका उदाहरण दिया है—"चढ़ी प्रति मन्दिर सोभा बढ़ीं तरुनी अवलोकनको रघुनन्दन"। यह २६ वर्णका है और सवैयाकी गति है, इसलिए न तो यह दण्डक है और न कवित्त ही। भानुने इसे कवित्त छन्दका एक भेद माना है। मात्रिक छन्दके अन्तर्गत भी विजया नामका सम छन्द ४० मात्राओंका दण्डक होता है, जिसमें १०, १०, १०, १० मात्राओंपर यति होती है, इसके अन्तमें रगण रखनेसे छन्दकी गति मधुर हो उठती है। मात्रिक विजया छन्दका प्रयोग दसवीं शताब्दीमें पुष्पदन्त-के काव्यमें पाया जाता है—"बाहिल्ल ते मिल्ल ते भूअ ते लल्ल। ते पंगु ते कुंट बहिरंध ते मण्ट' (राहुल सांकृत्यायनः काव्यधारा, पृ० २३६)। किन्तु घनाक्षरी अथवा मुक्तक दण्डकका विजया छन्द प्रायः कवित्तकी गतिका होता है और उसकी गणना मनहर रूपघनाक्षरी, देवघनाक्षरी, कृपाण आदि छन्दोंमें की जाती है। उदा०—"कोऊ काइमें मगन कोऊ काऊमें मगन, हम वाहीमें मगन जाकी लगी है लगन"। किन्तु मात्रिक और मुक्तक दण्डकके विजयामें अन्तर यही होता है कि मात्रिकमें अक्षरोंका योग समान नहीं होता। अक्षरोंका योग समान होनेपर मात्रिक विजया दण्डक भी मुक्तक दण्डकके अन्तर्गत मान लिया जाता है। —ह० मो०

विजोहा—वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। 'प्राकृत-पैंगलम्'में इसका नाम 'द्वियोधा' (२ : ४५), 'वाणीभूषण' (२ : ४५)में विमोहा और देवने रोचना नाम दिया है। इसके प्रत्येक चरणमें दो रगण होते हैं (ऽ।ऽ, ऽ।ऽ)। यह छन्द स्रग्विणी वृत्तका आधा है। केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है—"शम्भुको दण्ड दै, राजपुत्री कितै। टूक द्वै तीन कै, जाहु लंका हितै" (रा० चं०, ४ : ४)। —पु० शु०

विज्ञप्तिमात्रता—दे० 'विज्ञानवाद'।

विज्ञान—विज्ञानवादीके अनुसार केवल विज्ञानकी सत्ता है, विज्ञानके अतिरिक्त सभी कुछ केवल वासनाका ही विकल्प है। सहोपलम्भ नियम, यानी अनुभवमें विज्ञान और विषयके साथ उपलब्ध होनेके नियमसे एकमात्र विज्ञानके अस्तित्वकी सिद्धि होती है। मूलतः विज्ञानमें ग्राह्य और ग्राहकका भेद नहीं रहता। किन्तु अनादि, अविच्छिन्न, सन्तति रूप वासनाके ही कारण भ्रान्त-दृष्टि व्यक्तियोंको विज्ञानमें ज्ञाता-ज्ञेय या ग्राहक और ग्राह्यका भेद अवभासित होता है। यह विज्ञान विषयप्रतिविज्ञप्ति रूप होता है। यह एक अविच्छिन्न तथा प्रवाहरूप है, जो अखण्ड

और अविच्छिन्न होता है। नदीके प्रवाहके समान यह नित्य परिवर्तनशील और प्रवहमान रहता है और इसकी सन्तान भी विच्छिन्न नहीं होती। योगाचारी इस विज्ञानको निरालम्ब मानते है। यह अपना आलम्ब (आधार) स्वयं होता है और अपने ज्ञानके निमित्त किसी अन्य आलम्बन-की इसे आवश्यकता नहीं पडती। इस दृष्टिसे विज्ञानवादी स्वसंवित्तिके सिद्धान्तके पक्षपाती है। जिस प्रकार प्रदीपकी एक ज्वाला स्वयंको प्रकाशित करनेके साथ-साथ अन्य पदार्थोंको भी प्रकाशित करती है, उसी प्रकार विज्ञान भी स्वयंका ज्ञापक होनेके साथ-साथ विषयान्तरकी विज्ञप्तिका भी हेतु होता है। यह विज्ञान योगाचारियोके मतमें क्षणिक, नित्यप्रवाहशील और परिणामधर्मा है। सारा जगत् इसीका परिणाम है। परन्तु यह परिणाम किसी स्थायी नित्य या कूटस्थ पदार्थका कार्य रूपमें परिणत होना नहीं है, अपितु क्षणिक विज्ञानरूप कारणका (सन्ततिरूप) क्षणावस्थायी कार्यके रूपमे एककालिक परिवर्तन ही है। इस विज्ञानके परिणाम त्रिविध बताये गये है—विपाक विज्ञान या आलय विज्ञान, मननात्मक मनोविज्ञान तथा विषय रूप प्रवृत्ति विज्ञान।

इसमेंसे आलय विज्ञान ही सम्पूर्ण विज्ञानात्मक जगत्की उत्पत्तिका बीज स्थान है,जिसमें सभी धर्म लीन रहते हैं और जिससे सभी भाव उत्पन्न होते हैं (दे० 'आलय विज्ञान')। मननात्मक क्लिष्ट मनोविज्ञान पाँच ज्ञानेन्द्रियोके विज्ञानों द्वारा प्रस्तुत विचारों या प्रत्ययोंका परिच्छेद करता है। यह क्लेशोंसे संयुक्त (क्लिष्ट) होता है और विशुद्ध अहंकार का द्योतक है। यह आलय विज्ञानको क्लेश-सम्बद्ध कर उसे जीव रूपमें भी कल्पित करता है। प्रवृत्ति विज्ञान सभी बाह्य पदार्थोंकी विषय-विज्ञप्तिकी ही शास्त्रीय संज्ञा है। यह पाँच इन्द्रियों और मन द्वारा उनके ग्राह्य विषयोंकी विज्ञप्तिके रूपमें छः प्रकारका बताया गया है। यह परिच्छिन्न स्वभाव, क्षणिक और अनित्य होता है तथा चक्षुरादि इसके आल-म्बन होते है।

हिन्दीमें सिद्धोंके साहित्यपर विज्ञानके इस सिद्धान्तका पर्याप्त प्रभाव लक्षित होता है। वे सम्पूर्ण जगत्को मनका विकल्प और विज्ञानरूप ही मानते है, जो भ्रान्ति सदृश है (दे० 'विज्ञानवाद')।

[सहायक ग्रन्थ—नरेन्द्र देव : बौद्ध धर्म दर्शन; बलदेव उपाध्याय : बौद्ध दर्शन; राहुल सांकृत्यायन : हिन्दी काव्य धारा; दोहा कोष।] —क० शु०

विज्ञानवाद–महायानके दो दार्शनिक सम्प्रदाय हुए—शून्यवाद और विज्ञानवाद। शून्यवादके प्रमुख आचार्य नागार्जुन द्वारा प्रतिपादित दर्शन अत्यन्त तर्कसम्मत होते हुए भी बहुत जटिल है और निषेधात्मक है (दे० 'शून्य-वाद')। विज्ञानवादने इस निषेधात्मकताका परिहार किया और 'भूततथता'के सिद्धान्तका प्रतिपादन किया तथा साधना पद्धतिके रूपमें योग-प्रणालीको स्वीकार किया, अतः इसे 'भूततथतावाद' और 'योगाचार'-सम्प्रदाय भी कहते हैं।

इसके प्रमुख आचार्य अश्वघोष, वसुबन्धु, असंग और मैत्रेय माने जाते है। कहा जाता है कि नागार्जुन (२ श० ई०)के लगभग एक शताब्दी बाद मैत्रेयने 'अभिसमयालंकारकारिका' लिखकर विज्ञानवादको एक निश्चित दार्शनिक मोड दिया, जिसने पाँचवी शताब्दीमें असंगने पूर्ण रूपसे सुव्यवस्थित किया। शून्यवादी सभीको **शून्य** मानते है, किन्तु विज्ञानवादीका कहना है कि द्रष्टाके अनु-भव, चित्त या विज्ञान परम्पराको शून्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यदि मानसिक दशाएँ और क्रियाएँ भी शून्य है तो शून्यवादीके तर्क भी शून्य है। अतः मनोमय जगत्का अस्तित्व तो मानना ही पडेगा। किन्तु विज्ञान-वादी मनोमय जगत्का अस्तित्व मानते हुए भी बाह्य विश्वका पूर्ण निषेध कर उसका अस्तित्व नहीं मानता है (दे० 'जगतानुबोध')। विश्व केवल विज्ञानों, चेतनाओं और प्रत्ययोंकी श्रृंखलामात्र है। चित्त **आलय-विज्ञान** है और इस आलय-विज्ञानके प्रवाहमें एक क्षणिक विज्ञान दूसरे विज्ञानको कार्य-कारण-श्रृंखलासे उत्पन्न करता चलता है। इसका अन्तिम विलयन विज्ञप्तिमात्रतामें होता है, इसीको **परमार्थ** या 'भूततथता' कहते है, यही **निर्वाण** है।

इसका उदाहरण विज्ञानवादी ग्रन्थोंमें यो दिया गया है कि चित्त अपनी स्मृतियों और अज्ञानजन्य कल्पनाओंको संगृहीत करता चलता है। वही संसार है। पर उसका नाश होनेपर चित्तका नाश नहीं होता, जैसे वायुके शान्त होनेपर जलमें लहरें उठना बन्द हो जाता है, पर लहरोंके विलीन होनेसे जल विलुप्त नहीं हो जाता। वह जो विनष्ट नहीं होता, वही **परमार्थ** या भूततथता या **निर्वाण** है।

वज्रयानी सिद्धोंने शून्यवादी निर्वाणकी अपेक्षा तथताके सिद्धान्तको अधिक मान्यता दी है। कोंकणपा, नन्दीपा और काण्हपाने अपनी चर्याओंमें तथतारूपी निर्वाणको स्वीकृति दी है। इसी तथताको **नैरात्म्य-ज्ञान** भी कहा गया है, क्योंकि इसमें धर्म नैरात्म्य भी है, अर्थात् सांसा-रिक वस्तुओंका भी नैरात्म्य या शून्यता है और पुद्गल-नैरात्म्य, अर्थात् आत्मा जैसी किसी शाश्वत सत्ताका भी निषेध कर केवल **तथता** स्वरूप **चित्त**को ही स्वीकार किया है। —भ० बी० भा०

विट–दे० 'नर्मसचिव', नायक।

वितर्क (तर्क, विकल्प)–प्रचलित तैंतीस संचारियोंमेंसे एक। वितर्कमें अनुमान इष्ट एवं अनिष्ट, दोनों पक्षोंमें बारी-बारीसे हो सकता है। 'नाट्यशास्त्र'में सन्देह, अर्थात् उभयावलम्बी संशय, विमर्श, अर्थात् विशेष प्रतीत्यभिलाषा और विप्रतिपत्ति, अर्थात् परस्पर सम्बद्ध ऊह एवं अपोहको तर्कका विभाव बताया है। विविध विचारके प्रश्न, सिर एवं भ्रूयुगलके क्षेप और अंगुलीके नर्तनसे इसकी अभिव्यक्ति होती है (नाट्य०, ७ : ९२ग)। कदाचित् परिभाषाको कम तार्किक बनानेके कारण धनंजय इत्यादिने सन्देहको प्रधान स्थान देकर 'नाट्यशास्त्र'के विमर्श एवं विप्रतिपत्ति शब्दों-को 'आदि' कहकर सन्तोष कर लिया। हिन्दीके रीतिकाल-के आचार्योंमें कुछने 'नाट्यशास्त्र'की परम्पराका अनुसरण किया है—"बिप्रतिपत्ति बिचारु अरु संसय अध्यवसाइ। बितरक चौबिध जानिये"(देव : भा० : संचारी०)। अन्योंने सामान्यतः "उर उपजत सन्देह जहँ कीजे कछू विचार" (जगद्वि०, ५६८) लक्षण दिया है।

महादेवीका उदाहरण—"दुखका जग हूँ या सुखकी

पल, करुणाका धन या मन निर्जन" (का०द०, पृ० ८०)। इसमें कविका आत्मगत ऊहापोहका वितर्क है। पद्माकरके इस उदाहरणमें विमर्श है—"भूल्यो भौह भालमैं चुम्यो कै टेढी चालमैं, छक्यो कि छवि जालमैं कै बीध्यौ वनमालमैं" (जगद्वि०, ५७०)। देवने इसके चार प्रकारके उदाहरण दिये हैं। विप्रतिपत्तिका उदा०—"न सुने तवौ काहू कहूँ कबहूँ कि मयंकके अंकमें पंकज द्वै"। विचारका उदा० —"प्रान पियारे तु एहैं घरै पर प्रान पयान कै फेरि न ऐहैं"। संशयका उदा०—"किधौं कौनके भौनकी दीप सिखा कौनके भाग है भालखची"। अध्यवसायका उदा० —"तिहि ऊपरको यह सोम नवोतम तौम चहूँदिसि झूलि रहै" (भाव०, संचारी०)। —ज० कि० ब०

वित्तजा सेवा–दे० 'सेवा'।

विदग्धा (नायिका)–परकीयाकी स्थितिके अनुसार भेद; विशेषके लिए दे० 'नायिका-भेद'। सर्वप्रथम भानुदत्त द्वारा उल्लिखित। परपुरुषके प्रति अपने अनुरागका संकेत चतुराईमें देनेवाली नायिका। **१. वचनविदग्धा**—वचनसे इस चतुराईका निर्वाह करनेवाली नायिका—"करै बचनसौं चातुरी" (मतिराम)। पद्माकरने स्पष्ट करते हुए कहा है—"बचननकी रचनानिसों जो साधै निज काज" (जगद्वि०, १ : ९५)। वाक्चातुर्यसे नायिका अपना मनोरथ पूरा करती हुई भी प्रेमभावको दूसरोंसे छिपा लेती है—"तनिक सि नाक नथुनियाँ मिन हित नीक। कहति नाक पहिरावहु चित दै सीक" (बरवै०, १४)। रहीम सहज भावसे चातुर्यको व्यक्त कर सके हैं। अन्य उदाहरणोंमें परिस्थितिका स्थूल रूप ही प्रधान है—"नित साँझ सवेरे हमारी हहा हरि गैया भला दुहि जैबो करौ" (पद्माकर : जगद्वि०, १ : ९६)। **२. क्रियाविदग्धा**—क्रियाकी चतुराईसे जो अपने अनुरागको व्यक्त करनेमें समर्थ हो। 'क्रियासुजान' करके जो अपना 'काज साधे' ऐसी नायिका (पद्माकर)। कुछ चतुराईका कार्य करके यह नायिका अपना मनोरथ सिद्ध करती है—"नैन नमाय रही हियमालमैं लालकी मूरति लालमैं देख्यौ" (मतिराम : र० रा०, ७४)। रहीमकी नायिकाकी स्थिति अधिक यथार्थ है—"बाहिर लैकै दियवा बारन जाय। सासु ननद ढिग पहुँचत देति बुझाय" (बरवै०, १३)।

विदूषक–दे० 'नर्म-सचिव', नायक।

विद्याविरुद्ध–दे० 'अर्थ-दोष', दसवाँ।

विधि–एक गौण अर्थालंकार। जैसे प्रतिषेध अलंकारमें प्रसिद्धतया निषेधप्राप्त वस्तुका अन्यार्थ-गर्भित चमत्कारपूर्ण रीतिसे पुनः कीर्तन होता है, वैसे ही प्रसिद्धतया सिद्ध वस्तुका अन्यार्थगर्भित चमत्कारपूर्ण रीतिसे पुनः कीर्तन करनेसे विधि अलंकार होता है। सम्भवतः सर्वप्रथम अप्पय दीक्षितने इस अलंकारकी परिभाषा निम्नलिखित प्रकारसे की है—"सिद्धस्यैव विधानं यत्तमाहुर्विध्यलंकृतम्" (कुवल०, ९९)। इसीके आधारपर हिन्दीके आचार्योंने भी इस अलंकारको स्वीकार किया है—"जहाँ सिद्धि ही बानको करत प्रसिद्ध बखान" (ल० ल०, ३८९) अथवा—"सिद्धि अर्थहि बहुरि, सिद्ध कीजियतु जित्त" (पद्मा०, २७८)। उदा०—'उत्तररामचरित' (२ : १०)में शूद्रके तप करनेमें अल्पवयस्क ब्राह्मणके मरनेपर उस शूद्रपर बाण छोड़ते हुए रामचन्द्रका कहना—"तजु कर सर मुनि सुद्र पर द्विज-सिसु जीवन-हेतु। राम गात है जिन तजी सीता गर्भ समेत" (छाया, अ० मं०, ३६५)। निश्चय हाथ रामका अंग है। यह बात सिद्ध है, पर फिर भी करुणाका अभाव बतानेके लिए कहते हैं कि तू वास्तवमें उस कठोरहृदय रामका हाथ है, जिसने सीताका परित्याग कर दिया, अर्थात् सिद्ध वस्तुकी यहाँ पुष्टि हुई है। अतः विधि अलंकार हुआ। अथवा—"खलनिके खण्डिबेकौं मंगनको मण्डिबेकौं, महाबीर भावसिंह भावसिंह होत है" (ल० ल०, ३९०)। —ज० कि० ब०

विधि-अयुक्त–दे० 'अर्थ-दोष', बाईसवाँ।

विनोक्ति–सादृश्यगर्भके गम्यौपम्याश्रय वर्गका अर्थालंकार। सम्भवतः मम्मट तथा रुय्यकने सर्वप्रथम इसे स्वीकार किया है। मम्मटके अनुसार इसमें एकके बिना दूसरेके अशोभन होने अथवा शोभन होनेका कथन अभिप्रेत होता है (का० प्र०, १० : ११३)। विश्वनाथका लक्षण इसीपर आधारित है—"यद्विनान्येन नासाध्वन्यदसाधु वा" (सा० द०, १० : ५६)। यहाँ शोभनके स्थानपर 'नासाधु' कहा गया है। जयदेवने केवल हीन भेद माना है, पर उनके टीकाकार अप्पय दीक्षितने विश्वनाथ आदिके दोनों भेदोंको स्वीकार किया है। हिन्दीके आचार्योंने प्रायः 'कुवलयानन्द'के आधारपर इसका लक्षण दिया है—"बिना कछू जहँ बरनिये, कै हीनो कै नीक" (शि० भू०, १५१)। दासने शोभन-अशोभनके स्थानपर 'सुभ-असुभ' कर दिया है (का० नि०, १५)। इस अलंकारमें बिना, हीन, रहित आदि वाचक शब्दोंका प्रयोग होता है, परन्तु अनिवार्य नहीं है। उदा०—"प्राणनाथ तुम बिनु जगमाहीं। मोकहँ कतहुँ सुखद कछु नाहीं। जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसइ नाथ पुरुष बिनु नारी" (रा० च० मा०, २ : ६५)। यहाँ देह, नदी तथा सीताका अशोभन होना कथित है। अथवा—"देखत दीपति दीपकी, देत प्रान अरु देह। राजत एक पतंगमैं, बिना कपटको नेह" (ल० ल०, १६१)। यहाँ कपटके बिना नेहको शोभन कहा गया है। —शि० प्र० सि०

विपर्यय–दे० 'भ्रम', 'भ्रान्ति'।

विप्रलंभ-श्रृंगार–भोजराजने विप्रलम्भ-श्रृंगारकी यह परिभाषा दी है—"जहाँ रति नामक भाव प्रकर्षको प्राप्त करे, लेकिन अभीष्टको न पा सके, वहाँ विप्रलंभ-श्रृंगार कहा जाता है" (स० कं०, ५ : ४५)।

भानुदत्तका कथन है—"युवा और युवतीकी परस्पर मुदित पंचेन्द्रियोंके पारस्परिक सम्बन्धका अभाव अथवा अभीष्टकी अप्राप्ति विप्रलम्भ है" (र० त०, ६)। 'साहित्य-दर्पण'में भोजराजकी परिभाषा ही दुहरायी गयी—"यत्र तु रतिः प्रकृष्टा नाभीष्टमुपैति विप्रलम्भोऽसौ" (३ : १८७)। इन कथनोंमें अभीष्टका अभिप्राय नायक या नायिकासे है। उक्त आचार्योंने अभीष्टकी अप्राप्ति ही विप्रलम्भकी निष्पत्तिके लिए आवश्यक मानी है। लेकिन पण्डितराजने प्रेमकी वर्तमानताको प्रधानता दी है। उनके अनुसार यदि नायक-नायिकामें वियोगदशामें प्रेम हो तो, वहाँ विप्रलम्भ

शृंगार होता है। उनका कथन है कि वियोगका अर्थ है यह ज्ञान कि 'मैं बिछुडा हूँ', अर्थात् इस तर्कणासे वियोगमे भी मानसिक संयोग सम्पन्न होनेपर विप्रलम्भ नहीं माना जायगा। स्वप्न-समागम होनेपर वियोगमे भी संयोग माना जाता है।

हिन्दीके आचार्योंमे केशव तथा सोमनाथने 'रसगंगाधर'-की परिभाषा अपनायी है तथा चिन्तामणि और भिखारीदास 'साहित्यदर्पण'से प्रभावित है। केशव—"बिछुरत प्रीतमकी प्रीतिमा, होत जु रस तिहि ठौर। विप्रलम्भ तासो कहै, केसव कबि सिरमौर"। सोमनाथ—"प्रीतमके बिछुरनि विपै जो रस उपजत आइ। विप्रलम्भ सिगार सो कहत सकल कबिराइ"। चिन्तामणि—"जहाँ मिलै नहिं नारि अरु पुरुष सु बरन बियोग"। भिखारी—"जहँ दम्पतिके मिलन बिन, होत बिथा बिस्तार। उपजत अन्तर भाव बहु, सो बियोग शृंगार"।

विप्रलम्भके कई प्रकारसे भेद किये गये है। भोजने 'सरस्वतीकण्ठाभरण'मे पूर्वानुराग, मान, प्रवास एवं करुण, ये चार भेद कहे है। परवर्ती आचार्योंमें विश्वनाथने इन्ही भेदोका कथन किया है। लेकिन मम्मटने विप्रलम्भके पॉच प्रकार बताये है—अभिलाषहेतुक, विरसहेतुक, ईर्ष्याहेतुक, प्रवासहेतुक तथा शापहेतुक। भानुदत्त और पण्डितराजने मम्मटके भेदोंको ही स्वीकार किया है। हिन्दीके आचार्योंमें केशव, देव, भिखारी इत्यादिने 'साहित्यदर्पण'का ही अनुसरण किया है। नवीन विद्वानोमें कन्हैयालाल पोद्दारने 'काव्यप्रकाश'का तथा रामदहिन मिश्रने 'साहित्यदर्पण'का वर्गीकरण स्वीकार किया है। 'हरिऔध' पूर्वानुराग, मान और प्रवास, तीन ही भेद स्वीकार करते है। मतिरामने भी 'रसराज'मे ये ही तीन भेद माने है।

धनंजयने शृंगारके तीन भेद बताये है—आयोग, विप्रयोग तथा सम्भोग। इनमें आयोग और विप्रयोग विप्रलम्भके अन्तर्गत आते है। आयोगका अर्थ है नहीं मिल पाना और विप्रयोगका अर्थ है मिलकर अलग हो जाना। लक्षणके अनुसार आयोग पूर्वानुरागके समकक्ष है। कभी-कभी विप्रयोग और विप्रलम्भ पर्याय जैसे भी समझे जाते हैं।

मिलन अथवा समागमसे पूर्व हृदयमें जो अनुरागका आविर्भाव होता है, उसे **पूर्वराग** या **पूर्वानुराग** कहा जाता है। इसके चार मार्ग या विधियॉ है—प्रत्यक्ष दर्शन, चित्र-दर्शन, श्रवण-दर्शन एवं स्वप्न-दर्शन। इनमें प्रियमूर्तिके भिन्न-भिन्न प्रकारसे दर्शन होनेका विधान है। पूर्वानुराग-को नियोग भी कहते हैं। कविराज विश्वनाथके अनुसार पूर्वानुराग तीन प्रकारका होता है—नीलीराग, जो बाहरी चमक-दमक तो अधिक न दिखाये, किन्तु हृदयसे कभी दूर न हो; कुसुम्भराग, जो शोभित अधिक हो, लेकिन जाता रहे और मंजिष्ठाराग, जो शोभित भी हो और साथ ही कभी नष्ट भी न हो।

प्रियापराधजनित कोपको **मान** कहते है। इसके भी दो भेद होते है—प्रणयमान और ईर्ष्यामान। दोनोंके हृदयमें भरपूर प्रेम होनेपर भी जब प्रिय-प्रिया एक-दूसरेसे कुपित हों, तब प्रणयमान होता है। इसका समाधान यह कहकर किया गया है कि प्रेमकी गति कुटिल होती है, यद्यपि मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे ऐसा मान नायक-नायिका पारस्परिक अनुरागकी पुष्टिके हेतु करते हैं। यदि यह मान अनुनय-विनयके समयतक न ठहर सके, तो इसे विप्रलम्भ शृंगार न समझकर 'सम्भोगसंचारी' नामक भाव मानना चाहिये। पतिकी अन्य नारीमें आसक्ति देखने, अनुमान करने या किसीसे सुन लेनेपर स्त्रियों द्वारा किया गया मान 'ईर्ष्यामान' कहलाता है। निवृत्तिके अनुसार ईर्ष्यामानके भी तीन भेद कहे गये है—लघु मान, मध्यम-मान और गुरु मान।

नायक-नायिकामेसे एकका परदेशमे होना **प्रवास** कहलाता है। यह प्रवास कार्यवश, शापवश अथवा भयवश, तीन कारणोसे होता है। प्रवास-वियोगमें नायिकाके शरीर और वस्त्रमें मलिनता, सिरमें एक साधारण वेणी एवं निःश्वास-उच्छ्वास, रोदन, भूमिपतन इत्यादि होते है। शापज (अथवा शापहेतुक) वियोगका प्रसिद्ध उदाहरण कालिदासका मेघदूत है, जिसमे कुबेरके शापके कारण यक्ष अपनी पत्नीसे वियुक्त हो गया है तथा मेघको दूत बनाकर अपना मर्मद्रावक प्रणय-सन्देश प्रियाके पास भेजता है।

नायक-नायिकामेंसे एकके मर जानेपर दूसरा जो दुःखी होता है, उसे **करुण-विप्रलम्भ** कहते है। लेकिन विप्रलम्भ तभी माना जायगा, जब परलोकगत व्यक्तिके इसी जन्ममें इसी देहसे पुनः मिलनेकी आशा बनी रहे। यदि प्रिय-मिलनकी आशा सर्वथा नष्ट हो जाय, तो वहॉ स्थायी भाव शोक होनेसे करुण रस होगा, करुण-विप्रलम्भ-शृंगार नहीं। 'रघुवंश'मे इन्दुमतीके मर जानेपर महाराज अजका प्रसिद्ध विलाप करुण रस ही है, करुण-विप्रलम्भ नहीं। कादम्बरीमे पुण्डरीकके मर जानेपर महाश्वेताको करुण रसकी ही अनुभूति हुई, लेकिन आकाशवाणी सुननेपर प्रियमिलनकी आशा अंकुरित होनेके बादसे 'करुण-विप्रलम्भ' माना जाता है। वैसी दशामें भी, जहॉ प्रियसे मिलनेकी आशा नष्ट हो गयी है, लेकिन प्रिय जीवित है तथा मिलनकी भौतिक सम्भावना सर्वथा विलुप्त नहीं हुई है, करुण-विप्रलम्भ माना जायगा। 'सूरसागर'में कृष्णके ब्रजसे चले जानेके अनन्तर गोपियोंकी वियोगानुभूति करुण-विप्रलम्भ ही है।

मम्मटके पंचविध विप्रलम्भ और विश्वनाथके चतुर्विध विप्रलम्भमे कोई मौलिक भेद नहीं है। मम्मटका अभिलाप-हेतुक वियोग 'साहित्यदर्पण'का पूर्वानुराग ही है, यद्यपि सामान्य काव्यानुरागियोंमें 'पूर्वराग' या 'पूर्वानुराग' शब्द अधिक लोकप्रिय है। 'ईर्ष्याहेतुक'का सम्बन्ध मानसे है। प्रवास एवं शाप, दोनों वर्गीकरणोमें समान हैं। करुण-विप्रलम्भ प्रवासहेतुक वियोगके भीतर सन्निविष्ट किया जा सकता है। मम्मटका विरहहेतुक विप्रलम्भ अवश्य एक सुन्दर सूझ है। समीप रहनेपर भी गुरुजनोंकी लज्जा आदिके कारण समागम न हो, तो वह विरहहेतुक वियोग माना जायगा। इसके अत्यन्त मर्मस्पर्शी उदाहरण लोक-गीतोंमें मिल जाया करते है। बिहारीका यह प्रसिद्ध दोहा विरहहेतुक विप्रलम्भका सुन्दर उदाहरण है—"देखैं बनै न देखतै अनदेखै अकुलाहिं। इन दुखिया ॲखियानुकौं सुखु सिरज्यौई नाहिं" (बि० स०, ६६३)।

वियोगमें सम्बन्धित दस काम-दशाएँ भी मानी गयी है—अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मृति या मरण। कितने ही लोग नौ काम-दशाएँ ही मानते है, मरणको नहीं। कितने मूर्च्छाको भी मिलाकर एकादश काम-दशाएँ स्वीकार करते है। प्रियसे तनसे मिलनकी इच्छा अभिलाष है; प्राप्तिके उपायोंकी खोज चिन्ता है; सुखदायी वस्तुएँ जब दुःखदायी बन जायँ, तो उद्वेग है; चित्तके व्याकुल होनेसे अटपटी बातें करना प्रलाप है; जड़-चेतनका विचार न रहना उन्माद है; दीर्घ निःश्वास, पाण्डुता, दुर्बलता इत्यादि व्याधि है; अंगों तथा मनका चेष्टाशून्य होना जड़ता है। अन्य दशाओंके अभिप्राय स्वतः स्पष्ट है। इनमें चिन्ता, स्मरण, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण संचारियोमें भी वैसे ही गृहीत है। रसका विच्छेदक होनेसे मरणका वर्णन प्रायः निषिद्ध ठहराया जाता है, लेकिन विश्वनाथ कहते है कि मरण-तुल्य दशा तथा चित्तमें आकांक्षित मरणका वर्णन ग्राह्य है और शीघ्र पुनर्जीवित होनेकी आशा हो, तो भी मरणका उल्लेख मान्य है। देवकी सलाह अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण है—"मरनौ वा विधि बरनिये जाते रस न नसाइ"। भारतेन्दुकी निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य है—"एहो प्रान प्यारे बिन दरस तिहारे भये, मुये हू पै आँखे ए खुली ही रह जायँगी"। 'मरण'के गृहीत हो जानेसे सम्पूर्ण व्यभिचारी भाव विप्रलम्भ या वियोग-शृंगारमे चले आते है। —र० ति०

विप्रलब्धा (नायिका)–अवस्थानुसार नायिकाओंके विभाजनका एक भेद; विशेषके लिए दे० 'नायिका-भेद'। सर्व-प्रथम उल्लेख भरतने किया है। भानुदत्तके अनुसार "संकेतनिकेतने प्रियमनवलोक्य समाकुलहृदया" (र० मं०, पृ० १११), अर्थात् आहेटस्थलपर नायकको न पाकर व्याकुल होनेवाली नायिका विप्रलब्धा कही जाती है। मतिरामका भाव यही है—"मिलन आस करि जाय तिय मिले न पिय संकेत" (रसराज, १४४)। पद्माकर 'पिय बिहीन संकेत' कहकर यही बात व्यक्त करते हैं। रहीम मुग्धा विप्रलब्धाका अंकन व्यंजक रूपमें करते हैं—"मिलेउ न कन्त सहेटवा लखेउ डेराइ। धनियाँ कमल बदनियाँ गइ कुम्हिलाइ" (बरवै०, ५२)। नायिका अभी कोमल है। सहेटस्थलपर कन्तको न पाकर मतिरामकी मुग्धा भी व्याकुल हो जाती है—"नवल बालको कमल-सो गयो बदन कुम्हिलाय" (रसराज, १४६)। मध्या व्याकुल कम, व्यथित अधिक होती है—"तियको मिलो न प्रान प्रिय, सजल जलद तन मैन। सजल जलद लखिके भये सजल जलद-से नैन" (वही, १४८)। रहीमकी मध्या "लै लै ऊँचि उसँसवा है बिकरार" (बरवै०, ५३)। प्रौढ़ा विप्रलब्धा अपनी उद्विग्नता छिपानेका प्रयत्न भी नहीं करती—"निरखि सेज रँग-रँग भरी लगी उसाँसै लैन। कछु न चैन चितमैं रह्यो चढ़त चाँदनी रैन" (पद्माकर : जगद्वि०, १ : १८७)। परकीया विप्रलब्धाको सहेटस्थलपर नायक नहीं मिलता तो वह भयाकुल हो उठती है—"साहस करि कुंजन गयी, लख्यो न नन्दकिसोर। दीप शिखा-सी थरहरी, लगी बयारि झकोर" (मतिराम : र० रा०, १५३)। सामान्या विप्रलब्धामें वास्तविक दुःखके स्थानपर खेदमात्र होता है—"करिके सोरह सिंगरवा अतर लगाय। मिलेउ न लाल सहेटवा फिरि पछताय" (रहीम : बरवै०, ५६)। पर कवियोंने इस पछतानेको मात्र 'धनकी भई न धामकी'तक सीमित रखा है। विद्यापतिने राधाको विप्रलब्धा-रूपमें भी अंकित किया है, जिसमें राधाकी मानसिक व्यथा व्यंजित हुई है। भक्त कवियोंने गोपियोंके रासप्रसंगमें कृष्णसे बिछुड़ जानेका वर्णन किया है। रीति कवियोंने इस प्रसंगको विस्तारसे उपस्थित किया है और इसमें नारीके विविध मनोभावोंका चित्रण हुआ है। —र०

विबोध (प्रबोध एवं निबोध)–प्रचलित तैंतीसमेंसे एक संचारी भाव। 'नाट्यशास्त्र' तथा तदनुवर्ती अन्य ग्रन्थोंमें 'विबोध', वाग्भटके 'काव्यानुशासन', 'अग्निपुराण' तथा 'नाटकलक्षण-रत्नकोश'में 'प्रबोध' और 'नञ्जराजयशोभूषण'में इसको 'निबोध' कहा गया है। अन्वय द्वारा 'अग्निपुराण'मे और व्यतिरेक द्वारा 'काव्यानुशासन'में इस 'संचारी'का लक्षण दिया गया है—चेतनाका उदय होना एवं निद्राका न होना क्रमशः प्रबोध है अथवा निद्रा दूर होनेके बाद चेतनालाभको विबोध कहते है। 'नाट्यशास्त्र'के अनुसार निद्राभंग होना, भोजनका कुपरिणाम, दुःस्वप्न, तीव्र स्पर्श अथवा शब्दश्रवण इत्यादि विभावोंसे यह भाव उत्पन्न होता है। जँभाई लेना, आँखोंको मलना, शयन-स्थानसे उठ खड़ा होना इत्यादि इसके अनुभाव हैं (७ : ७७ ग); 'दशरूपक' तथा 'साहित्यदर्पण'में माघके 'शिशुपालवध'के ग्यारहवें सर्गसे जो उदाहरण दिया गया है, वह निद्रोच्छेदका है। पर इस अर्थके अतिरिक्त, 'प्रतापरुद्र-यशोभूषण'में प्रतापरुद्रके गुणोंके बोधको विबोध बताया गया है (४ : ४३)। कदाचित् इसी कारण कालान्तरमें इसका अर्थ न केवल निद्रासे जागरण अवस्थामें आना रहा, पर अज्ञानसे ज्ञान प्राप्त करना भी हुआ हो।

हिन्दी रीतिकालके आचार्योंमें कतिपयने 'नाट्यशास्त्र'-की परम्परामें लक्षण दिया है—"नींद गये मीजै नयन, अंग भंग जमुहाइ। एक बार इन्द्रिय जगै, ते कउ नींद सुभाय" (भाव० : संचारी)। पर अन्योंने केवल 'जागिबो'के रूपमें स्वीकार किया है। देवका उदाहरण—"चौकि परी तब कान्ह कहूँ न कदम्ब न कुंज न कालिन्दी-कौ तट" (वही)। पद्माकर नींदसे जागी नायिकाका चित्र अंकित करते है—"आँखै अधखुलीं अधखुली खिरकी है खुली, अधखुले आननपै अधखुली अलकै" (जगद्वि०, ५१३)। रामदहिन मिश्रने अज्ञानके मिटनेका उदाहरण प्रस्तुत किया है—"हाथ जोड बोला साश्रुनयन महीप यों। मातृभूमि इस तुच्छ जनको क्षमा करो। धोऊँगा कलंक रक्त देकर शरीरका। आजतक खेयी तरी मैंने पापसिन्धुमें। अब खेऊँगा उसे धारमें कृपाणकी" (का० द०से)। यह देशद्रोही जयचन्दके विबोधकी व्यंजनाका उदाहरण है।

चेतनालाभ मानसिक अवस्था है, यद्यपि उसकी अभिव्यक्तिका सम्बन्ध शारीरिक अवस्थासे है। विबोधके समय इसके आश्रय अथवा आश्रयकी अवस्था तो उदासीन ही होगी, चाहे कवि उसको सुखात्मक समझे, जैसा कि 'दशरूपक'के उदाहरणसे स्पष्ट है, अथवा

अन्यथा। —ज० कि० व०

विब्बोक-दे० 'स्वभावज अलंकार', आठवाँ।

विभव-विभव भी अवतारका पर्याय है, भगवान्‌का प्रादुर्भाव है, जिसके मुख्य और गौण, दो भेद हैं। मुख्य साक्षात् अवतार और गौण आवेशावतार कहलाते हैं। आवेशावतारके भी दो भेद हैं—(१) शक्त्यावेश, जिसमें केवल भगवान्‌की शक्तिका विकास होता है और (२) स्वरूपावेश, जिसमें अप्राकृत विग्रह सहित भगवान् किसी चेतन शरीरमें आविर्भूत होते हैं।

विभवावतारोंकी संख्या ३९ मानी गयी है। मुक्ति-प्राप्तिके लिए मुख्य विभवावतारोंकी और भक्ति-प्राप्तिके लिए गौण विभवावतारोंकी उपासना की जाती है। —वि० मो० श०

विभाव-भरत(२-४ श० ई०)ने 'नाट्यशास्त्र'में विभावकी व्याख्या (७ : ३-४) की है और इसे रस-निष्पत्ति(दे०)के लिए आवश्यक तत्त्व माना है। वस्तुतः भरतसे लेकर आधुनिक कालतक संस्कृत तथा हिन्दीके आचार्यों और विवेचकोंने विभावको इसी रूपमें माना है। विश्वनाथका लक्षण है—"रत्याद्युद्बोधकाः लोके विभावाः काव्यनाट्ययोः" (सा० द०, ३ : २९), अर्थात् सामाजिकके अन्तर्गत रति-हास आदिको जो आस्वादनके योग्य उत्पन्न करते हैं। देव भी इसी प्रकार कहते हैं—"जे बिसेष्य करि रसनिको उपजावत हैं भाव" (भा० वि०, २३२)। जो व्यक्ति, पदार्थ अथवा बाह्य विकार अन्य व्यक्तिके हृदयमें भावोंको जाग्रत् करते हैं, उन भावोद्बोधक अथवा रसाभिव्यक्तिके कारणोंको विभाव कहते हैं। इनके आश्रयसे रस प्रकट होता है, अतः यह कारण निमित्त अथवा हेतु कहलाते हैं। रसको अलौकिक माननेके कारण इन्हें भी कारण आदि नाम न देकर असाधारण रूपसे विभाव कहा जाता है। यह विभाव आश्रयमें भावोंको जाग्रत् भी करते हैं और उन्हें उद्दीप्त भी करते हैं। इस कारण इसके 'आलम्बन' तथा 'उद्दीपन' नामक दो भेद किये गये हैं। उदाहरणतः, पुष्पवाटिकामें राम और जानकी घूम रहे हैं। जानकीके साथ उनकी सखियाँ हैं और रामके साथ उनके अनुज। इस दृश्यका तुलसीदासने निम्नलिखित पंक्तियोंमें ही चित्र उपस्थित किया है, उसमें राम सीताके हृदयमें जाग्रत् रति भावके आलम्बन तथा सीताकी सखियाँ, जो उन्हें रामके दर्शनमें सहायता पहुँचा रही हैं, उद्दीपन तथा सीताका संकोच, उनका चकित होना आदि अनुभाव है—"चितवत चकित चहूँ दिसि सीता, कहँ गये नृप किसोर मन चीता। जहँ बिलोक मृगसावक नैनी, जनु तहँ बरिस कमल सित स्रेनी। लता ओट तब सखिन लखाये, स्यामल गौर किसोर सुहाये। देखि रूप लोचन ललचाने, हरषे जनु निज निधि पहिचाने"। (रा० च० मा०, १)। —आ० प्र० दी०

विभावना-विरोधमूलक अर्थालंकार; यह अलंकार अपेक्षाकृत महत्त्वपूर्ण तथा प्रचलित अलंकारोंमें है और भामह, दण्डीसे लेकर, मम्मट, विश्वनाथ आदि सभी संस्कृतके आचार्योंने इसका प्रतिपादन किया है। भामह तथा उद्भटकी इस परिभाषा—"क्रियायाः प्रतिषेधे या तत्फलस्य विभावना" (का० सा० सं०, २ : ९)का मम्मटपर प्रभाव है—"क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिः" (का० प्र०, १० : १०७), अर्थात् जिसमें क्रियाका प्रतिषेध करके भी कार्यकी उत्पत्तिका वर्णन हो। हिन्दीके आचार्योंने भी इसका व्यापकताने उल्लेख किया है और रीति-ग्रन्थोंमें इसके उदाहरण पद-पदपर मिलते हैं। परन्तु उन्होंने विश्वनाथ और जयदेवके लक्षणका प्रायः अनुसरण किया है। 'साहित्य-दर्पण'में इसकी परिभाषा है—"विभावनाविना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते" (१० : ६६), अर्थात् जहाँ बिना कारण ही कार्यकी उत्पत्ति हो। विभावनाका अर्थ है कल्पना अर्थात् विदग्धतापूर्वक प्रसिद्ध कारणके अभावमें कार्यकी उत्पत्तिकी कल्पना। मतिराम आदिने इस अलंकारकी परिभाषा लगभग इस प्रकार दी है—"बिना हेतु जहँ बरनिये, प्रगट होत है काज" (ल० ल०, १९६)। संस्कृतके आचार्योंने प्रायः उक्त निमित्त और अनुक्त निमित्त, ये दो भेद विभावनाके दिये हैं, किन्तु हिन्दीके रीति-ग्रन्थोंमें प्रायः छः भेद प्रतिपादित हुए हैं, जिसका प्रत्यक्ष आधार अप्पय दीक्षितका 'कुवलयानन्द' है। इस अलंकारके मूलमें अभेद अध्यवसाय रहता है, अर्थात् आरोपके विषयको न कहकर केवल आरोप्यमाणका उल्लेख किया जाता है।

प्रथम विभावना—कारणके अभावमें कार्यका होना—"बिनु पद चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु कर्म करै विधि नाना" (रा० च० मा०) अथवा "सून भीतिपर चित्र रंग नहिं तनु बिनु लिखा चितेरे। धोयें मिटै न मरै भीति दुख पाइय यहि तन हेरे" (वि० प०)। **द्वितीय विभावना**—अपर्याप्त अथवा असमग्र कारणसे कार्यकी उत्पत्ति—"तिय कित कमनैती पढ़ी, बिनु जिह भौंह कमान। चित बेधन चूकति नहीं, बंक बिलोचन बान"। (बि० स०, ३५६)। यहाँ भौंहरूपी धनुष बिना प्रत्यंचाका है और बाण भी टेढ़े हैं, पर निशाना अचूक लगता है। दण्डीने काव्यादर्शमें विभावनाके इस भेदको विशेषोक्ति माना है। **तृतीय विभावना**—प्रतिबन्धकके रहते हुए भी कार्यकी उत्पत्ति—"मानत लाज लगाम नहिं, नैक न गहत मरोर। होत तोहि लखि बालके, दृग तुरंग मुँहजोर" (ल० ल०, २०१)। **चतुर्थ विभावना**—अकारण, जिस कार्यका जो कारण नहीं है, उससे कार्यकी उत्पत्ति—"हँसति बालके बदनमें, यों छबि कछू अतूल। फूली चम्पक बेलितें, झरत चमेली फूल" (ल० ल०, २०३)। यहाँ चम्पक लता(अकारण)में चमेलीके फूलकी उत्पत्ति बतायी गयी है। **पंचम विभावना**—विरुद्ध कारण द्वारा कार्यकी उत्पत्ति—"रहौ गुही बेनी लख्यो, गुहिबेको त्यौनार। लागे नीर चुचान ये, नीठ सुखाये बार" (बि० स०, ४८०)। यहाँ नायकके संस्पर्शसे स्वेदरूपी सात्त्विक भावका उदय होता है, जिस कारण सूखे हुए बालसे पानी चूने लगते हैं। **षष्ठ विभावना**—कार्यसे कारणकी उत्पत्ति—"भूषन भनत तेरो दान संकलप जल, अचरज सकल महीमैं लपटत है। और नदी नदनते कोकनद होत, तेरो कर कोकनद नदी नद प्रगटत है" (शि० भू०, १९४)। यहाँ करकमल(कार्य)से दानाधिक्यके संकल्पके कारण नदी-नद (कारण) बह चलते हैं।

यह अलंकार अपने उक्त चमत्कारके कारण सभी युगोंके काव्यमें प्रचलित रहा। जायसी, सूर और तुलसी जैसे भाव-सिद्ध कवियोंने भी इसका स्थल-स्थलपर उपयोग किया है। वीर-काव्यमें वीरता आदिके वर्णनोंमें इसका वैचित्र्यपूर्ण प्रयोग मिलता है। रीतिकालके कवियोंकी प्रकृतिके तो यह अनुकूल ही है, विशेषकर नायिकाओंके प्रेम और विरहवर्णनके प्रसंगोंमें। आधुनिक छायावादी कवियोंमें इसका प्रयोग देखा जा सकता है, परन्तु वहाँ व्यंग्यार्थ भिन्न है। —ध० व्र० शा०

विभ्रम (hallucination)–दे० 'भ्रम'। भ्रम किसी वास्तविक विषयका अशुद्ध प्रत्यक्ष होता है, विभ्रममें किसी वास्तविक बाह्य पदार्थके बिना ही उसका प्रत्यक्ष होता है। विभ्रम होनेपर व्यक्ति अप्रस्तुत वस्तुओं या व्यक्तियोंको देखता, अनुपस्थित शब्दोंको सुनता, गन्धोंको सूँघता-सा है। विभ्रम किसी ज्ञानेन्द्रियविशेषसे अथवा विविध ज्ञानेन्द्रियोंसे एक साथ सम्बद्ध हो सकता है। स्वप्नों और सन्निपातमें अनेक ज्ञानेन्द्रियोंसे सम्बद्ध विभ्रमोंका अनुभव होता है। साधारणतया किसी एक ज्ञानेन्द्रिय—जैसे आँख, कान, नासिका—से सम्बद्ध विभ्रम ही अनुभवमें आते हैं। दृष्टिगत विभ्रमोंमें बड़ी विविधता होती है। व्यक्तिको अनुपस्थित मित्र या सम्बन्धी, पशु, साँप, बिच्छू, भूत-प्रेत आदि दिखाई पड़ते हैं। सन्तों और मर्मियोंको होनेवाले इष्टदेवके दर्शन तथा उनकी अन्य रहस्यानुभूतियोंको मनोवैज्ञानिक विभ्रम ही मानते हैं।

अन्य सभी मानसिक प्रक्रियाओंसे विभ्रमोंका घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। विभ्रान्त व्यक्तिके लिए विभ्रम प्रत्यक्षकी भाँति ही सत्य होता है। विभ्रमोंकी व्याख्या मनोवैज्ञानिकोंने अनेकप्रकारसे की है। 'बिने' भ्रम और विभ्रममें कोई अन्तर नहीं मानता। उसका कहना है कि विभ्रमको उत्पन्न करनेवाला कोई-न-कोई सूक्ष्म पदार्थ अवश्य होता है। अन्य अधिकारियोंका मत है कि विभ्रम ज्ञानेन्द्रियोंसे किसी कारण उत्पन्न हो जाते हैं। मनोविश्लेषकोंकी दृष्टिमें विभ्रम दमित इच्छाओंके प्रतीकात्मक रूप होते हैं। विभ्रमोंके माध्यमसे व्यक्ति अपनी अतृप्त यौन, अहन्ता सम्बन्धी तथा अन्य इच्छाओंकी पूर्ति कर लेता है (दे० 'स्वभावज अलंकार' चौथा)। —आ० रा० शा०

विमर्श संधि–दे० 'अवमर्श संधि'।

वियोग–दे० 'विप्रलम्भ शृंगार'।

विरह (शृंगार)–दे० 'विप्रलम्भ शृंगार'।

विरहनिवेदन–दे० 'दूती-कर्म'।

विरुद्धमतिक्रम–दे० 'शब्द-दोष', सोलहवाँ 'पद-दोष'।

विरेचन सिद्धांत–'कैथार्सिस' नामसे अरस्तूने यह सिद्धान्त सबसे पहले प्रचलित किया। ईसापूर्व चौथी शतीमें ट्रैजेडी या शोकान्त नाटककी व्याख्या करते हुए पाठक या दर्शकके मनपर जो प्रभाव होते हैं, उनका विवेचन करते हुए अरस्तूने इस शब्दका प्रयोग किया। अरस्तूके शब्दोंमें—"ट्रैजेडी एक क्रिया है—वह हममें करुणा और भयकी भावना जाग्रत् करके हमारी भावनाओंको एक राह, एक प्रकारका व्यंजनामार्ग (आउटलेट) प्रस्तुत कर देती है"। जर्मन काव्यशास्त्री लेसिंग (सन् १७२९-८१)ने इस शब्दका अर्थ 'शुद्धि'के अर्थमें लिया। सामान्य जनोंके मनमें भय और अनुकम्पा कभी अधिक मात्रामें होती है या कम, परन्तु ट्रैजेडीके दर्शनसे उसकी भावनाएँ सन्तुलित हो जाती हैं। कुछ और आलोचकोंके मतसे हमारी भय और करुणाकी भावनाएँ ट्रैजेडी-दर्शनसे उदात्तीकृत हो जाती हैं। मूल शब्द 'कैथार्सिस' वैद्यकके विरेचन जैसा ही शब्द है, उसका धात्वर्थ भी साफ करना या चुनना, इसी निरुक्तसे मिलता है। पुराने जमानेमें यूनानी दवाफरोशोंमें यह आम रिवाज था कि बदनमेंसे उस चीजको बाहर निकाल दिया जाय, जो जरूरतसे ज्यादा हो। आधुनिक मनोविश्लेषणके द्वारा यह सिद्ध होता है कि मनमें दबी, उमड़ी और जमी भावनाओंको राह देना, उस भावनाके त्रासद दबावसे मुक्ति पाने जैसा ही है। बेनेदेत्तो क्रोचे (१८३२ ई०)ने अपने 'एस्थेटिक्स'में यह कहा है कि कलाकी क्रिया ऐसी है कि उसमें कलाकार अपने अनुभवको विस्तार देकर, अपनेसे अलग एक स्वतन्त्र सत्ता देकर उसे आस्वाद्य बनाता जाता है। यह प्रक्रिया स्वयं ऐसी है कि तद्द्वारा मनुष्य निष्क्रियतासे युक्त होता है और करुण रससे आनन्द होनेका एक कारण यह भी है।

इस विषयमें भी यूरोपके कलाशास्त्रियोंमें मतभेद है कि ट्रैजेडीसे उत्पन्न कैथार्सिस अभिनेताके मनमें होता है या पाठक, दर्शकके। जर्मन महाकवि गेटे (सन् १७४९-१८३२)के अनुसार यह प्रभाव अभिनेताके मनमें होता है, तो लेसिंगके अनुसार यह प्रभाव पाठक-दर्शकके मनमें होता है। मिल्टनके अनुसार कैथार्सिसका अर्थ भावनाओंकी योग्य मर्यादा या सन्तुलनका निर्माण है। मिल्टनके अनुसार जैसे काँटेसे काँटा निकलता है, वैसे ही भावनासे भावनाकी शुद्धि होती है। बुचरने इस शब्दकी चर्चामें और एक सूक्ष्म भेद सुझाया है। जीवनमें प्रत्यक्ष अनुभूतियोंमें जो त्रासद और कष्टकारी है, उसे दूर करनेकी क्रिया विरेचन है। जब भय वास्तवसे कल्पनीयमें बदलता है, तो उसका रूप दूसरा हो जाता है। अनुकम्पामें भी वैयक्तिक दुःख-भाव बदलकर सार्वजनिक हो जाता है। 'परदुःख शीतल'–मराठीमें कहावत है। आई० ए० रिचर्ड्सने भावनाओंकी समवाततताको, 'कैथार्सिस' कहा है। वस्तुतः भयसे हम भागते हैं, करुणा हमें पास खींचती है। इन दोनोंके बीचमें जो तनाव या परस्पर विरोध है, उनका सन्तुलन ही वस्तुतः विरेचनजन्य आनन्द उत्पन्न करता है। —प्र० मा०

विरोध-निबंधना–दे० 'अप्रस्तुत प्रशंसा', तीसरा भेद।

विरोधाभास–विरोधमूलक अर्थालंकार; यह प्राचीनोंसे ही स्वीकृत चला आनेवाला अलंकार है। मम्मटके अनुसार—'अविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः'। (का० प्र०, १० : ११०), अर्थात् जहाँ विरोध न होनेपर भी ऐसा वर्णन हो जिसमें विरोधकी प्रतीति हो। इसी प्रकार विश्वनाथने जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्यके विरोधके १० भेद माने हैं। हिन्दीके अधिकांश आचार्योंने विश्वनाथ तथा अप्पय दीक्षितके आधारपर विरोध तथा विरोधाभासको एक मानकर लक्षण दिया है। भूषणने जयदेवके अनुसार दो भेद स्वीकार किये हैं और विरोधमें द्रव्य, क्रिया, गुण आदिमें

'काजविरोध' माना है तथा विरोधाभासमें "जहँ विरोध-सो जानिये, साँच विरोध न होय" (शि० भू०, १८२, १८४) स्वीकार किया है। इन्हीं दोनोंका मिला रूप इस स्वीकृत अलंकारमें माना गया है, यद्यपि प्रायः मतिराम, पद्माकर आदिने भूषणके विरोधाभासकी परिभाषाके समान ही परिभाषा दी है—"जहँ विरोध-सो लगत है, होत न साँच विरोध" (ल० ल०, १९४)। दासने अवश्य विरुद्धालंकार नामसे जाति, गुण, क्रिया आदिके आधारपर इसके भेदोंका उल्लेख किया है (का० नि०, १३)।

जिस वर्णनमें वस्तुतः विरोध न रहनेपर विरोधका आभास हो, उसमें विरोध या विरोधाभास अलंकार होता है। जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यमें परस्पर एकका दूसरेके साथ विरोध होनेसे इस अलंकारके दस भेद होते हैं। कुछ आचार्योंने विरोध और विरोधाभासको अलग-अलग अलंकार माना है, जो अनावश्यक है। उदा०—"श्री सिवराज भनै कवि भूसन तेरे स्वरूपको कोई न पावै। सूर सुबंसमैं सूर सिरोमनि ह्वै करि हू कुलचन्द कहावै" (शि० भू०, १८५)। यहाँ सूर-सिरोमनि और कुलचन्दमें, अर्थात् द्रव्य और द्रव्यमें विरोध है या—"लागत कुटिल कटाच्छ सर, क्यो न होंहि बेहाल। कढ़त जु हियो दुसार करि, तऊ रहत नटसाल" (बि० स०, ३७५)। यहाँ दुसार और नटसाल इन दो गुणोंमें परस्पर विरोध है। दुसार वह शर है, जो आरपार निकल जाता है, किन्तु नटसाल वह है, जिसका कुछ अंश टूटकर शरीरमें रह जाता है। कटाक्षरूपी शरका 'दुसार' और 'नटसाल' दोनों होना विरोधाभास है। गुणसे गुणके विरोधका एक दूसरा उदाहरण मतिरामके पंचम विभावनाके उदाहरणमें है—"लोचन लोल विसाल विलोकनि को न बिलोकि भयो बस माई। वा मुखकी मधुराई कहा कहौं मीठी लगै अँखियान लुनाई" (ल० ल०, २०६)। महादेवीकी ये पंक्तियाँ विरोधाभासका सुन्दर उदाहरण है—"आग हूँ जिससे ढुलकते बिन्दु हिमजलके। शून्य हूँ जिसमें बिछे है पाँवड़े पलके"। यहाँ द्रव्य और क्रियामें विरोध है। —ध० ब्र० शा०

विलास–दे० 'सात्त्विक गुण', नायक; तथा 'स्वभावज अलंकार', दूसरा।

विलासिका–इसमें एक अंक, दस लास्यांग तथा विदूषक, विट, पीठमर्द आदिके व्यापार रहते है। इसमें गर्भ और विमर्श सन्धियोंका अभाव रहता है। नायक निर्गुणी होता है तथा वस्त्राभूषणसे सज्जित रहता है। वृत्तान्तकी स्वल्पता आवश्यक है। इसका उदाहरण प्राप्य नहीं है। शेष बातोंमें नाटकसे समानता है। —वि० रा०

विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि–यह ध्वनिका दूसरा प्रधान भेद है। इसमें वाक्यार्थ बाधित न होकर विवक्षित (वांछनीय) रहता है, किन्तु इसमें वह अन्यपरक—दूसरेके पीछे अथवा दूसरेका सहायक होता है—व्यंग्यार्थकी पुष्टि कराता है। इसमें पहले वाच्यार्थ ज्ञात होता है, तदनन्तर व्यंग्यार्थ। दीपककी भाँति वाच्यार्थ स्वतः प्रकाशित होता है और पुनः दूसरेको भी प्रकाशान्वित करता है। व्यंग्यार्थके वाच्यार्थपर आश्रित होनेके कारण इसे अभिधामूलक ध्वनि भी कहते हैं। इसके दो भेद है—असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य तथा संलक्ष्यक्रमव्यंग्य। इनमें पहलेके छः उपभेद तथा दूसरेके तीन प्रधान उपभेद होते है—शब्दशक्त्युद्भव, अर्थशक्त्युद्भव तथा शब्दार्थोभयशक्त्युद्भव ध्वनि। ये तीन पुनः ४१ भेदोंमें विभक्त किये गये हैं। इस प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनिके सब मिलाकर ४७ भेद होते है। —उ० शं० शु०

विवर्त्तवाद–जब किसी वस्तु 'क'से कोई वस्तु 'ह' उत्पन्न या प्रभूत होती है तो 'क'को हम कारण और 'ह'को कार्य कहते हैं। दोनोंके सम्बन्धको कार्य-कारण-भाव या कारणता कहा जाता है। उत्पत्तिसे पूर्व कार्यका अस्तित्व कारणमें है कि नहीं ? इसका उत्तर विभिन्न दार्शनिकोंने विभिन्न रूपसे दिया है। बौद्ध, नैयायिक तथा वैशेषिक मानते हैं कि कारणमें उत्पत्तिसे पूर्व कार्यका अस्तित्व नहीं रहता। अतः उनके वादको असत्कार्यवाद कहा जाता है। सांख्य-योग-दार्शनिक तथा कुछ वेदान्ती और मीमांसक मानते हैं कि उत्पत्तिके पूर्व कारणमें कार्यका अस्तित्व रहता है। इस कारण उनका वाद 'सत्कार्यवाद' कहा जाता है। जैनियोंका मत सदसत्कार्यवाद है, क्योंकि वे कारणमें उत्पत्तिके पूर्व कार्यका अस्तित्व और अनस्तित्व या नास्तित्व, दोनों मानते है। अद्वैतवादियोंका मत सदसद्विलक्षणवाद कहा जाता है, क्योंकि उनके मतसे यह नहीं कहा जा सकता कि उत्पत्तिके पूर्व कार्य कारणमें रहता है या नहीं रहता है, या रहता है और नहीं भी रहता है। वस्तुतः कार्यका कारणमें रहना, न रहना, रहना और न रहना युक्तियुक्त नहीं दिखलाया जा सकता। अतः कार्यका कारणसे सम्बन्ध विलक्षण है। वह अनिर्वचनीय है, क्योंकि है, नहीं और दोनों(है तथा नहीं एक साथ)के द्वारा उसका वर्णन सम्भव नहीं है। इस कारण सदसद्विलक्षणवादका ही पर्याय अनिर्वचनीयतावाद है और इसीका दूसरा पर्याय विवर्त्तवाद है। एक और प्रकारसे विवर्त्तवादकी व्याख्या की जा सकती है। कारण और कार्य, दोनों पृथक्-पृथक् वास्तवमें सत् है कि नहीं ? इस प्रश्नके भी विविध उत्तर है। वस्तुवादी बौद्धोंका मत है कि कारण असत् है और कार्य सत्, पर कार्य केवल प्रतीयमान है। उत्पत्ति केवल प्रातीतिक है। इस मतको प्रतीत्यसमुत्पाद कहा जाता है। शून्यवादी बौद्धोंका कहना है कि कारण और कार्य, दोनों असत् है। यह मत असत्कारणवादके नामसे विख्यात है। कारण और कार्य, दोनों केवल प्रतीयमान है और उत्पत्ति भी प्रातीतिकमात्र है। नैयायिक और वैशेषिक कारण तथा कार्य, दोनोंको सत् मानते है। कार्यकी उत्पत्ति भी उनके मतसे सत् है। उत्पत्तिके पूर्व कार्य नहीं था। उत्पत्तिके पश्चात् वह सत् होता है। कार्यकी सत्ता उत्पत्तिके बाद आरम्भ होनेके कारण इस वादको आरम्भवाद कहा जाता है। इस मतमें कार्य-कारणका अवस्थान्तर नहीं है, वरन् कार्य कारणसे बिलकुल भिन्न नयी वस्तु है। इसके विपरीत सांख्य-योग-दार्शनिकोंका कहना है कि कार्य कारणका ही रूपान्तर या परिणाम है, वह कारणसे बिलकुल भिन्न नयी वस्तु नहीं है। चूँकि सभी वस्तुओंका मूल कारण प्रकृति है और वस्तुएँ इस प्रकृतिका परिणाम हैं, इसलिए इस मतको प्रकृतिपरिणामवाद कहा जाता है।

वैष्णव वेदान्ती जागतिक वस्तुओंका मूल कारण ब्रह्मको मानते हैं, इसलिए उनका मत ब्रह्मपरिणामवाद कहा जाता है। अद्वैतियोंके मतानुसार कार्य न तो कारणसे नये रूपमें अस्तित्वमें आता है, जैसा कि आरम्भवादमें है और न तो वह कारणका परिणाम या विकार ही है। वास्तवमें कार्य कारणका 'विवर्त्त' है। यह केवल विवर्त्तमान, दृश्यमान या प्रतीयमान है। वह सत् न होकर असत् है। इस प्रकार विवर्त्तवाद कारणको सत् और कार्यको असत् मानता है। वह सत्कारणवाद है। जो वास्तविक सत् सभी दृश्यमान वस्तुओंका कारण है, वह एक और अद्वितीय ब्रह्म ही है, इस कारण इस मतको ब्रह्मविवर्त्तवाद भी कहते हैं। इसीको मायावाद भी कहा जाता है। कभी-कभी इसीको लोग भ्रमवाद, भ्रान्तिवाद, आभासवाद आदि भी कह देते हैं। परन्तु ये नाम उचित नहीं हैं क्योंकि विवर्त्तमान वस्तु या मायामय वस्तुकी सत्ता भ्रमित या आभासकी सत्ता नहीं है। पहलेकी सत्ता व्यावहारिक है और दूसरेकी प्रातिभासिक।

ऊपरके विवेचनसे स्पष्ट है कि कारण और कार्यके बीच होनेवाली प्रक्रियाको तीन रूपोंमें दार्शनिकोंने सोचा है। पहले, बौद्ध और अद्वैतवादी दार्शनिक इस प्रक्रियाको प्रतीयमानता मानते हैं, अर्थात् उनके मतमें उत्पत्ति वास्तविक नहीं है, जैसे शुक्ति देखनेपर रजत प्रतीत होती है या रस्सी देखनेपर साँप प्रतीत होती है, वैसे ही कारण (बीज) देखनेपर कार्य (वृक्ष) प्रतीत होता है। वास्तवमें उत्पत्ति है नहीं। दूसरे, न्याय-वैशेषिकको माननेवाले इस प्रक्रियाको 'आरम्भरण' या 'नूतनीकरण' कहते हैं। एक उदाहरण लीजिये, बीजसे अंकुर होता है, अंकुरसे पौधा, पौधेसे वृक्ष और वृक्षसे फल। बीजसे भिन्न बिलकुल नयी वस्तु अंकुर है, अंकुरसे भिन्न पौधा, पौधेसे भिन्न वृक्ष और वृक्षसे भिन्न फल है। हर अवस्थामें कार्य कारणसे बिलकुल नया है। कार्य कारणका ही रूपान्तर नहीं है। तीसरे सांख्ययोगी और कुछ वेदान्ती इस प्रक्रियाको परिणमन या रूपान्तरण कहते हैं। दूसरे और तीसरेमें उत्पत्ति वास्तविक है। उदाहरणके लिए तिल और तेलको लीजिये, तेल तिलका ही रूपान्तर है। वह पहले अव्याकृत अवस्थामें तिल था, व्याकृत अवस्थामें वही तेल हो जाता है। इस तरह कारण परिणामी है। कारण और कार्यके बीच होनेवाली घटना 'आरम्भरण' और 'रूपान्तरण' न होकर प्रतीत्यसमुत्पाद (प्रातीतिक उत्पत्ति) है। इस बातपर विवर्त्तवाद और बौद्ध प्रतीत्यसमुत्पाद एकमत हैं। भेद यह है कि विवर्त्तवादमें कारण सत् (ब्रह्म) है और प्रतीत्यसमुत्पादमें असत्। कार्यकी सत्ता कारणकी सत्तासे बिलकुल भिन्न है। इस बातपर आरम्भवाद और विवर्त्तवादमें मतैक्य है। भेद यह है कि आरम्भवादमें कार्य और कारण परस्पर तत्त्वमें एक और गुणमें भिन्न हैं, जब कि विवर्तवादमें कार्य (जात) कारण(ब्रह्म)से तत्त्वतः भिन्न है। कार्य (जात)कारण-(ब्रह्म)में अनिर्वचनीय रूपसे विद्यमान रहता है और अनिर्वचनीय रूपसे कारणसे विकसित होता है। इस बातपर परिणामवाद तथा विवर्त्तवाद सहमत हैं, भेद यह है कि परिणामवादमें रूपान्तरण तात्त्विक है और विवर्त्तवादमें अतात्त्विक।

ऋग्वेदसे लेकर आजतक विवर्त्तवादका इतिहास है। ऋग्वेदके "रूपं रूपं प्रतिरूपं बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाम। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शतादश" —इस मन्त्रमें स्पष्ट है कि विवर्त्तवादका विचार ऋग्वेदकालीन है। 'छान्दोग्योपनिषद्'में तत्त्वज्ञानी आरुणिने माना कि एक तथा अद्वितीय सत् ही पहले था और उसीका नाम-रूप-करणके ढंगसे 'बहुवचन' (बहुत वस्तुओंका होना) या जात है। उन्होंने 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं' (सभी वस्तुएँ उस सत्के नाम और रूपसे ही हैं, न कि तत्त्वतः विकार हैं) कहकर विवर्त्तवादका प्रवचन किया। औपनिषद दर्शनके अनन्तर ही बौद्ध दर्शनमें विवर्त्तवादकी प्रचुर मीमांसा की गयी। 'लंकावतारसूत्र' और प्रज्ञापारमिताशास्त्रमें सर्वप्रथम इसपर दार्शनिक ढंगसे विचार किया गया। नागार्जुन, शान्तरक्षित, कमलशील आदि बौद्धोंने विवर्त्तवादका ही समर्थन किया। कमलशीलके मतसे विवर्त्त और परिणाम, विवर्त्तवाद और परिणामवाद, दोनों समानार्थक या एकार्थक हैं। भवभूति भी इसी प्राचीन विवर्त्तवादको जानते थे, जिसके अनुसार विवर्त परिणामका पर्याय है— "एको रसः करुण एव विवर्त्तभेदात्"से यही सिद्ध होता है। किन्तु अब विवर्त्तवादका यह अर्थ नहीं है। विवर्त्तवादका नवीनतम अर्थ यह है कि यह परिणामवादसे भिन्न है। वर्तमान दार्शनिक ढंगसे सर्वप्रथम गौड़पादने इसकी पुष्टि की और उनके परम शिष्य शंकराचार्यने उसको विकसित तथा प्रचलित किया। तबसे लेकर आजतक विवर्त्तवाद अद्वैतवादका प्रमुख विषय बन गया है और सभी अद्वैतवादी ग्रन्थोंमें इसकी व्याख्या मिलती है।

जिस मायासे ब्रह्मका विवर्त या जगत् सिद्ध होता है, वह क्या है? इस प्रश्नकी अद्वैतवादमें बड़ी समीक्षा की गयी है। माया न तत्त्व है, न अतत्त्व है और न दोनों। वह न सत् है? न असत् और न दोनों। वह तत्त्व-अतत्त्वसे विलक्षण या सदसद्विलक्षण है। वह अनिर्वचनीय है। नाम और रूप इसकी काया है। इसलिए इसे नामरूपात्मिका भी कहा जाता है। इसके दो कार्य हैं—आवरण और विक्षेप। पहले यह ब्रह्मके वास्तविक स्वरूपका आवरण करती है, फिर ब्रह्ममें ही यह जात-का विक्षेप या असाध्य करती है। उसीका नाम 'अविद्या' है। कुछ अद्वैती 'माया' और 'अविद्या'में भेद करते हैं। उनके मतसे माया ईश्वर या ब्रह्मसे सम्बन्धित है और अविद्या जीवसे, पर शंकराचार्यने दोनोंको अभिन्न माना है। मायाकी निवृत्ति सम्भव है ब्रह्मका वास्तविक स्वरूप जान लेनेपर। यह निवृत्ति भी अनिर्वचनीय है। मायाकी अनिर्वचनीयता तथा मायानिवृत्तिकी अनिर्वचनीयता, दोनों दो प्रकार की है, एक प्रकारकी नहीं। मायानिवृत्तिका ही नाम मोक्ष है।

मायाको ब्रह्मकी शक्ति नहीं कह सकते, क्योंकि वैसा माननेपर मायाको सत् मान लेना पड़ेगा। अद्वैतवादियोंको छोड़कर अन्य सभी वेदान्ती या तो मायाको मानते ही नहीं, जैसे—वल्लभाचार्य और उनके अनुयायी और या तो वे इसे वास्तविक स्वतंत्र द्रव्य मानते हैं या ब्रह्मकी वास्तविक शक्ति मानते हैं।

हिन्दी साहित्यमें अद्वैतवादकी मायाका विशेष उल्लेख

मिलता है। कबीरने इसे अपने रामकी 'दुलहिन और ठगिनी' बना दिया है। परमसत् या राम बाजीगर हैं, माया बाजी या जादू है। सांख्यकी त्रिगुणात्मिका प्रकृतिको अद्वैतवादकी मायासे अभिन्न करते हुए कबीर तथा अन्य अद्वैती सन्तोंने मायाको 'तिरगुनी' अर्थात् सत्त्व, रज और तम गुणोंसे युक्त भी कहा है। 'डाइनि', विश्वमोहिनी सुन्दरी (सर्पिणी), काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, इन पुत्रोंकी जननी आदि रूपकों द्वारा सन्तोंने मायाका सुन्दर वर्णन किया है, जिससे उसकी असत्ता या मिथ्यात्व स्पष्ट हो जाता है। निर्गुणोपासक सन्तोंमें मायाका प्रायः ऐसा ही वर्णन है। तुलसीदास जैसे सगुणोपासक भक्तोंने अद्वैतवादी माया और अन्य वेदान्तियोंकी मायाको समन्वित करते हुए यह दिखलाया है कि माया अनिर्वचनीय तत्त्व है, जो है तो मिथ्या, पर तो भी एक प्रकारका सत् ही है। मायावादसे प्रभावित रचनाएँ वर्तमान समयमें भी उपलब्ध हैं, पर उनमें मायाका परम्परागत अर्थ ही नये रूपकों और उदाहरणोंके द्वारा अभिव्यक्त होता है।

[सहायक ग्रन्थ—भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय; प्राच्यदर्शनसमीक्षा : साधु शान्तिनाथ; उत्तरी भारतकी सन्त-परम्परा : परशुराम चतुर्वेदी।] —सं० ला० पा०

विवृतोक्ति–व्याजोक्तिकी कोटिका अर्थालंकार। शब्दार्थ है खुली हुई उक्ति। अप्पय दीक्षित द्वारा आविष्कृत सत्रह अलंकारोंमेंसे एक यह भी है। इसकी परिभाषा उन्होंने निम्नलिखित प्रकारसे की है—"विवृतोक्तिः श्लिष्टगुप्तं कविनाविष्कृतं यदि" (कुवल०, ८८–१०१), अर्थात् श्लिष्ट शब्दों या अर्थशक्तिके चमत्कारसे जब कवि किसी रहस्यको अभिव्यक्त करता है तो यह अलंकार होता है। यथा, कारिकामें ही कवि द्वारा रहस्य वर्णित कराया है—"वृषापेहि परक्षेत्रादिति वक्ति ससूचनम्", अर्थात् कवि कहता है कि हे वृष, पराये क्षेत्रसे दूर जा। 'कुवलयानन्द'का अनुसरण करनेवाले हिन्दीके आचार्योंने इसी प्रकार लक्षण दिया है—"जहाँ स्लेष-सों गुप्तसो सुकवि प्रकासत अर्थ" (ल० ल०, ३६२) अथवा—"जहाँ अरथ गूढ़ोक्तिकौ, कोऊ करै प्रकास" (का० नि०, १६)। उदा०—"कवकी हौं हेरति न हेरे हरि पावति हौं, बछरा हिरान्यो सो हिराय नेक दीजिये" (ल० ल०, ३६३) अथवा—"जो गोरस चाहतु लियो तो आवहु मम धाम। यों कहि याजक सों हरिहि किय सूचन निज ठाम" (अ० मं०)। यहाँ गोरस शब्द श्लिष्ट है। पूर्वार्धमें गोपीने श्रीकृष्णके प्रति रहस्यात्मक शब्द कहे। उनकी सूचना कविने उत्तरार्धमें दी है।

यह व्याजोक्तिसे भिन्न है। व्याजोक्तिमें किसी रहस्यके किसी प्रकार प्रकट हो जानेकी शंकासे उसको छिपानेका प्रयत्न किया जाता है, पर इसमें गुणीभूत व्यंग्य होनेके कारण इसको कुछ काव्यशास्त्री पृथक् अलंकार मानते हैं। —ज० कि० ब०

विवेकजा बीभत्स–दे० 'बीभत्स रस'।

विवेचना–'विवेचन' या 'विवेचना'का अर्थ है 'भली-बुरी वस्तुका ज्ञान' अथवा 'भली भाँति परीक्षा करना'। विवेचनाका सम्बन्ध भी **आलोचना** या **समीक्षा**से है। किसी विषयके विभिन्न तत्त्वोंको समझना **आलोचना**का ही अंग है। जब हम विभिन्न तत्त्व समझनेकी चेष्टा करते हैं तो हमारी आलोचना विवेचनात्मक होती है। संसारकी अनेक प्रसिद्ध कृतियोंकी विवेचनाएँ मिलती हैं। यह आवश्यक नहीं कि विवेचना प्रशंसात्मक ही हो। विवेचना करनेसे पूर्व किसी कृतिके भीतर पैठना चाहिये। पूर्वाग्रहसे रहित होकर और सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोणसे कलात्मक कृतिके सम्बन्धमें निर्णय देना अथवा सैद्धान्तिक निष्कर्ष प्रस्तुत करना ही विवेचनाका मूल कार्य है (दे० 'आलोचना')। —ल० सा० वा०

विशिष्टाद्वैतवाद–विशिष्टाद्वैतवादके कई अर्थ प्रचलित हैं। (क) दो विशिष्टोंका अद्वैत (तादात्म्य=अभेद); स्थूल चेतनता तथा अचेतनतासे विशिष्ट जीव और सूक्ष्म चेतनता तथा अचेतनतासे विशिष्ट परमात्माकी एकता ही विशिष्टाद्वैत है। या यों कहिये कि ब्रह्मके दो रूप हैं, कारणब्रह्म और कार्यब्रह्म। कारणब्रह्म सूक्ष्म चित् और अचित्से विशिष्ट है। कार्यब्रह्म (जीवों सहित समस्त जगत्) स्थूल चित् तथा अचित्से विशिष्ट है। दोनोंका, कारणब्रह्म और कार्यब्रह्मका एकमेक विशिष्टाद्वैत है। (ख) उपर्युक्त अर्थको न मानते हुए कुछ लोग विशिष्टाद्वैतका अर्थ द्वैतसे विशिष्ट अद्वैत लेते हैं। द्वैतका अर्थ चित् और अचित् है। अद्वैतका अर्थ है अन्तर्यामी परमात्मा। द्वैत नियम्य है और अद्वैत नियामक।

आचार्य रामानुज (१०३७–११३७ ई०, जन्मस्थान दक्षिणभारतमें भूतपुरी अर्थात् वर्तमान श्रीपेरेम्बुधूरम्) इस विचारधाराके सर्वश्रेष्ठ प्रवर्तक हैं। इस दर्शनके दो उत्स हैं—संस्कृतवेद और तमिलवेद। इस कारण इसे उभयवेदान्त कहा जाता है। इसमें वेद, उपनिषद्, 'ब्रह्मसूत्र' और 'गीता'के अतिरिक्त तमिल देशके बारह आलवार भक्तोंके वाक्य भी प्रमाण हैं। इन आलवार भक्तोंका समय सातवीं शताब्दीसे नवीं शताब्दीतक माना जाता है। विशिष्टाद्वैतवादियोंने इन भक्तोंके भक्तिमार्ग और वेदोपनिषत्प्रतिपादित ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग तथा उपासनामार्गका सुन्दर समन्वय किया और प्रपत्तिमार्गकी प्रतिष्ठा करके एक नये वैष्णव मतको चलाया, जो श्री या लक्ष्मीके प्रथम प्रवर्तक होनेके कारण श्रीवैष्णवके नामसे प्रसिद्ध है। इसके आद्य आचार्य रंगनाथमुनि या नाथमुनि (८२४-९२४ ई०) हैं, जिन्होंने तमिलवेदका पुनरुद्धार किया और 'योगरहस्य' तथा 'न्यायतत्त्व' जैसे ग्रन्थोंकी रचना की है। इनके पौत्र यामुनाचार्य या आलवन्दार थे, जिनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सिद्धित्रय', 'आगम-प्रामाण्य' और 'आत्मवन्दारस्तोत्र' हैं। इन्हींके पौत्र शैलपूर्णके भागिनेय रामानुज थे। इन्होंने बादरायणके 'ब्रह्मसूत्र'पर श्रीभाष्य लिखा और 'वेदान्तसार', 'वेदार्थसंग्रह', 'गीताभाष्य' आदि ग्रन्थोंकी रचना की। इन्होंने अपने वेदान्त(वेदमूलक दर्शन)को प्राचीन परम्परापर आधारित दिखलाया। इनके मतसे वेदान्तके प्राचीन आचार्य बोधायन, टंक, द्रमिड, गुहदेव, कपर्दि, भारुचि आदि विशिष्टाद्वैतवादी ही थे। तर्क, अनुभव और श्रुतिसे इन्होंने शंकराचार्यके अद्वैतवाद और मायावादका खण्डन किया। इनके बाद वेंकटनाथ (१२६९-१३६९ ई०), वेदान्तदेशिक आदि इनके मतके विद्वान् अनुयायी हुए।

यह है विशिष्टाद्वैतका दक्षिणभारतमें इतिहास। उत्तरी भारतमें रामानन्द(१४वीं शताब्दी)ने विशिष्टाद्वैतवादका प्रचार किया। इनकी ही शिष्य-परम्परामें कबीर, दादू, तुलसीदास आदि कवि-दार्शनिक हुए। कबीर, दादू आदि निर्गुणोपासक थे और इनकी विचारधाराने इस कारण अद्वैत-वादका रूप धारण किया। तुलसीदास पक्के विशिष्टा-द्वैतवादी थे। इस युगमें कुछ विद्वानोंने उन्हें अद्वैतवादी दिखलानेका प्रयास किया है, पर वे निश्चित रूपसे विशिष्टाद्वैतवादी ही थे, जैसा कि उनकी सगुण-भक्ति, गुरु-परम्परा और चिन्तन-प्रणालीसे सिद्ध होता है। पीताम्बर-दत्त बड़थ्वालके मतमें शिवदयाल (जन्म १८१८ ई०, आगरामें) तथा उनके सभी अनुयायी (राधास्वामी सत्संग) विशिष्टाद्वैतवादी हैं। इनके अतिरिक्त वे प्राणनाथ, दोनों दरिया साहब, दीन दरवेश, बुल्लेशाह आदिको भी विशिष्टाद्वैतवादी बतलाते हैं। पर ये सिर्फ तत्त्ववादमें ही विशिष्टाद्वैतवादी हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनके अनुयायी (आर्यसमाजी) भी तत्त्ववादमें विशिष्टाद्वैतवादी हैं।

विशिष्टाद्वैतवादीके अनुसार तीन नित्य तथा स्वतन्त्र पदार्थ है—परमात्मा (ईश्वर), चित् (जीव) और अचित् (प्रकृति)। परमात्मा अन्तर्यामी-रूपसे जीवन और प्रकृतिमें विद्यमान है। वह अंगी (अंशी) है और जीव तथा प्रकृति उसके अंग (अंश) हैं—'ईश्वर अंश जीव अविनासी' (तुलसीदास)। चित् और अचित्से विशिष्ट परमात्मा ही एकमात्र सत् है। चित् और अचित् द्रव्य तथा गुण, दोनों है। परमात्मा सगुण द्रव्य है। उसमें सजातीय और विजातीय भेद नहीं है, क्योंकि वह एक और अद्वितीय है। पर चित् और अचित्के गुण भी होनेके कारण उसमें स्वगत भेद है। ईश्वरका चित्-अचित्के साथ जो सम्बन्ध है, वह विशेष्य-विशेषण-सम्बन्ध है। इसकी पारिभाषिक संज्ञा अपृथक्-सिद्धि है।

जैसे मकड़ी अपने भीतरसे ही जाला पैदा करती है, वैसे ही ईश्वर अपने अन्दरसे ही इस जगत्की सृष्टि करता है। वह जगत्का निमित्त और उपादान कारण है। सृष्टि माया नहीं, वास्तविक है।

ईश्वर या ब्रह्म सत्, ज्ञान, अनन्त, अपहतपाप्मा, सुन्दर आनन्दमय और आनन्द है। वह शरीरधारी है। वह चित् तथा अचित्का आधार, नियन्ता और शेषी है। चित् और अचित् आधेय, नियम्य और शेष है। ब्रह्म भुवनसुन्दर होनेके कारण उदात्त है।

चित् (जीव) अजड़, आनन्दरूप, नित्य, अणु, अव्यक्त, अचिन्त्य, निरवयव, निर्विकार और ज्ञानाश्रय है। हृदयमें उसका निवास है। क्योंकि उसमें शेषत्व है, इसलिए वह सदा अपने शेषी ईश्वरपर निर्भर है। जीवके मुक्त होनेपर भी ईश्वरसे उसकी भिन्नता बनी रहती है। उस समय भी वह ईश्वरकी भाँति सृष्टिका कर्ता और नियन्ता नहीं हो सकता। उसका अणुत्व भी अनश्वर है। इन गुणोंको छोड़कर अन्य समस्त गुणोंमें जीव मुक्तावस्थामें ईश्वरसे अभिन्न हो जाता है।

अचित् तत्त्व ज्ञानशून्य है। इसके तीन प्रकार है—शुद्ध सत्त्व, मिश्र सत्त्व और सत्त्वशून्य। शुद्ध सत्त्वका दूसरा नाम नित्यविभूति है। मुक्तावस्थामें जीवकी देह इसीसे बनती है। मिश्र सत्त्व रजोगुण और तमोगुणसे मिश्रित होनेके कारण जगत्का उपादान है। इसीको माया, प्रकृति या अविद्या कहा जाता है। सत्त्वशून्य तत्त्व काल है।

ब्रह्मके स्वरूपपर चिन्तन करनेसे उसको पानेकी इच्छा होती है। इसीको मुमुक्षा कहते हैं। मुमुक्षुको कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोगसे मोक्ष मिलता है।

कर्मयोग निष्काम भावसे वैदिक तथा लौकिक कर्मोंको करना है। कर्मसे विरक्ति भगवान् भी नहीं ले सकता, जीवकी बात ही क्या है? निष्काम कर्म करनेसे अहंकारका नाश होता है, विषयोंसे मन मुक्त होता है, सत्त्व शुद्ध होता है और चित्तमें स्थैर्य आता है। इसके अनन्तर कर्मयोग ज्ञानयोगका रूप धर लेता है। वैराग्य तथा अभ्याससे ज्ञाननिष्ठा होती है। सतत मननसे तत्त्वज्ञान होता है और तत्त्वका ज्ञान होनेपर कैवल्यकी प्राप्ति होती है। यह कैवल्य खो न जाय, इसलिए भक्तिकी आवश्यकता पड़ती है। भक्ति कर्म और ज्ञानकी पराकाष्ठा है। तत्त्व-वादका ब्रह्म धर्ममें ईश्वर हो जाता है। ईश्वरपर अनवरत ध्यान करना भक्ति है। इस ध्यानके फलस्वरूप भक्त सब-कुछ छोड़कर भगवान्की शरणमें रहता है। यहाँसे प्रपत्ति-मार्ग आरम्भ होता है। प्रपत्ति (ईश्वरकी शरणमें जाना) भक्तिकी पराकाष्ठा है। प्रपत्तिके विषयमें विशिष्टाद्वैत-वादियोंमें दो मत है। श्रीलोकाचार्य द्वारा संस्थापित 'टेंकलई'-मतके अनुसार प्रपत्तिके लिए कर्मानुष्ठान आवश्यक नहीं है। जैसे निःसहाय मार्जारकिशोर माँकी शरणमें जाकर बिना कुछ प्रयत्न किये ही अपनी माँ द्वारा एक स्थानसे दूसरे स्थानतक पहुँचा दिया जाता है, उसी प्रकार भक्तके प्रति अहेतुकी कृपासे भगवान् उसके बिना कुछ किये ही उसे अपनी शरणमें रख लेता है। आचार्य वेदान्त-देशिक द्वारा संस्थापित 'बडकलै'-मतके अनुसार प्रपत्तिके लिए भक्तको कर्म करना आवश्यक है। जैसे कपि किशोर-के स्वयं प्रयत्न करके अपनी माँके पेटसे चिपक जानेपर वह उसके द्वारा एक स्थानसे दूसरे स्थानतक पहुँचा दिया जाता है, उसी प्रकार भक्तको प्रपत्तिके लिए स्वयमेव कुछ कर्म करके भगवान्को पकड़ना है और तब भगवान् उसे अपनी शरणमें रख लेगा। प्रपत्तिमार्गका प्रभाव हिन्दीके सन्तों और भक्तोंपर पड़ा है, उन्होंने एक स्वरसे 'आत्म-निवेदन'को ही भक्तिका प्राण बतलाया।

किन्हीं-किन्हींके मतसे जो लोग प्रपत्तिमार्गका भी अनु-सरण नहीं कर सकते, उनके लिए आचार्याभिमानयोग है। उन्हें आचार्य या गुरुकी शरणमें जाकर उसके आदेशा-नुसार चलना चाहिये। इससे भी वह मोक्षलाभ कर सकता है। इस गुरुभक्तिका भी प्रभाव हिन्दी सन्तों और कवियोंपर बहुत पड़ा। सबने गुरुके महत्त्वको माना। बिना गुरुके न तो विवेक हो सकता है और न भक्ति ही आ सकती है।

इस मतमें ईश्वर पाँच प्रकारसे ध्येय है—पहला नारा-यण, परब्रह्म या परम वासुदेव नारायण वैकुण्ठमें पार्षदों सहित निवास करते है। श्री (लक्ष्मी), भू (पृथ्वी) और लीला उसकी तीन पत्नियाँ है। मुक्त जीव उसके पास

रहते है। दूसरा ईश्वरके चार व्यूह वासुदेव (आत्मा), संकर्षण (जीव), प्रद्युम्न (मन) और अनिरुद्ध (अहंकार)। इन चार व्यूहोंको पूजा तथा सृष्टिके लिए ईश्वर धारण करता है। तीसरा विभवरूप है। विभवरूपमें ईश्वर मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि इन दस अवतारोंको धारण करता है। चौथा अन्तर्यामी है। अन्तर्यामीरूपमें ईश्वर सबके हृदयमें निवास करता है। इस रूपमें वह केवल योगियों द्वारा ही देखा जाता है। पाँचवाँ मूर्तिरूप है। भगवान् घर, गाँव, नगर आदिके मन्दिरोंमें भक्तों द्वारा स्थापित मूर्तियोंमें निवास करता है।

नारायण, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी तथा मूर्ति, प्रत्येक रूपमें ईश्वरका ध्यान हो सकता है।

वैकुण्ठमें निवास करना सालोक्य मुक्ति है। वहाँ भगवान्‌का सामीप्य-लाभ करना सामीप्य मुक्ति है। भगवान् जैसा रूप पाना सारूप्य मुक्ति है। भगवान्‌के साथ ऐश्वर्यलाभ करना सायुज्य मुक्ति है। सायुज्य मुक्ति ही इस मतमें कैवल्य मुक्ति है। इसमें ईश्वर तथा जीवके व्यक्तित्व भिन्न बने रहते हैं। नानात्व भी रहता है, पर उपर्युक्त द्वैत भाव और नानात्वकी दृष्टि नहीं रहती।

विशिष्टाद्वैतवादके कई रूप विद्वानोंमें प्रचलित है। (क) रामानुजके विशिष्टाद्वैतके सदृश ही शक्ति-विशिष्टाद्वैतवाद है। इसे वीरशैव मत भी कहा जाता है। परब्रह्मको इसमें शिव कहा गया है और चित् तथा अचित्‌को उसकी शक्ति। इस मतका आज भी कर्णाटकमें प्रचार है। (ख) श्रीकण्ठाचार्य (१३वीं शताब्दी)ने शैव विशिष्टाद्वैतवादकी स्थापना की। इसमें भी ईश्वर शिवरूप माना जाता है। (ग) राम-विशिष्टाद्वैतवाद—रामानुजने नारायणको परब्रह्म कहा। तुलसीदासने रामको ही परब्रह्म माना। उनके मतको हम राम-विशिष्टाद्वैतवाद कह सकते है। यद्यपि यह पूर्ण रूपसे विशिष्टाद्वैतवाद ही है, तथापि इसमें और रामानुजके मतमें साम्प्रदायिक भेद है, जो तत्त्ववादकी दृष्टिसे नगण्य हैं। (घ) यूरोपमें तत्त्ववादकी दृष्टिसे ग्रीक दार्शनिक प्लाटिनसका मत विशिष्टाद्वैत ही था। वर्तमान नव-हीगेलवादियोंमेंसे भी कुछ विशिष्टाद्वैतवादी हैं।

[सहायक ग्रन्थ—'कल्याण'का वेदान्तांक; भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय; हिन्दी काव्यमें निर्गुण सम्प्रदाय : पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल।] —सं० ला० पा०

विशुद्धाख्य–दे० 'हठयोग'।

विशेष–विरोधमूलक अर्थालंकार। जहाँ किसी विशेष विलक्षणताका वर्णन हो, वहाँ विशेष अलंकार होता है। आचार्योंने इसके तीन प्रकार माने है। रुद्रट सम्भवतः इसके प्रथम विवेचक हैं। इनके और रुय्यकके आधारपर मम्मट तथा विश्वनाथके लक्षण हैं—(१) 'बिना लोकप्रसिद्ध आधारके किसी आधेय वस्तुकी स्थिति प्रतिपादित की जाय; (२) एक वस्तुकी अनेक वस्तुओमें, एक ही समय, एक स्थितिका वर्णन किया जाय अथवा (३) कर्ताका, एक कार्य करते हुए, अन्य किसी अशक्य कार्यमें, पूर्वकार्यकी भाँति, क्षमताका वर्णन किया जाय" (का० प्र०, १० : १३६)। जयदेवने प्रथम भेदका लक्षण ही विशेषके लक्षणके रूपमें देकर एक भेद माना है, पर हिन्दीके आचार्योंने मम्मट, विश्वनाथके साथ अप्पय दीक्षितका अनुसरण किया है।

प्रथम विशेष—मतिराम आदिने लक्षण दिया है—"जहँ आधेय बखानिये, बिन प्रसिद्ध आधार" (ल० ल०, २४५)। उदा०—"चलौ लाल वाकी दसा, लखौ कही नहि जाय। हियरे है सुधि रावरी, हियरो गयो हिराय" (ल० ल०, २४६)। यहाँ आधार (हृदय)के अभावमें भी आधेय-(सुधि)की स्थिति वर्णित है। **द्वितीय विशेष**—मतिराम आदिके अनुसार लक्षण है—"जहँ अनेक थलमें कछू बात बखानत एक" (ल० ल०, २४७)। उदा०—"गोपिन सँग निसि सरदकी, रमत रसिक रस रास। लहाछेह अति गतिनकी, सबनि लखे सब पास" (बि० स०, २९१)। यहाँ तो एक ही श्रीकृष्ण एक ही समयमें अनेक गोपियोंके साथ रास रचाते हैं। ध्यान देनेकी बात है कि पर्यायमें भी एक वस्तुकी अनेक स्थलोंमें स्थिति होती है, किन्तु अन्तर यह है कि उसमें वह स्थिति क्रमशः होती है, एक ही कालमें नहीं। **तृतीय विशेष**—मतिराम आदिके अनुसार लक्षण है—"करत कछू आरम्भते, जहँ असक्य कछु और" (ल० ल०, २४८), अर्थात् जहाँ किसी कार्यके करते हुए किसी दूसरे अशक्य कार्यका होना वर्णित हो। कालिदासका अज-विलापके प्रसंगमें यह पद्य इसका सुन्दर उदाहरण है—"गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रिय शिष्या ललिते कलाविधौ। करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किन्न मे हृतम्" (रघुवंश), अर्थात् कालने इन्दुमतीके हरण द्वारा केवल गृहिणी ही नहीं, किन्तु सचिव, सखी, शिष्या, सर्वस्व हरण कर लिया, अथवा—"तिय तुव तरल कटाक्ष सर सहे धीर उर धारि। सही मानियो तिन सहे, तुपक तीर तलवार" (का० नि०, ११)। —ध० ब्र० शा०

विशेषक १–लोकन्यायमूल अर्थालंकार, जिसमें सादृश्यके कारण उत्पन्न भ्रम किसी प्रकार अपने-आप लक्षित हो जाय। यह अप्पय दीक्षित द्वारा सर्वप्रथम सामान्यके विरोधी रूपमें स्वीकृत हुआ है। इस अलंकारमें कुछ वर्णन 'उन्मीलित' जैसा रहनेपर भी 'सामान्य'की भाँति वस्तुओंकी स्थिति भिन्न रहकर किसी कारण पृथक् जानी जाती है। 'सामान्य'की सादृश्य सम्बन्धी एकात्मता होनेपर भी किसी प्रकार भेद लक्षित होना, यह अलंकार है। 'भाषाभूषण'में 'कुवलयानन्द'के आधारपर सर्वप्रथम हिन्दीमें उल्लेख हुआ। प्रायः मतिराम, दास तथा पद्माकर आदि कई हिन्दीके आचार्योंने इसकी परिभाषा 'सामान्य'में 'भेद पाने'के उल्लेखसे किया है। भूषणकी परिभाषामें कुछ स्पष्टता है—"भिन्न रूप सादृस्यमें लहिये कछू बिसेख" (शि० भू०, ३०७)।

वस्तुतः उन्मीलित तथा विशेषकमें सूक्ष्म भेदमात्र है। उन्मीलितमें हेतुसे पृथक्ताका ज्ञान होता है और विशेषकमें समयकी अपेक्षासे अन्तर जान पड़ता है। मतिरामका उदाहरण—"आयी फूलनि लैनकौं, चलौ बागमें लाल। मृदु बोलनिसों जानिये, मृदु बोलनिमें बाल" (ल० ल०, ३४७)। मतिरामके उन्मीलित (दे०)के उदाहरणमें मंजीरकी ध्वनि सहज हेतु है, पर यहाँ मृदु बोल अवसरकी अपेक्षा रखते हैं। पद्माकरने प्रसिद्ध उक्तिका आश्रय लिया है—

"कागनमे मृदु बानिते, मैं पिक लियो पिछान" (पद्मा०, २४५)। इस अलंकारका प्रयोग कम हुआ है। —सं०

विशेषक २–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद; 'प्राकृत-पैंगलम्'मे इसकी परिभाषा दी है (१७०)। ५ भगणों और गुरुके योगसे यह छन्द बनता है। भानु (छं० प्र०, पृ० १७९)ने इसके नाम नील, अश्वगीत और लीला दिये हैं। लीला छन्दका प्रयोग सुन्दर तथा रघुराजने भी किया है। उदा०—"श्याम दुऊ पग लाल लसै दुति यों तलकी। मानहु मेनति जोति गिरा जमुनाजलकी" (रा० चं०, प्र० ६ : ५७)। —पु० शु०

विशेष परिवृत्त–दे० 'अर्द्ध-दोष', बीसवाँ।

विशेषणवक्रता–दे० 'पदपूर्वार्धवक्रता', दूसरा प्रकार।

विशेषण-विपर्यय–विशेषण विपर्यय अंग्रेजीके ट्रान्सफर्ड एपीथेटके पर्यायके रूपमे व्यवहृत होता है। यह अंग्रेजी काव्यशास्त्रका एक अलंकार है, जिसमे व्यक्तिके विशेषणको उससे सम्बद्ध वस्तुका विशेषण बना दिया जाता है—"इस पथका उद्देश्य नहीं है **श्रान्त भवन**में टिक रहना" ('प्रसाद'), 'चल चरणोंका **व्याकुल पनघट,** कहाँ आज वह वृन्दाधाम'? ('निराला'), "इन स्निग्ध लटोंसे छा दे तन **पुलकित अंकों**में भर विशाल" (महादेवी) आदि। छायावाद और उसके बादके हिन्दी काव्यमें विशेषण-विपर्ययका व्यवहार बहुलतासे हुआ है। —सि० कु०

विशेषोक्ति–विरोधमूलक अर्थालंकार; यह अलंकार भामह आदिक प्राचीनोंसे स्वीकृत रहा है। भामह तथा उद्भटके अनुसार समस्त तथा समग्र शक्तियोंके उपस्थित रहनेपर भी फलप्राप्ति न होनेका कथन इसमे होता है। मम्मट तथा विश्वनाथने संक्षिप्त करके उसका लक्षण—'अखण्डेषु कारणेषु फलावचः' तथा 'सति हेतौ फलाभावो' (का० प्र०, १० : १०८; सा० द०, १० : ६७) दिया है, अर्थात् समस्त कारणोंके होते हुए भी कार्यके न होनेका कथन। मम्मटने इसके तीन और विश्वनाथने अन्योंका अनुसरण करके दो भेद दिये है। हिन्दीके आचार्योंने प्रायः जयदेवके अनुकरण-में इसके भेद नहीं दिये हैं, पर उनके लक्षणोंपर मम्मट और विश्वनाथका प्रभाव है—"जहँ परिपूरन हेतुते प्रगट होत नहिं काज" (ल० ल०, २०९)। इसी प्रकारके लक्षण भूषण, दास तथा पद्माकर आदिके हैं। जहाँ अविकल कारणके होते हुए भी कार्यका न होना वर्णित हो, वहाँ विशेषोक्ति अलंकार होता है। विभावनामें कारणके अभाव-में भी कार्यकी उत्पत्ति कही जाती है और विशेषोक्तिमे कारणके रहनेपर कार्यकी अनुत्पत्ति कही जाती है। विशे-षोक्ति तीन प्रकारकी होती है।

प्रथम विशेषोक्ति—**अनुक्तनिमित्ता**—जहाँ कार्यकी अनुत्पत्तिका कारण नहीं कहा जाता। उदा०—"लिखनि बैठि जाकी सबी गहि गहि गरब गरूर। भये न केते जगत-के चतुर चितेरे कूर" (बि० स०, ३४७)। यहाँ चित्र न बनानेका कारण वर्णित नहीं है। द्वितीय विशेषोक्ति—**उक्तनिमित्ता**—जहाँ कार्यकी अनुत्पत्तिका कारण कहा जाय—"त्यों-त्यों प्यासोई रहत ज्यों-ज्यों पियत अघाइ। सगुन सलोने रूपकी जु न तृषा बुझाइ" (बि० स०, ४१७)। यहाँ आँखोंकी पिपासा शान्त न होनेका कारण वर्णित है। तृतीय विशेषोक्ति—**अचिन्त्यनिमित्ता**—जहाँ कार्यकी अनुत्पत्तिका कारण अचिन्त्य है—"जदपि चवायनि चीकनी चलति चहूँ दिसि सैन। तऊ न छाडत दुहुनके हँसी हँसीले नैन"। (बि० स०, ३३६)। यहाँ व्याघात होते हुए भी नयनोंकी परस्पर संलग्नताका कारण वर्णित नहीं है। वस्तुतः तृतीय भेद प्रथम भेदमे अन्तर्विष्ट माना जा सकता है और उनके आचार्योंने तो विशेषोक्तिका केवल एक ही प्रकार प्रतिपादित किया है। मम्मटने तीनों भेदोंका वर्णन किया है। इस अलंकारकी व्याख्या करते हुए उद्योतकारने लिखा है कि इसमे एक विशेष, अर्थात् असाधारण कारणके रहते कार्यका अभाव प्रतिपादित किया जाता है। —ध० ब० शा०

विश्रब्धनवोढा (नायिका)–विश्रब्धका शब्दार्थ है विश्वस्त, निर्भीक, शान्त, दृढ तथा विश्वासप्राप्त। सर्वप्रथम भानुदत्तने मुग्धाके स्वतन्त्र भेदके रूपमे स्वीकार किया और इनके अनुकरणपर हिन्दीमे मतिराम, दास तथा पद्माकर आदिने। बेनी प्रवीन, भानु तथा सीतल आदिने इसे ज्ञात-यौवनाके भेदके रूपमे माना है। विशेषके लिए दे० 'नायिकाभेद'। भानुदत्तने इसे 'सप्रश्रया' लिखा है, जिसका अर्थ है विनय तथा विश्वासके सहित। मतिराम, जो नवोढा 'प्रीतमसों परतीति' प्रकट करती है, उसे विश्रब्ध-नवोढा मानते है। पद्माकरने शब्द बदल दिये हैं—'पतिकी कछु परतीति' जो हृदयमे धारण करे। इस नायिका-मे भय तथा लज्जाका भाव कम हो जाता है और वह अपने पतिकी ओर किंचित् आकर्षित होती है। भानुके अनुसार इसके हृदयमें निकट रहनेपर भयप्रीति उत्पन्न होती है, पर दूर रहनेपर मिलन-लालसा बलवती होती है। मतिरामने परिस्थितिके माध्यमसे नायिकाके विश्रब्ध भाव-को अभिव्यक्त किया है—"कान्हके बोल मै कान न दीनो सो गेहकी देहरीपै धरि आयी" (रसराज, २८)। पद्माकर-ने उदाहरणमे केवल परिभाषा की व्याख्या की है—"जाहि न चाह कहूँ रतिकी सु कछू पतिको पतियान लगी है"। (जगद्वि०, १ : ४०)। **लज्जाप्राया अथवा सलज्जरति**—केशव और देवके ये भेद किंचित् अन्तरके साथ विश्रब्ध-नवोढा माने जा सकते है। पर इस भेदमें नायिका अधिक निर्भीक अंकितकी गयी है। केशवके अनुसार इस नायिका-में लाजके साथ पतिसे प्रीति बढ़ानेकी बात होती है और इस प्रकार मुग्धत्वके साथ विश्रब्ध भावकी स्थिति स्वीकृत हुई है। केशवकी इस नायिकामें लज्जा और प्रीति समान है—"मैं भरि चित्त तऊ चितयो न रही गडि नैननि लाज निगोडी" (र० प्रि०, ३ : २५), पर देवकी सलज्जरति नायिकामे लज्जा ऊपरी ही जान पड़ती है—"नैकहू क्यों न लला सकुचौ जिय जागत हैं गुरु लोग लजाहू" (श० वि० : नायिका)। रीतिकाव्यमें विश्रब्धनवोढाके वर्णनमें नारीके रति सम्बन्धी प्रारम्भिक मनोभावोंका चित्रण किया गया है, पर भावात्मक अभिव्यक्तिके स्थानपर बाह्य परि-स्थितियोंका अंकन ही अधिक हुआ है।

विश्लेषण (analysis)–मोटे तौरपर किसी कृतिके विश्लेषण-के अर्थ है उसके विभिन्न अवयवोंका अलग-अलग तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धोंका विवेचन। अर्थ-तत्त्वोंका

निरूपण तथा स्पष्टीकरण विश्लेषणके व्याख्यात्मक पहलू है। स्पष्टीकरण (एक्सप्लिकेशन)का क्षेत्र एक तो शब्दोंके साधारण और निहित अर्थोंकी स्थापना, वाक्य-विन्यास, वैदग्ध्य आदिको विचारना है तथा दूसरा गूढ़ या संदिग्ध तात्पर्योंको सम्पूर्ण कृति या लेखककी मूल धारणाओंके आधारपर निश्चित करना है। विश्लेषण द्वारा ही प्रतीकों या रूपकोंके विभिन्न अभिप्रायोंका संश्लेषण सम्भव होता है तथा वे तमाम तरीके जिनसे किसी शब्द-समूहका भाषामें सही अन्वय निर्धारित किया जाता है। आधुनिक वाक्-विश्लेषण (वर्बल एनालिसिस) या अर्थ-विज्ञान (सिमैण्टिक्स)-के अन्तर्गत भाषाके विविध तत्त्व-शब्द, अर्थ, ध्वनि, प्रतीकात्मकता आदिका जो अध्ययन हो रहा है, उसकी व्युत्पत्ति और परम्परा यद्यपि प्राचीन अलंकार-शास्त्रसे सम्बन्धित है, तथापि उसकी नवीनतम प्रवृत्ति वैज्ञानिक विश्लेषणको अपनाती है।

सौन्दर्यशास्त्रमें—मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणसे—सौन्दर्यानुभूति मनकी सौन्दर्योन्मुख अवस्था-विशेषसे उपजती है, जिसमें हम अपने ललित पूर्वग्रहोंका आरोप रुचनेवाली वस्तुपर करते हैं, फलतः इस अवस्थापर दो दृष्टिकोणोंसे विचार किया जा सकता है—(१) कला-वस्तुके उन रूपोंका विश्लेषण, जो सौन्दर्योन्मुख मनको सौन्दर्यानुभूति कराते हैं तथा (२) सामान्य मानसिक अवस्थाके सन्तुलनमें सौन्दर्योन्मुख मनका विश्लेषण।

विश्लेषणकी, जो मूलतः वैज्ञानिक पद्धति है, काफी आलोचना होती रही है। कुछ लोगोंका मत है कि विश्लेषण काव्यकी ऋजु संवेदनामें बाधक होता है और इसकी नीरस समीक्षा-विधि असाहित्यिक है। इस मतके विरोधी विश्लेषण-के समर्थनमें दलील रखते हैं कि उसके द्वारा ही साहित्यके विविध अंगोंपर सम्यक् प्रकाश डालकर हम कृतिकी अन्तरात्मातक पहुँच पाते हैं तथा व्यापक आनन्दके भागी होते हैं। विवादास्पद होते हुए भी विश्लेषण-पद्धति भाषाशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र तथा आधुनिक साहित्यालोचनामें (जिसका एक बड़ा हिस्सा मनोविज्ञानसे प्रभावित है) अपना विशिष्ट स्थान बना चुकी है। —कु० ना०

विश्लेषणात्मक आलोचना-प्रणाली—प्रस्तुत शब्द अंग्रेजीके 'एनालिटिकल'का समानार्थी है। अंग्रेजीका एनालिटिकल शब्द भी 'एनालिटिक' संज्ञाका विशेषण है, जिसका अर्थ होगा विश्लेषण सम्बन्धी, विश्लेषणात्मक। हिन्दीमें इसे विवेचनात्मक, वैज्ञानिक आदि कहा गया है।

साहित्यशास्त्रका बँटवारा कुछ विद्वानोंने शैलीके आधार-पर किया है—विश्लेषणात्मक एवं **संयोगात्मक**। शब्दकी व्याख्यासे ही स्पष्ट है कि प्रस्तुत प्रणालीका मुख्य उद्देश्य होगा रचनाका बौद्धिक परीक्षण। इस प्रणालीका आलोचक भावना या आवेशकी अपेक्षा ज्ञान एवं विवेकसे अधिक काम लेता है। अकारण अथवा निराधार वह न तो किसीकी प्रशंसा करता है और न निन्दा। इसके लिए वह इतिहास, मनोविज्ञान, दर्शन, समाजशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र एवं वैज्ञानिक नियमोंका अवलम्बन लेता है। कभी कलात्मक सौष्ठवपर विचार करते हुए सौन्दर्यवादी दृष्टिकोणको अपनाता है, तो कभी तन्त्रवादी आलोचनाका सहारा लेता है। सारांश यह कि इस पद्धतिमें अनेक प्रकारकी आलोचनाओंका समावेश हो जाता है।

प्रस्तुत आलोचना-प्रणाली कृतिकी परीक्षा दो पक्षोंसे करती है—(१) कृतिके मूल विषय, भाव, विचार अथवा चिन्तनका परीक्षण; (२) प्रकाशनकी रीति या अभिव्यक्ति-पक्षकी परीक्षा।

इस पद्धतिकी सीमाएँ स्पष्ट हैं। साहित्यका क्षेत्र विज्ञान-के क्षेत्रसे भिन्न है। विज्ञान निर्धारित क्षेत्रमें काम करता है, साहित्य सम्भावनाओंके पीछे दौड़ता है। परिणामतः आलोचना निर्धारित सीमाओंके बीच घिर जानेसे एकांगी हो जाती है। इस प्रकार एकवर्गीय अध्ययनके कारण साहित्य-का व्यापक और सुसंघटित स्वरूप विच्छिन्न हो जाता है।

रोमाण्टिक युगके बाद ज्ञानके अन्य क्षेत्रोंकी भाँति आलोचनापर भी विज्ञानका यथेष्ट प्रभाव पड़ा। फ्रेंच आलोचकोंने डार्विनके **स्व-प्रगतिवाद** (self-evolution)-को आलोचनाके क्षेत्रमें ग्रहण किया। टेनने आलोचनाके लिए इतिहासका सहारा लिया। सेण्ट बिएने व्यक्तिको प्रमाण माना। इस प्रकार वैज्ञानिक नियमोंके आधारपर साहित्यका वर्गीकरण हुआ और कार्य कारणके पारस्परिक सम्बन्धको महत्त्व दिया गया। रिचर्ड्सको ब्रैडले जैसे समर्थ प्रतिपक्षीके सामने खड़ा होना था, फलतः उन्होंने इसी पद्धतिका अनुसरण किया। टी० एस० ईलियट, स्पेन्सर, काडवेल, ल्यूकस, मैथ्यू आर्नाल्ड आदि अनेक आलोचकोंने इस शैलीको विकसित किया।

संस्कृत साहित्यके पाँचों सम्प्रदाय वैज्ञानिक विश्लेषणके आधारपर ही खड़े हैं। संस्कृतमें केवल आलोचनाके क्षेत्रमें ही वैज्ञानिक होनेकी आवश्यकता नहीं समझी गयी, वरन् सर्जनात्मक क्षेत्रमें भी समझी गयी। वामनने तो अविवेकी-को काव्यका अधिकारी ही नहीं माना।

हिन्दीमें रामचन्द्र शुक्लका नाम सर्वप्रथम आयगा। उनकी धारणा है कि कवियोंकी विशेषताओंका अन्वेषण और उनकी अन्तःप्रकृतिकी छानबीन करनेवाली उच्च कोटिकी समालोचनाका प्रारम्भ तृतीय उत्थानमें आकर हुआ। समीक्षाका अर्थ अच्छी तरह देखना और विचार करना है। वह जब होगी, तब विचारात्मक ही होगी। इस तरह वे इस पद्धतिके सर्वश्रेष्ठ आलोचक ठहरते हैं। अन्य आलोचकोंमें कृष्णशंकर शुक्ल, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, गुलाब राय, रामकुमार वर्मा, सत्येन्द्र तथा देवराज प्रमुख हैं। उच्च शिक्षासे सम्बद्ध होनेके कारण इन लोगोंने विश्लेषणको ही अपनाया है। आजकी हिन्दी आलोचना निश्चय ही वैज्ञानिक होती जा रही है। —रा० कु० स०

विषम—विरोधमूलक अर्थालंकार। मम्मटने इस अलंकारके जिन चार भेदोंकी चर्चा की है उनमेंसे दोका आधार रुद्रटका विषय-निरूपण है (का० लं०, ९ : ४५) तथा अन्य दोकी समता रुय्यकके लक्षणसे है (अ० स०, पृ० १६५)। उनके अनुसार—(१) जहाँ दो सम्बद्ध रूपसे विवक्षित पदार्थोंकी, उनकी विलक्षणताके कारण, परस्पर ही अनुपपन्नता प्रतीत हो; (२) कर्ताको क्रियाका फल मिलना तो अलग रहा, उल्टे जो मिले, वह एक अनर्थ हो; (३) कार्यके गुणसे कारणके गुणका विरोध प्रतीत हो; (४) कार्यकी क्रियासे कारणकी

क्रिया भी विपरीत लगे (का० प्र०, १० : १२६–१२७)। 'साहित्यदर्पण' तथा 'कुवलयानन्द'ने तीन भेद माने है—(१) कार्य-कारणके गुण एक-दूसरेके विरोधी हो; (२) प्रयत्न विफल हो, साथ ही कुछ अनिष्ट भी हो; (३) प्रतिकूल वस्तुओंमे सम्बन्ध (सा० द०, १० : ७०)। हिन्दीके आचार्योंने प्रायः इनका अनुसरण करके दूसरे तीन भेद माने है; भामह, दण्डी आदि प्राचीन आचार्योंने इस अलंकारकी चर्चा नही की है। पीछे चलकर रुद्रट, मम्मट आदिने इसका वर्णन किया है। भोजने इसका अन्तर्भाव विरोधमें माना है। मतिरामके अनुसार इसके तीन भेद है—(१) "जहॉ न है अनुरूप द्वै, तिनकी घटना होय"। (२) "जहाँ बरनिये हेतुते, उपजन काज बिरूप"। (३) "इष्ट अर्थ उद्यम हि ते, तहॅ अनिष्ट ह्वै जाय" (ल० ल०, २२१, २२४, २२६)। जसवन्त सिंह, दास, पद्माकर आदि अनेक आचार्योंने इसी प्रकार लक्षण दिये है। भूषणने जयदेवके समान एक भेद दिया है।

उदा०—**प्रथम विषम**–"नॉघत नॉघत घोर घने बन हारि परे यो कहे मनो कूंचे। राजकुमार कहॉ सुकुमार कहॉ विकरार पहार वे ऊंचे"? (शि० भू०, २०८)। यहॉ अन्तिम पंक्तिमे कहॉके प्रयोग द्वारा कोमल राजकुमारों और कठोर पर्वतोके बीचका वैषम्य प्रदर्शित किया है। **द्वितीय विषम**–"सहज सरूप सुधराई रीझ्यो मेरो मन, डोलत है तेरी अद्‌भुतकी तरंगमें। सेत सारी ही सौं सब सौतें रॅगी स्याम रंग, सेत सारी ही सौ स्याम रॅगे लाल रंगमे" (ल० ल०, २२५)। यहाँ सेत सारीसे स्याम तथा लाल रंगमे रॅगना वैषम्य है। **तृतीय विषम**—"अरैं परै न करै हियो, खरैं जरै पर जार। लावति घोरि गुलाबसौं मलै मिलै घन सार" (बि० र०, ५२९)। यहाँ विरहिणी कहती है कि मलय चन्दन और कपूरके शीतलोपचारसे उसकी जलन और भी बढती है। अथवा—"तो कटाच्छ उर मम दुरयो, तिमिर केसमे जाइ। तहॅ बेनी ब्याली डस्यौ कीजै कहा उपाय" (का० नि०, १३)। यहॉ मन रक्षार्थ गया था, पर उल्टे डसा गया। पण्डिराजने केवल इष्टकी अप्राप्तिमें भी यह अलंकार माना है, कुछ आचार्य इष्टके प्राप्तिपूर्वक अनिष्टकी प्राप्तिमें भी इस अलंकारकी अवस्थिति मानते है। मम्मटने कारणके गुणसे कार्यके गुणके और कारणकी क्रियासे कार्यकी क्रियाके विरोधमें विषमके जो तृतीय और चतुर्थ प्रकार माने है, वस्तुतः ये तृतीय विषमके ही प्रपंच है। —ध० ब्र० शा०

विषयपरक (काव्य)–दे० 'वस्तुनिष्ठ' (काव्य)।

विषयप्रधान (काव्य)–दे० 'वस्तुनिष्ठ' (काव्य)।

विषयिप्रधान (काव्य)–दे० 'स्वात्मनिष्ठ' (काव्य)।

विषाद १–प्रचलित तैंतीसमेंसे एक संचारी भाव। मनको दुःख होनेका दूसरा नाम विषाद है। इसके विभाव एवं अनुभाव भरतने निम्नलिखित प्रकारसे दिये है—आरब्ध कार्यमें असफलता, दैवयोग-दुर्घटनासे यह भाव उत्पन्न होता है। उत्तम वर्गके व्यक्ति सहायकोंकी खोज एवं सफलताके साधनोंकी चिन्तासे और मध्यम वर्गके व्यक्ति उत्साहभंग, अनुताप तथा विश्वास द्वारा इसकी अभिव्यक्ति करते है। पर अधम व्यक्ति पुरुषार्थहीन एवं निष्क्रिय हो जाते हैं, उनका मुख सूखने लगता है और वे पश्चात्ताप करते रह जाते है। इसके अतिरिक्त निद्रा, दीर्घश्वास एवं विचारमग्न रहनेसे इस भावकी अभिव्यक्ति करते हैं (ना० शा०, ७ : ६८ ग)। सारांश यह कि व्यक्तिका बल एवं सत्त्व मन्द पड जाता है या नष्ट हो जाता है, इस 'सत्त्वसंक्षय'का नाम ही विषाद है (द० रू०, ४ : ३१)।

नाट्यशास्त्रके गद्यके साथ जो आर्या है, उसमें 'दैवव्यापत्ति' समस्त पदकी व्याख्या ही प्रतीत होती है। उसमे बताया है कि या तो चोरी हो जानेसे अथवा राज्यमे आपत्ति' आनेसे भी यह भाव उत्पन्न होता है। विश्वनाथने 'उपायके आभास'से 'सत्त्वसंक्षय'को 'विषाद' संचारी माना है (सा० द०, ३ : ६७)। हिन्दीके आचार्योंने इसीकी छाया अपने लक्षणमे ग्रहण की है—"फुरै न कछु उद्योग जहॅ, उपजै अति ही सोच। ताहि विषाद बखानही…" (जगद्वि०, ४९७)। देवने इसीको 'दुख' कहा है।

पद्माकरका उदाहरण है—"सोच न हमारे कछु त्याग मनमोहनके, तनको न सोच जो पै यों ही जरि जाइहै। कहै पद्माकर न सोच अब एहू यह, आइहै तो आइहै न आइहै न आइहै" (वही, ४९८)। इसमे गोपियोके विषादका वर्णन है। इसी प्रकार तुलसीदासकी पंक्तियोंमें—"का सुनाइ बिधि काह सुनावा। का दिखाइ चह काह दिखावा" (रा० च० मा०, २ : ४८)।

विषादकी अभिव्यक्तिकी दृष्टिसे व्यक्तियोंके तीन वर्गोंमें विभाजनका अनुकरण, 'दशरूपक'के लेखक धनंजय (अतएव विश्वनाथ)को छोडकर, भरत मुनिका अनुसरण करनेवाले सभी काव्यशास्त्रियोंने किया है, जिनमे 'नाट्यदर्पण'के लेखक रामचन्द्र गुणचन्द्र, 'प्रतापरुद्रयशोभूषण'के रचयिता विद्यानाथ (अतएव नंजराजयशोभूषणके लेखक) एवं 'भावप्रकाश'के लेखक शारदातनय प्रमुख है। यद्यपि 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' एवं 'मन्दारमरन्दचम्पू'में सामान्यतः 'दशरूपक'की कारिकाओंको ही उद्‌धृत किया है, तथापि भरतके 'त्रिविध अनुभावोंका भी उल्लेख है। हिन्दी काव्यशास्त्रके लेखक कदाचित् दशरूपककारका अनुसरण कर विषादका सामान्य लक्षण एवं उदाहरण देते है। देवने उत्तम, मध्य तथा नीचका क्रम माना है और उनके अनुसार लघु चिन्ता, अप्रसाद तथा महाशोक भेद स्वीकार किये है (भाव० : संचारी)। परिस्थितियाँ प्रतिकूल होनेपर भिन्न प्रकारके व्यक्तियोपर उनका विभिन्न प्रभाव ही होता है, अतः भरत द्वारा प्रतिपादित त्रिविध अनुभाव उचित और लौकिकानुभवानुकूल ही है। इस त्रिविध वर्गमें 'स्थितप्रज्ञ'का स्थान इसीलिए नही है कि वह इस प्रकारके भौतिक प्रभावोंसे परे है; ये संचारी भाव केवल रसिकहृदयके ही है। वास्तवमे विषाद शोकमूल है, चाहे वह व्यक्त हो अथवा अव्यक्त। अतः यह दुःखात्मक मनोभाव है। —ज० कि० ब०

विषाद (विषादन) २–अर्थालंकार; यह गौण अलंकार प्रहर्षण अलंकारका प्रतिद्वन्द्वी है। यह अलंकार जयदेवके द्वारा विवेचित है— "इष्यमाणविरुद्धार्थसम्प्राप्तिस्तु" (चन्द्रालोक, ५ : ५०), अर्थात् जहाँ इच्छितके विरुद्ध अर्थकी प्राप्ति हो। हिन्दीके आचार्योंने प्रायः जयदेव तथा

'कुवलयानन्द'के आधारपर इसे अपनाया है। मतिराम, भूषण, दास, पद्माकर आदिने इसकी परिभाषा लगभग समान दी है—"जहँ चित चाहे काजते उपजत काज विरुद्ध" (शि० भू०, २१७), अथवा—"चित चाहते उलटो कछु है जाय" (का० नि०, १५)। उदा०—"बैर कियो मरजा सिवसो यह नौरँगके न भयो मन भायौ। फौज पठायी हुती गढ लेनको गाँठहुके गढ कोट गँवायो" (शि० भू०, २१८)। बिहारीका दोहा भी विषादनका सुन्दर उदाहण है—"रात दिवस हौसे रहित, मान न ठिकु ठहराय। जेतो औगुन ढूँढिये, गुनै हाथ परि जाय" (बि० स०, ४५३)। यहाँ प्रेमगर्विता नायिका मान तो करना चाहती है, किन्तु कर नहीं पाती है, क्योंकि नायकमें जितना ही वह अवगुण ढूँढती है, उतना ही उसके गुण उसे हाथ लगते है। —भ० ब्र० शा०

विष्कंभ, विष्कंभक—यह **अर्थोपक्षेपक**का एक भेद है। दशरूपककारने इसकी परिभाषा देते हुए लिखा है—"वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः। संक्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्यपात्रप्रयोजितः" (द० रू०, १५९), अर्थात् रूपकमे विष्कम्भ भूत और भविष्यकी घटनाओंका सूचक होता है। इसमें मध्यम पात्रों द्वारा संक्षेपमें कथाओंकी सूचना दी जाती है। यह अंकके आदिमे रहता है।

विष्कम्भ दो प्रकारका होता है—**शुद्ध** और **संकीर्ण**। एक या दो मध्यम पात्रोंवाला विष्कम्भ **शुद्ध** और मध्यम तथा अधम श्रेणीके पात्रों द्वारा प्रयुक्त विष्कम्भ **संकीर्ण** या मिश्र कहा जाता है।

यहाँ स्मरण रखना चाहिये कि विष्कम्भमें मध्यम श्रेणीके पात्रोंका होना अत्यन्त आवश्यक है। **संकीर्ण** या **मिश्र** विष्कम्भमें यदि दोनो पात्र अधम कोटिके होंगे तो **प्रवेशक अर्थोपक्षेपक** हो जायगा। **संकीर्ण** विष्कम्भमें कम-से-कम एक पात्र तो मध्य श्रेणीका होना ही चाहिये (दे० 'प्रवेशक')।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्रकी 'चन्द्रावली नाटिका'के प्रथम अंकके आदिमें विष्कम्भ है। इसमें शुकदेव और नारद संक्षेपमें कथांशकी सूचना देते है। —ब० सिं०

विस्मय (आश्चर्य)—अद्भुत रसका स्थायी भाव विस्मय या आश्चर्य है। भरतका कथन है कि विस्मय माया, इन्द्रजाल, असाधारण कर्म, उत्कृष्ट चित्रों तथा अन्य कलाकृतियों आदि विभावों द्वारा उत्पन्न होता है (ना० शा०, ७ : २५ ग)। भानुदत्तने 'रसतरगिणी'मे उन विभावों अथवा कारणोंको चमत्कार शब्दमे समाहित कर दिया है। उनके अनुसार चमत्कारके दर्शन, स्पर्शन अथवा श्रवणसे उत्पन्न मनोविकार विस्मय है। साहित्यदर्पणकारने कुछ अधिक व्यवस्थित ढंगसे यह कहा है—"विविधेषु पदार्थेषु लोकसीमातिवर्तिषु। विस्फारश्चेतसो यस्तु स विस्मय उदाहृतः" (३ : १८०), अर्थात् लोककी सीमासे अतिक्रान्त, अलौकिक सामर्थ्यसे युक्त किसी वस्तुके दर्शन आदिसे उत्पन्न चित्तके विस्तारको विस्मय कहते हैं।

विस्मयके मूलमें मनोविज्ञानियोंने जिज्ञासाकी प्रवृत्ति मानी है। अतएव इसका समावेश बौद्धिक भावनाओंमें होता है, क्योंकि इसमें अनुभूतिके साथ-साथ बुद्धिकी विचारणा भी जागरित होती है। दार्शनिक एवं विज्ञानवेत्ता इसीके माध्यमसे जीवन एवं जगत्के रहस्योंके उन्मीलनमें प्रवृत्त होते है। किन्तु साहित्यके आचार्योंने अनुभूतिको ही प्रधानता दी है, क्योंकि वही चर्वणीय है, उसीका आस्वादन हो सकता है। लोकोत्तर वस्तु अथवा व्यापारके साक्षात्कारसे चित्त चमत्कृत होता है, अर्थात् साधारणता अथवा सामान्यतासे विपरीत कोई निराली वस्तु हमारे अन्तःकरणको अभिभावित करती है और हमें अपने निरालेपनसे हैरानीमे डाल देती है। इससे चित्तका प्रसादन ही होता है, क्योंकि दुःखदायी अद्भुत विषय चित्तको उसकी लौकिकता-अलौकिकताकी ओर टिकने नहीं देगा। अतएव विस्मय सुखात्मक भाव है। हासको उत्पन्न करनेवाले वैपरीत्य अथवा निरालेपनमे फिर भी एक प्रकारकी साधारणता रहती है, जो विनोदका भाजन बनती है, लेकिन विस्मयका निरालापन सर्वथा लोकोत्तर होता है, जो चित्तको हलके विनोदमे आलोडित करनेकी अपेक्षा उसे चकित या हैरान ही अधिक करता है। जड़ता, दैन्य, चिन्ता, वितर्क, हर्ष, चपलता इत्यादि विस्मयके साथ सहचार करनेवाले व्यभिचारी है। उदा०—"तब देखी मुद्रिका मनोहर, राम नाम अंकित अति सुन्दर। चकित चितय मुदरी पहिचानी। हर्ष विषाद हृदय अकुलानी" (रा० च० मा०, ५ : १३)। यहाँ विस्मय भावमात्रकी व्यंजना है, स्थायीकी पुष्टि नहीं हो सकी है। —र० ति०

विहंगम-मार्ग—दे० 'पिपीलिका-मार्ग'।

विहसित—दे० 'हास्य रस'।

विहृत—दे० 'स्वभावज अलंकार', दसवाँ।

वीणा—योग-साधनामें इस समस्त कायाको वीणाकी उपमा दी जाती है। सिद्धोंने इसे 'हेरुक वीणा' कहा है, जिसमें सूर्य और चन्द्र (ललना-रसना-रूपी) दो तूँबे लगे है (चर्यापद)। गोरखबानीमें ज्ञान और गुरुको दो तूँबे माना गया है, जिसमें चैतन्यकी डण्डी लगी है। इसी रूपकको कबीरने ग्रहण किया है—"जोगिया तनको तन्त्र बजाऊँ। चन्द्र सूर दोउ तूँबा करिहं चित चेतनकी डाँडी। सुषमन तन्ती बाजन लागी इह बिधि तृष्णा खाँडी" (क० ग्रं०)। —भ० वी० भा०

वीथी—वीथीका अर्थ है पंक्ति। इस रूपकके नामकरणका कारण यह प्रतीत होता है कि इसमें उद्घात्यकसे मार्दवतक तेरह अंग पंक्तिबद्ध होकर आते हैं। भरत मुनिका मत है कि इसका अभिनय दो अथवा एक पात्रके द्वारा होता है। वे पात्र उत्तम, मध्यम अथवा अधम कोटिके होते है। इसमें एक अंक होता है और कोई भी रस आ सकता है। धनंजय और विश्वनाथका मत है कि शृंगारकी अधिकताके कारण इसमें कैशिकी वृत्ति होती है। इसमें मुख और निर्वहण सन्धियाँ होती है और अर्थप्रकृतियाँ सभी विद्यमान होती हैं (सा० द०, ६ : २५३-५६)। सागरनन्दीका मत है कि यह रूपक तीन पात्रोंसे अभिनीत होता है। उन्होंने उदाहरणके लिए 'बकुल-वीथी'का नामोल्लेख किया है। वीथीके सम्बन्धमें प्रायः सभी आचार्य एक बातपर बल देते हैं कि इसमें तेरह वीथ्यंगोंको अवश्य नियोजित करना चाहिये। उन्होंने तेरह वीथ्यंगोंका क्रम बताते हुए कहा है

कि उद्घात्यक और अवगलित तो प्रस्तावनाके प्रकरणमें आते हैं और शेष इसके उपरान्त। अवशिष्ट वीथ्यंगोंका क्रम इस प्रकार है—प्रपंच, त्रिगत, छल, वाक्केलि, अधिबल, गण्ड, अवस्यन्दित नालिका, प्रहेलिका, असत्य-प्रलाप, व्याहार, मृदव।

कोहल नामक आचार्य ऐसे हुए हैं, जिनका मत यह है कि इन तेरह लास्यांगोंका होना अनिवार्य नहीं। शारदातनय उनके मतका उल्लेख करते हुए कहते हैं "भवेयुर्वा न वेत्यस्यां लास्यांगान्याह कोहलः" (भा० प्र०, ८ : पृ० २५१)। नाट्यदर्पणकारने शंकुकका मत देते हुए लिखा है कि उनके मतके अनुसार वीथीका नायक अधम कोटिका नहीं हो सकता। अन्यथा प्रहसन, भाण आदि हास्य रसप्रधान रूपकोंमें विटादि अधम नायकोंकी क्या उपादेयता रहेगी ? दो पात्रोंकी उक्ति-प्रत्युक्तिमें जब वैचित्र्य आ जाता है तो वीथी रूपक बनता है और एक पात्र जब आकाशभाषितके द्वारा कथोपकथन करता है, तो वीथी रूपककी रचना होती है (ना० द०, पृ० १३३)। —द० ओ०

वीप्सा—एक शब्दालंकार ; आदर, घृणा, हर्ष, शोक, विस्मयादिबोधक भावोंको प्रभावशाली रूपमें व्यक्त करनेके लिए शब्दोंकी पुनः-पुनः आवृत्ति। सर्वप्रथम भिखारी-दासके 'काव्यनिर्णय'में यह 'वीप्सानुप्रास'के रूपमें मिलता है—"एक शब्द बहु बार जहँ, हरषादिकतें होइ" (१९)। आधुनिक विवेचकोंमें केडिया, भगवान्दीन तथा रामदहिन मिश्रने इसपर विचार किया है।

देवका यह सुन्दर उदाहरण—"रीझि-रीझि रहसि-रहसि हँसि-हँसि उठे, साँसे भरि आँसू भरि कहत दई-दई। मोहि-मोहि मोहनको मन भयो राधामय, राध मन मोहि-मोहि मोहन मयी-मयी"। भाषामे गति लानेके लिए इस अलंकारका प्रयोग प्रायः कवियोंने किया है, किन्तु रीतिकालीन कवियोंमें 'देव'को यह अलंकार विशेष रूपसे प्रिय रहा है। —वि० स्ना०

वीर १—वज्रयानी सिद्धोंने नायकके लिए 'वीर' शब्दका प्रयोग किया है, जिसकी व्याख्या 'दोहाकोष'में इस प्रकार मिलती है कि चित्त वज्र-प्रज्ञोपाय योगसे जो महाराग द्वारा विरागका दमन करता है, उसे वीर कहते है, वह मकरन्द पान करता है और महासुख-चक्रमें रमणी **महामुद्रा नैरात्मा** रूपी नायिकाका उत्साहपूर्वक उपभोग करता है। —ध० वी० भा०

वीर २—मात्रिक समछन्दका एक भेद; जिसका आल्हछन्द नाम भी प्रसिद्ध है। इस छन्दकी लयका विकास लोक-वीर-गीतियोंसे सम्बद्ध होना चाहिये, यही कारण है कि जगनिक 'आल्हखण्ड'का लोकमें इतना प्रचार हो सका। इसके प्रत्येक चरणमें १६, १५की यतिसे ३१ मात्रा और अन्तमें ग-ल (ऽ।) रहता है (भानु : छं० प्र०, पृ० ७२)। यह मात्रिक सवैयाका भेद माना जाता है, अतः इसका नाम वीर सवैया भी है। प्रायः वीर रसमें प्रयुक्त होनेके कारण सम्भवतः इसे वीर नाम दिया गया है। यह छन्द वर्णनात्मक है और सभी प्रकारके वर्णनोंमें प्रयुक्त हुआ है। पर वीर रसके ओजस्वी वर्णन इसमें अधिक उभरते हैं—"बीस कदमके तहँ अन्तरमें, गोला चलै दनाक-दनाक। गोला लागै जेहि हाथीके, मानो चोर सेंधि मा जाय" (आल्ह० : पथरीगढ़०, पृ० ३०५)।

यह उल्लेखनीय बात है कि अन्य वीरकाव्योंमें इस छन्दका प्रायः अभाव है। इससे भी यह कल्पना दृढ होती है कि इस छन्दकी लय लोकगीतोंके निकट है। सुन्दरदासने 'सुन्दरविलास'के एक अंग(विपर्यय शब्दके अंग)मे इसका प्रयोग किया है—"अन्धा तीन लोकको देखै, बहिरा सुनै बहुत विधि नाद"। इसी प्रकारकी लय कबीरके कुछ पदों-में है और ये एक प्रकारसे आध्यात्मिक वीरतासे सम्बद्ध हैं। पद-शैलीके अन्तर्गत इसका प्रयोग प्रचलित रहा है, क्योंकि तुलसी, सूर, मीराँके पदोमे व्यापक रूपसे प्रयोग मिलता है। इस छन्दकी गति चरणके प्रारम्भमें उठती जान पडती है, पर अन्ततक पहुँचते-पहुँचते एकाएक गिर जाती है। इसी कारण पदकी गेयताके साथ इसमे लम्बे वर्णन तथा भावोंकी व्यंजना सफलतापूर्वक की जा सकती है—"वेद कमल मुख परसति जननी, अंक लिये सुत रतिकर स्याम" (सू० सा०, सभा, पृ० ७७५)। आधुनिक कालमें लोकप्रियताके कारण इस छन्दको रामायणकी कथाके लिए राधेश्याम कथावाचकने अपनाया है। श्यामनारायण पाण्डेयके वीरकाव्योंमे इसकी लय अपनायी गयी है तथा अन्य प्रबन्धकारोंने भी इसका प्रयोग किया है।

वीर ३—कौल साधनामे तीन प्रकारके साधक या अधिकारी माने जाते हैं—दिव्य, वीर और पशु (कौलावली निर्णय ७।१)। वीर मध्यम कोटिका अधिकारी है। आत्मा और परमात्मा या जीव और ब्रह्मके अद्वैतका हल्का-सा आभास पाकर साधना-मार्गमे उत्साहित हो जानेवाले तथा आयास-पूर्वक मोह या मायाके पाश को काट डालनेवाले साधक-को कौलमार्गी 'वीर'की संज्ञा देते है। क्रमशः अद्वैत ज्ञानकी ओर अग्रसर होता हुआ यह 'वीर' साधक शिवके साथ अपनी एकात्मकताको शीघ्र ही पहचान जाता है। वीर-भावके साधकमे सत्त्वगुणकी अपेक्षा रजोगुण अधिक प्रबल होता है।

'सर्वोल्लास' नामक ग्रन्थमें महासिद्ध सर्वानन्दने तीन प्रकारके वीरोंका उल्लेख किया है—वीर, सभाव वीर और विभाव वीर। साधक पशु अवस्थासे सभावपशु और विभाव-पशुकी अवस्थाओंको पार करता हुआ 'वीर' अवस्थाको प्राप्त होता है (दे०—पशु)। वीरसे सभाव वीर और फिर विभाव वीर होता हुआ अन्तमे वह दिव्य साधक (दे० 'दिव्य') बन जाता है। —रा० सिं०

वीरकाव्य—'वीर' शब्द मूलतः शूर अथवा योद्धाके लिए प्रयुक्त होता है। अतः वीरकाव्यके अन्तर्गत उन समस्त काव्योंको सम्मिलित किया जा सकता है, जिनका आधार ऐतिहासिक घटनाएँ है या जिनमें आश्रयदाताओंकी कीर्ति युद्धसज्जा, गर्वोक्तियाँ, युद्ध एवं वीरतापूर्ण कार्य-कलापोंका चित्रण किया गया हो। हिन्दी वीरकाव्यका निर्माण चारणों भाटोंके अतिरिक्त अन्य जातियोंके कवियोंने भी किया है। इसकी रचना पिंगल और डिंगल—हिन्दीके दोनों साहित्यिक रूपोंमें हुई है।

वीरकाव्य-धाराका निकास एवं विकास भारतकी विचित्र

राजनीतिक परिस्थितियोमे हुआ है। हर्षकी मृत्यु (६४७ ई०)के उपरान्त उत्तरी भारतमें राजनीतिक अव्यवस्था एवं विघटनका काल आरम्भ हुआ। देश छोटे-छोटे राज्योंमे विभाजित हो गया, जो एकता अथवा पारस्परिक सम्पर्कके किसी भी सिद्धान्तसे सूत्रबद्ध नही था। कश्मीर, कन्नौज, अजमेर, दिल्ली, महोबा, मालवा, गुजरात, जोधपुर, मेवाड, बीकानेर, जयपुर, ओडछा, पन्ना आदि प्रमुख राज्य थे, जिनमें विभिन्न राज्यपरिवार शासन करते थे। उधर ७१२ ई०में मुसलमानोंके आक्रमण भारतपर प्रारम्भ हो गये थे। महमूद गजनबी और मुहम्मद गोरीके विविध अभियानोंने कतिपय देशी राज्योंका अन्त कर दिया था। १२०६ ई०मे मुसलमानी शासनकी दिल्लीमे नींव पड गयी। अलाउद्दीन आदि कई शक्तिशाली सुलतानोंने हिन्दू राज्योंसे लोहा लिया। १५२६ ई०में बाबरने मुगल साम्राज्य स्थापित किया। अकबरके शासनकाल (१५५६-१६०५ ई०)मे भयंकर युद्धोंके बाद राणाप्रताप आदिको छोड़कर शेष राज्योने मुगल साम्राज्यकी अधीनता स्वीकार कर ली। इन राज्योके हिन्दू राजा मुगल सेनामें रहकर अन्य हिन्दू राज्योंका अन्त करनेमें लग गये। औरंगजेबकी कट्टर और हिन्दू-विरोधी नीतिके कारण राजस्थान, बुन्देलखण्ड, महाराष्ट्र, पंजाब आदिने मुसलमानी सत्ताके विरुद्ध विद्रोह आरम्भ कर किया। इस प्रकार भारतके हिन्दू राज्य परस्पर लडते थे, मुसलमानोंसे लोहा लेते थे तथा उनकी सेवामें रहकर साम्राज्यके शत्रुओंके विरुद्ध वीरता प्रदर्शित करते थे। इस प्रकार इनके युद्ध पडोसी राज्योंका अन्त करने, स्वतन्त्रताको समाप्त करने, राज्य-विस्तार एव सुन्दरियोके अपहरणके लिए हुआ करते थे। इनके आश्रित कवि इन युद्धोंमें दिखलाई गयी वीरताका चित्रण करते थे।

हिन्दी साहित्यके आरम्भके समय देशमें सिद्ध, नाथ आदि विभिन्न धार्मिक पन्थ वर्तमान थे। बौद्ध धर्मका ह्रास हो चुका था। जैन धर्म सीमित घेरेके अन्दर सन्तुष्ट था। ब्राह्मणमत पूर्णतया प्रतिष्ठित हो चुका था। रामानुज, मध्व, रामानन्द, वल्लभ आदि आचार्योंने शनैः-शनैः सगुण भक्तिका समस्त देशमें प्रसार कर दिया था। नामदेव, कबीर, दादू आदिने हिन्दू और मुसलिम भावनाओंसे समन्वित विचारधाराको अपना लिया था। फलस्वरूप भक्तिकालमें वीरकाव्य-धारा कुछ मन्द पड़ गयी थी। वीरकाव्यके ग्रन्थोपर इस धर्म-भावनाका स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। अधिकांश कवियोंने अपने नायकोंको ईश्वरावतार, गो-ब्राह्मण-पालक, हिन्दू धर्म-रक्षक आदिके रूपमें चित्रित करके धर्म-दया-दानवीरके रूपमे पाठकोके समक्ष रखा है।

तत्कालीन समाजव्यवस्था सामन्तशाही पद्धतिपर आधारित थी। दरबार, वैभव एवं सामन्तकालीन संस्कृतिके केन्द्र थे। आमोद-प्रमोदमय जीवन व्यतीत किया जाता था। मदिराका प्रचार था। मांस-भक्षणका प्रचलन था। अन्तःपुरमें स्त्रियोंकी संख्या अधिक होती थी। द्यूत-क्रीडा, मृगया, संगीत एवं नृत्य मनोरंजनके प्रमुख साधन थे। अधिक नौकर रखनेकी प्रथा थी। दासता वर्तमान थी। उत्कोच स्वीकार किया जाता था। मध्यम श्रेणीके लोग सुखी थे। निम्नवर्गका जीवन दुःखी और कष्टमय था। हिन्दुओमे सती, बाल-विवाह और पर्दा-प्रथा प्रचलित थी। इस धाराके कवियोंने अपने ग्रन्थोंमे यथास्थान इन सामाजिक परिस्थितियोका चित्रण किया है।

वीरकाव्यके आरम्भिक कालमे अपभ्रंश भाषामे सिद्ध एवं नाथ साहित्य निर्मित हो रहा था तथा प्राकृतमें जैन रचनाएँ लिखी जा रही थी। लोकभाषाओंमें भी काव्य-सर्जन आरम्भ हो गया था। ये लोक-भाषा-ग्रन्थ अपभ्रंश, प्राकृत आदिकी साहित्यिक प्रवृत्तियोसे प्रभावित रहते थे। वीरके अतिरिक्त शृंगार, नीति आदि विविध विषयोंकी रचनाएँ भी हुआ करती थी। उस युगमे एक ओर संसार-त्यागी कवि थे, जो प्रमुखतः धार्मिक साहित्य-साधनाको ही अपने जीवनका एकमात्र लक्ष्य बनाये हुए थे, दूसरी ओर राज्याश्रित कवि विभिन्न विषयपरक साहित्यसर्जन कर रहे थे। भक्तिकालमें वीरकाव्य-धारा मन्थर गतिसे बहती हुई रीतिकालमे प्रबल वेगसे उसके समानान्तर प्रवाहित होती रही। आधुनिक कालके प्रारम्भमे भी नवीन विचार-समन्वित वीरकाव्य लिखनेका प्रयास किया गया था। वैसे वीरकाव्यकी परम्परा आदि तथा मध्यकालमें ही विशेष रूपसे विकसित हुई है।

वीरकाव्यके अधिकांश ग्रन्थ 'रासो' (दे०) कहलाते हैं। रासो 'रास' शब्दसे बना है, जिसका अर्थ ग्वालोंकी क्रीड़ा तथा भाषामे शृंखलाबद्ध रचना है। अतएव रासो उस ग्रन्थको कहते है, जिसमें किसी राजाकी कीर्ति, विजय, युद्धवीरता आदिका विस्तृत वर्णन मिलता है। कुछ ग्रन्थोके नाम छन्दोंपर भी रखे गये है, यथा—'पाबूजीरा दूहा'।

इन कृतियोंकी रचनाएँ महाकाव्य, खण्डकाव्य तथा मुक्तक-रूपमें मिलती हैं। आश्रयदाताओंकी अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसाने इनके कथानकोंको अधिक अस्वाभाविक बना दिया है। कुछ ग्रन्थोंमे विविध विषयोंकी लम्बी सूचियाँ वर्तमान है, जिनके मूलमें पाण्डित्य-प्रदर्शनकी प्रवृत्ति है। ऐतिहासिक कथानकमें पौराणिक एवं काल्पनिक घटनाओंके सम्मिश्रणसे रोचकता और सजीवताका समावेश हो गया है धार्मिक उपदेश, प्रकृति-वर्णन, दैवी शक्ति, शकुनापशकुन, मृगया आदिके चित्रणोंसे जीवनके विभिन्न अंगोंकी झाँकी देखनेको मिलती है। कुछ कवियोने ऐतिहासिक तथ्योंकी पूर्णरूपेण रक्षा की है।

पात्रोंमें कुछ विशिष्ट गुण ही प्रदर्शित किये गये हैं। नायक मृगया, अस्त्र-शस्त्र-पटुता, सैन्य-संचालन-दक्षता आदि गुणोंसे युक्त हैं। कतिपय पात्र सच्ची वीरता, अदम्य उत्साह, असीम अध्यवसाय एवं वीरताकी प्रतिमूर्ति हैं। छल-कपट, विश्वासघात एवं धूर्तताका प्रतिनिधित्व करनेवाले पात्र भी द्रष्टव्य है। सूदन, मान आदि कवियोंने विपक्षियोंके चित्रणमें पर्याप्त सहानुभूति दिखलायी है। नारीके दो रूप मिलते है। एक रूप शृंगारिक भावनाका प्रतीक, उद्दीपक, साधनामें बाधक और कर्तव्यविमुख करनेवाला है। दूसरा रूप अत्यन्त उज्ज्वल और महान् है। वह इस रूपमें सच्ची क्षत्राणी, सती, साध्वी, माता और पत्नीके रूपमें अंकित की गयी है।

इन ग्रन्थोंमें वीर रसके चारों प्रकार—युद्ध, दान,

दया और धर्मका सफल चित्रण हुआ है, पर प्रधानता युद्ध और दानवीर की है। चन्द्र, भूषण और सूर्यमलको वीर रस-चित्रणमें अधिक सफलता मिली है। वीरके साथ शृंगारका भी वर्णन किया गया है। कहीं-कहींपर शृंगार औचित्यकी सीमाका उल्लंघन कर गया है, पर अधिकांशतः वह मर्यादित ही रहा है। बीभत्स, रौद्र तथा भयानक रसोंका भी अच्छा परिपाक हुआ है। यत्र-तत्र अन्य रसोंके भी उदाहरण मिल जाते है।

'शिवराजभूषण' आदि कुछ ग्रन्थ आचार्यत्वकी प्रेरणासे लिखे गये है। शेष ग्रन्थोंमे कुछ विशिष्ट अलंकारोंका ही प्रयोग हुआ है। अनुप्रास, श्लेष, यमक, उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति, वयण-सगाई आदि प्रमुख अलंकार है।

छन्दोंकी विविधता एवं परिवर्तनशीलताके लिए चन्द, सूदन और सूर्यमल विशेष उल्लेखनीय है। दूहा (दोहा), कवित्त (छप्पय), चौपाई, गीतिका, सवैया, त्रोटक, तोमर आदिका अधिक प्रयोग हुआ है। छन्दोके नामों एवं लक्षणों-में परिवर्तन करने तथा नव-छन्द-निर्माणकी प्रवृत्ति भी दृष्टि-गोचर होती है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी आदिके छन्दोका प्रचुरतामे प्रयोग किया गया है। छन्दोंकी संख्या एवं मौलिकताकी दृष्टिसे हिन्दीकी अन्य कोई धारा इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितनी वीरकाव्य-परम्परा।

उद्दीपनकी दृष्टिसे षट्ऋतु वर्णन हुआ है, जिसमें प्रकृतिके उत्तापक और उत्तेजक रूप मिलते है। इस प्रसंगमें ऐश्वर्य एवं विलासमय कार्य-कलापोंकी योजना की गयी है। प्रकृतिके स्वस्थ और संयत रूपके भी यत्र-तत्र दर्शन होते है।

इनकी रचना-शैलीमें वर्णनात्मक पद्धतिकी प्रधानता है। संवादोंके प्रयोगमें नाटकीय त्वरा और सरसताका समावेश हो गया है।

पिंगल भाषाकी रचनाओंमें अपभ्रंश, राजस्थानी, उर्दू, फारसी, बुन्देलखण्डी, मराठी, बैसवाड़ी आदिके प्रचलित शब्दोंका स्वतन्त्रतासे प्रयोग हुआ है। इन भाषाओंके व्याकरणकी छाप भी वर्तमान है। शब्दो-की तड़क-भड़क एवं तोड़-मोड़ भी देखनेमें आती है। कुछ कृतियोंमे शैली और भाषाका निखरा हुआ, परिमार्जित और सजीव रूप मिलता है। कतिपय कवियोने पिंगल और डिंगलपर असाधारण अधिकारका परिचय दिया है।

नीचे इस धाराके पिंगल और डिंगलके कुछ प्रतिनिधि कवियोंके जीवन एवं ग्रन्थोंका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है :—

पिंगलके कवि—चन्दबरदायी (११६८-११९२ ई० ?)—कहा जाता है कि ये अजमेर और दिल्लीके पृथ्वीराज चौहान (मृत्यु ११९२ ई०)के आश्रित थे। इन्होंने 'पृथ्वीराजरासो'की रचना की है, जिसमे ६९ समय और एक लाख छन्द है। इसमे पृथ्वीराज द्वारा हिन्दू राजाओं तथा मुहम्मद गोरीसे लड़े गये विविध युद्धोंका वर्णन किया गया है। कुछ विद्वान् इसे ऐतिहासिक दृष्टिसे अप्रामाणिक बतलाते है। संवतों, घटनाओं आदिकी अशुद्धताके कारण वे इसे १६वी शताब्दीकी रचना मानते है। वास्तवमें यह साहित्यिक कृति है। अनैतिहासिक होनेसे इसका साहित्यिक महत्त्व कम नही हो जाता। इसकी भाषा राजस्थानी मिश्रित ब्रजभाषा है, जिसपर प्राकृत, अपभ्रंश, अरबी तथा फारसीका भी पर्याप्त रंग चढ़ा हुआ है। साटक, दोहा, पद्धरिया, गाहा, तोमर, भुजंगी आदि छन्द प्रयुक्त हुए है, पर कवित्त, छप्पयकी संख्या सबसे अधिक है। वीर रसकी प्रधानता है। शेष रस गौण हैं। राजपूतोंके शौर्य, उनकी डावाँडोल स्थिति, पतनादि, मुसलमानोंकी धर्मान्धता एवं बर्बरताका जैसा वर्णन रासोमें मिलता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

जगनिक (११५३ ई०)—ये महोबेके राजा चन्देलेके आश्रित बतलाये जाते है। इनका बनाया हुआ वीर रस-प्रधान 'आल्ह-खण्ड' नामक गीतिकाव्य विख्यात है। इसकी कोई प्रामाणिक प्रति प्राप्त नही है। यह रचना बड़ी लोकप्रिय है। इसका साहित्यिक मूल्य इतना ही है, जितना कि जनसाधारणकी रुचिके अनुसार वर्णनका है। भावोंके विकासके साथ इसकी भाषामें भी अन्तर हो गया है।

केशव (१५५५-१६१७)—हिन्दीके प्रथम आचार्य केशव ओड़छा दरबारमें रहते थे। इन्होने वीर रसके तीन ग्रन्थ लिखे है—(१) 'रत्नबावनी'मे ५२ छन्दोमे रत्नसिंहकी वीरताका अच्छा परिपाक हुआ है। (२) 'वीरसिंहदेव-चरित' (१६०८ ई०)में वीरसिंहदेवके अकबरके विरुद्ध युद्धों और स्वातन्त्र्य-संग्रामका चित्रण है। इसमें ऐतिहासिक तथ्यों एवं वर्णनात्मक शैलीका प्राधान्य है। (३) 'जहाँगीर-जसचन्द्रिका' (१६१२ ई०)में जहाँगीरकी प्रशंसा की गयी है।

भूषण—ये तिकवाँपुर, कानपुरनिवासी रत्नाकर त्रिपाठी-के पुत्र थे। चित्रकूटके रुद्र सोलंकीने इन्हे 'भूषण'की उपाधिसे विभूषित किया था। शिवाजी (१६२७-८० ई०) तथा छत्र-साल बुन्देला (१६४९-१७३१ ई०) इनके आश्रयदाता थे। इन्होंने निम्नलिखित ग्रन्थ लिखे है—(१) 'शिवराज-भूषण' (र० २९ अप्रैल, १६७३ ई०)मे ३८४ छन्द है। यह अलं-कार-ग्रन्थ है। दोहोंमे अलंकारोंकी परिभाषा दी गयी है। कवित्त और सवैयोमें उदाहरण है, जिनमे शिवाजीके वीरतापूर्ण कार्य-कलापोंका चित्रण है। (२) 'शिवाबावनी'में ५२ छन्दोंमे शिवाजीका यशोगान है। (३) 'छत्रसालदशक'-के दस छन्दोंमे छत्रसाल बुन्देलाका गुणगान है। (४) फुट-कर छन्द विविध व्यक्तिविषयक है।

भूषणकी कविता वीर रस-प्रधान है। कवित्त और सवैये इनके अत्यन्त प्रिय छन्द है। इन्होंने वर्णनात्मक शैलीका बहुत कम आश्रय लिया है। इनकी शैली विवेचनात्मक एवं संश्लिष्ट है। ब्रजभाषामें रचना की है। विदेशी शब्दों-का प्रयोग मुसलमानोंके प्रसंगमे अधिक पाया जाता है। दरबारके प्रसंगमें भाषाके खड़े रूपके भी दर्शन होते है।

मान—ये जैन यति और मेवाड़के महाराणा राज सिंह-(१६२९-८० ई०)के आश्रित थे। इन्होंने 'राजविलास' (र० १६७७-८० ई०) लिखा है। इसके १८ विलासोंमें मेवाड़-राजवंशके आरम्भसे राजसिंहकी मृत्युतकका इतिहास वर्णित है। मानने कल्पना और अतिशयोक्तिसे अधिक काम लिया है। इसकी रचनामें वीर एवं शृंगारकी प्रधानता है। 'राज-विलास'में राजस्थानीके छन्दोंका अधिक प्रयोग हुआ है। वर्णनात्मक शैलीकी अधिकता है। इसकी भाषा ब्रज है, जिसपर राजस्थानीका पूर्ण प्रभाव है।

लालकवि-गोरेलाल—ये छत्रसाल बुन्देलाके दरबारी कवि थे। इन्होंने 'छत्रप्रकाश' (र० १७१० ई०)मे छत्रसालके पूर्वजोसे प्रारम्भ करके उनके १७१० ई०तकके वृत्तका वर्णन किया है। दोहा, चौपाई छन्दोंमें वीर रसका सुन्दर परिपाक हुआ है। ऐतिहासिक दृष्टिसे यह एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसकी ब्रजभाषापर बुन्देलीका प्रभाव है।

सूदन—ये मथुरावासी चौबे वसन्तके पुत्र थे। भरतपुरके सुजान सिंह, 'सूरजमल' इनके आश्रयदाता थे। सूदनके 'सुजानचरित'मे सात जंग हैं, जिनमें सूरजमलके १७४५ ई०से १७५३तकके युद्धोंका वर्णन है। आरम्भमे पूर्ववर्ती एवं समकालीन १७५ कवियोंका उल्लेख किया गया है। विभिन्न विषयोंका विस्तृत वर्णन देखकर कविकी असाधारण योग्यताका आभास मिल जाता है। यथास्थान सभी रसोंका पयोग हुआ है, पर वीर रस और तद्विषयक उपकरणोंकी ही प्रधानता है। संस्कृत, अपभ्रंश, प्राकृत, राजस्थानी, हिन्दी आदिके १०३ प्रकारके छन्दोंका सफल प्रयोग किया गया है। इनकी भाषा ब्रज है, जिसपर पंजाबी, डिंगल, मारवाड़ी आदिका यथेष्ट प्रभाव है। कवित्त और सवैयोंमे भाषाका अधिक निखरा हुआ रूप दिखलाई देता है।

पद्माकर (१७५३-१८३३ ई०)—इनका जन्म सागरमें हुआ था। सागर, जैतपुर, दतिया, सतारा, जयपुर, उदयपुर आदि राजदरबारोमें इन्हें अच्छा सम्मान मिला था। (१) 'जगद्विनोद'—नायिका-भेदका एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसके आरम्भमें महाराजा जगत् सिंहका यशोगान किया गया है। इन पद्योंकी गणना वीरकाव्य-धारामें की जा सकती है। (२) 'हिम्मत बहादुर विरुदावली' (र० १७९२ ई०)में हिम्मत बहादुर और अर्जुन सिंह नोनेके युद्धका आँखोंदेखा वर्णन है। (३) 'प्रतापविरुदावली'में महाराजा प्रताप सिंह 'ब्रजनिधि'का यशोगान है। पद्माकरकी शैली वर्णनात्मक अधिक है। इन्होने बाह्याडम्बरोंका अधिक आश्रय लिया है। भाषाकी दृष्टिसे ये अधिक सफल हुए हैं।

जोधराज—ये नीमराणा (अलवर)के राजा चन्द्रभानके आश्रित थे। इनके पिताका नाम बालकृष्ण था। जोधराजने 'हम्मीररासो' (र० का० १८२८ ई०)मे रणथम्भोरके हम्मीर और अलाउद्दीनके युद्धोंका वर्णन किया है। इसपर आदिसे अन्ततक 'पृथ्वीराजरासो'का प्रभाव वर्तमान है। कविने यथावसर मौलिकताका भी परिचय दिया है। भावानुरूप शैली-परिवर्तनसे सजीवताका सम्मिश्रण हो गया है। वीर और शृंगार रसोंका सुन्दर चित्रण हुआ है। इसकी भाषा ब्रज है, जिसपर राजस्थानी, फारसी आदिकी स्पष्ट छाप है। तुलसीके रामचरितमानसकी भाषाका भी कविने पूर्ण अनुकरण किया है।

डिंगलके कवि—पृथ्वीराज (१५४९-१६०० ई०)—ये बीकानेरके राव कल्याणमलके बेटे थे। इन्होंने भक्ति और शृंगारपरक 'वेलि क्रिसन रुक्मिणी री'की रचना की है। इनके वीर रसात्मक गीत प्रसिद्ध हैं। ये उच्च कोटिके कवि और योद्धा थे। पिंगल और डिंगल, दोनोंमें रचना करते थे। डिंगल भाषाके कवियोंमें इनका बहुत ऊँचा स्थान है।

दुरसाजी (१५३५-१६५८ ई०)—बगड़ी, जोधपुरके ठाकुर प्रताप सिंहने इन्हें पाला था। ये अच्छे योद्धा और कवि थे। दुरसाजी राजस्थानके अत्यन्त यशस्वी और लोकप्रिय कवि है। इनकी प्रमुख रचना 'विरुदछहत्तरी' है। इसके अतिरिक्त इनके लिखे फुटकर गीत और कवित्त राजस्थानमें बहुत प्रसिद्ध है। इनकी भाषा विशुद्ध डिंगलका उत्कृष्ट उदाहरण है। कविता बहुत सरल एवं दर्पपूर्ण है तथा हिन्दू धर्मकी महिमासे उद्भासित है। इनकी रचनामें वही बल, वैसी ही गति और उतनी ही प्रचण्डता पायी जाती है, जितनी राठौर पृथ्वीराजकी कवितामें।

वीरभाण (१६८८-१७३५ ई०)—ये जोधपुरके महाराजा अभय सिंहके आश्रित थे। इन्होंने 'राजरूपक'में अभय सिंह और गुजरातके शेर विलन्द खाँके अहमदाबादके युद्ध (१७३० ई०)का वर्णन किया है। यह ४६ प्रकाशोंमें विभक्त है। इतिहासके लिए यह एक अत्यन्त उपयोगी रचना है। इसकी भाषा उत्कृष्ट डिंगल है।

बाँकीदास (१७७१-१८३३ ई०)—ये जोधपुरके महाराजा मान सिंहके आश्रित थे। बाँकीदास संस्कृत, फारसी, डिंगल तथा ब्रजके अच्छे जानकार थे। इन्होंने विविध विषयोके २७ ग्रन्थ, बहुतसे फुटकर गीत तथा इतिहास-विषयक लगभग २८०० वार्ताएँ, कहानियाँ लिखी है। वीर रस सम्बन्धी इनके ग्रन्थ ये है—(१) 'भुरजाल-भूषण'—इसमे चित्तौड़गढ़की प्रशंसा, जयमल और पत्ताकी कीर्तिका वर्णन है। (२) 'जेहल-जस-जड़ाव'मे कच्छभुजके प्रसिद्ध दानवीर राजा जेहल (जैमल=जेहा)का यशोगान है। (३) 'सिन्धराव छत्तीसी'में गुजरातके राजा सिद्धराजकी वीरता, दान आदिका वर्णन है। (४) 'सूर छत्तीसी'मे वीरोंकी प्रशंसा, वीरता, धैर्य आदिका चित्रण है। (५) 'वीर विनोद'में वीरोके कार्य-कलापों, युद्ध आदिका उल्लेख है। बाँकीदासकी गणना डिंगल भाषाके प्रथम श्रेणीके कवियोंमें की जाती है। इनकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित एवं सरस है, वर्णन-शैली संयत और स्वाभाविक है।

सूरजमल (सूर्यमल्ल १८१५-१८६३ ई०)—ये बूँदीके राजकवि थे। सूरजमल पिंगल और डिंगल, दोनोंमें रचना करते थे। इनके वीर रसात्मक ग्रन्थ ये है—(१) 'वंशभास्कर'में बूँदी राज्यका पद्यात्मक इतिहास पिंगल भाषामे लिखा गया है। (२) 'बलवन्त-विलास'में रतलामके महाराजा बलवन्त सिंहका चरित्र ब्रजभाषामें चित्रित है। (३) 'वीर-सतसई' अपूर्ण है। यह डिंगल भाषामें वीर रसका प्रधान ग्रन्थ है।

इनकी रचनाओंमें काव्यपक्ष और कलापक्षका सफल निर्वाह हुआ है। इन्होंने वीर-वीरांगनाओंकी मनोदशाओंका भावप्रधान वर्णन भी किया है और उनके युद्ध, पराक्रम, आतंक आदिका कलात्मक चित्रण भी, विशेषकर रणभूमिकी विकरालता, युद्धकी भयंकरता आदिका मार्मिक, सजीव और स्वाभाविक वर्णन किया है।

उक्त कवियोंके अतिरिक्त निम्नलिखित कवियोंकी रचनाएँ भी उल्लेखनीय है—

पिंगलके कवि—श्रीधर (१४०० ई०) 'रणमल-छन्द'; दलपत मिश्र (दौलत मिश्र—१६७३-१७०३ ई० ?)—'खुमाणरासो'; जटमल (१६२३ ई०)—'गोराबादलकी कथा'; डूँगरसी (१६५३ ई०)—'शत्रुसालरासो'; कुम्भकर्ण

(१६७५ ई०)—'रतनरासो'; दयाल (१६८०-९८ ई०)—'राणारासो'; श्रीधर (मुरलीधर, १७१३ ई०)—'जंगनामा'; नन्ददास (१७४५)—'जगविलास'; सोमनाथ (१७३३-५३ ई०)—'सुजान विलास'; किशनजी (१८२२ ई०)—'भीमविलास'।

डिंगलके कवि–शिवदास (१४२८ ई०)—'अचलदास खीचीरी वचनिका'; सूजाजी (१५३१-४१ ई०)—'राव जैतसीरो छन्द'; केशवदास (१६२४ ई०)—'गुणरूपक'; करणीदस (१७४३ ई०)—'सूरजप्रकाश', 'विड़द सिणगार', मुरारिदान (१८३८-१९०७ ई०)—'वंशभास्कर', 'वंश-समुच्चय'; मुरारिदान (१८८३ ई०)—'जसवन्तजसोभूषण', 'जसवन्त-भूषण'। अन्तिम दोनो कवियोंने पिंगल और डिंगल, दोनों भाषाओंमें रचना की है।

वीरकाव्यके उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि हिन्दीके शैशवकालसे ही वीरकाव्यात्मक रचनाएँ लिखी जाती रही हैं। भारतीय सभ्यता, संस्कृति एवं धार्मिक भावनाओंकी अमर निधि इस काव्यधारामें सुरक्षित है। हिन्दू जातिके स्वातन्त्र्य-संग्राम, आत्म-बलिदान और त्यागके चरमोत्कर्षका ऐसा भव्य रूप हिन्दी साहित्यकी अन्य धारामे मिलना दुष्कर है। साथ ही भारतके इतिहासके पुनर्निमाणमें भी वीरकाव्यसे पर्याप्त योगदान मिल सकता है।

[सहायक ग्रन्थ—राजस्थानी भाषा और साहित्य : मोतीलाल मेनारिया; हिन्दी वीरकाव्य (१६००-१८०० ई०) : टीकम सिंह तोमर।] —टी० सिं० तो०

वीरगाथा काल–दे० 'लोकगाथा', 'साहित्यिक गाथा'।

वीरगीत–दे० 'लोकगाथा', 'साहित्यिक गाथा'।

वीरपूजा–वीरपूजा मनुष्यकी एक नैसर्गिक आदिम भावना मानी जाती है, जो वर्तमान व्यावसायिक युगमे भी विभिन्न रूपोंमें प्रकट होती है। वीरपूजाकी मूलगत भावना आदर और भयके सम्मिश्रणसे बनी है। इन भावनाओंका एक बाह्य प्रतीक होता है, जिसे वीर अथवा हीरो कहते हैं। उसीके प्रति सम्मान और श्रेयका प्रदर्शन वीरपूजा है (दे० 'फासिज्म', 'अधिनायकवाद')। —रा० म० त्रि०

वीर रस–शृंगारके साथ स्पर्धा करनेवाला वीर रस है। शृंगार, रौद्र तथा वीभत्सके साथ वीरको भी भरत मुनिने मूल रसोंमें परिगणित किया है। वीर रससे ही अद्भुत रसकी उत्पत्ति बतलायी गयी है। वीर रसका वर्ण स्वर्ण अथवा गौर तथा देवता इन्द्र कहे गये हैं। यह उत्तम प्रकृतिवालोंसे सम्बद्ध है तथा इसका स्थायी भाव 'उत्साह' है—"अथ वीरो नाम उत्तमप्रकृतिरुत्साहात्मकः"(ना०शा०, ६ः ६६ग)। भानुदत्तके अनुसार, पूर्णतया परिस्फुट 'उत्साह' अथवा सम्पूर्ण इन्द्रियोंका प्रहर्ष या उत्फुल्लता वीर रस है—"परिपूर्ण उत्साहः सर्वेन्द्रियाणां प्रहर्षो वा वीरः" (र० त०)। हिन्दीके आचार्य सोमनाथने वीररसकी परिभाषा की है—"जब कवित्तमें सुनत ही व्यंग होय उत्साह। तहाँ वीर रस समझियो चौबिधिके कबिनाह" (र० पी० नि०)।

सामान्यतया रौद्र एवं वीर रसोंकी पहचानमें कठिनाई होती है। इसका कारण यह है कि दोनोके उपादान बहुधा एक-दूसरेसे मिलते-जुलते है। दोनोंके आलम्बन शत्रु तथा उद्दीपन उनकी चेष्टाएँ हैं। दोनोंके व्यभिचारियों तथा अनुभावोंमें भी सादृश्य है। कभी-कभी रौद्रतामें वीरत्व तथा वीरतामे रौद्रवत्-का आभास मिलता है। इन कारणोंसे कुछ विद्वान् रौद्रका अन्तर्भाव वीरमे और कुछ वीरका अन्तर्भाव रौद्रमें करनेके अनुमोदक हैं, लेकिन रौद्र रसके स्थायी भाव क्रोध तथा वीर रसके स्थायी भाव उत्साहमें अन्तर स्पष्ट है। भोजराजके अनुसार प्रतिकूल व्यक्तियोंमे तीक्ष्णताका प्रबोध क्रोध है तथा कार्यारम्भमे स्थिरता और उत्कट आवेश उत्साह है—"प्रतिकूलेषु तैक्ष्ण्यस्य प्रबोधः क्रोध उच्यते। कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह इष्यते"। (स० क०, ५ : १४०)।

क्रोधमें 'प्रमोदप्रातिकूल्य', अर्थात् प्रमाताके आनन्दको विच्छिन्न करनेकी शक्ति होती है, जब कि उत्साहमें एक प्रकारका उल्लास या प्रफुल्लता वर्तमान रहती है। क्रोधमें शत्रु-विनाश एवं प्रतिशोधकी भावना होती है, जब कि उत्साहमे धैर्य एवं उदारता विद्यमान रहती है। क्रोधाविष्ट मनुष्य उछल-कूद अधिक करता है, लेकिन उत्साहप्रेरित व्यक्ति उमंग सहित कार्यमें अनवरत अग्रसर होता है। क्रोध प्रायः अन्धा होता है, जब कि उत्साह परिस्थितियोंको समझते हुए उनपर विजय-लाभ करनेकी कामनासे अनुप्राणित रहता है। क्रोध बहुधा वर्तमानसे सम्बन्ध रखता है, जब कि उत्साह भविष्यसे।

क्रोध एवं उत्साहके उपर्युक्त भेदोंको ध्यानमे रखनेपर रौद्र रस एवं वीर रसके भेदको समझा जा सकता है। यों तो रौद्रमें भी उत्साह संचारी रूपमें आ सकता है, क्योंकि उत्साह विसयके साथ सभी रसोंमें संक्रमण कर सकता है, "उत्साहविस्मयौ सर्वरसेषु व्यभिचारिणौ" (र०त०)। वीर रसमे भी क्रोध समाविष्ट हो सकता है, तथापि रौद्रमे यह उत्साह अत्यन्त क्षीण होकर दब जाता है और क्रोध ही आस्वाद्य रहता है तथा वीरमे आनेवाला क्रोध केवल 'अमर्ष' व्यभिचारी होता है और उत्साह स्थायी ही उत्कटतापूर्वक आस्वादित होता है। अतएव रौद्र एवं वीर, दोनोंकी पृथक्-पृथक् सत्ता है और एकमे दूसरेको अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता।

लेकिन उत्साहको आधुनिक मनोविज्ञानियोंने प्रधान भावोमें गृहीत नहीं किया है, क्योंकि उत्साहसे आलम्बन एवं लक्ष्य स्फुट एवं स्थिर नहीं रहते। यद्यपि साहित्यशास्त्रियोंने प्रतिमल्ल, दानपात्र एवं दयापात्रको उत्साहका आलम्बन बताया है, तो भी भावके अनुभूति-कालमें इन व्यक्तियोंकी ओर वैसा ध्यान नही रहता है, जैसा अन्य भावोंके प्रतीतिकालमें उनके आलम्बनभूत व्यक्तियोंकी ओर रहता है। फिर, जैसा ऊपर कहा गया है, उत्साह सभी रसोंमें संचार करता है। रतिमें भी उत्साह हो सकता है और भयमें भी। अभिनवगुप्तने तो उत्साहको शान्त रसका भी स्थायी माना है। इन कारणोंसे कुछ लोग उत्साहको वीर रसका स्थायी भाव नहीं मानते हैं। रौद्रके साथ वीरको समाहृत करनेके प्रयत्नमें वे 'अमर्ष'को वीरका स्थायी मान लेते है। निन्दा, आक्षेप, अपमान इत्यादिके कारण उत्पन्न चित्तका अभिनिवेश, अर्थात् स्वाभिमानका उद्बोध अमर्ष है। लेकिन वीर रसके कतिपय स्वरूपोंमें (युद्धवीरके

अतिरिक्त अन्य रूपोंमें) अमर्षका लवलेश भी दृष्टिगत नही होता। उदाहरणतः कर्मवीर, पाण्डित्यवीर, सत्यवीर इत्यादिमें अमर्ष खोजनेपर नही मिलेगा। अतएव अमर्ष वीर रसका स्थायी नही माना जा सकता। इधर कुछ लोगोने 'साहस'को वीरका स्थायी भाव उत्पन्न करनेका उद्योग किया है। वास्तवमे उत्साहमें साहस गृहीत हो सकता है, क्योंकि साहसमें एक निर्भीक धीरता पायी जाती है, जो उत्साहका भी महत्त्वपूर्ण अंग है। लेकिन उत्साहको साहससे पृथक् करनेवाला तत्त्व उमंग या उल्लास है, जो साहसमे सदैव वर्तमान नही रह सकता है। इस तथ्यको स्पष्ट करते हुए रामचन्द्र शुक्लने ठीक ही कहा है कि "आनन्दपूर्ण प्रयत्न या उसकी उत्कण्ठामें ही उत्साहका दर्शन हो सकता है, केवल कष्ट सहनेके निश्चेष्ट साहसमें नही"। वीर रसकी निष्पत्तिके लिए वस्तुतः आचार्योंने आश्रयमें प्रहर्ष अथवा उत्फुल्लताकी उपस्थिति आवश्यक मानी है। अतएव उत्साह-को ही इसका स्थायी मानना युक्तिसंगत सिद्ध होता है। यह ठीक है कि उत्साह मूल भावोमे गृहीत नही किया जा सकता, लेकिन रामचन्द्र शुक्लके शब्दोमे—"आश्रय या पात्रमें उसकी व्यंजना द्वारा श्रोता या दर्शकको ऐसा विविक्त रसानुभव होता है, जो और रसोंके समकक्ष है"। अतएव रस-प्रयोजकताके विचारसे उत्साह उपेक्षणीय नही हो सकता।

यह उत्साह वास्तवमें विभिन्न वस्तुओके प्रति, जीवनके विभिन्न गुणों अथवा व्यवसायोके प्रति विकसित हो सकता है और इस दृष्टिसे वीर रसके कई भेद हो सकते है। आद्याचार्य भरतने वीर रसके तीन प्रकार बताये है—दानवीर, धर्मवीर, युद्धवीर। भोजराजने 'सरस्वतीकण्ठा-भरण'मे धर्मवीरको न मानकर उसके बदले दयावीरका निरूपण किया है। भानुदत्तने भी 'धर्मवीर'को न मानकर युद्धवीर, दानवीर और दयावीर—ये ही तीन भेद बताये है। बादमे विश्वनाथने 'साहित्यदर्पण'मे धर्मवीरको भी मिलाकर वीर रसको चतुर्विध निरूपित किया है—"स च दानधर्मयुद्धैर्दयया च समन्वितश्चतुर्धा स्यात्" (३ : २३४)। पण्डितराजने 'रसगंगाधर'में इन चार भेदोंको माना है, किन्तु पाण्डित्यवीर, सत्यवीर, बलवीर, क्षमावीर इत्यादि भेदोंकी सम्भाव्यताका भी निर्देश किया है। हिन्दीके आचार्योंमें देवने युद्धवीर, दयावीर तथा दानवीर—ये तीन ही भेद स्वीकृत किये है। अन्य आचार्योंने प्रायः 'साहित्य-दर्पण'के चार प्रकारोंको स्वीकृत किया है। 'हरिऔध'ने 'रसकलश'में कर्मवीर नामक पाँचवाँ भेद भी उपपादित किया है। इस प्रकार यदि उत्साह अथवा वीरत्वके व्यापकत्वका विचार किया जाय, तो वीर रस शृंगारके समकक्ष ठहरता है। आस्वादनीयताको दृष्टिमें रखते हुए 'साहित्यदर्पण'के चार प्रकार ही सर्वमान्य है, यद्यपि कतिपय विद्वान् 'युद्धवीर रस'में ही सच्चे उत्साह अथवा शौर्यका प्रस्फुटन सम्भव मानते हैं तथा 'धर्मवीर', 'दानवीर' इत्यादिको शान्त, भक्ति प्रभृति रसोंमें अन्तर्भूत करते हैं। वीर रसके उपादानोंको समन्वित रूपसे विश्वनाथने निर्दिष्ट किया है—"विजित किये जाने योग्य इत्यादि व्यक्ति आलम्बन-विभाव तथा उनकी चेष्टाएँ इत्यादि उद्दीपन-विभाव है। युद्ध इत्यादिके सहायक आदिका अन्वेषणादि इसके अनुभाव है। धृति, मति, गर्व, स्मृति, तर्क, रोमांचादि इसके संचारी भाव है" (सा० द०, ३ : २३३, ४)।

हिन्दीके आचार्य कुलपतिने 'रसरहस्य' नामक ग्रन्थमे वीर रसका जो वर्णन किया है, वह सरल एवं सुबोध है—"मिलि बिभाव अनुभाव अरु संचारिनकी भीर। व्यंग कियो उत्साह जहँ सोई रस है बीर। युद्ध दान अरु दया पुनि, धर्म सु चारि प्रकार। अरि बल समर बिभाव यह, युद्धबीर विस्तार। बचन अरुणता बदनकी, अरु फूलै सब अंग। यह अनुभाव बखानिये, सब बीरनके संग"।

१. युद्धवीरका आलम्बन शत्रु, उद्दीपन शत्रुके पराक्रम इत्यादि, अनुभाव गर्वसूचक उक्तियाँ, रोमांच इत्यादि तथा संचारी धृति, स्मृति, गर्व, तर्क इत्यादि होते हैं। उदाहरण—"निकसत म्यान तै मयूखै प्रलै भानु कैसी, फारे तमतोमसे गयन्दनके जालको। लागति लपटि कण्ठ बैरिनके नागिन-सी, रुद्रहिं रिझावै दै दै मुण्डनिके मालको। लाल छितिपाल छत्रसाल महाबाहु बली, कहाँ लौं बखान करौं तेरी कर-बालको। प्रतिभट कटक कटीले केते काटि काटि, कालिका-सी किलक कलेऊ देति कालको" (भूषण)। यहाँ शत्रु आलम्बन, शत्रुके कार्य उद्दीपन, तलवारके कार्य अनुभाव तथा गर्व, आवेग, उत्सुकता इत्यादि व्यभिचारी है। इनसे परिपोष प्राप्त कर उत्साह स्थायी आस्वादित होता है, जिससे युद्धवीर रसकी निष्पत्ति हुई है। इस सम्बन्धमें यह स्मरणीय है कि युद्धवीर वहीं होता है, जहाँ पसीना, मुख या नेत्रकी रक्तिमा इत्यादि अनुभाव न हों, क्योंकि ये क्रोधके अनुभाव है और इनकी उपस्थितिमें रौद्र रस होगा, वीर नही।

२. दानवीरके आलम्बन तीर्थ, याचक, पर्व, दानपात्र इत्यादि तथा उद्दीपन अन्य दाताओंके दान, दानपात्र द्वारा की गयी प्रशंसा इत्यादि होते है। याचकका आदर-सत्कार, अपनी दातव्य-शक्तिकी प्रशंसा इत्यादि अनुभाव और हर्ष, गर्व, मति इत्यादि संचारी है। उदा०—"जो सम्पति सिव रावनहिं दीन दिये दस माथ। सो सम्पदा बिभीषनहिं सकुचि दीन्ह रघुनाथ" (रा० च० मा०, ५ : ४९ख)। यहाँ विभीषण, आलम्बन शिवके दानका स्मरण उद्दीपन, रामका दान देना तथा उसमें अपने गौरवके अनुकूल तुच्छताका अनुभव करना और इसलिए संकोच होना अनुभाव है। धृति, स्मृति, गर्व औत्सुक्य इत्यादि व्यभिचारी है। इनसे पुष्ट होकर उत्साह स्थायी दानवीर रसमें परिणत हो गया है।

३. दयावीरके आलम्बन दयाके पात्र, उद्दीपन उनकी दीन, दयनीय दशा, अनुभाव दयापात्रसे सान्त्वनाके वाक्य कहना और व्यभिचारी धृति, हर्ष, मति इत्यादि होते है। उदा०—"पापी अजामिल पार कियो जेहि नाम लियो सुत ही को नरायन। त्यो पद्माकर लात लगेपर विप्रहुके पग चौगुने चायन। को अस दीनदयाल भयो दसरत्थके लालसे सूधे सुभायन। दौरे गयन्द उबारिबेको प्रभु बाहन छाड़ि उपाहने पायन" (पद्माकर)। यहाँ गयन्द (हाथी) आलम्बन, गजकी दशा उद्दीपन, गजके उद्धारके लिए दौड़ पड़ना अनुभाव तथा धृति, आवेग, हर्ष इत्यादि व्यभिचारी

भाव है, इनसे पुष्ट होकर उत्साह स्थायी दयावीर रसमें परिणत हो गया है।

४. **धर्मवीर**में वेदशास्त्रके वचनों एवं सिद्धान्तोंपर श्रद्धा तथा विश्वास आलम्बन, उनके उपदेशों और शिक्षाओंका श्रवण-मनन इत्यादि उद्दीपन, तदनुकूल आचरण अनुभाव तथा धृति, क्षमा आदि धर्मके दस लक्षण संचारी भाव होते हैं। धर्मधारण एवं धर्माचरणके उत्साहकी पुष्टि इस रसमें होती है। उदा०—"रहते हुए तुम-सा सहायक प्रण हुआ पूरा नहीं। इससे मुझे है जान पड़ता भाग्यबल ही सब कहीं। जलकर अनलमें दूसरा प्रण पालता हूँ मैं अभी। अच्युत युधिष्ठिर आदिका अब भार है तुमपर सभी" (मैथिलीशरण गुप्त : ज० व०)। यहाँ अर्जुनका शास्त्रोक्त भाग्यफल इत्यादिपर विश्वास आलम्बन, प्रणका पूर्ण न होना उद्दीपन, अर्जुनका प्रण-पालनार्थ उद्यत होना अनुभाव और धृति, मति इत्यादि संचारी हैं। इनसे पुष्ट होकर धर्माचरणका उत्साह धर्मवीर रसमें परिपक्व हो गया है।

वीर रस(युद्धवीर)का शृंगार रसके साथ संयोग कवियोंको विशेष प्रिय रहा है। केशवदासके उद्धृत कवित्तमें इसीका चित्र है—"गति गजराज साजि देहकी दिपति बाजि, हाव रथ भाव पति राजि चल्यो चाल सों। लाज साज कुलकानि शोच पोच भय मानि, भौंहें धनु तानि बान लोचन बिसाल सों। केसोदास मन्द हास असि कुच भट भिरे, भेंट भये प्रतिभट भाले नख जाल सों। प्रेमको कवच कसि साहस सहायक लै, जीति रति रण आजु मदनगुपाल सों" (र०प्रि०)।

'साहित्यदर्पण'में वीरको शृंगार रसका विरोधी माना गया है, किन्तु 'रसगंगाधर'में इसे शृंगारका अविरोधी कहा गया है। विश्वनाथने भयानक और शान्तके साथ वीरका विरोध ठहराया है, किन्तु पण्डितराजने केवल भयानकके साथ। वे वीरके साथ रौद्र रसका अविरोध मानते हैं। वस्तुतः वीर एवं शान्तमें विरोध तथा वीर एवं रौद्रमें मैत्रीभाव मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

हिन्दी साहित्यमें रासो ग्रन्थोंका वीरकाव्यकी दृष्टिसे अत्यन्त महत्त्व स्वीकार किया गया है। इनमें कुछ मुक्तकीय वीरगीतके रूपमें उपलब्ध हैं और कुछ प्रबन्धकाव्यके रूपमें। 'बीसलदेवरासो' तथा 'आल्हा-खण्ड' प्रथम कोटिकी और 'खुमानरासो' तथा 'पृथ्वीराजरासो' द्वितीय श्रेणीकी रचनाएँ हैं। इनमें 'आल्हा-खण्ड' तो प्रारम्भसे ही जनप्रिय काव्य रहा है तथा उत्तरभारतकी ग्रामीण जनतामें इसके श्रवणके लिए पर्याप्त अनुराग है। भक्तिकाल एवं रीतिकालमें परिस्थितियोंके परिवर्तनके कारण वीर रसकी धारा सूखती-सी प्रतीत होती है। तथापि, केशवका 'वीरसिंहदेवचरित', मानका 'राजविलास', भूषणका 'शिवराजभूषण', लालका 'छत्रप्रकाश' इत्यादि ग्रन्थोंमें वीर रसका प्रवाह प्रवहमान है। 'रामचरितमानस' यों तो शान्त रस-प्रधान रचना है तो भी राम-रावण-युद्धके प्रसंगमें प्रचुर वीर रसकी निष्पत्ति हुई है। भारतमें ब्रिटिश सत्ताकी स्थापनाके अनन्तर जो राष्ट्रीयताकी लहर जनसमुदायमें दौड़ गयी, उसके फलस्वरूप एक बार पुनः हिन्दी काव्यमें वीर रसकी धारा नवजीवन सहित बही है। मैथिलीशरण गुप्त, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', माखनलाल चतुर्वेदी, 'निराला', 'नवीन', सुभद्राकुमारी चौहान, अनूप शर्मा, 'दिनकर', श्यामनारायण पाण्डेय इत्यादिने अपनी रचनाओंमें वीर रसका अजस्र प्रवाह प्रवाहित किया है, जिसमें नव-जाग्रत् राष्ट्रकी सकल आकांक्षाएँ मूर्तिमती एवं मुखर हो उठी हैं। —र० ति०

वृंदावन लीला—दे० 'लीला'।

वृत्तसुरतगोपना—दे० 'गुप्ता', (नायिका)।

वृत्ति १—[वृत्+क्तिन्] (क) साधारण अर्थ—(१) सत्ता, भाव, वर्तमानता; (२)स्वभाव; (३)दशा, अवस्था; (४)व्यवहार, आचरण; (५) जीविका, जीवनोपाय (वर्तते अनयेति करणे क्तिन्); (६) भृति, पारिश्रमिक; (७) घूमना, चक्कर; (८) पहिये या वृत्त(गोले)की परिधि। (ख) विशेष अर्थ-(१) किसी मौलिक ग्रन्थ, विशेषतः सूत्रग्रन्थकी सूक्ष्म-संक्षिप्त विवृति या टीका, जैसे—'अष्टाध्यायी'पर जयादित्य और वामन द्वारा रचित 'काशिका वृत्ति' अथवा यास्ककृत 'निरुक्त'पर दुर्गाचार्यकृत 'ऋज्वर्था' नामक वृत्ति। वृत्ति सामान्यतः वार्त्तिक और भाष्य, दोनोंकी अपेक्षा संक्षिप्त होती है। पर आगे चलकर जब यह शब्द व्याख्यामात्रका वाचक बन गया, तब ग्रन्थकार या लेखक स्वेच्छानुसार अपने व्याख्यान-ग्रन्थोंका नाम वृत्ति, टीका, टिप्पणी आदि रखने लगे और यह शब्द सूत्रोंतक ही सीमित न रह गया। भाष्यकार शंकराचार्यने 'कठ' और 'बृहदारण्यक' उपनिषदोंके व्याख्यानोंको 'वृत्ति' ही कहा है, पर आगे वे ही 'भाष्य' नामसे बोधित हुए। पर भाष्यकारके शब्दोंसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि 'वृत्ति' मूलमें थी संक्षिप्त ही—"अथ कठकोपनिषद्वल्लीनां सुखप्रबोधनार्थमल्पग्रन्था वृत्तिरारभ्यते"। "उषा वा अश्वस्य इत्येवमाद्या वाजसनेयिब्राह्मणोपनिषत्। तस्या इयमल्पग्रन्था वृत्तिरारभ्यते" (बृहदा० शां० भा०)। (२) (व्याकरणशास्त्रमें) एक अर्थके भीतर दूसरे नये अर्थको प्रकट करनेवाली गूढ़ शब्दरचना—'परार्थाभिधानं वृत्तिः'। यह वृत्ति पाँच प्रकारकी होती है—कृत, तद्धित, समास, एकशेष जैसे—'माता च पिता चेति पितरौ' एवं सन् इत्यादि प्रत्ययोंसे बने हुए धातु रूप—जैसे, गम धातुसे जिगमिष् (जानेकी इच्छा करना), पा धातु (पीना)-से पिपास (पीनेकी इच्छा करना) आदि। इन वृत्तियोंका गूढ़ अर्थ समझानेके लिए इनका विग्रह या खण्ड करना पड़ता है। (३) (साहित्य तथा व्याकरणशास्त्रमें) शब्दका वह व्यापार या शक्ति, जिससे शब्दोंका अर्थ प्रकट होता है। यह वृत्ति त्रिविध होती है—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। कुछ लोग 'तात्पर्य' नामक चौथी वृत्ति भी मानते हैं। (४) (केवल साहित्यशास्त्रमें) एक प्रकारका अनुप्रास नामक शब्दालंकार, जिसमें एक वर्णकी कई बार आवृत्ति होती है। (५) (नाट्यशास्त्रमें) रचना-शैली। यह चतुर्विध होती है। भरत मुनिके शब्दोंमें चारों ये हैं—"भारती सात्वती चैव कैशिक्यारभटी तथा। चतस्रो वृत्तयश्चैता यासु नाट्यं प्रतिष्ठितम्"। (६) (वेदान्तशास्त्रमें) अन्तःकरणका परिणाम, यथा—"बुद्धिवृत्तिचिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घटम्। तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत्" (बृहदा० भा० वा०)। (ग) हिन्दीमें यह शब्द जीविका, वृत्त्यनुप्रास तथा स्वभाव(चित्तवृत्ति)के अर्थमें प्रयुक्त होता है। —आ० प्र० मि०

वृत्ति २–भरत(४ श० ई०)ने वृत्ति और प्रवृत्ति(दे०)मे अन्तर माना है। उन्होने वृत्तिको काव्यकी माता माना है—"सर्वेषामेव काव्यानां वृत्तयो मातृकाः स्मृताः"। वृत्तिको व्यवहार या पुरुषार्थ-साधक व्यापार कहा गया है। व्यवहारके सूचक क्रिया-कलाप और चेष्टाऐं वृत्तिके अन्तर्गत है। वृत्ति और रीतिमे साम्यके कारण प्रायः भ्रमकी स्थिति रही है। वृत्तियॉ दो प्रकारकी मानी गयी है। भरतकी नाट्यवृत्तियोंके अन्तर्गत कायिक और मानसिक चेष्टाएँ स्वीकृत है, परन्तु आगे चलकर आनन्दवर्धन (९ श० ई० उत्त०) तथा अभिनव(१०-११ श० ई०)ने नाट्य-वृत्तियोंको अर्थवृत्तियॉ माना और अन्य प्रचलित उपनागरिका, परुषा, कोमलाको काव्यवृत्तियॉ। वस्तुतः वृत्तियोंसे इन्हींका बोध होता है।

इन वृत्तियोंकी उद्भावना उद्भट(८ श० ई० उत्त०)ने 'काव्यालंकारसारसंग्रह'में की है। उन्होने इन्हे अनुप्रास-जाति माना है। इनमें वर्ण-व्यवहारकी प्रधानता होती है, इनमे पद-संघटनाका विचार नही होता। परन्तु रुद्रट(९ श० ई० उत्त०)ने 'काव्यालंकार'मे वृत्तिको समासका आश्रित माना है। आनन्दवर्धनके अनुसार—'व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते', अर्थात् रसानुगुण अर्थ-व्यवहार नाट्य-वृत्ति तथा रसानुगुण शब्दव्यवहार काव्यवृत्ति है। अभिनवने पुरुषार्थ-साधक व्यापारका नाम ही वृत्ति माना है। परन्तु मम्मट(११ श० ई० उत्त०)ने 'काव्यप्रकाश'मे उद्भट-के अनुसरणपर वर्ण-व्यवहारपर आश्रित मानकर इन्हे रीति-के अन्तर्गत स्वीकार कर लिया है।

नगेन्द्रने 'भारतीय काव्यशास्त्रकी भूमिका'में वृत्ति तथा रीतिके सम्बन्धकी तीन स्थितियॉ मानी है। कुछ आचार्योंने वृत्तिको स्वतन्त्र माना है। उद्भटने वर्ण-व्यवहारके रूपमे, रुद्रटने समासको आधार मानते हुए तथा आनन्दवर्धन और अभिनवने पृथक् वर्णन करके वृत्तिको रीतिसे अलग माना है। आनन्दवर्धनने शब्द-व्यवहार मानकर इसकी रीतिसे एकता स्वीकार अवश्य की है। मम्मट तथा जगन्नाथ (१७-१८ श० ई०) आदि बादके आचार्योंने इन्हे एक ही माना है। मम्मटने वृत्तियोंकी विवेचना करनेके बाद कह दिया है कि इन्हे ही रीतियॉ माना जाता है। जगन्नाथने दोनोंका पांचाली आदिके लिए प्रयोग किया है। अन्य आचार्य वृत्तिको रीतिका अंग मानते है। वामनके वृत्ति-विवेचनसे (काव्य-वृत्तियॉ भी नही है) स्पष्ट है कि वे इन्हें रीतिका अंग मानते हैं। विश्वनाथ(१४ श० ई० पूर्वा०)ने वर्ण-योजनाको रीतिका अंग माना है।

हिन्दीके आचार्योंमें चिन्तामणिने 'कविकुलकल्पतरु'-(१६५० ई०)में मम्मटके अनुसार वृत्तियोका वर्णन वृत्यनुप्रासके अन्तर्गत किया है और यह भी स्वीकार किया है कि ये वृत्तियॉ ही वैदर्भी आदि रीतियॉ है। प्रारम्भमें उन्होंने रीति और वृत्तिका भेद माना है (दे० 'रीति')। वस्तुतः यह भ्रम इनके सूक्ष्म अन्तरके कारण ही है। कुलपतिने 'रस-रहस्य'(१६७० ई०)में वृत्तियोंपर विचार रीतिके पर्याय रूपमें किया है। देवने केशवके समान नाट्यवृत्तियोंका ही विवेचन किया है। दासने पुनः मम्मटके आधारपर अपने 'काव्यनिर्णय'(१७४६ ई०)में रीतियोंका वर्णन कर वृत्तियो-का विवेचन किया है। आधुनिक विवेचकोंने संस्कृत काव्य-शास्त्रके आधारपर इनकी विवेचना की है। इनमें प्रमुख कन्हैयालाल पोद्दार (र० मं०), अर्जुनदास केडिया (भा० भू०) तथा रामदहिन मिश्र (का० द०) आदि है। पोद्दार-के आधार मम्मट है, केडियाने वृत्तियोंका वर्णन शब्दालंकारके अन्तर्गत किया है और रामदहिन मिश्रने रीति तथा वृत्तिका स्वतन्त्र विवेचन किया है।

१. उपनागरिका वृत्ति—उपनागरिका काव्य-वृत्ति है। यह वृत्ति नाटककी चार वृत्तियोंसे भिन्न है। इसका सम्बन्ध शब्दालंकारसे है। शब्दालंकारके अनुप्रास-भेदके प्रकारोंमें वृत्तिके आधारपर वृत्यनुप्रास होता है। यह शब्द-वृत्ति है। भामहने इसे उपनागरिका अनुप्रास कहा है, परन्तु उपनागरिकाको वृत्तिके रूपमें सबसे पहले उद्भटने प्रकट किया है और इसे वृत्यनुप्रासके प्रसंगमें वर्णित किया है। इस शब्द-वृत्तिके अन्तर्गत टवर्गको छोडकर अन्य वर्गोंमेसे प्रत्येकके पंचम वर्णके साथ अन्य वर्णोंका संयोग तथा पंचम वर्णोंके प्रयोगका बाहुल्य रहता है। यह नामकरण नगरकी चतुर और विदग्ध वनिताओंकी सुकुमार शब्दावलीके समकक्ष होनेसे हुआ है। यह प्रतिहारेन्दुराजका मत है—"एषा खलु नागरिकया वैदग्धीजुषा वनितया उपमीयते तत् उपनागरिका नागरिका उपमिता उपनागरिकेति"। नागरिकाकी उपमा होनेके कारण यह उपनागरिका कहलाती है। इसका प्रयोग शृंगारादि रसोंके वर्णनके लिए किया जाता है। इसकी शब्दावली श्रुतिमधुर और संगीतमय रहती है।

२. परुषा वृत्ति—परुषा वृत्ति कठोर शब्द-वृत्ति है। इसकी उद्भावना उद्भटने की थी। इस शब्द-वृत्तिके अन्तर्गत र, श, ष, टवर्ग, रेफयुक्त तथा संयुक्त वर्णोंके प्रयोगका बाहुल्य रहता है। परुषा वृत्तिमें कर्णकटु, कठोर शब्दोंका प्रयोग किया जाता है। परुषा वृत्तिमें कठोर वर्णोंका विन्यास वीर, रौद्र, भयानक आदि रसों और उग्र भावोंके प्रकाशनके लिए प्रयुक्त किया जाता है। युद्ध आदिके वर्णन, वीरोंके वार्तालाप, रोषपूर्ण उक्तियोंमें इस वृत्तिका आश्रय ग्रहण किया जाता है। इसका दूसरा नाम **दीप्ता वृत्ति** भी है। यह चित्तवृत्तिको दीप्त करती है। यह ओज गुणको प्रकट करनेवाली रचना है।

३. कोमला वृत्ति—उद्भटने इस कोमला वृत्तिको ग्राम्य वृत्ति कहा है, क्योंकि यह ग्रामीण नारियोकी स्वाभाविक शब्दावलीके अनुरूप होती है। इस वृत्तिमें कोमल शब्दावलीका प्रयोग होता है। इस दृष्टिसे ल, व, स तथा वर्गोंके तृतीय वर्णों, जैसे ग, द आदिका प्रयोगबाहुल्य इस वृत्तिकी विशेषता है। इस सुकुमार शब्दावलीका उपयोग शृंगार, शान्त, करुण, अद्भुत आदि रसों तथा कोमल-सुकुमार भावोंकी अभिव्यक्तिके लिए किया जाता है। यह हृदयकी कोमलताके संस्कार बनाती है।

उद्भटकी वृत्तियाँ—(क) उद्भटने भरत द्वारा निरूपित सात्वती आदि वृत्तियोंसे भिन्न वृत्तिकी कल्पना की। उनके मतानुसार चित्तकी अवस्था ही वृत्ति है। यह अवस्था दो प्रकारकी हो सकती है—चेष्टा-युक्त और चेष्टा-रहित। चेष्टाके भी दो भेद किये जा सकते है—एक न्याय और

दूसरी अन्याय। अतः जिस चेष्टामें उचित व्यापारोंका समावेश हो, वह न्यायवृत्तिकी द्योतक है। इस प्रकार उचित व्यापारोंवाली चेष्टा जिस वृत्तिमें हो, वह वृत्ति **न्यायवृत्ति** है। (ख) **अन्यायवृत्ति**—चेष्टायुक्त अवस्थाके न्याय और अन्याय-व्यापारके भेदसे, जहाँ अनुचित व्यापारोंसे युक्त चेष्टा हो, वहाँ अन्यायवृत्ति होती है। यह उद्भटका मत है। अन्यायवृत्ति चित्तकी उस चेष्टा-युक्त दशाका द्योतक है, जिसमें अनुचित या मर्यादापूर्ण व्यापारो का समावेश रहता है। (ग) **फलसंवित्ति**—उद्भटने चित्तकी एक चेष्टारहित अवस्था मानी है और दूसरी चेष्टा-युक्त। चेष्टायुक्त अवस्थासे सम्बन्धित न्याय और अन्याय-वृत्तियाँ है, परन्तु चेष्टारहित अवस्थामें व्यापारका सर्वथा अभाव रहता है। इस स्थितिमें पात्र अपनी चेष्टाओंके फलका भोग करता है। यही वृत्ति फल-संवित्ति की है। फल-संवित्तिका अर्थ होता है फलकी उपलब्धि। अतः जिस चेष्टारहित चित्तकी अवस्थामें फलकी प्राप्ति या भोगकी विशेषता हो, वह फल-संवित्ति वृत्ति है। उद्भटकी इस वृत्तिका लोल्लटने खण्डन किया है। लोल्लटका मत है कि वृत्ति व्यापाररूप है, अतः व्यापार-राहित्यकी कल्पना वृत्तिके लिए उचित नहीं। उनका मत है कि जीवनकी कोई भी स्थिति व्यापार-शून्य नहीं, अतः यह चेष्टा-राहित्य-की अवस्था अयथार्थ है।

रुद्रटकी वृत्तियाँ—रुद्रटाचार्यने काव्यवृत्तियोंको नवीन दृष्टिसे देखनेका प्रयत्न किया। उनकी दृष्टिसे समासयुक्त पद-संघटन वृत्तिका आधार है। रुद्रटकी इस प्रकारकी व्याख्याका आधार बाणभट्टका यह कथन—'असमस्तपद-वृत्तिमिव अद्वन्द्वाम्'' जान पड़ता है। इस प्रकार उन्होंने वृत्तियोंके दो वर्ग किये—प्रथम **समस्ता**, जिसमें समासयुक्त पदोंका प्रचुर प्रयोग हो और द्वितीय **असमस्ता**, जिसमें समासरहित पदोंका प्रयोग हो। यह आधार वास्तवमें रीति-वर्णनका आधार है, क्योंकि वैदर्भी रीतिकी व्याख्या इसी रूपमें की गयी है। अतः असमस्ता हुई वैदर्भी तथा समस्ता वृत्तिके तीन भेद हुए—(१) पांचाली, (२) लाटीया, (३) गौड़ीया। पांचालीमें दो-तीन, लाटीमें पाँच-छः और गौड़ीयामें बहुत समासोंका प्रयोग होता है। रुद्रटका यह वर्णन रीतिके समान ही है। उनकी वृत्ति-सम्बन्धी यह व्याख्या वास्तवमें रीति की है जिसमें वर्गीकरणकी विशेषता है।

वृत्तियोंका वास्तविक वर्णन उन्होंने अनुप्रास-जातियोंके रूपमें किया है। उपनागरिका, कोमला और परुषा, तीन वृत्तियोंके स्थानपर उन्होंने १. मधुरा, २. प्रौढ़ा, ३. परुषा, ४. ललिता, ५. भद्रा, इन पाँच वृत्तियोंका उल्लेख किया है। इनके नामसे ही इनके लक्षण स्पष्ट हैं। रुद्रटका कथन है—''मधुरा प्रौढा परुषा ललिता भद्रेति वृत्तयः पंच। वर्णानां नानात्वात् अस्येति यथार्थनामफलाः'' (का० लं०, २ : १९)। इनमें मधुरा उपनागरिका, परुषा परुषा और ललिता कोमलासे साम्य रखती हैं, प्रौढा अर्थ-गाम्भीर्य-युक्त और भद्रा सर्व-ग्राह्य हो सकती हैं।

भोजकी वृत्तियाँ—भोजने अपने 'सरस्वतीकण्ठाभरण'-मे १२ प्रकारकी अनुप्रास-जातियोंसे भिन्न वृत्तियोका वर्णन किया है, जो वर्णोंकी आवृत्तिपर निर्भर न होकर स्पर्शादि वर्णोंके परस्पर सम्बन्ध और असम्बन्धसे युक्त रचना-संघटन-पर निर्भर करती है। वृत्तिकी परिभाषा भोजने इस प्रकार दी है—''काव्यव्यापी च सन्दर्भो वृत्तिरित्यभिधीयते''। ये १२ वृत्तियाँ है—गम्भीरा, ओजस्विनी, प्रौढा, मधुरा, निष्ठुरा, श्लथा, कठोरा, कोमला, मिश्रा, परुषा, ललिता, अमिता। **गम्भीरा** वृत्तिमें प्रायः तवर्ग और पवर्गके तृतीय और चतुर्थ वर्णोंमें प और फका संयोग होता है। **ओजस्विनी** वृत्तिमें प्रायः मूर्धन्योंमें प्रथम, चतुर्थ और पंचम वर्णों-की दो-तीन बार आवृत्ति होती है। **प्रौढ़ा**मे प्रायः मूर्धन्यके अन्त्य वर्णोंके साथ संयोगमें पूर्व वर्ण दीर्घ होते है। **मधुरा** प्रायः स्पर्श वर्णोंके सानुस्वार प्रयोगसे उत्पन्न होती है। **निष्ठुरा** प्रायः बार-बार संयुक्त वर्णोंके प्रयोगसे आती है। व्यंजनोंके असंयुक्त प्रयोगसे प्रायः **श्लथा** वृत्ति बनती है। **कठोरा** प्रायः कण्ठ्य और रेफादिके संयोगसे उत्पन्न होती है। **कोमला** वृत्ति प्रायः रेफ, णकार और कोमल वर्णोंके संयोगसे प्राप्त होती है। **मिश्रा**—यह प्रायः कठोर वर्णोंमें ओष्ठ्य, कण्ठ्य और मूर्धन्य वर्णोंके मिश्रणसे बनती है। **परुषा** ऊष्म और अन्तस्थके संयोगसे निर्मित होती है। **ललिता** प्रायः दन्त्य, ओष्ठ्य, तालव्य वर्णोंके साथ अन्तस्थ वर्णोंके संयोगसे उत्पन्न होती है। **अमिता**—यह वृत्ति अमित रूपसे ककार, लकार, वकार आदिके संघटनसे निष्पन्न होती है। —भ० मि०

वृत्तिवैचित्र्यवक्रता—दे० 'पदपूर्वार्धवक्रता' चौथा प्रकार।

वृत्त्यनुप्रास—अनुप्रासका एक भेद। जहाँ वृत्तिके अनुसार एक या अनेक वर्णोंकी अनेक बार आवृत्ति होती है, वहाँ 'वृत्त्यनुप्रास' अलंकार होता है। विभिन्न रसोंके वर्णनमें तदनुकूल भिन्न-भिन्न वर्णरचनाको 'वृत्ति' कहते है। अतः वृत्तिके अनुकूल वर्णोंकी प्रकृष्ट योजना अथवा आवृत्तिको 'वृत्त्यनुप्रयास' कहते है। वाणीके कोमल, कठोर और मृदु गुणोंके अनुसार वृत्तियाँ तीन प्रकारकी होती हैं—उपनागरिका, परुषा और कोमला। आचार्य वामन आदिने इन वृत्तियोंको क्रमशः वैदर्भी, गौडी और पांचालीके नामसे लिखा है। उद्भटके 'काव्यालंकार सार' (८०० ई०)में प्रायः सर्वप्रथम विवेचन हुआ है। मम्मटके अनुसार 'एकस्याप्य-सकृत्परः' (का० प्र०, ९ : ७९), अर्थात् एक अथवा एकसे अधिक व्यंजनोंका एकसे अधिक बार सादृश्य। तदनन्तर उन्होंने तीनों वृत्तियोंपर विचार किया है। विश्वनाथ तथा जयदेवने इस सन्दर्भमें वृत्तियोंकी चर्चा नहीं की है और हिन्दीमें सर्वप्रथम इसपर विचार करनेवाले जसवन्त-सिंहने अपने ग्रन्थ (१६४३ ई०)में मम्मटके आधारपर तीनों वृत्तियोंकी चर्चा की है। अन्य प्रसिद्ध आचार्योंमें कुलपति मिश्र तथा भिखारीदासने इसपर विचार किया है। दासने भी आदि और अन्तमें एक और अनेक बार, वर्णके आनेमें इसके चार प्रकार मानकर, उदाहरण दिये है और वृत्तियोंके अनुसार भी माना है।

उपनागरिका वृत्ति—टवर्गविहीन, माधुर्य गुणव्यंजक तथा सानुनासिक एवं अनुस्वारयुक्त वर्णयोजनाको 'उपनागरिका वृत्ति' कहते है। इसका प्रयोग विशेष रूपसे शृंगार हास्य और करुण रसोंमे होता है। दासका एक उदा०—

"मंजुल वंजुल कुंजन गुंजत कुंजन भृंग विहंग अयानी। चम्पक चन्दन वन्दन संग सुरंग लवंगलता लपटानी" (का० नि०, १०)। आधुनिक छायावादी कवि सुमित्रानन्दन पन्तकी इन पंक्तियोंमें इसका सुन्दर प्रयोग है—"तरणिके ही संग सरल तरल तरंगमें; तरणि डूबी थी हमारी तालमें"। इस वृत्तिका प्रयोग भक्तिकालके कवियोंमें और रीतिकालकी शृंगारी कविताओंमें व्यापक रूपसे हुआ है।

परुषा वृत्ति--ओज गुणव्यंजक, द्वित्ववर्णबहुला तथा संयुक्त वर्णप्रधान रचनाको 'परुषा वृत्ति' कहते हैं। इसमें टवर्ग वर्णोंका प्राचुर्य होता है। इसका प्रयोग वीर, रौद्र और भयानक रसोंमें होता है। मतिरामने शब्दालंकारोंकी चर्चा न करके भी इनका अच्छा प्रयोग किया है—"अंगनी उतंग जंग जैतवार जोर जिन्हें, खिक्करत डिकारि हलत कलकत हैं"(ल० ल०, १२२)। भूषणने वृत्त्यनुप्रासकी चर्चा न करके इनका रसानुकूल सुन्दर प्रयोग किया है—"क्रुद्ध फिरत अति जुद्ध जुरत नहि रुद्ध मुरत भट। खग्ग बजत अति बग्ग तजत सिर पग्ग सजत चट" (शि० भू०, ३६१)। वीरकाव्यके कवियोंमें चन्द, जोधराज, सूदन, पद्माकर आदिने इसका प्रयोग किया है। आधुनिक कवियोंमें मैथिलीशरण गुप्त, श्यामनारायण पाण्डेय आदिने प्रबन्धकाव्यमें वीर, रौद्र आदि रसोंके प्रसंगमें इसका निर्वाह किया है।

कोमला वृत्ति—जहाँ माधुर्य और ओज गुणव्यंजक वर्णोंसे भिन्न प्रसाद गुणविशिष्ट वर्णरचना होती है, वहाँ कोमला वृत्ति होती है। इसका प्रयोग शान्त, शृंगार और अद्भुत रसोंमें होता है। मतिरामका शृंगार रसका उदा०—"जेठी पठाय गयी दुलही हँसि हेरि हियें मतिराम बुलायी। कान्हके बोलपै कान न दीन्हौं सुगेहकी देहरीपै धरि आयी" (र० रा०, २८)। छायावादी कवियोंमें इसका निर्वाह मिलता है। पन्तकी इन पंक्तियोंमें इसीका प्रयोग है—"नव-नव सुमनोंसे चुन-चुनकर, धूलि सुरभि मधुरस हिमकण, मेरे उरकी मृदु कलिकामें, भर दे कर दे विकसित मन" (का० द०में)। 	—वि० स्ना०

वेग-निरसन—हमारे नैत्यिक, व्यावहारिक जगत्में सुख उपादेय तथा दुःख हेय होता है। समाज तथा व्यक्तिके सारे प्रयत्न सुख-प्राप्ति तथा दुःख-निरोधके लिए ही होते हैं। दुःखमें आनन्द लेनेकी बात हमें अस्वाभाविक (abnormal) लगती है। जो अन्योंके दुःखमें रमण करते हैं, उन्हें हम सादनकामी (sadists) तथा जो अपनेको दुःख देनेमें रस लेते हैं, उन्हें मर्पणकामी (masochists) कहकर रुग्ण घोषित करते हैं। किन्तु भाव-जगत्‌की कथा न्यारी है। हम करुण रसमें भी उतना ही रस लेते हैं, जितना हास्य, शृंगार आदिमें; सुख-सम्पत्तिका चित्रण जितना आनन्ददायक होता है, उतना ही दुःख-सम्पत्तिका भी। विचित्र होते हुए भी यह एक सत्य घटना है। सौन्दर्यास्वादन-कालमें प्रत्येक भाव-जगत्‌का प्राणी और दृश्य भाव-जगत्‌की घटना बन जाता है। उस समय भीषण, भयंकर और दुःखपूर्ण दृश्य भी रस अथवा आनन्दकी सृष्टिमें सहायक कैसे बन जाते हैं, इस विषयपर अरस्तूके समयसे लेकर अबतक अनेक प्रकारके ऊहापोह किये गये हैं। अरस्तूका कहना है कि भीषण, भयंकर और दुःखपूर्ण दृश्य प्रेक्षकके चित्तमें करुणा और भयका उद्बोधन करते हैं, जिससे चित्त एक प्रकारका लाघव प्राप्त करता है और उसमें आवेगोंके वेगसे उत्पन्न तनाव शिथिल पड़ जाता है। तनावके शिथिल हो जानेसे ऐसा लगता है, मानो चित्तका भार कम हो गया हो। ऐसी अवस्थामें एक विचित्र प्रकारके मनःप्रसादका अनुभव होता है, इस प्रक्रियाको अरस्तूने वेग-निरसन अथवा **विरेचन** (catharsis) नाम दिया है। 	—ह० ना०

वेदांत—वेदान्तके निम्नलिखित अर्थ हैं—(१) उपनिषत्; वेदान्तका शाब्दिक अर्थ है वेदका अन्त, अर्थात् अन्तिम भाग। वेदोंके अन्तिम भाग उपनिषत् नामक ग्रन्थ हैं, अतः उनको वेदान्त कहा जाता है। (२) पर उपनिषद्‌का स्वयं अर्थ क्या है? कुछ लोग कहते हैं कि विद्या गुरुके पास बैठकर प्राप्त की जाय, वह उपनिषत् है। शंकराचार्यका कहना है कि जो बन्धनको काटे, वही ज्ञान उपनिषत् है। इस प्रकार तत्त्वज्ञानके अर्थमें उपनिषत् शब्दका प्रयोग होने लगा। तब वेदान्त भी इसी तत्त्वज्ञानका समानार्थक हो गया और उसका अर्थ किया गया—वह विद्या या शास्त्र, जो वेद या लौकिक ज्ञानके अन्तमें, अर्थात् परे हो। यहाँ वेदान्त शब्द अंग्रेजीके 'मेटाफिजिक्स', अर्थात् फिजिक्स-(भौतिकविज्ञान)के परेवाला ज्ञान हो गया। (३) उपनिषदोंके ज्ञानको एकत्र समन्वित करनेवाले बादरायणने 'ब्रह्मसूत्र' या 'वेदान्तसूत्र' लिखा। प्रायः उनके दर्शनको वेदान्तदर्शन कहा जाता है। (४) उपनिषदों या वेदोंके तत्त्वज्ञानको ही समन्वित करनेवाली 'भगवद्गीता' है। कुछ लोगोंके मतसे वह स्वयं उपनिषद् है। अतः उसके दर्शनको भी वेदान्तदर्शन कहा जाता है। (५) उपनिषद्, 'ब्रह्मसूत्र' और 'गीता', इन तीनोंको या इनमेंसे किसीको प्रधान मानकर चलनेवाले दार्शनिकोंके दर्शनको भी वेदान्त कहा जाता है। आजकल वेदान्त शब्दका प्रयोग साधारणतः इसी अर्थमें होता है। शंकर, भास्कर, रामानुज, निम्बार्क, मध्व, श्रीकंठ, श्रीपति, वल्लभ, विज्ञानभिक्षु, बलदेव और रामानन्द 'ब्रह्मसूत्र'के प्रसिद्ध भाष्यकार हुए हैं। इनके दर्शनोंको भी वेदान्त कहना युक्तियुक्त ही है। इन सभी भाष्यकारोंने 'वेदान्तसूत्र' या 'ब्रह्मसूत्र'की अपने-अपने अनुसार व्याख्या की है। अतः यह समस्या उत्पन्न हो गयी कि बादरायणका सच्चा वेदान्तदर्शन क्या है और कौन भाष्यकार उनके अनुसार चलता है? पर वेदान्तसूत्रोंको बिना किसी भाष्यके समझना कठिन है। अतः इस समस्याका अन्तिम उत्तर देना सम्भव नहीं। इसीलिए कुछ लोगोंने शंकरको, तो कुछने निम्बार्कको, कुछने रामानुजको तो कुछने वल्लभ आदिको बादरायणके दर्शनका असली व्याख्याता सिद्ध किया है इन भाष्यकारोंमें शंकराचार्य सबसे प्राचीन हैं। अतः प्रायः उनके दार्शनको ही बादरायणका सच्चा दर्शन माना जाता है। (६) वेदान्त प्रायः शंकराचार्यके दर्शनके अर्थमें रूढ़ हो चला है। सामान्यतः पाश्चात्य देशोंमें और अपने देशमें भी लोग शंकरके दर्शनको ही वेदान्त समझते हैं, यद्यपि वह अद्वैतवेदान्त ही है। अन्य वेदान्त या तो वैष्णव वेदान्तके नाममें या शैव

वेदान्तके नामसे प्रसिद्ध है।

'ब्रह्मसूत्र'के सभी भाष्यकारोंमें इस बातका मतैक्य है कि वेदान्तका मुख्य सिद्धान्त ब्रह्मवाद (दे०) है और इसकी सुन्दर तथा पर्याप्त अभिव्यक्ति 'ब्रह्मसूत्रके' प्रथम चार सूत्रों या चतुःसूत्रीमें हो गयी है। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा', 'जन्माद्यस्य यतः', 'शास्त्रयोनित्वात्' और 'तत्तु समन्वयात्', ये ही चार सूत्र है। इनके अर्थ है—(१) वेदान्त समझनेके लिए ब्रह्मजिज्ञासा होनी चाहिये। यह स्वतन्त्र शास्त्र है। (२) ब्रह्म वह है, जो जगत्‌का मूल स्रोत, आधार तथा लक्ष्य है। जगत् उसीसे निकला है, उसीमें है और उसीमें इसका लय भी होगा। (३) ब्रह्मको शास्त्रसे ही, अर्थात् वेद-उपनिषदोंसे ही जाना जा सकता है, अन्य प्रमाणसे नहीं। (४) वेद-उपनिषद्‌का समन्वय वेदान्तकी शिक्षामें होता है, अन्य दर्शनकी शिक्षामें नहीं।

ब्रह्म और जगत्‌का सम्बन्ध, ब्रह्म और जीवका सम्बन्ध, केवल ज्ञानसे मुक्ति या भक्तिकर्मसमुच्चित ज्ञानसे मुक्ति, जीवन्मुक्ति या विदेहमुक्ति, क्रममुक्ति या सद्योमुक्ति आदि वेदान्तियोंके मतभेदके मुख्य विषय है। ब्रह्म और जीव तथा जगत्‌के सम्बन्धकी पारिभाषिकी संज्ञा शंकराचार्यके दर्शनमें माया है। क्या यह माया भ्रम है, मिथ्या है या सत् है? क्या यह ब्रह्मसे भिन्न है या अभिन्न? आदि अनेक प्रश्न हैं, जिनके उत्तर वेदान्तियोंने भिन्न-भिन्न दिये है। तार्किक दृष्टिसे शंकरका उत्तर सर्वश्रेष्ठ है तो धार्मिक दृष्टिसे अन्य आचार्योंका।

हिन्दीमें शंकरके अद्वैतवेदान्त, चारों वैष्णव वेदान्त, अर्थात् रामानुज, वल्लभ, निम्बार्क और मध्वका विशेष प्रभाव पड़ा है। चैतन्य भी वेदान्ती थे, पर वे मध्वमतके माने गये हैं। उनको पृथक् कर देनेसे उनके मतका भी प्रभाव हिन्दीमें मानना पड़ेगा। निर्गुणोपासक सन्तोंमें अद्वैतवेदान्तका ही अधिक प्रभाव पड़ा है। स्वामी रामानन्द भी वेदान्ती थे। वे रामानुजके मतके थे। उन्होंने स्वयं 'वेदान्तसूत्र'पर भाष्य लिखा। वे हिन्दीके सन्तोंके आदि गुरु समझे जाते हैं। नाभादास तथा राघोदासने अपने-अपने 'भक्तमाल'में शंकर तथा वैष्णव वेदान्तियोंके बारेमें काफी लिखा है और उनकी शिक्षाओंको साररूपमें रखनेका प्रयास किया है।

'तत्त्वमसि', 'सोऽहमस्मि', 'अहं ब्रह्मास्मि', वेदान्तके ये वाक्य हिन्दीके सन्तोंको ज्ञात थे और उन्होंने रचनाओंमें बहुधा इनका प्रयोग किया है। 'नेतिनेति'का सिद्धान्त भी उनको ज्ञात था।

शंकराचार्यके अद्वैतवेदान्तपर हिन्दीमें दादूपन्थके साधु निश्चलदासने 'विचारसागर' नामक एक उच्च कोटिके ग्रन्थकी रचना की है। वल्लभाचार्यके वेदान्तकी तो हिन्दीमें परम्परा ही चल पड़ी और उनके मान्य ग्रन्थ 'भागवत'के आधारपर कृष्णका गुणगान हिन्दीके पुष्टिमार्गी सन्तोंने अपने ढंगसे किया। शंकराचार्यका प्रभाव देशव्यापी था। चैतन्यका प्रभाव बंगाल तथा वृन्दावनमें ही अधिक था। वल्लभका प्रभाव वृन्दावन, राजस्थान तथा गुजरातमें था। वृन्दावन, अयोध्या, काशी जैसे स्थान वैष्णव वेदान्तके अनुयायी सन्तोंके केन्द्र बन गये।

वेदान्तमें आत्माका विचार बहुत अधिक और सर्वश्रेष्ठ है, यह बात हिन्दीके सभी सन्तों और दार्शनिकोंको ज्ञात है।

मायाका तिरस्कार, शाकाहार, भूतदया, अहिंसा, ज्ञानवार्ता—ये प्रायः वेदान्तके कारण ही देशको जनताके प्रधान गुण बन गये है।

वेदान्तमें हिन्दीके सन्तोंकी प्रधान देन यह है कि उन्होंने सभी प्रकारके वेदान्तोंको समन्वित करनेका सफल प्रयास किया है। यह समन्वय ज्ञान-भक्तिका समन्वय, मायावाद-लीलावादका समन्वय तथा सगुण-निर्गुण-समन्वयके रूपमें है। शंकरको ईश्वरका अवतार तथा अन्य वेदान्ताचार्योंको ईश्वरका व्यूह मानकर उन्होंने सबका समन्वय किया। अवतारवादका सिद्धान्त सचमुच दार्शनिक क्षेत्रमें समन्वयका सिद्धान्त है। हिन्दीके दार्शनिकों या सन्तोंकी यह अप्रतिम विशेषता रही है कि जब संस्कृतज्ञ वेदान्ती जन आपसमें खण्डन-मण्डन कर रहे थे, तब वे सभी वेदान्तोंके समन्वय द्वारा राष्ट्रीयताका प्रचार तथा देशके मौलिक चिन्तनको अग्रसर कर रहे थे। आज भारतमें जो सभी वेदान्तों तथा अन्य दर्शनोंका समन्वयात्मक दृष्टिकोण घर कर गया है, उसका अधिकांश श्रेय हिन्दीके इन्हीं दार्शनिक कवियोंको है। वेदान्तके आत्मवाद (दे०) और ब्रह्मवाद (दे०)के अनुसार अभिनवगुप्तने इसका निरूपण किया, जिसे अभिव्यक्तिवाद (दे० 'रस निष्पत्ति',चौथा मत) कहा जाता है। इस मतका आधार ज्ञान (चित्) और आनन्द (रस)की एकता और अद्वितीयता है।

[सहायक ग्रन्थ—वेदान्तदर्शन : गीता प्रेस, गोरखपुर; स्टडीज इन वेदान्त : घाटे; विचार-सागर : निश्चलदास; शांकर वेदान्त : गंगानाथ झा।] —सं० ला० पा०

वैणिक—दे० 'गीतिकाव्य'।

वैताली—वैताली संस्कृतका मात्रावृत्त है। इसमें चार चरण होते हैं। पहिले और तीसरे चरणोंमें १४ मात्राएँ और दूसरे और चौथे चरणमें १६, १६ मात्राएँ होती है। विषम चरणोंमें ६ मात्राओंके पश्चात् एक रगण (ऽ।ऽ) और लघु-गुरु (।ऽ) होते है। सम चरणोंमें आठ मात्राओंके पश्चात् रगण, लघु-गुरु होते है। वैतालीके चरणोंमें मात्रिक भिन्नताके अनुसार छन्द-ग्रन्थोंमें निम्नलिखित छः भेदोंका उल्लेख मिलता है। **उदीच्य वृत्ति**—वैताली छन्दके विषम पादोंमें पहली मात्राके पश्चात् जब एक गुरु वर्णका प्रयोग होता है। **प्राच्य वृत्ति**—वैताली छन्दके सम पादोंमें तीसरी मात्राके पश्चात् जब एक गुरु वर्णका प्रयोग होता है। **प्रवृत्तक**—वैताली छन्दमें जब उदीच्य वृत्ति और प्राच्य वृत्ति, दोनोंकी विशेषताएँ मिलती है। **आपातलिका**—वैतालीके विषम चरणोंमें ६ और सम चरणोंमें ८ मात्राओंके उपरान्त एक भगण (ऽ।।) और दो गुरु (ऽऽ) रहनेसे यह भेद होता है। **अपरान्तिका**—वैताली छन्दके सम चरणोंके समान जब चारों पाद हों और चौथी और पाँचवीं मात्रा मिलकर एक दीर्घाक्षर हो। **चारुहासिनी**—वैतालीके विषम चरणोंके समान जब चारों पाद हों, परन्तु दूसरी और तीसरी मात्रा मिलकर एक दीर्घाक्षर हो।

हिन्दी कवियोंने बहुत कम इस छन्दका प्रयोग किया है। छन्द-ग्रन्थोंमें केवल परम्परा-पालनके लिए इसका

उल्लेख मिलता है। —रा० सिं० तो०

वैतालीय–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। अर्द्धसम वृत्त, जिसका उल्लेख 'पिंगलछन्दसूत्र' (४ : ३२)में है। इसके प्रथम-तृतीय चरणोंमें स, स, ज, ग (।।ऽ, ।।ऽ, ।ऽ।, ऽ) और द्वितीय-चतुर्थ चरणोंमें स, भ, र, लग (।।ऽ, ऽ।।, ऽ।ऽ, ।ऽ) होते हैं। कालिदासने अजविलाप (र० वं०, सर्ग ८)में इसका प्रयोग किया है। मैथिलीशरण गुप्तने 'साकेत'-के दशम सर्गमें आद्योपान्त इस छन्दका विशद प्रयोग किया है। मल्लिनाथने इसका वैतालीय नाम दिया है, 'वृत्त-रत्नाकर', 'छन्दोरचना', 'छन्दप्रभाकर'में इस नामके भिन्न लक्षणके छन्द दिये गये हैं। इस छन्दको हेमचन्द्रने प्रबोधिता (छन्दो०, ३ : १४) और जयकीर्तिने विबोधिता (छन्दो०, ३ : १५) संज्ञा दी है। 'मन्दारमरन्दचम्पू'में वियोगिनी (२१ : १६), 'छन्दकौस्तुभ' (३ : १२) और 'छन्दोमंजरी' (३ : ६)में सुन्दरी नाम दिया गया है। उदा०—"वरमाल्यपराग छोड़के, उनके ऊपर सैन्य जोड़के। नृप नेत्र मिलिन्द जो जुड़े, सजनी चामरसे परे उड़े" (साकेत : सर्ग १०)। —पु० शु०

वैदर्भी रीति–दे० 'रीति', पहली।

वैदिक (छांदस्य)–संस्कृतकी लौकिकसे भिन्न शाखाका यह नाम है। इसके द्वारा वैदिक संहिताओं (ऋक्, यजु, साम और अथर्व)की भाषाका बोध होता है। भारतीय परम्पराके अनुसार ये संहिताएँ अपौरुषेय हैं और प्रायः छन्दोंमें निर्मित हैं। इसीलिए इस भाषाको छान्दस्य अथवा वैदिक कहते हैं। लौकिक भाषामें छन्दका प्रयोग भारतीय परम्पराके अनुसार महर्षि वाल्मीकिने अपने ग्रन्थ 'रामायण'में किया। इसीलिए इस ग्रन्थको आदिकाव्यकी संज्ञा दी गयी है। वैदिक भाषामें शब्द-रूप परिनिष्ठित नहीं मिलता। वैदिक भाषाके तीन स्पष्ट उपरूप मिलते हैं। कुछ रूप और प्रक्रियाएँ केवल वैदिक भाषामें ही मिलती हैं (दे० 'संस्कृत')। —बा० रा० स०

वैदिक छंद–वैदिक छन्दोंकी कल्पना वैदिक देववादके अनुरूप हुई है। छन्दोंके विशेष महत्त्वके कारण छन्दांसि शब्द ही वेदोंका बोधक हो गया। ऋक्, यजुः और सामके समान विश्वमें छन्दोंकी उत्पत्ति स्वायत्त रूपमें मानी गयी है—"तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत" (ऋग्वेद, १० : ९ : ९)। गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुभ् (अनुष्टुप्), बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुभ् (त्रिष्टुप) और जगती, ये सात वैदिक छन्दोंके प्रमुख भेद हैं, जिनके आर्षी, दैवी, आसुरी, प्राजापत्या, याजुषी, साम्नी, आर्ची और ब्राह्मी नामक आठ प्रकार तथा पादान्तरसे अनेकानेक प्रभेद-उपभेद होते हैं। वर्णसंख्याके न्यूनाधिक होनेपर निवृत्त, विराट्, भूरिक और स्वराट्, ये चार अतिरिक्त उपभेद भी किये गये हैं। विशेष विवरणके लिए 'छन्दःप्रभाकर' (पृ० २९२-९५) द्रष्टव्य है।

गायत्री, त्रिष्टुभ् और जगती, इन तीन छन्दोंका स्थान वेदोंमें सर्वप्रमुख माना गया है। उत्तरवैदिक युगमें अनुष्टुभने पर्याप्त प्रधानता प्राप्त कर ली थी। पवित्रता और महत्त्वकी दृष्टिसे सम्पूर्ण वैदिक साहित्यमें गायत्री छन्दका स्थान सर्वोपरि है।

वैदिक छन्द वैदिक देवताओंकी तरह उपास्य, वन्दनीय तथा अलौकिक शक्तिसम्पन्न भी माने गये हैं। 'छन्दांसि वै देविकाः' अथवा 'छन्दांसि देव्यः' जैसी अनेक उक्तियाँ वैदिक साहित्यमें उपलब्ध होती हैं। सोमपानके प्रसंगमें गायत्रीको अग्निके लिए, त्रिष्टुभको इन्द्रके लिए और जगतीको शेष सभी देवताओंके लिए सम्बोधित किया गया है। छन्दोंके देवता ही नहीं, गोत्र, वर्ण और स्वरका भी विधान मिलता है; उदाहरणार्थ, गायत्रीके देवताका नाम अग्नि, वंश आग्नि, वर्ण सित और स्वर षड्ज है। एक स्थानपर यह भी कहा गया है कि प्रजापति स्वयं छन्द-रूप हो गये। यथा—'प्रजापतिरेव छन्दोऽभवत्'। 'विष्णुपुराण'-के प्रथम अंशमें छठे अध्यायके अन्तर्गत इसका स्पष्टीकरण मिलता है। उसमें लिखा है कि ब्रह्माके पूर्वमुखसे गायत्री, दक्षिणमुखसे त्रैष्टुभ्, पश्चिममुखसे जगती और उत्तरमुखसे अनुष्टुभ छन्दकी सृष्टि हुई (श्लो० सं०, ५४-५७)। पृथ्वी, अन्तरिक्ष आदि लोकों, ग्रीष्म, वसन्त आदि ऋतुओं तथा यज्ञ-भाग और यजन-कर्मसे भी छन्दोंका सम्बन्ध प्रदर्शित किया गया है। छन्दोंकी भावनामें कल्पना-वैभवका विचित्र योग मिलता है। कभी गोवत्सके रूपमें, कभी माताके रूपमें, कभी इसी प्रकारके अन्यान्य सजीव रूपोंमें छन्दोंको परिकल्पित किया गया है।

वैदिक छन्दोंके रूपविधानमें तत्कालीन वातावरणकी स्वच्छन्दता और अविजड़ित धारणाशक्तिका स्पष्ट प्रतिबिम्ब मिलता है। वैदिक युगकी सामाजिक तथा आध्यात्मिक चेतनाके वे समर्थ वाहक हैं और उसीसे अनुप्राणित होकर उनका विकास हुआ है। परिणामस्वरूप वैदिक छन्द परवर्ती संस्कृत साहित्यिक छन्दोंकी तुलनामें अधिक स्वच्छन्द और अधिक मुक्त प्रतीत होते हैं। उनमें न वर्णोंके गुरु-लघु-क्रमका निश्चित नियोजन मिलता है और न चरणों या पादोंकी व्यवस्थित संख्या। केवल वर्णोंकी संख्या निर्धारित रहती है। इस प्रकार एक छन्दमें अनेक पाद और पादोंमें भिन्न-वर्ण-संख्या वैदिक छन्दोंमें बराबर मिलती है। उनके बहुतसे उपभेदोंका आधार यह वैविध्य ही है। छन्दोंके मिश्रणसे भी अनेक छन्दोंकी सृष्टि हुई। त्रैष्टुभ् प्रकारके छन्द मिश्रित छन्दोंमें सबसे अधिक मिलते हैं। त्रिपाद गायत्रीका ही एक चतुष्पाद-विकसित रूप अनुष्टुभ् है। स्वराघातके साथ गेयता वैदिक छन्दोंकी एक और महत्त्वपूर्ण विशेषता रही है। सामवेद छन्दोबद्ध वैदिक मन्त्रोंके गानके लिए सुविख्यात है। वैदिककालके अनन्तर आनेवाले आख्यानकालके अन्तर्गत रचे गये 'रामायण', 'महाभारत' आदि ग्रन्थोंमें इसका विशेष रूपसे व्यवहार हुआ है। उपनिषदोंमें प्रयुक्त छन्द ऋग्वेदके छन्दोंकी तुलनामें कुछ अधिक व्यवस्थित एवं नियोजित प्रतीत होते हैं। आगे यही प्रवृत्ति संस्कृतके साहित्यिक छन्दोंके विकासका मूल आधार बनी। —ज० गु०

वैदिक साहित्य–संस्कृत भाषा और साहित्यके दो प्रमुख रूप मिलते हैं—(१) वैदिक भाषा और साहित्य तथा (२) लौकिक संस्कृत और साहित्य।

वैदिक भाषा और साहित्यकी परम्परा २००० ई० पू०-से भी पहले प्रारम्भ होकर लगभग ५०० ई० पू०तक

चलती रही। इसको तीन वर्गोंमें विभक्त किया जा सकता है—(१) त्रयी संहिता-साहित्य तथा ब्राह्मण-ग्रन्थ, (२) अथर्व संहिता तथा गृह्य-धर्मसूत्रोंका साहित्य और (३) इतिहास-पुराण-साहित्य।

ऋक्, यजुः और साम, इन तीन संहिताओंमें विस्तार तथा महत्त्वकी दृष्टिसे प्रधान ऋक् संहिता है। ऋग्वेदके १०१७ सूक्त प्रायः यज्ञोंके अवसरोंपर पढ़नेके लिए देवताओंकी स्तुतियोंसे सम्बन्ध रखनेवाले गीतात्मक काव्य है। ये १० मण्डलोंमे विभक्त हैं। मन्त्रसंख्या १०,५८० है। सामवेदका अधिकांश ऋग्वेदके ऐसे मन्त्रोंका संकलनमात्र है, जो सोमयागोंमें वीणा आदिके साथ गाये जाते थे। सामवेदमे केवल ७५ मन्त्र मौलिक हैं। यजुर्वेद यज्ञोंमे कर्मकाण्डके सम्बन्धमें पढ़े जानेवाले गद्य तथा पद्य-मन्त्रोंका संग्रह है। इसका अन्तिम चालीसवाँ अध्याय प्रसिद्ध 'ईशोपनिषद्' है।

ब्राह्मण ग्रन्थोमे श्रौत यज्ञोंके कर्मकाण्डकी विधि विस्तारपूर्वक दी गयी है। प्रत्येक संहिताके कर्मकाण्डसे सम्बन्ध रखनेवाले एक या अधिक ब्राह्मण-ग्रन्थ है, जैसे–ऋक्संहिताका मुख्य ब्राह्मण 'ऐतरेय' है। यजुर्वेदका 'शतपथ' और सामवेदका 'पंचविंश' या 'ताण्ड्य'। इनमे 'शतपथ' ब्राह्मण सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। ब्राह्मण-ग्रन्थोंके समान प्रत्येक संहिताके श्रौतसूत्र भी पृथक्-पृथक है। इनमे मुख्य 'आश्वलायन', 'शांखायन', 'लाट्यायन', 'द्राह्यायण', 'बौधायन', 'आपस्तम्ब' तथा 'कात्यायन' है। श्रौतसूत्रोंके परिशिष्टस्वरूप 'शुल्वसूत्र' है, जिनमें 'बौधायन', 'आपस्तम्ब' तथा 'कात्यायन'के शुल्वसूत्र मुख्य है।

ब्राह्मण-ग्रन्थोंके अन्तिम भाग उपनिषदोंके नामसे प्रसिद्ध हुए। इनमें निम्नलिखित १० उपनिषद् मुख्य माने जाते हैं। 'ईश', 'बृहदारण्यक', 'ऐतरेय', 'कौषीतकी', 'केन', 'छान्दोग्य', 'तैत्तरीय', 'कठ', 'मुण्डक' और 'माण्डूक्य'। उपनिषदोंमें आध्यात्मिक विचारावली प्रारम्भिक बनती हुई अवस्थामें मिलती है। इनके आधारपर आगे चलकर दर्शन-सूत्रोंमें निश्चित सिद्धान्त बन गये थे। प्रसिद्ध छः दर्शनशास्त्र निम्नलिखित हैं—वैशेषिक, योग, न्याय, सांख्य, मीमांसा तथा वेदान्त।

अथर्ववेद-संहिताका सम्बन्ध श्रौत यज्ञोंमे न होकर गृह्य तथा अन्य सामाजिक कृत्योंसे है। इसी संहिताकी परम्परामें गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्र आते हैं। गृह्यसूत्रोंमें मुख्य निम्नलिखित हैं—आश्वलायन, शांखायन, खादिर, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशिन् तथा पारस्कर। धर्मसूत्रोंमें प्रधान वसिष्ठ, गौतम, आपस्तम्ब और बौधायन है।

इतिहास और पुराण-साहित्यकी परम्परामें मुख्य 'वाल्मीकीय रामायण' तथा व्यासकृत 'महाभारत' हैं। इनके मूल रूप तो वैदिक कालके हैं, किन्तु बहुत बादतक इनमें अनुश्रुति मिश्रित होती रही है। पुराणोंके वर्तमान रूपोंका संकलन निश्चित रूपसे वैदिक कालके बाद हुआ। अतः पुराणोंको छोड़कर उपर्युक्त शेष साहित्यको हम साधारणतया वैदिक अथवा आर्ष साहित्यके नामसे पुकार सकते हैं।

वैदिक साहित्यके अध्ययनके सुभीतेके लिए छः वेदांगोंकी भी रचना हुई थी, जो शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिषके नामसे प्रसिद्ध हैं। इनमें यास्कका निरुक्त तथा पाणिनीका व्याकरण विशेष महत्त्व रखता है। —धी० व०

वैधी भक्ति–विधि द्वारा साध्य भक्तिका नाम वैधी भक्ति है। इसमे शास्त्रानुमोदित विधि साधना आवश्यक है—"शासनेनैव शास्त्रस्य सा वैधी भक्तिरुच्यते" (श्रीरूपगोस्वामि: भ०र०सि०, १ : २ : ६२)। इसीको मर्यादा-मार्ग भी कहा गया है (वही; २ : ६०)। सूर-तुलसी आदि वैष्णव भक्तोंकी भक्ति-भावनामे वैध-मर्यादा-मार्गके भी दर्शन होते है। श्रवण, स्मरण, कीर्तन, पाद-सेवन, वन्दन, अर्चन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन वैधी भक्तिके प्रकार है (दे० 'नवधा-भक्ति')। —वि० मो० श०

वैयक्तिक (काव्य)–दे० 'स्वात्मनिष्ठ' (काव्य)।

वैराग्य–योगशास्त्रमें वैराग्यका बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। योगका परम प्राप्तव्य है चित्तवृत्तियोंके निरोध द्वारा कैवल्यकी उपलब्धि और चंचल, प्रमथ, बलवान तथा अवश चित्तवृत्तियोंका निरोध अभ्यास एवं वैराग्य द्वारा ही सम्भव होता है (यो० सू०, १ : १२)। इसीलिए वैराग्यको कैवल्यका अविनाभावी कहा जाता है। अविनाभावी, अर्थात् वैराग्यके बिना मोक्षका मिलना एकदम असम्भव है।

योगशास्त्रमे भोगलिप्साकी निवृत्तिको वैराग्य कहा जाता है। पतंजलिने 'समाधिपाद'के पन्द्रहवें सूत्रमे वशीकार संज्ञा नामके वैराग्यका लक्षण दिया है। उसे पूरी तरह समझ सकनेके लिए यह जान लेना आवश्यक है कि वैराग्य दो प्रकारका होता है –अपर वैराग्य और परवैराग्य। अपर वैराग्य, वैराग्यका प्रारम्भिक रूप है। इसकी चार स्थितियाँ या सीढ़ियाँ मानी गयी है—१. यतमान संज्ञा, २. व्यतिरेक संज्ञा, ३. एकेन्द्रिय संज्ञा तथा ४. वशीकार संज्ञा। चित्तवृत्तिको निरुद्ध करनेके प्रारम्भिक प्रयासमे इन्द्रियोंकी चंचलताको रोकनेकी चेष्टा वैराग्यका प्रारम्भिक रूप है। यहाँ योगी इन्द्रियोंको विषयोंमे प्रवृत्त या लिप्त होनेसे रोकनेकी कोशिश करता है। यही **यतमानसंज्ञा** है। इसके परिणामस्वरूप चित्त किन्हीं-किन्हीं विषयोंसे हट जाता है और किन्हीं-किन्हीं विषयोंके प्रति उसकी ललक क्षीण हो जाती है। वैराग्यकी यह दूसरी सीढ़ी **व्यतिरेकसंज्ञा** कहलाती है। **एकेन्द्रियसंज्ञा** वैराग्यकी वह स्थिति है। जहाँ पहुँचकर सभी इन्द्रियाँ बाह्य विषयोंसे पूरी तरह निवृत्त हो जाती है, पर मनमे अब भी इन विषयोंके प्रति पूर्ण वैराग्य सिद्ध नहीं हुआ रहता और वह यदा-कदा उनकी ओर खिंच जाया करता है। पंचेन्द्रियोंके अतिरिक्त मनको भी एक इन्द्रिय माना जाता है। वैराग्यकी इस अवस्थामें चूँकि मन विषयोंसे पूर्ण विरक्त नहीं हुआ रहता, अतः इसे **एकेन्द्रिय संज्ञा** कहा जाता है। अपर वैराग्यकी अन्तिम अवस्था **वशीकार संज्ञा** है।

पतंजलिका मत है कि—"दृष्टानुश्रविक विषय वितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्" (यो० सू०, १ : १५), अर्थात् "जब मन दृष्ट और आनुश्रविक विषयोंके प्रति सम्पूर्ण ललक खोकर वितृष्ण हो जाता है तो उस वैराग्यको वशीकारसंज्ञा कहते है"। विषय दो प्रकारके माने जाते है—**दृष्ट**,

अर्थात् प्रत्यक्ष अनुभव किये जाने वाले स्त्री-पुत्र, अन्न-पान, ऐश्वर्य आदि और **आनुश्रविक**, अर्थात् केवल शास्त्रमें जाने जानेवाले स्वर्गादि । इन दोनों प्रकारके विषय-सुखोंसे जो विरक्त हो गये हैं, जिनके मनमें यह बात पूरी तरह बैठ गयी है कि 'धरम न अरथन कामरुचि' ऐसे योगीकी संप्रज्ञात समाधि लग जाती है । लेकिन वैराग्य यहीं पूरा नहीं हो जाता । इस अवस्थातक पहुँचकर भी वह अधूरा रहता है । यह पूरा होता है, उस अवस्थामें, जहाँ आत्मज्ञानी योगीकी वितृष्णा समस्त विषयोंके प्रति हीन होकर समस्त गुणोंके प्रति भी हो जाय । यो० सू०; १,१५ में सूचित 'वशीकारसंज्ञा'से यह गुणवैतृष्ण्यरूप **पर वैराग्य** अधिक ऊँचा है, इसे पतंजलिने यो० सू० (१ : १६)में यों संकेतित किया है—"तत् परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्", अर्थात् पुरुष ख्याति (=आत्मज्ञान) हो जानेके पश्चात् गुणवैतृष्ण्य रूप वैराग्य ही परवैराग्य है । यह वैराग्य ज्ञानकी पराकाष्ठा है; यही कैवल्य है । यहीं पहुँचकर असंप्रज्ञात समाधि सम्पन्न होती है और व्यक्ति सम्पूर्ण द्वैतोंसे अतीत कैवल्यकी उपलब्धि कर लेता है । उसके दुःखोंकी एकान्त निवृत्ति हो जाती है । उसकी सभी वृत्तियाँ निरुद्ध और फिर विलीन हो जाती हैं । परवैराग्यकी इस अवस्थामें पहुँचकर "धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते" (कठोपनिषद्, २ : १ : २) । —रा० दे० सिं०

वैरोचन द्वार–दे० 'हठयोग' ।

वैवर्ण्य–दे० 'सात्त्विक अनुभाव', छठा ।

वैशिक नायक–दे० 'नायक' (शृंगार) ।

वैशेषिक–'वैशेषिक' शब्द विशेषसे बना है । 'विशेष' नामक पदार्थकी विशिष्ट कल्पनाके करनेके कारण इस दर्शनको वैशेषिक कहा जाता है । चीनी विद्वान् भिस्तान तथा क्वेइचीके मतसे इस दर्शनका नाम वैशेषिक इसलिए पड़ा कि यह अन्य दर्शनोंसे, विशेषतः सांख्यसे, विशेष या अधिक युक्तियुक्त था ।

वैशेषिक ग्रन्थोंमें सबसे प्राचीन कणाद, कणभुक् या उलूकका लिखा वैशेषिक सूत्र है, जो न्यायसूत्रसे प्राचीन माना जाता है । कुछ लोगोंका मत है कि प्राचीन सांख्यकी भाँति वैशेषिक भी बुद्ध-पूर्व रचना है । इन सूत्रोंपर सबसे प्राचीन भाष्य 'रावण-भाष्य' है, जो अनुपलब्ध है । उपलब्ध भाष्योंमें प्राचीनतर 'प्रशस्तपादभाष्य' या 'पदार्थधर्मसंग्रह' है, जिसका चीनी अनुवाद ६४८ ई०में ह्वेनत्सांग द्वारा हुआ था । वैशेषिक दर्शनके अन्य आचार्योंमें उदयनाचार्य, श्रीधर, शंकर मिश्र, विश्वनाथ और अन्नभट्ट मुख्य हैं । अन्तिम दोकी कृतियाँ क्रमशः 'भाषापरिच्छेद' और 'तर्क-संग्रह' हैं, जिनका आज भी पण्डितसमाजमें विपुल प्रचार और सम्मान है ।

तत्त्ववादमें वैशेषिक परमाणुवादी है । इनमें चार प्रकारके परमाणु—पृथ्वी, अप, तेज और वायुके माने जाते हैं । प्रत्येक प्रकारके परमाणु संख्यामें अनन्त हैं । उनमें अपना 'विशेष' तत्त्व भी रहता है । इन्हींके विभिन्नसंघात द्वारा जगत्की उत्पत्ति होती है । कार्य कारणमें पहलेसे विद्यमान नहीं रहता है । वह नया होता है । कार्य कारणसे भिन्न नयी वस्तुका आरम्भ करता है । इसलिए इसे आरम्भ-वाद कहते हैं, जो सांख्यके प्रकृतिवाद या प्रकृतिपरिणामवाद या सत्कार्यवादसे भिन्न है ।

कुल पदार्थ ६ हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय । द्रव्य पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन नौ हैं । गुण चौबीस हैं । ६ द्रव्योंसे भिन्न कालान्तरमें अभावको भी द्रव्य माना गया है और वह प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव तथा अन्योन्याभाव—चार प्रकारका माना गया । पहलेके ६ पदार्थ भावात्मक माने गये । वैशेषिक अभावकी मान्यता बौद्धोंके प्रभावके कारण है ।

वैशेषिक दर्शन ही भारतीय दर्शनोंमें भौतिकशास्त्रका निरूपण सर्वाधिक करता है । वस्तुतः यह प्राचीन भौतिक-शास्त्रका दर्शन था । पर इससे यह न समझना चाहिये कि वह मोक्षदर्शन नहीं है । इसका भी प्रयोजन मीमांसाकी भाँति धर्मकी व्याख्या करना और मोक्षकी प्राप्तिका साधन बताना है । धर्मकी यहाँ परिभाषा है—"यतोऽभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः", अर्थात् जिससे अभ्युदय और निःश्रेयसकी प्राप्ति होती है, वह धर्म है । यह परिभाषा मीमांसाकी परिभाषा (वेदोंकी प्रवर्तना धर्म है)से अधिक समीचीन जान पड़ती है, क्योंकि यह बौद्धिक और नैतिक है । ज्ञानमार्ग द्वारा मोक्ष-प्राप्तिका विधान करना वैशेषिकका मुख्य उद्देश्य है ।

कुछ लोग कणादको निरीश्वरवादी मानते हैं, तो कुछ ईश्वरवादी । यहाँ मतभेदकी गुंजाइश है । पर कालान्तरमें वैशेषिक दर्शन ईश्वरवादी हो गया । ये लोग पशुपतिके अनुयायी होनेके कारण पाशुपत कहे जाते हैं, जैसे नैयायिक शिवके अनुयायी होनेके कारण शैव कहे जाते हैं । प्राचीन कालमें वैशेषिक दर्शनका साहचर्य बौद्ध दर्शनके साथ विशेष घनिष्ठ प्रतीत होता है । शब्दको स्वतन्त्र प्रमाण न माननेसे, उत्पत्तिके पूर्व पदार्थके गुणोंको नष्ट माननेसे, इसके अनुयायियोंको 'अर्धवैनाशिक', अर्थात् अर्द्ध-बौद्ध कहा गया, पर बादको तो न्यायके साथ वैशेषिकने भी बौद्ध-दर्शनके खण्डनमें हाथ बँटाया ।

आरम्भमें प्रत्यक्ष और अनुमान, दो ही प्रमाण वैशेषिकको मान्य थे । बादको उसे शब्द और उपमान भी मान्य हो गये ।

न्यायकी भाँति वैशेषिकका भी प्रभाव हिन्दी साहित्यपर विशेष नहीं रहा है । अधिकतर प्राचीन कवियोंने नैयायिकों और वैशेषिकोंकी निन्दा ही की, इनको कोरा तार्किक ठहराया और वास्तविक तत्त्वज्ञानसे दूर कहा । निश्चलदास सरीखे लोगोंने न्याय-वैशेषिकको केवल अद्वैतवादके सहायक साधनके रूपमें स्वीकार किया है ।

[सहायक ग्रन्थ—भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय ।] —सं० ला० पा०

वैषयिक (काव्य)–दे० 'वस्तुनिष्ठ' (काव्य) ।

वैष्णव धर्म (मत)–दे० 'भागवत धर्म' ।

वैष्णव संप्रदाय–दे० 'भागवत धर्म' ।

व्यंग्यगीति–अंग्रेजीके सैटायरके आधारपर निर्मित शब्द, यद्यपि इस प्रकारकी रचनाओंका अभाव कभी नहीं रहा । वि+अंग=व्यंगसे व्यंगकी व्युत्पत्ति है । सैटायर द्वारा

किये गये चुटकुले और परिहासका सम्बन्ध गीतिसे बादमें हो गया। सैटायर गीतिका भेद नहीं है, बल्कि कुछ गीत व्यंग्यात्मक होते हैं। ऐसे तो व्यंग्यात्मक आवेश वेदोंमें मिल सकते हैं, किन्तु नाट्यशास्त्रमें व्यंग्यात्मकताके स्पष्ट संकेत हैं। सिद्ध-साहित्यमें पूजापाठ करनेवाले पण्डितों, गंगा-स्नानादिको पुण्यकर्म माननेवाले पौराणिक धर्मावलम्बियोंपर व्यंग्य किये गये हैं।

सिद्धोंकी साहित्यिक परम्पराने पुरस्कृत सन्त-साहित्यमें भी ऐसी अनेक रचनाएँ मिलती हैं। तुलसीदासकी 'कृष्ण-गीतावली'में व्यंग्यगीत हैं और सूरकी गोपियोंने तो बेचारे ऊधोकी ज्ञान-गरिमाकी असीम खिल्ली उड़ायी है। स्वतन्त्र रूपसे व्यंग्यात्मक रचना लिखनेवाले हैं अली मुहिब खाँ, 'खटमल-बाईसी'के रचयिता। किन्तु यह गीतात्मक नहीं, छन्दात्मक है। बेनी कविने अच्छे 'भड़ौवे' लिखे हैं, जिनमें खिल्लियाँ उड़ायी हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रके समयमें व्यंग्यकाव्यके कई रूप प्रचलित हुए। एक प्रकार है 'स्यापा'; यह उर्दू-फारसीका विधान है, जिसका व्यंग्यात्मक उपयोग भारतेन्दुने किया। 'बनारस अखबार' और 'अलीगढ़ इन्स्टीट्यूट गजट'में यह समाचार प्रकाशित हुआ कि 'उर्दू मारी गयी', तो उर्दूका व्यंग्यात्मक स्यापा भारतेन्दुने लिखा—"है-है उर्दू हाय-हाय, कहाँ सिधारी हाय-हाय"। भारतेन्दुने मदिरा पीनेवालों, खुशामदियों, हिंसाको धर्म माननेवालों, जैन-बौद्ध धर्मावलम्बियोंपर कटाक्ष और व्यंग्य किये हैं। आलसियोंपर व्यंग करते हुए उन्होने लिखा है—"धोती भी पहिनें जब कि कोई और पिन्हा दे, उमराको हाथ-पैर हिलाना नहीं अच्छा"। राष्ट्रीयताकी चैतन्यधाराके कारण व्यंग्यनीतियोंके रूपमें अन्तर आता रहा है और प्रगतिवादी आन्दोलनके कारण पूँजीपतियों और जमींदारोंपर व्यंग्यात्मक गीतियाँ लिखी हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्यका इतिहास विविध विवादोंका इतिहास है, अतः प्रत्येक विवादने व्यंग्यात्मक गीतियोंको प्रेरित किया है। छायावादी आन्दोलनने भी ऐसी गीतियोंकी रचना करायी, जिसमें 'उग्र' लिखित कुछ अच्छी रचनाएँ हैं।

व्यंग्यगीतियोंमें मानव-चरित्रकी दुर्बलताओंकी आक्षेपात्मक आलोचना की जाती है, अतः इसका उद्देश्य है सुधार। सुधारवादी आन्दोलनोंके साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। भारतेन्दुकी रचनाएँ इसी कोटिमें आती हैं। इसका एक रूप है **पैरोडी**, इसका नामकरण भारतेन्दुने **आभास** किया था, किन्तु यह प्रचलित नहीं हुआ। भारतेन्दुने 'बन्दर सभा'में लिखा था—"इन्दर सभा उर्दूमें एक प्रकारका नाटक है एवं नाटकाभास है और यह बन्दर सभा उसका भी आभास है"। इस 'बन्दर सभा'के गीत 'इन्दर सभा'के गीतोंकी विडम्बनाएँ हैं। **विडम्बनागीत** नामकरण प्रिंसिपल मनोरंजनप्रसाद सिंहने किया और कई गीतोंकी सफल विडम्बनाएँ लिखी हैं। **परिहासात्मक व्यंग्यगीति**में न तो किसीकी विडम्बना रहती है और न सुधारका आवेश, बल्कि शुद्ध मनोविनोदकी ओर लक्ष्य रहता है। व्यंग्यात्मक गीतियोंकी कोटिका एक गीतिरूप **गाली** है। विवाहके अवसरपर जेवनारके समय स्त्रियाँ गाली गाती हैं जो अरुचिकर, अश्लील, अभद्रोचित और भोंडी होती हैं, केशवकृत 'रामचन्द्रिका'में एक सुरुचिपूर्ण गाली है, जो सम्भवतः केशवकी प्रवीण शिष्या प्रवीण रायकी लिखी है। 'रसकलेवा'में भी सुरुचिपूर्ण गालियाँ हैं। भारतेन्दुने 'समधिन मधुमास'में ऐसी ही गाली दी है। प्रत्येक चरणके पूर्वार्द्धमें अश्लील अर्थका भान होता है, पर पूरे चरणमें अश्लीलता नहीं रहती—"यथाशक्ति कीन्हो सबहीने समधिनको उपचार, समधिनजूने बहुत करायो आदर शिष्टाचार"। आक्षेपक व्यंग्यगीतियोंमें दूसरोंके सिद्धान्तोंपर व्यंग्य और आक्षेप रहता है। कबीरका पद है—"पाण्डे कौन कुमति तोहि लागी"। —रा० खे० पा०

व्यंजक शब्द—काव्यमें व्यवहृत होनेवाले वाचक तथा लक्षक शब्दोंके अतिरिक्त तीसरा शब्द, जो ध्वन्याचार्यों द्वारा प्रथम दोनोंकी अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। व्यंजक शब्द अपना कार्य व्यंजना-शक्ति द्वारा सम्पन्न करता है और उसके द्वारा द्योतित अर्थको 'व्यंग्यार्थ' कहते हैं। —उ० शं० शु०

व्यंजना-शक्ति—'अंजन' शब्दमें 'वि' उपसर्ग लगानेसे 'व्यंजन' शब्द निर्मित होता है, अतः व्यंजनका अर्थ हुआ 'विशेष प्रकारका अंजन'। आँखमें लगा हुआ अंजन जिस प्रकार दृष्टिदोषको दूर कर उसे निर्मल बना देता है, उसी प्रकार व्यंजना-शक्ति शब्दके मुख्यार्थ तथा लक्ष्यार्थको पीछे छोड़ती हुई उसके मूलमें छिपे हुए अकथित अर्थको द्योतित कराती है। अभिधा तथा लक्षणा अपने अर्थका बोध कराकर जब विरत हो जाती हैं, तब जिस शब्दशक्ति द्वारा व्यंग्यार्थ ज्ञात होता है। उसे व्यंजना-शक्ति अथवा व्यापार कहते हैं। व्यंग्यार्थके लिए ध्वन्यार्थ, सूच्यार्थ, आक्षेपार्थ, प्रतीयमानार्थ आदि शब्द प्रयुक्त होते हैं। अभिधा शब्दका साक्षात् संकेतित अर्थ बतलाती है और लक्षणा मुख्यार्थके अनुपपन्न अथवा असिद्ध होनेपर रूढ़िके कारण अथवा किसी प्रयोजनकी सिद्धिके लिए मुख्यार्थसे सम्बन्धित किसी अन्य अर्थको लक्षित कराती है, किन्तु जब अभिधा और लक्षणा कविके अभीष्ट अर्थको द्योतित करानेमें असमर्थ रहती हैं तो व्यंजना-शक्तिका ही सहारा लेना पड़ता है। अभिधेयार्थ स्पष्टतया कहा जाता है, लक्ष्यार्थ सूचित कराया जाता है, किन्तु व्यंग्यार्थका ध्वनन ही सम्भव हुआ करता है, कथित अथवा लक्षित न होनेपर भी वह सहृदय जनों द्वारा समझ लिया जाता है। अभिधा और लक्षणाका सम्बन्ध केवल शब्दसे ही होता है, किन्तु व्यंजना शब्दपर ही नहीं, वरन् अर्थपर भी आधारित रहती है, अर्थात् वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ भी व्यंजना कराया करते हैं—वे भी व्यंजक बन जाते हैं। यही नहीं, एक व्यंग्यार्थ दूसरे व्यंग्यार्थको तथा दूसरा पुनः तीसरे व्यंग्यार्थकी व्यंजना भी करा सकता है। व्यंजना-व्यापारकी इसी विशेषताको देखते हुए उसके दो प्रधान भेद किये गये—(१) शाब्दी व्यंजना और (२) आर्थी व्यंजना।

शब्दपर आधारित व्यंजना **अभिधामूला** तथा **लक्षणामूला** होती है :—

अभिधामूला शाब्दी-व्यंजना—'काव्यप्रकाश'के अनुसार जब संयोग आदिके द्वारा शब्दका वाच्यार्थ नियन्त्रित (निर्धारित) हो जाता है, तब व्यंजना ऐसे अर्थका

द्योतन कर दिया करती है, जिसे कभी भी वाच्यार्थ नहीं कहा जा सकता है—"अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते। संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद्व्यापृतिरञ्जनम्" (का० प्र०, २ : १९)। अनेकार्थी शब्दोंके एक अर्थमें नियन्त्रित हो जानेके बाद, जिस शक्ति द्वारा उन शब्दोंमें दूसरा अर्थ ध्वनित होता है, उसे अभिधामूला शाब्दी व्यंजना कहते हैं। अनेकार्थी शब्दोंको एक अर्थमें नियन्त्रित करनेके १४ कारण बतलाये गये हैं—संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रकरण, लिंग, अन्यसन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति तथा स्वर (दे० "अभिधा शक्ति')। "मालिनि आज कहै न क्यों, वा रसालको हाल" (दास)। रसाल शब्द अनेकार्थी है और आम तथा प्रिय व्यक्तिका अर्थ देता है। 'मालिन'के साहचर्यमें उसका वाच्यार्थ 'आम' निर्धारित हुआ। पर 'रसाल' प्रिय व्यक्तिके लिए भी प्रयुक्त होता है, अतः पंक्तिसे यह व्यंग्यार्थ ज्ञात हुआ कि "हे सखी, मेरे प्रियका समाचार क्यों नहीं देती?" वाच्यार्थसे व्यंग्यार्थ ज्ञात होनेके कारण इस उदाहरणमें अभिधामूला व्यंजना है और शाब्दी इसलिए है कि रसालके स्थानपर आम रख देनेसे व्यंजना समाप्त हो जाती है। अभिधामूला शाब्दी व्यंजना तथा श्लेषमें यह अन्तर है कि श्लेषालंकारके सभी अर्थ प्रसंगानुमोदित होनेके कारण वाच्यार्थ होते हैं, किन्तु अभिधामूला शाब्दी व्यंजनामें अभिधाके विरत हो जानेपर ही व्यंग्यार्थकी ध्वनि निकलती है। साथ ही यह भी स्मरणीय है कि श्लेषमें विशेष्य पद ही अनेकार्थी होते हैं, पर शाब्दी व्यंजनामें विशेष्य तथा विशेषण, दोनों ही अनेकार्थी होते हैं।

लक्षणामूला शाब्दी-व्यंजना—लक्षणामें शब्दका मुख्यार्थ बाधित रहता है। यह अर्थ-बाधा किसी विशेष प्रयोजनकी सिद्धिके लिए वक्ता द्वारा जान-बूझकर उपस्थित की जाती है। जब कोई व्यक्ति किसीसे कह उठता है—'क्यों सिर खाते हो?' तब वह भले प्रकार जानता है कि सिर कोई खानेकी चीज नहीं है। वह वस्तुतः अपनी झुंझलाहट अथवा खीझ प्रकट करनेकी दृष्टिसे ही इस प्रकारका असंगत प्रयोग करता है। 'गंगापर गाँव स्थित है', जैसे कथनोंमें भी वक्ता लक्ष्यार्थ—'गंगाके समीप गाँव है' द्वारा उस गाँवकी पवित्रता तथा शीतल जलकी सुविधा आदि सूचित करनेके प्रयोजनसे ही कथन कर देता है। मम्मटका मत है कि न तो अभिधेयार्थ और न लक्ष्यार्थ ही इस प्रयोजनका अर्थ-बोध करानेमें समर्थ होते हैं (का० प्र०, २ : १४)। अतः जिस प्रयोजनकी सिद्धिके लिए लक्षणाका अवलम्ब लिया जाता है, उस प्रयोजनकी व्यंजना करानेवाली शक्तिको लक्षणामूला शाब्दी-व्यंजना कहते हैं। स्पष्ट ही लक्षणाके दो प्रमुख भेदों (रूढ़ा, प्रयोजनवती) में केवल प्रयोजनवती लक्षणा ही इस व्यंजनाका आधार बन सकती है। रूढ़ प्रयोगोंमें जो प्रयोजनरूप व्यंग्य रहता भी है, वह निरन्तर प्रयोगके कारण नहींके बराबर ही हो जाता है। 'काव्यप्रकाश'के अनुसार प्रयोजनवती लक्षणाके छः प्रमुख भेद हैं तथा कुल मिलाकर १२ भेद माने गये हैं। 'साहित्य-दर्पण'में इसके ८ प्रमुख भेद तथा सब मिलाकर ६४ भेद माने गये हैं। ये सभी भेद लक्षणामूला शाब्दी-व्यंजनाके उदाहरण हैं (दे० 'प्रयोजनवती लक्षणा')।

वक्तृ, बोधव्य, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्यसन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल तथा चेष्टा आदिकी विलक्षणताके कारण आर्थी व्यंजनाके दस भेद किये गये हैं। वाच्यसम्भवा, लक्ष्य-सम्भवा तथा व्यंग्यसम्भवा भी आर्थी व्यंजनाके तीन प्रकार स्वीकृत हैं, क्योंकि 'अर्थ'के तीन भेद होते हैं—वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य। उक्त दस भेदोंके साथ इन तीन भेदोंको मिला देनेसे आर्थी व्यंजनाके कुल मिलाकर तीस भेदोंका निर्देश प्राचीन शास्त्रकारोंने किया है। वस्तुतः व्यंजनाकी सम्भावनाएँ अनन्त हैं—कब, कहाँ तथा किस बातके कारण व्यंजना होने लगती है, इसकी कोई निश्चित व्यवस्था नहीं दी जा सकती है। शास्त्रकारोंने जिन भेदोंका निर्देश किया है, उन्हें तो केवल बानगी ही समझा जा सकता है। व्यंजना-व्यापारकी अनन्तताके अतिरिक्त अर्थ-परम्पराकी जो क्रमबद्ध शृंखला प्रस्तुत करनेकी अद्भुत क्षमता इस शब्द-शक्तिमें स्वभावतः विद्यमान है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। तभी तो ध्वनिके मेधावी आचार्योंने व्यंग्यार्थके चमत्कारको ही काव्यकी एकमात्र कसौटी माना है। —उ० शं० शु०

व्यक्तित्वप्रदर्शनवादी आलोचना—१८वीं शतीके अन्तिम चरणमें इसका संकेतमात्र हुआ था, किन्तु रोमांसकालके आरम्भसे इसकी ओर विशेष ध्यान दिया गया। इस प्रणालीके अनुसार जिस रचनामें उसके लेखकका यथार्थ और निष्कपट चित्र मिलता है, उसीको श्रेष्ठ कहा जायगा। यथार्थता और निष्कपटताकी इस माँगके कारण रचनामें नितान्त मौलिकताकी भी माँग की जाती है। ये आलोचक उसी रचनाको सुन्दर कहेंगे, जो दूसरोंसे भिन्न हो, क्योंकि भिन्नता ही सौन्दर्यका मापदण्ड है। इनके अनुसार रोमांचक तथा उत्तेजित करनेवाली रचनाको श्रेष्ठ रचना मानना चाहिये। इस प्रणालीकी यही त्रुटि भी है कि यह निष्कपट व्यक्तित्व-प्रकाशन तथा मौलिकतापर बल देती है, क्योंकि किसी भी लेखकसे इन दोनों बातोंकी अपेक्षा नहीं की जा सकती। न तो कोई अपना निष्कपट जीवन ही किसीके सामने प्रस्तुत करता है या कर सकता है और न नितान्त मौलिक कोई ऐसी रचना हो सकती है, जिसमें एकदम नयापन हो। —आ० प्र० दी०

व्यक्तित्ववाद—अंग्रेजीमें 'इण्डिविजुअलिज्म' और 'पर्सनलिज्म', दो भिन्न अर्थवाले शब्द हैं। हिन्दीमें 'इण्डिविजुअलिज्म'के लिए व्यक्तिवाद और 'पर्सनलिज्म'के लिए व्यक्तित्ववाद या कभी-कभी वैयक्तिकतावादका भी प्रयोग होता है। व्यक्तित्ववाद एक विशिष्ट चिन्तन-सम्प्रदाय न होकर बहुत-सी ऐसी विचारधाराओंका बोध कराता है, जिनमेंसे कुछ आस्तिक हैं कुछ नास्तिक। कुछ धर्मको स्वीकार करती हैं, कुछ अस्वीकार करती हैं, किन्तु वे सभी यह स्वीकार करती हैं कि जीवनमें मूल्योंका सम्बन्ध व्यक्तित्वसे होता है और व्यक्तित्व मनुष्यकी वह क्षमता है, जो मूल्योंकी खोज करती है और उन्हें आत्मसात् करती है।

पश्चिममें निकोलस बर्डेव जैसे रहस्यवादी चिन्तक, मैरीटेन जैसे कैथोलिक चिन्तक तथा किर्केगार्ड, यास्पर्स और गैब्रील मार्सेल जैसे अस्तित्ववादी चिन्तक समान रूपसे मानवीय व्यक्तित्वकी इस महत्ताको स्वीकार करते रहे हैं।

यन्त्रोंका उदय, समूह-मानवका विकास, शासनसत्ताकी बढ़ती हुई निरंकुशता और इसी प्रकारकी अन्य परिस्थितियों-ने मानव-व्यक्तित्वमें जो विघटन प्रस्तुत कर दिया है, उसके निराकरणके लिए विभिन्न क्षेत्रोंमें विभिन्न प्रणालियोंके द्वारा मानवकी पुनःप्रतिष्ठाके जितने भी प्रयास हुए, उन सबको व्यक्तिवादकी संज्ञा दी जा सकती है। यद्यपि मानव-व्यक्तित्व की पुनःप्रतिष्ठामें व्यक्तित्ववादी बहुत-सी वर्तमान मान्य-ताओंका निषेध करते हैं और मनुष्यके लिए स्वतन्त्रताकी माँग करते हैं, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उनका दर्शन निषेधात्मक है। अधिनायकवाद और यान्त्रिकताके उदयने जो संकट उपस्थित कर दिया है, उसके निराकरणके लिए वे एक रचनात्मक दृष्टिकोणकी खोज कर रहे हैं। उस खोजमें विभिन्न विचारधाराओंके सह-अस्तित्वको वे स्वीकार करते हैं—यदि वे विचारधाराएँ विभिन्न मार्गोंसे मानव-व्यक्तित्व-की महत्ताको स्वीकार करती हों। इसीलिए इसके प्रमुख प्रवक्ता एमानुएल मूनियरने स्पष्ट कहा है कि व्यक्तित्ववाद वस्तुतः वाद न होकर एक वृत्ति है—एक परिप्रेक्ष्य है, जिसमें निरन्तर बदलती और विकसित होती हुई ऐतिहा-सिक वस्तु-स्थितिको समझनेका प्रयास किया जाता है। इसमें यह माना जाता है कि मनुष्यमें स्वातन्त्र्य और आत्मनिर्माणकी क्षमता है और वह भौतिक अवास्त-विकताओंसे पलायन न कर उनका सामना कर अपनी आन्तरिक क्षमताओंका उपयोग कर अपनी वर्तमान अवस्था-का अतिक्रमण कर सकता है। इसमें यह भी माना जाता है कि मानव-व्यक्तित्वकी वास्तविक गति मानवमात्रके कल्याणकी दिशासे पृथक् नहीं जाती। व्यक्तित्ववादियोंने जहाँ एक ओर नाजी और स्टालिनवादी तानाशाहीकी निन्दा की है, वहीं दूसरी ओर यह भी माना है कि मार्क्सने अपने समयमें मानव-व्यक्तित्वकी पुनःप्रतिष्ठा करनेका प्रयास किया था। वर्ग-वैषम्यसे युक्त समाजमें व्यक्तिकी स्वाधीनताका कोई अर्थ नहीं होता, क्योंकि उसमें पूँजीपति शोषण करनेके लिए स्वतन्त्र है और मजदूर शोषित होनेके लिए मजबूर। अतः जबतक सबकी आर्थिक स्थिति समान नहीं होती, तबतक स्वातन्त्र्य एक बूर्ज़ुवा भ्रान्ति है। किन्तु बोल्शेविक क्रान्तिके बाद 'प्रोलेतेरियतकी तानाशाही'के नामपर कतिपय महत्त्वाकांक्षी शासकोंने मानव-व्यक्तित्वकी पवित्रता और स्वातन्त्र्यका समूल उच्छेद करनेका जो प्रयास किया, उससे व्यक्तित्ववादी सहमत नहीं।—ध० वी० भा०

व्यक्तिपूजा–समाज-निर्माणमें जनशक्तिको महत्त्वपूर्ण न मानकर किसी विशेष व्यक्तिको महत्त्व देना। अधिनायक-वादमें डिक्टेटर वीर-पूजाकी भावनाको अपने प्रति प्रेरित कराकर व्यक्तिपूजाका विकास कराता है। सोवियत रूसके स्टालिनोत्तर नेता स्टालिनको व्यक्तिपूजाका उन्नायक मानते हैं और इस प्रवृत्तिको सच्ची समाजवादी व्यवस्थाके विकासमें बाधक मानते हैं। —ध० वी० भा०

व्यक्तिप्रधान (काव्य)–दे० 'स्वात्मनिष्ठ' (काव्य)।

व्यक्तिवाद–यह शब्द अंग्रेजीके 'इण्डिविजुअलिज्म'का पर्याय है, जिसका सर्वप्रथम प्रयोग 'ऑक्सफोर्ड शब्दकोश'-के अनुसार हेनरी रीव्स द्वारा अंग्रेजीमें अनूदित डी टाकव-लीकी एक पुस्तकमें मिलता है। वैसे तो यह शब्द मूलतः फ्रेंच भाषाका ही है, किन्तु हेनरी रीव्सने कई कारणोंसे इसका अंग्रेजीमें प्रयोग किया है। हेनरी रीव्सने इस प्रयोग-के जितने भी कारण बताये हैं, उनसे केवल उस प्रयोगके औचित्यका ही ज्ञान नहीं होता, प्रत्युत इस शब्दकी भाव-गत विशेषताओंका भी पता चलता है। इस शब्दके पहले अंग्रेजीमें 'इगोटिज्म' शब्द प्रयुक्त होता था, किन्तु वह शब्द जिस मानसिक दृष्टिकोण और जिन नैतिक प्रतिमानों-का प्रतीक था, 'इण्डिविजुअलिज्म' शब्द उनसे कहीं अधिक संयत मानसिक दृष्टिकोण और कहीं अधिक विस्तृत नैतिक मानदण्डोंका द्योतक है। 'इगोटिज्म'के अनुसार हर एक व्यक्ति अपने प्रत्येक कार्यका लक्ष्य है। उसका सम्पूर्ण स्नेह, समूचा लगाव अहम्‌के जीवित सम्पर्कमें ही है। अति स्वार्थमयी प्रवृत्तियाँ ही उसकी प्रेरणाशक्ति हैं। परन्तु 'इण्डिविजुअलिज्म' उस मानसिक दृष्टिकोणका सूचक है, जिसके अनुसार व्यक्ति समष्टिसे पार्थक्य तो कर लेता है, किन्तु वह घोर स्वार्थवादी मनोवृत्तियोंके आवेशमें अपने अहम्‌के प्रति सम्पूर्ण स्नेह और लगाव नहीं रखता। कुछ अंशोंमें व्यक्तिवादका भावनात्मक आधार जननान्त्रिक सिद्धान्त है।

व्यक्तिवाद समाजके प्रति नकारात्मक दृष्टिकोणकी स्थापना है। समाज सावयविक अस्तित्व नहीं है, प्रत्युत स्वतन्त्र व्यक्तियोंका योग है। अतः समष्टिशक्तिको व्यक्तिपर, उसके अधिकारों और स्वतन्त्रताओंपर बलप्रयोगका नैतिक अधिकार नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति अपने हितों और स्वार्थोंको जितनी अच्छी तरहसे समझ सकता है, उतना समाज कदापि नहीं। अतः तर्ककी दृष्टिसे सामाजिक बन्धन और परम्पराएँ, रीति और रिवाज, सामूहिक संस्थाएँ और मान्यताएँ निरंकुशता-के साथ व्यक्तिपर शासन नहीं कर सकती। व्यष्टिमूलक व्यापारोंका साध्य व्यक्तिका हित है और उसका एकमात्र ज्ञाता व्यक्ति।

आधुनिक व्यक्तिवादके विकासकी एक लम्बी पृष्ठभूमि है। थ्यूसीडायडीज (४६०-४०० ई० पू०) द्वारा वर्णित पेरीक्लीज (४९०-४२९ ई० पू०)के एक भाषणमें हमें सर्वप्रथम व्यक्ति-वादकी ग्रीक उत्पत्तिका पता चलता है। तदुपरान्त पाँच शती ईसापूर्वके लगभग जब ग्रीक समाज विघटित हो रहा था, तो उस समय ग्रीक विचारकोंने व्यक्तिवादी मान्यताओं-की प्रतिष्ठा की। उस प्रतिष्ठाकी विशेषताएँ इस प्रकारसे थीं—समाजव्यवस्था और परम्परासे टूटकर भी व्यक्ति अपने अस्तित्वका भली भाँति निर्वाह कर सकता है। उसकी आत्म-निर्भरता निसर्गसिद्ध है। इन्हीं विचारोंको आधार मानकर ग्रीक सोफिस्टोंने अपने व्यक्तिवादकी स्थापना की। उनके अनुसार राज्य कृत्रिम है और मानवजन्य परम्परा-का प्रतीक। अतः राज्यकी परम्पराशक्तिका व्यक्तिके नैस-र्गिक स्वार्थोंसे मौलिक विरोध है। राज्य और व्यक्तिका यह अन्तर निसर्ग और परम्पराके मौलिक अन्तरोंकी पृष्ठभूमिमें चित्रित किया गया था।

यह प्रच्छन्न व्यक्तिवाद बादमें चलकर परिष्कृत और परिवर्धित किया गया। समाजको सत्य और यथार्थ मानकर, उसकी उत्पत्तिके कारण व्यष्टिमूलक स्वार्थोंकी ही पूर्तिमें ढूँढे गये और समाज तथा राज्यको उन्हीं स्वार्थोंकी

प्राप्तिका एकमात्र साधन बनाया गया। इस दृष्टिकोणका उल्लेख प्लेटोके 'रिपब्लिक'में मिलता है। विधि और व्यक्तिगत स्वार्थोंकी यह एकरूपता बहुत दिनोंतक नहीं चल सकी। विधियाँ शक्तिके आधारपर व्यक्तित्वपर प्रहार करती हैं और उसकी नैसर्गिक सरलताको नष्ट कर देती हैं। शनैः-शनैः इस दृष्टिकोणको दार्शनिक दृढ़ता प्रदान की गयी। भौतिक विज्ञानके समानान्तर समाजको स्वसीमित अणुओंका समूह माना गया है। इपीक्यूरस(३४१-२७० ई० पू०)का दर्शन इसी भावनाकी स्थापना करता है। उसके दर्शनमें आधुनिक व्यक्तिवादके दो प्रधान तत्त्व स्पष्ट रूपसे दीख पड़ते हैं—प्रथम, प्रत्येक मनुष्यका एकमात्र लक्ष्य सुख है और द्वितीय, समाज और राज्य आवश्यक दोष हैं।

आधुनिक व्यक्तिवादके चार प्रधान रूप हैं—धार्मिक, वैज्ञानिक, आर्थिक और राजनीतिक। इनमेंसे राजनीतिक व्यक्तिवादका अनिवार्य सम्बन्ध काल-क्रमानुसार अन्य तीन प्रकारोंसे सदैव होता रहा है। मध्ययुग और आधुनिक सुधार-आन्दोलनोंतक राजनीतिक व्यक्तिवाद धार्मिक व्यक्तिवादके रूपमें अपनी स्थापना करता रहा है। धार्मिक व्यक्तिवादका स्रोत ईसाई धर्म है, जो स्वयं दो विरोधी तत्त्वोंके सम्पर्कसे निर्मित हुआ है। पहला तत्त्व यह है कि सारे ईसाई एक संघटित ईसाई समाजके सदस्य हैं, जिनका एक ही बड़ा चर्च रोमन कैथोलिक चर्च है। दूसरा तत्त्व यह है कि हर एक व्यक्तिको यह स्वतन्त्रता है कि वह अपनी आत्माके सजग विश्वाससे जिस किसी भी धर्म अथवा पूजाको चाहे, ग्रहण करे। ईसाई धर्म व्यक्तिको ऊँचे प्रतिमानोंसे देखता है और उसकी धार्मिक चेतनापर शक्ति-प्रयोगका आदेश नहीं देता। परन्तु मध्ययुगमें जब ईसाई धर्म-संघटनकी समस्याएँ जटिल थीं तो रोमन कैथोलिक चर्चने पहले समष्टिवादी तत्त्वको कार्यरूपमें परिणत किया और दूसरे व्यक्तिवादी धारणाको सिद्धान्तरूपमें स्वीकार किया। धार्मिक सुधारकी शताब्दियोंमें जब रोमन कैथोलिक चर्चके विरुद्ध यूरोपीय राष्ट्रोंमें प्रतिक्रियाएँ हुईं तो धार्मिक सुधारकोंने अपनी दृष्टि ईसाई धर्मके दूसरे व्यक्तिवादी तत्त्वपर केन्द्रित की। फलस्वरूप स्वतन्त्र धर्मोंकी योजनाका प्रस्ताव होने लगा। कई राष्ट्रोंने रोमन कैथोलिक चर्चसे सम्बन्धविच्छेद कर राष्ट्रीय चर्चोंका निर्माण किया।

धार्मिक व्यक्तिवाद धीरे-धीरे वैज्ञानिक व्यक्तिवादमें परिवर्तित होने लगा। आधुनिक विज्ञानने इस व्यापक सृष्टिको छोटे-छोटे कणोंमें विभक्त कर दिया। इसीका सहारा लेकर मनोविज्ञानने व्यक्तिकी मानसिक एकताको संवेदनाओंमें विघटित किया और सामाजिक विज्ञानने सामाजिक संघटनोंको स्वतन्त्र व्यक्तियोंके अस्तित्वमें तोड़ दिया। सृष्टिमें, मस्तिष्कमें, समाजमें हर एक जगह एकताका, एकरूपताका सिद्धान्त टूट रहा था और उसके स्थानपर अनेकता और बहुरूपताके सिद्धान्तोंकी स्थापना हो रही थी। विज्ञानके क्षेत्रमें न्यूटन (१६४२-१७२७ ई०)-का और मनोविज्ञान और राजनीतिशास्त्रके क्षेत्रमें हॉब्स-(१५८८-१६७९ ई०)का नाम उल्लेखनीय है। हॉब्ससे लेकर लॉक (१६३२-१७०४ ई०)ने और लॉकसे प्रभावित होकर बुद्धिवादी युगके कुछ फ्रेन्च विचारकोंने और उनसे प्रेरणा प्राप्त कर बेन्थम (१७४८-१८३२ ई०)ने जिस सामाजिक व्यक्तिवादकी प्रतिष्ठा की, वह सोलहवीं और उन्नीसवीं शताब्दीको एक लम्बी तर्कशृंखलामें जोड़ देता है। हॉब्स प्रकाश-केन्द्र है और उसके परवर्ती विचारक उस प्रकाशकी रेखाएँ।

पूँजीवाद (दे०)के विस्तारसे आर्थिक क्षेत्रमें भी व्यक्तिवाद फैलने लगा। क्लैसिकल ऐकानोमीके जन्मदाता ऐडम स्मिथ(१७२३-१७९० ई०)ने विनिमयके व्यक्तिवादी सिद्धान्तकी स्थापना की। उसके अनुसार किसी भी आर्थिक व्यापारमें राज्यका हस्तक्षेप नहीं होना चाहिये, क्योंकि उससे स्वतन्त्र विनिमयमें व्यवधान होगा। हर एक व्यक्ति स्वार्थोंका समूह है और निसर्ग उन स्वार्थोंका सम्मिलन इस 'अदृश्य शक्ति'से करती है, जिससे कि इन स्वार्थरत व्यक्तियोंमें आपसी संघर्ष कदापि नहीं हो सकता। स्वार्थोंका यह आश्चर्यजनक समन्वय निसर्ग द्वारा ही सम्भव है। अतः राज्य और समाज जैसी कृत्रिम संस्थाओंको इस प्रसंगमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। इस दृष्टिकोणको एक सैद्धान्तिक रूप प्रदान किया गया, जिसे 'हितोंकी नैसर्गिक एकरूपता' अथवा अंग्रेजीमें 'नेचुरल आइडेण्टिटी आव इण्टरेस्ट' कहते हैं। इस सिद्धान्तका जन्म पूँजीवादके विकासशील युगमें हुआ था। परन्तु उन्नीसवीं शतीके उत्तरार्धमें पूँजीवादी संघटनोंने जब समाजके सम्मुख जटिल आर्थिक समस्याएँ उपस्थित कर दीं तो हितोंकी नैसर्गिक एकरूपता मात्र कल्पना ही रह गयी। श्रमिकोंके संघटन बने। आर्थिक अधिकारोंकी माँग की गयी। राज्यने आर्थिक व्यापारोंमें हस्तक्षेप प्रारम्भ किया। इस दृष्टिकोणके सर्जनका प्रधान श्रेय समाजवादी विचारधाराको प्राप्त है।

आर्थिक व्यक्तिवादके दिनोंमें ही राजनीतिक व्यक्तिवादका स्वरूप उतना प्रच्छन्न नहीं था, जितना आर्थिक व्यक्तिवादका, क्योंकि उस समय भी व्यक्तिवादी विचारक यह मानते थे कि जिस प्रकार आर्थिक क्षेत्रमें स्वार्थोंमें संघर्ष सम्भव नहीं है, उसी प्रकार राजनीतिक क्षेत्रमें वह संघर्ष सम्भव नहीं है। आर्थिक गत्यात्मकताके सिद्धान्त राजनीतिक गत्यात्मकतापर घटित नहीं होते। राजनीतिक क्षेत्रमें स्वार्थोंकी विविधरूपता संघर्षको जन्म दे सकती है। अतः स्वार्थोंकी एकरूपता लानेके लिए निसर्गसे सहायता मिलना असम्भव है। इसके लिए तो मनुष्यको स्वतः प्रयास करना पड़ेगा। इसी नाते इन व्यक्तिवादी विचारकोंने राजनीतिक क्षेत्रमें 'हितोंकी नैसर्गिक एकरूपता'के स्थानपर 'हितोंकी कृत्रिम एकरूपता' अथवा अंग्रेजीमें 'आर्टिफिशियल आइडेण्टिफिकेशन ऑव इण्टरेस्ट्स' नामक सिद्धान्तको स्वीकार किया। इस सिद्धान्तके आधारपर विधिनिर्माताका उत्तरदायित्व है कि वह समाजके सदस्योंके विभिन्न स्वार्थोंमें समन्वय स्थापित करे। किन्तु स्वार्थ विभिन्न हैं, इसलिए सब स्वार्थोंमें समन्वय स्थापित करना सम्भव भी नहीं है। ऐसी परिस्थितिमें विधिनिर्माताका केवल एक लक्ष्य है—"अधिक-से-अधिक लोगोंका हित-साधन" अथवा अंग्रेजीमें 'ग्रेटेस्ट गुड ऑव द ग्रेटेस्ट नम्बर' ही किया जाय। इस-लक्ष्यने एक सिद्धान्तका रूप ग्रहण किया और उस सिद्धान्तने एक विशेष राजनीतिक दर्शनका सर्जन किया। वह

दर्शन उपयोगितावाद (दे०) अथवा 'यूटिलिटैरियनिज्म'के नामसे अभिहित है। किन्तु जब उन्नीसवीं शतीके उत्तरार्धमें आर्थिक व्यक्तिवादकी परम्पराएँ टूटने लगी, तो राजनीतिक व्यक्तिवाद भी प्रतिक्रियाहीन न रहा। जॉन स्टुअर्ट मिल-(१८०६-१८७३ ई०)ने उस राजनीतिक चेतनाका प्रतिनिधित्व किया, जिसमें राज्यको व्यक्तिगत जीवनमें हस्तक्षेप करनेके लिए पहलेसे अधिक अधिकार प्राप्त हो जाते हैं। किन्तु मिल संक्रान्तिकालका विचारक था, जो स्वभावतः गत्यात्मक है। इस गत्यात्मकताको स्थायित्व उस राजनीतिक आदर्शवाद अथवा पोलिटिकल आइडिलिज्ममें मिला, जिसका सूत्रपात इंग्लैण्डमें थामस हिलग्रीन (१८३६-१८८२ ई०)के दर्शनमें होता है।

व्यक्तिवाद अपने लम्बे इतिहासमें अपनी सफलताओंके नाते ही नहीं, प्रत्युत अपनी असफलताओंके नाते भी महत्त्वपूर्ण है। उसकी सफलता इस बातमें है कि जब कभी इतिहासमें निरंकुशताने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और अधिकारों को छीननेका प्रयास किया है तो व्यक्तिवादने उसकी सफल सामाजिक प्रतिक्रिया की है। पहले विचारोंके क्षेत्रमें, फिर राजनीतिक पदार्थकी सतहपर उतरकर उसने समाज-को स्वतन्त्र बनानेका प्रयास किया है। किन्तु विषयके स्थायित्वके बाद इसकी प्रगति अवरुद्ध हो जाती है और तब वह ध्वंसोन्मुख समाजकी पलायनवादी मनोवृत्तियोंका प्रतीक बन जाता है। उसके सिद्धान्त सामाजिक प्रगतिके द्वार अवरुद्ध करते हैं और तब समष्टिवाद इस प्रच्छन्न व्यक्तिवादकी प्रतिक्रिया बन जाता है। राजनीतिक विचारों-का इतिहास मूलतः समष्टिवाद और व्यष्टिवादके आपसी संघर्षोंकी कहानी है। आदर्श सामाजिक व्यवस्था किसी एकांगी परिस्थितिपर टिक नहीं सकती, चाहे वह समष्टि-वाद हो अथवा व्यक्तिवाद। दोनों एक-दूसरेके पूरक हैं। समाज और व्यक्तिका अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। पृथक् होकर दोनों ही अकेले हैं, नितान्त एकांगी, निःसंग, अतः निःसार, अर्थहीन।

हिन्दी साहित्यमें व्यक्तिवाद मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाका स्वरूप है उस सामाजिक परिस्थितिके विरुद्ध, जो व्यक्तित्व-के स्वतन्त्र विकासका हनन करती है। हिन्दीका बहुत-कुछ आधुनिक साहित्य साम्राज्यवादी युगमें ही लिखा गया है। फलस्वरूप व्यक्तिको विकसित होनेके उचित साधन प्राप्त नहीं हुए। इस कारणसे व्यक्तित्वकी कर्मजिज्ञासा बुझ गयी और वह अन्तर्मुखी हो बैठा। बाह्य संसारसे दृष्टि खींचकर उसने अन्तर्मुखी मनपर दृष्टि डाली। उसका अहम् ही समाज और परिस्थितिका सत्य हो गया। उसीके विविध रूपोंमें ही उसने अपनी कल्पनाके रंग भरे। किन्तु यह आत्म-दर्शन नहीं था। यह था शुद्ध आत्म-पलायन। यही आत्म-पलायन अधिकांश छायावादी कविताओंका आधार है। यह आत्म-पलायन समाजकी अस्वीकृति है, जो 'अज्ञेय' (१९११ ई०) लिखित 'शेखर : एक जीवनी'में कहीं-कहीं मिलता है। साहित्यके विविध अंगोंमें इस व्यक्तिवादने समस्याओंका समाधान नहीं किया है, केवल उनकी जटिलताओंका निदर्शन ही उसका लक्ष्य रहा है। कहीं-कहीं यह नितान्त निःसंगता आत्म-बलि-दानके रूपमें उद्धृत की गयी है। जैनेन्द्र (१९०५ ई०)का 'त्यागपत्र' और 'सुनीता', 'विवर्त' और 'व्यतीत' इस दृष्टिसे उल्लेखनीय है। साहित्यमें दुःखवाद (दे०) इसी पलायनवादी व्यक्तिवादका प्रतिरूप है। वैष्णव सम्प्रदायोंकी एकान्त भक्ति-साधना और आधुनिक छायावादी कवियोंकी निःसंग दुःख-साधनामें महान् अन्तर है। पहला व्यक्तिवादी है, किन्तु अपने सम्प्रदायका अभिन्न अंग बनकर। दूसरा पलायनवादी है, सामूहिक परम्परासे टूटकर। स्वतन्त्र भारतमें इस पलायनवादी व्यक्तिवादकी कोई भी परम्परा अब शेष नहीं है। आजका हिन्दी कलाकार नये तथा रचनात्मक प्रतिमानोंकी खोजमें व्यस्त है।

[सहायक ग्रन्थ—मॉडर्न पोलिटिकल थ्योरी : सी० ई० एम० जोड।] —रा० कु० त्रि०

व्यक्तिवादी आलोचना-प्रणाली—व्यक्तिवादी आलोचना-प्रणाली द्वारा यह माना जाता है कि किसी भी कृतिकारके व्यक्तित्वको उसकी कृति द्वारा जाना जा सकता है, जैसे **जीवनवृत्तान्तीय आलोचना-प्रणाली**में जीवनवृत्तान्त द्वारा कृतिको समझनेकी चेष्टा की जाती है, उसी प्रकार व्यक्ति-वादी आलोचना-प्रणालीमें कृतित्वसे कृतिकारके व्यक्तित्वको आँककर कृतिके गुण-दोषकी विवेचनाके साथ-साथ कृतिकार के व्यक्तित्वको भी उसका अनिवार्य अंग माना जाता है। आधुनिक कालमें बहुधा इस प्रकारका प्रयास किया जाता है कि कृतिकारकी कृतिके माध्यमसे कृतिकारके जीवन और उसके विभिन्न भावस्तरोंके माध्यमसे किसी भी कृतिकी साहित्यिक विवेचना की जाय। इस विचारधाराके अनुसार कृतिकारकी कृतिको उसके व्यक्तित्वको प्रसारित करनेवाली वस्तु माना जाता है। कृतिको व्यक्तित्वका अंश मानकर उसके माध्यमसे कविके व्यक्तित्वकी ऊँचाई, बड़ाई, उदात्त एवं महान् तत्त्वोंको परिलक्षित करनेका प्रयास इस विचार-धाराका अंश है।

इस प्रवृत्तिकी मूल स्थापनाएँ ये हैं कि कृतिकारकी कृति उसीका जीवनवृत्तान्त है। उसके सतत संघर्षों और उत्कर्षोंके बीचसे ही उसकी रचना, कृतित्वबोध एवं उसकी अनुभूति अभिव्यक्ति पाती है। किसी सीमातक कृतिकारके इन संघर्षोंका रूप उसकी सीमा, उसके व्यक्तित्वमें प्रति-बिम्बित होती है। कहीं-कहीं इस विचार-प्रणालीके लोग यह भी मानते हैं कि कृतिकारका कृतित्व कृतिकारके जीवन-की असफलताओं, विफलताओं और कटु अनुभवोंको व्यक्त करता है और इस प्रकार वह उसके समूचे जीवनका क्षति-पूरक (compensatory) भी होता है। व्यक्तिवादी आलोचना-प्रणाली यह स्वीकार करती है कि कृतिकारका जीवन जिन कल्पनाओं और जिन विचारोंकी कल्पनामें बीतता है अथवा जिन मूल्योंके लिए वह संघर्ष करता है, उस संघर्षका वास्तविक मूल्यांकन एवं प्रतिबिम्ब रचनामें स्वतः अवतरित होता है। यह अवतरण कृतिकारके व्यक्तित्वका, उसके अभावों और पूर्णताओंके साथ साहित्यमें संचारित होकर व्यक्त होता है। अस्तु, इसीकी दृष्टिमें कृतिकारकी आत्मपरक अनुभूतियोंका विशेष महत्त्व माना है और इस विचारधाराके लोगोंका मत है कि यदि कृतिकार और उसकी कृतिको सम्बद्ध करके नहीं देखा जायगा तो

कृतिकारकी मूल भावनाको ग्रहण करना कठिन होगा ।

इस मूल प्रवृत्तिकी विवेचनाएँ इस आधारपर विकसित होती है कि कृतिकार आत्मवेदना एवं आत्मपीडाके साथ-साथ आत्मभुक्त क्षणोंको प्रस्तुत करता है । यदि उस क्षणका अंकन उसकी कृति है, तो फिर उसका वहन करनेवाला अथवा उसको आत्मसात् करनेवाला भी उस सन्दर्भ-विशेषमे महत्त्वपूर्ण है । जीवन और कृतित्वकी यह अबाध समरसना कलाकी मूल चेतना है ।

इस व्यक्तिवादी दृष्टिकी मूल विवेचन-पद्धतिमें जो विचार काम करते है, उनमे यह निहित है कि किसी भी रचनाको मात्र वस्तुपरक दृष्टिसे बिना कृतिकारके व्यक्तित्वको उचित महत्त्व दिये समझना कठिन है । जिस भावधाराके प्रवाहमें कृतिकार जीता-जागता है, उस समस्त वातावरणकी गूँज उसकी कृतिमे होती है, इसलिए उसकी प्रत्येक कृति किसी-न-किसी रूपमे उसकी सवेदनकी अनुभूतिके साथ-साथ उसके व्यक्तित्वका भी प्रतिनिधित्व करती है । तुलसीदासकी समस्त रचनामे या रसखानकी समस्त रचनामे जिस वृत्तिको अभिव्यक्ति मिली है, वह उस कविके समस्त सर्जनशील व्यक्तित्वसे इतनी बँधी है कि विना उस वृत्ति और उस जीवनको ध्यानमे रखे उसका पूर्ण रसबोध होना कठिन हो जाता है । इसी प्रकार आलम और सुजानकी रचनाओंमें हमें विशेष रस उसी समय मिल पाता है, जब उनकी वृत्तियों (attitudes) के साथ-साथ उनके व्यक्तित्वका भी बोध हमें हो ।

इस प्रणालीके मुख्य गुण ये हैं कि यह ऐसी सुविधाएँ देती है, जिससे पाठक कृतिकारकी मानसिक स्थिति और उसकी निजी सीमाओं और सम्भावनाओंके साथ उसके कृतित्वबोधकी मूल्यगत प्रवृत्तिको समझ सके । कभी-कभी बिना व्यक्तित्वको ध्यानमें रखे जो आलोचना प्रस्तुत की जाती है, वह या तो एकांगी होती है या उन बहुतसे तत्त्वोंको, जो उसके व्यक्तित्वकी सीमाएँ निर्धारित करते है, न जाननेके कारण कृतियोंपर सम्पूर्ण अभिव्यंजनात्मक दृष्टि नहीं प्रस्तुत कर पाती । व्यक्तित्वके परिचयमें दो चीजें सम्मिलित हैं—एक तो उसकी निजी आस्थाएँ और दूसरी उसकी वैयक्तिक दृष्टियोसे संलग्न उसकी निजी मर्यादाएँ । कला एवं साहित्यके क्षेत्रमें इस प्रकारकी विचारधाराको प्रश्रय देना अथवा उन सम्भावनाओंकी ओर अग्रसर होना, जो व्यक्तित्वके साथ कृतिके सन्देशको वहन कर सकनेमें समर्थ हो, कुछ सीमाओंतक आवश्यक है ।

किन्तु इस प्रणालीके मुख्य दोष इन्हीं सुविधाओंमें ही निहित है । प्रत्येक कलाकृतिके लिए स्वतन्त्र और वस्तुपरक दृष्टि अधिक महत्त्वपूर्ण होती है । कलाकी प्रेषणीयता इतनी होनी चाहिये कि वह पाठकमें समुचित रसोद्रेक पैदा करनेके बाद उसमें उस निजी तत्त्वको प्रेषित करे, जो नितान्त निजी है, व्यक्तिगत है । कृतिका प्रेषणीय होना व्यक्तित्वकी सीमामें नही निहित है, वरन् वह स्वतः काव्यके रूप, शिल्प और विषय-वस्तुका अंश है । यदि इन सीमाओं और इनके औचित्यपर ध्यान नहीं दिया जायगा तो समस्त साहित्य केवल कुण्ठाओं और विकृतियोंका पुंज बनकर रह जायगा । इसके साथ ही इस आलोचनाप्रणालीमें एक मुख्य दोष यह भी है कि इसका आग्रह साहित्यिक एवं व्यापक मानवीय मूल्योंपर न होकर वैयक्तिक मूल्योंपर है, जिसका परिणाम यह भी हो सकता है कि समस्त साहित्यिक अभिरुचिमें ऐसी अराजकता प्रश्रय पाये, जिसमें अनुशासनहीनता और मर्यादाओंकी विभिन्नता अपनी चरम सीमापर पहुँचकर उन समस्त मूल्योंको विघटित कर दे और जो व्यक्तिसे भी बड़ी और व्यक्तित्वकी सीमाओंके बावजूद साहित्यमें होती और प्रश्रय पाती है । —ल० का० व०

व्यक्तिस्वातंत्र्य—स्वातन्त्र्य मनुष्यका जन्मसिद्ध अधिकार माना गया है । स्वातन्त्र्यको राजनीति, समाजनीति जैसे लौकिक क्षेत्रोंमें ही नहीं, अपितु धर्म, दर्शन जैसे पारमार्थिक क्षेत्रोंमें भी पूरा महत्त्व दिया गया है । सभी धर्म इस लोकको बन्धन और स्वर्गको बन्धनोंसे मुक्तिके रूपमें मानते है । 'मनुस्मृति' एवं न्यायशास्त्रके अनुसार प्रतिकूलवेदनीयता, बन्धन, परवशता अथवा पारतन्त्र्य ही दुःख तथा अनुकूलवेदनीयता, विमोक्ष, आत्मवशता अथवा स्वातन्त्र्य ही सुख है । भारतीय प्रतिभा सदासे स्वतन्त्रताकांक्षिणी रही है, यहाँतक कि उसकी दृष्टिमे मोक्ष अथवा सर्वविध बन्धनोंसे आत्यन्तिक स्वातन्त्र्य ही मनुष्यका परम पुरुषार्थ है । यूरोपीय तत्त्वज्ञोंका एक बड़ा समुदाय भी स्वातन्त्र्यको सम्पूर्ण सृष्टिप्रक्रियाकी चरम गति माननेके पक्षमे है । हीगेलके अनुसार इतिहास विश्वात्मा द्वारा स्वातन्त्र्यकी उत्तरोत्तर उपलब्धिकी कहानी है । 'डास कैपिटल'के तृतीय खण्डमे स्वातन्त्र्यको मनुष्यकी सम्पूर्ण श्रम-साधना एवं समस्त भौतिक उत्पादनप्रक्रियाका चरम साध्य बतलाते हुए कार्ल मार्क्सने लिखा है कि वह (स्वातन्त्र्य) स्वयं ही अपना साध्य है ।

किन्तु हीगेल एवं भारतीय चिन्तकोंको व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी स्पष्ट कल्पना नही है । हीगेल जैसोंकी स्वातन्त्र्य सम्बन्धी धारणाओंके सम्बन्धमे एक आलोचकने लिखा है कि वे ऐसे वायवीय (हवाई) सिद्धान्त है, जो स्वातन्त्र्यको इतना पवित्र बना देते है कि वह इस लोकके कामका ही नहीं रहता । व्यक्तिको साध्य मानकर चलनेकी प्रवृत्ति हमें ईसाई परम्परामें देखनेको मिलती है । किन्तु व्यक्तिस्वातन्त्र्यवादके प्रचार एवं प्रसारका वास्तविक श्रेय यूरोपकी उदारवादी (लिबरल), मानववादी, वैयक्तिकवादी (परसनलिस्ट) और जनतन्त्रीय परम्पराओंको ही प्राप्त है । अराजकवादियोंने तो इसे पराकाष्ठातक पहुँचा दिया है । व्यक्तिस्वातन्त्र्यवादका सर्वश्रेष्ठ निरूपण हमें जे० एस० मिलकी पुस्तक 'आन लिबर्टी' तथा बर्ट्रेण्ड रसेलकी रचनाओंमें मिलता है । बर्ट्रेण्ड रसेल व्यक्तिस्वातन्त्र्यको राजनीतिका सर्वश्रेष्ठ आदर्श माननेके पक्षमें है ।

व्यक्तिस्वातन्त्र्यवादी व्यक्तिस्वातन्त्र्यको सांस्कृतिक जीवनकी पहली शर्त मानते हैं । मानव-अस्तित्वका बुनियादी प्रतिमान, अन्य सभी प्रतिमानोंका स्रोत, उसका स्वातन्त्र्य है । जिस अनुपातमें मनुष्य सीमाओ और विवशताओंमें बँधा रहता है, उसी अनुपातमें वह अपूर्ण है । मनुष्यके विकासकी सम्भावनाएँ असीम हैं और ये सम्भावनाएँ व्यक्तिस्वातन्त्र्यके अभावमें फूल-फल नहीं सकती । मनुष्यकी सारी व्यवस्थाएँ, सारी संस्थाएँ—यहाँतक कि सामाजिक संघटन

भी व्यक्ति-व्यक्तिकी असीम सम्भावनाओंको साकार करनेके लिए है, न कि व्यक्ति उनके लिए है। अतः व्यक्ति समाजके लिए नहीं, अपितु समाज व्यक्तिके लिए है, व्यक्तिस्वातन्त्र्य-वादियोंको ऐसा माननेमें कोई आपत्ति नहीं है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्यका विरोधी अधिनायकवादी (दे० 'अधिनायकवाद') व्यक्तिको समाजके हितमें बलि भी दे सकता है और समाजका हित वही होगा, जो वह समझता है।

व्यक्तिके स्वातन्त्र्यका परिसीमन अन्य व्यक्तियोंके समान व्यक्तिस्वातन्त्र्य ही कर सकता है, अन्यथा वह असीम, अमर्यादित, अखण्ड एवं निरपेक्ष है। व्यक्तिस्वातन्त्र्यवादी कहते हैं कि मानवीय इतिहास वस्तुतः व्यक्तिस्वातन्त्र्यके क्रमिक विकासका इतिहास है। आदिमयुगीन वनौकस यूथकी अवस्थामें मानव-व्यक्तित्व अपृथक्कृत, निर्विशेष (अनडिफरेंशियेटेड, इनडिटर्मिनेण्ट) था। उस समय जातिमें व्यक्तित्वमूलक पृथक्करण (इण्डिविजुएशन) की प्रक्रिया आरम्भ नहीं हुई थी। कहना चाहिये कि व्यक्तिमें एक स्वतन्त्र आत्मा, स्वतन्त्र व्यक्तित्व विकसित ही नहीं हुआ था, व्यक्तियोंके सारे कार्य एक विकीर्ण सत्रात्मा अथवा सामुदायिक आत्मा (ग्रूपसोल) द्वारा परिचालित होते थे। स्पष्ट ही उस समय व्यक्ति स्वतन्त्र न होकर सर्वथा यूथ-तन्त्र था। व्यक्तित्व-चेतनाके अभावमें वह सभ्यता एवं संस्कृतिकी दृष्टिसे पशु ही था। पशुके ही समान स्वतन्त्र चेतनाके बदले सहज प्रवृत्तियों (इन्स्टिंक्ट्स) से परिचालित होता था। उसके बाद व्यक्तित्वके पृथक्करण-व्यक्तित्व-चेतनाके विकासका युग आता है। चन्द लोग यूथसे स्वतन्त्र हो यूथके शासक बन बैठे और अन्य यूथोंपर अपनी उच्छृंखलताके वशीभूत हो आक्रमण करने लगे। इस प्रकार उनकी स्वतन्त्रता दायित्वहीन सिद्ध हुई। उनके हाथों उनके यूथों तथा अन्य यूथोंमें भी अशान्ति रहने लगी। इस स्थितिका विकसित रूप हमें स्वेच्छाचारी राजतन्त्र तथा दायित्वहीन व्यक्तिस्वातन्त्र्यवादमें दिखाई देता है। लेकिन वास्तविक व्यक्तिस्वातन्त्र्यवाद दायित्वहीनताको प्रश्रय नहीं देता। अब व्यक्ति-स्वातन्त्र्यकी भावना चन्द व्यक्तियोंकी सम्पत्ति नहीं, वह सर्वसाधारणमें भी जग रही है। वर्तमान युग वस्तुतः सर्वसाधारणके होश सँभालने, सचेत होने, युवा होने तथा स्वतन्त्रताकी माँग करनेका युग है, जब कि दासता-युगसे लेकर सामन्त-युगतक केवल पुरोहित एवं राजन्य वर्गमें ही व्यक्ति-स्वातन्त्र्यकी भावना देखनेको मिलती है—विशाल जनसमूह तो इनकी आज्ञाकारिताको ही अपनी इतिकर्तव्यता समझ बैठा था, जैसे उसका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व ही न हो।

साम्यवाद (दे०) और उसके साहित्यिक रूप **प्रगतिवाद** (दे०) तथा फासिज्म (दे०) पर व्यक्तिस्वातन्त्र्यका विरोधी होनेका आरोप अनेक दिशाओंसे और अनेक रूपोंमें किया गया है। साम्यवादी, प्रगतिवादी और फासिस्ट अपने इन आलोचकोंपर सामाजिक दायित्व (दे०) की भावनाके अभावका प्रत्यारोप करते रहे हैं। किन्तु व्यक्तिस्वातन्त्र्य और सामाजिक दायित्वके गहन प्रश्नपर सुदीर्घ कालतक जो वाद-विवाद होते रहे हैं, उनसे प्रकाशकी अपेक्षा गर्मी ही अधिक उत्पन्न हुई है। हिन्दी साहित्यसंसारमें पहली बार प्रयागकी 'परिमल' नामक संस्थाने इस समस्यापर सुनियोजित रूपसे विचारविमर्शका उपक्रम किया था। १३-१४ अप्रैल, सन् १९५५ई०को प्रयागमें 'परिमल'के तत्त्वावधानमें आयोजित नयी और पुरानी पीढ़ीके तथा सभी विचार-धाराओंके कवियों, कथाकारों, समीक्षकों तथा चिन्तकोंके बृहत् सम्मेलनमें 'साहित्यकारका वैयक्तिक स्वातन्त्र्य और सामाजिक दायित्व' शीर्षकसे एक आलेख विचारार्थ प्रस्तुत किया गया था और उसपर लिखित सम्मतियाँ भी मँगायी गयी थीं। लगभग ६० सम्मतियोंमेंसे १९ सम्मतियाँ 'आलोचना'के अंक १५ और १६में प्रकाशित हुई हैं। पुनः यह प्रश्न दिल्लीमें आयोजित एशियाई लेखक-सम्मेलन (दिसम्बर) में उठाया गया था।

व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी रक्षा करते हुए सामाजिक दायित्वका निर्वाह ही सन्तुलित विचार जान पड़ता है। लेकिन साहित्यके सन्दर्भमें यह प्रश्न एक दूसरा रूप धारण कर लेता है। छायावाद, स्वच्छन्दतावाद, प्रयोगवाद और प्रकृतिवादपर सामाजिक चेतना, सामाजिक दायित्वकी भावना और सामाजिक यथार्थवादके अभावका आरोप लगाया जाता है। छायावादी, स्वच्छन्दतावादी और अनेक प्रयोगवादी अपने अहम्में ही उलझे रहते हैं, समाजकी ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता और प्रकृतिवाद तो किसी प्रकारके दायित्व—सामाजिक अथवा वैयक्तिक—में विश्वास ही नहीं करता। सामाजिक दायित्वकी उत्कृष्ट चेतना हमें प्रगतिवादियोंमें दिखाई देती है, लेकिन उनपर यह आरोप है कि वे प्रायः व्यक्तिकी स्वातन्त्र्य-चेतनाकी उपेक्षा करते हैं। अब धर्मवीर भारती, गिरिजाकुमार माथुर जैसे कवियोंकी रचनाओंमें प्रयोगवादका रूपान्तर हुआ जान पड़ता है। उनमें रोमानियतके साथ-साथ सामाजिक यथार्थकी तीव्र चेतनाके दर्शन होते हैं। यह प्रवृत्ति व्यक्तित्व-चेतना और सामाजिक चेतनाके समन्वयका प्रतिनिधित्व करती है। —इ० ना०

व्यतिरेक—सादृश्यगर्भके गम्यौपम्याश्रय वर्गका भेदप्रधान अर्थालंकार। इसका अर्थ है आधिक्य या उत्कर्ष। इस अलंकारको प्राचीनोंसे मान्यता प्राप्त रही है। भामहके अनुसार इसमें उपमानकी अपेक्षा उपमेयमें विशेष-उपादान अपेक्षित है (काव्या०ल०, २ : ७५)। दण्डीने उपमेयका स्पष्टतः उत्कर्ष और उपमानका यत्किंचित् अपकर्ष, दोनोंको अभिप्रेत माना है (का० द०, २ : १८०)। उद्भटने व्यतिरेकमें स्पष्टतया उपमान और उपमेय, दोनोंके विशेषोपादानका उल्लेख किया है (का० सा० सं०, २ : ६)। रुद्रटकी दृष्टिसे इसमें उपमेय तथा उपमान, दोनोंका यथासम्भव आधिक्यवर्णन अभीष्ट है (काव्याल०, ७ : ८६)। रुय्यकका दृष्टिकोण रुद्रटसे मिलता है। मम्मटने अवश्य इस प्राचीन विचार-पद्धतिके स्थानपर नया मत रखा है—"उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः" (का० प्र०, १० : १०५), अर्थात् इसमें उपमानकी अपेक्षा उपमेयका गुणविशेषके कारण उत्कर्ष बताया जाय। मम्मटने इन्हींकी विविध सम्भावनाओं, अर्थात् उपमेयके उत्कर्ष और अपकर्षके निमित्तोंके उपादान और अनुपादानके आधारपर २४ भेद बतलाये हैं। विश्वनाथने पुनः उपमेयके उपमानसे

आधिक्य तथा न्यूनता, दोनोंमें व्यतिरेक माना है (सा० द०, १० : ५२) और इसी कारण मम्मट द्वारा उल्लिखित २४ भेदोंको ४८ माना है। जयदेव तथा अप्पय दीक्षितने इसके लक्षणके विषयमें मम्मटका अनुसरण किया है, पर भेदविस्तार नहीं किया है।

हिन्दीके रीतिकालके आचार्योंमें चिन्तामणि और कुलपति जैसे कतिपयने ही मम्मटका अनुसरण किया है, परन्तु अन्योंने प्रायः जयदेव तथा अप्पय दीक्षितके अनुसरणपर इसका लक्षण स्वीकार किया है और भेद या तो स्वीकार नहीं किये या केवल सीमित संख्यामें। मतिरामके अनुसार—"जहाँ होत उपमानतें उपमेयमें विसेख" । (ल० ल०, १५५) अथवा दासके अनुसार—"पोषन करि उपमेयको दोषन करि उपमान" (का० नि०, १०)। इनपर मम्मट-का प्रभाव लगता है। परन्तु भूषणके लक्षण—"गम छवि-वान दुहुनमें, जहँ बरनन बढ़ि एक" (शि० भू०, १४६) अथवा पद्माकरके लक्षण—"जहँ अनर्न्य अरु वर्न्यमें कछु विसेष"। पर जयदेवका स्पष्ट प्रभाव है। भेदकी दृष्टिसे चिन्तामणिने २४ भेदोंका विवरण दिया है, जसवन्त सिंह, मतिराम, भूषण आदिने भेदोंका उल्लेख नहीं किया है। दासने—'पोखन दूखन' दोनोंका कथन, 'पोखन' कथन, 'दूखन' कथन तथा 'सब्द सक्ति'से कथनके चार भेद गिनाये है। पद्माकरने अधिक, न्यून तथा सम, इन तीन भेदोंको माना है। आधुनिक विवेचकोंमें कन्हैयालाल पोद्दारने मम्मटके चौबीस भेदोंको इस रूपमें रखा है—प्रथम चार भेद—(१) उपमेयके उत्कर्ष और उपमानके कारणका कथन, (२) उपमेयके उत्कर्ष और उपमानके अपकर्षके कारणका न कहा जाना, (३) केवल उपमानके अपकर्षके कारणका कथन, (४) केवल उपमेयके उत्कर्षके कारणका कथन। इनके तीन भेद—(क) शाब्दी उपमा द्वारा, (ख) आर्थी उपमा द्वारा, (ग) आक्षिप्तोपमा द्वारा। पुनः बारहोंके दो भेद—(अ) श्लेष द्वारा, (आ) श्लेष-रहित। रामदहिन मिश्रने प्रथम चारको स्वीकार कर अन्योंका उल्लेख कर दिया है।

प्रथम—उपमेयका उत्कर्ष तथा उपमानका अपकर्ष। उदा०—"मृदुल अधर सम होइ क्यों, विद्रुम निपट कठोर" (का० नि०, १०)। इसमें 'सम' शब्द होनेके कारण आर्थी उपमा है और अधर उपमेयका उत्कर्ष तथा विद्रुम उपमानका अपकर्ष-कथन है। इसी प्रकार—"राधा मुखको चन्द्र-सा कहते है मतिरंक। निष्कलंक है वह सदा ससिमें प्रगट कलंक" । (अ० मं०, २९२), इसमें 'सा' शब्दके कारण शाब्दी उपमा है। अथवा "सम सुबरन सुखमाकर, सुखद न थोर। सीय अंग लखि कोमल कनक कठोर" (तुलसी : का० द०से)। यहाँ शाब्दी अथवा आर्थी वाचक शब्दोंके न होनेसे उपमाका आक्षेप द्वारा बोध होता है। द्वितीय—उपमेयके उत्कर्ष और उपमानके अपकर्षके कारणका न कहा जाना—"यह पार्थनन्दन पार्थसे भी धीर वीर प्रशस्त है" (मै० श० गु० : का० द०से)। यहाँ अभिमन्यु 'उपमेय'का आधिक्य कहा गया है, पर उत्कर्ष-अपकर्षका कारण उल्लिखित नहीं है। तृतीय—केवल उपमानके अपकर्षके कारणका कथन—"घटै-बढ़ै सकलंक लखि, जग सब कहै मयंक। वाल वदन सम है नहीं, रंक मयंक इलंक" (का० नि०, १०)। यहाँ उपमान मयंकके अपकर्षका कथन है, पर मुखके उत्कर्षका नहीं। चतुर्थ—केवल उपमेयके उत्कर्षके कारणका कथन—"अंजनमें दृग लसत पै, धरे विसेष विलास" (पद्मा०, ९४)। यहाँ उपमेय दृगका उत्कर्ष कथनमात्र है।

सौन्दर्यकथनके चमत्कारकी सन्निहित भावनाके कारण इस अलंकारका प्रयोग साहित्यमें व्यापक रूपसे मिलता है। भक्ति-साहित्यमें आराध्यके गुण, शील, सौन्दर्यके, वीरकाव्यमें नायककी वीरता आदिके तथा रीतिकाव्यमें नायिकाके सौन्दर्य आदिके वर्णनोंमें इसका विशेष प्रयोग हुआ है। आधुनिक कथाकाव्योंमें तथा छायावादी सौन्दर्य-वर्णनमें भी यत्र-तत्र इसका उपयोग हुआ है। —र०

व्यपेत यमक—दे० 'यमक'।

व्यर्थपद—दे० 'शब्द-दोष', पाँचवाँ 'वाक्य-दोष'।

व्यसन—जब भक्तको भगवान्‌के प्रेमके अतिरिक्त और किसी भावका भान ही नहीं रहता, तब उसकी यह प्रवृत्ति **भक्ति-व्यसन**में परिणत हो जाती है। यही अवस्था **प्रेम-लक्षणा भक्ति**का परम साध्य है। निर्गुण और सगुण सन्त अथवा भक्त प्रेम-लक्षणा भक्तिके आकांक्षी रहे है। इसीको परा भक्ति भी कहते है (विस्तारके लिए दे० 'परा भक्ति')। —वि० मो० श०

व्याघात—विरोधमूलक अर्थालंकार; भामह, दण्डी, उद्भट तथा वामन(प्राचीनों)ने इसे स्वीकार नहीं किया है। रुद्रटने सम्भवतः इसका प्रथम विवेचन किया है, पर मम्मटके लक्षणके आधार स्पष्ट हो सकते है—"जिस उपायसे कोई कार्य किसी व्यक्ति द्वारा सिद्ध किया जाय उसी उपायसे उसे कोई दूसरा व्यक्ति असिद्ध अथवा विफल करे, तो वहाँ व्याघात अलंकार होता है" (का० प्र०, १० : १३८)। विश्वनाथने इसे प्रथम व्याघात मानकर उसका एक अन्य भेद भी दिया है—"जहाँ किसी कार्यके विरुद्ध दूसरेके द्वारा उसी उपायसे सरलतापूर्वक सिद्ध किया जाय" (सा० द०, १० : ७६)। हिन्दीके आचार्योंने प्रायः विश्वनाथके भेदोंको स्वीकार किया और लक्षणमें भी जयदेवका अनुसरण नहीं किया है। **प्रथम भेद**—"जो जैसे करतार सो विरुद्धकारी जहाँ" (ल० ल०, २५१) अथवा "जाहि तथाकारी गनें करें अन्यथा सोइ" (का० नि०, १३), उसी उपायसे अन्यथा किया जाना—"तेरो करवाल भयो जगतको ढाल अब, सोइ हाल म्लेच्छनके कालको करत है" (शि० भू०, २३१)। अथवा—"जिस दृष्टि-निक्षेपके द्वारा शिवने कामका दहन किया, उसी दृष्टि-निक्षेपसे रमणियाँ कामदेवको जिलाती है" (का० प्र० से)। **द्वितीय भेद**—"जहाँ क्रियाकी सुकरता बरनत काज विरोध" (ल० ल०, २५३)। उदा०—"छल किया भाग्यने मुझे अयश देनेका। बल दिया उसीने मूल मान लेनेका" (साकेत) अथवा—"लोभी धन संचय करै दारिदको डर मानि। दास यहै डर मानिके दान देत है दानि" (का० नि०, १५)। यहाँ लोभी जिस दारिद्र्यके डरसे धनका संचय करता है, उसी दारिद्र्यके भयसे दानी उसके विपरीत आचरण—धन-दान करता है। —ध० व्र० शा०

व्याजनिंदा–व्याजस्तुतिसे सम्बद्ध अर्थालंकार। अप्पय दीक्षितने इसका लक्षण दिया है—'निन्दाया निन्दया' (कुवल०, ७२), अर्थात् किसीकी निन्दामे अन्य किसीकी निन्दाका कथन। हिन्दीके आचार्योंने इसीके आधारपर अपने लक्षण दिये है—"निन्दासों जहँ औरकी निन्दा प्रगटित होय" (ल० ल०, १८५) अथवा—"जहँ एककी निन्दा किये, निन्द्य और हू होंन" (पद्मा०, १३०)। उदा० —"प्रगट कुटिलता जो करी, हमपर स्याम सरोस। मधुप जोग विष उगलिये, कछु न तिहारो दोप" (ल० ल०, १८६)। यहाँ उद्धवकी निन्दाके कथनमें कृष्णकी निन्दाकी प्रतीति होती है। —शि० प्र० सिं०

व्याजस्तुति–सादृश्यमूलक गम्यौपम्याश्रय वर्गका प्राचीनोंसे स्वीकृत चला आनेवाला अर्थालंकार। प्रारम्भिक आचार्योंमें भामह तथा उद्भटने केवल एक निन्दाके व्याज-स्तुति-परक अर्थको मुख्य माना है—"शब्दशक्तिस्वभावेन यत्र निन्देव गम्यते। वस्तुतस्तु स्तुतिः श्रेष्ठा व्याजस्तुतिरसौ मता" (का० सा० सं०), अर्थात् जिसमें शब्दोंकी अभिधाशक्ति निन्दाका बोध कराये, पर जो वाक्यार्थ निकले वह स्तुतिपरक हो। आगे चलकर मम्मट तथा विश्वनाथ आदिने दो भेद स्वीकार किये हैं—"इस अलंकारमें किसी वस्तुकी प्रारम्भमें निन्दा या स्तुति और अन्ततः स्तुति या निन्दाकी प्रतीति होती है" (का० प्र०, १० : ११२)। हिन्दीके आचार्योंने इन दोनों भेदोंको प्रायः 'कुवलयानन्द'के आधारपर ग्रहण किया है—"निन्दामें स्तुति पाइये, स्तुतिमैं निन्दा होय" (शि० भू०, १८२)। किसी-किसीने एक तीसरा भेद माना है—'अन्य स्तुतिमें अन्यकी स्तुति' (पद्मा०, १२५), अर्थात् अन्यकी स्तुति करके अन्यकी स्तुति करना। इसीका विपरीत व्याजनिन्दा नामक अलंकार माना गया है। कुछने एककी निन्दासे दूसरेकी स्तुति तथा एककी स्तुतिमे दूसरेकी निन्दा सम्बन्धी भेद और माने है, पर संस्कृतमें इन्हें 'व्यंग्यकाव्य' माना गया है।

प्रथम, निन्दामें स्तुति—"भसम लपेटे विष अहि सहित, गंग कियो तै मोहि। भोगीतें जोगी कियो कहा कहौ अब तोहि" (पद्मा०, १२७)। यहाँ शंकरकी निन्दाके बहाने प्रशंसा की गयी है। स्तुतिमें निन्दा—"राज भोगसे तृप्त न होकर मानों वे इस बार। हाथ पसार रहे है जाकर जिसके तिसके द्वार। छोड़कर निज कुल और समाज" (यशोधरा : का० द०से)। यहाँ यशोधराके कथनमें बुद्धकी निन्दा है, पर भाव प्रशंसाका है। स्तुतिसे दूसरेकी स्तुति—"अमल कमलकी है प्रभा, बाल बदनकौ ठौर। ताकौ नित चुम्बन करै, धन्य भाग तुव भौंर" (का० नि०, १२)। यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसाके साथ व्याजस्तुति है। निन्दासे दूसरेकी निन्दा—"दई निरदईसों भई, दास बड़ीयै भूल। कमलमुखीकौ जिन कियौ, हियौ कठिनई मूल" (वही)। —शि० प्र० सिं०

व्याजोक्ति–गूढ़ार्थप्रतीतिमूल अलंकार। व्याजका अर्थ है कपट अथवा छल। प्राचीनोंमें भामह, दण्डी, उद्भटने इसे स्वीकार किया है। उद्भटने इसे अपह्नुतिके अन्तर्गत सम्मिलित कर लिया है। वामनके अनुसार 'व्याजस्य सत्यसारूप्यं', असत्यके बहाने सत्यका सादृश्य प्रतिपादित करना, व्याजोक्ति है। मम्मट और विश्वनाथने किंचित् भिन्न प्रकारसे कहा है—"किसी वस्तुका व्याजसे गोपन यद्यपि वह स्पष्टतया प्रकट भी हो गयी है" (का० प्र०, १० : ११८; सा० द०, १० : ९२)। वस्तुतः इसमे प्रथम कोई वस्तु छिपी रहती है, फिर वह किसी प्रकार प्रकट हो जाती है और उसीका अन्य कारण बताकर गोपन किया जाता है। हिन्दीके जसवन्त सिंहसे लेकर पद्माकरतकके लक्षण प्रायः 'कुवलयानन्द'पर आधारित है, जिसमे आकारगोपनकी बात प्रधान है—"और हेतु बचननि जहाँ, आकृत गोपन होय" (ल० ल०, ३५८), अथवा—"आकार जहाँ दुरे, हेतु करि आन" (पद्मा०, २५१)। दासकी परिभाषा मम्मटके आधारपर है—"बचन चातुरीसों जहाँ, कीजै काज-दुराइ" (का० नि०, १६)।

व्याजोक्तिमे किसी गुप्त रहस्यके प्रकट हो जानेपर छल अथवा बहानेसे छिपाया जाता है। उदा०—"कारे बरन डरावने कत आवत यहि गेह। कइ वा लख्यो सखी लखे लगे थरहरी देह" (बि० स०, ५१५)। यहाँ नायिका कहती है कि यह काले शरीरवाला (कृष्ण) इस घरमें क्यों आता है; इसे देखकर मेरा शरीर काँपने लगता है। वस्तुतः उसका कम्प शृंगारजनित सात्त्विक है, किन्तु उसे वह छलसे भय-जनित बतलाती है। अपह्नुति और व्याजोक्तिमें यह अन्तर है कि अपह्नुतिमे जो बात छिपायी जाती है, उसे पहले कहकर तब फिर उसका निषेध किया जाता है, किन्तु व्याजोक्तिमे वह पहले कही नही जाती। 'कुवलयानन्द'में चेष्टा आदि द्वारा सात्त्विक भावोको छिपानेमें भी व्याजोक्ति अलंकार माना गया है। ऐसी स्थितिमें कोई-कोई युक्ति अलंकार भी मानते है। —ध० व्र० उ०

व्याधि–प्रचलित तैंतीसमेंसे एक संचारी भाव। भरतने शारीरिक स्वास्थ्यभावको 'नाट्यशास्त्र'मे व्याधि कहा है और वात, पित्त, कफके सन्निपातने उत्पन्न बताया है। इसका प्रमुख स्वरूप ज्वर है और सशीत एवं सदाह ज्वरके दो भाग बताकर उनके अनुभावोका वर्णन किया है। 'अन्य व्याधियों'का भी जो उल्लेख है, वे शारीरिक अवस्थासे ही सम्बन्ध रखती है। धनंजयने कदाचित् इसी कारण भरतका आदर कर 'नाट्यशास्त्र'के अनुसार व्याधिकी संचारी भावमें गणना तो कर ली, पर साथमें यह भी कह दिया कि इसका विस्तार अन्यत्र है (तेषामन्यत्र विस्तरः)। निश्चय ही यहाँ आयुर्वेदकी ओर संकेत है। पर धनिकने उदाहरण उचित दिया है, जिसमें वियोगमें नायिकाके मनस्तापका वर्णन है। उधर, विश्वनाथने लक्षण तो दिया, पर 'स्पष्टमुदाहरणम्' कहकर पाठकको सन्तोष दिलाया। यदि 'नाट्य-दर्पण' (३ : १३५)में व्याधिको 'अंगमनःक्लेशः', अग्निपुराण(३३९ : ३३)में 'मन एवं शरीरकी अस्वस्थता', 'वाग्भटकाव्यानुशासन' (पृ० ५७), 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' (४ : ४८) और 'नाटकलक्षणरत्नकोष'(पं० २०७९)में इसको 'मनस्ताप' न कहा होता तो इसकी गणना संचारी भावमे करना कठिन हो जाता। इसी कारण व्याधि न केवल शारीरिक अवस्था है, परन्तु वियोग या रोगसे उत्पन्न मनःक्लेश भी है। इसमें स्वेद, ताप, कम्पन इत्यादि अनुभाव होते हैं।

हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंने प्रायः इसको शारीरिक तथा मानसिक, दोनों अवस्थाओंसे सम्बद्ध किया है। देवके अनुसार–"धातु कोप प्रीतम विरह, अन्तर उपजै आधि। जुरि बिकार बहु अंगमैं, ताही बरनै व्याधि" (भाव० : संचारी०)। पर पद्माकरने "बिरह बिबस कामादितें, तन सन्तापित होइ" (जगन०, ५४३) कहकर मनस्तापको विशेष स्वीकृति दी है।

मैथिलीशरण गुप्त द्वारा अंकित उर्मिलाकी व्याधिका उदा०–"मानस मन्दिरमे सती पतिकी प्रतिमा थाप। जलती-सी उस विरहमे बनी आरती आप" (साकेत)। इसके उदाहरणोमे रीतिकालीन नायिकाके विरह-तापके ऊहात्मक तथा अतिरंजित वर्णन है–"कवकी अजब अजोरमें, परी बाम तन छाम। तित कोऊ मत लीजिये, चन्द्रोदयको नाम" (जगद्वि०, ५४७)। बिहारीके ऐसे अनेक चित्र है।

—ज० कि० व०

व्यायोग–व्यायोग शब्दका अर्थ है विविध व्यक्तिसे युक्त। कदाचित् भरत मुनिने इस नाट्यप्रकारमें 'बहवस्तत्र च पुरुषाः' अनेक पुरुष-पात्रोंके कारण इसका नाम व्यायोग रखा था। अभिनवगुप्तका मत है कि युद्धमे पुरुषोके नियुद्ध होनेके कारण इसे व्यायोग कहा जाता है–"व्यायामे युद्धप्राये नियुद्धयन्ते पुरुषा यत्रेति व्यायोग इत्यर्थः"।

भरत मुनिका मत है कि इसमे प्रख्यात नायक होता है और इतिवृत्त भी प्रख्यात होता है। स्त्री-पात्रोंकी संख्या अल्प होनी चाहिये। आचार्य हेमचन्द्रका मत है कि इसमें स्त्री-पात्र नही होने चाहिये (काव्यानु०, पृ० ३२३)। इसकी घटना एक दिनकी अवधिकी हो, अंक एक हो, इसका नायक देवता नही, प्रत्युत कोई राजर्षि हो, इसमें युद्ध, व्यक्तिगत संघर्ष एवं रोषपूर्ण युद्ध पाया जाता है। व्यायोगका मूल स्रोत दीप्त काव्यरस है।

धनंजयने भरत मुनिके लक्षणोंका आश्रय लेते हुए इतना और स्पष्ट किया है कि इसमें **गर्भ** और **विमर्श** सन्धियाँ नहीं होतीं। इसमें संग्राम स्त्रीके निमित्त नहीं होता (अस्त्रीनिमित्तसंग्रामो) और इसका अभिनय अनेक पात्रोंके द्वारा होता है। शारदातनयने इस बातपर बल दिया है कि युद्ध स्त्रीके निमित्त न हो और पात्रसंख्या दससे अधिक न हो–"अस्त्रीनिमित्तसंग्रामो व्यायोगः कथितो बुधैः। नायकाश्चिचतुष्पंच भवेयुर्न दशाधिकाः" (भा० प्र०, ८ : पृ० २४८)। सागरनन्दीने व्यायोगको ऋषिकन्यापरिणययुक्त, सम्भोगयुक्त, दीप्त वीर एवं रौद्र रस सहित, करुण और शृंगारकी अतिशयतासे रहित, **मुख-निर्वहण** सन्धिसंयुक्त, संस्फोट (युद्ध) सहित माना है।

अभिनवगुप्तका मत है कि व्यायोगका नायक देवता, नृपति अथवा ऋषि नहीं होना चाहिये। विश्वनाथ अभिनवगुप्तके मतसे सहमत नही है। उन्होंने इसका नायक प्रख्यात धीरोद्धत राजर्षि अथवा दिव्य पुरुष माना है। उन्होंने 'सौगन्धिकाहरण'को व्यायोग माना है (सा० द०, ६ : २३१, ३३)। संस्कृत नाटकोंमें 'परशुराम-विजय', 'धनंजयविजय', 'वीरविक्रम' इत्यादि व्यायोग प्रसिद्ध है। भासका 'मध्यम व्यायोग' इसका उत्तम उदाहरण है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने व्यायोगका संक्षेपमें इस प्रकार लक्षण दिया है–"युद्धका निदर्शन, स्त्री-पात्ररहित और एक ही दिनकी कथाका होता है। नायक कोई अवतार वा वीर होना चाहिये। ग्रन्थ नाटककी अपेक्षा छोटा। उदाहरण–'धनंजयविजय'"।

गुलाब रायका मत है कि "इसमे एक ही अंक होता है। स्त्री-पात्रोका अभाव-सा रहता है, वीर रसका प्राधान्य होता है, मुख, प्रतिमुख और निर्वहण सन्धियाँ रहती है"।

—द० ओ०

व्याहत–दे० 'अर्थ-दोष', तीसरा।

व्युत्पत्ति–दे० 'काव्य-हेतु', दूसरा।

व्यूहवाद–तंत्रकालीन वैष्णव धर्मके इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तकी उत्पत्ति वैष्णव धर्ममें वीरोपासनाके पश्चात् हुई। वीरोपासनाका आरम्भ वैष्णव धर्मके आरम्भिक स्थापक पुरुषोंकी गुणोपासनाके रूपमे हुआ था, जिसके अन्तर्गत वासुदेव-कृष्ण, साम्ब, बलराम, प्रद्युम्न, संकर्षण एवं अनिरुद्ध थे। वासुदेवकृष्णके षाड्गुण्य विग्रह–ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य और तेज–को उनके पार्षदों एवं निकटवर्ती वीरोंमें कल्पित करके व्यूहवाद सिद्धान्तकी रचना की गयी। इस व्यूहवादके अन्तर्गत वासुदेवकृष्ण, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्धको शक्ति समुच्चयके रूपमें मानकर उन्हें चतुर्व्यूह (दे०)के नामसे अभिहित किया गया।

व्यूहका आरम्भिक संकेत कतिपय विद्वानोंके अनुसार सर्वप्रथम बादरायणके ब्रह्मसूत्र(२ : २ : ४२-४५)में मिलता है। परन्तु वास्तवमे शंकर एवं रामानुजके परवर्ती भाष्योंमे व्यूहवादके सिद्धान्तोंको इन सूत्रोंमें आरोपित करके निकाला गया है। मूलतः इनमें व्यूहवादका सिद्धान्त निहित नहीं है। पाणिनिके अष्टाध्यायी (५ : ३ : ५)मे 'आत्म चतुर्थ' शब्दका उल्लेख मिलता है। सर आर० जी० भंडारकरका विश्वास है कि पाणिनिकी व्याख्या–"जनार्दन सात्वतम् चतुर्थ इव" व्यूहवादकी ही ओर संकेत करती है। पतंजलिने महाभाष्य (२ : २ : ३४)में पाणिनि प्रयुक्त 'राम केशव'के समासका विग्रह करते हुए कृष्णको संकर्षण कहा है। विष्णुसंहिता (७२ : २)मे चतुर्व्यूह शब्दका उल्लेख मिलता है, जिसमे वासुदेवको प्रथम तथा उनके पश्चात् संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्धका नामोल्लेख है।

यद्यपि पांचरात्र सिद्धान्तमें व्यूहवादकी उपसनाका उल्लेख मिलता है, परन्तु भंडारकरका विश्वास है कि व्यूहवादकी कल्पना ३ शती ई०के आसपास हो चुकी थी। व्यूहोपासनाका उल्लेख ५वी एवं ६ठवी शतीसे मिलने लगता है। इनकी पूजाका आरम्भिक संकेत बलदेव, कृष्ण, सुभद्राकी सम्मिलित मूर्ति उपासनामें पाया जाता है।

पांचरात्रमें वर्णित व्यूहवादके सिद्धान्तके अनुसार उपर्युक्त छः गुणोंमेंसे संकर्षण-व्यूहमें ज्ञान तथा बल, प्रद्युम्नमें ऐश्वर्य तथा वीर्य तथा अनिरुद्धमे शक्ति और तेजका प्राधान्य है। वासुदेव कृष्णका एक पराव्यूह है, जिसे भगवद् व्यूह कह सकते है। ये चारों मिलकर चतुर्व्यूह बनाते है। अहिर्बुध्न्य संहिता (५ : १७-६०)में संकर्षण, अनिरुद्ध एवं प्रद्युम्नके कार्योंका उल्लेख मिलता है। संसारकी सृष्टि संकर्षण करते है। प्रद्युम्न एवं अनिरुद्धके कार्य क्रमशः कर्मकाण्डकी शिक्षा एवं मोक्ष-रहस्यका ज्ञान कराना है।

व्यूहवाद सिद्धान्तका परिमार्जन मध्यकालमें चैतन्य सम्प्रदायके अन्तर्गत हुआ। वासुदेव, संकर्षण प्रद्युम्न एवं अनिरुद्धको क्रमशः चित्, अहंकार, बुद्धि एवं मनस्का मूल स्रोत कहा गया है। रूपगोस्वामीने पद्मसंदर्भमें पाञ्चतंत्र उल्लिखित चतुर्व्यूह मतका खण्डन करते हुए नवव्यूहकी कल्पना की। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, नारायण, हयग्रीव, वाराह, नृसिंह तथा ब्रह्मा नवव्यूहके अन्तर्गत रखे गये है। किन्तु यह इस चतुर्व्यूहका खण्डन न होकर अवतारोंको व्यूहवादमें मिला देनेकी प्रवृत्तिका सूचक है। वस्तुतः व्यूहवाद अवतारसे भिन्न एक पृथक् सिद्धान्त है। मध्यकालमें इस सिद्धान्तका प्रभाव रामकथापर भी पड़ा, जिसमें राम, लक्ष्मण आदि चारों भाइयोंको क्रमशः वासुदेवकृष्ण, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्धका रूप कहा गया। अंशांशि अवतारकी धारणाके मूलमें व्यूहवाद ही सहायक रहा है।

[सहायक ग्रन्थ—भागवत सम्प्रदाय : बलदेव उपाध्याय; अहिर्बुध्न्य संहिता—५ : १७-६०; वैशनव फेथ एण्ड मूवमेंट : एस० के० डे०; ए कम्परेटिव हिस्ट्री ऑव इण्डिया, (भाग २) : सं० नीलकान्त शास्त्री] । —यो० प्र० सिं०

व्रीड़ा–प्रचलित तैंतीसमेंसे एक संचारी; भरतके अनुसार इसके मूलमें कोई अनुचित कार्य रहता है। गुरुजनोंकी आज्ञाका उल्लंघन, उनके अनादर तथा प्रतिज्ञा न पूरी करनेसे उत्पन्न पश्चात्ताप और अपमान इसके विभाव हैं और मुख छिपाना, मुख नीचा करके सोचना, भूमिपर रेखा बनाना, वस्त्रोंको अथवा अँगूठीको छूना, नाखून काटना आदि इसके अनुभाव है (ना० शा०, ७ : ५८)। धनंजयने इसका लक्षण दिया है—"दुराचारादिभिर्व्रीडा धाष्टर्याभावस्तमुन्नयेत्। साचीकृतांगावरणवैवर्ण्याधोमुखादिभिः" (द० रू०, ४ : २४)। दुराचार आदिसे व्रीडा उत्पन्न होती है। धाष्टर्याभाव (धृष्टताका अभाव) व्रीड़ाको पैदा करता है। टेढ़ा मुँह करके अंगोंको छिपाना, चेहरेका रंग फीका पड़ जाना, नीचा मुँह कर लेना आदि इसके अनुभाव हैं। विश्वनाथने संक्षेपमें केवल इसे 'धाष्टर्याभाव' कहा है (सा० द०, ३ : १३५)। हिन्दी रीतिकालके आचार्योंने इसे 'लाज' नाम भी दिया है—"दुराचार अरु प्रथम रत, उपजै जिय संकोचु" (भाव० : संचारी०)। इसमें 'प्रथम रत' महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसको यहाँ महत्त्व अन्य परम्परासे मिला है। अन्य कई आचार्योंने "जहाँ कौन हूँ हेततें, उर उपजति अति लाज" (जगद्वि०, ५३५) जैसा सामान्य लक्षण दिया है।

मैकडूगलने इसे प्रधान संवेगों (प्राइमरी इमोशन)में माना है। उसके अनुसार यह निषेधात्मक आत्मानुभूति (निगेटिव सेल्फ फीलिंग) है। यह मांस-पेशियोंके संकोच, गतिमें शैथिल्य, सिर नीचा करना तथा तिरछे दृष्टिपातमें अभिव्यक्त होता है (सोशल साइकोलोजी, पृ० ५५)। काव्यशास्त्र तथा मनोवैज्ञानिक ग्रन्थोंमें वर्णित अनुभावोंकी संख्याके अतिरिक्त काव्यग्रन्थोंमें कुछ और अनुभाव भी देखे जाते है। कपोलोंकी लाली, आँखोंकी ललाई, कर्णमूलोंका लाल होना आदि भी इसीके अनुभाव हैं।

रामचन्द्र शुक्लने व्रीड़ाको स्वतन्त्र विषयवाले भावोंमें माना है। लेकिन यह भी संचारी तभी हो सकता है, जब किसी स्थायी भावके पोषकके रूपमें अभिव्यक्त हो। पद्माकरका व्रीडा संचारीका उदा०—"ये दिन यौवनके तो इतै सुन लाज इती तु करैगी कहा लै। नेक तो देखन दै मुखचन्द सो चन्दमुखी मति घूँघट घालै" (जगद्वि०, ५३६)। सीताके रति स्थायीके व्रीडा संचारीका एक सुन्दर उदाहरण निम्नलिखित है—"सुनि सुन्दर बैन सुधा रस साने सयानी है जानकी जान भली। तिरछे करि नैन दै सैन तिन्हें समुझाय कछू मुसकाय चली। तुलसी तिहि औसर सोहैं सबै अवलोकत लोचन लाहु अली। अनुराग तडागमें भानु उदै बिकसी मनो मंजुल कंज कली" (कवितावली, २)। —ब० सिं०

शंका–प्रचलित तैंतीसमेंसे एक संचारी भाव। भरतके अनुसार चोरी, राजाके प्रति अपराध आदि इसके कारण हैं और एक टक देखना, शंकित चाल, ओठ चाटना, मुँहका रंग बदलना, कम्पन, स्वरभंग आदि अनुभाव हैं (ना० शा०, ७ : ३३)। विश्वनाथने इसकी परिभाषा करते हुए लिखा है—"परक्रौर्यात्मदोषाद्यैः शंकानर्थस्य तर्कणम्। वैवर्ण्यकम्पवैस्वर्यपार्श्वालोकास्यशोषकृत्" (सा० द०, ३ : १६१), अर्थात् दूसरेकी क्रूरता तथा अपने दोष आदिसे जहाँ अनर्थकी आशंका हो, उसे शंका कहते है। वैवर्ण्य, कम्प, शोष (मुँह सूखना), स्वरभंग, डरकर इधर-उधर देखना आदि इसके अनुभाव है। हिन्दी रीतिकालमें इसीके आधारपर लक्षण दिया गया है। देवके अनुसार—"अपराधादि अनीति करि कंपै करै छिपाय" (भाव० : संचारी०)। अन्योंकी परिभाषामें इसके दोनों भेद भी आ गये है—"कै अपनी दुर्नीति कै दुवन क्रूरता मानि। आवै उरमें सोच अति" (जगद्वि०, ४७८)।

शंकाको रामचन्द्र शुक्लने सामान्यतः मनका वेग न मानकर वेदपाठियों, तार्किकों, मीमांसकों आदिकी धारणा, बुद्धि आदिका व्यापार माना है। पर उन्होंने काव्यमें इसका ग्रहण वहींतक स्वीकार किया है, जहाँतक वह प्रत्यक्ष रूपसे भावोंके द्वारा प्रेरित प्रतीत हो। उन्होंने इसका और भी स्पष्टीकरण करते हुए लिखा—"शंका तो भयका ही वितर्कप्रधान रूप है, जो आलम्बनके दूरस्थ होनेपर प्रकट होता है। इसमें वेग नहीं होता और न आलम्बन उतना स्फुट होता है। इसका प्रादुर्भाव या तो स्वतन्त्र रूपसे होता है अथवा भयकी स्थायी दशामें; भावदशामें नहीं होता, जब कि अनिष्टकारी या अनिष्ट बिलकुल पास आया रहता है" (र० मी०, पृ० २१४)। भूषणके इस वर्णनमें—"चौंकि-चौंकि चकत्ता कहत चहुँधा ते यारो, लेत रहौ खबरि कहाँ लौं सिवराज है" (शि० बा०, ३४) शंकाका चित्रण है। इसी प्रकार पद्माकरका उदाहरण है—"लगै न कहुँ ब्रज गलिनमें, आवत जात कलंक। निरखि चौथको चाँद यह, सोचति सुमुखि ससंक" (जगद्वि० : ४८०)। —ब० सिं०

शक्ति–यह अनन्तरूपा और अनन्त सामर्थ्यसम्पन्ना है। जगत् इसी शक्तिका परिणाम है, यही शक्ति जगद्रूपमें परिणत होती है। शक्ति प्रलयकालमें छत्तीस तत्त्वात्मक जगत्‌को कवलीकृत करके, अर्थात् अपने-आपमें स्थापित

करके अव्यक्त रूपमें स्थित रहती है। वस्तुतः जगत् उसकी व्यवस्थाका ही नाम है। शक्तिकी सहायतासे ही परमशिव सृष्टि-व्यापारके सँभालनेमें समर्थ होते है। शक्तिसे रहित होनेपर शिव कुछ भी करनेमें असमर्थ है (विस्तारके लिए दे० 'योगमाया', 'महामुद्रा', 'बौद्ध भार्याएँ', 'त्रिक दर्शन')।

शठ नायक—दे० 'नायक' (शृंगार)।

शतक—दे० 'मुक्तक-काव्य'।

शबर—वज्रयानी साधनामें **नैरात्मा**की प्रतीक **शबरी**के प्रति उन्मुख होनेके कारण साधकको शबर कहा जाता है। —ध० बी० भा०

शबरी—दे० 'महामुद्रा'।

शब्दचित्र—दे० 'रेखाचित्र'।

शब्द-दोष—वाक्यार्थके बोध होनेमें जो प्रथम दोष प्रतीत होते है, वे शब्द-दोष है। शब्दके दोष (१) पदांशगत, (२) पदगत और वाक्यगत होते है। मम्मटने दोष-भेदका निरूपण परम्परया-अपकर्षक दोष-भेद, अर्थात् पद-दोषसे प्रारम्भ किया है। पद-दोष त्रिविध शब्द-दोषों, अर्थात् पद-पदैकदेश और वाक्य-दोषोंमेंसे प्रथम दोष है। मम्मटने कारिकामें पद-दोषके नाम और लक्षण दोनों एक साथ ही दिये है। प्राचीन आलंकारिकोंने इन दोषोंके नाम और लक्षण पृथक्-पृथक् दिये हैं, जैसे भामहने पहले तो पद-दोषोंके नाम गिनाये है और तब उनके लक्षण दिये है। यही बात वामनकी भी है। मम्मटने पद-दोषके अन्तर्गत समासगत और असमासगत पद-दोषकी भी मीमांसा की है। यह इनकी निजी विशेषता है। प्राचीन अलंकार-शास्त्रमें इस प्रकारकी मीमांसा नहींकी गयी है।

भामहने तीन प्रकारके दोष—(१) सामान्य-दोष, (२) वाणी-दोष तथा (३) अन्य दोष माने है। उनके इन तीन दोष-वर्गोंका पार्थक्यकारी आधार अधिक स्पष्ट नहीं है। वाणीके दोषोंसे उनका अभिप्राय सम्भवतः शब्द-दोषोंसे है। वामनने दोषके शब्दगत और अर्थगत भेद किये है। वामनकृत भेद तो चार हैं—पद-दोष, पदार्थ-दोष, वाक्य-दोष और वाक्यार्थ-दोष, परन्तु उनका आधार मूलतः शब्द और अर्थ ही है। 'चन्द्रालोक'के टीकाकारने पद, पदांश, वाक्य, वाक्यांश, अर्थ, प्रबन्ध और रसमें रहनेके कारण दोष ७ प्रकारके बतलाये है। मम्मटने पदगत (शब्द) दोष १६ प्रकारके और वाक्य-दोष २१ प्रकारके माने है।

हिन्दीके आचार्योंमें केशव आदिने काव्य-दोषोंकी विवेचना तो की है, पर शब्द-दोषकी परिभाषा नहीं दी है। इनमें काव्यसरोजकार श्रीपतिने शब्द और अर्थके दोषोंका अधिक सजगता और जागरूकतासे विभाजन किया है। भिखारीदास आदि जिन हिन्दी आचार्योंने 'काव्यप्रकाश'को आधार माना है, उनके विवेचन अधिक वैज्ञानिक और क्रमबद्ध हैं।

'शब्द-दोष' प्रत्यक्ष रूपसे 'शब्द' या पदसे सम्बन्ध रखते हैं, पर अप्रत्यक्ष रूपसे अर्थकी प्रतीति और रसकी अभिव्यक्तिसे ही उनका सम्बन्ध होता है। अतः वे रसके अपकारक ही होते हैं। विभिन्न आचार्य इन्हें वाणी-दोष, शब्द-दोष आदि नामोंसे पुकारते हैं। इन दोषोंके नामोंके परिवर्तन करनेकी प्रवृत्ति भी इन लेखकों द्वारा अपनायी गयी है। कुछ आचार्योंकी परिभाषाएँ एवं उदाहरण स्पष्ट नहीं है।

वस्तुतः दोषोंका शब्द और अर्थके आधारपर विभाजन ही बहुत अधिक स्पष्ट नहीं हो सकता है। काव्यमें शब्द और अर्थ जिस अभिन्न रूपमें प्रयुक्त होते हैं, उनमें इस प्रकार विभेद करना सरल नहीं है। फिर भी सापेक्षित दृष्टिसे शब्द और अर्थ-सम्बन्धी भेदको स्वीकार किया गया है। जहाँ दोष शब्दपर आश्रित हो, अर्थात् शब्दके पर्याय द्वारा दोषको दूर किया जा सके, वहाँ शब्द-दोष होता है और जहाँ शब्दके पर्यायसे भी दोष बना रहे वहाँ अर्थ-दोष होता है। यह व्याख्या भी सदा ठीक नहीं उतरती, फिर भी एक सीमातक मान्य है। मम्मट, विश्वनाथ आदिका विवेचन इसीपर आधारित है और हिन्दीके कुलपति तथा भिखारीदासने भी यही माना है। शब्दके अन्तर्गत पद-दोष और वाक्य-दोषका विभाजन भी मम्मट तथा उनके अनुवर्ती संस्कृत तथा हिन्दीके आचार्योंने किया है।

इस प्रकार शब्द-दोषके अन्तर्गत पद-दोष प्रायः १६ माने गये है—१. श्रुतिकटु, २. च्युतसंस्कार (क) लिंग-दोष, (ख) वचन-दोष, (ग) कारक-दोष, (घ) सन्धि-दोष, (ङ) प्रत्यय-दोष, ३. अप्रयुक्त, ४. असमर्थ, ५. निहितार्थ, ६. अनुचितार्थ, ७. निरर्थक, ८. अवाचक, ९. अश्लील, १०. ग्राम्य, ११. नेयार्थ, १२. क्लिष्ट, १३. सन्दिग्ध, १४. अप्रतीति, १५. अविमृष्ट विधेयांश, १६. विरुद्धमतिक्रम। इसके साथ ही वाक्य-दोष २१ माने गये हैं—१. प्रतिकूल वर्ण, २. हतवृत्त, ३. न्यून पद, ४. अधिक पद, ५. व्यर्थ-पदता, ६. कथित पद, ७. पतत्प्रकर्ष, ८. समाप्तपुनरुक्ति, ९. अर्द्धान्तान्तरैकवाचक, १०. अभवन्मत सम्बन्ध, ११. अनभिहित सम्बन्ध, १२. अस्थानपदता, १३. संकीर्ण, १४. गर्भित, १५. प्रसिद्धित्याग, १६. भग्नप्रक्रम, १७. अक्रम, १८. अमतपरार्थता, १९. अन्वयदोष, २०. क्रिया-दोष, २१. मुहावरा-दोष। संस्कृत और हिन्दीकी प्रकृतिके अन्तरके कारण कुछ वाक्य-दोष भिन्न हो गये हैं, जैसे उपहतविसर्गहत, लुप्तविसर्ग आदि दोष हिन्दीमें नहीं हो सकते, उनके स्थानपर क्रिया, मुहावरा आदिका विशेष महत्त्व हो गया है।

पद-दोष—१. श्रुतिकटु—वामनने इस दोषको पद-दोष मानकर कष्ट, अर्थात् श्रुतिविरस अथवा कर्णकटु नाम दिया है। भामहने इसे श्रुति-कष्ट नामक वाणी-दोष माना है। 'साहित्यदर्पण'में दुःश्रवता (दुःश्रवत्वम्) नाम आया है। केशवने इसे कर्ण-कटु नाम दिया है। सुरति मिश्र, आचार्य श्रीपति तथा भिखारीदासने इसे 'श्रुतिकटुत्व' अथवा 'श्रुतिकटु' नामसे पुकारा है। यह पद-दोष मम्मटके अनुसार परुषवर्णता (का० प्र०, ७ : ५१ वृ०)का दोष है, अर्थात् जहाँ कानोंको खटकनेवाले शब्दोंका प्रयोग किया जाता है, वहाँ श्रुतिकटु दोष होता है, यथा—"त्रिया अलक चच्छुस्रवा, डसै परत ही दृष्टि" (का० नि०, २३)। 'चच्छुस्रवा' और 'दृष्टि' दोनों ही शब्द दुष्ट हैं। 'श्रुति' शब्द सकारके समाससे दुष्ट हुआ और 'त्रिया' शब्दका रकार दुष्ट है। यहाँपर तीनों भाँतिका श्रुतिकटु दिखलाया गया है। यह दोष शृंगार आदि कोमल रसोंमें ही होता

है। वीर, रौद्र आदि रसोंमें यह गुण है। 'यमक' आदि अलंकारोंमें भी यह दोष नहीं होता है।

२. च्युतिसंस्कार—भरतका मत है कि जहाँपर अशब्द (व्याकरण-अशुद्ध शब्दका प्रयोग) हो, उसे शब्दहीन कहते हैं (ना० शा०, १७ : ९४)। भामहके मतमें जहाँ व्याकरण अशुद्ध तथा शिष्ट-जन द्वारा अस्वीकृत शब्दका प्रयोग हो, वहाँ यह दोष होता है। दण्डी भी इसे स्वीकार करते है। भरत, भामह तथा दण्डी इसे शब्द-हीन नामसे पुकारते है। वामन इसे 'असाधु' नाम देते है। आचार्य श्रीपतिने इसे 'भाषाच्युत' कहा है। भिखारीदासने 'भाषाहीन' नाम दिया है। मम्मट और साहित्यदर्पणकार इसे च्युतसंस्कार और च्युतसंस्कृति नामसे पुकारते है। यह वह शब्द-दोष है, जिसमें किसी पदका व्याकरणके नियमके विरुद्ध रहना कहा जाता है (का० प्र०, ७ : ५१ वृ०)। अभिप्राय यह है कि जहाँ वाक्यरचना व्याकरणके नियमोंके अनुकूल न हो, वहाँ यह दोष होता है—"वा दिन बैसन्दर चहूँ बनमें लगी अचान। जीवत क्यों ब्रज बाँचतो जौ न पीवतो कान" (का० नि०, २३)। यहाँपर वैस्वानरको बदलकर 'बैसन्दर' कहना, 'चहूँ दिशि'को घटाकर 'चहूँ' कहना तथा पीना शब्द जलके लिए न कहकर कानके लिए कहना रीति-विरुद्ध होनेके कारण च्युतसंस्कार दोष माना गया है। यह कई प्रकारका होता है।

(क) **लिंग-दोष**—यह च्युतसंकार दोष उस स्थानपर होता है, जहाँ लिंगप्रयोग सम्बन्धी अशुद्धियाँ पायी जाती है, यथा—"पीछे मघवा मोहिं साप दई"। "अंगद रक्षा रघुपति कीन्हों"। केशवके उक्त उदाहरणोंमें 'मघवा' तथा 'रक्षा' क्रमशः पुंलिंग और स्त्रीलिंग है, अतः 'साप दयो' और 'रक्षा कीन्ही' प्रयोग होने चाहिये थे। (ख) **वचन-दोष**—यह उस समय होता है, जब एक वचनके स्थानपर बहुवचन और बहुवचनके स्थानपर एकवचन पदका प्रयोग किया जाता है, यथा—"कह न सके कुछ बात प्राण था जैसे छुटता"। इस अवतरणमें 'छुटता था'के स्थानपर 'छुटते थे'का प्रयोग होना चाहिये था। (ग) **कारक-दोष**—यह दोष वहाँ होता है, जहाँ कारकप्रयोगकी त्रुटि पायी जाती है, जैसे—"करे साधना एक परलोक ही कौ" या "रह्यौ रीझिकै वाटिकाकी प्रभाकौ"। केशवके इन अवतरणोंमें क्रमशः 'प्रभा'के साथ तृतीया विभक्तिका चिह्न होना चाहिये था तथा 'साधना'के लिंगके अनुसार 'कौ'के स्थानपर 'की' प्रयोग ठीक होता। (घ) **सन्धि-दोष**—भरत, भामह और दण्डी इसे **विसन्धि** नामसे पुकारते हैं। वामन भी इसे स्वीकार करते है। वे इसे वाक्य-दोषके अन्तर्गत रखते है। सन्धि-दोष उस समय माना जाता है, जिस समय सन्धि सम्बन्धी व्याकरण-नियमोंके विरुद्ध सन्धियाँ की जाती हैं, यथा—"मन लेहु मिलेब गहै हम गैलो" या केशवदास "दुख दीबे लायक भयेब तुम"। उक्त पदोंमें क्रमशः मिलेब = मिलै + अब तथा भयेब = भये + अबका प्रयोग किया गया है, जो सन्धि-नियमोंके अपवाद हैं। यहाँ मिलैब तथा भयैब होना चाहिये था। (ङ) **प्रत्यय-दोष**—जहाँ अशुद्ध प्रत्ययका प्रयोग किया जाता है, यथा—"प्रेम शक्तिसे चिर निरस्त्र हो जावेगी पाशवता"। यहाँ पाशवताके स्थानपर 'पशुता' या 'पाशव'-का प्रयोग होना चाहिये था। च्युतिसंस्कार सम्बन्धी दोषोंकी केशव तथा आधुनिक युगमें 'प्रसाद' और पन्तकी कवितामें भरमार है।

३. अप्रयुक्ति—वामनने इसे अप्रयुक्त दोष माना है। श्रीपतिने भी इसे अप्रयुक्त नाम दिया है। मम्मटके अनुसार यह वह दोष है, जिसे किसी पदका, उसके कोश-व्याकरण आदिसे सिद्ध होनेपर भी कवियों द्वारा अप्रयुक्त होना कहा जाता है (का० प्र०, ७ : ५१ वृ०)। भिखारीदासके अनुसार यह वहाँ होता है, जहाँ यद्यपि शब्द तो सत्य (अथवा ठीक) प्रयुक्त हुआ हो, परन्तु कवियोंने उसका उल्लेख न किया हो, यथा—"करै न बैयर हर हि भी, कन्दरपके सर घाउ" (का० नि०, २३)। यहाँ बैयर = सखी, भी = यह, कन्दर्प = कामको कहते है। ये पद ब्रजभाषा और संस्कृत, दोनोंसे शुद्ध है, पर किसी कविने इनका प्रयोग नहीं किया है। इससे अप्रयुक्ति दोष है। अथवा—"पुत्र जन्म उत्सव समय स्पर्श कीन्ह बहु गाय"। यहाँ दानके अर्थमे 'स्पर्श' पद प्रयुक्त हुआ है। स्पर्शका अर्थ दान भी है, पर दानके अर्थमें इसका प्रयोग काव्योंमें देखा नही जाता।

४. असमर्थ—सूरति मिश्र तथा श्रीपतिने असमर्थ-दोषका उल्लेख किया है। मम्मटके अनुसार यह वह दोष है, जिसे किसी पदका, उसके एक किसी अर्थमें (कोशादिमें) परिपठित होनेपर भी उस अर्थके प्रत्यायनमें असामर्थ्य कहा करते हैं (का० प्र०, ७।५१ वृ०), अर्थात् यह दोष वहाँ होता है, जहाँ यद्यपि शब्दका अर्थ तो होता है, परन्तु उस अर्थके बोध करानेकी शक्ति उस शब्दमें नहीं होती। यथा—"कान्ह कृपा फल भोगको करि जान्यो सतिवाम। असुरसाखि सुरपुर कियो, ससुरसाखि निजधाम" (का० नि०, २३)। 'सुरसाखि' कल्पतरुको कहते है। 'अ'कारसे यह अर्थ प्रकट किया गया है कि बिना कल्पतरुका सुरलोक कर दिया। सत्यभामाने कल्पतरु समेत अपना घर किया, वह कृष्णचन्द्रकी कृपाका फल है, पर यह अर्थ प्रकट न होना असमर्थ दोष है। यह स्मरणीय है कि एकार्थवाची शब्दोंमें अप्रयुक्त दोष होता है और अनेकार्थवाची शब्दोंमें असमर्थ-दोष। पहलेमें अर्थ किसी प्रकार दबता नहीं और दूसरेमें अभिप्रेतार्थ दब जाता है।

५. निहितार्थ—वामनने इसे गूढ़ार्थ नाम दिया है। मम्मटके अनुसार यह उस स्थानपर होता है, जहाँ किसी पदका अपने प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध, दोनों अर्थोंके बोधनमें समर्थ होनेपर भी, अप्रसिद्ध (अविवक्षित) अर्थमें ही प्रयुक्त होना कहा करते है (का० प्र०, ७ : ५१ वृ०), अर्थात् जहाँ कविने किसी शब्दका प्रयोग अप्रसिद्ध अर्थमें किया हो, पर उससे प्रसिद्ध अर्थका ही बोध होता हो, वहाँ यह दोष होता है, यथा—"रे रे सठ नीरद भयो, चपला बिधु चित लाउ। भव मकरध्वज तरनको, नाहिं न और उपाउ" (का० नि०, २३)। उक्त पद्यमें नीरद = बिना दाँत, चपला = लक्ष्मी, विधु = विष्णु तथा मकरध्वज = सागरके अप्रसिद्ध अर्थमें प्रयुक्त हुए है, पर इन पदोंसे इनके प्रसिद्ध अर्थ बादल, चन्द्रमा, बिजली और कामदेवका अर्थ प्रकट

होता है, अतः यहाँ निहितार्थ-दोष है। अथवा—"विषमय यह गोदावरी, अमृतनके फल देति। केसव जीवनहारके, दुख असेष हरि लेत"। केशवके इस वर्णनसे 'विष' तथा 'जीवन' शब्दका अर्थ पानी होता तो अवश्य है, पर यह अर्थ बहुत प्रसिद्ध नहीं है। अतएव यहाँपर निहितार्थ-दोष है। अप्रयुक्त विरल प्रयोगके कारण दूषित होता है। असमर्थ-दोषमें अर्थकी प्रतीति नहीं होती है और निहितार्थ-में देरसे प्रतीति होती है। श्लेष और यमकादि अलंकारोंमें ये दोनों दोष नहीं माने जाते।

६. अनुचितार्थ—मम्मटके अनुसार यह वह दोष है, जिसे किसी पदकी, अपने विवक्षित (प्रसिद्ध) अर्थमें ही किसी प्रकारकी तिरस्कारबोधकता कहा करते हैं (का० प्र०, ७ : ५१ वृ०)। जयदेवका मत है कि जहाँ पद अनुचित अर्थका बोध कराये, वहाँ अनुचितार्थ-दोष होता है। भिखारीदासके मतमें जहाँ उचित शब्दका प्रयोग न किया गया हो, वहाँ यह दोष होता है, जैसे—"जेहि जावक अँखियाँ रँगे, दई नखक्षत गात। रे पिय हठ क्यों सठ करै, वाही पै किन जात" (का० नि०, २३)। यहाँ 'रँगे'के स्थानपर 'दयो' न होने और साथ ही 'पिय'के साथ 'सठ'-का प्रयोग करनेके कारण अनुचितार्थ दोष है।

७. निरर्थक—वामनने इस दोषको पद-दोषके अन्तर्गत **अनर्थक** नाम दिया है। मम्मट और विश्वनाथने इसे निरर्थक नामसे पुकारा है। यह वह दोष है, जिसे किसी पदका, जैसे कि च, हि, सु आदिका, केवल पादपूर्तिके लिए ही प्रयुक्त होना कहा जाता है (का० प्र०, ७ : ५१ वृ०), अर्थात् जहाँ किसी छन्दको पूरा करनेके लिए कुछ शब्दोंका प्रयोग किया जाये, परन्तु वस्तुतः उनका अर्थ कुछ भी न हो। यथा—"अरी हनत दग तीरसों, तोहि पई रन ईर" (का० नि०, २३)। यहाँ 'ईर' शब्द निरर्थक होनेके कारण यह दोष है।

८. अवाचक—भामहने इसे अवाचक और वामनने **अन्यार्थ** नामसे पुकारा है। दण्डीने भी इसका उल्लेख किया है। 'काव्यप्रकाश', 'साहित्यदर्पण' तथा 'काव्यनिर्णय'में भी इसका उल्लेख आया है। यह वह दोष है, जिसे किसी पदका, उसकी विशिष्ट वाचकतासे (अर्थात् उसके विवक्षित धर्मरूप अर्थकी वाचकतासे अथवा धर्मिरूप अर्थकी वाचकतासे अथवा धर्मधर्मिरूप अर्थकी वाचकतासे) रहित होना कहा करते हैं (का० प्र०, ७ : ५१ वृ०)। जयदेवके मतानुसार अवाचक-दोष उपसर्गके होने-न होनेपर निर्भर करता है। उनका मत है कि जिस उपसर्गके साहचर्यसे जिस धातुका जो अर्थ हो, उस उपसर्गके बिना ही उस अर्थमें उसी धातुके प्रयोगको अवाचक-दोष कहा जाता है। भिखारीदासका कहना है कि अवाचक-दोषपूर्ण शब्द वह होता है, जिसका रीति-प्रतिकूल कुछ विशेष अर्थ मान लिया जाय, परन्तु उससे उस अर्थका बोध न होता हो। इन अर्थोंको कवि भी नहीं मानते। यथा—"प्रगट भयो लखि विषम हय, विष्णु धाम सानन्दि। सहसपान निद्रा तज्यो, खुलो पीत मुख बन्दि" (का० नि०, २३)। यहाँ शरद्के लिए 'सप्तहय' न कहकर 'विषमहय' तथा 'कमल'-के लिए 'सहस्रपत्र' न कहकर 'सहसपान' कहना अवाचक-दोष है। साथ ही 'पीतमुख' 'भ्रमर'के लिए तथा 'विष्णु धाम' 'आकाश'के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इनका प्रयोग किसीने नहीं किया है, अतः ये अवाचक-दोष हैं। फूलनेके लिए 'निद्रा तज्यो' तथा आनन्दित होनेके लिए 'सानन्दि' कहना भी अवाचक-दोष है।

९. अश्लील—वामनने अश्लीलको **पदार्थ** नामक दोषके अन्तर्गत रखा है। भामह अश्लीलके घृणा अंगको श्रुतिदुष्ट तथा व्रीडाव्यंजकको अर्थदुष्टके अन्तर्गत मानते हैं। उन्होंने अश्लीलके अमंगलवाचक रूपको 'कल्पना-दुष्ट' नाम दिया है। वामनने भी भामहके उक्त भेदोंको स्वीकार किया है। सूरति मिश्रके जुगुप्सा, व्रीडा और अमंगलका समाहार भी अश्लीलके अन्तर्गत हो जाता है। श्रीपतिने अश्लीलका विस्तारसे वर्णन किया है। मम्मट और विश्वनाथने अश्लील तीन प्रकारका माना है। यह वह दोष है, जिसे किसी पदकी (अपनी अर्थबोधकताके अतिरिक्त) व्रीडा, जुगुप्सा और अमंगलके भावोंकी व्यंजकताका दोष कहते हैं (का० प्र०, ७ : ५१ वृ०; सा० द०, ७ : ४ वृ०)। (क) व्रीडाव्यंजक—'धिक मैथुन आहार यन्त्र' अथवा "खींचती उबहनी वह बरबस चोलीसे उभर-उभर कसमस, खिंचते सँग युग रस-भरे कलश" (पन्त)। (ख) जुगुप्साव्यंजक—"केसनि ओरनि सीकर रमैं, ऋक्षन को तमई जनु बमैं" (केशव)। यहाँ 'बमैं' शब्दमें कुछ घृणा-सी हो जाती है। (ग) अमंगलत्व—"दुख देख्यौ ज्यों कालि, त्यों आजहु देखौ" (केशव)। यहाँपर अमंगलत्वका भाव आ गया है। (घ) भिखारीदासने एक ही पद्यमें तीनों प्रकारके लक्षण देकर अपनी प्रतिभाका परिचय दिया है, यथा—"जीमूतन दिन पितृगृह, तियपग यह गुदरान" (का० नि०, २३)। इसमें 'जीमूत' बादलको कहते हैं। 'मूत' शब्द घृणास्पद है। पितृगृह पितृलोकको कहते हैं, इससे अशुभ है। 'गुद' तथा 'रान' मार्ग (गुह्यांग) और 'जंघा'को कहते हैं, इससे लज्जास्पद है। ये तीनों अश्लील-दोष हैं।

१०. ग्राम्य—भरत द्वारा प्रतिपादित भिन्नार्थके दो रूपों (अ) असभ्य अथवा ग्राम्य अर्थका वाचक, (आ) अभीष्ट अर्थकी दूसरेमें परिणति हो जानेसे प्रथम ग्राम्य दोषके अन्तर्गत आता है (ना०शा०, १७ : ९०)। वामनने भी ग्राम्य दोषका उल्लेख किया है। केशवका 'वधिर-दोष' ग्राम्यके अन्तर्गत आ जाता है। सूरति मिश्र और श्रीपतिने भी इस दोषका उल्लेख किया है। मम्मट और विश्वनाथके मतानुसार यह वह दोष है, जिसे किसी पदकी, केवल पामर जन प्रसिद्ध अर्थकी वाचकता कहा करते हैं (का० प्र०, ७ : ५१; सा० द० : ७ : ४), अर्थात् जहाँ केवल लोकप्रसिद्ध शब्दोंका ही काव्यमें प्रयोग हो, वहाँ यह दोष होता है, जैसे—"धनु है यह गौरमदाइन नाहीं" (केशव)। 'गौरमदाइन' (इन्द्रधनुष) केवल आधे बुन्देल-खण्डमें ही प्रचलित है, अतः यह ग्राम्य दोष है अथवा—"क्या झल्लै टुक गल्ल सुनि, भल्लर भाई" (का० नि०, २३)। यहाँ 'झल्लै', 'टुक', 'गल्ल', 'भल्लर' और 'भाई' शब्द लोकमें ही प्रसिद्ध हैं, काव्यमें नहीं। अतः यह ग्रामीण दोष है। जब कोई ग्रामीण व्यक्ति अपनी भणित-

उक्त कथनसे अभिप्राय यह है कि जिस पदमें विधेयरूप अंश प्रधानतया अनुक्त ही रहकर छूट जाय (अर्थात् जहाँपर विधेय समासके अन्तर्गत होकर छिप जाय या अप्रधान बन जाय)। जयदेवके अनुसार जहाँ दूसरे पदके साथ समास करनेसे प्रधान पदकी प्रतीति स्फुट न हो। यथा—"क्यों मुख हरिलखिचमृगी, रहिहै मनमें मान" (का० नि० २३)। यहाँ हरिमुख मृगी-विधेय है। इसमें उक्त दोष है। वाक्यके दो अंश होते है—१. उद्देश्यभूत अंश और २. विधेयभूत अंश। इनमें मीमांसा-दर्शनकी दृष्टिसे विधेयभूत अंश अथवा साध्यांशकी प्रधानता रहा करती है। जहाँ यह अंश दब जाता है, वहा यह दोष होता है।

१६. **विरुद्धमतिकृत**—मम्मटके अनुसार इसमें अर्थकी प्रतीति वर्णित विषयके विरुद्ध होती है (का० प्र०, ७ : ५४ वृ०)। जयदेवके मतानुसार जहाँ अपराधीन (जो पराधीन न हों) जैसे शब्दोंसे इस अर्थके साथ-ही-साथ अपर-अधीन (दूसरोंके अधीन) जैसे अर्थोंका बोध हो, अर्थात् जो वर्णित विषयके विरुद्ध अर्थकी प्रतीति करायें, वे इस दोषके अन्तर्गत आते है। यथा—"भाल अम्बिकार-मनके, बाल सुधाकर देख" (का० नि०, २३)। यहाँ 'अम्बिकारमन'का अर्थ महादेवके अतिरिक्त एक विरुद्ध अर्थ 'माताके साथ रमण करनेवाला व्यक्ति' भी भाषित होता है। साथ ही अम्बिका माताको कहकर नीचे सुधाकर ब्राह्मणको कहना विरुद्ध मतिकृत हुआ। अथवा—"काम गरीबनके करै, जे अकाजके मित्र। जो माँगिय सो पाइये,. ते धनि पुरुष बिचित्र" (वही) इसमे जो-जो बातें स्तुतिकी कही गयी है, उन सबमें निन्दा प्रकट है।

वाक्य-दोष—१. प्रतिकूलवर्ण—श्रीपतिने इसका उल्लेख किया है। साहित्यदर्पणकारने इसका नाम प्रति-कूलत्व माना है। यह वाक्यगत शब्द-दोष है। प्रतिकूल वर्णत्व कहते है रसाभिव्यंजक वर्णोंके विपरीत (अर्थात् रसास्वादके उद्बोधके प्रतिबन्धक) वर्णोंके सद्भावको (जिनसे रसात्मक भी वाक्य खटकने लगता है)। मम्मटका भाव है कि किसी रसका वर्णन करनेमे जो-जो वर्ण गुणप्रद तथा अपेक्षित होते हैं, उनसे भिन्न वर्ण, जो किसी रसके बाधक होते हैं, प्रतिकूल वर्ण कहे जाते है (का० प्र०, ७ : ५४ वृ०)। भिखारीदासने इसे प्रतिकूलाक्षर नामसे पुकारा है। "पिय तिय लुट्टत हैं सुरस, ठट्टि लपट्टि लपट्टि" (का० नि०, २३)—इसमें लुट्टत, ठट्टि, लपट्टि शब्दोंका प्रयोग शृंगारके प्रसंगमें उचित नहीं है। यदि इस प्रकारकी टवर्ग-प्रधान शैलीका प्रयोग रौद्र आदि रसोंमें किया जायगा तो वह गुण होगा।

२. **हतवृत्त शब्द**—भरतने इस दोषको विषम नामसे पुकारा है (ना० शा०, १७ : ९४)। भामह, दण्डी तथा वामन इसे भिन्नवृत्त कहते है। इन्होंने यतिभ्रष्ट नामक जिस दोषकी कल्पना की है, वह भी एक प्रकारसे भिन्नवृत्तके अन्तर्गत स्वीकार किया जा सकता है। केशवके 'पंगु,' 'यति-भंग', छन्दोभंग-दोषोंका इसमें सम्मिश्रण हो जाता है। सूरति मिश्र तथा श्रीपति द्वारा उल्लिखित यति-भंगका समावेश हतवृत्तमें होता है। मम्मटके अनुसार 'हतवृत्तता'-का अभिप्राय. ऐसी छन्दोरचनासे है, जो कि छन्दःशास्त्रमें प्रतिपादित वृत्तलक्षणके अनुसार ठीक होनेपर भी या तो 'अश्रव्य' हो (सुननेमें खटक करे) या 'अप्राप्तगुरुभावान्तलघु' हो (जिसके पादान्तमें ऐसा लघु हो, जो गुरु, जैसा कि उसे चाहिये, न हो रहा हो) या तो 'रसाननुगुण' प्रकृत रसके प्रतिकूल हो (का० प्र०, ७ : ५४ वृ०)। चन्द्रालोककारने यह दोष वहाँ बतलाया है, जहाँ सुननेमात्रसे ही छन्दका दोष प्रतीत हो जाय। 'काव्यनिर्णय'में जहाँ छन्दोभंगकी प्रतीति हो अथवा जहाँ रीत्यनुसार 'सुमिल' (यथावत्) पदोंका अभाव हो, वहाँ हतवृत्त दोष माना गया है। यथा—"लाल कमल जीत्यो सुवृष, भानुललीके चर्न"। (का० नि०, २३)। इस उदाहरणमें 'वृषभानु'के दो अक्षर पूर्वचरणमें और दो उत्तरचरणमें है तथा "दृग खंजन जघन कदलि, रदन मुक्त लिय जीति" (वही)। इसमें दृग और दाँत कहकर तब जंघ कहना चाहिये था, अतः यह हतवृत्त-दोष है। स्वच्छन्द छन्द-योजनाके आधुनिक समयमें यह दोष, दोष नहीं रह गया है।

३. **न्यूनपद (न्यूनपदत्व)**—हिन्दी आचार्योंमें सूरति मिश्र, भिखारीदास आदिने इसका वर्णन किया है। मम्मट यह दोष वहाँ मानते हैं, जहाँ अभिप्रेत अर्थके वाचक किसी पदका प्रयोग न किया जाय (का० प्र०, ७ : ५४ वृ०)। यथा—"पानी पावक पवन प्रभु, ज्यों असाधु त्यों साधु" (केशव)। यहाँ अर्थ तो यह है कि पानी, पावक, पवन और प्रभु साधु और असाधु दोनोंके प्रति एक-सा व्यवहार करते हैं, परन्तु वाक्यमें पर्याप्त शब्दोंकी न्यूनतासे ऐसा अर्थ सरलतासे नहीं निकल पाता। अथवा—"राज तिहारे खड्गतें, प्रगट भयो जस फूल" (का० नि०, २३)। यहाँ कवि खड्गलता कहकर यशको फूल कहना चाहता था, यह न्यून पद-दोष है तथा—"उत्तम मध्यम नीच गति पाहन सिकता पानि। प्रीति परिच्छा तिहुनकी बैर बितिक्रम जानि"। इसमें 'पाहन', 'सिकता', 'पानि'के आगे रेखा शब्द छूट गया है। इसका अध्याहार किये बिना अर्थ नहीं बैठता।

४. **अधिकपद (अधिकपदता)**—सूरति मिश्र और भिखारीदासने इस दोषका उल्लेख किया है। मम्मट, जयदेव और विश्वनाथने भी इसका वर्णन किया है। यह दोष वहाँ होता है, जहाँ वाक्यमें किसी ऐसे पदका प्रयोग हो, जो अविवक्षितार्थ हो, अर्थात् अनावश्यक पदका प्रयोग किया गया हो (का०प्र०, ७ : ५४ वृ०; सा० द०, ७ : ५ वृ०)। यथा—"बहु ऋक्ष कंगूरन लागि गये। तब स्वर्न लंक महँ सोभ भई। जनु अग्नि ज्वाल महँ धूम मई"। यहाँ 'मई' शब्द व्यर्थ है। अथवा 'है तिहारे शत्रुको, खड्गलता अहिराज" (का० नि०, २३)। यहाँ लता शब्द अधिक है। अधिकपद कहीं-कहीं अर्थविचारसे गुण भी हो जाता है।

५. **व्यर्थपदता**—भरतका अर्थहीन और भामह तथा दण्डीका व्यर्थ-दोष व्यर्थपदतामें खप जाते है। सूरति मिश्रका निरर्थक और श्रीपतिका अनर्थक-दोष भी व्यर्थ-पदताके अन्य नाम है। यह वाक्य-दोष उस स्थानपर होता है, जहाँ व्यर्थ पद ठूँस दिये जाते हैं। यथा—"व्यथित रानी उड़ गयी सब स्नेह सौरभ स्फूर्ति"। इसमे 'स्फूर्ति' शब्द व्यर्थ है। अधिकपदता तथा व्यर्थपदतामें अन्तर यह

है कि प्रथम दोष सम्बद्ध होनेसे खटकते नहीं है, जितना कि असम्बद्ध होनेसे दूसरा दोष खटकता है।

६. **कथितपद (कथितपदता)**—भरतने इसे **एकार्थ** नाम दिया है। जहाँ एक अर्थके लिए अनेक अनावश्यक शब्दोंका प्रयोग हो, वहाँ यह दोष होता है (ना० शा०, १७ : ९२)। भामह तथा दण्डीने भी भरत द्वारा दिये हुए लक्षण स्वीकार किये है। साथ ही उन्होंने कहा है कि जहाँ पूर्वकथनके विना किसी वैचित्र्यके शब्द अथवा अर्थमे आवृत्ति हो, वहाँ यह दोष होता है। वामनने इस दोषको वाक्यार्थके अन्तर्गत माना है। केशवने शब्दगत और अर्थगत पुनरुक्तका उल्लेख किया है। सूरति मिश्र और श्रीपतिने भी इस दोषको स्वीकार किया है। भिखारीदासने इसका उल्लेख किया है। इसका दूसरा नाम 'पुनरुक्ति'-दोष है। साहित्यदर्पणकारने यही नाम स्वीकार किया है। मम्मटके अनुसार कथितपदता उस समय होती है, जब किसी वाक्यमें बिना किसी प्रयोजनके समानार्थक अथवा एक समान वर्णोंकी बार-बार आवृत्ति की जाय (का० प्र०, ७ : ५४ वृ०)। सारांश यह है कि एक ही शब्द बार-बार आये, तब यह दोष होता है, यथा—"जो तिय मो मन लै गयी, कहाँ गयी वह तीय" (का० नि०, २३)। यहाँ 'तिय' शब्द दो बार आनेसे कथितपद दोष है। अथवा—"जहाँ सुमति तहँ सम्पति नाना। जहाँ कुमति तहँ बिपति निधाना" (तुलसी)। इसमें प्रथम पंक्तिसे ही दूसरीका भी अर्थ निकल आता है, अतः यहाँ कथितपद-दोष है। 'पुनरुक्तवदाभास', 'लाटानुप्रास' अलंकारों तथा 'अर्थांतर-संक्रमितवाच्य' ध्वनिमे कथित-दोष नहीं होता है, वरन् गुण हो जाता है।

७. **पतत्प्रकर्ष (पतत्प्रकर्षता)**—'काव्यप्रकाश', 'साहित्यदर्पण' तथा इनके आधारपर रचे गये हिन्दी काव्य-ग्रन्थोंमें इस दोषका विवेचन मिलता है। इस दोषका तात्पर्य है वाक्यमें प्रकर्षके, चाहे वह अलंकार सम्बन्धी हो अथवा बन्ध-विन्यास सम्बन्धी, उत्तरोत्तर शिथिल हो जानेका (का० प्र०, ७ : ५४ वृ०)। जयदेवका कथन है कि जहाँ पूर्व भागमें आरम्भ किये गये अनुप्रासादिका उत्तरभागमें अभाव हो, यथा—"कान्ह कृष्न केसव कृपा, सागर राजिवनैन" (का० नि०, २३)। यहाँ 'क'से आरम्भ होनेवाले शब्दोका अनुप्रास-रूपमें अन्ततक निर्वाह नहीं हो सका है। यह पतत्प्रकर्ष दोष है। एक ही पद्यमे विषयान्तर होनेसे पतत्प्रकर्ष दोष नहीं रह जाता है।

८. **समाप्तपुनरुक्ति (समाप्तपुनराप्त)**—मम्मट, विश्वनाथ, जयदेव, भिखारीदास आदि आचार्योंने इसके विभिन्न नाम दिये हैं, यथा 'समाप्तपुनराप्त', 'समाप्तपुन-राप्तता' आदि। यह वह दोष है, जिसे किसी वाक्यमें, उसके क्रिया-कारक आदिसे समन्वित रहनेपर भी, बिना किसी विशेष विवक्षाके, पुनः उससे समन्वयकी आकांक्षा रखनेवाले पदोंका उपादान कहा जाता है (का० प्र०, ७ : ५४ वृ०), अर्थात् जहाँ किसी विषयको समाप्त करके फिर उसे आगे बढ़ाया जाय—"ब्रह्मादि देव जब विनय कीन्ह, तट क्षीर सिन्धुके परम दीन" (केशव)। 'तट क्षीर सिन्धुके' यहाँपर वाक्य समाप्त हो गया है। 'परमदीन'के द्वारा यह वाक्य फिर उठाया गया है, अतः यह उक्त दोष है। यथा—"डाभ बराये पग धरौ, ओढ़ौ पट अति घाम। सियहि सिखायो निरखतै, दृग जल भरि मग वाम" (का० नि०, २३)। कवि यहाँ निरखकर शिक्षा देना कहना चाहता था, यह समाप्तपुनराप्त दोष है।

९. **अर्द्धान्तरैकवाचक (अर्द्धान्तरैकवाचकत्व)**—मम्मट, विश्वनाथ आदिने इसका विवेचन किया है। इनके अनुसार इस दोषका अभिप्राय है किसी वाक्यके प्रथमार्ध-का ऐसा होना, जो कि द्वितीयार्धगत किसी पदके द्वारा पूर्ण हुआ करे (का० प्र०, ७ : ५४ वृ०)। यह अर्द्धान्तरै-कवाचकत्व दो दृष्टियोंसे देखा जा सकता है। प्रथम, जिसमे प्रथमार्ध वाक्य ऐसा लगे, जो द्वितीयार्धगत किसी वाचक पदकी आकांक्षा करता प्रतीत हो और दूसरा जिसमे द्वितीयार्ध वाक्य ऐसा प्रतीत हो, जिसे प्रथमार्धगत किसी वाचक पदकी आवश्यकता रहा करे। भिखारीदासने इस दोषको चरणा-न्तर्गत नाम देकर बताया है कि जहाँ कोई शब्द दो चरणों-के बीच पड़ गया हो। यथा—"गैयन लीन्हें आज मैं, कान्है देख्यों साँझ" (का० नि०, २३)। यहाँ 'कान्है देख्यों आज मै, गैयन लीन्हे साँझ' होना चाहिये। अतः उक्त पद-में यह दोष है। अतुकान्त एवं स्वच्छन्द छन्दमें अधिकतर ऐसे ही वाक्य प्रयुक्त होते है, अतः वहाँ यह दोष नही होता।

१०. **अभवन्मतसंबंध (अभवन्मतयोग)**—मम्मटके अनुसार इसका अर्थ है किसी वाक्यमें पदार्थोंके परस्पर अभीष्ट सम्बन्धका अविद्यमान रहना (का० प्र०, ७ : ५४ वृ०)। इस दोषकी सम्भावना इन कारणोंसे होती है—विभक्तिभेद, न्यूनता, आकांक्षा, विरह, वाच्य और व्यंग्य अर्थोमे विवक्षित सम्बन्धका अभाव, समासमें किसी पदकी उपस्थितिमें अन्य पदके साथ उसके अभीष्ट सम्बन्धका विरह और व्युत्पत्ति विरोध। चन्द्रालोककारका कथन है कि अभवन्मतयोग वहाँ होता है, जहाँ पदोंका वह सम्बन्ध न हो, जो कविको अभिप्रेत हो। यथा—"प्रान प्रानपति बिनु रह्यो अब लौ धिग ब्रजलोग" (का० नि०, २३)। यहाँ प्राणको धिक् कहना था, पर ब्रजलोगको कहा है, अतः यह दोष है। अथवा—"बसन जोन्ह मुकता उडुक, तियनिसिके मुखचन्द। झिल्लीगन मंजीररव, उरज सरोरुह बन्द" (वही)।

११. **अनभिहितवाच्य**—मम्मट, विश्वनाथ, जयदेव, भिखारीदास आदिने इसका विवेचन किया है। यह दोष वहाँ होता है, जहाँ वाक्यमें आवश्यक रूपसे प्रयोग योग्य (उद्देश्यविधेयभावादिद्योतक विभक्ति अथवा निपात आदि रूप) अप्रयुक्त रह जाये (का० प्र०, ७ : ५४ वृ०)। भिखारीदासने इसका नाम अकथित-कथनीय रखते हुए कहा है कि जहाँ अवश्य कहनेवाली बात हो, किन्तु उसका उल्लेख न किया जाय, यथा—"प्रीतम पाँइ लग्यो नहीं, मान छोड़ती तीय" (का० नि०, २३)। यहाँ मान छोड़ना तो कहा है, पर पाँव लगना नही, अतः यह अकथित-कथनीय दोष है, अथवा—"सिरपर सोहै पीतपट, चन्दनको रँग भाल। पान लीक अधरन लगी, लई नयी छबि लाल" (वही)। नयी छबि कहकर नीलपट, जावकका रंग, श्याम लीक न कहना अनभिहितवाच्य-दोष है। न्यूनपद-दोषमें वाचक पदकी और अनभिहितवाच्यमे द्योतक पदकी आव-

व्यक्तता होती है।

१२. अस्थानपदता—मम्मट और विश्वनाथने इसका 'अपदस्थपदता' तथा 'अपदस्थत्व' नाम दिया है। यह दोष वहाँ होता है, जहाँ वाक्यमें किसी पदका अपने उचित स्थानके अतिरिक्त अन्यत्र प्रयोग किया जाय (का० प्र०, ७ : ५४ वृ०; सा० द० ७ : ८)। यथा—"है यो कुटिल गयी आजो, अलकै सो मन माहि" (का० नि०, २३)। इस पद्यमें कुटिल शब्द अलकके पास न रहनेसे अस्थानपदता दोष है।

१३. संकीर्ण—मम्मट तथा विश्वनाथके अनुसार इसका अर्थ है किसी वाक्यके पदोंका किसी दूसरे वाक्यमें प्रविष्ट होते प्रतीत होना (का० प्र०, ७ : ५४ वृ०), अर्थात् किसी वाक्यकी ऐसी रचना, जिसके पदका किसी दूसरे वाक्यके पदसे व्यवधान दिखायी दिया करे। भिखारीदासके मतसे यह दोष वहाँ होता है, जहाँ दूरस्थ शब्दोंसे ज्यों-त्यों करके अभिप्रेत अर्थकी प्रतीति हो जाय। यथा—"तजि प्रीतम पाँइन पर्यो, अजहूँ लखि तिय मान" (का० नि०, २३)। उक्त अवतरणका अर्थ है 'प्रीतम पाँय परो लखकर मान तज', अतः 'लखि प्रीतम पायन पर्यो, अजहूँ तजु तिय मान' होना चाहिये, अन्यथा संकीर्ण पद-दोष है।

१४. गर्भित (गर्भितत्व)—मम्मट और विश्वनाथके अनुसार इसका अभिप्राय है किसी वाक्यकी ऐसी रचना, जिसके बीचमें कोई दूसरा वाक्य प्रविष्ट हो रहा हो (का० प्र०, ७ : ५४ वृ०; सा० द०, ७ : ८), अर्थात् जहाँ किसी वाक्यके बीचमें अन्य वाक्य देकर वाक्यरचना की जाय। यथा—"साधु संग औ हरि भजन, बिषतरु यह संसारु। सकल भाँति दुखसों भर्यो, द्वै अमृत फल चारु" (का० नि०, २३)। इसमें गर्भित दोष है। इसका शुद्ध उदाहरण इस प्रकार होना चाहिये—"सकल भाँति दुखसों भर्यो, बिषतरु यह संसारु। साधु संग औ हरि भजन, द्वै अमृत फल चारु"।

१५. प्रसिद्धित्याग—मम्मटने इसे 'प्रसिद्धिहतत्व' कहा है, पर विश्वनाथने यही माना है। केशवने इसका नाम 'अन्ध-दोष' रखा है। मम्मटका मत है कि कवि-प्रसिद्धिका अभिप्राय है कविजनके प्रयोगनियमका और इस प्रयोग-नियमका उल्लंघन है 'प्रसिद्धिहतत्व' (का० प्र०, ७ : ५४ वृ०)। भिखारीदासके अनुसार इसका नाम है प्रसिद्धिहत। यह दोष वहाँ होता है, जहाँ प्रसिद्ध मत(अर्थात् वह मत, जो काव्य तथा लोकमें मान्य है)का परित्याग कर दिया जाय। यथा—"कूजि उठे गोकरभ सब, जसुमति सावक देखि" (का० नि०, २३)। कूजना पक्षियोंका प्रसिद्ध है, गोकरभ गायके बछड़ेसे तात्पर्य है, किन्तु करभ हाथीके बच्चेको कहते हैं। सावक (शावक) मृगादिके बच्चेको कहते हैं, मनुष्यके बालकको नहीं। इन्हीं कारणोंसे उक्त पद्यमें यह दोष है। अप्रयुक्त-दोष सर्वथा अप्रचलित शब्दोंके प्रयोगमें होता है और जहाँ प्रसिद्धित्यागसे चमत्कारका अभाव हो जाता है, वहाँ प्रसिद्धित्याग दोष होता है।

१६. भग्नप्रक्रम—मम्मट तथा विश्वनाथ द्वारा निर्दिष्ट इस भेदको भिखारीदासने 'प्रकरणभंग' माना है। मम्मटके अनुसार भग्नप्रक्रमताका अभिप्राय है वाक्यके प्रक्रम, अर्थात् प्रस्तावके भंग हो जानेका, क्योंकि वाक्यरचनाके नियम(जिस रूपमें वाक्यका शाब्द अथवा आर्थ उपक्रम हो, उसी रूपमें उसका शाब्द अथवा आर्थ उपसंहार हो)का यदि पालन न हो तो वहाँ प्रक्रमभंग-दोष होता है। भिखारीदासने यह दोष वहाँ माना है, जहाँ विधिवत् बात न कही जाय। साथ ही उन्होंने यह दोष वहाँ भी माना है, जहाँ किसी बातका समान रूपमें कथन न हो। यथा—"जहाँ रैनि जागे सकल, ताही पै किन जात" (का०नि० : २३)। 'जापै निशि जागे सकल' कहना चाहिये था, वह न कहनेसे प्रकरण-भंग-दोष है, या—"रमा उमा बानी सदा, विधि हरि हरके संग" (वही)। यहाँ 'हरि, हर, विधिके संग' कहना चाहिये था, अतः सदोष है। अथवा—"तू हरिकी अँखियाँ बसी, कान्ह बसे तुव नैन" (वही)। यहाँ समान रूपसे कथन नहीं हुआ है, अतः प्रकरणभंग-दोष है। वस्तुतः होना चाहिये था—"कान्ह नैनमें तू बसी, कान्ह बसे तुव नैन" यह दोष सर्वनाम, प्रत्यय, पर्याय, वचन, कारक, क्रिया, कर्म आदिमें भी होता है।

१७. अक्रम (अक्रमता)—भामह, दण्डी और केशव-कथित अपार्थ नामक दोषका इस दोषमें समन्वय हो जाता है। भामह, दण्डी और वामनके अपक्रमका एक अंश अक्रममें आ जाता है और शेष दुष्क्रमके अन्तर्गत समन्वित हो जाता है। केशवने इसे 'क्रमहीन' और सुरति मिश्रने कर्महीन नाम दिया है। श्रीपतिने इसे 'अपक्रम' नामसे पुकारा है। मम्मटके अनुसार अक्रमताका अर्थ है वाक्यमें जिस पदके पश्चात् जिस पदका रखना उचित हो, उसे वहाँ न रखकर अन्यत्र रखना (का० प्र०, ७ : ५४ वृ०)। अभिप्राय यह है कि अक्रमता वह दोष है, जिसके रहनेसे पदसन्निवेशरूप रचना प्रस्तुत अर्थकी प्रतीति नहीं करा पाती।

'अक्रमता' और 'स्थानस्थपदता'में भेद है। 'अस्थान-स्थपदता'में प्रस्तुत अर्थकी प्रतीति तो होती है, किन्तु पदनिवेश अनुचित लगा करता है। 'अक्रमता' और 'दुष्क्रमत्व' भी एक नहीं है। 'दुष्क्रमत्व'में अर्थक्रमका अनौचित्य खटका करता है, न कि पदनिवेशका। 'अक्रमता' दोष निपातविषयक है और निपातप्रयोगके नियमोंके उल्लंघनमें स्वभावतः झलक उठता है। यथा—"अमानुषी भूमि अवानरी करौं" (केशव)। यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि भूमि अमानुषी तो पहलेसे ही है, अब उसे बन्दरोंसे रहित करना ही शेष है, अथवा—"सीता जू रघुनाथको, अमल कमलकी माल। पहिरायी जनु सबनकी हृदयावलि भूपाल" (वही)। यहाँपर 'भूपाल' पदको 'सबन'के साथ रहना चाहिये था। पागल आदिके प्रलापमें क्रमहीन पदोंका प्रयोग गुण हो जायगा।

१८. अमतपरार्थता—मम्मट, विश्वनाथ तथा हिन्दीमें भिखारीदास आदिने स्वीकार किया है। मम्मटके अनुसार वाक्यमें प्रकृतिविरुद्ध, अर्थात् प्राकरणिक रसके विरुद्ध रसका अभिव्यंजित होना यह दोष है (का० प्र०, ७ : ५४ वृ०)। भिखारीदासने इसे माना है। यथा—"राम काम सायक लगें बिकल भई अकुलाइ। क्यों न सदन परपुरुषके तुरत तारिका जाइ" (का० नि०, २३)। यहाँ शृंगार तथा शान्तकी एक साथ प्रतीति हो रही है, जो एक दूसरेके विरुद्ध है, अतः यह दोष है।

१९. अन्वय-दोष—भरतका अभिलुप्तार्थ इसके अन्तर्गत आ जाता है। उनके अनुसार यह वहाँ होता है, जहाँ प्रत्येक चरणमें अर्थ पूरा हो जाय और विभिन्न अर्थोंमें कोई अन्विति न हो (ना० शा०, १७ : ९२)। भामह और दण्डी संस्कृतके आचार्यों तथा हिन्दीके आचार्य केशवने इस दोषको अपार्थ संज्ञा दी है। यह दोष वहाँ होता है जहाँ अन्वय करते समय अड़चन पड़ती है। यथा—"ये दृगसे झरते अग्निखण्ड लोहित थे ज्यों हिंसा प्रचण्ड"। इसमें 'लोहित' दृगका विशेषण है अथवा अग्निखण्डका, यह निश्चय नहीं है। दोनों ही लाल है। 'अभवन्मत'-दोषमें सम्बन्ध ठीक नहीं बैठता और 'अन्वय'-दोषमें अन्वयकी गड़बड़ी रहती है।

२०. क्रिया-दोष—आधुनिक विवेचकों द्वारा जोड़ा गया एक भेद। जहाँ अनुचित क्रियाका प्रयोग किया जाता है, वहाँ क्रिया-दोष माना जाता है। यथा—"निःश्वासोंका पवन प्रचारी, बरसाती अमृत भरी दृष्टि", "झलका हास कुसुम अधरोंपर हिल मोतीका-सा दाना", "खिलने लगा नवल किसलय वह" (पन्त)। उक्त उदाहरणोंमें क्रियाओं-का अनुचित प्रयोग किया गया है, अतः ये क्रियादोषसे दूषित हैं। केशव तथा सुमित्रानन्दन पन्तकी रचनाओंमें इस प्रकारके क्रिया सम्बन्धी दोष स्थल-स्थलपर परिलक्षित होते हैं।

२१. मुहावरा दोष—आधुनिक विवेचकों द्वारा जोड़ा गया एक भेद। दोष वहाँ होता है, जहाँ मुहावरोंका अशुद्ध प्रयोग किया जाता है। क्रिया-दोषके लिए ऊपर जो उदाहरण दिये गये हैं उनमें मुहावरोंका भी अशुद्ध प्रयोग किया गया है। अतः वे उदाहरण मुहावरा-दोषके अन्तर्गत भी लिये जा सकते हैं। "वारि पीकर पूछता है घर सदा" (पन्त), यहाँ 'पानी पीकर घर पूछना'का रूपान्तर करके प्रयोग किया गया है। यह दोष है। अथवा—"रणरक्त सिन्धुमें उमड़ा प्रक्षालन कर अपवाद अपंग"। यहाँपर आपाद-मस्तक मुहावरा है, पर अनुप्रासके लिए बिगाड़ दिया गया है। यह दोष है। केशव, सेनापति तथा पन्तकी रचनाओंमें मुहावरा-दोषके अधिक उदाहरण देखे जा सकते हैं। —टी० सिं० तो०

शब्दब्रह्म—दे० 'नाद', 'बीजाक्षर'।

शब्द-शक्ति—शब्दकी शक्ति उसके अन्तर्निहित अर्थको व्यक्त करनेका व्यापार है। कारण जिसके द्वारा कार्य-सम्पादन करता है, उसे व्यापार कहा जाता है। जिस प्रकार घड़ा बनानेके लिए मिट्टी, चाक, दण्ड तथा कुम्हार आदि कारण हैं और चाकका घूमना वह व्यापार है, जिससे घड़ा बनता है, इसी तरह अर्थका बोध करानेमें 'शब्द' कारण है और अर्थका बोध करानेवाले व्यापार अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना हैं। आचार्योंने इन्हींको 'शक्ति' तथा 'वृत्ति' नाम दिया है। मम्मटने व्यापार शब्दका प्रयोग किया है तो विश्वनाथने 'शक्ति'का। 'शक्ति'में ईश्वरेच्छाके रूपमें शब्दोंके निश्चित अर्थके संकेतको माना गया है। यह प्राचीन तर्क-शास्त्रियोंका मत रहा है। बादमें 'इच्छामात्रं शक्तिः' माना गया, अर्थात् मनुष्यकी इच्छासे भी शब्दोंके अर्थसंकेतकी परम्पराको स्वीकार किया गया। इसी विवादको बचानेके लिए 'तर्कदीपिका'में शक्तिको शब्द-अर्थके उस सम्बन्धके रूपमें स्वीकार किया गया, जो मानसमें अर्थको व्यक्त करता है (जब कभी शब्दका उच्चारण किया जाता है)। ये शब्द-शक्तियाँ अथवा व्यापार तीन माने गये हैं—अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना (विस्तार इन शब्दोंके अन्तर्गत द्रष्टव्य)। —सं०

शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि—संलक्ष्य ध्वनिका पहला भेद, जिसमें वाच्यार्थसे व्यंग्यार्थकी प्रतीति किसी विशिष्ट शब्द-की शक्तिके कारण ही सम्भव होती है—उस शब्दके स्थानपर उसका पर्यायवाची शब्द रख देनेसे ध्वनि समाप्त हो जाती है। वस्तु अथवा अलंकारकी व्यंजना करनेके कारण इसके दो उपभेद हैं—(१) शब्दशक्त्युद्भव वस्तु ध्वनि—"चिरजीवो जोरी जुरै क्यों न सनेह गँभीर। को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधरके बीर"। यहाँ 'वृषभानु' तथा 'हलधर' दोनों श्लिष्ट शब्द हैं, वाच्यार्थके रूपमें 'राजा वृषभानुकी बेटी' और 'बलराम'का अर्थ देते हैं तथा व्यंग्यार्थ रूपमें 'बैलकी बहिन' और 'बैलके भाई'का द्योतन करते हैं और दोनोंके मान-मोचनमें संलग्न सखीकी खीझको ध्वनित करते हैं। यहाँ यदि वृषभानु और हलधरके पर्यायवाची शब्दोंका प्रयोग किया जाय तो ध्वनि समाप्त हो जायगी। व्यंग्यार्थ इस बात (वस्तु)की व्यंजना करता है कि दोनों ही पशुओंके समान हठी हैं। (२) शब्दशक्त्युद्भव अलंकार-ध्वनि—"जहाँ बारुनीकी करी, रंचक रुचि द्विजराज। तहाँ कियो भगवन्त बिन, सम्पति सोभा साज"। यहाँ 'बारुनी' (पश्चिम दिशा, मदिरा) और 'द्विजराज' (चन्द्रमा, ब्राह्मण) और 'भगवन्त' (सूर्य, भगवान्) शब्दके श्लिष्ट होनेके अतिरिक्त दोहेके दोनों क्रियापद भी दो अर्थ देते हैं। चन्द्र-विषयक अर्थ प्रस्तुत है, ब्राह्मण-विषयक अर्थ अप्रस्तुत है। वाच्यार्थ द्वारा दीपक अलंकार ध्वनित होता है, क्योंकि प्रस्तुत तथा अप्रस्तुतमें समान धर्मकी व्यंजना हो रही है।

शब्दशक्त्युद्भव ध्वनिकी व्यंजना पद तथा वाक्य द्वारा हो सकती है, इसीलिए वस्तु और अलंकारध्वनिकी दृष्टिसे इसके कुल ४ भेद हैं। उपर्युक्त दो उदाहरणोंमेंसे पहला पदगत तथा दूसरा वाक्यगत शब्दशक्त्युद्भव ध्वनिका उदाहरण है। —उ० शं० शु०

शब्द-हरण—दे० 'काव्य-हरण'।

शब्दार्थ-उभय शक्त्युद्भव ध्वनि—संलक्ष्यक्रमध्वनिका तीसरा भेद। यह ध्वनि वहाँ होती है, जहाँ कुछ पदोंके अपरिवर्तित रहनेपर तथा कुछके परिवर्तित होनेपर भी व्यंग्यार्थकी प्रतीति होती रहे। इसके उदाहरणमें जिस स्थल-पर शब्द परिवर्तन नहीं सह सकता, वहाँ शब्दशक्ति-मूलक तथा जहाँ शब्द-परिवर्तनके बाद भी ध्वनि सुरक्षित रहे, वहाँ अर्थशक्तिमूलक ध्वनि मानी जायगी। इसका वाक्यगत भेद ही होता है—पदगत भेद इसलिए नहीं हो सकता कि एक पदमें दो विरोधी धर्मों (परिवर्तन सह सकना और परिवर्तन न सह सकना)की स्थिति सम्भव नहीं है। 'काव्य-प्रकाश'के इस उदाहरणमें—"अतन्द्रचन्द्राभरणा समुद्दीपित-मन्मथा। तारकातरला श्यामा सानन्दं न करोति कम्" (का० प्र०, ४ : ७२)। "अनुपम चन्द्राभरन जुत, मनमथ प्रबल बढ़ातु। तरल तारका कलित यह, श्यामा ललित सुहातु" (दे०—अनुवादका कल्प, पृ० ३०७), अर्थात्

चन्द्र, तारका, तरल और श्यामा शब्द अपरिवर्तनीय होनेके कारण शब्दशक्त्युद्भव ध्वनिके उदाहरण है, किन्तु अतन्द्र, आभरण, समुद्दीपित आदि शब्दोंके परिवर्तित हो जानेपर भी ध्वनि सुरक्षित रहती है, क्योंकि इनका चमत्कार अर्थशक्तिपर आधारित है। चन्द्र, तरल और श्यामा आदि श्लिष्ट शब्दोंके कारण उद्धृत छन्दके स्त्री तथा रात्रिके प्रशंसासूचक, दो अर्थ ज्ञात होते हैं और वे दोनों ही वाच्यार्थ हैं। इनमें यह व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है कि चाँदनी रात रमणीकी भाँति अथवा रमणी चाँदनी रातके समान किसे आनन्द नहीं देती है? अतः इस उदाहरणमें उपमा अलंकारकी ध्वनि है। —उ० श० शु०

शब्दालंकार—शब्दके मुख्य दो रूप हैं—ध्वनि और अर्थ। ध्वनिके आधारपर शब्दालंकारोंकी सृष्टि होती है। यह काव्यका संगीतधर्म है। अर्थके आधारपर अर्थालंकारोंकी सृष्टि होती है। यह काव्यका चित्रधर्म है। इसी ध्वनि और अर्थके आधारपर अलंकारोंके दो भेद हो सकते हैं—शब्दालंकार और अर्थालंकार। किन्तु कहीं शब्द और अर्थ दोनोंको चमत्कृत करनेके कारण उभयालंकार भी होता है।

अलंकारोंका यह शब्दगत और अर्थगत विभाग अन्वय और व्यतिरेकपर निर्भर है, अर्थात् जिसकी स्थितिमें जो रहे, वह अन्वय है—जैसे, धुएँकी स्थितिमें आगकी स्थिति सहज सम्भव है। जिसके अभावमें जिसका अभाव बना रहे, वह व्यतिरेक है—जैसे, आगके अभावमें धुएँका भी अभाव रहता है। इस आधारपर जो अलंकार जिस किसी विशेष शब्दकी स्थितिमें ही रहे और उसके स्थानपर कोई पर्यायवाची रख देनेसे उसका अस्तित्व न रहे, वह शब्दालंकार है। दूसरे शब्दोंमें, वर्ण-निर्भर अर्थनिरपेक्ष अलंकार शब्दालंकार कहलाते हैं। ये अलंकार शब्दाश्रित होकर शाब्दिक चमत्कारका ही विशेष संवर्द्धन करते हैं। इस प्रवृत्तिके आधारपर इन्हें शब्दालंकार कहा गया है। शब्दालंकार कुछ वर्णगत, कुछ शब्दगत और कुछ वाक्यगत होते हैं। अनुप्रास, यमक आदि अलंकार वर्णगत और शब्दगत तथा लाटानुप्रास आदि वाक्यगत होते हैं। उनके प्रमुख भेद इस प्रकार हैं—अनुप्रास, यमक, पुनरुक्ति, पुनरुक्तवदाभास, वीप्सा, वक्रोक्ति और श्लेष (सभी भेदोंको इन शब्दोंके अन्तर्गत देखिये)। —वि० स्ना०

भरत (४ श० ई०)ने शब्दालंकार यमकपर विचार किया है—'शब्दाभ्यासः' (ना० शा०, १६ : ६२) और उसके विस्तारमें अनुप्रासको भी ले लिया है। 'शब्दार्थ' सहित काव्यकी परिभाषा करनेवाले भामह (६ श० ई०)ने अनुप्रास और यमक शब्दालंकारको माना है। उद्भट (८ श० ई०)ने शब्दालंकारोंमें विस्तार किया है—पुनरुक्तवदाभास, छेक, वृत्ति, लाट अनुप्रास। सर्वप्रथम वामन (८५० ई०)ने शब्दालंकारोंको अर्थालंकारोंसे अलग किया है—'तत्र शब्दालंकारौ द्वौ यमकानुप्रासौ' (काव्या० सू०, ४ : १ : १)। रुद्रट (९ श० ई०)के 'काव्यालंकार'में (२से ५तक) शब्दालंकारोंका पूरा विकास देखा जा सकता है—वक्रोक्ति (श्लेष तथा काकु), अनुप्रास (वृत्त्यनुप्रास), यमक (अनेक भेद), श्लेष (८ भेद) तथा चित्र (अनन्त भेद)। अनुप्रासके अन्य भेद अवश्य नहीं दिये गये हैं। भोजके 'सरस्वतीकण्ठाभरण' (१०३०-५० ई०)के दूसरे परिच्छेदमें 'शब्दालंकारनिर्णय' है। मम्मटने 'काव्यप्रकाश' (११०० ई०)के नवम प्रकाशमें शब्दालंकारोंका विस्तार दिया है—वक्रोक्ति (श्लेष तथा काकु), अनुप्रास (छेक तथा वृत्ति), लाटानुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र तथा पुनरुक्तवदाभास। ये पुराने ही अलंकार हैं। रुय्यकके 'अलंकार-सर्वस्व' (११३५-५५ ई०)में शब्दालंकार स्वभाव-चित्र-काव्यके ३ प्रकार बताये गये हैं—शब्दपौनरुक्त्य, अर्थ-पौनरुक्त्य तथा शब्दार्थपौनरुक्त्य और इन्हींके अन्तर्गत प्रचलित भेदोंको स्वीकार किया है। वाग्भट प्रथम (१२ शती ई०)ने 'वाग्भटालंकार'में 'ध्वन्यलंक्रियाएँ' चार मानी हैं—चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास तथा यमक। जयदेव पीयूषवर्षके 'चन्द्रालोक' (१३ श० ई०)के ८ शब्दालंकारोंमें ३ नाम नये हैं—स्फुटानुप्रास, अर्थानुप्रास तथा पुनरुक्तप्रतीकाश। विश्वनाथने 'साहित्यदर्पण' (१४ श० ई०)में भाषासम तथा प्रहेलिकापर विचार किया है। उल्लेखनीय बात है कि अप्पय दीक्षितके 'कुवलयानन्द'में 'शब्दालंकार'पर विचार नहीं है।

हिन्दीमें केशवदासकी 'कविप्रिया' (१६०० ई०)में यमक (१५) तथा चित्र (१६)का विवेचनमात्र किया गया है। जसवन्त सिंहने अपने 'भाषाभूषण' (१६४३ ई०)में अनुप्रासके ६ भेदोंकी चर्चामात्र की है। सम्भवतः यह उपेक्षा 'कुवलयानन्द'के प्रभावसे है। मतिरामने 'ललितललाम' (१६४१-४३ ई०)में शब्दालंकारपर विचार नहीं किया है। भूषणके 'शिवराजभूषण' (१६७३ ई०)में अन्तमें यह विषय लिया गया है—अनुप्रास (छेक तथा लाट), यमक, पुनरुक्तवदाभास तथा चित्र। कुलपति मिश्रने 'रसरहस्य' (१६७० ई०)में शब्दालंकारके विवेचनको प्रथम लिया गया है—"प्रथम शब्द यातें कहे प्रथम शब्दके साज"। छः अलंकारोंकी विवेचना की गयी है। देवने 'काव्य-रसायन' (१७०३)में ४ शब्दालंकार स्वीकार किये हैं, जिनमें सिंहावलोकन भी है। भिखारीदासके 'काव्यनिर्णय' (१७४६ ई०)-के २०वें उल्लासमें इनका वर्णन है। पद्माकरने चर्चा नहीं की। आधुनिक आचार्योंने सम्पूर्ण विस्तार स्वीकार किया है।

शब्दालंकारोंके शास्त्रीय विवेचनके अतिरिक्त काव्यमें इनके प्रयोगका विशेष महत्त्व स्वीकार किया गया है। आदिकालकी वीरकाव्योंकी परम्परामें रस तथा गुणोंके अनुरूप इन अलंकारोंके प्रयोगकी विशिष्ट परम्परा रही है। भक्तिकालके तुलसी, सूर तथा जायसी जैसे कवियोंमें सहज काव्यात्मक प्रकृतिके साथ ये अलंकार प्रयुक्त हुए हैं। इनमें चमत्कार अथवा वैचित्र्यकी भावना बिलकुल नहीं है। रीतिकाल और उसकी आधुनिक कालतक फैली हुई परम्परामें इन अलंकारोंका प्रयोग कौशलपूर्वक हुआ है, जो कहीं तो काव्यात्मक बन पड़ा है, पर अनेक स्थलोंपर केवल चमत्कारके लिए ही जान पड़ता है। शब्दालंकारका प्रयोग छायावादी कवि 'प्रसाद', 'निराला', पन्त तथा महादेवीतकमें देखा जा सकता है। शब्दालंकार वस्तुतः अनेक बार काव्य-अर्थको अधिक सुन्दर शैलीमें व्यक्त करनेमें सहायक होते हैं, इसी कारण इनका प्रयोग काव्यमें निरन्तर चलता आया है। —सं०

शराब–सूफी काव्यमें शराब शब्दका प्रयोग कई अर्थोंमें किया गया है। साधारणतः आध्यात्मिक प्रेमके अर्थमें ही इसका प्रयोग हुआ है। परम-प्रियतमके दर्शनसे भावाविष्टावस्था उत्पन्न होनेके अर्थमें भी इसका प्रयोग किया गया है, जब प्रेमी तर्क आदिके संकुचित दायरेसे बाहर हो जाता है (दे० 'अमृत', 'अमियरस')। —रा० पू० ति०

शरीअत–कुरानके वचनों और हदीसों द्वारा अनुमोदित नियम-कानून, जिनका पालन करना इसलाम-धर्मके अनुयायी आवश्यक मानते हैं। सांसारिक जीवन और उपासना, दोनोंका मार्गनिर्धारण इन नियमोंके द्वारा होता है (दे० 'सूफीमार्ग')। —रा० पू० ति०

शरीरवाद–यथार्थवादका प्रभाव जहाँ अनावश्यक आवरण और रहस्यवादका खण्डन करनेमें समर्थ हुआ, वहीं उसने इतनी अधिक मुक्त अभिव्यक्तिका समर्थन किया कि कहीं-कहीं भावाभिव्यक्तिमें वह उन सीमाओंको भी लाँघ गया, जो मात्र 'शील' अथवा 'संकोच'के कारण अभिव्यक्ति नहीं पाती थीं। वस्तुतः आजका जीवन और उसका समस्त वैज्ञानिक परिवेश इस 'शील'-परम्पराको कुण्ठाके रूपमें पालना नहीं चाहता। वह अधिक स्पष्टतासे जीवनके विभिन्न पक्षोंको ग्रहण करता है और उनके सन्दर्भमें उसकी प्रकृति और विकृतिको स्वीकार करता है। यथार्थवाद(दे०)-का यह पक्ष मात्र आधुनिक बोधका वह रूप प्रदर्शित करता है, जिसमें भावाभिव्यंजनाके साथ-साथ जीवनके क्रियाशील आधारोंको 'आत्मा'की सूक्ष्मताके साथ मांसल स्थूलत्वका भावोन्मेष अरुचिपूर्ण नहीं लगता। फ्रान्सके पतनोन्मुख साहित्य-युगमें जोला तथा फ्लोबेयर जैसे उपन्यासकारोंने इस भावधाराको अपने कृतित्वमें प्रश्रय दिया था।

शरीरवाद प्रस्तुत सन्दर्भमें शरीरके भोग और उसके यथार्थ संवेदन एवं संवहन-शक्तिको वर्जनाके रूपमें नहीं लेता। शरीर भी सत्य है और उसके अवयवोंमें व्याप्त सूक्ष्म भावोंकी अभिव्यक्ति भी एक चेतन यथार्थ है। अस्तु, जब यथार्थमें भोगनेकी क्षमता निहित है, वहन करनेकी क्षमता निहित है, तो फिर उसको उसकी रसस्निग्धतासे और उसके सहभोगी होनेके पक्षको त्याज्य या वर्जना-युक्त माननेका प्रश्न ही नहीं उठता। अस्तु, प्रस्तुत तर्कके आधारपर शरीरवाद आत्म-रस-ग्राह्यताके साथ शारीरिक रस भोगनेको भी उतना ही महत्त्वपूर्ण समझता है। प्रस्तुत दृष्टिकोणके अन्तर्गत वे सभी भावाभिव्यंजनाएँ आती हैं, जो विशेष मनःस्थिति अथवा भावावेशमें किसी निश्चित क्रिया द्वारा शारीरिक और मानसिक क्रियाशीलताको व्यक्त करती हैं।

यथार्थवादी विचारधाराके विकासके साथ कुछ लेखकों और कवियोंने इस प्रवृत्तिको विशेष रूपसे अपनाया है। मन्तव्य केवल शरीरकी उपलब्धिकी स्वीकृति है। हिन्दीमें 'अज्ञेय'के 'शेखर : एक जीवनी' तथा 'नदीके द्वीप'में ऐसे स्थल काफी हैं, जिनमें भावोन्मेषके साथ-साथ स्थूल शारीरिक ग्राह्यताका भी वर्णन किया गया है। जैनेन्द्रके उपन्यासोंमें भी, विशेषकर 'सुनीता'में यह प्रवृत्ति अप्रत्यक्ष रूपमें मिलती है। देवराजने 'पथकी खोज'में इसका आश्रय लिया है। 'अज्ञेय'की कविताओंमें तो कहीं-कहीं इस प्रवृत्तिका बड़ा प्रभावपूर्ण वर्णन है। ये वर्णन मात्र चमत्कार या चौंकानेके लिए न होकर, इससे भी अधिक इस बातकी स्वीकृति देते हैं कि आजकी आधुनिक चेतनामें वे सब मानवीय संवेदनाके अंश हैं, जिन्हें आजतक अश्रु, स्वेद, रक्त और स्थूलत्वके नामपर त्याज्य समझा जाता था, क्योंकि शरीरका सुख-दुःख भी आत्माके सुख-दुःखका माध्यम है। इन दोनोंको पृथक नहीं किया जा सकता। 'बच्चन'की 'मिलन-यामिनी' और 'सतरंगिनी'की अधिकांश कविताएँ इस प्रवृत्तिका समर्थन करती हैं।

यद्यपि कुछ अंशोंमें यह कहा जा सकता है कि इस प्रकारकी प्रवृत्तिसे साहित्यमें एक विशेष प्रकारकी अश्लीलता (दे०) प्रश्रय पाती है, किन्तु अश्लीलताकी सीमा निर्धारित करनेके पहले यह मान लेना आवश्यक है कि आजका भाव-बोध जिसे तीव्रताके साथ यथार्थ अभिव्यक्ति पानेको उत्सुक है और जिस तेज गतिसे हमारा समस्त जीवन प्रत्यक्षानुभूतिको स्वीकार करनेके लिए प्रस्तुत है, उसमें यह वर्जना अधिक दूरतक साथ नहीं दे सकती। साहित्यिक स्तरपर और सम्पूर्ण जीवनके परिवेशमें वस्तुसत्यके प्रति हमारी दृष्टि दिन प्रति-दिन अधिक जागरूक हो रही है। फिर भी इस बातसे इन्कार नहीं किया जा सकता कि प्रस्तुत शैलीका निर्वाह केवल एक कुशल और प्रौढ़ लेखक द्वारा ही सम्भव है। अन्य लेखक जिनमें यह प्रौढ़ता और शक्ति नहीं है, वह शैलीके साथ-साथ समस्त वस्तुस्थितिको अपने अधकचरेपनके कारण असाहित्यिक और अरुचिपूर्ण बीभत्समें भी बदल सकते हैं। —ल० कां० व०

शशिवदना (मालती)–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद; इस वृत्तका चरण नगण और यगणके योगसे बनता है (।।।, ।ऽऽ)। केशवने 'रामचन्द्रिका'के दूसरे प्रकाशमें इसका नाम मालती—"आदि नगण पुनि यगण दै, रचहु मालती छन्द" और तीसरे प्रकाशमें शशिबदना नाम दिया है। भानु और श्रुतबोधकारने इसका शशिवदना नाम दिया। उदा०— "तँह दरबारी, सब सुखकारी। कृत युग कैसे, जनु जन वैसे" (रा० चं०, २ : २)। —पु० शु०

शांत रस–शान्त रस साहित्यमें प्रसिद्ध नौ रसोंमें अन्तिम रस माना जाता है—"शान्तोऽपि नवमो रसः" (मम्मट : का० प्र०, ४ : ३५)। इसका कारण यह है कि भरतके 'नाट्यशास्त्र' (३ श० ई०)में, जो रस विवेचनका आदि स्रोत है, नाट्यरसोंके रूपमें केवल आठ रसोंका ही वर्णन मिलता है। शान्तके उस रूपमें भरतने मान्यता प्रदान नहीं की, जिस रूपमें शृंगार, वीर आदि रसोंको की, और न उसके विभाव, अनुभाव और संचारी भावोंका ही वैसा स्पष्ट निरूपण किया। अष्टनाट्यरसोंका स्वरूप निरूपित करनेके पश्चात् 'नाट्यशास्त्र'में शान्त रसकी सम्भावनाका निर्देश निम्नलिखित शब्दोंमें किया गया है और 'नवरस' शब्दका भी उल्लेख सर्वप्रथम यहीं हुआ है—"अतः शान्तो नाम···। मोक्षाध्यात्मसमुत्थ···शान्तरसो नाम सम्भवति। ···एवं नव रसा दृष्टा नाट्यज्ञैर्लक्षणान्विताः" (पृ० ३२४-३३ गा० सं०), अर्थात् मोक्ष और अध्यात्मकी भावनासे जिस रसकी उत्पत्ति होती है, उसको शान्त रस नाम देना सम्भाव्य है (कन्हैयालाल पोद्दार : स० सा० इ०, द्वि० भा०)। नाट्यज्ञ लोगोंकी दृष्टिमें इस प्रकार विविध लक्षणोंसे

युक्त नौ रस होते है। उक्त अंशके अतिरिक्त 'नाट्यशास्त्र'में ही एक स्थानपर यह भी प्रतिपादित किया गया है कि शान्त रससे ही रति आदि आठ स्थायी भावोंकी उत्पत्ति होती है और शान्तमें ही उनका विलय हो जाता है—"स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्तते। पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते" (६ : १०८)।

इस प्रतिपत्तिसे शान्त रसका महत्त्व अन्य रसोंकी तुलनामें सर्वोपरि सिद्ध होता है। कुछ विचारकोंने इसी आधारपर कि शान्त भावशून्य स्थितिका द्योतक है, उसकी अनभिनेयता सिद्ध की और उसका खण्डन किया, जिसका विरोध 'अभिनवभारती' और 'रसगंगाधर' आदि अनेक ग्रन्थोंमें मिलता है। इनमें कहा गया है कि 'भाव-शून्यता' शान्तको रस माननेमें बाधक नहीं हो सकती, क्योंकि किसी रसके अभिनयमें अभिनेता भाव-लिप्त नहीं माना गया है। अभिनवगुप्तने शान्त रस और उसके स्थायी भावकी समस्यापर गम्भीरतापूर्वक अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टिसे विचार किया और अपने पूर्वके सभी मतोंका खण्डन करते हुए स्वतन्त्र मतकी स्थापना की। जिन मतोंका उल्लेख 'अभिनवभारती'में हुआ है, उनमेंसे एक शमको स्थायी, तपस्या तथा योगियोंके सम्पर्कको विभाव, काम, क्रोध आदिके अभावको अनुभाव और धृति, मति आदिको संचारी मानता हुआ शान्त रसकी कल्पना सम्पूर्ण रसांगोंके साथ करता है। परन्तु दूसरा मत शम और शान्तको पर्यायवाची बताकर अन्य अनेक तर्कों द्वारा शान्त रसकी पृथक् सत्ताका निषेध करता है। कुछके अनुसार निर्वेद शान्त रसका स्थायी भाव है, पर कुछ अन्य विचारक पानक-रसकी तरह रति, उत्साह आदि आठों स्थायियोंको सम्मिलित रूपसे शान्तका स्थायी माननेके पक्षमें हैं। अभिनवगुप्तने उक्त सभी मतोंका खण्डन पाण्डित्यपूर्ण रीतिसे करते हुए अन्तमें 'तत्त्वज्ञान'को शान्त रसका स्थायी भाव माना। उनके मतसे जिस प्रकार 'काम' रति आदिसे अभिहित होकर कवि और नट द्वारा रसस्वरूपमें आस्वाद्य होकर प्रकट होता है, उसी प्रकार 'मोक्ष' नामक पुरुषार्थ अपने योग्य भी विशेष चित्तवृत्तिके योगसे रस-अवस्थाको प्राप्त कर सकता है। शान्त रस यही है। निर्वेदको आचार्यने शोकके प्रवाहको फैलानेवाली विशेष चित्तवृत्ति माना, जिसकी उत्पत्ति दो प्रकारसे होती है। एक तो दारिद्र्य आदिसे, दूसरे, तत्त्वज्ञानसे। तत्त्वज्ञानसे उत्पन्न निर्वेद अन्य सब स्थायियोंको दबा देनेवाला है और उनकी अपेक्षा अधिक स्थायित्ववाला भी है। पर यदि इस निर्वेदको शान्त रसका स्थायी भाव माना जायगा तो तत्त्वज्ञानको विभाव मानना पड़ेगा, क्योंकि उसीसे यह उत्पन्न होता है। परन्तु इसे उचित नहीं माना गया। वास्तवमें तत्त्वज्ञानसे निर्वेद उत्पन्न नहीं होता, तत्त्वज्ञान ही निर्वेद या वैराग्यसे उपजता है। शम और निर्वेदको समान स्वीकार करके शम और शान्तमें हास और हास्यकी तरह सिद्ध और साध्य, साधारण और असाधारणका भेद भी उन्होंने बताया। इस प्रकार बहुत तर्क-वितर्कके बाद तत्त्वज्ञानको ही अन्तिम मान्यता प्रदान की।

आगेके शास्त्रकारोंने शान्त रसके स्थायी भावविषयक उनके मतको स्वीकार नहीं किया। इसके मूलमें कदाचित् दो कारण मुख्य थे। एक तो यह कि 'तत्त्वज्ञान'को स्थायी भाव कहना ज्ञानको भावका स्थान देना है, जो सहज ग्राह्य नहीं हो सका और न वह उचित ही प्रतीत होता है। दूसरे, जब शम और शान्तमें वही भेद है, जो हास और हास्यमें, तो फिर जिस प्रकार हास्यका स्थायी हास हो सकता है, उसी प्रकार शान्तका स्थायी भी शम हो सकता है। इसपर आपत्ति करना समीचीन नहीं है, क्योंकि भरतने ही उसे निर्धारित किया है।

शान्त रसके स्थायी भाव सम्बन्धी वाद-विवादका यहीं अन्त नहीं हुआ, साहित्यमें और भी मत व्यक्त किये गये है। 'अग्निपुराण'(९ : १० श० ई०)में 'रति'के अभावमें शान्त रसकी उत्पत्ति मानी गयी है। रुद्रट(९ श० ई० म०)ने 'सम्यक्-ज्ञान'को, आनन्दवर्धन(९ श० ई० उत्त०)ने 'तृष्णाक्षयसुख'को तथा आगे कुछ अन्य विद्वानोंने 'सर्वचित्तवृत्तिप्रशम', 'निर्विशेषचित्तवृत्ति', 'धृति', 'उत्साह' आदिको भी शान्त रसका स्थायी निर्धारित किया। शृंगारादिकी तरह शान्त रसके भेद-प्रभेद करनेकी ओर आचार्योंका ध्यान प्रायः नहीं गया है। केवल 'रस-कलिका'में रुद्रभट्ट द्वारा चार भेद किये गये है—(१) वैराग्य, (२) दोषनिग्रह, (३) सन्तोष, (४) तत्त्व-साक्षात्कार, जो मान्य नहीं हुए।

शान्तके समानान्तर कुछ नये रसोंकी कल्पना भी की गयी, जिनमें 'संगीतसुधाकर'के रचयिता हरिपाल द्वारा कल्पित ब्राह्मरस (स्थायी भाव आनन्द) तथा 'रसमंजरी'के प्रणेता भानुदत्त (१३ श० ई०) द्वारा कल्पित कार्पण्य रस (स्थायी भाव स्पृहा) विशेष उल्लेखनीय है। जैन 'अनुयोगद्वारसूत्र'में 'प्रशान्त' नामक रसकी चर्चा मिलती है। भोज(११ श० ई० पूर्वा०)के 'सरस्वतीकण्ठाभरण'में धीरोदात्त आदि चतुर्विध नायकोंके आधारपर कुछ रसोंकी सिद्धि मानी गयी है, जिनमें धीरप्रशान्तके अनुरूप 'प्रशान्त' या 'शान्त' रस(स्थायी भाव धृति)की स्थिति सिद्ध होती है (दे०—आ० प्र० दीक्षित : काव्यमें रस : अप्र०, पृ०४ ६६-६९)।

धनंजय (१० श० ई०), मम्मट (१२ श० ई० पूर्वा०) और विश्वनाथ (१५ श० ई० पूर्वा०) प्रभृति संस्कृतके प्रसिद्ध परवर्ती आचार्योंने शान्त रसका लक्षण निम्नलिखित रूपमें दिया है—धनंजय—"शमप्रकर्षो निर्वाच्यो मुदितादेस्तदात्मता' (दश०, ४ : ४५), अर्थात् शान्त रस अनिर्वाच्य और शमका प्रकर्ष है तथा मोद उसका स्वरूप है। इसपर व्याख्याकार धनिकका कथन है—"मुनिराजोंने उस रसको शान्त कहा है, जिसमें सुख, दुःख, चिन्ता, द्वेष, राग, इच्छादि कुछ नहीं रहते और जिसमें सब भावोंका शम प्रधान रहता है"। मम्मट—"निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः" (का० प्र०, ४ : ३५), अर्थात् निर्वेद स्थायीवाला शान्त रस नवाँ रस होता है। विश्वनाथने 'साहित्यदर्पण'में इस प्रकारकी व्याख्या की है—"शान्त रसकी प्रकृति उत्तम, स्थायी भाव शम, कुन्देन्दु वर्ण तथा देवता श्री नारायण है। संसारकी अनित्यता, वस्तुजगत्की निस्सारता और परमात्माके स्वरूपका ज्ञान इसके आलम्बन है। भगवान्के पवित्र आश्रय, तीर्थस्थान, रम्य एकान्त वन तथा महापुरुषोंका सत्संग उद्दीपन है। अनुभाव रोमांचादि

और संचारियोंमें निर्वेद, हर्ष, स्मरण, मति, उन्माद तथा प्राणियोंपर दया आदिकी गणना की जा सकती है (३ : २४५, ४६, ४७, ५०)। संस्कृत साहित्यमें, विशेषकर धनंजय द्वारा निर्वेदको स्थायी माननेका विरोध किया गया है, पर कुछ रीतिकालीन हिन्दी काव्याचार्योंने मम्मटका मत मानते हुए 'शम'के स्थानपर 'निर्वेद'को ही शान्त रसका स्थायी भाव बताया है। कुलपति मिश्र—"तत्त्व ज्ञानते कवितमें, जहँ प्रगटै निर्वेद। कहै सान्त रस जासुकों, सो है नौमो भेद" (र० र०, पृ० २८)। नन्दराम—"जाको थाई भाव सुकबि निरवेद बखानत" (शृ० द०, पृ० १४८)। पद्माकर—"सुरस सान्त निर्वेद है जाको थाई भाव" (जगद्वि०, ७२०)। कुलपति मिश्र(१७ श० ई० उत्त०)के उपर्युक्त लक्षणपर अभिनवगुप्तके मतकी छाया है। अन्य प्रमुख काव्याचार्योंमें चिन्तामणि (१७ श० ई० पूर्वा०), भिखारीदास (१८ श० ई० पूर्वा०) और केशवदास(१७ श० ई० पूर्वा०)ने 'शम'की ही मान्यता प्रदान की। बेनी प्रवीन (१९ श० ई० पूर्वा०)ने 'नवरसतरंग'में 'थाई जासु बिराग' लिखकर विरागको और 'साहित्यसागर'-के रचयिता बिहारीलाल भट्टने 'शान्ति स्थायी भाव है' लिखकर शान्तिको शान्त रसका स्थायी माना है। चिन्तामणिने भी 'सम कहियत बैराग्यते'के द्वारा शम और वैराग्यको समानार्थी माना है। केशवदासने तो 'शम'के कारण शान्त रसको ही 'शम रस' नाम दे दिया है—"सबते होय उदास मन बसै एक ही ठौर। ताहीसो सम रस कहत केसव कबि सिरमौर" (रसिक०, १४ : ३७)। पण्डितराज जगन्नाथ(१७ श० ई० पूर्वा०)ने महाभारतादि प्रबन्धोंमें शान्त रसकी प्रधानता बतायी है और उसे 'अखिल लोकानुभवसिद्ध' भी घोषित किया है। जैन कवि बनारसीदासने अपने 'समयसार' नाटकमें शान्त रसको रसराज मानते हुए लिखा है—"नवमो सान्त रसनिको नायक"। संस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषाओंका ज्ञान-भक्तिपरक सम्पूर्ण साहित्य मूलतः शान्त रसके अन्तर्गत आता है, यद्यपि उसमें शेष आठ रसोंका पर्याप्त परिविस्तार मिलता है।

वैराग्य भारतीय विचारधाराका महत्त्वपूर्ण तथा शक्तिशालिनी प्रवृत्ति रही है और उसका प्रभाव भारतीय साहित्यपर निरन्तर बना रहा है। हिन्दी साहित्यके भक्तिकालमें शान्त रसको महत्त्व प्राप्त हुआ है। विनय-सम्बन्धी भक्तिभावनामें इसी रसका प्रसार है। सूरके विनयके पदोंमें तथा तुलसीकी 'विनयपत्रिका'में इसकी पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। सन्त कवियोंमें निर्वेद, शम, वैराग्यकी व्यापक भावना पायी जाती है। प्रेममार्गी सूफी कवियोंके प्रबन्धकाव्योंमें यत्र-तत्र इसकी अवतारणा है। —ज० गु०

शाक्तमत—शक्तिकी उपासना करनेवालोंको शाक्त और उनके धर्म या मतको शाक्तमत कहा जाता है। इस मतमें परमेश्वरकी कल्पना स्त्री-रूपमें की जाती है और उसे शक्तिके नामसे अभिहित किया जाता है। शक्तिको ही आनन्दभैरवी, महाभैरवी, त्रिपुरसुन्दरी, ललिता आदि नामोंसे पुकारा जाता है। शक्तिकी उपासना प्रायः तीन पद्धतियोंसे होती है—(क) सामान्य शिष्ट-पद्धति, जिसमें अहिंसात्मक ढंगसे अन्य देवोंकी तरह ही शक्तिकी पूजा होती है, (ख) भयंकर पद्धति, जिससे शक्तिका सम्बन्ध कापालिकों और कालमुखोंके मतोंसे है और जिसमें पशुओं तथा मनुष्योंका बलिदान विहित है और (ग) भावात्मक पद्धति, जिसमें उपासक अपने उपास्य देवताके साथ तादात्म्य स्थापित करता हुआ पूजा करता है। प्रायः अन्तिम पद्धति करनेवालोंको ही शाक्तकी संज्ञा दी जाती है, प्रथम और द्वितीय पद्धतिवालोंको क्रमशः स्मार्त तथा शैव कहा जाता है।

शाक्तमत अद्वैतवादका साधनमार्ग है। शाक्तोंकी प्रत्येक साधनामें अद्वैतवाद ओतप्रोत रहता है। शाक्त मतके दो सम्प्रदाय हैं—कौल सम्प्रदाय और समयाचार मत या सम्प्रदाय। इन दोनोंके भी अवान्तर सम्प्रदाय हैं।

कौल वही है, जो शक्तिका शिवके साथ मिलन करानेमें समर्थ होता है। 'कुल'का अर्थ है शक्ति या कुण्डलिनी और अकुलका अर्थ है शिव। जो योगक्रियासे कुण्डलिनीका अभ्युत्थान कर सहस्रारस्थित शिवके साथ सम्मेलन कराता है, वही कौल है। कौलाचार ही कुलाचार या वामाचार है। यह आचार मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन इन पाँच मकारों या तत्त्वोंके सहयोगसे अनुष्ठित होता है। इन पंच मकारोंका रहस्य नितान्त गूढ़ है। जो कोई इन्हें बाह्य तथा भौतिक अर्थमें प्रयोग करता है, वह यथार्थसे बहुत दूर है। मद्य बाहरी शराब नहीं, किन्तु ब्रह्मरन्ध्रमें स्थित सहस्रदल कमलसे क्षरित सुधा है। जो पुरुष पुण्य और पापरूपी पशुओंको ज्ञानरूपी खड्गसे मारता है और अपने मनको ब्रह्ममें लीन करता है वही मांसाहारी है। मत्स्य शरीरस्थ इडा तथा पिंगला, अर्थात् गंगा और यमुना नामक नाड़ियोंमें प्रवाहित श्वास और प्रश्वास है। मत्स्यभक्षी वह है, जो प्राणायाम द्वारा श्वास-प्रश्वासको बन्द करके प्राणवायुको सुषुम्ना नाडीके भीतर संचालित करता है। असत् संगके त्यागका नाम मुद्रा है। यह सत्संगका द्योतक है। सहस्रारमें स्थित शिव तथा कुण्डलिनीका अथवा सुषुम्ना तथा प्राणका सहवास या मिलाना मैथुन है। इस प्रकार स्पष्ट है कि पंच मकारोंका सम्बन्ध अन्तर्योगसे है। पर कालान्तरमें शाक्तोंने आन्तरिक साधनाको छोड़कर बहिःसाधनाको ही अपना लिया। फिर वे इन पंच मकारोंके भौतिक अर्थ लेने लगे और इनका सेवन करने लगे। यही कारण है कि शाक्त निन्दनीय समझे जाते हैं। कबीर, तुलसी आदि सन्तोंने भी वाममार्गियोंकी कटु आलोचना की है और इन्हें पथभ्रष्ट समझा है, जो ठीक ही है।

समयमार्गमें अन्तर्योगका भी प्राधान्य है। 'समय'का अर्थ है हृदयाकाशमें चक्रकी भावना कर पूजाका विधान या शक्तिके साथ अधिष्ठान, अनुष्ठान, अवस्थान, नाम तथा रूपभेदसे पंच प्रकारके साम्य धारण करनेवाले शिव (शिवशक्तिका सामरस्य)। समयाचारमें मूलाधारमें सुप्त कुण्डलिनीको जाग्रत् कर स्वाधिष्ठानादि चक्रोंसे होकर सहस्रार चक्रमें विराजमान सदाशिवके साथ संयोग करा देना प्रधान आचार है। समयाचारी लक्ष्मीधर (१२६८-१३७९ ई०)ने कौलमार्गकी कड़ी निन्दा की है, परन्तु साधनाके रहस्योंके ज्ञाताओंकी सम्मतिमें आरम्भमें दोनों मार्गोंमें अन्तर होनेपर भी अन्ततः दोनोंमें नितान्त घनिष्ठता है।

जो परम कौल है, वही सच्चा समयी है।

तत्त्व छत्तीस हैं, जिन्हें तीन विभागोंमें विभक्त किया जाता है—शिवतत्त्व, विद्यातत्त्व और आत्मातत्त्व। शिव-तत्त्व दो तत्त्वोंका विभाग है—शिवतत्त्व और शक्तितत्त्व। विद्यातत्त्वमें सदाशिव, ईश्वर और शुद्ध विद्या, ये तीन तत्त्व गृहीत है। आत्मतत्त्वमें ३१ तत्त्व हैं—माया, कला, विद्या, राग, काल, नियति, पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, मन, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच विषय (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द) तथा पाँच महाभूत (आकाश, वायु, वह्नि, जल और पृथ्वी)।

परा शक्तिके हृदयमें विश्वसृष्टिकी इच्छा उत्पन्न होते ही उसके दो रूप हो जाते है—शिवरूप तथा शक्तिरूप। शिव प्रकाशरूप है और शक्ति विमर्शरूपिणी है। विमर्शका अर्थ है पूर्ण अकृत्रिम अहंकी स्फूर्ति। इसीको चित्, चैतन्य, स्वातन्त्र्य, कर्तृत्व, स्फुरता आदि कहते है। प्रकाश और विमर्श सदैव युगपत् रहते हैं। प्रकाश या शिवको ही संवित् कहा जाता है और विमर्शको युक्ति या मनन। इसी शिवशक्तिके आन्तर निमेषको सदाशिव तथा बाह्य उन्मेषको ईश्वर कहते है। परा संवित्का शिवशक्त्यात्मक रूप सर्गात्मक होता है। शिवतत्त्वमें 'अहं' विमर्श होता है, सदाशिवतत्त्वमें 'अहमिदम्' विमर्श और ईश्वरतत्त्वमें 'इदमिदम्' विमर्श होता है। इनमेंसे प्रत्येकमें प्रथम पदकी प्रधानता रहती है। शुद्ध विद्यातत्त्वमें 'अहं' और 'इदं', दोनोंकी समान प्रधानता रहती है। इसके अनन्तर माया-तत्त्वका कार्य आरम्भ होता है, जो 'अहं' और 'इदं'को पृथक्-पृथक् कर देती है। अहमंश हो जाता है पुरुष और इदमंश प्रकृति। परन्तु शिवको पुरुषरूपमें आनेके लिए माया पाँच उपाधियों—कला, विद्या, राग, काल और नियतिकी सृष्टि करती है, जिनका पारिभाषिक नाम 'कंचुक' या आवरण है। इतना विजृम्भण हो जानेपर फिर सांख्य दर्शनकी भाँति आगे विकास होता है। आविर्भावके विप-रीत क्रमसे तिरोभाव होता है। आविर्भाव सृष्टिविज्ञानकी व्याख्या करता है, तो तिरोभाव साधनाकी।

शैवोंके एकदेशी(त्रिकदर्शन)को भी उपर्युक्त तत्त्ववाद मान्य है। उनमें और शाक्तोंमें थोड़ा अन्तर है। शैवोंका कहना है कि शिवतत्त्वमें शक्तिभाव गौण और शिवभाव प्रधान हैं, जब कि शाक्तोंका दावा है कि शक्तितत्त्वमें शिव-भाव गौण और शक्तिभाव प्रधान है। दोनों मानते है कि तत्त्वातीत दशामें न शिवकी प्रधानता है, न शक्तिकी प्रत्युत दोनोंकी साम्यावस्था है। यही शिव-शक्तिका साम-रस्य है। इस सामरस्यको शैव लोग परमशिवके नामसे पुकारते है, तो शाक्त लोग पराशक्तिके नामसे। यह परा-शक्ति (या शैव मतमें परमशिव) विश्वात्मक और विश्वो-त्तीर्ण, दोनों है। शाक्तमतमें शिव पराशक्तिसे उत्पन्न होकर जगत्का उन्मीलन करते हैं।

शाक्तमतका इतिहास बहुत प्राचीन है। इसको तीन युगों-में बाँटा जाता है—(क) बुद्धपूर्वयुग या प्राचीन युग, जो प्रागैतिहासिक युगतक जाता है, (ख) मध्ययुग या बुद्धोत्तर युग, जो १२०० ई०तक विस्तृत है और (ग) आधुनिक युग, जो १२०० ई०से लेकर अद्यावधि है। इतने लम्बे कालमें शाक्त मतके विपुल ग्रन्थ रचे गये हैं, जिनमेंसे अधिकांश अप्रकाशित है। इनके मूल ग्रन्थोंको शाक्त आगम कहते है। शाक्त मतकी कुछ उपनिषदें इधर कलकत्तासे प्रकाशित हुई है। शाक्त संस्कृतिके दो सम्प्रदाय हैं—श्रीकुल और कालीकुल। श्रीकुलके अनेक ग्रन्थ है, जिनमें अगस्त्यके 'शक्तिसूत्र' और 'शक्तिमहिम्नस्तोत्र', सुमेधाका 'त्रिपुरा-रहस्य', गौड़पादका 'श्रीविद्यारत्नसूत्र', शंकराचार्यके 'सौन्दर्यलहरी' और 'प्रपंचसार' और अभिनवगुप्तका 'तन्त्रा-लोक' मुख्य है। कालीकुलके मुख्य ग्रन्थ 'कालज्ञान', 'कालोत्तर', 'महाकालसंहिता' आदि हैं।

हिन्दी साहित्यके आरम्भिक युगमें शाक्त मतका विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। 'कौलज्ञाननिर्णय' (कौलमतका एक ग्रन्थ)की पुष्पिकामें प्रसिद्ध चौरासी सिद्धोंमें अन्यतम मत्स्येन्द्रनाथका सम्बन्ध योगिनीकौल (कौल मतका एक-देशी)से जान पड़ता है। नाथ-सम्प्रदाय (दे०)का सम्बन्ध कौल मतसे निःसन्दिग्ध रूपमें सिद्ध है। सिद्ध-साहित्य, नाथ साहित्य तथा सन्त-साहित्य (दे०)में शक्तिसाधनाका स्पष्ट प्रभाव है। नाद, बिन्दु, पंच मकार, प्रतीक भाषा आदिका प्रयोग शाक्तोंके प्रभावका सूचक है। शाक्त आगम शूद्रों तथा स्त्रीजनोंके लिए भी सदासे उन्मुक्त रहे है। शाक्त परम्परामें जाति-पाँतिका भेदभाव नही रहता। इसका भी प्रभाव प्राचीन हिन्दी साहित्यपर पड़ा है। पर जहाँ इतने अच्छे प्रभाव पड़े है, वहाँ प्राचीन हिन्दी साहित्य मे शाक्तोंकी कटु निन्दा भी मिलती है। इससे लगता है कि उस समय शाक्त मत अपने असली रूपसे विकृत हो गया था और उसमें बहुत-सी कुरीतियाँ आ गयी थीं। पर यह न समझना चाहिये कि शाक्त परम्परा बिलकुल लुप्त हो गयी है, यद्यपि शाक्तों, शैवों और वैष्णवोंका अन्तर्भाव शंकराचार्यके स्मार्त मतमें हो जानेके कारण अब शाक्त मतका उतना प्रभाव नहीं रह गया, जितना कि प्राचीन तथा मध्यकालीन युगमे था। शाक्त साहित्यकी बड़ी राशि अप्रकाशित है। शाक्त स्वयं अपने साहित्यका प्रकाशन नही होने देते। इस भावनाके कारण उनका साहित्य अभी अन्धकारमें पड़ा है। हिन्दीमें तो उनके किसी प्रामाणिक ग्रन्थका प्रकाशन ही नहीं हुआ है।

[सहायक ग्रन्थ—गोपीनाथ कविराजका लेख—शक्ति-दर्शन, हिस्ट्री ऑव फिलॉसफी—ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न, प्रथम भागमे, राधाकृष्णन् द्वारा सम्पादित; वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रिलीजन्स : रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर; भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय।] —सं० ला० पा०

शार्दूलविक्रीडित—वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। भरतके 'नाट्यशास्त्र' (१६ : ९१, ९२), 'पिंगलछन्दःसूत्र' (७ : २२) और 'प्राकृतपैंगलम्'में (सादूदूल सट्टा, २ : १८७ नामसे) इसका लक्षण दिया गया है। म, स, ज, स, त, गके योगसे यह वृत्त बनता है (ऽऽऽ, ।।ऽ, ।ऽ।, ।।ऽ, ऽऽ।, ऽ) और १२, ७ वर्णोंपर यति आती है। केशव (रा० चं०, ३ : १३), तुलसीदास (बाल, अयोध्या, अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दर तथा लंका-काण्डका आरम्भ), 'हरिऔध' (प्रि० प्र०, ४ : ९), मैथिलीशरण गुप्त (पत्रावली, पृ० ३२) और अनूप शर्मा (सिद्धार्थ, सर्ग १, ३, ९, १०, १७, १८

एवं वर्द्धमान, पृ० ३८५)ने इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा०—"कैसा प्रेम विशुद्ध बुद्ध प्रति था, स्वर्गीय आनन्द था। भोगा जा सकता कभी अवनिमें जो इन्द्रियोंसे नहीं" (सिद्धार्थ, निर्वाण स० १८)। —पु० शु०

शालिनी–वर्णिक छन्दोमे समवृत्तका एक भेद। भरतने 'नाट्यशास्त्र'(१६ : ३०)मे लक्षण और उदाहरण दिया है। मगण, दो तगण और दो गुरुओंके योगसे (SSS, SSI, SSI, SS) यह वृत्त बनता है और ४, ७ वर्णोंपर यति होती है। संस्कृतके इस प्रसिद्ध छन्दका प्रयोग साकेत (स० ९)में हुआ है—"क्या-क्या होगा साथ मै क्या बताऊँ। है ही क्या, हा आज जो मै जताऊँ। तो भी तूली पुस्तिका और वीणा। चौथी मैं हूँ पाँचवी तू प्रवीणा"। —पु० शु०

शिक्षा–दे० 'सखीकर्म'।

शिखरिणी–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। भरतके 'नाट्यशास्त्र'(१६ : ७९) तथा 'पिंगलछन्दःसूत्र'(७ : २०)के अनुसार य, म, न, स, भ, ल, गके योगसे शिखरिणी वृत्त बनता है (ISS, SSS, III, IIS, SII, IS)। पुष्पदन्तके 'महिम्नस्तोत्र' और शंकराचार्यकी 'सौन्दर्यलहरी'मे इस छन्दका प्रयोग है "तनोतु क्षेमं नस्तव वदन सौन्दर्यलहरी"। 'हरिऔध' (प्रि० प्र०, स० ९), मैथिलीशरण गुप्त (पत्रा०, ८ : ११) और अनूप शर्मा (सिद्धार्थ, स० ४, ८, १२)ने इस छन्दका प्रयोग किया है। अनूप शर्माने इस छन्दका सर्वाधिक प्रयोग किया है। उदा०—"उषालोकारम्या दिवस-मुखमें राग भरके, हँसी ज्यों ही भू पै प्रकट नभमें भास्कर हुआ" (सि०, अनु०, पृ० ५३)। —पु० शु०

शिल्पक–इसमे चार अंक होते हैं। चारों वृत्तियोंका प्रयोग, शान्त, हास्यके अतिरिक्त अन्य सभी रसोका प्राधान्य होता है। नायक ब्राह्मण तथा उपनायक कोई हीन पुरुष होता है। श्मशान, शव आदिका वर्णन इसमें रहता है। इसके ये सत्ताइस अंग होते है—१. आशंसा, २. तर्क, ३. सन्देह, ४. ताप, ५. उद्वेग, ६. प्रसक्ति, ७. प्रयत्न, ८. ग्रथन, ९. उत्कण्ठा, १०. अवहित्था, ११. प्रतिपत्ति, १२. विलास, १३. आलस्य, १४. वमन, १५. प्रहर्ष (विशाल हर्ष), १६. अश्लील (लज्जा, जुगुप्सा, अमंगलसूचक बात), १७. मूढ़ता, १८. साधनानुगमन, १९. उच्छ्वास, २०. विसय, २१. प्राप्ति, २२. लाभ, २३. विस्मृति, २४. सम्फेट, २५. वैशारद्य, २६. प्रबोधक, २७. चमत्कृत। उदा०—"कनकावतीमाधव"। शेष बातोंमें नाटकसे समानता है।—वि०रा०

शिष्य–काव्यशास्त्रमें कविशिक्षा (दे०)के अन्तर्गत 'शिष्य'-का अर्थ है इस शास्त्रका अधिकारी व्यक्ति। वामनने कवियोंके दो भेद किये है—अरोचकी, अर्थात् विवेकी तथा सतृणाभ्यवहारी, अर्थात् अविवेकी। अरोचकीको ही शिष्यत्वके योग्य बताया है (काव्या० सू०, १ : २ : १-२)। राजशेखरने शिष्योंके दो भेद किये है—बुद्धिमान् तथा आहार्यबुद्धि और जो इन दोनो श्रेणियोंमे नहीं आते, वे दुर्बुद्धि है (का० मी०, ४)।

बुद्धिमान् वे शिष्य होते है, जिनकी बुद्धि स्वभावतः शास्त्रोंमें प्रवृत्त होती है। ऐसे शिष्य किसी विषयको तत्काल समझ लेते हैं। इन्हें केवल काव्यपद्धतिसे परिचय प्राप्त करनेके लिए गुरुकुलमें जाना चाहिये (का० मी०, ४)। आहार्यबुद्धि वे शिष्य होते हैं, जिनकी बुद्धि शास्त्राभ्यासकी अपेक्षा रखती है। इन्हें शास्त्राभ्यासके लिए आचार्योंकी सेवा करनी चाहिये (वही)। दुर्बुद्धिका सर्वत्र मतिविपर्यास होता है। शास्त्र उसका उपकार नहीं कर सकते (वही)।

क्षेमेन्द्रने भी शिष्योंके तीन भेद किये हैं—अल्पप्रयत्न-साध्य, कृच्छ्रसाध्य और असाध्य। असाध्य वह है, जो स्वभावसे जड़बुद्धि हो, व्याकरण अथवा तर्कने जिसकी सहृदयताको नष्ट कर दिया हो और जिसके कानोंमे सुकवियोकी रचनाएँ न पड़ी हों (क० क०, १ : २२)। —म० प्र० ल०

शुंडुनी–सहज-रस या **अमियरस** रूपी वारुणीका हठयोग-परक अर्थ लेकर सिद्धों और सन्तोंने बराबर शुंडुनी या **कलाली** या **मदिरा** बेचनेवालीका रूपक प्रस्तुत किया है। 'चर्यापद'मे विरूपाने विस्तारसे शुंडुनीका रूपक दिया है। **परिशुद्धावधूती** वास्तवमें **कलाली** है; ललना, रसना दो घडे है, संवित्तिचित्त बल्कलचूर्ण है, शुक्रनाड़ी नली है और बोधिचित्त ग्राहक। कबीरने सहज शक्तिको कलाली माना है, ब्रह्मरन्ध्रको भट्ठी, सन्तोंको ग्राहक (दे०—सन्त कबीर—परिशिष्ट : रामकुमार वर्मा)। —ध० वी० भा०

शुक्लाभिसारिका–दे० 'अभिसारिका' (नायिका)।

शुद्धतावाद–'प्यूरिज्म', 'प्यूरिटैनिज्म'से भिन्न है। परन्तु हिन्दीमे यह शब्द दोनों अर्थोंमे प्रयुक्त होता है। भाषाके मामलेमें शुद्धिवादी किसी अन्य भाषाका मिश्रण नहीं सहन करते। आचरणके सन्दर्भमें शुद्धतावादी आदमीको एकदम लाँड्रीसे धुले, साफ, धीरोदात्त, परमगुण-सम्पन्न, निष्पाप बना देना चाहते है। परन्तु कलाके क्षेत्रमें शुद्धतावादका अर्थ है कला-निर्मिति और समीक्षा, दोनोंके क्षेत्रमें कलासे इतर या भिन्न किसी भी अन्य हेतुओं या मान-दण्डोंका प्रयोग न करना। एक प्रकारसे यह 'कलाके लिए कला'-वाद भी है। —प्र० मा०

शुद्ध पुष्ट–दे० 'पुष्टिजीव', 'पुष्टिमार्ग'।

शुद्धाद्वैतवाद–शंकराचार्यके अद्वैतवादमें ब्रह्म माया-शबल है। इसके विरोधमें वल्लभाचार्यने शुद्धाद्वैतवादकी स्थापना की। इसमें ब्रह्म माया-सम्बन्धसे रहित होनेके कारण शुद्ध है। कारणरूप और कार्यरूप, दोनों प्रकारसे ब्रह्म शुद्ध है, मायिक नही। मायारहित ब्रह्म ही एक अद्वैत तत्त्व है। सारा जगत्प्रपंच उसीकी लीलाका विलास है। "सर्वं खलु इदं ब्रह्म"—सब कुछ ब्रह्म ही है, इस सिद्धान्तको इस मतमें अक्षरशः माना जाता है।

'पद्मपुराण'के वर्णनानुसार रुद्रसम्प्रदायके प्रवर्तक विष्णु गोस्वामी थे। नाभादासके 'भक्तमाल'से ज्ञात होता है कि विष्णु गोस्वामीके सम्प्रदायमें ही ज्ञानदेव (१२७५-१२९६ ई०), नामदेव, त्रिलोचन आदि सन्त थे तथा वल्लभाचार्य (जन्म १४७९ ई०)ने इसी मार्गका अनुसरण कर शुद्धाद्वैत-वाद और इसका भक्ति-सम्प्रदाय पुष्टिमार्ग (दे०) चलाया। इस मतके प्रमुख आचार्य और प्रवर्तक वल्लभ ही हैं। ये तैलंग ब्राह्मण थे। इनके जीवनकी घटनाएँ काशी, अरैल (जिला इलाहाबाद) और वृन्दावनसे सम्बन्धित हैं। इनके लिखे हुए ग्रन्थ 'अणुभाष्य' (ब्रह्मसूत्रका भाष्य), जैमिनिके पूर्वमीमांसासूत्रपर भाष्य, 'सुबोधिनी' (भागवत पुराणपर

भाष्य), 'तत्त्वदीपनिबन्ध' और १६ अन्य लघुकाय प्रकरण-ग्रन्थ है। वल्लभके द्वितीय पुत्र विट्ठलनाथ (१५१६-१५८६ ई०) थे। ये गोसाईंजीके नामसे प्रसिद्ध है। इन्होंने 'विद्वन्मण्डल' नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थकी रचना की और 'अणुभाष्य'को, जो अपूर्ण रह गया था, पूरा किया तथा सुबोधिनीकी टीका की। इनसे वल्लभ मतका विशेष प्रचार हुआ। इनके सात पुत्र थे, जिन्होंने अलग-अलग गद्दियोंकी स्थापना कर इस मतका विपुल प्रचार किया। इन्हींमेंसे एक गोकुलनाथ थे, जिन्होंने 'चौरासी वैष्णवोंकी वार्ता' नामक पुस्तक लिखी। पुरुषोत्तम तथा ब्रजनाथ भट्ट परवर्ती कालमें इस मतके विद्वान् व्याख्याता हुए।

पर इस मतके सबसे जाज्वल्यमान नक्षत्र सूरदास है। ये वल्लभके शिष्य थे और उन्हींके आदेशसे भगवान्‌का विनयको छोड़कर उनकी लीलाका ही वर्णन करते थे। इनकी प्रसिद्ध कृति 'सूरसागर' है, जो हिन्दी साहित्यका अद्वितीय ग्रन्थ है। इसमें वल्लभमतकी काव्यमयी व्याख्या हुई। गोसाईं विट्ठलनाथने अपने अनुयायी ब्रजके आठ कवियोंको लेकर 'अष्टछाप' (दे०)की स्थापना की, जिसमें सूरदास सर्वश्रेष्ठ थे और उनके बाद नन्ददासका नम्बर था। इन आठ कवियोंने कृष्णका इतना लीलागान किया कि ब्रजभाषाका काव्य सदाके लिए कृष्णकाव्य बन गया। रासलीला, भ्रमरगीत, वात्सल्यवर्णन, माखनचोरी आदि अनेक इस मतके वर्ण्य विषय है। साधनाकी दृष्टिसे रासलीलाका महत्त्व है। ज्ञानकी दृष्टिसे भ्रमरगीतका सर्वाधिक गौरव है। सूरदासने भ्रमरगीतमें भक्तिको ज्ञान तथा योगसे पुष्टिमार्गीय ढंगसे श्रेष्ठ दिखलाया है। गोपियोंकी भक्तिके सामने उद्धवकी ज्ञाननिष्ठा विजित हो जाती है और वे निरुत्तर हो जाते है। नन्ददासने कुछ तार्किक ढंगसे गोपियों और उद्धवका संवाद कराया है और अन्तमें भक्तिकी ज्ञानपर विजय दिखलायी है। भ्रमरगीतको लेकर आगे चलकर अनेक काव्य लिखे गये। इस प्रकारकी अन्तिम रचना जगन्नाथदास 'रत्नाकर'का 'उद्धवशतक' है। भ्रमरगीत जैसा ही महत्त्वपूर्ण विषय रासलीला है, जिसको लेकर काव्योंकी रचना की गयी।

वल्लभने 'ब्रह्मविद्या'में श्रुति-स्मृतिको ही एकमात्र प्रमाण माना। वेद (उपनिषत्‌सहित), गीता, ब्रह्मसूत्र तथा भागवत पुराणको इन्होंने ज्ञानका उत्स माना। इनके मतसे युक्ति या अनुमानसे ब्रह्मका निरूपण या लाभ नहीं हो सकता है। युक्तिका सहारा लेनेवाले शंकराचार्यकी इन्होंने खूब खबर ली है और उनको वेदविरोधी तथा प्रच्छन्न बौद्धतक कह डाला है। कभी-कभी ये उस सिद्धान्तका भी समर्थन करते हैं, जो युक्तिसे देखनेपर व्याघातक प्रतीत होता है। यौक्तिक व्याघातकी ये चिन्ता नहीं करते। यदि शंकर तार्किक हैं तो वल्लभ विशुद्ध धार्मिक हैं। शब्द-प्रमाणको ही सर्वस्व माननेके कारण शुद्धाद्वैतवाद स्पष्टतः दार्शनिक सिद्धान्त न होकर केवल धर्मशास्त्रीय वाद रह गया है।

श्रुति और स्मृतिसे सिद्ध है कि सब कुछ ब्रह्म ही है। यह एक और अद्वितीय सत् है। उपनिषदोंने उसको ब्रह्म कहा, गीताने पुरुषोत्तम और भागवतने परमात्मा या कृष्ण। कृष्ण ही ब्रह्म, ईश्वर या परमात्मा हैं। वे सविशेष है, पर निर्विशेष भी है; सगुण है, पर निर्गुण भी है; अणु है, पर महान् भी है; चल है, पर कूटस्थ या अचल भी है; गम्य हैं, पर अगम्य भी है। वे विरुद्ध धर्मों या गुणोंके आश्रय है। वे सत्, चित् और आनन्द है। उनके सभी गुण उनसे स्वभावतः अभिन्न है, वे उनकी शक्ति या माया नहीं है। उनके स्वरूपसे ही (शक्ति या मायासे नहीं) समस्त जगत् आविर्भूत होता है और ऐसा होनेपर भी वह अविकृत रहता है। इस मतको स्वरूप-परिणामवाद कहा जाता है। जगत् कार्यरूपसे ब्रह्म ही है। जगत्‌की उत्पत्ति तथा नाश नहीं होता, प्रत्युत आविर्भाव और तिरोभाव होता है। अनुभवयोग्य होनेपर जगत्‌का आविर्भाव होता है और अनुभवयोग्य न होनेपर तिरोभाव। इस मतमें जगत् तथा संसारमें एक विलक्षण भेद किया जाता है। ईश्वरकी इच्छाके विलाससे सदंशसे प्रादुर्भूत पदार्थको जगत् कहते है और अविद्या या अज्ञानके द्वारा जीवसे कल्पित ममता-अहन्तारूप पदार्थको संसार कहते है। संसारकी सत्ता अविद्याके कारण है। ज्ञानोदयसे संसारका नाश होता है, पर जगत् ब्रह्मरूप होनेसे सदा अविनाशी और नित्य रहता है।

इस ब्रह्मके तीन रूप है—परब्रह्म या पुरुषोत्तम, अन्तर्यामी और अक्षर ब्रह्म। पहला ब्रह्मका आधिदैविक और तीसरा आध्यात्मिक रूप कहा जाता है। अन्तर्यामी सर्वत्र आत्माओंमें निवास करता है। परब्रह्म आनन्दघन है और अन्तर्यामी तथा अक्षर ब्रह्म आनन्दलेश (सीमित आनन्द) हैं।

अक्षर ब्रह्मकी कल्पना वल्लभमतकी विशेषता है। जैसे अग्निसे स्फुलिंग निकलते है, वैसे अक्षर ब्रह्मसे अनेक जीवन और जगत् निकलते है। अक्षर ब्रह्म चार रूप धारण करता है—अक्षर, काल, कर्म और स्वभाव। अक्षररूप पुरुष तथा प्रकृतिके रूपमें प्रकट होता है और यही प्रत्येक वस्तुका उपादान और निमित्त कारण बनता है। पुरुष या जीव अनन्त है। परिमाणमें प्रत्येक अणु है। वह ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता है। वह सत्, चित् और आनन्द भी है। पर जब ईश्वर लीला करनेके लिए इच्छा करता है तो जीवको अपने आनन्दका अनुभव नहीं होता। इस कारण उसे दुःख मिलता है। इस दुःखके कारण वह बन्धनमें पड़ जाता है। ईश्वरकी कृपा होनेपर वह इससे मुक्त होता है। मुक्तावस्थामें जीव और ईश्वरका वास्तविक ऐक्य हो जाता है।

शंकराचार्यके अनुयायी इस तत्त्ववादको शुद्धाद्वैतवाद न कहकर शुद्ध द्वैतवाद कहते है, क्योंकि इसमें अनेक जीव, जगत्, कर्म, स्वभाव, काल, अक्षर ब्रह्म तथा परब्रह्मका भेद नित्य और सनातन रहता है। तार्किक दृष्टिसे देखनेपर यह मत सचमुच शुद्ध द्वैतवाद सिद्ध होता है। एकता (अद्वैत) और अनेकता(द्वैत)में यह जो सम्बन्ध मानता है, उसमें बड़ा बाध है। धार्मिक दृष्टिसे यह मत कदाचित् सर्वश्रेष्ठ होगा, क्योंकि इसमे विशुद्ध ब्रह्मका ही सब लीला-विलास है और उसके अनुग्रहपर विशेष बल दिया गया है।

इस मतका साधनमार्ग पुष्टिमार्गके नामसे प्रसिद्ध है। पुष्टिका अर्थ कुछ लोग 'मोटा-ताजा' या 'खाओ, पियो, मौज उड़ाओ' करते हैं। पर यह अशुद्ध है। 'भागवत पुराण'के द्वितीय स्कन्धके १०वें अध्यायके चतुर्थ श्लोकमें पुष्टि या पोषणका अर्थ भगवान्‌का अनुग्रह बताया गया है—

'पोषणं तदनुग्रहः'। इस श्लोकांशके आधारपर वल्लभने अपने मतको पुष्टिके नामसे पुकारा। उनके मतसे ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग कठिन हैं। इस युगमें उनकी पूर्ण व्यवस्था नहीं हो सकती है, क्योंकि उपदेशक और सामग्रीका अभाव है। अब बचता है भक्तिमार्ग। इसमें किसी वस्तुकी अपेक्षा नहीं है। यह सर्वसुलभ है। अतः इसीकी वल्लभने शिक्षा दी।

वल्लभने जीवोंकी तीन कोटियाँ बतलायी हैं–पुष्टि, मर्यादा और प्रवाह। जो जीव निरुद्देश्य जीवन बिताते हैं और कभी ईश्वरका चिन्तन नहीं करते वे प्रवाह जीव हैं। वेदोंका अध्ययन करते हैं, सत्को समझते हैं और वेद-विहित मार्गसे ईश्वरकी पूजा करते हैं, वे मर्यादाजीव हैं। जिन जीवोंपर ईश्वर कृपा करता है, जिनको अपनी शरणमें लेता है और जो ईश्वरसे अनन्य प्रेम करते हैं, वे पुष्टि-जीव हैं। प्रवाहजीव जन्म-मरणके चक्रमें सदैव पड़े रहते हैं। मर्यादाजीवोंको कर्ममार्ग और ज्ञानमार्गसे क्रममुक्ति मिलती है। वे क्रमशः पितृयान, देवयान और कैवल्यको प्राप्त करते हैं। भक्तिमार्गका अवलम्बन करके वे नवधा भक्ति करते हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवा, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन। इनकी भक्ति मर्यादा भक्ति (अन्य वेदान्तियोंके मतसे वैधी भक्ति) है। इससे सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मुक्ति प्राप्त होती है। श्रुतियों और स्मृतियोंमें ये त्रिविध मार्ग (कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग) बतलाये गये हैं, फिर भी उनमें कहा गया है कि ब्रह्मकी प्राप्ति बिना ब्रह्मकी कृपा दुर्लभ है। 'कठोपनिषद्'में कहा गया कि आत्माका ज्ञान प्रवचन तथा स्वाध्यायसे नहीं हो सकता, जिसपर ब्रह्म कृपा करता है, उसीको यह ज्ञान होता है। गीतामें भी इसी सिद्धान्तकी पुनरुक्ति हुई है। इस प्रकार श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित कर्म-मार्ग, ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग तथा इस ब्रह्मकृपावादमें विरोध दीख पड़ता है। वल्लभने इसको मर्यादाभक्ति तथा पुष्टिभक्तिके विवेक द्वारा दूर किया। इनके मतसे मर्यादा-भक्ति (कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग और उपासनामार्ग) उन जीवों-के लिए है, जो स्वयं अपने कर्मों द्वारा मुक्त होना चाहते हैं और पुष्टिभक्ति उन लोगोंके लिए है, जो दीन और असहाय हैं, जिनके पास कोई साधन नहीं है। पुष्टि मर्यादासे पृथक् तथा भिन्न है। मर्यादाभक्ति ईश्वरप्रेममें नवधा भक्तिका फल होता है। पुष्टिभक्तिमें—ईश्वर-प्रेम ही सकल आध्यात्मिक कार्य-कलापोंका अथ और हेतु है। पुष्टिभक्ति भी चार प्रकार की है—प्रवाहपुष्टिभक्ति, मर्यादा-पुष्टिभक्ति, पुष्टिपुष्टिभक्ति और शुद्धपुष्टिभक्ति। प्रवाह-पुष्टिभक्ति उन लोगोंकी भक्ति है, जो संसारमें रहते हुए, गृहस्थजीवन बिताते हुए, भगवान्की भक्ति करते हैं। मर्यादापुष्टिभक्ति उन लोगोंकी भक्ति है, जो भोग-विलाससे विमुख होकर, विरक्त होकर, ईश्वरका गुणगान, चिन्तन, कीर्तन आदि करते हैं। पुष्टिपुष्टिभक्ति उन लोगोंकी भक्ति हैं, जो पहले ईश्वरकी कृपा पाकर भक्त बनते हैं और फिर दुबारा ईश्वरकी कृपाका लाभ करके ज्ञानके अधिकारी बनते हैं और ब्रह्मके विषयमें सभी ज्ञातव्य बातोंको अपने प्रयत्नसे जानते हैं। शुद्धपुष्टिभक्ति उन लोगोंकी भक्ति है, जो भगवान्से 'अमित प्रेम' करनेके अतिरिक्त कुछ नहीं करते। यह भगवान्के द्वारा भक्तमें स्थापित की जाती है और भक्तका सर्वस्व है। इसके भी तीन सोपान हैं—प्रेम, आसक्ति और व्यसन। ये न्यूनाधिक्यके विचारसे किये गये हैं। शुद्धपुष्टिभक्तिका उदाहरण गोपियोंकी भक्ति है। ऐसे भक्त सायुज्य मुक्तिको भी तज देते हैं और भगवान्की रासलीलामें भाग लेनेको ही परम मुक्ति मानते हैं। कृष्ण रस, आनन्द, सुन्दर हैं। वे सभी रसोंको, पर विशेषतः शृंगार रसको प्रकाशित करते हैं। संयोग और विप्रलम्भके भेदसे शृंगार द्विविध है। अपने भक्तोंके सम्बन्धमें कृष्ण दोनोंकी अभिव्यक्ति करते हैं। इन्हींपर ध्यान करना पुष्टि-मार्गीका लक्ष्य है। यही कारण है कि 'भागवत'के दशम स्कन्ध (जिसमें ये लीलाएँ हैं)को लेकर महाकवि सूरदासने बृहत् 'सूरसागर' रच डाला। रासलीला, बाललीला, गोकुलवर्णन, यशोदाका वात्सल्य, गोपियोंके साथ कृष्णकी नाना लीलाओं, भ्रमरगीत (भक्ति और ज्ञानपर गोपियों और उद्धवमें संवाद) आदिका वर्णन करके ब्रजभाषाके अधिकांश कवियोंने अपनेको पुष्टिभक्त सिद्ध किया है। सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेपर मीराँ और रसखान भी पुष्टिभक्त प्रतीत होते हैं। पुष्टिभक्ति सबके लिए खुली हुई है। प्रपत्तिसे या भगवान्की शरणमें जानेसे करुणावत्सल भगवान् आप-से-आप पुष्टि देता है। पुष्टिमार्ग प्रपत्तिमार्ग-से भिन्न है। प्रपत्तिसे ही पुष्टिका अर्थ होता है।

वल्लभने बालकृष्ण और उनकी सखी राधाकी उपासना-का विधान बनाया, क्योंकि रासलीला भगवान्के इसी रूपमें विशेष है (दे० 'अष्टछाप')।

[सहायक ग्रन्थ—भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय; अणुभाष्य : वल्लभ; वैष्णविज्म,शैविज्म एण्ड माइनर रिलीजस सिस्टम्स : रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर।] —सं०ला०पा०

शुद्धापह्नुति–दे० 'अपह्नुति', पहला भेद।

शुद्धा लक्षणा–प्रयोजनवती लक्षणाका एक प्रमुख भेद। इसमें लक्ष्यार्थका ग्रहण सादृश्य-सम्बन्धके बिना किसी अन्य सम्बन्धके आधारपर किया जाता है। मम्मट तथा विश्वनाथने इसके भेदोंसे ही विचार करना प्रारम्भ किया है—उपादान तथा लक्षणलक्षणा आदि। 'गंगापर घर'में सादृश्य-सम्बन्धसे तटका ग्रहण न होकर सामीप्य-सम्बन्धसे है। यज्ञ-क्रियाके स्तम्भको इन्द्रका स्थानापन्न मान लिया जाता है और इन्द्र कहा जाता है। इस तादर्थ्य-सम्बन्धसे लक्ष्यार्थकी सिद्धि हुई है। इसी प्रकार 'अपने कर गुही'में अँगुलियोंके लिए हाथका प्रयोग अंगांगिभाव-सम्बन्ध है और बढ़ईका काम करनेवाले ब्राह्मणको बढ़ई कहना तात्कर्म्य-सम्बन्ध है। ये समस्त सम्बन्ध सादृश्यके बिना स्थापित किये गये हैं, अतएव शुद्धा लक्षणाके उदाहरण हैं। —सं०

शुद्धि–तान्त्रिक साधनाकी पारिभाषिक शब्दावलीमें देवता-को विधिपूर्वक अर्पित मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा, फल और मूल आदिको 'शुद्धि' कहा जाता है। 'महानिर्वाणतन्त्र' (६ : ११)में बताया गया है कि "मांसं मीनश्च मुद्रा च फल-मूलानि यानि च। सुधादाने देवतायै संज्ञैषा शुद्धिरी-हिता"। इस शुद्धिके बिना हेतुदान, पूजन, तर्पण आदि निष्फल चले जाते हैं और देवता कभी तुष्ट नहीं होता।

शुद्धि (मांस मत्स्यादि)के बिना किया गया मद्यपान विष खानेकी तरह है। इससे साधक चिररोगी तो होता ही है, थोड़ी ही उम्रमें मर भी जाता है (महानिर्वाणतन्त्र, ६ : १२-१३)। वैसे सुरापानके कारण मुँहके कड़वे स्वादको मिटानेके लिए खाये जानेवाले पान, नमक आदिको भी 'शुद्धि' कहा जाता है। दूध एवं पानीको शुद्धिकी तरह नहीं व्यवहृत किया जा सकता (मद्य, मांस आदिके लिए दे० 'पंचमकार')। —रा० दे० सि०

शून्य–शून्य शब्दका अध्ययन अत्यन्त मनोरंजक है। यह जितना ही प्रचलित हुआ, उतने ही प्रकारके इसके अर्थ किये गये। दूसरी तथा तीसरी शताब्दीके मध्यमें आचार्य नागार्जुनके बादसे ही शून्यकी कल्पना बौद्ध प्रभावके कारण अत्यन्त व्यापक हो गयी। यों बहुत पहलेसे शून्य अबौद्ध परम्पराओंमें भी परम तत्त्वकी एक संज्ञाके रूपमें परिकल्पित कर लिया गया था। 'महाभारत'में भीष्मने विष्णुके सहस्र नामोंका उपदेश देते हुए उनका एक नाम 'शून्य' भी बताया है और उस नामकी व्याख्या करते हुए शंकराचार्यने कहा था—"सर्वविशेषरहितत्वात् शून्यवत् शून्यः," अर्थात् समस्त विशेषणों, गुणों तथा प्रकृतियोंसे रहित होनेके कारण वे शून्यवत् हैं।

हिन्दू दार्शनिक इस शून्यका अर्थ 'सत्ताका अभाव' लेते हैं, जो भ्रमपूर्ण है। नागार्जुनने शून्यकी व्याख्या करते हुए कहा है कि इसे शून्य भी नहीं कह सकते, अशून्य भी नहीं कह सकते और दोनों (शून्य और अशून्य) भी नहीं कह सकते। इसी भावकी प्रज्ञप्तिके लिए 'शून्य' शब्दका व्यवहार होता है। नागार्जुनने 'माध्यमिक' शास्त्रमें उत्पत्ति, गति, दुःख, बन्धन, मोक्ष आदिकी तर्कसहित परीक्षा कर यह सिद्ध किया कि सभीमें विरोधी धर्मोंकी उपस्थिति है, अतः सभी शून्य हैं (दे० 'शून्यवाद')

सिद्धोंने शून्यको शून्यवादसे भी विस्तृत अर्थमें लिया। बौद्ध सिद्धोंने अपनी **प्रज्ञोपाय**-प्रणालीमें इसी शून्यको **नैरात्मा** बालिका **प्रज्ञा** या **महामुद्रा** रूपमें ग्रहण किया और साथ ही **महासुखचक्र**में इस शून्यताकी स्थिति मानी। सिद्धोंने शून्यको द्वयकी कल्पनाओंसे मुक्त **अद्वय** तत्त्व माना था और अभाव तथा भाव, दोनोंका ही परित्याग कर मध्यम तत्त्वके रूपमें स्वीकार किया था। 'लंकावतारसूत्र'मे कहा गया है कि शून्य तो वस्तुओंके कर्मका स्वभाव है, दृश्यमान जगत् चाहे शून्यस्वभाव हो, किन्तु चित्तका तो अस्तित्व है ही, अतः निर्वाणमें भवका विनाश होनेपर भी चित्तमात्रकी व्यवस्थाका अभाव नहीं होता। इस प्रकार सिद्धोंका तत्त्वदर्शन विज्ञानवादसे प्रभावित चित्त परक है—**तथता**के सिद्धान्तसे मान्य। किन्तु वे भव और निर्वाणका विवेचन करते समय सबको शून्यस्वभाव बताते हैं। आगे चलकर परवर्ती सम्प्रदायोंमें शून्य बौद्ध शून्यकी भाँति **प्रतीत्य-समुत्पाद**की तर्क-प्रणाली द्वारा प्रतिपादित तत्त्वज्ञान न रहकर परम तत्त्वके अन्य नामोंकी भाँति यह भी एक नाममात्र था, जिसकी व्याख्या और विवेचन प्रत्येक सम्प्रदायके चिन्तक अपने-अपने ढंगसे करते थे।

मूलतः शून्यका उल्लेख तत्त्वरूपसे भी किया गया है, जो अगोचर है, अगम है। इस शून्य तत्त्वको भादेपाने सर्वशून्य कहा है, तिलोपा इसे उत्पादविहीन, आदिरहित एवं अन्तहित अद्वय कहते हैं। शून्य तत्त्व वर्णहीन है, आकृतिविहीन है, उसका अपना कोई आकार नहीं, वह शून्यतारूपमें समस्त आकृतियोंमें व्याप्त है। न वह महान् है, न ह्रस्व है, न लघु है, न दीर्घ है, न वह लाल है, न हरा, न मजीठ, न पीला और न काला ही है। वह वर्णविहीन है, सभी वर्णों और आकारोंमें व्याप्त है। यही तत्त्व चित्तमें, जगत्में त्रिभुवनमें व्याप्त है। भव उस परम तत्त्वका केवल तरंगप्रवाह है, जो उसीमें विलीन हो जाता है। इसका स्वरूप इतना गुह्य है कि कुछ स्पष्ट नहीं कहा जा सकता। इस शून्यज्ञानकी तीन विधाएं हैं—(१) परिनिष्पन्न ज्ञान–जिसके लक्षण थे भाव और अभावमें समानता। नैरात्म्यज्ञान, जो द्विविध है, धर्म-नैरात्म्यज्ञान अर्थात् सांसारिक वस्तुओंका नैरात्म्य या शून्यता और पुद्गलनैरात्म्य अर्थात् आत्मा जैसी किसी शाश्वत सत्ताके अभावका ज्ञान। (२) समज्ञान—समस्त वस्तुओंके उत्पादसे सब कुछ आदिरहित है, अन्तरहित है, अतः यही अद्वयज्ञान है। (३) भावाभाव—चित्त, अचित्त, भव निर्माण, शून्याशून्य, इन सभी द्वयिताओंका निषेध कर चित्तमें उदित होनेवाले शून्यज्ञानकी साधना अत्यन्त सूक्ष्म है।

यही ज्ञान जब साधकका स्वभाव हो जाता है तो वह **शून्य स्वभाव**का हो जाता है, सम स्वभावका हो जाता है, अद्वय स्वभावका हो जाता है। ऐसे साधकको शून्यज्ञ कहते है, क्योंकि वह भाव, अभाव और प्रकृति अर्थात् स्वभावकी शून्यताको जान लेता है। वह **अमनतिकार** हो जाता है और भवका भंजन कर देता है। सिद्धोंने शून्य स्वभावको परम कल्याणकारी कहा है। मैं ही जगत हूँ, तीनों भुवन मुझसे ही उत्पन्न हुए है, सभी दृश्यमान जगत्में मैं ही व्याप्त हूँ, ऐसा जाननेवाला योगी शून्य स्वभावका हो जाता है और निश्चय ही सिद्ध हो जाता है (दे० 'दोहाकोष' : प्र० चं० बागची)।

शून्यता ज्ञानके अतिरिक्त एक तत्त्व और था, जिसको सिद्धोंने विशेष महत्त्व दिया। वह तत्त्व था **करुणा**। महायानके अन्तर्गत **करुणा**को अत्यन्त महत्त्व दिया गया था। करुणाके अभावमें ही प्रत्येकयान और श्रावकयानको बोधिसत्त्वयानसे निम्न स्तरका (हीनयान) माना गया था। उसी करुणाको **वज्र**रूपमें प्रतिष्ठित किया गया, सिद्धोंने उसे **मणि, कुलिश** तथा उपायरूपमें स्वीकार किया, किन्तु उसकी शून्यताके साथ समरसतापर, अद्वयपर विशेष बल दिया। सहजस्वरूपसे सिद्धोंका तात्पर्य उसी नैरात्म्यसे है, जिसमें शून्यता तथा करुणा अद्वयरूपमें स्थित है। शून्यदर्शनके बिना करुणा लक्ष्यभ्रष्ट होता है और करुणाके बिना शून्यताज्ञान भी निष्फल होता है। यही शून्य तथा करुणाका ऐक्य समस्त ब्रह्माण्डका मूल धर्म है। सारा विस्तार इन्हीं दोनों तत्त्वोंका है। जो इन्हें समरसतारूपमें ग्रहण करता है, वह भवसे मुक्त हो जाता है। बादको इसी करुणातत्त्वकी कल्पना भक्तिमे बदल गयी।

साधनापद्धतिमें शून्यके चार स्वरूपोंको स्वीकार किया गया था। 'पंचक्रम'में चतुर्विध शून्यका रूप इस प्रकार समझाया गया है। शून्य चार हैं—**शून्य, अतिशून्य,**

महाशून्य तथा **सर्वशून्य**। इनका भेद कार्य-कारण-शृंखलापर आधारित है। पहला शून्य आलोकज्ञान प्रज्ञा है। चित्त इसमें संकल्पाभिभूत रहता है और यह स्वभावसे परतन्त्र है। इस अवस्थामें वह निसर्गत ३३ दोषोंसे आच्छादित रहता है। इसकी समस्त गाथाओंमें सर्वश्रेष्ठ माया स्त्री है, जो इस शून्य प्रज्ञाकी अभिव्यक्ति है। इसीको बीजाक्षर भी कहते हैं। द्वितीय अतिशून्य आलोकका आभास है, इसका स्वभाव परिकल्पित है, वह उपाय, दीक्षा, सूर्यमण्डल, वज्रपुरुष और मनकी २४ प्रवृत्तियोंसे आवेष्टित है। तृतीय महाशून्य आलोक तथा आलोकाभासके युगनद्धसे उदित होता है, किन्तु यह भी अविद्यारूप है, इसमें भी दोष रहते हैं। तीनों क्रमोंमें दोषोंकी संख्या १०६ है। इन दोषोंसे मुक्त होनेपर प्रज्ञोपाय अद्वैतका सर्वशून्य उदित होता है। यही सर्वशून्य परमतत्त्व है, जो आदि-अन्तसे विहीन, गुण-दोषरहित, भाव-अभावसे रहित तथा भावाभावसे भी रहित है।

नाथ-सम्प्रदायमें शून्यको परमतत्त्वके रूपमें स्वीकृत किया गया, किन्तु उसकी व्याख्यामें नाथ-परम्पराने संशोधन कर दिया—"बसती न सुन्यम् सुन्यम् न बस्ती अगम अगोचर ऐसा। गगन सिखर मँह बालक बोलै ताका नाँव धरहुगे कैसा" (गोरखबानी)। शून्यको 'गगन सिखर मँह बालक बोले', इस रूपमें किसी पूर्ववर्ती सम्प्रदायने स्वीकृत नहीं किया। इस संशोधनके पीछे हठयोगी परम्पराकी दार्शनिक चिन्तना है। यहाँ शून्यका सम्बन्ध नादतत्त्वसे जोड़ दिया गया है—इसीकी अभिव्यक्तिके लिए नाथ सिंगी धारण करते थे। नाद सृष्टिका मूल कारण तथा परमतत्त्व, परमज्ञान, परमस्वभाव था। अतः शून्यका वर्णन भी इसी रूपमें नाथ-सम्प्रदायमें किया गया है। संक्षेपमें नाथ-साहित्यमें शून्यप्रयोग तीन रूपोंमें हुआ है—१. परमतत्त्व नाद, परमज्ञान, परमस्वभाव, २. ब्रह्मरन्ध्र, दशम द्वार अथवा मध्य पथ सहस्रार चक्र, गगनमण्डल, ३. शिवलोक।

सन्त कवि शून्यज्ञानके सम्बन्धमें प्रतीत्यसमुत्पादसे परिचित नहीं थे और शून्यताज्ञान उन्हें अद्वैतज्ञानके रूपमें प्राप्त हुआ था, क्योंकि सन्तोंतक आनेके पूर्व वह शैव सम्प्रदायों द्वारा स्वीकृत किया जा चुका था। शैव हठयोग-परम्परामें कायामें ही मण्डलके रूपमें शून्यकी स्थिति मान ली गयी थी। इस दृष्टिसे कई स्थान शून्यसे विशेषतः सम्बद्ध माने गये थे, एक तो भ्रूमध्य त्रिकुटीमें शून्यका स्थान माना गया था। इला-पिंगलाके मध्य शून्यस्थानको महल, मण्डप शिखर, नगर, हाट आदि रूपमें भी वर्णित किया है। सिद्धों एवं नाथोंके सम्मुख शून्य-मण्डलकी स्थिति स्पष्ट है, किन्तु सन्तोंने इस शून्य-गुफा, शून्य-मण्डल और त्रिकुटी, ब्रह्मरन्ध्र तथा सहस्रदल कमलकी कल्पनाओंको इतना घुला-मिला दिया है कि ऐसा लगता है कि वे इसकी वास्तविक स्थितियोंको भूल गये हैं और केवल परम्परानिर्वाहके लिए शून्य-मण्डल, शून्य-गुफा आदिका उल्लेखमात्र कर देते है।

महल, गुफा, सरोवर, शिखर, कमल, दीपक, ज्योति, नीर, मेघ आदि उपमानोंसे शून्यको सम्बोधित किया गया है। इन सभीका अपना विशेष अर्थ है। महल, गुफा, शिखर, सरोवरका रूपक 'दोहाकोष'में स्पष्ट मिलता है। ज्योतिके रूपकमें शून्यकी ज्योति तथा चण्डाग्निकी ज्योति भी सिद्धोंके चर्यापदोंमें बराबर वर्णित है। इसके अतिरिक्त परवर्ती सन्त-साहित्यमे शून्यको बाघम्बर, ध्वजा, थाल आदि उपमानोंसे भी चित्रित किया गया है, जहाँ उसका अर्थ बहुत स्पष्ट नहीं है।

वज्रयानी साहित्यमें चार शून्य माने गये। चार शून्योंकी कल्पना 'हठयोगप्रदीपिका'में भी ग्रहण की गयी थी। पर उसे **नाद**की चार अवस्थाओंसे जोड दिया गया था। दादूने इन चारों शून्योंको एक नये रूपमें स्वीकृत किया। इन्होंने कायाशून्य, आत्मशून्य, परमशून्य तथा सहज-शून्य, इन चारों शून्योंका वर्णन किया है, जिनमेंसे पहले तीन सगुण तथा साकार है और अन्तिम शून्य निर्गुण तथा निराकार है (दे०—'शून्यवाद')। बादमें कबीर-पन्थके साम्प्रदायिक साहित्यमे शून्यकी संख्यामें कल्पनातीत वृद्धि हुई। 'कबीरबानी'में पहले सातकी संख्याको महत्त्व दिया गया—"सात सून्यका सकल पसारा, सात सून्यते कोई न न्यारा"। किन्तु इन सात शून्योंका कोई लक्षण नहीं बताया गया। इस वृद्धिके पीछे कोई संकेत न होकर संख्या-प्रेम ही ज्ञात होता है, क्योंकि वैकुण्ठके विस्तारमे १८ करोड शून्योंकी शृंखलाका वर्णन मिलता है और उसके भी आगे अनहद ज्योतिका बास बताया गया। वहाँ असंख्य शून्य परिकल्पित किये गये। इन्हीं शून्योंकी तुलनामें बेशून्य भी परिकल्पित किये गये, फिर इन सबको सातकी संख्यामें समाहित करनेका प्रयास किया गया। उसकी गणना इस प्रकार बतायी—असंख्य शून्य चार+बेशून्य दो+शून्य एक बराबर सात शून्य। ये सात शून्य सूर्यकी किरणोंके सात रंगोंसे समन्वित कर दिये गये और आखिरमें सृष्टि इन्ही रंगोंका विस्तार मान ली गयी। इस प्रकार धीरे-धीरे शून्यके ज्ञानका परम और तात्त्विक अर्थ भुला दिया गया, वह केवल एक निरर्थक पौराणिक कल्पनामात्र बनकर रह गया। —ध० बी० भा०

शून्यचक्र–दे० 'हठयोग'।

शून्यपदवी–सुषुम्ना नाडी; (दे० 'अवधूती')।

शून्यभाव–ख+सम भाव; (दे० 'खसम')।

शून्यमार्ग–सुषुम्ना नाड़ी (दे० 'अवधूती')।

शून्यवाद–महायानको सामान्यतया दो दार्शनिक सम्प्रदायोंमें विभाजित किया जाता है—माध्यमिक (शून्यवाद), विज्ञानवाद (योगाचार)। शून्यवादके सबसे प्रबल प्रतिपादक आचार्य नागार्जुन थे, जिन्होंने लगभग दूसरी ईसवी शतीके अन्तिम चरणमें अपना प्रख्यात ग्रन्थ 'माध्यमिकशास्त्र' लिखकर शून्यवादको प्रतिष्ठित किया। उन कारिकाओंमें उन्होंने उत्पत्ति, गति, दुख, बन्धन, मोक्ष आदि सभी धारणाओंकी तर्क सहित परीक्षा कर यह सिद्ध किया है कि सभीमें विरोधी धर्मोंकी उपस्थिति है, अतः सभी शून्य है। इसके लिए उन्होंने प्रख्यात अष्ट निषेधोंका विधान किया था, जिसमें उन्होंने प्रत्येक वस्तुको अनिरोध, अनुत्पाद, अनुच्छेद, अशाश्वत, अनेकार्थी, अनानार्थी, अनागमी और अनिर्गमी बनाया था। प्रथम अध्यायकी प्रथम कारिकामें ही इन आठ निषेधात्मक स्वभावोंका उल्लेख करते हुए उन्होंने यह कहा था कि जो इन आठ निषेधोंसे

परिचित हो जाता है वह कभी भी अतिवादोंका आश्रय नहीं ग्रहण करता और सदा मध्यम पथपर चलता है।

वस्तुतः इस शून्यका अर्थ हिन्दू दार्शनिकोंने अवसर 'सत्ताका अभाव' किया है। शून्यवादी आचार्य इसे इस अर्थमें नहीं ग्रहण करते। वस्तुएँ आकाशकुसुमकी भाँति सत्ताशून्य नहीं होतीं, पर वे नितान्त तात्त्विक भी नहीं होतीं, क्योंकि वे कारणोंपर निर्भर होती हैं और अनित्य होती हैं। संसारमें कोई वस्तु नहीं, जो कारणोंपर आधारित न हो और कोई धर्म नहीं, जो हेतुओंपर आधारित न हो, अतः कोई वस्तु या धर्म स्वतन्त्र या निरपेक्ष नहीं, इसलिए उनका अपना कोई स्वभाव नहीं। यह दिखानेके बाद आचार्य नागार्जुन कार्य-कारणका भी अन्तर्विरोध दिखाते हैं। वे कहते हैं कि यदि कार्य और कारण भिन्न हैं तो इसका अर्थ यह है कि कारणके बिना भी कार्य सम्भव था। यदि उनमें भिन्नता नहीं तो एक ही वस्तुके कार्य और कारण दो नाम देना उचित नहीं। फिर कोई वस्तु दूसरेसे उत्पन्न भी नहीं हो सकती, क्योंकि जब उस वस्तुका कोई धर्म नहीं तो वह दूसरी वस्तुको क्या उत्पन्न करेगी। इसी प्रकार शून्यवाद उत्पत्ति, गति, स्वभाव, धर्मका निषेध कर समस्त सृष्टिको अनन्त शून्यताकी निर प्रवहमान् धारामात्र सिद्ध कर देता है।

प्रश्न यह है कि जब सभी शून्य है तो **निर्वाण** क्या है? क्यों प्राप्त किया जाय? कैसे प्राप्त किया जाय? नागार्जुनका कहना है कि न निर्वाण संसारसे परे कोई वस्तु है और न संसार निर्वाणसे परे; वस्तुतः भाव और अभावके परामर्शके क्षयको ही निर्वाण कहते हैं। वह तो शून्यमें उलझी हुई गाँठ है, जो शून्यमें ही खुल जाती है (विस्तारके लिए दे०—बौद्धधर्म दर्शन : आचार्य नरेन्द्र देव) तथा शून्य शब्दके परवर्ती विकासके लिए (दे० 'शून्य')। —ध० वी० भा०

शृंगारकाल—हिन्दी साहित्यका रीतिकाल (दे०) ही शृंगार-काल कहलाता है। उत्तर-मध्यकालमें काव्यकी प्रधान प्रवृत्ति शृंगार की है। लगभग सभी काव्यधाराओंमें शृंगारके दर्शन होते हैं। कवियोंके वर्णन शृंगारसे ओत-प्रोत होनेके कारण इस युगको शृंगारकालकी संज्ञा दी गयी है। काव्यमें भावकी प्रधानताकी दृष्टिसे जो हिन्दी साहित्यका काल-विभाजन है, उसमें वीर, भक्ति और शृंगार ही अधिक उपयुक्त नाम कुछ विद्वानोंको मान्य हैं। शृंगारिक काव्यके विविध अंगोंका विस्तार इस कालके साहित्यमें देखा जाता है। साहित्यमें शृंगार-वर्णनकी प्रमुख प्रवृत्ति, इस नामकी यथार्थता सिद्ध करती है। —भ० मि०

शृंगार रस—शब्दार्थकी दृष्टिसे शृंगार 'कामोद्रेक' अथवा 'कामवृद्धिकी प्राप्ति'का द्योतक है। शृंगारमें दो शब्द मिले हैं—शृंग तथा आर। 'शृंग'का अर्थ है कामोद्रेक अथवा कामकी वृद्धि। 'आर' गत्यर्थ 'ऋ' धातुसे बना है, जिसका अर्थ यहाँ है प्राप्ति। अतएव, शृंगारका अर्थ हुआ 'कामवृद्धिकी प्राप्ति' (र० मं०, पृ० १७९)। अतएव जो रचना मानव-हृदयकी मधुरतम भूख, कामको उज्जीवित एवं परितृप्त करेगी, वह शृंगार रसकी रचना कही जायगी। विश्व-साहित्यका एक अत्यन्त विस्तृत परिणाम इस हृदयावर्जक रसकी मन्दाकिनीसे ओत-प्रोत है। भरत मुनिने 'नाट्यशास्त्र'के छठे अध्यायमें कहा है—"शृंगार रस रति स्थायी भावसे उद्भूत होता है। उसका वेश उज्ज्वल है। संसारमें जो कुछ पवित्र, उज्ज्वल एवं दर्शनीय है, वह शृंगारसे उपमित होता है। उज्ज्वल वेशवाला शृंगारवान् कहा जाता है। जैसे पुरुषोंके नाम गोत्र, कुल तथा आचारसे उत्पन्न एवं आप्तोपदेशसे सिद्ध हुआ करते हैं, वैसे ही इन रसों, भावों तथा नाटकाश्रित पदार्थोंके नाम भी आप्तोपदेशसे सिद्ध तथा आचारसे बनते हैं, इसी प्रकार मनोहर तथा उज्ज्वल वेश होनेसे इस रसका नाम शृंगार पड़ा है। यह स्त्री-पुरुषके माध्यमसे उत्पन्न होता है तथा उत्तम यौवनकी प्रकृतिके अनुकूल है। 'साहित्यदर्पण'में विश्वनाथने शृंगारकी परिभाषा दी है—"शृंगं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः। उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः शृंगार इष्यते" (३, १८३)। अर्थात् कामके अंकुरित होनेको शृंग कहते हैं। उसकी उत्पत्तिका कारण, अधिकांश उत्तम प्रकृतिसे युक्त, रस शृंगार कहलाता है।

उपर्युक्त उद्धरणोंसे शृंगार रसका सम्यक् स्वरूप उन्मीलित हो जाता है। आचार्योंने शृंगारको मनुष्यकी सबसे प्रिय भूख 'काम'से सम्बद्ध करके उसकी प्रकृतिको पवित्र, उज्ज्वल एवं दर्शनीय कथित किया है। 'शतपथ-ब्राह्मण'में कहा गया है कि विश्वकर्मा प्रजापति आरम्भमें एक था, किन्तु उसका अकेले मन नहीं लगा, अतएव उसने अपनेको ही स्त्री एवं पुरुषके रूपमें विभक्त कर दिया। वास्तवमें यह कथन कामके सर्वातिशायी महत्त्वको आलोकित करता है। भारतीय साहित्याचार्योंने काव्यगत रसोंमें शृंगारको मूर्धन्य स्थानपर प्रतिष्ठित कर यथार्थवादी भूमिका ग्रहण करनेका अमोघ साहस प्रदर्शित किया है। विश्वनाथने 'उत्तम प्रकृति'से संयुक्त बताकर शृंगार अथवा काम-चित्रणको कोरी विलासगर्भित कामुकतासे बचा लिया है। प्रकृतिवादी शृंगारको आद्य रस मानते हैं और भोजराजने 'शृंगार-प्रकाश'में शृंगारको आस्वादनीयताकी दृष्टिसे एकमात्र रस स्वीकार किया है—"शृंगारमेव रसनाद्रसमामनामः"। शृंगारके देवता विष्णु माने गये हैं, जो अपनी अनन्तशक्ति रमाके साथ रमण करते हुए लोकका पालन करते हैं और इसीलिए उसका वर्ण श्याम कहा गया है।

शृंगारका स्थायी भाव 'रति' है। भोजराजके अनुसार—"मनोनुकूलेष्वर्थेषु सुखसंवेदनं रतिः", अर्थात् मनके अनुकूल विषयोंमें सुखका अनुभव करना 'रति' है। विश्वनाथने भी रतिसे यही अर्थ ग्रहण किया है—"रतिर्मनोनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्"। लेकिन अन्य आचार्योंने 'रति'को शृंगार रसके सन्दर्भमें, स्त्री-पुरुषके एक-दूसरेके प्रति नैसर्गिकी आसक्तिके रूपमें ही ग्रहण किया है। अतः स्त्री-पुरुष जब एक-दूसरेके मनोनुकूल हों, परिपूर्ण आनन्दका उपभोग करें या उनका रतिभाव पूर्णतया प्रस्फुट हो जाय, तब वह शृंगार रस कहलायेगा—"यूनोः परस्परं परिपूर्णः प्रमोदः सम्यक्सम्पूर्णरतिभावो वा शृंगारः" (र० त०, ६)। विशेष व्याख्याके लिए दे० 'रति'।

नायक-नायिकाका एक-दूसरेमें अनुरक्त रहना आदर्श शृंगारके लिए स्पृहणीय है। यदि उनमेंसे एकको रति या

प्रमोद अधिक हो या न्यून हो या एकमें बिलकुल हो ही नहीं, तो परिपूर्णताका अभाव होनेसे वहाँ रस नहीं माना जायगा, प्रत्युत वह रसाभास होगा—"यूनोरेकत्र प्रमोदस्य रतेर्वाधिक्ये न्यूनतायां व्यतिरेके वा परिपूर्तेरभावात् रसाभासत्वमिति" (वही, वही)।

रसमें अनौचित्य होनेपर 'रसाभास' माना जाता है। उपनायक, अर्थात् अन्य पुरुषमें अथवा अनेक पुरुषोंमें नायिकाकी रति होना, नदी आदि निरिन्द्रियोंमें सम्भोगका आरोप करना, पशु-पक्षियोंके प्रेमका वर्णन करना, गुरुपत्नी आदिमें अनुराग, नायक-नायिकामें अनुभयनिष्ठ रति, नीच व्यक्तिमें प्रेम होना इत्यादि श्रृंगार रसके रसाभास कहे जाते हैं।

विभावादिकों द्वारा रतिभावके पूर्णतया इस प्रकार रस्यमान होनेपर कि मन उसमें विश्राम कर सके, श्रृंगार रसकी निष्पत्ति होती है—"भावविभावानुभावव्यभिचारिभावैर्मनो विश्रामो यत्र क्रियते स वा रसः" (र०त०, ६)।

'साहित्यदर्पण'के अनुसार, परायी स्त्री तथा अनुरागशून्य वेश्याको छोड़कर अन्य नायिकाएँ तथा 'दक्षिण' इत्यादि नायक श्रृंगारके आलम्बन-विभाव हैं; चन्द्रमा, चन्दन, भ्रमर इत्यादि उद्दीपन-विभाव हैं; अथ च उग्रता, आलस्य एवं जुगुप्साको छोड़कर अन्य निर्वेदादि इसके व्यभिचारी भाव हैं। यहाँ यह स्मरणीय है कि भीमराज जैसे कतिपय आचार्योंका अभिमत है कि ये वाधित संचारी भाव भी श्रृंगारमें सन्निविष्ट हो सकते हैं। प्रेमपूर्ण आलाप, स्नेहसिक्त चेष्टाएँ, चुम्बन, परिरम्भण, स्वेद, कम्प, रोमांच इत्यादि अनेक अनुभाव हैं, जो रतिके उद्‌बोधकी व्यंजना करते हैं।

साहित्यमें इस रतिके दो रूप चित्रित किये गये दृष्टिगोचर होते हैं। पहला और अधिक लोकप्रिय स्वरूप वह है, जो पार्थिव नर-नारियोंकी प्रणयलीलाओंके चित्रणसे परिपूर्ण है। इस कोटिका श्रृंगार 'लौकिक' कहलाता है, क्योंकि इसके आलम्बन सामान्य स्त्री-पुरुष होते हैं। दूसरा स्वरूप वह है, जिसमें अनुरागका आलम्बन कोई पार्थिव प्राणी न होकर, कोई इष्टदेव, भगवान् या परमात्मा हुआ करता है। कबीर, दादू आदि निर्गुणोपासक सन्तोंने 'राम-भरतार'के लिए जो मिलन-विरहके गीत गाये हैं, वह इसी जातिका श्रृंगार है। इसे 'अलौकिक' अथवा 'आध्यात्मिक' श्रृंगार कहते हैं। आधुनिक कालमें कवीन्द्र रवीन्द्र तथा महादेवी वर्मा प्रभृति कवियोंने अलौकिक श्रृंगारकी रचनाएँ की हैं। सूर आदि कृष्णोपासक कवियोंने जिस श्रृंगारका वर्णन किया है, वह दिव्य श्रृंगार कहा जाता है तथा आचार्योंने वहाँ उज्ज्वल-रस माना है। कृष्णलीलाओंका आध्यात्मिक अर्थ लगाया गया है और इस दृष्टिसे उनका चित्रण अलौकिक किंवा आध्यात्मिक श्रृंगारकी श्रेणीमें समाविष्ट हो सकता है।

मनुष्यकी कामभावनाको दुलरानेवाला श्रृंगार रस मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे अत्यन्त महत्त्व रखता है। आधुनिक मनःशास्त्रियोंने कामको जीवनकी मूलभूत संचालिका वृत्ति माना है। फ्रायडके अनुसार काम-वासना (लिबिडो) मनुष्यमें जन्म-जात है और सभ्यता, संस्कृति इत्यादिमें उसीकी परिमार्जित अभिव्यक्ति होती है। विल ड्यूरण्ट जैसे मनस्तत्त्वविदोंका कथन है कि संयोगेच्छा मानवकी मौलिक प्रवृत्ति है तथा वह सदा पूर्णत्वप्राप्तिकी कामनासे अपने अर्द्धांशकी खोज किया करता है। ऋग्वेदमें भी कामको मनका प्राथमिक-विकार कहा गया है—"कामस्तदग्रे समवर्त्ततोधि मनसो रेतः प्रथमं तदासीत"। श्रृंगार जीवनकी इसी नियामिका वृत्तिपर शासन करता है और उसकी मानसिक तुष्टिका विधान कर मनुष्यको अनाचार-दुराचारसे बचानेकी अदृश्य योजना करता है। प्रसिद्ध समीक्षाशास्त्री रिचर्ड्‌सका कथन है कि जिस मनोवेगकी तुष्टिसे अधिकाधिक अन्य मनोवेगोंको भी सन्तोष लाभ होता है, वही मूल्यवान् है तथा उसीका चित्रण काव्यमें ग्राह्य है। इस दृष्टिसे श्रृंगार रसका मानसिक सन्तुलन या सामंजस्यके हेतु अतीव महत्त्व है, क्योंकि इसका सम्बन्ध उस प्रबल भाव-प्रणालीसे है, जो अनेक अन्य वेगोंको अपनेमें समाहित किये हुए हैं।

हृद्यता, व्यापकता आदिके कारण श्रृंगारको 'रसराज' कहा गया है। आनन्दवर्धनने 'ध्वन्यालोक'में कहा है कि श्रृंगार रस समस्त संसारी प्राणियोंके अनुभवका विषय होनेके कारण कमनीयताकी दृष्टिसे प्रधान है तथा इसके वर्णनमें कविको अत्यन्त सावधान एवं प्रयत्नवान् होना चाहिये। हिन्दीके आचार्य देवका तो कहना है कि नौ रसोंका कथन करना प्रमाद है, क्योंकि श्रृंगार ही सकल रसोंका मूल है। श्रृंगारके साथ हास्य, वीर एवं अद्‌भुत रसोंका मैत्रीभाव माना गया है तथा बीभत्स, करुण, रौद्र, भयानक तथा शान्त इसके विरोधी रस समझे जाते हैं, यद्यपि आचार्योंने विरोध-परिहारकी व्यवस्था की है।

श्रृंगार रसके दो भेद—सम्भोग-श्रृंगार अथवा संयोग-श्रृंगार और विप्रलम्भ-श्रृंगार अथवा वियोग-श्रृंगार होते हैं (दे०)।

हिन्दी साहित्यमें प्रारम्भसे ही श्रृंगारकी सरस धारा प्रवाहित रही है। यों तो रासोग्रन्थोंमें भी श्रृंगारी चित्रण उपलब्ध होते हैं, पर श्रृंगारका उन्मुक्त प्रवाह विद्यापतिकी पदावलीमें ही सबसे पहले प्रवाहित हुआ है। सौन्दर्य एवं प्रेमके विलासपूर्ण चित्रोंसे पदावली ओत-प्रोत है। नख-सिख, वयःसन्धि इत्यादिके वर्णनमें परम्परा-मुक्त उपमानोंका प्रचुर प्रयोग होनेपर भी, कविका स्वतन्त्र निरीक्षण तथा उसकी रसलिप्सु चेतनाके असन्दिग्ध दर्शन होते हैं। सम्भोगचित्रोंमें विलासिताकी स्पष्ट गन्ध आती है, तथापि प्रेमविह्वलता, लालसा, अतृप्ति, सम्मिलन-सुखकी तल्लीनता एवं आत्म-विस्मृति इत्यादिकी जैसी मर्मस्पर्शी विवृति पदावलीमें मिलती है, वह सर्वथा अभिनन्दनीय है। विप्रलम्भ-वर्णनमें विद्यापतिने स्थूल ऐन्द्रियताका परित्याग कर नायिकाओंके प्राणोंकी भीतरी सिहरनको उन्मीलित किया है। काव्यशास्त्र तथा कामशास्त्रका प्रभूत प्रभाव पदावलीमें लक्षित होता है। 'गीतगोविन्द'का-सा गहरा माधुर्य यदि हिन्दी साहित्यमें कहीं उपलब्ध है, तो वह विद्यापतिमें ही। कबीर, दादू इत्यादि सन्तोंकी रचनाओंमें श्रृंगार पार्थिवतासे विमुख होकर आध्यात्मिकताकी ओर उन्मुख हो गया है। जायसीका श्रृंगार निराले ढंगका है, क्योंकि 'पद्मावत'में एक लौकिक प्रेमकथाको आध्यात्मिक प्रेमके विकास एवं परिणति-

पर घटानेका उद्योग किया गया है। लौकिक धरातलपर बहता हुआ भी 'पद्मावत'का प्रेम-प्रवाह अलौकिक संकेतोंसे परिपूर्ण है। अथ च रत्नसेन और पद्मावतीके सम्भोग-वर्णनमें जो मादक विलासिता समाविष्ट हो गयी है, उसमें भी जायसीकी स्पष्ट सोद्देश्यता यत्र-तत्र रसचर्वणामें बाधा पहुँचाती प्रतीत होती है। 'पद्मावत'के शृंगार-वर्णनमें नागमतीका वियोग अवश्य विशुद्ध लौकिक रसका परिपोषण करता है, तथापि जायसी मूलतः साधक हैं, शृंगारी नहीं। सूर इत्यादि भक्त कवियोंने अपने उपास्य कृष्णकी प्रेम लीलाओंका गान किया है। जहाँ विद्यापति एवं जायसी नायिकाओंके नखसिख-वर्णनमें ही सम्पूर्ण कौशल नियोजित कर देते हैं, वहाँ सूर कृष्णके सौन्दर्यको बार-बार चित्रित करनेमें अपनेको कृतकाम मानते हैं। वस्तुतः गोपियोंकी सम्पूर्ण आसक्ति कृष्णके रूपपर ही केन्द्रित है तथा कवि अपूर्व तन्मयतापूर्वक उस रूप-सुषमाका गान करता है। सम्भोग-सुखका जैसा मादक एवं विलासमय चित्रण सूरने किया है, उतना ही मर्मस्पर्शी चित्रण वियोगका किया है। कामशास्त्रीय प्रभाव भी लक्षित होता है, तथापि प्रेमविद्ध हृदयकी जितनी अगणित वृत्तियोंका अंकन सूरने किया है, स्वाभाविकताके साथ सुरसताका जैसा मंजुल मिश्रण किया है, वह हिन्दी साहित्यमें अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। अनुराग-लीलाओंकी अलौकिकताका बार-बार निर्देश कर सूरने सम्पूर्ण शृंगार-वर्णनको सचमुच उज्ज्वल रसमें परिणत कर दिया है।

रीतिकालीन कवियोंके शृंगार-वर्णनपर युगकी विलासिता तथा संस्कृतके काव्यशास्त्रका प्रभाव पड़ा है तथा जो शृंगार भक्तियुगमें भावनाके मधुर सौरभसे ओतप्रोत था, वह कामुक विलासिताका प्रशस्तिगान करने लग गया। यद्यपि राधाकृष्ण अब भी आलम्बनरूपमें गृहीत रहे, पर परकीयाओं तथा खण्डिताओंकी बाढ़-सी आ गयी और स्वाभाविकताका स्थान कृत्रिमताने ले लिया। तथापि, सौन्दर्य एवं प्रेमके मार्मिक चित्र भी इन कवियोंने अंकित किये हैं। नायिका-भेद-कथनके व्याजसे केशव, मतिराम, देव तथा अन्य परवर्ती आचार्य कवियोंने अत्यन्त सरस पद्योंकी रचना की है, जिसमें सम्भोग एवं विप्रलम्भ-शृंगारकी ललित एवं हृदयस्पर्शी धारा प्रवाहित हुई है। बिहारीकी सतसई समस्त शृंगार-साहित्यका भूषण है तथा हावों एवं अनुभावोंकी जैसी रमणीय योजना उसमें हुई है, उसमें बिहारीकी रसिकता एवं अवेक्षण, दोनोंका उन्मीलन होता है। घनानन्द, बोधा इत्यादि रीतिमुक्त कवियोंने प्रेमकी पीरकी बड़ी अनुभूतिपूर्ण व्यंजना की है। कुल मिलाकर, कहा जा सकता है कि रीतियुगीन शृंगार आमुष्मिकतासे विद्रोह कर धरतीपर आ गया है और पार्थिव प्रेमकी सम्पूर्ण श्यामलता एवं उज्ज्वलता, विलासिता एवं नैसर्गिकता, कुरूपता एवं कमनीयता उसमें एक साथ प्रतिफलित हुई है। छायावादी युगमें शृंगार पुनः स्थूल धरातलसे उठकर सूक्ष्म हो गया है और सौन्दर्य एवं प्रेमकी वायवी, कोमल एवं सम्भ्रममयी मूर्तियाँ अंकित हुई हैं। परवर्ती साहित्य फ्रायडके कामवादसे स्पष्ट प्रभावित दीखता है, परन्तु वर्तमान युगके साहित्यमें मानव-मनकी सूक्ष्म तथा सघन अभिव्यक्ति प्रभावशील रूपमें की जा रही है, अतः शृंगारिक भावना भी अधिक विषम तथा विविध रूपमें व्यंजित हो रही है। —रा० ति०

शृगाल—उलटबाँसियोंमें निरन्तर सिंहको वासनायुक्त मनका और शृगालको ज्ञानवान् मनका प्रतीक मानकर शृगाल द्वारा सिंहका भक्षण दिखाया गया है—"निति निति सिआला सिह सम जुझन" (चर्यापद, ३३)। 'निति उठि स्याल स्यंघ सम जूझै' (क० ग्रं०)। —ध० वी० भा०

शेर—उर्दू कवितामें कोई एक छन्द शेर कहलाता है। इसमें दो मिसरे (चरण) होते हैं, जो एक ही वजन (माप)के होते हैं और उनका विषय भी आपसमें सम्बन्धित होता है। प्रायः यह शेर अर्थकी दृष्टिसे अपनेमें पूर्ण होता है और एक प्रकारसे मुक्तक कहा जा सकता है, क्योंकि इसके लिए पूर्वापर प्रसंगकी अनिवार्य अपेक्षा नहीं होती। —मसी०

शैतान—इसलाम धर्ममें शैतानको भ्रममें डालनेवाला, बहकानेवाला कहा गया है, जो आत्माको परमात्मासे विमुख करता है। जायसीने 'अखरावट'में लिखा है—"पुनि इबलीस संचारेउ, डरत रहै सब कोइ"। यह इबलीस ही शैतान है। सूफी साधक जीलीने बताया है कि "यह सभी बुराइयोंकी उत्पत्तिका कारण है। सूफी साधक इसकी आवश्यकताको स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि यह इबलीस उनका तो विनाश करता है, जो सतर्क नहीं रहते, लेकिन परमात्मासे प्रेम करनेवालोंका वह मुक्तिदाता है, क्योंकि बुराइयोंसे युक्त वह उनके साथ अगर नहीं रहता तो वे अपनी पवित्रताके गर्व और अहंकारसे भर जाते"। जायसीके 'पदमावत'में 'राघवदूत सोई सैतानू' कहा गया है। यद्यपि कुछ विद्वानोंके मतसे 'पद्मावत'का यह अंश प्रक्षिप्त है, फिर भी इससे यह तो पता चल ही जाता है कि शैतानको सूफी 'राघव-चेतन'की तरह बहकानेवाला मानते हैं। —रा० पू० ति०

शैली—शैली अंग्रेजी 'स्टाइल'का अनुवाद है और अंग्रेजी साहित्यके प्रभावसे हिन्दीमें आया है। प्राचीन साहित्य-शास्त्रमें शैलीसे मिलते-जुलते अर्थको देनेवाला एक शब्द प्रयुक्त हुआ है—रीति। 'काव्यालंकारसूत्र'के लेखक आचार्य वामनने रीतिको 'विशिष्टपद रचना' कहकर परिभाषित किया है। इस परिभाषामें 'विशिष्ट' शब्दका अर्थ है गुण-युक्त। आचार्य वामन रीतिको काव्यकी आत्मा मानते हैं। उनके अनुसार रीतियोंके तीन रूप हैं—वैदर्भी, गौड़ीय और पांचाली। वैदर्भी रीतिमें, वामनके अनुसार, ओज, प्रसाद आदि समस्त गुण रहते हैं। गौड़ी रीतिके प्रधान गुण ओज और कान्ति हैं और पांचालीके मधुरता और सुकुमारता। वामनके मतमें वैदर्भी रीति ही सर्वथा ग्राह्य है। दूसरे आचार्योंने उक्त रीतियोंके दूसरे प्रकारके वर्णन दिये हैं। कुछ आचार्योंने यह भी निर्देश करनेकी कोशिश की है कि किस प्रकारके वर्णों आदिके प्रयोगसे विशेष रीति अस्तित्वमें आती है। रीतियोंके ये व्याख्यान यह संकेत देते हैं मानो रीतितत्त्वका प्रमुख आधार विशिष्ट पदयोजना हो। यहाँ एक बात और लक्षित करनेकी है—वामन आदिके मतमें रीति अच्छे लेखनका ही धर्म है। इसका मतलब यह हुआ कि घटिया रचनामें रीतिकी उपस्थिति नहीं होती।

क्या इसी प्रकार यह माना जाना चाहिये कि शैली

नामक तत्त्व अच्छी रचनाओंमे ही उपस्थित रहता है ? क्या खराब लेखकोंमें शैलीका अभाव रहता है ? यदि यह माना जाय कि शैली एक स्पृहणीय गुण है, तो कहना होगा कि अच्छे लेखक ही अच्छे शैलीकार भी होते हैं। प्रसिद्ध यूनानी विचारक अफलातून या प्लेटोका यही मत है— "जब विचारको तात्त्विक रूपाकार दे दिया जाता है तो शैलीका उदय होता है"। प्रसिद्ध फ्रान्सीसी उपन्यासकार स्तान्धालने भी शैलीको अच्छी रचनाका गुण मानते हुए उसका विवेचन किया है। उसके विचारमें "शैलीका अस्तित्व इसमे निहित है कि दिये हुए विचारके साथ उन सब परिस्थितियोंको जोड़ दिया जाय, जो कि उस विचारके अभिमत प्रभावको सम्पूर्णतामें उत्पन्न करनेवाली है"। इससे मिलता-जुलता ही बर्नार्ड शाका यह विचार है कि "प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति ही शैलीका अथ और इति है"।

यहाँ प्रश्न उठता है—यह हम कैसे जान सकते है कि कोई रचना सम्पूर्ण अभीष्ट प्रभावको उत्पन्न कर रही है या नहीं ? इस प्रश्नपर गम्भीरतासे विचार करनेपर जान पड़ता है कि किसी रचनाकी शैलीको उस रचनासे पृथक् करके मूल्यांकनका विषय नहीं बनाया जा सकता। हमारी समझमें, शैलीको एक गुण मानते हुए, उसकी परिभाषा इस प्रकार करनी चाहिये—"शैली अनुभूत विषयवस्तुको सजानेके उन तरीकोंका नाम है, जो उस विषयवस्तुकी अभिव्यक्तिको सुन्दर एवं प्रभावपूर्ण बनाते है"। इस दृष्टिसे देखनेपर यह जान पड़ेगा कि शैली न तो केवल अनुभूत विषयवस्तुका धर्म है और न कहनेके तरीकेका ही। शैलीकी आत्मा मुख्यतः वे सम्बन्ध है, जिनके ढाँचेमे अनुभूत विषयवस्तुको समाहित या व्यवस्थित किया जाता है। विषयवस्तुमें उक्त सम्बन्धकी स्थापना रसकी उत्पत्तिके लिए की जाती है। काव्य-साहित्यकी रसात्मकताको उसके प्रभावसे अलग नही किया जा सकता। जिस विभावात्मक विषयवस्तुको साहित्यकार सँजोकर पाठकोंके सामने रखता है, उसमें प्रभाव या रसके उत्पादनकी क्षमता निहित रहती है। किन्तु यह क्षमता सम्बद्ध विषयवस्तुका ही धर्म है। साहित्यकार अनुभूत विषयवस्तुको नये सम्बन्धोंमें ग्रथित करके उसमें नये प्रभाव उत्पन्न करनेकी क्षमता स्थापित कर देता है। इस प्रकारकी क्षमता उत्पन्न करनेके उपादान ही शैलीके मूल तत्त्व होते है।

विभिन्न रचनाएँ जिन प्रभावोंको उत्पन्न करती है, वे भिन्न-भिन्न कोटियोंके होते है, फलतः शैलियाँ भी भिन्न होती हैं। एक प्रकारकी शैली हमारे मनपर कोमल स्नेह अथवा नाजुक सौन्दर्यकी छाप छोड़ती है, तो दूसरी उदात्त गरिमाकी। कभी-कभी शैलीकारका उद्देश्य केवल चित्र खड़े करना होता है, जिनके अनुचिन्तनमें कोई तीखा या गहरा रागात्मक आलोड़न न रहते हुए भी बुद्धि चमत्कृत हो जाती है। ऐसे काव्यके उदाहरण बिहारीकी 'सतसई' तथा उर्दू काव्यमें बहुतसे मिल सकेंगे। कालिदास जैसे महाकविकी रचनाओंमे अनेक शैलियाँ भी पायी जाती है। 'रघुवंश'के प्रथम सर्गकी शैली एक है और रघुके दिग्विजयका वर्णन करनेवाले चौथे सर्गकी दूसरी। —दे०

शैवमत–शिवको ही परमेश्वर माननेवालोंको शैव कहा जाता है और उनके धर्मको शैवमत। शिवका अर्थ है शुभ या कल्याण।

पुरा कालमे प्रकृतिके भयावह और ध्वंसकारी दृश्योंको देखकर मनुष्यने भयंकर रव करनेवाले, अर्थात् रूद्रमे विश्वास किया और उसको विश्वव्याप्त माना। उसने उसके गुणों या रुद्रो या रुद्रीयोंकी भी कल्पना की, जो कम रव करनेवाले थे। पर मनुष्य विश्वव्यापिनी शक्तिको मात्र भयंकर न मान सका। भयंकर दृश्य उसको उस शक्तिके कोपमात्र लगे। अतः उसने शिव या कल्याणकारी परमेश्वरकी कल्पना की। प्राचीन भारतमे इस प्रकार रुद्र या शिवको ईश्वर माना गया। शिवके ही अर्थमें शंकर और शम्भु शब्द हैं। यजुर्वेदका शतरुद्रीय अध्याय, तैत्तिरीय आरण्यक और 'श्वेताश्वतरोपनिषद्'मे रुद्र या शिवको परमेश्वर माना गया है। पर पशुपतिका स्वरूप इनमें निर्दिष्ट नहीं है। 'अथर्वशिरस्' उपनिषद्में सर्वप्रथम पाशुपत, पशु, पाश आदि पारिभाषिक शब्दोंका उल्लेख मिलता है। 'महाभारत'मे माहेश्वरोंके चार मत बतलाये गये है—शैव, पशुपत, कालदमन और कापालिक। यामुनाचार्यने कालदमनको कालमुख कहा है। इन चार सम्प्रदायोंके मूल ग्रन्थोंको **शैवागम** कहते है, जिनमें कुछ वैदिक है और कुछ अवैदिक। वर्तमान खोजोंके अनुसार हरप्पा और मोहनजोदड़ोंकी सभ्यता शैव ही थी। इससे अवैदिक शैव मतकी प्राचीनता सिद्ध होती है।

उपर्युक्त चार मतोंमें कापालिक और कालमुख रूद्रमें ही परमेश्वरको लेते है। ये वाममार्गी है और इनकी साधनाएँ अत्यन्त बीभत्स है। पांचरात्रका विकास हो जानेपर पाशुपत मतका विकास हुआ। इसका संस्थापक लकुलीश था। उसने लकुलीश, अर्थात् लकुटधारीके रूपमे परमेश्वरको माना। इन मतोमे रुद्र रूपकी ही प्रधानता है। इनकी प्रतिक्रियाके फलस्वरूप और शंकराचार्यके अद्वैतवादसे प्रभावित होकर नवी शती ईसवीमे कश्मीरमें शैव मतका आविर्भाव हुआ, जिसमें शिव रूपको प्रधानता दी गयी और सत्यं, शिवं तथा सुन्दरंका एकमेक हो गया। ११वीं शतीमें इस अद्वैतवादके विरोधमे भी लिंगायत या वीर शैवमतका उद्भव हुआ, जिसका दर्शन **शक्तिविशिष्टाद्वैतवाद**के नामसे प्रसिद्ध है।

कापालिक ६ मुद्रिकाओंको जानता है और उनका प्रयोग करता है। ६ मुद्रिकाएँ ये है—कण्ठहार, आभूषण, कर्णाभूषण, चूडामणि, भस्म तथा यज्ञोपवीत। कालमुखोंका कहना है कि लौकिक और पारलौकिक सभी कामनाओंको तृप्त करनेका साधन है—कपालमें भोजन करना, शवकी राखको शरीरपर मलना, उन राखोंको खाना, लाठी रखना, शराबका कोई बर्तन रखना और उसपर बैठे हुए ईश्वरको पूजना। स्पष्ट है कि इन वाममार्गोंको सच्चा शैवमत नहीं कहा जा सकता।

शैवमतके प्रधानतया चार सम्प्रदाय माने जाते है—पाशुपत, शैवसिद्धान्त, कश्मीर शैवमत और वीर शैवमत। पहलेका केन्द्र गुजरात और राजपूताना, दूसरेका तमिल प्रदेश, तीसरेका कश्मीर और चौथेका कर्नाटक है।

पाशुपतका मूल सूत्रग्रन्थ महेश्वररचित 'पाशुपतसूत्र

है, जिसपर कौण्डिन्यकृत पंचार्थी भाष्य है। इसके अनुसार पाँच पदार्थ हैं—कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त। जीव और जड़को कार्य कहते हैं। परमात्माको कारण कहा जाता है। इसकी शास्त्रीय संज्ञा पति है, जैसे जीवको पशु है और जड़को पाश है। चित्त द्वारा पशु और पतिके संयोगको योग कहते हैं। पतिको प्राप्त करानेवाले मार्गको विधि कहते हैं। साधकका पतिकी पूजाके समय हँसना, गाना, नाचना, जीभ और तालुके संयोगसे बैलकी आवाजके समान हुड-हुड़ शब्द करना, नमस्कार आदि करना विधि है। दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति दुःखान्त या मोक्ष है। स्पष्ट है कि पाशुपतमत भी कापालिकों और कालामुखोंके मतकी भाँति अतिमार्गी है।

शैवसिद्धान्तके मान्य ग्रन्थ तमिलमें हैं। इसमें पति, पशु और पाश, इन तीन परम तत्त्वोंको माना गया है। पति ईश्वर है। जीव पशु है, वह अज्ञ और अणु है। पाश चार प्रकारके हैं—मल, कर्म, माया और रोधशक्ति। पशु पतिके शक्तिपातसे, अर्थात् अनुग्रहसे, पाशरहित होता है। यही उसकी मुक्तावस्था है।

काश्मीर शैवमत अद्वैतवाद है। इसमें और अद्वैत-वेदान्तमें इतना अन्तर है कि अद्वैतवादके ब्रह्ममें कर्तृत्व नहीं है, जब कि काश्मीर शैवमतके परमेश्वरमें है। अद्वैतवाद ज्ञानमार्ग है, उसमें भक्तिका समन्वय ज्ञानसे नहीं होता है। काश्मीर शैवमतमें ज्ञान और भक्तिका समन्वय है। काश्मीर शैवमत विवर्तवाद और परिणाम-वाद न मानकर स्वातन्त्र्यवाद या आभासवाद मानता है, जिसके अनुसार परमेश्वरकी स्वातन्त्र्यशक्तिके कारण बिना बिम्बके ही जगद्रूपका प्रतिबिम्ब स्वतः उत्पन्न होता है।

काश्मीर शैवमतकी दो शाखाएँ हैं—स्पन्दशास्त्र और प्रत्यभिज्ञाशास्त्र। पहलेके मुख्य ग्रन्थ वसुगुप्तके 'शिवसूत्र' और 'स्पन्दकारिका' हैं, दूसरेके सोमानन्दकृत 'शिवदृष्टि', उत्पलाचार्यकृत 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका' और अभिनवगुप्त-रचित 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिकाविमर्शिणी' और 'तन्त्रालोक' हैं। दोनों शाखाओंका तत्त्ववाद एक ही है, जो शाक्त तत्त्ववादसे बिलकुल मिलता-जुलता है। दोनोंमें अन्तर यह है कि स्पन्दमतमें ईश्वराद्वयकी अनुभूतिका मार्ग ईश्वर-दर्शन और तद्द्वारा मलनिवारण है, जब कि प्रत्यभिज्ञामतमें वह मार्ग ईश्वरके रूपमें अपनी ही प्रत्यभिज्ञा है। दोनोंके दर्शनको त्रिकदर्शन या ईश्वराद्वयवाद भी कहते हैं।

वीर शैवमतका संस्थापक बसव है। इस मतके मान्य ग्रन्थ ब्रह्मसूत्रपर 'श्रीकरभाष्य' और 'सिद्धान्तशिखामणि' हैं। इसकी दार्शनिक दृष्टि **विशिष्टाद्वैतवाद** (दे०) है। इसमें स्थूलचिदचिच्छक्ति विशिष्टजीव और सूक्ष्म चिदचिद्-विशिष्ट शिवका अद्वैत है। परम तत्त्व शिव पूर्णहन्तारूप या पूर्णस्वातन्त्र्यरूप है। उनकी परिभाषिकी संज्ञा 'स्थल' है। इस मतको लिंगायत भी कहते हैं, क्योंकि इसके अनुयायी शिवलिंग पूजते हैं और पहने भी रहते हैं।

शैवों और वैष्णवोंमें हिन्दीके उद्गमके समयमें बड़ा द्वन्द्व युद्ध चलता था। हिन्दी साहित्यको इस बातका श्रेय है कि उसने इनके द्वन्द्वको समाप्त कर दिया और शिव तथा विष्णुको अनन्य ठहराया। गोस्वामी तुलसीदासने इस कार्यको बड़े दायित्वपूर्ण ढंगसे निभाया। सभी शैव सम्प्रदायोंमें कश्मीर शैवमतका ही अधिक प्रभाव हिन्दीपर लक्षित होता है। ज्ञान और भक्ति तथा कर्मके समन्वयका सिद्धान्त हिन्दीके सगुण-सन्तोंको ही नहीं, वरन् आजतकके अधिकांश हिन्दीके भक्तोंको मान्य है, इसका बहुत-कुछ कारण कश्मीर शैवमत है। वर्तमान युगमें अभिनवगुप्तके ध्वनिवादका हिन्दीके आलोचना-साहित्यपर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। स्वदेशी सौन्दर्यशास्त्र अभी अभिनवगुप्तके सिद्धान्त-से आगे नहीं बढ़ा है, यह कहनेमें जरा-सी भी अतिशयोक्ति नहीं जान पड़ती। इस सौन्दर्यशास्त्रकी दार्शनिक पृष्ठभूमि कश्मीर शैवमत ही है (दे० 'शाक्तमत')।

[सहायक ग्रन्थ—वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रिलीजन्स : रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर; राधाकृष्णन् द्वारा सम्पादित : हिस्ट्री ऑव फिलॉसफी, ईस्टर्न ऐण्ड वेस्टर्न, प्रथम भाग; भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय।] —सं० ला० पा०

शैवागम–शैवमतके प्रतिपादक शास्त्र। उपागमोंको लेकर इनकी संख्या २००तक पहुँचती है। इनकी रचना सातवीं शती ईसाके पूर्व हो चुकी थी। इन्हींका कालान्तरमें तमिल शैव, वीर शैव और कश्मीर शैवमतोंमें विकास हुआ। अनुश्रुतिके अनुसार इनका महत्त्व निगम अर्थश्रुतिसे कम नहीं है, पर कुछ लोगोंका यह भी मत है कि ये मोहशास्त्र हैं। यह निर्विवाद सत्य है कि शैव उपासना प्राचीनतम उपासनाओंमें है और भारतीय जीवनपर इसका बहुत ही व्यापक और गहरा प्रभाव पड़ा है। कहा जाता है, ये ग्रन्थ शिव और दुर्वासाको स्फुरित कराये गये हैं। इनमें मुख्य हैं—"मालिनीविश्वास', 'स्वच्छन्द', 'विज्ञान-भैरव', 'उच्छुष्म-भैरव', 'आनन्द-भैरव', 'मृगेन्द्र', 'मातंग', 'नेत्र', 'नैःश्वास', 'स्वयम्भू', 'रुद्रयामल' और 'कामिका'। मूलतः ये द्वैत-प्रतिपादक हैं, किन्तु बादमें उन्हींकी अद्वैतवादी व्याख्या वसुगुप्त और उनके परवर्ती कश्मीरके दार्शनिकोंने प्रस्तुत की। इन आगमशास्त्रोंका भारतीय साहित्य और कलापर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। कालिदासके तीनों नाटकोंके मंगलश्लोक स्पष्टतया शैवागमसे प्रेरणा ग्रहण करके लिखे गये हैं। नाटक, नृत्य, शिल्प, वास्तु, चित्र, संगीत, शब्द-शास्त्र, योग-शास्त्र, न्याय-शास्त्र, सांख्य-वैशेषिकके सभी क्षेत्रोंमें आरम्भमें शैवागमोंका गहरा प्रभाव था। इसका कारण लोकविश्वासके साथ शैवागमोंकी समरसता थी। इसीलिए धीरे-धीरे इनकी गणना वेदोंके समकक्ष होने लगी और मध्ययुगके उत्तरार्द्धतक पहुँचते-पहुँचते तो निगम और आगम एक-से, स्वतःप्रामाण्ययुक्त हो गये। इन आगम-ग्रन्थोंके अनुसार ३६ तत्त्व होते हैं। २४ तत्त्व तो सांख्यके ही ज्योंके त्यों हैं; इनके अलावा ७ मिश्र तत्त्व—काल, नियति, कला, विद्या, राग, अशुद्धमाया और प्रकृति-माया तथा ५ शुद्ध तत्त्व—शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और शुद्ध विद्या—ये कुल ३६ तत्त्व गिनाये गये हैं। —वि० नि० मि०

शोक–करुण रसका स्थायी भाव शोक है। भरतका कथन है कि—"शोको नाम इष्टजनवियोगविभवनाशवधबन्धन-दुःखानुभवनादिभिर्विभावैरुत्पद्यते" (ना० शा०, ७ : १०ग),

अर्थात् इष्ट जनका वियोग, विभवका नाश, किसी प्रिय व्यक्तिके वध अथवा कारावासजन्य दुःख इत्यादि कारणोंसे शोक उत्पन्न होता है। साहित्यदर्पणकारने इसीसे मिलती-जुलती परिभाषा दी है—"इष्टनाशादिभिश्चेतोवैक्लव्यं शोकशब्दभाक्" (३ : १७७), अर्थात् प्रिय वस्तुके नाश इत्यादिके कारण उत्पन्न चित्तकी विकलताको शोक कहते है। 'इष्ट जनवियोग'में वियोगकी बात समझ लेनी चाहिये। स्त्री-पुरुषके वियोगमें, जबतक प्रेमपात्रके जीवित होनेका ज्ञान हो, तबतक व्याकुलतासे पुष्ट किये हुए रतिकी ही प्रधानता होती है। अतएव वहाँ 'विप्रलम्भ' श्रृंगार होता है और उस समयकी विकलता 'व्यभिचारी' भावमात्र ही है। ऐसे प्रसंगोमें शोक स्थायी नही माना जाता। लेकिन यदि प्रेमपात्रके मरनेका ज्ञान हो जाय, तो वह व्याकुलता शोक ही होगी और वहाँ करुण रस ही माना जायगा। इस दृष्टिसे 'रसतरंगिणी'की यह परिभाषा उपादेय है—"इष्ट विश्लेषजनितो रत्यनालिंगितः परिमितो मनोविकारः शोकः"। यहाँ एक बातकी ओर ध्यान आकृष्ट होना वांछनीय है। आधुनिक मनोविज्ञानियोंने शोक एवं आनन्द, दोनोको मूल भाव माना है। लेकिन हमारे आचार्योंने शोकको स्थायी भावोंमे गृहीत किया है और आनन्दको नहीं। इसका सुन्दर समाधान रामचन्द्र शुक्लने किया है—"जिस भावकी व्यंजनासे श्रोता या दर्शकके चित्तमें भी आलम्बनके प्रति वही भाव साधारण्याभिमानसे उपस्थित हो सकता है, उसीको रसका प्रवर्तक मानकर आचार्योंने प्रधान भावकी कोटिमे रखा है", अर्थात् शोकका आलम्बन ऐसा होता है कि वह मनुष्यमात्रको क्षुब्ध कर सकता है, लेकिन किसीके आनन्दोत्सवमें उन्हीका हृदय पूर्ण योग देता है, जिनसे उनका लगाव या प्रेम होता है। इसीसे आनन्दको रसका प्रवर्तक भाव (स्थायी) न मानकर, हर्षको केवल व्यभिचारी भावोंमे गृहीत किया है। सर्वजनसुलभ आस्वाद्यता ही वस्तुतः स्थायी भावकी कसौटी है। व्याधि, ग्लानि, मोह, स्मृति, दैन्य, चिन्ता, उन्माद इत्यादि शोक स्थायीके संचारी भाव है। उदा०—"दुखकी दीवारोंका बन्दी निरख सका न सुखी जीवन। सुखके मादक स्वप्नोंतकसे बनी रही मेरी अनबन" (हरिकृष्ण प्रेमी)। यहाँ शोक-भावकी व्यंजना है, स्थायी (करुण रस)का प्रस्फुटन नही हो सका है। —र० ति०

शोभ–दे० 'अयत्नज अलंकार', पहला प्रकार तथा 'सात्त्विक गुण' (नायक)।

श्रम–प्रचलित तैंतीसमेंसे एक संचारी भाव। भरतके आधारपर विश्वनाथने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—"खेदो रत्यध्वगत्यादेः श्वासनिद्रादिकृच्छ्रमः" (सा० द०, ३ : १४६), अर्थात् रति और मार्ग चलने आदिसे उत्पन्न खेदका नाम श्रम है। श्वासका चढ़ना, निद्रा आदि इसके अनुभाव हैं। इसी परम्परामे हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंने श्रमका लक्षण दिया है—"अति रति अविगतिते जहाँ उपजै अति तन स्वेद" (भाव० : संचारी०)। रामचन्द्र शुक्लने श्रमके दो अर्थ माने है—एक तो व्यापाराधिक्य या किसी क्रियाका निरन्तर साधन दूसरा उससे उत्पन्न अंगग्लानि या थकावट। दूसरा अर्थ ही विश्वनाथने ग्रहण किया है। रामचन्द्र शुक्लने अपने अर्थपर जोर देते हुए कहा है—"किसीके प्रेममे यदि कोई दौड़-धूप करे, विद्याकी प्राप्तिके लिए रात-दिन बैठकर पढ़ता रहे, गडा हुआ खजाना पानेके लिए दिनभर मिट्टी खोदता रहे तो उसका यह दौड़ना-धूपना, रात-रातभर बैठना या दिनभर मिट्टी खोदना क्रमशः व्यक्ति, विद्या या धनके प्रति रति भावका संचारी कहा जा सकता है। पर इस दौड़-धूपके कारण यदि कोई थककर बैठ जाय या रातभर मेहनत करनेसे शिथिल हो जाय तो यह थकान या शिथिल होना रति भावसे दूर पड़ जानेके कारण संचारी नही कहा जा सकता" (र० मी०, २३०)।

किसी प्रकारकी थकावटको भी संचारीके अन्तर्गत तभी तभी माना जायगा, जब वह सीधे किसी भावसे सम्बद्ध हो। स्थायी भावकी दशामें जो श्रमजन्य थकावट उत्पन्न होगी वह संचारीके अन्तर्गत नही रखी जा सकती। स्वतन्त्र रूपमे जब श्रमका वर्णन होता है तब भी वह सौकुमार्य आदिका द्योतक होनेके कारण अत्यन्त प्रभावशाली होता है। रामचन्द्र शुक्लने इस प्रकारके भावरूप श्रमका बहुत ही मनोरम उदाहरण उपस्थित किया है—"जलको गये लक्खन हैं लरिका परिखौ पिय छाँह घरीक ह्वै ठाढे। पोंछि पसेउ बयारि करौ अरु पाँय पखारिहौं भूभुरि डाढे। तुलसी रघुबीर प्रिया-श्रम जानिकै बैठि बिलम्बलौं कंटक काढे। जानकी नाहको नेह लख्यो पुलको तन बारि बिलोचन बाढे" (कविता०, २ : १२)। रति भावमे सम्बन्ध श्रम संचारीका उदाहरण—"बिन्दु रचे मेंहदीके लसें कर तापर यों रह्यो आनन आइकै। इन्दु मनो अरबिन्द पै राजत इन्द्र बधूनके बृन्द बिछाइ कै" (जगद्वि०, ४८८)। —ब० सिं०

श्रव्य काव्य–दे० 'साहित्यरूप'।

श्रव्य नाटक–दे० 'रेडियो नाटक'।

श्रावकयान–बौद्ध साहित्यके अनुशीलनसे प्रकट होता है कि **हीनयान** (दे०)को तुच्छ मानते थे और दुर्वचनके अवसरपर इस शब्दका प्रयोग करते थे। परन्तु हीनयानमे निहित कुत्सित भावनाको छोड़कर शिष्ट या विनीत भावमे इसे 'श्रावकयान' नामसे पुकारते थे। हीनयानका शिष्टाचारयुक्त दूसरा नाम ही श्रावकयान है। प्राचीन साहित्यमें वर्णन आता है कि बुद्धके वे उपासक, जो संघमे आ जाते, श्रावक कहे जाते थे। उसका अर्थ शिष्य या धर्मोपदेशक अथवा आर्य श्रावकसे था। श्रावकयानमें यह माना जाता था कि बुद्धके पुराने प्रवचन निर्वाणके लिए साधक मार्ग थे। तीसरी शतीके समीप रचित ग्रन्थ 'सद्धर्मपुण्डरीक'में सबसे पहले श्रावकयान नाम मिलता है, जिसके बाद **प्रत्येकबुद्धयान** तथा **महायान** शब्द प्रयुक्त है। हीनयानका नामोल्लेख नहीं है। इस कारण बुद्धधर्मके विचारक यह मानते हैं कि श्रावक तथा प्रत्येकबुद्धयान हीनयानका अभिन्न अंग था। दोनोंकी विचारधारामें कोई अन्तर नहीं है। प्रत्येकबुद्धमार्गका व्यक्ति श्रावकसे एक-दो अधिक गुण रखता है। परन्तु दोनोंका अन्तिम ध्येय एक ही है। दोनों शब्दोंके सूक्ष्म विश्लेषणसे पता चलता है कि श्रावक नीचवृत्ति तथा प्रत्येकबुद्ध मध्यम कहे जाते है। बुद्धधर्मका

प्रसार होनेपर श्रावक भगवान्‌के उपदेशोंसे लाभ उठाते है। लेकिन प्रत्येकबुद्ध चमत्कार द्वारा जनताको दीक्षित करते है। श्रावक लोग बुद्धको तीनो धातुओंसे पृथक् मानते है। उनके मतमें निर्वाण आराम करनेका एक स्थान है। निर्वाण-के बाद श्रावक बुद्धत्वप्राप्तिके लिए शिक्षा ग्रहण करते है।

महायान (दे०) ग्रन्थोंमे उपर्युक्त दोनों शब्द हीनयान-के स्थानपर उल्लिखित है। पुग्गलपञ्ञत्ति 'हीनाधिमत्ति' शब्दका प्रयोग नाशवान् व्यक्तिके लिए किया गया है, जो बुरे कार्यमे लगा रहता है। हीनयान-अनुयायी भी श्रावक शब्दको पकतिसावक, अग्गसावक, सावकसंघ या सार्विकके रूपमें प्रयोग करते रहे। 'सूत्रालंकार'में श्रावकको 'हीना-धियुक्त' कहा गया है, जो गुण निम्नस्तरके होते थे। सावक अपने परिश्रमके अनुपातमे श्रावकबोधि प्राप्त करते थे। अत-एव यह सिद्ध होता है कि महायानवाले श्रावक शब्दको हीन भावनाके साथ (हीनयान शब्दकी तरह) उच्चारण करते थे, क्योंकि श्रावकयानमे सभी आत्मपरिनिर्वाणके इच्छुक थे।

पूर्वमध्ययुगके विचारकोने यहाँतक कहा है कि श्रावक-यानके अनुयायी कदापि मोक्ष प्राप्त नही कर सकते। उनका निर्माण वास्तविक मोक्ष नहीं है। मृत्युके पश्चात् उनका पुनर्जन्म होता है, क्योंकि उन्हे परिनिर्वाण प्राप्त करना शेष रह जाता है।

हीनयानके लिए श्रावकयानका प्रयोग प्राचीन युगसे तेरहवीं शतीतक होता रहा। तिब्बती यात्री धर्मस्वामी १२३४ ई०मे बोधगया आया था। वह लिखता है कि बोध-गयामे वज्रासन श्रावकयानवालोंकी देखरेखमें था। वास्तवमें हीनयानके स्थानपर ही उसने श्रावकयानका प्रयोग किया है। —वा० उ०

श्रीगदित–इसमे एक अंक, धीरोदात्त नायक और प्रसिद्ध कथाका कार्य होता है। इसमे भारती वृत्तिका आधिक्य, गर्भ, विमर्श सन्धियोंका निर्वाह रहता है। कुछ पश्चिमी विद्वानोंका मत है कि नायिका नटी लक्ष्मीका स्वरूप बनाकर आती है और कुछ गाना गाती है या कुछ बोलती है। इसीसे इसका नाम श्रीगदित पड़ा है; उदा०—'क्रीडारसातल'। शेष सब बातोंमें इसमें नाटकमें समानता है। —वि० रा०

श्री छंद–मात्रिक समवृत्तका एक भेद; 'प्राकृतपैंगलम्'मे इसकी परिभाषा दी गयी है (प०, २ : १)। इस छन्दके चारों चरणोंमें एक गुरु होता है। केवल केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है—"सी, धी। री, धी" (रा० चं०, १ : ८)। —पु० शु०

श्रुत अद्‌भुत–दे० 'अद्‌भुत रस'।

श्रुतिकटु–दे० 'शब्द-दोष' पहला 'पद-दोष'।

श्रुत्यनुप्रास–एक शब्दालंकार, अनुप्रासका भेद। कण्ठ, तालु आदि किसी एक ही स्थानसे उच्चरित होनेवाले वर्णोंकी आवृत्ति। वर्णका उच्चारण मुखके जिस अवयवसे होता है, उसे उसका 'स्थान' कहते हैं। यह अलंकार सर्वप्रथम जय-देवके 'चन्द्रालोक'में 'स्फुटानुप्रास' नामसे आया है (५ : ५)। 'साहित्यदर्पण'में प्रस्तुत नामके अलंकारकी विवेचना की गयी है। हिन्दीमें रीतिकालके प्रमुख आचार्योंने इसे स्वी-कार नहीं किया। गिरिधरदास तथा लेखराज जैसे अप्रसिद्ध १९वीं शतीके आचार्योंमें यह भेद मिलता है, पर आधुनिक विवेचकोंमे भानुकवि, भगवानदीन तथा रामदहिन मिश्र आदिने स्वीकार किया है।

पद्माकरकी कवितामें श्रुत्यनुप्रासका माधुर्य अधिक है—"आरस सों आरत, सँभारत न सीस पट, गजब गुजारति गरीबनकी धारपर। कहै पद्माकर सुगन्ध सरसावै सुचि, बिथुरि बिराजे बार हीरनके हारपर" (जगद्वि०, १२२)। 'रत्नाकर'के काव्यमे भी इसके सुन्दर प्रयोग है।—वि० स्ना०

श्रेणी-साहित्य–श्रेणी-साहित्य भी एक तरहसे पक्षधर-साहित्य है। श्रेणी-साहित्यका भी सम्बन्ध समाजकी इकाईसे न होकर समाजके एक भागसे होता है (दे० 'पक्षधर-साहित्य')। —रा० कु० त्रि०

श्रौती–दे० 'उपमा', दूसरा प्रकार।

श्लेष–'श्लेष' शब्द 'श्लिष्' धातुसे बना है। श्लिष्टका अर्थ है चिपकना, मिलना अथवा संयोग। इसमें एक शब्दके साथ अनेक अर्थोंका संयोग रहता है, अर्थात् एक शब्दके साथ अनेक अर्थ लगे रहते हैं। जिस शब्दके एकसे अधिक अर्थ होते है, उसे श्लिष्ट कहते है। जहाँ ऐसे शब्दोंका प्रयोग होता है, वहाँ 'श्लेष'की स्थिति मानी जाती है। इस अलंकारके दो भेद है—(१) शब्दश्लेष और (२) अर्थश्लेष। जहाँ श्लेष मूलतः शब्दाश्रित रहता है, वहाँ 'शब्दश्लेष' होता है। 'शब्दश्लेष'मे यदि श्लिष्ट पदोंके स्थानमें अन्य समानार्थक पद रख दिये जायँ, तो वहाँ शब्दश्लेषकी अलंकारिता नष्ट हो जाती है, अर्थात् जहाँ शब्दपरिवृत्तिसहिष्णुत्व नहीं रहता, वहाँ शब्दश्लेष होता है। इसके विपरीत 'अर्थश्लेष'में श्लिष्ट शब्दोंके स्थानमें यदि उनके पर्याय शब्द रख दिये जायें, तब भी श्लेष अलंकार ज्यों-का-त्यों बना रहता है। इसका विशेष सम्बन्ध अर्थके साथ ही रहता है, शब्दके साथ नहीं। 'शब्द-परिवृत्तिसहिष्णुत्व' ही अर्थश्लेषकी पहचान समझना चाहिये। इस प्रकार जहाँ अभिधाके द्वारा एक शब्दसे अनेक अर्थोंकी प्रतीति हो, वहाँ 'श्लेष' अलंकार होता है। अभंग और सभंग नामसे इसके दो भेद है। जहाँ सम्पूर्ण शब्दके दो अर्थ हों, वहाँ अभंगश्लेष होता है और जहाँ पूरे शब्दका अर्थ तो भिन्न हो, परन्तु शब्दके 'विच्छेद' करनेपर भिन्न अर्थ हो, वहाँ सभंगश्लेष होता है। 'अभंगश्लेष'में शब्दोंका अंग-भंग नहीं करना पड़ता, किन्तु 'सभंगश्लेष'में शब्दोंका अंग-भंग करके भिन्नार्थोंकी प्रतीति होती है।

दण्डीने 'काव्यादर्श'में श्लेषको सभी अलंकारोंका शोभाकारक माना है और कहा है कि अन्यान्य अलंकारों-को माना जाय तो इस नामका कोई अलंकार नहीं हो सकता। मम्मट शुद्ध श्लेष और अन्य अलंकारोंसे मिश्रित श्लेष, दोनों मानते है। इनके मतको हेमचन्द्र तथा विश्व-नाथने माना है। मम्मटने रुद्रटके अनुसरणपर श्लेष-का लक्षण दिया है—"वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद् भाषणस्पृशः" (का० प्र०, ९ : ८४), अर्थात्, अर्थ-भेदके कारण परस्पर-भिन्न भी शब्दोंका उच्चारण सारूप्यके कारण एकरूप प्रतीत होना। रुद्रटके समान ही मम्मटने वर्ण, पद, लिंग, भाषा, प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति तथा वचन, आठ भेद किये है।

हिन्दीमें केशवदासने 'कविप्रिया'में 'श्लेष'की परिभाषा निम्नलिखित प्रकारसे की है—"दोय तीनि अरु भाँति बहु, आनत जामें अर्थ। श्लेष नाम तासों कहत, जिनकी बुद्धि समर्थ। तिनमे एक अभिन्न पद, अपर भिन्न पद जानि" (क० प्रि०, ११ : २९, ३४)। कुलपतिने 'रसरहस्य'में लक्षण तथा भेद मम्मटके आधारपर दिये हैं। जसवन्त सिंहने अप्पय दीक्षितका अनुसरण किया है। इन्हींके समान भूषण, मतिराम आदिने भी 'श्लेष'को अर्थालंकारके अन्तर्गत स्वीकार किया है—"एक बचनमें होत जहँ, बहु अर्थनको ज्ञान"(शि०भू०, १६४)। दासने इसके विषयमें कहा है—"जदपि अर्थ भूषन सकल, शब्द सक्तिमें होइ"(का० नि०, २०), अर्थात्, वे इसको दोनोंसे युक्त मानते हैं।

'सभंगश्लेष'का उदा०—(क) "नाहीं नाहीं करै थोरौ माँगै सब दैन कहै, मंगनकों देखि पट देत बार-बार है। भोगी ह्वै रहत बिलसत अवनीके मध्य कन कन जोरै दान पाठ परिवार है"(सेनापति : क०र०), इसमें 'नाहीं नाहीं', 'सब दैन' तथा 'कन कन'में पदको भंग करनेसे अर्थ बदलता है।

आधुनिक कवियोंने भी 'श्लेष'का सुन्दर प्रयोग किया है–(ख) "करुणे क्यों रोती है, 'उत्तर'में और अधिक तू रोई, मेरी विभूति है जो उसको भवभूति क्यों कहे कोई?" (मै० श० गुप्त : साकेत)। इसमें 'भवभूति'में पद-भंग करके दो अर्थ निकलते हैं। (ग) 'दूरि भजत प्रभु पीठि दै, गुन विस्तारन काल। प्रगटत निर्गुन निकट ही, चंग रंग गोपाल", (बि० र० ४२८)। (घ) 'जलनेको ही स्नेह बना; उठनेको ही वाष्प बना" (मै० श० गु० : यशोधरा)। इन दोनों उदाहरणोंमें गुन, निर्गुण, चंग, रंग, स्नेह, वाष्प शब्दोंके दो-दो अर्थ हैं।

संस्कृत साहित्यमें इस अलंकारकी अधिक प्रतिष्ठा है और इसका सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। 'राघवपाण्डवीय' नामक एक महाकाव्य ही इस अलंकारमें लिखा गया है। हिन्दी साहित्यमें भी इस अलंकारका यथेष्ट प्रयोग हुआ है। शब्दचमत्कार प्रधान होनेपर भी प्राचीन और अर्वाचीन प्रायः सभी कवियोंने इसको अपनाया है। रीतिकालीन आचार्योंमें केशवदासने तथा सेनापतिने इसका अत्यधिक प्रयोग किया है। सेनापतिकी भाँति इस अलंकारकी स्वाभाविकताकी रक्षा कोई अन्य कवि नहीं कर सका है। उनके 'सभंग' और 'अभंग' दोनों प्रकारके श्लेषका चमत्कारपूर्ण प्रयोग वस्तुतः सराहनीय है।

केशवदासने 'श्लेष'के 'अभंग' और 'सभंग', इन दो भेदोंके अतिरिक्त पाँच भेद और भी बतलाये हैं। परन्तु अर्वाचीन आचार्य इन भेदोंसे सहमत नहीं है। उन्हींके शब्दोंमें वे पाँच भेद इस प्रकार हैं—"बहुज्यों एक अभिन्न क्रिय और भिन्न क्रिय जान। पुनि विरुद्धकर्मा अपर, नियम बिरोधी मान" (क० प्रि०, ११ : ३९)—(१) अभिन्नक्रियाश्लेष, (२) क्रियाश्लेष, (३) विरुद्धकर्माश्लेष, (४) नियमश्लेष, (५) विरोधीश्लेष। परन्तु इनकी परिभाषाएँ नहीं दी गयी हैं। प्रत्येक भेदके लिए जो-जो उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं, उनके अनुसार भगवानदीनने 'कविप्रिया'की टीकामें परिभाषाएँ बनाकर उद्धृत की है।

यह अलंकार शब्दालंकार है अथवा अर्थालंकार, इस विषयमें संस्कृतके आचार्योंमें भारी मतभेद रहा है। उद्भटने अर्थालंकार माना है और 'अर्थश्लेष' तथा 'शब्दश्लेष' इसके दो भेद किये हैं। मम्मटके अनुसार उद्भटका 'अर्थश्लेष' वास्तवमें शब्दश्लेष है और एक बार इसको अर्थालंकार मानकर पुनः दो भेद करना स्वतः विरोधी बात कहना है। मम्मटने इसे शब्दालंकार माना है और कहा है कि इतना अर्थका आधार कई शब्दालंकारोंमें रहता है। रुद्रटने उद्भटके समान इसे अर्थालंकार माना है और तीन भेद करके 'उभयश्लेष' और जोड़ा है। विश्वनाथने उद्भटकी आलोचनामें मम्मटका साथ देकर भी अलग 'अर्थश्लेष' भी दिया है—"शब्दैः स्वभावादेकार्थैः श्लेषोऽनेकार्थवाचनम्" (सा० द०, १० : ५८), अर्थात् जहाँ स्वभावतः एक ही अर्थवाले शब्द अनेक अर्थोंको एक साथ प्रकट करें; जहाँ शब्द बदल देनेपर भी कई अर्थ बने रहें। हिन्दीमें कुलपति मिश्रके अतिरिक्त प्रायः रीतिकालके आचार्योंने इसे अर्थालंकार'के अन्तर्गत रखा है, पर आधुनिक विवेचकोंने इसे दोनों रूपोंमें स्वीकार किया है। भगवानदीनने शब्दश्लेषका और अर्थश्लेषका भेद इस आधारपर किया है—"जहाँ कविका तात्पर्य एक ही अर्थसे होता है, उसकी गणना शब्दालंकारमें होती है, जहाँ कविका तात्पर्य दोनों या तीनों अर्थोंमें होता है, उसकी गणना अर्थालंकारमें होती है" (अ० मं०)। परन्तु जब एक ही अर्थमें कविका तात्पर्य होगा, तब वहाँ श्लेष अलंकारकी स्थिति ही कहाँ रह सकती है, क्योंकि श्लेष अलंकारकी स्थिति वहीं होती है, जहाँ श्लिष्ट (दो अर्थवाले) शब्दों या पदोंके प्रयोग द्वारा अनेक अर्थ कहे जाते है। 'साहित्यदर्पण'में कहा गया है—"श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष उच्यते" (१० : १२)।

श्लेष और ध्वनिमें अन्तर है। श्लेष अलंकारमें एकसे अधिक जितने अर्थोंकी प्रतीति होती है, वे सभी अभिधा शक्ति द्वारा वाच्यार्थ होते हैं। अभिधा शक्तिसे अभिधेय होनेके कारण श्लेषमें एकसे अधिक सभी अर्थोंका बोध एक साथ ही हो जाता है। परन्तु ध्वनिमें एकसे अधिक अर्थोंकी प्रतीति एक साथ ही नहीं होती। पहले अभिधाके द्वारा एक अर्थका बोध हो जाता है, फिर प्रकरण आदिके कारण अभिधार्थका बाध होता है (र० गं०, पृ० ३९६)। श्लेष तथा समासोक्तिमें भी पर्याप्त अन्तर है। श्लेषमें विशेषण तथा विशेष्य, दोनों श्लिष्ट होते हैं और दोनों ही प्रकृत या अप्रकृत हो सकते हैं, पर समासोक्तिमें विशेषण ही श्लिष्ट होता है और एक प्रकृत तथा दूसरा अप्रस्तुत रहता है (उद्योत, पृ० ७२)। —वि० स्ना०

श्लेषगुण–दे० 'गुण', चौथा प्रकार।

श्लेषवक्रोक्ति–दे० 'वक्रोक्ति'।

श्लोक–[श्लोक्यते ग्रथ्यते इति श्लोकः=श्लोक् (भ्वादि) संघाते (ग्रथने)+घञ् भावे] (क) साधारण अर्थ—(१) ख्याति, यश, यथा—'पुण्यश्लोको नलो राजा…'इत्यादि श्लोकमें, (२) संस्कृतका कोई पद्य या छन्द, (३) प्रशंसा। (ख) विशेष अर्थ (१) अनुष्टुभ छन्द। इसमें चार पाद और ३२ मात्राएँ होती है। यह मात्रिक छन्द (जाति)का एक भेद है, वर्णिक छन्द या वृत्तका नहीं। इसके प्रत्येक पाद या चरणमें आठ-आठ मात्राएँ होती हैं। छठी तथा सातवी

मात्राएँ दीर्घ होनी चाहिये अथवा यदि छठी मात्रा लघु हो तो सातवीं दीर्घ होनी चाहिए। श्लोकछन्दमें केवल कुछको छोड़कर शेष मात्राओंके विषयमें स्वतन्त्रता होती है। इसका प्रथम प्रयोग वाल्मीकिने किया था। प्रथम श्लोक यह है "मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः। यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्"। (ग) हिन्दीमें यह शब्द प्रायः संस्कृतके समस्त पद्यों या छन्दोंके लिए प्रयुक्त होता है। —आ० प्र० मि०

षट्कर्म—साधनापद्धतियों एवं दार्शनिक चिन्तन प्रणालीके भेदके साथ-साथ षट्कर्मोंके अन्तर्गत गृहीत होनेवाले विभिन्न कर्मोंको कई तरहसे समझा-समझाया और स्वीकार किया गया है। वैदिक कर्मकाण्डीय विधानोंके प्रभुत्वकालमें ब्राह्मणके छः कर्म थे—"अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा। दानं प्रतिग्रहश्चैव षट्कर्माण्यग्रजन्मनः" (मनु०, १० : ७५)। आगे चलकर जब समाजकी अर्थव्यवस्था जटिल होती गयी और वेदका अध्ययन-अध्यापन, यज्ञ करने-कराने, दान लेने दान देनेसे ही ब्राह्मणका योगक्षेम कठिन जान पड़ने लगा, तो किसी जमानेमें ब्राह्मणके लिए जो कर्म अविहित थे, उन्हें भी नयी विधि-संहिताओंमें विहित मान लिया गया। अतः षट्कर्मोंके अन्तर्गत ब्राह्मणकी जीविका चलानेवाले अन्य छः कर्मोंका विधान किया गया—"उञ्छं प्रतिग्रहो भिक्षा वाणिज्यं पशुपालनम्। कृषिकर्म तथा चेति षट्कर्माण्यग्रजन्मनः"। परवर्ती संहिताओंमें षट्कर्मके अन्तर्गत दैनिक या आह्निक क्रियाओंकी गणना की जाने लगी, जिसके अनुसार—स्नान, सन्ध्याजप (प्रातः, दोपहर और शामको की जानेवाली सन्ध्या), ब्रह्मयज्ञ, तर्पण (दे०—ऋषियों और पितरोंको जल देना) होम तथा देवपूजाको षट्कर्मोंके अन्तर्गत गृहीत किया गया (पराशरस्मृति, विशेष विवरणके लिए दे० 'ब्राह्मणिज्म एण्ड हिन्दूइज्म' : सर मोनियरविलियम्स, पृ० ३९४)। गृहस्थ ब्राह्मणके पालन पोषणके लिए स्वीकृत—ऋत, अमृत, मृत, कर्षण (कृषि), सत्यनृत (व्यापार) तथा स्ववृत्तिको षट्कर्म संज्ञा दी गयी है (मनुस्मृति, ४ : ४, ५, ६, ९)। लक्ष करनेकी बात है कि ऊपर षट्कर्मके अन्तर्गत जिन विभिन्न कर्मोंकी गणना की गयी है, वे धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्थाओंके क्रमिक विकास, परिवर्तन एवं विधि संहिताओंके निर्माणक्रमकी सूचना तो अवश्य देते हैं, पर प्रकृतितः उनमें एक दूसरेसे कोई बहुत बड़ा अन्तर नहीं आया है।

शाक्त तन्त्रोंमें पहिली बार दर्शन, आचरण एवं धार्मिक अनुष्ठानगत नितान्त भिन्न अर्थोंको षट्कर्मके अन्तर्गत गृहीत किया गया है। 'गुह्य समाजतन्त्र' (सं० विनयतोष भट्टाचार्य; पृ० ६६-६७, ८४-८५ एवं ९६)में शान्ति, वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन एवं मारणको षट्कर्म बताया गया है। इन षट्कर्मोंका सम्बन्ध वामाचार या शाक्त तन्त्रोंकी यातु विद्यासे है। वैसे ये कर्म प्रारम्भमें कुछ अच्छे लक्ष्योंके लिए ही किये जाते होंगे, पर बादमें हीनकोटिकी वृत्तिवाले साधकोंने इनका प्रभूत मात्रामें दुरुपयोग किया होगा, अतः जनमानसमें इन कर्मोंके प्रति भय एवं अनास्थाकी वृत्ति बनती गयी। शाक्त तन्त्र मूलतः तन्त्र-मन्त्र एवं गुह्यसमाजोंकी साधना पद्धति हैं, अतः षट्कर्मका उसके अनुरूप अर्थ हो जाना नितान्त स्वाभाविक है। योगमें शाक्त तन्त्रोंकी तरह बाह्य विधानोंकी अपेक्षा काया-साधनापर अधिक बल दिया गया है। योगी मानता है कि जो कुछ ब्रह्माण्डमें है, वह सब-का-सब सूक्ष्म रूपसे पिण्डमें वर्तमान है, शिव, शक्ति सभी। इसी शरीरकी साधनासे मूलाधारस्थ कुण्डलिनीको उद्बुद्ध करके सहस्रारमें पहुँचाया जा सकता है और इस प्रकार शिवशक्तिका सामरस्य स्थापितकर परमानन्द एवं मोक्षको प्राप्त किया जा सकता है। हठयोगकी साधनामें सात क्रियायें आवश्यक मानी जाती हैं—शोधन, दृढता, स्थिरता, धैर्य, लाघव, प्रत्यक्ष और निर्लिप्तत्व। ये सिद्धिकी ओर अग्रसर होनेके क्रमिक सोपान हैं। शोधन इनमें सबसे प्राथमिक क्रिया है और शोधनके लिए षट्कर्मका आचरण अनिवार्य है। योगशास्त्रके अनुसार—वात, पित्त, एवं कफके विकारोंसे त्रस्त साधकको इन षट्कर्मों द्वारा शरीरको शुद्ध करना पड़ता है, लेकिन जो इन विकारोंसे ग्रस्त नहीं है, उन्हें षट्कर्मोंके आचारणकी आवश्यकता नहीं (हठयोग प्रदीपिका, २ : २१)। घेरण्डसंहिता, हठयोग प्रदीपिका आदि ग्रन्थोंमें इन षट्कर्मोंके भेद-प्रभेदों, आचरण विधियों और उनसे प्राप्त फलोंका काफी विस्तारसे वर्णन मिल जायगा। योग साधनामें षट्कर्मोंके बाद आसन सिद्ध किये जाते हैं, फिर क्रमशः मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान और अन्तमें समाधिको सिद्ध करते हैं। इन्हींके द्वारा हठयोगकी उक्त सात क्रियायें सिद्ध होती हैं।

लक्ष करनेकी बात है कि षट्कर्मके अर्थमें कई बार आमूल परिवर्तन आये हैं और हर स्थितिमें यह तत्तत् व्यवहार विधियों एवं आचार पद्धतियोंमें बहुत अधिक महत्त्व पाता रहा है, किन्तु सन्तसाहित्यमें षट्कर्म अनावश्यक टंटा समझा गया। सन्तोंकी ब्राह्मणके वेद, यज्ञ, दान आदिमें कोई आस्था नहीं थी। ब्राह्मणके लिए मनुने या अन्य स्मृतिकारोंने जिन आह्निक षट्कर्मों या जीवन-स्थितिके लिए आवश्यक षटकर्मोंका विधान किया था, उसमें भी उन्हें रुचि नहीं थी, बल्कि साफ-साफ अरुचि थी। कबीर मानते थे कि "पण्डित भूले पढ़ि गुनि बेदा। आपु अपन पौ जांन न भेदा॥ संझा तरपन अरु षटकर्मा। लागि रहे इनके आसरमा॥ गाइत्री जुग चारि पढ़ाई। पूछहु जाइ मुकुति किन पाई" (क० ग्रं० ति०, रमैनी ७)। गुरु रामदास तो साफ-साफ षटकर्मोंको जीवकी दुर्गति (सासति) मानते हैं—"तेरे अनेक तेरे अनेक पढ़हि बहु सिमृति सासत जी करि करिआ खटुकरम अनन्ता" (सन्त सुधासार, खण्ड १, पृ० ३१८)। रज्जबजीने षट्कर्मोंको स्पष्ट शब्दोंमें 'खोटा' कहा है—"सन्तो ऐसा यहु आचार। × × × सगले जनम जीव संघारे यहु खोटे षटकर्मा। पाप प्रपंच चढ़ै सिरि ऊपरि नाम कहावै धर्मा" (सन्त सु० सा०, खण्ड १, पृ० ५१४)। दरिया साहबको भी विश्वास है कि 'हंस न पहुँचिहि एहि षटकरमा' (वही, खण्ड २, पृ० ९८)। रहा शाक्तोंका मारण, उच्चाटनवाला षट्कर्म, तो सन्त उसे किसी अंशमें भी

स्वीकार नहीं कर सकते। कबीरदास तथा अन्य सन्तोने भी शाक्तोंके लिए जिस प्रकारकी अपमानजनक और कठोर शब्दावलीका व्यवहार किया है, वह स्पष्ट प्रमाण देता है कि शाक्तोंमे इन सन्तोको कोई भी गुण कभी दिखा ही नही। और उनके षट्कर्म ! उनकी बात ही क्या ? सामान्य जनताकाे, जो धर्मों और साधना-पद्धतियोंके प्रति पर्याप्त आस्थावान् होती है, शाक्तोंके षट्कर्मको कभी स्वीकार नहीं कर सकी। सम्भवतः इन शाक्त षट्कर्मोंके प्रति जो उसकी अरुचि थी। उसीके परिणामस्वरूप षट्कर्म शब्दका एक नया अर्थ ही विकसित हो गया—'दुरभिसन्धियुक्त कर्म'। सन्तोकी हठयोगके प्रति आस्था थी। हठयोगकी साधनाका सन्तोंपर बहुत अधिक असर है और गोरखनाथ आदिके प्रति उनमे पर्याप्त आस्था और पूज्य बुद्धि लक्षित होती है, अतः नेति, वस्ती, नौलिकी आदिके प्रति कोई स्पष्ट विरोध सन्त साहित्यमे मुझे देखनेको नही मिला, लेकिन इतना स्पष्ट है कि हठयोगमे स्वीकृत षट्कर्मोंको सन्तोने कोई मान नही दिया है। अवधूके प्रति कबीरके मनमे काफी सम्मान है, पर वे उसकी हठयोगी साधनाकी कमी जानते है। वे जानते है कि अवधूके पास इस सवालका जवाब नही है कि "जब उनमनिकी तारी टूटै तब कहे रही तुम्हारी"। कबीर तथा अन्य सभी सन्त सहज समाधिके समर्थक थे। वे आँख मूँदने, कान रूँधने और इस तरहका कोई भी कष्ट झेलनेको कभी तैयार नही थे। इस स्थितिमे हठयोगके षट्कर्म उनकी आस्थाके पात्र नहीं हो सकते थे। उन्होंने सदैव इसे झंझट और बखेड़ा ही समझा। आजकल षट्कर्म शब्द बखेड़ा, झंझट और टटेके अर्थमें रूढ हो गया है। इसमे सन्तोका बड़ा हाथ है। —रा० दे० सिं०

षट्चक्र—हिन्दू योग-परम्परामे षट्चक्रोंकी जानकारी तथा उनके भेदन, अर्थात् कुण्डलिनी शक्तिको उद्बुद्धकर इनसे पार कराते हुए उसे सहस्रारस्थ परम शिवसे समरस करनेको बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। हठयोगीको इसी षट्चक्रभेदनमें मुक्ति दिखाई पड़ती है। इन छः चक्रोकी कल्पना तन्त्रोंमें बड़ी ही सूक्ष्म और विस्तृत ढंगसे की गयी है। शरीरको अगर आधे-आधपर विभाजित करना हो तो कटि प्रदेश इसके केन्द्रमें पड़ेगा। कटिके नीचेका भाग, अर्थात् जहाँ रीढ़की हड्डीका निचला सिरा है, वहाँ पैरोंके तलवों तकका भाग शरीरका अपेक्षाकृत कम चेतन और अधिक क्रियाशील अंग है। कटि प्रदेशमें पायु और उपस्थके पाससे मेरुदण्ड शुरू होता है और ऊपर सिरके नीचे गरदनपर बनी गाँठतक, जिसे सुषुम्नाशीर्ष कहते है, समाप्त होता है। यहीं शरीरके बाएँ अंगोंसे सम्बद्ध नाड़ियाँ मस्तिष्कके दाहिने पार्श्वकी ओर और दाहिने अंगकी नाड़ियाँ बाएँ पार्श्वकी ओर मुड़कर एक पुलका निर्माण करती हैं, जिसे सेतु कहते हैं। इसके ऊपर मस्तिष्ककी स्थिति है। हठयोगमे मानव शरीरके अधोभागमें सात अधोलोकोंकी कल्पना की गयी है। शरीरके ऊपरी भागमे भी इसी तरहके सात लोकोंकी कल्पना मिलती है। इन ऊपरी लोकोंके नाम है क्रमशः भूः, भुवः, स्वः, तपः, जनः, महः और सत्य (-लोक)। ये **सप्तलोक** या **सप्तपुरियाँ** क्रमशः एक-एक चक्र या कमलपर अवस्थित मानी गयी है। सातवाँ सत्य लोक ब्रह्मरन्ध्रमें स्थित सहस्रार पद्म या सहस्रार चक्रपर अवस्थित माना जाता है। पायु और उपस्थके मध्यमे, जहाँसे मेरुदण्ड शुरू होता है, प्रथम चक्र **मूलाधार** स्थित है। इसमे चार दल माने गये है। मूलाधारका अर्थ है कुण्डलिनीशक्तिका मूल आधार इसके दलोका रंग लाल माना जाता है और इसपर वं, शं, षं, सं, नामकी चार मात्रिकाएँ (दे० 'मात्रिका') अवस्थित मानी गयी है। इस चक्रकी चार वृत्तियाँ है—परमानन्द, सहजानन्द, योगानन्द तथा वीरानन्द। इसका तत्त्व पृथ्वी और बीज 'लं' है। स्वयंभूलिङ्ग यहीं अवस्थित है (दे० 'षट्चक्र निरूपण', श्लोक, १-१३)। इसके ऊपर लिंगमूलमें स्थित छः दलोवाला **स्वाधिष्ठान चक्र** है। स्वाधिष्ठान संज्ञाको कई तरहसे समझा-समझाया गया है :—'स्व', अर्थात् परलिंगका अधिष्ठान, शक्तिका निजी (स्व) स्थान या अधिष्ठान आदि। इसका वर्ण सिन्दूरी है और इसपर बिजलीकी आभावाली बं, भं, मं, यं, रं, लं छः वर्णमात्रिकाएँ अवस्थित है। जल इसका तत्त्व है। इसके ऊपर नाभिदेशमे स्थित दस दलोवाला तीसरा चक्र है नाभिपद्म या **मणिपूरचक्र**। अग्नि तेजके कारण यह पद्म मणिकी तरह द्युतिमान है, अतः मणिपूर कहलाता है। इसके दलोंपर डं, ढं, णं, तं, थं, दं, धं, नं, पं, फं नाम्नी दस मात्रिकाएँ स्थितहै। अग्निका रक्तबीज 'रं' इसपर अवस्थित है (दे०—वही, १९-२१)। मणिपूरके ऊपर चौथा **अनाहत चक्र** है। हृद्देशमे स्थित बन्धूकपुष्पके रंगवाले इस कमल या चक्रका नाम अनाहत इसलिए है कि यहाँ पहुँचकर तालु-कण्ठादिकी सहायता बिना उच्चरित होनेवाले अनाहत शब्द या शब्दब्रह्मका साक्षात्कार करता है। इसी चक्रमे 'बाण' नामक लिंग और जीवात्मा (पुरुष)का निवास है। इसमे बारह दल है और उनपर कं, खं, गं, घं, ङं, चं, छं, जं, झं, ञं, टं, ठं नामक मात्रिकाएँ स्थित है। अपने तीन गुणोसे युक्त ओंकार यहीं रहता है। यह वायुतत्त्वका केन्द्र है। 'यं' इसका बीज है (दे० वही, २२-२७)। पाँचवा चक्र है—**विशुद्ध**। वाग्देवी भारतीका यह स्थान है। क्योकि कण्ठ सरस्वतीका आवास है और यह चक्र उसी कण्ठके मूल (अधोदेश)में स्थित है। इसके सोलह दलोंपर सभी स्वरों—अं, आं, इं, ईं, उं, ऊं, ऋं, ॠं, ऌं ॡं, एं, ऐं, ओं, औं की मात्रिकाएँ स्थित हैं। यहाँ पहुँचकर जीव विशुद्ध हो जाता है, अतः इसे यह नाम दिया गया है (दे० वही, २८-३१)। मूलाधारसे लेकर कण्ठमूलमे स्थित विशुद्ध चक्रतक जिन पाँच चक्रोंका विवरण ऊपर दिया गया है, वे ऐसे केन्द्र है जिनमें स्थूल तत्त्व क्रमशः सूक्ष्म तत्त्वोमे विलीन होते चलते है। इस प्रकार मूलाधारमे गन्ध तन्मात्र, पृथ्वी तत्त्व, घ्राणेन्द्रिय तथा चरण (कर्मेन्द्रिय)का विलय होता है, स्वाधिष्ठानमे रसतन्मात्र, अपतत्त्व, स्वादेन्द्रिय और हाथ (कर्मेन्द्रिय)का विलय होता है। मणिपूरमें रूप तन्मात्र, तेज (अग्नि)तत्त्व, दृग और गुदाका, अनाहतमे स्पर्शतन्मात्र, वायुतत्त्व, स्पर्शेन्द्रिय एवं लिंगका तथा विशुद्ध चक्रमें शब्द तन्मात्र, आकाश तत्त्व, श्रवणेन्द्रिय तथा मुखका विलय हो जाता है। छठाँ

आज्ञाचक्र है। यह भ्रूमध्यमें स्थित दो दलोंका कमल है जिसपर हं, क्षं की मात्रिकाएँ अवस्थित हैं। इसमें मन और प्रकृतिके सूक्ष्म तत्त्व अध्यवसित रहते हैं। इस चक्रमें पहुँचकर साधकको ऊपरसे गुरुकी आज्ञा सुनाई पड़ती है, अतः इसे आज्ञाचक्र कहा जाता है। यहाँ आकर नागरी वर्णमालाके पचासों अक्षर समाप्त हो जाते हैं। यह हसरूप परमशिवका निधान है। इस चक्रमें इतर लिंगकी स्थिति मानी गयी है। यहाँ पहुँचकर योगी अद्वैताचारवादी हो जाता है (दे०—वही, ३२-३९)। ये ही षट्चक्र हैं। योग साधनासे उद्‌बुद्ध कुण्डलिनी इन्हीं छः चक्रोंको क्रमशः वेधती हुई ब्रह्मरन्ध्रमें स्थित सहस्रार, अर्थात् हजार दलोंवाले कमलमें पहुँचकर परमशिवसे सामरस्य स्थापित करती है और परिणामस्वरूप साधक जीते हुए भी मुक्त हो जाता है (विशेष विस्तारके लिए दे०—वुडरफः शक्ति एण्ड शाक्त, पृ० ६८२से ८५; सर्पेण्टपावर, पृ० १०३-१८०)। —रा० दे० सि०

षडंगयोग—दे० 'हठयोग'।

षड्दर्शन—'षड्दर्शन'का यौगिक अर्थ है छः दर्शन-सम्प्रदाय, पर यह बहुत समयसे न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, कर्म-मीमांसा या पूर्वमीमांसा या मीमांसा और ब्रह्ममीमांसा या उत्तरमीमांसा या वेदान्त, इन छः हिन्दू दर्शनोंके अर्थमें रूढ़ हो गया है। ये सभी वैदिक दर्शन हैं, अर्थात् वेदसे निकले हुए हैं। इनको आस्तिक दर्शन कहा जाता है। आस्तिकका अर्थ है वेदको माननेवाला। छः आस्तिक दर्शनोंके विरोधमें छः नास्तिक दर्शन माने गये हैं। यहाँ नास्तिकका अर्थ है मनुके शब्दोंमें वेदनिन्दक, अर्थात् वेदको प्रमाणभूत न माननेवाला। छः नास्तिक दर्शन हैं चार्वाक, जैन, वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार या विज्ञानवाद और माध्यमिक या शून्यवाद; अन्तिम चार वास्तवमें बौद्ध-दर्शन-के सम्प्रदाय हैं। अतः नास्तिक दर्शन वस्तुतः तीन ही हैं। उनकी संज्ञा छः इसलिए कर दी गयी कि आस्तिक दर्शनों-की भाँति नास्तिक दर्शनोंको भी षड्दर्शनका नाम देना था। यह नामकरण 'सर्वदर्शनसंग्रह'के रचयिता माधवा-चार्यने किया है। लगता है, उस समय षड्दर्शन हिन्दू छः दर्शनोंके अर्थमें रूढ़ नहीं हो गया था। यह कब हुआ? इस प्रश्नका उत्तर देते हुए महामहोपाध्याय गंगानाथ झाने कहा है कि यद्यपि षड्दर्शन शब्द प्राचीन है, तथापि यह १४ वीं शती ईसवीतक हिन्दू छः दर्शनोंके अर्थमें रूढ़ नहीं हुआ था। षड्दर्शनीवल्लभ वाचस्पति मिश्र (नवीं शती)ने भी षड्दर्शनसे न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्तका अभिधान नहीं किया। जैन दार्शनिक हरिभद्र सूरि (नवीं शती)ने एक पुस्तक लिखी है, जिसका नाम है 'षड्दर्शनसमुच्चय'। इसमें षड्दर्शनका अभिप्राय बौद्धदर्शन, न्यायदर्शन, सांख्यदर्शन, जैनदर्शन वैशेषिकदर्शन और जैमिनीय दर्शन या मीमांसा है। स्पष्टतः यहाँ योग और वेदान्तका नाम षड्दर्शनोंमें नहीं लिया गया है और उनके स्थानपर बौद्ध तथा जैनदर्शनों-को रखा गया है। गंगानाथ झाका मत है कि वास्तवमें ६ हिन्दू दर्शनोंको बिलकुल भिन्न ६ दर्शन माननेमें कोई प्रमाण नहीं है; केवल तीन ही दर्शन हैं, ६ नहीं। ये तीन दर्शन न्यायवैशेषिक, सांख्ययोग और मीमांसावेदान्त हैं—छः दर्शनोंकी तीन जोड़ियाँ हैं। आज सचमुच न्याय-वैशेषिकको एक दर्शन समझा जाता है, इसी तरह सांख्य-योग या मीमांसा-वेदान्तको भी एक ही दर्शन माना जाता है। अतः ६ दर्शनोंके विभाजनको यदि हम सूक्ष्मतासे देखें, तो हमें तीनका ही विभाजन मिलेगा। फिर भी षड्दर्शन शब्द काफी रूढ़ और व्यापक हो चला है और देश तथा विदेशमें इसका अर्थ न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त यही लगाया जा रहा है।

इन ६ दर्शनोंको बहुतसे लोग एक-दूसरेका विरोधी मानते हैं। पर यह भ्रान्त दृष्टि है। इन सबमें गाढ़ा सम्बन्ध है। प्रत्येकका अपना क्षेत्र है और उसमें वह अन्य द्वारा मान्य है। यद्यपि प्रत्येक दर्शन अपने क्षेत्रका निरूपण करते हुए गौण रूपसे दूसरे दर्शनोंके क्षेत्रपर भी कुछ प्रकाश डालता है, पर यह गौण वर्णन उनका प्रधान कार्य नहीं है। इस प्रकार निश्चय है कि न्याय प्रमाणोंकी, वैशेषिक वस्तुओंके 'विशेष'की, सांख्य चेतन और अचेतनके भेद तथा विकासकी, योग साधनाकी, मीमांसा कर्मकी और वेदान्त ब्रह्म या आत्माकी विवेचना करता है। वेदान्त षड्दर्शनका चूडामणि है। अन्य दर्शन उसके साधन हैं या यों कहना चाहिये कि वेदान्त सभी दर्शनोंके साध्यका ही निरूपण है। अन्य दर्शन इस साध्यके ही निरूपणमें अपनेको निरत नहीं करते, वे उसके साधनोंकी विवेचनामें विशेष ध्यान देते हैं। वेदान्त केवल साध्यकी ही गवेषणा करता है।

इन छः दर्शनोंके निन्दक और प्रशंसक, दोनों इस देशमें सदासे रहे हैं। नास्तिक दर्शनोंके माननेवालोंने प्रायः इनकी निन्दा की है। इनके अनुयायियोंने इनकी प्रशंसा की है। हिन्दीके सन्तों और दार्शनिकोंको भी हम इन दो दलोंमें विभक्त देखते हैं। कबीरने 'वर्णाश्रमषड्दर्शनीकी कानि' नहीं रखी, ऐसा नाभादासने अपने 'भक्तमाल'में कहा है। रैदासने रखी है, यह भी उनका ही मत है। स्वयं कबीर कहते हैं—"अरु भूले षडदरसन भाई। पाषण्डभेष रहे लपटाई"।

सामान्यतः सगुणोपासक सन्तोंने षड्दर्शनकी मर्यादा निर्गुणोपासक सन्तोंसे अधिक रखी है। वैसे उन्हीं 'निर-गुनियों'ने इसकी मर्यादाका खण्डन किया है, जिनको इसका ज्ञान न था और जो इसके विद्वानोंके बुरे आचरणको देखकर इसके प्रति भी दूषित धारणा बना चुके थे। तुलसीदासको भी इसीलिए कहना पड़ा कि "पाखण्ड बिबा-दतें लुप्त भये सद ग्रन्थ"। जिन निर्गुणोपासक सन्तोंने षड्दर्शनोंका अध्ययन किया था, वे इनकी मान्यताको स्वीकार करते हैं। दादूकी परम्पराके विद्वान् सन्तोंने इसका उदाहरण प्रस्तुत किया है, जिनमें राघोदास, सुन्दर-दास और निश्चलदास मुख्य हैं।

इन षड्दर्शनोंमें वेदान्तको ही हिन्दीमें विशेष महत्त्व मिला है। हिन्दीके दार्शनिकोंने जितना योगदान वेदान्तमें किया है, उतना अन्य दर्शनोंमें नहीं। इसका मुख्य कारण यह है कि शंकराचार्य और उनके पश्चात् आनेवाले वेदान्तियोंने वेदान्तको ही भारतीय दर्शनका चूडामणि

ठहराया और इसका देशव्यापी प्रचार किया।" हिन्दीके दार्शनिकोंका युग वेदान्तके इस स्वर्णयुगका अनुवर्ती ही है, अतः उसे वेदान्तका ही सच्चा ज्ञान विरासतमें मिला। निश्चलदासने ठीक ही कहा है—"सांख्य न्यायमें श्रम कियो, पढि व्याकरण अशेष। पढ़े ग्रन्थ अद्वैतके, रहै न एकहु शेष"।

आधुनिक हिन्दी साहित्य तथा समग्र भारतीय साहित्य-पर भी वेदान्तका ही विशेष प्रभाव पड़ा है। रहस्यवाद और छायावादकी मूल प्रेरणाएँ अद्वैतवेदान्तमें ही हैं। उपनिषद् वेदान्तके मूल ग्रन्थ हैं।

षड्दर्शनोंके ६ सूत्रकार आचार्य हैं। कपिलने 'सांख्य-सूत्र' लिखा, जो आज उपलब्ध नहीं है। पतंजलिने योग-सूत्रोंकी, गौतमने न्यायसूत्रोंकी, कणादने वैशेषिक सूत्रोंकी, जैमिनिने मीमांसासूत्रोंकी और बादरायणने ब्रह्मसूत्रों या वेदान्तसूत्रोंकी क्रमशः रचना की। इन्हींसे षड्दर्शनोंका सूत्रपात हुआ। अर्वाचीन तथा प्राचीन विद्वानोंने सिद्ध किया है कि इन सूत्रकारोंने अपने-अपने विषयको उप-निषदोंसे ही मूलतः लेकर विकसित किया है। इन सभी सूत्रोंपर परवर्ती युगोंमें क्रमशः भाष्य और वार्तिक तथा वृत्ति और टीका लिखी गयी है, जिनसे षड्दर्शनोंका प्रचुर विकास हुआ है। —सं० ला० पा०

पिड्गक—उपरूपकका एक भेद विशेष, जिसका सर्वप्रथम उल्लेख अभिनवगुप्तने किया है। उन्होंने इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है—"सखियोंके समक्ष नायिका द्वारा पति या नायकके उद्धत व्यवहार, मसृण या धूर्ततापूर्ण चरित्र चर्चा-को पिड्गक कहा जाता है"। 'भाव प्रकाश'में यह लक्षण श्रीगदित का है। साथ ही, कई आचार्योंने पिड्गकके तत्त्वों-का उल्लेख प्रस्थानकके अन्तर्गत किया है। —यो० प्र० सिं०

षोडशोपचार—भगवान्‌की प्रतीक(प्रतिमा)पूजाके सोलह विधान या अंग ही षोडशोपचार है, यथा—(१) आसन (२) स्वागत, (३) अर्घ्य, (४) आचमन, (५) मधुपर्क, (६) स्नान, (७) वस्त्राभरण, (८) यज्ञोपवीत, (९) चन्दन, (१०) पुष्प, (११) धूप, (१२) दीप, (१३) नैवेद्य, (१४) ताम्बूल, (१५) परिक्रमा, (१६) वन्दना। वैष्णव साधकोंमें अर्चनोपचारोंकी बड़ी महिमा है। वैष्णव कवियों, विशेषकर सूरदासमें अर्चन-भक्तिपरक अनेक पद हैं।—वि० मो० श०

संकटकाल—'क्राइसिस' या ऐसा समय, जब मनुष्यका संचित धैर्य और साहस चुनौती पा उठता है। साहित्य-समीक्षाके क्षेत्रमें पूँजीवादी ह्रासोन्मुख कालमें संस्कृतिके सभी मूल्य संकटग्रस्त हैं, ऐसा काडवेल आदि मार्क्सीय आलोचक मानते हैं। व्यक्तिजीवनमें नीति-अनीति, जीवन-मरणके बीच चुननेका जो बिन्दु है, वही सामाजिक या समष्टिगत अपेक्षासे संकटकाल कहा जा सकता है। —प्र० मा०

संकर—संकर शब्दसे अभिप्राय है अत्यन्त मिला हुआ। काव्यशास्त्रमें यह एक प्रकारका मिश्रालंकार है। जब एक ही छन्दमें अनेक अलंकारोंका सम्मेलन नीर-क्षीरन्यायसे, अर्थात् परस्पर सापेक्ष रूपसे हो, वहाँ संकर होता है। संकर अलंकारमें नीर-क्षीर-न्यायके अनुसार एक छन्दमें अनेक अलंकारोंका सम्मेलन होता है। जिस प्रकार एक ही पात्रमें रखे हुए दूध और जलमें परस्पर अभेदसम्बन्ध हो जाता है, उसी प्रकार 'संकर' अलंकारमें प्रयुक्त अनेक अलंकार परस्पर सापेक्ष होते हैं। इस अलंकारका उल्लेख उद्भटके 'काव्यालंकारसारसंग्रह'में हुआ है। मम्मटके अनुसार संकर अलंकारका लक्षण इस प्रकार है—"अवि-श्रान्तिजुषामात्मन्यंगांगित्वं तु संकरः" (का० प्र०, १० : १४०), अर्थात् विभिन्न अलंकारोंकी अंग-अंगीरूपसे अव-स्थिति। "साहित्यदर्पणकारने इसके तीन रूपोंका उल्लेख किया है—"अंगांगित्वेऽलंकृतीनां तद्वदेकाश्रयस्थितौ। सन्दि-ग्धत्वे च भवति संकरस्त्रिविधः पुनः" (१० : १९), अर्थात् अलंकार अंग-अंगीरूपसे स्थित हों, एक ही आश्रयमें स्थित हों, अथवा उनके सम्बन्धमें सन्देह हो, इन तीन रूपोंमें संकर होता है। हिन्दीके रीतिकालीन आचार्य भिखारीदासके मतानुसार भी संकर तीन प्रकारका होता है—"द्वै कि तीनि भूषन मिलें, छीर-नीरके न्याइ। अलंकार संकर कहैं, तेहि प्रबीन कबिराइ। एक-एकको अंग कहुँ, कहुँ सम होहि प्रधान। कहूँ रहत सन्देहमें, संकर तीनि प्रमान" (का० नि०, ३)। हिन्दीमें चिन्तामणि, भूषण, सोमनाथ, पद्माकर आदि कुछ आचार्योंने इसपर विचार किया है। भूषण अस्पष्ट है—'भूषन होत अनेक' (शि० भू०, ३७१)। सोमनाथने 'पोष्यपोषकभाव'से कई अलंकारों-के प्रयोगको माना है, भेदोंका उल्लेख नहीं किया है।

स्पष्टतः संकर तीन प्रकारका है—(१) अंगांगिभावसंकर, (२) एकवाचकानुप्रवेशसंकर, (३) सन्देहसंकर। एकवाचका-नुप्रवेशसंकरको दास तथा पद्माकरने 'सम-प्रधान'के नामसे अभिहित किया है।

१. अंगांगिभावसंकर—एक ही छन्दमें अनेक अलं-कारोंकी परस्पर अंगांगिभाव अथवा पोष्य-पोषकभावसे स्थिति। इसमें एक अलंकार दूसरेका उपकारक होता है। एकके अभावमें दूसरेकी स्थिति सम्भव नहीं होती। उदा० —"खल बढई बल करि थके, कटे न कुबत कुठार। आल-बाल उरझालरी, खरी प्रेम तरु डार"। (बि० स०, ४४४)। इसमें रूपकसे विशेषोक्तिकी सम्भावना हुई है। देवके इस प्रसिद्ध छन्दमें—"पूरित पराग सों उतारो करै राई नोन, कंज कली नायिका लतानि सिर सारी दै। मदन महीप-जूको बालक बसन्त ताहि, प्रात हियै लावत गुलाब चुटकारी दै"। इसमें रूपक गम्योत्प्रेक्षाका अंग है। इसी प्रकार आधुनिक कवि पन्तकी पंक्तियोंमें—"नयन नीलिमाके लघु नभमें, अलि किस सुषमाका संसार। विरल इन्द्रधनुषी बादल-सा बदल रहा निज रूप अपार" (बादल)। इसमें उपमा 'बादल-सा' रूपक अलंकारका अंग है। उपमाके अभावमें रूपककी और रूपकके अभावमें उपमाकी स्थिति अपूर्ण एवं अशोभन-सी प्रतीत होती है।

२. एकवाचकानुप्रवेशसंकर—एक ही आश्रयमें अनेक अलंकारोंकी स्थिति। एक आश्रयसे अभिप्राय यहाँ एक पदसे है। मम्मटके अनुसार इसमें शब्दालंकार और अर्थालंकार, दोनोंकी एक पदमें स्थिति होती है, किन्तु रुय्यक केवल कई शब्दालंकारों या कई अर्थालंकारोंके एक ही पदमें सम्मेलन होनेको मानते हैं। उदा०—"डर न टरै नींद न परै, हरै न काल विपाक। छिन छाकै उछकै न फिरि, खरो विषम छवि छाक" (बि० स०, ३१८)। यहाँ

'छवि छाके'में वर्णकी आवृत्ति होनेसे अनुप्रास है और छविरूप मदिरामें रूपक अर्थालंकार है, अतः संकर है। अप्पय दीक्षित रुय्यकके समान इसे अनेक अर्थालंकारोंका संकर मानते हैं।

३. सन्देहसंकर—अनेक अलंकारोंकी सन्दिग्ध स्थिति, दूसरे शब्दोंमें जहाँ एक ही छन्दमें दो या दोसे अधिक अलंकारोंकी स्थितिमें निश्चय नहीं हो सकता, अर्थात् सन्देहकी स्थिति रहती है कि यह अलंकार है या वह। उदा०—"काली आँखोंमें कितनी, यौवनके मदकी लाली। मानिक मदिरासे भर दी, किसने नीलमकी प्याली" ('प्रसाद' : आँसू)। यहाँ नीलमकी प्यालीको काली आँखोंका और मानिक मदिराको मदकी लालीका रूपक माननेसे रूपक अलंकार है, किन्तु यदि इसका अन्वय इस प्रकार किया जाय कि रक्तिमापूर्ण काली आँखें मानिक मदिरासे भरी नीलमकी प्याली-सी सुन्दर हैं, तो लुप्तोपमा है। अतः यहाँ रूपक और उपमाका सन्देहसंकर है।

द्विवेदीयुगीन मैथिलीशरण गुप्त तथा छायावादी काव्यके प्रवर्तक एवं प्रतिनिधि कवि 'प्रसाद', पन्त, 'निराला', महादेवी आदिके काव्योंमें इसका प्रचुर प्रयोग मिलता है। अलंकारोंका 'संकर' प्रयोग भक्ति-कालके कवियोंमें सौन्दर्य-वर्णनकी परिस्थितियोंमें हुआ है। रीतिकालके कवियोंने वैचित्र्यकी दृष्टिसे किया है, विशेषकर बिहारीमें इसका उक्तिपूर्ण निर्वाह हुआ है। —वि० स्ना०

संकलन-त्रय—संकलन-त्रयसे अभिप्राय काल, स्थान और क्रियाकी तीन नाट्य-अन्वितियोंसे है—समयकी एकता (unity of time), स्थानकी एकता (unity of place) तथा कार्यकी एकता (unity of action)। इनका उल्लेख यूनानी दार्शनिक अरस्तूके 'काव्यशास्त्र' (poetics)में मिलता है। अरस्तूने त्रासदीके विवेचनमें लिखा है—"त्रासदीको यथासम्भव सूर्यकी एक परिक्रमा (एक दिन) या इससे कुछ अधिक समयतक सीमित रखनेका प्रयत्न किया जाता है"। यहींसे कालान्वितिका तत्त्व सामने आया। स्थानान्वितिका कोई स्पष्ट उल्लेख अरस्तूके काव्य-शास्त्रमें नहीं मिलता। स्थानकी एकताका तत्त्व कालान्वितिसे ही उद्भूत माना जाता है। कार्यान्वितिके सम्बन्धमें अरस्तूका कथन है—"कथानकको, जो कार्य-व्यापारकी अनुकृति होती है—एक तथा सर्वांगपूर्ण कार्यका अनुकरण करना चाहिये और उसमें अंगोंका संगठन ऐसा होना चाहिये कि यदि एक अंगको भी अपनी जगहसे इधर-उधर करें तो सर्वांग ही छिन्न-भिन्न और अस्तव्यस्त हो जाये"। कथानकका आरम्भ, मध्य और अन्त एक सूत्रमें बँधा होना चाहिये।

संस्कृत नाट्याचार्योंने भी समय, स्थान और कार्यकी एकतापर अपने ढंगसे विचार किया है। 'समयकी एकता'-के सम्बन्धमें हमारे यहाँ 'अंकमें काल नियम'के अन्तर्गत विचार किया गया। 'स्थानकी एकता' भारतीय नाट्य-शास्त्रकारों द्वारा प्रतिपादित 'देश-नियम'में आ जाती है। 'कार्यकी एकता'का सम्बन्ध 'अवस्था पंचक' (आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम), 'अर्थ-प्रकृति पंचक' (बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य) एवं 'सन्धि-पंचक' (मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण)के नियमोंसे स्पष्ट है।

'समयकी एकता'का अर्थ है घटनाके वास्तविक समयका रंगमंचके समयसे ऐक्य। स्पष्ट है, 'समय-संकलन'का इतनी कठोरतासे निर्वाह अव्यावहारिक है; विशेष परिस्थितियोंमें तो नितान्त असम्भव। प्राचीन नाटककार भी इस नियमका अविकल रूपसे पालन करनेमें असमर्थ रहे हैं। यह नियम नाटककी स्वाभाविकताको बढ़ानेके उद्देश्यसे बना, पर कलात्मक रचनामें स्वाभाविकताकी ऐसी जड़ माँगका विशेष आदर नहीं, क्योंकि कला 'अनुकरण'का पर्याय नहीं है—वहाँ चयन है, काट-छाँट है। 'समय संकलन'का निर्वाह करनेपर नाटकमें या उसके एक अंकमें सारी घटनाओंका, एक ही दिनमें होना प्रदर्शित किया जायगा। इससे पाठक और दर्शक शीघ्र ही ऊब उठेंगे, क्योंकि यहाँ उनकी कल्पना-शक्तिको कार्य करनेका अवकाश ही नहीं मिलेगा। दूसरे, अधिक वर्षोंका अन्तराल 'समय संकलन'से बँधी नाट्य-कला, बतानेमें असमर्थ रहेगी। अतः इस अव्यावहारिकतासे बचनेके लिए सूच्य वस्तु-व्यंजनाके साधन अर्थोपक्षेपकों (विष्कम्भक, चूलिका, अंकास्य, अंकावतार और प्रवेशक)की योजना की गयी है। यदि किसी नाटकमें 'समयकी एकता'का दृढ़तासे निर्वाह सम्भव हो सके, तो उसे अपवाद ही समझना चाहिये।

स्थानकी एकताका अर्थ है, जो घटनाएँ नाटकमें दिखायी जायँ, उनका सम्बन्ध एक ही स्थल या एक ही नगरसे हो। यदि 'स्थान संकलन'का ध्यान नहीं रखा गया तो नाटकमें अस्वाभाविकताका समावेश हो जायगा, क्योंकि रंगमंचपर पात्र, निर्दिष्ट कालमें आवागमन अथवा यातायात नहीं कर सकेंगे। 'समय-संकलन'की तथाकथित स्वाभाविकताके समान यह स्वाभाविकता भी स्थूल और जड़ है। सभी घटनाएँ सदैव एक ही स्थानपर संघटित नहीं होतीं। वैज्ञानिक युगके आधुनिक समाजका नाटकीय-चित्रण इस सीमामें प्रायः सम्भव नहीं। संस्कृत नाट्याचार्योंने स्थान सम्बन्धी कठिनाइयोंको दूर करनेके उद्देश्यसे 'अंकच्छेद'की व्यवस्था की है। अतः 'समय संकलन'के समान 'स्थान-संकलन'का प्रयोग भी आधुनिक नाटकोंमें नहीं किया जाता।

'कार्यकी एकता'का अर्थ है, नाटकमें ऐसी कोई भी घटना समाविष्ट न की जाय, जो प्रमुख घटनासे सम्बन्ध न रखती हो। इसका अभिप्राय यह नहीं कि नाटकमें प्रासंगिक कथाओंका समावेश ही न किया जाय। प्रासंगिक कथा अथवा घटनाका आवश्यकतानुसार समावेश हो, पर वह मूल-कथासे पूर्ण रूपसे संयोजित हो। नाटकके विभिन्न अंगोंमें पारस्परिक सम्बन्ध-सामंजस्य होना अपेक्षित है। निःसन्देह, 'संकलन-त्रय'के अन्तर्गत 'कार्य-संकलन'की योजना सबसे अधिक महत्त्व रखती है। वह नाटककी प्रमुख आवश्यकताओंमेंसे है।

सोलहवीं शताब्दीके इटेलियन और सत्रहवीं शताब्दीके फ्रांसीसी लेखकोंने 'संकलन-त्रय'का निर्वाह कठोरताके साथ किया है। पर, शेक्सपियरके नाटकोंमें 'कार्य-संकलन'-को छोड़ शेष अन्वितियोंकी उपेक्षा की गयी है। स्वच्छ-

न्द्रतावादी लेखकोंने भी 'संकलन-त्रय'को मान्यता नहीं दी। वास्तवमें, नाट्य-कला विषयक सभी संकेतों, निर्देशों, सिद्धान्तों, वर्जनाओं, विधि-विधानों आदिका उद्देश्य नाटकोंको रंगमंचके अथवा अभिनयके उपयुक्त बनाने और उनमें स्वाभाविकताका अधिक-से-अधिक समावेश करनेका होता है। अभिनय-कलाके विकासके साथ-साथ साहित्य-रूपकी कलाका स्वरूप भी बदलता रहता है। रंगमंच और अभिनय-कलाने वर्तमान युगमें बड़ी उन्नति की है। इसी कारण वे तत्त्व, जो किसी समय वर्तमान उन्नतिके अभावमें अत्यधिक महत्त्वपूर्ण थे, आज अपनी उपादेयता खो बैठे हैं। आधुनिक कालमें विकसित एकांकी नाटकोंमें संकलन-त्रयका निर्वाह अपेक्षाकृत सहज रूपमें होता है। —म० भा०

संकीर्ण–दे० 'शब्द-दोष', तेरहवां 'वाक्य-दोष'।

संकीर्ण राष्ट्रवाद–अंग्रेजीके 'जिंगोइज्म' अथवा फ्रेञ्चके 'शाविनिज्म'के लिए हिन्दीमें यह शब्द प्रयुक्त होने लगा है। नेपोलियनकी सेनामें निकोलस शाविन नामका व्यक्ति था, जो नेपोलियन-भक्तिके लिए प्रसिद्ध था। उसकी नेपोलियन-भक्तिके लिए शाविनिज्मका प्रयोग किया जाने लगा। धीरे-धीरे इसका प्रयोग स्वराष्ट्रके प्रति अन्धे संकीर्ण अभिनिवेशके लिए होने लगा है। संकीर्ण राष्ट्रवादी अपने राष्ट्रको सर्वोपरि मानता है। इस प्रकार यह राष्ट्र-राष्ट्रमें प्रेम-भावकी वृद्धि न कर घृणा और द्वेषकी ही वृद्धि कर सका। नाजी (दे० 'नाजीवाद') विचारधारासे यह कई अंशोंमें मेल खाता है। —ह० ना०

संकीर्तित अद्भुत–दे० 'अद्भुत रस'।

संक्रमण–साधारण परिवर्तन, हेर-फेर, अदल-बदलसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया। एक विचार-व्यवस्थासे दूसरीमें—उदाहरणार्थ, पुरानी परम्पराओंमेंसे नये प्रयोगोंमें—जब साहित्य परिणत होता है, तब पुराना सब कुछ मिट नहीं जाता, नया उसपर आरोपित नहीं होता या थोपा नहीं जाता, बल्कि पुरानेमें जो सजीव तत्त्व रहते हैं, वे आगे गुणात्मक परिवर्तन पाते हैं, जैसे प्राणिशास्त्रीय परिभाषामें बच्चेमें पिता-माताके 'क्रोमोज़ोम्स'। यह संक्रमण व्यक्तिगत जीवनमें भी घटित होते हैं, सामाजिक जीवनमें भी—और दोनोंका परिणाम एक दूसरेपर घटित होता रहता है। —प्र० मा०

संक्षिप्त महाकाव्य–महाकाव्यकी पुरानी मान्यताके अनुसार कोई पर्याप्त लम्बा कथात्मक काव्य ही महाकाव्य हो सकता है। संस्कृतके आलंकारिक विश्वनाथ कविराजके अनुसार न बहुत बड़े, न बहुत छोटे, आठसे अधिक सर्गोंवाले प्रबन्धकाव्यको ही महाकाव्य मानना चाहिये—"नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह"। अरस्तूके अनुसार भी महाकाव्यको बड़े आकारका ही होना चाहिये। पर आधुनिक युगमें काव्यके नये-नये रूप विकसित हो चुके हैं और महाकाव्यके स्वरूपमें भी बहुत परिवर्तन हो चुका है। अतः साहित्यशास्त्रियोंको महाकाव्य सम्बन्धी मान्यतामें भी परिवर्तन करना पड़ा है। फलस्वरूप **प्रगीतात्मक महाकाव्य, रूपक महाकाव्य, रूपकथात्मक महाकाव्य, संक्षिप्त महाकाव्य** आदि अनेक प्रकारके महाकाव्यरूपोंको आलोचकोंने मान्यता दी है। इनमें संक्षिप्त महाकाव्य तो वस्तुतः महाकाव्यके गुणोंसे युक्त लघुकाव्य ही होता है। ऐसे काव्यको महाकाव्यकी पुरानी कसौटीपर कसनेका प्रश्न नहीं उपस्थित होता, क्योंकि न तो वह सर्गबद्ध होता है, न उसमें नाटकीय सन्धियोंका विधान होता है और न विविध वस्तु-व्यापारोंका विस्तृत वर्णन ही होता है। फिर भी वह महाकाव्यात्मक गुणोंवाला इसलिए माना जाता है कि उसमें उद्देश्यकी महानता, शैलीकी उदात्तता और काव्यगत गुरुता और गम्भीरता महाकाव्य जैसी होती है। वस्तुतः किसी महाकाव्यका महाकाव्यत्व उसके कथानक, वस्तुवर्णन या चरित्रचित्रणमें उतना नहीं होता, जितना उसमें व्यक्त जीवनमूल्योंकी असाधारणता तथा कविकी महती काव्यप्रतिभासे उद्भूत व्यापक अथवा गहरी महाकाव्यात्मक अवधारणा(एपिक इण्टेंशन)में होता है। इस कसौटीपर कसनेपर बहुत बड़े-बड़े प्रबन्धकाव्य भी महाकाव्य नहीं माने जा सकते और कई छोटे किन्तु उपर्युक्त लक्षणोंवाले लघु या संक्षिप्त काव्योंको महाकाव्यात्मकता (एपिक क्वालिटी)से युक्त महाकाव्य—संक्षिप्त महाकाव्य—कहा जा सकता है। इसी नयी मान्यताके अनुसार अनेक आलोचक अंग्रेजीके आधुनिक कवि टी० एस० ईलियटके काव्य 'वेस्टलैण्ड'को संक्षिप्त महाकाव्य कहते हैं। उसी तरह हिन्दीमें 'निराला'की कविताओं, 'तुलसीदास' और 'रामकी शक्तिपूजा'को अनेक विद्वानोंने संक्षिप्त महाकाव्य कहा है। —शं० ना० सिं०

संख्यावैचित्र्यवक्रता–दे० 'पदपरार्धवक्रता', पहला प्रकार।

संख्यासंकेत–छन्दःशास्त्रमें मात्रासंख्या और वर्णसंख्याकी सूचना देने तथा यतियोंके निश्चित निर्धारणको व्यक्त करनेके लिए कुछ विशिष्ट शब्दोंका प्रयोग किया जाता रहा है। अपना स्वतन्त्र अर्थ रखते हुए भी इस प्रकार प्रयुक्त शब्द विशेष सन्दर्भमें केवल संख्यावाची मान लिये जाते हैं, जैसे भू, नेत्र, वेद, अहि, गिरि इत्यादि। इन संख्या-शब्दोंमें तिथि, संवत्, वर्ष आदिकी सूचना भी दी जाती रही है। छन्दोबद्ध करनेमें अंकोंके नामोंकी तुलनामें ये शब्द अधिक उपयुक्त सिद्ध हुए हैं, क्योंकि इनके पर्याय भी प्रयुक्त किये जा सकते हैं। कई शब्द अनेक संख्याओंके बोधक भी होते हैं, जैसे 'रस' षट्रसके अर्थमें ६का, नवरसके अर्थमें ९का अर्थ देता है। ऐसे शब्दोंको संख्यासंकेत कहा जा सकता है, क्योंकि इनका मुख्य उद्देश्य संख्याओंका बोध कराना ही है। नीचे कुछ पर्यायोंके साथ कतिपय प्रमुख संख्यासंकेत दिये जाते हैं—०–शून्य, नभ, बिन्दु आदि। १–शशि, भू, धरा, गणपतिरदन, ईश्वर आदि। २–भुज, नेत्र, पक्ष, अहिजिह्वा, नदीतट, भ्रू, कर्ण आदि। ३–गुण, राम, अग्नि, ताप, काल, पुरारिनेत्र, लोक आदि। ४–वेद, वर्ण, फल, पाद, आश्रम, विधिमुख, धाम, हरिबाहु आदि। ५–बाण, मदनशर, पाण्डव, कन्या, शिवमुख, प्राण, इन्द्रिय, तत्त्व, भूत, यज्ञ, गव्य आदि। ६–शास्त्र, ऋतु, रस, राग, वेदांग, अलिपद, ईति, शिवसुतमुख आदि। ७–तुरंग, रविवाहन, ऋषि, सिन्धु, गिरि, स्वर, वार, पुरी, पाताल आदि। ८–सिद्धि, वसु, अंग, अहि, दिग्गज, याम, प्रहर, विधिनेत्र आदि। ९–

निधि, ग्रह, अग्नि, अंक, छिद्र, गाती, भूखण्ड आदि। १०–दिशा, दिग्पाल, अवतार, दोष, दशा, राम-रिपुमुख आदि ११–रुद्र, शिव आदि। १२–आदित्य, सूर्य, राशि, मास, भूषण आदि। १३–नदी, परमभागवत आदि। १४–मनु, विद्या, रत्न, भुवन आदि। १५– तिथि। १६–शृंगार, कला, संस्कार आदि। १८–पुराण, स्मृति आदि। २०–नख, रावणबाहु आदि। २५–प्रकृति। २७–नक्षत्र। ३०–मासदिवस। ३२–लक्षण, दन्त आदि। ३३–देवता, त्रिगुण आदि। ३६–रागिनी। ४९–पवन, मरुत् आदि। ५६–भोग। ६४–कला। ८४–योनि। १०००–इन्द्रनेत्र, कमलदल, सूर्यकिरण, शेषफन, पृथुकर्ण आदि। —ज० गु०

संगति (harmony)–विरोधका अभाव, व्यवस्था, समन्वय आदि संगतिके विशेष तत्त्व हैं। कला विश्वसनीय और आनन्ददायक नहीं होगी, जब कि उसके सम्मिलित प्रभावसे मनमें सामंजस्य और उपयुक्तताका भाव पैदा हो।

हर्बर्ट रीडके अनुसार "संगति हमारे सौन्दर्य-बोधकी तृप्ति (मीनिंग ऑव आर्ट) है"। किसी कृतिमें कलाके विभिन्न तत्त्वोंका इस प्रकार मिलना या संघटित होना कि चित्त एक स्वाभाविक प्रसन्नता और सन्तोषका अनुभव करे। सौन्दर्यानुभूति वास्तवमें आत्माकी वह सन्तुष्ट स्थिति है, जब वह किसी सुन्दर वस्तुमें संगति, पूर्णता और रसका अनुभव करती हुई अविरोध रमण करती है। —कु० ना०

संगम–दे० 'हठयोग'।

संगीतरूपक–संगीतरूपक **रेडियो नाटक**का एक प्रकार है। इसमें गीतोंकी प्रधानता होती है, जो **नैरेशन** द्वारा सम्बद्ध कर दिये जाते हैं। नैरेशन गद्य या पद्य, दोनोंमें होते हैं। कुछ संगीतरूपक कल्पित कहानियोंपर आधारित होते हैं, कुछ पर्व-त्यौहारोंके उपलक्ष्यमें लिखे जाते हैं, कुछमें प्राकृतिक दृश्योंका अंकन होता है। इस प्रकार विषयकी दृष्टिसे संगीतरूपक अनेक प्रकारके होते हैं। संगीतरूपकको संगीत, काव्य एवं नाटककी त्रिवेणी कहा जा सकता है। (दे० 'रेडियो नाटक')। —सि० कु०

संघटन–दे० 'दूतीकर्म'।

संघर्ष–पाश्चात्य धारणाके अनुसार नाटककी वह स्थिति, जिसमें विरोधी शक्तियाँ अन्तिम बार परस्पर संघर्ष करती हैं तथा जो **कथावस्तु**को निर्णयात्मक क्षण प्रदान करती है, संघर्ष कहलाती है। इस क्षणसे ही एक विरोधी शक्ति बलवती एवं दूसरी निरुपाय होने लगती है। संघर्षमें केवल दो विरोधी शक्तियाँ होती हैं, अधिक नहीं; क्योंकि प्रेक्षककी सहानुभूति केवल एक ही शक्तिके साथ होती है तथा अन्य समस्त शक्तियाँ या तो उसकी सहायता करती हैं या विरोध। इन परस्पर विरोधी शक्तियोंके कई रूप हो सकते हैं, जैसे–(१) दो व्यक्ति, उदाहरणतः नायक एवं खलनायक; (२) एक व्यक्ति एवं समाज; (३) व्यक्तिके मनमें होनेवाला अन्तर्द्वन्द्व, जैसे, प्रेम और कर्तव्यका, आस्था एवं अनास्थाका। संघर्षके लिए नाटकीय हेतु अथवा चरम लक्ष्यका होना आवश्यक है। संघर्षकी घटनाएँ कार्यव्यापारके ही अंश हैं। नाटकका वह स्थल, जहाँ विरोधी शक्तियोंकी हार-जीतका अन्तिम निर्णय होता है, संघर्ष कहलाता है।

यद्यपि बहुतसे आधुनिक नाटककारोंकी प्रवृत्ति संघर्षको बहुत बादमें रखनेकी है, किन्तु प्राचीन नाटककार संघर्षको सम्पूर्ण नाटकीय कार्य-व्यापारके मध्यमें या उसके ठीक बाद रखते थे। शेक्सपियरने अपने नाटकोंमें संघर्षको सदैव या तो तीसरे अंकमें या चौथे अंकके प्रारम्भिक भागमें स्थान दिया है। उदाहरणार्थ 'किंग लियर'में संघर्ष तीसरे अंकमें मिलता है, जहाँ ग्लॉस्टरके नेत्र निकलने तथा पैंकोंकी आत्माके प्रकट होनेके साथ ही मैकबेथके भाग्यका परिवर्तन हो जाता है। 'प्रसाद'के 'अजातशत्रु'में संघर्ष द्वितीय अंकमें मिलता है, जब कि सब विरोधी दल एकमें मिलकर शक्तिशाली एवं उद्योगशील बन जाते हैं और बिम्बक एक ओर एवं प्रसेनजित और उदयन दूसरी ओर संघटित होकर दृढ़ चित्तसे अपनी-अपनी सेना सजाकर युद्धके लिए तत्पर होते हैं। इसी प्रकार 'स्कन्दगुप्त'में संघर्ष हमें चौथे अंकमें मिलता है, जब कि स्कन्दगुप्त अपनी पराजयके बाद फिरसे उद्योग करता है तथा पर्णदत्तकी साधनासे साम्राज्यके सभी बचे हुए स्वाभिमानी योद्धा एकत्र होकर, सेना संगठित कर स्कन्दगुप्तकी छत्रच्छायामें एक बार पुनः आर्यावर्तकी रक्षाका उद्योग करते हैं। इस प्रकार स्कन्दगुप्तकी हूणोंके साथ जो दूसरी लड़ाई होती है, वह नाटकीय फलकी निर्णायक है। अतः यहींपर नाटकीय संघर्ष माना जायगा। —श्या० मो० श्री०

संचारियोंका अंतर्भाव–भरतने संचारियोंके वर्गीकरणके चार सिद्धान्त माने हैं–(१) देश, काल एवं अवस्था। (२) इनमेंसे कुछ उत्तम, तो अन्य मध्यम एवं अधम प्रवृत्तिके लोगोंमें होते हैं। (३) यद्यपि ये भाव प्रधानतः आत्मगत ही हैं, तथापि कुछ प्रकृतिगत और कुछ अन्य व्यक्तियोंकी उत्तेजनाके कारण और कुछ वातावरणके प्रभावसे होते हैं। (४) कुछ प्रधानतया स्त्रियों और पुरुषोंमें होते हैं। भावोंके अन्तर्भाव एवं भावशबलताके कारण भरतने इन सिद्धान्तोंका विशदीकरण पूर्णतया नहीं किया। केवल यह बताया है कि निर्वेद, शंका और आलस्य स्त्री जाति एवं नीच प्रकृतिके व्यक्तियोंमें होते हैं। भरतके सिद्धान्तके अनुसार 'गर्व' आत्मगत और 'अमर्ष' परगतका उदाहरण हो सकता है। 'आवेग' एवं 'त्रास' कालानुसार होते हैं।

यदि संचरणशील अथवा स्थायी मनोविकारोंको या चित्तवृत्तियोंको व्यभिचारी अथवा संचारी भाव कहा जाता है तो उनकी संख्या ३३ ही क्यों है? सम्भवतः इसलिए कि हिन्दू धर्ममें देवताओंकी संख्या भी एक गणनाके अनुसार ३३ ही है (ब्रह्मा एवं इन्द्र, आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य)। वैसे यह संख्या नित्य नहीं है, क्योंकि धनिकने कहा है–"(धनंजय द्वारा निर्दिष्ट) व्यभिचारी भावोंके अतिरिक्त अन्य चित्तवृत्तियाँ भी (लोकव्यवहारमें देखनेमें आती) हैं, पर वे सब इन (तैंतीस)के अन्तर्गत होकर विभाव या अनुभावके रूपमें प्रविष्ट होती हैं, अतः उनका पृथक् उल्लेख नहीं किया" (दशरूपकावलोक ४ : ३३)।

'शृंगारप्रकाश'में भोज (११ श० ई० पू०)ने भरतके अपस्मार और मरणके स्थानपर ईर्ष्या, शमका उल्लेख

किया है, पर 'सरस्वतीकण्ठाभरण'में स्नेह और धृतिको माना है। हेमचन्द्र (१२ श० ई० उत्त०)ने कहा है कि तैंतीस संचारी भावोंके अतिरिक्त 'दम्भ', 'उद्वेग' एवं 'क्षुत्तृष्णादि' क्रमशः अवहित्था, निर्वेद और ग्लानिके अन्तर्गत हैं (काव्यानु०, प० १०४)। 'अग्निपुराण' (९ श० ई०)में निद्रा, सुप्त एवं मरणका उल्लेख नहीं है; शमको संचारी बताया गया है और कुल इकतीसकी गणना की गयी है (३३९ : २२ : ३४)। सागरनन्दीने त्रास और भयको पर्यायवाची मानकर त्रासको भयानकका स्थायी भाव माना है (ना० ल० र० को०, पं० २४३) और 'निद्रा' एवं 'सुप्त'मेंसे केवल 'निद्रा'को स्वीकृत कर, एक नये व्यभिचारी 'शैत्य'का उल्लेख किया है (वही, पं० २०८८–२०९०)।

भोज द्वारा प्रस्तावित 'ईर्ष्या' और 'स्नेह'को शिगभूपाल नहीं मानते। उनके अनुसार तैंतीसके अतिरिक्त संचारी भाव अन्य भी हो सकते हैं, पर 'उद्वेग', 'स्नेह' भरतके दिये 'दम्भ' और ईर्ष्या' व्यभिचारियोंके अन्तर्गत हैं।

रामचन्द्र गुणचन्द्र (१२ श० ई० उत्त०)ने (ना० द०, पृ० १८६)में उचित ही कहा है कि इनमें कई संचारी भाव परस्पर एक-दूसरेके उत्पादक विभाव भी हो सकते हैं। जैसे 'व्याधि'से 'निर्वेद', 'चिन्ता' या 'विबोध'से 'स्मृति' और 'श्रम'से 'आलस्य'। वास्तवमें ऐसे कई व्यभिचारियोंका ज्ञान भरतके विभावोंको पढ़नेसे होता है। यह अनिवार्य ही प्रतीत होता है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक भी भाव-निरूपणके प्रसंगमें मानते हैं कि प्रत्येक भावके साथ शेष भावोंका सम्बन्ध अव्यक्त रूपमें रहता ही है।

भानुदत्त (१४ श० ई० म०)ने इनकी संख्यामें वृद्धि की है, उन्होंने एक और व्यभिचारी 'छल' बताया है (र० त०, ५)। उनके अनुसार स्त्रियोंके दस स्वभावज अलंकारोंमेंसे 'मोट्टायित', 'कुट्टमित', 'विब्बोक' एवं 'विहृत' 'आन्तर विकार' होनेसे और 'किलकिंचित्' उभयात्मक, अर्थात् शारीर भी होनेसे व्यभिचारी भाव हैं। वास्तवमें दसों अलंकारोंका वर्णन उनके विभाव एवं अनुभाव देकर किया गया है (वही, ६, पृ० १३१ इत्यादि)। उन्होंने बताया है कि तीन कामावस्थाओंको, अर्थात् अभिलाषा, गुणकथा, प्रलापको व्यभिचारियोंके अन्तर्गत नहीं माना जा सकता, क्योंकि वे क्रमशः औत्सुक्य, स्मृति एवं उन्मादके अन्तर्भूत हैं (वही, ५, पृ० १०९)।

रूपगोस्वामी(१५-१६ श० ई०)ने तैंतीसके अतिरिक्त तेरह अन्य व्यभिचारियोंकी चर्चा की है, पर वे तैंतीस प्रधानके अन्तर्भूत ही हैं। भानुदत्त (र० त०, ५) एवं विश्वनाथ (१४ श० ई० पूर्वा०; सा० द०, ३ : १७२)में और अन्य ग्रन्थकारोंके अनुसार स्थायी भाव भी संचारी हो जाते हैं, जैसे हास शृंगारमें, रति शान्त, करुण एवं हास्यमें, भय करुणमें, शोक शृंगारमें, क्रोध वीरमें, जुगुप्सा भयानकमें और उत्साह एवं विस्मय प्रायः सभी रसोंमें। यदि इस सिद्धान्तका अनुकरण किया जाय तो अमर्ष, त्रास एवं विषाद (संचारी भाव) क्रमशः क्रोध, भय एवं शोक स्थायी भावोंके अपरिपक्व रूप हैं।

भरत द्वारा प्रस्तावित तैंतीस व्यभिचारियोंका सूक्ष्मतया अध्ययन करनेसे यह स्पष्ट है कि उनमेंसे कोई भी शारीरिक अवस्था नहीं है (मिलाइये, शुक्ल : र० मी० पृ० २०६; वाटवे : र० वि० : मराठी : पृ० १२८)। भरतने नाटकप्रयोगकी दृष्टिसे तैंतीस व्यभिचारी भावोंका उल्लेख किया है, उनके उद्‌बुद्ध होनेके परिस्थित्यनुकूल कारण भी दिये हैं और फिर सबोंके आगे 'आदि' शब्दका प्रयोग कर यह बतलाया है कि 'नाट्यशास्त्र'में उन्होंने सारी ही परिस्थितियोंकी कल्पना अन्तिम रूपमें नहीं की है। अतः यदि भरत द्वारा विभावोंका परीक्षण किया जाय तो ज्ञात होगा कि उनके व्यवस्थाचक्रके अनुसार एक प्रधान कारणसे कई प्रकारके व्यभिचारी भाव उद्‌बुद्ध हो सकते हैं और उसके अनुसार भावोंके अन्तर्भावकी निम्नलिखित तालिका बनायी जा सकती है :—

१. निर्वेदके अन्तर्भूत शम एवं धृति। २. ग्लानिके अन्तर्भूत मद, श्रम, आलस्य, निद्रा। ३. असूयाके अन्तर्भूत ईर्ष्या, चपलता। ४. दैन्यके अन्तर्भूत चिन्ता, शंका, विषाद। ५. त्रासके अन्तर्भूत मोह, आवेग। ६. व्याधिके अन्तर्भूत उन्माद, अपस्मार, मरण। ७. व्रीडाके अन्तर्भूत अवहित्था, छल। ८. गर्वके अन्तर्भूत अमर्ष, उग्रता। ९. वितर्कके अन्तर्भूत मति।

इनके अतिरिक्त 'औत्सुक्य', 'स्मृति', 'सुप्त', 'विबोध', 'हर्ष' एवं 'जड़ता'को भी पृथक्-पृथक् व्यभिचारी भाव मानना अनिवार्य है। अब रहा प्रश्न स्त्रियोंके स्वभावज अलंकारोंका, तो विब्बोक एवं मोट्टायित तो गर्वके अन्तर्भूत आयेंगे, क्योंकि "गर्वाभिमानसम्भूतो नादरात्मा विब्बोकः" और "निभृतभूयोदर्शनस्पृहा मोट्टायितम्" (र० त०, पृ० १३५, १३६)। 'कुट्टमित' तो कोई संचारी भाव नहीं, क्योंकि वह 'सुखे दुःखचेष्टा' मात्र है। 'विहृत', अर्थात् 'अभिलाषापरिपूर्तिः' औत्सुक्यके अन्तर्भूत है और 'किलकिंचित्' तो है ही व्यभिचारियोंका सम्मिश्रण "श्रमाभिलाषगर्वस्मितहर्षभयक्रुधां संकरः" (र० त०, पृ० १३४)।

अतः हम देखते हैं कि व्यभिचारियोंकी संख्या जहाँ बढ़ सकती है, वहाँ कम भी हो सकती है। वास्तवमें मानव भावोंका वर्गीकरण प्रधानतया रतिप्रधान, विरतिप्रधान, तर्कप्रधान, स्मरणप्रधान, उत्सुकताप्रधान एवं समालोचनात्मक भावोंकी व्यापक दृष्टिसे हो सकता है।—ज० कि० ब०

संचारी भाव (व्यभिचारी भाव)—भरतके 'नाट्यशास्त्र' (३ श० ई०)में इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि इस शब्दमें 'सं' (अथवा 'वि'+'अभि') उपसर्ग है तथा चर धातु है, अतः अर्थ हुआ—रसके सम्बन्धमें जो अन्य वस्तुओंकी ओर संचरण करे (७ : २७)। इसी आधारपर धनंजय (१०-११ श० ई०)ने व्यभिचारी भावोंकी परिभाषा की है—"विशेषादभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः। स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ" (द० रू०, ४ : ७), अर्थात् जो भाव विशेष रूपसे स्थायी भावकी पुष्टिके लिए तत्पर या अभिमुख रहते हैं और स्थायी भावके अन्तर्गत आविर्भूत और तिरोहित होते दिखाई देते हैं, वे संचारी भाव कहलाते हैं। जैसे लहरें समुद्रमें पैदा होती हैं और उसीमें विलीन हो जाती हैं, वैसे ही रत्यादि स्थायी भावोंमें निर्वेदादि संचारी भाव उन्मग्न तथा निमग्न

होते रहते है। इस तरह संचारी भाव मुख्य रूपमे स्थायी भावमें ही उठते-गिरते है। लहरोंके उठने और गिरनेसे समुद्रका समुद्रत्व और भी पुष्ट होता है, ठीक उसी तरह 'संचारी भाव' स्थायी भावोंके पोषक होते हैं। स्थायी भाव स्थिर है तो संचारी संचरणशील और अस्थिर।

पाश्चात्य विचारक शैण्डने प्रत्येक भावको एक तरहका व्यवस्थाचक्र माना है। उसके मतानुसार क्रोध, भय, शोक आदि मूल भावोंमेंसे प्रत्येक अन्य भावोंसे सम्बद्ध है। मूल भाव अपने द्वारा प्रवर्तित अन्य भावोंके आविर्भावके समय अपना रूप त्याग देता है। मान लीजिये कि एक व्यक्तिका किसीके प्रति प्रेम है। उसे पीड़ा पहुँचानेवालेके प्रति जब उसके मनमे क्रोध उत्पन्न होगा, तब रति भावका लोप हो जायगा। किन्तु साहित्यमे रतिके सहायक संचारी भावोंके उदय होनेपर रतिका प्राधान्य बना रहेगा, अर्थात् उसके प्रतीतित्वमें कोई विक्षेप नही होगा। नायिकाका प्रणयमान या ईर्ष्यामान रति भावको अपदस्थ नही कर सकता, बल्कि उलटे संचारी स्थायी भावको पुष्ट करता है। लेकिन संचारी भाव सर्वथा सहायकके रूपमें नहीं आते, स्वतन्त्र रूपमें भी उनकी अभिव्यक्ति होती है। वैसी स्थितिमें उन्हें केवल भावकी संज्ञा दी जाती है (दे०—'भाव')।

आचार्योंने संचारी भावोंकी संख्या निश्चित कर दी है। भरतने जिन ३३ संचारियोंका उल्लेख किया है, वे प्रायः सर्वमान्य हो गये है। उनके नाम है—१. निर्वेद, २. आवेग, ३. दैन्य, ४. श्रम, ५. मद, ६. जड़ता, ७. औग्र्य, ८. मोह, ९. विबोध, १०. स्वप्न, ११. अपस्मार, १२. गर्व, १३. मरण, १४. अलसता, १५. अमर्ष, १६. निद्रा, १७. अवहित्था, १८. औत्सुक्य, १९. उन्माद, २०. शंका, २१. स्मृति, २२. मति, २३. व्याधि, २४. सन्त्रास, २५. लज्जा, २६. हर्ष, २७ असूया, २८. विषाद, २९ धृति ३०. चपलता, ३१. ग्लानि, ३२. चिन्ता और ३३. वितर्क।

संचारियोंकी संख्या शास्त्रचर्चाकी सुविधाके कारण ही परिमित की गयी है। यदि आठ स्थायी भावोंको, जो संचारी भी होते है, उनमे जोड़ दिया जाय तो इनकी परिमित संख्याको बढाना पड़ेगा। पर आठ स्थायी भावोंके उनमें जोड दिये जानेपर कुछ संचारी अपने-आप व्यर्थ हो जायेंगे। शोकके संचारी होनेपर विषाद, भयके संचारी होनेपर त्रास, क्रोधके संचारी होनेपर अमर्षको ३३ संचारियोंमेंसे पृथक् करना पडेगा। राघवन्‌के मतानुसार ग्लानि और श्रममेंसे केवल एकको ही ग्रहण किया जाना चाहिये, क्योंकि उनकी व्याख्याकी परीक्षा करनेपर वे समान प्रतीत होते हैं।

समय-समयपर आचार्योंने इस ३३की संख्याको बढ़ाने-का बराबर प्रयत्न किया है। अनुभाव, नायिकाओंके २० अलंकार, भाव, हाव आदि, सात्त्विक भाव, आलाप आदि, दस कामावस्थाएँ, सभीको संचारीके अन्तर्गत ग्रहण किया गया है (राघवन् : द नम्बर ऑव रसाज, पृ० १५९)। भोज (११ श० ई०) सात्त्विक भावोंको स्पष्ट रूपसे बाह्य-व्यभिचारीकी संज्ञा देते है—"तत्र आभ्यन्तरा व्यभिचारिपु चिन्तौत्सुक्यावेगवितर्कादयः बाह्याः स्वेदरोमांचाश्रवैवर्ण्या-दयः" (शृं० प्र०, ११)। भानुदत्त (१३ श० ई०)ने अपनी 'रसतरंगिणी'मे १० मदनावस्थाओंको व्यभिचारियों-मे ही सन्निविष्ट किया है (र० त०, पृ० ३०)। भोजने 'सरस्वतीकण्ठाभरण'में संचारियोंकी संख्या ३३ ही मानी है। यद्यपि भरतके कुछ संचारियोंके स्थानपर नये संचारियोंका नामोल्लेख किया है। शिंगभूपाल (१४ श० ई०)ने उद्वेग, स्नेह, दम्भ, ईर्ष्याको संचारियोंमें गृहीत करनेका प्रश्न उठाया है, पर इन्हें ३३ संचारियोंमें सम्मिलित नहीं किया है। भानुदत्तने 'छल' नामक नये संचारीका उल्लेख किया है, जिसका वर्णन देवने भी किया है। इसे भरतके 'अवहित्था'के अन्तर्गत ही समझना चाहिये। रूप गोस्वामी (१५-१६ श० ई०)ने मधुर रसके प्रसंगमें परम्पराप्राप्त ३० संचारियोंको ही स्वीकार किया है, पर शृंगार रसके अनुकूल न होनेके कारण औग्र्य और आलस्यके उदाहरण नहीं प्रस्तुत किये हैं। इनके अतिरिक्त उन्होने १३ अन्य संचारियोंका भी उल्लेख किया है, जो भरतके ३३ संचारियोंमे ही अन्तर्भुक्त हो जाते है। विशेष रसोंके प्रसंगमें उन्होंने कुछ और विशिष्ट संचारियोंकी गणना की है।

देव (१६-१७ श० ई०)ने हिन्दी आचार्योंकी परिपाटीसे पृथक् होकर नयापन ले आनेका प्रयत्न किया है। उन्होने संचारियोंके दो भेद किये हैं—शारीरिक और आन्तरिक। स्तम्भ आदिको शारीरिक और निर्वेद आदिको आन्तरिक कहते हुए उन्होंने लिखा है—"ते सारीरऽरु आन्तर द्विविध कहत भरतादि। स्तम्भादिक सारीर अरु आन्तर निर-वेदादि" (भा० वि० : संचारी०)। पर भोजके 'शृंगार-प्रकाश'में इस वर्गीकरणका स्पष्ट उल्लेख हुआ है, जिसके सम्बन्धमें पहले कहा जा चुका है। भानुदत्तने अपनी 'रसतरंगिणी'मे इसका संकेत किया है, किन्तु देवने इस वर्गीकरणको अपना न कहकर भरतादिका मान लिया है। ३४ वें संचारीके रूपमें जिस छलका उल्लेख देवने किया है, वह 'शब्दरसायन'में लुप्त हो गया है। वहाँ उन्होंने ३३ संचारियोंकी ही गणना की है। किन्तु इतना तो निश्चित है कि देव वर्गीकरणके प्रेमी थे, उन्होंने कुछ संचारियोंके अवान्तर भेद किये है, जैसे वितर्कके चार भेद—विप्रति-पत्ति, विचार, संशय और अध्यवसाय, पर इस भेदका उल्लेख भी भानुदत्तने किया है—"वितर्कश्चतुर्विधः विचारात्मा संशयात्माऽनध्यवसायात्मा विप्रतिपत्त्यात्मा चेति" (र० त०, ५)।

रामचन्द्र शुक्लने संचारियोंकी परिमित संख्याके सम्बन्धमें कहा है कि जो ३३ संचारी कहे गये है, वे उप-लक्षणमात्र है, संचारी और भी हो सकते हैं। जिस प्रकार स्मृति है, उसी प्रकार विस्मृति भी रखी जा सकती है (र० मी०, पृ० २१५–१६)। पर मुख्य रूपसे उन्होंने भी ३३ संचारियोंका ही विवेचन किया है। विरोध-अवरोधकी दृष्टिसे रामचन्द्र शुक्लने संचारियोंके चार भेद किये हैं—सुखात्मक, दुःखात्मक, उभयात्मक और उदासीन। सुखात्मक-गर्व, औत्सुक्य, हर्ष, आशा, मद, सन्तोष, चप-लता, मृदुलता, धैर्य। दुःखात्मक—लज्जा, असूया, अमर्ष, अवहित्था, त्रास, विषाद, शंका, चिन्ता, नैराश्य, उग्रता, मोह, अलसता, उन्माद, असन्तोष, ग्लानि, अपस्मार, मरण,

व्याधि। उभयात्मक—आवेग, स्मृति, विस्मृति, दैन्य, जडता, स्वप्न, चित्तकी चंचलता। उदासीन—वितर्क, मति, श्रम, निद्रा, विबोध।

"सुखात्मक भावोंके साथ सुखात्मक संचारी और दुःखात्मक भावोंके साथ दुःखात्मक संचारी परस्पर अविरुद्ध होंगे। इसी प्रकार सुखात्मक भावके साथ दुःखात्मक संचारी और दुःखात्मकके साथ सुखात्मक संचारी विरुद्ध होंगे। उभयात्मक संचारी सुखात्मक भी हो सकते है और दुःखात्मक भी, जैसे आवेग हर्षमें भी हो सकता है और भय आदिमें भी। भावके साथ विरोध ऊपर कहा गया है वह जातिगत है, अर्थात् सजातीय-विजातीयका विरोध है। इसके अतिरिक्त आश्रयगत और विषयगत विरोध जिस भाव या वेगसे होगा, वह संचारी हो ही नही सकता। जैसे, क्रोधके बीच-बीचमें आलम्बनके प्रति यदि शंका, त्रास या दया आदि मनोविकार प्रकट होते हुए कहे जायँ तो उनसे क्रोधकी पुष्टि न होगी। यही बात युद्धोत्साहके बीच त्रास आदिके होनेसे होगी। अतः ये मनोविकार क्रोध और उत्साहके संचारी नही हो सकते...सारांश यह है कि किसी भावको पुष्ट करनेवाला मनोविकार वही होगा, जो भावके लक्ष्य और प्रवृत्तिसे हटानेवाला न होगा" (र० मी०, पृ० २१६)।

भरतने भावोंके तीन भेद माने है—स्थायी, सात्त्विक और व्यभिचारी। ऊपर इस बातका संकेत किया जा चुका है कि सात्त्विक भाव व्यभिचारी भावके अन्तर्गत आ जाते है। संचारीके प्रतीतिकालमें अनुभवोंका उदय होता है। इन्हींके बाह्य संकेत अनुभाव है। आश्रय या रचयिताके भावों अथवा भावानुभूतियोंके साथ जब सामाजिकका पूर्ण तादात्म्य होता है, तब कोई भाव रस अवस्थातक पहुँचता है। रसकी अवस्थातक पहुँचनेवाला भाव ही स्थायी भाव होता है—"रसावस्थापरं भावः स्थायितां प्रतिपद्यते" (सा० द०, १७२ वृ०)। पर जब आश्रयकी शंका, लज्जा, ईर्ष्या आदिकी अभिव्यक्ति होगी, तब पाठक या सामाजिक इन भावोंसे अपना तादात्म्य नही स्थापित कर पाता। तादात्म्य-स्थापना ही वह रेखा है, जो स्थायी और संचारी भावोंको विभाजित करती है। लेकिन कोई भाव रसकी अवस्थातक विभाव, अनुभाव और संचारीके संयोगसे ही पहुँचता है। किसी स्थायी भावको रसकी अवस्थातक पहुँचानेमें संचारीका योग अनिवार्य है। लेकिन जब संचारी स्वतन्त्र रूपसे वर्ण्य विषय होता है, तब भी विभाव, अनुभाव और संचारी (संचारीका संचारी)-का योग दिखाई पड़ सकता है। पर आश्रयके इस संचारी (स्वतन्त्र रूपसे आनेपर) भावसे पाठकों या सामाजिकोंका तादात्म्य नहीं हो पाता। ऐसी स्थितिमें इसे केवल भाव (दे०) कहा जाता है—स्थायी भाव नही। इस तादात्म्यकी स्थितिको आधार मानकर आचार्योंने कुछ भावोंको स्थायी और कुछको संचारीकी कोटिमें रखा है।

यहीं यह भी विचारणीय है कि जब भावोंका सम्बन्ध मनसे है, तब संचारी भाव भी मनोविकारकी कोटिमें आ जायेंगे। किन्तु कुछ विद्वानोंने मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे विचार करते हुए इसपर आपत्ति उठायी है। मराठी 'रसविमर्ष'के लेखकने संचारियोंके सम्बन्धमे कहा है कि "तैंतीसों संचारियोंकी जाँच-पड़तालसे ज्ञात होता है कि वे सदोष हैं। उनमें सभी भाव भावनास्वरूप नहीं है। उनमें कुछ शारीरिक अवस्थाएँ है, कुछ भावनाओंके भीतर तीव्रता-प्रदर्शकके प्रकार है, कुछ प्राथमिक भावनाएँ है, कुछ समिश्र भावनाएँ हैं और कुछ ज्ञानान्तर अवस्थाएँ हैं" (र० वि०, पृ० १२८)।

रामचन्द्र शुक्लने संचारियोंके सम्बन्धमें जो विचार प्रकट किये है, वे भी बहुत-कुछ संस्कृत आचार्योंके मतोंसे भिन्न तथा रस-विमर्षके विचारोंके मेलमें है। उनका कहना है—"गिनाये हुए संचारियोंकी सूचीसे ही पता चल जाता है कि उनका क्षेत्र बहुत व्यापक है। संचारीके अन्तर्गत भावके पासतक पहुँचनेवाले, अर्थात् स्वतन्त्र विषययुक्त और लक्ष्ययुक्त मनोविकार और मनके क्षणिक वेग ही नहीं, बल्कि शारीरिक और मानसिक अवस्थाएँ तथा स्मरण, वितर्क आदि अन्तःकरणकी और वृत्तियाँ भी आ गयी है" (र० मी०, पृ० २०५)। इस तरह उन्होने संचारी भावोंकी पाँच कोटियाँ स्थिर की है—१. स्वतन्त्र विषय-युक्त भाव, २. मनके वेग, ३. अन्य अन्तःकरण-वृत्ति, ४. मानसिक अवस्था और ५. शारीरिक अवस्था।

रामदहिन मिश्रने उपर्युक्त स्वतन्त्र विचारोंका ध्यान रखते हुए प्रत्येक संचारीमें भाव सिद्ध करनेका जो प्रयत्न किया है, वह मनोवैज्ञानिक न होकर उनके पूर्वाग्रहका द्योतक है। भारतीय काव्यशास्त्रके लेखकों एवं पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकोंका एक मत है कि संचारी भावके दो पक्ष है, एक चित्तविकार और दूसरा भावनिरूपण (psychic affection and organic change)। —ब० सिं०

संतकाव्य—सन्तकाव्यके अन्तर्गत रखी जानेवाली रचनाओंको भावप्रधान कहा जा सकता है, क्योंकि उनके रचयिताओंका ध्यान जितना भावसौन्दर्यकी ओर जाता दीख पडता है, उतना उनके शब्द एवं शैलीमें चमत्कार लानेकी ओर दिया गया नही जान पडता। उच्च-से-उच्च एवं गम्भीर-से-गम्भीर भावको भी वे सदा सर्वसाधारणकी ही भाषामे व्यक्त करते है और उन्हीके मुहावरोमें उसका स्पष्टीकरण भी किया करते है। उनका उद्देश्य जितना अपनी कृतियों द्वारा 'सहृदय जनों'का मनोरंजन करना नही रहता, उतना सांसारिक प्रपंचोंमे पड़े हुए लोगोंको अपने मतानुसार, सच्चे मार्गका परिचय कराना रहता है। वे उतना दूसरोंके चरित या जीवनगाथाका वर्णन उचित नही समझते, जितना अपनी ही अनुभूतिकी अभिव्यक्ति करते है। स्वानुभूतिका व्यक्तीकरण करते समय वे बहुधा पूर्ण रूपसे सफल नहीं हो पाते, जिसके कारण उनकी वर्णनशैली स्वभावतः सदोष बन जाती है। या तो वे किसी एक ही भावको बार-बार प्रकट करते हुए दीख पडते है अथवा उपयुक्त शब्दोंके अभावमें उसे अधिक रहस्यात्मक भी बना देते है।

सन्तकाव्यका वर्ण्य विषय अधिकतर धार्मिक एवं दार्शनिक ही कहा जा सकता है। उसमे परमात्मतत्त्वकी चर्चा आती है, जिसमें उसके वस्तुतः अज्ञेय तथा अनिर्वचनीय स्वरूपका यथासाध्य परिचय कराया गया रहता है और उसके साथ जगत् एवं जीवके वास्तविक सम्बन्धका वर्णन

भी रहा करता है। सन्त लोग अपनी रचनाओंमें उस अव्यक्त सत्ताको एक विलक्षण व्यक्तित्व प्रदान करते जान पडते हैं और वे उस 'निर्गुण'को सगुण भगवान्की भाँति इष्टदेवके रूपमे स्वीकार कर उसके प्रति भक्ति और प्रेमका भाव प्रदर्शित करते भी प्रतीत होते है। वे उसकी महिमाका गान करते नहीं अघाते और उसे प्राप्त करनेकी विविध चेष्टाओंके साधनस्वरूप अनेक साधनाओंका उल्लेख भी करते रहते है। उनके ऐसे कथनोंसे कभी-कभी ऐसा लगता है कि उन्होंने स्वयं भी उस तत्त्वको उपलब्ध कर लिया है और इसीलिए, उनके बहुतसे उद्गार स्वानुभूतिकी तीव्रता और तज्जन्य आनन्दसे प्रेरित रहा करते है और इसके साथ ही वे दूसरों को अन्य बातोंके परित्यागका उपदेश भी देते है। वे प्रसंगवश अन्य मतोंकी कडी आलोचना भी करते दीख पडते है और उन्हे मूल बातको छोड़कर बाह्य विस्तारमें पडनेवाला भी ठहराया करते है। वे किसी भी एक धर्मको, चाहे वह हिन्दू धर्म हो, इसलाम हो, जैन धर्म हो अथवा बौद्ध, शाक्त या शैव हो, अपने लिए आदर्श मानते नहीं जान पडते और इन सभीमे उन्हें प्रायः एक समान साम्प्रदायिक संकीर्णताकी गन्ध आती प्रतीत होती है। अपने व्यक्तिगत उद्गारोंमे वे साधारणतः अपनी एकान्तनिष्ठाका परिचय देते है, किन्तु ऐसा करते समय भी वे एक व्यापक जीवनकी ओर संकेत करते हैं, जिसमे सारे विश्वका कल्याण समाहित हो।

सन्त कवि इस प्रकारके विषयोंको विशेषकर अपनी साखियों तथा 'शब्दों', अर्थात् पदोंके माध्यम द्वारा प्रकट या प्रतिपादित करते है। 'साखी' शब्द संस्कृतके 'साक्षी' शब्दका रूपान्तर है, जिसका अर्थ किसी बातको अपनी आँखों देख चुकनेवाला और इसी कारण उसके सम्बन्धमें किसी प्रश्नके उठनेपर, प्रमाणस्वरूप भी समझा जानेवाला व्यक्ति हुआ करता है तथा कदाचित् इसीलिए 'कबीर बीजक'में इस काव्यप्रकारका परिचय 'ज्ञानकी आँखी' कहकर भी दिया गया है। इन साखियोंमें प्रधानतः ऐसे विषय ही आते दीख पडते हैं, जिन्हें सन्तोंने अपने दैनिक जीवनमें भली भाँति समझकर प्रमाणित कर लिया है अथवा जिन्हें वे अपनी निजकी कसौटीपर पहलेसे कस चुकनेके कारण साधिकार व्यक्त करनेकी क्षमता रखते हैं। ये रचनाएँ प्रायः 'दोहा' नामक छन्दमें पायी जाती हैं और कभी-कभी इन्हे 'सोरठा'में भी व्यक्त किया गया है। इसके अतिरिक्त सन्तोंकी साखियोंके अन्तर्गत बीच-बीचमें सार, हरिपद, चौपाई, चौपई, दोही, सरसी, गीता, मुक्तामणि, श्याम उल्लास या छप्पय जैसे छन्द भी आ जाया करते है, जिनका 'दोहा'के साथ अधिक सम्बन्ध नहीं है। इन साखियोंका एक पर्याय 'सलोक' भी समझा जाता है, जिसके उदाहरण सिखोंके 'आदिग्रन्थ'में मिलते हैं। परन्तु साखियोंको जहाँ 'अंग' जैसे शीर्षकोंके नीचे विभिन्न वर्गोंमें विभाजित किया गया देखा जाता है, वहाँ 'सलोकों'के विषयमें ऐसा नही कहा जा सकता। सन्तोंकी भाँति सूफी कवियोंने भी इस प्रकारके छन्दोंका प्रयोग किया है, किन्तु उनके यहाँ इसे फुटकर रूपोंमें प्रायः 'दोहरा' नाम दिया गया मिलता है, जो प्रत्यक्षतः 'दोहा' शब्दका ही एक रूपान्तर है। दोहा एवं चौपाई छन्दोंका एक साथ प्रयोग सूफी कवियोंने अपनी प्रेमगाथाओंमे किया है, जिसका एक रूप कतिपय सन्तोंकी 'रमैनियों'में भी दीख पडता है। इन छन्दोंके प्रयोगवाला एक दूसरा काव्य-प्रकार 'ग्रन्थ-बावनी' नामसे मिलता है, जिसकी द्विपदियोंका आरम्भ क्रमशः नागरी लिपिके बावन अक्षरोंसे होता है और जिसकी पद्धतिपर निर्मित 'अखरावती', 'चौंतीसा', 'ककहरा' आदि तथा फारसी लिपिके अक्षरानुसार लिखे जानेवाले 'अलिफनामा', 'सीहर्फी' आदि पाये जाते हैं।

सन्तोंकी 'सबद' (शब्द) अथवा पद नामक रचनाएँ अधिकतर गेय हुआ करती हैं और इनमे उनके आत्मनिवेदन जैसे व्यक्तिगत उद्गारोंकी ही प्रधानता रहती है। आकारकी दृष्टिसे ये पद छोटे या बडे, सभी प्रकारके हो सकते है, किन्तु इनकी कोई-न-कोई पंक्ति ऐसी भी होती है, जो 'टेक' या 'रहाउ'के रूपमें दोहराई जाती हैं। इन पदोंको ही सन्तोंकी 'बानी' कहनेकी भी प्रथा है, यद्यपि इस शब्दका प्रयोग उनकी सभी प्रकारकी रचनाओंके लिए भी किया गया मिलता है। पदो एवं साखियोंकी रचना केवल फुटकर पद्योंके रूपमे की गयी दीख पडती है, किन्तु रमैनियोंके विषयमें हम ऐसा नही कह सकते। इनकी दोहा-चौपाइयाँ एक साथ क्रमिक रूपमें आकर किसी विषयके विवरणात्मक वर्णनके लिए अधिक उपयुक्त ठहरती हैं। फिर भी, सन्तोंने इनके माध्यमसे, किसी प्रबन्धकाव्यकी रचनाका बहुत कम प्रयास नही किया है। और केवल दो-चारको छोड़कर सूफी कवियोंकी भाँति प्रेमगाथाओंका निर्माण भी नही किया है। इसी प्रकार सूफी कवियोंने जहाँ अपनी 'बारहमासा' नामक रचनाओ द्वारा प्रेमिकाओंका विरहवर्णन कर अपनी एक विशेषताका परिचय दिया है, वहाँ सन्त कवियोंने इस नामवाले अपने पद्योंका उपयोग अधिकतर उपदेश-दानमें ही किया है। सन्तोंकी रचनाओंमें इसी प्रकार कुछ ऐसे पद्य एवं पद्यसमूह भी मिलते है, जिनमें साम्प्रदायिक बातोंके उल्लेख तथा पौराणिक वर्णनोंके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं पाया जाता। ऐसी कृतियोंके नाम प्रायः गोष्ठी, गुष्टी, संवाद, बोध जैसे शब्दोंको अन्तमें जोड़कर रखे गये दीख पड़ते हैं। इनमें तथा 'माहात्म्यों', 'सहस्रनामों' आदिमें भी हमें काव्यकी सरसताका सर्वथा अभाव मिलता है और वे रचनाएँ भी ऐसी ही हैं, जो वारों, तिथियों, ग्रहों, योगों आदिके व्याजसे अथवा पहाडेके अंकोंके अनुसार निर्मित की गयी मिलती हैं।

परन्तु सन्तकाव्यके अन्तर्गत गिनी जानेवाली कुछ ऐसी भी रचनाएँ मिलती है, जिनका लोकगीतोंके अवशिष्ट रूपमें अपना एक पृथक् महत्त्व है। ऐसी रचनाओंमें हम चाँचर, वसन्त, फाग, हिंडोला, बेलि, ककहरा, बणजारा, ब्याहलो, बिरहुली आदिके नाम गिना सकते है। इनमे प्रथम तीनका सम्बन्ध वसन्त ऋतुके उल्लासपूर्ण उत्सवोंके अवसरपर गाने योग्य गीतोंके साथ जोडा जा सकता है और इन दोनोंकी रचनाशैलीमें भी बहुत-कुछ सादृश्य है। सन्तोंने अपनी रचनाओंमें अपने विषयोंका ही वर्णन किया है, किन्तु इन विशिष्ट वर्णन-शैलियोंका लाभ उठाकर उन्हें बहुत-कुछ रोचक भी बना दिया है। इसी प्रकार ककहरा

और हिंडोलाके साथ क्रमशः कहरवा एवं हिंडोलका नाम-साम्य देखकर हमें इन नामोंसे प्रचलित गीत-पद्धतियोंका भी स्मरण हो आता है और हमें यहाँ भी यह अनुमान करते देर नहीं लगती कि सन्त कवियोंने उनकी लोकप्रियतासे अपना काम निकालनेकी चेष्टा की होगी। बेलि, ब्याहलो और बणजारा भी ऐसे लोकगीतोंके प्रकार जान पड़ते हैं, जो सर्वसाधारणमें गाये जाते होंगे तथा जिनके आधारपर किसी रूपकका निर्माण करना सरल बन जाता रहा होगा। 'कबीर बीजक'में तो 'बिरहुली' तथा 'विप्रमतीसी' शीर्षकोंसे भी दो रचनाएँ मिलती हैं, जो कदाचित् किन्हीं पूर्वप्रचलित लोकगीतोंका अवशिष्ट रूप प्रकट करती हैं, किन्तु जिनका उपयोग वहाँ अपने वर्ण्यविषयके समर्थनमें ही किया गया है। बहुतसे सन्तोंकी रचनाओंमें हमें कवित्त, सवैया, कुण्डलिया जैसे छन्दों तथा गजल, रेखता जैसे फारसी बहरोंके भी उदाहरण मिलते हैं तथा इसी प्रकार ठुमरी, तिल्लाना जैसे गाने भी पाये जाते हैं। उनके पदोंकी रचना अधिकतर संगीतके क्षेत्रमें प्रयुक्त होनेवाले गूजरी, मारू, बिभास, भैरउ, बिलावल जैसे नामके रागोंके अनुसार की गयी भी समझी जाती है। वास्तवमें सन्तकाव्यकी रचना ठेठ साहित्यिक निर्माण-पद्धतिका उतना अनुसरण नहीं करती, जितना विशेष प्रचलित काव्य-प्रकारोंका अनुगमन करती है।

सन्तकाव्यकी रचनाका आरम्भ, ईसवी सन्‌की बारहवीं शताब्दीमें ही हो गया होगा। अभीतक इस बातको स्वीकार कर लेनेमें कोई विशेष आपत्ति नहीं की जाती कि सन्त-परम्पराके सर्वप्रथम पथप्रदर्शक प्रसिद्ध भक्त कवि जयदेव थे, जिन्होंने 'आदिग्रन्थ'में संगृहीत पदोंकी भी रचना की थी। उनके समयसे लेकर सोलहवीं शताब्दीके पूर्वार्द्धतक वह युग था, जिसमें सन्त सधना, वेणी, त्रिलोचन, नामदेव, रामानन्द, सेना नाई, कबीर, पीपा, रैदास, कमाल एवं धन्ना भगत जैसे बहुतसे सन्तकवि हुए, जिनमेंसे सभीकी सम्पूर्ण रचनाएँ अभीतक उपलब्ध नहीं हो पायी हैं। इस प्रारम्भिक युगके प्रथम दो सौ वर्षोंतकके केवल कुछ ही सन्तोंका पता चलता है, जिनकी कुछ-न-कुछ रचनाएँ मिलती हैं। शेष डेढ़ सौ वर्षोंमें ही अनेक ऐसे सन्त मिलते हैं, जिन्होंने न केवल बादमें आनेवालोंके लिए पथप्रदर्शनका काम किया, अपितु जिनमेंसे कुछकी रचनाओंका स्तर साहित्यिक दृष्टिसे भी अधिक नीचे नहीं रहा। इनमें कमसे कम नामदेव, कबीर साहब एवं रैदास तीन ऐसे हैं, जिनकी रचनाएँ प्रचुर मात्रामें मिलती हैं तथा जिनमें प्रतिभाकी भी कमी नहीं जान पड़ती। नामदेवकी रचनाएँ तो मराठी भाषामें भी उपलब्ध हैं और वहाँ भी उनकी गणना ज्ञानेश्वर, तुकाराम, समर्थ रामदास और एकनाथके साथ की जाती है। इसी प्रकार सन्त रैदासकी अबतक प्राप्त रचनाओंकी संख्या अधिक न होनेपर भी, उनमें उनके गहरे भगवत्प्रेम, सरलहृदयता आदिकी सफल अभिव्यक्तिके प्रमाणित करनेके लिए पर्याप्त सामग्री मिल जाती है और हम उनकी सीधी-सादी एवं सर्वथा व्याजविहीन कथनशैली द्वारा प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। जहाँतक सन्त कबीर साहबकी उपलब्ध रचनाओंका प्रश्न है, उनका एक बहुत बड़ा अंश ऐसा है, जो वस्तुतः किसी भी श्रेष्ठ कृतिकी कोटिमें रखा जा सकता है। उनकी पंक्तियोंमें हमें प्रायः उन सभी गुणोंका समावेश दीखता है, जो किसी प्रतिभाशाली कविकी अकृत्रिम रचनाओंमें पाये जाते हैं। कबीर साहबकी रचनाएँ उनके अनन्तर आनेवाले सन्तकवियोंके लिए आदर्शरूप सिद्ध हुईं और उनकी एक परम्परा ही चल निकली।

परन्तु कबीर साहबके समयतक सन्तोंकी कोई सुव्यवस्थित कार्यपद्धति नहीं दीख पड़ी और जितने भी ऐसे लोग हुए, उन्होंने व्यक्तिगत रूपसे ही काम किया। गुरु-नानक और दादूदयालके प्रयत्नोंसे जब साम्प्रदायिक संघटनोंकी नींव पड़ने लगी, उनकी एक पृथक् परम्परा भी आ गयी और तदनुसार उनकी जितनी भी रचनाएँ प्रस्तुत हुईं, उन्हें संगृहीत करने तथा अपने प्रचारकार्यके लिए सुरक्षित रखनेकी एक प्रणाली चल निकली। यह समय सन्तसाहित्यके इतिहासका मध्ययुग था, जिसमें साम्प्रदायिक संघटनोंका कार्य बड़े उत्साहके साथ किया गया और उसी प्रकार उनके साहित्यका प्रचार भी हुआ। इस युगतक सन्तोंका कार्यक्षेत्र भी बहुत विस्तृत हो चुका था, जिसके कारण सन्तसाहित्यके अन्तर्गत न केवल अवधी और भोजपुरी, अपितु पंजाबी, राजस्थानी और निमाड़ीतककी रचनाएँ सम्मिलित होने लगीं और इनमेंसे कुछ महत्त्वपूर्ण संग्रहोंकी धर्मग्रन्थों जैसी प्रतिष्ठा भी आरम्भ हो गयी।

सन्तकाव्यकी रचनाका मध्ययुग ईसवी सन्‌की सोलहवीं शताब्दीसे लेकर उसकी अठारहवींके अन्ततक चलता है। जबतक पन्थों और सम्प्रदायोंकी संख्या निरन्तर बढ़ती चली गयी और लगभग उसी मात्रामें वैसे साहित्यके निर्माणकी ओर भी प्रयत्न होता चला गया तथा इसके परिणामस्वरूप एक विशाल ग्रन्थराशि अस्तित्वमें आ गयी। यह युग हिन्दी साहित्यके इतिहासका भी मध्यकाल समझा जाता है और इसके पूर्वार्द्धको 'भक्तिकाल' तथा उत्तरार्द्धको 'रीतिकाल' कहनेकी परिपाटी चली आती है। सन्तकाव्यकी रचनाकी दृष्टिसे 'रीतिकाल'की विशेषता उस समयकी निर्माण-शैलीमें लक्षित हुई। नये-नये छन्दोंका प्रयोग होने लगा, कभी-कभी रचना-शैलीको सुधारने और सँवारनेतककी ओर ध्यान दिया जाने लगा तथा कतिपय सन्तोंने प्रबन्धरचनाकी भी चेष्टा की। अतएव जहाँतक सन्तकाव्योंकी संख्यावृद्धि और उनके रूपवैविध्यका प्रश्न है, इसमें बहुत बड़ी उन्नति हुई, किन्तु उनके उच्च स्तरके विचारसे यह काल उतना उल्लेखनीय नहीं कहा जा सकता। बहुत-से सन्त कवियोंने तो अपने पूर्ववर्ती प्रचारकोंका केवल अन्धानुसरणमात्र किया और उनकी अधिकांश रचनाएँ कोरी परम्परानिर्वाहका उदाहरण बनकर ही रह गयीं।

सन्तकाव्यके इतिहासका आधुनिक युग उन्नीसवीं शताब्दीसे आरम्भ होता है, जबसे उसकी रचनाओंके अन्तर्गत परम्परागत बातोंके अधिक स्पष्टीकरण तथा उनके आलोचनात्मक परिचयकी प्रवृत्ति जाग्रत् होती दीख पड़ती है, तबसे सन्त कवियोंका ध्यान अपने वर्ण्य विषयके मूल रूपकी ओर भी जाता जान पड़ता है। इधरके सन्त अपनी वर्णन-शैलीको उतना भी महत्त्व देते नहीं प्रतीत होते, जितना आदिकालीन सन्त कवियोंकी बानियोंके आधारपर

सिद्ध किया जा सकता है। इनकी रचनाओंमें इन न तो अलंकारोंके वे प्रयोग मिलते हैं, जो उनमेंसे कुछकी एक विशेषता-सी बन गये थे और न वैसे शब्दचित्रण ही उपलब्ध होते हैं। इस ओर इन्हें उनके उत्तराधिकारमें केवल भाषा, व्याकरण, पिंगल आदिके प्रति उपेक्षामात्र ही मिली है। ये उन उलटवाँसियोंका भी सफल प्रयोग नहीं कर पाते, जो सन्त कबीर, सुन्दरदास, पलटू साहब आदिकी रचनाओंमें विशेष रूपसे पायी जाती है और जिनमें लक्षित होनेवाली अपूर्व उक्तिचातुरीका एक अपना पृथक् महत्त्व है। उलटवाँसियोंकी रचना-शैलीका आरम्भ कभी गम्भीर-से-गम्भीर विषयोंकी भी ओर सर्वसाधारणका ध्यान आकृष्ट कर उनके प्रति उनकी उत्सुकता जाग्रत् करनेके उद्देश्यसे हुआ था और कबीर साहबने भी इनका प्रयोग अपने गूढ़तम रहस्योंका उद्घाटन करते समय किया था, परन्तु पीछे इसमें जान-बूझकर विविध गुत्थियोंका समावेश किया जाने लगा, जिस कारण इस सुन्दर शैलीमें भी बहुत-कुछ कृत्रिमता आ गयी। फिर भी जहाँतक सन्तमतकी विशिष्ट बातोंके वर्ण्य विषय होनेका सम्बन्ध है, सन्तकाव्यका अधिकांश प्रधानतः उन बातोंसे ही भरा दीख पड़ता है, जिन्हें पूर्वकालीन सन्तोंने भी अपनी रचनाओंमें स्थान दिया था। सन्तकाव्यकी प्रमुख विशेषता उसमें निहित उदात्त भावोंकी प्रधानता है, जिनका न केवल विशुद्ध जीवनके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, अपितु जिनकी अभिव्यक्ति भी प्रधानतः ऐसे व्यक्तियों द्वारा ही की गयी है, जिन्होंने स्वानुभूतिकी प्रयोगशालामें उनका मूल्यांकन कर लिया है।

[सहायक ग्रन्थ—सन्तकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी।] —प० च०

संतमत—'सन्त' शब्दका प्रयोग साधारणतः किसी भी पवित्रात्मा और सदाचारी पुरुषके लिए किया जाता है और कभी कभी यह 'साधु' एवं 'महात्मा' शब्दोंका पर्याय भी समझ लिया जाता है, किन्तु 'संतमत' शब्दमें आ जानेपर इसका एक पारिभाषिक अर्थ भी हो सकता है, जिसके अनुसार यह उस व्यक्तिका बोध कराता है, जिसने सत्-रूपी परमतत्त्वका अनुभव कर लिया हो और जो इस प्रकार अपने व्यक्तित्वसे ऊपर उठकर उसके साथ तद्रूप हो गया हो। अतएव विशिष्ट लक्षणोंके अनुसार 'सन्त' शब्दका व्यवहार केवल उन आदर्श महापुरुषोंके ही लिए किया जा सकता है, जो पूर्णतः आत्मनिष्ठ होनेके अतिरिक्त समाजमें रहते हुए, निःस्वार्थभावसे विश्वकल्याणमें प्रवृत्त रहा करते हैं। इसके सिवा यह शब्द अपने रूढ़िगत अर्थमें उन ज्ञानेश्वर आदि निर्गुण भक्तोंके लिए भी प्रयुक्त होता आया है, जो दक्षिणके विट्ठल वा वारकरी सम्प्रदायके प्रचारक थे और कदाचित्, अनेक बातोंमें उन्हींके समान होनेके कारण उत्तरी भारतके कबीर आदिके लिए भी, इसका प्रयोग होने लगा है। तदनुसार 'सन्तमत'से अभिप्राय प्रधानतः कबीर आदि सन्तोंकी उन स्वीकृतियोंका हो सकता है, जिनका प्रचार लगभग पाँच-छः सौ वर्ष पहले हुआ था, किन्तु जिनकी एक परम्परा बराबर एक समान अविच्छिन्न रूपमें प्रचलित चली आयी है। जान पड़ता है कि 'सन्तमत'की जगह पहले इसके एक पर्याय 'निर्गुणमत'का प्रयोग होता रहा है और इसे प्रसिद्ध वेदान्तसे अभिन्न भी समझा जाता रहा (दे० 'निरगुन मत सोई वेदको अन्ता': सन्त गुलाल, अठारहवीं शताब्दी), किन्तु सन्त तुलसी साहब (उन्नीसवीं शताब्दी)के समयमें इसका प्रयोग अपने वर्तमान रूपमें भी होने लगा (घटरामायन, पृ० १४३)। सन्त तुलसी साहबका कथन है कि 'सन्तमत' अत्यन्त गूढ़ मत है और इसके वास्तविक रहस्यका परिचय 'ब्रह्मावेद' और 'विराट् भगवान्'तकको नहीं है। 'सन्तमत'को ही कभी-कभी 'निर्गुण सन्तमत' भी कह देते हैं और उसमें लक्षित होनेवाले दार्शनिक सिद्धान्तको 'सगुणवाद'के साथ विरोध प्रदर्शित करनेके लिए 'निर्गुणवाद'का नाम दे देते हैं।

'सन्तमत' स्वभावतः किसी सम्प्रदायविशेषके मूल प्रवर्तक द्वारा प्रचलित किये गये सिद्धान्तोंका संग्रहमात्र नहीं है और न यह किसी ऐसे पद्धतिविशेषका ही परिचायक समझा जा सकता है, जिसे विभिन्न सन्तोंके उपदेशोंके आधारपर निर्मित किया गया हो। इसमें आस्था रखनेवाले प्रत्येक व्यक्तिके लिए यह नितान्त आवश्यक है कि वह इसकी बातोंको अपने निजी अनुभवों द्वारा प्रमाणित भी कर ले। यह न दूसरोंके कहने-सुननेपर विश्वास कर लेनेपर निर्भर है और न इसे हम तर्क-वितर्क द्वारा सिद्ध करके ही समझ सकते अथवा हृदयंगम कर सकते हैं। सन्त कबीर साहबने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि इसके मूल तत्त्व "राम नामकी चर्चा सभी किया करते हैं, किन्तु इसके रहस्यका परिचय किसीको भी नहीं हो पाता। बाहरसे इसका कथन कर देना मुझे पसन्द नहीं। मेरी धारणा तो यह है कि वह वस्तु अकथनीय है, जिस कारण उसका मर्म केवल स्वानुभूतिपर ही आधारित है" (क० ग्रं०, पृ० २१८)। इसीलिए उन्होंने स्वयं अपने विषयमें भी बतलाया है कि "सतगुरुने उस तत्त्वके विषयमें मुझसे विचार करके कहा था, किन्तु मैं उसे केवल अपने अनुभवके अनुसार ही जान सका" (वही, पृ० ३८६), जिसका तात्पर्य यह है कि शुद्ध स्वानुभूति ही उनके मतकी आधारशिला है और उनके ज्ञानको भी इसी कारण 'सहजज्ञान'का नाम दे सकते हैं। सन्त कबीर साहब क्या, किसी अन्य सन्तको भी हम विशुद्ध दार्शनिक नहीं कह सकते, अपितु अधिक-से-अधिक उसे एक साधक ही ठहरा सकते हैं और उसके मत-को भी इसीलिए हम किसी प्रकारके तत्त्वज्ञानकी कोटिमें न रखकर उसे एक प्रकारके जीवन-दर्शनकी ही संज्ञा दे सकते हैं। फिर भी सन्तोंकी रचनाओंके आधारपर हमें उनकी मूल धारणाओंका पता चलता है और यह भी स्पष्ट हो जाते देर नहीं लगती कि उनके सिद्धान्तों एवं साधनाओं-की प्रमुख बातें क्या रही होंगी।

सन्तोंने अपनी रचनाओंमें, परमतत्त्वके विषयमें कथन करते समय, उसे अनेक नाम दिये हैं, जिनमेंसे कुछ तो व्यक्तिगत हैं और अन्य केवल भाववाचक संज्ञा जैसे लगते हैं और इन दोनोंके उदाहरणमें हम क्रमशः 'राम' एवं 'सत्'की चर्चा कर सकते हैं। 'सत्' उसे इसलिए कहा जाता है कि उसके विषयमें हम विशुद्ध अस्तित्वसे अधिक कुछ भी नहीं कह सकते और वह 'राम' भी केवल इसलिए कहा जा सकता है कि वह सारी वृत्तियोंके रमण करनेका

परमोत्कृष्ट क्षेत्र भी है। उसका तात्त्विक स्वरूप कैसा है, वह पूर्ण रूपसे किसीको भी विदित नहीं हो सकता, किन्तु ऐसे कथनको हम 'अद्वैतवाद' कह सकते हैं और यदि उस 'अद्वैत' तत्त्वको किसी ईश्वरके रूपमें भी स्वीकार किया जाय तो इसे 'एकेश्वरवाद'का नाम भी दे सकते हैं। सन्तोंने उसका वर्णन कभी-कभी इस रूपमें किया है, जैसे वह सर्वव्यापक और सर्वान्तर्यामी हो, किन्तु इसके साथ ही वे उसे सबसे परे या 'परात्पर' भी ठहराने लगते हैं। इस प्रकार वे उसे एक अत्यन्त विलक्षण रूप देते जान पड़ते हैं और इसी कारण वे उसे न तो 'सगुण' कहते हैं और न उसे 'निर्गुण' कहकर ही सन्तोष करते हैं। ऐसी दशामें उसके किसी व्यक्तित्वकी कल्पना भी करना कभी सम्भव नहीं हो सकता और न वह भक्तोंके लिए इष्टदेव ही बन सकता है। परन्तु सन्तोंने उसे न केवल ऐसे नाम दिये हैं, जो व्यक्तित्वके वाचक हैं, प्रत्युत उसके प्रति भक्तिभावका प्रदर्शन भी किया है। उनका 'राम', यद्यपि वह प्रसिद्ध दाशरथी रामसे नितान्त भिन्न कहा जा सकता है, अपने आरोपित गुणोंके अनुसार उससे सर्वथा विलक्षण नहीं है। वह भक्तोंके ऊपर दया कर सकता है और उन्हें अपना भी सकता है। प्रमुख अन्तर यह है कि सन्त लोग उसे वस्तुतः अपनेसे पृथक् भी नहीं स्वीकार करते और उसकी उपलब्धिका होना अपने भीतरके 'सहजज्ञान'पर ही निर्भर समझते हैं।

इस प्रकार सन्तोंकी दृष्टिमें परमात्मतत्त्व एवं जीवतत्त्वमें मूलतः कोई भी अन्तर नहीं है और वे इन दोनोंको एक और अभिन्नतक ठहरा सकते हैं। जीव उस परमात्माको तभीतक अपनेसे पृथक् मानता है, जबतक उसे उसका बोध नहीं होता। वस्तुस्थितिका परिचय पाते ही वह उसके साथ जलमें जलकी भाँति मिलकर एक और अभिन्न बन जाता है और फलतः एक ऐसी स्थितिमें आ जाता है, जिसमें उसे पूर्ण शान्ति एवं परमानन्दका अनुभव होने लगता है। उस दशामें ऐसे साधकको उस परमात्मतत्त्व और अपने आत्मतत्त्वसे पृथक् किसी जगत्तत्त्वका भी ज्ञान नहीं रह जाता। वह सब कहीं केवल उसी अभिन्न रूपको व्याप्त पाता है। वह जगत्के प्रत्येक पदार्थमें परमात्मतत्त्वका साक्षात् करता है और इसी कारण उसे अपनेसे भी कभी भिन्न नहीं समझता। ऐसी मनोदशाके हो जानेपर उसका न तो कोई अपना निजी आत्मीय रह जाता है और न उसके लिए कोई ऐसा ही प्राणी मिलता है, जिसके प्रति वह द्वेषभाव प्रकट कर सके। सन्तोंके 'निर्वैर धर्म'के लिए यही मनोवृत्ति आधारका काम करती है और वे इसीके अनुसार विश्व-कल्याणकी भावना भी प्रकट करते दीख पड़ते हैं। सन्तोंके यहाँ कोरी दार्शनिकताका कोई महत्त्व नहीं है, जिससे वहाँ परम तत्त्व जीव एवं जगत्के वास्तविक स्वरूप तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धादिपर विस्तृत विचार किया गया पाया जाय। उन्होंने ऐसी सारी बातोंकी चर्चा केवल प्रासंगिक रूपमें ही की है और उनका वर्णन या तो उन्होंने प्राचीन भारतीय दर्शनोंकी पद्धतिपर ही कर दिया है अथवा उन्हें प्रायः ऐसे रूपोंमें चित्रित किया है, जो सर्वत्र स्पष्ट नहीं होते।

सन्तमतमें सिद्धान्तोंकी अपेक्षा साधनाओंका परिचय करानेकी ओर कहीं अधिक ध्यान दिया गया है। सन्त लोगोंकी धारणा है कि परम तत्त्वको अपने अनुभवमें लानेके लिए हमें अपनी वृत्तिको बहिर्मुखसे अन्तर्मुख कर लेना अत्यन्त आवश्यक है; परमात्मा कहीं बाहर नहीं है, जिससे उसके लिए बाह्य पूजा-पाठ, तीर्थयात्रा, वेशधारण अथवा वेदादिके अध्ययनतकका प्रयत्न किया जाय। वह जैसे सर्वत्र व्यापक है, वैसे हमारे भीतर भी है और जो कुछ हमारे बाहर ब्रह्माण्डमें दीख पड़ता है, उसका कोई भी ऐसा अंश नहीं, जिसे हम अपने भीतर न पा सकें। अतएव हमें चाहिये कि सबसे पहले अपनी अन्तर्दृष्टिसे काम लें और ऐसी साधना करें, जिससे हमारे लिए सारा भेद खुल जाय। अन्तर्दृष्टिकी दशामें हमारी सभी इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ सिमटकर केवल मनमें केन्द्रित हो जाती हैं और इस प्रकार उनमें एकोन्मुखता भी आ जाती है। तदनुसार ऐसे मनका फिर क्रमशः स्थूलसे सूक्ष्म एवं सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर विषयोंमें प्रवेश होता चला जाता है और अन्तमें एक ऐसी स्थिति आ जाती है, जब हम आत्मनिष्ठताके आनन्दका अनुभव करने लग जाते हैं। सन्तोंके कथनानुसार हमारा मन यहाँ आकर नितान्त विशुद्ध बन जाता है और यहीं उसे परमात्मतत्त्वके साथ तद्रूपता और तदाकारता भी उपलब्ध हो जाती है। अन्तर्दृष्टियोंको इस प्रकार फेरने तथा उसे मनोदशाकी इस स्थितितक लानेके लिए हम योगसाधनाको काममें ला सकते हैं, जिसका बार-बार उल्लेख किया जाता है। परन्तु सन्तोंकी योग-साधनामें 'कायासाधन'की अपेक्षा 'मनोमारण'की ही ओर अधिक ध्यान दिया गया दीख पड़ता है।

सन्तमतकी साधना 'सहज साधना' कहलाती है, क्योंकि उसमें न तो किसी मार्गविशेषको ग्रहण करनेका आग्रह है और न वहाँ यही व्यवस्था दी गयी मिलती है कि या तो अपने सांसारिक बन्धनोंका सर्वथा परित्याग कर दिया जाय अथवा अपनेको प्रपंचोंमें आचूड मग्न कर दिया जाय। उसमें तपस्वियोंके आत्मपीडन अथवा वाममार्गियोंके मुद्रादि साधनकी भी अतिमात्रा नहीं दीख पड़ती। उसका अपना मार्ग विशुद्ध 'मध्यम' मार्ग है, जिसके अनुसार समाजमें रहते हुए तथा किसी भी एक उपयुक्त साधनाको अपनाते हुए आत्मोपलब्धिकी दशातक पहुँच सकते हैं। सन्तोंकी इस साधनामें किसी ऐसी 'समाधि'को भी स्थान नहीं, जो किसी अवधिविशेषतक ही कायम रह सके। सन्तमतकी आदर्श समाधि वह अपूर्व स्थिति है, जो साधकोंके जीवनभर एकरस बनी रहे और उसमें किसी क्षणिक परिवर्तनकी आशंका भी न आने पाये। इसीलिए उसे 'सहज समाधि'का भी नाम दिया गया है। सन्तोंका कहना है कि हमारी साधनाका पूर्णतः सिद्ध हो जाना तभी सार्थक है, जब हमारे जीवनमें पूरा कायापलट आ जाय, जब हमारी सारी वृत्तियोंकी रुझान पूर्ववत् न रहकर सर्वथा नवीन रूप ग्रहण कर ले और हमारे लिए पुनर्जन्मकी जैसी स्थिति भी आ जाय। सन्तोंने इसलिए, इस दशाको 'जीवत मृतक' भी कहा है और बतलाया है कि इसमें पहुँचकर साधक जहाँ अपने पहले जीवनकी दृष्टिसे, 'मृतक' बन जाता है, वहाँ इस नवीन दृष्टिसे अमरत्व भी पा लेता

है। 'जीवत मृतक' वह जीवन्मुक्त पुरुष है, जो सदा किसी ब्राह्मी स्थितिमें लीन रहा करता है तथा उसमें रहते हुए भी कभी समाजके प्रति उपेक्षाका भाव नहीं प्रदर्शित करता।

परन्तु सन्तोंकी 'सहज समाधि'का इस प्रकार निरन्तर बना रहना यदि असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य कहा जा सकता है। दैनिक जीवनमें बहुधा ऐसी समस्याओंका सामना करना पड़ जाता है, जो हमारे किसी भी दृष्टिकोणको सन्तुलित रहने नहीं देती। अनेक प्रलोभन आते हैं, जिनकी ओर हमारी वृत्तियाँ स्वभावतः खिंचने लग जाती है और बहुत-से ऐसे प्रतिकूल प्रसंग भी आ जाते हैं, जिनके कारण पलायनकी प्रवृत्ति बल ग्रहण करने लगती है। राग-द्वेष एवं हर्ष-शोकके भाव जागरित करनेवाले अवसर प्रायः प्रत्येक क्षणमें आ जाया करते हैं और हमारे चित्तको विचलित कर देते हैं। सन्तोंने इसी कारण इस प्रश्नपर बड़ी गम्भीरताके साथ विचार किया है और इसे सुलझानेके लिए कुछ उपाय भी निर्दिष्ट किये हैं। उनका सर्वप्रथम उपदेश यह है कि हम अपने मनको सदा 'नाम-स्मरण'में लगाये रहें और उसमें एक पलके लिए भी विरत न हों। जिस प्रकार कोई माता अपने दैनिक कार्योंमें व्यस्त रहती हुई भी अपने बच्चेकी सुधि नहीं भूलती, कोई गाय, चरागाहमें चरते हुई भी, अपने बछड़ेका स्मरण करती रहती है तथा जिस प्रकार कोई पनिहारिन अपनी सखियोंके साथ हंसते-खेलते जाती हुई भी, अपने सिरपर रखे घड़ेकी ओरसे ध्यान नहीं हटाती, उसी प्रकार हम 'सुमिरन'का स्वभाव डालकर कभी परमात्मतत्त्वसे विलग नहीं रह सकते और इस प्रकार यदि उसमें हमारी स्थिति सदा बनी रह गयी तो फिर हमारा सन्तुलन भी नहीं बिगड़ सकता। सन्तों द्वारा निर्दिष्ट की गयी इस 'नाम-स्मरण' वा 'सुमिरन'की साधनाको, उनके पारिभाषिक शब्दोंमें, 'सुरतशब्द योग'का भी नाम दिया गया मिलता है। 'सुरत' हमारी मूल वृत्ति है, जो 'शब्द' अर्थात् हमारे शरीरमें उठनेवाले अनाहत नादसे बराबर जुड़ी रहा करती है और इस प्रकार उसके साथ तदाकारता ग्रहण किये रहनेके कारण, इसके ऊपर किसी दूसरे रंगके चढ़नेका कभी कोई संयोग ही नहीं आ पाता।

सन्तोंने हमारी 'सुरत'को 'शब्द'की ओर सर्वप्रथम उन्मुख करनेके लिए किसी 'सत्गुरु'के माध्यमकी भी आवश्यकता बतलायी है। ऐसा गुरु कोई विस्तृत रूपसे शिक्षा देनेवाला साधारण उपदेशक नहीं हुआ करता, प्रत्युत वह एक मार्गप्रदर्शकमात्र ही रहा करता है। वह केवल संकेत कर देता है और उसके शब्दोंमें निहित विलक्षण 'जुगुति'के सहारे साधक अपनी साधना आप-से-आप ठीक कर लेता है। इसके सिवाय, ऐसे साधकके लिए 'सन्तमत'में सत्संगके वातावरणमें रहना भी अत्यन्त आवश्यक ठहराया गया है, जिसका अभिप्राय यह है कि उसका काम केवल अपनी साधनामें सिद्धि लाभ कर लेनेसे ही नहीं चल सकता, प्रत्युत वह तबतक पूरा नहीं होता, जबतक उसे अपने सिद्धान्तको व्यवहारमें परिणत कर देनेकी क्षमता नहीं हो जाती। पहुँचे हुए साधु सन्तोंके बीच रहकर ही वह अपनी अनेक रहस्यमयी गुत्थियोंतकको सुलझा पाता है और उनके आचरण एवं व्यवहारको निकटसे देखकर ही वह भली भाँति समझ सकता है कि जिस आदर्शकी उपलब्धिके लिए वह प्रयत्नशील है, उसका वास्तविक रूप क्या हो सकता है। 'सन्तमत'में किसी ऐसे महापुरुषको अत्यन्त उच्च कोटिका समझा गया है और उसे स्वयं परमात्माका स्वरूपतक स्वीकार कर लिया गया है। सन्तोंकी धारणाके अनुसार ये ही वे महात्मा है, जिनमें किसी समाजकी सर्वांगीण उन्नति हो सकती है और इन्हींके प्रयत्नों द्वारा स्वर्गको भूतलपर ला देनातक असम्भव नहीं रह जाता। अतएव सन्तमतका दर्शन जीवनदर्शन है, उसकी साधना सर्वांगसाधना है और उसमें संकीर्ण साम्प्रदायिकताका कहीं स्थान नहीं रह सकता।

परन्तु सन्तमतके इतिहासपर दृष्टि डालनेसे पता चलता है कि इसका रूप सदा एक ही समान नहीं रहा। इसके सर्वप्रधान प्रतिष्ठापक और प्रचारक सन्त कबीर साहबने इसके आदर्शरूपका दिग्दर्शन कराकर इसे सब किसीके लिए उपयोगी ठहरानेका प्रयत्न किया। उन्होंने इसी उद्देश्यसे अपनी 'बानियों'की रचना की तथा इसके प्रमुख सिद्धान्तोंको स्वयं अपने जीवनमें उतारकर उन्हें व्यावहारिक रूप देनेकी भी आजीवन चेष्टा की। उनके समकालीन सन्त रविदास जैसे महात्माओं तथा उनके अनन्तर आनेवाले गुरु नानकदेव, सन्त दादूदयाल जैसे महापुरुषोंने भी बराबर उसी उत्साहसे काम किया और उनके कारण इस मतका प्रचार बड़े विस्तृत क्षेत्रतकमें होने लग गया। किन्तु जिस महान् उद्देश्यको लेकर इन्होंने इस कार्यके लिए अपने-अपने संघटन किये अथवा विभिन्न कार्यक्रमोंकी व्यवस्था दी, वह समय पाकर बहुत-कुछ विस्मृत-सा होने लग गया। इनके चलाये हुए 'पन्थों'में क्रमशः संकीर्णताका प्रवेश होने लगा और इनके अनुयायियोंमें साम्प्रदायिक मनोवृत्ति भी दीख पड़ने लगी। अतएव जिस विचारधाराके लिए कभी समझा गया था कि वह सम्पूर्ण विश्व द्वारा एक समान अपनायी जा सकती है, उसके अनुयायियोंके भिन्न-भिन्न वर्ग बनते जान पड़े। जिस मतके प्रचारकोंने कभी बाह्याडम्बरोंको हेय ठहराकर स्वानुभूति एवं सदाचरणको ही प्रश्रय दिया था, उसमें बाहरी विधान एवं वेशभूषाको महत्त्व दिया जाने लगा और जिसके दार्शनिक सिद्धान्त कभी किसी अनिर्वचनीय परम तत्त्वसे सम्बन्ध रखते थे, उसमें मूर्तिपूजनतक स्वीकार कर लिया गया। पीछे इस बातकी आलोचना स्वयं प्रमुख सन्तोंने भी की, किन्तु जितनी साम्प्रदायिकताका प्रवेश 'सन्तमत'में हो चुका था, वह सर्वथा निर्मूल नहीं की जा सकी।

[सहायक ग्रन्थ—उत्तरी भारतकी सन्त-परम्परा : परशुराम चतुर्वेदी।] —प० च०

संतुलन (balance)—किसी कृतिके विभिन्न अवयवोंमें ऐसा सम्मिश्रण और प्रबन्ध कि वह मनपर स्थिरताका प्रभाव डाले तथा उसका प्रत्येक अंग सम्पूर्णसे विच्छिन्न न लगकर सहायक लगे। "भावनाके रूपमें अनेक अंगोंका विन्यास, सहकारी भावनाओंका समावेश तथा अन्य तत्त्वोंकी योजना जिस नियमके अनुसार की जाती है, उसे हम सन्तुलन कहते है—रूपोंमें अंगोंके सन्तुलनसे एक

आत्मीय तल्लीनताके साथ व्यक्त हुई है। इसके साथ मन्दाक्रान्ता छन्दकी मधुर लय, कोमल पदावली तथा गहन संवेदना-जन्य ध्वन्यात्मक संगीततत्त्वसे उसमे **गीतिकाव्य** (दे०)की विशेषताएँ आ गयी है।

'मेघदूत'की सफलताका यह प्रमाण है कि संस्कृतमें उसके अनुकरणपर रचे गये सन्देशकाव्योंकी एक लम्बी परम्परा मिलती है। 'घटकर्पर'में, जो ४०० ई०के आस-पासके इसी नामके कविकी रचना कहा जाता है, 'मेघदूत'-के क्रमको उलटकर विरहिणी प्रेमिकाकी ओरसे सन्देश भेजा गया है। बंगालके राजा लक्ष्मणसेन (बारहवी शती)के आश्रित धोयी कविने मलयाचलकी कुवलयवती नामक गन्धर्वकन्याकी ओरसे राजा लक्ष्मणसेनके लिए 'पवनदूत' नामसे प्रणयसन्देश लिखा। इसमें भी 'मेघदूत'के ही छन्दका प्रयोग किया गया है। इस अनुकरणकी प्रवृत्तिमें हंस, चातक, कोकिल आदिको दूत बनाकर काव्योंकी तो रचना की ही गयी, शान्त रसका एक मनोदूत भी रच दिया गया। वेदान्तदेशिकने 'हंसदूत'मे सीताके पास रामका सन्देश भिजवाया है, तो रूपगोस्वामीका 'हंसदूत' राधाका प्रणयसन्देश कृष्णके पास ले गया है। वामन भट्ट बाण (१५ वी शती)ने भी एक 'हंसदूत' लिखा है।

दूतकाव्योंमें विप्रलम्भ-शृंगारकी ही प्रधानता है और बंगाल तथा केरलके भावुक कवियोंने इस काव्यरूपमें प्रचुर योगदान किया है। परन्तु 'मेघदूत'के माधुर्य और लालित्यने केवल वैष्णव कवियोंको ही दूतकाव्योंके रूपमे मधुर भावकी विरहासक्ति करनेको प्रेरित नही किया, प्रत्युत कुछ जैन कवियोने भी धार्मिक रचनाओंमें उसकी शैलीका अनुकरण किया है। जिनसेन नामक कविने 'पार्श्वाभ्युदय'मे 'मेघदूत'के सभी छन्दोंके चरणोंकी समस्या पूर्ति-जैसी की है। इसी प्रकारकी रचना विक्रम कविकी 'नेमिदूत' नामक है, जिसमे 'मेघदूत'के छन्दोंके चतुर्थ चरणोंकी पूर्ति की गयी है।

संस्कृत साहित्यके इन सन्देश-काव्योंके पीछे लोक-साहित्यके तद्विषयक गीतोंकी एक जीवित परम्परा रही होगी। इसका प्रमाण वर्तमान लोकभाषाओमें प्रचलित लोकगीतोंमे मिलता है। हंस, शुक, कोकिल, चातक, पपीहा, कौआ, निःश्वास, पवन, मेघ, नदी आदि उड़नशील और प्रवाहशील चेतन और जड़ पदार्थोको असंख्य लोक-गीतोंमें प्रणय सन्देश सौंपकर विरही जन अपने हृदयोंको हलका करते हुए देखे जाते है। इस अत्यन्त स्वाभाविक और मार्मिक कल्पनाका उपयोग अनेक कवियोंने दूतकाव्यों-के रूपमें ही नहीं, अन्यथा भी किया है। मलिक मुहम्मद जायसीके 'पद्मावत'में पद्मिनीके लिए रतनसेनका प्रणय-सन्देश शुकके द्वारा भेजा जाता है। विरहिणी नागमती हंस और कौएसे प्रियके पास सन्देश ले जानेकी प्रार्थना करती है।

रामकथा सम्बन्धी काव्योंमें राम-हनुमान् द्वारा सीताके लिए प्रेम-विरह, सान्त्वना और आशाका सन्देश भेजते है तथा उसके उत्तरमें सीता अपनी मर्म-व्यथा रामतक पहुँचाती है। सूरदासने अपने रामकथा सम्बन्धी पदोंमें इस प्रसंगका अत्यन्त हृदयाकर्षक चित्रण किया है। तुलसी-दासने तो मानस तथा दूसरी रचनाओंमें इस सन्देश-प्रसंगको अपनी भक्ति-समन्वित संवेदना प्रदान की ही है।

कृष्ण-भक्ति-काव्यमें सन्देश भेजनेके कई प्रसंग मिलते हैं। इनमें कृष्णका गोपियोंके लिए भेजा गया सन्देश, जिसे उनके परम मित्र उद्धव ले जाते है, सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। 'श्रीमद्भागवत' (दशम स्कन्ध, पूर्वार्ध, अध्याय, ४६, ४७)से कथासूत्र लेकर सूरदासने इस प्रसंग-को एक सर्वथा मौलिक रूप दिया और हिन्दी काव्यमें एक ऐसी परम्परा (दे० 'भ्रमरगीत') डाली, जिसका कृष्णकाव्य-पर रचना करनेवाले अनेक कवियोंने अनुसरण किया और एक विशेष प्रकारके सन्देशकाव्यको समृद्ध बनाया। रीति-कालीन कवियोने भी इस मार्मिक प्रसंगका अपने ढंगसे उपयोग किया और आधुनिक कालमें भी अनेक ब्रजभाषाके कवियोंने भक्ति और रीतिकालीन परम्पराके इस विशिष्ट रूपको अपनाया है। परन्तु उद्धव सन्देश सम्बन्धी ये रचनाएँ अधिकतर मुक्तक पद्यों—कवित्त-सवैयाके रूपमे हैं, सन्देश नामसे बहुत थोड़ी रचनाएँ होंगी। आधुनिक कालमें ब्रजभाषाके सबसे समर्थ कवि जगन्नाथदास 'रत्नाकर'का 'उद्धवशतक' भी इसी परम्पराका सन्देशकाव्य है। मुक्तक और प्रबन्धका उसमें सुन्दर सामंजस्य हुआ है।

कृष्ण और कृष्णकथा सम्बन्धी आधुनिक कालकी रच-नाओंमें जो नवीन दृष्टिकोण अपनाया गया है, उसका उदाहरण सन्देश काव्यमे भी मिलता है। सत्यनारायण 'कविरत्न'ने अपने 'भ्रमरदूत'में यशोदाकी ओरसे कृष्णको जो सन्देश भेजा है, उसमें समसामयिक देश-दशाके साथ-साथ देशभक्ति, समाज-सुधार और समाज-सेवाकी भावनाएँ भी व्यक्त हुई है। आयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'ने अपने खड़ीबोलीके प्रसिद्ध काव्यग्रन्थ 'प्रिय-प्रवास'में पवनको दूत बनाकर जो सन्देश भिजवाया है, उसमे ब्रजकी वियोगदशाका समसामयिक सन्दर्भमें वर्णन किया गया है और सन्देशमें देश-भक्ति और समाज-सेवाकी भावनाएँ ही प्रमुख रूपमें व्यक्त की गयी हैं।

हिन्दीमें 'मेघदूत'के भी अनेक अनुवाद हुए हैं। राजा लक्ष्मण सिंह, ठाकुर जगमोहन सिंह, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' और लाला सीताराम 'भूप'ने मधुर ब्रजभाषामें इस अमर काव्यके अनुवाद किये। पूर्णजीने अनुवादका सानुप्रास नाम 'धाराधरधावन' रखा। इनके अतिरिक्त आधुनिक कालमें लक्ष्मीधर वाजपेयी, कन्हैयालाल पोद्दार और केशव-प्रसाद मिश्रने भी इसके अनुवाद किये हैं। खड़ीबोलीमें सन्देशकाव्यकी प्रवृत्ति निरन्तर चलती रही, परन्तु सन्देश-काव्य नामसे रचनाएँ अधिक नहीं हुई। यह प्रवृत्ति खण्डकाव्यों (उदाहरणार्थ, 'मिलन' : रामनरेश त्रिपाठी) और गीति-रचनाओं, दोनोंमें प्रकट हुई है। 'पत्रगीति' (दे०) या 'पत्रकाव्य'के रूपमें सन्देशकाव्यकी परम्परा युगके अधिक अनुरूप है, क्योंकि अब सन्देश भेजनेका यही युक्तियुक्त स्वीकृत माध्यम है। मैथिलीशरण गुप्तकी 'पत्रावली' तथा 'निराला'का 'छत्रपति शिवाजीका पत्र' इसके अच्छे उदाहरण हैं (दे० 'उपालम्भ काव्य', 'पत्र-गीति')।

—व्र० व०

संदेह—सादृश्यगर्भ अभेदप्रधानके आरोपमूलक अर्थालंकारों-

का एक भेद। भामहने इसे ससन्देह कहा है और दण्डीने उपमाके अन्तर्गत स्वीकार किया है—"अनन्वय-ससन्देहा-वुपमास्वेव दर्शितौ" (काव्यादर्श, २)। इनका अनुसरण उद्भट और मम्मटने किया है। रुय्यक, वामन, विद्याधर तथा विश्वनाथने यही नाम स्वीकार किया है। रुद्रटने संशय नाम दिया है और उनकी परिभाषा स्पष्ट है—"जहाँ किसी वस्तुके सम्बन्धमें अनेक वस्तुओंका सन्देह हो और सादृश्यके कारण अनिश्चय बना रहे, वहाँ संशय अलंकार होता है" (काव्याल०, ८ : ५९)। वामनने इसे उपमा-प्रपंचके अन्तर्गत रखा है और उसी आधारपर लक्षण दिया है—"उपमानोपमेयसंशयः सन्देहः" (का० सू० वृ०, ४ : ३ : ११), अर्थात् उपमान और उपमेयका संशय, सन्देह है। मम्मटने संशयमूल इस अलंकारके 'भेदोक्ति' तथा 'भेदानुक्ति', दो भेद माने है, एकमे उपमेय तथा उपमेयमें भेदका स्पष्ट कथन होता है और दूसरेमे ऐसा नहीं होता। इनके अतिरिक्त निश्चयान्तका भी एक प्रकार माना है। विश्वनाथने इस उपमेयके सम्बन्धमे अन्य वस्तु-(उपमान)के सन्देहको कविप्रतिभासे उत्पन्न माना है (सा० द०, १० : ३५)। वास्तवमें सादृश्य और काव्यात्मकता इस अलंकारकी अनिवार्य शर्त है। उन्होंने इसके तीन भेद माने हैं—शुद्ध, निश्चयगर्भ, निश्चयान्त। प्रथममे सन्देहकी स्थिति स्पष्ट रूपसे रहती है, दूसरेमे निश्चयका भाव भी अन्तर्निहित रहता है और तीसरेमें अन्ततः निश्चय हो जाता है।

हिन्दीके आचार्योंमें जसवन्त सिंह, मतिराम, पद्माकर आदिने जयदेवके आधारपर नामसे ही लक्षण स्पष्ट माना है। भूषणके लक्षणपर मम्मट आदिका प्रभाव है—'कै यह कै वह यों जहाँ, होत आनि सन्देह" (शि० भू०, ७८)। यह और वहका अर्थ उपमेय तथा उपमान है। इन आचार्योंने इसके भेदोंपर विचार नहीं किया है। आधुनिक कालमें कन्हैयालाल पोद्दारने मम्मटके आधारपर भेद स्वीकार किये हैं—१. भेदकी उक्तिमें संशय—(क) निश्चय-गर्भ, (ख) निश्चयान्त। २. भेदकी अनुक्तिमे संशय, यही विश्वनाथका शुद्ध है। उदा०—भेदकी उक्तिमें निश्चय-गर्भ—"कैधों उजागर ये प्रभाकर स्वरूप राजे जाकर सदैव सप्त अश्व नहिं याके है" (पोद्दार : छाया, का० प्र० से) अथवा—"कहूँ मानवी यदि मैं तुमको तो वैसा संकोच कहाँ? कहूँ दानवी तो उसमें है यह लावण्यकी लोच कहाँ" (पंचवटी)। इनमें 'सप्त अश्व नहिं', 'संकोच कहाँ' आदिके द्वारा निश्चय होकर भी सन्देह बना रहता है। निश्चयान्त—"च्युतघन है क्या चपला? चम्पक लतिका परिम्लान किंवा है। लखकर स्वास चपलता, जाना कपि, विकल जानकी अम्बा है" (पोद्दार, अ० मं०, पृ० १७०)। इसमें अन्ततः जानकीका निश्चय वर्णित है। ३. भेदकी अनुक्ति या शुद्ध—हिन्दीके आचार्यों द्वारा प्रस्तुत उदाहरण प्रायः इसी कोटिमें आते हैं, क्योंकि उन्होने भेद स्वीकार नहीं किये है—"परचि परै नहि अरुन रंग अमल दल माँझ। कैधौ फूली दुपहरी, कैधो फूली साँझ" (ल० ल०, ८५) या—"निद्राके उस अलसित वनमें वह क्या भावीकी छाया। दृग पलकोंमें विचर रही या वन्य देवियोंकी माया" (पन्त : छाया, का० द० से)। इस अलंकारका प्रयोग सभी युगोंके काव्यमें समान रूपसे मिलता है। —र०

संदेहवाद—इस धारणाके अनुसार कोई भी वस्तु नही जानी जा सकती, किसी भी प्रकारका विश्वसनीय ज्ञान असम्भव है। सन्देहवादीको बुद्धिकी क्षमतामे विश्वास नही रह जाता। सन्देहवादकी कई श्रेणियाँ हो सकती है। किसी भी विषयमें अन्तिम निर्णय न देना (जैसे सुकरात), यह मानना कि ज्ञान केवल अनुभूति या गोचर प्रपंचका होता है, मनुष्यकी बुद्धि प्रपंचके अधिष्ठानका ज्ञान नही प्राप्त कर सकती (काण्ट), अथवा यह कि ज्ञान असम्भव है और ज्ञान की खोज व्यर्थ है। वस्तुतः सन्देहवादका कोई-न-कोई रूप किसी भी दार्शनिक जिज्ञासाके लिए अनिवार्य है। बिना सन्देह किये बिना शंका उठाये सत्यज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती। लेकिन जब सन्देहवादका उत्कट रूप व्यक्ति और समाजका जीवनदर्शन बन जाता है, तब जैसे वह अपनी जड़ें काट देता है। जीवनके मूल्योंमें उसका विश्वास नहीं रह जाता। किन्तु परस्पर विरोधी दर्शनों, धर्मों और मत-मतान्तरोंके मध्य बौद्धिक प्राणीके लिए सन्देहवादी हो जाना अत्यन्त सरल है। उमर खैयामकी रुबाइयोंमे ऐसे ही बौद्धिक सन्देहवादसे प्रेरित काव्यका उत्कृष्ट रूप हमें मिलता है। सन्देहवादी पश्चिमी दार्शनिकोमे यूनानी गार्जिआस और पीरो तथा डेविड ह्यूम प्रसिद्ध है। —आ०

संधा-भाषा—तान्त्रिक युगमे तन्त्रोंमें भाषा-शैलीका एक अलौकिक रहस्यात्मक स्वभाव विकसित हो रहा था, जिससे सारी भाषा मन्त्रस्वभावकी होती जा रही थी। बौद्धोंने अपनी इस प्रतीकात्मक शैलीको सन्धा-भाषा या 'सन्धा-वचन' कहा।

प्रारम्भमें कुछ विद्वानोंमें इस बातको लेकर काफी विवाद रहा कि यह सन्धा-भाषा है या सन्ध्या-भाषा। हरप्रसाद शास्त्री और विनयतोष भट्टाचार्य इसे 'सन्ध्या-भाषा' मानकर इसका अर्थ 'आलो आँधारी भाषा' करते रहे, किन्तु विधु-शेखर शास्त्री और प्रबोधचन्द्र बागचीने प्रमाण देकर यह सिद्ध किया कि वास्तविक शब्द सन्धा है, जिसका अर्थ है अभिसन्धियुक्त, अभिप्राययुक्त भाषा। विरूपाकी चर्यामें स्पष्टतः अभिसन्धका उल्लेख भी है (दे० बौद्धगान ओ दोहा : हरप्रसाद शास्त्री)। इस मन्त्रणास्वभाववाली, गुह्य प्रकृति-वाली भाषामें प्रतीकोंके माध्यमसे सिद्धगण अपनी अनु-भूतियोंका अंकन करते थे। अक्सर ग्रन्थोंमें इनमेंसे बहुतसे प्रतीकोंका अर्थ अलगसे दिया हुआ रहता था, जो केवल सम्प्रदायमें दीक्षित साधकोंको ही ज्ञात होता था। इन प्रतीकोंका उद्गम और विकास अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वज्रयानके विकासके पहलेसे इन प्रतीकोंका अस्तित्व मिलता है और सन्तोंके साहित्यतक इन प्रतीकोंका व्यवहार होता गया है। किन्तु इतनी लम्बी अवधिमे इन प्रतीकोंका अर्थ बराबर बदलता गया है। वज्रयानी सिद्धोंने अपने पदों और दोहोंमें व्यवहृत प्रतीकोंको कई स्रोतोंसे ग्रहण किया था। कुछ उन्होने विज्ञानवादी ग्रन्थोंसे लिये थे और कुछ योगाचारकी साधनाओंसे। कुछ अन्य सम-कालीन तान्त्रिक पद्धतियोसे लिये, जिन्हें उन्होंने प्रज्ञो-पायात्मिक अर्थ दे दिये थे, कुछ प्रतीक अर्थ-साम्य और

कुछ साधर्म्यमूलक थे। कुछ चर्यागत थे। इन प्रतीकोंकी दो प्रकारकी योजनाएँ थीं। औपम्यमूलक और विरोधमूलक। औपम्यमूलक प्रतीक-योजनामें विभिन्न रूपक प्रस्तुत किये जाते थे और विरोधमूलकसे उलटबाँसी-शैलीका विकास हुआ है (दे० 'सिद्ध साहित्य' : धर्मवीर भारती)। —ध० वी० भा०

संधि–रूपककी **प्रकृति** तथा **अवस्थाओं**के सम्मिश्रणसे सन्धियोंका आविर्भाव होता है। **बीज, विन्दु, पताका प्रकरी** तथा **कार्य**, ये पाँच **अर्थप्रकृतियाँ** जब क्रमशः **आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति** और **फलागम अवस्थाओं**से मिलती हैं, तब **मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श** और **उपसंहृति** (निर्वहण) सन्धियोंका आविर्भाव होता है—"अर्थप्रकृतयः पंच पंचावस्थासमन्विताः। यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पंचसन्धयः"(द० रू० १ : २२)। इन सन्धियोंके अंगको **सन्ध्यंग** कहते हैं। वे संख्यामें ६४ होते हैं। मुखसन्धिके १२ अंग हैं—**उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, विलोभन, युक्ति, प्राप्ति, समाधान, विधान, परिभावना, उद्भेद, करण** और **भेद**।

प्रतिमुख सन्धिके १३ अंग होते हैं—**विलास, परिसर्प, विधुत, तपन, नर्म, नर्मद्युति, प्रगमन, विरोध, पर्युपासन, पुष्प, वज्र, उपन्यास** और **वर्णसंहार**।

गर्भ सन्धिके भी १३ अंग होते हैं—**अभूताहरण, मार्ग, रूप, उदाहरण, क्रम, संग्रह, अनुमान, प्रार्थना, क्षिप्ति, त्रोटक, अधिबल, उद्वेग** और **विद्रव**।

विमर्शके १३ ही अंग होते हैं—**अपवाद, सम्फेट, व्यवसाय, द्रव, द्युति, शक्ति, प्रसंग, खेद, प्रतिषेध, विरोधन, प्ररोचना, आदान** और **छादन**।

निर्वहण सन्धिके अंगोंकी संख्या १४ है—**सन्धि, विबोध, ग्रथन, निर्णय, परिभाषण, कृति, प्रसार, आनन्द, समय, उपगूहन, भाषण, पूर्ववाक्य, काव्यसंहार** तथा **प्रशस्ति** (सा० द०, ६ : ८१ : १०९)।

सन्ध्यंगोंके इस विस्तारको अनेक विद्वान् अनावश्यक मानते हैं। कीथने अपने 'संस्कृत ड्रामा'में सन्ध्यंगोंके दुरूह विभाजनको व्यर्थ माना है (पृ० २९९)। रुद्रटने 'नियम एव' कहकर इनके यथास्थान नियत होनेकी बात कही है, परन्तु बहुतसे लोग रुद्रटके मतसे सहमत नहीं हैं। यद्यपि भट्टनारायणके 'वेणीसंहार'में इन सन्ध्यंगोंको यथास्थान नियोजित करनेका प्रयत्न किया गया है, फिर भी वह पूर्णतः सफल नहीं कहा जा सकता। इस ठूस-ठाँसका परिणाम यह हुआ कि नाटककी गतिशीलता अवरुद्ध हो गयी है।

कीथने नाटकीय कथावस्तुके विभाजनपर और भी आपत्तियाँ उठायी हैं। वे नाटकीय संघर्षसे सम्बद्ध होनेके कारण सन्धियोंकी उपयोगिता तो स्वीकार करते हैं, पर **अर्थ-प्रकृतियों**के विभाजनको व्यर्थ मानते हैं।

वस्तुतः **कथावस्तु**के ये सब विभाजन नाटकको इतना अधिक पंगु बना देते हैं कि उसकी स्वाभाविक गति मारी जाती है। इस भूल-भुलैयामें पड़कर नाटककार अपना स्वाभाविक मार्ग खो बैठे तो कोई आश्चर्य नहीं। स्वयं संस्कृतके नाटककार भी इनके चक्करमें नहीं पड़े हैं, जो पड़े हैं, उनकी रचनाएँ कभी भी प्रथम श्रेणीकी रचनाओंमें स्थान नहीं पा सकीं। —ब० सिं०

संध्यंगविनिवेशवक्रता–दे० 'प्रकरणवक्रता', नवाँ नियामक।

संध्यंतर–कुछ शास्त्रकारोंके मतानुसार नाटककी सन्धियोंके अन्तर्गत **अन्तःसन्धियाँ, उपसन्धियाँ** या **सन्ध्यन्तर** भी होते हैं। अन्य सन्धियोंकी भाँति इनका उद्देश्य भी नाटकीय **कथावस्तु**में गति लाना ही माना गया है। संख्यामें इक्कीस मानी गयी हैं—१. साम—अपनी अनुवृत्तिको व्यक्त करनेवाला प्रिय वाक्य, २. दान—अपने प्रतिनिधि-स्वरूप भूषणादिका समर्पण, ३. दण्ड—अविनयको देख-सुनकर डाटना-फटकारना, ४. भेद—कपट वचनों द्वारा मित्रोंमें भेद डालना, ५. प्रत्युत्पन्नमतित्व, ६. वध—दुष्टका दमन, ७. गोत्रस्खलित—नामका व्यतिक्रम, ८. ओजस्वितासूचक वचन, ९. धी—इष्टके सिद्ध न होनेतक चिन्ता, १०. क्रोध, ११. साहस, १२. भय, १३. माया, १४. संवृत्ति—अपने कथनको छिपाना, १५. भ्रान्ति, १६. दौत्य, १७. हेत्ववधारण—किसी प्रयोजनसे कोई निश्चय, १८. स्वप्न, १९. लेख, २०. मद, २१. चित्र। इनमेंसे चित्र, स्वप्न और लेखका उपयोग प्रायः देखा जाता है। —ब० सिं०

संबंधातिशयोक्ति–दे० 'अतिशयोक्ति', तीसरा भेद।

संबोध(न)गीति–यह 'ओड'का हिन्दी रूपान्तर है। यह नामकरण सर्वप्रथम रामखेलावन पाण्डेयके 'गीतिकाव्य' नामक ग्रन्थ(ज्ञानमण्डल, काशी)में आया। प्रारम्भमें 'ओड' मुख्यतया गेय रचना थी, जिसे वाद्य यन्त्रोंकी सहायता अपेक्षित थी। लयात्मकता उस स्थितिमें बाह्यसे अधिक आभ्यन्तर थी। ग्रीसमें मुक्तक रचनाओंने दो रूप लिये। एकका विकास गीतिकाव्य(लिरिक)के रूपमें हुआ और दूसरेका सम्बोधित गानके रूपमें और इसके विधानका आधार रूपक रहा, क्योंकि नाटकोंमें कथोपकथनके रूपमें पारस्परिक सम्बोधनकी अपेक्षा होती थी। पिण्डार इस विधानका अग्रणी हुआ। आधुनिक कालमें पियर रोंजार्डने पहले-पहल पिण्डारिक विधानके मूल्यका अनुभव किया और फ्रेंच काव्यविधानको माध्यमसे समृद्ध करनेका प्रयास किया। सन् १५८४ ई०में टाम्स सूथार्नने पेण्डोर नामक रचनामें इस विधानका अंग्रेजीमें उपयोग किया। इसके कई विधान और रूप हैं। इसकी विविधता और भिन्न-रूपताको लक्षित करते हुए एल० बिनयानने कहा है कि ओड सम्बोधक या सम्बोधित गीत है, जो किसी सार्वभौम अभिरुचिको जागरित करनेवाले विषयके सम्बन्धमें हो। किसी विषय अथवा घटनासे सम्बद्ध आत्मभावप्रकाशक गीत इस रूपमें आये हैं। अपर प्रत्यक्षका इसमें रूप व्यक्त होता है। स्तवनगीतिमें व्यक्तिकी उसके समक्ष प्रशंसा की जाती है, किन्तु इसमें इस प्रकारके लाभका रहस्य नहीं रहता। अंग्रेजी साहित्यके सम्पर्कमें आनेपर इस विधानका विकास हुआ। भारतेन्दुकृत 'विजयिनी विजय वैजयन्ती'में सम्बोधित गीतिका प्रारम्भिक रूप है, जिसमें सम्बोधनके साथ उद्‌बोधनके भी स्पष्ट रूप है—"अरे बीर इक बेर उठहु सब फिर कित सोये"। प्रतापनारायण मिश्रकृत 'बुढ़ापा' भी ओडकी कोटिमें आ सकता है, जिसमें परिहासका स्फुट रंग है। रोमांसिक भावधाराके कारण ओडकी

भावात्मक परिणति मिलती है और इन रचनाओंमें 'निराला'कृत 'यमुनाके प्रति' और 'बादल', पन्तकृत 'भावी पत्नीके प्रति' विशेष रूपसे उल्लेखनीय है। राजनीतिक चेतनाके जागरणसे भारत, तिलक और गान्धीके सम्बन्धमें रचनाएँ हुईं। 'दिनकर'का 'हिमालय' राष्ट्रीय चेतनाको अभिव्यक्त करनेवाली सम्बोधनात्मक रचना है और 'नाचो हे नाचो नटवर'में इसी पद्धतिके साथ लय गीतिकाव्यात्मक है। —रा० खे० पा०

संभोग चक्र—दे० 'हठयोग'।

संभोग श्रृंगार—धनंजयका कथन है कि "जहाँ अनुकूल विलासी एक-दूसरेके दर्शन-स्पर्शन इत्यादिका सेवन करते है, वह आनन्दसे युक्त सम्भोग-श्रृंगार कहलाता है" (द० रू०, ४ : ६९)। भानुदत्त कहते है—"दर्शन, स्पर्शन, संलाप इत्यादिके अनुभूयमान सुख अथवा परस्पर संयोगसे अर्थात् बहिरिन्द्रिय-सम्बन्धमे उत्पद्यमान आनन्द सम्भोग (संयोग) है" (र० त०, ६)। विश्वनाथका कथन है—"जहाँ एक दूसरेके प्रेममें अनुरक्त नायक और नायिका दर्शन, स्पर्शन इत्यादिका सेवन करते है, वह सम्भोग-श्रृंगार कहलाता है" (सा० द०, ३ : २१०)।

उपर्युक्त परिभाषाओंमे 'सम्भोग'-श्रृंगारकी निष्पत्तिके लिए नायक-नायिकाका एकत्र रहकर एक-दूसरेके प्रति प्रदर्शन तथा तज्जन्य आनन्दोपभोग आवश्यक बताया गया है। संयोगके समय प्रेमानुभूति अपेक्षित है। पण्डितराजने इस तथ्यको स्पष्ट किया है। वे कहते है कि 'संयोग'का अर्थ 'स्त्री-पुरुषका एक स्थानपर रहना' नही है, क्योंकि एक पलंगपर सोते रहनेपर भी, यदि ईर्ष्या आदि हो तो वह विप्रलम्भ या वियोग रस ही माना जायगा। उनके अनुसार 'संयोग' इस मानसिक ज्ञान किंवा चित्तवृत्तिका पर्याय है कि 'मै मिला हुआ हूँ' और वियोग यह ज्ञान है कि 'मै बिछड़ा हुआ हूँ'। अतएव स्त्री-पुरुषके संयोगके समयमें प्रेम रहे तो वह 'संयोग' अथवा 'संभोग-श्रृंगार' कहलायगा। हिन्दीमे चिन्तामणिकी यह परिभाषा अत्यन्त सटीक है—"जहाँ दम्पती प्रीतिसों बिलसत रचत बिहार। चिन्तामनि कवि कहत यों तहँ सँयोग सिंगार" (क० क० त०)।

'संभोग' एवं 'संयोग' शब्द प्रस्तुत प्रकरणमें प्रायः समानार्थी है। लेकिन कुछ पण्डितोंका कथन है कि संयोगकी एक वह अवस्था भी है, जिसमे नायक-नायिकाकी परस्पर रति तो होती है, पर सम्भोग-सुखकी प्राप्ति नही होती, अतएव इसको सम्भोगमें सम्मिलित करना उचित नही है।

परस्पर अवलोकन, आलिंगन, अधरपान, परिचुम्बन प्रभृति नायक-नायिकाके पारस्परिक व्यवहारभेदसे सम्भोग-श्रृंगारके अगणित भेद होते हैं, लेकिन आचार्योंने उनका अन्तर्भाव इसी एक 'सम्भोग'-श्रृंगारमें कर दिया है।

हिन्दीके आचार्योंमें केशव और देवने संयोग (सम्भोग) एवं वियोग (विप्रलम्भ) श्रृंगारमेंसे प्रत्येकके दो-दो भेद—'प्रच्छन्न' एवं 'प्रकाश' किये हैं। लेकिन जैसा भगीरथ मिश्रने बताया है, प्रच्छन्न श्रृंगारको तो रसकी संज्ञा प्राप्त ही नही होनी चाहिये, क्योंकि विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावोंसे परिपुष्ट होकर जब स्थायी भाव व्यक्त होता हैं, तभी रसदशा प्राप्त होती है।

किन्तु पूर्वानुराग, मान, प्रवास एवं करुण-विप्रलम्भके आनन्तर्यमे सम्भोग-श्रृंगारके भी चार प्रकार भोजदेवने 'सरस्वतीकण्ठाभरण'में निर्दिष्ट किये हैं तथा कारण यह कहा है कि विप्रलम्भके बिना सम्भोग पुष्ट नही होता। विश्वनाथने भी 'साहित्यदर्पण'में भोजका मत उद्धृत किया है तथा पूर्वरागानन्तर एवं प्रवासानन्तर सम्भोगके उदाहरण भी दिये है। हिन्दीके आचार्य देवने भी 'भवानीविलास'में इस प्रसंगको उठाया है और यह बताया है कि संयोग वियोगके बीचमें आता है—"ते वियोग संयोगतें मान प्रवास ससोग। यहि बिधि मध्य बियोगके होत सिंगार सँयोग"। स्पष्ट है कि देवका यह क्रम और वर्गीकरण नवीन नही कहा जायगा, क्योंकि इस विवेचनके लिए वे भोज एवं विश्वनाथ, दोनोंके ऋणी हैं। सम्भोग-श्रृंगारका यह विभाजन मनोवैज्ञानिक भूमिकापर प्रतिष्ठित है।

भरतने इसके विभावों एवं अनुभावोंके सम्बन्धमें यह कहा है—"सम्भोग ऋतुरमणीयता, माल्य, अनुलेपन, अलंकार, इष्टजनोंका संसर्ग, इन्द्रियोंके विषय, रम्य भवन, उपवन-गमन, प्रियके वचनोंका श्रवण, उसका दर्शन, उसके साथ क्रीडा-लीला इत्यादि विभावोंसे उत्पन्न होता है, अथ च नयनचातुर्य, भ्रू-विक्षेप, कटाक्ष, ललित एवं मधुर अंग-चेष्टा, आकर्षक वचन इत्यादि अनुभावोंसे व्यंजित होता है"। सूर्य-चन्द्रमा, उदय-अस्त, जलविहार, प्रभात, मद्य-पान, रात्रिक्रीड़ा इत्यादि असंख्य वस्तुओंका वर्णन सम्भोगमें हो सकता है। विश्वनाथका भरतके प्रमाणपर यह कहना है कि जो कुछ शुचि एवं मेध्य पदार्थ दिखाई पड़ता है, वह सभी इसमें ग्राह्य है।

लीला, विलास, विच्छित्ति प्रभृति दस 'हाव' भी सम्भोगवर्णनमें सन्निविष्ट होते हैं। त्रास, आलस्य, उग्रता, जुगुप्सा एवं मरणको छोड़कर अन्य सभी व्यभिचारी आ सकते है। जहाँ नायिकाके मनमे नायकको देखकर प्रेम जाग्रत् होता है, वहाँ नायिकारब्ध सम्भोग तथा जहाँ नायिकाको देखकर नायकके मनमें रतिभाव उद्भूत होता है, वहाँ नायकारब्ध सम्भोग-श्रृंगार माना जाता है। —र० ति०

संयम—'पातंजल योग सूत्र' (३ : ३)में धारणा, ध्यान और समाधिको 'संयम' कहा गया है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम एवं प्रत्याहार बहिरंग साधन और 'संयम' अन्तरंग साधन है। तीनोंको एक ही नाम देनेका तात्पर्य है कि ये किसी एक ही विषय पर केन्द्रित होनेपर योगांग कहला सकते है। आभ्यन्तर या बाह्य देश, अर्थात् विषयपर चित्तका बन्ध या एकीभाव धारणा है—"देश बन्धश्चित्तस्य धारणा" (यो० सू० ३ : १)। धारणामें प्रत्यय, अर्थात् ज्ञान-वृत्तिकी एकतानता या अनन्यता ही ध्यान है—"तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्" (वही ३ : २)। इसी ध्यानके चरमोत्कर्षका नाम समाधि है। समाधि चित्तकी स्थिरताकी सर्वोत्तम अवस्था है। व्यावहारिक रूपसे इन्हें यों समझा जा सकता है कि चित्त चांचल्यधर्मी है। इस चित्तको बहिरंग साधनोंसे साधकर किसी एक विषयकी ओर केन्द्रित करना धारणा है। चित्त केन्द्रित होकर जब ध्येय विषयपर एक तान, या अनन्यभावसे संलग्न होकर अन्य सभी

विषयोंके प्रति नितान्त अज्ञानशील हो जाता है तो इसे ध्यान कहते है और यह ध्यान जब घनीभूत होकर ध्येय विषयमें तल्लीन या लवलीन हो जाता है तो उस अवस्थाको समाधिकी अवस्था कहते हैं (दे० 'पातंजल योग-दर्शन', लखनऊ वि० वि०, पृ० २०९-१५)। —रा० दे० सि०

संयुक्ता–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद; सगण, नगण, तगण और गुरुके योगसे चरण बनता है (IIS,III,SSI,S)। यह छन्द प्रियाका दूना और गीतिकाका आधा होता है। 'प्राकृतपैंगलम्' (२ : ९०)में इस छन्दका विवरण है। 'मन्दारमरन्दचम्पू' (१३ : १०)मे इसका कमला नाम दिया है। आधुनिक गीतोंमे इस छन्दका मात्रिक प्रयोग हुआ है—"मेरा मरण तुमको खला"—(यशोधरा, पृ० १०९)। केशवका प्रयोग—"बृत बाण रावणको सुन्यो। सिर राजमण्डलमें धुन्यो। जगदीश अब रक्षा करो। विपरीत बात सबै हरो" (रा० चं०, ४ : १७)। —पु० शु०

संयोग–दे० 'रसनिष्पत्ति', आरोपवादके अन्तर्गत।

संयोग-शृंगार–संयोग-शृंगार सम्भोग-शृंगारका ही पर्याय है। लेकिन कुछ विद्वानोंकी राय है कि जहाँ नायक-नायिकाकी संयोगावस्थामें परस्पर रति होती है, पर सम्भोग-सुख प्राप्त नहीं होता, वहाँ संयोग-शृंगार मानना चाहिये, सम्भोग नहीं। रामदहिन मिश्रने 'काव्यदर्पण'में सुमित्रानन्दन पन्तकी निम्नलिखित पंक्तियां उदाहरणरूपमे प्रस्तुत की हैं—"एक पल मेरे प्रियाके दृग, पलक, थे उठे ऊपर सहज नीचे गिरे। चपलताने इस विकम्पित पुलकसे, दृढ़ किया मानो प्रणय सम्बन्ध था"। इनकी टिप्पणी यह है, "इसमें आलम्बन नायिका, नायिकाका सौन्दर्य उद्दीपन, नायिकाका निरीक्षण अनुभाव, लज्जा आदि संचारी, तथा रति स्थायी है। यहाँ संयोग-सुखकी प्राप्ति है, सम्भोग-सुखकी नहीं, क्योंकि प्रियको प्रियाकी प्राप्त नहीं हुई"। वस्तुतः दर्शन-अवलोकन भी आचार्यों द्वारा सम्भोग-शृंगारमें गृहीत किया गया है। सम्भोगका स्थूल अर्थ ग्रहण कर ही उसे 'संयोग'से पृथक् किया जा सकता है। 'संयोग'को अलग माननेका कोई प्रबल आधार नहीं। विशेषके लिए दे० 'सम्भोग-शृंगार'। —र० ति०

संयोगात्मक आलोचना-प्रणाली–अंग्रेजीका 'सिनथेटिकल' 'सिनथेसिस'का विशेषण है, जिसका अर्थ है 'सांश्लेषिक', 'संश्लिष्ट', 'संयोगात्मक', 'समन्वयात्मक'। विद्वानोंने इसीलिए इसे अन्य नामोंसे भी पुकारा है, जैसे 'सामंजस्यात्मक' आदि।

आलोचनाकी यह पद्धति दो विरोधों, दो भेदों तथा दो मतवादोंका समन्वय, अपना लक्ष्य मानती है। इसीलिए इस पद्धतिकी आलोचनाको स्पष्टतः दो भागोंमें विभाजित किया जा सकेगा—सैद्धान्तिक संयोगात्मक आलोचना तथा व्यावहारिक संयोगात्मक आलोचना। सैद्धान्तिक स्तरपर यह पद्धति दो सिद्धान्तों तथा दो भिन्न चिन्तनोंका समन्वय करती है और व्यावहारिक स्तरपर शैलीगत विभिन्नताओंका समन्वय करती है।

साहित्यका क्षेत्र अतिवादी विभिन्न मतवादोंसे भरा है। 'कला कलाके लिए', 'कला जीवनके लिए', 'अतिवस्तुवादी' 'आदर्शवादी', 'कलावादी', 'कल्पनावादी', 'अभिव्यंजनावादी', अस्तित्ववादी' आदि अनेक-अनेक चिन्तनोंके बीच समाप्त न होनेवाली सीमारेखाएँ हैं। इसी प्रकार देश, राष्ट्र, जलवायु तथा अनेक कारणोंसे हमारे चिन्तनमें विभिन्नता है। फलतः प्रस्तुत आलोचना-पद्धति विभिन्नताओंके बीच समन्वय स्थापित करना चाहती है—सिद्धान्तोंका समीकरण, विभिन्नत्व या अनेकत्वमें एकत्वस्थापन इसका प्रमुख उद्देश्य है।

पाश्चात्य साहित्यशास्त्रमें वे आलोचक इसके जन्मदाता है, जो सौन्दर्यवादी तथा शास्त्रीय, दोनोंके बीच समन्वय स्थापित करते है। वैसे तो यूनानी आलोचकोंसे लेकर आधुनिकतम पाश्चात्य आलोचकोंतकमें अनेक नाम गिनाये जा सकते हैं, परन्तु टी० एस० इलियट अग्रणी माने जायेंगे। इन्होने न केवल परम्परा और स्वच्छन्दता, रूढ़ि और मौलिकता तथा यथार्थवाद और आदर्शवादका समन्वय किया है, बल्कि पूर्वी और पश्चिमी सिद्धान्तोंका भी समन्वय किया।

संस्कृत साहित्यशास्त्रमें इस समीक्षाको सहज ही लक्ष्य किया जा सकेगा। आचार्य मम्मटका 'कान्तासम्मित उपदेश' जैसी उक्तियाँ पर्याप्त प्रमाण है। राजशेखरका सम्पूर्ण कृतित्व ही इस सिद्धान्तके आधारपर टिका है। सम्पूर्ण संस्कृत साहित्यशास्त्रमें बाह्य और आभ्यन्तर, लौकिक और अलौकिक, रीति, वक्रोक्ति, अलंकार, नीति, उद्देश्य और रस तथा रमणीयता-जन्य आह्लादका समन्वय प्रत्येक स्थल पर देखा जा सकता है।

कहना नहीं होगा कि हिन्दी आलोचनाका मूलाधार यही सिद्धान्त है। संस्कृत और पाश्चात्य साहित्यशास्त्रके बीच समन्वय ही हिन्दीके श्रेष्ठ आलोचकोंका मुख्य लक्ष्य रहा है। रामचन्द्र शुक्ल यहाँ भी अकेले ठहरते हैं। वैसे समन्वयकी चेष्टा श्यामसुन्दर दास और गुलाब रायमें लक्ष्य की जा सकती है, परन्तु इनका समन्वय संकलन हो गया है, क्योंकि इस पद्धतिकी सीमाएँ भी एकदम स्पष्ट हैं। दो विभिन्न अतिवादियोंके समन्वयके पीछे आलोचक अपना स्वतन्त्र अस्तित्व खो देता है, फलतः उसकी नीर-क्षीरकी दृष्टि नहीं रह जाती। इसीलिए कभी-कभी राम-रावणका-सा सामंजस्य होता है, कभी ज्वलन्त समस्याएँ उपेक्षित रह जाती हैं और कभी कृत्रिम सीमाओंके बीच रचनाकी आत्मा दबी रह जाती है। इसलिए इस आलोचना-पद्धतिके लिए अत्यन्त मेधावी, गहन-गम्भीर, अधीन तथा मौलिक प्रतिभासम्पन्न व्यक्तिकी अपेक्षा है, जैसे टी० एस० ईलियट या रामचन्द्र शुक्ल। —रा० कु० स०

संयोजन (organisation)–किसी कला-कृतिके विभिन्न अंगोंका इस प्रकार संघटित होना कि उसकी आम योजना मनपर व्यवस्था, सार्थकता और एकत्वका प्रभाव डाले। —कु० ना०

संलक्ष्यक्रमध्वनि–अभिधामूला विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिका दूसरा भेद, जिसमें वाच्यार्थ अपना बोध कराकर व्यंग्यार्थकी पुष्टि करता है। इस ध्वनिमें वाच्यार्थसे व्यंग्यार्थकी प्रतीतिके पूर्वापरका क्रम स्पष्ट रीतिसे लक्षित होता है, इसीसे इसे संलक्ष्यक्रमध्वनि कहते हैं। इसे 'अनुरणनध्वनि' भी कहते है। 'अनुरणन'का अभिप्राय है

'पीछे होनेवाली गूँज'। जिस प्रकार घण्टेपर चोट करनेसे पहले कर्कश ध्वनि, पुनः उसकी झनकार निकलती है, जो उत्तरोत्तर सूक्ष्मतम गूँजमें परिणत हो जाती है, उसी प्रकार इस ध्वनिसे प्रथम टंकारके समान पहले वाच्यार्थका बोध होता है, पुनः सूक्ष्मतम गूँजके रूपवाला व्यंग्यार्थ ज्ञात होता है। असंलक्ष्यध्वनिमें रस, भाव, रसाभास आदिकी व्यंजना होती है, किन्तु इस ध्वनिमें वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनिकी व्यंजनाएँ होती हैं। जिस प्रकार हारादि आभूषण मनुष्यके शरीरको अलंकृत करते हैं, उसी प्रकार काव्यालंकार शब्द और अर्थको चमत्कृत करते हैं। उपमादि अलंकार कभी तो वाच्यरूपमें काव्यकी शोभावृद्धि करते हैं, कभी व्यंग्यरूपमें। व्यंग्यरूपमें उनका शब्द द्वारा स्पष्ट कथन नहीं होता है, केवल व्यंजना द्वारा उनकी स्थिति जानी जा सकती है। इस प्रकारकी व्यंजना कभी तो किसी वस्तु द्वारा होती है, कभी किसी अन्य अलंकार द्वारा। दोनों स्थितियोंकी अलंकार-व्यंजनाको अलंकार-ध्वनि कहते हैं। ध्वनिरूपमें उपस्थित होनेके कारण अलंकार भी अलंकार्य (जिसे शोभित किया जाय) बन जाते हैं—सेवक सामान्यतः अपने स्वामीकी सेवा करता है, अपने ब्याहके समय वह भी सेव्य बन जाता है। जहाँ अलंकार-रहित किसी वस्तुकी व्यंजना होती है, उसे वस्तु-ध्वनि कहते हैं। 'वस्तु'का अभिप्राय किसी बातके कथनमात्रसे है। व्यंग्य-रूपमें कही हुई किसी बातमें अथवा व्यंजनाके आधारपर की गयी किसी अलंकार-योजनामें एक विलक्षण अर्थ-चमत्कृतिका होना अवश्यम्भावी है। यह अर्थ-चमत्कृति स्वरूपतः रसात्मकतासे बहुत भिन्न नहीं हो सकती—रसात्मकतासे उसका थोड़ा-बहुत सम्बन्ध रहता ही है। अभिनवगुप्तकी तो यह स्थापना है कि वस्तु तथा अलंकारकी ध्वनियाँ अन्ततोगत्वा रस-ध्वनिमें ही परिणत हो जाती हैं—"रस एवं वस्तुतः आत्मा, वस्त्वलंकारध्वनिस्तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्यते' (संस्कृत पोएटिक्स, भाग २, पाद-टिप्पणी, पृ० २११)।

संलक्ष्यध्वनिके शब्दशक्ति, अर्थशक्ति तथा शब्दार्थ-उभयशक्तिसे उद्भूत होनेके कारण तीन प्रधान भेद होते हैं। पुनः शब्दशक्तिके ४, अर्थशक्तिके ३६ तथा शब्दार्थ-शक्तिका १—और सब मिलकर ४१ भेद किये गये हैं (दे० 'ध्वनि-सिद्धान्त')। —उ० शं० शु०

संलाप—दे० 'कथोपकथन'।

संलापक—तीन या चार अंकोंका उपरूपक है। इसमें शृंगार-करुण रसका अभाव, भारती और कैशिकी वृत्तियोंका प्राधान्य होता है तथा इसका नायक पाषंडी होता है। इसमें नगरका घेरा, विद्रव (भगदड़), संग्रामका वर्णन आदि किया जाता है। शेष सब बातोंमें नाटकसे समानता है। उदाहरण—'मायाकापालिक'। —वि० रा०

संवृति—महायानवादी और माध्यमिक दो सत्योंके सिद्धान्त-को मानते हैं। उनके मतमें बुद्धने संवृति और परमार्थ इन दो सत्योंका उपदेश दिया है (माध्यमिक कारिका, २४।८-१०)। शून्यता ही परमार्थ सत्य है, संवृति व्यवहारका नामान्तर है। कभी-कभी अविद्याको भी संवृति कहा जाता है। सभी प्रतीत्यसमुत्पन्न पदार्थ संवृतिके अन्तर्गत आते हैं। सभी लोगोंको सामान्य रूपसे प्रत्यक्ष होनेवाला संवृति सत्य, लोक संवृति कहा जाता है। केवल कतिपय उपहते-न्द्रिय लोगोंको होनेवाला दुष्ट (सदोष) प्रत्यक्ष अलोक संवृति कहा जाता है। सामान्यतः अनुपलब्ध और अवास्तविक अनुभव मिथ्या संवृति कहे जाते हैं। शेषकी गणना तथ्य संवृतिके अन्तर्गत की जाती है। —क० शु०

हिन्दी साहित्यमें सिद्धों (सरह)के साहित्यमें संवृत्तिका बार-बार उल्लेख मिलता है। वहाँ इसका व्यवहारके अर्थमें प्रयोग हुआ है।

संवृत्तिवक्रता—दे० 'पदपूर्वार्धवक्रता' तीसरा प्रकार।

संवेदना—साधारणतः संवेदना शब्दका प्रयोग सहानुभूतिके अर्थमें होने लगा है। मूलतः वेदना या संवेदनाका अर्थ ज्ञान या ज्ञानेन्द्रियोंका अनुभव है। मनोविज्ञानमें इसका यही अर्थ ग्रहण किया जाता है। उसके अनुसार संवेदना उत्तेजनाके सम्बन्धमें देह-रचनाकी सर्वप्रथम सचेतन प्रतिक्रिया है, जिससे हमें वातावरणकी ज्ञानोपलब्धि होती है। उदाहरण—हरी वस्तु, हरे रंगको देखनेकी संवेदनाकी उत्तेजनामात्र है। उत्तेजनाका हमारे मनपर मस्तिष्क तथा नाड़ीतन्तुओं द्वारा प्रभाव पड़नेपर ही हमें उसकी संवेदना होती है। संवेदना हमारे मनकी चेतनाकी वह कूटस्थ अवस्था है, जिसमें हमें विश्वकी वस्तुविशेषका बोध न होकर उसके गुणोंका बोध होता है। प्रौढ़ व्यक्तियोंमें यह संवेदना प्रायः असम्भव हो जाती है। यद्यपि साधारणतः अंग्रेजीमें इसे 'सिम्पैथी' या 'फेलो फीलिंग' कह सकते हैं, किन्तु मनोविज्ञानमें 'सेन्सेशन'के रूपमें ही इसका विशिष्ट प्रयोग होता है। यह हमारी इच्छापर निर्भर नहीं है। उदाहरणार्थ—मनोहारी संगीत सुनते ही हम अपना आकर्षण नहीं रोक सकते। संवेदनाके लिए उत्तेजककी आवश्यकता है, जिससे सम्बन्धित गुण ही हममें संवेदना उत्पन्न करता है। इसे तीन वर्गोंमें विभाजित किया गया है—१. विशिष्ट संवेदना, २. अन्तरावयव संवेदना, ३. स्नायविक संवेदना। इसमें विशिष्ट ज्ञानेन्द्रिय तथा बाहरी उत्तेजनाके द्वारा होनेवाली संवेदनाको विशिष्ट संवेदना अथवा 'इन्द्रियसंवेदना' कहते हैं। इस संवेदनाकी विशेषता यह है कि यह विशेष अवयवसे सम्बन्ध रखती है और प्रत्येक ऐसी संवेदना दूसरी इन्द्रिय-संवेदनासे पृथक् की जा सकती है। इसके कई भेद हैं, यथा—घ्राण, रस, त्वचा, दृष्टि तथा श्रोतृ-संवेदना। इन भेदोंमें भी मात्राभेद होता है। इन्हीं संवेदनाओंके द्वारा हमें विश्वके विभिन्न पदार्थोंका ज्ञान होता है। इसी प्रकार प्राणीके शरीरकी आन्तरिक अवस्थाके कारण उत्पन्न होनेवाली पाचन-क्रिया, रक्त-संचार और श्वास-प्रश्वास आदिके अवयवोंसे सम्बन्धित संवेदनाएँ अन्तरावयव संवेदना कहलाती हैं। यह प्रायः तीन भागोंमें विभाजित की जा सकती है—१. जिसे हम शरीरके किसी भागमें निश्चित कर सकें, जैसे आघात, जलन आदि; २. जिसे हम संशयात्मक रूपमें निश्चित कर सकें, यह पेट आदि अवयव-विशेषकी साधारण क्रियासे उत्पन्न होती है; ३. प्राणीकी सामान्यावस्थामें होनेवाली वे संवेदनाएँ, जिन्हें कहीं भी निश्चित न कर सकें, जैसे, भूख प्यास। स्नायविक संवेदनाएँ ग्रन्थि तथा पेशी आदिके संचालनसे

उत्पन्न होती है। —आ० प्र० दी०

संशयवाद–पाश्चात्य दर्शनमें संशयसे आधुनिक ज्ञान-मीमांसा आरम्भ होती है (देकार्तें)। शब्दप्रामाण्य अथवा अन्धश्रद्धाके प्रति सन्देह विवेकवाद अथवा प्रज्ञावाद (रैशनेलिज्म)की ओर बढ़नेकी पहली सीढ़ी है। सप्रश्न जिज्ञासु धीरे-धीरे वैज्ञानिक साधनोंकी अपूर्णतातक पहुँचता है और उसे लगता है कि कुछ ज्ञात है, उससे अज्ञेय और भी बहुत-कुछ है। 'ईश्वर है या नहीं' इस प्रश्नका उत्तर ऐसे ही 'शायद हों', 'शायद न हों'वाले स्याद्वादी (एग्नौस्टिक) ढंगसे दिया जाता है। साहित्यकी समीक्षामें इस प्रकारके संशयवादने बद्धमूल धारणाओं, पूर्वाग्रहों और 'बाबावाक्यं प्रमाणम्'पर आघात पहुँचा। कला या साहित्यका एकमात्र उद्देश्य नैतिक शिक्षा या उपदेश हो, इस मध्ययुगीन धारणाको संशयवादने बड़े धक्के दिये। परिणाम यह हुआ कि वाल्तेयर या बर्नार्ड शॉ जैसे साहित्यिकोंको अपने समयमें बहुत जन-विरोध सहना पड़ा।

संशयवादी मनोवृत्ति जब एक स्वयं बद्धमूल मनोवृत्ति बन जाती है तो वह 'सिनिसिज्म' कहलाती है। ऐसे लोगोंमें सभी उच्चतम मूल्योंके प्रति एक प्रकारका तुच्छता-बोधक अनादरभाव जागता है। उन्हें 'सिनिक' कहते हैं। इससे उलटे 'स्केप्टिक' वह है, जो प्रश्न-भरी मनोवृत्तिवाला व्यक्ति है, जो सहजविश्वासी नहीं है। बीसवीं शतीमें विज्ञानके आविष्कारोंने हमारी कई भोली (मिथ्या) धारणाओंको स्वप्नोंकी तरह चकनाचूर कर दिया है। विशेषतः गत दो महायुद्धोंके बाद तो मनुष्यकी अनेक श्रद्धाएँ जड़-मूलसे हिल चुकी हैं। इस मनोदशाको दर्शन तथा साहित्य-समीक्षाके क्षेत्रमें 'स्केप्टिकल' या सन्देहवादी कहा जाता है। हमारे यहाँ नास्तिक-दर्शनोंसे यह प्रवृत्ति आरम्भ हुई थी, बादमें सन्तों और सुधारकोंने इस वृत्तिको प्रोत्साहन दिया, परन्तु मानवतामात्रसे अनास्था जाग गयी हो, ऐसी स्थिति नहीं पैदा हुई। उलटे रवीन्द्रनाथ, गान्धी या अरविन्द—सभी अन्ततः श्रद्धावादी चिन्तक हैं और उनका प्रभाव भारतीय साहित्य और समीक्षापद्धतिपर अधिक है। —प्र० मा०

संश्लेपण (synthesis)–दे० 'विश्लेपण'।

संसृष्टि–अलंकारशास्त्रमें एक प्रकारका सम्मिलित अलंकार; एक छन्द अथवा वाक्यसमूहमें दो या दोसे अधिक शब्दालंकारों या अर्थालंकारोंका सम्मेलन जब 'तिल-तण्डुल-न्याय'से, अर्थात् परस्पर निरपेक्ष रूपसे होता है, उसे संसृष्टि कहते हैं। जिस प्रकार एक पात्रमें रखे हुए तिल और चावल साथ रहते हुए भी परस्पर पृथक् रहते है, उसी प्रकार संसृष्टिमें एक पद्य या वाक्यसमूहमें अनेक अलंकारोंका सम्मेलन परस्पर असम्बद्ध अथवा निरपेक्ष भावसे होता है। भामहके 'काव्यालंकार'से यह अलंकार मिलता है—"वरा विभूषा संसृष्टिर्बह्वलंकारयोगतः"(३:४९), बहुत अलंकारोंके योगसे विभूषित अलंकार। वामनने 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति'में भिन्न भाव व्यक्त किया है—"अलंकारस्यालंकारयोनित्वं संसृष्टिः" (४, ३ : ३०), अर्थात् एक अलंकारका दूसरे अलंकारके साथ कार्यकारणभावसम्बन्ध। मम्मटने प्राचीनोंकी धारणाकी अपेक्षा रुय्यककी विवेचनाका अनुमोदन किया है—"सेष्टा संसृष्टिरेतासां भेदेन यदिह स्थितिः" (का० प्र० १० : १३९), पूर्वप्रतिपादित अलंकारोंकी परस्पर निरपेक्षतामें भी एक अवस्थितिका चमत्कार। विश्वनाथने निरपेक्ष स्थितिपर ही बल दिया है। हिन्दीके आचार्योंमें इस अलंकारके प्रमुख विवेचक चिन्तामणि, सोमनाथ तथा भिखारीदास हैं। दासने भी शब्दभेदसे मम्मटके लक्षणका निरूपण किया है—"एक छन्दमें जहँ परे, अलंकार बहु दृष्टि। तिल तन्दुलसे हैं मिले, ताहि कहैं संसृष्टि" (का० नि० : ३)।

संसृष्टिके तीन भेद किये गये हैं—१. शब्दालंकार संसृष्टि, जिसमें दो या दोसे अधिक केवल शब्दालंकारोंकी निरपेक्ष स्थिति हो; २. अर्थालंकार संसृष्टि, जिसमें केवल अर्थालंकारोंकी परस्पर निरपेक्ष स्थिति हो; ३. उभयालंकार संसृष्टि, शब्दालंकार और अर्थालंकारकी परस्पर निरपेक्ष स्थिति। (क) शब्दालंकार संसृष्टिका उदा०—"कुण्डल जिय रक्षा करन, कवच करन जय बार। करन दान आहव करन, करन करन बलिहार" (अ० मं०, ६४१)। इसमें लाटानुप्रास, यमककी संसृष्टि है। (ख) देवका अर्थालंकार संसृष्टिका उदा०—"विद्रुम और मधूक जपा गुललाला गुलाबकी आभा लजावति। देवजू कंज खिले टटके हटके भटके खटके गिरा गावति। पोंच धरे अलि ठौर जहाँ तेहि ओरतें रंगकी धार-सी आवति। मानो मजीठकी माट ढुरी इक ओरतें चाँदनी बोरति जावति"। यहाँ पूर्वार्द्धके दोनों पदोंमें विद्रुम आदि प्रसिद्ध उपमानोंका अपकर्ष वर्णित है, अतः प्रतीप अलंकार है। उत्तरार्द्धमें 'उक्त विषय' उत्प्रेक्षा है। स्पष्टतः दोनों अर्थालंकारोंकी संसृष्टि है। इसी प्रकार 'निराला'की पंक्ति है—"सखी नीरवताके कन्धेपर डाले बाँह, छाँह-सी अम्बर-पथसे चली"। इसमें रूपक और उपमा अर्थालंकारोंकी संसृष्टि है। (ग) उभयालंकार संसृष्टिके उदाहरणरूप 'निराला'की पंक्तियाँ—"जीवन प्रात समीरण-सा लघुविचरण निरत करो, तरु तोरण तृण-तृणकी कविता, छवि मधु सुरभि भरो"। यहाँ पूर्वार्द्धमें उपमा, उत्तरार्धमें त, र, णकी आवृत्ति होनेसे वृत्त्यनुप्रास और 'छवि मधु'में रूपक अलंकारोंकी परस्पर निरपेक्ष रूपसे स्थिति है। शब्दालंकार और अर्थालंकारकी निरपेक्ष एकत्र स्थिति होनेसे, यहाँ उभयालंकार संसृष्टि है।

हिन्दी रीति-साहित्यमें इस अलंकारका कलात्मक प्रयोग हुआ है, पर आधुनिक काव्यमें भी मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय, 'प्रसाद', पन्त, महादेवी, 'निराला' आदिके काव्योंमें भी इसका काव्यात्मक प्रयोग मिलता है। —वि० स्ना०

संस्कृत (भाषा)–इस शब्दसे आर्य परिवारकी हिन्द-ईरानी शाखाके भारतीय अंशके प्राचीन स्वरूपका बोध होता है। संस्कृत शब्दका अर्थ संस्कार की हुई, माँजी हुई, परिष्कृत समझना चाहिये। इसका विषम अर्थबोधक शब्द प्राकृत है। प्राकृतसे सामान्य जनकी भाषाका और संस्कृतसे शिष्ट जनकी भाषाका बोध होता है। यह स्थिति भारतवर्षके इतिहासमें प्राचीन कालमें किसी समय रही होगी। संस्कृतको देववाणी भी कहते हैं, जिसका अभिप्राय यह है कि यह देवोंकी भाषा है। इसीमें वेद मिलते हैं, जिनको भारतीय

परम्पराकी दृष्टिसे अपौरुषेय और चतुर्मुख ब्रह्माके मुखोंसे प्रकटित समझा जाता है। संस्कृतकी आकृतिके आधारपर श्लिष्ट योगात्मक माना जाता है। इस भाषाके अस्तित्वका सर्वप्रथम प्रमाण ऋग्वेद है। संस्कृत किसी समय भारतीय आर्योंके शिष्ट समाजकी बोली थी। वर्तमान समयमें संस्कृत भाषाको मातृभाषाके रूपमें बोलनेवालोंकी संख्या कोई ५०० है। अनुमान यही है कि इस जनसमुदायने श्रद्धाके कारण संस्कृतको जनसंख्याकी गणनाके अवसरपर मातृभाषा लिखा दिया है। वस्तुतः इसकी भी मातृभाषा वर्तमान भारतीय भाषाओंमेंसे कोई होगी।

संस्कृत भाषाके दो स्वरूप स्पष्ट प्रतीत होते हैं। एक वैदिक अथवा छान्दस और दूसरा लौकिक। पाणिनिने 'अष्टाध्यायी'में इस वैदिक अथवा छान्दस भाषाके विशिष्ट नियम दिये हैं, जिनसे लौकिक भाषाका भेद स्पष्ट हो जाता है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदकी ही भाषा वैदिक या छान्दस कहलाती है। इन संहिताओंके उत्तर-कालके ग्रन्थोंकी भाषाको लौकिककी संज्ञा दी गयी है। पाणिनिके व्याकरण 'अष्टाध्यायी'के सम्मत पदोंको ही शुद्ध माना जाता है और यदि ऋषियों द्वारा निर्मित किसी ग्रंथ-(रामायण, महाभारत आदि)में अपाणिनीय प्रयोग मिलता है तो उसे अशुद्ध न कहकर 'आर्ष प्रयोग' माना जाता है। अन्यत्र अपाणिनीय प्रयोग अशुद्ध ही समझे जाते हैं। संस्कृत भाषामें शब्दोंमें कई व्यंजनोंकी स्थिति साथ-साथ रह सकती थी, किन्तु एकाधिक स्वर साथ-साथ नहीं रह सकते थे। यह स्थिति आगे चलकर प्राकृतोंमें बिलकुल उलट गयी और उनमें दोसे अधिक व्यंजन एक साथ नहीं रह सकते थे, किन्तु एकाधिक स्वर साथ-साथ प्रयोगमें आते थे। पद-रचनाकी दृष्टिसे संस्कृत एक जटिल भाषाका स्वरूप रखती है। इसमें आठ विभक्तियाँ, ६ कारक, १० धातुगण, परस्मैपद और आत्मनेपद, तीन वचन, तीन वाच्य आदि यथेष्ट व्याकरणात्मक धाराएँ हैं। पाणिनिने अपने व्याकरणके द्वारा इस भाषाका एक परिनिष्ठित स्वरूप उपस्थित किया। वही सर्वसम्मत और शुद्ध स्वरूप अभी-तक माना जाता है। —बा० रा० स०

संस्कृत (साहित्य)—संस्कृत साहित्यके दो विभाग किये जाते हैं—वैदिक और लौकिक। वैदिकके अन्तर्गत ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद नामकी संहिताएँ, ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक और उपनिषद् आते हैं। ऋग्वेद दस मण्डलोंमें विभाजित है और इसमें कुल १०२८ सूक्त हैं। सूक्तोंमें ऋचाएँ हैं, जो अनुष्टुभ्, गायत्री आदि वैदिक छन्दोंमें हैं। इन मन्त्रोंमें देवोंकी प्रार्थना, उपासना और स्तुति सर्वत्र व्याप्त है। यजुर्वेदकी दो शाखाएँ हैं—शुक्लयजुर्वेद और कृष्णयजुर्वेद। शुक्लयजुर्वेदमें ४० अध्याय हैं, कृष्णयजुर्वेदकी चार शाखाएँ हैं। यजुर्वेदमें ऋग्वेदके बहुत-से मन्त्र हैं। इस वेदका अधिकांश पद्यमें है और थोड़ा-सा कहीं-कहीं गद्यमें। यजुर्वेदके मन्त्रोंका विनियोग सर्वथा यज्ञके लिए है। सामवेदके केवल ७५ मन्त्र अपने हैं और शेष सब ऋग्वेदसे उद्धृत हैं। इस वेदमें मन्त्रोंका संग्रह गानकी दृष्टिसे किया गया है। अथर्ववेदकी दो शाखाएँ प्राप्त हैं—शौनक और पैप्पलाद। शौनक अधिक प्रचलित है। उसमें २१ काण्ड और दस सूक्त हैं। इस वेदका छठा भाग प्रायः गद्यमें है, शेष सभी पद्यमें। अथर्ववेद विषयकी दृष्टिसे शेष तीन वेदोंमें काफी भिन्न है। इसमें जादू, टोना, वशीकरण आदि विषयोंके मन्त्र भी सम्मिलित हैं। साथ ही राष्ट्र-प्रेमके सूक्त भी पाये जाते हैं। विद्वानोंका मत है कि अथर्ववेद एक भिन्न स्तरकी रचना है और काल तथा संस्कृतिकी दृष्टिसे ऋग्वेदसे यथेष्ट दूर है। यह निर्विवाद है कि इन चारों वैदिक संहिताओंमें ऋग्वेद संहिता सबसे पुरानी है। ऋग्वेदमें भी प्रथम और दशम दो मण्डल बादके मालूम होते हैं।

ब्राह्मणग्रन्थोंमें कर्मकाण्डके मुख्य प्रश्नोंपर समाधान और विचार संकलित हैं। इन ग्रन्थोंसे ही किस यज्ञमें किस मन्त्रका विनियोग है, इस बातका पता चलता है। इनमें जहाँ-तहाँ छोटी-छोटी कथाएँ भी संगृहीत हैं, जो उल्लिखित विचारोंकी पोषक हैं। प्रत्येक वेदके ब्राह्मण अलग-अलग हैं। ऋग्वेदके दो ब्राह्मण हैं 'ऐतरेय' और 'कौषीतकी'। शुक्लयजुर्वेदका 'शतपथ ब्राह्मण' है। आरण्यक भी प्रत्येक वेदके अलग-अलग हैं और इनमें ब्राह्मणग्रन्थोंमें आये हुए विषयोंका विस्तार है। वेद, ब्राह्मण और आरण्यक इन तीन भागोंमें मुख्य रूपसे कर्मकाण्डका विषय है और उसकी दृष्टिसे इनको मन्त्रपरक, विधिपरक और अर्थवाद-परक कहते हैं। आर्यधर्मके कुछ सम्प्रदाय (यथा आर्यसमाज) केवल वैदिक संहिताओंको अपौरुषेय मानते हैं। शेष ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् तीनों भागोंको पौरुषेय, समझते हैं।

उपनिषद् ग्रन्थ आरण्यकोंसे सम्बद्ध हैं, किन्तु विषयकी दृष्टिसे ये उससे सर्वथा भिन्न हैं। इनमें कर्मकाण्डका लेशमात्र भी नहीं है। इनका विषय है ईश्वर और प्रकृति और उनका परस्पर सम्बन्ध। कर्मकाण्डके सम्यक् पालनसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है, किन्तु ईश्वर, जीव और प्रकृतिका ठीक-ठीक स्वरूप और सम्बन्ध जान लेनेसे मुक्ति मिलती है, जिसमें शाश्वत आनन्द है। इसी ज्ञानको ब्रह्मविद्या कहते हैं। उपनिषदोंमें-से कोई-कोई, यथा—'ईश', वैदिक संहिताओंके भाग हैं। सब मिलाकर १०८ उपनिषद् हैं। जिनमेंसे 'ईश', 'कठ', 'केन', 'प्रश्न', 'श्वेताश्वर', 'मुण्डक', 'माण्डूक्य', 'बृहदारण्यक', 'छान्दोग्य', 'ऐतरेय', 'तैत्तिरीय', 'मैत्रायण' और 'कौषीतकी' प्राचीन हैं, शेष अपेक्षाकृत अर्वाचीन हैं। इनमें 'अल्लोपनिषद्' भी है, जो स्पष्ट ही मुसलमानोंके समयमें भारतीय इतिहासके मध्यकालमें बना होगा। उपनिषदोंके भाष्य विभिन्न सम्प्रदायोंके अनुसार मिलते हैं और उनके तत्त्वोंके विषयमें बहुत वाद-विवाद है, तथापि विषयकी दृष्टिसे और मनुष्यकी आध्यात्मिक आकांक्षाके विचारसे इस साहित्यके समान उत्कृष्ट वाङ्मय संसारमें अन्यत्र दुर्लभ है।

प्राचीन कालमें अध्ययनका एक ही विषय था और वह था वेद। ब्राह्मणका मुख्य कर्तव्य था वेदाध्ययन। यह अध्ययन भी निष्कारण और निष्प्रयोजन करना होता था। वेदके साथ वेदांगोंका भी अध्ययन आवश्यक था। वेदांग ६ हैं—शिक्षा, व्याकरण, छन्द, निरुक्त, ज्योतिष और कल्प। शिक्षामें वेदमें आयी हुई ध्वनियोंका विवेचन है। व्याकरणमें पदोंका विश्लेषण और सम्यक् ज्ञान है।

छन्दमें वैदिक मन्त्रोंके पद-विभाजन आदिकी विवेचना है। निरुक्तमें वैदिक शब्दोंके अर्थोंकी व्याख्या है। ज्योतिषमें काल-सम्बन्धी मीमांसा और कल्पमें कर्मकाण्डका विवरण मिलता है। इन वेदांगोंका बीज हमें ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें ही प्राप्त हो जाता है। शिक्षा और व्याकरणका प्रारम्भिक ज्ञान हमें प्रातिशाख्योंसे मिलता है। प्रत्येक वेदके अलग-अलग प्रातिशाख्य हैं। व्याकरणका सबसे प्राचीन ग्रन्थ पाणिनिकी 'अष्टाध्यायी' है। पाणिनिने स्वयं अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणोंका उल्लेख किया है, जिससे स्पष्ट है कि उनके समय (प्रायः चौथी शताब्दी ईसापूर्व)के पहले भारतमें व्याकरणके अध्ययनकी विशेष परम्परा थी। निदानसूत्रोंमें वैदिक छन्दोंके नाम और लक्षण दिये हुए हैं। इसके अतिरिक्त पिंगलका 'छन्दःसूत्र' भी प्राचीन ग्रन्थ है, पर उसमें वैदिक छन्दोंका वर्णन नहीं है। प्रायः ई० पू० ८००के आस-पास रचित 'निरुक्त' यास्क मुनिकी कृति है। यास्कने पूर्ववर्ती बहुतसे नैरुक्तोंका उल्लेख किया है, किन्तु उनके ग्रन्थ नहीं मिलते हैं। यास्कके सामने निघण्टु (वैदिक शब्दकोश) था। इसीकी उन्होंने व्याख्या की है। प्रत्येक यज्ञकी पूर्तिके लिए समयका ठीक ज्ञान आवश्यक था और समय सूर्य, चन्द्रमा तथा अन्य ग्रहों और नक्षत्रोंकी गतिमें ही मालूम किया जा सकता है। जिस ग्रन्थमें ये बातें संगृहीत हों, उसीको ज्योतिष कहेंगे। दुर्भाग्यसे ज्योतिषका कोई पुराना ग्रन्थ प्राप्त नहीं हुआ है। कल्प, अर्थात् विधिका व्याख्यानात्मक वर्णन ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें मिलता है। इसी विषयको कल्प-सूत्रोंमें संग्रह किया गया है। कल्प-सूत्र चार भागोंमें विभक्त है—श्रौत, गृह्य, धर्म और शुल्व। श्रौत सूत्रोंमें वैदिक यज्ञोंकी विधि है, गृह्यमें जातकर्म आदि संस्कार, धर्म-सूत्रोंमें नीति, धर्म, रीति-रवाज और वर्णाश्रमोंके कर्तव्य तथा शुल्वमें यज्ञवेदीके निर्माणकी विधि दी हुई है।

वैदिक संहिताओंके निर्माणकालके विषयमें कई मत हैं। भारतीय परम्पराके अनुसार ये संहिताएँ अपौरुषेय है और प्रत्येक कल्पके प्रारम्भमें मानसी सृष्टिके उपरान्त प्रकट होती है। ऐतिहासिक दृष्टिसे इनका समय विभिन्न विद्वानोंने ३०० ई०पू०से लेकर १००० ई०पू०तक माना है और अपने-अपने मतके पोषणमें विविध तर्क दिये है। जिस संस्कृतिका रूप इनमें, विशेषकर ऋग्वेदसंहितामें मिलता है, वह ई०पू० १५००के लगभग अवश्य वर्तमान था। ब्राह्मणग्रन्थों, पुराने उपनिषदों और सूत्रग्रन्थोंका समय ई०पू० १०००से लेकर २०० ई०पू०तक माना जाता है।

वैदिक साहित्यके बाद ही इतिहासका महत्त्व है और संस्कृतमें 'महाभारत' तथा 'रामायण' ये दो ग्रन्थ इस श्रेणीमें प्रसिद्ध है। भाषा और शैलीकी दृष्टिसे 'महाभारत' 'रामायण'से पुराना है। यद्यपि 'रामायण'का विषय रामचरित त्रेतायुगका है और 'महाभारत'का विषय कौरव-पाण्डव-युद्ध द्वापरयुगका है। 'महाभारत'में कई बार परिवर्धन हुआ और इसका अन्तिम रूप ई०पू० तीसरी-चौथी शताब्दीमें निश्चित हो गया होगा। इसमें भी कई अंश प्रक्षिप्त है, जो सम्भव है कि ईसवी सन्‌के बाद जोड़े गये हैं। महाभारतमें १८ पर्व हैं और इन पर्वोंमें बहुत-से आख्यान भरे पड़े हैं। ज्ञान-विज्ञानकी दृष्टिसे यह ऐसा भण्डार है कि इसमें मनुष्यकी जिज्ञासाको तृप्त करनेके लिए प्रायः सारी सामग्री मिल जाती है। इसीलिए इसको पांचवां वेद भी कहते हैं। इसी ग्रन्थका एक अंश 'भगवद्गीता' है, जिसमें १८ अध्याय हैं। निश्चय ही यह १८ अध्यायोंकी गीता युद्ध-भूमिमें नहीं सुनायी जा सकी होगी। कृष्ण द्वारा अर्जुनको दिये गये उपदेशको सारभूत मानकर महाभारतकारकी यह रचना है। नलोपाख्यान, शकुन्तलोपाख्यान, सावित्रीकथा आदि सहस्रों विषय महाभारतमें मिलते है, जिनके आधारपर उत्तरकालके ललित साहित्यकी रचना हुई।

'रामायण'को आदिकाव्यकी संज्ञा दी गयी है और ऋषि वाल्मीकि इसके रचयिता है। भारतीय परम्पराके अनुसार वेदसे बाहर छन्दकी रचना सर्वप्रथम इन्होंने की। 'रामायण'में सात काण्ड है। कुछ पश्चिमी आलोचकोंकी दृष्टिमें प्रथम, अर्थात् बालकाण्ड और अन्तिम, अर्थात् उत्तरकाण्ड बादके जोड़े हुए अंश है। 'रामायण' भी 'महाभारत'की तरह आख्यानग्रन्थ है और इसके आधारपर उत्तरकालके ललित साहित्यमें बहुतेरी रचनाएं हुई हैं।

संस्कृतके ललित साहित्यको कई वर्गोंमें विभाजित करते हैं—महाकाव्य, खण्डकाव्य, नाट्यसाहित्य, गद्यकाव्य, चम्पू, कथासाहित्य आदि।

महाकाव्यका प्रारम्भ 'रामायण'से ही होता है। इसके नायक धीरोदात्त राम है और सातों काण्डोंमें बहुतसे सर्ग हैं। प्रकृति और मानवका विशद वर्णन है। उत्तम काव्य प्राप्त है। इसके उपरान्त अश्वघोषके दो महाकाव्य 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरनन्द' आते है और तत्पश्चात् कालिदासके दो ग्रन्थ 'कुमारसम्भव' और 'रघुवंश'। भारविका 'किरातार्जुनीय', माघका 'शिशुपालवध' और श्रीहर्षका 'नैषधीयचरित' इस श्रेणीके उत्तम ग्रन्थ है। इनके अतिरिक्त बहुत-से महाकाव्योंकी रचना हुई है। इन्हींमें द्व्यर्थक (यथा—राघवपाण्डवीय) काव्य भी आते है। संस्कृतके महाकाव्योंके आदर्शपर प्राकृतमें भी महाकाव्योंकी रचना हुई। इनमें प्रवरसेनका 'सेतुबन्ध' और वाक्पतिका 'गौड़बध' अधिक प्रसिद्ध है।

खण्डकाव्यमें नायकके सम्पूर्ण चरित्रका चित्रण नहीं होता। वह महाकाव्यका विषय है। इसमें नायकके जीवनसे सम्बद्ध कोई अंश ही लिया जाता है। खण्डकाव्योंमें सर्वप्रथम ग्रन्थ कालिदासका 'मेघदूत' है, जिसमें शापग्रस्त एक यक्षने अलकास्थित अपनी प्रेयसी पत्नीके पास मेघ द्वारा सन्देश भेजा था। यह कालिदासकी अभूतपूर्व कल्पना है। इसमें मन्दाक्रान्ता छन्दमें उत्तम प्रकृति-वर्णन और मानवीय भावोंका चित्र है। सम्पूर्ण ग्रन्थमें प्रायः सवा सौ पद्य हैं, किन्तु इस संक्षिप्त रूपमें कालिदासने इतना काव्य-सौन्दर्य भर दिया है कि यदि उनकी अन्य कोई कृति न भी उपलब्ध होती तो भी उनकी गिनती संसारके श्रेष्ठ कवियोंमें की जाती। 'मेघदूत'के ही आदर्शपर अन्य दूतकाव्य, यथा धोयी कविका 'पवनदूत' और वेदान्तदेशिकका 'हंससन्देश' आदि बने। दूतकाव्योंके अतिरिक्त अन्य खण्डकाव्य भी हैं। इनमें 'शृंगारतिलक', 'घटकर्परकाव्य',

'अमरुकशतक', 'भर्तृहरिशतक', 'योगिनीविलास', 'आर्यासप्तशती', 'गीतगोविन्द' आदिकी गणना होती है।

भारतीय परम्पराके अनुसार नाट्यके प्रथम रचयिता भरत मुनि है, जिन्होंने जनसाधारणके उपकारार्थ नाट्यवेद बनाया। इन्हींके नामसे प्रसिद्ध 'नाट्यशास्त्र' नामका ग्रन्थ प्राप्त है, जो भाषा और शैली आदिकी दृष्टिसे ईसवी तीसरी शताब्दीके पूर्वका नहीं माना जाता। नाट्यके किसी-न-किसी रूपके सर्जनका प्रथम उल्लेख हमें पतंजलिके 'महाभाष्य'मे मिलता है और उपलब्ध नाट्यसाहित्यमें अश्वघोषका 'शारद्वती पुत्र-प्रकरण' (सारिपुत्त-पकरण) और कालिदासकी कृतियाँ (अभिज्ञानशाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय, मालविकाग्निमित्र) सर्वप्रथम आती है। कालिदास न केवल भारतके सर्वश्रेष्ठ कवि है, बल्कि सर्वश्रेष्ठ नाट्यरचयिता भी हैं। इनके स्थितिकालके विषयमे मतभेद है, किन्तु अधिकांश विद्वान् उन्हें चन्द्रगुप्त द्वितीय (चतुर्थ शताब्दी ईसवीके उत्तरार्ध और पंचमके पूर्वार्द्ध)के समयका मानते हैं। कालिदासने भास, सौमिल्ल, कविपुत्र आदि नाट्यकारोंका उल्लेख किया है, इनमेंसे भासके 'स्वप्नवासवदत्ता'-का एक संस्करण 'स्वप्ननाटक'के नामसे गणपति शास्त्रीको प्राप्त हुआ था। इसके साथ 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण', 'चारुदत्त' आदि १२ अन्य नाट्यग्रन्थ भी मिले थे। शास्त्रीजी इन सबको भासकृत मानते थे। सम्भव है, इनमेसे कुछ अपने मूल रूपमें भासकृत रहे हो। शैलीकी दृष्टिसे 'मृच्छकटिक' भी पुराना रूपक है और इसकी रचनाका समय कालिदासके कुछ ही बाद माना जाता है। श्रीहर्षका एक नाटक 'नागानन्द' और नाटिकाएँ 'रत्नावली' और 'प्रियदर्शिका' प्रसिद्ध है। ये श्रीहर्ष महाराज हर्षवर्धन ही है। इनके उपरान्त भवभूति आते है, जिनका स्थान नाटककारकी दृष्टिसे कालिदासके बाद आता है। इनके दो नाटक 'महावीरचरित' और 'उत्तररामचरित' तथा एक प्रकरण 'मालतीमाधव' उपलब्ध है। ये यशोवर्माके समकालीन थे। इनके अतिरिक्त भट्टनारायणका 'वेणीसंहार', 'विशाखदत्त'का 'मुद्राराक्षस', मुरारिका 'अनर्घराघव', जयदेवका 'प्रसन्नराघव' आदि अन्य प्रसिद्ध नाटक है। नाटकोंके अतिरिक्त संस्कृतमें 'प्रबोधचन्द्रोदय' आदि रूपकात्मक नाटक और 'धर्मशर्माभ्युदय' आदि छायानाटक भी है। 'हनुमन्नाटक' भी एक लोकप्रसिद्ध ग्रन्थ है, यद्यपि वह नाटक नहीं है। संस्कृतके आदर्शपर प्राकृतमे भी नाट्यसाहित्य बना। इसमे सर्वप्रसिद्ध रचना राजशेखरकी 'कर्पूरमंजरी' है।

संस्कृतमें गद्यका सबसे प्राचीन आविर्भाव हमें यजुर्वेद-संहितामें मिलता है। इसके उपरान्त ब्राह्मण-ग्रन्थों, आख्यानकों और उपनिषदोंमें सरल, सुबोध गद्यकी प्रचुर मात्रा है। आगे चलकर आचार्योंने गद्यकी विशेषताएँ ओज गुण और समासप्रचुर शैली बतायी। इस दृष्टिसे सुबन्धुकृत 'वासवदत्ता', दण्डीका 'दशकुमारचरित' और बाण भट्टका 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' रीतिबद्ध ललित साहित्यकी उत्तम रचनाएँ हैं। इनमें भी 'कादम्बरी'का मुख्य स्थान है।

गद्य और पद्यमिश्रित रीतिबद्ध रचनाको चम्पू कहते है। इस विशेष श्रेणीका सबसे प्राचीन ग्रन्थ त्रिविक्रम भट्ट-रचित 'नलचम्पू' अथवा 'दमयन्तीकथा' है और इसका समय दसवी शताब्दीका पूर्वार्द्ध है। इसीके आदर्शपर 'यशस्तिलक', 'रामायणचम्पू', 'भागवतचम्पू' आदि ग्रन्थ है।

संस्कृतका कथा-साहित्य अत्यन्त प्राचीन है। वैदिक संहिताओंमें भी जहाँ-तहाँ कथाएँ मिलती है। ब्राह्मण-ग्रन्थो और आरण्यकोंमे इनकी मात्रा और अधिक हो गयी। इस श्रेणीके साहित्यमें सबसे प्राचीन ग्रन्थ 'बृहत्कथा' है। इसकी रचना पैशाची प्राकृतमे गुणाढ्यने की थी। इस ग्रन्थका मूल रूप अप्राप्य है, किन्तु इसके दो संक्षिप्त संस्करण 'बृहत्कथामंजरी' और 'कथासरित्सागर' प्राप्त है। 'बृहत्कथामंजरी'के लेखक क्षेमेन्द्र और 'कथासरित्सागर'के लेखक सोमदेव ११वीं शताब्दी ईसवीमें हुए। इन दो प्रसिद्ध ग्रन्थोंके अतिरिक्त 'बृहत्कथा'पर आधारित बुद्धस्वामीका श्लोकसंग्रह है, जिसमें क्षेमेन्द्र और सोमदेवकी कथा समेद है। इनके अतिरिक्त 'अवदानशतक' और आर्य सूरकृत 'जातकमाला', बौद्ध धर्मप्रचारक बोधिसत्त्वके चरितोंके कथा-संग्रह, 'वेतालपंचविंशतिका', 'सिंहासनद्वात्रिंशतिका', 'शुकसप्तति' और 'भोजप्रबन्ध' अन्य कथा-संग्रह है, जिनमें कल्पना और अतिमानवचरित मुख्य रूपसे दृष्टिगोचर होते है।

भारतवर्षकी कथाओंमे पशु, पक्षी, देव, मनुष्य, असुर—सभी ऐसी भाषा बोलते है, जिसे एक-दूसरे समझ सकते हैं। इसी दृष्टिसे नीतिकथा-ग्रन्थोंकी रचना हुई है। इस श्रेणीका प्रतिनिधि ग्रन्थ 'पंचतन्त्र' है, जिसमे पशु-पक्षियोंकी कथाओं द्वारा मनुष्यको शिक्षा दी गयी है। 'पंचतन्त्र'का अनुवाद फारसके बादशाह नौशेरवॉने पहलवी भाषामें करायी। इसका अनुवाद सीरियाकी भाषामें ५७० ई०में हुआ। फिर इसका अनुवाद हिब्रू, लैटिन, जर्मन, इटालियन, ग्रीक आदि संसारकी सभी प्रसिद्ध भाषाओमे हुआ। मूल 'पंचतन्त्र' अब अप्राप्य है। प्रचलित 'पंचतन्त्र'से पहलवी अनुवाद काफी भिन्न है। इसके अतिरिक्त 'तन्त्राख्यायिका' मिली है, जो 'पंचतन्त्र'के सीरियाई अनुवादसे अधिक मेल खाती है। 'हितोपदेश' 'पंचतन्त्र'का ही एक उत्तरकालीन संस्करण है।

नीतिकथाके प्रचुर ग्रन्थ जैन और बौद्ध साहित्योंमें मिलते है। कथाओंके द्वारा हर एक सम्प्रदायने अपने सिद्धान्तोका प्रचार जनसमाजमें किया और इसके सूक्ष्म अध्ययनसे पता चलता है कि प्रत्येक सम्प्रदायने बहुधा एक ही कथाको अपने-अपने सम्प्रदायकी दृष्टिसे भिन्न-भिन्न रूप दे दिया।

आरम्भमे काव्य अलंकारपर आश्रित था और यदि वाक्यमें उपमा, अतिशयोक्ति आदि कोई अलंकार प्राप्त हो तो उसे ही काव्यकी संज्ञा दी जाती थी। धीरे-धीरे काव्यशास्त्रपर ग्रन्थ रचे गये। आरम्भमें उन्हें अलंकारशास्त्र कहते थे। काव्यके दो प्रमुख अंग है—श्रव्य और दृश्य। दृश्य काव्यका सबसे पुराना शास्त्र भरत मुनिका 'नाट्यशास्त्र' है। इसके उपरान्त धनंजयका 'दशरूपक' आता है। सम्पूर्ण काव्यके सिद्धान्तोंका विवेचन हमे दण्डीके 'काव्यादर्श', वामनके 'काव्यालंकारसूत्र', आनन्दवर्धनके 'ध्वन्यालोक',

मम्मटके 'काव्यप्रकाश', विश्वनाथके 'साहित्यदर्पण' और पण्डितराज जगन्नाथके 'रसगंगाधर'में मिलता है। काव्यके सिद्धान्तों और रसानुभूतिके विषयमें जैसा विवेचन और विश्लेषण संस्कृतमें है, वैसा अन्यत्र अप्राप्य है।

संस्कृत वाङ्मयमें इतिहासके अतिरिक्त पुराण नामसे १८ ग्रन्थ सम्मिलित हैं। पुराणका लक्षण है—"सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च। वंशानुचरितं चैव पुराणं पंचलक्षणम्"। इस लक्षणके अनुसार पुराणोंमें सृष्टिकी उत्पत्ति, उसका संहार, वंशावली, मन्वन्तरोंका वर्णन और प्रसिद्ध राजवंश (सूर्यवंश और चन्द्रवंश)के राजाओंका उल्लेख और उनके चरितका वर्णन पाया जाता है। इसके अतिरिक्त उनमें अनेक कथाएँ, भारतवर्षके मौर्य, शुंग आदि राजवंशोंका वर्णन आदि बहुत-सी सामग्री मिलती है। कई पुराणोंमें ज्योतिष, शरीरविज्ञान, अलंकारशास्त्र, व्याकरण आदि विषय भी पाये जाते हैं। इनकी शैली वर्णनात्मक है, किन्तु 'भागवत' आदि कुछ पुराणोंमें यत्र-तत्र उत्तम काव्यकी शैली भी मिलती है।

इन पुराणोंकी रचना भिन्न-भिन्न समयमें हुई होगी। इनकी कुछ सामग्री काफी पुरानी है। पुराणोंका निर्माण-काल ईसवी सन् दूसरी-तीसरी शताब्दीसे लेकर आठवीं-नवीं शताब्दीतक समझा जाता है। पुराणोंके कर्ता व्यास माने जाते हैं। सम्भव है, इनकी देख-रेखमें प्राचीन पुराणोंका संकलन हुआ हो और बादके पुराण भी इन्हींके नामसे प्रचलित हो गये हों। १८ पुराणोंके अतिरिक्त १८ उपपुराण भी हैं। इनके भी कर्ता व्यास ही माने जाते हैं। पुराण-साहित्यका महत्त्व उसकी सामग्रीके कारण है, जिसका उपयोग भारतवर्षके इतिहास, भूगोल, पुरातत्त्व, सभ्यता और संस्कृति आदिके अध्ययनके लिए किया जा सकता है, किन्तु इसकी सामग्री ऐसे रूपमें है, जिससे भ्रम हो जानेकी अधिक सम्भावना है।

दर्शनके मूल तत्त्वोंका बीज हमें वैदिक संहिताओंमें ही मिल जाता है। उत्तरकालीन वैदिक साहित्यमें इसका विशेष स्थान है। सांख्य, योग, वैशेषिक, न्याय, मीमांसा और वेदान्त, ये ६ दर्शन आस्तिक-दर्शन माने जाते हैं। इनके सूत्रग्रन्थ उपलब्ध हैं और इनके भाष्य, टीकाएँ और व्याख्याएँ प्रचुर मात्रामें वर्तमान हैं। इनके अतिरिक्त संस्कृतमें जैन-दर्शन, बौद्ध-दर्शनपर भी यथेष्ट ग्रन्थ हैं। भारतमें चार्वाक-दर्शन प्रसिद्ध रहा है। बहुत-कुछ इन्हीं दर्शनोंके अनुसार भारतमें भिन्न-भिन्न धर्मों और सम्प्रदायोंका अस्तित्व है।

ऊपर वैदिक ग्रन्थोंके धर्मसूत्रोंका उल्लेख हो चुका है। धर्मसूत्रोंके अतिरिक्त स्मृतियाँ हैं। इनमें सबसे प्राचीन 'मनुस्मृति' है। अनुमान है कि यह किसी धर्मसूत्र-(मानवधर्मसूत्र)का बृहत् संस्करण है। इसका निर्माणकाल ईसाकी दूसरी-तीसरी शताब्दी समझा जाता है। इसके अतिरिक्त 'याज्ञवल्क्यस्मृति', 'नारदस्मृति' और 'पाराशर-स्मृति' भी प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

वेदों और वेदांगोंके अतिरिक्त चार उपवेद हैं। इनके नाम हैं आयुर्वेद, गान्धर्ववेद, धनुर्वेद और अर्थवेद। आयुर्वेदके सबसे पुराने ग्रन्थ 'चरकसंहिता' और 'सुश्रुत-संहिता' हैं। 'सुश्रुतसंहिता'में शल्यचिकित्साका विशेष महत्त्व है। आयुर्वेदका अध्ययन भारतवर्षमें बहुत पुराना है और 'चरकसंहिता'का समय ईसापूर्व दूसरी शताब्दी समझा जाता है। गान्धर्ववेदका बीज सामवेदमें ही है। भरतके 'नाट्यशास्त्र'में इसका विशेष विवरण मिलता है। धनुर्वेदका कोई पुराना ग्रन्थ नहीं मिलता। अर्थवेदपर सबसे प्राचीन ग्रन्थ कौटिल्यका 'अर्थशास्त्र' है। विश्वास है कि कौटिल्य और चाणक्य एक ही व्यक्तिके नाम हैं। अर्थ-शास्त्रमें राज्यप्रबन्ध, राजनीति, समाजका आर्थिक संघटन आदि सभी विषय सम्मिलित हैं।

वैदिक शब्दोंका कोश निघण्टु था और उसकी व्याख्या निरुक्त। इसी परम्परामें लौकिक भाषाके भी कोश बने। प्राप्त कोशग्रन्थोंमें सबसे प्राचीन अमर सिंहका 'अमरकोश' है। इसका निर्माण-काल ईसवी सन्‌की चौथी-पाँचवीं शताब्दी समझा जाता है। इसके उपरान्त और बहुत-से कोश बने।

संस्कृत वाङ्मयपर एक विहंगम दृष्टि डालनेसे पता चलता है कि इसमें मानव-जातिसे सम्बद्ध प्रत्येक विषयकी सामग्री है। यह वाङ्मय अत्यन्त समृद्ध और उपादेय है। वर्तमान भारतके साहित्यका स्रोत सर्वथा संस्कृत साहित्यमें उपलब्ध है। मनुष्यको उन्नत करनेके लिए जो सामग्री संस्कृत साहित्यमें उपलब्ध है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। आध्यात्मिक दृष्टिसे संस्कृतका साहित्य संसारकी सभी भाषाओंमें सर्वोच्च है।

[सहायक ग्रन्थ—संस्कृत साहित्यका इतिहास : बलदेव उपाध्याय।] —बा० रा० स०

संस्कृति—संस्कृति शब्द सम् उपसर्गके साथ संस्कृतकी (डु) कृ (ञ्) धातुसे बनता है, जिसका मूल अर्थ साफ या परिष्कृत करना है। आजकी हिन्दीमें यह अंग्रेजी शब्द 'कल्चर'का पर्याय माना जाता है संस्कृति शब्दका प्रयोग कम-से-कम दो अर्थोंमें होता है, एक व्यापक और एक संकीर्ण अर्थमें। व्यापक अर्थमें उक्त शब्दका प्रयोग नर-विज्ञानमें किया जाता है। उक्त विज्ञानके अनुसार संस्कृति समस्त सीखे हुए व्यवहार अथवा उस व्यवहारका नाम है, जो सामाजिक परम्परासे प्राप्त होता है। इस अर्थमें संस्कृतिको 'सामाजिक प्रथा' (कस्टम)का पर्याय भी कहा जाता है। संकीर्ण अर्थमें संस्कृति एक वांछनीय वस्तु मानी जाती है और संस्कृत व्यक्ति एक श्लाघ्य व्यक्ति समझा जाता है। इस अर्थमें संस्कृति प्रायः उन गुणोंका समुदाय समझी जाती है, जो व्यक्तित्वको परिष्कृत एवं समृद्ध बनाते हैं। नर-विज्ञानियोंके अनुसार 'संस्कृति' और 'सभ्यता' शब्द पर्यायवाची हैं।

हमारी समझमें संस्कृति और सभ्यतामें अन्तर किया जाना चाहिये। सभ्यतासे तात्पर्य उन आविष्कारों, उत्पादनके साधनों एवं सामाजिक-राजनीतिक संस्थाओंसे समझना चाहिये, जिनके द्वारा मनुष्यकी जीवन-यात्रा सरल एवं स्वतन्त्रताका मार्ग प्रशस्त होता है। इसके विपरीत संस्कृतिका अर्थ चिन्तन तथा कलात्मक सर्जनकी वे क्रियाएँ समझनी चाहिये, जो मानव व्यक्तित्व और जीवनके लिए साक्षात् उपयोगी न होते हुए उसे समृद्ध बनानेवाली हैं।

इस दृष्टिसे हम विभिन्न शास्त्रों, दर्शन आदिमें होनेवाले चिन्तन, साहित्य, चित्रांकन आदि कलाओं एवं परहित-साधन आदि नैतिक आदर्शों तथा व्यापारोंको संस्कृतिकी संज्ञा देंगे। मोक्षधर्म अथवा पूर्णत्वकी खोज भी संस्कृतिका अंग मानी जायगी। थोड़े शब्दोंमें और व्यापक अर्थमें किसी देशकी संस्कृतिसे हम मानव-जीवन तथा व्यक्तित्वके उन रूपोंको समझ सकते है, जिन्हे देश-विशेषमें महत्त्वपूर्ण, अर्थात् मूल्योंका अधिष्ठान समझा जाता है। उदाहरणके लिए, भारतीय संस्कृतिमें 'मातृत्व' और 'स्थितप्रज्ञता'की स्थितियोंको महत्त्वपूर्ण समझा जाता है; ये स्थितियाँ जीवन अथवा व्यक्तित्वकी स्थितियाँ है और इस प्रकार भारतीय संस्कृतिका अंग है। —दे०

संस्कृति, पाश्चात्य—पाश्चात्य संस्कृतिकी चर्चा प्रायः उसे एशियाई अथवा भारतीय संस्कृतिसे पृथक् करनेके प्रसंगमें आती है। पाश्चात्य संस्कृति मुख्यतः प्राचीन यूनान एवं आधुनिक यूरोप तथा अमेरिकाकी संस्कृति है। मध्ययुगीन यूरोपकी संस्कृति भारतीय मध्ययुगकी भाँति धर्म तथा परलोकप्रधान थी। प्राचीन यूनानी वैदिक, आर्योंकी भाँति उतने परलोक-परायण नहीं थे। प्राचीन यूनानसे लेकर अबतक यदि हम यूरोपीय दर्शनकी तुलना भारतीय दर्शन-से करें तो एक बड़ा अन्तर दिखाई देता है। भारतीय दर्शनमें मुख्यतः अपनी आत्माके ज्ञानपर जोर दिया गया है, वेदान्तका ब्रह्म भी आत्मा ही है। भारतीय चिन्तामे मोक्ष नामक तत्त्वका भी बहुत महत्त्व है। मोक्ष आत्माका चरम गन्तव्य है। इसके विपरीत यूरोपीय दर्शनमें बाह्य, अर्थात् भौतिक जगत्की व्याख्या तथा ज्ञानपर अधिक बल दिया गया है। दूसरे शब्दोंमें कहा जाता है कि भारत तथा अन्य एशियाई देशोंकी अपेक्षा यूरोपकी अभिरुचि विज्ञानकी ओर अधिक रही है। इस तथ्यका एक महत्त्वपूर्ण निदर्शन यह भी है कि यूरोपके अधिकांश बड़े दार्शनिक गणितशास्त्रके पण्डित और उनमेंसे कुछ वैज्ञानिक भी थे, जैसे अफलातून (प्लेटो), डेकार्ट, लाइबनीज, काण्ट, रसेल, ह्वाइटहेड आदि। यह लक्ष्य करनेकी बात है कि भारतवर्ष और सम्भवतः चीनका भी, कोई दार्शनिक गणित-शास्त्री अथवा प्राणिशास्त्रका ज्ञाता नहीं था।

पाश्चात्य दार्शनिकोने राजनीति, आचारशास्त्र आदिके सम्बन्धमें भी व्यवस्थित चिन्तन किया है, जब कि भारतीय दार्शनिक प्रायः इन चीजोंके प्रति उदासीन रहे हैं। सम्भवतः इसी कारण यूरोपमें अनेक शासन-व्यवस्थाओंका जन्म एवं विकास हुआ, वहाँ अनेक राज्य-क्रान्तियाँ भी हुईं। निष्कर्ष यह कि यूरोपीय विचारकोंकी, हमारे भारत-वर्षकी तुलनामें, सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्थामें अधिक अभिरुचि रही है। वहाँके अध्यात्मवादी या प्रत्ययवादी विचारक प्रायः विश्वको परब्रह्मकी अभिव्यक्ति कहते रहे है, मायिक नहीं। भारतकी अपेक्षा यूरोपके निवासियोंमे राजनीतिक तथा सामाजिक स्वतन्त्रताकी आकांक्षा अधिक बलवती रही है। आधुनिक यूरोप तथा अमेरिकाकी वैज्ञानिक मनोवृत्ति उनकी संस्कृतिकी स्थायी विशेषता बन गयी है। इस मनोवृत्तिके कारण पश्चिमके देश सहज ही समृद्धि-शाली और शक्तिमान् बन सके है।

कतिपय यूरोपीय पण्डितोंके अनुसार राज्यके कानूनके प्रति आदर-भावना यूरोपीय संस्कृतिका एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। कानूनकी रक्षाके लिए शक्तिका प्रयोग उक्त संस्कृतिमें वैध और आवश्यक समझा जाता है। इसलिए इस दृष्टिसे (नार्थ्रोपके अनुसार) यूरोपीय मनोवृत्ति भारतके प्राचीन आर्योंकी मनोवृत्तिके निकट और विशुद्ध एशियाई शान्तिवाद एवं अहिंसावादसे भिन्न है। —दे०

संस्कृति, भारतीय—भारतीय संस्कृतिकी परिभाषा देना अथवा थोड़े शब्दोंमें उसका वर्णन करना नितान्त कठिन है। कारण यह है कि भारतके लम्बे इतिहासमें उसकी संस्कृतिपर अनेक प्रभाव पड़ते रहे हैं, जिसके फलस्वरूप उसका रूप न्यूनाधिक परिवर्तित होता रहा है। भारतवर्ष अनेक जातियों, धर्मों तथा (नर-विज्ञानके अर्थमें) 'संस्कृतियों'-का संगमस्थल बनता रहा है। स्वयं हिन्दू-धर्मके प्राचीन वैदिक रूप, कालिदासके समयके 'क्लासिकल' रूप तथा बादके पौराणिक रूपमें काफी अन्तर है। इसके अतिरिक्त इस देशमे समय-समयपर, विभिन्न प्रदेशोंमें बौद्ध, इसलाम, ईसाई धर्म आदिका प्रभाव भी पड़ता रहा है। यही बात भारतीय शासन-व्यवस्था, सामाजिक संगठन, दर्शन, साहित्य, कला आदिपर भी लागू है।

इस सबके बावजूद भारतीय संस्कृतिकी कुछ विशेषताएँ है, जो उसे दूसरे देशोंकी संस्कृतियोंसे जुदा करती है। भारतीय संस्कृतिकी एक विशेषता है, उसकी समन्वय-भावना। भारतवर्ष अनेक देवी-देवताओंका देश रहा है, जहाँ धार्मिक पूजा एवं उपासनाके अनेक रूप साथ-साथ प्रचलित रहे हैं। स्वयं हिन्दू धर्मके अन्तर्गत अनेक दार्शनिक सिद्धान्त, अनेक उपास्य देवता एवं मोक्ष या निर्वाण-प्राप्तिके लिए अनेक मार्ग (जैसे ज्ञानमार्ग, योगमार्ग, भक्तिमार्ग और कर्ममार्ग) स्वीकृत किये गये है। सामान्यतः हिन्दू मस्तिष्क इन विविध सिद्धान्तों तथा मार्गोंके प्रति सहिष्णु रहा है। यह सहिष्णुता एवं समन्वय-भावना हिन्दू संस्कृति अथवा भारतीय संस्कृतिकी एक प्रमुख विशेषता है। कहा गया है कि जिस प्रकार समस्त नदी-नदोंका जल समुद्रकी ओर जाता है, उसी प्रकार विभिन्न मार्गोंसे चलते हुए मनुष्य एक ही गन्तव्यकी ओर अग्रसर होते है।

भारतीय संस्कृतिकी दूसरी विशेषता उसके दर्शनोंके इस मन्तव्यमें प्रतिफलित है कि जीवनका लक्ष्य (मोक्ष या निर्वाण) इस व्यावहारिक जीवन और जगत्का अतिक्रमण करनेवाली स्थिति है। इस जीवन और जगत्के मूल्य चरम नही है। इसके साथ ही भारतीय संस्कृति यह मानती है कि अच्छे-बुरे कर्मोंका फल अवश्य मिलता है और इस जीवनमें समुचित प्रयत्न करके हम परम पुरुषार्थ, अर्थात् मोक्षको प्राप्त कर सकते है। भारतीय आश्रम-व्यवस्था इस बातपर जोर देती है कि जीवन-यात्राके मध्यबिन्दुतक पहुँचकर मनुष्यको सांसारिक भोगैश्वर्योंके प्रति उदासीन हो जाना चाहिये। यही शिक्षा कर्मयोग अथवा निष्काम-कर्मके सिद्धान्तमें भी निहित है। संक्षेपमें यह अनासक्तिकी शिक्षा भारतीय धर्म और संस्कृतिका आवश्यक और महत्त्वपूर्ण अंग है। उक्त अर्थमें अनासक्त रहते हुए मनुष्य संसारमें रहे और जीवनके वर्णाश्रमानुसारी कर्तव्योंका

पालन करे, यह हिन्दूधर्म और संस्कृतिकी व्यापक शिक्षा है। विशुद्ध रूपमें भारतीय अन्य सम्प्रदायों तथा धर्मोंकी शिक्षा भी इसके अनुकूल ही है। हिन्दू तथा भारतीय संस्कृतिका सबसे उदात्त रूप संस्कृत महाकाव्यों तथा बौद्ध धर्मकी शिक्षाओंमें प्रतिफलित हुआ है। —दे०

संस्कृति, यूनानी–यूनानी संस्कृति यूरोपकी प्रथम महत्त्वपूर्ण संस्कृति है, जिसने आधुनिक यूरोपीय संस्कृतिको प्रेरणा दी है। यूनानी लोग बहुदेववादी थे, किन्तु वे किसी अपौरुषेय ग्रन्थके विश्वासी न थे। उनकी मनोवृत्तिमें धार्मिकता की अपेक्षा वैज्ञानिक तत्त्व प्रधान थे। यूनानियोंने गणित, विशेषतः ज्यामितिके क्षेत्रमें विशेष उन्नति की। अधिकांश यूनानी विचारक बुद्धिवादी थे। प्लेटो (अफलातून)-के अनुसार चरम तत्त्व बुद्धिगम्य है। उसके तथा अरस्तूके मतमें बौद्धिक चिन्तनका जीवन आदर्श जीवन है। यों अरस्तूकी यह भी मान्यता है कि धर्मका मार्ग अतियोंको बचाकर चलनेवाला मध्यमार्ग है।

यूनानी सौन्दर्यशास्त्र अनुपात तथा सीमाभाव (लिमिट)-पर गौरव देता है। अनन्त या भूमाकी धारणा यूनानियोंको प्रिय नहीं है।

यूनानी साहित्यमें महाकाव्य एवं नाटकोंका विशेष विकास हुआ। यूनानी साहित्यशास्त्रमें कविता नाटक तथा वक्तृत्व-कलापर विशद चिन्तन हुआ है। यूनानी नाटकमें तीन एकताओंके निर्वाहपर बल दिया गया है। —दे०

संस्मरण–व्यापक रूपमें संस्मरण आत्मचरितके अन्तर्गत आ जाता है। परन्तु इन दोनोंके दृष्टिकोणमें मौलिक अन्तर है। आत्मचरितके लेखकका मुख्य उद्देश्य अपनी जीवन-कथाका वर्णन करना रहता है। उसमें कथाका प्रमुख पात्र स्वयं लेखक होता है और अन्य इतिहासकी घटनाओं और परिस्थितियोंका केवल वही रूप उसमें आता है, जो उसके जीवन-क्रमको प्रभावित, संचालित या नियन्त्रित करता है अथवा जो उससे प्रभावित होता है। इसके विपरीत संस्मरणका दृष्टिकोण अलग है। इसमें लेखक अपने समयके इतिहासको लिखना चाहता है। परन्तु इतिहासकारके वस्तुपरक रूपसे वह बिलकुल अलग है। संस्मरण-लेखक जो स्वयं देखता है, जिसका वह स्वयं अनुभव करता है, उसीका वर्णन करता है। उसके वर्णनमें उसकी अपनी अनुभूतियाँ, संवेदनाएँ भी रहती हैं। इस दृष्टिसे शैलीमें वह निबन्धकार-के समीप है। वह वास्तवमें अपने चतुर्दिक्‌के जीवनका सर्जन करता है, सम्पूर्ण भावना और जीवनके साथ। इतिहासकारके समान वह विवरण प्रस्तुत करनेवाला नहीं है। पश्चिमके साहित्यमें साहित्यकारोंके साथ-साथ बड़े-बड़े राजनीतिक नेताओं, सेनापतियों आदिने संस्मरण लिखे हैं, जिनका साहित्यिक महत्त्व स्वीकार किया गया है। संस्मरण-लेखक यदि अपने सम्बन्धमें लिखे तो उसकी रचना आत्मकथाके निकट होगी, यदि अन्य व्यक्तियोंके विषयमें लिखे तो जीवनीके निकट। इन दो प्रकारके संस्मरणोंको अंग्रेजीमें क्रमशः 'रेमिनिसेंसेज' और 'मेम्वायर्स' कहते हैं। इस दृष्टिसे स्मृतिके आधारपर किसी विषय या व्यक्तिके सम्बन्धमें लिखित लेख या ग्रन्थको संस्मरण कह सकते हैं। यात्रासाहित्य (दे०) भी एक प्रकारसे संस्मरण-साहित्य ही है।

हिन्दीमें इस साहित्यरूपका प्रचलन आधुनिक कालमें पश्चिमी प्रभाव और उसके वातावरणमें हुआ है। परन्तु संस्मरण-लेखनके क्षेत्रमें प्रौढ़ तथा सफल रचनाएँ मिलती हैं। हिन्दीके प्रारम्भिक संस्मरण-लेखकोंमें पद्मसिंह शर्मा प्रमुख हैं। बनारसीदास चतुर्वेदीकी 'संस्मरण' तथा 'हमारे अपराध' कृतियोंमें उनके जीवनके विविध संस्मरण आकर्षक शैलीमें प्रस्तुत किये गये हैं। इनके बाद हिन्दीके कई प्रसिद्ध लेखकोंने संस्मरण लिखे हैं। महादेवीके 'अतीतके चलचित्र' तथा 'स्मृतिकी रेखाएँ' और रामवृक्ष बेनीपुरीकी 'माटीकी मूरतें'में जीवनमें आनेवाले विभिन्न साधारण पात्रोंका कोमल तथा सजीव चित्रण है। देवेन्द्र सत्यार्थीने लोकगीतोंके संग्रहकार्यके लिए विभिन्न क्षेत्रोंमें यात्रा की है और वहाँ के संस्मरणोंको भावुक शैलीमें अंकित किया है—'क्या गोरी, क्या सॉवरी' 'रेखाएं बोल उठीं'। भदन्त आनन्द कौसल्यायनने अपने यात्रा-जीवनकी विविध घटनाओं और परिस्थितियोंको उनके पात्रोंके साथ अपने संस्मरणोंमें स्थान दिया है—'जो न भूल सका', 'जो लिखना पड़ा'। शान्तिप्रिय द्विवेदीके 'पदचिह्न' तथा 'परिव्राजककी प्रजा' संस्मरणात्मक शैलीमें लिखे गये हैं। कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकरके 'भूले हुए चेहरे'में स्मृतिमें आये हुए अतीतके विभिन्न पात्रोंके संस्मरण भावानुभूतिके साथ अंकित हैं। वस्तुतः संस्मरण-साहित्यका बहुत अंश अभीतक पत्र-पत्रिकाओंमें बिखरा पड़ा है।

कभी-कभी संस्मरणको **निबन्ध**की एक प्रवृत्ति माना जाता है। ऐसी रचनाओंको संस्मरणात्मक निबन्ध कहा जा सकता है। 'मेरी असफलताएँ' गुलाब रायके संस्मरणात्मक निबन्धोंका संग्रह है। —र०, अ० कु०

संसा–संसा मूलतः संस्कृतके संशयका ध्वनि परिवर्तित रूप है। सन्देह, भ्रम, द्विधापूर्ण ज्ञानके अर्थमें सन्तोंने इस शब्दका बहुशः प्रयोग किया है, किन्तु श्वाससे बननेवाले साँस, संसा आदि शब्दका अर्थ भी सन्तोंने इससे निकाला है। इन दोनों अर्थोंमें इस शब्दका प्रयोग अलग-अलग स्थानोंपर तथा एक साथ ही दोनों अर्थ दे सकनेवाले एक ही स्थानपर भी हुआ है। संशय या भ्रमपूर्ण ज्ञानके अर्थमें दादूका एक प्रयोग है—"दादू संसा आरसी देखत दूजा होइ। भरम गया दुविध्या मिटी तब दूसर नहीं कोइ" (दादूकी अनभै बाणी, पृ० ४२१ : ८)। सन्देहके अर्थमें कबीर कहते हैं—"जरत जरत जल पाइया सुखसागरका मूल। गुर परसादि कबीर कहि भागी संसै सूल" ॥ (क० ग्रं० ति०, रमैनी १८)। या "पंजरि प्रेम प्रकासिया जागी जोति अनन्त। संसै खूटा सुख भया, मिला पियारा कन्त" (वही, पृ० १६७, ७ और भी दे०–वही, पद ४०, १६, ९७, ११३; रमैनी, पृ० १२८, ८; १८०, ११; २३९, ३ आदि)। सन्देह और श्वास दोनोंका अर्थ एक साथ देनेवाले प्रयोग भी कबीरमें कई मिल जाते है। उदाहरणके लिए उनका एक पद है—"ऐसा ज्ञान बिचारि लै लाइलै ध्यांनां। सुन्नि मंडल मैं घर किया जैसे रहै सिचांना॥ उलटि पवन कहां रखिए कोई मरम बिचारै। साधै तीर पतालकौं फिर गगनहिं मारै॥ ××

× × × सतगुरु मिलै त पाइऐ ऐसी अकथ कहानी। कहै कबीर संसा गया मिला सारंग पांनीं" (क० ग्रं०, ति०, पद ११७)। स्पष्ट है कि ऊपर पवनके उलटने, अर्थात् वहिर्मुखसे अन्तर्मुख करनेके जिस प्रसंगमें संसा शब्दका यहाँ व्यवहार किया गया है, उसमें संसा गयाका एक अर्थ जहाँ 'सन्देह मिट गया' है, वहाँ 'श्वास कुंभक प्राणायाम द्वारा अवरुद्ध हो गया' जैसा अर्थ भी अवश्य ही कबीरको अभिप्रेत था। यह कबीरकी बड़ी ही स्पष्ट वृत्ति है। इसी प्रकारके दुहरे अर्थका संकेत देनेवाली उनकी एक साखी है—"संसै खाया सकल जग संसा किनहुँ न खद्ध। जे वेधे गुरु अक्खिरां ते संसा चुनि चुनि खद्ध" (वही, पृ० १३६ : ७), अर्थात् "सन्देहने सारे संसारको खा लिया पर किसीने सन्देहको नहीं खाया, लेकिन जो गुरुके शब्द बाणसे विद्ध है, वे संसारके सारे भ्रम, सन्देहको खा जाते है। या 'साँसोंने सारे संसारको खा लिया, पर कुम्भक साधकर कोई साँसको खा नही सका। जो गुरुके शब्दबाणसे विद्ध है, वह चुन-चुनकर सासोंको खा लेता है।' वैसे ऊपर-ऊपरसे यह दूसरा अर्थ जबरदस्ती थोपा हुआ लग सकता है, पर जो कबीरकी प्रकृतिसे परिचित हैं उन्हे इसका औचित्य अवश्य स्वीकार्य होगा। संसाका मात्र श्वास अर्थमे कबीरने बहुत बार प्रयोग किया है। उनका एक पद है—"जीवनकी आसा नहीं जम निहारै सांसा। बाजीगरी संसार कबीरा चेति ढारि पासा" (वही, पद ६०)। —रा० दे० सिं०

सकाम भक्ति—दे० 'निष्काम भक्ति'।

सखी—दे० 'गोपी'।

सखी (नायिका)—श्रृंगार रसके उद्दीपन-विभावके अन्तर्गत सखी आती है। भरतने सखीको दूतीके अन्तर्गत एक भेदके रूपमें स्वीकार किया है। यद्यपि रुद्रभट्टके 'श्रृंगारतिलक'में सखियोंका विभाजन है, पर उसके अन्तर्गत कर्मकी दृष्टिसे दूतीभाव प्रधान है। परन्तु अधिकांश संस्कृत आचार्यो (भरत, धनंजय, शारदातनय, वाग्भट, विश्वनाथने) दूती अथवा नायिकासहायाके रूपमें विभाजन किया है और उसके अन्तर्गत सखी भी आयी है। परन्तु भानुदत्तने सखी और दूतीका विभेद स्पष्टतः स्वीकार किया है—"विश्वासविश्रामकारिणी पार्श्वचारिणी सखी" (र० मं०, पृ० १५६), अर्थात् जो नायिकाके साथ सहचरी रूपमे रहे और उसको विश्वास तथा विश्राम प्रदान करे, उसे सखी कहा है। हिन्दीमें प्रायः कवियोंने ऐसा ही किया है। मतिरामके अनुसार सखीकी ऐसी ही परिभाषा है—"जा तियसों नहिं नायिका कछू छिपावे बात। तासौं बरनत कह सखी कबि मति अति अवदात" (र० रा० : पृ० २८८)। अधिकांश हिन्दीलेखकोंने इसका विभाजन नहीं किया है, जैसे कृपाराम, रहीम, सुन्दर, मतिराम, देव, पद्माकर, वेनीप्रवीन, नन्दराम, लछिराम, प्रतापनारायण, बिहारीलाल भट्ट।

परन्तु जिन्होंने विभाजन किया है, उनकी संख्या भी कम नहीं है– केशव, तोष, रसलीन, दास, चन्द्रशेखर, भानु, 'हरिऔध' तथा गुलाब राय। केशवकी तरह सखियोंकी सूची है—"धाइ जनी नाइन नटी, प्रगट परोसिन नारि। मालिन बरइन सिल्पिनी, चुरिहेरिनी सुनारि। रामजनी संन्यासिनी, पटु पटुवीकी बाल। केसव नायक-नायिका, सखी करहि सब काल" (र० प्रि०, १२ : १-२)। यह सूची अपनी प्रकृतिमें भरतकी इस सूचीसे भिन्न नहीं है—प्रतिवेश्या (पडोसिन), सखी, दासी, कुमारी, दारुशिल्पिका, धात्री, पाखण्डिनी, ईक्षणिका, बाथनी, लिंगिनी तथा रंगोपजीवना। संस्कृतके कई लेखकोंका विभाजन भरतपर आधारित है, जैसे रुद्रभट्टके भेद—कारु, दासी, नटी, धात्री, प्रतिवेश्या, शिल्पिनी, बाला तथा प्रव्रजिता।

तोषके अनुसार सखीके चार भेद है। **हितकारिणी**—जो सदा नायिकाका हित अपने ध्यानमे रखती है। **अन्तर्वर्तिनी**—जो नायिकाकी पूर्ण विश्वासपात्री होती है और उसके हृदयके रहस्यसे परिचित होती है। **विदग्धा**—चतुर सखी, जो अपने वचनचातुर्यसे नायिकाका कार्य सम्पादन करती है। **सहचरी**—जो सदा नायिकाके साथ रहती है। रसलीनने इस विभाजनको अपनाया है, केवल प्रथमको छोडकर अन्योंके लिए क्रमशः विज्ञान-विदग्धा, अन्तरंगिनी तथा बहिरंगिनी शब्दोंका प्रयोग किया है। दासने सखीके तीन भेद दिये है : **साधारन**—सामान्य सखी है, **नायिकाहित**—जो नायिकाके हितमें संलग्न रहती है, **नायकहित**—जो नायकके हितका चिन्तन करती है। चन्द्रशेखरने दो सखियाँ बतायी है, बहिरंग तथा अन्तरग, जो रसलीनके विभाजनमे सम्मिलित है। भानु, 'हरिऔध' तथा गुलाब रायने रसलीनके वर्गीकरणको अपनाया है, केवल विज्ञानके स्थानपर व्यंग्यविदग्धा कर दिया है।

सखी-कर्म—उद्दीपन-विभावके अन्तर्गत प्रयुक्त सखीके कर्तव्योंपर जो विचार किया गया है, उसे सखी-कर्मके नामसे पुकारा गया है। सर्वप्रथम सखीके कार्योंका विचार भानुदत्तने संस्कृतमें किया है—"अस्या मण्डनोपालम्भ-शिक्षापरिहासप्रभृतीनि कर्माणि" (र० मं०, पृ० १५६)। इसके मण्डन, उपालम्भ, शिक्षा तथा परिहास आदि कर्म है। इस विषयपर विचार करनेवाले लेखकोंने प्रायः इन भेदोंको स्वीकार किया है। मतिरामने भानुदत्तकी बात कह दी है—"मण्डन अरु शिक्षा करन उपालम्भ परिहास" (र० रा०, पृ० २८९)। **मण्डन**—नायिकाका श्रृंगार किया जाना मण्डन है। पद्माकरने 'तियहिं सिंगारिबो' कह कर उदाहरण दिया है—"कहा करौं जो आँगुरिन अनी घनी चुभि जाय। अनियारे चख लखि सखी कजरा देत डराय" (जगद्वि०, भा० २ : २१)। **शिक्षा**को पद्माकर 'बिनयबिलास' कहते है और भानुने 'सखि बिलास सिख देन' कहा है। सखी नायिकाको शालीनता तथा विनयकी शिक्षा देती है—"बहत लाज बूड़त सुमन भ्रमत नैन तेहि ठाँव। नेह नदीकी धारमें तू न दीजियो पाँव" (वही : वही, २२)। **उपालम्भ**—सखी द्वारा उलाहना दिया जाना—"वाको मनु लीने लला बोलो बोल रसाल। झुकत तनक ही बातमें ललित बेलि बर बाल" (मतिराम : र० रा०, २९५)। **परिहास**—ऐसे कृत्य करना जिससे हासकी सृष्टि हो, भानुके अनुसार—"सोइ कृत्य परिहास तिय जासो होय निहाल" (र० र०, पृ० ६५)। पद्माकरने उदाहरण इस प्रकार दिया

है—"को तेरो यह साँवरो यों बूझ्यो सखि आय । मुखते कह्यो न बात कछु रही सुमुखि मुख नाय" (जगद्वि०, भा० २ : २८)।

कृपाराम, केशव, देव तथा दासने इस वर्गीकरणका कुछ विस्तार किया है। कृपारामका एक भेद **निरीक्षण** है, जिसका अर्थ है कि नायिका-नायकके मिलनके अवसरपर देख भाल रखना। केशवने विनय, 'मनाइबो', 'मिलैबो' तथा 'झुकिबो'को सखीजनकर्म माना है। केशवने परिहास छोड भी दिया है। देवने 'रसविलास'मे सखीके दस कर्म और 'भावविलास'में आठ कर्म गिनाये है, जिनमेसे पहलेमें गुणकथन, 'रसउपजइबो', 'परस्पर दिखावन', विरह निवेदन तथा 'सन्देसकथन' और दूसरेमे पार्श्वचरिता, संघटन तथा विरहाश्वासन नये भेद हैं। दासने सखियोके काममे 'सन्दरसन', अर्थात् एक दूसरेको दिखलाना, मानप्रवर्जना' (मनाना), पत्रिकादान, स्तुति, विनय तथा यहक्षा अधिक माने हैं। परन्तु यहाँ ध्यान देनेकी बात है कि इन कवियों-में सखी और दूतीका अन्तर्भाव भी हुआ है।

सखी-भाव—दे० 'गोपी'।

सखी-संप्रदाय—सखी-सम्प्रदाय निम्बार्क-मतकी एक अवान्तर शाखा है। इस सम्प्रदायके संस्थापक स्वामी हरिदास थे। हरिदासजी पहले निम्बार्क-मतके अनुयायी थे, परन्तु कालान्तरमे भगवद्भक्तिके गोपीभावको उन्नत और उपयुक्त साधन मानकर उन्होंने इस स्वतन्त्र सम्प्रदाय-की स्थापना की। हरिदासका जन्मसमय भाद्रपद अष्टमी, सं० १४४१ है। ये स्वभावतः विरक्त और भावुक थे।

सखी-सम्प्रदायके अन्तर्गत वेदान्तके किसी विशेष वाद या विचारधाराका प्रतिपादन नहीं हुआ, वरन् सगुण कृष्णकी सखी-भावनामे उपासना करना ही उनकी साधनाका एक-मात्र ध्येय और लक्ष्य है। इसे भक्ति-सम्प्रदायका एक साधन-मार्ग कहना अधिक उपयुक्त होगा। नाभादासजीने अपने 'भक्तमाल'में कहा है कि सखी-सम्प्रदायमे राधा-कृष्णकी उपासना और आराधनाकी लीलाओंका अवलोकन साधक सखी-भावसे करता है। सखी-सम्प्रदायमें प्रेमकी गम्भीरता और निर्मलता दर्शनीय है। हरिदासके पदोंमे भी प्रेमको ही प्रधानता दी गयी है। हरिदास तथा सखी-सम्प्रदाय-के अन्य कवियोंकी रचनाओंमें प्रेमकी उत्कृष्टता और महत्ता-को सिद्ध करनेके लिए भाँति-भाँतिसे ज्ञानकी व्यर्थता और अनुपादेयता प्रकाशित की गयी है। इनके मतसे प्रेमसागर पार करनेके लिए ज्ञानकी सार्थकता नहीं है। ज्ञानमें भवसागरमे पार उतारनेकी क्षमता नहीं है। श्रीकृष्णकी प्रेमानुगा भक्तिमें दिव्य शक्ति है उन्हींके चरणोंमें अपनेको न्योछावर कर देना अपेक्षित है। सखी सम्प्रदायमें उपासना-माधुर्य, प्रेमकी गम्भीरता और मधुर रसकी विशेषता है।

हरिदासके प्रधान शिष्य विट्ठल विपुल, विहारनिदेव, सरसदेव, नरहरिदेव, रसिकदेव, ललितकिशोरीजी, ललित-मोहिनीजी, चतुरदास, ठाकुरदास, राधिकादास, सखीशरण, राधाप्रसाद, भगवानदास हैं। इनमेंसे प्रायः सभी अच्छे कवि हुए हैं। इनकी रचनाओंमें ब्रजभाषाका सुन्दर और परिमार्जित रूप व्यक्त हुआ है। हरिदासकी विहार-विषयक पदावली 'केलिमाला'के नामसे प्रसिद्ध है। इनकी रस-पेशल वाणीमे माधुर्य और हृदयके उदात्त भाव, प्रेमका भव्य रूप दर्शनीय है। भगवत् रसिककी पाँच रचनाएँ प्रसिद्ध है—'अनन्यनिश्चयात्मक', 'श्रीनित्यविहारी युगल ध्यान', 'अनन्यरसिकाभरण', 'निश्चयात्मक ग्रन्थ उत्तरार्ध' तथा 'निर्बोध मनरजन'। भगवत् रसिककी वानीके नामसे इनका काव्यसंग्रह प्रकाशित हुआ है। सहचरिशरण और सखिशरणकी फुटकर रचनाओके अतिरिक्त दो और पुस्तकें हैं—'ललितप्रकाश' तथा 'सरस मंजावली'। ये ग्रन्थ सम्प्र-दायके इतिहास और साधनापक्षपर अच्छा प्रकाश डालते है।

[सहायक ग्रन्थ— 'ब्रजमाधुरीसार' : वियोगी हरि।]
—त्रि० ना० दी०

सगुणधारा—हिन्दी साहित्यके इतिहासके अन्तर्गत भक्तिकाल (दे०)की एक विशेष शाखा। दे० 'सगुणसम्प्रदाय', 'राम-भक्ति-शाखा' (हिन्दी राम-साहित्य), 'कृष्ण-भक्ति-शाखा'।

सगुण-संप्रदाय—पांचरात्र या भागवत मतके अनुसार ब्रह्म अद्वैत, अनादि, अनन्त, निर्विकार, निरवद्य, अन्तर्यामी, सर्वव्यापक, असीम तथा आनन्द-स्वरूप है। वह प्राकृत गुण—सत्त्व, रज और तमसे हीन है, आकार, देश और कालसे रहित, पूर्ण, नित्य और व्यापक है। परन्तु उसमें अप्राकृत गुण माने गये है। षड्गुणयुक्त होनेके कारण वही परब्रह्म 'भगवान्' कहा जाता है। सब द्वन्द्वोंसे विनिर्मुक्त, सब उपाधियोंसे विवर्जित, सब कारणोंका कारण, षड्गुण-रूप परब्रह्म निर्गुण और सगुण दोनों है। अप्राकृत गुणोंसे हीन होनेके कारण वह निर्गुण है तथा षड्गुणयुक्त होनेके कारण सगुण है। छः गुण है—ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य तथा तेज। 'ज्ञान' अजड, स्वप्रकाश, नित्य और सर्वस्वका अवगाहन करनेवाला गुण है। 'शक्ति' जगत्का उपादान कारण है। 'ऐश्वर्य' जगत्के कर्तृत्वमें स्वतन्त्रताके गुणका नाम है। जगत्के निर्माणमें श्रमके अभावको ही 'बल' कहते है। जगत्का उपादान कारण होनेपर भी विकार रहित होनेका गुण ही 'वीर्य' है। जगत्की सृष्टिमें किसी सहकारीकी अनावश्यकता ही 'तेज' है।

जगत्के कल्याणके लिए भगवान् अपने-आप ही व्यूह, विभव, अर्चावतार तथा अन्तर्यामी—चार रूपोंकी सृष्टि करते है। व्यूह चार है—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनि-रुद्ध। षड गुणयुक्त भगवान् ही समस्त भूतवासी होनेके कारण वासुदेव कहलाते हैं। परन्तु शेष तीन व्यूहोंमें दो-दो गुणोंकी विद्यमानता होती है। विभवका अर्थ है अवतार, जो मुख्य और गौण, दो प्रकारके होते हैं। 'अर्चावतार' भगवान्की प्रस्तरीय मूर्तियाँ है, जो अवतारके रूपमें पूजाके उपयोगमें आती है। सब प्राणियोंके हृदयोंमें निवास करने-वाले भगवान् 'अन्तर्यामी' कहे जाते है।

शंकराचार्यने पांचरात्रके उपर्युक्त मतका खण्डन किया है और इसे अवैदिक बताया है। परन्तु रामानुजाचार्यने उसे वेद-विहित सिद्ध कर बादरायणके ब्रह्मसूत्रोकी व्याख्या 'श्रीभाष्य'मे उसे प्रामाणिक कहा है। इसी मतके आधार-पर मध्ययुगमें वैष्णव भक्तिमार्गका प्रचार और भगवान्के विभवावतारोंकी लीलाओंका वर्णन-कीर्तन किया गया है। भक्तिके अनेक सम्प्रदाय स्थापित हुए, जिनमें भगवान्के सगुण रूपपर ही बल दिया गया, क्योंकि वही पूजा,

उपासना, आराधना और ध्यानका सहज विषय हो सकता है। इसके विपरीत मध्ययुगमें ही निर्गुण उपासनाके प्रचारक सन्त भक्त भी हुए हैं। कबीर, रैदास, दादू आदि निर्गुण उपासक सन्तोंने ब्रह्मकी सगुणता तथा उसके व्यूह, अवतार तथा मूर्तियोंका खण्डन किया है। कभी-कभी इस निर्गुणोपासनाको तत्कालीन विदेशी प्रभावका परिणाम कह दिया जाता है और सगुणोपासनाको ही शुद्ध भारतीय भक्ति-पद्धति घोषित किया जाता है। परन्तु वास्तवमें निर्गुणवाद उपनिषद्के ब्रह्मवादसे भिन्न नहीं है। भारतीय उपासना-पद्धतिमें निर्गुणवाद ही कदाचित् प्राचीनतर है। जो हो, निर्गुण और सगुणमें साधारणतया जो विरोध समझ लिया जाता है, वह दोनोंके उपर्युक्त सूक्ष्म अन्तरसे भिन्न है। तत्त्वतः निर्गुण और सगुणके विरोध या भेदको मिटानेके प्रयत्न प्राचीन कालसे होते आये हैं। सगुणोपासना सुगम तथा निर्गुणोपासना कठिन बतायी गयी है। गीतामें भगवान् कृष्णने स्वयं अव्यक्तासक्त चित्तवालोंकी साधनाको अधिक क्लेशकर बताया है तथा आत्मसमर्पणयुक्त सगुण भक्तोंकी प्रेममयी साधनाको संसार-सागरसे शीघ्र ही तारनेवाला कहा है (गीता, १२ : ५—७)। भक्तिकालीन सगुणोपासक कवियोंने भी निर्गुणकी अस्वीकृति नहीं की, प्रत्युत भक्ति-साधनाके लिए उसकी अव्यावहारिकता प्रमाणित की है। ठीक गीताकी तरह सूरदासने 'सूरसागरके' प्रारम्भमें ही अव्यक्तकी गतिको अनिर्वचनीय कहकर यह निश्चय प्रकट किया है कि रूप-रेखा-गुण-जाति-युक्तिसे रहित अव्यक्तका स्वाद गूँगेके गुड़के समान है, अतः मैं सगुणलीलाके पद गा रहा हूँ (सू० सा०, प० २)। तुलसीदासने निर्गुण और सगुणमें बराबर अभेदका सिद्धान्त स्वीकार किया है, परन्तु उन्हें अन्तर्यामी रामकी अपेक्षा बहिर्गामी राम ही अधिक अच्छे लगते हैं, क्योंकि उन्हींकी कृपाका वे प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं। सगुण रूप सुगम है, क्योंकि वह इन्द्रियों द्वारा जाना जा सकता है। परन्तु विचार करनेपर सगुण रूप ही समझना अधिक कठिन प्रतीत होता है। रामको सीताके वियोगमें विलाप करते देख सतीको आश्चर्य हुआ और उन्होंने अपने पतिसे शंका की कि ये कैसे परब्रह्म परमात्मा हैं, जो अज्ञकी तरह रुदन करते हैं। सतीका मोह दूर करनेके लिए शिवजीको बहुत बड़ा त्याग करना पड़ा। उस जन्ममें उनका भ्रम दूर नहीं हो सका। इसीलिए तुलसीदासने कहा है कि निर्गुण रूप सुगम है, सगुण ही दुर्गम है। किस प्रकार अनादि, अनन्त, निराकार ब्रह्म देश-कालकी सीमामें शरीर धारण कर नर-चरित्र कर सकते हैं, इस प्रश्नका समाधान अत्यन्त कठिन है। केवल भक्तगण ही इसे समझ सकते हैं। ब्रह्ममें सगुणताका आरोप स्पष्टतः अन्तर्विरोधपूर्ण है। वल्लभाचार्यने ब्रह्मका 'विरुद्धधर्माश्रयत्व' कहकर इसका समाधान किया है। सच तो यह है कि भक्त जब ब्रह्मको भगवान्के रूपमें कल्पित करता है तभी, चाहे वह उसे विभवावतार या धर्मावतारके रूपमें न भी माने, उसमें उसे किसी-न-किसी मात्रामें सगुणताका आरोप करना ही पड़ता है; उसे वह करुणामय, दीनबन्धु, रक्षक, न्यायी आदि कहकर श्रेष्ठ गुणोंसे ही विभूषित करता है। सूक्ष्मतासे देखनेपर यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि ब्रह्मके अवतार या उसकी अन्यथा साकारताका प्रत्याख्यान करनेवाले निर्गुणोपासक उसमें नामके साथ रूपका भी किसी-न-किसी अंशमें आरोप कर ही लेते हैं। प्रायः रूपका यह आरोप रूपक और प्रतीकोंके रूपमें होता है, परन्तु इन्द्रियगम्य बनानेके लिए इतनी सगुणता दुर्निवार है। इस प्रकार भक्तिमात्र सगुणतामूलक है, अन्तर केवल अवतार और मूर्तिपूजाके सम्बन्धमें पैदा होता है। जो निर्गुणवादी हैं वे, भगवान्के अवतार विशेषके रूपका, पुराणोंमें वर्णित अवतारों तथा उनके विग्रहोंकी पूजाका खण्डन करते हैं और सगुणवादी किसी अवतारविशेषके विग्रह-विशेषके प्रति अनन्यभावकी भक्ति आवश्यक मानते हैं।

मध्ययुगमें राम और कृष्ण, दो अवतारोंके आधारपर सगुण-सम्प्रदाय संघटित हुए। रामभक्तिका संघटित प्रचार रामानन्दके श्रीवैष्णव सम्प्रदाय द्वारा किया गया। कहा जाता है कि तुलसीदास इसीके अनुयायी थे। परन्तु तुलसीदासमें साम्प्रदायिक आग्रह नहीं पाया जाता है। कृष्णभक्तिके सम्प्रदायोंमें नियमों और आचारोंकी कठोरता अधिक है। मध्ययुगमें निम्बार्क और मध्वके सनकादि और ब्रह्म नामक प्राचीन सम्प्रदायोंके अतिरिक्त पुष्टिमार्ग या वल्लभ-सम्प्रदाय, राधावल्लभ-सम्प्रदाय, सखीसम्प्रदाय (सभी दे०) और गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय अधिक प्रभावशाली थे। इन्हीं सम्प्रदायोंने कृष्ण या राधा-कृष्णको इष्टदेव मानकर उनकी लीलाओंका गान करते हुए सगुण भक्तिका प्रचार किया।

[सहायक ग्रन्थ—हिन्दी साहित्यका इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल; भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय।] —व्र० व०

सट्टक—वह उपरूपक, जिसमें प्राकृत भाषाका प्रयोग होता है। इसमें प्रवेशक, विष्कम्भकका अभाव और अद्‌भुत रसका प्राधान्य रहता है। इसके अंकोंको यवनिका कहते हैं। कुछ विद्वानोंने इसे नाटिकाका भेद माना है, क्योंकि शेष सब बातें नाटिकाके समान होती हैं। उदाहरण—राजशेखरकी 'कर्पूरमंजरी'। —वि० रा०

सतनामी संप्रदाय—सत अथवा सत्त शब्द सत्यके विकृत रूप है। सत्य ब्रह्मका पर्याय और नाम है। नामी शब्दका अर्थ नामधारी है। सत्यनामी या सतनामीसे अभिप्राय है सत्यनामी सर्वात्मा ब्रह्म, जो संसारका हेतु एवं आधार है। सतनामी सम्प्रदायमें कार्यको प्रारम्भ करनेके पूर्व सत्तनाम लिया जाता है। इस सत्तनामको लेनेका अभिप्राय है ब्रह्मके नामके आधारपर कार्य सुखान्त बनानेका प्रयत्न। सतनामी सम्प्रदायके मूल प्रवर्तकका नाम अभीतक निश्चित नहीं हो पाया है। पीताम्बरदत्त बड्थ्वालके मतसे दादूपन्थी जगजीवनदास इस सम्प्रदायके मूल प्रवर्तक थे। कुछ विद्वानोंका मत है कि साध सम्प्रदायके वीरभानने इसकी स्थापना की और कुछ लोगोंका मत है कि ऊदोदासने सतनामी सम्प्रदायकी स्थापना की। इनके अतिरिक्त एक मत और है कि जोगीदासने इस सम्प्रदायको जन्म दिया था। सतनामीकी तीन शाखाएँ हैं—नारनौल-शाखा, कोटवा-शाखा तथा छत्तीसगढ़ी शाखा। नारनौल-शाखाके अनुयायियोंने सं० १७१५में औरंगजेबके विरुद्ध विद्रोह किया था और औरंगजेबने प्रतिकारभावनासे उनका इतना

दमन किया था कि वे फिर पनप न पाये। कोटवा-शाखाकी स्थापना बाराबंकी जिलेके सरदहा गाँवके जगजीवन साहब द्वारा हुई। इनका जन्मसमय सन् १६७० ई० माना गया है। कोटवा शाखामें समय-समयपर अच्छे साधक हुए, जिनमें दूलनदास, देवीदास, गोसाईंदास, खेमदास, केवल दास, सिद्धदास तथा पहलवानदास उल्लेखनीय है। इस शाखाके वर्तमान महन्त जगन्नाथबख्शदास है। तीसरी शाखा छत्तीसगढीके संस्थापक बिलासपुर जिलेके घासीदास थे। इस शाखाकी संस्थापना सं० १८७५ और १८८७के बीचमें हुई।

सतनामी सम्प्रदायमें सत्तनामके अमृतरसपानपर अधिक बल दिया गया है। सत्य वचन, परोपकार, अहिंसा एवं नैतिक आदर्शोंके अनुसार संयत जीवननिर्वाह करना बहुत आवश्यक है। विशुद्ध महापुरुष ब्रह्म सर्वत्र रमा हुआ है। वह निर्लिप्त है। वह जन्म और मरणातीत है। वह वासना और गुणसे परे है। वह निर्गुण, निराकार है। सत्यसे पृथक् सब माया है। क्षमा, दया तथा त्याग जीवनको सुखी बनानेके आधार है।

सतनामी सम्प्रदायमें निम्न श्रेणीवाले लोगोंकी अधिकता है। छत्तीसगढ़ी शाखामें तो निम्न जातिवालोंकी संख्या ९० प्रतिशत है। सामाजिक सुधारोंकी प्रमुखताके कारण छत्तीसगढी शाखाने चमारोंकी एक उपजातिका रूप धारण कर लिया है। इनके सामाजिक नियम भी चमारोंसे मिलते-जुलते है। ये धोबियों, मेहतरों, घसियारोंसे भेदभाव रखते है। छत्तीसगढीवालोंके सात मुख्य आदेश है, जिनमें मद्य, मांस, मसूर, लालमिर्च, तम्बाकू, टमाटर तथा बैगन खानेका निषेध है। इनमे वर्ण-व्यवस्थाका पालन भी निषिद्ध है। ये चारपाईपर नहीं सोते तथा तम्बाकू और मद्य-सेवनके विरोधी हैं। अब सतनामी सम्प्रदायकी तीनों शाखाओंमें हिन्दू धर्मसे पृथक् करनेवाली प्रायः सभी विशेषताएँ समाप्त होती जा रही है। इस सम्प्रदायके शिष्योंमे अधिकतर मजदूर-किसान तथा अन्य श्रमजीवी है। कोटवाकी शाखामें ब्राह्मण, क्षत्रिय और कायस्थ आदि भी शिष्य हुए है।

सतनामी सम्प्रदायकी तीनों शाखाओंमें कोटवावाली शाखाका, साधना एवं साहित्यरचनाकी दृष्टिसे, विशेष महत्त्व है। नारनौल तथा छत्तीसगढीके अनुयायियोंकी कोई रचना नहीं मिलती। परन्तु कोटवामें अनेक अच्छे कवि हुए हैं। जगजीवन साहबने सात ग्रन्थोंकी रचना की, उनके नाम है—'शब्दसागर', 'ज्ञानप्रकाश', 'प्रथम ग्रन्थ', 'आगमपद्धति', 'महाप्रलय', 'प्रेमग्रन्थ' तथा 'अघ-विनाश'। जगजीवन साहबका 'शब्दसागर' तथा उनकी बानियोंका संग्रह दो भागोंमें बेलवेडियर प्रेससे प्रकाशित हो चुका है। जगजीवन साहबके शिष्योंमें कई एक अच्छे कवि हुए। बोधेदासने 'सन्तप्रचई'में जगजीवनकी जीवनी अंकित की है। दूलनदास(सं० १७१७)की रचनाओंमें 'भ्रमविनाश', 'दोहावली', 'मंगलगीत', 'शब्दावली', प्रसिद्ध हैं। देवीदास(सं० १७३५)ने 'सुखसनाथ', 'चरन-ध्यान', 'गुरुचरन', 'विनोदमंगल', 'अगरगीत', 'ज्ञान-सेवा', 'नारदज्ञान', 'भक्तिमंगल', 'वैराग्यखान' आदि ग्रन्थोंकी रचना की। गोसाईंदास(सं० १७२७)ने 'ककहरा', 'दोहावली' और 'शब्दावली'की रचना की। खेमदासके नामपर मिलनेवाली रचनाएँ है—'काशीखण्ड', 'तत्त्व-सार', 'दोहावली' तथा 'शब्दावली'। ये चारों शिष्य कोटवावाली शाखाके 'चार पावा' नामसे प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त सिद्धदासने 'साखी', 'कवित्त', 'शब्दावली' और 'विरहसत्य'की रचना की। पहलवानदासको अक्षर-ज्ञान नहीं था, फिर भी 'उपखानविवेक', 'बिरहसार', 'मुक्तायन', 'अरिल्ल' तथा 'गुरुमहात्म' आदि रचनाओंसे उनकी काव्यप्रतिभा प्रतिभासित होती है। सतनामी सम्प्र-दायके इन कवियोंकी भाषामे फारसी शब्दोंका प्रचुरताके साथ प्रयोग हुआ है।

जगजीवन साहबके प्रमुख शिष्य दूलनदासकी रचनाओंमें दशरथ-नन्दन श्रीरघुवीर और उनके प्रसिद्ध भक्त एवं दास हनुमान्‌का स्मरण बड़ी श्रद्धाके साथ किया गया है। दूसरी ओर 'सुरति शब्द योग'के वर्णनमे उनकी चित्तवृत्ति विशेष रमी है।

सतनामी गार्हस्थ्य जीवनमे रहते हुए भी साधना और आध्यात्मिक पथपर अग्रसर होनेके पक्षमें रहे है। उनके यहाँ वेश-भूषाके सम्बन्धमें कोई विशेष प्रतिबन्ध नहीं है, बाह्याडम्बरोंकी निन्दा सतनामियोंने खूब की है।

[सहायक ग्रन्थ—उत्तरी भारतकी सन्त परम्परा : परशुराम चतुर्वेदी।] —त्रि० ना० दी०

सतसई—सतसई सप्तशती शब्दका तद्भव रूप है। संख्या-मूलक काव्यसंकलनोंमे सात सौ छन्दोंका संकलन एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण रूढ़ि बन गयी है। प्राकृतकी 'गाथा-सप्तसती' इस रूढ़िका आदि स्रोत है। तबसे लेकर अबतक अनेक 'सप्तशतियाँ' और 'सतसइयाँ' लिखी गयीं। प्राकृतकी 'गाथासप्तशती'के अनुकरणपर संस्कृतमे गोवर्धन कविने 'आर्यासप्तशती' लिखी। इन सप्तशतियोंमे मुख्यतया विशुद्ध ऐहिक जीवनके श्रृंगारमूलक पक्षोका सरस चित्रण हुआ है। अपभ्रंशमें प्राकृत व्याकरणमें दोहोंके संकलनकी पद्धतिको देखकर यह लगता है कि अपभ्रंशमें भी दोहोंका संख्यामूलक संकलन हुआ होगा। हिन्दीमें कई 'सतसइयाँ' लिखी गयीं। ये सभी दोहा छन्दमें है, पर उनमें कहीं-कहीं 'सोरठा' भी मिलता है। वस्तुतः जिस प्रकार संस्कृतमें 'अनुष्टुप्', प्राकृतमें 'गाथा' और अपभ्रंशमें 'दोहा' अत्य-धिक लोकप्रिय छन्द है, उसी तरह हिन्दीमें भी अपभ्रंशके उत्तराधिकारके रूपमें 'दोहा'को ही सर्वाधिक अपनाया गया और सूक्ति या सुभाषितके लिए यह सर्वाधिक उपयुक्त छन्द सिद्ध हुआ, क्योंकि इसमें चार चरणोंमे बड़ी-से-बड़ी बात कह देनेपर भी कसावट बनी रहती है।

श्यामसुन्दर दासने 'सतसईसप्तक' नामक एक संकलन हिन्दुस्तानी अकादमीसे सन् १९३१ ई०मे प्रकाशित करवाया था। इसमें तुलसीके नामपर चलनेवाली 'तुलसी सतसई', 'बिहारी सतसई', 'मतिराम सतसई', 'वृन्द सतसई', राम-सहाय द्वारा लिखित 'राम सतसई', विक्रम कवि द्वारा लिखित 'विक्रम सतसई' तथा 'रसनिधि सतसई'का संकलन हुआ है। रसनिधिने 'रतनहजारा' लिखा था, लेकिन श्यामसुन्दर दासने उसे सतसईका प्रचलित रूप देकर

उसमें रसनिधिके उक्त दोहोंको स्थान दिया था। आधुनिक युगमें भी वियोगी हरिने 'वीर सतसई' लिखी है। इन सभी सतसइयोंमें बिहारी, मतिराम, रसनिधि, विक्रम आदिकी सतसइयाँ मुख्यतः शृंगारिक हैं, यद्यपि उनमें नीति और धर्मके दोहे पर्याप्त हैं। तुलसीकी भक्ति और उपदेशपरक तथा वृन्दकी नीतिमूलक, वियोगी हरिकी वीररसपरक सतसइयाँ हैं (दे०—गाथा २)। —शं० ना० सि०

सतृणाभ्यवहारी—दे० 'भावक'।

सत्यं शिवं सुन्दरं—यह प्रसिद्ध सूत्र मानवताके चरम आदर्शोंको बहुत ही सुन्दर ढंगसे प्रस्तुत करता है। हमारा जीवन-मार्ग सत्यसे आलोकित होना चाहिये। व्यवहारमें सत्यकी प्रतिष्ठा सफल जीवनकी पहली शर्त है। साहित्य, विज्ञान, दर्शन और धर्म सभी अपने-अपने ढंगसे सत्यके उद्‌घाटनके विविध प्रयास ही तो हैं। यदि सत्य-कथनकी प्रवृत्ति क्षीण हो जाय, तो सामाजिक जीवन ही असम्भव हो जाय। बड़ा-से-बड़ा असत्यभाषी भी एक-आध प्रतिशतसे अधिक असत्य-भाषण नहीं करता। वस्तुतः जिन्हें हम असत्यभाषी कहते हैं, वे केवल विशिष्ट अवसरोंपर ही असत्य-भाषणके दोषी होते हैं और ऐसे अवसरोंकी संख्या नगण्य ही होती है। इसके अतिरिक्त यह सत्य-भाषणकी सर्वसाधारण प्रवृत्तिका ही प्रताप है कि असत्य-भाषण भी चल जाता है। अन्यथा, यदि सभी सर्वदा असत्य-भाषणकी ही ठान लें तो असत्य-भाषणका कोई अर्थ ही नहीं रह जायगा।

सत्य-सत्यमें भेद है। कुछ सत्य ऐसे भी हैं, जिनके पालनमें हमारी प्रगतिमें इतना ही नहीं कि कोई सहायता नहीं मिलती, अपितु कभी-कभी निश्चित रूपसे बाधा भी पड़ती है। यदि सिनेमा-हालका प्रवन्धक सत्य-सत्य बतला दे कि हालमें आग लग गयी है तो हालमें भगदड़ मच जायगी, फलतः बहुतसे व्यक्ति पिस जायेंगे, दरवाजोंपर बेहद कशमकशकी स्थिति उत्पन्न हो जानेसे हाल जल्दी खाली नहीं होगा और तबतक आगकी लपटोंका ताण्डव-नृत्य आरम्भ हो जायगा। इसके विपरीत, यदि प्रबन्धक वहाँ असत्य-भाषणकी दूरदर्शिता दिखलाकर यह घोषित कर दे कि मशीन बिगड़ गयी है ताकि लोग धीरे-से बाहर चले जायँ और यह कि कल पुराने टिकटपर ही चित्र दिखला दिया जायगा, तो भगदड़ नहीं मचेगी, दरवाजोंपर धकापेल-की स्थिति नहीं उत्पन्न होगी, पूरा हाल शीघ्र ही खाली हो जायगा और सबके प्राण बच जायेंगे। यहाँ सत्य-भाषण निश्चित रूपसे हेय और असत्य-भाषण निश्चित रूपसे उपादेय है। इसी प्रकार चोरको धनका सही-सही पता देकर हम चोरकी सहायता करेंगे, सज्जन की नहीं। 'महाभारत' में पाँच अवस्थाओंमें असत्य-भाषणको निष्पाप माना गया है—हंसीमें, स्त्रियोंके बीच, विवाहके समय, जब प्राणपर आ बने और जब सर्वस्व लुट रहा हो—"न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति, न स्त्रीपु, राजन्! न विवाहकाले, प्राणात्यये, सर्वधनापहारे, पंचानृतान्याहुरपातकानि" (महाभारत, आदिपर्व, ८२ : १६)।

महाभारतके अनुसार तो सत्य वही है, जो प्राणियोंके अत्यन्त हितमें हो—"यद् भूतहितमत्यन्तमेतत् सत्यं मतं मम" (महाभारत, शान्तिपर्व, ३२९-१३, २८७:१९)। वहीं यह भी कहा गया है कि सत्य-भाषणसे भी अधिक हित-भाषण करना चाहिये (सत्यादपि हितं व्रजेत्), अर्थात् सत्य मात्र पर्याप्त नहीं, सत्यका हितकर होना आवश्यक है।

हितकर सत्यके दो भेद हैं—प्रिय और अप्रिय। यों तो दोनों प्रकारके हितकर सत्य पालनीय हैं किन्तु जहाँ प्रिय सत्य बोलना सम्भव हो वहाँ उसीका अवलम्बन-अनुसरण करे, ऐसा नीतिवेत्ताओंका मत है। मनुका कहना है—सत्य बोले, किन्तु प्रिय सत्य ही बोले, अप्रिय सत्य न बोले, किन्तु प्रिय असत्य तो बोले ही नहीं—"सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्। प्रियं च नानृतं ब्रूयात् एष धर्मः सनातनः" (मनुस्मृति, ४ : १३८)।

इस विचार-सारणीसे सत्य, हित, और प्रियका समन्वय ही, आदर्श स्थिति, सिद्ध होता है। गीता ऐसे अनुद्वेजक वाक्य बोलनेका उपदेश देती है, जो सत्य, प्रिय और हित—इन तीनों गुणोंसे मण्डित हो—"अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्" (गीता, १७ : १५)।

वात्स्यायनके न्यायभाष्य (१ : १ : २)में भी वाणीके भूषणभूत 'सत्यं हितं प्रियं'का उल्लेख है।

इस प्रकार महाभारत और मनुस्मृतिने मिलकर तथा गीता और न्यायभाष्यने स्वयमेव, हमें एक सारगर्भ त्रिक प्रदान किया है—'सत्यं प्रियं हितं'। अब इस त्रिककी 'सत्यं शिवं सुन्दरं'से तुलना कीजिये। 'सत्यं' उभयनिष्ठ है, 'प्रियं' 'सुन्दरं'का समानार्थक है और 'हित' तो 'शिवं' (कल्याणप्रद)का पर्याय ही है। अतः यद्यपि, जैसा कि अभी दिखलाया जायगा, सत्यं शिवं सुन्दरंकी आधुनिक चर्चाका श्रीगणेश कहीं और से हुआ है, तथापि उसका एक प्रतिरूप प्राचीन भारतीय परम्परामें भी मिल जाता है।

योगवासिष्ठमें अनुभवको पांच अंशों—अस्ति (है), भाति (प्रकाशित होता है), प्रिय, नाम और रूप—में विश्लिष्ट कर प्रथम तीनको ब्रह्मका और शेष दोको जगत्‌का रूप प्रख्यापित किया गया है—"अस्ति, भाति, प्रियम्, नाम, रूपं चेत्यंशपंचकम्। आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपम्, जगद्रूपं ततो द्वयम्।" इनमें ब्रह्मरूपभूत त्रिक अस्ति-प्रिय-भातिको कुछ खींच-तान के बाद सत्यं शिवं सुन्दरंसे समीकृत किया जा सकता है।

डॉ० भगवान्‌दासने अपने 'द सायंस ऑव द सेक्रेड वर्ड', 'द सायंस ऑव पीस', 'दि एसेंशल यूनिटी ऑव ऑल रिलिजन्स', 'द सायंस ऑव सोशल ऑर्गनाइजेशन', 'द सायंस ऑव द इमोशन्स', 'द सायंस ऑव द सेल्फ', मानवधर्मसार आदिमें सत्यं शिवं सुन्दरंको सत्व-रजस्-तमस्, ज्ञान-इच्छा-क्रिया, धर्म-काम-अर्थ, चित्-सत्-आनन्द आदि-आदि सैकड़ों शास्त्रीय त्रिकोंसे समीकृत करनेका बहुत ही रोचक और मौलिक प्रयास किया है।

इन तथ्योंसे इस धारणाको बल मिलता है कि, यद्यपि सत्यं शिवं सुन्दरं वर्तमान रूपमें अन्यत्र उद्‌भावित हुआ था, तथापि भारतीय परम्परामें इसकी सम्भावना पहले ही से विद्यमान रही है।

वस्तुतः सत्यं शिवं सुन्दरं, जो आपाततः एक शुद्ध भारतीय सूत्र, एक उपनिषद्-वाक्य जान पड़ता है, ठीक इसी रूपमें प्राचीन भारतीय वाङ्मयमें कहीं भी द्रष्टव्य नहीं है। यद्यपि, जैसा कि ऊपर दिखलाया गया है, इस त्रिकके

दमन किया था कि वे फिर पनप न पाये। कोटवा-शाखाकी स्थापना बाराबंकी जिलेके सरदहा गाँवके जगजीवन साहब द्वारा हुई। इनका जन्मसमय सन् १६७० ई० माना गया है। कोटवा शाखामें समय-समयपर अच्छे साधक हुए, जिनमें दूलनदास, देवीदास, गोसाईंदास, खेमदास, केवल दास, सिद्धदास तथा पहलवानदास उल्लेखनीय हैं। इस शाखाके वर्तमान महन्त जगन्नाथबख्शदास हैं। तीसरी शाखा छत्तीसगढ़ीके संस्थापक बिलासपुर जिलेके घासीदास थे। इस शाखाकी संस्थापना सं० १८७५ और १८८७के बीचमें हुई।

सतनामी सम्प्रदायमें सत्तनामके अमृतरसपानपर अधिक बल दिया गया है। सत्य वचन, परोपकार, अहिंसा एवं नैतिक आदर्शोंके अनुसार संयत जीवननिर्वाह करना बहुत आवश्यक है। विशुद्ध महापुरुष ब्रह्म सर्वत्र रमा हुआ है। वह निर्लिप्त है। वह जन्म और मरणातीत है। वह वासना और गुणसे परे है। वह निर्गुण, निराकार है। सत्यसे पृथक् सब माया है। क्षमा, दया तथा त्याग जीवनको सुखी बनानेके आधार हैं।

सतनामी सम्प्रदायमें निम्न श्रेणीवाले लोगोंकी अधिकता है। छत्तीसगढी शाखामें तो निम्न जातिवालोंकी संख्या ९० प्रतिशत है। सामाजिक सुधारोंकी प्रमुखताके कारण छत्तीसगढी शाखाने चमारोंकी एक उपजातिका रूप धारण कर लिया है। इनके सामाजिक नियम भी चमारोंसे मिलते जुलते हैं। ये धोबियों, मेहतरों, घसियारोंसे भेदभाव रखते हैं। छत्तीसगढ़ीवालोंके सात मुख्य आदेश हैं, जिनमें मद्य, मांस, मसूर, लालमिर्च, तम्बाकू, टमाटर तथा बैगन खानेका निषेध है। इनमें वर्ण-व्यवस्थाका पालन भी निषिद्ध है। ये चारपाईपर नहीं सोते तथा तम्बाकू और मद्य-सेवनके विरोधी हैं। अब सतनामी सम्प्रदायकी तीनों शाखाओंमें हिन्दू धर्मसे पृथक् करनेवाली प्रायः सभी विशेषताएँ समाप्त होती जा रही हैं। इस सम्प्रदायके शिष्योंमें अधिकतर मजदूर-किसान तथा अन्य श्रमजीवी हैं। कोटवाकी शाखामें ब्राह्मण, क्षत्रिय और कायस्थ आदि भी शिष्य हुए हैं।

सतनामी सम्प्रदायकी तीनों शाखाओंमें कोटवावाली शाखाका, साधना एवं साहित्यरचनाकी दृष्टिसे, विशेष महत्त्व है। नारनौल तथा छत्तीसगढ़ीके अनुयायियोंकी कोई रचना नहीं मिलती। परन्तु कोटवामें अनेक अच्छे कवि हुए हैं। जगजीवन साहबने सात ग्रन्थोंकी रचना की, उनके नाम हैं—'शब्दसागर', 'ज्ञानप्रकाश', 'प्रथम ग्रन्थ', 'आगमपद्धति', 'महाप्रलय', 'प्रेमग्रन्थ' तथा 'अघ-विनाश'। जगजीवन साहबका 'शब्दसागर' तथा उनकी बानियोंका संग्रह दो भागोंमें बेलवेडियर प्रेसमें प्रकाशित हो चुका है। जगजीवन साहबके शिष्योंमें कई एक अच्छे कवि हुए। बोधेदासने 'सन्तप्रचई'में जगजीवनकी जीवनी अंकित की है। दूलनदास(सं० १७१७)की रचनाओंमें 'भ्रमविनाश', 'दोहावली', 'मंगलगीत', 'शब्दावली', प्रसिद्ध हैं। देवीदास(सं० १७३५)ने 'सुखसनाथ', 'चरन-ध्यान', 'गुरुचरन', 'विनोदमंगल', 'भ्रमरगीत', 'ज्ञान-सेवा', 'नारदज्ञान', 'भक्तिमंगल', 'वैराग्यखान' आदि ग्रन्थोंकी रचना की। गोसाईंदास(सं० १७२७)ने 'ककहरा', 'दोहावली' और 'शब्दावली'की रचना की। खेमदासके नामपर मिलनेवाली रचनाएँ हैं—'काशीखण्ड', 'तत्त्व-सार', 'दोहावली' तथा 'शब्दावली'। ये चारों शिष्य कोटवावाली शाखाके 'चार पावा' नामसे प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त सिद्धदासने 'साखी', 'कवित्त', 'शब्दावली' और 'विरहसत्य'की रचना की। पहलवानदासको अक्षर-ज्ञान नहीं था, फिर भी 'उपखानविवेक', 'बिरहसार', 'मुक्तायन', 'अरिल्ल' तथा 'गुरुमहात्म' आदि रचनाओंसे उनकी काव्यप्रतिभा प्रतिभासित होती है। सतनामी सम्प्रदायके इन कवियोंकी भाषामें फारसी शब्दोंका प्रचुरताके साथ प्रयोग हुआ है।

जगजीवन साहबके प्रमुख शिष्य दूलनदासकी रचनाओंमें दशरथ-नन्दन श्रीरघुवीर और उनके प्रसिद्ध भक्त एवं दास हनुमान्का स्मरण बड़ी श्रद्धाके साथ किया गया है। दूसरी ओर 'सुरति शब्द योग'के वर्णनमें उनकी चित्तवृत्ति विशेष रमी है।

सतनामी गार्हस्थ्य जीवनमें रहते हुए भी साधना और आध्यात्मिक पथपर अग्रसर होनेके पक्षमें रहे हैं। उनके यहाँ वेश-भूषाके सम्बन्धमें कोई विशेष प्रतिबन्ध नहीं है, बाह्याडम्बरोंकी निन्दा सतनामियोंने खूब की है।

[सहायक ग्रन्थ—उत्तरी भारतकी सन्त परम्परा : परशुराम चतुर्वेदी।] —त्रि० ना० दी०

सतसई–सतसई सप्तशती शब्दका तद्भव रूप है। संख्यामूलक काव्यसंकलनोंमें सात सौ छन्दोंका संकलन एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण रूढ़ि बन गयी है। प्राकृतकी 'गाथा-सप्तसती' इस रूढ़िका आदि स्रोत है। तबसे लेकर अबतक अनेक 'सप्तशतियाँ' और 'सतसइयाँ' लिखी गयीं। प्राकृतकी 'गाथासप्तशती'के अनुकरणपर संस्कृतमें गोवर्धन कविने 'आर्यासप्तशती' लिखी। इन सप्तशतियोंमें मुख्यतया विशुद्ध ऐहिक जीवनके शृंगारमूलक पक्षोंका सरस चित्रण हुआ है। अपभ्रंशमें प्राकृत व्याकरणमें दोहोंके संकलनकी पद्धतिको देखकर यह लगता है कि अपभ्रंशमें भी दोहोंका संख्यामूलक संकलन हुआ होगा। हिन्दीमें कई 'सतसइयाँ' लिखी गयीं। ये सभी दोहा छन्दमें हैं, पर उनमें कहीं-कहीं 'सोरठा' भी मिलता है। वस्तुतः जिस प्रकार संस्कृतमें 'अनुष्टुप्', प्राकृतमें 'गाथा' और अपभ्रंशमें 'दोहा' अत्यधिक लोकप्रिय छन्द है, उसी तरह हिन्दीमें भी अपभ्रंशके उत्तराधिकारके रूपमें 'दोहा'को ही सर्वाधिक अपनाया गया और सूक्ति या सुभाषितके लिए यह सर्वाधिक उपयुक्त छन्द सिद्ध हुआ, क्योंकि इसमें चार चरणोंमें बड़ी-से-बड़ी बात कह देनेपर भी कसावट बनी रहती है।

श्यामसुन्दर दासने 'सतसईसप्तक' नामक एक संकलन हिन्दुस्तानी अकादमीसे सन् १९३१ ई०में प्रकाशित करवाया था। इसमें तुलसीके नामपर चलनेवाली 'तुलसी सतसई', 'बिहारी सतसई', 'मतिराम सतसई', 'वृन्द सतसई', रामसहाय द्वारा लिखित 'राम सतसई', विक्रम कवि द्वारा लिखित 'विक्रम सतसई' तथा 'रसनिधि सतसई'का संकलन हुआ है। रसनिधिने 'रतनहजारा' लिखा था, लेकिन श्यामसुन्दर दासने उसे सतसईका प्रचलित रूप देकर

उसमें रसनिधिके उक्त दोहोंको स्थान दिया था। आधुनिक युगमें भी वियोगी हरिने 'वीर सतसई' लिखी है। इन सभी सतसइयोंमें बिहारी, मतिराम, रसनिधि, विक्रम आदिकी सतसइयाँ मुख्यतः शृंगारिक हैं, यद्यपि उनमें नीति और धर्मके दोहे पर्याप्त हैं। तुलसीकी भक्ति और उपदेशपरक तथा वृन्दकी नीतिमूलक, वियोगी हरिकी वीररसपरक सतसइयाँ हैं (दे०—गाथा २)। —शं० ना० सिं०

सतृणाभ्यवहारी—दे० 'भावक'।

सत्यं शिवं सुन्दरं—यह प्रसिद्ध सूत्र मानवताके चरम आदर्शोंको बहुत ही सुन्दर ढंगसे प्रस्तुत करता है। हमारा जीवन-मार्ग सत्यसे आलोकित होना चाहिये। व्यवहारमें सत्यकी प्रतिष्ठा सफल जीवनकी पहली शर्त है। साहित्य, विज्ञान, दर्शन और धर्म सभी अपने-अपने ढंगसे सत्यके उद्घाटनके विविध प्रयास ही तो हैं। यदि सत्य-कथनकी प्रवृत्ति क्षीण हो जाय, तो सामाजिक जीवन ही असम्भव हो जाय। बड़ा-से-बड़ा असत्यभाषी भी एक-आध प्रतिशतसे अधिक असत्य-भाषण नहीं करता। वस्तुतः जिन्हें हम असत्यभाषी कहते हैं, वे केवल विशिष्ट अवसरोंपर ही असत्य-भाषणके दोषी होते हैं और ऐसे अवसरोंकी संख्या नगण्य ही होती है। इसके अतिरिक्त यह सत्य-भाषणकी सर्वसाधारण प्रवृत्तिका ही प्रताप है कि असत्य-भाषण भी चल जाता है। अन्यथा, यदि सभी सर्वदा असत्य-भाषणकी ही ठान लें तो असत्य-भाषणका कोई अर्थ ही नहीं रह जायगा।

सत्य-सत्यमें भेद है। कुछ सत्य ऐसे भी हैं, जिनके पालनसे हमारी प्रगतिमें इतना ही नहीं कि कोई सहायता नहीं मिलती, अपितु कभी-कभी निश्चित रूपसे बाधा भी पड़ती है। यदि सिनेमा-हालका प्रबन्धक सत्य-सत्य बतला दे कि हालमें आग लग गयी है तो हालमें भगदड़ मच जायगी, फलतः बहुतसे व्यक्ति पिस जायँगे, दरवाजोंपर बेहद कशमकशकी स्थिति उत्पन्न हो जानेसे हाल जल्दी खाली नहीं होगा और तबतक आगकी लपटोंका ताण्डव-नृत्य आरम्भ हो जायगा। इसके विपरीत, यदि प्रबन्धक वहाँ असत्य-भाषणकी दूरदर्शिता दिखलाकर यह घोषित कर दे कि मशीन बिगड़ गयी है ताकि लोग धीरे-से बाहर चले जायँ और यह कि कल पुराने टिकटपर ही चित्र दिखला दिया जायगा, तो भगदड़ नहीं मचेगी, दरवाजोंपर धकापेलकी स्थिति नहीं उत्पन्न होगी, पूरा हाल शीघ्र ही खाली हो जायगा और सबके प्राण बच जायँगे। यहाँ सत्य-भाषण निश्चित रूपसे हेय और असत्य-भाषण निश्चित रूपसे उपादेय है। इसी प्रकार चोरको धनका सही-सही पता देकर हम चोरकी सहायता करेंगे, सज्जन की नहीं। 'महाभारत' में पाँच अवस्थाओंमें असत्य-भाषणको निष्पाप माना गया है—हंसीमें, स्त्रियोंके बीच, विवाहके समय, जब प्राणपर आ बने और जब सर्वस्व लुट रहा हो—"न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति, न स्त्रीषु, राजन्! न विवाहकाले, प्राणात्यये, सर्वधनापहारे, पंचानृतान्याहुरपातकानि" (महाभारत, आदिपर्व, ८२ : १६)।

महाभारतके अनुसार तो सत्य वही है, जो प्राणियोंके अत्यन्त हितमें हो—"यद् भूतहितमत्यन्तमेतत् सत्यं मतं मम" (महाभारत, शान्तिपर्व, ३२६-१३, २८७:१९)। वहीं यह भी कहा गया है कि सत्य-भाषणसे भी अधिक हित-भाषण करना चाहिये (सत्यादपि हितं व्रजेत्), अर्थात् सत्य मात्र पर्याप्त नहीं, सत्यका हितकर होना आवश्यक है।

हितकर सत्यके दो भेद हैं—प्रिय और अप्रिय। यों तो दोनों प्रकारके हितकर सत्य पालनीय हैं किन्तु जहाँ प्रिय सत्य बोलना सम्भव हो वहाँ उसीका अवलम्बन-अनुसरण करे, ऐसा नीतिवेत्ताओंका मत है। मनुका कहना है—सत्य बोले, किन्तु प्रिय सत्य ही बोले, अप्रिय सत्य न बोले, किन्तु प्रिय असत्य तो बोले ही नहीं—"सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्। प्रियं च नानृतं ब्रूयात् एष धर्मः सनातनः" (मनुस्मृति, ४ : १३८)।

इस विचार-सारणीसे सत्य, हित, और प्रियका समन्वय ही, आदर्श स्थिति, सिद्ध होता है। गीता ऐसे अनुद्वेजक वाक्य बोलनेका उपदेश देती है, जो सत्य, प्रिय और हित—इन तीनों गुणोंसे मण्डित हो—"अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्" (गीता, १७ : १५)।

वात्स्यायनके न्यायभाष्य (१ : १ : २)में भी वाणीके भूषणभूत 'सत्यं हितं प्रियं'का उल्लेख है।

इस प्रकार महाभारत और मनुस्मृतिने मिलकर तथा गीता और न्यायभाष्यने स्वयमेव, हमें एक सारगर्भ त्रिक प्रदान किया है—'सत्यं प्रियं हितं'। अब इस त्रिककी 'सत्यं शिवं सुन्दरं'से तुलना कीजिये। 'सत्यं' उभयनिष्ठ है, 'प्रियं' 'सुन्दरं'का समानार्थक है और 'हितं' तो 'शिवं' (कल्याणप्रद)का पर्याय ही है। अतः यद्यपि, जैसा कि अभी दिखलाया जायगा, सत्यं शिवं सुन्दरंकी आधुनिक चर्चाका श्रीगणेश कहीं और से हुआ है, तथापि उसका एक प्रतिरूप प्राचीन भारतीय परम्परामें भी मिल जाता है।

योगवासिष्ठमें अनुभवको पांच अंशों—अस्ति (है), भाति (प्रकाशित होता है), प्रिय, नाम और रूप—में विश्लिष्ट कर प्रथम तीनको ब्रह्मका और शेष दोको जगत्का रूप प्रख्यापित किया गया है—"अस्ति, भाति, प्रियम्, नाम, रूपं चेत्यंशपंचकम्। आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपम्, जगद्रूपं ततो द्वयम्।" इनमें ब्रह्मरूपभूत त्रिक अस्ति-प्रिय-भातिको कुछ खींच-तान के बाद सत्यं शिवं सुन्दरंसे समीकृत किया जा सकता है।

डॉ० भगवान्दासने अपने 'द सायंस ऑव द सेक्रेड वर्ड', 'द सायंस ऑव पीस', 'दि एसेंशल यूनिटी ऑव ऑल रिलिजन्स', 'द सायंस ऑव सोशल ऑर्गनाइजेशन', 'द सायंस ऑव द इमोशन्स', 'द सायंस ऑव द सेल्फ', मानवधर्मसार आदिमें सत्यं शिवं सुन्दरंको सत्व-रजस्-तमस्, ज्ञान-इच्छा-क्रिया, धर्म-काम-अर्थ, चित्-सत्-आनन्द आदि-आदि सैकड़ों शास्त्रीय त्रिकोंसे समीकृत करनेका बहुत ही रोचक और मौलिक प्रयास किया है।

इन तथ्योंसे इस धारणाको बल मिलता है कि, यद्यपि सत्यं शिवं सुन्दरं वर्तमान रूपमें अन्यत्र उद्भावित हुआ था, तथापि भारतीय परम्परामें इसकी सम्भावना पहले ही से विद्यमान रही है।

वस्तुतः सत्यं शिवं सुन्दरं, जो आपाततः एक शुद्ध भारतीय सूत्र, एक उपनिषद्-वाक्य जान पड़ता है, ठीक इसी रूपमें प्राचीन भारतीय वाङ्मयमें कहीं भी द्रष्टव्य नहीं है। यद्यपि, जैसा कि ऊपर दिखलाया गया है, इस त्रिकके

स्थूल पर्यायोका यहाँ अभाव नहीं रहा है, तथापि यह अपने मूल रूपमे विदेशसे ही आया प्रतीत होता है। भारतमें इसके प्रचारका श्रेय महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुरको है, जिन्होंने पश्चिममे प्रचलित 'द ट्रुथ, द गुड, द ब्यूटीफुल'-को 'सत्यं शिवं सुन्दरं'का रूप दिया। वस्तुतः हमारे यहाँ सौन्दर्यकी स्वतंत्र सत्ता, स्वरूप तथा लक्षणके सम्बन्धमे विचार ही नही हुआ है। पण्डितराज जगन्नाथ पहले भारतीय है जिन्होने रमणीयताको रससे स्वतंत्र मानकर उसे काव्यका मूलाधार सिद्ध करनेकी चेष्टा की है। उनकी रमणीयता सौन्दर्यका ही पर्याय जान पडती है। रूप गोस्वामी दूसरे भारतीय काव्यशास्त्री है, जिन्होंने 'भवेत् सौन्दर्यमग्नानां सन्निवेशः यथोचितम्" ('हरिभक्तिरसामृत-सिन्धु')कहकर सौन्दर्यके स्वरूप-निर्वाचनका प्रयत्न किया है।

इस त्रिकका वास्तविक जन्मदाता अफलातून प्रतीत होता है। उसने **फिलेबस** नामक वार्तालाप(डायलाग)के अन्तिम पृष्ठोंमे श्रेयम् अथवा शुभ (द गुड)की मीमांसाके सिलसिले-मे—उस श्रेयस्‌की मीमांसाके सिलसिलेमे जो "मानव और जगत्‌का चरम ध्येय" है—सुकरातके मुखसे कहलाया है—"तब यदि हम केवल एक धारणाके बल श्रेयस्‌की खोज करनेमे असमर्थ है तो हम तीन (धारणाओ)के बल अपना शिकार पकड सकेंगे। ये तीन हैं सुन्दरं(ब्यूटी), सन्निवेशः(सुडौलपन) (सिमेट्री), सत्यं (ट्रुथ)···" (फिलेबस ६५ए)। सन्निवेश या सुडौलपनसे क्या तात्पर्य है? उत्तर-के लिए हमें दूर जानेकी आवश्यकता नही। सुकरातसे इसी सन्दर्भमे, कुछ ही पहले, यह कहलाया जा चुका है—"माप (मेजर) और सन्निवेश (सिमेट्री) ही सुन्दरं (ब्यूटी) और शिवं (वर्च्यू) है···" (वही, ६४ई), अर्थात् सन्निवेश-का अर्थ सुन्दरं है। अब इस त्रिकको हम सत्यं शिवं सुन्दरं-के रूपमें उपस्थित कर सकते है।

यहाँ एक कठिनाई—एक असंगति—सामने आती है। प्रकृत स्थलमें 'माप' शब्दका अर्थ 'सुन्दरं' जान पड़ता है, किन्तु कुछ ही आगे चलकर (६५बी) उसने 'सुन्दरं, सत्यं, मापः' (ब्यूटी, ट्रुथ, मेजर) नामक त्रिककी चर्चा की है, जिसमें 'सुन्दर' और 'मापः' पर्याय न होकर श्रेयस्‌के स्वतंत्र भेद बन गये है। यहाँ 'सन्निवेश'के स्थानपर 'माप' रखा जान पड़ता है, यद्यपि इसके भी कुछ ही आगे (६६ए बी) उत्कृष्टतम श्रेयम्-पंचककी मीमांसाके सिलसिलेमें, उसने 'माप' और 'सन्निवेश'को पुनः भिन्न तत्त्व मानकर इन दोनों शब्दोंके पहले ही अर्थकी ओर एक बार और संकेत किया है।

अफलातूनी श्रेयस-पंचक है—(१) माप, मध्यमान, उप-युक्तता (मेजर, द मीन, द सूटेबुल)। इसे शिवंका उपबृंहण समझा जा सकता है। (२)सन्निवेश, सौन्दर्य, पूर्णता अथवा पर्याप्तता (द सिमेट्रिकल, द ब्यूटीफुल, द पर्फेक्ट, द सफ़िशेंट)। इसे 'शिवं' मात्रसे अभिहित किया जा सकता है। (३) बुद्धि और ज्ञान (माइंड ऐंड विजडम), इसके लिए 'सत्यं' शब्दका प्रयोग पर्याप्त होगा। अफलातून स्वयं कहता है—"···बुद्धि या तो वही है, जो सत्य है, अथवा सत्यके अधिक समान और श्रेष्ठतम सत्य है" (६५डी) (४) विज्ञान, कलाएँ और सच्चे विचार (सायंसेज, आर्ट्स, ऐंड ट्रू ओपीनियन्स)। (५) शुद्ध, वेदनाहीन आत्मिक सुख (प्योर, पेनलेस प्लेजर्स ऑव द सोल) (६६ ए-सी)। स्पष्ट है कि इस श्रेयस्-पंचकमेसे प्रथम तीन श्रेयस् क्रमशः शिवं, सुन्दरं और सत्यं ही है।

यह भी स्पष्ट है कि अफलातून माप और सन्निवेशको कहीं अलग मानता है तो कहीं एक कर देता है। इसी प्रकार वह सन्निवेशको कहीं शिव तो कहीं सुन्दरसे समीकृत कर देता है। वस्तुतः वह सत्य, शिव और सुन्दरकी एकता सिद्ध करनेके लिए प्रयत्नशील जान पडता है।

यह पता नहीं चलता कि अफलातूनके विचार-समुद्रको मथकर इस त्रिक-रत्नको सर्वप्रथम ढूंढ निकालनेका श्रेय किसको है। आधुनिक कालमे एक जर्मन दार्शनिक बॉमगार्टेन (१७१४-१७६२)ने अपनी महत्त्वपूर्ण कृति **ईस्थेटिका**में अफलातूनका अनुसरण करते हुए सत्य, शिव और सुन्दरकी एकता प्रतिपादित करनेका प्रयत्न किया था। १९वी शतीके फ्रांसीसी दार्शनिक विक्टर कूसां (victor cousin)ने १८१८में दिये गये एक प्रसिद्ध व्याख्यान द 'ट्रुथ, द ब्यूटीफुल ऐंड द गुड' (सत्यं, सुन्दरं, और शिवं) द्वारा इस त्रिकका विशेष रूपसे प्रचार किया था। उसका व्याख्यान १८३७ ई० मे प्रकाशित हुआ।

लगता है कि सत्यं, शिवं, सुन्दरं तत्त्वतः तीन नहीं। प्रत्यक्षके क्षेत्रमें जो सौन्दर्य है, वही चिन्तनके क्षेत्रमे सत्य है और कर्मके क्षेत्रमें शिवत्व है। —ह० ना०

सत्याग्रह–गान्धीवाद (दे०) युद्धके स्थानपर सत्याग्रहके अवलम्बनकी सिफारिश करता है। सत्यका आग्रह ही सत्याग्रह है। लेकिन यह आग्रह विरोधीके नाश अथवा उसकी किसी प्रकारकी हानि करनेकी प्रवृत्तिको प्रश्रय नही देता। गान्धीवाद सत्याग्रह द्वारा विरोधीके हृदय-परिवर्तन-में विश्वास करता है। उसकी मान्यता है कि मानव-स्वभाव तत्त्वतः शुभ है और परिस्थितिकी प्रतिकूलताके ही कारण वह अशुभ हो जाता है। अतः यदि धैर्य और सद्भावनासे काम लिया जाय तो उन्मार्गगामीका हृदय-परिवर्तन और सुधार किया जा सकता है। गान्धीजीने ब्रिटिश साम्राज्यके मुकाबलेमे सत्याग्रहके अनेक प्रयोग किये थे। उन सबमे जो बात समान रूपसे पायी जाती है, वह है सत्यके आग्रहमें विरोधी द्वारा पहुँचायी गयी प्रत्येक प्रकारकी पीड़ाका सहन और उसके उद्धारकी सच्चे दिलसे प्रार्थना। —ह० ना०

सप्तधा भक्ति–नवधा भक्तिसे अर्चन और पाद-सेवन, इन दो प्रकारोको पृथक कर देनेसे जो प्रकार शेष रह जाते है, उन्हें ही सप्तधा भक्ति अथवा भक्तिके सात प्रकार कहते हैं। निर्गुण भक्तिके साधक इन सात प्रकारोंका अवलम्बन करते है। सगुण भक्त नौ प्रकारोंका आश्रय लेते हैं। साधना-मार्गमें यह आवश्यक नहीं है कि साधक भक्तिके सभी प्रकारोंका पालन करे, वह किसी भी एक प्रकार द्वारा भग-वान्‌की उपासना कर सकता है। —वि० मो० श०

सबद (शब्द)–'सबद' 'शब्द'का रूपान्तर है। वेद शब्द-परक हैं और वेदका अर्थ हुआ ज्ञान। अतः शब्दका भी अर्थ हुआ ज्ञान। वैदिक शब्द अपौरुषेय माने गये है और सन्त तथा नाथ-सम्प्रदायमें गुरुकी प्रतिष्ठा ब्रह्मके समान

ही है, अतः गुरुकी वाणीका नामकरण शब्द > सबद > सबदी है। वैदिक वाणी ही सर्वकर्मोंकी अधिष्ठातृ और सर्वतोभावेन पालनीय है, उसी प्रकार गुरु-वाणी सर्वज्ञान-सम्पन्ना, सर्वकर्माधिष्ठात्री और अनवर्य भावसे ग्राह्य है। इस परम्पराके कारण कबीरकी वाणीको ही वेद-वाणीके रूपमें स्वीकृत किया गया है, क्योंकि 'बाणी हमारी पूरब'-की टीका करते हुए टीकाकारोंने लिखा है कि 'पूर्व'का अर्थ आदि, अतः पूर्वकी वाणीका अर्थ हुआ आदिकालीन वाणी, अर्थात् वेद। 'गोरखबानी'(सबदी, पृ० ३०)में सबदीका प्रयोग उपदेशके अर्थमें हुआ है—"सबद एक पूछिबा कहो गुरुदयालं, बिरिधि थै क्यूँ करि होइबा बालं"। सामान्य रूपसे पद-रचनाएँ राग-रागनियोंमें बँधी होती है, शब्दोंके लिए यह विधान नहीं है। उपदेशात्मक और सिद्धान्त-निरूपक गेय पदोंको **सबदी** कहते है। 'गोरखबानी'की प्रथम सबदी है—"बसती न सुन्यं सुन्यं न बसती अगम अगोचर ऐसा। गगन सिखर महि बालक बोलै ताका नाँव धरहुगे कैसा"। अनहद नादकी चर्चा करनेवाली गीतियोंके अर्थमें भी सबदका प्रयोग है, क्योंकि 'गोरख बानी' (पृ० १९६)के अनुसार 'सबद अनाहत' ही सबदी है। 'शब्दस्तोत्रमाला'के अनुसार—"सबद अखण्डित रूप, सबद नहिं पण्डित होई। जैसा सबद अगाध, सकल घट रह्यो समोई। सबद करै आचार सबद रोये अरु गावै। निर्गुन सर्गुन बरनि सबद सबहीमे पावै"। —रा० खे० पा०

सम–विरोधमूलक अर्थालंकार। इस अलंकारको प्राचीनोंने नहीं स्वीकार किया है। सर्वप्रथम रुय्यक तथा मम्मटके द्वारा इसका विवेचन हुआ है। रुद्रट तथा भोजने साम्य नामक अलंकार माना है। रुय्यकके समान ही मम्मटका लक्षण है—"जिसमें किन्हीं वस्तुओंके ऐसे सम्बन्धका प्रतिपादन हो, जो सर्वसम्मतिसे सर्वथा उचित प्रतीत हो" (का० प्र०, १० : १२५)। इसे काव्यप्रकाशकारने दो प्रकारका माना है, सद् वस्तुओंका और असद् वस्तुओंका। हिन्दीके आचार्योंने प्रायः 'कुवलयानन्द'के आधारपर इसके तीन भेद स्वीकार किये है। यह विषमका प्रतिद्वन्द्वी है। विषममें दो वस्तुओंकी अननुरूपता होती है और सममें अनुरूपता। मतिरामने इसके तीन प्रकार निर्देशित किये है—(१) "जहाँ दुहूँ अनुरूपको, कवि जन करत बखान", (२) "जहाँ हेतु ते काजको, बरनत उचित सरूप", (३) "ताकी सिद्धि अनिष्ट बिन, उद्यम जाके अर्थ" (ल० ल०, ३२८, ३३०, ३३२)।

प्रथम सम—दोनोंका यथायोग्य होना—"मोहिं तुम्हें बाढ़ी बहस, को जीते यदुराज। अपने-अपने बिरदकी दुहुँन निबाहत लाज" (बि० स०, ४२७)। भक्त कहता है कि उसमें और विष्णु भगवान्‌में प्रतिस्पर्द्धा हो गयी है। देखना है कि वह जीतता है (पाप करनेमें) कि वे जीतते है (पापियोंको तारनेमें)। अथवा—"नैन सलोने अधर मधु, कहु रहीम घटि कौन। मीठौ भावै लोनपै, मीठे ऊपर लौन"। **द्वितीय सम**—हेतु और कार्यकी समता—"ज्यों हैहौं त्यों होहुँगे, हौ हरि अपनी चाल। हठ न करौ अति कठिन है, मो तारिबो गोपाल" (बि० स०, ७०१)। भक्त कहता है कि उसका उद्धार करना श्रीकृष्णके लिए कठिन है, क्योंकि उसने जैसी करनी की है, वैसा फल उसे भुगतना ही होगा। यहाँ कारण और कार्यमें साम्य प्रदर्शित किया गया है। **तृतीय सम**—उद्यमकी सहज सिद्धि—"सोवन दीजै न दीजै महादुख यों ही कहा रसवाद बढायो। मान रह्यौई नहीं मनमोहन मानिनी होय सो मानै मनायो" (ल० ल०, २३३)। समका तात्पर्य है यथायोग्य सम्बन्ध। सम्बन्ध सद्-योग तथा असद्-योग, दोनों ही अवस्थामे सम्भव है। —ध० ब्र० शा०

समचेतन–मानसिक रोगोंमें प्रायः अन्तर्द्वन्द्वके कारण चेतनामें वियोजन हो जाता है और एक ही व्यक्तिकी कई चेतनाएँ हो जाती है, अर्थात् मानसके कई अंश हो जाते है। इन अंशोंको मार्टन प्रिंस समचेतन कहते है। समचेतन अंश अदल-बदलकर व्यक्त होते है और प्रायः एक अंशको दूसरे अंशका कोई ज्ञान नहीं होता। इन समचेतन अंशोंमें भी कोई प्रमुख होना है, कोई गौण। मार्टन प्रिन्स इन्हें प्रमुख चेतना और गौण चेतना कहते है। अन्य मनोवैज्ञानिकोंने 'समचेतन' शब्दका प्रयोग कम किया है, फ्रायड इसी अर्थमें 'अचेतन'का प्रयोग करते हैं, 'अज्ञात चेतन' भी समानार्थक है (दे० 'मानस', 'अचेतन', 'खण्डित व्यक्तित्व')। —प्री० अ०

समता (symmetry)–प्रतिसाम्य, सममिति; किसी कृतिमें संगतिका होना, अर्थात् वह सापेक्षता जो उसके विभिन्न अंगोंमें आपसमें हो या सम्पूर्ण कृति और उसके किसी अंग-विशेषमें हो। एफ० एम० जेगरके शब्दोंमें—"रूपों और आकृतियोंमें समता किसी ज्यामितिक तरतीब या परस्पर सापेक्ष खण्डोंकी पुनरावृत्तिके कारण होती है" (प्रिन्सिपल ऑव सिमेट्री, एच० आस्बार्न द्वारा 'थियरी ऑव ब्यूटी'में उद्धृत)। संक्षेपमें उनकी परिभाषा इस प्रकार है—सम आकृतियाँ वे है, जो कई तरह अपने या अपने प्रतिबिम्बोंके सदृश हो। मानव-शरीर उसका उपयुक्त उदाहरण है।

सौन्दर्यशास्त्रमें वह आकृति सम मानी जायगी, जो किसी मध्यरेखाके दोनों ओर एक-सी हो, यानी उस रेखाके किसी तरफके आकारका प्रतिरूप हो। समता वास्तुकलामें विशेष महत्त्व रखती है। बिना समताके सिद्धान्तोंका पालन किये किसी मन्दिरके निर्माणकी कल्पना करना ही कठिन है। अधिकांश इमारतें, प्राचीन तो लगभग सभी, ऐसी मिलेंगी, जिनमें समता किसी-न-किसी रूपसे विद्यमान है—प्राचीन मिस्री इमारतें और जापानी कला विशेष रूपसे। अक्सर तो यह समता एक खब्तकी सीमातक पहुँचा दी जाती है, जो सौन्दर्यसे ज्यादा मनमें ऊब पैदा करती है। इसलिए बहुत-से कलाकारोंने श्रेष्ठतर सौन्दर्यानुभूतिके लिए थोड़ी अप्रांजलताको आवश्यक माना है। शायद इसीसे मशीनों द्वारा बनायी गयी बिलकुल निर्दोष कला-वस्तुएँ उतनी सुन्दर नहीं लगतीं, जितना हाथकी बनी हुई चीजोंका कहीं-कहीं चूकता हुआ सौन्दर्य, जो जीवनके अधिक निकट मालूम पड़ता है।

अरस्तूने सौन्दर्यके तीन आवश्यक गुण माने है—व्यवस्था, समता और स्पष्टता। प्राचीन संस्कृत काव्यशास्त्रमें समता कुछ भिन्न अर्थोंमें ली गयी है। 'नाट्यशास्त्र'के

रचयिता भरत मुनिने समताको काव्यके दस गुणोंमेंसे एक माना है। समता इस प्रकार परिभाषित है—"अलंकार-गुणाश्चैव समासात् समता यथा", अर्थात् जहाँ अलंकार और गुण समभावसे विद्यमान होकर एक-दूसरेके सदृश तथा शोभावर्धक हों, वहाँ समता नामक गुण होता है। आगे चलकर दण्डीने भी अपने 'काव्यादर्श'में समताको काव्यका एक गुण माना—"यथा कयाचित् त्या यत् समानमनुभूयते। तद्रूपा हि पदासत्तिः सानुप्रासा रसावहा", अर्थात् जिस किसी शब्द-समूहके उच्चारण द्वारा उसमें जो समताका अनुभव होता है, वह ही अनुभवगम्य पद-स्थिति अनुप्रास-युक्त होकर रसोत्पत्ति करती है। स्पष्ट है कि प्राचीनोंने 'समता'को सामान्यतः ऋजु और प्रांजलके अर्थमें लिखा है। —कु० ना०

समता गुण—दे० 'गुण', पाँचवाँ प्रकार।

समदाउनि—बेटीकी विदाईके अवसरका गीत; मिथिला जनपदमें विशेष रूपसे प्रचलित। विवाहके बाद जब कन्या ससुराल जाने लगती है—बिछोह, वेदना और करुणाका स्रोत इन गीतोंके माध्यमसे फूट पड़ता है। ये गीत अत्यन्त सरस और स्वाभाविक होते हैं। —र० भ्र०

समन्वय—दे० 'सामंजस्य'।

समरस—समरस (समान आस्वादनवाले) शब्दका सर्व-प्रथम शास्त्रीय प्रयोग शैवागममें ही हुआ है, जिसमें शिव और शक्तिके परस्पर तादात्म्यसंवेद्यको सामरस्य या सम-रसता कहा गया है। इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि दोनों भेदाभेद संवेदनसे आस्वादनकी भूमिकामें समान रूपमें अधिष्ठित हैं, अर्थात् आनन्दबोधके समय दोनों समान हैं। यह समरसता ही भारतीय कलाकी आधारपीठिका है, विषय और विषयीमें, दृश्य, दृष्टि और द्रष्टामें, ग्राह्य और ग्राहकमें तथा भावक, भावना और भाव्यमें इसीकी पूर्णता पाना भारतीय कला या कविताका मूल उद्देश्य बना। कला या काव्यका आस्वादन संवित्‌की वह स्थिति है, जब वह बाह्य विकल्पोंसे एकदम विरहित होता है और नानारूपात्मक जगत् उसमें प्रकाशमान रहता है। यही समरसताकी या तन्मयी भावकी स्थिति है। इसमें पहुँचे बिना न तो कलाकी सृष्टि हो सकती है और न कलाकी परख ही। जयशंकर 'प्रसाद'ने 'कामायनी'में समरसताकी स्थितिको ही चरम उप-लब्धिकी भूमिकाके रूपमें मान्यता दी है। —वि०नि०मि०

समवकार—अवकीर्णका अर्थ है फैला हुआ। इस रूपकमें कई नायकोंके प्रयोजन समवकीर्ण अथवा संगृहीत किये जाते हैं, अतः इसका नाम समवकार रखा गया है। शारदातनयने १२ नायकोंका पृथक्-पृथक् प्रयोजन माना है। "पृथक्प्रयोजनास्तत्र नायका द्वादश स्मृताः" (भा० प्र०, पृ० २४८)।

इस रूपकके लक्षणके सम्बन्धमें प्रायः सभी आचार्य एकमत हैं। सबने भरत मुनिके मतका समर्थन किया है। सभी आचार्योंका मत है कि देवता और असुरोंसे सम्बन्ध रखनेवाली इतिहास-पुराणादिमें प्रसिद्ध कथा इसमें निबद्ध की जाती है। इसमें विमर्शके अतिरिक्त शेष चारों सन्धियाँ एवं तीन अंक होते हैं। प्रथम अंकमें दो सन्धियाँ और शेषमें एक-एक सन्धि होती है। कैशिकीको छोड़कर अन्य सभी वृत्तियाँ होती हैं। **बिन्दु** और **प्रवेशक** नहीं होते, किन्तु तेरह **वीथ्यंग** पाये जाते हैं। इसमें **गायत्री, उष्णिक्** आदि अनेक प्रकारके छन्द होते हैं।

नायकके सम्बन्धमें आचार्योंका कहीं-कहीं मतैक्य नहीं है। नायकोंकी संख्या तो सभी बारह स्वीकार करते हैं, किन्तु विश्वनाथका मत नायकोंकी जातिके सम्बन्धमें अन्य आचार्योंसे भिन्न है। धनंजय (द०रू०, ३ : ६३), शारदातनय (भा०प्र०, पृ० २४८), रामचन्द्र (ना०द०, पृ० १२४)का मत है कि इसके नायक उदात्त चरित्रवाले देवता और दानव होते हैं, किन्तु विश्वनाथने धीरोदात्त नायक देवता और मनुष्य माना है (सा० द०, ६ : २३५)। गम्भीरतासे विचार करनेपर (विश्वनाथका मत मान्य नहीं प्रतीत होता। कारण यह है कि विश्वनाथ प्रारम्भमें इस मतसे सहमत हैं कि समवकारका इतिवृत्त देव-दानवसे सम्बन्ध रखता है। ऐसी अवस्थामें दानवके स्थानपर मानवपात्र किस प्रकार नियोजित किये जा सकते हैं ?

इस रूपकके रसके सम्बन्धमें 'नाट्यशास्त्र'में विस्तारपूर्वक विचार किया गया है और सभी आचार्योंने उसीका अनु-सरण किया है। इसमें तीन प्रकारके शृंगार होते हैं—(१) धर्मशृंगार, (२) अर्थशृंगार, (३) कामशृंगार। एक अंकमें एक प्रकारका शृंगार अवश्य आना चाहिये। काम-शृंगार प्रथम अंकमें ही आता है। धनंजयका मत है कि वीर-रसकी अधिकता सभी पात्रोंमें अपेक्षित है। उन्होंने 'समुद्रमन्थन' समवकारका उदाहरण देकर अपने मतकी पुष्टि की है (द० रू०, ३ : ६४)। नाट्यदर्पणकारने वीरके साथ रौद्र रसका भी उल्लेख किया है। (ना०द०, पृ० १२४)। रामचन्द्रने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि देव-दैत्योंके उद्धतत्वके कारण शृंगारकी छायामात्र ही सम्भव है। "दैवदैत्यानामुद्धतत्वेन शृंगारस्य छायामात्रत्वेन निबन्धादिति" (ना० द०, पृ० १२४)।

तीन अंक और तीन शृंगारके साथ-साथ इसमें तीन कपट एवं तीन विद्रव भी आवश्यक माने गये हैं। तीन कपट हैं—(१) वस्तुस्वभावकृत, (२) दैवकृत और (३) अरिकृत। तीन विद्रव हैं—(१) नगरोपरोधकृत, (२) युद्धकृत और (३) वाताग्निकृत।

इस रूपकमें कथाकालकी अवधि भी नियत की गयी है। प्रथम अंककी कथा ऐसी होनी चाहिये, जो बारह नाड़ियोंमें सम्पादित हुई हो (एक नाड़ी दो घड़ी, अर्थात् ९० मिनट-की होती है), दूसरेकी कथा चार नाड़ीमें और तीसरेकी दो नाड़ीमें समाप्त होनी चाहिए।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने इसमें तीन अंक, १२तक नायक, कथा दैवी, छन्द वैदिक तथा शुद्ध, आश्चर्य एवं माया इत्यादिका होना माना है। उनका कथन है कि भाषामें इसका कोई उदाहरण नहीं।

गुलाब रायने इसमें १२ नायकोंके पृथक्-पृथक् फल, देव-दानवोंकी कथा, तीन अंक, **विमर्श** सन्धि एवं **बिन्दु** नामक **अर्थप्रकृति**का अभाव और युद्धकी अनिवार्यता मानी है। 'अमृतमन्थन' एवं भासकृत 'पंचरात्र' इसके उदाहरण दिये गये हैं। —द० ओ०

समवेत गीत—दे०—'गीत', 'गीतिकाव्य', 'समूहगीत'।

समष्टिवाद–अंग्रेजी शब्द 'कलेक्टिविज्म'का हिन्दी रूपान्तर समष्टिवाद है। यह शब्द एक व्यापक सामाजिक दृष्टिकोणका प्रतीक है, जिसके अनुसार सामूहिक जीवन, चाहे वह राज्यका हो अथवा अन्य किसी समूह या संघटनका, हर एक व्यक्तिके लिए अनिवार्य है। इस सामूहिक जीवनके अभावमें व्यक्ति अपनी नैतिक आत्माभिव्यक्ति नहीं पा सकता। व्यक्तित्वके विकासके लिए कुछ परिस्थितियाँ अनिवार्य हैं, जिनकी उपलब्धि ऐकान्तिक और निःसंग जीवनमें असम्भव है। समूहोंकी सदस्यताके बाद ही ऐसी परिस्थियोंका सर्जन हो सकता है, जिनमें मनुष्य विकास करे। सामूहिक जीवनकी यह अनिवार्यता समूहोंके अधिकार और महत्त्वकी स्थापना करती है। इसी नाते समष्टिवाद समष्टिकी शक्ति तथा उसके अधिकारोंको वैयक्तिक शक्ति और अधिकारोंसे कहीं बड़ा मानता है। इस विचारधाराका फल व्यावहारिक क्षेत्रमें सामूहिक निरंकुशता और व्यक्तिगत स्वतन्त्रताके अपहरणमें है। इसी दृष्टिसे व्यक्तिवाद (दे०) समष्टिवादका प्रतिवादी दर्शन कहा जाता है।

समष्टिवादकी ऐतिहासिक उत्पत्ति बताना कठिन है। समाजके जन्मके साथ-ही-साथ समष्टिवादी दर्शनका भी जन्म हुआ होगा। जब कभी मनुष्यने सामूहिक संघटन और सामाजिक उपादेयताकी श्रेष्ठताकी स्थापना की होगी, मूलतः तभीसे उसका दृष्टिकोण समष्टिवादी रहा होगा। इस कारण यह बताना कठिन है कि वह पहला मनुष्य कौन था अथवा वह कौन-सी ऐतिहासिक अवस्था थी, जिसमें समष्टिवादी प्रतिमानोंकी सर्जना की गयी। चिन्तनके आरम्भसे ही मनुष्य या तो व्यक्तिवादी था अथवा समष्टिवादी। विचारधाराका प्रथम शृंखलित निदर्शन प्लेटो (४२८-३४८ ई० पू०)के दर्शनमें प्राप्त होता है और प्लेटोके बादकी चिन्तन-परम्पराने कितने ही रूपोंमें समष्टिवादको ग्रहण किया है। आधुनिक समष्टिवादके विभिन्न रूप है। इन रूपोंमें अन्य सैद्धान्तिक भिन्नताएँ होते हुए भी इतनी एकरूपता अवश्य पायी जाती है कि ये सब व्यक्तिके अधिकार और उसकी शक्तिपर प्रतिबन्ध लगाते हैं और सामाजिक और सामूहिक नियन्त्रणको मानवीय विकासके लिए अनिवार्य सिद्ध करते है। आधुनिक समष्टिवाद किसी-न-किसी रूपमें व्यक्तिपर सामाजिक नियन्त्रणकी स्थापना करता है और व्यक्ति उस नियन्त्रणकी अवहेलना नहीं कर सकता। मार्क्सवाद (दे०), समूहवाद, संघ-समाजवाद, आदर्शवाद और यहाँतक कि फासिस्टवाद और नात्सीवाद भी समष्टिवादी दृष्टिकोणकी ही विभिन्न दिशाएँ है। इन सब व्यवस्थाओंमे व्यक्तिवादके लिए कोई स्थान नहीं है।

आधुनिक जीवन इतना संश्लिष्ट है कि मनुष्यने अपने व्यवहारके लिए असीमित संघटनोंकी योजनाएँ प्रस्तुत कर ली है। यदि इन संघटनोंका सैद्धान्तिक आधार न भी हो, तो भी इन संघटनोंका जन्म और विकास हमारी व्यावसायिक सभ्यताकी सापेक्षतामें स्वाभाविक ही है। बड़े-बड़े व्यवसाय-संघोंका उत्तरोत्तर विकास, मिलों और फैक्टरियोंपर सामूहिक नियन्त्रण निश्चित रूपसे हमारी व्यवसायिक संस्कृतिके समष्टिवादी रूपकी ही ओर संकेत करते हैं। इस प्रकारका समष्टिवाद व्यावहारिक अनिवार्यताकी दृष्टिसे ही अपेक्षित माना गया है। इसीलिए इसको 'इम्पीरियल कलेक्टिविज्म' कहते हैं।

समष्टिवाद बहुतसे दर्शनोंकी तरह एकांगी है, क्योंकि यह केवल एक पक्ष—समाजपक्ष—पर ही जोर देता है। इसीलिए यह व्यापक जीवनका दर्शन नही बन सकता। इसके लिए तो इसे व्यष्टिका मूल्य और महत्त्व आँकना ही पड़ेगा।

[सहायक ग्रन्थ—मॉडर्न पोलिटिकल थ्योरी : सी० ई० एम० जोड।] —रा० कु० त्रि०

समस्तरसकोविदा–दे० 'प्रौढा' (नायिका)।

समस्त-वस्तु-विषय रूपक–दे० 'रूपक', चौथा प्रकार।

समस्या पूर्ति–'समस्या' एवं 'पूर्ति' इन दो शब्दोंके योगसे समस्या पूर्ति शब्दकी रचना हुई है। सर्वप्रथम हमें 'समस्या' शब्दका उल्लेख 'अग्निपुराण'में मिलता है। अग्निपुराणकारने 'समस्या'को चित्रकाव्यके अन्तर्गत रखा है और चित्र-काव्यका लक्षण इस प्रकार दिया है—"गोष्ठ्याँ कुतूहलाधायी वाग्बन्धश्चित्रमुच्यते" (अग्निपुराण, अ० ३५३), अर्थात् गोष्ठीमें पढने मात्रसे कुतूहल उत्पन्न करनेवाला कविका वाग्बन्ध 'चित्र' कहलाता है। चित्रकाव्यके पुराणकारने सात भेद बतलाये है, जिनमे समस्यापूर्ति भी आ जाती है—"प्रश्न : प्रहेलिका गुप्तं च्युतं दत्तं तथोभयम्। समस्या सप्त तद्भेदा नानार्थस्यानुयोगतः (अ० पु०), अर्थात् नाना अर्थोंके अनुयोगसे इसके सात भेद होते है—प्रश्न, प्रहेलिका, गुप्त पद, च्युतपद, दत्तपद, च्युतदत्त पद और समस्या। समस्याके लक्षण अग्निपुराणमें इस प्रकार मिलते हैं—"सुश्लिष्टं पद्यमेकं यन्नानाश्लोकांश निर्मितम्। सा समस्या परस्याऽऽत्मपरयोः कृतिसंकरात्" (अग्नि पु०), अर्थात् विभिन्न श्लोकांशोसे निर्मित एवं आत्म तथा परकी कृतिसे समन्वित पद्य 'समस्या' कहलाता है। संस्कृतके आचार्योंने 'समस्या' एवं 'समस्यापूर्तिको एक ही अर्थमें प्रयुक्त किया है और इसी दृष्टिसे उन्होंने दोनोंके एक ही लक्षण दिये है। 'कामसूत्र' दूसरा संस्कृत ग्रंथ, है जिसमें समस्यापूर्तिकी चौंसठ कलाओंमे गणना की गयी है, किन्तु समस्याके लक्षणोंपर प्रकाश नहीं डाला गया है; केवल इतना कहा गया है—"श्लोकस्य समस्यापूरणम् क्रीडार्थं वादार्थं च" (काम०, अधि० १), अर्थात् श्लोककी समस्यापूर्ति क्रीडा एवं वादके लिये होती है। सामान्य रूपसे, संक्षेपमें किसी पदार्थको कह देनेका नाम 'समस्या' है। संस्कृतका तीसरा ग्रंथ 'शब्द-कल्पद्रुम' है, जिसमें समस्याका लक्षण 'कामसूत्र'की टीकाके सदृश ही है। कोशकारने अपनी व्युत्पत्तिको स्पष्ट करनेके लिए 'माधवी' एवं 'रायमुकुट' कोषोंको भी उद्धृत किया है, जिनमें समस्याका लक्षण इस प्रकार मिलता है—अर्थात् "भिन्न अभिप्रायवाले व्यक्तिके द्वारा उच्चारित वाक्यके आदि अथवा अंतके जो शब्द हों, उन्हें अपने शब्दोंके द्वारा एक पाद, दो पाद अथवा तीन पादसे स्पष्ट कर देना 'समस्या' कहलाता है" (शब्द-कल्पद्रुम, ५।२७०-२७१)। प्राकृत शब्दकोष 'अभिधान-राजेन्द्र'मे भी समस्याके उपर्युक्त लक्षण ही दिये गये है। समस्यापूर्तिका उल्लेख राजशेखरके 'काव्यमीमांसा' ग्रंथमें भी मिलता है। राजशेखरने कवि-परीक्षाका अपने ग्रंथमें विशद वर्णन किया है और राजदैनन्दिनिमें समस्या-

पूर्तिका आयोजन दिखलाया है, जिसमें सिद्ध होता है कि उस समय समस्यापूर्तिका सम्यक् प्रचार था। राजशेखरने राजाओंके नियत कालका उल्लेख करते हुए लिखा है—"भोजनोपरान्त काव्य-गोष्ठीका आयोजन करना चाहिये। कभी-कभी प्रश्नोत्तर किये जाने चाहिये। तृतीय प्रहरमें काव्य समस्या, मातृकाभ्यास, चित्रयोग आदिका आयोजन होना चाहिये' (१० अ०)। क्षेमेन्द्र अपने ग्रन्थ 'कविकण्ठाभरण'में समस्या पूर्तिको कविके लिए आवश्यक बतलाते है।

बल्लाल सेनकृत 'भोज प्रबन्ध'मे समस्या पूर्तिके अनेक प्रकरण मिलते है—जिनसे समस्या पूर्तिका चरमोत्कृष्ट विकास परिलक्षित होता है। राजा भोज द्वारा दी हुई समस्या "क्रिया सिद्धिः सत्वे वसति महतां नोपकरणे" संस्कृत साहित्यमें विशेष रूपसे उदधृत की गयी है। समस्या पूर्तिके विकासका यह क्रम बराबर चलता रहा है। संस्कृत-साहित्यके परवर्ती कालके अलंकार ग्रन्थ केशव मिश्रके 'अलंकार शेखर'मे कहा गया है—"कुर्वन्ति कवयः शक्ताः समस्या पूरणादिकम्" (पृ० ६३), अर्थात्—समर्थ कवि समस्या पूर्ति करते है। शेखरकारने कठिन समस्याके अभिप्रायसे समस्याके अनेक प्रकार बतलाये है, किन्तु जिस सूत्र शैलीका प्रयोग किया है, वह अत्यन्त अस्पष्ट है। शेखरकार समस्या प्रकरणके प्रारम्भमे ही लिखता है—"समस्यापूर्ति इन-इन रूपोमे होती है—प्रश्नोत्तरसे, पद भंगमे, शब्दोके प्रारम्भमें अक्षरोंके जोडनेसे, यह सार्वत्रिक क्रम है। इन क्रमोमें मिथ्याभिधान नही होना चाहिये"।

तेरहवी शतीके एक अन्य ग्रन्थ 'काव्य-कल्पलता वृत्ति'में भी समस्यापूर्तिका उल्लेख मिलता है, किन्तु यह उल्लेख भी 'अलंकार शेखर'के सदृश ही है; उसमे किसी प्रकारकी विशेषता नही होती। चौदहवी शतीमें ज्योतिरीश्वर ठाकुर द्वारा प्रणीत 'वर्ण रत्नाकर'में चौसठ कलाओंके अन्तर्गत समस्यापूर्तिका 'समस्या पूरण, रूपमें केवल उल्लेख मात्र मिलता है (४ कल्लोल)। समस्या पूर्ति सम्बन्धी लक्षण अन्य प्रसिद्ध प्राचीन हिन्दीके ग्रंथोंमें प्राप्य नही है। सम्भवतः अठारहवीं शताब्दीमे बालकृष्ण कवि द्वारा लिखे गये 'रस-चन्द्रिका' ग्रन्थमें 'समस्यापूर्ति' सम्बन्धी उल्लेख इस प्रकार मिलता है—"अर्द्धचरणके अर्द्धतसु, तासु अर्द्ध है तुक्क, देत जे कबित बनावको ताहि समस्या उक्क" (रस चन्द्रिका), अर्थात् एक चरणका अष्टमांश 'तुक' होता है और उसे कवित्त बनानेके लिए दिया जाता है, अतएव उसे 'समस्या' कहते है। समस्या तथा उसकी पूर्तिके लक्षण 'काव्य प्रभाकर'के प्रणेता जगन्नाथप्रसाद 'भानु'ने इस प्रकार दिये है—'समस्या' शब्दका साधारण अर्थ किसी भी छन्दके पूर्ण होनेके लिए शब्द अथवा वाक्य निर्माण करना तथा पूर्तिका अर्थ पूरा करना है, अर्थात् किसी भी छन्दके दिये हुए शब्द अथवा वाक्यको उसके पूर्व अथवा पश्चात् सार्थक शब्दोकी योजना करके पूरे छन्दके रूपमें कर देना" (११वीं मयूख)। प्रस्तुत लक्षण निरूपणमें हिन्दीमें प्रचलित धारणाको प्रकट किया गया है।

'काव्य-प्रभाकर'के अतिरिक्त अन्य जो ग्रंथ समस्यापूर्तिके सम्बन्धमें लिखे गये हैं, वे इस प्रकार है—गोविन्द गिल्लाभाईने 'समस्यापूर्ति प्रदीप', पंडित गंगाधर 'द्विजगंग'ने 'समस्या प्रकाश', अम्बिकादत्त व्यासने 'समस्यापूर्ति सर्वस्व', किशोरीलाल गोस्वामीने 'समस्यापूर्ति मंजरी', कालीप्रसाद त्रिवेदीने 'समस्यापूर्ति पचीसी', राजा रामपालसिंहने 'समस्यापूर्ति प्रकाश', 'सूर्यनारायणसिंहने 'समस्यापूर्ति', आनन्द लाल साह गंगोला 'समस्या' तथा पंडित दुर्गादत्त व्यासने 'समस्यापूर्ति प्रकाश' नामके ग्रंथोंकी रचना की। इन ग्रंथोंमे मुख्य रूपसे समस्यापूर्तियाँ संगृहीत है। समस्यापूर्ति सम्बन्धी लक्षण आदि इनमें स्पष्ट रूपसे नहीं दिये गये है। इस सम्बन्धमें दुर्गादत्त व्यास रचित 'समस्या पूर्ति-प्रकाश'का नाम लिया जा सकता है। समस्यापूर्तिके लक्षण एवं उद्देश्योंपर विचार करते हुए रामशंकर शुक्ल 'रसाल'के दो लेख 'माधुरी' पत्रिकामे प्रकाशित हुए थे। इनमें समस्याके अनेक भेदोपभेद दिये गये है।

यहाँपर हम 'समस्या' एवं 'समस्यापूर्ति'के विविध प्रकारोंपर प्रकाश डाल देना समीचीन समझते है। समस्याके विविध भेद—वर्ण, शब्द, पद, अर्थ, भाषा, छन्द तथा अंतहरिके आधारपर इस प्रकार किये गये है—वर्णके आधारपर **वर्णिक**—जिस समस्यामे कुछ वर्ण ही दिये गये हों। इसके दो रूप हो सकते है—(क) **सार्थका**—सार्थक-वर्णोंवाली समस्या 'सार्थका' है। इसके भी दो रूप हो सकते है—(१) आवृत्ति मूलका—जिसमे वर्णोंकी आवृत्तिसे कोई अर्थवान् शब्द बन जाय, जैसे—जय जय। (२) संयोजका, खंडितार्था अथवा अपूर्णार्था—जिस वर्णिक समस्यामें कोई वर्ण या शब्द अलगसे मिलानेपर सार्थकता आ सके। (ख) **निरर्थका**—जिस वर्णिक समस्याके वर्ण निरर्थक ही हों, किन्तु वे कविकी प्रतिभाके द्वारा सार्थक किये जा सकते हो, जैसे—ठठं ठठंठं ठठठं ठठंठः। शब्दके आधारपर—**शाब्दिक**—जिस समस्यामे एक या अधिक शब्द ही दिये गये हों। इसके व्याकरणानुसार निम्न भेद हो सकते है—(क) **संज्ञात्मिका**-जिसमे शब्द किसी एक संज्ञाके रूपमे हों। (ख) **सर्वनामात्मिका**-जिस समस्यामें केवल कोई सर्वनाम ही हो। (ग) **क्रियात्मिका**—जिस समस्यामे अपने किसी रूपका कोई क्रियापद ही दिया गया हो, जैसे—आवे है, है रहे। (घ) **अव्ययात्मिका**—जिस समस्यामे किसी प्रकारका कोई अव्यय पद दिया गया हो, जैसे—नाही और नहियाँ आदि। पद अथवा वाक्यके आधारपर—**पदात्मिका अथवा वाक्यात्मिका**-जिस समस्यामे कई शब्दोंसे बना हुआ कोई पद, वाक्यांश या वाक्य दिया गया हो, जैसे—'मेरा मन ले गयो', 'गरजी गरीबन पै गजब गुजारो ना'।

अर्थके आधारपर—समस्याओंके अर्थको ध्यानमें रखते हुए हम उनको मुख्यतः निम्नरूपोंमें विभक्त कर सकते हैं—(१) **घटनात्मिका**—जिसका सम्बन्ध किसी विशिष्ट घटनासे हो और जिसमे घटनाकी सूचना स्पष्ट रूपसे मिलती हो, जैसे—'भगीरथके संगमे'। (२) **वर्णनात्मिका**—जिससे यह सूचित हो कि किसीका वर्णन करना ही पूर्तिमें अभीष्ट होगा, जैसे—बसंतकी बहार है, किशोरी कश्मीरकी। (३) **सम्भवी**—जो सम्भव और साधारण बातको सूचित करनेवाली हो, जैसे "सरोज सकुचत है"। (४) **अस-**

म्भवी–जिसमें विरोधी शब्दों, पदों या भावोंके द्वारा असम्भव बातकी सूचना स्पष्ट रूपमें रहे। कवि उसे सम्भव एवं चरितार्थ भी कर सके और न भी कर सके, जैसे—जंबुक जाय अकासमे रोयो। (५) **सामयिक एवं प्रांतिक—**जिसका सम्बन्ध किसी विशेष समय या देशकी बातसे हो, जैसे—श्रीधर हमारा था, वीर बारडोली है। (६) **विरोधमूला—**जिसमे परस्पर विरोधी शब्द या पद विरोधी भावको सूचित करते हुए रखे हो। (७) **हेत्वात्मिका अथवा प्रश्नात्मिका—**जिसमें किसी बातका हेतु या प्रश्न पूछा गया हो, जैसे—'काहे उदास किए मनको'। ये मुख्य-मुख्य भेद उन समस्याओंके है, जिनमें भाव या अर्थ स्पष्ट रहता है। जिन समस्याओमे अर्थ या भाव छिपा रहता है, उन्हें हम निम्न रूपोमे विभक्त कर सकते है। (१) **गूढ़ार्था—**जिसमें जटिल पदो या शब्दोंमे मुख्य भाव स्पष्ट न होकर गूढ़ एवं गम्भीर रूपमे हो। इसका सम्बन्ध प्रायः ध्वनि, व्यंग्य आदि शब्द-शक्तियोंमे होता है, अतएव इन्हे हम ध्वन्यात्मक या व्यंग्यात्मक भी कह सकते है, जैसे—कहिहौ कपोलनमे कहिहौ न कानमे। (२) **सूच्या—**जो किसी भाव या अर्थकी केवल सूचना ही देती हो। इसके अन्तर्गत हम, किसी अन्य प्रकारके संकेत देनेवाली समस्याको भी रख सकते है और उसे संकेतात्मिका कह सकते है, जैसे—नेक कोर दाव दर्द दाहिने नयन की।

भाषाके आधारपर समस्याओंके भेद इस प्रकार हो सकते है (यहाँ यह ध्यान रखना होगा कि यह भेद साहित्यिक हिन्दी भाषाके आधारपर ही किये गये है)—(१) **ब्रजभाषात्मिका**—जो ब्रज भाषामे ही हो, जैसे—है रही, भरिबो है आदि। (२) **अवधी मूला**–जो शुद्ध अवधी भाषामें ही हो जैसे—लीन अवतार है। (३) **खड़ी बोली मूला—**जो शुद्ध खड़ी बोलीमे ही हो, जैसे—आती है, मनमे। (४) **संकर**—जिसमे दो या अधिक भाषाओंका मिश्रण हो, जैसे हेरि हेरि हारी किन्तु पाया नही आप को। (५) **अनिश्चया**—जो ऐसी भाषामें हो या ऐसे रूपमें हो कि उसे किसी भाषामें रख सकते हों, जैसे—बिराज रहे, लोचन ऐसे।

छन्दके आधारपर समस्याओंके अनेक भेद किये गये है। यहाँ पर छन्दके स्थान विशेषमें रखनेके आधारपर समस्यायें इस प्रकार विभक्त हो सकती हैं—(१) **आदिगता**—जिसमें छन्दके प्रारम्भिक शब्द या पद दिये जाते है। समस्याका यह रूप हिन्दीमें प्रायः पाया नहीं जाता है। (२) **मध्यगता**—जिसमें छन्दके मध्यगत चरण, या चरणके मध्यगत शब्दादि दिये जाते हैं। समस्याका यह रूप मिलता नही है, किन्तु समस्याका यह रूप हो सकता है। (३) **अंतगता**–जिसमें छन्दके अन्तिम शब्दादि दिये जाते है। समस्याका यह रूप बहुत प्रचलित है।

छन्दान्तर्गत विभागोंके आधारपर समस्याओंके रूप इस प्रकार हो सकते हैं—(१) **पूर्ण**–जिस समस्यामें किसी छन्दका एक पूरा चरण या पाद दिया गया हो, जैसे—"अंक न आवै मयंक मुखी परजंक पै पारदकी पुतरी सी"। (२) **अर्द्धा**—जिसमें किसी छन्दके एक चरणका आधा भाग दिया गया हो। (३) **अर्द्धार्द्धा**—जिसमें किसी छन्दके एक चरणका चतुर्थांश ही दिया गया हो, जैसे—'मुखमें कुरंगके'। (४) **न्यूना**—जिसमे किसी छन्दके किसी चरणमें यति या विरामके अनुसार होनेवाले खण्डों या अंशोंसे कुछ न्यूनांश दिये जाते हैं, जैसे—यह रीति नई है। (५) **अधिका**—जिसमें यति या विरामकृत चरणांशोंसे कुछ अधिक अंश दिये गये हों। जैसे—सीताराम सीताराम कहिये।

समस्याके वर्गीकरणका अन्तिम आधार 'अलंकृति' है। 'अलंकृति'के आधारपर (१) **सानुप्रास** समस्याओंके अनेक भेद हो सकते है, जैसे–(१) **श्लिष्ट** आदि। इस प्रकार हम देखते है कि उपर्युक्त आधारोंपर ही समस्याओंके अनेक रूप एवं भेद किये जा सकते है। समस्याकी भाँति समस्या पूर्तिके भी अनेक भेद किये गये है। 'भानु'जीने समस्या पूर्तिके नौ-भेद बतलाये हैं। (१)—**मण्डन**—समस्याके अर्थका समर्थन कर देना मण्डन है। इसे साम्यमूलक भी कहा जा सकता है। (२)—**खण्डन**—इसके दो भेद और हो सकते है—(१) भंग पदात्मक (२) अभंग पदात्मक। समस्याके अर्थको समस्याका खण्डन करके अथवा उसके पूर्वमे कोई वर्ण या शब्द योजित करके बदल देना अथवा उसका मिथ्यात्व बतलाकर निषेध कर देना आदि खण्डन है। (३) **संज्ञाश्लेष**—(वस्तु निर्देशात्मक)—जिस पूर्तिमें समस्यागत किसी वस्तुका पूर्णतया निर्देश किया गया हो, उसे वस्तु निर्देशात्मक कहा जाता है, जिसमे श्लेष आ भी सकता है और नही भी आ सकता है। 'भानु' जीने इसका नाम संज्ञा श्लेष रखा है। (४)-(क) **प्रमाण** और (ख) **सहोक्ति**-'भानु'जीने इन दोनों भेदोको अलंकारके आधारपर निरूपित किया है और इन दोनोंकी परिभाषाओंमें भी कोई विशेष अन्तर नहीं है। इसे अलंकारोक्ति कहा जा सकता है। अलंकारोंके द्वारा समस्यार्थकी पुष्टि कर पूर्ति करना अलंकारोक्ति कहा जायगा। (५) **असम्भव-सम्भवी**—कवि-परीक्षा लेनेके लिए कभी-कभी असम्भव समस्याएँ दी जाती है, उन असम्भव प्रतीत होनेवाली समस्याओंकी भी पूर्ति कवि अपनी प्रतिभासे कर देते है, इसे असम्भव-सम्भवी कहा जाता है, जैसे—आधी राधा गोरी है जु आधेकृष्ण श्याम है। (६) **विस्तीर्ण**—छोटी बातको विस्तारमे कथन कर पूर्ति करना विस्तीर्ण है। (७) **संकीर्ण**—विस्तृत अर्थवाली समस्याका थोड़ेमें कथन कर पूर्ति करना संकीर्ण है (८) **संकर**—जब कोई पूर्ति उल्लिखित प्रकारके दो या अधिक आशयोंको प्रकट करनेवाली हो तो उसे 'संकर' कहेगे। एक भेद और हो सकता है, जिसकी चर्चा 'भानु'जीने अपने ग्रन्थमें नहीं की है—वह है (९) **प्रश्नोत्तर परक**। जिस पूर्तिमें प्रश्न और उत्तर साथ-साथ दिये गये हों, उसे प्रश्नोत्तरपरक कहा जाता है। इस प्रकार समस्या पूर्तिके नौ भेद निरूपित हुये है। सम्पूर्ण समस्या पूर्ति-काव्यमें इन्ही भेदोको हम पाते है—जिनमें 'समस्यापूर्ति'ने अपनी कलात्मक उत्कृष्टताके साथ-साथ भाव-सम्पत्ति भी यथेष्ट रूपमें प्रदर्शित की है (दे० 'लेखकका अप्रकाशित प्रबन्ध-हिन्दीका समस्या पूर्ति-काव्य)। —द० शु०

समाजगीत—दे० 'समूहगीत', 'गीतिकाव्य'।

समाजवाद—अपने मूल रूपमें इस शब्दका सर्वप्रथम प्रयोग १८२७ ई०में 'ओब्नाइट कोआपरेटिव मैगजीन'में किया गया था। किन्तु इस शब्दसे जिस मूलभूत सामाजिक दृष्टिकोणका पता चलता है, उसका इतिहास इस शब्दकी उत्पत्तिसे बहुत पहले ही प्रारम्भ हो चुका था। अपने लम्बे इतिहासमें इस शब्दने विभिन्न अर्थोंमें विभिन्न प्रकारकी सामाजिक प्रणालियोंका प्रतिनिधित्व किया है, किन्तु इन अर्थोंमें भी एक मौलिक एकता है। सबके सब किसी-न-किसी रूपमें सहकारी भावनाको प्रेरित करते हैं। निःसंग और नितान्त एकांगी जीवन असम्भव है। इसी नाते सब यह मानते हैं कि कोई समष्टिशक्ति अवश्य होनी चाहिये। इस दृष्टिसे समाजवाद एक समष्टिवादी विचारधारा है और इस रूपमें यह शब्द स्वतः समष्टिवाद (दे०)से अधिक प्रयुक्त होता है। व्यक्तिवाद(दे०)की स्वाभाविक प्रतिक्रिया समाजवाद है।

आधुनिक समाजवादके विभिन्न रूप हैं, किन्तु मौलिक एकता कुछ निश्चित आधारोंपर टिकी हुई है। पहला आधार यह है कि समाजका वर्तमान ढाँचा जर्जर है और इसमें परिवर्तनकी आवश्यकता है। दूसरा आधार है कि यदि केवल परिवर्तन ही लक्ष्य हो तो समाजमें परिवर्तनके बाद अराजकता फैल जायगी। इसलिए परिवर्तनके पश्चात् समाजको नये आदर्शोंके अनुसार संघटित करना चाहिये और इसके लिए सामाजिक स्वरूप बदलनेके पहले नये आदर्श और प्रतिमानोंकी प्रतिष्ठा आवश्यक है। तीसरा आधार है कि ये आदर्श नितान्त सैद्धान्तिक नहीं हैं और इनकी उत्पत्ति सामाजिक यथार्थके सम्पर्कसे टूटकर नहीं हो सकती। ये सहज प्राप्य और व्यावहारिक हैं। चौथा आधार है कि जिस किसी भी वैषम्यका जन्म मनुष्यने किया है, उसका समाजवाद सम्पूर्ण उन्मूलन करेगा, क्योंकि सामाजिक न्यायको अधिष्ठित करनेके लिए विषमताके हर एक स्वरूपको नष्ट करना आवश्यक है। पाँचवाँ आधार है कि आदर्शोंकी व्यावहारिकता सिद्ध करनेके लिए कर्मकी सक्रियता और निश्चयकी दृढ़ता अपेक्षित है। छठा आधार है कि समाजवाद केवल व्यवस्थाविशेष ही नहीं है, प्रत्युत वह एक सम्पूर्ण जीवन-प्रणाली और व्यापक जीवनदर्शन है।

समाजवादके प्रारम्भिक स्वरूप प्रागैतिहासिक कालकी आदिम साम्यवादी संस्थाओंमें दीख पड़ते हैं, जिनका प्रचलन निसर्गसम्मत था। इसीलिए कुछ विचारक इसे समाजवादकी कोटिमें नहीं रखते। प्लेटो (४२८-३४८ ई० पू०)की 'रिपब्लिक'में साम्यवादी व्यवस्थाकी एक योजना प्रस्तुत की गयी है, जिसकी स्मृति आज केवल राजनीतिक आदर्शके ही रूपमें शेष रह गयी है। आरम्भिक ईसाई समाजमें भी एक प्रकारका साम्यवाद प्रचलित था, परन्तु वह केवल धार्मिक संघटन था, जिसका व्यापक लक्ष्य सामाजिक वस्तुस्थितिका आमूल परिवर्तन नहीं, प्रस्तुत वह संकीर्ण आर्थिक लक्ष्य था, जिनका सम्बन्ध केवल सबको उपभोगके उपादान सुगमतासे प्राप्त करानेसे था। लेकिन इतना सत्य है कि ईसाई धर्मने मूल रूपसे मानव-बन्धुत्वकी भावनाको प्रसारित किया था। यह भावना यथार्थवादी सामाजिक सिद्धान्तोंपर आधारित नहीं थी, इसीलिए इसको सजग, जीवित विश्वास बननेमें कई शताब्दियाँ बाकी थीं।

आधुनिक युगमें मार्क्स(१८१८-१८८३ ई०)के कुछ पूर्ववर्ती विचारकोंने समाजवादी लक्ष्यको आधार मानकर समाज-सुधारकी योजनाएँ प्रस्तुत की थीं। किन्तु उनके विचारोंमें केवल संकल्पकी पवित्रता ही है, इसलिए उनका समाजवाद मूलतः अवैज्ञानिक है। एंगेल्स (१८२०-१८९५ ई०)ने अपनी पुस्तिका 'सोशलिज्म, यूटोपियन ऐण्ड साइण्टिफिक'में इस प्रकारके समाजवादको स्वप्निल माना है। उसके अनुसार मार्क्सवादी समाजवादको ही वैज्ञानिक समाजवाद मानना चाहिये। वैज्ञानिक समाजवाद एक सम्पूर्ण जीवन-दर्शन है।

लेनिन (१८७०-१९२४ ई०)ने मार्क्सवादके तीन प्रधान तत्त्व माने हैं, परन्तु प्लेखेनोव मार्क्सवादके चौथे अंगके रूपमें ग्रीक भौतिकवादको भी स्वीकार करता है। इस प्रकार मार्क्सवादके चार दार्शनिक स्रोत हैं—(१) ग्रीक भौतिकवाद, (२) क्लैसिकल जर्मन दर्शन, (३) मार्क्सका पूर्ववर्ती फ्रान्सीसी समाजवाद, (४) क्लैसिकल ब्रिटिश अर्थशास्त्र।

ग्रीक भौतिकवादी विचारक डेमोक्रेटस् (४६०-३६१ ई० पू०) और हेरेक्लिटस् (५४०-४७५ ई०पू०)से मार्क्सने यह ग्रहण किया है कि वास्तविकता भौतिकवादी है और इसकी यथार्थ स्थिति निरन्तर परिवर्तित होती रहती है। आयोनियन विचारकोंने भी भौतिकवादी प्रकृतिका निरन्तर परिवर्तित होता रहना स्वीकार किया था, परन्तु हेरेक्लिटस्ने इस सत्यकी ओर संकेत किया कि यह समूचा परिवर्तन विरोधी तत्त्वोंके संघर्षसे होता है, अतः परिवर्तन ही सत्य है और संघर्ष ही वह प्रणाली है, जिसपर परिवर्तन होता है। क्लैसिकल जर्मन दर्शनसे मार्क्सने दो विचार-पद्धतियाँ ग्रहण की थीं। एक थी हीगेल (१७७०-१८३१ ई०)की द्वन्द्वात्मक परिवर्तन-प्रणाली। हीगेल एक तत्त्ववादी विचारक था, किन्तु उसने यह स्वीकार किया था कि सृष्टिका सारा परिवर्तन विरोधी तत्त्वोंके संघर्षसे होता है। हर एक परिस्थितिमें ऐसे उपकरण होते हैं, जो इस परिस्थितिको नष्ट करनेका प्रयास करते हैं। ये उपकरण उस परिस्थितिके प्रतिवाद हैं। वाद और प्रतिवादमें नैसर्गिक संघर्ष होता है, जिसके फलस्वरूप एक तीसरी परिस्थितिका जन्म होता है, जो वाद और प्रतिवादके कुछ अंशोंको समन्वित करके निर्मित होती है।

इस तीसरी परिस्थितिको संवाद कहते हैं। कालान्तरमें यह संवाद भी वादका रूप ग्रहण करता है और फलस्वरूप इसके प्रतिवादकी सृष्टि होती है। इस वाद और प्रतिवादमें फिर संघर्ष होता है, और तब फिर उस नयी परिस्थितिका जन्म होता है, जिसे संवाद कहते हैं। इसी प्रकार परिवर्तनकी प्रणाली चलती रहती है। इसको परिवर्तन-त्रयी अथवा द्वन्द्वात्मक परिवर्तन-प्रणाली कहते हैं। इस प्रणालीके अनुसार सत्यका कोई निश्चित स्वरूप नहीं होता। परिवर्तनमात्र ही सत्य है। कार्ल मार्क्सने हीगेलसे इस सत्यको ग्रहण किया। किन्तु जहाँ हीगेल विचारोंके क्षेत्रमें इस प्रणालीकी प्रतिष्ठा करता है, वहाँ कार्ल मार्क्स भौतिक और सामाजिक यथार्थकी परिधिमें ही इसकी व्यावहारिकता स्वीकार करता है। मार्क्सने हीगेलकी परिवर्तन-प्रणालीको

भौतिकवाद (दे०) से संयुक्त किया है। जिस जर्मन दार्शनिकने मार्क्सको भौतिकवादकी ओर उन्मुख किया, उसका नाम है फायरबाख (१८०४-१८७२ ई०)। फायरबाख जड पदार्थको ही सत्य मानता है। इसी आधारपर मार्क्सने यह स्वीकार किया कि जड पदार्थ सत्य है और विचार उसकी छाया है। हीगेल और फायरबाखके इस अभिनव समन्वयने मार्क्सके द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (दे०) अथवा 'डाइलेक्टिकल मैटरियलिज्म'को जन्म दिया है।

फ्रांसीसी समाजवादसे मार्क्सने समाजवादी आदर्शोंको ग्रहण किया। समाजवादी क्रान्ति किस प्रकारसे हो, किन वर्गोंको किस प्रकारसे क्रान्तिके लिए प्रस्तुत किया जाय, ये सब बातें मार्क्सने फ्रांसीसी समाजवादियोंसे ग्रहण की। क्लैसिकल ब्रिटिश अर्थशास्त्रकी प्रेरणासे मार्क्सने श्रमिकोंको सामाजिक महत्त्व प्रदान किया। ब्रिटिश अर्थशास्त्रियोंके अनुसार किसी पदार्थको मूल्य, अर्थात् 'वैल्यू' प्रदान करनेकी क्षमता केवल श्रममें है। मार्क्सने इस विचारसे इस सिद्धान्तका निर्माण किया कि हर एक पदार्थका मूल्य श्रम द्वारा निर्मित होता है, किन्तु पूँजीपति मजदूरको उसके श्रमका उचित मूल्य न देकर उसे केवल उसके जीविकानिर्वाहके लिए जितना आवश्यक होता है, उतना ही देता है। इस प्रकार वह अतिरिक्त श्रम द्वारा निर्मित मूल्यकी कीमत मुनाफेके रूपमे अपने पास रख लेता है। स्पष्ट है कि पूँजीपति इस प्रकार श्रमिकोका शोषण करता है। मार्क्सने इसे 'सरप्लस वैल्यूका सिद्धान्त' कहा है।

मार्क्सवाद (दे०) उन्नीसवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धका दर्शन है। इसको विकासकी प्रेरणा तात्कालिक सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियोंसे मिली थी। मार्क्सके समयमें व्यावसायिक क्रान्तिने यूरोपमे और विशेषतः इंग्लैण्डमें जटिल आर्थिक समस्याएँ उत्पन्न कर दी थी। 'लेसेफेयर' सिद्धान्तके अनुसार राज्य इन समस्याओंमे हस्तक्षेप नहीं करता था, फलस्वरूप श्रमिकोकी स्थिति गिरती जा रही थी। इसी प्रकार पूँजीपति और श्रमिकोके बीच वर्गसंघर्ष प्रारम्भ हो गया। इस संघर्षमें मार्क्सने श्रमिकोंका साथ दिया। इन परिस्थितियोकी प्रतिक्रिया पहले-पहल मार्क्समें भावनात्मक ही थी, किन्तु बादमे मार्क्सने इसको सैद्धान्तिक रूप देनेके लिए तर्क और वैज्ञानिक अनुसन्धानका सहारा लिया। फलस्वरूप उसने अपनी दृष्टि समाजके विगत इतिहासकी ओर दौडायी और सामाजिक प्रगतिका विश्लेषण किया, जिसे ऐतिहासिक भौतिकवाद (दे०) कहते है।

मार्क्सके समाजवादी दर्शनके दो पहलू हैं—पहला विश्लेषणात्मक और दूसरा क्रियात्मक। ऐतिहासिक भौतिकवादका सम्बन्ध विश्लेषणात्मक पहलूसे है। इसके अनुसार (१) समाजका विकास संघर्षोंसे होता है। (२) संघर्ष वर्गोंके बीच होते है, जिनका विभाजन आर्थिक आधारपर होता है। (३) वर्गसंघर्षोंसे उत्पादन-प्रणालियाँ निर्मित होती है और जब समाजमें परिवर्तन होता है तो उत्पादन-प्रणाली भी परिवर्तित हो जाती है। इस प्रकार नयी आर्थिक व्यवस्थाका सूत्रपात होता है। (४) साहित्य, दर्शन, कला और विज्ञान समाजके तत्कालीन आर्थिक ढाँचेकी प्रतिकृतियाँ है और समाजमें जब कोई नया आर्थिक परिवर्तन होता है तो उसके फलस्वरूप उसका साहित्य, कला, दर्शन और विज्ञान भी परिवर्तित हो जाता है। (५) नयी आर्थिक प्रणाली पहलेसे विकसित होती है, किन्तु धीरे-धीरे वह प्रतिक्रियावादी हो जाती है और सामाजिक विकासको अवरुद्ध करती है। अतः उस आर्थिक प्रणालीमे भी धीरे-धीरे परिवर्तन होना प्रारम्भ हो जाता है। ये परिवर्तन पहले तो मात्रात्मक होते है, परन्तु बादमे चलकर गुणात्मक रूप धारण कर लेते है। नयी आर्थिक प्रणाली गुणात्मक परिवर्तनोके बाद ही आती है। (६) मात्रात्मक परिवर्तन आमूल परिवर्तनकी शृंखलामे एक कडी है। केवल गुणात्मक परिवर्तन ही आमूल परिवर्तन हो सकता है। लेनिन और स्टालिनने क्रान्तिको गुणात्मक परिवर्तनका साधन माना है। (७) वर्तमान समाज पूँजीवादी समाज है। मजदूरोके संघटन ही इस समाजमें गुणात्मक परिवर्तन कर सकते है। इसके फलस्वरूप जो सामाजिक व्यवस्था आयगी, उसे साम्यवाद (दे०) कहते है।

मार्क्सवाद, अपने क्रियात्मक पक्षमें, पूँजीवादी ढाँचेको किस प्रकार बदलना चाहिये, इसपर विचार करता है। मार्क्सने अपनी 'थीसिसेज आन फायरबाख'मे अन्तिम थीसिसमे लिखा है कि "दार्शनिकोंने अबतक केवल संसारका विश्लेषण किया है। अब वह समय आ गया है कि हम इसका परिवर्तन कर दें"। परिवर्तन कर्म है, इसीलिए मार्क्सवादको लोग कर्मवादी दर्शन भी मानते है। मार्क्सने क्रान्तिको परिवर्तनका साधन माना है और जो वर्ग क्रान्ति कर सकता है वह मार्क्सके अनुसार सर्वहारा वर्ग (दे०) है। इसीलिए मार्क्सने इस नारेको जन्म दिया—"संसारके श्रमिको, एक हो जाओ, क्योकि तुम्हे अपनी गुलामी छोड़कर और कुछ नही खोना है"। सर्वहारा-वर्ग क्रान्तिसे सर्वप्रथम सर्वहारा अधिनायकवादकी रचना करेगा, जिसमें सर्वहारा-वर्गका राज्य होगा। किन्तु धीरे-धीरे समाज वर्ग-विहीन हो जायगा, राज्य पूर्णतया नष्ट हो जायगा और साम्यवादी समाजकी रचना होगी। समाजवाद इस साम्यवादी समाजकी भूमिका है। समाजवादका सिद्धान्त है—"हर एकसे उसकी योग्यताके अनुसार काम लेना चाहिये और उसको उसके कामके अनुसार देना चाहिये"। किन्तु साम्यवादका सिद्धान्त इससे भिन्न है। इसके अनुसार "हर एकसे उसकी योग्यताके अनुसार काम लेना चाहिये और उसको उसकी आवश्यकताके अनुसार देना चाहिये"।

मार्क्सवादी दर्शनमे हमे एकांगी सत्यके दर्शन होते है। सारा मनुष्यसमाज आर्थिक संघर्षोंसे ही प्रेरित होकर विकसित होता है, यह केवल आंशिक रूपमें ही सत्य है। मार्क्सका श्रमिकवर्गोंसे भावनात्मक सम्बन्ध था। इसी सम्बन्धको उसने तार्किक रूप देनेका प्रयास किया है। सिड्नी हुकके इस कथनमें बहुत-कुछ सत्य है कि "मार्क्सने इतिहासके तर्क और भावनाके काव्यको समन्वित करनेका प्रयास किया है"।

समाजवादके मार्क्सवादी रूपके अतिरिक्त और भी रूप हैं, जैसे श्रेणीमूलक समाजवाद अथवा 'गिल्ड सोशलिज्म', संघ-समाजवाद अथवा 'सिण्डिकैलिज्म' और राज्य-समाज-

वाद अथवा 'स्टेट सोशलिज्म' या 'फेबियन सोशलिज्म'। संघसमाजवाद फ्रांसीसी आन्दोलन है, जिसके अनुसार सारे समाजको आर्थिक संघर्षोंमें बाँटनेका प्रयास किया गया है। मजदूरोंकी हड़तालें ही उसका साधन है। राज्य-समाजवाद अंग्रेजी आन्दोलन है, जिसका उत्तराधिकार इंग्लैण्डकी लेबर पार्टीको प्राप्त है। राज्य-समाजवाद ब्रिटिश व्यक्तिवाद और मार्क्सवादके बीच समझौता करनेका प्रयास करता है। यह मार्क्सवादकी भाँति उत्पादनके साधनोंपर सामूहिक नियन्त्रण चाहता है, किन्तु ब्रिटिश व्यक्तिवादसे सम्बन्धित होनेके नाते यह संसदीय शासन-प्रणाली और राज्यकी उपयोगिताको भी स्वीकार करता है, अतः इसका लक्ष्य कम्युनिस्टोंकी भाँति क्रान्ति नही है, वरन् विधानवादी तरीकोंसे चुनाव लड़कर पार्लियामेण्टमे समाजवादी बहुमत बनाकर समाजवादकी रचना करना है। मूल रूपसे इसकी प्रकृति उदारवादी है।

समाजवादका प्रभाव अनिवार्य रूपसे विश्वके प्रत्येक साहित्यपर पड़ा है, क्योंकि उसने कलाकारकी सजग चेतनाको नयी दिशाओंका संकेत दिया है। हिन्दी साहित्यमे समाजवादी कविताएँ दो भागोंमें बाँटी जा सकती है। पहले भागमे वे कवि और कविताएँ है, जिनका सम्बन्ध समाजवादी आदर्शोंमे है, किन्तु जिन्होने अपनेको किसी पार्टी मेनिफेस्टोमे बाँधनेका प्रयास नही किया है। इस रूपमें इन कवियों और इन कविताओंने सामान्य वर्ण और रंगोंसे जीवनके सामान्य स्तरको चित्रित करनेका प्रयास किया है। इनके कृतित्वमे छायावादकी अस्पष्टता और ग्राम्प्रलता नहीं है। जीवित यथार्थके सम्पर्कमे ही इनका काव्य-सत्य जन्म लेता है, किन्तु कहीं-कहीं इस यथार्थका साक्षात्कार भावनात्मक स्तरपर न होकर बौद्धिक स्तरपर हुआ है (सुमित्रानन्दन पंतकी 'ग्राम्या'की भूमिका देखिये)। अधिकतर इन कविताओंमे उन्मेष और सामाजिक न्यायकी प्रतिध्वनियाँ मिलती है। भगवतीचरण वर्माकी 'भैंसागाड़ी' इस दृष्टिसे उल्लेखनीय है। 'निराला'ने भी ऐसी कविताएँ लिखी है, जिनमें पथपर पछताते आते हुए भिखारी और सड़कोंपर पत्थर तोड़नेवाली स्त्रियोंका चित्रण है। ऐसी कविताएँ मूल रूपसे न्यायप्रिय कलाकारकी नैसर्गिक प्रतिक्रियाएँ मात्र है।

दूसरे वर्गमें वे कवि उल्लेखनीय है, जिन्होंने समाजवादी राजनीतिक आन्दोलनके साहित्यिक संस्करण प्रस्तुत किये है। हिन्दी साहित्यमे इस साहित्यिक आन्दोलनको एक विशेष संज्ञा प्रदान की गयी है, जिसे प्रगतिवाद (दे०) कहते हैं। प्रगतिवादने साहित्यिक गुटबन्दीका भी निर्माण किया है, जो विभिन्न लेखकसंघोंके रूपमे व्यक्त हुआ है। इन लेखकसंघोके अनुसार समाज और राजनीतिका सत्य ही कलाका चरम मापदण्ड है। कलात्मक सत्य यदि प्रगतिशील सामाजिक वर्गोंका साथ नहीं देता तो उसकी कुछ भी उपयोगिता नही है। सामाजिक वस्तु-स्थितिसे कलाका यह यान्त्रिक लगाव केवल कलाके विघटनकी ही सूचना नही देता, वरन् कलाके स्थानपर उस साहित्यका सर्जन करता है, जो कालान्तरमें ऐतिहासिक महत्त्वका ही रह जायगा। जब कलाका सम्बन्ध सामाजिक वस्तु-स्थितिसे न होकर किसी पार्टीके मेनिफेस्टोसे हो जाता है तो वह स्थिति अत्यन्त शोचनीय होती है। बहुत-कुछ मात्रामें प्रगतिशील लेखकोंने पार्टी मेनिफेस्टोके आधारपर ही कलाका निर्माण किया है। इस परिस्थितिमें कलामें सामाजिक वस्तु-स्थितिका चित्रण न होकर उस यथार्थका चित्रण है, जो और कुछ भी क्यों न हो, 'यथार्थ' तो है ही नहीं।

'प्रगतिशील' साहित्यका सर्जनात्मक पक्ष ही नही, प्रत्युत समीक्षात्मक पक्ष भी दुर्बल है। इसका समीक्षाका मानदण्ड पार्टी मेनिफेस्टोके अनुसार प्रायः बदलता रहता है। प्रगतिशील साहित्यमे सर्वत्र यान्त्रिकता ही व्याप्त है। मात्राकी दृष्टिसे तो इस साहित्यने कुछ कार्य किया भी है, किन्तु साहित्यिक गुणोंकी इसमे न्यूनता है। कहीं-कहीं इस साहित्यमें पतनोन्मुख मध्यवर्गीय मनोवृत्तिका अच्छा चित्र मिलता है, जैसे यशपालके 'मनुष्यके रूप' नामक उपन्यासमें। अधिकतर तो इसमे पार्टी सिद्धान्तोंकी ही भरमार है। यथार्थवादी रोमांसके लेखक रमाप्रसाद घिल्डियाल 'पहाड़ी'की कहानियाँ और उपन्यास, यशपालका 'देशद्रोही' और 'दादा कामरेड', नागार्जुनकी व्यंग्य कविताएँ और उपन्यास, अमृत रायकी कहानियाँ और उनका 'बीज' नामक उपन्यास प्रगतिशील साहित्यकी प्रमुख कृतियाँ है।

ऐसा नही कि प्रगतिशील साहित्यका भारतीय सामाजिक चेतनाके विकासमें कोई स्थान ही नहीं है। कम-से-कम प्रगतिशील लेखकोंने अपनी कृतियों द्वारा समाजकी जनवादी और उदारवादी परम्पराको सुरक्षित रखनेका प्रयास किया है। उनमें साहित्यिक न्यूनता है, किन्तु भविष्यमें हो सकता है कि जीवनके प्रगतिशील मानदण्ड और कलात्मक वैभवमे समन्वय स्थापित हो सके। प्रत्येक युगमें कला और सामाजिक उपयोगिताके प्रश्नोंको उठाया गया है। ठीक वही प्रश्न इतिहासकी इस वर्तमान स्थितिमें हमारे सामने भी है। लोकसंग्रह और कलाका समन्वय ही इस प्रश्नका समाधान है।

[सहायक ग्रन्थ—राष्ट्रीयता और समाजवाद: नरेन्द्र देव।] —रा० कृ० त्रि०

समाजवादी यथार्थवाद–दे० 'सामाजिक यथार्थवाद'।

समाजशास्त्रीय सापेक्षवाद–(sociological relativism)—यह एक मानी हुई बात है कि जीवन उतना ही और वैसा ही नहीं है, जितना और जैसा समाज-विशेष अथवा युग-विशेष द्वारा जाना गया है। प्रत्येक समाज अथवा युग उसके पक्ष-विशेषका ही साक्षात्कार कर पाता है, यद्यपि प्रायः सभी समाज अथवा युग अपनेको पूर्ण जीवनदृष्टि-सम्पन्न तथा अन्य समाजों अथवा युगोंको भ्रान्तजीवनदृष्टि-सम्पन्न सिद्ध करनेका दावा करते पाये जाते है। समाजदर्शन इन विभिन्न जीवनदृष्टियोंको सापेक्ष सत्य सिद्ध करता है। इसके अनुसार दर्शन और धर्म, साहित्य और कला, कानून और नीति-नियम, राजनीति और अर्थनीति प्रभृति विविध सामाजिक, सांस्कृतिक संस्थाएँ एवं प्रवृत्तियाँ, नित्य, सार्वजनीन और सार्वकालिक न होकर समाजानुसारी अथवा युगानुसारी होती हैं। वे भिन्न समाजों अथवा युगोंमें भिन्न हो जानेको बाध्य है। किन्हीं दो समाजों अथवा युगों-

में ये मरयाएँ और प्रवृत्तियाँ एकसी नहीं होतीं। स्पेंग्लरके अनुसार तो संस्कृति-संस्कृतिकी आत्मामें इतना भारी भेद है कि उनके बीच परस्पर आदान-प्रदान सम्भव ही नहीं। एक संस्कृतिकी चिन्ताधाराको अन्य संस्कृति विकृत करके ही समझ सकती है। यूनानके अरस्तूको यूनानियोंने ही ठीक-ठीक समझा था, अरबों और गॉथोंने तो उसे अपने-अपने ढंगपर गलत रूपमें ही ग्रहण किया था। सचमुच किसीको 'तीन अरस्तुओं'—यूनानी, अरबी और गॉथीय—का इतिहास लिख डालना चाहिये था, जिनके बीच एक भी धारणा अथवा विचारकी समानता नहीं पायी जाती। स्पेंग्लर स्पष्ट कहता है कि सत्य किसी विशिष्ट मानवताकी अपेक्षासे ही सत्य हुआ करता है, कोई सत्य सार्वजनीन और सार्वकालिक नहीं।

यह तो सभी मानेंगे कि प्रत्येक समाज अथवा युगके सत्य-असत्य, नीति-अनीति, औचित्य-अनौचित्य, शुभ-अशुभ सम्बन्धी अपने प्रतिमान और मानदण्ड होते हैं और उन्हींके आधारपर उस समाज अथवा युगके विषयमें निर्णय देना चाहिये। किसी अन्य समाज अथवा युगके मानदण्डसे नापनेपर हम भ्रामक निष्कर्षपर ही पहुँचेंगे। यह सत्यों, मूल्यों एवं प्रतिमानोंकी सापेक्षताका सिद्धान्त समाजशास्त्रीय सापेक्षवाद नामसे अभिहित किया जाता है।

इसी शतीमें 'ज्ञानका समाजशास्त्र' (सोशियालॉजी ऑव नालेज) नामसे एक नयी उपविद्याकी प्राण-प्रतिष्ठा हुई है, जो मानवीय सत्योंकी समाजशास्त्रीय व्याख्याका प्रयत्न करती है। इसका समाजशास्त्रीय सापेक्षवादसे घना सम्बन्ध है। —ह० ना०

समाधि १–(समाहित) वाक्य-न्यायमूल अर्थालंकार, जिसमें 'काकतालीयन्याय'के अनुसार अकस्मात् किसी कारण अथवा अन्य कर्ताकी उपस्थितिसे प्रधान कर्ताके कार्यकी अनायास सिद्धि होती है। कौएके तालवृक्षपर बैठनेसे तालफलके अकस्मात् पतन जैसी अचानक घटनाको काकतालीयन्याय कहते हैं। इस प्रकार, जहाँ आकस्मिक कारणोंके योगसे कर्ताके कार्यकी अनायास सिद्धिका वर्णन हो, वहाँ समाधि अलंकार होता है। यह प्राचीनोंसे चला आनेवाला अलंकार है। मम्मटके अनुसार "समाधिः सुकरं कार्यं कारणान्तरयोगतः" (का० प्र०, १० : १२५), अर्थात् जहाँ कतिपय अन्य कारणोंके योगसे कार्य सुगम हो जाय। दण्डी तथा भोजने इस अलंकारका उल्लेख 'समाहित' नामसे किया है। दण्डीका लक्षण इस प्रकार है—"किंचिदारभमाणस्य कार्यं दैववशात् पुनः। तत्साधनसमापत्तिर्या तदाहुः समाहितम्" (काव्यादर्श, २ : २९८), अर्थात् किसी आरम्भ किये हुए कार्यके सम्पादनके साधनका दैववशात् जुटना। विश्वनाथने कार्यके अनायास होनेके लिए आकस्मिक कारणको स्वीकार किया है।

हिन्दीमें प्रारम्भसे ही इसको स्वीकृति मिली है। मतिराम, भूषण, चिन्तामणि तथा पद्माकर आदिने 'काव्यप्रकाश'की परिभाषाको 'चन्द्रालोक' आदिके आधारपर स्वीकार किया है—"दूजे कारनके मिले काजु जु इरबर होइ" (चिन्तामणि), अथवा—"और हेतुके मिलेते सुकरु होत जहँ काज" (भूषण, १० : २८९)। भिखारीदास द्वारा निरूपित लक्षण अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट एवं पूर्ण है—"क्यों हूँ कारजको जतन, निपट सुगम है जाय। तासो कहत समाधि लखि, काक तालके न्याय" (का० नि०, १५)।

'कविकल्पतरु'में चिन्तामणिका प्रस्तुत उदाहरण—"हरि चाह्यो पगपरनको, मानवती लखि वाम। भई तडित घनश्याममें, निरखि तडित घनस्याम"। इसी प्रकार नायिका प्रसंगका उदाहरण सोमनाथने भी दिया है—"निरखनको तिय वदन छबि, पठई डीठि मुरारि। उत हाँ चपल समीरने, घूँघट दियो उघारि" (र० पी० नि०) अर्थात् समीरके झोंकेसे अवगुण्ठनके खुल जानेके कारण मुखकी छवि देखनेका कार्य अनायास ही सिद्ध हो गया है। रीतिकालके कवियोंने अभिसारके वर्णनोंमें इसका सुन्दर निर्वाह किया है।

संस्कृतमें भोजने 'समाधि'की अलग परिभाषा की है—अन्यके धर्मोंका अन्यत्र आरोपण करना—"समाधिमन्यधर्माणामन्यत्रारोपणं विदुः" (स० क०, ४ : ३२)। हिन्दीके प्रमुख आचार्य केशवदासने भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है—"होत न क्यों हू होत जहं दैवजोगतें काज" (क० प्रि०, १३ : १)। यहाँ कार्य न होनेवाला है, परन्तु केशवने उदाहरण दण्डीका ही दिया है (दे० 'काव्यहेतु', चौथा हेतु तथा 'हठयोग'। —सं०

समाधि २–पतंजलिने चित्तवृत्तिके निरोधको योग कहा है (यो० सू०, १ : २)। योगशास्त्रके मर्मीसे यह बात छिपी नहीं है कि यहाँ 'योग'का अर्थ 'समाधि' ही होता है। चित्तवृत्तिके निरोध द्वारा योग सम्पन्न होता है और चित्तवृत्तिके निरोधसे ही समाधि भी सम्पन्न होती है। चित्तवृत्तिके सम्यक् निरोधके सम्पन्न हो जानेपर व्यक्ति मुक्त हो जाता है। यही कैवल्यकी अवस्था या मुक्ति योगशास्त्रका परम प्राप्य है। समाधिका फल भी मुक्ति या कैवल्य ही है। विष्णु पुराण (७म् अंश)में स्पष्ट घोषित किया गया है कि—"विनिष्पन्न समाधिस्तु मुक्ति तत्रैव जन्मनि। प्राप्नोति योगी योगाग्निदग्धकर्मचयोऽचिरात्" इस प्रकार योगशास्त्रमें 'योग' और 'समाधि' समनार्थी शब्द हैं। वृत्तिनिरोधका अर्थ है किसी एक इच्छित विषयपर चित्तको स्थिर रखना। लेकिन यह काम है बहुत ही कठिन। गीतामें अर्जुनने इसे वैसा ही दुष्कर बताया है, जैसा हवाको बाँध रखना दुष्कर है (गीता, ६ : ३४) और पतंजलिकी ही तरह ('अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः',–यो० सू०, १ : १२) श्रीकृष्णने चित्तवृत्ति या मनकी स्थिरताके लिए अभ्यास और वैराग्यको आवश्यक बताया है (गीता, ६ : ३५)। समाधि इसी स्थिरताका वाचक शब्द है। इस विषयमें अभ्यास और वैराग्य ज्यों-ज्यों बढ़ते जाते हैं, योग या समाधि त्यों-त्यों घनीभूत होती जाती है और सर्वोच्च अवस्थामें पहुँचकर असंप्रज्ञात समाधिके रूपमें पूर्ण होकर कैवल्य या मुक्ति देनेमें समर्थ होती है। स्पष्ट है कि असंप्रज्ञात रूप चरमपरिणतिके पूर्व इस समाधिके और भी कई पूर्ववर्त्ती रूप होते हैं। यहाँ एक क्रमसे उन्हें समझ लेना चाहिये।

'योग सूत्र'में पतंजलिने दो भिन्न प्रकारकी समाधियोंकी चर्चा की है—एक संप्रज्ञात-असंप्रज्ञात समाधि और दूसरी, आठ योगांगोंमें परिगणित समाधि (यो० सू०, ३ :

१ तथा २ : २९)। लक्ष्य करनेकी बात है कि 'समाधिपाद'में सूचित संप्रज्ञात एवं असंप्रज्ञात नामक समाधियाँ साध्य हैं और 'साधनपाद'में योगांगोंके अन्तर्गत उल्लिखित समाधि साधन है जो चित्तवृत्तिके निरोधमें सम्पन्न होती है। इस **चित्तकी पाँच भूमियाँ** मानी जाती हैं—क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। भाष्यकार व्यासका मत है कि "स (=समाधि) च सार्वभौमश्चित्तस्यधर्मः" अर्थात् उक्त सभी चित्तभूमियोंमें समाधि हो सकती है। लेकिन इनमेंसे प्रथम दो चित्तभूमियोंकी समाधि योगके योग्य एकदम नहीं है। तृतीय, अर्थात् विक्षिप्त चित्तमें उत्पन्न समाधिमें सभी विक्षेप संस्कार रहते तो है, पर अप्रधान भावसे, अतः कदाचित् इसमें चित्त स्थिर हो भी जाता है, किन्तु योगशास्त्र इसे भी कोई महत्त्व नहीं देता। शेष दो चित्तभूमियाँ योगकी दृष्टिसे काफी महत्त्वपूर्ण है। इन दोनोंमें बँधनेवाली समाधियोंकी चर्चाके पूर्व प्रथम तीन चित्तभूमियों और उनमें लगनेवाली समाधियोंकी प्रकृतिको समझ लेना चाहिये।

चित्तभूमिका अर्थ है चित्तकी सहज-स्वाभाविक अवस्था। **क्षिप्तभूमिक** चित्त अपनी सहज अवस्थामें रजोगुणप्रधान होनेके कारण बहिर्मुख और अस्थिर होता है, अतः समाधिके लिये जितनी स्थिरता और बौद्धिक शक्ति अपेक्षित होती है, उतनी स्थिरता और बौद्धिक शक्ति इसमें नहीं होती। राग, द्वेष, हिंसा आदिसे बुरी तरह मथित क्षिप्तचित्तमें कभी-कभी समाधि लगती देखी जाती है। पाण्डवोंसे पराजित होकर प्रबल द्वेषसे मथित जयद्रथका चित्त शिवमें समाधिस्थ हो गया था, ऐसा उल्लेख 'महाभारत'में मिलता है। योग क्षिप्तचित्तकी इस समाधिको समाधि नहीं मानता और न इसे कोई नाम ही देता है। दूसरी चित्तभूमि **मूढ़** कहलाती है। अपनी सहज अवस्थामें यह तमोगुणप्रधान है। यह चित्तकी विवेकशून्य, अर्थात् कार्य-अकार्यके विचारसे हीन स्थिति है। इस भूमिकामें स्थित चित्त किसी इन्द्रिय विषयमें मुग्ध होनेके कारण समाधिस्थ हो जाता है। कामासक्तिकी गहनतम स्थितियोंमें इस तरहका मूढचित्त बहुधा समाधिस्थ हो जाता है। भस्मासुरकी पौराणिक कथा इसका अच्छा उदाहरण है। चित्तकी तीसरी भूमिका **विक्षिप्त** कहलाती है। इसमें किसी प्रबल विक्षेपके कारण स्थिरताप्राप्त चित्त अस्थिर और अस्थिर चित्त स्थिर हो जाता है। अपनी सहज अवस्थामें विक्षिप्त चित्त सत्त्वगुण प्रधान है, परिणामतः दुःखके साधनोंको छोड़कर सुखके साधनोंकी ओर प्रधावित होनेकी इसकी सहज प्रवृत्ति है। अतः किसी भी प्रबल अकर्षणवश इसकी सारी स्थिरता भग्न हो सकती है। पुराणोंमें ऐसे अगणित आख्यान मिलते हैं, जहाँ अप्सराओंके सौन्दर्य एवं शृंगार-चेष्टाओंपर मुग्ध होकर अनेक ऋषि योगभ्रष्ट हो गये है। विश्वामित्र विक्षिप्तभूमिक चित्तके अप्रतिम उदाहरण है। किसीकी स्तुतिसे खुश हुये तो उसे हर अपराध और पापके बावजूद सदेह स्वर्ग भेज देंगे, नयी सृष्टि, नये स्वर्गकी रचनामें प्रवृत्त हो जाना भी कोई बड़ी बात नहीं। लेकिन एक क्षणके लिए ध्यान दूसरी ओर गया नहीं कि त्रिशंकु आकाशमें लटके रहें, कोई चिन्ता ही नहीं। भूख लगी तो क्षुधापर सारी वृत्तियाँ ऐसे एकतान हो जायेंगी कि करणीय-अकरणीय, भक्ष्याभक्ष्यकी सारी चेतना विलीन हो जायगी और चाण्डालके घरसे सड़े कुत्तेकी जघा चुरानेमें भी कोई हिचक नहीं होगी। तपस्या करेंगे तो ऐसी कि विश्वब्रह्माण्ड काँप उठे और मेनकाके सौन्दर्य और विलास चेष्टाओंपर मुग्ध होंगे तो वर्षों और सब कुछको एकदम विस्मृत ही कर बैठेंगे। तात्पर्य यह कि विक्षिप्तभूमिक चित्तकी समाधि अस्थिर होती है। योगका सर्वप्रमुख या एकमात्र लक्ष्य है कैवल्य, जो सम्पूर्ण चित्तनिरोधके बिना सम्भव नहीं। इसके लिये सारे विक्षेपोंका दूर होना अनिवार्य है। विक्षिप्तभूमिक चित्तकी समाधि इसी कारण कैवल्यका साधन नहीं बन सकती। अतः योग इस समाधिको महत्त्व नहीं देता और न कोई भिन्न नाम ही देता है। योगमें आदृत समाधि चौथी चित्तभूमिसे शुरू होती है।

चित्तकी चौथी भूमिका **एकाग्रभूमिका** कहलाती है। चित्त जब बाह्य विषयोंसे हटकर एकाकार वृत्ति धारण करता है तो उसे एकाग्र, अर्थात् मात्र एककी ओर उन्मुख या मात्र एकका अवलम्बन करनेवाला कहा जाता है। एक वृत्तिके निवृत्त होनेपर उसके बाद उदित होनेवाली वृत्ति भी यदि प्रथमवृत्तिके अनुरूप हो उठे और आगे भी उसी तरहकी अनुरूप वृत्तियोंका प्रवाह चलता रहे तो इस प्रकारका चित्त एकाग्रभूमिक कहा जाता है। पतंजलिने कहा भी है—"…शान्तोदितौ तुल्य प्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः" (यो० सू०, ३ : १२)—अर्थात् चित्तके एकाग्र हो जानेपर उसमें उठने, उठकर विलीन (शान्त) होने तथा फिर नये सिरेसे उठने (उदित होने)वाली वृत्तियोंकी एकरूपता (तुल्य प्रत्यय) स्वभावतः अनिवार्य परिणामकी तरह उपस्थित होती है। एकाग्रचित्तका लक्षण है ध्रुवा-स्मृति, अतः इस अवस्थामें मन दिनमें, रातमें, जागते, सोते यहाँ तक कि स्वप्नमें भी एकही मूलभूत लक्ष्यपर एकाग्र रहता है। यों कहें कि एकाग्रता उसका स्वभाव बन जाती है। चित्तकी इसी एकतान-एकाग्र अवस्थामें कैवल्य या मोक्षकी साधिका **सम्प्रज्ञात** समाधि सम्पन्न होती है। संप्रज्ञात समाधिमें चित्तकी सभी वृत्तियोंका (दे० 'चित्त-वृत्ति') निरोध नहीं होता, बल्कि ध्येयरूपमें अवलंबित विषयको आश्रय करके चित्तवृत्ति उस समय भी वर्त्तमान रहती है और निरन्तर अपने अनुरूप वृत्तिप्रवाहको उत्पन्न करती रहती हैं। जिस प्रकार विक्षिप्त चित्तको एकाग्र बनानेके लिए अभ्यास (यो० सू०, १ । १३) तथा वैराग्य (यो० सू०, १ : १५; दे०—वैराग्य)की आवश्यकता होती है (यो० सू०, १ : १२), उसी प्रकार एकाग्रचित्तको निरुद्ध करनेके लिए भी अभ्यास और वैराग्य आवश्यक है। संप्रज्ञात समाधिकी अवस्थामें एक लक्ष्यपर स्थित चित्त वितर्क, विचार, आनन्द एवं अस्मिता नामक चार भावोंका अनुसरण करता है (यो० सू०, १ : १७)। अतः इसके पारस्परिक भेदके अनुसार संप्रज्ञात समाधिके क्रमशः चार भेद होते हैं—सवितर्क समाधि, सविचार समाधि, सानन्द समाधि तथा अस्मितामात्र या सास्मित समाधि।

सवितर्कसमाधिमें चित्त शब्द, अर्थ, ज्ञान और

विकल्पमें युक्त और किसी स्थूलविषयपर एकाग्र होता है। शब्द—जैसे 'गाय', अर्थ—उस 'गाय' शब्द या पदसे संबोधित या संकेतित होनेवाला चतुष्पद जन्तु विशेष; ज्ञान—गाय शब्दसे अभिहित और गाय अर्थसे बोधित जन्तुविशेष सम्बन्धी जानकारी; वितर्क—नाम, नामी तथा नाम-नामी-सम्बन्धी ज्ञान तीनों एक दूसरेसे भिन्न है, किन्तु साधारण अवस्थामें इनमें एक सम्बन्धकी स्थिति अनुभूत होती है। यही वितर्क है। इन्हीं चारोंसे युक्त होकर चित्त जब स्थूल विषयपर एकाग्र होता है तो चित्तकी इस समाधि दशाको **सवितर्क समाधि** या **सवितर्क संप्रज्ञात समाधि** कहा जाता है। जहाँ वितर्क न हो, ऐसी यह समाधि **निर्वितर्क समाधि** कहलाती है। सवितर्क और निर्वितर्क दोनोंको एक ही नामसे भी पुकारा जाता है—**वितर्कानुगत संप्रज्ञात समाधि** (यो० सू०, १ : ४२)। संप्रज्ञात समाधिका दूसरा प्रकार है **सविचार समाधि**। इसे **वितर्क-विफल** भी कहा जाता है। वितर्क-विकल, अर्थात् वितर्क रूप अंगमें हीन। यह समाधि सवितर्क समाधिकी अपेक्षा कुछ अधिक सूक्ष्म विषयों (तन्मात्रादि)का अवलम्बन करके साधित एकाग्रताकी दशामें सम्पन्न होती है। सवितर्क समाधिकी भाँति यह भी शब्दार्थज्ञानसे सम्बद्ध है, क्योंकि शब्दके बिना विचारसम्भव नहीं है, बस उससे अन्तर यही है कि यह सूक्ष्म विषयोंमें सम्बन्धित होती है। सविचारकी तरह निर्विचार नामकी भी समाधि होती है। इन दोनोंको **विचारानुगत समाधि** कहते है। **सानन्द-समाधि** संप्रज्ञातका तीसरा प्रकार है। यह वितर्क और विचारसे हीन तथा चित्तकी विशेष स्थिरताके फलस्वरूप चित्तमें व्याप्त सुखमय भावविशेषपर अवलम्बित समाधि है। इसमें शब्दकी उतनी अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि अनुभूयमान आनन्दकी समाधि है और आनन्द शब्दातीत हैं। यह विचार और वितर्क दोनोंसे हीन होनेके कारण **विचार-वितर्क-विकल समाधि** भी कहलाती है। इस अवस्थामें प्राप्त सुखसे संयुक्त होकर योगी ध्यान और कर्ममें रमण करता है। संप्रज्ञात समाधिका चौथा रूप **सास्मित समाधि** है। स्थूल और बाह्य विषयोंको तथा वितर्क एवं विचारको आश्रय करके लगनेवाली प्रथम दो समाधियाँ विषयसे सम्बन्धित होती हैं। सानन्द समाधि ग्रहण विषयसे और सास्मित समाधि ग्रहीत विषयसे सम्बद्ध होती है। ग्रहीत विषय अर्थात् "मैं आनन्दका ग्रहण करनेवाला हूँ", इस प्रकारका अहं इस समाधिका विषय होता है। इसीलिए इसे आनन्द-विफल, अर्थात् आनन्दसे अतीत (आनन्दसे हीन या निरानन्द नहीं) माना है। सानन्द समाधिमें समस्त साधनोंसे सम्पन्न आनन्द ही उसका विषय होता है, जब कि सास्मितमें उस आनन्दका ग्रहण या भोग करनेवाला 'अहं' ही इसका विषय होता है। इस समाधिकी अवस्थामें योगी बुद्धिके साथ आत्माको अभिन्न मानकर एकाग्रता प्राप्त करता है। स्पष्ट है कि संप्रज्ञात समाधिके इस सर्वोच्च स्तरपर पहुँचकर भी पूर्णतया निरुद्ध नहीं हुआ रहता। इसका पूर्ण निरोध चित्तकी पाँचवीं भूमिकामें पहुँचकर होता है।

चित्तकी पाँचवी भूमि **'निरुद्धभूमि'** कहलाती है। एकाग्रभूमिक चित्तकी एकाकारवृत्ति भी जब अन्य संस्कारोंके साथ-साथ लय हो जाती है तो ऐसे चित्तको निरुद्ध कहा जाता है। चित्तकी इसी अवस्थामें योगशास्त्रमें सर्वाधिक आदृत असंप्रज्ञात समाधि सम्पन्न होती है। इस अवस्थामें चित्तकी सम्पूर्ण वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं। **असंप्रज्ञात समाधि**के अभ्यास द्वारा जब चित्त सदा सर्वदाके लिए निरुद्ध और स्ववश हो जाता है, तभी कैवल्य या मुक्ति मिल जाती है। इस अवस्थामें किसी प्रकारका संप्रज्ञान नहीं रहता, अतः इसे असंप्रज्ञात समाधि कहते है, पर वैराग्य (दे०—वैराग्य) इस समाधिका साधन है। इस समाधिमें कोई भी चिन्त्यपदार्थ नहीं रहता। यह समाधिदशा अर्थ-शून्य है और इसका अभ्यास करनेवाला चित्त निरालम्ब और अभावापन्न सा होता है। पतंजलिने इस समाधिको 'विराम प्रत्ययाभ्यास पूर्वः' (यो० सू०, १ : १८) कहा है। साथ ही उन्होंने इसे 'संस्कारशेष' भी कहा है (वही)। तात्पर्य यह कि इसमें चित्तवृत्तियाँ तो निरुद्ध हो जाती है, पर संस्कार फिर भी बच रहता है। चित्तके दो धर्म माने जाते है—प्रत्यय (कारण) और संस्कार। चित्तके निरुद्ध हो जानेपर प्रत्यय नहीं रहता, किन्तु प्रत्यय पुनः उठ सकता है, अतः निश्चित है कि प्रत्ययका संस्कार इस अवस्थामें भी चित्तमें रहता है। पर वैराग्यके बार-बारके अभ्याससे कुछ दिनों बाद उद्बोधक सामग्रीके न मिलनेसे संस्कार समाप्त हो जाते हैं।

असंप्रज्ञात समाधिको कुछ लोग **निर्बीज समाधि** भी कहते है, पर इनमें थोडा अन्तर है। असंप्रज्ञात कैवल्यको सिद्ध करनेवाली समाधि है, जब कि निर्बीज कैवल्यका साधक नहीं भी हो सकती। योगसूत्रके टीकाकार विज्ञानभिक्षुने इस भेदकी ओर ध्यान न देकर इन्हें एक ही माना है। असंप्रज्ञातको **विरोध समाधि** भी कहते है। समाधिके प्रसंगमें धर्ममेघ समाधिका उल्लेख भी आवश्यक है, वैसे इसपर अलगसे विचार किया गया है। —रा० दे० सिं०

समाधि गुण—दे० 'गुण', दसवाँ प्रकार।

समानिका—वर्णिक छन्दोंमे समवृत्तका एक भेद; इस छन्दको 'वाग्वल्लभ'में चामर, 'वाणीभूषण' और 'प्राकृतपैंगलम्'में समानिका नाम दिया है। रगण, जगण और गुरुके योगसे इस छन्दका चरण बनता है (ऽ।ऽ, ।ऽ।, ऽ)। केशवने प्रयोग किया है—"राज मण्डली लसै; देवलोकको हसै" (रा० चं०, २ : ४)। —पु० शु०

समापनवक्रता—दे० 'प्रबंधवक्रता', दूसरा नियामक।

समाप्तपुनरुक्ति—दे० 'शब्द-दोष', आठवाँ 'वाक्य-दोष'।

समालोचना—'समालोचना'का शब्दार्थ है सम्यक् रूपसे देखना—सम+लोच् (लोचृ)+टाप्। साहित्यिक रचनाका भली भाँति परीक्षण, विश्लेषण आदि कर तत्सम्बन्धी स्वसम्मति या निर्णय देना ही समालोचना है। परन्तु आलोचना और समालोचनाका एक ही अर्थमें प्रयोग होता है (दे० 'आलोचना')। —ल० सा० वा०

समासोक्ति—सादृश्यगर्भके गम्यौपम्याश्रय वर्गका विशेषण-वैचित्र्यमूल प्राचीनोंसे स्वीकृत चला आनेवाला अर्थालंकार। शब्दार्थ है थोडेमें बहुत कहना। भामह तथा उद्भटके अनुसार—"समान विशेषणकी सामर्थ्यसे प्रकृतपरक वाक्य द्वारा अप्रकृत अर्थका अभिधान" समासोक्ति है (का० सा०

सं०, २ : १०)। रुय्यक तथा मम्मटकी व्याख्या समान है—"इसमें प्रस्तुतार्थबोधक वाक्यके द्वारा किसी दूसरे अप्रस्तुत अर्थका बोध होता है और यह प्रकृत तथा अप्रकृत दोनों अर्थोंका प्रतिपादन प्रयुक्त विशेष्यवाचक पदकी सामर्थ्यसे न होकर, विशेषणवाचक श्लिष्ट पदोंके महत्त्वसे सम्भव होता है" (का० प्र०, १० : ९७ वृ०)। विश्वनाथ इसी भावको इस रूपमें प्रस्तुत करते हैं—"समान कार्य, लिंग तथा विशेषणोंसे अप्रस्तुत वस्तुका व्यवहार प्रस्तुत वस्तुओंपर आरोपित किया जाना" (सा० द०, १० : ५६-५७)। जयदेव तथा अप्पय दीक्षितने सूक्ष्म रूपमें केवल यह लक्षण दिया है—"परिस्फूर्तिः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य" (चन्द्रालोक, ५ : ६२), अर्थात् प्रस्तुतमें अप्रस्तुतका स्फुरण होना।

हिन्दीके आचार्योंने प्रायः इन्हींका अनुसरण किया है—"अप्रस्तुत जु फुरै सु प्रस्तुत माँहि" (भा० भू०, ९४), अथवा—"जहँ प्रस्तुतमें होत है अप्रस्तुतको ज्ञान" (ल० ल०, १६२)। प्रायः भेदोंका उल्लेख नहीं किया गया है। दास वाचक तथा श्लेष, दो भेदोंका कथन करते हैं (का० नि०, १२)। आधुनिक विवेचकोंमें कन्हैयालाल पोद्दारने विश्वनाथके भेदोंको स्वीकार किया है—विशेषण, लिंग तथा कार्यकी समानता और इन तीनोंमें श्लिष्ट तथा साधारणके भेद। उदा० "विकसित मुख प्राची निरखि रविकरसौं अनुरक्त। पाछेतम दिसि जात ससि, है दुति मलिन विरक्त" (अ० मं०, ३१७)। यहाँ प्रभातके प्रस्तुत वर्णनमें श्लिष्ट विशेषणोंके द्वारा विलासी पुरुषरूप अप्रस्तुतकी प्रतीति भी होती है। अथवा—"सहज सुगन्ध मकरन्द अलि, करत जहँ दिसि गान। देखि उदित रवि कमलिनी, लगी मुदित मुसकान" (अ० मं०, ३२१)। यहाँ प्रस्तुत कमलिनीके वर्णनमें इलेषरहित विशेषणोंसे अप्रस्तुत नायिकाके व्यवहारकी प्रतीति होती है। अथवा—"पीली पड निर्बल कोमल देहलता कुम्हलायी। विवसना लाजमें लपटी साँसोंमें शून्य समायी" (सु० न० प० : का० द०से)। यहाँ लिंगकी समतासे अप्रस्तुत रुग्णा बालाके वर्णनका स्फुरण है। रीतिकालीन आचार्योंके द्वारा प्रस्तुत समासोक्तिके उदाहरण प्रायः अस्पष्ट हैं। इस अलंकारका प्रयोग प्रेमाख्यानक काव्यमें नायिकाके सौन्दर्यवर्णनमें तथा छायावादी काव्यमें प्रकृतिपर मानवीय मधु क्रीडाओंके आरोपमें विशेष रूपसे मिलता है।

आचार्योंने श्लेषके समान समासोक्तिके विषयको दुरूह माना है, क्योंकि यह प्रायः श्लेष तथा एकदेशविवर्तित रूपकके साथ घुल-मिल जाता है। प्रकृत आश्रित या अप्रकृत आश्रित श्लेषमें विशेष्यवाचक पद श्लिष्ट होते हैं। प्रकृत-अप्रकृत उभय आश्रित श्लेषमें प्रस्तुत-अप्रस्तुत दोनों विशेष्योंका भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा कथन किया जाता है। समासोक्तिमें दोनों विशेष्योंका भिन्न-भिन्न शब्दोंसे कथन नहीं होता, केवल प्रस्तुत विशेष्यका ही शब्द द्वारा कथन होता है—समान विशेषणों द्वारा ही अप्रस्तुतका बोध हो जाता है। एकदेशविवर्त रूपकमें प्रस्तुतमें अप्रस्तुतका आरोप किया जाता है, उपमान अपने रूपसे उपमेयको आच्छादित कर लेता है, परन्तु समासोक्तिमें उस रूपका आच्छादन नहीं होता, वरन् प्रस्तुत व्यवहारके द्वारा अप्रस्तुतके व्यवहारकी प्रतीति भर होती है। —र०

समाहारवाद—समाहारका अर्थ होता है समन्वय। परस्पर विरोधी तत्त्वोंको या चीजोंको मिलाना। 'एक्लेक्टिसिज्म' या सब जगहसे थोडा-थोडा मधुकरी वृत्तिसे संग्रह करना, इस हिकारतभरे अर्थमें पश्चिमी आलोचनामें यह शब्द प्रयुक्त होता है। समन्वय या संश्लेषण स्वाभाविक हो तो उचित, वर्ना यह केवल बाह्य रूपमें अनमेलको मिलाना अधिक दिन नहीं चलता। तर्ककी अवस्थामें ऐसे समाहार सम्भवनीय होते है, परन्तु व्यावहारिक या प्रत्यक्ष धरातलपर समाहारवाद एक विचित्र गंठजोडवाली (काम्प्रोमाइजिंग) स्थितिमें हमें डाल देता है। अच्छे अर्थोंमें हमारे यहाँ शैव-वैष्णव, शैव-बौद्ध और हिन्दू-मुसलिम पद्धतियोंका समाहार भी प्राप्त होता है। —प्र० मा०

समाहित—दे० 'रसवत्' आदि।

समीक्षा—समीक्षा अर्थात् अच्छी तरह देखना, जाँच करना—सम्यक् ईक्षा या ईक्षणम्। किसी वस्तु, रचना या विषयके सम्बन्धमें सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना, प्रत्येक तत्त्वका विवेचन करना समीक्षा है। जब साहित्यके सम्बन्धमें उसकी उत्पत्ति, उसके स्वरूप, उसके विविध अंगों, गुण-दोष आदि विभिन्न तत्त्वों और पक्षोंके सम्बन्धमें सम्यक् विवेचन किया जाता है, तो उसे 'साहित्यिक समीक्षा कहते' हैं। साहित्यके विविध तत्त्वों और रूपोंका स्वयं दर्शन कर दूसरोंके लिए उसे द्रष्टव्य बनाना ही समीक्षकका कर्म है। भारतवर्षमें राजशेखरने अपनी 'काव्यमीमांसा'में साहित्य-समीक्षाका सूत्रपात किया था और औचित्यवादियोंने उसे व्यावहारिक रूप प्रदान किया। यूरोपमें ईसा पूर्व पाँचवी शताब्दीसे इस प्रणालीका प्रचार माना जाता है। शास्त्रमें समीक्षाका अर्थ है भाष्यके बीच प्रकृत विषयको छोडकर दूसरे विषयपर विचार करना। यद्यपि कुछ विद्वान् 'चारों ओरसे देखना', 'आलोचना' और 'सम्यक् दृष्टिसे ज्ञान प्राप्त करना' (समीक्षा)में अन्तर उपस्थित करते हैं और 'समीक्षा'को अधिक व्यापक रूप प्रदान करते हैं, तो भी व्यावहारिक रूपमें 'आलोचना' और 'समीक्षा'का प्रयोग लगभग एक ही अर्थमें होता है। 'आलोचना'के अन्तर्गत उन सब बातोंपर विचार किया जाता है, जिनपर 'समीक्षा'के अन्तर्गत किया जाता है (दे० 'आलोचना')। —ल० सा० वा०

समुच्चय—वाक्यन्यायमूल अर्थालंकार, जिसमें किसी कार्यकी सिद्धिके हेतु तुल्य बलवाले अनेक पदार्थोंका समुच्चय होता है। समुच्चयका अर्थ है 'एक साथ इकट्ठा होना।' प्रस्तुत अलंकारकी प्रवृत्ति 'विकल्प'के सर्वथा विपरीत है। उसमें दो तुल्य बलवाले पदार्थोंमें एक ही काल और स्थितिमें विरोध होता है, किन्तु इसमें तुल्य बलवालोंकी एक कालमें एकत्र स्थिति होती है। रुद्रट तथा रुय्यकसे इस अलंकारकी विवेचना निरन्तर होती रही है। रुद्रटने समुच्चयको त्रिविध सत्, असत् तथा सदसत्के योगके अनुसार माना है (काव्यालं०, ७ : १९), अर्थात् कार्यके उत्तम साधनोंका योग, असत् साधनोंका योग तथा सत्, असत् दोनोंका योग। मम्मटके अनुसार—"तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन् यत्रान्यत्तत्करं भवेत्" (का० प्र०, १० : ११६), अर्थात् किसी प्रस्तुत कार्यकी सिद्धिके वर्णनमें एक कारणके रहते अन्य

कारणका समावेश किया जाना। मम्मटने रुद्रटके विभाजनको अपने लक्षणके अन्तर्गत घटित बतलाया है और गुण-क्रियाके योगसे तीन भेदोंका प्रतिपादन किया है—गुणका योग, क्रियाका योग तथा गुण-क्रियाका योग 'सत्वन्यो युगपत् या गुणक्रियाः' (वही)। 'साहित्यदर्पण'के लेखक विश्वनाथने इस मतको स्वीकार किया है।

हिन्दीके आचार्योंने इस अलंकारकी विवेचनामें जयदेव तथा अप्पय दीक्षितसे प्रेरणा प्राप्तकी है। पर ये अपने दृष्टिकोणमें बहुत स्पष्ट नहीं है। संस्कृतके आचार्योंने प्रमुखतः समुच्चयके दो भेद किये है। **प्रथम समुच्चय**—किसी कार्यकी सिद्धिके लिए एक साधनके होनेपर भी अन्य साधनोंका उसी कार्यकी सिद्धिके सहायक तत्त्वके रूपमें कथन किया जाना। हिन्दीके आचार्योंने प्रथम समुच्चयके लक्षण "बहुत भये एक बारगी तिनको गुम्फ जो होय" (ल० ल०, २७७), "एक बार ही जहँ भयो बहु काजनको बंध" (शि० भू०, २५४) आदि दिये है। चिन्तामणिके 'कविकल्पतरु'में "एकसिद्धकर संग मिलि औरौ साधक होय" और दासके 'काव्यनिर्णय'में "एकै करता सिद्धिके औरों होंइ सहाइ" अधिक स्पष्ट लक्षण है। इसके विस्तारकी ओर प्रायः ध्यान नहीं दिया गया। इसी प्रकार **द्वितीय समुच्चय**—गुण या क्रियाका अथवा गुण और क्रिया दोनोंका एक ही कालमें वर्णन अथवा इनकी स्थिति। पर हिन्दीके आचार्योंके लक्षण अधिक स्पष्ट नहीं है—"बहसि बरन बहु हेत जँह एक काजकी सिद्धि" (ल० ल०, २७९), अथवा—"वरतु अनेकनको जहाँ बरनत एकै ठौर" (शि० भू०, २५६) आदि। कन्हैयालाल पोद्दार तथा रामदहिन मिश्र आदि आधुनिक आचार्योंने इस विभाजनको प्रस्तुत किया है।

प्रथम समुच्चयके तीन प्रकार किये गये हैं—(क) **सद्योग**, उत्तम कारणोंके योगका समुच्चय—"तात वचन पुनि मातु हित भाइ भरत अस राउ। मोकहँ दरस तुम्हार प्रभु, सब मम पुन्य प्रभाउ" (रा० च० मा०, २)। इसमें पिता दशरथकी आज्ञा राम-वन-गमनके लिए साधनरूपमें पर्याप्त थी, किन्तु उसकी सिद्धिके लिए कैकेयीकी स्पृहा, भरतकी राज्यप्राप्ति एवं मुनिजनोंके दर्शनरूप उत्तम साधनोंका समुच्चय किया गया है। (ख) **असद्योग**, असत् साधनोंके योगका समुच्चय—"धन जोबन बल अग्यता, मोह मूल इक एक। दास मिलें चारचों तहाँ, पैसें कहाँ विवेक" (का० नि०, १५)। यहाँ धन और यौवन आदि चारोंमें एककी प्राप्ति ही उचित-अनुचितके विवेक-नाशके लिए पर्याप्त है, किन्तु यहाँ चारो असत् साधनोंका समुच्चय किया गया है। (ग) **सदसद्योग**, सत् तथा असत् कारणोंके योगका समुच्चय—"दिनको दुति मंद सु चंद सरोबरको अरबिन्द बिहीन लखावै।···खल राजसभा गत सातहु ये लखि कंटक लौ हियमें चुभि जावैं" (रुय्यकमें अनु० कन्हैयालाल पोद्दार)। इसमें सत् तथा असत् दोनों प्रकारके साधनोंका समुच्चय है।

द्वितीय समुच्चयके तीन प्रकार है—(क) **गुण**, एकसे अधिक गुण (निर्मलता, मधुरता आदि)का समुच्चय—"सुन्दरता, गुरुता, प्रभुता भनि भूषन होत है आदर जामैं" (शि० भू० : २५७)। (ख) **क्रिया**, अनेक क्रियाओंका समुच्चय—"तब ही ते देव देखो देवना-सी हँसति-सी, खीझति सी रीझति-सी रूसति रिसानी-सी (भा० वि०)। (ग) **गुणक्रिया**, अर्थात् दोनोंका एक साथ समुच्चय—"आली तू ही बता दे इस विजय बिना मैं कहाँ आज जाऊँ। दीना हीना अधीना ठहरकर जहाँ शान्ति दूँ और पाऊँ" (सा० : ९), यहाँ दीना, हीना, अधीना आदि गुणों तथा 'दूँ' और 'पाऊँ' आदि क्रियाओंकी एक ही कालमें स्थिति है। —वि० स्ना०

समूहगीत—लोकजीवन प्रारम्भसे सामूहिक रहा है, अतः उत्सव, उल्लास, कार्य-व्यापारमें सामूहिकता सदासे स्पष्ट रही है। साम-गान समूहपरक था। स्तुतियाँ सामूहिक थीं। जिस संस्कृतिकालमें व्यक्ति एक अलग इकाई न होकर समाजका अविच्छिन्न अंग और अंशमात्र था, उस समय ही समूहगीतका उद्भव और विकास हुआ। संस्कारोंके अवसर सामूहिक जीवनकी चेतनाको ही स्पष्ट करते है। जन्म, विवाह आदिके अवसरोंपर ऐसे गीत गाये जाते है। सामाजिक जीवनकी विच्छिन्नताके कारण इन गीतोंकी प्रथा क्रमशः कम होती जा रही है। कर्मकरोंका समूह अपने श्रमको भुलावा देनेके लिए सामूहिक रूपसे गायन करता है, जैसे रोपनीके गीत, बंजारोके गीत, नाविकोंके गीत। इन गीतोंमेंसे कुछमें **वर्गगीत** भी आ जाते हैं, क्योंकि वर्गगत भावनाओं और धारणाओंकी अभिव्यक्ति रहती है। **समूहगीत**में सामूहिक गायन, अर्थात् गायन-पद्धतिपर विचार किया जाता है और **वर्गगीत**में अभिव्यक्ति और विचारधारापर। सामूहिक रूपमें गाये जानेवाले गीत वर्ग-भावनासे युक्त रह सकते है और वर्गगीतका गायक अकेला व्यक्ति भी हो सकता है। लोकगीतोंकी परम्पराको सीमित साहित्यिक रूप देनेका प्रयास प्रगतिवादियोंने किया, क्योंकि मार्क्सके अनुसार दर्शनका प्रयोजन जीवन-पद्धतिका परिवर्तन है। अतः इन कवियोंने वर्गगीतोंकी रचनाके द्वारा भारतीय जनताकी वर्गचेतनाको उभारनेकी चेष्टा की। इस दृष्टिसे **वर्गगीत**के दो वर्ग है—वर्गविशेषकी धारणाको व्यक्त करनेवाले गीत और वर्गचेतनाको उभारनेके लिए लिखे गये गीत। प्रथम कोटिके गीत अनायास और अचेतन भावमें धारणा और भावनाको अभिव्यक्त करते है और दूसरे प्रकारके गीत सायास एवं बौद्धिकतामूलक सिद्धान्तवादी है। प्रथम प्रकारके गीतोंके रचयिता अज्ञात-कुल-शील व्यक्ति थे और दूसरे प्रकारके गीतकार मार्क्सवाद और वर्गसिद्धान्तके सचेष्ट उपदेशक और व्याख्याता है। **चर्चरी**का अर्थ चौराहा है, अतः चौराहोंपर गाये जानेवाले सामूहिक गीतका नाम **चर्चरी** हुआ। होली, फाग आदि उत्सव सम्बन्धी गीत भी समवेत रूपसे गाये जाते है और वे **समूहगीत** है।

समाजगीत भी सामूहिक गीतका एक अंश है। समूहमें सामूहिक गायनकी पद्धतिपर बल है तो समाजगीतमें समूहकी सामाजिक परिणतिकी साकाक्ष अभिव्यक्ति। भारतीय समाज विभिन्न स्तरों, जातियों और सम्प्रदायोंमें विभक्त है। प्रभाती, वैवाहिक गीत आदि शुद्ध सामूहिक गीत है, किन्तु कृषि सम्बन्धी गीतोंमें अधिक

समाजगीत है, क्योंकि इनमें कृषक समाजकी समस्याओं, आशाओं, निराशाओंकी अभिव्यंजना रहती है। विभिन्न जातियोंके सम्बन्धवाले गीत भी समाजगीतके अन्तर्गत आते हैं। इनके अतिरिक्त एक प्रकारके समाजगीत हैं, जो विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायोंमें प्रचलित हैं। **निर्गुन** नामक गीत इसी परम्पराका द्योतक है। **जोगीड़ा** इसी प्रकारका एक गीत-भेद है, जो बादमें चलकर विकृत हो गया। **समूहगीतों**का एक विभेद **उत्सवगीत** है, जिनका सम्बन्ध विशेष उत्सवों और पर्वोंसे है। सामूहिक जीवन और लोकमानसका परिचय इनके द्वारा मिलता है। **होली** इसका अन्यतम उदाहरण है जिसे **फाग** भी कहते हैं। सन्त साहित्यमें इसका नाम **बसन्त** भी है। कबीरने अपनी होलीमें आत्मा-परमात्माकी मिलनोत्कण्ठा और आनन्दका वर्णन किया है। —रा० खे० पा०

समूहवाद—समूहवाद एक प्रकारकी समष्टिवादी विचार-धाराका प्रतीक है। इस विचार-पद्धतिमें व्यक्तिगत जीवनपर सामूहिक नियन्त्रणकी सार्थकता स्वीकार की जाती है। सामूहिक नियन्त्रण कई प्रकारका होता है, क्योंकि व्यक्तिके जीवनका सम्पर्क समाज और समाज-स्थित विभिन्न समूहोंसे होता है। सम्पर्कके इन्हीं माध्यमोंसे सामूहिक नियन्त्रणों-की स्थापना होती है और इन सम्पर्कोंके मूलमें मनुष्यकी सामाजिक भावना निहित है। समूहवाद मनुष्यकी अन्तः-प्रवृत्तियों और इन्हीं अन्तःप्रवृत्तियों द्वारा प्रभावित बौद्धिक संकल्पको ही सामाजिकताका कारण मानता है। अतः समूहवादी सामाजिक और सामूहिक संघटनोंका विश्लेषण करनेके लिए मनुष्यके मनोवैज्ञानिक गठनका भी परीक्षण करते हैं। इसीलिए समूहवादका दार्शनिक आधार समाज-शास्त्रीय मनोविज्ञान, अर्थात् 'सोशल साइकॉलोजी' है।

उपर्युक्त रूपमें समूहवाद बीसवीं शतीका दार्शनिक आन्दोलन है। किन्तु मध्य युगकी समूह व्यवस्था भी एक प्रकारकी समूहवादी स्थिति ही थी। यह दूसरी बात है कि मध्ययुगीन समूह-व्यवस्थाका सैद्धान्तिक आधार मनो-विज्ञान न होकर सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियोंकी अनिवार्यताएँ थीं। मध्य युगमें यूरोपमें समाजवाद सर्वत्र व्याप्त था और इस नाते यूरोपीय संस्कृतिका समूचा रूप ही संघात्मक हो गया। आधुनिक युगमें जब समूहोंकी महत्ताका विश्लेषण प्रारम्भ हुआ तो बहुत-से आधुनिक विचारकोंने अपनी दृष्टि मध्ययुगकी ओर डाली। इस दृष्टिसे आधुनिक युगमें राजनीतिक आन्दोलन भी चलाये गये और इन आन्दोलनोंका ध्येय राज्यकी सम्प्रभुताको विभिन्न धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक समुदायोंमें बाँटनेका था। अतः यह कहना भी सत्य है कि समूहवाद राज्यकी निरंकुशताकी प्रतिक्रिया है।

आधुनिक युगमें समूहवादको मनोवैज्ञानिक आधारपर प्रतिष्ठित करनेका प्रयास किया गया है। मनोवैज्ञानिकोंने समाज और उसके विभिन्न समूहोंके जीवनका परीक्षण आरम्भ किया और इस निष्कर्षपर पहुंचे कि मनुष्यकी विकसित समाजभावनाकी उत्पत्ति सुदूर अतीतमें ही आदिम मानवकी जाति, गोत्र और समूहभावनामें हो गयी थी और प्रागैतिहासिक कालके आदिम मानवोंसे हमारी परम्पराने संस्कारके रूपमें इसे ग्रहण किया है। समयका अन्तराल पाकर ये संस्कार हमारे आन्तरिक जीवनके उस स्तरपर उतर आते हैं, जहाँ वह सहज, नैसर्गिक अन्तःप्रवृत्तियोंका रूप धारण कर लेते हैं। हमारी समाज-भावना इन्हीं आन्तरिक प्रवृत्तियोंसे प्रस्फुटित होती है।

समूहवादने मनुष्यकी अन्तर्हित सामाजिकताका अध्ययन दो दृष्टिकोणोंसे किया है। पहला दृष्टिकोण तो यह है कि समूहवादी मनुष्यके मनोवैज्ञानिक संघटनपर विचार करता है। तत्पश्चात् वह इस निष्कर्षपर पहुँचता है कि समाज-भावना उसकी आन्तरिक प्रवृत्ति है, जिसे उसने आदिम मनुष्यका वंशज होनेके नाते प्राप्त किया है। इस प्रकारके दृष्टिकोणकी रेखाएँ व्यक्तिकी सीमित मनोवैज्ञानिक परिधिमें ही घूमती रहती हैं। आधुनिक युगमें ट्राटर, ग्रैहम वैलेस और मैक्ड्गलने इस दृष्टिकोणको अपनाकर समूहोंकी व्याख्याका प्रयास किया है। ट्राटरके अनुसार मनुष्यमें आत्मरक्षा, प्रजनन और अपने अहम्से स्नेहकी प्रकृति-प्रदत्त भावनाएँ छिपी हैं। ये भावनाएँ मानवको पूर्णतया स्वसीमित बना देतीं, यदि उसके भीतर सामाजिकताकी भावना साथ-ही-साथ न होती। अतः समाजकी उत्पत्तिका कारण मनुष्यका बौद्धिक संकल्प न होकर उसकी नैसर्गिक अन्तःप्रवृत्तियाँ हैं। ग्रैहम वैलेस भी ट्राटरके समान समाज-की उत्पत्तिका तर्क मानवकी अन्तर्निहित प्रवृत्तियोंमें पाता है, किन्तु वह ट्राटरसे एक पग आगे जाकर इन अन्तः-प्रवृत्तियोंपर समाज द्वारा बौद्धिक नियन्त्रणकी माँग प्रस्तुत करता है। मैक्ड्गलकी समाज-व्याख्यामें ट्राटर और वैलेस-से कहीं अधिक मनोवैज्ञानिकताका अंश है। उसके अनु-सार मनुष्यके भीतर ग्यारह अन्तःप्रवृत्तियाँ हैं और इन्हीं-मेंसे कुछ ऐसी भी हैं, जिनसे समाज और समूहोंका जन्म होता है। ट्राटर, ग्रैहम वैलेस और मैक्ड्गलकी व्याख्याएँ व्यष्टिगत मनोविज्ञानके आधारभूत तत्त्वोंका प्रक्षेपण समाज-में करती हैं।

दूसरा दृष्टिकोण यह है कि समूहवादी सर्वप्रथम समूहोंकी स्थिति और संघटनपर विचार करता है। तत्पश्चात् वह इनकी अनिवार्यता सिद्ध करता है। अमेरिकामें आधुनिक कालमें इस विचारधाराका यथेष्ट प्रचलन हुआ है। रासका नाम इस दृष्टिसे उल्लेखनीय है। रास समूहोंके नियन्त्रणको आवश्यक मानता है, किन्तु इस नियन्त्रणकी कल्पना बौद्धिक है।

इस प्रकारसे समूहवाद मनोविज्ञानके क्षेत्रमें नये मनो-वैज्ञानिक दृष्टिकोणकी सर्जना करता है, जिसे समूह-मनो-विज्ञान अथवा 'ग्रूप साइकॉलोजी' कहते हैं।

समूहवादने एक निश्चित प्रकारकी समाजवादी परम्परा-को भी प्रभावित किया है जिसे श्रेणी-संघ-समाजवाद अथवा 'गिल्ट सोशलिज्म' कहते हैं। श्रेणी-संघ-समाजवाद समाज-वाद और मध्ययुगीन समूह-व्यवस्थासे प्रभावित हुआ है। समाजवादसे प्रभावित होनेके नाते यह उत्पादनके साधनों-पर सामूहिक नियन्त्रणकी माँग करता है और समाजको आर्थिक वर्गोंमें न विभाजित कर समूहोंमें विभाजित करता है। इस दृष्टिसे मध्ययुगकी समूह-व्यवस्थाने श्रेणी-संघ-समाजवादको प्रभावित किया है। जीवनमें नाना प्रकारके

कर्म है और इन्हीं कर्मोंको लेकर समाजमें विभिन्न समुदायों-की रचना की गयी है। श्रेणी-संघ-समाजवाद समाजकी सम्पूर्ण सत्ता राज्यके हाथोंसे छीनकर इन्हीं धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक समुदायोंको हस्तान्तरित करता है। बीसवीं शतीके प्रारम्भमें यह समाजवाद इंग्लैण्डमें राजनीतिक आन्दोलनके रूपमें विकसित हुआ, परन्तु राजनीतिक परिस्थितियोंकी कठोरताने बहुत ही अल्प कालमें इसकी शक्ति क्षीण कर दी। इस आन्दोलनके प्रतिनिधियोंके रूपमें जी० डी० एच० कोल और हॉब्सन्के नाम उल्लेखनीय है।

समूहवाद अपने विभिन्न रूपोंमें समष्टिकी अनिवार्यतापर इतना अधिक बल देता है कि उसकी पद्धतिमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रताको सामाजिक जीवनमें कोई स्थान प्राप्त नहीं होता। राज्यकी निरंकुशतापर जब कहीं भी इसने कठोर प्रहार किया है तो उसके स्थानपर इसने समूहकी निरंकुशताको स्थापित करनेका प्रयास किया है। ऐसी स्थितिमें समूहवाद जीवनका एकांगी दर्शन है। समग्र जीवनका सफल दर्शन प्रस्तुत करनेके लिए समूहवादको व्यष्टि और समष्टिके सम्बन्धोंको नये प्रतिमानोंकी शृंखलामें जोड़नेका प्रयास करना पड़ेगा, इस ऐतिहासिक सत्यमें कम-से-कम आज कोई सन्देह नहीं।

[सहायक ग्रन्थ—मॉडर्न पोलिटिकल थ्योरी : सी० ई० एम० जोड।] —रा० कु० त्रि०

सरमायादार–इसका फ्रेंच पर्याय बूर्जुआ है। हर एक धनी व्यक्ति सरमायादार नहीं हो सकता। केवल वही व्यक्ति सरमायादार है, जो अपने धनको पूँजीमें परिणत कर व्यापारमें लगाता है। —रा० कु० त्रि०

सरस साहित्य–सरस साहित्य सामान्यतः ललित साहित्यका पर्यायवाची है और कथा, नाटक, काव्य आदिके लिए ही उसका प्रयोग होता है। परन्तु अन्तर यह है कि उसमें काव्यकी आत्मा 'रस'की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है, भाषालालित्यकी ओर उतना नहीं। जिन रचनाओंमें बौद्धिक उत्कर्ष या विचारोंका ऊहापोह है, उन्हें प्रायः सरस साहित्य नहीं कहा जाता। इस प्रकार 'सरस साहित्य'की सीमा 'ललित साहित्य'की सीमासे कम हो जाती है। परन्तु यहाँ 'सरस' शब्दमें जिस 'रस' शब्दकी प्रतिष्ठा है, वह शास्त्रीय अथवा लोकोत्तर संवेदनासे कुछ भिन्न स्तरकी वस्तु है। इसलिए मनोरंजन अथवा सहृदयतापूर्ण रचनाओंको भी सरस कहा जाता है। प्रेमके उभय पक्षोंके चित्रणसे लोकप्रिय प्रेम-रोमांसकी सृष्टि होती है जो 'सरस साहित्य'के अन्तर्गत आती है। वास्तवमें साहित्यकी परिपूर्णता उसकी सरसतामें है और शब्दार्थके जिस सहभावकी कल्पना साहित्यमें है, उसमें रमणीयता और सरसताका समावेश अनिवार्य है। पश्चिमी वैज्ञानिक विवेचन-शास्त्रको तर्कबद्ध और प्रमाणशुद्ध ही मानता है। अतः पश्चिमी दृष्टि काव्य और शास्त्र अथवा सरस और गम्भीर (अतः 'उपयोगी') साहित्यको दो विरोधी सरणियाँ मानकर चलती है।

वास्तवमें सरस साहित्य और उपयोगी साहित्यमें मुख्य अन्तर अभिव्यंजनाका है। शास्त्रज्ञ और तत्त्वज्ञका आग्रह विशुद्ध सत्यके प्रति है, अतः वह तथ्यको ही प्रधानता देता है। कहीं-कहीं अपने तथ्यको सुस्पष्ट और प्रभावशाली बनानेके लिए वह उदाहरण, उपमा आदि अलंकारोंसे भी काम अवश्य ले लेता है, परन्तु अलंकृतिकी ओर उसकी दृष्टि नहीं होती। वह सोलह आने सत्यका उपासक है। परन्तु उपन्यासकार, नाटककार और काव्यप्रणेता किसी भी निरपेक्ष सत्यका दावा नहीं करते। वे अपनी अनुभूतिको वाचकोंतक पहुँचाना चाहते हैं। अनुभूति स्वयं रसात्मक वस्तु है और उसे प्रस्तुत करते समय मानसके कोमल उपकरणोंसे भी सहायता लेना आवश्यक हो जाता है। फलस्वरूप, वाचक तथ्यसे कुछ अधिक प्राप्त करता है। वह रसिक बन जाता है और रसग्रहणके द्वारा लेखककी अन्यतम संवेदनासे तादात्म्य स्थापित करता है। कल्पना और भावोद्रेक द्वारा स्वप्नलोकका निर्माण सरस साहित्यकी विशेषता है (दे० 'ललित साहित्य')। —रा० भ०

सरसी–मात्रिक सम छन्दोंका एक भेद। भिखारीदासने इस २७ मात्राके चरणवाले छन्दको हरिपद कहा है। उनके द्वारा प्रस्तुत उदाहरणमें चरणके अन्तमें ग-ल (ऽ।) भी है—"अजौ न कछू नसान्यौ मूरख, कह्यो हमारी मानि" (छन्दो०, पृ० ३२)। भानु द्वारा इसका यही लक्षण प्रस्तुत किया गया है, १६, ११, अन्तमें ऽ। (छं० प्र०, पृ० ६६)। हिन्दीकी पदशैलीका यह सर्वप्रचलित छन्द माना जा सकता है। इसका प्रयोग सूर, तुलसी, मीराँ तथा नन्ददास आदिने पदशैलीके अन्तर्गत किया है। केशव आदि कुछ अन्य कवियोंने मुक्त रूपमें भी प्रयुक्त किया है। सूरने 'सूरसागर'में और तुलसीने 'विनय-पत्रिका', 'गीतावली' तथा 'कृष्णगीतावली'में गम्भीर भावाभिव्यक्तिके क्षणोंमें इस छन्दके पदोंका प्रयोग किया है। इसके साथ निकटता और समानताके कारण विष्णुपद तथा सार छन्दोंको मिला दिया गया है—"सुनु कपि अपने प्रानको पहरो, कब लगि देति रहौं ? वे अति चपल चल्यो चाहत है, करत न कछू विचार"—(सू० सा०, स० सं०, पद ५३६)। इसके प्रथम चरणके अन्तमें ल-ग (।ऽ) होनेसे सरसी है। शुद्ध सरसीका प्रयोग भी व्यापक रूपसे इन कवियोंमें मिलता है—"इत राधिका सहित चन्द्रावली, ललिता घोष अपार"—(सू० सा० : वें० प्रे०, पृ० ४४५) तथा—"विषय बारि मन मीन भिन्न नहिं, होत कबहुँ पल एक"—(वि० प०, पद १०२)। भानुके अनुसार होलीके अवसरपर कबीरकी बानीके उलटे अर्थवाले जो कबीर कहे जाते है। वे प्रायः इसी शैलीमें होते हैं।

सरस्वती–दे० 'हठयोग'।

सर्पिणी–दे० 'हठयोग'।

सर्वशून्य–दे० 'शून्य', 'चक्र' तथा 'उष्णीश कमल'।

सर्वश्राव्य–रंगमंचपर अभिनय करनेवाले पात्रोंके संवादके विचारसे 'कथावस्तु'के तीन भेद किये गये है—'सर्वश्राव्य', 'नियतश्राव्य' और 'अश्राव्य'। किसी पात्रके वार्तालापको यदि रंगमंचपर उपस्थित सभी पात्र सुन सकें तो वह 'सर्वश्राव्य' (सबके सुनने लायक) है। सर्वश्राव्यको 'प्रकाश' भी कहते है। —ब० सिं०

सर्वात्मवाद–हिन्दीमें सर्वात्मवादका प्रयोग निम्नलिखित

तीन अर्थोंमें होता है—(क) कुछ लोग सर्वेश्वरवाद-(pan-theism)के अर्थमें सर्वात्मवादका प्रयोग करते हैं, जैसे रामचन्द्र शुक्ल और श्यामसुन्दर दासने क्रमशः जायसी और कबीरके प्रसंगमें किया है। यह सर्वात्मवादका सर्वथा दूषित प्रयोग है। ईश्वर और आत्माके प्रत्ययोंमें महान् अन्तर है। ईश्वर ईशन या शासन करता है, आत्मासे यह अर्थ कथमपि नहीं लिया जा सकता। अंग्रेजी शब्द 'पैन्थीज्म'के लिए सर्वेश्वरवाद (दे०) उपयुक्त शब्द है, सर्वात्मवाद नहीं। (ख) भारतीय दर्शनमें शंकराचार्यके अद्वैतवाद(दे०)के अर्थमें भी सर्वात्मवादका प्रयोग होता है, क्योंकि उनके अनुसार 'आत्मैवेदं सर्वम्' आत्मा ही यह सब कुछ है। बिना आत्माके किसी वस्तुका ग्रहण नहीं हो सकता है, अतः आत्मा ही सब कुछ है—"आत्म-व्यतिरेकेण अग्रहणात् आत्मैवसर्वम्"। यहाँ आत्मा ही एक और अद्वितीय सत् है, अन्य कुछ जो आत्मासे भिन्न है, वस्तुतः मिथ्या है। आत्मपूर्वक सब कुछको समझनेपर 'सब कुछ' आत्मा ही प्रतीत होगा। अतः यह सर्व और आत्माका तत्त्ववादके अनुसार अभिन्न अर्थ है। यह सर्वात्म-वादका भारतीय अर्थ है। नया गढ़ा हुआ शब्द नहीं है। हिन्दी साहित्यमें सर्वात्मवादका यह अर्थ प्रायः नहीं किया जाता। (ग) हिन्दीमें सर्वात्मवाद एक नया तथा गढ़ा हुआ शब्द समझा जाता है। इसका वही अर्थ लिया जाता है, जो अंग्रेजी शब्द पैनसाइकिज्म (pan-psychism)का है। 'पैनसाइकिज्म'के अनुसार समस्त विश्व चेतनप्राणियोंसे ही बना है। सभी चेतनप्राणी मनुष्य जैसे ही हैं। अचेतन कोई वस्तु नहीं है। तथाकथित जड़ वस्तुतः चैतन्यवान् प्राणी है, पर उसकी चेतनता सुप्तावस्थामें है। यूरोपमें लाइबनीजका दर्शन इस वादका प्रमुख उदाहरण है। भारतमें ऐसा दर्शन कभी विकसित नहीं हुआ।

भारतीय दर्शनके सर्वात्मवादसे लाइबनीजके दर्शनको पृथक् रखनेके लिए दूसरेको सर्वात्मवाद न कहकर सर्व-जीववाद या सर्वचेतनवाद कहना अधिक उपयुक्त है।

सर्वजीववाद और सर्वात्मवादका अन्तर समझ लेना आवश्यक है। पहलेमें जड़ वस्तु मिथ्या नहीं है, दूसरेमें है। पहलेमें जड़ वस्तु सुप्त जीव या चेतनप्राणी है, दूसरेमें वह मिथ्या है। पहलेमें चेतनप्राणी या जीव अनेक हैं, दूसरेमें आत्मा एक और अद्वितीय है। इस प्रकार सर्व-जीववाद वैपुल्यवाद है तो सर्वात्मवाद अद्वैतवाद। सर्वात्म-वादकी आत्माका प्रत्ययन भी सर्वजीववादके जीव या चेतन प्राणीकी चेतनतासे भिन्न है। पहलेमें आत्मा 'नेति-नेति' या 'सत् चित् आनन्द' है, तो दूसरेमें चेतनता केवल ज्ञान, भाव और इच्छा प्राप्त करनेवाली है। आत्मा ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता नहीं है, सर्वजीववाद या जीव ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता है।

हिन्दीके सन्त-साहित्यमें शंकराचार्यके दर्शनके अर्थमें सर्वात्मवादका प्रचुर प्रयोग है, पर उसमें सर्वेश्वरवाद और सर्वात्मवादको पृथक करना कठिन है। विशुद्ध सर्वात्मवाद प्रौढ़ दार्शनिकोंकी ही कृतियोंमें पाया जाता है। हिन्दी दर्शनके सम्राट् निश्चलदासके 'विचार-सागर' और 'वृत्ति-प्रभाकर'में सर्वात्मवाद उसी अर्थमें सिद्ध किया गया है, जिस अर्थमें वह अद्वैतवेदान्तके ग्रन्थोंमें है। —सं०ला०पा०

सर्वेश्वरवाद—'सब कुछ जो है ईश्वर है, और ईश्वर सब कुछ है,' इस सिद्धान्तको सर्वेश्वरवाद कहते हैं। संक्षेपमें सबका अर्थ जगत् है। इसलिए सर्वेश्वरवादका अर्थ हुआ कि जगत् ईश्वर है और ईश्वर जगत् है। ईश्वर और जगत्में अभेद है।

जगत् ईश्वरमें है या जगत् ईश्वरसे उत्पन्न है, इन सिद्धान्तोंको सर्वेश्वरवाद नहीं कहा जा सकता। जगत् ईश्वरमें है, इसे सर्वोर्ध्वेश्वरवाद कहा जाता है, क्योंकि इसमें ईश्वर जगत् या सर्वसे परे अर्थात् ऊर्ध्व है। जगत् ईश्वरसे उत्पन्न है; इस सिद्धान्तको ईश्वरवाद या ईश्वर-सृष्टिवाद कहा जाता है। सर्वेश्वरवादके अनुसार जगत् ईश्वरकी सृष्टि नहीं है, जगत् स्वयमेव साक्षात् ईश्वर है। सर्वेश्वरवाद अनिवार्यतः असृष्टिवाद है। गौडपादाचार्यकी भाषामें यह अजातिवाद है। सूफीमतमें सर्वेश्वरवादको 'हम्मा ओस्त', अर्थात् 'सब ईश्वर है' कहते हैं और ईश्वर-सृष्टिवाद या ईश्वरवादको 'सब ईश्वरसे है', 'हम्मा अज ओस्त' कहते हैं।

सर्वेश्वरवाद अद्वैतवाद है, न कि द्वैतवाद या वैपुल्यवाद। इसके अनुसार ईश्वर ही एक और अद्वितीय तत्त्व है और अन्य जो कुछ है, वह ईश्वरका आभास या पक्ष या क्षण है। ईश्वर भी अकेला ही है, बहुतसे ईश्वर नहीं हैं। सर्वेश्वरवाद सर्वात्मवाद (दे०)से भिन्न है। सर्वात्मवादका अर्थ है कि जो कुछ सत् है, वह आत्मा है और ऐसी आत्माएँ अनन्त हैं, जगत्का अन्तर्भाव इन्हीं आत्माओंमें होता है। यूरोपमें लाइबनीज सर्वात्मवादका प्रधान समर्थक था। भारतमें सर्वात्मवादका समर्थन मुख्यतः किसी दार्श-निकने नहीं किया है, शुद्धाद्वैतवाद (दे०) यद्यपि बहुत-कुछ सर्वात्मवादके समीप है।

सर्वेश्वरवाद एकेश्वरवाद और बहुदेववाद, दोनोंसे भिन्न है। एकेश्वरवादमें ईश्वरको शरीरी या सगुण माना जाता है तो सर्वेश्वरवादमें अशरीरी और निर्गुण। एकेश्वरवादमें प्रार्थना और उपासनाका विधान होता है, सर्वेश्वरवादमें इसकी आवश्यकता नहीं। बहुदेववादमें बहुतसे देवी-देवताओंकी मान्यता रहती है तो सर्वेश्वरवादमें सिर्फ एक ही ईश्वरकी। पर यह ईश्वर अन्य सभीमें विद्यमान रहता है, इसलिए कहा जाता है कि सर्वेश्वरवाद बहुदेववादका औचित्य स्थापित करता है। जब सभी चीजें ईश्वर हैं, प्रस्तर, काष्ठ, जीव-जन्तु आदि, तो सर्वेश्वरवादमें बहुदेववादकी कुछ मान्यता हो जाती है। वस्तुतः सर्वेश्वरवाद एकेश्वरवाद और बहुदेववाद, इन दोनों वाद-प्रतिवादका समन्वय करता है, यह दोनोंका समन्वय या संवाद है। पर दोनोंसे भिन्न भी है, क्योंकि यहाँ 'सर्व'का अर्थ बहुदेववादके बहुत्वका अर्थ नहीं है और न यहाँ ईश्वरका ही अर्थ एकेश्वरवादका ईश्वर है।

सर्वेश्वरवादियोंको प्रायः निरीश्वरवादी कहा जाता है, यद्यपि यह कथन सावद्य है। पर चूँकि सर्वेश्वरवादी किसी धर्मविशेषके ईश्वरको नहीं मानता और उसका ईश्वर जगत् है, इसलिए निरीश्वरवादी कहनेमें कुछ सार्थकता भी है। यह स्पष्ट कर देता है कि सर्वेश्वरवादी ईश्वरवादी नहीं है।

परिणामवाद और स्पिनोजाने अपने अनन्त धर्म-समन्वित द्रव्यका सिद्धान्त निकाला।

पर यहाँ जगत् या सर्वका मतलब दृश्यमान वस्तुएँ नहीं है! दृश्यमान वस्तुएँ तो प्रत्यक्षीकृत है। इनके अन्तरालमे इनका सच्चा स्वरूप मिलता है। इनका अन्तर्यामी जो है, वही सब-कुछ है। इसलिए सर्वेश्वरवादमें जगत् या सर्वका मतलब भौतिक वस्तुजात नही है, वरन् उनके आभ्यन्तरमे विद्यमान रहनेवाला ईश्वर है। 'सब' और 'ईश्वर' दो वस्तुएँ नही है, जिनका वादमे भेद स्थापित किया जाता है। 'सब' और 'ईश्वर' सदा एक ही वस्तु है, उनका द्विविध ढंगसे अभिधान केवल समझने और समझानेके लिए है। ईश्वरको प्रकृति या जगत्तक उतारा नही जाता है, वरन् प्रकृति या जगत्को ईश्वरतक उठाया जाता है। इससे सर्वेश्वरवाद भौतिकवादसे कोसों दूर रहता है।

सर्वेश्वरवादका अनिवार्य सम्बन्ध रहस्यवादसे नही है। स्पिनोजा, हीगेल और शंकराचार्यके दर्शन इसके प्रमाण है। इन लोगोंने सर्वेश्वरवादको बौद्धिक ठहराया है, पर सर्वेश्वरवाद रहस्यवाद भी हो सकता है, जैसे, इब्नुल अरबी तथा अन्य सूफियोंमे है। पर यह कोई नियम नही है कि हर प्रकारका रहस्यवाद सर्वेश्वरवाद होगा। रहस्यवाद ईश्वरवाद या एकेश्वरवादके माध्यमसे भी हो सकता है। इससे सिद्ध है कि ईश्वरवादको रहस्यवादसे भिन्न समझना चाहिये।

निर्गुणोपासक सन्तोमे कबीरसे लेकर स्वामी रामतीर्थतक जो निर्गुणसन्तोंकी परम्परा चली, उसमे सर्वेश्वरवादका पूर्ण निरूपण मिलता है। कबीरने सर्वेश्वरवादकी स्थापना करते हुए कहा—"खालिक खलक खलकमें खालिक सब घट रह्यो समायी"। परमेश्वर ही सर्वत्र है। वही सर्वत्र खेल रहा है—"इसमे आप आप सबहिनमे आप आपसूँ खेले। नाना भाँति घड़े सब भाँडे रूप धरे धरि मेलै" (कबीर)।

इस सर्वेश्वरका खण्डन असम्भव है। इसका प्रतिपादन रैदासने अच्छे शब्दोंमें किया—"अबरन बरन कहै जनि कोई। घट-घट व्यापि रह्यो हरि सोई।"

फिर सर्वेश्वर कैसे शिव-अशिव, धर्म-अधर्म, बन्ध-मोक्ष, जन्म-मरण, भव-नाश, ज्ञेय-ज्ञान, दृष्टि-अदृष्टि, सेवक-स्वामी आदि द्वन्द्वोंसे मुक्त है? इसकी सुन्दर अभिव्यक्ति रैदासने की—"है सब आतम सुख परकास साँचों। आदि मध्य औमान एक रस, तार बन्यो हो भाई। थावर जंगम कीट पतंगा, पूरि रह्यो हरिराई॥ सर्वेश्वर सर्बांगी सब गति, करता हरता सोई। सिव न असिव न साध अस सेवक, उनै भाव नहीं होई। धरम अधरम मोच्छ नहिं बन्धन, जरा मरन भव नासा। दृष्टि-अदृष्टि गेय अरु ज्ञाना, एकमेक रैदासा।"

परमात्माकी ऐसी सर्वव्यापकता होनेके कारण ही निर्गुणियोंने मन्दिर-मस्जिद-गमन, बाह्य पूजन, षोडशोपचार पूजन, तीर्थाटन, मूर्तिपूजा आदिको व्यर्थ बतलाया और मानस पूजापर अधिक बल दिया। इसीके कारण उन्होंने जाति-पाँतिकी व्यवस्थाकी निन्दा की, विश्वबन्धुत्वके सिद्धान्तको मान्यता दी और हिन्दू-मुसलिम एकतापर जोर दिया। सर्वत्र परमात्मा है, सत्ता केवल उसी की है—"जहँ देखौ तहँ एक दीदार" (कबीर)। नानकने भी इसीका समर्थन किया—"गुरु परसादी दुरमति खोयी, जहँ देखा तहँ एको सोई"।

दादूने बड़े सुन्दर ढंगसे कहा कि परमात्माने कोई ऐसा पात्र नही बनाया है, जिसमे सारा समुद्र भर जाय और पात्र खाली ही रह जाय—"चिड़ी चोंचभर ले गयी नीर निघट न जाइ। ऐसा बासण ना किया सब दरिया माँहि समाइ"।

प्रत्येक वस्तु पूर्ण रूपसे ईश्वरमे व्याप्त है। एक वस्तुमें ईश्वरकी व्याप्ति होना, दूसरी वस्तुमे उसकी व्याप्तिको कम नही करता। ईश्वर सर्वत्र, सबमे पूर्णतया एकरस व्याप्त है।

यह सर्वेश्वर उस अर्थमे 'है' नहीं, जिस अर्थमे भौतिक-पदार्थ है और जिस अर्थमे यह 'है', उस अर्थमे भौतिक-पदार्थ नहीं है। इसीलिए सुन्दरदास कहते है कि परमात्मा है भी और नही भी है। बल्कि उसको 'है' और 'नहीं', इन दोनोंके बीच देखना चाहिये—"**नाहीं नाहीं** कर कहै **है है** कहै बखानि, **नाहीं है**के मध्य है, सो अनुभव करि जानि"। इसी समस्याको हल करनेके लिए सहजोबाईने उसे भाव और अभाव, है और नहीं, इस द्वन्द्वसे भी मुक्त किया—"**हैं नाहीं** सूँ रहित है, सहजो यों भगवन्त"।

पर वस्तुतः सर्वेश्वरको ही सत् मान लेनेपर अन्य सब-कुछको नास्ति मानना पड़ता है। सर्वेश्वरका अस्तित्व है तो सही, पर बड़ा विचित्र है, वर्णनातीत है। इसीलिए सुन्दरदासने कहा—"जोई कहूँ सोइ, है नहिं सुन्दर, है तो सही पर जैसेको तैसो"। उसको एक भी नही कहा जा सकता। वह एक-अनेकके द्वन्द्वसे भी रहित है। कबीरने ठीक ही कहा—"एक कहूँ तो है नही कोय, दोय कहूँ तो गारि। है जैसा तैसा रहै, कहै कबीर बिचारि"। फिर भी उसीको एकमात्र सत मान लेनेपर उसको एक कहना पड़ता है। भीखा इसीलिए 'एक'से उसे व्यक्त करते है—"भीखा केवल एक है, किरतिम भया अनन्त। एकै आतम सकल घट, यह गति जानहिं सन्त"। दादूने सर्वत्र इसीको देखा—"दादू देखौ दयालको, बाहरि भीतरि सोइ। सब दिसि देखौ पीवको, दूसर नाही होइ"।

जबतक 'मैं', 'ममता', 'आपा', अपना व्यक्तित्व है, तबतक इस सर्वेश्वरका ज्ञान दूर है। उसके ज्ञानपर अपना व्यक्तित्व क्षीण हो जाता है। इस सम्बन्धको व्यक्त करनेवाले अनेक पद निर्गुणियोंने कहे हैं, जिससे प्रकट है कि व्यक्तित्वसे सर्वेश्वरवादका विरोध है अथवा व्यक्तित्व केवल एक ईश्वरका ही है और सब उस सर्वांगीके अंगमात्र हैं। इसीको अंशांशिभाव या अंगांगिभाव कहा जाता है। पर प्रायः अधिकांश निर्गुणियोंने इस सम्बन्धको अंगांगिभाव न मानकर प्रत्येक वस्तुका परमात्माके साथ अद्वैतभाव माना है। इस दृष्टिसे इन सन्तोंमें दो प्रकारका सर्वेश्वरवाद मिलता है—एक अद्वैत सर्वेश्वरवाद और दूसरा, सर्वांगी सर्वेश्वरवाद। कबीर, दादू और उनके अनुयायियोंका मत प्रथम है। नानक और शिवदयाल तथा उनके अनुयायियोंका मत दूसरा है।

सर्वेश्वरपर दृष्टि रहनेसे इन सन्तोंने जगत् और जीवको 'माया', 'अनित्य', 'क्षणभंगुर' आदि भी कहा है। यह

मायावाद सर्वेश्वरवादका पूरक सिद्धान्त है।

सगुणसन्तोंमें ईश्वरको परात्पर या सर्वातीत मानते हुए उसे सर्वव्यापी या विश्वरूप कहना निर्गुणियोंका मुख्य विषय है। सगुणियोंका मुख्य सिद्धान्त ईश्वरको सर्वव्यापी दिखलाते हुए उसे परात्परसे अधिक अन्तर्यामी कहना है। दोनों सर्वेश्वरवाद हैं, एकमे बहिर्यामीका विशेष वर्णन रहता है, तो दूसरेमें अन्तर्यामीका। बहिर्यामी होता हुआ भी निर्गुणियोका ईश्वर सर्वव्यापी इसलिए है कि वस्तुतः वही एक है और जिनसे वह अतीत है, वे सभी 'नहीं' है।

ईश्वरको अन्तर्यामी ही अधिक माननेसे तुलसीदासने कहा—"व्यापक विश्वरूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना"। वस्तुतः सभी जीव और वस्तुएँ ईश्वरका अवतार हैं। पर प्रधानतः अवतार हम उन्हींको कह देते हैं, जिनके जीवनमें ईश्वरत्वकी अधिक अभिव्यक्ति जागरूक हो जाती है, वैसे यह सर्वत्र जागरूक नही है। इस दृष्टिसे जहाँ निर्गुणियोने सर्वेश्वरवादसे अवतारवादका विरोध देखा, वहाँ सगुणियोंने अवतारवादका मेल सर्वेश्वरवादसे बैठा दिया। सबको सीताराममय देखकर तुलसीदास सबकी वन्दना भी करते है—"सीयराममय सब जग जानी। करहुँ प्रनाम जोरि जुग पानी"।

फिर जब तुलसीदास अगुण और सगुणसे ऊपर नामको स्थापित करते है और इसे सगुण अधिक ठहराते है, तो वे सर्वेश्वरवादका ही संकेत करते है। सर्वेश्वरवादमे ईश्वरका शरीर सब-कुछ है, यद्यपि वह निराकार है। पर यदि सब वस्तुएँ न रहें, तो वह सर्वेश्वर कैसे हो सकता है? इससे साकारत्व और निराकारत्व, दोनोका समन्वय सर्वेश्वरवादके अंगांगिभाववाले भेदमे करते हुए नामके सिद्धान्तकी स्थापना होती है।

मीराँ तो प्रह्लादकी तरह सब जगह ईश्वरको विद्यमान मानते हुए विश्वास भी करती है कि साकार होकर भगवान् भक्तकी मदद करता है। यह जीता-जागता सर्वेश्वरवाद मीराँको स्वयं अनुभूत हुआ था, ऐसा उनकी पदावलियोंसे ज्ञात होता है। विषके प्यालेका अमृत हो जाना, वस्तुओके ईश्वरीय रूपका ही प्रतीक है। इसलिए मीराँ कहती है— "जहँ जहँ देखूँ म्हारो राम, तहँ सेवा करूँ"।

ऐसे सर्वेश्वरवादसे अभय और सेवाभाव जागरित होते है। जब सब-कुछ ईश्वर ही है, तो फिर किसकी सेवा न की जाय? फिर किससे डरा जाय? पर ऐसी दृष्टि सबकी नही हो सकती। यह ब्रह्मदृष्टि है और लौकिक दृष्टिसे, नानात्वकी दृष्टिसे भिन्न है।

मीराँकी भाँति सूरदासकी गोपियाँ हैं, जो सदा भगवान् श्यामके ही रंगसे रँगी है, सर्वत्र उन्हें कृष्णका ही दर्शन होता है। नारदको भी जब आश्चर्य हुआ कि कृष्ण कैसे सब गोपियोंके संग रहते है, तो उन्होंने इसकी परीक्षा ली। जहाँ-जहाँ नारद जाते है, वहाँ-वहाँ कृष्ण किसी-न-किसी गोपीके संग लीला करते हुए मिलते हैं। इससे नारदकी शंका मिट जाती है और वे कृष्णको सर्वेश्वर स्वीकार कर लेते हैं। 'सूरसागर'में इस सर्वेश्वरवादकी सुन्दर अभिव्यक्ति है। यहाँ भी सर्वेश्वरवाद और अवतारवादका समन्वय है। सर्वेश्वरवादी गोपियाँ कृष्णके रूपको देखनेके लिए ही उद्धवसे तर्क-वितर्क करती है।

सूफी कवियोंमें पैगम्बरी एकेश्वरवादके स्थानपर हिन्दीके मुसलमान सूफी कवियोंने भी सर्वेश्वरवादको स्वीकार किया। इनके सर्वेश्वरवादमें कविकी भावुकता और रहस्यवादीकी अनुभूति, दोनोंका सम्मिश्रण है। इन लोगोंने ईश्वरदृष्टिसे विमुख होनेवालोंकी दशाका नाम वियोग दिया और जिनकी सदा ईश्वरदृष्टि सर्वत्र रहती है, उनकी दशाको संयोग कहा है। इन कवियोंने प्रेमको ही ईश्वर-प्राप्तिका उपाय बताया है। यह प्रेम किसी धर्म-साधनासे सम्बन्धित नही। शरीअत या वैधी भक्तिसे भिन्न यह तरीकात या सहज प्रेम है। सांसारिक वस्तुओं और जीवोंके प्रति प्रेम रखना इसी प्रेमका प्रतीक है। पर यदि ईश्वरप्रेम नही है, तो फिर अन्य प्रेममें अस्थिरताकी सम्भावना रहती है।

सूफियोंने ईश्वरको ही सर्वत्र जड़ तथा चेतनमें देखा। जायसीने अपनी ईश्वरदृष्टिका 'पद्मावत'में इस प्रकार वर्णन किया है—"आपुहि आपु जो देखै चहा। आपुनि प्रभुता आपु से कहा॥ सबै जगत दरपन कै लेखा। आपुहि दरपन, आपुहि देखा॥ आपुहि बन औ आपु पखेरू। आपुहि सौजा आपु अहेरू॥ आपुहि पुहुप फूलि बन फूलै। आपुहि भँवर बास रस भूलै॥ आपुहि घट घट महँ मुख चाहै। आपुहि आपन रूप सराहै"। जायसीने जगत्को दर्पण मानकर उसमें ईश्वरकी परछाईं ही सर्वत्र देखी, ईश्वर ही जगत् है, वही दर्पण है, वही अपनेमे अपना प्रतिबिम्ब देखता है; 'आपुहि दरपन, आपुहि देखा'से यह स्पष्ट है।

सूफियोंका सर्वेश्वरवाद दार्शनिक न होकर भावात्मक और रहस्यात्मक है। इस कारण जहाँ एक ओर उन्होने सर्वेश्वरवादका प्रतिपादन किया, वहाँ दूसरी ओर उन्होंने सृष्टिवादका आख्यान किया। यह विरोध है, जो सिद्ध करता है कि उनका सर्वेश्वरवाद रहस्यवाद था या कल्पनाजगत्की भावनामात्र था। काल्पनिक और भावात्मक होनेके कारण उसमे काव्यत्व और रहस्यात्मक होनेके कारण उसमे साधनाके विविध सोपान है। लगता है कि सूफियोंने सर्वेश्वरवादको अपनी साधनाके अन्तिम सोपानमें ही माना था, जिसमे लाहूत और नासूतकी अद्वैतभावनाकी अनुभूति होती है।

सर्वेश्वरवादके प्रति अनेक आपत्तियाँ प्रस्तुत की जाती हैं—(क) इसमें व्यक्तिवादका कुछ भी स्थान नही है। मानव-व्यक्तित्व वस्तुतः असत् है। सिर्फ एक ईश्वर ही सर्वत्र रहता है, सभी जीव असत् है। यह अनुभवके विपरीत है। (ख) जगत्का भी इसमे कुछ अस्तित्व नहीं है। इसमे जगत्को माया या मिथ्या कहा जाता है। यह जगत्की वैज्ञानिक व्याख्या नही है। जगत्की वैज्ञानिक, विकासवादी व्याख्याका सर्वेश्वरवादसे विरोध है। (ग) नीतिकी दृष्टिसे सर्वेश्वरवाद नैतिकता, मानव-स्वतन्त्रता, कर्मविपाक, सबका अपलाप करता है। इसमें धर्म-अधर्म, शुभ-अशुभ, कर्म-अकर्म, सब बराबर है। ईश्वर, जो अकेला ही है, इन सबसे परे है।

इन तीन आपत्तियोंको सर्वेश्वरवादियोंने सुलझानेका प्रयास किया है। पहलीके प्रति उनका उत्तर है कि सर्वेश्वरवादमें व्यक्तित्व और मानव-स्वतन्त्रताका अपलाप न होकर उनका गहरा अर्थ है। नासूत लाहूत है, व्यक्ति ईश्वर है, इससे उसका व्यक्तित्व और गहरा हो जाता है। वह अपनेमें ही सब-कुछ पाता है। दूसरीके प्रति उनका उत्तर है कि जगत् भी तो ब्रह्म या ईश्वर है। अतः जगत्को मिथ्या कहना ही ठीक नहीं है, जगत्का वह रूप जो अल्प चिन्तन या अल्प भावुकतापर निर्भर है, वह अवश्य मिथ्या है, पर उसका जो रूप अनन्त चिन्तन और अनन्त भावुकतापर अवलम्बित है, वह साक्षात् ब्रह्म है।

तीसरी आपत्तिके प्रति सर्वेश्वरवादियोंका कहना है कि सर्वेश्वरवाद अनैतिक, असामाजिक और अव्यावहारिक नहीं है, क्योंकि यदि हम सर्वत्र ईश्वरको ही देखें और मानें तो हम अनुचित नहीं करते हैं। ईश्वरको सर्वविद्यमान मानकर कर्म करनेकी प्रेरणा मिलती है, सेवा करनेका पाठ मिलता है और सभीसे प्रेम करनेकी इच्छा होती है। ईश्वरको यदि नीति, समाज और व्यवहारका हेतु बनाया जाय तो निःसन्देह इनका महत्त्व बढ़ेगा। जब ईश्वर शुभाशुभ, कर्माकर्म और धर्माधर्मसे परे कहा जाता है, तो उसका यह अर्थ नहीं है कि अनैतिकता और अव्यावहारिकताका पाठ या प्रचार होना चाहिये। सर्वेश्वरवादको ठीक न समझनेके कारण सर्वेश्वरवादियोंके अनुयायियोंने सचमुच अनैतिकता, भ्रष्टाचार, असामाजिकता और अव्यावहारिकताको बढाया था। तन्त्र, वज्रयान, नाथपन्थ और सूफीमत इसके उदाहरण हैं, जिनमें कालान्तरमें सर्वेश्वरवाद अनैतिक हो चला था। पर इससे सर्वेश्वरवादका दोष नहीं सिद्ध होता।

[सहायक ग्रन्थ— हिन्दी काव्यमें निर्गुण-सम्प्रदाय : पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल; जायसी ग्रन्थावली : रामचन्द्र शुक्ल; फिलासफी ऑव मुहीउद्दीन इब्नुल अरबी : अफीफी।] —सं० ला० पा०

सर्वोदय—साम्यवाद (दे०) वर्ग-संघर्षमें विश्वास करता है। उसके अनुसार समाजस्थ वर्ग प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूपमें, जानते या न जानते, सदैव परस्पर संघर्षरत रहते हैं। इस संघर्षमें जो बलवान् पड़ता है, वह निर्बल वर्गका शोषण करता है। साम्यवाद शोषणका अन्त करनेके लिए वर्गोंका अन्त आवश्यक समझता है और वह वर्गोंका अन्त शोषक, पूँजीपति-वर्गपर शोषित, सर्वहारा-वर्गकी विजय कराकर करना चाहता है। गान्धीवादका (दे०) सर्वोदय-सिद्धान्त इस वर्गसंघर्षवादको नहीं मानता। वह सभी वर्गोंको सहयोगके लिए आहूत करता है। वह सबकी उन्नतिकी कामना करता है। अतः इस सिद्धान्तको सर्वोदय (सबका उदय) नाम दिया गया है।

गान्धीवाद (दे०)की आदर्श समाज-व्यवस्था सर्वोदय-समाज-व्यवस्था कही जाती है। गान्धी इसे रामराज्य भी कहा करते थे। सर्वोदय-समाजमें स्वशासित, अर्थ-व्यवस्थाकी दृष्टिसे आत्मनिर्भर और छोटे-मोटे उद्योग-धन्धोंसे परिपूर्ण ग्रामोंका ही बाहुल्य होगा। नगरोंकी संख्या नगण्य होगी। उस समाजमें आर्थिक और राजनीतिक, दोनों प्रकारकी शक्तियाँ विकेन्द्रित होंगी। गान्धीवाद व्यक्तिके जीवनमें राज्यके कम-से-कम हस्तक्षेपका समर्थक है। उसकी दृष्टिमें राज्य-शक्ति वस्तुतः हिंसाका घनीभूत रूप है। वह सेना और पुलिसको भी उतना आवश्यक नहीं समझता, जितना कि अन्य लोग समझते हैं। सर्वोदय समाजमें पहले तो धनका असमान वितरण अपने-आप समाप्तप्राय हो जायगा और यदि कुछ धनी-मानी व्यक्ति होंगे भी तो वे अपने धनको समाजकी सम्पत्ति और अपनेको ट्रस्टी मानकर चलेंगे। —ह० ना०

सलज्जरति—दे० 'विश्रब्धनवोढा'।

सवैया—वर्णिक वृत्तोंमें २२ से २६ अक्षरके चरणवाले जाति-छन्दोंको सामूहिक रूपसे हिन्दीमें सवैया कहनेकी परम्परा है। इस प्रकार सामान्य जाति-वृत्तोंसे बड़े और वर्णिक दण्डकोंसे छोटे छन्दको सवैया समझा जा सकता है। कवित्त-घनाक्षरीके समान ही हिन्दी रीतिकालमें विभिन्न प्रकारके सवैया प्रचलित रहे हैं। संस्कृतमें ये समस्त भेद वृत्तात्मक हैं। परन्तु कुछ विद्वान् हिन्दीके सवैयाको मुक्तक वर्णिकके रूपमें समझते हैं। जानकीनाथ सिंहने अपने खोज-निबन्ध 'द कण्ट्रीब्यूशन ऑव हिन्दी पोयट्स टु प्राजोडी'के चौथे प्रकरणमें इस विषयपर विस्तारसे विचार किया है, और उनका मत है कि कवियोंने सवैयाको वर्णिक सम-वृत्तरूपमें लिया है। उसमें लयके साथ गुरु मात्राका जो लघु उच्चारण किया जाता है, वह हिन्दीकी सामान्य प्रवृत्ति है। इसके ह्रस्व ऍ और ऑ के उच्चारणके लिए लिपिचिह्नका अभाव भी है (अप्र० नि०में)। परन्तु हिन्दीमें मात्रिक छन्दोंके व्यापक प्रयोगके बीच प्रयुक्त इस वर्णिक छन्दपर उनका प्रभाव अवश्य पड़ा है। जिस प्रकार कवित्त एक विशेष लयपर चलता है, उसी प्रकार सवैया भी लय-मूलक हो है।

रीतिकालकी मुक्तक शैलीमें कवित्त और सवैयाका महत्त्वपूर्ण योग है। वैसे भक्तिकालमें ही इन दोनों छन्दोंकी प्रतिष्ठा हो चुकी थी और तुलसी जैसे प्रमुख कविने अपनी 'कवितावली'की रचना इन्हीं दो छन्दोंमें प्रधानतः की है। भगणात्मक, जगणात्मक तथा सगणात्मक सवैयेकी लय क्षिप्र गतिसे चलती है और यगण, तगण तथा रगणात्मक सवैयेकी लय मन्द गति होती है। इनकी लयके साथ वस्तु-स्थिति तथा भावस्थितिके चित्र बहुत सफलतापूर्वक अंकित होते हैं। यह छन्द मुक्तक प्रकृतिके बहुत अनुकूल है। यह छन्द शृंगार रस तथा भक्ति-भावनाकी अभिव्यक्तिके लिए बहुत उत्कृष्ट रूपमें प्रयुक्त हुआ है। रीतिकालीन कवियोंने शृंगार रसके विभिन्न अंगों, विभाव, अनुभाव, आलम्बन, उद्दीपन, संचारी, नायक-नायिका-भेद आदिके लिए इनका चित्रात्मक तथा भावात्मक प्रयोग किया है। रसखान, घनानन्द, आलम जैसे प्रेमी-भक्त कवियोंने भक्ति-भावनाके उद्वेग तथा आवेगकी सफल अभिव्यक्ति सवैयामें की है। भूषणने वीर रसके लिए इस छन्दका प्रयोग किया है, पर वीर रस इसकी प्रकृतिके बहुत अनुकूल नहीं है। आधुनिक कवियोंमें हरिश्चन्द्र, लक्ष्मण सिंह, नाथूराम 'शंकर' आदिने इनका सुन्दर प्रयोग किया है। जगदीश गुप्तने इस छन्दमें आधुनिक लक्षणा शक्तिका समावेश किया है।

१. उपजाति सवैया—इसका प्रचलन रहा है। सम्भवतः उपजाति सवैया तुलसीकी प्रतिभाका परिणाम है। सर्वप्रथम तुलसीने 'कवितावली'में इसका प्रयोग किया है। उपजातिका अर्थ है जिसमें दो भिन्न सवैया एक साथ प्रयुक्त हुए हों। केशवदासने भी इस दिशामें प्रयोग किये है।

२. मत्तगयन्द-सुन्दरी—ये दोनों सवैया कई प्रकारसे एक साथ प्रयुक्त हुए है। तुलसीने इसका सबसे अधिक प्रयोग किया है। केशव तथा रसखानने उनका अनुसरण किया है। प्रथम पद मत्तगयन्दका (७ भ+ग ग)—"या लकुटी अरु कामरियापर राज तिहूँ पुरको तजि डारौं"। तीसरा पद सुन्दरी (८ स+ग)—"रसखानि कबों इन आँखिनते, ब्रजके बन बाग तड़ाग निहारौं" (रसखान)।

मदिरा-दुर्मिल—तुलसीने एक पद मदिराका रखकर शेष दुर्मिलके पद रखे है। केशवने भी इसका अनुसरण किया है। पहला मदिराका पद (७ भ+ग)—"ठाढ़े है नौ द्रुम डार गहे, धनु काँधे धरे कर सायक लै।" तथा दूसरा दुर्मिलका पद (८ स)—"बिकटी भृकुटी बड़री अँखियाँ, अनमोल कपोलनकी छवि है।" (कविता० २)।

इनके अतिरिक्त मत्तगयन्द-वाम और वाम-सुन्दरीके विभिन्न उपजाति तुलसीकी 'कवितावली'में तथा केशवकी 'रसिकप्रिया'मे मिलते है। वस्तुतः इस प्रकारके प्रयोग कवियोने भाव-चित्रणमें अधिक सौन्दर्य तथा चमत्कार उत्पन्न करनेकी दृष्टिसे किया है (जानकीनाथ सिंह : कं० हि० पो० प्रो०, अप्र० थी०)।

१. मदिरा सवैया—७ भगण (ऽ।।)+गुरुसे यह छन्द बनता है; १०, १२ वर्णोंपर यति होती है। केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है। "सिन्धु तर्यो उनको बनरा, तुम पै धनु-रेख गयी न तरी" (रा० चं०, १६ : १३)। "ठाढ़े है नौ द्रुम डार गहे, धनु काँधे धरे, कर सायक लै" (कविता०, २ : १३)।

२. मत्तगयन्द सवैया—२३ वर्णोंका छन्द है, जिसमें सात भगण (ऽ।।) और दो गुरुओंका योग होता है। नरोत्तमदास, तुलसी, केशव, भूषण, मतिराम, घनानन्द, भारतेन्दु, हितैषी, सनेही, अनूप आदिने इसका प्रयोग किया है। "केसव गाधिके नन्द हमें वह ज्योति सो मूरतिवन्त दिखायी" (रा० च०, ६ : १८)। "कोऊ सवाँ जुरतो भरि पेट न चाहत हौ दधि दूध मठौती" (सु० च० : नरोत्तमदास)। "धूलिमें लोटना था जिनको उनको सुख-सम्पति लुटते देखा" (कुणाल : अनूप)।

३. सुमुखि सवैया—सात जगण और लघु-गुरुसे यह छन्द बनता है; ११, १२ वर्णोंपर यति होती है। मदिरा सवैयाके आदिमें लघु वर्ण जोड़नेसे यह छन्द बनता है। "सखीन सों देत उराहनो नित्य, सो चित्त सँकोच सने लहिये" (देव : श० र०, प्र० १० : पृ० १५२)। "अनन्य हिमांशु, सदा तरुणीजनकी परिरम्भण-शीतलता" (चन्द्राकर)।

४. दुर्मिल सवैया—इसमें २४ वर्ण होते है, जो आठ सगणों (।।ऽ)से बनते हैं और १२, १२ वर्णोंपर यति होती है, अन्त सम तुकान्त ललितान्त्यानुप्रास होता है। यह छन्द तोटक वृत्तका दुगुना है। इसका प्रयोग केशव (रा० चं०), तुलसी (कविता०)से लेकर रीतिकाल तथा आधुनिक कवियोंतकने किया है। "जल हू थल हू परिपूरण श्री निमिके कुल अद्भुत जोति जगे" (रा० चं०, ५ : २२)। "अवधेसके द्वारे सकारे गयी सुत गोदमैं भूपति लै निकसे" (कविता०, १)। "सखि, नील नभस्सरसे उतरा, यह हँस अहा तिरता-तिरता" (साकेत, ९)।

५. किरीट सवैया—आठ भगणोंसे यह छन्द बनता है। तुलसी, केशव, देव और दासने इस छन्दका प्रयोग किया है। इसमे १२, १२ वर्णोंपर यति होती है। "जानकी-जीवनकी जन है जरि जाउ सो जीह जो जाँचत औरहि।" (कविता०, ७ : २६)। "तोरयो सरासन संकरको जेहि सोऽब कहा तुव लंक न तोरहि" (रा० चं०, १५ : ७)। "अंसबली जनम्यौ जदुबंस, सुजान्यौ जसोमति कंस-कथा सुनि" (देव : श० र०, ५ : वीर-अद्भुत)।

६. गंगोदक या लक्ष्मी सवैया—आठ रगणोंसे यह छन्द बनता है। केशव, दास, द्विजदत्त द्विजेन्द्रने इसका प्रयोग किया है। दासने इसका नाम लक्ष्मी दिया है, केशवने 'मत्तमातंगलीलाकर'। "दास ह्वौ कान्ह दासी बिना मोल की, छाँड़ि दीन्ह्यो सबै बंस बंसावरी" (भिखारीदास ग्र०, पृ० २४४)। "राम राजानके राज आये यहाँ, धाम तेरे महाभाग जागे अबै" (रा० चं०, १६ : ९)। 'हा गिरी, री अरी, हा मरी, री अरी, बोलि लागी गले राधिका स्यामके" (द्विजदत्त द्विजेन्द्र)।

७. मुक्तहरा सवैया—इसमें ८ जगण होते हैं। मत्तगयन्दके आदि-अन्तमें एक-एक लघुवर्ण जोड़नेसे यह छन्द बनता है; ११, १३ वर्णोंपर यति होती है। देव, दास तथा सत्यनारायणने इसका प्रयोग किया है। "दिना दस जोबन जीवन री, मरिये पचि होइ, जुपै मरिबै न" (देव : श० र०, प्र० ४ : शान्त)। "सुलच्छन राजनके सो सुहाई अनोखि अकृत्रिम सुन्दरताई" (सत्यनारायण)।

८. वाम सवैया—मंजरी, माधवी या मकरन्द इसके अन्य नाम है। यह २४ वर्णोंका छन्द है, जो सात जगणों और एक यगणके योगसे बनता है। मत्तगयन्दके आदिमें लघु वर्ण जोडनेसे यह छन्द बन जाता है। केशव और दासने इसका प्रयोग किया है। केशवने मकरन्द, देवने माधवी, दासने मंजरी और भानुने वाम नाम दिया है। "नवै नव ग्रीव थके गति केशव बालक ते सँग ही सँग खेली" (रा० चं०, २४ : ११)। "कहे किन आजु कहा भयो तोहि, कहा कहि कान्ह कहा कहि तोसो" (देव : श० र०, पृ० १५२)। "बसन्तसे आज बने ब्रजराज सपल्लव लाल छरी बर हाथे" (भिखारीदास ग्र०, पृ० २४६)।

९. अरसात सवैया—यह २४ वर्णोंका छन्द ७ भगणों और रगणके योगसे बनता है। देव और दासने इस छन्दका प्रयोग किया है। "राधिकाकी रसरंगकी दीपति, संग सहेली हँसी हहराइकै" (देव : श० र०, पृ० ३८, हास्य)। "सात घरीहुँ नहीं बिलगात, लजात ओ बात गुनै मुसकात है" (भिखारीदास ग्र०, पृ० २४७)।

१०. सुन्दरी सवैया—यह छन्द २५ वर्णोंका है। इसमें आठ सगणों और गुरुका योग होता है। इसका

दूसरा नाम माधवी है। केशवने इसे सुन्दरी और दासने माधवी नाम दिया है। केशव (रा० चं०), तुलसी (कविता०), अनूप (कुणाल), दिनकर (कुरुक्षेत्र)ने इस छन्दका प्रयोग किया है। "वरु मारिये मोहि बिना पग धोये हौ नाथ न नाव चढ़ाइहौं जू" (कविता०, २ : ६)। "सब भूतल भूधर हाले अचानक आइ भरत्थके दुन्दुभि बाजे" (रा० चं०, १० : १४)। "पलकै अरुनै, झलकै अरु नैन छुटी अलकें, छलकै लर मोती" (देव : श० र०, १०)। "बिनु पण्डित ग्रन्थ प्रकाश नहीं, बिन ग्रन्थ न पावत पण्डित भा है" (भिखारीदास ग्रं०, पृ० २४६)। "मनुके यह पुत्र निराश न हों, नव धर्म-प्रदीप अवश्य जलेगा" (दिनकर : कुरुक्षेत्र)।

११. अरविन्द सवैया—आठ सगण और लघुके योगमें यह छन्द बनता है। १२, १३ वर्णोंपर यति होती है और चारो चरणोंमें ललितान्त्यानुप्रास होता है। "अधिरात अँध्यारकी मेघ छटा, घुमड़ी छुटि बिज्जु छटा नहुँ ओर" (देव : श० र०, पृ० १०, १५४)। "कुछ और नहीं युग लोचनोंमें, प्रतिबिम्बित हैं अनुराग अमन्द।" (चन्द्राकर)।

१२. मानिनी सवैया—यह २३ वर्णोंका छन्द है। ७ जगणों और लघु-गुरुके योगसे छन्द बनता है। वाम सवैयाका अन्तिम वर्ण न्यून करनेसे या दुर्मिलका प्रथम लघु वर्ण न्यून करनेसे यह छन्द बनता है। तुलसी और दासने इसका प्रयोग किया है। "प्रफुलित दास बसन्त कि फौज सिलीमुख भीर देखावति हैं" (भिखारीदास ग्रं०, पृ० २४४)। "कहा भव भीर पड़ी तेहि धौं, बिचरै धरनी तिनसो तिन तोरें" (कविता०, ६ : ४९)।

१३. महाभुजंगप्रयात सवैया—यह २४ वर्णोंका छन्द है, जो आठ यगणोंसे बनता है। यह भुजंगप्रयातका दुगुना छन्द है। इसमें १२, १२ वर्णोंपर यति होती है। "रहे बैठि न्यारी घटा देखि कारी, बिहारी बिहारी बिहारी ररै जू" (भिखारीदास ग्रं०, पृ० २४४)।

१४. सुखी सवैया—यह नवीन सवैया ८ सगण + लघु-गुरुसे बनता है; १२, १४ वर्णोंपर यति होती है। सुखी सवैया ८स+२ लके अन्तिम वर्णोंको दीर्घ करनेसे यह छन्द बनता है। "कुछके अपमानके साथ पितामह, विश्व-विनाशक युद्धको तोलिये" (दिनकर : कुरुक्षेत्र)। —पु० शु०

सहचरभिन्न–दे० 'अर्थ-दोष', चौदहवाँ।

सहज–सिद्धों, नाथों तथा सन्तोंमें समान रूपसे सहज शब्दका महत्त्व है, यद्यपि इसको एक ही अर्थमें सभीने प्रयुक्त नहीं किया है। सिद्धोंने सहज शब्दको जितना महत्त्व दिया है, उसके कारण यह धारणा होती है कि सम्भवतः **वज्रयान**से पृथक् इनका मत सहजयान है, जो अनुष्ठानों और गुह्य साधनाओंसे रहित है, किन्तु यह धारणा भ्रान्त है (दे० 'वज्रयान')।

इस सहजकी कल्पनाका मूल उद्गम क्या है, इसके विषयमें एक अत्यन्त रोचक, किन्तु विचारणीय मत प्रबोधचन्द्र बागचीका है। वे इसे 'ताओ'का अनुवाद मानते हैं, जो प्राचीन चीनी धर्मका मूल सिद्धान्त है। ताओ-साधनाकी बहुत-सी पद्धतियाँ, शब्दावली और सिद्धियाँ बौद्ध तन्त्रोंसे बहुत मिलती-जुलती हैं। कुछ दक्षिण भारतीय अनुश्रुतियाँ यह मानती हैं कि ईसासे पहले ही कोई 'भोग' नामक चीनी आचार्य दक्षिण भारतमें आया और तिनेवेलीके सिद्धकूट पर्वतपर रहने लगा। यह भी कायाकी अमरताका उपदेश देता था और गुह्य साधनाएँ करता था। किन्तु इन किंवदन्तियोंके आधारपर किसी भी प्रामाणिक निर्णयपर नहीं पहुँचा जा सकता था। 'विष्णुपुराण'(लगभग ४०० ई०)में अवश्य सहजा-सिद्धिका उल्लेख है, जिसे स्वाभाविक सिद्धि भी कहा गया है। वल्लभदेवके एक कामरूपवाले शिलालेखमें भी इसी अर्थमें सहजका उल्लेख है। यह शिलालेख १२वीं शताब्दीका है। इससे इतना तो अवश्य अनुमान होता है कि बौद्धोंके अतिरिक्त भी कोई चिन्तन-परम्परा चली आ रही थी, जो सहज जीवनपद्धतिपर बल देती थी, जिसका सम्भवतः वैष्णवोंसे अधिक निकटका सम्बन्ध था। बौद्धोंने जब इस शब्दको स्वीकार किया तो इसके प्रज्ञोपाय-युगनद्ध-परक अर्थ लिये। सहज वह परम तत्त्व है, जो प्रज्ञा और उपायके सहगमनसे उत्पन्न होता है, उसीके आधारपर सहज-काया, **सहज-सुन्दरी**, सहज-नौका, **सहजानन्द** आदिकी कल्पना की गयी। किन्तु यह केवल बौद्धोंने नहीं किया था। लगता है, कई तान्त्रिक पद्धतियोंने 'सहज' शब्दको स्वीकार कर उसे नये गुह्य अर्थ दे दिये थे। मत्स्येन्द्रनाथके 'योगिनी-कौल-मार्ग'में भी सहजसे स्वाभाविक प्रवृत्तिमूलक मार्गके अतिरिक्त ऐसी साधनाका अर्थ लिया जाने लगा, जिसमें स्त्रीतत्त्व और पुरुषतत्त्वका मिलन सम्पन्न हो। 'योगिनी-कौल-मार्ग'का नाथ-पन्थसे काफी निकटसे सम्बन्ध रहा है। नाथ-पन्थमें भी शक्ति और शिवका मिलन **नाद** और **बिन्दु**के मिलनके रूपमें माना जाता रहा है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि सिद्धोंके पूर्व बौद्ध-परम्परामें सहज शब्दका प्रयोग नहीं मिलता है।

सम्भवतः इसका एक कारण यह भी है कि **शून्य** और **करुणा**, ये दोनों एक-दूसरेके अभावमें साम्यको एकांगी बना देते थे। दोनोंके ऐक्यका द्योतक 'सहज' शब्द वस्तुतः अधिक गहरा अर्थ दे सकनेमें समर्थ था। **प्रज्ञा** और **उपाय**, शून्य और करुणाका सहगमन ही प्रमुख प्रणाली है और वही सहज तत्त्व है।

नाथपन्थी साहित्यमें भी सहजको परम तत्त्वके रूपमें ग्रहण किया गया है। "ए ही पाँचो तत बाबू सहज समान…"(गोरखबानी)। दुबिधा मिटाकर सहज स्वभावमें रहनेका उपदेश है। गोरखनाथ सहज तत्त्वके व्यापारी बताये गये हैं। सहजको परम पद निर्वान बताया गया है और "…ठबकि न चलबा ढबकि न बोलिबा, धीरे धरिबा पाँव, गरब न करिबा। सहजै रहिबा…"को साधकका आदर्श आचरण माना गया।

यह 'सहज रहिबा' या **सहज रहनि** वस्तुतः सन्तोंमें बहुत प्रमुख हो गयी। वैसे सन्तोंमें भी **परम तत्त्व**के रूपमें, **स्वभाव**के रूपमें, **समाधि**के रूपमें सहजका निरन्तर उल्लेख मिलता है, किन्तु उसके तान्त्रिक अर्थको सन्तोंने कहीं भी नहीं स्वीकार किया, वे उसे पूर्णतः भूल चुके थे। वैसे तो सिद्धोंमें भी साधनाकी एक अवस्था ऐसी आती थी, जब वे कहते थे कि "एकु न किज्जइ मन्तण मन्त, निअ घरिणी लइ केलि करन्त"। या वे मानते थे—"भणइ

भअवा, खसम भअवइ, दिवा राति सहज राहिअइ" (दोहाकोप : तिलोपा)। किन्तु यह महामुद्राकी साधना कर लेनेके बादकी वह स्थिति है, जब साधककी आचारकी समस्त स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाती है। सन्तोंमें **सहज रहनि**का और भी निर्मल और भावात्मक स्वरूप है। वे उसे उस वैष्णव अर्थमें ग्रहण करते हैं, जहाँ सभी कर्मोंको कृष्णार्पण कर सहज जीवननिर्वाह किया जाता है। कबीरने जब कहा है कि "सन्तों सहज समाधि भली", तब उन्होंने **सहज समाधि**में न प्रज्ञा और उपायके समागमका संकेत किया है, न नाद और बिन्दुके मिलनका, उन्होंने केवल समस्त बाह्य आडम्बरोंसे रहित, सरल, भावपूर्ण जीवन-निर्वाहके अर्थमें प्रयोग किया है। वैसे तो नाथोंमें भी सहज-रहनीका उल्लेख है, पर कबीरमें सहज-रहनीका प्रमुख आधार है हरिभक्ति और प्रभुके प्रति भावात्मक अर्पण। नाथपन्थी धारणामें इसका अभाव है।

किन्तु परवर्ती कबीरपन्थी साहित्यमें इस सहजकी कल्पनाका प्रचुर दुरुपयोग हुआ है। उसमें सहजको ब्रह्म बताया गया है, जिससे पाँच ब्रह्म उत्पन्न हुए हैं। फिर सहज श्रुति, सहजांकुर, सहज द्वीप आदिकी कल्पनाएँ की गयी। अन्तमें सहजका ह्रास भी मिलता है, जब सहजको घटाकर मायाशबलित निरंजन मान लिया गया और अन्तमें धर्म-सम्प्रदायका कर्मकाय ही मान लिया गया (विस्तारके लिए दे०—सिद्ध साहित्य : धर्मवीर भारती)। —ध० वी० भा०

सहजयान–दे० 'वज्रयान'।

सहज-रहनी–दे० 'सहज'।

सहज शून्य–दे० 'शून्य'।

सहज समाधि–दे० 'सहज'।

सहज सिद्धि– दे० 'सहज'।

सहज सुंदरी–दे० 'महामुद्रा'।

सहज स्वभाव–दे० 'सहज'।

सहजानंद–दे० 'चार आनन्द'।

सहजिया–सहजयानी साधनाओंसे प्रभावित कई छोटी-छोटी धर्म-साधनाएँ पूर्वी भारतमें विद्यमान हैं, जो सहजिया कहलाती हैं किन्तु प्रमुख सहजिया धारा समस्त बौद्ध प्रभावोंको ग्रहण करके अब वैष्णवताको स्वीकार कर चुकी है। यह संक्रमण कब हुआ और किस प्रकार हुआ, यह तो अभी खोजका विषय है, किन्तु कई विद्वानोंका मत है कि किसी-न-किसी रूपमें तान्त्रिक पद्धतिका व्यापक प्रभाव वैष्णव धर्मके उस रूपपर पड़ा है, जो पूर्वी भारतमें प्रचारित हुआ। सहजिया सम्प्रदायवालोंका तो यह कथन है कि जयदेव, विद्यापति और चण्डीदास आदि वैष्णव, विमर्श और रूपसनातन, स्वरूप, दामोदर, जीवगोस्वामी आदि वैष्णव आचार्य सभी किसी-न-किसी रूपमें **मुद्रा-मैथुन-युक्त सहज-साधना**में प्रवृत्त हो चुके हैं। सहजियोंके पदोंका अध्ययन करनेसे प्रतीत होता है कि इनपर बौद्ध और हिन्दू तान्त्रिकोंका स्पष्ट प्रभाव है, किन्तु धीरे-धीरे इनके पदोंमें प्रगीत प्रेमतत्त्व अधिक भावात्मक होता गया है, गुह्य तान्त्रिक अनुष्ठानोंसे मुक्त होता हुआ हृदयकी सहज वृत्तियोंके स्फुरणको अधिक महत्त्व देने लगा है। किन्तु साथ ही यह भी स्मरणीय है कि स्वतः सहजयानी सिद्धोंमें यह प्रवृत्ति पायी जाती थी और सन्तोंके साहित्यमें तो इसका पूर्ण विकास मिलता है। किन्तु इनके और सन्तोंके साहित्यमें अन्तर यह है कि ये कृष्णको अपना उपास्य मानते हैं, लीलामें विश्वास करते हैं और परकीया प्रेमको अधिक महत्त्व देते हैं।

लीलाके सम्बन्धमें चैतन्य महाप्रभुने राधा-भावको अधिक महत्त्व दिया था, जब कि उनके पूर्ववर्ती और समकालीन अन्य भक्त-कवि और साधक सखी-भावको स्वीकार करते थे। जहाँतक सहजिया साधकोंका प्रश्न है, वे न केवल सखी-भावसे राधा और कृष्णकी प्रेम-लीलाओंका गायन करते हैं, वरन् यह भी विश्वास करते हैं कि लौकिक पुरुष और नारीकी प्रेम-लीलामें भी राधा-कृष्णके अलौकिक प्रेमकी अभिव्यक्ति होती है। इसके लिए वे रूप-लीला और स्वरूप-लीलाके सिद्धान्तका आधार लेते हैं। उनका कहना यह है कि प्रत्येक मनुष्यके अन्दर कृष्ण विद्यमान है और प्रत्येक नारीमें राधा। लौकिक नाम और आचरणवाला उसका व्यक्तित्व 'रूप' है और कृष्णकी स्वतः जो प्राकृत लीला थी, वह उनकी रूप-लीला थी और अप्राकृत लीला स्वरूप-लीला थी। इसी दृष्टिसे वे वृन्दावनके तीन रूप मानते थे—वन-वृन्दावन, मन-वृन्दावन, नित्य-वृन्दावन। नित्य-वृन्दावनमें कृष्ण और राधा, पुरुष और प्रकृति या रस और रतिके रूपमें नित्य विहार करते हैं।

वैष्णव सहजिया साधनाकी मुख्य प्रक्रिया है 'आरोप'। इसमें 'रूप'पर 'स्वरूप'का आरोप कर भाव साधना की जाती है, किन्तु इसमें रूपका निषेध नहीं होता, बल्कि रूपके बिना स्वरूपका साक्षात्कार ही नहीं हो सकता। इसीलिए वे लौकिक और अलौकिक प्रेममें कोई विभाजक रेखा नहीं खींचते। (दे० 'पोस्टचैतन्य सहजिया कल्ट': मणीन्द्रमोहन बसु तथा आब्स्क्योर रेलीजस कल्ट्स : शशिभूषणदास गुप्त)। —ध० वी० भा०

सहजिया संप्रदाय–'सहजिया'में दीख पड़नेवाले 'सहज' शब्दका व्युत्पत्तिमूलक अर्थ ('सह जायते सहजः'के आधार-पर) जन्मके साथ-साथ उत्पन्न होनेवाला तथा इसी कारण किसी भी पदार्थका अपना नैसर्गिक रूप हुआ करता है, किन्तु पारिभाषिक दृष्टिसे इसका प्रयोग उस अनिर्वचनीय स्थितिके लिए किया गया मिलता है, जिसे 'निर्वाण'की संज्ञा दी जाती है और इसी प्रकार यह परम तत्त्वके स्वरूपका बोधक भी समझा जाता है। अतएव 'सहजिया' शब्दसे अभिप्राय उन लोगोंका है, जो ऐसे 'सहज'में आस्था रखते हैं और तदनुसार 'सहजिया सम्प्रदाय' भी ऐसे व्यक्तियोंके किसी समुदायविशेषको ही कह सकते हैं। 'निर्वाण' की दशा, जिसे गौतम बुद्धने मानवजीवनके लिए चरम लक्ष्य निर्धारित किया था, समय पाकर विभिन्न नामों द्वारा अभिहित होती आयी। कभी इसे उनके अनुयायियोंने 'तथता' कहा, तो कभी 'शून्य'का नाम दिया और फिर इसे ही उन्होंने क्रमशः 'विज्ञप्तिमात्रता', 'महासुख' तथा 'वज्रधातु' एवं 'वज्रसत्त्व' भी ठहराया। उसे 'वज्र' नाम देनेवाले लोगोंके समुदायको 'वज्रयान' कहा गया और फिर उसीको 'सहज'के रूपमें कल्पित करनेवालोंके वर्गको 'सहजयान' बतलाया गया। इस 'सहज'को बौद्ध सिद्धोंने

'सहजानन्द' अथवा 'सहजसुख' शब्दों द्वारा भी व्यक्त किया है और इसकी स्थितिको 'प्रज्ञा' एवं 'उपाय'की समरसतामें निहित समझा है। इनका कहना था कि जो कुछ ब्रह्माण्डमें है, वह सभी पिण्ड या शरीरमें भी है और इसीलिए जिस प्रकार शैव तान्त्रिकोंने मानव-शरीरके अन्तर्गत शीर्षस्थ 'सहस्रार'में 'शिव'की तथा 'मूलाधार'में 'शक्ति'की कल्पना की थी, उसी प्रकार उन्होंने भी क्रमशः 'प्रज्ञा' एवं 'उपाय'को स्थान दिया। परन्तु शैव तान्त्रिकोंने जहाँ 'शक्ति' एवं 'शिव'के मिलनकी अनुभूतिको अन्तःसाधना द्वारा ही साध्य माना था, वहाँ इन बौद्ध तान्त्रिकोंने 'उपाय' तथा 'प्रज्ञा'की समरसताके लिए एक ऐसी बाह्य-साधनाकी भी आवश्यकता बतलायी, जिसमें साधक अपने लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए किसी 'मुद्रा'के साथ यौन सम्बन्ध भी स्थापित कर सकता था। 'मुद्राएँ' प्रायः नीच कुलोत्पन्न स्त्रियाँ हुआ करती थीं और उनके प्रति सहज प्रेमकी अभिवृद्धिके समानान्तर 'प्रज्ञा' एवं 'उपाय'का उत्तरोत्तर मिलता जाना भी सम्भव समझा जाता था। परन्तु वज्रयानियों एवं सहजयानियोंने पीछे अन्तःसाधनाके प्रति उपेक्षा प्रदर्शित की और उनकी साधना बाह्य मुद्रा-साधनातक ही सीमित रहने लगी।

ऐसे साधकोंका प्रमुख कार्यक्षेत्र बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा आदि प्रान्तोंमें था, जहाँ बौद्ध धर्मका अस्तित्व ११वीं शताब्दीतक बना रहा और बौद्ध सिद्धों द्वारा अधिकतर सर्वसाधारणमें ही प्रचार किये जानेके कारण ऐसी भावनाका प्रभाव वहाँके समाजपर भी बिना पड़े नहीं रह सका। फलतः बौद्ध धर्मके वहाँसे अपने पूर्वरूपोंमें प्रायः लुप्त हो जानेपर भी उससे निर्मित हो गये वातावरणमें अधिक परिवर्तन नहीं लाया जा सका और उस कालतक प्रचलित वैष्णव-सम्प्रदायके कतिपय अनुयायियोंकी रचनाओंमें उक्त 'प्रज्ञा' एवं 'उपाय'के मिलनका ही एक रूपान्तर उनकी राधा एवं कृष्णके अलौकिक प्रेमभावकी अभिव्यक्तिमें भी दीख पड़ा। किन्तु बौद्ध सिद्ध जहाँ 'प्रज्ञा' एवं 'उपाय'के मिलनकी समरसताका स्वयं भी अनुभव करते जान पड़ते थे, वहाँ वैष्णवोंने राधा एवं कृष्णकी 'केलि'को केवल दूरसे प्रत्यक्ष कर आनन्दित होना अभीष्ट माना और उसे अपने सुन्दर काव्योंका विषय भी बनाया। 'गीतगोविन्द'के रचयिता प्रसिद्ध कवि जयदेव तथा मैथिल कवि विद्यापतिने अपनी कविताओंमें इसी नियमका अनुसरण किया और इन्होंने सिद्धोंके 'सहज'को भी कोई महत्त्व नहीं दिया। 'सहज'की चर्चा एवं व्याख्या करनेवाले बंगला कवि चण्डीदास हुए, जिन्हें इसी कारण एक प्रमुख 'वैष्णव सहजिया'के रूपमें भी स्वीकार किया जाता है। इन्होंने न केवल राधा एवं कृष्णकी केलिको कुछ भिन्न दृष्टिसे देखा, अपितु इन्होंने अपने जीवनतकको बौद्ध सहजयानियोंके ही आदर्शानुसार ढाल दिया। इन्होंने किसी 'रामी' नामकी रजकी (धोबिन)-को प्रेमपात्रीके रूपमें स्वीकार कर उसे सहजयानियोंकी जैसी 'मुद्रा' बना डाला। फलतः उनका न्यूनाधिक अनुसरण करनेवाले लोगोंकी संख्यामें क्रमशः इतनी वृद्धि होती चली गयी कि बौद्ध सिद्धोंके 'सहजयान'की भाँति वैष्णव धर्मके अनुयायियोंका भी एक 'सहजिया सम्प्रदाय' चल निकला और उसे कवि जयदेव तथा विद्यापतिके शुद्ध वैष्णव सम्प्रदायसे पृथक् समझा जाने लगा।

इन वैष्णव 'सहजिया' लोगोंकी बहुत-सी बातें बौद्ध सहजयानियोंसे मिलती-जुलती थीं, किन्तु इनकी कुछ अपनी विशेषताएँ भी थीं। इनका 'सहज' सहजयानियोंके ही जैसा अनिर्वचनीय था, किन्तु उसकी व्याख्या करते समय ये उसे विशुद्ध प्रेमका जैसा रूप दे दिया करते थे। इनका कहना था कि श्रीकृष्णका, परम तत्त्व होते हुए भी, बिना अपने नैसर्गिक प्रेमकी अमित शक्तिस्वरूपिणी राधाके रहना असम्भव है। राधा उनमें स्वभावतः निहित रहा करती है, जिस कारण उन दोनोंके क्षणिक वियोगकी कल्पना भी उनकी नित्यलीलाकी ही दृष्टिसे की जा सकती है। उसमें उनका 'स्वरूप' आध्यात्मिक तत्त्वके रूपमें वर्तमान है और इसी प्रकार उसमें भौतिक तत्त्वको भी स्थान प्राप्त है, जिसे 'रूप'का नाम दिया जा सकता है तथा इसीलिए रूपके ऊपर 'स्वरूप'का 'आरोप' करना ही अपने पार्थिव प्रेमको अपार्थिवता प्रदान कर देना है। इनके अनुसार किसी भगवान्‌के प्रति आध्यात्मिक प्रेमका प्रदर्शन आवश्यक नहीं है, क्योंकि उसका अनुभव प्रत्येक व्यक्ति अपने भीतर अपने आप कर लेनेमें समर्थ है। मानव-जीवन इस विश्वमें सबसे बड़ी देन है और 'मानुष' (मनुष्य)का स्थान यहाँ सभी पदार्थोंसे कहीं ऊँचा है। सहजिया वैष्णव प्रेमभावमें उत्कर्ष लानेके लिए किसी साधकका परकीयाके संसर्गमें रहना अत्यन्त आवश्यक मानते हैं, परन्तु ये परकीयाके भी 'मुख्य' एवं 'मंजरी' नामक दो भेद करते दीख पड़ते हैं। वास्तवमें इनकी 'मंजरी' ही सहजयानियोंकी 'मुद्रा' है, जिसका सविधि पूजन करके साधक अपनी सुषुम्ना नाड़ीको क्रमशः जागरित कर, दिव्य शक्ति उपलब्ध कर सकता है। 'मुख्य' परकीया वह 'अन्तरंग' शक्ति है, जिसकी साधनामें परमात्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त कर उसके प्रति पूर्ण समर्पण कर देना पड़ता है।

प्रेमभावकी शुद्धता एवं गम्भीरताकी दृष्टिसे वैष्णव सहजिया लोगोंकी तुलना सूफियोंके साथ की जा सकती है। सूफी लोग भी इन सहजिया वैष्णवोंकी भाँति ईश्वरीय प्रेम-(इश्क हकीकी)की प्राप्तिके लिए पार्थिव प्रेम (इश्क मजाजी)-की साधना आवश्यक समझते थे और इस बातको प्रेमगाथाओं द्वारा उदाहृत भी किया करते थे, जिसका इनके यहाँ कोई महत्त्व नहीं था, क्योंकि पार्थिव प्रेमकी साधना ये लोग स्वयं परकीयाके साथ कर लेते थे। सूफियोंकी प्रेम साधनाका ढंग वस्तुतः व्याख्यात्मकमात्र ही था, जहाँ सहजिया वैष्णव उसे तान्त्रिकोंकी भाँति स्वयं पूरा भी कर लेते थे। इसके सिवाय सूफियोंका प्रेम जहाँ सीधे ईश्वरके प्रति प्रदर्शित समझा जा सकता था, वहाँ सहजिया वैष्णवोंकी साधना-प्रणालीमें ऐसी कोई बात नहीं थी। ये लोग श्रीकृष्ण एवं राधाके अलौकिक प्रेमको ही विशेष महत्त्व देते थे तथा उसे अपनी मंजरी-साधना द्वारा निजी अनुभवमें लानेके लिए प्रयत्नशील भी रहा करते थे। इस बातमें ये लोग उन बाउलोंसे भी भिन्न थे, जो अधिकतर बंगाल प्रान्तके निवासी थे तथा जो सूफियोंकी भाँति ही

अपनी प्रेम-साधनामें सदा मस्त रहा करते थे। सहजिया वैष्णवोंका प्रेम जहाँ श्रीकृष्ण एवं राधारूपी दो व्यक्तियोंके स्वरूपाश्रित प्रेमकी अपेक्षा करता था, वहाँ बाउलोंका सब किसीके हृदयमें वर्तमान किसी 'मनेर मानुष'के प्रति उन्मुख था और उसे इस प्रकार आत्मसाधनाका ही एक रूप ठहराया जा सकता था। सहजिया वैष्णवोंके प्रेममें द्वैतभावनाका बना रहना आवश्यक था और उसे प्रेमलक्षणा भक्तितकका नाम दे सकते थे, जहाँ बाउलोंकी प्रेमसाधना तत्त्वतः अद्वैतभावनापर ही आश्रित थी।

[सहायक ग्रन्थ—उत्तरी भारतकी सन्त परम्परा और मध्यकालीन प्रेम साधना : परशुराम चतुर्वेदी।] —प० च०

सहजोली मुद्रा—'गोरक्ष पद्धति'में (पृ० ५०) सहजोलीको वज्रोली, अमरोलीका समशील माना गया है। इसकी विधि बतायी गयी है कि गोबरके सूखे कण्डेको जलाकर उसकी राखको पानीमें मिला लिया जाय। इसके बाद स्त्री-पुरुष मैथुन करें और मैथुनसे निवृत्तहोकर थोडी देर आरामसे बैठ लेनेके बाद जलमें मिले उक्त भस्मका अपने-अपने शरीरमें सर्वांग लेप करें। पृष्ठ ५१पर इस मुद्राको योगियोंकी श्रद्धेया, शुभकरी और भोगप्रधान होनेपर भी मुक्तिदा बताया गया है। कहना कठिन है कि इसे मुद्रा क्यों कहा गया? जलमें भस्म मिलाकर लेप करना मुद्रा क्यों है? अस्तु। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजीने सहजोलीको सहजयानी साधनाका अवशेष बताया है (नाथ सम्प्रदाय, पृ० ७१)। 'घेरण्ड संहिता'में जिस प्रकार वज्रोलीकी योगपरक व्याख्या मिलती है, सहजोलीकी वैसी कोई व्याख्या नहीं मिलती। इसमें इस मुद्राका उल्लेख ही नहीं है। —रा० सिं०

सहोक्ति—सादृश्यमूलक गम्यौपम्याश्रय वर्गका भेद-प्रधान, प्राचीनोंसे स्वीकृत चला आनेवाला, अलंकार। अर्थ है सहभावकी उक्ति। इसमें एक अन्वित अर्थवाले पदकी, 'सह' शब्दकी अर्थसामर्थ्यसे, दो अन्वित अर्थकी बोधकता होती है (का० प्र०, १० : ११२)। सामान्यतः इसके सम्बन्धमें यही धारणा चलती रही है—"दो वस्तुओंकी तुल्यकालीन दो क्रियाओंका एक ही पदसे कथन करना" (सहार्थक शब्दकी सामर्थ्यसे)" (का० सू० वृ०, ४ : ३ : २८)। इस प्रकार साधारण कथनमें यह अलंकार नहीं माना गया है—"राम लक्ष्मण और सीताके साथ वन गये"। सहोक्तिमें अतिशयोक्तिका होना अत्यन्त आवश्यक माना गया है—'मूलभूतातिशयोक्तिर्यदा भवेत्' (सा० द०, १० : ५५)। जयदेवका 'जनरंजनः' कहना भी इसी बातका संकेत है।

हिन्दीके आचार्योंमें कुछने 'चन्द्रालोक' तथा 'कुवलयानन्द'के आधारपर लक्षण दिये हैं—"वस्तुनको भासत जहाँ, जनरंजन सह भाव" (शि० भू०, १४९), अथवा 'बहु संग भनै, जनरंजनके काज' (पद्मा०, ९६), जो बहुत स्पष्ट नहीं है। केशवका लक्षण दण्डीके आधारपर है और अपूर्ण है—"हानि बुद्धि सुभ असुभ कछु कहिये गूढ़ प्रकास। होइ सहोक्ति सो साथ ही बरनत केसवदास" (क० प्रि०, १२ : २०)। पर उदाहरण उपयुक्त है—"सिसुता समेत भई मन्द मन्दगति लोचननि गुनसों वलित ललित गति पायी है" (वही, २१)। मतिराम, कुलपति तथा दास आदिने मम्मट-विश्वनाथके आधारपर लक्षण दिये हैं—"काज हेतुकौ छोडि जहँ औरनिके सहभाव" (ल० ल०, १५७)। उदा०—"नैननते नीर धीर छूट्यो एक संग, छूट्यो सुख रुचि, मुख रुचि त्यो ही बिन रंग ही" (शि० भू०, १५०), अथवा—"फूलनके संग फूलिहै रोम परागनके सँग लाज उडाइहै। पल्लव पुंजन सँग अली हियरा अनुरागके रंग रँगाइहै" (का० नि०, १५)। इसका एक भेद श्लेषमिश्रित माना गया है—"मन सँग रक्ताधर भये, सैसव संगति मन्द" (अ० म०, ३०९)। यहाँ 'रक्त' पदमें श्लेष है, अधरके पक्षमें लाल रंग और मनके पक्षमें अनुराग। —शि० प्र० सिं०

सांख्य—सांख्य, दर्शनकी एक पद्धति है, जिसके आदि प्रवर्तक कपिल हैं। इस दर्शनको सांख्य क्यों कहते है? इस प्रश्नके विविध उत्तर है। (क) कपिल दर्शनमें संख्या, अर्थात् सम्यक् ज्ञानकी प्रधानता है। संख्याका अर्थ है सम्यक् ख्यातिका ज्ञान। यह विशुद्ध ज्ञानमार्ग है। प्रत्यक्ष और अनुमान ही इसके मुख्य प्रमाण है। यद्यपि कालान्तरमें श्रुतिप्रमाण या वेदोंका प्रमाण भी इसमें मान्य समझा गया, तथापि प्राथमिकता तर्क या ज्ञानकी ही रही है। गीतामें सांख्यको ज्ञानमार्गका ही पर्याय कहा गया है। शंकराचार्य भी सांख्यको तार्किक कहते है। संख्या या ज्ञानकी प्रधानताके कारण इस दर्शनको सांख्य कहा जाता है। (ख) कुछ लोगोंका मत है कि सांख्य दर्शनका यह नाम इसलिए पड़ा कि इसमें तत्त्वोंकी संख्या या गिनती की गयी है। मौलिक तत्त्व कितने है, इसका जो शास्त्र विचार करता है, उसको सांख्य कहते है। पर आज भी जो दर्शन इन तत्त्वोंकी गिनतीका विचार करते है, उनको हम सांख्य नहीं कह सकते। सांख्य भारतका पहला दर्शन है, जिसमें मौलिक तत्त्वोंकी संख्या की गयी। उपनिषदोंका पहला समन्वय करनेवाला दर्शन यही सांख्य है। इसमें उपनिषदोंके मौलिक तत्त्वोंको विकास-क्रममें सँजोया गया।

सांख्य शास्त्रके प्रथम आचार्य कपिल है। इन्होंने 'सांख्यसूत्रों'की रचना की थी, पर वह उपलब्ध नहीं है। इस नामसे जो उपलब्ध है, वह पूर्ण क्षेपक ही नहीं, वरन् जाली रचना है, जो बहुत पीछे लिखी गयी। सांख्यका प्रयोग जैन परम्परा तथा महाभारत और गीतामें आता है। कपिलका नाम 'श्वेताश्वतर' उपनिषदमें भी आया है। कपिलके समयको कुछ लोग ७०० ई०पू० ठहराते हैं। कुछ भी हो, पर यह निश्चय किया गया है कि कपिल बुद्धपूर्व थे। जिस समय प्राचीन उपनिषदोंकी रचना हो चुकी थी और उनके ज्ञानमार्गकी प्रधानता भी थी, उसी समय यह आवश्यकता पडी कि उस ज्ञानमार्गको सुश्रृंखलित रूपमें प्रस्तुत किया जाय। कपिलने, जो बहुत बड़े सिद्ध थे, इस कार्यको किया।

सांख्य दर्शनका प्राचीनतम ग्रन्थ जो उपलब्ध है, ईश्वरकृष्ण (लगभग १०० ई०)की 'सांख्यकारिका' है। इसके अनुसार चार प्रकारके तत्त्व है—प्रकृति, विकृति, प्रकृति-विकृति दोनों या उभय और न प्रकृति न विकृति, अर्थात् अनुभय। प्रकृति कहते हैं मूल कारणको। यह अचेतन है;

सत्त्व, रज और तम, इन तीन गुणोंकी साम्यावस्था है। यह प्रसववती है, अर्थात् इससे कुछ वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, जिनको हम विकृति कहते हैं। इससे पहले महत् उत्पन्न होता है, महत्‌से अहंकार, अहंकारसे युगपत् तीन प्रकारके तत्त्व प्रकट होते हैं—१. मन, २. इन्द्रियाँ और ५ तन्मात्राएँ। इन्द्रियाँ ५ कर्मेन्द्रियाँ हैं, अर्थात् हस्त, पाद, मुख, पायु और उपस्थ, ५ ज्ञानेन्द्रियाँ क्रमशः शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा और गन्धतन्मात्रा हैं। इनमें, परवर्ती तन्मात्राओंमें, पूर्ववर्ती तन्मात्राएँ विद्यमान रहती हैं। फिर इन्हीं ५ तन्मात्राओंमेंसे क्रमशः आकाश, वायु, तेज, अप् और पृथ्वी, इन पाँच महाभूतोंका विकास होता है। महत्, अहंकार और ५ तन्मात्राएँ इन सात तत्त्वोंको प्रकृति, और विकृति, दोनों कहते हैं, क्योंकि एक ओर ये उत्पादक हैं, तो दूसरी ओर उत्पन्न। मन, १० इन्द्रियाँ और ५ महाभूत इन १६ तत्त्वोंको केवल विकृति कहते हैं, क्योंकि ये केवल कार्य या उत्पन्न हैं, कारण या उत्पादक नहीं। इस प्रकार १ प्रकृति, ७ प्रकृति-विकृति और १६ विकृति और इन २४ तत्त्वोंसे पृथक् चतुर्थ पुरुष है, जो न प्रकृति है न विकृति। इस तरह कुल २५ तत्त्व हैं। मूलतः पुरुष और प्रकृति ये ही दो तत्त्व हैं। पुरुषके सान्निध्यसे प्रकृतिकी साम्यावस्था भंग होती है और तब उसमें गति आती है, जिसके फलस्वरूप महदादिक्रमसे सभी अन्य तत्त्वोंका विकास होता है। पाँच महाभूतों तथा मन और इन्द्रियोंके ही विभिन्न संघातोंसे 'नाना जीवो येन जगत्' बनता है। पुरुष प्रकृतिसे मूलतः अनासक्त है। पर जगत्‌में वह प्रकृतिके कार्यकलापमें बँधा प्रतीत होता है। ज्ञानसे इस बन्धनको दूर करके पुरुषका अपने अस्तित्वका अनुभव करना ही मोक्ष या कैवल्य है। पुरुष द्रष्टा और भोक्ता दोनों है, किन्तु वह कर्त्ता नहीं है। कैवल्यमें पुरुष अपनी दृष्टि-शक्ति तथा योग-शक्तिसे ज्ञान तथा आनन्द प्राप्त करता है।

साहित्यशास्त्रमें सांख्यके अनुसार भट्टनायकने इसका निरूपण किया है। उनके मतको मुक्तिवाद या भोगवाद (दे०—रस-निष्पत्ति, तीसरा मत) कहा जाता है। भोगवादके आधार-पुरुष-की त्रिगुणात्मिका प्रकृतिसे भिन्नता, उसकी द्रष्टृत्व या ज्ञातृत्वकी शक्ति (भावकत्व शक्ति) तथा उसकी भोक्तृत्व-शक्ति (भोजकत्व-शक्ति) है।

विकास-क्रमका व्यतिक्रम या विपरीत-क्रम तिरोभाव या प्रलय है। विकासक्रममें सांख्य सत्कार्यवाद या प्रकृति-परिणामवादके सिद्धान्तको मानता है, जिसके अनुसार कार्य कारणमें सर्वदा पूर्वसे ही विद्यमान रहता है। कार्य कारणावस्थाका व्यक्त रूप ही है।

ईश्वरकृष्णके उपर्युक्त सांख्यमें ईश्वरकी मान्यता नहीं है, अतः वह निरीश्वरवादी दर्शन है, कुछ लोग कहते हैं कि ईश्वरकृष्ण वस्तुतः निरीश्वरवादी नहीं, बल्कि अज्ञेयवादी हैं, इसलिए वे ईश्वरके विषयमें मौन हैं। उनकी अनुक्तिका अर्थ अभाव न लगाना चाहिये। कुछ भी हो, इस सांख्यकी पारिभाषिक संज्ञा निरीश्वर सांख्य है। इससे पृथक् सेश्वर सांख्य है, जिसमें २५ तत्त्वोंसे पृथक् ईश्वर तत्त्वको भी माना जाता है और इस तरह उसमें २६ तत्त्व हो जाते हैं। विज्ञानभिक्षु जिन्होंने 'सांख्यप्रवचनसूत्रभाष्य' लिखा है, इसी सेश्वर सांख्यके अनुयायी हैं। 'चरकसंहिता'में सांख्यका मत मिलता है, पर उसमें २५ या २६ तत्त्वोंके बजाय केवल २४ तत्त्व ही हैं। वहाँ प्रकृति और पुरुष दोनोंको अपृथक् कर लिया गया है, क्योंकि वे दोनों ही अव्यक्त हैं। 'चरकसंहिता' (७८ ई०)में निरूपित सांख्य ईश्वरकृष्ण और विज्ञानभिक्षुके सांख्यसे प्राचीन है। चरकके पूर्व महाभारतका काल है। उसमें भी चरक जैसा ही सांख्यका निरूपण है। अतः यह समस्या उत्पन्न हो गयी है कि मौलिक सांख्य सेश्वरवादी है या निरीश्वरवादी? कपिलका सांख्य क्या है? इसके विविध ढंगसे उत्तर दिये गये और कुछ लोगोंने कपिलको निरीश्वरवादी, कुछने सेश्वरवादी तो कुछने अज्ञेयवादी माना।

'षड्दर्शनसमुच्चय'के भाष्यकार गुणरत्न (१४ वीं शती)-ने सांख्यके दो सम्प्रदायोंका उल्लेख किया है—मौलिक सांख्य और उत्तरसांख्य। मौलिक सांख्यमें जैसे पुरुष अनेक हैं, वैसे प्रकृति भी अनेक है, एक नहीं। उत्तर-सांख्यमें पुरुष अनेक और प्रकृति एक मानी गयी।

सेश्वरसांख्य और योगके तत्त्ववादमें कोई अन्तर नहीं है। योग सांख्यका साधनापक्ष है, तो सांख्य योगका सिद्धान्तपक्ष या दर्शनपक्ष है।

पुराणोंने सर्वदर्शन समन्वय करते हुए अवतारवादके सिद्धान्तको निकाला और सामान्यतः प्रत्येक दर्शनके संस्थापकको ईश्वरावतार या उसके अंशका अवतार माना। कपिलको ईश्वरका अवतार समझा गया। वे सिद्धोंमें भी सिद्ध माने गये। हिन्दीके सन्तों और दार्शनिकोंने भी कपिलको ईश्वरावतार या महासिद्ध माना। उन्होंने उनसे आत्मज्ञानका उपदेश कराया (सू० सा०, ३) और उनका समग्र विकासवाद मान लिया। सांख्यकी प्रकृतिको माया कहा गया और त्रिगुणी माया या त्रिगुणात्मिका प्रकृति उसका लक्षण माना गया। सूरदासने सांख्यके इस विकास-क्रमका बड़ा सुन्दर निरूपण किया है—"माया कौं त्रिगुनात्मक जानौ। सत रज तम ताके गुन मानौ। तिन प्रथमहिं महतत्त्व उपजायौ। तातैं अहंकार प्रकटायौ। अहंकार कियौ तीनि प्रकार। सततैं मन सुर सात रु चार। रजगुन तैं इन्द्रिय विस्तारी। तमगुन तैं तन्मात्रा सारी। तिनतैं पंच तत्त्व उपजायौ। इन सबको इक अण्ड बनायौ। अण्ड भो जड़ चेतन नहिं होई। तब हरिपद छायामन पोई" (सू० सा०, ३)।

यहाँ स्पष्ट है कि सेश्वर सांख्यको ही सूर जैसे सगुणवादियोंसे अधिक महत्त्व मिला। पौराणिकोंकी भाँति हिन्दीके इन ज्ञानियोंने भी सांख्यके विकासवादको स्मृतियोंके सृष्टिवादसे समन्वित किया, जिसमें अण्डसे सृष्टि प्रायः मानी जाती है।

पर निरीश्वरवादी तथा अज्ञेयवादी सांख्यको हिन्दीमें अमान्यता नहीं मिली। हिन्दीके सन्तमतकी परम्परामें सांख्यके अनेकानेक सिद्धान्त मिलते हैं। लगता है कि यह सारी परम्परा सांख्य तथा बौद्ध दर्शनोंके घात-प्रतिघातसे बनी है और अन्तमें कहीं अद्वैतपरक हो गयी है तो कहीं द्वैतपरक। जहाँ वह द्वैतपरक है, वहाँ वह सांख्यके अधिक समीप है।

विज्ञानभिक्षुके 'सांख्यप्रवचनसूत्रभाष्य'के सांख्यप्रवचन सूत्रोंके ६ अध्यायोंका सारांश दादू-पन्थी निश्चलदास-(१९वीं शती) ने 'विचारसागर'में यों दिया है—"सांख्यशास्त्र षट्अध्यायरूप कपिलने किया है ताके प्रथम अध्याय मे विषयनिरूपण किये है। द्वितीय अध्यायमे महत्तत्त्व अहंकारादिक प्रधानके कार्य कहे है। तृतीय अध्यायमे विषयनतें वैराग्य कह्या है। चौथे अध्यायमे परपक्षका खण्डन कह्या है। छठे अध्यायमें सारे अर्थका संक्षेपसे संग्रह किया है। प्रकृति पुरुषके विवेकते पुरुषका असंगज्ञान सांख्यशास्त्रका प्रयोजन है ताका भी त्वम्पदके लक्ष्य अर्थ शोधन द्वारा महावाक्यजन्य ज्ञान उपयोगी होनेसे मोक्ष ही फल है।'

निश्चलदासने प्रचलित परम्परावश इन सूत्रोंको कपिलकृत माना, जो वस्तुतः ठीक नहीं है। पर उन्होने सांख्यके महत्त्वका अच्छा प्रज्ञापन किया है कि यह तत्त्वमसि जैसे वाक्यमें त्वम पदके अर्थमें सहायता देता है। इसलिए प्रायः सांख्यको वेदान्तका उपयोगी शास्त्र माना जाता है।

राधाकृष्णन्‌का मत है कि रामानुज तथा अन्य वैष्णव तथा शैव-वेदान्तियोंने सांख्यके ही आधारपर मध्ययुगमे दर्शन तथा धर्मके सम्प्रदायोंकी स्थापना की। वर्तमान समयके पाश्चात्य विद्वानोने जिन्होंने भारतीय विद्याओपर कुछ काम किया है, सांख्यको विशेष महत्त्व दिया है। इस दृष्टिसे यद्यपि सांख्यदर्शनकी वैसी परम्परा नहीं है, जैसी वेदान्त की है, तथापि उसका प्रभाव भारतीय दर्शनोंपर विशेष रहा है।

[सहायक ग्रन्थ—हिस्ट्री ऑव इण्डियन फिलासफी, प्रथम भाग : दासगुप्त; इण्डियन फिलासफी, द्वितीय भाग : राधाकृष्णन्; विचारसागर : निश्चलदास।] —सं० ला० पा०

सांग रूपक—दे० 'रूपक', तीसरा प्रकार।

सांगीत—दे० 'नौटंकी'।

साँझी—साँझी अथवा संझया, 'संजा' या 'सॉजुली' उत्तरप्रदेश, मालवा, राजस्थान और निमाड़की कुमारी कन्याओंका एक आनुष्ठानिक व्रत एवं बालगीतोंका एक प्रकारविशेष, जो उक्त व्रतके सन्दर्भमे गाये जाते है। ब्रज भी साँझी व्रत और उसके गीतोंसे परिचित है। महाराष्ट्रमें 'गुलबाई', बुन्देलखण्डमें 'मामुलिया' और कांगड़ा जिलेमें 'रली'का त्योहार इसके अनुरूप है। आश्विन मासकी प्रतिपदासे कुँवारी कन्याएँ साँझीका व्रत आरम्भ करती हैं। दीवारपर गोबरसे आकृतियाँ उकेरकर उन्हें फूलकी पंखुड़ियों और अन्य प्राकृतिक उपादानोंसे सजाती हैं। इन्हीं आकृतियोंके सम्मुख साँझीके गीत मिलकर गाये जाते हैं। साँझीका आकृतिपक्ष आनुष्ठानिक महत्त्व रखता है। ऐतिहासिक दृष्टिसे ब्रह्माकी कन्या सन्ध्याका साँझीसे किसी तरह भी सम्बन्ध नहीं है। गीतोंके आधारपर साँझीका पीहर साँगानेरमें था और उसका विवाह अजमेरमें हुआ था। साँगानेरके कल्याणजी उसे विवाहके पश्चात् ससुराल ले जानेका आग्रह करते है। ब्रजके गीतोंमें 'सजलदे' नाम प्रचलित है। यह बात पुष्ट आधारोंमे प्रकट है कि साँझीका राजस्थानसे मूल सम्बन्ध रहा है। मालवाके गीतोंमे साँझीके भाई सूरजनारायण बताये गये हैं। वह भरे-पूरे परिवारकी लाडली कन्या थी, दीवारपर बनायी जानेवाली साँझी उसकी प्रतीकवत् आकृति है। यह क्रम सोलह दिनतक चलता है। अन्तिम दिन साँझी सिरायी जाती है और बिदाके गीतोंसे कन्याएँ अपनी-अपनी साँझीको ससुराल भेजती है। साँझीके गीतोंमे सामूहिक लय, लघु चरण एवं द्रुत गति, संवादात्मकता तथा लघु कथासूत्र समाविष्ट है। गीतोंका मूल स्वभाव कुतूहल, विनोद और बाल-प्रवृत्तियोसे प्रभावित है। —श्या० प०

सांस्कृतिक चक्रवाद—(cyclic theory of culture)—ऐतिहासिक-सांस्कृतिक विकासके दिशा-निर्देशके प्रयत्नोंके दो रूप देखनेको मिलते है—रेखावाद और चक्रवाद। रेखावाद मानवजातिकी एक नियत गन्तव्यकी प्राप्तिकी चेष्टामें उत्तरोत्तर सफलताकी कल्पना करता है। चक्रवादके अनुसार मानवता एक ही अथवा समान अवस्था अथवा अवस्थाओंको पुनः पुनः प्राप्त हुआ करती है। एक वैदिक ऋचामें इस बातकी ओर संकेत है कि वर्तमान सृष्टि पूर्वसृष्टियोंके अनुरूप है। हिन्दुओंके युगचक्र प्रसिद्ध ही है। इससे मिलती-जुलती कल्पनाएँ अनेक अन्य प्राचीन संस्कृतियोमे भी पायी जाती है। जर्मन इतिहास-दार्शनिक औस्वाल्डस्पेंग्लर (१८८०-१९३६)के अनुसार प्रत्येक संस्कृति एक सजीव प्राणीके समान जन्म लेती, बढती, परिपक्व होती और मृत्युको प्राप्त होती है। उसके बाद एक नयी संस्कृतिका उदय होता है और वह भी उसी मार्गका अनुसरण करती है। अमेरिका-प्रवासी रूसी इतिहास-दार्शनिक पितिरिम ए० सोरोकिनके अनुसार मानवसमाजमें प्रत्यक्षवाद, परोक्षवाद और अध्यात्मवाद, इन तीन महा-संस्थानों (दे०) तथा तदनुसार सांस्कृतिक विशेषताओंका चक्र चला करता है।

स्पेंग्लर जैसे चक्रवादी विकास-चक्रको पूर्ण और सोरोकिन जैसे अपूर्ण माननेके पक्षमें है। पूर्वके अनुसार सभी विकास-चक्र पूर्ण सादृश्य रखते है, जब कि अपरके अनुसार आंशिकमात्र। स्पेंग्लर कहता है कि यूनानी-रोमीय सभ्यता जिन सोपानों अथवा अवस्थाओसे पार हुई है, उन्हीसे प्रत्येक सभ्यताको पार होना पडता है, जब कि सोरोकिनके अनुसार केवल मुख्य सोपानों अथवा अवस्थाओंमें ही सादृश्य आवश्यक है।

विकास-क्षेत्रकी व्यापकता अथवा विकास-धाराओंकी संख्याकी दृष्टिसे चक्रवादके दो रूप हो जाते है—एक-चक्रवाद और बहुचक्रवाद। एकचक्रवादके अनुसार सम्पूर्ण मानव-जातिमें एक ही विकास-चक्र प्रवर्तित है। शायद अफलातूनके चक्रवादको छोडकर प्रायः अन्य समस्त प्राचीन चक्रवादी धारणाएँ इसी कोटिमें आती है। बहुचक्रवादके अनुसार मानव-जाति वस्तुतः एक जाति न होकर अनेक जातियो, संस्कृतियों अथवा सभ्यताओका एक महासंघ है। समूची मानवताका कोई एक विकास मार्ग नहीं है। आधुनिक चक्रवादी प्रायः बहुचक्रवादी ही हैं। —ह० ना०

साकांक्ष—दे० 'अर्थ-दोष', बारहवाँ।

साकांक्षता—रूपगोस्वामीने अपने 'भक्तिरसामृतसिन्धु'में कहा है कि अंग-प्रत्यंगका यथोचित सन्निवेश ही सौन्दर्य है

(भवेत्सौन्दर्यमंगानां सन्निवेशो यथोचितम्)। आधुनिक सौन्दर्यशास्त्रमे प्रयुक्त समता, संगति, सामंजस्य, सन्तुलन, समानुपात आदि शब्द सन्निवेशकी कल्पनाको ही विविध प्रकारसे ध्वनित करते है। हरिद्वारीलाल शर्माने अपने सौन्दर्यशास्त्रमें इसी समानुपातके बदले सापेक्षता तथा साकांक्षता शब्द प्रयुक्त किये है। आकांक्षाका अर्थ है अपेक्षा, अन्तः साकांक्षताका अर्थ हुआ सापेक्षता।

साकांक्षतासे तात्पर्य है किसी वस्तुके अवयवोंका परस्पर इस प्रकार सम्बद्ध होना कि प्रत्येक एक 'समग्र' रूपमें अपना उचित स्थान प्राप्त कर ले। आप ऐसा व्यक्ति देखते है, जिसके दाँत मुँहसे एक-एक अंगुल बाहर निकले हुए है, नाक अत्यन्त चपटी—मानो है ही नही, एक आँख बहुत बडी और दूसरी बहुत छोटी, पीठपर आठ कूबड इत्यादि। ऐसा अष्टावक्र किसीको भी सुन्दर अथवा सुरूप नही लगेगा, क्योकि उसके अंग-प्रत्यंग परस्पर निराकांक्ष, निरपेक्ष है। प्रत्येकका रूप अन्योंके रूपोंके साथ समग्रीभूत, समन्वित एवं सुग्रथित हो, एक रूपवान् अंग-यष्टिकी उद्भावना नही करता। अवयवोंके समुच्चय-मात्रसे सुरूपताकी सृष्टि नही हो जाती। इसी प्रकार ध्वनियोंके ग्राममात्रको हम संगीत नही कह सकते। संगीतको सम्भव करनेके लिए ध्वनियोंको अपना पृथक्त्व, अपनी निरपेक्षता, खोकर एक नियमसे समन्वित होना पड़ेगा, परस्पर सापेक्ष अथवा साकांक्ष बनना होगा। इसी प्रकार शब्दोके समूहमात्रको नहीं, बल्कि उनके एक नियमसे साकांक्षतापादनको ही कविता कह सकते है। —ह० ना०

साक़ी–इसका अर्थ शराब पिलानेवाली या पिलानेवाला है। सूफ़ी-काव्यमे इस शब्दका प्रयोग भी कई अर्थोंमे किया गया है। मुर्शिद (गुरु)के लिए इसका प्रयोग मिलता है। इसका प्रयोग सत्यके लिए भी किया गया है। यहाँ 'सत्य'से मतलब परम सत्य (परमात्मा)से है। वह 'सत्य' ऐसा है जो अपनेको सभी व्यक्त रूपोंमे अभिव्यक्त करना पसन्द करता है। —रा० पू० ति०

सागा–दे० 'कथाकाव्य'।

सात्वती वृत्ति–दे० 'नाट्य वृत्ति', दूसरी।

सात्त्विक अनुभाव–भरत (३, ४ श० ई०)ने संचारी भावोंके बाद इनका विवेचन भी किया है। इनके अनुसार ये अनुभाव 'सात्त्विक' इस कारण है कि इनका अभिनय विशेष मनोवेगसे ही सम्भव है और चित्त-विक्षेपके साथ कोई व्यक्ति इनका अभिनय नहीं कर सकता (ना० शा०, ६ : ९३)। अन्तःकरणके विशेष धर्म 'सत्त्व'से उत्पन्न ऐसे अंग-विकारको सात्त्विक अनुभाव कहते हैं, जिससे हृदयगत रस या भावका पता चलता है। सत्त्वको मनःप्रभव कहा जाता है। 'साहित्यदर्पण' (१४ श० ई०)के अनुसार सत्त्व 'स्वात्मविश्राम', अर्थात् रसको प्रकाशित करनेवाला आन्तर धर्म है। इससे सम्बन्ध रखनेके कारण ही इन अनुभावोंको सात्त्विक भाव भी कह दिया जाता है (३ : १३३, ३४)। वस्तुतः ये रसके प्रकाशकके रूपमें अनुभावमात्र ही है, केवल 'गोबलीवर्दन्याय'से इनका पृथक् वर्णन किया जाता है। व्यभिचारी भावों तथा इन अनुभावोंमें हेमचन्द्र(१२श० ई०)ने केवल यही अन्तर स्वीकार किया है कि व्यभिचारियों-मे ग्लानि, आलस्य तथा श्रम जैसे कुछ बाह्य कारणोंसे उत्पन्न होनेवाले भाव भी है, किन्तु सात्त्विक अनुभाव, जिन्हे सात्त्विक भाव भी कहा जाता है, इसीलिए उनसे पृथक् हैं कि वे पूर्णतया मानस-जन्य है। हेमचन्द्रके अनुसार 'सत्त्व'-का अर्थ है 'प्राण'। स्थायी भाव ही प्राणतक पहुँचकर सात्त्विकका रूप धारण कर लेते है। प्राणमे पृथ्वीका भाव प्रधान हो जानेपर स्तम्भ, जलप्रधान हो जानेपर अश्रु, तेजकी प्रधानता होनेपर स्वेद, तेजके तीव्रता-शून्य होकर प्रधान होने पर वैवर्ण्य, आकाशका भाग प्रधान होनेपर प्रलय, वायुके मन्द, मध्य तथा उत्कृष्ट आवेशसे रोमांच, कम्प तथा स्वरभंग होता है। शरीर-धर्म बाह्य स्तम्भादि ही इन आन्तरिक स्तम्भादिकी व्यंजना करते है।

हिन्दीके रीतिकालमे प्रायः संस्कृतके आधारपर इनका लक्षण प्रस्तुत किया गया है। अनेक बार ये स्पष्ट भी नहीं है और अधिकांशने संख्या गिनकर उनके अलग लक्षण दिये है। आधुनिक विज्ञानके प्रकाशमे गुलाब राय (२० श० ई०)ने रुधिरकी गति तथा स्नायविक शक्तियोंके एक स्थान-विशेषपर केन्द्रित हो जानेसे स्तम्भ, स्नायविक उत्तेजनाके कारण ग्रंथियाँ फैल जानेसे स्वेद, स्नायविक उत्तेजनासे रुधिरकी तीव्रगतिके कारण रोमांच, मनोवेगोंके कारण रक्त-प्रवाह तथा श्वासक्रियामें अन्तर पड़नेपर स्वर-तन्तुओंके खिंचावके कारण स्वर-भंग, मांस-पेशियोंकी शिथिलताके कारण कम्प, स्नायुओंकी उत्तेजनाके कारण रक्त-प्रवाहकी मात्रामे न्यूनाधिक्यसे वैवर्ण्य, उत्तेजनाके कारण मस्तिष्ककी क्रियामें अन्तर पड़ जानेसे प्रलय आदिका जन्म बताया है (दे० 'नवरस')। स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु तथा प्रलय नामसे इनके आठ भेद है। भानुदत्त (१३ श० ई०)ने 'रसतरंगिणी'में 'जृम्भा' नामक एक अन्य भेदका भी वर्णन किया है। हिन्दीमे भी देव, पद्माकर आदिने इसे स्वीकार किया है। हिन्दी कवियोंमें भक्तिकालमें कृष्णभक्त कवियों तथा तुलसीने, रीतिकालमें विशेषतः बिहारी, मतिराम, देव, पद्माकर तथा घनानन्दने एवं आधुनिक कालमे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, सत्यनारायण 'कविरत्न', जगन्नाथदास 'रत्नाकर', मैथिलीशरण गुप्त, सुमित्रानन्दन पन्त आदिने इनका विशेष निर्वाह किया है।

१. स्तम्भ—हर्ष, भय, रोग, विस्मय, विषाद, लज्जा, मादकता तथा रोष आदिसे शरीरांगोंका अकस्मात् संचालन रुक जाना 'स्तम्भ' सात्त्विक कहलाता है (भरत : ना० शा०, ६ : ९६)। विश्वनाथके अनुसार—"स्तम्भश्चेष्टा प्रतीघातो भयहर्षामर्षादिभिः" (सा० द०, ३ : १३६)में यही भाव है। हिन्दीके आचार्योंने भी इसीको स्वीकार किया है—"लज्जा हर्षादिकनतें अचल होत जहँ अंग" (ल० ल०, ३१५)। देवने "रिस बिस्मय भय राग सुख दुखतें होय, गति निरोध जो गातमें" (भा० वि० : सात्त्विक०) माना है, जो अधिक व्यापक लक्षण है। पद्माकरकी इस पंक्तिमें इस अनुभावकी सुघर व्यंजना हुई है—"जैसीकी तैसी रही पिचकी कर काहू न केसरि रंगसों बोरी। गोरिनके रँग भीजिगो साँवरो साँवरेके रँग भीजी सुगोरी" (जगद्वि०, ३०७)। देवके इस अंकनमें 'स्तम्भ'का चित्र है—"मोहि कटाछनु मोहि चितौति चितौनहिं मोहन मोहि लयी है।

व्याध हनी हरिनी लौं बधू वह वा घर लौं मिहरात गयी है" (भा० वि० : सात्त्विक०)।

२. स्वेद—क्रोध, भय, हर्ष, लज्जा, दुःख, श्रम, रोग, ताप, चोट, क्लान्ति, समाचार आदिसे उत्पन्न पसीनेको स्वेद सात्त्विक अनुभाव कहते हैं (भरत : ना० शा०, ६ : ९५)। विश्वनाथने संक्षेपमें कहा है—"वपुर्जलोद्गमः स्वेदो रतिघर्मश्रमादिभिः" (सा० द०, ३ : १३७)। इसी भावको लेकर हिन्दीके आचार्योंने लक्षण दिया है—"क्रोध हर्ष सन्ताप श्रम घातादिक भय लाज। इनते सजल शरीर सो स्वेद कहत कविराज" (देव : भा० वि० : सात्त्विक०)। मतिराम, पद्माकर आदिके लक्षण समान हैं। तुलसीका निम्नलिखित सवैया इसका उत्कृष्ट उदाहरण है—"पुरते निकसी रघुबीर बधू धरि धीर दये मगमे डग द्वै। झलकी भरि भाल कनी जलकी अरु सूखि गये मधुराधर वै। फिरि बूझति है चलनो अब केतिक पर्णकुटी करिहो कित ह्वै। तियकी लखि आतुरता पियकी अँखियाँ अति चारु चली जल च्वै" (कविता०, २)। बिहारीका निम्नलिखित दोहा भी बड़ा रंजक है—"रहौ गुही बेनी लख्यौ गुहिबे कै त्यौनार। लागे नीर चुवान जे नीठि सुखाये बार" (बि० रत्नाकर, ४८०)।

३. रोमांच—स्पर्श, श्रम, शीत, हर्ष, क्रोध, रोग तथा भय आदिके कारण शरीरके रोंगटे खड़े हो जाना रोमांच सात्त्विक कहलाता है (भरत : ना० शा०, ६ : ९८)। विश्वनाथके अनुसार—"हर्षाद्भुतभयादिभ्यो रोमांचो रोमविक्रिया"(सा० द०, ३ : १३७), अर्थात् हर्ष, आश्चर्य तथा भय आदिसे रोयोंका खड़ा हो जाना। मतिरामने 'हरष भयादि तें" (ल० ल०, ३२१), देवने "आलिंगन भय हर्ष अरु सीत कोपतें" (भा० वि० : सात्त्विक०) रोमांच माना है। अन्योंके लक्षण इसी प्रकार है। नन्दराम इसे 'पुलकता' कहते हैं। पद्माकर स्नान करती हुई नायिकाके रोमांचका वर्णन करते हैं—"पुलकित गात अन्हाय यों अरी खरी छबि देत। उठे अंकुरे प्रेमके मनहु हेमके खेत" (जगद्वि०, ४०४)। आधुनिक कवि सुमित्रानन्दन पन्तकी पंक्तियोंमें इसका चित्रण है—"अरे वह प्रथम मिलन अज्ञात, विकम्पित मृदु उर, पुलकित गात। सशंकित ज्योत्स्ना-सी चुपचाप, जड़ित पद नमित पलक दृगपात"।

४. स्वरभंग—भय, हर्ष, क्रोध, मद, वृद्धावस्था और रोगादिके कारण स्वरका गद्गद हो जाना स्वरभंग कहलाता है (भरत : ना० शा०, ६ : ९९)। विश्वनाथके अनुसार—"मदसम्मदपीडाद्यैर्वैस्वर्यं गद्गदं विदुः" (सा० द०, ३ : १३८), अर्थात् मद, उद्वेग, पीड़ा आदिसे वाणीका गद्गद हो जाना वैस्वर्य है। हिन्दीमें इसीका अनुसरण हुआ है—"मोह कोह भय आदितै" (मतिराम : ल० ल०, ३३०) तथा "हरष भीत मद क्रोधतै" (पद्माकर : जगद्वि०, ४०५), वचनोंका और प्रकारका हो जाना कहा गया है। देवने अवश्य "निकसै गदगद बानि" माना है (भा० वि० : सात्त्विक०)। देवकी नायिका कुछ कह सकनेमें असमर्थ है—"अँसुवा ठहरात गरौ घहरात मरूकरि आधिक बात कही" (भा० वि० : सात्त्विक०)। 'रत्नाकर' अनुभावोंकी योजनामें अधिक सफल हुए है—"गद्दरि आयौ गरौ भभरि अचानक त्यौं, प्रेम पर्‍यौ चपल चुचाइ पुतरीनसौं। नैकु कही बैननि अनेक कही नैननि सौं, रही सही सोऊ कहि दीनी हिचकीनसौं" (उ० श०)।

५. वेपथु अथवा कंप—शीत, भय, क्रोध, श्रम, हर्ष, स्पर्श तथा वृद्धावस्थाके कारण शरीरका काँपने लगना 'वेपथु' सात्त्विक कहलाता है(भरत : ना० शा०, ६:९८)। विश्वनाथके अनुसार—"रागद्वेषश्रमादिभ्यः कम्पो गात्रस्य वेपथुः" (सा० द०, ३ : १३८), अर्थात् रागद्वेष तथा श्रम आदिसे शरीरमें कम्प होना। हिन्दीके आचार्योंने इसका लक्षण इस प्रकार दिया है—"क्रोध हर्ष भय आदितै थरथराति जो देह" (मतिराम : ल० ल०, ३२७)। मैथिलीशरण गुप्तने उर्मिलाके द्वारा चित्रांकनके समय निम्नलिखित पंक्तियोंमें कम्प तथा स्वेद सात्त्विकोंका निर्वाह किया है—"अवयवोंकी गठन दिखलाकर नयी, अमल जलपर कमल-से फूले कई। साथ ही सात्त्विक-सुमन खिलने लगे, लेखिकाके हाथ कुछ हिलने लगे। झलक आया स्वेद भी मकरन्द-सा, पूर्ण भी पाटव हुआ कुछ मन्द-सा" (साकेत, १)।

६. वैवर्ण्य—शीत, क्रोध, भय, हर्ष, विषाद, मोह, लज्जा तथा रोग आदिके कारण मुँहका रंग उड़ जाना 'वैवर्ण्य' सात्त्विक कहा जाता है (भरत : ना० शा०, ६ : ९६)। विश्वनाथ संक्षेपमें लक्षण देते हैं—"विषादमदरोषाद्यैर्वर्णान्यत्वं विवर्णता"(सा०द०, ३ : १३९), अर्थात् विषाद, मद, रोष आदिसे 'रंगका बदल जाना'। हिन्दीके आचार्योंने इन्हीका अनुकरण किया है—"मोह कोह भय आदितै वर्ण और विधि होय" (ल० ल०, ३३०)। देव इनके साथ 'लाज सीत अरु घाम'से भी 'मुख दुति औरै देखिये' (भा० वि० : सात्त्विक०) कहते है। देवने उदाहरण दिया है—"आलिनको मुख देखत ही मुख भावतीको भयो भोरको चन्द सौं' (वही) तथा अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔधके 'प्रियप्रवास'का यह चित्र है—"नव उमंगमयी सब बालिका, मलिन और सशंकित हो गयीं। अति प्रफुल्लित बालक-वृन्दका, वदन मण्डल भी कुम्हला गया"।

७. अश्रु—आनन्द, अमर्ष, धूम, भय, शोक अथवा अनिमेष देखनेसे आनेवाले आँसुओंको ही अश्रु सात्त्विक कहते हैं (भरत : ना० शा०, ६ : ९७)। विश्वनाथके अनुसार "अश्रु नेत्रोद्भवं वारि क्रोधदुःखप्रहर्षजम्" (सा० द०, ३ : १३९), अर्थात् क्रोध, दुःख तथा हर्ष आदिके कारण नेत्रोंसे उत्पन्न जल। देवने भरतके समान लक्षण दिया है—"बिपुल बिलोकत धूम भय हर्ष अमर्ष बिषाद। नैनन नीर निहारिये" (भा० वि० : सात्त्विक०)। अन्योंने कुछ कम या अधिक इन्ही बातोंका उल्लेख किया है। अश्रु सौन्दर्यका विवर्धक होकर भी आया करता है। सुन्दरीके आँसुओंमें ही बहुतेरोंको सुन्दरता दीख पड़ी है। देवका यह प्रसिद्ध चित्र इसका सुन्दर उदाहरण है—"बड़े-बड़े नैनन सों आँसू भरि-भरि ढरि, गोरो गोरो मुख आज ओरोसो बिलानो जात" और पद्माकरका उदाहरण व्यंजक है—"उमड़ि उमड़ि वहै बरखै सु आँखिन है, घटमें बसी जो घटा पीत पटवारेकी" (जगद्वि०, ४१५)।

८. प्रलय—श्रम, मूर्च्छा, भय, निद्रा, हर्ष, अभिघात

और मोहके कारण उत्पन्न निश्चेष्टता, निष्कम्पता तथा श्वासावरोध आदिसे युक्त अवस्थाको प्रलय सात्त्विक कहते हैं (भरत : ना० शा०, ६ : ९९)। विश्वनाथने केवल "सुखदुःखाभ्यां चेष्टाज्ञाननिराकृतिः" (सा० द०, ३ : १३९), अर्थात् सुख तथा दुःखसे निश्चेष्ट तथा संज्ञाहीन हो जाना माना है। मतिराम तथा देव आदिने 'ईहा', अर्थात् चेष्टाके सम्पूर्ण 'निरोध' तथा 'गात'के 'अचलगति' होनेमें 'प्रलय' माना है और इसके कारणरूपमें 'हर्ष, दुःख, भय' मतिरामने (ल० ल०, ३६९) और 'प्रिय दर्सन सुमिरन श्रवन' (भा० वि० : सात्त्विक०) देवने माना है। नन्दरामने इसे लीनता कहा है। प्रलय तथा स्तम्भमें यही अन्तर है कि स्तम्भमें प्राणोंकी सत्ता और उसकी चेतना बनी रहती है, किन्तु प्रलयमें प्राणहीनता दीख पड़ती है। स्तम्भ चेतना रहनेपर भी अचेतनवत् स्थितिका नाम है, अथवा सुख-दुःखादिके अविवेककी स्थिति है और प्रलय चेतनाहीन चेष्टा-निरोध है। प्रलयको नाटकमें अप्रदर्शनीय मानकर कुछ आचार्य उसके स्थानपर मूर्च्छाको रखना उचित मानते हैं। प्रलयका उदाहरण मतिरामका चित्रमय है—"चन्द्रमुखी न हलै न चलै निरवात निवासमें दीप सिखा सी" (ल० ल०, ३३७)। देवका उदाहरण भी नायिकाकी भावस्थितिका अंकन करता है—"देव सुठौर ही ठाढ़ी चितौति लिखी मनु चित्र विचित्र चितेरे" (भा० वि० : सात्त्विक०)।

९. जृम्भा—'रसतरंगिणी'के लेखक भानुदत्तने संस्कृत आचार्योंमें पहली बार 'जृम्भा' नामक एक नवीन सात्त्विकका उल्लेख किया है। रूप गोस्वामीने अनुभावोंके क्रमशः अलंकार, उद्भास्वर तथा वाचिक नाममें भेद प्रस्तुत करते हुए इसका उल्लेख उद्भास्वर अनुभावोंके अन्तर्गत किया है। हिन्दीमें मतिराम, देव, पद्माकर आदि कई प्रमुख आचार्योंने इसे सात्त्विक स्वीकार किया है। मतिराम और देवने इसका कारण 'उपजै आलस आदितें' (ल० ल०, ३३९) कहा है। पद्माकरने "प्रिय बिछोह सम्मोह कै आलस हीं अवगाहि" (जगद्वि०, ४२०) माना है, किन्तु हमारा विचार है कि इसका विरोध दो कारणोंसे किया जा सकता है—(१) यह कारणके साथ ही अन्य सात्त्विकोंके समान प्रकट नहीं होता, (२) सात्त्विकोंको व्यक्ति प्रयत्नपूर्वक दबा नहीं सकता, किन्तु जृम्भाको दबाया जा सकता है। इसे प्रायः केवल आलस्यसे उत्पन्न माना गया है, किन्तु वियोग, मोह तथा भयके कारण भी जब मुँह खोलकर श्वास-निःश्वास लिया जाता है, तब भी 'जृम्भा' सात्त्विक माना जाता है। पद्माकरकी पंक्तियोंमें 'जृम्भा'का उदाहरण है—"आरससौं रससौं पद्माकर चौंकि परे चख चुम्बनके किये। रातिकी जागी प्रभात उठी अँगिरात जम्हात लजात लगी हिये" (वही, ४२१)। —आ० प्र० दी०

सात्त्वतधर्म–दे० 'भागवतधर्म'।

सात्विक अलंकार–भरत(३-४ श० ई०)ने 'नाट्यशास्त्र'में २० सात्त्विक अलंकारोंकी चर्चा की है। नायिकाके इन अलंकारोंका विभाजन अंगज; भाव, हाव, हेला; अयत्नज; शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य तथा धैर्य; स्वभावज; लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, विब्बोक, ललित तथा विहृत-में किया गया है। धनंजयके 'दशरूपक'(१० श० ई०)में 'नाट्यशास्त्र'के विभाजनको यथावत् स्वीकार कर लिया गया है। भोजने सात अयत्नज अलंकारोंको छोड़ दिया है, तीन अंगजोंमेंसे दोको स्वीकार किया है और उन्हें स्त्री-पुरुष, दोनोंमें समान रूपसे माना है; दस स्वभावजोंमें क्रीडित तथा केलिको जोड़ा गया है। हेमचन्द्र, रामचन्द्र गुणचन्द्र, शारदातनयने 'नाट्यशास्त्र'के विभाजनको माना है। शारदातनयने इन सबको सात्त्विक कहनेमें आपत्ति की है। इनके अनुसार तीन अंगज और सात अयत्नज ही केवल मानस अथवा सात्त्विक कहे जा सकते हैं और दस स्वभावजोंको शारीर कहना उचित है। इन्होंने क्रीडित तथा केलिका उल्लेख भी किया है। भानुदत्तने भरतके केवल दस स्वभावज अलंकारोंको 'हाव'के नाममें ग्रहण किया है और उनके तीन विभाजन किये हैं :–शारीर—लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम तथा ललित; आन्तर (मानसिक)—मोट्टायित, कुट्टमित, विब्बोक तथा विहृत; उभय (संकीर्ण)—किलकिंचित। विद्यानाथने सभी अलंकारोंको शृंगार-चेष्टा कहा है, इनका विभाजन न करके कुतूहल, चकित, हासको जोड़ा है तथा शोभा, कान्ति, दीप्ति, औदार्य तथा प्रगल्भताको अस्वीकार किया है। शिंगभूपालने शारदातनयके अनुसार बीस अलंकारोंको चित्तज तथा गात्रजमें विभाजित किया है। विश्वनाथने 'नाट्यशास्त्र'की संख्या तथा विभाजनको स्वीकार करके भी स्वभावजमें आठ और जोड़े हैं—मद, तपन, मौग्ध्य विक्षेप, कुतूहल, हसित, चकित और केलि। इनमेंसे चार केलि (भोज द्वारा), कुतूहल, चकित, हास(विद्यानाथ द्वारा)-का उल्लेख हो चुका है। रूपगोस्वामीने भरतके क्रमको स्वीकार किया है, केवल विहृतके स्थानपर विकृतको किंचित् भिन्न परिभाषाके साथ लिया है और मौग्ध्य तथा चकितका उल्लेखमात्र किया है। केशव मिश्रने 'हाव'के रूपमें केवल १६का उल्लेख किया है, जो विश्वनाथसे लिये गये हैं और 'विहृत'के स्थानपर 'विकृत' रूप गोस्वामीसे लिया है।

इन अनुभाव अलंकारोंको स्त्रियोंकी भावाभिव्यक्तिसे सम्बद्ध माना गया है। पर कुछ आचार्योंने कुछ अलंकारोंको पुरुषोंसे भी सम्बद्ध माना है। भोजने 'हेला' और 'हाव'को दोनोंमें स्वीकार किया है, भानुदत्तके अनुसार विब्बोक, विलास, विच्छित्ति तथा विभ्रम पुरुषोंके भी अलंकार माने जा सकते हैं, विश्वनाथके अनुसार अंगज तथा अयत्नज, दोनोंमें समान रूपसे होते हैं और हेमचन्द्रके अनुसार बीसों अलंकार स्त्री-पुरुष, दोनोंके हो सकते हैं।

हिन्दीमें प्रायः इनको 'हाव'की संज्ञा दी गयी है। नन्ददासने 'रसमंजरी' (१५६६ ई०)में केवल तीन अंगज अलंकारोंपर विचार किया है और उसमें चौथा (रतिको) जोड़ा है, पर अन्य किसीने बादमें इसे स्वीकार नहीं किया। केशवने 'रसिकप्रिया'(१५९१ ई०)में 'हाव'के अन्तर्गत १० स्वभावज अलंकारोंके साथ तीन—हेला, मद, बोधको और माना है। इन १३ हावोंको नायक-नायिका, दोनोंके अलंकार कहा गया है और इनके उदाहरण भी दिये गये हैं। भानुदत्तके द्वारा उल्लिखित केवल १० स्वभावज अलंकारोंको हिन्दीमें जसवन्त सिंह, मतिराम, देव, ब्रह्मदत्त, बेनी प्रवीनने स्वीकार किया है। बिहारीलाल भट्टने इनको बहि-

रंग और अन्तरंगमें विभाजित किया है। इनके अनुसार विच्छित्ति, ललित, विभ्रम और लीला बहिरंग हैं और शेष अन्तरंग। हावोंका संख्या-विस्तार करनेमें इन लेखकोंने सहयोग दिया है, प्रतापनारायण सिंह तथा गंगाप्रसाद अग्निहोत्रीने केवल हेलाको और माना है। पद्माकर, ग्वाल कवि, नन्दराम, दौलतराम और भानुने बोधकको भी सम्मिलित किया है। लछिराम तथा बाबूराम बित्तरियाने उपर्युक्त दोनोंके साथ मद और आहार्यको भी माना है। सुन्दरने हाव, हेला, मद, तपन, मौग्ध्य और विक्षेपको लेकर संख्या १६ मानी है। भावोंको स्वतन्त्र माना है। तोषने विश्वनाथके १८ स्वभावज अलंकारोंमेंसे कुतूहलको हटाकर बोधक, उद्दीपन तथा हेलाको जोड़ २० संख्या पूरी की है। इनके अतिरिक्त उदारता, माधुर्य, प्रगल्भता और धीरताको नायिकाके चार भूषण और माने हैं। ये भरत आदिके अयत्नज अलंकार ही हैं। दास (र० सा०)ने भी संख्या २० ही दी है, विश्वनाथके १८ स्वभावज अलंकारों-मेंसे मौग्ध्यको निकालकर बोधक, उद्दीपन तथा हेलाको जोड़ा है। कुमारमणि, श्यामसुन्दर दास, कन्हैयालाल पोद्दारने विश्वनाथ द्वारा स्वीकृत १८ अलंकारोंको स्वीकार किया है। 'हरिऔध'ने बोधक और रसलीनने बोधक और उद्दीपक विश्वनाथके स्वभावजोंमें जोड़ दिये हैं और रसलीनने मनोभवको अंगजोंमें कम कर दिया है। सब मिलाकर हिन्दीके आचार्योंने रति, बोधक, उद्दीपक तथा अहर्य (आहार्य) चार हाव विकसित किये हैं। उपर्युक्त लेखकोंकी तत्सम्बन्धी कृतियों तथा उनके कालक्रमके लिए देखिये—'नायक-नायिकाभेद', (शास्त्र)।

इन अलंकारोंका कई नामोंसे विवेचन किया गया है। भोजने इनकी चर्चा 'वरस्त्रीणां विलासाः'के रूपमें की है, अर्थात् वे इन्हें 'विलास' मानते हैं। भानुदत्तने 'हाव'के रूपमें स्वीकार किया है और वस्तुतः हिन्दीमें इसका प्रचलन इन्हींके प्रभावमें माना जा सकता है। विश्वनाथने 'शृंगार-चेष्टाएँ' माना है। शिंगभूपालने 'भाव' कहा है। केशव मिश्रने भी 'हाव' संज्ञा दी है। हिन्दीमें प्रायः सर्वस्वीकृत शब्द 'हाव' रहा है। कुमारमणिने 'भाव' नाम दिया है तथा कुछ आधुनिक विवेचकोंने संस्कृतके आधारपर 'अलंकार' ही कहा है। वस्तुतः 'अलंकार'का सामान्य अर्थ यही है कि नायिकाके सौन्दर्यको बढ़ानेवाले भूषण; और यहाँ सौन्दर्य रूपात्मक और भावात्मक, दोनों अर्थोंमें समझना चाहिये। इसी प्रकार 'हाव'का अर्थ 'शृंगारचेष्टा' है, अर्थात् नायिकाकी स्वभावज अथवा अयत्नज सुन्दर भंगिमाएँ, जो नायकके प्रेमको उद्दीप्त करनेके लिए होती हैं। उपर्युक्त सम्पूर्ण अलंकारों तथा हावोंको चार भागोंमें विभाजित किया जा सकता है—(१) शारीर अलंकार, जो रूपात्मक सौन्दर्यका संकेत देते हैं—शोभा, कान्ति, दीप्ति तथा माधुर्य। (२) मानस अलंकारमें चरित्रसौन्दर्यकी व्यंजना होती है—प्रगल्भता, औदार्य, धैर्य। (३) स्वभावज हावके अन्तर्गत नायिकाकी स्वाभाविक चेष्टाएँ आती हैं—लीला, विच्छित्ति, कुट्टमित, बिब्बोक, ललित, मौग्ध्य, विक्षेप और व्याजप्रदर्शन। (४) अयत्नज हाव नायिकाकी सहज चेष्टाओंको कह सकते हैं—हेला, विलास, विभ्रम, किल-किंचित्, विहृत, हसित और चकित। आचार्यों द्वारा उल्लिखित भाव, मोट्टायित, मदन, तपन, कुतूहल, क्रीड़ित, रति, बोध, उद्दीपन नामक अलंकारों तथा हावोंको उपर्युक्त विभाजनके अन्तर्गत स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि ये न नायिकाके रूप अथवा चरित्रके गुण हैं और न नायिका-विषयक चेष्टाएँ ही।

इन 'अलंकारों' तथा 'हावों'को अनुभावोंके अन्तर्गत स्वीकार किया गया है, परन्तु आलम्बन-रूपमें नायिकाके सम्बन्धमें इन्हें उद्दीपन-विभाव ही कहा जा सकता है। परन्तु हाव नायकको आकर्षित करनेके साथ ही नायिकाके मनोभावको व्यक्त भी करते हैं, अतएव इन्हें उद्दीपन-विभाव तथा अनुभाव, दोनों माना जा सकता है। जब नायिका आलम्बन-विभाव होगी, तब उसके 'हाव' उद्दीपन-विभाव होंगे और जब नायक आलम्बन-विभाव होगा, तब ये नायिकाके अनुभाव कहे जायँगे।

हिन्दीमें विद्यापति, अष्टछापके कवि, रीतिकालीन कवि तथा आचार्य देव, बिहारी, मतिराम, घनानन्द, ठाकुर, बोधा आदि तथा आधुनिक कालमें हरिश्चन्द्रतक इनका विशेष निर्वाह हुआ है। किन्तु इधर मैथिलीशरण गुप्त, 'प्रसाद' तथा पन्त आदिमें इनमेंसे अंगज और अयत्नज अलंकारोंका निर्वाह दिखाई देता है। अब इस ओर कवियों-की प्रवृत्ति नहीं है, विशेषकर मुक्तकोंमें इनकी योजना नहीं की जाती। —रा० गु०

सात्त्विक गुण (नायक)—नायकके इन गुणोंकी चर्चा भरतने की है। परन्तु इन गुणोंका सम्बन्ध नाटकके नायक-से है, शृंगार रसके आलम्बन-रूप नायकसे नहीं। संस्कृत काव्यशास्त्रमें इन गुणोंकी चर्चा की गयी है, पर हिन्दी आचार्योंने इनपर विचार नहीं किया है; केवल आधुनिक आचार्योंमें श्यामसुन्दर दास तथा 'हरिऔध'ने इनका उल्लेख किया है। इसका प्रमुख कारण यही है कि इन गुणोंका विशेष सम्बन्ध नाटकके पात्रसे है और हिन्दीमें नाट्यशास्त्र-का अभाव रहा है। ये गुण प्रारम्भसे ही आठ स्वीकृत रहे हैं और इनमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। धनंजयके अनुसार ये गुण इस प्रकार है—"शोभाविलासमाधुर्य-गाम्भीर्य धैर्यतेजसी। ललितौदार्यमित्यष्टौ सत्त्वजाः पौरुषा गुणाः" (द० रू०, २ : १०)।

शोभा—धनंजयके अनुसार—"नीचे घृणाऽधिके स्पर्धा शोभायां शौर्यदक्षते", अर्थात् शोभा गुणमें नीचके प्रति घृणा, अपनेसे बड़ोंकी दक्षता तथा वीरताके प्रति स्पर्धाका भाव रहता है। **विलास**—धनंजयके अनुसार—"गतिः सधैर्या दृष्टिश्च विलासे सस्मितं वचः" (द० रू०, २ : ११), अर्थात् विलास गुणमें दृढ़ गति, निश्चयकी दृष्टि तथा सहास कथन रहता है। **माधुर्य**—धनंजयके अनुसार—"श्लक्ष्णो विकारो माधुर्यं संक्षोभे सुमहत्यपि" (द०रू०, २ : १२), अर्थात् अत्यधिक संक्षोभके अवसरपर भी, माधुर्य गुणके अन्तर्गत, मुद्रामें हल्का तथा कोमल परिवर्तन उपस्थित होता है। **गाम्भीर्य**—धनंजयके अनुसार—"गाम्भीर्यं यत्प्रभावेण विकारो नोपलक्ष्यते" (द० रू०, २ : १२), अर्थात् इस गुणके अन्तर्गत भारी संक्षोभके क्षणोंमें भी मुद्रामें किंचित् विकार नहीं जान पड़ता।

स्थैर्य—धनंजयके अनुसार—"व्यवसायादचलनं स्थैर्यं विघ्नकुलादपि" (द० रू०, २ : १३), अर्थात् अनेक विघ्नोंके आनेपर भी कार्यसे विचलित न होना स्थैर्य गुण है। **तेज**—धनंजयके अनुसार—"अधिक्षेपाद्यसहनं तेजः प्राणात्ययेष्वपि" (द० रू०, २ : १३)। इस गुणसे युक्त व्यक्ति प्राणोंको छोड़कर भी अपना अपमान नहीं होने देता। **ललित**—धनंजयके अनुसार—"शृंगाराकारचेष्टात्वं सहजं ललितं मृदु" (द० रू०, २ : १४), अर्थात् इस गुणमें शृंगारके अनुरूप आकारकी अभिव्यक्ति ललित तथा कोमल होती है। **औदार्य**—धनंजयके अनुसार—"प्रियोक्त्याऽऽजीविताद्दानमौदार्यं सदुपग्रहः" (द० रू०, २ : १४), अर्थात् औदार्य गुणमें व्यक्ति प्रिय वचनोंसे जीवनतक देनेके लिए तत्पर हो जाता है और सज्जनोंकी सहायता करता है।

इन गुणोंको हिन्दीके कथाकाव्योंके नायकोंमें देखा जा सकता है। 'रामचरितमानस'के राममें इन समस्त गुणोंका संयोग है। प्रेम-काव्यके नायकोंमें इन गुणोंमेंसे अधिकांश मिलते हैं। आधुनिक महाकाव्योंमें पुनः नायकके इन गुणोंको देखा जा सकता है—'प्रियप्रवास', 'साकेत' तथा 'कुरुक्षेत्र' आदिमें। परन्तु आधुनिक युगमें नायककी सारी कल्पना मध्ययुगीन भावनासे नितान्त भिन्न हो चुकी है, अतएव नाटकोंमें उस प्रकारके न नायक हैं और न इस प्रकार उनके गुण ही। —सं०

सात्त्विकी भक्ति–दे० 'गौणी भक्ति'।

सादृश्य–अलंकारशास्त्रमें 'उपमा' अर्थालंकारके चार आवश्यक अंगोंमेंसे एक अंग; उपमेय और उपमानकी समताको व्यंजित करनेवाले शब्द 'सादृश्य'-वाचक कहलाते हैं। समान, सादृश्य, सा, से, सी, ज्यों, जैसे, जैसा, जिमि, लौं, तुल्य, तूल, सम आदि शब्द सादृश्यवाचक हैं। इन्हें वाचक शब्द तथा उपमावाचक शब्द भी कहते हैं, जैसे—'हरिपद कोमल कमल-से'—इसमें 'से' शब्द सादृश्य-वाचक है।

सादृश्य दो प्रकारका माना गया है—एक वह, जिसमें आकार-प्रकारका साम्य रहता है और दूसरा साम्य वह है, जिसमें गुण एवं क्रियाका साम्य रहता है। इसमें प्रभाव-साम्य भी प्रच्छन्न अथवा गौण रूपसे रहता है। उदा०-(१) आकार-प्रकारसाम्य—"उसी तपस्वी-से लम्बे थे, देवदारु दो-चार खड़े" ('प्रसाद' : कामायनी)। इसमें देवदारुओंकी लम्बाईसे तुलना की गयी है। अतः यहाँ केवल आकार-प्रकारका सादृश्य है। 'से' सादृश्यवाचक शब्द है, जो उपमेय देवदारु और उपमान तपस्वीके आकार-प्रकारके सादृश्यको सूचित करता है। (२) गुण या क्रियाका साम्य—"उस हलाहल-सी कुटिल द्रोहाग्निको, जो कि जलती आ रही चिरकालसे, स्वार्थलोलुप सभ्यताके अग्रणी, नायकोंके पेटमें जठराग्नि-सी' (दिनकर : कुरुक्षेत्र)। इसमें 'द्रोहाग्नि'-की समता 'जठराग्नि'से की गयी है। इसके द्वारा जठराग्नि-के जलनेकी क्रियाका रूप हमारे सामने उपस्थित होता है। द्रोहाग्नि भी जठराग्निके सदृश भीतर ही भीतर जलती है और क्षार कर देती है। (३) प्रभाव-साम्य—"लाजकी मादक सुरा-सी लालिमा, फैल गालोंमें नवीन गुलाब-से, छलकती थी बाढ़-सी सौन्दर्यकी, अधखुले सस्मित दृगोंसे सीप-से' (पन्त)। कविकी प्रस्तुत कल्पना द्वारा मुखके सौन्दर्यका प्रभाव पाठक एवं श्रोतापर द्विगुणित रूपमें पड़ता है।

आचार्योंका कथन है कि उपमाका सादृश्य चमत्कारपूर्ण होना चाहिये। चारुत्व, चमत्कार और रसार्द्रता सादृश्यके तत्त्व हैं। काव्यमें सादृश्यकी सार्थकता इन्हींपर अवलम्बित है। इसीसे आलंकारिकोंने 'मनोज्ञ साधर्म्यकथन'को ही उपमा कहा है। —वि० स्ना०

साधन-पथ (गोपी)–दे० 'गोपी'।

साधना (वज्रयान)–वज्रयानमें साधकोंकी चित्तवृत्तिके अनुरूप, उनके मानसिक विकासके अनुरूप साधनाओंका विधान था। अनेक साधनाएँ होते हुए भी किसी एक विशेष साधनाको महत्त्वपूर्ण मानकर अन्य उसके समक्ष उसकी तुलनामें हेय समझी जाती थी। वास्तवमें ये साधनाएँ एक-दूसरेकी विरोधिनी न होकर पूरक मानी जाती थीं। आयु, चित्तवृत्ति, मानसिक स्तरकी दृष्टिसे आचार्य एक विशेष देवताकी प्रतिष्ठापना कराते, फिर उसकी पूजा, उसके न्यास-विन्यास, उसकी मन्त्र-यन्त्र आदिसे साधनाके पूरे विधान बताते और दूसरी साधना-पद्धतियोंको हेय बताते, जिसका तात्पर्य यह नहीं कि वे कोई अलग सम्प्रदाय मानते थे, वरन् इस भावनाके अन्तर्गत साधकका स्तर दृष्टिगत रखा जाता था। सभी अनुष्ठानोंसे ऊपर उठकर अनुत्त सम्यक् सम्बोधिकी साधना थी, जिसका विकास सहज पद्धतिमें हुआ (विस्तारके लिए दे०—साधनमाला : विनयतोष भट्टाचार्य)। —ध० वी० भा०

साधारण (गोपी)–दे० 'गोपी'।

साधारण धर्म–उपमा अर्थालंकारके चार आवश्यक उपादानोंमेंसे एक उपादान; उपमेय और उपमान, दोनोंमें जिस धर्मकी समानता बतायी जाती है, उसे साधारण धर्म अथवा समान धर्म कहते हैं। किन्हीं भी दो वस्तुओंमें बिना किसी समान धर्मके सादृश्य सम्भव नहीं होता। धर्मकी समानताके कारण ही एक वस्तुको दूसरी वस्तुके समान कहा जाता है। साधारण धर्म गुण और क्रिया, दोनों प्रकारका सम्भव है; यहाँ गुणमें रूप-रंग आदि सभी समाविष्ट हैं। उदा०—साधारण धर्म गुणरूपमें—"अधिकार न सीमामें रहते। पावस-निर्झरसे वे बहते" ('प्रसाद' : कामायनी)। इसमें सीमामें न रहना साधारण धर्म है। अधिकाररूप उपमेय और 'पावस-निर्झर'-रूप उपमान, दोनोंमें इस धर्मकी स्थिति बतायी गयी है। क्रियारूपमें—"पागल-सी प्रभुके साथ सभा चिल्लायी। सौ बार धन्य वह एक लालकी माई' (मै०श०गुप्त : साकेत)। इसमें 'चिल्लायी' क्रियारूप धर्मकी समानता उपमेय और उपमान, दोनोंमें बतायी गयी है। —वि० स्ना०

साधारणीकरण–इस शब्दका सम्बन्ध भारतीय रस-सिद्धान्तसे चला आ रहा है। इसका प्रयोग सर्वप्रथम भट्टनायक (१० श० ई० पूर्वा०)ने रसनिष्पत्ति (दे०) सम्बन्धी भरतके सूत्रकी व्याख्याके अन्तर्गत किया है। भट्टनायकने अपने पूर्ववर्ती आचार्योंकी व्याख्याके दोषोंको दूर करनेके लिए इसका प्रयोग किया है। उनके अनुसार आरोपवाद तथा अनुमितिवाद(दे०)की स्थापनाओंमें जो तटस्थ

और आत्मगतत्व दोष आ जाते हैं, उनके परिहारके लिए साधारणीकरणकी स्वीकृति आवश्यक है। जब पाठक अथवा दर्शक काव्य अथवा नाटकके अभिधार्थको ग्रहण कर लेता है, उसके हृदयमें भावकत्व (दे०) शक्तिके द्वारा सत्त्वकी प्रधानता होती है। इस स्थितिमें उसके हृदयमें 'मैं' और 'पर'का द्वैध दूर हो जाता है। वह प्रदर्शित अथवा वर्णित घटना या पात्रको उसके स्थितिविशेषमें नहीं ग्रहण करता। वह उनको अपने व्यक्तित्वसे सम्बद्ध अथवा असम्बद्ध भी नहीं समझता और इसी स्थितिका फल है कि सहृदय भोजकत्व शक्ति (दे०)के द्वारा उद्बुद्ध भावोंका रसास्वादन करता है। वस्तुतः यह परिस्थितिविशेष जिस व्यापारसे सम्भव होती है, उसीको साधारणीकरण माना गया है। इस व्याख्यासे यह स्पष्ट हो जाता है कि रसनिष्पत्तिके लिए भट्टनायकके अनुसार साधारणीकरण आवश्यक शर्त है।

आगेके कई विचारकोंने साधारणीकरणको सामान्यीकरण ही माना है। वामन झलकीकर तथा गोविन्द ठक्कुर- (१५ श० ई०)ने विभावादि रूप सीता तथा रामादि सम्बन्धी रतिके 'सीतात्व'-'रामत्व'के सम्बन्धके स्थानपर सामान्यतः कामिनी-रूपमें अथवा रतिसामान्य रूपमें उपस्थित होनेको साधारणीकरण माना है। 'काव्यप्रदीप'के अनुसार नायिकाविशेषका सामान्यतः कामिनीभावरूपमे उपस्थित हो जाना साधारणीकरण है (पृ० ६६)। इसके अनुसार 'यह केवल अमुकका ही है', ऐसी प्रतीतिके स्थानपर 'ये अमुकके हैं', ऐसी अनुभूति हो जाती है, अर्थात् वे दूसरेके भाव भी हो सकते हैं।

भट्टनायकके बाद अभिनवगुप्त(१०-११ श० ई०)ने उनकी भावकत्व तथा भोजकत्व शक्तियोंको अस्वीकार करके भी साधारणीकरणको स्वीकार किया है। अभिनवगुप्तकी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टिने काव्यके वास्तविक सौन्दर्य-तत्त्वको ग्रहण कर लिया था, अतएव उनकी रस-सम्बन्धी व्याख्याएँ गहन और पूर्ण हैं। अभिनवगुप्तके अनुसार साधारणीकरणके दो स्तर हैं। एक स्तरपर विभावादिका व्यक्ति-विशिष्ट सम्बन्ध छूट जाता है और दूसरे स्तरपर सामाजिकका व्यक्तित्व-बन्धन नष्ट हो जाता है, अर्थात् विभावादिकके साथ स्थायी भावका साधारणीकरण होता है और साथ ही सामाजिककी अनुभूतिका साधारणीकरण होता है। यह साधारणीकरण सामाजिकोंके वासनारूपमें स्थित स्थायी भावोंके आधारपर सम्भव होता है। इस प्रकार अभिनवगुप्तने भट्टनायकसे इस सिद्धान्तको स्वीकार करके भी अपना मौलिक योग प्रदान किया है। इन्होंने वासनाको स्वीकृति दी है और साथ ही स्थायी भावका साधारणीकरण माना है।

विश्वनाथ(१४ श० ई०)के मतको नगेन्द्रने अभिनवगुप्तके मतसे भिन्न माना है। उनके अनुसार प्रमाताका आश्रयके साथ अभेद स्थापित हो जाता है (सा० द०, ३ : १०)। इसके साथ ही उन्होंने कहा है—"साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत्प्रतीयते। परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च" (वही, ३ : १२), अर्थात् साधारणीकृत स्थितिमें रत्यादि स्थायी भावका उसी रूपमें अनुभव होने लगता है और इस रसानुभूतिके समय 'यह मेरा है', 'यह मेरा नहीं है' 'यह दूसरेका है', 'यह दूसरेका नहीं है', इस प्रकार भेद नहीं किया जाता। आनन्दप्रकाश दीक्षितने इसके आधारपर विश्वनाथके मतको तादात्म्यरूपमें लिया है—"यह तादात्म्य, उनके विचारसे, साधारणीकरणके परिणामस्वरूप घटित होता है। तादात्म्यकी यह अनुभूति रसके लिए होती है" और अन्ततः अभिनवगुप्तके मतके अनुसार माना है। विश्वनाथका मत व्याख्याके अभावमें बहुत स्पष्ट नहीं है। परन्तु तादात्म्यरूपमें उसे माना जायगा तो रसास्वादनको आश्रयकी भावनात्मक प्रक्रियाके रूपमें स्वीकार कर लेनेकी सम्भावना अधिक है।

जगन्नाथ(१७-१८ श० ई०)ने साधारणीकरणके स्थानपर दोषदर्शन (दे० 'रसनिष्पत्ति')की स्थापना की है। यह सिद्धान्त किसी अन्य आचार्यके द्वारा स्वीकृत नहीं हो सका। वस्तुतः रसास्वादको दोषकी भावनाके आधारपर स्वीकार करना काव्यको अत्यन्त हीन स्तरपर स्थापित करने जैसा है। दोष किसी ज्ञान-अज्ञानमें किये गये मर्यादाहीन कार्यमें होता है और यह दोषका ज्ञान किसी प्रकार रसास्वादसे सम्बद्ध नहीं हो सकता। अभिनवगुप्तके अनुसार सामाजिक किसीसे रति नहीं करता, वरन् केवल 'रति'का अनुभव करता है, सामान्य अथवा साधारणीकरणरूपमें।

आधुनिक विचारकोंमें रामचन्द्र शुक्लने सबसे अधिक विस्तारसे साधारणीकरण सिद्धान्तकी व्याख्या की है और आनन्दप्रकाश दीक्षितने अपने प्रबन्ध 'काव्यमें रस'में प्रायः उन्हींके मतकी स्थापना की है। रामचन्द्र शुक्लके अनुसार—"जबतक किसी भावका कोई विशेषत्व इस रूपमें नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भावका आलम्बन हो सके, तबतक उसमें रसोद्बोधनकी पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूपमें लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।...अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोताके मनमें जो व्यक्तिविशेष या वस्तुविशेष आता है, वह जैसे काव्यमें वर्णित आश्रयके भावका आलम्बन हो जाता है। ...साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्मका होता है...तात्पर्य यह है कि आलम्बनरूपमें प्रतिष्ठित व्यक्ति, समान प्रभाववाले कुछ धर्मोंके कारण सबके भावोंका आलम्बन हो जाता है" (चि० म०, भा० १, पृ० : ३०८ : १२-१३)। इस प्रकार रामचन्द्र शुक्लके अनुसार साधारणीकरणका भाव है—(१) वर्णित अथवा प्रदर्शित आलम्बनको सबके भावका आलम्बन बनाना, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यक्तिविशेष अथवा वस्तुविशेषके स्थानपर केवल वस्तु अथवा व्यक्तिमात्रका बोध रह जाता है। (२) आश्रयके समान आलम्बनके प्रति पाठक अथवा दर्शकका भाव हो जाना। आनन्दप्रकाश दीक्षितने स्वीकार किया है कि "शुक्लजीने आलम्बनका विचार आश्रयसापेक्षरूपमें लिया है। उनका मत है कि आश्रयके भावका आलम्बन ही सहृदयका भी आलम्बन हो सकता है या उसे होना चाहिये" (का० र०, पृ० २८०)। इस प्रकार उनके अनुसार यह कहना भी अनुचित है कि "शुक्लजीने विभावादिका साधारणीकरण न मानकर उसे आलम्बनतक सीमित कर दिया है। आश्रयसापेक्षतामें अनुभावादि स्वभावतः साधारणीकृत अवस्थामें प्रस्तुत होंगे" (वही, पृ० २८१)।

रामचन्द्र शुक्लने साधारणीकरणकी व्याख्याके अन्तर्गत

आश्रयके साथ तादात्म्य या सहानुभूतिकी अनिवार्यता भी प्रतिपादित की है, जिसकी स्थितियोंके अनुसार उन्होंने रस-कोटियोंकी कल्पना की है। (१) पूर्ण तादात्म्यकी स्थितिमें उत्तम कोटिकी रसात्मकता होगी। (२) जहाँ यह तादात्म्य न हो सकेगा और दर्शक अथवा पाठक प्रदर्शित अथवा वर्णित पात्रका मात्र शीलद्रष्टा या प्रकृतिद्रष्टाके रूपमें प्रभाव ग्रहण करेगा, मध्यम कोटिकी रसात्मकता मानी जायगी। इस स्थितिमें स्वतः पात्र, पाठक या दर्शकके भावोंका सीधा आलम्बन हो जाता है। यह साधारणीकरण अथवा तादात्म्य कविके उस अव्यक्त भावका होता है, जिससे पात्र-विशेषकी उद्भावना हुई है (चि० म०, भा० १ : पृ० ३१४, १५)। (३) रसकी एक ऐसी भी अधम कोटि मानी जा सकती है, जिसमें पाठक या दर्शक आश्रयकी भावव्यंजनासे कुछ भी तादात्म्य नहीं कर पाता, केवल शीलवैचित्र्यके रूपमें उसे ग्रहण करता है। आनन्दप्रकाश दीक्षितने रामचन्द्र शुक्लकी इन कोटियोंको प्राचीन आचार्योंके रसाभास, भावाभासके रूपमें सिद्ध करते हुए यथार्थ माना है।

रामचन्द्र शुक्लके मतकी कई आधुनिक विचारकोंने आलोचना की है। रामदहिन मिश्रने 'काव्यदर्पण'में विभावादिके साधारणीकरणको केवल आलम्बनत्व धर्ममें सीमित किये जानेपर आपत्ति की है। उन्होंने रसकोटियोंके विभाजनको रसकी प्रकृतिके विपरीत कहा है। और साधारणीकरण तथा तादात्म्यका एक ही अर्थमें प्रयोग भ्रामक माना है (का० द०, पृ० १३१, ३३)। श्यामसुन्दर दासके अनुसार, "रामचन्द्र शुक्लने साधारणीकरणसे यह अर्थ लिया है कि विभावानुभावका साधारण रूप करके लाया जाना। पर साधारणीकरण तो कवि या भावककी चित्तवृत्तिसे सम्बन्ध रखता है। चित्तके साधारणीकृत होनेपर उसे सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है। अतः यह मत भी ठीक नहीं है" (साहित्या०, पृ० २३८)। नगेन्द्रने आश्रयके साथ तादात्म्यको अस्वीकार किया है। उनके अनुसार यह अत्यन्त कठिन है कि पाठक अथवा दर्शक प्रत्येक प्रकारके चरित्रके साथ तादात्म्य स्थापित कर सके। नगेन्द्रके अनुसार वास्तवमें पाठकका तादात्म्य कविके भावके साथ होता है और इस प्रकार आश्रयगत भावोंके औचित्यके प्रश्नका समाधान भी हो जाता है। उनका कथन है—"आश्रयरूप रावण यदि कहीं रामकी भर्त्सना करता है, तो क्या हुआ? हमारी सहानुभूतिमें कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि हमारे अन्तरमें तो वही अनुमिति जागेगी, जो कविने प्रतीक द्वारा व्यक्त की है" (री० का० भू०, पृ० ४९, ५१)। प्रगतिवादी आलोचकोंने साधारणीकरणका अर्थ परम्परासे भिन्न सामान्य प्रेषणीयताके अर्थमें लिया है। इसीके आधारपर इसे बोधगम्यताके रूपमें कहा गया है। परन्तु स्पष्टतः इस मतमें कोई सार नहीं है। आनन्दप्रकाश दीक्षितने इन सबके मतोंका प्रत्याख्यान करके रामचन्द्र शुक्लके मतको ही स्वीकार किया है। आलम्बनके साथ आश्रयकी स्वीकृतिका उल्लेख पहले किया गया है। रसकोटियाँ भी उनको स्वीकार्य हैं। साधारणीकरण तथा तादात्म्यको एक साथ प्रयुक्त करनेमें भी उनको कोई बाधा नहीं जान पड़ती। 'इसी रूपमें लाया जाना'की व्याख्या करके उन्होंने यह सिद्ध किया है कि रामचन्द्र शुक्लके मतमें कविकी स्वीकृति भी है, अन्यथा 'लाया जाना'का क्या अर्थ हो सकता है। अन्तमें नगेन्द्रके मतपर आपत्ति करते हुए उन्होंने लिखा है—"यहाँ कविकर्मके सम्मुख प्राचीन आचार्यों द्वारा कथित प्रेक्षक अथवा सहृदयमात्रके संस्कारोंको दृष्टिसे ओझल कर दिया गया है...कविने कथाके संयोजनमें इतनी स्वतन्त्रतासे काम लिया कि वह सहृदयके संस्कारोंके विरुद्ध जा पड़ी, तो सहृदयको रसास्वाद तो न होगा, कुतूहल भले ही हो" (का० र०, पृ० २८८)। उन्होंने अपना मत इस प्रकार रखा है—"यदि सहृदयके संस्कारोंका ध्यान रखते हुए कविकर्मकी प्रतिष्ठा की जाय, तो आलम्बनका औचित्य घटित होनेसे आप-से-आप आश्रयका औचित्य सिद्ध हो जाता है और परिणामस्वरूप पाठकके भावसे आश्रयके भावका तादात्म्य हो जाता है। अतः शुक्लजीका मत ही समीचीन है" (वही, पृ० २८९)।

परन्तु रामचन्द्र शुक्लके साधारणीकरण-सिद्धान्तमें मौलिक भूल है और इसीके कारण वे अभिनवगुप्तके मतसे भटक गये हैं। उन्होंने अपनी व्याख्यामें आधुनिक मनोविज्ञान तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्रका आधार ग्रहण करनेका भी प्रयत्न किया है। इस दृष्टिसे उनकी व्याख्यामें व्यापकता अवश्य है, पर भ्रमका समावेश भी हो गया है। जिस आलम्बनत्वके साधारणीकरण तथा आश्रयसे तादात्म्यको रामचन्द्र शुक्लने इतना महत्त्व दिया है, वह प्रारम्भिक आचार्योंके आरोपवाद तथा अनुमतिवादसे कुछ ही आगेकी स्थिति है। भट्टनायकने विभावादिके साधारणीकरणके रूपमें सम्पूर्ण नाटकीय अथवा काव्यात्मक-भावनात्मक परिस्थितिका सत्त्वोद्रेकके प्रभावसे संविद्विश्रान्ति रूप हो जाना माना है। यह बहुत ही स्पष्ट है कि भट्टनायक काव्यास्वादको सामान्य भावनात्मक प्रक्रियासे नितान्त भिन्न मनःस्थिति स्वीकार करते हैं, जब कि रामचन्द्र शुक्लके मतमें इस बातकी स्पष्ट ध्वनि है कि पाठक अथवा दर्शकके मनमें आश्रयके भावोंसे तादात्म्य होता है, अर्थात् उन्हींके भावोंका वे अनुभव करते हैं। यह बात दूसरी है कि साधारणीकृत स्थितिमें तथा सात्त्विकताके फलस्वरूप पाठक अथवा दर्शकको आनन्दानुभूति होती है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि जिस प्रकार साधारणीकरणके सम्बन्धमें आचार्योंसे उनका भाव भिन्न है, उसी प्रकार आचार्योंके सत्त्वोद्रेक तथा रामचन्द्र शुक्लके सात्त्विकभावमें अन्तर है। सत्त्वोद्रेक प्रकृतिगत है और सात्त्विक भाव आदर्श मर्यादा-सूचक है। वस्तुतः आश्रयके किसी प्रकारके भावतादात्म्यसे काव्यानन्द नहीं प्राप्त हो सकता, सुखकी तीव्र अनुभूति अथवा दुःखकी अनुभूति भ्रामक होनेके कारण सुखानुभूति अवश्य लग सकती है। काव्यास्वादमें निर्वैयक्तिकता अथवा संविद्विश्रान्तिकी स्थिति अनिवार्य है।

वस्तुतः काव्यकी अनुभूति, यदि वह वास्तवमें काव्य है, तो सौन्दर्यमूलक है। रसानुभूति तथा सौन्दर्यानुभूतिमें मौलिक अन्तर नहीं माना जा सकता। मनुष्यने सैकड़ों वर्षोंके इतिहासमें अपनी सौन्दर्यानुभूतिको विकसित और विषम बनाया है, नाना रूप-आकारों तथा भावनाओंने इसके विकासमें योगदान किया है। मनुष्यका कोई ऐसा

भाव नहीं है, जो इसके अन्तर्गत नहीं आ सकता, पर निश्चय ही उसका सन्दर्भ, उसकी अभिव्यक्ति इस क्षेत्रमें नवीन दिशा ग्रहण करती है। रससिद्धान्त इसी काव्यात्मक सौन्दर्यकी मानवके भावोंके आधारपर व्याख्या करनेका प्रयत्न है (रघुवंश : काव्यमें प्रकृति 'हिन्दी' : प्र० भा०)। साधारणीकरण भी इस व्याख्याका अनिवार्य अंग है। मनोवैज्ञानिक आधारपर कहा गया है (दे० 'रसनिष्पत्ति') कि कल्पनाके आधारपर प्रेक्षक या पाठक कथावस्तुको ग्रहण करते है। यहाँ साधारणीकरणका यह अर्थ नहीं है कि प्रेक्षक विशेष वस्तु और पात्रको साधारण वस्तु और पात्रके रूपमें स्वीकार कर लेता है, वरन् उसका अर्थ मनोवैज्ञानिक कल्पनाके तत्त्वोंसे सिद्ध होता है। हम प्रत्येक वस्तुस्थिति, पात्र-चरित्रको साधारण सहज स्थितिमें ग्रहण कर सकते है। इनकी कल्पनाका आधार अनुभवजन्य ऐन्द्रिय बोध, प्रत्यक्ष बोधकी स्मृतिका स्वतन्त्र संयोग है। भट्टनायकतक कल्पनाके स्वतन्त्र संयोगोंका व्यापार साधारणीकरण माना गया है। परन्तु कल्पनाका स्वतन्त्र संयोग साधारण जीवनमें भी होता है। अभिनवगुप्तके अनुसार साधारणीकरणकी प्रक्रिया कथावस्तुको कल्पनामें ग्रहण करानेमें ही सहायक नहीं होती, वरन् प्रेक्षक-पाठकके भावनात्मक स्थितिको अपने स्थायी भावोंकी साधारणीकृत स्थितिमे ही ग्रहण करता है। उन्होंने साधारणीकरणको दोनों पक्षोंमें लगाकर स्थितिको अधिक स्पष्ट किया है। एक ओर उससे कल्पनाके लिए मुक्त आधार मिलता है तो दूसरी ओर पाठकके मनमें भावनात्मक स्थिति वासनारूपमें स्थित स्थायी भावके साधारणीकृत रूपकी ओर संकेत करती है, अर्थात् इस अभिव्यक्त भावात्मक स्थितिका ग्रहण पूर्वसंचित स्थायी भावोंके व्यापक आधारपर ही सम्भव है। इस प्रकार काव्य-(नाटक)के अर्थग्रहणके साथ पाठक (प्रेक्षक)के मनमें कल्पनाके सहारे भावनात्मक स्थिति व्याप्त हो जाती है (जिसका आधार उसके अपनी वासनामें अन्तर्निहित भाव है), जो काव्यकी अभिव्यक्तिके सौन्दर्य तथा चमत्कारके साथ (निरपेक्ष होनेके कारण) आनन्दानुभूतिसे सम्बद्ध हो जाती है (रघुवंश : रससिद्धान्त और आधुनिक मनोविज्ञान : अनुशीलन, ३ : २)।

[सहायक ग्रन्थ—एस० के० दे० : हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोएटिक्स; आनन्दप्रकाश दीक्षित : काव्यमें रस (अप्र० प्र०); रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि; नगेन्द्र : रीतिकालकी भूमिका—विचार और अध्ययन। —र०

साध्यवसाना लक्षणा–लक्षणाका एक प्रकार; इसमें आरोप-विषय अपने बोधक पदके रूपमें निर्दिष्ट नहीं रहता है, क्योंकि आरोप्यमाण (जिसका आरोप किया जाय)के द्वारा वह निगीर्ण (निगला) रहा करता है, विलीन रहा करता है ('विषयान्तःकृतेऽन्यस्मिन् सा—का० प्र०, २ : ११)। विश्वनाथके अनुसार विषयीके द्वारा निगीर्ण की गयी विषय-वस्तुकी उसीसे सादृश्यप्रतीति साध्यवसाना है (सा० द०, २ : ९)। इस प्रकार साध्यवसानामें आरोपके विषयका शब्द द्वारा कथन नहीं किया जाता, केवल आरोप्यमाणके कथनसे लक्ष्यार्थ व्यक्त होता है। इसके दो भेद है—गौण तथा शुद्ध। गौण साध्यवसानाका उदा०—किसी मूर्खको देखकर कहा जाय—'बैल है'। आरोपके विषय(मूर्ख)का कथन न किये जानेसे केवल विषयी(बैल)का कथन है, अतः साध्यवसाना है और सादृश्य-सम्बन्धपर ही लक्ष्यार्थके आधारित होनेसे गौणी लक्षणा भी है। रूपकातिशयोक्ति (दे०) अलंकारमें यह लक्षणा अन्तर्भूत रहती है। शुद्ध साध्यवसाना (उपादान)का उदा०—'कुन्त आ रहे है"। यहाँ भाले धारण करनेवालोंका कथन न किये जानेसे साध्यवसाना; लक्ष्यार्थ-मुख्यार्थका साथ लगे होनेसे उपादान तथा धार्य-धारक-सम्बन्ध रहनेसे शुद्धा लक्षणा है। शुद्धा साध्यवसाना(लक्षणा)का उदा०—घीको दिखाकर कहना—'यही आयु है'। यहाँ आरोपके विषय 'घी'का निगीर्ण है, अतः साध्यवसाना; कार्य-कारण-सम्बन्ध होनेसे शुद्धा तथा 'आयु' शब्दके अपने मुख्यार्थको सर्वथा त्याग न करनेसे लक्षण-लक्षणा है। —सं०

सॉनेट–हिन्दीमें सॉनेटको चतुर्दशपदी भी कहते हैं। यह यूरोपका १४ पदोंका एक प्रसिद्ध काव्यरूप है। इसका प्रचार यूरोपकी प्रायः सभी प्रसिद्ध भाषाओंमें रहा है। छन्दकी दृष्टिसे इटलीमें ११ अक्षर (सिलेबिल्स), फ्रांसमें १२ तथा इंग्लैण्डमें १० अक्षरोंके चरणका प्रचलन रहा है। परन्तु सॉनेटमें अधिक महत्त्व उसमें प्रयुक्त चरणान्त अन्त्यानुप्रासके क्रमका है। इनमें सर्वप्रचलित सॉनेट इटलीका पेट्रार्कन सॉनेट रहा है, जिसका प्रयोग समस्त रोमान्स-साहित्यों तथा जर्मन और इंगलिश साहित्यमे मिलता है। इसमें प्रारम्भ एक अष्टपदीमें अ ब ब अ, अ ब ब अ तथा षट्पदीमें स द स, द स द अथवा स द इ, स द इ रहता है। इटलीमें षट्पदी (सिक्सेट)के अन्त्यानुप्रासका क्रम प्रमुख कवियोंके द्वारा बदला भी गया है—स द द, स द स अथवा स स द, इ द इ। इंगलिशमें शेक्सपीयरके सॉनेटकी अपनी विशेषता है, उसमें पहले तीन चतुष्पदी और अन्तमें द्विपदी रहती है—अ ब अ ब, स द स द, इ फ इ फ, ज ज। कुछ कवियोंने इन दोनों रूपोंको सफलतापूर्वक मिलाया है।

इतिहासकी दृष्टिसे १३वीं श० ई०में इटलीके सिसली स्कूलके कवियोंने इसका आविष्कार किया। इसका प्रयोग दाँतेने भी किया है। पेट्रार्कने इसे निश्चित और कलात्मक रूप प्रदान किया। १६वीं श० ई०तक इटलीमें ही इसका प्रयोग सीमित रहा है। अंग्रेजीमें सर थामस वायटसे इसका प्रयोग आरम्भ हुआ। यहाँ शेक्सपीयर, मिल्टन, वर्ड्सवर्थ, कीट्स, ब्राउनिंगने इस काव्यरूपका सफलतापूर्वक प्रयोग किया है। अंग्रेजीके शेक्सपीयरके सॉनेट तथा रोमांसिक कवियोंके सॉनेटके आधारपर हिन्दीमे इसको छायावादी युगके कवियोंने अपनाया है। नरेन्द्र शर्मा तथा सुमित्रानन्दन पन्तने सम्भवतः इसका प्रथम सफल प्रयोग किया है। बादमे 'दिनकर', बालकृष्ण राव, प्रभाकर माचवे, त्रिलोचन शास्त्री आदि कई कवियोने इसका सफल प्रयोग किया। अन्त्यानुप्रासकी विभिन्न पश्चिमी विधियोका प्रयोग मिलता है और अष्टपदीके बाद षट्पदीके प्रयोगके साथ तीन चतुष्पदियोंके बाद द्विपदीका प्रयोग भी मिलता है। एक साधारण रूप और प्रचलित है, जिसमें सात द्विपदियाँ हो रहती हैं।

वस्तुतः सॉनेट एक विशिष्ट काव्यरूप है, जिसमें कवि अपने व्यक्तिगत प्रेम, आन्तरिक अनुभूतियों, संवेदनाओं, पारिवारिक प्रेम-सहानुभूति, सूक्ष्म मनोभावों, अपनी गहन स्मृतियोंको अभिव्यक्त करता है। साथ ही सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक जीवन तथा व्यंग्यात्मक परिस्थितियों-को भी इनके द्वारा व्यक्त करता है। प्रायः हिन्दीके कवियोंने भी सॉनेटका प्रयोग इन्हीं उद्देश्योंसे किया। —र०

सापह्नवातिशयोक्ति–दे० 'अतिशयोक्ति', आठवाँ भेद।

सापेक्षता (proportion)–सापेक्षता एक प्रकारका सम्बन्ध है—दो परिणामोंकी तुलना या वह अंक, जो इस तुलनाको व्यक्त करे। क्योंकि सापेक्षता दो या दोसे अधिक परिणामों-का फल है, अतः उसके निर्धारणमें कम-से-कम तीन पद (टर्म्स) अवश्य होंगे (अ : ब : ब : स)।

चिरकालसे ही किसी ऐसी बुनियादी सापेक्षताकी खोज होती रही है, जो आदर्श सौन्दर्यका आधार हो। 'अलौकिक सापेक्षता' (डिवाइन प्रपोर्शन या गोल्डेन सेक्शन) ऐसी ही रहस्यमय सापेक्षता है, जो शतियोंसे कलाकारोंको आकर्षित करती रही है। किसी रेखाको लेकर सामान्य तरीका यों है—एक सरल रेखाको दो छोटे-बड़े हिस्सोंमें इस प्रकार बाँटना कि छोटेवाले हिस्सेका बड़े हिस्सेसे वही अनुपात हो, जो बड़ेवालेका सम्पूर्ण रेखासे हो। जो हिस्से होंगे, वे ५ : ८ या ८ : १३, १३ : २१ के अनुपातमें होंगे। १९वीं शताब्दीमें इसपर वैज्ञानिक ढंगसे शोध हुआ है–इस सम्बन्ध में जाइसिंग और फेचनरके नाम विशेष उल्लेखनीय है।

सौन्दर्यविश्लेषणमें सापेक्षताका सिद्धान्त प्राथमिक महत्त्व रखता है। कलाकी दृष्टिसे सापेक्षताकी साधारण व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—किसी कृतिके तत्त्वों और पक्षोंका इस प्रकार संघटन कि उसका प्रत्येक खण्ड दूसरे खण्डसे निरपेक्ष या असम्बद्ध न होकर सम्बद्ध और सापेक्ष हो तथा सम्पूर्ण कृतिमें स्थैर्य, स्थान-विस्तार, चटकीलापन आदि इस प्रकार बँटे हों कि देखनेमें वस्तु सुडौल और सन्तुलित मालूम दे। —कु० ना०

सापेक्षतावाद (theory of relativity)–भौतिक-विज्ञानके क्षेत्रमें १९०५ ई०में एलबर्ट आइन्सटाइनने पहली बार सापेक्षतावादका सिद्धान्त प्रतिपादित किया। इसके अनुसार हमारी सहज बुद्धिसे प्राप्त दिक् और कालकी धारणाएँ मिथ्या हैं। सहज बुद्धिके अधीन हम किसी वस्तु-की स्थितिकी कल्पना केवल दिक्में कर सकते हैं और उसके परिवर्तनोंकी केवल कालमें। इस प्रकार हम निरपेक्ष दिक् और निरपेक्ष कालकी पृथक्ता और वास्तविकतामें विश्वास करने लगते है। इस विश्वासके प्रति हमारे मनमें कोई शंका नहीं उठती, क्योंकि इन्द्रिय-ग्राह्य विश्वकी व्याख्या करनेमें ये धारणाएँ पूर्णतः सफल पायी जाती है। पर विज्ञानकी प्रगतिके साथ कुछ ऐसे प्रयोग हुए, जिन्हे इस सहज बुद्धिके सहारे नहीं समझा जा सकता। प्रयोग सही थे और आसानीसे दुहराये जा सकते थे। अतः आइन्सटाइन-ने कहा कि हमारी दिक् और कालकी धारणामें ही कहीं त्रुटि है। दिक् और काल पृथक् इकाइयाँ नहीं है, वरन् एक-दूसरेसे उनका गहरा सम्बन्ध है। सापेक्षतावादके सिद्धान्तमें निरपेक्ष दिक् और कालको मस्तिष्ककी कल्पना और दिक-कालनिरन्तरताको वास्तविक माना जाता है। इस नियम-को अपना लेनेपर नये प्रयोग आसानीसे समझे जा सकते है और साथ ही साथ वे सब प्रयोग भी, जो अबतक निरपेक्ष दिक् और कालके धारणानुसार समझे जाते थे।

सापेक्षतावादके अन्तर्गत दो सिद्धान्त आते है। पहला, जो आइन्सटाइनने १९०५ ई०में प्रतिष्ठित किया, **विशेष सापेक्षतावादका सिद्धान्त** कहलाता है। इसमें सम वेगसे चलनेवाले पिण्डकी निरपेक्ष गति एक अर्थहीन धारणा है, उसकी सापेक्ष गति ही वास्तविक है। इसी प्रकार साधारण निरपेक्ष अचलता भी अर्थहीन है। एक पिण्ड दूसरे पिण्डकी अपेक्षामें ही स्थिर या गतिमय हो सकता है। इसके अलावा एक क्रियाका कोई निरपेक्ष काल नहीं होता। दो क्रियाएँ एक साथ हुई या अलग अलग, यह देखनेवालेकी सापेक्ष स्थितिपर निर्भर होता है। इस प्रकार दिक् और काल एक-दूसरेमें लय हो जाते है और अपनी निरपेक्ष पृथक्ता खो बैठते है। इस सिद्धान्तके कुछ निष्कर्ष बहुत असाधारण है। उदाहरणार्थ, एक पिण्डकी जड़त्व-मात्रा (inertial mass) हमेशा एक-सी नहीं रहती, जैसा इस सिद्धान्तके पूर्व समझा जाता था, बल्कि पिण्डकी गतिके साथ वह बदलती रहती है। जितनी अधिक गति होती होगी, उसके अनुसार एक विशेष अनुपातमें मात्राकी वृद्धि हो जायगी। क्योंकि साधारण प्रयोगोंमें यह मात्रा-वृद्धि बहुत कम होनेके कारण नापी नहीं जा सकती, अतः हम अभीतक उसे पहिचान नहीं पाये थे। सापेक्षतावादके सिद्धान्तने प्रकृति-का यह गूढ़ रहस्य हमारे सामने व्यक्त कर दिया। सापेक्षतावादके सिद्धान्तके अनुसार शक्ति और मात्रामें भी गहरा सम्बन्ध है, वास्तवमें वे एक ही है। इस प्रकारके सम्बन्धकी कल्पना भी हम पहले नहीं कर सकते थे।

सापेक्षतावादका दूसरा सिद्धान्त आइन्सटाइनने १९१५ ई०में दिया, जो **सामान्य सापेक्षतावादका सिद्धान्त** कहलाता है। इसमें प्रवेगमें चलनेवाले पिण्डका अध्ययन किया जाता है। ग्रह, नक्षत्र आदि ऐसे ही पिण्ड हैं। इन आकाशीय पिण्डोंकी गतिका वर्णन आरम्भमें निरपेक्ष दिक् और कालकी सहायतासे किया जाता था। बादमें बुध ग्रह-का परिक्रमा-पथ, जो अण्डाकार माना जाता था, कुछ सर्पिल पाया गया। बुधग्रहकी सर्पिल गति पुरानी धारणाओं-पर नहीं समझी जा सकी। आइन्स्टाइनने गुरुत्वाकर्षण-बलके पुराने सिद्धान्तको निर्मूल साबित करके नये सापेक्ष-वादके सिद्धान्त द्वारा बुध ग्रहकी गतिकी व्याख्या दी। सामान्य सापेक्षतावादके सिद्धान्तकी यह बहुत बड़ी सफलता थी। इसके बाद अन्य प्रयोगोंने भी इस सिद्धान्तकी पुष्टि की। इस सिद्धान्तके अनुसार दो पिण्डोंके बीच गुरुत्वाकर्षण-बलकी साधारण धारणा गलत और निरर्थक है। यह बल-की धारणा केवल हमारे मस्तिष्ककी उपज है, वास्तविक नहीं, क्योंकि प्रवेगकी सहायतासे इस बलके प्रभावको नष्ट किया जा सकता है। नये सिद्धान्तके अनुसार केवल दिक्काल-निरन्तरताकी वक्रता ही वास्तविक है और इसके आधारपर आकाशीय पिण्डोंकी गतिको समझा जा सकता है।

इस प्रकार सापेक्षतावादके सिद्धान्तोंने हमारी पुरानी सहज बुद्धिकी धारणाओंको नये प्रयोगोंकी पृष्ठभूमिमें

निरर्थक प्रमाणित कर दिया और हमें सर्वथा नयी दृष्टि प्रदान की। निरपेक्ष और अव्यावहारिक धारणाओंके स्थानपर सापेक्ष, अतः व्यावहारिक दिक् और काल-धारणाओंकी स्थापना की। यह नया कदम उठानेके लिए हमें प्रयोगोंने बाध्य किया। इसलिए हम कह सकते है कि केवल अध्यात्मवादसे विश्वकी व्याख्या नहीं की जा सकती। दूसरी ओर, सापेक्षतावादके अनुसार प्रयोग एक विशेष अवलोकन-बिन्दुके लिए ही सत्य है। वह सर्वमान्य नही है। अतः आइन्सटाइनकी पद्धतिके अनुसार केवल प्रयोग-वाद भी विश्वकी व्याख्या करनेमें असमर्थ है। इस तरह सापेक्षतावादके सिद्धान्तने हमारे दार्शनिक और साधारण बुद्धि-चिन्तनपर बहुत गहरा प्रभाव डाला है। जिसकी अवहेलना नही की जा सकती। —वि० कु० अ०

सामंजस्य (concord or integration)–विविध अनुभवों और प्रभावोंका इस प्रकार उपयुक्त एवं अनुकूल अर्थोंमें समन्वित होना कि उनमें विषमता और विरोधका आभास न हो। भारतीय इतिहास तथा जीवन-दर्शनमें सामंजस्यकी भावना विशेष महत्त्वपूर्ण रही है (दे० 'संगति')। —कु० ना०

सामंतवाद–किसान, कृषि और स्वतन्त्र उद्योगोंसे संयुक्त होकर ही साम्यवादी कृषि-प्रणालीकी सृष्टि हुई थी। गाँवमें किसान उत्तराधिकारके आधारपर भूमि जोतता था, किन्तु बौद्धिक दृष्टिसे भूमिका मालिक जमींदार ही था। इसके अतिरिक्त वह घरेलू उद्योगमें भी धन कमानेका प्रयास करता था। खेती और उद्योगमें उत्पादनके साधनोंपर कृषकका पूर्ण नियन्त्रण था। उत्पादनका लक्ष्य उपभोग और सीमित विनिमयके लिए था। किन्तु वह बेगारका भी काम करता था और जमींदारको लगान दिया करता था। बेगारका काम एक प्रकारसे अतिरिक्त मूल्यके सिद्धान्तको चरितार्थ करता था। शनैः-शनैः इस व्यवस्थामें भी संघर्ष उत्पन्न हुए और किसान और जमींदारके बीच तनाव पैदा हुआ, जिसके फलस्वरूप पूँजीवादी, अर्थात् बुर्जुआ व्यवस्थाका उदय हुआ। —रा० म० त्रि०

सामगान–प्रगीतात्मक ऋचाओंका संग्रह सामवेदमें हुआ है, यद्यपि उपलब्ध सामवेद और ऋग्वेदकी प्रगीतात्मक ऋचाओंमें अन्तर मिलता है और सामवेदकी ऋचाएँ ऋग्वेदमें नहीं मिलतीं। सामगान वस्तुतः स्तोत्रपाठका गेय रूप था और सोमस्तवनमें सामगानकी पद्धति अपनायी जाती थी। ऋचाएँ केवल गेय नहीं, बल्कि छन्दात्मक हैं और इनमें विभिन्न छन्दोंका उपयोग हुआ है, जिनमें अधिक महत्त्वपूर्ण हैं—गायत्री, बृहती, जगती, त्रिष्टुभ्, अनुष्टुभ्, उष्णिक, पंक्ति आदि। गीतके भेदोंमें वैदिक और लौकिक परिगणित है। 'छान्दोग्योपनिषद्'में कहा गया है कि "चराचर प्राणियोंका रस पृथ्वी है। पृथ्वीका रस जल है, जलका रस ओषधियाँ हैं, ओषधियोंका रस पुरुष है, पुरुषका रस वाक् है, वाक्का रस ऋक् है, ऋक्का रस साम है और सामका रस उद्गीथ है (छां०, १ : १ : २)। साम शब्दकी व्याख्या करते हुए 'छान्दोग्य'ने कहा है, यह पृथ्वी ही ऋक् है और अग्नि साम है। वह अग्निसंज्ञक साम ऋक्में अधिष्ठित है। अतः ऋक्में अधिष्ठित सामका ही गान किया जाता है। यह पृथ्वी ही 'सा' है और अग्नि 'अम' है; इस प्रकार ये दोनों मिलकर साम है (छां०, १: ६ : १)। सामगानके समय वर्णोच्चारणका विशेष नियम था—"सम्पूर्ण स्वर घोषयुक्त और बलयुक्त उच्चारण किये जाने चाहिये एवं समस्त स्पर्शवर्णोंका उच्चारण एक-दूसरेसे तनिक भी मिलाये बिना होना चाहिये (छां०, २ : २२ : ५)। सामगानके कई रूप प्रचलित थे। सामकी पंचविध और सप्तविध उपासनाओंका विवरण मिलता है। विभिन्न देवताओंके लिए किये गये सामगानमें अन्तर था। 'छान्दोग्य'का कथन है कि प्रजापतिका उद्गीथ अनिरुक्त, सोमका निरुक्त, वायुका मृदुल और श्लक्ष्ण, इन्द्रका श्लक्ष्ण और बलवान्, बृहस्पतिका क्रौंचसमान और वरुणका अपध्वान्त है (२ : २२ : १)। सामका 'विनर्दि' नामक गान पशुओंके लिए हितकर माना गया है। सामगानके दो स्पष्ट वर्ग थे—'रथन्तर' और 'बृहत्' (दे०—ऐतरेय ब्राह्मण, आठवीं पंचिका, पहला अध्याय)। सामवेदके एक लक्षणग्रन्थका नाम 'उक्थ' था, जिसमें उद्गाता गेय सामोंका संग्रह करता था। उक्थोंका निश्चय सामवेदीय चरणोंकी परिषदोंके द्वारा होता था और उनमें गेयता सम्बन्धी नियमोंका निर्धारण होता था। सात्यमुग्नि और राणायनीय चरणोंकी परिषदोंने अपने प्रातिशाख्योंमें अर्ध एकार और अर्ध ओकारके उच्चारणको स्वीकृत किया था (दे०—प्रत्याहारसूत्र ३-४, वा० ४पर भाष्य)। —रा० खे० पा०

सामाजिक दायित्व–व्यक्ति-स्वातन्त्र्य (दे०)का अर्थ दायित्वहीन उच्छृंखलता नहीं, बल्कि व्यक्ति-व्यक्तिकी असीम सम्भावनाओंको फलने-फूलनेका अवसर देनेकी स्थिति है। वैयक्तिक स्वातन्त्र्यके विरोधियोंने व्यक्तिस्वातन्त्र्य और सामाजिक दायित्वके दो अलग-अलग ही नहीं, अपितु परस्पर विरोधी प्रतिमानोंका हौवा खड़ा कर रखा है। किन्तु वास्तविक व्यक्ति-स्वातन्त्र्यमें सामाजिक दायित्वका पूरा अन्तर्भाव है। यदि समाजके सभी सदस्य सामाजिक दायित्वकी चिन्ता छोड़कर स्वच्छन्द हो जायँ तो समाजकी अवस्थिति ही असम्भव हो जायगी और अन्ततोगत्वा उनका स्वातन्त्र्य भी खतरेमें पड़ जायगा। अतः व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी रक्षाका मूल मन्त्र है सामाजिक दायित्वकी चिन्ता। अतएव व्यक्तिस्वातन्त्र्य और सामाजिक दायित्व परस्पर विरोधी न होकर सर्वथा सुसंगत और एक दूसरेके पूरक है।

'होली फैमिली' नामक ग्रन्थमें मार्क्स और एंजिल्सने इस तथ्यकी ओर संकेत किया है कि मनुष्यमें दो (आपाततः विरोधी) प्रवृत्तियाँ है। एक ओर तो उसमें स्वातन्त्र्यकी भूख है और दूसरी ओर वह सार्वभौमिकताकी प्राप्तिके लिए सचेष्ट है। बर्ट्रेण्ड रसेल इस युग्म—स्वतन्त्रता और सार्वभौमिकताके बदले स्वतन्त्रता और सम्बद्धताका प्रयोग करते हैं। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो इन दोनों प्रवृत्तियोंमें सामंजस्य-स्थापन इस युगकी सबसे बडी समस्या है। उच्छृंखल, असम्बद्ध व्यक्तिवादका सारा जोर दायित्वहीन स्वातन्त्र्यपर है, जब कि अधिनायकवाद (दे०)का संघबद्धतापर। लोकतान्त्रिक समाजवाद (दे०)की स्थिति इन दोनोंसे भिन्न है। वह दायित्वमूलक व्यक्तिस्वातन्त्र्यमें आस्था रखता

है। मार्क्स लिखता है कि पूँजीवादी अधिकार-भावनाको प्रश्रय देकर प्रत्येक व्यक्ति अन्योंमें अपनी स्वतन्त्रताकी सिद्धि नहीं, बल्कि सीमाका अनुभव करता है। लेकिन समाजवादी समाजरचनामें प्रत्येक व्यक्ति अन्योंमें अपनी स्वतन्त्रताकी सिद्धिका ही अनुभव करेगा। इस समाजमें प्रत्येकका स्वतन्त्र विकास सभीके स्वतन्त्र विकासकी शर्त होगा। —ह० ना०

सामाजिक मूल्य—दे० 'मूल्य'।

सामाजिक यथार्थ—सामाजिक यथार्थ दार्शनिक दृष्टिसे प्रत्यक्ष जगत्से बिलकुल भिन्न है। प्रत्यय मानव मस्तिष्क-से सम्बन्धित है, किन्तु सामाजिक यथार्थके भीतर वे शक्तियाँ आती हैं, जो मानव मस्तिष्कके बाहर हैं। आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परिस्थितियोंका समुच्चय ही सामाजिक यथार्थ है। ये शक्तियाँ मिलकर उस सामाजिक वातावरणका निर्माण करती हैं, जिससे हमारे संस्कारोंकी सर्जना होती है, (दे० 'सामाजिक यथार्थवाद')। —रा० कु० त्रि०

सामाजिक यथार्थवाद—आदर्शवाद (दे०) काव्य और कलाको मनुष्यके शेष व्यापारों, उसकी जीवनप्रक्रियासे विच्छिन्न एक असाधारण, अलौकिक अथवा आध्यात्मिक सर्जनक्रियाका परिणाम मानता है। इसके विपरीत यथार्थ-वाद (दे०) काव्य और कलाको जीवनसे निःसृत और उसका अभिव्यंजक मानता है। प्रेमचन्दने आदर्शोन्मुख यथार्थवाद (दे०) नामसे इन दोनों वादोंका समन्वय करने-की चेष्टा की है।

यथार्थवादको प्रश्रय देनेवाली रचना जीवनकी वास्त-विकताओंका चित्रण करती है। यथार्थवादी चित्रणमें आत्मनिष्ठ पूर्वग्रह, आदर्शवाद अथवा रोमांचकताको कोई स्थान नहीं। आदर्शवाद तथा रोमांचकवाद (दे०) असाधारणके प्रति मोहपर प्रतिष्ठित है। यथार्थवाद साधारण-से-साधारण घटनाके चित्रणमें रस लेता है। वह वास्तविकताका प्रेमी है।

आदर्शवाद तथा रोमांचकवाद दर्शनकी आदर्शवादी, प्रत्ययवादी अथवा अध्यात्मवादी प्रवृत्तियोंसे प्रेरणा लेते हैं, जब कि यथार्थवादका प्रेरणास्रोत है दर्शनकी भौतिक-वादी और यथार्थवादी प्रवृत्तियाँ तथा आधुनिक फ्रायड-युंग-ऐडलरका अन्तश्चेतनावाद।

यथार्थवादके दो रूप देखनेको मिलते हैं। प्रथमको प्रकृतवाद, प्राकृतवाद (दे०), प्रकृतिवाद, तादृश्यवाद, नग्नतावाद, यथातथ्यवाद आदि अनेक नामोंसे पुकारते हैं। अंग्रेजीमें इसके लिए 'नेचुरलिज्म' शब्द व्यवहृत होता है। द्वितीय रूपको या तो केवल 'यथार्थवाद' (realism) और 'सामाजिक यथार्थवाद' अथवा 'समाज-वादी यथार्थवाद'की संज्ञा दी जाती है। प्रकृतिवाद नियतिमें पूर्ण विश्वास करके चलता है। उसके अनुसार मनुष्य एक ओर अपनी सहज प्रवृत्तियों (instincts) तथा वासनाओं (passions) और दूसरी ओर सामाजिक, आर्थिक परिसर (milieu अथवा environment)से पूर्णतः नियन्त्रित और अनुशासित है। मनुष्यमें इच्छा-स्वातन्त्र्यकी प्रतीति भ्रममात्र है। अतः प्रकृतिवादी साहित्यकार नीतिमत्ता सम्बन्धी निर्णयोंसे गुरेज करता है। वह नियतिवादी होने-के कारण जाति अथवा समाजमें सुधार आदिको असाध्य मानता है। इस प्रकार प्रकृतिवाद अन्ततः निराशावाद (दे०) एवं कुण्ठाको प्रश्रय देता हुआ पाया जाता है। इसके विपरीत सामाजिक यथार्थवाद न तो नियतिवादी है, न निराशावादी और न नैतिकता-निरपेक्ष ही।

सामाजिक यथार्थवाद एक भिन्न स्तरपर अवश्यम्भावित्व (inevitability)की स्थापना करता है। कहते हैं कि कथा-साहित्यका विकास असम्भव (the impossible)-से दुर्घट (the improbable), उससे सम्भव (the pro-bable) और अन्ततः अवश्यम्भावी (the inevitable)-की ओर हुआ है। यहाँ अवश्यम्भावित्वका क्या अर्थ है? प्रत्येक स्थितिको दूसरी स्थितिका अवश्यम्भावी परिणाम होना चाहिये, वह उसीसे निःसृत होनी चाहिये। चरित्र वही करे, जो उसकी स्थितिके तर्कसे अवश्यम्भावी हो। जिस कथा-साहित्यमें इस नियमकी उपेक्षा होती है, जिसमें चरित्रोंसे ऐसा काम कराया जाता है, जो उनकी स्थितिका अवश्यम्भावी परिणाम न हो, वह हमें आज अपील नहीं कर सकता।

प्रकृतिवादी साहित्य व्यक्तिका नहीं, अपितु औसतका चित्रण करता है। लेकिन सामाजिक यथार्थवादी न तो यही मानता है कि साहित्यमें केवल निर्जीव औसतका चित्रण होना चाहिये और न समाजसे सर्वथा विसदृश 'व्यक्ति'का। वह समाजके अभिन्न-अंग-भूत व्यक्ति-(typical individual)का चित्रण करता है। वह वस्तुतः व्यक्तिगत पक्षके साथ-साथ सामाजिक पक्षका उद्घाटन करनेमें विश्वास करता है। वह व्यक्तित्वको उसकी समग्रतामें देखना चाहता है। सामाजिक यथार्थवाद वस्तुतः प्रतिनिधि व्यक्तित्व अथवा चरित्रको सहज स्वाभाविक रूपमें प्रस्तुत करता है। इस प्रकार चरित्र वर्ग-विशेषका प्रति-निधित्व करते हुए भी अपनी विशेषता अक्षुण्ण रखता है।

यूरोपीय साहित्यमें जोला, मोपासाँ, जेम्स ज्वायस, एजरा पाउण्ड, ई० ई० कमिंग्ज, फ्लाबेयर आदि प्रकृति-वादके प्रतिनिधि साहित्यकार हैं। डी० एच० लॉरेंस-को भी बहुत-कुछ इसी कोटिका समझा जाता है। बालजाक, टॉल्स्टाय, गोर्की आदि सामाजिक यथार्थवादके प्रतिनिधि लेखक हैं। सामाजिक यथार्थवादके विकासमें मार्क्सवाद-(दे०)का बहुत बड़ा हाथ रहा है। हिन्दीमें 'अज्ञेय' और इलाचन्द्र जोशीपर फ्रॉयडका प्रभाव अधिक होनेसे उन्हें अवसर प्रकृतिवादी मान लिया जाता है। यशपालकी रचनाओंमें भी प्रकृतिवादकी झलक देखी गयी है। सामा-जिक यथार्थवादके प्रतिनिधि लेखकोंमें प्रेमचन्द, यशपाल, नागार्जुन, रांगेय राघव, 'दिनकर' आदिका नाम उल्लेख्य है। 'निराला' और सुमित्रानन्दन पन्तमें भी एक समय सामाजिक यथार्थवादकी जोरदार प्रवृत्ति दिखायी दी थी। हिन्दीमें सर्वप्रथम 'हंस'में प्रकाशित रचनाओंके माध्यमसे मार्क्सवादका प्रवेश हुआ था। पहले तो तत्कालीन लेखकों-का झुकाव यौन स्वच्छन्दता अथवा प्रकृतिवादकी ओर हुआ, लेकिन कालक्रमसे सामाजिक यथार्थवादका रूप निखरा और वह हिन्दी साहित्यकी एक अत्यन्त बलवती प्रवृत्ति बन गया।

सुमित्रानन्दन पन्तकी 'ग्राम्या' हिन्दीमें सामाजिक यथार्थवादसे अनुप्राणित प्रथम काव्यग्रन्थ है। 'निराला'में सामाजिक यथार्थकी अनुभूति तीव्रतर दिखाई देती है। उनकी 'कुत्ता भौंकने लगा', 'नये पत्ते' आदि कविताएँ श्रमिक और कृषकवर्गकी विवशताका सफल चित्रण करती है। सन् १९४३ ई०में 'अज्ञेय' द्वारा संगृहीत 'तारसप्तक'के सात कवियोंमेंसे कम-से-कम चार कवियों—रामविलास शर्मा, प्रभाकर माचवे, भारतभूषण अग्रवाल तथा गजानन माधव 'मुक्तिबोध'—की कविताओंमें सामाजिक यथार्थकी ओर स्पष्ट प्रवृत्ति दिखाई देती है। यद्यपि 'दूसरा सप्तक'में जो सन् १९५१ ई०में प्रकाशित हुआ, केवल धर्मवीर भारतीमें सामाजिक यथार्थकी प्रवृत्ति दिखाई देती है, तथापि नयी पीढ़ी अब इस ओर अधिकाधिक उन्मुख हो रही है।

सामाजिक यथार्थवादका सबसे अधिक प्रयोग उपन्यासोंमें हुआ है। यशपालने अपने 'दादा कामरेड','देशद्रोही' और 'पार्टी कामरेड'में आधुनिक समाजकी समस्याओंका अच्छा चित्रण किया है। रांगेय राघवके 'विषाद मठ' और 'हुजूर' में आधुनिक समाजके दुःख-दैन्यका मर्मस्पर्शी चित्र देखनेको मिलता है। 'विषाद मठ'की विषय-वस्तु बंगालका अकाल है। नागार्जुनके 'रतिनाथकी चाची', 'बलचनमा', 'नई पौध' और 'बाबा बटेसरनाथ' ग्राम्य जीवनके संश्लिष्ट चित्र उपस्थित करते हैं।

[सहायक ग्रन्थ—स्टडीज इन यूरोपियन रियलिज्म। जॉर्ज लूकाक्स; आर्ट एण्ड सोशल लाइफ : प्लेखनॉव; इल्यूजन एण्ड रियलिटी : क्रिस्टोफर कॉडवेल।] —ह० ना०

सामाजिक समष्टि—सामाजिक समष्टि अंग्रेजीके 'सोशल-एग्रीगेट' या 'सोशल-होल'का पर्याय है। समाजके स्वरूपके विषयमें समाज-दार्शनिकोंके बीच गहरा मतभेद पाया जाता है। एतत्सम्बन्धी विभिन्न मतोंको हम मोटे तौरपर निम्नलिखित तीन वर्गोंमें बाँट सकते है—(१) समुदायवाद। यह इस सन्दर्भमें प्रयुक्त अंग्रेजी शब्द 'नामिनलिज्म' अथवा 'एटमिज्म'से अधिक उपयुक्त लगता है। इसके अनुसार समाज व्यक्तियोंका समुदायमात्र है, उसकी अपनी कोई सत्ता नहीं। यह मत बहुत कम प्रचलित है। (२) विराट पुरुषवाद अथवा महाव्यक्तिवाद अथवा शरीरवाद (आर्गेनिसिज्म)। इसके अनुसार समाज एक सजीव शरीर, अंगी, अवयवी अथवा एकीभूत समष्टि है और विभिन्न व्यक्ति उसके अंग या अवयवस्वरूप हैं। व्यक्ति और समाजमें शाब्दिक अर्थोंमें अंगांगिभावका सम्बन्ध है। यह मत सर्वाधिक प्राचीन एवं प्रसिद्ध है। ऋग्वेदके पुरुषसूक्तमें चारों वर्ण विराट् पुरुषके विभिन्न अंग बताये गये हैं। चीनी, यूनानी और रोमीय विचारधारामें भी समाज-पुरुषकी कल्पना मिल जाती है। मेकियावेली, पास्कल, हाब्स आदिने भी इस धारणाको प्रश्रय दिया है। हर्बर्ट स्पेन्सर भी इस मतका एक सीमातक समर्थक था। उसके अनुसार समाज-शरीर और अन्य प्राणियोंके शरीरोंके बीच निम्नलिखित समानताएँ हैं—दोनों बढ़ते है, बढ़ते समय दोनों गठन और चेष्टाओंमें विशेषीकरण (डिफरेन्शियेशन) प्रदर्शित करते हैं, दोनोंमें अंग-प्रत्यंगका परस्पर सहकारित्व एवं अन्योन्याश्रयत्व देखनेको मिलता है, दोनों इकाइयों-(जीवाणुओं तथा व्यक्तियों)से निर्मित होते हैं, इन इकाइयोंके अक्षत रहते भी दोनोंका नाश सम्भव है, दोनोंका अपना-अपना पोषक-संस्थान (भोजनकी नली), विभाजक-संस्थान (शरीरमें रक्त-संस्थान तथा समाजमें व्यवसाय-व्यापारकी धमनियाँ) और व्यवस्थासंस्थान (शरीरमें स्नायु-संस्थान और समाजमें शासन-संस्थान) है। स्पेंगलरके अनुसार प्रत्येक संस्कृति एक सजीव प्राणीके समान जन्म लेती, बढ़ती, परिपक्व होती और मृत्युको प्राप्त होती है। उसके अनुसार संस्कृति-संस्कृतिके व्यक्तित्व एवं आत्मामें इतना भारी भेद होता है कि उनमें परस्पर बौद्धिक, कलात्मक, साहित्यिक आदान-प्रदान सम्भव ही नहीं है। प्रत्येक संस्कृतिका अपना विचार, अपना आवेग, अपना जीवन, अपनी इच्छा-शक्ति और अपनी मृत्यु होती है। इस मतका विरोध भी जोरोंसे हुआ है। हर्बर्ट स्पेन्सरने समाज एवं शरीरमें यदि साम्यके दर्शन किये हैं, तो उनका वैषम्य भी उससे छिपा नहीं है। वह कहता है कि शरीरके अवयव सन्निविष्ट, संश्लिष्ट अथवा सुसंघटित होते है, जब कि समाजके असन्निविष्ट, असंश्लिष्ट तथा असंघटित। अतः समाज शरीरकी अपेक्षा कम समग्रीभूत अथवा एकीभूत होता है। इसके अतिरिक्त मनुष्यका शरीर चेतना द्वारा नियन्त्रित एवं परिचालित होता है, जब कि समाज-शरीरमें कोई केन्द्रीय चेतना है ही नहीं। समाजकी प्रत्येक इकाई (व्यक्ति)में तो चेतना है और समाजके संचालनमें उन चेतनाओंका बहुत बड़ा हाथ होता है, किन्तु व्यक्तिगत चेतनाएँ किसी केन्द्रीय चेतनाके शासनमें नहीं हैं। इस दृष्टिसे समाजकी तुलना वनस्पति-शरीरसे की जा सकती है। वनस्पतिमें भी अनेक जीवाणु तो होते हैं, किन्तु कोई केन्द्रीय चेतना नहीं होती। (३) व्यापारात्मक समष्टिवाद (फंक्शनलिज्म)। इसके अनुसार समाज न तो पृथक्-पृथक वर्तमान व्यक्तियोंका समुदायमात्र है और न कोई पूर्णतः एकीभूत सजीव शरीर। वह अपनी-अपनी स्थितिके अनुसार विभिन्न अन्योन्याश्रित चेष्टाओं, व्यापारोंमें संलग्न परस्पर सम्बद्ध व्यक्तियोंका एक संस्थान है। इस प्रकार यह मत पूर्वोक्त दोनों मतोंका समन्वय है। इस मतके समर्थक सोरोकिनका कहना है कि समाज विविध सामाजिक सांस्कृतिक संस्थानों एवं उनसे असम्बद्ध अथवा तटस्थ समुदायोंका सहभाव है। सोरोकिन समाजकी विभिन्न संस्थाओं अथवा वस्तुओंके पारस्परिक सम्बन्धोंको निम्नलिखित चार कोटियोंमें विभाजित करता है—(क) दैशिक अथवा यान्त्रिक सन्निकर्ष, अथवा समुदाय। इसका अर्थ यह है कि अनेक संस्थाओं अथवा वस्तुओंके बीच सिवाय इसके कि वे परस्पर समीप है और कोई सम्बन्ध नहीं दिखाई देता। (ख) कारण-कार्यभावका असाक्षात् सम्बन्ध अथवा अन्यपदार्थमूलक सहास्तित्व; शीतकालमें कोयले, रुई और ऊनकी माँग बढ़ जाती है। यहाँ कोयले, रुई और ऊनका हर घरमें सहास्तित्व उनके किसी पारस्परिक सम्बन्धके कारण नहीं, बल्कि शीतकाल—एक अन्य वस्तुके कारण है। (ग) कारण-कार्यभावका साक्षात् सम्बन्ध, अर्थात् वस्तुओं अथवा संस्थाओंके बीच कारण-कार्यभावका सम्बन्ध। (घ) आन्तरिक अथवा हेतुक साध्यसाधनमूलक एकता; किसी

मूल्य, आदर्शकी व्यंजक अथवा वाहक सारी संस्थाओं अथवा वस्तुओंमें एक प्रकारका एकीभाव हो जाता है। शासन-यन्त्र और उसके क्रिया-कलापमें जो एकता है, वह इसी कोटिकी है। कार्ल मार्क्सके अनुसार समाजके विभिन्न विभाग एवं संस्थाएँ एक विशाल सम्बन्ध-सूत्रमें पिरोयी हुई होती हैं, समाज उनका संघट्टमात्र न होकर एक न्यूनाधिक समग्रीभूत समष्टि है। समसामयिक समाज-दर्शनमें व्यापारात्मक समष्टिवादका सबसे अधिक मान है। —हु० ना०

सामान्य—लोकन्यायमूल अर्थालंकार, जिसमें अत्यक्त निज गुणवाले प्रस्तुत और अप्रस्तुतमें सदृश गुणके कारण एकरूपताका वर्णन होता है। इस अलंकारमें अत्यक्त गुणवाले उपमेयकी उपमानके साथ एकात्मता वर्णित की जाती है। सामान्यका अर्थ समानका भाव है। सर्व प्रथम प्रयोग मम्मट तथा रुय्यक द्वारा ही किया गया है। मम्मटकी परिभाषा इस प्रकार है—"प्रस्तुतस्य यदन्येन गुणसाम्यविवक्षया। ऐकात्म्यं बध्यते योगात्तत्सामान्यमिति स्मृतम्" (का० प्र०, १० : १३४), अर्थात् जिसमें प्रस्तुत और अप्रस्तुत पदार्थोंके योगमें, दोनोंके गुणसाम्यप्रतिपादनके लिए, दोनोंकी एकरूपता सिद्ध की जाय। मम्मटने 'विवक्षा' द्वारा यह व्यक्त किया है कि वस्तुतः समानता न होनेपर भी समानताका प्रतिपादन करना। परन्तु विश्वनाथका लक्षण है—"सामान्यं प्रकृतस्यान्यतादात्म्यं सदृशैर्गुणैः" (सा० द०, १० : ९०), अर्थात् प्रस्तुतकी अप्रस्तुतसे सदृश गुणके कारण एकरूपताका कथन। इसमें मात्र सादृश्यका उल्लेख है।

हिन्दीमें इस अलंकारकी विवेचना जसवन्त सिंहके 'भाषाभूषण'से प्रारम्भ हुई है, जिसमें 'कुवलयानन्द'के आधारपर लक्षण दिया गया है। वस्तुतः हिन्दीमें इसीके आधारपर सादृश्यसे कुछ भेद प्रतीत न होनेकी बातको अधिक स्वीकार किया गया है। भूषणके अनुसार—"भिन्न-रूप जहँ सदृसतें भेद न जान्यो जाय" (शि० भू०, ३०५)। मतिराम तथा पद्माकरने इसी बातको 'पैए कछु न बिसेप' अथवा 'समुझि बिसेप परै न' (ल० ल०, ३४०; पद्मा० : २४३)के रूपमें कहा है। भिखारीदासने प्रस्तुत-अप्रस्तुतकी एकरूपताका वर्णन 'हीरा फटिक स्वभाव'से किया है (का० नि०, १४)।

रीतिकालके कवियोंने नायिकाओंके (विशेषकर अभिसारिकाके) वर्णनमें इस अलंकारका उक्तिपूर्ण प्रयोग किया है। मतिरामकी अभिसारिका—"ग्रीषम दुपहरीमें हरिकौं मिलन चली, जानी जाति नारि न दवारिजत बनमें" (ल० ल०, ३४४)। पर सोमनाथकी इस शुक्लाभिसारिकाके वर्णनमें प्रयोग सुन्दर बन पड़ा है—"लखिये पिय निसिमें नवल कौतुक सुख सरसातु। हिमकर अरु तिय बदनमें अन्तर लख्यो न जात" (र० पी० नि०)। रघुनाथने 'रसिकमोहन'में इसका प्रयोग नारी-सौन्दर्यको व्यक्त करनेके लिए किया है—"चित्रनसों मिलि भई चित्र, हाथमें न आई, हारौ हेरि प्यारौ, रही प्यारी चित्रसारीमें"। इसमें उक्तिवैचित्र्यका सौन्दर्य है।

मीलित, तद्गुण और सामान्य, तीनों ही अलंकार लोकन्यायमूल अर्थालंकार हैं। इनमें अन्तर यह है कि मीलित अलंकारमें प्रधान धर्म-सम्पन्न वस्तुमें निम्न गुणवाली वस्तुका तिरोधान हो जाता है और 'सामान्य'में दोनों वस्तुओं (प्रस्तुत और अप्रस्तुत)का स्वरूप पृथक् होनेपर भी किसी गुणकी समानतासे दोनोंमें अभेद स्थापित किया जाता है। 'अत्यक्त गुणवाली वस्तु' इस कथन द्वारा तद्गुण और सामान्य इन दोनों अलंकारोंमें व्यावर्तक रेखा खीची गयी है। 'तद्गुण'में स्वधर्मका परित्याग करके एक वस्तु अपने निकटवर्ती दूसरी वस्तुका गुण ग्रहण करती है, किन्तु 'सामान्य'में निज गुणका त्याग नहीं होता। —वि० स्ना०

सामान्य-निबंधना—दे० 'अप्रस्तुत प्रशंसा', चौथा भेद।

सामान्यपरिवृत्त—दे० 'अर्थ-दोष', इक्कीसवाँ।

सामान्या (गोपी)—दे० 'गोपी'।

सामान्या (नायिका)—जो स्त्री सर्वसाधारणके लिए सुलभ हो; इसे वेश्या (भरत), साधारण स्त्री (धनंजय, शारदातनय), गणिका (तोप, पद्माकर) आदि नामोंसे भी पुकारा जाता है। यह नायिका केवल धनके लिए परपुरुषसे प्रेम करनेका ढोंग करती है—"करै औरसों रति रमनि इक धनहीके हेत" (पद्माकर : जगद्वि, भा० १ : १२२)। साथ ही इसमें इसके अनुरूप कलाप्रवीणता भी होती है—'कलाप्रागल्भ्यधार्ष्ट्ययुक्' (शिगभूपाल : रसार्णव, ११०)। इस भेदकी स्वीकृति नाटकीय पात्रके रूपमें हुई, पर बादमें काव्यशास्त्रके अन्तर्गत नायिकाओंके विभाजनमें भी इसे स्वीकार किया गया है। राकेश गुप्तने इसे वास्तविक नायिकाके रूपमें स्वीकृति नहीं दी—"शृंगारमें प्रेमभावनाका अंकन होता है और सामान्यामें यह भाव रहता ही नहीं है, ऐसी स्थितिमें उसे नायिका मानना कहाँतक न्यायसंगत है। वस्तुतः इसको बहुत कम महत्त्वका भेद लेखकोंने माना भी है, अधिकांशने बहुत संक्षेपमें इसका उल्लेख किया है" (स्ट० इ० नाय० ना० भे०, भा० ३ : अ० २)। रूपगोस्वामी तथा सूरदासने वैष्णव प्रभावके कारण इसे स्वीकार नहीं किया, शारदातनय तथा कुमारमणिने केवल रसाभासका आलम्बन माना है। दासने स्पष्टतः सामान्याको नहीं लिया है, उनकी साधारण नायिका भिन्न है—"आमें स्वकीया परकीया रीति, न जानी जाय" (शृं० नि०, २८)। केशवने विभाजनमें उल्लेख करके ही छोड़ दिया है। जिन कवियोंने इसका उदाहरण दिया है, उन्होंने भी इसकी धनलोलुपता तथा स्वार्थपरताका ही विशेष उल्लेख किया है—"नायक नवल क्यों न देय धन मन ऐसे? सुतनुकौं सुतनु अतनु धन पाइकै" (मतिराम : र० रा०, ९५), अथवा—"चौकनी चितौनी चारु चेरे करि चतुरनि, वितु लियो चाहै चितु लियो है चुराइकै" (देव : भा वि०, : नायिका०)। साथमें उसकी भंगिमाओंका वर्णन भी हुआ है—"छाजति छबीली छिति छहरि छराकी छोर, भोर उठि आई केलि मन्दिरके द्वारपर। एक पग भीतर सु एक देहरीपै धरै, एक कर कंज एक कर है किवारपर" (पद्माकर : जगद्वि०, भा० १ : १२३)। रहीमने गणिकाकी सुन्दर भावाभिव्यक्ति अंकित की है—"तब लगि मिटहि न मितवा, तनकी पीर। जौ लगि पहिरि न हरवा, जटित सुहीर" (ब० नायिका०, ७०)। भेद-विस्तारके लिए दे० 'नायिका-भेद'। —र०

सामूहिक चेतना (collective psyche)—यह आधु-

निक मनोविज्ञानके लाक्षणिक पद 'कलेक्टिव साइके'का पर्याय है। सी० जी० युंग नामके वर्तमान शतीके प्रसिद्ध जर्मन विश्लेषणात्मक मनोवैज्ञानिकने इसे खूब प्रसिद्धि दी है। उसने लिखा है कि वह सारी चेतना जो व्यक्तिविशेषकी न होकर एक ही कालमें अनेकानेक व्यक्तियों अथवा व्यक्ति-समुदाय–समाज, राष्ट्र अथवा सम्पूर्ण मानव जाति—की सम्पत्ति हो, सामूहिक चेतना है। राज्य, धर्म, विज्ञान आदि सम्बन्धी व्यापक धाराएँ भी सामूहिक चेतनाके अन्तर्गत है। ईसामसीहको शूली देनेके अयशके भागी केवल वे चन्द व्यक्ति नहीं, जिन्होंने प्रत्यक्षतः इस काण्डमें भाग लिया था। इस कुकृत्यका मूल तत्कालीन सामूहिक चेतनामें ढूँढ़ना चाहिये, जो परम्पराकी एकता और अपरिवर्तनशीलताके भावसे भावित थी तथा तद्विरोधी सभी बातोंको पापमूलक समझती थी। नये मूल्योंकी स्थापनाके सारे प्रयत्नोंको सामूहिक चेतनासे लोहा लेना पड़ता है।

एक बात और है। प्रायः देखा जाता है कि समाज-विशेषकी दार्शनिक, राजनीतिक, साहित्यिक मान्यताओंमे तो परिवर्तन आ भी जाता है, किन्तु सामूहिक चेतना अक्षुण्ण रहती है। परिणाम यह होता है कि काल-क्रमसे या तो नयी मान्यताएँ अत्यन्त निर्बल अथवा नष्ट हो जाती है या उनके क्रान्तिकारी रूपका लोप हो जाता है और वे सामूहिक चेतना द्वारा ग्राह्य रूपमे परिणत हो जाती है। शायद बौद्ध धर्म इस नियमका एक अच्छा निदर्शन है। उसका अधिकांश रूप तो सामूहिक चेतनाको अग्राह्य होनेसे नष्ट हो गया, कुछ अंश शांकर और प्राक् शांकर वेदान्त द्वारा आत्मसात् कर लिया गया और शेष विकृत होकर तन्त्र-परम्पराका अंग बन गया। —ह० ना०

सामूहिक मनोदशा–केवल कल्पनाएँ, धारणाएँ और दृष्टिकोण ही सामूहिक नहीं हो सकते, भावना, और आवेग भी होते हैं। लेवी ब्रुलके अनुसार तो आदिम जातियोंके लिए सामूहिक प्रत्यय या विचार भी सामूहिक भावनाओंका ही प्रतिनिधित्व करते हैं। सभ्य मनुष्यमे भी केवल सामूहिक विचार ही नहीं पाये जाते, सामूहिक भावनाएँ भी पायी जाती हैं। सभ्य समाजके बड़े भागके लिए ईश्वरकी सत्तामे विश्वास चिन्तन-जन्य न होकर प्रायः भावना-जन्य ही होता है। इसी प्रकार मातृभूमिकी कल्पना तत्त्वतः भावनात्मक ही है। सामूहिक भावना, आवेग आदिके लिए ही सामूहिक मनोदशा (कलेक्टिव ऐटीच्यूड) पदका प्रयोग होता है। —ह० ना०

सामूहिक मानस (group mind)–चेतना मानसकी क्रिया है और मानस वैयक्तिक होता है, अतः चेतना भी वैयक्तिक ही होती है, परन्तु मनोविज्ञान और सामान्य अनुभव यह प्रमाणित करता है कि समूहमें एकत्र विभिन्न व्यक्तियोकी चिन्तना और कार्य-प्रणाली एक व्यक्तिकी चिन्तना और कार्यप्रणालीसे भिन्न होती है। मनुष्य एक समाजका सदस्य है और बहुतसे काम उसे सामूहिक रूपसे करने पडते है। उदाहरणके लिए तथा तमाशा देखनेको एकत्र भीड़की सामूहिक प्रवृत्ति उत्तरदायित्वहीन, चंचल तथा अत्यधिक संवेगशील होती है। उस भीड़में बहुतसे उत्तर-दायित्वका अनुभव करनेवाले, विचारशील व्यक्ति होंगे, परन्तु समूहमे आकर उनकी मनोवृत्ति भी समूह-जैसी हो जाती है। अतः मनोवैज्ञानिक मानते है कि सामूहिक मानस (group mind) समूहको बनानेवाले व्यक्तिगत मानसोंसे भिन्न होता है। यद्यपि उसका निर्माण इन विभिन्न व्यक्तिगत चेतनाओंसे ही होता है, पर सामूहिक होनेके कारण उसमे कुछ विशेष गुण आ जाते है। सामूहिक मानसकी चेतना ही सामूहिक चेतना होती है। समूह भी कई प्रकारके हो सकते है—गंगास्नानको जानेवाले स्नानार्थियोंकी भीडकी सामूहिक चेतना धर्म और आस्थाप्रधान होगी, सिनेमा-घरके सामनेवाली भीडकी सामूहिक चेतना दूसरे प्रकारकी होगी और विद्यालयके फाटकपर हड़ताल करनेको एकत्र भीडकी सामूहिक चेतना अन्य प्रकारकी। समूह-विचार-शील भी होते है, सभाओं और समितियोंमें सामूहिक चेतना उत्तरदायित्व और विवेचनसे युक्त होती है। परन्तु सामूहिक मानस चाहे किसी समूहका हो, प्रायः अस्थिर और अन्ध होता है। —प्री० अ०

साम्यवाद–'साम्यवाद' शब्द अंग्रेजीके 'कम्युनिज्म'-(communism)का पर्याय है जो लैटिनके 'कम्युनिस'-(communis)से व्युत्पन्न है और सन् १८३४–१८३९ ई०में पेरिसके गुप्त क्रान्तिकारी संघटनों द्वारा गढा गया था। कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंग्ल्सने इस शब्दका बहुधा प्रयोग किया है, यहाँतक कि उनकी विचारधाराके लिए यह शब्द रूढ हो गया है, यद्यपि उनकी कृतियोंमे 'कम्युनिज्म' और 'सोशलिज्म' (समाजवाद) प्रायः पर्याय-रूपेण ही प्रयुक्त हुए है। उनकी विचारधारासे प्रभावित श्रमिक दल अपनेको समाजवादी या सामाजिक लोकतन्त्र-वादी (social democrat) कहकर पुकारते रहे, किन्तु लेनिनने अपने क्रान्तिकारी आन्दोलनको सन् १९१८ ई०मे समाजवादी आन्दोलनसे विच्छिन्न कर अपने दलको साम्यवादी कहना आरम्भ किया। तबसे साम्यवाद शब्दका व्यापक प्रयोग होने लगा है।

वैयक्तिकके बदले सामूहिक अथवा सार्वजनिक उत्पादन, प्रबन्ध और उपभोगके सिद्धान्तपर आधारित समाज-व्यवस्था साम्यवादी समाज-व्यवस्थाके नामसे प्रसिद्ध है। समाज-वाद(दे०)में प्रायः केवल उत्पादनके साधनोंका सामाजी-करण होता है। समाजवाद प्रायः शान्तिमय तथा लोक-तान्त्रिक उपायोंसे क्रान्ति करनेके पक्षमें है, जब कि साम्य-वाद एतदर्थ बलके प्रयोगमें अधिक विश्वास करता रहा है। आजकल साम्यवादी प्रायः समाजवादको क्रान्तिका प्रथम सोपान तथा साम्यवादको अन्तिम सोपान मानते हैं।

अफलातूनने अपने आदर्श समाज (republic)में केवल शासक वर्गके लिए साम्यवादी ढर्रेकी व्यवस्थाका विधान किया था। तबसे लेकर आधुनिक युगतक अनेक धर्माचार्यों, सुधारकों और विचारकोंने पूरे समाजके लिए अपने-अपने ढर्रेके साम्यवादका विधान किया है। लेकिन परिवारों तथा विशेष प्रकारके आश्रमों और मठोंको छोडकर साम्यवादका स्वप्न अन्यत्र सत्य नहीं हो सका है। रूस और चीन जैसे देशोंमें भी, जहाँ साम्यवादी सशस्त्र क्रान्ति करनेमें पूर्णतया सफल रहे है, स्वयं उन्हींके कथनानुसार अभी साम्यवादी व्यवस्थाकी प्राण-प्रतिष्ठा नहीं हो सकी है। रूस अभी

समाजवादके सोपानसे गुजर रहा है। हाँ, कुछ नृतत्त्व-शास्त्रियोंने यह कल्पना अवश्य की है कि साम्यवाद ही, जिसे प्रकृत रूपमें 'आदिम साम्यवाद' (primitive communism) कहा जाता है—मानव-समाजका आदिम रूप था, किन्तु अन्योंके अनुसार आदिम मानव-समाज सहकारिता (cooperation) पर आधारित था, न कि साम्यवादपर।

साम्यवादी विचारधाराका चरम विकास मार्क्सवाद-(दे०)में देखनेको मिलता है। मार्क्सका दर्शन 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' (दे०)के नामसे प्रसिद्ध है।

साम्यवाद समाजमें शोषक और शोषित, बुर्जुआ और सर्वहारा, पूँजीपति और श्रमिक, इन परस्पर सङ्घर्षरत दो वर्गोंकी सत्ता मानता है। साम्यवादकी स्थापना शोषित वर्गके हाथों शोषक वर्गके ध्वंसपर होगी। अतः साम्यवादियोंका कहना है कि क्रान्तिकी गति तीव्र करनेके लिए हर सम्भव उपायसे शोषित वर्गके हाथ मजबूत करने चाहिये। इस कार्यमें सहयोग देनेवाला क्रियाकलाप प्रगतिशील और अन्य क्रियाकलाप प्रतिक्रियावादी है। साहित्यपर भी यही नियम लागू है।

साम्यवादका साहित्यिक रूप प्रगतिवाद (दे०)के नामसे प्रसिद्ध है। प्रगतिवादको मुख्यतः रूसके समाजवादी साहित्यकारों, विशेषतः कथाकारोंसे प्रेरणा मिली है। साम्यवादी साहित्य-दर्शनका प्रथम व्याख्याता गोर्कीको समझना चाहिये। मार्क्स और एंगिल्सने फ्रान्सीसी उपन्यासकार बाल्ज़ाककी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। अतः साम्यवादियोंने बाल्ज़ाकसे भी पर्याप्त प्रेरणा ली है। प्रगतिवाद सामाजिक यथार्थवाद (दे०)में विश्वास करता है और साम्यवादी क्रान्तिका पथ प्रशस्त करनेके लिए साहित्यको एक औज़ारके तौरपर इस्तेमाल करता है।

हिन्दीमें सर्वप्रथम 'हंस'में प्रकाशित रचनाओं द्वारा साम्यवादका प्रवेश हुआ। फिर धीरे-धीरे कहानी, कविता, उपन्यासके क्षेत्रोंमें अनेक नयी प्रतिभाओंका उदय हुआ, जिन्होंने साम्यवाद अथवा प्रगतिवादको हिन्दीकी एक सशक्त प्रवृत्ति बना दिया। सन् १९३६ ई०में 'भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ'की स्थापना हुई, जिसका स्वागत प्रेमचन्द और जोश मलीहाबादीके साथ-साथ रवीन्द्रनाथ ठाकुरने भी किया और उसमें सक्रिय भाग भी लिया। सन् १९३५-४० ई०के बीच छायावादी कवितामें ह्रासोन्मुखता (दे०)के लक्षण दिखाई देने लगे थे, फलतः प्रगतिवादकी ओर लोगोंका ध्यान गया और हिन्दी कविताकी ह्रासोन्मुखताका युग समाप्त हुआ। सुमित्रानन्दन पन्त, 'दिनकर', 'नवीन' और 'निराला' जैसे कवियोंपर भी इस नये आन्दोलनने जादूका असर किया और उनसे साम्यवादी आदर्शोंका यशोगान कराया। प्रभाकर माचवे, नेमिचन्द्र जैन, गजानन माधव 'मुक्तिबोध', भारतभूषण अग्रवाल, गिरिजाकुमार माथुर जैसे व्यक्ति-केन्द्रक-प्रवृत्तिके कवि भी प्रगतिवादसे अप्रभावित न रह सके। अनेक छायावादी ढर्रेके तरुण कवि भी प्रगतिवादके झण्डेके नीचे आये, जैसे शम्भुनाथ सिंह, 'रसिक', विद्यावती 'कोकिल' आदि। नरेन्द्र शर्मा, शिवमंगल सिंह 'सुमन', केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन शास्त्री, नागार्जुन, रांगेय राघव और रामदयाल पाण्डेय प्रगतिवादी कवियोंमें अग्रगण्य हैं। प्रगतिवादने कई उपन्यासकार भी हिन्दी साहित्यको दिये, जिनमें राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, रांगेय राघव, नागार्जुन प्रभृतिके नाम उल्लेखनीय हैं। प्रेमचन्दके 'गोदान'को भी प्रगतिवादी प्रवृत्तिका ही माना जाता है।

साम्यवाद अथवा प्रगतिवादका जो सबसे व्यापक प्रभाव हिन्दी साहित्यपर पड़ा है, वह है साहित्यकी सामाजिक परिणति (social orientation), अर्थात् प्रगतिवादके कारण हिन्दी साहित्यमें सामाजिक आयामोंका विकास हुआ है, यथार्थवाद पनपा है, जीवनवादको तरजीह मिली है, मानववादका प्रचार हुआ है, रूढ़ि, शोषण तथा अत्याचारका विरोध हुआ है और शोषितको सहानुभूति मिली है। यदि प्रगतिवाद प्रत्यक्ष विदेशी प्रभावसे मुक्त होता तो सम्भवतः हिन्दी साहित्यमें उसका जीवन-काल और लम्बा होता।

प्रगतिवादने हिन्दीमें एक नयी समीक्षा-पद्धति भी विकसित की है। प्रगतिवादी समीक्षकोंमें शिवदान सिंह चौहान, रामविलास शर्मा, रांगेय राघव, अमृतराय और प्रकाशचन्द्र गुप्तके नाम प्रसिद्ध हैं।

[सहायक ग्रन्थ—हिस्टरी ऑव सोशलिस्ट थॉट : जी० डी०एन० कोल; कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो : मार्क्स तथा एंगिल्स; आर्ट एण्ड सोशल लाइफ : प्लेखनोव।] —ह० ना०

सार १—मात्रिक सम छन्दका एक भेद। भानुके अनुसार इसके प्रत्येक चरणमें २८ मात्रा १६, १२की यतिसे और अन्तमें २ग (SS) रहते हैं। अन्तमें दो गुरुका नियम कर्ण-मधुरताकी दृष्टिसे रखा गया है, अन्यथा ग तथा र ल भी हो सकता है (छं० प्र०, पृ० ६६)। सरसी (दे०)के समान इस छन्दका प्रयोग भी प्रायः पदशैलीके अन्तर्गत हुआ है। सूर, तुलसी, नन्ददास तथा मीरांने इसका महत्त्वपूर्ण प्रयोग किया है। छन्दके रूपमें प्रयोग करनेवालोंमें केशव (रा० चं०) तथा रघुराज (रा० स्व०) आदि हैं। सूरने 'सूर-सागर'में और तुलसीने 'विनयपत्रिका', 'गीतावली' तथा 'कृष्ण-गीतावली'में सारका प्रयोग सरसी छन्दसे अधिक किया है। विशेषकर टेकवाले पदोंमें इसका प्रयोग किया गया है। यह छन्द पदशैलीके अधिक अनुकूल है, प्रमुखतः जहाँ घटनायें अथवा भावाभिव्यक्तिमें द्रुत गति होती है। सूरने मानलीला-प्रसंगमें इसका सुन्दर प्रयोग किया है, उदा०—"पायी पायी है रे मैया, कुंज कुंजमें टाली" (सू० सा० : सभा सं०, पद ११२१) तथा—"जस आमय भेपज न कीन्ह तस, दोष कहा दिरमानी" (वि० प०, प० १२२)। —सं०

सार २—जन्मोत्सवका गीत; छठीके दिन गाये जानेवाले जच्चाके विभिन्न गीतोंमेंसे एक; जच्चा या बच्चेकी सार, तेल-उबटन आदिसे सम्बद्ध; सार नामका २८ मात्राओंका एक छन्द भी होता है और एक वर्ण-वृत्त भी जिसे ग्वाल कहते हैं। —र० अ०

सार (उदार)—एक शृंखलामूलक अर्थालंकार, जिसमें सुशृंखलित रूपमें आये हुए पदार्थोंमें पूर्व-पूर्ववर्णित पदार्थोंकी अपेक्षा उत्तरोत्तरकथित पदार्थोंमें उत्कर्ष एवं अपकर्षका वर्णन होता है। रुद्रट द्वारा स्वीकृत (काव्यालं०, ७ : ९६) इस अलंकारका लक्षण मम्मटके अनुसार—"उत्तरोत्तर-

सिंघ सूँ जूझै । कहै कबीर कोई विरला बूझै" (क० ग्रं० ति०, पद १२०) । सन्तों द्वारा प्रयुक्त इस प्रकारके शब्दोंके एक दूसरेसे विरुद्ध पड़नेवाले विभिन्न अर्थोंका मुख्य कारण यह है कि वे प्रसंगके अनुसार वस्तुके धर्मको ही ध्यानमें रखते हैं धर्मी (अर्थात् वस्तु)को नहीं; और चूँकि एक ही वस्तुके कई-कई धर्म (विशेषताएँ) होते हैं, अतः अर्थमें अन्तर आ जाता है। जैसे सिंह वनराज है, वनके जानवरोंपर उसका शासन रहता है, अतः गायको चरानेवाला सिंह अपनी शक्तिके प्रति सचेत सिंह, अर्थात् मनका बोधक है। यही सिंह सियार द्वारा लालन दिये जानेपर ठगा भी जाता है, अतः वह मायालिप्त मनका अर्थ देता है।—रा०दे०सिं०

सिंहलगढ़—सिंहलगढका जो वर्णन जायसीने 'पद्मावत'में किया है, वह हठयोगके आधारपर शरीरका वर्णन है। काय-साधनाके लिए हठयोगी शरीरस्थ चक्रों तथा कुण्डलिनीकी बातें करते हैं। उसे जायसीने ग्रहण किया है। सिंहलगढका वर्णन करते हुए जायसीने स्पष्ट ही कहा है—"गढ तस बाँक जैसि तोरि काया"। इस गढ़के नौ द्वार कहे गये हैं। इन नवों द्वारोंको पार करनेके लिए सूफी-साधनाके सूफी मार्गको अपनानेकी बात कही है—"चारि बसेरे सो चढ़ै"। अन्तिम द्वार, **दसवाँ द्वार** है, जहाँसे होकर सुषुम्ना ब्रह्माण्डमें प्रवेश करती है। इसी द्वारसे होकर **सहस्रार**से **अमृत** झरता रहता है। इस साधनाके लिए गुरुकी आवश्यकता होती है, दसवें द्वारतक पहुँचना तभी सम्भव हो सकता है। यहाँ एक बात और स्पष्ट रूपसे समझ लेनी चाहिये कि 'पद्मावत'में जहाँ भी सिंहलगढके वर्णन आये हैं, वहाँ वे रूपकके रूपमें ही हैं, ऐसी बात नहीं है। —रा० पू० ति०

सिंहविक्रीड—साधारण दण्डकका एक भेद। यह भी प्राकृत-कालीन छन्द है। संस्कृतके कवियोंमें इस वृत्तका प्रयोग नहीं मिलता। क्षेमचन्द्रने इसका लक्षण दिया है 'याः सिंहविक्रीडः' (छन्दोऽनु०, अ० २ : ३०२), अर्थात् यथेष्ट यगण। भानुने यगण ९ या अधिकका लक्षण इसलिए दिया है कि ९से कम यगणका दण्डक सम्भव नहीं है और पहलेसे यह छन्द दण्डकके अन्तर्गत माना जाता रहा है, इसलिए यह ९से अधिक यगणका तो होगा ही। संस्कृत छन्दःशास्त्रोंमें केदार भट्टके 'वृत्तरत्नाकर', जयकीर्तिके 'छन्दोऽनुशासन'में 'सिंहविक्रीडित' नामसे एक वर्णिक छन्दका उल्लेख है, किन्तु वह दण्डक नहीं है, उसका लक्षण भी न न र र र र र है। इस लक्षणके छन्दके सिंहविक्रीडितके अतिरिक्त नाराच या महानाराच, नाराचक, वरदा अथवा निशा नामोंका उल्लेख है (जयदामन, पृ० १३९)। स्पष्ट है कि सिंहविक्रीड दण्डक, सिंहविक्रीडित छन्दसे भिन्न है। इसमे सिंहके क्रीड़ा करनेका ध्वनिचित्र है, सम्भवतः इसलिए इसका नाम 'सिंहविक्रीड' पड़ा है। इसमें भगणकी अनेक आवृत्तियाँ हैं इसलिए इसकी उत्पत्तिके मूलमें केशा अथवा धृ (हेमचन्द्र : छन्दोऽनु०, २-१२, वृ० र०, ३-४) अथवा धृति अथवा वन (जयकीर्ति : छन्दोनु०, २-९) परिवारकी होगी। प्रचलित होनेपर भी किसी कविने इसमें कौशल दिखलानेका प्रयत्न नहीं किया है। 'भुजंगप्रयात'का विकसित और विस्तृत रूप दण्डक ही जानेपर 'सिंहविक्रीड' हो जायगा—"नहीं शोक मोही पिता मृत्यु केरो, लहे पुत्र चारो किये यज्ञ केतो"। —ह० मो०

सिंहावलोकन यमक—दे० 'यमक'।

सिद्ध—साधनामें निष्णात, अलौकिक सिद्धियोंसे सम्पन्न, चमत्कारपूर्ण अतिप्राकृतिक शक्तियोंसे युक्त व्यक्ति सिद्ध कहलाते थे। भारतीय अनुश्रुतियोंमें सिद्ध-परम्परा बहुत प्रख्यात रही है। ये सिद्ध अजर और अमर माने जाते थे। देवों, यक्षों, डंकिनियों आदिके स्वामी माने जाते थे। तान्त्रिक युगमे लगभग प्रत्येक सम्प्रदायमें सिद्धोंकी सूचियाँ मिलती हैं, किन्तु हिन्दी साहित्यमे सिद्ध शब्द बौद्ध सिद्धाचार्योंके लिए प्रयुक्त होने लगा है, जो पूर्वी भारतमें तान्त्रिक साधनाएँ करते थे और प्रज्ञोपायात्मक युगनद्ध द्वारा सिद्धि प्राप्त करते थे। इन सिद्धोंकी संख्या ८४ बतायी जाती है, किन्तु यह इतिहाससम्मत संख्या न होकर तान्त्रिक अर्थोंको व्यंजित करती है। बारह राशि और सात नक्षत्रोंका गुणनफल चौरासी है। इन चौरासी सिद्धोंकी कई सूचियाँ मिली है, किन्तु उनमेंसे कोई भी आधिकारिक नहीं मानी जा सकती। कुछ सिद्ध ऐसे अवश्य है जो सभी सूचियोंमें मिल जाते हैं (दे० 'नाथ')। इन सिद्धोंके विषयमें बहुतसे ऐतिहासिक संकेत भी मिलते हैं, किन्तु किसी निश्चित सामग्रीके अभावमें इनके कालक्रम, जीवन-वृत्त आदिके विषयमें बहुत-कुछ अस्पष्ट है। पदकर्ताओं और दोहाकारोंके नाम इस प्रकार है—आर्यदेव, कंकणपा, कम्बलाम्बरपा, काण्हपा, कुक्कुरीपा, गुण्डुरीपा, चाटिलपा, जयनन्दीपा, डोम्बीपा, ढेंढणपा, तन्त्रिपा, ताडकपा, दारिकपा, धामपा, विरुपा, वीणापा, भद्रपा, भुसुकुपा, महीधरपा, लुईपा, शबरपा, शान्तिपा, सरहपा, तिलोपा, जालन्धरपा, मीनपा। इनमेंसे कई नाम ऐसे हैं, जो किसी भी सम्प्रदायकी सूचीमे नहीं पाये जाते। इनका अस्तित्व ८०० ई० से ११०० ई० तक अनुमानित किया गया है। आदि सिद्ध कौन था, इस विषयमें भी दो मत हैं। कुछ परम्पराओंमे लुईपा और कुछमें सरहपा आदि सिद्ध माना जाता था। इन सभी सिद्धोंका मुख्य आवास पूर्वी भारतमें था, पर इनके साधनाकेन्द्र सारे देशमे बिखरे हुए थे; उन्हें सिद्धपीठ कहा जाता था। ओडियान, कामरूप, जालन्धर, पूर्णगिरि, आर्बुद तथा श्रीहट्ट इनके प्रमुख साधनाकेन्द्र थे। उनके अतिरिक्त नालन्दा तथा विक्रम-शिलाके विद्यापीठोंमे ये भी सिद्ध निवास करते थे। इन्हे पाल-राजवंशका विशेष आश्रय और संरक्षण प्राप्त था। —ध० वी० भा०

सिद्ध-साहित्य—सिद्ध साहित्यसे तात्पर्य वज्रयानी परम्पराके सिद्धाचार्योंके साहित्यसे है, जो अपभ्रंश दोहों तथा चर्यापदोंके रूपमें उपलब्ध है और जिसमें बौद्ध तान्त्रिक सिद्धान्तोंको मान्यता दी गयी है। यद्यपि उन्हींके समकालीन शैव नाथ-योगियोंको भी सिद्ध कहा जाता था, किन्तु कतिपय कारणोंसे हिन्दी तथा अन्य कई प्रान्तीय भाषाओंमें शैव योगियोंके लिए 'नाथ' तथा बौद्ध तान्त्रिकोंके लिए 'सिद्ध' शब्द प्रचलित हो गया; उसी प्रसंगमे 'सिद्ध-साहित्य' बौद्ध सिद्धाचार्योंके साहित्यका वाचक होगया है।

सिद्धोंकी रचनाएँ प्रमुखतः दो काव्यरूपोंमें उपलब्ध हैं—'दोहाकोष' तथा 'चर्यापद'। 'दोहाकोष' दोहोंसे युक्त

चतुष्पदियोंकी कड़वक शैलीमें मिलते हैं। काण्हपा, तिलोपा तथा सरहपाके सम्पूर्ण 'दोहाकोष' तथा सरहपाके दो 'खण्डित दोहाकोष' मिलते हैं। कुछ दोहे टीकाओंमें उद्धृत हैं और कुछ दोहा-गीतियाँ बौद्ध तन्त्रों तथा साधनाओंमें मिली हैं। चर्यापद बौद्ध तान्त्रिक चर्याके समय गाये जानेवाले पद हैं, जो विभिन्न सिद्धाचार्यों द्वारा लिखे गये हैं, किन्तु एक साथ संगृहीत कर दिये गये हैं।

सिद्ध-साहित्यकी खोजकी कथा काफी मनोरंजक है। सन् १९०७में हरप्रसाद शास्त्रीको नेपालमें सिद्धोंके ५० पदोंका एक संग्रह मिला, जिसकी प्रतिलिपि कराकर उन्होंने लगभग १० वर्ष बाद बंगीय साहित्य-परिषद्‌से 'बौद्ध गान ओ दोहा'के नामसे प्रकाशित कराया, जिसमें चर्यापदोंके अतिरिक्त 'सहजाम्नाय-पंजिका' तथा काण्हपाका 'दोहाकोष' (मेखला टीकासहित) भी संगृहीत थे। शास्त्री महोदयका कहना है कि वह पाण्डुलिपि १२वीं शतीकी थी, किन्तु राखालदास बनर्जीने 'श्रीकृष्ण संकीर्तन' नामक प्राचीन बँगलाके एक ग्रन्थका सम्पादन करते समय भूमिकामें शास्त्री महोदय द्वारा प्रकाशित चर्यापदोंकी भाषाका परीक्षण कर यह मत स्थिर किया कि इन पदोंका प्रस्तुत रूप १४वीं शतीसे पूर्वका नहीं हो सकता। अतः शास्त्री महोदयने जिस पाण्डुलिपिको अपने संस्करणका आधार बनाया था, वह अधिक-से-अधिक १४वीं शतीकी होगी। अब वह पाण्डुलिपि उपलब्ध नहीं है।

किन्तु चर्यापदोंके पाठ-निर्धारणके सम्बन्धमें विद्वानोंने यथेष्ट कार्य किया है। उन्होंने चर्यापदोंका तिब्बती रूपान्तर ढूँढ़ा और उसके आधारपर शास्त्री महोदय द्वारा प्रस्तुत पाठमें यथेष्ट संशोधन किये हैं। इस दिशामें प्रबोधचन्द्र बागचीका कार्य महत्त्वपूर्ण है।

शास्त्री महोदयके संस्करणमें इस पद-संग्रहका नाम 'चर्याचर्यविनिश्चय' था। विधुशेखर शास्त्रीने इस नामसे अपनी असहमति प्रकट करते हुए इसका सही नाम 'आश्चर्यचर्याचय' अनुमनित किया था। इसका आधार सम्भवतः मुनिदत्तकी टीकाके प्रथम श्लोककी तृतीय पंक्ति थी—"श्रीलूयीचरणादिसिद्धरचितेऽप्याश्चर्यचर्याचये"। प्रबोधचन्द्र बागचीने जिस तिब्बती रूपान्तरका आधार ग्रहण किया है, उसमें 'आश्चर्य-चर्या' नाम न होकर केवल इन चर्याओंका विशेषणमात्र प्रतीत होता है। तिब्बती रूपान्तरमें इस पद-संग्रहका नाम 'चर्यागीतिकोष' है। बागची महोदयने भी इसका यही नाम स्वीकार किया है और सम्भवतः इसी कारण सुकुमार सेनने अपने 'ओल्ड वज्रयानी टेक्स्ट्स'में इन्हें पद न कहकर चर्यागीति कहा है।

तिब्बती अनुवादसे यह भी ज्ञात होता है कि मुनिदत्तने ही इन चर्यापदोंका प्रस्तुत रूपमें संकलन किया था और उसपर संस्कृत टीका लिखी थी। कीर्तिचन्द्रने नेपालके पम्बु नगरमें इनका तिब्बती अनुवाद किया था। मुनिदत्तकी टीका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अर्थनिर्णयकी दृष्टिसे तो उसका महत्त्व है ही, किन्तु मुनिदत्तने इन पदोंके अर्थ स्पष्ट करनेके लिए स्थान-स्थानपर सरहपा तथा अन्य आचार्योंके अपभ्रंश तथा संस्कृत छन्द उद्धृत किये हैं।

मुनिदत्तने ५० चर्यापदोंका संग्रह किया था, किन्तु शास्त्री महोदयका कहना है कि पाण्डुलिपिमेंसे ५ ताड़पत्र खो गये थे, अतः २३वें चर्यापदकी केवल ६ पंक्तियाँ मिलती हैं और २४वें तथा २५वें चर्यापद अनुपलब्ध हैं। बागची महोदयने उसका तिब्बती रूपान्तर तथा संस्कृत छाया दी है (दे० 'सिद्ध')।

[सहायक ग्रन्थ—सिद्ध-साहित्य : धर्मवीर भारती; दोहाकोष : प्र० च० बागची; ओल्ड वज्रयानी टेक्स्ट्स : सुकुमार सेन; चर्यापद : म० म० वसु।] —ध० वी० भा०

सिद्धियाँ—योग और तन्त्रसे प्रभावित लगभग सभी धर्म-साधनाओंमें साधनाके उपरान्त साधकको सिद्धियोंकी उपलब्धि बतायी जाती थी। इन सिद्धियोंको उपलब्ध करनेवालेको ही सिद्ध पुरुष कहते थे। इन सिद्ध पुरुषोंमें असाधारण अतिमानवीय शक्तियाँ होती थीं। अथर्ववेदमें ही इन सिद्धियों और उन्हें उपलब्ध करनेके उपायस्वरूप अभिचारों और अनुष्ठानोंका उल्लेख मिलता है। योगशास्त्रमें जल, औषधि, मन्त्र, तप और समाधि इन पाँचोंसे उपलब्ध सिद्धियोंका उल्लेख है। इनमेंसे समाधिजा सिद्धिका वर्णन करते हुए कहा गया है कि जैसे वर्षाकी नदीकी सभी दिशाएँ अवरुद्ध कर उसकी एक ही दिशा उद्घाटित कर दी जाय तो उसमें अपरिमित बल आ जाता है, उसी प्रकार सभी ओरसे चित्तवृत्तियोंका निरोध करनेसे साधकमें अदम्य शक्ति आ जाती है। सिद्धियाँ अधम, मध्यम तथा उत्तम, तीन प्रकारकी बतायी जाती हैं। बौद्ध परम्परामें दो ही प्रकार हैं—सामान्य तथा उत्तम। अन्तर्धान आदि सामान्य सिद्धियाँ हैं और प्रज्ञोपाय-समाधिसे उपलब्ध सिद्धियाँ उत्तम हैं। सिद्धियोंकी संख्याके विषयमें कई मत मिलते हैं। 'ब्रह्मवैवर्त पुराण'में सर्वज्ञत्व, दूरश्रवण आदि चौंतीस सिद्धियाँ बतायी गयी हैं, किन्तु हठयोग-साधनामें आठ प्रमुख सिद्धियाँ हैं—अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व, कामावसायित्व। बौद्ध तन्त्रोंमें भी अष्ट-महासिद्धिका उल्लेख है। उनके नाम हैं—खड्ग, अंजन, पादलेप, अन्तर्धान, रसरसायन, खेचर, भूचर, पाताल; किन्तु ये सभी लौकिक सिद्धियाँ थीं। इनसे भी श्रेष्ठ थीं लोकोत्तर सिद्धियाँ, जिन्हें अनुत्तर सिद्धि, महामुद्रा सिद्धि या महासुख सिद्धि कहा जाता था। नाथ-योगियोंने बौद्ध परम्पराकी अष्ट सिद्धियाँ न मानकर हिन्दू परम्पराकी आठ महासिद्धियाँ मानी हैं। गोरखबानीमें एक स्थलपर सिद्धियोंकी संख्या २४ बतायी गयी है, पर यह भी संकेत किया गया है कि ये सिद्धियाँ ज्ञानमार्गमें सहायक न होकर बाधक ही सिद्ध होती हैं। सन्तोंने भक्तिके आगे 'अष्टसिद्धि-नवनिधि'का तिरस्कार कर दिया, यद्यपि उनके अनुयायियोंने सन्तोंके विषयमें अतिप्राकृतिक चमत्कारोंकी गाथाएँ प्रचलित कर रखी हैं। —ध० वी० भा०

सिनिसिज्म—दे० 'संशयवाद'।

सियार—दे० 'शृगाल'।

सुआ—भारतीय साहित्यमें तोतोंकी बुद्धिमानीसे सम्बद्ध अनेक आख्यान मिलते हैं। पद्मावतका हीरामन (या हिरण्यमय, क्योंकि पीले रंगवाले पहाड़ी तोते बड़े बोलता होते हैं) सुआ तो बड़े-बड़े पण्डितोंके कान काट सकता था। कहते हैं मण्डन मिश्रके घरके सुए सदैव ब्रह्मगिराका उच्चा-

रण करते रहते थे। 'कादम्बरी'की सारी कथा शुक ही सुनाता है। 'अमरुक शतक'मे सुएने बेचारी नववधूको कितने संकोचमे डाल दिया था (अ० श०, १६)। श्री हर्षदेवकी 'रत्नावली'में शुकजातिकी वाचालताका अच्छा नमूना मिलता है। गुरुके निकट पढ़नेवाले विद्यार्थीने जरा-सी गलती की नहीं कि पंजरस्थ शुक तुरन्त उसे टोककर सही उच्चारण समझा देता था। लेकिन पुस्तकीय विद्याकी खिल्ली उड़ानेवाले सन्त तोता रटन्तके घोर विरोधी थे। वे पुस्तकीय ज्ञानको कभी महत्त्व नहीं दे सके। ज्ञानकी बातें करनेवाले 'पढ़े-लिखे सुएको बिलाईको खाते' देखकर उन्हें सदैव उसकी पढ़ाईपर तरस ही आयी, क्योंकि वे अनभै या अनुभवज्ञानके पक्षधर थे। इसीलिए अर्थकी अपेक्षा शब्दपर अधिक जोर देनेवाले वेदको वे स्थूल मानते थे। परिणामतः सुआ उन्हें कभी भी प्रभावित नहीं कर सका और जहाँ भी अज्ञानी, मोहासक्त और पुस्तकीय विद्यामें निपुण, पर व्यावहारिक और आध्यात्मिक दृष्टिसे हीन व्यक्तिकी बातें करनेका उन्हें अवसर मिला, उन्होंने बहुधा सुएको याद किया है। "माया जीवको अपने जालमें फँसाकर उसे मिटा देती है" यह कहनेके लिए कबीर अपनी काव्यात्मक शैलीमें कह जाते है—"पढ़ा-लिखा सूआ बिलाईने खाया, पाँडेके हाथि रहि गया पोथा"। यहाँ पढ़ा-लिखा सूआ अनुभवहीन, पण्डित और मायाके पाशमें बद्ध जीवके अर्थमे प्रयुक्त है और बिलाई मायाके अर्थमें। सेमलके फूलपर चोंच मारनेवाले सुएका उल्लेख सन्तों तथा सगुण भक्तोंने भी मूर्ख, विषयासक्त जीवके लिए किया है। कबीर जब कहते हैं "सुअटा डरपत रहु साई, तोहि डराई देत बिलाई", तो उनका मतलब उस जीवसे होता है, जिसे सदैव मायासे चौकन्ना रहना चाहिये। इस प्रकार सन्तोंके साहित्यमे सुआ अज्ञानी, पुस्तकीय ज्ञानसे युक्त पर बेवकूफ, विषयलोलुप और सामान्य मायालिप्त जीवके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है।

सुंदरी–वर्णिक समवृत्त दे० 'मोदक'।

सुंदरी सवैया–दे० 'सवैया', दसवाँ प्रकार।

सुकुमारता गुण–दे० 'गुण', छठा प्रकार।

सुकुमार मार्ग–दे० 'त्रिमार्ग-सिद्धान्त', पहला प्रकार।

सुखकरुण–दे० 'करुण रस'।

सुखमन–दे० 'हठयोगी'।

सुखमनि–सुखमनि मूलतः सुषुम्णा या सुषुम्नाका ध्वनि-परिवर्तित रूप है। सुषुम्णा शब्दका सबसे पुराना प्रयोग वेदमें मिलता है। वहाँ सूर्यकी प्रमुख सात किरणोंमेंसे एक किरणका नाम सुषुम्णा बताया गया है। इसी किरणके द्वारा सूर्य चन्द्रमाको प्रकाशित करता है। योगियों, सिद्धों, नाथों और सन्तोंके साहित्यमें प्रयुक्त सुषुम्ना या सुखमनिका अर्थ उक्त अर्थसे बिल्कुल भिन्न है। योग-साहित्यके अनुसार मेरुदण्डके भीतर तीन नाड़ियोंकी स्थिति है—इडा, पिंगला और सुषुम्ना। सुषुम्ना बीचकी नाड़ी है। इडा और पिंगला इस सुषुम्नाके बाएँ और दाहिने स्थित हैं और बारी-बारीसे ये साँस लेनेमें सहायता पहुँचाती है। नाकके बाएँ छेदसे जब साँस चलती है तो उस समय इड़ा काम करती है और जब साँस दाहिने छेदसे चलती है, तब पिंगला। सामान्य स्थितिमें ये दोनो नाड़ियाँ ही श्वास-प्रश्वासको चालित रखती है। सुषुम्ना सुप्त अवस्थामे पड़ी रहती है। सुषुम्नाका शाब्दिक अर्थ है सुसुप्त या सोई हुई। योग साधनाके द्वारा ही इसे जगाया जाता है। जब यह जग जाती है और इडा-पिंगलाके मार्गसे प्रवाहित होनेवाला प्राणवायु सुषुम्नासे होकर प्रवाहित होने लगता है, उस अवस्थामें मनकी सारी चंचलता नष्ट हो जाती है और समाधि लग जाती है। प्राणवायुके मध्यमार्ग (सुषुम्ना-मार्ग)से संचरित होनेपर जो मनःस्थैर्य आता है हठयोगी उसीको मनोन्मनी (दे० 'उन्मनी') कहता है—"मारुते मध्यसंचारे मनःस्थैर्य प्रजायते। यो मनः सुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी" (हठयोगप्रदीपिका, २ : ४२)। सन्तोंका यही सुषिम (१. सूक्ष्म, २. सुखपूर्ण) मार्ग है, जो साधनाके द्वारा ही उद्घाटित होता है। उद्बुद्ध कुण्डलिनी इसी मार्गसे होकर षट्चक्रोंको भेदती हुई सहस्रारस्थ परमशिवसे सामरस्य स्थापित करती है। लक्ष करनेकी बात है कि योगकी सुषुम्ना और वेदोक्त सुषुम्णाके अर्थमें कोई साम्य नहीं है, पर लगता है इन दो भिन्न अर्थोंका कभी सम्बन्ध अवश्य था। जो अब विस्मृत हो गया है। वेदकी सुषुम्णाका सूर्य और चन्द्रमासे सीधा सम्बन्ध है। योगकी सुषुम्नाका भी सूर्य और चन्द्रमासे वैसा ही न सही, पर सम्बन्ध तो है ही। ऊपर जिन इड़ा और पिंगलाकी चर्चा की गयी है योगमें उन्हें क्रमशः सूर्य और चन्द्रनाड़ी कहा जाता है। सुषुम्ना इनके बीचमे स्थित मनोवहा नाड़ी है। अनुमान है कि सूर्य, चन्द्रमा और सुषुम्नाका कोई पुराना सम्बन्ध अवश्य होगा, जो आज विस्मृत हो गया है।

सन्तोंकी सुखमनि नारी योगकी सुषुम्ना नाड़ीका ही अर्थ देती है और उन्होंने सुषुम्नाके अर्थमे इसका बहुत बार प्रयोग किया है। कबीरका एक प्रयोग है—"सन्तो धागा टूटा गगन बिनसि गया सबद जु कहाँ समाई। एहि संसा मोहि निस दिन व्यापै कोइ न कहै समझाई॥ नहीं ब्रह्मण्ड पिंड पुनि नांही पंचतत्त भी नांही। इला, पिंगला सुखमनि नांहीं ए गुण कहाँ समांहीं" (क० ग्रं०, ति०, पद ११३)। सूरदासने भी सुषुम्ना अर्थमें सुखमनि शब्दका कई बार प्रयोग किया है (दे० सूर-सागर, ना० प्र० सभा, काशी, पद सं० ४६७, ४१८९, ४७१२)। परन्तु मनमौजी सन्तोंने सुषुम्नाके इस नये रूप—सुखमनिमे एक नया अर्थ भरनेकी भी कोशिश की है। अपभ्रंशकी 'इ' विभक्ति तृतीया और सप्तमी (अर्थात् करण और अधिकरण कारक) दोनों अर्थोंमे प्रयुक्त होती है। सुषुम्नाका अपभ्रंश रूप सुखमन होगा। इसमे 'इ' विभक्ति लगनेसे सुखमनि शब्द बनता है। प्रारम्भमें 'इ' इस शब्दके स्त्रीलिंग प्रयोगकी सूचना देनेके लिए लगी होगी, क्योंकि नाड़ी स्त्रीलिंग शब्द है और सुखमन एक नाड़ी विशेषका नाम है। बादमें इससे और अर्थ निकल सकनेकी सम्भावना देखकर सन्तोंने 'इ'को विभक्तिवत् मानकर इसका अर्थ बैठा लिया होगा—"उस मार्गसे, जिससे मनमें सुख बना रहे"। कबीरका एक प्रयोग है—"अवधू मेरा मनु मतिवारा। उनमनि चढ़ा गगन रस पीवै त्रिभुवन भया उजियारा। गुड़करि ग्यान ध्यान करि महुआ भौ भाठी मनधारा। सुखमनि नारी सहज

समानी पीवे पीवनहारा". (क० ग्रं०, नि०, पद ५६)। यहाँ 'सुषुम्ना' 'सुखीमन'से तथा 'मनमें सुखी' जैसे तीनों अर्थ 'सुखमनि'में स्पष्ट ध्वनित हो रहे हैं। एक दूसरा प्रयोग है—"मो तन सहजे सुखमन कहणा, साच पकडि मन जुगि जुगि रहणा" (दादू दयालकी अनभै वाणी, पृ० ५०५)। यारी साहबका एक पद है—"विरहिनी मन्दिर दियना बार। × × सुखमन सेज परमतत रहिया, पिया निरगुन निराकार। गावहुरी मिलि आनंदमंगल, यारी मिलिके यार" (सं० मु० सा०, खण्ड २, पृ० ७३), अर्थात् सुषुम्ना रूपी सेजपर निर्गुण, निराकार, परमतत्त्व स्वरूपी प्रियके साथ रहो, या निर्गुण, निराकार एवं परमतत्त्व स्वरूपी प्रियकी सेजपर सुखीमनसे रहो।

सिखगुरुओंके साहित्यमें भी सुखमणि, सुखमनी, सुखमणा, सुखमण, सुखमना आदि रूपों तथा ऊपर निर्देशित अर्थोंमें इसका प्रयोग पर्याप्त मात्रामें मिलता है। लेकिन लक्ष करनेकी बात है कि यहाँ इस शब्दको एक नयी अर्थगरिमा और पूज्यभाव भी दे दिया गया है। ध्वनि-साम्यके आधारपर शब्दोंमें नये अर्थ भरनेकी वृत्ति सन्तोंमें बहुत ही प्रबल है। सुखमणिका मणि अंश यों तो संस्कृतके सुषुम्णाके 'म्णा'का घिसा हुआ रूप है, किन्तु संस्कृतके मणि-से स्वरूपसाम्य होनेके कारण सिखगुरुओंने चिन्तामणिकी तरह ही सुखमणि नामकी काल्पनिक मणिकी उद्‌भावना कर ली है और जिस प्रकार चिन्तामणिका ध्यान करनेसे तत्काल अभिलषित वस्तु प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार सुखमणिके ध्यानसे भी जन्म-मरणका दुःख नष्ट हो जाता है, दुर्लभ देह प्राप्त हो जाता है, तत्क्षण उद्धार हो जाता दुःख-रोग-भय-भ्रम आदि नष्ट हो जाते हैं। इस सुखमनी-के और भी अनेक गुण हैं। शोभामें तो वह अप्रतिम और सर्वोच्च है। श्रीकान्ह सिंह नाभाने 'गुरुशब्द रत्नाकर'—महान् कोश, सन् १९६०, पृ० १५७पर सुखमनीके माहात्म्यमें सम्बद्ध एक पद उद्‌धृत किया है—"जनम मरण ताका दुःख निवारै। दुलहदेह ततकाल उधारै। दुःख रोग बिनसै भै भरम, साध नाम निरमल ताके करम। सबते ऊँच ताकी सोभा बनी, नानक ये गुननाम सुखमनी"। गुरु अर्जुन देवने भक्तजनोंके मनमें विश्राम करनेवाले प्रभुके सुख और अमृत स्वरूपी नामको ही सुखमनी कहा है—"सुखमनी सुख अमृत प्रभनामु। भगतजना कै मनि बिस्रामु" ('सन्तसुधासार' खण्ड १, पृ० ३५४)। एक अन्य स्थलपर वे पुनः यही बात दुहराते हैं—"सुखमनी सहज गोविन्द गुननाम"(वही, पृ० ३७०)।

सिखोंमें इधर सुखमनीका एक और अर्थ विकसित हो गया है—मनको आनन्द देनेवाली वह वाणी जिसका पाठ प्रातःकाल 'जपुजी'के पश्चात् किया जाता है। गुरुग्रन्थ साहबमें संगृहीत यह 'सुखमनी' पाँचवें गुरु अर्जुन देवकी सर्वाधिक प्रसिद्ध, सुन्दर, सरस और आनन्ददायिनी रचना है। 'सुखमनी'में कुल २४ अष्टपदियाँ हैं और हर अष्टपदीमें ८० पंक्तियाँ। इस प्रकार यह काफी लम्बी रचना है। आजकल 'सुखमनी' शब्दको सुनकर किसी भी पंजाबी, मुख्यतः सिख, के मनमें गुरु अर्जुनदेवकी इसी रचनाकी स्मृति उमड़ती है।

और चूँकि गुरु अर्जुन देवकी सुखमनीके पद अत्यन्त मधुर और प्रसाद गुण युक्त हैं, उनमें भक्ति भावनाकी तरल स्नेहधाराका अटूट प्रवाह है और इसलिए उसके पाठसे मनमें सहज आनन्दकी अनुभूति होती है, अतः सुखमनीका एक और भी नया अर्थ विकसित हो गया है—'मनको सुख देनेवाली'। वैसे व्याकरण और शास्त्र दोनोंकी दृष्टिसे सुखमनीसे यह अर्थ निकल नहीं सकता, पर सामान्य जनताको व्याकरण या शास्त्रकी न उतनी जानकारी ही होती है और न परवा ही, अतः यह नया अर्थ चल पड़ा है। —रा० दे० सिं०

सुखवाद—अनुकूल भावना सुख है और प्रतिकूल भावना दुःख। इसीलिए मनुने स्ववशता (स्वाधीनता, स्वतन्त्रता)-को सुखका लक्षण माना और परवशता (पराधीनता, परतन्त्रता)को दुःखका। 'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं' कहकर तुलसीदासने भी इसी लक्षणका समर्थन किया। कुछ लोग कामनाओंकी पूर्तिको सुख और अपूर्तिको दुःख मानते हैं। इस प्रकारसे माननेपर भी सुख और दुःखकी भावना होना ही सिद्ध होता है। नैयायिकोंने सुख-दुःखको आत्माका गुण माना, तो सांख्योंने चित्तका और अन्य लोगोंने इन्हें बुद्धि-का परिणाम या विकार कहा। नीतिज्ञोंने सुख और दुःखका सम्बन्ध क्रमशः धर्म और अधर्मसे स्थापित किया। कुछने धर्म-अधर्मको कारण और सुख-दुःखको कार्य माना। धर्म सुख और अधर्म दुःखमें कारण-कार्य (हेतु-फल)का सम्बन्ध बैठाया गया। इस मतके विपरीत कुछ अन्य नीतिज्ञोंने सुख-दुःखको ही क्रमशः धर्म-अधर्मका कारण माना। उन्होंने पहले मतको उलट दिया। इसी दूसरे मतको सुखवाद कहा जाता है। इसके अनुसार धर्म और अधर्म मूल गुण नहीं हैं। जो सुखद है, वही धर्म है; जो दुःखद है, वही अधर्म है। धर्म और अधर्मको मौलिक, स्वतन्त्र और वास्तविक न माननेसे यह मत नीतिकी सार्वभौमतापर प्रहार करता है। इसके विपरीत धर्मवाद है, जिसमें धर्म स्वतन्त्र, मौलिक और वास्तविक माना जाता है और सुख उसके फल समझे जाते हैं। भारतमें चार्वाक दार्शनिक, यूनानमें एरिस्टिपस और उसके अनुयायी एपीक्यूरस और उसके अनुयायी एवं इंग्लैण्डमें बेन्थम तथा जान स्टुअर्ट मिल विख्यात सुखवादी हो गये हैं।

जीवनमें सुख-दुःख घुले-मिले हैं। दोनोंकी सम मात्रा मान लेना सन्तुलित दृष्टिकोण है। पर सुखवादी जीवनमें सुख अधिक मानते हैं और दुःखवादी दुःख। एक दूसरेके वादका खण्डन करता है। सब सुख है (सुखवाद) ऐसा माननेपर दुःखकी अनुभूतिकी व्याख्या सम्भव नहीं है। सब दुःख है(दुःखवाद), ऐसा माननेपर सुखकी अनुभूतिकी व्याख्या अनुपपन्न होती है। सुखको दुःखका अभाव कहना अथवा दुःखको सुखका अभाव कहना, इस कारण न्याय-संगत नहीं है। कभी-कभी चिर दुःख सुख हो जाता है और चिर सुख दुःख। अतः दोनों भावनाओंकी विधायक तथा प्रतिषेधक वास्तविकता है। दोनों अन्योन्याश्रित हैं।

सुखवादी आशावादी है और दुःखवादी निराशावादी। सुखवादी मानव-जीवनका प्रयोजन सुखभोग मानता है और दुःखवादी दुःखवेदनाको ही जीवनका सर्वस्व समझता

है। साहित्यमें सुखवाद श्रृंगार रसकी प्रधानताके रूपमें और दुःखवाद करुण रसकी प्रधानताके रूपमें अवतरित होता है। तत्त्वदर्शनमें सुखवाद भावात्मक (विधायक) दृष्टिकोणको जन्म देता है। व्यवहारमें सुखवाद प्रवृत्तिमार्गका और दुःखवाद निवृत्तिमार्गका जनक है। सुखवाद जीवनपर जोर देता है और दुःखवाद मृत्युपर। एक भोगवाद है, तो दूसरा पलायनवाद।

सुखवाद समृद्ध समाजकी उपज है और दुःखवाद पतनोन्मुख समाजकी। सुखवादके उद्भवके पीछे जनजीवनका उल्लास, ऐश्वर्य तथा पराक्रम है। दुःखवादकी भूमिका निराशा, पराजय, दीनता, हाहाकार आदि है।

सुख एकजातीय है। उसमें प्रकार-भेद नहीं है। वह भौतिक या दैहिक है। बौद्धिक और आध्यात्मिक सुख भी वास्तवमें दैहिक सुखकी पराकाष्ठा है। बेन्थमने सुखके सात आयाम बतलाये हैं—सान्द्रता, ध्रुवता, दीर्घता, शुद्धता, उत्पादकता, वेग और विस्तार। लोगोंने उसके दर्शनको 'शूकर-दर्शन' कहा है, क्योंकि उसमें मनुष्य शूकर-कूकरकी भाँति अपने दैहिक सुखोंमें व्यस्त रहता है। मिल-ने इस दोषको दूर किया। उसने सुखोंमें कई प्रकार या जातियाँ मानी है। बौद्धिक तथा आध्यात्मिक सुखको उसने दैहिक सुखसे जातितः भिन्न बतलाया है। आध्यात्मिक सुख त्यागमें है, दैहिक सुख भोगमें है। पर यह विवेक सुखकी अनुभूति या भावनासे नहीं होता। यह स्थिर प्रज्ञासे होता है। अतः यह सुखवाद न होकर, प्रज्ञावाद हो जाता है।

सुख-दुःख अनित्य और परिवर्तनशील हैं। अतः वे आत्मा या बुद्धिके नित्य गुण नहीं है। आत्मा बुद्धिका नित्य गुण आनन्द है। अतः कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्तिको सुखके स्थानपर आनन्दकी प्राप्तिको ही अपना लक्ष्य बनाना चाहिये (दे० 'आनन्दवाद')।

सुखवादके अनुसार केवल अर्थ और काम पुरुषार्थ है। उसमें धर्म तथा मोक्षको व्यर्थ बतलाया गया है। चार्वाकका निम्नलिखित श्लोक सुखवादका प्रचलित आदर्श प्रकट करता है—"यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः", अर्थात् जबतक जीना है सुखपूर्वक जीना चाहिये, कर्ज लेकर भी घी पीना चाहिये। शरीरके जल जानेपर (मृत्युके बाद) कहाँ जीव फिर आता है?

इसका यही अभिप्राय है कि जिस तरहसे भी हो सके, मौज उड़ाना चाहिये। इस मतमें सुखका तनिक भी सम्बन्ध धर्म या गुणसे नहीं प्रतीत होता है। कर्तव्य-अकर्तव्य, धर्म-अधर्म, गुण-दोषको ऐसे सुखवादी मानते ही नहीं हैं। वे अपने स्वार्थमें ही रत रहते हैं। उनका सुखवाद घोर स्वार्थवाद है। थोडा स्वार्थ सभी प्रकारके सुखवादका आधार है। स्वार्थवश सुखवादी समाजके नियमोंका उल्लंघन करता है और अन्य व्यक्तियोंके अधिकारों अथवा सुखोंकी उपेक्षा करता है। यदि वह पुरानी मर्यादाके स्थानपर नयी मर्यादा स्थापित करे, तो उचित है, पर सुखवादमें मर्यादाका मेल ही नहीं हो सकता। मर्यादा लानेसे तो धर्म-अधर्मको सुखसे अधिक महत्त्व देना पड़ेगा। समाजके लिए, परार्थवादके लिए, स्वार्थवादके दोषोंको दूर करनेके लिए किसी-न-किसी मर्यादा या धर्म-प्रतिष्ठाको मानना पड़ेगा। सुखवादसे अराजकता फैलती है। सुखवाद दया, सहानुभूति, परोपकार आदि भावनाओंके प्रतिकूल है। इन कारणोंसे सुखवाद कोई अच्छा, उपयोगी, सिद्धान्त नहीं प्रतीत होता। किन्तु नैतिक दृष्टिसे सुखवाद भले ही सर्वांगशुद्ध सिद्धान्त न हो, मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे वह एक प्रेरणादायक स्रोत है। मनुष्य सुख चाहता है, भोग करना चाहता है। वह सामान्यतः सुख-भोगको ही जीवन समझता है। जिसे सुख-भोग नहीं मिलता, वह अपनेको अभागा या बरबाद समझता है। फिर नैतिक दृष्टिसे भी निम्नतम सुख-भोग मानव-जीवनकी निम्नतम माँग है। इसलिए सुखकी प्रवृत्तिको सन्तुष्ट करना बुरा नहीं है। हाँ, उसकी सन्तुष्टिकी एक मर्यादा-रेखा हो सकती है, जिसके बाहरकी सन्तुष्टि बुरी है।

साहित्य मानवकी समस्त प्रवृत्तियोंको सन्तुष्ट करता है। अतः स्वाभाविक है कि सुखवादका प्रभाव साहित्यपर पड़े। साहित्यमें इसकी प्रधानता है। रसात्मक वाक्यको ही काव्य कहते है। रस क्या है? इसकी विवेचनामें हम चाहे जो कुछ कहें, किन्तु इतना निर्विवाद है कि रस सुख है। वास्तवमें पश्चिमी वाङ्मयमें रसके लिए सुखका ही प्रयोग होता है। सुखको ही भारतीय शास्त्रकारोंने 'रस'-का नाम दिया है। इस दृष्टिसे समस्त साहित्य सुखवादसे प्रभावित है या यों कहिये कि वह सुखवाद ही है।

किन्तु फिर भी प्रत्येक देशके साहित्यके अन्तर्गत सुखवादी और दुःखवादी प्रवृत्तियाँ दीख पडती है। प्राचीनकालमें यूनान देशमें सुखान्त नाटक और दुःखान्त नाटकके भेदसे दो प्रकारके नाटक थे। इनका प्रभाव प्रत्येक भाषाके साहित्यपर यथासमय पड़ा। भारतीय साहित्यपर इनका प्रभाव विशेषतः बीसवी शतीमें ही पडा। इसके पहले यहाँका साहित्य प्रायः समग्र रूपमें 'सुखान्त' था। उसमें कहीं-कहीं करुण-रसकी और विप्रलम्भ-श्रृंगारकी प्रधानता थी। किन्तु उसका भी अन्त सुखमें होता था और उन्हें भी शास्त्रकारोंने सुख-रूप ही माना है। किसी रसको दुःख-रूप नहीं माना गया है।

किन्तु सुखवादका यह व्यापक अर्थ है। इस अर्थमें समस्त साहित्य सुखवादी है। लेकिन सुखवादका एक संकुचित अर्थ भी है, जिसे सुविधाके लिए हम भोगवाद कह सकते है। इस अर्थमें सुख विलासिता है, न कि जीवनकी आवश्यकता या जीवनका उन्नायक। घोर श्रृंगार और हास्यसे भरे साहित्य इस अर्थमें सुखवादी है। आधुनिक हिन्दी साहित्यमें हालावाद (दे०)की प्रवृत्तियाँ भी इसी अर्थमें सुखवादी है। इसके अनुसार सुखका उपभोग सुखके लिए होना चाहिये; सुख सुखके लिए है। सुख जीवनके लिए नहीं है, किन्तु जीवन सुखके लिए है। जिस क्षण जितना सुख मिल गया, वही जीवन सार्थक है, शेष निरर्थक है। इस विचार-धाराके अनुसार डा० हरिवंश राय 'बच्चन'ने हालावादका विशेष प्रचार किया और उनकी 'मधुशाला' इस विषयका एक उच्चकोटिका सर्वप्रिय ग्रन्थ हो गया। उनके अनुसार सुख ही एकमात्र मूल्य है और सुखका अर्थ केवल भोग है।

हिन्दी साहित्यमें रीतिकालीन कविताओंपर सुखवाद-का बहुत गहरा प्रभाव है। भोग-विलासका वर्णन, नायक-नायिकाओंके हावोंका चित्रण, आध्यात्मिक सुखको भी भौतिक सुखोंका बाना पहिनाना, स्वयं सुखवादी सिद्धान्तों-के आधारपर जीवन बिताना आदि इस कालके अधिकांश कवियोंके कर्तव्य कर्म है। आधुनिक युगमें भौतिकवादके प्रचारके साथ सुखवादका भी प्रसार हुआ, पर साम्यवादके प्रभावने उसको स्वार्थमूलक होनेसे रोक लिया, निदान, वह परार्थमूलक हो गया। परार्थमूलक सुखवाद वस्तुतः सुखवाद न होकर धर्मवाद या मर्यादावाद है, इसको आधु-निक युगके सभी नीतिज्ञोंने स्वीकार किया है। मर्यादाके साथ वे कुछ आवश्यक सुख-भोगके भी हामी है, जो अनु-चित नहीं है। —सं० ला० पा०

सुखी सवैया–दे० 'सवैया', चौदहवां प्रकार।

सुगीत–वर्णिक छन्दोंमे समवृत्तका एक भेद। ज, भ, र, स, ज, ज के योगसे यह वृत्त बनता है (ISI, SII, SIS, IIS, ISI, ISI)। केशवने इस नवीन छन्दका प्रयोग किया है। उदा०—"सनाढ्य जाति गुनाढ्य है जगसिद्ध शुद्ध स्वभाव। सुकृष्णदत्त प्रसिद्ध है महि मिश्र पण्डित राव" (रा० चं०, १ : ४)। —पु० शु०

सुत्त–[संस्कृत सूक्तका पाली रूप; कुछ लोग इसे संस्कृत 'सूत्र'का पाली रूप समझते हैं] (क) साधारण अर्थ—सद्वचन। (ख) विशेष अर्थ—यह शब्द विशेषतः भगवान् बुद्धके सद्वचनों, सदुपदेशोंके लिए ही प्रयुक्त हुआ है। धर्मके विभिन्न अंगों या स्वरूपोंके सम्बन्धमें किये गये विविध प्रश्नोंके उत्तरमें ये सूक्त भगवान् बुद्ध द्वारा कहे गये थे, ऐसा बौद्ध सम्प्रदायका मत है। दूसरे शब्दोंमें यह कहा जा सकता है कि इन सुत्तोंमें बौद्ध धर्मके मौलिक स्वरूप उसके मौलिक सिद्धान्तोंका विवेचन है। इनका संग्रह 'सुत्तपिटक' और विशेषकर उसके 'खुद्दकनिकाय'के 'सुत्त-निपात'में है। —आ० प्र० मि०

सुदर्शन–गोरखपन्थी योगी अपना कान फड़वाकर उसमें मिट्टी, धातु, हरिणके सींग, बिल्लौर या लकड़ीकी बनी एक मुद्रा पहनते है, जिसे 'दर्शन' या 'दरसन' कहा जाता है। इसी दर्शन या मुद्राके कारण उन्हें 'दरसनी' भी कहा जाता है (दे० 'कनफटा', 'औघड़')। 'गोरखनाथ एण्ड कनफटा योगीज' पृ० १२४पर श्री ब्रिग्सने पुरीके महन्तसे प्राप्त एक सूचनाका उल्लेख किया है कि सतनाथी साधु कपड़ेसे लिपटे हुए एक तृणदण्डको अपने साथ रखते है। यह इन साधुओंका विशेष चिह्न है, जिसे ये सुदर्शन कहते है। ब्रिग्सने इसे लकुलीशों (लाकुल)का अवशेष होनेकी सम्भावना व्यक्त की है। सम्भावना बहुत कुछ सही भी मालूम होती है। और यदि यह सच है तो अपने साथ एक और सम्भावनाको जन्म देती है कि सतनाथी शाखा भी पाशुपतोंकी कोई शाखा होगी जो बादमें गोरखनाथके प्रभावमें आयी होगी। तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दीतक सत-नाथी धरमनाथको रावल समझा भी गया था।—रा० सि०

सुधासार भक्ति–प्रेमा भक्तिको सुधासार भक्ति भी कहते हैं। पुष्टिमार्गमें गोपी-भावसे भगवान् श्रीकृष्णके अधरामृतका पान अभीष्ट होता है। सम्भवतः इसीलिए इसे सुधासार भी कहा जाने लगा। 'सूरसागर'में इसका उल्लेख है—"जो मुख सदा सुधा अँचवत हैं ते विष क्यों अधिकारी" तथा "रास रसिक गोपाल मिलि मधु अधर करती पान। सूर ऐसे रूप बिनु कोउ कहा रक्षक आन?" (अ० गी० सा०, पृ० ३१)। —वि० मो० श०

सुपर ईगो–**इड** और **अहम्** (दे० 'अहम्')के संघर्षमें एक तीसरा सदस्य और आ जाता है, जिसके कारण यह संघर्ष और भी जटिल हो जाता है। यह है सुपर ईगो (आदर्श अहम्)। सुपर ईगोको हम सामान्य भाषामें प्रयुक्त अन्त-र्बोध या अन्तरात्माका फ्रायडीय नाम मान सकते है। बचपनमें व्यक्तित्वका एक अंश पितासे प्रेम करता है और दूसरा अंश पितासे घृणा और ईर्ष्या। इन विरोधी भाव-नाओंके संघर्षको शिशु पिताके व्यक्तित्वसे एकीकरण करके सुलझाता है। इस प्रकार एक ओर तो बच्चेकी स्वाभाविक वासनाएं होती हैं और दूसरी ओर व्यक्तित्वका वह अंश, जो पिताका प्रतिनिधि और अनुशासनका प्रतीक है। उचित अनुचितकी नैतिक मान्यताएँ इसी अंश द्वारा निर्मित होती है। इसे अहम्का ही एक विकसित अंश मान सकते है, अहम्के समान ही यह भी मनोवैज्ञानिक रूपसे संघटित होना है। यह सुपर ईगो अहम और इदम्, दोनोंको नियन्त्रणमें रखता है। अहम्को इदम् और सुपर ईगो, दोनोंके सन्तोषका ध्यान रखना पड़ता है। कभी-कभी जब सुपर ईगोकी माँग बहुत ऊँची होती है तो ईगोको बहुत शक्तिको व्यय करके इसका दमन करना पड़ता है, किन्तु इससे वह स्नायविक रोगोंको जन्म देता है।

सुपर ईगो माता-पिताका प्रतिनिधि होनेके कारण कुछ अंशोंमें वंशगत होता है, परन्तु आगे चलकर जो व्यक्ति माता पिताके अनुशासनके प्रतीक बनते है, जैसे शिक्षक, उनके व्यक्तित्वका प्रभाव भी सुपर ईगोके विकासपर पड़ता है।

इड ईगो और **सुपर ईगो**के संघर्ष तथा उसके विश्ले-षणका साहित्यमें बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस विश्लेषण-की सहायतासे अधिकांश आधुनिक साहित्यिक अपने पात्रों-का चरित्रनिर्माण और चरित्रदोषोंका स्पष्टीकरण करते है। पुराने कलाकारों की भाँति केवल सामाजिक तथ्योंको प्रस्तुत करना ही उनका लक्ष्य नहीं रहता, वे उन तथ्योंका मूल कारण घटनाओंके पात्रोंका मनोवैज्ञानिक अध्ययन करके स्पष्ट करते है। आधुनिक कथासाहित्यका अधिकांश इस अन्तर्द्वन्द्वके विश्लेषणको प्रधानता देता है। कुछ विशेष कथाकारोंके नायक ऐसे ही व्यक्ति है, जो स्नायविक रोगी है या अन्तर्द्वन्द्वके कारण अर्धविक्षिप्त-से हैं। इन कथा-कारोंका उद्देश्य अपने नायकके गूढ़ मानसिक द्वन्द्वको स्पष्ट करके, उसके व्यक्तित्वपर सामाजिक और नैतिक विशेषताओं, समाजकी विषम परिस्थितियोंके प्रभावको महत्त्व देना है। इस प्रकारके कथाकारोंमें इलाचन्द्र जोशी उल्लेखनीय है। —प्री० अ०

सुप्रिया–वर्णिक छन्दोंमे समवृत्तका एक भेद। चार नगण और सगणके योगसे यह वृत्त बनता है (III, III, III, III, IIS)। जयकीर्तिने इसका रुचिरा (२ : १८७) एवं शशिकला (२ : १८४) नाम दिया है। केशवने इस वृत्तका प्रयोग

किया है—"कहुँ द्विजगण मिलि सुख श्रुति पढ़हीं। कहुँ हरि हरि, हर हर रट रटही"(रा० चं०, ३ : २)। —पु० शु०

सुभाषित–दे० 'सूक्तिकाव्य'।

सुमुखी–वर्णिक छन्दोंमे समवृत्तका एक भेद। प्राकृत-पैंगलम्'(२ : १०३)में इसका लक्षण है; इसका चरण नगण, दो जगण और लघु-गुरुके योगसे बनता है (।।।, ।ऽ।, ।ऽ।, ।ऽ)। हेमचन्द्रके 'छन्दोऽनुशासन' (२ : १६)में इस नामका भिन्न छन्द है। केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है। इसका मात्रिक रूप हाकलि छन्द (१४ मात्रा) है। उदा०—"सब नगरी बहु शोभ रये। जहँ तहँ मंगलचार ठये। बरनत हैं कविराज बने। तन मन बुद्धि विवेक सने" (रा० चं०, ८ : १)। —पु० शु०

सुमुखी सवैया–दे० 'सवैया', तीसरा प्रकार।

सुरति १–सुरति और निरति, इन दो शब्दोका सन्तोंके साहित्यमे अत्यधिक महत्त्व है, किन्तु उनके उद्भव और अर्थपर विशेष प्रकाश नही पड़ा है। कुछ विद्वानोंने सुरतिका अर्थ स्रोत या चित्तप्रवाह लिया है। चित्तप्रवाह **विज्ञानवाद**की याद दिलाता है, किन्तु इस अर्थमें सिद्ध, नाथ या सन्त, किसीने भी इस शब्दका प्रयोग नहीं किया है। हिन्दीमें सुरतिके कई अर्थ हो सकते है—प्रेम-क्रीडा, स्मृति, श्रुति।

सिद्धोके दोहोमे जहाँ सुरति शब्दका प्रयोग है, वहाँ इसके अर्थमें कोई अस्पष्टता या दुरूहता नहीं है। सरहपा इसे कमल-कुलिश योगके अर्थमे—मैथुन-क्रीड़ाका द्योतक मानते हैं, "कमल कुलिश वेवि मज्झठिअ जो सो सुरअ विलास" (दोहाकोष), किन्तु नाथ-सम्प्रदायमे इसका अर्थ बदल गया। ज्ञात यह होता है कि गोरखने इसके मैथुनपरक अर्थका बहिष्कार कर इसको श्रुति(नाद या शब्द)के अर्थमें ग्रहण किया। नाथ-साधनाका एक बहुत पुराना नाम शब्दसुरति-योग भी बताया जाता है। 'गोरखबानी'में एक स्थानपर गोरख-मछीन्द्र-संवादमें बताया गया है कि सुरति शब्दकी वह अवस्था है, जब वह चित्तमें स्थित रहता है, शब्द अनहद नाद है, ब्रह्माण्डव्यापी। निरति इन दोनोसे परे निरालम्ब स्थिति है, जिसे सहज स्थिति भी कह सकते हैं।

सन्तोंमें सुरति शब्दका प्रयोग सिद्धोंके मैथुनपरक अर्थोंमें न होकर नाथोंके श्रुतिके अर्थमें हुआ है—"सुरति समानी निरतिमे अजपा माहै जाप" (क० ग्र०)। साथ ही वैष्णव प्रभावसे वे उसे प्रभुके स्मरणके अर्थमे भी प्रयुक्त करते प्रतीत होते है। गुलाल, पलटू आदि इसे विविध अर्थोंमें प्रयुक्त करते है और परवर्ती कबीरपन्थी साहित्यमें तो पाँच प्रकारकी सुरति और आठ प्रकारकी सुरतिका वर्णन है। 'स्वास-गुंजार'में शब्द पुरुषकी दो शक्तियोंके रूपमे सुरति-निरतिका उल्लेख है। 'ज्ञानस्थितिबोध'मे सर्वोच्च चक्रको सुरति कमल कहा गया है। —ध० वी० भा०

सुरति २–सुरति शब्द सन्त-साहित्यका अतिपरिचित और पग-पगपर प्रयुक्त होनेवाला शब्द है। परिस्थितिभेदसे यह कई-कई अर्थ भी देता है—(१) स्मृति, याद; (२) श्रवण विषय; (३) स्मृतिशास्त्र; (४) अपने सच्चे स्वरूपकी स्मृति, (५) परमप्रेयानसे अपने सम्बन्धकी स्मृति—अर्थात् 'सोऽहमस्मि'की वृत्तिका स्मरण या उदय; (६) सुरत; अर्थात् स्त्री-पुरुष, शक्ति-शक्तिमान्, माया-ब्रह्म, प्रिय-प्रियाकी केलि-क्रीड़ा; (७) प्रेम, आसक्ति, अनुरक्ति, (८) सुन्दर रति या परमात्माविषयक रति, चिन्मुख प्रेम—क्योंकि सामान्य स्त्री-पुरुषकी, जड़ोन्मुख अर्थात् स्थूल शारीरिक सुषमाओ एवं आकर्षणोंसे उत्थित प्रेमानुभूति रति है और सत्-चित्-आनन्द रूप परमप्रेयान्के प्रति उत्थित प्रेम उक्त लौकिक एवं जडोन्मुख रतिसे विशिष्ट होनेके कारण 'सुरति' है; (९) सूरत (अरबी) रूप, आकृति, शक्ल; (१०) ध्यान। सन्त-साहित्यमें उक्त सभी अर्थोंमें इस शब्दका प्रयोग पर्याप्त मात्रामें मिलता है।

१. सुरति मूलतः संस्कृतके स्मृति शब्दका ध्वनिपरिवर्तित रूप है। संस्कृतमें स्मृतिका अर्थ होता है—(१) पुरानी बातों, वस्तुओ, व्यक्तियों, स्थानों या स्थितियोकी याद। इस अर्थमे सन्त-साहित्यमें इस शब्दका यदा-कदा प्रयोग मिल जाता है, जेसे—"नर कै संग सुआ हरि बोलै हरि परताप न जानै। जौ कबहूँ उड़ि जाय जंगल मै बहुरि सुरति नहिं आनै"—कबीर (क० ग्रं० : तिवारी, पद १७९)। दादू भी कहते हैं—"जब नाहिं सुरति सरीरकी, बिसरै सब संसार। आतमन जाणै आप कौं, तब एक रह्या निरधार" (दा०की अनभै वाणी, पृ० ११३, साखी १५३)। स्मरणशक्ति या यादके अर्थमे भी इसका प्रयोग हुआ है—"दादू हू बलिहारी सुरति की, सबकी करै सम्हाल। कीडी कुंजर पलक मै करता है प्रतिपाल" (वही, पृ० ३४१)। (२) संस्कृत श्रुति शब्दसे भी घिसकर 'सुरति' शब्द बन जाता है, जो श्रवण विषय या श्रवण-शक्तिका अर्थ देता है। सन्तोंमें इसका इस अर्थमें भी प्रयोग मिल जाता है—"ऐसा कोई ना मिलै समझै सैन सुजान। ढोल बजन्ता ना सुने, सुरति बिहूना कान" (कबीर ग्रं० : तिवारी, पृ० १५९)। श्रवणविषय अर्थमें दादूकी एक साखी है—"सबघट श्रवनां सुरति सौ सबघट रसना बैन। सबघट नैना ह्वै रहै, दादू बिरहा ऐन" (वही, पृ० ७८)। (३) स्मृतिशास्त्रके अर्थमें भी इसका बहुत बार व्यवहार हुआ है। यह अर्थ निकालनेके लिए बहुधा सन्तोंने इसे सुम्रित या सिम्रित बना दिया है—"का सुनहौं कौ सुंम्रित सुनाएँ। का साकत पढ़िं हरिगुन गाएँ" (का० ग्रं०; तिवारी; पद, १३८)। ऊपर संकेतित अर्थ संख्या ४से ८ सन्तोंके चिन्तन और उनकी साधनासे गहरे रूपसे सम्बद्ध है, अतः उनपर आनेके पूर्व इसके सूरत अर्थात् रूप, और ध्यानका अर्थ देनेवाले प्रयोगोको देख लेना अच्छा होगा। सन्तोंने इन दोनों अर्थोंमें भी इस शब्दका प्रयोग बहुधा किया है—सूरत=रूप—"सुन्दरि सुरति सिंगार करि, सनमुख परसे पीव। मो मन्दिर मोहन आपिया वारूँ तन मन जीव" (दादू, वही, पृ० ५४२)। ध्यान, ख्याल या चिन्ताके अर्थमें कबीरका एक प्रयोग है—"दरमांदा ठाढ़ो दरबारि। तुमबिन सुरति करै को मेरी दरसन दीजै खोलि किंवारि"॥ (क० ग्रं० : तिवारी, पद ४५)। इस अर्थमें परवती हिन्दी-साहित्यमें भी सुरति शब्दका पर्याप्त प्रयोग हुआ है—"कबहुँक सुरति करत रघुनायक"—तुलसी : रामचरित मानस। जहाँतक उक्त अर्थोंका सम्बन्ध है, सन्तों द्वारा

बहुत बार उन्हे सुरति शब्द द्वारा बोधित कराया है, किन्तु इन अर्थोंसे उनकी साधना पद्धति और चिन्तन-मननकी दिशाका कोई खास सम्बन्ध नही है। उक्त अर्थोके संकेतका तात्पर्य यही है कि सन्त सुरतिके इन अर्थोंसे भी परिचित थे। वैसे सुरतिको उन्होने जिस विशिष्ट अर्थमे स्वीकार किया है, वह काफी सुचिन्तित है और उस सारी चिन्ताधारासे जो अपरिचित है, उनके लिए भ्रामक और कही-कही नितान्त अटपटा भी।

हमने लक्ष्य किया है कि संस्कृत स्मृतिसे घिसकर बननेवाले सुरति शब्दमे यादका अर्थ पूरी तरह जुड़ा हुआ है, पर सन्त इसमे प्रेमका मधुर-कोमल अर्थ भी भरते है। उन्हे याद करने मात्रसे सन्तोप नही होता। वे यादमे प्रीतिको अनिवार्य रूपसे जोड़े रखते है। जो मात्र स्मरणको महत्त्व देते है, केवल राम नामके उच्चारणको मुक्ति देनेवाला मानते है, ऐसे पण्डित इन सन्तोको पहले दर्जेके झूठे लगते है। कबीरने साफ कहा है—"पण्डित बाद बदै सो झूठा। राम कहे दुनियाँ गति पावै, खाँड़ कहे मुख मीठा॥ पावक कहे पाँव जो दाझै जल कहे त्रिखा बुझाई। भोजन कहे भूख जो भाजै तौ सब कोई तिरिजाई" आदि (क० ग्रं०, तिवारी : पद, १७९)। इस प्रकार इन सन्तोंने सुरतिमे एक नया अर्थ भरा—जैसी-तैसी सभी यादें सुरति नहीं, रति अर्थात् भावकी सान्द्रता प्राप्त स्थितिवाली स्मृति 'सुरति' है। लेकिन सन्तोको इतना भी नाकाफ़ी लगा। उनकी बात अभी पूरी व्यक्त हो नही पा रही थी, क्योंकि रति मूलतः लौकिक या जडोन्मुख प्रेमके अर्थमे रूढ शब्द था। सन्तोंको यह रति कभी अच्छी नही लगी। सन्तोंपर नाथपन्थकी हठयोगी साधनाका पर्याप्त प्रभाव था। गोरखनाथ 'बिन्दु न देवै सुपणे जाण'के कठोरतम संयमके पक्षधर थे। 'यन्द्रीका लड़बड़ा जिह्वआका फूहड़ा" गोरखके मतसे प्रत्यक्ष चूहड़ा था (गो० बा०, सबदी, १५२)। और सन्त शतप्रतिशत इस संयमको स्वीकार करते थे। परिणामतः जड़ोन्मुख--रूप, रंग, स्पर्श, गन्धादिके उपभोगकी शारीरिक भूखको प्रमुखता देनेवाली रति उनका आदर्श कभी नही हो सकती थी। संयोगसे स्मृतिसे घिसकर जो तद्भव रूप बना, वह सुरति था। रतिसे थोड़ा-सा ध्वनि साम्य मिला नही कि सन्तोंने इसे नये तथा भिन्न अर्थ देनेवाले 'सुरति' शब्दकी नयी व्याख्या कर ली सु+रति=सुन्दर रति। सुन्दर, अर्थात् चिन्मुख। सन्तोंके पहलेसे, सिद्धों और नाथोंमे भी ध्वनि-साम्यके आधारपर शब्दोंमें नये अर्थ भरने तथा किसी शब्दके एक-एक वर्णकी नयी व्याख्याएँ प्रस्तुत कर नयी अर्थवत्ता देनेकी वृत्ति स्पष्ट लक्षित होती है। सन्तोंमें इसका अतिरेक मिलता है। सुरतिका अर्थ चिन्मुख प्रेम हुआ तो दार्शनिक चिन्तनकी परम्परा आगे बढ़ी। ब्रह्मके प्रति पक्की सुरति (प्रीति) सम्भव ही नहीं थी, जबतक भौतिक आकर्षणोंकी मायामें मन अनुरक्त रहे। सहज भावसे उस 'अलख निरंजन परमपद'को प्राप्त करनेके दावेदार सहजयानियोंको कबीरने असहज होते देखा था। उनका कहना था—"सहजै सहजैं सब गए सुत बित कांमिनि कांम। **एकमेक होइ** मिलि रहा दास कबीरा राम" (क० ग्रं० : तिवारी, पृ० २४२, ३)। कबीरके मतसे सहज वह नह था, जिसकी भूरि-भूरि प्रशंसा सरह कर गये थे। विपयोंका मुक्त रमण और पूर्ण अनासक्ति परस्पर विरोधी बातें है। सहजता विपयोंके रमणमे नही, विपयोके त्यागमें है—"सहज-सहज सब कोइ कहै सहज न चीन्है कोइ। जिहि सहजै बिखया तजै, सहज कहावै सोई" (वही, पृ० २४२, १)। विपयोंके त्यागके लिए वैराग्य या **निरति** आवश्यक है। यह निरति आती है आत्मस्वरूपकी सही पहचानसे। यह पहचान अपने पारमार्थिक स्वरूपकी स्मृतिके बिना सम्भव नही। जिस दिन जीव जान जाता है कि वह तत्त्वतः परमात्मा ही है; सोऽहमस्मिकी चेतना जब उसमे जगती है तो क्षुद्र-क्षणधर्मा जागतिक प्रपंचसे उसका मन स्वयमेव विरक्त हो जाता है। यह दूसरी निरति है और उत्तम कोटिकी है। इसमें बाह्य विपयोंके प्रति 'निरति' और आन्तर विपयोंके प्रति आसक्तिका सामरस्य होता है। सन्तोंकी शब्दावलीमें यह 'सुरति-निरतिपरचा' (=परिचय) है। इस स्थितिमे "सुरति समानी निरतिमे निरति रही निरधार। सुरति निरति परचा भया तब खुलि गया सिंभु दुवार" (क० ग्रं० : ति०, पृ० १७०, २४)। यह सुरतिका निरतिमें समाना हुआ जिससे उस परम-प्रियतमके 'बेगमपुरे'का द्वार खुलता है। पर सन्तोंने जहाँ सुरतिके निरतिमे समानेकी बहुशः चर्चा की है निरतिको सुरतिमें समाती भी बताया है। यह प्रथम निरति है। वैसे बात एक ही है बस क्रम उलट गया है। जब सद्गुरुके उपदेशसे, मुट्ठी तानकर चलाये गये उसके शब्दबाणसे साधकका बाह्यावरण छिद जाता है (क० ग्रं० : ति०, पृ० १२९, २३) और विरहकी पीड़ामे वह गीली लकड़ीकी तरह सुलगने और धुँधुआने लगता है (क० ग्रं० : ति०, पृ० १४१, ८) तो सन्त लोग इसीको निरतिका सुरतिमें समाना कहते हैं। यह प्रथम निरतिकी अवस्था अन्तिम अवस्था नही है, अन्तिम तो द्वितीय सुरति है। प्रथम सुरतिमें जब लौ (दे०) लग जाती है, तभी सिंहद्वार खुलता है और उस अगम (दे०) पुरके वासीके दर्शन होते है। गुरुके दिखाये रास्तेसे चलकर घटमें ही अवध मिल जाता है, उसके रूप (सूरत)से परिचय हो जाता है (क० ग्रं० : ति०, पृ० १६९, १९)—एक रूप, जो अनन्त है, अपार है, सीमाहीन, अनवच्छिन्न और अरूप है। और यह कि उस असीमको, अनहदकी सीमाकी सहायता बिना ही पा लिया जाता है और कबीरको उसका सीमातीत रूप दिख जाता है—"हद छाँड़ि बेहद गया, सुन्नि किया अस्थांन। कँवल जु फूल्या फूल बिन को निरखै निज दास"। थोडे स्थूल रूपमें दादूको जगत्के एक-एक रूपमें उस प्रियतमकी सूरत (नूर) दिखने लगती है—"दादू अलख अलाहका, कुछ कैसा है नूर। बेहद वाको हद नहीं, रूप-रूप सब नूर"। यही प्रियके रूपकी पहचान और संगति सामरस्यकी उस अवस्थातक पहुँचाती है—आत्मा और परमात्मा, जीव और ब्रह्म, प्रिय और प्रिया एकमेक हो जाते हैं। इस एकमेकत्व या अभिन्नविग्रहत्वका संकेत देनेके लिए सन्तोंने सुरतिमें एक नया अर्थ सुरत (काम-क्रीड़ा, केलि) भी जोड़ दिया है। सन्त इसी ऊँची स्थितिको बतानेके लिए मैथुन-

परक उपमाओं, रूपकों एवं प्रतीकोंका सहारा लेते है। सन्त मर्यादावादी थे। कामिनीके अंगके प्रति अरति और राम नामके प्रति रति या सुरति उन्हे प्रिय थी, पर सुरतिका सुरत अर्थ उनके मनमें था अवश्य (दे० कबीर ग्रं० : ति०, पृ० १५८, ४१), बस वे शाक्तों जैसी मैथुनपरक शब्दावली एवं विपरीत रति जैसे क्रियाव्यापारका प्रयोग-व्याख्यान नहीं कर सकते थे, पर प्रियके संग 'सूतने'के अनेक उल्लेख इसी ओर संकेत करते है। इसी अवस्थाको प्राप्त साधक चाहता है कि वह अपने प्रियको आँखोंमें बिठाकर पलकें मूँद ले, न स्वयं किसीकी ओर देखे, न प्रियको अन्यत्र देखने दे (क० ग्रं० : ति०, १७६, १२)। इस अवस्थामें एक ओर जहाँ सदैव प्रियकी सुरति (ध्यान, याद) बनी रहती है, वहीं यह प्रार्थना भी फूटती रहती है—"तुम बिन सुरति करै को मेरी' (क० ग्रं० : ति०, पद ४५)। इस प्रकार बहुत पहलेसे ही साधकों द्वारा प्रयुक्त स्मृति शब्दसे निष्पन्न सुरति शब्दमे सन्तोंने ऊपर संकेतित एवं क्रमशः विकसित विभिन्न अर्थोंको बडी चतुराईसे भरा है और इस एक शब्द-में एक लम्बे दार्शनिक चिन्तनको सूचित कर दिया है (बौद्धशास्त्रोंमे स्मृतिका क्या अर्थ किया गया है, इसके लिए दे० हजारीप्रसाद द्विवेदीकी पुस्तक 'सहजसाधना', पृ० ७२-७३)। —रा० दे० सिं०

सुरति डोर—वैसे सन्तोंने सुरत (दे० 'सुरत')को लेकर अनेक रूपक बाँधा और सुरतकमान (क० ग्रं० : ति०, पद ४), सुरति ढेंकुली(वही, पृ० १७८, ६),सुरति नालि(सुरति रूपी तोपकी नली–वही, पद २५) आदि रूपोंमें प्रयुक्त किया है, पर 'सुरतिडोर' उनका ऐसा शब्द है, जो ठीक इसी पारिभाषिक अर्थमें, बौद्धग्रंथोंमे 'स्मृतिरज्जु' रूपमे मिल जाता है। शान्तिदेवने 'बोधिचर्यावतार'में 'सुरतिडोर'के पूर्ववर्ती स्मृतिरज्जुका अच्छा विवरण दिया है और बताया है कि अगर चित्त रूपी मातंग (हाथी)को स्मृति रूपी रस्सीसे, चारों ओरसे अच्छी तरह बाँध लिया गया तो सभी प्रकारके भय नष्ट हो जाते है और सभी कल्याण प्राप्त हो जाते है—"बद्धश्चेच्चित्त मातंगः स्मृतिरज्वा समन्ततः। भयमस्तंगतं सर्वं कृत्स्नं कल्याणमागतम्"। सन्तोंकी सुरतिडोर भी यही काम देती है। —रा० दे० सिं०

सुषुम्ना - दे० 'हठयोग'।

सुहरवर्दी—दे० 'सूफी-सम्प्रदाय'।

सूक्तिकाव्य—वह काव्य, जिसमे कविके जीवन-अनुभवोका सार चेतावनीके रूपमे अभिव्यक्त होता है। सूक्तिकाव्य-कारका लक्ष्य पाठकका मनोरंजन करना नही, बल्कि उसमें इहलौकिक और पारलौकिक जीवनका परिमार्जन और परिशोधन करना होता है। वह मानव-प्रकृतिको उसके विभिन्न सामाजिक और आध्यात्मिक सम्बन्धोंमें समझता-बूझता है। जब उसके मानसमे किसी सम्बन्धका एक विशेष कोण सामने आता है तो उसे वह बहुत-कुछ निष्कर्षात्मक रूपमें सामने रखता है। इतना तो प्रथम चरण रहा, जिसे हम सूक्ति कहेगे, किन्तु इस सूक्तिको सूक्तिकाव्य बननेमें काव्योपादानोंसे संयुक्त होना पडता है। ये काव्योपादान प्रायः चित्रमूलक अलंकार होते हैं। सूक्तिकाव्य मुक्तकरूपमें तो लिखे ही जाते हैं, प्रबन्धोंमें भी कहीं-कहीं आ जाते है। इनमे जो बहुत ही सुन्दर या नैतिकता-पूर्ण सूक्तियाँ होती है, उन्हें सुभाषित कहा जाता है।

संस्कृतमें सूक्तिसाहित्य बहुत लिखा गया है। चाणक्य, भोजराज, वररुचि, वेतालभट्ट, भर्तृहरि आदि संस्कृतके अनेक रचनाकारोंने स्वतन्त्र सूक्तिकाव्योंकी रचना की। अपभ्रंशमे हेमचन्द्रके 'प्राकृतव्याकरण' और 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' आदिमें भी पर्याप्त संख्यामें सूक्तिकाव्यका सन्निवेश हुआ है। हिन्दीमें रहीम, तुलसी, वृन्द, दीन-दयाल गिरि, गिरिधर आदि अनेक प्रौढ़ सूक्तिकार हुए है। भक्तिकाव्य और शृंगारकाव्यके लेखक भी कभी-कभी अपने क्षेत्रसे हटकर सूक्तियोंकी रचना कर जाते है। उदाहरणके लिए कबीरकी रचनाएँ और बिहारीके नीतिपरक तथा तत्त्वात्मक दोहे लिये जा सकते है। —शं० ना० सिं०

सूक्ष्म—गूढार्थप्रतीतिमूल अर्थालंकार। इस अलंकारका प्रचलन भामहके पूर्वमे रहा है, पर अर्थवैचित्र्यके अभावमें उन्होंने इसे स्वीकार नहीं किया। दण्डीने सूक्ष्मको स्वतन्त्र रूपमें स्वीकार किया है। मम्मट आदि रुद्रटकी अपेक्षा इसके निरूपणमें दण्डी तथा रुय्यकके अधिक निकट है। मम्मट तथा विश्वनाथके अनुसार इसकी परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती हैं—"आकृति तथा इंगितके द्वारा प्रतीत अर्थ भी किसी चातुर्यपूर्ण संकेतसे जहाँ सहृदयके लिए सम्बद्ध बनाया जाय" (का० प्र०, १० : १२२; सा० द०, १० : ९१)। हिन्दीके आचार्योंने प्रायः 'कुवलयानन्द'के आधारपर इसके लक्षण दिये है—"जानि पराये चित्तकी, ईहा जो आकूत" (ल० ल०, ३५४), अथवा—"चतुर चतुर बातें करे, संग्या कछु ठहराइ" (का० नि०, १५), अर्थात् किसी इंगित या आकारसे जाने हुए सूक्ष्म अर्थको किसी युक्तिसे सूचित करना सूक्ष्म अलंकार है। चेष्टा द्वारा लक्षित तथा आकार द्वारा लक्षित सूक्ष्मके ये दो भेद कहे गये है। उदा०—"लखि गुरुजन बिच कमलसौं, सीसु छुवायो स्याम। हरि सम्मुख करि आरसी, हियैं लगाई बाम" (बि० स०, ३४)। यहाँ कृष्णने कमलसे अपना सिर छुआया तथा राधिकाने अपनी आरसी हृदयसे लगा ली और इस प्रकार चेष्टा द्वारा अपना भाव व्यक्त किया है। इसी प्रकार "पर तिय दोपु पुरान सुनि लखि मुलकी सुखदानि। कसु करि राखी मिश्र हू मुख आयी मुसकानि" (बि०र०, २६४)। यहाँ आकार (मुस्कान) द्वारा सूक्ष्म रहस्यकी व्यंजना की गया है। —ध० ब्र० शा०

सूक्ष्म शरीर—इसे लिंग शरीर भी कहा जाता है। बृह-दारण्यक उपनिषद् (४ : ४, ५)में बताया गया है कि यह आत्मा विज्ञान, मन, प्राण, श्रोत्र, पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, तेजस, अतितेजस्, काम, अकाम, क्रोध, अक्रोध, धर्म, अधर्म आदिको साथ लेकर स्थूल शरीरका त्याग करती है। सांख्यकारिका, ४०में प्रायः इन सभीको 'लिंगशरीर' कहा गया है। इन्द्रियों, पंचतन्मात्राओं एवं अन्नमय कोषको छोडकर शेष कोषोंके योगसे यह सूक्ष्म या लिंगशरीर निर्मित होता है, ऐसा वेदान्तियोंका मत है। वेदान्तमें 'लिंगशरीर'को कई प्रकारसे समझाया गया है। वेदान्तसार, १३में सूक्ष्मशरीरके सत्रह अवयवोंका उल्लेख मिलता है—दस इन्द्रियाँ, पाँच प्राण, मन तथा बुद्धि। सुरेश्वराचार्यकृत

'पंचीकरण वार्तिक', ३२-३७ में आठपुरियों (१. पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, २. पाँच कर्मेन्द्रियाँ, ३. अंतःकरण—अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, ४. पाँच प्राण, ५. पाँच तन्मात्र, ६. अविद्या, ७. काम तथा ८. कर्म)को सूक्ष्म या लिंगशरीर कहा गया है। उपनिषदोंमें इस बातको बार-बार समझाया गया है कि मृत्युके बाद स्थूलदेहसे आत्मा विच्छिन्न हो जाती है, पर सूक्ष्मशरीर तब भी उसके साथ लगा रहता है। इसी तरहकी बात गीता (१५ : ७-८)मे भी कही गयी है। —रा० दे० मि०

सूच्य–रूपकमें वे वस्तुएँ, जो रसहीन, अनैतिकतापूर्ण, रसोद्रेकक्षमतासे च्युत होती हैं **रंगमंच**पर नहीं दिखायी जाती। उन्हें सूच्य या **ससूच्य** कहते हैं। इनकी सूचना **अर्थोपक्षेपकों** (दे०) द्वारा दी जाती है। —ब० सि०

सूत्र–[सूत्र (चुरादि उभयपदी) ग्रन्थने वेष्टने च+अच्—सूत्र्यते इति सूत्रम्; अथवा षिवु तन्तुसन्ताने (सीना)+ष्ट्रन्—सीव्यते अनेन (भानुजी दीक्षितकृत अमरकोषटीका रामाश्रमी)] (क) साधारण अर्थ–१. सूत, धागा; २. बिस-तन्तु, यथा—"सुरांगनां कर्षति खण्डिताग्रात् सूत्रं मृणालादिव राजहंसी" (विक्रमोर्वशीय, १:१९); ३. तार; ४. यज्ञोपवीत; ५. कठपुतलियोंमें बँधी हुई डोरी। (ख) विशेष अर्थ—१. सरलतासे स्मरण रखनेके लिए रचे गये अत्यन्त छोटे वाक्य, जिनमें अत्यधिक सार या गम्भीर अर्थ अनुबद्ध कर दिया गया हो। इसका लक्षण प्राचीन ग्रन्थोंमें इस प्रकार मिलता है—"स्वल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्। अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः"। २. इस शैलीमें लिखे गये ग्रन्थ जैसे, 'मानवकल्पसूत्र', 'गौतमधर्मसूत्र', 'आपस्तम्बसूत्र', 'ब्रह्मसूत्र', 'पूर्वमीमांसासूत्र', 'योगसूत्र' इत्यादि। धर्मसूत्रोंमें आये हुए श्लोक भी सूत्र ही कहलाते हैं, अतः सूत्र प्रायेण गद्यात्मक होते हुए भी पद्यात्मक भी होते हैं। ३. नियम, व्यवस्था, विधान। ४. बौद्ध साहित्यमें यह शब्द 'मूल ग्रन्थ'के अर्थमें आता है और इस प्रकार 'विभाषा', अर्थात् व्याख्यानग्रन्थ या टीकाग्रन्थसे भिन्न अर्थमें गृहीत होता है (मोनियर विलियम्स)। इसीलिए भगवान् बुद्धके मूल उपदेशोंपर चलनेका दावा करनेवाला सम्प्रदाय 'सौत्रान्तिक' तथा विभाषा, अर्थात् परवर्ती आचार्यों (भगवान् बुद्धके शिष्य-प्रशिष्यों)के व्याख्यानोंका भी प्रामाण्य माननेवाला सम्प्रदाय 'वैभाषिक' कहलाया। ५. जैनोंमें सूत्र दृष्टिवादका अंग माना जाता है। (ग) हिन्दीमें इसके अर्थमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। (घ) पर्याय ऊपर दिये गये साधारण अर्थोंमें द्रष्टव्य। —आ० प्र० मि०

सूत्रधार–सूत्रधार नाट्यशालाका विधायक होता है। वह नाटकादि रूपकके आरम्भमें मंगलाचरण, देवता-स्तवनादि जैसी औपचारिक क्रियाएँ सम्पन्न करता है। पश्चात् संस्कृत भाषागत अपने वाग्व्यापार द्वारा चार प्रकारसे काव्यार्थ या नाटकीय पात्रोंकी सूचना देता है। **प्ररोचना**में वह नाटककार और नाटकके अर्थकी प्रशंसा करके रंगस्थ सामाजिकोंको उनकी ओर आकृष्ट करता है; **कथोद्घात, प्रवृत्तक** और **प्रयोगातिशय**—तीन प्रकारके **आमुख** (प्रस्तावना) और **प्रहसन** द्वारा नटी, मार्ष (पारिपार्श्वक) अथवा विदूषकके साथ बात करते हुए अपने कार्यका विवरण प्रस्तुत करता है; **उद्घात्यक, अवलगिता, प्रपंच, त्रिगत, छल, वाक्केलि, अधिबल, गण्ड, अवस्यन्दित, नालिका, असत्प्रलाप, व्याहार** और **मृदव** जैसे तेरह **वीथ्यंगों** द्वारा पात्रोंकी सूचना देता है। इस प्रकार इनमेंसे किसी भी रीतिसे नाटकार्थका आक्षेप और परिचय दे चुकनेपर वह रंगमंचसे निष्क्रान्त हो जाता है और कथाको प्रपंचित करता है।

नाट्यविकासके प्राचीन इतिहासमें सूत्रधारका सम्बन्ध कठपुतलियोंके धागेको पकड़कर नचानेवाले व्यक्तिसे जोड़ा गया है। कालान्तरमें सूत्रधार और **स्थापक**की योजनासे नट नृत्य, गीत तथा संवादका कार्य करने लगे। जब रंगमंचपर सप्राण नटोंकी प्रतिष्ठा हो गयी तो स्थापककी आवश्यकता न रही, सूत्रधार रह गया और कठपुतलियोंके स्थानपर नर्तकों और गायकोंका प्रवेश हो गया। —वि०रा०

सूफी–इस्लामके रहस्यवादी 'सूफी' नामसे प्रख्यात हैं। सूफियोंके दर्शनको **तसव्वुफ** कहा गया है। सूफी ऐसे साधक थे, जो विरक्त, संसार-त्यागी, परमात्माके प्रेममें बेसुध रहते थे। उनके लिए न इस लोकके प्रलोभनोंका कोई अर्थ था और न स्वर्गकी ही उन्हें चिन्ता थी। उनकी चिन्ताका एकमात्र विषय परमात्मा था। उसे पानेके लिए उसके साथ 'एकमेक' होनेके लिए ये साधक सभी प्रकारकी साधनाके लिए प्रस्तुत रहते थे। वैसे, प्रेमको इन्होंने सर्वोच्च स्थान दिया है।

'सूफी' शब्दकी व्युत्पत्ति नाना प्रकारसे की गयी है। अधिकांश लोग 'सूफ' शब्दसे इसका बनना मानते हैं। 'सूफ'का अर्थ ऊन है। ईसवी सन्‌की आठवीं-नवीं शताब्दीमें ऊनका व्यवहार करनेवाले संसार-त्यागी साधकोंका पता इस्लामी देशोंमें चलता है। 'सूफी' शब्दकी व्युत्पत्तिपर अन्य प्रकारसे भी विचार किया गया है। सफा, अह्‌ल सुफ्फाह, सफ्फे अव्वल, सोफिस्ता आदिसे भी 'सूफी' शब्दके बननेकी बात कही जाती है, लेकिन वे अधिकांश लोगोंको मान्य नहीं है।

यह शब्द पहले-पहल संन्यासी जीवन बितानेवाले रहस्यवादी साधकोंके नामसे जुड़ा हुआ मिलता है। कुछ लोगोंका कहना है कि सर्वप्रथम 'सूफी' शब्दका प्रयोग करनेवाला अबू हाशिम सुफियान (मृत्यु सन् ७७७ ई० के लगभग) था। लुई मासिन्योने इस सम्बन्धमें अबू हाशिमके समकालीन जाबिर इब्न हैयानका भी नाम लिया है। मासिन्योने माना है कि इसका प्रयोग अब्दक अल् सूफीने (जिसकी मृत्यु सन् ८२५ ई०में हुई) किया है। पहले व्यक्तियोंके नामके साथ यह शब्द जुड़ा हुआ मिलता है, लेकिन बादमें चलकर व्यापक भावमें रहस्यवादी साधकोंके लिए इसका प्रयोग पर्यायके रूपमें होने लगा। आज भी इसी अर्थमें इस शब्दका प्रयोग होता है। —रा० पू० ति०

सूफी आख्यान काव्य–सूफी आख्यान काव्य साधारणतः लोकप्रचलित कहानियोंके आधारपर लिखे गये हैं। ये 'आख्यान' प्रेममूलक हैं। प्रेमकी कहानियोंका सूफी साधकोंने आश्रय लिया और उनके आधारपर प्रेमकाव्योंकी रचना की। हिन्दी साहित्यमें इन प्रेमाख्यानोंका अपना एक विशेष स्थान है। इन प्रेमकाव्योंके द्वारा सूफी कवियोंने

परमात्माके प्रति अपने हृदयके प्रेमको व्यक्त किया है। ये कहानियाँ कल्पित या अर्द्ध-कल्पित है। लौकिक प्रेमकी इन कहानियोंके सहारे सूफियोंने उस अलौकिक प्रेमका आभास दिया है, जो सूफी साधनाके मूलमे है। सूफी साधनाका प्रारम्भ प्रेमसे होता है और उसकी परिणति भी प्रेममे होती है। परमात्मा इन सूफी साधकोंके लिए परम प्रियतम है। उसका प्रेम प्राप्त करनेके लिए साधक सभी प्रकारकी कठिनाइयोंका स्वागत करता है और अपने प्रेमके द्वारा सभी विघ्न-बाधाओंको पार करता है।

हिन्दीके प्रेमाख्यानक काव्योंमें ऐतिहासिकताकी ओर अधिक ध्यान नही दिया गया है। इन काव्योंमें प्रायः भारतीय कथानक-रूढियों (motifs)का व्यवहार किया गया है, वैसे ईरानी कथानक-रूढियोंका भी बादमें प्रयोग हुआ है। पशु-पक्षियों द्वारा नायिकाके रूपका वर्णन, मन्दिर, चित्रशाला आदिमे नायिकाका दर्शन, चित्र या स्वप्नमें नायिकाको देखकर प्रेम उत्पन्न होना आदि भारतीय कथानक-रूढियाँ है। इसी प्रकारसे परी या देवकी सहायतासे कार्यका सम्पन्न होना या बाधा पहुँचना, राजकुमारियोंका उड़ना, राजकुमारीका प्रेमीको गिरफ्तार करा लेना ईरानी-कथाओंमे पाया जाता है। इन प्रेमाख्यानोमे कवि लौकिक प्रेमका वर्णन करता हुआ बीच-बीचमें अलौकिक प्रेमका संकेत कर देता है। नायिकाका वर्णन इन काव्योंमें कुछ इस प्रकारसे हुआ है कि पाठक उसमें उस सर्वव्यापक परम प्रियतमका आभास पाता है, जिसका सौन्दर्य प्रकृतिकी सभी वस्तुओं और व्यापारोंमें परिलक्षित होता है।

सूफी कवियोंने लौकिक प्रेमकी कहानियोंको भी अपनानेमें संकोच नही किया, इसका कारण यह है कि आध्यात्मिक प्रेमकी प्राप्तिमें वे लौकिक प्रेमको सहायक मानते है। जामीकी कवितासे इसका स्पष्टीकरण हो जाता है। जामीकी एक कवितामें कहा गया है—"इस संसारमें तुम सैकड़ों उपाय कर सकते हो, लेकिन एकमात्र प्रेम ही ऐसा है, जो तुम्हारे 'अहम्'से भी तुम्हारी रक्षा करेगा। सांसारिक-प्रेमसे भी तुम मुख मत मोडो, क्योंकि परम सत्यतक पहुँचनेमे वह तुम्हारा सहायक सिद्ध हो सकता है"।

सूफी प्रेमकाव्यमें पहले परमात्मा और पैगम्बरकी स्तुति रहती है। इसके बाद वे अपने गुरु या पीरका परिचय देते है तथा रचनाकालका निर्देश करते है। सूफी कवियोंने अपने कालके बादशाहका भी उल्लेख किया है। इन कवियोंने अवधी भाषाका प्रयोग किया है। दोहा और चौपाईको उन्होंने अपने काव्यके लिए चुना है। कितनी अर्द्धालियोंपर दोहा या अन्य छन्दका घत्ता देना चाहिये, इसमें व्यतिक्रम अवश्य देखा जाता है। जायसीने सात चौपाइयोंके बाद दोहा दिया है। 'मृगावती' और 'मधुमालती'मे पाँच चौपाइयोंके बाद दोहेका क्रम मिलता है (दे० 'सूफी काव्य', 'प्रेमाश्रयी शाखा')। —रा० पू० ति०

सूफी काव्य—सूफी साधक प्रेमके द्वारा परमात्माके पानेकी बात कहते है। परमात्मा उसके लिए परम प्रियतम और परम सौन्दर्य है। आत्मा उस प्रियतमको पानेके लिए आकुल रहती है। सूफी कवि आत्मा और परमात्माके इस प्रेमसम्बन्धका वर्णन आत्मविभोर होकर करता है। अपने काव्यके माध्यमसे वह परम प्रियतमके प्रति प्रणयनिवेदन करता है।

इस आध्यात्मिक, अलौकिक प्रेमको व्यक्त करनेके लिए इस जगत्की शब्दावली किसी कामकी नही, फिर भी उसका सहारा सूफी कवियोंको विवश होकर लेना पडता है। यही कारण है कि सूफी साधक अपने प्रेमकी तीव्रता, अपने हृदयकी बेचैनी और आतुरताको अभिव्यक्त करनेके लिए लौकिक प्रेमकी विभिन्न मनोदशाओंका वर्णन करता है। ईरानके सूफी कवियोंने पहलेसे चली आती हुई भाषा और अभिव्यंजनाकी शैलीको अपनाया; वैसे, उन शब्दोंका अर्थ उनके लिए और ही था। साकी, शराब, माशूक़, ज़ुल्फ आदिका प्रयोग उन कवियोने किया, लेकिन उनका सांकेतिक अर्थ ही उनके समक्ष उपस्थित रहता था। साधारणतः विशेष सांकेतिक अर्थके साथ ही उन शब्दोंका प्रचलन हुआ, लेकिन ऐसे भी कवि हुए, जिन्होंने अलग-अलग अर्थों में उन शब्दोंके प्रयोग किये है।

फारसीके सूफी कवियोंने भिन्न-भिन्न काव्यरूपोंका सहारा लिया है, जैसे मसनवी, रुबाई तथा गजल। अधिकांश कवियोंने 'मसनवी'को ही अपनाया है। पहले तो इन मसनवियोंमे धार्मिक और आध्यात्मिक विषयोंकी चर्चा होती थी, लेकिन बादमे चलकर प्रेमाख्यानोंने उनपर अपना आधिपत्य जमा लिया। ये मसनवियाँ सर्गबद्ध होती है। क्रम कुछ इस प्रकारका होता है—पहले सर्गमे परमात्माका गुणानुवाद, दूसरेमें पैगम्बरका स्मरण, तीसरेमे 'मीराज'की चर्चा, इसके बाद शासक या किसी महान् व्यक्तिकी प्रशंसा रहती है, जिसे कवि अपनी कृति समर्पित करता है। बादवाले सर्गमे वह बतलाता है कि उस काव्यके लिखनेकी प्रेरणा उसे किस मित्रसे मिली अथवा किस उद्देश्यसे वह लिख रहा है। इसके बाद मूल काव्यग्रन्थका प्रारम्भ हो जाता है। प्रत्येक सर्गके ऊपर उस सर्गमें वर्णित विषयकी सूचना फारसी गद्यमें दी हुई होती है। फारसी प्रेमाख्यानोंमें बीच-बीचमे गजलें भी दी हुई है। इन गजलोंका समावेश ऐसे स्थलोंपर किया गया है, जहाँ कहानीका पात्र अपने मनके भारको हलका करना चाहता है।

हिन्दीके सूफी कवियोंने हूबहू इन फारसी मसनवियोंकी नकल नहीं की है। वे भारतीय परम्परा तथा ईरानी परम्परा, दोनोंसे प्रभावित हुए है। हिन्दीके सूफी कवियोंने गजलें और रुबाइयों जैसी कोई चीज नही लिखी (दे० 'सूफी आख्यान काव्य', 'सूफी मत', 'प्रेमाश्रयी शाखा')। —रा० पू० ति०

सूफी-मत—अन्य मतों और सम्प्रदायोंकी भाँति सूफी मतमें भी परमात्मा-आत्मा, जगत् तथा उसके पारस्परिक सम्बन्ध एवं चरम लक्ष्यके सम्बन्धमे नाना भावसे विस्तारपूर्वक विचार किया गया है।

सूफी कुरान द्वारा प्रतिपादित परमात्माके स्वरूपको स्वीकार करते है। सनातनपन्थी इसलामकी भाँति वे भी **एकेश्वरवाद**में विश्वास करते है, लेकिन वे अपने ही ढंगसे उसका अर्थ करते है। उनके लिए 'एकेश्वरवाद' ठीक वही नही है, जो सनातनपन्थी इसलाममें स्वीकृत है। सनातनपन्थियोंकी तरह सूफी मानते है कि जात (सत्ता), सिफत

(गुण) और कर्ममें परमात्मा अद्वितीय और निरपेक्ष है। सनातनपन्थी परमात्माको सृष्टिके सभी पदार्थोंसे भिन्न मानते हैं, लेकिन सूफी कहते हैं कि इस दृश्यमान जगत्‌में परिव्याप्त एकमात्र सत्ता परमात्माकी ही है। ऐसा माननेका मतलब यह हो जाता है कि प्रतीयमान जितनी भी सत्ताएँ हैं, वे सभी परमात्मामें अन्तर्निहित हैं तथा निखिल विश्व परमात्माके साथ एक है। सूफी परमात्माको परम सत्य माननेके साथ ही उसे परम कल्याण और परम सौन्दर्य भी मानते हैं। परमात्मा सम्बन्धी दो सिद्धान्त कम या बेशी सूफी-सम्प्रदायका प्रतिनिधित्व करते हैं। इन दोनों सिद्धान्तोंके आधारपर मोटे तौरपर सूफियोंके दो वर्ग हो गये हैं—वुजूदिया और शुहूदिया। एक वर्ग 'वहदतुल वुजूद'के सिद्धान्तसे प्रभावित है और दूसरा 'वहदतुश्शुहूद'-के सिद्धान्तसे। 'वहदतुलवुजूद'के सिद्धान्तका प्रवर्तक मुहीउद्दीन इब्नुल अरबी था। इस सिद्धान्तके अनुसार परमात्मा ही एकमात्र सत्ता है। 'हमावुस्त', अर्थात् 'सब कुछ वही है'का सिद्धान्त इसपर आधारित है। इब्नुल अरबी सम्पूर्ण दृश्यमान जगत्‌को उसी परम सत्ताकी अभिव्यक्ति मानता है। जीवको वह सृष्टिकर्ताकी बाह्य अभिव्यक्ति मानता है। मनुष्य परमात्माका चेतन अंश—सिर है, लेकिन मनुष्यकी ज्ञानपरिधि सीमित है, इसलिए उस चैतन्यके अंशमात्रको ही वह प्रकट कर सकता है। इस प्रकारसे जीव सत्य तो है, लेकिन परमात्माकी तरह एक-मात्र सत्य नहीं है।

'वहदतुश्शुहूद'के सिद्धान्तके प्रवर्तक शेख करीमे जीली हैं। जीलीके अनुसार एक परमात्माकी सत्ता है और दूसरी जीवकी। जीवकी सत्ता शून्य जैसी है, उसे अपने अस्तित्वके लिए परमार्थसत्ताकी अपेक्षा है। जीली जगत्प्रपंचको परमात्माकी गुणावलीका समाहार मानता है। परमात्मा अपनी सत्ताको अपने गुणोंमें अभिव्यक्त करता है। जब गुण (सिफ्त) अभिव्यक्त (जाहिर) होते हैं, तब उनके नाम दिये जाते हैं, अतएव ये नाम दर्पणके सदृश हैं, जो परम सत्ताके सभी रहस्योंको प्रकट करते हैं। जीलीका कहना है—"उसकी अभिव्यक्ति सम्पूर्ण सत्ताओंमें अन्तर्निहित है और वह सृष्टिके प्रत्येक अणु-परमाणुमें अपनी पूर्णताको अभिव्यक्त करता है। वह खण्डोंमें विभक्त नहीं है। सृष्टिके सम्पूर्ण पदार्थ उसकी पूर्णताके कारण हैं, उसके दिये हुए नामसे ही नामवाले हैं।...सृष्टि बरफके समान है और तेज-स्वरूप परमात्मा जलके समान है, जो बरफका मूल है। उस जमी हुई वस्तुका नामकरण बरफ हुआ है, पर जल ही उसका असली नाम है"।

परमात्मा जो अनन्तसौन्दर्य और अनन्तविभूति है, अपने-आपको जब अभिव्यक्त करना चाहता है तो सृष्टिका आविर्भाव होता है। यह जगत् अंशतः उस सौन्दर्यको प्रकट करनेवाला है। एक हदीसमें कहा गया है कि "मैं एक छिपा हुआ खजाना था, फिर मैंने इच्छा की कि लोग मुझे जानें, इसलिए मैंने सृष्टि की।" इसे ही सूफी सृष्टिका आदि कारण मानते हैं।

परमात्मा परम सत्ता है और सृष्टि असत्। जैसे अन्धकारके होनेसे प्रकाशका ज्ञान होता है, उसी प्रकार असत्, अवास्तविक जगत् उस सत्ताको समझनेमें सहायक होता है। सूफी कहते हैं कि परम सत्ता जब असत्‌के दर्पणमें प्रतिबिम्बित होती है और उसके फलस्वरूप जो प्रतिबिम्ब हम देखते हैं, वही सृष्टि है। अर्थात् यह दृश्यमान जगत् उस परमात्माका प्रतिबिम्ब है। इसको और भी स्पष्ट रूपसे यों समझ सकते हैं—सूर्यका प्रकाश जलमें पड़ता है और जलमें पड़नेवाले उसके प्रतिबिम्बसे हम सूर्यको देख सकते हैं। प्रतिबिम्बको अपने अस्तित्वके लिए सूर्यकी अपेक्षा है। प्रतिबिम्ब हजारों बार बन-बिगड़ सकता है, उससे सूर्यका कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। यहाँपर सूर्य परम सत्ता जैसा है, जल असत्‌के दर्पण जैसा, प्रतिबिम्ब सृष्टिके जैसा। सत्ता ही वास्तविक है, असत् उसका नकारात्मक रूप है।

इस प्रकार सूफी सृष्टिको असत्‌के दर्पणमें प्रतिबिम्बित होनेवाली परमात्माकी प्रतिच्छवि तथा मनुष्यको उस प्रतिच्छविकी आँख जैसा मानते हैं। आँखकी पुतलीमें भी सम्पूर्ण प्रतिच्छवि उतर आती है, अतएव उस मनुष्यरूपी आँखमें भी परमात्माकी प्रतिच्छवि प्रतिबिम्बित होती है। इस प्रकारसे एक ओर तो मनुष्य सृष्टिका अंग है और दूसरी ओर अपने भीतर परमात्माको भी ग्रहण किये हुए है। उसमें सत् और असत्, दोनों ही विद्यमान हैं। मनुष्यमें जो कुछ भी सत्य है, मंगलमय है, वह परमात्माका है और इसके विपरीत जो कुछ भी उसमें है, वह असत् है, क्षणभंगुर है तथा मंगलका नकारात्मक रूप है। मनुष्यके भीतर जो ईश्वरीय अंश है, वह उस विशुद्ध सत्ताकी चिनगारीके जैसा है जो इस बातकी चेष्टामें सतत लगी रहती है कि वह अपने उद्गमस्थलपर लौटकर उसके साथ एक हो जाय। लेकिन यह तबतक सम्भव नहीं हो पाता, जबतक उसमें असत् तत्त्व वर्तमान रहता है। यह असत् तत्त्व मिथ्या है और भ्रममें डालनेवाला है तथा 'अहम्'में सत्यकी प्रतीति करानेवाला है। 'अहम्' ही सब दुःखोंके मूलमें है, अतएव सूफी साधककी सबसे बड़ी साधना यह होती है कि वह अपने इस 'अहम्'पर विजय प्राप्त करे। इसीके लिए साधक 'सूफी मार्ग' पर चलता है और अपनी साधना पूरी कर परमात्माके साथ एक होता है (दे० 'सूफी काव्य')।

[सहायक ग्रन्थ—सूफी-मत—साधना और साहित्य : रामपूजन तिवारी।] —रा० पू० ति०

सूफी-मार्ग—सूफियोंके विश्वासके अनुसार परमात्मा और मनुष्यके बीच एक बड़ा व्यवधान है। उनका कहना है कि इस व्यवधानको दूर करनेके लिए साधनाकी आवश्यकता होती है। साधनामें लगा हुआ साधक आध्यात्मिक जीवन बिताता है और परमात्माको पानेकी इच्छा लिये हुए अपने चरम लक्ष्यकी ओर अग्रसर होता है। सूफी साधक इस साधनामय जीवनको एक यात्रा (सफर) समझते हैं तथा साधनाके पथपर अग्रसर होनेको वे 'सूफी-मार्ग' कहते हैं।

सूफी-मार्ग (अत-तरीकत)की कई मंजिलों, अवस्थाओं (अहवालों) और मुकामोंका वर्णन सूफियोंने किया है; वैसे, इनके प्रकार और नामोंके सम्बन्धमें सभी सूफी एकमत नहीं हैं। कितने सूफी परमात्मातक पहुँचनेकी चार मंजिलों और चार अवस्थाओंकी बात कहते हैं और कितने तीन ही मंजिलें मानते हैं। कुछ सूफी बारह मुकामात और अहवाल मानते हैं। बहुतसे ऐसे भी साधक हैं, जिन्होंने

११६६ ई०में हुई। उनकी मृत्युके तीन सौ वर्षोंके बाद इस सम्प्रदायका प्रवेश भारतवर्षमें हुआ। भारतवर्षमें इस सम्प्रदायके प्रवर्तक मुहम्मद गौस थे। ये आदि प्रवर्तकके वंशज थे। भारतवर्षमें इनके बहुतसे शिष्य हो गये थे। इस सम्प्रदायकी शिष्य-परम्परामें मियाँ मीर थे, जो मुगल बादशाह शाहजहाँके पुत्र दारा शिकोहके आध्यात्मिक गुरु थे। इस सम्प्रदायके अन्तर्गत कई उपसम्प्रदाय हो गये, जैसे बहलुलशाही, नवशाही, मुकीमशाही, कैमरशाही आदि। कादिरी सम्प्रदायमें संगीतका स्थान नहीं है, वैसे इसीके एक उपसम्प्रदाय 'नवशाही'में 'हाल' उत्पन्न करनेके लिए संगीतका सहारा लिया जाता है। इस सम्प्रदायके लोग हरे रंगकी पगड़ी बाँधते हैं। उनके कपड़ोंमें कम-से-कम एक अवश्य ही गेरुआ रंगमें रँगा रहता है। इस सम्प्रदायमे **जिक्रे सफी** और **जिक्रे जली**, दोनोंका प्रचलन है। अब्दुल कादिर अल-जीलानीने सात तौर (अतवारे सबा) बतलाये है। **जिक्र**के समय साधक अल्लाहके सात नामोंका उच्चारण करता है। इसमें बतलाया गया है कि कितनी बार नामका उच्चारण होगा और कौन-सी प्रार्थना करनी होगी तथा उसका रंग कैसा है।

सुहरवर्दी सम्प्रदायका स्थान भारतवर्षमें चिश्ती-सम्प्रदायके बाद ही है। भारतवर्षमें इसके प्रवर्तक बहाउद्दीन जकरिया थे। ये मुलतानके रहनेवाले थे। इसके आदि प्रवर्तकके बारेमें लोगोंमे मतभेद है। शिहाबुद्दीन सुहरवर्दीको लोग इस सम्प्रदायका आदि प्रवर्तक मानते है। कुछ लोग शेख जियाउद्दीनको और कुछ लोग जियाउद्दीनके पिता अबुल नजीबको। भारतमें इस सम्प्रदायके प्रमुख सन्तोंमें सदरुद्दीन (बहाउद्दीन जकरियाके ज्येष्ठ पुत्र), शेख अहमद माशूक, सैयद जलालुद्दीन मखदूमे जहानिश्ता आदि थे। इसके अन्तर्गत कई उपसम्प्रदायोंका जन्म हुआ, जैसे जलाली, मखदूमी, मीरनशाही, दौलाशाही आदि।

इस सम्प्रदायमें जो लोग दीक्षित होना चाहते है, उन्हें मुर्शिद (गुरु)के आदेशसे सर्वप्रथम अपने छोटे-बड़े सभी पापोंका प्रायश्चित्त करना पड़ता है। इसके बाद उससे पाँच कलमे पढ़ने और धर्मपर पूरी तरहसे ईमान लानेके लिए कहा जाता है। इस समय धर्मकी पाबन्दीपर पूरा जोर दिया जाता है। इसे ही वे मुरीद (शिष्य) होना कहते है। रोजा, नमाज आदिको इस सम्प्रदायवाले पूरा महत्त्व देते हैं। वे नाना प्रकारके कपड़ोंसे अपनेको ढके रहते है, जिसमें उन्हें बराबर याद रहे कि मनुष्य नंगा है और परमात्मा उसको देख रहा है। कपड़ोंसे इस तरह ढके रहनेका अर्थ यह भी लगाया जाता है कि साधकको यह बराबर स्मरण रहे कि जगत्के अनेक जीव-जन्तु परमात्माकी सृष्टि है। —रा० पू० ति०

सूरजजी–बालकके जन्मके दसवें दिन राजस्थान, मालवा, ब्रज आदि प्रान्तोंमें 'सूरजपूजा' की जाती है। 'सूरजजी' उसी अवसरपर गाये जानेवाले गीत है। घरका आँगन लीपनेके पश्चात् बालक सहित प्रसूताको चौकपर बैठाया जाता है। वह कलशका पूजन करती है। नाइन 'घुघरी' (उबाले हुए गेहूँ) वितरित करने जाती है, तभी पड़ोसिनें सूरजके गीत गाती हैं। **घुघरी** इस अवसरका परम्परागत मालवी गीत है। सूर्यको नैवेद्य लगानेके पश्चात् प्रसूताकी छूत निकल जाती है। कुछ ऐसे गीत भी है, जिनमें शंकर पार्वतीके विवाहका उल्लेख करते हुए 'सूरजजी'का भले उदित होना शुभ माना जाता है। —श्या० प०

सूर्य–दे० 'हठयोग', 'पिण्ड'।

सेंसरशिप–विचार-नियन्त्रण (दे०) और स्थिति-स्थापनके हितमें सेंसरशिपका खूब प्रयोग होता है। सेंसरशिप ऐसे भावों और विचारोंकी सार्वजनिक अभिव्यक्तिपर प्रतिबन्ध लगानेकी नीतिका नाम है, जिनसे शासन-सत्ता अथवा उसके द्वारा परिपोषित या परिरक्षित समाज-व्यवस्था अथवा नीति-नियमोंके खतरेमें पड़ जानेकी आशंका हो। सेंसरशिपका प्रयोग राज्य-सत्ता ही नहीं, अपितु अन्य संस्थाएँ एवं व्यक्ति भी कर सकते है। सेंसरशिपके दो रूप होते है—एक तो यह कि प्रकाशनीय सामग्रीकी प्रकाशनके पूर्व ही परीक्षा कर ली जाय और यदि वह अस्वीकार्य पायी जाय तो अस्वीकृत कर दी जाय तथा दूसरे यह कि आपत्तिजनक सामग्रीके प्रकाशनके बाद प्रकाशकको दण्ड दिया जाय और प्रकाशित सामग्रीको नष्ट कर दिया जाय। प्रथम रूपको प्रतिबन्धक (प्रिवेण्टिव) और दूसरेको दण्डात्मक (प्युनिटिव) सेंसरशिप कहते है।

सेंसरशिपकी प्रथा थोड़ी-बहुत सभी प्रकारके राज्योंमें पायी जाती है, किन्तु फासिस्ट (दे० 'फासिज्म') राज्य इसके लिए सबसे अधिक ख्यात है। लोकतन्त्र राज्य प्रायः अश्लीलता और हिंसा-प्रचारकी रोक-थामके लिए ही सेंसरशिपका अवलम्बन लेते है, किन्तु फासिज्म तो प्रत्येक प्रकारके प्रकाशन और प्रदर्शनको सेंसर करनेमें विश्वास करता है। —ह० ना०

सेवा–दुःखनिवृत्तिके लिए योग, यज्ञ, ध्यान, सेवा, सत्संग और ज्ञान आवश्यक माने गये हैं। भक्तिमार्गमें सेवाका महत्त्व असन्दिग्ध है। वल्लभ-सम्प्रदायमें श्रीकृष्णकी सेवा-पद्धतिका सुचिन्त्य और व्यवस्थित विधान है (देखिये श्रीविद्याभवन काँकरोलीसे प्रकाशित 'श्रीद्वारकाधीशकी सेवा-शृंगार-प्रणाली' तथा 'गृहकीर्तन-प्रणालीका सिद्धान्त')। पुष्टिमार्गीय सेवामें कर्मकाण्डकी नहीं, भावनाकी प्रधानता होती है। वल्लभाचार्यके पश्चात् पुष्टिसेवामें भी कर्मकाण्डका प्रवेश होता है। सेवाकी तीन दिशाएँ है—(क) गुरु-सेवा, (ख) सन्त-सेवा, (ग) प्रभु-सेवा।

(क) **गुरु-सेवा**—गुरु-सेवाकी महत्ता उपनिषत्कालमें स्पष्ट रूपसे दृष्टिगोचर होती है। 'श्वेताश्वतरोपनिषद्'का प्रसिद्ध अन्तिम श्लोक है—"यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ"। सिद्ध और नाथपन्थियों तथा निर्गुण और सगुणमार्गी सन्त अथवा भक्तोंकी वाणियोंमे भी गुरुस्तुतिका विधान है, यथा—(१) "गुरु गोविन्द दोनों खड़े, काके लागूँ पाँय। बलिहारी गुरु आपणे जिन गोविन्द दियो बताय" (कबीर)। (२) "अपनपौ आपुन ही में पायौ, शब्दहिं शब्द भयौ उजियारौ सद्गुरु भेद बतायौ" (सू० सा०)। (३) "सैयद असरफ पीर पिआरा। तिन्ह मोहिं पन्थ दीन्ह उजियारा॥ लेसा हिएँ पेम कर दिया। उठी जोतिमा निरमल हिया॥ मारग हुत अँधियार असूझा। भा अँजोर सब जाना बूझा" (जायसी : पद्मावत, स्तुति-

खण्ड, १८)।

(ख) **सन्त-सेवा**—'सन्त'का माहात्म्य पुराणों (दे० गरुड़ पुराण : उत्तरखण्ड' द्वितीयांश धर्मकाण्ड, ४९-५७) और प्रत्येक मतके परमार्थ-साधकोंने स्वीकार किया है। 'सूर'के सन्त-महिमावाले पदोंमें—"जा दिन सन्त पाहुने आवत। तीरथ कोटि सनान करे फल तैसो दरसन पावत" अधिक प्रसिद्ध है (सू० सा०)।

(ग) **प्रभु-सेवा**—प्रभु-सेवाका आशय कृष्णकी स्वरूप-सेवासे है। स्वरूप-सेवा (१) भावात्मक और (२) क्रियात्मक होती है। प्रथम मानसी और दूसरी क्रियात्मक है। क्रियात्मक सेवाके दो प्रकार हैं—एक **तनुजा** कहलाती है और दूसरी **वित्तजा**। जो सेवा शरीरसे सम्पन्न होती है, उसे तनुजा और जो धनसे उसे वित्तजा। तन और वित्त-सामर्थ्यको भगवान् श्रीकृष्णकी सेवामें अर्पित करनेसे साधक-के अहम् और मोहका नाश हो जाता है। इन दोनोंके नष्ट हो जानेके उपरान्त ही भावात्मक अथवा **मनजा** सेवा द्वारा भक्त भगवान्‌के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकता है।

(अ) **तनुजा सेवा**—शरीरसे की जानेवाली सेवा तनुजा सेवा कहलाती है। पुष्टिमार्गीय भक्तिके समर्पण-मन्त्रमें तन, वित्त, गृह आदि सभी समर्पित करनेका विधान है (दे० वल्लभाचार्य-कृत 'सिद्धान्तमुक्तावली', जिसमें तनुजा और वित्तजा सेवाका वर्णन है)। सूर, तुलसी आदि भक्त कवियों-में तनुजा सेवाके उद्गार मिलते हैं, यथा—"सब तजि तुव सरणागत आयो। निज कर चरण गहेरे" (सू० सा०)। (आ) **वित्तजा सेवा**—धनसे की जानेवाली सेवा वित्तजा सेवा कहलाती है। (इ) **मानसी सेवा**—मनसे की जाने-वाली सेवा मानसी सेवा कहलाती है। यह दो प्रकारकी मानी गयी है—(१) मर्यादा सेवा और (२) पुष्टि सेवा। (१) **मर्यादा-सेवा**—इसमें ज्ञान तथा भजन-पूजन, श्रवणादि साधनों द्वारा सायुज्य मुक्तिकी कामना की जाती है। मर्यादामार्गीय साधक ज्ञान द्वारा पहले आत्मज्ञानकी प्राप्ति करता है, तदुपरान्त श्रीकृष्णकी सेवा और आराधना-में अपने अहंकार और ममत्व आदिको नष्ट करता है। मर्यादामार्गको अक्षर-ब्रह्म वाणीसे उद्भूत वैदिक मार्ग कहा गया है। विष्णु-स्वामी-सम्प्रदायमें आत्मनिवेदनात्मक भक्तिमें मर्यादामार्गीय भक्ति सन्निहित है। (२) **पुष्टि-सेवा**—पुष्टिका अर्थ 'श्रीमद्भागवत' (२ : १० : ४)के अनु-सार (भगवान्‌का अनुग्रह) 'पोषणं तदनुग्रहः' है। यह साधननिरपेक्ष भक्ति है (दे० 'पुष्टि')। —वि० मो० श०

सेहरा—यों तो 'सेहरा' सोने-चाँदीके तारों या फूलोंकी बनी हुई वह झालर है, जो ब्याह-शादीके मौकेपर दूल्हा-दुल्हनके मुखपर सजायी जाती है, परन्तु उर्दू काव्यमें 'सेहरा' उस कविताको कहते हैं, जो विवाहकी बधाईमें लिखी जाय। ज्यादातर सेहरे तो गजलके रूपमें ही लिखे जाते हैं और बहुतेरे सेहरोंमें **रदीफ** भी 'सेहरा' ही रखनेका रवाज है। —म०

सैटायर—दे० 'व्यंग्यगीति'।

सोटा—हाथ-डेढ़ हाथ लम्बा आबनूसका बना काला डण्डा, जिसको घुमाकर योगी झाड़-फूँक करते हैं। चमत्कार प्रद-र्शनके लिए भी वे इसे घुमाते हैं। पद्मावतमें जायसीने योगी और योगिनीके वेशका कई स्थलोंपर वर्णन किया है (वासु-देवशरण अग्रवाल : पद्मावत, १२६, ६०१, ६०३, ६०६) और सर्वत्र 'डंड'का उल्लेख किया है। दोहा सं० १२६में योगी वेशधारी रत्नसेनका उल्लेख है और ६०१, ६०३ और ६०६में योगिनीका। योगिनीके वेशमें भी जायसीने बिना चूक 'डंड'का उल्लेख किया है। डॉ० अग्रवालने ६०३ में आनेवाले 'डंड'को देशी शब्द 'डण्डय' (=गली, मुहल्ला, देशी नाममाला ४, ८)से जोड़कर "को मोहिं लै पिउ के डँड लावै"का अर्थ किया है "कौन मुझे लेकर पीके मुहल्लेमें जायगा"। जायसीने स्पष्टतः यहाँ श्लेषका सहारा लिया है, पर योगिनीके वेशका अनिवार्य उपकरण 'डंड' यहाँ अपने दूसरे अर्थमें दण्ड, अर्थात् वह डण्डा या लकड़ीका स्तम्भ, जो किसी लता आदि को चढ़नेके लिए गाड़ा जाता है का, संकेत देता है—"कौन मुझे प्रिय जैसे डण्डका आधार दिलानेकी बात करेगा"। 'सुधाकर चन्द्रिका' (पृ० २४०)में कहा गया है कि इस सोटेको कुछ योगी भैरवनाथका सोटा कहते हैं, कुछ गोरखनाथ का। —रा० सिं०

सोंठ—छठी (जन्मोत्सव)का गीत। इसमें जच्चाको सोंठ पिलाने-का उल्लेख रहता है। —र० भ्र०

सोमरस १—दे० 'अमरवारुणी'।

सोमरस २—प्राचीन कालमें प्रसिद्ध, एक लताका रस, जिसे प्राचीन वैदिक ऋषि पान करते थे—अमीरस। तालुमूलमें स्थित चन्द्रसे झरनेवाला सोम (रस), जिसका पान योगी अपनी जिह्वाको उलटकर तालुमूलविवरमें प्रवेश कराके करता है (दे० 'हठयोगी', 'अमीरस')। —उ० शं० शा०

सोमराजी—वर्णिक समवृत्तका एक भेद; इस वृत्तके प्रत्येक चरणमें दो यगण होते हैं (ISS, ISS)। केशवने इस छन्द-का प्रयोग किया है। यह छन्द भुजंगप्रयातका आधा है। उदा०—"गुनी एक रूपी, सुनी वेद गावैं। महादेव जाको सदा चित्त लावै" (रा० चं०, १ : १४)। —पु० शु०

सोरठा—मात्रिक अर्द्धसम छन्द। 'प्राकृतपैंगलम्'में सोरठा अप० सोरट्ठा—एवं सौराष्ट्रम्को दोहेका विपरीत कहा है (१ : १७०)। इसके विषम पादोंमें ११-११ और समपादोंमें १३-१३ मात्राएँ होती हैं। दोहेके समान इसके भी भेद हो सकते हैं। सोरठा काफी लोकप्रिय छन्द रहा है। प्रायः सभी प्रसिद्ध कवियोंने दोहेके साथ इसका प्रयोग किया है। कथात्मक प्रबन्धोंमें सोरठेके द्वारा कथाके नवीन सूत्रोंकी स्थापनामें सुगमता होती है। तुलसीने 'रामचरितमानस'में सुन्दर प्रयोग किया है—"जेहि सुमिरत सिधि होइ, गण-नायक करिवर बदन"। —रा० सिं० तो०

सोहंग—दे० 'सोहम्'।

सोहनी—आषाढ़में खेतमें बोये गये बीज जब अच्छी तरह-से जम जाते हैं, तब उन खेतोंमें उगी हुई घास तथा व्यर्थ-के पौधोंको 'खुरपी'से काटकर फेंक दिया जाता है। इस कार्यको 'सोहना' कहते हैं। अतः इस समय जो गीत गाये जाते हैं, वे 'सोहनी'के नामसे प्रसिद्ध हैं। खेतमें जमे हुए घास-पातके काटनेकी प्रक्रियाको 'निराना' भी कहा जाता है। गोस्वामी तुलसीदासजीने "कृषी निरावहिं चतुर किसाना" लिखकर इसी कार्यकी ओर संकेत किया है। अतः ये लोकगीत 'निरवाही' भी कहे जाते हैं।

सोहनीके गीतोंकी यह विशेषता है कि प्रायः वे किसी कथाको लेकर लिखे गये हैं। अतएव इन्हें 'लोकगाथा'की श्रेणीमें रखा जा सकता है। इन गीतोंमें कहीं तो मुगलोंके अत्याचारका वर्णन है, तो कहीं उनसे युद्ध कर किसी वीर पुरुषके द्वारा किसी अबलाके उद्धार करनेका उल्लेख पाया जाता है। कहीं सास और बहूका शाश्वतिक विरोध दिखलाई पड़ता है, तो कहीं पतिके द्वारा पत्नीके आचरणपर अविश्वास। किसी-किसी गीतमें सौतिया डाहकी भी झाँकी देखनेको मिलती है।

चन्दादेवी, कुसुमादेवी और भगवतीदेवीके अमर गीत सोहनीके गीतोंके अन्तर्गत हैं। इन देवियोंने अपने अलौकिक शौर्य द्वारा मुगल दुराचारियोंके हाथोंसे अपने सतीत्वकी किस प्रकार रक्षा की, यह कथा इन गीतोंमें अंकित है। सोहनीकी लय बड़ी मधुर तथा चित्ताकर्षक होती है। —कृ० दे० उ०

सोहम्–'वही मैं हूँ' अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ'। वेदान्तका सिद्धान्त है कि जीव और ब्रह्म एक ही है, दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है। जीव और कुछ नहीं है। इसी सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेके लिए वेदान्ती लोग कहा करते हैं 'सोहम्', अर्थात् मैं वही ब्रह्म हूँ। उपनिषदोंमें भी यह बात 'अहं ब्रह्मास्मि' और 'तत्त्वमसि'के रूपमें कही गयी है। हठयोगियोंके अनुसार दाहिने श्वासको ओहम् और बायें श्वाँसको सोहम् संज्ञा प्राप्त है। "ओहं सोहं तनु बिचारा। बंकनालमें किया पसारा" (ग्रा० गू०)। —उ० शं० शा०

सोहर–लोक जीवनमें जन्मोत्सवके गीतोंको 'सोहर'की संज्ञा दी गयी है। किसी स्त्रीके गर्भवती होनेपर अथवा शिशुके जन्मके उपरान्त विशेष रूपसे 'छठी' तथा 'बरही'के दिन 'सोहर' नामक गीत सोल्लास गाये जाते हैं। 'सोहर' गानेकी प्रथा मांगलिक है और प्रायः सभी हिन्दी भाषाभाषी प्रदेशोंमें इसका प्रचलन है। यह गीत उपनयन और विवाह संस्कारोंमें भी गाया जाता है और स्थान भेदके अनुसार इसकी कई पद्धतियां हैं। 'सोहर'की शाब्दिक व्युत्पत्ति संस्कृतके सूतिकागृह और प्राकृतके सुइहरसे बतायी जाती है। इस प्रकारके गीतोंमें इसका यह नाम व्यवहृत होता है—"होत भोर पौ फाटे होरिला जनम लिहें हो, रामा बाजै लागीं आनँद बधइया उठन लागे सोहर हो"। 'सोहर'को 'सोहलो' या 'सोहिला' भी कहते हैं—सं० शोभावत्—प्रा० सोहल+क, हिं० सोहला। मलिक मुहम्मद जायसीके 'पद्मावत'में इस शब्दका व्यवहार हुआ है—"सब कविलास होइ सोहिला"। 'सोहर' वस्तुतः एक मंगल गीत है और इसे 'मंगल' भी कहा जाता है—"जो यह मंगल गावइ, गाइ सुनावइ हो, रामा सो बैकुण्ठे जाइ सुनैया फल पावइ हो"। 'रामचरितमानस'में 'मंगल'का उल्लेख मिलता है—"गावहिं मंगल मंजुल बानी"। मध्ययुगीन हिन्दी साहित्यमें 'सोहर'के लोकप्रचलित काव्यरूप तथा सोहर-छन्दका उपयोग पर्याप्त मात्रामें किया गया है। इस दृष्टिसे कबीरदासकी 'अगाध मंगल' तथा तुलसीदासकी 'जानकी मंगल', 'पार्वती मंगल' एवं 'रामललानहछू' नामक काव्यकृतियाँ उल्लेखनीय हैं। लोकप्रचलित 'सोहर' गीतोंका संग्रह पं० रामनरेश त्रिपाठीने 'कविता-कौमुदी' तथा 'ग्राम-गीत'में किया है। ए० जी० शिरेफ द्वारा सम्पादित 'हिन्दी फोक सांग्स'में संकलित एक प्रसिद्ध सोहर गीतकी आरम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—"छापक पेड़ छिउलिया तौ पतवन गहबर, अरे रामा तिहितर ठाढ़ी हरिनिया त मन अति अनमन हो"। —र० भ०

सौंदर्य-चेतना–सुन्दर वस्तुके सर्जन अथवा आस्वादनके समय कलाकार और रसिककी आत्माकी विशेष अवस्थाको सौन्दर्य-चेतना (aesthetic consciousness) कहा जाता है अथवा सौन्दर्यकी अनुभूतिका नाम सौन्दर्य-चेतना है। इस चेतनाके विशेष लक्षण हैं—(१) आनन्द अथवा रसका अनुभव, जिसमें चमत्कार विद्यमान रहता है। (२) इसका आधार एक ओर सुन्दर वस्तु होती है, जिसमें गति, सन्तुलन, विन्यास आदि गुण रहते हैं, दूसरी ओर प्रेक्षककी 'सहृदयता', जिससे वह अन्तर्भावनाके बलसे सुन्दरको आत्मसात् करता है। (३) सुन्दर वस्तुके अनुभवके साथ ही इसमें आत्म-लय अथवा आत्मानुभूति भी विद्यमान रहती है। (४) इसमें 'सौन्दर्य-चिन्तन' विद्यमान रहता है; 'वस्तु'से 'आत्मा'की ओर केन्द्रमुखी गति (सेण्ट्रीपेटल) तथा आत्मामें वस्तुकी ओर केन्द्रोन्मुखी गति (सेण्ट्रीफ्यूगल) रहती है। इस गतिके कारण यह समाधि-चेतनासे भिन्न होती है। (५) इस अवस्थामें मन रस-प्रवण अथवा केवल रसयिताके रूपमें रहता है, इसमें क्रिया और संकल्पका निरोध रहता है। मन केवल 'रस-चर्वण' करता है। (६) संकल्पात्मक वृत्तियोंके निरोधसे समाधि जैसा सुख अनुभव होता है, यद्यपि समाधि नहीं होती। —ह० ला० श०

सौंदर्यमूलक समाज-दर्शन–कला-रूपोंके तारतम्य एवं उत्कर्षापकर्षके आधारपर समाजके अध्ययनकी प्रणालीका नाम है सौन्दर्यमूलक समाज-दर्शन। इस परम्पराके विचारकोंने एक नये सौन्दर्यवादी इतिहास-दर्शनकी उद्भावना कर डाली है, जो तत्त्वतः सांस्कृतिक चक्रवाद (दे०)की ही एक शाखा प्रतीत होती है। इस परम्पराके अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण व्याख्याकार लिजेटीके अनुसार संस्कृतिकी बाल्यावस्थामें स्थापत्य-कला, परिपक्वावस्थामें मूर्तिकला एवं जीर्णावस्थामें चित्रकलाका साम्राज्य होता है। अतएव यूरोपके मध्यकालमें स्थापत्य-कला, नवजागरण-कालमें मूर्तिकला तथा आधुनिक कालमें चित्रकलाका प्राधान्य देखनेको मिलता है। इसी प्रकार मिस्र जैसी प्राचीनतम संस्कृतियाँ स्थापत्यकलाप्रधान, यूनान और रोम जैसी परवर्ती संस्कृतियाँ मूर्तिकला-प्रधान तथा यूरोप जैसी आधुनिक संस्कृतियाँ चित्रकलाप्रधान हैं।

सौन्दर्यमूलक समाज-दर्शनके अनुसार कला एवं संस्कृतिके अन्य पक्षोंके बीच अन्योन्यसम्बन्ध है। कला संस्कृतिका बैरोमीटर (वायुभारमापक यन्त्र) है। लिजेटीके अनुसार स्थापत्यकलात्मक अवस्थामें संस्कृतिमें एक प्रकारकी ताजगी, सामूहिकताकी ओर झुकाव, कर्मठता, आदर्शवादिता, श्रद्धावादिता, धार्मिकता, कृषि, हस्तकला, आध्यात्मिकता जैसे गुणोंका प्राधान्य होता है, जब कि चित्रकलात्मक अवस्थामें पतनोन्मुखता, स्त्रैणता, व्यक्तिवादिता, इन्द्रिय-परायणता, भोगवादिता, उपयोगवादिता, बुद्धिवादिता,

वैज्ञानिकता, वाणिज्य, मशीन एवं भौतिकताका साम्राज्य होता है। मूर्तिकलात्मक अवस्थामें इन द्विविध प्रवृत्तियोंका समन्वय देखनेको मिलता है।

हीगेलके कलासिद्धान्तमें भी सौन्दर्यमूलक समाज-दर्शनका एक रूप दिखाई पड़ता है। उसके अनुसार कलाका विकास महाप्रत्यय अथवा विश्वात्माकी अभिव्यक्तिका प्रकारविशेष है। इस अभिव्यक्तिप्रक्रियाके तीन सोपान है—प्रतीकात्मक, क्लासिकी और रोमानी। प्रतीकात्मक अवस्थामे प्रत्यय अथवा चित्, जाड्यसे अभिभूत होता है और उसे पूरा-पूरा इन्द्रियगोचर होनेका कोई मार्ग नहीं सूझता। क्लासिकी अवस्थामें प्रत्यय और जाड्यमें एक प्रकारका सन्तुलन होता है, किसी एकका दूसरेपर आधिपत्य नही होता और रोमानी अवस्थामे जाड्यपर प्रत्यय पूर्ण विजयी हो जाता है। प्रतीकात्मक सोपानका प्रतिनिधित्व करती है स्थापत्य-कला, क्लासिकीका मूर्तिकला और रोमानीका चित्रकला, संगीत और काव्य। पौरस्त्य कला प्रतीकात्मक है, यूनान और रोमकी क्लासिकी और केवल आधुनिक यूरोपकी कला रोमानी सोपानपर है।

विक्टर ह्यूगो अपने ग्रन्थ 'क्रामवेल'के आमुखमें कहता है कि प्रत्येक जातिका साहित्य तीन क्रमिक अवस्थाओं—प्रगीतात्मक, वीरगाथात्मक और नाटकीय—से गुजरता है और प्रत्येक अवस्था एक नियत युगके अनुरूप होनी है।

पितरिम ए० सोरोकिनके इतिहास-दर्शनमें सौन्दर्यवादी समाज-दर्शनको एक महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। उसके अनुसार तीन प्रकारके महासंस्थान (दे०)—प्रत्यक्षवाद, परोक्षवाद और अध्यात्मवाद—और तदनुसारी तीन प्रकारकी कलाएँ, व्यक्तित्व और संस्कृतियाँ होती है। कलागत परिवर्तन सदा सांस्कृतिक परिवर्तनके अनुगामी होते है। प्रत्येक प्रकारकी कलाका उद्भव, विकास, परिपाक एवं पतन उसकी आधारभूत संस्कृति एवं व्यक्तित्वके उद्भव, विकास, परिपाक एवं पतनका अनुसरण करता है। —ह० ना०

सौंदर्यानुभूति—सौन्दर्यकी अनुभूतिका सर्वाधिक विचार पाश्चात्य देशोंमें हुआ है। इसे अंग्रेजीमे 'ऐस्थेटिक एक्सपीरिएन्स' कहते है। सुन्दर क्या है, इस सम्बन्धमें विभिन्न मत है। कोई सम्मात्रा, सुव्यवस्था, विविधता, एकरूपता, औचित्य, जटिलता, संगति, प्रमाणबद्धता, व्यंजना, स्पष्टता, मसृणता कोमलता या वर्णप्रदीप्तिमेंसे किसीको सुन्दरताका कारण बताता है, कोई सुन्दरको वस्तुनिष्ठ और कोई व्यक्तिनिष्ठ मानता है, कोई उसे नैतिकता और मंगलसे सम्बन्धित मानता है तथा कोई उपयोगितामें ही सौन्दर्य मानता है इटलीके दार्शनिक बेनेदेतो क्रोचे अन्वीक्षामूलक सामान्यावलम्बी ज्ञानके विरुद्ध संकल्पात्मक अनुभूति या 'इण्ट्यूशन'को ही सौन्दर्यका मूल स्रोत मानकर, अभिव्यक्तिमात्रको पूर्ण एवं सुन्दर मानते है और विषयवस्तुको गौण या प्रायः महत्त्वहीन घोषित करते हैं। जेफ्रे, एलीसन तथा बेनने साहचर्य एवं प्रयोगमें ही सौन्दर्यकी प्रतिष्ठा स्वीकार की है। प्लेटो, प्लाटीनस, टॉलस्टाय, रस्किन, बर्क, शेफ्ट्सबरी, श्लेगेल तथा काण्ट ईश्वरीय मंगलकर्ता, नैतिक तथा विशुद्धिकारक शक्ति या वस्तुमे ही सौन्दर्य मानते हैं और उसे अलौकिक स्वीकार करते है। इस सौन्दर्यकी आनन्दमय अनुभूतिको ही सौन्दर्यानुभूति कहते है। इसका सम्बन्ध विशेषतः कलासे माना गया था, किन्तु यूरोपियनोंने काव्यको भी कला मानकर उसमें भी रसानुभूतिके स्थानपर सौन्दर्यानुभूतिका विचार किया है। इसी आधारपर हीगेलने मूर्त अमूर्त उपकरणोंका सहारा लेकर काव्यको अमूर्त कला माना है और उसे अन्य कलाओंसे श्रेष्ठ घोषित किया है। 'प्रसाद'ने भारतीय दृष्टिसे यह बताते हुए कि रूप ग्रहण करनेकी शक्ति आँखोंमें है और गृहीत रूपकी धारणा हृदय ही कर सकता है, मूर्त-अमूर्तके भेदको व्यर्थ बताया है। उनका कथन है कि चाक्षुष-प्रत्यक्षसे इतर जो वायु और आन्तरिक्ष अमूर्त रूप हैं, उनका भी रूपानुभव हृदय ही करता है। अतः इस प्रकारका भेद निरर्थक है। यद्यपि पण्डितराज जगन्नाथने रससे रमणीयताका पार्थक्य स्थापित करते हुए बताया था कि ऐसे भी काव्य होते है, जहाँ रस तो नही होता, तथापि वे अच्छे लगते है। ऐसे स्थलपर रमणीयताको ही स्वीकार किया जा सकता है और इसके आधारपर काव्यका लक्षण "रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" होना चाहिये, जो "रसात्मकं वाक्यं काव्यम्" या इसी प्रकारके अन्य लक्षणोंसे अधिक व्यापक सिद्ध होगा। रमणीयतासे उनका तात्पर्य ऐसे चमत्कारसे है, जो काव्यपाठके समय हमारे हृदयमें विशेषोंके पुनः-पुनः अनुसन्धानकी भावना जगाता है। इसी भावको मानो "क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः" पंक्तिके द्वारा व्यक्त कर दिया गया है। सौन्दर्यकी अनुभूति बड़ी चमत्कारक होती है, जो आनन्ददायिनी होती है। आचार्य शुक्लने चमत्कारको तुच्छ मानकर रसकी पुनःप्रतिष्ठा तो की और क्रोचेके अभिव्यंजनावादको भारतीय वक्रोक्तिवादका विलायती उत्थान माना, किन्तु वस्तुके दर्शन करनेपर होनेवाली हमारी अन्तःसत्ताकी तदाकारपरिणतिको सौन्दर्यानुभूति मानकर (चि० म०, पृ० २२४-२२५) उसे भारतीय रसानुभूतिके ही समकक्ष मान लिया है। वस्तुतः क्रोचे आदिके मतमें गृहीता या सामाजिकका पक्ष छूट गया है, अतः सुन्दरके द्वारा रसानुभूतिकी बराबरी नही की जा सकती। भारतीय पक्षकी रमणीयताके अन्तर्गत ग्रहीताका भी विचार हुआ है और इस प्रकार वह सौन्दर्यवादसे पृथक् स्थिति रखता है। भारतीय पक्षके अनुसार सुन्दरका सम्बन्ध केवल कलासे माना जा सकता है, जो काव्यसे सर्वथा पृथक् मानी जाती है। सौन्दर्यानुभूतिमें हमें मुग्ध करनेकी शक्ति अवश्य है, परन्तु उसका हृदयपर स्थायी प्रभाव नही पड़ता। —आ० प्र० दी०

सौंदर्यानुभूतिसूचक आलोचना-प्रणाली– अंग्रेजी–ऐस्थेटिक; हिन्दी–सौष्ठववादी, स्वच्छन्दतावादी।

ईसाकी चौथी शताब्दी पूर्वसे ही यूनानमें इसकी नींव पड़ी, किन्तु १८वीं शताब्दीमें जर्मन तत्त्ववेत्ता अलेक्जेण्डर बामगार्टनने इसका पहली बार साहित्य या कलाके सम्बन्धमें स्पष्ट नामोल्लेख किया। इसके अन्तर्गत कल्पना तथा काव्य एवं कलागत अनुभूतिमय सौन्दर्यका विचार किया जाता है। अभिव्यंजनावाद, कला कलाके लिए तथा प्रभाववाद, इन तीनों सिद्धान्तोंका इसमें सम्मिश्रण हो गया

है। शास्त्रीय तत्त्वोंके चिन्तनकी अपेक्षा पाठकके हृदयको प्रभावित करनेवाले तत्त्वोंका चिन्तन, सूक्ष्म अन्तर्निहित सौन्दर्य और सौष्ठवको आँकनेका प्रयत्न करना और काव्यके आभ्यन्तर तत्त्वका अनुभूतिमय चित्र उपस्थित करना ही इस आलोचना-प्रणालीका उद्देश्य होता है। ऐसा करके यह आलोचक कवि-हृदयके समीप पहुँचता है, क्योंकि काव्य-कृतिमें कविके भाव, मनोवेग, विचार और कल्पना ही अभिव्यक्त होती हैं। भारतीय सौष्ठववादी आलोचक जहाँ अनुभूतियोंकी व्यंजकता तथा रागात्मकता या भावोंकी गूढ़तापर ध्यान देता है, वहाँ उसके साथ शैलीकी लाक्षणिकता तथा प्रांजलतापर भी विचार करता है। अनुभूति तथा अभिव्यक्ति, दोनोंका समन्वय उसे प्रिय है। सौन्दर्यवादी आलोचक शिव तथा सत्यसे निरपेक्ष सुन्दर तथा आनन्दको ही काव्यका लक्ष्य मानते हैं, किन्तु भारतीय आलोचक उसे निरपेक्ष स्वीकार नहीं करता। ये आलोचक काव्यको कवि-हृदयका सहज उन्मेष मानकर कविमें केवल शक्तिको ही स्वीकार करते हुए अभ्यास और निपुणताको अनावश्यक मानते हैं।

हिन्दीमें इस प्रकारकी आलोचना छायावादी कवि तथा आलोचकोंके बीच मान्य हुई और 'प्रसाद', पन्त, 'निराला', इलाचन्द्र जोशी तथा नन्ददुलारे वाजपेयी इसके विशेष समर्थक रहे। बँगलामें रवीन्द्रनाथ ठाकुर इसे स्वीकार करके चले। —आ० प्र० दी०

स्कंध–वैभाषिकोंने धर्मोंका वर्गीकरण स्कन्ध, धातु और आयतनोंमें किया। स्कन्ध विभिन्न धर्मोंकी राशियाँ हैं। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान—ये पाँच स्कन्ध हैं। स्कन्ध वस्तु, इन्द्रिय और विज्ञान—इन तीनोंके सन्निपात रूप प्रत्ययसे उत्पन्न होते हैं। ये क्षणिक और नित्य परिवर्तनशील होते हैं। वैभाषिक बौद्ध इन पाँच स्कन्धोंसे व्यतिरिक्त किसी आत्मा या पुद्गलका अस्तित्व नहीं मानते। उनके मतमें स्कन्ध ही व्यक्तिके जीवन और उसके व्यक्तित्वकी व्याख्या करते हैं। ये स्कन्ध क्षणिक, अनित्य और जड़ होते हैं। विज्ञान भी विषयप्रतिविज्ञप्ति ही है, चेतना नहीं। इन जड़ स्कन्धोंका प्राणियोंके रूपमें और प्राणियोंका इन जड़ स्कन्धोंके रूपमें किस प्रकार परिपाक होता है, प्रतीत्यसमुत्पाद इसीका विश्लेषण करता है।

रूप सभी प्रकारके बाह्य विषयोंके अर्थमें प्रयुक्त होता है। सभी प्रकारकी कायिक या वाचिक विज्ञप्तियाँ जिसमें अविज्ञप्ति समुत्थापित होती है, रूप हैं (दे० 'धर्म')। दुःखादिके अनुभवका ही नाम वेदना है। सुख, दुःख और अदुःखासुख—यह त्रिविध अनुभव ही वेदना है। यह छः प्रकार की बतायी गयी है, जो चक्षु आदि पाँच इन्द्रियों और मनके साथ संस्पर्श होनेसे उत्पन्न होती है। नीलत्व, पीतत्व, दीर्घत्व आदि विविध स्वभावोंका ग्रहण ही संज्ञा है। विषयोंकी प्रतिविज्ञप्ति, अर्थात् सभी विषयोंका ज्ञान, प्रत्येक विषयकी उपलब्धि ही विज्ञान है। छः विज्ञानकाय ही विज्ञानस्कन्ध है। ये हैं—चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, रसना विज्ञान, स्पर्श विज्ञान, मनोविज्ञान। इन चारोंसे व्यतिरिक्त जो संस्कार या धर्म हैं, वे संस्कार-स्कन्धके अतिरिक्त परिगणित किये गये हैं। संक्षेपमें चैत्त और विप्रयुक्त धर्मोंका कलाप-संस्कार स्कन्ध है।

हिन्दी साहित्यमें सिद्धोंने स्कन्धोंका जगत्के मूल नियामक धर्मोंके रूपमें, धातु और आयतनके साथ उल्लेख किया है। किन्तु इनका विस्तार और सूक्ष्म विश्लेषण वहाँ अनपेक्षित होनेके कारण प्राप्त नहीं होता। सिद्धोंने स्कन्धोंके निरासको प्रमुखता दी और इस (स्कन्ध-निरास)से विपण्ण न होनेका उपदेश दिया। सरहके 'दोहाकोश'में एक स्थलपर पाँच स्कन्धोंके विशुद्ध स्वरूपका भी उल्लेख मिलता है।

[सहायक ग्रन्थ—धर्मानन्द कोसाम्बी : अभिधम्मत्थसंगह टीका; नरेन्द्र देव : बौद्ध धर्म दर्शन; करुणेश शुक्ल : शंकर और नागार्जुनका तुलनात्मक अध्ययन (अप्र० शो० प्र०)।] —क० शु०

स्केच–दे० 'रेखाचित्र'।

स्केप्टिसिज़्म–दे० 'संशयवाद'।

स्टालिनवाद–स्टालिन चिरन्तन क्रान्तिके पक्षमें नहीं था। उसका विचार था कि सोवियत संघको पहले सुदृढ़ बनाया जाय। इसीलिए वह इस निष्कर्षपर पहुँचा कि पूँजीवादी सभ्यता और साम्यवादी सभ्यता, दोनों साथ-साथ रह सकती हैं। पूँजीवादी सभ्यताका विनाश ऐतिहासिक शक्तियाँ स्वयं कर देंगी। इसी सिद्धान्तको स्टालिनवाद कहते हैं। —रा० कृ० त्रि०

स्तंभ–दे० 'सात्त्विक अनुभाव', पहला।

स्तुतिगीत–स्तोत्रका लोकगीतात्मक रूप स्तुतिगीत है। वैदिक साहित्य स्तुतिपरक है और प्रत्येक प्रधान देवताकी स्तुतियाँ हैं। स्तोत्रमें जहाँ आराध्यविशेषकी प्रशंसा और विरुदावलियाँ रहती हैं, वहाँ स्तुतिगीतमें इनके अतिरिक्त साधक-आराधककी दयनीयता, दैन्य और हीनताके प्रदर्शन द्वारा विशेष अनुकम्पाके लिए प्रार्थना रहती है। मध्यकालमें स्तोत्रका वह नव्य विकास सामाजिक-राजनीतिक कारणोंके द्वारा हुआ। विद्यापति-रचित 'नाचारी' शिवोपासनापरक गीतियोंका ही रूप है। सगुणमें इस प्रकारकी स्तुतियाँ विशेष रूपसे मिलती हैं। सूर और तुलसीकी रचनाओंमें ऐसे अनेक पद आये हैं। आधुनिक कालके प्रारम्भमें स्तुतिगीतने नवीन रूप धारण किया, क्योंकि कवियोंने भगवान्से देशोद्धारकी प्रार्थना प्रारम्भ की। श्रीधर पाठक और 'कविरत्न' सत्यनारायणने हिन्दी कविताको यह मोड़ दिया। **आराधनागीत** और स्तुतिगीतमें यह अन्तर है कि **आराधनागीत**में आराध्यके रूप, गुण और ऐश्वर्यका विस्तृत वर्णन रहता है, आत्मदैन्यका विवरण प्रायः नहीं होता। स्तुतिगीतमें प्रभुके रूप, गुण और ऐश्वर्यके साथ कृतित्व और कर्तृत्वका सविस्तर वर्णन आत्मदैन्य-कथन रहता है, इस प्रकार आराध्यको करुणा-द्रवित करनेकी चेष्टा रहती है। **अर्चनागीत** और **आराधनागीत**में भाव और विवरणका अन्तर होता है। **अर्चनागीत**में भाव-भक्तिमूलक आवेशका चित्रण अधिकाधिक होता है और **आराधनागीत**में आराध्यकी महिमाका विस्तार। अर्चना हृदयकी एकाग्रता सूचित करती है और आराधनागीत विशेष आराध्यकी आराधनाका हेतु उपस्थित करता है। **प्रार्थनागीत** सामान्य पारिभाषिक शब्द है, जिसमें इस कोटिके गीतोंका समावेश सम्भव है। इस कोटिके गीतोंमें सर्वाधिक

लोकप्रसिद्ध रूप है **भजन**। पद-शैलीमें रचित **भजन** गेय और आन्तरिकता व्यक्त करनेवाले होते हैं। आराध्यके प्रति अनन्य निष्ठा और पुनरुक्तिकी सीमातक पहुँचनेवाले भाव और रूप रहते हैं। प्रभातकालमें गाये जानेवाले विशेष पद **प्रभाती**की संज्ञा रखते हैं। **प्रभाती** जागरण-कालका गीत है; अतः इसमें आत्माके जागरण और उद्बोधनके सन्देश रहते हैं। इस कोटिमें उन गीतोंको भी सम्मिलित किया जायगा, जिनमें आराध्यके बाल-रूपको जगानेका उपक्रम रहता है। सूरदासका "जागिये ब्रजराज कुंवर पंछी बन बोले" इसी कोटिका गीत है। आत्मोद्बोधक गीतोंमें सन्तोंके गीत हैं। कबीरका "इहि तत राम जपहु रे प्राणी, बूझौ अकथ कहाणी; हरि कर भाव होइजा ऊपरि, जाग्रत सैनि विहाणी" द्रष्टव्य हैं। —रा० खे० पा०

स्तोत्र–यह 'स्तु' धातुसे बना शब्द है। स्तोत्रके लिए कहा गया है—"प्रतिगीतमन्त्रसाध्यं स्तोत्रम्"। किसी देवताका छन्दोबद्ध स्वरूपकथन या गुणकीर्तन अथवा स्तवन स्तोत्र कहलाता है। स्तोत्रके चार भेद हैं—द्रव्यस्तोत्र, कर्मस्तोत्र, विधिस्तोत्र और अभिजनस्तोत्र। ऋग्वेदमें स्तवनमूलक मन्त्र आये हैं और इसके भी स्पष्ट संकेत हैं कि समवेत रूपमें इन ऋचाओंका गान होता था। ऋग्वेद (१ अष्टक, १ मण्डल, २ अध्याय, २ अनुवाक्, ५ सूक्त)में लिखा है कि "हे स्तुतिकर्ता सखा लोग, शीघ्र आओ और बैठो तथा इन्द्रको लक्ष्य कर गाओ' (आत्वेता निषदितेन्द्रमभिप्रगायत। सखायः स्तोमवाहसः)। स्तोत्रको यहाँ स्तोम कहा गया है। सायणाचार्यने स्तोमका अर्थ साममन्त्र किया है, अतः इसके संगीतात्मक और गेय होनेमें किसी प्रकारकी शंका नहीं। प्रगीत ऋचाओंकी संज्ञा हुई स्तोत्र और इन स्तोत्रिया ऋचाओंके स्तवनकर्ता हुए 'उद्गाता'। 'बृहदारण्यकोपनिषद्'की टीकामें कहा गया है—"स्तोत्रिया नाम ऋक्साम समुदायः", अर्थात् ऋक्साम समुदायकी ऋचाओंका नाम स्तोत्रिया है। इसके तीन भेद होते हैं—पुरोनुवय, याज्या और शस्या। सामवेदके ऋत्विजोंमें उद्गाता (५ : १ : २९)का उल्लेख आया है और उसके सहायकको प्रतिहर्ता कहा गया है। प्रारम्भमें स्तवन, गुणकीर्तन, रूपकथन और प्रशंसात्मक वर्णनकी प्रधानता थी। उत्तरकालमें स्तुत्य देवताके विरोधियोंकी निन्दा द्वारा भी स्तुति की जाने लगी(अन्यनिन्दान्यस्तुतये)। संस्कृतमें स्तोत्र नामकी कई रचनाएँ अधिक प्रसिद्ध हैं—'शिवमहिम्नस्तोत्र', 'कालीसहस्रनामस्तोत्र', 'श्यामास्तोत्र', 'दुर्गादिनामस्तोत्र'। 'शिवमहिम्नस्तोत्र'के रचयिता पुष्पदन्ताचार्य हैं, जिनका समय दशवीं शताब्दीके पूर्व है। इस स्तोत्रकी प्रसिद्ध पंक्ति है—"असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे..."। शंकराचार्यका 'भजगोविन्दम्' सर्वाधिक प्रसिद्ध है। गुरुगोविन्द सिंहने 'दुर्गासप्तशती'के अनुवादमें दुर्गास्तोत्रका हिन्दी अनुवाद उपस्थित किया था। 'चण्डीकी वार' चण्डीस्तोत्रका स्वतन्त्र रूपान्तर है। इस पद्धतिपर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने सर्वोत्तम स्तोत्र, 'प्रातःस्मरणस्तोत्र', 'श्रीसीतावल्लभस्तोत्र'की रचना की थी। इस कोटिकी रचनाओंमें चौधरी बदरीनारायण उपाध्याय 'प्रेमघन'का 'युगलमंगलस्तोत्र' अधिक प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने स्तोत्रके एक नये रूपका प्रवर्तन किया और वह है 'व्यंग्यस्तोत्र', जिसमें परिहासमूलक अथवा व्यंग्यात्मक रचनाएँ हुईं। 'श्रीवेश्यास्तवराज', 'स्त्री-सेवापद्धति', 'मदिरास्तवराज', 'कंकरस्तोत्र' और 'अंगरेजस्तोत्र' शीर्षक रचनाएँ 'स्तोत्रपंचरत्न'के नामसे खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुरसे सन् १८८२ ई०में प्रकाशित हुई थी। 'अंगरेजस्तोत्र'के कुछ अंश हैं—"चुंगी और पुलिस तुम्हारी दोनों भुजा हैं, अमले तुम्हारे नख हैं। अन्धेर तुम्हारा पृष्ठ है और आमदनी तुम्हारा हृदय है, अतएव हे अंगरेज! हम तुमको प्रणाम करते हैं। खजाना तुम्हारा पेट है, लालच तुम्हारी क्षुधा है, सेना तुम्हारा चरण है, खिताब तुम्हारा प्रसाद है, अतएव हे विराट रूप अंगरेज, हम तुमको प्रणाम करते हैं"। —रा० खे० पा०

स्थापक–जब पूर्वरंगमें मंगलाचरणादिका विधान कर लेनेपर मंचसे सूत्रधार लौट जाता है, तो उसीकी-सी वैष्णव वेश-भूषामें कोई दूसरा नट नाटकादि कथा-वस्तुके काव्यार्थकी स्थापना या सूचना करता है। यह नट काव्यार्थकी सूचना या स्थापना करनेके कारण ही स्थापक कहा जाता है। वह काव्यार्थकी यह स्थापना वस्तु-सूचना, बीज-सूचना, मुख-सूचना या पात्र-सूचनाके द्वारा करता है। 'उदात्तराघव'में वस्तु-सूचना, 'रत्नावली नाटिका'में बीज-सूचना, अभिज्ञान-शाकुन्तल'में पात्र-सूचना तथा एक अज्ञात नाटकमें मुख-सूचनाके प्रयोग प्राप्य है। इस भाँति स्थापककी स्थापना पात्र स्थापना (पात्र-सूचना) है।

स्थापकके लिए शास्त्रीय निर्देश है कि वह काव्यार्थके सूचक मधुर श्लोकोंसे प्रेक्षकोंको प्रसन्न करे और किसी ऋतुका वर्णन कर भारती वृत्तिका उपयोग करे। इसके अतिरिक्त मंचपर आनेके समयके लिए उसे आदेश है कि वह कथा-वस्तुके अनुरूप ही वेश-भूषा बनाकर प्रवेश करे। यदि वस्तु देवता सम्बन्धिनी है तो वह दिव्य रूपमें प्रवेश करे, यदि मर्त्य सम्बन्धिनी है तो वह नट मर्त्य रूपमें आये, यदि वह दिव्यादिव्य है तो वह दिव्य या मर्त्य किसी भी रूपमें आये। प्रवेशके उपरान्त रूपककी कथा-वस्तु, बीज, अर्थ-प्रकृति तथा प्रमुख पात्रकी सूचना भी दे।

प्राचीन कालके नाटकोंमें जहाँ स्थापक होता था, वहाँ सूत्रधार कुछ मंगलश्लोक तथा गीत गाकर ही प्रस्थान कर जाता था और नाटक, नाटकार्थ, नाटककारका परिचय स्थापक ही देता था। कालान्तरमें नाटकसे स्थापकका लोप हो गया और सूत्रधार ही उसका कार्य भी करने लगा। स्थापकका सम्बन्ध कठपुतलियोंको व्यवस्थित करने या सजानेवाले व्यक्तिसे भी माना गया है। —वि० रा०

स्थायी भाव–काव्यचित्रित शृंगारादि रसोंके मूलभूत कारण 'स्थायी भाव' हैं। 'अमरकोश'में मनके विकारको 'भाव' कहा गया है—'विकारो मानसो भावः'। संस्कृतके साहित्य-शास्त्रियोंने भावकी पृथक् स्वतन्त्र व्याख्या नहीं की है, अपितु रसव्यंजनाके सन्दर्भमें ही उसकी चर्चा हुई है। 'नाट्यशास्त्र'के सप्तम अध्यायमें कहा गया है कि 'भाव'का अर्थ 'व्याप्ति' होता है और भाव इसलिए 'भाव' कहलाते हैं कि वचन, अंगभंगी एवं 'सात्विकों' (स्तम्भ, स्वेद, रोमांच इत्यादि)के अभिनयके द्वारा वे काव्यार्थकी भावना कराते हैं,

अर्थात् कविके प्रतिपाद्य अभीष्टको सामाजिक (पाठक या श्रोता या नाटकके प्रेक्षक)के अन्तस्में व्याप्त कर देते हैं—"वागंगसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावाः"। यहाँ भरतने भावको 'कारण' अथवा 'साधन' माना है, अर्थात् कवि अपनी रचनाको सामाजिकके आस्वादनकी वस्तु तभी बना सकता है, जब वह भावगर्भित हो, भावकी अनुपस्थिति-में कवि एवं सामाजिकके बीच कोई मानसिक किंवा अन्तः-करणीय सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता। लेकिन, भाव स्वयं क्या वस्तु है, इसकी व्याख्या भरतने नहीं की है।

'रसतरंगिणी'में भानुदत्तने कुछ अधिक स्पष्ट ढंगसे भावकी परिभाषा दी है—"रसानुकूलो विकारो भावः। विकारोऽन्यथाभावः", अर्थात् रसके अनुकूल मनका विकार 'भाव' है तथा अज्ञायमान वस्तुका ज्ञायमान होना ही विकार है (रसतरंगिणीकी जीवनाथ-विरचित भाषा टीका, पृष्ठ ७)। अतएव, इस कथनके अनुसार जिस वस्तुका ज्ञान रसोन्मीलनमें समर्थ होगा, वह वस्तु भाव कहलायगी। यहाँ भी भावको वैसा मनोविकार माना गया है, जिसका चेतनामें स्फुरण होनेसे रसरूपमें आस्वादन हो सके। हिन्दीके आचार्य केशवदासने 'रसिकप्रिया'में भावका लक्षण यह बतलाया है कि जब मुख, नेत्र तथा वचनों द्वारा 'मनकी बात' प्रकट होती है, तब सुकविगण उसे 'भाव' कहते हैं। इस कथनमें भरतकी शब्दावलीका अनुकरण होते हुए भी एक अधिक स्पष्ट तथ्य व्यंजित किया गया है कि भाव 'मनकी बात' है तथा वचन, मुखके रंग और नयनभंगीके द्वारा उसकी अभिव्यक्ति होती है। भानुदत्तने अज्ञायमान होनेकी जो-जो बातें कही हैं, उसे केशवदासने अधिक स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष ढंगसे व्यक्त किया है।

भरत मुनिने 'नाट्यशास्त्र'में भावोंकी संख्या उनचास गिनायी है, जिनमें तैंतीस 'संचारी' या 'व्यभिचारी', आठ 'सात्त्विक' तथा शेष आठ 'स्थायी भाव' बताये गये हैं—"रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा। जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः" (६.१७)। भरतका कथन है कि ये भाव ही विभावों एवं अनुभावोंके संयोगसे काव्य अथवा नाटकमें रसका आविर्भाव करते हैं, क्योंकि इनमें 'सामान्यत्व'का गुण वर्तमान होता है—"एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते"। लेकिन इसी प्रसंगमें भरतने बताया है कि वास्तवमें स्थायी भाव ही रसके उपादान कारण हैं। वे कहते हैं कि जिस प्रकार अनेक परिजनों, परिचारकों द्वारा घिरे रहनेपर भी राजा ही राजा कहलाता है, उसी प्रकार विभावों, अनुभावों एवं संचारियों-से संयुक्त होनेपर भी, स्थायी भाव ही रसत्वको प्राप्त होते हैं। भरतने अन्य भावोंकी तुलनामें स्थायी भावोंकी श्रेष्ठता प्रतिपन्न की है। उनका कथन है कि जैसे सामान्य मनुष्योंमें 'नरेन्द्र' श्रेष्ठ है तथा शिष्योंसे 'गुरु' श्रेष्ठ है, वैसे ही स्थायी भाव अन्य भावोंकी अपेक्षा अधिक शक्ति एवं गुरुत्व रखते हैं। भरतके अनुसार स्थायी भाव ही उचित परिस्थितियोंमें रस रूपमें परिणत होते हैं। जब अतिशयतापूर्वक उनका उद्रेक सामाजिकके अन्तःकरणमें हो जाता है, जिसकी चर्वणामें वह निमग्न हो उठता है, तब स्थायी भाव रस कहलाने लगते हैं। मम्मटाचार्यने भी यही बात कही है—"विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः। व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः" (का० प्र०, ४ : २८)।

अन्य आचार्योंने भी स्थायी भावके श्रेष्ठत्व एवं व्यापकत्व-का व्याख्यान किया है। धनंजय कहते हैं—जो भाव विरोधी एवं अविरोधी भावोंसे विच्छिन्न नहीं होता, अपितु विपरीत भावोंको अपनेमें शीघ्र मिला लेता है, उसका नाम स्थायी है। उसकी स्थिति लवणाकरके समान है, जो प्राप्त सभी वस्तुओंको लवण बना देता है—"विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः। आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः" (द०रू०, ४ : ३४)। विश्वनाथ कहते हैं—अविरुद्ध या विरुद्ध भाव जिसे छिपा न सके, वह आस्वादका मूलभूत भाव स्थायी है—"अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः। आस्वादांकुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति सम्मतः" (सा० द०, ४ : १७४)। पण्डितराज जगन्नाथ-का कथन कुछ अधिक स्पष्टता लिये हुए स्थायी भावकी महिमा विज्ञप्त करता है—जिस भावका स्वरूप सजातीय एवं विजातीय भावोंसे तिरस्कृत न हो सके और जबतक रसका आस्वादन हो, तबतक जो वर्तमान रहे, वह स्थायी भाव कहलाता है—"सजातीयविजातीयैरतिरस्कृतमूर्तिमान्। यावद्रसं वर्तमानः स्थायिभाव उदाहृतः" (हिन्दी र० गं०, १ : पृ० ८६)। पण्डितराजने अपनी परिभाषामें स्थायी संज्ञाका यह आधार निर्दिष्ट किया है कि "काव्य अथवा नाटकके अनुशीलन अथवा प्रेक्षणकी अवधिमें सामाजिकका चित्त, अनेक अवान्तर प्रसंगोंके बीच भी उस मूलगत भावकी प्रतीतिमें ही चमत्कृत होता रहता है"। रामचन्द्र शुक्लने भी संस्कृतके आचार्यों द्वारा निरूपित स्थायी भावके इसी प्रकारके 'स्थायित्व'का सामान्यतया अनुमोदन किया है। (र० मी०, पृ० १७२)।

ऊपर स्थायी भावका जो वर्णन किया गया है, उससे उसकी त्रिविध विशेषताएँ लक्षित होती हैं—**(१) आस्वाद्यत्व**—स्थायी भावमें आस्वादनीयता अवश्य होनी चाहिये। भरतने रसको 'चर्व्यमाण', आस्वादित होनेके योग्य कहा है। रुद्रटका कथन है कि रसका मूल कारण 'रसन', अर्थात् आस्वादन ही है। इस आस्वादनमें सहृदय सामाजिक स्थायी भावोंका ही आस्वाद लेते और आनन्द प्राप्त करते हैं—"आस्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्च गच्छन्ति' (ना० शा०)। मम्मटने स्थायी भावके चर्वणकी अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिपन्न विलक्षणताका यों निर्देश किया है—'इसका आस्वाद प्रपानक रसकी तरह होता है। ऐसा जान पड़ता है कि मानो सामने ही प्रस्फुरित हो रहा है, हृदयके भीतर पैठा जा रहा है, शरीरके सभी भागोंमें सम्मिलित-सा हो रहा है। शेष सभी विषयोंको भुलाकर ब्रह्मज्ञानानन्द सदृश अनुपम सुखका अनुभव कराकर अलौकिक चमत्कार-का जनक होता है" (का० प्र०, ४)। प्रतापादित्ये 'काव्यविलास'में मम्मटके समान स्थायी भावके आस्वाद्यत्वका ही कथन किया है—"हृदै कन्धते उठत जहँ आनँद अंकुर जोय…थाई कहियत सोय" अथवा "माला मधि ज्यों सूत्र त्यों, विभावादिमें आनि। आदि अन्त रस माहिं थिर, थाई भाव बखानि" (र० र०)।

अतएव स्पष्ट है कि आचार्योंने स्थायी भावोंकी आस्वादनीयतापर विशेष बल दिया है। रति, हास, शोक इत्यादि, जिन्हें 'स्थायी'की संज्ञा प्राप्त हुई है, व्यावहारिक जीवनमे भी जब उनका अतिशयतापूर्ण उद्रेक होता है, तब वे मनुष्यको आत्मविभोर करते देखे जाते है। काव्यमे तो इनकी रसनीयता और भी प्रकट हो जाती है। मानव अन्तःकरणमे तरंगित होनेवाले असंख्य भावोंमेंसे उन्हींको 'स्थायी'की पदवी मिली है, जो मनुष्यकी चेतनामे इतनी सान्द्रताके साथ व्याप्त हो जाते है कि वह उनके प्रतीति-कालमें आत्म-विस्मृत-सा होता दिखाई देता है। इस आस्वाद्यत्वको 'रमनीयता' तथा 'अनुरंजकता' भी कहा गया है।

२. उत्कटत्व—स्थायी भावकी दूसरी प्रमुख विशेषता है उसका उत्कटत्व। इससे अभिप्राय है कि स्थायी भावको उत्कट, अर्थात् प्रवल एवं सशक्त होना चाहिये, क्योंकि तभी मनपर उसका गहरा प्रभाव पड़ सकता है। ऊपर जो विरोधी एवं अविरोधी, सजातीय एवं विजातीय भावोंसे उसके तिरोभूत अथवा तिरस्कृत न होनेका उल्लेख किया गया है, उसका अभिप्राय यही है कि स्थायी भाव सम्पूर्ण परिस्थितियोंमे अपने अस्तित्वकी रक्षा करनेमें समर्थ होता है तथा अन्य आनुषंगिक भावों अथवा तत्त्वोंकी प्रतीतिको दबाकर स्वयं प्रमाताको पूर्णतः अभिभावित कर लेता है। सजातीय भावोंसे विच्छिन्न न होनेका उदाहरण 'बृहत्कथा'में नरवाहनदत्तके मदनमंचुकाके प्रति अनुरागके चित्रणमें उपलब्ध होता है। यद्यपि उसमें अनेक नायिकाओंके प्रेमका भी वर्णन प्राप्त है, तथापि इन अवान्तर प्रेमप्रसंगोंके कारण मदनमंचुकाके प्रति नरवाहनदत्तके अनुरागका विच्छेद नहीं होने पाया है। इसी प्रकार विजातीय भावोंसे स्थायी भावके तिरस्कृत न होनेका उदाहरण 'मालतीमाधव'में प्राप्त है, जहाँ श्मशानांकमे बीभत्स रसके द्वारा मालती-विषयक अनुरागका तिरस्कार नहीं हुआ है। माधवका यह कथन द्रष्टव्य है—"मेरे अन्तःकरणमे पूर्व अनुभवके आधारपर जिस संस्कारका प्रादुर्भाव हुआ है, उसके निरन्तर जागरूक रखनेसे जिसका विस्तार हो गया है तथा अन्य प्रकारके प्रत्ययोंसे जिसका प्रवाह रोका नही जा सकता, प्रियतमाके स्मरणरूप उस प्रत्ययकी उत्पत्तिका विस्तार वृत्तिसारूप्यसे मेरे चैतन्यको मालतीमय बना रहा है"। वैसे ही, 'बुद्धचरित' तथा 'सौन्दरानन्द'में यद्यपि कई स्थानोंपर शृंगारके सरस चित्र है, तथापि पाठकोंको इसकी रंचमात्र भ्रान्ति नही होती कि कवि अश्वघोषके काव्यका लक्ष्य 'रतये' नहीं, 'व्युपशान्तये' है—"इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भा कृतिः" (सौन्दरानन्द, १८ : ६३)।

३. सर्वजन-सुलभत्व—स्थायी भावोंकी तीसरी महत्त्वमयी विशेषता है उनका सर्वजनसुलभ होना, भरतकी अभ्युक्ति कि 'सामान्यगुण'के कारण ही भाव रसोद्रेक कराते हैं, पहले उद्धृत की जा चुकी है। अभिनवगुप्तका कथन है कि कोई भी मनुष्य वासना-शून्य नहीं होता—"न ह्येतच्चित्तवृत्तिवासनाशून्यः कश्चित् प्राणी भवति"। कहनेका अभिप्राय है कि रति, हास इत्यादि भाव ऐसे है, जो संस्काररूपमे सभी मनुष्योंमें वर्तमान रहते है, अर्थात् वे सर्वजनसुलभ हैं। रामचन्द्र शुक्लने भी 'कविता क्या है' शीर्षक निबन्धमे 'लोकसामान्य-भावभूमि'पर बल दिया है। साधारणीकरणकी सम्पूर्ण कल्पना स्थायी भावोंकी सर्वजनीनतापर भी आधारित है। अरस्तू इत्यादि पाश्चात्य आचार्योंने भी काव्यमे सार्वलौकिकता तत्त्व (युनिवर्सलिटी)-को महत्त्व दिया है।

स्थायी भावोंकी उपर्युल्लिखित तीन विशेषताएँ ही ऐसी है, जो उनकी प्रकृतिसे निष्पन्न होती है, लेकिन काव्यमें चित्रित उनके स्वरूपकी उपादेयतापर विचार कर आचार्योंने उनमें अन्य दो गुण भी आरोपित कर दिये हैं। वे हैं पुरुषार्थोपयोगिता और उचितविषयनिष्ठत्व या औचित्य।

४. पुरुषार्थोपयोगिता—लगभग सभी आचार्योंने यह माना है कि काव्यका प्रयोजन धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षकी, जिन्हें चार पुरुषार्थ कहा गया है, उपलब्धि है। अतएव धार्मिक भावनामे प्रभावित होनेके कारण काव्यके उपजीव्य स्थायी भाव पुरुषार्थोंकी साधनामें उपयोगी समझे गये हैं। अभिनवगुप्तने भी स्थायियोंकी पुरुषार्थोपयोगिताका उल्लेख किया है—"स्थायिभाव एव तथा चर्वणापात्रमात्रपुरुषार्थनिष्ठाः काश्चित्संविद् इति"। यद्यपि व्यावहारिक अथवा मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे भी रति, क्रोध प्रभृति भावोंकी उपयोगिता उपपन्न की जा सकती है, तथापि काव्यकी रसवादी विवेचनामें यह अस्पृहणीय प्रतीत होता है।

५. उचितविषयनिष्ठत्व या औचित्य—काव्यमें भावोंकी स्थिति उचित विषय अथवा आलम्बनमे होनी चाहिये। यही स्थायी भावोंका औचित्य कहा गया है। वास्तवमें भावोंको तीव्र रूपमें आस्वाद्य बनानेके लिए उचित विषयका ग्रहण आवश्यक है—"स्थायिनस्तु रसीभावः औचित्यादुच्यते"। कुरूप स्त्रीको रूपवती-सी चित्रित करना अथवा किसी दुःशील व्यक्तिके प्रति करुणा अथवा सहानुभूति इत्यादिका संचार करना औचित्यका ह्रास अथवा हनन होगा। क्षेमेन्द्रने तो औचित्यको 'काव्यका स्थिर जीवन' ही बताया है। रसाभास एवं भावाभास औचित्यके तिरस्कारसे ही उत्पन्न होते हैं।

यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि स्थायी भावोमे उपर्युक्त गुणोंका एक साथ समाहार वांछनीय है, क्योंकि तभी वे काव्यमें चित्रित होकर सहृदयसंवेद्य हो सकते है। उदाहरणार्थ, 'लोभ' एक अत्यन्त उत्कट भाव है, लेकिन वह आस्वादनीय नही है, इसलिए उसे स्थायी भावोंमें सन्निविष्ट नहीं किया गया है। ऐसे ही संचारी भाव भी सर्वजनसुलभ है, क्योंकि वे भी मनुष्यमें वासनारूपसे स्थित है, किन्तु उनमे उत्कटत्व नहीं है, क्योंकि जैसा कि पण्डितराजने कहा है, वे काव्यादिकमे अन्ततक 'बार-बार' अभिव्यक्त नहीं होते, अतएव वे व्यभिचारी ही कहे गये है।

उपर्युक्त कसौटीपर कसकर आचार्योंने सर्वसम्मतिसे रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय तथा शम या निर्वेद, ये नौ स्थायी भाव स्वीकृत किये है। भरतने पहले निर्वेदको स्थायी भावोंमें सन्निविष्ट नही किया, क्योंकि वे आठ रसोंको ही नाट्योपयोगी मानते है, किन्तु इनके निरूपणके पश्चात् उन्होंने शान्त रसको भी स्वीकार किया है। बादमें भक्ति और वात्सल्य भी स्थायियोंमे गृहीत कर लिये गये हैं, क्योंकि वे भी आस्वाद्यता, उत्कटता इत्यादि

गुणोंमें अन्य भावोंसे पृथक्‌ नहीं है। इस प्रकार स्थायी भावोंकी संख्या ग्यारहतक पहुँच जाती है। इनमेंसे प्रत्येक एक-एक रसका स्थायी है। ये भाव अपने नियत रसमें ही स्थायीकी संज्ञा प्राप्त करते हैं, क्योंकि ये आद्योपान्त आस्वादित होते हैं। यदि अपने नियत रससे अन्यत्र इनमेंसे कोई भाव उत्पन्न होता है, तो वहाँ वह स्थायी न रहकर व्यभिचारी बन जाता है; इसे दृष्टिमें रखते हुए कन्हैयालाल पोद्दारका कथन है कि "वास्तविक स्थायी भावके उदाहरण तो रसकी परिपक्व अवस्थामें ही मिल सकते हैं, अन्यत्र नहीं" (र० मं०, पृ० २५२)।

आधुनिक मनोवैज्ञानिकोंने भावोंका गम्भीर विवेचन किया है। मैकडुगलने यह प्रतिपादित किया है कि मनुष्यकी सहज प्रवृत्तियों (instincts)का क्रियात्मक प्रकाश ही भाव है। उनके अनुसार प्रत्येक प्रधान प्रवृत्ति एक विशिष्ट प्रकारका भावात्मक चापल्य व्यंजित करती है। इस प्रकार मैकडुगलने मनुष्यकी सत्रह अन्तःप्रवृत्तियोंकी स्थापना कर उनके लिए सत्रह भाव निरूपित किये हैं। इन भावोंकी तालिकापर ध्यान देनेसे प्रतीत होता है कि रति, हास, क्रोध, भय, घृणा, औत्सुक्य, वात्सल्य, अहंकार, कार्पण्य एवं सहानुभूति तथा साहचर्य, ये दस भाव ही प्रवृत्तिप्रेरित भाव हैं। इनमेंसे प्रथम सात हमारे स्थायी भावोंसे मिल जाते हैं। अहंकार एवं उत्साहमें भी कोई विशेष अन्तर नहीं है। कार्पण्यको भी कुछ आचार्योंने स्थायी भाव माना है, किन्तु अधिकांश उसे केवल भाव ही मानते हैं। हमारे स्थायियोंमें केवल 'शोक' ही बच जाता है, जिसका उल्लेख मैकडुगलके प्रवृत्तिमूलक भावोंमें नहीं मिलता। कुछ मनःशास्त्री 'शोक'-को भी मूल भाव मानते हैं, लेकिन कार्पण्य एवं सहानुभूतिमें शोकके तत्त्व सन्निहित हैं। कुछ मनोवैज्ञानिकोंने भावोंको दो श्रेणियों–मौलिक (primary) एवं व्युत्पन्न (derivative)में विभाजित किया है, उनके अनुसार भी स्थायी भावोंमेंसे अनेक मौलिक भावोंके भीतर समाविष्ट हो जाते हैं। विस्मय, उत्साह एवं शोकको ये लोग मौलिक न मानकर उनपर आधारित अथवा उनसे विकसित व्युत्पन्न भाव मानते हैं। ऐसे ही कुछ मनःशास्त्री रतिको भी मूल भाव नहीं मानते। रामचन्द्र शुक्लने भी रतिका मूल उत्स 'राग' माना है। लेकिन मैकडुगलके अनुसार ये सभी भाव प्रवृत्तिमूलक मूलभूत भाव ही सिद्ध होते हैं। अभिनवगुप्तने स्थायी भावोंको 'वासना', 'संवित्', 'चित्तवृत्ति', इन तीन शब्दोंमें अभिहित किया है। मैकडुगल इत्यादि भावोंकी अन्तःप्रवृत्तिके, जो अभिनवकी वासना ही है, प्रस्फुटित स्वरूप मानते हैं, जब कि अभिनवने इस रूप-विकासकी व्याख्या नहीं की। अतएव प्रवृत्तिप्रेरित भावों तथा वासनामूलक स्थायी भावोंमें तत्त्वतः कोई अन्तर नहीं है। इस प्रकार स्थायी भावोंकी स्थिति वास्तवमें जीवनके उन तीव्र एवं व्यापक मनोविकारोंकी है, जो मानव-स्वभावके मूल अंग हैं तथा जिन्हें पाश्चात्य दर्शनमें साधारणतः मौलिक मनोवेग (elemental passions) कहा गया है। —र० सि०

स्थैर्य–दे० 'सात्त्विकगुण' (नायक)।

स्नेह–भक्तके मनमें सर्वप्रथम अपने भगवान्‌के प्रति स्नेह अंकुरित होता है। ऐसी अवस्थामें भगवान्‌के रूप, गुणादिके प्रति ललक जाग्रत् होती है। 'सूर'ने राधाके हृदयमें स्नेहके अंकुरित होनेकी कितनी मधुर व्यंजना की है—"बार बार तू ह्यॉं जनि आवै। मैं कहा करौं सुतहि नहि बरजति, घरतें मोहि बुलावै। मोसौं कहत तोहि बिनु देखे रहत न मेरो प्रान। छोह लगत मोकों सुनि बानी, महरि, तिहारी आन" (सू० सा०)। —वि० मो० श०

स्नेहचक्र–चूडाचक्र (दे०)की ही तरह स्नेहचक्रकी तांत्रिक साधना भी, धर्मकी आडमें, मुक्तकामोपभोगकी एक विधि है। इसमें सहधर्मिणीका चुनाव चोलीके आधारपर न होकर साधक-साधिकाकी पसन्दके अनुसार होता है। स्नेहचक्र नामकी यही सार्थकता है। —रा० दे० सिं०

स्पंद–कम्पन, गति। वसुगुप्तके 'शिवसूत्र'पर ही आधारित करके उनके शिष्य भट्टकल्लटने 'स्पन्दकारिका' और 'स्पन्दवृत्ति' लिखी। क्षेमराजने 'स्पन्दनिर्णय' तथा 'स्पन्दसन्दोह', रामकाण्डने 'विवृति' और उत्पलवैष्णवने 'प्रदीपिका'की रचना इसी स्पन्द-शास्त्रकी परम्परामें की। स्पन्दशास्त्र एक तरहसे शैवागमके नये मोडका सूचक है। इसमें दार्शनिक विश्लेषणका प्रयत्न उतना नहीं किया गया है, जितना कि भावनाको दर्शनके साथ जोडनेका। इसने पहली बार आनन्दको सत्यके धरातलसे ऊपर उठाकर स्पन्द या स्फुरना या लोकोत्तर चमत्कार या आत्मविमर्शके धरातलपर पहुँचाया।

स्पन्द शिवका प्रथम स्फुरण ही है। एक तरहसे शिव जब यह जानते हैं कि मैं ही शिव हूँ, तभी इनमें पहला स्पन्दन होता है और वह पहला स्पन्दन ही शिवतत्त्व बनता है। जब आनन्दका बोध होता है तो शक्तितत्त्वकी प्रधानता हो जाती है। सदाशिवमें इसी प्रकार इच्छाशक्तिकी, ईश्वरमें ज्ञानशक्तिकी और शुद्ध विद्यामें क्रियाशक्तिकी प्रधानता हो जाती है। शुद्ध विद्यासे लेकर शिवतत्त्वतक ऊर्ध्वगामी जीवका प्रयत्न वस्तुको आत्मरूपमें गृहीत करनेका होता है। वस्तुका पूर्ण रूपसे आत्मगत होना, विषयका विषयीमें तादात्म्य होना तथा विश्व और व्यक्तिमें समरसता होना ही स्पन्द है। —वि० नि० मि०

स्फोट १–(खुलना, विस्तार) नादका शाश्वत, अविभाज्य, सर्जनात्मक स्वरूप। विचारका वह वास्तविक माध्यम, जो चित्तमें किसी शब्दके उच्चरित होते ही अर्थके रूपमें उद्भासित होता है। इस शब्दका प्रयोग व्याकरणशास्त्रमें सबसे पहले पतंजलिने किया है और इसीको दार्शनिक स्तरपर भर्तृहरिने अपने 'वाक्यपदीय'में उपबृंहित किया है। गंगेश और उनके परवर्ती अप्पय दीक्षित, नागेश भट्ट, गदाधर आदिने शब्दशास्त्रकी दार्शनिक व्याख्यामें शब्दके स्फोट-सिद्धान्तका प्रतिपादन किया। इस सिद्धान्तके अनुसार शब्दोंका अर्थ, जो प्रकट होता है, वह न तो वर्णोंसे होता है और न इन वर्णोंसे बने हुए शब्दोंसे होता है, प्रत्युत इन वर्णोंसे बने हुए शब्दोंमें सन्निहित शक्तिके कारण अभिव्यक्त होता है। इस शक्तिको ही स्फोट संज्ञा दी गयी है। यह शक्ति शुद्ध मायाके प्रथम विवर्तित नादतत्त्वमें रहती है। इसके पीछे तर्क यह है कि यदि प्रत्येक वर्णमें व्यष्टिरूपमें अर्थ अभिव्यंजनाकी शक्ति रहती तो दूसरे वर्ण अपार्थ हो जाते। यह स्फोटसिद्धान्त वस्तुतः शब्द-ब्रह्मवादियोंकी देन

है और दर्शन मानकर चलता है कि नादमें ही जगत्का बीज है और यह जगत् अर्थरूपमें शब्दसे विवर्तमान होता है। इस सिद्धान्तका उपयोग साहित्यशास्त्रमें व्यंजनाकी स्थापनाके लिए ध्वनिवादियोंने किया है। इन्होंने काव्यमें ध्वनिको स्फोटसे एकाकार कर दिया है और इसीलिए अभिधा और लक्षणाके अलावा तीसरी शब्दशक्ति व्यंजनाकी आवश्यकतापर भी बल है। —वि० नि० मि०

स्फोट २–स्फोट अखण्ड सत्तात्मक ब्रह्मतत्त्वका वाचक है। वैयाकरणोंने उपाधिरहित शब्दतत्त्व, अर्थात् प्रणवको ही स्फोट कहा है। इस प्रकार स्फोट शब्द-ब्रह्म हुआ। हठयोगकी साधना पद्धतिमें बताया गया है कि कुण्डलिनी-शक्तिको उद्‌बुद्ध और ऊर्ध्वमुखी करके सहस्रारस्थित परमशिवसे संयुक्त करानेसे मुक्ति मिलती है। कहते हैं कुण्डलिनी जब उद्‌बुद्ध होकर परमशिवसे सामरस्यकी अभिलाषासे ऊपरकी ओर उठती है तो उससे एक स्फोट होता है। हठयोगी इसे नाद कहते हैं। —रा० सि०

स्मरण–सादृश्यगर्भ भेदाभेदप्रधान अलंकारोंका एक भेद। यह रुद्रटसे ही स्वीकृत रहा है। भोजने इसे स्मृति कहा है, अन्य प्रायः सभीने यही नाम दिया है। रुय्यकका लक्षण है—"सदृशानुभवाद्वस्त्वन्तरस्मृतिः स्मरणम्" (अ० स०, पृ० ३२), अर्थात् सादृश्यके अनुभवसे किसी वस्तुकी अन्तर-स्मृतिका जागना स्मरण अलंकार है। मम्मटके अनुसार किसी पूर्वानुभूत वस्तुकी, उसके समान किसी दूसरी वस्तुके अनुभवसे स्मृतिका उद्‌बुद्ध होना (का० प्र०, १० : १३२)। 'काव्यप्रकाश'की इस परिभाषापर रुद्रटकी छाप है और उनका लक्षण बहुत स्पष्ट है—"वस्तुविशेषको देखकर, जो उसके सादृश्यके कारण पूर्वानुभूत वस्तुकी आन्तरिक स्मृति जागती है, वही स्मरण है' (काव्या०, ८ : १०९)। विश्वनाथने लक्षण रुय्यकसे लिया है, केवल 'अन्तर' शब्दके न होनेसे भाव पूरा व्यक्त नहीं है। जगन्नाथने 'सादृश्यानुभव' शब्दके प्रयोगपर आपत्ति की है, क्योंकि इस प्रकार संस्कारजन्य-स्मृति इसके अन्तर्गत नहीं आ सकेगी। हम केवल अनुभवसे ही किसी वस्तुका स्मरण नहीं करते, वरन् किसी वस्तुकी स्मृतिसे भी समान वस्तुका स्मरण आता है। अतः उसके स्थानपर 'सदृशज्ञानात्' शब्दका प्रयोग होना चाहिये (र० गं०, २२१-२२)।

हिन्दीके आचार्योंमें जसवन्त सिंह, मतिराम तथा पद्माकर आदिने जयदेव तथा अप्पय दीक्षितके अनुसरणपर इसका लक्षण भ्रम-सन्देहके साथ दिया है और प्रायः शब्दार्थमें ही निहित माना है। भूषणने रुय्यक, विश्वनाथ आदिके समान—"सम सोभा लखि आनकी, सुधि आवत जेहि ठौर" (शि० भू०, ७४) कहा है। दासके लक्षणमें रुद्रट जैसी स्पष्टता है—"कछु लखि सुनि कछु सुधि किये, सो सुमरन सुख कन्द" (का० नि० : ९)। इसमें 'कछु सुधि किये' कहकर दासने जगन्नाथकी बातको भी स्वीकार किया है। उदा०—"कहा कहिये पिय बोलि पपिहरा बिथा तन देत जगाइ जगाइ" (वही) अथवा—"मैं पाता हूँ मधुर ध्वनिमें गूँजनेमें खगोंके। मीठी तानें परमप्रियकी मोहनी वंशिकाकी" (प्रि० प्र०)।

स्मित हास्य–दे० 'हास्य रस'।

स्मृति–प्रचलित तैंतीसमेंसे एक संचारी; भरतने दुःख अथवा सुखकी स्थितिके स्मरणको माना है, जो रोग, अनिद्रा, नतमुख होकर सोचने या देखने आदिसे सम्बद्ध है और जिसके अनुभाव नतमुख होना, नीचे देखना तथा भौंहे चढाना आदि है (ना० शा०, ७ : ५४ ग)। विश्वनाथके मतानुसार स्मृतिकी परिभाषा—"सदृशज्ञानचिन्ताद्यैर्भ्रूसमुन्नयनादिकृत्। स्मृतिः पूर्वानुभूतार्थविषयज्ञानमुच्यते" (सा०द०, ३ : १६२), अर्थात् सदृश वस्तुके अवलोकन तथा चिन्तन-आदिसे पूर्वानुभूत वस्तुके स्मरणको स्मृति कहते हैं। स्मृतिमें हम पहलेकी किसी ज्ञात वस्तुका ज्ञान फिरसे प्राप्त करते हैं। भौंह चढ़ाना आदि इसके अनुभाव हैं। हिन्दी रीतिकालके आचार्योंमें कुछने 'नाट्यशास्त्र'की परम्परामें लक्षण दिया है—"संस्कार सम्पति बिपति, अधिक प्रीति अति त्रास। प्रिय अप्रिय सुमिरन सुमृति, इकचित मौन उसाँस" (भाव० : संचारी०)। इसके विपरीत कुछने 'सुमिरन बीती बातको' (जगद्वि०, ५१०) कह दिया है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे विचार करते हुए मराठी रस-विमर्शकारने लिखा है—'प्रोफेसर वाटवेका कहना है कि स्मृति किसी भावनाका विभाव या कारण हो सकती है। स्मृति भूतकालीन प्रसंगका संस्कार है। हर्ष, क्रोध आदि भावनाएँ प्रसंगके स्मरणसे उद्दीप्त होती हैं। इस प्रकार भावोद्दीपनका कारण स्मृति है। स्मृति स्वतः भावना नहीं है। वह बुद्धिका व्यापार है। (र० वि०, पृ० १३०)।

रामचन्द्र शुक्लने इसे अन्तःकरणकी वृत्ति माना है और इसे बुद्धि, धारणा आदिका व्यापार कहा है, जो मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे उचित है। उन्होंने इसे बुद्धि, धारणा आदिका व्यापार कहकर यह प्रश्न उठाया है कि फिर इसका ग्रहण काव्यमें कैसे हुआ? इसका उत्तर देते हुए उन्होंने स्वयं ही कहा है—"काव्यमें इनका ग्रहण वहींतक समझना चाहिये, जहाँतक वे प्रत्यक्ष रूपमें भावोंके द्वारा प्रेरित प्रतीत होते हों"। उन्होंने स्मृतिके दो भेद माने हैं—विशुद्ध स्मृति और प्रत्यक्षाश्रित (मिश्रित), अर्थात् स्मृति या प्रत्यभिज्ञान। विशुद्ध स्मृति वह स्मृति है, जिसके कारण भूतकालकी प्रत्यक्ष की हुई वस्तुओंका, जो आज सामने नहीं हैं, स्मरण किया जाता है, जैसे, अतीत जीवनका स्मरण, बाल्यकालके मित्रकी याद। पर वही स्मृति संचारीकी कोटिमें आ सकती है, जिसका सम्बन्ध किसी स्थायी भावसे हो। स्थायी भावसे सम्बन्ध होनेपर ही स्मृति संचारी रसकोटितक पहुँच सकती है।

"प्रत्यभिज्ञानमें थोड़ा अंश प्रत्यक्ष होता है और बहुत-सा अंश उसीके सम्बन्धसे स्मरण द्वारा उपस्थित होता है। किसी व्यक्तिको हमने कहीं देखा और देखनेके साथ ही स्मरण किया कि यह वही है, जो अमुक स्थानपर बहुत-से लोगोंके साथ झगड़ा कर रहा था। वह व्यक्ति हमारे सामने प्रत्यक्ष है। उसके सहारेसे हमारे मनमें झगड़ेका वह सारा दृश्य उपस्थित हो गया, जिसका वह एक अंग था। 'यह वही है'—इन्हीं शब्दोंमें प्रत्यभिज्ञानकी व्यंजना होती है (र० मी०, पृ० २०९)।

प्रत्यभिज्ञानमें रस-संचारकी गहरी क्षमता है। अधिकतर काव्यमें प्रत्यभिज्ञान-जन्य स्मृतिकी ही अभिव्यक्ति मिलती

है, जहाँतक रीतिकालीन स्मरण अलंकारोंका सम्बन्ध है, स्मृति सञ्चारीका आविर्भाव सामान्यतः दो रूपोंमें दिखाई पड़ता है—एक तो आलम्बनकी प्रिय वस्तुओंको देखकर और दूसरे, उसके आश्रय, क्रीड़ा आदिके स्थलोंको देखकर। तुलसीकी 'गीतावली'में पहले प्रकारके कई स्थल मिल जायँगे। कौशल्या रामके धनुष-बाण और घोड़ोंको देखकर रामकी स्मृतिमें अत्यन्त विकल हो जाती हैं। रीतिकालीन काव्योंमें दूसरे प्रकारके स्मृति सञ्चारीका अधिक प्रयोग हुआ है, श्रीकृष्णके गोकुल छोड़ जानेपर जब गोपियाँ यमुनाके कछारों, वनलताओं, कुंजों आदिको देखती हैं, तब उनके मनमें सहसा यह बात उठती है कि ये कछार और लताकुंज वे ही हैं, जहाँ हम सब श्रीकृष्णके साथ विहार करती थीं— "सघन कुंज छाया सुखद, शीतल सुरभि समीर। मनु ह्वै जात अजौं वहै उहि जमुनाके तीर" (बि० र०, ६८१)। इसी प्रकारकी रसखान तथा आलम प्रेम-प्रेमियोंमें भाव-व्यंजना है—"जा थल कीन्हे बिहार अनेकन ता थल काँकरी बैठि चुन्यो करैं। नैननिमें जो सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करैं" (आलमकेलि)। —प्र० सिं०

स्मृति-दृश्य–दे० 'फ्लैशबैक'।

स्यंभदुआर कबीर आदि सन्तोंने स्यंभदुआर, सिंभुदुवार आदि शब्दरूपोंका व्यवहार योग-परक रूपकों या योग-साधनाके सन्दर्भ प्रसंगोंमें किया है। सुरति-निरतिका परिचय होनेपर सिंभुदुवारके खुल जानेकी चर्चा कबीरने की है—"सुरति समानी निरतिमें, निरति रही निरधार। सुरति निरति परचा भया तब खुलि गा सिंभ दुआर" (क० ग्रं० : नि०, पृ० १७० : २४)। सामान्य अर्थमें यह शब्द 'सिंहद्वार' रूपमें व्याख्यात हो सकता है। 'निगमपुर'-में प्रवेश करनेके लिए कोई-न-कोई द्वार होगा ही और जब वह रानीका शहर या अन्तःपुर है तो उसमें सिंहद्वार ही होगा। सहस्रारमें प्रवेश करनेके लिए ब्रह्मरन्ध्रका उद्घाटन आवश्यक माना जाता है, अतः स्यंभदुआरको ब्रह्मरन्ध्र रूपमें भी पहचाननेकी कोशिश की गयी है। डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदीने 'स्यंभ'में संस्कृतके 'स्वयंभू' शब्दकी ध्वनि सुनी है। स्वयंभू अर्थात् स्वयं उत्पन्न होनेवाला, अर्थात् अकृत्रिम मार्ग ('भारतीय साहित्य' वर्ष ५, अंक १, जनवरी '६०, पृ० १३)। लक्ष्य करनेकी बात है कि सिंहद्वार और स्वयंभू-द्वार वाले अर्थ ध्वनिसाम्य द्वारा आभासित अर्थ हैं और प्रसंग तथा प्रयोगकी दृष्टिसे सही भी उतरते हैं, लेकिन यह तो ऊपरी आमदनी हुई। कोई मूल अर्थ तो इसका होना ही चाहिये। मेरा मन है कि यह 'सिंभुदुवार' मूलतः 'रुद्रग्रन्थि'का वाचक है। जो लोग योगशास्त्रकी अजपा-गायत्री, हंसविद्या या कुण्डलिनी योगसे परिचित हैं, उन्हें यह 'सिम्भुदुवार' 'रुद्रग्रन्थि'का समानार्थी या उसका वाचक लगेगा। मेरा विश्वास है कि इस शब्दका कबीरके मनमें 'रुद्रग्रन्थि' अर्थ ही होगा। योगशास्त्रमें अजपासाधन या कुण्डलिनी साधनाके प्रसंगमें **तीन ग्रन्थियों**का उल्लेख मिलता है—ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि। पूरक प्राणायाम द्वारा मूलाधारमें वायु भरकर अपनी शक्ति द्वारा उस वायुको आकुंचित कर ऊपर उठानेसे प्राण और अपान-में साम्यावस्था स्थापित होती है और मूलाधारके त्रिकोण-चक्रमें स्थित अग्निमें प्राण अपानका संयोग होते ही कुण्डलिनी शक्ति सर्पाकुण्डली अर्थात् कुण्डलाकार जाग उठती है। जाग्रत कुण्डलिनीको षट्चक्रोंमें प्रविष्ट करानेके लिए जिस ग्रन्थिका खुलना आवश्यक है, वह है मूलाधार चक्रके मूलमें स्थित 'ब्रह्मग्रन्थि'। इसे भेद लेनेपर कुण्डलिनी निर्बाध मूलाधार और स्वाधिष्ठान चक्रोंमें प्रविष्ट हो जाती है। आगे बढ़नेके लिए कुण्डलिनीको एक बार पुनः अनाहत चक्रके नीचे स्थित 'विष्णुग्रन्थि'को खोलना पड़ता है, क्योंकि इसे खोले बिना हृदयचक्रमें प्रवेश असम्भव है। इससे आगे आज्ञाचक्रके नीचे स्थित 'रुद्रग्रन्थि' है, जिसे खोल लेनेपर आज्ञाचक्रमें प्रवेश होता है। यहीं पहुँचकर योगी सूर्य, चन्द्र और अग्नि नामक तीनों तेजों या बिन्दुओंको एकमें मिला देता है और उनके मिलनेसे एक महातेजका विकास होता है। इस ग्रन्थिको खोल लेनेके उपरान्त योगीको अजर-अमर पिण्डकी प्राप्ति होती है और वह सहस्रारस्थ ब्रह्मरन्ध्रमें प्रवेश करता है और तुर्या-तुर्यके दर्शनसे अमात्र-शिशि, प्रतिद्वन्द्वहीन कैवल्यावस्था या परमहंसावस्थाको प्राप्त करता है। अतः स्पष्ट है कि सुरति-निरतिके परिचयके बाद जिस सिम्भुदुवारके उद्घाटनकी बात कबीरने की है वह यही ब्रह्मग्रन्थि ही है सहस्रारस्थ ब्रह्मरन्ध्र नहीं। ज्ञानदीपक-वाले रूपकमें (रामचरित मानस, उत्तरकाण्ड) गोस्वामीजीने जिन ग्रन्थियोंके जिस ग्रन्थिके खोलनेका उल्लेख किया है वह यही 'रुद्र' ग्रन्थि मालूम पड़ती है। —रा० दे० सिं०

स्रग्धरा–वार्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद; पिंगल-छन्दः-सूत्र' (७:२५)में इसका लक्षण दिया है। म, र, भ, न, य, य, यके योगसे यह वृत्त बनता है (SSS, SIS, SII, III, ISS, ISS, ISS) और ७, ७, ७ वर्णोंपर यति होती है। बाणने 'चण्डीशतक'में इस छन्दका विशद प्रयोग किया है। हिन्दीमें मैथिलीशरण गुप्त (पत्रावली, पृ० ३ : ७; साकेत : ९ : पृ० १९७) और अनूप शर्मा (सिद्धार्थ, पृ० २४२)ने इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा०—"नीचे पद्मासनस्थ स्तिमित दृग किये, दृष्टि अन्तर्हिता थी। ऊँचे नासापुटोंमें अविचल स्वर थे, सूर्यचन्द्राख्य दोनों (सिद्धार्थ, पृ० २४२)। —पु० शु०

स्रजन–सर्जन अथवा सर्जना। साहित्य अथवा कलाके निर्माणकी प्रक्रिया, जिसके द्वारा कवि अथवा कलाकारका अमूर्त भाव मूर्त बनता है। स्रजनमें आभ्यन्तर प्रेरणाका बोध है, जो कलामय रूपों और प्रतिमानोंमें अनायास ही बँध जाती है (दे० 'कृति', 'रचना')। —रा० म०

स्वकीया (नायिका)–सामाजिक सम्बन्धोंके आधारपर किये गये नायिकाओंके विभाजनका पहला भेद। इसके दो अन्य नाम भी दिये गये हैं, भरतने कुलजा तथा रुद्रटने आत्मीया या स्वीया। स्वकीयाका प्रयोग सर्वप्रथम 'अग्नि-पुराण'में हुआ है। भानुदत्तके अनुसार—"तत्र स्वामिन्येवा-नुरक्ता स्वीया" (र० मं०, पृ० ५), अर्थात् जो अपने स्वामीमें ही अनुरक्त हो, वह स्वकीया है। स्वामीके प्रति विवाहिता स्त्रीका मन, वचन तथा कर्मसे पूर्ण अनुरक्ति ही स्वकीया भाव है—"लाजवती निस दिन पगी निज पतिके अनुराग" (र० रा०, १०)। देवने अपनी परिभाषाको अधिक स्पष्ट बनाया है—"जाके तन मन वचन करि, निज

नायकसों प्रीति। निमुख सदा परपुरुषसों सो स्वकीयकी प्रीति" (भाव० : नायिका०)। दासने 'शृंगारनिर्णय'में स्वकीयाके अन्तर्गत 'भोगभामिनी'को अर्थात् राजाओंके अन्तःपुरमें रहनेवाली रखैलियोंको भी माना है (६३)। यह नायिका अष्टांगवती नायिका है, क्योंकि इसमें ही आठों गुण पाये जाते हैं—यौवन, रूप, गुण, शील, प्रेम, कुल, वैभव और भूषण। अन्य नायिकाओंमें इन समस्त गुणोंका विकास सम्भव नहीं। देवके उदाहरणमें स्वकीयाका लज्जाशील तथा कोमल चित्रण किया गया है—"कवि देव हरे बिछि-यानु बजाइ लजाइ रहे पग डोलन पै। गुरु दीठि बचाइ लचाइ कै लोचन सोचनिसों मुख खोलनि पै। हँसि हौंस भरे अनुकूल बिलोकनि लालके लोल कपोलनि पै। बलि हौं बलिहारी हौं वार हजारक बालकी कोमल बोलनि पै" (भाव० : स्वकीया०)। मतिरामने स्वकीयाके शीलका चित्रण किया है—"जानति सौति अनीति है, जानति सखी सुनीति। गुरुजन जानत लाज है, पीतम जानत पीत" (र० रा०, १२)। दासने उसकी एकनिष्ठतापर बल दिया है—"पान औ खानते पीको सुखी लखै आप तवै कुछ पीवनिखाति है" (शृ० नि०, ६४)। पद्माकरने अलंकृत शैलीमें उसमें गुणका उत्कर्ष दिखाया है—"सोनोमें सुगन्ध न सुगन्ध मैं सुन्यो री सोनो सोनो औ सुगन्ध तो मैं दोनों देखियतु हैं" (जगद्वि०, १ : १८)। इसके प्रमुख भेद—१. मुग्धा, २. मध्या तथा ३. प्रौढ़ाको इन शब्दोंके अन्तर्गत देखिये। —सं०

स्वगत–दे० 'अश्राव्य'।

स्वगतनाट्य–दे० 'एकालाप'।

स्वच्छंदतावाद–अंग्रेजी रोमांटिसिज्म (दे०) शब्दका निकटतम हिन्दी प्रतिरूप। रामचन्द्र शुक्लके प्रयोगसे शब्द-को उसका परिनिष्ठित अर्थ प्राप्त हुआ है। सामान्यतः स्वच्छंदतावादसे प्राक्-छायावादी हिन्दी कविताका बोध होता है, जिसके प्रवर्त्तक और उन्नायक थे—श्रीधर पाठक, मुकुटधर पाण्डेय, लोचनप्रसाद पाण्डेय, रूपनारायण पाण्डेय और रामनरेश त्रिपाठी। इनमेंसे प्रथम और अन्तिमका कृतित्व आधुनिक हिन्दी कविताकी मुख्य उपलब्धियोंमेंसे है।

प्रकृति, देश-भक्ति, वन वैभव और एकान्त प्रणय—स्वच्छंदतावादके ये मूल तत्त्व कहे जा सकते हैं। और इन सबके ऊपर है वैयक्तिक स्तरपर विद्रोहका भाव। ये अथवा इनमेंके कुछ तत्त्व उक्त कवियोंकी अधिकांश रचनाओंमें मिलते हैं। ऐतिहासिक दृष्टिसे स्वच्छंदतावादी काव्यका यह रूप छायावादके अवतरणको सम्भव बनाता है।

हिन्दी कविताकी स्वच्छंदतावादी धारामें देश-भक्तिका गहरा रूप भी हमें देखनेको मिलता है। वस्तुतः एकांत प्रणय और देश-भक्तिका सहज-संपृक्त रूप भारतीय और हिन्दी रोमांटिसिज्मकी अपनी विशेषता है। अंग्रेजी और यूरोपीय रोमांटिसिज्मका प्रभाव सिद्ध करते समय लोग प्रायः इस मौलिक अन्तरकी ओर ध्यान नहीं देते, जो स्वाधीन और पराधीन देशोंकी रोमांटिक प्रवृत्तियोंको अलग-अलग करता है। इंग्लैण्डके लिए देश-भक्ति और राष्ट्रीयता-की यह संवेदनात्मक अवतारणा इस सन्दर्भमें अपेक्षित न थी, पर पराधीन भारतका कवि अपने समूचे रोमांटिक मिजाजमें इस राष्ट्रीयताके पक्षको विशेष महत्त्व देता था। श्रीधर पाठकसे लेकर छायावादी कवियोंतकका कृतित्व इसका साक्ष्य प्रस्तुत करता है। —रा० स्व० च०

स्वतःचालित लेखन (automatic writing)–दे० "अतियथार्थवाद"।

स्वतःसंभवी–अर्थशक्त्युद्भव ध्वनिका पहला भेद। स्वतः-सम्भवीसे अभिप्राय उस काव्यार्थसे है, जो केवल कवि-कथनमात्रसे ही सिद्ध न हो, वरन् बाह्य संसारमें भी जो उचित रीतिसे सम्भाव्यमान हो—"न केवलं भणितिमात्र-निष्पत्तौ यावद्बहिरप्यौचित्येन सम्भाव्यमानः" (का० प्र०, पृ० ८५), अर्थात् लोक-व्यवहारमें संगत तथा सम्भव काव्यार्थ स्वतःसम्भवी है। इस भेदमें वस्तुसे वस्तुकी, वस्तु-से अलंकारकी तथा अलंकारसे वस्तुकी और अलंकारकी व्यंजनाएँ होती हैं। फलतः इसके चार भेद हैं (१) स्वतः-सम्भवी वस्तुसे वस्तुकी व्यंजना—"कोटि मनोज लजावन-हारे, सुमुखि कहहु को अहहिं तुम्हारे। सुनि सनेहमय मंजुल बानी, सकुचि सीय मन महँ मुसुकानी" (का० द०, पृ० ३११)। यहाँ 'सीताका संकुचित होना, तथा मनमें 'पुलकित होना' वाच्यार्थ है। इसके द्वारा यह व्यंग्यार्थ ज्ञात होता है कि राम 'सीताके पति हैं'। वाच्यार्थ-व्यंग्यार्थ, दोनोंमें ही कोई अलंकार नहीं है, इसलिए इस उदाहरणमें वस्तुसे वस्तुकी ध्वनि है और मानव-स्वभावगत स्वाभाविक चेष्टावर्णन होनेके कारण स्वतःसम्भवी भी है। (२) स्वतः-सम्भवी वस्तुसे अलंकारकी व्यंजना—"डॉसन छाँडिके कासन ऊपर, आसन मार्यौ, पै आस न मारी"। यहाँ वाच्यार्थ द्वारा यह व्यंग्यार्थ निकलता है कि आशाको त्यागे बिना मनुष्यका सच्चा कल्याण नहीं हो सकता और इस कथन (वस्तु)में विनोक्ति अलंकारकी ध्वनि है (विनोक्ति—एक वस्तुके बिना दूसरी वस्तु अशोभित जान पड़े)। लोक-व्यवहारकी दृष्टिसे उक्त कथन सर्वथा संगत है। अतः उक्त उदाहरणमें स्वतःसम्भवी वस्तुसे अलंकारकी ध्वनि है। (३) स्वतःसम्भवी अलंकारसे वस्तुकी व्यंजना—"बिनु पद चलै, सुनै बिनु काना, कर बिनु करम करै बिधि नाना" (रामचरित मानस)। यहाँ वाच्यार्थमें विभावना अलंकार है और उससे इस तथ्य(वस्तु)की व्यंजना होती है कि ब्रह्म सर्वशक्तिमान् है। ब्रह्मके विषयमें उक्त प्रकारके कथन सर्वथा संगत है। अतः इस उदाहरणमें स्वतःसम्भवी अलंकारसे वस्तुकी व्यंजना है। (४) स्वतःसम्भवी अलंकारसे अलंकारकी व्यंजना—"अलि इन लोयनि सरनिको, खरो विषम संचार। लगे लगाये एकसे दुहुअनि करत सुमार" (बिहारी)। इस दोहेके वाच्यार्थमें नेत्रों और बाणोंमें रूपक बाँधा गया है, किन्तु व्यंग्यार्थरूपमें उपमान(शर)की अपेक्षा उपमेय(नेत्र)में यह विशेषता है कि अपने लक्ष्यको विद्ध करनेके अतिरिक्त वे चलानेवालेको भी घायल कर देते हैं। नेत्रोंका यह व्यापार लोक-दृष्टिसे संगत होनेके कारण उक्त उदाहरणमें स्वतः-सम्भवी अलंकारसे अलंकारकी ध्वनि है। ऊपर चारों उदाहरण वाक्यगत ध्वनिके हैं। पद तथा प्रबन्ध द्वारा इस प्रकारकी व्यंजना होनेपर स्वतःसम्भवी ध्वनिके चारों भेदोंके तीन-तीन भेद और होते हैं—पदगत, वाक्यगत,

प्रबन्धगत। —उ० शा० शु०

स्वप्न (सुप्त एवं सुप्ति)–प्रचलित नेतीमोंमेंसे एक संचारी भाव। 'नाट्यशास्त्र'का अनुकरण कर संस्कृत काव्य-शास्त्रियोंने इस संचारी भावको प्रायः सुप्त कहकर अभिधान किया है। शारदातनयने इसको 'सुप्ति' कहा है। कालान्तरमें इसका ही नाम यदि परिभाषानुकूल 'स्वप्न' पड़ गया तो कोई आश्चर्य नहीं। भरतने इसको 'निद्रासमुत्थित', अर्थात् निद्रामें उद्भूत बताया है। उच्छ्वास, निःश्वास, शिथिलगात्र, आँखें बन्द होना, इन्द्रियोंका सम्मोह एवं स्वप्नमें बोलना इत्यादि क्रियाओंसे इसकी अभिव्यक्ति होती है (ना० शा०, ७ : ७५ ग)। अतः निद्राग्रस्त पुरुषके विषयानुभवका नाम स्वप्न है और इस भावको दशरूपककार एवं अन्य लेखकोंने सुव्यक्त कर दिया है। विश्वनाथने ठीक ही कहा है कि यह कोप, आवेग, भय, ग्लानि, सुख एवं दुःखकारक होता है (सा० द० ३ : १५८)। हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंने इसका चलता हुआ लक्षण दिया है–'सपन स्वप्नको देखिबो' (जगद्वि०, ५१०)।

प्रायः इसके उदाहरणमें वास्तविक स्वप्नके वर्णन दिये गये है–"जानति हौं सखि सापनेमें नंदलालको नारि निहारि रही है" (जगद्वि०, ५११)। रामदहिन मिश्रने पन्तकी स्वप्न-व्यंजनाके चित्रको इसके उदाहरणमें प्रस्तुत किया है–"किन जन्मोंकी चिर संचित सुधि बजा सुप्त तन्त्रीके तार; नयन नलिनमें बँधी मधुप-सी करती मर्म मधुर गुंजार" (का० द०)।

वाग्भटने 'काव्यानुशासन'में स्वप्नकी परिभाषा केवल 'स्वप्नं निद्रायाः गाढावस्था' कर दी है, जो अपूर्ण है। निद्रामें स्वप्नका होना आवश्यक है। कई बार स्वप्न भी इतने सजीव होते है कि उनका चित्र हमारे स्मृतिपटलपर अमिट रहता है। जाग्रदवस्थामें भी स्वप्नसमान चित्तकी दशा रहनेपर भी यही संचारी हो सकता है (day-dreaming)। स्वप्न वास्तवमें मानसिक अवस्था है। सामान्य निद्रा एवं निद्रा संचारी भावमें भी भिन्न है (ना० द०, ३ : १३९)। —ज० कि० ब०

स्वप्नप्रतीक–मनोविश्लेषणमें स्वप्नोंके दो पक्ष माने जाते हैं–प्रकट अन्तर्वस्तु और गुप्त अन्तर्वस्तु। प्रकट अन्तर्वस्तुके अन्तर्गत दृश्य, श्रव्य आदि वे समस्त मानस प्रतिमाएँ या **बिम्बविधान** हैं, जिनसे हमें दिखाई पड़नेवाले स्वप्नका निर्माण होता है। गुप्त अन्तर्वस्तुमें वे विचार, इच्छाएँ और प्रेरणाएँ होती हैं, जिनको स्वप्न प्रच्छन्न रूपमें व्यक्त करता है। स्वप्नकी प्रक्रिया द्वारा गुप्त अन्तर्वस्तु प्रकट अन्तर्वस्तुमें परिवर्तित हो जाती है। इस प्रकार प्रत्येक स्वप्न इच्छापूर्तिका साधन होता है। स्वप्नप्रक्रिया कुछ नियमोंके अनुसार सम्पन्न होती है, जिनमें प्रतीकीकरण एक है। फ्रायडके अनुसार स्वप्नकी लगभग प्रत्येक प्रतिमा किसी अन्य वस्तुका प्रतीक होती है। समाचारपत्रोंमें निकलनेवाले व्यंग्यचित्रोंमें भी प्रतीकका उपयोग इसी प्रकार किया जाता हैं। स्वप्नोंका अर्थ प्रतीकोंका अर्थ जाने बिना नहीं किया जा सकता।

स्वप्नप्रतीकोंमें कुछ सर्वव्यापी होते हैं और कुछ व्यक्तिगत। राजा और रानी माता-पिताका और छोटे पशु भाई-बहिनोंका प्रतिनिधान करते है। नग्न हो जाना आरम्भिक स्वमुग्धताका प्रतीक है। किसी स्त्रीका पीछा करते हुए भयावह और विकराल घोड़े और साँड़ जैसे पशु शारीरिक बल और पुंस्त्वके प्रतीक है। इसी प्रकार विधवाएँ और अतृप्तकाम स्त्रियाँ अस्त्रशस्त्रोंसे सुसज्जित चोरों या डाकुओंको अपने ऊपर आक्रमण करते देखती है तो यह चोर और डाकू बलात्कारियोंके प्रतीक होते है। मनोविश्लेषकोंकी यह भी मान्यता है कि स्वप्नोंमें सबसे अधिक प्रतीक पुरुष-जननेन्द्रियके मिलते है। सर्प, भाला, कृपाण, मछली, चिड़िया, छड़ी, पेड़का तना, खम्भे, मीनार, शिखर, सादृश्ययुक्त फल और तरकारियाँ आदि शिश्नके प्रतीक हैं। इसी प्रकार जूते, बक्स, गुफा, चूल्हे, खिड़कियाँ, दरवाजे, कमरे और उद्यान नारी-जननेन्द्रियके प्रतीक है। जल और स्नान भी यौन प्रतीक है। जीना या सीढ़ी रतिक्रियाका प्रतीक है और साथीके साथ जीनेके ऊपरतक पहुँच जाना दोनोंकी तृप्तिदायक पूर्ण रतिका। स्वप्नोंके प्रतीक पुरातन पौराणिक गाथाओं और लोककथाओंके प्रतीकोंसे बहुत मिलते-जुलते है। जैसे ऊँचाईसे गिरकर अपनेको जमीनपर सही-सलामत पानेका स्वप्न हमारे कन्दरावासी पूर्वपुरुषके अनुभवका प्रतीक है। गिरना किसी नैतिक आचरणके अतिक्रमणका भी प्रतीक माना जाता है। युगके अनुसार स्वप्नोंमें प्राक्तन भाव-प्रतिमाएँ प्रकट होती है और स्वप्न किसी प्रस्तुत समस्याको हल करनेका प्रयास होता है।

प्रतीकोंके माध्यमसे अपनी अवचेतन इच्छाओंकी अभिव्यक्ति स्वप्नोंतक ही नहीं सीमित है, जाग्रत् जीवनमें भी हम बहुत-कुछ वैसा ही करते रहते हैं। पश्चिमी देशोंमें नवदम्पतीके ऊपर चावल और जूते फेंकनेकी प्रथा है। जूते सभी देशोंकी लोककथाओंमें योनिके प्रतीक है और चावल (अथवा गेहूँ) पुरुषके उर्वर वीर्यके। इस प्रकार यह प्रथा नये सम्बन्ध–यौन स्वरूप और परिणामका प्रतीक है। ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते है। —आ० रा० शा०

स्वप्नसर्जना–इसका अर्थ है निद्राकालमें स्वप्नोंके मध्य कलात्मक सर्जना करना। इस प्रक्रियाके अनेक उदाहरण दैनिक जीवनमें मिलते रहते है। मनुष्यका मन निद्रावस्थामें भी निष्क्रिय नहीं होता। जाग्रत् जीवनकी समस्याएँ और चेतन अथवा दमित इच्छाएँ प्रकट या प्रच्छन्न रूपसे अपना समाधान और पूर्ति स्वप्नोंमें किया करती हैं। गणित-शास्त्रियों और वैज्ञानिकोंको अपनी समस्याओंका समाधान प्रायः स्वप्नमें मिल जाया करता है। स्वामी रामतीर्थको एक बार गणितकी कोई जटिल समस्या आकुल किये हुए थी। यदि रातभरमें उसे हल नहीं कर पाये तो सबेरे आत्महत्या कर लेनेका निश्चय किया। अन्तमें उन्हें नींद आ गयी और स्वप्नमें उन्हें अपनी समस्याका हल मिल गया। सर्जनात्मक क्षेत्रमें भी ऐसा होता रहता है। सबसे प्रसिद्ध उदाहरण अंग्रेजी कवि कॉलरिजका है, जिसने अपनी प्रख्यात कविता 'ऐंशिएण्ट मैरिनर्स'की सर्जना स्वप्नमें की थी। मूर्त कलाओंके क्षेत्रमें कलाकारको अपनी कृतिके रूपाकारका प्रत्यक्ष स्वप्नमें ही सकता है। कुछ

भारतीय शास्त्रोंमें ऐसे स्वप्न लानेका विधान है, जिनमे शिल्पीको इष्ट मन्दिर या प्रतिमाका रूप प्रत्यक्ष हो जाता है और फिर वह उसे बना लेता है। —आ० रा० शा०

स्वप्रगतीय आलोचना-प्रणाली–स्वप्रगतीय आलोचना-प्रणाली डार्विन द्वारा प्रमाणित क्रमिक विकास और ह्रासके सैद्धान्तिक सत्यपर आधारित है। जैसे ऐतिहासिक प्रणालीमे देशकालको ही मूल साहित्यिक आधार मान लिया गया, उसी प्रकार स्वप्रगतीय आलोचक डार्विनके सैद्धान्तिक निर्णयोंको मूल आधार मानकर साहित्यका मूल्यांकन करना श्रेयस्कर समझने लगे। वे वैज्ञानिक विकासवादको आलोचना-क्षेत्रमे आरोपित करके इस सीमातक अतिवादी निष्कर्षोंके समर्थनमें योग देने लगे कि प्रत्येक साहित्यका वास्तविक मूल्यांकन उस समयतक नही किया जा सकता, जबतक कि वैज्ञानिक विकासवाद अथवा स्वप्रगतिवाद (self-evolution)के नियमके अनुसार साहित्यको भी विभिन्न वर्गों(species)मे नही बाँट दिया जायगा। इस प्रणालीके अनुसार विभिन्न साहित्यिक रूपोंको रूप-प्रधान न मानकर वर्गप्रधान माना जायगा। महाकाव्य साहित्यका रूप न होकर साहित्यका एक वर्ग माना जायगा, नाटक दूसरा वर्ग, कहानी तीसरा वर्ग और इस प्रकारके अन्य वर्गोंमें बँटकर साहित्यका मूल्यांकन हो सकेगा। स्वप्रगतीय आलोचना-प्रणालीके आलोचक इस वर्गीकरणको ठीक उसी प्रकारका सत्य मानते है जिस प्रकार डार्विनवादी वर्ग(species)को सत्य मानते है। स्वप्रगतीय आलोचक इसीलिए यह मानकर चलता है कि जब साहित्यका एक वर्ग (अर्थात् नाटक, महाकाव्य इत्यादि) अपनी चरम सीमापर पहुँच जाता है, तब उसका पतन होने लगता है और उसके पतनसे साहित्यका दूसरा वर्ग (रूप) स्वतः प्रगति करके विकासशील हो जाता है। यदि महाकाव्य किसी युगविशेषमें अपनी चरम सीमातक विकसित हो चुका है, तो निश्चय ही उसके पतनके बाद दूसरा साहित्यिक वर्ग, चाहे वह नाटक हो अथवा गीत, कथा हो अथवा अन्य साहित्यिक रूप, वह स्वयं प्रगति करके आगे आयेगा और अपनी चरम सीमातक सफलता प्राप्त करके पतनोन्मुख हो जायगा। इस सैद्धान्तिक आधारपर इस वर्गके आलोचक समूचे साहित्यकी समवेत समीक्षाको अवैज्ञानिक मानते हैं। उनके मतानुसार एक साहित्य-वर्गका अध्ययन वर्तमान, भविष्य और अतीतके सन्दर्भमें सम्भव हो सकता है। —ल० का० व०

स्वभावज-अलंकार–भरत द्वारा 'सात्त्विक अनुभावों'(दे०)-का एक विभाजन, जिसे संस्कृतमें एक सीमातक स्वीकार किया गया, पर हिन्दीमें इनको ही प्रधानता मिली है और 'हाव'की संज्ञा दी गयी है। रीतिकालके अन्तर्गत रसलीन(१८ श० ई०)ने भरत(४श० ई०)के विभाजनको माना है और आधुनिक विवेचकोंमें 'हरिऔध', श्यामसुन्दर-दास तथा कन्हैयालाल पोद्दारने संस्कृतकी परम्पराको स्वीकार किया है। सुन्दर (१७ श० ई० पूर्वा०), तोष (१७ श० ई० पूर्वा०), कुमारमणि (१८ श० ई० पूर्वा०)ने भी संख्यामें विस्तार स्वीकार किया है। नायिकाओंके मुग्ध-कारी प्रभावको बढानेवाले वे अलंकार जो संयोगकी विभिन्न अवस्थाओमे मुख्यतः उसकी आन्तरिक भावनाओंको प्रकाशित करते है और स्वाभाविक होते है, स्वभावज अलंकार कहलाते है। अयत्नज अलंकारोंका अभ्यास नही किया जा सकता, किन्तु इन अलंकारोंको अभ्यास द्वारा सहज ही प्रकाशित किया जा सकता है। भरत मुनिने इनकी केवल दस संख्या निर्धारित की थी और लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिंचित्, मोट्टायित, कुट्टमित, विब्बोक, ललित तथा विहृत नाम गिनाये थे, किन्तु कालान्तरमें भोज तथा विश्वनाथ आदि आचार्योंने मद, तपन, मौग्ध्य, विक्षेप, कुतूहल, हसित, केलि, चकित तथा बोधक-को भी जोडकर इनकी संख्या १९ कर दी। हिन्दीमे ये सभी स्वीकृत होते चले आये है।

१. लीला अलंकार—भरतका दृष्टिकोण नाट्यकलापर आधारित है—"आभूषणों, चेष्टाओं तथा उपयुक्त कथनोंसे प्रेमीके व्यवहारका अनुकरण" (ना० शा०, २४ : १४)। धनंजयका कथन इसीपर आधारित है—"प्रियानुकरणं लीला मधुरांगविचेष्टितैः" (द० रू०, २ : ३७)। हिन्दीके आचार्यों-ने प्रायः ऐसा ही लक्षण दिया है—"प्रिय भूषन बचनादि-की लीला करे जो बाल" (र० रा०, ३५०)। इसमे 'कौतुक' (देव : भा० वि०)का भाव भी सम्मिलित हुआ है, जिसे दासने इस प्रकार व्यक्त किया है—"स्वाँग केलिकी करत है जहाँ हास्य रसभाव" (शृं० नि०, २४८)। हिन्दीके कवियोंने प्रायः इसके उदाहरणमें वेश-परिवर्तनपर, अपने लक्षणकी सीमाके कारण, बल दिया है। वस्तुतः नायक-नायिकाका परस्पर प्रीतियुक्त होकर एक-दूसरेकी आंगिक चेष्टाओ, क्रिया-कलापों तथा वेशभूषा आदिका अनुकरण करना ही लीला है। प्रियकी मृदुलता या तुतलाहटका, उसकी प्रेममय चेष्टाओंका या उसकी वेशभूषाका यह अनु-करण परस्पर अत्यन्त विनोदमय, कामोद्दीपक तथा अनुरागवर्द्धक होता है। 'नवीन' कविके 'रंगतरंग'मे इसका उदाहरण इस प्रकार दिया गया है—"श्याम बनी राधे, राधेश्याम ह्वै संकेत आज, मधुर विलास करै मेटै खोज ओजके। मनहूके पलटे न चैन दिन रैन, यातें तनकों पलट सुख लूटत मनोजके"। देवने अपने उदाहरणमें इस लीलासे 'कौतुक'का वर्णन किया—"संगकी औरै उठी हँसि-के तब हेरि हरे हरिजू हँसि दीन्हो" (भा० वि० : हाव)।

२. विलास अलंकार—भरतका भाव ग्रहण करते हुए धनंजयने इसका लक्षण दिया है—'तात्कालिको विशेषस्तु विलासोऽङ्गक्रियादिषु" (द० रू०, २ : ३८), अर्थात् प्रियको देखकर विभिन्न अंगोंकी विशेष चेष्टाएँ। हिन्दीमे इसी भावको केशव प्रकट करते हैं—"खेलत बोलत हँसत अरु चितवत चलत प्रकास" (र० प्रि०, ६ : ३७)। देव प्रियके दर्शन-स्मरण आदिसे इन चेष्टाओंको मानते है। पद्माकर नाना भावोंसे पतिको रिझानेको 'विलास' कहते है। दास कुछ अधिक स्पष्ट हैं—"बोलनि हँसनि बिलोकिबो और भृकुटिको भाव। क्यों हूँ चकित सुभाव जहँ" (शृं० नि०, २५४)। इस प्रकार संयोगकालमें बैठने, उठने, चलने आदि-में विशेषतया तथा मुख, नेत्र आदिकी कटाक्ष आदि चमत्कार-पूर्ण विलक्षण चेष्टाको 'विलास' कहते है। इसमें विभिन्न चेष्टाओंमे युक्त, स्वेद, रोमांच आदि सात्त्विकोसे पूर्ण,

धैर्यहीन विलक्षण कामकौशल प्रकट होता है। बेनी प्रवीनका निम्नलिखित छन्द 'विलास'का उदाहरण है—"को बरनै कवि बेनी प्रवीन रही छवि छाय फवि गोल कपोलनि। पैनी चितौनी रसीले बिलोचन, मन्द हँसी मृदु माधुरी बोलनि" (न० र० त० से)। इसी प्रकार मतिरामका उदाहरण है—"तेरी चलनि चितौनी मृदु मधुर मन्द मुसकानि। छाय रही लखि लालको मरियन मिस अँखियान" (र० रा० : ३५५)।

३. विच्छित्ति अलंकार—भरतके अनुसार—"माला, वस्त्राभूषण आदिके अस्तव्यस्त धारण करनेसे सौन्दर्य-वृद्धि" (ना०, २४ : १६), पर धनंजय 'कान्ति'के पोषक किंचित् रचना-कल्पको 'विच्छित्ति' मानते हैं (द० रू०, २ : ३८)। हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंने 'कान्ति'के स्थानपर 'शोभा' अथवा 'छवि'का बढ़ानेवाला माना है—"थोरे ही भूषन-बसन जहँ सोभा सरसाय" (र० रा०, ३५६) अथवा "तनक सिंगारहिमें जहाँ तरुनि महा छवि देत" (जगद्वि०, ४३५)। केशव तथा देवने इस शोभामें नायिकामें गर्वकी भावनाको माना है। अतः अयत्नज शोभाको किंचित् वेश-विन्यासके द्वारा शृंगार सहित बढ़ानेका प्रयत्न 'विच्छित्ति' कहलाता है। 'विच्छित्ति' शोभाको ही किंचित् उभारमें ले आता है, कुरूपतामें सौन्दर्य उत्पन्न नहीं करता। अतएव यह साधनमात्र है। पद्माकरका उदाहरण—"भूषण भार सिंगारनसौं सजि सौतिनको जु करें मुख फीको। जोनिको लाल-बिसाल महा तिय भालपै लाल गुलालको टीको" (जगद्वि०, ४३६)।

४. विभ्रम अलंकार—भरतके अनुसार शब्द, चेष्टा, वेशभूषा आदिका विपर्यय तथा मद, काम और हर्षसे सत्वका उदय इसके अन्तर्गत आता है (ना० शा०, २४ : १७)। धनंजयने केवल 'त्वरयाऽकालेभूषास्थानविपर्ययः' (द० रू०, २ : ३९), अर्थात् शीघ्रताके समय आभूषणोंका व्यतिक्रम माना है। विश्वनाथने अधिक विस्तारसे व्याख्या की है—"प्रियके आगमनके कारण उत्पन्न हर्ष, मद या राग-के कारण वस्त्राभूषणके उचित स्थानको भूलकर उन्हें अन्य स्थानपर धारण करने लगना 'विभ्रम' अलंकार कहलाता है" (सा० द०, ३ : १०४)। इससे प्रेम-विह्वलताके कारण अधीरता प्रकट होती है। केशवने इसका लक्षण दिया है—"बास बिभूषन प्रेमतें जहाँ होइ विपरीत। दरसन-रस तन मन रमित" (र० प्रि०, ६ : ३०)। इसमें लक्षणका भाव आया है, पर अन्य आचार्योंने या तो उलटे वस्त्रा-भूषणोंके पहननेका उल्लेख किया है या शीघ्रतामें कुछ-का-कुछ करना कहा है। बिहारीका उदाहरण—"रही दहेंड़ी ढिग धरी, भरी मथनिया बारि। फेरति करि उलटी रई, नयी बिलोवनिहारि" (बि० र०, २५५)। केशवकी नायिका—"करि अंजन रंजित चारु कपोल करी जुग जावक नैन निछाउँ। सुनि आवत श्री ब्रजभूषनको बिन भूषन भूषित ही उठि धाई" (र० प्रि०, ६ : ३१)।

५. किलकिंचित् अलंकार—भरतके अनुसार "हर्षातिरेकमें मुसकराना, रोना, हँसना, मूर्च्छा, भय आदिकी अवस्थाओंका एक साथ प्रदर्शन" (ना०, २४ : १८) इसके अन्तर्गत आता है। धनंजयने संक्षेपमें केवल—"क्रोधाश्रु-हर्षभीत्यादेः संकरः" माना है, पर विश्वनाथने अधिक स्पष्ट व्याख्या की है (सा० द०, ३ : १०१)। हिन्दीके आचार्योंने प्रायः इसीको शब्द-भेदसे स्वीकार कर लिया है—"हरष गरब अभिलाष श्रम हास रोष अरु भीति। होत एक ही संग" (मतिराम : ल० ल०, ३६२)। प्रिय-समागममें उत्पन्न प्रसन्नता एवं प्रेमकी अधिकताके कारण विपरीत भावोंका सुखद प्रदर्शन किलकिंचित् कहलाता है। कभी-कभी नायक-नायिकाके बीच किसी बातपर झगड़ा हो जाता है और क्रोध प्रदर्शित किया जाने लगता है। कभी हँसी, कभी रोना, कभी भय, त्रास या श्रमका प्रदर्शन किया जाता है। ऐसी विरोधी स्थिति एक साथ उपस्थित होनेपर किलकिंचित् कही जाती है। बिहारीके इस दोहेमें इसका सुन्दर उदाहरण है—"कहति नटति रीझति खिझति, मिलति खिलति लजियात। भरे भौनमें करत हैं, नैनन ही सों बात" (बि० र०, ३२)।

६. मोट्टायित अलंकार—भरत इस अलंकारको "प्रियके उल्लेखसे मग्न होकर लीलाविलास आदिके माध्यमसे प्रेम-की अभिव्यक्ति"के रूपमें मानते हैं (ना० शा०, २४ : १९)। विश्वनाथने धनंजयके आधारपर अधिक स्पष्ट शब्दों-में व्याख्या की है (द० रू०, २ : ४० तथा सा० द०, ३ : १०२)। हिन्दीमें केशवका लक्षण 'नाट्यशास्त्र'के निकट है (र० प्रि०, ६ : ४८)। अधिकांशने "बातनको बिघटन भये पुनि मिलापकी चाह" (ल० ल०, ३६५)के समान माना है, पर देवने सौतके भय तथा कुल-लज्जासे हार्दिक भावके गोपनको माना है। व्यापक रूपसे प्रियको देखनेकी इच्छा रखते हुए अथवा किसी अन्यसे उसके रूप-गुण आदिकी चर्चा सुनते रहनेके लिए जब नायिका उधर ही कान लगाये रखती है, किन्तु ऐसा भाव दिखाती है कि वह सुन या देख नहीं रही है, उस ओरसे अन्यमनस्क है या उपेक्षा कर रही है, वह क्रिया तब मोट्टायित अलंकार कहलाती है। इसका उद्देश्य केवल दूसरोंसे नायिकाका अपने मनका भाव छिपाना ही है। इसमें कान खुजाना, पृथ्वी कुरेदना तथा लज्जाके अन्य अनुभाव काममें आते हैं। पद्माकरका उदाहरण इस प्रकार है—"बसीकरन जबते सुन्यो स्याम तिहारो नाम। दृगनि मूँदि मोहित भई पुलक पसीजी बाम" (जगद्वि०, ४४९)। केशवका उदाहरण व्यंजक है—"धूरि कपूरकी पूरि बिलोचन सूँघि सरोरुह ओढि उढ़ौनी" (र० प्रि०, ६ : ४९)।

७. कुट्टमित अलंकार—भरतने इसे आन्तरिक हर्षके अवसर पर कृत्रिम रोष प्रकट करना माना है, जो प्रिय द्वारा स्पर्श किये जानेकी प्रसन्नता और घबराहटसे प्रेरित है (ना० शा०, २४ : २०)। धनंजयने इसीको संक्षेपमें कहा है—"सानन्दतः कुप्येत केशाधरग्रहे" (द० रू०, २ : ४०)। विश्वनाथने 'नाट्यशास्त्र'की बात स्पष्ट रूपमें कही है। हिन्दीमें केशवके अनुसार—"केलि-कलहमें सो भये केलि कपट पट रूप"(र० प्रि०, ६ : ५१) है, पर सामान्यतः केलि-कलहमें 'दरसावत झूठ रोष' (शृं० नि०, २६७ तथा जगद्वि०, ४५६)के रूपमें माना है। वस्तुतः प्रियके द्वारा केश, स्तन आदि अंगोंका स्पर्श या मर्दन किये जाने-पर हृदयमें प्रसन्न होते हुए भी कृत्रिम रोष अथवा घबराहट

अथवा अनिच्छाको प्रकट करते हुए विलक्षण रीतिसे अंगोंको चलाने अथवा सीत्कार करनेको कुट्टमित अलंकार कहते हैं। यथा केशवका उदाहरण—"पहिले हठि एठि चली उठि पीठिदै मैं चितई सखि तैं न लखी री" (र० प्रि०, ६ : ५२)। दासकी नायिकाका "रूखी तैं जेतो पियूष वगारिवो अंक बिलोकिबो आदरिबो है" (शृं० नि०, २६९)।

८. बिब्बोक अलंकार—भरतके अनुसार नायिकाका प्रेम प्राप्त करनेके बाद गर्व और अभिमानवश अनादर तथा उपेक्षा प्रदर्शित करना (ना० शा०, २४ : २१)। धनंजयने संक्षेपमें इसी भावको व्यक्त किया है—"गर्वाभिमानादिष्टेऽपि अनादरक्रिया" (द० रू०, २ : ४१) हिन्दीमें केशवका लक्षण है—"रूप प्रेमके गर्वतें कपट अनादर होइ" (र० प्रि०, ६ : ४२)। अन्य आचार्योंमें किसीने—"अभिमानतें करे अनादर" (ल० ल०, ३७१) और किसीने—"करत है कपट अनादर" (शृं० नि०, २७९) करना माना है। व्यापक रूपमें मनमें प्रिय या इष्ट वस्तुके प्रति और आकर्षणका पोषण करते हुए भी नायिका द्वारा यौवन, धन अथवा कुलके गर्व अथवा प्रियके अपराधके कारण उसका केवल वाणी द्वारा अनादर या उपेक्षा व्यक्त करना। देवका उदा०—"देवको देखिकै दोष भरे तिय पीठि दई उत दीठि बचाइकै। ज्यों चितई अरसौंहैं रिसौंहैं सुसौंहैं सखीनके भौंह नचाइकै" (भा० वि० : हाव)। मतिरामकी नायिकाकी उक्ति—"ऐसे ही डोलत छैल भये तुम्हैं लाज न आवत कामरी ओढ़ै" (र० रा०, ३७२)।

९. ललित अलंकार—भरतके अनुसार "नायिकाकी चंचल आंगिक चेष्टाएँ" (ना० शा०, २४ : २२)। धनंजयने इसमें कोमलता और सुकुमारताका भाव जोड़ दिया है—"सुकुमारांगविन्यासो मसृणो ललितं भवेत्" (द० रू०, २ : ४१)। हिन्दीमें केशवका लक्षण है—"बोलनि हँसनि बिलोकिबो चलनि मनोहर रूप" (र० प्रि०, ६ : २४)। मतिराम, देव तथा दासने आभूषणों और शृंगारको 'ललित' कहा है—"सरस सकल आभरन अंग" (ल० ल०, ३७४)। "सकल अंग रचना ललित" (भा० वि० : हाव), "तियको सहज सिंगारु" (शृं० नि०, २५१)। पद्माकरने 'बरनत चलन चितौन' (जगद्वि०, ४४४) कहकर चेष्टाको स्वीकार किया है। वस्तुतः प्रियको वशमें करनेके लिए नायिकाकी सर्वांगसुन्दरता बढ़ानेवाला शृंगार अथवा उसकी आंगिक क्रियाओंमें सुकुमारता तथा चंचलता आदिको 'ललित' अलंकार कहा गया है। केशवका उदा०—"नूपुरकी धुनि सुनि भोरें कलहंसनिके, चौंकि-चौंकि परैं चारु चेंढुवा मरालके" (र० प्रि०, ६ : २५)। मैथिलीशरण गुप्त 'साकेत'में सीताके सौन्दर्यका वर्णन इसी रूपमें करते हैं—"क्षोणीपर जो निज छाप छोड़ते चलते, पद-पद्मोंमें मंजीर मराल मचलते। रुकने झुकनेमें ललित लंक-लच जाती, पर अपनी छविमें छिपी आप छिप जाती। तनु और केनकी कुसुमकलीका गाभा, थीं अंग सुरभिके संग तरंगिनि आभा"।

१०. विहृत अलंकार—भरतके अनुसार प्रियके वचनोंको सुनकर भी नायिकाका लज्जावश, व्याजसे अथवा सहज रूपमें मौन रहना (ना० शा०, २४ : २३), पर धनंजयने केवल "प्राप्तकाले न यद्ब्रूयाद् व्रीडायां विहृतं हि तत्", अर्थात् "मिलन-अवसरपर लज्जावश मौन रहना" इस अलंकारका लक्षण माना है (द० रू०, २ : ४२)। केशवने स्वीकार किया है—"बोलनिके समय बोलन देइ न लाज" (र० प्रि०, ६ : ३३)। मतिरामने केवल "प्रियके समीप अभिलाषाके न पूरे होनेको" विहित कहा है (ल० ल०, ३७७), पर दास और पद्माकर आदिने साथ ही लज्जावस मौन रहनेका उल्लेख किया है—"हिलिमिलि सकै न लाजवस जिये भरी अभिलाख" (शृं० नि०, २५९)। व्यापक रूपसे प्रिय-मिलनके समय नायिकाका लज्जावश कुछ न कह पाना अथवा उसकी अभिलाषाका अपूर्ण रह जाना 'विहृत' अलंकार है। हिन्दी आचार्योंने 'बिहित' या 'विहत' भी लिखा है। मतिरामका उदा०—"रूप साँवरो साँचु है सुधा सिन्धुमैं खेल। लखि न सकै अँखियाँ सखी परी लाजकी जेल" (ल० ल०, ३७९)। पद्माकरकी नायिका प्रियके सामने लज्जावश मौन है—"मैनके राजमैं बोलि सकी न भटू ब्रजराजसों लाजके आगे' (जगद्वि, ४५४)।

११. मद अलंकार—जैसा कहा गया है यह विश्वनाथ द्वारा स्वीकृत भेद है—"मदो विकारः सौभाग्ययौवनाद्यवलेपजः" (सा०द०, ३ : १०५), अर्थात् सौन्दर्य, सौभाग्य तथा यौवन आदिके कारण उत्पन्न गर्वरूप नायिकाके मनोविकारको 'मद' कहते हैं। सुन्दरने 'सुन्दरशृंगार'मे ऐसा ही लक्षण दिया है (पृ० ८१)। वस्तुतः इसमें नायिकाकी ओरसे बिब्बोकके समान प्रियतमके तिरस्कारकी भावना नहीं रहती और न प्रियतमपर रीझकर भी अपने मनोभावको छिपानेकी चेष्टा ही की जाती है। इस भावस्थितिमें नायिका अविचलित रहती है और नायक उसके सौन्दर्यसे अत्यधिक प्रभावित रहता है। उदा०—"खलित वचन अधखुलित दृग, चलित स्वेदकन जोति। अरुन बदन छबि मदनकी, खरी छबीली होति" (बि० र० : ३५३)।

१२. तपन अलंकार—विश्वनाथ द्वारा स्वीकृत भेद—"तपनं प्रियविच्छेदे स्मरावेगोत्थचेष्टितम्" (सा० द०, ३ : १०६), अर्थात् प्रिय-वियोगके कारण कामवेगसे की जानेवाली चेष्टाएँ। हिन्दीमें सुन्दरने 'सुन्दरशृंगार'में इसका उल्लेख किया है (पृ० ८१)। केवल विरह-ज्वरको ही 'तपन' नहीं माना जायगा, वरन् विरह-जनित अन्य चेष्टाओंको भी इस अलंकारमें स्वीकार किया जाता है। तोषके 'सुधानिधि'में इसका सुन्दर उदा० है—"ज्यों-ज्यों गरजत घन सन्ताप जाते रैनि, चम्पा बरनीको लखि त्यों-त्यों लरजत हीउ। ज्यों-ज्यों चहुँ ओर घोर सोर मोर दादुरकी, पौनको झकोर जोर त्यों-त्यों डरपत जीउ"।

१३. मौग्ध्य अलंकार—विश्वनाथ द्वारा स्वीकृत भेद—"अज्ञानादिव या पृच्छा प्रतीतस्यापि वस्तुनः। वल्लभस्य पुरः प्रोक्तं मौग्ध्यं तत्तत्त्ववेदिभिः"(सा०द०, ३ : १०७), अर्थात् जानी तथा समझी हुई वस्तुओंके सम्बन्धमें भी अनजान बनकर प्रियके सामने अथवा स्वयं प्रियसे ही उन वस्तुओंके सम्बन्धमें जिज्ञासा प्रकट करना 'मौग्ध्य' कहलाता है। हिन्दीमें सुन्दर तथा तोषने (सु० नि०, पृ० ११८-२३) इसका विवेचन किया है। वस्तुतः सरलतामें एक अकृत्रिम निसर्गदत्त शोभा होती है, किन्तु मौग्ध्यमें चतुराई मिली रहती है। बिहारीकी नायिकाका 'मौग्ध्य' आकर्षक है—

"ढोरी लाई सुननकी कहि गोरी मुसकात। थोरी थोरी सकुच सो भोरी भोरी बात" (बि० र०, ५२२)।

१४. विक्षेप अलंकार—विश्वनाथ द्वारा स्वीकृत भेद—"भूषाणामर्धरचना मिथ्या विष्वगवेक्षणम्। रहस्याख्यानमीषच्च विक्षेपो दयितान्तिके" (सा०द०, ३ : १०८), अर्थात् वस्त्राभूषणोंकी अस्तव्यस्तता, अकारण इधर-उधर देखना, अकस्मात् प्रियसे रहस्यमय बातको कह जाना आदि नायिकाकी चेष्टाएँ 'विक्षेप' कहलाती हैं। सुन्दर तथा तोषने ऊपरके भेदोंके साथ इसका विवेचन किया है। ये चेष्टाएँ विमुग्ध करनेवाली होती हैं—"इत उत चितै कछौ कछु भारे काहि हँसि देत। पहिरि अधूरे आभरन मन पूरो करि लेत" ('हरिऔध' : र० क०)।

१५. कुतूहल अलंकार—विश्वनाथ द्वारा स्वीकृत भेद—"रम्यवस्तुसमालोके लोलता स्यात्कुतूहलम्" (सा० द०, ३ : १०९), सुन्दर वस्तुके अवलोकनसे उत्पन्न मनकी चंचलता। हिन्दीमें तोषने 'सुधानिधि'में इसका विवेचन किया है (पृ० ११८-३३)। चंचलता तथा उत्सुकतापूर्वक जब भोली नायिका किसी नवीन या आश्चर्यजनक वस्तु अथवा पदार्थको देखती है तब उसकी इस भंगिमाको 'कुतूहल' कहते हैं। संसारकी वस्तुओंमें नायिकाकी रुचिकी सूचना देनेके कारण यह प्रियको अच्छा ही लगता है। 'हरिऔध'का 'रसकलस'का उदाहरण इस प्रकार है—"जाकी कलित कथानको तू भाखति कथनीय। सो कित को है कौन है कैसो है कमनीय"।

१६. चकित अलंकार—विश्वनाथ द्वारा स्वीकृत भेद—"कुतोऽपि दयितस्याग्रे चकितं भयसम्भ्रमः" (सा० द०, ३ : १९०), अर्थात् कभी-कभी प्रियके सम्मुख नायिकाके अकारण भय-विभ्रम-प्रदर्शनमें भी एक शोभा है, जिसे 'चकित' अलंकार कहा जाता है। हिन्दीमें तोषने सर्वप्रथम 'सुधानिधि'में (पृ० ११८-३३) इसका लक्षण दिया है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रके इस पदमें इसका सुन्दर उदाहरण है—"तू केहि चितवत चकित मृगी सी। केहि ढूँढ़त तेरो कहा खोयो क्यों अकुलात लखात ठगी सी" (चन्द्रा०, १)।

१७. केलि अलंकार—भोजराजने 'केलि' तथा 'क्रीडित' दो भिन्न अलंकारोंके नाम लिये हैं। उनके उदाहरणके आधारपर कहा जा सकता है कि 'क्रीडित' बाल्यकाल, कौमार और यौवनके साधारण विहारका नाम है। प्रियतम-विषयक हो जानेपर इसे 'केलि' कहते हैं। विश्वनाथके अनुसार—"विहारः सह कान्तेन क्रीडितं केलिरुच्यते", प्रियतमके साथ विहार-क्रीड़ा 'केलि' कही जाती है (सा० द०, ३ : ११०)। हिन्दीमें संस्कृतके (विश्वनाथके) विभाजनको माननेवाले आचार्यों तथा विवेचकोंके अतिरिक्त तोषने इसपर विचार किया है (सु० नि०, पृ० ११८-३३)। कुट्टमितसे इसका यही अन्तर है कि उसमें सुखका अनुभव करते हुए भी सीत्कार आदि दुःखव्यंजक क्रियाएँ की जाती हैं, पर 'केलि'में विहारमें विशेष सहयोग दिया जाता है। बिहारीका यह अंकन इसका उदाहरण है—"नाक मोरि नाहीं करै नारि निहोरे लेय। छुवत ओठ बिय आँगुरिन बिरी बदन प्यो देइ" (बि० र०, ६३२)।

१८. हसित अलंकार—विश्वनाथने 'हास'को स्वीकार किया था। विश्वनाथके अनुसार—"हसितं तु वृथा हासो यौवनोद्भेदसम्भवः" (सा० द०, ३ : १०९), अर्थात् यौवनके आगमनपर नायिकाका जब-तब अकारण हँसना 'हसित' अलंकार कहलाता है। इसको हिन्दीमें तोषने 'हावों'के अन्तर्गत स्वीकार किया है (सु० नि०, पृ० ११८-३३)। बिहारीके दोहेमें इसका सहज निर्वाह हुआ है—"नैकु हँसौंही बानि तजि, लख्यौ परतु मुहुँ नीठि। चौका चमकनि चौंधिमें परति चौंधि सी डीठि" (बि० र०, १००)।

१९. रति अलंकार—नन्ददास द्वारा स्वीकृत। उनके अनुसार यह प्रेमकी अत्यन्त विकसित स्थिति है, जिसमें नायिका अपने प्रेमीके विचारमें इतनी डूब जाती है कि उसे किसी प्रकारकी बाह्य चेतना नहीं रह जाती—"मनकी गति पियतैं इहि ढार, समुद्र मिली जिमि गंगाधार। तनक बात जो पियकी पावै, सौ बिरियाँ सुनि तृपति न आवै" (र० मं०, पृ० ३६७-७०)। इसका उल्लेख अन्य किसीने नहीं किया है। हरिश्चन्द्रकी 'चन्द्रावली' नाटिकामें चन्द्रावलीमें इसका मार्मिक अंकन है—"बिछुरे पियके जग सूनो भयो, अबका करिये कहि पेखिये का। जिन आँखिनमें तुव रूप बस्यो, उन आँखिनसों अब देखिये का" (अं० २)।

२०. बोधक या बोध हाव—सर्वप्रथम हिन्दीके आचार्य केशवने 'हाव'के अन्तर्गत इसे स्वीकार किया है—"गूढ़ भावको बोध जहँ कैसव औरहि दोह" (र० प्रि०, ६ : ५४)। रसलीन तथा भानुने इसे 'क्रियाविदग्धा'के समान माना है। पद्माकरका लक्षण है—"ठानि क्रिया कछु तिय पुरुष बोधन करै जु भाव" (जगद्वि०, ४६२)। इसके अन्तर्गत नायिका अथवा नायक द्वारा सङ्केतके समय तथा स्थान आदिके शारीरिक अथवा अन्य प्रकारके चातुर्यपूर्ण संकेत आते हैं। केशवके उदाहरणमें यह भाव व्यक्त होता है—"चन्दन चित्र कपोलनि लोपिके अंजन आँजि बिदा करि दीनी" (र० प्रि०, ६ : ५५)। इसमें नायिका द्वारा दूतीको दिया हुआ संकेत छिपा है। इसी प्रकार पद्माकरकी नायिकाने वक्षपर "नन्दलालको मालती माल दिखाई" (जगद्वि०, ४६३) और अपना संकेत भी इस बहाने दे दिया।

२१. उद्दीपन हाव—तोषने 'सुधानिधि'में इस हावको स्वीकार किया है। इसके अनुसार नायिकाओंकी वे चेष्टाएँ, जिनमें नायककी बढ़ी हुई रति और अधिक उद्दीप्त होती है (पृ० ११८-३३)। रसलीन और दासने इसे 'हावों'में सम्मिलित किया है। —आ० प्र० दी०

स्वभाव-विरोध—दे० 'वर्णन-दोष', तीसरा।

स्वभावोक्ति—गूढार्थप्रतीतिमूल अर्थालंकार; इसे जाति भी कहते हैं। भामहके पूर्व इसे अलंकारोंमें स्वीकृत माना गया है। पर भामहने उल्लेख करके भी अलंकारोंको वक्रोक्तिमूलक माननेके कारण इसे स्वीकार नहीं किया है। दण्डीने 'आद्या अलंकृति' कहकर इसकी प्रतिष्ठा की है और कहा है—"जातिक्रियागुणद्रव्यस्वभावाख्यानमीदृशम्। शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदीप्सितम्" (काव्या०, २ : १३), अर्थात् जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्यके स्वभाववर्णनका शास्त्रोंमें साम्राज्य है और काव्यमें भी यही अभीष्ट है। इसके सम्बन्धमें यह चर्चा आगे भी रही है कि इसे अलंकार माना जाय या नहीं। वामन तथा कुन्तकने इसे अलंकार

नहीं माना है। कुन्तकका कहना है कि यदि स्वभावोक्ति अलंकार है तो फिर और क्या रह जाता है। वे काव्यके दो प्रकार ही मानते हैं—स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति। अभिनवगुप्तने भी इसी मतका समर्थन किया है। इसके विपरीत रुद्रट आदिने वाच्यका वैचित्र्य स्वीकार कर स्वाभावोक्तिको भी अलंकारके अन्तर्गत स्वीकार किया है। मम्मटने उन्हींके आधारपर लक्षण दिया है—"जिसमें बालक आदि (पदार्थों)-की प्रकृतिसिद्ध क्रिया अथवा उनके रूपका वर्णन होता है" (का० प्र०, १० : १११)। विश्वनाथने इसे अलंकार माननेके लिए—"दुरूहार्थस्वक्रियारूपवर्णनम्" (सा० द०, १० : ९३) कहा है, अर्थात् पदार्थके रूप और क्रियाका ऐसा वर्णन, जो कविकी सूक्ष्म दृष्टिसे ही देखा जा सकता हो। काव्योत्कर्ष अन्य अलंकारोंके समान इसकी भी शर्त है। हिन्दीके प्रथम आचार्य केशवने दण्डीके आधारपर इसे स्वीकार किया है और इसकी सर्वप्रथम चर्चा की है। दण्डीने यदि रूपके साक्षात् प्रकाशनका उल्लेख किया था तो केशवने गुणको भी सम्मिलित किया है—"जाको जैसो रूप गुण कहिये ताही साज" (क० प्रि०, ९ : ८)। हिन्दीके अन्य आचार्योंने प्रायः जयदेवके आधारपर इसका लक्षण दिया है—"साँचो तैसो बरनिये, जैसो जाति स्वभाव" (शि० भू०, ३२७) अथवा—'बरनत जहाँ केवल जाति स्वभाव' (पद्मा०, २६२)। उदा०—"भोजन करत चपल चित, इत उत औसर पाइ। भागि चले किलकात मुख, दधि ओदन लपटाय" (रा० च० मा०, १ : २०३), अथवा—"बिहँसति सकुचति सी दियें, कुच आँचर-बिच बाँह। भीजे पट तटकौं चली, न्हाइ सरोबर माँह" (बि० र०, ६९३)। स्वभावोक्ति ऐसा व्यापक अलंकार है, जो सभी देशों और युगोंके कवियोंके द्वारा समान रूपसे अपनाया गया है। जो श्रेष्ठ कवि है, उनकी दृष्टि जीवनके सूक्ष्म पर्यवेक्षणकी ओर अवश्य रहती है और उसीका चित्रमय वर्णन यह अलंकार है। जायसी, सूर तथा तुलसीमें तो इस प्रकारके वर्णन सर्वत्र मिलेंगे ही, रीतिकालीन कवियोंमें भी सूक्ष्म दृष्टिकी कमी नहीं है। आधुनिक युगमें इस प्रकारके वर्णनोंका आग्रह और बढ़ा है। —र०

स्वयं–सृष्टिके पूर्व या महाप्रलयके उपरान्त समस्त तत्त्वों-(दे०)को आत्मसात् करके तत्त्वरूपा शक्ति परमशिवमें अधिष्ठित हो जाती है (वामकेश्वरतन्त्र, ४ : ५)। इस अवस्थामें परमशिव अपने निर्गुण, निरंजन, निरुपाधि रूपमें कार्य, कारण एवं कर्तृत्वसे अतीत होकर और कुल-अकुलके भेदोंसे ऊपर उठकर अव्यक्त परमतत्त्व रूपमें विराजमान रहते हैं। 'सिद्ध सिद्धान्त संग्रह', १ : ४ में परमशिवकी इस अवस्थाको 'स्वयं' कहा गया है—"कार्य्यकारणकर्तृत्वं यदानास्ति कुलाकुलम्। अव्यक्तं परमं तत्त्वं स्वयं नाम तदा भवेत्"। —रा० दे० सिं०

स्वयंदूतिका–दे० 'दूती'।

स्वयंभू-लिंग–हठयोगी शरीरमें तीन लिंगोंकी स्थिति मानते हैं–स्वयंभूलिंग, बाणलिंग एवं इतर लिंग। इन्हीं लिंगत्रयका भेदन करके सहस्रारस्थ परमशिवसे सामरस्यकी अभिलाषा रखनेवाली कुण्डलिनी ऊर्ध्वगमन करती है (षट्चक्रनिरूपण, ५१)। मेरुदण्ड जहाँ पायु और उपस्थके बीचमें जुड़ता है, वहाँ अग्निचक्र नामक चक्र है। स्वयम्भूलिंग इसी चक्रमें स्थित है। इस चक्रके थोड़ा ऊपर चार दलोंका एक कमल है जिसे मूलाधार चक्र कहते हैं। ('षट्चक्रनिरूपण', ५१) पर टीका करते हुए बताया गया है, कि अग्निचक्र मूलाधार-कमलकी कर्णिकामें स्थित है, अतः स्वयम्भूलिंगको मूलाधारमें स्थित माना जा सकता है। माना भी गया है।—रा० सिं०

स्वरभंग–दे० 'सात्त्विक भाव', चौथा।

स्वर्णरस–मध्यकालीन तान्त्रिक सम्प्रदायोंमें किसी ऐसे रस-रसायनकी खोजको बहुत महत्त्व दिया जाता था, जो धातुसे छूनेपर उसे सोना कर दे और कायामें स्थित होनेपर साधकको अजर-अमर कर दे। उस रसको सिद्ध कर लेनेवाला ही **सिद्धाचार्य** कहलाता था। बादमें गुह्य साधनाओंमें रस-रसायन और स्वर्ण आदिके विभिन्न प्रतीकात्मक अर्थ लिये जाने लगे और **रसेश्वरदर्शन** (दे० 'रसेश्वरदर्शन', चित्तमारण)में इसे और भी नये अर्थ दिये गये। सिद्धोंने स्थान-स्थानपर संकेत किया है कि यह रस और कुछ नहीं, **प्रज्ञोपाय**-भावना है और सोना वस्तुतः शून्यज्ञानको ही कहते हैं। करुणारूपी नाव उसी शून्यताज्ञानरूपी सोनेसे भरी है—'सोने भरियें करुणा नावी' (चर्यापद)। नाथ-पन्थमें भी सुनारके रूपकसे इस सोनेका वर्णन किया गया है। बिन्दुके हथौड़ेसे यह सोना गढ़ा जाता है, विकारूपी कोयले जलाकर इसका परिशोधन होता है। यह सोना वस्तुतः शून्यावस्था या गगनोपम अवस्था है (गोरखबानी)। सन्तोंने इसका भक्तिपरक अर्थ लिया है और रामके प्रेमको ही वास्तविक रसायन या रस माना है। उन्हींसे 'परचे' होनेपर शरीर स्वर्णकी भाँति हो जाता है। "अब घरि प्रकट भयो राम राई, सोधि सरीर कनककी नाई। बिन परचै- तन काँच कथीरा, परचै कंचन भया कबीरा" (क० ग्रं०)। —ध० वी० भा०

स्वशब्दवाच्य–दे० 'रस-दोष', पहला।

स्वाँग–स्वाँग लोकनाट्यका अत्यन्त जनप्रिय रूप है। यह प्रायः गाँवोंकी निम्न जातियों—भंगी, धोबी, धानुक, कुर्मी चमार, पासी, काछी, बारी आदिके द्वारा समूह-नृत्यके रूपमें प्रस्तुत किया जाता है। इसमें पुरुष-पात्रोंकी बहुलता होती है, किन्तु स्त्री-पात्र भी कम नहीं होते। दो-दोके जोड़ेमें वे नाचते, गाते और हँसी-ठठोलीसे भरे संलाप करते हैं। उनके साथके गाने-बजानेवाले लोग उनके किसी मार्मिक स्थलकी पंक्ति या वाक्यको पकड़ लेते हैं और आत्मविभोर होकर ढोलक, मजीरा, विशेषतया फूलका बेला जोर-जोरसे बजाते हैं। स्वाँग करनेवाले उनकी लयोंपर नाच करते रहते हैं और मौन होकर नारी-पुरुषोंकी शृंगारिक चेष्टाओंका चतुर्विध अभिनय करते हैं। स्वाँगियोंके संकेतोंपर जब गाने-बजानेवाले थक जाते हैं तो वे फिर स्वाँग करने लगते हैं। इनमें कभी स्त्री पुरुषका वेष धारण कर अभिनय करती है और कभी पुरुष स्त्रीका अभिनय करता है। दोनों हृदय खोलकर लज्जाहीन होकर शृंगार एवं विनोदकी बातें करते हैं और झूम-झूमकर नाचने-गाने लगते हैं। इन स्वाँगोंमें नृत्य, गीत, लय, संवादकी प्रधानता रहती है। अंगी रस हास्य होता है। इनका रंगमंच खुला होता है, किन्तु इनमें रंगमंचीय शिष्टाचार नहीं होते और

न दृश्यान्तरोंका ही विधान होता है। बारी-बारीसे स्वाँगिये अपना-अपना स्वाँग दिखाते हैं। सभी दर्शक, कुछ खड़े और कुछ सामने पासमें बैठे रहते हैं। स्वाँगियोंकी विशेष स्वाँग-विशिष्टताओंकी प्रशंसा करते-करते वे भी हर्षमें चिल्ला उठते हैं। स्वाँगिये मांस-मदिराका भी खान-पान करते हैं और रात-रातभर नाचते-गाते और बजाते रहते हैं। प्रायः शादी-ब्याहों, जन्मोत्सवों, त्योहारों और फसलके कटनेपर स्वाँग-नृत्य हुआ करते हैं। इस प्रकार नाट्यकला-की दृष्टिसे स्वाँगके इस रूपको भाण, भाणिका, प्रहसन, प्रस्थानक और संलापकके निकट मान सकते हैं। —सं०

स्वागता–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। 'पिंगलसूत्र' (६ : २४) और 'नाट्यशास्त्र' (१६ : ३७)में इसका लक्षण दिया गया है; र, न, भ, ग गके योगसे यह वृत्त बनता है (ऽ।ऽ, ।।।, ऽ।।, ऽऽ) तथा ६-५ वर्णोंपर यति होती है। केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा०—"राज-राज दशरत्थ तनै जू। रामचन्द्र भुवचन्द्र बने जू। त्यो बिदेह तुम हूँ अरु सीता। ज्यों चकोर तनया शुभ गीता" (रा० चं०, ५ : ३३)। —पु० शु०

स्वात्मनिष्ठ (काव्य)–अंग्रेजीके 'सब्जेक्टिव'के लिए प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द। हिन्दीमें इसके लिए अन्य अनेक शब्दों-का प्रयोग होता है, जैसे **अध्यान्तरिक, स्वानुभूतिमूलक** (शुक्ल), स्वानुभूतिव्यंजक, स्वानुभूतिपरक, स्वानुभूति-निरूपक, स्वात्मपरक, वैयक्तिक, आत्मनिष्ठ, व्यक्तिप्रधान, भावप्रधान और अन्तर्वादी।

यों तो साहित्यमात्र रचयिताकी आत्माभिव्यक्ति होता है, परन्तु स्वात्मनिष्ठ काव्यमें उसकी आत्माभिव्यक्ति सहज और सीधे ढंगकी होती है। उसमें कवि अत्यन्त आत्मीयता-के साथ, बिना किसी संकोचके, पूर्ण स्वच्छन्दतापूर्वक अपनी स्वानुभूति व्यक्त करता है। बाह्य विषयसे केवल प्रेरणा ग्रहण करके उसका उपयोग वह अपनी निजी प्रतिक्रियाओं-को अन्तर्मुखी दृष्टिकोणसे व्यक्त करनेमें करता है। अतः ऐसी रचनाओंमें वस्तुका यथातथ्य वर्णन या चित्रण साधा-रणतया नहीं मिल सकता, उसपर कविकी भावनाका अपेक्षा-कृत गहरा आरोप रहता है। वस्तुके साथ कवि तादात्म्य स्थापित कर लेता है और उसे अपने व्यक्तित्वसे आच्छादित करके प्रायः ऐसे रूपमें उपस्थित कर देता है, जो वस्तुके यथार्थ रूपसे सर्वथा भिन्न जान पड़ता है। स्वात्मनिष्ठ काव्यकी दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता उसकी तीव्र संवेगात्म-कता भी है। गहन भावानुभूति ही स्वात्मनिष्ठ काव्यके रूपमें व्यक्त हो सकती है। अतः यह काव्य **गीतके** रूपमें अभिव्यक्ति पाता है।

परन्तु साहित्यरूपके अतिरिक्त स्वात्मनिष्ठता साहित्य-का एक गुण—उसकी एक विशेषता और भी है, यह गुण साहित्यके अन्यान्य रूपों, विशेषतया निबन्ध, संस्मरण, कहानी और लघु उपन्यासमें भी कभी-कभी मिल जाता है। गीतिकी स्वात्मनिष्ठतासे अन्य साहित्यरूपोंकी अध्यान्त-रिकतामें संवेगात्मक तीव्रता अपेक्षाकृत कम होती है, फलतः उनमें गीतिके अन्य गुण, संगीतात्मकता आदिकी मात्रा भी कम होती है।

साहित्यमें स्वात्मनिष्ठताका आदर आधुनिक युगकी विशेषता है, प्राचीनोंके निकट तो साहित्यमें रचयिताकी तटस्थता—व्यक्तिनिरपेक्षता ही श्रेयस्कर थी, क्योंकि उसीके द्वारा उनके विचारसे रचनामें गौरव, गरिमा और उच्च गम्भीरता लायी जा सकती है। इसी कारण गीतिकाव्यको उन्होंने महत्त्व नहीं दिया (दे० 'साहित्यरूप', 'गीतिकाव्य' 'वस्तुनिष्ठ')। —ब्र० व०

स्वात्मपरक (काव्य)–दे० 'स्वात्मनिष्ठ'(काव्य)।

स्वाधिष्ठान–दे० 'हठयोग'।

स्वाधीनपतिका (नायिका)–अवस्थानुसार नायिकाके विभाजनका एक भेद; विशेषके लिए दे० 'नायिका-भेद'। सर्वप्रथम भरत द्वारा उल्लिखित। भानुदत्तने उसे "सदा साऽऽकूतनाशाकर प्रियतमा" कहा है (र० म०, पृ० २२९), अर्थात् जिसका प्रिय उसके अभिप्रायके अनुरूप आदेशका पालन करे। केशवने उसके लिए 'गुनबँध्यो सदा रहे' कहा है। मतिरामने 'रूप गुन रीझि अधीन' रहनेकी बात कही है। नायिकाकी यह स्थिति स्वकीयाके मुग्धा, मध्या तथा प्रौढा रूपोंमें, परकीया तथा सामान्यामें वर्णित है। मुग्धा स्वाधीनपतिकाके वर्णनमें नायकके मधुर आकर्षण और शृंगार आदिका अंकन रहता है—"नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास यहि काल। अली कली ही सों बिँध्यौ आगे कौन हवाल" (बिहारी), अथवा—"हौं सखी लाजन जाति मरी मतिराम सुभाव कहा कहौं पीके। लोग मिलै घर घेरु करैं अबही ते ये चेरे भये दुलहीके" (रसराज, १७९)। मध्या स्वाधीनपतिका अपने प्रियके इस भावके प्रति अधिक सजग है और स्वीकार करते हुए लज्जाका अनुभव करती है—"लाज मरौं गुरु लोगनमें इनके मनमें सु न आवत है घिन। देव कहा कहौं सेवक ह्वै रहे कैसऊ कोउ चवाव करौ किन" (ब्र० भा० नायिका०, २ : ३८९)। पद्माकरकी इस नायिकाकी भंगिमासे नायक वशंवर्ती हो चुका है—"आधे आधे दृगनि रति आधे दृगनि सु लाज। राधे आधे बचन कहि सुबस किये ब्रजराज" (जगद्वि०, १ : २२०)। प्रौढा स्वाधीनपतिकाकी अधीनता स्पष्टतः नायक स्वीकार करता है और नायिकामें लज्जा और संकोचकी स्थिति कम हो चुकी है—"अंग राग औरै ऊँगन करत कछू बरजी न। पै मेंहदी न दिवाइहौ तुममों पगन प्रबीन" (वही, १ : २२२)। सेनापतिने महावर लगानेके प्रसंगको लिया है—"चूमि हाथ नाहके लगाइ रही आँखिन सों, एहो प्राननाथ! यह अति अनुचित है" (ब्र० भा० नायिका०, २ : ३९९)। परकीया स्वाधीनपतिका नायकको उसके अनुरागके लिए सतर्क करती है—"विषम लोग ब्रजगामके लाल! बिलोको बास। बढ़ि जैहै इन दृगनके हाँसहि ते उपहास" (मतिराम : रसराज : १८६)।

स्वानुभूतिनिरूपक (काव्य)–दे० 'स्वात्मनिष्ठ' (काव्य)।

स्वानुभूतिपरक (काव्य)–दे० 'स्वात्मनिष्ठ' (काव्य)।

स्वानुभूतिमूलक (काव्य)–दे० 'स्वात्मनिष्ठ' (काव्य)।

स्वानुभूतिव्यंजक (काव्य)–दे० 'स्वात्मनिष्ठ' (काव्य)।

स्वेद–दे० 'सात्त्विक अनुभाव', दूसरा।

हंस–पुरुषतत्त्व और प्रकृतितत्त्वका संयोग या एकीभाव ही हंस है। माया और कंचुकों (दे० 'कंचुक')के सहारे शक्ति ही प्रकृतितत्त्वका स्थूल और ससीम रूपाकार ग्रहण करती

है। 'हंस'का 'हं' शिव है और 'स' शक्ति। 'हं' पुरुषवाची है, 'स' स्त्रीवाची। संसार इसी हंसद्वन्द्वसे निर्मित हुआ है—"पुंप्रकृत्यात्मको हंसस्तदात्मकं इदं जगत्" (प्रपंचसारतन्त्र)।

हंसको उलट देनेपर वेदान्तियोंका 'सोऽहं' बन जाता है। 'सोऽहं ज्ञानकी पराकाष्ठा है, जहाँ पहुँचकर ज्ञानी यह समझने लगता है कि 'मैं वही हूँ', अर्थात् 'मैं ही ब्रह्म हूँ'। तान्त्रिकों, सिद्धों और सन्तोंने सोऽहंसे मिलते-जुलते अर्थमें भी हंस शब्दका बहुशः प्रयोग किया है। 'ज्ञानार्णवतन्त्र'-(XXI-२२) में चार आत्माओं—आत्मा, ज्ञानात्मा, अन्तरात्मा और परमात्माका उल्लेख है, जो चित्कुण्डकी सृष्टि करती हैं और जिन्हें जान लेनेपर साधक जन्म-मरण-से मुक्त हो जाता है। इनमें आत्मा प्राणरूपिणी है, अर्थात् वह सभी जीवोंमें प्राणरूपमें वर्तमान है। यह जीवात्मा है जो श्वासोच्छ्वासके द्वारा अपनेको अभिव्यक्त करती है। श्वासको 'स' और निश्वासको 'ह' माननेके कारण श्वासोच्छ्वाससे अभिव्यक्त होनेवाली यह आत्मा हंस स्वरूपी है—"उच्छ्वासे चैव निःश्वासे हंस इत्यक्षरद्वयं। तस्मात्प्राणस्तु हंसाख्य आत्माकारेण संस्थितः"। ज्ञानात्मा साक्षात् साक्षीरूपक है। यह सबको देखती है। इसीके द्वारा सबकी एकताका ज्ञान होता है। यह बुद्धिपर प्रतिच्छायित रहती है, फिर भी उससे इतनी मिल नहीं जाती कि अलग पहचानी न जा सके। यह वैसे ही मिली हुई फिर भी अलग रहती है, जैसे जलमें प्रतिबिम्बित चाँदनी जो जलमें मिली हुई रहकर भी अलग पहचानी जा सकती है। इस प्रकार यह बुद्धि तथा समस्त व्यक्तिनिष्ठ या मानसिक तत्त्वोंका आधार है। अन्तरात्माका अर्थ है रहस्यात्मक या सूक्ष्म आत्मा जो जगत्के कण-कणमें व्याप्त है, परमात्माके जिस स्वरूपकी झलकसे सम्पूर्ण विश्व प्रतिभासित है। इन तीनों आत्माओंसे ऊपर परमात्मा है। यही हंस है, जिसे केवल योगी ही जान सकता है। तारा (ओंकार) इसकी चोंच है, आगम और निगम इसके दो पंख है, शिव-शक्ति चरण है, तीनों बिन्दु इसकी तीन आँखें है। यह परमहंस है—हंस, अर्थात् जीवकी सर्वोच्च स्थिति। जब यह परमहंस जगत्प्रपंचमें व्याप्त होता है समस्त भूत—पृथ्वी, जल, आकाश, वायु, अग्नि क्रमशः उद्बुद्ध हो जाते हैं और अविद्याके तालाबमें मोहपंकसे उद्भूत जगत्कमलपर यह हंस केलि-कल्लोल करता है। जब यह प्रपंचसे विरत और संहाररूपी हो जाता है तो आत्माको प्रत्यक्ष कर देता है। इस स्थितितक पहुँचकर इसका पक्षित्व समाप्त हो जाता है और 'सोऽहं'की स्थिति प्राप्त हो जाती है। 'ज्ञानार्णवतन्त्र' इसी स्थितिको परमात्मा कहता है। परमात्मा, अर्थात् शुद्ध और मुक्त आत्मा। कबीर जिस हंसाकी बात बार-बार कहते हैं, वह यही है। कुछ लोग मोक्षको भी हंस कहते है (षट्चक्रनिरूपण, ४९ वें श्लोककी व्याख्या)। 'हंस' शब्दको 'हन्ति' शब्दसे निष्पन्न माना जाता है, जिसका अर्थ 'गति' है। सायण-के मतसे हंसको इसीलिए आदित्य कहते है, क्योंकि यह अप्रतिहत गतिवाला है। हंसको इसलिए भी सूर्य कहा जाता है, क्योंकि सूर्य जिस प्रकार अन्धकारका नाश करता है, उसी प्रकार 'हंस' अज्ञान और मोहके अन्धकार-को मिटाता है (षट्चक्रनिरूपण, ४२)। 'षट्चक्र विवृत्ति' में विश्वनाथने हंसका अर्थ 'प्राणाश्रय, प्राणवायुसमाश्रय' किया है (श्लोक ११की वृत्ति)। हंसका अर्थ अजपामन्त्र भी किया गया है (नि० तं०, ४)। छः देहोंमेंसे 'हंसदेह'नामक एक देह (दे० 'देह') भी माना गया है। —रा० सि०

हंस छंद–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद; 'प्राकृत-पैंगलम्'में इस छन्दका उल्लेख है (पृ० २ : ३७)। यह वृत्त भगण और दो गुरुओंके योगसे बनता है (ऽ।।, ऽऽ)। भानु-ने इसका नाम पंक्ति दिया है। केशवने प्रयोग किया है—"आवत जात; राजके लोगा। मूरति धारी; मानहु भोगा" (रा० चं०, २ : १)। —पु० शु०

हंसाल–दे० 'झूलना'।

हकीकत–सूफी मार्गकी वह मंजिल है, जिसमें साधकको परमात्माके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान होता है और उसके साथ वह 'एकमेक' हो जाता है (दे० 'सूफी-मार्ग')। —रा० पू० ति०

हठयोग–"योगदर्शन'में योगकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि "योग चित्तवृत्तियोंके निरोधको कहते है"। चित्त-वृत्तियोंके प्रवाहको संसारकी ओर जानेसे रोककर अन्तर्मुखी करनेकी एक प्राचीन भारतीय साधनापद्धति, जिसमें प्रसुप्त **कुण्डलिनी**को जाग्रत् कर नाडीमार्गसे ऊपर उठानेका प्रयास किया जाता है और विभिन्न चक्रोंमें स्थित करते हुए उसे शीर्षस्थ सहस्रार चक्रतक ले जाया जाता है। हठयोग-साधनाकी मुख्य धारा शैव रही है और मत्स्येन्द्र-नाथ तथा गोरखनाथ उसके प्रमुख आचार्य माने गये है। गोरखनाथके अनुयायी प्रमुख रूपसे हठयोगकी साधना करते थे और उन्हें नाथ योगी भी कहा जाता था। किन्तु शैवधाराके अतिरिक्त बौद्धोंने भी हठयोगकी पद्धति अपनायी थी। **विज्ञानवाद**ने चित्तको ही एकमात्र सत्य माना था, अतः उसमें चित्तकी **एकाग्रता**के लिए जिस **झाण (ध्यान)-साधनाका विधान** है, वह भी योगकी ही एक प्रक्रिया है। कालान्तरमें योगाचार-सम्प्रदायने पूर्ण रूप-से हठयोगको प्रधानता दी और वज्रयानी सिद्धोंने उसमें प्रज्ञोपायकी गुह्य साधना भी जोड़ दी।

योगदर्शनके अनुसार योगके आठ अंग बताये गये हैं। उन्हीं अंगोंके आधारपर इसे **अष्टांग योग** भी कहा जाता है। वे अंग इस प्रकार हैं—१. 'यम', २. 'नियम', ३. 'आसन', ४. 'प्राणायाम', ५. 'प्रत्याहार', ६. 'धारणा', ७. 'ध्यान', ८. 'समाधि'।

यम प्रमुखतः आचरणके विशोधनकी अवस्था है, जिसमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहका पालन किया जाना चाहिये। **नियम** पाँच हैं—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान। **आसन**में अंगोंकी विभिन्न स्थितियोंमें शरीरको अचल किया जाता है। आसन चौरासी प्रकारके बताये गये हैं। जब योग-साधनाओंके साथ गुह्य तान्त्रिक साधनाओंका सम्मिश्रण हुआ तो यही चौरासी आसन मैथुन साधनाके चौरासी आसनोंका बोध कराने लगे। **प्रत्याहार**के द्वारा इन्द्रियाँ अपने विषयसे असम्पृक्त हो जाती है और साधक इन्द्रियोंपर एकाधिकार कर आत्म-

शक्तिको एकत्र करता है। **धारणा**में प्रत्याहारके द्वारा एकत्र शक्तिको एकाग्र कर किसी एक बिन्दुपर केन्द्रित कर दिया जाता है। ध्यानकी अपरिवर्तित अविच्छल अवस्थाको **ध्यान** कहते हैं। सांख्य दर्शनमें ध्यानको निर्विषय मनकी संज्ञा दी गयी है। **समाधि** अन्तिम अवस्था है। ध्यानकी अवस्थातक साधकको ध्याता, ध्यान और ध्येयकी चेतना रहती है, पर समाधिमें ध्यान और ध्याता भी ध्येयमें लीन होकर एकात्म हो जाते हैं।

बौद्धोंने अष्टांगयोगके स्थानपर **षडंगयोगको** मान्यता दी। उसके छः अंग इस प्रकार थे—प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति तथा समाधि। प्रत्याहारमें बाह्य रूपादिमें अप्रवृत्ति, वैधातुक बुद्ध बिम्बका दर्शन, ध्यानमें सर्वधर्म-शून्यतामें चित्तप्रवृत्ति, प्राणायाममें ललना-रसनाका मार्ग-निरोध कर मध्यमार्ग अवधूतीसे प्राणवायुका संचालन, धारणामें बिन्दुका प्राणप्रवेश, अनुस्मृतिमें इष्टदेव-का प्रतिबिम्बाकारदर्शन तथा समाधिमें प्रज्ञा और उपायके अद्वयकी सिद्धि बतायी गयी है।

हठयोगकी प्रमुख प्रक्रिया है श्वास-निरोधके द्वारा कुण्ड-लिनीको जगाकर ऊपरकी ओर प्रेरित करना। कुण्डलिनी वास्तवमें मूल शक्ति है, जो सर्पिणीके समान मेरुदण्डके निम्नतम बिन्दु जो पायु और उपस्थके मध्य भागमें है और **स्वयंभू लिंग** कहलाता है उसके त्रिकोणाकार **अग्नि-चक्र**में साढ़े तीन कुण्डली मार कर सोती है। इसीलिए इसे बार-बार **साँपिन, नागिन** आदि भी कहा गया है। जब-तक यह सोती है, जबतक सारा तेज नीचेसे क्षरित होता रहता है और प्राणशक्ति क्षीण होती रहती है। पर जब **मूल बन्ध** लगाकर योगी इसे जगा देते हैं, तब यह मेरु-दण्डके सहारे ऊपर चढ़ने लगती है।

मेरुदण्डमें छ चक्र माने गये है, जिन्हें आकारकी समता-के कारण **कमल** भी कहा जाता है। गुदाके समीप **मूला-धारचक्र** है जिसमें चार दल है। नाभिके पास **स्वाधि-ष्ठानचक्र** है, जिसमें छ दल है। इससे तनिक ऊपर दस दलवाला **मणिपूर** और हृदयके पास बारह दलवाला अनाहत चक्र है। कण्ठके पास **विशुद्धाख्य चक्र** है जिसमें १६ दल होते हैं। भ्रूमध्यमें **आज्ञाचक्र** है, जिसमें दो ही दल हैं। इस स्थानको **त्रिकुटी** कहा जाता है और इसकी विशेषता यह है कि इस स्थानपर पहुँचकर दिव्य-दृष्टिकी प्राप्ति होती है और फिर साधनामें अवरोहका भय नहीं रहता। इन छः चक्रोंको भेदकर कुण्डलिनी अन्तिम चक्रमें पहुँचती है, जिसमें सहस्रदल है, इसलिए उसे **सहस्रारचक्र या सहस्रदल कमल** कहते हैं। इसीको **शून्यचक्र, शून्यमण्डल** या **गगनमण्डल, आकाश-मण्डल** आदि भी कहा गया है और शिवका वासस्थान होनेके कारण इसे **कैलास**की संज्ञा भी दी गयी है। कैलासके कारण इसीमें **मानसरोवर**की कल्पना की गयी है; जिसमें निर्लिप्त चित्तरूपी **हंस** निवास करता है।

बौद्ध पद्धतियोंमें छः चक्रोंके स्थानपर पहले पाँच चक्र और बादमें चार चक्र माने गये हैं। योगाचारमें **ज्ञान-(ध्यान)साधना**के द्वारा चित्तमें पाँच महाभूतोंका उदय कराकर उन्हें ऊपरकी ओर प्रवृत्त कराया जाता था। इसके लिए वे पाँच अन्तस्थ चक्रोंका ध्यान करते थे। हिन्दू योग-की भाँति अन्तिम चक्र मस्तिष्कमें न स्थित होकर हृदयदेश-में माना जाता था। सिद्धाचार्योंने इसमेंसे पंच महाभूतों-को अन्तस्थ करना स्वीकार किया, किन्तु ध्यानकी **एकाग्रता-**(एकाग्रता)को प्रमुख प्रणाली न मानकर प्रज्ञोपायघर्षणको प्रमुख प्रणालीके रूपमें मान्यता दी। अन्तिम चक्रका स्थान भी उन्होंने हिन्दू योगपद्धतिके अनुसार कपालमें रखा, किन्तु चक्रोंकी संख्या उन्होंने चार कर दी। मूलमें **नाभि-चक्र** है, जिसमें **बोधिचित्त** शुक्रके रूपमें वास करता है। हृदय प्रदेशमें हृत्कमल, कण्ठप्रदेशमें सम्भोग और मस्तक-में उष्णीष कमल है। इन चारों चक्रोंमें बुद्धकी चतुष्काया-का वास है, उष्णीषमें **महासुखकाया,** कण्ठमें **सम्भोग-काया,** हृदयमें **धर्मकाया** और नाभिमें **निर्माणकाया।** इसीके आधारपर इनका नाम **महासुखचक्र, सम्भोग-चक्र, धर्मचक्र** और **निर्माणचक्र** भी है। निर्माणचक्र चौसठ पँखुरियोंवाला है, धर्मचक्रमें बत्तीस पँखुरियाँ, सम्भोगचक्रमें सोलह और उष्णीषमें चार पँखुरियाँ हैं। **चार काया, चार क्षण, चार मुद्रा, चार आनन्द,** इस प्रकार वज्रयानी योगपद्धतिमें चारकी संख्याका विशेष महत्त्व है।

इन चक्रोंके वेधनका मार्ग नाड़ियोंमेंसे होकर है। नामके अतिरिक्त बौद्धोंने नाड़ियोंकी संख्या तथा महत्त्व लगभग वही माना है, जो हिन्दू योगपद्धतिमें माना गया है। 'हठयोगप्रदीपिका'में कहा गया है कि वैसे तो शरीरमें बहत्तर हजार नाड़ियाँ हैं, पर उनमेंसे केवल **सुषुम्ना** ही शक्तिकी वाहिका है, शाम्भवी है। सुषुम्नामेंसे ही कुण्डलिनी ऊपरकी ओर प्रवाहित होती है। सुषुम्ना वस्तुतः तीन नाड़ियोंसे बनी है। ऊपर **वज्रा,** उसके अन्दर **चित्रिणी** और उसके अन्दर **ब्रह्मनाड़ी** है। वस्तुतः ब्रह्मनाड़ीसे ही कुण्डलिनीका मार्ग है। सुषुम्नाकी बायी ओर **इड़ा** और दायी ओर **पिंगला** है। इसीको परवर्ती सन्त अनुप्रास मिलानेके लिए **इंगला-पिंगला** कहने लगे थे। वाम नासापुटका श्वास-प्रवाह इड़ासे होता है, दक्षिण नासापुटका श्वास-प्रवाह पिंगलामें। इड़ा शीतल स्वभावकी है, उसमें **चन्द्र**का वास है, उसे **गंगा** माना गया है, उसके अधिष्ठाता ब्रह्मा है। पिंगला उष्ण स्वभावकी है, उसमें **सूर्य**का वास है, उसे **यमुना** माना गया है, उसके अधि-ष्ठाता विष्णु है। इड़ाको **चन्द्रनाड़ी** तथा पिंगलाको **सूर्य-नाड़ी** भी कहते है। सुषुम्ना दोनोंके मध्यमें है, त्रिगुणमयी है, चन्द्रसूर्य-अग्नि-स्वरूपा है, **सरस्वती** है। इसके अधिष्ठाता शम्भु या शिव हैं। इसे सन्त लोग **सुखमन** भी कहते है। इन तीनों नाड़ियोंका **संगम** या **त्रिवेणी** ब्रह्मरन्ध्रमें होता है। यह ब्रह्मरन्ध्र मस्तकके मध्यमें परिकल्पित एक रन्ध्र है। योगियोंके प्राण इसी रन्ध्रको भेदकर निकलते है और इसीसे उन्हें ब्रह्मत्वकी प्राप्ति होती है। इसीको **दशमद्वार (दसवाँ दुआर)** भी कहा गया है, क्योंकि शरीरके अन्य नव द्वार तो सदा खुले रहते हैं। केवल **ब्रह्मरन्ध्र** बन्द रहता है, जिसे साधनाके द्वारा खोलना पड़ता है। इसी ब्रह्मरन्ध्रके खुलते ही सहस्रारचक्रसे **अमृतरस** या कैलास-वासी शिवके मस्तकस्थ चन्द्रमासे **सोमरस** झरने लगता है और योगीको अमरकायाकी उपलब्धि होती है। इसीलिए

इस ब्रह्मरन्ध्रको **उलटा कुवाँ** या कूप भी कहा गया है, जिसमें सोमरस या अमृततत्त्व भरा हुआ है।

बौद्ध प्रणालीमें नाड़ियोंका लगभग यही रूप स्वीकार किया गया है, केवल उनके नाम पृथक् हैं। इड़ाको **ललना,** पिंगलाको **रसना,** सुषुम्नाको **अवधूती** कहा गया है। इन्हींको **तिअड्डा, गुंडुरी** या **त्रिनाड़ी** कहते हैं। ललना वामस्थित है, चन्द्रस्वभावकी है, प्रज्ञारूप है, रात्रिरूपिणी है। रसना सूर्य है, दिवस है और उपायरूप है। इन दोनोंके मध्यमें **अवधूतिका** है, जो प्रज्ञा और उपायसे परे सहज मार्ग है, **नैरात्मदर्शन**की भाषामें ज्ञेय-ज्ञान या ग्राह्य-ग्राहक विवर्जित है। वह क्लेशोंको धुननेवाली है, अतः उसका नाम अवधूती है। इसीको **मध्यमार्ग** भी कहा गया है। **नैरात्मा, सहजसुन्दरी, जोगिनी** आदि भी अवधूतिकाकी संज्ञाएँ हैं। इसीको **वधू** भी कहा जाता है। यही नाड़िका **रोचनद्वार**तक जाती है, जो बौद्ध पद्धतिका दशम द्वार ब्रह्मरन्ध्र है। चर्यापदोंमें अवधूतीके दो रूप बताये गये है, परिशुद्धा जिसको **डोम्बी** कहते है, जिससे बोधिचित्त समागम करता है और अपरिशुद्धा जिसे **छिनाली** कहते है, क्योकि उसमें भेदज्ञान बना रहता है। ललना और रसनाके कुछ और भी नाम है—**आली-काली, धमन-चमन, रज-शुक्र, प्रज्ञा-उपाय**। आलीके अर्थ है 'अ'से प्रारम्भ होनेवाली स्वरमाला और कालीके अर्थ हैं 'क' से प्रारम्भ होनेवाली व्यंजनमाला। तन्त्रमें स्वर रात्रिसे सम्बद्ध है और व्यंजन दिनसे। अतः ललना रात्रि-रूपिणी आली है, रसना दिवसरूपिणी काली। धमन-चमनका अर्थ बहुत स्पष्ट नही हो सका है (दे० 'स्टडीज इन तन्त्राज' : पी० सी० बागची)।

हठयोगकी परिणतिमें साधकको **समाधि**की उपलब्धि हिन्दू-पद्धतियोंमें भी मानी गयी है और बौद्ध-पद्धतियोंमे भी। नाथपन्थी इस समाधिमे कुण्डलिनीरूपी शक्तिका सहस्रार स्थित शिवसे मिलन स्वीकार करते है। बौद्ध-पद्धतिमे इस समाधिमे प्रज्ञा और उपायका मिलन बताया है और सन्त-साहित्यमें इस समाधिको आत्मा और परमात्माके मिलन और विवाहके रूपमें परिकल्पित किया गया है। इस समाधिमे दो प्रकारकी उपलब्धियाँ होती थीं। एक तो साधकको ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति होती थी, साथ ही उसे कुछ अतिप्राकृतिक-शक्तियाँ भी प्राप्त होती थीं। इन्हीको **सिद्धियाँ** कहते थे और इनसे सम्पन्न योगीको **सिद्ध** कहा जाता था। —ध० वी० भा०

हतवृत्त—दे० 'शब्द-दोष', दूसरा 'वाक्य-दोष'।

हथियार—हथियार, बाण, भल्लि, छुरी, तरवारि, रंदा (छोलना), तीर, कमान आदि शब्दोंका व्यवहार संतोंने गुरुके उपदेशोंके लिए किया है। कबीर कहते है—"सतगुरु मारा बान भरि, धरि करि सूधी सूँठि। अंगि उघारै लागिया, गई दया सौं फूटि" (क० ग्रं० : ति०, पृ० १३९)। "हँसै न बोलै उनमुनी, चंचल मेल्हा मारि। कह कबीर भीतरि भिदा, सतगुरु कै हथियार" (वही, पृ० १३८)। "सतगुरु लई कमान करि, बाहन लागी तीर। एक जु बाहा प्रीति सौं, भीतरि भिदा सरीर" (वही, पृ० वही)। "गुरु सिकलीगर कीजिए, ग्यान मसकला देह। सबद छोलना छोलिकै, चित दरपन करि लेइ" (वही, पृ० १३६)। "मारा है मरि जाइगा, बिन सर थोथी भालि। पड़ा कराहै बिरिछ तरि, आजु मरै कै कालिह" (वही, पृ० १४२)।—रा० दे० सि०

हरिगीतिका—मात्रिक सम छन्दका एक भेद। 'प्राकृत-पैंगलम्'में इसके प्रत्येक चरणमें १६, १२की यतिसे २८ मात्रा और अन्तमें ग (ऽ) माना गया है (१ : १९१)। भिखारीदासने २८ मात्राके चरणवाले छन्दको गीतिका कहा है—"इहि भाँति होडु न बावरी बलि, चेत जी महँ ल्यावहूँ" (छन्दो०, पृ० ३२)। भानुके अनुसार जहाँ-जहाँ चौकल होता है, उसमे जगण ।ऽ। अति निषिद्ध है तथा अन्तमे रगण ऽ।ऽ कर्णमधुर होता है (छ० प्र०, पृ० ६७)। हिन्दीके कवियोंने इस छन्दके प्रयोगमें कुछ स्वतन्त्रता बरती है। कभी-कभी यति १४, १४पर लगायी गयी है। सम्भवतः कवियोने 'हरिगीतिका' मात्राके चार बार प्रयोगमे चरण मानकर ऐसा किया है। तुलसीदासने इस प्रकारके प्रयोग अनेक बार किये है। "अवतरेउ अपने भगत हित, निजतन्त्र नित रघुकुल मनी" (रा० च० मा०, १ : ५१)। तुलसीने कहीं-कहीं बराबर १४-१४ पर यतिका प्रयोग किया है, परन्तु आन्तरिक लयका क्रम बना रहा है। सूदनने प्रत्येक जंगके हर एक अंकके अन्तमें इस छन्दका प्रयोग किया है, पर यति मध्यमें है—"भूपाल पालव भूमिपति, बदनेस नन्द सुजान है" (सु० च०)। पद्माकरने 'हिम्मत बहादुर बिरुदावली'में इस छन्दका प्रयोग बहुत किया है, पर अनेक स्थलोंपर जान-बूझकर मध्यमें यति दी है—"बर बरनियें बिरुदावली, हिम्मत बहादुरकी भूपकी", और इन्होंने दो-दो चरणोंके तुकका प्रयोग भी किया है। केशवकी 'रामचन्द्रिका'में भी कहीं यति मध्यमे है—"तब कोपि राघव शत्रुको सिर, बाण तीक्षण उद्धरचौ" (१४ : ३४)। रघुराज सिंहके 'राम स्वयम्वर'में भी १४-१४ पर यति मिल जाती है—"यक यकन धनु तोरन कथा, पुनि-पुनि बोलाय सुनावहीं" (प्र० ४३१)। इससे सिद्ध होता है कि हिन्दीमें इस छन्दकी शास्त्रस्वीकृत यतिके अतिरिक्त १४-१४पर यतिका प्रयोग भी होता आया है।

इस छन्दका प्रयोग सभी रसोंमें समान रूपसे हो सकता है। अपनी मध्यविलम्बित गतिके कारण इसमें कथाका निर्वाह स्थिर क्षणोपर अच्छा होता है। चन्दके 'पृथ्वीराजरासो'मे वीर रस तथा शृंगार रसके स्थलोंपर इसका प्रयोग हुआ है। तुलसीने सभी रसोंमें इसका सफलतापूर्वक प्रयोग किया है, उनका यह प्रिय छन्द है। मानसमें यह छन्द वीर, शृंगार, करुण तीनों रसोंमें बहुत सघन भावावेगके क्षणोमें अथवा बहुत ही सजीव चित्रणके अवसरपर प्रयुक्त हुआ है। पर 'पार्वतीमंगल'में विशिष्ट शैलीके रूपमें इसका उपयोग हुआ है। 'मानस'के लंका-काण्डमें वीरके साथ भयानक तथा वीभत्स रसकी अवतारणामें भी यह छन्द प्रयुक्त हुआ है। सूदन (सु० च०) तथा पद्माकर (हि० ब० बिरु०)ने वीररसमे इसका प्रयोग किया है। सुन्दरदासने अपने 'ज्ञानसमुद्र' तथा 'भजन-ख्याल अष्टक'में शान्त रसमें इसका उपयोग किया है। भूषणने इस नामसे गीतिका (दे०) छन्दका प्रयोग किया है। आधुनिक कालके कवियोंने भी इसको अपनाया है।

मैथिलीशरण गुप्तका भी बहुत प्रिय छन्द है। तुलसीदासकी रचनासे उदा०—"कल-गान सुनि मुनि ध्यान त्यागहिं काम कोकिल लाज ही। मंजीर नूपुर कलित कंकन, ताल गति बर बाजहीं" (रा० च० मा०, १ : ३२२)।

हरिण–यह एक उपमान है, जिसे सिद्धों, नाथों तथा संतोंने समान रूपसे प्रयुक्त किया है। कहीं-कहीं नायकको हरिण नाम दिया गया है। जिस प्रकार हरिण संगीतके प्रति आकृष्ट होता है, उसी प्रकार साधक कभी-कभी विषयके प्रति आकृष्ट हो जाता है। कहीं-कहीं हरिणीको माया तथा हरिणको ज्ञान रूपमें परिकल्पित किया गया है। (दे० 'अहेरी')। —ध० वी० भा०

हरिपद–मात्रिक अर्द्धसम छन्द। हरिपदके पहले और तीसरे चरणोंमें १६-१६ मात्राएँ और दूसरे और चौथेमें ११-११ मात्राएँ होती हैं। सूदनने अपने 'सुजानचरित'में इसका प्रयोग किया है। साहित्यमें इसके प्रयोग भी बहुत अधिक नहीं मिलते, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि पदोंके मुख्य भागमें इस छन्दका व्यवहार कवियोंने किया है, क्योंकि इसमें स्वाभाविक लय है। जैसे कबीरकी एक पंक्तिमें हरिपद जैसी ध्वनि निकलती है—"तत करि तांति धर्म करि डाँडी, सतकी सारि लगाइ। मन करि निहचल आसण निहचल, रसनाँ रस उपजाइ"। इस प्रकार पदोंमें सूर, मीराँ आदिने भी इसका प्रयोग किया है। —रा० सिं० तो०

हरिप्रिया–मात्रिक सम दण्डक छन्दोंका एक भेद, जिसे चंचरीक भी कहते हैं (भिखारीदास : छन्दो०)। इसके चरणमें १२, १२, १२, १०की यतिसे ४६ मात्रा तथा अन्तमें गुरु (ऽ) होता है (छं० प्र० : पृ० ७८)। इसे केशव (रा० चं०) तथा सूर और तुलसीने पद-शैलीके अन्तर्गत प्रयुक्त किया है। इसकी मृदु-मन्थर गति अनाकुल भावोंके वर्णनके लिए बहुत उपयुक्त है—"जसुमति दधि मथन करति, बैठी बर धाम अजिर, ठाढ़े हरि हँसति नान्हि, दतियन छबि छाजे" (सू० सा०, सभा० : पृ० ७६४)। प्रभातियोंके वर्णनमें तुलसी तथा सूर दोनोंने इस छन्दके प्रयोगसे विशेष-सौन्दर्य उत्पन्न किया है—"जागिये गोपाल लाल, आँनद निधि नन्दलाल, जसुमति कहै बार-बार, भोर भयो प्यारे"। (वही, वही : ८२३)।

हरिलीला–वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। केशवने तगण, भगण, दो जगण और गुरु-लघुके योगसे नवीन वृत्तका प्रयोग किया है (ऽऽ।, ऽ।।, ।ऽ।, ।ऽ।)। इसका अन्तिम वर्ण दीर्घ करनेसे वसन्ततिलकका छन्द बन जाता है। उदा०—"बैठे विशुद्ध गृह अग्रज अग्र जाय। देखी वसन्त ऋतु सुन्दर मोददाय। बौरे रसाल कुल कोमल केलिकाल। मानों आनन्द ध्वज राजत श्री विशाल" (रा० चं०, २३ : ३२)। —पु० शु०

हर्ष—प्रचलित तैंतीसमें एक संचारी; भरतने इसके विभावोंमें इच्छित वस्तुकी प्राप्ति, प्रिय व्यक्तिसे मिलन, मानसिक सन्तोष, देवताओं, स्वामी तथा राजाकी कृपा आदिको तथा अनुभावोंमें प्रसन्न मुद्रा, मुख-नेत्रोंकी चमक, मधुर वचन, आलिंगन, कम्प, अश्रु तथा प्रस्वेद आदिको स्वीकार किया है (ना० शा०, ७ : ६१ ग)। विश्वनाथके अनुसार इसका लक्षण निम्नलिखित है—"हर्षस्त्विष्टावाप्तेर्मनःप्रसादोऽश्रुगद्गदादिकरः" (सा० द०, ३ : १६५), अर्थात् इष्टकी प्राप्तिसे उत्पन्न मनकी प्रसन्नताका नाम हर्ष है। आनन्दाश्रु, गद्गद स्वर इसके अनुभाव हैं। हिन्दी रीतिकालके आचार्योंमें अनेकने 'नाट्यशास्त्र'की परम्पराका अनुसरण किया है—"प्रिय दर्शन श्रवनादिते, होय जु हिये प्रसाद। बेग स्वेद आँसू प्रलय, हर्ष लखौ निरबाद" (भाव० : संचारी०)। पर अन्योंने "जहाँ कौन हू बात तें उर उपजत आनन्द" माना है (जगद्वि०, ५३२)।

एक प्रश्न यह उठ सकता है कि क्या इष्टकी प्राप्तिसे ही 'हर्ष'का प्रादुर्भाव होता है? इष्टके पानेकी सम्भावनाका संवाद पाकर भी तो आनन्दाश्रु दिखाई पड़ते हैं। पर इष्टकी प्राप्तिसे उत्पन्न हर्ष तथा उसके पानेकी सम्भावनाके समाचारसे उत्पन्न हर्षमें मात्राका अन्तर है। दूसरेकी अपेक्षा पहला अधिक गहरा होगा। पहलेको 'हर्ष' तथा दूसरेको 'प्रसन्नता'की संज्ञा दी जानी चाहिये। एक दूसरा प्रश्न भी हो सकता है कि क्या किसी लक्ष्यकी ओर भी यह प्रेरित करता है? वस्तुतः अन्य भावोंकी भाँति यह भी एक विशेष लक्ष्यकी ओर प्रवृत्त होता है। किसी नायिकाको देखकर नायकके मनमें हर्षोल्लास होता है और बादमें वह उसके परिरम्भण आदिकी ओर प्रवृत्त होता है। अतः स्पष्ट है कि हर्ष आश्रयको विषयवस्तुकी ओर आकृष्ट करता है।

हर्षकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि जहाँ अमर्ष, चिन्ता, दैन्य, भय आदि वर्तमान स्थितिमें परिवर्तनकी अपेक्षा रखते हैं, वहाँ हर्ष वर्तमान स्थितिको बनाये रखना चाहता है। यों तो हर्ष भी स्वतन्त्र रूपमें आ सकता है, पर प्रायः यह किसी अंगी भावके अंगरूपमें ही अभिव्यक्त होता है। देवकी नायिका प्रियकी प्रतीक्षामें हर्षसे उल्लसित है—"आवन सुन्यो है मनभावनको भामिनी, सु नैनन अनन्द आँसू ढरकि ढरकि उठै। देव दृग दोऊ दौरि जाति द्वार देहरीलौं, केहरीसी साँसें खरकि खरकि उठै"। इसी प्रकार पद्माकरकी नायिका प्रिय को पाकर हर्षित है—"पद्माकर त्यों हुलसै पुलकै तनु सिन्धु सुधाके अन्हैयतु है। मन पैरत सो रसके नदमें अति आनँदमें मिलि जैयतु है" (जगद्वि०, ५३३)। —व० सिं०

हल्लीश (हल्लीशक)–एक अंकका उपरूपक है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल इसे यूनानी 'इलीशियन मिस्ट्री-डान्सके प्रभावसे उत्पन्न बताते हैं। हरिवंशके विष्णुपर्वमें 'रास'के स्थानपर सर्वप्रथम इसके प्रयोगकी चर्चा मिलती है। इसमें सात, आठ या दस स्त्रियाँ होती हैं और एक उदात्त वचन बोलनेवाला पुरुष रहता है। कैशिकी वृत्तिका प्रयोग, मुख-प्रतिमुख सन्धियोंका निर्वाह तथा ताल, लय, गायनका बाहुल्य रहता है। —वि० रा०

हसित–दे० 'स्वभावज अलंकार', अठारहवाँ।

हसित हास्य–दे० 'हास्य रस'।

हाकलि–मात्रिक सम छन्दका एक भेद। 'प्राकृतपैंगलम्'-(१ : १७३)के अनुसार इसमें १४ मात्रा प्रति चरणमें होती है और पूर्वार्द्धमें ११ अक्षर तथा उत्तरार्द्धमें १० अक्षरके चरण रहते हैं। भानुने तीन चौकलके बाद एक गुरुके प्रयोगको प्रधान लक्षण स्वीकार किया है (छं० प्र०, पृ० ४६)। भिखारीदासने इसका नाम हाकलिका दिया है

(छंदो०, पृ० २२)। केशव(वी० चं०)ने इसी नामसे प्रयोग किया है। पद्माकरने इस छन्दका व्यापक प्रयोग 'हिम्मत बहादुर बिरुदावली'में किया है। इन्होंने अनेक स्थलोंपर स्वतन्त्रता बरती है। किसी चरणमें मात्रा कम कर दी है तथा अन्तमें लघुका प्रयोग किया है—"निज खिलवतनिमें हास है, भय रूप दुरजन पास"(पृ० ३)। युद्ध-यात्रा-वर्णन तथा प्रशंसा आदिमें इसका प्रयोग किया गया है। उदा०—"पर तिय गुर तिय तूल गनै। पर धन गरल समान भनै" (भिखारीदास)।

हान, हानोपाय, हेय, हेयहेतु—योगदर्शनमें इनका क्रम है हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय। हेयका सामान्य अर्थ है त्याज्य। पतंजलिके अनुसार "परिणाम, ताप, संस्कार नाम त्रिविध दुःख तथा गुणों एवं वृत्तियोंके आपसी विरोधके कारण, विवेकशील व्यक्तिके लिए हरवस्तु दुःखपूर्ण है" (यो० सू०, २ : १५)। भूतकालमें व्यक्ति जिन दुःखोंको भोग चुका है, उन्हें त्यागनेका सवाल ही नहीं उठता। वर्तमान कालमें जो दुःख भोगे जा रहे हैं, उन्हें त्यागना भी कठिन है, इसीलिए पतंजलिका मत है कि दुःख और दुःखजनक पदार्थ हेय तो है, पर भविष्यमें आनेवाले दुःख ही सच्चे अर्थोंमें हेय है (यो० सू० २ : १६)। इन हेय (दुःखों)का कारण या **हेयहेतु** अविद्या है (यो० सू०, २ : २४)। पतंजलिके शब्दोंमें कहें तो "द्रष्टा और दृश्यका संयोग ही हेयहेतु है" (यो० सू०, २ : १७)। "मैं अमुक वस्तु या विषयका ज्ञाता हूँ", इस तरहका भाव अविद्या है, माया है। तुलसीदासने इसी बातको यों कहा है—" 'मैं' अरु 'मोर', 'तोर' 'तैं' माया"। यह माया या अविद्या हेयहेतु है। इसको उपशमित करने या उन्मूलित करनेको **हान** कहा गया है। 'अध्यात्मरामायण' (उत्तरकाण्ड, ५, ९)में कहा गया है—"अज्ञानमेवास्य हि मूलकारणं तद्धानमेवात्रविधौ विधीयते", अर्थात् अज्ञान ही संसारका मूल कारण है और इस अज्ञानका 'हान' (त्याग या नाश) ही इससे मुक्तिका उपाय है। चूँकि द्रष्टा और दृश्यका संयोग हेयहेतु (अविद्या) है, अतः इनके नाशके लिए इस संयोगको तोड़ देना आवश्यक है। पतंजलिने इसी संयोग विच्छेद या संयोगाभावको **हान** कहा है—यह हान ही कैवल्य है। इस हानकी उपलब्धिका साधन विवेक ख्याति या **हानोपाय** है (यो०सू०, २ : २६)। बुद्धि और पुरुषके भेदको विवेक कहा जाता है और तद्विषय प्रबलज्ञान या ख्याति ही विवेकख्याति कहलाती है। इसीके द्वारा आत्मा और अनात्माका ठीक-ठीक पार्थक्य अनुभूत होता है और अविद्या निर्मूल होती है। इस प्रकार दुःख और दुःखजनक पदार्थ **हेय** है, अविद्या **हेयहेतु** है, उसका त्याग या उच्छेद **हान** है, जो कैवल्यका दूसरा नाम भी है और इस कैवल्य या हानकी उपलब्धिका उपाय(हानोपाय) है अविप्लवा विवेकख्याति।

[सहायक ग्रन्थ—हरिहरानन्द आरण्यक : पातंजल योगदर्शन (हिन्दी)—सं० डॉ० भगीरथ मिश्र।] —रा० सिं०

हारमनी—यह अंग्रेजी शब्द है और संगीतके क्षेत्रसे लिया गया है। इससे विशेषतः सुरोंकी संगीतात्मक संगतिका ही बोध होता है, परन्तु लक्षणासे सामान्यतः संगतिमात्रका अर्थ लिया जाने लगा है। साहित्य और कलाके क्षेत्रमें संघटन, सामंजस्य और सन्तुलनकी एक विशेष स्थितिको व्यक्त करनेके लिए इसका प्रयोग किया जाता है। अर्थ-विधान, रूप-रचना और वर्ण-विन्यासमें 'हारमनी' प्रायः अधिकाधिक अपेक्षित मानी जाती है। —ज० गु०

हाल—'हाल'(भावाविष्टावस्था)से सूफी साधकोंका मतलब उस अवस्थासे है, जिसमें साधकके सभी मानवीय गुणों और व्यापारोंका अन्त हो जाता है। इस अवस्थामें उसके समस्त जागतिक प्रपंचोंका अवसान हो जाता है। परमात्माके ध्यानादिसे साधकके मनके भीतर एक आलोड़न पैदा होता है और धीरे-धीरे वह अपने अहंको खो बैठता है। हालकी अवस्थामें साधकके मनमें अल्लाहके सिवा और किसी प्रकार का ख्याल नहीं आता। परमात्माका प्रेम उसे सम्पूर्ण रूपसे आत्मसात् कर लेता है। साधककी चेष्टाकी यह अन्तिम अवस्था है। इसके बाद परमात्माकी कृपासे ही **फ़ना** और **बक़ा**की अवस्था उसे प्राप्त होती है। 'हाल'की अवस्था स्थायी नहीं होती। साधककी साधनाके अनुसार यह कभी कुछ क्षणोंके लिए और कभी कई घण्टोंके लिए और कभी कई-कई दिनोंतकके लिए आती है। साधक फिर अपनी प्रकृत अवस्थामें लौट आता है और तब उसके मन और हृदयपर भौतिक जगत्की वस्तुओंका अधिकार हो जाता है।

'हाल'की अवस्था लानेके लिए साधक नाना प्रकारकी **ज़िक्र**की क्रियाओंका सहारा लेता है। नामोच्चारण, ध्यान आदि भी इसमें सहायता पहुँचाते है। संगीत आदिके द्वारा भी साधकोंको हाल(भावाविष्टावस्था) की प्राप्ति हो जाती है। इस अवस्थामें जैसे साधक परमात्माके सौन्दर्यका साक्षात्कार करता रहता है। —रा० पू० ति०

हालमटंगा—एक प्रकारकी मेखला, जिसे धारण करनेके बाद योगीको भिक्षाके लिए निकलना ही पड़ता है(दे० 'गोरखनाथ एण्ड कनफटा योगीज' : ब्रिग्स, पृ० ११-१२)।—रा०सिं०

हालावाद—हालाका शाब्दिक अर्थ है मदिरा। मदिराका गुण है उसका नशा और तज्जन्य बेहोशी। इस बेहोशीमें कुछ कालके लिए अन्य सारी चिन्ताएँ और कष्ट विस्मृत हो जाते है और पीनेवाला उतने समयतक एक कल्पित लोकमें सुखी रहता है। साहित्यमें इस क्षणवादी दर्शनको हाला और उससे सम्बद्ध प्रतीकों—मदिरालय, प्याला, सुराही, साकीके माध्यमसे अभिव्यक्ति मिली और इसे हालावादकी संज्ञा प्राप्त हुई। इस प्रवृत्तिके अनुसार इस क्षणभंगुर और दुःखमय जीवनमें आनन्दके जो क्षण मिल सकें उनका भरपूर उपभोग करना चाहिये। हालावादीके अनुसार "प्रिये, इतनी मदिरा आज पिला दे, जिससे कि भूतके सन्ताप और भविष्यके भय भाग जायें' (खैयाम)।

हालावादका दर्शन अपने मूल स्थान फारसमें एक प्रकारका सूफी-दर्शन है। रूमी, उमर खैयाम, हाफिज, राबिया आदि फारसी सूफी कवियोंने शराब, साकी, प्याला आदिका प्रतीक बना, इनके माध्यमसे परोक्ष सत्ताकी चर्चा की और रोजा, नमाज आदि धर्मके बाह्याचारोंका खण्डन किया। यह बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है कि इस्लाम वैराग्यप्रधान धर्म है, पर उसके भीतरसे एक कलात्मक विद्रोह इन कवियों द्वारा प्रस्फुटित हुआ, जिसके अनुसार कवि जाहिदको

गालियाँ देना है, शराब पीनेका निमन्त्रण देना है और बुतपरस्तीपर गर्व करता हूँ। इन सूफी कवियोंने प्रेमकी अतिशय भावुकता और तन्मयताको शराबकी बेहोशीके प्रतीकरूपमें दिखाया। लौकिक प्रेम(साकीके प्रेम)को अलौकिक प्रेमका आधार और प्रतीक बनाया। ऊपरसे ये कविताएँ वासनात्मक हैं, पर भीतरसे आत्मा(आशिक) परमात्मा (माशूक)के विरह, सौन्दर्य और प्रेमकी पीर इनमें व्याप्त है।

सूफी तत्त्वदर्शनके इस प्रभावको हम मध्यकालीन हिन्दी साहित्यके कुछ कवियों(जैसे कबीर)के इस दावेमें देख सकते हैं, जिसमें वे ज्ञानकी शराब पीनेकी बात कहते हैं। परन्तु आधुनिक कालमें (जिस कालकी उपज 'हालावाद' शब्द है) न तो यह प्रभाव फारससे आया है और न सूफीदर्शन ही इसके पीछे है। अपनी एक विशेष अवसाद और निराशाकी स्थितिमें फिट्जजेराल्डने १९वीं शतीके मध्यमें उमर खैयाम-की पचहत्तर रुबाइयोंका अंग्रेजीमें अनुवाद किया, जो पहले-पहल सन् १८५९ ई० में 'रुबाइयात उमर खैयाम'के नामसे प्रकाशित हुई। ये विशिष्ट रुबाइयां खिन्नमनकी निराशा-जनक अभिव्यक्तियां हैं, जिनमें एक प्रकारके पलायनवाद (दे०)का स्पष्ट स्वर है—खैयामके अनुसार "तरुशाखाके तले रोटीका एक टुकड़ा, एक सुराही मदिरा, कविताकी पुस्तक और पार्श्वमें गाती हुई 'तुम' हो तो यह जंगल ही मेरे लिए स्वर्ग हो जाय"। यह पलायन और निराशा इसलिए है, क्योंकि "पैरोंके नीचे बालूकी जमीन खिसकती जाती है, न मालूम कितने बड़े-बड़े नरेश, सत्ताधारी एवं विद्वान् आये और चले गये, अतः जीवनशराब सूख जाय, इसके पहिले ही उठो और मदिरा पी-पीकर भूख बुझा लो"। "अनागत कल अभी उत्पन्न नहीं हुआ और विगत कल मर चुका है, अतः उनका चिन्तन छोड़ 'आज'को आनन्दमय बनाओ"। इस प्रकार फिट्जजेराल्ड (Fitzgerald) के अनुवादमें उमर खैयामका दर्शन विषमताओंसे पलायन कर कृत्रिम बेहोशीका क्षणवादी आनन्द ग्रहण करानेवाला है। हिन्दीमें यह दर्शन प्रमुखतः फिट्जजेराल्डके अनुवादके माध्यमसे ही आया।

यों तो सन् १९२० ई०के लगभग 'सरस्वती'में उमर खैयामकी यदा-कदा चर्चा होनी प्रारम्भ हो गयी थी, पर सन् १९३० ई०के आसपास खैयामकी रुबाइयोंके अनुवादों-की धूम मच गयी, पर ध्यान देने योग्य बात है कि इक-बाल वर्मा 'सेहर'को छोड़कर (इन्होंने मूल फारसीसे अनु-वाद किया) शेष सारे अनुवाद फिट्जजेराल्डके अनुवादके ही हुए। हालावादके मुख्य प्रयोक्ता एवं प्रवर्तकोंमें एक 'बच्चन'ने इस प्रश्नको उठाते हुए कि ऐसी क्या विशेष सामाजिक स्थिति थी, जिसने सारे देशका ध्यान खैयामकी ओर खींचा, कहा है कि वास्तवमें सन् १९३०का समय ही ऐसा था। प्रथम महायुद्धतक भारतीय मध्यवर्ग विकसित हो गया था। शिक्षा, साहित्य, राजनीति आदिमें वह महत्त्वपूर्ण बन चुका था। मध्यवर्गके जागरणसे सम्बन्धित सार्वभौम प्रवृत्ति 'व्यक्तिवाद' पूरे जोशमें थी (स्वयं राष्ट्रीय स्वाधीनता-संग्रामका मूल दर्शन व्यक्तिवादका ही रूप है)। परन्तु सन् १९२० ई०से लेकर १९३०-३१ ई०तक लगातार सत्याग्रह संग्रामकी असफलताओं, आर्थिक क्षेत्रमें विश्व-व्यापक मन्दी और बेकारीने उसे अत्यधिक निराश और विक्षुब्ध कर दिया था। सामाजिक नैतिक मूल्योंके क्षेत्रमें ज्ञान-विज्ञान और पश्चिमी सभ्यताने उसे उन्मुक्त मनवाला कर दिया था, पर प्राचीन मर्यादाएँ इतनी गहरी थीं कि उसकी यह स्वच्छन्दता खुलकर विकासके लिए अवकाश न पाती थी, अतः उसके मनकी कुण्ठाएँ बढ़ती जाती थीं। सारे देशमें अवसाद, निराशा और कुण्ठाओंका साम्राज्य था। ऐसे समयमें उमर खैयामकी रुबाइयोंने उपयुक्त भूमि प्राप्त की। "रुबाइयात मनुष्यकी जीवनके प्रति आसक्ति और जीवनकी मनुष्यके प्रति उपेक्षाका गीत है"। हिन्दीमें मैथिलीशरण गुप्त (मधुप), केशवप्रसाद मिश्र, 'बच्चन' तथा सुमित्रानन्दन पन्त द्वारा प्रस्तुत खैयामकी रुबाइयातके अनुवाद विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं।

यथार्थकी निराशा और तरुणाईकी रोमैण्टिक इच्छाओंके संघर्षमें पड़े युवकोंको एक शरणस्थली मिली मदिरालयमें। हाला, बाला, प्यालाके कल्पित लोकमें उसे वर्तमानके गम-को गर्क करनेका स्थान मिला। उसने उस नशेमें "ज्ञान, ध्यान, पूजा, पोथीके स्थूल बन्धनोंको तोड़नेकी पुकार की, क्योंकि जब वासना तीव्रतम थी, तब उसे संयमी बनना पड़ा था"। उसकी अल्पतम इच्छाओंको बन्दी बनानेवाला संसार क्रीडास्थल नहीं, कारागार था"। 'नवीन', 'हृदयेश', भगवतीचरण वर्मा, 'बच्चन', पद्मकान्त मालवीय, 'अंचल' आदि अनेक कवियोंने इस मादकता और बेहोशीके गीत गाये और इन सभीमें वही 'प्रतिपलके परिवर्तनके कारण क्षणवादी' दृष्टिकोण है। परिमाण और ख्यातिकी दृष्टिसे इनमें 'बच्चन'का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। सन् १९३३ ई०से १९३६ ई०के बीचमें उनके तीन काव्यसंग्रह 'मधुशाला', 'मधुबाला' और 'मधुकलश' क्रमशः निकले। सन् १९३३ ई०में ही उनका 'खैयामकी मधुशाला' अनुवाद भी आया। 'बच्चन'को ख्याति और तीखे आक्षेप दोनों मिले। आक्षेपों-का उत्तर देनेका प्रयास उन्होंने 'मधुकलश'में किया है। वासनामय और निराशायुक्त गीत गानेके आरोपका अपने काव्यमें उत्तर देते हुए उन्होंने कहा कि "चूँकि कवि अपने स्वप्नों, कल्पनाओं, आकांक्षाओंको मुक्त अभिव्यक्ति देता है, इसीलिए जग उसके उद्गारोंको वासनामय कहता है, पर यदि वह इन्हें छिपाता तो संसार उसे साधु समझता"। यों बच्चनने अपनी रचनाओंको एक प्रतीकार्थ भी देना चाहा है, जिसके अनुसार जीवनधाराके तटपर ही कविकी सुन्दर-सी बस्ती है, जिसे दुनिया मधुशाला कहती है। तनकी क्षणभंगुर नौकापर चढ़कर यात्री इस सरिता तटपर आकर स्वप्निल छाया प्राप्त करता है। शुष्क सत्य उपयोगी हो सकता है, पर सुखदायक तो सरस स्वप्न ही है। तथा जीवनमें खोना और पाना सब नियतिके आधीन है, पर यह तो दार्शनिकीकरण है। इस वादकी सारी विशेषता बच्चनकी इस एक पंक्तिमें है—"मिट्टीका तन, मस्तीका मन, क्षणभर जीवन मेरा परिचय"।

साहित्यिक दृष्टिसे छायावादकी वेदना और घनीभूत होकर निराशामें परिणत हो हालावादका रूप धारण कर लेती है। और जिन ऐतिहासिक परिस्थितियोंने प्रगतिवादको स्थापित किया, उन्होंने ही छायावादकी इस प्रक्षेपित धारा-

'हालावाद'को भी सन् १९३६ ई०में ही समाप्त कर दिया।

[सहायक ग्रन्थ—'खैयामकी मधुशाला'की भूमिका : 'बच्चन'; हिन्दी साहित्यके प्रमुख वाद और उनके प्रवर्तक : विश्वम्भरनाथ उपाध्याय; हिन्दी साहित्यमें विविध वाद : प्रेमनारायण शुक्ल।] —दे० शं० अ०

हाव—दे० 'अंगज अलंकार'। हिन्दीमें सम्पूर्ण सात्त्विक अलंकारोंके लिए प्रयुक्त शब्द।

हास—हास्य रसका स्थायी भाव हास है। 'साहित्यदर्पण'-(१ : १७६)में कहा गया है—"वागादिवैकृतैश्चेतोविकासो हास इष्यते", अर्थात् वाणी, रूप आदिके विकारोंको देखकर चित्तका विकसित होना 'हास' कहा जाता है। पण्डितराजका कथन है—"जिसकी, वाणी एवं अंगोंके विकारोंके देखने आदिसे, उत्पत्ति होती है और जिसका नाम खिल जाना है, उसे 'हास' कहते हैं"। भरतने कहा है कि दूसरोंकी चेष्टाके अनुकरणसे 'हास' उत्पन्न होता है तथा यह स्मित, हास एवं अतिहसितके द्वारा व्यंजित होता है "स्मितहासातिहसितैरभिनेयः" (ना० शा०, ७ : १०)। भरतने त्रिविध हासका जो उल्लेख किया है, उसे 'हास' स्थायीके भेद नहीं समझना चाहिये। केशवदासने चार प्रकारके हासका उल्लेख किया है—मन्दहास, कलहास, अतिहास एवं परिहास तथा अन्योंने छः प्रकारका हास बताया है—स्मित और हसित, विहसित और उपहसित, अपहसित और अतिहसित। 'हरिऔध'के अनुसार जब नेत्रों तथा कपोलोंपर कुछ विकास हो तथा अधर आरंजित हों, तब स्मित होता है, यदि नेत्रों एवं कपोलोंके विकासके साथ दाँत भी देख पड़ें तो हसित होता है, नेत्रों और कपोलोंके विकासके साथ दाँत दिखाते हुए जब आरंजित मुखसे कुछ मधुर शब्द भी निकले, तब विहसित होता है, विहसितके लक्षणोंके साथ जब सिर और कन्धे कँपने लगें, नाक फूल जाय तथा चितवन तिरछी हो जाय, तब उपहसित होता है। आँसू टपकाते हुए उद्धत हासको उपहसित तथा आँसू बहाते हुए ताली देकर ऊँचे स्वरसे ठहाका मारकर हँसनेको 'अतिहसित' कहते हैं। वास्तवमें इन्हें हास स्थायीके भेद मानना युक्तिसंगत नहीं है। जैसा 'हरिऔध'ने कहा है, सभी स्थायीभाव वासना रूप हैं, अतएव अन्तःकरणमें उनका स्थान है, शरीरमें नहीं। स्मितहसितादि शरीरसे सम्बद्ध व्यापार हैं, अतएव ये हसन-क्रियाके ही भेद हैं। अश्रु, हर्ष, कम्प, स्वेद, चपलता इत्यादि 'हास' स्थायीके साथ सहचार करनेवाले व्यभिचारी भाव हैं। उदाहरण—"मैं यह तोहीं मैं लखी भगति अपूरब बाल। लहि प्रसाद माला जु भौ तनु कदम्बकी माल" (बि० स०, ४७०)। प्रेमी द्वारा स्पर्श की हुई मालाके धारण करनेसे नायिकाके रोमांचित हो जानेपर नायिकाके प्रति सखीके इस विनोदमें 'हास' भावकी व्यंजना है, हास स्थायी प्रस्फुटित नहीं है। —रा० ति०

हास्य रस—हास्य रस नव रसोंके अन्तर्गत स्वभावतः सबसे अधिक सुखात्मक रस प्रतीत होता है, पर भरत (३, ४ श० ई०)के 'नाट्यशास्त्र'के अनुसार यह चार उपरसोंकी कोटिमें आता है। इसकी उत्पत्ति शृंगार रससे मानी गयी है (६, ३९)। इसको स्पष्ट करते हुए भरतने आगे लिखा है कि वह शृंगारकी अनुकृति है—"शृंगारानुकृतिर्या तु स हास्य इति संज्ञितः" (६ : ४०)। यद्यपि हास्य शृंगारसे उत्पन्न कहा गया है, पर उसका वर्ण शृंगार रसके 'श्याम' वर्णके विपरीत 'सित' बताया गया है—"सितो हास्यः प्रकीर्तितः" (६ : ४२)। इसी प्रकार हास्यके देवता भी शृंगारके देवता 'विष्णु'से भिन्न शैव 'प्रथम', अर्थात् शिवगण है। यथा—"हास्यः प्रमथदेवतः" (६ : ४४)।

हास्य रसका स्थायी भाव हास और विभाव आचार, व्यवहार, केशविन्यास, नाम तथा अर्थ आदिकी विकृति हैं, जिसमें विकृतवेषालंकार 'धार्ष्ट्य, लौल्य, कलह, असत्प्रलाप, व्यंग्यदर्शन, दोषोदाहरण आदिकी गणना की गयी है। ओष्ठ-दंशन, नासा-कपोल स्पन्दन, आँखोंके सिकुड़ने, स्वेद, पार्श्वग्रहण आदि अनुभावोंके द्वारा इसके अभिनयका निर्देश किया गया है तथा व्यभिचारी भाव आलस्य, अवहित्थ (अपना भाव छिपाना), तन्द्रा, निद्रा, स्वप्न, प्रबोध, असूया (ईर्ष्या, निन्दा-मिश्रित) आदि माने गये हैं।

साहचर्य भावसे हास्य रस शृंगार, वीर और अद्भुत रसका पोषक है। शान्तके भी अननुकूल नहीं है। आधुनिक साहित्यमें हास्यके जो रूप विकसित हुए हैं उनपर बहुत कुछ यूरोपीय चिन्तन और साहित्यका प्रभाव है। वे सब न तो शृंगारसे उद्भूत माने जा सकते हैं और न 'नाट्यशास्त्र'की व्यवस्थाके अनुसार सहचर रसोंके पोषक ही कहे जा सकते हैं।

हास्यकी उत्पत्तिके मूल कारणके सम्बन्धमें भी पर्याप्त मतभेद मिलता है। प्राचीन भारतीय आचार्योंने उसे 'राग'-से उत्पन्न माना है, पर फ्रायड आदि आधुनिक मनोवैज्ञानिक उसके मूलमें 'द्वेष'की भावनाका प्राधान्य मानते हैं। यूरोपीय दार्शनिकोंने अन्य स्वतन्त्र मत व्यक्त किये हैं (काव्यमें रस; अप्र० नि०, पृ० ४१४-१५)।

शारदातनय (१३ श० ई०)ने रजोगुणके अभाव और सत्त्व गुणके आविर्भावसे हास्यकी सम्भावना बतायी है और उसे प्रीतिपर आधारित एक चित्त-विकारके रूपमें प्रस्तुत किया है। "...स शृंगार इतीरितः। तस्मादेव रजोहीनात्समत्वाद्धास्यसम्भवः" (भा० प्र०, पृ० ४७)। अभिनवगुप्त (१०-११ श० ई०)ने सभी रसोंके आभास (रसाभास)-से हास्यकी उत्पत्ति मानी है—"तेन करुणाद्याभासेष्वपि हास्यत्वं सर्वेषु मन्तव्यम्" (अ० न० भा०, पृ० २९७)। इस प्रकार करुण, बीभत्स आदि रसोंसे भी विशेष परिस्थितिमें हास्यकी सृष्टि हो सकती है। 'करुणोऽपि हास्य एवेति' कहकर आचार्यने इसे मान्यता भी दी है। विकृतिके साथ-साथ अनौचित्यको भी इसीलिए उत्पादक कारण बताया गया है। अनौचित्य अनेक प्रकारका हो सकता है। अशिष्टता और वैपरीत्य भी उनकी सीमामें आते हैं।

हास्य रसके भेद कई आधारोंसे किये गये हैं। एक आधारपर है हास्यका आश्रय। जब कोई स्वयं हँसे तो वह 'आत्मस्थ' हास्य होगा, पर जब वह दूसरेको हँसाये तो उसे 'परस्थ' हास्य कहा जायगा। कदाचित् 'आत्मसमुत्थ' और 'परसमुत्थ' भी इन्हींको कहा गया है। 'नाट्यशास्त्र'में गद्यभागमें पहले शब्द-युग्मका प्रयोग हुआ है और श्लोकमें दूसरेका (६ : ४९ तथा ६१)। जगन्नाथ (१७-१८ श०

ई०)ने इन भेदोंको स्वीकार तो किया है, पर व्याख्या स्वतन्त्र रीतिसे की है। उनके अनुसार आत्मस्थ हास्य सीधे विभावोंसे उत्पन्न होता है और परस्थ हास्य हँसते हुए व्यक्ति या व्यक्तियोंको देखनेसे उपजता है। इनके अतिरिक्त भावके विकास क्रम अथवा उसके तारतम्यको भी आधार मानकर हास्यके छः भेद किये गये हैं, जो अधिक विख्यात हैं। इनको प्रकृतियोंकी दृष्टिसे उत्तम, मध्यम और अधम इन तीन कोटियोंमें निम्नलिखित क्रमसे रखा गया है : उत्तम—१. स्मित, २. हसित। मध्यम—३. विहसित, ४. उपहसित। अधम—५. अपहसित, ६. अतिहसित। "स्मितमथ हसितं विहसितमुपहसितं चापहसितमतिहसितम्। द्वौ-द्वौ भेदौ स्यातामुत्तममध्यमाधमप्रकृतौ" (ना० शा०, ६ : ५३)।

भरतने न केवल यह विभाजन ही प्रस्तुत किया है, वरन् उसकी सम्यक् व्याख्या भी की है, जिससे प्रत्येक भेदकी विशेषताएँ तथा भेदोंका पारस्परिक अन्तर स्पष्ट हो जाता है। 'नाट्यशास्त्र' (६ : ५४ से ६० तक)के अनुसार **स्मित** हास्यमें कपोलोंके निचले भागपर हँसीकी हल्की छाया रहती है, कटाक्ष-सौष्ठव समन्वित रहते हैं तथा दाँत नहीं झलकते। **हसित**में मुख-नेत्र अधिक उत्फुल्ल हो जाते हैं, कपोलोंपर हास्य प्रकट रहता है तथा दाँत भी कुछ-कुछ दीख जाते हैं। आँखों और कपोलोंका आकुंचित होना, मधुर स्वरके साथ समयानुसार मुखपर लालिमाका झलक जाना **विहसित**का लक्षण है। **उपहसित**में नाक फूल जाना, दृष्टिमें कुटिलता आ जाना तथा कन्धे और सिरका संकुचित हो जाना आवश्यक माना गया है। असमयपर हँसना, हँसते हुए आँखोंमें आँसुओंका आ जाना तथा कन्धे और सिरका हिलने लगना **अपहसित**की विशेषता है। नेत्रोंमें तीव्रतासे आँसू आ जाना, उद्धत चिल्लाहटका स्वर होना तथा हाथोंसे बगलको दबा लेना अन्तिम भेद अतिहसितका लक्षण बताया गया है। इन भेदोंको मुख्यतया अनुभावोंके आधारपर कल्पित किया गया है, अतएव इन्हें शारीरिक ही अधिक माना गया है, मानसिक कम। यह अवश्य है कि अनुभाव मनोभावोंके अनुरूप ही प्रकट होते हैं और उनसे आन्तरिक मानसिक दशा परिलक्षित हो जाती है। कुछ संस्कृत आचार्योंने इन छः भेदोंमें 'आत्म' और 'पर'का भेद दिखाते हुए पहले तीन भेदोंको 'आत्मसमुत्थ' और अन्तिम तीनोंको 'परसमुत्थ' बताया है, पर इस तारतम्य-मूलक विभाजनका आधार उत्तरोत्तर विकास ही है, अतः इसमें 'आत्म' और 'पर'का अन्तर करना अनुपयुक्त प्रतीत होता है। भानुदत्त (१४ श० ई० मध्य)ने करुण और बीभत्सकी तरह हास्यके भी 'आत्मनिष्ठ' और 'परनिष्ठ' भेद किये हैं, जो स्पष्टतया भरतके आत्मस्थ और परस्थके समानान्तर हैं।

हिन्दीके स्वतन्त्र आचार्योंमें केशवदास (१६-१७ श० ई०)ने हास्यके मदहास, कलहास आदि केवल चार स्वतन्त्र भेदोंका उल्लेख किया है जिनपर नाट्यशास्त्रोक्त भेदोंकी गहरी छाया है, पर कुछ अन्तर भी दिखाई देता है। अतएव केशवका विभाजन लक्षण सहित उल्लेखनीय है—"विकसहिं नयन कपोल कछु दसन-दसनके बास। 'मन्दहास' तासों कहै कोविद केसवदास। जहँ सुनिये कल ध्वनि कछू कोमल विमल विलास। केसव तन-मन मोहिये बरनत कवि 'कलहास'। जहाँ हँसहि निरसंक है प्रगटहि सुख मुख नास। आधे-आधे बरन पर उपजि परत 'अतिहास'। जहँ परिजन सब हँसि उठें तजि दम्पतिकी कानि। केसव कौनहुँ बुद्धिबल सो 'परिहास' बखानि" (र० प्रि०, १४ : ३, ८, १२, १५)। केशवके पहले तीन भेद तो भरतके भेदोंके समानान्तर और भावके विकास-क्रमपर आधारित हैं, पर अन्तिम एक परिस्थिति-विशेषकी अपेक्षा रखता है, जिसमें नायक-नायिकाकी प्रीति परिजनोंके परिहासका कारण बन जाय। केशवके अतिरिक्त अन्य रीतिकालीन काव्याचार्योंमें हास्य रसका चिन्तामणि (१७ श० ई०)ने सबसे अधिक सांगोपांग विवरण प्रस्तुत किया है, जो 'साहित्य-दर्पण'में दिये गये विवरणका पद्यानुवादमात्र है। 'रसनिवास' (१७८२ ई०)के रचयिता राम सिंहने हास्य रसका स्थायी भाव 'हँसना' माना है।

स्मित, हसित आदि नाट्यशास्त्रमें प्राप्त पूर्वोक्त छः भेद नहीं हो सकते, पर कुछ लोगोंने उन्हें स्थायी भावका भेद भी माना है, जिसका खण्डन करते हुए आधुनिक विवेचक 'हरिऔध'ने लिखा है—"किसी-किसीने स्थायी भाव हासके छः भेद माने हैं, यह युक्तिसंगत नहीं। सभी स्थायी भाव वासनारूप हैं, अतएव अन्तःकरणमें उनका स्थान है, शरीरमें नहीं। स्मित, हसित, विहसित, अवहसित, उपहसित और अतिहसितके नाम और लक्षण बताते हैं कि उनका निवास-स्थान देह है, अतएव ये हसनक्रियाके भेद हैं (र० क०, पृ० २९२)।

अपने 'रिमझिम' नामक हास्य एकांकी-संग्रहकी भूमिकामें रामकुमार वर्माने इन छओं भेदोंके साथ 'आत्मस्थ'-'परस्थ'का गुणन करके बारह भेद मान लिये हैं, जिसका आधार 'नाट्यशास्त्र'में ही मिल जाता है (६ : ६१)। रामकुमार वर्माने पाश्चात्य साहित्यमें उपलब्ध हास्यके पाँच मुख्य रूप मानते हुए उनकी परिभाषा इस प्रकार दी है—१. 'सैटायर' (विकृति)—आक्रमण करनेकी दृष्टिसे वस्तुस्थितिको विकृत कर उससे हास्य उत्पन्न करना २. 'कैरीकेचर' (विरूप या अतिरंजना)—किसी भी ज्ञात वस्तु या परिस्थितिको अनुपात-रहित बढ़ाकर या गिराकर हास्य उत्पन्न करना। ३. 'पैरोडी' (परिहास)—उदात्त मनोभावोंको अनुदात्त सन्दर्भसे जोड़कर हास्य उत्पन्न करना। ४. 'आइरनी' (व्यंग्य)—किसी वाक्यको कहकर उसका दूसरा ही अर्थ निकालना। ५. 'विट' (वचन-वैदग्ध्य)—शब्दो तथा विचारोंका चमत्कारपूर्ण प्रयोग। फ्रायडने इसे दो प्रकारका माना है—सहज चमत्कार (harmless wit) और प्रवृत्ति चमत्कार (tendency wit)। सहज चमत्कारमें विनोदमात्र रहता है, किन्तु प्रवृत्ति चमत्कारमें ऐन्द्रिय प्रतिकारात्मक भावना रहती है। साहित्यकी आधुनिक प्रवृत्तियोंको दृष्टिमें रखकर उन्होंने अपनी ओरसे पाँच स्वतन्त्र भेदोंकी स्थापना की, जिनमेंसे प्रत्येकमें दो-दो उपभेद करके कुल दस प्रकारोंमें हास्य रसके प्रायः समस्त प्रचलित स्वरूपोंको समाविष्ट करनेका प्रयत्न किया है—
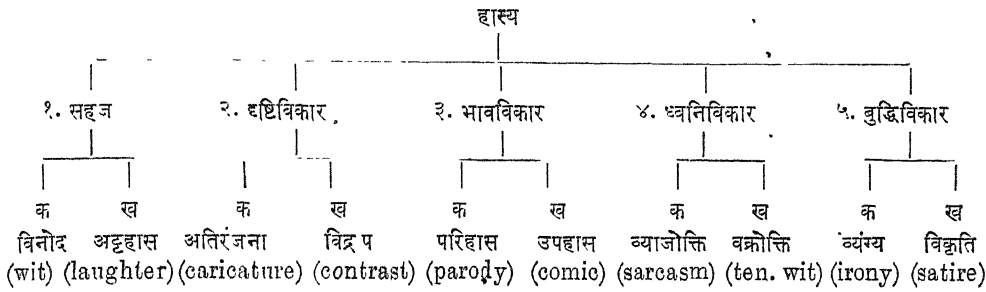
इस विभाजन-वर्गीकरणके सम्बन्धमे लेखककी अपनी धारणा है कि—"इस भाँति हास्य सहज विनोदसे चलकर क्रमशः दृष्टि, भाव, ध्वनि और बुद्धिमें नाना रूप ग्रहण करता हुआ विकृतिमें समाप्त होता है" (रिमझिम,पृ० ११)।

हास्य रसको लेकर उसको विभाजित और वर्गीकृत करनेका ऊहापोह स्वतन्त्र विवेचनकी अपेक्षा रखता है। कुछ बातोंपर सरलतासे आपत्ति की जा सकती है, जैसे विनोद और व्याजोक्ति जो 'विट'के रूप माने गये है, उन्हें बुद्धि-विकारसे अलग मानना और 'सहज' तथा 'ध्वनि-विकार' नामक वर्गोंमें रखना। वक्रोक्ति भी काव्यशास्त्रमें दो प्रकारकी मानी गयी है—'१. श्लेष और २. काकु। ध्वनिविकारके अन्तर्गत केवल काकुवक्रोक्ति ही आ सकती है, श्लेषवक्रोक्ति नही। श्लेष या श्लेषवक्रोक्तिपर आधारित हास्यको भी किसी-न-किसी वर्गमें समाविष्ट किया जाना चाहिये था। इसी प्रकार 'व्याजोक्ति', जो वाच्यार्थका ही एक रूप है, 'ध्वनिविकार'के अन्तर्गत नहीं रखी जा सकती, क्योकि ध्वनिगत विकार उसका आधार नहीं है, न उसके लिए अनिवार्य ही है।

हास्य रस उन प्रधान रसोंमेंसे है, जिनके आधारपर नाट्यसाहित्यमें स्वतन्त्र नाट्यरूपोंकी कल्पना हुई। रूपकके दस भेदोंमें भाण और प्रहसन न्यूनाधिक हास्य रससे सम्बद्ध है। प्रहसनमें तो हास्य रस ही प्रधान है। भारतेन्दुके 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' तथा 'विषस्य विषमौषधम्' नामक प्रहसन संस्कृत नाट्यशास्त्रके आदर्शपर ही रचे गये। संस्कृत नाटकोमे हास्य रसकी सृष्टि करनेके लिए विदूषककी अलगसे योजना मिलती है, जिस परम्पराका निर्वाह 'प्रसाद'के 'स्कन्दगुप्त' जैसे अनेक हिन्दी नाटकोंतक व्याप्त मिलता है। शेक्सपीयरके सुखान्त नाटकों(comedies)में भी विदूषककी योजना की गयी है। वस्तुतः विदूषककी कल्पना मध्यकालीन सामन्ती जीवन और संस्कारोंकी उपज है। आधुनिक नाट्यसाहित्यमें हास्य और व्यंग्यके लिए ऐसे किसी स्वतन्त्र भावकी सृष्टि आवश्यक नही है। जीवनके स्वाभाविक क्रममें अन्य मनोभावोंके साथ ही हास्यका भी सहज रूपमे समावेश अपेक्षित माना जाता है।

हिन्दी काव्य-साहित्यमें भी हास्य रसका निरूपण बहुत समयतक संस्कृत साहित्यके आदर्शपर होता रहा। रीतिकालीन कवितामें बहुधा आश्रयदाताओं अथवा दानदाताओंके प्रति कटु व्यंग्योक्तियाँ की गयी हैं, जिन्हें हास्य रसके अन्तर्गत माना जाता है। बेनी कविके 'भंड़ौआ' इस क्षेत्रमें विशेष प्रसिद्ध है। ऐसे 'भंड़ौओं'का एक संग्रह 'विचित्रोपदेश' नामसे प्रकाशित कराया गया था। इस प्रकारकी रचनाएँ हास्यका उदाहरण ही प्रस्तुत करती है। इधर अंग्रेजी 'पैरोडी' (parody) या विडम्बना काव्यकी एक स्वतन्त्र धाराका विकास पाश्चात्य साहित्यके प्रभावसे हुआ है। उर्दू कवि अकबरका प्रभाव हिन्दीके अर्वाचीन काव्यपर विशेष पड़ा है। 'बेढब' बनारसी आदिकी रचनाएँ इसका उदाहरण हैं।

गद्यसाहित्यमें भारतेन्दु-कालसे ही हास्य रसकी रचनाएँ होने लगी, पर उनका क्षेत्र अधिकतर नाटक ही रहा। द्विवेदी-कालमें व्यंग्यपूर्ण लेखोंकी भारतेन्दु-युगीन परम्परा विशेष विकसित हुई। 'दुबेजीका चिट्ठा' आदि इसीके उदाहरण है। उपन्यासोंके क्षेत्रमें जी० पी० श्रीवास्तवको विशेष ख्याति प्राप्त हुई, पर 'लतखोरीलाल' 'लम्बी दाढ़ी' आदि उनके प्रसिद्ध उपन्यासोंमे कृत्रिमताकी मात्रा बहुत अधिक है। अमृतलाल नागर, 'शिक्षार्थी', केशवचन्द्र वर्मा तथा अन्य अनेक नये लेखक शिष्ट हास्यके विकासमें विशेष तत्पर है। ऐसे लेखकोमे स्वर्गीय अन्नपूर्णानन्दका भी नाम विशेष उल्लेखनीय है। मुख्यतया हास्य रसको लेकर 'नोंक-झोंक', 'मुसकान' और 'तुंग शृंग' आदि कई पत्रिकाएँ प्रकाशित होती रही है। पर यह सत्य है कि हिन्दीका अधिकतर हास्य साहित्य अबतक अपरिपक्व है। —ज० गु०

हिंदवी—दे० 'हिन्दी'।

हिंदवी साहित्य—दे० 'दक्खिनी'।

हिंदी (हिंदवी, हिंदुई)—वाच्यार्थकी दृष्टिसे हिन्दी शब्दका प्रयोग हिन्द या भारतसे सम्बन्धित किसी भी व्यक्ति, वस्तु तथा हिन्द या भारतमें बोली जानेवाली किसी भी आर्य, द्रविड तथा अन्य कुलकी भारतीय भाषाओंके लिए हो सकता है। किन्तु इस प्राचीन व्यापक अर्थमें इस शब्दका प्रयोग अब प्रचलित नही है।

वर्तमान भारतीय साहित्यमे यह शब्द भारतीय संघकी राजभाषा (संघकी राजभाषा देवनागरी लिपिमे हिन्दी होगी—भारतीय संविधान धारा ३४३ : १) तथा राष्ट्रभाषाके नामका द्योतक है। उत्तरप्रदेश, बिहार, दिल्ली, राजस्थान, मध्यप्रदेश, पंजाब (पंजाबी भाषा-क्षेत्रको छोड़कर), हिमाचलप्रदेशकी प्रधान साहित्यिक भाषा और राजभाषाके अर्थमें मुख्यतया तथा इसी भूमिभागकी बोलियों और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले प्राचीन साहित्यिक रूपोंके अर्थमें यह नाम साधारणतया प्रयुक्त होता है (धीरेन्द्र

वर्मा : हि० भा० इ०, पृ० ६०)।

प्राचीन अर्थसे प्रस्तुत अर्थतक आते-आते इस शब्दने कई शताब्दियोंकी लम्बी यात्रा की है। ऋग्वेदमें 'सिन्धु' और 'सप्तसिन्धवः' शब्द नदी और सात नदियोंके अर्थमें कई बार (एक कक्षीवतको सुनाओ वायौत् सप्तसिन्धुषु— ऋक्, ८ : २४ : २७) और विशिष्ट प्रदेशके अर्थमें एक बार (ऋक्, ? : ८ : ९६) मिलता है। सम्भवतः याजकोंके साथ इन दोनों शब्दोंने भारतसे ईरानकी यात्रा की। ईरानियोंकी प्राचीनतम धर्मपुस्तक 'अवेस्ता'में पाये जानेवाले 'हैन्दु', 'हिन्दु' तथा 'हप्तहिन्दवः' या 'हफ्तहिन्दवो' (यस्ना ?७, अनुच्छेद २९, आवेस्ता रीडर फर्स्ट सीरीज : ए. वी. विलियम्स जैक्सन) इन्हीं दो वैदिक शब्दोंके ईरानी उच्चारणमात्र हैं (भारतीय आर्यभाषाकी स् ध्वनि ईरानीमें ह उच्चरित होती है)। प्राचीन पहलवीमें 'हिन्द', 'हिन्दुक' और 'हिन्दुश' शब्द मिलते हैं (पासीपोलिस धारयत वस, ४८६ ई०के स्मारकपर 'हिन्दुश' शब्द अभिलिखित है; दे० 'पहलवी अर्ली इंसक्रिप्शन्स')। मध्यकालीन ईरानी कालमें विशेषण प्रत्यय 'ईक' जोड़कर हिन्द+ईक् —'हिन्दीक' फिर 'हिन्दीग्' शब्द बना। कालान्तरमें अन्तिम व्यंजनका लोप हो गया और 'हिन्दी' शब्द हिन्दके विशेषणके रूपमें प्रचलित हो गया। इस प्रकार 'हिन्दी' शब्दका मूल रूप 'हिन्द' है। कुछ भाषावैज्ञानिकोंने 'हिन्दी'को 'सिन्धी'का रूपान्तर माना है, किन्तु ईरानमें 'हिन्दी' शब्दका रूपनिर्माण उस समय हो गया था, जिस समय भारतमें भारतीय आर्य भाषाका प्राकृत-अपभ्रंश-काल रहा होगा। भारतके प्राचीन साहित्यमें 'सिन्धी' शब्द नहीं मिलता है। भारतमें देबल (कराची) बन्दरगाहमें आनेवाले अरब यात्री अवश्य सिन्धप्रान्तकी भाषाको 'सिन्धी' कहते हैं, किन्तु उनका समय ८वीं, ९वीं, १०वीं शती है। अरब यात्री नुशारी (३७५ हिजरी) लिखता है, देबलमें सब व्यापारी ही व्यापारी बसते हैं। उनकी भाषा 'अरब' (अरबी) और 'सिन्धी' है (अरबीमें भारतीय आर्य भाषाकी स ध्वनि स ही उच्चरित होती है)।

ईरानसे ही 'हिन्द' और 'हिन्दी' शब्द अरब, मिस्र, सीरिया तथा अन्य देशोंके साहित्यमें प्रविष्ट हुए। अरबवालोंको हिन्द और हिन्दी शब्द ईरानियोंसे ही मिले। अरब यात्री 'हिन्द' और सिन्धको दो अलग प्रदेश मानते हैं, सम्भवतः कश्मीरकी तराईसे सिन्ध नदीके किनारेतकको सिन्ध और गुजरातसे लेकर भीतरी देशको 'हिन्द' कहते हैं (अरब यात्री मसऊद, ३०३ हिजरी—लिखता है, सिन्धमें वहाँकी अपनी भाषा है, जो हिन्दकी भाषाओंसे भिन्न है)। इस समय विदेशोंमें 'हिन्दी' शब्द या तो देशबोधक था या हिन्दसे जानेवाली वस्तुका बोधक। प्राचीन अरबी-साहित्यमें पाये जानेवाले ऊद हिन्दी (अगर), किस्त हिन्दी (कुट), साज ज हिन्दी (तेजपत्ता), कुरतुम हिन्दी (कुसुम्ब), तमर हिन्दी (इमली, इंगलिश टैमेरिंड) आदि शब्दोंमें 'हिन्दी' शब्द देशबोधक है। मिस्री भाषामें 'हिन्दी'का अर्थ है सभीके आवरणका हेतु 'मलमल', कुरानमें 'सुन्दुस'का अर्थ है 'सुन्दर सूती वस्त्र' और अरबीमें हिन्दीका एक अर्थ है हिन्दुस्तानी फौलादकी तलवार। यहाँ 'हिन्दी' शब्द वस्तुबोधक है। ईरान आनेवाले प्राचीन ग्रीकोंने 'हिन्द'को 'इण्डया' या 'इण्डिका' कहा है। 'इण्डिया' शब्द उसीका आधुनिक उच्चारण है।

भाषा-प्रसंगमें प्राचीन तथा मध्यकालीन फारसी तथा अरबी-साहित्यमें 'जबाने हिन्दी' शब्दका प्रयोग सम्भवतः हिन्दकी समस्त भाषाओं संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंशके लिए मिलता है। नौशेरवाँ बादशाह (६ठी शती)का दरबारी कवि पंचतन्त्रको 'कलीला व दिमना' नामसे अरबीमें अनुवाद करते समय पंचतन्त्रकी भाषाको 'जबाने हिन्दी'की संज्ञा देता है। अलबरूनी (१०२५ ई०) हिन्दीकी भाषाओंको 'अल हिन्दिया' कहकर सम्बोधित करता है। (फिरदौसीके शाहनामेमें 'शेर हिन्दी' शब्द एक भारतीय राजाके लिए प्रयुक्त हुआ है)। महमूद गजनवीके बेटेका समकालीन अबुल माली नसरुल्ला बिन अब्दुलहमीद भी (१०वीं शती उत्तरार्द्ध) 'कलीला व दिमना'के फारसी अनुवादमें पंचतन्त्रकी भाषाको 'जबाने हिन्दी'की संज्ञा देता है ["सबब इल्लत तरजुमई किताब व नकल आँ अज हिन्दुस्तान व पारस ओ बूद' (पृ० १)"'आँ किताब रा 'कलीला व दिमनः' खानन्द"'मरदे हुनरमन्द बायद तल्वीद कि जबान पारसी व हिन्दी बेदान" (कलीला व दिमना, पृ० १२)]।

संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि किसी भी प्राचीन भारतीय आर्य भाषामें 'हिन्दी' शब्द नहीं मिलता है [जैन महाराष्ट्रीमें लिखित कालकाचार्यकी कथामें केवल 'हिन्दूग्' शब्द मिलता है, यथा—सूरिणा भणियम् रामाणो जेण हिन्दूग् देसम वच्चामो" (दे० जैन महाराष्ट्री जैकोबी, भाग ३४, पृ० २६२)]। भारतमें रहनेवाले मुसलमान फारसी लेखक हिन्दकी देसी भाषाके लिए 'हिन्दी' या 'हिन्दवी (हिन्दवः+कि या इक् > हिन्दवी) शब्दका प्रयोग करते हैं।

१३वीं शतीमें भारतके फारसी-कवियोंमें औफी (१२२८ ई०) सर्वप्रथम 'हिन्दवी' शब्दका प्रयोग हिन्दकी (सम्भवतः मध्यदेशकी) देशी भाषाके लिए करते हैं। स्वर्गीय मसऊदकी काव्यकृतियोंका उल्लेख करते हुए औफी लिखते हैं—"यके बताजी व यके व पारसी ब यके बहिन्दवी' (अलालु बाब मुहम्मद औफी, जिल्द दोयम, पृ० २४६)। "सैयद दीवान दर इबारत अरबी, व फारसी व हिन्दवी" (दीबाचा गुर्रउल कमाल खुसरू)।

१३-१४वीं शतीमें देसी भाषाको 'हिन्दी' या 'हिन्दवी' या 'हिन्दुई' नाम देनेमें अबुलहसन या अमीर खुसरू (१२५३-१३२५ ई०)का नाम सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। खुसरू अपने युगके फारसी भाषाके सबसे बड़े भारतीय कवि और कलाकार थे। फारसी और अरबीके पूर्ण पण्डित तथा देसी भाषा, अर्थात् 'हिन्दी' या हिन्दवी'के ज्ञाता थे। अपने देसी भाषाके ज्ञानके लिए वे स्वयं कहते हैं—"तुर्क हिन्दुस्तानियम मैं 'हिन्दवी' गोयम जवाबे"। फारसीके साथ-साथ कुछ 'चन्द नज्म' उन्होंने 'हिन्दी'में भी लिखी हैं, जिसे वे स्वयं स्वीकार करते हैं—"जुज वै चन्द नज्म 'हिन्दी' नीज नज्जर देस्तान करदा शुदा अस्त"। खुसरू गयासुद्दीन तुगलकके लड़केके शिक्षक थे, सम्भवतः 'हिन्दी'

या 'हिन्दवी' सिखानेके लिए उन्होंने एक फारसी-हिन्दी कोश 'खालिकबारी'की रचना की होगी। 'खालिकबारी'में 'हिन्दवी' शब्द ३० बार और 'हिन्दी' शब्द ५ बार देसी भाषाके लिए प्रयुक्त हुआ है। खुसरूने अपने समयकी भारतीय भाषाओंको निम्नलिखित प्रकारसे विभाजित किया है—"(१) सिन्धी, (२) लाहौरी, (३) कश्मीरी, (४) बंगाली, (५) गौडी, (६) गुजराती, (७) तिलगी, (८) माबरी (कर्नाटकी, कोंकणी), (९) ध्रुव समुन्दरी, (१०) अवधी, (११) देहलवी और इसके इतराफकी जबान"।

इस विभाजनसे ज्ञात होता है कि उस समयतक किसी विशिष्ट भाषाके लिए हिन्दी शब्दका प्रचलन नहीं हुआ था। १५वी-१६वीं शती में देसी भाषाके समर्थनमें जायसीका कथन है—"तुर्की अरबी हिन्दवी, भाषा जेती आहिं, जामे मारग प्रेमका, सबै सराहैं नाहिं"।

जायसीकी कविताकी भाषा अवधी है और खुसरूकी देसी भाषा 'देहलवी और उसके इतराफकी जबान है'। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि इस समय दिल्ली-के आस-पाससे लेकर अवधतकके प्रान्तकी देसी भाषाको हिन्दी या हिन्दवी नाम सामान्य रूपसे दिया जाने लगा था। मुसलमानी परम्पराओंसे सम्बन्धित कवि फारसी और अरबी ऐसी प्राचीन भाषाओंकी तुलनामे देसी भाषाके लिए हिन्दी या हिन्दवी शब्दका प्रयोग व्यापक रूपसे करते है। भारतीय परम्परासे सम्बन्धित कवि संस्कृत आदि प्राचीन भाषाओंकी तुलनामें देसी भाषाके लिए केवल 'भाषा' या 'भाखा'का ही प्रयोग करते है—"संस्कृत है कूप जल, भाषा बहता नीर" (कबीर), "का भाषा का संस्कृत, प्रेम चाहिये साँच" (तुलसी)। 'मासरुल उमराव' अकबरके दरबारी कवि रहीम खानखानाको 'हिन्दी' कवि कहा गया है (रसायल शिबली)। रहीम खानखाना प्रधानतः ब्रजभाषाके कवि है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि सामान्यतया 'भाखा', 'हिन्दी' और 'हिन्दवी' समानार्थक-से थे। इसी सदीके 'दक्खिनी हिन्दी'के कवि भी इसी तथ्यकी ओर संकेत करते है। "यों देखत 'हिन्दी' बोल, प्रन माने है नपनोल। त्यों 'भाका' माटी जानो, जर मानी दिलमें आनो" (शाही मीराजी, १४९६ ई०, ९०२ हिज० मृत्यु, शहादतुल हकीकतसे)। "नज्म लिखी सब मौजू। यों मै हिन्दवी कर आसान" (शेख अशरफ, १५०३ ई० : नौसर मखतूनात, पृ० १८)। 'हिन्दी बोलों किया बखान। जेकर परसादका मुज ग्यान" (शाह बुरहानुद्दीन जानम बीजापुरी, १५८२ ई०)। १७वी शतीमें दक्खिनीके अत्यन्त प्रसिद्ध कवि तथा गद्यलेखक मुल्ला वजही अपने 'सब रस'(१६२५ ई०)की भूमिकामें 'हिन्दी'का प्रयोग इसी अर्थमें करते है—"हिन्दोस्तानमें 'हिन्दी' जबान सों इस लताफत इस छन्दा सों नज्म और नस्र मिलाकर गुलाकर यौं नै बोला"। १६वीं-१७वी शतीमे उत्तरी भारतमें भक्ति-आन्दोलन अपनी चरम सीमापर था। राम-भक्त और कृष्ण-भक्त कवि अवधी और ब्रजमे कविता लिख रहे थे। अवधी नाम तो खुसरूके समयसे ही चल रहा था, किन्तु ब्रजभापा नाम इस समयतक भी नहीं मिलता। अकबरके समकालीन अबुल फजलने अपने समयकी भारतीय भाषाओंका वर्गीकरण इस प्रकार किया है—(१) देहलवी, (२) बंगाली, (३) मुलतानी, (४) मारवाड़ी, (५) गुजराती, (६) तिलंगी, (७) मरहठी, (८) कर्नाटकी, (९) सिन्धी, (१०) अफगानी (उस समय अफगानिस्तानका बहुत भाग अकबरके राज्यमें था; सिन्ध, काबुल, कन्धहारके बीचका प्रान्त), (११) बिलोचिस्तानी, (१२) कश्मीरी। इसी शतीमे सम्भवतः प्रथम बार हमे किसी हिन्दू द्वारा 'हिन्दवी' शब्दका प्रयोग मिलता है। मिर्जा राजा जयसिंहके पुत्र रामसिंहके वैयक्तिक सहायक श्रीपरकासदास द्वारा अम्बेरके दीवान श्रीकल्यानदासको (सन् १६६६, अक्तूबरमें) एक पत्र भेजा गया। उस पत्रमें जयसिंह और रामसिंहके एक पत्रको 'हिन्दवी परवाना' कहा गया है—"सो ऐसी भाँति कागज एक हिन्दवी परवानो श्री महाराज (जयसिंह)जीको श्रीमहाराज कुँवार जेके ताई आये बणवायो है" (जयपुर रिकर्ड्स)। हिन्दू-मुसलमान तथा हिन्दू धर्म और इस्लामकी एकताके बहुत बड़े समर्थक सन्त प्राणनाथने अपनी कुछ 'सम्नन्धे' (हिन्दवीमें लिखी हुई कुरानकी व्याख्या) औरंगजेबके पास भिजवायी थी। उन सम्नन्धोंके प्रति औरंगजेबकी और अन्य मुसलमानोंकी क्या प्रतिक्रिया हुई, इसका वर्णन करते हुए प्राणनाथके एक शिष्य लिखते है—"कोई कहे 'हिन्दवी' मिने। लिखे ऐ कलाम ॥ मै तो बोहोत प्रकान्या। इनो पीठ दई तरफ हक ॥ कोई कलाम हिन्दवीय का। ल्यावते है दिल सक" (लालदासबीतक, प्रकर्ण ३७, चौ० ४५-४६)। प्राणनाथ और उनके शिष्य लालदासने मिलकर एक पत्र औरंगजेबको अपनी भाषामे ही लिखा, उसे ले जानेके लिए लाल दरवाजेके पास रहनेवाले आशाजीत ठाकुरसे कहा गया, किन्तु औरंगजेबके स्वभावको जानकर ठाकुर उत्तर देता है—"सो पाती हिन्दवी की। क्यों कर सुने कानं। सरियत हे जोरावर। हे पोहौरा मुसलमान" (लालदासबीतक, पृ० ३८ चौ० ३८)। बनारसीदास जैन (१७वी शती) द्वारा प्रयुक्त 'हिन्दगी' शब्द भी इसी हिन्दवीकी ओर संकेत करता है—"मूलदास जिनदासके, भये पुत्र परधान। पढ्यौ, 'हिन्दगी' फारसी, भाग्यवान-बलवान"। अनुमानतः १७वी शतीतक हिन्दी और हिन्दवी शब्द समानार्थक थे और सामान्यतः मध्यदेश की भाषाके लिए प्रयुक्त होते थे। दक्खिनके बीजापुर और गोलकुण्डा राज्य-शासनसे सम्बन्धित लोगोमे हिन्दी, हिन्दवीकी उसी शैलीका प्रचार था, जिसका मूलाधार दिल्ली और उसके आस-पासकी भाषा थी। इस प्रकार धीरे-धीरे इन शब्दोंका विशिष्ट शैलीके लिए प्रयोग होने लगा। १७वी शतीमे हिन्दुओने भी इन नामोंको अपनाया। हिन्दी या हिन्दवी दो लिपियोंमें लिखी जाती रही होगी। सम्भव है, हिन्दू अधिकांशतः नागरी लिपि और मुसलमान फारसी लिपिमें लिखते रहे होगे। दक्खिनी भारतमे समस्त साहित्य फारसी लिपिमें लिखा गया, अतएव हिन्दी और हिन्दवी दोनों नामोंका समान रूपसे प्रचार रहा, किन्तु उत्तरी भारतमें सम्भवतः लिपिभेदके कारण भाषा अत्यधिक रूपसे एक ही होनेके कारण भी हिन्दुओंमें हिन्दवी नामका और मुसलमानोंमे हिन्दी नामका प्रचार अधिक हुआ। प्रथम ब्रजभाषा व्याकरणके लेखक मिर्जा खाँ (१६७६ ई०)

अपने ग्रन्थ 'तहफतुलहिन्द' में लगभग ३००० हिन्दी शब्दोंकी फारसीमें व्याख्या करते हैं, उस कोशकी संज्ञा 'लुगात-इ हिन्दी' देते है। इसी प्रकार शाह बरकतउल्लाहने 'रिसाला अवारीफे हिन्दी' में हिन्दी प्रान्तमें प्रचलित हिन्दी कहावतोंकी व्याख्या फारसी भाषामें की है। इसमें मुसलमानोंमें प्रचलित हिन्दी कहावतें हैं। प्रायः सभी कहावतें मध्यप्रदेशमें प्रचलित कहावतें हैं। इसी समयके आसपास शेख अब्दुल अंसारी (१०७४ हिज०) की 'फिकाए हिन्दी', शेख महबूब आलमकी 'मसाएल हिन्दी' नामक पुस्तकोंमें हिन्दी शब्द उपर्युक्त अर्थमें ही प्रयुक्त हुआ है।

१८वी शती भारतीय आर्य भाषाके विकासके लिए अति महत्त्वपूर्ण है। अभीतक तो हिन्दी, हिन्दवी, हिन्दुस्तानी शब्द सामान्यतया समानार्थक थे, किन्तु इस शतीमें इन शब्दोंमें नये अर्थोंका विकास होता है, साथ ही भाषाद्योतक कुछ नये शब्द भी प्रचलनमें आते है। भाखा या भाका शब्द सामान्य रूपसे मध्यदेशी ग्रामीण बोलियोंके लिए, विशिष्ट रूपमें ब्रजभाषाके लिए प्रयुक्त होने लगा। दक्खिनी साहित्यमें प्रयुक्त हिन्दी या हिन्दवीको जब उत्तरी भारतके मुसलमान कवियोंने फारसीके साँचेमे ढालकर अपनाया तो एक नया नाम दिया 'रेखता' (दे०)। इस प्रकार जो शब्द केवल अभी एक विशेष प्रकारके लिए प्रयुक्त हो रहा था, वह अब हिन्दी या हिन्दवीकी उस शैलीके लिए प्रयुक्त होने लगा, जो काव्यमें फारसीका जामा पहनकर आयी थी। शाही दरबारमें धीरे-धीरे इसका प्रचलन होने लगा और उस शाही शैलीको १८वीं शतीके उत्तरार्द्धमें 'जबान उर्दूए मुअल्लम' (दे० 'उर्दू') की संज्ञा दी गयी। 'हिन्दवी' शब्दका प्रयोग इसी भाषाकी उस शैलीके लिए होने लगा, जो प्रधानतः हिन्दुओंमें प्रचलित थी और जिसमें विदेशीपन कम रहता था (फारसी शब्द आते अवश्य थे, किन्तु तद्भवरूपमें) और भाखापन मिला रहता था। हिन्दी शब्द कभी-कभी (हिन्दवीके समान) देसी भाषाके अर्थमें आता है—"अगरच सभी कूड़ा करकट अस्त बहिन्दी दर हिन्दी जबान लटपट अस्त" (मीर जफरजटली, १७३० ई०के आसपास), "लिख देव हिन्दी बोलकर बाँचू मै दिन रात", "लिखी किताब इस वास्ते हिन्दी बोली बूझ", "हिन्दीकी बोलीके अन्दर बूझा राह यकीन" ('मसायल हिन्दी': मुहम्मदशाह माल्मीन)। हिन्दी शब्द कभी-कभी फारसीकी तुलनामें उस देसी शैलीके लिए प्रयुक्त होता है, जिसे जबान रेखता या आगे चलकर फारसीका अधिक रंग चढ़ जानेपर जबानें उर्दू ए मुअल्ला कह सकते हैं—"अबतक तरजुमः फारसी बइबारत हिन्दी नसर नहीं हुआ...अगर तरजुमः इस किताबका बरंगीनी इबारत उस्ने इस्तारात हिन्दी क़रीबुल फहम आमयः मोमिनेन...कीजिए" (करबल कथा : दहमजलिस फजली औरंगाबादी, १७३२ ई०)। हातिम, नासिख, मीर, सौदा उर्दू कवि इस शब्दका प्रयोग इसी अर्थमें करते हैं। "कभी-कभी जबान रेख्तःके मुकाबलेमें हिन्दी शब्द प्रयुक्त होता है, इसमें जबारेख्तः नहीं, बल्कि हिन्दी मुतारिफ कि अवाम-को बेतकल्लुफ दरयाफत हो" (शाह अब्दुल कादिर देहलवी : तरजुमा कुरान पाक, १७९२ ई०)।

इसी शतीके अन्तिम चरणमे ईस्ट इण्डिया कम्पनीके कर्मचारियोंको देसी भाषा सिखानेके प्रयत्न आरम्भ हुए। इस सम्बन्धमें गिलक्राइस्टका नाम बहुत महत्त्वपूर्ण है गिलक्राइस्टने हिन्दुस्तानकी प्रतिनिधि भाषाके लिए 'हिन्दुस्तानी' नामका समर्थन किया (हिन्दुस्तानी गिलक्राइस्टका दिया हुआ कोई नया नाम नहीं था, बल्कि हिन्दी या हिन्दवीके समानार्थक रूपमे १७वी शतीमें ही प्रचलित था; दे० 'हिन्दुस्तानी')। गिलक्राइस्ट हिन्दीसे 'हिन्दवी' भाषाका व्यापक अर्थ लेते हैं, हिन्दी और हिन्दुस्तानीको समानार्थक समझते है, किन्तु हिन्दीसे 'हिन्दी', 'हिन्दवी', 'हिन्दुइ' का भ्रम हो सकता है, अतएव 'हिन्दुस्तानी' नामके प्रचलनका ही समर्थन करते है। वे जिस भाषाको हिन्दुस्तानी नाम देते है, उसके विकासका सिद्धान्त निम्नलिखित देते हैं—हिन्दवी + अरबी + फारसी = हिन्दुस्तानी। इस प्रकार गिलक्राइस्टका हिन्दुस्तानी नाम जबान रेखता, उर्दूए मुअल्लाका समानार्थक है। गिलक्राइस्टके मतका ही समर्थन डब्ल्यू० बी० बेली अपने मसविदेमें करते है—"हिन्दुस्तानी जबान कि जिसका जिक्र मेरे दावेमें है, उसको हिन्दी, उर्दू और रेख्तः भी कहते है" (मसविद डब्ल्यू० बी० बेली : 'विशाल भारत', १९४०, भाग २५ : पृ० २८ : २४)। गिलक्राइस्टके पूर्व हेलहेड हिन्दवीको शुद्ध हिन्दुस्तानी (pure hindustani) और हिन्दुस्तानीको मिश्रित हिन्दुस्तानी (mixod hindustani) की संज्ञा देते है। गिलक्राइस्ट हिन्दुस्तानीकी तीन शैलियाँ मानते है—(१) उच्च या दरबारी या फारसी शैली, (२) मध्यम या वास्तविक हिन्दुस्तानी, (३) ग्रामीण या हिन्दवी शैली। इनके अनुसार 'हिन्दवी' नाम उस शैलीके लिए प्रयुक्त होगा, जो 'फारेस्टरकृत' सरकारी शासनप्रबन्धसे सरल अनुवादमें, नागरी लिपिमें लिखे हुए लेखसे तथा निम्न श्रेणीके नौकरोंकी बोलीमें हिन्दुओं और हिन्दुस्तानके किसानोंकी बोलियोंमें मिलती है (दे० प्राक्कथन, गिलक्राइस्ट डिक्शनरी)।

१८०० ई०मे कलकत्तामें फोर्ट विलियम कालेजकी स्थापना होती है, जहाँ प्राच्य भाषाओंकी शिक्षाका विशेष प्रबन्ध होता है। गिलक्राइस्ट 'हिन्दुस्तानी' (गिलक्राइस्टके ही अर्थमें) विभागके अध्यक्ष नियुक्त होते है। १९वी शतीके प्रथम दशाब्दमें कालेजसे सम्बन्धित वातावरणमें हिन्दी, हिन्दवी, हिन्दुस्तानी, उर्दू आदिका प्रयोग गिलक्राइस्टके अनुसार ही होता है। किन्तु गिलक्राइस्टके अतिरिक्त अन्य लोग हिन्दी और उर्दूको बिलकुल समानार्थक शब्द नहीं मानते, बल्कि उर्दूको हिन्दी (सामान्य अर्थ) की एक विशिष्ट शैली मानते है, अतएव उर्दू या रेखतेकी जबानके अर्थको ठीक प्रकट करनेके लिए 'हिन्दी' शब्दके साथ कोई-न-कोई विशेषणात्मक वाक्यांश भी जोड़ देते है। १८०१ ई०मे कलीलअली खाँ 'दास्तान अमीर हमजह' की भूमिकामें लिखते है—"जबान हिन्दीके इस किस्सेको जबान उर्दूए मुअल्लाकेसे लिखा" (दास्तान अमीर हमजह)। इसी प्रकार सैयद हैदरबख्श 'तोता कहानी' (१८०४ ई०) की भूमिकामें लिखते हैं—"मुहम्मद कादिरीके तूतीनामेका जबान हिन्दीमें मुवाफिक मुहावरह उर्दूके तरजुमः

किया"। निहालचन्द लाहौरी (१८०३ ई०) भी 'किस्सा गुलबकावली'की भूमिकामे इसी आशयकी ओर संकेत करते हैं—"फारसीसे हिन्दी रेखतेके मुहावरेमे तालीफ कर···"। कालेजके वातावरणसे बाहर 'हिन्दवी' शब्द भी बिलकुल ग्रामीण शैलीके लिए प्रयुक्त नही होता, बल्कि शिष्ट लोगोंकी उस शैलीके लिए भी होता है, जिसमें 'बाहरकी' भाषाका प्रभाव भी न हो और भाखापन भी न हो। "कोई कहानी ऐसी कहें, जिसमें हिन्दवी छुट और किसी बोलीका पुट न मिले, बाहरकी बोली और गँवारी कुछ उसके बीचमें न हो···एक पुराने···घाघ यह···लाये हिन्दवीपन भी न निकले और भाखापन भी न ठुस जाये, भले लोग अच्छोंसे अच्छे आपसमें बोलते-चालते है···यही नही होनेका" (दास्तान रानी केतकी, १८०३ ई०)। फारसी अरबी ऐसी बाहरी भाषाओंकी परम्परासे अधिक सम्बन्धित होनेके कारण यद्यपि इंशा इस प्रकारकी शुद्ध हिन्दी या हिन्दवी लिखनेमें विशेष सफल नही हुए, किन्तु उनका उद्देश्यकथन शुद्ध हिन्दी या हिन्दवीके आदर्शकी ओर सम्भव था। आगे चलकर लल्लूलालने 'प्रेमसागर' (१८०३ ई०) तथा सदल मिश्रने 'नासिकेतोपाख्यान' (१८०३ ई०) तथा 'रामचरित' में इसी हिन्दवी शैलीका प्रयोग किया, जिसे खड़ीबोलीकी संज्ञा मिली (दे० 'खड़ीबोली')। ये दोनों लेखक भी पूर्ण रूपसे इस आदर्शमें सफल नही हुए, क्योंकि संस्कृत परम्परा हिन्दू परम्परासे विशेष प्रभावित होनेके कारण इन दोनोंकी शैलीमें भाखापन (ब्रजभाषापनका ग्राम्य प्रभाव) दिखाई पड़ता है।

फारसीमें लिखित अपने प्रसिद्ध व्याकरण ग्रन्थ 'दरयाय लताफत'(१८०८ ई०)में इंशा अल्ला खाँ 'हिन्दी' शब्दका प्रयोग लगभग ४० बार करते है। इन प्रयोगोंपर ध्यान देनेसे ज्ञात होता है कि इंशा फारसी, अरबी आदि बाहरी भाषाओंके सन्दर्भमें हिन्दी शब्दका प्रयोग अधिकांशतः सामान्य अर्थमें 'मध्यदेशकी भाषा'के लिए करते है। यथा "जुमला हिन्दीमें बात और अरबीमें कलाम है"(दरियाय लताफत, पृ० ३२१ : उर्दू अनुवाद)। "जनाब (सआदत यारखाँ रंगीन) फारसी, अरबी और हिन्दी तीन जबानोंमें शैर कहते है" (वही, पृ० ७०), "और चन्द नवकास जिन्हें हिन्दीमें माँह कहते है" (वही, पृ० १२२)। किन्तु इसी सन्दर्भमें इस शब्दका प्रयोग विशिष्ट अर्थमें उस भाषाके लिए करते हैं, जो दिल्ली तथा उसके आस-पासकी भाषासे विकसित हुई है और जिसकी दरबारी शैलीको आदर्श उर्दू मानते हैं, यथा—"पस हिन्दी जबानके हरफ अठासी हुए" (वही, पृ० २१), "हिन्दीमें मसदरकी अलायत 'ना' है" (वही, पृ० १२७), "सर गुजिस्तः फारसी और रसभानीमें हिन्दी हुआ" (वही, पृ० ३५३)। इस प्रकार विदेशी भाषाओं (फारसी, अरबी)के सन्दर्भमें हिन्दी और उर्दू शब्द समानार्थक-से है, किन्तु उर्दूके सन्दर्भमें हिन्दी शब्द सामान्यतः मध्य देशी (या गिलक्राइस्टके शब्दोंमें हिन्दुस्तानी ग्राम्य शैली)का द्योतक प्रतीत होता है। " 'भागा' और 'भीगा' तो उर्दू है, लेकिन 'भाजा'और'भीजा' उर्दू नहीं अगरच यह हिन्दीमें सही है" (वही, पृ० २२०)। हिन्दीका यह अर्थ हिन्दवी, हिन्दुई (गिलक्राइस्टके अर्थमें)के बहुत निकट है। सम्भवतः यही कारण है कि गिलक्राइस्टने बहुप्रचलित हिन्दी शब्दको छोड़कर हिन्दीकी बहुप्रचलित प्रतिनिधि भाषाको हिन्दुस्तानी नाम दिया, जो उनके लिए उर्दूका समानार्थक था। वास्तवमें उस समय हिन्दी शब्द सामान्य रूपसे उर्दू या हिन्दुस्तानी और हिन्दी या हिन्दुई, सबके लिए प्रयुक्त होता था। १८११ ई०में लल्लूलाल द्वारा लिखित 'लतायफे हिन्दी' जिसमें कि फारसी और नागरी, दोनों लिपियोंमें हिन्दुस्तानी तथा हिन्दवी भाषाकी कहानियाँ संगृहीत है, नाम इसी आशयकी ओर संकेत करता है।

फोर्ट विलियम कालेजमें गिलक्राइस्टके समयतक हिन्दुस्तानी (उर्दू) और फारसी लिपिको विशेष प्रश्रय मिला, क्योंकि गिलक्राइस्टके अनुसार वही बहुप्रचलित सुसंस्कृत भाषा थी, किन्तु कम्पनीके कर्मचारियोंका सम्बन्ध जैसे-जैसे हिन्दुस्तानियोंसे बढता गया, उन्हें यह भान होता गया कि हिन्दुस्तानी (उर्दू) नहीं, बल्कि हिन्दी (हिन्दवी) ही बहुप्रचलित भाषा थी। १८१२ ई०में कैप्टेन टेलरने कालेजका वार्षिक विवरण प्रस्तुत करते समय हिन्दी शब्दका प्रयोग आधुनिक अर्थमें सम्भवतः प्रथम बार किया—"मैं केवल हिन्दुस्तानी या रेखताका जिकर कर रहा हूँ, जो फारसी लिपिमें लिखी जाती है···मै हिन्दीका जिक्र नही कर रहा, जिसकी अपनी लिपी है···जिसमें अरबी-फारसी शब्दोंका प्रयोग नही होता और मुसलमानी आक्रमणसे पहले जो भारतवर्षके समस्त उत्तर-पश्चिम प्रान्तकी भाषा थी" (इम्पीरियल रिकर्डस् होम० मि० : जिल्द ४, पृ० २७६-७७)। इसके पश्चात् ११ अक्तूबर, १८२४ ई०में विलियम प्राइसने अपनेको सर्वप्रथम हिन्दी प्रोफेसर लिखा और ब्रजभाषा, खड़ीबोली, हिन्दवी, हिन्दुई, ठेठ हिन्दी आदि नामोंके बदले हिन्दी नामको चुना। उनका कथन है—"अत्यधिक प्रचलित होनेके कारण हिन्दीका रूप ही अधिक अपेक्षित है··· हिन्दीके लगभग सभी शब्द संस्कृतके है और हिन्दुस्तानीके अधिकांश शब्द अरबी और फारसीके"। प्राइस हिन्दी और हिन्दुस्तानीका उदाहरण इस प्रकार देते है—हिन्दुस्तानी—"एक बार किसी शहरमें यूँ शुहरत हुई कि उसके नजदीकके पहाड़को जननेका दर्द उठा"। हिन्दी—"एक समय किसी नगरमें चर्चा फैली कि उसके पड़ोसके पहाडको प्रसूतकी पीर हुई" (वही, पृ० ५०३-५०६)। १८२५ ई०के वार्षिक अधिवेशनमें भाषण करते समय लार्ड ऐमहर्स्टने कहा—"हिन्दी शब्दके सामान्य अर्थके अन्तर्गत वे बोलियाँ आती है, जो थोड़ेसे स्थानीय भेदों और परिवर्तनोंके साथ बनारस और बिहार तथा समर्पित तथा विजित प्रान्तोंके अधिकांश हिन्दू जनसमूह द्वारा व्यवहृत होती है"···"अब आपको छोटे-से-छोटे व्यक्तिके साथ न्याय करना पडता है"···"फारसी और उर्दू उनके लिए उतनी ही विदेशी है, जितनी अंग्रेजी" (एशियाटिक जर्नल, १८२६ ई०)। आज इसी आधुनिक अर्थमें हिन्दी भारतीय संघकी राजभाषा है।

उपर्युक्तके विवरणके आधारपर कहा जा सकता है कि हिन्दी नामके रूपका विकास भारतीय सीमाके बाहर ही ईरानियों द्वारा ८वीं शतीतक हो गया था। तबसे लेकर आजतक इस शब्दसे ३ अर्थ विकसित हुए—(१) व्यापक अर्थ, (२) सामान्य अर्थ, (३) विशिष्ट अर्थ। जबतक

मुसलमान भारतमें नहीं बसे थे, तबतक हिन्दी शब्दका प्रयोग व्यापक अर्थमें ही करते रहे। प्राचीन भारतीय भाषाओं तथा आधुनिक भारतीय भाषाओंसे प्रत्यक्ष रूपसे परिचित होनेपर १३वीं शतीके पश्चात् मध्यदेश (पूर्वी पंजाब, उत्तरप्रदेश, बिहारका कुछ भाग, राजस्थान)की बोलीके अर्थमें हिन्दी शब्दका प्रयोग होता रहा। सम्भवतः यही अर्थ लेते हुए ग्रियर्सनने हिन्दीकी ८ मुख्य बोलियाँ (dialect) पश्चिमी हिन्दी- खड़ीबोली, बाँगरू, ब्रज, कन्नौजी, बुन्देली, पूर्वी हिन्दी- अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी मानी है। श्यामसुन्दर दास तथा धीरेन्द्र वर्मा राजस्थानी (मेवाड़ी, जयपुरी, मेवाती, हाड़ौती) तथा पहाड़ी (कुमाउँनी, गढ़वाली, नेपाली) और बिहारी (मैथिली, मगही, भोजपुरी) तीन उपभाषाएं और मानते है। साहित्यिक सन्दर्भमें आज भी हिन्दीका यही सामान्य अर्थ प्रचलित है। यही कारण है कि हिन्दी साहित्यके इतिहासके अन्तर्गत मध्यदेशसे सम्बन्धित उपर्युक्त समस्त बोलियोंका साहित्य आता है। मसऊद, औफी और खुसरूसे लेकर आजतक साहित्यिक सन्दर्भमें हिन्दीका प्रयोग इसी सामान्य अर्थमें हुआ है। किन्तु मुसलमानोंने मध्यदेशकी समस्त बोलियोंको अपने प्रयोगके लिए नहीं अपनाया था, बल्कि दिल्ली और मेरठकी बोली (आधुनिक खड़ीबोली, बाँगरू) ही उनकी बोलचालकी भाषा बनी थी। खुसरूकी 'देहलवी', दक्खिनी कवियोंकी 'देहलवी', 'गूजरी', 'दक्खिनी', 'हिन्दी', 'हिन्दवी'में यही विशिष्ट अर्थ अभिप्रेत है। हिन्दीका यह रूप ही मुसलमानों तथा सन्तों द्वारा प्रयुक्त होकर अन्तःप्रान्तीय बना। औरंगजेब-कालीन स्वामी प्राणनाथके 'कुलजमस्वरूप'में प्रयुक्त शब्द 'बोली हिन्दुस्तानी' तथा २०० वर्ष पुराने खड़ीबोलीके पत्रोंमें प्रयुक्त 'हिन्दुस्तानीय भाषा' और 'लालदासबीतक'में प्रयुक्त 'हिन्दवी' शब्दका विशिष्ट अर्थ दिल्ली और मेरठकी बोली ही है। १९वीं शतीमें गिलक्राइस्ट द्वारा प्रयुक्त हिन्दुस्तानी शब्दका भी विशिष्ट अर्थ यही है। इसमें ही दो विशिष्ट साहित्यिक शैलियाँ विकसित हुई,-उर्दू और हिन्दी (आधुनिक अर्थमें)।

हिन्दीका यही विशिष्ट रूप भारतीय संघकी राजभाषा तथा राष्ट्रभाषाके लिए प्रयुक्त होता है तथा व्याकरण, भाषा-विज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थोंमें हिन्दी शब्दका प्रयोग अधिकांशतः विशिष्ट अर्थमें ही होता है।

हिन्दी भाषाका मूलाधार (सब्स्ट्रैटम या बेसिक डाइलेक्ट) अथवा मूलोद्गम खड़ीबोली है। किन्तु मात्र खड़ीबोलीपर ही हिन्दीका भवन निर्मित नहीं हुआ है। राजस्थानी, पूर्वी पंजाबी और सबसे अधिक ब्रजका सहयोग भी बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है। यह प्रभाव शब्द-सहयोगतक ही सीमित नहीं रहा, किन्तु भाषाके उच्चारण, व्याकरण और वाक्य-संघटनके क्षेत्रमें भी प्रवेश कर गया है। मध्यकालीन हिन्दी अथवा हिन्दवीमें यह प्रभाव स्पष्ट रूपसे दिखाई पड़ता है। यही कारण है कि शैरानी पंजाबीको और स्वर्गीय आजाद (तजकिरह सर्वे आजाद) तथा गिलक्राइस्ट ब्रजभाषाको हिन्दी भाषाका मूलाधार मान लेते है। फ्रोर्ट विलियम कालेजके हिन्दी प्रोफेसर प्राइस महोदय ११ अक्तूबर, १८२४ ई० के अपने भाषणमें गिलक्राइस्टकी इसी भूलकी ओर संकेत करते हुए कहते हैं—"खड़ीबोली ही अबतक हिन्दुस्तानी और उसके व्याकरणका आधार है, न कि ब्रजभाषा"।

भारतीय संघकी राजभाषा और राष्ट्रभाषाके रूपमें समस्त देश ही इसका क्षेत्र है; संघके अन्तर्गत अनेक राज्योंकी राजभाषा और साहित्यिक भाषाके रूपमें हिन्दी भाषा-प्रदेशकी सीमाएँ इस प्रकार होंगी—पश्चिममें पश्चिमी पाकिस्तान (सीमाप्रान्त, प्रसिद्ध नगर जैसलमेर), उत्तर-पश्चिममें अम्बाला, उत्तरमें शिमलासे लेकर नेपालके पूर्वी छोरतकके पहाड़ी प्रदेशका दक्षिणी भाग, पूर्वमें भागलपुर, दक्षिण-पूर्वमें रायपुर तथा दक्षिणमें खण्डवा। इस क्षेत्रकी जनसंख्या १६ करोड़ होगी (दे०—धीरेन्द्र वर्मा : हि०भा० इ०, भूमिका, पृ० ६०)। हिन्दीकी उपभाषाओं (राजस्थानी, बिहारी और पहाड़ी)के क्षेत्रोंको अलग कर, भाषाशास्त्री सूक्ष्म दृष्टिकोणसे हिन्दीकी सीमाएँ इस प्रकार मानते हैं—"उत्तरमें तराई, पश्चिममें पंजाब और हिसारके जिले, पूर्वमें फैजाबाद, प्रतापगढ़, इलाहाबादके जिले और दक्षिणमें रायपुर-खण्डवा"।

भारतीय संघकी राजभाषाके रूपमें हिन्दी लगभग ४० करोड़ जनसमुदायकी भाषा है। जनसंख्याकी दृष्टिसे और समस्त भूमण्डलमें उसका तृतीय स्थान है (प्रथम इंगलिश, द्वितीय चीनी)।

हिन्दीमें भारतीय आर्य भाषामें विकसित सुनिश्चित ४६ ध्वनियाँ है। इनमें ११ स्वर और ३३ व्यंजन है। इनके अतिरिक्त अनुस्वार तथा विसर्ग, दो व्यंजन और है (हिन्दी वर्णमालामें तीन और संयुक्त व्यंजन क्ष (क्+ष), त्र (त्+र), ज्ञ (ज+ञ) मिला दिये जाते है)। ब्रज आदि बोलियोंमें प्रयुक्त न्ह, म्ह ध्वनियाँ मिलती हैं। विदेशी भाषाओंके सुदीर्घ सम्बन्धके फलस्वरूप हिन्दीने ६ फारसी तथा २ अरबी ध्वनियाँ भी अपना रखी है। अंग्रेजीके शब्दोंके शुद्ध उच्चारणके लिए एक नयी ध्वनि ऑ (जैसे—डॉक्टर) भी उच्चरित होती है। शब्दोंके उच्चारणमें आकारान्त उच्चारणकी प्रवृत्ति विशेष रूपसे लक्षित होती है।

व्याकरणकी दृष्टिसे हिन्दीको का, में, पर, से, इस, उस, जिस, किस तथा ना, ता, आ, गा भाषा कहकर पुकार सकते है। रूपान्तरकी दृष्टिसे हिन्दी संज्ञाके ४ रूप बनते है (२ मूल रूप+२ विकृत रूप)। इनमेंसे भी अनेक संज्ञाएँ ऐसी है, जिनके चारों रूप भिन्न-भिन्न होते है। इस दृष्टिसे हिन्दीमें संज्ञा रूपान्तरके ४ नमूने मिलते हैं। हिन्दीमें दो वचन (एकवचन, बहुवचन) और दो लिंग (स्त्रीलिंग, पुलिंग) होते है। हिन्दीमें स्वाभाविक स्त्रीलिंग और पुलिंगके अतिरिक्त व्याकरण सम्बन्धी लिंग-भेद भी होता है। हिन्दी आकारान्त विशेषणों (अच्छा-अच्छी) तथा क्रियाओंमें भी लिंग होता है (लड़का आता है—पुं०, लड़की आती हैं—स्त्री०)। हिन्दी सर्वनामोंमें लिंग-भेदके कारण परिवर्तन होता है। संस्कृतमें ८ कारकरूपोंके स्थानमें हिन्दीमें दो ही रूप (मूल रूप, विकृत रूप) मिलते है। विकृत रूपमें कारक-चिह्न लगाकर कारकोंके ८ अर्थ प्रकट किये जाते हैं। शून्य चिह्न कर्ता कारकके अर्थमें तथा ने प्रत्यय कर्ताका अर्थ प्रकट करनेके लिए भूतकालिक कृदन्त कालोंके साथ लगता

है। 'ने' पश्चिमी हिन्दी, विशेष रूपमें साहित्यिक हिन्दी-की विशेषता है। इसी प्रकार 'को' चिह्न कर्म कारक, को, के लिए सम्प्रदान कारक, 'से' उपकरण और अपादान कारक, का, के (वि० रूप०में, स्त्रीलिंगकी) सम्बन्ध कारक तथा 'में' और 'पर' अधिकरण कारकके अर्थ प्रकट करते है। कहीं-कहीं संयुक्त कारक चिह्न (दोहरे चिह्न) भी आते है (यथा—उनमेंसे)। हिन्दीमें इन चिह्नोंके अतिरिक्त कुछ सम्बन्धसूचक अव्यय कारकोंके अर्थमें प्रयुक्त होते है। विशेष कारक परसर्ग सम्बन्ध कारकीय रूपोंमें लगते है, यथा—प्रति, तई (कर्म), द्वारा, ज़रिये, कारण (करण), हेतु, निमित्त, वास्ते (सम्प्रदान), अपेक्षा, सामने, आगे, साथ (अपादान), मध्य, बीच, अन्दर, ऊपर, पास, नीचे (अधिकरण)।

हिन्दी सर्वनामोंके मुख्य-मुख्य रूप निम्नलिखित है। मूल रूप एकवचन तथा बहुवचनमे क्रमशः मैं, हम (हम लोग), तू, तुम, (आप, आदरवाचक), वह, वे (अन्य पुरुष, दूरवर्ती निश्चयवाचक तथा नित्यसम्बन्धी), यह, ये, जो (एकवचन और बहुवचन, सम्बन्धवाचक), कौन (एकवचन, बहुवचन), कोई (अनिश्चय, एकवचन, बहुवचन), आप (आदरार्थ मध्यम पुरुषमें और निजवाचकके अन्तमे)। इनके विकृत रूप क्रमशः इस प्रकार होंगे—मुझ, हम, तू, तुम, उस, उन, इस, इन, जिस, जिन, किस, किन, किसी, किन्हीं तथा आप। इनके अतिरिक्त इतना, उतना, जितना, कितना परिमाणवाचक, ऐसा, वैसा, जैसा कैसा गुणवाचक सार्वनामिक विशेषणके मुख्य रूप है। ये समस्त सर्वनामरूप अधिकांशतः प्राकृत और अपभ्रंश रूपोंमें विकसित हुए है।

संस्कृतकी क्रियारचना भाषाकी जटिल संयोगात्मक अवस्थाको प्रकट करती है। संस्कृतमें एक धातुमे ६ (प्रयोग) × १० (काल) × ३ (प्रसंग) × ३ (लिंग) = ५४० भिन्न रूप बनते है। हिन्दी क्रिया रचना भाषाके सरलतम वियोगात्मक रूपको प्रकट करती है। क्रियाके साधारण रूपके अन्तमें 'ना' होता है, यथा खाना, देखना, चलना। इसीको हटा देनेसे हिन्दी धातु निकल आती है। हिन्दीमें कुल लगभग ५०० धातुएँ है। ये धातुएँ कुछ अकर्मक, कुछ सकर्मक होती है। धातुमे आ-वा लगकर हिन्दी प्रेरणार्थ धातु बनती है। हिन्दी क्रियामें ३ काल (वर्तमान, भूत, भविष्य), ३ अर्थ (निश्चय, आज्ञा, सम्भावना), ३ अवस्थाएँ (सामान्य, पूर्ण अपूर्ण), तीन वाच्य (कर्तृ, कर्म, भाव) और तीन प्रयोग (कर्तरि, कर्मणि, भावे) मिलते है। काल-रचनामें कृदन्त (भूतकालिक, वर्तमानकालिक, पूर्वकालिक, क्रिया संज्ञा) तथा सहायक क्रिया (होना)से विशेष सहायता ली जाती है और हिन्दी क्रिया-रचनामें भूतकालसे सम्बन्धित एकवचन रूप 'आ'में तथा वर्तमान कालसे सम्बन्धित रूप 'ता'में तथा भविष्यकालसे सम्बन्धित रूप 'गा'में अन्त होता है। हिन्दीमें ६ मूल काल या साधारण काल (भूत, भविष्य, निश्चयार्थ; चला, चलेगा; वर्तमान, भूत, सम्भावनार्थ; चले, चलता; वर्तमान, भविष्य, आज्ञार्थ; चले, चलना) तथा १० संयुक्त काल (५ पूर्ण काल भूतकालिक कृदन्त+सहायक क्रिया; वर्तमान, भूत, भविष्य, निश्चय तथा वर्तमान भूत सम्भावनार्थ, ५ अपूर्ण वर्तमानकालिक कृदन्त+सहायक क्रिया, वर्तमान, भूत, भविष्य, निश्चयार्थ तथा वर्तमान, भूत, सम्भावनार्थ) है। क्रियाओंके सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अर्थ प्रकट करनेके लिए दो या अधिक प्रधान या सहकारी क्रियाओंके संयोगसे हिन्दीकी संयुक्त क्रियाएँ बनती है, जो आ० भा० आ०की प्रमुख विशेषता है। आठ भिन्न-भिन्न रूपोमे क्रियाएँ बनती है (क्रियार्थक संज्ञा, वर्तमानकालिक कृदन्त, भूतकालिक कृदन्त, पूर्ण क्रियाद्योतक, अपूर्ण क्रियाद्योतक, संज्ञाविशेषण तथा पुनरुक्त क्रिया)। प्रधान क्रियारूपोंके साथ सहकारी क्रियाएँ (होना, आना, उठना, करना, चाहना, चुकना, जाना, डालना, देना, रहना, लगना, लेना, पाना, सकना, बनना, बैठना, पड़ना) लगती है।

हिन्दी अव्ययोके ४ समूह (क्रियाविशेषण, समुच्चयबोधक, सम्बन्धसूचक, विस्मयादिबोधक) मिलते है।

हिन्दीमे वाक्यमें समान्यतः कर्ता, कर्म, क्रियाका शब्द-क्रम रहता है। क्रिया सामान्यतः लिंग-वचनमे कर्तासे और कभी-कभी कर्मसे अनुशासित होती है। विशेष्यके अनुसार विशेषणका लिंग होता है। हिन्दीमे ३ प्रकारके वाक्य (साधारण, मिश्रित, संयुक्त) होते है। विरामादिका विशेष विकास अधिकांशतः आधुनिक युगमें ही हुआ है।

हिन्दी विशेष रूपसे देवनागरी लिपिमे लिखी जाती है, जो ब्राह्मी लिपिका विकसित रूप है। लिपिकी प्रधानताके कारण ही हिन्दीको कभी-कभी नागरी हिन्दी भी कहते है। हिन्दी साहित्यके इतिहासके लिए दे० 'आदिकाल', 'भक्तिकाल', 'ज्ञानाश्रयी शाखा', 'प्रेमाश्रयी शाखा', 'रीतिकाल', 'आधुनिक काल', 'भारतेन्दु-युग', 'द्विवेदी-युग', 'छायावादी-युग', 'प्रगति-युग' 'प्रयोग-युग'।—मा०व०जा०

हिंदी प्रदेश–गंगाकी घाटीमें भागलपुरतकके भूमिभागको साधारणतया हिन्दी प्रदेश कहा जा सकता है। यह वह भाग है, जहाँकी प्रादेशिक भाषा अर्थात् शासन, साहित्य और शिक्षाकी प्रधान भाषा वर्तमान समयमें खड़ीबोली हिन्दी है।

भारतीय विधानके अनुसार निम्नलिखित राज्य हिन्दी प्रदेशके अन्तर्गत आते है—बिहार, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान तथा दिल्ली। इनके अतिरिक्त पंजाब तथा हिमाचलप्रदेशके कुछ भाग भी हिन्दीभाषी है।

मुसलिम शासनकालमें हिन्दी प्रदेश हिन्दुस्तान कहलाता था तथा उससे पूर्व यही प्रदेश मध्यदेश नामसे प्रसिद्ध था।

भारतवर्षमे प्राचीन आर्य संस्कृतिके प्रधान केन्द्र इसी प्रदेशमे थे। ऐतिहासिक दृष्टिसे अधिकांश वैदिक तथा संस्कृत भाषा और साहित्य, 'रामायण', 'महाभारत', बुद्ध, महावीरस्वामी, अशोक, गुप्तसाम्राज्य, मुगलसाम्राज्य, तुलसीदास, कबीर, गंगा-यमुना, उज्जैन, चितौड़, मथुरा, काशी, गया, दिल्ली आदि हिन्दी-प्रदेशके ही अन्तर्गत पड़ते है। —धी० व०

हिंदी राम-साहित्य–हिन्दी साहित्यके प्रादुर्भावके पूर्व ही राम-कथा शताब्दियोंसे भारतीय साहित्यमात्रमे इतनी व्याप्त होती रही थी कि समस्त भारतीय संस्कृति राममय हो चली थी, अतः हिन्दी साहित्यमें राम-कथाकी इस लोकप्रियताके कारण सन्त कवियोंने भी रामनामका सहारा लेकर अपनी निर्गुण साधनाका प्रचार किया है। सन्त-

काव्यपर राम-साहित्यका यह प्रभाव नामके प्रयोगतक सीमित न रह सका, रीतिकालमें दरिया साहबने ('ज्ञान-रत्न'में) तथा इसके बाद तुलसी साहबने ('घट-रामायण'में) रामायणीय कथाको निर्गुणवादी दृष्टिकोणसे प्रस्तुत करनेका प्रयास किया है।

हिन्दी साहित्यके आदिकालमें रामानन्दने उत्तर-भारतमें जनसाधारणकी भाषामें रामभक्तिका प्रचार किया था (दे०'रामभक्ति')। इसके फलस्वरूप हिन्दी राम-साहित्य, आधुनिक कालको छोड़कर, प्रायः भक्ति-भावनासे ओत-प्रोत है। इस साहित्यकी चार प्रमुखताएं प्रतीत होती है—तुलसीदासका एकाधिपत्य, लोकसंग्रही दास्य भक्तिका प्राधान्य, कृष्णकाव्यका प्रभाव, विविध रचनाशैलियों, छन्दों और साहित्यिक भाषाओंका प्रयोग।

(अ) हिन्दी राम-साहित्यमें गोस्वामी तुलसीदासका एकाधिपत्य हिन्दी राम-साहित्यकी बड़ी विशेषता है। प्रारम्भसे लेकर आधुनिकतम कालतक असंख्य रामकथा-विषयक रचनाओंकी सृष्टि होती रही, लेकिन ये समस्त रचनाएं राम साहित्यके आकाशमें तारागणमात्र है, जो 'रामचरितमानस'के प्रखर प्रकाशमें निष्प्रभ हो जाते है, यह एक ऐसा 'नव बिधु बिमल' सिद्ध हुआ है "जो उदित सदा अथइहि कबहूं ना। घटिहि न जगनभ दिन-दिन दूना"। (आ) तुलसीदासने मर्यादापुरुषोत्तम रामकी गुण-गाथा गाते हुए रामानन्द द्वारा प्रचारित लोकसंग्रही सगुण दास्य भक्तिका जो रूप प्रतिपादित किया है, उसीको जन साधारणने स्वीकार कर लिया है। वही रूप परम्परागत आदर्शवादी रामकाव्यके अधिक अनुकूल भी है और उसीको रामभक्तिका वास्तविक स्वरूप मानना चाहिये। (इ) तुलसीदास द्वारा प्रतिपादित दास्य भक्ति इतनी लोकप्रिय सिद्ध हुई कि बादकी रामकी मधुरोपासना प्रायः विकारमात्र मानी जाती है। वास्तवमें रामकी माधुर्यभक्ति तुलसीके पूर्व ही विद्यमान थी और कृष्णकाव्यका प्रभाव प्रारम्भसे ही रामकाव्य तथा रामभक्ति, दोनोंपर पड़ा है। यद्यपि तुलसी-की भक्ति दास्य ही है, किन्तु उनके काव्यपर भी कृष्ण-साहित्यको छाप स्पष्ट है, 'गीतावली'में राम हिंडोला-विहार करते तथा होली खेलते हुए सामने आते हैं। भक्तिकालमें ही अग्रदासके 'अष्टयाम'में रामकी रासक्रीड़ाका वर्णन है और उनके शिष्य नाभादासकी भी दो 'अष्टयाम' नामक रचनाओंका उल्लेख मिलता है। कृष्णभक्तिका वह प्रभाव रीतिकालकी शृंगारिकता तथा रसिक अथवा सखी-सम्प्रदाय-के विकाससे बहुत बढ़ गया है। उस कालकी बहुत-सी रचनाओंमें राम और सीता साधारण नायक-नायिका बन-कर शृंगारपूर्ण चेष्टाएँ करते दिखाई देते हैं। (ई) हिन्दी राम-साहित्यकी अन्तिम विशेषता यह है कि इसमें कृष्ण काव्यकी अपेक्षा रचनाशैलियों, छन्दों और साहित्यिक भाषाओंकी अधिक विविधता पायी जाती है। प्रबन्धकाव्यका प्राधान्य रहते हुए भी हिन्दी राम-साहित्यका मुक्तक काव्य नगण्य नहीं है। रामभक्त कवियोंने सभी प्रचलित छन्दोंमें मध्यकालकी प्रमुख भाषाओंमें रामचरितका वर्णन किया है। हिन्दीके प्रारम्भिक नाट्यसाहित्यमें भी रामकथाका स्थान महत्त्वपूर्ण है तथा खड़ीबोली गद्यके निर्माणमें राम-साहित्यपरक रचनाओंका विशेष योग रहा है।

गोस्वामी तुलसीदासके पूर्वका हिन्दी राम-साहित्य अधिक विस्तृत नहीं है। रामानन्दके कुछ भक्तिविषयक पद सुर-क्षित है तथा सूरदासने 'सूरसागर'में रामकथाके मार्मिक स्थलोंपर लगभग १५० पदोंकी रचना की है (दे०—दशम स्कन्ध, पूर्वार्ध)। 'पृथ्वीराजरासो'के द्वितीय समयमें दशाव-तारकथाके अन्तर्गत रामकथा-विषयक लगभग १०० छन्द मिलते है, जिनमें लंकायुद्ध प्रधान वर्ण्य है। ईश्वरदासकी रचनामें 'रामचरितमानस'का पूर्वाभास मिलता है। भरत-मिलापमें अयोध्याकाण्डकी कथावस्तुका अवधी दोहा-चौपा-इयोंमें वर्णन है और इसमें भरतको आदर्श दास्यभक्तके रूपमें चित्रित किया है। ईश्वरदासकृत 'रामजन्म' तथा 'अंगद पैज'भी सुरक्षित है। ये सब एक ही विस्तृत ग्रन्थके अंश प्रतीत होते है।

तुलसीदासके समकालीन कवियोंमेंसे केवल अग्रदास तथा उनके शिष्य नाभादासने रामभक्ति-साहित्यकी सृष्टि की है। स्वामी अग्रदासकी 'पदावली' तथा 'ध्यानमंजरी'में और नाभादासकृत 'रामचरितके पद'में मँजी हुई भाषाके भक्तिपूर्ण पद मिलते है, दोनोंने 'अष्टयाम' नामक ग्रन्थोंकी रचना भी की है। तुलसीका समकालीन अन्य राम-साहित्य निम्नलिखित है—मुनिलालका 'रामप्रकाश' (सन् १५८५ ई०); रामकथाके साथ-साथ रीतिशास्त्रकी प्रतिपादक केशव-दासकृत 'रामचन्द्रिका' (सन् १६०१ ई०), प्रबन्ध-काव्यकी दृष्टिसे इसमें चरित्र-चित्रण तथा कथा-निर्वाहका अभाव है, कई संवाद बड़े अच्छे है; सोढी मेहरवानकी 'आदिरामायण' (१७वीं श० ई०का प्रारम्भ) अधिकतर गद्यात्मक, भाषा हिन्दी मिश्रित पंजाबी; प्राणचन्द चौहानका 'रामायण महानाटक' (सन् १६१० ई० : वाल्मीकि-रामायण या हनुमन्नाटकके आधारपर कथोपकथनकी शैलीमें रामकथा); हृदयरामका 'हनुमन्नाटक' (सन् १६२३ ई०, अंकोंका विभाजन 'हनुमन्नाटक'के अनुसार है, किन्तु यह अधिकांश-में प्रांजल ब्रजपद्यकी मौलिक रचना है), राजस्थानमें रामानन्दका 'लक्ष्मणायन' तथा माधौदासका 'रामरासो'। तुलसीके बाद भक्तिकालकी शेष सामग्री इस प्रकार है, रामलल पाण्डेयका 'हनुमच्चरित्र' (सन् १६३९ ई०), यह सम्भवतः ब्रह्मराय मलकृत हणुवन्त मोष्यगामी कथा है, (जिसमें जैनी रामकथाके अनुसार हनुमान्‌का चरित्र वर्णित है); लालदासका 'अवधविलास' (सन् १६४३ ई०); सेना-पतिकृत 'कवित्तरत्नाकर' (चौथी रामायणवर्णन तथा पाँचवीं तरंगमें), राजस्थानमें नरहरिदासका 'अवतारचरित', जिसमें ३२० पृष्ठ रामावतारसे सम्बन्ध रखते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास (सन् १५३२-१६२३ ई०)ने चार प्रबन्धकाव्य लिखे है—'रामचरितमानस' तथा तीन खण्ड-काव्य अर्थात् 'रामलला नहछू', 'जानकी मंगल', 'पार्वती-मंगल'। चारों अवधीमें हैं और 'पार्वतीमंगल'को छोड़कर शेष रामचरितसे सम्बन्ध रखते हैं। उनके मुक्तक काव्य-ग्रन्थोंमें तीन अवधीमें अर्थात् 'रामाज्ञाप्रश्न', 'दोहावली-सतसई' तथा 'बरवै रामायण'; शेष मुक्तक-संग्रह ब्रजभाषा-में है, अर्थात् 'गीतावली', 'विनयपत्रिका', 'कृष्णगीतावली' तथा 'कवितावली', 'बाहुक'। 'वैराग्यसन्दीपिनी'की प्रामा-

णिकता अत्यन्त सन्दिग्ध है। 'दोहावली'में रामगुणगानके अतिरिक्त प्रधानतया नीतिवर्णन है; 'विनयपत्रिका' तथा 'कवितावली' उत्तरकाण्डमें रामभक्तिके विभिन्न भावोंकी अभिव्यक्ति है; 'कृष्णगीतावली'मे कृष्णचरितकी स्फुट लीलाओंका वर्णन है; 'बाहुक'मे कवि अपनी बाहु-पीडाके लिए हनुमान्‌से निवेदन करते हुए उनकी गुणगाथा भी प्रस्तुत करते है। शेष रचनाओंका विषय रामकथा है।

'रामचरितमानस'की अद्वितीय लोकप्रियता तथा चिरस्थायी प्रभावको देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तर-भारतके सांस्कृतिक तथा धार्मिक इतिहासमें विक्रम संवत्‌की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना 'रामचरितमानस'की रचना ही है। इतना तो निश्चित है कि किसी भी देशमे ऐसा कोई भी काव्यग्रन्थ नहीं मिलता, जो 'रामचरितमानस'की भाँति शताब्दियोंतक जनताका जीवन अनुप्राणित करनेमें समर्थ हुआ हो। इस सामर्थ्यका रहस्य यह है कि तुलसीदासकी प्रतिभाने 'रामचरितमानस'में काव्य-सौन्दर्य, भक्ति तथा लोकसंग्रहका अपूर्व समन्वय किया है। मानव-हृदयको मोहित करनेकी शक्ति रामकथामात्रमें पहलेसे ही विद्यमान थी; तुलसीदासने इस कथानकको इस कौशलसे प्रस्तुत किया है कि कथाप्रवाह, मार्मिक स्थलोंकी पहचान, मर्यादित श्रृंगार, पात्रानुकूल-भाषा, चरित्र-चित्रणकी दृष्टिसे 'रामचरितमानस' हिन्दीका सर्वश्रेष्ठ काव्यग्रन्थ माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त इसमें दास्य भक्तिका दिव्य रूप प्रतिपादित किया गया है; उपास्य रामका शील, संकोच और सहृदयता मनुष्यमात्रको आकर्षित करनेमें समर्थ है, किन्तु तुलसी ऐश्वर्यबोध इस प्रकार बनाये रखते है कि भक्तोंमें श्रद्धाका भाव प्रधान ही रह जाता है। साथ-साथ लोकसंग्रहका ध्यान रखकर तुलसी समस्त मानवजीवनका आदर्श प्रस्तुत करते हुए पारिवारिक तथा सामाजिक कर्तव्योंका इतना प्रभावशाली चित्रण प्रस्तुत करते है कि 'रामचरितमानस' उत्तरभारतका नैतिक मेरुदण्ड सिद्ध हुआ है। ग्रियर्सनका कहना है कि महात्मा बुद्धके बाद उत्तर-भारतमें सबसे बड़े लोकनायक तुलसी हुए है। वास्तवमें उत्तरभारतकी जनताके लिए गोस्वामी तुलसीदास महात्मा बुद्ध तथा वाल्मीकि, दोनोंका सम्मिलित महत्त्व रखते है।

रीतिकालका राम-साहित्य महत्त्वपूर्ण न होते हुए भी भक्तिकाल तथा आधुनिक कालकी अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत है। श्रृंगारकी व्यापकता, प्रसिद्ध संस्कृत रामकाव्यके पद्यानुवाद, हनुमान्‌विषयक रचनाओंका बाहुल्य, प्रारम्भिक नाट्य तथा गद्य-साहित्यमें रामकथाका प्राधान्य, ये रीतिकालीन राम-साहित्यकी प्रमुख विशेषताएँ है।

भूपतिकी 'रामचरित-रामायण'की रचना १७ श० ई०के उत्तरार्धमें हुई थी। इसमें दोहा-चौपाइयोंमें रामकथा वर्णित है। सिखोंके दसवें गुरु गोविन्द सिंहने सन् १६९८ ई०में 'रामावतार कथा' लिखी थी, जो हालमे 'गोविन्द रामायण'-के नामसे प्रकाशित हुई है। इसमें वीर तथा श्रृंगार रस प्रधान है। सुखदेव मिश्रका 'दशरथ राय', केशव कविका 'बालचरित', झामदासकी 'श्रीरामायण', पद्माकरका 'रामरसायन', रुद्रप्रताप सिंहका 'सुप्रसिद्धस्तोत्रम्' तथा मैथिल कवि शिवदत्तका 'सीताहरण' उल्लेखनीय है। रीतिकालमें राजस्थानके अधिकांश कवियोंने कृष्णको ही अपना विषय चुना है, फिर भी मुरली, नागरीदास, सुन्दरकुँवरि, उम्मेददास, सोमनाथ, मंछाराम तथा किशनजीने रामकाव्यकी सृष्टि की है।

निम्नलिखित रचनाओमें कृष्णकाव्यकी गहरी छाप है, इनमें राम तथा सीता श्रृंगारपूर्ण लीलाओंमें संलग्न दिखाई देते है—रामप्रियाशरणकी 'सीतायन', विश्वनाथ सिंहकी 'रामायण', जनकराज किशोरीशरणकी विविध रचनाएँ, रामचरणदासकी 'कवितावली रामायण', 'रामरहस्य' और 'कौगजेरूरहस्य', जनकदासका 'सत्योपाख्यान', प्रताप सिंहका 'जुगलनखसिख', रामनाथ प्रधानका 'रामकलेवारहस्य' और 'रामहोरी', भगवतदासका 'श्रीरामरहस्य' तथा 'रामकण्ठाभरण'।

गणेशका 'वाल्मीकिरामायणश्लोकार्थप्रकाश', सरयूराम पण्डितका जैमिनिपुराणभाषा', मधुसूदनदासका 'रामाश्वमेध' (पद्मपुराण), गोकुलनाथका 'सीतारामगुणार्णव' (अध्यात्मरामायण) तथा भगवान्‌दास खत्रीकी 'महारामायण' (योगवाशिष्ठ), ये पद्यानुवाद विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं।

विश्वनाथ सिंह, केशव कवि, भगवन्तराय खीची, मनियार सिंह, गणेश और खुमानने भी हनुमद्‌भक्तिपरक रचनाओंकी सृष्टि की है।

प्रारम्भिक हिन्दी नाट्य-साहित्यमें कृष्णकथाकी अपेक्षा रामकथाको अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। भक्तिकालके अन्तर्गत प्राणचन्द चौहानके 'रामायण महानाटक' तथा 'हनुमन्नाटक'का उल्लेख हो चुका है। सन् १६७५ ई०के लगभग रामकविने 'हनुमन्नाटक'की रचना की थी। विश्वनाथ सिंहका 'आनन्दरघुनन्दन' १८वी श० ई० का हिन्दीका सर्वप्रथम मौलिक नाटक माना जाता है। ईश्वरीप्रसादकृत 'रामायण', लक्ष्मणशरण 'मधुकर'का 'रामलीलाविहार' तथा हरिरामका 'जानकीरामचरित' भी उल्लेखनीय है। नेपालमें निम्नलिखित मैथिल राम-नाटकोंका उल्लेख मिलता है—कृष्णदासकृत 'रामायणनाटक' (१७वी श० ई०), सुमति जितामित्रमल्लका 'अश्वमेध नाटक' (१७वी श० ई०) तथा रणजितमल्ल (१८वी श० ई०)का 'रामायण नाटक' तथा 'रामचरित'।

हिन्दी गद्यके इतिहासमे रामकथाका गौरवपूर्ण स्थान है। 'भक्तमाल'में नाभादासने एक 'अष्टयाम' ब्रजभाषा गद्यमें लिखा था तथा सोढीमेहरबानकी 'आदिरामायण' अधिकतर गद्यात्मक ही है। खडीबोली गद्यकी प्राचीनतम प्रौढ़ रचनाओंमेंसे तीन ग्रन्थ रामसाहित्यसे सम्बन्ध रखते है—रामप्रसाद निरंजनीका 'भाषायोगवासिष्ठ' (१७४१ ई०), दौलतरामका 'पद्मपुराण' (सन् १७६१ ई०, जैनी रामकथा) तथा सदल मिश्रका 'रामचरित' (सन् १८०७ ई०, अध्यात्म रामायणका अनुवाद)।

हिन्दीके आधुनिक कालको गद्यकाल भी कहा गया है, किन्तु आधुनिक राम-साहित्यकी विशेषता यह है कि रामकथाविषयक गद्यकी अपेक्षा रामकाव्य कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। सुधाकर द्विवेदीकृत 'रामकहानी', प्रेमचन्दकी 'रामचर्चा', अक्षयकुमार जैनकृत 'युगपुरुष राम' (सन्

१९५४ ई०). ऊर्मिला मैथिलीशरण गुप्त 'सीता वनवास' और उनका उपन्यास 'ऊर्मिला', ब्रजलाल शास्त्रीकी पंजाबी 'रामकथा' आदि इस बातका प्रमाण है कि आधुनिक रामकथाविषयक गद्यका अभाव नहीं है, फिर भी इस प्रकारकी रचनाएँ अपेक्षाकृत कम हैं और वे किसी भी प्रकारसे महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। आधुनिक रामनाटक-साहित्य अधिक विस्तृत है। संस्कृतके अच्छे रामनाटकोंके अनुवादों तथा असंख्य रामलीलाविषयक रचनाओंके अतिरिक्त भारतेन्दु-कालसे लेकर आधुनिक समयतक रामकथाविषयक नाटकोंकी सृष्टि होती रही। उदाहरणार्थ, देवकीनन्दन त्रिपाठीका 'सीताहरण' (सन् १८७६ ई०), ज्वालाप्रसाद मिश्रका 'सीतावनवास' (सन् १८९५ ई०), 'प्रेमघन'का 'प्रयाग-रामागमन' (सन् १९०४ ई०), सुदर्शनका 'अंजना' (सन् १९२२ ई०), बदरीनाथ भट्टका 'तुलसीदास' (सन् १९२५ ई०), गोविन्ददासका 'कर्तव्य' (पूर्वार्द्ध १९३५ ई०), रामवृक्ष बेनीपुरीकृत 'सीताकी माँ', रघुनन्दनशरण अग्रवालकृत 'आलिनय' (सन् १९४० ई०), पृथ्वीनाथ शर्माकृत 'ऊर्मिला' (सन् १९५० ई०)। कथावस्तु नाटकोंकी भाँति इनके नाटकों-पर आधुनिक विचारधाराओंका प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट है।

आधुनिककालमें रामकाव्यधारा बहुत समयतक बहुत-कुछ पूर्ववर्ती परम्पराके अनुसार प्रवाहित होती रही। राममक्ति और विशेषकर रामलीलाविषयक मुक्तक काव्यके अतिरिक्त निम्नलिखित पुरानी धाराके प्रबन्धकाव्य अपेक्षा-कृत महत्त्वपूर्ण हैं—रसिकबिहारीका 'रामरसायन', रघुनाथ-दासका 'विश्रामसागर' (रामायणखण्ड), रघुराज सिंहका 'रामस्वयंवर', बाघेली कुँवरिजीका 'अवधविलास', बलदेव-प्रसाद मिश्रका 'कोशलकिशोर', मैथिलीशरण चन्दा शास्त्री रामायण। सन् १९०० ई०के बाद भी यह पुरानी धारा बन्द नहीं हुई, उदा०—शिवरत्न शुक्ल 'सिरस'का 'श्रीरामावतार', वंशीधर शुक्लका 'रामभरोसा' तथा रामनाथ ज्योतिषीका 'श्रीरामचन्द्रोदय' (सन् १९३७)।

सन् १९२० ई०के बादका खड़ीबोलीका रामकाव्य अपेक्षाकृत समृद्ध है। 'रामकी शक्तिपूजा' ('निराला'), 'प्रदक्षिणा' और 'पंचवटी' (मैथिलीशरण गुप्त) आदि छोटी-सी रचनाओंके अतिरिक्त निम्नलिखित महाकाव्य साहित्यिक मूल्य रखते हैं—रामचरित उपाध्यायका 'रामचरितचिन्ता-मणि' (सन् १९२० ई०), मैथिलीशरण गुप्तका 'साकेत' (सन् १९२९ ई०), अयोध्या सिंह उपाध्यायका 'वैदेही-वनवास' (सन् १९३९ ई०), बलदेवप्रसाद मिश्रका साकेत-सन्त' (१९४६ ई०), केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'का 'कैकयी' (१९५० ई०), बालकृष्ण 'नवीन'का 'ऊर्म्मिला' (१९५७)। उपर्युक्त महाकाव्योंमें तीन प्रमुख विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं—(१) बुद्धिवादी दृष्टिकोणके कारण अवतारवादको कम महत्त्व दिया गया है अथवा राम आदिको पूर्णतया मानवके रूपमें चित्रित किया गया है, (२) भक्तिकालकी धार्मिक भावना तथा रीतिकालकी शृंगारिकताके स्थानपर नवीन सामाजिक तथा राजनीतिक आदर्शोंको प्रमुख स्थान मिला है, (३) पूर्ववर्ती रामकाव्यके उपेक्षित पात्रोंको नायक-नायिका बनानेकी प्रवृत्ति, उदाहरणार्थ 'कैकेयी', 'ऊर्मिला', 'साकेत' (लक्ष्मण-ऊर्मिला) तथा साकेत 'सन्त' (भरत-माण्डवी)। दे० 'रामकथा', 'रामकाव्य', 'रामभक्ति'।

—का० बु०

हिंदुई—दे० 'हिन्दी'।

हिंदुस्तानी—हिन्दीकी भाँति व्यापक दृष्टिसे 'हिन्दुस्तानी' शब्दका भी प्रयोग हिन्दुस्तान या भारतकी किसी भी वस्तु, व्यक्ति और किसी भी भाषाके लिए विशेषणके रूपमें हो सकता है। आज भी इस शब्दका इस प्रकारका प्रयोग प्रचलित है (जब कि 'हिन्दी' पूर्णतया भाषाके लिए रूढ़ि हो गया है)। भाषाके सन्दर्भमें सरल हिन्दी या सरल उर्दूका बोलचालवाला रूप हिन्दुस्तानी कहलाता है, जिसमें न संस्कृत शब्दोंकी और न फारसी शब्दोंकी भरमार रहती है। भाषाका यह व्यावहारिक रूप प्रायः समस्त भारतमें समझा लिया जाता है, किन्तु इस व्यावहारिक रूपके लिए अब हिन्दुस्तानीके स्थानमें हिन्दी शब्दका ही प्रयोग बढ़ता जा रहा है।

ग्रियर्सनके अनुसार हिन्दुस्तानी शब्द यूरोपीय लोगों द्वारा निर्मित हुआ है। धीरेन्द्र वर्मा भी यह मानते है कि 'हिन्दुस्तानी नाम यूरोपीय लोगोंका दिया हुआ है' (हि० भा० का इ०, भूमिका, पृ० ६३)। किन्तु यूरोपीय लोगोंसे बहुत पहले यह नाम खुरासानियों द्वारा निर्मित हुआ था। जिस प्रकार अरब-ईरानके मुसलमानोंने इस देशकी भाषाके लिए 'जबान हिन्दी'का प्रयोग किया, उसी प्रकार खुरासा-नियोंने 'जबान हिन्दुस्तान' या हिन्दुस्तानीका प्रयोग किया। अभीतककी प्राप्त खोजोंके अनुसार भाषाके लिए हिन्दुस्तानी शब्दका प्रयोग सबसे प्रथम बाबरके समयमें उसी भाषाके लिए उसी (सामान्य और क्लिष्ट) अर्थमें हुआ, जिस भाषाके लिए, जिस अर्थमें हिन्दी या हिन्दवी शब्दका हुआ था (दे० 'हिन्दी', 'हिन्दवी')। बाबरने अपने आत्मचरित 'तुजुक बाबरी'में लिखा है—"मैंने उसे (दौलत खाँ लोदीको) अपने सामने बिठाया और उसे दृढ विश्वास दिलानेके लिए एक व्यक्तिके द्वारा जो 'हिन्दुस्तानी भाषा' जानता था, एक एक वाक्यका भाव स्पष्ट कराया ('मेम्वायर्स ऑव बाबर', ल्यूकस, किंग एडिशन, भाग २ : पृ० १७०)। शाहजहाँ-काल(१६२७ ई०–१६५७ ई०)में भी 'तारीख फरिश्ता' और 'बादशाहनामा'में यह शब्द मिलता है (नग्मये सिरायाने हिन्दोस्तानी जबान), (दे० 'बादशाह-नामा')। हिन्दी साहित्यमें सम्भवतः स्वामी प्राणनाथ (संवत् १६३८–१७५१)ने सर्वप्रथम 'भाषा हिन्दुस्तानी' या 'हिन्दुस्तानी'का प्रयोग हिन्दवी या हिन्दीके समानार्थक रूपमें किया है। 'बिना हिसाबे बोलीआँ ॥ मीने सकल जॉहान ॥ सबको सुगम जानके ॥ कहूँगा हिन्दुस्तान ॥ बड़ी भाषा ऐही भली ॥ जो सबमें जाहेरा ॥ करने पाक संबतकों ॥ अन्तर मोहे बाहेर" (कुलजमस्वरूप कुरान सनन्ध, चौ० १५-१६)। 'कुलजमस्वरूप'के आदि सम्पादक केसोदासने १६९४ ई०मे किताबोंके शीर्षकोंमें भी इस नामका प्रयोग किया है, यथा—"श्री किताब प्रकास हिन्दुस्तानी लिख्यो है। किताब तौरेन श्रीकलस हिन्दुस्तानी लिख्यो है"। ३०० वर्ष पुराने खड़ीबोलीके पत्रोंमें हिन्दु-स्तानी नाम प्रयुक्त हुआ है। मध्ययुगमें मुसलमानोंने हिन्दी, हिन्दवीकी अपेक्षा हिन्दुस्तानीका प्रयोग बहुत कम

वादोंके बराबर थे। थेरवाद या स्थविरवादी भिक्षुओंकी सभा वैशालीमें हुई थी, जिसके बाद (ई० पू० १००)में नाना विचारधाराएँ उत्पन्न हो गयीं। ईसापूर्व चौथी शतीसे लेकर दूसरी शताब्दी ई० पू० तक स्थविरवादकी प्रधानता मिलती पायी जाती है। हीनयान-सिद्धान्तके अनुसार अर्हत्पद ही मोक्ष है। इस लोकोत्तर शान्ति संसारमें पूर्व जन्मका अन्त हो जाता है। इसके अभ्याससे व्यक्तिको वीतरागमुक्त होना आवश्यक है। हीनयानके मतानुसार बुद्ध एक महान् आचार्य (उपदेशक) थे और बोधि प्राप्त करनेसे ही उन्हें निर्वाण (मोक्ष) मिला। अवलोकी पूजा निरर्थक है। सातवीं शतीके चीनी यात्री ह्वेनसांगने लिखा है कि उसके सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक दार्शनिक सिद्धान्तोंको हीनयानमें सम्मिलित माना जाता था। सूत्रपर ही इनके विचार अवलम्बित थे। ये संसारको नश्वर तथा प्रत्येक वस्तुको क्षणिक मानते थे।

हीनयानके महायानी भिक्षुओंका क्या सामाजिक सम्बन्ध रहा, यह ठीक तरहसे कहा नहीं जा सकता, परन्तु यह सत्य है कि दोनों एक ही संघमें रहा करते थे। अधिक सम्भवतः दोनों मतावलम्बियोंने एक ही 'विनय'का पालन किया। सातवीं सदीका चीनी यात्री इत्सिंग लिखता है कि हीनयान तथा महायान-मतवाले एक 'विनय' मानते थे और दोनों पाँच महापातकोंको समान रूपसे देखते थे। चार आर्यसत्य दोनोंके लिए एक-से थे। बोधिसत्त्वकी कल्पना हीनयानवालोंको मान्य न थी और उसकी पूजासे वे पृथक् रहने लगे थे। चीन, जापान तथा तिब्बतसे हीनयानको महायानवालोंने निकाल बाहर किया, पर हीनयान आज भी लंका, बर्मा, कम्बोडिया तथा श्याम-(थाइलैण्ड)में फैला है। १९५६ ई०के नवम्बर मासमें काठमाण्डूमें एक बौद्ध-संगीति बुलायी गयी थी। उसमें सर्वसम्मतिसे यह प्रस्ताव स्वीकृत कर लिया गया कि सामाजिक अथवा धार्मिक क्षेत्रमें हीनयान और महायानका विभेद सर्वदाके लिए समाप्त कर दिया जाय। यह भविष्य बतलावेगा कि इस अत्यन्त प्राचीन विभेदका कहाँतक अन्त हो पाया है।

भारतवर्षमें धर्म तथा कलाका गहरा सम्बन्ध रहा है और प्रायः धार्मिक भावनाकी ही अभिव्यक्ति कलाकार करते रहे हैं। प्राचीन समयमें बौद्धकलाका जन्म धर्मको लेकर हुआ। हीनयानमतानुयायी बुद्धको महान् उपदेशक मानते थे, अतएव कलाविदोंने उनके प्रतीकोंको ही अपनाया। लाक्षणिक अर्थमें कलाकी उत्पत्ति हुई। भगवान् बुद्धके जीवनसे सम्बन्धित चार ऐतिहासिक घटनाओंको (जन्म, ज्ञान, उपदेश तथा निर्वाण) चार विभिन्न लक्षणोंसे दर्शाया गया। जन्मको अधिकतर हाथीके द्वारा व्यक्त किया गया है। मायादेवी (गौतमकी माता)ने एक स्वप्न देखा कि सफेद हाथी उदरमें प्रवेश कर रहा है। अतएव उसी पशुको कलाकारोंने लाक्षणिक अर्थमें चित्रित किया। अशोकने अपने स्तम्भके शिखरोंपर सिंहको भी स्थान दिया था, जो गौतमके शाक्य-सिंह होनेकी घोषणा करते हैं। भारहुत तथा बोधगयाके अतिरिक्त साँचीमें जन्मको प्रदर्शित करनेके लिए कमलासनपर बैठी देवी तथा दो हाथियोंके लक्षणका नवीन प्रयोग पाया जाता है। हिन्दू मतमें इसे गज-लक्ष्मीकी संज्ञा देते हैं। दक्षिणभारतकी अमरावती-कलामें भी हाथीका प्रयोग किया गया है। बोधगयामें गौतमकी ज्ञान-प्राप्तिका प्रदर्शन वृक्ष (पीपल)से करते हैं। वृक्षके नीचे बैठे गौतमने मारपर विजय और सम्बोधि प्राप्त की। उसी समयसे इसका नाम पड़ा। शुंगकालीन कलामें सर्वत्र ही यह लक्षण प्रदर्शित मिलता है। भारहुत, बोधगया, साँची तथा अमरावतीकी वेदिकाओंपर वृक्षके प्रतीकका प्रयोग बड़े ही सुन्दर ढंगसे किया गया है। संसारके पशु, पक्षी तथा मनुष्य या देवतागण उस प्रतीककी पूजा करते दिखलाये गये हैं। उपदेश या धर्मचक्रप्रवर्तनकी घटना सारनाथ (काशी)से सम्बन्धित है। उसी स्थानपर बुद्धने सर्वप्रथम धार्मिक प्रवचन आरम्भ किया था। इसलिए चक्र ही इसका प्रतीक माना जाता है। चूँकि प्रारम्भमें कला हीनयानको लेकर उपस्थित हुई थी, अतएव प्रतीकका प्रदर्शन आवश्यक हो गया। धर्मचक्रको सर्वोपरि स्थान मिला। अशोकने सारनाथमें जो स्तम्भ खड़ा किया, उसपर चार सिंहोंकी पीठपर एक चक्रकी आकृति तैयार करायी। उसका तात्पर्य यही था कि धर्म शक्तिसे परे है। चारों दिशाओंमें धर्मका प्रचार हो चुका था। सिंह शक्ति तथा धर्मचक्रप्रवर्तनका लक्षण माना गया है। चौथा प्रतीक स्तूप समझा जाता है, जिससे बुद्धके निर्वाणका बोध होता है। हीनयानके कला-केन्द्रोंमें इसको प्रमुख स्थान दिया गया है। भाजा, नासिक, अजन्ता तथा कार्लेके चैत्योंमें स्तूप ही दिखलाया गया है। शुंगकालीन कला-केन्द्रोंमें स्तूप बुद्धके स्थानपर आदरका पात्र समझा जाता रहा। सारे भारतकी वेष्टनियों तथा साँचीके तोरणपर स्तूपका प्रतीक प्रधान लक्षणोंमें एक है, जिसे पशु, पक्षी, मनुष्य अथवा देवगण समादर करते थे। इस तरहके प्रतीक लाक्षणिक अर्थमें प्रयुक्त होते रहे और हीनयान सम्बन्धी कलामें (शुंगयुगमें) ही इनकी प्रधानता रही।

जहाँतक हीनयानके साहित्यका सम्बन्ध है, भगवान् बुद्धके प्रवचन कई शतियोंतक संगृहीत न हो सके, अतएव स्थविरवादी भिक्षुओंने भगवान्‌के मौखिक उपदेशोंको संग्रह-कर पुस्तकका रूप दिया। वैशालीकी संगीतिके पश्चात् उपदेश तथा संघके नियम एकत्र हुए, जिसके लिए पहलेसे ही झगड़ा चला आ रहा था। 'अट्ठकथा' तथा 'कथावस्तु' नामक ग्रन्थ ईसापूर्व तैयार हुए। 'ललितविस्तर' तथा 'दिव्यावदान'की रचना हुई। कथानकोंका संग्रह महावस्तुके नामसे किया गया। भारतीय भाषाओंसे हीन-यानका अधिक साहित्य चीनी तथा तिब्बती भाषाओंमें सुरक्षित है। जापानमें भी इस तरहका (हीनयान सम्बन्धी) साहित्य पर्याप्त मात्रामें मिलता है। इनका नागरी रूपान्तर अभीतक उपलब्ध नहीं है। पाली त्रिपिटक (सूत्र, विनय तथा अभिधम्मपिटक)का सम्बन्ध हीनयानसे ही स्थापित किया गया है। विषयके विचारसे बुद्धका जीवन, तत्सम्बन्धी कथाएँ तथा विनय सम्बन्धी वार्ताएँ ही इन ग्रन्थोंमें मिलती हैं। —वा० उ०

हीर १–मात्रिक सम छन्दका एक भेद। 'प्राकृतपैंगलम्'के अनुसार इसके प्रत्येक चरणमें ६,६,११ की यतिसे २३

मात्राएँ होती हैं तथा आदि ग, अन्त रगण (SIS) रहता है (१ : १९०)। भानुका लक्षण इसीके अनुसार है। हिन्दीके कवियोंने इसे हीर, हीरा, हीरक नामसे प्रयुक्त किया है। केशव (रा० चं०), श्रीधर (जंगनामा) तथा सूदन (सु० च०)ने इसका प्रयोग किया है। केशव और सूदनने आदिमे ग रखनेके नियमका पालन नहीं किया है। सूदनने इसमें वीर रसका अच्छा निर्वाह किया है। उदा०—"पण्डित गण, मण्डित गुण, दण्डित मति देखिये" (रा० चं०)।

हीर २—वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। भ, स, न, ज, न, र के योगसे यह वृत्त बनता है (SII, IIS, III, ISI, III, SIS); इस छन्दका मात्रिक रूप (३ षष्ठक+रगण) कुण्डल छन्दके अन्तिम गुरुके स्थानपर IS रखनेसे बनेगा। केशवने इस नवीन छन्दका प्रयोग किया है। उदा०—"सुन्दरी सब सुन्दर प्रति मन्दिर पुर यों बनी, मोहन गिरि शृंगनपर मानहुँ महि मोहिनी" (रा० चं०, ८ : ८)।

हृदयवाद—छायावादके उत्तरकालमे जिन व्यक्तिवादी और रोमान्सवादी प्रवृत्तियोंका विकास हुआ, उनमें हृदयवादका विशेष महत्त्व है। रोमानी तत्त्वोंसे उद्भूत जो काव्यधारा विकसित हुई, उसका मुख्य उद्देश्य रागात्मक तत्त्वोंकी केवल उच्छृंखल अनुभूतियोंतक ही सीमित रह गया। उसे न तो पीडा और न आत्मवेदनाकी वह परिपक्वता मिली, जो काव्यको प्रौढ़ एवं जागरूक बनाती है और न वह भाव-बोध ही मिला, जिसके माध्यमसे आदिम मनःस्थितियाँ भी परिष्कृत होकर एक उदात्त अथवा व्यापक सह-अनुभूति की प्रेरणा देती है। देश-कालके प्रति अपेक्षाकृत अनुत्तरदायित्व पूर्ण छायावादी विचारधाराकी चरम परिणति ऐसी किसी विचारधारामें होनी अनिवार्य थी, जो केवल मौलिक सहज अनुभूतियों(basic instincts)को प्रश्रय देकर केवल अनुरंजनात्मकतामें परिणत हो जाय। वस्तुतः उत्तर-छायावादकालसे यही हुआ भी। एक ओर तो समस्त चेतनानुभूति रहस्यपूर्ण उदात्त मानव-चेतनासे बँधनेकी चेष्टा करने लगी और दूसरी ओर उसी चेतनानुभूतिके माध्यमसे वह पलायनवाद(दे०)की अभिव्यक्ति पा रही थी, जो उमर खैयाम जैसे कविसे प्रभावित थी। सुखवादी दार्शनिकोंका प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रभाव पलायनके रूपमें पनपने लगा, जिसकी अभिव्यक्ति छायावाद(दे०)से लेकर हालावाद(दे०)तकके विभिन्न रूपोंमें हुई थी। ये कवि सम्पूर्ण मानसिक स्थितिमें बात तो बड़ी कहना ही चाहते थे, किन्तु चूँकि वे स्वयं एक बृहत् परम्पराके छोटे एवं टूटे हुए रूप थे, इसलिए उस बृहत् परम्पराकी केवल प्रतिच्छाया लेकर ही वे चल सकते थे। उनमें उसकी सत्यानुभूतिकी पकड़ नहीं थी, फलस्वरूप वह उदात्तसे गिरते-गिरते केवल दैनिक और निम्न कोटिके भाव-स्तरोंकी सिहरन, संवेदन और अनुरंजनतक ही सीमित रह सके, उसके आगे या उसके समान उदात्तके अस्तित्वकी स्वीकृति उनके वशके बाहरकी बात थी।

उत्तरछायावादी काव्यमें हृदयवादका रूप विशेष द्रष्टव्य है। इस वर्गके कवियोंमें 'बच्चन', भगवतीचरण वर्मा, 'अंचल', नरेन्द्र शर्मा, 'नीरज' आदिके नाम उल्लेखनीय है। —ल० कां० व०

हेतु—एक अर्थालंकार। संस्कृत साहित्यशास्त्रके लेखक दण्डी, रुद्रट, विश्वनाथ कवि एवं अप्पय दीक्षितने इस अलंकारका विवरण दिया है। रुद्रटने वास्तव, औपम्य, अतिशय एवं श्लेषमूल तत्त्वोंके आधारपर अलंकारोंका वर्गीकरण करते समय हेतुको वास्तव और अतिशय, दोनों वर्गोंमें रखा है। उनके अनुसार इसका लक्षण यह है—"हेतुमत्ता सह हेतोरविधानमभेदकृद्भवेद् यत्र। सोऽलंकारो हेतुः स्याद्न्येभ्यः पृथग्भूतः" (का०लं०, ७-८२), अर्थात् कारणका कार्य (हेतुमत्)के साथ वर्णन करने या कारण और कार्यमें भेद न बतानेमें हेतु अलंकार होता है। क्योंकि भामह एवं मम्मटने इसको अलंकार नहीं माना, इसलिए मानो उनके मतका खण्डन करनेके लिए रुद्रटने कहा है कि यह अलंकार अन्य अलंकारोंसे विलक्षण है। मम्मट आदिने इसे केवल काव्यलिंग स्वीकार किया है। विश्वनाथके अनुसार हेतुकी हेतुमत्ता(कार्य)के साथ अभेद कहा जाना, यह अलंकार है (सा० द०, १० : ६४)।

हिन्दीके आचार्योंने प्रायः 'कुवलयानन्द'के आधारपर इसके दो भेदोंका वर्णन किया है। प्रथम, "जहाँ हेतुमत साथ ही, कीजे हेतु बखान" (ल० ल०, ३९१)। अथवा "या कारनकौ है यही, कारज यै कहि देत" (का० नि०, १७), अर्थात् जहाँ कारणका कार्यके सहित वर्णन किया जाय—"जगत जियावनकों नये, ये उनये घनस्याम" (पद्मा०, २७९), अथवा—"दरपन मैं निज रूप लखि नैननि मोद उमंग। तिय मुख पिय बस करनको बढ्यो गर्वको रंग" (ल० ल०, ३९३)। यहाँ 'उनये घनस्याम' तथा 'जगत जियावन', 'मोद उमंग'रूप कारणोंका कार्योंके सहित वर्णन है। द्वितीय, "जहाँ हेतुमत हेतुको, बरनत एक स्वरूप" (ल० ल०, ३९४), अथवा—"कारज कारन एक ही कहै" (का० नि०, १७), अर्थात् जहाँ हेतु तथा हेतुमत्का एकस्वरूपकथन हो—"नैननिको आनन्द है, जियकी जीवन जानि। प्रगट दरप कन्दर्पको, तेरी मृदु मुसकानि" (ल० ल०, ३९५)। यहाँ दोनोंको स्वरूप कहा गया है। किसी-किसीने एक तीसरे भेदका उल्लेख भी किया है। —उ० कि० ब०

हेतूत्प्रेक्षा—दे० 'उत्प्रेक्षा', दूसरा भेद।

हेत्वापह्नुति—दे० 'अपह्नुति', दूसरा भेद।

हेला—दे० 'अंगज अलंकार'।

होली—होली हिन्दुओंका एक बड़ा तथा लोकप्रिय उत्सव है। इस अवसरपर जो गीत गाये जाते है, उन्हें होली कहते हैं। क्योंकि यह त्यौहार फागुन मासकी अन्तिम तिथिको मनाया जाता है, अतः भोजपुरी प्रदेशमे इन गीतोंको फगुआ भी कहा जाता है। ब्रजकी होली बडी प्रसिद्ध है। होली और रसियाका चोली-दामनका सम्बन्ध है। होली समवेत स्वर(कोरस)से गाये जानेवाला गीत है। इस शब्दकी व्युत्पत्ति होलिकासे मानी जाती है, जो प्रह्लादकी बुआ थी। इस गीतके गानेवाले दो मण्डलियोंमें विभक्त होकर बड़े तार स्वरसें इसे ढोल तथा झालको बजाते हुए गाते है। पहिला दल गीतकी एक कडीको गाता है

तो दूसरा दूसरी कतीरको। इस प्रकार उस समय एक समा बंध जाता है। इन गीतोंमें राधा-कृष्णके होली खेलनेका प्रायः उल्लेख होता है। होलीका गाना माघ शुक्ल पंचमी—वसन्तपंचमीसे प्रारम्भ हो जाता है तथा पूरे फाल्गुन मासतक चलता रहता है। होलीके दिन एक दूसरे प्रकारका भी गीत गाया जाता है, जिसे कबीर कहते हैं। ये गीत प्रायः अश्लील होते हैं। इन्हें कबीर क्यों कहा जाता है, यह कहना कठिन है। सम्भवतः कबीरदास तथा उनकी अटपटी बानीकी खिल्ली उड़ानेके लिए ही इन गीतोंकी रचना की गयी हो। कबीरकी प्रत्येक पंक्ति इस प्रकार आरम्भ होती है। 'अ र र र र र र र भइया सुन लऽ मोर कबीर'। जहाँ होली कोरसमें गायी जाती है वहाँ कबीरको कोई एक ही व्यक्ति गाता है, जो फाग खेलनेवालोंकी पार्टीका अगुआ होता है। होलीमें शृंगारकी प्रधानता होती है और कबीरमें हास्यकी। —कृ० दे० उ०

ह्रासोन्मुखता (decadence)-प्रगति और प्रगतिशीलताकी व्याख्यामें अनेक जितनी रुचि दिखलायी गयी है, उसका शतांश भी ह्रासोन्मुखताकी व्याख्यामें नहीं। ह्रासोन्मुखतापर कुल तीन ही स्वतन्त्र ग्रन्थोंके प्रकाशित होनेकी सूचना मिलती है—एक तो मैक्स नार्डोका १८९३ ई०में प्रकाशित ग्रन्थ 'डिजेनरेशन' जिसकी स्थापना है—"प्रतिभा एक प्रकारका उन्माद अथवा विकार है", दूसरा है लार्ड बाल्फोर द्वारा राजनीतिक ह्रासोन्मुखतापर दिये गये व्याख्यानोंका संग्रह जो 'डिकेडेन्स' नामसे १९०८ ई० में प्रकाशित हुआ था और तीसरा ग्रन्थ है सी० ई० एम० जोडका, जो इसी नामसे १९४८ ई०में प्रकाशित हुआ है। फिर भी इस शब्द तथा धारणापर स्फुट रूपसे पर्याप्त विचार हुआ है। प्रत्येक आलोचक तथा इतिहासकार—चाहे वह साधारण इतिहासकार हो, चाहे साहित्य, दर्शन, राजशास्त्र, विज्ञान, आदिका—ह्रासोन्मुख अथवा ह्रासोन्मुख-युग, सभ्यता, संस्कृति, जाति, धर्म, दर्शन, साहित्यकी चर्चा करता पाया जाता है।

ह्रासोन्मुखताकी व्याख्यामें अत्यधिक मतभेद देखनेको मिलता है। हम नीचे केवल मुख्य परिभाषाओंका निरूपण करेंगे। (क) एक परिभाषाके अनुसार राष्ट्रकी सैनिक शक्तिका ह्रास ह्रासोन्मुखताका लक्षण है। इस मतके समर्थक चतुर्थ शती ई०पू०के एथेन्सको केवल इस कारण ह्रासोन्मुख कहते हैं कि उसने सैनिक शक्तिके ह्रासके फलस्वरूप अपना साम्राज्य खो दिया। इसी प्रकार हर्षवर्द्धनके बादका भारत प्रायः आक्रमणोंसे अपनी रक्षा न कर सकनेके कारण ह्रासोन्मुख मान लिया जाता है। किन्तु यह परिभाषा अत्यन्त स्थूल जान पड़ती है। आजकल अणु-शक्तिके बिना कोई राष्ट्र अपनी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं है, तो क्या कोई राष्ट्र केवल इसलिए ह्रासोन्मुख मान लिया जायगा कि उसके वैज्ञानिक अणु तोड़नेकी कलासे अनभिज्ञ हैं? १६ वी शतीमें स्विट्ज़रलैण्ड संस्कृतिके लिए नहीं, अपितु अपने दुर्धर्ष लड़ाकोंके लिए प्रसिद्ध था, यहाँतक कि यूरोपकी कोई भी सेना उनके बिना अपूर्ण समझी जाती थी। तो क्या वह देश अब केवल इसलिए ह्रासोन्मुख मान लिया जाय कि वह कहीं अधिक सुसंस्कृत, शान्तिप्रेमी, विस्थापितोंका संरक्षक और प्रथम अन्तरराष्ट्रीय शासनका केन्द्र बन गया है? (ख) एक दूसरी परिभाषाके अनुसार जनसंख्याका ह्रास ह्रासोन्मुखताका लक्षण है। शायद बलकान और रूसको छोड़कर यूरोपके प्रायः सभी देशोंकी जनसंख्या पहलेकी अपेक्षा धीमी चालसे बढ़ रही है और कहीं-कहीं तो घट भी रही है। अतः इस परिभाषाके समर्थक यूरोपको ह्रासोन्मुख कहेंगे और भारत जैसे देशोंको, जहाँ संख्या-वृद्धि जोरोंपर चल रही है, अह्रासोन्मुख। इन उदाहरणोंसे ही इस परिभाषाकी अपूर्णता स्पष्ट है। अनेक अन्य इतिहासदार्शनिक पश्चिमी यूरोपको ह्रासोन्मुख और भारतको पुनरुज्जीवित माननेके पक्षमें हैं। उनके मतमें भविष्यमें पश्चिमी यूरोपकी अपेक्षा भारत अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका ग्रहण करेगा, किन्तु उनकी इस मान्यताका आधार सर्वथा भिन्न है। समसामयिक इतिहास तो यही बतलाता है कि सभ्यताके उच्चतर सोपानपर पहुँचनेपर जनसंख्या-वृद्धिकी गति प्रायः उत्तरोत्तर धीमी पड़ती जाती है। (ग) एक तीसरी परिभाषाके अनुसार नैतिकताका ह्रास ही ह्रासोन्मुखता है। यह परिभाषा सर्वाधिक प्रसिद्ध है। जिस समाजमें बेईमानी, शैतानी, धूर्तता, मुकदमेबाजी, घूसखोरी, व्यभिचार, बलात्कार आदि अनैतिक प्रवृत्तियोंका बाजार गर्म हो उठे, वह इस परिभाषाके अनुसार ह्रासोन्मुख माना जायगा। सोरोकिनने अपनी 'दि अमेरिकन सेक्स-रेव्योल्यूशन' नामकी पुस्तकमें बतलाया है कि ह्रासोन्मुख यूनान और रोमकी भाँति ही अमेरिका भी काम-सम्बन्धी अराजकताकी ओर बड़े वेगसे अग्रसर है। उसने इसे अमेरिकी ह्रासोन्मुखताका स्पष्ट चिह्न घोषित किया है। इस मतके विरोधियोंका कहना है कि स्थिति-स्थापकके समर्थक तो प्रत्येक नये आचार-व्यवहारको अनैतिक, अतएव ह्रासोन्मुखताका लक्षण घोषित करते-फिरते हैं, अतः इस परिभाषाको और सीमित एवं स्पष्ट करनेकी आवश्यकता है। सप्राण सशक्त समाज नित नये मूल्योंकी उद्भावना और प्रतिष्ठामें आस्था रखता है और यदि संकीर्ण दृष्टिकोणसे काम लिया जाय तो सभी नये मूल्य पुराने मूल्योंके विरोधी होनेसे ह्रासोन्मुखताके ही प्रतीक मान लिये जायँगे। अनेक आलोचकोंका मत है कि अत्याचार, अनाचार, बेईमानी, शैतानी आदि अनैतिक प्रवृत्तियोंका ह्रासोन्मुखताके साथ कोई नित्य सम्बन्ध नहीं। प्रायः नयी समाज-व्यवस्थामें ये प्रवृत्तियाँ पुरानी समाज-व्यवस्थाकी अपेक्षा अधिक पायी जाती हैं। नयी व्यवस्थाके प्रतिष्ठापन और सुरक्षाके सिलसिलेमें अनेक जघन्य कार्य किये गये पाये जाते हैं, जो शान्तिप्रिय और ह्रासोन्मुख समाजके लिए कदापि सहनीय नहीं हो सकते। आलोच्य परिभाषाके समर्थक 'कौटिलीय अर्थशास्त्र' (जिसमें राजशक्तिको अनेक महत्त्वपूर्ण नीति-नियमोंकी अवहेलनाकी खुली छूट दी गयी है), 'काम-सूत्र,' 'मदाम बोवेरी' जैसे अश्लील साहित्य, आधुनिक अपराध-साहित्य आदिको ह्रासोन्मुख माननेकी सिफारिश करेंगे, यद्यपि सोरोकिनको अपने महासंस्थानवाद (दे० 'महासंस्थान')का अनुसरण करते हुए यह कहना चाहिये था कि ऐसा साहित्य प्रायः एक विशिष्ट संस्कृति, इन्द्रियाग्रही संस्कृतिका प्रतिनिधित्व करता

है, न कि हासोन्मुखताका। (घ) चौथी परिभाषाके अनुसार प्राप्त धरातलके अतिक्रमण अथवा परिरक्षणमें असमर्थता ही हासोन्मुखता है। अठारहवीं शतीके अँग्रेजी कवि पोपने हीरोइक नामक छन्दको विकासके जिस धरातलपर छोड़ा था, उसतक भी उसका प्रयोग करनेवाले परवर्ती कवियोंमेंसे कोई नहीं पहुँच सका, अतः वे कवि हासोन्मुख माने जा सकते है। इसी प्रकार अन्य श्रेष्ठ कवियों, कलाकारों आदिके भी असफल अनुकर्ता हासोन्मुख माने जाने चाहिये। यह सही है कि नवीनता एवं मौलिकताकी उपासक सर्जनशक्तिसम्पन्न प्रतिभाके लिए यह आवश्यक नहीं कि वह अपनी सर्जनशीलताका परिचय साहित्य जैसे किसी विशेष क्षेत्रमें ही दे, उसके लिए दर्शन, विज्ञान, कला आदिके द्वार सदा खुले रहते है, तथापि यदि अन्य क्षेत्रोमें सशक्त रचना आदि करनेमें सक्षम प्रतिभा भी साहित्यके क्षेत्रमें अनुकरणमात्रोपजीविनी, निर्बल रचना करती है तो उस विशिष्ट क्षेत्रकी दृष्टिसे वह हासोन्मुख ही मानी जायगी। वस्तुतः घटिया दर्जेके नये कवि अपनी आदर्शभूत कृतिकी पूर्णतासे अभिभूत हो, उसकी नकल करनेमें ही अपना गौरव, अपनी इतिकर्तव्यता समझ लेते है। फलतः वे प्रायः घटिया दर्जेकी ही रचना प्रस्तुत कर पाते है। अतः उन्हें हासोन्मुखके सिवा और कहा ही क्या जा सकता है? श्रेष्ठ प्रतिभा कभी अनुकरणमात्रसे सन्तुष्ट नहीं रह सकती, उसकी सर्जनशक्तिका स्फुरण नये-नये रूपोंकी उद्भावनामें देखनेको मिलता है। इस परिभाषामें पर्याप्त व्यापकता और पूर्णता दिखायी देती है। तथापि जोड-ने इसकी संगीतके क्षेत्रमें अचरितार्थताकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। (ङ) एक पाँचवी परिभाषाके अनुसार वस्तुकी उपेक्षा और रूपपर आग्रह ही हासोन्मुखता है। कल्पना कीजिये कि किसी विशिष्ट रूपका प्रयोग कर कोई महत्त्वपूर्ण काव्य रचा गया। अब यदि परवर्ती कवि हासोन्मुख होंगे तो उनके पास कोई नया कथ्य तो होगा नहीं, अतः वे उसी रूपका प्रयोग कर घटिया अथवा बासी वस्तु प्रस्तुत करेंगे और यदि इससे भी जी ऊबा तो नये-नये रूपोंकी उद्भावना कर नयी वस्तुके अभावकी पूर्ति करना चाहेंगे। फलतः रूप, शिल्प, सज्जा या शैली, जो वस्तुके माध्यममात्र है, स्वयं वस्तुका स्थान ले लेंगे। इस स्थितिको हासोन्मुखताकी स्थिति कहा जायगा। ओस्वाल्ड स्पेंग्लर कहता है कि मरणोन्मुख अथवा हासोन्मुख संस्कृति अथवा सभ्यताकी कला परिमाणात्मक, शिल्पप्रधान और अनुकरणमात्रोपजीविनी हो जाती है। पाश्चात्य कलाका आज यही हाल है। आजका कलाकार प्रायः विविध रूप-विधान द्वारा वस्तुके अभावकी पूर्ति करता देखा जाता है। यही कारण है कि हासोन्मुख कविता पहलेकी अपेक्षा अत्यधिक श्रमसाध्य एवं कृत्रिम होती है। पाश्चात्य कविता दिनानुदिन नीरस, शुष्क एवं बोझिल होती जा रही है। इस परिभाषाके पोषक उसे हासोन्मुख कहते है।

यह परिभाषा भी अत्यन्त सुन्दर है, यद्यपि इससे हासोन्मुख समाजकी पहचान सम्भव नहीं दीखती। जोड-ने इस सम्बन्धमें एक मजेदार बात कही है। विक्टोरिया-युगमें अनेक वस्तुहीन रूपोंका प्रचलन पाया जाता है। लोग चर्च इसलिए जाते थे कि वे चर्च जाते देखे जायँ और दूसरोंको चर्च जाते देखें, न कि इसलिए कि वे धर्मनिष्ठ थे। इसी प्रकार महिलाएँ परस्पर मिलती और चायपान करती थी, लेकिन यह इसलिए नहीं कि उनमे परस्पर प्रेम-भाव था अथवा वे एक दूसरेके हितकी बातें करना चाहती थी, बल्कि इसलिए कि मिलना-जुलना भद्रताका लक्षण माना जाता था। तथापि उस युगको कोई हासोन्मुख नहीं कहता।

संगीतपर भी यह परिभाषा लागू नहीं होती। संगीतमें रूप अर्थात् लयका इतना अधिक महत्त्व है और वस्तु अर्थात् स्वरका इतना कम कि एक ही स्वर भिन्न रूप-विधान द्वारा भिन्न संगीतकी उद्भावना करता है। (च) एक छठी परिभाषाके अनुसार विषय-वस्तुके लोपकी स्थिति ही हासोन्मुखता है। यह जोड-की अपनी परिभाषा है। जब विचार और व्यवहारमें सत्यं, शिवं, सुन्दरं जैसे मूल्यों और उनके अधिष्ठानरूप ईश्वर, ब्रह्म जैसी मानवोपरि सत्ताओंको तात्त्विक सत्ता न मानकर उन्हें ज्ञानतन्त्र सत्ता मान लिया जाता है, तब समाजको हासोन्मुख समझ लेना चाहिये। इन मूल्यों और सत्ताओंको जोड विषय-वस्तु कहता है। आधुनिक सौन्दर्य-शास्त्र सौन्दर्य-तत्त्वको, आचारशास्त्र शुभ अथवा सत्‌को, दर्शनशास्त्र वस्तुतत्त्वको और धर्म-विज्ञान ईश्वरको प्रायः असत्, ज्ञानसत् अथवा ज्ञानतन्त्र माननेके पक्षमें है। अतः आधुनिक युग जोड-के अनुसार उस सीमातक हासोन्मुख है। धर्म और आचारशास्त्र, दर्शन और विज्ञान, कला और साहित्य, वस्तु सत्य, मूल्यों अथवा मानवोपरि सत्ताओंके प्रति हमारी प्रतिक्रियाओंके व्यवस्थित रूपमात्र है। अहासोन्मुख समाजमे ये प्रतिक्रियाएँ मानवीय चेतनाके किसी अपनेसे भिन्न वस्तुके सन्निकर्षसे उत्पन्न मानी जाती है, किन्तु हासोन्मुख समाजमें उन्हें मानवीय चेतनाका स्वगत परिणाममात्र समझा जाता है।

यह परिभाषा एक विशिष्ट दर्शनके अनुयायियोंको ही मान्य हो सकती है। जिन्हें ईश्वर और धर्ममें आस्था नहीं, उन्हें नहीं। जोड भूल जाता है कि अनेक स्थलोंपर प्रतीयमान सत्ताको वास्तविक, वस्तुसत् मान लेना, उसकी दृष्टिसे भी अज्ञान या भ्रम ही समझा जायगा। आखिर इन्द्रजाल और भ्रमकी घटनाएँ उसे भी मान्य ही हैं। तो क्या उसका इन स्थलोंमें वस्तुसत्तासे इनकार उसे हासोन्मुख नहीं सिद्ध करेगा? यदि नहीं, तो परिभाषाकी सीमा बाँधनी होगी और यह बतलाना होगा कि क्यों ईश्वर और मूल्योंकी सत्ता ज्ञानसत् न होकर वस्तुसत् ही है। वस्तुतः यह बौद्धिक दार्शनिक ऊहापोहका विषय है, न कि विकास और ह्रासका। यदि हम यह सिद्ध कर दे कि ईश्वर और मूल्य वस्तुसत् नहीं तो हम हासोन्मुख क्यों मान लिये जायँगे? बल्कि इतने विवादग्रस्त प्रश्नके विषयमें इतनी दृढ़तासे एक राय कायम कर लेना और अन्य पक्षवालोंको हासोन्मुख घोषित करनेमें संकोच न होना स्वयं बौद्धिक-दार्शनिक हासोन्मुखताका चिह्न माना जा सकता है।

हासोन्मुखताकी सभी प्रकारकी परिभाषाओंमें एक सीमातक तात्त्विक एकता अवश्य पायी जाती है। शायद ही कोई आलोचक या इतिहासकार यह माननेपर तैयार होगा

कि होमर, अफलातून, अरस्तू, चासर, डिकेन्स, टॉल्सटाय, कालिदास, भवभूति जैसी विभूतियाँ ह्रासोन्मुखताका प्रतिनिधित्व करती हैं। सभी इनकी कृतियोंको सप्राण, सशक्त, सजीव आदि विशेषणोंसे याद करते हैं। इसके विपरीत सभी भट्टि, केशव आदिकी अनुकरण या श्रममात्रोपजीविनी कृतियोंको निष्प्राण, अशक्त, निर्जीव और ह्रासोन्मुख कहेंगे।

हमने अबतक सोचने-समझनेका प्रयत्न किया है कि ह्रासोन्मुखता क्या है? अब हमें यह भी देख लेना चाहिये कि वह क्या नहीं है।

संक्रान्तिकालमें प्राचीनकी ह्रासोन्मुखता नवीनकी विकासोन्मुखताकी अपेक्षा अधिक स्पष्ट होती है, लेकिन उस स्थितिको ह्रासोन्मुखता नहीं कह सकते। इसी प्रकार कभी-कभी एक सांस्कृतिक, सामाजिक रूपकी ह्रासोन्मुखता अन्य रूपकी विकासोन्मुखतामें रूपान्तरित होती है। निश्चय ही वह ह्रासोन्मुखता की स्थिति नहीं कही जा सकती।

ह्रासोन्मुखताको विकारोन्मुखता (डीजेनरेशन)का पर्याय समझ लेना भूल होगी। कोई ह्रासोन्मुख कला विकासोन्मुख कलाकी अपेक्षा अधिक मूल्यवान हो सकती है। वस्तुतः ह्रासोन्मुखताकी धारणा किसी सांस्कृतिक रूपकी शक्तिका मूल्यांकन करनेका एक साधन है। चाहे उस सांस्कृतिक रूपको कोई शुभ माने या अशुभ। जब वह सशक्त और सप्राण नहीं रह जाता, उसका विघटन (है०) होने लगता है, तब उसे ह्रासोन्मुख कहा जाता है।

सन् १९१९ से लेकर १९३५ ई० तकका काल संसारभरके देशोंके लिए भयानक संकटका काल था। भारतकी कौन कहे, अमेरिका जैसे समृद्धिशाली देशोंकी अर्थ-व्यवस्था डगमगाने लगी थी। विश्वव्यापी मन्दी और आर्थिक गड़बड़ीका ताण्डव-नृत्य हो रहा था। चारों ओर बेकारी फैलने लगी। इस देशमें बी० ए० और एम० ए० बीस-बीस, पच्चीस-पच्चीस रुपयोंकी नौकरीके लिए दर-दर ठोकरें खाने लगे थे। उद्योग व्यवसाय चौपट हो गये। समाजमें घोर निराशा छा गयी थी। हिन्दी साहित्यपर भी इस भयावह स्थितिका प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सका। फलतः काव्यमें घोर मुर्दनी, निराशा, कुण्ठा, रुग्णता, मृत्यु-उपासना और विकृत अहंवादकी कुप्रवृत्तियाँ दिखलाई देने लगीं। छायावादका पूर्ववर्ती स्वस्थ, प्रगतिशील रूप नष्ट हो गया और इस उत्तर-छायावादकालकी कविता 'ह्रासोन्मुख' हो गयी। उस कालके नये कवियोंको तो जाने दीजिये। 'बच्चन', 'अंचल', नरेन्द्र जैसे श्रेष्ठ कवियोंमें भी उस समय ह्रासोन्मुखताकी प्रवृत्तिके दर्शन होने लगे थे। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'के विद्रोहका स्वर अवसादके स्वरमें बदल गया। 'दिनकर'की (सन् '३५ में प्रकाशित) 'रेणुका'में भी इस अवसाद और हाहाकारका चित्रण है। इस उत्तर-छायावाद-कालकी ह्रासोन्मुखताका अन्त एवं नयी प्रवृत्ति प्रगतिवादके हाथों सम्पन्न हो सका। —ह० ना०

परिशिष्ट

अगम—अगम सन्तो द्वारा बहुशः प्रयुक्त शब्द है और प्रायः अगम, अगमपुर, निगम, बेगम, बेगमपुर जैसे विभिन्न रूपोंमें व्यवहृत हुआ है। (१) अगम संस्कृतके अगम्यका ध्वनि परिवर्तित रूप है, जिसका अर्थ है अपार, जहाँ पहुँच न होसके, दुरारोह, दुर्लध्य, दुर्बोध, अथाह। सन्तोने अगम शब्दका इस अर्थमे सबसे अधिक प्रयोग किया है। कबीर कहते है "अगम अगोचर गमि नही, जहाँ जगमगै जोति। तहाँ कबीरा बन्दगी, जहाँ पाप पुन्नि नहिं छोति" (क० ग्रं० : ति०, पृ० १६७ : ५)। कहीं-कहीं अगमके साथ-साथ दुर्गम शब्दको रखकर दुरारोहता या दुर्लध्यताके अर्थको स्पष्ट भी किया गया है और पुष्ट भी—"इह जिउ रांम नांम लिव लागै। तौ जरामरन छूटै भ्रम भागै॥ अगम द्रुगमगढ़ रचियौ बास। जामहि जोति करै परगास" (वही, पद १३०)। गम या गमि शब्दके साथ 'नहीं' शब्दको जोडकर भी उक्त अर्थ निकाला गया है—"जिहि बन सिंघ न संचरै पंखी उडि नहि जाइ। रैनि दिवसकी **गमि नहीं** तहाँ रहा कबीर लौ लाइ" (वही, पृ० १७३ : ४)। सन्त बपनाजीकी एक साखी है—"मात पिताकी गमि नहीं तहाँ पिवायौ खीर। सो गुण धारा रामजी बषनै लिख्या शरीर" (सन्त सुधासार : वियोगी हरि, खण्ड १, पृ० ५३९)। दरिया साहबका कहना है—"धरती गगन पवन नहिं पानी, पावक चन्द न सूर। रात दिवसकी गम नहीं जहाँ ब्रह्म रहा भरपूर" (वही, खण्ड २, पृ०१०८)। (२) इस प्रकार संस्कृत गम्यसे निष्पन्न हिन्दी 'गम' में विशेषार्थक 'अ' प्रत्यय या 'नहीं' शब्दको जोड़कर ऊपर उल्लिखित अर्थ निकालनेके साथ ही सन्तोंने हिन्दी 'गम'से पूर्ण-ध्वनि साम्य रखनेवाले अरबी भाषाके 'ग़म' शब्दके अर्थको भी इसमें घुला मिला दिया है और इस प्रकार अगम, निगम तथा बेगम रूपमें इसका प्रयोग चिन्ताहीन, बेपरवाह एवं निर्द्वन्द्व अर्थमें किया है। इस अर्थमें गुलाल साहबके अगमका प्रयोग देखा जा सकता है—"सतगुरु कृपा अगम भयो हो, हिरदय बिसराम। अब हम सब बिसरावल हो निस्चय मन राम" (सं० सु० सा०, खण्ड २, पृ० १३३)। निर्द्वन्द्व या चिन्ताहीनके अर्थमें रैदासने 'निगम' शब्दको प्रयुक्त किया है—"जिन देखौं तित दुःखकी रासी। अजौ न पत्याइ निगम भए साथी" (सं० सु० सा०, खण्ड १, पृ० १८७)। गममें फारसीके, निषेध या अभावसूचक 'बे' प्रत्ययको लगाकर सन्तोंने निर्द्वन्द्व या निश्चिन्तका अर्थ देनेवाले एक नये शब्दको ही जन्म दे दिया है—बेगम। अपने परमप्रेयान्‌की पुरीको इसीलिए सन्त बेगमपुर भी कहते हैं, क्योंकि वहाँ पहुँचकर कोई ग़म, कोई चिन्ता, कोई द्वन्द्व रह ही नही जाता। यह पुरी ही ऐसी है, जहाँ पहुँचकर जीव शाहंशाह हो जाता है और चाह, चिन्ता सबको मिट गयी पाता है। निर्द्वन्द्वस्थान, वह स्थान जहाँ चिन्ता, फिक्रका अस्तित्व भी नहीं रह जाता, सन्तोंके बेगमपुरका वाच्य है। उदाहरणके लिए रैदासका एक पद है—"अब हम खूब वतन घर पाया। ऊँचा खेर सदा मेरे भाया। बेगमपूर सहरका नाम। फिकर अँदेस नहीं तेहि ग्राम" (सं०सु०सा०, खण्ड १, पृ० १९०)। सन्तोंने बहुतसे स्थलों पर प्रसंगके आग्रहको ध्यानमे रखकर 'अगम' शब्दसे ही अगम्य, दुरारोह आदिके साथ ही निर्द्वन्द्व और निश्चिन्तका अर्थ भी संकेतित करनेकी कोशिश की है। कबीरका एक पद है—"जब बस कियौ पाँचौ थांनां। तब राम भयौ मिहरबाना॥ मनमारि अगमपुर लीया। चित्रगुप्त परे डेरा कीया" (क० ग्रं० : ति०, पद ५९)। रामके मिहरबान होनेपर अगम्यपुरीका मिलना तो स्वाभाविक है ही, उस भवभयहरणकी नगरीमें सभी द्वन्द्वों, चिन्ताओंसे अतीत हो जाना भी उतना ही या शायद उससे भी अधिक, स्वाभाविक है। (३) संस्कृतके गम्य तथा फारसीके ग़मका मिला-जुला अर्थ देनेवाले हिन्दी 'गम'मे फारसीके 'बे' प्रत्ययको लगाकर निष्पन्न 'बेगम' और फिर बेगमपुरसे भी दो पग आगे बढ़कर दुर्लभ, द्वन्द्वातीत तथा प्रेमके शीतल-मादक वातावरणकी खुमारीसे आच्छन्न अन्तःपुरका अर्थ भी सन्तोंने इस बेगमपुरसे निकाला है और पूरी पूर्णता एवं सरसतासे निकाला है। तुर्की भाषामे बेगमका अर्थ रानी या अभिजातवंशीय महिला होता है, अतः अन्तःपुरके साथ ही रानीकी पुरीका अर्थ भी इस बेगमपुरमे लगा हुआ है। परमप्रेयान्‌की नगरी इन सभी अर्थोंमे बेगमपुरी है—वह अगम्य भी है, ग़म या चिन्ता-द्वन्द्वसे परे भी है, अन्तःपुरकी मादकता और रानीकी नगरीके आभिजात्यसे लबालब भी है। चरन दास इसी बेगमपुरमें छैलासे नेह लगानेकी बातें करते है—"टुक निर्गुन छैलासे कि नेह लगाव री। जाको अजर अमर है देस, महल बेगमपुर री। जहँ सदा सोहागिन होय, पिया सूँ मिलि रहु री। जहँ आवागमन न होय, मुक्ति चेरी तेरी" (सं० सु० सा०, खण्ड २, पृ० १५३)। —रा० दे० सिं०

अनहद—यह शब्द सन्त-साहित्यमे अनहद, अनाहद, बेहद, 'हद नहीं' आदि रूपोंमें प्रयुक्त हुआ है और अनाहत शब्द तथा 'सीमातीत'का अर्थ देता है। योगमें शब्द दो मोटी कोटियोंमे रखकर समझे-समझाये गये हैं—आहत और अनाहत। ध्वनि-अवयवोंके संकोच-विस्तार, घर्षण-उत्क्षेपण अर्थात् जिह्वा, तालु, दन्त, वर्त्स आदिके आपसी संचालन आदि द्वारा जो शब्द वैखरी वाणी (व्यक्तभाषा)के रूपमे कहे-सुने जाते हैं, वे आहत शब्द है। आहत, अर्थात् स्थान-प्रयत्नसे उद्भूत। इसके विपरीत है अनाहत शब्द। कानोंको अंगुली डालकर बन्द कर देनेपर एक प्रकारकी घरघराहटका स्वर सुनाई पड़ता है। योगी मानता है कि यह स्वर समष्टि व्याप्त शब्दका व्यक्तिगत रूप है और चूँकि जिह्वा, दन्त, तालु आदि किसी भी ध्वनि अवयवके योग या आघात बिना निरन्तर उठता रहता है, अतः अनाहत

है। सामान्य स्थितिमें व्यक्ति इस अनाहत शब्दके प्रति सचेत नहीं रहता, लेकिन समाधि सम्पन्न होनेपर जब चित्त बाह्य विषयोंसे हटकर अन्तर्मुखी होता है, तब यह अनाहत शब्द साफ-साफ सुनाई देता है। उन्मनी (दे० 'उन्मनी') अवस्थामें पहुँचनेपर यही 'अनाहत नाद शंख और दुंदुभीके नादकी तरह ऊँचे स्वरमें सुनाई पड़ने लगता है (हठयोग प्रदीपिका, ४ : १०३)। यह अनाहत नाद या शब्द देश-कालकी सीमाओंसे अतीत है। न इसका आदि है न अन्त। इसके ठीक विपरीत आहत शब्द है, जो पैदा होता है और फिर विलीन हो जाता है। सन्तोंने अनहद शब्दका अधिकांशतः अनाहत नादके अर्थमें ही प्रयोग किया है। वैसे ध्वनिसाम्यके आधारपर शब्दोंमें नये अर्थ भरनेकी वृत्ति सन्तोंमें बहुत ही प्रबल है, पर वह अनहद शब्दके प्रयोगके समय कुछ मुखर नहीं हुई है। कबीर आदिमें मुझे एक भी ऐसा जोरदार प्रयोग नहीं मिला, जहाँ अनहद केवल असीमका अर्थ देता हो, या असीम अर्थ एकदम फिट बैठता हो। यह बात और है कि इधर-उधर हाथ-पाँव मारकर उसमेंसे असीमका अर्थ निकाल ही लिया जाय। दादूमें ऐसे तीन स्थल मिलते हैं, जहाँ अनहदका असीम अर्थ हो सकता है, या शायद अनाहत नादकी अपेक्षा असीम अर्थ ही अधिक उचित है। 'ध्यान'के साथ 'अनहद'का एक प्रयोग है—"संग तेरे रहै घेरे, सहजै अंगि समाइ। सरीर माँहै सोधि साँई, अनहद ध्यान लगाइ" (दादू दयालकी अनभै वाणी, सबद १६०)। यहाँ असीम अर्थ ही हो सकता है; अनाहत नादसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं जुड़ता। इसी तरहका एक और प्रयोग है—"तहं निराकार निज ऐसा, जहँ जाण्या जाइ न जैसा। तहँ सबगुण रहिता गहिए, तहँ दादू अनहद कहिए" (वही, सबद, २०८)। यहाँ 'निराकार', 'निज' और 'सबगुण रहिता' विशेषणोंका प्रयोग ब्रह्मके लिए हुआ है। अनहद भी इसी तरहका एक विशेषण है, जो ब्रह्मकी असीमताका वाचक है। सबद संख्या ७२में प्रयुक्त अनहद अनाहत नादका भी अर्थ दे सकता है और असीम ईश्वरका भी। सन्तों द्वारा प्रयुक्त इस शब्दके विषयमें ऊपर-ऊपरसे देखनेपर ऐसा लगता है, जैसे बेहदकी तरह यह असीमका अर्थ देनेके लिए ही अनाहतसे संतों द्वारा अनहद बना लिया गया हो, वैसे ही जैसे उन्होंने निर्भय, अनुभव या अघटित जैसे तीन-तीन अर्थ देनेके लिए अनुभवको 'अनभौ' या 'अनभई' बना लिया है। दादूके उक्त विरल प्रयोगोंके अतिरिक्त ऐसे प्रमाण बहुत कम ही मिल पायेंगे, जिनसे इस सम्भावनाको पुष्टि मिले। इस तरहकी सम्भावनाका उदय दो कारणोंसे होता है—एक तो सन्तोंकी ध्वनिसाम्यके आधारपर नये अर्थ भरनेकी वृत्तिके कारण, दूसरे हद, बेहदके साथ इसके प्रयोगके कारण। अस्तु (इस प्रसंगमें 'बेहद' भी देखिये)।

जैसा हमने लक्ष किया है अनहद अधिकांशतः अनाहत-नाद या शब्दके ही अर्थमें प्रयुक्त है। सन्त जहाँ असीम, अनन्त, आदिका संकेत देना चाहते हैं, वहाँ अरबीके हदसे **निष्पन्न** हद, बेहद या हद नहीं जैसे शब्दोंका प्रयोग करते **है**—जैसे "हद छाँड़ि बेहद गया, सुंन्नि किया असनान। **मुनिजन** महल न पावही, तहाँ किया बिसरांम॥" (क० ग्रं० : ति०, पृ० १३९ : २१)। —रा० दे० सि०

अरध-उरध–अरध-उरधको एकमें मिलानेकी बात नाथों और संतोंके साहित्यमें बार-बार आती है। उरध संस्कृतके 'ऊर्ध्व'का ध्वनि परिवर्तित रूप है। अरध 'अधः'से, उरधके सादृश्यपर गढ़ लिया गया शब्द है—वैसे ही जैसे इड़ाको पिंगलाके सादृश्यपर इंगला बना दिया गया है। नाथों और संतोंके साहित्यमें इस अरध उरधको कई अर्थोंमें प्रयुक्त किया गया है। इड़ा और पिंगलाको क्रमशः शिव और शक्तिका प्रतीक माना गया है। शक्ति, मूलाधारमें स्वयंभू-लिंगको साढ़े तीन वलयोंमें आवृत करके अधोमुखी अवस्थामें सोई रहनेवाली कुण्डलिनी है और शिव, सहस्रारमें रहता है। अतः शिव और शक्ति अरध-उरध हुए। इसी शक्तिको शिवतक पहुँचानेकी बात गोरखनाथ यों कहते हैं—"अरध उरध बिचि धरी उठाई, माध सुंन्निमें बैठा जाई। मतवालाकी संगति आई, कथंत गोरखनाथ परमगति पाई" (गोरखबानी, सबदी ७८)। अर्थात नीचे (अरध) स्थित शक्ति (या आत्म)को ऊपर (शिवस्थान, सहस्रार या ब्रह्माण्डमें) पहुँचाया और शून्य स्थानमें जा बैठा। वहाँ परमशिव (मतवाला)की संगतिमें परमगति मिल गयी। कबीर भी यही कहते हैं—"अरधै छाँड़ि उरध जौ आवा, तौ अरधहि उरध मिला सुख पावा" (क० ग्रं० : ति०, पृ० १३२, रमैनी २४)। अरध उरधका अर्थ गंगा-जमुना भी किया गया है। कबीर कहते हैं—"अरध उरधकी गंगा जमुना मूल कवलको घाट, षटचक्रकी गागरी त्रिवेणी संगम बाट" (क० ग्रं० : दास, पृ० ९४)। इसे मूलाधार पद्म और सहस्रार पद्मके अर्थमें भी व्यवहृत किया गया है—"अरधंत कवल उरधंत मध्ये प्राण पुरिसका बासा, द्वादस हंसा उलटि चलैगा तब ही जोति प्रकासा" (गोरखबानी, सबदी ८१)। अर्थात् जब प्राण मूलाधार पद्म (अरधंत कँवल)से उठकर उरधंत अर्थात् सहस्रारस्थ अकल पुरुषके साथ निवास करता है, तो प्राण वायु उलटकर बहिर्गामीके बदले अन्तर्मुखी हो जाता है। प्रसंगके आग्रहवश कभी-कभी यह नीचे और ऊपरका सीधा, प्रकृत अर्थ भी देता है—"अरधै जाता उरधै धरै, पाँचौ इन्द्री निग्रह करै। ब्रह्म अगिनि मैं होमैं काया। तास महादेव बंदै पाया" (गोरखबानी, सबदी, १८)। अर्थात् "नीचेकी ओर जानेवाले शुक्रको ऊर्ध्वमुख करे। इस प्रकार ऊर्ध्वरेता बनकर कामको जला दे, ब्रह्म-अग्निमें शरीरको दग्ध करदे, ऐसे योगीके चरणोंकी परमशिव स्वयं वन्दना करते है"। नाथों और संतोंके साहित्यको समझनेके लिए ऐसे शब्दोंकी जानकारी अनिवार्य है। —रा० दे० सि०

अवधूती–हिन्दूतन्त्रों, वज्रयानियों, सिद्धों और हठयोगियोंने शरीरमें स्थित नाडियोंकी कल्पनाएँ की हैं और सामान्य हेर-फेरके अतिरिक्त ये प्रायः एक-सी ही हैं। हिन्दूतन्त्रोंमें इनकी संख्या बहत्तर हजार बतायी गयी है। उपनाडियोंको छोड़कर वज्रयानियोंने भी इनकी संख्या बहत्तर हजार मानी है। इन नाड़ियोंमेंसे कुछका आभास हम साँस लेते हुए पाते है। जो नाड़ी बाईं ओर है, उसे इडा और जो दाहिनी ओर है, उसे पिंगला कहते है। इन दोनोंके बीच सुषुम्ना नाडी है। यह सुषुम्ना ही अवधूती कहलाती है।

'बौद्धगान ओ दोहा' (१२४) में अवधूतीकी व्युत्पत्ति बतायी गयी है—"अवहेलया अनाभोगेन क्लेशादि पापान् धुनोति इत्यवधूती", अर्थात् जो अनायास ही सभी क्लेशादि पापोंको दूर कर देती है, वह अवधूती है। साधनमाला (४४८-१४)-में इसे 'महासुखाधाररूपिणी' कहा गया है। हेवज्रतन्त्रमें इसे 'ग्राह्य-ग्राहकवर्जिता' बताया गया है (दे० 'स्टडीज इन तन्त्र' : बागची, पृ० ३१)। वज्रयानी इस नाडीको निर्वाण मार्ग मानते हैं और अवधूतीमार्गको अद्वयमार्ग, शून्यपथ, आनन्दावस्था आदि शब्दोंसे अभिहित करते हैं। इडा, पिंगला या ललना (दे० 'ललना') और रसना (दे० 'रसना') इसी अवधूतीके ही अविशुद्ध रूप हैं। जब ये विशुद्ध होकर एक हो जाती हैं, तो इसे अवधूती कहते हैं। इस नाडीके और भी कई नाम हैं—शून्यपदवी, राजपथ, ब्रह्मरन्ध्र, महापथ, श्मशान, शाम्भवी, मध्यमार्ग (हठयोग प्रदीपिका, ३ : ४), ब्रह्मनाडी (वही, ३ : ६८), सरस्वती (शिवसंहिता, ५ : १२३) आदि। हठयोगप्रदीपिका, ५, १८ के अनुसार सुषुम्ना या अवधूती ही शाम्भवीशक्ति है, शेष नाडियाँ बेकार हैं। कबीरकी उलटबाँसियों एवं योगपरक रूपकोंको समझनेके लिए इस सबकी जानकारी आवश्यक है। उद्बुद्ध कुण्डलिनी इसी मार्गसे होकर सहस्रारस्थित शिवतक पहुँचती है। —रा० दे० सि०

अश्लीलता—ऋग्वेदमें 'अश्रीर' शब्द आता है, कम-से-कम तीन बार (दे० 'ऋग्वेद' ६ : २८ : ६, ८ : २ : २०, १० : ८५ : ३०)। सायण प्रथम अवसरपर 'अश्रीर'का अर्थ 'अश्लील' करता है; द्वितीयपर श्रीहीन, गुणविहीन और कुत्सित ("न श्रीरश्रीः। तदस्यास्तीत्यश्रीरः। मत्वर्थीयो रः। गुणैर् विहीनः कुत्सितः)। और तृतीयपर 'अश्रीर' अर्थात् श्रीहीन। 'ऋग्वेद'के जिस मन्त्रमें 'अश्रीर' शब्दका तृतीय बार प्रयोग हुआ है, उसकी आवृत्ति कुछ परिवर्तनके साथ 'अथर्ववेद'मे भी पायी जाती है, किन्तु वहाँ 'अश्रीर'-के स्थानपर 'अश्लील' पढ़ा गया है। इन तथ्योंसे स्पष्ट है कि 'अश्लील' शब्द 'अश्रीर'का ही रूपान्तर है। पाणिनि (दे० 'अष्टाध्यायी', ६ : २ : ४२), अमरसिंह (दे० 'अमरकोष', १ : ६ : १९) आदि प्राचीन ग्रन्थकारोंने भी 'अश्लील' शब्दका प्रयोग किया है। वामनजयादित्य और क्षीरस्वामीके अनुसार वहाँ भी उसका अर्थ श्रीहीन आदि ही है ("श्रियं लातीति श्रीलम्, तद्भिन्नमश्लीलम्")।

भारतीय काव्यशास्त्रियोंने अश्लीलताको एक काव्यदोष (दे०) माना है। वामनके अनुसार असभ्य (अशोभन) अर्थकी सम्भावना रखनेवाला और असभ्य वस्तुकी स्मृति जगानेवाला काव्य अश्लील होता है ('असभ्यार्थान्तरमसभ्यस्मृतिहेतुश्चाश्लीलम्"—काव्यालंकारसूत्र २ : १ : १४), किन्तु यदि असभ्यार्थ गुप्त (अप्रसिद्ध), लक्षित (लक्षणागम्य) अथवा संवृत (लोकव्यवहारसे दबा हुआ) हो तो, उसे अश्लील नहीं मानना चाहिये ("न गुप्त लक्षितसंवृतानि। अप्रसिद्धासभ्यं गुप्तम्। लाक्षणिकासभ्यं लक्षितम्। लोकसंवीतं संवृतम्"—वही, २ : १ : १५-१८)। 'सम्बाध' शब्दका अर्थ संकट प्रसिद्ध है। इसका एक और अर्थ उपस्थेन्द्रिय भी है, किन्तु वह प्रसिद्ध नहीं, अतः असभ्यार्थके अप्रसिद्ध होनेसे सम्बाधका प्रयोग अश्लील नहीं। 'जन्मभूमि' शब्द स्वदेशका वाचक है, किन्तु लक्षणासे इसका अर्थ उपस्थेन्द्रिय भी किया जा सकता है। यह द्वितीय अर्थ केवल लक्षणागम्य है, अतः काव्यमें 'जन्मभूमि' शब्दका प्रयोग अश्लील नहीं माना जाता। 'शिवलिंग' शब्द भी लोकव्यवहारमें इतना समादृत है कि उसे अश्लील नहीं समझा जा सकता। मम्मटके अनुसार रतिक्रीडा-विषयक वार्तालाप और वैराग्य-वार्तामें अश्लीलता गुण हो जाती है (दे० 'काव्यप्रकाश', उल्लास ७)। वस्तुतः शब्दकोश, विश्वकोश, चिकित्सा-शास्त्र और न्यायालयकी कार्यवाहीमें भी ऐसे सन्दर्भ उपस्थित हो जाते हैं, जब अश्लील वार्ता अनिवार्य हो जाती है। उन सन्दर्भोंमें भी अश्लीलताको दोष नहीं माना जा सकता। अवश्य ही ऐसे सन्दर्भ काव्यशास्त्रकी सीमासे बाहर हैं।

अश्लीलताके तीन भेद किये गये हैं—व्रीडाव्यंजक अश्लीलता, जुगुप्साव्यंजक अश्लीलता और अमंगलव्यंजक अश्लीलता। अश्लीलता शब्दगत भी होती है और भावगत भी (दे० 'अश्लील')।

प्रश्न उठता है कि अश्लीलता काव्य-दोष मात्र है अथवा अपराध भी, यदि अपराध भी तो किस सीमा तक। आधुनिक राज्योंने अश्लीलताकी रोक-थामके लिए कानून बना रखे हैं। न्यायालयोंमें आये दिन कृति-विशेषको लेकर अश्लीलताका प्रश्न उठा करता है। अतः अश्लीलतापर केवल काव्यशास्त्रकी दृष्टिसे विचार करना पर्याप्त नहीं, उसपर व्यक्ति और समाजके हिताहितकी दृष्टिसे भी विचार करना आवश्यक हो जाता है।

अपवादोंको छोड कर, सभी कलाकारों और साहित्यकारोंको अश्लीलता-सम्बन्धी विधि-विधान और सेंसरशिप खलते हैं। इनसे उन्हें अपने भावों और विचारोंकी अभिव्यक्तिमें बाधा प्रतीत होती है, उनकी सर्जन-शक्ति कुण्ठित और क्षत होती है। और जब हम देखते हैं कि सेंसरकी सूचीमें सोमरसेट मॉम, अर्नेस्ट हेमिंग्वे, फ्लाबेयर, एच० जी० वेल्स, बर्ट्रेंड रसेल जैसी असाधारण प्रतिभाओंके नाम समाविष्ट रहे हैं तो ये विधि-विधान और भी खलने लगते हैं।

कानून द्वारा अश्लीलताकी रोक-थामके पोषकोंका प्रधान तर्क यह है कि अश्लील साहित्य अथवा कलाके प्रचारसे अपरिपक्व मस्तिष्कोंकी अपार क्षति होती है। उससे कुत्सित प्रवृत्तियोंको बल मिलता है, समाजकी बनी-बनायी मर्यादाएँ टूटती हैं, विघटनकारी शक्तियाँ जन्म लेती हैं। प्राचीन कालमें अश्लील साहित्य अथवा कलासे हानिकी सम्भावना कम थी। आजकी अपेक्षा यातायात तथा प्रकाशनकी सुविधा नगण्य होनेके कारण ऐसी कृतियाँ सबतक पहुँच ही नहीं पाती थीं। आज तो प्रत्येक प्रकारकी कृति प्रत्येक व्यक्तिको सर्वत्र सुलभ है। अतः पहलेकी अपेक्षा आज अश्लील साहित्य अथवा कला कहीं अधिक अनर्थ करनेकी क्षमता रखती है।

कलाकार अथवा साहित्यकार अपनी कला-सृष्टि अथवा साहित्य-सृष्टिका ब्रह्मा होता है। उसे इस बातकी स्वतन्त्रता होनी चाहिये कि अपनी कृतिको चाहे जो रूप दे। किन्तु समाजका अंग होनेके नाते उसके रचना-स्वातन्त्र्यकी कुछ

सीमा, कुछ मर्यादा, आवश्यक हो जाती है। चाहे वह अपनी रचनामें शुद्ध रूपसे स्वान्तःसुखाय ही क्यों न प्रवृत्त हुआ हो, उसकी भी लालसा होती है कि उसकी कृति पढ़ी-समझी जाय। अन्यथा वह उसे प्रकाशित ही क्यों करता है? अतः जहाँ उसके रचना-स्वातन्त्र्यपर यथासम्भव आँच नहीं आने देनी चाहिए वहीं यह भी देखना आवश्यक हो जाता है कि पाठक पर उसकी रचनाका कैसा प्रभाव पड़ेगा। ऐसे प्रभावको कई कोटियोंमें विभक्त किया जा सकता है—राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक। चाहे तात्त्विक दृष्टिसे जनताको प्रत्येक सम्भव उपायसे राजनीतिक क्रान्ति करनेका कितना ही अधिकार क्यों न हो, कोई भी शासन—राजतन्त्र, अभिजन-तन्त्र, अधिनायक-तन्त्र, लोक-तन्त्र—सशस्त्र क्रान्तिकी छूट नहीं दे सकता। फलतः वह ऐसे साहित्यको भी सहन नहीं कर सकता, जिसमें जनताको सशस्त्र क्रान्तिके लिए आहूत किया गया हो। इसी प्रकार शासनकी ओरसे ऐसे किसी भी साहित्यको खुली छूट नहीं मिल सकती, जिसके प्रचारसे शान्ति-भंगकी आशंका हो (साम्प्रदायिक राज्योंमें शासक सम्प्रदायकी आलोचना करनेवाला साहित्य भी सहन नहीं किया जाता)। इसी प्रकार सामाजिक, पारिवारिक और वैयक्तिक जीवनको विघटनसे बचाना शासनका बहुत बड़ा दायित्व है। शासन एतदर्थ अनेक विधि-निषेधोंका प्रवर्तन करता है। इन्हीं विधि-निषेधोंमें अश्लीलता-सम्बन्धी कानून भी है।

वस्तुतः साहित्यपर शासकीय प्रतिबन्ध प्रत्येक दशामें हेय नहीं माना जा सकता, किन्हीं अवस्थाओंमें वह उपादेय भी होता है। अतः यदि अश्लील साहित्य सामाजिक, पारिवारिक और वैयक्तिक जीवनके लिए विघटनकारी हो, तो शासन द्वारा उसपर प्रतिबन्ध सर्वथा श्लाघ्य और वांछनीय कहा जायगा। देखना यह है कि ऐसे साहित्यका स्वरूप क्या है।

अश्लीलताका अंग्रेजी पर्याय ऑब्सीन (obscene) है। इसका मूल सीनम (caenum) जिसका अर्थ है गन्दगी, अथवा ऑब्सीनम (obscaenum), जिसका अर्थ है गन्दा अथवा कुरूप, प्रतीत होता है। कुछ लोग इसकी व्युत्पत्ति ऑब्स्क्योरम (obscurum), अर्थात् 'गुप्त'से सिद्ध करते हैं। अश्लीलताके उग्र रूपके लिए अंग्रेजीमें एक शब्द है पोर्नोग्राफी, जिसका शब्दार्थ है वेश्या-वृत्त-चित्रण। यह शब्द यौनाचारके नग्न चित्रणके लिए प्रयुक्त होने लगा है।

डॉ० मार्गरेट मीडके अनुसार अश्लील साहित्यकी पहचान यह है कि उसमें यौन आधारकी उपस्थिति-अनुपस्थितिसे स्वतंत्र रूपसे काम-वृत्ति उत्तेजित करनेकी शक्ति निहित होती है। ऐसे साहित्यका एकमात्र प्रयोजन होता है कामोत्तेजन, न कि जीवनकी वास्तविकताओं अथवा मूल्योंका उद्घाटन। डॉ० किन्सेके अनुसार अश्लील साहित्य वह साहित्य है, जिसका निश्चित, एकमात्र अथवा प्रधान उद्देश्य होता है काम-वृत्तिका उद्दीपन। अनेक मनश्चिकित्सकोंका मत है कि अश्लील साहित्य नवयुवकोंके लिए हानिकर सिद्ध होता है। वह उन्हें विकृतमना और कभी-कभी भयंकर यौन अपराध और हिंसाकी ओर अग्रसर कर देता है। वह यौन प्रौढ़ता-परिपक्वताका मार्ग अवरुद्ध कर देता है।

कानूनकी दृष्टिसे प्रायः वह अश्लील साहित्य अथवा कला प्रतिबन्धयोग्य मानी जाती है, जो पाठक, श्रोता, अथवा द्रष्टामें कुत्सित यौन प्रवृत्तियोंको जन्म देने (टु डिप्रेव ऐण्ड करप्ट)की सम्भावना रखे। १९५५में मिशिगनके एक सहायक प्रॉसिक्यूटरने कहा था कि मेरी दृष्टिमें प्रत्येक वह पुस्तक अश्लील और अवैध घोषित करने योग्य है, जिसका मैं अपनी १३ वर्षीया पुत्री द्वारा पढ़ा जाना पसन्द नहीं कर सकता।

प्रश्न उठता है कि क्या साहित्य और कलाके प्रतिमान केवल बच्चोंके स्तरपर निर्धारित होने चाहियें। इस दृष्टिसे कालिदास, श्रीहर्ष, माघ, विद्यापति, जायसी, होमर, शेक्सपियर, हाफिज सभीसे हमें हाथ धोना पड़ेगा। वस्तुतः, जैसा कि डॉ० एच० लारेन्सने लिखा है, संसारकी आधी कविताएँ, चित्र और कहानियाँ अपने यौन अपीलके कारण ही महान् बन सकी है। यदि यौन भावनाको जगाने मात्रके कारण साहित्य-विशेष पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है तो, चूँकि पुरुषके लिए स्त्री और स्त्रीके लिए पुरुष यौन भावना जाग्रत करनेवाले होते हैं, सभी युवकों और युवतियोंपर प्रतिबन्ध लगना चाहिये।

जहाँ तक बच्चोंका प्रश्न है, उनके चरित्रकी रक्षाका भार अश्लीलता-सम्बन्धी कानूनपर नहीं, माता-पिता और अध्यापकपर होना चाहिये। एक वकीलके यह पूछनेपर कि क्या आप अमुक (अश्लील) पुस्तक अपनी २५ वर्षीया लड़कीके हाथमें देना पसन्द करेंगे, सर ऐलन हर्बर्टने एक छन्दोबद्ध उत्तर दिया था, जो अश्लीलता-सम्बन्धी कानूनपर एक तीखा व्यंग्य है। उसका भावार्थ यह है—"वह लड़की न तो दुधमुँही बच्ची है और न कोई अप्सरा ही है। मैं उसे अपनी पुस्तकें स्वयं चुनने देता हूँ। किन्तु यदि आपकी दृष्टिमें मुझे ही यह निर्णय करना चाहिये कि वह कौन-सी पुस्तक पढ़े और कौन-सी न पढ़े तो आप यह भी क्यों नहीं कहते कि उसे न तो घोड़ा मिलना चाहिये, न नौका, न बिलियर्डकी मेज, न तलाक-सम्बन्धी व्याख्यान, यद्यपि ब्रिटिश जातिके लिए ये चीजें कोई खतरा नहीं मानी जातीं। और बाइबिल, शेक्सपियरके नाटकों तथा प्राचीन पुस्तकोंमें जो अश्लील अंश भरे पड़े हैं, उनके लिए आप क्या कहेंगे? और कानून-सम्बन्धी प्रतिवेदनों तथा न्यायालयोंकी कार्यवाहियोंमें जो यौन चित्रण होते हैं, उनपर भी क्यों न प्रतिबन्ध लगे? और समाचार-पत्रोंका तो, इस दृष्टिसे तुरन्त चालान हो जाना चाहिये"।

जहाँतक हिन्दी साहित्यका प्रश्न है, लगभग सारा रीतिकालीन साहित्य और बहुत-कुछ अपभ्रंश साहित्य भी, अश्लील कहा जाता है। उसके बाद, द्विवेदीकालीन पवित्रतावादिता और छायावादयुगीन अमूर्तोन्मुखताके कारण यह प्रवृत्ति दब-सी गयी। प्रगतिवादी कथाकारोंमें, और कवियोंमें भी अश्लीलताका पुट देखनेको मिलता है। समसामयिक कथा-साहित्यकी भी यही दशा है। **घेरेके बाहर**को ही नहीं, **नदीके द्वीप** जैसे प्रथम कोटिके उपन्यासको भी अश्लील कहा जाता है। यही बात **अजयकी डायरी**के

विषयमें कही जा सकती है। किन्तु यदि फुटपाथ-साहित्यको जाने दें तो यह बात निश्चयपूर्वक कही जा सकती है कि आधुनिक हिन्दी साहित्यमें अश्लीलताका वह रूप, जिसे पोर्नोग्राफी कहते हैं, नगण्य है।

[सहायक ग्रन्थ—डी० एच० लारेंस : सेक्स, लिटरेचर ऐण्ड सेन्सरशिप; जॉन शैन्डाम (सम्पा०) : टु डिप्रेव ऐन्ड करप्ट…; रॉबर्ट बी० डाउन्स (सम्पा०) : द फर्स्ट फ्रीडम; जॉन स्टिवास : ऑब्सीनिटी ऐन्ड द लॉ; क्रॉनहासेन्स : पोर्नोग्राफी ऐन्ड द लॉ; मॉरिस अर्न्स्ट और विलियम स्टीगल : टु बी प्योर—अ स्टडी ऑव ऑब्सीनिटी ऐन्ड द सेन्सर; डेविड लॉठ : द एरोटिक इन लिटरेचर।] Dos Sex Marks —ह० ना०

आगम–आगम संज्ञा उन शास्त्रोंको दी जाती है, जो सगुण ईश्वरकी उपासनाका व्याख्यान करते हैं। विद्वानोंका मत है कि आगमोंकी रचना उपनिषदोंके बाद हुई है। आगमोंकी रचनाके दो कारण निर्दिष्ट किये गये हैं। एक तो यह कि इस कालतक आते-आते वैदिक आचार बहुत क्षीण-शक्ति हो गये थे, दूसरे इस कालमें एक विराट् जनसमूह हिन्दू धर्ममें प्रविष्ट हो गया था, जो हिन्दूधर्म एवं उपासनापद्धतिकी कठोर नियमनिष्ठताके कारण 'वैदिक आचार'का अधिकारी नहीं माना जा सकता था। वैसे अधिकारी-निर्णय इन आगमोंमें भी हुआ है—शाक्त आगममें तन्त्र, यामल और डामर नामके प्रकारभेद क्रमशः सात्त्विक, राजस और तामस अधिकारियोंको ध्यानमें रखकर ही किये गये हैं, फिर भी वैदिकाचारके अधिकारी-निर्णयकी कठोरता यहाँ नहींके बराबर है। इस नवोद्भूत तन्त्रशास्त्र एवं उपासनापद्धतिके लिए कोई भी जाति कोई भी वर्ग, स्त्री-पुरुष, अन्त्यज-शूद्र सभी 'अधिकारी' थे। विषय-वस्तुकी दृष्टिसे आगम संज्ञा उन ग्रन्थोंको दी जाती है, जिसमें सृष्टि, प्रलय, देवतार्चन, सर्वसाधन, पुरश्चरण, षट्कर्मसाधन (दे० 'षट्कर्म') एवं ध्यानयोगका व्याख्यान किया गया हो (वाराही तन्त्र)।

उपास्य इष्टदेवताओंके भेदसे आगमोंके भी तीन प्रकारके भेद हैं। शक्तिको उपास्य-इष्टदेवता माननेवाले आगम शाक्तागम कहलाते हैं। शिवको इष्टदेवता माननेवाले शैवागम और विष्णुको इष्टदेवता माननेवाले वैष्णवागम कहे जाते हैं। कुछ लोगोंकी यह भ्रान्तधारणा है कि शक्तिके उपासक—शाक्तोंके शास्त्रको ही 'तन्त्र' कहते हैं, किन्तु इन आगमोंकी भाँति ही तन्त्र भी तीन हैं (दे० 'तन्त्र')।

शाक्त आगम तीन प्रकारके माने गये हैं। सात्त्विक अधिकारियोंके लिए तन्त्र, राजसी अधिकारियोंके लिए यामल और तामस अधिकारियोंके लिए डामर।

शैवागमोंके भी दो प्रकार माने गये हैं—श्रौत तथा अश्रौत। श्रौतको श्रुतिसारमय कहा गया है और इसके दो भेद बताये गये हैं—स्वतन्त्र और इतर। इस प्रकारके और भी अनेक भेद-प्रभेद हैं। शैवागमोंकी एक लम्बी संख्या बतायी जाती है। अनुश्रुतिसे इसके २८ मूल आगम और २०७ उपागम माने जाते हैं।

वैष्णवागमको पाँचरात्र भी कहा जाता है। 'श्रीमद्भागवत' (१०; ९०, ३४)में इसे सात्वत तन्त्र भी कहा गया है। वैष्णवागमके दो प्रकार हैं—पांचरात्र संहिताएँ और वैखानससूत्र (इसके विशेष विवरणके लिए दे० नाथसम्प्रदाय, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १६५ से १६६, तथा श्रेडरकी पुस्तक 'इण्ट्रोडक्शन टु द पांचरात्र ऐण्ड अहिर्बुध्न्य संहिता)।

निगमपर विचार करते हुए संकेत किया गया है कि शैवागम, निगमका अर्थ वेद, नहीं मानते, न वेदोंको कोई खास महत्त्व ही देते हैं (दे० 'निगम')। यह इनके वेदसे भिन्न होनेका संकेत है। पुराने ग्रन्थोंमें कुछ आगमोंको वैदिक और कुछको अवैदिक कहा भी गया है (कूर्मपुराण, उत्तरभाग, अध्याय ३८)। कपाल, लाकुल, वाम, भैरव, पूर्व, पश्चिम, पांचरात्र, पाशुपत आदिको कूर्मपुराण, (२६, १)में अवैदिक कहा गया है। उसीमें पाशुपत और लाकुलको वैदिक-अवैदिक दोनों कहा गया है। जहाँतक इन आगमोंका अपना कहना है, वे श्रुतिकी अपने तात्पर्यके अनुसार व्याख्या करके स्वयंको श्रुति सम्मत सिद्ध करते हैं। —रा० दे० सिं०

आत्मा–'ज्ञानार्णव तन्त्र'में चार आत्माओंका उल्लेख किया गया है—आत्मा, ज्ञानात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा (दे० 'हंस')।

आद्याशक्ति–तांत्रिक साधनामें आद्याशक्तिका अर्थ है स्वपरिणीता पत्नी। पंचमकारोंमें गृहीत मैथुनके लिए यही एकमात्र सहधर्मिणी मानी गयी है। अगर आद्याशक्ति(पत्नी) अनधिकारिणी हो या साधकके कोई पत्नी हो ही न, ऐसी अवस्थामें वह किसी अन्य स्त्री (शक्ति)के साथ सम्भोग कर सकता है। अतः पंचमकारोंकी तान्त्रिक साधनामें साथ दे सकनेकी योग्यतावाली परिणीता पत्नी ही 'आद्याशक्ति' कहलाती है। —रा० दे० सिं०

आनंदभुवन योग–आनन्दभुवन योग तान्त्रिक साधनाको कलंकित करनेवाली हीन कामोपयोगप्रवण साधना है। इसमें साधक कम-से-कम तीन और अधिक-से-अधिक एक सौ आठ साधिकाओंके साथ साधना करता है। इन साधिकाओंमेंसे एकके साथ वह सम्भोग करता है, शेषको अपने स्पर्शसे कृतार्थ करता है। खजुराहोके कन्दरीय महादेव मन्दिर, तथा बिश्वनाथ मन्दिर (११वीं शती)में ऐसी मूर्तियाँ पायी जाती हैं, जिसमें एक पुरुष एक साथ तीन स्त्रियोंके साथ कामकेलि करता दिखाया गया है—एकके साथ सम्भोग और अगल-बगलमें खड़ी अन्य दोके गुप्तांगोंका दोनों हाथोंसे स्पर्श(दे० 'कामशिल्प' : लीसन, प्लेट २९, ६०, ६४)। इन मूर्तियोंमें पुरुषोंकी दाढ़ी तथा वस्त्राभरण उनके तान्त्रिक योगी होनेके स्पष्ट प्रमाण हैं। जॉन वुडरफने इन साधनाओंको धर्मके अन्तर्गत न मानकर जादू-टोना माना है। वस्तुतः ये आध्यात्मिक उन्नति या मुक्तिके लिए न की जाकर, शारीरिक भूखकी तृप्ति, छोटी-मोटी सिद्धि या किसी राजा आदिकी विजयके लिए किया जानेवाला सामान्य जादुई अभिचार है, साधना नहीं। मन्दिरोंमें इन साधनाओंसे सम्बद्ध मूर्तियोंका पाया जाना इस बातका प्रमाण अवश्य है कि किसी समय जनमानसमें इनके प्रति काफी आस्था थी। —रा० दे० सिं०

आशय–१. योग-दर्शनमें क्लेश (दे० 'क्लेश'), कर्म (धर्म,

अधर्म), विपाक (कर्मफल) एवं आशय (वासनाओं)की पुरुषकी विशेषता बताते हुए; जो इनसे अतीत, असपृष्ट या असंपृक्त है, उसे ईश्वर कहा गया है (यो० सू०, १ : २४)। आशय पूर्व सञ्चित कर्मोंकी वासनाओं या संस्कारोंका नाम है। २. आयुर्वेदके अनुसार शरीरस्थ ऐसे संचय स्थल, जहाँ एक स्थानपर एक तरहकी वस्तु कुछ मात्रामें एकत्र स्थिर रह सके। शरीरमें ऐसे सात आशय माने जाते हैं—वात, पित्त, श्लेष्मा, रक्त, आम, पक्व तथा स्त्रियोंमें प्राप्य गर्भाशय। ३. किसी वस्तु या पदार्थका आश्रयस्थल होनेके कारण यह स्थान या निवासभूमिका भी अर्थ देता है—जलाशय आदि। ४. सामान्य प्रयोगमें आशयका अर्थ अभिप्राय, तात्पर्य आदि भी होता है। ५. आशयको मनका विकार भी कहा गया है—"द्रव्यं स्वभावाशय कर्मकालैरेकादशार्थी मनसो विकारः" (भागवत, ५ : ११ : ११)। —रा० दे० मि०

इतिहास-दर्शन—मोटे तौरपर, परिनिश्चित तथ्योंकी सुसम्बद्ध, कालक्रमानुसारी शृंखलाका नाम इतिहास है। कई, विशेषतः अनुभववादी (एम्पिरिसिस्ट) और तथ्यवादी (पोजिटिविस्ट) दर्शनसे प्रभावित, इतिहासविद् इतिहासमें तथ्योंका यथार्थ, वस्तुनिष्ठ निरूपण पर्याप्त समझते हैं, जब कि अन्योंकी दृष्टिमें यथार्थोन्मुखता अथवा वस्तुनिष्ठता एक कर्त्तव्य है जिसके निर्वाहकी प्रत्येक इतिहासकारसे आशा की जाती है, कोई गुण नहीं जिसके लिए इतिहासकार विशेष रूपसे प्रशस्य समझा जाय। वह इतिहासके लिए पहली शर्त है, अन्तिम नहीं। इतिहासकारको तथ्योंके जंगलमेंसे अर्थवान् तथ्योंका किसी निश्चित आधारपर चयन, कलन और संग्रन्थन करना होता है। वस्तुतः, वर्तमानको अतीतमें जो ज्ञातव्य प्रतीत होता है, वही इतिहासका विषय बन सकता है। इस चयन-कलन-संग्रन्थन प्रक्रियामें इतिहासकारका दृष्टिकोण झलकता ही है। वस्तुतः इतिहासकार तथ्योंके चयन-कलन-संग्रन्थनसे ही सन्तुष्ट नहीं हो जाता, वह ऐतिहासिक घटनाओं अथवा घटना-समूहोंकी कारण-निर्देशपुरस्सर व्याख्या भी करना चाहता है। इतिहास-दार्शनिक एक कदम आगे बढ़कर पूरे इतिहास, उसके विभाग-विशेष अथवा प्रवृत्ति-विशेषकी सुव्यवस्थित, दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत करनेका यत्न करता है।

एक ओर इतिहास-प्रक्रियाके विश्व-प्रक्रियाके चरण-विशेष, सातत्य, अथवा परिणतिके रूपमें निरूपण और इतिहासकी गति-प्रगतिमें अन्तर्लीन तत्त्वोंकी खोज और व्याख्या अथवा उनकी अव्याख्येयताकी मीमांसा, और दूसरी ओर इतिहासकी भावी दिशा और परिणतिके सम्बन्धमें व्यवस्थित, ऊहापोहका नाम इतिहास-दर्शन है।

इतिहास-दर्शनकी गणना प्राचीनतम विद्याओंमें होनी चाहिये। प्रागैतिहासिक सभ्यताओंमें भी इसके बीज मिल जाते हैं। प्राचीन भारत जैसे इतिहास-शून्य देशमें भी युग-चक्रोंकी कल्पनाके रूपमें इसके दर्शन हो जाते हैं। तथापि इतिहास-दर्शनका प्रथम व्यवस्थित रूप हमें सेन्ट ऑगस्तीन (३५४-४३०)की प्रसिद्ध विशाल कृति 'द-सिवितेत देई' (De-civitate Dei–ईश्वरका नगर)में देखनेको मिलता है। इतिहास-दर्शन(फिलॉसोफी ऑव हिस्ट्री) शब्दका प्रथम प्रयोग १८वीं शतीमें वोल्तेरने किया था।

समग्र प्राचीन इतिहास-दर्शन संश्लेषणात्मक (सिन्थेटिक) अथवा ऊहात्मक (स्पेक्युलेटिव) है। उसमें कल्पना-जाल प्रसृतकर संस्थान-निर्माणका विशेष प्रयत्न देखनेको मिलता है, इतिहासके स्वरूप और सम्भावनाओंकी तथ्यात्मक समीक्षा नहीं—वह विश्लेषणात्मक (अनालिटिकल) अथवा समीक्षात्मक (क्रिटिकल) है। अर्वाचीन इतिहास-दर्शनमें ये दोनों प्रवृत्तियाँ मिल जाती हैं।

प्राचीन इतिहास-दर्शन तीन चरणों अथवा सोपानोंमें विकसित हुआ था—(१) पौराणिक-धार्मिक(थियॉलॉजिकल-रेलिजस), (२) आध्यात्मिक (मेटाफिजिकल) और (३) समाजशास्त्रीय (सोशियॉलॉजिस्टिक)। पौराणिक-धार्मिक चरणके दो रूप हैं—आदिम चक्रवाद (सिक्लिसिज्म) और हिब्रू रेखावाद (लीनियरिज्म)। आदिम चक्रवाद (दे०—सांस्कृतिक चक्रवाद)का प्रचार-प्रसार मिश्र, बाबुल, चीन, भारत और यूनानमें पाया जाता रहा है और रेखावाद (दे०—सांस्कृतिक चक्रवाद) यहूदियों और ईसाइयोंमें। आध्यात्मिक चरणकी तीन शाखाएँ देखनेको मिलती हैं—यूनानी इतिहास दर्शन, इतालीय रेखावाद और जर्मन रेखावाद। यूनानी इतिहास-दर्शनमें चक्रवाद और रेखावाद दोनों धाराएँ पायी जाती हैं। यूनानी चक्रवादियोंमें अफलातून (४२७-३४७ ई० पू०) और अरस्तू (३८४-३२२ ई० पू०) तथा रेखावादियोंमें पालिबियस (२०५-१२३ ई० पू०) और हीजियद (८०० ई० पू०)के नाम प्रसिद्ध हैं। इतालीय रेखावादके पुरस्कर्ता ग्याम्बात्तिस्ता विची (विको) (१६६८-१७४४) और गोतफ्रीद हेर्देर (१७४४-१८०३) जैसे विचारक हुए हैं। जर्मन रेखावाद इमानुएल कान्त (१७२४-१८०४) और डब्ल्यू० एफ० हीगेल (१७७०-१८३१)के हाथों पुष्पित-पल्लवित हुआ था। समाजशास्त्रीय इतिहास-दर्शनका पिता इब्न खलदून (१३३२-१४०६) था, जिसका जन्म ट्यूनिसके एक अरब परिवारमें हुआ था। इसके बाद समाजशास्त्रीय प्रवृत्तिका परिचय हमें फ्रांसीसी रेखावादियों बोदाँ (१५३०-१५९६), बोसुए (१६२७-१७०४), मोंतस्क्यू (१६८९-१७५५), थियरी (१७९५-१८५६), तुर्गो (१७२७-१७८१), मिशले (१७९८-१८७४), आंगस्त कोम्ते (१७९८-१८५७), फ़रिये (१७७२-१८३७) आदिमें मिलता है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, अर्वाचीन इतिहास-दर्शनमें दोनों प्रवृत्तियाँ—संश्लेषणात्मक अथवा ऊहात्मक और विश्लेषणात्मक अथवा समीक्षात्मक मिलती हैं। प्रथम प्रवृत्तिकी तीन धाराएँ दिखायी देती हैं—प्रकृतिशास्त्रीय (नैचुरलिस्टिक), समाजशास्त्रीय (सोशियॉलॉजिस्टिक) और धार्मिक-आध्यात्मिक (रेलिजस-थियॉलॉजिकल-मेटाफिजिकल)। प्रकृतिशास्त्रीय धाराके दो रूप हैं—प्रथम भूगोल-शास्त्रीय रेखावाद, जिसके पुरस्कर्ता टामस बकिल (१८२१-१८६२), लप्ले (१८०६-१८८१), हण्टिंगटन (१८७६-), तायं (१८२८-१८९२) आदि हैं और दूसरा प्राणिशास्त्रीय विकासमूलक रेखावाद जिसके प्रवर्तन-सम्पोषणका श्रेय हर्बर्ट स्पेंसर (१८२०-१९०३), प्रिंस क्रोपाटकिन (१८४२-१९२१) और डार्विन (१८०९-१८८२)को है। समाज-

शास्त्रीय इतिहास-दर्शनकी दो धाराएँ देखनेको मिलती हैं— प्रथम व्यक्तिवाद अथवा महापुरुषवाद (दे०) और दूसरा समष्टिवाद। समष्टिवादमें रेखावादी और चक्रवादी दोनों प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं। रेखावादके चार रूप देखनेको मिलते हैं—(१) अर्थशास्त्रमूलक (इकॉनोमिस्टिक-टेक्नॉलॉजिस्टिक) इतिहास-दर्शन, जिसके प्रवर्तकोंमें कार्ल मार्क्स (१८१८-१८८३), टी० वेब्लेन (१८५७-१९२९), ऑगबर्न आदिका नाम लिया जा सकता है। (२) राजशास्त्रीय (पोलिटिकलिस्टिक), जो शक्ति-कांक्षाको इतिहासका प्रेरक हेतु मानता है और जिसका प्रतिपादन बर्ट्रेंड रसेलकी पुस्तक 'पॉवर—अ न्यू सोशल अनालिसिस'में पाया जाता है। (३) समाजशास्त्रीय (सोशियॉलॉजिस्टिक), जिसके उन्नायक दुर्खीम (१८५८-१९१७), कूले (१८६४-१९२९), मैक्स वेबर (१८६४-१९२०), मैक आइवर, कार्ल मैनहीम राल्फ लिण्टन, पैरेटो (१८४८-१९२३), आर० एच० टॉनी, लुई ममफोर्ड आदि हैं। (४) विचारधारामूलक (आइडियॉलॉजिस्टिक), जिसके पोषकोंमें अन्योंके साथ मानवेन्द्रनाथ रायका नाम लिया जा सकता है। नवीन चक्रवादके दो रूप हैं—सौन्दर्यवाद (दे०—सौन्दर्यवादी समाज-दर्शन) और सांस्कृतिक चक्रवाद (दे०)।

आधुनिक आर्थिक इतिहास-दर्शनकी तीन धाराएँ हैं— ईसाई, थियोसॉफिकल और हिन्दू। ईसाई इतिहास-दार्शनिकोंमें नुओंव, बटरफील्ड, बेर्दिएफ (१८७४-१९४८) और नीबुहर अग्रगण्य हैं। थियोसॉफिकल इतिहास-दर्शनके प्रचारक मैडाम ब्लेवैट्स्की, एनी बेसेण्ट, जे० ई० मारकाल्ट और रोहित मेहता हैं। हिन्दू इतिहास-दर्शनज्ञोंमें श्री अरविन्द और डॉ० भगवान्दासका उल्लेख किया जा सकता है।

विश्लेषणात्मक-समीक्षात्मक इतिहास-दर्शनका आजकल दार्शनिकोंमें बड़ा मान है। इसके पोषकोंमें डिल्थे, कोण्ट ध्रूम, मैण्डेलबाम, ओकशाट, ब्रैडले, कालिंगवुड, क्रोचे, कैसिरेट, वाल्श प्रसिद्ध हैं।

ऐसे भी चिन्तक हैं, जो इतिहास-दर्शनकी सम्भावनासे ही इनकार करते हैं। उनका कथन है कि मानव-स्वभाव इतना दुर्भेद्य और जड-जगत्के नियमोंसे स्वतन्त्र है कि इतिहासकी दिशाके निर्देशके सारे प्रयत्न थोथे हैं। ऐसे चिन्तकोंमें लुई फिशर, कार्ल पॉपर और हायेक प्रमुख हैं।

हिन्दी साहित्यमें इतिहास-दर्शनकी चर्चा नगण्य है। 'प्रतीक', 'आजकल', 'आलोचना', आदि पत्रिकाओंमें इसपर कुछ लेख प्रकाशित हुए थे। भगवतशरण उपाध्यायके 'भारतीय समाजका ऐतिहासिक विश्लेषण'में भी इसपर किंचित् विचार मिलता है। नलिन विलोचन शर्माका 'साहित्यका इतिहास-दर्शन' साहित्येतिहास-दर्शनसे सम्बद्ध है।

[सहायक ग्रन्थ—सेण्ट आगस्तीन : द सिटी ऑव गॉड; इब्न खल्दूनका मुकदमा (हि० अनु० : डॉ० रिजवी); हीगेल : लेक्चर्स ऑन द फिलॉसॉफी ऑव हिस्ट्री; ओस्वाल्ड स्पेंग्लर : द डिक्लाइन ऑव वेस्ट; आर्नोल्ड जे० ट्वायनबी : अ स्टडी ऑव हिस्ट्री; पितिरिम ए० सोरोकिन : सोशल ऐण्ड कल्चरल डाइनेमिक्स; सोशल फिलॉसॉफीज ऑव ऐन एज ऑव क्राइसिस; बुद्धप्रकाश : इतिहास-दर्शन (१९६२); जे० बी० बेरी : दि आइडिया ऑव प्रॉग्रेस; रॉबर्ट फ्लिण्ट : हिस्ट्री ऑव द फिलॉसॉफी ऑव हिस्ट्री। —ह० ना०

ईश्वरतत्त्व—कौल साधनाके अनुसार परम शिवके सृष्ट्युन्मुख होनेपर दो तत्त्व उत्पन्न होते हैं शिव और शक्ति। परमशिव निर्गुण और निरंजन है, पर उनसे उद्भूत शिव सगुण और सिसृक्षारूप उपाधिसे युक्त, सोपाधिक हैं। शक्ति सृष्टिकी मूल कारण है। शक्ति द्वारा जगत्की अभिव्यक्तिके समय शिवके दो रूप प्रकट होते हैं—सदाशिव और ईश्वर। ये ही सृष्टिके प्रथम चार तत्त्व हैं। इसके बाद शेष बत्तीस तत्त्व इन्हींसे विकसित होकर सृष्टि रचनाको रूप देते हैं। कौलोंके अनुसार ये ही ३६ तत्त्व (दे०—तत्त्व) सृष्टिके कारण हैं। सदाशिव तत्त्वमें सदाशिव जगत्को अपनेसे अपृथक् (अहं) रूपमें जानते हैं, अतः इसे पूर्णाहन्ता या पराहन्ता कहते हैं। दूसरा तत्त्व है ईश्वर तत्त्व। इसमें शिव अपनेको जगत्से भिन्न (इदं) रूपमें देखते हैं। —रा० दे० सिं०

उलटा बाण—सन्त साहित्यमें उलटा बाण प्राणायाम द्वारा ऊर्ध्वमुख किये गये प्राणवायुके लिए प्रयुक्त होता है। बाण यह इसलिए कहा जाता है, क्योंकि इसीके द्वारा सहस्रारचक्रका भेदन होता है। कबीर कहते हैं—"सन्तो जागत नींद न कीजै। पैठि गुफामें सब पग देखै, बाहर कछुक न सूझै। उलटा बान पारधिहि लागे, सूरा होय सो बूझै" (क० ग्रं० : दास, पृ० १४१-४२)। —रा० दे० सिं०

उल्टीगंगा—इडा नाडीको हठयोगकी शब्दावलीमें गंगा कहा गया है (हठयोग प्रदीपिका, ३:१०२)। पिंगला यमुना है। गंगाको उलटकर यमुनामें मिलानेके रूपक सन्तोंके साहित्यमें पर्याप्त मिलते हैं। महाराज विश्वनाथ सिंहने उल्टीगंगाका अर्थ किया है "संसार-मुखी राग रूपी गंगाका उलटकर ब्रह्ममुखी होना"। विचारदास शास्त्रीने इसे 'ब्रह्माण्डमें चढाई हुई साँस' कहा है। शास्त्रीय परम्परामें गंगा इड़ा नाडीका अर्थ देती है। गंगाको उलटनेकी बात करने वाले सिद्ध और सन्त सामान्य सत्यसे उलटी बात भी करते हैं। जगत्में जमुना गंगासे मिलती है पर सन्तोंका कहना है कि जो गंगाको उलटकर जमुनामें मिलाता है वह बिना जलके त्रिवेणी संगमपर (दे० त्रिवेणी) मानस स्नान करता करता है। कबीर कहते हैं—"उलटीगंगा जमुन मिलावउ, बिनु जल संगम मन महि न्हावउ" (सन्तकबीर, पृ० २०)। एक दूसरे स्थान पर वे कहते हैं—"उलटी गंगा समुद्रहि सोखै ससिहर सूर गरासै। नवग्रह मारि रोगि या बैठै जलमहि बिम्ब प्रकासै" (क० ग्रं० : ति०, पद १२२)। रैदास भी ठीक यही बात कहते हैं—"उलटीगंगा जमुन मैं लावौं, बिन ही जल मज्जन ह्वै पावौं" (रैदासजीकी बानी, ५६:३)। योगियों और सन्तोंकी साधनाका मूल ही है कि जो नीचे है, अधोमुख है, उसे ऊर्ध्वमुख करके ऊपर ले जाया जाय। अवधूतीपर विचार करते हुए हमने लक्ष्य किया है कि इड़ा और पिंगला इसी अवधूतीके अविशुद्ध रूप हैं। सामान्य स्थितिमें इड़ा-पिंगलासे श्वासधारा बाहरकी ओर प्रवाहित होती रहती है। योगमें प्राणायाम द्वारा बाहरकी ओर प्रवहमान श्वासधाराको उलटकर ब्रह्माण्डमें चढ़ाया जाता है, जिससे समाधि सम्पन्न होती है। समाधि-

की अवस्थामें इडा और पिंगलासे न प्रवाहित होकर इनके मध्यमें स्थित सुषुम्नासे प्रवाहित होता है। इस अवस्थामें इड़ा-पिंगला (गंगा-जमुना) एकाकार हो जाती है। यही सामरस्यकी स्थिति अवधूती है (दे०—अवधूती)। इड़ा-पिंगला और सुषुम्ना (अर्थात् गंगा, यमुना और सरस्वती) का जहाँ एकीभाव हो जाता है, वह त्रिवेणी है, जहाँ बिना जलके मानस स्नान करनेकी बात (ऊपरके उद्धरणोंमें) कबीर और रैदासने की है। उलटीगंगाके अर्थको समझ लेने पर ऊपरके उद्धरणों तथा इस तरहके अनेकशः योगपरक रूपकों और उलटबाँसियोंको आसानीसे समझा जा सकता है। —रा० दे० सिं०

ऊर्णचक्र—तांत्रिक साधनाके नामपर मुक्तकामोपभोगकी, जो अनेक घृणित और सामाजिक स्वास्थ्यको विनष्ट करनेवाली साधनाएँ चल पड़ी थीं, ऊर्णचक्र उनमेंसे एक है। इसमें साधक-साधिकाका एक-एक जोड़ा किसी वस्त्रमें लिपटकर रसभोगकी साधना करता है। जान वुडरफने 'ऊर्ण'का अर्थ 'मकडीका जाला' किया है (शक्ति एण्ड शाक्त, संस्करण ४, पृ० ६२४), पर यह अर्थ ठीक बैठता नहीं। लगता है यह ऊर्णचक्र न होकर ऊर्णुचक्र है। ऊर्णु, अर्थात् आवरण, वेष्ठन, पर्दा—"ऊर्णुनाव स शस्त्रौघैर्वानराणाम-नीकिनीम्" (भट्टिकाव्य, १४, १०३, ३)। —रा० दे० सिं०

कर्म—वेदान्ती जिसे कर्म कहते हैं, सांख्यमें उसे बुद्धिका व्यापार, धर्म या विकार कहा जाता है। सांख्यकारिका, ४०में इसीको 'भाव' कहा गया है और बताया गया है कि जिस प्रकार फूलमें गन्ध और कपड़ेमें रंग लगा रहता है उसी तरह 'भाव' भी लिंगशरीर (दे०—लिंगशरीर)में लगा रहता है। महायान बौद्ध सम्प्रदायमें भी कर्म सम्बन्धी मान्यता कुछ ऐसी ही है। जिस प्रकार अच्छी तरह रखा हुआ गेहूँका बीज हजारों वर्षों बाद भी अपनी अंकुरित होनेकी शक्ति नहीं खोता, इसी प्रकार कर्म भी अविनश्वर हैं। हिन्दू शास्त्रोंमें कर्मके कई भेद बताये गये हैं। मनुस्मृति १२, ३में कायिक, वाचिक एवं मानसिक नामके तीन कर्म बताये गये हैं। फिर उत्तम, मध्यम एवं अधम भेदसे इन एक-एकके भी तीन-तीन भेद किये गये हैं। हिन्दू शास्त्रोंमें सामान्यतः तीन प्रकारके कर्म माने गये हैं—१. संचित, २. प्रारब्ध एवं ३. क्रियमाण। मनुष्यने जो कर्म किया है वह संचित कहलाता है, जिस पूर्वकृत कर्मका फल वह भोग रहा है, उसे 'प्रारब्ध कर्म' कहते हैं और जिस कर्मको वह कर रहा है वह क्रियमाण कर्म है। अच्छे कर्मसे स्वर्ग मिलता है और बुरेसे नर्क। प्राणी जब अपने अच्छे बुरे कर्मोंका फल भोग लेता है तो पुनः मर्त्यलोकमें लौट आता है। इस प्रकार कर्मबन्धमें फँसा व्यक्ति आवागमनके चक्करमें पड़ा रहता है। इस चक्करसे मुक्तिका उपाय ज्ञान है, ऐसा उपनिषदोंका मत है। वे मानते हैं 'बिना ज्ञानान्न-मुक्तिः"। भक्त ज्ञानके स्थानपर भक्ति और भगवान्‌की कृपाको कर्मबन्धनसे मुक्ति दिलानेका साधन मानता है। भारतीय कर्मवादी दर्शन बड़ा ही जटिल और वैविध्य-पूर्ण है। —रा० दे० सिं०

कविता—सन्तोंके साहित्यमें इस शब्दका कहीं-कहीं ऐसा प्रयोग मिल जाता है, जहाँ इसका अर्थ काव्यसे न होकर सीधे कविसे होता है। मध्यकालीन साहित्यमें काव्यका अर्थ देनेके लिए कविता शब्दका प्रयोग न कर प्रायः 'कवित' शब्दका ही प्रयोग किया जाता है। सन्तोंकी भाषा लोकभाषा थी ही। फिर बनारसके आस-पास 'कविता' शब्दका व्यवहार कवि अर्थमें होता है। कहावत है "थोर बनावै कबीरदास, ढेर बनावै कविता", अर्थात् कबीरने तो थोड़ा ही लिखा-बनाया, पर परवर्ती कवियोंने उसमें बहुत-कुछ अपनी ओरसे जोड़ दिया है। इस कहावतका प्रयोग ऐसे अवसरोंपर किया जाता है, जब कोई किसीकी कही गयी बातको अपनी ओरसे बढ़ा-चढ़ा कर कहता और मूल बातको नये रूपमें रखकर मूल वक्ताको नीचा दिखाना, या बदनाम करना चाहता है या अपना स्वार्थ साधन करना चाहता है। सन्तोंके साहित्यमें कई स्थलोंपर 'कविता' 'कवित'के साथ भी प्रयुक्त मिलता है। वैसे स्थलोंपर कविताका 'कवि' अर्थ स्पष्ट लक्षित होता है। कबीरने ही लिखा है—"कविता पढ़ि पढ़ि कविता मूए, कापडी केदारै जाई। केसलूँचि लूँचि मरे बरतिया, इनमैं किनहूँ न पाई"(क०, ग्रं० : पारसनाथ तिवारी, पद ८५)। अर्थात् कविलोग अनेक (धर्म-) काव्य पढ़-पढ़कर मर गये, कार्पटिक केदारनाथका दर्शन करते नष्ट हो गये, ब्रतधारी (=केशलुंचन सम्प्रदायके जैन) बाल नोच-नोच कर विलीन हो गये पर इनमेंसे सद्‌गति किसीको नहीं मिली। वह इन सबसे नहीं, नामके सच्चे सुमिरनमें मिलती है। —रा० दे० सिं०

कबीर—उत्तर प्रदेश और बिहारमें होलीके समय गाये जाने-वाले अश्लील गीत। पूर्वी उत्तरप्रदेशके गाँवोंमें 'कबीर' गानेकी प्रथा पिछले दो-चार वर्षोंके पूर्वतक बड़ी ही प्रबल रही है। इधर ग्राम पंचायतोंके बन जाने, शिक्षा प्रसार, आधुनिक सभ्यताके प्रभाव एवं सुधारवादी रोक-थामके परिणामस्वरूप कबीर गाना निम्नरुचिका परिचायक माना जाने लगा है। हजारीप्रसाद द्विवेदीने आजसे बाईस-तेईस साल पहले ही अपनी पुस्तक 'हिन्दी-साहित्यकी भूमिका'में इन गीतोंके महत्त्वकी ओर संकेत किया था कि इनके समुचित अध्ययन और विवेचन-विश्लेषणसे सम्भवतः इस बातपर प्रकाश पड़ सके कि इन गीतोंको कबीर क्यों कहा जाता है? इन गीतोंके साथ योगियों और कबीर पंथियोंकी किसी प्राचीन प्रतिद्वंद्विताकी स्मृति तो नहीं जुड़ी हुई है? और यह कि ये अश्लील गान भी उलटबाँसियों-की भाँति किसी युगमें किसी अप्रस्तुत अन्तर्निहित सत्यकी ओर इशारा करने वाले तो नहीं माने जाते? (हिन्दी साहित्यकी भूमिका, छठाँ संस्करण, पृ० ७०)। द्विवेदीजी ने यह भी बताया है कि ये गीत जोगीड़ा (दे०—जोगीड़ा) गा लेनेके बाद गाये जाते हैं, पर आजमगढ़ जिलेकी देहातों-में इस तरहकी कोई प्रथा नहीं है। एक तो जोगीड़े गाये भी कम जाते हैं, दूसरे कबीरके पहले या बादमें गाये जाने का कोई प्रचलन-विशेष नहीं है। हजारीप्रसाद द्विवेदीने अपनी 'कबीर' नामक पुस्तकमें (दे०—कबीर, ५ वाँ संस्करण, पृ० ३९-४०) ललितकिशोर सिंह 'नटवर'की एक सूचनाका उल्लेख किया है कि "हिन्दी साहित्यकी भूमिका'में मैंने गोरखपंथियोंके पदोंसे मिलते हुए दादूके पदोंका हवाला दिया था। 'नटवर'जीने बताया है कि "ये पद बिहारमें

'जोगीड़ा'के रूपमें प्रचलित है। उन्होंने इन पदोंको पटनामें गाये जाते सुना था।" वैसे कबीरगानमें गालियाँ अधिक और पद कम हैं। —रा० दे० सिं०

कूर्मनाड़ी–स्वासकी नली। अंग्रेजीमें इसे ब्रांकल ट्यूब (bronchial tube) कहते हैं। सम्भवतः इसका आकार-प्रकार कछुएसे मिलता-जुलता है। महर्षि पतंजलिकी दृष्टिमें इस नाड़ीका बहुत महत्त्व है, क्योंकि इसमें संयम करनेपर शरीरका स्थैर्य सिद्ध होता है और शरीरकी स्थिरता चित्तको स्थिर बनाती है—"कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्" (यो० सू०, ३ : ३१)। —रा० दे० सिं०

कौलमार्ग, कौलज्ञान–कौल साधकोंके अनुसार 'कुल' शब्द शक्तिका वाचक है और 'अकुल' शिवका तथा कुल और अकुलका सम्बन्ध स्थापित करनेवाला मार्ग **कौलमार्ग** है। 'सौभाग्य भास्कर' (पृ० ५३)में कहा गया है—"कुलंशक्तिरिति प्रोक्तमकुलं शिव उच्यते। कुलेऽकुलस्य संबन्धः कौलमित्यभिधीयते" ('कुल'के अन्य अर्थोंके लिए दे०–कुल)। तन्त्रालोककी टीका (पृ० २४)में मत्स्येन्द्रनाथको सकल कुलशास्त्रका अवतारक कहा गया है। इस कौलमार्गमें माना जाता है कि शिव और शक्तिमें वैसे कोई भेद नहीं है; चन्द्र और चन्द्रिकाकी तरह (गो० सि० सं०, पृ० ६७), अग्नि और धूमकी तरह, वृक्ष और छायाकी तरह वे एक दूसरेके बिना रह ही नहीं सकते। लेकिन जब शिवमें सिसृक्षाका स्फुरण होता है तो निर्गुण निरंजन और निरुपाधिक परमशिवसे शिव और शक्ति या अकुल और कुल नामके दो तत्त्व उद्भूत होते हैं। परम शिवसे इस नवोद्भूत शिवका एक स्पष्ट अन्तर यह होता है कि शिव सगुण, सांजन, सोपाधिक और सिसृक्षा सम्पन्न होता है। फिर इस नवजात शिव और शक्तिसे क्रमशः ३४ तत्त्वोंका उद्भव होता है। जीव. तेरहवें तत्त्वका नाम है। यह जीव भी वैसे शिव ही है, पर माया या अविद्याके ६ कंचुकोंसे कंचुकित। अविद्याके ये कंचुक (दे०–कंचुक) कुल और अकुलके सामरस्यसे कटते हैं। ब्रह्माण्डमें जो कुल और अकुल (या शिव और शक्ति) हैं, सूक्ष्मरूपसे पिण्डमें भी वे वर्तमान हैं। मूलाधार पद्ममें स्थित साढ़े तीन वलयोंवाली कुण्डलिनी ही शक्ति है और सहस्रारमें परमशिवका आवास है। साधनाके द्वारा इन दोनोंका सामरस्य स्थापित करनेवाला ज्ञान इसीलिए **कौलज्ञान** कहलाता है। 'कौलज्ञान निर्णय'में ज्ञान होता है कि यह कौलज्ञान बहुत पुराने जमानेसे एक कानसे दूसरे कानतक पहुँचता हुआ (६ : ९) परम्पराक्रममें (१४ : ९) चला आ रहा है। उक्त ग्रन्थमें रोमकूपादि कौल (१४ : ३२), वृषणोत्थ कौलिक(१४ : ३३), वह्नि कौल (१४ : ३४), कौल सद्भाव (१४ : ३७)का उल्लेख मिलता है। कुछ विद्वानोंने इनको कौलोंके विभिन्न सम्प्रदाय माना है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी इनका सिद्धिपरक अर्थ करनेके पक्षमें हैं। (नाथ सम्प्रदाय, पृ० ५७)। उक्त ग्रन्थ (१४ : ४७-४९)में बताया गया है कि आदि युगमें इसे कौलज्ञान नामसे जाना जाता था। द्वितीय युग (त्रेता)में इसे 'महत्कौल' कहा जाता था। तृतीययुग (द्वापर)में इसे 'सिद्धामृत' कहा गया और कलियुगमें 'मत्स्योदर कौल' कहलाया। इसी मत्स्योदर कौलसे निकला हुआ ज्ञान 'योगिनी कौल' संज्ञासे जाना जाता है। ग्रन्थके २१वें पटलमें इसके अनेक मार्गोंका उल्लेख हुआ है (विस्तृत विवेचनके लिए दे०—ह० प्र० द्विवेदी : 'नाथ सम्प्रदाय' तथा पी० सी०, बागची : 'कौ० ज्ञा० नि०; भूमिका।)। —रा० दे० सिं०

घरनी–संतोंके साहित्यमें प्राप्त होनेवाली उलटबाँसियों और योगपरक रूपकोंकी ही तरहकी उलटबाँसियाँ और रूपक सिद्धोंके साहित्यमें भी पर्याप्त मात्रामें मिलते हैं। घरणि या घरनी स्त्री या पत्नीका अर्थ देनेवाला शब्द है। सिद्धोंने अपनी उलटबाँसियोंमें इसका बहुत बार प्रयोग किया है। कण्हपा कहते हैं—"एक्क ण किज्जिय मंत ण तंत। णिअ घरणी लइ केलि करन्त। णिअ घर घरणी जाव ण मज्जइ। ताव ण पंचवण्ण विहरिज्जइ। जिमि लोण मिलिज्जइ पाणिअइ तिमि घरणी लइ चित्त। समरस जइ तक्खणे जइ पुणुते समनित्त"। आदिमें तो उनका मतलब अपनी घरनीसे ही होता है, किन्तु ऐसी बात नहीं। वैसे सरह आदि सहजयानी विशुद्ध विषयोंके रमणको मुक्ति या परम महासुख (=निर्वाण)की प्राप्तिका अव्यर्थ साधन मानते थे, लेकिन जब वे इस तरहकी बातें करते हैं तो उसका एक गूढ़ अर्थ भी होता है। सिद्धोंकी साधना पद्धतिमें तीन वृत्तियाँ मानी गयी हैं—अवधूती, चाण्डाली और डोम्बी। इन तीनों वृत्तियोंका एक नाम घरणी है। घरणीसे इन तीनोंका बोध होता है। उत्कर्षक्रमकी दृष्टिसे डोम्बी या बंगाली सबसे उत्कृष्ट और अवधूती सबसे निचली श्रेणीकी है। जब भुकुस पा कहते हैं—"आजि भूसु बंगाली णिअ घरणी चण्डाली लइली", अर्थात् "ऐ भुकुस तुमने चण्डाली घरनी तो बना ली अब आज बंगाली घरनी भी बना ले" तो उनके व्यावहारिक जीवनमें किसी चण्डाली, बंगालीसे कोई तात्पर्य रहा हो या न रहा हो, चण्डाली और डोम्बी या बंगाली वृत्तियोंसे अवश्य था। सिद्धोंके अनुसार अवधूतिमें द्वैत ज्ञान बना रहता है, चण्डालीमें द्वैत ज्ञान रहता भी है, नहीं भी रहता है, किन्तु बंगाली या डोम्बीमें विशुद्ध अद्वैत ज्ञान प्राप्त हो जाता है। —रा० दे० सिं०

चित्तभूमियाँ–योगशास्त्र पाँच चित्तभूमियाँ मानता है—क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। चित्तभूमिका अर्थ है चित्तकी सहज स्वाभाविक अवस्था। विशेषके लिए दे०—'समाधि'। —रा० दे० सिं०

चित्तवृत्ति–योगको चित्तवृत्तिका निरोध कहा गया है—"योगश्चित्तवृत्ति निरोधः" (पातंजल यो० सू० १ : २)। चित्तवृत्तियाँ वैसे तो बहुतेरी हैं, पर पाँच मुख्य हैं। ये हैं—प्रमाण, विपर्यय (मिथ्याज्ञान), विकल्प, निद्रा और स्मृति (यो० सू०, १ : ६)। मुमुक्षु व्यक्तिको इनका निरोध करना चाहिये। अभ्यास और वैराग्यके द्वारा इनका निरोध संभव है (यो० सू०, १ : १२) (विशेषके लिए दे०—पातंजल योगदर्शन, लखनऊ विश्वविद्यालय, पृ० ११-२७)। —रा० दे० सिं०

चूड़ाचक्र–तान्त्रिक साधनाके नामपर कुछ ऐसे साधकोंका उल्लेख भी यदाकदा मिल जाता है, जिन्होंने इस साधनाको मुक्त कामोपभोगकी घृणित पद्धति बना दिया है। जॉन वुडरफको (शक्ति एण्ड शाक्त, संस्करण ४ : पृ०

६२३)एक पण्डितने बताया था कि 'सिद्धमालरहस्य' नामक ग्रंथमें चूडाचक्र नामकी एक साधनाका विवरण मिलता है, जिसमे पचास सिद्धवीर और उनकी पचास शक्तियाँ भाग लेती थीं। कौन शक्ति किस सिद्धवीरकी सहधर्मिणी बनेगी, इसके निर्णयके लिए गुप्त साधनापीठमे प्रवेश करते समय हर साधिका अपनी चूड़ा (चोली) एक स्थानपर जमा करती जाती थी। बादमे प्रवेश करनेवाले साधक आँखे बन्द करके उस ढेरमेसे एक-एक चोली उठाते जाते हैं। जिस शक्ति विशेषकी चोली हाथमें आ जाती, उस रात वह शक्ति उस सिद्धवीरकी सहधर्मिणी बनती। बलभद्र ठाकुरने हिमालयीय जीवनका विश्वकोश तैयार करनेकी एक योजना बनायी है, जिसे वे उपन्यासोंके रूपमें लिख रहे हैं। इस योजनाके अन्तर्गत लिखे गये अपने उपन्यास 'आदित्यनाथ' (पृ० १५४)मे उन्होंने इस चूडाचक्रको 'चोलीमार्ग' कहा है। —रा० दे० सिं०

चोर–चंचल चित्त, विषयासक्त मन, काम-क्रोध-लोभ-मोह आदि वृत्तियों तथा कालके अर्थमे चोर शब्दका सांकेतिक प्रयोग नाथों और सन्तोने बार-बार किया है और बार-बार इनसे सावधान रहनेकी सलाह दी है। गोरखनाथ अपने एक पदमे कहते है—"काया हमारै सहर बोलियै मन बोलियै हुजदारं। चेतनि पहरै कोटवाल बोलिए तौ चोर न झकै द्वारं" (गो० बा०, पृ० १२०)। यहाँ चोर काम-क्रोध-लोभादि वृत्तियोंके लिए प्रयुक्त हुआ है। इसी अर्थमें कबीरका एक प्रयोग है—"अबमन जागत रहु रे भाई। गाफिल होइकै जनमु गँवायो चोर मुसै घरु जाई" (क०ग्रं० : ति०, पद ८०)। चंचल विषयासक्त मनके अर्थमे भी कबीरने चोर शब्दका व्यवहार किया है—"सभै मदि माते कोउ न जाग। संग ही चोर घर मुसन लाग" (वही, पद १९८)। कालके अर्थमें भी इसका प्रयोग कबीरमे मिलता है—"तीन लोक चोरी भई सरबस सबका लीन्ह। बिना मूंड़का चोरवा परा न काहू चीन्हि" (वही०, पृ० २२८, ४)। इसी बिना मुख या शिरके चोरका उल्लेख तुलसीदासने अपने बहुप्रसिद्ध पदमे किया है—"रविकर नीर बसै अति दारुण मकररूप तिहिमाहीं। बदनहीन सो ग्रसै चराचर पान करन जे जाहीं" (विनयपत्रिका)। कबीरका बिना मूड़का चोर और तुलसीका वदनहीन मकर एक ही—कालके वाचक है। कालके अर्थमे कबीरका एक और प्रयोग है—"मेरी मेरी करता जनम गयो। जनम गयो पर हरि न कह्यो। बारह बरस बालपन खोयो बीस बरस कछु तप न कियो"। × × ×"सूखे सरवरि पालि बँधावै लूने खेत हठि बारि करै। आयो चोर तुरगहि लै गयौ मोहड़ी राखत मुगध फिरै" (वही, पद ८३)। लक्ष्य करनेकी बात है कि जहाँ चोर एक वचनमें प्रयुक्त है, वहाँ वह चंचल विषयासक्त मन या कालका अर्थ देता है और जहाँ पाँच, दस चोरोंका उल्लेख रहता है, वहाँ इन्द्रियों आदि का। —रा० दे० सिं०

जीव–कौलसाधनामें स्वीकृत ३६ तत्त्वोंमें जीव तेरहवाँ तत्त्व है (दे० 'तत्त्व')। मायाके छः कंचुकोंसे बद्ध शिव ही जीव है (दे० 'कंचुक')। सांख्यमें इसीको 'पुरुष' कहा जाता है। कौलसाधक मूलाधारमें कुण्डलिनीको, सहस्रारमें परमशिवको और हृत्पद्ममे जीवको स्थित मानता है। कुण्डलिनीको उद्बुद्धकर षट्चक्रोंमे पार करता हुआ सहस्रारस्थ परमशिवसे उसका सामरस्य करानेका सारा प्रयास इसी जीवको मुक्त करानेके लिए किया जाता है। इस जीवको परमशिवसे चैतन्य मिलता है और कुण्डलिनीसे शक्ति मिलती है। इसी कारण कुण्डलिनीका एक नाम जीवशक्ति भी है। जीवशक्तिके जागरणसे मायाके सारे कंचुक स्वयमेव कट जाते हैं और जीव परमशिवमें विलीन होकर मुक्त हो जाता है। —रा० दे० सिं०

जोगीड़ा–डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदीने बताया है (कबीर, ५वाँ संस्करण, पृ० ३९ एवं "हिन्दी साहित्यकी भूमिका', ६ठाँ संस्करण, पृ० ७०) कि "उत्तर प्रदेश और बिहारमे होलीके अवसरपर जो अश्लील और अश्राव्य गान गाये जाते है, उन्हें 'जोगीडा' कहते हैं। पूर्वी उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बिहारके जिन जिलोंके विषयमे मुझे थोडी-बहुत जानकारी है, उनमे होलीके दिनोमे (वसन्तपंचमीसे चैत्र प्रतिपदातक) फाग (या फगुआ), होली और चौताल नामके गीत (ढोल और मजीरोंके साथ) गाये जाते है और ये गीत हर अवस्था तथा मोटे-पतले, सुरीले-भद्दे सभी प्रकारके स्वरोंवाले व्यक्ति पूरी ताकत लगाकर चीखते हुए, उल्लसित भावसे, गाते है। शृंगारका पुट इनमें अपेक्षासे अधिक होता अवश्य है, पर उन्हे अश्लील नहीं कहा जाता। इन गीतोंके साथ 'धमार' नामके गीत भी गाये जाते हैं, जो प्रायः उन्हीं जैसे होते हैं। जोगीड़े सामान्यतया नहीं गाये जाते तथा कबीर गानेके लिए जहाँ युवकों-बच्चोंको ललकारा जाता है, वहीं अगर कोई जोगीडा गाता मिल जाय तो बुरा माना जाता है। कहीं-कहीं रातमे कस्बो आदिमे जोगीड़ोंका आयोजन किया जाता रहा है (जो अब प्रायः बन्द ही हो गया है), लेकिन इसमें बनारस आदि स्थानो (मुख्यतः बनारससे ही) कुछ विशेष जोगीडा-गायक बुलाये जाते थे, जो अधिकांशतः हिंजड़े होते थे। जोगीडा गायक स्त्रियोंकी तरह साड़ी पहनकर और काजल, सिन्दूर, टिकुली (बिन्दी) आदिसे पूरी तरह अलंकृत होकर जोगीडे गाता और मचक मचककर नाचता है और एक आदमी मिट्टीके घड़ेपर हाथमे पहनी अँगूठीसे टक-टककी ध्वनि पैदा कर उसे बजाता जाता है। होलीके दिनोमे बनारसमे जगह-जगह जोगीड़ोंका आयोजन होता है। वैसे इस सारे नाचगानमे बीच-बीचमें 'जोगीरा सारा रारा, रारा रारा, रारा रारा' तथा 'जोगीजी धीरे-धीरे'का घोष बार-बार उठता रहता है। बनारसमे जोगीड़े प्रायः वहाँके हिजड़े ही गाते है। —रा० दे० सिं०

डंडा–दे० 'सोटा'।

डामर–शाक्त आगमोके तीन प्रकार माने गये हैं—तन्त्र, यामल और डामर। ये विभाग अधिकारी भेदके कारण हुए है। तन्त्र सात्त्विक अधिकारियोंके लिए, यामल राजस और डामर तामस अधिकारियोंके लिए तैयार किये गये शास्त्र है? डामरके छः भेद माने गये है—योग, शिव, दुर्गा, सारस्वत, ब्राह्म और गान्धर्व (दे० 'नाथसम्प्रदाय' : हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ४ और 'संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर' : रामचन्द्र वर्मा, पृ० ३९९)। —रा० दे० सिं०

तंत्र–कहना कठिन है कि 'तन्त्र' शब्दका निश्चित अर्थ क्या है। कुछ लोगोंकी धारणा है कि शाक्तशास्त्र ही 'तन्त्र' है, किन्तु यह ठीक नहीं है। आगमोंकी भाँति ही तन्त्र भी तीन है—शाक्ततन्त्र, शैवतन्त्र तथा वैष्णवतन्त्र। इन तीन प्रमुख तन्त्रोंके भी अनेक उपविभाग हैं, अतः तन्त्र शब्दका कोई सर्वसम्मत अर्थ करना कठिन है। तन्त्र जिस श्रेणीके साहित्यका बोध होता है, वह स्वयं बहुविध है और किसी एक निश्चित अर्थका संकेत नहीं करता। 'तान्त्रिक' शब्दके आधारपर तन्त्र शब्दका निश्चित अर्थ खोजनेका प्रयास करनेवालोंको निराशा ही हुई है क्योंकि इस शब्दका कोई एकान्तिक विषय नहीं है (दे०–शक्ति एण्ड शाक्त : वुडरफ, संस्करण ४, पृ० १४३)। तान्त्रिक कहलानेवाला व्यक्ति सूर्य, गणेश, विष्णु, शिव, शक्ति नामक पंचदेवोंमेंसे किसी एकका उपासक हो सकता है। किसी एक देवताकी उपासना करनेवाले तान्त्रिकोंमें भी सिद्धान्तों एवं आचरण विधियोंके भेदके साथ अनेक सम्प्रदाय-भेद होते हैं। शिवको ही इष्टदेवता माननेवाले कुछ शैव-सिद्धान्ती हैं तो दूसरे अद्वैत-शैव; कुछ कश्मीरी शैव-सिद्धान्तका आचरण ग्रहण करनेवाले हैं तो दूसरे लाकुलीश, पाशुपत, रसेश्वर आदि। अतः तन्त्रका कोई निश्चित अर्थ करना कठिन है। 'तन्त्र' शब्दके ऐसे कई अर्थ किये गये हैं। 'काशिका'में इसे तन् धातुसे व्युत्पन्न माना गया है और अर्थ किया गया है कि चूँकि इससे ज्ञानका विस्तार होता है, अतः यह तन्त्र है—"तन्यते विस्तार्यते ज्ञानमनेनेति तन्त्रम्"। शैवसिद्धान्तके 'कामिक आगम'में बताया गया है कि "तन्त्र वह है, जो तत्त्व और मन्त्रसे समन्वित विपुल अर्थोंका विस्तार करता है और इसके द्वारा (साधकका) उद्धार करता है—"तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमन्त्रसमन्वितान्। त्राणञ्च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते", किन्तु इस अर्थसे भी किसी पद्धति विशेषका बोध नहीं होता। महाभारतमें न्याय, धर्मशास्त्र, योगशास्त्र आदिके लिए तन्त्र शब्दका प्रयोग हुआ है। शंकराचार्यने ब्रह्मसूत्र (२ : १ : १)के भाष्यमें स्मृतिको तन्त्र कहा है—"स्मृतिश्च तन्त्राख्या परमर्षिप्रणीता"। संस्कृतके कोशोंमें प्राप्य इसका अर्थ-वैभिन्य चक्करमें डाल देनेवाला है। अतः तन्त्र नामसे अभिहित किये जानेवाले ग्रन्थोंके विश्लेषण-विवेचनके सहारे ही इसका कोई निश्चित अर्थ किया जा सकता है, जो आगमके अर्थमें प्रयुक्त तन्त्र शब्दका वाच्य हो। इस दृष्टिसे कहा जा सकता है कि "देवताके स्वरूप, गुण, कर्म आदिका जिसमें चिन्तन किया गया हो, तद्विषयक मन्त्रोंका उद्धार किया गया हो, उन मन्त्रोंको यन्त्रमें संयोजित कर देवताका ध्यान तथा उपासनाके पाँचो अंग—पटल, पद्धति, कवच, सहस्रनाम और स्तोत्र—व्यवस्थित रूपसे दिखलाये गये हों, उन ग्रन्थोंको तन्त्र कहते हैं" (बलदेव उपाध्याय : बौद्धदर्शन, पृ० ४१७)। इष्टदेवता एवं सिद्धान्तों, आचारणविधियों आदिके भेदसे तन्त्र अनेक प्रकारके हैं। इनमेंसे प्रमुख तीन हैं—शाक्त, शैव एवं वैष्णव (विस्तारके लिए दे०—आगम)। इनमें भी वैदिक-अवैदिकके अनेक टण्टे हैं। इन्ही टण्टोंने तन्त्रसे घिसकर बननेवाले 'टण्टा' शब्दमें "बखेड़ा, उलझाव, लम्बी-चौड़ी प्रक्रिया, फसाद, झगड़ा" जैसे विचित्र अर्थोंको भर दिया है। —रा० दे० सि०

तन्मात्र–तन्मात्रको भूत-सूक्ष्म भी कहते हैं, क्योंकि ये अतिशय सूक्ष्म होते हैं। सांख्य-दर्शनमें इनकी संख्या पाँच मानी गयी है—शब्द तन्मात्र, स्पर्श तन्मात्र, रूप तन्मात्र, रस-तन्मात्र तथा गंधतन्मात्र। इन्ही पंच तन्मात्रोंसे पंच महाभूतों (अर्थात् आकाश, वायु, तेज, जल एवं पृथ्वी) की उत्पत्ति होती है। उक्त महाभूतोंके विशेष गुण हैं क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। सांख्यदर्शनके अनुसार प्रत्येक परवर्ती महाभूतके गुणमें पूर्ववर्तीके गुण भी मिलते जाते हैं, क्योंकि उनके तत्त्व एक दूसरेसे संयुक्त होते हुए आगे बढ़ते हैं (दे० सांख्यकारिका, २२)। इस प्रकार शब्द तन्मात्रसे आकाशका आविर्भाव होता है (जिसका गुण शब्द है)। स्पर्श तन्मात्र तथा शब्द तन्मात्रके योगसे वायुकी उत्पत्ति होती है (जिसके गुण हैं शब्द एवं स्पर्श)। रूप तन्मात्र अपने पूर्ववर्ती शब्द-स्पर्श तन्मात्रोंके योगसे तेज (या अग्नि)की उत्पत्ति होती है (जिसमें शब्द, स्पर्श तथा रूप—तीनों गुण वर्तमान होते हैं)। रसतन्मात्र तथा इसके पूर्ववर्ती शब्द-स्पर्श-रूप तन्मात्रोंके सम्मिलनसे जल नामक महाभूतकी सृष्टि होती है (जिसमें शब्द, स्पर्श, रूप और रस—चारों गुण होते हैं)। पाँचवा और अन्तिम है गन्ध तन्मात्र, जो अपने पूर्ववर्ती शब्द-स्पर्श-रूप-रस तन्मात्रोंसे युक्त होकर पृथ्वी नामक महाभूतको जन्म देता है। पृथ्वीमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध—ये पाँचों गुण पाये जाते हैं।

तन्मात्र इतने सूक्ष्म होते हैं कि अनुमानसे ही इनका ज्ञान होता है। वैसे योगियोंको इनका प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है, पर सामान्य व्यक्तियोंके लिए तन्मात्र अप्रत्यक्ष और अभोग्य होते हैं। संभवतः इसीलिए इन्हें 'अविशेष' (=विशेष प्रत्यक्ष धर्मोंसे रहित)भी कहा जाता है। सांख्य-दर्शनके अनुसार प्रकृतिसे प्रारम्भ होकर पंचमहाभूतोंके आविर्भावतक जो विकास-परम्परा चलती है, उसके दो रूप होते हैं—१. प्रत्यय सर्ग या बुद्धि सर्ग तथा २. तन्मात्र सर्ग या भौतिक सर्ग। प्रथम अवस्थामें बुद्धि, अहंकार एवं ग्यारह इन्द्रियाँ प्रकट होती हैं; द्वितीय अवस्थामें पंच तन्मात्रों, पंचमहाभूतों और उनके विकारका। —रा० दे० सि०

तन्मात्रसर्ग–दे० 'तन्मात्र'।

तिनका–तिनका तृणका वाचक है। तिनका अत्यधिक हल्का भी होता है। सन्तोंने तिनका शब्दका व्यवहार तृण (और स्थूलके विपरीत पड़नेवाले) सूक्ष्मके अर्थमें किया है, लेकिन हिन्दीमें उनका (जैसे, उनका घर)के लिए तिनका (उन=तिन+का) शब्द भी बन सकता है, कहीं-कहीं बोलियोंमें प्रयुक्त भी होता है, अतः सन्तोंने तृण और सूक्ष्मके साथ ही इसमें एक तीसरा अर्थ भी भरा है—उनका। कबीरकी एक साखी है–"आई आँधी प्रेमकी तिनका उड़ा अकास, तिनका तिनका है रहा तिनका तिनके पास,"अर्थात् 'प्रेमकी आँधी आई और तृणकी तरह माया मोहादिसे असंपृक्त साधक आकाश (परमव्योम, ब्रह्म)में उड़ चला। उसमें जो उनका (ब्रह्मका) अंश था, वह तो उनके पास रह गया (आत्मा परमात्मामें लीन होगया), लेकिन जो शुष्क निर्जीव शरीर था, वह अपनी तरहके अन्य शुष्क तृणोंके पास लौट

आया। नगण्यके अर्थमें भी कबीरने 'तिनका' शब्दका प्रयोग किया है—"कबीर सीप समंदकी, रटै पियास पियास। समंदहि तिनका करि गिनै, एक स्वाति बूँदकी आस"। (क०ग्रं० : ति०, पृ० १७६, ०)। 'उनका' अर्थमें तिनकाका प्रयोग—"कबीर कलियुग आइया मुनियर मिलै न कोइ। कामी क्रोधी मसखरा तिनका आदर होइ"। (वही, पृ० २१४ : २६)। तृण एवं उनका दोनों अर्थोंका संकेत देनेवाली कबीरकी एक साखी है—"गुर दाधा चेला जला बिरहा लागी आगि। तिनका बपुरा ऊबरा गलि पूरेके लागि" (क० ग्रं० : ति०, पृ० १४८, ५०)। —रा० दे०सिं०

तीन ग्रंथियाँ–प्रबुद्ध कुण्डलिनीको षट्चक्रोंमें प्रविष्ट होनेके लिए क्रमशः मूलाधार, अनाहत चक्र एवं आज्ञाचक्रके नीचे स्थित तीन ग्रन्थियोंको खोलना आवश्यक होता है। ये ग्रन्थियाँ है—ब्रह्मग्रन्थि, विष्णु ग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि। ब्रह्मग्रन्थिको खोलनेसे मूलाधारपद्ममें, विष्णु ग्रन्थिको खोलनेपर अनाहतपद्ममें और रुद्रग्रन्थिको खोलनेपर सहस्रारपद्ममें प्रवेश सम्भव होता है। इसी रुद्र ग्रन्थिको सन्तोंने 'सिभु दुवार' (दे०) कहा है। —रा० दे० सिं०

त्रिपुरा–सृष्टि रचनाके पूर्व परब्रह्म या परशिव एकाकी रहता है। जब उसमें सृष्टिकी इच्छाका संचार होता है तो सिसृक्षाके रूपमें उस सच्चिदानन्द विभवकी शक्ति उद्बुद्ध होती है और वह निष्कलसे सकल हो जाता है। इस सकल परमेश्वरसे शक्तिका उद्भव होता है। सर्वप्रथम आविर्भूत होनेवाली यह आद्याशक्ति ही 'त्रिपुरा' कही जाती है। ब्रह्मकी सिसृक्षा (सृष्टि करनेकी इच्छा)से उद्भूत होनेके कारण यह इच्छा-रूपा है, चिन्मात्र परब्रह्मसे इसका उद्भव होता है, अतः यह चिद्रूपा भी है और चूँकि जगत्‌को ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय रूपमें इसीने निर्मित किया है, अतः ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय रूपमें त्रिपुरीकृत विश्वकी आदि विधात्री होनेके कारण इसे 'त्रिपुरा' कहा जाता है (वामकेश्वरतन्त्र, ४ : ४)। शाक्तानन्द तरंगिणी (अध्याय, ३)में बताया गया है कि सरस्वती, लक्ष्मी, गायत्री, दुर्गा, त्रिपुरा सुन्दरी, अन्नपूर्णा आदि देवियाँ स्वरूपतः एक ही हैं। सूक्ष्म रूपसे हर पिण्डमें यह त्रिपुरा कुण्डलिनीके रूपमें वर्तमान रहती है। —रा० दे० सिं०

दण्डी–दण्डधारण करनेवाला कोई भी 'दण्डी' कहा जा सकता है। इसी आधारपर (१) द्वारपाल, (२) सेवक, (३) जैन साधु (४) यम, (५) शिव, (६) भिक्षु आदि सभी दण्डी कहे जाते है। पर योगशास्त्रमें दण्डी एक पारिभाषिक शब्द है। संन्यासियोंके उस सम्प्रदायको दण्डी कहा जाता है, जो स्मृतियोंमें वर्णित तीन दण्डों **(त्रिदण्ड)को** एकमें बाँधकर रखता है और उसके प्रतीक रूपमें दाहिने हाथमें एक डंडा धारण करता है। इन संन्यासियोंको **त्रिदण्डी** भी कहा जाता है। जिन तीन सूक्ष्म दण्डोंके प्रतीक रूपमें ये संन्यासी दण्ड धारण करते है, वे हैं—वाग्दण्ड, मनोदण्ड और कायदण्ड। स्मृतिवचन है कि—"वाग्दण्डे मौनमातिष्ठेत्कर्मदण्डेत्वनीहताम्। मानसस्यतुदण्डस्य प्राणायामो विधीयते", अर्थात् वाग्दण्डसे मौनकी, कायदण्ड या कर्मदण्डसे निरीहताकी और मनोदण्डसे प्राणायामकी साधना सम्पन्न होती है। दण्डी या त्रिदण्डी कहे जानेवाले साधुओंका काष्ठदण्ड इन्हीं त्रिदण्डोंका प्रतीक होता है। 'परमहंसोपनिषद्' (३)में स्पष्ट रूपसे कहा गया है कि जो संन्यासी ज्ञानदण्ड अर्थात् उक्त सूक्ष्म दण्डोंको धारण करता है वही, एक दण्डी है। मात्रकाष्ठका दण्ड धारण करनेवाला, ज्ञानविवर्जित और सर्वभक्षी संन्यासी दण्डी नहीं। वह तो पेटकी मायासे लोगोंको ठगनेवाला है और परिणामतः रौरव जैसे घोर नरकोंमें जाता है—"ज्ञानदण्डो धृतोयेन एकदण्डी स उच्यते। काष्ठदण्डो धृतो येन सर्वाशी ज्ञानवर्जितः। स याति नरकान् घोरान् महारौरव संज्ञकान्"। —रा० दे० सिं०

धरती–धरती शब्दका प्रयोग कहीं-कहीं पारिभाषिक रूपमें हुआ है। गोरखनाथने इसे 'धर' रूपमें प्रयुक्त किया है—"अधरा धरे विचारिया, धर याही में सोई। धर अँधर परचा हूवा तब उती नाहीं कोई"(गो० बानी, सबदी ९८)। यहाँ धर, धरा अर्थात् पृथ्वीका भी अर्थ देता है, पर इसका मुख्य संकेत मूलाधारकी ओर है। गोरखका कहना है कि 'जो अधर (अर्थात् धरासे भिन्न, आकाश या ब्रह्मरन्ध्र)में अवस्थित है, इस धरा (१. पृथ्वी, २. मूलाधार)में भी वही है। और जब इस धर (मूलाधारस्थ कुण्डलिनी शक्ति, जो शिवकी ही शक्तिरूपा है)का अधरस्थ (परशिव)से परिचय होता है, तो फिर कोई तीसरी सत्ता रह नहीं जाती। स्वयं शिव शक्ति भी एकमेक होकर विलीन हो जाते हैं। कबीरने मूलाधार (अर्थात् मूलाधारस्थ कुण्डलिनी) अर्थमें धरतीका बड़ा ही साफ प्रयोग किया है—"अवधू जागत नींद न कीजै। धरती उलटि अकासहिं ग्रासै यह पुरिखां कै बांनी" (क० ग्रं० : ति०, पद १२२)। धरनिका पृथ्वीके अर्थमें भी कबीरने प्रयोग किया है (क०ग्रं० : ति०, रमैनी, ४)। शक्तिविरहित शिवको शव कहा गया है। जिस जीवने अपनी कुण्डलिनी शक्तिको सोती रहने दिया, उसे उद्बुद्ध करके सहस्रारस्थ परशिवसे संयुक्त कर उसे (परशिवको) जगाया नहीं, वह शक्ति और शिव दोनोंसे हीन है। कबीर इसी बातको यों कहते है—"ऐसो जोगिया बदकरमी जाके गगन अकास न धरनी"(बीजक : विचारदास, रमैनी ७४)। यहाँ धरनी मूलाधार अर्थात् मूलाधारस्थ कुण्डलिनीका बोधक है। मूलाधारके ही अर्थमें कबीरका एक और प्रयोग है—"जहाँ धरनि बरसै गगन भीजै चन्द सूरज मेल" (कबीर : द्विवेदी, पृ० ३३८ वाणी १९४)। —रा०दे०सिं०

नदी–सन्तोंने अपनी उलटबासियों एवं योगपरक रूपकोंमें नदी, सरिता, सलिता, दरिया आदि शब्दोंका कतिपय गूढ़ सांकेतिक अर्थोंमें प्रयोग किया है। वैसे नदीके सामान्य अर्थमें भी इनका प्रयोग हुआ है, लेकिन जहाँ साधना सम्बन्धी कोई गूढ़ संकेत देना होता है, वहाँ ये शब्द कभी प्राण-धारा या श्वास-प्रश्वासका अर्थ देते है, कहीं प्राणवहा सुषुम्ना नाड़ी या शरीरस्थ नाडी मात्रका, तो कहीं कुण्डलिनी तथा सांसारिक विषय सुखका। कबीरका एक पद है—"मैं अपने साहब संग चली। नदी किनारे सतगुरु भेंटे तुरत जिनम सुधरी। कहै कबीर सुनो भाई साधो दुहुँ-कुल तारि चली" (कबीर : द्विवेदी, वाणी, १८८)। यहाँ नदी किनारेका अर्थ है 'सांसारिक विषय प्रवाहमें निमज्जन करते समय'। इसी प्रकार जब वे कहते हैं—"जहाँ धरनि

धरमें गगन भीजै, चन्द सूरज मेल। दोइ मिलि तहाँ जुगन लागे, करत हंसा केलि। एक बिरष भीतरि नदी चाली कनककलस समाइ, पंच सुअटा आइ बैठे उदै भई बन राइ" (वही, बाणी, १०.४), अर्थात् जहाँ धरती (मूलाधार, दे० 'धरती') बरसती है और आकाश (सहस्रार) भीगता रहता है। सूर्य (इडा) और चन्द्र (पिंगला) जहाँ मिलकर एकमेक हो जाते हैं और मुक्त जीव केलि करते रहते हैं, ऐसे कनककलश या सहस्रारमें, गंगा-जमुनाके संगमपर वृक्ष (मेरुदण्ड)के भीतर-भीतर प्रच्छन्न भावसे बहनेवाली सुषुम्ना रूपी (सरस्वती) नदी आकर विलीन हो जाती है। गंगा, जमुना, सरस्वतीके इस संगम (दे० 'त्रिवेणी')पर पंचप्राणरूपी तोते मेरुदण्डरूपी वृक्षके ऊपर सुखसे बैठे हुए हैं। आनन्दातिरेकसे शरीरके एक-एक रोम बनराजिकी तरह उत्फुल्ल होकर प्रकट हो गये हैं। प्रवहमान प्राणधाराके अर्थमें भी 'सलिता' शब्दका प्रयोग बहुधा हुआ है—"पानी माँही परजली, भई अपरबल आगि। बहती सलिता रहि गई मच्छ रहे जल त्यागि"। सांसारिक विषय-सुख (पानी)में विरागकी अतिप्रबल आग लग गयी। वैराग्य और परमप्रियके प्रेमके अतिरेकसे समाधि लग गयी, परिणामतः प्रवहमान प्राणधारा (श्वास-प्रश्वास क्रिया) रूपी नदी स्थिर हो गयी और सांसारिक विषयों (जल)में स्वच्छन्द विहार करनेवाली मछलियों (पंचेन्द्रियों)ने जलका त्याग कर दिया (दे०—क० ग्रं० : ति०, पृ० १४८, ५१)। नदीका प्रयोग 'विषयलिप्सा'के अर्थमें भी कबीरने किया है—"समुन्दर लागी आगि, नदिया जलि कोइला भई। देखि कबीरा जागि, मंछी रूखाँ चढि गई" (क० ग्रं० : ति०, पृ० १४८, ५४), अर्थात् शरीर रूपी समुद्रमें प्रिय विरहकी आग लग गयी और उसने विषयलिप्साकी प्रवहमान धाराको जला दिया। दिन रात विषयोंमें लिप्त मानसिक वृत्तियों या इन्द्रिय सुखकी ललकका प्रतीक मन (मच्छी) मेरुदण्डरूपी वृक्षपर चढ़कर विषयवारिसे परे हो गया। माया प्रवाहके अर्थमें भी इस शब्दका प्रयोग हुआ है—"गहरी नदिया अगम बहै गरवा खेवनहार पड़िगा फंदा। घरकी वस्तु निकट नहिं पावत दियना बारिके खोजत अन्धा" (कबीर : द्विवेदी, बाणी २५४), अर्थात् मायाकी अपार और गहरी नदी बह रही है, खेवक आत्माके गलेमें पापोंका फन्दा पड़ा है। वह मुक्त भी नहीं कि इस मायाको पार कर सके। इसी तरहके माया-प्रवाहमें अपने लोक-वेद समर्थित आचरणरूपी बेड़ेको जर्जर देखकर कबीर छलक कर कूद पड़े थे—"बूड़ा था पै ऊबरा, गुरुकी लहरि चमंकि। जब भेरा देखा जरजरा तब उतरि परा फरंकि" (क० ग्रं० : ति०, पृ० १३७, १०)। 'उल्टी दरिया' (वही, पृ० १७१, ३३)का अर्थ बाहर जानेवाले श्वासको प्राणायाम द्वारा अन्तर्मुखी करना है। —रा० दे० सिं०

निगम—शाक्त तन्त्रोंके वक्ता-श्रोता-भेदसे दो प्रकार माने गये हैं—निगम और आगम। जहाँ शाक्त-उपासना, ज्ञान, आचरणविधि आदिका व्याख्यान देवी या शिवा करती हैं और शिव शिष्यकी भाँति उसे सुनते, समझते और सीखते हैं, उसे 'निगम' कहा जाता है। जब वक्ता स्वयं शिव हों और शिवा सुननेवाली हों, ऐसा शाक्त-तन्त्र 'आगम' कहलाता है (दे० 'आगम')। वैसे निगम पुराना शब्द है और वेदका अर्थ देता है—'निगम शब्दो वेदवाची' (सायणभाष्य)। वेदोंसे उद्धृत कोई भी वाक्य या शब्द निगम कहा जाता है। 'निरुक्त'में बार-बार आता है 'तथापि च निगमो भवति'। वेदसे सम्बद्ध या वेदकी व्याख्या करनेवाली कोई भी कृति निगम कही जाती रही है (मनुस्मृति, ४ : १९)। शाक्त तन्त्र अवैदिक थे, ऐसा वैदिक मार्गके बड़े-बड़े आचार्योंने स्वीकार किया है। लगता भी ऐसा ही है। स्वयं शाक्त तन्त्र वेदोंको बहुत महत्त्व नहीं देते। तन्त्रोंमें निगमका 'वेद' अर्थ स्वीकार नहीं किया गया है। वेदके समानान्तर या उससे ऊँचा ये अपने आगमोंको ही मानते हैं, अतः इन आगमोंको वेदके समान तथा उनसे भिन्न स्वतन्त्र प्रमाणरूपमें स्वीकार करते हैं। —रा० दे० सिं०

निरति—१. (दे० 'सुरति')। २. सन्तोंने निरतिका एक अर्थ नृत्य भी किया है। नृत्य, जिसमें उस प्रेयान्‌को रिझाया जाता है, नृत्य जो मनुष्यकी सीमाओंको तोड़ता है, अन्तस्तलसे उत्थित आवेगको अभिव्यक्ति देता है। बाहर-बाहरसे देखनेपर निरतिके दोनों अर्थों—विराग एवं नृत्य-में पर्याप्त विरोध दिखता है, पर परमार्थतः उनमें कोई विरोध है नहीं। सांसारिक विषयोंसे परावृत्त मन उस प्रियतमके सम्मुख अपने शुद्ध, प्रेमपूर्ण हृदयकी सारी कल्मषहीन कलाको अपनी भक्ति भरी वैराग्यभावनाके रूपमें खोलकर दिखाता है। इस तरह उस प्रियको रिझानेका उसका प्रयास सामान्य लौकिक नृत्यसे विलक्षण है। यहाँ नृत्य भी होता है, गीत भी गाये जाते हैं, वाद्य भी बजते हैं, पर वस्तुतः नाचनेके लिए पैरोंकी, बजानेके लिए हाथोंकी, गानेके लिए जीभकी जरूरत नहीं पड़ती। यह तो भक्तकी अपार प्रेमाकुलतासे भरी विराग भावनाका नृत्य है। कबीर कहते हैं—"पग बिनु निरति करौं बिनु बाजा जिभ्या हीना गावै" (क० ग्रं० : ति०, पद १०८)। नृत्य अर्थमें निरतिके लिए (दे० वही, पद ११४)। धरनीदास भी ठीक यही कहते हैं—"बिनु पग निरत करो तहाँ बिनु कर दै-दै तारि। बिनु नैनन छबि देखना, बिनु सरवन झनकारि" (सन्त सुधासार, खण्ड २, पृ० ४८)। संतोंने यह नया अर्थ नृत्य और निरतिके ध्वनि साम्यके आधारपर भरा है। —रा० दे० सिं०

पंचमकार—तान्त्रिक साधनामें पंचतत्त्वोंका बहुत अधिक महत्त्व है। 'महानिर्वाणतन्त्र'में तो यहाँतक कहा गया है कि "पंचतत्त्व-विना पूजा अभिचाराय कल्पते। नेष्ट सिद्धिर्भवेत्तस्य विघ्नस्तस्य पदे-पदे" (५ : २३)। पंचमकारोंमें मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुनकी गणना की जाती है और शक्ति पूजाके पूर्व इनके सेवन तथा आचारको अनिवार्य कहा गया है (महानिर्वाणतंत्र, ५ : २२)। तन्त्रोंमें पंचमकारोंको पंचतत्त्व, कुलद्रव्य या कुलतत्त्व भी कहा गया है। पंचमकार नामका तात्पर्य यह है कि इसके अन्तर्गत ग्रहीत उक्त सभी तत्त्वोंकी संज्ञा 'म' वर्णसे शुरू होती है। तन्त्रोंमें इनके माहात्म्य, प्रयोग-विधि, शुद्धि, मन्त्र और साधनामें इनके प्रयोग सम्बन्धी विधि-निषेधोंका काफी विस्तारसे और बहुत जोर देकर निरूपित (व्याख्यात) किया गया है।

तन्त्रोंमें अविकारी निर्वाणको बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है और साधककी रुचि, प्रकृति, शक्ति आदिके आधारपर उसे पशु, वीर और दिव्य (दे०—पशु, वीर, तथा दिव्य) नामकी तीन और एक दूसरीसे क्रमशः ऊँची कोटियाँ निर्धारित की गयी हैं। साधकोंकी इन कोटियोंके अनुसार पंचमकारोंके भी तीन प्रकार बताये गये हैं—१. **प्रत्यक्षतत्त्व** २. अनुकल्पतत्त्व तथा ३. दिव्यतत्त्व। **प्रत्यक्षतत्त्व**का अर्थ है, जहाँ उक्त पाँचों तत्त्वोंको अभिधार्थमें ग्रहण किया जाय। प्रत्यक्षतत्त्वमें गृहीत मद्यके अन्तर्गत गौडी, पैष्टी, माध्वी और मैरेय नामक मद्यों (शराबों)को गिना जाता है। इनमेंसे प्रथम तीनको बहुत उत्तम कोटिका बताया गया है (महानिर्वाणतन्त्र, ६, १-३)। मांस भी तीन प्रकारके बताये गये हैं; स्थल तथा जलमें रहनेवाले जन्तुओं एवं आकाशचारी पक्षियोंके। मत्स्यमें शाल, पाठीन और रोहित नामक मछलियोंको उत्तम बताया गया है। कण्टकहीन मछलियोंको मध्यम और अधिक काँटेवालियोंको अधम माना गया है। मुद्रा भी तीन प्रकारकी कही गयी है। शालिके चावलोंकी मकैम मुद्रा तथा जौ, गेहूँ आदिकी मुद्राको उत्तम, रद्दी किस्मके धानकी मुद्राको मध्यम और इनसे भिन्न प्रकारके अन्नोंसे तैयार मुद्राको अधम कहा है (वहाँ, ६, ५-१०)। यहाँ एक बातका उल्लेख आवश्यक है कि योगकी मुद्रा और पंचतत्त्वोंकी मुद्रामें कोई भी साम्य नहीं है। योगकी वज्रोली, सहजोली, खेचरी आदि मुद्राएँ शरीरकी कतिपय विशिष्ट ढंगकी सायास प्राप्त स्थितियाँ हैं, जब कि पंच मकारोंकी मुद्रा भुने हुए अन्नकी वाचक है (योगिनीतन्त्र, अध्याय ६)। पाँचवें तत्त्व (मैथुनको 'पंचमतत्त्व' भी कहते हैं)के लिए शक्ति (साधना-सहचरी) आवश्यक है। ये शक्तियाँ भी तीन तरहकी बतायी गयी हैं—स्वकीया (अपनी पत्नी), परकीया (दूसरेकी पत्नी) और साधारणी (कोई सामान्य स्त्री) (महानिर्वाण०, वही, १७ एवं २०)। इस प्रकार पंचमकारोंको उनके सामान्य प्रचलित अर्थमें महानिर्वाणतन्त्र पूर्ण स्वीकृति देता है और इनकी शुद्धि, सेवन तथा भोग सम्बन्धी चक्रों, मन्त्रों और विधि-निषेधोंका पूरा विवरण उपस्थित करता है। दूसरे प्रकारके पंचमकारोंको अनुकल्पतत्त्व कहा गया है। अनुकल्प, अर्थात् मूलवस्तुके बदलेमें किसी अन्यका ग्रहण (मनुस्मृति शारीरभाष्य : ६, ३, ३५)। उदाहरणके लिए मद्यके स्थानपर दूध, घी, शहद आदिको स्वीकार करना। मांसके लिए अदरक, गेहूँ, लहसुनको, मत्स्यके स्थानपर मसूर, सिंघाड़ा आदिको, मुद्राकी जगह धान्य, चावल, गेहूँ आदि अन्नोंको और मैथुनके स्थानपर हाथसे कच्छपमुद्रा बनाकर पुल्लिंगके प्रतीक करवीरके फूल तथा स्त्री योनिके प्रतीक अपराजिताके फूलोंको आपसमें संयुक्त करके देवतापर चढ़ानेकी क्रियाको स्वीकार करना अनुकल्प है और इसमें गृहीत उपकरण अनुकल्प तत्त्व कहलाते हैं। तत्त्वोंका तीसरा प्रकार दिव्यतत्त्व कहलाता है। सात्विक वृत्तिके साधकके लिए इन तत्त्वोंका विधान होता है। पंचमकारोंके इस तीसरे प्रकारकी शब्दावली आगे चलकर सिद्धों और नाथों (कभी-कभी सन्तों)के साहित्यमें बड़े ही मुखर और पर्याप्त उदारभावसे व्यवहृत हुई है, अतः यहाँ उसे थोड़े विस्तारसे समझ लेना आवश्यक है।

दिव्यतत्त्वकी संज्ञा देकर यहाँ पंचमकारोंके अर्थको अन्तःयोगमें जोड़ दिया गया है। इसके अनुसार दिव्य-**मद्य** ब्रह्मरन्ध्रसे झरनेवाला अमृत है (दे० 'अमरवारुणी' तथा 'कुलार्णव तन्त्र')। **मांस** यहाँ मा = जिह्वा + अंस = भाग = जिह्वांश, अर्थात् 'वाणी'का वाचक बताया गया है (आगम सार)। **मत्स्य** इडा, पिंगलामें प्रवाहित होनेवाले श्वासका वाचक है, जिसे कुम्भक द्वारा अवरुद्ध कर प्राणायाम एवं समाधिकी सिद्धि सम्भव होती है (आगमसार)। कुसंगका त्याग और सत्संग ही **मुद्रा** है (विजयतन्त्र)। शिव-शक्तिका या मूलाधारस्थ कुण्डलिनीका सहस्रारस्थपर शिवके साथ सामरस्य या समागमको मैथुन तत्त्व बताया गया है (मेरुतन्त्र)। इसी प्रकारकी विशिष्ट अर्थका संकेत देनेवाली एक व्याख्या 'कौलिकार्चनदीपिका'में मिलती है, जहाँ विजया, अदरक, जम्बीर, धान्यज और साधककी अपनी पत्नीको पंचमतत्त्व या आद्यतत्त्व (दे० 'आद्यतत्त्व') कहकर विवृत किया है। सर जान वुडरफने 'शक्ति ऐण्ड शाक्त' नामक अपनी पाण्डित्यपूर्ण कृतिमें 'पंचतत्त्वों'पर बड़ी ही पूर्णतासे विचार किया है (दे०—पृ० ५९१-६४९), किन्तु शाक्त-तन्त्रोंकी पंचतत्त्वोपासनाके सद्पक्षके उद्घाटनमें पूरी तरह लीन हो जानेके कारण वे इस बातपर ध्यान ही नहीं दे सके कि पंचतत्त्वोंकी यह 'निगमिष' व्याख्या परवर्ती है या परम्परया स्वीकृत। भुवनेश्वर मिश्र 'माधव'ने बिना किसी सोच-विचारके इसे अक्षरशः स्वीकार कर लिया है (रामभक्ति सा०में मधुर उपासना, पृ० ८३)। धर्मवीर भारती भी बिना किसी खोज-बीनके मान लेते हैं कि "इन साधनाओंके सांकेतिक अर्थ भी थे" (सिद्ध-साहित्य, पृ० १२९)। लेकिन मुझे ऐसा नहीं लगता।

सम्भवतः सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं धर्मसम्बन्धी स्थितियों एवं धारणाओंके परिवर्तन स्वरूप आगे चलकर जब तान्त्रिकोंका विरोध प्रारम्भ हुआ होगा और अनेक सामाजिक-आर्थिक दबावोंसे उन्हें अपने समाजविरोधी या दूषित समझे जानेवाले आचरणों एवं अर्चाविधियोंको यथावत् बनाये रखना कठिन हो गया होगा; सम्भव है, उन्हीं स्थितियोंमें पंचमकारोंकी नयी व्याख्याएँ कर ली गयी हों और आगे चलकर इन परवर्ती व्याख्याओंको ही सच मान लिया गया हो। सरह आदि सिद्ध जिस तल्लीन भावसे इन शब्दोंका प्रयोग नितान्त लौकिक अर्थोंमें करते हैं, कमल कुलिस सम्पत्तिकी बात करते हुए उनकी अभिव्यक्ति जितनी सरस और भंगीयुक्त होती है, उससे यह नहीं लगता कि ये सिद्ध इन बातों द्वारा योग या तन्त्रकी किसी साधनामात्रका उल्लेख या व्याख्यान कर रहे हों। बादमें चलकर गोरखनाथ, कबीर आदिने भी उक्त विषयोंका उल्लेख किया है, पर भाषा मैथुनपरक और धक्कामार जितनी भी हो, उसमें इनका सिद्धि एवं साधनापरक परवर्ती अर्थ ही प्रमुख है। तन्त्रोंको अश्लील, समाजविरोधी और क्षयग्रस्त मान लेनेके पीछे मात्र अज्ञान ही सबसे बड़ा कारण है, यह ठीक नहीं लगता। वस्तुतः तन्त्रोंके सिद्धान्तोंमें न सही उनके व्यावहारिक रूपमें ऐसी बातें थीं अवश्य।

मद्य, मांस एवं मैथुनका अर्थ देनेवाले पुराने शब्दोंकी अतीव लचर आधारोंपर की गयी नयी व्याख्याएँ इसका प्रमाण देती है। मांसकी मा (जिह्वा)+अस (अंश) रूपमें व्याख्या ठीक जँचती नहीं। कहाँ 'अंस', कहाँ 'अंश'। 'स', 'श'का यह भेद छोटा भेद नहीं है। निश्चय ही ये व्याख्याएँ परवर्ती है। लिखित रूपमें ये साधनाएँ वैदिक हों या अवैदिक (वुडरफ साहबने इन्हें वैदिक सिद्ध किया है—शक्ति ऐण्ड शाक्त, पृ० ९९-११२), पंचतत्त्वोंका विशेष जैन प्रभाववश हुआ हो या बौद्धप्रभाववश (वही पृ० ९९ एवं ६३१), ये व्याख्याएँ अवश्य ही परवर्ती है। तन्त्रोंमे काफी प्रामाणिक माना जानेवाला 'महानिर्वाणतन्त्र' स्पष्ट शब्दोंमें कहता है कि "एतस्मिन् शांभवे शास्त्रे व्यक्तार्थपदबृंहिते। कूटार्थं कल्पयन्तः पतिता यान्त्यधोगतिम्" (११, १६९), अर्थात् इन शिव व्याख्यात शास्त्रोंमे प्रयुक्त शब्दोंके अर्थ सीधे है। अभिधार्थकी अपेक्षा उनसे खींच-तानकर अर्थ निकालनेवाला अधोगतिको जाता है। —रा० दे० सिं०

पंचस्कन्ध—बौद्धदर्शनमे समस्त पदार्थोंको पाँच स्कन्धोंमें विभक्त किया गया है—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान। ये स्कन्ध ही पुनर्जन्मके कारण है और जब इनका पूर्णतया नाश हो जाता है, तो निर्वाण प्राप्त हो जाता है। पुराने उपनिषदोंमें जगतको 'नामरूपात्मक' कहा गया है। इसी कथनके 'नाम' और 'रूप'के प्राचीन अर्थको थोडा परिवर्तित करके बुद्धने पंचस्कन्धोंके रूपमें इनका विस्तृत विभाजन कर दिया है। गर्भस्थ भ्रूणके शरीर और मनको नाम रूप कहा जाता है। इस नामरूपकी वृद्धि तभी सम्भव है, जब उसमें विज्ञान (चैतन्य) हो और विज्ञान तभी सम्भव है, जब उसमे पूर्व जन्मके कुछ संस्कार हों। इन संस्कारोंका कारण अविद्या है। तात्पर्य यह कि पंचस्कन्ध शरीरके पाँच तत्त्व है। वैरोचन, रत्नसम्भव, अमिताभ, अमोघ सिद्धि और अक्षोभ्य नामक पाँच ध्यानी बुद्ध इन पाँच स्कन्धोंके विग्रह है। जैसे हर स्कन्धके एक-एक विग्रह है, उसी तरह उनकी एक-एक शक्तियाँ, रंग, वर्ण (अक्षर)चिह्न, कुल, तत्त्व, तत्त्वोंके रंग और चिह्न है। इस प्रकार समस्त बुद्ध जिस प्रकार समस्त विश्व-ब्रह्माण्डमे व्याप्त है, उसी प्रकार पिण्डमे भी है। —रा० दे० सि०

प्रक्षेपण—'प्रोजेक्शन' और 'पर्स्पेक्टिव', दोनोंके लिए हिन्दीमें प्रयुक्त शब्द [मेरठ हिन्दी परिषद्के छपे 'आधुनिक साहित्य' (भाग १)मे जे० एल० मेहताका 'साहित्यमे आत्म-प्रक्षेपण' लेख देखें]। वैसे मनोविज्ञानकी भाषामे हर सृष्टि एक प्रकारका प्रक्षेपण ही होती है, परन्तु उसमें कहाँतक स्रष्टाका हाथ होता है और कहाँतक सर्जन-प्रक्रियाका, यह समीक्षकोंके लिए विचारणीय प्रश्न है। हमारे यहाँ 'औचित्यविचारचर्चा'मे क्षेमेन्द्रने इस प्रश्नको उठाया था। 'पर्स्पेक्टिव' शब्द (जिसके लिए हिन्दीमें परिप्रेक्ष्य भी प्रयुक्त होता है) चित्र-शिल्प तथा स्थापत्यशास्त्रसे साहित्यमे आया। मूलतः दृष्टिकी सीमासे दूरकी चीज छोटी दीखना अथवा समानान्तर रेखाओंका क्षितिजमें मिलन और तदनुसार रेखा-व्यतिक्रम आदि इसमे आते है। यह मूल ज्यामितिक शब्द साहित्य-समीक्षाके क्षेत्रमे व्यक्ति और समाजके सम्बन्धोंमें, लेखक और उसके देश-कालके सम्बन्धोमे, कहानी और उसके परिपार्श्वके विवरण-चुनावके सम्बन्धमे प्रयुक्त होता है। जब शरीरकी अपेक्षा सिर बडा हो या शिरकी अपेक्षा अवयव, तो परम्परित चित्रकलाके अनुसार यह दोष था, यह एक व्यंग्यचित्र था। परन्तु आधुनिक चित्रकला यदि 'कैंवेस पेंटिंग' हो, यानी चित्रकारका दृष्टिबिन्दु बहुत ऊँचेपर हो या बहुत नीचे हो तो 'फोकस'के अनुसार यह विकृतियाँ जान पड़नेवाली अस्वाभाविकताएँ भी सहज जान पड़ेंगी। आधुनिक प्रयोगवादी चित्र-शिल्प आदिमे 'अन-सिमेट्री' और इस प्रकार रूढ़ पर्स्पेक्टिवको तोडकर लिखना अनौचित्यकी कोटिमे नहीं आता। —प्र० मा०

प्रज्ञापारमिता—दे० 'महायान'।

प्रज्ञोपाय—दे० 'युगनद्ध', 'महाराग', 'महामुद्रा'।

बाह्यवादी आलोचना-प्रणाली—दे० 'बाह्यवादी आलोचना-प्रणाली'।

सृजन—दे० 'सृजन'।